भावदीपिकासंवलिता

वेदान्तकौमुदी



डॉ० राधेश्याम चतुर्वेदी

The Vedānta-kaumudī of Rāmādvaya is a unique monograph on the Advaita-Vedānta of Ācārya Śaṁkara that presents all that is best in Vedāntic thought as it reflects remarkable originality of approach.

The text as well as the commentary by the same author (published for the first time) has been critically edited with Hindi translation and notes together with a glossary of technical terms.

COMPLIMENTARY COPY FOR
FAVOUR OF OPINION

Presented to Professor Dr. Satyavrata

B. Bhattacharya
8.1.75

Head of the Dept.
of Sansk... ...ali
F... ... ...ts,
Banaras ... University
Director of Sanskrit
Studies and Research
Banaras Hindu University
Varanasi-5

The Ve
Rāmādvaya
graph on th
of Ācārya Śa
all that is be
ght as it
originality of

The text
commentary
(published
has been cri
Hindi tran
together wi
technical ter

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृतग्रन्थमाला

[The Banaras Hindu University Sanskrit Series]

शोधप्रकाशनयोजना

[Research Publication Scheme]

नवम पुष्प

[Vol IX]



सम्पादक

डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य

एम० ए० (आनर्स), पी-एच्० डी० (लन्दन), डी० लिट् (लिल्), बार-ऐट-ला
(ग्रेज् इन), काव्यतीर्थ, न्यायवैशेषिकाचार्य (लब्धस्वर्णपदक),
निदेशक संस्कृतअध्ययन एवं शोधप्रकाशन योजना,
मयूरभञ्ज प्रोफेसर एवं अध्यक्ष संस्कृत-पालि विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

वाराणसी-५

जून १९७३

प्रकाशक
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी–५

प्रथम संस्करण १९७३

मूल्य ८०)

मुद्रक
रवीन्द्रकुमार बेरी
बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी प्रे
वाराणसी–५

भावदीपिकासंवलिता

वेदान्तकौमुदी

डॉ॰ राधेश्याम चतुर्वेदी
व्याकरणाचार्य, बी॰ ए॰ (आनर्स), एम॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰ (लब्धस्वर्णपदक)
अध्यापक सेण्ट्रल हिन्दू कालेज (कमच्छा)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-५

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय शोधप्रकाशन
१९७३

समर्पणम्

यन्निःसीमकृपावशादजनि मेऽधीतिः सदन्वेषणा
यद्धात्सन्यमतिश्चिरं मयि पुनः पुत्रे स्वकीये पितुः ।
भट्टाचार्यसुलक्ष्मणां चरणयोः सिद्धेश्वराणामिमां
तेषां 'श्याम' कृती दिशत्यभिनवां स्वां 'कौमुदीं' सादरम् ॥

निवेदन

महामुनि वादरायणविरचित ब्रह्मसूत्रों की चतुःसूत्री एवं उसके शाङ्करभाष्य के विश्लेषण की दिशा में जिन मनीषियों द्वारा प्रयास हुआ है उनमें आचार्य रामाद्वय का विशिष्ट स्थान है। आचार्य की कृति वेदान्तकौमुदी एक प्रकरण ग्रन्थ है। यद्यपि इसके आधार प्रथम चार ब्रह्मसूत्र ही हैं तथापि समस्त ब्रह्मसूत्रों, किं बहुना, विभिन्न भारतीय दर्शनों का इस ग्रन्थ में समावेश हुआ है। अद्वैतवेदान्तविरोधी अनेक दार्शनिकमतों का उपस्थापन, युक्तिपूर्ण खण्डन तथा उनका अद्वत वेदान्त में पर्यवसान वेदान्तकौमुदी में किया गया है।

इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम सम्पादन मीमांसामार्त्तण्ड पं० श्री एस० सुब्रह्मण्यशास्त्री के द्वारा तथा मुद्रण मद्रास विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में हुआ था। यह सम्पादन उस समय उपलब्ध सीमित सामग्री के आधार पर एवं सीमित समय में हुआ था; अतः यह संस्करण केवल मूलमात्र हो सका। इस अपूर्णता के आपूरण हेतु इस ग्रन्थ को शोध-प्रबन्ध के रूप में लिया गया। मूल ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की सम्पूर्ण टीका की पाण्डुलिपि भी भिन्न-भिन्न विद्यासंस्थानों से उपलब्ध हुई जिसके आधार पर इस ग्रन्थ का एक सटीक संस्करण प्रस्तुत करना सम्भव हो सका है। ग्रन्थ को पूर्ण करने का प्रयास किया गया है। इसमें आये सम्पूर्ण उद्धरणों के आकरग्रन्थों का परिशिष्ट में निर्देश करने का यत्न किया गया है तथापि कुछ उद्धरणों के आकरग्रन्थ अन्वेष्टव्य रह गये हैं।

यह गुरुतर कार्य विद्या और हृदय के उदात्ततम निदर्शन श्रद्धेय गुरुवर डॉ० श्री सिद्धेश्वर भट्टाचार्य के निर्देशन में सम्पन्न हुआ और उन्हीं के वात्सल्यसंवलित आशीर्वाद के फलस्वरूप यह ग्रन्थ पुनः सम्पादित एवं मुद्रित होकर पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। इस संस्करण के सम्पादन में अनेक विद्यासंस्थानों से मुझे पाण्डुलिपियों के रूप में सहायता प्राप्त हुई; तथा काशी के मूर्धन्य विद्वानों का सहयोग प्राप्त हुआ। मैं उन सबका हृदय से आभारी हूँ। गुरुकल्प पं० श्री एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री भू० पू० प्राध्यापक मद्रास विश्वविद्यालय का मैं अत्यन्त ऋणी हूँ जिन्होंने मूल एवं टीका ग्रन्थ की शुद्धि, आकरग्रन्थान्वेषण एवं पारिभाषिक शब्दकोष की रचना में अमूल्य सहयोग प्रदान कर हमें अनुगृहीत किया है। पितृतुल्य पं० श्री रामानुज ओझा प्रधानाचार्य बिरला संस्कृत महाविद्यालय लालघाट वाराणसी ने मुझे अद्यावधि सर्वविध चिन्ताओं से मुक्त रखकर अध्ययन, शोधकार्य एवं प्रस्तुत ग्रन्थ के मुद्रण में वात्सल्यपूर्ण सहयोग प्रदान किया है। मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मुद्रणकला के मर्मज्ञ तथा संस्कृत वाङमय के प्रकाण्ड पण्डित सुहृद्वर श्री सातकड़ी मुखोपाध्याय का भी इस मुद्रणकार्य में अतीव योगदान रहा है; अतः मैं उनके प्रति आभारी हूँ। अपने विभाग के अनुसंधानसहायक मित्रवर श्री सुधाकर मालवीय ने इस मुद्रण में पर्याप्त सहायता की है। मैं उनके स्नेहपूर्ण सहयोग के लिये हृदय से आभारी हूँ।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रेस के प्रबन्धक एवं उनके सहयोगिवर्ग श्री प्राणलाल आचार्य, श्री वसन्तराम इत्यादि के सहयोग के विना इस ग्रन्थ का मुद्रण ही दुष्कर था। मैं उन सबके प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करता हूँ।

सम्पादन एवं मुद्रण कला की दिशा में मेरा यह प्रथम प्रयास है। अशुद्धियाँ स्वाभाविक हैं। तथापि यदि मेरे इस कार्य से विद्वद्वर्ग को किञ्चिदपि 'परितोष' प्राप्त हुआ तो मैं इस प्रयास को सफल समझूँगा।

गुरुपूर्णिमा
वि० सं० २०३०

विद्वद्विधेय
राधेश्याम चतुर्वेदी
बिरला संस्कृत कालेज
लालघाट, वाराणसी

PREFACE

The Vedānta-kaumudī of Ācārya Rāmādvaya (14th, Century A.D.) is a unique monograph on the Advaita-vedānta of Ācārya Śaṁkara. Although designed to be an exposition of the first four Brahma-sūtras, it is an excellent epitome of Vedāntic scholarship.

Ācārya Rāmādvaya assimilated the Vedāntic thoughts of his predecessors in all their depth and subtlety, tested their veracity by juxtaposition against rival schools, both theistic and atheistic, and finally accepted, modified or even rejected and then proposed his own in each case in the light of his genius and extraordinary critical acumen. Yet whatever he stated was founded on the bedrock of recognised authorities—the Upaniṣads, the Brahma-sūtra, the gloss of Ācārya Śaṁkara and also his forerunners.

Ācārya Rāmādvaya had written the text. He then gave his own elucidation in the shape of a commentary on the text. The text was published from the Madras University in the year 1955 A.D. But the commentary had so far remained locked in Manuscripts.

The present edition is an improvement on the above edition. Variants obtained from different manuscripts have been carefully noted and a reading suiting best a particular context has been adopted to comprise the standard text. The commentary, culled from manuscripts available only in parts, has been knit into a consistant whole. It thus presents the entire perspective excepting a few lines which unfortunately could not be traced in any of the available manuscripts in spite of all frantic efforts.

The importance of the work has found due cognizance in the form of a Ph.D. thesis by one of our worthy students of the Department, Dr. Radhe Shyam Chaturvedi. The importance of the work consisting of both the text and its

commentary, and also the findings of Dr. Chaturvedi thereon were deemed by the Publication Committee to be valuable enough to go under Research Publications in Sanskrit, Banaras Hindu University.

Besides the text and the commentary, the present edition contains a running translation of the text in Hindi, our National Language.

The edition is prefaced by a critical Introduction embodying the findings of the researcher, including analysis of the major topics dealt with by Ācārya Rāmādvaya. The edition has further been enriched by several appendixes including a glossary of technical terms.

I am extremely grateful to the great scholar Pandit Subramaṇya Shastri of Vārānaseya Sanskrit University, who had originally edited the Madras edition, for rendering all help towards making the present publication an academic success. Dr. Chaturvedi obviously did not spare himself to fulfil the needs of a research publication. Sri Sudhakar Malaviya, the Research Assistant under the Publication Scheme, has helped Dr. Chaturvedi in all possible ways. The Banaras Hindu University Press deserves hearty congratulations for bringing out the publication with remarkable neatness and speed.

The publication is now open to the scholarly world.

Dr. S. Bhattacharya,
Director of Sanskrit Studies and Research,
Banaras Hindu University.

The 30th June 1973

विषयसूची

विषयाः	पृष्ठाः
भूमिका	I–LXV
प्रथमोऽध्यायः	१–३५२

विषयाः	पृष्ठाः

विषयाः	पृष्ठाः

———

उद्धृतआकरग्रन्थसङ्केतविवरण

अ० को०	अमरकोष	ता० प० शु०	तात्पर्यपरिशुद्धि
अन० रा०	अनर्घराघव	ता० ब्रा०	ताण्ड्यब्राह्मण
अमृ० ना० उ०	अमृतनाद-उपनिषद्	तै० आ०	तैत्तिरीय-आरण्यक
आप० ध० सू०	आपस्तम्ब-धर्मसूत्र	तै० उ०	तैत्तिरीय उपनिषद्
आप० श्रौ० सू०	आपस्तम्ब-श्रौतसूत्र	तै० उ० वा०	तैत्तिरीय उपनिषद्भाष्यवार्त्तिक
आरु० उ०	आरुणिकउपनिषद्	त० ब्रा०	तैत्तिरीय-ब्राह्मण
आश्र० उ०	आश्रम उपनिषद्	तै० सं०	तैत्तिरीय-संहिता
इ० सि०	इष्टसिद्धि	ना० उ०	नारद उपनिषद्
ई० उ०	ईशावास्य उपनिषद्	ना० प० उ०	नारदपरिव्राजक उपनिषद्
उ० सा०	उपदेशसाहस्री	नृ०उ० ता०उ०	नृसिंह उत्तरतापिनी उपनिषद्
ऋ० सं०	ऋग्वेद-संहिता	नै० सि०	नैष्कर्म्यसिद्धि
ऐ० आ०	ऐतरेय-आरण्यक	न्या० कु०	न्यायकुसुमाञ्जलि
ऐ० उ०	ऐतरेय उपनिषद्	न्या० वि०	न्यायविन्दु
क० उ०	कठ उपनिषद्	न्या० सि० मु० दि०	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली दिनकरी
का० श्रौ० सू०	कात्यायन-श्रौतसूत्र		
कू० पु०	कूर्मपुराण	न्या० सू०	न्यायसूत्र
के० उ०	केन उपनिषद्	प० प० उ०	परमहंसपरिव्राजक उपनिषद्
कौ० उ०	कौषीतकि उपनिषद्	प० हृ० उ०	परमहंस उपनिषद्
खं० खं० खा०	खण्डनखण्डखाद्य	पं० पा० वि०	पञ्चपादिकाविवरण
गी० भा०	गीता-भाष्य	प्र० पा० भा० अनु०	प्रशस्तपादभाष्य (अनुमानखण्ड)
गौ० ध० सू०	गौतम-धर्मसूत्र		
गौ० ध० सू० भा०	गौतम-धर्मसूत्रभाष्य	प्र० वा०	प्रमाणवार्त्तिक
छा० उ०	छान्दोग्य उपनिषद्	प्र० वा० (आ० वि०)	प्रमाणवार्त्तिक (आगम विचार)
जा० उ०	जाबाल उपनिषद्		
जै० सू०	जैमिनिसूत्र	प्रक० वि०	प्रकटार्थविवरण
ज्ञा० नि०	ज्ञानश्रीमित्र-निबन्धावली	पा० म० भा०	पातञ्जलमहाभाष्य
त० वा०	तन्त्रवार्त्तिक	पा० यो० सू०	पातञ्जलयोगसूत्र
त० प्र०	तत्त्वप्रदीपिका	पा० शि०	पाणिनीयशिक्षा
त० भा० प्र० नि०	तर्कभाषा (प्रमेयनिरूपण)	पा० सू०	पाणिनि-सूत्र
त० सं० गु० नि०	तर्कसङ्ग्रह (गुणनिरूपण)	पा० सू० वा०	पाणिनिसूत्रवार्त्तिक
त० सं० द्र० नि०	तर्कसङ्ग्रह (द्र यनिरूपण)	पु० सू०	पुरुषसूक्त

प्रे० उ०	प्रश्न उपनिषद्	मै० सं०	मैत्रायणी-संहिता
प्र० पं०	प्रकरणपञ्चिका	य० स्मृ०	यमस्मृति
बा० रा०	बाल्मीकीय रामायण	या० नि०	यास्क-निरुक्त
बृ० उ०	बृहदारण्यक उपनिषद्	या० स्मृ०	याज्ञवल्क्यस्मृति
बृ० भा०	बृहदारण्यक भाष्य	या०स्मृ०आ०	याज्ञवल्क्यस्मृति (आचाराध्याय)
बृ० वा०	बृहदारण्यक-भाष्यवार्त्तिक	यो० सू० भा० त० वै०	योगसूत्रभाष्य तत्त्व-वैशारदी
बृ० वा० सा०	बृहदारण्यक-वार्त्तिकसार		
बो० चि० वि०	बोधिचित्तविवरण	लं० प०	लङ्कावतारपरिवर्त्तन
ब्र० उ०	ब्रह्म उपनिषद्	व० स्मृ०	वशिष्ठस्मृति
ब्र० वि० उ०	ब्रह्मबिन्दूपनिषद्	वि० चू० म०	विवेकचूडामणि
ब्र० सि०	ब्रह्मसिद्धि	वि० पु०	विष्णुपुराण
ब्र० सू०	ब्रह्मसूत्र	वे० कौ०	वेदान्तकौमुदी
ब्र० सू० अ० वे० पि० शा०	ब्रह्मसूत्र-अथर्ववेद पिप्पलादशाखा	वै० सू०	वैशेषिक-सूत्र
		श० ब्रा०	शतपथ-ब्राह्मण
ब्र० सू० भा०	ब्रह्मसूत्र-भाष्य	शा० भा०	शाबर-भाष्य
ब्र० सू० भा० क०	ब्रह्मसूत्रभाष्य-कल्पतरु	शु० य० सं०	शुक्लयजुर्वेद-संहिता
ब्र० सू० भा० भा०	ब्रह्मसूत्रभाष्य-भामती	श्लो० वा०	श्लोकवार्त्तिक
भ० गी०	भगवद्गीता	श्वे० उ०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
म० ना० उ०	महानारायण उपनिषद्	सं० शा०	संक्षेप-शारीरक
म० भा०	महाभारत	सं० स्मृ०	संवर्त्तस्मृति
म० स्मृ०	मनुस्मृति	स० उ०	सर्व उपनिषद्
मा० का०	माण्डूक्य-कारिका	स० द० सं० बौ० द०	सर्वदर्शनसंग्रह (बौद्धदर्शन)
मु० उ०	मुण्डक उपनिषद्		
मु० वि० भा०	मुण्डकविवरण-भाष्य	सां० का०	सांख्यकारिका
मै० उ०	मैत्रेयी-उपनिषद्	सां० त० कौ०	सांख्यतत्त्वकौमुदी

———

भूमिका

[१]

सामान्य-परिचय

(१)

ग्रन्थकार

अद्वैतवेदान्त के मनीषियों में आचार्य रामाद्वय का विशिष्ट स्थान है। इनके ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि ये संन्यासी तथा पूज्यपाद श्री अद्वयाश्रम के शिष्य थे।[१]

आचार्य रामाद्वय के कालनिर्णय के विषय में दो प्रकार के प्रमाण प्राप्त होते हैं—(१) अन्तरङ्ग (२) बहिरङ्ग।

अन्तरङ्ग—आचार्य ने अपने मूलग्रन्थ और टीका में जितने भी आचार्यों का उल्लेख किया है, वे सब के सब १४ वीं शती ई० के पहले के हैं। उदाहरणार्थ मूल ग्रन्थ में उन्होंने विमुक्तात्मन् का उल्लेख किया है[२], जो १३ वीं शती ई० के प्रारम्भ में थे।[३] टीका में आचार्य ने जनार्दन की चर्चा की है[४], जो १३ वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में वर्त्तमान थे।[५] इसके अतिरिक्त टीका में उन्होंने अमलानन्द[६], चित्सुखाचार्य[७], श्रीहर्ष[८] आदि जितने भी अन्य विद्वानों का नाम लिया है वे सभी १३ वीं शती ई० के पूर्वार्द्ध में या उसके पहले वर्त्तमान थे।[९] रामद्वयाचार्य ने प्रकटार्थविवरण टीका की भी चर्चा की है[१०] जिसके लेखक आचार्य का काल १२ वीं शती ई० का उत्तरार्द्ध है।[११] इसके अतिरिक्त आचार्य ने उन आचार्यों में से किसी भी आचार्य का उल्लेख अपने ग्रन्थ में नहीं किया है जो १४ वीं शती ई० के उत्तरार्द्ध में या उसके वाद हुए थे। उदाहरणार्थ—विद्यारण्य स्वामी का समय १३५० ई० है।[१२] नृसिहाश्रम अप्पयदीक्षित, प्रकाशानन्द ये सब १६ वीं शती ई० के आचार्य हैं।[१३] इन सबके आधार पर इतना कहा जा सकता है कि आचार्य रामाद्वय न तो १३ वीं शती ई० उत्तरार्द्ध के पहले हुये थे और न १४ वीं शती ई० उत्तरार्द्ध के बाद।

---

[१] वे० कौ० १, पृ० ३५२। [२] वे० कौ० ४, पृ० २६६।
[३] हि० आ० इं० फि०, द्वि० भा०, ९, पृ० १९८।
[४] वे० कौ० भा० दी० १, पृ० ७१। [५] वे० तत्त्वा० (भू०) पृ० १३।
[६] वे० कौ० भा० दी० १, पृ० १७४। [७] वे० कौ० भा० दी० १, पृ० १२८।
[८] वे०कौ०भा० दी० १ पृ०१२१। [९] हि०आ० इं०फि० द्वि०भा०९पृ० १२५।
[१०] वे०कौ० १, पृ० १५६। [११] हि० आ०इं०फि० द्वि०भा०९ पृ०१९६।
[१२] हि० आ० इं० फ़ि० द्वि० भा० ९ पृ० २१५।
[१३] हि० आ० इं० फि० द्वि० भा० ९ पृ० २१७-२१।

बहिरङ्ग—अप्पयदीक्षित ने अपने ग्रन्थ—'सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह' में आचार्य रामाद्वय के मतों का उल्लेख कहीं—"कौमुदीकृतस्तु[१]", कहीं—"कौमुद्यां तु[२]" और अन्यत्र—"रामाद्वयाचार्याः[३]" कहकर किया है। अप्पयदीक्षित का काल १६ वीं शती ई० है। इसके अतिरिक्त १७ वीं शती ई० में वर्त्तमान लघुचन्द्रिका के प्रणेता स्वामी ब्रह्मानन्द ने भी अपने ग्रन्थ में "कौमुदीकृतः" कहकर इनका उल्लेख किया है।[४] अतः आचार्य रामाद्वय इसके पहले वर्त्तमान थे।

आचार्य रामाद्वय-विरचित टीका के प्रथम अध्याय की पाण्डुलिपि की एक प्रति रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता में उपलब्ध है। ग्रन्थालय के अनुसार इसकी पाण्डुलिपि सं० G 9079 है। यह मूल प्रति की अनुकृति है; और अनुकर्त्ता (copyist) शेषनृसिंह ने अनुकरण काल १४४० शकाब्द लिखा है—"श्री शाके १४४० बहुधान्यसंवत्सरफाल्गुनवदिचतुर्थ्यां भृगौ चित्रानक्षत्रे कुम्भेऽर्के तुलास्थे गुरौ शेषनृसिंहेन स्वार्थं लिखितमिदम्"। प्रथम अध्याय की एक और प्रति सरस्वतीभवन वाराणसेय संस्कृत विश्व विद्यालय में प्राप्त है। इसके अनुकारक (copyist) दीक्षित सूरदास हैं। उन्होंने अध्याय के अन्त में निम्नलिखित रूप से उपसंहार किया है—

"वेदान्तीवादिदन्तावलवलदलनः शङ्करः किं परोऽयं
किञ्चातीवप्रसन्नः [प्रचुरसुर—]सभाभासुरोऽयं सुरेशः।
किं वा साक्षादलक्ष्यः क्षिततलविबुधैरित्यकीर्त्तीश्वरोऽयं
शर्वः सर्वप्रतिष्ठः स जयति मतिमान् नाम रामाद्वयोऽसौ ॥

शुभं भवतु।

शके संवत् १५७१ वर्षे श्रावणवदि ६ दिने अद्येह श्रीगिरिपुरे रायाराय महाराउल श्री उदियसिंघपति राज्ये अभ्यन्तरनगराम्नाती लेखकदीक्षितसूरदासलिखितम्।" इस उल्लेख के अनुसार यह अनुकृति १५७१ अर्थात् १६५० ई० के आस पास की गई होगी और मूल ग्रन्थ उसके भी पहले लिखा गया होगा।

इस प्रकार अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग दोनों प्रमाणों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आचार्य रामाद्वय का काल १४ वीं शती ई० का पूर्वार्द्ध है।

कृति –

वेदान्तकौमुदी के अतिरिक्त आचार्य ने वेदान्तकौमुदीभावदीपिका (या भावार्थदीपिका) नाम की टीका का भी प्रणयन किया है। हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसॉफी में श्री एस० एन० दासगुप्त का कथन है कि रामाद्वयाचार्य ने वेदान्तकौमुदीव्याख्यान नामक टीका लिखी थी[५]। पद्मविभूषण पं० सुब्रह्मण्यशास्त्री भी इस मत के समर्थक हैं।[६] दोनों विद्वानों का यह कथन, टीका के प्रारम्भ में लिखित "कुर्वे वेदान्तकौमुद्या व्याख्यानं गुर्वनुग्रहात्"—मङ्गलश्लोकांश के आधार पर है। किन्तु यह समीचीन नहीं प्रतीत होता,

[१] सि० ले० सं० १, पृ० १४०। [२] सि० ले० सं० १, पृ० १८४।
[३] सि० ले० सं० २, पृ० ३६६। [४] ल० चं०, पृ० ३२५।
[५] हि० आ० इं० फि० द्वि० मा० ९, पृ० २०५।
[६] वे० कौ० भू० (मद्रास वि० वि०) पृ० २।

क्योंकि टीका की अन्य अध्यायों की प्रतियों के अन्त में "रामाद्वयस्य कृतौ स्वकृतवेदान्तकौमुदी-भावदीपिकायां (भावार्थदीपिकायां)···अध्याय:"—ऐसा लिखा मिलता है[१]। कुछ लोगों के अनुसार इन्होंने 'तत्त्वविवेक' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। पर एक विचारक वर्ग इसे शेषनृसिंहाश्रम द्वारा रचित मानता है।

(२)

ग्रन्थ-संयोजन

प्रस्तुत ग्रन्थ का संयोजन छ विषयवस्तुओं पर आधारित है—

क—आलोचनात्मक अध्ययन। ख—संशोधित मूलग्रन्थ। ग—संशोधित टीका घ—संशोधित मूलग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद। ङ—टिप्पणी। च—परिशिष्ट।

क—आलोचनात्मक अध्ययन—

आलोचनात्मक अध्ययन में केवल मुख्यविषयों का विवेचन है। विषय की दृष्टि से इसे सात भागों में विभक्त किया गया है—

(१) वेदान्त का कर्मकाण्डवहिर्भूतत्वविचार (२) प्रमाणस्वरूपविचार (३) माया-स्वरूपविचार (४) तत्पदार्थशुद्धि (५) त्वंपदार्थशुद्धि (६) महावाक्यार्थबोध (७) ब्रह्म-साक्षात्कारविचार।

मूलग्रन्थ में विखरे, उपर्युक्त भागों से सम्वद्ध विषयों को स्थान-स्थान से सङ्गृहीत कर क्रमिक रूप में रखा गया है। विषयों के स्पष्टीकरण के लिये कहीं-कहीं रेखाचित्रों का भी प्रयोग किया गया है। आचार्य की मौलिकता एवं उनके वेदान्त के योगदान को स्पष्ट करने के लिये इस भाग के अन्त में उपसंहारात्मक अंश भी दिया गया है।

ख—संशोधित मूलग्रन्थ—

मूलग्रन्थ वेदान्तकौमुदी के निर्माण की आधारशिला महर्षि कृष्णद्वैपायन के प्रथम चार सूत्र हैं। ये चारो सूत्र ग्रन्थ को क्रमशः चार अध्यायों में विभक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य ने प्रयोजनकौमुदी, जीवकौमुदी इत्यादि के रूप में भी ग्रन्थ को अस्पष्ट रूप में विभक्त किया है। इसका निश्चय ग्रन्थकार के ग्रन्थ में आये हुए वाक्यों से होता है।[२] आलोचनात्मक अध्ययन के बाद इसी मूलग्रन्थ का प्रारम्भ होता है। वेदान्तकौमुदी की उपलब्ध मुद्रित प्रति मद्रास विश्वविद्यालय-मुद्रणसंस्थान में मुद्रित हुई है। इसके सम्पादक पं० एस० सुब्रह्मण्य शास्त्री के कथनानुसार इसके मुद्रण का आधार मद्रास के राजकीय पाण्डुलिपि-सङ्ग्रहालय में प्राप्त पाण्डुलिपि है। सङ्ग्रहालय की सूची के अनुसार इसकी संख्या R No ३३४६ है। यह भी नाडुविल मठ ट्रावनकोर कोचीन में प्राप्त ताड़पत्र का अनुकरण है। उक्त पुस्तक के सम्पादित एवं मुद्रित होने पर सम्पादक को भाण्डारकर

---

१ वे० कौ० भा० दी० १, पृ० ३५२।

२ वे० कौ० १, पृ० ५३, ३१०। २, पृ० ५४५।

ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट पूना से कुछ पाठान्तर प्राप्त हुए। सम्पादक ने उन्हें मुद्रित पुस्तक के अन्त में जोड़ दिया।[१]

इतना होने पर भी यह ग्रन्थ अपनी शुद्धि के विषय में अपूर्ण रहा। इस अपूर्णता को दूर करने का यथाशक्ति प्रयास वर्तमान संस्करण में किया गया है। इस कार्य में रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता से प्राप्त द्वितीय एवं चतुर्थ अध्यायों की पाण्डुलिपि सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुई। पाठान्तरों में इसका पाठ अधिक समीचीन रहा। एशियाटिक सोसाइटी से मँगाई गई इसकी माइक्रोफिल्म में यद्यपि अधिकांश लिपा-पुता एवं अस्पष्ट था, तथापि पठनयन्त्र (film-reader) की सहायता से कठिनाइयाँ दूर होती गईं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालयीय सायाजीराव गायकवाड़ ग्रन्थालय के पाण्डुलिपि-सङ्ग्रहालय में भी मूल ग्रन्थ की दो प्रतियाँ प्राप्त हैं। अध्यायों की दृष्टि से पूर्ण होती हुई भी वे विषय की दृष्टि से खण्डित हैं। किन्तु पाठ-संशोधन कार्य में इन दोनो प्रतियों की सहायता प्रचुर है। इसके अतिरिक्त उपर्युक्त संस्थानों से प्राप्त इस ग्रन्थ की टीका की पाण्डुलिपियाँ भी मूल पाठ को शुद्ध करने में बहुत सहायक सिद्ध हुईं। अपूर्ण अंशों के पूरण में भी इनका बहुत बड़ा हाथ है।

इस प्रयास के पश्चात् भी कुछ स्थल सन्दिग्ध रह ही गये। उन सन्दिग्ध स्थलों का संशोधन काशी के मूर्धन्य विद्वानों की सहायता से सम्पन्न हुआ। उपर्युक्त प्रकार से संशोधित मूल पाठ को लिखने में मद्रास-विश्वविद्यालयीय मुद्रित प्रति को यथापूर्व रखा गया है। किन्तु जहाँ इसका पाठ असमीचीन है और अन्य किसी पाण्डुलिपि का पाठ समीचीन है वहाँ पाण्डुलिपि वाले पाठान्तर को ()—इस प्रकार के कोष्ठकों में बन्द करके रखा गया है। जहाँ दोनों प्रकार के पाठ समीचीन प्रतीत नहीं हुये, या पाठ ही उपलब्ध नहीं हुआ वहाँ स्वतः निवेश करना पड़ा है। इन निवेशित अंशों को [ ]—इस प्रकार के कोष्ठकों में रखा गया है।

प्राचीन लेखनपरिपाटी में ग्रन्थ 'अथ' से 'इति' तक विराम-चिह्न आदि से रहित एक अनुच्छेद के रूप में लिखे जाते थे। कालान्तर में अध्यायों की समाप्ति पर उच्छेदपरिवर्त्तन की शैली अपनायी गई। प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपियाँ इसी शैली में उपनिबद्ध हैं। पाठक के समक्ष वर्त्तमान इस ग्रन्थ में इन न्यूनताओं को अपनी बुद्धि के अनुसार दूर करने का प्रयास किया गया है।

मूलग्रन्थ को लिखते समय विषय-निर्देश पर विशेष ध्यान दिया गया है। मद्रास विश्वविद्यालय वाली पुस्तक में दायें पृष्ठों के शीर्ष पर तो विषयों का निर्देश है, किन्तु पृष्ठों के मध्य में, जहाँ से कि विषयों का प्रारम्भ होता है, यह निर्देश नहीं है। फलतः पाठक नूतन विषय के प्रारम्भ को प्राप्त करने की कठिनाई में पड़ जाता है और अध्ययन की धारा अवरुद्ध हो जाती है। इस कठिनता को दूर करने तथा अध्ययन की धारा को अविच्छिन्न रखने के लिए प्रत्येक प्रारिप्सित नूतन विषय को प्रारम्भ में शीर्षक के द्वारा निर्दिष्ट करने की व्यवस्था की गई है।

ग—टीका—

आचार्य ने मूलग्रन्थ के साथ-साथ इस ग्रन्थ की टीका का भी प्रणयन किया है।

[१] वे० कौ० (मद्रास वि० वि०) भू० पृ० ६।

मूलग्रन्थ का प्रथम अध्याय शेष तीन अध्यायों की अपेक्षा बृहद् है। प्रथम अध्याय की टीका भी शेष तीन अध्यायों की टीका की अपेक्षा अति विस्तृत है। चूँकि आचार्य वेदान्त के साथ-साथ मीमांसा के भी प्रकाण्ड पण्डित थे इसलिये मीमांसा के जिन विषयों का प्रथम अध्याय के मूल में सङ्केत मात्र है, आचार्य ने टीका में उन्हें अत्यन्त विस्तृत एवं व्याख्यात्मक रूप से स्पष्ट किया है। मीमांसा तथा वेदान्त के सूत्रों, संहिता तथा ब्राह्मण के वचनों को उद्धृत कर आचार्य ने उन विषयों को समझाने का यथाशक्ति प्रयास किया है। आगे चल कर द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों में यह प्रक्रिया शिथिल पड़ गई है। इसका कारण यह है कि मीमांसा के दुरूह विषय इन अध्यायों में नहीं के बराबर हैं। और जहाँ कहीं ऐसे विषय हैं, आचार्य ने पुनः अपनी प्राचीन पद्धति की आवृत्ति की है। मूल ग्रन्थ में आये एक-एक पद की पूर्वापर-सङ्गति को जोड़ने का प्रयास किया गया है। मूलग्रन्थ में उद्धृत अपूर्ण उद्धरणों को पूरा करना, विशिष्ट स्थल को स्पष्ट करने के लिये सदर्भसङ्गत उद्धरणों का तथा क्लिष्ट शब्दों के सरल पर्यायवाची अथवा अर्थाभिधायी शब्दों का उल्लेख करना टीका की अपनी विशेषता है। मूलग्रन्थ में उद्धृत अंशों के पाठान्तरों को भी टीका में कहीं-कहीं दिया गया है। जिन सम्प्रदायों या आचार्यों के मतों का उल्लेख तो मूलग्रन्थ में है किन्तु उसके नाम नहीं है टीका में उन सम्प्रदायों या आचार्यों के नामों का उल्लेख कर आचार्य ने मूलग्रन्थ को और स्पष्ट कर दिया है। मूलग्रन्थ जितनी ही दुरूह शैली में उप-निवद्ध है टीका उतनी ही प्राञ्जल भाषा तथा सरल एवं प्रवाहपूर्ण शैली में लिखी गई है। ऐसा लगता है कि यह मूलग्रन्थकार की नहीं अपितु किसी दूसरे आचार्य की कृति है और यही इस टीकाग्रन्थ की सर्वोत्कृष्ट विशेषता है जो आचार्य की मौलिक तथा बहुमुखी प्रतिभा का परिचय देती है।

ग्रन्थ-संयोजन में मूलपाठ के नीचे टीका को निवद्ध किया गया है। चारो अध्यायों की टीका में से प्रथम अध्याय की टीका रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता तथा सरस्वती-भवन-वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय से प्राप्त हुई। शेष अध्यायों की टीका भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटयूट पूना से उपलब्ध की गई। सङ्ग्रहालय के अनुसार इसकी पाण्डुलिपि सं॰ 119 of 1881-82 है। एशियाटिक सोसाइटी वाली टीका के अनुकारक (copyist) शेषनृसिंह हैं और सरस्वतीभवन वाली के दीक्षित सूरदास। टीका की दोनों प्रतियाँ मिलती जुलती है। ऐशियाटिक सोसाइटी वाली टीका प्रायः पूर्ण है किन्तु सरस्वती-भवन वाली टीका के उत्तरार्द्ध का कुछ अंश अप्राप्त है, केवल अन्तिम पृष्ठ उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त श्री गङ्गानाथझा रिसर्च इंस्टीटयूट इलाहाबाद में चारो अध्यायों की टीका उपलब्ध है किन्तु यह भी खण्डित है। इस प्रकार टीका की अनुकृत प्रतियों का बाहुल्य इस तथ्य का साक्षी है कि चार सौ वर्ष पूर्व यह ग्रन्थ अध्ययन-अध्यापन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था।

उपर्युक्त समस्त टीका प्रतियों का अध्ययन कर वर्तमान संस्करणात्मक एक नवीन प्रति तैयार की गई है। अध्यायों के प्रारम्भ में तथा अन्य स्थलों में भी अक्षरों के लिपेपुते होने के कारण अस्पष्ट होने से अनुमान के आधार पर कुछ निवेश करना पड़ा है। इन निवेशित अंशों को [ ] — इस प्रकार के कोष्ठकों में रखा गया है। साथ-ही अपने द्वारा निवेशित उन अंशों को भी इसी प्रकार के कोष्ठकों में रखा गया है जिनको पाठान्तर की असमीचीनता के कारण

निवेशित करना पड़ा है। उपर्युक्त संस्थानों से प्राप्त पाण्डुलिपियों में अध्यायगत विषय भी विशृङ्खलित प्राप्त हुये थे इन अध्यायों का समीचीन पर्यवेक्षण कर अध्यायगत विषयों को सुश्रृङ्खलित किया गया है। टीका को आद्योपान्त सभी प्रकार से पूरा करने के लिए किये गये प्रयास के पश्चात् भी चतुर्थ अध्याय में लगभग पन्द्रह पंक्तियाँ अप्राप्त अत एव अपूर्ण ही रह गईं।

टीका में आये हुए मूल के प्रतीकों एवं पाठों को बड़े अक्षरों में रखा गया है। साथ ही उद्धृत सूत्रों को भी इसी प्रकार के अक्षरों में रखने की व्यवस्था की गई है। मूलग्रन्थ की भाँति इसमें भी विषयों को प्रारम्भ में शीर्षकों के द्वारा निर्दिष्ट किया गया है। मूलग्रन्थ की पाण्डुलिपि के समान टीकाग्रन्थ की पाण्डुलिपि भी अनुच्छेद विराम आदि से रहित प्राप्त हुई थी। इसे अनुच्छेद-विभजन, विराम-चिह्न आदि से सज्जित किया गया है।

घ अनुवाद—

ग्रन्थ का चतुर्थ विषयवस्तु मूलपाठ का अनुवाद है। वह टीका के नीचे संयोजित किया गया है। ऐसा प्रयास किया गया है कि अनुवाद अक्षरशः हो किन्तु मूल को स्पष्ट करने के लिए स्थान-स्थान पर अपनी शब्दावली जोड़नी पड़ी है। मध्यकालीन 'ननु···इति चेन्न···' वाली शैली से प्रायः भिन्न शैली में उपनिबद्ध होने के कारण ग्रन्थ के अनुवाद में उपस्थित पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के निर्धारण की कठिनता को निरस्त करने के लिये प्रत्येक पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के आदि में '(पू)' '(उ)' सङ्केतों का प्रयोग किया गया है। दो चार स्थलों पर पद-लेख भी दिये गये हैं। संशोधित मूल एवं टीका ग्रन्थ की भाँति यहाँ भी प्रत्येक विषय के विभाजन एवं प्रारम्भ को स्पष्ट करने के लिये शीर्षकों के संयोजन की व्यवस्था की गई है। यह अनुवाद संशोधित मूल-पाठ को आधार मानकर किया गया है, न कि केवल मद्रास विश्वविद्यालयीय मुद्रित पुस्तक या अन्य पाण्डुलिपि को। इसलिये यह भी यथासम्भव समीचीन एवं शुद्ध है।

ङ—टिप्पणी—

टिप्पणी ग्रन्थ का अन्तिम संयोजन है। इसे सबसे नीचे रखा गया है। यह दो प्रकार की है—(१) जो पाठ-भेद का विवरण प्रस्तुत करती है। (२) जो सन्दर्भ का सङ्केत प्रस्तुत करती है। भिन्न-भिन्न संस्थानों से प्राप्त मूल एवं टीका के पाठों का तुलनात्मक अध्ययन कर उचित प्रतीत होने वाले पाठ को मूलग्रन्थ में रखने के बाद शेष पाठान्तरों को क, ख, ग आदि के द्वारा सङ्केतित कर टिप्पणी में रखा गया है। टिप्पणी (२) उन उद्धरणों के प्रसङ्गों को प्रस्तुत करती है जो मूलग्रन्थ में आये हैं। किन्तु इन उद्धरणात्मक प्रसङ्गों की पूर्णतालिका ग्रन्थ के परिशिष्ट वाले भाग में है।

च—परिशिष्ट—

ग्रन्थ के अन्त में संयोजित परिशिष्ट के दो अंश हैं। प्रथम अंश मूलग्रन्थ एवं टीका में प्राप्त उद्धरणों के प्रसङ्गों का विवरण प्रस्तुत करता है। द्वितीय अंश परिभाषिक शब्दावली का परिचायक है। अन्त में शुद्धिपत्र है जो मुद्रण की अशुद्धियों एवं उनके शुद्ध रूप का निर्वचन करता है।

---

[२]

विषय-विवेचन

(१)

वेदान्त का कर्मकाण्डबहिर्भूतत्वविचार

वेदान्तशास्त्र का प्रारम्भ होना चाहिये—

गंगा-यमुना स्वरूप ज्ञानकाण्ड एवं कर्मकाण्ड की दो धारायें एक ही दिशा में प्रवाहित होती हुई जिस तीर्थराज को अपनी संगम-स्थली बनाती हैं, वह है—परमपुरुषार्थ की प्राप्ति। इस तीर्थराज में जहाँ ज्ञानकाण्ड की मन्दाकिनी का उज्ज्वल, आत्मचिन्तनपरक वेदान्तशास्त्र का सितप्रवाह प्रवाहित है, वहाँ कर्मकाण्ड की कालिन्दी यज्ञ, अग्निहोत्र आदि के धूम से कृष्णायित धर्मशास्त्र के असितस्रोत से आप्लावित है।

कुछ लोगों का आक्षेप है कि वेदान्तशास्त्र का प्रारम्भ नहीं होना चाहिये। इसमें वे तर्क देते हैं कि—(१) वेदान्त का अनुबन्धचतुष्टय नहीं है। (२) वेदान्त कर्मकाण्ड से गतार्थ है। इसका प्रतिवाद करते हुए रामाद्वयाचार्य का कथन है कि वेदान्त का भी अनुबन्धचतुष्टय है। वह इस प्रकार—

(क) **विषय**—निष्प्रपञ्च आत्मा का ज्ञान।

(ख) **सम्बन्ध**—प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव।

ग—अधिकारी—

कर्मों के द्वारा योग्यता को प्राप्त व्यक्ति ब्रह्मविचार का अधिकारी है—

श्रुति इस विषय में प्रमाण है कि ब्रह्मविचार का अधिकार मनुष्यमात्र को है[1]। किन्तु ब्रह्मविचार की योग्यता उसमें तभी आती है जब कि वह अँड़तालिस संस्कारों से संस्कृत हो जाता है। अन्यथा संस्कारजन्य चित्त-शुद्धि के अभाव में ब्रह्मविचार की बात कल्पना-मात्र रह जायगी। इसीलिए श्रुति "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत; तमध्यापयीत"[2]–कह कर यह संकेत करती है कि वेदान्तविचार का अधिकारी केवल ब्राह्मण है। किसी अन्य कुल में जन्म लेने वाले को भी ब्रह्मविचारार्थ पुनः ब्राह्मणत्व से युक्त होना पड़ता है।

ब्राह्मणत्वजातिनिश्चय—

ब्राह्मण कौन है ?—इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य का कथन है कि ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न होते हुए भी जो ब्राह्मणवृत्ति से जीवनयापन करता है वही ब्राह्मण है। ऋषिवंशों का ब्राह्मणत्व निर्बाध है। सच बात तो यह है कि उपनिषद् या वेदान्त के विचार में प्रवृत्त लोगों का एक समुदाय होता है और वही ब्रह्मविचार का अधिकारी है।[3]

---

[1] कठोप० २।२। [2] आप० ध० सू० १।१।१९,३१।

[3] वे० कौ० १, पृ० २३३-३४।

अधिकारी को विरक्त होना चाहिये—

सूर्योदय के पूर्व होने वाले अरुणोदय के समान ब्रह्मविचार के पहले वैराग्य का होना सबके लिये परम आवश्यक है। "त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः"[१] श्रुति, तथा "त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्"[२]—वचन इसमें प्रमाण हैं। अत्यधिक आयाससाध्य इष्ट, पूर्त्त, दत्त आदि कर्मों के द्वारा दक्षिणयान से चलकर मनुष्य जीव, योनि, गर्भ आदि का अनुभव करता है। यहीं से स्त्री आदि के प्रति दोषदृष्टि होने के कारण उसको विराग होता है। मनु आदि के प्रमाण-स्वरूप वाक्य इस वैराग्य-अग्नि में घृत का कार्य करते हैं। और जब अग्नि पूर्ण सन्दीप्त हो जाती है तब ब्रह्मविचार का प्रारम्भ होता है।

व्याकरण सम्प्रदाय वालों का कथन है कि ब्रह्मविचार या निर्वेद व्यर्थ है; क्योंकि शब्द ही ब्रह्म है और श्रुति इसमें प्रमाण है कि काशी में मृत्यु के समय रुद्र मुमूर्षु को तारक मन्त्र का उपदेश देते हैं, जिससे मुक्ति हो जाती है।[३] किन्तु आचार्य का कथन है कि शब्द एवं अर्थ परस्पर भिन्न हैं, क्योंकि इस विषय में श्रुति प्रमाण हैं[४]। इसलिये ओंकार का उपदेश ब्रह्म का साक्षात्कार कराना नहीं है। इसके अतिरिक्त यह उपदेश भी उसी को होता है जो निर्वेद आदि के द्वारा शुद्धचित्त होकर ब्रह्मविचार का अधिकारी हो जाता है। ब्रह्मत्व अकृत है वह कृत अर्थात् काशीमरण से सम्पाद्य नहीं हो सकता[५]। ओंकार महावाक्य है, ब्रह्म उसका प्रतिपाद्य अर्थ है। काशीमरण एवं तारक मन्त्र का उपदेश मोक्ष की प्राप्ति में सहायक मात्र है।

गृहस्थ अधिकारी नहीं हो सकता—

कठोपनिषद्[६] भगवद्गीता[७] इत्यादि श्रुति-स्मृतियों तथा "-ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृहस्थाश्रमवाला होना चाहिये"[८]—इत्यादि वचन के आधार पर कुछ लोगों का कथन है कि परमपुरुषार्थ गृहस्थाश्रम से ही प्राप्य है। आचार्य रामाद्वय इससे असहमत होते हुए कहते हैं कि जावाल उपनिषद्[९] का "यदहरेव विरजेत्" तथा कैवल्य उपनिषद्[१०] संन्यास का ही मुख्यत्व प्रतिपादित करती हैं। गौतम आदि का "नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती"[११]—इत्यादि वचन गार्हस्थ्यप्रशंसापरक मात्र है न कि अन्याश्रमनिषेधपरक। अकृत संन्यास स्वेच्छा-मात्रकृत गृहस्थाश्रम के द्वारा असम्भव है।

ब्रह्मज्ञान के लिये संन्यास आवश्यक है—

"त्यागेनैकेऽअमृतत्वमानशुः"[१२]—इत्यादि श्रुति संन्यास को ही ब्रह्मज्ञान का साधन बतलाती हैं। संन्यास के अतिरिक्त दूसरा कोई भी उपाय ऐसा नहीं है जो कई जन्मों में अनुष्ठित होकर भी अदृष्ट उत्पादन के द्वारा ब्रह्मज्ञान का साधन बन सके।

---

१ कै० उ० १।३। २ बृ० वा० सा० १।१५०। ३ जा० उ० १।
४ छा० उ० ८।१४। ५ मुं० उ० १।२। ६ कठोप० १।३।९।
७ भ० गी० ६।१। ८ जा० उ० ३। ९ जा० उ० ४।
१० कै० उ० १।३। ११ बौ०ध०सू० २।१।१। १२ म०ना० उ० १०।५।

संन्यास ब्राह्मणों के लिये ही है—

कुछ लोगों का तर्क है कि चूंकि बृहद्व्रताश्रम, वेदाध्ययन, गृहस्थ एवं वानप्रस्थ आश्रमों में त्रिवर्ण का अधिकार है, इसलिये संन्यास भी त्रिवर्ण के लिये है।

रामाद्वयाचार्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार अन्यान्य कर्मों में क्षत्रिय आदि की शूद्र से अतिरिक्त होने की पृथक् श्रुति तथा वचन है, संन्यास के विषय में उस प्रकार क्षत्रिय आदि के लिये पृथक् वचन नहीं है। श्रुति "योगिनां परमहंसानां कोऽयंमार्गः"—ऐसा उपक्रम कर "पुत्रमित्रकलत्रवन्धून्"[1]—इस उपसंहार के द्वारा इस तथ्य की ओर संकेत करती है कि संन्यास अन्य आश्रमों के पहले भी हो सकता है; यदि इस संन्यास या पारमहंस्य को प्रथम आश्रम में ही होना है तो ऐसी स्थिति में यह अनिवार्य है कि अधिकारी परमविवेकपूर्वक परमवैराग्य वाला तथा ब्राह्मण हो।

संन्यास प्रत्यावृत्तिरहित होता है—

ब्राह्मण संन्यास ग्रहण करने के बाद यदि सन्तान-प्राप्ति के लिये भी गृहस्थाश्रम में लौटता है तो स्मृतियों के अनुसार वह अपराधी होता है तथा प्रायश्चित्त करने के बाद ही शुद्ध होता है।[2]

उपर्युक्त गुणों से सम्पन्न अधिकारी वेद-सम्मत है। वह "समित्पाणिः"[3]--इत्यादि वचनों के अनुसार थोड़ा बहुत उपायन लेकर वेदान्तविज्ञानकुशल आचार्य के पास जाता है।

(घ) प्रयोजन—

अधिकारी-निरूपण के बाद प्रयोजन का निरूपण क्रमशः प्राप्त एवं आवश्यक है। वेदान्तशास्त्र का प्रयोजन है—अविद्योच्छेदपूर्वक परमआनन्दस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति।

एकरूप ब्रह्म में आनन्द के उत्कर्ष की प्रतीति सम्भव है—

आनन्द का स्वरूप नित्य, निरतिशय है; किन्तु उपनिषद् इसे सातिशय अर्थात् सौगुने उत्कर्ष के साथ कहती है।[4] इसका स्पष्टार्थ यह है कि चित्तशुद्धि में जैसे-जैसे उत्कर्ष होता है, वैराग्य का तारतम्य वैसे-वैसे उत्कृष्ट होता जाता है और इसी के अनुसार क्रमशः आनन्द की अभिव्यक्ति बढ़ती जाती है। आनन्द के इस सातिशयत्व के विषय में उत्कृष्ट भोग-साधन की श्रुतियाँ तथा भोग को उद्दिष्ट करके अश्वमेध आदि विधियाँ प्रमाण है। ये ब्रह्मानन्द के निरतिशयत्व को बतलाती हैं। ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त अन्य सातिशय आनन्द लौकिक मठाकाश आदि के समान औपाधिक हैं। यह निरतिशय एवं सुखास्पद आत्मा ही परम पुरुषार्थ है, जिसका निर्वचन भगवती श्रुति "पुत्रात् प्रेयः वित्तात् प्रेयः"[5]—इत्यादि कहकर करती है। आनन्दोत्कर्ष की श्रुति इसी आत्मा के क्रमिक साक्षात्कार की ओर संकेत करती है।

न्याय-सम्मत मोक्षवाद और उसका खण्डन—

न्याय-सिद्धान्त के अनुसार आनन्द सद् वस्तु नहीं है। वह दुःखाभाव मात्र है। अतः अभाव स्वरूप होने के कारण उसकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। फलतः मोक्षावस्था जड

---

[1] प० हं० उ०। [2] यम स्मृ०। [3] मुं० उ० १।२।१२।
[4] बृ० उ० ४।३।३२। [5] बृ०.उ० १।४८।

स्वरूप है। कभी-कभी दुःख के रहने पर भी विस्मापक हेतु के संसर्ग के कारण जो आह्लाद की प्रतीति होती है वह भी दुःखाभाव की प्रतीति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मुक्तावस्था के जड होने में "अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशः"[1]—इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण है।

इसके विपरीत वेदान्त का मत है कि पामरापामर उभयप्रसिद्ध व्यवहार इस विषय में प्रमाण है कि दुःखाभाव एवं सुख दोनों दो वस्तुयें हैं। दुःखाभाव का कारण कष्टप्रद वस्तुओं का अभाव तथा सुख का कारण परिस्थितियों का आनुकूल्य है। 'मैं सुखी हूँ'—यही व्यवहार होता है, 'मैं दुःखाभाववान् हूँ'—यह व्यवहार नहीं होता। "अशरीरं वाव" - श्रुति शरीरोपाधिभोग्य सुख दुःख का निषेध करती है न कि आत्मस्वरूप आनन्द का।

मुक्तिविषयक योगमत और उसका निराकरण—

योगदर्शन का मत है कि अविद्या—अनित्य, अशुचि आदि को नित्य, शुचि आदि समझना; अस्मिता—पुरुष एवं बुद्धि को एक समझना; राग—सुख एवं उसके साधन के प्रति तृष्णा; द्वेष—दुःख या उसके साधन के प्रति क्रोध या जिघांसा; अभिनिवेश—मृत्यु से भय : इन पाँच विपर्ययों का परिणाम संसार है।[2] प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार कर्मों की जन्मभूमि भी अविद्या ही है।[3] बुद्धि-पुरुष-विवेक के द्वारा जब अविद्या आदि पाँचो क्लेशों का जन्म आयु एवं भोग को उत्पन्न करने का सामर्थ्य दग्ध हो जाता है तब अविद्या आदि विकारों के कोशभूत प्रधान का भी आवश्यक रूप से दाह हो जाता है। अर्थात् मूषिकाघ्रात शालि के समान इसका प्ररोह-सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। इस नाश के लिये अभ्यास एवं वैराग्य की आवश्यकता होती है। वैराग्य के द्वारा इन्द्रियों की प्रवृत्ति के विषयाभिमुख्य को रोका जाता है तथा विवेक-दर्शन के अभ्यास से क्लेश-संस्कारों को क्षीण किया जाता है। यह संस्कार-क्षीणता या निरोधरूप समाधि जब निरन्तर एवं दीर्घकाल तक आदर के साथ सेवित होती है तब दृढ़ हो जाती है। और तब विषयाभिमुख्य वाले क्लेश-संस्कार उसे कभी भी प्रभावित नहीं कर पाते। इस प्रकार की जीवन्मुक्त अवस्था में रहते हुए योगी का जब शरीर-पात हो जाता है, तब उसको सर्वदा के लिये और सर्वथा कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है।

इस मत का खण्डन करते हुए वेदान्त का कथन है कि—सांख्यदर्शन के अनुसार तमोगुण नित्य है। इसलिये शक्ति-रूप इस तमोगुण का उच्छेद सम्भव न होने से विषयाभिमुख्य वाले क्लेश-संस्कारों का प्रभाव पड़ेगा ही। अतः समाधि का दृढ़भूमित्व कथामात्र है। दूसरी बात यह है कि सांख्य के अनुसार प्रधानतत्त्व जड़ है, अतः उसे विवेक नहीं होगा जिसके कारण वह यह सोचकर—कि मै इस पुरुष के प्रति कृतार्थ हो गई हूँ अतः इसके प्रति प्रवृत्त नहीं होना चाहिये—प्रवृत्त नहीं होगी। इस प्रकार प्रकृति का बन्ध-मोक्ष तथा इसका पुरुष में उपचार इत्यादि बातें अप्रामाणिक हैं।

---

[1] छा० उ० ८।१२।१। [2] पा० प०। सू० २।५-९।
[3] पा० यो० सू० २।४।

सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द—

छान्दोग्य आदि उपनिषदों के अनुसार सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। योगदर्शन का आक्षेप है कि—जहाँ सोकर उठे हुए व्यक्ति के सुषुप्ति में अनुभूयमान सुख की 'मैं सुखपूर्वक सोया'—इस परामर्श-ज्ञान से पुष्टि होती है वहीं पर, 'मैं दुःखपूर्वक सोया', 'गाढ़ मूढ होकर सोया'—इस प्रकार के भी परामर्श ज्ञान से अनुभूयमान 'दुःख एवं मोह की भी पुष्टि होती है। अतः यदि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है तो सुषुप्ति में उसकी प्राप्ति नहीं होती और यदि प्राप्ति होती है तो वह ब्रह्म-प्राप्ति केवल आनन्दमयी नहीं है।

इस विषय में वेदान्त का समाधान है कि—हम सुषुप्ति में जिस सुख का अनुभव करते हैं वह अन्तःकरण का परिणाम है न कि ब्रह्मानन्द। सुषुप्ति समस्त कर्मो की वृत्ति की निरोध की अवस्था है न कि ब्रह्मसुखावमर्श की अवस्था। "सत् को प्राप्त होकर भी यह नहीं जानते कि हम सत् को प्राप्त हो रहे हैं"[१]—इत्यादि जिन श्रुतियों को सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द के अनुभव के लिये प्रमाण माना जाता है वे श्रुतियाँ उक्त विषय में प्रमाण न होकर यह बतलाती हैं कि इस अवस्था में जिस आनन्दस्वरूप ब्रह्म का अवमर्श होता है वह निर्विक्षेप माया से आवृत ब्रह्म है, केवल ब्रह्म नहीं।

कायव्यूह के निर्माण के द्वारा कर्मफलों के भोग का निराकरण—

योगसूत्रकार पतञ्जलि का मत है कि इच्छा होने पर योगी अपनी योगशक्ति के द्वारा एक ही समय में अनेक शरीरों का निर्माण करता है और इस निर्मित शरीर में वर्त्तमान अनेक निर्माणचित्त के द्वारा वह समस्त कर्मों के समस्त भुज्यमान एवं भोग्य फलों का एक ही साथ भोग सम्पादन कर यथेष्ट समय में मुक्त हो जाता है।

यह सिद्धान्त प्रारब्ध कर्मों के विषय में तो ठीक है; किन्तु जिन सञ्चित या क्रियमाण कर्मों के फलों को ब्रह्माण्डान्तर या लोकान्तर में भोगना है उनके विषय में असङ्गत है, क्योंकि दो लोकों की एकत्र एवं एक काल में स्थिति असम्भव है। साथ ही ऐसा मानने पर "वह जब पितृलोककामी होता है, संकल्प से ही पितृगण इसके पास उपस्थित हो जाते हैं।"[२]—इत्यादि श्रुतियों से विरोध हो जायगा, क्योंकि पितृलोक की मृत्युलोक में स्थिति असम्भव है। सगुण या निर्गुण किसी भी ब्रह्म की उपासना के द्वारा या मुक्तों के चित्तों को आधार मानकर योगी के भोग का प्रतिपादन भी सम्यक् नहीं है क्योंकि आज तक एक भी व्यक्ति की इस प्रकार की मुक्ति नहीं सुनी गई। योग के प्रभाव से हीन जडभरत आदि की मुक्ति से यह बात और पुष्ट हो जाती है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि तत्त्वसाक्षात्कार से सञ्चित कर्मों का क्षय होता है किन्तु प्रारब्ध कर्मों को तो भोगना ही पड़ता है। इसीलिये ब्रह्म-साक्षात्कार करने के बाद भी सनत्कुमार आदि को सात-सात जन्म ग्रहण करने पड़े थे।

एकभविक मोक्षवाद भी असङ्गत है—

मोक्ष के विषय में एक मत यह भी है कि मृत्यु सभी कर्मो की व्यञ्जिका है।[३] इसलिये मृत्यु के समय सभी कर्म मिलकर मुमुक्षु के देह का आरम्भ करते हैं। इस

---

[१] छा० उ० ६।९।२। [२] छा०उ०८।२।१। [३] पा० यो०सू०भा० २।१३।

आरब्ध देह में प्रतिषिद्ध एवं काम्य कर्मों के न होने से तथा नित्य कर्मों के करने से प्रत्यवाय का अभाव होने के कारण देहान्तर का उदय नहीं होता। फलतः इस देह के नष्ट हो जाने पर मोक्ष हो जाता है।

इस मत के असङ्गत होने के कई कारण हैं—

१—इसमें श्रौत प्रमाण नहीं है। २—आम्नायसिद्ध अनेक विजातीय देह के द्वारा भोग्य फलों का भोग एक देह से सम्भव नहीं है। ३—कर्मों के प्रबल एवं दुर्बल होने से सब कर्म एक साथ फल नहीं दे सकते। ४—मोक्ष क्रिया से उत्पन्न होने के कारण अनित्य हो जायगा। ५—यदि मृत्यु सभी कर्मों की व्यञ्जिका है तो मोक्ष न चाहने वाले को भी मोक्ष की प्राप्ति हो जायगी; तथा कर्मानधिकृत को निश्चित एवं कर्माधिकारी को प्रमाद से काम्य कर्म करने के कारण मोक्ष की प्राप्ति सन्दिग्ध हो जायगी। ६—युगपद् विरुद्ध-फल वाले कर्मों का एक साथ फलदान प्राप्त होने लगेगा। किन्तु फलप्राप्ति क्रम से होती है। इसलिये प्रबल एवं दुर्बल कर्मों के फल के क्रमानुसारी होने से सनत्कुमार आदि को सात जन्म ग्रहण करने पड़े थे।

मोक्षसम्बन्धी बौद्ध एवं मीमांसा के मतों का निरास—

मोक्ष के विषय में बौद्ध का मत है—जो सत् है वह क्षणिक है; जो क्षणिक है वही अर्थक्रियाकारी है। विज्ञानसन्तान स्वरूप आत्मा भी क्षणिक एवं अर्थक्रियाकारी है। जैसे दीपक बुझ जाता है उसी प्रकार रागआदिविज्ञानसन्तानस्वरूप आत्मा का सर्वथा नाश हो जाना ही मोक्ष है।

रामाद्वयाचार्य के अनुसार यह कथन भी असङ्गत है। क्योंकि अर्थक्रिया में अन्त्य क्षण के न होने से अर्थक्रिया नहीं होगी। और इस कारण पूर्व क्षण के न होने से सन्तान न होने के कारण उच्छेद का कोई विषय ही नहीं होगा।

मीमांसकों के अनुसार नित्य एवं निरतिशय सुख की अभिव्यक्ति ही मुक्ति है। किन्तु यह सिद्धान्त भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि उनके मत में कर्म का उच्छेद नहीं होता। अतः असत् कर्म के रहते हुए नित्य निरतिशय सुख की कल्पना प्रलापमात्र है।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि वेदान्त का प्रयोजन है—ब्रह्मानन्द की प्राप्ति। चूंकि यह प्रयोजन अन्य किसी भी प्रकार से सम्भव नहीं है, साथ ही वेदान्त का स्वतन्त्र अनुबन्ध चतुष्टय भी है; इसलिये वेदान्तकौमुदी का प्रारम्भ अनुचित नहीं अपितु युक्तियुक्त एवं आवश्यक है।

वेदान्त कर्मकाण्ड से गतार्थ नहीं है—

कुछ लोगों का आक्षेप है कि वेदान्त का फल कर्मकाण्ड से भी मिल सकता है। और चूंकि कर्मकाण्ड वेदान्त के पहले से वर्त्तमान है अतः उसी से वेदान्त के गतार्थ हो जाने से वेदान्तशास्त्र या वेदान्तकौमुदी का प्रारम्भ व्यर्थ है।

इस विषय में बीच में ही आशङ्का होती है कि कर्मकाण्ड का साध्य एवं मोक्ष का साधन, धर्म यदि ज्ञात है तो उसके बारे में जिज्ञासा व्यर्थ है और यदि अज्ञात है तो असिद्ध

उद्देश्य वाले के विषय में विचार ही असङ्गत है। उपर्युक्त कारणों से धर्मविषयक जिज्ञासा होगी ही नहीं अतः उससे वेदान्त के गतार्थत्व का प्रश्न ही नहीं उठता ?

इस विषय में आचार्य रामाद्वय का कथन है कि जिज्ञासा सामान्य रूप से ज्ञात के बारे में होती है और उसके बारे में भी होती है जो सर्वात्मना अज्ञात है। भट्टपाद का कथन है कि ज्ञानात्मक होने से प्रत्येक विषय में बुद्धि की प्रमाणता तो हो ही जाती है भले ही प्रतीति के अन्यथा होने पर वह समाप्त हो जाय।[1] इसके अतिरिक्त "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"[2] —इत्यादि विधियाँ धर्मविचार की प्रयोजिका हैं, अतः धर्मविचार हो सकता है।

किन्तु वेदान्त इस धर्मशास्त्र से गतार्थ नहीं है। कारण यह है कि धर्मशास्त्र का विषय धर्म अनुष्ठानसापेक्ष्य, साध्य तथा अनित्य है; जबकि वेदान्त का विषय ब्रह्म, अनुष्ठान-निरपेक्ष, सिद्ध एवं नित्य है।

अध्ययनविधि तथा उसका फल—

ऊपर जिस "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"—श्रुतिवचन की चर्चा की गई है इसी को अध्ययन-विधि के नाम से पुकारा जाता है। यह धर्मविचार का विधान करने वाली विधियों में से एक विधि है। इस विधि को नित्य या काम्य मान सकते हैं। नित्य मानने पर अग्निहोत्र के समान और काम्य मानने पर ऋतुस्नातागमन के समान, न करने में प्रत्यवाय होगा ही; इसलिये यह अवश्यकरणीय है। इसका फल वैदिक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञान है। जैसे "आत्मा द्रष्टव्यः"[3]—इस स्थल में आत्मा का दर्शन भाव्य है आत्मा नहीं, उसी प्रकार यहाँ अर्थावबोध भाव्य है स्वाध्याय नहीं। 'तव्य' प्रत्यय का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। यद्यपि आप्तवाक्यों का अर्थावबोध विना विधि के होता है तथा यह नियम है कि विधीयमान साङ्ग कर्म अवघात आदि के समान अदृष्टफल वाले हैं तथापि जैसे अवघात की आवृत्ति वैतुष्यपर्यन्त विहित है उसी प्रकार स्वाध्याय अर्थावबोधपर्यन्त विहित है। क्योंकि जब तक अर्थावबोध नहीं होगा यज्ञ आदि का सम्यग् अनुष्ठान नहीं होगा। फलतः अदृष्ट की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी। जिस प्रकार विधि से अन्य स्थलों में फलकीर्त्तन केवल अर्थवाद होता है अतः विधि के साथ ही परोक्ष रूप से फल का निर्वचन कर देते हैं, उसी प्रकार स्वाध्यायविधि का फल भी परोक्ष रूप से अर्थावबोध समझना चाहिये। और अर्थावबोध हो जाने पर भी अदृष्ट की उत्पत्ति के लिये नित्य स्वाध्याय करना ही चाहिये। इस प्रकार रामाद्वयाचार्य के अनुसार स्वाध्याय का फल अर्थावबोध तथा अदृष्ट दोनों है।

वेदान्त के कर्मकाण्डबहिर्भूतत्व में हेतु—

(क) **ज्ञान कर्म का अङ्ग नहीं है**—धर्म के अतीन्द्रिय होने से तथा चोदना अर्थात् विधिवाक्यों के स्वतः प्रमाण होने से धर्मविचार यद्यपि सम्भव तथा आवश्यक है तथापि ब्रह्मज्ञान तथा (याग आदि कर्म रूप) धर्म में किसी भी प्रकार को सम्बन्ध नहीं है। ज्ञान यदि उद्देश्य है तो उसका विधेय श्रवण है, जो कि क्रिया है। जिस प्रकार ब्रह्म का विशेषण ज्ञान, स्वप्रधान है उसी प्रकार उसका विशेष्य ब्रह्म भी स्वप्रधान है। इस प्रकार ज्ञानविधि

---

[1] श्लो० वा० १।२५३। [2] तै० आ० २।१५। [3] बृ० उ० ४।५।६।

(=आत्मा ज्ञातव्यः) के समान ब्रह्म एवं ज्ञान में विशेषणविशेष्यभाव रुप सम्बन्ध भी नहीं हो सकता।

यहाँ अङ्गाङ्गिभाव का निर्णायक कोई प्रमाण भी नहीं है—छ प्रमाणों में से श्रुति प्रमाण यहाँ सम्भव नहीं, क्योंकि ज्ञान के अङ्गत्व के विषय में "ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते"[१] —के समान एकपद श्रुति नहीं है। यदि यह कहिये कि जनक आदि का ज्ञानश्रवण रूप लिङ्ग प्रमाण है? तो यह भी अनुचित है, क्योंकि "एतद्ध वै पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रुः"[२]—वचन ज्ञानी के लिये कर्म के त्याग का निर्वचन करता है। इसी प्रकार कर्म के अङ्गत्व में वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या प्रमाण भी नहीं मिलते।

अपुनरावृत्ति के स्वतः सिद्ध होने से "न स पुनरावर्त्तते"[3]—इत्यादि श्रुतियाँ अपुनरावृत्ति का स्तुत्यर्थक अनुवाद मात्र करती हैं, न कि उसके अङ्गत्व को बताती हैं। इससे सिद्ध है कि ब्रह्मज्ञान के लिये जो अधिकार है वह कर्म से स्वतन्त्र है। इसके अतिरिक्त श्रुतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं कि अनारब्धकर्मा संन्यासी तथा कर्मानधिकृत व्यक्ति को भी ब्रह्मज्ञान में अधिकार है।[४]

(ख) कर्म तथा ब्रह्मविचार में क्रम नहीं है—कुछ लोगों का आक्षेप है कि कर्म तथा ब्रह्मविचार में क्रम है और "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्"[५]—यह श्रुति इस क्रम की नियामिका है; इसलिये ज्ञान कर्म का अङ्ग है। आचार्य रामाद्वय के अनुसार यह कथन असङ्गत है, क्योंकि यह श्रुति अनुत्पन्नविवेकवैराग्य वाले व्यक्ति को संन्यास का अनधिकारी बताती है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मविचार के सिद्ध तथा धर्मविचार के असिद्ध होने से श्रुति आदि प्रमाण दोनों में क्रम के नियामक नहीं हैं।

श्रवणविधि तथा उसकी आवश्यकता—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि ज्ञान का अपना स्वातन्त्र्य है और इस ज्ञान की प्राप्ति के लिये श्रवणविधि आवश्यक है। चूंकि प्रत्येक विधि का कुछ न कुछ फल होता है इसलिये श्रवणविधि का भी फल है; और वह है—आत्मज्ञान। यही आत्मज्ञान श्रुति एवं तदनुकूल न्याय का प्रतिपाद्य है। आत्मज्ञान या आत्मसाक्षात्कार का अर्थ है—ब्रह्म एवं प्रत्यक् का अभेद, न कि ब्रह्मज्ञान। यही पुरुषार्थ है। तैत्तिरीय श्रुति[६] एवं ब्रह्मसूत्र[७] भी यही कहते हैं।

"नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन[८]"—उपनिषद् वाक्य के आधार पर कुछ लोगों का आक्षेप है कि आत्मसाक्षात्कार के लिये श्रवण का विधान नहीं होना चाहिये, क्योंकि साक्षात्कार के पहले श्रवणाभ्यासी की मृत्यु होने पर श्रवण व्यर्थ एवं अविहित हो जायगा। इस विषय में आचार्य रामाद्वय कहते हैं कि उपलब्धि के पहले वर्तमान आत्मा की तिरस्करिणी मायाजवनिका को हटाने के लिये श्रवण की आवश्यकता

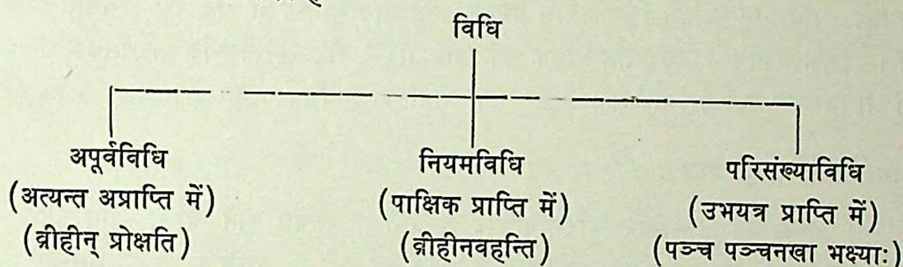
---

१ तै० सं० १।५।८।३।
२ कौषी० उ० २।५।
३ छा० उ० ८।१५।
४ पर० प० उ०।
५ मनु० २।१।७।
६ तै० उ० ३।६।
७ ब्र० सू० १।४।२२।
८ मैत्रे० उ० ७।१७।

होती ही है। प्रभाकर गुरु भी इससे सहमत हैं।[1] यह श्रवण अवघात के समान है। अर्थात् जैसे अवधात वैतुष्यपर्यन्त विहित है उसी प्रकार श्रवण आदि की प्रक्रिया के आत्म-साक्षात्कारपर्यन्त जन्म-जन्मान्तर तक चलते रहने का विधान है।

श्रवण आदि विधियों के अपूर्वविधित्व का अनौचित्य—

विधि तीन प्रकार की है—



जैसे धर्म आदि कहीं अनुभूत नहीं होते, उसी प्रकार विचार आदि के अधीन वर्तमान साक्षात्कार के द्वारा वाक्यैकगम्यवस्तु के कहीं भी अनुभूत न होने से श्रवण आदि को अपूर्व-विधि मानने वालों के प्रति रामाद्वयाचार्य का कथन है कि जैसे व्याप्ति के वल से कहीं अग्नि के द्वारा धूम की भी प्राप्ति हो जाती है, उसी प्रकार साक्षात्कार के द्वारा श्रवण की प्राप्ति होने से यह श्रवणविधि अत्यन्त अप्राप्त न होने के कारण अपूर्वविधि नहीं है।

श्रवण आदि का नियमविधित्व—

पूर्वपक्ष के अनुसार आत्मसाक्षात्कार के लिये श्रवण आदि से अतिरिक्त साधन न होने के कारण इसके विषय में नियम एवं परिसंख्या विधियाँ सम्भव नहीं है; और चूंकि कोई प्रयोजक उपलब्ध नहीं है अतः श्रवण आदि अपूर्व विधि भी नहीं है। इसके अतिरिक्त श्रवण आदि के द्वारा जिस अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं उसकी भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि अधिकारी यदि विशुद्धवुद्धि वाला तथा फलपर्यन्त श्रवणप्रवृत्तिरूप मूलसाधन वाला है तो उसे साक्षात्कार हो ही जायगा। साथ ही अदृष्ट का कोई उत्पादक भी नहीं है क्योंकि आश्रमकर्म दुरितक्षयार्थ, आचार्योपगमन उपदेशार्थ और यज्ञ आदि श्रवण में प्रवृत्ति के लिये होते हैं।

इस विषय में आचार्य रामाद्वय का कथन है कि "तस्माद् ब्राह्मणो नावैदिक-मधीयीत"[2]—इत्यादि श्रुति यह नियम बताती है कि साक्षात्कार के लिये सभी प्रकार का श्रवण प्राप्त होने पर भी वेदवाक्यों का ही श्रवण करना चाहिये। इस प्रकार का श्रवण ब्रह्ममीमांसा में प्रविष्ट मुमुक्षु के लिये एक विशेषप्रकार का अदृष्ट उत्पन्न करता है। इन्द्र-विरोचन-आख्यायिका[3] इस विषय में प्रमाण है। आश्रमविहित नित्य, नैमित्तिक कर्म तथा श्रवण आदि ज्ञानोत्पत्तिविरोधी दुरित के क्षय के लिये सक्षम अदृष्ट को उत्पन्न करते हैं, और इसके द्वारा विद्योदय के विघातक का नाश होने से आत्मज्ञान होता है।

---

[1] वे० कौ० १, पृ० ०८८।
[2] मैत्रे० उ० ७।१७।
[3] छा० उ० ८।८-१०।

(२)

प्रमाणस्वरूप-विचार

भाग (१) से यह स्पष्ट हो गया कि वेदान्त का विषय स्वतन्त्र एवं निरपेक्ष है। इसका प्रतिपाद्य आत्मसाक्षात्कार है। साक्षात्कार का अर्थ है—आत्मज्ञान या आत्मविषयिणी प्रमा। प्रमा वह पक्षी है जिसके पास प्रमाण और प्रामाण्य रूप दो पक्ष सदा वर्त्तमान रहते हैं। इनके अभाव में वह प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक और यहाँ तक कि पारमार्थिक जगत् में भी विचरण नहीं कर सकता। अतः यहाँ तीनों का विवेचन प्रस्तुत है।

यथार्थ अनुभव ही प्रमा है—

तात्कालिक असाधारणकारणविशिष्ट सामग्री से उत्पन्न होने वाला ज्ञान अनुभव कहलाता है[1]। यह स्मृति को अपने क्षेत्र से अलग कर देता है क्योंकि स्मृति का असाधारण कारण-संस्कार, तत्कालिक नहीं अपितु चिरकालोत्पन्न है। चूँकि उद्बोधक सर्वत्र कारण है अतः उसे असाधारण कारण नहीं कह सकते। यही अनुभव विषयानुसारी होने पर प्रमा कहलाता है। आचार्य रामाद्वय ने प्रमा की उपर्युक्त परिभाषा का खण्डन किया है। उनका कथन है कि यद्यपि ज्ञान गुण है तथापि उसका विषय से योग होने के कारण उसमें यथार्थत्व का वैशिष्ट्य नहीं आता। अतः 'यथार्थानुभवः प्रमा'—यह लक्षण ठीक नहीं है। वस्तुतः विशेष-विशेष अवस्था में वर्त्तमान चैतन्य ही प्रमा है।

अनधिगतार्थगमन[2] को प्रमा नहीं कह सकते। प्रत्येक वस्तु का ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) स्वरूपतः (२) प्रकारतः। चिरस्थायी वस्तुयें न तो स्वरूपतः अनधिगत होती हैं, न प्रकारतः। चूँकि काल का प्रत्यक्ष नहीं होता और काल का भेद औपाधिक है, अतः बौद्धों का क्षणिकवाद भी अनधिगत्व का पोषक नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त यदि अनधिगतार्थज्ञान को प्रमा कहेंगे तो प्रत्यभिज्ञा प्रमा नहीं होगी; क्योंकि वह अधिगत-विषय वाली होती है। और नैयायिकसम्मत क्षणिकवाद में धारावाहिक ज्ञान अप्रमा हो जायेंगे।

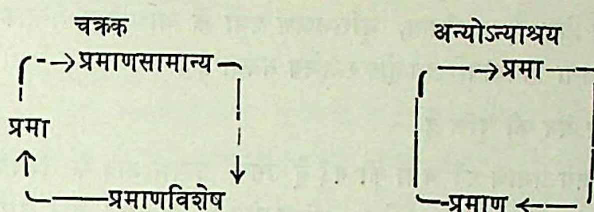
न्यायसम्मत प्रमा का लक्षण और उसका खण्डन—

नैयायिक लोग स्मृति से अन्य, अव्यभिचारी, स्वतन्त्र पदार्थ को प्रमा मानते हैं, क्योंकि लोक में ऐसा ही व्यवहार होता है। इस विषय में वेदान्ती आचार्य रामाद्वय का कथन है कि यदि स्मृति से अन्यत्व की व्यवस्था प्रमाण से की जाती है तो चक्रक दोष पड़ता है—प्रमा से साध्य प्रमाणविशेष के द्वारा स्मृति से अन्य प्रमा की सिद्धि होगी, और प्रमा के द्वारा प्रमा का करण होने से प्रमाणसामान्य की सिद्धि होगी फिर प्रमाणविशेष की सिद्धि होगी। अथवा प्रमा से प्रमाण और प्रमाण से प्रमा की सिद्धि होने से अन्योऽन्याश्रय

---

[1] वे० कौ० १, पृ० ६९।
[2] वे० परि० १ पृ० १०।

दोष पड़ेगा। यदि अप्रमाण से व्यवस्था की जाती है तो व्यवस्था ही व्यर्थ है। इसलिये यथार्थ अर्थात् तत्त्व की अनुभूति प्रमा है।



श्रीहर्ष का मत—

खण्डनखण्डखाद्य के रचयिता श्रीहर्ष के अनुसार 'तत्त्वानुभूतिः[1] प्रमा'—यह लक्षण अयुक्त है क्योंकि तत्त्व शब्द का अर्थ तत् का भाव होने से प्रस्तुत न होने के कारण 'तत्' शब्द से किसी का परामर्श नहीं होगा। किन्तु यह कथन असङ्गत है क्योंकि परिशिष्ट तत्त्वानुभूति के प्रमात्व का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार अनुभूतित्व का खण्डन करते हुए श्रीहर्ष का कथन है कि अनुभूतित्व ज्ञानत्व का अवान्तर जातिभेद नहीं है क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं हैं। किन्तु आचार्य रामाद्वय का कथन है कि यह खण्डन अनुचित है क्योंकि तात्कालिक असाधारणकारणविशिष्ट सामग्री से उत्पन्न ज्ञान अनुभूति कहलाता है। और सभी अनुभूतियों में वर्त्तमान 'अयमनुभवोऽयमनुभवः'—प्रत्यय अनुभूतित्व है।[2]

प्रमाणलक्षण—

वेदान्तकथा के आरम्भ के लिये प्रमाण की आवश्यकता अनिवार्य है। प्रमाण वह निकष है जिससे ब्रह्म की सत्यता का सन्देह निरस्त होता है। परमार्थतः असत्य होते हुए भी जगत् के समस्त पदार्थ प्रमाण की अग्निपरीक्षा से निकलकर सत्य प्रतीत होने लगते हैं।

प्रमेयविषयिणी प्रमा के उत्पादक प्रमाण के लक्षण के विषय में वैदिकों का कथन है कि जो अज्ञात अर्थात् अज्ञातरूप में व्यवहारयोग्य, अर्थ का ज्ञापक है वह प्रमाण कहलाता है।

वृत्तिनिर्गमन और उसके द्वारा आवरणभङ्ग—

वेदान्त के अनुसार प्रमाता प्रमाण एवं विषय का आधार एक ही चैतन्य है। वह जब अन्तःकरणवृत्ति से अवच्छिन्न होता है तब प्रमाण का काम करता है। वृत्तिसञ्चार के विषय में वेदान्त का सिद्धान्त है कि कृत्स्न प्रज्ञानघन पूर्णपुरुष वस्तुतः समस्त अविद्याओं को विध्वस्त कर अवद्यसन्तान की कारणभूत व्योमादिविश्वविवर्तसङ्कुल अनिर्वाच्य अविद्या के द्वारा स्थान-स्थान पर विवर्त्तरूपों से परिच्छन्न के समान होकर छिपा हुआ है। यह चैतन्य विशुद्ध सत्त्वसन्तानमय स्फटिकोपलनिर्मल तथा विषयेन्द्रियसंप्रयोग, अदृष्ट, आदि से क्षुब्ध मनरूप उपाधि से उपहित होकर विषय का प्रकाश करता है[3]। मध्यमपरिमाण वाला होने से मन ही विषय तक दीर्घ प्रभा के आकार में परिणत होता है। अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य अपने अवच्छेद के हेतु तथा आवरणस्वरूप अविद्यापटल को उसी प्रकार नष्ट करके अभिव्यक्त होता

---

[1] खं०खं० खा० १।४९। [2] खं० खं० खा० १।५३। [3] वे० कौ० ४।

है जैसे गोबर एवं मिट्टी रूप अपने कारण को अभिभूत करके बिच्छू। और यही चैतन्य जब अन्तःकरण की परिणतिरूप वृत्ति एवं विषय दोनों से संलग्न होता है तब 'मैं इसे जानता हूँ'—ऐसा ज्ञान होता है। चैतन्य, वृत्तिलक्षण प्रमा के आश्रयभूत अन्तःकरण से अवच्छिन्न होकर प्रमाता तथा विषयावच्छिन्न होकर प्रमेय बनता है।

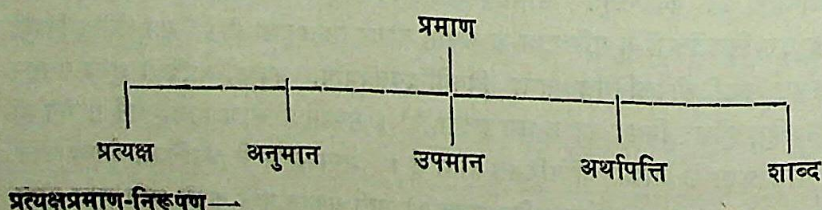
प्रमाणजन्य ज्ञान मन की वृत्ति है—

ऊपर जिस प्रमाण की चर्चा की गई है उससे उत्पन्न ज्ञान के विषय में नैयायिक का कथन है कि वह आत्मा का गुण है। सांख्य-योग के अनुसार ज्ञान आत्मा का परिणाम क्रियारूप है। इस विषय में वेदान्ती का कथन है कि ज्ञान को गुण मानने पर घट आदि के ज्ञान का साक्षात् आत्मा से संसर्ग होने पर उसमें आत्मा भी प्रकाशित होने लगेगा। क्रिया मानने पर परिणामी आत्मा के अनित्य अर्थात् मध्यमपरिमाण वाला हो जाने के कारण घट आदि से अवरुद्ध प्रदीप आदि के समान देह से अवरुद्ध आत्मा भी बाह्य विषय की अभिव्यक्ति नहीं कर सकेगा। इसलिये ज्ञान क्रिया नहीं है, अपितु मन का परिणाम है। अर्थात् सावयव सत्त्वात्मक अन्तःकरण ही, जो कि अदृश्य तथा अस्पृश्य है तथा जिसका रूप एवं स्पर्श अनुद्भूत है, विषय के आकार में परिणत होता है।

यह भी समझना चाहिये कि जितने ज्ञान हैं उतने ही स्वतन्त्र या परतन्त्र अज्ञान हैं और प्रत्येक अज्ञान के नाश के लिये पृथक्-पृथक ज्ञान की आवश्यकता होती है। प्रमाता में वर्त्तमान ये ज्ञान एवं अज्ञान विषयविषयक होते हैं। ये अज्ञान भावरूप हैं। यदि इन्हें तुच्छ माना जायगा तो फिर प्रमा या ज्ञान से इनका नाश सम्भव नहीं होगा, क्योंकि नाश भावपदार्थ का ही होता है। भावरूप होने के साथ-साथ ये अनन्त भी हैं। सर्वविषयविवर्त्त के अधिष्ठान ब्रह्म के विचार के पहले अज्ञान एवं प्रमाणज्ञान में विषयविषयीभाव रूप सम्बन्ध रहता है और ब्रह्म का विचार हो जाने पर विषयावच्छिन्न ब्रह्म का ही स्फुरण और अस्फुरण होने से ज्ञान एवं अज्ञान का विषय ब्रह्म ही होता है। वृत्तिविज्ञान सावयव है अतः उसका ह्रास होने पर फिर दूसरा अज्ञान विषय का आवरण कर लेता है और फिर यह आवरण अर्थात् अज्ञान दूसरे वृत्तिविज्ञान से अपसारित होता है। आवरण एवं अपसारण का यह क्रम शाश्वत है।

प्रमाणभेद—

ब्रह्म शास्त्रैकप्रमाणगम्य है। वेदान्तसम्मत प्रमाणस्वरूप के निर्वचन के पश्चात् ग्रन्थकार के अनुसार हमारे समक्ष पाँच प्रमाण आते हैं—



प्रत्यक्षप्रमाण-निरूपण—

प्रत्यक्ष का लक्षण है—"पुरुष के इन्द्रियों का सद्वस्तु के साथ संयोग होने पर उत्पन्न

होने वाली बुद्धि" ।[1] इसलिये चित्र की निम्नता-उच्चता तथा शुक्तिरजत के प्रत्यक्ष में रेखान्यासविशेष तथा इन्द्रिय का दोष होने से वे प्रत्यक्षाभास हैं। सूक्ष्म एवं व्यवहित पदार्थों में से उन्हीं का प्रत्यक्ष सम्भव है जो इन्द्रियग्राह्य हैं।

बौद्धों के अनुसार दृश्यमान चक्षु आदि गोलकमात्र हैं। वास्तविक इन्द्रियाँ तो इन्द्रियों के तत्तद् विषय हैं। किन्तु सांख्ययोग का कथन है कि चक्षु आदि से पर्वत आदि का भी ग्रहण होता है, इस कारण इन्द्रियाँ गोलकमात्र नहीं अपितु आहंकारिक अर्थात् अहंकार से उत्पन्न तथा सूक्ष्म हैं[2]। वेदान्त का कथन है कि इन्द्रियाँ केवल द्वारमात्र हैं। वस्तुतः स्वच्छ अन्तःकरण ही भिन्न-भिन्न इन्द्रिय के माध्यम से विषयपर्यन्त पहुँच कर उनका प्रत्यक्ष करता है। प्रत्यक्ष इन्द्रियसंयुक्तविषय का ही नहीं अपितु जिसका इन्द्रिय से संयोग हो सकता है उस विषय का भी होता है। इसीलिये योगी को निकटवर्त्ती एवं दूरवर्त्ती सब प्रकार के विषयों का प्रत्यक्ष होता है। अतीत एवं अनागत विषयों का प्रत्यक्ष स्वप्नगत विषयों की भाँति प्रतिभासमात्र होता है।

अतीन्द्रिय अर्थ का प्रत्यक्ष योगी को भी नहीं होता—

यद्यपि योगी को अणिमा आदि अष्टसिद्धियाँ प्राप्त रहती हैं जिनके द्वारा वह सामान्यजनदुर्लभ पदार्थों की प्राप्ति कर लेता है तथापि उसे अतीन्द्रिय (=धर्म आदि) पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं होता। योगसम्मत अनेककायनिर्माण के द्वारा सकल कर्मफलों का एक साथ अनुभव भी योगसिद्धान्त का ही आतिशय्य है। नैयायिक को यह मान्य नहीं है, क्योंकि मन के विना भोग सम्भव नहीं है और मन नैयायिकों के अनुसार नित्य होने के कारण अनेक नहीं हो सकता। इसलिये विद्यमानमात्र का उपलम्भन ही प्रत्यक्ष है। इसी कारण अभाव का भी प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रिय एवं द्रव्य के बीच संयोग या समवाय नहीं अपितु विशेष्यविशेषणभाव रूप सम्बन्ध होता है। ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है क्योंकि वह निर्गुण है। अतः उसके साथ इन्द्रिय का संयोग सम्भव नहीं है।

अनुमानप्रमाण-निरूपण—

ज्ञातसम्बन्ध वाले पदार्थों के एक अंश के दर्शन से एकदेशान्तर वाले असन्निकृष्ट अर्थ के बारे में जो बुद्धि होती है वह अनुमान प्रमाण है। प्रमाता और एकदेशवान् दोनों ज्ञातसम्बन्ध वाले कहे जाते हैं। सम्बन्ध का अर्थ है—हेतु की साध्य के साथ व्याप्ति अर्थात् व्याप्यव्यापकभावरूप सम्बन्ध। जो किसी के देश या काल की अपेक्षा सम या न्यून होता है वह व्याप्य होता है, और जिसके देश या काल की अपेक्षा सम या न्यून होता है वह व्यापक होता है। दो सामान्य धर्मों की व्याप्ति भूयोदर्शनगम्या होती है। यह ध्यान रखना चाहिये कि अनुमान में धर्मविशिष्ट धर्मी ही प्रमेय होता है अर्थात् यद्यपि भिन्न-भिन्न पर्वत आदि प्रदेश ज्ञात रहते हैं तथापि अनुमान के द्वारा अग्निविशिष्ट पर्वत का ही ज्ञान होता है। इसी में अनुमान का सार्थक्य है।

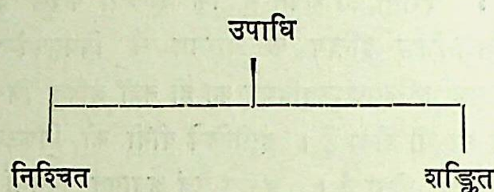
---

[1] जै॰ सू॰ १।१।४। [2] सां॰ सू॰ २।२०।

उपाधिनिरूपण—

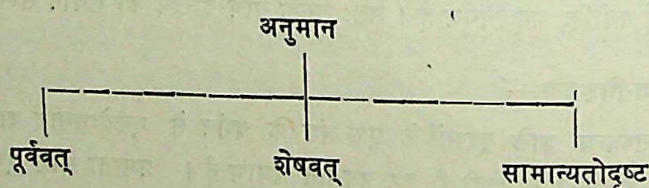
अनुमान के प्रसङ्ग में उपाधि एक अनुपेक्षणीय विषय है। हेतु जब उपाधिप्रयुक्त व्याप्ति को कारण मानकर प्रवृत्त होता है तव वह दृष्ट होकर भी साध्य-प्रमा का जनक नहीं होता।

जो हेतु का व्यापक न होते हुए साध्य का समव्यापक या विषमव्यापक होती है वह उपाधि कहलाती है। यह दो प्रकार की होती है—



जिस अनुमान में उपाधि की साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित होती है, वह निश्चित उपाधि कहलाती है। जैसे—विवादग्रस्त हिंसा, अधर्म का साधन है, हिंसा होने से, रागप्रयुक्त हिंसा के समान। यहाँ निषिद्धत्व उपाधि है चूँकि निषिद्धत्व की अधर्मसाधनत्व के साथ व्याप्ति निश्चित है इसलिये निषिद्धत्व निश्चित उपाधि है। जहाँ उपाधि की साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित नहीं होती वहाँ शङ्कितोपाधि होती है। जैसे—वह साँवला है, क्योंकि मित्रा का लड़का हैं, अन्य लड़कों के समान। यहाँ शाकपाकजत्व उपाधि है। किन्तु इसकी साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित नहीं है। दोहदवैचित्र्य के कारण किसी तनय के गर्भकाल में शाकाहार न होने से शाकपाकजत्व नहीं भी हो सकता है। इसलिये यह शङ्कितोपाधि हैं। अनुमान की मूलभूत व्याप्ति को इन दोनो प्रकार की उपाधियों से शून्य होना चाहिये।

अनुमान के भेद—



पूर्ववत्—जहाँ पूर्व अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान होता है। जैसे—ये मेघ वर्षा वाले हैं क्योंकि इनमें गम्भीरध्वनि, नीरप्रभा, चटुलबलाकावत्त्व आदि है। जो गम्भीरध्वनि आदि वाले होते है, वे वर्षावाले होते हैं जैसे दृष्टमेघ। ये भी गम्भीरध्वनि आदि वाले हैं, इसलिये वर्षा वाले है।

शेषवत्—जहाँ शेष अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान होता है। जैसे—यह नदी ऊपरवर्षावाले देश से सम्बद्ध है क्योंकि इसका पानी गन्दा है, प्रवाह तेज है, फल, फेन, काष्ठ आदि वह रहे हैं तथा जल से पूर्ण है। जो इस प्रकार की होती है वह वृष्टिमान देश से सम्बद्ध होती है, जैसे उभयसिद्ध नदी। यह उसी प्रकार की है, इसलिये ऊपरवर्षावाले देश से सम्बद्ध है।

सामान्यतोदृष्ट—जो अनुमान कार्य एवं कारण से अतिरिक्त अन्य धर्मों के द्वारा सम्पन्न होता है वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। जैसे—इन वृक्षों के निकट जलाशय हैं क्योंकि यहाँ सदा बलाकायें रहती हैं, जो ऐसा होता है वह सदा बलाकावाला होता है, जैसे—उभयसिद्ध वृक्ष। ये वृक्ष बलाका वाले हैं, अतः इनके निकट जलाशय हैं।

उपर्युक्त तीनों अनुमानों को व्याख्यान्तर के द्वारा क्रमशः केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी भी कहते हैं। ब्रह्म अनुमान का भी विषय नहीं है क्योंकि ब्रह्म को साध्य मानने पर उसका साधक लिङ्ग नहीं मिलता।

उपमानप्रमाण-निरूपण—

प्रसिद्ध साधर्म्य के द्वारा साध्य की सिद्धि उपमान प्रमाण है। उदाहरणार्थ—जिसने नगर में गाय को देखा है और जब कभी जङ्गल में जाकर साक्षात् गवय (=नीलगाय) को देखता है तो उसका—इसके सदृश हमारी गाय है—इस प्रकार प्रत्यक्ष गवय के सादृश्य से युक्त असन्निकृष्ट गोपिण्ड का ज्ञान उपमान प्रमाण है।

"न तस्य प्रतिमा[१]"—इत्यादि श्रुतियाँ बताती हैं कि ब्रह्म उपमानप्रमाण का भी विषय नहीं है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उपमान निरर्थक है क्योंकि व्यवहार जगत् में यह एक स्वतन्त्र प्रमाण है।

अर्थापत्तिप्रमाण-निरूपण—

अन्यथा अनुपपद्यमान पदार्थ का दर्शन होने से उसके उपपादक के विषय में बुद्धि अर्थापत्ति प्रमाण है। उदाहरण के लिये—जब जीवित देवदत्त को घर पर नहीं देखते तो समझते हैं कि वह बाहर है, क्योंकि जीवित देवदत्त का गृहासत्त्व बहिःसत्त्व से अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से उपपन्न नहीं होता। ब्रह्म अर्थापत्ति का भी विषय नहीं है क्योंकि उसके अभाव में किसी भी लौकिक या वैदिक कार्य की अनुपपत्ति नहीं होती।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि उक्त प्रमाणों में से कोई भी प्रमाण ब्रह्म-विषयिणी प्रमा का जनक नहीं हो सकता। इसलिये बाध्य होकर शाब्दप्रमाण की शरण लेनी पड़ती है।

शाब्दप्रमाण-निरूपण—

इस विषय में व्यास ने कहा है—

"शास्त्रयोनित्वात्।"[२]

इसका अर्थ है कि ब्रह्म शाब्दप्रमाण का विषय है। शब्दश्रवण के द्वारा दूरवर्त्ती पदार्थ के विषय में जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह शाब्दप्रमाण है। वेद एवं आप्तपुरुषों के वचन ऐसी बुद्धि के उत्पादक होते हैं।

शाब्दप्रमाण के अनुमानान्तर्भाव का निषेध—

वैशेषिक एवं बौद्ध शाब्दप्रमाण को अनुमानप्रमाण से गतार्थ मानते हैं। रामाद्वयाचार्य

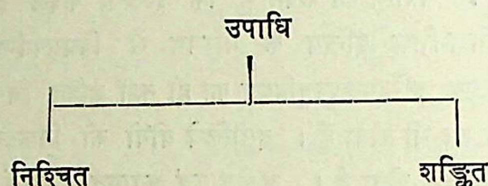
---

१ श्वे० उ० ४।१९। २ ब्र० सू० १।१।३।

उपाधिनिरूपण—

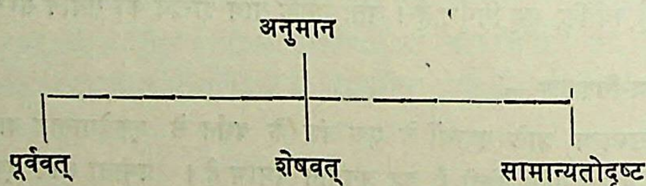
अनुमान के प्रसङ्ग में उपाधि एक अनुपेक्षणीय विषय है। हेतु जब उपाधिप्रयुक्त व्याप्ति को कारण मानकर प्रवृत्त होता है तव वह दृष्ट होकर भी साध्य-प्रमा का जनक नहीं होता।

जो हेतु का व्यापक न होते हुए साध्य का समव्यापक या विषमव्यापक होती है वह उपाधि कहलाती है। यह दो प्रकार की होती है—



जिस अनुमान में उपाधि की साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित होती है, वह निश्चित उपाधि कहलाती है। जैसे—विवादग्रस्त हिंसा, अधर्म का साधन है, हिंसा होने से, रागप्रयुक्त हिंसा के समान। यहाँ निषिद्धत्व उपाधि है चूँकि निषिद्धत्व की अधर्मसाधनत्व के साथ व्याप्ति निश्चित है इसलिये निषिद्धत्व निश्चित उपाधि है। जहाँ उपाधि की साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित नहीं होती वहाँ शङ्कितोपाधि होती है। जैसे—वह साँवला है, क्योंकि मित्रा का लड़का हैं, अन्य लड़कों के समान। यहाँ शाकपाकजत्व उपाधि है। किन्तु इसकी साध्य के साथ व्याप्ति निश्चित नहीं है। दोहदवैचित्र्य के कारण किसी तनय के गर्भकाल में शाकाहार न होने से शाकपाकजत्व नहीं भी हो सकता है। इसलिये यह शङ्कितोपाधि है। अनुमान की मूलभूत व्याप्ति को इन दोनो प्रकार की उपाधियों से शून्य होना चाहिये।

अनुमान के भेद—



पूर्ववत्—जहाँ पूर्व अर्थात् कारण से कार्य का अनुमान होता है। जैसे—ये मेघ वर्षा वाले हैं क्योंकि इनमें गम्भीरध्वनि, नीरप्रभा, चटुलबलाकावत्त्व आदि है। जो गम्भीरध्वनि आदि वाले होते है, वे वर्षावाले होते हैं जैसे दृष्टमेघ। ये भी गम्भीरध्वनि आदि वाले है, इसलिये वर्षा वाले है।

शेषवत्—जहाँ शेष अर्थात् कार्य से कारण का अनुमान होता है। जैसे—यह नदी ऊपरवर्षावाले देश से सम्बद्ध है क्योंकि इसका पानी गन्दा है, प्रवाह तेज है, फल, फेन, काष्ठ आदि वह रहे हैं तथा जल से पूर्ण है। जो इस प्रकार की होती है वह वृष्टिमान देश से सम्बद्ध होती है, जैसे उभयसिद्ध नदी। यह उसी प्रकार की है, इसलिये ऊपरवर्षावाले देश से सम्बद्ध है।

सामान्यतोदृष्ट—जो अनुमान कार्य एवं कारण से अतिरिक्त अन्य धर्मों के द्वारा सम्पन्न होता है वह सामान्यतोदृष्ट कहलाता है। जैसे—इन वृक्षों के निकट जलाशय हैं क्योंकि यहाँ सदा बलाकायें रहती हैं, जो ऐसा होता है वह सदा बलाकावाला होता है, जैसे—उभयसिद्ध वृक्ष। ये वृक्ष बलाका वाले हैं, अतः इनके निकट जलाशय हैं।

उपर्युक्त तीनों अनुमानों को व्याख्यान्तर के द्वारा क्रमशः केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी तथा अन्वयव्यतिरेकी भी कहते हैं। ब्रह्म अनुमान का भी विषय नहीं है क्योंकि ब्रह्म को साध्य मानने पर उसका साधक लिङ्ग नहीं मिलता।

उपमानप्रमाण-निरूपण—

प्रसिद्ध साधर्म्य के द्वारा साध्य की सिद्धि उपमान प्रमाण है। उदाहरणार्थ—जिसने नगर में गाय को देखा है और जब कभी जङ्गल में जाकर साक्षात् गवय (=नीलगाय) को देखता है तो उसका—इसके सदृश हमारी गाय है—इस प्रकार प्रत्यक्ष गवय के सादृश्य से युक्त असन्निकृष्ट गोपिण्ड का ज्ञान उपमान प्रमाण है।

"न तस्य प्रतिमा[१]"—इत्यादि श्रुतियाँ बताती हैं कि ब्रह्म उपमानप्रमाण का भी विषय नहीं है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि उपमान निरर्थक है क्योंकि व्यवहार जगत् में यह एक स्वतन्त्र प्रमाण है।

अर्थापत्तिप्रमाण-निरूपण—

अन्यथा अनुपपद्यमान पदार्थ का दर्शन होने से उसके उपपादक के विषय में बुद्धि अर्थापत्ति प्रमाण है। उदाहरण के लिये—जब जीवित देवदत्त को घर पर नहीं देखते तो समझते हैं कि वह बाहर है, क्योंकि जीवित देवदत्त का गृहासत्त्व बहिःसत्त्व से अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार से उपपन्न नहीं होता। ब्रह्म अर्थापत्ति का भी विषय नहीं है क्योंकि उसके अभाव में किसी भी लौकिक या वैदिक कार्य की अनुपपत्ति नहीं होती।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि उक्त प्रमाणों में से कोई भी प्रमाण ब्रह्म-विषयिणी प्रमा का जनक नहीं हो सकता। इसलिये बाध्य होकर शाब्दप्रमाण की शरण लेनी पड़ती है।

शाब्दप्रमाण-निरूपण—

इस विषय में व्यास ने कहा है—

"शास्त्रयोनित्वात्।"[२]

इसका अर्थ है कि ब्रह्म शाब्दप्रमाण का विषय है। शब्दश्रवण के द्वारा दूरवर्त्ती पदार्थ के विषय में जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह शाब्दप्रमाण है। वेद एवं आप्तपुरुषों के वचन ऐसी बुद्धि के उत्पादक होते हैं।

शाब्दप्रमाण के अनुमानान्तर्भाव का निषेध—

वैशेषिक एवं बौद्ध शाब्दप्रमाण को अनुमानप्रमाण से गतार्थ मानते हैं। रामाद्वयाचार्य

---

[१] श्वे० उ० ४।१९।   [२] ब्र० सू० १।१।३।

के अनुसार यह विचार असङ्गत है। बाह्य पदार्थों के ज्ञान में बौद्धों के अनुसार तीन लिङ्ग होते हैं—अनुपलब्धि, स्वभाव तथा कार्य। इनमें से शब्द एवं अर्थ का अनुपलब्धि-सम्बन्ध सम्भव नहीं है क्योंकि अनुपलब्धि का गमक है—प्रमाणाभाव और शब्द तथा अर्थ भावरूप है। वृक्षत्व एवं शिंशपात्व के समान इनका स्वभावप्रतिसम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि एक अर्थ में समवाय होने से तादात्म्य नहीं है। शब्द और अर्थ का कार्यकारण सम्बन्ध भी नहीं है तथा इन दोनों का एकदेश का तथा एककाल का नियम भी नहीं है। इसके अतिरिक्त चूँकि शब्द व्याप्ति के बिना ही अर्थबोध कराते हैं, अतः इनका अनुमान में अन्तर्भाव कथमपि सम्भव नहीं है।

शब्द एवं अर्थ का सम्बन्ध औत्पत्तिक है –

जिस प्रकार अग्नि में दाहकता शक्ति अनादि है किसी के द्वारा उत्पन्न की गई नहीं, उसी प्रकार शब्द में अर्थबोध की शक्ति अनादि है। यह शक्ति ही सम्बन्ध है। प्रलय के बाद ईश्वर पूर्वकल्प में वर्त्तमान शब्दसंकेत का स्मरण कर शब्दों का भिन्न-भिन्न अर्थ में प्रयोग कर देता है और वह प्रलयपर्यन्त चलता रहता है।

इस शब्द का विषय अर्थ है क्योंकि शब्दश्रवण के पश्चात् मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति अर्थनिश्चयपूर्विका तथा अर्थविषयणी होती है। अतः शब्द का यथार्थत्व स्वाभाविक होने से वह अर्थ के विषय में प्रमाण है।

शब्दानित्यत्ववाद और उसका खण्डन—

न्यायदर्शन के अनुसार शब्द अनित्य है क्योंकि उसकी उत्पत्ति होती है। ध्वनियाँ भी अनित्य हैं। वे इन अनित्य वर्णों का बोध कराती हैं।

इस विषय में तौतातित की परम्परा वाले मीमांसकों का विचार है कि शब्द नित्य हैं। वर्णों की प्रत्युच्चारण अन्यथात्व की प्रतीति औपाधिक है न कि अनित्यत्वप्रयुक्त। जिस प्रकार कारण का ज्ञान न रखने वाले भ्रान्तचित्तपुरुष पित्तदोष के कारण मधुर को तिक्त समझते है उसी प्रकार व्यञ्जकध्वनि में वर्त्तमान अनित्यत्व को न जानने वाले पुरुष व्यङ्ग्य वर्ण को ही अनित्य मानने लगते हैं।[1] ध्वनिभेद होने पर भी वर्णविषयिणी प्रत्यभिज्ञा वर्ण के नित्यत्व को और पुष्ट करती है। यद्यपि वर्ण नित्य एवं अनन्त हैं तथापि प्रत्यभिज्ञा के निर्वाह के लिये उनमें जाति मान ली जाती है।

वेद का प्रामाण्य—

न्यायदर्शन का आक्षेप है कि राग आदि से रहित भगवान् प्राणिकर्मोपरोध के कारण शरीर धारण कर महोपाध्याय के समान शास्त्रसङ्ग्रहपूर्वक वेदों का प्रवर्त्तन करते हैं। अतः वेद पौरुषेय होने के कारण अप्रामाणिक है।

इस विषय में श्रुति स्वयं कहती है कि ईश्वर भी यथापूर्व वेदों की कल्पना करता है। यह भी नहीं है कि नित्यश्रुति नित्यब्रह्ममूलक है। वास्तविक बात यह है कि नित्यत्व और

१ श्लो० वा० ५।४१-४५ स्फो०।

अनित्यत्व का विवाद लौकिक वैदिक पद वाक्य आदि के पौरुषेयत्व में नहीं है बल्कि वेदवाक्यों के बारे में पुरुष के स्वातन्त्र्य और अस्वातन्त्र्य को लेकर है। क्योंकि वर्णों के नित्य होने पर भी उनकी आनुपूर्वी पद, पदों की वाक्य, वाक्यों की आनुपूर्वी व्यक्ति का धर्म है और व्यक्ति अनित्य है।

वेदों के पुरुषतन्त्रत्व के बारे में यह समझना चाहिये कि—प्रलय में सम्प्रदायोच्छेद हो जाने से यद्यपि वेद एवं ईश्वर का पारतन्त्र्य सम्भव है तथापि चूँकि ईश्वर निराकाङ्क्ष है और सृष्टि के आदि में उत्पन्न प्रजापति एवं देवर्षि, धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य स्वरूप होते हैं, अतः भ्रम, विप्रलिप्सा आदि की आशङ्का न होने से वेद अविश्वास्य नहीं है। यह भी है कि क्रमविशेषवर्णात्मक वेद तथा उनके अर्थ एक साथ आविर्भूत होते हैं अतः वेद की सृष्टि अर्थज्ञानपूर्वक नहीं है जिसके कारण उसे पुरुषतन्त्र माना जाय।

उपनिषदों का प्रामाण्य—

उपनिषदों के स्वतन्त्रप्रामाण्य के विषय में यह आक्षेप करना कि, विधायक होने के कारण मन्त्रों के समान उपनिषदों के भी कर्माङ्ग होने से इनका प्रामाण्य कर्मों के अधीन है, नितान्त असङ्गत है। इसमें निम्नलिखित हेतु हैं—

१—अङ्गत्व की निर्णायिका समाख्या के द्वारा श्रुति की कल्पना करनी पड़ेगी। उसकी अपेक्षा प्रत्यक्षश्रुति—"उन इन अवर तपस्याओं का न्यास में ही अतिरेचन किया[१]—कर्म का त्याग बताती है। २—अविधायकवाक्य का शेषत्व न होने से उपनिषदें अर्थवाद भी नहीं है। मन्त्र एवं अर्थवाद दोनो भावना के अङ्ग होते हैं। चूँकि उपनिषदों का प्रतिपाद्य मन्त्र से भिन्न है, अतः वे भावना की अङ्ग नहीं है। ३—भावनाङ्ग का पोषक कर्त्तव्योपदेश भी उपनिषदों में नही मिलता। उपनिषदें सिद्ध अर्थ (=आत्मा) का प्रतिपादन करती है न कि साध्य का; और रूप आदि से शून्य इसी आत्मा को आगम के द्वारा जानना पुरुषार्थ है।

स्वतःप्रामाण्यवाद—

ज्ञान के प्रमाणों की चर्चा के अनन्तर उसके प्रामाण्य का भी विवेचन आवश्यक है। इस विषय में सांख्यदर्शन का सिद्धान्त है कि ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनों स्वतः है अर्थात् जिस ज्ञान से विषय का प्रकाश होता है उसी से उसका प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य भी ज्ञात होता है। किन्तु यह कथन असङ्गत है क्योंकि एक ही ज्ञान से प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य की वात परस्पर विरोधिनी है।

वौद्धों का कथन है कि ज्ञान का अप्रामाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः है। यह कथन भी अनुचित है क्योंकि परतःप्रामाण्य का अर्थ है—शुद्धकारणजन्यत्व। यदि इसका अभाव हो तो अप्रामाण्य स्वतः हो। किन्तु यदि कारणशुद्धत्व का अर्थ सामग्र्यन्तरासंकुलत्व है और यही प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण है तो स्वतःअप्रामाण्य का सिद्धान्त ही असङ्गत है। क्योंकि स्वतस्त्व उसी का माना जाता है जो विज्ञानसामग्री से जन्य होते हुए उससे अन्य से

---

[१] म० ना० उ० २।२।

जन्य हो उसका अभाव; और उसका अभाव होने पर स्वतः अप्रामाण्य की बात व्याहत हो जाती है।

नैयायिक के अनुसार ज्ञान का प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य दोनो परतः है। इस विषय में वे अनुमान करते है—प्रमा ज्ञान के हेतु से अतिरिक्त हेतु के अधीन है, क्योंकि वह कार्य होते हुए ज्ञानविशेष है, अप्रमा के समान। यदि प्रमा ज्ञान के हेतु के अधीन होती तो अप्रमा भी प्रमा हो जाती क्योंकि अप्रमा में भी हेतु ज्ञात रहता है अन्यथा ज्ञान अप्रमा नहीं होगा। किन्तु यह कथन भी अविचारित है, क्योंकि उक्त अनुमान में हेतु भागासिद्ध है, क्योंकि ईश्वरप्रमा कार्य होते हुए भी ज्ञानविशेष नहीं है।

जो लोग दोषाभाव को प्रमा का हेतु मानते हैं उनके विषय में आचार्य रामाद्वय का कथन है कि जिस प्रकार अधर्माभाव अधर्म से जन्य दुःख के अभाव का कारण है उसी प्रकार दोषाभाव दोष से जन्य अप्रमा के अभाव का कारण है न कि प्रमा का। दोष विद्यमान होते हुए भी यदि प्रसुप्त है तो प्रमा का उदय हो जाता है। और कभी-कभी तो प्रसुप्त दोष उद्बुद्ध भी रहता है तो भी प्रमासाधक सामग्री के प्रबल होने से प्रमोत्पत्ति हो जाती है। अतः दोषाभाव प्रमा का हेतु नहीं है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते है कि सभी लौकिक वैदिक प्रमाणों का प्रामाण्य स्वारसिक अर्थात् स्वतः है। कुमारिलभट्ट का कथन है कि जिसमें स्वतः शक्ति नहीं है उसमें दूसरे के द्वारा शक्ति का आधान कैसे किया जा सकता है?[१] इस प्रकार विज्ञानसामग्री से जन्य होते हुए अन्य से जन्य न होना प्रमा की उत्पत्ति में स्वतस्त्व है। इसी प्रकार ज्ञानज्ञापकसामग्रीमात्रज्ञाप्यत्व प्रमा की ज्ञप्ति में स्वतस्त्व है। इसका निश्चय प्रचुरसमर्थप्रवृत्ति की अन्यथाअनुपपत्तिलक्षण वाली अर्थापत्ति के द्वारा होता है।

उदयनाचार्य के द्वारा स्वतःप्रामाण्य का दूषण एवं उसका परिहार—

उदयनाचार्य का कथन है कि प्रामाण्य का कहीं उपयोग नहीं है। प्रचुरसमर्थप्रवृत्ति के प्रति कारणपरम्परा निम्नलिखित है—

प्रचुरसमर्थप्रवृत्ति←-इच्छा←-इष्टसाधनताज्ञान←-तज्जातीयत्वलिङ्गानुभव←-इन्द्रिय-सन्निकर्ष; अतः प्रामाण्य का कहीं उपयोग नहीं है। यदि प्रामाण्य का उपयोग मान भी लिया जाय तो भी स्वतस्त्व तो कथमपि सम्भव नहीं है क्योंकि सफलप्रवृत्ति की अधिकता उसके प्रामाण्य या प्रामाण्यज्ञान की अधिकता के कारण होती है। स्वतस्त्व का तो कहीं उपयोग ही नहीं है। तुष्यतु दुर्जन- न्यायेन यदि प्रामाण्यज्ञान को मान भी जाय तो वह परतः ही होता है। इस प्रामाण्य का बार-बार अभ्यास होने से तत्काल प्रवृत्ति हो जाती है; और अभ्यास न रहने से संशय होता है।

इस विषय में रामाद्वयाचार्य का कथन है कि प्रामाण्यज्ञान स्वतः होता है। अर्थात् जो ज्ञान हमको विषय का प्रकाश कराता है वही अपने विषयप्रकाश की प्रामाणिकता को भी बताता है। विना प्रामाण्यस्फुरण के इच्छा का ही उदय नहीं होगा प्रवृत्ति की बात तो दूर है। यदि प्रामाण्य को परतः माना जाय तो प्रामाण्यग्रहण में अनवस्था होने के

[१] श्लो० वा० १।२।४७।

कारण प्रामाण्यज्ञान के न होने से तत्काल प्रवृत्ति नहीं होगी। जहाँ तक मिथ्याज्ञान का प्रश्न है वहाँ भी प्रामाण्यज्ञान स्वतः होता है और तत्काल प्रवृत्ति हो जाती है। फिर अप्रामाण्यज्ञान परतः (समर्थप्रवृत्ति की अनुपपत्ति) होने से मिथ्यात्व का ज्ञान होता है। जिस प्रकार नैयायिक के पक्ष में ज्ञानस्वरूप का ग्रहण होने पर ही उसके प्रामाण्य और अप्रामाण्य का संशय होता है उसी प्रकार वेदान्ती के मत में भी स्वरूपतः प्रामाण्य का निश्चय होने पर ही किसी को कहीं सापवादत्व, निरपवादत्व का निश्चय होता है। चूँकि दोष का ज्ञान होने पर विना प्रयत्न के भी मिथ्यात्व की निवृत्ति हो जाती है इसलिये ज्ञप्ति में भी प्रामाण्य स्वतः ही होता है।

---

(३)

मायास्वरूपविचार

प्रमाणस्वरूप का निर्वचन होने के पश्चात् इस प्रमाण के विषय प्रमेय का विचार आवश्यक है। यह प्रमेय जगत् है जो भावोपादानक है। अतः माया का विचार प्रस्तुत है।

देह आदि से व्यतिरिक्त आत्मा का प्रत्यक्ष एवं उसका खण्डन –

प्रसिद्ध नैयायिक आचार्य उद्योतकर का कथन है कि चूँकि 'मै रूप नहीं हूँ', 'मै वेद आदि नहीं हूँ'—इस प्रकार रूप आदि के विषय में अहङ्कार का निषेध होता है; तथा 'मै गोरा हूँ'—इत्यादि वाक्यों का तात्पर्य अन्तर्लुप्मतुप्प्रत्ययान्त—अर्थात् 'मै गोरे रूप वाला हूँ'—इत्यादि होता है; अतः आत्मा का स्फुरण देह आदि से पृथक् होता है।[१] इसके अतिरिक्त जीवन्मुक्त अवस्था में आत्मज्ञान एवं संसार साथ-साथ रहते हैं। इस कारण यह संसार आत्मज्ञानोच्छेद्य नहीं है।

इस विषय में वेदान्त का विचार है कि 'मै गोरा हूँ'—इत्यादि स्थलों में स्थाणु—पुरुषवत् अनाहार्यारोप रूप अध्यास है। अर्थात् दारुवह्नि के समान यहाँ तादात्म्य है। जहाँ तक जीवन्मुक्त अवस्था में संसार की अनुवृत्ति का प्रश्न है, वह तो जैसे देह आदि में अहंप्रत्यय भ्रम है, उसी प्रकार भ्रमपूर्ण है। क्योंकि इसमें "……शरीरं चेति पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति"[२]—इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं जो यह बताती हैं कि विश्व ब्रह्म का विवर्त्त है।

---

[१] न्या० वा० ३।१।१। [२] प्र० उ० ६।५।

साधारण प्रपञ्च एवं लिङ्गदेह की सृष्टि का निरूपण—

कुछ लोगों का मत है कि मायामय महाभूतों के द्वारा उपसृष्ट और जीवाविद्या के द्वारा रचित भूतसूक्ष्म लिङ्गदेह के आकार में विवर्त्तित होते हैं।[1]

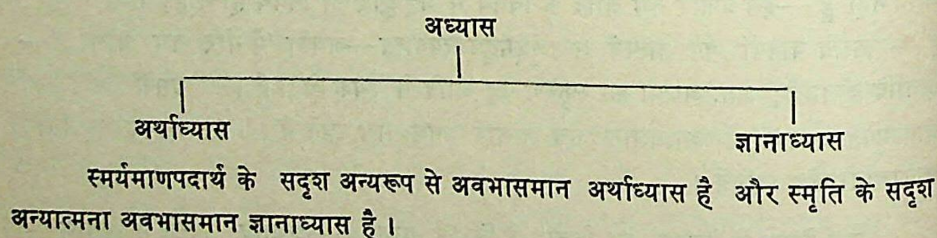
किन्तु आचार्य रामाद्वय के मतानुसार यह कथन अनुचित है। क्योंकि श्रुति "कस्मिन्वहमुत्क्रान्ते······स प्राणमसृजत्······लोकेषु च नाम च"[2]—वचन के द्वारा जीव-सृष्टि का प्रतिपादन करती है। जीवाविद्या के साथ पञ्चमहाभूत भी स्वप्नगन्धर्वनगर आदि की सृष्टि के कारण हैं। इस अविद्या एवं माया में परस्पर अवयव-अवयवीभाव रूप सम्बन्ध है। और दोनो परस्पर विलक्षण भी हैं—स्वाप्न एवं प्रातिभासिक तथा व्यावहारिक जगत् की आरम्भिका अविद्या है और पञ्चमहाभूतमात्र की आरम्भिका माया। माया के कार्य महाभूत आदि भी सावयव तथा निरवयव होने के कारण अनिर्वचनीय हैं। निरवयवत्व उनके समानदेशत्व का तथा सावयवत्व हमारे व्यवहार का साधक होता है।

माया और अविद्या के बाध के विषय में "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"[3]—श्रुति का अर्थ करते हुए रामाद्वयाचार्य का कथन है कि आत्मसाक्षात्कार से सब माया का बाध हो जाता है ऐसी बात नहीं है, किन्तु एकजीवविषयिणी माया और उसके कार्य का उच्छेद ही उस जीव के मोक्ष के लिये पर्याप्त होता है। अतः माया एवं अविद्या के अन्यत्र रहने पर भी कोई क्षति नहीं है।

इस माया एवं आत्मवस्तु के मिश्रण से लोकव्यवहार चलता है। आत्मा कूटस्थ-नित्य एवं माया परिणामिनित्य है। इन्हीं दोनों के मिथुनभाव से 'अहं मनुष्यः'—इत्यादि अध्यस्त लोकव्यवहार प्रचलित है। अर्थात् देह में आत्मा का प्रत्यय अध्यास के कारण है।

अध्यासनिरूपण—

आचार्य शङ्कर के अनुसार अध्यास का लक्षण है—"स्मृतिरूप परत्र पूर्वदृष्टावभास।"[4] यह दो प्रकार का होता है—



स्मर्यमाणपदार्थ के सदृश अन्यरूप से अवभासमान अर्थाध्यास है और स्मृति के सदृश अन्यात्मना अवभासमान ज्ञानाध्यास है।

उक्त लक्षण में 'स्मृतिरूप'—पद का समावेश करने से लोकवादिसिद्ध स्थाणुपुरुष एवं स्वप्न आदि का सङ्ग्रह हो जाता है। आचार्य रामाद्वय इस लक्षण की दूसरी भी व्याख्या करते हैं—परत्र अर्थात् सकल प्रपञ्चातीत निरवद्य वस्तु में अनादि काल से प्रतिदिन अनु-वर्त्तमान होने के कारण स्मृतिरूप पूर्वदृष्ट पदार्थ के तुल्य पदार्थ का अवभास अर्थात् सभी

---

१ वे० प०, विषय प०।
२ प्र० उ० ६।३।
३ श्वे० उ० १।१०।
४ ब्र० सू० भा० १।१।१।

अनात्म वस्तु का निरवयव प्रतिभास ही अध्यास है। इसी कारण श्रुति एक के विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा करती है।

उपर्युक्त लक्षण में 'स्मृतिरूप'—शब्द का अर्थ है अध्यास के तीन करण—दोष, संस्कार एवं इन्द्रियसम्प्रयोग। किन्तु यह लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त है क्योंकि माया-अध्यास में इसकी व्याप्ति नहीं है—माया के अनादि होने से स्मर्यमाणसदृशत्व और उसका प्रकाशभूत साक्षी दोनों जन्य नहीं है। इसे कार्याध्यास का भी लक्षण नहीं मान सकते क्योंकि अन्तःकरण-अध्यास में करण का सम्प्रयोग न होने से अव्याप्ति हो जाती है। इसलिये रामाद्वयाचार्य अध्यास का लक्षण करते हैं—'सत्यानृतसम्भेद अथवा अतस्मिंस्तद्रूपावभास'। किन्तु वे इस दूसरे लक्षण को भी युक्त नहीं मानते क्योंकि 'शुक्लो घटः'—इत्यादि स्थलों में इसकी प्रवृत्ति हो जाती है।

अख्यातिवाद और उसका निराकरण—

प्रभाकरमतानुयायियों के मत में अध्यास या भ्रम का कारण ग्रहण-स्मरण तथा गृह्यमाण-स्मर्यमाण में भेदज्ञान का अभाव है, न कि दोष। अतः वे लोग मिथ्या अर्थावभास को नहीं मानते।

इस विषय में रामाद्वयाचार्य का कथन है कि प्राचीन प्राभाकरों के मत में भ्रम की सिद्धि स्मृतिप्रमोष से होती है और प्रमोष दोषसाध्य है, अतः मिथ्या अर्थावभास (=भ्रम) की सिद्धि होती है। और नवीन प्राभाकरों के यहाँ में भी भ्रम की सिद्धि इस प्रकार होती है—विवेकनिवर्त्त्य विवेकाग्रह की प्रागभावता माननी ही पड़ती है और यह विवेकाग्रह दोषसाध्य है। यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो भ्रमहीन स्थल में मी भ्रान्ति का व्यवहार होने से प्रमाण-व्यवहार का उच्छेद हो जायगा और गृह्यमाण आदि का प्रामाणिक स्फुरण होने पर अविद्या के द्वारा भी तावन्मात्र विवेकाग्रह न होने से कभी भी भ्रम का व्यवहार नहीं होगा। अतः दोष भ्रम का प्रवर्त्तक है ही। यह दोष भ्रम में प्रतिभात अर्थ की उपादान अविद्या को क्षुब्ध कर देता है और उसी समय अविद्या से आरब्ध विवर्त्ताच्छादित वाले अधिष्ठान का सामान्यांशमात्र इन्द्रिय के द्वारा स्फुरित होने लगता है और प्रतीति भ्रान्त हो जाती है।

मायास्वरूप-निरूपण—

ऊपर जिस भ्रम की चर्चा की गई है उसका उपादान समस्त भ्रमों की उत्पत्तिस्थली अनिर्वाच्य माया ही है। माया शब्द का अर्थ है—तत्त्वसाक्षात्कार से जन्य उच्छेद्य। उच्छेद का अर्थ है—अविद्याविरोधी विद्या का उदय। यह माया न सत्, न असत्, न सदसत् और न सदसत् से भिन्न ही है। इसीलिये इसे अनिर्वाच्य कहा गया है। इस अविद्या के उपादेय—भ्रम का आलम्बन सत् है क्योंकि आलम्बन के असत् होने म कोई व्यवस्थापक प्रमाण नहीं मिलता। किन्तु अविद्या अनृत है। उसकी सिद्धि 'मैं अज्ञ हूँ'—इस अनुभव से होती है।

इस अनुभव से भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है। किञ्चिद्विषयक ज्ञान के प्रति तटस्थ लोगों को प्रतियोगी का स्मरण न होने पर भी स्वात्मा में अन्धकार के समान भावरूप

अज्ञान का अनुभव होता है। वेदों में भी प्रलयकालीन भावरूप अज्ञान की चर्चा है।[१] यद्यपि प्रलयकाल में अन्तःकरण आदि की वृत्तियाँ नहीं होती तथापि अपने कारण अनिर्वाच्य अविद्या में लीन होकर सूक्ष्मशक्ति रूप से वर्त्तमान विक्षेपक अविद्याभ्रान्तियाँ कर्मविक्षेपक अविद्यावासनाओं के साथ निवास करती ही हैं। यदि उसे भावरूप नहीं मानेंगे तो वेद का यह कथन कि "सम्प्रसाद में ब्रह्म की प्राप्ति होती है और उससे उठकर जीव व्याघ्र आदि भाव को प्राप्त होता है"[२]—व्याहत हो जायगा। इसके अतिरिक्त इसकी भावरूपता में "अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः",[३] "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे"[४]—इत्यादि श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं।

यद्यपि यह अज्ञान या माया या अविद्या लोकवेदउभयप्रमाणसिद्ध हैं तथापि जैसे प्रामाणिक संशय आदि का अन्य प्रमाणों से उच्छेद होता है उसी प्रकार ईश्वरसाक्षात्कार से इस प्रामाणिक माया का भी उच्छेद हो जाता है।

माया प्रत्यक्षसिद्ध है—

ऊपर जिस माया की चर्चा की गई है वह प्रत्यक्षसिद्ध है। "सम्यक्संशयमिथ्यात्वैर्वृत्तिरेवैयं विभज्यते"[५]—वचन से यह सिद्ध होता है कि अप्रमा अन्तःकरण का परिणाम है। इसी प्रकार "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा···"[६] यह श्रुति भी है। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि मनोमयी अप्रमावृत्ति अविद्याप्रधान साक्षिसिद्धि की आक्षेपिका है। अर्थात् अज्ञान प्रमाणाप्रमाणसाधारण साक्षी से सिद्ध है। यदि इसे विना साक्षी के सिद्ध मानेंगे तो 'तुम्हारी कही हुई बात को नहीं समझ रहा हूँ'—यह व्यवहार अनुपपन्न हो जायगा।

मायोपादानक अचेतनवर्ग कल्पनामय है—

आत्मा से अतिरिक्त समस्त अचेतनजगत् मिथ्या है। इस विषय में "अतोऽन्यदार्तम्"[७]—इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। ब्रह्म सदा विज्ञानात्मक है। चूँकि इस ब्रह्म या आत्मा के अतिरिक्त सब कुछ काल्पनिक है इसीलिये बृहदारण्यक उपनिषद् स्पष्ट कहती है कि 'ब्रह्म या आत्मा के जान लेने पर सब कुछ जान लिया जाता है।'[८] जिस प्रकार चित्र की निम्नता उन्नतता आदि कल्पित होती है उसी प्रकार यह जगत् भी कल्पित है। इसीलिये इस जगत् का सत्यत्व बाद में उसी प्रकार बाधित हो जाता है जैसे चन्द्र का प्रत्यक्ष प्रादेशिकत्व।

अनात्म प्रपञ्च (माया) अनिर्वाच्य है—

यह कल्पनामय अचेतनवर्ग चन्द्रगत द्वित्व, शुक्तिरजत आदि के समान अनिर्वाच्य है।। यह अनिर्वाच्यता दो प्रकार की है—१—सदसद्भ्यां अनिर्वचनीय।। २—मतमतान्तर होने से अनिर्वचनीय।। मायामय जगत् दोनों प्रकार से अनिर्वचनीय है।। इसके बारे में बाह्यार्थवादी बौद्ध का मत है कि यह विशेषात्मक है।। उसमें एकत्व रूप सामान्यव्यवहार कल्पित है।। वैशेषिक सामान्य एवं विशेष दोनों को अकल्पित मानते हैं।।

---

१ तै० ब्रा० २।८।९।।
२ छा० उ० ६।९।२-३ ।।
३ क० उ० २।५ ।।
४ तै० ब्रा० २।८।९।। तै० सं० ४।१।६ ।।
५ नै० सि० ३।२० ।।
६ बृ० उ० १।५।३ ।।
७ बृ० उ० ३।४।१ ।।
८ बृ० उ० ४।५।६ ।।

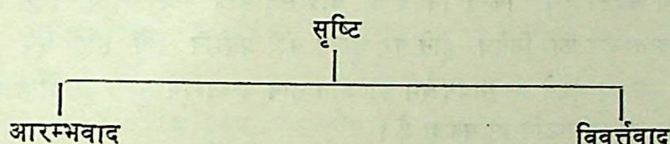
यद्यपि आत्मा भी विद्वानों के द्वारा भिन्न-भिन्न रूप में निरूपित है तथापि वह अनिर्वचनीय नहीं है। क्योंकि भेद की कल्पना अभेदोपादानक होती है। भेद धर्मी एवं प्रतियोगी में व्यासज्यवृत्त्या रहता है। धर्मभेद यदि प्रतियोगी की अपेक्षा न करके केवल धर्मी में ही रहता है तो धर्मी को अभिन्न समझना चाहिये। आत्मा ऐसा ही है। अतः वह अनिर्वचनीय नहीं है। किन्तु अनात्मप्रपञ्च माया, जो कि समस्त जगत् रूप कार्य-कदम्ब का कारण है, अनिर्वाच्य है।

कार्य अनिर्वाच्य है—

इस अनिर्वाच्य करण (माया) का कार्य भी अनिर्वाच्य हैं। यह कार्य सदसद्भ्यां अनिर्वचनीय है। अर्थात् मुग्दर आदि के संयोग के अनन्तर नाश होने से घट आदि एकान्ततः सत् नहीं; और मुग्दर आदि के संयोग के पूर्व सत् होने से एकान्ततः असत् नहीं। इसलिये ये घट आदि अनिर्वचनीय है अर्थात् इनका जन्म और नाश दुर्निरूप्य है।

सृष्टिविचार—

इस कार्यजगत् की सृष्टि के विषय में दो सिद्धान्त हैं—



आरम्भवाद

जिस प्रकार मिट्टी के पृथक्-पृथक् वर्त्तमान एक-एक चूर्ण मिलकर एक अविरुद्ध एवं विचित्र घटरूप कार्य तैयार करते हैं; उसी प्रकार ब्रह्म के भी सहकारी सव्यपेक्ष अवयव पृथक् होते हुए भी जगत् रूप एक कार्य तैयार करते हैं। इन अवयवों का नाम माया है।

विवर्त्तवाद-त्रिवृत्करणविचार—

"तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्"[१]—कह कर श्रुति ने त्रिवृत्करण का सिद्धान्त अपनाया है। यह पक्ष अधिक उपयुक्त है क्योंकि केवल सजातीय पक्ष (आरम्भवाद) श्रुति में कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। त्रिवृत्कृत अग्नि जल और पृथिवी से ही यह कार्य जगत् उत्पन्न होता है। उनकी मात्रा इस प्रकार है—

त्रिवृत्कृत्	शुद्ध: तेज		जल		पृथिवी
तेज	१/२	+	१/४	+	१/४
जल	१/४	+	१/२	+	१/४
पृथिवी	१/४	+	१/४	+	१/२

यद्यपि वायु और आकाश का मिश्रण श्रुतिप्रतिपादित नहीं है तथापि वे भोगसाधन के रूप में उपस्थित रहते हैं।

---

१ छा० उ० ६।३।४।

श्रुति ने यद्यपि पञ्चीकरण का निषेध नहीं किया है तथापि चूँकि त्रिवृत्करण वचन रूप से प्रतिपादित है अतः वह पञ्चीकरण का बाधक हो ही जाता है।

त्रिवृत्करण पञ्चीकरण का उपलक्षण है—

चूंकि स्मृति एवं अन्य ग्रन्थों ने पञ्चीकरण की चर्चा की है[1] अतः पञ्चीकरण भी मान्य है। कुछ सम्प्रदाय मायावादी हैं और माया अनिर्वाच्य होते हुए ब्रह्म के सहयोग से अनिर्वचनीय विचित्र कार्य को उत्पन्न करती है। चूँकि आकाश और वायु भी माया के कार्य हैं अतः इनका भी मिश्रण होता है। इनके मिश्रण में कोई दोष भी नहीं है। साथ ही वायु का स्पर्श अनुभूत होता है अतः ये दोनों भी अवश्य पञ्चीकृत है।

आकाश का निरुपाख्यत्व—

बौद्धों का कथन है कि इस जगत् का कारण शून्य है; और शून्य है—आकाश। इसलिये शून्य आकाश जगत् का कारण है। छान्दोग्योपनिषत् भी आकाश को जगत् का कारण बताती है।[2] "नेह नानाऽस्ति किञ्चन[3]"—इत्यादि श्रुतियाँ निषेध के द्वारा सत् को ही परमार्थ कहती हैं। किन्तु निषेध के बाद सत् कोई भाव पदार्थ ही हो ऐसा नियम नहीं है। स्वप्नरजत का निषेध होने पर शुक्ति की प्रतीति नहीं होती एवं 'वन्ध्यापुत्र दौड़ रहा है'—वाक्य सुनने पर धावनभ्रम का अधिष्ठान वन्ध्यापुत्र तुच्छ ही होता है। अतः शून्य भी भ्रम का अधिष्ठान हो सकता है।

आचार्य रामाद्वय के अनुसार बौद्धों का यह विचार असङ्गत है। आकाश निरुपाख्य नहीं है इस विषय में निम्नलिखित तर्क हैं—

१—मुख आदि के समान आकाश का प्रतिबिम्ब प्रत्यक्ष दिखाई देता है। २—चार प्रकार के अभावों में आकाश का किसी प्रकार का अभाव नहीं है। ३—श्रुतियों में सत् आत्मा से आकाश की उत्पत्ति और इसे दूसरे तत्त्वों का उपादान कहा गया है। ४—आकाश साङ्गत्व अनङ्गत्व आदि के कारण अनिर्वचनीय माया का कार्य होने से अनिर्वचनीय एवं उत्पाद्य है। खोदने पर विवर के रूप में इसकी उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है। आकाश जगत् का कारण नहीं हैं, जगत् का कारण है—मायासचिव चेतन। अविद्या के व्यापार से व्यापारवान् होता हुआ यह जगत् का नियन्त्रण करता है।

अणुकारणतावाद का निराकरण—

अणुकारणतावादियों के अनुसार अणु ही जगत् का कारण है। इस मत की पुष्टि में "एतस्य वै सोम्य ! अणिम्नः एष महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति।"[4]—यह श्रुति है।

आचार्य रामाद्वय के मत में यह कथन अविचारित है। अणु को जगत् का उपादान कारण मानने पर निमित्त कारण का ज्ञान नहीं होगा। फलतः ब्रह्म को ही निमित्तकारण मानना होगा। इससे अच्छा है कि ब्रह्म को ही निमित्त क्षौर उपादान दोनो मान लिया

---

[1] मनु० १।७५-७८। पं० द० १।२७।
[2] छा० उ० १ ९।३।
[3] बृ० उ० ४।४।१९।
[4] छा० उ० ६।१।२।

जाय । "तदैक्षत वहु स्याम प्रजायेय"[1]—श्रुति से यह सिद्ध होता है कि ईक्षण करने के नाते ब्रह्म ही जगत् का कारण है, अणु नहीं । न्यग्रोध-फल का दृष्टान्त ब्रह्म की सूक्ष्मता की ओर सङ्केत करता है ।

परमाणुकारणतावाद और उसका निराकरण—

न्यायकुसुमाञ्जलिकार का कथन है कि परमाणु जगत् के उपादान कारण है ।[2] इस कथन की पुष्टि के लिये वे "सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः[3]"—श्रुति को उद्धृत करते हैं एकः=अनादि; बाहुभ्यां=धर्माधर्म रूप प्रधान कारण के द्वारा; सम्पतत्रैः=परमाणुरूप प्रधानाधिष्ठेय के द्वारा, क्योंकि परमाणु गतिशील हैं; द्यावाभूमी= ऊर्ध्व एवं अधः सप्तलोक ।

रामाद्वयाचार्य इस कथन को असङ्गत मानते हुए उपर्युक्त श्रुति की निम्नलिखित व्याख्या करते हैं—

एकः=भेदासहिष्णु, देवः=स्वप्रकाश चिदात्मा; सम्बाहुभ्यां=सत् अर्थात् परमात्मा के वहुभाव तथा कारण अर्थात् विचारासह अविद्या के द्वारा, उपादान कारण होता; इसलिये वह "विश्वतश्चक्षुः"—इत्यादि है । सम्पतत्रैः=पतन से सम्यक् त्राण के द्वारा, सन्धमति=बढ़ता है या शास्त्रोपदेश करता है । अतः वह निमित्त कारण है । परमाणुओं के निरंश होने से संयोग न होने के कारण कुसुमाञ्जलिकार का 'सन्धमति' का 'संयोजयति' अर्थ करना असङ्गत है ।

स्वभाववाद तथा यदृच्छावाद का निराकरण—

स्वभाववादियों के अनुसार जगत् स्वभावतः उत्पन्न होता है । इस विषय में वे लोग "तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत"[4]—इस श्रुति को प्रमाण में रखते है । श्रुति यहाँ 'व्याक्रियत' कर्मकर्त्तृ का प्रयोग करती हैं । इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक[5] तथा छान्दोग्य उपनिषदें[6] भी इसमें प्रमाण हैं कि जिस प्रकार सुषुप्ति के बाद सब कुछ स्वभावतः हो जाता है उसी प्रकार प्रलय के वाद भी सबकी उत्पत्ति स्वभावतः हो जाती है ।

किन्तु यह कथन अविचारित है । जीव सर्वदा आत्मसम्पन्न है । वह जाग्रत् एवं स्वप्नावस्था में अन्तःकरणउपाधिरूप कञ्चुक से आवृत रहता है । सुषुप्ति में यह उपाधि सङ्कुचित होकर पृथक् हो जाती है । इसलिये उस समय आत्मा को पाप-पुण्य का स्पर्श नहीं होता ।

इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक आदि कर्मविपाकश्रुतियाँ यह बताती है कि सब कुछ कर्मों का फल है ।[7] ये कर्म क्षणध्वंसी है किन्तु अपूर्व की सहायता से वे ही परिपक्व होकर सृष्टि कराते हैं । ये कर्म पहले सूक्ष्मावस्था में वर्त्तमान रहते हैं, वाद में अपूर्व के द्वारा स्थूल रूप में उत्पन्न कर दिये जाते हैं ।

---

[1] छा० उ० ६।२।३ । [2] न्या० कु० ५।३ । [3] श्वे० उ० ३।३ ।
[4] बृ० उ० १।४।७ । [5] बृ० उ० ४।३।१९ । [6] छा० उ० ८।६।३ ।
[7] बृ० उ० ३।२।१३ ।

कालोपादानतावाद एवं उसका खण्डन—

काल को ही परमतत्त्व मानने वाले ज्योतिर्विदों का मत है कि वसन्त में पुष्पों की उत्पत्ति, हेमन्त में पतझड़, इत्यादि प्रत्यक्ष अनुभव तथा "यह सम्वत्सर प्रजापति है"[1], "यह सब कालमूलक जानो"[2]—इत्यादि श्रुति-स्मृतियाँ इस विषय में प्रमाण हैं कि सृष्टि का उपादान एवं निमित्त कारण काल है।

यह कथन भी क्षोदक्षम नहीं है क्योंकि काल की भी उत्पत्ति कही जाती है।[3] जहाँ तक "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे"[4]—की बात है, यह श्रुति इस तथ्य की ओर सङ्केत करती है कि जगत् का कारण मायाविशिष्ट ब्रह्म है। सूर्य आदि काल के व्यञ्जक हैं न कि स्वतः काल हैं।

प्राणोपादानतावाद और उसका निराकरण—

वेद में प्राण को ही जगत् का कारण माना गया है। प्राण शब्द का अर्थ है—शक्ति। "ये सब भूत प्राण में ही अभिसंविष्ट होते हैं।"[5]—इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण है। यह शक्ति एक अतिरिक्त पदार्थ है। इस विषय में 'तुम्हारी शक्ति देख लूँगा', 'तुमसे मुझमें ज्यादा शक्ति है'—इत्यादि लोकव्यवहार प्रमाण है। इसी प्रकार प्रोक्षण आदि के द्वारा व्रीहि आदि में शक्ति का आधान होता है इसमें शास्त्र प्रमाण है। भट्टपाद ने भी कहा है कि—"कर्म के पहले अयोग्य कर्म या पुरुष में शास्त्रप्रतिपाद्य योग्यता का आधान ही अपूर्व है"[6]। अतः उपनिषदों में व्यवहृत प्राण ही जगत् का मूल है।

इस विषय में आचार्य का कथन है कि शक्तिसाध्य शक्य के समान शक्ति का कोई अधिष्ठाता अवश्य है। वही जगत् का मूल है। शक्ति को चेतन नहीं मान सकते क्योंकि फिर वह कूटस्थ हो जायगी और उससे जगद्विकारपरम्परा का प्रसार असङ्गत हो जायगा। जहाँ तक प्राणश्रुति का प्रश्न है वह प्राणोपाधि वाले आत्मा के लिये है।

प्रधानकारणतावाद एवं उसका निराकरण –

सांख्यदर्शन के अनुसार जगत् का उपादान कारण तीनों गुणों की साम्यावस्थास्वरूप प्रकृति है। इसमें 'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्'"[7]—श्रुति तथा "भेदानां परिमाणात् समन्वयात्"[8]—कारिका के द्वारा विहित अनुमान प्रमाण है।

इसके विपरीत रामाद्वयाचार्य का कथन है कि "अजामेकाम्"—श्रुति में वर्त्तमान लोहित शुक्ल एवं कृष्ण पद सत् के विकार तेज जल एवं अन्न के लिये व्यवहृत हैं। 'अजा' पद मायावाची है। अनुमान भी असङ्गत है। गुणों की साम्यावस्था को कारण मानने के बदले गुणों को ही कारण मानने में लाघव है। इसके अतिरिक्त 'परिमाणात्'-हेतु में भागासिद्धि है क्योंकि आकाश के अपरिच्छिन्न होने से, काल की चर्चा न होने से तथा वस्तुओं एवं पुरुषों के अपरिमित होने से देशतः कालतः एवं वस्तुतः परिच्छेद असम्भव है।

---

[1] बृ० उ० १।५।१४। [2] वि० पु० ५।३८।५०। [3] मुं० उ० २।६।
[4] तै० ब्रा० २।८।९। [5] छा० उ० १।११।५। [6] वे० कौ० १, पृ० ४७०।
[7] श्वे० उ० ४।५। [8] सां० का० १५।

सृष्टि के पहले कर्मों के न रहने से तथा पुरुषों के वर्तमान रहने पर भी निष्क्रिय होने से शान्त गुणों में पहले पहल क्षोभ कैसे उत्पन्न होगा ? यह तो हुई निरीश्वर-सांख्य की बात। सेश्वर-सांख्य भी ईश्वर में ईक्षण के अतिरिक्त कोई व्यापार नहीं मानता। और ईक्षण से सृष्टि असम्भव है। ईश्वर का अपलाप करने वाले कपिल को ऋषि नहीं माना जा सकता जिससे उनका वचन प्रामाणिक हो।

बौद्धमत एवं उसका निराकरण—

बौद्धों के अनुसार यह विश्व संघातात्मक तथा पञ्चस्कन्धव्यापार से उत्पन्न है। इसमें "सेयं देवतैक्षत, हन्ताऽहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"[1]—इत्यादि श्रुति प्रमाण है।

बौद्ध सम्प्रदाय का सिद्धान्त निम्नलिखित है—

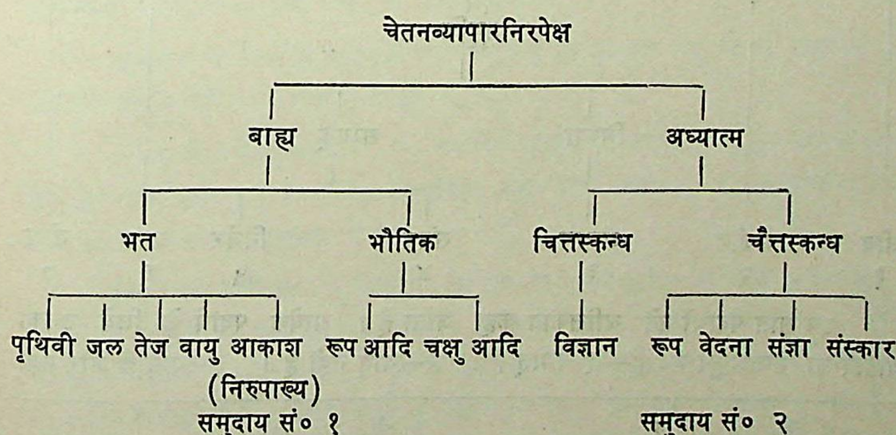
माध्यमिक—सब कुछ शून्य है। जगत् शून्य से उत्पन्न है।

योगाचार—विज्ञान परमतत्त्व है। जगत् विज्ञान का आकार है।

वैभाषिक—ज्ञान और जगत् दोनों सत् हैं। जगत् प्रमेय है।

सौत्रान्तिक—ज्ञान और जगत् दोनों सत् हैं। जगत् अनुमेय है।

"यत् सत् तत् क्षणिकम्"[2]—कारिका इसमें प्रमाण है कि जगत् द्वितीयक्षणप्रध्वंसी है। शून्यवादियों का कथन है कि कार्य की उत्पत्ति के पहले कारण नष्ट हो जाता है। अतः कार्य की उत्पत्ति शून्य से होती है। किन्तु विज्ञानवादी विज्ञान को परमतत्त्व मानते हैं और कहते हैं कि जगत् के आधारभूत—प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति ये चारो तत्त्व विज्ञानमात्र हैं। इस विषय में "तत्सर्वं प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम्"[3]—इत्यादि श्रुतियाँ प्रमाण हैं। इसके विपरीत वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक का कथन है कि विज्ञानवादी का प्रमाण आदि विभाग कल्पित है। केवल प्रमेय सत्य है और वह बाह्य है। उसका निर्वचन इस प्रकार है—



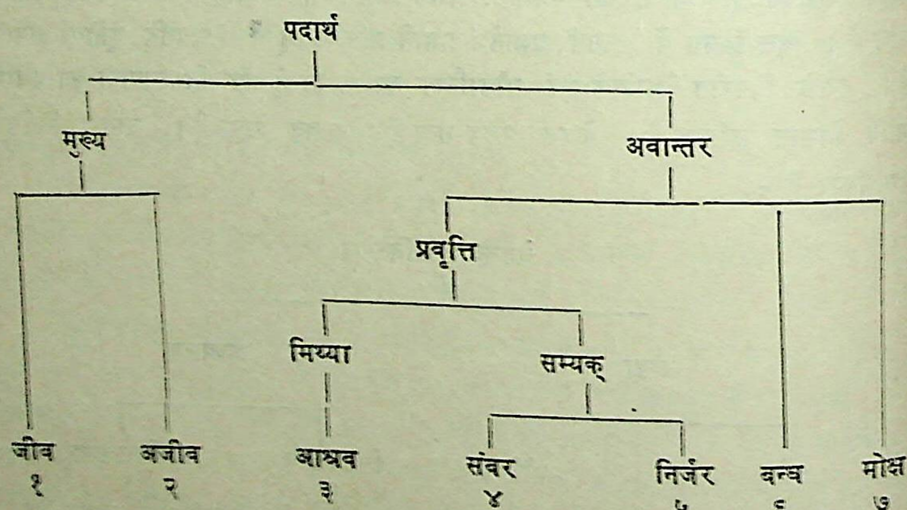
[1] छा० उ० ६।३।२-९। [2] ज्ञानश्रीमित्रनि० १।१।२। [3] ऐ० उ० ५। ३।

वैभाषिकों का कथन है ज्ञान में वर्त्तमान ज्ञानप्रकाशरूप फल एवं ज्ञानजननशक्ति-रूप प्रमाण के बीच जन्यजनकभावरूप सम्बन्ध है। ज्ञान ही अज्ञानवृत्ति से कल्पित ज्ञानत्व-अङ्ग वाला होने पर फल, और अशक्तिव्यावृत्तिपरिकल्पितआत्मानात्मप्रकाशनशक्त्यंश वाला होकर प्रमाण बनता है। विशुद्ध और निरंश ज्ञान का अंश वाले वस्तुसत् से योग असम्भव है। सौत्रान्तिकों के अनुसार--जैसे बिम्ब प्रतिबिम्ब का, उसी प्रकार प्रमाण फल का व्यवस्थापक है। घट से भिन्न आकार की व्यावृत्ति के द्वारा घटज्ञान का घटसारूप्य वाला कल्पित घटाकार ही प्रमाण है। और घटविषयक अज्ञान की व्यावृत्ति से कल्पित घटज्ञान ही इस प्रमाण का फल है। बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं अनुमेय है।

इस विषय में आचार्य रामाद्वय का कथन है कि भूत-भौतिक समुदाय तथा रूप आदि पञ्चस्कन्ध समुदाय कभी भी चेतनव्यापारनिरपेक्ष नहीं हो सकते। लोक में भी मृदादिसमुदाय चेतनव्यापारनिरपेक्ष नहीं देखे जाते बल्कि तत्सापेक्ष देखे जाते हैं। अतः सबके मूल में आत्मा या ब्रह्म है।

जैनमत एवं उसका निराकरण—

जैनधर्मावलम्बियों का कथन है कि "आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते हैं"[१]; "काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा···ये सब तथा इनका संयोग चिन्तनीय है"[२]; "आत्मा भी अनीश है"[३]; "माया को प्रकृति समझो"[४]—इत्यादि श्रुतियाँ भिन्न-भिन्न पदार्थों को जगत् का मूल बताती हुई अनेकान्तवाद का समर्थन करती हैं। इसके अतिरिक्त द्रव्य तथा पर्याय अभेद-दृष्टि से एक के समान होने पर भी भेददृष्टि से अनेक हो सकते हैं—



इन सात पदार्थों को अस्तिकाय कहा जाता है। प्रत्येक पदार्थ के लिये उनका स्याद्वाद या सप्तभङ्गी नय है—१–स्यात् है। २–स्यात् नहीं है। ३–स्यात् है और नहीं

१ तै० उ० ३।६।१।
२ श्वे० उ० १।२।
३ श्वे० उ० १।२।
४ श्वे० उ० ४।१०।

है। ४–स्यात् अवक्तव्य है। ५–स्यात् है और अवक्तव्य है। ६–स्यात् नहीं है और अवक्तव्य है। ७–स्यात् है, नहीं है और अवक्तव्य है। इनसे भी अनेकान्तवाद की पुष्टि होती है।

इस विषय में रामाद्वयाचार्य का कथन है कि विभिन्न श्रुतियाँ सृष्टि एवं उसके कारण की अनिर्वचनीयता को बताती हैं। जहाँ तक भेदाभेदप्रतीति की बात है वहाँ व्यवस्था प्रतीतिमात्र से नहीं अपितु प्रमाण से होती है। और प्रमाणत्व की विषयपरीक्षा में भेद-प्रतीति निराकृत हो जाती है। इसके अतिरिक्त अनेकान्तवाद मानने पर 'सात ही पदार्थ हैं'–यह अवधारण व्यर्थ हो जाता है। अनेकान्तवाद में प्रीति मध्यस्थता एवं शोक की स्थिति निश्चित नहीं होगी। क्योंकि एक ही वस्तु उत्पत्ति स्थिति तथा विनाशकाल में प्रीतिकारक मध्यस्थ एवं शोकप्रद होती है। इस प्रकार यह समझना चाहिये कि अनिर्वाच्य, कार्य एवं कारण, भेद एवं अभेद के विचार से मायारूप उपाधि के द्वारा ही स्वप्न के समान चिदात्मा में कल्पित है। कारण सत्य नहीं; ब्रह्म सत्य है।

भागवत एवं पाशुपत मत तथा उनका खण्डन—

भागवतमतावलम्बियों का कथन है कि—"जैसे सुदीप्त अग्नि से हजारों समान रूप वाली चिनगारियाँ निकलती हैं उसी प्रकार एक ही अक्षर से विविध भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन होते हैं।"[१]—इस श्रुति के अनुसार सृष्टि की प्रक्रिया निम्नलिखित है—

परमात्मा-निरञ्जन ज्ञान (वासुदेव)
↓
जीव (सङ्कर्षण)
↓
मन (प्रद्युम्न)
↓
अहङ्कार (अनिरुद्ध)

आचार्य रामाद्वय का कथन है कि जिस प्रकार केवल अग्नि से स्फुलिङ्ग नहीं निकलते बल्कि उसके लिये पवन काष्ठ आदि बाह्य पदार्थों की भी सङ्क्रान्ति आवश्यक होती है, उसी प्रकार परमात्मा के विकार के लिये माया भी आवश्यक है।

भागवतों के विपरीत पाशुपतों का वक्तव्य है कि भगवान पशुपति ने पशुकल्प जीवों के लिये पाँच पदार्थों का उपदेश किया है—

१—कार्य=महत् आदि। २—कारण=प्रधान एवं पशुपति। ३—योग=ओंकार की उपासना आदि। ४ विधि=त्रिषवण भस्म स्नान आदि। ५—दुःखान्त=मोक्ष। अतः भगवान केवल निमित्त-कारण है।

इसकी अप्रामाणिकता के विषय में आचार्य का कथन है कि वेदविरुद्ध होने से यह मत बुद्ध आदि के वाक्य के समान उपेक्षणीय है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म की उपादानता में अनुमान भी है—आत्मा द्रव्य का उपादान है, क्योंकि वह अनन्त्य अवयवी होते हुए द्रव्यत्व रूप अवान्तर जाति का अधिकरण है, पृथिवी आदि के समान। माया इस ब्रह्म की उपाधि मात्र है।

---

[१] मुं० उ० २।१।

(४)

तत्पदार्थशुद्धि

अद्वैत का लक्षण—

माया के विषय में विचार सम्पन्न होने के बाद माया जिसकी उपाधि होकर जगत् का सृजन करती है उस चैतन्य अर्थात् तत्पदार्थ के स्वरूप का चिन्तन आवश्यक है। अतः इस चैतन्य का निर्वचन प्रस्तुत है। इसे अद्वैत माना गया है अद्वैत का लक्षण है—जो तात्त्विक द्वैत से रहित हो। किन्तु यह लक्षण दोषयुक्त है—यदि द्वैत का तात्त्विकत्व विशेषण स्वसिद्ध है तो व्याघात है क्योंकि निरुपाख्य असद् वस्तु तात्त्विकद्वैतधर्म वाली हो नहीं सकती; और सद् वस्तु को सत् से विधुर कह नहीं सकते। यदि परसिद्ध है तो आत्मा के समान स्वपरसाधारण होने से वही व्याघात दोष आ जाता है। इसलिये 'अनभूति, प्रमा', 'खं छिद्रम्'—इत्यादि के समान 'सद् अद्वैतम्'—इस लक्षण वाला सद् वस्तु ब्रह्म ही अद्वैत है। श्रुति के द्वारा प्रतिपादित "यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति तदद्वैतम्[१]" —यह लक्षण भी उसी सद्वस्तु में तात्पर्य रखता है। यद्यपि श्रुति भी सर्वज्ञकल्प है तथापि वह ब्रह्म नहीं है बल्कि अपने उपक्रम तथा उपसंहार के द्वारा उस सदेकात्मतत्त्व के ज्ञान का विधायक है। यह अद्वैत अभावप्रमाण से गम्य है।

यदि यह कहिये कि द्वैत भी तात्त्विक है क्योंकि हम प्रतिदिन अपने और दूसरे व्यक्ति के इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यप्रत्यक्ष के द्वारा घट पट आदि भावों को एक दूसरे से पृथक् देखते हैं। इसके अतिरिक्त "भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि[२]"—वार्त्तिक के द्वारा भी यही सिद्ध होता है कि इन्द्रिय का संयोग ऐसे सामान्य अथवा धर्मी से होता है जो अद्वैत से अभिन्न है। साथ ही मूँग माष तिल आदि में जहाँ भेदप्रतीति नहीं होती वहाँ भी 'कोई वस्तु है'—ऐसा सत् पदार्थ (=जाति) दृष्ट होता है। अतः निर्विकल्पक ज्ञान के द्वारा ही सामान्य या अद्वैत सिद्ध हो जाता है। फलतः अभावप्रमाण के द्वारा अद्वैतसिद्धि की आवश्यकता नहीं है।

इस विषय मे रामाद्वयाचार्य का कथन है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सामान्य एवं विशेष दोनों का ग्राहक होता है। यह ज्ञाता की कमी है कि वह सामान्य का ही ग्रहण करता है; इसलिये वस्तु के असाङ्कर्य की सिद्धि के विषय में भाव प्रमाणों के सक्षम न होने से अनुपलब्धिप्रमाण के भी अद्वैत का साधक होने की कोई आवश्यकता नहीं है। क्योंकि अन्योन्याभाव या तो अन्योन्य स्वरूप होगा या अन्योन्य का धर्म; पहले पक्ष में जगत् के सभी पदार्थ अन्योन्याभावस्वरूप हो जायेंगे फलतः जगत् का तत्त्व अभाव हो जायगा। यदि धर्म मानते हैं तो चाहे धर्म एक हो या प्रतिभाव पृथक्, दोनों दशाओं में अभावप्रमाणवादी को वह प्रत्यक्ष नहीं होगा, फलतः अद्वैत ही प्रत्यक्ष होगा। इसके अतिरिक्त चूँकि चिदात्मा स्वप्रकाश है अतः उपलब्धिस्वरूप है। इसलिये उसकी योग्यानुपलब्धि ही नहीं मिलेगी। अतः जैसे एक ही वर्ण में ह्रस्वत्व, दीर्घत्व का प्रतिभास अध्यास है उसी प्रकार चिदात्म सद्वस्तु अद्वैत में द्वैत आदि अध्यस्त है।

---

१ (तुल०) बृ० उ० ४।५।६। २ श्लो०वा० ५।१८ अभाव०।

ब्रह्मलक्षण

अद्वैत वेदान्त के अनुसार ब्रह्म का लक्षण दो प्रकार का है—

१—तटस्थ लक्षण २—स्वरूप लक्षण।

तटस्थ लक्षण—

सांख्य, योग, बौद्ध, जैन आदि के अनुसार जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के जो हेतु बतलाये गये वे असङ्गत एवं अक्षोदक्षम हैं—यह बात मायास्वरूपविचार के प्रसङ्ग में स्पष्ट हो चुकी है। इससे यह समझना चाहिये कि वेदान्तसिद्धान्त के अनुसार जगत् का हेतु ब्रह्म है। महर्षि वेदव्यास ने भी कहा है कि ब्रह्म वही है जहाँ से जगत् का जन्म आदि होता है।[१] यही ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है।

यदि यह कहिये कि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"[२]—इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म का केवल प्रभाव बतलाती हैं ताकि लोग ब्रह्म के प्रभाव को जानकर ब्रह्मज्ञान में प्रवृत्त हों; अतः सृष्टि आदि के श्रुतिप्रतिपादित न होने से ब्रह्म का तटस्थ लक्षण असम्भव है? तो यह आक्षेप अविचारित है। वह्नि में स्वार्थ (=दाहकता—)बोधन शक्ति के समान शब्द में स्वार्थबोधन शक्ति स्वाभाविक है। यह शक्ति अनादि है; इसलिये नित्य है। ईश्वर वर्त्तमान सर्ग में शब्दों का प्रयोग पूर्वसर्ग में वर्त्तमान प्रयोगों का स्मरण करके ही करता है। इस प्रकार अनादि नित्य श्रुति "शतायुर्वै पुरुषः"[३]—कह कर पुरुष की आयु की सीमा बता देती है। फिर यह निश्चित है कि इसके बाद विनाश होगा। श्रुतिमूलक स्मृतियों का वर्णन भी अप्रामाणिक नहीं है।

इस सृष्टि का प्रयोजन है—कर्मफलभोग। इसलिये श्रुति कहती है—"तं यथा यथोपासते"[४]—लोग उस अव्याकृत ईश्वर की जैसी उपासना करते हैं वैसा ही जन्म उन्हें मिलता है। इसी सन्दर्भ में यह भी समझना चाहिये देवताओं का भी अपना-अपना शरीर है और चूँकि वे सत्कर्म के द्वारा ऐश्वर्यवान् हैं अतः अनेक अनुष्ठानों में अनेक शरीर धारण कर भाग ग्रहण करते हैं। अपने ऐश्वर्य के द्वारा वे जीवनपर्यन्त कर्मफल भोगते हैं और बाद में शरीरान्तर को प्राप्त होते हैं।

इसलिये जब एक देवता अपना शरीर त्याग कर हटता है तब उसका स्थानापन्न दूसरा देवता आ पहुँचता है। इस प्रकार यह भी सिद्ध हो जाता है कि देवता-विग्रह के अनित्य होने पर भी देवता-जाति नित्य है, या शब्द नित्य है। यद्यपि महाप्रलय होने पर जाति का भी उच्छेद हो जाता है तथापि सुप्तोत्थित के समान ईश्वर सृष्टिकाल में सब ठीक कर लेता है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि जब शब्द या श्रुति नित्य है और ब्रह्म से जगत् के जन्म आदि का निर्वचन करती है तो ब्रह्म का तटस्थ लक्षण आखण्डल के द्वारा भी खण्डनीय नहीं है।

---

[१] ब्र० सू० १।१।२। [२] तै० उ० ३।१।१।
[३] श० ब्रा० १२।७।२।१३। [४] श० ब्रा०१० ५।२।२०।

नैयायिकसम्मत सृष्टि-प्रलय तथा पृथिवी आदि के कर्त्ता का एकत्व एवं सर्वज्ञत्व—

पृथिवी आदि के सर्ग एवं ध्वंस के विषय में नैयायिकों का अनुमान है कि—विवादास्पद पृथिवी आदि सर्गध्वंसवत् हैं, क्योंकि सावयव है, मध्यमपरिमाण वाले हैं, विन्यासविशेष वाले हैं—इत्यादि।

किन्तु यह अनुमान असङ्गत है। जो लोग अवयवसमवाय का समवाय नहीं मानते उनके अनुसार सावयवत्व असिद्ध है। इसी प्रकार सावयवत्वसिद्धिमलक मध्यमपरिमाणत्व हेतु भी असिद्ध है। विजातीय परमाणु के द्वारा सम्बन्धविशेष होने से आधाराधेयभाव की सिद्धि के समान विना आरम्भ के भी सम्बन्धविशेष से विन्यासविशेष की सिद्धि हो जायगी। इस प्रकार उपर्युक्त अनुमान के असाधु होने से उनका पृथिव्यादिविषयक सकर्त्तृकत्वानुमान भी असङ्गत हो जाता है। किन्तु न्यायदर्शन पृथिवी आदि को सकर्त्तृक मानता है। विशेषता यही है कि यह कर्त्ता मनुष्य नहीं ईश्वर है। इसलिये उसमें संसारी पुरुष के भ्रमविप्रलिप्सा आदि धर्म नहीं है। वह शाश्वत प्रमावान् है। अतः जैसे अरणिमन्थन से अग्नि की, परिश्रम से पसीने की, उत्पत्ति लोकप्रसिद्ध है उसी प्रकार शब्द आदि भी अनादि कर्त्ता से उत्पन्न हैं—ऐसा मानना चाहिये।

इस विषय में वेदान्त का विचार है कि यह सकर्त्तृकत्वानुमान इसलिये निराकृत हो जाता है कि कार्य सावयवसम्पाद्य होने के कारण निराकृत कर दिया जाता है।

मीमांसकसम्मत सृष्टि-विचार—

मीमांसा मत के विपरीत नैयायिकों का विचार है कि सर्वज्ञ कर्त्ता ईश्वर ही जगत् का स्रष्टा एवं प्रलयङ्कर है क्योंकि अङ्कुराद्युपादानगोचर साक्षाद्विज्ञान हम लोगों में सम्भव नहीं है।

मीमांसा इसका खण्डन करते हुए कहती है कि धर्माधर्मरूप कर्म ही जगत् की सृष्टि एवं प्रलय का हेतु है। तैत्तिरीय ब्राह्मण इस विषय में प्रमाण है कि अङ्कुर आदि के रूप में वर्त्तमान कार्य कर्म के द्वारा उत्पन्न है।[१] कर्म के कारण ही जीवविशेष अङ्कुर आदि स्थावर के रूप में उत्पन्न होते हैं यह बात पातञ्जल योग-सूत्र से भी स्पष्ट है।[२] लोक में प्रत्यक्षदृष्ट विना किसी प्रयत्न के अच्छी मृत्यु तथा प्रयत्न करने पर भी अच्छी मृत्यु के अभाव का हेतु भी धर्माधर्म रूप कर्म ही है। ये कर्म अदृष्ट के माध्यम से फल देते हैं। आत्मा तो युतायुतकरणशून्य होने से कोई भी प्रयत्न नहीं करता। यह तो कृति को अनित्य मानने वालों के अनुसार है।

जिनके मत में कृति नित्य है उन्हें अदृष्ट मानने की भी आवश्यकता नहीं होती। सृष्टि स्वयं होती है। सृष्टि एवं प्रलय अनवच्छिन्न रूप से चलते रहते हैं। आत्यन्तिक सृष्टि एवं प्रलय की बात अविचारित है क्योंकि उसका कोई फल नहीं है। जहाँ तक कर्मफलों के भोग की बात है वह देह आदि की सृष्टि एवं प्रलय से भी सिद्ध हो जाता है। इसलिये उदयनाचार्य का यह कथन कि—अग्नि वायु जल एवं महार्णव का सन्निपात होने पर ब्रह्माण्ड-देह का प्रलय होने से चेतन भोगरहित हो जाते हैं[३]—अपास्त हो गया।

[१] तै० ब्रा० ३।८।१३। [२] पा० यो० सू० २।१३। [३] न्या० कु० २।२।

मीमांसा के अनुसार ईश्वर भी कर्मपरतन्त्र होकर ही सृष्टि आदि करता है न कि स्वेच्छा से या आत्मविनोद या स्वातन्त्र्य-प्रदर्शन के लिये। कर्म समय पाकर धर्माधर्म आदि अदृष्ट के द्वारा स्वयं उद्बुद्ध होते हैं न कि ईश्वरेच्छा इनकी उद्बोधिका है। क्योंकि ऐसा होने पर वही लोक का कारण बन जायगी।

जहाँ तक ज्ञान और इच्छा आदि की बात है मीमांसा इसे अनित्य मानती है। आत्मत्व नित्यविशेषगुणवान् में रहता है, आत्मत्व होने से, सत्ता के समान—इस अनुमान से यदि कोई ज्ञान की नित्यता सिद्ध करना चाहें तो यह असम्भव है क्योंकि मीमांसा इसका प्रत्यनुमान उपस्थित करती है—आत्मत्व नित्यविशेषगुणवान् में नहीं रहता, जल आदि में न रहने से, पृथिवीत्व आदि के समान। इस अनुमान के द्वारा ज्ञान आदि की अनित्यता सिद्ध हो जाती है। यह तो हुई ईश्वरातिरिक्त ज्ञान आदि की बात। ईश्वरज्ञान को भी मीमांसा नित्य नहीं मानती क्योंकि स्वनिष्ठप्रत्युत्पन्नघटादियोगाद्याधारत्वधर्म वाला ईश्वर घट आदि से इतर का धर्मी होकर उसी समय क्रियमाण निर्णय से व्यावर्त्तनीय का पक्ष होने से व्यभिचरित हो जाता है।

रामाद्वयाचार्य के अनुसार उपर्युक्त मीमांसामत भी अयुक्त है क्योंकि कर्मजन्य धर्म-अधर्म रूप अदृष्ट जड है। इसके पीछे किसी न किसी चेतन का होना आवश्यक है। अन्यथा अदृष्ट का नियन्त्रण कौन करेगा? यह नियन्ता मायोपहित ब्रह्म ही है।

माया एवं अविद्या में भेद—

ब्रह्म ही जगत् के जन्म आदि का कारण है—यह सिद्ध हो चुका। इस जगत् की सृष्टि आदि में ब्रह्म के साथ-साथ माया एवं अविद्या रूप दो उपाधियाँ लगी रहती हैं। अतः ब्रह्म का जगत्कारणत्व समझने के लिये दोनों के स्वरूप एवं पारस्परिक-भेद का ज्ञान आवश्यक है। माया एवं अविद्या के भेदों का अनुशीलन करते हुए कुछ लोगों का कथन है कि एक ही वस्तु जब विक्षेपप्रधान हो जाती है तब माया कहलाती है और इसमें प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर कहलाता है।[१] वही जगत् का कर्त्ता और जीवों का प्रशास्ता होता है। वही वस्तु जब आवरणप्रधान होती है तब अविद्या कहलाती है इसमें प्रतिबिम्बित होने वाला चैतन्य जीव कहलाता है।

जीव के स्वरूप का आवरण उपाधि के द्वारा सम्भव नहीं है। और अनावृतस्वभाव वाला होने पर भी विक्षेप सम्भव है क्योंकि अनावृतस्वभाव वाला भी कर्त्तृत्व आदि के अवभास का हेतु हो सकता है। इसलिये कोई अनिर्वाच्य वस्तु, जो अपने उपहित का आवरण तो नहीं किन्तु विक्षेप कर सकती है, माया के नाम से प्रसिद्ध है। इसी माया-मुख्योपाधि प्रदेश में प्रतिबिम्बित वे जीव जो बन्ध एवं मोक्ष के भागी हैं, अज्ञान के कारण आवरणविक्षेपशक्तिवाले मायाप्रदेशों में प्रतिबिम्बित तादृशसंवित्स्वरूप हैं। ईश्वर कहीं भी प्रतिबिम्बस्वरूप नहीं है। इस कारण जिस आधार पर हम लोगों का संवादी प्रत्यय होता है, और जिस आधार पर साधारण आभोग होता है वह अखिलकार्य की उपादान महेश्वर की उपाधि है। इसे माया भी कहा जाता है अविद्या भी।

---

१ वे०प० १, वि० नि०।

आचार्य रामाद्वय का कथन है कि यदि माया और अविद्या को एक मानेंगे तो "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप इयते"[1]—श्रुति में 'मायाभिः' शब्द के द्वारा प्रतिपादित अनेकत्व असङ्गत हो जायगा। साथ ही माया और अविद्या के एक होने पर शुक्ति में रजत रूप में वर्त्तमान अविद्या का लोप होने पर माया का भी लोप होने से शुक्तिप्रमा के साथ मुक्ति भी हो जायगी। यह भी नहीं समझना चाहिये कि जैसे पृथिवी के अवयव द्वीप हैं उसी प्र ार अविद्यायें माया की अवयव हैं क्योंकि तब तो एकबार चैतन्य के प्रतिबिम्बित होने पर जीव एवं ईश्वर का विभाग असम्भव हो जायगा।

जीवात्मा एवं परमात्मा का भेद औपाधिक है—

प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् दृष्टिगोचर चैतन्य एवं समस्त जगत् का नियन्ता दोनों अभिन्न हैं या भिन्न—यह भी सभी दर्शनों का चर्चित विषय है। अद्वैत वेदान्त का निर्णय है कि वस्तुतः दोनों एक हैं किन्तु कुछ कारणवश पृथक्-पृथक् दिखलायी पड़ते हैं। इसमें "अयमात्मा ब्रह्म[2]"—श्रुति प्रमाण है। वन्ध एवं मोक्ष की दृष्टि से पृथक् होने पर भी "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव[3]—इत्यादि श्रुतियाँ तथा "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्[4]"—इत्यादि ब्रह्मसूत्र यही बताते हैं कि जीव एक ही परमात्मा के अनन्त भेद हैं। जहाँ तक "य आत्मनि तिष्ठन्[5]"—इत्यादि श्रुति के द्वारा प्रतीयमान भेद एवं आधाराधेयभाव की प्रतीति का प्रश्न है, वह भी कुण्डबदरवत् मुख्य नहीं है। शरीरपात के बाद विश्वचिदात्मा का प्रतिबिम्ब (=जीव) भी बिम्ब ही हो जाता है। श्रुति जोरदार शब्दों में जीवब्रह्मैक्य का समर्थन करती हुई कहती है—"जो इससे अतिरिक्त जानते हैं और जो अन्य स्वामीवाले हैं वे क्षय्यलोक वाले हो जाते हैं[6]"।

ईश्वर के प्रतिबिम्बत्ववाद का निराकरण—

सच्चिदानन्द घन परमात्मा जब इस जगत् की सृष्टि के लिये कुछ उपाधियों से विशिष्ट होता है तब उसे ईश्वर और जीव की संज्ञा मिलती हैं। संक्षेपशारीरककार सर्वज्ञात्ममुनि का विचार है कि ईश्वर ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है। अर्थात् अविद्यामयी अथवा उससे विलक्षण अनादि विक्षेपप्रधान माया में स्वोपहित ईश्वररूप का आवरक होनें से, जो प्रतिबिम्बित चैतन्य है, वही ईश्वर है। वह स्रष्टा एवं जीवों का प्रशास्ता है। वह कभी भी अन्योपाधिप्रध्वंश के द्वारा केवल बिम्ब-चैतन्य के रूप में स्थित नहीं होता अतः अनादिसिद्ध है। यदि चैतन्य माया में प्रतिबिम्बित न हो तो इस जगत् से उसका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

इस विषय में प्रकाशात्मन् एवं पद्मपादाचार्य का विचार है कि अनादि ईश्वर बिम्ब ही है।[7] यदि उसे प्रतिबिम्ब मानेंगे तो अनादि प्रपञ्चभ्रम के अधिष्ठान ईश्वर के निरङ्कुशत्व नियन्तृत्व आदि की अनुपपत्ति होने लगेगी। क्योंकि प्रतिबिम्ब प्रतिबिम्ब का नियन्ता नहीं हो सकता। श्रुति का वचन है कि एक ही ब्रह्म के आभास से प्रकृति

[1] बृ० उ० २।५।१९। [2] बृ० उ० २।५।१९। [3] बृ० उ० २।५।१९।
[4] ब्र० सू० ३।२।१८। [5] शत० ब्रा० १४।५।१।१४।
[6] छा० उ० ७।२५।२। [7] पं० पा० १, पृ० १०४, पं० वि० १, पृ० १८५-९४।

स्वयं अविद्याव्यवहारवाली होकर जीव का व्यवहार तथा मायाव्यपदेश वाली होकर ईश्वर का व्यवहार करती हैं।[1] ब्रह्म न तो स्वयं और न रस्सी के दो सूतों की भाँति मायामिश्रित होकर ही जगत् का कारण है बल्कि जगदात्मना विवर्त्तमान मायाधिष्ठान ब्रह्म जगत् का कारण है चाहे उसे ईश्वर कहिये या बीजावस्था में वर्त्तमान हिरण्यगर्भ।

वेदान्त के प्रतिविम्बेश्वरवादी स्वयं स्वीकार करते हैं कि विम्ब ही मायासम्बन्धकृत महेश्वर है तथा प्रतिविम्बभेदभ्रम विम्बाधिष्ठान में ही होता है। संसर्गान्तर न होने से माया में प्रतिविम्बित का मायाप्रतिबिम्बितत्व ही महेश्वरत्व है न कि प्रतिबिम्ब महेश्वर है। प्रतिबिम्बेश्वर पक्ष में विश्वास भी नहीं होता क्योंकि तब यह भी मानना पड़ेगा कि उसकी चैतन्यप्रमा के साथ अनादि काल से अनुवृत्त माया अनन्त उत्तरकाल तक अनुवर्त्तन करती रहेगी। और शरीर के हाथ पैर आदि अवयव के समान उसके अवयवभूत अज्ञान–भेद वैसी ही आगन्तुक प्रमा के द्वारा निवृत्त कर दिये जायेंगे। "भूयश्चाऽन्ते विश्वमाया-निवृत्तिः"[2]—श्रुति भी ईश्वरपक्ष में ही है। चूंकि अविद्या के विम्ब—ब्रह्म में अविद्या नहीं है क्योंकि—१—ब्रह्म के विषय में निरवद्यत्व श्रुति है। ६—ब्रह्म देहात्मभाव के समान जीवाविद्या के द्वारा समारोपित सर्वजगदैश्वर्य, ईश्वरोपासना, पुण्यपापफलपर्यन्तत्व आदि का निर्वाहक होता है। इसलिये भी प्रतिबिम्बेश्वरवाद असम्भव है।

ब्रह्म के स्वरूप को अविद्या का आश्रय नहीं कहा जा सकता। क्योंकि बिम्ब यदि स्वरूप से अतिरिक्त है तो कल्पित है और यदि अनतिरिक्त है तो स्वरूप ही अनवद्य है। इसलिये यह अविद्या जीव में वर्त्तमान रहती है। इसी अविद्या के कारण जीव सर्वज्ञत्व आदि गुण को अपने से भिन्न देखता है एवं पुनः ज्ञान आदि गुणों का समारोप होने से उत्तर संसार की सृष्टि में प्रवृत्त होता है। ईश्वर चूंकि सदा ज्ञानवान् अतएव आप्तकाम है अतः सदा मुक्त होने के कारण उत्तरसंसार में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। माया स्वाश्रय में प्रवृत्त होने के साथ अनाश्रय प्रतिविम्ब में भी प्रवृत्त होती है। ईक्षण आदि माया के परिणाम एवं जीवाऽज्ञान के विवर्त्त हैं। जैसे साधारण प्रपञ्च का कारण सबका अदृष्ट है उसी प्रकार सवकी अविद्या भी उसका कारण है। इसीलिये "भूयश्चाऽन्ते विश्वमायानिवृत्तिः"—का स्पष्टार्थ यह है कि पहले श्रवण आदि से जन्य प्राथमिक प्रमा के द्वारा विश्वकारण माया की वास्तविक निवृत्ति हीती है, फिर चरमप्रमा के द्वारा दग्धपटन्याय से प्रातिभासिक विश्वमाया का उच्छेद होता है।

ईश्वर के बिम्बत्ववाद में सबका सामञ्जस्य—

"जीवेशौ आभासेन करोति"—श्रुति का[3] तात्पर्य बिम्बेश्वरवाद में है। स्पष्टार्थ यह है कि—आभासेन=प्रतिबिम्बेन=विशिष्टबिम्बप्रतिबिम्बात्मना जीवेश्वरविभागीयं व्यवहारं माया करोति=प्रवर्त्तयति। "फलमत उपपत्तेः"[4]—सूत्र की योजना भी बिम्बेश्वर पक्ष को ही मानकर करनी चाहिये।

---

[1] नृ० उ० ता० उ० ९।
[2] श्वे० उ० १।१०।
[3] नृ० उ० ता० उ० ९।
[4] ब्र० सू० ३।२।२८।

स्वरूपलक्षण—

ब्रह्म का मिश्रित अखण्डस्वरूप चार विशेषताओं वाला है—सत्य, ज्ञान, आनन्द एवं अनन्त। यही इसका स्वरूपलक्षण भी है।

जहाँ तक सत्य का प्रश्न है, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के विषय में सिद्धान्त है कि वह केवल सत् का ही ग्रहण करता है। 'अस्ति किञ्चित्'— इस ज्ञान का स्वरूप हैं। यद्यपि यह ज्ञान व्यावहारिक है तथापि सत् है। बौद्धों का कथन है कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष सत् का ग्रहण नहीं करता अपि तु स्वलक्षणगोचर अभ्रान्त के एकाकार प्रतिनियम का विधिव्यवच्छेद करते हुए सविकल्पक प्रत्यय का कारण बनता है।

इसके विपरीत वेदान्ती आचार्य रामाद्वय का कथन है कि शुक्ति-रजत स्थल में रजतार्थी की इतरपरिहारेण रजतविषयिणी प्रवृत्ति होने से बौद्ध मत उपेक्ष्य है। उनका "कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम्"[१]—यह प्रत्यक्ष का लक्षण भी अयुक्त है क्योंकि जब तक बाध नहीं होता भ्रान्तज्ञान प्रामाणिक होने से प्रत्यक्ष ही होता है। 'घटः' करके जो ज्ञान होता है वह घट-सत्ता की व्यवस्था पट आदि से व्यावृत्त करके ही करता है न कि ज्ञान होने पर व्यवच्छेद आदि होते हैं। जितने स्वरूपभेद हैं सब एक (सत्ता–) स्वरूप के अन्तर्गत हैं। यही अद्वैत है। भेद के असिद्ध होने पर स्वरूप का अनेकत्व असिद्ध हो जाता है।

वैशेषिकों के अनुसार सामान्य एवं विशेष दोनो सत् हैं और इन्हीं दोनों के कारण वस्तुओं में भेद उत्पन्न होता है। वेदान्त का सिद्धान्त है कि ये भेद के उत्पादक नहीं हैं बल्कि सामानाधिकरण में आने पर एक व्यक्ति को बताते हैं। जाति गुण द्रव्य आदि का भेद कल्पित है। परमार्थतः सामान्य एवं विशेष एक ही है।

वैनाशिकों के मतानुसार व्यावृत्तिधीवेद्य विशेष ही परमार्थ सत् है। अनुस्यूतधी-वेद्य सामान्य कल्पित होने से अयथार्थ है। इन्हीं में से एक पक्ष का मत है कि बाह्य वस्तु सत् है और उसमें ज्ञान के आकार का अध्यारोप होने से भेदप्रतीति होती है। किन्तु दूसरा पक्ष कहता है कि ज्ञान ही सत् है; अविद्यावासना के द्वारा अविज्ञानात्मक असत् बाह्यवस्तु का आरोप होता है। इन सब के विपरीत वेदान्ती का कथन है कि जब एक ही ज्ञान को अनेक रूपों में अवभासित मानना है तो विज्ञानस्वरूप ब्रह्म को ही अनेक रूपों में अवभासित मानिये। जिस प्रकार बौद्ध मत में एक ही घटज्ञान घट का परिच्छेद, घट से अन्य का व्यवच्छेद एवं घटत्व से अतिरिक्त प्रकार के अभाव को लक्षित करता है; तथा जिस प्रकार दहन एवं स्पर्श आदि परमाणुओं का दाह पाक एवं स्पर्श आदि लक्षणों वाला अर्थक्रियाविभाग होता है; उसी प्रकार वेदान्त में भी एक ही ब्रह्म-वस्तु अनेक विरुद्ध अर्थक्रिया करती है—ऐसा समझना चाहिये।

सत्ताजाति की व्यवस्था—

सत्ता या सामान्य भी एक पदार्थ है। इसकी पुष्टि निम्न प्रकार से होती है—

१ - जाति के बाधक—व्यक्ति का अभेद व्यक्ति की तुल्यता आदि सत्ता जाति के

[१] न्या० वि० ११४।

बाध में घटित नहीं होते। २—हमें 'सन् घट: सन् घट:' करके सत्ता का अनुभव भी होता है। ३—सत्ता या सामान्य के कारण ही हमें प्रत्यभिज्ञा होती है।

यह सत्ता ब्रह्म ही है जो सर्वपदार्थकल्पना के अधिष्ठान के रूप में अनुस्यूत और न्यायसम्मत पदार्थ—द्रव्य गुण कर्म में रहती है। इसके अतिरिक्त यह भी समझना चाहिये कि इन तीनों के अतिरिक्त सामान्य विशेष एवं समवाय में भी सत्ता रहती है अन्यथा वे भावपदार्थ नहीं कहे जायेंगे। सत् वही है जो भ्रान्ति एवं बाध दोनों में अनुस्यूत हो; जैसे—'इदं रजतम्' एवं 'इयं शुक्तिः' में इदन्ता। इस प्रकार प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक दोनों में अनुस्यत सामान्य सत् ब्रह्म ही है। यही अनेक विशेष रूपों में प्रतिभासित होता है। वाचस्पति मिश्र ने भी कहा है कि—"नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव आत्मा का निर्वचन सत्ता से ही हो सकता है; और अबाधित स्वयंप्रकाशता ही इसकी सत्ता है।"[१] "इदं सर्वं यदयमात्मा"[२], "सर्वं खल्विदं ब्रह्म"[३]—इत्यादि श्रुतियाँ भी यह सिद्ध करती हैं कि सबके मूल में वर्त्तमान ब्रह्म सत् ही है। "आरम्भण"—आदि शब्दों का सङ्केत भी इसी ओर है कि ब्रह्म से अतिरिक्त सभी प्रपञ्च अनृत हैं।

ब्रह्म जगत् का विवर्त्तोपादान एवं माया परिणामोपादान है -

जगत्, सृष्टि के मूल में वर्त्तमान माया एवं ब्रह्म इन दो तत्त्वों में से ब्रह्म का अतात्त्विक परिणाम है। इसीलिये यह ब्रह्मज्ञान की दृष्टि से मिथ्या है, तथा जब तक माया से इसका सम्बन्ध है तब तक सत्य है। यदि जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानेंगे तो "त्रिपादस्याऽमृतं दिवि"[४]—श्रुति के द्वारा प्रतिपादित उसका अविकृतित्व अप्रामाणिक हो जायगा। तथा "दिव्यो ह्यमूर्त्तः[५]", "निष्कलं निष्क्रियम्"[६]—इत्यादि श्रुतियाँ इसके एकपाद को भी अपरिणामशील ही बताती है। इसके अतिरिक्त "बह्वङ्कुरा"[७]—यह स्त्रीलिङ्गवाची शब्द का प्रयोग माया की तरफ सङ्केत करता है। सुरेश्वराचार्य के—

"सर्वज्ञकरुणानुन्ना विचारज्ञानकामना।
ईक्षणोपचयान्नऽदिरूपेणाऽथ विवर्त्तते॥"

वार्त्तिक से इस मत की और पुष्टि हो जाती है। माया के संसर्ग से ब्रह्म के—१—ईश्वर, २—अव्याकृत, ३—प्राण, ४—विराट्, ५—भूत, ६—इन्द्रियादि, ७—देह और ८—विषय ये विवर्त्तविकार होते हैं। इसीलिये पुरुषसूक्त में उक्त "ज्यायांश्च पूरुषः"[८]—मन्त्र का स्पष्टार्थ यह है कि चूँकि पुरुष अपने एक पाद से जीव अविद्या आदि का अधिष्ठान बनता है और उसके तीन पाद सुरक्षित हैं इसलिये वह ज्यायान् है। ईश्वर अव्याकृत आदि का आलम्बन है। वही मुख्य है, न कि प्रतिबिम्ब। सत्य उसका स्वरूप है।

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और ब्रह्मज्ञान में विधि असम्भव है—

ब्रह्म जिस प्रकार सत्स्वरूप है उसी प्रकार चित्स्वरूप भी है। यह कहना अनुचित है कि ज्ञान का लोक एवं वेद में कर्त्तव्य के रूप में उपदेश होने से वह व्यापारसाध्य है इसलिये

---

[१] ब्र० सू० शां० भा० भा० १।१।१। [२] नृ० उ० ता० उ० ९।
[३] छा० उ० ३।१४।१। [४] छा० उ० ३।१२।६। [५] मुं० उ० २।१२।
[६] श्वे० उ० ९।१६। [७] नृ०उ०ता०उ० ९। [८] छा० उ० ३।१२।६।

अनित्य एवं साध्य ज्ञान नित्य एवं सिद्ध ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्मज्ञान का कर्त्तव्य के रूप में उपदेश नहीं है बल्कि वेदाध्ययन का उपदेश है। और शब्दैकवेद्य होने के कारण ब्रह्म वेदाध्ययन से स्वयं ज्ञात हो जाता है। चूँकि अर्थावबोध अध्ययन का दृष्ट फल है अतः ब्रह्मज्ञान को अदृष्टफलक मान कर उसके लिये भी विधि मानना अनुचित है। साथ ही चूँकि ज्ञान सिद्ध वस्तु है अतः उसके विषय में प्रवृत्ति असम्भव है। जो लोग यह कहते हैं कि ब्रह्म भी एक तरह से भूत है फलतः उसके प्रतिपादक वाक्य अन्यप्रमाणों के भी विषय हो सकते हैं किन्तु विधि के केवल साध्य होने से विधिवाक्य अन्य प्रमाण के विषय नहीं होंगे अतः वेदसापेक्ष होने से अनुवादलक्षण अप्रामाण्य का परिहार हो जायगा; उनका यह कथन अनुचित है क्योंकि प्रत्यक्ष आदि का वैसा अप्रामाण्य सम्भव नहीं है। साथ ही वेद का प्रामाण्य प्रमाणान्तरनिरपेक्ष है एवं विधि निरपेक्षप्रमाण वाली नहीं है। इसके अतिरिक्त प्रमिति में उत्पत्तिविधि के असिद्ध होने से यहाँ उत्पत्तिविधि भी नहीं है। और जिन "आत्मा द्रष्टव्यः"[१]—इत्यादि वाक्यों को अधिकारविधि मानते हैं वह आत्मसाक्षात्कार की प्रशंसा के लिये अर्थवाद है।

ज्ञान मोक्ष का अङ्ग नहीं है—

ब्रह्म के दो रूप हैं :—(१) कार्यब्रह्म। (२) निर्गुणब्रह्म। ब्रह्मप्राप्ति का मार्गनिर्देश कार्यब्रह्मविषयक है और निर्गुणब्रह्म के विषय में मार्गश्रुति स्तुत्यर्थक है। मोक्ष अविद्या की निवृत्ति अर्थात् विद्या का ज्ञान है। अतः ज्ञान ही मोक्ष है। ज्ञान ब्रह्म से भिन्न नहीं है और जीव ब्रह्म से अतिरिक्त नहीं है, इसलिये जीव भी ज्ञानस्वरूप है। इसी जीव की स्वरूपस्थिति का नाम ब्रह्मप्राप्ति या मोक्ष है। इसलिये न तो ज्ञान कार्य है न मोक्ष का अङ्ग।

आत्मा स्वप्रकाश है—

ऊपर जिस ज्ञानस्वरूप आत्मा या ब्रह्म की चर्चा की गई है वह प्रकाश है। इसमें "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"[२]—श्रुति प्रमाण है। स्वप्रकाशत्व का अर्थ है—अनन्याधीन-प्रकाशता अथवा अवेद्य होते हुये अपरोक्षव्यवहारयोग्यता। इसी अर्थ को लेकर प्राभाकारों ने कहा है कि स्वप्रकाश वह है जो संवेदनविषयव्यवहार का जनक होते हुए संवेदनान्तर से रहित होते हुये भी स्वव्यवहारोपाय का सङ्ग्राहक होता हो। ज्ञान स्वतः तो निर्विषय एवं निराकार है परन्तु विषय आने पर वह विषयाकार बन जाता है। इसीलिये तत्त्वप्रदीपिकाकार अनुमान करते हैं—"अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वात् घटवत्"[३]। "यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म"[४]—इत्यादि वचनों के द्वारा श्रुति यह बताती है कि ज्ञानान्तर के विना अपरोक्ष होने के कारण ब्रह्म स्वप्रकाश है। यदि उसे गुणभूत ज्ञान के द्वारा अपरोक्ष मानेंगे तो 'साक्षात्' पद व्यर्थ हो जायगा। वेदान्तमत में ज्ञान अन्तःकरणवृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य है इसलिये व्यञ्जकवृत्ति के जड होने पर भी चैतन्य के प्रमाणान्तरनिरपेक्ष होकर स्फुरण करने कारण

१ बृ० उ० ४।५।६।
२ श्वे० उ० ६।१४।
३ त० प्र० १, स्वप्र० नि०।
४ बृ० उ० ३।४।

स्वप्रकाश होने से अनवस्था की भी आशङ्का नहीं है। प्रत्युत न्यायमत में आत्मा के परप्रकाश होने से अनवस्था हो सकती है। श्रुति भी यही कहती है कि "दृष्टि के द्रष्टा का, श्रुति के श्रोता का, मति के मन्ता का एवं विज्ञान के विज्ञाता का दर्शन, श्रवण, मनन एवं ज्ञान नहीं हो सकता"[१] "यह आत्मा ब्रह्म सबका अनुभव करता है"[२]। अतः यह स्वप्रकाश है।

ब्रह्म आनन्द और अनन्त भी है—

"आनन्दो ब्रह्म",[३] "एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"[४]—इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म की आनन्दरूपता सिद्ध होती है। "द्वितीयाद्वै भयं भवति"[५], "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति"[६]—श्रुतियाँ "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्"[७]—वचनों से प्रतीत होने वाले ब्रह्मानन्दभेद की आशङ्का का परिमार्जन कर देती हैं।

ब्रह्म अनन्त अर्थात् अपरिच्छिन्न भी है। परिच्छेद तीन प्रकार का होता है—

परिच्छेद

देशतः परिच्छेद	कालतः परिच्छेद	वस्तुतः परिच्छेद

ब्रह्म इन तीनों परिच्छेदों से रहित है। "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् एकोऽनन्तः प्रागनन्तः……"[८]—इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण है। 'इदं' तथा 'एकः' शब्द उसकी कालतः एव वस्तुतः अपरिच्छिन्नता की ओर सङ्केत करते हैं। वह विम्ब रूप होकर प्रतिविम्ब रूप जीव के लय एवं उदय का स्थान है। और जब उसमें वर्त्तमान माया के आरोप का निषेध हो जाता है तब वह सर्वपरम, अनन्त हो जाता है। उसमें अनन्त आकाश की प्रतिष्ठा हैं। इसलिये वह ज्ञेय नहीं है।

सगुण विद्यायें अनेक हैं—

सगुण ब्रह्म के विशेषणों का स्थान-स्थान पर उपसंहार होने के कारण निर्गुण विद्या के एक होने पर भी चूँकि गुणों का उपसंहार नहीं होता अतः सगुणविद्या एक नहीं हो सकती। साथ ही चूंकि अविद्या प्रतीकोपासनाओं तथा अहङ्ग्रहोपासनाओं का अधिष्ठान है अतः उसका एकदेश ज्ञात न होने के कारण तथा गुणसमुदायफलभेद होने के कारण उसका भेद सिद्ध है। जहाँ ब्रह्म शब्द के बाद 'इति' शब्द आता है वहाँ ब्रह्म शब्द ब्रह्मदृष्टिपरक होता है, और जहाँ वह उपासना का कर्म होता है वहाँ वह प्रधान न होकर गौण अर्थात् सगुण हो जाता है और हिरण्मय आदि विकारावस्थाओं के भेद से उसका भेद हो जाता है। यह सगुणभेद आविद्यक काल आदि के भेद से होता है, और जब अविद्या हटती है भेद भी निरस्त हो जाता है।

ब्रह्म शब्दातिरिक्त साधन से वेद्य नहीं है।

नाम रूप आदि से रहित होने के कारण ब्रह्म सविकल्पक-प्रत्यक्ष का विषय नहीं है।

---

[१] बृ० उ० ३।७।२३। [२] तै० उ० २।१५।१९। [३] तै० उ० ३।६। [४] बृ० उ० ४।३।३२। [५] बृ० उ० २।४।२। [६] क० उ० २।४।१०। [७] तै० उ० २।४। [८] मै० उ० ६।१७।

वह निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का भी विषय नहीं है क्योंकि निर्विकल्पक भी कार्यप्रपञ्च से अनुस्यूत वस्तु का ही प्रत्यक्ष कराता है। उदयनाचार्य ने "कार्याऽयोजनधृत्यादेः"[१] कारिका के द्वारा तथा विश्वनाथ ने "क्षित्यङ्कुरादिकं कर्तृजन्यं कार्यत्वात् घटवत्"[२]—अनुमान के आधार पर ईश्वर की सिद्धि की है। वेदान्त का कथन है कि यह वचन असङ्गत है। उदयनाचार्य की कारिका दोषयुक्त है क्योंकि चैतन्य के निरवयव होने से उसमें क्रिया न होने के कारण कार्यत्व हेतु असिद्ध है। विश्वनाथ के अनुमान में भी सिद्धसाधन दोष है क्योंकि क्षित्यादि के कर्त्ता जीव भी हो सकते हैं। वेद के व्याख्याता मनु आदि भी हो सकते हैं अतः 'वेदाः सर्वार्थविद्व्याख्याताः अनुष्ठातृमतिचलनेऽपि निश्चलानुष्ठानत्वात्'—इत्यादि अनुमान के साध्य अन्यथा-सिद्ध हैं.। इसी प्रकार कारिका के 'धृति'-आदि हेतु भी असङ्गत है। पातञ्जल योगसूत्र यह अनुमान करता है कि सातिशय ज्ञान शक्ति एवं ऐश्वर्य जहाँ निरतिशय हैं वही ईश्वर है।[३] किन्तु यह कथन इसलिये क्षोदक्षम नहीं है कि राग आदि के समान सातिशयत्व अन्यथा भी सम्भव है। यदि सबके निरतिशय्य का स्थल ईश्वर है तो राग आदि का भी वही होगा अतः उसका ऐश्वर्य असिद्ध हो जायगा। यदि राग आदि का निरतिशयत्व ईश्वर से अतिरिक्त में है तो ज्ञान आदि का भी वहीं होगा। अतः अनुमान ब्रह्म के विषय में प्रमाण नहीं है। ब्रह्म को उपमान का भी विषय नहीं कह सकते, क्योंकि "न तस्य प्रतिमा"[४], "न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते"[५]—इत्यादि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। "आदित्यवर्णम्"[६]—पदसमुदाय भी उसका निर्वचन नहीं करते क्योंकि वह नीरूप है। किसी सादृश्य का आरोप मन्दबुद्धि को ब्रह्म की एक क्षीण झलक का आभास कराने के लिये किया जाता है। इसी प्रकार चूँकि सच्चिदानन्द प्रत्यग्रूप अद्वय ब्रह्म के अभाव में कोई भी लौकिक या वैदिक क्रिया कर्त्ता आदि का व्यवहार अनुपपन्न नहीं होता अतः ब्रह्म अर्थापत्ति का भी विषय नहीं है। यदि जगत् के कारण या अधिष्ठान के रूप में ब्रह्म को अर्थापत्ति का विषय मान भी लें तो भी उसका विवक्षित स्वरूप अर्थापत्ति का विषय नहीं है।

ब्रह्म शाब्दप्रमाण-गम्य है—

शाब्देतर प्रमाण से गम्य न होने के कारण ब्रह्म सप्तम रस के समान तुच्छ नहीं है। क्योंकि उसके विषय में शाब्द प्रमाण है। यही बात "शास्त्रयोनित्वात्"[७]—सूत्र के द्वारा कही गई है। जिसका स्पष्टार्थ यह है कि अनेक विद्या के आश्रयभूत, प्रदीपवत् सर्वार्थ-प्रकाशक, सर्वज्ञकल्प महान् ऋग्वेद आदि का जो कारण है, वही ब्रह्म है। प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-सन्निकर्ष, अनुमान में व्याप्तिज्ञान भी करण होता है किन्तु शाब्दप्रमाण में केवल शब्द-संविज्ञान से दूरस्थ अर्थ का ज्ञान होता है। अदः ब्रह्म शब्दप्रमाण का ही विषय है।

---

[१] न्या० कु० ५।१।
[२] न्या० सि० मु० १।
[३] पा० यो० सू० १।२५।
[४] श्वे० उ० ४।१९।
[५] श्वे० उ० ६।८।
[६] श्वे० उ० ३।८।
[७] ब्र० सू० १।१।३।

(५)

त्वंपदार्थशुद्धि

त्वंपद के वाच्य जीव के स्वरूप-निर्वचन के विषय में भारतीय दार्शनिकवर्ग दो सम्प्रदायों में विभक्त है—१—चार्वाक एवं शून्यवादी बौद्ध । २—इतर दार्शनिक ।

चार्वाक मत एवं उसका निराकरण--

वृहस्पतिमतानुयायियों का कथन है कि पृथिवी, जल, तेज एवं वायु इन चार महाभूतों का समूह—यह शरीर ही आत्मा है । स्त्री-पुरुष में संयोगरूप वैशिष्टच के समान देहरूप चेतन में इन्द्रियमनोयुक्तत्व रूप वैशिष्टच उत्पन्न होने पर भोग सम्पन्न होता है । जैसे पृथिवी होने पर भी मल्लिका-मुकुल में कभी-कभी गन्ध की प्रतीति नहीं होती उसी प्रकार यद्यपि चैतन्य, देह का विशिष्ट गुण है तथापि कभी-कभी सुषुप्ति आदि की अवस्था में वह दृष्ट नहीं होता । चार्वाक लोग प्रत्यक्षैकप्रमाणवादी हैं, इसलिये जिसका प्रत्यक्ष होता है उस शरीर को ही वे लोग आत्मा मानते हैं । जिस प्रकार 'यह वही देवदत्त है'—इस प्रत्यभिज्ञान में देवदत्त का शरीर ही प्रत्यभिज्ञान का विषय होता है उसी प्रकार 'जो मैं बचपन में माता-पिता का अनुभव किया वही मैं बुढ़ापे में नाती-पोतों का अनुभव कर रहा हूँ'—इस प्रत्यभिज्ञान में भी अपना शरीर ही विषय है । योगी अथवा ईश्वर को दूसरे लोगों की आत्माओं का प्रत्यक्ष होने पर भी जैसे उनमें अहं की प्रतीति नहीं होती, उसी प्रकार हमें दूसरे शरीर का प्रत्यक्ष होने पर भी उसमें अहं की प्रतीति नहीं होती । इसी एक ही शरीर से स्वर्ग आदि सुख एवं अनेकशरीर वाले पुण्य आदि का भोग होता हैं । देवत्व अजरामरत्व आदि सब इसी शरीर से प्राप्य है । देहान्तर का सञ्चार भी कदलीगर्भपत्रन्यायेन देह का ही होता है । पितरों की आत्मा न होने से श्राद्ध आदि का फल कर्त्ता को ही मिलता है । और जहाँ तक पूर्व जन्म के स्मरण आदि का प्रश्न है यह तो स्वप्नदृष्ट पदार्थ के समान मिथ्या अर्थ का अनुवादक मात्र है अतः देह ही आत्मा है । इसी प्रकार शून्यवादी बौद्धों के मत में आत्मा सत्, असत्, सदसत् और असन्नासत् से विलक्षण शून्य अर्थात् अनिर्वचनीय है ।

इस विषय में रामाद्वयाचार्य का कथन है कि चार्वाक के द्वारा निराकृत अनुमान एवं आगम प्रमाणों की सिद्धि लोकव्यवहार से होती है । अतः प्रमाणों के द्वारा सिद्ध देह से अतिरिक्त आत्मा का अपलाप असम्भव है । यदि चैतन्य देह का धर्म है तो बाहर दृष्ट चैतन्य के समान भीतर भी चैतन्यात्मक परिणाम होना चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं होता । अतः देह आत्मा नहीं है । यदि ऐसा मानेंगे तो स्वाप्न देह अथवा औषध आदि के द्वारा धारण किये गये व्याघ्र आदि देह, के हटने पर और पुनः स्वाभाविक शरीर में आने पर व्याघ्र आदि के शरीर के द्वारा अनुभूत पदार्थों का स्मरण नहीं होगा । इसके अतिरिक्त कठोपनिषद् भी आत्मा के देहातिरिक्तत्व के विषय में प्रमाण है ।[१]

इन्द्रियों को आत्मा मानने वाले दूसरे चार्वाकों का भी मत हेय है । क्योंकि एक इन्द्रिय या इन्द्रिय-समूह के आत्मा होने पर मूक अन्ध बधिर आदि के विषय में 'यह मर

१ क० उ० २।४।७ ।

गया'—ऐसा व्यवहार होने लगेगा। साथ ही सभी परस्पर स्वतन्त्र इन्द्रियाँ यदि भिन्न-भिन्न दिशाओं में कार्य करने लगें तो कोई व्यापार ही सम्पन्न नहीं होगा। इसलिये यह मानना चाहिये कि देह आदि सङ्घात का नियन्ता, विज्ञानैकतानविग्रह लोकान्तरसञ्चारी, कर्मफल-भोक्ता नित्य, विभु आत्मा कोई दूसरा है। "अन्नरसमयः"[1], "त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि"[2]—इत्यादि श्रुतियाँ विज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञान कराने के लिए उपलालना मात्र हैं; इसकी पुष्टि "न जायते म्रियते वा कदाचित्[3]"—इत्यादि श्रुतियों से होती है।

आत्मपरिमाण-निरूपण—

आत्मा के परिमाण के विषय में कुछ लोगों का मत है कि "अणोरणीयान्[4]", "वालाग्रशतभागस्य[5]"—इत्यादि श्रुतियाँ इसके अणुपरिमाण का निर्वचन करती है। अतः आत्मा अणुपरिमाण का है। जैन सम्प्रदाय से अनुसार यह मध्यमपरिमाण का है और पक्षी के समान भिन्न-भिन्न देह में जाकर भिन्न-भिन्न परिमाण वाला होकर फलभोग करता है।

किन्तु ये दोनों मत असङ्गत हैं। आत्मा को अणुपरिमाणवाला मानने पर एक ही क्षण में आपादमस्तक वेदना के अनुभव की सङ्गति नहीं बैठती। इसे मध्यमपरिमाणवाला भी नहीं मान सकते क्योंकि—१—आत्मा अमर्त्त है, और अमूर्त्त का कोई परिमाण नहीं होता। २—मध्यमपरिमाणवादी जैन लोगों को अनेक अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ती है, अतः कल्पना का गौरव होता है। ३—मध्यमपरिमाण का मानने पर आत्मा का सङ्कोच-विकास अनिवार्य होगा, और यह सङ्कोच-विकास सावयव का होता है, फलतः आत्मा सावयव होने के कारण अनित्य हो जायगा। अतः आत्मा सर्वगत अर्थात् परममहत्परिमाणवाला एवं स्थायी है। साथ ही वह नित्य भी है। परमाणुओं के समान जीव को प्रतिक्षण उत्पत्ति-शाली मानने पर उसकी उत्पत्ति का उपादान नहीं मिलेगा।

जीव का लोकान्तरसञ्चार—

यह आत्मा पञ्चतन्मात्र महाभूत नामक उपाधियों से आरब्ध लिङ्ग-शरीर से अवच्छिन्न होकर लोकान्तर या देहान्तर का सञ्चार करता है। और उससे युक्त धर्म-अधर्म के फल को भी भोगता है। इस विषय में मैत्रायणी उपनिषद् प्रमाण है[6]।" तथा "मशक के समान हाथी के समान[7]"—श्रुति यह बतलाती है कि प्राणाद्यात्मक लिङ्ग के कारण अनन्त आत्मा भी स्थूल देह में सङ्कुचित होकर उस शरीर के साथ भिन्न-भिन्न गति को प्राप्त करता है। आत्मा के इस भोग का साधक मन है। व्यापक होने के कारण इसे जहाँ-जहाँ विषय तथा इन्द्रिय का संयोग प्राप्त होता है, यह संस्कार वश वहाँ-वहाँ भोग सम्पन्न कर लेता है।

शरीरप्रदेशावच्छिन्न होने पर जीव कर्मसहित अपनी अविद्या से उपार्जित भी जगत् का भोग कर्मान्तर से ही करता है। यह कर्म स्थूलशरीर के द्वारा स्थूल होता है परन्तु

[1] तै० उ० २।१।१।१।
[2] श्वे० उ० ४।३।
[3] क० उ० २।१८।
[4] क० उ० २।२०।
[5] श्वे० उ० ५।५।
[6] मै० उ० ३।२।
[7] बृ० उ० १।३।२२।

सूक्ष्मशरीर में वासनारूप होता है। यह लिङ्ग-शरीर आठ पदार्थों से रचित होता है—१—पञ्च प्राण आदि। २—पञ्च भूतसूक्ष्म। ३—पञ्च कर्मेन्द्रिय। ४—पञ्च ज्ञानेन्द्रिय। ५—अन्तःकरण। ५—अविद्या। ७—काम। ८—कर्म।

प्रतिबिम्वात्मवाद—

यह नहीं समझना चाहिये कि आत्मा भूतों के साथ मिश्रित होकर लोकान्तर को जाता है बल्कि इसका लोकान्तरसञ्चार प्रतिबिम्व रूप में होता है और इसी अभिप्राय से छान्दोग्योपनिषद् पाँच आहुतियों का वर्णन करती है[१]—

क्रम सं०	होता	आहुति	अग्नि	समिध	धूम	अर्चि	अङ्गार	स्फुलिङ्ग	उत्पत्ति
१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
१	देवता	श्रद्धा	द्यु	आदित्य	रश्मियाँ	दिन	चन्द्रमा	नक्षत्र	सोम
२	,,	सोम	पर्जन्य	वायु	मेघ	विद्युत	वज्र	गर्जन	वर्षा
३	,,	वर्षा	पृथिवी	संवत्सर	आकाश	रात्रि	दिशायें	प्रदिशायें	अन्न
४	,,	अन्न	पुरुष	वाक्	प्राण	जिह्वा	चक्षु	श्रोत्र	रेतस्
५	,,	रेतस्	योनि	उपस्थ	उपमन्त्रण	योनि	अन्तःक्रिया	आनन्द	गर्भ

पञ्चीकरण के द्वारा भूतमिश्रित जीव की श्रुतिप्रतिपादित उत्पत्ति का अभिप्राय भी प्रतिबिम्व से ही है। नीरूप आत्मा रूप आदि की उपादान अविद्या के सहारे विभिन्न बुद्धियों के द्वारा तत्तद् बुद्धि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में प्रतिबिम्बित होता है। इसमें "इसके आराम को लोग देखते हैं; उसको कोई नहीं देखता"[२]—यह श्रुति प्रमाण है।

यह प्रतिबिम्बभाव तथा अविद्या दोनों अनादि हैं। इसलिये कब "रूपं रूपं प्रति-रूप[३]—हुआ, कहा नहीं जा सकता।

वाचस्पति मिश्र का अवच्छेदवाद असङ्गत है क्योंकि हृदयावच्छिन्न प्रदेश में अन्तर्यामी परमात्मा की स्थिति असम्भव है।' घटावच्छिन्न आकाश'—इत्यादि कथन भी असङ्गत है। वहाँ भी घट में आकाश का प्रतिबिम्ब ही समझना चाहिये।

माया के द्वारा चैतन्य में भेद आदि का समारोप स्फटिक-लौहित्य के समान अहङ्कारोपाधिक है। उसमें कर्तृत्व आदि का समारोप रस्सी में सर्प के आरोप के समान भ्रम है। अनीश्वरत्व-ईश्वरत्व आदि धर्म उपाधिसन्निधि के द्वारा किया गया चिदाभास है। अतः आत्मा का लोकान्तरसञ्चार प्रतिबिम्ब को आधार मानकर ही सम्भव है।

---

[१] छा० उ० ५।३।२०। [२] बृ० उ० ४।३।१४। [३] बृ० उ० २।५।१९

आत्मा का कर्तृत्व आदि अविद्योपाधिक है—

कर्तृत्व भोक्तृत्व आदि चेतन का धर्म नहीं है। बुद्धि के तीन उपराग हैं – (१) पुरुषोपराग—'मैं इसे जानता हूँ'—इस ज्ञान में 'मैं' बुद्धि का पुरुषोपराग है। यह दर्पणगत मुखोपराग के समान भ्रान्तिजन्य एवं असत्य है। (२) विषयोपराग—'इसे'—यह विषयोपराग है जो दर्पण की मलिनिमा के समान सत्य है। (३) व्यापारोपराग—'जानता हूँ'—यह व्यापारोपराग है। बुद्धि लोहपिण्ड के समान है। अग्नि की दाहकता शक्ति के समान सुखाद्युपलब्धि भी चिदात्मक है जो बुद्धि में सङ्क्रान्त होती है। आचार्य रामाद्वय का विचार है कि अविद्यारूप प्रतिबन्धक के रहने पर ही आत्मा में भोक्तृत्व कर्तृत्व आदि धर्म अध्यस्त होते हैं। अविद्या के हटने पर ये कर्तृत्व आदि अध्यस्त धर्म हट जाते हैं। बादरायण का "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्"[१]—सूत्र भी इसी मत की पुष्टि करता है। जिस प्रकार पुण्य से अपुण्य उसी प्रकार विद्या से अविद्या हटा दी जाती है।

आत्मा ज्ञानरूप है—

"पुरुष किसके प्रकाश से प्रकाशित है?"[२] "यह आत्मज्योति है"[३]—उपनिषद् के इस प्रश्नोत्तर से यह सिद्ध है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है न कि ज्ञान का आधार। उपनिषद् स्वयं कहती है कि "यह प्राणों के बीच में विज्ञानमय है।"[४] देह के रहते हुये भी स्वप्नावस्था में चैतन्य नहीं रहता, अतः यह चित् का विकार नहीं है। साथ ही यह अचित् का भी विकार नहीं है क्योंकि तब वह देह का विकार हो जायगा। अतः आत्मा चिद्रूप है। साथ ही वह आनन्दरूप भी है। आत्मा के बारे में "सत्यकामः सर्वकामः"[५]—इत्यादि स्थलों में 'काम' शब्द का प्रयोग औपाधिक है; क्योंकि काम इच्छा आदि मन के धर्म हैं।

आत्मभेद और उसका निराकरण—

आत्मा द्रव्यत्व से अतिरिक्त अपरजाति का आधार है, क्योंकि अश्रावणविशेषगुण का अधिकरण है, कुम्भ के समान[६], न्यायमकरन्द के इस अनुमान के द्वारा आत्मा द्रव्यत्वजाति के आधार व्यक्ति के रूप में सिद्ध होता है। यह आत्मव्यक्ति अनेक है क्योंकि इसमें "एको देवः सर्वभूतान्तरात्मा[७]" "एक एव तु भूतात्मा[८]"—इत्यादि श्रुतियाँ; तथा आत्मा यथोक्तसायवान् है क्योंकि शरीरात्मसम्बन्ध का आधार है शरीर के समान; एवं विवादास्पद जीवशरीर स्वसंख्यासंख्येय आत्मा वाले हैं क्योंकि जीवितशरीर वाले हैं सम्प्रतिपन्न के समान—ये अनुमान प्रमाण हैं। आत्मविषयक एकत्व की प्रतीति औपचारिक है। लोकप्रसिद्धि भी आत्म-भेद में प्रमाण है।

इस विषय में रामाद्वयाचार्य का कथन है कि आत्मा एक ही है। जैसे शब्द का भाव या अभाव व्यापक आकाश का भेदक नहीं होता उसी प्रकार अपर्याय भी इच्छा आदि का भाव एवं अभाव आत्मा का भेदक नहीं हो सकता। आत्मा का भेद कुम्भाकाश मठाकाश

---

१ ब्र० सू० २।३।३३। २ बृ० उ० ४।३।६। ३ बृ० उ० ४।३।६।
४ बृ० उ० ४।४।२२। ५ छा० उ० ८।१।५। ६ न्या० म०।
७ श्वे० उ० ६।१४। ८ ब्र० वि० उ० १२।

आदि के समान औपाधिक है। भेदवान् वस्तुओं का कोई न कोई आधार होता है, आधार उन्हीं का होता है जो व्यापक नहीं होते; आत्मा व्यापक है अतः इसका आधार नहीं हो सकता और फिर भेद नहीं हो सकता। साथ ही इच्छा आदि न तो आत्मा के गुण हैं न भेदक। अतः 'अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात्'—यह हेतु असिद्ध है। इसके अतिरिक्त जैसे नैयायिक लोग क्षणिकविशेषगुणवान् होने के नाते आकाश को एक मान लेते हैं उसी प्रकार ज्ञानरूप गुण से क्षणिकविशेषगुणवान् होने पर आत्मा को भी एक ही मानना चाहिये। महर्षि कृष्ण-द्वैपायन ने "यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्[1]"—कह कर यह बतलाया है कि आत्मा का विभाग विकारपर्यन्त है, उसके बाद नहीं। विकार उसी का होता है जो पराधीन होता है। चूँकि ब्रह्म ऐसा नहीं हैं अतः वह निर्विकार निर्विभाग तथा एक है।

आत्मनानात्वस्थापक मीमांसकमत—

मीमांसकों के अनुसार आत्मायें अनेक हैं। इस विषय में निम्नलिखित तर्क हैं—१—अनन्त शरीर में सुख-दुःख की वेदना की पृथक्-पृथक् व्यवस्था है। आत्मा के एक होने पर दो एक शरीर से ही व्यवस्था के सम्पन्न होने पर अनेक शरीर व्यर्थ हो जायेंगे। २—एक होने पर सभी शरीर का सुख दुःख सबको अनुभूत होना चाहिए। ३—दूसरों की इन्द्रियों से ज्ञान की उपलब्धि होने के कारण अन्धे एवं बधिर को भी ज्ञान होने से अन्धत्व एवं बधिरत्व का अपलाप हो जायगा। ४—एक ही आत्मा से सम्बद्ध सभी शरीर सभी वर्णों के हो जायेंगे; फलतः आगम के द्वारा पुष्ट वर्णव्यवस्था अप्रामाणिक हो जायगी। ५—आत्मा को अनेक मानने पर भी चूँकि वे अमूर्त हैं अतः समानदेशता हो सकती है। इसी समानदेशत्व चैतन्यात्मकत्व आदि को दृष्टि में रखकर ऋषियों ने आत्मा को एक कहा है। ६—आत्मा को एक मानने पर अतीतदेहगत सुख दुःख का भी स्मरण होने लगेगा। ७—तथा सेश्वर सांख्य में द्रष्टा, योगी तथा ईश्वर भी भोक्ता हो जायेंगे। इसलिये आत्मायें अनेक हैं।

ऐकात्म्यसमर्थन—

मीमांसकों के द्वारा प्रक्षिप्त सभी दोष उस समय युक्त होते जब हम आत्मा को एक मानते हुए उसे सभी भोगाधिष्ठान का भोक्ता मानते। पर बात कुछ भिन्न है। आत्मा एक है किन्तु भोक्ता प्रतिशरीर भिन्न है। "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" [2]। जिस प्रकार एक ही देवदत्त भिन्न-भिन्न खड्ग, मुकुर, तैल आदि आधार में अपने प्रतिबिम्ब को भिन्न-भिन्न देखकर अपने को भिन्न-भिन्न समझता है उसी प्रकार एक ही चैतन्य कर्मफलवशात् अनन्त देहों में भिन्न-भिन्न हो जाता है। इसमें श्रुति प्रमाण है।[3] जीव को बिम्ब नहीं माना जा सकता क्योंकि तब पूर्वोक्त दोष उपस्थित हो जायेंगे और ब्रह्मपदप्राप्ति के साधन के विधायक शास्त्र अप्रामाणिक हो जायेंगे।

---

[1] ब्र० सू० २।३।७। [2] क० उ० १।३।३।
[3] क० उ० २।६।८-१०।

जीव असंख्य हैं—

यद्यपि चैतन्य या आत्मा एक है तथापि जीव अनन्त हैं। इस अनन्तता का कारण अविद्या है। मायोपाधिक इन जीवों के अनन्त होने से ही वर्णाश्रम आदि विभाग का तथा कर्मकाण्ड आदि का निर्वाह होता है एवं किसी भी प्रकार की अव्यवस्था नहीं होती। यही बात इष्टसिद्धिकार ने कही है—"प्रत्यक्ष आदि प्रमाण, चार पुरुषार्थ···जगत् का सुख दुःख मोहात्मकत्व···इन सबके मूल में अविद्या है।"[1]

जीव अनन्त हैं अर्थात् उनकी संख्या नहीं है। इस कारण ईश्वर का सर्वज्ञत्व अक्षुण्ण रहता है। "रूपाणि देवः कुरुते बहूनि",[2] "नीहारेण प्रावृताः"[3]—इत्यादि श्रुतियाँ भी निश्चित संख्या नहीं बताती। और ब्रह्माण्ड आदि की भी संख्या नहीं है जिससे जीवों की संख्या का परिगणन हो। अतः जीव असंख्य है।

जीव अविद्या का आश्रय है—

"तत्त्वमसि" "अहं ब्रह्मास्मि"—इत्यादि महावाक्यों में 'तत्' एवं 'ब्रह्म' पद सर्वज्ञत्व-आदिविशिष्ट चेतन के तथा 'त्वम्' एवं अहम्' पद अल्पज्ञत्वआदिविशिष्ट चेतन या जीव के बोधक हैं। ब्रह्म संसारी नहीं है। वह जीव से भिन्न है। इस भेद का कारण अविद्या है। यह अविद्या जीव में वर्तमान रहती है।

कुछ लोगों का आक्षेप है[4] कि यदि अविद्या या ब्रह्मविषयक अज्ञान को जीवगत माना जाता है तो तीन विकल्प प्रस्तुत होते हैं—

१—यह ब्रह्म का अज्ञान प्रामाणिक है या २—भ्रान्त है या ३—अनुभवसिद्ध है। प्रथम कल्प में ब्रह्म कुम्भ आदि के समान जड हो जायगा। क्योंकि वह प्रमाणफल का व्याप्य हो रहा है और अज्ञान सत्य होने लगेगा। यदि दूसरा पक्ष मानेंगे तो अज्ञान और उसके कार्य के समान ब्रह्म भी कल्पित हो जायगा। तीसरा कल्प इसलिये क्षोदक्षम नहीं है कि जैसे जीव अपने को अज्ञ समझता है उसी प्रकार ब्रह्म में अज्ञत्व का अनुभव नहीं होता। अतः यह मानता पड़ता है कि अन्तःकरण-उपाधि से द्वारा जीवावस्था को प्राप्त ब्रह्म ही अपने को अज्ञ समझता है। यह अनुभव जीवावस्था में ही माना जाता है क्योंकि अज्ञान केवल जडशक्तिमात्रशरीर वाला है एवं इसी रूप में स्फुरित होता हुआ 'जानता हूँ'—इस ज्ञान से हटाया जाता है। यह अज्ञानापनोदक ज्ञान ईश्वर और जीव दोनों की उपाधि है। इस प्रकार ब्रह्मविषयक अज्ञान जीव में नहीं बल्कि चिदात्मा ब्रह्म में रहता है।

आचार्य रामाद्वय का कथन है कि अज्ञान जीव में रहता है। ब्रह्म उसका विषय है। "अधीहि भगवो ब्रह्म"[5], "यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म तं मे व्याचक्ष्व"[6]—इत्यादि श्रुतियाँ तथा "शास्त्रयोनित्वात्"[7]—सूत्र भी यही कहते हैं कि ब्रह्म ही अज्ञात है। अन्यथा सम्प्रसादावस्था में अन्तःकरणोपाधि के न रहने से जीवसंज्ञा के हेतुभूत प्राण के रहने पर भी

---

[1] इ० सि० ८।२२। [2] बृ० उ० ४।३।१३। [3] तै० सं० ४।६।६।
[4] पं० पा० वि० १, पृ० २१०-१३। [5] छा० उ० ७।१।१।
[6] बृ० उ० ३।४।१। [7] ब्र० सू० १।१।३।

जीव की संज्ञा का लोप हो जायगा। इसलिये यह मानना चाहिये कि जीव अनादि अविद्यावान् है और अहं-अहं करके उसी का स्पष्ट अनुभव होता है। आचार्य 'मायी' करके भी जीव को ही मानते हैं क्योंकि "माया च अविद्या च स्वयमेव भवति"[1]—श्रुति माया और अविद्या को एक बतलाती है। इसके अतिरिक्त यदि अविद्या को ब्रह्मगत माना जायगा तो वह ब्रह्म में रहकर जीवेश्वर-विभाग पैदा करेगी; फलतः विभाग सादि हो जायगा। किन्तु सिद्धान्त अनादिता का है। इसके अतिरिक्त एक यह भी आपत्ति होगी कि एक जीव में वर्त्तमान ब्रह्मविद्या से अविद्या का नाश होने पर समस्त अविद्या का नाश हो जायगा। फलतः सब लोग मुक्त हो जायेंगे। इसलिये चाहे एक जीववाद हो या अनेक जीववाद, अविद्या जीव में रहती है।

जीवोपाधि अविद्या का स्वरूप—

जिसके कारण हमलोग भूमि पर रहते हुये आकाश को चन्द्रमा का आधार समझते हैं और जिसके निवृत्त होने पर जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति की प्राप्ति होती है वही अविद्या है। अव्याकृत अविद्या नहीं है क्योकि जगत् अव्याकृत का परिणाम है अविद्या का नहीं। यह अविद्या प्रत्येक जीव के साथ पृथक्-पृथक् वर्त्तमान रहती है। इसीलिये एक-जीवविशिष्ट अविद्या का नाश होने पर एक जीव के लिये सर्गप्रलय होता है और सर्व-जगदुपादान माया का नाश होने पर आत्यन्तिक सर्ग प्रलय।

(६)

महावाक्यार्थबोध

'तत्' एवं 'त्वं' पदार्थों की शुद्धि के बाद "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यार्थों के बोध के विषय में विचार प्रसङ्गतः प्राप्त है। ब्रह्मज्ञान के साधनभूत शास्त्रों का कथन है कि "तत्त्वमसि"[2] "अहं ब्रह्मास्मि"[3] इत्यादि वाक्य अखण्डैकरस ब्रह्म का प्रतिपादन करते हैं। इस मत की पुष्टि अन्य सम्प्रदायों के द्वारा भी होती है—वैय्याकरणों के अनुसार प्रातिपदिक एवं प्रथमाविभक्ति एकरसार्थवृत्ति हैं। बौद्ध 'विज्ञानं भिन्नम्' इस वाक्य में आये विज्ञान एवं भिन्न पदों को एकरसपरक मानते हैं। परमार्थतः स्वरूपभेदवादी मीमांसक एवं वैशेषिक भी वाक्यों को एकईश्वरपरक मानते हैं। धर्मभेदवादियों की दृष्टि में 'भेदो भिन्नः' उदाहरण ही अखण्डता को बताता है।

वाक्य अखण्डार्थक नहीं हैं—

नैयायिक लोग आक्षेप करते हैं कि वाक्य अखण्डार्थक नहीं हैं। पद एवं विभक्ति भले ही एक अर्थ का ज्ञापन करते हों परन्तु अनेक पद अनेक अर्थ को बताते हैं अन्यथा एक पद से अतिरिक्त पदों का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा। 'भेदो भिन्नः' में भेद स्वयं एकरसार्थ-

[1] नृ० उ० ता० उ० ३०९। [2] छा० उ० ६।८।७। [3] बृ० उ० १।४।१०।

बोधकता का व्याघातक है। चित्सुखाचार्य के अनुसार अखण्डार्थत्व का लक्षण है—"अपर्याय शब्दों का संसर्गागोचर प्रमादिजनकत्व अथवा एकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्व।"[१] इनमें से प्रथमलक्षण ठीक नहीं है क्योंकि उसमें 'अनेकविशेषणव्यावृत्तभेदसंज्ञकविशिष्टपदार्थात्मक-वाक्यार्थप्रमाजनक' इतना अंश और जोड़ना पड़ेगा। अन्यथा दो भेदसंसर्गवाक्यार्थ में भेद ही नहीं रह जायगा। और दूसरे लक्षण में लक्षण के द्वारा एकप्रातिपदिकमात्रपरत्व कहना पड़ेगा। इन सभी लक्षणों में संसृष्टार्थ प्रमा है ही। इसलिये अखण्डार्थप्रमा सम्भव नहीं है।

अमलानन्द का कथन है कि अपर्याय पद भी उसी प्रकार अखण्डार्थवृत्ति होते हैं[२] जैसे "वैश्वदेवी आमिक्षा"[३]—यहाँ पर दोनों शब्द एक 'आमिक्षा' अर्थ को बताते हैं। इस विषय में रामाद्वयाचार्य का कथन है कि यह बात कुछ विशेष परिस्थिति में होती है तथा बीच में उपकार्योपकारकत्व आदि कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य रहता है। यदि इन सम्बन्धों को हटा दिया जाय तो वाक्यों की अखण्डता नष्ट हो जायगी। फिर अभिमत की सिद्धि नहीं होगी। किन्तु सत्य ज्ञान आदि अवान्तर वाक्यों को यदि अखण्डार्थक नहीं मानेंगे तो भी किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं होगी अतः महावाक्य अखण्डार्थक नहीं हैं।

'जैसे प्रत्यभिज्ञा स्थल में लक्षण के द्वारा अभेद प्रतिपादन करते हैं उसी प्रकार महावाक्यस्थल में भी लक्षण के द्वारा अखण्डार्थ की प्रतिपत्ति हो जायगी'—विद्यारण्य स्वामी के इस मत का खण्डन करते हुए रामाद्वयाचार्य का कथन है कि जब दो अभिज्ञाओं के द्वारा देवदत्त का ऐक्य सिद्ध है तब प्रत्यभिज्ञा का कोई विषय ही नहीं रह जाता। और यदि विशिष्टार्थ मूल के अनुरोध से प्रत्यभिज्ञा को मान लें तो प्रत्यक्ष लक्षणावृत्ति हो जायगा। और लक्षणा के द्वारा उसका प्रतिपादन होने पर 'सोऽयम्' इत्यादि प्रत्यभिज्ञावाक्य का अर्थ भेदभ्रमाभाववैशिष्ट्य हो जायगा। अतः इस प्रकार भी अखण्डार्थता सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त 'अहम्' एवं 'ब्रह्म' पदों के लक्ष्यार्थों में अभेद होने से पदान्तर का अवकाश नहीं है क्योंकि सुरेश्वराचार्य का वचन है—"श्रुत्यादिप्रतिबद्धं सद् विशेषार्थं भवेत् पदम्।"[४] इस प्रकार वाक्यार्थ का ऐक्य नहीं हो सकता। और चूँकि विरुद्ध अंशों की व्यावृत्ति अर्थात् हो जाती है इस कारण पदान्तर का कोई व्यावर्त्य न होने से वह व्यर्थ हो जायगा। इस प्रकार वाक्य अखण्डार्थक नहीं है।

वाक्य अखण्डार्थक हैं—

आचार्य रामाद्वय का कथन है कि केवल "तत्त्वमसि" एवं "अहं ब्रह्माऽस्मि" ही नहीं अपितु समस्त उपनिषदें एक वाक्य हैं और एक अखण्ड अर्थ (ब्रह्म) का प्रतिपादन करती हैं। जैसे—"अथातो यज्ञं व्याख्यास्यामः"[५] "द्रव्यं देवता त्यागः"[६] इस प्रकार यज्ञ के द्रव्य देवता एवं त्याग रूप तीन स्कन्धों का निर्वचन करके "तदङ्गमितरत्"[७] के द्वारा ब्रह्मविद्या कर्मकाण्ड का यज्ञमात्र में पर्यवसान कहा है उसी प्रकार 'अथातो ब्रह्मविद्यां

१ त० प्र० १। २ ब्र० सू० भा० क० १।१।२। ३ तै० ब्रा० १।६।२।५।
४ नै० सि० ३।३२। ५ का० श्रौ० सू० १।२।१।
६ का० श्रौ० सू० १।२।२। ७ का० श्रौ० सू० १।२।३।

व्याख्यास्यामः' "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म",[१] "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः"[२] "अहं ब्रह्मास्मि"[३] इत्यादि वाक्यसमह के द्वारा विज्ञान आनन्द एवं अहं रूप तीन स्कन्धों का प्रतिपादन करके "तदङ्गमितरत्" के द्वारा उपनिषदों की भी ब्रह्मविद्यामात्र में पर्यवसिति समझनी चाहिये। "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा"[४] के द्वारा यही तत्त्वंपदार्थ की अखण्डार्थता जिज्ञास्य है। सानुबन्ध याग के परिच्छेद के लिये सिद्ध के उपदेश के समान ब्रह्माद्वैत के परिच्छेद के लिये साध्य श्रवण आदि का उपदेश होता है क्योंकि श्रवण आदि ब्रह्मज्ञान के साक्षात् साधक है।

जिस प्रकार 'प्रकृष्ट प्रकाशः सविता'—वाक्य में सविता प्रकाश से अतिरिक्त नहीं है; अतः दोनों के द्वारा एक अर्थ ज्ञाप्य है और प्रकर्ष भी सवितृगत ही है; अतः यद्यपि तीनों पद पृथक्-पृथक् अर्थ वाले हैं तथापि मिलकर एक अखण्ड अर्थ की प्रतीति कराने के लिये प्रयुक्त होते हैं; उसी प्रकार सत् शब्द वाच्य ब्रह्म अखण्ड है। विज्ञान और आनन्द आदि सामान्य शब्द उसी 'सत्' शब्द से अभिहित ब्रह्म का विशेष रूप बताते हुये दुःख जाड्य आदि से उसका व्यवच्छेद करते हैं; और फिर लक्षणा के द्वारा अखण्डार्थ की प्रतीति कराते हैं। इस प्रकार ब्रह्म न तो चित्र के समान अनेक रूप है और न मिथ्या-कल्पित अब्राह्मण्य की व्यावृत्ति करके सत्यत्व आदि की व्यवस्थास्वरूप है। वह अपूर्व अद्भुत और अनिर्वाच्य है।

महावाक्यप्रयोजन-निरूपण—

एक महावाक्य में कई अवान्तर वाक्य और एक अवान्तर वाक्य में कई पद होते हैं। सत्य ज्ञान आदि पद सत् एवं विज्ञान आदि विषयक अज्ञान का निराकरण करते हैं। पदगत अज्ञानों को मिलाकर बने हुये वाक्यगत अज्ञान का निराकरण अवान्तर वाक्यों के द्वारा होता है। इन अज्ञानों की निवृत्ति होने पर महावाक्य उनके अवच्छेद विभ्रम के उपादान माया या अविद्या की निवृत्ति करता है। 'तत्' एवं 'त्वम्' आदि पदों में वर्त्तमान भेद के निवर्त्तन में ही प्रत्येक वाक्य आदि का प्रामाण्य है। इसीलिये ब्रह्मसूत्र है—"सिद्धं तु भेदनिवर्त्तकत्वात्"[५]। यह जीवन्मुक्तावस्था है। इसके बाद विदेहमुक्तावस्था भी प्राप्त हो जाती है।

"अहं ब्रह्माऽस्मि"—इत्यादि सामानाधिकरण्य के द्वारा श्रुति यह बताती है कि अह— पदार्थ उस ब्रह्म से अभिन्न उसके प्रतिबिम्ब के समान हैं। यह भेद अविद्याजन्य है। विद्या से अविद्या की निवृत्ति होने पर ब्राह्मणक्षत्रिय आदि आविद्यक प्रतिबिम्बकल्प भेद भी निरस्त हो जाता है। इस प्रकार महावाक्यों का भी प्रयोजन है।

जीवव्यतिरिक्त यह प्रपञ्च ब्रह्म का विवर्त्त है। ब्रह्म के जगत्प्रकृतित्व का निरूपण होने से ब्रह्मपदार्थ का विज्ञान होने पर जीवव्यतिरिक्त प्रपञ्च का तो ज्ञान हो जाता है किन्तु जीव का ज्ञान नहीं होता। अतः उसके लिये त्वं पदार्थ के ज्ञान की आवश्यकता होती है।

---

१ बृ० उ० ३।९।२८। २ बृ० उ० ४।३।६। ३ बृ० उ० १।४।१०।
४ ब्र० सू० १।१।१ ५ ब्र० सू० ६।३।४।

इसी रूप में 'अहं' पद का भी सार्थक्य है। छान्दोग्योपनिषद् में उद्दालक और श्वेतकेतु की आख्यायिका[1] को तत्त्वकथन के द्वार के रूप में प्रस्तुत कर ब्रह्मात्मैक्य की बात कही गई है। बृहदारण्यक[2] एवं कठोपनिषद[3] भी इसी अखण्डार्थता का निर्वचन करती हैं।

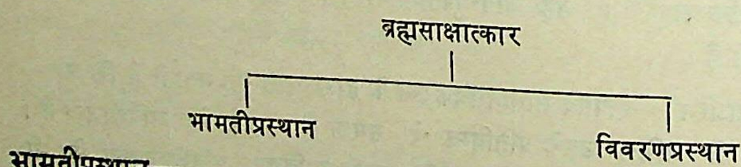
इस अखण्डार्थक महावाक्य से जो वृत्ति बनती है इसके विषय में भामतीकार का मत है कि अन्तःकरणवृत्ति में भी ब्रह्म का साक्षात्कार होने पर सभी उपाधियों का विनिर्मोक नहीं होता; क्योंकि विनश्यत् अवस्था वाली उसकी उपाधियों का स्वपरोपाधिविरोधी (ब्रह्म) वर्त्तमान रहता है। अन्यथा चैतन्य की छायापत्ति के विना स्वयं अचेतन अन्तःकरणवृत्ति का स्वप्रकाशत्व अनुपपन्न होने के कारण आत्मसाक्षात्कार नहीं होगा[4]। किन्तु विवरणाचार्य का कथन है कि अज्ञान स्वाश्रयचित्प्रकाश से विरुद्ध नहीं है क्योंकि स्वावभासक संवेदन रूप चित्प्रकाश से अज्ञान का विरोध नहीं होता। एवं साक्षीचैतन्य अज्ञान का अवभासक है अतः चिदाश्रय से विरोध नहीं है[5]। तात्पर्य यह हुआ कि अखण्डाकाराकारित वृत्ति का विषय स्वप्रकाश ब्रह्म ही है।

आचार्य रामाद्वय इस प्रकार की स्पष्ट बात तो नहीं कहते पर उनका यह सिद्धान्त कि एक-एक पद के तत्तद्विषयक अज्ञान का नाश करने पर तथा वाक्य के वाक्यगत अंशी के अज्ञान को दूर करने पर महावाक्य अवान्तर वाक्यों के उपादान अविद्या का नाश करते हैं[6]; इस तथ्य की ओर सङ्केत करता है कि अखण्डाकाराकारित वृत्ति का विषय उपहित ब्रह्म है।

(७)

ब्रह्मसाक्षात्कार-विचार

जब "तत्त्वमसि" आदि महावाक्यों का अर्थ ज्ञात हो जाता है तब आत्मसाक्षात्कार होता है। आत्मा अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार ही उपनिषदों अथवा तद्विषयक वेदान्तों का प्रतिपाद्य है। इस विषय में वेदान्त में दो प्रस्थान हैं—



भामतीप्रस्थान—

वाचस्पति मिश्र के मतानुसार मन ही सोपाधिक आत्मा में अहंप्रत्यय के रूप में वर्तमान रहकर आत्मसाक्षात्कार कराता है। इसीसे इसकी करणत्वशक्ति की कल्पना की जाती है। आत्मसाक्षात्कार में शास्त्रयुक्तियों के अभ्यास का संस्कार भी सहायक होता

[1] छा० उ० ६।१।६।
[2] बृ० उ० १।
[3] क० उ० २।४।१३।
[4] ब्र० सू० भा० भा० १।१।१।
[5] पं० पा० वि० १, पृ० २११, १३।
[6] वे० कौ० ४।

है। धर्मविशेष से उपकृत होने के कारण योगियों का चित्त विना किसी सम्बन्ध के सभी प्रत्यक्षयोग्य पदार्थों का साक्षात्कार करता है। भामतीकार का कथन है कि "यह साक्षात्कार मीमांसा सहित शब्दप्रमाण का नहीं अपितु प्रत्यक्ष (प्रमाण) का फल है······इसलिये निर्विचिकित्स वाक्यार्थ की भावना के परिपाक के सहित अन्तःकरण अपरोक्ष त्वंपदार्थ के भिन्न-भिन्न उपाधि के आकार के निषेध के द्वारा तत्पदार्थता का अनुभव करता है।"[१] चूँकि 'अहं ब्रह्माऽस्मि'–इत्यादि ब्रह्मशास्त्र जो कि पदार्थविवेक आदि से सहकृत हैं और परोक्षज्ञान जिनका साध्य है, परोक्षज्ञान संस्कार के द्वारा अन्तःकरण के उपकारी हैं, इसलिये वे भी प्रामाणिक हैं।

विवरणप्रस्थान—

वाचस्पति मिश्र के विपरीत प्रकाशात्मन् का कथन है कि "चूँकि ब्रह्म सभी प्रकार के ज्ञानों का उपादान है इसलिये ब्रह्माकारशब्दप्रमाणजन्य संवेदन होने पर भी उस संवेदन से अभिन्न अथवा उसका जनक होने के कारण ब्रह्म का पहले पहल वस्तुतः अपरोक्ष अवभास होता है; किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म के विषय में चित्त की एकाग्रता न होने से अथवा विपयर्य संस्कार का दोष होने से भ्रान्ति के कारण वह परोक्षवत् प्रतिभात होता है।"[२]

रामाद्वयाचार्य का भी विचार है कि जिस प्रकार 'चाक्षुषं रूपम्' कहने पर रूपप्रत्यक्ष के विषय में करणान्तर के सञ्चार का बोध नहीं होता उसीप्रकार "औपनिषदं पुरुषम्"[३] इत्यादि श्रुतियाँ यह बोध कराती हैं कि ब्रह्म उपनिषद्प्रमाण से अतिरिक्त से गम्य नहीं है। वेद एवं मन दोनों पृथक्-पृथक् प्रमा के पृथक्-पृथक् जनक है। चूँकि ऐन्द्रियज्ञान कर्मजन्य होता है और मन इन्द्रिय है तथा ब्रह्मज्ञान कर्मजन्य नहीं होता अतः वह मनःकरणक नहीं है।

उपनिषत् शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ भी इसी तथ्य की ओर सङ्केत करता है। उपनिषद् शब्द का अर्थ है—अध्यात्मविद्या। उसका प्रतिपादक होने के कारण ग्रन्थ भी उपनिषद् कहलाता है। श्रवण आदि की आवृत्ति का फल साक्षात्कार एक बार उत्पन्न होकर समस्त माया-तम की निवृत्ति कर देता है। इसलिये मृत्युपर्यन्त आवृत्ति की आवश्यकता नहीं होती। अतः वाचस्पति मिश्र का "आ प्रायणात्"[४] इस अधिकरण में साक्षात्कार का निरन्तर अनुवर्त्तन, तथा इस अनुवर्त्तन की साधना के द्वारा साक्षात्कार की निष्पत्ति होने से साधना अर्थात् भावना को ब्रह्मसाक्षात्कार का करण कहना सब कुछ प्रासङ्गिक है परमार्थ नहीं। यदि मन या भावना साक्षात्कार का करण होगी तो प्रमा साक्षात्कार रूप ही हो जायगी फिर "तत्त्वमसि" आदि की आवृत्ति के द्वारा श्रवण आदि का विधान व्यर्थ हो जाने से उपनिषदों का प्रामाण्य समाप्त हो जायगा। इसलिये जैसे शुद्ध चक्षु के द्वारा साक्षात्कार होने में मन की सहकारिता आवश्यक है उसी प्रकार वेद के द्वारा ब्रह्मसाक्षात्कार होने में मन की सहायता अपेक्षित है। सुरेश्वराचार्य के मत में भी यह सब 'तत्त्वमसि' आदि वाक्यों की महिमा है कि आत्मबोध होता है।[५] मन की सहकारिता को दृष्टि में रख कर ही

---

१ ब्र० सू० भा० भा० १।१।१। २ पं० पा० वि० २, पृ० ४०३।
३ बृ० उ० ३।९।२६। ४ ब्र० सू० ४।१।१२। ५ नै० सि० २।४।

"मन से ही देखना चाहिये[१] "मन से ही देखता है; मन से सुनता है"[२]—इत्यादि श्रुतियों के वचन हैं। श्रुति स्पष्ट कहती है कि "जो वेद को नहीं जानता वह उस बृहत् को नहीं जानता।"[३] उस औपनिषद पुरुष को पूछता हूं"[४]—इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म के वेदैक-प्रमाणत्व के अवधारण के द्वारा निरपेक्षज्ञान की प्रतीति कराती हैं।

ऊपर यह कहा जा चुका है कि ब्रह्म का प्राथमिक ज्ञान अपरोक्ष होता है किन्तु दोष के कारण वह परोक्षवत् प्रतीत होता है। इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वह प्राथमिक परोक्ष ज्ञान ब्रह्म के विषय में अयथार्थ है। जैसे अपरोक्ष प्रत्यभिज्ञान परोक्ष तत्ता में प्रमाण होता है उसी प्रकार परोक्ष ज्ञान भी अपरोक्ष ब्रह्म के विषय में प्रमाण है। अयथार्थत्व अशोधित पदार्थ के विषय में होता है और ब्रह्म ,'स्वयंज्योतिरात्मा"[५] "आत्मैवानन्द:"[६] अस्तीत्येवोपलब्धव्य:"[७]—इत्यादि प्रामाणिक वचनों से शोधित है। यही परोक्ष शाब्दज्ञान प्राणायाम आदि षडङ्ग रूप मनन निदिध्यासन आदि प्रयत्नान्तर के द्वारा अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान का कारण है।

———

१ बृ० उ० ४।४।१९।
२ छा० उ० १।५।३।
३ तै० ब्रा० ३।१२।९।
४ बृ० उ० ३।९।२६।
५ नै० सि० ३।४१।
६ तुल० श० ब्रा० १०।३।५।१३।
७ क० उ० ६।१३।

[३]

आचार्य का योगदान

आचार्य रामाद्वय के द्वारा विरचित वेदान्तकौमुदी का मूल आधार महर्षि कृष्णद्वैपायन के प्रथम चार सूत्र हैं जो उक्त ग्रन्थ को क्रमशः चार अध्यायों में विभक्त करते हैं। किन्तु सामान्य रूप से सम्पूर्ण ब्रह्मसूत्र उनकी पुस्तक में किसी न किसी रूप में चर्चित है। यद्यपि कहने के लिए आचार्य विवरण सम्प्रदाय के अनुयायी हैं तथापि स्थान-स्थान पर उन्होंने भामती के मतों का भी समर्थन किया है। आचार्य की अपनी स्वतन्त्र विचारधारा है। जहाँ जो विचार उन्हें युक्तिपूर्ण तथा श्रुतिसम्मत प्रतीत होता है वे वहाँ उसी का प्रतिपादन करते हैं।

किसी भी रचना में उस रचना का अनुबन्धचतुष्टय एक महत्त्वपूर्ण विवेचनीय विषय होता है। आचार्य ने इसका विशद विवेचन किया है। वेदान्त के अधिकारी के विषय में विवरण एवं भामती का यह निश्चय है कि जो ब्राह्मण होने के साथ-साथ संन्यासी है और अँड़तालिस संस्कारों से संस्कृत है वही वेदान्त के अध्ययन का अधिकारी है; किन्तु आचार्य का कथन है कि "श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः[१]"—श्रुति इस विषय में प्रमाण है कि श्रेयस् एवं प्रेयस् का अधिकारी मनुष्यमात्र है। यह बात दूसरी है कि उसे निर्मलचित्त वाला होना चाहिये और संस्कारों से युक्त होने पर ही निर्मलचित्त वाला हो सकता है। ब्राह्मण के बारे में उनका मत है कि जो ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होते हुये अंड़तालिस संस्कारों से युक्त हैं वही ब्राह्मण है और वही निर्मलचित्त वाला होता है।[२] इसी प्रकार वेदान्त के विषय के सम्बन्ध में आचार्य का वक्तव्य है कि इसका अपना स्वतन्त्र विषय है। 'वेदान्तकौमुदी का प्रारम्भ नहीं होना चाहिये'—इस पूर्व पक्ष के उत्थापन में, 'वेदान्त कर्मकाण्ड से गतार्थ है' —इस तर्क के अतिरिक्त आचार्य ने जितने भी तर्क दिये हैं; उदाहरणार्थ-सदोषत्व, वर्ण्यविषय का ग्रन्थान्तर के द्वारा प्रतिपादन आदि; सब इनकी मौलिक सूझ है। इसी सन्दर्भ में ज्ञान के कर्माङ्गत्व की चर्चा करते हुए आचार्य ने विवरणकार के विरुद्ध भामतीकार के मत का समर्थन किया है और कहा है कि ज्ञान कर्म का अङ्ग नहीं है। इसीलिये वेदान्त कर्मकाण्ड से गतार्थ नहीं है; अर्थात् वेदान्त का प्रतिपाद्य ज्ञानस्वरूप अद्वैत किसी अन्य से प्रतिपाद्य नहीं है। वेदान्त का प्रयोजन है—मोक्षप्राप्ति। इस प्रसङ्ग में आचार्य ने योगसम्मत कायव्यूहनिर्माण के द्वारा एक साथ सभी कर्मफलों का भोग, योग के द्वारा मुक्ति तथा एक-भविकमोक्षवाद का सटीक खण्डन किया है। बौद्ध मत भी इनके खण्डन से अस्पृष्ट नहीं रह गया है। ओंकारचिन्तन तथा काशी में देहत्याग के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति के सम्बन्ध में जहाँ भामती एवं विवरण के आचार्यों की वाणी मौन है वहाँ आचार्य ने इसका विवेचन प्रस्तुत करते हुये कहा है कि ओंकार ब्रह्म नहीं महावाक्य है; इसके द्वारा ब्रह्मप्राप्ति

---

१ क० उ० २।२। २ वे० कौ० १ पृ० २२६-३७।

होती है ।[१] "तज्जपस्तदर्थभावनम्[२]"—सूत्र के द्वारा पतञ्जलि भी इसी का समर्थन करते हैं ।[3] काशीमरण के विषय में आचार्य का कथन है कि यह अन्यान्य साधनों से सिद्ध मोक्ष की प्राप्ति में सहायकमात्र हैं ।[४] इस प्रकार आचार्य ने सिद्ध कर दिया है कि वेदान्त-कौमुदी अथवा वेदान्तशास्त्र का स्वतन्त्र अनुवन्धचतुष्टय है अतः ग्रन्थ का प्रारम्भ उचित और आवश्यक है ।

प्रमाणस्वरूप के निर्वचन में आचार्य ने विवरण एवं भामती दोनों की शैली की उपेक्षा कर अपनी शैली अपनायी है । उन्होंने न्याय बौद्ध आदि के प्रमाण के लक्षण का खण्डन कर पहले तो यथार्थ अनुभव को प्रमा माना है । वाद में उसमें भी दोष दिखाकर गोल मटोल यह कह डाला है कि विशेष-विशेष अवस्था में वर्तमान चैतन्य ही प्रमा, प्रमाण होता है ।[५] इस विचार में इनके ऊपर धर्मराजाध्वरीन्द्रका प्रभाव है । इसीलिए आगे चलकर उन्होंने स्पष्ट रूप से न्याय और मीमांसा के द्वारा समर्थित ज्ञान के विचारों का खण्डन करते हुये कहा है कि ज्ञान आत्मा का गुण या क्रिया नहीं अपितु मनोवृत्ति है ।[६]

प्रमाणों के वर्गीकरण में आचार्य पाँच प्रमाण मानते हैं । विवरणाचार्यसम्मत अभाव प्रमाण का वे खण्डन करते हैं । प्रत्यक्ष के विषय में अन्य सम्प्रदायों के मतों का निराकरण करते हुये इनका कथन है कि प्रत्यक्ष ज्ञान वही हैं जो इन्द्रिय और विषय के संसर्ग से उत्पन्न होता है ।[७] सदेकरस ब्रह्म भी मायाविष्ट होने पर ही प्रत्यक्ष का विषय बनता है । अनुमान की परिभाषा इनकी अपनी है पर उसका विभाजन् सांख्य के अनुसार है । उपमान के निरूपण में वे धर्मराजाध्वरीन्द्र की परिभाषा[८] को अपनाने का मोहसम्वरण नहीं कर सके हैं ।[९] वेदान्त एवं व्याकरण की भाँति रामाद्वयाचार्य भी शब्द को नित्य मानते हैं । आगम प्रमाण करके इन्हें वेद या स्मृतियाँ ही मान्य हैं आप्तवचन नहीं । वेद अपौरुषेय हैं और केवल वे ही सच्चिदानन्द ब्रह्म के निर्वचन की क्षमता रखते हैं । विवरणाचार्य की भाँति रामाद्वयाचार्य ने तमस् एवं अज्ञान की भावरूपता का निर्वचन किया है । अनुभव, तर्क तथा प्रमाण के आधार पर इसे सिद्ध करना इनकी विलक्षणता है ।

प्रामाण्य के स्वतस्त्व एवं परतस्त्व के विषय में जहाँ विवरणाचार्य ने अन्यान्य मतों का स्पर्श न करते हुए संक्षिप्त पूर्वोत्तर पक्ष के बाद अपना सिद्धान्त स्थापित किया है[१०] वहाँ आचार्य रामाद्वय सांख्य आदि के मतों का निराकरण करते हुये बाद में सिद्धान्त रूप में वेदान्त का मत प्रस्तुत करते हैं । और अन्त में पुनः उदयनाचार्य के स्वतःप्रामाण्य के खण्डन का निराकरण करते हैं । स्वतस्त्व की परिभाषा इनकी अपनी है ।[११]

अपने ग्रन्थ में प्रमाणस्वरूप का निरूपण आचार्य ने दो भिन्न स्थलों पर किया है—तृतीय अध्याय में उसका निरूपण ब्रह्म के आगमैकप्रमाणगम्यत्व के सन्दर्भ में किया गया है, और चतुर्थ अध्याय में "तत्तु समन्वयात्" सूत्र के पूर्वपक्ष के रूप में वर्णित न्याय

---

१ वे० कौ० १, पृ० २५१-५२ । २ पा० यो० सू० १।२८ ।
३ वे० कौ० १ पृ० २५२-५४ ४ वही । ५ वे० कौ० १ पृ० ६९ ।
६ वे० कौ० १ पृ० ४४-४७ । ७ वे० कौ० ३ पृ० ५६४ । ८ वे० प० ३ ।
९ वे० कौ० ३ पृ० । १० पं० वि० १ पृ० ४०१ । ११ वे० कौ० १, पृ० ६३ ।

के सोलह तत्त्वों के निर्वचन के सन्दर्भ में भी इसकी चर्चा है। दोनों स्थलों का अभिप्राय यह है कि चूँकि उपनिषद् द्वैतदर्शन से भय करती है अतः षोडशतत्त्वों का ज्ञान निःश्रेयस् के लिये नहीं है अपितु आगमैकप्रतिपादित ब्रह्मज्ञान ही इसका साधक है। आचार्य रामाद्वय का वैशिष्टच यह है कि चतुर्थ अध्याय में षोडश तत्त्वों के निरूपण के प्रसङ्ग में उन्होंने खण्डनखण्डखाद्यसम्मत प्रमा के लक्षण का भी खण्डन कर दिया है।[१] और उसके स्थान पर महर्षि गौतम के लक्षण[२] को समीचीन माना है।

मायास्वरूप के निर्वचन के प्रसङ्ग में आचार्य ने बहुत से ऐसे विषयों की चर्चा की है जो भामती एवं विवरण से सर्वथा भिन्न हैं। उदाहरणार्थ—देहव्यतिरिक्त आत्मा का प्रत्यक्षत्व आदि। न्यायसम्मत देहव्यतिरिक्त आत्मप्रत्यक्षत्व के बारे में आचार्य का सिद्धान्त है कि गौण स्थल में ऐसा हो सकता है भ्रम स्थल में नहीं। यह समस्त संसार मिथ्या है। तत्त्वबोध के बाद सबका सामान्यरूप से बाध हो जाने के कारण जगत् के अनुवर्त्तन का प्रश्न ही नहीं उठता।[३] अध्यास के सम्बन्ध में रामाद्वयाचार्य ने आचार्य शङ्कर के लक्षण को उद्धृत तथा वाचस्पति मिश्र की टीका को प्रस्तुत करते हुए अन्य आचार्यों की व्याख्या के साथ "सत्यानृतसम्भेदः सामान्यलक्षणम्"[४] को ही युक्त माना है। पञ्चपादिका एवं विवरणकार[५] ने भी इसे ठीक माना है पर भामतीकार इसके विपरीत है। इसी प्रसङ्ग में अनिर्वचनीय ख्याति की स्थापना में भामती एवं विवरणकार ने ख्यातिचतुष्टय का निरास किया है किन्तु रामाद्वयाचार्य ने केवल अख्यातिवाद का खण्डन किया है।

आचार्य शङ्कर के अनुसार व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक प्रपञ्च के मूलभूत अध्यास को ही लोग अविद्या माया आकाश आदि के नाम से पुकारते हैं।[६] आचार्य रामाद्वय का भी यही विचार है।[७] यह अविद्या 'अहमज्ञः'—इस अनुभव के आधार पर प्रत्यक्षसिद्ध है। विवरणाचार्य का अनुमान[८] एवं श्रुतियाँ[९] इस विषय में प्रमाण हैं। माया, उसका कार्य जगत्प्रपञ्च, और इस प्रपञ्च का नाश तथा जन्म सब कुछ इसलिये अनिर्वाच्य है कि इनके विषय में मतभेद है। रामाद्वयाचार्य की विशेषता उनके त्रिवृत्करण के स्वीकार करने की है। त्रिवृत्करण की पुष्टि में उन्होंने युक्ति दी है कि विपरीत रूप का अभिभावक होने पर भी वह्नि आदि में तुल्यभाग का प्रक्षेप करने पर विक्षिप्त पदार्थ का रूप दृष्ट होता है किन्तु वायु और आकाश के बारे में ऐसा नहीं है इसलिये वे दोनों त्रिवृत्कृत नहीं हैं।

भाष्य एवं भामतीकार की भाँति आचार्य रामाद्वय ने जगत्कारणवाद के सभी पहलुओं पर दृष्टि डाली है। विवरणाचार्य के द्वारा उपेक्षित पाशुपत एवं भागवत के मतों की भी चर्चा इन्होंने की है। जैनमत के निरूपण में पूर्वपक्ष को श्वेताश्वतर आदि उपनिषदों के उद्धरण से पुष्ट करना आचार्य की अपनी विशेषता है। वेदान्तजगत् को आचार्य रामाद्वय

---

१ वे० कौ० ४ पृ०। २ न्या० सू० १।१।४। ३ वे० कौ० १ पृ० १५७-५९।
४ वे० कौ० १, पृ० १६५। ५ पं० वि० १, पृ० २५।
६ ब्र० सू० मा० १।१।१। पृ० ४०। ७ वे० कौ० १, पृ० १७४।
८ पं० वि० १, पृ० ८३-८४। ९ तै० ब्रा० २।८।९।

की सबसे बड़ी देन यह है कि इन्होंने महाविद्या अनुमान के द्वारा जगत् की अनित्यता सिद्ध की है।[१]

तत्पदार्थ अर्थात् ब्रह्मस्वरूप के निर्वचन के सन्दर्भ में रामाद्वयाचार्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने भामतीकार के वचन[२] के अनुसार पहले ब्रह्मस्वरूप की और बाद में उसके विषय में प्रमाणों की चर्चा की है। इस चर्चा में पहले ब्रह्म के तटस्थ लक्षण को और बाद में स्वरूपलक्षण को रखा गया है। भामतीकार ने केवल सङ्केतमात्र किया है कि ब्रह्म को जगत् का उपादान मानने पर सांख्य के प्रधान से गतार्थ होने के कारण उसका लक्षण असम्भव हो जायगा।[3] किन्तु आचार्य ने अन्यान्य सम्प्रदायों के जगत्कारणवाद का विवेचनपूर्वक खण्डन कर "जन्माद्यस्य यत:"[४] सूत्र के द्वारा ब्रह्म के तटस्थलक्षण को स्थापित किया है। "धर्म आदि के द्वारा ही सृष्टि के सम्भव होने से ईश्वर या ब्रह्म की कल्पना अनुचित है"—इस मीमांसक मत का भी खण्डन किया गया है।[५] वाचस्पति मिश्र का भी कथन है कि व्यभिचार होने के कारण अचेतन कर्म या अपूर्व चेतनाधिष्ठित स्वतन्त्रकार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते[६]—इत्यादि। विवरणाचार्य के शब्दों में "कार्यगत अर्थप्रकाशन का सामर्थ्य उपादानकारण का धर्म होता है, जैसे प्रदीपगतप्रकाशन का सामर्थ्य अग्नि का धर्म है। क्योंकि कार्य तथा उसके उपादान में दो शक्तियों की कल्पना युक्त नहीं है। अत: सर्वार्थप्रकाशनसमर्थ होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है।[७]

इस प्रपञ्च का कारण माया है। विवरणाचार्य के मत में "अविद्यातमोमोह"[८] वचन के अनुसार तम अविद्या और माया अपरपर्याय[९] हैं। अत: लक्षण के एक होने से तथा वृद्धव्यवहार से एकत्व का अवगम होने से एक ही वस्तु में विक्षेपप्राधान्य होने के नाते माया और आच्छादनप्राधान्य होने के नाते अविद्या का व्यवहार होता है।[१०] भामती के अनुसार जीवाधिकरण भी अविद्या निमित्त या विषय के रूप में ईश्वराश्रया है न कि आधार के रूप में, क्योंकि विद्यास्वरूप ब्रह्म में ऐसा नहीं हो सकता[११]। और आचार्य शङ्कर का भाष्य है कि "अविद्यात्मिका बीजशक्ति कहीं अव्यक्तशब्द से निर्देश्य है और वही अव्यक्त कहीं अक्षर कहीं आकाश कहीं माया शब्द से सूचित है[१२]।" किन्तु रामाद्वयाचार्य का कथन है कि न तो माया एवं अविद्या एक है और न अविद्या माया का अवयव ही है। ये चैतन्य की स्वतन्त्र उपाधियाँ है। जगत् इसी अविद्या अथवा माया का उपादेय और ब्रह्म का विवर्त्त है[१३]।

विवरणाचार्य ने ब्रह्म के स्वरूपलक्षण के विषय में स्पष्टतया बहुत संक्षिप्त वर्णन

---

१ वे० कौ० २, पृ० ३६४-६८।
२ ब्र० सू० भा० भा० १।१।२।
३ ब्र० सू० भा० भा० १।४।२३।
४ ब्र० सू० १।१।२।
५ वे० कौ० २ पृ० ३८१-८५।
६ ब्र० सू० भा० मा० ३।२।४१।
७ पं० वि० ६, पृ० ६९०।
८ नृ० उ० ता० उ० २।
९ पं० वि० ५ पृ० ६३७।
१० पं० वि० ६ पृ० ६९०।
११ ब्र० सू० भा० भा० १।४।३। पृ० ३७८।
१२ ब्र० सू० भा० १।४।३।
१३ वे० कौ० ४ पृ०।

किया है। ब्रह्म का स्वरूपलक्षण सत्य विज्ञान आनन्द शब्दों से अभिधेय है।[1] किन्तु रामाद्वयाचार्य ने स्वरूपलक्षण के एक-एक अंश को लिया है। सत्ता जाति की व्यवस्था के द्वारा ब्रह्म को सत् सिद्ध करने के बाद उन्होंने अन्य मतों का निराकरण कर वेदान्तमत की व्यवस्था की है। अनेक श्रुतियों के प्रमाण के साथ ब्रह्म की आनन्द एवं ज्ञानरूपता की सिद्धि के बाद उन्होंने उसके अनन्तत्व की भी सिद्धि की है[2]।

ब्रह्मज्ञान के विषय में विधि सम्भव है या नहीं इस विषय में पद्मपादाचार्य का कथन है कि ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञान भी यथाभूतवस्तुविषयक होने से चोदनाजन्य नहीं है।[3] आचार्य रामाद्वय इस बात को अपने ढंग से कहते हैं कि उत्पत्ति आदि विधियाँ किसी साध्यवस्तु का विधान करती हैं; "आत्मा वाऽरे"—इत्यादि श्रुतियाँ जिस साक्षात्कार का विधान करती हैं वह (ब्रह्मस्वरूप) पहले से ही सिद्ध है। अतः जर्त्तिल आदि वाक्य के समान यह द्रष्टव्यविधि प्रशंसार्थक अर्थवाद है।

जहाँ तक त्वंपदार्थ अर्थात् जीव के स्वरूप के निर्वचन का प्रश्न है रामाद्वयाचार्य भामती एवं विवरण दोनों प्रस्थानों के विचारों का भिन्न-भिन्न स्थानों पर समर्थन करते हैं। जीवात्मा एवं परमात्मा के भेद के विषय में भामतीकार का कथन है कि रूपवद् द्रव्य अत्यन्त स्वच्छ होने के कारण अपने से भिन्न रूपवद् द्रव्य की छाया ग्रहण करता है, किन्तु चिदात्मा नीरूप है अतः वह विषयी होते हुए भी अपने विषय की छाया का ग्रहण नहीं कर सकता।[4] वही परमात्मा अविद्योपाधि भेद से आकाश के समान घट करक आदि भिन्न रूप से विस्तृत है।[5] पद्मपादाचार्य प्रतिबिम्बवाद का समर्थन करते हुये कहते हैं कि—"जीव प्रतिबिम्ब-कल्प है, हम सबके प्रत्यक्ष का विषय है, चिद् रूप है, अन्तःकरण के जाड्य से आस्कन्दित नहीं है।"[6] विवरणकार प्रकाशात्मन् का कथन है कि "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"[7], "अत एव चोपमा सूर्यकादिवत्"[8] इन श्रुति-सूत्रों से जीव का प्रतिबिम्बभाव दर्शित होता है। जैसे साभ्र नक्षत्रवाले आकाश का अमूर्त होने पर भी जल में प्रतिबिम्ब सम्भव है उसी प्रकार अमूर्त भी ब्रह्म का प्रतिबिम्ब सम्भव है।"[9] रामाद्वयाचार्य इसके और आगे बढ़कर कहते हैं कि रूप का नियम केवल चाक्षुष प्रतिबिम्ब के लिये है। अवच्छेदवाद मानने पर घट आदि के हटा देने पर घटप्रदेशमात्रवर्त्ती आकाश के भी वहाँ से हट जाने पर आकाश का अभाव हो जायगा।[10]

अविद्या के आश्रय तथा विषय के सम्बन्ध में आचार्य रामाद्वय भामती के मत का समर्थन करते हैं। विवरणकार का कथन है कि अविद्या का आश्रय तथा विषय भिन्न नहीं है। एक ही वस्तु (ईश्वर) में आश्रयत्व एवं आवरणकृत्य दोनों सम्पादित होता है।[11]

---

१ पं० पा० वि० ५, पृ० ४७२-७५।
२ वे० कौ० २, पृ० ५२७-३०।
३ पं० पा० ९ पृ० ३५१-५२।
४ ब्र० सू० भा० भा० १।१।१, पृ० ७-८।
५ ब्र० सू० भा० भा०२।१।२१ पृ०४७२।
६ पं० पा० १, पृ० १११।
७ बृ० उ० २।५।१९।
८ ब्र० सू० ३।२।१८।
९ प्र० वि० २, पृ० २८९।
१० वे० कौ० ४ पृ०।
११ पं० वि० १, पृ० २१०।

किन्तु भामतीकार का कथन कि अविद्या ब्रह्माश्रया नहीं किन्तु जीवाश्रया है।[1] अनादि अविद्या से अविच्छिन्न होने के कारण जीवभाव को प्राप्त परमात्मा ही स्वतः भेदपूर्वक भासित होता है। अविद्या इसी प्रकार के जीवों की है, न कि निरुपाधिक ब्रह्म की।[2] आचार्य रामाद्वय भी प्रायः इसी का समर्थन करते हुए कहते हैं कि यदि चैतन्यमात्र में अविद्या मानेंगे तो वह चैतन्य में रहकर जीवेश्वरविभाग पैदा करेगी फलतः विभाग सादि हो जायगा। किन्तु सिद्धान्त अनादिता का है। इसके अतिरिक्त "अधीहि भगवो ब्रह्म"[3]—इत्यादि श्रुतियाँ ब्रह्म को ही अज्ञान का विषय बताती है।[4] अतः अविद्या का विषय ईश्वर नहीं ब्रह्म है। चूँकि ब्रह्म भी चैतन्य है और जीव भी (अविद्योपहित) चैतन्य ही है अतः समानविषयकत्व का व्याघात नहीं होता।

"मायां तु प्रकृतिं विद्यात्"[5]—श्रुतिवचन के प्रमाण होने से तथा अज्ञान को एक मानने पर कल्पनालाघव होने से मूलाज्ञान को एक मानना चाहिये। व्यवहार के निर्वाह के लिये उसकी अनेक अवस्थायें कल्पित होती हैं।"[6] तत्त्वदीपन की इस उक्ति के आधार पर विवरणाचार्य का कथन है कि मूलाज्ञान के ही अवस्थाभेद, रजताद्युपादानक शुक्तिकादि-ज्ञान के द्वारा अध्यास के साथ निवृत्त हो जाते हैं।[7] किन्तु भामतीकार कई स्थानों पर अविद्या की अनेकता की चर्चा करते हैं—"हमलोग प्रधान के समान अविद्या को सब जीवों में एक नहीं मानते, किन्तु यह प्रतिजीवों में भिन्न है।"[8] "जैसे बिम्ब की मणि कृपाण आदि गुहायें होती हैं उसी प्रकार ब्रह्म की भी प्रतिजीव में भिन्न-भिन्न अविद्या गुहायें है।"[9] रामाद्वयाचार्य भी इसी पक्ष के पोषक हैं। अज्ञान की इसी अनन्तता के कारण आत्मा के एक होनें पर भी जीव अनन्त हैं। मीमांसकों का अनेकात्मवाद इन्हें स्वीकार नहीं है। वेदान्ती होने के कारण ये भी आत्मा को परममहत्परिमाण वाला मानते हैं।

जहाँ तक "तत्त्वमसि" एवं "अहं ब्रह्माऽस्मि"—इत्यादि वाक्यों की अखण्डार्थता का प्रश्न है, भामती, विवरण एवं कौमुदीकार सभी इसे मानते हैं क्योंकि जीव और ब्रह्म में वस्तुतः कोई भेद नहीं है—"तस्मादनाद्यविद्याविक्रीडितमेवैकस्याऽऽत्मनो जीवभावभेदो न तात्त्विकः।"[10] "अयमात्मा तत्त्वमसीत्यादिशब्दाश्च मुख्यलक्षणाभ्यां ब्रह्मण्येव वर्त्तन्ते इति सर्वे जगत्कारण-विषयाः शब्दाः मुख्यलक्षणोपाधिभिः एकरसमेव ब्रह्म प्रतिपादयन्ति।"[11] आचार्य रामाद्वय की विशेषता यह है कि विवरणाचार्य की भाँति इन्होंने पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष के द्वारा अखण्डार्थता तो सिद्ध की ही है साथ ही सभी श्रुतियों का उद्धरण भी दिया है और अन्त में वे निष्कर्ष रूप में यह कहते हैं कि सभी उपनिषदें एक महावाक्य हैं जो एक अखण्ड अर्थ का प्रतिपादन करती हैं।

"तत्त्वमसि", "अहं ब्रह्माऽस्मि" "अयमात्मा ब्रह्म[12]" "प्रज्ञानं ब्रह्म"[13] ये चार महा-

---

[1] ब्र०सू०भा०भा० १।१।४पृ०१२६। [2] ब्र०सू०भा०भा०१।४।३, पृ०३७७।
[3] छा० उ० ७।१।१। [4] वे० कौ० ४। [5] श्वे० उ० ८।४।
[6] त० दी० १, पृ० ७१-७२। [7] पं० वि० १, पृ० ९९।
[8] ब्र०सू०भा०भा०१।४।३। पृ०३७७। [9] ब्र०सू०भा०भा० १।४।२२पृ० ४२१।
[10] ब्र० सू० भा० भा० ३।२।१९, पृ० ७२३। [11] पं० वि० ८, पृ० ७०२।
[12] बृ० उ० २।५।१९। [13] ऐ० उ० ५।३।

वाक्य है; इन्हीं के द्वारा आत्मसाक्षात्कार होता है। आत्मसाक्षात्कार के करणनिर्वचन के प्रसङ्ग में आचार्य ने भामती एवं विवरण दोनों प्रस्थानों की चर्चा की है। यह चर्चा प्रस्तुत ग्रन्थ में दो बार आयी है। १—श्रवणविधिनिरूपण के प्रसङ्ग में जहाँ आचार्य यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि श्रवण आदि की असकृत् आवृत्ति ही आत्मसाक्षात्कार का कारण है। २—उसी प्रकरण में कर्मों के नित्य एवं काम्यविभाग के बाद इस प्रसङ्ग में कि कर्मों का आत्म-साक्षात्कार में क्या योगदान है। दोनो स्थलों में पूर्वपक्ष के रूप में भामतीकार के मत को रखा गया है एवं उसकी पुष्टि के लिये सुरेश्वराचार्य भगवत्पदाचार्य वेदव्यास के वचनों एवं श्रुतियों को प्रमाणरूप में रखा गया है। यहाँ तक कि आचार्य ने पञ्चादिका एवं विवरण के वचनों को इसके विषय में प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। किन्तु सिद्धान्तरूप में उन्होंने विवरणप्रस्थान की स्थापना की है। "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्"[१] यन्मनसा न मनुते"[२] इत्यादि श्रुतियाँ तथा तर्कयुक्तियाँ उपस्थित कर इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। उनका कथन है कि स्वयं 'उपनिषद्' शब्द अपनी विग्रह के द्वारा इस तथ्य का प्रमाण है कि ब्रह्म वेदैकवेद्य है।[३]

ऊपर वर्णित वेदान्तकौमुदी के मुख्य विषयों एवं उसमें चर्चित अन्य विषयों के ऊपर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य रामाद्वय सर्वतोमुखी प्रतिभा से सम्पन्न वेदान्त-दर्शन के ही नहीं अपितु संस्कृत वाङमय के एक विलक्षण विद्वान् थे। क्या वेद क्या वेदाङ्ग, क्या दर्शन क्या धर्मशास्त्र सभी विषयों में इनका पूर्ण प्रवेश था। यही कारण था कि यद्यपि उन्होंने महर्षि वेदव्यास के प्रथम चार सूत्रों को ही अपनी कृति—वेदान्तकौमुदी का मूल आधार बनाया तथापि वेदान्त के समस्त सूत्र या यह कहिये कि समस्त वेदान्तदर्शन अन्याय विषयों के विवेचन के परिपार्श्व के साथ इस ग्रन्थ में समाहित हो गया। दार्शनिक विचारकों के अनुसार यद्यपि ये विवरणप्रस्थान के अनुयायी थे किन्तु इनके प्रौढपाण्डित्य ने इनके व्यक्तित्व को अन्धानुयायी होने से बचाया है। एक ओर जहाँ उन्होंने विवरणसम्प्रदाय के प्रतिबिम्बवाद को पुष्ट करते हुए भामतीप्रस्थान के अवच्छेदवाद का खण्डन किया है दूसरी ओर वहीं पर भामतीप्रस्थानसम्मत मूलाविद्या के नानात्व का समर्थन करते हुये विवरणप्रस्थानसम्मत मूलाविद्या के एकत्व की अवहेलना की है। अपनी इसी पाण्डित्यप्रौढि के कारण उन्होंने कहीं-कहीं विविध विषयों का भी विवेचन किया है, जैसे—न्याय के सोलह तत्त्वों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन एवं स्फोटवाद आदि। किन्तु इससे ग्रन्थ में तनिक भी उच्छङ्खलता एवं असामञ्जस्य नहीं आया है। अपने पूर्ववर्त्ती आचार्यों की ननु···इति चेन्न···त्वात्' वाली शैली का प्रयोग इन्होंने बहुत कम किया है। कहीं-कहीं विषयों की पुनरावृत्ति भी सन्दर्भसङ्गत होने के कारण दोषाधायक नहीं प्रतीत होती। आचार्य ने अपनी बहुमुखी प्रतिभा से सभी विषयों का औचित्यपूर्ण विन्यास किया है। वेदान्तकौमुदी वह उद्यान है जिसमें संस्कृतवाङमय के सभी प्रकार के पुष्प विभिन्न अवस्थाओं में विकसित दृष्ट होते हैं किन्तु लेखक की पाण्डित्यपूर्ण अत एव दुरूह शैली की कण्टकवृति से वेष्टित होने के कारण पाठक को इन पुष्पों के अवचयन में परिश्रम अवश्य करना पड़ता है।

———

१ तै० ब्रा० ३।१२।९। २ केनोप० ५। ३ वे० कौ० १ पृ० १२९।

पाठभेदसङ्केत

प्रथम अध्याय

क—मुद्रित मूलग्रन्थ (मद्रास विश्वविद्यालय)

ख—पाण्डुलिपि मूलग्रन्थ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

ग—पाण्डुलिपि टीकाग्रन्थ (रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)

घ—पाण्डुलिपि टीकाग्रन्थ (वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी)

द्वितीय अध्याय

क—मुद्रित मूलग्रन्थ (मद्रास विश्वविद्यालय)

ख—पाण्डुलिपि मूलग्रन्थ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

ग—पाण्डुलिपि मूलग्रन्थ (रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)

घ—पाण्डुलिपि टीकाग्रन्थ (भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटच्यूट पूना)

तृतीय अध्याय

क—मुद्रित मूलग्रन्थ (मद्रास विश्वविद्यालय)

ख—पाण्डुलिपि मूलग्रन्थ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

घ—पाण्डुलिपि टीकाग्रन्थ (भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटच्यूट पूना)

चतुर्थ अध्याय

क—मुद्रित मूलग्रन्थ (मद्रास विश्वविद्यालय)

ख—पाण्डुलिपि मूलग्रन्थ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)

ग—पाण्डुलिपि मूलग्रन्थ—(रॉयल एशियाटिक सोसाइटी कलकत्ता)

घ—पाण्डुलिपि टीकाग्रन्थ (भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीटच्यूट पूना)

श्री रामाद्वयाचार्यकृता

वेदान्तकौमुदी

॥श्रीः॥

श्रीरामाद्वयाचार्यपूज्यपादविरचिता

वेदान्तकौमुदी

प्रथमोऽध्यायः

मङ्गलाचरणम्

व्याख्यामुद्राक्षमाले कलशसुलिखिते बाहुभिर्वामपादं
बिभ्राणो जानुमूर्ध्ना पदतलनिहतापस्मृतिर्वृद्रुमाधः[१]।
सौवर्णे योगपीठे लिपिमयकमले सूपविष्ट (स्त्रिणेत्रः)[२]
क्षीराभश्चन्द्रमौलिर्वितरतु विपुलां शुद्धबुद्धिं शिवो नः ॥१॥*

भावदीपिका

ॐ नमो भगवते मङ्गलेश्वराय। श्रीमद्दिव्यलक्ष्मीऋषिभ्यः। नमो गुर्वादिभ्यः।

जानकीवल्लभं नत्वा ब्रह्मलीलाकलेवरम्।
कुर्वे वेदान्तकौमुद्या व्याख्यानं गुर्वनुग्रहात्॥

विद्यारम्भे मङ्गलमाचरणीयम्, "स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः" "शं नो मित्रः शं वरुणः" इत्यादिलिङ्गात्। ग्रन्थमध्यावसानयोरपि "ब्रह्मणे नमः" इत्यादिगमकात्।

"ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान् यो गगनोपमान्।
ज्ञेयाभिन्नेन सम्बद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम्॥" इति गौड़पादाचार्याः

द्विपदां=पुंसां; वरम्=नारायणाख्यं गुरुमित्यर्थः।

"श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥"

इति स्मृतेश्च।

न च प्रमाणवत्त्वेऽपि प्रयोजनाभावादकर्त्तव्यत्वम्; विघ्नोपशमस्य प्रयोजनत्वात्।
"श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि"

ज्ञानवती

भुजाओं के द्वारा व्याख्यामुद्रा, अक्षमाला, (अमृत) कलश एवं पुस्तक धारण करने वाले, (दक्षिण) जानु की मूर्धा से वामपाद को धारण करने वाले, पदतल के द्वारा विस्मृति को नष्ट करने वाले, कल्पवृक्ष के नीचे सुवर्णमय योगपीठ के ऊपर (अङ्कित) लिपिमय कमल

---

१ (क) निहि(ह)ता। २ (क) त्रिनेत्रः, (ख) त्रिणेत्रः,।

* इसकी संस्कृत टीका अप्राप्त है।

उपास्महे मुहुर्ब्रह्म विमुच्य क्लेशशृङ्खलाम् ।
यद्दृष्ट्या स्पष्टमानन्ददुग्धाब्धौ विहरेद् बुधः ॥२॥

भावदीपिका

इत्यादिना विघ्ननिश्चयस्य[सम्भवात्]। सम्भावितविघ्नशान्त्यर्थमपि दुर्गार्गलमार्गादौ बहुधोपायवत् बहुधा मङ्गलं सम्भवति; किं वाच्यम् निश्चितविघ्नशान्त्यर्थं तथा भवतीति । न च सम्भावनामात्रेण विघ्नस्य सेनासङ्ग्रहादिवत्[1] मङ्गलं कार्यं किं निश्चयेनेति वाच्यम्; प्रायश्चित्तवद् विहितस्य[2] निवर्त्यप्रमापेक्षणात् । न च विशिष्टविद्यार्थकर्मणैव विघ्नविघातसम्भवात् किं मङ्गलकर्मणेत्याशङ्कनीयम्;

"सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ।"

इति स्मृतेः, इन्द्रादेः पुण्यफलभोगावसरेऽपि विघ्नस्मरणाच्चात्रापि विघ्नसम्भवात् । न च वचनीयं देवानां[3] विघ्नकर्तृत्वे तेषां करणाधिष्ठातृतया निकटवर्त्तिनां मङ्गलक्रियायामपि तदाशङ्कायाः कः प्रतिकार इति; पुण्यौत्कट्ये ज्वरादिशान्त्यर्थं शान्तिकादाविव तेषामौदासीन्यस्यानुकूल्यस्य वा सम्भवात् । उक्तप्रयोजनता[4] च मङ्गलस्य करणादेव; ग्रन्थनिबन्धनं तु छात्रशिक्षार्थम् । ततः क्वचित्तददर्शनेऽपि ग्रन्थसमाप्त्यादिदर्शनान्न मङ्गलवैफल्याशङ्का । कृतमङ्गलानामपि ग्रन्थसमाप्त्यादिफलादर्शने पुण्यानौत्कट्यं प्रबलः प्रतिबन्धो वा कारीर्यादिवदुन्नेयः ।[5]

तदेवं प्रमाणवत्त्वात् प्रयोजनवत्वाच्च मङ्गलमाचरति—उपास्महे इत्यादिना । उपास्महे=परिचरामः । किम् ? ब्रह्म=सत्यज्ञानादिलक्षणम् । यस्य स्पष्टं=असन्दिग्धाविपर्यस्तदृष्ट्या बुधो=विवेकी; क्लेशा एवाविद्या[दि]लक्षणा शृङ्खला; तां विमुच्य आनन्द एव ब्रह्मरूपो दुग्धाब्धिस्तस्मिन् मुहुः=बारं-बारं करीवाक्रीडेत्=विहरेत् । रूपकालंकारोऽयम् । तदाह दण्डी—"उपमैव तिरोभूतभेदा रूपकमिष्यते ।" यथा बाहुलता, पाणिपद्मम्, चरणपल्लवमिति । वस्तुस्थित्या तु "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवती"ति श्रुतेः यज्ज्ञानान्मोक्ष इति प्रयोजनमर्थादवादि महाधिकारिणा ग्रन्थस्य । श्लोकान्तरेण विषयसम्बन्धा[दि] बह्वर्थान्वदत "ॐ इत्येवं ध्यायय आत्मानं स्वस्ति वः पाराय तमसस्परस्तादि"त्याचार्यस्य शिष्यान् प्रति आशीः श्रूयते हि मुण्डके;

"यथाऽऽपः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् ।
एवं मां ब्रह्मचारिणः धातरायन्तु सर्वतः ॥"

ज्ञानवती

के ऊपर अच्छी प्रकार बैठे हुए, तीन नेत्रों वाले, दुग्ध के समान कान्ति वाले चन्द्रशेखर भगवान शङ्कर हम लोगों को अत्यधिक शुद्ध बुद्धि दें ॥ १ ॥

हम सब उस ब्रह्म की बार-बार उपासना करते हैं जिसकी दृष्टि से विद्वान् क्लेश-शृङ्खला को छोड़कर आनन्ददुग्धसागर में स्पष्ट विहार करता है ॥ २ ॥

---

[1] (क) दिव । [2] (ख) तञ्च । [3] (ख) वेदानां ।
[4] (ख) तात्त्व । [5] (ख) दुपपत्ते ।

प्रस्फारानन्दकन्दस्फुरदतुलतमोघस्मरो ज्योतिरोघ-
स्सत्यो[1] नित्यावदातः श्रुतिशतशिरसां मानभावैकभूमिः।

भावदीपिका

इति [श्रोत्रा]गमनप्रार्थनश्रुतेश्च। प्रवता=प्रवणवता, तृतीया द्वितीयार्थे। निम्नं यथा आपो यन्तीत्यर्थः। अहर्जरः=संवत्सरः; अहोभिर्जरयति[2] सर्वमिति, अहानि वा[3] जीर्यन्त्यस्मिन्निति व्युत्पत्तेः। तेन [श्रोत्रर्हता]।

अथेष्टदेवतां प्रार्थयते—प्रस्फारानन्द इति। पद्मनाभः=परमात्मा; भवदहितं =भवतामहितं=हितविरोधि[4] शोकादि; वध्यात्=हन्तु हन्तेर्वधादेशात्। ननु "अनीशया शोचति मुह्यमानः", "अज्ञानेनावृतं ज्ञानं[5] तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इत्यागमादज्ञानतमोजन्यं शोकादि; कथं तदनुच्छेदे ईश्वरेणापि तदुच्छिद्येत[6] तत्राह—स्फुरदतुलतमोघस्मरः। 'अहमज्ञः' इत्यादिप्रकारेण स्फुरत् तथा। न विद्यते तुला साम्यमनर्थहेतुत्वे केनापि यस्य तदतुलम्—

"एकः शत्रुर्न द्वितीयोऽस्ति शत्रुः अज्ञानतुल्यः पुरुषस्य राजन्।
येनावृतः कुरुते सम्प्रमत्तो घोराणि कर्माणि स[7] दारुणानि॥"

इति वचनात्। तमः=अज्ञानं "तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमार" इति, "त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसी"ति उपक्रान्ताविद्यायां तमःशब्दप्रयोगात्। तस्य घस्मरो=अद्मरः—अतिशयेन भक्षको ज्ञातः सन्; निवृत्तिमप्यज्ञानस्य[8] परिशिनष्टि "निर्वाणमय एवायमात्मा ज्ञानमयोऽमल" इत्याद्यागमात्। तेन व्यक्तमस्य शोकाद्युच्छेदकत्वम्। स्फुरदतुलतमोगुणवद् दानवादिघस्मरोऽयं लीलावतारेषु प्रसिद्ध एव।

तार्किकाभिमतान्नित्यज्ञानगुणवत ईश्वरात् पद्मनाभं व्यवच्छिनत्ति—ज्योतिरोघ इति। "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः; तद्देवाः ज्योतिषां ज्योतिः आयुर्होपासतेऽमृतमि"ति श्रुतेः, "यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥" इति स्मृतेश्च ज्योतिस्समूहात्मकोऽयम्। न च ज्योतिस्तेजश्शब्दौ प्राकृततेजोवचनौ; चक्षुष इव सावित्रादितेजसा तस्यापि सजातीयेनैवाप्यायनसम्भवात्, चाक्षुषस्येव ज्योतिषस्सूर्यादि[9]-प्रकाशकस्यान्धेन तददर्शनात्। प्रकाशकस्यापि[10] सजातीयस्यैव ज्योतिश्शब्दार्थत्वसम्भवान्न विजातीयविज्ञानवचनौ, येन गुणवादव्यवच्छेदः स्यादिति वाच्यम्; "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु

ज्ञानवती

फैलते हुए अतुल अन्धकार को विस्तृत आनन्द के मूल के द्वारा नष्ट करने वाले, प्रकाश के पुञ्ज, सत्य, सदा स्वच्छ, सैकड़ों वेदवचनों के मूर्धन्य (मुख्यभाग अर्थात् उपनिषदों) के

---

१ (ग) सत्यं। २ (ख) अहानि। ३ (क) विघ्नाभिधा।
४ (ख) विराधि। ५ (क) ज्ञानं। ६ (क) उच्छि।
७ (क) नु। ८ (क) स्य न परि। ९ (क) सूर्यस्यादि।
१० (ख) कश्चापि।

योऽखण्डः खण्डनानामविषयविषयिप्रत्यगात्मैकमूर्ति-

भावदीपिका

हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" इति च चेतने ज्योतिश्शब्दप्रयोगात् । 'ज्योतिश्चरणाभिधानात्' इति सूत्रकारेण । "अथ यदतः परो दिवो[१] ज्योति"रिति ज्योतिः-शब्दस्य[२] 'यत्'-शब्दपरामृष्टम् "एतावानस्य महिमे" त्यादिना गायत्रीविकारावच्छिन्नत्वेनो-पास्यतयो[३]पदिष्टं चतुष्पाद्ब्रह्मार्थं इति निर्णीतम्[४], तत्र ज्योतिःकारणत्वाद् ब्रह्मज्योतिश्शब्दः । कारणस्य च कार्याधायकत्वं प्रसिद्धम् । चक्षुषोऽपि घटादिवदादित्यादिप्रकाशकत्वासम्भवे ज्ञानद्वारेण विषयीकरणे ज्ञानरूपब्रह्मणो ज्योतिषां ज्योतिष्ट्वन्न विरुध्यते । "हिरण्मये परे कोशे[५] विरजं ब्रह्म निर्मलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥" इति श्रुत्यन्तराच्च । "स्वप्ने चात्मनैवायं[६] ज्योतिषेति"[७] ज्योतिरन्तराभावात् पुरुष-स्वरूपमेव ज्ञानप्रकाशरूपं ज्योतिश्शब्दादेव गम्यते । तस्य "चायमात्मा ब्रह्मेति" परमात्म-त्वावगमात् परमात्मापि ज्ञानरूप इति ज्ञानगुणत्वकल्पना श्रुतिविरुद्धा[८] । "विज्ञानमानन्दं सत्यं ज्ञानं प्रज्ञानं ब्रह्मे" ति श्रुतेश्च[९] [स्व]विकारज्ञानपक्षप्रतिक्षेपायाह—नित्यावदात इति ।

बौद्धमते तावत् विज्ञानसामान्यादेरिव[१०] जन्मादेः काल्पनिकत्वस्य वक्तुं शक्यत्वात् तार्किकमते चात्मनीव ज्ञाने जन्मादि काल्पनिकं वक्तुं शक्यम् । परिणामश्च सुवर्णादिरिवा-नवयवस्य 'निष्कलमि'त्यादिश्रुतेरात्मनो दुर्भण इति । नित्यनिर्मलतापहतपाप्मत्वञ्च प्रसिद्ध-मेव । सांख्ययोगाभिमतं व्यावर्तयति—प्रस्फारानन्दकन्द इति । "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यद्येष आकाश आनन्दो न स्यात्," "सैषानन्दस्य मीमांसा", "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन", "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते", "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इति "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इति[११] ब्राह्मणोक्तिर्ब्रह्मलक्षणभूतं[१२] "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति मन्त्रवर्णोक्तं ब्रह्म "तद् ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति कारणत्वमीमांस्यत्वाभ्यां निर्दिष्टमानन्दमयपर्यायब्राह्मणे[१३] "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इत्युपदिश्य तस्मिन् आनन्दपदाभ्या-सात्तस्यानन्दरूपत्वमवगम्यते[१४] । तदाह भगवान् व्यासो—"मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते" । इति । यथा खलु पञ्चकक्षासङ्क्रमणेन भौमादिर्विज्ञायते तथाऽन्नमयाद्यानन्दमयान्तकोशसङ्क्र-मणेन पुच्छ[१५]ब्रह्मप्रकर[णे] विज्ञायते । तेन "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इति सूत्रे आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वप्रतिज्ञां[१६] कृत्वाचिन्तया सा च अभ्यासादित्यनेनोद्घाटिता[१७] । न खल्वानन्दमयस्या-

ज्ञानवती

एकमात्र सम्माननीय, अखण्ड, खण्डनों के अविषय, ज्ञान स्वरूप आत्मा के एक मूर्ति एवं

---

१ (ख) परो ज्योतिः । २ (ख) शब्दव्यवच्छेदपरामृ ।
३ (क) पास्यायोप । ४ (क) तः । ५ (क) कोशो ।
६ (ख) निवा । ७ (ख) षेव । ८ (ख) तिरवि ।
९ (क) स । १० (क) ज्ञाने । ११ (क) णोक्त ।
१२ (क) भूत । १३ (ख) मपर । १४ (ख) नित्या ।
१५ (क) च्छे । १६ (क) तया । १७ (क), (ख) प्रशासनात् ।

वध्यादध्यासमानो भवदहितमसौ स्वं पदं पद्मनाभः ।।३।।

भावदीपिका

सङ्क्रमणीयत्वेनात्राभ्यासो दृश्यते। किन्त्वानन्दनिष्ठप्रपञ्चब्रह्मणस्तत्[१] आनन्दमयावयवत्वेन श्रुतं ब्रह्म स्वप्रधानं ज्ञेयमिति वा आनन्दो ब्रह्मेवेति वा प्रतिज्ञार्थः। स्वप्रधानब्रह्माभ्यासादिति वा, आनन्दसामानाधिकरण्याभ्यासादिति वा हेत्वर्थइति युक्तं ब्रह्मण आनन्दरूपत्वं ज्ञानवच्चास्य जन्मादिव्यवहारो व्यञ्जकाभिप्रायः[२]।

एवं "विज्ञानमानन्द" मिति स्वरूपलक्षणमुक्त्वा तटस्थलक्षणमाह—अध्यास इति। अध्यासः=कारणत्वाविलक्षणो मानं गमकं यस्य सोऽध्यासमानः। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म', "जन्माद्यस्य यतः" 'इति श्रुतिसूत्राभ्यां केवलनिमित्तत्व उपादानत्वे वा लक्षितं गृह्यते। तेन "तदैक्षत बहु स्याम्" इति श्रुत्यन्तरानुसारेण निमित्तोपादानभावोऽत्रलक्षणम्। न चैवं जन्माद्येकतमहेतुत्वं लक्षणमिति वाच्यं व्यावर्त्याभावात् व्यर्थमितरदिति वाच्यम्; प्रत्येकलक्षणत्वविवक्षयैव त्रयाणां ग्रहणात्। अतएव "तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम्" इत्युपादानपञ्चमी प्रायपाठात्—"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं[३] च जायते।।" इत्युपादानपञ्चम्या सर्वज्ञस्योपादानत्वविधानाज्जन्म[४] प्रत्येवोभयकारणत्वं लक्षणमवलम्ब्य "अक्षरं भूतयोनिः", "सर्वज्ञं ब्रह्माथ परायथा"[५], "तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमि"[६]-त्यादिभूत"योनिं परिपश्यन्ति धीराः," इत्येतत् श्रुत्युक्तम् दृश्यत्वादिगुणकधर्मोक्तेरित्यत्र निर्णीतम्। "यदिदं किञ्च सर्वं प्राण एजति निस्सृतम्"[७] इति जन्ममृत्य्वोः "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति" इति जन्मप्रलययोश्च लिङ्गत्वेनोपादानात्। अत्र चराचरग्रहणादित्यत्र "यस्य ब्रह्म च" इत्यादौ[८] ब्रह्मक्षत्रशब्दाभ्यां चराचरग्रहणात्तदोदनसूचको भोक्ता संहर्तेति लयहेतुत्वमेव[९] लिङ्गत्वेनोक्तम्। समुदायग्रहणञ्च तात्पर्यलिङ्गवत् अभ्युच्चयसूचनार्थं श्रुतिलिङ्गादिवच्च। यद्वा मीमांसकाभिप्रेतजीवस्य सुखाद्युपादानत्वनिमित्तत्वेऽनियतकालस्थित्यादिविषये यथा न तथा ब्रह्मणः। किन्तु "शतायुर्वै पुरुषः" इत्यादिनियतकालस्थित्यादिविषय इति सूचनार्थं स्थित्यादिग्रहणम्।

यदि कारणत्वाद्यध्यासः तस्मिन् मानं, तर्ह्यध्यासप्रत्ययविषयत्वात् रज्जुभुजङ्गादिवदसत्यत्वं प्राप्तम्, तत्राह—सत्य इति। रज्ज्वादेरिव स्वरूपेण बाधाभावात् बाधसाक्षित्वाच्च सत्यः। साक्षित्वमाह—खण्डनानामविषय इति। खण्डनानां=बाधानामविषयो यतो विषयी बाधानामप्यग्राहको यः प्रत्यगात्मा साक्षी तदेकमूर्त्तिः कर्मफलोदासीनश्चिदेकरसः। ननु—

ज्ञानवती

अपने स्थान पर बैठे हुए भगवान् विष्णु आपके अहित का नाश करें ।। ३ ।।

---

[१] (ख) वत्। [२] (ख) प्रायेण। [३] (ख) रूपोपपन्नं च जायत।
[४] (ख) त्वो। [५] क, (ख) यथा। [६] (ख) तद्विदृश्य।
[७] (क) निष्कल। [८] (ख) त्यत्र। [९] (ख) त्वाच्च।

भावदीपिका

"ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः ॥"

इति सुकृतिलोके=शरीरे परमे=अनुत्कृष्टे परस्यात्मनोऽर्द्धे=स्थाने उपासनार्थं बुद्धिगुहां प्रविष्टौ नियम्यनियन्तृभावेन छायातपकल्पौ जीवपरमात्मानौ ऋतं=कर्मफलं भुञ्जानौ "ब्रह्मवित्प्रभृतयो वदन्ति" इति श्रुतेः कथं कर्मफलोदासीनत्वम् ? उच्यते—"अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति", "न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्" इत्यादिश्रुतिशतैः प्रकाशादिवन्नैवं परः । यथा जीवो देहाद्यात्मत्वाभिमानं सुखित्वाद्यभिमानञ्च तनोति नैवं परमात्मा किन्तु प्रकाशादिवत् । "वस्त्वन्तरसंसर्गे तद्-धर्मवान्[१] इव" इति सूत्राच्च परमात्मनः कर्मफलासम्बन्धे स्थिते पिबन्तौ इति पिबच्छब्दः पिबदपिबत्समुदायपरो भवति । 'छत्रिणो गच्छन्ति' इत्यत्र छत्रिशब्द इव छत्र्यछत्रिसमुदायपरस्तद्विनियोगगमकस्तथा वा । "गुहां प्रविष्टावात्मानौ" तद्दर्शनादित्यत्र चैतन्निर्णीतं गुहां प्रविष्टौ जीवपरावेव न बुद्धिजीवौ । अस्य गोर्द्वितीयोऽन्वेषणीयो इत्यादिसंख्यानिर्देशे समानजातीयगवान्तरादिसंख्येयबुद्धिदर्शनादित्यर्थः ।

एवं लक्षणद्वयं निरूप्य प्रमाणमाह—श्रुतीति । एके[२] विप्रतिपत्तिपरा वेदान्ता इति मतं व्यावर्त्तयति । एवं हि तदभिप्रायः—छिनत्तीतिवज्जानातीति व्यपदेशादत्र ज्ञानं तावत् धात्वर्थः । तत्र यथा शाखां छिन्धी'त्युक्ते[३] कुठारादिकरणं स्वेच्छया व्यापारयन् धात्वर्थसाधको नियोज्यो भवति तथा 'ब्रह्म जानीही'त्युक्तः तत्कारणं वेदान्तवाक्यं व्यापारयंस्तत्साधको नियोज्यो भवति । न च कदाचिदनिच्छतोऽपि ज्ञानदर्शनात् तस्याविधेयत्वम्; अनिच्छतोऽपि प्रमादोच्छेददर्शनेऽपि तद्विधेयत्ववत् सम्भवात् । अतएवा'र्कं पश्येत्' इत्यादि नियोगो न नेत्रसंयोगमात्रपरः, 'छिन्धि' इत्यस्यापि कुठारसंयोगमात्रपरत्वप्रसङ्गात् । न चानवधिसुखविग्रहब्रह्मसाक्षात्कारस्य[४] फलत्वादविधेयत्वं, तस्याविद्यास्तमयलक्षणमोक्षाङ्गत्वेन साक्षात् फलत्वाभावात् । अस्यानर्थहेतोः प्रहाणायात्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये इति विद्यातत्फलयोर्भेद[५]निर्देशात् । ध्यानस्येवार्थप्रकाशकत्वेऽपि शब्दादिप्रतीतार्थानुस्मृतिरूपस्य धात्वर्थत्वसम्भवाच्च । अन्यथा "परं पुरुषमभिध्यायीत" इति ध्यानविषयत्वेनोपदिष्टस्य "परात् परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते" इति "ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् स" इति सूत्रेण ईक्षणकर्मत्वव्यपदेशात् परपुरुषत्वसम्पादनं न युज्येत, ईक्षणध्यानयोः कार्यकारणभावेनार्थभेदानुपपत्तेः । ईक्षणस्य चोत्सर्गतो यथार्थत्वात् तद्विषयभूतब्रह्मणोऽपवादभावाच्च विधिपरत्वेऽपि वस्तुसिद्धिरिति ।

अत्रोच्यते :—ब्रह्मज्ञानस्य विधेयत्वे तत्साध्यमपूर्वमाज्यावेक्षणादिवद् वक्तव्यम् । न च तत्साध्यमविद्या प्रहाणं ज्ञानफलम्; अन्यथापि दर्शनात् व्यर्थं विधिसम्पादनम् विधिसाध्यत्वे मुक्तिफलस्य देवदेहादिभोग्यक्रियाफलवन्नियमः प्रसज्येत, स चापास्तः सूत्रकृता । एवं मुक्तिफलनियमः तदवस्थाधृतेरितिदेशकालाद्यनवच्छिन्नब्रह्मस्वरूपावस्थानस्यैव ब्रह्मैव भवतीति मुक्तित्वावधारणादनियमः । पदावृत्तिस्तु तृतीयान्तसूत्रे समाप्तिद्योतनार्था । अखण्डं[६]

[१] (क) संसर्गवान् । [२] (ख) ति । [३] (क) छिनत्ती ।
[४] (ख) पर । [५] (ख) रभेद । [६] (ख) ण्डंपदम् ।

मातर्जागृहि जागृहि ग्रहमिमं जाड्याह्वयं छिन्धि मे
स्वच्छन्देन सरस्वति ! प्रवितर स्फीतानु (रागन्वयात्)[१]।
मद्वाचां श्रियमम्ब ! मौक्तिकमणिश्रेणी यतो नान्यथा
कश्मीरोद्भवरागचुम्बितकुचद्वन्द्वे तव भ्राजते ॥४॥
नागो नागोत्तमाङ्गं गणयति गुणवान् धूर्जटेर्जोटरज्जुः
स्रस्तं साहस्रमूर्धा विधुदलमधिकं यन्त्रणात्सविलोक्य ।

भावदीपिका

पदमिति कारणत्वनियन्तृत्वाद्याम्नायात् प्रसक्तसप्रपञ्चत्वजीवभेदो[२] ब्रह्मणो व्यवच्छिनत्ति; सप्रपञ्चवाक्यानां "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इत्यवास्तवप्रपञ्चानुवादकत्वदर्शनात् "सत्यं ज्ञानम्" इत्यादिनिष्प्रपञ्चवाक्यानां[३] वास्तवार्थनिरूपकत्वान्न वस्तुतः सप्रपञ्चत्वसिद्धिः। जीवभेदवाक्यानामपि "पिप्पलं स्वाद्वत्ति" "स हि कर्ता" इत्यादीनां प्रसिद्धकर्तृभोक्त्रनुवादकत्वात्तदप्रतीतब्रह्मभावप्रतिपादकानामपूर्वार्थत्वान्न वास्तवभेदसिद्धिः। अत्र च प्रस्फारानन्दकन्द इत्यादिश्लाघ्यविशेषणोपादानादुदारालङ्कारः। तदुक्तं—"श्लाघ्यैर्विशेषणैर्युक्तमुदारं कैश्चिदिष्यते।" यथा लीलाकुञ्जं[४], क्रीडासरो, हेमाङ्गद इति।

अधुना ग्रन्थोपयोगिविशिष्टवाग्विभवाय ग्रन्थसौभाग्याय च वाग्देवतां प्रार्थयते—मातरिति। जागृहि जागृहि जागरूकापगतनिद्रा भवेत्यर्थः। मद्वाचां श्रियं=शोभां प्रवितर =विस्तारय देहि वा। कथं? स्फीतानुरागान्वयात् अनुरागान्वयेन शोभां सम्पादयेति। कर्पूरगौरे वक्षसि मौक्तिकहारो वर्णसाम्यान्न शोभते शोभतेतराञ्च काश्मीरकुङ्कुमलिप्त इति।

साम्प्रतं सकलविद्यानिधिं भगवन्तं महादेवं श्रोतृणामभीष्टयेऽभिष्टवीति–नाग इति। यस्य धूर्जटेः=धूर्जटिनाम्नो जटाजूटबन्धनरज्जुः, साहस्रमूर्धानागः सत्त्वाधिकत्वादव्रणानां फणानां व्रजं=समूहं भजन्नपि गुणवान् विधोः=मुकुटचन्द्रमसोर्दलं=अर्द्धस्वफणसदृशं

ज्ञानवती

हे माता ! जागो जागो। मूर्खता नामक मेरे इस ग्रह को काटो। हे सरस्वती ! तीव्र अनुराग के अन्वय अर्थात् परम्परा के द्वारा स्वच्छन्दतापूर्वक मेरी वाणी की श्री का वितरण करो, दूसरे प्रकार से नहीं। क्योंकि (मेरी वाणियों की) मुक्तामणियों की श्रेणी कश्मीर में उत्पन्न राग से चुम्बित तुम्हारे दोनों स्तनों पर (अत्यन्त) शोभायमान है ॥ ४॥

जिस धूर्जटि (शिव) के जटाजूट का (बन्धन) रज्जु, सहस्र शिरवाला गुणवान् शेषनाग, सत्त्व की अधिकता के कारण क्षतरहित फणों के समूह को धारण करता हुआ भी, विधु के (अपने फण के अर्द्धभाग के सदृश) दल को अच्छी तरह देखकर, भ्रम के कारण अधिक यन्त्रणा से टूटा हुआ समझ कर, नागोत्तमाङ्ग (अपने सहस्र संख्यावाले शिरों) को गिनता है। वह (तुम लोगों की) क्रियाओं से (प्रसन्न होकर) तुम लोगों की अनु अर्थात् बारम्बार अत्यधिक भ्रम के भार की कृशता को करे ॥५॥

---

१ (क) रागा स्यात्, (ग) रागान्वयात्, (घ) रागान्वयात्। २ (ख) प्रपञ्च।
३ (क) दिभिः। ४ (क) नीलाम्बुजक्रीड़ा।

मत्त्वा सत्त्वाधिकत्वाद् व्रजमपि च भजन्न (व्रणानां फणानां)[१]
भ्रान्त्या यस्या (न्वदभ्रभ्रमभर[२]) कृशतां स क्रियाद् वः क्रियाभिः ॥५॥
यो ब्रह्मधीकल्पलतालवालैश्छात्त्रैर्विचित्रैर्न उपासनीयः।
ख्यातो महादेवगिराश्रमाह्वो[3] धामायमाराध्यतमः पुनीतात् ॥६॥
बिभ्रद्रुग्णविषाणकन्दलमलं यो विघ्नदन्तावलैः
गाढायोधनतः स्वबुद्धिकरणा (यालं)[४] प्रभुर्भासते।
भक्तानां निदधीमहीममनिशं स्वान्ते नितान्तेप्सित-
श्रेयोविघ्नभिदं विनिघ्नमनसां सेव्यं सतां भक्तिभिः ॥७॥
नत्वा व्यासमखण्डबोधसुधया सन्तोषयन्तं बुधान्
धौरेयं शमशालिनाञ्च भगवत्पादं स्वनाथं तथा।

भावदीपिका

संविलोक्य अधिकयन्त्रणात्=पीडनात् भ्रान्त्या स्रस्तं=त्रुटितं मत्वा नागोत्तमाङ्गं=स्वस्य सहस्रसंख्यं शिरो जातावेकवचनम्, शिरांसि गणयति=परिकलयति कतमं त्रुटितमिति। स वो=युष्माकं अनु=वारं वारं अदभ्रो=अनल्पो यो भ्रमभरः तस्य कृशतां=कार्श्यं क्रियाभिः=आराधनाभिः प्रसन्नः क्रियात्=कुर्यादिति योजना।

सम्प्रति महादेवतुल्यगुणनामधेयाभ्यां बुद्धिस्थान् परमगुरून् सम्प्रदायपारम्पर्यख्यापनाय वर्णयति—य इति। यो महादेव इति गिरा ख्यातः आश्रमाह्वः=आश्रमनाम। आश्रमत्वं रूपयति—ब्रह्मधीकल्पलताया आलवालैः स्थानकैश्छात्रैः=शिष्यैः, अयं पुनीतात्=पवित्रयतु इति।

एवं विघ्नभङ्गाय देवतान्तरोपासनादिमङ्गलमाचरति साम्प्रतम्, विघ्नसेनापतिमेव स्वाधीनविघ्ननिवारणाय वर्णयति–बिभ्रदिति। यः=प्रभुर्भक्तानां विघ्नदन्तावलैः=विघ्नगजैः सह गाढमायोधनं=युद्धं तत एव रुग्णं=भग्नं यद् विषाणकन्दलं=दन्ताङ्कुरं स्वबुद्धिकरणाय=युद्धस्मृतये तत् बिभ्रद्=धारयन् अलं मुधैव भासते। नास्य स्वचरस्य विघ्नेभ्यः पराजयोऽस्ति। इममनिशं स्वान्ते=मनसि निदधीमहि=नितरां धारयामि।

ज्ञानवती

जो ब्रह्मज्ञान रूपी कल्पलता के आलवालभूत विचित्र छात्रों के द्वारा उपासनीय हैं, महादेव नाम से विख्यात धाम आश्रम वाले तथा आराध्यतम वे (हम लोगों को) पवित्र करें ॥६॥

रुग्ण अर्थात् टूटे हुए दांत के मूलरूप मल को धारण करते हुए जो विघ्नरूप हाथियों से प्रगाढ़ युद्ध के द्वारा अपनी बुद्धि (का प्रसार) करने के लिये समर्थ प्रतीत होते हैं ऐसे भक्तों के, अपने हृदय में नितान्तवाञ्छित मङ्गल के विघ्न को नष्ट करने वाले तथा मन को वश में रखने वाले सज्जनों के, भक्तिपूर्वक सेवनीय (गणेश) का हम निरन्तर ध्यान करते हैं ॥७॥

---

१ (क) प्रणनां हृणानां, (ग) व्रणानां फणानां, (घ) व्रणानां फणानां।
२ (क) न्वदग्रभ्रमहर, (ग) न्वदभ्रभ्रमभर। ३ (ख) गिराश्रमां (माह्वा) वा।
४ (क) कारणायेव, (ख) कारणायो व (घ) करणायालं।

आचार्यान्मुहुरद्वयाश्रमगिरः कर्मन्दिचूडामणीन्
भव्यां व्याकरवाणि वेदकुमुदप्रोत्साहदां[1] कौमुदीम् ॥८॥

भावदीपिका

नितान्तमीप्सितं यच्छ्रेयस्तस्य विघ्नभेत्तारं, विघ्नानि=विनियमितानि मनांसि यैस्तेषां सतां भक्तिभिरादरैः सेव्यम् ।

अस्य प्रकरणस्य चतुःसूत्रीशेषत्वात् सूत्रार्थादौ मतिविकासाय सूत्रभाष्यकारौ यत्प्रसादाच्चैतत् सकलं तान् साक्षाद् गुरूंश्च प्रणमन् प्रकरणम्प्रतिजानीते—नत्वेति । कर्मन्दिनः =परिव्राजकाः कर्मणां मन्दीकरणात्, तेषां चूडामणीन्=श्रेष्ठान् । व्याकरवाणि= आकारं प्रापयाणि । आनिप्रत्ययोऽनुमत्यर्थे । देवान् गुरूंश्चानुज्ञाप्य करोमीति यावत् ।

ज्ञानवती

मैं, अखण्डज्ञान के अमृत से विद्वानों को सन्तोष देने वाले एवं शान्तिशीलों में अग्रणी व्यास को तथा अपने स्वामी भगवत्पाद को एवं संन्यासियों के चूड़ामणि आचार्य अद्वयाश्रम नामवाले को वारंवार नमस्कार करके वेदरूपी कैरव को प्रोत्साहन देने वाली भव्य वेदान्त-कौमुदी को बनाता हूँ ॥८॥

---

१. (क) प्रोत्साभदां ।

प्रयोजन-निरूपणम्

[विषयाद्यभावादेर्ग्रन्थो नारम्भणीयः; पूर्वपक्ष उत्तरपक्षश्च—]

अथ कथमदःप्रारम्भः ? को भावः ?—किं विषयाद्यनुबन्धविधुरत्वादनारम्भः ? यद्वा सदोषत्वात् ? आहोस्वित् बहवोऽत्र (प्रायसन्[1]) ? इति ; अथवा कथाङ्गस्य प्रमाणादेरद्वैतपक्षे वास्तवत्वविकलत्वात् ? प्रमाणादेश्च कथाङ्गत्वं प्रथितमेव; तथाहि तात्पर्यशुद्धिः—"तत्त्वनिर्णयमभिसन्धाय विवदमानयोः प्रमाणतर्काभ्यां स्वसिद्धान्तानुरूपसाधनदूषणप्रयोगसन्दर्भो वादः।"[2] "तत्त्वनिर्णयावसाना वादकथा"

भावदीपिका

[विषयाद्यभावादेर्ग्रन्थो नारम्भणीयः; पूर्वपक्ष उत्तरपक्षश्च—]

"पूर्वपक्षविशुद्धा हि मतिः सिद्धान्तभाग् भवेत्" इति न्यायात् प्रतिज्ञातप्रारम्भसिद्ध्यर्थं वंपक्षयति—अथेति। अमुष्याः=कौमुद्याः प्रारम्भोऽदः प्रारम्भः। सर्वो हि प्रार म्भो यथोचितसामग्र्या,। इह च[3] तस्या अनिर्देशात् कथमारम्भप्रतिज्ञेत्यर्थः। किमारम्भकारणाभावादनारम्भः? किं वानारम्भकारणसद्भावात् ?—इति विकल्पयति—को भाव इति। भावः=अभिप्रायः। [प्रायसन्]=प्रयत्नं कृतवन्तः। एतदनारम्भकारणविकल्पोत्थानप्रसङ्गेन कथालक्षणं निरूपयितुमाह—प्रमाणादेश्चेति। प्रथितं=प्रसिद्धम्; कुत्र इति? तदाह—तथाहीति। तात्पर्यपरिशुद्धिः=न्यायवाचस्पतिनिबन्धः। तस्य न्यायशास्त्रीयसारार्थनिरूपकत्वात्[4] तदुदाहरणम्। तत्त्वनिर्णयमभिसन्धायेत्येतद्वर्जं सकलमपि वादलक्षणं जल्पेपि व्यापकं तत्र विशेषणान्तरेण तद्व्यावृत्तिसिद्धेर्नैतद्ग्राह्यमिति[5] केचित्;

ज्ञानवती

[विषय आदि के अभाव आदि के कारण ग्रन्थ का आरम्भ नहीं करना चाहिए; पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष]

इस (ग्रन्थ) का प्रारम्भ क्यों होता है ? इसका भाव क्या है ? क्या विषय आदि रूप अनुबन्ध से रहित होने के कारण आरम्भ नहीं हो सकता ? या (ग्रन्थ के) दोषयुक्त होने के कारण ? अथवा बहुतों ने इस विषय में प्रयास किया है ? अथवा कथा के अङ्ग प्रमाण आदि अद्वैतपक्ष में वास्तविक नहीं होते ? प्रमाण आदि कथा के अङ्ग हैं यह प्रसिद्ध ही है। इस प्रकार तात्पर्यशुद्धि के अनुसार "तत्त्व के निर्णय को लक्ष्य कर विवाद करने वाले दो आदमियों का प्रमाण एवं तर्क के द्वारा अपने सिद्धान्त के अनुरूप साधन एवं दूषण का प्रयोग करना वाद[6]" कहलाता है। (वाद का) 'तत्त्व निर्णयावसाना वादकथा' ऐसा निर्वचन करने पर

---

[1] (क) प्रायस्यन्, ख–प्रायस्न्न।

[2] ता० प० शु० (परिशुद्धिनिर्गलितऽर्थः) १।२।१ पृ० ६२१।

[3] (ख) तु।   [4] (क) ण।

[5] (ख) न तद्। [6] "तत्त्व बुभुत्सोः कथा वादः। त० भा० (प्रमे० नि० पृ० २४४)

इति निर्वचने नैकान्तेन जल्पव्यावृत्तिः फलति, तत्रापि पाक्षिकतत्त्वनिर्णयावसानत्वात्। अवसानपदेन नियमोपादाने च नियतफलमभिसन्धाय सुप्रसिद्धत्वात् प्रवृत्तेर्न पूर्वस्माद्विशेषः; दैवादन्तरा विच्छेदे च वृक्षस्येव फलानुत्पत्तौ स्वजात्यन्तर्भावसम्भवा'दभिसन्धाय' इत्येव सूक्तम्। स एव[1] सन्दर्भः स्वशक्तिपराशक्तिख्यापनमात्रमुद्दिश्य विजिगीषाविशेषितयोर्जल्पः। वादवितण्डाद्वयमेवैतत् न पृथक्; (तथा)[2] युगपदेकैकपक्षसाधनदूषणयोः प्रत्येकमसम्भवात्। तर्हि वादोऽपि न पृथक् स्यात्? अथ फलभेदाद् भेदः; तर्ह्यत्रापि। तथाहि अन्यतरस्य त्वया निर्वाह्यम्, मया खण्ड-

भावदीपिका

तत्राह—तत्त्वनिर्णयेति। द्वयोः समबलत्वे छलाद्यनवकाशात् प्रमाणतर्काभ्यां तत्त्वनिर्णयो भवति नासमानबलयोश्छलादिना व्यामोहसम्भवादिति पाक्षिकेत्युक्तम्। एवं जल्पविशेषेऽतिव्याप्तिः। अथ नियततत्त्वनिणयफलं वादकथेति निर्वचने नायं दोष अत्राह—अवसानेति। पूर्वस्मात्=तत्त्वनिर्णयमभिसन्धायेत्येतस्मात्। ततश्च पूर्वमेव लक्षणं युक्तमिति वदति—दैवादिति। जल्पं लक्षयति—स एवेति। मात्रपदेन वितण्डां व्यवच्छिनत्ति। विजेतुमिच्छा=विजिगीषा तद्विशेषितयोर्वादिप्रतिवादिनोः। वितण्डाया अपि स्वरूपं फलञ्चैतदेव[3]; ततो न जल्पो नाम कथाभेद इति मन्वानः शङ्कते—अथेति। यदा ह्येकः स्वपक्षं साधयति नेतरोऽपि तदैव स्वपक्षं साधयति किन्तु साध्यमानं दूषयति; वितण्डाया अप्येवंरूपत्वाद्युगपत् स्वपक्षसाधनपरपक्षदूषणयोरशक्यत्वादित्यर्थः। तत्र कमपि पक्षं गृह्णता वादस्य दुरपह्नवत्वात्; अन्यथाञ्जस्येन शिष्यप्रतिबोधनासम्भवात्। अतो रूपभेदेन कथाभेदश्चेत् वादोऽपि वितण्डैव स्यादित्याह—तर्हीति। अथ स्वरूपाभेदेऽपि फलभेदेन वादस्य वितण्डातो भेद इत्याह—अथेति। सामान्येन समाधत्ते—तर्हीति। फलभेदं

ज्ञानवती

सर्वथा जल्प[4] की व्यावृत्ति नहीं होती क्योंकि वहां भी अन्त में पाक्षिक तत्त्वनिर्णय होता है। अवसान पद से नियम का ग्रहण करने पर नियत फल को लक्ष्य कर प्रवृत्ति के सुप्रसिद्ध होने से पहले की अपेक्षा कोई विशेष नहीं है; भाग्यवश बीच में विच्छेद हो जाने पर वृक्ष के समान फल की उत्पत्ति न होने से अपनी जाति में अन्तर्भाव सम्भव होने से 'अभिसन्धाय' यही कहना ठीक है। जब दो विजय चाहने वाले व्यक्तियों का वही (साधनदूषणप्रयोग) सन्दर्भ अपनी शक्ति और दूसरे की अशक्ति को बतलाने को उद्दिष्ट करके होता है, तब वह जल्प कहलाता है। वाद और वितण्डा[5] दोनों पृथक् नहीं है। क्योंकि इस प्रकार एक साथ एक-एक पक्ष का साधन-दूषण प्रत्येक के लिए असम्भव है। और ऐसा होने पर वाद भी पृथक् नहीं होगा। यदि यह कहा जाय कि फल भिन्न होने से भेद है? तब तो यहां भी (ऐसा ही है)। इस प्रकार 'दो में से किसी एक का तुम मण्डन करो मैं खण्डन करूँ' ऐसा

---

१ (ग) सैव
२ (क) कथा, ख–तथा।
३ (ख) च यत् देवत।
४ विजिगीषोः कथा जल्पः।
५ स्वपक्षस्थापनाहीनः वितण्डा। त० भा० (प्रमे० नि०) पृ० २४४।

नीयमित्येवं समयबन्धात् परिशेषन्यायेन स्वपक्षसिद्धिमभिप्रेत्य प्रवर्त्तमानः स एव सन्दर्भो वितण्डाह्वयः। यद्यपि परपक्षदूषणेनापि प्रयोजनेन वितण्डायाः सप्रयोजनत्वं सिद्ध्यति "यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम्"[१] इति गौतमवचनात्, यदि तु परपक्षदूषणमपि नाधिकुर्यात् तदा वैतण्डिक एव न स्यात्; तथाप्येतदेव स्वयं किञ्चिदप्यनधिगच्छतो न स्यात्; पक्षविशेषपरिग्रहाभावे तदन्तर्गतखण्डनानामप्यनवताराच्च[२]। प्रतिपक्षपरिग्रहाभावे कथासामान्यस्याप्यप्रवृत्तेः परिशेषात् स्वपक्षसिद्धिमभिसन्दधानस्यैव प्रवृत्तिर्युक्तेति।

तत्र न तावत् प्रथमः; (तत्प्रयोगकल्पे)[३] "प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा

भावदीपिका

लक्षणकथनेन सम्पादयति—तथा हीति। वादजल्पयोस्त्वया निर्वाह्यमित्यादिनियम उभयोर्भवति ततो व्यावर्त्तयति—अन्यतरस्येति। परिशेषन्यायेनेति वादव्यवच्छेदार्थम्। यद्यपि स्वपक्षसिद्धिर्वादवितण्डयोस्तुल्यं फलं, तथापि साक्षात्पारम्पर्याभ्यां मुक्ताविव साधनभेदतुल्यः कथाभेदः सम्भवति; अतः पारम्पयार्थं यतते[४]—यद्यपीति। परपक्षदूषणस्य प्रयोजनत्वं सम्पादयति—यदित्विति। वैतण्डिको हि मया खण्डनीयमित्येवं समयं बध्नाति; तेन तदनुद्देशे वैतण्डिक एव न स्यात्। अस्तु तर्हि तदुद्देशः ततः किं?—तत्राह—तथापीति। कुतूहलादिना परपक्षदूषणं किञ्चिदनङ्गीकुर्वतोऽपि स्यादित्याशङ्कां हेतुद्वयेन निराकुर्वन्नुपसंहरति—पक्षेति। द्वौ हि वैतण्डिकौ माध्यमिको वेदान्ती च; यथाप्रतिज्ञमन्येऽपि। तत्र जीवब्रह्मणोर्भेदः किमनुमानादागमाद्वा? नाद्यः, एकत्वागमविरोधात्। नान्त्यः, [५]उपक्रमविरोधादित्यादिवैतण्डिकपक्षान्तर्गतखण्डनोपन्यासे तदनवलम्बने[६] च चतुरङ्गकथायां नाधिकारः। वादिप्रतिवादिसभापतिप्राश्निकाश्चत्वार्यङ्गानि। वादिप्रतिवादिनोः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः कथेति सामान्यलक्षणम्। तदपि पक्षविशेषपरिग्रहाभावे न सिद्ध्येद् दूरत एव कथाविशेषात्मकवितण्डालक्षणम्। स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डेति लक्षणेऽपि न प्रतिपक्षाभाव उक्तः। स्थापनाहीन इति स्थापनापदवैयर्थ्यात् प्रतिपक्षहीन इत्येवालम्। ततः कुतूहलादिना न परपक्षदूषणसिद्धिरित्यर्थः।

एवं विकल्पं सम्भाव्य दूषणमुपक्रमते—तत्रेति। (तस्य)=ब्रह्मात्मैक्यबोधकवेदस्य

ज्ञानवती

नियम करके परिशेषन्याय के द्वारा अपने पक्ष की सिद्धि को लक्ष्य में रखकर प्रवर्तमान वही सन्दर्भ वितण्डा कहलाता है। यद्यपि परपक्षदूषण रूप प्रयोजन से भी वितण्डा का सप्रयोजनत्व सिद्ध हो जाता है क्योंकि गौतम का वचन है कि "(मनुष्य) जिस अर्थ को लक्ष्य मे रखकर प्रवृत्त होता है वही प्रयोजन" है, यदि परपक्ष के दूषण को नहीं अपनायेगा तो वैतण्डिक ही नहीं होगा। तथापि यही स्वयं कुछ न जानने वाले को नहीं होगा, और साथ ही साथ पक्ष—विशेष को न अपनाने पर उसके अन्तर्गत (आने वाले) खण्डनों का भी अवतार नहीं होगा क्योंकि प्रतिपक्ष के परिग्रह के अभाव में कथासामान्य की भी प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिये परिशेषात् अपने पक्ष की सिद्धि को लक्ष्य में रखने वाले की ही प्रवृत्ति ठीक है।

१ न्या० सू० १।१।३१ २ (ख) प्यवताराच्च। ३ (क) प्रथमः कल्पः, (ख) प्रथमः तत्प्रयोगकल्पे। ४ (क) तन्यते। ५ (ख) क्रमादि। ६ (ख) तदवलं।

तत्समाधिः षडङ्गान्युच्यन्ते",[1] "यस्तर्केणानुसन्धत्ते"[2] इति श्रुतिस्मृतिभ्यां तर्कोपकरणस्य वेदस्य; "यस्मिन् द्यौः पृथिवी च[3] इत्यादि द्वैतप्रपञ्चः प्रतिष्ठितः", "तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ"[4], "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः"[5], "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत नानुध्यायाद्बहून् शब्दान्"[6] इति च निष्प्रपञ्चस्यात्मनो विज्ञेयत्वात्। "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्"[7] इत्यनन्यसाधारणत्वात् "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः"[8] इति प्रतिपादनसामर्थ्यलक्षणसम्बन्धावसायात्।

भावदीपिका

प्रयोगकल्पे = साक्षात्कारफले सहका[रि]प्रतिपा[द्यः]; "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इत्यस्य केवलतर्कविषयत्वात्। आपनेया = प्रापणीयेति व्याख्याने "प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठेति।" हे प्रेष्ठ नचिकेतः! अन्येन = वेदानुसारिणा प्रोक्तैव सुज्ञानाय = सम्यक्विषयप्राकट्याय भवतीत्यत्रैव काठके श्रवणात्। आपनेयेति पक्षे न विरोधाशङ्कापि। मीमांसाख्यतर्कोपकरणस्य वेदस्यानुबन्धलाभान्न प्रथमः पक्ष इत्यन्वयः। अनुबन्धेच्छापि प्रयोजनं प्रधानभूतमारम्भनिमित्तम्, तदुद्देशेन सर्वव्यापाराणां प्रवृत्तेः। उक्तञ्च—"सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत् प्रयोजनं नोक्तं तावत् तत् केन गृह्यते॥" इति द्रष्टव्यम्। "द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्" इत्यत्रात्मशब्दप्रयोगात् प्रधानव्युदासेन द्युभ्वाद्यधिष्ठानं ब्रह्म निर्णीतम्। "जानथ" = जानीतेत्याद्युपदेशादज्ञानत्वमात्मनोऽवगम्यते[9]। "आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन", "न तं विदाथ य इमा जजान" इत्यादेश्च; "अधीहि भगवो ब्रह्म। कथं नु भगव स आदेश" इत्यादिप्रश्नानुपपत्त्या च "तद्विजिज्ञासस्व", "सोऽन्वेष्टव्यो", "यथा ह वै पदेनानुविन्देत" इति सोपायान्वेषणोपदेशाच्च। नचाज्ञातस्यैव प्रमाणविषयत्वादज्ञातताया: प्रमाणविषयत्वे अज्ञातप्रमाणस्याज्ञातार्थबोधकत्वादज्ञानस्य प्रमाणगम्यत्वे तत्राज्ञानान्तरं वाच्यम्; तदपि प्रमाणगम्यमेवेति। तत्राप्यन्यद्वाच्यमित्यनवस्थायां पूर्वपूर्वांशेन उत्तरोत्तरासिद्धेः न कुत्राप्यज्ञातत्वनिश्चय इत्यर्थः। [तेन]ज्ञातताऽनवस्थेति[10] वचनीयं; श्रुते"र्न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमि"तिवत् लोकसिद्धानुवादकत्वात्। अतएवाक्रोशति "इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति", "सति सम्पद्य न विदुः

ज्ञानवती

इनमें से पहला (कल्प) नहीं है क्योंकि उस प्रयोग के मानने पर "प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा, (और) उसकी समाधि (ये) छः अङ्ग कहे जाते हैं" "जो तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता हैं" इस श्रुति-स्मृति के द्वारा तर्क के उपकरण वेद का और "जिसमें द्यौस् और पृथिवी इत्यादि "द्वैतप्रपञ्च प्रतिष्ठित है, "उसी एक आत्मा को जानो अन्य वाणियों को छोड़ दो," "जिसमें पाँच पञ्चजन एवं आकाश प्रतिष्ठित है उसी को जानकर धीर व्यक्ति को प्रज्ञा करनी

---

१ अमृतनादोप० ६ | २ मनु० स्मृ० १२।१०६ | ३ मुं० २।२।५
४ मुं० २।२।५ | ५ बृ० उ० ४।४।१७ | ६ बृ० उ० ४।४।२१
७ तै० ब्रा० ३।१२।९ | ८ तै० आ० १०।१२। मुं० ३।२।६
९ (ख) अज्ञातत्व। | १० (ख) विषयत्वे ज्ञातताऽनवस्था।

"त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि"[१], "रसो वै सः[२], रसं ह्येवायं लब्ध्वा" (=उपलभ्य) "आनन्दी भवति"[३] इति च अविद्यापारगमनानन्दावाप्त्योः प्रयोजनत्वात्। "ब्राह्मणो निर्वेदमायात्"[४] इत्यादिनाऽधिकारिनिरूपणात् अनुबन्धलाभात्। विद्यार्थिनो हि आचार्योपगमनं वेदप्रसिद्धम्।

भावदीपिका

सति सम्पद्यामहे" इति च। ब्रह्मैव लोक्यते इति लोकः, प्रत्यहं सर्वप्रजानां सत्यलोकप्राप्त्यसम्भवात् प्रापकज्ञानासम्भवाच्च; स्थपतिर्निषाद एव न, निषादानां स्वामी, निषाद-स्थपतिमित्युभयान्वयसम्भवात्, द्वितीयाया इति शब्दसामर्थ्यादिति न्यायेन षष्ठीसमासात् कर्मधारयस्य बलीयस्त्वाच्च। यद्यपि प्रश्नानुपपत्त्या "ब्रह्म ते ब्रवाणी" त्यादौ अन्यथोपदेशानुपपत्त्या च परस्मिन्नज्ञानं प्रमीयते तथापि स्वस्मिन् पराज्ञानविषयाज्ञानस्य परज्ञानविषयस्वप्रकाशविज्ञानवत् प्रमाणनैरपेक्ष्येणानवस्थानुदयाच्च। स्वपराज्ञाततानिर्वाहकत्वाद्वा नानवस्था सत्ताविवत्। "ब्रह्म त्वं पूर्वं न जानासि सम्प्रति जानीहि" इत्युक्ते साक्षिसिद्धस्य सामान्येनाज्ञानस्य ब्रह्मविषयताप्रतीतिर्ब्रह्मप्रमितिपर्यन्तं व्याहता[५]। तदेवमज्ञातो द्यावापृथिव्यादिप्रपञ्चवत् तया विपर्यस्तश्चात्मा विषयः। तमेव विज्ञाय धीरः सम्यक् ज्ञानवान् भवति। अतः प्रज्ञां=प्रज्ञासाधनं श्रवणादि कुर्वीत "नानुध्यायाद्बहून् शब्दान्" "अन्या वाचो विमुञ्चते"ति च वाक्यशेषात् आत्मपरा वाचोऽनुशीलनीया] इति प्रज्ञाकरणार्थो गम्यते। अनुमानेनाऽपि तद्विषयीकरणात् व्यर्थो वेदान्तारम्भ इत्यपि न वाच्यमित्याह—नावेदविदिति। वेदविलक्षणमनुमानमवेदः। अनुमानवेदिनाऽन्यथेश्वरनिरूपणान्न वेदान्तानुमानयोः साधारणो विषयः। सामर्थ्येति "शक्तिरेव हि सम्बन्ध" इति भट्टवार्तिकादित्यर्थः। यदुक्तं "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठे"ति ब्रह्म "रसो वै सः"=सारभूत आनन्दः। अधिकारिणोऽप्युपसदनाभावे उपदेशानर्हत्वान्न तदर्थः श्रमो युक्तः। "विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, तवाहमस्मि त्वं मां पालयस्व। अनर्हतेऽमानिने मैव मा दा गोपाय मा श्रेयसी तेऽहमस्मि।" इति विद्यावचनात्। तेनोक्तं—

ज्ञानवती

चाहिये, वहुत शब्दों का ध्यान नहीं करना चाहिये" इत्यादि के द्वारा निष्प्रपञ्च आत्मा का ज्ञान (विषय) हैं। "वेद को न जानने वाला उस महान् को नहीं जानता" इससे अनन्यसाधारण होने से "वेदान्त के विज्ञान से सुनिश्चित अर्थ वाले (होते हैं)" इससे प्रतिपादनसामर्थ्य लक्षणसम्बन्ध का निश्चय होता है। "तुम्हीं हमारे पिता हो जो हमलोगों को अज्ञान के अत्यन्त पार ले जाते हो," "वह रस ही है; रस को ही प्राप्त करके यह आनन्दमय होता है" इनके द्वारा अविद्यापारगमन एवं आनन्द की प्राप्ति प्रयोजन है। "ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त करे" इत्यादि के द्वारा अधिकारी का निरूपण होने से अनुबन्ध की प्राप्ति होती है। विद्यार्थी का आचार्य के पास जाना वेदप्रसिद्ध है।

---

[१] प्रश्नो प० ६।८। [२] १ तै० उ० २।७।
[३] २ वही। [४] ३ मु० १।१२।
[५] (ख) न व्याहता।

ननु "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत, तमध्यापयीत"[१] इत्यध्यापनविधिप्रयुक्ताध्ययनाधिकारिणो नाचार्योपगमोऽवगम्यते; मैवम्; अध्यापनविधावपि न तस्याध्ययनप्रयोजकत्वम्, तत्र ह्याचार्यत्वकरणकामो नियोज्य उच्यते। यद्यपि "सम्माननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः"[२] इत्यात्मनेपदश्रुतिबलादुपनयनमात्रसाध्यमाचार्यत्वं प्रतीयते, तथाप्युपनयनस्य कर्तृसंस्कारत्वेनाध्यापनशेषत्वमध्ययनद्वारा। तथा चाङ्गस्य स्वातन्त्र्येण फलानपेक्षणादङ्गिनि फलोपसंहारादेवं सम्पद्यते। तत्र कामाधिकारे करणांशे रागस्य प्रवर्त्तकत्वे सेतिकर्त्तव्यस्य करणत्वा-

भावदीपिका

विद्यार्थिन इति। "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्", "अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः", "भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार", "ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः" इत्यादिवेदादुपसदनं गम्यते। अधीहि इत्ययञ्चोपसदनमन्त्रो द्रष्टव्यः।

विद्यार्थिन इति सामान्यनिर्देशात् व्यभिचारमिवाशङ्कते—नन्विति। "षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका। याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः॥" इति स्मृत्याऽध्यापनस्य जीवनार्थत्वेन प्राप्तत्वान्न विधिः। न च वाच्यं स्मृतेः श्रुतिमूलत्वान्न विधिश्रुतेस्तदर्थानुवादकत्वेनाविधायकत्वमिति; "आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः" इति श्रुत्यापि प्राप्तत्वात्। किञ्चाध्यापने तत्साध्याचार्यत्वयोर्गुरुदक्षिणात्वेन विहितद्रव्यार्जनदृष्टप्रयोजनत्वात्ततः काव्याद्यध्यापनविध्यवकाशः। अन्यथा "ग्रामकामं याजयेत" इत्यत्र याजनेऽपि विधिः प्रसज्येत। तथापि परप्रक्रियाभेदनिरासाय विधिमङ्गीकरोति—मैवमिति। पाणिनीयस्मरणादुपनयनविधावाचार्यत्वकामस्य नियो-

ज्ञानवती

प्रश्न है कि "अष्टवर्ष ब्राह्मण का उपनयन करना चाहिये और उसे पढ़ाना चाहिये" इस अध्यापनविधि से प्रयुक्त अध्ययन के अधिकारी का आचार्य के पास जाना ज्ञात नहीं होता? उत्तर है कि ऐसा मत कहिये। अध्यापनविधि में भी वह अध्ययन का प्रयोजक नहीं है। वहाँ पर नियोज्य वह कहलाता है जो आचार्यत्व करने की इच्छा वाला हो। यद्यपि "संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः" इस आत्मनेपदश्रुति के बल से यह प्रतीत होता है कि आचार्यत्व उपनयनमात्र से साध्य है, तथापि चूँकि उपनयन कर्त्ता का संस्कारक है इसलिये अध्ययन के द्वारा यह अध्यापन का शेष (विशेष) है। और इस प्रकार चूँकि अङ्ग स्वतन्त्ररूप से फल की अपेक्षा नहीं रखता इसलिये अङ्गी में फलोपसंहार होने से ऐसा हो जाता है। कामाधिकार में करण-अंश में राग के प्रवर्त्तक होने पर चूकि करण इतिकर्तव्यता से युक्त होता है इसलिये इतिकर्त्तव्यतारूप अध्ययन में भी ज्ञान ही प्रवर्त्तक हो जायगा। अथवा इतिकर्तव्यता के समान करण के भी अपूर्व होने से वहाँ भी राग प्रवर्त्तक नहीं होगा। अध्ययन उच्चारणमात्र है। दूसरे के द्वारा किये गये उच्चा-

---

१ आप० ध० सू० १।१।१९-७३१। २ १ पा० सू० १।३।३६।

दितिकर्त्तव्यतारूपाध्ययनेऽपि रागस्यैव प्रवर्त्तकत्वं स्यात्।[६] इतिकर्त्तव्यतावत्करणस्याप्यपूर्वत्वात् तत्रापि वा न रागस्य प्रवर्त्तकत्वं स्यात्। उच्चारणमात्रञ्चाध्ययनम्। परकर्त्तृकोच्चारणमध्यापनम्। तत्र माणवकस्य प्रेक्षावतः स्वतन्त्रनियोगमन्तरेण प्रवृत्त्यसम्भवात् स्वतन्त्रनियोगे चाध्ययनविधिप्रयुक्तिरेव स्यात्। अन्यथाऽऽचार्यापगमे आचार्यान्तरसम्पादनमधिकारिणोऽप्रतिनिधेर्न स्यात्। अतएवाध्यापनस्य याजनवद् वृत्त्यर्थत्वेन प्राप्तस्यापि तदेकोपायस्य नित्यत्वेनाकरणे शूद्रसधर्मत्वस्मृतेः नित्याध्ययनप्रयोजकत्वमित्यपास्तम्। "उपनीय तु यः शिष्यमि"[१]ति सोपनयनाध्यापनस्याचार्यफलत्वावगमेऽपि आचार्यत्वस्य पूजाद्यर्थत्वात्[२] वृत्त्यर्थत्वान्न

भावदीपिका

ज्यताधीनर्ध्यापनविधौ; विधिवाक्ये चानुपादानान्नोक्तनियोज्यसिद्धिरित्याशङ्क्याह—यद्यपीति। दूषयति—तत्रेति। यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सार्थलक्षणाविभक्तत्वात् यस्मिन्निवृत्ते पुंसः प्रीतिः फलं भवति तस्य करणस्य लिप्सा फलप्रयुक्ता, न विधितः; कुतः? फलसाधनस्य प्रीत्या फलेनाविभागात्। "साध्यसाधनयोरैक्यविवक्षया साध्येच्छया साधने प्रवृत्तिः" इति जैमिनीयसूत्रानुसारेणोक्तम्—करणांशे रागस्येति। फलार्थिनः सामान्येन करणांशे इच्छा [पूर्वा] प्रवृत्तिः, करणविशेषे विधितः[३], इतिकर्त्तव्यतायां तु सामान्यतो विशेषतश्चेति; विधितः प्रागप्रवृत्तेः करणविशेषज्ञाने तदपेक्षणादिति तदीयं रहस्यं प्रत्याचष्टे—इतीति[४]। न च सामान्यांशे इच्छा [पूर्व][५] प्रवृत्ते [रवैधत्वमिति] समाधानसङ्गतमिति शङ्कनीयम्; करणांशे रागस्यैव प्रवर्त्तकत्वमित्यङ्गीकृत्य प्रवर्त्तकत्वशब्देनेच्छा [पूर्व] प्रवृत्त्यभिधानेऽसामञ्जस्यापत्तेः। अयुक्तोऽयं शङ्काग्रन्थ इति समा-[ध्यभिहितः वि]धिः; करणसामान्यस्य प्रयत्नागोचरत्वात् तद्विशेषप्रयत्नस्य च विधिलभ्यत्वान्न रागस्य प्रवर्त्तकत्वमित्यर्थः। अस्तु तर्हि नियोगवशादेवोभयत्र प्रवृत्तिः; एवं तर्हि नाध्ययनस्याध्यापनविधिप्रयुक्तिः सेत्स्यतीत्याह—उच्चारणमात्रमिति। अथाचार्यनियोग एव माणवकमध्ययने प्रवर्त्तयतीत्याग्रहः, तर्ह्याचार्यस्यान्तरामरणे शेषाध्ययनाय माणवकस्याचार्यान्तरार्जनन्न स्यात्, नियोज्याभावे नियोगस्यासम्भवात्। न च प्रतिनिधित्वेनाचार्यान्तरसम्पादनं तत एव

ज्ञानवती

रण के फलस्वरूप जो उच्चारण होता है वह अध्यापन है। इस विषय में बुद्धिमान विद्यार्थी की स्वतन्त्र नियोग (विधिवाक्य) के बिना प्रवृत्ति के असम्भव होने से स्वतन्त्र-नियोग में अध्ययन विधि की प्रयुक्ति हो जायगी। अन्यथा एक आचार्य के चले जाने पर, जिसका प्रतिनिधि नहीं है ऐसे अधिकारी के लिये आचार्यान्तर का सम्पादन नहीं हो पायेगा। इसीलिये याजन के समान (जीवन) वृत्ति के लिये प्राप्त अध्यापन, चूंकि एक उपाय होने के कारण नित्य है; इसलिये उसके न करने में अध्यापक शूद्रधर्मा हो जाता है ऐसी स्मृति होने से नित्य अध्ययन उसका प्रयोजन है ऐसा कहने वाले परास्त हो गये। "जो

[१] मनु० २।१४०। [२] (ख) आचार्यस्य। [३] (क) विहित। [४] (ख) इतीति। करण सामान्यस्य। [५] (क) रूपा रूप। [६] (क) रूप।

व्यतिरेकः, तेन प्रयोजककर्तृव्यापारं प्राप्तत्वेनोल्लङ्घ्य प्रधानकर्तृव्यापार एवाप्राप्तः "अष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत्। सोऽधीयीत"[1] इति विधीयते। ऋग्वेदे उपगम-श्रवणाच्च।

क्वचित्तु कांस्यभोजिन्यायेन शिष्योपगम आचार्यस्यापवादः, यथा ऋभोर्निदाघं प्रति। उपगमश्चोत्तरोत्तरस्वरूपोपाधित्वेन वर्त्तमानविवेकादिनिष्पन्नमुमुक्षावतो मोक्षोपायब्रह्मात्मैकत्वसाक्षात्कारफलकवेदान्तविचाराय तत्तद्दृष्टान्तैर्वेदार्थविस्फुटी-

भावदीपिका

नचाधिकारी प्रतिनिधीयते तस्यैवान्तरामरणे[2] तैलादिना संस्कृत्य स्थापनस्मरणादित्याह—अन्यथेति। यत एवाचार्यस्यान्तरा मरणे नोक्तनीत्या अध्ययननिर्वाहोऽतएवैतदसङ्गत-मित्याह—अत इति। "अश्रोत्रिया अननुवाक्या अनग्नयः शूद्रसधर्माणो भवन्ति" इति स्मृतेरकरणे दोषान्नित्यमध्ययनं कथमनित्याध्यापनप्रयुक्तमित्याशङ्कायामिदं समाधानं भवतः अतएवासङ्गतमित्यर्थः। जीवनार्थाध्यापनादाचार्यत्वार्थमन्यदित्यप्ययुक्तमित्याह-उपनीयेति। "उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः। सकल्पं सरहस्यञ्च तमाचार्यं प्रचक्षते॥" इति स्मृतिः। अत्रेदानीं विध्यभावमाविष्कुर्वन् विपरिणामलब्धमुपसदनमाह—तेनेति।

भूयोदर्शनात्मकोत्सर्गस्य विवक्षितत्वाच्च न व्यभिचाराशङ्कापीत्याह-क्वचिदिति। आचार्यस्य पात्रानियमात् शिष्यस्य कांस्यपात्रे तस्मिश्चाचार्योच्छिष्टे भोजननियमादाचार्यस्य तदनुग्रहाय तत्र भोजनं कांस्यभोजिन्याय। ऋभुः=ब्रह्मपुत्र; तस्य भ्रातृपुत्रो निदाघः। प्रसिद्धा चेयं कथा विष्णुपुराणे--ऋभुः पूर्वं सुश्रूषया तुष्टः स्वयमागत्य निदाघं कर्मजडं ब्रह्मविद्यां ग्राहयामासेति सफलमुपसदनमुपसंहरति—उपगमश्चेति। उपगमनम्=उपगमः आचार्यं प्रत्युक्तरीत्या सिद्ध इति शेषः। अथवा फलमेवाह, धर्मादिपुमर्थान् विहाय सिद्धवन्मुमुक्षा न सम्भवतीत्यत उक्तं—विवेकादिनिष्पन्नेति। नित्यानित्यविवेकादभ्यस्तादनित्य-

ज्ञानवती

शिष्य का उपनयन करके" इस स्मृति के द्वारा प्राप्त उपनयन के सहित अध्यापन आचार्य का फल है ऐसा ज्ञात होने पर भी आचार्यत्व पूजा आदि के लिये है, इसलिये वृत्त्यर्थक न होने से व्यतिरेक नहीं है। इसलिये प्राप्त होने पर भी प्रयोजक कर्त्ता के व्यापार (अध्यापन) का उल्लंघन कर प्रधानकर्त्ता का व्यापार ही प्राप्त होता है "आठ वर्ष का ब्राह्मण समीप जाय और अध्ययन करे" ऐसा विधान है। और ऋग्वेद में उपगम सुना भी जाता है।

कहीं-कहीं कांस्यभोजिन्याय के द्वारा शिष्य का उपगम आचार्य का अपवाद होता होता है, जैसे ऋभु का निदाघ के प्रति। यह उपगम उत्तरोत्तर स्वरूप की प्राप्ति के रूप में अनेक दृष्टान्तों के द्वारा वेदार्थ को स्पष्ट करने में कुशल आचार्य के पास उस मुमुक्षु का होता है जो वर्त्तमान विवेक आदि से युक्त होता है। यह उपगम वेदान्त के विचार के

---

[1] आप० ध० सू० १।१।१९,३१। [2] (क) अन्तरायमर।

करणकुशलमाचार्य[१] प्रति करणेतिकर्त्तव्यताभावेनेति[२] वेदविचारयोर्नानुबन्धभेदः।

(यद्यपि[३] व्रीह्यादिवत्) प्रयाजादिवच्च स्वरूपे फले वोपकरणत्वं न विचारस्य, वेदस्या[ध्ययन]साध्यत्वात्, अनपेक्षप्रामाण्यव्याघाताच्च; तथापि विप्रतिपत्तिमूलासम्भावनादिदोषस्य प्रामाण्यापवादकस्य विप्रतिपत्तिनिरासेन निरासादनपवादप्रामाण्योपयोगादितिकर्त्तव्यतात्वं कर्मफलनिर्वाहककालादेरिव न विरुध्यते। तदेतदाहुः—

भावदीपिका

पुमर्थत्रये वैराग्यं=रागविरोधिचेतोवृत्तिविशेषो जायमानस्य वा रागस्याङ्कुरावस्थायामकृतकार्यावस्थायामेव प्रध्वंसः। तदाह भगवान्—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्नवशमागच्छेत् तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ॥" इति। एवमुन्मार्गप्रवृत्तिहेतुरागोपमर्दादिन्द्रियाणां नियमविशेषः शमः; ततः पुष्कलमुमुक्षेति। "परीक्ष्य लोकान्" इत्यादिश्रुतिसिद्धपरिपाटीमाह—उत्तरोत्तरेति। स्वरूपोपाधित्वं=कारणत्वम्। एते च फलपर्यन्तं प्रवृत्त्युपयोगिनोऽधिकारिविशेषणं न प्रवृत्तिमात्रोपयोगिनो येन प्रवृत्तमात्रस्य फलादर्शनाद् वैफल्यमाशङ्क्येत। ते ते दृष्टान्ताः स्फटिकदर्पण-रज्जुसर्प-कुम्भाकाशादयः। ननु तर्कोपकरणस्य वेदस्यानुबन्धलाभेऽपि तर्कस्य किमायातम्?—तदाह—करणेति।

प्रसिद्धेतिकर्त्तव्यतावैलक्षण्यान्न विचारस्येतिकर्त्तव्यताभाव इत्याशङ्क्याह—यद्यपीति। वैलक्षण्यमात्रेपि सर्वथा न वैलक्षण्यमित्यर्थः। ननु विचारो विहितोऽविहितो वा? आद्ये [औत्प]त्तिकश्रुतिनैष्कर्म्यसिद्धिवचनविरोधमाह—श्रवणादीति —"श्रवणादिक्रिया तावत् कर्त्तव्येह प्रयत्नतः। यावद् यथोक्तविज्ञानमाविर्भवति भास्वरम्॥"=अपरोक्षमित्यर्थः। "अरुन्मुखान् यतीन् शालावृकेभ्यः प्रायच्छत्" "तत्त्वम्पदार्थविवेकाय सन्न्यासः सर्वकर्मणाम्। श्रुत्या विधीयते यस्मात्तत्त्यागी पतितो भवेत्॥" इत्याद्यपलापः। नान्त्यः "श्रोतव्यः" इति हि

ज्ञानवती

लिये होता है जिसका फल है मोक्ष का उपाय अर्थात् ब्रह्म एवं आतमा के ऐक्य का साक्षात्कार। इस प्रकार वेद करण है, (वेदान्त का) विचार इतिकर्त्तव्यता और इस रूप में दोनों में अनुबन्धभेद नहीं है।

यद्यपि व्रीहि आदि और प्रयाज आदि के समान (वेदान्त) विचार का स्वरूप या फल में उपकरणत्व नहीं है क्योंकि वेद अध्ययनप्राप्य है, साथ ही साथ वह प्रामाण्य के व्याघात की भी अपेक्षा नहीं रखता; तथापि सन्देह से उत्पन्न असंभावना आदि दोष, जो कि प्रामाण्य के बाधक है, के निरास के द्वारा अनपवाद प्रामाण्य के लिये उनका उपयोग होता है। इसलिये कर्मफल के निर्वाहक काल के समान उनके इतिकर्त्तव्यतात्व में कोई विरोध नहीं है। कहा है—

---

[१] (ख) कुशलं करणे। [२] (ख) भावेन वेद, (क) भावेन (इति) वेद।
[३] (क) यद्यपि च व्रीह्यादिवत्।

"धर्मे प्रमीयमाणे हि वेदेन करणात्मना।
इतिकर्त्तव्यताभागं मीमांसा पूरयिष्यति॥" इति।[1]

न चोपक्रमोपसंहाराभ्यामन्यपरे वाक्ये विचारविधौ "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः"[2] इत्यादयोऽपि विधयः स्युः; तत्र हि पौर्णमासीशब्दवदुपांशुयाजशब्दस्य याग-समुदायवचनत्वशङ्कायां तस्य विधेयवचनत्ववैयर्थ्यात्, वाक्यस्यातत्परत्वात्, तत्परत्वे 'यजति' इति विधेर्धौवाज्यद्रव्यलाभात्। विष्ण्वादीनां देवतागुणं तन्नामकं

भावदीपिका

विधिरभिप्रेयते, स चात्मप्रकरणे न सङ्गच्छते; वाक्यभेदप्रसङ्गात्। अथ यथा "तरति शोकमात्मवित्" इत्यात्मनोपक्रमात् "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति सत्यः परमार्थः स चात्मैव" इति पुनस्तदाकर्षणात् तत्प्रकरणे स्थिते "नाम ब्रह्मेत्युपास्स्व" इत्यन्तरा विधानं तथेदमपि; तन्न, तत्र हि प्रासादारोहणे सोपानपरम्परान्यायेनोपदिष्टं नामादिषु प्रणयने गोदोहनवदाश्रित्य विधानं यस्मात्, न चेह तथास्ति; अतिप्रसङ्गाच्च। तेन दुर्घटो विधिरित्याशङ्क्याह—न चेति। तत्रहीत्यादेरयमर्थः—"जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशुयाजमन्तरा यजति" "विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय प्रजापति-रुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यौ अजामित्वाय" इति श्रूयते। तत्रो"-पांशुयाजमन्तरा यजति" इति किं विष्ण्वादिवाक्यविहितयागसमुदायानुवादः उतापूर्वकर्मविधिः? इति सन्देहे पूर्वपक्षः—पौर्णमासीवदुपांशुयाजः स्यात् यथा "य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते" इति च यागसमुदायानुवादस्तथाऽयमपि। अत्र हि 'यष्टव्यः' इति विधानं, विष्ण्वादयो देवता, ध्रौव्यमाज्यद्रव्यमिति रूपलाभादुपांशुयाजे च द्रव्यदेवतयो-रभावात, 'यजती'ति वर्त्तमानापदेशत्वेन विध्यभावाच्च। तदुक्तम्—"यागान् विष्ण्वादि-संयुक्तैर्विहितान् रूपवत्तया। अरूपमन्तरावाक्यमगत्यैवावलम्ब्यते॥" इति। ततोऽनुवाद एवेति। सिद्धान्त—"चोदनास्तु वाऽप्रकृतत्वात्" उपांशुयाजपदात् पूर्वं विष्ण्वा[3]देरप्रकृत-त्वान्न तेन तदनुवादः किन्तु चोदनाऽविधिरेव। तथाहि—निरन्तराग्नेयोऽग्नीषोमीयपुरो-[4]

ज्ञानवती

"करण रूप वेद के द्वारा धर्म की प्रामाणिकता को सिद्ध करने में इतिकर्त्तव्यता भाग की पूर्ति मीमांसा करती है।"

(पू०) उपक्रम एवं उपसंहार के द्वारा विचारविधिवाक्यों के अन्यपरक होने पर "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" ये सब भी विधियां हो जायगी?

(उ०) ऐसा नहीं है। क्योंकि वहां पर पौर्णमासी शब्द के समान उपांशुयाज शब्द के समुदायवाची होने की शङ्का होने पर उसका विधेयत्ववचन व्यर्थ हो जायगा, क्योंकि वाक्य तत्परक नहीं है। तत्परक होने पर 'यजति' इस विधि से ध्रौवाज्यद्रव्य का लाभ

---

[1] वृहद् वा० (पुस्तकं नष्टम्)
[2] तै० सं०
[3] ख—विष्ण्वादेः।
[4] ख—राग्नीषोमीय।

समर्पयतां युक्तमर्थवादत्वम्। अत्र तु "श्रोतव्य[१]" इति विधौ प्रकरणस्याद्वैतात्मपरत्वमनपबाध्य प्रवृत्तेः "तस्मान्न ब्राह्मणायापगुरेत्"[२] इत्यादाविव क्रतुप्रकरणादुच्छ्रितेऽपि विरोधाभावात्। तेन विहिता विचारलक्षणेतिकर्त्तव्यता। तस्मान्न प्रथमः कल्पो रमणीयः।

द्वितीयेऽपि, सदोषत्वं न मूलप्रमाणस्य; अपौरुषेये वेदे पुरुषदोषासङ्क्रमात्। शब्दत्वप्रयुक्तदोषे चाप्तानाप्तप्रयुक्तया गुणदोषप्रामाण्याप्रामाण्यवर्णनानवतारात्।

भावदीपिका

डाशकरणे आलस्यदोषकीर्त्तनेनोपक्रमात् यागान्तरविधानलब्धालस्याभावसङ्कीर्त्तनेनोपसंहाराच्च तावदेकमिदं वाक्यं; एकवाक्यता चोपांशुयाजविधौ, नानेकविष्ण्वादियागविधौ[३]। विधिश्च पञ्चमलकाररूपोः; ध्रौवाज्यञ्च द्रव्यम्। आग्नेयादियागपाठक्रमेण याज्यानुवाक्यास्म्नाने उपांशुयाजस्थाने वैष्णवप्राजापत्याग्नीषोमीयास्तिस्र आम्नाता मन्त्रकाण्डे। तद्बलात् विष्ण्वादिदेवतालाभ उपांशुयाजस्य; अत्रत्यविष्ण्वादिवाक्यानां स्वतन्त्रयागविधायकत्वासम्भवात्। इत्थं 'महीयानुपांशुयाजो यदस्मिन् विष्ण्वादयो देवता इज्यन्ते' इत्यर्थवादत्वमिति। ततो न विष्ण्वादियागानामन्यप्रक्रियापाठादविधेयत्वं किन्तु तद्विधानेऽन्यत्र प्रकरणताभङ्गादत्र तदभावेन वैषम्यान्नातिप्रसङ्ग इति।

सदोषत्वं मूलप्रमाणस्य[४] विचारस्य वा ? नाद्य इत्याह—द्वितीयेऽपीति। दोषः पुंसम्बन्धप्रयुक्तः शब्दत्वप्रयुक्तो वा ? न पूर्व इत्याह—अपौरुषेयेति। ननु कथमपौरुषेयत्वं[५] वेदस्य यावता शास्त्रयोनित्वेन पाणिन्यादिदृष्टान्ताच्छास्त्रविषयादधिकतरविषयविज्ञानवत्तया सर्वज्ञत्वमसाधि ब्रह्मणः, न खलु तादृशं पाणिन्यादिवाक्यमपौरुषेयम्, नामरूपसृष्टेः "तदैक्षत", "सोऽकामयत" इत्यादिश्रुतेरालोचनकामनापूर्वकत्वावगमाच्च; न च

ज्ञानवती

होने से विष्णु आदि का, जो कि तन्नामक देवतारूप गुण का समर्पण करते हैं, अर्थवाद होना ठीक है। यहाँ पर 'श्रोतव्यः' इस विधि में प्रकरण के अद्वैतात्मपरत्व को बाधित न करके प्रवृत्ति होने से "इसलिये ब्राह्मण की भर्त्सना आदि नहीं करनी चाहिये" इत्यादि के समान क्रतु-प्रकरण से हटा देने पर भी विरोध नहीं हैं। इसलिये विचार-लक्षण इतिकर्त्तव्यता का विधान है। इस कारण प्रथम कल्प रमणीय नहीं है।

दूसरे के बारे में भी, मूलप्रमाण (वेद) सदोष नहीं है क्योंकि औपौरुषेय वेद में पुरुषदोष का संक्रमण हो नहीं सकता। और शब्दत्वप्रयुक्त दोष में आप्त और अनाप्त की प्रयुक्ति के द्वारा गुणदोष के प्रामाण्याप्रमाण्य का वर्णन नहीं होता। यदि ऐसा होने पर भी आपको दोष दिखाई देता है तो भी अदोषत्व ही है क्योंकि दोषरहित में भी दोष देखा जाता है। भट्टपाद ने कहा भी है—

"मन को अत्यन्त दोषदर्शी नहीं बनाना चाहिये क्योंकि दोष विद्यमान न रहने पर भी दोषदृष्टिपरक मन को दिखाई देता है।"

---

[१] बृ० २।४।५। [२] तै० सं० २।६।१०। [३] ख—विष्ण्यादि। [४] ख—स्य वेदस्य विचारस्य। [५] ख—प्रमाणस्यवेदस्य।

एवमपि दोषोत्प्रेक्षा चेत्, अदोषत्वमेव;[१] अदोषेऽपि तदुत्प्रेक्षणात्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"न चात्रातीव कर्त्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः।
दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते॥" इति।[२]

विचारस्यापि व्यवस्थितशब्दन्यायशरीरस्य दोषाशङ्कायामपि प्रबलमूलत्वान्न क्षतिकरत्वम्, तत्त्वतः पौरुषेयागमतदप्रामाण्यवादिनामेव सदोषत्वाशङ्कया कथानारम्भः, नास्माकम्। तदप्याहुः—

"आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि।
नहि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते॥"

भावदीपिका

सर्वज्ञस्य युगपदर्थशब्दप्रतिभाने नार्थज्ञानस्य शब्दरचनामूलत्वं यतः शब्दज्ञानस्यैव तद्धेतुत्व-[३]मिति अत एवं वाच्यमिति; कामस्य सप्रयोजनार्थज्ञानमूलत्वात् तन्मूलत्वाच्च शब्दसृष्टेः। उच्यते—उपलब्धार्थस्यात्स्वाच्छादिकानुपूर्वीशब्दानां[४] ग्रथनं पौरुषेयत्वम्। पौरुषेयत्वेन प्रसिद्ध-मन्वादिवाक्येषु तथा दर्शनात्। अत्र चोपाध्यायवत् पूर्वपूर्वानुपूर्व्यनुसरणान्न पौरुषेयत्वा शङ्का। यच्च देवताधिकरणे "अतएव च नित्यत्वं"=वैदिकशब्दानुस्मरणपूर्वकदेवादिसर्गस्य श्रुतिस्मृतिभ्यामवधारणादेव वेदो नित्यो, जगदुत्पत्तिहेतुत्वात्, ईश्वरवदिति सूत्रेण वेदनित्यत्वं दृढीकृतम्, तदवान्तरप्रलयाभिप्रायेण; तदानीमसतो नियतप्राक्सत्त्वरूपेण कारणत्वायोगात्, महाप्रलयात्। व्युत्थाने तु सुप्तप्रतिबुद्धवत् कल्पान्तरीयवेदानुस्मरणेन तत्सदृशनिर्माणम्। अतो न शास्त्रयोनित्वस्य[५] तेन विरोधः। न च स्मरणपक्षे उपाध्यायवदसर्वज्ञत्वं प्रसज्येत भाष्यस्थानुमानासिद्धिश्चेति[६] वचनीयम्; प्राण्यदृष्टवशात् सर्गकर्त्तुः, स्मृत्वा प्रवर्त्तन-स्यापि तत्तदर्थज्ञानप्रयोजनालोचनपूर्वकत्वात्, पाणिन्यादेरपि कृतेस्तथात्वादनुमानसिद्धेश्चेति। द्वितीयं प्रत्याह—शब्दत्वेति। आकस्मिकदोषवादिनं प्रत्याह—एवमपीति। आद्ययोर्द्वितीयं निराचष्टे—विचारस्यापीति। अङ्गीकृत्याह—शङ्कायामपीति। विचारस्य तर्कत्वात्तस्य च मूल(वैकल्य)[७] एव तर्कान्तरबाधादिना (न)व्यवस्थापकत्वं; सति तु प्रबलमूलप्रमाणत्वे

ज्ञानवती

(इसलिये) व्यवस्थितशब्दन्याय जिसका शरीर है ऐसे वेदान्त-विचार के बारे में दोष-शङ्का होने पर भी इसके मूल के प्रबल होने के कारण कोई क्षति नहीं है। सच पूछिये तो पौरुषेय आगम और उनके अप्रामाण्य को मानने वाले लोगों की सदोषत्व की आशंका से आरम्भ नहीं होता न कि हम लोगों की। कहा भी है—

"आगम में दृढ़ मैं स्खलित होने पर भी निन्दा के योग्य नहीं हूं। क्योंकि सन्मार्ग से जाता हुआ आदमी स्खलित होने पर भी निन्दित नहीं होता।"

"त्रयी के मार्ग का अनुसरण करने वाली, किसी प्रकार से आरब्ध वाग्वृत्ति अल्प-तत्वों वाली होती हुई भी शोभायमान होती है।"

---

१ (ख) मेव दोषेऽपि। २ ५ श्लो० वा० १।१।४। ३ (ख) तदर्थरचनाहेतु।
४ (क) स्वाच्छन्दिका। ५ (ख) त्व सूत्रेण।
६ (ख) वाक्यत्वात्, मानासिद्धिः। ७ (ख) कैवल्य।

यथाकथंचिदारब्धा त्रयीमार्गानुसारिणो ।
वाग्वृत्तिरल्पसारापि श्रद्धानस्य शोभते ॥"[१] इति ।

नापि तृतीयः, वर्णनीयावैचित्र्येऽपि वर्णनवैचित्र्यात् रामचरितवत् पुनः प्रयासप्रचारात्। तथाह स मुरारिः—

"यदि क्षुण्णं पूर्वैरिति जहति रामस्य चरितम्,
गुणैरेतावद्भिर्जगति पुनरन्यो जयति कः ।
स्वमात्मानं तत्तद्गुणगरिमगम्भीरमधुर-
स्फुरद्वाग्ब्रह्माणः कथमुपकरिष्यन्ति कवयः ॥"[२] इति ।

[वेदान्तानां कर्मकाण्डेनागतार्थत्वम्—]

न चास्य कर्मकाण्डेन गतार्थत्वम् —

अर्थवादादिसंसिद्धस्वर्गादिफलभोक्तरि ।
प्रसिद्धे कर्मविधिना ब्रह्मत्वं साध्यतेऽधुना ॥

भावदीपिका

तर्कान्तराद्याभासीकरणेन व्यवस्थापकत्वमेवेत्यर्थः। जहति=त्यजन्ति। एतावद्=भिर्यावन्तो रामभद्रस्य गुणास्तावद्भिः। ते[३] ते गुणाः शब्दार्थालंकाररूपास्तैः गरिमा यस्य तत् तथा। अतएव गम्भीरम्=अवगाह्यं, तच्च मधुरं=श्राव्यं, स्फुरत्=स्वयमुल्लसत्[४]; एतादृग् वाग्ब्रह्म येषान्ते=तथा वर्णनेन पुण्योपार्जनसमर्थाः। ब्रह्मकाण्डस्य कर्मकाण्डात् पृथगारम्भमङ्गीकृत्य प्रयासावैयर्थ्यं पर्यहारि।

[वेदान्तानां कर्मकाण्डेनागतार्थत्वम्—]

साम्प्रतं पृथगारम्भासम्भवेन प्रयासानवतारं परिहरति—न चास्येति। पारलौकिक-

ज्ञानवती

तीसरा (दोष) भी नहीं (लागू हो सकता)। क्योंकि वर्णनीय के विचित्र न होने पर भी वर्णन की विचित्रता के कारण रामचरित के समान बार-बार प्रयास होता है। मुरारि कवि ने कहा है—

"पूर्वजों के द्वारा क्षुण्ण हो गया है ऐसा (सोचकर) जो राम के चरित को छोड़ देता है तो फिर किसने इतने गुणों से जगत् को जीत लिया है जिसके भिन्न-भिन्न गुणों की गरिमा से गम्भीर एवं मधुर स्फुरित होने वाली वाणी के निर्माता कवि लोग अपनी आत्मा को उपकृत करेंगे।"

[वेदान्त कर्मकाण्ड से गतार्थ नहीं है—]

यह कर्मकाण्ड से भी गतार्थ नहीं है—

अर्थवाद आदि के द्वारा सम्यक् रूप से सिद्ध स्वर्ग आदि फल के भोक्ता के प्रसिद्ध होने पर कर्म विधि के द्वारा अब ब्रह्मत्व सिद्ध किया जाता है ॥१॥

---

१ श्लो० वा० १।१।१।७,८। २ अन० रा० अङ्क १
३ ख—ते। ४ ख—समुल्ल।

प्रामाण्यमर्थवादादेर्यदि नो कर्मवादिनः ।
स्वर्गादिफलवाक्यानामपापश्लोकतुल्यता ॥
यत्र दुःखेन सम्भिन्नमित्यादिस्वर्गलक्षणम् ।
अमानसिद्धं[१] मानत्वं कथं संसाधयेच्छ्रुतेः ॥
तस्माद्विधिभिराक्षिप्ते स्वर्गादिफलशालिनि ।
चेतने ब्रह्मता तस्य साध्यतेऽतोऽगतार्थता ॥

विचारविधेश्चाव्यवहितो विषयो विचारः । विचार्यवाक्यद्वारा ब्रह्माद्वैतम् ।

भावदीपिका

देवादिदेहभोग्यस्वर्गादिफलो यः कर्मविधिः स परलोकसञ्चारिणं फलभोक्तारमधिकारिणं प्राप्यैव निर्वृणोति । न च वाच्यम् क्रियायाः फलाव्यभिचार इत्येतावति वेदः प्रमाणं न तु कर्त्तुरेव-फलमित्यत्रापि; अनेकत्र तात्पर्यायोगात्; "स्वर्गकामो यजेते"ति च स्वर्गे क्षेत्रादाविव सात-त्यार्थेऽपि[२] कामनासम्भवात् नोक्तभोक्तरि प्रमाणमिति; पुत्राद्यर्थकामनाया अपि पुत्रादयो लोकान्तरगतस्य श्राद्धादिना उपकरिष्यन्तीत्यभिसन्धिमूलत्वात् पुत्रादेरपि देहान्तरभोग्य एव स्वर्गादिः । अतः स्वर्गकामप्रेरणानुपपत्त्या तस्यैव स्वर्गभोग इति देहादिव्यतिरिक्तभोक्तृ-सिद्धिः । उक्तस्वर्गे चार्थवादादेः प्रामाण्यं विपक्षबाधकेन व्यवस्थापयति—प्रामाण्यमिति ।

ननु "यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति न स पापं श्लोकं शृणोति" इत्येतत्तुल्यत्वं स्वर्ग-वाक्यानां न युक्तम्—"यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् । अभिलाषोपनीतं च सुखं[३] स्वर्गपदास्पदम् ॥" इत्युक्तलक्षणस्वर्गसमर्पकतया[४] प्रामाण्यसम्भवात्, मैवम् ; लक्षणस्य प्रमाण-सापेक्षत्वात् । न चात्र स्वर्गपदं प्रमाणम्; तस्य "यूपे पशुं बध्नाति" इति यूपपदस्येव "यूपं तक्षति", "यूपमष्टास्रीकरोति" इत्यादिव्यपेक्षया "नाकस्थपृष्ट"इत्यादिपदान्तरापेक्षया स्वार्थ-प्रत्यायकस्य तदर्थत्वासम्भवात्[५], प्रमाणान्तरस्य चा[६]दर्शनादित्याह—अमानसिद्धमिति । देवता-शरीराद्यपि स्वर्गवत् विध्यपेक्षितम्; यथा अर्थवादादिना विधेयप्राशस्त्यलक्षणाद्वारतया समर्पितं मुख्याविनाभूतस्यैवाविनाभतस्य वा लक्षणत्वात् । 'विषं भुङ्क्ष्व', 'आदित्यो यूपः' इत्यादौ

ज्ञानवती

यदि कर्मवादी के लिये अर्थवाद आदि का प्रामाण्य नहीं है तव तो स्वर्ग आदि फल वाले वाक्य पापश्लोक के तुल्य नहीं होंगे ॥३॥

जो दुःख से युक्त नहीं है इत्यादि स्वर्ग का लक्षण यदि प्रमाण से सिद्ध नहीं है तो श्रुति की प्रामाणिकता को कैसे सिद्ध करेगा ।

विधियों के द्वारा आक्षिप्त स्वर्ग आदि फल वाले चेतन में ब्रह्मता सिद्ध की जाती है इसलिये उस (वेदान्त) की इससे गतार्थता नहीं है" ॥४॥

१ (ग) अमानसिद्धं, (घ) अमानसिद्धिः ।
२ (ख) विवसन्त्य—पि ।
३ (ख) तत्सुखं स्वः ।
४ (क) लक्षण ।
५ (ख) र्थत्वात् प्रमा ।
६ (क) वा ।

[प्रमालक्षणं प्रमाणादेर्वास्तवत्वस्थापनञ्च]

अथ प्रमाणादेरवास्तवत्वादनङ्गत्वेनानारम्भः कथायाः ? तथाहि--यथार्थोऽनुभवः प्रमा, तत्साधनञ्च प्रमाणमाचक्षते। यथार्थत्वञ्च दुर्वैतण्डिकेनापि परिशेषात् स्वपक्षसिद्धिमभिसन्दधता परिशिष्टतत्त्वानुभवस्य नापलापमर्हति। अतस्तत्स्वरूपखण्डना नाखण्डलस्यापि शक्यानुष्ठाना। अथाद्वैतानुभवस्य यथार्थत्वं खण्ड्यते, तथापि प्रमासामान्यासिद्धौ शुक्तिकलधौतबोधस्येव विभ्रमेषु नाद्वैतबोधस्य विशेषा-

भावदीपिका

मुख्यप्रमाणान्तरविरोधः; विषसदृशं द्विषदन्नं, घृताक्तो यूपः आदित्यवत्तेजस्वी इत्यादिगुणवादाभ्युपगमात्। प्रापकविरोधकमानाभावे विनापि तात्पर्यं यथैवाभ्युपेयम्। स्वाध्यायविधिना तु फलवदर्थत्वापादनात् फलवद्विधिवाक्यैकवाक्यत्वेन प्राशस्त्यलक्षणापरमार्थवादादि। स्वयमधीतवाक्यं तु स्वार्थे तात्पर्यवत् इति विशेषः। ननु श्रोतव्यविधिसन्निविष्टप्रमाणेन वेदान्तवाक्यानि विचारयेत् इति विचारस्य वाक्यविषयत्वावगमात्, अतः कथं ब्रह्मता साध्यते ?—तत्राह—विचारेति।

[प्रमालक्षणं प्रमाणादेर्वास्तवत्वञ्च]

ननु प्रमाणादेर्वास्तवत्वानिरूपणादवास्तवस्यैवोपयोगित्वं वक्तव्यमित्याशङ्कायां लक्षणनिरूपणेन वास्तवत्वं सम्पादयन् निराचष्टे—तथाहीत्यादिना। ननु यथार्थत्वस्य परैः खण्डितत्वात् असम्भवि लक्षणम् ? तत् किमनुभवमात्रस्य यथार्थत्वं खण्डयते द्वैतानुभवस्य वा ? नाद्य इत्याह—यथार्थत्वमिति। द्वितीये स्वेष्टाद्वैतबोधप्रामाण्यहानिर्दोषः। तथाहि-यथार्थत्वं द्वैतानुभवान्तर्गतबाधाभावप्रमाणेन निर्णेतव्यम्। द्वैतानुभवमात्रस्य चायथार्थत्वे कथंकारमद्वैतबोधस्य तत्त्वनिर्णयः ? अथ साधकस्य प्रामाण्यमिष्टं तत् किं सांव्यावहारिकं तत्त्वावेदनलक्षणं वा ? नाद्य इत्याह—सांव्यावहारिकीति। द्वितीये यथार्थत्वधर्मस्य तात्त्विकत्वा-

ज्ञानवती

विचारविधि (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) का अव्यवहित विषय वेदान्त-विचार है और विचार्यवाक्य के द्वारा ब्रह्माद्वैत सिद्ध होता है।

[प्रमालक्षण एवं प्रमाण की वास्तविकता]

अब प्रमाण आदि के वास्तविक न होने के कारण अङ्ग न होने से कथा का आरम्भ नहीं (होना चाहिये इस पर विचार कर रहे हैं—) यथार्थ अनुभव प्रमा है। और उसके साधन को प्रमाण कहते हैं। परिशेषात् अपने पक्ष की सिद्धि को लक्ष्य में रखने वाले दुर्वैतण्डिक के द्वारा भी परिशिष्ट तत्त्वानुभव का यथार्थत्व अपलाप के योग्य नहीं है। इसलिये उसके स्वरूप का खण्डन इन्द्र से भी नहीं हो सकता। अब यदि अद्वैतानुभव के यथार्थत्व का खण्डन किया जाय तो भी प्रमासामान्य की असिद्धि होने पर शुक्ति में रजत के ज्ञान के समान विभ्रम में विशेष आत्मा वाले का अद्वैत बोध प्रमा नहीं होगा, व्यावहारिकी प्रमा भ्रम से अतिरिक्त होती नहीं, क्योंकि भेद और अभेद के समान प्रमात्व और अप्रमात्व का एकत्र निवेश अयुक्त होता है। इससे उसके प्रमात्व की असिद्धि होने पर द्वैतदोध के

त्मनः प्रमात्वं सङ्कुच्छेत्; सांव्यावहारिकी प्रमा भ्रमान्नातिरिच्यते, भेदाभेदयोरिव प्रमात्वाप्रमात्वयोरेकत्र निवेशायोगात्। तेन तस्य प्रमात्वासिद्धौ द्वैतबोधबाधकत्वासिद्ध्यैव तस्य यथार्थत्वानपह्नवः। तात्कालिकासाधारणकारणविशिष्टसामग्रीजन्यञ्च ज्ञानमनुभवः। स्मृतेश्चासाधारणकारणं संस्कारः। आत्मान्तःकरणादीनां ज्ञानान्तरसाधारण्यात्। स च चिरकालोत्पन्नो न तु प्रत्युत्पन्नः। न च वाच्यं क्रमविशेषवद्वर्णानुभवाहितः प्रत्युत्पन्नोऽपि कारणं तद्गोचरायाः स्मृतेस्संस्कार इति; सार्वत्रिकैतादृक्कारणस्य विवक्षितत्वात्। उद्बोधश्च नासाधारणं कारणम्; उद्बुद्धानामेव सर्वत्र कारणत्वात्। अनुभवस्य तु चतुष्टयसन्निकर्षाद्यसाधारणम्, तच्च प्रत्युत्पन्नं प्रत्यगुत्पन्नम्। ततः स्मृतिप्रमाणफलयोर्विवेकः। न च महर्षिभिः प्रमाणेषु परिसंख्यातः संस्कारः। न च तदन्तर्गमात् पृथक् सङ्ख्यानाभावः; प्रत्यक्षस्य साक्षात्कारफलत्वात्, लिङ्गादेश्च सत्तामात्रेण प्रतीत्यजनकत्वात्, एतद्विलक्षणस्य संस्कारस्य प्रमाकरणेऽन्तर्गमासम्भवात्[१]।

भावदीपिका

पत्तेरद्वैतभङ्गःतस्तो नाद्वैतबोधस्य प्रामाण्यसिद्धिः। मास्तु, ततः किम्?—तदाह—तेनेति। यथार्थत्वं निरूप्यानुभवं निरूपयति—तात्कालिकेति। तात्कालिकविशेषणस्य कृत्यमाह—स्मृतेश्चेति। चिरोत्पन्ने च संस्कारः कारणमित्येतदनेकान्तमित्याशङ्क्याह—न चेति। ननु संस्कारोद्बोधस्य सार्वत्रिकत्वमास्तामिति तत्राह—उद्बोधश्चेति। प्रमाणफलं=प्रमा; तल्लक्षणस्य स्मृतावनिधास्यभावात् विभागः सिद्ध इत्यर्थः। इतश्चानयोर्विभागो गम्यत इत्याह—न चेति। अन्यथासिद्धिं प्रत्याचष्टे—न चेति। परपक्षमाक्षिप्य स्वपक्षं द्रढयति—यदाहुरिति। किं स्वरूपेणाज्ञातत्वं मतं प्रकारविशेषविशिष्टतया वा? आद्यं

ज्ञानवती

बाधकत्व की असिद्धि से ही उस (अद्वैतानुभव) का यथार्थत्व छिपाया नहीं जाता। तात्कालिक असाधारण कारण से युक्त सामग्री से उत्पन्न ज्ञान अनुभव होता है। और स्मृति का असाधारण कारण संस्कार है। क्योंकि आत्मा और अन्तःकरण आदि ज्ञानान्तर भी रखते हैं। और वह बहुत पहले उत्पन्न होता है न कि तत्काल उत्पन्न। ऐसा नहीं कहना चाहिये कि क्रमविशेष से युक्त वर्णों के अनुभव से जनित तत्काल उत्पन्न तद्विषयक संस्कार भी स्मृति का कारण है, क्योंकि सभी जगह ऐसे ही कारण विवक्षित होने लगेगें। उद्बोध असाधारण कारण नहीं है क्योंकि उद्बुद्ध ही सर्वत्र कारण होता है। अनुभव तो चारो सन्निकर्ष आदि का असाधारण(कारण)है और वह प्रत्युत्पन्न तथा हर एक आत्मा में उत्पन्न होता है। उससे स्मृति के प्रमाण और फल में भेद होता है। महर्षियों ने भी प्रमाणों में संस्कार की गणना नहीं की है। ऐसा भी नहीं है कि उसमें अन्तर्गमन कर लेने पर पृथक् संख्यान नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष, साक्षात्कार का फल है और लिङ्ग आदि सत्तामात्र से प्रतीति के जनक नहीं होते, इनसे विलक्षण संस्कार का प्रमा के कारण में अन्तर्भाव असम्भव है।

---

[१] (ख) प्रमाकारणे।

यदाहुः—अज्ञातज्ञापनं प्रमाणमिति, तदसारम्, चिरस्थायिष्वनधिगतत्वायोगात्। यदि नेह जन्मनि जन्मान्तरेऽपि, यदि न प्रत्यक्षेण, अनुमानोपदेशाभ्यामपि प्रायश उपलब्धानामेवोपलम्भात्। (अन्यथा[1]) प्रत्यभिज्ञानं दत्तजलाञ्जलि स्यात्। ततश्च स्वरूपतोऽनधिगतत्वं बह्वाकुलयेत्। प्रकारतोऽपि भूयोभूयस्स्तम्भादिष्वनुभूयमानेषु न कश्चिद् गुणप्रकारः प्रतिक्षणलब्धजन्मापवर्गः परिभाव्यते। कर्मापि ततोऽप्याशुतरविनाशि न प्रतिक्षणापूर्वम्। न च चतुःपञ्चक्षणावस्थायिन्यपि तस्मिन्नेकमेव विज्ञानं जनयित्वेन्द्रियादिकमन्यकर्मादिजन्मापेक्षते।

ननु यद्यपि स्वरूपस्य प्रकारस्य वा तथाविधस्य तादवस्थ्यम्, तथापि प्रत्यक्षज्ञानधारायां वर्तमान एवार्थः परिस्फुरति। न च क्रमभाविनामेक एव वर्तमानः कालो विषयः, ज्ञानयौगपद्यप्रसङ्गात्। एकस्यापि नानाप्रमातृवत् प्रत्यभिज्ञानानुप-

भावदीपिका

निरस्य द्वितीयं निरस्यति--प्रकारतोऽपीति। धारावाहिकज्ञानेषु प्रतिज्ञानमपूर्वो विषयो रूपादिर्वा स्थानविशेषसंयोगादिर्वानुपलब्धिबाधित इत्यर्थः। आशुतरविनाशित्वेऽप्यपूर्वत्वं तदा स्यात् यदा तत्सत्ताकाल एकमेव ज्ञानं जायेत। न च तत् सम्भवति, सत्यां सामग्र्यां पूर्वज्ञानवज्ज्ञानान्तरस्यापि दुर्वारत्वादित्याह--न चेति। स्वरूपोक्तप्रकारयोरपूर्वत्वाभावेऽपि तत्तज्ज्ञानकालावच्छिन्नत्वेनापूर्वत्वमिति शङ्कते—नन्विति। ततः किं?—तदाह--न चेति। प्रत्यक्षस्य वर्त्तमानविषयत्वात् तत्सत्ताक्षणे च गतागामिक्षणाभावान्न न वर्त्तमानज्ञानविषयत्वं गतागामिक्षणानाम्; विषयत्वे वा तद्विषयप्रत्यक्षज्ञानावसरे मध्यमक्षणवर्त्तिज्ञानस्य सत्ताप्रसङ्गात्; अन्यथा अतीतानागतयोः प्रत्यक्षत्वं वर्त्तमानक्षणस्य चाप्रत्य-

ज्ञानवती

जो कहा कि अज्ञात को बताने वाला प्रमाण है। उसमें कोई तत्त्व नहीं है। क्योंकि चिरस्थायी वस्तुओं में अनधिगतत्व नहीं होता। यदि इस जन्म में नहीं जन्मान्तर में, यदि प्रत्यक्ष से नहीं तो अनुमान एवं शब्द से ही प्रायः प्राप्त (ज्ञात) का ही उपलम्भ (ज्ञान) होता है। अन्यथा प्रत्यभिज्ञान को छोड़ देना पड़ेगा। फिर स्वरूपतः अनधिगतत्व व्याकुल कर देगा। और (जहाँ तक) प्रकारतः अनधिगतत्व (का प्रश्न) है उसमें भी बार-बार अनुभूयमान स्तम्भ आदि में कोई भी विशेषगुण क्षण-क्षण में न तो जन्म लेता और न फलयुक्त होता हुआ देखा जाता है। और कर्म तो उससे भी शीघ्र नष्ट होता है किन्तु फिर भी प्रतिक्षण अपूर्व नहीं है। ऐसा भी नहीं है कि चार-पाँच क्षण तक भी टिकने वाले उस (कर्म) में इन्द्रिय आदि एक ही विज्ञान उत्पन्न करके फिर अन्य कर्म के जन्म की अपेक्षा रखती हैं।

प्रश्न है कि यद्यपि स्वरूप अथवा प्रकार जैसा रहता है वैसा ही रहता है तथापि प्रत्यक्षज्ञान की धारा में वर्तमान ही अर्थ प्रकाशित होता है। और ऐसा नहीं है कि क्रम से उत्पन्न होने वाले (पदार्थ) का एक ही वर्त्तमान-काल विषय हो क्योंकि ऐसा होने पर सभी

[1] (क) अन्यथा च।

पत्तेश्च। ज्ञानानेकत्वेऽपि एककालावस्थोनाकलनात्। तस्मात् पूर्वज्ञानैरनाकलित एव वर्त्तमानोऽर्थ उत्तरोत्तरैरवसीयत इत्यनधिगतार्थत्वमिति ?

अत्राभिधीयते--न कालः प्रत्यक्षगोचरः। अपरथा दुर्दिनादावपि प्रहरादि-कालभेदसन्देहो न स्यात्। नापि भिन्नस्वभावः, किन्तु (कालभेदकमर्थ[1]) मुपधार्यैव कालभेदः, तत्प्रत्यक्षत्वमेव च कालभेदप्रत्यक्षत्वमिति परमार्थः। प्रतिक्षणञ्च

भावदीपिका

क्षत्वमिति विरुद्धं स्यात्[2]। एवमेकस्मिन् काले कालत्रयज्ञानयौगपद्यं; ततो[3] वर्त्तमान एवार्थः[4] प्रत्यक्ष इति सूक्तम्। यो नाम प्रथमं दृष्टो न दृष्टः पुनरन्तरा प्रत्यभिज्ञायते साक्षादविनष्टः स हि ध्रुवमित्युक्तत्वात्। 'एकस्य कालद्वयसम्बन्धग्राहि प्रत्यक्षं प्रत्यभिज्ञानमि'ति लक्षणात्। सोऽयमिति कालद्वयावलम्बि प्रत्यभिज्ञानञ्चास्मिन् पक्षे न युज्यत इत्याह—प्रत्यभि-ज्ञेति। नन्वभिज्ञायते=अभिज्ञा=प्रत्यभिज्ञा; सा चैकस्मिन् ज्ञानानेकत्वस्वीकारात् कथं न घटत ?—इति तत्राह—ज्ञानानेकत्वेऽपीति। सर्वेषां ज्ञानानामेककालविषयत्वे युगपत् सत्त्वात् अभिज्ञाताभिज्ञेव दुर्घटत्यर्थः।

स्यादेवं यदि कालः प्रत्यक्षः स्यात्। न च रूपादिहीनद्रव्यत्वात् प्रत्यक्षत्व-मित्याह—न काल इति। न चादित्यादेराकाशदेशविशेषसम्बन्धदृष्टिः कालव्यञ्जिका, तदभावे दुर्दिनादौ कालदृष्टयभावः; धूमादिदृष्टेरिवानुमापकतयापि व्यञ्जकत्वसम्भवात्। न चात्र जातिव्यक्तिवत् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो, येन यथोक्तव्यञ्जकदृष्टौ कालदृष्टिः स्यादिति भावः। न च कालस्य भेदोऽपि येनापूर्वकालविषयत्वं स्यादित्याह—नापीति। अस्तु तर्हि कालभेदोपाधेरपूर्वार्थत्वेनापूर्वार्थत्वम् ?—तत्राह—प्रतिक्षणञ्चेति। स उपाधिविषयीक्रिय-माणगतोऽन्यगतो वा ? नोभयथापीत्यर्थः[5]।

ज्ञानवती

ज्ञान एक साथ होने लगेंगे। तथा एक ही वस्तु के अनेक प्रमाता के समान (ज्ञान भी एक ही काल-(वर्त्तमान) में नाना हो जायेंगे फिर अतीतकाल में दृष्ट वस्तु को प्रत्यक्ष करके जो स्मरण होने से प्रत्यभिज्ञा होती है (वह) नहीं होगी। यद्यपि ज्ञान अनेक होते हैं फिर भी वे एक काल में अवस्थित नहीं माने जा सकते इसलिये पूर्वज्ञानों से अगृहीत ही वर्त्तमान अर्थ उत्तरोत्तर (ज्ञानों) से निश्चित किया जाता है। इसलिये प्रत्येक अर्थ अनधिगत होता है ?

इस विषय में (उत्तर देते) हुए कहते हैं—काल प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, अन्यथा बदली आदि के दिन भी प्रहर आदि काल के भेद का सन्देह नहीं होगा। भिन्न-स्वभाव भी नहीं है, किन्तु काल के भेदक पदार्थों को उपाधि मानकर ही काल-भेद होता है, और उस (उपाधि) का प्रत्यक्ष ही काल-भेद का प्रत्यक्ष है ऐसा परमार्थ है। (यदि यह कहिये

---

१ (क) कालभेदका (अर्थं) मुप, (ख) कालभेदः काल उप।
२ (ख) अयुक्तमापद्यैत।
३ (ख) तेन।
४ (ख) एव इति सूक्तम्।
५ (ख) उभयथापी।

स्तम्भादिनिष्ठस्य गुणस्य कर्मातिशयस्य वा कालोपाधेरसम्भवात् । प्रतीयमानेतरनिष्ठोपाधेश्च ज्ञानान्तरविषयत्वे धारावहनबुद्ध्यनुदयप्रसङ्गात्[१], प्रमाणान्तरेण इन्द्रियान्तरेण वा तेनैव वा तद्धर्मपरित्यागेन धर्म्यन्तरेऽनुभूयमाने कालोपाधिग्रहणाय विवक्षितैकार्थविषयबुद्धिधाराया असम्भवेन स्तम्भादिरेव प्रागभावनिवृत्तिप्रध्वंसानुत्पत्तिरूपो वर्तमानस्तदवच्छिन्नः कालोऽपि वर्तमानः । स च तथाविधोऽनेकज्ञानसाधारण एव । न चैतावता ज्ञानयौगपद्यापत्तिः, सूक्ष्मकालापेक्षया क्रमसम्भवात् । न च सूक्ष्मकालोपाधीनामप्रतीतिः, कार्यक्रमेणैवोन्नीयमानत्वात् । नापि प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः, पूर्वज्ञानविषयानुसन्धानमेव प्रत्यभिज्ञानं, तच्च ज्ञानक्रमादेवोपपन्नम् । तस्मात् योऽनधिगतार्थबोधनं प्रमाणमिच्छति तस्य धारावाहिबुद्धयोऽप्रमाः[२]

भावदीपिका

साम्प्रतं स्वमते दोषमुद्धर्त्तु स्वाभिप्रेतं कालं निरूपयति—स्तम्भादीति[३]। कथं तर्हि तव धारावाहिकज्ञानसिद्धिरत आह—स चेति । तर्ह्युक्तदोषोद्धारः कथम् ?—तत्राह—न चेति। उक्तनीत्या त्वन्मतेऽपि न प्रतिज्ञानं[४] कालोपाधिग्रहसम्भव[५] इत्याशङ्क्याह—न च सूक्ष्मेति। यथा वर्त्तमानस्तम्भादिविशिष्टः कालो वर्त्तमानः तथा क्रमेण जायमानवर्त्तमानज्ञानविशिष्टोऽपि वर्त्तमानः । अतः प्रतीता एव ज्ञानसत्तालक्षणाः सूक्ष्मवर्त्तमानकालोपाधयः । तेन ज्ञानसत्तावच्छिन्नसूक्ष्मवर्त्तमानकालभेदान्न ज्ञानयौगपद्यमित्यर्थः । दोषान्तरमुद्धरति—नापीति । ज्ञानक्रमादिति—[६]ज्ञानसत्तोपाधिकसूक्ष्मवर्त्तमानानुमेयकालभेदादेव प्रमाणान्तरगृहीतविशेष-

ज्ञानवती

कि प्रत्येक क्षण से विशिष्ट स्तम्भादिनिष्ठगुण या कर्मातिशय भिन्न-भिन्न हैं इसलिये एक स्तम्भ भी क्षणवर्त्ती गुण के चलते अनधिगत हो सकता है ? तो नहीं; क्योंकि क्षणवर्त्तीगुण या कर्मातिशय काल की उपाधि नहीं हो सकते । और प्रतीयमान से भिन्न में रहने वाली उपाधि के ज्ञानान्तर के विषय होने से धारावाहिक बुद्धि ही रुक जायगी । (यदि यह कहिये कि) प्रमाणान्तर से अथवा दूसरी इन्द्रिय से अथवा उसी (प्रमाण और इन्द्रिव से जिससे कि पहले प्रत्यक्ष हो चुका है) एक धर्म का परित्य.ग करके दूसरे धर्म का अनुभव होने पर (तो अनधिगतत्व आ जायगा ? तो ऐसा भी नहीं कह सकते क्योंकि) काल की उपाधि का ग्रहण करने के लिए विवक्षित एक अर्थ की बुद्धि की धारा के असम्भव हो जाने से स्तम्भ आदि, जिसका प्रागभाव नष्ट हो गया है और प्रध्वंसाभाव उत्पन्न नहीं हुआ है, ऐसा वह वर्त्तमान ही रहता है और उससे अवच्छिन्न काल भी वर्त्तमान ही है । और वह वैसा रहने पर भी अनेकज्ञान का विषय होता ही है । ऐसा नहीं है कि इससे सभी ज्ञान एक ही क्षण में आ जायेंगे, क्योंकि क्रम सूक्ष्मकाल की अपेक्षा करके सम्भव है । सूक्ष्मकाल की उपाधियों की प्रतीति नहीं होती यह बात भी नहीं है, क्योंकि कार्य के क्रम से उसका अनुमान हो जाता है । प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति नहीं होगी यह भी नहीं है, क्योंकि पूर्वज्ञान के विषय

---

१ (ख) धारा- वहन, । २ (ख) प्रमाः प्र । ३ (क) दिरिति ।
४ (ख) प्रतिज्ञा । ५ (क) सम्भवतीत्याह । ६ (ख) सत्त्वो ।

प्रसज्ज्येरन्। न खलु जरतां मतानुसारेण संयुक्ततादात्म्यसम्बन्धग्राह्यस्य अर्वाचीनानां वा स्वप्रकाशस्य प्राकट्यस्य धारावाहिबुद्धिष्वभावोऽनुभूयते येनाज्ञातज्ञप्तितया तासां प्रमात्वं श्रद्धीमहि। अतो 'यथार्थोऽनुभवः प्रमा' इत्येव साधीयः। यथार्थत्वञ्च द्वैतानुभवस्याप्युक्तम्, सति चैवं वास्तवमेव प्रमाणं सम्पत्स्यते; स्वरूपविषययोरबाधात्।

अथ एतद्वास्तवत्वस्य[1] व्यवस्थायाः कथारम्भाधीनत्वात् सम्मुग्धसिद्धस्यैव कथाङ्गत्वम्, अपरथा एतद्वास्तवत्वसिद्धा कथारम्भसिद्धिः ततश्च तत्सिद्धिरिति परस्पराश्रयात्, मैवम्; निश्चितौ हि वादं कुरुत इत्यङ्गीकारात्। कथमपरथा "एकं

भावदीपिका

णावगाहिप्रत्यक्षपक्षे कालस्य प्रत्यक्षत्वसम्भवेऽपि साक्षात् तदग्रहणादर्थतः पूर्वकालसम्भिन्नविषयप्रत्यभिज्ञानोपपत्तिरित्यर्थः। यस्मादुक्तन्यायेन प्रत्यक्षज्ञानधारायां कालतोऽपूर्वार्थज्ञापनं कालस्याप्रत्यक्षत्वान्न सम्भवति तस्मादित्युपसंहारः।

अथाज्ञातत्वं प्राकट्यसंसर्गहीनत्वं, घटादीनामालोकसंसर्ग इव प्राकट्यसंसर्गो[2] ज्ञापनम्; तच्च धारावाहिबुद्धीनां क्रमेण फलजनकत्वादुपपन्नमित्याशङ्क्याह—न खल्विति। परपक्षाक्षेपणदृढीकृतं स्वपक्षमुपसंहृत्य वक्ष्यमाणोपयोगितयोक्तं स्मारयति—यथार्थत्वञ्चेति। ततः किम्?—तदाह—सति चैवमिति।

खण्डनकारोक्तमुत्थाप्य दूषयति—अथैतदित्यादिना। कथाया अनारम्भे उक्तप्रकारेण एतस्य=प्रमाणादेर्वास्तवत्वव्यवस्थाया अशक्यत्वात् वास्तवत्वावास्तवत्वेनानिर्णीतस्यैव तस्य कथाङ्गत्वमन्यथान्योऽन्याश्रयो दोष इति न वाच्यम्; दर्शनद्वयतत्त्ववेदिनोरेव कथायामधिकारात्। कथमपरथा खण्डनकारस्य—"एकं ब्रह्मास्त्रमादाय नान्यं गणयतः क्वचित्। आस्ते न धीरवीरस्य भङ्गः सङ्गरकेलिषु॥" इत्युच्चैर्ब्रह्माद्वैतप्रतिज्ञा क्रियमाणापि

ज्ञानवती

का अनुसन्धान ही प्रत्यभिज्ञा है और वह ज्ञान का क्रम मानने पर ही उपपन्न होता है। इसलिये जो अनधिगतार्थज्ञापन को प्रमाण मानना चाहता है उसकी धारावाहिक बुद्धियाँ अप्रमा हो जायँगी। ऐसा नहीं है कि प्राचीनों के मतानुसार संयुक्ततादात्म्य सम्बन्ध से ग्राह्य अथवा अर्वाचीनों के मत से स्वप्रकाश, प्रकटता का धारावाहिक बुद्धियों में अभाव मालुम होता हो जिससे अज्ञातज्ञप्ति होने से उनको प्रमा मान लिया जाय। इसलिये 'यथार्थ अनुभव प्रमा है' यही उचित है। द्वैतानुभव को भी यथार्थ कहा गया है और ऐसा होने पर वास्तविक प्रमाण की सिद्धि हो जाती है (क्योंकि संसारदशा में) स्वरूप और विषय दोनों का बाध नहीं होता।

(पू०) इस(प्रमाण)के वास्तवत्व की व्यवस्था कथारम्भ के अधीन होने से सम्मुग्धसिद्ध ही कथा का अङ्ग हो जाय अन्यथा इसके वास्तवत्व से सिद्ध कथा के आरम्भ की सिद्धि और कथा के द्वारा प्रमाण के वास्तवत्व की सिद्धि यह अन्योऽन्याश्रय दोष हो जायगा?

---

[1] (ग) अथ एवं, (घ) अथ एतद्। [2] (ख) संसर्गा।

ब्रह्मास्त्रमादाय" इत्यादि गलगर्जनाऽपि ? अतः प्रागेव कथारम्भात् स्वार्थानुमानाप्तवाक्यादिना तन्निश्चय इति नोक्तदोषावकाशः। न च वाच्यं दुर्वैतण्डिकस्य न कथाप्रवेश इति; दूषणाभिधानं कथानारम्भे न शोभते, कथाप्रवेशं विना निग्रहेऽतिप्रसङ्गात्। अतः समुग्धसिद्धिरेव साधीयसीति जारोपार्जितगर्भाया इवान्तरेणापि परिषत्प्रवेशं दुष्टत्वावधारणमात्रेण निग्रहसम्भवात्। न खलु कौचिदपि प्रेक्षाकारिणौ कृत्रिमाकृत्रिमकनकेन समानमेव व्यवहारमारभमाणौ दृष्टपूर्वौ। न च वाच्यम् यथा एतावती समुग्धरीत्यैव प्रवृत्ता कथा तथोत्तरापि प्रवर्ततामिति; एतावत्याः खलु कथायाः समयबन्धार्थत्वेन रङ्गावतारणार्थवादित्राभिघातदेशीयत्वात्। न च वाच्यम् रेखागवयवर्णदैर्घ्यस्वप्नदृष्टसूचकप्रतिबिम्बसवितृमुख्यादेः सत्यार्थप्रमित्यङ्गत्ववदवास्तवस्यापि मानादेः कथाङ्गत्वमविरुद्धमिति; तत्रापि सत्यव्याप्त्यादि-

भावदीपिका

गलगर्जनामात्रं स्यादित्यर्थः। अन्यदपि तदुक्तं प्रत्याचष्टे—न च वाच्यमिति। दुष्टत्वावधारणेऽपि व्यवहारः स्वोचितः किन्न स्यात् ? अत आह—न खल्विति। तदीयमेवान्यदपाकरोति—न च वाच्यमिति। नाटकप्रेक्षकाणां मेलनाय यथा प्रथमवादित्रताडनं सूत्रधारस्य, पश्चात् प्रतिज्ञापूर्वकं नाटकविरचनमेवमेतावती कथा समयबन्धार्था। समयानन्तरं तु मुख्या कथेत्यर्थः। एवमप्यवास्तवानां तत्र तत्र तत्त्वनिर्णयहेतुत्वदर्शनान्न वास्तवाङ्गग्रहो युक्त[1] इत्यत आह—न च वाच्यमिति। तथापि मिथ्याभूतस्य सत्यावच्छेदकतायां सत्यस्यापि मिथ्यात्वम्, तस्यापि बोधकत्वं वा स्यादत आह—सत्यस्येति। ब्रह्मणोऽप्यसत्त्वं मायाया बोधकत्वं[2] वा तथा सति स्यादित्यर्थः। यत एवं वास्तवस्यैवाङ्गत्वमत इत्युपसंहारः।

ज्ञानवती

उत्तर है कि ऐसा नहीं है क्योंकि यह सिद्धान्त है कि दो निश्चित (सिद्धान्त) वाले ही वाद करते हैं। अन्यथा—"एकं ब्रह्मास्त्रमादाय" इत्यादि गलगर्जना भी कैसे होती। इसलिये कथारम्भ के पहले ही स्वार्थानुमान, आप्तवाक्य आदि के द्वारा उसका निश्चय हो जाता है। इसलिये उक्तदोष का अवकाश नहीं है। ऐसा नहीं कहना चाहिये कि दुर्वैतण्डिक का कथा में प्रवेश नहीं है। क्योंकि दोष का कथन, (जिसे कि वैतण्डिक करता है) बिना कथा के आरम्भ हुए शोभित नहीं होता क्योंकि कथाप्रवेश के विना निग्रह (बोलने न देना) में अतिप्रसक्ति हो जायगी। इसलिए सम्मुग्घसिद्धि ही विशेष सुन्दर है। इसप्रकार जार से प्राप्त गर्भ वाली स्त्री के समान, सभा में प्रवेश के विना भी केवल दोष के निश्चयमात्र से निग्रह हो सकता है। कोई भी दो प्रेक्षाकारी कृत्रिम और अकृत्रिम सुवर्ण से समान ही व्यवहार करते हुए पहले नहीं देखे गये। यह नहीं कहना चाहिए कि जैसे इतनी कथा सम्मुग्धरीति से प्रवृत्त हुई उसी प्रकार आगे की कथा भी चलनी चाहिए, क्योंकि

[1] (क) मुक्त। [2] (क) बोधत्वं।

सम्भिन्नस्यैवाङ्गत्वेन सर्वमिथ्याङ्गानुदाहरणत्वात्, सत्यस्य ब्रह्मणोऽलीकमायावच्छेदवदलीकव्याप्त्यवच्छेदसत्य (व्याप्तित्वापत्तेः[1])। अतो वास्तवाङ्गाभावादनारभ्यैवाद्वैतकथेति।

नायमपि पक्षः क्षोदक्षमः; यथाप्रसिद्धिसिद्धस्य कथाङ्गत्वोपपत्तेर्मूलनिरूपणाया अशक्यत्वाच्च। तदाहुरिष्टसिद्धयाचार्याः—"सत्यम्; प्रसिद्धिरस्ति; अतएव व्यवहरामः किन्तु नास्या मूलं पश्यामः" इति। न च श्रौताद्वैतकथारम्भे गार्गीयाज्ञवल्क्यशाकल्यजनकादीनां कथाङ्गतत्त्वचिन्ताः श्रूयन्ते। किञ्च नैयायिकैरपि—विमतं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि, समर्थप्रवृत्तिजनकत्वात्, यदि पुनरेवं नाभविष्यत् न

भावदीपिका

सिद्धान्ती सम्मुग्धसिद्धस्यैव कथाङ्गत्वं सम्पादयन् पक्षं प्रतिषेधति—नायमपीति। निर्णीतस्य कथाङ्गत्वं वदता निर्णयाय कथारब्धव्या। "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः" इति हि नैयायिकाः। तस्या अपि कथायाः स्वाङ्ग[त्व] निर्णयाय कथान्तरापेक्षणादनवस्थाऽपर्यवसानादशक्यः कथामूलप्रमाणादेर्निर्णयः[2]। ततः सम्मुग्धसिद्धस्याङ्गत्वोपपत्तिरित्याह[3]—मूलेति। अतएव=सम्मुग्धप्रसिद्धेरेव; व्यवहरामः=कथाव्यवहारं कुर्मः। किन्तु नास्या मूलं=वास्तवादिनिर्णयकारणमुक्तरीत्या[4] पश्यामः। प्रमाणादिप्रसिद्धिः सम्मुग्धैव कथाङ्गमिति। किञ्च किं श्रौतकथानुसारेण निर्णीतप्रमाणादेरङ्गत्वापादनं

ज्ञानवती

इतनी कथा समय का निश्चय करने के लिए होने से रङ्ग के अवतारणार्थ किये गये बाजे के बजाने जैसी है। यह भी नहीं कहना चाहिए कि जैसे रेखागवय, वर्ण में दीर्घता, स्वप्न में देखे गये सूचक (चुगलखोर) की छाया, सूर्य में छेद आदि वास्तविक अर्थ की प्रमा के अङ्ग होते हैं उसी प्रकार अयथार्थप्रमाण आदि भी कथा के अङ्ग हो जायेंगे। क्योंकि वहाँ भी सत्यव्याप्ति आदि से सम्भिन्न होने से वे (यथार्थप्रमा के) अङ्ग होते हैं। इसलिये सर्वतः मिथ्या अङ्ग का उदाहरण नहीं दिया जा सकता। जिस प्रकार असत्य माया, सत्य ब्रह्म की अवच्छेदिका होती है, उसी प्रकार अलीकव्याप्ति सत्यव्याप्ति की अवच्छेदक होती है। इसलिये यथार्थ अङ्ग न मिलने से अद्वैत कथा का आरम्भ नहीं करना चाहिये।

(उ) यह पक्ष भी क्षोदक्षम नहीं है, क्योंकि यदि प्रसिद्धि के अनुसार सिद्ध (वस्तु) कथा का अङ्ग हो जायेगी तो मूल का निरूपण अवश्य हो जायेगा। इष्टसिद्धि के लेखक आचार्य का कथन है—"ठीक है, प्रसिद्धि है, इसलिये व्यवहार तो करते हैं पर इसका मूल नहीं देखते।" और श्रुति (उपनिषद्) से प्रतिपादित अद्वैतकथा के आरम्भ में गार्गी, याज्ञवल्क्य, शाकल्य, जनक आदि कथा के अङ्ग के याथार्थ्य की चिन्ता नहीं करते। इसके अतिरिक्त नैयायिक—सन्दिग्धज्ञान यथार्थ है, क्योंकि समर्थ प्रवृत्ति का जनक है, यदि यह

---

[1] (क) व्याप्ते (त्वा पत्तेः)।
[2] (ख) नियमः।
[3] (ख) त्वापत्तिः।
[4] (क) नीत्या।

समर्था प्रवृत्तिमकरिष्यत्, यथा प्रमाणाभास इति ज्ञानप्रामाण्यार्थप्राथमिककथायां धर्म्यादेः प्रसिद्धिमात्रसिद्धस्यैवाङ्गत्वाङ्गीकारान्नास्मान् प्रति पर्यनुयोगो युज्यते। व्याख्यातञ्चैतत् तात्पर्यपरिशुद्धिकारेण—

"ननु न तावत् प्रामाण्यसमर्थप्रवृत्तिजनकत्वयोरविनाभावः प्रत्यक्षेण शक्यग्रहः,[1] तयोरेवाप्रत्यक्षत्वात्। प्रामाण्यं हि समर्थप्रवृत्तिजनकत्वानुमेयम्, तच्चान्वयव्यति (रेकावसेयमि)[2] ति। नाप्यनुमानेनान्वयग्रहः प्रामाण्यस्य, क्वचिदप्यसिद्धेः, सिद्धौ वा किमनुमानेन ? अनुमानान्तरसिद्धत्वेऽनवस्थादुरवस्थेत्याशङ्क्य यदि पुनरेवं नाभविष्यत् इति व्यतिरेकोपन्यासः। अत्र चोपेक्षाज्ञानानां पक्षत्वेनानुपादानान्न[3] भागासिद्धिः। व्यतिरेकी च सर्वत्र सपक्षाभावमभ्युपेत्य प्रवर्तत इति

भावदीपिका

वाद्यनुसारेण वा ? क्रमेण दूषणमाह—न चेत्यादिना। उदयनस्याप्येतदनुमतमित्याह—व्याख्यातञ्चैतदिति। व्याख्यानेन च सम्मुग्धसिद्धस्याङ्गत्वं स्फुटीभविष्यति।

अन्वयस्य मुख्यत्वात् कुतस्तदुल्लङ्घनमित्याशङ्क्य सति तत्र प्रमाणे तदुल्लङ्घनं दोषो नासतीत्याशयेनाशङ्कामाह—नन्विति। यद्यपि क्वचित् प्रामाण्यं सिद्धं तदा किं प्रत्यक्षेणानुमानान्तरेण वा ? आद्ये—विप्रतिपन्नज्ञानप्रामाण्यस्यापि प्रत्यक्षेण ग्रहणसम्भवे किमनेनानुमानेन ? प्रमाणनिर्णीतेऽपि मानापेक्षा चेदविशेषात्तत्राप्यन्यापेक्षाप्रसङ्गात्। द्वितीयेऽनुमानान्तरस्यान्वय-

ज्ञानवती

ऐसा न होता तो समर्थ-प्रवृत्ति को नहीं उत्पन्न करता, जैसे प्रमाणाभास, इस प्रकार ज्ञान के प्रमाण्य के अर्थ की प्राथमिक कथा में पक्ष आदि जो कि प्रसिद्ध के कारण सिद्ध हैं, को कथा का अङ्ग मान लिये हैं। इसलिये हमसे प्रश्न करना ठीक नहीं है। तात्पर्यपरिशुद्धिकार ने भी इसकी व्याख्या की है—

प्रश्न है कि प्रामाण्य और समर्थप्रवृत्तिजनकत्व की व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता। क्योंकि वे दोनों ही (साध्य और हेतु) प्रत्यक्ष के विषय नहीं हैं। प्रामाण्य या अर्थाव्यभिचारित्व समर्थप्रवृत्तिजनकत्व का अनुमेय है और वह अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा निश्चेय है। और अन्वय का ज्ञान अनुमान से नहीं हो सकता क्योंकि प्रामाण्य कहीं भी सिद्ध नहीं है, और यदि सिद्ध है तो फिर (उसके लिये) अनुमान क्या करना ? (यदि यह कहिये कि उस अनुमान का प्रामाण्य) दूसरे अनुमान से सिद्ध हो जायगा ? तव तो अनवस्था की दुरवस्था हो जायगी ऐसी आशङ्का करके यदि "यदि ऐसा नहीं होता" ऐसा व्यतिरेक रखते हैं। उपेक्षाज्ञान को पक्ष के रूप में ग्रहण न करने से वहां भागासिद्धि दोष नहीं है। और व्यतिरेकी सर्वत्र सपक्ष के अभाव को रखकर प्रवृत्त होता है इसलिये असाधारणानैकान्तिक दोष भी नहीं है। यह नहीं कहना चाहिये कि इसी अनुमान के अर्थवत्व का निश्चय न होने पर प्रमाण अर्थवान् कैसे होंगे, या उसका निश्चय होने पर कैसे केवलव्यतिरेकी होगा। क्योंकि अनुमान का प्रमाण्य दो प्रकार का होता है—अविनाभाववत्वलक्षण एवं

[1] (ख) प्रत्यक्षेणाशक्य। [2] (क) रेकानुमेयम् (ख) रेकावसेयम्। [3] (ख) नुवादानां न,

नासाधारणानैकान्तिकता। न च वाच्यम् एतस्यैवानुमानस्यार्थवत्त्वानवधारणे कथं प्रमाणानामर्थवत्त्वसिद्धिः, तदवधारणे वा कथं केवलव्यतिरेकित्वमिति; द्विविधं ह्यनुमानस्य प्रामाण्यं—अविनाभाववत्त्वलक्षणम्, प्रमाजननलक्षणञ्च। तत्र स्वविषयपरिच्छेदे कर्तव्येऽविनाभावावधारणमेवापेक्ष्यते, न प्रमाजनकत्वावधारणमित्यनवधृतप्रामाण्येनैवानेन प्रमाणानां प्रमाफलत्वाख्यं प्रामाण्यं साध्यत इति सर्वं सुन्दरम्" इति।

तदस्यां प्रामाण्यकथायां[१] यथाप्रसिद्धमात्रस्यैवाङ्गत्वं, तेन प्रामाण्याप्रामाण्यावधारणमपि यदा नाङ्गं, तदा तदधीनवास्तवावास्तवकथाङ्गचिन्ता प्रागेवाननुरूपा। अपरितोषात् पक्षान्तरोपादानान्नायं सिद्धान्तप्रयोगः। तथाहि—

"ननु नास्त्येवासौ वादी, यः प्रामाण्यनिश्चये विप्रतिपद्येत, नहि प्रामाण्यं स्वीकृत्य तन्निश्चये विप्रतिपत्तिः, स्वीकारस्य निश्चयमूलत्वात्। नाप्यस्वीकृत्य,

भावदीपिका

ग्रहणायानुमानान्तरमनुमानान्तरेण क्वचित् प्रामाण्यसिद्धिश्चेत्यनवस्थापर्यवसानमित्याह -सिद्धौ चेति। सर्वज्ञानपक्षीकारे समर्थप्रवृत्तिजनकत्वस्योपेक्षाज्ञानेष्वभावात् भागासिद्धत्वमित्यत आह--तत्रेति। तर्ह्युपेक्षाज्ञानानां प्रमाणत्वेन सपक्षत्वात्तत्र हेतोरवृत्तावपरोदोषस्तत्राह—व्यतिरेकी चेति। यद्यपि सपक्षमपह्नुत्य धाष्टर्याद् व्यतिरेकी सम्भावितस्तथाप्यस्यप्रामाण्यावधारणानवधारणयोरसम्भव एवेत्याशङ्क्याह—न च वाच्यमिति। किमेवं सति?—तदाह--तदस्यामिति। धर्मी हेतुरविनाभावश्च न प्रमाणेनावधारिता इति सर्वं सम्मुग्धं किं पुनर्न्याय्यमित्याह--तेनेति। प्रागेव=दूरत एव। नेदं सम्मतमुदाहरणमिति शङ्कते—नन्विति। किमयं प्रयोगो वादिनं प्रति, विपर्यस्तं शिष्यं वा सन्दिहानं प्रति? आद्ये प्रामाण्यस्वीकारास्वीकारयोर्दोष उक्तः[२]। द्वितीये दोषमाह—अनिश्चिते चेति। क्वचिदप्य-

ज्ञानवती

प्रमाजननलक्षण। उनमें से अपने विषय का परिच्छेद करने में अविनाभाव के अवधारण की उपेक्षा होती है प्रमाजनकत्व के अवधारण की नहीं। इसलिये अनवधृतप्रामाण्य वाले ही इसके द्वारा प्रमाणों के प्रमाफल वाले प्रामाण्य को सिद्ध किया जाता है। इस प्रकार सब सुन्दर है।

तो इस प्रामाण्य की कथा में यथाप्रसिद्धमात्र ही अङ्ग है, इसलिये प्रामाण्य और अप्रमाण्य का निश्चय भी यदि अङ्ग नहीं है तो उसके अधीन यथार्थ—अयथार्थ कथा के अङ्ग की चिन्ता पहले ही ठीक नहीं है। सन्तोष न होने से पक्षान्तर का ग्रहण कर लेने से यह सिद्धान्त-प्रयोग नहीं है।

प्रश्न है कि ऐसा कोई भी वादी नहीं है जिसे प्रामाण्य का निश्चय होने पर विप्रतिपत्ति हो। ऐसा नहीं है कि प्रामाण्य को स्वीकार कर उसके निश्चय से विप्रतिपत्ति हो क्योंकि स्वीकार निश्चयमूलक होता है। अस्वीकार करके भी (उसके निश्चय में विप्रतिपत्ति

१ (ख) तदस्यामप्रामा। (ख) रेकावसेयम्। २ (ख) दोषमुक्त्वा।

प्रमाणशून्यविप्रतिपत्तेस्सर्वत्र सुलभत्वेन सर्ववादिविधिनिषेधप्रसङ्गात्। अनिश्चिते च प्रामाण्ये तदतद्रूपसन्देहोऽपि क्वचिद्दुर्लभः; विशेषस्मृतेरभावात् तत्पूर्वकत्वाच्च सर्वसंशयानाम्। तस्मादस्ति प्रामाण्यादिकम्, तन्निश्चयोपायस्तु चिन्तामर्हति। एवञ्चान्वयोऽस्त्येव। तत्कथं केवलव्यतिरेकीत्यपरितोषादन्वयव्यतिरेकी वा।[१] अनुमानस्य स्वतःप्रमाणतयान्वयस्यापि सम्भवादिति पक्षान्तरोपन्यासान्न पूर्वप्रयोगः सिद्धान्तत्वेन सम्मत इति, तदाप्यस्माकमेव विजयदुन्दुभ्यास्फालना। प्रामाण्यादेरनिर्धारितस्यैव कथाप्रवृत्त्यङ्गत्वात्, निर्धारणपक्षे च परस्पराश्रयात्, पक्षान्तरोपन्यासस्यापि सम्मुग्धसिद्धाङ्गसाधकत्वमेव। तस्मात् यतश्च[२] खल्वयमपि न्यायमुद्राभेदकः प्रयोगः, न खलु स्वतःप्रामाण्यं न्याये।

यदपि स्वतः परतश्चेत्यनुमोदनमुदयनस्य, तदसत; अनुमानस्य प्रामाण्यसाधने

भावदीपिका

निश्चिते प्रामाण्यमित्यन्वयः। तस्मादस्ति प्रामाण्यादिकं क्वचिन्निश्चितमिति शेषः। कथं तन्निश्चितमत आह[३]—तन्निश्चयोपाय इति। मया खलु सन्देहश्चेत् क्वचित्तन्निश्चयोऽपि स्थाण्वादेरिवापद्यते। तदुपायः पुनः सन्देहसिद्धये भवद्भिरेव चिन्तनीय इत्यर्थः। अस्तु निश्चयः क्वचित् प्रामाण्यस्य, ततः सन्देहात् प्रयोगप्रवृत्तौ को दोषः? तमाह—एवञ्चेति। एवमपि न वास्तवादिरूपेण निर्णीतस्य कथाङ्गत्वलाभ इत्याह[४]—तदापीति। न चायं प्रयोगोऽपि युक्तः, दृष्टान्तस्य स्वमताननुरूपत्वादित्याह—यतश्चेति।

अनुमानस्योभयथा प्रामाण्याङ्गीकारान्न प्रयोगस्य दुष्टत्वमित्याशङ्कामपाकरोति—यदपीति। उभयाङ्गीकारेऽनेकवावप्रसङ्गात्। तृतीयप्रकृतिवदुभयत्वग्राहकाभावाच्च। एकतरा-

ज्ञानवती

नहीं होती)। क्योंकि प्रमाण से शून्य विप्रतिपत्ति के सर्वत्र सुलभ होने से सभी वादियों की विधि का निषेध हो जायगा। और जब **प्रामाण्य** ही अनिश्चित है तब तो तद्-अतद् के रूप में सन्देह-भी नहीं होगा क्योंकि विशेषस्मृति नहीं रहेगी और सभी संशय तत्पूर्वक (विशेषस्मृतिपूर्वक) होते हैं। इसलिये प्रामाण्य आदि हैं, उसके निश्चय का उपाय सोचने योग्य है और इस प्रकार अन्वय ही है। तो फिर केवलव्यतिरेकी अथवा अपरितोष होने से अन्वयव्यतिरेकी क्यों? अनुमान के स्वतःप्रमाण होने के कारण अन्वय के भी सम्भव होने से पक्षान्तर का उपन्यास करने के कारण पूर्वप्रयोग सिद्धान्त के रूप में मान्य नहीं है तो भी हमारी ही विजयदुन्दुभि बजती है, क्योंकि अनिर्धारित ही प्रामाण्य आदि कथा की प्रवृत्ति के अङ्ग होते हैं। यदि निर्धारण पक्ष लें तो अन्योन्याश्रय दोष होता है। पक्षान्तर का रखना भी सम्मुग्धसिद्धअङ्ग का साधक ही है। चूंकि यह प्रयोग भी न्याय की रीति का भेदक है इसलिये न्याय में स्वतःप्रामाण्य नहीं है।

जो कि उदयन का स्वत एवं परतः ऐसा अनुमोदन है वह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अनुमान का प्रामाण्य सिद्ध करने में उसी (अनुमान) का दृष्टान्त देने पर विरोध हो जाता

१ (ख) सर्ववादविधि।
२ (ग) यश्च, (घ) यतश्च।
३ (ख) मित्याह।
४ (क) भाव।

तस्यैव दृष्टान्तत्वे विरोधात्। अन्वयस्य च तथात्वेऽन्योऽन्याश्रयात् केवलव्यतिरे-क्याक्षेपस्यापि कथारम्भपूर्वकत्वात्। ततः प्रामाण्यविचाराय प्रागेव प्रारब्धा कथा कथन्न सम्मुग्धोपकरणा ? न चान्वयव्यतिरेकतत्त्वनिश्चयोऽपि प्राक् कथायाः। अतः प्रसिद्धिमात्रशरणैर्न्यायवादिभिरपि प्रसिद्धिशरणास्तत्त्वदर्शिनः कथाधिकारे प्रति-षिध्यन्ते धूर्त्तचौरैरिवेतरचौरा इति साहसमेव बलीयः।

किञ्च प्रमाणादयः पदार्थाः परमार्थसन्त एव कथाङ्गमिति निर्णयो न स्वार्थानुमानात्, तस्यापि मुहुः परिदृष्टव्याप्तिमूलत्वात्। न च लौकिककथासु तथा व्याप्तिदर्शनमस्ति। प्रवादुकानां कथासु तथा निर्धारणायां पूर्वोक्तमन्योऽन्यापेक्षणम्।

भावदीपिका

ङ्गीकारे च स्वतस्त्वे सिद्धान्तविरोधः, परतस्त्वे च न दृष्टान्तलाभः। एवमप्यङ्गीकारेऽनु-मानप्रामाण्यानुमाने तदेव दृष्टान्तः प्रत्यक्षादि वा? उभयथापि दोष इत्याह—अनुमानस्येति। स्वतःप्रामाण्यदृष्टान्तेन प्रत्यक्षादिप्रामाण्यसिद्धेरनुमानगतपरतःप्रामाण्यानपेक्षणान्नान्योऽन्या-श्रयत्वमिति च वाच्यम्। उभयत्वस्य निराकरणादर्द्धजरतीयस्य निर्मूलत्वाच्च सर्वप्रमाणानां स्वतःपरतस्त्वाभ्युपगमः किं न स्यात्? इत्यूह्यम्। तस्मान्न सम्मुग्धाङ्ग-त्वव्यावृत्तिः[१] कथायाः। पक्षान्तरोपन्यासोऽपि सम्मुग्धोपकरणकेवलव्यतिरेकिकथारम्भे सति तदाक्षेपस्याप्यवकाशादप्येवमित्याह—केवलेति। यदुक्तमविनाभावलक्षणं प्रामाण्यमवधार्य केवलव्यतिरेकिणस्तेन प्रमाणानां प्रमाजननलक्षणं प्रामाण्यं साध्यते ततो न सम्मुग्धोपकरणत्व-मिति?—तत्राह—न चेति।

अधुना खण्डनदूषणं व्यवस्थापयति—किञ्चेत्यादिना। दर्शनद्वयतत्त्वस्यानिर्धारिता-ङ्गगुरुशिष्यकथया ज्ञातुं शक्यत्वात् "एकं ब्रह्मास्त्रमि"त्यादि गलगर्जनमात्रमित्यपि द्रष्टव्यम्।

ज्ञानवती

है और अन्य का प्रामाण्य देने पर अन्योऽन्याश्रय हो जाता है। केवलव्यतिरेकी आक्षेप भी कथा का आरम्भ होने पर ही होता है। इसलिये प्रामाण्य के विचार के लिए पहले ही प्रारम्भ की गई कथा सम्मुग्धसाधन वाली क्यों नहीं होगी। और अन्वयव्यतिरेक तत्त्व का निश्चय भी कथा के पहले नहीं होता। अतः प्रसिद्धि ही जिनकी शरण है ऐसे नैयायिकों के द्वारा भी प्रसिद्धिमात्रशरणवाले तत्त्वदर्शी (वेदान्ती) कथा के अधिकार में उसी तरह प्रतिषिद्ध किये जाते हैं जैसे धूर्त्त चोरों के द्वारा अन्य चोर, इसलिए उनका साहस ही बलवत्तर है।

दूसरी बात यह है कि प्रमाण आदि पदार्थ परमार्थ होकर ही कथा के अङ्ग बनते हैं, ऐसा निर्णय स्वार्थानुमान से नहीं हो सकता क्योंकि वह भी बार-बार देखी गयी व्याप्ति के कारण होता है और लौकिक कथाओं मे उस प्रकार का व्याप्ति-दर्शन होता नहीं, तथा प्रवा-दुकों की कथाओं में उस प्रकार का निर्धारण करने पर पूर्वोक्त अन्योऽन्याश्रय दोष हो जाता है। साथ ही साथ कथाप्रयुक्तनिग्रह भी उसमें अप्रविष्ट के लिए नहीं होता। पाशा खेलने-वाले का जो पराजय होता है उसे परीक्षक लोग तटस्थ के ऊपर नहीं मढ़ते। और ऐसा

---

[१] (ख) त्वाद्यावृत्तिः।

कथाप्रयुक्तनिग्रहोऽपि तदप्रविष्टस्य न जाघटीति। नो खल्वक्षान् दीव्यतो यः पराजयः स तटस्थस्योपस्थाप्यते परीक्षकैः। सति चैवं एतावत्यपि कथासमयबन्धानन्तरैव, न रङ्गावताराडम्बरतुल्यतोपालम्भाय। इत्थञ्च प्रमाणादीनां सत्त्वमात्रं कथाङ्गत्वेन परीक्षकाणामपेक्षणीयमिति न सुवर्णोदाहरणावकाशोऽपि। तस्मादनवद्यस्तावदद्वैतदर्शनारम्भ इति सिद्धम्।

[प्रमाणलक्षणपरीक्षा—]

कथादिलक्षणन्तु व्यवहाराय यथाकथञ्चिदस्तु नाम, प्रमाणलक्षणं पुनः परीक्षणीयं प्रमेयविशेषव्यवस्थापनाय। अज्ञातार्थज्ञप्तिः प्रमाणमिति तावद्वैदिकाः।

भावदीपिका

अक्षान् दीव्यतः = अक्षैः क्रीडत इत्यर्थः। सति चैवमिति = कथारम्भस्त्वयाऽऽक्षेप्तव्यो मया साधनीय इत्येवं कथायां सत्यामित्यर्थः। विकल्पदूषणफलमुपसंहरति—तस्मादिति।

[प्रमाणलक्षणपरीक्षा—]

तथापि कथाङ्गप्रमाणदोषानुद्धारे कथं तदारम्भस्यानवद्यत्वमित्याकाङ्क्षाशान्त्यर्थमुपक्रमते—कथादिलक्षणमिति। अज्ञातार्थेति—अत्राह—नैतल्लक्षणम्; यादृच्छिकसंवादिनां दुष्टेन्द्रियाणां, वह्न्यादिलिङ्गविभ्रमाणां विप्रलम्भकवाक्यानाञ्च प्रामाण्यापत्तेः। तत्र यद्यथा पूर्वज्ञानेन प्रकाशितं तत्तथैव मानान्तरेण संवादे मानं यादृच्छिकोऽपि चेदपवादा[भ्युपग]मादौत्सर्गिकः स्वतःप्रामाण्यस्य नैश्चित्येन लक्षणान्तर्गत[त्वाभावादु]क्तानामतिव्यापकत्वाभावात्। प्रामाण्यं हि तत एव न तत्र संवादोपयोगः; किन्तु संवादे सत्यपवादकाभावनिर्णये तस्य नै[य]त्यसिद्धि[र्दृढि]माख्यं स्थापनं [केवलं] स्याद्; वक्तृधीहेतुसम्भवात्। अज्ञातत्वं विपर्यासाद्यर्थस्याप्यस्तीति तत्रातिव्याप्तिरुदयनेनोक्ता। तां निराचष्टे—अज्ञातत्वेनेति। व्यवहारयोग्यत्वे घटादिवद् व्यवहारदशायां रज्जुभुजङ्गादेरपि बाधो न स्यादित्यर्थः। तथापि स्वरूपज्ञानस्यैव स्वरूपे[1] प्रमाणत्वस्वीकारात् "अजेनाजं विबुध्यते", "ज्ञेयाभिन्नमिदं यस्मात्" इत्युक्त-

ज्ञानवती

होने पर इतनी भी कथा समयबन्ध के बाद ही होगी; इसलिए रंगावताराडम्बर की तुल्यता उपालम्भ के लिए नहीं है। इसलिये परीक्षकों के लिए कथा के अङ्ग के रूप में प्रमाणादिकों की केवल सत्ता आवश्यक होनी चाहिये। अतः सुन्दर उदाहरण का अवकाश भी नहीं है। इसलिये अद्वैतदर्शन का प्रारम्भ निर्दुष्ट है।

[प्रमाणलक्षणपरीक्षा—]

कथा[2] आदि का लक्षण व्यवहार के लिये जिस किसी प्रकार का हो, प्रमेयविशेष की व्यवस्था के लिये प्रमाण के लक्षण की परीक्षा करनी चाहिए। "अज्ञात अर्थ का ज्ञान प्रमाण है" ऐसा वैदिक लोग कहते हैं। अज्ञात अर्थ वह है जो अज्ञात होते हुए व्यवहार के योग्य हो। विपर्यास का विषय (शुक्तिरजत) वैसा नहीं है जिससे उदयनाचार्य के द्वारा कही गई अतिव्याप्ति उस (लक्षण) में हो जायगी। यद्यपि स्वभावतः स्वप्रकाश आत्मा चक्षुरादि से उत्पन्न

[1] (ख) रूप। [2] नानाप्रवक्तृकयत्किञ्चिद्विषयकनिर्णयजनको वाक्यसन्दर्भो कथा।

अज्ञातत्वेन व्यवहारयोग्योऽर्थोऽज्ञातोऽर्थः। न च विपर्यासादिविषयस्तादृशो येन तत्रातिव्यापनमुद्यनोक्तं स्यात्। यद्यपि स्वभावप्रतिबुद्धमात्मवस्तु चक्षुरादिजन्यान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बिततत्त्वदर्शिनां बाह्यवत्स्वरूपे प्रमाणम्, तथापि तत्स्वविवर्त्तप्रपञ्चोपगूढं स्वरूपमज्ञातमेवावरणोत्सारणेन ज्ञापयतीति व्यवस्थाप्यते; ततो नाव्याप्तिः। न च (स्वरूपसत्त्वात्[1]) तज्ज्ञातव्याज्ञातव्यसाधारणं प्रमाणं स्यात्, सावित्राणामिव किरणानां दर्पणादिप्रतिफलितानां स्वरूपभूतानामवभासच्छटां तथा

भावदीपिका

त्वात् तेनाज्ञानावकाशासम्भवादज्ञातज्ञापनं तत्राव्यापकमित्याशङ्क्याह—यद्यपीति। प्रमाणकरणकमनोवृत्तिप्रतिबिम्बितस्यैव स्वरूपचैतन्यस्य प्रमाणत्वात्। बाह्यज्योतिषोऽपि न स्वरूपेण तमोविरोधित्वं, किन्तूद्भूतरूपस्यैव; अनुद्भूतरूपस्य तु नयनस्य तमोव्यञ्जकत्वमेव दृष्टम्। न च वाच्यं तेजसः कार्यावस्थाया वास्तवत्वात् तद्रूपेण विरोधित्वमविरोधित्वञ्च स्वरूपेण युक्तम्; चैतन्यस्य सदेकरूपस्य[2] तन्न युज्यते; तत एव "त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यमि"ति तेजसोऽपि कार्यावस्थायाः कल्पितत्वाम्नानात्। अतः स्वरूपेण चैतन्यमज्ञानतमःसाक्ष्येव।

ननु साक्षी मायाप्रतिबिम्बितस्तत्पदार्थश्चेत्? तर्हि तस्य पारोक्ष्यान्नापरोक्षव्यवहाराङ्गत्वम्। एवं शुद्धस्यापि, तस्य संसारदशायामस्फुरणात्। त्वम्पदार्थश्च प्रमाताऽहंवृत्त्यारूढः कार्यकारणसङ्घाततादात्म्यापन्नस्तावन्मात्रव्याप्तिः कथं कर्मफलभोक्ता सन् साक्षी स्यात्? "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति" इति श्रुतेश्च। ततो दुर्घटः साक्षी उच्यते। "कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता" इति श्रुतेश्च, "उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषःपरः॥" इति सर्वेश्वरवचनाच्चास्ति तावदुदासीनः कश्चिज्जीवप्रवृत्तिनिवृत्त्यनुमोदनकर्त्तैव परमात्मनो रूपभेदः साक्षिपदार्थः। स च कारणत्वानास्पदत्वादपरोक्षो[3] जीवनिष्ठाज्ञा[4]नाद्यवभासयंश्च जीवस्यान्तरङ्गः। अतएव देहादिभ्यो व्युत्थायमानो जीवः तत्त्वेन व्यवस्थाप्यते। सुषुप्त्यादौ च कार्यंकारणोपरमे जीवगताज्ञानमात्रव्यञ्जकः प्राज्ञशब्दितः; "प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः प्राज्ञेनात्मनान्वारूढः" इति श्रुतेश्च। तदुक्तम्—"सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेने"ति; अनयोरवस्थयोर्जीवपरयोर्भेदेनोक्तश्रुत्या व्यपदेशादित्यर्थः। अत्र "योऽयंविज्ञानमयः प्राणेषु"इत्यादिप्रघट्टके जीवान्वाख्यानात्[5] तदतिरिक्त ईश्वरो नावगम्यते। एवं सर्वत्र कर्माङ्गकर्त्तृप्रशंसैवेति शङ्कायामत्रापि प्राणादिव्यतिरिक्तः स्वयंप्रकाशो जागरिताद्यव-

ज्ञानवती

अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिबिम्बित आत्मतत्त्व को देखने वालों के लिये बाह्य (वस्तु) के समान अपने रूप में प्रमाण है, तथापि वह (आत्मवस्तु) अपने विवर्त्त प्रपञ्च से घिर जाने के कारण अपने अज्ञात रूप के अज्ञान का उत्सारण करके दिखा देती है ऐसी व्यवस्था है : इसलिये लक्षण में अव्याप्ति नहीं है। यह नहीं कहना चाहिए कि जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित सूर्य की किरणों के स्वरूपभूत अवभास की छटा हम देखते हैं, उसी प्रकार (आत्मा) स्वरूप सत् होने से ज्ञातव्य

---

[1] (क) स्वरूपत्वात्, [2] (ख) सदैक। [3] (ख) कारणत्वादिधर्मानो।
[4] (क) निष्ठमज्ञा, (ख) नियमज्ञा। [5] (ख) त्मा।

कलयामो यत इति वचनीयम्; विशेषात्। तत्र हि प्रभा सावयवा स्वोपाधिमवधूयापि यतस्ततो धावन्ती युक्तं यत्किञ्चिद्विषयं स्फोरयेदिति। इह तु निरंशं कुंभाकाशमिवोपधानपराधीनगतिकं चैतन्यं नोपधानेनाव्याप्तं व्याप्नोति।

नन्वस्य धारावहनज्ञानाव्यापनमभ्यधायि। ननु प्रवृत्तिं प्राप्तिञ्च जनयदेव विज्ञानं प्रमा, तदर्थमेव विषये प्रमानुसरणात्; आद्यञ्च विज्ञानं तथा; ततस्तदेव प्रमेति नाव्याप्तिरिति चेत्, तदसारम्; न ह्यप्रवर्त्तयदेव विज्ञानमर्थं प्रापयति, नापि

भावदीपिका

स्थातीतः "स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय" इति परब्रह्मैकत्वेन प्रतिपाद्यत इति व्यतिरिक्तेश्वरसिद्धिरिति सिद्धान्तितम्। ततो युक्तस्तस्य रूपभेदः साक्षी। स्तम्भाकाशमठाकाशकल्पौ प्रमातृसाक्षिणौ कथञ्चिदुत्प्रेक्षणीयौ। "केवलाविद्याप्रतिबिम्बितञ्चैतन्यं साक्षी; तदेकदेशविकारान्तः करणाद्यवच्छिन्नं तत्प्रमातेत्यविद्यावत् परिकल्पितं साक्षित्वमाश्रित्ये" इति च नैष्कर्म्यसिद्धिः। तेन तस्याज्ञानतमोनिवर्त्तकत्वात् प्रमाणजान्तःकरणावृत्त्यारूढचैतन्यस्य प्रमाणत्वेन तन्निवर्तकत्वमिति सूक्तम्—"प्रमाणरूढमेवैतत् हन्त्यविद्याद्यशेषतः। ब्रह्मविद्भिरतो यत्नात् प्रमाणमिह संश्रितम्।" इति सुरेश्वराचार्योक्तेश्च। ननु दर्पणकृपाणादौ प्रतिबिम्बिता सावित्र्यादिकिरणश्रेणी प्रसरन्ती प्रासादोदराद्यन्तर्वर्त्त्युपेक्षितानपेक्षितपदार्थव्यञ्जिका। चैतन्यमपि वृत्तिदर्पणारूढं[1] तथा स्यात्; तथा च घटाकारवृत्तौ पटादयोऽपि प्रतीयेरन्; गुणज्ञानपक्षे क्रियाज्ञानपक्षे वा तयोः स्वातन्त्र्येण प्रसराभावान्नायं दोषः? इत्याशङ्क्याह—न चेति। एवंस्वरूपस्य प्रमाणत्वेऽतिप्रसङ्गाभावादसम्भवोऽप्यपास्तः।

सम्प्रति परोक्तं निराचिकीर्षुरुत्थापयति—नन्विति। अत्र कश्चिन्मध्ये परिहारमाशङ्कते—ननु प्रवृत्तिमिति। यथा खल्वन्त्यशब्दात् पूर्वशब्दा अज्ञाततया विषयप्रमायां करणभावमनापन्ना न प्रमाणत्वेन स्थापयितुं शक्यन्ते तथा आद्यं मुक्त्वान्त्यात्[2] पूर्वज्ञानान्यपि

ज्ञानवती

अज्ञातत्व दोनों हालत में प्रमाण होगी (क्योंकि उनमें) विशेष-भेद है। किरण सावयव है इसलिए वह अपनी उपाधि (सूर्य) को छोड़कर भी इधर उधर दौड़ती हुई जिस किसी विषय को प्रकाशित कर सकती है किन्तु चैतन्य सावयव नहीं बल्कि निरवयव है। इसलिये घटाकाश के समान पराधीनगति वाला वह उपधान (मन) के द्वारा व्याप्त न किये गये को कभी भी व्याप्त नहीं कर सकता।

इस धारावाही ज्ञान का अव्यापन कह दिया। प्रश्न है कि प्रमा वही होती है जो प्रवृत्ति और प्राप्ति को उत्पन्न करे, क्योंकि उसी के लिये विषय में प्रमा का अनुसरण होता है। इस प्रकार पहला ज्ञान प्रवृत्ति एवं प्राप्ति कारक है इसलिये वह प्रमा है ही;

---

[1] (ख) रूढं निराचिकिर्षु उत्थावयति—नन्विति अत्र कश्चिन्मध्ये परिहारमाशंकते ननु प्रवृ····· तथा स्यात्। [2] (क) आद्यान्त्यात्।

हठादेव प्रवर्त्तयति; किन्तर्हि? अर्थोपदृष्टिरूपतया, सा च सर्वेषां समानेति प्रामाण्यमपि तथा।

[वृत्तेर्निर्गमनं तयावरणभङ्गश्च–]

ननु तत्राप्येकोपधानचैतन्यव्याप्ते कुम्भाकाशक्रोडीकृते पयसीव नोपहितान्तरावकाश इति पूर्वव्यावृत्तौ यावदन्यसङ्क्रमस्तावदज्ञानान्तरावृत्तौ [द्राग् जातायां[1]] ज्ञानान्तरमप्यज्ञाननिवृत्तिफलमिति नाव्यापनावकाशः, मैवम्; एवं सति नानाप्रमातारो नापर्यायमेकं गोचरं गोचरयेयुः, दृश्यते च प्रदीपादिप्रभासङ्करो विषये। किञ्च वृत्तिसञ्चरणपक्षे सञ्चरणद्वाराणां गोचरोपपातिवृत्तीनाञ्च[2] मिथो गोचरीभावसम्भवेन घटादिज्ञाने चक्षुरादीनामपरज्ञानानाञ्च घटादिवदनुसन्धेयता दुर्वारा। (वर्ण्यते[3]) च

भावदीपिका

प्रमोचितव्यापारशून्यतया न प्रमात्वेन व्यवस्थापयितुं शक्यानि। तेन तेषु प्रमालक्षणाभावो नाव्यापनायेति तस्याभिमानः। तत्रोपान्त्यादिशब्दानां कस्यचिदज्ञाततत्वेऽपि दूरश्रवणादिमतां ज्ञातत्वेन तान् प्रति प्रमाकरणत्वेनासमो दृष्टान्त इत्युत्प्रेक्ष्य कक्षान्तरं पूर्वज्ञानानां प्रामाण्यसम्पादनेनाव्याप्तिं सम्पादयति—तदसारमिति।

[वृत्तेर्निर्गमनं तयावरणभङ्गश्च—]

स एव सिद्धान्तिनः प्रतीहारकृत्यं करोति—नन्विति। एवं सिद्धान्तिपक्षपातिना क्षोभितः पूर्वपक्षी दोषसञ्चयमुपक्षिपति—मैवमिति। प्रदीपादिप्रकाशसाङ्कर्यदर्शनाज्ज्ञानप्रकाशसाङ्कर्यमप्यवगम्यते। वृत्तिसञ्चारमपह्नुवानं प्रत्याह वर्ण्यते चेति। श्रुत्युक्त-

ज्ञानवती

फलतः लक्षण अव्याप्त नहीं होगा? यह भी नहीं कह सकते। विज्ञान विना प्रवृत्त कराये अर्थ की प्राप्ति नहीं कराता और न हठात् प्रवृत्त कराता है, तो क्या है? उत्तर है कि अर्थ से सम्बद्ध होकर। और यह अर्थ से सम्बन्ध सभी ज्ञानों का समान है। (इसलिये) सभी ज्ञान का प्रामाण्य है।

[वृत्तिनिर्गमन और उसके द्वारा आवरणभङ्ग—]

(पू०) जैसे घटाकाश में वर्तमान जल में, उसी प्रकार एक उपाधि (प्रथम घट-वृत्ति) से व्याप्त चैतन्य में उपाध्यन्तर (द्वितीय घट-वृत्ति) का अवकाश नहीं रहता इसलिए पूर्व की व्यावृत्ति होने पर जब तक दूसरे का संक्रमण नहीं होता तब तक तुरन्त उत्पन्न अज्ञान की आवृत्ति होने पर ज्ञानान्तर भी अज्ञाननिवृत्तिफल वाला है। इसमें लक्षण अव्याप्त नहीं होगा।

(उ) ऐसा नहीं है। ऐसा होने पर अनेक प्रमाता एक विषय को अपर्याय (पृथक्-पृथक्) नहीं देख पायेगें और एक विषय के बारे में प्रदीप आदि की प्रभा का साङ्कर्य देखा जाता है। इसके अतिरिक्त वृत्तिसञ्चरण-पक्ष में सञ्चरण के द्वारों और विषय के समीप

---

[1] (क) द्रागजातायां, (ख) द्राग्जातायाः [2] (ख) गोचरोपपत्ति।

[3] (क) वर्त्तते च, (ग) वर्ण्यते च, (घ) वर्ण्यते च।

वृत्तिसञ्चारः। तथाहि—कृत्स्नः प्रज्ञानघनः सदानन्दैकरसः पूर्णः पुरुषो वस्तुस्थित्या विध्वस्तसमस्ताविद्योऽप्यवद्यसन्ताननिदानमनाद्यनिर्वाच्याविद्यां व्योमेव जलदपटलमनभिहतोऽपि परिधाय व्योमादिविश्वविवर्तसङ्कुलां सर्वगतोऽपि तथा तत्र तत्र विवर्त-

भावदीपिका

विशेषणैः[1] श्रुतिप्रमाणकत्वमात्मनः सिद्धान्त्यभिमतमाविष्कुर्वन्नाह सिद्धान्तस्पर्शिदोषज्ञापनाय—कृत्स्नः प्रज्ञान इत्यादि। ननु "तदैक्षत" इति विज्ञानस्य क्रियमाणत्वश्रवणात् कथं पूर्णपुरुषत्वम्? तत्त्वे वा कथं क्रियमाणत्वम्? 'बुद्ध्यादयः क्वचिदाश्रिता' इति परिशेषानुमानेन बुद्ध्याद्याधारत्वेनैवात्मनिर्णयाच्च? उच्यते—यत्र हि प्रकृतिप्रत्ययार्थौ ज्ञानक्रियातत्कर्तृत्वे मुख्यौ स मुख्य ईक्षिता[2], यथा परेषामात्मा; ब्रह्मणस्तु निष्क्रियत्वश्रुतेर्न तौ मुख्यौ। तेन सविता प्रकाशयतीतिवदौपचारिकमेव ज्ञानकर्तृत्वम्। ननु "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवताः" इति साहङ्कारेक्षणं ज्ञानकर्तृत्वं गमयति गच्छाम्यहमिति [3]गतिकर्तृत्ववत्, औपचारिकञ्च कूलम् पिपतिषतीति न्यायेन प्रधानस्यापीति न तस्य "ईक्षतेर्नाशब्दम्" इति निराक्रिया स्यात्। मायावृत्तौ प्रतिविम्बदातृत्वं ब्रह्मणो मुख्यमीक्षणञ्चेन्न; तत् प्रधानस्य जडस्य तर्हि सांख्यक्षेत्रज्ञस्य प्रधानपरिणामेषु तदस्तीति तस्यैवायमनुवादः "तदैक्षत," "स ईक्षाञ्चक्रे" इत्यादिर्न तद्व्यतिरिक्तं ब्रह्म जगत्कारणवाक्यसमन्वयगम्यं स्यात्। उच्यते—सृष्टेः प्रागप्यव्याकृतनामरूपप्रपञ्चसम्भिन्नस्य स्वरूपज्ञानस्य तदन्तर्वर्त्यहङ्कारानुरागात् सावित्रकिरणानामिवारुणद्रव्ययोगादारुण्यमहङ्कारत्वमवभासते। गतिरपि देहादिगत्योपचर्यते। तद्विज्ञानात् सर्वविज्ञानश्रुत्या क्षेत्रज्ञातिरेकोऽपि; गौणश्चेन्न"नात्मशब्दात्" इति प्रधानस्य गौणेक्षणनिरासाच्च। अत्र चानुमानसिद्धप्रधानस्य तैरनुवादाशङ्का। तत्र च सच्छब्दवाच्ये गौणेक्षणप्रयोगाशङ्काङ्गीकारमात्रेण सम्प्रतिपन्नप्रमाणेन वेदागृहीते मुख्याद् गृहीतभेदेन च साऽयुक्ता। अनुमानस्य च सम्प्रतिपन्नप्रमाणत्वे निराकरणायोगात्। नित्यञ्च ज्ञानं सांख्यवन्नैयायिकस्याप्यभिमतम्, इच्छाप्रयत्नौ च भगवतः, ततः तस्यौपाधिकजन्मादिव्यवहारवत् ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्य तद्व्यवहारः। अनुमानञ्च बुद्धिमत्कर्तृकानुमानवदौपाधिकविषयम्। न खलु कुलालवदीश्वरो ज्ञानं करोति, ततः इच्छा, ततः प्रयत्नमिति परोऽङ्गीकरोति किन्तु वर्षशतान्तादिकालोपाधिकं नित्यानामपि ज्ञानादीनां

ज्ञानवती

जाने वाली वृत्तियों का परस्पर विषयविषयीभाव सम्भव होने से घटादिज्ञान के समय चक्षु आदि की और अन्यान्य ज्ञानों की अनुसन्धेयता घटादि के समान दुर्वार हो जायगी तथा वृत्ति सञ्चार का वर्णन किया ही जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण, प्रज्ञानघन, सदा आनन्दैकरस, पूर्ण पुरुष वस्तुतः समस्त अविद्याओं से रहित होते हुए भी दूषित सन्तान के आदि कारण अनादि अनिर्वचनीय आकाश आदि विश्वविवर्त से युक्त अविद्या का परिधान कर सर्वगत होते हुए भी उसके द्वारा स्थान-स्थान पर विवर्त्त रूपों से उसी प्रकार परिच्छन्न रहता है, जैसे जलद पटल से यद्यपि अनभिहत तथापि सर्वगत आकाश स्थान-स्थान पर परिव्याप्त रहता है।

[1] (ख) विशेषणे। [2] (ख) ईक्षितो। [3] (ख) गमि।

रूपैरुपगूढः परिच्छन्न इव।

"परागर्थप्रमेयेषु या फलत्वेन सम्मता।
संवित् सैवेह मेयोऽर्थो वेदान्तोक्तिप्रमाणतः॥"

इति सुरेश्वराचार्यैर्बाह्यार्थप्रमाणजन्यवृत्त्यभिव्यक्तचितेर्वेदान्तवेद्यात्मत्ववचनात्। "एक एव परमेश्वरः कूटस्थनित्यो विज्ञानधातुरविद्यया मायया मायाविवदनेकधा विभाव्यते नान्यो विज्ञानधातुरस्ती" ति दहराधिकरणे भगवत्पादैरभिधानात्। स च परमाण्ववस्थो वह्निरिव नोपधानलब्धाभिव्यक्तिमन्तरेण प्रभवति प्रकाशादि-

भावदीपिका

सर्गाद्यनुकूलं[१] जन्म कल्पयत्यनवच्छेदेन सर्गादिपरिहाराय। अस्माभिस्तु बुद्ध्यादिग्राहकतयैवात्माऽनुमीयत इति नैषा शङ्काऽपि। ततो ज्ञानस्य स्वरूपत्वे न कश्चिद्दोषः।

सदानन्देति भास्वरूपत्वमानन्दस्योच्यते। नरकादिदुःखपरिहारहेतुब्रह्मवधादिवर्जनातिरेकेण स्वर्गादिसुखार्थंज्योतिष्टोमादिविधिबलाद् दुःखाभावातिरिक्तसुखावगमादानन्दो दुःखाभावो न भवति; तदनिरूप्यत्वात् भावरूपो वा प्रतियोग्यनिरूप्यत्वादिति वाऽन्यतरासिद्धमित्याशङ्क्येत; ततो नादृतम्। "तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्", "पूर्णमदः पूर्णमिदम्" इति श्रुतेः पूर्णत्वमवगन्तव्यम्। "नित्यनिवृत्तापि मूढैरात्मैव दृष्टा"इति श्रुतेः कदाचिदपि परमार्थसत्त्वाभावाच्च सत्त्वेन प्रतिभासाच्च वस्तुस्थित्येत्यादिविशेषणम्। सर्वगतोऽपि परिच्छिन्न इवेत्यन्वयः। "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः", "स पर्यगात्" इति च श्रुतेः सर्वगतोऽप्यपूर्णः प्रतिदेहं भेदवत्त्वादिति सांख्याः। अत उक्तं—पूर्ण इति। पराञ्चोऽर्थाः येषां=प्रत्यक्षादीनां तेषु=निमित्तभूतेषु या=सर्वविषयाभिव्यक्तिलक्षणफलत्वेन[२] सम्मता संवित् सैव वेदान्तवाक्यप्रमाणेन प्रमेयोऽर्थः। विषयावच्छिन्नानवच्छिन्नविषयत्वेन प्रत्यक्षादेरागमस्य चापूर्वार्थत्वम्। अविद्या मायेति सामानाधिकरण्यात् "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते", "अविद्यायामन्तरेवर्त्तमाना" इत्यादिनिर्देशात् प्राप्तं वैलक्षण्यभेदभ्रमं मायाविद्ययोर्व्यावर्त्तयति। "परास्य शक्तिः"इति श्रुतेः, शक्तेश्च वह्न्यादिशक्तिवत् सति शक्तिमति नोच्छेदः। सत्येवातो ब्रह्मवत्तस्य स्वाभाविकी मायाशक्तिरिति च केषाञ्चिद् भ्रमं व्यवच्छिनत्ति। पारतन्त्र्यमात्रेण शक्तित्वव्यपदेशः, अन्यथा बहुश्रुतिविरोधः स्यात्। मया[दाहा]दीनां वह्निशक्तिवत् मायाशक्तेः स्वरूपधर्मत्वास्मरणाच्च।

ज्ञानवती

"वाह्यप्रमेय अर्थों में जो फल के रूप में स्वीकृत संविद (अर्थात् ज्ञान) है वही वेदान्तोक्तिप्रमाण के द्वारा प्रमेय अर्थ है।"

इस प्रकार सुरेश्वराचार्य ने बाह्य अर्थ के प्रमाण से उत्पन्न वृत्ति से अभिव्यक्त चिति को वेदान्तवेद्य आत्मा कहा है। और दहराधिकरण[३] में भगवान् शङ्कर ने कहा है—"एकही परमेश्वर,कूटस्थनित्य, विज्ञानधातु अविद्या माया के द्वारा अनेक रूप में ज्ञात होता है। विज्ञानधातु से अन्य कोई नहीं है।" और वह परमाणु अवस्था वाले वह्नि के समान उपाधि में प्राप्त

---

१ (ख) फलं। २ (ख) क्त।

३ विषय, संशय, पूर्वपक्ष, सिद्धान्तपक्ष और संगति ये पाँच मिलकर शास्त्रीय अधिकरण बनाते हैं।

कार्याय। तदुपधानञ्च विशुद्धसत्त्वसन्तानमयं मनः स्फटिकोपलनिर्मलं विषयेन्द्रियसम्प्रयोगाददृष्टादिक्षुब्धं विषयपर्यन्तं दीर्घप्रभाकारेण परिणमते। (सा[१]) चान्तःकरणावच्छिन्नं चैतन्यं तदावरणमविद्यापटलं स्वकारणमपि वृश्चिक इव मलीमसविग्रहं गोमयमभिभूयाभिव्यनक्ति। तया क्रोडीकृतं विषयमपि (तदुपगूढं तथैव[२]) व्यक्ती-

भावदीपिका

"भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इति श्रुतौ सम्यक्ज्ञाननिवर्त्याविद्यायां मायाशब्दप्रयोगात्; "तरत्यविद्यां विततां हृदि यस्मिन् निवेशिते। योगी मायाममेयाय तस्मै विद्यात्मने नमः॥" इति श्रुतौ मायाविद्ययोः सामानाधिकरण्येन तत्त्वज्ञानेन तर्त्तव्यत्वाभिधानाच्च; "मायामात्रं तु कात्स्न्र्येनाभिव्यक्तस्वरूपत्वात्" इति सूत्रकारेण तत्त्वज्ञाननिवर्त्ये स्वप्ने विद्यामये मायाशब्दप्रयोगाच्च। अतो मायामयं रूप्यमित्यविद्यामये रूप्ये टीकाकारेण मायाशब्दप्रयोगाच्च नानयोर्वैलक्षण्यं युक्तम्। 'मामेव ये 'प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" इति भगवतैव मायाया अनित्यत्वोक्तेश्च। अविद्यात्मिका हि सा बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या। परमेश्वराश्रया माया=सुप्तिः, यस्यां स्वरूपप्रतिबोधरहिताः शेरते संसारिणो जीवाः। तदेतदव्यक्तं क्वचिदाकाशशब्दनिर्दिष्टं, [यथा] "एतस्मिन्खल्वक्षरे गार्गि! आकाश ओतश्च प्रोतश्च" इति श्रुतेः। क्वचिदक्षरशब्दोदितं, [यथा] "अक्षरात् परतः परः" इति श्रुतेः। क्वचिन्मायेति शब्दितं[३] [यथा] "मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" इति। मन्त्रवर्णा इति "महतः परमव्यक्तम्" इत्यव्यक्तनिर्वचने पुनस्तदैक्यवर्णनाच्च; मुक्तानाञ्च पुनरनुत्पत्तिस्तस्या बीजशक्तेः[४] विद्यया दाहादित्युच्छेदोक्तेश्च। नित्यमायापक्षे श्रुत्यादिविरोधो नित्यानित्यविवेकाभावश्च।

अस्त्वेवं भूतः पुमान् ततः किं?—तत्राह—स चेति। किं तदुपधानमुपाधिः पुंसः?—तदाह—तदुपधानञ्चेति। विशुद्धं सत्त्वं रजस्तमोभ्यामनभिभूतं, सत्त्वगुणप्रधानमहाभूतविकारो ज्ञानेन्द्रियाणीति स्वीकारात्। तया प्रमयापि किं?—तदाह सा चेति। यथा पार्थिवत्वे तुल्येऽपि स्फटिकादेः पृथिवीमात्रसाधारणरूपविलक्षणरूपत्वात्तत्त्वव्यञ्जकत्वं तथा सत्त्वपरिणामस्याविद्यामात्रसाधारणाच्छादकरूपविलक्षणरूपत्वाच्चैतन्यव्यञ्जकत्वम्। अयमेवाभिभवो यदा छादकरूपाननुवृत्तिः यथा वृश्चिकशरीरे गोमयाकाराननुवृत्तिर्गोमयाभिभवः। तथापि कथं विषयावच्छिन्नचैतन्याभिव्यक्तिः?—तत्राह—तयेति। विभिन्नदेशचैत-

ज्ञानवती

अभिव्यक्ति के बिना प्रकाश आदि कार्य के लिए समर्थ नहीं होता। और वह उपाधि है मन, जो कि विशुद्धसन्तानमय, स्फटिक के समान स्वच्छ है। वही विषय-इन्द्रिय के संयोग तथा अदृष्ट आदि से क्षुब्ध होकर विषयपर्यन्त दीर्घप्रभा के आकार के रूप में परिणत होता है। और वह (वृत्ति) अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य अपने आवरण अविद्यापटल को भी उसी प्रकार अभिभूत करके अभिव्यक्त होती है, जैसे मलिन शरीर वाले गोबर को मिटाकर विच्छू। उसके द्वारा क्रोडीकृत विषय को भी, जो कि उससे उपगूढ़ है, वही वृत्ति उसी प्रकार व्यक्त करती है। क्योंकि वृत्ति उभय (विषय और चैतन्य) से संलग्न है, इस

[१] (क) स च, (ग) सा च, (घ) सा च। [२] (क) तदुपगूढ़तयैव, (ख) तदुपगूढं तथैव। [३] (ख) सूचितं। [४] (ख) जीव।

करोति (सैव। वृत्तेः[१]) उभयसंलग्नत्वाच्च तदभिव्यक्तचैतन्यस्यापि तथात्वेन मयेदं विदितमिति संश्लेषप्रत्ययः। वृत्तिलक्षणप्रमाश्रयान्तःकरणावच्छिन्नं तत् प्रमातेत्यपि व्यपदिश्यते। कर्मकारकाभिव्यक्तञ्च प्रमेयं तत्प्रकाशात्मना फलव्यपदेशभाक्। अन्तःकरणचैतन्ययोरैक्याध्यासाच्च वृत्तिलक्षणप्रमाया आश्रयोऽपि चैतन्यम्। एवं वृत्तिव्यञ्जकमपि तप्तायःपिण्डन्यायेन तदेकतामिवाप्तं वृत्तिवद्विषयप्राकट्यात्मना सम्पद्यते। ततः क्रियाफलयोर्यथाक्रमं व्यवस्थिताश्रयविषयलाभः। एवं प्रमात्रादि-व्यवस्थास्तुच्छा इत्यतो भवन्ति सञ्चरणप्रयुक्ता वृत्तेर्दोषाः।

[ज्ञानं नात्मगुणः नापिक्रिया अपितु मनोवृत्तिः—]

अत्रोच्यते—येषां शरीरप्रदेश एव स्वभावजडस्यात्मनो विषयप्रकाशो गुणात्मको

भावदीपिका

न्ययोः कथं सम्बन्धप्रत्ययः?—तत्राह—वृत्तेरिति। प्राकट्यवादे पुनर्न कथञ्चिदेष प्रत्ययो युज्यते अतस्तद्व्याजेन भट्टपादैरप्ययमेव पक्षो न्यरूपीति गम्यते। तथापि चैतन्यस्याविशेषात् प्रमातृफलत्वव्यपदेशः किं निबन्धनः?—तत्राह—वृत्तीति। प्रमाकर्त्ता = प्रमाता अन्तःकरणञ्च तथा; तदवच्छिन्नं चैतन्यमपि प्रमातेति व्यपदिश्यते। अतएव प्रमाया अन्तःकरणाश्रयत्वं, चैतन्यस्य प्रमातृत्वम्। वृत्तिश्च घटं व्याप्नोति, चैतन्यञ्च वृत्तिप्रकाश इति वैरूप्यमपि परिहृतमित्याह—अन्तःकरणेति। एवं सोपस्कारं वृत्तिसञ्चारमुपवर्ण्य तत्प्रयुक्तं दोषमुपसंहरति—अतइति[२]।

[ज्ञानं नात्मगुणः नापि क्रिया अपितु मनोवृत्तिः—]

ननु तत्राप्येकोपधानेत्युपन्यस्तपक्षानङ्गीकारान्न दोषस्तत्प्रयुक्तः, वृत्तिसञ्चारस्तु स्वीकृतः,

ज्ञानवती

कारण उससे अभिव्यक्तचैतन्य का भी उस रूप में (अर्थात् मैंने जान लिया ऐसा) संश्लेष प्रत्यय होता है। इस वृत्तिलक्षणप्रमा का आश्रय जो अन्तःकरण उससे अवच्छिन्न चैतन्य प्रमाता कहा जाता है। (और प्रमाता की प्रमा से) कर्म कारक के रूप में अभिव्यक्त (चैतन्य) प्रमेय कहा जाता है। उसके प्रकाश से युक्त होने से, वह फलव्यवहार का भागी होता है। अन्तःकरण और चैतन्य का ऐक्याध्यान होने से वृत्तिलक्षण प्रमा का आश्रय भी चैतन्य ही है। इस प्रकार वृत्ति का व्यञ्जक भी तप्तायःपिण्डन्याय से उसके साथ एकता को प्राप्त हुए की भाँति वृत्ति के समान विषयप्राकट्य के रूप में सम्पन्न होता है। इसके बाद क्रियाफल के क्रमशः व्यवस्थित आश्रय और विषय की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार प्रमाता आदि की व्यवस्था तुच्छ है, इसलिये सञ्चरण से उत्पन्न होने वाले वृत्ति के दोष होते हैं।

[ज्ञान, आत्मा का गुण या क्रिया नहीं; अपितु मन की वृत्ति है—]

इस विषय में कहते है—जिन (नैयायिकों एवं प्रभाकारों) के मत में स्वभावतः जड़ आत्मा का शरीर-प्रदेश में ही विषयप्रकाश, गुणात्मकविकार है उनके भी मत में (शरीर के)

---

[१] (क) सैववृत्तिः। उभय। (ख) सैव। वृत्ते उभय। [२] (ख) अथेति।

विकारः, तेषामपि मध्यस्थशरीररूपादेरात्मसमवेतधर्मादेश्च भास्वररूपकल्पेन तेन ग्रहणप्रसङ्गादनुसन्धानं समानमापद्येत, विषयसामग्र्या नियामकत्वे नास्माकमपि सा काकैर्भक्षिता। यदि च ज्ञानगुणस्य घटरूपस्येव नान्येन साक्षादस्ति संयोगो वृत्तेः पुनः स्वतन्त्रद्रव्यतया स समस्तीति भवत्येवातिप्रतिकूलम्, तर्हि घटादिज्ञानस्य साक्षादस्त्यात्मसंसर्ग इति घटादिज्ञान आत्मा प्रकाशेतेति गुरुमतप्रसङ्गो; नैयायिकस्य रूपवत्प्रभाद्रव्येण[1] वात्मना ज्ञानवता संसर्गवतामात्मान्तराणामभिव्यक्तिरपि दुर्वारा। तस्मान्नियतैव योग्यता कल्पकानुसारेणानुसरणीया। येषामपि ज्ञानमात्मनः परिणामः क्रियारूपः, तेषामप्युक्तदोषस्तुल्यः।

अघटमानगुणपरिणामाभ्याञ्च[2] न बाह्यविषयाभिव्यक्तिरपि, तत्र गुणपक्षे तस्य[3] देहावरुद्धात्मप्रदेशत्वान्न बाह्यव्यञ्जकत्वन्तावत्। न खलु घटाद्यवरुद्धप्रदीपादिप्रकाशो

भावदीपिका

तत्रोक्तं दोषं परिहरति—येषामिति। यद्विषयसम्पर्काज्ज्ञानं जायते तमेवाभिव्यनक्ति—नान्यमिति। नातिप्रसङ्गश्चेद् वृत्तेरपि तथात्वात् साम्यमस्त्याह—विषयेति। विशेषाभासमाशङ्क्य परिहरति—यदि चेति। प्रसङ्गान्तरेण पूर्वोक्तप्रसङ्गोऽपि दुष्परिहर इत्याह—रूपवदिति। यस्मात्तवापि प्रसङ्गपरम्परा दुरुत्तरा तस्मादेवमेष्टव्यमित्याह—तस्मादिति। नैयायिकपक्षोक्तं भाट्टपक्षेऽप्यतिदिशति—येषामिति। दोषः परिहारश्च तुल्य इत्यर्थः।

स्वपक्षदार्ढ्याय पुनरुक्तपक्षद्वयं प्रत्याचष्टे—अघटमानेति। देहावरुद्धात्मप्रदेशसमवेतस्यैव ज्ञानस्य बाह्यविषयप्रकाशत्वमक्षपादसूत्रावलम्बनेन समर्पितं दूषयति—मैवमिति। मुद्रया यन्मुद्रितं तत्सम्बन्धाद्यो मुद्राकारः सा मुद्रामुद्रितप्रतिमुद्रा। अतएव न मृशा सदृशाकार-

ज्ञानवती

मध्य में रहने वाले शरीर के रूप का और आत्मा में समवेत धर्म आदि का भास्वर रूप सदृश उस (आत्मा में वर्तमान गुण) के द्वारा ग्रहण होने से समानरूप में अनुसन्धान प्राप्त होने लगेगा, और विषय सामग्री के नियामक होने पर हम लोगों (वेदान्तियों) की वह (वृत्ति) भी काकों (नैयायिक एवं मीमांसक) के द्वारा भक्षित (लुप्त) नहीं हो सकती। यदि घट रूप के समान ज्ञान-गुण का अन्य के साथ साक्षात् संयोग नहीं है और वृत्ति का स्वतन्त्र द्रव्य होने के कारण वह (संयोग) सम्भव है इसलिये अत्यन्त प्रतिकूल हो जाता है तो घटादि-ज्ञान का साक्षात् आत्मा से संसर्ग है इसलिये घटादि ज्ञान में आत्मा प्रकाशित होने लगेगी इस प्रकार की गुरुमत की आपत्ति होगी। अथवा नैयायिक के मतानुसार रूपवत् प्रभाद्रव्य ज्ञानवान् आत्मा के साथ सम्बन्ध रखने वाले अन्य आत्माओं की भी अभिव्यक्ति दुर्वार हो जायगी। इसलिये कल्पक के अनुसार नियत योग्यता का अनुसरण करना चाहिये। जिनके मत में ज्ञान आत्मा का परिणाम क्रियारूप है उनके मत में भी उक्त दोष समान है।

असंयुक्त गुण एवं परिणाम से बाह्यविषय की अभिव्यक्ति भी नहीं होगी। इस विषय में गुणपक्ष में उस (ज्ञान) का देह में सीमित आत्मप्रदेश होने से बाह्यव्यञ्जकत्व

---

[1] (ख) द्रव्येणात्मना। [2] (ख) परिणामाभ्यामाभ्याञ्च। [3] (ख) तस्या देहा।

व्यवहितविषयाभिव्यञ्जकः। अथ विषयाभिव्यक्तिर्नाम विज्ञाने तदाकारोल्लेखमात्रम्? न बहिरङ्गरूपस्य विज्ञानाभिव्याप्तिः "बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानं, प्रत्यय इत्यनर्थान्तरम्[१]" इत्यक्षपादवचनात्; न ज्ञानजन्यार्थोपलब्धिन्यायेन भाट्टानामिव, नापि सांख्यवेदान्तिनोरिवान्तःकरणवृत्तिर्विज्ञानम्; तत्राभिव्यक्तञ्च चैतन्यं संवेदनमर्थप्रकाशः, किन्तु विज्ञानमेव संवेदनशब्दार्थो विषयप्रकाशः मैवम्; आन्तरस्य निरवयवस्य विषयावकुण्ठननिमित्तो वा मुद्रामुद्रितप्रतिमुद्रान्यायेन वा नाकारः सम्भवति यतः। अथ नायनतेजसा विषयावकुण्ठनात्तस्य च मनःसम्पर्कद्वारेणात्मसम्पर्कात् तस्य च ज्ञानोपादानत्वात् विषयोल्लेखो विज्ञाने न विरुध्यते ? विरुध्यत

भावदीपिका

ताऽपि; निरवयवस्य द्रुतहाटकादिवत् तदयोगात्। परः प्रकारान्तरेणाकारं सम्पादयति[२]—अथेति। गुणस्याकारो गुण्याकारप्रयुक्तः कुम्भादौ दृष्टो; न च निरवयवस्य गुणिन आकार[३] आकाशस्येव। न चादृष्टकोटचापि गगनस्याकारविशेषकल्पना न्याय्या। तेन निराकारमेव ज्ञानमेष्टव्यमित्याह—विरुध्यते इति। न च स्वतन्त्रं क्षणिकं विज्ञानं स्वरसतो विषयाकारगर्भमुदेतीत्यप्यत एव पक्षान्तरेऽप्युक्तमाह—एवमिति। न परिस्पन्द एवैकः। क्रिया नः[४] कणभोजिवदिति। ज्ञानक्रिया न[५] चलनं भट्टसमये। तथा आत्मनः परिस्पन्दाभावान्न तदाधेयं विषये प्राकटचम्। परिणामस्य च मृदादेरिव नान्यसंसर्गिकार्यजनकत्वं, तेन न प्राकट्याधानसम्भवः। किञ्च ज्ञानक्रिया प्रकाशरूपा, अप्रकाशरूपा, वा? नाद्येत्याह—सा चेदिति। नेदीयसः=निकटतमस्यात्मनिष्ठस्य ज्ञानप्रकाशस्याननुभवो यदा, तदा दवीयसः=दूरतमस्य ध्रुवादिनिष्ठप्राकटचात्मकप्रकाशस्याननुभवे का वार्त्ता ? बाह्यप्रकाशवदान्तरस्या-

ज्ञानवती

नहीं होगा। ऐसा नहीं हैं कि घट आदि से अवरुद्ध प्रदीप आदि का प्रकाश वाह्यविषय का अभिव्यञ्जक होता हो। यदि यह कहिये कि विषयाभिव्यक्ति का मतलव है विज्ञान में उस (विषय) के आकार का उल्लेखमात्र, विज्ञान वाहरी रूप को अभिव्याप्त नहीं करता क्योंकि गौतम का वचन है—"बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान, प्रत्यय ये अपरपर्यायवाची हैं।" भट्टमतानुयायियों के समान ज्ञान से उत्पन्न अर्थोपलब्धिन्याय से भी नहीं। न तो सांख्य एवं वेदान्ती के समान क्योंकि इनके मत में अन्तःकरण की वृत्ति विज्ञान हैं और उसमें अभिव्यक्त चैतन्य संवेदन=अर्थप्रकाश है। किन्तु विज्ञान ही संवेदन शब्द का अर्थ है (जिसका मतलब हैं) विषय प्रकाश (इस प्रकार जब विज्ञान बुद्धि है या अन्तःकरण की वृत्ति है या उपलब्धि से अतिरिक्त है तो फिर यह रहेगा शरीर में ही इसलिये वस्तु के आकार का उसमें उल्लेख होना ही विषयाभिव्यक्ति है? उत्तर है कि) ऐसा नहीं है। क्योंकि आन्तरिक निरवयव (ज्ञान) का विषयसम्बन्धनिमित्तक अथवा मुद्रामुद्रितप्रतिमुद्रान्याय के द्वारा आकार सम्भव नहीं है। यदि यह कहिये कि चाक्षुष तेज से विषय का सम्बन्ध होने से और उस (चाक्षुष तेज) का

---

१ न्यायसू० १।१।१५

२ (ख) समर्थयति।

३ (क) स्य आकार।

४ (क) न क्षण।

५ (ख) अवलम्बनं।

एव, यतो घटाद्यवकुण्ठकसावित्रादिप्रकाशसंसर्गिणोऽपि गगनस्य तदाकारोल्लेखवत्परिणामः कदाचित् केनचिद् दृष्टः स्वीकृतो वा नो निपुणेन। न चादृष्टमप्यघटमानमेव घटयति। एवं क्रियाया अपि निराकारत्वान्न साक्षाद्विषयानुभावकत्वं प्राकट्यव्यवधानाद्वा तदनुमेयायाः। सा चेत् प्रकाशविग्रहा, न प्राकट्यानुमेया। तथाविधाया अप्यस्फुरणे प्राकट्यस्याप्यस्फुरणादलिङ्गत्वम्। यत्र हि नेदीयसोऽपि प्रकाशस्यानावृतस्य नानुभवः तत्र का वार्ता दवीयसः प्रकाशस्य प्राकट्यात्मकस्य लिङ्गस्यानुभवे? न चात्र नायनसावित्रतेजसोरिवानुद्भूतो (द्भूत[१]) रूपत्वादिविशेषोऽस्ति येनोपलम्भानुपलम्भौ व्यवस्थाप्येयाताम्, प्रकाशशरीरताप्रयुक्तस्वप्रकाशत्वविशेषस्य ज्ञानेऽपि दुर्वारत्वात्।

अथाप्रकाशविग्रहा ज्ञानक्रिया, सा प्रकाशविग्रहं विषये प्रमाख्यं फलमाधत्ते?

भावदीपिका

प्युपलम्भानुपलम्भो वाशङ्क्य[ाह]—न चात्रेति। अथ स्वप्रकाशत्वं प्राकटचस्य ज्ञानक्रियातो विशेषः, स किं प्रकाशप्रयुक्तो हेत्वन्तरप्रयुक्तो वा? नान्त्यो, हेत्वन्तरादर्शनात्; नाद्य इत्याह- प्रकाशेति।

द्वितीयमुत्थाप्य निरस्यति—अथेति। प्राक्टयम्प्रमाऽप्रमा वा? आद्यम्प्रत्याह

ज्ञानवती

मन के सम्पर्क के द्वारा आत्मा के साथ सम्पर्क होने से और आत्मा के ज्ञान का उपादान होने से विषय का उल्लेख विज्ञान में विरुद्ध नहीं होता तो विरुद्ध होता ही है। क्योंकि जैसे किसी निपुण ने घट आदि से सम्बद्ध सूर्य की किरणों से सम्बद्ध आकाश में उस (घट) के आकार का उल्लेख न तो देखा अथवा स्वीकार किया है; उसी प्रकार विषय से सम्बद्ध नायन तेज उससे सम्बद्ध मन और उससे सम्बद्ध आत्मा में विषयाकार का उल्लेख किसी ने भी न देखा है और न स्वीकार किया हैं। और अदृष्ट भी अघटमान को ही घटित नहीं कराता। इस प्रकार फलानुमेया क्रिया भी निराकार होने से अथवा प्राकटच का व्यवधान होने से साक्षात् विषय की अनुभाविका नहीं होगी। यदि प्रकाशस्वरूप मानें तो वह प्राकटच से अनुमेय नहीं होगी। प्रकाश रूप क्रिया का स्फुरण न होने पर प्राकटच (जो कि उससे उत्पन्न है) का स्फुरण नहीं होने से वह (ज्ञान, क्रिया के अनुमान में) हेतु नहीं होगा। (इस प्रकार) जहां अत्यन्त निकटवर्ती प्रकाश, जो कि अनावृत है, का अनुभव नहीं होता वहाँ पर दूरवर्ती प्रकाश जो कि प्राकटचात्मक लिङ्ग है, के अनुभव की वात ही क्या हो सकती है। यहां पर यह भी नहीं है कि चाक्षुष एवं सूर्य सम्बन्धी तेज के समान अनुद्भूतरूपत्व एवं उद्भूतरुपत्व आदि भेद हैं जिससे कि उपलम्भ एवं अनुपलम्भ की व्यवस्था हो जाय, क्योंकि प्रकाशशरीरताप्रयुक्तस्वप्रकाशत्वविशेष, ज्ञान में भी रहता ही है।

यदि यह कहिये कि (ज्ञानक्रिया प्रकाशस्वरूप नहीं है वल्कि) अप्रकाशविग्रहा (जड़) है और वह विषय में प्रमा नामक प्रकाशस्वरूपफल को स्थापित करती है? तो यह

[१] (क) नुद्भूतरूप।

नैतदपि न्यायसहिष्णु; प्राकट्यलक्षणप्रमाश्रयत्वे घटादेः प्रमातृत्वप्रसङ्गात्। घर्षणादि-क्रिया हि दर्पणादौ[1] प्रकाशातिशयमादधाना न तत्सम्पर्कमन्तरेणाधत्ते। अथात्रापि स्वाश्रयात्मद्वारेणास्ति विषयसम्पर्कः? तर्ह्यनियमः प्राकट्याधानस्य। अतएव सर्वापि क्रिया स्वातिरिक्तफला इति विज्ञानक्रियापि तथेत्यपास्तम्। न च बुद्धिः क्रिया, "बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" "स्फटिक इव लोहितद्रव्य-सन्निधौ समारोपितलोहितिमा जीवः समारोपितोक्तपरिणामवान् तद्वद्बुद्धिसन्निधौ" इत्यागमान्मनसो बुद्धेरिन्द्रियत्वावगतेः। अतः सावयवसत्त्वात्मकमन्तःकरण-मेवानुद्भूतरूपस्पर्शमदृश्यमस्पृश्यञ्च विषयाकारेण परिणमत इति रमणीयम्।

भावदीपिका

—प्राकट्येति। चेतनवत् प्रमिणोमीति व्यवहारो घटेऽपि प्रसज्येत। द्वितीये 'प्रमितो घटः' इति व्यवहारो न स्यात्। प्राकट्याधानमपि दुर्घटमित्याह—घर्षणादीति। दर्पणादीनां[2] घर्षणक्रियायाः स्वाश्रयद्वारसंसर्गवज्ज्ञानक्रियाया अपि विषयेण संसर्गाङ्गीकारे तदाश्रयस्यात्मनः सर्वगतत्वेन सर्वविषयसंसर्गात् युगपत् सर्वत्र प्राकट्याधानं स्यात्? इत्याह—तर्ह्यनियम इति। एवञ्च सति ज्ञानक्रियायाः फलाधानानुमानमप्यवास्तवमित्याह—अतएवेति। बुद्धेर्गुणवत्त्वश्रुत्या द्रव्यत्वावगमाच्च न क्रियात्ववाचोयुक्तिरपि युक्ता? इत्याह—न चेति। मनस इति "कामः सङ्कल्प" इत्यादिश्रुत्यापि गुणवत्त्वं सूचितम्। न खलु निरवयवस्यात्मनो हाटकस्येव कटकादिः परिणामो बुद्धिः सम्भवति। न च निरवयवं नभो ध्वनिरूपेण परिणमत इत्यपि सम्प्रतिपन्नम्; तद्वती = परिणामवती या बुद्धिः तत्सन्निधावात्मापि तद्वानिवेति। यस्मादात्मन एव गुणो वा क्रिया वा बुद्धिरिति न सम्भवति तस्मादित्युपसंहरति—अत इति। अण्विन्द्रियं मन इति युगपदनेकेन्द्रियविषयावधानप्रसिद्धिभूतविकारश्रुत्यादि-विरुद्धमुपेक्षणीयम्[3]।

ज्ञानवती

भी न्यायसहिष्णु नहीं है। क्योंकि तब तो घट आदि प्राकट्यलक्षण प्रमा का आश्रय हो जाने से प्रमाता हो जायेंगे। घर्षण आदि क्रिया दर्पण आदि में जो प्रकाशातिशय का आधान करती है, वह विना उस (दर्पण) के सम्पर्क के नहीं करती। यदि यह कहिये कि स्व (ज्ञानक्रिया) के आश्रय आत्मा के द्वारा (ज्ञान क्रिया का) विषय के साथ सम्पर्क है? तब तो प्राकट्य की स्थापना में ही अनियम हो जायगा। इसीलिये सभी क्रियायें अपने से अतिरिक्त फल वाली हैं—यह कथन परास्त हो गया। बुद्धि क्रिया नहीं है, क्योंकि बुद्धि के गुण और आत्मा के गुण से भी सूक्ष्म आरा के अग्रभाग के परिमाण वाला (मन) देखा गया है। "स्फटिक के समान" इस आगम से मन (बुद्धि) इन्द्रिय है ऐसा ज्ञात होता है। इस लिये सावयव अन्तःकरण ही, जो कि अनुद्भूत रूप स्पर्श आदि वाला है, अदृश्य है, अस्पृश्य है, विषय के आकार में परिणत होता है। यही बात सुन्दर है।

---

[1] (ख) दर्पणादेः।
[2] (क) दर्पणादिना।
[3] (ख) प्रसिद्धिः।

धारावाहिकज्ञानानामपि प्रत्येकमज्ञानोच्छेदकत्वाच्च नाऽव्याप्तिः। अथैतद्वक्तव्यम्-किमज्ञानं विषयविवर्त्तोपादानमेव प्रमया निवर्त्तते, ततोऽन्यद्वा ? आद्ये कृत्स्ननिवृत्तौ घटज्ञानान्मोक्षः, तावन्मात्रनिवृत्तौ घटस्यापि नष्टत्वात् तद्दर्शनं न स्यात्। अथानारम्भकं निवर्त्यम् ? तदपि मूलाज्ञानांशो वा ? स्वतन्त्रं वा ? (प्रथमं[1]) ज्ञानेनैव निवृत्तम्, द्वितीयादेर्ज्ञातज्ञप्तित्वात् कथं व्याप्तिः ?[2]

अथ यावन्ति ज्ञानानि तावन्ति स्वतन्त्राणि परतन्त्राणि वा अज्ञानानि;[3] ततो न दोषः ? दोष एव। यथा लघुप्रदीपप्रकाशः स्वविषयावरकं तमो निरवशेषेण नाशयति तथा ज्ञानप्रकाशोऽपि समग्राज्ञानध्वंसीति द्वितीयादिज्ञानस्य ज्ञातज्ञापनस्या-

भावदीपिका

[यद्यपि] प्रायणे मनसो देहान्निष्क्रान्तस्य रूपादिमतः पार्श्वस्थानां चक्षुरादिना ग्रहण-व्यवच्छेदार्थमनुद्भूतरूपस्पर्शमित्युक्तं तथापि प्रमाणलक्षणस्याव्याप्तिपरिहारे किमायातम् ? तत्राह—धारावाहीति। प्रासङ्गिकं विचारमारभते—अथेति। प्रतिज्ञातमेव वा आक्षिपति। अज्ञानमेकमनेकं वा ? एकत्वे प्रत्येकमज्ञानोच्छेदकत्वं ज्ञानानामनुपपन्नम्। द्वितीयं प्रत्याह—किमज्ञानमिति। आद्ये घटज्ञानात् कृत्स्नप्रपञ्चोपादानं निवर्त्तते, घटमात्रोपादानभूतो अंशो वा ? क्रमेण दूषणमाह—आद्य इति। अनारम्भकमप्येकमेव, प्रतिज्ञानं भिन्नं वा ? नोभयमित्याह क्रमेण—तदपीति।

लघु सकृत् अशेषावरणनिवृत्तिमन्तरेण विषयप्राकट्यानुपपत्तेः। प्रथमज्ञानेन समस्तोच्छित्तौ च निरावृतचैतन्यस्य स्वयं स्फुरणसम्भवाद्[4] द्वितीया[दि]विज्ञानानामनुपयोग एव स्यात्।

ज्ञानवती

धारावाहिक ज्ञानों में भी प्रत्येक के अज्ञान के उच्छेदक होने से अव्याप्ति नहीं होती। अब यह बताना है कि प्रमा के द्वारा क्या विषयविवर्त्त का उपादान अज्ञान हटाया जाता है या दूसरा ? पहले (पक्ष) में सम्पूर्ण की निवृत्ति होने से घटज्ञान से मोक्ष हो जाना चाहिए। और यदि घटविषयक अज्ञान की निवृत्ति होती है तो घट का ही प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए। यदि यह कहिए कि (ज्ञान का) निवर्त्त्य अनारम्भक है, तो वह भी मूलाविद्या का अंश है या स्वतन्त्र ? यदि पहला है, तो उसकी ज्ञान से ही निवृत्ति हो गई फिर दूसरे तीसरे आदि ज्ञान के ज्ञात के ज्ञापक होने से व्याप्ति कैसे ? यदि यह कहिए कि जितने ज्ञान हैं उतने ही स्वतन्त्र या परतन्त्र अज्ञान भी हैं तब तो दोष नहीं है ? तब भी दोष है ही, जैसे छोटे दीपक का छोटा प्रकाश अपने विषय के आवरक तम को निःशेषतया नष्ट कर देता है उसी प्रकार ज्ञान का प्रकाश भी सम्पूर्ण अज्ञान का नाशक है। इसलिए द्वितीय, तृतीय आदि ज्ञान के ज्ञातज्ञापकत्व का परिहार नहीं किया जा सकता ? यह दोष आप नहीं दे सकते क्योंकि तुल्यता है। पर (नैयायिक) भी ज्ञान को प्रागभावरूप अज्ञान का निवर्तक मानते हैं। वहाँ पर विरोध समान है क्योंकि प्रथम ज्ञान से अज्ञान की निःशेषतया निवृत्ति हो

[1] (क) प्रथम, (ख) प्रथमं,
[2] (ख) कथं न व्याप्तिः।
[3] (ख) वा ज्ञानानि।
[4] (ख) निवृत्त।

परिहारात्। नायं दोषः, तुल्यत्वात्। इष्यते हि परेणापि ज्ञानमग्रहणस्य प्रागभाव-विग्रहस्य निवर्त्तकम्, तत्र विरोधित्वाविशेषात्। निरवशेषेण ग्रहणनिवृत्तौ प्रथमज्ञानेन द्वितीयादेः कृत्यभावः। यद्यग्रहणं न विषयावरणं निवर्त्त्यते ज्ञानेन, तथा सति गेहावरकतमोवत् विषयनिष्ठत्वप्रसङ्गात्; किन्तु प्रमातृगतमेव विषयविषयमिति विशेषः, तस्यैकपदे प्रमातर्यशेषविषयाग्रहणनिवृत्तावेकतमज्ञानेन द्वितीयादेर्वैयर्थ्यम्। स्वप्रागभावमात्रनिवर्त्तकत्वञ्चेत्? उद्भूतैकाज्ञाननिवर्त्तकत्वमत्रापि।

किञ्च बाह्यप्रकाशाभावस्य तमस आवरकत्वदर्शनादान्तरज्ञानप्रकाशाभावस्यापि तत्सम्भवति। तथा च प्रातिस्विकप्रागभावमात्रनिवर्त्तकत्वे विज्ञानस्यान्धकारशता-

भावदीपिका

अंशनिवृत्तौ अंशिनोऽवस्थानमज्ञातस्य पटस्येव न युक्तं येन तन्निवृत्तौ ज्ञानान्तरोपयोगः स्यात्। तमोऽन्तरवदज्ञानान्तरोत्पत्तौ सर्वज्ञानोच्छेदे च का सामग्री? अथ कल्लोलवदवस्था-भेदो ज्ञाननिवर्त्यः? तदोपादाननिवृत्तिर्वाच्या, तस्य च निवृत्त्ययोग्यत्वेनावशेषस्तमोवत् स्यात्। अथ अवस्थाया लयमात्रं ज्ञानसाध्यम्? तन्न; कल्लोलादेर्ज्ञानमात्रेण लयादर्शनात्। तद्वदन्तरेणापि ज्ञानं लयसम्भवाच्च ज्ञानस्य वैफल्यं स्यात्। तस्मात्तमोवदशेषोच्छित्तौ आवरणाभावाद् द्वितीयादिज्ञानस्य वैयर्थ्यमेव। विषयोपादानाज्ञानस्यावरकत्वे च तस्य निवृत्तिर्वक्तव्या, सा च कार्त्स्न्यैकदेशाभ्यां दुर्निरूपेत्युक्तम्। किञ्च नैवं नियन्तुं शक्यम् यच्चक्षुरादिप्रमाण-जन्यवृत्त्या निवर्त्तत एव अज्ञानमिति।

ईश्वरस्य लीलावतारेषु तादृग्वृत्तीनां तस्याज्ञानाभावादेव तदनिवर्त्तकत्वात् प्रतिवन्द्या दूषयति—नायमिति। लीलावतारेषु भगवतश्चक्षुरादिव्यापारवैफल्यञ्च परस्यापि तुल्यम्। अस्मन्मते च जीवकल्पितमेव लीलावतारादिकमपीति न दोष इति भावः। यदि विषयगतम-ग्रहणं[1] स्यात् तदा अशेषाग्रहणनिवृत्तिमन्तरेण विषयस्फुरणायोगात्तन्निवृत्तौ प्रथमज्ञानेन द्वितीया-देर्वैयर्थ्यं स्यात्; तन्नाङ्गीक्रियत इति विशेषमाशङ्क्य परिहरति—यद्यग्रहणमिति। साम्येन[2] परिहर्त्तुं परस्य परिहारमाह—स्वप्रागभावेति। सर्वज्ञत्वादीश्वरज्ञानवैफल्यञ्च[3] समम्।

परपक्षे विशेषदोषमाह—किञ्चेति। जडानां प्रकाशावरणाभावेऽपि स्वरूपावरणं

ज्ञानवती

जाने से द्वितीय, तृतीय आदि का कोई कार्य ही नहीं रहेगा। यदि ज्ञान के द्वारा विषयावरक अज्ञान की निवृत्ति नहीं की जाती है तो ऐसा होने पर घट का आवरण करने वाले अन्धकार के समान (अज्ञान) विषय में रह जायगा। (किन्तु ऐसी बात है नहीं क्योंकि) विषय-विषयक अज्ञान प्रमाता में ही रहता है यह विशेष है। (इसलिये) प्रमाता में (स्थित) एक प्रधान ज्ञान से ही समस्तविषयविषयक अज्ञान की एक ही बार में निवृत्ति हो जाने पर द्वितीय आदि व्यर्थ हो जायेंगे। यदि उसे अपने प्रागभाव मात्र का निवर्त्तक माना जाय तो यहां भी उद्भूत एक अज्ञान का निवर्त्तक उसे मान लेंगे।

इसके अतिरिक्त बाह्यप्रकाशाभाव रूप अन्धकार का आवरकत्व देखा गया है; इसलिए

---

[1] (ख) मत। [2] (ख) एकपदे युदपत् साम्येन। [3] (क) जन्म।

वृतप्रदेशवत् आत्मा न कदाचित् प्रकाशेतापि प्रागेव तद्गतसुखादि। ततो वैफल्यम् ज्ञानस्य। पक्षान्तरे पुनरप्रकाशासम्भवः। ततस्सत्स्वप्यनन्तेष्वज्ञानेषु बहुजनसमाकुलप्रदेश इव वैद्युतनिपातो विज्ञानमितरापसारणेन किञ्चिदेव दहत् स्वोचितं व्यवहारं जनयति यावत् त्रिचतुरक्षणावस्थानं, सन्निपातदोषे प्रबलौषधमिव कमपिदोषं निवर्त्तयदितराभिभवञ्च कुर्वदिति युज्यते।

ननु किमनन्तानि शुक्त्यज्ञानानि? बाढम्; अनन्तान्येव, "यद्यनन्तानि शुक्तिज्ञानानि[1]" इतीष्टसिद्धिकारैरभिधानाच्च। सर्वविषयविवर्त्ताधिष्ठानब्रह्मविचारात्[2] प्रागज्ञानप्रमाणज्ञानयोर्विषयविषयित्वव्यवहारः। विचारिते तु ब्रह्मणि तस्यैव विषयावच्छिन्नस्य स्फुरणास्फुरणे इति तद्विषयत्वमेव ज्ञानाज्ञानयोरिति हि तत्त्वदर्शिनां रहस्यम्। वृत्तिविज्ञानस्य सावयवत्वाच्च ह्रासदशायां दीपज्वालाया इव तमोऽन्तरं

भावदीपिका

घटादीनामिव[4] [पट] धूलीपटलादिना न विरुध्यते। अस्तु तर्ह्यंशेषाग्रहणनिवृत्तिः? इत्यपि न शक्यं वक्तुम्; प्रकाशप्रागभावाभावे सर्वदा प्रकाशोऽप्रकाशो वाऽऽत्मनः स्यात्; इत्याह— पक्षान्तर इति। परपक्षस्यायुक्तत्वमुक्त्वा स्वपक्षस्य युक्तत्वमुपसंहरति—तत इति।

अनन्ताज्ञाने वृद्धसम्मतिमाह—नन्विति। शुक्त्यादिविषयत्वेन ज्ञानाज्ञानयोर्निर्देशोऽनुपपन्नः; जडस्याज्ञानात्मकत्वेन तद्विषयत्वोपयोगिप्रकाशावरणाद्यनुपपत्तेरित्यादिसिद्धान्तविरोधात्; तत्राह—सर्वेति। स्वपक्षे युक्त्यन्तरकथनपूर्वकमव्याप्तिपरिहारमुपसंहरति—विचारिते

ज्ञानवती

आन्तरिक ज्ञान के प्रकाश के अभाव का भी वह (आवरक) हो सकता है। और इस प्रकार विज्ञान के तत्तद् व्यक्ति के प्रागभावमात्र का निवर्त्तक होने पर सैकड़ों अन्धकार से आवृत स्थल के समान आत्मा कभी भी प्रकाशित नहीं होगी, और उसमें वर्तमान सुख आदि तो पहले ही नहीं प्रकाशित होंगे। इसलिये ज्ञान भी व्यर्थ हो जायगा। और पक्षान्तर में तो अप्रकाश की भी सम्भावना नहीं है। इसलिये अनन्त अज्ञान रहने पर भी बहुजनसमाकुलप्रदेश में विद्युत् के गिरने के समान विज्ञान इतर को हटाकर कुछ को ही नष्ट करते हुए तीन चार क्षण तक अपने उचित व्यवहार को उत्पन्न करता है। और सन्निपात दोष में प्रबल औषधि के समान किसी एक दोष को निवृत्त करता हुआ शेष को दबा देता है,' यही ठीक है।

प्रश्न है कि क्या शुक्तिविषयक अज्ञान अनन्त हैं? उत्तर है हाँ अनन्त है। क्योंकि इष्टसिद्धिकार ने कहा है—"यदि शुक्ति के ज्ञान अनन्त हैं"। सब विषय के विवर्त्ताधिष्ठान ब्रह्म के विचार के पहले अज्ञान और प्रमाणज्ञान का विषयविषयी व्यवहार है। और ब्रह्म का विचार हो जाने पर विषयावच्छिन्न उसी का स्फुरण एवं अस्फुरण होता है, इसलिये ज्ञान और अज्ञान का वही विषय होता है, यही तत्त्वदर्शियों का रहस्य है। वृत्तिविज्ञान के सावयव होने से दीपज्वाला की ह्रासदशा में अन्धकार के समान वृत्तिविज्ञान की ह्रासदशा में

---

[1] इ० सि० १-९ [2] (ख) सर्व विषय।
[3] (ख) ततोऽधिक्रममाणं। [4] (ख) मिव धूलीपटलादिमानं विरु-।

मोहान्तरमावरितुं विषयं प्रवर्त्तते, ततोऽपक्रममाणं[३] क्षणान्तरे सामग्र्यनुसारेण विज्ञानान्तरं विषयावरणभङ्गेनैव स्वकार्यं करोति; तथा सर्वाण्यपि; अतिशैघ्र्यात्त-ज्ञानभेदवदावरणान्तरं न लक्ष्यते। अतः प्रतिप्रत्यक्षविज्ञानं मोहभङ्गः। लिङ्गादि-जन्यज्ञाने च विषयस्य सामग्रीत्वाभावात् वृत्त्यालिङ्गनासम्भवेन चैतन्याव्यञ्जकत्वान्न विषयापरोक्षता। केवलं तु सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धलिङ्गादिबललब्धाकारोल्लेख-मात्रेण[१] सुषुप्तव्यावृत्तिमात्रं व्यवहारोपयोगीतिनाव्याप्तिरसम्भवो वा प्रमाण-लक्षणस्य।

[तमसो भावरूपत्वम्—]

ननु 'आलोकाभावस्य तमसः'(इति[२]) कथमुदाहृतम्, यावता 'नीलं तमः' इति तस्य रूपवत्त्वोपलम्भात् द्रव्यत्वेन भावत्वं निश्चीयते? यदपि द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्ति-

भावदीपिका

त्विति। प्रत्यक्षानुमानादिप्रमाणेष्ववान्तरविशेषं दर्शयति—वृत्तीइत्यादिना।

[तमसो भावरूपत्वम्-]

व्यवहितमनुस्मृत्याह शिष्यः—नन्वालोकेति। गुणवत्त्वप्रतीतेः[३]भ्रा[न्ति]त्वान्न द्रव्य-त्वसाधकत्वं चतुर्विंशतिर्गुणा इति गुणानां संख्यागुणवत्त्वप्रतीतिवदित्याशङ्क्य[४] तर्हि वक्तव्यम्-किमालोकात्यन्ताभावस्तमस्तत्प्रागभावादिर्वा? प्रथमेऽपसिद्धान्तः। द्वितीये निष्प्रतियोगि[क]त्व-प्रतीतिविरोधः प्रसिद्ध्युल्लङ्घने[-ने-]ति[५]। पञ्चत्वमापन्नमिति प्रसिद्धौ सत्यां पार्थिवमेवास्म-

ज्ञानवती

दूसरा अज्ञान विषय को आवृत्त करने के लिए प्रवृत्त होता है। इसके बाद दूसरे क्षण में सामग्री के अनुसार आता हुआ दूसरा वृत्तिविज्ञान विषयावरण-भङ्ग के द्वारा ही अपना कार्य करता है, इसी प्रकार सभी। किन्तु अत्यन्त शीघ्रता के कारण ज्ञानभेद के समान अज्ञानान्तर की प्रतीति नहीं होती। इसलिए जितने प्रत्यक्ष विज्ञान हैं उतने अज्ञाननाश हैं, लिङ्ग आदि से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में सामग्री के न रहने से विषय का वृत्ति से आलिङ्गन असम्भव होने के कारण चैतन्य का व्यञ्जक न होने से विषय का प्रत्यक्ष नहीं होता। केवल सर्वशास्त्र-सिद्धान्तसिद्ध लिङ्ग आदि के बल से प्राप्त आकार के उल्लेखमात्र से सुषुप्तव्यावृत्तिमात्र-व्यवहारोपयोगी (विज्ञान होता है) इसलिये प्रमाण के लक्षण में अव्याप्ति या असम्भव दोष नहीं है।

[अन्धकार भावरूप है—]

(पू) आलोक के अभाव = अन्धकार का यह उदाहरण कैसे दिया, क्योंकि नीला 'अन्धकार' इस (व्यवहार) से उसके रूप की प्राप्ति होने से द्रव्य होने के कारण उसके भावत्व का निश्चय होता है? जो कि (यह कहा कि) द्रव्य, गुण, कर्म की सिद्धि का विधर्मी होने से प्रकाश का

---

१ (ख) सर्वत्र। २ (क) वृत्ति, (ख) इति।
३ (क) वच्च। ४ (ख) संख्यावत्त्व। ५ (ख) प्रसिद्ध्युच्छेद्यमेव।

वैधर्म्याद् भावस्तमः, तत्र च व्योम्नीव नीलरूपसमारोपादयं व्यवहार इति, तदपि शून्ये विश्वं समारोपितमिति[1] माध्यमिकमतप्रवेशाय; तमोध्वान्तमन्धकार इति निष्प्रतियोगिकतया प्रतीतस्य कथङ्कारमालोकाभावत्वनिश्चयोऽपि, येन तत्र स्मर्यमाण-नीलरूपं समारोपयति।[2] यदि च द्रव्यादिनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावत्वम्? तर्हि तद-भाववैधर्म्यात् भावत्वमेव कुतो न स्यात्? न खलु कस्यचिद् द्रव्यस्य गुणस्य कर्मणो वा तद्वदभावो यस्ततः प्रचलन् मूर्तिमानालोक्यते केनापि। विद्युता द्रव्येण निष्पत्तिसाधर्म्याच्च सिद्धो हेतुः।

किञ्च न्यायवार्त्तिककारैः—आत्मपदं[3], सार्थकं, पदत्वात्, प्रसिद्धवत्,[4] इति नास्तिकवादं निराकुर्वद्भिः तमःपदेन व्यभिचारमाशङ्क्य, तमःशब्दोऽपि सद्विषय

भावदीपिका

दादिशरीरमित्यस्मादिव निश्चयायोगान्नारोपसिद्धिरिति समाधत्ते—यदपीति। अत्यन्ताभाव-पक्षे चालोकस्य वन्ध्यापुत्रतुल्यता स्यात्; अन्योऽन्याभावपक्षे चालोकसत्ताव्याप्तेऽपि तदन्यो-ऽन्याभाववत्वात्तमोव्यवहारः स्यादित्याद्यधिकोऽपि दोषः। मूर्त्तत्वक्रियावत्त्वप्रतीत्या च नाभावत्वं तमसः; न चात्र रूपस्य घट इव उपाधिर्दृश्यते, वृक्षादिछायायास्तदधिकपरिमाणं तत्ता-रतम्यञ्च तन्निश्चलत्वेऽपि चलनञ्चावलोक्यते यतः; तेन प्रत्युत द्रव्यत्वमेव सम्भाव्यत इत्याह—न खल्विति। भावाभावत्वसाधकं सौत्रं हेतुं निराचष्टे—विद्युतेति। ननु रूपवत्त्वे तमस आलोकनिरपेक्षं चक्षुर्ग्राह्यत्वं न युक्तम् घटादौ तददर्शनात्[5]? नायं नियमः; मार्जारादि-चक्षुष आलोकनिरपेक्षस्यापि रूपवद्ग्राहकत्वात्। न च रूपवत्त्वे स्पर्शवत्त्वप्रसङ्गो दोषः; इष्टत्वात्; विद्यमानस्यापि प्रदीपप्रभास्पर्शवदनुपलब्धिसम्भवात्।

एवमङ्गीकारे[6] स्ववचनविरोधो नैयायिकस्येत्याह—किञ्चेति। निराकृतः स्वग्रहणाय तेजःसम्बन्धो येषां तानि तथा। द्रव्यान्तरादौ तमोव्यवहाराभावात् 'नीलं चलत्तमः' इति

ज्ञानवती

अभाव अन्धकार है और जैसे आकाश में, (उसी प्रकार) उसमें नील रूप का आरोप होने से ऐसा व्यवहार होता है, तो वह (कथन) भी शून्य में विश्व का आरोप है इस माध्यमिक मत के प्रवेश के लिये (हो जाता है)। तम, ध्वान्त, अन्धकार ऐसा निष्प्रतियोगी के रूप में प्रतीत होने वाले का आलोकाभावनिश्चय भी कैसे (हो सकता है) जिससे वहाँ स्मर्यमाण नीलरूप को समारोपित करते हैं। और यदि द्रव्य आदि सिद्धि के वैधर्म्य के कारण अभावत्व है तो उसके अभाव का वैधर्म्य होने से भावत्व ही क्यों नहीं होता? ऐसा नहीं है कि किसी द्रव्य, गुण या कर्म का अभाव ऐसा होता है जो किसी को चलते हुए मूर्तिमान दिखाई देता हो। विद्युत द्रव्य के साथ निष्पत्तिसाधर्म्य होने से हेतु सिद्ध है। और भी न्यायवार्त्ति-ककार—"आत्मा पद सार्थक है, क्योंकि पद है, जैसे कि प्रसिद्ध पद," इस (अनुमान के द्वारा) नास्तिकवाद का निराकरण करते हुए तमपद से व्यभिचार की आशंका करके, तम शब्द भी सद् विषय ही है ऐसे परिहार की अवतारणा कर पुनरुक्तसूत्रव्याघात की आशंका

---

[1] (ख) विश्व समारोपित। [2] (ख) रोपयति च। [3] (ख) आत्मनेपदं।
[4] न्या० वा० ३।१।१ [5] (ख) वर्ण। [6] (ख) मनङ्गी।

एवेति परिहारमवतार्य पुनरुक्तसूत्रव्याघातमाशङ्क्य च सूत्रार्थपरिज्ञानात् निराकृत-तेजस्सम्बन्धीनि द्रव्यगुणकर्माणि तमःशब्देनाभिधीयन्ते, तस्मान्न सूत्रव्याघात इति सद्विषयत्वप्रतिपादनात् तमश्शब्दस्य चलनक्रियानीलरूपवद्द्रव्यं तम इति गम्यते; सत्यम्; तत्तु परप्रसिद्ध्या परं प्रति बोधार्थमुदाहरति।[1] अज्ञानञ्च[2] भावरूपं प्रयोजन-कौमुद्यां निवेदयिष्यामः। सति चैवं साम्येन प्रमाणस्य प्रामाण्यं सफलं सम्पत्स्यते। न खलु तुच्छस्य तमसो मोहस्य वा प्रध्वंसः प्रकाशेन प्रमया वा शक्यसाधनः। सति चैवं चैतन्यज्योतिषो मन्दप्रदीपे वेश्मनि दैपस्येवार्चिषो[3], नयनस्येव च, प्रकाशविरो-

भावदीपिका

व्यवहारगोचराण्येव द्रव्यगुणकर्माणि तम इत्युच्यते। पाकजस्यैव नीलरूपस्य पृथिव्यां गन्धाविनाभावो दृष्ट इति न तमस्यपाकजनीलरूपवति गन्धवत्त्वापादनमित्यादि सर्वं वार्त्तिककृता तमस रूपवत्त्वं वदतोक्तमेव; चक्षुर्व्यापारात्तमःप्रत्ययस्योभयसम्मतत्वाच्च। यदि कस्यचि-न्निमीलितनयनस्यापि 'तमः पश्यामि' इति व्यवहारः, स आलोकाभावस्यापि चाक्षुष्कत्वस्वीकारात्। तेन तुल्ययोगक्षेमः। यच्च प्रमाणं चक्षुरालोकाजन्यरूपिसाक्षात्कारजनकं रूपिग्राहकेन्द्रिय-त्वात्, त्वगिन्द्रियवदिति; तत्पुराणादिप्रसिद्धतमसः सम्भावनाय युक्तिमात्रम्। वितर्तं न यथोक्तम्, रूपवदिन्द्रियत्वात्, घ्राणवदित्यपि प्रयोगसम्भवात्। न च रूपवद्ग्राहकत्वमुपाधिः; यत्पुना[4] रूपवद्ग्राहकं तदालोकाजन्यरूपिसाक्षात्कारजनकं यथा त्वगिन्द्रियमिति व्यतिरेकव्याप्तौ रूपरहितेन्द्रियत्वोपाधेः। एवं शिष्येण भावत्वं तमसः साधितमङ्गीकरोति—सत्यमिति।

इदानीं भावत्वस्योपयुक्तत्वं वक्तुमुपक्रमते—अज्ञानञ्चेति। वक्ष्यमाणोक्त्या कथमुप-योगः सम्पादितः? तत्राह—सति चैवमिति। यद्यपि "त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानाः"

ज्ञानवती

करके, सूत्रार्थ के परिज्ञान से निराकृततेजःसम्बन्धी द्रव्य, गुण, कर्म तम शब्द से कहे जाते हैं इसलिये सूत्रव्याघात नहीं है ऐसा सद्विषयत्व का प्रतिपादन करने से तम शब्द का (अर्थ) चलनक्रिया एवं नीलरूपवाला द्रव्य है ऐसा ज्ञात होता है—कहते हैं ?

(उ) वह तो दूसरे (संप्रदायों) में प्रसिद्धि होने के कारण दूसरे के ज्ञान के लिये उदाहरण दिया जाता है। और अज्ञान भावरूप है ऐसा हम प्रयोजनकौमुदी में निवेदन करेगें। और ऐसा होने पर प्रमाण का प्रामाण्य समान रूप से सफल हो जाता है। तुच्छ तम या मोह का, प्रकाश या प्रमा से प्रध्वंस सिद्ध हो नहीं सकता। ऐसा होने पर मन्दप्रदीप वाले घर में दीप की ज्वाला या नेत्र के समान चैतन्यज्योति की, प्रकाश के विरोधी अन्धकार या माया के साथ सत्ता सिद्ध हो जाती है। (अन्धकार को) आलोकाभाव मानने पर अन्धकार के, सूर्य के तीक्ष्ण प्रकाश के अभाव रूप होने के कारण मन्द दीप आदि के तेज के साथ, अस्तित्व का विरोध (उसी प्रकार) नहीं होता जैसे कि विशेष ज्ञान का प्रागभाव सामान्य ज्ञान से विरुद्ध नहीं होता।

---

१ (ख) बोधनार्थमु। २ (ग) ज्ञानञ्च। (घ) अज्ञानञ्चं।
३ (ख) देवत्वस्येवा। ४ (ख) यस्तु न।

धिना तमसा मायया सहभाव इत्युपपन्नम्। आलोकाभावत्वे हि तमसस्तीव्रसावित्राद्यालोकाभावतया मन्ददैपादितेजसा[१] सहभावो विशेषज्ञानप्रागभावस्येव सामान्यज्ञानेन न विरुध्यते। मायायास्तु निवर्तकचैतन्यज्योतिस्सहभावोऽनुपपन्न इत्याशङ्क्येत; भावरूपस्य तु तमस आलोकमात्रविरोधित्वेऽपि क्वचिदालोकव्यङ्ग्यत्वं सहभाववदत्रापि स इति नानुपपत्त्याशङ्का।

[स्वतःप्रामाण्यवादः—]

अथ प्रामाण्यं निरूप्यते—प्रामाण्यमप्रामाण्यञ्चोभयं स्वत एवेति केचित्।[२] अप्रामाण्यं स्वतः, परतःप्रामाण्यमित्यन्ये।[३] उभयं परत इत्यपरे।[४] प्रामाण्यं स्वतः परतोऽप्रामाण्यमिति तु वैदिकाः। उभयं स्वत इति तावद् विरोधव्याकुलं न मूल-

भावदीपिका

इत्यादि श्रुत्या स्वरूपज्ञानस्याज्ञानसहभावादिकं गम्यते तदेव सत्यं परमानन्दतया काम्यत्वेन कामश्च, बहुवचनञ्च प्रतिबिम्बभावाक्षेपम्; तथापि सम्भावनार्थं दृष्टान्तापेक्षेति भावः।

[स्वतःप्रामाण्यवादः—]

एवं प्रमाणलक्षणं निरूप्य यदुक्तमद्वैतबोधस्य द्वैतबोधाप्रामाण्ये प्रामाण्यानिर्णयान्न तस्य तद्बाधकत्वमिति, तत्स्वतःप्रामाण्यनिरूपणेनार्थान्निराकर्तुमुपक्रमते—अथ प्रामाण्यमिति। तत्र सांख्यबौद्धाक्षपादमतान्यपाकर्तुं स्वमतं स्थापयितुं प्रतिजानीते—प्रामाण्यमित्यादिना। किं सर्वासां ज्ञानव्यक्तीनां स्वतःप्रामाण्यमप्रामाण्यञ्च ? किम्वा कासाञ्चिद् व्यक्तीनां प्रामाण्यं कासाञ्चिदप्रामाण्यम् ? तत्र नाद्यः; इत्याह—उभयमिति। मूलबन्धः[५] = प्रतिज्ञा; प्रथमं निबध्यमानत्वात्। द्वितीये उत्पत्तौ सामग्रीभेदात् स्वतस्त्वाभावो प्रमायाः स्थित एवेति ज्ञप्तिपक्षे

ज्ञानवती

(पू) यह आशंका हो सकती थी कि माया का अस्तित्व निवर्त्तक चैतन्यज्योति के साथ अनुपपन्न हो जाता है ? (उ) जैसे भाव रूप तम आलोकमात्र का विरोधी होने पर भी कहीं आलोक से व्यङ्ग्य होता है और उनका सहभाव हो जाता है, वैसे यहाँ भी (माया एवं चैतन्यज्योति का सहभाव हो जाता है) इसलिये अनुपपत्ति की आशंका नहीं है।

[स्वतःप्रामाण्यवाद—]

अब प्रामाण्य का निरूपण किया जा रहा है—(ज्ञानका) प्रामाण्य और अप्रामाण्य स्वतः ही है ऐसा कुछ लोग (सांख्यमतानुयायी कहते हैं); अप्रमाण्य स्वतः और प्रामाण्य परतः ऐसा दूसरे (बौद्ध कहते हैं); दोनो परतः है ऐसा अन्य (नैयायिक कहते हैं); प्रामाण्य स्वतः और अप्रमाण्य परतः है ऐसा वैदिक लोग कहते हैं।

दोनों स्वतः है यह विरोधव्याकुल (सिद्धान्त) मूलबन्ध के लिये भी नहीं है। (पू) व्यक्ति का भेद होने पर विरोध का समाधान हो जायगा। (उ) तो फिर प्रमाण्य

---

१ (ख) मन्ददैवादि। २ सांख्याः। ३ बौद्धाः, ४ नैयायिकाः। ५ (क) मूलबन्ध।

बन्धायापि। व्यक्तिभेदेन विरोधसमाधानेऽपि कुत्र प्रामाण्यं क्वचाप्रामाण्यमिति निर्धारणहेत्वभावादनध्यवसाय एव। सामग्रीभेदेन प्रमाऽप्रमाव्यक्तिभेदसिद्धावपि ज्ञानत्वेनैव हेत्वन्तरावलम्बने परतस्त्ववादप्रसङ्गात् प्रामाण्याप्रामाण्यावधारणे ज्ञानत्वस्याविशेषादुक्तः संशयः स्यात्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"विज्ञानव्यक्तिभेदेन भवेच्चेदविरुद्धता।
तथाप्यन्यानपेक्षत्वे, किं क्वेति न निरूप्यते॥" इति।[1]

तस्मान्नायं पक्षः क्षोदक्षमः। द्वितीयेऽपि प्रामाण्यस्य परतस्त्वं शुद्धकारणजन्यत्वम्, तदभावे च स्वत एवाप्रामाण्यम्। तत्र कारणशुद्धत्वं सामाग्र्यन्तरासङ्कुलत्वञ्चेदुत्पत्तौ प्रामाण्यस्य कारणम्? तदा स्वतः प्रामाण्यमेवेत्यपराद्धान्तः। विज्ञान-

भावदीपिका

दूषणमाह—व्यक्तीति। कथं निर्धारणहेत्वभाव इति चेत्? तर्हि वक्तव्यम्—किं ज्ञानोल्लेख एव निर्धारणे[2] हेतुः? किं वा गुणदोषाभावप्रत्ययः? नोभयमपीत्याह—सामग्रीति। अन्यानपेक्षत्वेऽपरथापरतस्त्वप्रसङ्गाज्ज्ञानत्वेनैवोभयनिर्धारणमित्यर्थः।

प्रामाण्यस्य परतस्त्वं[3] गुणदोषाभावविशिष्टसामग्रीजन्यत्वं वा? शुद्धसामग्रीजन्यत्वमेव वा? प्रकारान्तरासम्भवात्। अप्रामाण्यस्यापि परतस्त्वं[4] तद्विपरीतं वाच्यम्। तत्राद्यः परतस्त्वपक्षो न्यायान्तर्गतः तन्निरासे निराकरिष्यते। अप्रामाण्यञ्चाशुद्धसामग्रीजन्यत्वमङ्गीकृतमेवेत्याशयेनावशिष्टमनुवदति—द्वितीयेऽपी[ति]। आद्ये प्रकारान्तरसम्भवात् सम्भाव्यमानमनूद्य निराचष्टे—तत्र कारणेति। नित्येश्वरप्रमाङ्गीकारवादे न तस्या ज्ञान-

ज्ञानवती

कहाँ है और अप्रामाण्य कहाँ है इस निर्धारण का हेतु न रहने से निश्चय नहीं हो पायेगा। (पू) सामग्री का भेद होने से प्रमा और अप्रमा व्यक्तियों में भेद सिद्ध हो जायगा। (उ) तब तो ज्ञान के रूप में दूसरे हेतु का आलम्बन करने में परतस्त्व आ जायगा और प्रामाण्याप्रामाण्य के अवधारण में ज्ञानत्व के सामान्य रूप से रहने के कारण उक्त संशय हो जायगा। वही बात कुमारिल भट्ट कहते हैं—

"विज्ञानव्यक्ति के वेद से यदि अविरुद्धता होती है तो भी दूसरे की अपेक्षा न होने पर क्या है कहाँ है, इसका निरूपण नहीं हो रहा है।"

इसलिये यह पक्ष विचारसह नहीं है। दूसरे में भी प्रमाण्य के परतस्त्व का मतलब है शुद्धकारणजन्यत्व, उसके अभाव में स्वतःप्रामाण्य ही है। (पू) कारणशुद्धत्व का मतलब हैं सामग्रयन्तरासंकुलत्व (अर्थात् प्रमा को उत्पन्न करने वाली सामग्री के अवयव से अन्य सामग्री से निर्मित) और यही प्रामाण्य की उत्पत्ति में कारण है?

---

[1] श्लो० वा० १.२.३७.
[2] (ख) निर्धारण।
[3] (ख) स्वतस्त्वं।
[4] (क) स्वतस्त्वं।

सामग्रीजन्यत्वे सति यत्तदन्यजन्यत्वं तदभावस्यैव स्वतस्त्वोत्त्यङ्गीकारात्। तदभावे स्वभावतोऽप्रमाणत्वमित्येतदपि व्याहतम्। शुद्धसामग्र्यभावस्याशुद्ध (सामग्रीत्वेन[1]) तज्जन्यत्वे स्वभावतोऽप्रमाणत्वमित्येतत् कुतो न व्याहन्यते ? बौद्धेन पृथगभावानङ्गीकारात्। किञ्चाज्ञानलक्षणमप्रामाण्यं प्रागभावात्मकं यद्यपि न हेतुमपेक्षते, तथापि विज्ञानशरीरसंशयविपर्यासलक्षणं तदपेक्षत एव; अपरथा प्रमाया अपि विज्ञानविग्रहायाः शुद्धकारणजन्यत्वं तद्वज्जन्यत्वासम्भवेन दूरोत्सारितं स्यात्। अतोऽशुद्धकारणजन्यमप्रामाण्यद्वयमिति न सर्वमप्रामाण्यं[2] स्वतः। एतदप्याहुः—

"अप्रामाण्यं त्रिधा भिन्नं मिथ्यात्वाज्ञानसंशयैः।
वस्तुत्वाद् द्विविधस्यात्र सम्भवो दुष्टकारणात्॥
अविज्ञाने तु दोषाणां व्यापारो नैव विद्यते।
कारणाभावतस्त्वेव तत्सिद्धं नस्त्वदुक्तिवत्॥" इति।[3]

ततो नायमपि पक्षो रमणीयः।

भावदीपिका

सामग्रीजन्यत्वाभावात्तदभावस्यैवेत्युक्तम्। अप्रामाण्यं[4] स्वत इत्यप्ययुक्तमित्याह—तदभाव इति। अथाप्रामाण्यस्य स्वतस्त्वम्, हेत्वभाव एव तत्राह—किञ्चेति।

ज्ञानवती

(उ) तब तो स्वतःप्रामाण्य ही आ जाता है जो कि अपसिद्धान्त है। क्योंकि स्वतस्त्व तो उसीका माना जाता है जो विज्ञान की (जनक) सामग्री से जन्य होते हुए उस (विज्ञानजनक) सामग्री से जन्य न हो उसका अभाव। उसका अभाव होने पर अप्रमाण्य स्वतः है यह भी व्याहत हो जाता है। जब कि बौद्ध लोग अभाव को पृथक् नहीं मानते तो शुद्धसामग्री के अभाव के अशुद्धसामग्री होने से उससे जन्य होने में स्वतः अप्रमाण्य क्यों नहीं व्याहत हो जाता ? इसके अतिरिक्त यद्यपि प्रागभावस्वरूप अज्ञानलक्षण अप्रमाण्य को हेतु की अपेक्षा नहीं है, तथापि विज्ञानस्वरूप संशय एवं भ्रम को उस (हेतु) की अपेक्षा होती ही है; अन्यथा विज्ञानशरीर वाली प्रमा का शुद्धकारणजन्यत्व उस (संशय, विपर्यय) के समान जन्यत्व के असम्भव होने से दूरोत्सारित हो जायगा। इस कारण दोनों अशुद्धकारण से जन्य है इसलिये सब अप्रमाण्य स्वतः नहीं है। यही कहा भी है—

मिथ्यात्व, अज्ञान एवं संशय के भेद से अप्रमाण्य तीन प्रकार का है। (इनमें से) दो प्रकार के अवास्तविक होने से उनकी उत्पत्ति दुष्टकारण से होती है। अविज्ञान में दोषों का व्यापार नहीं होता क्योंकि उसमें (ज्ञान का) कारण नहीं होने से ही हमारा वह (अज्ञान) तुम्हारी (बौद्ध की) उक्ति के समान सिद्ध हो जाता है। इसलिये यह पक्ष भी रमणीय नहीं है।

---

१ (क) सामग्रीमत्वेन।
२ (ख) सर्वं प्रामाण्यं।
३ श्लो० वा० १.२.५४-५५
४ (ख) वेत्य।

तृतीयपक्षावलम्बनेन तार्किकाः—प्रमा, ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीना, कार्यत्वे सति तद्विशेषत्वात्, अप्रमावत्। यदि तावन्मात्राधीना भवेत्, अप्रमाऽपि प्रमैव भवेत्। अस्ति हि तत्र ज्ञानहेतुः। अन्यथा ज्ञानमपि सा न स्यात्। ज्ञानत्वे[1]ऽप्यतिरिक्तदोषानुप्रवेशादप्रमेति चेत्? एवं तर्हि दोषाभावमधिकमासाद्य प्रमाऽपि जायेत, नियमेन तदपेक्षणादित्याहुः।[2]

अत्र परिहारः—यथाश्रुते भागासिद्धो हेतुः स्यात्; ईश्वरप्रमायां कार्यत्वे सति

भावदीपिका

पक्षान्तरं सोपस्कारमाह—तृतीयपक्षावलम्बनेन तार्किका इति। आहुरित्यन्वयः। घटादिहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्वेन[3] प्रमायाः सिद्धसाधनत्वं स्यात्; अत उक्तम्—ज्ञानहेत्वतिरिक्तेति। ज्ञानहेत्वतिरिक्ताधीनेत्युक्ते बाधः स्यात्; तत उक्तम्—हेत्वधीनेति। कार्यं हेत्वधीनमेवेति नियमादतिरिक्तशब्देनाहेत्वभिधाने बाधः, हेत्वभिधाने चास्यैव स्पष्टत्वार्थं हेतुपदम्। तद्विशेषत्वात्=ज्ञानविशेषत्वात्। एतावत्युक्ते ईश्वरप्रमायां व्यभिचारः स्यात्; अत उक्तम्—कार्यत्वे सतीति। कार्यत्वादित्युक्ते स्मृतौ व्यभिचारः स्यात्; तस्याः प्रमासामग्रीजन्यत्वं विपर्यासाद्यप्रमासामग्रीजन्यत्वञ्च नास्ति; तत उक्तम्—तद्विशेषत्वादिति=अनुभवत्वात् अप्रमावदित्यत्रापि विपर्यासाद्युक्तम्। प्रमा दोषव्यतिरिक्तज्ञानहेत्वतिरिक्तजन्या न भवति ज्ञानत्वादप्रमावदिति सत्प्रतिसाधनत्वं न वाच्यम्; जन्यत्वविशेषितोक्तसाध्ये[4] दोषहेतुकत्वोपाधेः। विपक्षे बाधमाह—यदीति। यदि ज्ञानविषयत्वेऽपि प्रमायाः ज्ञानसामग्रीजन्यत्वं तर्ह्यप्रमाया अपि ज्ञानविशेषरूपाया ज्ञानसामग्रीजन्यत्वेन प्रमात्वं प्रसज्येत। अथ ज्ञानसामान्यसामग्रीतोऽधिको दोषोऽप्रमासामग्री[5] तेन प्रमाऽप्रमैव[6] न प्रमा? तर्हि प्रमाया अपि ज्ञानविशेषत्वात् अधिका सामग्री वक्तव्या, सा च दोषाभावरूपा; तस्याः[7] प्रमोत्पत्तौ नियमेनापेक्षत्वादित्यर्थः। किं प्रमामात्रं पक्षः उतानीश्वरप्रमा?—इति विकल्प्य क्रमेण दूषयति—यथाश्रुत इति। विवक्षितसाम्यं[8]

ज्ञानवती

(पू) तृतीय पक्ष के अवलम्बन से तार्किकों का कहना है कि प्रमा ज्ञान के कारण से भिन्न कारण के अधीन है, क्योंकि वह कार्य होते हुए ज्ञान-विशेष है, जैसे कि अप्रमा। यदि तावन्मात्र (ज्ञान के हेतु) के अधीन होती तब तो अप्रमा भी प्रमा ही हो जाती। वहाँ (प्रमा में) ज्ञान कारण है अन्यथा वह (प्रमा) ज्ञान भी नहीं होती।

(पू) (प्रमा को हम ज्ञानमात्र के अधीन कहें तो भी अप्रमा प्रमा नहीं हो सकती क्योंकि) ज्ञान के साथ-साथ अतिरिक्त दोष के अनुप्रवेश से अप्रमा होती है? ऐसा होने पर दोषाभावरूप अधिक अंश को लेकर प्रमा भी हो जायगी क्योंकि नियमतः उसकी अपेक्षा होती है (ऐसा न्यायकुसुमाञ्जलिकार का कथन है—) (उ) यथाश्रुत होने पर भागासिद्ध हेतु हो जायगा। ईश्वरप्रमा में (नैयायिक स्वयं) कार्यत्व होते हुए ज्ञानविशेषत्व नहीं मानते। इसीलिये भाग में बाध भी है। (पू) (उक्त अनुमान में प्रमा शब्द से हम)

---

१ (ग) ज्ञानत्वे व्यतिरिक्त। २ न्या० कु० २.१ ३ (ख) यदि।
४ (ख) साध्य। ५ (क) प्रमा। ६ (ख) प्रमेव।
७ (क) तस्य। ८ (क) साध्यं।

ज्ञानविशेषत्वानङ्गीकारात्। अतएव भागे बाधोऽपि; अनीश्वरप्रमाविवक्षायां विवक्षित-साध्यस्याभावात्, दृष्टान्ते हेतोर्विरुद्धत्वापातात्। अथातिरिक्तहेतुमात्रस्य विवक्षित-त्वाद्विशेषस्य च परिशेषलभ्यत्वाददोषः ? तदाप्यप्रयोजको हेतुः; विपक्षे बाधाभावात्। अथ कथमे[तद्[१]] हेतुदूषणम् ? सिद्धसाधनवदसिद्धान्तर्गतत्वात्। तस्यापि कथन्तदन्तर्गमः ? उच्यते—व्याप्तस्य हि पक्षधर्मताप्रतीतिः सिद्धिः, तदभावोऽसिद्धिः। इयञ्च व्याप्तिपक्षधर्मतास्वरूपाणामन्यतमाप्रतीत्या[२] त्रिविधा, यथासंख्यमन्यथासिद्धि-राश्रयासिद्धिस्स्वरूपासिद्धिरित्याख्यायते। मध्यमाप्याश्रयस्वरूपाप्रतीत्या तद्विशेषण-

भावदीपिका

गुणदोषाभावजन्यत्वं दृष्टान्ते प्रमायां नास्तीति पक्षविपक्षयोरेव वर्त्तमानो हेतुर्विरुद्धः स्यादित्यर्थः।

विशेषमाशङ्क्य परिहरति—अथेति। असिद्धत्वादि हेतुदूषणम्। असिद्धे हि साक्षाद् व्याप्तिपक्षधर्मतयोरन्यतराभाव उद्भाव्यते; विरुद्धादौ[3] तु विपक्षवृत्तित्वादिना व्याप्त्यभावोऽनु-मीयते। बाधाभावविशिष्टो हेतुः सामग्री। कालात्ययापदिष्टे च बाधभावात् हि सामग्रीलक्षण-प्रतिबन्धात् साध्यप्रमोदयः प्रतिबाध्यते[४]। सत्प्रतिपक्षेऽपि[५] समानबलप्रयोगेणाप्रयोजकस्य चासिद्धाद्येकतमत्वानिरूपणात् कथं हेतुदोषता ?—इत्याशङ्क्यउदयनोक्तान्तर्भावनिरूपणेन

ज्ञानवती

अनीश्वरप्रमा लेगें ? (उ) तब तो विवक्षित साध्य ही नहीं मिलेगा क्योंकि दृष्टान्त में हेतु विरुद्ध हो जाता है।

(पू) (हम साध्य में ज्ञान हेतु अंश की विवक्षा नहीं करेगें किन्तु) केवल अतिरिक्त-हेतु की विवक्षा करेगें (वहाँ अतिरिक्तहेतुसामान्य लें तो काम चलेगा नहीं, इसलिये अतिरिक्तहेतुविशेष लेना पड़ेगा। ये हेतुविशेष दो प्रकार के होते हैं—गुण एवं दोष। इनमें से अप्रमा में गुण तो हेतु हो नहीं सकता क्योंकि वह प्रमा का आधायक है, इसलिये) परिशेषात् (दोष को ही मान लेगें) फिर दोष नहीं रहेगा ? (उ) तो भी हेतु अप्रयोजक हो जाता है क्योंकि विपक्ष में बाध नहीं है।

(पू) यह (बाध) हेतु का दोष कैसे है ? (उ) सिद्धसाधन के समान यह भी असिद्ध के अन्तर्गत आ जाता है। (पू) उस (सिद्धसाधन) का ही उस (असिद्ध) में अन्तर्भाव कैसे है ? (उ) व्याप्त की पक्षधर्मता की प्रतीति ही सिद्धि है और उसका अभाव असिद्धि।

और यह व्याप्तिपक्षधर्मता एवं स्वरूप तीनों में से किसी एक की प्रतीति न होने से तीन प्रकार की है जो क्रमशः अन्यथासिद्धि, आश्रयासिद्धि एवं स्वरूपासिद्धि कही जाती है। मध्यमा भी आश्रय के स्वरूप की अप्रतीति तथा उसके विशेषण पक्षत्व की अप्रतीति से दो प्रकार की है। उसमें अन्तिम सिद्धसाधन कही जाती है, क्योंकि व्याप्ति के रहते हुए पक्षत्व के स्वरूप को आघात करके हटा देते हैं।

---

१ (क) एष। २ (ख) अन्यतमां प्रतीत्याह यतिः यथा—।
३ (क) वैरुद्धादौ। ४ (ख) वध्यते। ५ (ख) सप्रति।

पक्षत्वाप्रतीत्या चेति द्वयी। तत्र चरमा सिद्धसाधनमिति व्यपदिश्यते; व्याप्तिस्थितौ पक्षत्वरूपस्याहत्यविघटनात्। न त्वेवं बाधः, प्रथमतो व्याप्तेरेव विघटनादिति विशेषः। अप्रयोजकोऽपि निश्चितोपाधिः शङ्क्यमानोपाधिश्च निवार्यो विपक्षबाधकप्रदर्शनेनैव। तदभावे पक्षस्य विपक्षत्वापत्त्या स्वरूपविघटनादसिद्धो हेतुः।

[दोषाभावस्य प्रमाहेतुत्वाभावः—]

नन्वप्रमाप्यन्यथा प्रमा भवेदित्यवादि बाधकस्तर्कः। अत्र परीक्षणीयम्—अस्ति तावत् सुखसामग्री धर्मः, दुःखसामग्री चाधर्मः, तौ च गुणदोषवन्मिथो विरोधिनौ। तत्र यथा धर्मो नाधर्माभावस्य सुखोदयाय सामग्र्यन्तर्गममपेक्षते,

भावदीपिका

परिहरति अथेत्यादिना। ननु बाधेऽपि पक्षत्वविघटनमेव[१]; नहि प्रत्यक्षेणाग्नेरौष्ण्ये प्रमितेऽनौष्ण्यसन्देहो, येन सन्दिग्धानौष्ण्यवत्त्वेन पक्षत्वं स्यात्? इत्यत आह—नत्वेवमिति। अनौष्ण्यप्रयोगो ह्याहार्यारोपपूर्वकः; प्रत्यक्षञ्च न तं निवारयति किन्तु वह्नेरौष्ण्यं गृह्णत् साध्येन सह हेतोर्व्यभिचारे पर्यवस्यतीति भावः। अस्त्वप्रयोजकस्यासिद्धेऽन्तर्भावस्ततः किम्? तदाह—अप्रयोजक इति। अप्रयोजकं विभजते—निश्चितोपाधिः शङ्क्यमानोपाधिश्चेति। निश्चितः=दृष्टः। यथा विपक्षेऽनवस्थादिबाधकतर्कादनुभूतिस्वप्रकाशत्वानुमाने। कश्चिदुपदर्शितोऽप्युपाधिः पक्षे साध्यनिश्चयबलात् साध्याव्यापकत्वेनापलप्यते। एवमत्राप्यूह्यम्। "व्यभिचाराग्वयं कुर्वन्नुपाधिर्याति दोषताम्। एतदेव हि सर्वेषामुपाधीनां परायणम्॥" इति वचनाद् व्याप्तिभञ्जकत्वेनोपाधेर्दूषणत्वम्। सति च साध्यव्यभिचारात्मकविपक्षस्य बाधकेनोपाध्यवकाश इत्यर्थः।

[दोषाभावस्य प्रमाहेतुत्वाभावः—]

विपक्षे[२] बाधकाभावे शङ्कितोपाधित्वेन हेतोर्व्याप्यत्वासिद्धिः स्फुटा। पक्षत्वविघटनादिति तु मा भूदत्र साध्यमिति परकीयसाध्याभावनिश्चयाभिप्रायेण[३] बाधकं स्मारयित्वा दृष्टान्तस्थलं[४] शुद्धिपूर्वकं दूषयति—नन्वित्यादिना।

ज्ञानवती

(पू) (तो बाध में और सिद्धसाधन में अन्तर क्या है?) (उ) बाध ऐसा नहीं है। उसमें पहले व्याप्ति का ही विघटन हो जाता है। यही अन्तर है। विपक्ष के बाधन से ही जिसका निवारण हो सकता है वह अप्रयोजन भी निश्चितोपाधि और शङ्कयमानोपाधि दो है। पक्ष के निवारण के अभाव में विपक्षत्व की आपत्ति से स्वरूप का विघटन होने से हेतु असिद्ध है।

[दोषाभाव प्रमा का हेतु नहीं है—]

अप्रमा भी अन्यथा प्रमा हो जायगी अतः (उसका) बाधक तर्क कह दिया गया। इस विषय में परीक्षा करनी चाहिए—

सुख की सामग्री धर्म है और दुःख की सामग्री अधर्म और वे दोनों गुण दोष के समान परस्पर विरोधी हैं। ऐसी दशा में जैसे सुख की उत्पत्ति के लिए धर्म, अधर्मभाव को सामग्री के अन्तर्गत आवश्यक नहीं समझता क्योंकि सभी लोग जिसको जानते हैं ऐसा जो

---

१ (ख) पक्षत्वविपक्षत्वविघटन। २ (क) विपक्ष।
३ (ख) याभावे प्रायेण। ४ (क) स्थलपूर्वकं।

सर्वजनप्रतीताधर्माचारस्यापि सुखोदयस्याविगीतत्वात्। किन्तु अधर्माभावे तज्जन्य-दुःखाभाव एव (तथा अत्रापि[१]) दोषव्यावृत्तावप्रमैव व्यावर्त्तत इति न्याय्यम्। सत्यप्यविवादिकाचादिदोषे कदाचित् कस्यचित् प्रमोदयस्याविसंवादित्वात्। अथ न जातिमात्रेण विरोधित्वम्, किन्तु कार्यव्याघातकतया, सा चोद्बुद्धदशायामेव, तेन तदभावः कार्यसामग्रीति मतम्? तर्हि प्रसुप्त्यापि कार्यसिद्धौ न नियमेन तदभावोऽपेक्षणीयः। न च प्रसुप्तिरपि नियता; दोषस्य सर्वथा तदभावेऽपि कार्याभ्युपगमात्। एवम् (व्यवस्थितौ[२]) कथङ्कारं (तेऽव्यवस्थित[३]) मूलाप्रमायाः प्रमात्वप्रसञ्जनं साधीयः। (व्यवस्थिते हि[४]) साध्ये व्यवस्थितं बाधकमुपन्यस्तव्यम्। अथ मतम्–

भावदीपिका

विशेषमाशङ्क्याभ्युपगमविरोधेन निराचष्टे—अथेति। उद्बुद्धत्वम्=कार्योन्मुखत्वम्। अस्तु तर्हि दोषस्य प्रसुप्तिरेव सामग्री? नेत्याह—न चेति। ततः किम्? तदाह—एवमिति। दोषस्य स्वरूपेण अभावस्य तद्धर्मोद्बुद्धत्वाभावस्य[५] वा नियतप्रमाकारणत्वानिरूपणे सति[६] प्रमा ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनेत्यत्रातिरिक्तहेत्वनिर्धारणादव्यवस्थितत्वम्[७]। साध्यस्य व्यवस्थितत्वं प्रकारान्तरेणाशङ्क्याभ्युपगमविरोधेनैव प्रत्याचष्टे—अथ मतमित्यादिना। निश्चितसाध्याभावे बाधकं वाच्यम्; अत्र च साध्य-

ज्ञानवती

अधर्माभाव वह सर्वसम्मत्या सुख की उत्पत्ति का (कारण) हो जाता है। किन्तु अधर्म का अभाव होने पर उस (अधर्म) से उत्पन्न होने वाले दुःख का अभाव हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी दोष की व्यावृत्ति होने पर अप्रमा ही व्यावृत्त होती है यही ठीक है। क्योंकि सर्व-सम्मत काच आदि दोष होने पर भी कदाचित् किसी को प्रमा का उदय अविसंवादी (सफल) है।

(पू) (दोषत्व) जातिमात्र से विरोध नहीं है बल्कि कार्य के व्याघातक के रूप में विरोध है और यह (कार्य की व्याघातकता दोष के) उद्बुद्ध (प्रबल) होने पर ही होती है इसलिये उसका अभाव कार्य (प्रमा) की सामग्री है यह हमारा तात्पर्य है? (उ) अब तो प्रसुप्ति के द्वारा भी कार्य की सिद्धि होने पर नियमतः उसके अभाव की अपेक्षा नहीं होगी। और दोष की सर्वथा प्रसुप्ति भी नियत नहीं है क्योंकि उस (प्रसुप्ति के) अभाव में कार्य होता है। इस प्रकार अव्यवस्था होने पर तुम्हारा, अव्यवस्थितमूलवाली अप्रमा को प्रमा मानना कैसे उचित होगा। और साध्य के व्यवस्थित होने पर ही बाधक को उपन्यस्त करना चाहिए। (पू) कभी दोष की उदासीनता कभी उच्छेद कार्य (प्रमा) का उपकारी होता है यही अतिरिक्तहेतु के सापेक्षत्व की व्यवस्था हैं, राजसभा आदि में कार्य में

---

१ (क) तथापि। २ (क) एवमप्यवस्थितौ। ३ (क) तेऽप्यवस्थितमूला। (ख) तेऽप्यवस्थितदोषमूला। ४ (क) व्यवस्थितेऽपि। ५ (क) वैरुद्धादौ। ६ (क) णेति। ७ (क) सप्रमा।

कदाचिद् दोषस्यौदासीन्यं कदाचिदुच्छेदः कार्योपकारीत्यस्त्येवातिरिक्तहेतुसापेक्षत्वव्यवस्थितिः; प्रार्थ्यते च दुर्जनैदासीन्यं राजसभादौ कार्यव्यापृतैः[1] ? नैतत्; नियमेन तदपेक्षणादितिर वोक्तिविघातात्। अथ नियमेन दोषकार्याभावोऽपेक्षित इति मतम्? तदपि न; विनश्यदविनश्यदवस्थयोः प्रमाप्रमयोः समावस्थानस्वीकारात्। ततो बाधकस्य व्यवस्थापयितुमशक्यत्वादप्रयोजकत्वं हेतोस्सिद्धम्।

अथैवं प्रत्यवतिष्ठते—वैदिकेनापि वेदस्य दोषात्यन्ताभावनिबन्धनं प्रामाण्यमिष्यते, तत्कथं परमुखमुद्रणमेव क्रियत इति? स वक्तव्यः; परमताकुशलोऽसीति; यतः स्वतःप्राप्तस्य प्रामाण्यस्यापवादको दोषोऽत्यन्तं वेदे पुरुषसम्बन्धशून्ये नास्ति[3] इत्येतावन्मात्रं परस्य मतम्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"स्वतः सर्वप्रमाणानां प्रामाण्यमिति गम्यताम्।
नहि स्वतोऽसती शक्तिः कर्त्तुमन्येन शक्यते॥" इति।[4]

अज्ञातज्ञापनशक्तिः प्रामाण्यम्। तच्च सर्वलौकिकवैदिकप्रमाणानां स्वार-

भावदीपिका

स्यानिश्चितत्वान्न बाधकस्थलमित्यप्रतिष्ठितमेतत् यद् बाधकमितिस्थितमप्रयोजकत्वमित्याह—तत इति।

एवं परतस्त्वप्रमाणं निराकृत्य युक्तिं निराचष्टे—अथैवमित्यादिना।

ज्ञानवती

'नियमतः उसकी अपेक्षा होती है' इस अपनी उक्ति से विरोध हो जाता है। (पू) नियमतः हम दोष के कार्य (अप्रमा) के अभाव की अपेक्षा रखते हैं? (उ) यह भी ठीक नहीं। क्योंकि विनश्यत् अविनश्यत् अवस्था वाली प्रमा एवं अप्रमा का समान (अवस्थान) स्वीकृत है। इसलिये बाधक की व्यवस्था करना अशक्य होने से हेतु का अप्रयोजकत्व सिद्ध है। (पू) वैदिक भी वेद का दोष के अत्यन्ता भाव वाला प्रामाण्य चाहते हैं फिर (वे) दूसरें का ही मुख क्यों बन्द करते हैं?

(उ) उसको कहना चाहिये कि तुम दूसरे (वैदिक) के मत में कुशल नहीं हो। क्योंकि दूसरे का इतना ही मत है कि अत्यन्त पुरुषसम्बन्धशून्य वेद में स्वतःप्राप्त प्रामाण्य का अपवादक दोष नहीं है। भट्टपाद कहते हैं—

"सभी प्रमाणों का प्रामाण्य स्वतः है ऐसा समझना चाहिये। क्योंकि अपने में न रहने वाली शक्ति दूसरे के द्वारा नहीं की जा सकती।" अज्ञात को बताने वाली शक्ति ही प्रामाण्य है। और वह सभी लौकिक-वैदिक प्रमाणों में स्वाभाविक है। (पू) (गुणांधायक लगे लोगों के द्वारा दुर्जनों की उदासीनता वाञ्छित होती है? (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि पुरुष के द्वारा निर्मित न होने के कारण) गुण की निवृत्ति होने से अप्रामाण्य के भी सम्भव

---

१ (ख) कार्यव्यापृतेः। २ (ख) नियमेनादोष।
३ (क) शून्ये (नास्ति) तद्वत इति विपर्यासादाविव नास्ति। (ख) शून्ये तद्वत्।
४ श्लो० वा० १।२।४७।

सिकमित्यर्थः। यदप्याह—अप्रामाण्येऽपि गुणनिवृत्त्या सम्भवति कथं निरपवादं वेदस्य प्रामाण्यम्? इति कश्चित्[1]; तदपि तस्येश्वरज्ञानप्रामाण्योदाहरणेन परिहरणीयम्। न तस्य तेनोत्पत्तौ गुणपर्येषणं क्रियते। अथवा लोकेऽपि न तावद् गुणस्य प्रामाण्यकारणत्वम्, किमुत वेदे। गुणो हि वैशिष्ट्यायापेक्ष्यते न स्वरूपायैव। तथा च स्वारसिकप्रमाजननशक्तिभिः कारणैः प्रमोत्पादादलं गुणपर्येषणया। न खलु स्वशक्तिविरहे सहकारिसहस्रैरपि शिलाशकलमङ्कुरोत्पादाय प्रभवति। गुणोपयोगश्चाभ्यधायि भट्टपादैः—

"तस्माद् गुणेभ्यो दोषाणामभावस्तदभावतः।
अप्रामाण्यद्वयासत्त्वं तेनोत्सर्गोऽनपोदितः॥" इति।[2]

योऽप्याह—दोषेभ्यो गुणाभाव इति वैपरीत्यं किं न स्यादिति? स वक्तव्यः। कोऽभिप्रायः? किं दोषस्याकारणत्वादप्रामाण्यं स्वत इति? यद्वा यथाकथञ्चित्[3]

भावदीपिका

दोषाभावस्य प्रमाकरणत्वसम्पादनयुक्तिः प्रत्युक्ता; गुणस्य तत्सम्पादनयुक्तिं प्रत्याचष्टे—यदपीति। गुणाभावे प्रामाण्याभाव इति व्यतिरेको व्यभिचारेण व्युदस्तः। सम्प्रति यत्र प्रामाण्यं तत्र गुणसामग्रीत्यन्वयोऽपि तत्रैव व्यभिचरितोऽनुपयोगदुष्टश्चेत्याह—अथवेति। तर्हि किं सर्वथा गुणानुपयोगः? तत्राह—गुणोपयोगश्चेति। यदा तु दोषाभाव एव गुणस्तदा नायं प्रयासोऽपि। अप्रामण्यद्वयम्=संशयविपर्यासलक्षणम्। [उत्सर्गः][4] ज्ञानसामग्रीमात्रजन्यत्वं प्रमायाः। प्रमाऽप्रमाव्यक्तिव्यतिरेकेण जन्यस्य ज्ञानसामान्यस्याभावान्न प्रमायाः ज्ञानविशेषत्वेनाधिकसामग्र्यापादनं युक्तम्।

अन्यदपि उदयनोक्तं विकल्पेन निरस्यति—योऽप्याहेति। प्रकारान्तरगुणदोषाभावापेक्षणं प्रामाण्यस्य; अतस्त्वया यथाकथञ्चित् वक्तुमशक्यम्। उत्पत्तावनुपयोगेऽप्यन्यत्रोपयोगः

ज्ञानवती

होने पर वेद का प्रामाण्य निरपवाद कैसे है? ऐसा कोई (उदयनाचार्य) कहते हैं। (उ) इसका परिहार ईश्वरज्ञानप्रामाण्य के उदाहरण के द्वारा करना चाहिये। उस (ईश्वर ज्ञान) की उत्पत्ति के विषय में उस (वादी) के द्वारा गुण का अन्वेषण नहीं किया जाता। अथवा लोक में भी गुण प्रामाण्य का कारण नहीं है फिर वेद में क्या (कहना क्योंकि) गुण की आवश्यकता वैशिष्ट्य के लिये होती है स्वरूप के लिये नहीं। और इस प्रकार स्वाभाविकप्रमाजननशक्तिवाले कारणों के द्वारा प्रमा की उत्पत्ति होने से गुण का अन्वेषण व्यर्थ है। अपनी शक्ति का अभाव रहने पर हजारों सहकारियों के द्वारा भी शिलाशकल अङ्कुर की उत्पत्ति के लिये समर्थ नहीं होता। गुण का उपयोग भी भट्टपाद के द्वारा कहा गया है—"इसलिये गुणों से दोषों का अभाव (और) उसके अभाव से दोनों अप्रमाण्यों की असत्ता (होती है) इससे उत्सर्ग अवाधित है।" (पू) (गुणों से दोष के अभाव का ज्ञान करते हैं ऐसा कहा है, फिर ऐसा क्यों नहीं कहते कि) दोषों से गुण का अभाव होने पर

---

[1] कुसुमाञ्जलावुदयनः, [2] श्लो० वा० १।२।६५। [3] (ख) यद्वा कथञ्चित्। [4] (क) लक्षणं उत्सर्ग। (ख) ससर्ग

वक्तुं मयापि शक्यमिति ? नायं नियमः; आद्ये तवैवाप्रमावदिति परतःप्रामाण्य-निदर्शनोच्छेदः। अन्त्ये प्रकारान्तरासम्भवस्योक्तत्वान्न तेन तव निर्वाहः। न चोत्पन्न-ज्ञानस्य कार्याय गुणापेक्षेति निर्वाहप्रकारः; अर्थनिश्चयात्मकस्य तस्य फलान्तरा-सम्भवात् व्यक्तत्वादिव्यवहारस्य तावन्मात्रसाध्यत्वात्। तदप्याहुः—

"आत्मलाभे हि भावानां कारणापेक्षिता भवेत्।
लब्धात्मनां स्वकार्येषु[1] प्रवृत्तिस्स्वयमेव तु॥" इति॥[2]

तस्माद्विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यन्याजन्यत्वमुत्पत्तौ प्रमायास्स्वतस्त्वं निर्मलम्। एवं ज्ञप्तावपि[3] ज्ञानज्ञापकसामग्रीमात्रज्ञाप्यत्वं स्वतस्त्वं झटिति प्रचुरसमर्थ-प्रवृत्त्यन्यथानुपपत्तिलक्षणार्थापत्त्याऽवसातव्यम्।

भावदीपिका

स्यात्? इत्याशङ्क्याह—न चेति। प्रतिभासमानप्रामाण्यापवादकदोषनिवारणोपयोगश्चेत्? अङ्गीकार एव परिहारः। निरपवादज्ञानस्य च स्वयमेव स्वोचितकार्यहेतुत्वान्न गुणापेक्षा; तच्च कार्यं न प्राकट्यम्, तन्निराकरणात् इत्याह—फलान्तरेति। अथ 'ज्ञातो घटः' इति जल्पनादिव्यवहारः कार्यः, तत्रापि न गुणोपयोगः; दोषजज्ञानेऽपि दर्शनात्—इत्याह—व्यक्त-त्वादीति[4]। एवमुत्पत्तौ फले च स्वतस्त्वं निरूप्य ज्ञप्तौ निरूपयति—एवमिति।

ज्ञानवती

(अप्रमाण्य स्वतः है और प्रामाण्य ही परतः है?) (उ) उससे कहना चाहिये कि क्या अभिप्राय है? क्या दोष का कारण न होने से स्वतः अप्रामाण्य है? अथवा मैं भी जिस किसी तरह कह सकता हूँ? (उ) यह नियम नहीं है। पहले पक्ष में तुम्हारे अप्रमा वाले इस परतः प्रामाण्य का उच्छेद हो जायगा। यदि दूसरा पक्ष माने तो (स्वतः एवं परतः से) अतिरिक्त प्रकार के असंभव कहे जाने के कारण उससे तुम्हारा निर्वाह नहीं है।

(पू) उत्पन्न ज्ञान के कार्य के लिये गुण की अपेक्षा है यही निर्वाह प्रकार है? (उ) उसका अर्थनिश्चयात्मक फलान्तर असम्भव है क्योंकि व्यक्तत्व आदि व्यवहार उतने से साध्य है। कहा भी है—"भावों के आत्मलाभ के विषय में कारण की अपेक्षा होती है। और आत्मलाभ वाले (भावों की) अपने कार्यों में प्रवृत्ति स्वयं ही हो जाती है।" इसलिये विज्ञानसामग्री से जन्य होते हुए अन्य से जन्य न होना, प्रमा की उत्पत्ति में स्वतस्त्व निर्मल है। इसी प्रकार प्रमात्वज्ञान के होने पर ज्ञप्ति में भी ज्ञान की ज्ञापक सामग्रीमात्र से ज्ञाप्य होना (ज्ञप्ति) का स्वतस्त्व है और इसका निश्चय तुरन्त प्रचुरसफलप्रवृत्ति की अन्यथाअनुपपत्तिलक्षण वाली अर्थापत्ति से होना चाहिये।

---

१ (ख) स्वकार्यें तु।
२ श्लो० वा० १।२।४८।
३ (क) एवं प्रमाग्रहे।
४ (क) त्वादिति।

[उदयनेन स्वतःप्रामाण्यदूषणं तत्परिहारश्च—]

ननु "अन्यथैवोपपत्तेर्नैतद्; झटिति प्रवृत्तिर्हि तत्कारणोपनिपातमन्तरेणानुपपद्यमाना तदाक्षिपेत् प्रचुरप्रवृत्तिरपि स्वकारणप्राचुर्यम्। इच्छा हि प्रवृत्तिकारणम्। तत्कारणमपीष्टाभ्युपायताज्ञानम्। तदपि तज्जातीयत्वलिङ्गानुभवप्रभवम्। सोऽपीन्द्रियसन्निकर्षजन्मा। न तु प्रामाण्यस्य क्वचिदुपयोगः। उपयोगे वा स्वत इति कुतः? (यतः)[१] समर्थप्रवृत्तिप्राचुर्यमपि प्रामाण्यप्राचुर्यात्, तद्ग्रहणप्राचुर्याद् वा; स्वतस्त्वं तु तस्य क्वोपयुज्यते[२]? नहि पिपासूनां झटिति प्रचुरा समर्था प्रवृत्तिरम्भसीति पिपा-

भावदीपिका

[उदयनेन स्वतः प्रामाण्यदूषणं तत्परिहारश्च—]

उदयनोक्तं दोषमुत्थापयति—नन्विति। एवकारोऽप्यर्थः। अन्यथाप्युपपत्तेरित्यर्थः। एतत् प्रपञ्चयति—झटितीति। किन्तर्हि प्रवृत्तिकारणं, तस्य तस्यापि? इत्यत[३] आह—इच्छेति। ननु प्रामाण्यं तस्य च स्फुरणं विनेच्छैव समर्थप्रवृत्तिबीजं दुर्घटेत्यत आह—उपयोगे वेति। इच्छाद्वारेणेत्यर्थः। अनुपयोगं तावन्निराकरोति—प्रामाण्येति। प्रामाण्यस्य स्फुरणेन प्रवृत्तीच्छाया व्यभिचारमाशङ्क्य परिहरति—दृष्टार्थेति। ननु प्रतिभातस्यापि[५] प्रामाण्यस्य व्यभिचारेणापवादान्न वस्तुनः सम्भावना प्रमाणम्? इत्याशङ्क्य, प्रामाण्यस्फुरणं मया प्रवृत्तिप्रयोजकमुपादीयते[४] न तत्सत्ता, स्फुरणाभावे च न सम्भावनासहस्रेणापि प्रवृत्तिसिद्धिरित्याह—

ज्ञानवती

[उदयन के द्वारा स्वतःप्रामाण्य का दूषण और उसका परिहार—]

(पू) कुसुमाञ्जलिकार का कथन है कि—अन्यथा ही उपपत्ति हो जाने से यह (प्रमात्व ज्ञान का स्वतः प्रामाण्य) नहीं है। तत्काल होने वाली प्रवृत्ति अपने कारण की प्राप्ति के विना अनुपपन्न होती हुई उसका आक्षेप करेगी, प्रचुरप्रवृत्ति भी अपने कारणप्राचुर्य (का आक्षेप करेगी)। इच्छा प्रवृत्ति का कारण है। उसका भी कारण इष्टसाधनता का ज्ञान है। वह भी तज्जातीयत्व के लिङ्ग के अनुभव से उत्पन्न होता है। उसका भी जन्म इन्द्रिय-सन्निकर्ष से होता है। प्रामाण्य का कहीं भी उपयोग नहीं है। अथवा उपयोग होने पर भी स्वतस्त्व कहाँ है? क्योंकि सफलप्रवृत्ति की अधिकता भी प्रामाण्य की अधिकता से अथवा उसके ग्रहण की अधिकता से होती है। (फिर) उसका स्वतस्त्व कहाँ उपयोग में आता है। ऐसा नहीं है कि प्यासों की जल में तत्काल होने वाली प्रचुरसफलप्रवृत्ति होने से उनकी पिपासा को शान्त करने की शक्ति प्रत्यक्ष हो जाय। (उ) यह ठीक नहीं है। विना प्रामाण्य के ज्ञान के इच्छा उत्पन्न नहीं होती फिर प्रवृत्ति कैसे होगी? यदि यह कहिये कि सम्भावना से उपगृहीत दृष्टार्थ कर्मों में प्रार्थना का उदय देखा जाता है? तो ऐसा नहीं है। क्योंकि वहाँ भी स्वाभाविक प्रामाण्य रहता है।

---

१ (क) ततः। २ (ख) नोपयुज्यते।
३ (ख) पीत्यर्थः अत आह। ४ न। ५ (ख) दायतेन।

सोपशमनशक्तिस्तस्य प्रत्यक्षा स्यात्"[1], इति कुसुमाञ्जलिकारः; तदपेशलम्; प्रामाण्यस्य[2] स्फुरणमन्तरेण नोदियादिच्छा, ततः कुतः प्रवृत्तिः? दृष्टार्थकर्मसु सम्भावनोपगृहीतेष्वपि प्रार्थनोदयो दृष्टचर इति चेत्? न; तत्राप्यौत्सर्गिकप्रामाण्यात्। अपवादस्यापि दर्शनान्न सम्भावना प्रमाणञ्चेत्? तदा सन्देहोऽपि दुर्वार इति कुतो झटिति प्रवृत्तिलाभः? यत्र दृष्टार्थकर्मस्वप्येवम्, तत्रादृष्टार्थकर्मसु का वार्ता प्रवृत्त्युदयस्य?

ननु गृह्यतां प्रामाण्यम्, तत्तु न वारं-वारं स्वार्थानुमान इव व्याप्तग्रहणम्; कदाचिद् दृढगृहीतता लिङ्गाप्तवाक्यादिकृता वारान्तरेऽपि वर्त्तिष्यति, ततो न स्वतस्त्वलाभ इति? तर्हि कृषीवलादीनां कदाचिन्निश्चितः फललाभ इति न सम्भावनामूलैवेच्छापूर्विका प्रवृत्तिः, यतः कादाचित्कमवधारणमपि। सर्वकालमयमिष्टोपाय इति ग्रहणञ्चेत्? तदा स्वार्थानुमानता स्यात्; न च तथा, व्यभिचारबाहुल्यात्। प्रतिबन्धकल्पनायान्तु प्रतिबन्धप्रसरात् क्वाप्यनुष्ठानाप्रवृत्तेरनेकान्तवाद इव समुच्छिन्नप्रवृत्तिकञ्जगत् प्रसज्येत्। ततः प्रतिप्रवृत्ति प्रामाण्यस्फुरणं वक्तव्यम्। तच्चेत् परतः, कुतो झटिति प्रवृत्तिलाभः? प्रत्युतानवस्थाव्यसनान्न विलम्ब्यापि स समस्ति।

भावदीपिका

अपवादस्येति। यदा प्रामाण्यस्फुरणपूर्विकैव कृष्यादावपि प्रवृत्तिस्तदा यागादिप्रवृत्तेस्तत्पूर्वकत्वे किं वक्तव्यम्? इत्याह—यत्रेति। का वार्ता प्रवृत्त्युदयस्य प्रामाण्यस्फुरणाभावे?—इति शेषः।

अङ्गीकृत्याह—नन्विति। तर्हि न विवादः? तत्राह—तत्त्विति। कदाचिदपि ग्रहणं स्वतश्चेन्न विवादः? तत्राह—लिङ्गेति। तत् किं सर्वज्ञानानां सामान्योपाधौ प्रामाण्यग्रहणम्? ज्ञानविशेषाणां वा? आद्ये न पूर्वोक्तव्यभिचारावकाश इत्याह—तर्हीति। तत्र सामान्योपाधौ प्रामाण्यनिश्चयोऽपि न युक्त इत्याह—यत इति। यत एवं न ततः प्रामाण्यग्रहणमिति शेषः। अथ प्रामाण्यस्य ग्रहणेऽपि कृष्यादौ फलव्यभिचारः प्रतिबन्धकृतः? तत्राह—प्रतिबन्धेति। समर्थप्रवृत्तिजनकत्वेन प्रामाण्यमाप्तेन वा स्वयं वा निश्चितं चेत्, प्राप्ते फले कस्य प्रतिबन्धः कल्प्येत?—इति भावः। इदं फलवद् भवति न भवत्यपि फलवदित्यनेकान्तवादः क्षपणकानाम्।

ज्ञानवती

(पू) अपवाद का भी दर्शन होने से सम्भावना प्रमाण नहीं है? (उ) तब तो सन्देह भी दुर्वार हो जायगा फिर तत्काल प्रवृत्ति कैसे होगी? और जब दृष्टार्थ कर्मों में ऐसा है तो अदृष्टार्थ कर्मों में प्रवृत्ति के उदय का क्या कहना। (पू) प्रमाण आप मान लीजिये पर वह स्वार्थानुमान के समान बार-बार व्याप्तिग्रहण वाला (जब जब ज्ञान उत्पन्न होता है तब तब प्रामाण्य का ग्रहण होता है) नहीं है बल्कि कभी दृढ़गृहीतता वाले लिङ्ग या आप्तवाक्य से वारान्तर में ही हो जायगा। इसलिये स्वतस्त्वलाभ नहीं है? (उ) तब तो निश्चित फललाभ नहीं है इसलिये कृषकों की संभावनामात्र से उत्पन्न इच्छापूर्विका प्रवृत्ति नहीं होगी, जिससे कि कभी निश्चय भी हो सकता है। यह इष्टोपाय सर्वकालीन है ऐसा ज्ञान हो तब स्वार्थानुमान हो; पर ऐसा नहीं है क्योंकि व्यभिचार हो जायगा। प्रतिबन्ध की

---

[1] १ न्या० कु० २।

[2] (ख) प्रमाणस्य।

तदाहुर्भट्टपादाः—

"जातेऽपि यदि विज्ञाने तावन्नार्थोऽवधार्यते ।
यावत् कारणशुद्धत्वन्न प्रमाणान्तराद् भवेत् ॥[1]
तत्र ज्ञानान्तरोत्पादः प्रतीक्ष्यः कारणान्तरात् ।
यावद्धि न परिच्छिन्ना शुद्धिस्तावदसत्समा ॥
तस्यापि कारणे शुद्धे तज्ज्ञाने स्यात् प्रमाणता ।
तस्याप्येवमितीच्छंश्च[2] न कश्चिद् व्यवतिष्ठते ॥" इति ।[3]

अथ परतस्त्वेऽपि मुहुर्मुहुः प्रामाण्यग्रहणाभ्यासज्झटिति प्रवृत्तिः, अपरथा अनभ्यासदशायां संशयो न स्यात्; प्रामाण्यं परतो ज्ञायते, अनभ्यासदशायां सांशयिकत्वात्, अप्रामाण्यवदिति प्रयोगाच्च; न च उक्तानवस्थादौस्थ्यादभ्यास एव दुरुद्भवः, समर्थ(प्रवृत्ति[4])जनकत्वात् एकस्यार्थाव्यभिचारं[5] निश्चित्य तज्जातीयत्वेन ज्ञानान्तरप्रामाण्याध्यवसायेनानवस्थानवतारादिति ? तदपि मन्दम् ।[6] समर्थप्रवृत्ति-

भावदीपिका

कारणशुद्धत्वम्=ज्ञानस्य दोषाभावविशिष्टसामग्रीकत्वम्; तन्नावधारितम् । यदुक्तं तद्ग्रहण-प्राचुर्याद्वेति, तदुत्थापयति निराकर्तुम्—अथेति । न केवलं स्वतस्त्वे साधकाभावोऽर्थापत्तेर-न्यथाप्युपपत्तेर्बाधकं चास्तीत्यत आह—अपरथेति । स्वपक्षे प्रमाणमाह—प्रामाण्यमिति । सर्वदा सांशयिकत्वाभावादसिद्धिपरिहारार्थमनभ्यासदशायामित्युक्तम् । प्रतिकूलतर्कबाधमनु-मानस्यान्यथाऽप्युपपत्तिपरिहारं चाशङ्क्याह[7]—न चेति । समर्थप्रवृत्तिजनकत्वमात्र

ज्ञानवती

कल्पना करने पर तो प्रतिबन्ध के आ जाने के कारण कहीं भी अनुष्ठान में प्रवृत्ति न होने से अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) के समान संसार समुच्छिन्नप्रवृत्ति वाला हो जायगा। इसलिये प्रत्येकप्रवृत्ति में प्रामाण्य का स्फुरण-कहना चाहिये। और यदि वह परतः है तो तुरन्त प्रवृत्ति कैसे होगी, बल्कि अनवस्था के आजाने से देर में भी प्रवृत्तिलाभ सम्भव नहीं होगा। भट्टपाद ने कहा है—

"विज्ञान के उत्पन्न होने पर भी तब तक अर्थ का निश्चय नहीं होता जब तक दूसरे प्रमाण से कारण की शुद्धता नहीं होती। वहां भी कारणान्तर से ज्ञानान्तर की उत्पत्ति की प्रतीक्षा करनी पड़ेगी क्योंकि जब तक शुद्धि परिच्छिन्न नहीं होती तब तक अनुचित के समान है। उसका भी कारण शुद्ध होने पर उस ज्ञान में प्रमाणता आयेगी। उसकी भी (शुद्धता के लिये प्रमाणान्तर चाहिये) इस प्रकार इच्छा करता हुआ कोई भी (व्यक्ति) व्यवस्थित नहीं होगा।"

(पू) परतस्त्व में भी बार-बार प्रामाण्यग्रहण की आवृत्ति के द्वारा जल्दी प्रवृत्ति हो जायेगी अन्यथा अनभ्यास दशा में संशय भी नहीं होगा। अनुमान है—प्रामाण्य दूसरे से ज्ञात होता है, क्योंकि वह अनभ्यासदशा में संशययुक्त होता है, अप्रामाण्य के समान।

---

[1] (ख) प्रमाणन्तरादृतम् । [2] (ख) मितीत्थञ्च ।
[3] श्लो० वा० १।२।४९-५१ । [4] (क) प्रकृति । [5] (ख) अर्थव्यभिचारं ।
[6] (ख) मतम् । [7] (ख) वा ।

जनकत्वस्य मिथ्याज्ञानेऽपि दर्शनादसाधकत्वात्।

"मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्धयाभिधावतोः।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥"

इति न्यायात्। यथार्थत्वविशेषणे च साध्याविशिष्टत्वाल्लिङ्गादिप्रमाया अपि प्रमाणान्तरादवधृतौ कथं नानवस्था? एतेनेदमपास्तं,यदाह[1] उदयनाचार्यः—"स्वतस्त्वपक्षेऽप्यनवस्था तुल्या; अनुपपद्यमानार्थस्यापि निश्चितस्यैवोपपादकत्वात्[2]" इति। अनुपपद्यमानार्थस्य प्रवृत्तेः सर्वलोकपरीक्षकप्रत्यक्षावसेयत्वात् स्वाश्रयेऽनुभवसिद्धस्वतःप्रामाणस्य प्रमाणान्तरमन्तरेणापरितुष्टं प्रति तस्यास्तदुपादकत्वेऽपि निश्चयान्तरानपेक्षणाच्च। एतेनोपेक्षणीयज्ञानस्याप्यनुपेक्षणीयदशायां समर्थप्रवृत्तिजनकजातीयत्वावधारणेन प्रामाण्यसमर्थनमुदयनस्यापास्तम्। एवं लिङ्गान्तरेऽप्यूह्यम्। यथा च

भावदीपिका

हेतुः? यथार्थत्वविशेषितं वा? नोभयमित्याह—तदपीति। अनवस्था च तदवस्थेत्याह—लिङ्गादीति। अनवस्थासाम्यं परिहरति—एतेनेति। कोऽभिप्रायः?—किं प्रवृत्तिरेव न निश्चिता? किं वा तन्निश्चयस्यापि[4] निश्चयान्तरापेक्षेति[5]? नाद्यः; इत्याह—अनुपपद्यमानेति। नान्त्यः; इत्याह—स्वाश्रयेति। समर्थप्रवृत्तिजनकत्वापाकरणे नान्यदप्यपाकृतमित्याह—एतेनेति। अथादुष्टसामग्रीजन्यत्वेन प्रामाण्यनिश्चयः? तस्य कार्यानुमेयत्वे परस्पराश्रयत्वात्, ज्ञापकान्तराभावात्, अज्ञानस्यालिङ्गत्वात्[6] इत्याद्युन्नेयमित्याह—एवमिति।

अनुमानं दूषयति—यथा चेति। किं प्रामाण्याप्रामाण्यसन्देहो हेतुः? तन्निर्वाहा-

ज्ञानवती

(पू) उक्त अनवस्था की दुःस्थिति होने से आवृत्ति ही नहीं होगी? (उ) सफलप्रवृत्ति का जनक होने से एक के अर्थाव्यभिचरितत्व का निश्चय करके तज्जातीय होने से ज्ञानान्तर के प्रामाण्य का निश्चय हो जाने के कारण अनवस्था का अवतार ही नहीं होगा। (उ) यह भी मन्द है। क्योंकि सफलप्रवृत्तिजनकत्व मिथ्याज्ञान में भी देखा जाता है। (इसलिये सफलप्रवृत्तिजनकत्व प्रामाण्य का) साधक नहीं है—क्योंकि—

"मणिप्रभा एवं प्रदीपप्रभा दोनों को देखकर मणि समझकर दौड़ने वाले दो पुरुषों का मिथ्याज्ञान समान होने पर भी अर्थक्रिया भिन्न-भिन्न होती है।" यह न्याय है।

(पू) (यदि हेतु=कार्य में) यथार्थत्व विशेषण दे दें तो? (उ) तब तो "साध्य (=ज्ञानहेत्वतिरिक्तहेत्वधीनत्व) के समान होने से लिङ्ग आदि की प्रमा का भी निश्चय प्रमाणान्तर से होने के कारण अनवस्था क्यों नहीं होगी" यह कथन भी उपर्युक्त युक्ति से समाप्त हो गया। जैसा कि उदयनाचार्य ने कहा है—

"स्वतस्त्वपक्ष में भी अनवस्था समान है क्योंकि अनुपपद्यमान अर्थ का उपपादक वही होता है जो कि निश्चित है।"

---

[1] (ख) इदमवाप्तम्। [2] न्याकु० २। [3] (क) त्वेपि।
[4] [5] (क) ता। [6] (क) त।

भवत्पक्षे गृहीत एव ज्ञानस्वरूपे प्रामाण्याप्रामाण्यसंशयः, एवं ममापि निश्चित एव स्वरूपेण प्रामाण्ये सापवादत्वनिरपवादत्वसंशयः, क्वचित् कस्यचिद्दर्शनादित्यन्यथासिद्धौ हेतुस्त्वदुक्तः। अत्रापि गुणादेरुपयोगोऽभ्यधायि—

"यदा स्वतःप्रमाणत्वं तदान्यन्नैव मृग्यते।
निवर्तते हि मिथ्यात्वं दोषाज्ञानादयत्नतः॥"[१] इति।[२]

भावदीपिका

निर्वाहसन्देहो वा ? नाद्यः; अनभ्यासदशायामपि यावत्यंशे ज्ञानं तावति संशयादर्शनाद्धेतोः प्रसिद्धेः। न खल्वपूर्वफलादिदर्शने 'किमेतत् [३]प्रमाणमप्रमाणं वे' ति संशयो दृष्टः। यस्तु विशेषांशे संशयः, नासौ ज्ञानगोचरः शक्यो वक्तुम्। द्वितीयं दूषणं गुणादिज्ञानस्य निरपवादत्वेन प्रामाण्यस्थिरीकारहेतुत्वं भट्टपादोक्तमाह—अत्रापीति।[४] "अत्यन्तासत्यप्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि। तेनोत्सर्गे स्थिते तस्य दोषाभावाद् प्रमाणता॥" इत्यपि निरपवादत्वविषयम्। "अबाधात्तु प्रमामत्र स्वतःप्रामाण्यनिश्चलाम्।" इति खण्डनकारैरप्युत्तरार्द्धाभिप्रायोक्तेः। अत्र च प्रमाणयन्ति—प्रमा विज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्या न भवति, अप्रमातिरिक्तत्वात्, पटादिवत्। न च ज्ञानत्वानधिकरणत्वमुपाधिः; ईश्वरज्ञाने साध्याव्याप्तेः। नापि ज्ञानसामग्र्यजन्यत्वमुपाधिः; यज्ज्ञानसामग्रीजन्यं तज्ज्ञानसामग्रीजन्यत्वे सत्यतिरिक्तजन्यम् अप्रमावदिति व्यतिरेकव्याप्तौ प्रमात्वस्यैवोपाधित्वात्। प्रमात्वं ज्ञानग्राहकसामग्रीमात्रग्राह्यम्, अप्रमामात्रवृत्तित्वानधिकरणत्वे[५] सति ज्ञानैकवृत्तिजातित्वात् ज्ञानत्ववदिति।

ज्ञानवती

अनुपपद्यमान अर्थ का सर्वलोकपरीक्षक के प्रत्यक्ष से निश्चय होने के कारण स्वाश्रय में अनुभवसिद्ध स्वतःप्रामाण्य का दूसरे प्रमाण के बिना अपरितुष्ट के प्रति उस (प्रवृत्ति) के उस (अनुपपत्ति) के उपपादक होने पर भी निश्चयान्तर की अपेक्षा नहीं होती। इससे उदयन का—'उपेक्षणीय ज्ञान के भी अनुपेक्षणीयदशा में सफलप्रवृत्तिजनकजातीय का निश्चय होने से प्रामाण्य, का समर्थन हो जाता है' (यह कथन) परास्त हो गया है। इसी प्रकार अन्य हेतुओं में भी समझ लेना चाहिये। जैसे कि आप (नैयायिक) के पक्ष में गृहीत हुए ही ज्ञानस्वरूप में प्रामाण्य एवं अप्रामाण्य का संशय होता है उसी प्रकार हमारे यहां मी स्वरूपतः निश्चित प्रामाण्य में ही सापवादत्व-निरपवादत्व का संशय कहीं कोई देखता है। इस कारण तुम्हारा अन्यथासिद्ध हेतु उक्त हो गया। यहां भी गुणादि का उपयोग कहा है—

"जब स्वतः प्रामाण्य है तब दूसरा नहीं खोजा जाता। दोषज्ञान से बिना प्रयास के मिथ्यात्व का निवर्तन होता है।" इसलिये ज्ञान में भी प्रामाण्य स्वतः है यह निर्व्याकुल है। 'यथार्थ अनुभव प्रमा' है, यह लक्षण तो अनुभव का अर्थ से सम्बन्ध न होने से ठीक नहीं है। क्योंकि क्रिया के अचिन्त्य शक्तिवाली होने से अभिचार आदि के समान आत्मनिष्ठा (क्रिया) का भी अपने विषय में फलाधान सम्भव है। और उस प्राकटच (अर्थात् विषय-

---

[१] (ख) दोषज्ञानोदयात्ततः। [२] श्लो० वा० २५२।
[३] (क) प्रामाण्य। [४] (ख) तत्रापि। [५] (क) विज्ञान।

अतो ज्ञप्तावपि स्वतस्त्वं प्रमाया निर्व्याकुलम्। 'यथार्थोऽनुभवः प्रमा' इत्येतल्लक्षणं त्वनुभवस्यार्थयोगाभावादयुक्तमेव ; क्रियाया अचिन्त्यशक्तित्वादभिचारादिवदात्मनिष्ठाया[1] अपि स्वविषये फलाधानसम्भवात्। तेन च प्राकट्येन युक्तस्यापि तस्य न सर्वविदितत्वमित्यपि घटनात् सवितृसुष्यादिवद्युक्तोऽर्थयोगः कथञ्चित्। अबाध्यमपि स्वप्रकाशमपि प्राकट्यं सर्वगतेश्वरज्ञानवत् कस्यचिदेवादृष्टयोगात् स्फुरति, न गुणत्वे ज्ञानस्य कथञ्चिदर्थयोगः समस्तीति चोक्तम्। अर्थविषयाज्ञानघटितत्वेनार्थसम्पादने[2] चैतल्लक्षणावष्टम्भेनेश्वरज्ञानप्रामाण्यसमर्थनं व्याकुलं स्यात्। इह न पूर्वोक्तमनुभवलक्षणमपीति यथोक्तमेव च प्रमाणलक्षणमनेनापि प्रकारेणेति प्रमाणपरिशुद्धिः।

[शास्त्रारम्भोपपत्तिविचारः—]

एवं परप्रसिद्ध्यापि सम्भवति निष्प्रत्यूहे कथारम्भे भगवान् वादरायणः

भावदीपिका

तत्रागमस्यापौरुषेयत्वेन मूलप्रमाणानपेक्षप्रामाण्याद् गुणादेर्वा तज्ज्ञानस्य वा प्रवेशायोगात् स्वत एव प्रामाण्यं निःश्वसितश्रुत्योपपादितम्। प्रमाणान्तरेषूक्तयुक्त्यनुग्राह्यमेतदप्यस्तु[3]।

एवं स्वाभिमतं प्रमाणलक्षणं प्रपञ्च्य परकीयं पराकरोति—यथार्थ इति। व्यतिरेकेणार्थयोगायोगमुपपादयति—क्रियाया इति। सवितृच्छिद्रादेर्बाध्यत्वात् प्राकट्यस्य च तदभावात् [4]षड्दर्शनवैषम्यमाशङ्क्याह—अबाध्यमपीति[5]। अर्थायोगश्चोक्त इत्याह—न गुणत्व इति। प्रकारान्तरमाशङ्क्याह—अर्थविषयेति। सर्वज्ञस्याज्ञानाभावादेव नाज्ञानद्योतकं ज्ञानम्, तेनैवमर्थयोगे तत्प्रामाण्यविघातः। अनुभवलक्षणाभावादपि तद्विघात इत्याह—इहेति। अथ 'स्मृतित्वानाश्रयो ज्ञानमनुभवः' इतिलक्षणम्? तदप्यज्ञानद्योतकत्वेनैवार्थयोगे "यथार्थानुभवः प्रमा" इति वददस्मल्लक्षणमेव शब्दान्तरेणोक्तमित्याह—यथोक्तमेव चेति।

[शास्त्रारम्भोपपत्तिविचारः—]

सम्पादितमारम्भमनुवदन्नारम्भसूत्रमुपादत्ते—एवमिति। अत्र सूत्रे जिज्ञासा ब्रह्मणो

ज्ञानवती

निष्ठफल='अयं घटः' यह ज्ञान) से युक्त भी वह सबको विदित नहीं होता ऐसी भी घटना होती है। इसलिये सूर्यछिद्र के समान अर्थयोग किसी प्रकार ठीक (=ज्ञान के द्वारा) है। अबाध्य एवं स्वप्रकाश भी प्राकट्य सर्वगत ईश्वरज्ञान के समान किसी को ही अदृष्टवश भासित होता है इसलिये गुणत्व में ज्ञान का अर्थ से सम्बन्ध किसी प्रकार सम्भव नहीं है, ऐसा कहा गया है। यदि यह अर्थ किया जाय कि प्रमा वह है जो अर्थविषयकअज्ञान से युक्त है तब तो ईश्वरज्ञान के प्रामाण्य का समर्थन हीं टूट जायगा। यहाँ पर अनुभव का पूर्वोक्त लक्षण भी नहीं हो सकता इसलिए इस प्रकार भी प्रमाण का यथोक्तलक्षण (मानिये)। यह प्रमाणपरिशुद्धि है।

[शास्त्रारम्भोपपत्ति-विचार—]

इस प्रकार दूसरे के मत में भी निर्विघ्न कथारम्भ के प्रसिद्ध होने पर भगवान्

१ (ख) शक्तित्वाव्यभिचारा। २ (ख) अर्थयोगसम्पादने। ३ (ख) प्युक्त। ४ (ख) दर्शना वैष। ५ (ख) वाच्य।

"अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इत्येवं सूत्रमकल्पयत्। धर्मविचारस्तावत्—'अथातो धर्मजिज्ञासा" इति संवृत्तः। अत्र पुनर्ब्रह्मैव विचार्यम्। आनुषङ्गिकं तूपासनधर्मचिन्तनं क्वचित्।

भावदीपिका

ज्ञानाच्च विशेषणाद् विशेष्यभूता[१] पदतो वाक्यतश्च प्रधानम्। तस्या अनुवादः किं कर्त्तव्यत्वाय अन्यार्थौ वा? कर्त्तव्यताऽपि—"अथ शब्दानुशासनम्", "अथ योगानुशासनम्" इतिवत् अथ-शब्दार्थश्चेत्,[२] तत्र अथ-शब्द आनन्तर्यार्थः परिगृह्यते नाधिकारार्थः; ब्रह्मजिज्ञासाया अनधिकार्यत्वात्—[३] इति भाष्यविरोधः। ब्रह्मज्ञानस्य[४] परमपुमर्थसाधनत्वादेवेच्छासम्भवे तत्कर्त्तव्यताध्याहारोऽपि व्यर्थः। विचार एव च जन्मादिसूत्रादारभ्य क्रियते।

अथ जिज्ञासा-पदेन विचारप्रयोजकयोः सन्देहप्रयोजनयोः सूत्रणं "तद् ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व" इति श्रुतिग्रन्थश्च[५]; तथापि विचारः कथं लभ्यते? 'अथातो ब्रह्ममीमांसा'इति सूत्रणे[६] हि विचारो लभ्येत। श्रुतिश्च "सैषानन्दस्य मीमांसा" इति [तदालभ्येति] ब्रह्मानन्दयोरैक्याच्च विचारसूत्रणेनैव[७] तद्धेतुसूत्रणसम्भवाच्च। यदि विचारो लाक्षणिकः तदा ज्ञानमिष्यमाणं परोक्षेऽपरोक्षफलं सन्दिग्धे निश्चयफलं चेष्यते। तच्च विचारसाध्यम्। तेन विचारफलेच्छाया[८] विचारः साधनभूतो लक्षणीयः; जिज्ञासाया अपि विचारप्रयोजककोटयन्तर्गतत्वात्[९]। तद् वरं प्रयोज्यविचारनिर्देशेन प्रयोजकलक्षणेति। तद् 'अथातो ब्रह्ममीमांसा', इत्येव सूत्रणीयम्।

अत्रोच्यते—"तद्विजिज्ञासस्व" इति विधिस्तावदवगम्यते जिज्ञासायाम्; तन्मूलसूत्रेऽपि विषयभूतजिज्ञासासङ्ग्रहात् तदनुवृत्तिर्वक्तव्या। न चैवं 'न विधौ विधायके शब्दे परो लाक्षणिकोऽर्थः' इति न्यायविरोधाज्जिज्ञासा-शब्दस्य विचारो लाक्षणिकोऽर्थः इत्ययुक्तम्; "गोभिः श्रीणीत मत्सरम्" इति गवां सोममिश्रणविधानेऽपि लक्षितेन तद्विकारेण पयसा मिश्रणविध्यङ्गीकारात्। न चैवं जिज्ञासाया गोवदविवक्षितत्वान्न सन्देहादिसूचकत्वम्, विवक्षायां चाधिककल्पनाप्रयुक्तो दोषः, श्रूयमाणस्य वाक्यस्य न्यूनाधिकविकल्पने लक्षणवाक्यभेदादिदोषः "नानुमिते ह्यसौ" इति वचनोक्तः स्यादिति वचनीयम्; गङ्गादेरविवक्षितत्वेऽपि प्रतीततामात्रेणाविनाभावेन लक्षणाप्रयोजकत्ववत्[१०] भेदप्रतीतौ लक्षणानुत्थानाज्जिज्ञासाया अपि प्रतीततामात्रेण सन्देहादिसूचकत्वोपपत्तेः। अर्थवादादिवाक्यानां देवतादिस्वार्थविवक्षाया-

ज्ञानवती

व्यास ने—"इसलिए अब ब्रह्म की जिज्ञासा (होती है)" सूत्र की कल्पना की। धर्म विचार, "इसलिए अब धर्म की जिज्ञासा (होती है)।" इस सूत्र के द्वारा सम्पन्न हुआ। यहाँ ब्रह्म ही विचार के योग्य है। कहीं—कहीं उपासना एवं धर्म का चिन्तन आनुषङ्गिक है।

---

१ (ख) भूत। २ (क) र्थः। ३ (ख) र्थं। ४ (क) विज्ञान। ५ (ख) ग्रथने। ६ (ख) सूत्रेण। ७ (ख) त्रेण। ८ (क) छया। ९ (ख) विचारकोटि। १० (क) तदप्र।

ननु कथं धर्मविचारः संवृत्तः ? यावता ब्रह्मविचारं मन्यमानः[१] कश्चित् धर्मविचारमाक्षिपति । तथाहि—प्रमितो धर्मो जिज्ञास्य उताप्रमितः । आद्ये वैयर्थ्यं

भावदीपिका

मप्यवान्तरवाक्यत्वेन[२] विधिवाक्यैकवाक्यत्वेन महावाक्यतया प्राशस्त्यलक्षणापरत्वस्य शास्त्रे सम्पादितत्वात्; "अथातो ब्रह्मजिज्ञासा" इति यज्ञादिसम्पादितजिज्ञासानुवादकत्वेऽप्यवान्तरवाक्यत्वेन कर्त्तव्येति विधिपदैकवाक्यतया महावाक्यत्वेन विचारलक्षणापरत्वोपपत्तेश्च । यस्मादधिकारिणां ब्रह्मजिज्ञासा सम्पन्ना, तस्माद् ब्रह्मविचारः प्रवर्त्तत इत्यनुवादप्रयोजनञ्च[३] । न खलु [४]जिज्ञासासूत्राणामनुपस्थापने विचारारम्भः शोभते । ततः शाब्दी जिज्ञासा लाक्षणी च विचारकर्त्तव्यता युक्ता । "सैषानन्दस्य मीमांसा भवति" इत्यस्यानन्दमात्रस्य शतगुणोत्तरत्वपरम्परया[५] ब्रह्मणि काष्ठाप्रतिष्ठापनार्थत्वात्र सकलविचारसूत्रमूलत्वं युक्त[म्]यत इति यथान्यासमेव सूत्रमस्तु ।

अत्र च ब्रह्म सपरिकरं विषयः । ब्रह्मणो जिज्ञासेति कर्मषष्ठीपरिग्रहेण विषयविषयिभावः सम्बन्धः । ब्रह्मणे जिज्ञासेति तादर्थ्ये चतुर्थीपरिग्रहे 'यूपाय दारुः' इत्यादिवत् प्रकृतिग्रहणं प्राप्नुयात्; न च जिज्ञासा दारुवत् ब्रह्मणः प्रकृतिः । अश्वघासादयस्तु षष्ठीसमासाः न पुनः अश्वाय घास इति । ज्ञातुमिच्छा = जिज्ञासा; इतीष्यमाणतया ज्ञानं प्रयोजनम् । अथ-शब्दस्तु यद्यप्यानन्तर्यं वक्ति नाधिकारिणम् तथापि कस्यानन्तर्यम् ?—इति विचारे प्रवर्त्तकसाधनकलापस्येत्युक्ते साधनानां साधकाश्रितत्वात् सोऽपि आकृष्य उक्तप्रायः । अतः-शब्दस्तु तत्सम्पादनाय बुद्धिस्थप्रमाणन्यायसूचनायेत्यनुबन्धसद्भावादारम्भसिद्धिरित्यर्थः संक्षेपः । सूत्रे ब्रह्मग्रहणतात्पर्यमाह—धर्मविचार इति । ननु उपासनक्रिया वेदान्तेषु विचार्यते तत् कथमवधारणम् ? तत्राह—आनुषङ्गिकमिति । मन्दानां क्रमेण मुक्तिपर्यवसायित्वात् सगुणब्रह्मोपासनधर्मस्य मुक्त्यर्थं शास्त्रे निरूपणमित्यर्थः । क्रममुक्तिफलोपासनेषु प्रवृत्त्यर्थमेव देवादीनां ब्रह्मविद्याऽधिकारो वर्णितः[६] । तदुपर्यपि बादरायणसंभवादिति ।

अत्र जनार्दनमतमुपस्थापयति धर्मस्य विचार्यत्वशोधनेन न्यायसाम्यात् ब्रह्मणोऽपि विचार्यत्वं शोधयितुम्—नन्विति । अत्र तावद् विकल्प एवायं दुर्घटः । यत्र हि यत्प्रयोजकत्वेन[७] क्लृप्तं तत्र तद् विकल्प्यते; यथा चक्षुःस्पर्शनयोर्द्रव्ये क्लृप्तिरस्तीति 'घटो ज्ञात' इत्युक्ते 'किं चक्षुषा स्पर्शनेन वा' ?—इति विकल्प्यते, न तु 'किं चक्षुषा रसनेन वा' ? इति । तत्कस्य हेतोः ? रसनस्य द्रव्ये क्लृप्त्यभावात् । न च जिज्ञासायां जिज्ञास्यप्रमितिर्हेतुत्वेन[८]

ज्ञानवती

(पू) धर्मविचार सम्पन्न हो गया यह कैसे ? क्योंकि ब्रह्मविचार को मानने वाला कोई धर्मविचार पर आक्षेप करता है । वह इस प्रकार—प्रमित (प्रमा का विषय) धर्म जिज्ञास्य है या अप्रमित ? पहले पक्ष में (धर्म) विचार व्यर्थ है । दूसरे में सम्भव नहीं है क्योंकि उद्देश

---

१ (क) मन्यमानं । २ (ख) वाक्येन कर्त्तव्येति विधि । ३ (ख) वचनं खलु ।
४ (क) जिज्ञासूनामनु । ५ (क) त्वात् । ६ (ख) निरूपित ।
७ (ख) तत् । ८ (क) जिज्ञास्यमिति ।

विचारस्य। चरमे त्वशक्यत्वम्; असिद्धोद्देशेन विचारानुपपत्तेः। तत्रोत्तरम्—सर्वथाप्यप्रसिद्धौ चैत्यवन्दनादिलक्षणो धर्म इत्यादि विप्रतिपत्त्यनुदयात्; केनचिद्रूपेण स्थाण्वादौ प्रसिद्ध एव विप्रतिपत्तिदर्शनात्। अतस्सामान्यतः प्रतीतिगोचरो विशेषे विप्रतिपन्नतया जिज्ञासाजनको धर्मो जिज्ञास्यः।

ननु सामान्यरूपमपि यत्र न प्रमाणगोचरः,[1] तत्रापि विप्रतिपत्तिर्दृश्यते खपुष्पादौ=तत्किं सर्वात्मना तुच्छम्, उत केनाप्यात्मना सदिति? कोऽभिप्रायः? किं तत्प्रत्ययस्य प्रामाण्यमेव न स्फुरति? किं वा न सदर्थतेति? तत्र नाद्यः; औत्सर्गिकस्वतःप्रामाण्यस्य[2] यावदपवादं स्फुरणाङ्गीकारात्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"तस्माद्बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्व (हेतूत्थ)[3] दोषज्ञानैरपोद्यते॥" इति।[4]

भावदीपिका

क्लृप्ता, किन्तु फलत्वेन, एवं ब्रह्मण्यप्युक्तविकल्पो दुर्घटः; तथापि निःशल्यत्वाय[5] परमतमनुरुध्याह—तत्रोत्तरमिति। सर्वथा प्रमितित्वाप्रमितित्वयोरनङ्गीकारान्न[6] दोषस्तत्प्रयुक्तः। विप्रतिपत्त्यालम्बनतया[7] तु सामान्यतः प्रमितः सामान्यतश्च न विचार्यो येन विचारवैय्यर्थ्यमित्यर्थः।

विप्रतिपत्तेः सामान्यरूपप्रमित्यापादकत्वं व्यभिचारीति शङ्कते—नन्विति। विकल्पासहत्वान्नैवम्—इत्याह—कोऽभिप्राय इति। तत्प्रत्ययस्य=धर्मप्रत्ययस्य इत्यर्थः। द्वितीये—किं सत्त्वमात्रं न स्फुरति परमार्थसत्त्वं वा? नाद्यः; इत्याह—त्वयेति। द्वितीये स्थाण्वादौ ब्रह्मणि च न विचारावतारः स्यात्। यदि धर्मस्य सामान्यतोऽपि परमार्थसत्त्वानिश्चयात् विचार

ज्ञानवती

के असिद्ध होने से विचार अनुपपन्न हो जाता है। (उ) इस विषय में उत्तर है—'सर्वथा अप्रसिद्ध होने पर भी चैत्यवन्दन आदि रूपों वाला धर्म होता है' इत्यादि विप्रतिपत्ति नहीं उत्पन्न होगी। क्योंकि स्थाणु आदि के किसी रूप में प्रसिद्ध होने पर ही विप्रतिपत्ति देखी जाती है। अतः सामान्यतः प्रतीति का विषय होते हुए विशेष रूप में विप्रतिपन्न होने से जिज्ञासाजनक धर्म जिज्ञास्य होता है।

(पू) जहाँ पर सामान्यरूप भी प्रमाण का विषय नहीं होता वहां आकाशकुसुम आदि में भी संशय देखा जाता है? (उ) (सामान्यरूप भी नहीं देखा जाता फिर भी विप्रतिपत्ति होती है तो विप्रतिपत्ति का क्या अर्थ है?) क्या वह (आकाश पुष्प) सर्वात्मना तुच्छ है या किसी रूप में सत् है (यही)? क्या अभिप्राय है? क्या उसके ज्ञान का प्रामाण्य स्फुरित नहीं होता अथवा वह अर्थ ही प्रमाणगम्य नहीं है? इनमें से पहला नहीं हो सकता, क्योंकि यह मान लिया गया है कि स्वाभाविक स्वतःप्रामाण्य बाधपर्यन्त स्फुरित होता है। भट्टपाद ने कहा है—

---

१ (ख) प्रमाणगोचरः। २ (ख) औत्सर्गिकस्तु तं।
३ (क) हेतुस्य। (ख) हेतूत्थ। ४ श्लो० वा० १।२५३।
५ (ख) वय। ६ (ख) तु दोष। ७ (क) नु।

नान्त्यः; तथा तत्राप्यनिर्वाच्यसत्त्वाभ्युपगमात्। अतिरिक्तसत्त्वाभावश्चेत्? स स्थाण्वादावपि तुल्यः। न खलु विचारात् प्राङ्निर्वाच्यं सत्त्वं स्थाण्वादेर्वा ब्रह्मणो वा निर्णीतमस्ति प्रसिद्धम्। अथ "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"[1] इति श्रुतावापातप्रतीतं ब्रह्म विचारं प्रयोजयति, सत्यादिप्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहारात्तु ब्रह्मपदार्थावधारणात्; तदुक्तम्—

'पदमज्ञातसम्बन्धं प्रसिद्धैरपृथक्श्रुति।
निर्णीयते निरूढं तु न स्वार्थादपनीयते॥"[2] इति?

तर्हि "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्"[3] इति श्रुतावापातप्रतीतो धर्मोऽपि

भावदीपिका

आक्षिप्येत, यदि च खपुष्पादेरिव धर्मस्य यथाकथञ्चित् स्फुरणमनुमन्येत तदापि तद्वदेव विचारो दुर्वारः। यदि च तस्य न प्राधान्येन विचार्यत्वमधर्मस्य तु प्राधान्येन, तेन विचारात् प्रागपि निर्वाच्यसत्त्वस्फुरणापेक्षा तर्हि ब्रह्मण आत्मत्वेनानिरूपितविशेषसत्त्वेन[4] स्फुरणेऽपि निर्वाच्यसत्त्वस्फुरणाभावाद् विचारात् प्राक् प्राधान्येन विचार्यत्वं न स्यात्—इत्याशयेनाह—स स्थाण्वादावपीति।

अथ साङ्गाध्ययनवतो वेदप्रमाणादवगतं ब्रह्म असम्भावनादिजनकवादिविप्रतिपत्तिनिरासाय विचारं प्रयुङ्क्ते; द्विविधं ज्ञानफलम्—वस्तुनिश्चयोऽज्ञाननाशश्च। तत्र निश्चयः प्रति[बन्धुं] शक्यते नेतरदिति स्वीकारेणेतिविशेषमाशङ्कते—अथेति। ब्रह्मशब्दस्य-'ब्रह्महत्या', 'ब्रह्मोज्झम्', 'इदं ब्रह्मायाति,' 'ब्रह्म स्वयंभू' इति जातिवेदजीवकमलासने [ष्वपि] प्रयोगात् कथं विवक्षितार्थावधारणम्?—इति संशयानं प्रत्याह—सत्यादीति। अप्रसिद्धार्थपदसमभिव्याहारात् प्रसिद्धार्थपदं स्वार्थाच्च्यवत इति वैपरीत्यं नाशङ्कनीयम्, प्रसिद्धार्थानां प्रसिद्ध्यनुग्रहेण बलीयस्त्वात्—इत्याह—निरूढन्त्विति। समः समाधिरित्याह—तर्हीति। तथापि न

ज्ञानवती

"इसलिये ज्ञान का प्रामाण्य ज्ञानात्मक रूप में प्राप्त होने पर भी अर्थ के अन्यथात्वहेतु से उठे हुए दोष के ज्ञान से अप्रामाणिक कर दिया जाता है।" दूसरा भी नहीं हो सकता, क्योंकि तुम (वेदान्ती) भी वहां (आकाश कुसुम) में अनिर्वचनीय सत्ता को मानते हो। यदि (हम—वेदान्ती -यह कहें कि आकाश कुसुम में ब्रह्म से अतिरिक्त सत्ता नहीं है)? तो वह तो स्थाणु आदि में भी समान है (जहां तुम अनिर्वचनीय सत्ता मानते हो)। (वेदान्त के) विचार के पहले स्थाणु आदि या ब्रह्म की सत्ता निर्वाच्य सत्ता निर्णीत हो गई हो ऐसा कहीं भी प्रसिद्ध नहीं है।

(पू) ("ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्त है" इस श्रुति में) सत्य, (ज्ञान एवं अनन्त रूप) प्रसिद्ध अर्थों वाले पदों के समभिव्याहार के द्वारा ब्रह्मपदार्थ का निश्चय हो जाने से "ब्रह्म को जानने वाला परम (पद) को प्राप्त होता है" इस श्रुति में आपातप्रतीत ब्रह्म (वेदान्त विचार को प्रेरित करता है? कहा भी है—"जिसकी पृथक् श्रुति नहीं है तथा जिसका (अपने अर्थ

[1] तै० भा० २।१।१। [2] तं० वा९ १।४।१।
[3] पु० सू० १।१६। [4] (ख) आत्मतत्त्वेन।

विचारं प्रयोजयतु। तस्मादनाक्षेपोऽयम्। यदि विधिर्नास्ति प्रयोजक इति मतम्? तदसाधु; स्वाध्यायाध्ययनविधेः प्रयोजकत्वात्।

[अध्ययनविधेरर्थज्ञानफलत्वम्–]

ननु नैवम्, अनुपयोगात्; न चार्थावबोधफलोऽसौ[१], अश्रुतत्वात्; न च

भावदीपिका

धर्मविचारारम्भोऽयुक्तः ब्रह्मविचारवद् विध्यभावात्; इत्याशङ्कां विधिप्रदर्शनेन परिहरति—यदीति।

[अध्ययनविधेरर्थज्ञानफलत्वम्—]

अध्ययनविधेः स्वाध्याया [-वा-] प्त्यैव चरितार्थत्वसम्भवात् विचारेणोपयोगाभावादनुपयुक्ताक्षेपकत्वेन[२] [चातिप्रसङ्गात्] क्रतुसम्बन्धपदार्थानिन्वयात् पर्णताया इव न वाक्यादपि क्रतुप्रवेशो येन संस्कारकर्मत्वं स्यात्। ततोऽध्ययनं प्रधानकर्मेति पितृयज्ञवत् स्वर्गं [फलं] वा, "सुवर्णं (वा) भार्यम्" इति [-वत् आर्थवादिकं फलं वा] तत्रातिप्रसङ्गादनाक्षेपकत्वमित्याक्षिपति—नन्विति। अत्र विचार्यम्–किं स्वाध्यायविधिः प्रधानं कर्म उत संस्कारकर्म विधत्ते? तत्र कञ्चित् क्रतुमारभ्यपाठाभावान्न प्रकरणेन क्रत्वङ्गत्वम् सकलस्य नाव्यभिचारितक्रतुसम्बन्धः;[३] आर्थवादिकं वा फलं कल्पयित्वा "अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति" इति विनियोगभङ्गेन स्वर्गकामश्चरेत् इति, "सुवर्णं हिरण्यं भार्यं भ्रातृव्योऽस्य दुर्वर्णो भवति" इति विनियोगभङ्गेन[४] भ्रातृव्यदुर्वर्णताकामः शोभनवर्णं हिरण्यधारणं कुर्यादिति-कल्पनवदत्रापि स्वर्गादिकामः[६] स्वाध्यायाध्यनं कुर्यादिति कल्प्यत इति प्राप्तम्। अत्रोच्यते—प्रकरणवाक्ययोरभावेऽपि स्वाध्यायस्याध्ययनं संस्कारकर्म; तव्यप्रत्ययस्य कर्मप्राधान्यावगमकत्वम्। संस्कृतस्वाध्यायस्यावाप्तस्य पदपदार्थज्ञानद्वारेणाभ्युदयनिःश्रेयसप्रयोजनं दृष्टम्[७]। कर्मब्रह्मावबोधफललाभा[द]ध्ययनादेवादृष्टफलकल्पनाया यथाश्रुतविनियोगोपपत्तौ विनियोगभङ्गेनायुक्तत्वात्। यतः[८] अन्यथा दृष्टबोधनसामर्थ्यलिङ्गबाधो[९] विनियोगभङ्गकल्पनागौरवञ्च स्यात्। पितृयज्ञादौ तु दृष्टद्वारेण

ज्ञानवती

के साथ) सम्बन्ध अज्ञात है ऐसे पद का अर्थ प्रसिद्ध (पदों के साहचर्य से) निर्णीत होता है।" (ऐसा नहीं है कि उसके कारण) प्रसिद्ध पद अपने अर्थ से पृथक कर दिया जाय। (उ) तब तो "वे प्रथम धर्म थे" इस श्रुति में आपात-प्रतीत धर्म भी विचार का प्रयोजक हो सकता है। इसलिये यह आक्षेप ठीक नहीं है। (पू) इस (वेदान्त विचार) की प्रयोजिका कोई विधि नहीं है? (उ) यह ठीक नहीं है क्योंकि स्वाध्याय की प्रयोजिका अध्ययनविधि ही है।

[अध्ययन विधि का फल अर्थज्ञान है—]

(पू) ऐसा नहीं है क्योंकि (स्वाध्याय का) कोई उपयोग नहीं है? (पू) (वेद के) अर्थ का ज्ञान ही उसका फल है? (उ) (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः विधि में अर्थ-बोध—सार्थबोधं

---

[१] (क) बोधकफलो। [२] (क) कत्वे चातिप्रसङ्गात्।
[३] (क) चरितक्रतुसम्बन्ध। [४-५] क–ख–म। [६] (क) स्वर्गकामः।
[७] (क) दुष्ट। [८] (क) विनियोगभङ्गेन। [९] (क) बोधो।

कल्प्यः; उपनीतस्य नित्याधिकारात्; स्वाध्यायभाव्याभिधायितव्यश्रुतिविरोधे च नार्थावबोधस्य भाव्यताकल्पनम्; तस्मान्न फलपर्यन्तत्वायावघातावृत्तिवदध्ययनविधेर्विचारप्रयोजकत्वमिति ?

तदचारु; विचारमन्तरेणाध्ययननित्यत्वानित्यत्वविवेकस्याप्यनुपपत्तेरुपयोगसम्भवात्। यदि[1] च स्वोपयुक्तं विचारं प्रयुंक्ते, तदाध्ययनक्रियाया धर्मतया नित्यकर्त्तव्यनिर्णयफलं कथङ्कारं न धर्मजिज्ञासा सूत्रं प्रयुञ्ज्यात्? यदि चोत्तरविधिप्रयुक्त

भावदीपिका

फलाभावाद्युक्तं विनियोगभङ्गादि। एवमध्ययनविधेरर्थावबोधफलत्वात्तस्य च विचारसाध्यत्वादनुपयोगोऽसिद्धः? इत्याशङ्क्याह—न चेति। विध्युद्देशे श्रवणाभावेऽप्युक्तन्यायेन कल्प्यत इत्यत आह—न चेति। द्रव्यार्जनस्य जीवनार्थस्यापि यागोपयोगवन्नित्यस्यापि स्वाध्यायस्यार्थावबोधोपयोगसम्भवान्न न्यायबाधोऽपीति[2] भावः। किञ्चार्थावबोधस्य फलत्वे भाव्यता वक्तव्या; न च सा युक्ता, स्वाध्यायकर्मप्रधानतव्यश्रुतिविरोधात्—इत्याह—स्वाध्यायेति। यस्मादर्थावबोधफलत्वन्न सम्भवति तस्मादित्युपसंहरति—तस्मादिति।

अनुपयोगं तावन्निराचष्टे—तदचारु; विचारमन्तरेणेति। विचारस्यास्य वेदेतिकर्त्तव्यतात्मकत्वादध्ययनविधेश्च वेदान्तर्गतत्वादनुपयोगभाषणं साहसमात्रमिति भावः। अथ स्वोपयुक्तं विचारं प्रयुङ्क्ते तर्ह्यध्ययनविधिग्राहितस्वाध्यायमध्ये निरर्थकेनाक्षरमात्रेण न भाव्यमिति तत्र तत्रोद्घोषादर्थवत्त्वनिश्चयस्य च प्रत्येकवाक्यार्थविचारसाध्यत्वात् सर्वोऽपि स्वोपयुक्त एव विचारः—इत्याह—यदि च स्वोपयुक्तमिति। अथ फलवत्क्रतुविधिप्रयुक्तत्वसम्भवात् विचारस्याक्षरग्रहणान्त एवाध्ययनविधिव्यापारः? इत्याशङ्क्ते—यदि चेति। क्रतुविधीनां फलोपादानात् विचारप्रयोजकत्वं चेत्? अनुपात्तफलानां विधीनामपि विचारो न स्यात्; अध्याहारविपरिणामादिना फलसम्बन्धसम्पादनस्य च विचारसाध्यत्वात्[3]। तथाहि—"पितृयज्ञः स्वकालत्वादनङ्गं स्यात्।" "अमावास्यायामपराह्णे पिण्डपितृयज्ञेन चरन्ति" इत्यत्रानारभ्याधीतवाक्ये श्रुतः पिण्डपितृयज्ञः क्रत्वर्थः पुरुषार्थो वा?—इति सन्देहे कर्मवाच्यममावास्याशब्दसमभि-

ज्ञानवती

स्वाध्यायोऽध्येतव्यः—ऐसी कोई) श्रुति नहीं है। (पू) (उस अर्थज्ञानरूप श्रुति की) कल्पना कर लेंगे? (उ) उपनीत (द्विज) का (वह) नित्य अधिकार है। (पू) (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यहाँ पर तव्यप्रत्यय कर्म में हुआ है अतः हम अर्थबोध को उस तव्य प्रत्यय का कर्म ही मान लेगें?) (उ) तब तो 'स्वाध्यायोऽध्येतव्यः' इस श्रुति से ही विरोध हो जायगा। इसलिए अर्थबोध की भाव्यता की कल्पना नहीं हो सकती। इसलिये अध्ययनविधि विचार के फलपर्यन्तत्व के लिये उसी प्रकार नहीं है जैसे अवघात की आवृत्ति।

(उ) यह ठीक नहीं है। विचार के विना अध्ययन के नित्यत्व-अनित्यत्व के विवेक की अनुपपत्ति होने से उपयोग सम्भव है। और यदि स्वोपयुक्तविचार का प्रयोग करें, तब तो अध्ययन क्रिया के धर्म होने के नाते नित्यकर्त्तव्यनिर्णयफल वाले धर्मजिज्ञासा सूत्र का प्रयोग क्यों नहीं होगा। और यदि उत्तरविधि ('अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्र के उत्तर दर्शपूर्णमासाभ्यां

१ (ग) यदि चेत्, (घ) यदि च। २ (ख) बाधा। ३ (क) त्वान्न।

एव तद्विचारः, तर्हि वैपरीत्यं कुतो न स्यात् ? न चोपनिषद्विचारस्यापि प्रयोज-कत्वेन निस्सन्दिग्धात्मज्ञानोदये कर्मानारम्भप्रसङ्गः ; चित्तशुद्ध्याद्युपकरणाभावेन

भावदीपिका

व्याहारात्तदङ्गत्वम् । यद्यपि कालस्यापि साधारणोऽयं शब्दः तथापि फलकल्पनापरिहाराय कर्मवाच्येव । अतः क्रत्वर्थ इति प्राप्ते—

राद्धान्तः—कालकर्मसाधारणोऽप्यमावास्याशब्दोऽपराह्णशब्दसामानाधिकृत इह कालपर एव । न च साधारण्यं कालरूढत्वात्[१]; कर्मणि[च] तत्सम्बन्धात् लाक्षणिकत्वम् । तस्मात् कर्मसमभिव्याहाराभावात् विश्वजिन्-न्यायेन स्वर्गफलाध्याहारेण प्रधानकर्मतया पुरुषार्थः पितृयज्ञ इति । "अद्रव्यत्वात्तु शेषः स्यात्"—"सुवर्णं हिरण्यं भार्यं दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति" इत्यनारभ्याधीते संशयः—किं शोभनवर्णं हिरण्यधारणं क्रत्वङ्गमुत पुरुषधर्म इति ? तत्र फलकल्पनाभयात् क्रतुनिवेशः । दुर्वर्ण इत्यादि[२] तु कामशब्दविरहान्न फलपरम्[३] । न च [रात्रि–] सत्रवद् विपरिणामः, क्रत्वङ्गत्वेन गतिसम्भवात् । तथाच वैदिककर्मत्वसामान्यादग्निहोत्रादिप्रकरणनिवेश इति प्राप्तम्[४] । अद्रव्यत्वात् = द्रव्यदेवता-सम्बन्धरहित्यान्न[५] स्वतन्त्रं कर्म, किन्तु क्रतुशेष इति सूत्रार्थः ।

सिद्धान्तस्तु—"अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात्" । तद्धर्मः=पुरुषधर्मः । एवंजातीयको यतोऽप्रकरणेऽयमाम्नातः प्रकरणाधीताद्धर्मात् विशिष्यते । न च "आहवनीये जुहोति" इति होमानुवादेनाहवनीयविधिवत् क्रत्वनुवादेन धारणं विहितम्, येन वाक्येन साक्षात् क्रतुसम्बन्धि भवेत्; नाप्यव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धद्वारा पर्णमयीत्ववत् क्रतुरुपनीयते, सुवर्णधारणस्य लोकेऽपि विद्यमानत्वेन क्रत्वव्यभिचाराभावात् । तस्माद् विनियोगभङ्गेन हिरण्यसाधनकं धारणं वाक्यशेषगतफलाय विधीयते इति पुरुषधर्म इति—इत्यादि विचारणा । विधिवाक्यगत[६]फल-प्रयुक्तत्वासम्भवात्, अध्ययनविधिना परिगृहीतत्वात् सामान्येन फलवत्त्वनिश्चयात्, विचारश्चेत् तर्हि अध्ययनविधिनैव फलवत्त्वं सूचयता[७] स्वविचारवत् सर्वोऽपि विचार आक्षिप्तः; फल-सामान्यनिश्चयस्य तद्विशेषनिश्चयं विना पर्यवसानायोगादित्याशयेनाह—तर्हीति । अध्ययन-विधेरध्ययनवत् कार्त्स्न्येन विचारप्रयोजकत्वे कर्मकाण्डस्य निरधिकारितया प्रामाण्यहानिः ? इत्याशङ्क्याह—न चेति ।

ज्ञानवती

स्वर्गकामो यजेत आदि वर्णित विधियाँ) प्रयुक्त ही वह (वेदान्त) विचार हो तब तो वैपरीत्य क्यों नहीं होगा । (पू) उपनिषद्विचार भी (ब्रह्मज्ञान के) प्रयोजक हैं, इस कारण (उपनिषद् वाक्यों से ही) निःसन्दिग्ध आत्मा का ज्ञान होने से कर्म नहीं होने लगेगें ? (उ) चित्तशुद्धि आदि उपकरणों के अभाव के कारण (उपनिषद् वाक्यों से) उस (आत्मा के ज्ञान) के होने पर भी कर्म का आरम्भ सम्भव है । (पू) शाखान्तर के समान अपनी शाखा के अर्थ

---

१ (ख) काले ।
२ (क) इत्यादि तु ।
३ (ख) परम्परा ।
४ (ख) प्राह-स्वद्रव्यत्वात् ।
५ (क) साहि ।
६ (ख) फलत्व ।
७ (ख) सूचयति ।

सत्यपि तस्मिन् कर्मारम्भसम्भवात्। न च शाखान्तरवत् स्वशाखार्थावबोधनस्य स्वाध्यायविध्यनपेक्षणम्; अध्ययनेऽपि तत्प्रसङ्गात्। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"[१] इति विधौ 'मीमांसाऽध्येतव्या' इतिवदस्यार्थावबोधफलत्वावगमात्।[२] न च कल्पनायामपि दोषं पश्यामः, विषमन्त्रादिविधिवदस्याक्षरग्रहणान्तत्वेऽर्थज्ञातव्यताधीनं वेदस्य विवक्षितार्थत्वं न स्यात्। अथ[३] तदर्थप्रमितिशेषता स्वाभाविकी, न विध्यधीना वेदस्य ?

भावदीपिका

विधिं विनाऽपि यथा शाखान्तरीयवाक्यग्रहणं तदर्थावधारणञ्च तथा स्वशाखार्थावधारणमपि स्यात् ? इत्याशङ्क्याह—न चेति। ननु स्वशाखाध्ययने विधिसद्भावादन्यत्र च तदभावान्नायं प्रसङ्गः साधीयान् ? उच्यते—स्वाशाखामात्रविषयो विधेर्नियन्तुं न[४] शक्यते; शाखाविभागात् प्राङ्निर्विषयत्वप्रसङ्गात्, समस्तग्रहणासामर्थ्येनैव शाखाविभजनस्मरणाच्च[५]। अतः सामर्थ्याधिक्यात्तेषां वेदमधीत्य वेदौ वेदान् वेति वचनात्, प्रतिवेदं द्वादश वेति शाखान्तराध्ययनाङ्गब्रह्मचर्यविधानाच्च। शाखान्तरेऽपि विधिप्रसरात्तदध्ययनस्यावैधत्वे स्वशाखाध्ययनमप्यवैधं स्यादिति साधीयानेव प्रसङ्गः। न चार्थावबोधस्य फलवत्क्रतुविधिशेषत्वेन काम्यत्वादनावश्यकत्वादध्ययनस्य तदर्थत्वेऽनावश्यकत्वमाशङ्कनीयम्[६]; अर्थबोधस्यानुष्ठानाङ्गत्वात्, नित्यादिस्थलेऽननुष्ठाने दोषस्मरणात्, तस्यावश्यकत्वावगमादग्निहोत्रादेर्नित्यत्वकाम्यत्वश्रुतेश्च[७]। फलप्रयुक्तविचारे वेदान्तिभिर्नित्यानामपि फलवत्त्वाभ्युपगमात्तेषामपि काम्यत्वाविशेषाच्च[८] तत्कामनाया अनावश्यकत्वेन ज्ञानाभावान्नित्यानुष्ठानाभावप्रसङ्गाच्चेत्याह—अकुर्वन्निति(?)[९]। अश्रुतत्वादिति परहेतुं निराचष्टे—न चेति। अध्येतव्यपदस्य पाठार्थावबोधयोर्विधित्सायां प्रयोगसाधारण्यात् सम्भवत्यर्थावबोधस्यापि श्रौतत्वम्। यदुक्तमुपनीतस्य नित्याधिकारान्नार्थावबोधः कल्प्य इति ? तत्राह—न चेति।

ज्ञानवती

का ज्ञान स्वाध्यायविधि की अपेक्षा नहीं रखता ? (उ) अध्ययन में भी उसका (=अर्थज्ञान का) प्रसङ्ग है। क्योंकि जैसे स्वाध्यायोऽध्येतव्यः इस श्रौत अध्ययनविधि में आर्थिक 'मीमांसा अध्येतव्या' विधि फल है वैसे ही अर्थाव बोध भी फल है। और इस आर्थिक कल्पना में हम कोई दोष भी नहीं देखते क्योंकि (यदि ऐसी कल्पना न करें और) विषहरण-मन्त्रादि के समान इसका भी केवल कण्ठ कर लेना ही फल माने तो अर्थज्ञान के अधीन जो वेद का विवक्षितार्थत्व है वह उपपन्न नहीं होगा। (पू) वेद का अर्थ प्रमा का अङ्ग स्वभावतः है न कि उसकी अङ्गता वेदोक्तविधि के अधीन है ? (उ) तथापि (वेद का) पर्यवसान फलवान् अर्थावबोध में है।

(पू) (जिस प्रकार पञ्चमहायज्ञों) देव, पितृ, मनुष्य, भूत एवं ब्रह्मयज्ञ के स्वतन्त्र फल घृतकुल्या, मधुकुल्या आदि हैं उसी प्रकार स्वाध्याय का स्वतन्त्र फल होता है ऐसा हम

---

१ तै० आ० २।१५।
२ (क) विधौ मीमांसाऽध्येतव्या इति वेदस्य। (ख) विधौ वेदस्य
३ (ग) तथा, (घ) तथा।
४ (क) नियन्तुं शक्य।
५ (क) भज्जन।
६ (क) त्वे नावश्य।
७ (ख) गमत्वात्।
८ (क) काम्यात्।
९ (क) प्रतीकमिदं मूले न प्राप्यते।

तथापि विधेः फलवदर्थावबोधपर्यवसानं युक्तम्। पञ्चसूनाप्रायश्चित्तत्वेन पञ्चमहायज्ञनिर्वपणविधानात्; स्वातन्त्र्येण फलकीर्त्तनस्यार्थवादत्वात्; तदन्तर्गतगृहस्थाधिकारब्रह्मयज्ञफलस्य प्रथमाध्ययने कल्पयितुमशक्यत्वात्। अतः परिशेषादर्थावबोधफलत्वमापतति। आवृत्तिगुणस्याविहितस्य विहितोच्चारणानुपयुक्तस्यापि विधेयत्वकल्पनवद्विचारस्यापि तदुपपत्तेश्च।

भावदीपिका

सम्बन्धग्रहग्रहणाद्यवैधोपायेनाप्यर्थप्रमितिसम्भवादिति भावेनाशङ्कते—अथेति। यद्यर्थावबोधार्थताऽध्ययनविधेर्न स्यात् तदाऽर्थावबोधोपायत्वेन क्लृप्तव्याकरणादेः "वेदाङ्गाद्यनध्यायेषु" इत्यध्ययनविधानं केवलमदृष्टार्थं प्रसज्येत; तच्चायुक्तमित्याह—तथापीति। अर्थावबोधस्य फलत्वमनङ्गीकुर्वता[१] चार्थवादिकं फलमिष्टम्; तस्य चान्यविषयत्वादर्थवादमात्रत्वान्नात्रोपसंहारो युक्त इत्याह—पञ्चसूनेति। "कण्डनं पेषणं चुल्ही उदकुम्भं च मार्जनम्। पञ्चसूना गृहस्थस्य पञ्चयज्ञात् प्रणश्यति॥" इति स्मृतेः पञ्चविधा हिंसा [-निवृत्तिः] पञ्चविधमहायज्ञान्न स्वोचितफला भवतीति विधानात्; कृष्यादिहिंसादोषनिवृत्तिफलकदशांशदानस्येव [फलान्त-]रकल्पनानुपपत्तेः अर्थवाद एव फलश्रुतिरित्यर्थः। "महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः।" इति स्मृत्यनुसारेण[२] च यज्ञमात्रस्य ज्ञाननिष्ठाफलत्वापत्तौ न फलविभागलाभः, नापि प्राकरणिकं[३] फलं स्वाध्यायस्य लभ्येत। न चार्थावबोधफलस्य भङ्गः स्यात्; तेनेयमपि श्रुतिरुक्तफलत्वं[४] न निवारयति; परसम्मतोदाहरणेन विचाराक्षे[प]सम्भवाच्च युक्तमर्थावबोधपर्यवसानमित्याह—आवृत्तिगुणस्येति। अथावृत्त्या उच्चारणे अध्ययन-शब्दो रूढः, सकृदुच्चारणे गौणः, ततः शाब्दचेवावृत्तिः स्वायत्तोच्चारणफलेति मतम्? तदापि स्वतन्त्रादृष्टफलानिरूपणादर्थावबोधतदर्थविचाराद्याक्षेपद्वारेण फलपर्यवसानमेष्टव्यम्। ततो न वैधत्वविरोधो विचारस्येति द्रष्टव्यम्।

ज्ञानवती

मान लेगें)। (उ) पञ्च महायज्ञ के निर्वपण का विधान पाँच हिंसाओं के प्रायश्चित के रूप में है। इस कारण स्वतन्त्र फल का कथन अर्थवाद है। फलतः उसके अन्तर्गत वर्त्तमान गृहस्थ के अधिकार ब्रह्म यज्ञ का (स्वतन्त्र) फल प्रथम अध्ययन में कल्पित नहीं हो सकता। इसलिये परिशेषात् अर्थ का ज्ञान ही फल आपतित होता है। (पू) (अध्ययन विधि में अध्ययन तो गुरूच्चारणानुच्चारण है पर इतने से ही अध्ययन सम्पन्न नहीं होता किन्तु स्वतः उच्चारण की योग्यता एवं अर्थ ज्ञान होना चाहिये और इसके लिये आवृत्ति अपेक्षित है। चूंकि आवृत्ति का विधान नहीं है इसलिये स्वाध्यायोऽध्येतव्यः का फल अर्थावबोध नहीं हो सकता। फलतः अर्थावबोध के लिये वेदान्त-विचार व्यर्थ है)? (उ) जिस प्रकार विहितोच्चारणानुपयुक्त एवं अविहित आवृत्तिगुण के विधेयत्व की कल्पना की जाती है उसी प्रकार (अर्थावबोध की भी कल्पना कर लेनी चाहिये जिससे) विचार की भी उपपत्ति हो जाती है।

---

१ (क) मङ्गी। २ (ख) सरणे च। ३ (क) ना प्राक। ४ (ख) स्मृति।

नन्वेवं क्रतुविधिशेषतास्य स्यात्, तत्रैव मुख्यफलपर्यवसानात्; अस्तु ! तदाहुर्भट्टपादाः—

"यत्र तु विहिते फलाकाङ्क्षिणि तदनात्मककार्यपरम्परायां सत्यामान्तरालिकं किञ्चित् क्रतवे पुरुषाय वा चोद्यते तत्र तदेव तत्साधनम्। पूर्वस्य तु विधेस्तदुपकारार्थतया पर्यवसानम्"[१] इति। न चैवं काम्यत्वादकरणे प्रत्यवायश्रवणं बाध्येत; ऋतुस्नातागमनस्य काम्यत्वेऽप्यकरणे प्रत्यवायश्रवणात्। अग्निहोत्रवन्नित्य—(कामनया[२]) वास्तु। यथा च "आत्मा श्रोतव्यः" इत्यत्रात्मानमपहाय तद्दर्शनं भाव्यतयाश्रीयते, तथा स्वाध्यायमपहायार्थावबोधोऽपीति न तव्यश्रुतिविरोधः। अपरथा

भावदीपिका

अर्थावबोधफलत्वेऽनिष्टप्रसङ्गाभासमाशङ्कते संस्कारकर्मत्वसम्पादनेन प्रोक्षणावघातादिविधिवत् विध्यन्तरपर्यवसानस्येष्टत्वात्—नन्विति। आभासत्वमेवाह—अस्त्विति। प्रसङ्गान्तरमप्याभासीकरोति—न चेति। अथ नित्यत्वमपि तत्रास्ति, तर्ह्युभयमस्त्वित्याह—अग्निहोत्रेति। यदुक्तं स्वाध्यायभाव्यताभिधायितव्यश्रुतिविरोध इति, तत्रार्थवादिकफलाङ्गीकारे स्वाध्यायेनाधीयीतेति विपरिणामापत्तेः श्रुतिविरोधस्तुल्य इत्याशयेनाह—यथा चेति। अथार्थवादिकं फलं न स्वीक्रियते, तर्ह्यर्थावबोधभाव्यत्वमापतेत्; अध्ययनेन संस्कृतस्वाध्यायस्य साक्षात्[फ-]लत्वाभावात्। फलत्वाभावेऽपि भाव्यत्वं चेत् ? तत्राह—अपरथेति। अर्थावबोध-

ज्ञानवती

(पू) ऐसा मानने पर यह क्रतुविधि का अङ्ग हो जायगा क्योंकि मुख्यफल (अर्थात् अर्थाव-बोध) का पर्यवसान वहीं (=अनुष्ठान में ही) होता है।

(उ) ऐसा हो जाय। भट्टपाद ने कहा है—

जहां पर विहित फलाकाङ्क्षी (राजा राजसूयेन—आदि वाक्यों के द्वारा विहित राजा आदि व्यक्ति) में तदनात्मक (अर्थात् फलानात्मक) कार्य परम्परा होने पर कुछ मध्यवर्त्ती (पदार्थ) यज्ञ के लिये या पुरुष के लिये चोदित होता है, वहां पर वहीं (चोदित पदार्थ) उस (फल) का साधन होता है, और पूर्व विधि का यज्ञ के उपकारार्थ के रूप में पर्यवसान होता है। (पू) ऐसा होने पर (राजसूय आदि के) काम्य होने से न करने पर जो प्रत्यवाय का श्रवण होता है वह वाधित हो जायगा ? (उ) (ऐसा नहीं है क्योंकि) ऋतुस्नातागमन के काम्य होने पर भी न करने पर प्रत्यवाय सुना जाता है। अथवा अग्निहोत्र के समान नित्यकामना से हो। (पू) (स्वाध्यायो अध्येतव्यः यहाँ पर अध्येतव्य शब्द में वर्तमान तव्य प्रत्यय का कर्म स्वाध्याय है अर्थावबोध नहीं, फिर अर्थावबोध वेदान्तविचार अर्थात् अध्ययन विधि का फल कैसे ?) (उ) जैसे आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य— यहां पर (आत्मा के विभु होने से उसका प्रत्यक्ष स्वतः सिद्ध होने के कारण वाक्य की अनुपपत्ति होने से तव्य प्रत्यय का) आत्मा को छोड़ कर उसका दर्शन कर्म हो जाता है उसी प्रकार (स्वाध्यायोऽध्येतव्यः यहां पर) स्वाध्याय को छोड़कर अर्थावबोध भी (तव्य

---

१ तं० वा० १।२।७। २ (क) काम्यतया।

एकपदोपात्ताध्ययनक्रियाया एव भाव्यत्वप्रसङ्गात्।[१] न च विचारात् प्राक् तत्तद्वाक्यार्थविशेषानवबोधात् तत्कामनानुदयात् 'अर्थावबोधकामोऽध्ययनेनार्थावबोधं भावयेत्' इति विध्यनुपपत्तिः; फलप्रयुक्तविचारेऽपि तुल्यत्वात्। न चाप्तवचसां विधिं विनापि फलवदर्थावबोधकत्वदर्शनात् साङ्गाच्च कर्मणो विधीयमानादवघातादिष्विवादृष्टजन्मनियमान्न विधिफलमर्थावबोधः, किन्तु स्वीकृतस्वाध्यायमात्रजन्यं फलम्; अक्षरावाप्तेरपि विधिव्यापारविषयत्वप्रसङ्गात्। अक्षरावाप्तिसमवेतादृष्टस्यानधिकृतकर्मवाक्येषु

भावदीपिका

फलत्वेऽनुपपत्त्यन्तरं परिहरति—न चेति। त्वया फलवत्क्रतुविधिप्रयुक्तः कर्मकाण्डविचारः, श्रवणविधिप्रयुक्तो ब्रह्मकाण्डविचारश्चेष्टः; तत्तदर्थावबोधकामस्येति समः पर्यनुयोग इत्यर्थः। तथापि नार्थावबोधस्य वैधफलत्वम्; अन्यथाऽपि सम्भवात्, साङ्गाध्ययनकर्मणो दर्शादिवदपूर्वसाधनत्वेन फलान्तरस्य वक्तव्यत्वाच्चेति तत्राह—न चाप्तवचसामिति। तर्हि सकृदुच्चारणेनैवादृष्टोत्पादसम्भवादक्षरावाप्तिपर्यन्तो विधिव्यापार इति तवापि मतं न स्यात्। अथ "अहरहः स्वाध्यायमधीयीत" इति नित्यजपविधिनाऽऽक्षिप्ताक्षरावाप्तिः; तथा प्रतिज्ञाहानिः स्फुटा; अर्थावबोधस्य कर्मानुष्ठानोपकारित्वादनुष्ठानं चाधिकृतकर्मणामेव, ' तेनार्थावबोधार्थमध्ययनं चेन्न समस्ताध्ययनं स्यात्—इत्याशङ्क्याह—अक्षरावाप्तीति। अर्थज्ञानपूर्वकजपादिष्वपि अदृष्टविशेषो जायते। तद् युक्तोऽयं पक्षः।

किञ्चार्थवादिकफलकल्पने तत्रैकदेशाध्ययनेऽपि फलश्रवणादल्पाल्पफलकामानां समग्राध्ययनं न स्यादित्याद्यूह्यम्। तच्च सर्वं न शूद्रस्य, किन्तु द्विजातीनाम्; उपनयनस्याध्ययनाङ्गत्वात्। शूद्रस्य चोपनयनविध्यभावात्; सत्यवचनेन शूद्रत्वाभावे निर्धारिते जाबालं गौतम उपनेतुं अनुशासितुं च प्रववृते—"नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति। समिधं सौम्याहर। उप त्वा नेष्ये, न सत्यादगाः" इति श्रुतेः। तेनाध्ययनासम्भवान्न संस्कृतस्वाध्यायसाध्यफलवत्-कर्म-ब्रह्मावबोधलक्षणशास्त्रीय-

ज्ञानवती

का कर्म हो जायगा) इसलिये तव्य श्रुति का विरोध नहीं होगा। अन्यथा समानपदोपात्त अध्ययन क्रिया ही साध्य हो जायगी। (पू) विचार से पहले तत्तद् वाक्यार्थ विशेष का बोध न होने के कारण उस (अर्थावबोध) की कामना का उदय न होने से अर्थावबोध की इच्छा वाला अध्ययन के द्वारा अर्थावबोध को उत्पन्न करे। इस विधि की अनुपपत्ति हो जायगी ? (उ) (यह तो) फलप्रयुक्त विचार के विषय में भी तुल्य है।

(पू) आप्त पुरुषों का, विधि के विना भी फलवान् अर्थावबोधकत्व देखा जाता है इस कारण तथा साङ्गविधीयमान कर्म का जैसे अवघात आदि में, उसी प्रकार (यहां भी) अदृष्टजन्म का नियम होने से विधि का फल अर्थावबोध नहीं होगा किन्तु स्वीकृतस्वाध्याय मात्र से उत्पन्न होने वाला फल (ही अर्थावबोध होगा) ? (उ) तब तो अक्षर की अवाप्ति (=कण्ठ करना) भी विधि के व्यापार का विषय हो जायगी। जिस प्रकार अक्षरावाप्ति में समवेत अदृष्ट अनधिकृतकर्मवाक्यों में प्रायश्चित जप आदि के द्वारा अपूर्वोपकारी होता

---

१ (ख) तव्यत्व।

प्रायश्चित्तजपादिद्वारेणापूर्वकारित्ववदर्थावबोधस्यापि तदीयस्य सम्यगिज्यादिद्वारेणा-पूर्वोपकारित्वोपपत्तेर्न यावदधिकृतकर्मवाक्यमेवाध्ययनाशङ्का। तस्मात् फलपर्यन्त-त्वायावघातावृत्तिवदध्ययनविधेर्विचारप्रयोगकत्वन्न विरुध्यते।

यच्च द्वितीयसूत्रार्थोऽपि परस्पराश्रयग्रस्तः—'चोदनैव धर्मे प्रमाणम्' इत्यवधारणे सिद्धे 'चोदनालक्षण एवार्थो धर्मो न चैत्यवन्दनादिलक्षणः' इति सिद्ध्यति; सति च तस्मिन् 'धर्मे चोदनैव प्रमाणम्' इत्यवधारणसिद्धिरिति; नह्यतीन्द्रियो धर्म इति चोदनां विना अन्यतस्तत्सिद्धमिति? तदप्यलीकम्; 'विद्यमानरूपादिमदुपलम्भनमेव चक्षुरादिभिः, इत्यादि प्रत्यक्षसूत्राद्युक्तन्यायैर्धर्मस्यातीन्द्रियत्वस्यावधारितत्वात्। यद्यपि चोदनायाः प्रामाण्याय न प्रमाणान्तरासम्भवोऽपेक्षितः, तथापि बौद्धादिप्रोक्तस्य धर्म-त्ववारणायापेक्षितः। किञ्च ब्रह्मणोऽपि शास्त्रैकप्रमाणत्वादुक्तदोषात्। तथाहि—'वेदान्ता एव प्रमाणम्' इत्यवधारणे[१] सिद्धे 'वेदान्तप्रमाणसिद्धमेव ब्रह्म, न नैयायिकादितर्कितम्' इति सिद्ध्यति। सति च तस्मिन् 'वेदान्ता एव ब्रह्मणि प्रमाणम्' इत्यवधारणसिद्धिः। नह्यतर्कितम् ब्रह्मेति "औपनिषदं पुरुषम्" इत्यादिवेदान्तं विनाऽन्यतस्ते सिद्धम्। अतः परपक्षे दोषमुद्घाटयन् स्वपक्षे माऽचूचु[र[२]]स्त्वम्।

भावदीपिका

सामर्थ्यसम्भव[म्], तथाम्नानविधानाभावाच्च। 'शूद्रो यज्ञेऽनवक्लृप्तोऽसमर्थो[३] विज्ञाने च' इत्यादेः शास्त्रवर्णनात्। उपसंहरति—तस्मादिति।

अन्यदपि परोक्तमनुभाष्य दूषयति कर्मवादी—यच्चेति। न चैवं चोदनाया न्याया-पेक्षत्वेन[४] स्वतःप्रामाण्यस्य भङ्गः? इत्याह—यद्यपीति। तुल्यत्वाच्च नायं पर्यनुयोगो युक्तः; इत्याह—किञ्चेति।

ज्ञानवती

है उसी प्रकार उसके अर्थावबोध के भी सम्यग् इज्या आदि के द्वारा अपूर्वोपकारी हो जाने से अधिकृत कर्म (विषयक) वाक्यपर्यन्त अध्ययन की आशंका नहीं होगी। इसलिये अवघात की आवृत्ति के समान अध्ययनविधि का भी विचारप्रयोजकत्व फलपर्यन्तत्व के लिये विरुद्ध नहीं होता। (पू) और जो (यह कहा कि) द्वितीयसूत्र अन्योऽन्याश्रयग्रस्त है, (क्योंकि) चोदना ही धर्म के विषय में प्रमाण है यह अवधारण सिद्ध होने पर चोदनालक्षण वाला ही अर्थ धर्म है न कि चैत्य वन्दन[५] आदि लक्षण वाला, यह सिद्ध होता है। और उसके (सिद्ध) होने पर चोदना ही धर्म में प्रमाण है इस अवधारण की सिद्धि होती है। धर्म अतीन्द्रिय है इसलिये चोदना के बिना दूसरे (उपाय) से उसकी सिद्धि होगी, ऐसा नहीं है?

(उ) यह भी असत्य है। क्योंकि धर्म का अतीन्द्रियत्व "चक्षु आदि के द्वारा वर्तमान रूप आदि की प्राप्ति ही" इत्यादि प्रत्यक्षसूत्र आदि में वर्णित न्यायों के द्वारा ही निश्चित हो जाता है। यद्यपि चोदना के प्रामाण्य के लिये प्रमाणान्तर का असम्भव होना अपेक्षित नहीं

---

१ (ख) धारणमिति सिद्धे। २ (क) द। ३ (ख) ज्ञेन चेत् क्लृप्तो।
४ (ख) न्वया। ५ बौद्ध लोग मिट्टी के ढेर या शून्य स्थान की वन्दना का विधान करते हैं; यही चैत्यवन्दन है।

[वेदशब्दविचारः–]

यच्च किं यौगिकोऽयं वेदशब्दः 'वेदयति' इति, किं वा रूढः ? प्रथमे चक्षुरादेरपि वेदत्वप्रसङ्गः। चरमे किं वर्णमात्रे रूढः ? किं वा क्रमविशिष्टेषु ? नाद्यः; ककारादिदर्शनेऽपि वेदबुद्धेरभावात्। नापि द्वितीयः; क्रमानिरूपणात्। न तावद्वर्णानां देशतः कालतो वा क्रमः सङ्गच्छते; विभुत्वान्नित्यत्वाच्च। नापि वस्तुस्वभावप्रयुक्त एव क्रमः; 'कपिः पिकः,' इत्येतस्य युगपत् पूर्वापरीभावविरोधात्। उच्चारणोपलब्ध्योश्चाप्रत्यक्षत्वात् क्रमविशिष्टानां न[1] प्रत्यक्षता स्यात्; अनिर्वाच्यक्रमे कल्पितानामेव बोधकता, कल्पितक्रमविशिष्टानां कल्पितत्वादिति;

भावदीपिका

[वेदशब्दविचारः—]

अन्यदपि तदीयमुत्थापयति—यच्चेत्यादिना। अस्तु तर्हि अनिर्वाच्यः क्रमः? तत्राह—अनिर्वाच्येति[2]। कल्पितानां वर्णानामनङ्गीकारात्तदङ्गीकारोऽपसिद्धान्त इत्यर्थः।

ज्ञानवती

है, तथापि बौद्ध आदि के द्वारा उक्त (चैत्यवन्दन आदि) के धर्मत्व के वारण के लिए अपेक्षित है। इसके अतिरिक्त (आपके मत से सिद्ध) ब्रह्म भी शास्त्रैकप्रमाण होने से उक्त (=अन्योऽन्याश्रय) दोष से (युक्त है)। वह इस प्रकार—वेदान्त ही ब्रह्म के विषय में प्रमाण हैं इस अवधारण के सिद्ध होने पर ब्रह्म वेदान्तप्रमाणसिद्ध ही हो जाता है न कि नैयायिक आदि से तर्कित, यह सिद्ध होता है। और उस (ब्रह्म) के (सिद्ध) होने पर 'वेदान्त ही ब्रह्म के विषय में प्रमाण है' इस अवधारण की सिद्धि होती है। तुम्हारा अतर्कित ब्रह्म केवल "उपनिषद् से समधिगम्यपुरुष" इत्यादि वेदान्त के विना दूसरे (प्रमाण) से सिद्ध नहीं होता। इसलिए दूसरे के पक्ष में दोष उद्घाटित करते हुए अपने पक्ष में आप चोरी मत कीजिये।

[वेदशब्दविचार—]

(पू) और जो क्या 'वेदयति' इस विग्रह के द्वारा वेद शब्द यौगिक है या रूढ ? पहले पक्ष में चक्षु आदि भी वेद हो जायेंगे। दूसरे पक्ष में क्या वर्णमात्र में रूढ है या क्रमविशिष्ट (वर्णों) में ? पहला पक्ष ठीक नहीं है, क्योंकि ककार आदि का दर्शन होने पर भी वेदबुद्धि नहीं होती। दूसरा पक्ष भी नहीं हो सकता क्योंकि क्रम का निरूपण नहीं है। वर्णों का देशतः या कालतः क्रम संगत नहीं होता क्योंकि वे विभु एवं नित्य हैं। क्रम वस्तुस्वभावप्रयुक्त भी नहीं है क्योंकि 'कपि' 'पिक' इसका एक साथ पूर्वापरीभाव विरोध होता है। और उच्चारण[3] तथा उपलब्धि[4] के प्रत्यक्ष न होने से क्रमविशिष्ट (वर्णों) का प्रत्यक्ष नहीं होगा फलतः; क्रम के निर्वाच्य न होने से कल्पित (क्रम वाले कल्पितवर्ण) ही बोधक होंगे, क्योंकि कल्पितक्रम-

---

[1] (ख) विशिष्टानां प्रत्यता। [2] (ख) निर्वा।

[3],[4] अर्थात् जिह्वानिष्ठक्रियास्वरूपउच्चारण तथा उपलब्धि अर्थात् ज्ञान, का श्रावण प्रत्यक्ष असम्भव है।

तदपि वार्त्तम्; क्रमविशिष्टवर्णा वेदा; ऋग्वेदादौ वेदशब्दस्य रूढत्वात्; "त्रयो वेदा अजायन्त", "श्रुतिश्च वेदो विज्ञेयः"[१] इति श्रुतिस्मृतिभ्यां धर्मादि वेदयति इति विवक्षया यौगिकत्वे विशेषाभावाच्च। अपरथा बृहत्वाद् ब्रह्मेत्यादिनिरुक्तिरपि दुरुक्तिःस्याद्; ब्रह्माण्डादावपि ब्रह्मःवप्रसङ्गात्। निरुपपदब्रह्मपदार्थस्य निरंकुशब्रह्मत्वस्य ब्रह्माण्डादावसम्भवश्चेत्? तर्हि प्रधानादौ प्रशक्तिः "ईक्षतेर्नाशब्दम्"[२] इत्यादेः; अतएव तन्निरासः। नक्षत्रादेर्गतिक्रमस्याप्रत्यक्षत्वेऽपि तद्घटितस्थानक्रमावच्छिन्नस्य प्रत्यक्षत्ववत् वर्णानामुच्चारणक्रियाया अप्रत्यक्षत्वेऽपि गुरुमते तद्घटितध्वनिक्रमावच्छिन्नानां प्रत्यक्षत्वोपपत्तेश्च। तदाहुर्भट्टपादाः –

"यथा घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते।
चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिः स्याच्छ्रोत्रसङ्गतेः॥"[३] इति।

यथा च सप्तदश ऋत्विजो यजमानश्च प्रत्येकं काय प्रत्यपर्याप्ता मिलिताः

भावदीपिका

विशिष्टपक्षाकारेण दूषयति—तदपीति। वृद्धागमप्रसिद्धिभ्यामखण्डत्वावगमात् वेदशब्दस्य, क्रमविशेषविशिष्टवर्णानां वेदत्वोपपत्तिरित्यर्थः। अवयवव्युत्पत्त्यङ्गीकारेऽपि[४] न दोषः; इत्याह—धर्मादीति। बृहत्त्वमापेक्षिकं निरङ्कुशं वा? नोभयमपीत्याह—ब्रह्माण्डेति। द्वितीयमात्रशून्यत्वं निरङ्कुशबृहत्त्वम्, तत्र[५] प्रधानस्य; पुरुषेण सद्वितीयत्वादित्याशङ्कां निराकर्तुम् आदि-शब्देन शून्यसङ्ग्रहः। तद्वादिना शून्यातिरिक्तस्य कस्याप्यनङ्गीकारात्तस्य ब्रह्मत्वप्रसङ्गो दुर्वार इति विशेषणान्तरोपादाने समः समाधिरित्यर्थः। व्यञ्जकक्रमविशिष्टत्वेन प्रत्यक्षत्वमपि सुसम्पादितम्; इत्याह—नक्षत्रादेरिति। ध्वनीनां प्रत्यक्षत्वात् तत्क्रमस्यापि प्रत्यक्षत्वोपपत्तेर्ध्वनि-

ज्ञानवती

विशिष्ट (वर्ण) कल्पित होते हैं—यह कथन है;

(उ) यह भी असंगत है। क्रमविशिष्टवर्ण वेद हैं क्यों कि ऋग्वेद आदि में वेद शब्द रूढ़ है। "तीन वेद उत्पन्न हुए", "श्रुति करके वेद को ही जानना चाहिए" इन श्रुति-स्मृतियों से तथा 'धर्मादि वेदयति' इस विवक्षा के द्वारा (वेद के) यौगिकत्व में कोई प्रमाण नहीं है अन्यथा 'बृहत्वात् ब्रह्म' यह निरुक्ति भी दुष्ट उक्ति हो जायगी क्योंकि ब्रह्माण्ड में भी ब्रह्मत्व की प्राप्ति होने लगेगी। (पू) निरुपपद ब्रह्मपदार्थ और निरंकुशब्रह्मत्व ब्रह्माण्ड आदि में असम्भव है? (उ) तब तो "ईक्षतेर्नाशब्दम्" (=ईक्षण क्रिया के कारण जगत् का हेतु सत्शब्द-वाच्य प्रधान नहीं है) इत्यादि (ब्रह्मसूत्रों) की प्रधान आदि में प्राप्ति हो जायगी। इसीलिए उस (प्रधान में ब्रह्मत्व) का निरास होता है। साथ ही साथ नक्षत्र आदि की गति के क्रम का प्रत्यक्ष न होने पर भी उससे घटित स्थान के क्रम से अवच्छिन्न का जैसे प्रत्यक्ष होता हैं उसी प्रकार वर्णों की उच्चारण क्रिया के प्रत्यक्ष न होने पर भी प्रभाकर गुरु के मत में उससे घटित ध्वनि के क्रम से अवच्छिन्न का प्रत्यक्ष उपपन्न होता है। भट्टपाद कहते हैं—

१ मनु० २।१०। २ ब्र० सू० १।१।५। ३ श्लो० वा० १।६।४२।
४ (क) व्यक्तयङ्गी। ५ (ख) तस्य।

कुर्वन्ति, न तथा ध्वनयो वर्णाश्च; किन्तु मैत्रावरुणः प्रैषकर्त्ता न दण्डस्तद्वैशिष्ट्यं वा। यथा "मैत्रावरुणः प्रैष्याद्दण्डी प्रैषानन्वाह" इत्यत्र तयोरचेतनत्वात्, तथैवाकल्पितानां वर्णानामेव बोधकं रूपं तृणादिव्यक्तवह्नेरिव च दाहप्रकाशकं रूपम्। यथा च कल्पिताविद्याविशिष्टस्य तत्प्रकाशनं ब्रह्मणो न कल्पितरूपकृतम्, स्वरूपप्रकाशस्यैव "तमेव भान्तमनुभाति सर्वम्"[१] इति श्रुतेः तत्प्रकाशनत्वात्, अपरथा शून्यवाद-प्रसङ्गात्; अधिष्ठानात्मस्वरूपस्यैव समारोपिताविद्याप्रकाशत्वात्; तस्य च कल्पितत्वे कथं न शून्यपरमार्थता ? विशिष्टस्य प्रकाशकत्वे च विशेषणभूताविद्यायाः स्वप्रकाश-कत्वप्रसङ्गात्। एवमत्रापि योज्यमिति सर्वं रमणीयमित्यध्वरमीमांसकाः।

[श्रवणविधेरावश्यकत्वम्—]

ब्रह्मविचारे कथाविशेषात्मके प्रयत्नयोग्ये न पुनः परं शब्दाज्ञानात्मके भामत्युक्ते

भावदीपिका

प्रतिबिम्बितानाञ्च वर्णानां तत्क्रमावच्छिन्नत्वं प्रत्यक्षत्वं चाविरुद्धमित्यर्थः। इदानीं क्रमस्या-निर्वाच्यत्वप्रयुक्तं दोषं परिहरति—यथा चेत्यादिना। ध्वनय इति=ध्वनिप्रयुक्ताः क्रमाः। परसम्मत्याऽप्येतत् सम्पादयति—यथा चेति। कथं शून्यवादः? तत्राह—अधिष्ठानेति।

[श्रवणविधेरावश्यकत्वम्—]

एवं धर्मविचारस्य वैधत्वं सम्पाद्य साङ्गा वेदा अपरा[२] विद्या, अथ परा, यया तदक्ष-

ज्ञानवती

"जैसे नेत्र की कृपा से दीप आदि घट आदि का अभिव्यञ्जक माना जाता है उसी प्रकार श्रोत्र के सम्बन्ध के बल से ध्वनि (वर्णों की अभिव्यञ्जिका मानी जाती है)। और जैसे सत्रह ऋत्विज और एक यजमान प्रत्येक कार्य के प्रति (पृथक्-पृथक्) पर्याप्त नहीं है (किन्तु) मिलकर कार्य कर डालते हैं, उस प्रकार ध्वनि और वर्ण (की स्थिति) नहीं है, किन्तु मैत्रावरुण प्रैष के कर्त्ता हैं न कि दण्ड या उस (दण्ड) का वैशिष्ट्य। और जैसे मैत्रावरुण नामक ऋत्विज के 'प्रैष' कहने पर दण्डी वाद में 'प्रैष' कहता है यहाँ पर वे दोनो (दण्ड एवं प्रैष) अचेतन है, उसी प्रकार अकल्पित वर्णों का ही रूप बोधक है अथवा यह उसी प्रकार है जैसे कि तृण आदि से व्यक्त वह्नि का रूप दाह का प्रकाशक है, अथवा जैसे कि कल्पित अविद्याविशिष्ट ब्रह्म का कल्पित रूप कृत तत् (ब्रह्म के) रूप का प्रकाशन नहीं है क्योंकि "प्रकाशमान उसी के पीछे सब कुछ प्रकाशित होता है" इस श्रुति से स्वरूपप्रकाश ही उस (ब्रह्म के रूप) का प्रकाशक है अन्यथा शून्यवाद का प्रसङ्ग हो जायगा। चूंकि अधि-ष्ठान आत्मा का स्वरूप ही समारोपित अविद्या का प्रकाश है अतः उस (स्वरूप) के कल्पित होने पर शून्य परमार्थ क्यों न होगा? और यदि विशिष्ट को प्रकाशक माने तो विशेषणभूता अविद्या स्वप्रकाश होने लगेगी। इसी प्रकार यहाँ भी जोड़ लेना चाहिये। इस प्रकार सब कुछ रमणीय हो गया ऐसा अध्वर मीमांसक (कुमारिल भट्ट कहते हैं)।

[श्रवणविधि आवश्यक है—]

भामती में कहे गये शाब्दज्ञानात्मक एवं प्रयत्न के योग्य कथाविशेषात्मक ब्रह्मविचार

---

१ कठोप० २।५।१५। २ (ख) ह्यपरा।

'श्रोतव्यः' इति विधिमभिधत्ते; अध्ययनविधेः ; फलवत्क्रतुपर्यवसानस्योक्तत्वात्;

भावदीपिका

रमधिगम्यत; इति साक्षात्काराभिप्रायेण परविद्यायाः पृथक्करणात्। "वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति" इत्यर्थबोधपर्यन्ताध्ययनविधिबलात् शाब्दज्ञाने जातेऽपि साक्षात्कारे प्रयत्नाधिक्यं नियमपूर्वं श्रवणाद्यावृत्तिरूपं श्रुतेरभिप्रेतम्—इति भाष्यकारोक्त्यनुसारेण ब्रह्मविचारस्य, तत्सम्पादयितुमुपक्रमते—ब्रह्मविचार इति। श्रवणं नाम=आगमाचार्योपदेशजं ज्ञानं; वेदान्तानामद्वैते ब्रह्मणि तात्पर्यावधारणं वा। उभयथाऽपि प्रमाणपक्षपातित्वान्न विधिसम्भवः। फले च तस्याङ्गभूते मनननिदिध्यासने अपि ज्ञानविशेषावेव। युक्तिबलादवधूतासम्भावनादितिरस्कारं शब्दज्ञानमेव मननम्; तदेव च धारावाहि निदिध्यासनम्। तत्रापि न विध्यवकाश इत्याचार्यवाचस्पतिनोक्तत्वात् कथं विधिप्रतिज्ञा ? तत्राह—न पुनरिति। न परं शाब्दज्ञानात्मके भामत्युक्ते विधिं वृद्धा अभिवदन्ति; किन्तु कथाविशेषात्मके=वादकथादिरूपे[1] विचारे। तत्र हेतुः—प्रयत्नयोग्ये=साक्षात् कृतिसाध्ये; यागादाविव क्रियात्मके। तदुक्तम्—"श्रवणादिक्रिया तावत् कर्त्तव्येह प्रयत्नतः" इति सुरेश्वराचार्यैः। तथा शब्दयुक्तिसंयोजना[2] श्रवणमनने; मानसी देवताध्यानवत् क्रिया निदिध्यासनम्। तथा श्रुतिः—"तस्याभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावात्" इति।

क्रियैव साक्षात् विधिगोचर इति मीमांसकाः। "दध्ना जुहोति", "सन्ततमाघारयति" इति दधिसातत्यगुणौ[3] न विधीयेते चेत्, "अग्निहोत्रं जुहोति", "आघारमाघारयति" इति होमाघारयोर्विधानात् दध्नेत्यादि व्यर्थमेव प्राप्तम्। न चात्रापि क्रियाप्रणालिकया विधिसङ्क्रमकल्पना; अनुवादवाक्ये क्रियाया विध्यगोचरत्वात्। अत्रापि वा क्रियाविधौ "सोमेन यजेत" इतिवत् विशिष्टविधिरेव स्यात्। विशिष्टविधौ चाग्निहोत्रादिवाक्ये द्रव्यानुपादानादविधायकत्वेनैतदनुवादकत्वमापतेत्; तथाच अधिकरणभङ्गः—"आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात्"—"आघारमाघारयति", "ऋजुमाघारयति", "सन्ततमाघारयति" तथा "अग्निहोत्रं जुहोति", "दध्ना जुहोति", "पयसा जुहोति" इति श्रूयते। तत्र संशयः—किं सन्ततादिविहितानामाघारहोमानामाघाराग्निहोत्रवाक्ये[4] समुदायानुवादिनी, उतापूर्वयोराघारहोमयोर्विधातृणी इति ? तत्रानुवादिनी अरूपत्वात्। नह्यत्र दधिसातत्यादिवाक्ये[5] विहितहोमाघाराभ्यां विशिष्टं रूपमस्ति। होमाघारमात्रं तु प्रकृतमुपलभ्यते; ततोऽनुवादत्वे प्राप्ते राद्धान्तः—विधी इमौ स्याताम्; 'आघारयति'–'जुहोति'–शब्दाभ्यामनुष्ठेयार्थप्रतीतेस्तत्सन्निधौ श्रुतस्य दधिसातत्यादिवाक्यस्य विशिष्टविधित्वे गौरवप्रसङ्गात्। सोमादौ तु विध्यन्तराभावात् गौरवमप्यङ्गीकृतम्। ततो वाक्यान्तरविहितभावार्थानुवादेन गुणविधानार्थत्वम्। तदुक्तम्—"सर्वत्राख्यातसम्बन्धे श्रूयमाणे पदान्तरे। विधिशक्त्युपसङ्क्रान्तेः स्याद्धातोरनुवादता॥" इति। अग्निहोत्रादिवाक्यस्यानुवादकत्वे एतदधिकरणं भज्येत। उच्यते—आख्यातसम्बन्धवद्दध्यादिपदं वैधार्थाभिधायि न केवलम्; आख्यातञ्च धात्वर्थानुरक्तमेव विधिं समर्थयति; ततो दध्यादिविधेरपूर्वतया संक्रमोऽनूद्यमानधात्वर्थद्वारेणैवेति न कश्चिद्दोषः।

ज्ञानवती

के विषय में "श्रोतव्यः"—यह विधि निर्वचन नहीं करती है। क्योंकि अध्ययन विधि का

---

[1] (ख) वादि। [2] (ख) शाब्द। [3] (क) सतात्यादि न। [4] (ख) होत्रे। [5] (क) वाक्य।–

वक्ष्यमाणत्वाच्च समन्वयकौमुद्याम्। न चानेनैव सामान्यविधिना "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः"[१] इत्यमुना वा वेदान्तविचारे प्राप्ते व्यर्थोऽयम्; तत एवाधिकारिविशेषस्य साक्षात्कारकामस्य सर्वत्र विचारविधायकत्वाच्चात्मैकत्वसाक्षात्कारायावृत्तिगुणकश्रवणादिविध्युपपत्तेः।

अत्राह चोदकः—"अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुः मैत्रेयी च कात्यायनी च। तयोर्ह मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी बभूव, स्त्रीप्रज्ञैव तर्हि कात्यायनी। अथ ह याज्ञवल्क्योऽन्यद्वृत्तमुपाकरिष्यन् मैत्रेयीति होवाच[२]।" इति मैत्रेयीमधिकारिणीं ब्रह्मवादिनीति[३] विशेषणात् विचारे प्रयोजकज्ञानवतीमुपस्थाप्य, "सा होवाच मैत्रेयी येनाहं नामृता

भावदीपिका

नन्वध्ययनसंस्कृतस्वाध्यायस्याभ्युदयनिःश्रेयसफलवत्कर्मब्रह्मावबोधप्रयोजनत्वादध्ययनविधिनैव वेदान्तविचारस्याक्षिप्तत्वान्न श्रवणविध्यवकाशः? इत्याशंक्याह—अध्ययनविधेरिति। न खल्वयं कर्मवादिनः पर्यनुयोगो युज्यते, तेन निःश्रेयसप्रयोजनकब्रह्मबोधानङ्गीकारात्; अक्षरावाप्तिपर्यन्त एव विधिव्यापार इति वदतो वेदान्तिनोऽपि न पर्यनुयोगावकाश इत्याह—अधिकारिविशेषस्येति। अध्ययनमात्रवत इति वदता भगवता व्यासेन अर्थावबोधपर्यन्तकर्मकाण्डाध्ययनमात्रेण कर्माधिकारो नोपनिषत्पाठार्थज्ञानापेक्षा तत्रेति पृथगधिकारवर्णनाच्च; मननादिप्रयत्नाधिक्यविधानाच्च तदङ्गविशिष्टसाक्षात्कारफलपर्यन्तश्रवणस्याध्ययनविधिप्रयुक्तश्रवणमात्राद्भिन्नत्वम्[४]; तैत्तिरीयकविवरणे भाष्यकारैरुक्तत्वाच्च कृत्स्नवेदार्थज्ञानवतोऽपि कर्माधिकार इति वर्णयद्भिः। "यमिच्छेत् तमावसेत्" इत्याश्रमफलप्रमां विना संन्यासानुपपत्तेश्च श्रवणमात्रं पूर्वं वाच्यम्; यदि वेदान्त्येव कश्चिदेतदाचक्षीत स ब्रह्ममीमांसायाः कर्मबोधानन्तर्यमपि ब्रूयात्। तच्च "नन्विह कर्मावबोधानन्तर्यं विशेषः, न धर्मजिज्ञासायाः; प्रागप्यधीतवेदान्तस्य ब्रह्मजिज्ञासोपपत्तेः" इति भाष्यकारैर्निरस्तमिति भावः।

किं ब्रह्मबोधमात्रं वैधविचारफलं तत्साक्षात्कारो वा? न च साक्षात्कारकामस्येत्युक्तत्वान्न विकल्पः[५]; तस्यैव व्यवस्थापनार्थत्वात् विकल्पस्य। तत्र नाद्ये विधिसम्भवः; इत्याह—अत्राह इत्यादिना। प्रकरणानुसन्धानन्तु सुखबोधाय[६]। अन्यद्वृत्तम्=संन्यासाश्रमम्; कर्तुकामो

ज्ञानवती

पर्यवसान फलवत् क्रतु में होता है, यह बात समन्वयकौमुदी मे कही जायगी। (पू) इसी सामान्यविधि से या "वेद को पूरा पढ़ना चाहिये" इस विधि से वेदान्तविचार के प्राप्त होने से यह (="अथातो ब्रह्मजिज्ञासा") विधि व्यर्थ है ?

ऐसी वात नहीं है। साक्षात्कार की इच्छा वाले अधिकारीविशेष के सर्वत्र विचारविधायक होने से आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिये आवृत्तिगुणक श्रवणआदि विधि की उसी (अथातोब्रह्मजिज्ञासा) से उपपत्ति हो जाती है। इस विषय में चोदक अर्थात् प्रष्टा कहता है—"याज्ञवल्क्य की दो स्त्रियाँ थीं, मैत्रेयी और कात्यायनी। उनमें से मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी

---

१ मनु० २।१।६५। २ वृ० उ० ४।५।१। ३ (क) ब्रह्म (वहु) वादिनी, (ख) ब्रह्मवहुवादिनी।
४ (ख) भिन्नं वा। ५ (ख) विकल्प्यः। ६ (ख) सुबोधाय।

स्यांम्, किमहं तेन कुर्याम्? यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि[1]।" इति तस्या वीतरागतया कैवल्योपायं प्रार्थयमानायाः, "भवति! ते तद् व्याख्यास्यामि; व्याचक्षाणस्य तु मे निदिध्यासस्व" इत्यवधानमुपदिश्य; "स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय" इत्युपक्रम्य "आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति; आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः; मैत्रेयि! आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विज्ञातम्[2]।" इत्यन्तमुपदिशति बृहदारण्यकश्रुतिस्तावत्। तत्र परप्रेमगोचरीभावेन परमानन्ददेहत्वमात्मनो विज्ञापितमेव; आत्मविज्ञानाच्च सर्वविज्ञानमुपादिशन्नस्य ब्रह्मविग्रहतामप्याचचक्षे।

एतदेव च विचारफलत्वेन तैत्तिरीयकश्रुतौ "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"[3] इति जेगीयते। परमात्मन एव मायाप्रतिबिम्बितस्य जीवात्मनावस्थितेः पत्यादि-

भावदीपिका

'भार्यानुज्ञया भवितव्यम्; अन्यथा तस्या मत्सरेण स्वैरप्रचारे पतिताद्धशरीरतयाऽऽश्रमवि[घात]-सम्भवात्'— इत्यनुज्ञापयन्नुवाच। उक्तिमात्रेण कथमभीष्टज्ञानलाभः? इत्यत आह—तत्रेति। प्रकरणार्थोऽयमेवेति शास्त्रीयन्यायेन सम्पादयति-परमात्मन इति। "अमृतत्वस्य तु नाऽशास्ति वित्तेनेति। ···येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्, यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि" इत्यमृतत्वसाधनज्ञानप्रार्थनायां यस्य ज्ञानममृतत्वसाधनं श्रुत्यादिप्रसिद्धं स एव ब्रह्मरूप आत्मा द्रष्टव्यत्वेनोपक्रमे निर्दिष्टः। तर्हि पतिजायादिप्रियसूचितभोक्त्रोपक्रमोऽयुक्तः?—इत्यपेक्षायां "वाक्यान्वयात्"=प्रकरणस्योपक्रमादिना ब्रह्मणि समन्वयात्;—इत्यधिकरणे काशकृत्स्नमतेन सिद्धान्तिन उत्तरं तस्यार्थः। बिम्बप्रतिबिम्बयोरैक्यात् प्रतिबिम्बभूतजीवानुवादेन बिम्बभूतब्रह्मैक्यपरं प्रकरणमेतत्। प्रधानस्याङ्गाकाङ्क्षावतो वचनम्=प्रकरणम्। ब्रह्म चात्र प्रतिपाद्यतया

ज्ञानवती

थी और कात्यायनी लौकिकप्रज्ञा वाली। याज्ञवल्क्य दूसरे आश्रम में प्रवेश करने की इच्छा से बोले—"मैत्रेयी"। यहाँ पर अधिकारिणी मैत्रेयी का ब्रह्मवादिनी विशेषण होने से विचार में प्रयोजक जो ज्ञान उससे युक्त (मैत्रेयी) को उपस्थापित करके, "वह मैत्रेयी बोली—जिससे मैं अमर न होऊंगी उससे क्या करूंगी। जो आप जानते हैं वही मुझे बतलाइये" इस प्रकार वीतराग होने से कैवल्योपाय की प्रार्थना करने वाली उसको, "मैं तुम्हें उसका व्याख्यान करूंगा। व्याख्यान करते हुए मेरी (बातों) का निदिध्यासन करो" ऐसा अवधान का उपदेश कर वे बोले—"अरे पति के काम के लिये नहीं"—यहाँ से उठाकर "आत्मा के काम के लिये सब प्रिय होता है, आत्मा का दर्शन श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिये। मैत्रेयी! आत्मा के दृष्ट, श्रुत, मत एवं विज्ञात होने पर यह सब विज्ञात हो जाता है"। यहाँ तक बृहदारण्यक श्रुति उपदेश देती है। वहाँ पर परमप्रेम का विषय होने से आत्मा का परमानन्दस्वरूप विज्ञापित ही है और आत्मविज्ञान से सर्वविज्ञान का उपदेश करती हुई (बृह० उपनिषद् ने) इसकी ब्रह्मस्वरूपता को भी बताया।

---

[1] बृ० उ० ४।५।१। [2] बृ० उ० ४।५।१। [3] तै० ३।६।

भावसंसूचितभोक्तृजीवोपक्रमणं ब्रह्मपरेऽत्र वाक्ये "अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः"[१] इत्यूचे भगवान् व्यासः। ऐकात्म्यज्ञानादन्यत्राश्रुतत्वाभावात्, एकविज्ञानात् सर्वविज्ञानस्य च सर्वप्रपञ्चाधिष्ठानात्मवस्तुविज्ञानमन्तरेणासम्भवात्; "इदं सर्वं यदयमात्मा"[२] इत्यादि परामर्शाच्च ब्रह्मप्रतीचोरत्यन्ताभेद एवात्र प्रतिपाद्यत इति गम्यते। अतः किमर्थं पुनः पठ्यते—"द्रष्टव्यः" इत्यादि ? अथ ब्रह्मवादिनीत्युपादाना-न्मैत्रेय्या ब्रह्मबुभुत्सोरात्मव्यतिरेकेण ब्रह्मणोऽपि नाञ्जसा पुमर्थत्वमिति सूचयन्नूचि-

भावदीपिका

प्रधानम्; तत्रानुवादं विना विधाने विधेयाप्रतिपत्तेः पुरुषार्थापर्यवसानात्। तदाहुः—"स्थाणुः स्थाणुरितीवोक्तिर्न नृबुद्धिं निरस्यति। अनुवादात्तथैवोक्तिर्भ्रान्तिं पुंसो न बाधते॥" इति। अतः सफलप्रतिपत्तौ जीवानुवादोऽङ्गतयाऽपेक्षित इति कुतोऽस्य लिङ्गबलादस्य प्रकरणस्यायमर्थः? इत्याह—ऐकात्म्येति। अत्यन्ताभेद एव जीवब्रह्मणोः कार्यकारणभावेन भेदाभेदाभावान्न पुमर्थः। [यदपि] संसारदशायां भेद एव मुक्तौ चाभेद एवेत्यौडुलोमिः; तदयुक्तम्; "ब्रह्मैव सन्"—इत्यवधारणविरोधात् इत्यादिहेतुभ्य इत्यर्थः। एवं विधिमन्तरेणैव विचारफले सम्भवति किं विधिना? इत्याह—अतः किमर्थमिति। द्वितीयमालम्बते—अथेति। "आत्मानमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति", "आत्मानमेव लोकमुपासीत्", "अयमात्मा ब्रह्म", "अहं ब्रह्मास्मि" इत्युपदेशात् प्रत्यगभिन्नब्रह्मविदां "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्" इत्यादि फलव्यपदेशात्, "अथ योऽन्यां देवताम्", "अथ येऽन्यथाऽतो[३] विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति" इत्यादिना भिन्नब्रह्मविदां दोषकीर्त्तनाच्च, ज्ञायते नात्मव्यतिरेकेण ब्रह्मणः पुमर्थत्वमिति। भिन्नोपासनादपि "तं यथायथोपासते तदेव भवति" इति श्रुतेः किञ्चित् फलमस्ति इत्यत उक्तम्—अञ्जसा इति। मुख्यमित्यर्थः।[४]

ज्ञानवती

यही (वात) विचार के फल के रूप में तैत्तिरीयक श्रुति में—"आनन्द ब्रह्म है ऐसा समझा" इस प्रकार वार-वार कही जाती है। भगवान् व्यास ने—"इसी परमात्मा की विज्ञानात्मक रूप में स्थिति होने से, ऐसा काशकृत्स्न", इस ब्रह्मपरक वाक्य में परमात्मा के ही माया में प्रतिबिम्बित होने के कारण जीवात्मा के रूप में अवस्थित होने से पति आदि के भाव से सूचित भोक्ता जीव के उपक्रमण को कहा है। ऐकात्म्य ज्ञान से अन्यत्र (जीव एवं ब्रह्म के अभेद के) अश्रुत न होने से सर्वप्रपञ्च के अधिष्ठान के आत्मभूत वस्तु के विज्ञान के विना एक के विज्ञान से सभी के विज्ञान के असम्भव होने के कारण, और "जो यह सब है यह आत्मा है" इत्यादि के परामर्श से ब्रह्म और जीव का अत्यन्त अभेद ही यहाँ प्रतिपादित किया जाता है, ऐसा मालूम होता है। फिर "द्रष्टव्यः"—इत्यादि क्यों पढ़ा जाता है, ? "अथ ब्रह्मवादिनी" ऐसा जोड़ देने से ब्रह्म को जानने की इच्छा रखने वाली मैत्रेयी के आत्मा से व्यतिरिक्त होकर ब्रह्म भी सम्यक्तया पुरुषार्थ नहीं है ऐसा सूचित करते हुए आचार्य ने

---

[१] ब्र० सू० १।४।२२। [२] वृ० ४।५।६। [३] (क) मरथ्यो।
[४] (ख) मुक्त।

वानाचार्यः—"सर्वस्मात् प्रिय आत्मा" इति। ततो जीवस्य ब्रह्मपर्यन्तं ब्रह्मणश्च जीवपर्यन्तं स्वरूपं श्रुतितदनुकूलन्यायाभ्यां साक्षात्कारानुभवावसानं निर्धारणीयमित्यनेनेत्याह।

[विधिनिरूपणम्–]

तत्रापि विधिर्निरूपणीयः। स तावत् त्रिविधः—

"विधिरत्यन्तमप्राप्ते नियमः पाक्षिके सति।
तत्र चान्यत्र च प्राप्ते परिसंख्येति कीर्त्यते॥"

इति गिरा शुद्धो, नियमः परिसंख्या चेति। तत्र कर्मस्वरूपज्ञापक उत्पत्तिविधिः,

भावदीपिका

[विधिनिरूपणम्—]

अनेन विचारविधिवाक्येन विकल्पावकाशाय विधिं[1] विभजन्नाह—तत्रापीति। तत्र त्रयाणां विधिभेदानां साधारणं स्वरूपं विभागज्ञापनार्थमाह–तत्र कर्मेति। "आग्नेयोऽष्टाकपालः", "अग्निहोत्रं जुहोति", "सोमेन यजेत" इत्याद्युत्पत्तिविधिः। [ननु] "आग्नेयोऽष्टाकपालः" इत्यत्र तद्धितेनाग्निदेवता प्रतीयते; तदुक्तम्—"तद्धितेन चतुर्थ्या वा मन्त्रवर्णेन वा पुनः। देवतासङ्गतिस्तत्र दुर्बलं चोत्तरोत्तरम्॥" इति; द्रव्यं चाष्टाकपालः पुरोडाशः प्रतिभाति न कर्म, तद्वाचकपदाभावात्; तेन कथमयमुत्पत्तिविधिः? सत्यम्; तथापि "य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते य एवं विद्वानमावास्यां यजते", "दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इति समुदायानुवादवाक्याधिकारवाक्ययोः कर्मपदानुवादादुत्पत्तिवाक्येऽपि तदानीयते। "यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्यां चाच्युतो भवति", "उपांशु याजमन्तरा यजति", "ताभ्यामेतमाग्नीषोमीयमेकादशकपालं पौर्णमासे प्रायच्छत्", "ऐन्द्रं दधि अमावास्यायामैन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्" इति श्रवणादेको वा यजतिर्विपरिणामेनानुषञ्जनीयः। अज्ञातस्वरूपज्ञापनं सिद्धार्थानामप्यस्ति न विधित्वमित्युक्तम्—कर्मेति। एतेषां चतुर्णां परस्पराविनाभावात्।

ततोऽपि न सिद्धे विध्यवकाशः। तथाहि—क्रियायाः फलसम्बन्धबोधनमधिकारविधिः। स क्रियायाः फलाङ्गत्वबोधनलक्षणविनियोगविधिमन्तरेण न सम्भवति। फलाङ्गत्वं च क्रियाया

ज्ञानवती

कहा—"सब से प्रिय आत्मा"। इससे श्रुति और तदनुकूल न्याय दोनों के द्वारा जीव का ब्रह्म पर्यन्त एवं ब्रह्म का जीवपर्यन्त स्वरूप साक्षात्कार अनुभवावसानवाला समझना चाहिये (यही) इस (उपनिषद् वाक्य) के द्वारा कहा है।

[विधिनिरूपण—]

उसमें भी विधि का निरूपण करना चाहिये। वह तीन प्रकार की है—

अत्यन्त प्राप्त न होने पर (अपूर्व) विधि होती है। पाक्षिक होने पर नियम विधि होती है। वहां और अन्यत्र प्राप्त होने पर परिसंख्या होती है ऐसा कहा जाता है। इस वाक्य से

---

[1] (ख) विधेः।

इतिकर्त्तव्यताङ्गविनियोजको विनियोगविधिः; फलकामनादिविधिः पुरुषसम्बन्धनिमित्तयुक्तोऽधिकारविधिः। सर्वाङ्गोपसंहारेणानुष्ठापकः प्रयोगविधिः। तत्र योऽयमत्यन्तमप्राप्तो न च प्राप्नोति प्राग्वचनादित्यवगम्यते, तत्र विनियोगे शुद्ध एव विधिः; यथा "व्रीहीन् प्रोक्षति" इति। अवघातवत्तण्डुलनिष्पत्त्या प्रोक्षणस्य पक्षेऽप्यनाक्षेपात्। यत्र तु प्राग्वचनात् पाक्षिकीप्राप्तिः सम्भाव्यते, तत्राप्राप्तिपक्षं पूरयन् यो विधिः प्रवर्त्तते स नियन्तृत्वान्नियम इत्युच्यते; यथा "व्रीहीनवहन्ति" इति। तण्डुलनिष्पत्त्यर्थाक्षेपादेव सिद्धेर्न तत्प्राप्तिमात्रं विधिफलम्; किन्तर्हि? अप्राप्तांशपूरणन्तत्। अप्राप्तिपक्षे[१] च तण्डुलैरुपायान्तराण्याक्षिप्येरन्। [पूरणे] तु सति या तेषां निवृत्तिः, असावर्थात्, न वाक्यात्। न च तद्द्वारेणायं नियम इत्युच्यते;

भावदीपिका

नानुष्ठानमन्तरेण, अनुष्ठानं च न साङ्गकर्मानुष्ठापकप्रयोगविधिमन्तरेण, अनुष्ठापनं च नाज्ञातकर्मस्वरूपज्ञापकोत्पत्तिविधिमन्तरेणेति उत्पत्त्यादिवाक्यानां च न प्रत्येकं चतुर्षु तात्पर्यं येनैकेनैव तत्सिद्धौ वाक्यान्तरवैयर्थ्यं शङ्क्येत; किन्त्वेकैकत्र तात्पर्यमपूर्वत्वात् इतरानुवादकत्वेन इतिकर्त्तव्यताख्ये', फले च क्रियायाः। तत्र "व्रीहिभिर्यजेत" इत्यादयः स्वरूपेतिकर्त्तव्यताविनियोगाः, "समिधो यजति"इत्याद्याः फलेतिकर्त्तव्यताविनियोगाः। क्रियायाः फलाङ्गत्वेन विनियोगः करणश्रुत्या स्पष्ट एव। तदिदमाह—इतिकर्त्तव्यतेति। "स्वर्गकामो यजेत", "यावज्जीवं जुहोति", "ब्राह्मणो यजेत" इत्यादिरधिकारविधिः; इत्याह—फलेति। प्रयाजादिभिरुपकृत्य "दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिप्रयोगविधिभिरूह्य एव चायं सर्वत्र; तदाह—सर्वाङ्गेति। सर्वाङ्गानामुपसंहारः=संग्रहः; तेनेति। एवं साधारणं रूपं निरूप्य विशेषरूपं निरूपयति—तत्रेति। तण्डुलनिष्पत्त्यनुपपत्त्या यद्यपि तदुपायमध्यपात्यवघातः पक्षेणाक्षिप्यते तथापि न प्रोक्षणेन विनाऽनुपपत्तिर्येन पक्षेणाप्याक्षेपः स्यात्। अतः शुद्ध एवायं विधिः—इत्याह—अवघातवदिति। अवघाते[२] नियमलक्षणं सम्पादयति—तण्डुलेति। व्यतिरेकमुखेन विधेः सार्थकत्वमाह—तत्प्राप्तीति।

ज्ञानवती

विधि—शुद्ध नियम एवं परिसंख्या—तीन प्रकार की है। उनमें कर्म के स्वरूप को बताने वाली विधि उत्पत्ति विधि है। इतिकर्त्तव्यता (रूप) अङ्ग की विनियोजकविधि विनियोगविधि है। पुरुषसम्बन्धनिमित्तयुक्त फलकामना आदि की विधि अधिकार विधि है और सभी अङ्गों का उपसंहार करके अनुष्ठान कराने वाली विधि प्रयोग विधि है। उनमें (भी) जो अत्यन्त अप्राप्त है और वाक्य के पहले नहीं प्राप्त होती है ऐसा जाना जाता है उसके विनियोग में शुद्ध ही विधि होती है जैसे-"व्रीहि का प्रोक्षण करना चाहिये।" क्योंकि तण्डुलनिष्पत्ति के द्वारा अवघात के समान पक्ष में प्रोक्षण का आक्षेप नहीं होता। और जहाँ वचन के पहले पाक्षिकप्राप्ति सम्भव है वहां पर अप्राप्ति वाले पक्ष में (अप्राप्त का) पूरण करने वाली जो विधि है वह नियामक होने के कारण नियम (विधि) कही जाती है। जैसे—"व्रीहि को कूटना चाहिये।" तण्डुलनिष्पत्ति के अर्थाक्षेप से सिद्ध होने के कारण उसकी प्राप्तिमात्र

[१] (ग,घ) तदप्राप्ति   [२] (क) अवघात।

परिसंख्या हि तथा स्यात्। नियोगात् प्रागेव यत्र तत्र चान्यत्र तच्चान्यच्च प्राप्नुयादिति सम्भाव्यते तत्र परिसङ्ख्यानकारीविधिः परिसंख्येत्युच्यते। यथा "सायं प्रातर्जुहोति" इति सर्वकालप्राप्तस्याग्निहोत्रस्य कालपरिसंख्यानम्। यथा च रागादविशेषेण भक्षणप्राप्तौ "पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः" इतीतरवर्जनेन भक्ष्यपरिसंख्यानम्।

[श्रवणादेरपूर्वविधित्वाभावः—]

तत्र कतमोऽयं विधिरिति? न तावन्नियमपरिसंख्ये; अनेकसाधनत्वाभावेन पाक्षिकप्राप्त्यभावात्।

भावदीपिका

तर्हीतरोपायव्यावृत्त्या[1] विधेः सार्थक्यमस्तु?—तत्राह—पूरणे त्विति। अर्थादितरव्यावृत्तिलाभेन शब्दशक्तिगोचरत्वस्वीकारोऽयुक्तः, शक्तिगौरवप्रसङ्गात्[2]। मा भूत् साक्षाद्व्यावृत्तेः शब्दगोचरत्वं, तद्द्वारेणावघातस्य विधेयत्वमस्तु? तत्राह—न चेति। परिसङ्ख्यायामतिव्याप्तिनिरासार्थमेवं स्वीकार इत्यर्थः। का तर्हि परिसङ्ख्या? तत्राह—नियोगादिति। सर्वथा प्राप्तौ हि विधानापेक्षाभावाद् व्यावृत्तावेव तद्विशिष्टतयाऽपूर्वार्थे वा शब्दव्यापार परिसङ्ख्यायामिति भावः। यद्यपि शशादिभक्षणस्य पक्षे[3] प्राप्तेर्नियमः शशादिभक्षणस्य श्वादिभक्षणस्य च प्राप्तेः परिसंख्यायाः सम्भवस्तथापि नियमे शशाद्यभक्षणे दोषप्रसङ्गः, श्वादिभक्षणे चादोषप्रसङ्गे प्रायश्चित्तस्मृतिविरोधे परिसंख्यैवात्र युक्ता।

[श्रवणादेरपूर्वविधित्वाभावः—]

विधित्रैविध्यं विकल्पोपयोगितया सम्पाद्य विकल्पं सङ्गृह्णाति—तत्रेति। नियमो वा, परिसंख्या वा, विशुद्धो वा विधिरिति विधेः कल्पेषु द्वयं प्रत्याचष्टे—न तावदिति।

ज्ञानवती

विधि का फल नहीं है, तो क्या है? वह अप्राप्त अंश का पूरण है। और अप्राप्ति के पक्ष में तण्डुल के द्वारा उपायान्तरों का भी आक्षेप हो जाता, किन्तु पूरण होने पर जो उनकी निवृत्ति है वह अर्थात् (हो जाती है) न कि वाक्य से। और न तो उसके द्वारा यह नियमविधि ही कही जाती है क्योंकि वैसा होने पर परिसंख्या हो जाती है। नियोग से पहले ही जहाँ तहाँ और अन्यत्र उसके और दूसरी के प्राप्त होने की जहां सम्भावना होती है वहां परिसंख्यान को करने वाली विधि, परिसंख्या कहलाती है। जैसे—"सायं काल एवं प्रातः काल हवन करना चाहिये" यह सभी समय प्राप्त अग्निहोत्र का काल परिसंख्यान है। और जैसे राग के नाते सामान्यतया भक्षण प्राप्त होने पर "पांच पांचनखों वाले जीव भक्ष्य हैं" यहां इतर (=पञ्चनख) के वर्जन से भक्ष्य का परिसंख्यान है।

[श्रवण आदि अपूर्व विधि नहीं है—]

उनमें से यह कौन विधि है? यह नियम (अथवा) परिसंख्या नहीं है क्योंकि अनेक

---

[1] (क) त्यादिवि-। [2] (ख) वत्व। [3] (ख) पक्ष।

अत्र केचिदाहुः—श्रवणे शुद्ध एव विधिः यस्माद् वाक्यैकगम्यवस्तुसाक्षात्कारेण विचारादिनियततया धर्मादाविव न क्वचिदनुभूतचरमिति। अमी प्रष्टव्या जायन्ते, किं मानान्तरगोचरे नियमोऽयमस्ति, न वा? आद्ये धूमस्येव धूमध्वजेन, श्रवणादेः साक्षात्कारेण स्थलविशेषे व्याप्तिबलादिव विवक्षितस्थलेऽपि प्राप्तत्वान्न शुद्धविधित्वम्; "विधिरत्यन्तमप्राप्ते" इत्युक्तत्वात्। न खलु पूर्वमननुभूतधूमध्वजेन धूमस्य व्याप्तिरिति निपुणेन निरूपणं शक्यम्। द्वितीये वाक्यैकगम्येति विशेषणवैय्यर्थ्यम्। अथ श्रवणादयो व्रीह्यादय इव स्वरूपेण सिद्धा अपि न श्रेयस्साधनरूपेण सिद्धा इति शुद्धविधिगोचराः। यदाहुः—

"द्रव्यक्रियागुणादीनां धर्मत्वं स्थापयिष्यते।
तेषामैन्द्रियकत्वेऽपि न ताद्रूप्येण धर्मता॥
श्रेयस्साधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते।
ताद्रूप्येण च धर्मत्वं तस्मान्नेन्द्रियगोचरः॥" इति?[१]

भावदीपिका

नियमादिलक्षणस्यात्राभावादित्यर्थः। अस्तु[२] तर्हि तृतीय इति तत्त्वविवेककाराः प्रत्यवतिष्ठन्त इत्याह—अत्र केचिदिति। श्रवणादेः साक्षात्कारमात्रेणाविनाभावदर्शनेऽपि ब्रह्मसाक्षात्कारेणाविनाभावो नास्ति, तदभ्यासवतामपि[३] फलादर्शनादिति। किमाशयो भवताम्?—किं वा न केनापि साक्षात्कारेण? इति विकल्पेन दूषयति—अमी इति। क्वचिददर्शनं श्रवणाद्यभ्यासपरिपाकस्य साक्षात्कारसामग्रीरूपस्याभावादपि संभवतीति न व्याप्तिं वारयति। सर्वत्र चादर्शनमसिद्धम् "ततस्तु तं पश्यति निष्फलं ध्यायमानः" इत्यादिश्रुतिविरोधात्, विद्वदनुभवविरोधाच्च इत्याद्यदूषणाभिप्रायः। विशेषणवैयर्थ्यं[४], षड्जातिसाक्षात्कारानुभवविरोधश्च[५] द्वितीयो दोषः। अथ[६] "चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यादिना विहितचित्रादेरनियतजन्मफलत्ववत् श्रवणादेरपि तथात्वादपूर्वापेक्षणम्;[७] न च तत्साधनत्वमन्वयव्यतिरेकसिद्धम्,

ज्ञानवती

साधन न होने से पाक्षिक प्राप्ति नहीं है। इस विषय में कोई कहते हैं—"श्रवण में शुद्ध ही विधि है क्योंकि केवल वाक्य से जानने योग्य वस्तु (अर्थात् ब्रह्म) विचार आदि के अधीन होने से धर्म आदि में (वर्तमान वस्तु के) समान साक्षात्कार के द्वारा कहीं नहीं देखी गई है।" उनसे पूछना है—यह नियम प्रमाणान्तर से गम्य विषय के बारे में है या नहीं? पहले (पक्ष) में अग्नि के द्वारा धूम की (व्याप्ति) के समान स्थलविशेष में श्रवण आदि के साक्षात्कार से (प्राप्त) व्याप्ति के बल से विवक्षितस्थल में भी प्राप्त होने से शुद्ध विधि नहीं है क्योंकि "अत्यन्त अप्राप्त स्थल में विधि होती है" कहा गया है। पहले अननुभूत अग्नि के द्वारा धूम की व्याप्ति नहीं है ऐसा निपुण भी निरूपण नहीं सकता। दूसरे पक्ष में वाक्यैकगम्य यह विशेषण ही व्यर्थ है।

---

१ श्लो० वा० १।१।२। २ (ख) उक्तस्तर्हि। ३ (ख) स एव तामपि। ४ (क) विशेषणावै। ५ (ख) खड्गादि। ६ (ख) अत्र। ७ (क) पेक्षणं न च।

तत्रापूर्वाधानाभावे न यथोक्तसिद्धिः; अपूर्वाधानेऽपि यज्ञादौ तद्दर्शनान्नियमविधिरेव स्यात्; नियमादृष्टस्य स्वयं प्रतिषेधाच्च। [१]आवृत्तिहीनश्रवणादेर्यथोक्तफलादर्शनाद्विधेरप्रामाण्यपरिहारायावृत्तिविधाने ज्ञानोत्कर्षफलस्य ततो दृष्टत्वात् अवघाततुल्यतैव।

[मनसः स्वतन्त्रकारणत्वम्–]

अथेन्द्रियमेव श्रोत्रं मनो वा षड्जादौ श्रवणादिसहकृतं विशेषसाक्षात्कारहेतुः ?

भावदीपिका

ततस्तदर्थोऽपि विशुद्धविधिः ?—इति शङ्कते—अथेति। यद्धर्मोद्देशेन श्रवणादिविधिस्तस्य साक्षात्कारसाधनत्वेनाधानं[२] निक्षेपोऽस्ति न वा ? अन्त्यं प्रत्याह—तत्रेति। अदृष्टार्थं विधानं यथोक्त-शब्दार्थः। आद्ये चित्रादियागस्यान्वयव्यतिरेकसिद्धफलत्वाभावात् फलसिद्ध्यर्थम् अदृष्टापेक्षणात्[3] विशुद्धो विधिर्युक्तः।

श्रवणादेश्चान्वयव्यतिरेकसिद्धफलत्वान्न साक्षात् फलसिद्ध्यर्थमदृष्टापेक्षणं युक्तम्, परम्परया[४] चावघातवददृष्टोपयोगि तद्वत् नियमविधिरेव स्यादित्याह—अपूर्वाधानेऽपीति। अस्तु तर्हि नियमविधिः ?—तत्राह—नियमेति। स्वयं तत्त्वविवेककारैः 'उपनिषदमावर्त्तयेत' इत्याद्यनुसारेण गुणविधिमाशङ्क्य निराचष्टे—आवृत्तीति।

[मनसः स्वतन्त्रकारणत्वम्–]

शब्द एव ब्रह्मसाक्षात्कारकारणम्; विचारात्मकाः श्रवणादय इतिकर्त्तव्यतारूपाः। अतः प्रयाजादिवत् विशुद्धविधिगोचर इत्याशयेन शङ्कते—अथेति। तत्र कारणान्तरसम्भवान्न

ज्ञानवती

(पू) श्रवण आदि व्रीहि आदि के समान स्वरूपतः सिद्ध होने पर भी श्रेयस् के साधन के रूप में सिद्ध नहीं हैं इसलिये शुद्धविधि के विषय हैं ? जैसा कि कहा है—"द्रव्य, क्रिया, गुण आदि का धर्मत्व स्थापित किया जायगा (क्योंकि) उनके ऐन्द्रियक होने पर भी (उनकी) उस रूप में धर्मता नहीं है।"

"वेद से सदा इनकी श्रेयःसाधनता प्रतीत होती है और उसी रूप में (इनका) धर्मत्व है; इसलिये (कर्म, क्रिया, गुण आदि) इन्द्रिय के विषय नहीं है।"

ऐसी स्थिति में अपूर्व का आधान न होने पर यथोक्तसिद्धि नहीं होती। (उ) अपूर्व का आधान करने पर भी यज्ञ आदि में उसका (=अदृष्ट का) दर्शन होने से तथा नियम अदृष्ट का स्वयं प्रतिषेध होने से नियमविधि ही होगी। आवृत्तिहीन श्रवण आदि का यथोक्त (अर्थात् आत्मब्रह्मैक्य) फल दिखलाई न देने से विधि का अप्रामाण्य हो जाता है अतः (उसके) परिहार के लिये आवृत्ति का विधान होने पर उससे ज्ञानोत्कर्ष-फल के दृष्ट होने से अवघाततुल्यता ही है।

[मन स्वतन्त्र कारण है—]

यदि षड्ज आदि में श्रवण आदि से सहकृत इन्द्रिय—श्रोत्र अथवा मन-विशेषसाक्षा-

---

१ (ख) वृत्तिहीन।
२ (ख) भिधानं।
३ (ख) पेक्षणं युक्त परम्परया।
४ (ख) करणं मात्रेति।

तर्हि प्रकृतेऽपि मनः प्राप्नुयात् ? न च वाच्यं श्रोत्रादिवन्न क्वापि मनसः स्वातन्त्र्येण कारणत्वम्; चिदात्मनः स्वप्रकाशत्वात्, साक्षिगोचरत्वाच्च सुखादेरिति; "मनसा ह्येव पश्यति मनसा ह्येव शृणोति"[१] इति करणान्तरोपकरणत्वेनैव श्रवणाच्च। यस्माच्चक्षुषोऽगोचरे पृष्ठतोऽप्युपस्पृष्टः 'कस्यायं स्पर्शो [जानोरयम्'[२]] इति प्रतिपद्यते। यदि विवेककृन्मनो नाम नास्ति, त्वङ्मात्रेण कुतो विवेकप्रतिपत्तिः स्यात् ? यत्तद्विवेकप्रतिपत्तिकारणं तन्मनोऽस्तीति विषयविशेषावलम्बनतया मनसो बृहदारण्यकवृत्तावाचार्यैर्व्यवस्थापनात्; करणान्तरोपकरणस्यापि[३] हस्तस्येव स्वातन्त्र्येण करणत्वसंभवाच्च। पञ्चपादीविवरणयोः स्वप्नप्रपञ्चविपरीतप्रमात्रादिज्ञानसाधनस्यान्तःकरणस्य निद्रादिदोषपूर्वानुभवसंस्कारसहितस्य सम्प्रतिपन्नकारणत्रितयत्वाद्युक्तं स्वप्नेऽपि स्मृतिरूपं भ्रान्तिज्ञानमित्यात्मविषयत्वेनास्य व्यवस्थापनाच्च। न चात्मनः प्रमेयत्वे प्रमातृत्वव्याघातः; चिदचिदंशद्वयघटितमूर्तेः प्रमातृत्वाच्चिद-

भावदीपिका

शब्दस्य करणत्वं तावत्? इदित्याह—तर्हीति। मनसः करणत्वानिरूपणात् शब्दकरणत्वमत्र इत्याशङ्क्याह—न च वाच्यमिति। सुखादेरिति—'इति'-शब्दः श्रवणाच्चेत्यस्योपरि योजनीयः। यदुक्तम्—करणान्तरोपकरणत्वेनैव श्रवणादिति—तत्राह—करणान्तरेति। "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासोऽध्यासः" इत्यध्यासलक्षणे स्मृतिरूप-शब्देनाधिष्ठानेन्द्रियसंप्रयोगदोषसंस्काराख्यं कारणत्रितयं विवक्षितम्। तस्य स्वप्नभ्रमे अव्याप्तिपरिहारे मनसः प्रमात्रात्मज्ञाने करणत्वस्य वृद्धैरुक्तत्वाच्चेत्याह—पञ्चपादीति। उक्तं तर्कदुष्टमित्याशङ्क्याह—न चात्मन इति। केवलस्यैव कर्मकर्तृभावो अङ्गुल्यग्रस्येव स्वस्पर्शे विरुद्धः; नानेकांशविशिष्टस्य

ज्ञानवती

त्कार का हेतु है (ऐसा मानकर उक्तविधि को अपूर्वविधि ही मानें) तब तो प्रकृत (=आत्मसाक्षात्कार) में भी मन की प्राप्ति हो जायगी। (पू) श्रोत्र आदि के समान मन कहीं भी स्वतन्त्र कारण नहीं है ? (उ) ऐसी बात नहीं है। चिदात्मा के स्वप्रकाश होने से और सुख आदि के साक्षिगोचर होने से तथा "मन से ही देखता है मन से ही सुनता है" इनसे करणान्तर के उपकरण के रूप में ही श्रवण होता है। चूँकि चक्षु का विषय नहीं होने पर, पीछे से भी छूये जाने पर यह किसका स्पर्श है ? जानु का है : ऐसा ज्ञान होता है। इसलिए यदि विवेक करने वाला मन न हो तो केवल त्वक् से विवेक का ज्ञान कैसे हो सकता है ? उस विवेक के ज्ञान का जो कारण है वह मन है। इस प्रकार विषयविशेष के आलम्बन के रूप में मन की व्यवस्थापना बृहदारण्यकवृत्ति में आचार्य ने की है। और जो दूसरी इन्द्रिय के उपकरण वाला होता है वह भी हाथ के समान स्वतन्त्र रूप में करण हो सकता है। पञ्चपादिका तथा विवरण में स्वप्नप्रपञ्च के विपरीत (अर्थात् जाग्रत अवस्था में) प्रमातृ आदि ज्ञान के साधन अन्तःकरण जो कि निद्रा आदि दोष एवं पूर्वानुभव (जन्य) संस्कार के सहित हैं, के

[१] बृ० १।४।३। [२] (क) केनविद्धः कस्यायं स्पर्शो जानोरयम्, (ख) केनचिद्धस्तस्यायं स्पर्शो। [३] (ख) कारणान्तरो।

चिदंशसम्वलितप्रमोपादानस्य प्रमातुस्तत्समानात्मकत्वात् केवलस्य प्रमाकरणव्यापारयितृत्वानुपपत्तेः; व्यापाराभावेन प्रमातृत्वाभावात्।

[आत्मसाक्षात्कारे मनसः कारणत्वम्–]

अतएव "न तावदयमनेकान्तेनाविषयः[१]" इत्याचार्याः। कर्तृत्वादिविशिष्टस्य

भावदीपिका

शरीरस्येव हस्तादिकरणक्रियाकर्मणः[२]। 'सोऽहम्' इति प्रत्यभिज्ञाने कर्त्तृत्वं कर्मत्वं च कथञ्चिद्-अभेदेन स्वीकार्यमेव, बाधाभावेन भ्रान्तित्वानुपपत्तेरिति विवरणाच्चेति हेतुमाह—चिदचिदंशेति। हेत्वसिद्धि चैतन्यगर्भजडवृत्तिविशेषात्मकप्रमोपादानस्योभयात्मकत्वसम्भवेन परिहरति—चिदचिदंशसम्वलितेति। 'अयो दहति' इति यथा अयसो दहनक्रियासम्बन्धो वह्निमिश्रणात् तथा 'अहमुपलभे'[३] इति चैतन्यमिश्रणादहमुपलब्धिक्रियासम्बन्धः। अहंकारस्य "महाभूतान्यहंकार" इति क्षेत्रान्तर्गतत्वस्मरणात्[४], क्षेत्रज्ञधर्मोपलब्ध्या सम्भवात्[५], केवलस्य यथोक्तप्रमोपादानत्वासम्भवेन प्रमातृत्वासम्भवाच्चैवमित्याह—केवलस्येति।

[आत्मसाक्षात्कारे मनसः कारणत्वम्—]

भाष्यार्थमाह—कर्त्तृत्वादीति। तथापि केवलात्मसाक्षात्कारे[६] मनसः करणत्वं

ज्ञानवती

संप्रतिपन्न तीन कारण से युक्त होने से स्वप्न में भी स्मृतिरूप भ्रान्तिज्ञान ठीक है। इस प्रकार आत्मा के विषय के रूप में इस (अन्तःकरण) की व्यवस्थापना हुई है।

(पू) आत्मा के प्रमेय होने पर इसके प्रमातृत्व का व्याघात हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रमाता चिद् एवं अचिद् दोनों अंशों से घटित मूर्त्ति वाला होता है। चिदचित्संवलित प्रमा के उपादान स्वरूप प्रमाता के तत्समानात्मक होने से केवल (अचिदंश ही) प्रमा के करण का व्यापारयिता नहीं हो सकता। क्योंकि व्यापार के अभाव में प्रमाता नहीं हो सकता।

[आत्मसाक्षात्कार में मन कारण है—]

इसीलिये "यह (अर्थात् प्रत्यगात्मा) अनेकान्त रूप में (प्रत्यक्ष ज्ञानका) विषय नहीं है ऐसा नहीं है" ऐसा (व्यासभाष्य में) आचार्य कहते हैं। क्योंकि (आत्मा) का कर्त्तृत्वादिविशिष्टरूप मनोजन्य अहंप्रत्यय का विषय है। इसलिये अचिदंश के और उस (अचिदंश) से आलिङ्गित इतरांश (=चिदंश) के भी देह घट आदि विवर्त्त से उपगूढ़ के समान, प्रमेय होने पर भी केवलगत स्वयंज्योतिष्ट्व आदि का व्याघात नहीं होता, क्योंकि "मन से ही देखना चाहिए" यह श्रुति है। और गीताविवरण में भगवतपादाचार्य ने कहा है कि "शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश तथा शम दम आदि से संस्कृत मन आत्मदर्शन में कारण है।"

यह (आत्म) साक्षात्कार मीमांसा के सहित भी शाब्दप्रमाण का फल नहीं है, बल्कि प्रत्यक्ष का (फल है) क्योंकि वही (अर्थात् प्रत्यक्ष ही) उस (अर्थात् साक्षात्कार का) फल

---

[१] ब्र० सू० भा० १।१।१। [२] (ख) कर्मणे। [३] (क) मत। [४] (क) क्षेत्रज्ञ। [५] (क) लब्ध्यसम्भ। [६] (ख) कारं।

रूपस्य मनोजन्याहंप्रत्ययविषयत्वात् । अतोऽचिदंशस्य[1] तदालिङ्गितेतरांशस्यापि देहघटादिविवर्त्तोपगूढवत् प्रमेयत्वेऽपि स्वयंज्योतिष्ट्वादेः केवलगतस्याव्याघातः। "मनसैवानुद्रष्टव्यम्"[2] इति श्रुतेः "शास्त्राचार्योपदेशशमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने कारणम्"[3] इति गीताविवरणे भगवत्पादाचार्यैरभिधानाच्च । "न च एष साक्षात्कारो मीमांसाहितस्यापि शब्दस्य प्रमाणस्य फलम्; अपि तु प्रत्यक्षस्य; तस्यैव तत्फलत्वनियमात्; अन्यथा कुटजबीजादपि वटाङ्कुरोत्पादप्रसङ्गात् । तस्मान्निर्विचिकित्सवाक्यार्थभावनापरिपाकसहितमन्तःकरणं त्वंपदार्थस्यापरोक्षस्योपधाननिषेधेन तत्पदार्थतामनुभावयति"[4] इत्याचार्यवाचस्पतिनाप्युक्तत्वान्मनसः[5] करणत्वं न व्याहन्यते। उदयनोऽप्याह स्म—"न च वाच्यम् वाक्यादेवात्मसाक्षात्कारोदय इति; तस्य केवलस्य सामर्थ्यानुपलम्भात् ।"

यदि तु स्वयं विदितरूपतया किं तत्र ध्यानादिकमपूर्वमाधास्यतीत्युच्यते ? तदा श्रुतेरपि वैफल्यमनेनैव न्यायेन। यदपि भौतदशकनदीतरणमुदाहृतम्, तत्रापि

भावदीपिका

न सम्मतम् ? तत्राह—मनसैवेति । भाष्यनिबन्धकाराणामप्येतत् सम्मतम्—इत्याह—न चैष इति । निर्विचिकित्सेत्यर्थः । कस्यचिद् राज्ञो भर्त्सुनामामात्यः[6] तद्विप्रियैः राज्ञो दूरीकृतो मृतश्चेति निवेदितो, राज्ञा कालान्तरे क्वचित् स्वयं निर्दुष्टचक्षुषा दृष्टोऽपि तद्विप्रियैः 'मृतोऽयं ग्रहो जातः' इत्युक्तेर्न निश्चितस्तथा शब्दादपरोक्षतया ब्रह्मणि ज्ञातेऽपि[7] कथञ्चिदसम्भावनया न निश्चयः ?—इति न शङ्कनीयम्, मीमांसया सन्देहविध्वंसनेऽपि पारोक्ष्यस्य तादवस्थ्यात्; शब्दकरणत्वस्य परैर्दूषितत्वाच्चैवमित्याह – उदयनोऽपीति । केवलस्य ध्यानादिरहितस्य साक्षात्कारजनकत्वानुपलम्भात् शब्दोत्तरस्य ध्यानादेः स्वीकारे च तस्यैव करणत्वं स्यात् ।

अथ निर्मले दर्पण इव घर्षणादिना नात्मनि ध्यानादिक्रियया कृत्यम्, तज्जन्यज्ञानाविषयत्वाच्च ? तत्राह—यदि त्विति । शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वे दृष्टान्ताभावाच्च । अथास्ति वृद्धोत्प्रेक्षितो दृष्टान्तः ?—तत्राह—यदपीति । परो दृष्टान्तं समर्थयते—नुदति

ज्ञानवती

है, ऐसा नियम है। अन्यथा कुटजबीज से भी वट के अंकुर की उत्पत्ति होने लगेगी । इसलिए निर्विचिकित्सवाक्यार्थ की भावना के परिपाक के सहित अन्तःकरण अपरोक्ष त्वम्पदार्थ की उपाधि (अल्पज्ञत्व आदि) के निषेध के द्वारा तत्पदार्थ का अनुभव करता है, ऐसा आचार्य वाचस्पति के भी द्वारा उक्त होने से मन का करणत्व व्याहत नहीं होता। उदयनाचार्य भी कहते हैं—"ऐसा नहीं कहना चाहिये कि वाक्य से ही आत्मसाक्षात्कार का उदय होता है, क्योंकि उस केवल (अर्थात् वाक्य) का सामर्थ्य प्राप्त नहीं होता ।"

यदि स्वयं विदित रूप होने से उसमें अपूर्व ध्यान आदि का आधान क्यों होता है ऐसा कहा जाता है, तब तो इसी न्याय से श्रुति भी विफल हो जाती है। और जो भौतदशकनदी-

---

१ (ख) अतोचिदंश । २ बृ० ४।४।१९। ३ गी० मा० २।२१।
४ (ख) भावयतीति युक्तमित्या । ५ भामती १।१।१।
६ (क) भर्त्तु । ७ (क) तोऽपि ।

न केवलेनैव वाक्येन साक्षात्कारः, किन्तु चक्षुरादिनैव। (नुदति[1]) प्रतिपक्षमेवं[2] भवान् उभयत्रान्वयव्यतिरेकयोर्दर्शनादिति, प्रत्युत बहुलतमे तमसि चक्षुहीनस्यापि 'दशमस्त्वमसि' इत्युपदेशे साक्षात्कारदर्शनादस्मद्दर्शनमेव विनिगम्यते[3] [इति चेत्] ? स किं सङ्ख्यामात्रगोचरः, किं वा तद्विशिष्टरूपादिगुणकविग्रहविषयः ? नाद्यः; विना धर्मिसाक्षात्कारेण संख्याधर्मस्य साक्षात्कारासम्प्रतिपत्तेः; नापि द्वितीयः; चक्षुरादिकमेव रूपादि साक्षात्कारयतीति प्रतिपत्तेः। अतः तत्र परोक्षैव प्रतिपत्तिः। भौतानामिव स्वशरीरे चाक्षुषस्य दृढतराभ्यासस्य मुमुक्षोर्मानसस्यात्मन्यभावादभ्यासः साक्षात्कारायाश्रयणीयः; "तत्त्वमसि"[4] इति नवकृत्वो ब्रह्मात्मनोरैक्यस्य पदार्थपरि-

भावदीपिका

नुदति = दूषयतीत्यर्थः। तर्हि न विनिगमः ? तत्राह—प्रत्युतेति। मैवम्; विकल्पासहत्वात्—इत्याह—स किमिति। एकत्वातिरिक्तसंख्याया अपेक्षाबुद्धिः कारणम्; सा च प्रत्येकद्रव्यगतैकत्वविषया सती हेतुः; तद्गतैकत्वाग्रहान्न[5] संख्याभेदजन्म, दूरत एव तदग्रहः—इत्याह—विना धर्मीति। यच्च[6] दशसंख्यापूरकत्वोपलक्षितं स्वरूपमज्ञातं[7] "दशमस्त्वमसि" इति वाक्येनापरोक्षीक्रियत इति तद्विषयापरोक्षताव्यञ्जकं ज्ञानमपरोक्षमिति; [तत्] स्वकृतलक्षणविरुद्धम्, इन्द्रियसंयुक्ततया कर्मकारकभूतविषयावच्छिन्नापरोक्षचैतन्याभिव्यञ्जकत्वमैन्द्रियकज्ञानस्यैवेति नियमात्। तर्हि भौतानामिव सकृद्वाक्यश्रवणं निमित्तीकृत्य ब्रह्मसाक्षात्कारो दशमत्वसाक्षात्कारवत् करणान्तरात् कस्मान्नोत्पद्यते इति ? अत आह—भौतानामिवेति। श्रुत्याऽप्यभ्यास आ[दृतः]—इत्याह—तत्त्वमसीति। अतीताद्यर्थानुमानादिज्ञानस्य स्मृतिवदविद्याविवर्त्तार्थगोचरत्वेऽपि प्रमाकरणजन्यतामात्रेण प्रमाणत्वं शुक्तिरूप्यादिवदविद्यावृत्तिगोचरत्वेऽपि सुषुप्ते

ज्ञानवती

तरण का उदाहरण दिया गया वहाँ भी केवल वाक्य से साक्षात्कार नहीं है किन्तु चक्षु आदि के द्वारा ही है। (पू) आप विपरीत ही क्यों बोलते हैं कि दोनों जगह (अर्थात् चक्षु तथा वाक्य के रहने पर भी) अन्वयव्यतिरेक दिखाई देता है ? बल्कि अत्यधिक अन्धकार के रहने पर अन्धे को भी 'दसवें तुम हो' इस उपदेश के होने पर साक्षात्कार (होता है ऐसा) दिखाई देने से हमारा दर्शन ही विनिगमित होता है यदि ऐसा (कहें) तो ?

(उ) ऐसा नहीं है। वह (साक्षात्कार) क्या संख्यामात्र का विषय है या उस (संख्या) से विशिष्ट रूपादिगुणवाले पदार्थस्वरूप का ? पहला पक्ष नहीं हो सकता क्योंकि विना धर्मी के साक्षात्कार के संख्या धर्म का साक्षात्कार उचित नहीं है। दूसरा भी नहीं हो सकता, क्योंकि चक्षुरादि ही रूप आदि का साक्षात्कार कराते हैं ऐसा ज्ञात होता है। शरीर में चाक्षुष (प्रत्यक्ष होता है उसी प्रकार) दृढ़तर अभ्यास वाले मुमुक्षु को आत्मा के इसलिए उस विषय (अर्थात् शाब्द स्थल) में उसी प्रकार परोक्ष ही ज्ञान होता है जैसे भूतों का

---

[1] (क) ननु वदति। [2] (ख) प्रतिपक्षमेव
[3] (क) गम्यते। न स, (ख) गम्यते स। [4] छा० ६।७।८।
[5] (ख) ग्रहत्वे। [6] (ख) पञ्च। [7] (ख) ज्ञातं।

शुद्धिपूर्वकमुपदेशात्; शास्त्रीयपदार्थसाक्षात्कारस्य श्रवणाद्यभ्यासजत्वस्य विविक्तषड्जादिसाक्षात्कारदृष्टान्तेन सम्भवाच्च; "आवृत्तिरसकृदुपदेशाच्च"[१] इति व्याससूत्राच्च ।

[शब्दस्य साक्षात्कारजनकत्वं मनसश्च सहकारित्वमात्रत्वम्—]

ननु पदार्थविशुद्धिपूर्वकं "तत्त्वमसि" इत्युपदेशात्तदावृत्तेश्च स्मरणमात्रोपयोगेन

भावदीपिका

आत्मस्वरूपानन्दस्य प्रामाणिकत्वमिच्छद्भिरभ्यासजात्मज्ञानस्य स्वतःप्रामाण्यभङ्गाशङ्का न शक्यानुष्ठाना तत्त्वालोकटीकाकृद्भिः। युक्तिरप्यत्रास्तीत्याह—शास्त्रीयेति । यथा तत्तद्युद्धकारणमुपदिश्य "तस्माद्युद्धयस्व भारत!" इति पुनःपुनरुपदेशे युद्धस्यावश्यकमिष्टसाधनत्वं गम्यते, तथा "उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातमिति? कथं नु भगव स आदेशः?" इत्यद्वैतनिरूपणे मृल्लोहादिदृष्टान्तैः कारणमेव सत्यम्; तेन तद्विज्ञानात् स्वतन्त्रसत्त्वरहितं कार्यं विज्ञातं स्यात् "एवं सोम्य! स आदेशो भवति" इत्येकविज्ञानात् सर्वविज्ञानं संभाव्य, किं तदेकं कारणम्?—इत्यपेक्षायां, "सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्" ब्रह्म इत्यादिना सदेव कारणं व्यवस्थाप्यम् ।

[शब्दस्य साक्षात्कारजनकत्वं मनसश्च सहकारित्वमात्रत्वम्—]

"तत्तेजोऽसृजत" इत्यादिना (तस्मात्) सप्रपञ्चां सृष्टिमुपन्यस्य "यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति, तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते" इति जीवानामपि सति लयसम्पादनात्तदैक्यमुपपाद्य "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ" इत्यादिना "सन्मूलाः सोम्य! इमाः सर्वाः प्रजाः" इत्यन्तेन दृढीकृतकारणत्वस्य सतः "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वम्; तत्सत्यम्; स आत्मा, तत्त्वमसि श्वेतकेतो!" इति तत्तदैक्यज्ञानोपयुक्तो(-पदे-)शान्तरनिरूपणपूर्वकं पुनःपुनर्वाक्योपदेशाद् वाक्यस्यैव[२] साक्षात्कारकरणत्वमवगम्यते—इत्याक्षिपति—नन्विति । वाक्यावृत्तेर्गत्यन्तरमाह—तदावृत्तेश-

ज्ञानवती

अपने विषय में मानसप्रत्यक्ष नहीं होता । इसलिये साक्षात्कार के लिए अभ्यास का आश्रयण करना चाहिए । क्योंकि 'तत्त्वम्' पदार्थ के शोधनपूर्वक ब्रह्म और आत्मा के ऐक्य का 'तुम वही हो' करके नव बार उपदेश किया गया है । और विविक्त षड्ज आदि के साक्षात्कार के दृष्टान्त के द्वारा शास्त्रीयपदार्थ के साक्षात्कार का श्रवणादि के अभ्यास से उत्पन्न होना सम्भव है । साथ ही "आवृत्तिः असकृदुपदेशात्" यह व्याससूत्र भी है ।

[शब्द साक्षात्कार का जनक है और मन सहकारी मात्र है—]

(पू) विशुद्ध पदार्थ को जानने वाले को अभ्यासनिरपेक्ष शब्द से ही साक्षात्कार-ज्ञान का उदय होता है । क्योंकि पदार्थविशुद्धिपूर्वक 'तुम वही हो' का उपदेश है और उसके आवृत्ति के स्मरणमात्रोपयोगी होने से स्मृत वाक्य ही यहाँ (अर्थात् पदार्थस्मरण में) करण माना

---

[१] ब्र० सू० ४।१।१, [२] (क) वाक्यं सैव ।

स्मृतवाक्यस्यैवात्र करणत्वावधारणात्[1]; "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः"[2] इति ज्ञानान्तरनैराकाङ्क्ष्यश्रवणाच्च, "नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्"[3] "तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि" इति च वेदैकप्रमाणत्वावधारणात्; "तद्धास्य विजज्ञौ"[4] इति च तावन्मात्रेण साक्षात्कारश्रवणात्; विशुद्धपदार्थज्ञानवतः शब्दादेवाभ्यासनिरपेक्षात्; साक्षात्कारज्ञानोदयो गम्यते। किञ्चाभ्यासेऽर्थज्ञानस्याप्रमाणत्वादज्ञाननिवर्त्तकत्वानुपपत्तेः, प्रमाणावृत्तौ च प्रमाणस्यैवावृत्तिसहितस्य साक्षात्कारजनकत्वापत्तेः सूत्रस्यापि पदार्थविशुद्ध्यर्थमन्वयव्यतिरेकावृत्तिपरत्वात्?

अत्रवदामः - वेदस्तावन्निर्दुष्टचक्षुरादिवत् (अशेषदोषशङ्कापेत) निर्विचिकित्सज्ञानजनक[5] इति वाच्यम्; अन्यथा कर्मण्यपि तत्प्रतिपादिते न विश्वासः स्यात्; तच्च

भावदीपिका

चेति। अत्रैव गमकान्तरं 'वेदान्त'इत्यादि। अभ्यासस्य करणत्वमङ्गीकृत्यापि दूषयति—किञ्चेति। अथ यथा "समिधो यजति" इत्यादौ विधायकशब्दाभ्यासात् कर्मभेदप्रमा तथा "तत्त्वमसि" इति प्रमाणाभ्यासात् विवक्षितप्रमा स्यात्?—इत्याक्षेपं प्रत्याह—प्रमाणावृत्ताविति। दृष्टान्ते विधिशब्दादेव कर्मविशेषः प्रमीयते, अभ्यासस्तु कर्मैकत्वशङ्कानिरासद्वारा भेदव्यवस्थापनमात्रहेतुरित्यभिप्रायः।

शब्दस्य ब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वे शाब्दन्यायविदां प्रथमत एव साक्षात्कारो वक्तव्यः; स च नानुभूयते—इत्याशयेनाह–वेदस्तावदिति। अन्यथा=अनुभवविरोधात्। व्याससूत्रमप्यस्म-

ज्ञानवती

जाता है। तथा "वेदान्त के विज्ञान से सुनिश्चित तत्त्वं पदों के अर्थ वाले" इससे ज्ञानान्तर (अर्थात् उपासना आदि) के नैराकांक्ष्य का श्रवण है तथा "वेद का नहीं जानने वाला उस वृहत् अर्थात् ब्रह्मस्वरूप आत्मा को नहीं जानता" "उस उपनिषन्मात्र से समधिगम्य पुरुष को पूछता हूँ" इससे केवल श्रुतिप्रमाण का अवधारण है और "उसने उसको जान लिया" इससे उतने से ही साक्षात्कार का श्रवण होता है? इसके अतिरिक्त अर्थज्ञान का अभ्यास नव प्रमाणों में से (कोई प्रमाण) नहीं है इसलिए (उसके) अज्ञाननिवर्त्तकत्व की अनुपपत्ति होती है। और (तुष्यतु दुर्जनन्यायेन यदि हम अभ्यास को प्रमाण मान भी लें तो) प्रमाण की आवृत्ति होने पर आवृत्तिसहित प्रमाण ही साक्षात्कार का जनक होने लगेगा तो फिर ("आवृत्तिरसकृदुपदेशात्" इस) सूत्र की भी पदार्थविशुद्धि के लिये अन्वय-व्यतिरेकेण आवृत्ति होने लगेगी।

(उ) इस विषय में कहते हैं—वेद, निर्दुष्टचक्षु आदि के समान अशेषदोष की शंका को हटाकर असन्दिग्धज्ञान का जनक है, ऐसा कहना चाहिए। अन्यथा उस (वेद) से प्रतिपादित कर्म में भी (लोगों) को विश्वास नहीं होगा। और वह (अर्थात् वेदजन्य ज्ञान) परोक्ष

१ (ख) कारणत्वाव। २ मुं० ३।२।६। ३ तै० का० ३।५।४।
४ (छा०) ६।१६।३। ५ (क) अशेषशंकान्नि (अपेताशंकं) विचिकित्स,
(ख) अशेषदोषशंका निर्विचिकित्स।

परोक्षमेव। "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्"[१] "इन्द्रो नामदेवतात्मा स्वमात्मानं परमात्मत्वेनाहमेव परं ब्रह्म इत्यार्षेण दर्शनेन यथाशास्त्रं पश्यन्नुपदिशति स्म 'मामेव विजानीहि'[२] इति प्रतर्दनं प्रति यथा वामदेवः तद्धैतत् पश्यन्" इत्यादिश्रुतेरिति च सूत्रभाष्ययोश्शास्त्रार्थध्यानजा प्रमा शास्त्रदृष्टिरभिप्रेता युक्त्यनुसारात्।

अथ प्राथमिकं परोक्षं ज्ञानमपरोक्षे वस्तुनि न यथार्थम् ? नायं दोषः ; अपरोक्षस्य प्रत्यभिज्ञानस्य परोक्षतत्ताविषयत्वेऽपि प्रामाण्यवत् परोक्षशाब्दज्ञानस्यापरोक्षविषयत्वेऽपि प्रामाण्यसम्भवात्। कालविशेषस्पृष्टस्यापि यागादेः साधनत्वस्य विधिवाक्यजन्यकालत्रयास्पृष्टत्वज्ञानस्य प्रामाण्येष्टेश्च।

भावदीपिका

द्रीत्यैव व्याख्येयमित्याह—शास्त्रदृष्ट्येति। शास्त्रम्=शाब्दं प्रमाणम्; तस्य च "शब्दविज्ञानात्"[३] इति लक्षणे प्रत्यक्षादिव्यवच्छेदात् प्रत्यक्षफलसाक्षात्काराजनकत्वात्। न चाव्यवधानं विषयस्य यतः कुतश्चित् साक्षात्कारं प्रयोजयति; विषयाऽभावेऽपि गरुडादिसाक्षात्कारस्य भ्रान्तस्याङ्गीकरणात्[४]। एवं नियमे च स्फटिकादिव्यवहितार्थसाक्षात्कारो न स्यात्। अतः करणभेदादेव पारोक्ष्यानधिकरणप्रमा प्रत्यक्षफलमित्याद्युक्तात् पारोक्ष्यापारोक्ष्यभेदो ज्ञानस्य। एतेन विमतं ज्ञानमपरोक्षम् अपरोक्षविषयत्वात् सुखज्ञानवत्—इत्यपास्तम्। अपरोक्षत्वमपरोक्षविषयत्वं चेत्[५]? साध्यावैशिष्ट्यम्; इन्द्रियजन्यत्वं चेद् ? बाधः; शाब्दज्ञाने तद्भावात्; अपरोक्षव्यवहारकारणत्वं च "यत् साक्षादपरोक्षात्" इति परोक्षत्वेऽपि स्यादिति सिद्धसाधनता; सुखज्ञानेऽपीन्द्रियजन्यत्वेनैवापरोक्षत्वं परस्येति प्रकारान्तरेणापरोक्षत्वविवक्षायां दृष्टान्ताभावः; साक्षिवदीशज्ञानवच्चापरोक्षत्वं जन्ये शाब्दज्ञानेऽनुपपन्नम्, तयोः साक्षादपरोक्षत्वेन विषयापरोक्ष्याधीनापरोक्ष्याभावात्। शाब्दज्ञानस्यैव[६] साक्षात्कारजातिमत्त्वं चेत् ? तर्हि प्रत्यभिज्ञा अपरोक्षत्वजातिमती अपरोक्षविषयत्वात्—इत्यपि स्यात्। न चापरोक्षमात्रविषयत्वमुपाधिः; अयं वह्निमानिति परोक्षापरोक्षविषयानुमितौ साध्याव्याप्तेः। तेनाभाससमानयोगक्षेमता। ततः साक्षात्तज्जन्या दृष्टिः शास्त्रदृष्टिरिति नाभिप्रेतमित्यर्थः। भवत्पक्षोऽपि न युक्त्यनुसारी—इत्याह—अथेति। प्राथमिकम्=प्रथमतः शब्दजन्यत्वेन तवाभिमतम्[७]। लोकानुसारादेवं वेदानुसाराद्वा ? नोभयथापीति प्रत्याह—नायं दोष इति।

ज्ञानवती

ही है। क्योंकि "शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत्" इस सूत्र में तथा इन्द्रनामक देवतात्मा अपने आत्मा को परमात्मा के रूप में अर्थात् मैं ही परम ब्रह्म हूँ, इस रूप में आर्षदर्शन से शास्त्र के अनुकूल देखते हुए उपदेश किये—"मुझे ही जानो" ऐसा प्रतर्दन के प्रति जैसे वामदेव (ने उपदेश दिया और) वे उसे (=इन्द्र को) ब्रह्म के रूप में देखे इत्यादि भाष्य में शास्त्र के अर्थ के ध्यान से उत्पन्न प्रमा को ही युक्ति के अनुसार शास्त्रदृष्टि माना गया है। (पू) अपरोक्ष वस्तु (अर्थात् आत्मा) के विषय में प्राथमिक परोक्ष (अर्थात् श्रौत) ज्ञान पदार्थ (अर्थात् प्रमा) नहीं होगा ? (उ) यह दोष नहीं है। अपरोक्ष प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञान

---

१ ब्र० सू० १।१।३०। २ सू० भा० १।१।३०। ३ (ख) नादिलक्षणे।
४ (क) कारात्। ५ (ख) षयञ्चेत्। ६ (ख) स्यैव। ७ (क) भिप्रेतं।

अथ व्यवहितत्वाज्जडवस्तुनि यथाकथञ्चित् भवतु, प्रत्यग्ब्रह्मणि पुनरव्यवहिततमे[1] वस्तुतोऽनुभवात्मनि परोक्षज्ञानमयथार्थमेव ? तदा "स्वयं ज्योतिरात्मा"[2] "आत्मैवानन्दः"[3] "एकधैवानुद्रष्टव्यम्"[4] "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः"[5] इत्यादिवचनानां प्रमाणीकरणेन विप्रतिपन्नं प्रति तत्तदर्थसाधनं न स्यात्, अशोधितपदार्थान् प्रत्ययथार्थज्ञानजनकत्वात्।[6] एवं प्रत्यधिकरणमनिर्णायकत्वात् वाक्यानां व्यर्थाः शास्त्रारम्भाः। तत्राप्यपरोक्षज्ञानोत्पत्तौ प्रमाया आदित्यस्येव तमोनिवर्तनेऽभ्यासापेक्षानुपपत्तेः सकृच्छ्रवणेनैव जीवन्मुक्तिसौलभ्यं प्रतिवाद्यादेरपि स्यात्। सर्वात्मनाऽनवभासक-

भावदीपिका

एवं स्वपक्षे युक्त्यनुसारमुक्त्वा परपक्षे तदभावं प्रपञ्चयितुमुत्थापयति—अथेति। स्वयंज्योतिष्ट्वेन श्रुतिसिद्धो जीव=आत्मा व्याप्तः। परमात्मैवात्मा जीव आनन्दो ब्रह्मैव। एकधैव=ब्रह्मणः प्रकारान्तरहीनमेव प्रत्यग्वस्तु द्रष्टव्यम्। अस्तीत्येव=सदेकरसं ब्रह्मैव जीवः; उपलब्धव्यः। उपलक्षणं चैतन्महावाक्यजातस्य। जीवब्रह्मणोरैक्यपर्यवसायिवाक्यार्थनिर्णयाय विषयसंशयपूर्वपक्षसिद्धान्तफलैः पञ्चावयवाधिकरणसन्दर्भात्मकं शास्त्रं पूर्वपक्षिणो वाक्यार्थप्रमानुपपत्तौ सिद्धान्तापरिशुद्धेरनारभ्यं स्यात्—इत्याह—एवमिति। न च शाब्दे प्रत्यक्षवत् निर्विकल्पकसविकल्पकविभागोऽस्ति। न च विचारमुखोत्पन्नं निर्विकल्पकं युक्तम्, येन कथञ्चिदारम्भः स्यादिति भावः। उत्पत्तौ च युक्तिविरोधः प्रतीयते[7]—इत्याह—तत्रापीति। एवमप्यपरोक्षे परोक्षज्ञानं कथं यथार्थमित्याग्रहश्चेत्[8] ? तत्र वक्तव्यम्—किं सर्वांशग्राहकमेव प्रमाणं नेतरत् ?[9] नैवं युज्यते—इत्याह—सर्वात्मनेति। अथापरोक्षे[10] परोक्षमेतदिति ज्ञानं

ज्ञानवती

जैसे परोक्षतत्ता ('सोऽयं देवदत्तः' में सः) के ज्ञान के विषय में प्रमाण होता है उसी प्रकार परोक्ष शाब्दज्ञान भी अपरोक्ष के विषय में प्रमाण हो सकता है और विधिवाक्यजन्य काल तथा अस्पृष्टज्ञान काल विशेष से स्पृष्ट भी यागादि साधन का प्रमाण माना गया है। (पू) व्यवहित होने के कारण जड़ वस्तु के विषय में (परोक्ष ज्ञान) यथाकथञ्चित् (प्रमाण) हो भी जाय परन्तु अव्यवहिततम तथा यथार्थतः अनुभवात्मक प्रत्यक् ब्रह्म के विषय में परोक्षज्ञान अप्रमा ही है।

(उ) तब तो विप्रतिपन्न(=बौद्ध आदि) के प्रति "आत्मा स्वयं ज्योति है" "आत्म ही आनन्द है" "एक ही प्रकार से देखना चाहिए" "है इसलिए प्राप्त करना ही चाहिए" इत्यादिवचन प्रमाण के रूप में तत्तत् अर्थ के साधन नहीं होंगे क्योंकि वे अशोधित पदार्थों के प्रति यथार्थ ज्ञान के जनक हैं। इस प्रकार प्रत्येक अधिकरण में वाक्यों के निर्णायक न होने से शास्त्र का आरम्भ ही व्यर्थ हो जायेगा। उसमें भी अन्धकार के निवर्तन में आदित्य के समान

---

१ (ख) तमे स्तु। अतो न। २ बृ० ४।३।९। ३ बृ० ४।३।३२।
४ बृ० ४।४।२०। ५ कठ० २।६।१३। ६ (ख) प्रत्ययार्थ।
७ (क) प्रमीयते। प्रतायते। ८ (क) त्याह ग्रहेश्चेतत्र। ९ (क) नैतरात्।
१० (क) क्षेऽपरो।

प्रमाणानामप्रामाण्यापत्तेश्च। अतः परोक्षमपि "यत्साक्षादपरोक्षात्"[1] इत्यादिशाब्द-ज्ञानं प्रत्यग्ब्रह्मणि प्रमाणमेव; तेन तस्मिन् ज्ञातेऽपि शब्दात् 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'। तत्प्रयोगकल्पे "प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणा तर्कः समाधिः षडङ्गान्युच्यन्ते"[2] इति प्रयत्नान्तरश्रवणात्।

अपरोक्षज्ञानमभ्यासकरणकं मनः करणकं वा, निर्बाधजन्यानुभवस्य प्रमाणार्थत्वाभावापराधे(नाज्ञाननिवर्त्तक)त्वस्योदाहर्त्तुमशक्यत्वादभ्यासोत्थज्ञानस्याप्यत्राज्ञाननिवर्त्तकत्वोपपत्तेश्च। न च भावनापरिपाकसहितान्तःकरणजन्यत्वे प्रमाणसामग्र्यजन्यत्वं, येन "प्रमाणसामग्र्यजन्यत्वेन प्रामाण्यहानात्" इति प्रकटार्थोक्तं दूषणं स्यात्।

भावदीपिका

वक्तव्यम्? तत्राह अत इति। साधनफलाध्यायाभ्यां च समन्वयाविरोधाध्यायसिद्धनिर्विचिकित्सशाब्दपरोक्षज्ञानस्य साक्षाद्-बुभुत्सोरन्तरङ्गबहिरङ्गशमादियज्ञादिसाधनकलापसहित-फलनिर्णयश्चेत्; न आदित एवापरोक्षज्ञानं स्यात्, स्याच्चेदेतद्वैफल्यम्; "हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः। तेषामन्यत्रविज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः॥" हेयम्=अविद्यादि; ज्ञेयम्=ब्रह्म; आप्यम्=पाण्डित्यं, बाल्यम्=अमौनाख्यसाधनम्; पाक्यम्=पक्तव्यरागादि। एतानि अग्रयाणतः=प्रथमतः; ज्ञातव्यानि=विज्ञेयमेव परमार्थः। इतरत्रयम् उपलम्भमात्रं न वस्तुसदिति गौडपादोक्तेश्च। अतः शब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वेन प्रमाणत्वोपपत्तौ चरितार्थत्वं स्यान्न तस्यैव साक्षात्कारकरणत्वं कल्पनीयम्। ध्यानाभ्यासाच्चित्तैकाग्र्ये सम्पन्ने शब्दादन्यदेव साक्षात्कारं जनयतीति। तदाह—तेनेति। पक्षद्वयेऽपि दोषमुद्धरति—निर्बाधेति।

ज्ञानवती

प्रमात्मक अपरोक्षज्ञान की उत्पत्ति में अभ्यास की अपेक्षा की अनुपपत्ति होने से प्रतिवादी को भी एकवार के श्रवण से ही जीवन्मुक्ति सुलभ हो जायगी। और सर्वात्मना अनवभासक-प्रमाण अप्रामाणिक हो जायगा। इसलिये परोक्ष भी "जो साक्षात् एवं अपरोक्ष ब्रह्म" इत्यादि शाब्दज्ञान आत्मब्रह्म के विषय में प्रमाण ही हैं। इसलिये शब्द से उस (आत्मा) के ज्ञात होने पर भी मनन एवं निदिध्यासन करना चाहिये। उस (मनन आदि) प्रयोग के लिए ही "प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा तर्क तथा समाधि षडङ्ग कहे जाते हैं" यह प्रयत्नान्तर सुना जाता है।

अपरोक्षज्ञान या तो अभ्यासकरणक होता है या मनःकरणक; क्योंकि अभ्यास से उत्पन्न होने वाला ज्ञान भी अज्ञान का निवर्त्तक होता है तथा निर्बाध जो उत्पन्न होने वाला अनुभव (चाहे वह अभ्यास से ही क्यों न उत्पन्न हो) प्रमाणार्थ (अर्थात् प्रमाणजन्य) नहीं होगा इस दोष से अज्ञान का निर्वतक भी नहीं होगा ऐसा उदाहरण सम्भव नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि भावनापरिपाक के सहित अन्तःकरण से जन्य होने पर (ज्ञान) प्रमाणसामग्री से जन्य नहीं होता जिससे प्रमाण सामग्रयजन्य होने के कारण प्रामाण्य की हानि होती है ऐसा प्रकटार्थकार के द्वारा कहा गया दोष आ जाय।

---

[1] बृ० ३।४।१, [2] अमृतनादोय० ६। [3] (क) नाज्ञानानिवर्त्तक (ख) नाज्ञाननिवर्त्तक।

[श्रवणादौ नियमविधिः, पूर्वपक्ष उत्तरपक्षश्च–]

अथ प्रथमत एवापरोक्षज्ञानं शब्दादुद्भवति, तत्र प्रमातृगतासंभावनादिदोषेणार्द्रमरीचन्यायेन परोक्षवदवभासते, तत्र मननादिना दोषनिरासेन तदपरोक्षतया व्यवस्थाप्यते ? तदपि मन्दम्; ज्ञानस्य नित्यत्वाभावात्। तेन तदेवापरोक्षतया कथं व्यवस्थाप्यते ? ज्ञानान्तरं तु हेतुसमुदायाज्जायमानमपरोक्षमङ्गीकृतमेव; आर्द्रमरीचादिज्ञानस्यानध्यवसायात्मकस्य प्रमात्वेन विशेषांशेऽपरोक्षत्वाभावेनानुदाहरणत्वाच्च। ततः परोक्षमेवाद्यं ज्ञानम्। दृष्टश्चाभ्यासहेतुको गरुडादिसाक्षात्कारः। तेन तज्जन्यत्वमत्रापि न विरुध्यते। तस्मात् सर्वथापि नात्यन्ताप्राप्तार्थश्रवणे श्रवणफलालोचनया विधिः।

भावदीपिका

[श्रवणादौ नियमविधिः, पूर्वपक्ष उत्तरपक्षश्च—]

साक्ष्यनुभवव्यवच्छेदाय जन्यपदम्। रीत्यन्तरं निराकर्तुमुत्थापयति—अथेति। तर्हि तथा वस्तुनिश्चयः स्यात् ? तत्राह—तच्चेति। किमिदं व्यवस्थापनम्—अपरोक्षोऽस्य विषय इति ? तत् परोक्षज्ञानेऽप्यस्ति पूर्वोक्तरीत्या[१]; अथ परोक्षधर्माक्रान्तस्य तत्परिहारेणापरोक्षत्वधर्मसम्पादनम्—तद्दुर्घटम्—इत्याह—ज्ञानस्येति। अथापरोक्षस्य समारोपितपरोक्षत्वव्यावृत्तिः ? तर्ह्यादित्यवत्तमोध्वंसः समारोपेऽपि दुर्वारः स्यात्; न खल्वादित्ये चन्द्रभ्रान्तौ तमोनिवृत्तिः विलम्बते। तेन ध्यानादिव्यापारात्तमोनिवृत्तिफलमपरोक्षं ज्ञानमन्यदेव वक्तव्यम्। "आत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये" इति भाष्ये विद्या=अपरोक्षज्ञानम्; प्रतिपत्तिः=आपरोक्ष्यमिति विवरणाच्च। तथाच न विवादः –इत्याह - ज्ञानान्तरमिति। दृष्टान्तं प्रत्याचष्टे—आर्द्रेति। विशेषांशे परोक्षप्रमात्वासम्प्रतिपत्तेरित्यर्थः। अभ्यासवादी स्वपक्षं दृष्टान्तेन द्रढयति—दृष्टश्चेति। यस्मान्न शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वं सम्भवति, येन श्रवणादीतिकर्त्तव्यतायाः विशुद्धविधिगोचरत्वं शङ्क्येत। तस्मादित्युपसंहारः।

ज्ञानवती

[श्रवणादि नियमविधि है, पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष—]

(पू) (शब्द से अर्थात् श्रवण से परोक्षज्ञान होता है और मनन आदि से वह अपरोक्ष होता है ऐसी बात नहीं है अपितु) पहले ही शब्द से अपरोक्ष ज्ञान होता है और वह प्रमाता में वर्तमान असम्भावना (एवं विपरीत भावना) आदि दोष के द्वारा [२]आर्द्रमरीचन्याय से परोक्ष के समान ज्ञात होता है। ऐसी स्थिति में मनन आदि के द्वारा दोष का निरास करके वह अपरोक्ष के रूप में व्यवस्थापित किया जाता है।

(उ) यह भी मन्द है। क्योंकि ज्ञान नित्य नहीं है। इसलिए (जो शब्दश्रवण के बाद उत्पन्न हुआ वह तो क्षणद्वयावस्थायी होने से अनित्य है फिर) वही अपरोक्ष के

[१] (क) त्याह।

[२] जो गुण शुष्क मिर्च में होता है वही आर्द्र में भी। पर आर्द्रत्व रूप दोष के कारण ऐसा लगता है कि वह शुष्क जितना गुणकारी नहीं है। उसी प्रकार प्राथमिक शाब्द ज्ञान भी अपरोक्ष है पर दोष के कारण परोक्ष प्रतीत होता है।

अत्र ब्रूमः—अयमवधातादिवत् दृष्टादृष्टार्थो नियमविधिः। "तस्माद् ब्राह्मणो नावैदिकमधीयीत" इति मैत्रेयीश्रुतेः, "श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यः" इति स्मृतेश्च नियमविशेषोपपत्तेः।

यद्यपि "यज्ञेन[1]" इत्यादि वाक्येऽन्यत्रोत्पन्ना यज्ञादयः, धात्वर्थे विध्यश्रवणात् विविदिषायामेव विधिसम्बन्धात् रूपान्तररहिता आख्यातपरतन्त्रैर्यज्ञादिभिरनूद्याः।

भावदीपिका

सिद्धान्तं प्रतिजानीते—अत्र ब्रूम इति। अनेकसाधनत्वाभावान्न नियम इत्युक्तं निराचष्टे—तस्मादिति। यथा "यजेत"इत्युक्ते यजनसाधनं सम्भाव्यमानं सर्वं प्राप्नोति, तत्र "व्रीहिभिः" इत्यादिना नियमः; तथाऽत्रापि 'श्रोतव्यः' इत्युक्ते ब्रह्मज्ञानोपयोगि श्रवणजातं प्राप्नोति; तत्र श्रुतिवाक्येभ्य इत्यादिनियमः स्त्रीशूद्रसाधारणपुराणादिश्रवणं वर्जयित्वा वेदान्तश्रवणमेव नियमादृष्टाय कार्यमिति नियमविशेषः। यथा च "किं जप्येनामृतं ब्रूहीति शतरुद्रियेणेति" जपविशेषनियमः "अहरहः स्वाध्यायमधीयीत" इति सत्यपि विधाने, तथा "इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" "वेदः सपरिबृंहणः" इत्यादौ सत्यप्ययं नियम इति विशेषग्रहणम्। "पण्डितस्यापि शूद्रस्य शास्त्रज्ञानरतस्य च। वचनं तस्य न ग्राह्यं शुना लीढं हविर्यथा॥"—इत्यादिवचनात् शूद्रादिप्रणीतब्रह्मविद्याग्रन्थवर्जनं सिद्धमेव।

ब्रह्मसाक्षात्कारं प्रति यज्ञादीनां साधनत्वं विदधता विधिना तेषां श्रवणादिद्वारेण साधनत्वादपूर्ववत्तेऽप्याक्षिप्ता इति न पृथग् विधिसम्भवः—इत्याशङ्कामनूद्य दूषयति—यद्यपीत्यादिना।

ज्ञानवती

रूप में कैसे व्यवस्थापित किया जायगा ? और (यदि यह कहिये कि) हेतुसमुदाय (अर्थात् श्रवण मनन आदि) से जायमान दूसरा ज्ञान अपरोक्ष (होता है तो वह तो) अङ्गीकृत ही है। और अनिश्चयात्मक आर्द्रपरीक्षादिज्ञान के प्रमा के रूप में विशेषांश में अपरोक्ष न होने से यह उदाहरण ही नहीं है। इसलिये आद्यज्ञान परोक्ष ही होता है। और अभ्यासहेतुक गरुड आदि का साक्षात्कार देखा गया है। इसलिये यहां भी तज्जन्यत्व (=श्रवणजन्यत्व) विरुद्ध नहीं होता। इसकारण श्रवणफल की आलोचना से सर्वथा अत्यन्त अप्राप्त अर्थ के श्रवण में यह विधि है सो बात नहीं।

इस विषय में कहते हैं—यह अवघात आदि के समान दृष्टादृष्टार्थक नियमविधि है। क्योंकि "इस कारण ब्राह्मण को वेदसम्प्रदाय से अतिरिक्त ग्रन्थ (आत्मज्ञान के लिये) नहीं पढ़ना चाहिए यह श्रुति ओर "श्रुतिवाक्य से श्रवण करना चाहिये" इस स्मृति से नियम विशेष की उपपत्ति होती है।

यद्यपि-'यज्ञेन' इत्यादि वाक्य में (आये हुए) यज्ञ आदि रूपान्तर रहित होते हुए आख्यात परतन्त्र यज्ञादि के अनुवाद हैं क्योंकि धात्वर्थ में विधि का श्रवण नहीं है और विविदिषा में ही विधि का सम्बन्ध होता है। आख्यातपरतन्त्र होने पर आख्यात के अनुवादक होने पर कर्मपद अनुवादक होते हैं तथा विधायक होने पर विधायक होते हैं। जैसे "दध्ना अग्निहोत्रं

[1] बृ० ४।४।२।

आख्यातपरतन्त्रत्वे हि कर्मपदानामाख्यातस्यानुवादकत्वेऽनुवादकत्वं, विधायकत्वे विधायकत्वम्; यथा "दध्नाऽग्निहोत्रं जुहोति", "अग्निहोत्रं जुहोति" इति। अत्र वेष्यमाणज्ञानसाधनत्वेन विनियुज्यन्ते यज्ञादयो नित्या आश्रमकर्मरूपा अपि; विनि-

भावदीपिका

अत्र यजेत, दद्यादित्यादिविध्यश्रवणाद्, द्रव्यदेवतात्मकरूपराहित्याच्च; अन्यत्रोत्पन्नाः=उत्पत्तिविधिसिद्धाः; 'सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात्'—य एव यज्ञादयोऽन्यत्र विहिता यज्ञादिवाक्ये त एव सर्वथाऽपि ग्राह्याः, उभयलिङ्गात्=श्रुतिस्मृतिनिर्देशात्। "यज्ञेन" इत्यादि नाममात्रश्रुतौ "कार्यं कर्म करोति यः" इति च स्मृतौ निर्दिष्टमिति सूत्रभाष्याभ्यां चाख्यातपरतन्त्रत्वे पाक्षिकविधेयत्वप्राप्तेराख्यातापरतन्त्रेत्युक्तम्। तद् विवृणोति—आख्यातेति। उक्तं हि—"प्रायेणाख्यातसम्बन्धे नामेष्टं पारतन्त्र्यभाक्। तस्यैव प्रथमं तेन भेदाभेदनिमित्तता॥" इति। यथा हि—ज्योतिष्टोमे[१] सन्निधौ "अथैष ज्योतिरथैष सर्वज्योतिः, एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत" इत्यपूर्वसंज्ञोल्लेखसमय एव कर्मान्तरोल्लेखात्, तस्य 'एतेन' इति परामृश्य 'यजेत' इत्याख्यातसम्बन्धात्, तस्य चार्थान्तरपदज्योतिःपदव्यवायात् ज्योतिष्टोमानुवादकत्वायोगादपूर्वकर्मपरत्वे नामापि तत्परम्। यद्यप्यपूर्वसंज्ञा प्रथममवगता, तथापि यजेतेत्याख्यातसम्बन्धेनैव कर्मनामत्वाभिव्यक्तिरिति तस्याख्यातपरतन्त्रत्वम्[२]। तथा "वसन्ते ज्योतिषा यजेत" इत्यत्राख्यातस्य 'ज्योतिषा' इति नामैकदेशोपलक्षितज्योतिष्टोमाभिधानेन सहितस्य तदनुवादेन कालविधौ सङ्क्रान्तत्वान्नाम्नः कर्मानुवादकत्वं स्थितम्। स्वर्गादिफलोद्देशेन विहितानां काम्यानां न ज्ञाने विनियोगो युक्तः, इत्यतो नित्याः—इत्युक्तं सम्पादयति—आश्रमेति। यावज्जीवादिवाक्यस्य यज्ञादिवाक्यस्य च स्वतःप्रमाणत्वेन तुल्यबलत्वात् विनियोजकत्वे[३] दृष्टान्तः—क्रत्वर्थेति। उक्तं च—"एकस्य तूभयत्वे[४] संयोगपृथक्त्वम्।" "खादिरे पशुं बध्नाति", "खादिरं वीर्यकामस्य यूपं कुर्वीत" इति च श्रूयते। तत्र संशयः—किं काम्यैव खादिरता नित्येऽपि स्यात् उत नेति? तत्र फलार्थत्वेनानित्याया नित्यप्रयोगाङ्गता न युक्ता। यत्तु नित्येऽपि खादिरत्वश्रवणम्, तत् काम्यस्यैव पशुबन्धयुक्तयूपाश्रयदानार्थम्; ततो न नित्ये खादिरतेति प्राप्ते राद्धान्तः—

ज्ञानवती

जुहोति" (यहाँ पर जुहोति पद के अनुवादक होने पर अग्निहोत्र पद अनुवादक है) तथा अग्निहोत्रं जुहोति (यहाँ पर जुहोति पद के विधायक होने से अग्निहोत्रपद विधायक है) "इस उस इस आत्मा को ब्राह्मण लोग यज्ञ, दान एवं उपवासयुक्त तपस्या के द्वारा जानना चाहते हैं" वाक्य में इष्यमाण ज्ञान के साधन के रूप में आश्रमकर्म[५] रूप भी नित्य यज्ञ आदि अङ्ग माने जाते हैं क्योंकि विनियोजक कर्म एवं वाक्य तुल्यबल वाले हैं। उदाहरणार्थ

---

१ (क) ज्योतिष्टोमे।
२ (ख) तस्या।
३ (क) विनियोजकदृष्टा।
४ (क) त्व।
५ यज्ञ दान शब्द से गृहस्थ के तथा उपवास तपस् इस शब्द से वानप्रस्थ आश्रम के धर्म विवक्षित हैं।

योजककर्मवाक्ययोस्तुल्यबलत्वात्, क्रत्वर्थपुरुषार्थत्वेन विनियोजक—"दध्नाजुहोति" "दध्नेन्द्रियकामस्य जुहुयात्" इति वाक्यवत्; "प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्सनोऽन्यत्र" इति स्मरणात्; अत्र प्रकृत्यर्थभूतवेदनस्य प्राधान्यात्। यथा च नित्याग्निहोत्रे नित्यविधिप्रयोजकत्वं बाधित्वा कामस्य प्रयोजकत्वं सम्पाद्य निविशमानः काम्यप्रयोगो न नित्यप्रयोगं विहन्ति, प्रयोगयोरेकरूपत्वेन काम्यकरणादपि नित्यसिद्धेः? एवमत्रापि;इति नैकस्य कर्मणो नित्यत्वानित्यत्वविरुद्धधर्मसंयोगः। यज्ञादयश्चानियतदेशजन्मफलाः प्रारब्धफलविरोधिकर्मक्षयापेक्षाः[1] फल इति तद्घटितसत्त्वशुद्ध्यादिद्वारप्रवृत्तविविदिषाक्षिप्ताः; श्रवणादयोऽदुष्टकरणापेक्षेन्द्रियविषयसंप्रयोगवत्[2] प्रतिबन्ध-

भावदीपिका

एकस्य = खादिरत्वस्य; क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वरूपोभयात्मकत्वे वचनद्वयेन क्रतुशेषत्वक्रत्वशेषत्वलक्षणसंयोगभेदावगमान्न नित्यानित्यसंयोगविरोधः। न [3]वाश्रयदानाय नित्यवाक्यम्, सन्निधानादेवाश्रयलाभात्; तत उभयार्था खादिरतेति। एवं "यावज्जीवं दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामः" दर्शपौर्णमासाभ्यामित्यादि-न्यायो द्रष्टव्यः। "विविदिषन्ति" इति "लिङर्थे लेट्" इति स्मरणात् लेट्प्रत्ययान्तत्वेन यद्यपि वर्त्तमानसादृश्येऽपि विधिः, तथापि वेदनेच्छायामेव यज्ञादिविनियोगः श्रूयते। तत कथं ज्ञान उच्यते ? तदाह—प्रकृतीति। प्राधान्यात्तत्र विनियोग इत्यर्थः। प्रयोगवैलक्षण्ये हि काम्यकरणे नित्याकरणात् तस्य नित्यत्वमाशङ्क्येत; तदपि नास्ति—इत्याह—यथा चेति। ननु यज्ञादेः श्रवणाद्याक्षेपकत्वे तदनन्तरमेव श्रवणादिप्रवृत्तिर्दृश्येत, श्रवणादिफलं ज्ञानं च न च दृश्यते, ततः कथमाक्षेपकत्वम् ? तत्राह—यज्ञादयश्चेति। ऐहिकमप्रस्तुतम्, प्रतिबन्धे तद्दर्शनात्। यज्ञादेः श्रवणादेश्च प्रबलप्रतिबन्धकाभावे ऐच्छिकम्, सति तु तस्मिन्नामुष्मिकमपि। तदभिप्रायेणैव "तं दुर्दर्शम्"इति, "श्रुतिदर्शनं भवति"ति भाष्याभ्यां च, "यान्यतोऽन्यानि जन्मानि तेषु नूनं कृतं भवेत्। यत्कृतं पुरुषेणेह नान्यथा ब्रह्मणः स्थितिः॥" इति जन्मान्तरीयकर्मोपकारस्मरणाच्च। सुखविशेषार्थकर्मण

ज्ञानवती

"दध्ना जुहोति" एवं "दध्नेद्रियकामस्य जुहुयात्" ये वाक्य क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ के रूप में (विनियुक्त हैं) (तुल्यबलत्व होने में एक नियम है) "प्रकृतिप्रत्ययौ प्रत्ययार्थं सह ब्रूतस्सनोऽन्यत्र" (अर्थात् प्रकृति एवं प्रत्यय दोनों मिलकर प्रत्ययार्थ को बताते हैं पर सन् प्रत्ययार्थ वाले स्थल में नहीं इसीलिये) यहाँ प्रकृत्यर्थ वेदन का प्राधान्य है। और जैसे नित्य अग्निहोत्र में नित्यविधि के प्रयोजकत्व को बाध कर काम के प्रयोजकत्व का सम्पादन करके निविशमान काम्यप्रयोग, नित्यप्रयोग का घात नहीं करता क्योंकि (नित्य एवं काम्य) दोनों प्रयोगों के एक रूप होने से काम्य के करने से भी नित्य की सिद्धि हो जाती है; उसी प्रकार यहां भी एक कर्म का नित्यत्व एवं अनित्यत्वरूप विरुद्धधर्मसंयोग नहीं है। यज्ञ आदि अनियतदेशजन्मफलवाले हैं और फल के विषय में प्रारब्धफल के विरोधी कर्म के क्षय की अपेक्षा रखते हैं; इसलिये तदघटित (यज्ञ आदि से घटित) सत्त्वशुद्धि आदि के द्वारा प्रवृत्त जो जानने की इच्छा उससे आक्षिप्त ऋण आदि (उसी प्रकार हैं) जैसे दोषरहित करण की अपेक्षा

[1] (ख) प्रारब्धफले। [2] (क) करणेपादिविषय। [3] (ख) चा।

क्षयापेक्षफलत्वादनियतजन्मफलाः प्रातिस्विकविधिमन्तरेणापि सम्भवन्ति; तथापि यज्ञादिभिरेव सन्यासादिवत् प्रातिस्विकविधिसंयोगा अपि सम्भवन्ति।

अथ श्रवणादेः प्रमाणान्तर्गमादतथात्वाच्च सन्न्यासादेर्विधेयत्वाद्विधेयवैषम्यम्[१]; विधिपक्षेऽपि श्रवणादिव्यतिरेकेण साधनान्तरस्यावघातव्यतिरेकेण तण्डुलनिष्पत्ताविव[२] ब्रह्मभावसाक्षात्कारे प्राप्त्यभावान्न[३] नियमविधिः; अतएव न परिसंख्या; न च ब्रह्मसाक्षात्कारव्यक्तावुपायान्तरासम्भवादपूर्वविधित्वं शङ्कनीयम्; अवघातसाध्यतण्डुलव्यक्तावप्युपायान्तरासम्भवादपूर्वविधित्वप्रसङ्गात्; ततो न श्रवणादौ विधिः?

अत्रोच्यते—"तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्, बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्याथ मुनिः, अमौनञ्च मौनञ्च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" इति तावदाम्नायते। "यस्मात् पूर्वे ब्राह्मणा आत्मानं विदित्वा एषणाभ्यो व्युत्थाय भिक्षा-

भावदीपिका

इव विशिष्टजन्मादिसामग्रीमेलनद्वारा यज्ञादेः पारम्पर्येणैव ज्ञानफलहेतुत्वे प्रधानकर्मत्वेन फलाङ्गविधिवारकत्वं न न्याय्यमिति दूषणार्थः।

शब्दप्रमाणेतिकर्त्तव्यत्वेन श्रवणादेः प्रमाणान्तर्गतत्वमुपजीव्य शङ्कते—अथेति। प्रमाणोपकारिणोऽपि नेत्रसंस्कारादेर्विधिवदस्यापि विधिः स्यात्? अत आह—विधिपक्षेऽपीति। अङ्गीकृत्य—उपक्रान्तो नियमविशेष एवानेन परिशोध्यत इति न पौनरुक्त्यम्। प्रकटार्थोक्तविशुद्धविधित्वं निराचष्टे—न चेति। श्रुत्यन्तरेण विधिं द्रढयन् सूत्रकारमतेन नियमं सम्पादयति—तस्मादित्यादिना। यद्यपि विधेर्हेत्वपेक्षा नास्ति तथापि "सूर्पेण जुहोति",

ज्ञानवती

रखने वाला इन्द्रियविषयसंप्रयोग। प्रतिबन्धक के क्षय की अपेक्षा (रखकर) फल देने वाले अनियतजन्मफलवाले (कर्म) प्रातिस्विक (श्रोतव्यः मन्तव्यः—) विधि के विना भी सम्भव होते हैं।

तथापि यज्ञादि के द्वारा ही सन्यास आदि के समान प्रातिस्विकविधिसंयोग भी सम्भव होते हैं। (पू) श्रवण (विचारित वेदान्तवाक्य) आदि के वैसा न होने से एवं विधेय होने से विधेय में वैषम्य हो जायगा। विधिपक्ष में भी तण्डुलनिष्पत्ति के विषय में अवघात से अतिरिक्त साधनान्तर (अश्मकुट्टन, नखविदलन) के समान, ब्रह्मभाव के साक्षात्कार के विषय में श्रवण आदि से व्यतिरिक्त साधनान्तर की प्राप्ति न होने से (श्रवणादि) नियमविधि नहीं है। इसीलिये (अर्थात् साधनान्तर के न होने के कारण) परिसंख्या नहीं है। ब्रह्मसाक्षात्कार की अभिव्यक्ति में उपायान्तर के असम्भव होने से (श्रवण आदि) अपूर्वविधि है, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि (वहाँ) अवघात (से ही) साध्य तण्डुल की अभिव्यक्ति है। वहां उपायान्तर के सम्भव न होने से अपूर्वविधि होने लगेगी। इसलिये श्रवण आदि में कोई विधि नहीं है।

१ (ख) विधेयत्ववैष। २ (क) निष्पत्तौ (त्ताविव) (ख) निष्पत्तौ।
३ (क) ब्रह्मप्रात्यभावान्न।

माचरन्" [तस्मात्]पाण्डित्याद्युपलक्षणार्थमेतत्। पण्डा = साङ्गाध्ययनजा धीः=आत्मतत्त्वंगा श्रवणप्रवृत्त्युपयोगिनी सञ्जाताऽस्येति पण्डितः; सञ्जातार्थे इतज्विधानात्; ततो वर्णलोपे 'पण्डितः' इति पदम्। तस्य कृत्यम्=गुरुमुखाद् वेदान्तवाक्यानां ब्रह्मणि संयोजनात्मकं श्रवणम्=पाण्डित्यम्। तस्मादधुनातनोऽपि ब्राह्मणो निर्विद्य=निश्चयेन लब्ध्वा; बाल्येन=ज्ञानबलभावेन=युक्तितोऽसम्भावनानिरासरूपमननेन[१] शुद्धहृदयत्वेन वा स्थातुमिच्छेत्। "बाल्यञ्च पाण्डित्यञ्च निर्विद्य" इत्यादिरुक्तदार्ढ्यार्थमनुवादः। अथ मुनिः=मननशीलो निदिध्यासकः स्यात्। मौनादन्यद् बाल्यं पाण्डित्यञ्चामौनम्,

भावदीपिका

"तेन ह्यन्नं क्रियते[२]" इतिवत् प्राशस्त्यद्योतनात् प्ररोचनार्थमर्थवादः—इत्याशयेनाह–यस्मात् पूर्वे इति। तथाच निर्णीतम् "सूर्पेण जुहोति" इत्याम्नायः[३] "तेन ह्यन्नं क्रियते[४]" इति श्रुतम्। तत्र हेतौ 'हि'-शब्दश्रुतेः स्तुतौ च लक्षणाप्रसङ्गादन्नकरणत्वं सूर्पहोत्रे हेतुरुपदिष्टः। तथाच यद्यदन्नकरणम्=द्रव्यादि; तेनतेन होतव्यमिति प्राप्ते राद्धान्तः—सूर्पं हि होमकरणं तृतीयाश्रुत्या गम्यते। विध्यर्थस्य च न हेत्वपेक्षा; तस्मात् सूर्पश्रुतिः। यत्तु हेतौ हि शब्दश्रुतिरिति तन्न; न हि साक्षात् दध्यादिना शक्यमन्नं कर्त्तुम्। अथ शक्यं प्रणाड्या? कथं तर्हि श्रुतिवृत्तता हेतुवचनस्य? ननु सूर्पश्रुतावपि लक्षणा स्यात्, नहि तेनापि साक्षादन्नं क्रियते; श्रद्धास्तुतिर्ह्यनुवादत्वात् यथाप्राप्तलक्षणां सहते; न विधिः, अपूर्वार्थत्वात् इति। शुद्धहृदयत्वेनेत्यविवक्षितमर्थमात्रम्। द्विविधो नियमः साधनासाधनाभ्यां पक्षप्राप्तिसम्भवात्। तत्र असाधनात्[५]=द्वैतदर्शनात् स्वाभाविकादात्मदर्शनस्य पक्षेऽप्राप्तत्वात् तन्नियमेनावच्छिन्नात्मप्रत्ययात्मकध्यानविधाने, एवमेवानात्मश्रवणादिना पक्षेऽप्राप्तश्रवणादिविधाने, अर्थादनात्मश्रवणादिव्यावृत्तिः सिद्ध्यतीति नियमः, "आत्मा श्रोतव्यः" इत्याद्युक्तौ उभयश्रवणादे रागादिना प्राप्तस्याना-

ज्ञानवती

(उ) इस विषय में कहते हैं—"इसलिये ब्राह्मण को पाण्डित्य को सर्वथा जानकर बालभाव से रहने की इच्छा करनीं चाहिये। बाल्य और पाण्डित्य को" यह वेदान्त वाक्य है। (तस्मात् का मतलब है) जिस कारण पहले के ब्राह्मणजाति वाले लोग आत्मा को जानकर एषणाओं (पुत्रैषणा, लोकैषणा एवं वित्तैषणा) से ऊपर उठकर भिक्षा मांगते थे (इस कारण ब्राह्मण पाण्डित्य को जानकर ऐसा कहा गया। (पाण्डित्यञ्च) यह पाण्डित्य आदि के उपलक्षण के लिए हैं। पण्डा का अर्थ है अङ्गों के सहित (वेद को) पढ़ने से उत्पन्न बुद्धि जो कि आत्मतत्त्व को जानती है एवं श्रवण में होने वाली प्रवृत्ति की उपयोगिनी है। वह जिसको प्राप्त हो गई वह पण्डित है। (पण्डा शब्द से) सञ्जात अर्थ मे इतच् प्रत्यय का विधान होने पर वर्णलोप होने के पश्चात् पण्डित शब्द बनता है। उसका कृत्य अर्थात् गुरु के मुख से वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में संयोजनात्मक श्रवण पाण्डित्य है। इसलिये आधुनिक भी ब्राह्मण 'निर्विद्य' अर्थात् निश्चयपूर्वक प्राप्त करके बाल्येन अर्थात् ज्ञान एवं बल के भाव से युक्तिपूर्वक

---

[१] (क) नाद्वैत। [२] (क) क्रियते। [३] (ख) आम्नायप्राप्ते।
[४] (क) क्रीयते। [५] (ख) युक्तितो संभावना।

तच्च मौनञ्च निर्विद्य अथ ब्राह्मणः=ब्रह्म नित्यवद्गच्छति[१] इति ब्राह्मणः=साक्षात्कृतब्रह्मा, भवतीति प्रयत्ननिष्पाद्यं श्रवणादित्रयं साक्षात्कारसाधनमिह प्रतीयते। तस्य च नियमविधिः "सहकार्यन्तरविधिः-पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्"[२] इति सूत्रेण पाण्डित्यबाल्यापेक्षया तृतीयं ज्ञानाभ्यासात्मकं मौनं पृथङ्निर्दिष्टम्; तदेव विद्योदये सहकार्यन्तरं साधनान्तरं निदिध्यासनं सहकारिशब्देन वाच्यम्[३] प्रधानभूतश्रवणफलाङ्गम्। तस्य=पक्षेण द्वैतदर्शनस्य, नान्तरीयकव्यावृत्त्याऽप्राप्तपक्षपूरणेन तद्वतः= पाण्डित्यबाल्यवतो विधिरिति सूत्रयता भगवता बादरायणेन सूत्रितः— "विध्यादिवत्"[४] इति।

प्रधानविधिप्रकरणे तदङ्गविधिवद् विद्याप्रकरणे तदङ्गविधिरिति च विधित्वं दृढीचक्रे। यथा च यजनार्थं देशसामान्यप्रसक्तौ "प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेन यजेत" इति देशविशेषस्याप्राप्तपक्षपूरणेन नियमः, एवमत्रापि दृष्टार्थतया श्रवणमात्रप्राप्तौ,

भावदीपिका

त्मीयापोहेनात्मीयविधानं परिसंख्यानं वा अत्र?—इत्यपेक्षायां पक्षेणेतिनियमलक्षणोपन्यासात्[५]। "ऋतुस्नातां तु यो भार्यां सन्निधौ नोपगच्छति। घोरायां भ्रूणहत्यायां युज्यते नात्र संशयः॥" —इति शक्तस्य सन्निधौ वर्त्तमानस्य अगमने दोषवत् "शालावृकेभ्यः प्रायच्छम्" इत्यादिदोषात् नियम एव—इत्याह—तस्य चेति। यच्चोक्तं श्रवणादिव्यतिरेकेण साधनस्यात्राप्राप्तत्वादिति[६]— तत्राह—यथा चेति। मा भूत् साधनान्तरप्राप्तिः, श्रवणादिष्वेव तु सामान्यविशेषभावेन देशवत्

ज्ञानवती

असंभावनानिरपेक्ष रूप मनन से अथवा शुद्ध-हृदय से स्थित रहने की इच्छा करनी चाहिए। "बाल्यं च पाडित्यं च निर्विद्य" इत्यादि उक्त (विषय) को दृढ़ करने के लिये अनुवाद है। "मुनिः" का अर्थ है मननशील, ऐसा निदिध्यासक होना चाहिये। मौन से अन्य बाल्य एवं पाण्डित्य मौन एवं अमौन को निश्चय पूर्वक प्राप्त करके ब्राह्मण (होता है) अर्थात् ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है। इसलिये प्रयत्न से निष्पाद्य श्रवण आदि तीनों उसके साक्षात्कार के साधन मालुम होते हैं। और उसकी नियमविधि "सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्" इस सूत्र से पाण्डित्य एवं बाल्य की अपेक्षा तृतीय ज्ञानात्मक एवं अभ्यासात्मक मौन रुप में पृथक् निर्दिष्ट की गयी। वही सहकार्यन्तर एवं साधनान्तर रुप निदिध्यासन विद्या के उदय में सहकारिशब्द से वाच्य है तथा अप्रधानभूत श्रवण के फल का अङ्ग है। उस द्वैतदर्शन की पक्ष में नान्तरीयकव्यावृत्ति होने से अप्राप्तपक्ष के पूरक के द्वारा तद्वान् अर्थात् पाण्डित्यबाल्यवत् की विधि है ऐसा सूचित करते हुए भगवान् बादरायण ने सूत्र बनाया "विध्यादिवत्"।

प्रधानविधि के प्रकरण में तदङ्गविधि के समान विद्याप्रकरण में तदङ्ग विधि होती है ऐसा विधित्व दृढ़ किया गया। जैसे याग करने के लिये देशसामान्य के प्राप्त होने पर "प्राचीनप्रवण (स्थल) में वैश्वदेव याग करना चाहिये" इस देशविशेष का, अप्राप्तपक्षपूरण

---

१ (ख) नित्यत्ववद् गच्छति। २ ब्र० सू० ३।४।४७। ३ (क) वाच्यप्रधान।
४ ब्रह्म० ३।४।४७। ५ (क) सात नियम। ६ (क) स्याप्राप्त।

वैदिकश्रवणविशेषनियमः । न चाध्ययनविधिनैव पुराणादिश्रवणनिरासात् पक्षप्राप्त्यभावान्न नियमाविधिः ब्राह्मणस्य; तस्य (अध्येतव्यत्व[1])नियामकत्ववत् विचार्यत्वनियामकत्वे[2] मानाभावात् ।

"नियमः परिसंख्या वा विध्यर्थोऽत्र[3] भवेद्यतः ।
अनात्मादर्शनेनैव परात्मानमुपास्महे ॥"

इति चोदाहृतसूत्रभाष्यानुसारेण सुरेश्वराचार्यैरपि नियमः प्रत्यपादि । न चात्र-

"प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्तते ।
स नास्य फलमाप्नोति परत्रेति विचारितम् ॥"

भावदीपिका

नियमोपपत्तेरित्यर्थः । यथा मन्त्रार्थज्ञानस्य[4] मन्त्रब्राह्मणमात्रजन्यस्य तन्मात्रमूलकल्पसूत्रात्मीयग्रहणकवाक्याद्यपेक्षया पक्षे प्राप्तमन्त्रसाध्यत्वं नियम्यते—'मन्त्रैरेव स्मृतिः साध्या' इति, तथा वेदान्तानां सान्निध्यात् तदेकप्रमाणत्वाच्च ब्रह्मणस्तदीयश्रवणप्राप्तिवत्तन्मूलस्मृतिपुराणाद्यपेक्षया[5] पाक्षिकत्वेऽप्राप्तपूरणार्थो नियमविधिर्न विरुध्यत इति भावः । एवम् 'अर्थवादैरेवस्तुतिः, इत्यपि नियम उदाहार्यः[6] । एवमपूर्वार्थज्ञानकार्यस्य तुल्यत्वाभावेऽपि नियमः; अत्यन्ततुल्यकार्यत्वस्योदाहर्त्तुमशक्यत्वाच्च । विध्यन्तरेणास्य सिद्धं परोक्तं निराचष्टे—न चेति । यथा "स्वाध्यायो गुरुमुखादेवाध्येतव्यः", "आचार्याधीनो वेदमधीष्व" इत्यादिवचनान्तरान्न पुस्तकादिना; स चोपनीतेनाध्येतव्य एव; अनध्ययनाध्ययनयोः "अनधीत्य द्विजो वेदान्" इत्यादिनिन्दावचनात् अध्येतव्यनियमोऽवगम्यते—"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति स्वाध्यायोपादानात्; न तथा[7] 'स एव श्रोतव्यः' इति गमकमस्ति; प्रत्युत "श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः" इत्यादि श्रोतव्यान्तरगमकमस्ति । स्वाध्यायाध्ययनविधेर्विचारप्रयोजकत्वस्य[8] प्रकटार्थकारैः स्वयं निषेधाच्च तस्य विचार्यनियामकत्वोक्तिर्व्याहता । अतो विजातीयसाधनाप्राप्तावपि सजातीयेषु नियमसम्भवात् युक्तो नियमविधिः । विशुद्धविधिवादश्च न केवलं सूत्रभाष्यकृतोरनभिमतोऽपि तु वार्त्तिककृतामपि—इत्याह—नियम इति । स्वपक्षे लाभमाह—न चात्रेति । विध्यनङ्गीकारे नायं लाभ इति भावः । यदुक्तं प्रमाणान्तर्गतत्वान्न विधेयत्वमिति—तत्र वक्तव्यम्:—किं प्रमाणत्वमेव प्रमाणान्तर्गतत्वं किं वा

ज्ञानवती

होने के कारण नियम न होता है । उसी प्रकार यहाँ भी दृष्टफल होने के कारण श्रवणमात्र की प्राप्ति होने पर वैदिक श्रवणविशेष का नियम है । अध्ययनविधि के द्वारा ही पुराण आदि के श्रवण का निराश होने से पक्ष में प्राप्ति न होने के कारण ब्राह्मण की नियमविधि नहीं है ऐसी बात नहीं है । क्योंकि उसके अध्येतव्यत्व के नियामकत्व के समान विचार्यत्व के नियामकत्व में कोई प्रमाण नहीं है ।

---

१ (क) तव्य (ख) तव्यत्व २ (क) विचार्यनि । ३ (ख) विध्यर्थोऽपि ।
४ (क) मन्त्रार्थे । ५ (क) पाक्षिकत्वे । ६ (क) हार्यः विध्यन्त ।
७ (ख) तथा श्रोत । ८ (ख) ध्ययायविधे ।

इति भट्टपादोक्तमनुकल्पदूषणमपि। विप्रस्य वेदान्तश्रवणादरणे क्षत्रियवैश्ययोर्वा प्रमाणं मुख्यं शब्द एव।

[श्रवणादेर्विधित्वे पूर्वपक्ष उत्तरपक्षश्च-]

श्रवणञ्च "श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः"[१] इति सम्भाव्यमानप्रतिबन्धोदयं[२] "शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः" इति च सम्भाव्यमानप्रतिबन्धफलं श्रूयमाणं प्रमाणेति(कर्तव्यतात्मकं[३]), ततोऽन्यत्वेन चक्षुःसंस्कारादिवत् विधेयं सम्भवति। "नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना[४] श्रुतेन[५]" इति श्रुत्या मननध्यान-श्रवणानां नात्मावगतिसाधनत्वं निषिध्यते, किन्तु "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष[६] आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्"=एषः=परः, आत्मा यमेव देहादिभ्यो विवेचनेन चिन्मात्रविग्रहं साक्षिणमात्मानमवलम्बमानं वृणुते स्वरूपतया महाकाश[७] इव घटादिभ्यो विविच्यमानं व्योम तेन लभ्यः। न चासौ भिन्नः सन् लभ्यः सः, किन्तु तस्य

भावदीपिका

तत्सहकारित्वम्? आद्ये सिद्धिः, द्वितीये व्यभिचारः—इत्याह—प्रमाणमिति।

[श्रवणादेर्विधित्वे पूर्वपक्ष उत्तरपक्षश्च—]

श्रवणादिफले श्रुत्यन्तरविरोधभ्रमं निराकुर्वन् तस्य नियमविध्यनुकूलत्वं सम्पादयति—नायमिति। आत्मविषयकफलश्रवणादौ वाक्यान्तरानुकूल्यादात्मश्रवणादौ नियमोऽवगम्यते-

ज्ञानवती

"चूँकि यहाँ विधि का अर्थ, नियम या परिसंख्या होता है इस कारण अनात्म के अदर्शन से ही परमात्मा की उपासना करते हैं"। सूत्रभाष्य के इस उदाहरण के अनुसार सुरेश्वराचार्य ने भी नियम का प्रतिपादन किया है। और यहाँ पर प्रथमकल्प (अर्थात् वेदान्तश्रवण) में समर्थ भी जो अनुकल्प (अर्थात् पुराणादि विचार) के द्वारा व्यवहार करता है वह परलोक में इसका फल नहीं प्राप्त करता" ऐसा विचार किया गया है।

यह भट्टपाद के द्वारा उक्त अनुकल्प का दोष भी नहीं है क्योंकि ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय अथवा वैश्य के वेदान्तश्रवण का आदर करने में मुख्य प्रमाण शब्द ही है।

[श्रवण आदि के विधित्व में पूर्वपक्ष एवं उत्तरपक्ष—]

और श्रवण; जिसका प्रतिबन्ध "जो बहुतों के द्वारा श्रवण के लिये भी प्राप्तव्य नहीं है" वाक्य से संभव है तथा जिसका सम्भवप्रतिबन्धरूप फल जो कि प्रमाणइतिकर्त्तव्या-तात्मक है तथा "सुनकर के भी जिसे बहुत से लोग नहीं जान पाये" इससे श्रूयमाण है; इससे अन्य के रूप में चक्षु के संस्कार आदि के समान विधेय होना सम्भव है। "यह आत्मा, प्रवचन, मेधा या अधिक श्रवण के द्वारा प्राप्य नहीं है" इस श्रुति के द्वारा मनन ध्यान एवं श्रवण का आत्मा के ज्ञान के साधन होने का निषेध नहीं किया जाता, किन्तु "जिसका

---

१ कठ० १।२।७। २ (ख) प्रतिबन्धादयं। ३ (क) कर्त्तव्यात्मकं।
४ (ख) बहुधा। ५ कठ० १।२।२२। ६ (ख) स्वस्यैव।
७ (ख) महाशाख इव।

लब्धुरेष आत्मैव। कीदृशस्तर्हि लाभः ? उच्यते; स्वां=जीवस्य निजाम्; तनुं माया-यवनिकातिरस्कृतां परात्माख्यां श्रवणादिजन्यसाक्षात्कारेण मायोच्छित्तौ विवृणुते। अभिव्यक्तिमात्रं लाभ इति निरूपयन्त्या तया तेषां दार्ढ्यमेव कुर्वत्या "नानुध्यायाद्बहून् शब्दान्"[१] इतिवत् बहुप्रकारत्वमेव वार्यते "बहुना श्रुतेन" इति।

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः। तां स्वाच्छरीरात् प्रवृहेत्"[२]=कार्यकारणमायाभ्यः पृथक् कुर्यात् "ज्ञातैवात्मा सदा ग्राह्यो ज्ञेयमुत्सृज्य केवलः" इत्यादि गुरूक्तप्रकारैः मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण तं विद्यात्= श्रवणादिबललब्धसाक्षात्कारेण तं वास्तवं रूपं लभेत;इति कठवल्यामेवोत्तरत्रकीर्तनात्।

अथास्तु विधिः, तथापि साक्षात्कारादर्वागेव श्रवणमभ्यस्यतः प्रायणञ्चेत्,

भावदीपिका

इत्याह—अङ्गुष्ठमात्र[३] इति। श्रवणस्य[४] नियतजन्मफलत्वमदृष्टार्थं विधानं वेष्यते[५]। एकफलोपयोग्यदृष्टार्थं सकृदेव प्रयाजादौ दृष्टम्; तत एकस्मिन् जन्मनि विधिपूर्वं श्रवणाद्यनुष्ठितवतो जन्मान्तरे वैधमनुष्ठानं न स्यात् ?—इत्याशङ्कते—अथास्तु इति। दिवसान्तर इति वैधर्म्य-

ज्ञानवती

यह वरण करता है उसी के द्वारा लभ्य है, यह आत्मा उसी की अपनी शरीर का वरण करता है" यह परमात्मा जिसका अर्थात् देह आदि के विवेचन से चिन्मात्रशरीरवाले साक्षी आत्मा का अवलम्बन करने वाले का वरण करता है, अर्थात् स्वरूपतया घटादि से पृथक किए जाने वाले महाकाश की तरह (जो वरण करता है) उसके द्वारा प्राप्तव्य है। वह यह आत्मा भिन्न होते हुए लभ्य है ऐसा नहीं, बल्कि उस प्राप्त करने वाले का ही वह यह आत्मा है। तो (जब अपना आत्मा सदा अपने साथ है तो फिर) उसका लाभ कैसा ? उत्तर में कहते हैं कि अपनी अर्थात् जीव की निजी शरीर का, जो कि माया के परदे से ढका है, जिसका परमात्मा नाम है, माया का नाश होने पर श्रवण आदि से जन्य साक्षात्कार के द्वारा, वरण करता है। अभिव्यक्तिमात्र लाभ है ऐसा निरूपण करती हुई उन (श्रवण आदि) को दृढ़ करती हुई उस (श्रुति) के द्वारा "बहुत से शब्दों का पाठ नहीं करना चाहिये" इसके समान "बहुना श्रुतेन के द्वारा" बहुप्रकारत्व का ही वारण किया जाता है।

"अन्तरात्मा पुरुष अंगूठे के परिमाण का है और सदा लोगों के हृदय में अच्छी प्रकार निविष्ट रहता है। उसे अपनी शरीर से पृथक् करना चाहिये" अर्थात् कार्यकारण एवं माया से पृथक् करना चाहिये "ज्ञेय को छोड़कर केवल ज्ञात आत्मा को ही सदा जानना चाहिये" इत्यादि हमारे गुरु के द्वारा कहे गये तरीकों से मुञ्ज से इषीका के समान धैर्यपूर्वक उसको प्राप्त करना चाहिये; अर्थात् श्रवण आदि के बल से प्राप्त साक्षात्कार के द्वारा उस वास्तविक रूप को प्राप्त करना चाहिये ऐसा बाद में कठवल्ली में कहा गया है।

(पू) (श्रवण आदि) विधि हो जांय, फिर भी साक्षात्कार के पहले ही यदि श्रवण का अभ्यास करते हुए मरण हो गया तब तो जन्मान्तर में दिवसान्तर के समान विधि का

---

[१] बृ० ४।४।२१। [२] कठ २।६।१७। [३] (ख) मात्रेति।
[४] (क) स्यानियत। [५] (क) चेष्यते।

तदा जन्मान्तरे दिवसान्तर इव विधिव्यापारो न स्यात्; स्याच्चेदवशिष्टं कर्तव्यमिति स्यात्; न चैवमस्ति; ततो दुर्घटोऽयं विधिः? उच्यते; किमवघातवत् फलपर्यन्तावृत्तिगुणकं श्रवणं विधीयते? ततो येषां तदभ्यासात्तुषादिकल्पसंशयादिव्यावृत्तिः समजनि प्राचिभवे, तेषां शब्दश्रवणमात्रात् तत्स्मरणमात्राद्वा साक्षात्कारफलसम्भवात् तान् प्रति विरतव्यापारो विधिः। तदाहुर्भगवत्पादाचार्याः—

"येषां पुनर्निपुणमतीनामज्ञानसंशयविपर्ययलक्षणः पदार्थविषयः प्रतिबन्धो नास्ति ते शक्नुवन्ति सकृदुक्तमेव तत्त्वमसिवाक्यार्थमनुभवितुम्, इति तान् प्रत्यावृत्त्यानर्थक्यमिष्टमेव" इति[१]। नियमादृष्टस्य च विधिसाध्यस्य यावदपेक्षा, न तावद्विधिव्यापारविरम इति न श्रवणविधौ कलङ्कलवस्याप्यवकाशः। "इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः[२]" इत्यधिकारिशरीरे ज्ञानार्थमुद्योजयन्ती भगवती श्रुतिः तदुपायश्रवणविधिसख्यमाक्षिपत्येव, न विरोधगन्धमावहति। अतः

भावदीपिका

दृष्टान्तः। अदृष्टस्य कल्मषक्षयद्वारा ज्ञानोपयोगित्वम्। "ज्ञानमुत्पद्यते पुसां क्षयात् पापस्य कर्मणः। यथाऽऽदर्शतलप्रख्ये पश्यत्यात्मानमात्मनि॥"—इति स्मृतेः। ततो यावत् कल्मषक्षयः तावदनेकेष्वपि जन्मसु वैधश्रवणाद्यनुष्ठानं न विरुध्यते। प्रयाजादेस्त्वपूर्वमात्रेण फलाङ्गत्वाद् वैषम्यम् इत्यभिप्रेत्य परिहरति—उच्यत इति। श्रवणादेर्जन्मान्तरेऽपि साक्षात्कारः फलमित्येतदिहैव जन्मनि सफलं ज्ञानमित्येवमर्थश्रुत्यन्तराननुरूपम्?—इत्याशङ्क्याह—इह चेदिति। श्रुतेरधिकारावस्थायां ज्ञानोपायानुष्ठानमवश्यं कार्यमित्येतावन्मात्रपरत्वेन—"उत्तिष्ठज्जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत। क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो

ज्ञानवती

व्यापार नहीं होगा। यदि होता तो 'अवशिष्टं कर्त्तव्यम्' ऐसा भी कहा गया होता, पर ऐसा नहीं है। इसलिये यह (अर्थात् श्रवण आदि) विधि दुर्घट है? (उ) कहते हैं; क्या अवघात के समान फलपर्यन्त आवृत्तिगुण वाले श्रवण का विधान होता है? तव तो उस (श्रवण आदि) के अभ्यास से तुष आदि के समान संशय आदि की व्यावृत्ति पूर्व जन्म में हो गई, फिर (इस जन्म में) शब्दश्रवणमात्र या उस (पूर्व जन्म-कालीन श्रवण के) स्मरणमात्र से साक्षात्कारफल के सम्भव होने से उन (=श्रवण का अभ्यास करने वालों) के प्रति विधि विरतव्यापार वाली हो जायगी? भगवत्पादाचार्य ने कहा है—

जिन निपुणमति वालों के लिये अज्ञान-संशय-विपर्ययलक्षणवाला पदार्थविषयकप्रतिवन्ध नहीं है वे एक बार भी उक्त "तत्त्वमसि" वाक्य के अर्थ का अनुभव कर सकते हैं। इसलिये उनके प्रति आवृत्ति निरर्थक ही है। विधि के द्वारा साध्य नियमादृष्ट की जब तक अपेक्षा है तव तक विधि का व्यापार नहीं रुकता, इसलिये श्रवण विधि में. जरा सा भी कलंक का अवकाश नहीं है। "इसमें (=मानव शरीर के रहने पर) जान लिया तो सत्य है और नहीं जाना तो बहुत बड़ा विनाश हुआ" ऐसा अधिकारी के शरीर में ज्ञान के लिये उत्तेजित करती हुई भगवती श्रुति उसके उपाय के लिये श्रवण विधि की सहायता का आक्षेप करती

---

[१] ब्र० सू० भा० ४।१।२। [२] केन २।५।

"आत्मा द्रष्टव्यः" इति फलमुद्दिश्य "श्रोतव्यः" इत्यादीनि विधानानि तदुपायभूतश्रवणादिविषयाणि युक्ततराणि। न च वाच्यम् विशुद्धबुद्धेरेव फलपर्यन्तप्रवृत्तिमूलसाधनवतो ब्रह्ममीमांसायामधिकारात् अदृष्टोपयोगाभावेन[1] न नियमविधिरिति; यतः कश्चिदधिकारिविशेषणमनुवेक्ष्यमाण एव स्यात् ब्रह्ममीमांसाप्रविष्टोऽप्यदृष्टसहायः क्रमेण फलभाग् भवति; यथा खलु सहस्राक्षः; तथा च श्रुतिः—"एकशतं ह वै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास" इति। आग्नेयादिवदपूर्वार्थत्वेन प्रधानकर्मत्वाभावेऽपि साक्षात्कार उपयोक्ष्यमाणकर्तृसंस्कारार्थत्वेनास्य गुणकर्मत्वम्; अपरथा

भावदीपिका

वदन्ति ॥" अविद्यानिद्रात उत्तिष्ठत; तत्त्वन्निबोधत, वरान्=आचार्यान्; प्राप्य जाग्रत=तद्बोधेन तस्याः क्षयं कुरुत। यतो ज्ञानस्य पन्थानं निशितक्षुरधारावत् दुर्गमं[2] कवयो वदन्ति इति श्रुतिवज्जन्मनियामकत्वाभावादित्यर्थः।

यद्यप्येवमदृष्टाय विधिः सम्भावितस्तथापि तदुपयोगाभावात् व्यर्थो विधिः ?—इत्याशङ्क्याह—न च वाच्यमिति। ननु किमेतत् प्रधानकर्म गुणकर्म वा ? नाद्यः; स्वातन्त्र्येण हि फलसम्बन्धे सति प्रधानकर्मता स्यात् आग्नेयादेरिव; श्रवणादेश्च शब्दलक्षणकरणेतिकर्तव्यतायाः प्रयाजादेरिव स्वातन्त्र्येण फलसम्बन्धाभावान्न प्रधानकर्मत्वम्। नान्त्यः; प्रोक्षणादेरिव प्रधानापूर्वोपकारकादृष्टातिशयोत्पादकत्वाभावात्। यथा यज्ञादेर्ज्ञानकरणत्वश्रवणात् दर्शादिवत् प्रधानापूर्वोत्पादकत्वेन फलसाधनत्वम्, [तथा] प्रयाजादिजन्यादृष्टवत् श्रवणादिजन्यादृष्टस्योपयोगाद् गुणकर्मत्वम् ? तन्न; यज्ञादिजन्यापूर्वस्यापि "इदमनेनाङ्गं संस्क्रियते" इत्याद्यागमात् अन्तःकरणसंस्कारकत्वावगमान्न साक्षादज्ञानफलाङ्गत्वं यतः। तर्हि तुल्ययोगक्षेमस्य श्रवणादेः पर्यनुयोगो[3] न युक्तः ?—इत्याशयेनाह—आग्नेयादिवदिति। आश्रमकर्म "त्रिसन्ध्यादौ स्नानमाचरेत्" इत्यादिश्रुत्युदितम्।

ज्ञानवती

ही है; इसलिये विरोध की गन्ध भी नहीं है। इसलिये आत्मा के 'द्रष्टव्यत्व' को उद्देश करके 'श्रोतव्यत्व' इत्यादि का विधान और उसके उपायभूत श्रवण आदि विषय युक्ततर हैं।

(पू) विशुद्धबुद्धि वाले तथा फलपर्यन्तप्रवृत्ति के लिये मूलसाधन वाले (व्यक्ति) के ही ब्रह्ममीमांसा में अधिकार होने से अदृष्ट का उपयोग न होने के कारण (यह श्रवण आदि) नियमविधि नहीं है ? (उ) कोई अधिकारिविशेषण का अनुवेक्षण करता हुआ भी ब्रह्ममीमांसा में प्रविष्ट होने पर भी अदृष्ट की सहायता से क्रमशः फल का भागी होता है। जैसे कि इन्द्र। श्रुति भी है—"इन्द्र सौ वर्ष तक प्रजापति के पास ब्रह्मचर्य धारण करके रहे"। (पू) आग्नेय आदि के समान अपूर्व के लिये प्रधान कर्म न होने पर भी साक्षात्कार में उपयोक्ष्यमाण कर्त्ता के संस्कार के लिये होने के कारण यह (वेदान्तजन्यज्ञान) गौणकर्म है; अन्यथा आश्रमकर्म (=अग्निहोत्र आदि) के विधान की भी अपेक्षा नहीं होगी।

---

१ (क) दृष्टो (ददृष्टो) पयो। (ख) दृष्टोपयो।
२ (क) दुर्गं। ३ (क) योगे न।

आश्रमकर्मविधानमप्यनपेक्षितं स्यात्। अथ तत् प्रत्यहमुपात्तदुरितक्षयार्थमेव, न विद्याङ्गम् ? आचार्योपासनादेश्च दृष्टयथावदुपदेशादिप्रयोजनतैव।[1] यज्ञादीनाञ्च[2] जन्मान्तरीयाणां वा पूर्वाश्रमानुष्ठितानां वा विविदिषां तदुपलक्षितज्ञानं प्रति वा उपकारकत्वं श्रवणादिप्रवृत्तिजनकत्वेन न तु प्रवृत्तस्यादृष्टोपयोगे मानम्। इन्द्राद्याख्यायिकाया विद्यावतारोपायमात्रत्वाच्च; तव्यप्रत्ययस्यार्हार्थत्वेनाप्युपपत्तेश्च; "द्रष्टव्यः" इति दर्शने तात्पर्यकरणवत् श्रवणेऽपि तदर्थमर्हत्वप्रकाशनोपपत्तेः; ज्ञानप्रकरणे क्रियाविधानानुपपत्तेश्च। गान्धर्वशास्त्रोपासनाधेयवासनायाः षड्जादिसाक्षात्कार इव श्रवणाद्यावृत्तिजन्यवासनायाः वैधापूर्वनिरपेक्षायाः ब्रह्मैक्यसाक्षात्कारे हेतुत्वोपपत्तेश्च न जन्मान्तरीयश्रवणादेर्वामदेवादौ फलदर्शनं विधिं गमयति; अधर्मफलवद् वैधत्वाभावेऽपि सम्भवात् शिल्पादिवच्च। अतो नियमविधिरप्यनुपपन्नः।

भावदीपिका

उक्तमन्यथासिद्धचा आक्षिपति—अथेति। ज्ञानप्रकरण इत्यस्मात् अर्वाक्तनेन प्रकरणभेददोषस्याद्यवादे उद्धारेऽपि विधिपक्षे वाक्यस्य प्रकरणादुत्कर्षः स्यात्। स च यथाकथञ्चित् प्रकरणसमावेशेऽनुपपन्नः यथा "तिस्रः साह्नस्योपसदः कार्याः द्वादशाहीनस्य" इत्यत्रैकाहसाध्यत्वात् साह्नो ज्योतिष्टोमः, तस्य प्रकरणित्वात् तस्मिंस्तिस्रो विधीयन्ते अहीनस्य तु अहर्गणसाध्यस्य द्वादशाहस्य नान्यप्रकरणगतवाक्येन द्वादशोपसत्ता विधातुं शक्या। अहीनशब्दस्य चाहर्गणसाध्ये रूढत्वाज्ज्योतिष्टोमाभिधानासम्भवात्; प्रकृतित्वेन समग्राङ्गयुक्तत्वात्, 'न कुतश्चित् क्रतोर्हीनः' इत्यहीनः, ज्योतिष्टोम इति योगस्य रूढेर्दुर्बलत्वाच्च; ज्योतिष्टोम एव द्वादशोपसत्ताविधाने च 'साह्नस्य पञ्चदशोपसत्' इत्येतावताऽलम् व्यर्थं शब्दान्तरम्। तेन साह्नस्तुत्यर्थमेव "द्वादशाहीनस्य" इति वाक्यंद्वादशदिनसाध्यस्य द्वादशैवोपसदः, साह्नस्य त्वेकाहसाध्यस्यापि तिस्र इति स्थितम्। तथाऽत्राऽप्येष्टव्यमिति विशेषाभिप्रायेणाह—ज्ञानप्रकरण इति। विधिं विनापि फलसम्भवाच्च व्यर्थो विधिः?—इत्याह—गान्धर्वेति। प्रकटार्थोक्तं विशेषं निरस्यति—न चेति।

ज्ञानवती

(पू) तो (श्रवण आदि कर्म) प्रतिदिन प्राप्त पाप के नाश के लिए ही (मान लिये जायँ और उन्हें) विद्या का अङ्ग न माना जाय तथा आचार्य के पास ब्रह्मचर्य आदि रहने का दृष्ट प्रयोजन उचित उपदेश ही है। जन्मान्तरीय यज्ञ आदि या पूर्व आश्रम-कर्म में अनुष्ठित कार्य विविदिषा के प्रति या तदुपलक्षित ज्ञान के प्रति श्रवण आदि की प्रवृत्ति के जनक होने के कारण उपकारक हैं न कि प्रवृत्त के लिए अदृष्ट का उपयोगी होने में प्रमाण है; इन्द्र की आख्यायिका विद्या के अवतार का उपायमात्र है, क्योंकि तव्य प्रत्यय का (सिद्धसाधन में तात्पर्य होने के साथ साथ) अर्हत्व अर्थ होने पर भी सिद्धि हो जाती है, "द्रष्टव्यः" का दर्शन में तात्पर्य करने के समान श्रवण में भी उसके लिए अर्हत्वप्रकाशन उपपन्न हो जाता है क्योंकि ज्ञान के प्रकरण में क्रिया का विधान ठीक नहीं है। जिसप्रकार गान्धर्वशास्त्र की उपासना से अन्य आधेयवासना षड्ज आदि के

---

१ (ख) प्रयोजनतयैव। २ (ख) यज्ञादीनां जन्मा।

नैवमुचितम् ; कोऽभिप्रायः ? किं कर्मणां शुद्धिद्वारेण बुद्धेः प्रत्यक्प्रवणतापादनमात्रफलत्वात्[1] तद्वतो ब्रह्ममीमांसाधिकारादद्दष्टनिरपेक्षता[2], किं वा नित्यादिकर्मणां निष्फलत्वान्मुमुक्षोः काम्यकर्मानुष्ठानाभावाच्च नादृष्टमेव विद्याफलं समस्तीति ? तत्रात्यान्तिकप्रत्यक्प्रवणतायाः कर्मणैवोत्पत्तौ श्रवणमात्रेण विद्योत्पत्तेर्मननादिविधानवैयर्थ्यप्रसङ्गः। दृष्टफलमपि मर्दनादि कर्म ज्वरादिजनकपाप्मनः फलाभिभवेन तदभिभवकारणं यथा, तथेदमपि प्रत्यक्प्रवणतातिशयविघातकासम्भावनाद्यभिभावनेन[3] तद्धेतुकषायाभिभावकं यद्यप्यदृष्टोत्पादमन्तरेणापि; तथापि ज्ञानार्थानेकजन्मस्मरणानन्तर्येण विरोधिक्षयोपयुक्तादृष्टोत्पादकत्वेनोपकारकमित्यध्यवसायात्। कल्मषाणां विचित्रत्वादनेकविधनिवर्त्तकविधानमभिप्रेत्यैव "सर्वापेक्षा च[4]" इत्याह स्म सूत्रकारः। अवघातस्येव तण्डुलनिष्पत्तौ नियमादृष्टनिरपेक्षस्यापि साक्षात्कारे श्रवणस्य फलान्तरार्थं नियमापूर्वसम्भवाच्च। उपात्तदुरितक्षयस्यापि "धर्मेण पापमपनुदति" इति श्रुतेरदृष्टसाध्यत्वावधारणात्।

"नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

भावदीपिका

तदेतत् क्रमेण निषेधति—नैवमुचितमिति। मननादिविधानम्=कथनम्[5]। अथ दृष्टेनैव फलेन मननादिकं[6] श्रवणाङ्गं तेन तत्[कथनं न]व्यर्थम् ?—इत्याशङ्क्याह—दृष्टफलमपीति। ज्ञानोत्पादविरोधिकल्मषाण्येव न सन्ति ?—इत्याशङ्क्य वैयासिकसूत्रवाक्यात् तान्यवगम्यन्ते—इति परिहरति—कल्मषाणामिति। कल्मषक्षयफलत्वं दृष्टान्तेन सम्भावयति—अवघातस्येति। तथाप्यदृष्टात् कल्मषक्षयः कथमवगम्यते?— तत्राह—उपात्तेति। इदानीं श्रुतिं कल्मषाणां विद्योदयविरोधित्वे प्रमाणयन् व्याससूत्रस्याप्यौत्प्रेक्षिकत्वं वारयति—नाविरत

ज्ञानवती

साक्षात्कार में (हेतु होती है उसी प्रकार) श्रवण आदि की आवृत्ति से जन्य वासना, जो कि विधिजन्य अपूर्व की अपेक्षा नहीं रखती, के आत्मब्रह्मैक्य के साक्षात्कार में कारण होने से जन्मान्तरीय श्रवण आदि का, वामदेव आदि के विषय में, फलदर्शन विधि को नहीं बताता। जैसे अधर्म का फल (स्वतः मिल जाता है उसमें विधि नहीं है) उसी प्रकार श्रवण आदि का फल विना विधि के सम्भव है जैसे कि शिल्प। इसलिये नियमविधि अनुपपन्न है।

(उ) यह उचित नहीं है। क्या मतलब है ? क्या कर्मो का, चित्तशुद्धि के द्वारा चित्त की प्रत्यक्प्रवणता का विधान (=वहिर्मुखत्व को छोड़ कर आन्तर्मुख्य की ओर गमन) मात्र फल होने से उस (प्रत्यक्प्रवणता) से युक्त व्यक्ति का ब्रह्ममीमांसा में अधिकार होने से अदृष्ट की आवश्यकता नहीं है ? या नित्य एवं नैमित्तिक अनुष्ठान न होने से अदृष्ट ही विद्या का फल सम्भव नहीं है ? ऐसी हालत में आत्यन्तिक प्रत्यक्प्रवणता की कर्म से ही उत्पत्ति होने

---

[1] (क) प्रत्यक्प्रवणतापाद, (ख) प्रत्यक् प्रवणे तत्पादा। [2] (क) दृष्ट।
[3] ज्ञानार्थानेक जन्मस्मरणा(नन्तर्येण)न्यतरेण विरोधि। (ख) स्मरणान्यतरेण विरोधि।
[4] ब्र० सू० ३।४। [5] (ख) कथं न। [6] (क) मननाद्यभ्यास।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥"[१]

इति श्रुतेरुपात्तदुरितस्यापि विद्योदयविघातकत्वाच्च। तेनादृष्टद्वारेणापि श्रवणादेरुपकारकत्वं न विरुध्यते। नित्यादिकर्मणोऽपि सर्वथा विफलत्वे, तदकरणे दण्डे च, वेदस्य कथं प्रयोजनपर्यन्ते तात्पर्यं निर्णीयेत? न च "नियोगसिद्धेः किमन्यत् प्रयोजनं सर्वविधीनाम्?" इति गुरुक्तिर्वेदवचनम्, येन नित्यादिनियोगसिद्धिरेव पुरुषार्थः[२] स्यात्।

वेदवचनमपि युक्तमेव गृह्यते। तथाहि—"अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यम्[३]" इत्यत्र दहराकाशान्तःसमाहितस्य "उभेऽस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते" इति श्रुत्युक्तस्य

भावदीपिका

इति। अशान्तः=अनुपरतबाह्येन्द्रियः। प्रज्ञानमेवास्य नोत्पद्यते येन तत्त्वं प्राप्नुयात्; उत्पन्नस्य प्रकाशस्याऽदृष्टमात्रेण तमोनिवृत्तिफलप्रतिबन्धादर्शनात् इत्यर्थः। द्वितीयं निराचष्टे —नित्यादीति। पराभिप्रेतं प्रयोजनमाशङ्क्य दूषयति—न चेति। ब्रह्मपुरम्=शरीरम्; ब्रह्मण उपलब्धिस्थानहृदयविशिष्टत्वाज्जीवस्वामिकमपि सत् ब्रह्मपुरमित्युच्यते। हृदयस्थाने उपास्यमानं ब्रह्म शीघ्रं प्रसीदति। दहरम्=अल्पम्; पुण्डरीकाकारं वेश्मेव=वेश्म; 'दहर उत्तरेभ्यः' इत्यत्र दहराकाशस्य महाभूतत्वम्। "यावान्वा अयं बाह्याकाशस्तावानेषः" इत्येकस्योपमानोपमेयभावस्य "गगनं गगनाकारम्" इत्यादावगत्याश्रितस्यात्र न सम्भवः गतौ

ज्ञानवती

पर श्रवणमात्र से ही विद्या (=ज्ञान) की उत्पत्ति होने से मनन आदि का विधान व्यर्थ हो जायगा। जैसे मर्दन (अर्थात् पादसंवाहन) आदि कर्म जो कि दृष्टफल वाले हैं ज्वर आदि के जनक पाप के फल का अभिभव होने से उसके अभिभव के कारण हैं; उसी प्रकार यह (मनन आदि) भी प्रत्यक्प्रवणतातिशय के विघातक असंभावना आदि के अभिभव के द्वारा उसके हेतु कषाय आदि के अभिभावक, यद्यपि विना अदृष्ट की उत्पत्ति के भी हैं, तथापि ज्ञानार्थ अनेक जन्म के स्मरण के आनन्तर्य से (ज्ञान की उत्पत्ति में) जो विरोधी (तत्त्व हैं उनके) क्षय के लिये उचित अदृष्ट का उत्पादक होने से ये उपकारक हैं, ऐसा निश्चय है। पापों के नाना प्रकार के होने से अनेक प्रकार के पापों के निवर्तक के विधान को लक्ष्य में रख कर ही सूत्रकार ने "सर्वापेक्षा च" "यज्ञादि श्रुतेरश्ववत्" ऐसा कहा है। तण्डुलनिष्पत्ति के विषय में अवघात के समान नियमजन्य अदृष्ट से निरपेक्ष साक्षात्कार होने पर भी श्रवण के फलान्तर (=अविद्यानिवृत्ति) के लिये नियमजन्यअदृष्ट संभव है। प्राप्त पाप का क्षय "धर्म के द्वारा पाप को हटाता है" इस श्रुति से अदृष्ट के ही द्वारा साध्य है।

"दुश्चरित से अविरत, अशान्त, असमाहित और अशान्तमानस व्यक्ति प्रज्ञान होने पर भी इस (आत्मस्वरूप) को नहीं प्राप्त करता।"

इस श्रुति से (यह ज्ञात है कि) प्राप्तदुरित भी विद्या के उदय का विघातक है। इसलिये अदृष्ट के द्वारा भी श्रवणादि का उपकारकत्व विरोधित नहीं होता। और नित्य

[१] कठ १।२।२३। [२] (ख) पुरुषार्थं। [३] छा० ८।१।१।

श्रुत्युक्तमन्वेष्टव्यत्वं हित्वा "यावान्वाऽयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः" इत्याकाशस्योत्तरत्र प्रतिपादनानुपपत्त्या स एव दहराकाशः सहान्तःसमाहितेन पृथिव्यादिना अन्वेष्टव्यत्वेन स्वीकृतः; सुखादिवन्नियोगस्यार्थमानत्वादर्शनाच्च। न च फलवत्त्वे नित्यकाम्यविभागविलोपः; यत्र नित्यं जीवनादिनिमित्तं प्रवृत्तं

भावदीपिका

सत्याम्। आकाशशब्देन ब्रह्मपरिग्रहे तदुपपत्तये औपाधिकदहरत्वेन वास्तवदहरत्वभ्रमव्यावृत्त्यर्थाकाशोपमानसम्भवादित्यादिहेतुभ्यो निराकृत्य ब्रह्मपरत्वे स्थिते तस्यैव प्रकरणिनः प्रधानस्य उपासनेति निर्णीतम्। पुरुषार्थलक्षणशून्यत्वाच्च न नियोगस्य साक्षात् पुरुषार्थत्वम्। न च तत्साधनत्वेन[1] नित्यत्वव्याघातात्—इत्याह—सुखादिवदिति।

नित्यानां फलवत्त्वे इष्टहानिमाशङ्क्याह—न चेति। फलवदर्थं नित्यवाक्यानां भवन्मते प्रामाण्यानिरूपणादध्ययनविधिपरिग्रहोऽपि दुर्घटः। "एतावान्वै कामः" इति नित्यानामपि कामसाधनत्वसंग्रहाम्नायश्चानुपपन्न इत्यतः फलं तावन्नित्यानां वाच्यम्। न च प्रत्यवायहानिफलत्वेन अध्ययनविधिना ग्रहो युक्तः। अकरणात्=करणात्यन्ताभावात् करणस्य प्रागभावगमकस्याभावात् भावरूपप्रत्यवायकार्यानुपपत्तेः तद्धानिफलत्वस्य नित्यानामयोगात्। तच्च "कर्मणा पितृलोकः" सामान्येन श्रुतमपि "सर्वस्मै वा एतद्यज्ञाय गृह्यते यत् ध्रुवायामाज्यम्" इति सर्वार्थमपि ध्रौवाज्यमाग्नेयादीनां पुरोडाशादिद्रव्यश्रवणात् अश्रुतद्रव्यकोपांशुयाजार्थमिवाश्रुतफलकनित्यकर्मणा व्यवस्थाप्यमानं पितृलोकरूपं व्यवतिष्ठते। यथा च काम्यानां फलवत्त्वेऽपि[2] फलस्य दृष्टत्वादृष्टत्वाभ्यां दृष्टार्थत्वादृष्टार्थत्वविभागः, तथा सर्वकर्मणां फलवत्त्वेऽपि निमित्तविभागाद्विभागः। इष्टश्च प्रयोगैक्येऽपि निमित्तभेदात् दर्शादौ नित्यकाम्य-

ज्ञानवती

आदि कर्म भी (यदि) सर्वथा विफल रहेंगे और उनके न करने मे दण्ड होगा; तो वेद का प्रयोजनपर्यन्त तात्पर्य कैसे निर्णीत होगा? (यदि यह कहिये कि नियोगसिद्धि ही वेद का प्रयोजन है क्योंकि प्रभाकर गुरु ऐसा कहते है) तो "नियोगसिद्धि के अतिरिक्त सभी विधियों का दूसरा क्या प्रयोजन है?" यह प्रभाकर की उक्ति वेदवाक्य नहीं है जिससे नित्य आदि (कर्मों) की सिद्धि ही पुरुषार्थ हो जायेगी।

वेद का वचन भी जो ठीक होता है वही लिया जाता है। जैसे—"जो इस ब्रह्मपुर (शरीर) में छोटा सा कमलगृह है, उसमें छोटा आकाश है, उसके भीतर जो है उसे खोजना चाहिये" यहां पर दहराकाश के भीतर समाहित "इसके भीतर ही द्यावापृथिवी दोनो समाहित हैं" इस श्रुति में उक्त का श्रुति में उक्त अन्वेष्टव्यत्व को छोड़कर "जितना यह आकाश है उतना ही यह हृदय का अन्तर्वर्ती आकाश है" इस आकाश का आगे चलकर प्रतिपादन अनुपपन्न होने से वही दहराकाश (परमात्मा) साथ में भीतर समाहित पृथिव्यादि के द्वारा अन्वेष्टव्य के रूप में स्वीकृत है। क्योंकि सुख आदि के समान नियोग (अर्थात आदेश) को प्रार्थ्यमान नहीं देखा गया। (नित्यविधि के) फलवान् होने पर नित्य एवं काम्य के विभाग

[1] (क) त्वेन। [2] (ख) लत्वे।

तन्नित्यम्; यत्र चानित्यं गृहदाहादि, तन्नैमित्तिकम्। यद्वा यत्र फलं न श्रूयते, दण्डश्चाकरणे, तत् फलवदपि नित्यादि; तद्विपरीतं काम्यमिति विभागसम्भवात्। "यद्रात्र्या पापमकार्षम्"[१] इत्यादौ यत्र स्वशब्देनैव दुरितक्षपणे विनियोगः तत्र तत्फलत्वेऽपि; यत्र केवलं विधानं तत्र ईश्वरार्पणेन विशिष्टविद्याफलत्वोपपत्तेः; दुरतक्षयस्य च करणमात्रेण सिद्धेर्विशिष्टकरणस्य फलान्तरस्यावश्यम्भावित्वात् ससाधनविद्योदयप्रतिबन्धकदुरितक्षयफलत्वेऽपि नास्माकं क्षतिः। अस्तु नित्यानां फलान्तराभावः,

"नित्यनैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्।
ज्ञानञ्च विमलीकुर्वन् अभ्यासेन तु पाचयेत्॥" इति स्मृतेश्च।

आख्यायिकायामपि ज्ञानवत्तदङ्गस्यापि विध्यपह्नवायोगाच्च। अगतिका गति-

भावदीपिका

विभागः। गृहदाहादीति—"यस्याहिताग्नेरग्निर्गृहान् दहेत् सोऽग्नये क्षामवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्", "यस्योभयं हविरार्तिमार्च्छेत् स ऐन्द्रं पञ्चशरावमोदनं निर्वपेत्" इति च श्रुतेरित्यवगम्यते उभयं दधिपयः। ननु दुरितप्रहाणेऽपि विनियोगदर्शनात् कथमेवमपि ज्ञाने विनियोगः?—तत्राह—यद्रात्र्येति। किञ्च दुरितक्षपणे विनियुक्तानामपि साधनभूयस्त्वात् फलभूयस्त्वमिति विशिष्टकल्पाद्युक्तप्रकारेण सन्ध्याद्यनुष्ठानस्याधिकमपि फलं वाच्यम्; ततश्च तस्य ज्ञानोपकारकत्वमपि सम्भवति—इत्याह—दुरितेति। अथाधिकमपि फलं दुरितविशेषक्षय एव, तथापि "नाविरतो दुश्चरितात्" इति सामान्येन दुरितस्य विद्याविरोधित्वावगमादस्मदिष्टसिद्धिः?—इत्याह—ससाधनेति।

एवं ब्रह्ममीमांसाप्रविष्टस्याप्यदृष्टोपयोगे सिद्धे ब्रह्मचर्यादिरदृष्टोपयोगित्ववर्णकाख्यानस्यापि यथार्थत्वं सिद्धम्—इत्याह—आख्यायिकायामपीति। विधिसम्भवे तत्प्रत्ययस्या-

ज्ञानवती

का लोप हो जायगा, ऐसा नहीं है। जहां पर नित्य अर्थात् जीवनादि प्रवृत्ति के कारण हैं वह नित्य है और जहाँ अनित्य गृहदाह आदि कारण हैं वह नैमित्तिक है। अथवा जहाँ फल श्रुत न हो और (उस कम के) न करने पर दण्ड हो वह फलवत् होते हुए भी नित्य आदि हैं और उससे विपरीत काम्य है ऐसा विभाग सम्भव है। "मैंने रात में जो पाप किया" इत्यादि में जहाँ पर अपने शब्द से ही पाप के नाश में विनियोग है वहां वह फल (=पापक्षय) होने पर भी (विनियोग है) जहाँ केवल विधान है वहां ईश्वरार्पण के द्वारा विशिष्टविद्या (अर्थात् आत्मविद्या) फल उपपन्न हो जाती है। पापक्षय के करणमात्र से सिद्ध होने से विशिष्टकरण (अर्थात् ईश्वरार्पणबुद्धया करने) से फलान्त के अवश्यंभावी होने से साधन के सहित विद्या के उदय के प्रतिवन्धक पापक्षय का फल होने पर भी हमारी क्षति नहीं है।

नित्यों का फलान्तर न हो (अर्थात् दुरितक्षय ही फल हो) क्योंकि स्मृति है—

"नित्य एवं नैमित्तिकों से ही पापक्षय को करते हुए और अभ्यास से ज्ञान को विमल करते हुए पाचन करना चाहिये"।

आख्यायिका (अर्थात् याज्ञवल्क्यमैत्रेयी संवाद) में भी ज्ञान के समान उसके अङ्ग की

[१] तै० आ० १०।३२।

श्चार्हार्थता। अवान्तरवाक्यस्य महावाक्यान्वयायोग्यत्वे प्रकरणादुद्धारेण विधायकत्वदर्शनाच्च। "यथा ह्याचाराधिकरणे परक्रतुप्रकरणाम्नाताः केनचिन्निमित्तेनोत्कृष्यमाणाः पुरुषधर्मतां भजन्ते, यथा—"मलवद्वाससा न संवदेत्", "तस्मान्न ब्राह्मणायापगुरेत्" इत्येवमादयः"[1] इत्याचार्यैरभिधानात्, पदैकवाक्यत्वे हि वाक्यभेदो दोषाय। यथा "ब्राह्मणो न हन्तव्यः" इत्यत्र ब्राह्मणो हन्तव्य इति वाक्यभेदे, यथा

भावदीपिका

र्थित्वाङ्गीकारे चातिप्रसङ्गः स्यात्—इत्यभिप्रेत्याह—अगतिकेति। "द्वादशाहीनस्य" इति वाक्यस्य प्रकरणादुद्धृतस्य द्वादशाहेऽहीनशब्दवाच्ये[2] "द्वादशोपसदः" इति पृथक्विधिसद्भावादनुपयोगेन साह्नस्तुत्यर्थतया गतिः कृता; अत्र तूक्तन्यायेनोद्धृतस्य विधिसम्भवादुद्धारेऽपि यज्ञादिवाक्यस्येव न दोषः स्वयूथ्येनापादयितुं शक्य इति भावः। न चैवमिन्द्रप्रतर्दनसम्वादप्रकरणस्य "मामेव विजानीहि" इत्युपक्रम्य "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व" इत्युक्त्वा अन्ते "स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः" इत्युपसंहारात्, "त्वमेव वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याणां हिततमं मन्यसे" इति परमपुरुषार्थप्रार्थनायां "मामेव विजानीहि" इति शास्त्रदृष्ट्या स्वस्य ब्रह्मत्वेनोपदिष्टज्ञानस्य "स यो मां वेद न ह वै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते, न स्तेयेन, न भ्रूणहत्यया" इति हिंस्यतमफलत्वेन श्रुतेश्च, "न साधुना कर्मणा भूयान् भवति नो एवासाधुना कनीयान्। एष ह्येव साधु कर्म कारयति, एष उ एवासाधु कर्म कारयति, एष लोकाधिपतिरेष लोकेशः" इति लिङ्गाच्च, परमात्मपरत्वेन व्यवस्थितस्य मध्ये श्रुतस्य "न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्" इति जीवोपासनस्यावान्तरवाक्यभेदेन विधिरापद्येत। स च सूत्रकारादिभिर्निराकृत इति वचनीयम्, हिततममर्थयमानं प्रत्यतथाभूतजीवोपासनोपदेशासम्भवाद्; वाक्यार्थज्ञानस्योक्तफलस्याङ्गत्वेन त्वंपदार्थावधारणस्यायमुपदेश इत्यवगमात्; 'विद्यया देवलोकः' इति प्राकरणिकफलत्यागेन विद्यामात्रसाधारणफलकल्पने प्रयाजादेरपि विश्वजिदादिवाक्यवत् स्वातन्त्र्येण स्वर्गफलकल्पनाप्रसङ्गात्। अत्र त्वमृतत्वसाधनप्रार्थनायां "आत्मा द्रष्टव्यः" इति तत्साधनत्वेनोपदिष्टज्ञानाङ्गभूतश्रवणविधाने तत्फललाभान्न दोषगन्धोऽपि।

भट्टपादसम्मत्या एतद् द्रढयति—अवान्तरेति। न चैतादृशो वाक्यभेदो दोषः—इत्याह—पदेति। केवलस्य नञोऽर्थानिरूपणादिना अत्र वाक्यभेदो दोष इत्यर्थः। पूर्वोक्तमेव

ज्ञानवती

भी विधि नहीं छिपाई गई है। और अर्हार्थता अगतिकगति है। अवान्तरवाक्य का महावाक्य के साथ अन्वय युक्त न होने पर प्रकरण से उद्धार करके विधायकत्व देखा जाता है। आचार्य ने भी कहा है—जैसे आचाराधिकरण में, दूसरे यज्ञ के प्रकरण में कहे गये (अवान्तरवाक्य) किसी कारणवश उत्कृष्यमाण होकर पुरुष के धर्म हो जाते हैं—जैसे "मलवद्वासा (=रजस्वला स्त्री) से बात नहीं करनी चाहिये," "इसलिये ब्राह्मण के ऊपर हाथ नहीं उठाना चाहिये" इत्यादि। ऐसा इसलिये है कि पदैकवाक्यता में वाक्यभेद दोष के

---

१ (ख) इत्येवमादाय। २ (ख) साहीन।

च क्रियाप्रकरणसिद्धं तदुपकार्युपदिश्यते तथा सिद्धप्रकरणे तज्ज्ञानोपकार्यङ्गविधानम्, श्रुत्यर्थस्यापि आत्मैक्यस्य अनुभवपर्यन्तबोधनिर्वाह्यत्वात्। तदाहुः--

"आपाततो यदिदमद्वयवादिनीना-
मद्वैतमाकलितमर्थतया श्रुतीनाम्।
तत् स्वप्रकाशपरमार्थचिदेव भूत्वा
निष्पीडितादहह निर्वहते विचारात्॥" इति।[1]

न च "आत्मा श्रोतव्यः" इत्यत्र विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गो दोषः। यथा वा "स्वाराज्यकामो वाजपेयेन यजेत" इत्येतत्प्रतीतयागस्य वाजपेयगुणयोगविधावुद्देश्यत्वानुवाद्यत्वप्रधानत्वानि, फलयोगविधौ च उपादेयत्वविधेयत्वशेषत्वानीति विरुद्धत्रिकद्वयप्रसङ्गो दोषः। साक्षात्कारफलाय श्रवणविधौ स्वप्रधानसाक्षात्कारविशेषणस्य

भावदीपिका

दृष्टान्तभेदेन सम्भावयति—यथा चेति। सिद्धम्=द्रव्यादि; न खलु "वैश्वदेव्यामिक्षा," "ऐन्द्रं दधि" इत्यादिनोपदिश्यमानं द्रव्यादि क्रिया भवतीति भावः। अशेषानर्थहेत्वविद्याप्रहाणस्य श्रवणादिसाध्यसाक्षात्कारसाध्यत्वादुपकारकत्वम्—इत्याह—श्रुत्यर्थस्येति। आवर्त्तितविचारोत्थसाक्षात्कारसाध्यमविद्याप्रहाणमित्येतत् खण्डनकारैरप्युक्तम्—इत्याह तदाहुरिति। अहहेति दौर्लभ्यात् आश्चर्यार्थो निपातः। अज्ञानप्रहाणस्य ज्ञातपरमार्थचैतन्यातिरेकाभावाच्चिदेव भूत्वेत्युक्तम्।

विधौ संभावितं दोषान्तरमुद्धरति—न चेति। श्रवणादेः साक्षात्कारफलस्य शब्दैकगम्यत्वाभावादवघातादिवन्नियमादृष्टार्थत्वेन विधिपर्यवसानादावृत्तिगुणस्यापि फलाक्षिप्तत्वान्न गुणफलविधिप्रयुक्तोऽयं दोष इत्याशयः। इदानीमुक्तदोषेण ज्ञानविधिं निराकरोति स्वपक्षे तदभावमनुवदन्—साक्षात्कारेत्यादिना। मोक्षकामस्य ज्ञानविधानान्मोक्षगुणभूत-

ज्ञानवती

लिये होता है; जैसे "ब्राह्मण का घात नहीं करना चाहिए" यहां पर ब्राह्मण का घात करना चाहिए ऐसा वाक्यभेद होने पर। और जैसे क्रिया के प्रकरण में सिद्ध (पदार्थ) उस (क्रिया) का उपकारी कहा जाता है उसी प्रकार सिद्ध (अर्थात् ज्ञान) के प्रकरण में उस ज्ञान के उपकारी अङ्ग का भी विधान होता है क्योंकि श्रुति का अर्थ, आत्मैक्य का अनुभवपर्यन्त बोध निर्वाह करना चाहिये, है। यही (बात) कहते हैं—

"खेद है कि अद्वैतवादिनी श्रुतियों के अर्थ के रूप में जो यह अद्वैततत्त्व विचार के पहले समझा जाता है वही विचार के निष्पीडित होने के बाद भी स्वप्रकाश परमार्थ चैतन्य रूप होकर निर्वाहित होता है"।

(पू) "आत्मा का श्रवण करना चाहिये यहां पर विरुद्धत्रिकद्वय का दोष होने लगेगा। अथवा जैसे "स्वर्ग का राज्य चाहने वाला वाजपेय याग करे" इस वाक्य से प्रतीत याग का, (स्वर्ग को उद्देश्य करके विधान तथा) याग को उद्देश्य करसे वाजपेय गुण का विधान करने

[1] खं० खं० खा० १.२६।

ब्रह्मणोऽपि स्वप्रधानत्वाद् गुणत्वप्रधानत्वविरुद्धद्वययोगाभावात्। ज्ञानविधौ तु स्युरेव ब्रह्मणः प्रमेयत्वेन प्रधानत्वापूर्वत्वप्रतिपाद्यत्वानि, तदुद्देशेन ज्ञानविधौ तस्य गुणत्वसिद्धत्वानुवाद्यत्वानि प्रसज्येरन्, तद्वाक्येनैवावगतस्योद्देश्यत्वात्। अवान्तरवाक्यविज्ञात आत्मोद्देश्यश्चेन्? तर्हि ज्ञातत्वादेव[1] व्यर्थो विधिः। तस्यापि च विधिशेषत्वेनार्थवादत्वान्न प्रमापकत्वम्।

[योषा[2]]ऽग्न्यादिवत् समारोपितेनाप्यद्वयानन्दादिरूपेण ज्ञानविधानसंभवान्नात्मज्ञाननियोगान्यथानुपपत्त्यापि चात्मतत्त्वप्रमा। ततो न तस्योद्देश्यत्वम्।

भावदीपिका

ज्ञानविशेषणत्वाद् ब्रह्मणो गुणत्वम्। 'आत्मा ज्ञातव्यः' इति विधिवाक्येनैवावगत आत्मोद्देश्यो वाक्यान्तरावगतो[3] वा? आद्ये दोषमुक्त्वाऽन्त्यमुत्थापयति—अवान्तरेति। प्रथमज्ञानवत् साक्षात्कारस्यान्तरेणापि विधिं सम्भवान्न विध्यवकाशः—इत्याह—तर्हीति। सर्वेषां वेदान्तानां विधिशेषत्वे च नावान्तरवाक्यादपि तत्सिद्धिः—इत्याह—तस्यापीति। देवताविग्रहादिवत् प्रमाकरणत्वे च पूर्वोक्तो दोषः। अतदात्मनि यद्दृष्टिर्विधीयते तस्य सत्त्वं[4] विद्यत एवाग्न्यादेः[5]। एवं[6] ब्रह्मदृष्टिविधानात् तस्यापि सत्त्वं यद्यपि स्यात्, तथापि जीवब्रह्मणोर्नैक्यप्रमा स्यात्; ब्रह्मणश्चाग्न्यादिवत् प्रमाणान्तरगम्यत्वं स्यात्।

यथा ब्रह्मसाक्षात्काराय यज्ञादयः श्रवणादयश्च विधीयन्ते वेदान्तैरेव ब्रह्म च प्रमीयतेऽन्यथा तद्विशिष्टसाक्षात्काराप्रतिपत्तेः, एवं[7] ज्ञानविधिब्रह्मणोरपि वेदान्तैः प्रमेति चेत्? न; ज्ञान इव मोक्षे वैधादृष्टोपयोगानिरूपणादिति भावेन विधेयज्ञानस्यावश्यं सदर्थत्वाभावादप्येवम्—इत्याह—योषेति। "आत्मा ज्ञातव्यः" इति वाक्यानुसारेण विधिं निराकृत्य वाक्यान्त-

ज्ञानवती

पर उद्देश्यत्व, अनुवाद्यत्व एवं प्रधानत्व तथा उपादेयत्व, विधेयत्व एवं गुणत्व यह विरुद्धत्रिकद्वय दोष आ जाता है, (उसी प्रकार आ जायगा)।

(उ) साक्षात्कार फल के लिये श्रवणविधि के होने पर स्वप्रधान साक्षात्कार के विशेषण ब्रह्म के भी स्वप्रधान होने से गुणत्व एवं प्रधानत्व ऐसा विरुद्धद्वययोग नहीं है। ज्ञान का विधान होने पर तो ब्रह्म के प्रमेय होने से प्रधानत्व, अपूर्वत्व एवं प्रतिपाद्यत्व हो जाते। उसको (=आत्मा को) उद्देश करके ज्ञान का विधान होने पर उसके गुणत्व, सिद्धत्व अनुवाद्यत्व प्राप्त हो जाते क्योंकि उसी (=आत्मावाऽरे—) वाक्य से जो अवगत है वही उद्देश्य है। यदि अवान्तरवाक्य से विज्ञात आत्मा उद्देश्य है तव तो ज्ञान होने के नाते विधि ही व्यर्थ है। वह भीं विधि का शेष होने से अर्थवाद होने के कारण प्रमाण नहीं है।

स्त्री में अग्नि के समान समारोपित भी अद्वयानन्द आदि रूप से ज्ञान का विधान संभव होने से आत्म ज्ञान के नियोग की अन्यथा अनुपपत्ति होने से भी आत्मतत्त्व की प्रमा नहीं होती। इसलिये वह (आत्मा) उद्देश्य नहीं है। "विशेष रूप से जानकर प्रज्ञा करनी

---

[1] (ख) ज्ञानत्वादेव। [2] (क) योप्यग्न्यादिवत्। [3] (ख) गतौ।
[4] (क) असत्त्वं। [5] (ख) अस्त्यादे। [6] (ख) रेव। [7] (ख) रेव।

"विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत" इत्यत्रापि विज्ञानप्रज्ञयोरविशेषे न विध्यवकाशः। विशेषश्चेत् ? तथापि विधिर्दुःशकः[१]; शब्दस्यैवापरोक्षज्ञानजनकत्वात्। तत्र यज्ञादीनां कल्मषक्षयः शमादीनाञ्च विपरीतप्रवृत्तिदोषनिरोधः साध्यः; मननस्य च प्रमेयादिसम्भावना गुणः; निदिध्यासनस्य च सूक्ष्मतरब्रह्मात्मत्वविषयैकाग्रता चित्तस्य इति तदवधानतासम्पत्तौ शब्दः साक्षात्कारज्ञानकारणं चक्षुरिव मुमुक्षूणां सम्पद्यते।

"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इति 'तु' शब्देन शाब्दीं बुद्धिं व्यावर्त्त्य अग्रभवप्रत्यक्षबुद्धिविषयता श्रुत्यैवोक्ता? इत्यपि न मन्तव्यम्; तत्रैव 'सूक्ष्मया' इति केवलविषयतया

भावदीपिका

रानुसारेणापि निराचष्टे—विज्ञायेति। प्रज्ञा-शब्देन परोक्षमेवापातज्ञानातिरिक्तं[२] निर्णयज्ञानं विवक्षितं साक्षात्कारो वा ? आद्यमपोद्यान्त्यमपवदति—विशेषश्चेदिति। श्रवणादि-सहकृतशब्दस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वस्य अन्तरेणापि विधिं सम्भवादित्यर्थः। एतदाविष्करोति—तत्रेति। अत्र श्रुतिविरोधं परिहरति—दृश्यत इति। "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते। दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥"—इत्यत्र अग्र्य-शब्देन अग्रभवा प्रत्यक्षकरणजन्या बुद्धिश्चेदभिधीयते तदा गूढो न प्रकाशत इति च दुर्घटमापद्येत। न खलु प्रत्यक्षग्राह्ये गोघटादौ तद्व्यपदेशो दृष्टपूर्वोऽतो न प्रत्यक्षव्यपदेशोऽयम्। बुद्ध्यन्तरं चात्र शब्दजन्यमेव नान्यत्—तदाह—तत्रैवेति। "एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश। प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे[३] विभवत्येष आत्मा॥"—इत्यत्रापि विशुद्धिनिर्देशाच्चेतसः शुद्धत्वमेव प्राधान्येन ज्ञानोत्पत्तौ सहकारि गम्यते। करणत्वं तु शब्दस्यैव। मुण्डक एव "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः···परिमुच्यन्ति" इति श्रवणाच्च; तस्यैव च फलश्रवणे करणान्तरकल्पना निर्मूला। न च "मनसैवेदमाप्तव्यम्" इति मनसोऽपि फलश्रुतिस्तुल्येति वाच्यम्; वेदजज्ञानवत् तज्जन्यज्ञानस्य फलाश्रवणात्। अतो—"मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः॥"—इति

ज्ञानवती

चाहिये" वहां पर भी विज्ञान एवं प्रज्ञा के एक होने पर विधि का अवकाश नहीं है। यदि यह कहिये कि विशेष है ? तो भी विधि असम्भव है, क्योंकि शब्द ही अपरोक्ष ज्ञान का जनक होताहै। यज्ञ आदि का साध्य पापक्षय, तथा शम (अर्थात् अन्तःकरणनिग्रह) आदि का विपरीत प्रवृत्ति रूप दोष का निरोध है, प्रमेय आदि की सम्भावना मनन का गुण है और निदिध्यासन का चित्त की सूक्ष्मतर ब्रह्म एवं आत्मत्वविषयक एकाग्रता (गुण है)। इस प्रकार उसकी अवधानता होने पर चक्षु के समान मुमुक्षुओं के लिये शब्द ही साक्षात्ज्ञान का कारण सम्पन्न होता है।

"सूक्ष्मदर्शी लोगों के द्वारा वह सूक्ष्म एवं अग्र्य बुद्धि से देखा जाता है" यहां पर 'तु' शब्द से शाब्दीबुद्धि को व्यावृत्त करके अग्रभव अर्थात् प्रत्यक्ष रूप बुद्धि की विषयता श्रुति से ही कही गई है, ऐसा भी नहीं मानना चाहिये; क्योंकि वहीं पर 'सूक्ष्मया' इससे केवल विषय होने

---

१ (ख) विधिः सुशकः। २ (ख) ताज्ञा। ३ (ख) विशुद्धो।

श्रेष्ठलाक्षणिकबुद्धेरध्यवसायात्। शब्दाद्विना च परश्शतान्यपि प्रसङ्ख्यानान्यभ्यस्य नैकाग्र्यमेव चित्तस्य लभते। तत्र पुनः शब्दापेक्षा स्वानुभवारूढा। (यदाहुः)—

"अभ्यासोपचयाद् बुद्धेर्यत्स्यादैकाग्र्यमेव तत्।" इति। न तु[1]

"शब्दयुक्तिप्रसङ्ख्यानैरात्मना च मुमुक्षवः।
पश्यन्ति मुक्तमात्मानं प्रमाणेन चतुष्पदा॥"

इति शब्दोऽप्यभ्यनुज्ञायते। नहि स एवेतरोपकृतः साक्षात्कारकरणम्; तस्यासत्यप्यर्थे ज्ञानहेतुत्वस्य क्लृप्तत्वात्।

[मनसो ब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वम्—]

अथ मनस एव सोपाधिकात्मनि अहंप्रत्ययरूपसाक्षात्कारकरणतया क्लृप्तशक्तेः

भावदीपिका

निरुक्त्यनुसारेण मनसोऽत्र करणत्वं मन्तव्यम्।

पक्षान्तरं निरस्यति "ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः" इति श्रुतिविरोधव्युदासाय—शब्दादिति। परश्शतानि=शताधिकानि; ध्यायमानः— ज्ञानस्य=अन्तःकरणस्य; प्रसादेन=स्थैर्येण; न कर्मणा; विशुद्धसत्त्वगुणः पश्यतीति प्रतीतेः; "ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व" इत्युक्त्वा ध्यायमानत्वोक्तेर्ध्यानस्य प्रसादहेतुत्वावगमात्; शब्दकरणत्वानिवारणादिति भावः। चतुष्पात्-प्रमाणवादमुत्थाप्यापाकरोति—नत्विति। चतुर्णां प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानामिव न्यायमते पृथगेषां प्रमाणत्वे शब्दस्य साक्षात् प्रमाकरणत्वं दुर्वारम्[2]। धर्मादौ च प्रसंख्यानाद्यनपेक्षस्य प्रमाकरणत्वस्वीकारात्, अत्रापि तस्य परोक्षज्ञानवत् अन्यकरणानपेक्षस्य करणत्वं युक्तमित्याशयः।

[मनसो ब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वम्—]

अधुना पूर्वोक्तं मनष्करणवादं सोपस्कारमुत्थापयति—अथ मनस एवेति। केवलशब्दस्य परोक्षज्ञानजनकत्वेऽपि सहकार्यन्तरविशिष्टस्यापरोक्षज्ञानजनकत्वं भविष्यति

ज्ञानवती

से श्रेष्ठलाक्षणिकबुद्धि का निश्चय होता है। और कोई भी शब्द के बिना सैकड़ों चिन्तन का अभ्यास करके (भी) चित्त की एकाग्रता नहीं प्राप्त करता। इसके अतिरिक्त उस विषय में शब्द की अपेक्षा स्वानुभवसिद्ध है। जैसा कि कहा है—

"अभ्यास के उपचय से बुद्धि का जो (स्वरूप) होता है वही ऐकाग्र्य है"। न कि "शब्द, युक्ति, प्रसंख्यान एवं मनन इन चार प्रमाणों के द्वारा मुमुक्ष लोग आत्मा को मुक्त देखते हैं"

इससे शब्द भी (साक्षात्कार का कारण) ज्ञात होता है। अन्य से उपस्कृत ही वह साक्षात्कार का कारण है ऐसा नहीं है; क्योंकि वह (शब्द) तो अवर्त्तमान अर्थ के भी ज्ञान का हेतु कहलाता है।

[मन ब्रह्मसाक्षात्कार का कारण है—]

(पू) सोपाधिक आत्मा (अतःकरणावच्छिन्न चैतन्य) में अहंप्रत्यय के रूप में

---

[1] (ग घ) ननु। [2] (क) दुर्वाह्य।

शास्त्रयुक्त्यभ्यासवासितस्य जीवयाथात्म्यब्रह्मसाक्षात्कारकरणत्वम्, प्रत्यक्षस्यैव साक्षात्कारकरणत्वात्; संस्कारसहकृतस्यापि चक्षुषः साक्षात्कार एव प्रत्यभिज्ञाफलम्; योगिमनसश्च धर्मविशेषोपकृतस्य सम्बन्धमन्तरेणापि ग्राहकस्य सर्वार्थसाक्षात्कार एव कार्यम्; एवं "अहं ब्रह्मास्मि" इत्यादिशब्दस्य पदार्थविवेकादिसहकृतस्यापि परोक्षज्ञानमेव साध्यं युक्तम्; करणप्रयुक्त एव ज्ञानकार्यभेदः। सहकारिभेदमात्रेण ज्ञानजातिभेदे संस्कारसहकारिस्थले स्मृतिजातीयमेव ज्ञानमुत्पद्येत; इष्यते च गान्धर्वरत्नपरीक्षादिशास्त्राभ्याससचिवेन्द्रियस्य षड्जादिविविक्तरूपसाक्षात्कारकरणत्वम्; न चैतावता गान्धर्वादिशास्त्रस्याप्रामाण्यमिष्टम्; एवं ब्रह्मशास्त्रस्य परोक्षज्ञानसंस्कारद्वारेणान्तःकरणोपकारिणः प्रामाण्यमेष्टव्यम्; "अहमेवेदं सर्वोऽस्मीति

भावदीपिका

सामग्र्यन्तरत्वात्, संस्कारस्यैव परोक्षस्मृतिज्ञानजनकस्येन्द्रियसहकृतस्यापरोक्षप्रत्यभिज्ञाजनकत्वम्—इत्याशङ्क्य संस्कारस्य प्रत्यभिज्ञाने करणत्वासम्प्रतिपत्तेरिन्द्रियस्यैव करणत्वं तत्र; संस्कारस्य च व्याप्तिसंस्कारस्य लिङ्गसहकारित्ववदिन्द्रियसहकारित्वमेव; ततः सामग्र्यन्तरत्वेऽपि करणानुरूपमेव ज्ञानम्। विषयानुरूपत्वे तत्तायाः[१] प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वं सोऽयमित्यत्र न स्यात्, व्यवधानात्। एवमव्यवहितस्यापि ब्रह्मणः शब्दात् परोक्षतेति युक्तम्—इत्याह—संस्कारेति।

ननु यथा योगिमनसः सहकारिविशेषवशात् संयुक्तग्राहकत्वस्वभावत्यागः, तथा[२] शब्दस्यात्र परोक्षज्ञानजनकत्वत्यागः; तद्वदेव च न प्रमाणान्तरान्तर्भावप्रसङ्ग इत्याशङ्क्याह[३]—योगीति। विवक्षितस्वभावत्यागस्योदाहरणाभावान्न तवेष्टसिद्धिरिति भावः। यतो विपक्षबाधोऽस्ति ततोऽप्येतदेव युक्तम्—इत्याह—करणेति। एवं परपक्षप्रतिक्षेपेण स्वपक्षं प्रसाध्य स्वातन्त्र्येणापि साधयति—इष्यते चेति। तर्हि शास्त्रस्याप्रामाण्यम्?—इत्याशङ्क्याह—न चेति। परोक्षज्ञानहेतुत्वेन प्रामाण्यसम्भवादिति भावः। मनोजन्यज्ञानस्य किंपुनर्न्यायेन प्रामाण्यं

ज्ञानवती

साक्षात्कार के करण के रूप में जिसकी शक्ति मानी जाती है, ऐसा मन ही शास्त्र एवं युक्ति के अभ्यास से वासित होकर जीव के याथात्म्य ब्रह्म के साक्षात्कार का कारण है। प्रत्यक्ष के ही साक्षात्कार का करण होने से संस्कारसहकृत भी चक्षु का साक्षात्कार ही प्रत्यभिज्ञारूप फल है। धर्मविशेष से उपकृत योगी के मन का, विना सम्बन्ध के भी ग्राहक होने से समस्त पदार्थों का साक्षात्कार ही कार्य है। इसी प्रकार "मैं ब्रह्म हूँ" इत्यादि शब्द का, जो कि पदार्थविवेक आदि से सहकृत है, परोक्षज्ञान ही साध्य मानना ठीक है। करण के चलते ही ज्ञान के कार्य में भेद होता है। यदि सहकारी के भेद से ज्ञानजाति में भेद मानें तो संस्कारसहकारीस्थल (प्रत्यभिज्ञा) में स्मृतिजातीय ही ज्ञान उत्पन्न होने लगेगा। और वांछित होता है कि गान्धर्वशास्त्र तथा रत्नपरीक्षा आदि के शास्त्र के अभ्यास से युक्त इन्द्रिय षड्ज आदि के विविक्त रूप के साक्षात्कार का कारण हो। इससे

१ (ख) तत्तायाम्। २ (ख) कत्वे। ३ (ख) इत्याह।

मन्यते सोऽस्य परमो लोकः"[१] इति स्वप्नावस्थायां ब्रह्मात्मज्ञानस्येश्वरमायावृत्ति-ज्ञानस्य च प्रामाण्यम्; दृष्टादिविषयस्य बाधाभावादेव प्रामाण्यस्य[२] च करण-विशेषजन्यत्वेन स्वीकाराच्च ?

अत्र वदामः—यद्यपि परोक्षतत्ताया अपरोक्षप्रतिभासवदपरोक्षस्यापि ब्रह्मणः शाब्दः परोक्षप्रतिभासो न विरुध्यते, तथापि यथा 'चाक्षुषं रूपम्' इत्युक्ते न रूपे करणान्तरसञ्चारः, एवम् "औपनिषदः पुरुषः" इत्युक्तेऽपि न पुरुषे करणान्तरसञ्चारो युक्तः।

ननु चक्षुर्व्यापारमन्तरेण न रूपं केनापि रूपेण स्फुरतीति युक्तः तत्र करणान्तरा-सञ्चारः, पुरुषः पुनरुपनिषद्व्यापारमन्तरेणापि सोपाधिकरूपेण स्फुरत्येव मनो-व्यापारेण इति वैषम्यम् ? नैवम्; रूपस्य करणान्तरसाध्यसाक्षात्कारप्रमाऽगोचरत्ववत्[३] पुरुषस्यापि करणान्तरसाध्यसाक्षात्कारप्रमाऽगोचरत्वेन साम्यात्[४]। श्रोत्रादेस्तु स्वरादि-सामान्यप्रमाजनकत्वे क्लृप्तेः शास्त्राभ्यासवासितस्य तद्विशेषप्रमाजनकत्वं युक्तम्; मनसः पुनः पुरुषस्य नैवं वास्तवरूपप्रमाहेतुत्वम्, केवलमातृत्वादिभ्रान्तिकरणस्य

भावदीपिका

सम्पादयति—अहमेवेति। दूषयति—अत्रेति। वैशम्यमाशङ्क्य विवक्षितांशसाम्येन परि-हरति—नन्विति। पराभिप्रेतदृष्टान्तविघटनेनोक्तं द्रढयति—श्रोत्रादेस्त्विति। ननु शुक्त्यादि-विशेषप्रमाकरणस्यैव नयनादेः तत्र भ्रमकारणत्वान्मनसोऽप्यात्मविभ्रमकरणस्य प्रमाकरणत्वं वक्तव्यम्?—इत्याशङ्क्याह—न चेति। श्रुतिबलेन प्रत्यवतिष्ठते—मनसैवेति। श्रुत्यन्तरेण

ज्ञानवती

गान्धर्व आदि शास्त्र का अप्रमाण्य होता है ऐसी बात नहीं हैं। इसी प्रकार ब्रह्मशास्त्र का, जो कि परोक्षज्ञान के संस्कार के द्वारा अन्तःकरण का उपकारी है, प्रामाण्य खोजना चाहिये, "मैं ही यह सब हूँ ऐसा जो मानता है वह इसका परम लोक है" ऐसा स्वप्नावस्था में (होने वाला) ब्रह्मात्मज्ञान एवं मायावृत्तिज्ञान प्रामाणिक होता है। दृष्ट आदिविषय का बाध न होने से तथा प्रामाण्य के करणविशेषजन्यत्व के स्वीकार करने के कारण (मायावृत्तिज्ञान आदि प्रामाणिक हैं)।

(उ) इस विषय में कहते हैं—यद्यपि परोक्ष तत्ता (अर्थात् प्रत्यभिज्ञा मे तद्देशतत्काल-वृत्तिता) से अपरोक्ष प्रतिभास होने के समान अपरोक्ष ब्रह्म का भी शाब्द परोक्षप्रतिभास विरुद्ध नहीं होता तथापि "चाक्षुष रूप" कहने पर जैसे रूप में (चक्षु से अतिरिक्त दूसरी इन्द्रिय का संचार नहीं होता उसी प्रकार औपनिषद पुरुष ऐसा कहने पर भी पुरुष में भी इन्द्रियान्तर का संचार ठीक नहीं है।

(पू) चक्षु के व्यापार के विना रूप किसी भी प्रकार से स्फुरित नहीं होता इसलिये वहाँ पर करणान्तर का संचार न होना ठीक है, किन्तु पुरुष तो उपनिषद्व्यापार के विना

[१] बृ० ४।३।२०। [२] (ख) प्रामाण्यस्य न। [३] (क) प्रमागोचर।
[४] (क) प्रमागोचर,

क्लृप्तम्। न च तत्प्रमाकरणस्यैव तद्भ्रमकरणत्वमिति, हेत्वाभासस्य साध्यप्रमाकरणत्वाभावेऽपि तद्भ्रमकारणत्वात्। "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" इति करणश्रुत्या "तु" श्रुत्या चोपहितानुपहितब्रह्मज्ञानकारणत्वमवधार्यते मनस इति चेत्? "नावेदविन्मनुते" इति वेदस्यापि करणत्वावगमाद्यावधारणसम्भवः। न चात्र करणश्रुत्यभावात् "यद्वाचानभ्युदितम्" इति निषेधाच्च न वेदस्य करणत्वम्; तस्य प्रमाकरणत्वाभावे[1] मीमांसातर्कस्य तदनुग्रहायानवतारप्रसङ्गात्; परोक्षप्रमाकरणत्वस्य स्वयमिष्टेश्च; "यन्मनसा न मनुते" इति मनसोऽपि निषेधाच्च। न चान
योः

भावदीपिका

परिहरति—नावेदविदिति। वैषम्यमाशङ्क्याह—न चात्रेति। "शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दं प्रमाणम्"—इति लक्षणात्, वेदविन्न भवतीत्यवेदवित् स, न मनुते इत्युक्ते, वेदविन्मनुते इति लभ्यते। वेदवित्तिश्च शब्दविज्ञानम्। तथाच स्पष्टकरणश्रुत्यभावेऽपि प्रमाविशेषकरणलक्षणसङ्ग्रहात्[1] साक्षात्कारजनकत्वेऽपि शाब्दस्य वैदिकोक्तलक्षणस्य च निर्वाहात् वेदस्य करणत्वं निवारयितुं न शक्यते; विपक्षबाधकाच्चैवम्—इत्याह[2]—तस्येति। इतश्चैवम्—इत्याह—परोक्षेति। निषेधश्च तुल्यः। अस्तु तर्हि उभयश्रुतिबलादुभयोः करणत्वम्?—तत्राह—न चानयोरिति। उभयोः पृथक्प्रमाकरणत्वमेकप्रमाकरणत्वं वा? आद्यं निरस्यान्त्यं निरस्यति—

ज्ञानवती

भी मानसव्यापार के द्वारा सोपाधिक (अर्थात् जीव) रूप में स्फुरित होता है यह वैषम्य है।

(उ) ऐसा नहीं है। जैसे रूप करणान्तर से साध्य साक्षात्कार वाली प्रमा का विषय नहीं है उसी प्रकार पुरुष भी करणान्तरसाध्य साक्षात्कार वाली प्रमा का विषय नहीं है। इस प्रकार साम्य है। श्रोत्र आदि के स्वरादिसामान्यप्रमाजनकत्व की कल्पना होने से शास्त्राध्यास से वासित (व्यक्ति) के श्रोत्र आदि स्वर आदि की विशेषप्रमा के जनक होते हैं, यह ठीक है। मन पुरुष की ऐसी वास्तव रूप प्रमा का हेतु नहीं है बल्कि केवल प्रमातृत्व आदि भ्रान्ति का कारण है। जो उस (किसी भी) प्रमा का करण हो वही उस भ्रम का कारण हो ऐसा नहीं है, क्योंकि (धूमवान् वह्नेः यहां पर) हेत्वाभास (वह्नि), अपने साध्य (धूम) की प्रमा का (अयोगोलक में) करण न होने पर भीं उस (धूम) की प्रमा का कारण हो सकता है।

(पू) "मन से ही बार बार देखना चाहिये" यहां पर (मनसे) इस करण श्रुति के द्वारा तथा "अग्रच बुद्धि के द्वारा देखा जाता है" यहां 'तु' श्रुति से मन उपहितानुपहित ब्रह्म के ज्ञान का करण है ऐसा माना जाय तो? (उ) वह ठीक नहीं है। "वेद को न जानने वाला उस बृहत को नहीं जानता" इससे वेद के भी करण होने से (एवकाररूप) अवधारण सम्भव नहीं है। (पू) ("वेद को न जानने वाला") यहां पर करणश्रुति न होने से और "जो वाणी से नहीं कहा गया" इस निषेध से वेद करण नहीं है? (उ) उसके प्रमा के कारण न होने पर उसके (वेद के) अनुग्रह के लिये मीमांसातर्क का अवतार ही नहीं

[1] (ख) संग्रहासाक्षा। [2] (ख) बाधाच्च।

चक्षुःस्पर्शनयोरिव द्रव्यसाधारण्यम्; तथापि वेदनिरपेक्षस्यापि मनसः स्पर्शनस्येव चक्षुर्निरपेक्षस्य स्वविषयप्रमाजनकत्वप्रसङ्गात्। न च द्वयोरेकप्रमाकरणत्वम्; प्रमाकरणानां सम्भूयकारित्वस्यानिष्टत्वात्। अतोऽन्यतरस्य (वेदस्य)[१] [मनसो वा] करणत्वे किं मनसो वास्तवप्रमास्वरूपेण [प्रमा] कल्पनीया? वेदात्त क्लृप्ता सा; तस्यानपेक्षत्वधर्ममात्रं कल्पनीयम्, ऐन्द्रियकज्ञानस्य कर्मजन्यत्वात्, ब्रह्मणश्च तदयोगात्।

भावदीपिका

न च द्वयोरिति। इतरेतरसाचिव्ये "प्रामाण्यं हीयते स्वतः" इत्याचार्यवरोक्तेर्न सम्भूयैकप्रमाजनकत्वमित्यर्थः। 'पर्वतोऽयं वह्निमान्'इति विशिष्टानुमितिं प्रति लिङ्गेन्द्रिययोः सम्भूयकरणत्वम्। यथा अन्यत्र लिङ्गेन्द्रिययोः अन्यनिरपेक्षयोर्दृष्ष्यम् "सम्भूयकारित्वं विशिष्टानुमितिं प्रति" इति चित्सुखाचार्योक्तेः, न तथा मनोवेदयोः; विशिष्टप्रमेयाभावादिति भावः।

एवं विकल्पेन समुच्चयेन च यदि नानयोः करणत्वं का तर्हि करणश्रुत्योर्गतिः या न्यायतः सम्भवति सा?—इत्याह—अत[३] इति। अतो "मनसा ह्येव पश्यति" इति चक्षुष्करणकज्ञाने मनस ऐकाग्र्येण सहकारित्ववत् "मनसैवानुद्रष्टव्यम्" इत्युपनिषत्करणकज्ञानेऽप्येकाग्रेण सहकारित्वमास्थेयम्। स्वाप्नब्रह्मसाक्षात्कारस्तु "सोऽस्य परमो लोकः" इति यथार्थत्वावगमेऽपि स्वप्नस्य जाग्रत्संस्कार[ज]त्वान्न शब्दकरणवादापनोदक इति भावः। अतोऽपि नात्र मनसः करणत्वम्—शब्देन लक्षणया बोध्यस्य सकलविशेषातीतस्य ब्रह्मणोऽसङ्गस्वभावस्य मनसा सह सम्प्रयोगासम्भवात्; इन्द्रियस्य[४] च सम्प्रयोगावान्तरव्यापारस्यैव ग्राहकत्वात्। "प्रयोग इन्द्रियाणां हि व्यापारेषु कथ्यते" इति भट्टपादवचनात्। सम्प्रयोगे च विशिष्टग्रहण इव केवलग्रहणेऽपि वेदान्तानपेक्षा स्यात्। न च रत्नतत्त्वग्रहण इव तत्तत्त्वशास्त्रापेक्षा अत्र युक्ता। तद्वदत्र पूर्वंप्रत्यक्षशास्त्रयोर्वास्तवविषयत्वाभावात् योगिमनोवत् असंयुक्तस्य ग्राहकत्वकल्पने च साक्षादिन्द्रियवेद्यत्वात् घटादिवत् जडत्वाशङ्कायां "एतदप्रमेयम्" इत्यादिश्रुतिपीडा स्यात्। न च वाच्यम् शब्देन लक्षणया जन्यसाक्षात्कारेण विषयीकरणेऽपि तुल्यो दोष इति? शब्दो हि प्रमेयत्वादिकं व्यावर्त्तयन्नेव तदप्रमेयं ध्रुवमित्यादिः प्रवर्त्तते प्रपञ्चवेलायामपि। प्रत्यक्षञ्च "आहुर्विधातृ प्रत्यक्षं न निषेद्धृ विपश्चितः।" इत्यभियुक्तोक्तेर्विदधदेव प्रवर्त्तते इति वैलक्षण्यात्। अतः शब्दजन्यः साक्षात्कारो न जाड्यापादकः—इत्याशयेनाह—ऐन्द्रियक इति।

ज्ञानवती

होगा। इसके अतिरिक्त परोक्षप्रमाकरणत्व के स्वयं इष्ट होने से तथा "जो मन से नहीं जाना जाता" इसमें मन का निषेध भी है। (पू) ये दोनो (मन एवं वेद) चक्षु एवं त्वक् के समान द्रव्यसाधारण हैं? (उ) तथापि चक्षुनिरपेक्ष त्वक् के समान वेदनिरपेक्ष मन आत्म विषय वाली प्रमा का जनक होने लगेगा। और दोनों (=मन एवं वेद) एक प्रमा के करण हैं ऐसा नहीं है? क्योंकि प्रमा के करणों का मिलकर काम करना मान्य नहीं है।

---

१ (ख) त इति।
२ गाभावात्।
३ (ख) प्रमाकरणाभावे
४ (ख) अन्यतरस्य करण।

[मनसो वेदसहकारित्वमात्रम्–]

उपोपसर्गस्य सङ्कोचकाभावे निरुपचरितसामीप्यप्रत्यगात्मतया सर्वस्य पर्यवसानात् निश्चयार्थस्य [नेश्च[1]] अद्वैतनिश्चये वृत्तेः तेनाद्वैतात्मनिश्चये मायाया अवसादनात्[2] 'उपनिषत्' अद्वैतात्मविद्या, तद्धेतुत्वात् ग्रन्थोऽप्युपनिषत्, सदेः उपनिपूर्वस्य क्विपि च 'उपनिषत्' पदम् इति निरुक्तिरपि शब्दकरणत्वं साक्षात्कारस्य गमयति। यद्यपि प्रायणपर्यन्तावृत्तिषु[3] अहंग्रहोपासनेषु भावनाया करणत्वं क्लृप्तम्, तत्र हि देहपातोत्तरकालत्वात् सकृत् साक्षात्कारं सम्पाद्योपरमेत; धर्मवदन्त्यकाले यदाकदाचिदनुष्ठानेऽपि स्वफलभूतदेवादिभावसाक्षात्कारप्रायकत्वोत्सर्गेऽपि विरुद्ध-फलकर्मोद्भवेनापवादसम्भवात्। सततमनुवर्त्तमानसाक्षात्कारे तदनुद्भवादन्त्य-

भावदीपिका

[मनसो वेदसहकारित्वमात्रम्—]

एवं न्यायतो व्यवस्थिते शब्दस्य साक्षात्कारजनकत्वे उपनिषत्पदनिर्वचनमप्यनु-मोदकम्; तत्त्वमसि प्रकरणे—"आचार्यवान् पुरुषो वेद; तस्य तावदेव चिरम्" इति शब्दजज्ञा-नस्य जीवन्मुक्तिफलसम्बन्धश्रवणात्। पदव्युत्पत्तिः श्रुत्यनुकूला प्रमाणमेव वा भवति—इत्याह—उपोपसर्गस्येति।

एवं मनःकरणवादं प्रपञ्चेन निराकृत्य प्रसंख्यानकरणवादं प्रपञ्चेन निराचष्टे—यद्यपीत्यादिना। परोक्तं निरस्यति—न चेति। सम्भवति चैतत्—इत्याह—धर्मादीति।

ज्ञानवती

इसलिये अन्यतर (वेद या मन के) कारण होने पर क्या मन की वास्तव प्रमा के रूप में प्रमा कल्पनीय है; यदि वह वेद से क्लृप्त है तो उस (मन) का केवल अनपेक्षत्व धर्म कल्पनी है; क्योंकि ऐन्द्रियज्ञान कर्म से उत्पन्न होता है और ब्रह्म का ज्ञान (कर्मजन्य) नहीं है।

[मन वेद का सहकारी मात्र है—]

(उपनिषद् पद में) 'उप' उपसर्ग का संकोचक का अभाव अर्थ होने पर निरुपचरित-सामीप्य प्रत्यगात्मा के रूप में सबका पर्यवसान है एवं निश्चयार्थक 'नि', का अद्वैतनिश्चय में तात्पर्य है; इसलिये अद्वैतात्मनिश्चय के द्वारा माया का अवसादन होने से उपनिषत् (का अर्थ है) अद्वैतात्मविद्या, और उसका हेतु होने के कारण ग्रन्थ भी उपनिषद् (कहलाती है)। 'उप' 'नि' पूर्वक षद्(लृ) धातु से क्विप् प्रत्यय होने पर उपनिषत् पद बनता है, यह निरुक्ति भी शब्द को साक्षात्कार का करण बताती है। यद्यपि अहंग्रहोपासना (अर्थात् किसी देवता में यह भाव कि मैं ही अमुक देवता हूँ) की मृत्युपर्यन्त आवृत्ति होने में भावना को करण माना गया है, (वह इस प्रकार) देहपात के बाद होने से एक वार साक्षात्कार का सम्पादन कर विराम करना चाहिये, धर्म के समान अन्तकाल में जिस किसी समय अनुष्ठान होने पर भी उस (अनुष्ठान) के फलस्वरूप देवादिभाव के प्रापकत्वरूप स्वभाव होने पर भी

[1] (क) निश्चयस्याद्वैत, (ख) निश्चस्याद्वैत। [2] (ख) अवसानात्।
[3] (क) प्रमाण।

साक्षात्कारेण[1] साधकदेहसमनन्तरमुपासनफलप्राप्तिनियमालाभादाप्रायणमावृत्तिरिति स्थितम् 'आप्रायणात्'[2] इत्यधिकरणे; तथापि न साक्षात्कारः प्रमा, न चाबाध्यजन्यानुभवत्वेन प्रमात्वम्; अबाध्यत्वस्य वेदसंवादाधीनत्वेन तज्जन्यत्वस्यैवोचितत्वात्। श्रवणाद्यावृत्तिफलभूतस्तु सकृदुत्पन्न एव [3]निरस्तज्ञेयाभिव्यक्तिमायातमोनिवृत्तिफलकत्वादाप्रायणमावृत्त्यनाक्षेपको ब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारः प्रमा। तेन प्रमाकरणवेदान्तवाक्यमपेक्षत एव; धर्मादिज्ञानाभ्यासस्यापरोक्षज्ञानकरणत्वाभावेऽपि गरुडादिगोचरस्य तत्कारणत्ववत् शब्दस्यापरोक्षज्ञानकरणत्वोपपत्तेश्च। अत एव विवेकं कारयित्वाऽपि भूयो भूयः "तत्त्वमसि" इत्युपदिष्टम्। मनसो भावनाया वा करणत्वे प्रमासाक्षात्काररूपैव[4] भवितुं युक्तेति व्यर्थमावृत्तिगुणकश्रवणादिविधानमिति; परोक्षवाक्यार्थप्रमायामपि सकृच्छ्रवणस्याकिञ्चित्करत्वात्। ईषत् श्रुतम्' 'सामि-

भावदीपिका

गमकान्तरस्यान्यथासिद्धिमाशङ्क्याह—न च वाक्यावृत्त्येति।' अन्यदपि परोक्तं निराचष्टे—न च वाच्यमिति। सामि=अद्धा; एकवारं, द्विवारं, त्रिवारं वा अधिकारिभेदेन परोक्षज्ञानेऽपि श्रवणमपेक्षितं किं वाच्यमपरोक्षज्ञाने तद् भवतीत्यर्थः। किञ्च

ज्ञानवती

विरुद्धफल वाले कर्म का उद्भव होने से अपवाद सम्भव है; निरन्तर अनुवर्त्तमान साक्षात्कार में उसका अनुभव होने से अन्त में होने वाले साक्षात्कार के द्वारा साधकदेह के बाद ही उपासना के फल की प्राप्ति का नियम न प्राप्त होने से "आप्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्" (मृत्युपर्यन्त अहंग्रह की उपासना की आवृत्ति करनी चाहिये क्योंकि वहां=श्रुति में भी आवृत्ति विधान देखा गया है) इस सूत्र के अधिकरण में मृत्युपर्यन्त आवृत्ति मानी गई है। तथापि साक्षात्कार प्रमा नहीं है और अबाधजन्य अनुभव होने से प्रमात्व नहीं है। क्योंकि अबाध्यत्व के वेदसंवाद के अधीन होने से (उसका) तज्जन्यत्व (=वेदजन्यत्व) ही उचित है। श्रवण आदि की आवृत्ति का फल तो एक ही बार उत्पन्न होकर ज्ञेय (अर्थात् ब्रह्म) की अभिव्यक्ति माया रूप अन्धकार की निवृत्तिरूप फलवाला होने से प्रायणपर्यन्त आवृत्ति का आक्षेप न करने वाला ब्रह्म का साक्षात्कार प्रमा है। इसलिये प्रमा का करण वेदान्तवाक्य के द्वारा उपेक्षित ही है। धर्म आदि के ज्ञान के अभ्यास के अपरोक्षज्ञान के करण न होने पर भी चूँकि वह गरुड आदि विषय का कारण होता है इसलिये सिद्ध हो जाता है। इसीलिये विवेक कराकर भी बार बार "तत्त्वमसि" ऐसा उपदेश किया गया है। मन अथवा भावना के कारण होने पर प्रमा का साक्षात्काररूप हीं होना ठीक है इसलिये आवृत्तिगुण वाले श्रवण आदि का विधान व्यर्थ हो जाता है। परोक्षवाक्यार्थ से उत्पन्न होने वाली प्रमा में भी एक बार का श्रवण अकिञ्चितकर हो जाता है। इस कारण आचार्यो ने "थोड़ा सुना", आधा सुना, "अच्छी तरह सुनकर जानता है" ऐसा कहा है। इस (तत्त्वमसि वाक्य में तत् एवं त्वं) पदार्थ के दुर्ग्रह होने से—

---

[1] (ख) कारेणासाधक। [2] ब्र० सू० ४।१।१२।

[3] (ख) निरस्ततर ज्ञेया। [4,5] (क) त्वे सा।

श्रुतम्' 'सम्यक् श्रुत्वाऽवगच्छति' इत्याचार्यैरभिधानात्। अत्र चात्यन्तदुर्ग्रह-पदार्थत्वात्—

"अनादिकालमभ्यस्तं देहात्मत्वादिकं त्यजेत्।
यावद्विलक्षणात्मानं[1] तद्वन्नैवावबुद्ध्यते॥
विनाऽऽवृत्तिं तदाभासि करणं दुर्घटं यतः।
आवृत्तिगुणकं तेन श्रवणादि विधीयते॥
वेदावादिबलिध्वंसि[2] तस्मादुदयमागता।
सदा सुमनसां सेव्या ब्रह्मविद्यातरङ्गिणी॥"

लक्षणापि प्रस्फुटवाच्यलक्ष्यपदार्थाभिज्ञस्यैव स्वफलाय कल्पते। अतः सुसंस्कृत-चक्षुष इव सूक्ष्मार्थसाक्षात्कारकरणत्वं मनोऽवधानविशेषापेक्षया, वेदस्यापि विशिष्ट-मनस्सहकार्यपेक्षयैव इति श्लिष्यते।

भावदीपिका

पदार्थज्ञानपूर्वकं वाक्यार्थज्ञानम्; प्रस्तुते च तत् सहसा दुःसम्पादम्—इत्याह—अत्र चेति। तदेतदुपपादयति श्लोकाभ्याम्—अनादीति। ननु तर्हि पदार्थविवेचनन्यायैरेव वाक्यार्थज्ञानसिद्धेः पदार्थस्यैव वाक्यार्थत्वाभ्युपगमात् वाक्यवैयर्थ्यम्?—इत्याशङ्क्याह—वेदेति। वाच्यार्थभेदेन तद्वाचकानेकपदसामानाधिकरण्यप्रयोगे हि 'सोऽयम्'-इतिवत्[2] विशिष्टार्थयोर्विशेषणविशेष्यभावेन प्रतीतैक्यानुपपत्तौ केवलयोर्लक्ष[-णीयै-]क्यसम्भावनार्थमेव देहादि-वैशिष्ट्यव्युदासार्थन्यायापेक्षणान्न वाक्यवैयर्थ्यम्। तदुक्तं वार्त्तिककारैः—"सामानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता। लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनाम्॥" इति। सुमनसः=देवा अपि। विद्या मन्दाकिनीत्वेनोत्प्रेक्ष्यते। उक्तं संक्षिप्याह—लक्षणापीति। उपसंहरति—अत इति। यस्त्वेवमपि शब्दस्य परोक्षज्ञानकरणत्वमेवेत्यभिनिविष्टस्तं

ज्ञानवती

"जब तक अनादिकाल से अभ्यस्त देहात्मत्व आदि को नहीं छोड़ेगा (तवतक) उस प्रकार (अर्थात् देहात्मत्व के समान ठीक-ठीक रूप से) विलक्षण आत्मा को नहीं जानसकता।"

"चूँकि आवृत्ति के विना उस (आत्मा) का आभासक करण कष्टसाध्य है इसलिए आवृत्तिगुणवाले श्रवण का विधान होता है।"

"इसलिये उदय को प्राप्त हुई ब्रह्मविद्यातरंगिणी वेदविरोधी बलवानों के ध्वंसक के रूप में विद्वानों की सदा सेव्य है।"

(तत एवं त्वम् आदि पदों की) लक्षणा भी अपने उसी फल को छोड़ देती है जो पदों के वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ को साफ-साफ जाने। इसलिये जैसे मन के अवधानविशेष की अपेक्षा के साथ सुसंस्कृतचक्षु सूक्ष्म अर्थ के साक्षात्कार का करण है उसी तरह वेद भी विशिष्टमनसहकारी की अपेक्षा ही (सूक्ष्म आत्मा के साक्षात्कार का करण है यह) ठीक है।

---

१ (ख) यांवद्धि।
२ (ख) वेदवादि।

"कृत्स्नमात्राद्युपादानतमोबाधस्तु बोधतः ।
तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थात् पूर्णैकात्म्यस्वलक्षणात् ।।
सर्वोऽयं महिमाज्ञेयो···वाक्यस्यैव ।"

इति च सुरेश्वराचार्यवचनाच्च; पदार्थपरिशुद्धौ परोक्षज्ञानसंवाददर्शनाच्च; भाष्यकारीयमनःकरणत्ववचनस्य परमतेनैव परस्य विरोधापादनपरत्वाच्च । अतः प्रसङ्ख्यानस्य मनसो वा तत्परिपाकवतः साक्षात्कारकरणत्वं श्रुतिस्मृतिब्रह्मविन्मत-विरुद्धमुपेक्षणीयमेव ।

[ज्ञानस्य कर्मानङ्गत्वम्—]

ज्ञानस्य च प्रमाणवस्तुमात्रतन्त्रस्य कर्मविलक्षणस्य विध्यसम्भवात् तत्फलकं श्रवणमेव मननिदिध्यासनफलोपकार्यङ्गं विशिष्टं क्रियारूपं विधेयम् । तत्र स्व-प्रधानज्ञानविशेषणं ब्रह्मापि स्वप्रधानमेवेति न ज्ञानविधाविव गुणप्रधानभावविरोधः । न च ज्ञानमपि गुणः कर्मणः ; 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" इति तृतीयाश्रुत्या यथा "कदाचन स्तरीरसि" इति मन्त्रस्य गार्हपत्योपस्थाने विनियोगः, तथा निरपेक्षैकप-

भावदीपिका

प्रत्याह—पदार्थेति । यत उक्तनीत्या शब्दस्य साक्षात्कारकरणत्वे न कोऽपि दोषस्तत एतत् सिद्धम्—इत्याह—अत इति ।

[ज्ञानस्य कर्मानङ्गत्वम्—]

उक्तानुवादपूर्वकं ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वं निषेधति—ज्ञानस्य चेति । निरपेक्षेति । रूढः शब्दः श्रुतिः, तत्रावयवार्थनिरपेक्षत्वात्; यथा अश्वकर्णादिशब्दो वृक्षविशेषादौ । एकपदत्व-मवयवार्थापेक्षयौगिकपदेऽपि 'पाचकः' इत्यादावस्ति; अत उक्तम्—निरपेक्षेति । अथवा विश्वे-देवा देवता अस्या इति 'वैश्वदेवी' इति तद्धितश्रुतिः "अस्या" इति सर्वनाम्नः सन्निहितविशेष-परामर्शकत्वात् सन्निहितविशेषसमर्पकामिक्षापदापेक्षायामप्यभिधानपर्यवसानाय परिपूर्णविषय-

ज्ञानवती

"तत्त्वमसि" आदि वाक्यों से उत्पन्न ऐकात्म्यलक्षण वाले ज्ञान से समस्त मातृ आदि (अर्थात् माता, मेय, मान एवं मिति) के उपादानभूत तप का बाध होता है । यह महिमा वाक्य की ही जाननी चाहिये ।"

ऐसा सुरेश्वराचार्य का वचन है । तथा पदार्थपरिशुद्धि में परोक्षज्ञान का संवाद नहीं देखा गया है । भाष्यकार का मनःकरणत्व वाला वचन दूसरे के मत से ही दूसरे के विरोध की आपत्ति लाने वाला है । इसलिये प्रसंख्यान या उसके परिपाक से युक्त मन साक्षात्कार का करण है यह श्रुतिस्मृति एवं ब्रह्मविद् के मत के विरुद्ध होने के कारण उपेक्षणीय है ।

[ज्ञान कर्म का अंग नहीं है—]

मनन और निदिध्यासन जिसके फलोपकारी अङ्ग हैं तथा जो इनसे विशिष्ट एवं क्रिया रूप है, ऐसा तत् (=ज्ञान) फल वाला श्रवण, प्रमाणवस्तु मात्र के अधीन रहने वाले

दलक्षणायाः श्रुतेस्तत्राभावात्। "यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति च श्रुतेः "ओ३मित्येतदक्षरमुपासीत" इति प्रकृतोद्गीथ-

भावदीपिका

लाभाय नापेक्षते[1]। स्वार्थस्य पर्यवसितस्यार्थान्तरेणान्वयार्थं पदान्तरमर्थान्तराभिधायीति[2] निरपेक्षाऽऽमिक्षा विश्वेदेवसम्बन्धबोधनार्था[3]। 'वाजि'-शब्दस्याश्वत्वे निरूढस्य वाजमन्नमेषां विश्वेषां देवानामिति—'वाजिनः' इति योगमुपेक्ष्य स्वार्थे पर्यवसितस्य वाजिन-पदस्य चान्योऽन्यापेक्षया वाजिनसम्बन्धबोधनात् वाक्यत्वम्। अतएवास्य वाक्यीयसम्बन्धस्य[4] श्रौतामिक्षा-विश्वदेवसम्बन्धाद् दुर्बलत्वात् तेन बाध्यत्वात् पूर्वकर्मान्वयानुपपत्तौ कर्मान्तराक्षेपकत्वम्[5]। उत्पत्तिशिष्टामिक्षागुणस्य पूर्वकर्माविरोधात् वाजिनगुणस्योत्पन्नशिष्टस्य तद्बाधकत्वानुपपत्तेः—इत्येवंजातीयं निरपेक्षत्वं श्रुतेर्द्रष्टव्यमभिधातुम्; पदेऽन्यस्मिन् "निरपेक्षो रवः श्रुतिः" इति लक्षणाच्च। एवं तृतीयादिशब्दोऽपि करणादौ निरपेक्षतया बोधकः श्रुतिः। अत्रापि श्रुतिर्विनियोजिकाऽस्ति?—इत्याशङ्क्याह—यदेवेति। असार्वत्रिकी "यदेव विद्यया" इति[6] श्रुतिः न सर्वविद्याविषयेति व्यासोक्तेश्च। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इति विद्याप्रकरणे कर्मानुमतिर्विद्यास्तुतये। एवंनिष्ठे त्वयि यावज्जीवं कृतमपि कर्म न लिप्यते इति "हत्वापि स इमान्" इतिवत् "स्तुतयेऽनुमतिर्वा" इति सूत्राच्च।

अथवा—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत् त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥"—इति सत्याख्यस्यादित्यमण्डलदक्षिणाक्ष्याद्युपास्यप्राप्त्यर्थमार्गद्वारप्रार्थनादिलिङ्गस्य प्रकरणाद् बलीयस्त्वेन तद्बाधात्, सगुणविद्याया एव कर्मसमुच्चयप्रतीतेः। सूत्रमप्यङ्गीकारवादेन। प्रकरणेन कथं श्रुतिर्नियम्यते?—इति च न वाच्यम्; "मासमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यत्रापि श्रुत्या प्रसिद्धाग्निहोत्रोपस्थानेन "प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वम्", "उक्तम् क्रियाभिधानम्। तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात्" इति च न्यायबाधप्रसङ्गात्; प्रकरणस्य तदनियन्तृत्वे "एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः" इत्यत्रात्मोपक्रमादिना चेतनप्रकरणे ज्योतिःश्रुत्याद्युपस्थानेन "ज्योतिर्दर्शनात्"-प्रकरणे चेतनानुवृत्तिदर्शनात् ज्योतिः-शब्दं चेतनं ब्रह्मेति न्यायभङ्गप्रसङ्गाच्च।

ज्ञानवती

एवं कार्य से विलक्षण ज्ञान की विधि के असम्भव होने के कारण विधेय है। उस स्थल में अपनी (अर्थात् ज्ञान की) अपेक्षा प्रधान ज्ञान का विशेषण ब्रह्म भी अपनी (=ब्रह्म की) अपेक्षा प्रधान ही है इसलिये ज्ञानविधि के समान यहाँ गुणप्रधानभाव का विरोध नहीं है।

ज्ञान कर्म का गुण भी नहीं है। क्योंकि "ऐन्द्री ऋचा के द्वारा गार्हपत्य अग्नि की स्तुति करनी चाहिये" में तृतीयाश्रुति होने से जैसे "हे इन्द्र! तुम कभी भी हिंसक (नहीं हो)" इस मन्त्र का गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग होता है उसी प्रकार निरपेक्ष (अर्थात् लिङ्ग आदि प्रमाणान्तरानपेक्ष) एकपदश्रुति यहाँ (ज्ञानप्रकरण में) नहीं है। "जो विद्या से, श्रद्धा, से, उपनिषद् से करता है वह अधिक वीर्यवान् होता है" यह श्रुति है। और

---

[1] (ख) नोपे। [2] (क) अर्थाभिधायी। [3] (ख) र्थ।
[4] (ख) क्याय। [5] (ख) पेक्ष। [6] (ख) विद्येति।

विद्या विद्याभासः क्रियैव पुरुषेच्छानुविधायिन्यवगम्यते[१]। नापि "बर्हिर्देवसदनं दामि" इति यथाश्रुतसामर्थ्यलक्षणं लिङ्गं तत्र विनियोजकम्, तथाऽत्रास्ति। न च जनकादीनां गृहस्थानां ज्ञानश्रवणं लिङ्गम्; "एतद्ध स्म वैतत्[२] पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुह्वाञ्चक्रिरे" इति ज्ञानिनः कर्मत्यागस्यापि श्रवणात्; नियताङ्गत्वे च तदनुपपत्तेः; कर्तृत्वादिप्रपञ्चशून्यात्मज्ञानस्य विरोधित्वादनियताङ्गत्वस्याप्ययोगात्। नापि "यस्य पर्णमयी जुहूः"; इतिवद् वाक्यम् अनेकपदसामर्थ्यमेकमिहास्ति।

भावदीपिका

अथ "उपसद्भिश्चरित्वा मासमग्निहोत्रं जुह्वति" इत्युपसद्विध्यनुगृहीतप्रकरणेनाग्निहोत्रश्रुतिर्नियम्यते" तथा "अयमात्मा अपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः"। अन्वेषणम्=शब्दयुक्तिभ्यां मार्गणम्; विजिज्ञासनम्=साक्षात्करणम्[३]। "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयं तद् ब्रह्म" इति श्रुतिलिङ्गानुगतप्रकरणेन ज्योतिश्च नियम्यते न प्रकरणमात्रेण ? तथापि विद्या-शब्देन कर्मानुपयुक्तविद्या अप्युपस्थाप्यन्ते। तत्र दण्डनीत्यादिविद्यानां व्यावृत्तिः प्रकरणाच्चेत्, आत्मविद्याव्यावृत्तिः कुतो न भवति ? अस्ति चात्रापि "साम्न उद्गीथो रसः स एष रसानां रसतमः" इति रसतमत्वादिगुणोपासनादि लिङ्गं सगुणविद्यायाः। प्रथमलूनो दर्भमुष्टिः=प्रस्तरः; द्वितीयादिर्बर्हिः। शब्दस्यार्थप्रकाशनसामर्थ्यम्, अर्थस्य चार्थान्तरप्रकाशनसामर्थ्यं लिङ्गम्, "सर्वभावगता शक्तिर्लिङ्गमित्यभिधीयते" इति लक्षणाच्च। अत्र च शब्दस्य बर्हिर्लवनप्रकाशनसामर्थ्यात्, "ऐन्द्रया गार्हपत्यम्" इतिवदन्यत्र विनियोजकश्रुत्यदर्शनाच्च। असमर्थस्य विनियोज्यत्वायोगाद्विनियोगनिर्वाहाय श्रुतेः सामर्थ्यलक्षणलिङ्गसत्तापेक्षायामपि विनियोगस्य तज्ज्ञानानपेक्षणाल्लिङ्गाद् बलीयस्त्वात्; लिङ्गस्य च सामर्थ्यस्य कार्यानुमेयस्य शाब्दस्यैव शाब्देनान्वय इत्यनेनैतदिति श्रुतिं कल्पयित्वैव विनियोजकत्वमिति श्रुतितो[४] दुर्बलत्वेन तया बाधसम्भवात्; तदभावे श्रुतिं कल्पयित्वा अस्य बर्हिर्लवने विनियोजकत्वं द्रष्टव्यम्। यथा[५] च बालाक्यजातशत्रुसम्वादे "ब्रह्म ते ब्रवाणि" इत्युपक्रम्य अब्रह्मभूतादित्यादिपुरुषेषूपदिष्टेषु बालाकिना तं "मृषा वै खलु मा सम्वदिष्ठाः" इत्यपोद्य अजातशत्रुणा "यो वै बालाक ! एतेषां पुरुषाणां कर्त्ता यस्य वै तत्कर्म स वै वेदितव्यः" इत्युपदिष्टे, जीवस्य ब्रह्मणो वा मुख्यपरिस्पन्दात्मककर्मासम्भवात् तद्वतः प्राणस्य परिग्रहे चोपक्रमादिबाधात् 'क्रियते' इति व्युत्पत्त्या कार्यं जगत् कर्मशब्दं प्रसिद्धपराम-

ज्ञानवती

ओम् इस अक्षर उद्गीथ की उपासना करनी चाहिये इस (श्रुति) में उद्गीथविद्या विद्या का आभास क्रिया ही है। और यह भी मालूम होता है कि वह (क्रिया) पुरुष की इच्छा के अनुसार विधान करने वाली है। और न तो; "देवताओं के सदन=कुशाका छेदन करता हूँ" यहाँ जैसे सामर्थ्यलक्षणलिङ्ग विनियोजक है वैसा यहाँ हैं। यह भी नहीं है कि जनक

---

१ (ख) पुरुषे नु। २ (ख) चैतत्। ३ (क) कारणम्।
४ (क) श्रुतो। ५ (ख) तथा।

अत्र हि "जुह्वा जुहोति" इति होमसाधनत्वेन विहिताया जुह्वाः प्रकृतिद्रव्याकाङ्क्षायां जुहूशब्देनाभिधानात्, पर्णतायाश्च द्रव्यत्वेनापूर्वसाधनार्थयागसम्बन्धमपेक्षमाणाया अव्यभिचरितक्रतुसम्बन्धजुहूद्वारेण वाक्यप्रमाणात् यागे विनियोगः।

भावदीपिका

र्थकैतत्शब्दोपस्थापितं श्रुतसामर्थ्यलक्षणं ब्रह्मणो गमकं लिङ्गम्; अविशेषितजगत्कर्तृत्वस्य[१] ब्रह्मणोऽन्यत्रानुपपत्तेः। उक्तञ्च "जगद्वाचित्वात्" इति। नैवमत्रास्तीत्यपि द्रष्टव्यम्।

न च "यो वा एतदक्षरं गार्गि अविदित्वाऽस्मिंल्लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राण्यन्तवदेवास्य तद्भवति" इति ज्ञानरहितकर्मनिन्दा ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे लिङ्गम्; अक्षरज्ञाने तात्पर्यकरणार्थमपि कर्मनिन्दासंभवात्। "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते" इति फलारम्भे साहित्यदर्शनं न लिङ्गम्; "इति[२] तु कामयमानम्" इत्यमुमुक्षुप्रकरणात्। लिङ्गान्तरमाशङ्क्य प्रतिलिङ्गेन दूषयति—न चेति। किञ्च प्रयाजादिवन्नियतं कर्माङ्गं ज्ञानम्, सगुणज्ञानवत् फलाधिक्यकामनानिमित्तं वा? क्रमेण प्रत्याह—नियतेति। तच्छब्देन ज्ञानिनः कर्मत्यागः।

अनेकपदसामर्थ्यमाकाङ्क्षादिसंहत्यार्थं ब्रुवत् (द्वन्द्व-)पदानां वाक्यमुच्यत इति च लक्षणम्—तदाह—अत्र हीति। 'विद्वान् यजत' इति वाक्यं नात्मप्रकरणे श्रुतम्। अथात्मयाजीति वाक्यं कल्प्यते; आह च मनुः—"सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि। समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति।।"? तत् किम् आत्मदेवतायजनशील आत्मयाजी? तदा "यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेत् वषट्-करिष्यन्" इति देवतार्थद्वारा ज्ञातस्य क्रियाङ्गत्वं वक्तव्यम्; तदयुक्तम्; कर्त्तुरेव देवतात्वे मध्वादिविद्यासु देवतानामनधिकारवर्णनं जैमिनेरसङ्गतमापद्येत यतः। उक्तं च तद्वर्णनम् "मध्वादिष्वसम्भवादनधिकारं जैमिनिः" इति बादरायणाचार्येण। अत आत्मा=अन्तःकरणम्; तद्विशुद्धचर्थं यजनशीलः=आत्मयाजी। अथात्मनो जुह्वतः कर्मण्यन्वयोऽस्ति निष्पादकत्वेन, स च प्रमातृत्वेन ज्ञानस्यापि कर्त्ता भवति;

ज्ञानवती

आदि गृहस्थों का ज्ञानश्रवण लिङ्ग है क्योंकि "ऐसा था कि इसके पूर्वकालीन विद्वान् यह अग्निहोत्र नहीं करते थे" इससे ज्ञानी के कर्मत्याग का भी श्रवण होता है। (यदि अग्निहोत्र आदि ज्ञान की प्राप्ति के) अङ्ग निश्चित होंगे तो उस (कर्मत्याग) की अनुपपत्ति हो जायगी। (और चूँकि हमारे मत में) आत्मज्ञान कर्त्तृत्वादिप्रपञ्चशून्य (अर्थात् अकर्त्ता अभोक्ता रूप) है, इसलिये विरोधी होने से (उपासना आदि कर्मों का अनुष्ठान आत्मज्ञान के) अनियत अङ्ग भी नहीं हो सकते; "जिसकी जुहू पलाशकाष्ठ की होती है" के समान यहाँ पर अनेक पदों का एकसामर्थ्य रूप वाक्य भी नहीं है। यहाँ "जुहू द्वारा हवन करना चाहिये" इस वाक्य के द्वारा होम के साधन के रूप में विहित जुहू के प्रकृतिद्रव्य की आकांक्षा होने पर जुहू शब्द से अभिधान होने से और पर्णता के, द्रव्य होने के कारण अपूर्वसाधन के लिये याग का सम्बन्ध अपेक्षित होने से [३]अव्यभिचरितक्रतुसम्बन्ध वाली जुहू के द्वारा वाक्यप्रमाण होने के कारण याग

---

१ (ख) लिङ्गविशेषित। २ (ख) नु।

३ तदन्यानुपकारकत्वे सति तदुपकारकत्वम् तदव्यभिचरित्वम्।

अत्र यद्यप्यात्मज्ञानस्य प्रमात्रपेक्षस्य कर्त्रात्मसम्बन्धोऽस्ति, तथाप्यस्य लौकिकेष्वपि कर्मसु कर्तृत्वान्नाव्यभिचरितः क्रतुसम्बन्धोऽस्ति, येनैतद्द्वारेण ज्ञानस्यापि स्यात्।

[देहव्यतिरिक्तात्मनः प्रत्यक्षत्वम्-]

यद्यपि स्वर्गादिफलस्य कर्मणो देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानेन व्याप्तिः, [त][1]थापि नासंसारिब्रह्मात्मज्ञानस्य। नापि वाक्यद्वयसामर्थ्यमारभ्याधीतविषयम् "व्रीहीन् प्रोक्षति" इतिवत् प्रकरणम्, तत्र दर्शपूर्णमासशेषस्य "चतुरो मुष्टीन्निर्वपति" इति

भावदीपिका

ततो ज्ञानस्य साध्यपेक्षायां पर्णताया इव जुहूद्वारेण कर्तृद्वारा कर्मान्वयः?—इत्याशङ्क्याह—अत्र यद्यपीति।

[देहव्यतिरिक्तात्मनः प्रत्यक्षत्वम् -]

लोकसिद्धस्यात्मनो यद्यपि सर्वकर्मसाधारण्यं तज्ज्ञानस्य च, तथापि व्यतिरिक्तात्मज्ञानवतः पारलौकिककर्मणाऽन्वयोऽस्ति तद्द्वारा ज्ञानस्यापि?—इत्याशङ्क्याह—यद्यपीति। "जुह्वा जुहोति" इतिवत् "ब्रह्मविदा कर्म कार्यम्" इति वाक्यान्तराभावात्। न वा "आत्मक्रीड आत्मरतिः", "क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः", "श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्" इत्यादिवाक्यं विनियोजकं भवति, किन्त्वनुवादकमेव। लोकसंग्रहार्थकर्मणः "लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि"—इति सर्वज्ञवचनात् औपनिषदात्मज्ञानसंस्कृतस्य शुद्धबुद्धत्वाद्यभिमानवतः तात्पर्यविषयशुद्धत्वादेः स्तुतिमात्रत्वानुपपत्तेर्न कर्मणि कर्तृत्वेनान्वयः। तेन यथा "सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रविध्य" इत्यादिमन्त्रस्य अभिचारक्रियासमवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्यलिङ्गेन विद्यासन्निधिं बाधित्वाऽभिचारे विनियोगः, तथा "पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्येण प्रचरन्ति" इति वाक्येन उपनिषदारम्भपठितप्रवर्ग्यकर्मणः कर्मान्तरे विनियोगः "वेधाद्यर्थभेदात्" इति सूत्राच्च। वेधादि न विद्यासूपसंहर्त्तव्यम्; अर्थस्यानेनोपकार्यस्याभिचारादेर्विद्यातो[2] भेदात्। नैवमात्मनः प्रक्रियान्तरोक्तस्य लिङ्गवाक्याभ्यां क्रियाङ्गत्वमिति भावः। वाक्यद्वयसामर्थ्यम्=प्रधानाङ्गप्रतिपादकवाक्ययोः सामर्थ्यम् आकाङ्क्षादि। अनारभ्याधीतस्थले गुणप्रधानभावानुपपत्तेरसंभवः—इत्यत

ज्ञानवती

में विनियोग है। वहां यद्यपि प्रमाता की अपेक्षा रखने वाले आत्मज्ञान का कर्ता=आत्मा से सम्बन्ध है तथापि इसके लौकिक कर्मों में भी कर्त्ता होने से क्रतु के साथ अव्यभिचरित सम्बन्ध नहीं है जिससे इसके द्वारा ज्ञान का भी (कर्म से सम्बन्ध) हो जाता।

[देहव्यतिरिक्त आत्मा का प्रत्यक्षत्व—]

यद्यपि स्वर्ग आदि फल वाले कर्म की देहव्यतिरिक्त आत्मज्ञान के साथ व्याप्ति है तथापि असंसारीब्रह्मात्मज्ञान की (देहव्यतिरिक्त आत्मज्ञान के साथ) व्याप्ति नहीं है। न तो "व्रीहि का प्रोक्षण करना चाहिये" इसके समान अनारभ्य अधीत विषय वाला वाक्यद्वयसामर्थ्यस्वरूप प्रकरण ही है। वहाँ पर दर्शपूर्णमास का अङ्ग "चार मुट्ठी (धान) को बोता

---

१ (क) अत्रापि।   २ (ख) त्तेनो।

गृहीतस्य व्रीहिसमुदायस्य प्रकरणप्रमाणात् 'व्रीहीन्' इति शब्दो वाचकतया निर्णीतः ; व्रीहिमात्रप्रोक्षणस्यानर्थक्यात्, अशक्यत्वाच्च। अत्र च[1] "एष पन्था एतत्कर्मैतद्ब्रह्म" इति पृथक् प्रक्रमात्।

स्थानसमाख्ययोरप्येवमूह्यम्। यथाक्रमपठितानां यथाक्रमपठितैः सम्बन्धः स्थानम् ; संज्ञासाम्यं समाख्या ; तदप्यदोविनियोगे न शक्तम् ; तथा पाठाद्यभावात्। ततः स्वतन्त्रफलत्वसिद्धौ "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" "न च पुनरावर्त्तते" इति च वर्त-

भावदीपिका

उक्तम्—आरभ्याधीतविषयमिति। "प्रधानवाक्यमङ्गोक्त्याकाङ्क्षं प्रकरणं मतम्" इति लक्षणाच्च—तदाह—तत्रेति। अनारभ्याधीतत्वे च नाङ्गत्वलाभः—इत्याह—व्रीहिमात्रेति। न च प्रकरणान्तरस्थस्यापि[2] प्रकरणान्तर उपयोगो यथा—"पुरोडाशं चतुर्धा करोति" इति सामान्येन श्रुतस्य समानप्रकरणान्तरस्थेन "आग्नेयं चतुर्धा करोति" इति विशेषवाक्येनोपयोग इति वाच्यम् ; तादृगात्मज्ञानेन विना कर्मणि कस्याप्यंशस्य निर्णयाभावे जैमिनीयविचारस्य साकल्येनानिर्णायकत्वेन विफलारम्भत्वप्रसङ्गात्।

के ते स्थानसमाख्ये ? इति तल्लक्षणमाह—यथा क्रमेति। "स्थानं समानदेशत्वम्", "समाख्या यौगिको रवः[3]" इति च कल्पतरुः[4]। यथाऽऽग्नेयादिपात्रक्रमेण याज्यानुवाक्याम्नाने उपांशुयाजस्थाने वैष्णवप्राजापत्याग्नीषोमीयास्तित्र आम्नाताः, तासां क्रमपठितेनोपांशुयाजेन सम्बन्धः, नैवमैकात्म्यवाक्यानां[5] कस्यापि यागस्थाने पाठोऽस्ति, येन स्थानप्रमाणेन विनियोगः स्यात्। यथा च ज्योतिष्टोमाधिकारे "वसन्ते ज्योतिषा यजेत" इति ज्योतिःप्रतीकत्वाज्ज्योतिष्टोम इति ज्योतिःसंज्ञासाम्यं समाख्या। "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह", इत्यधिकारे "द्वे विद्ये वेदितव्ये-परा चैवापरा च। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यत" इति परफलत्वात् परा विद्येति संज्ञासाम्यं यथा, न तथाऽत्र विनियोगोपयुक्तमस्तीत्यर्थः। ज्ञानस्य कर्माङ्गत्वे विनियोगाभावे किं सिद्धम् ?—तदाह—ततः

ज्ञानवती

है" इससे गृहीत व्रीहिसमुदाय का 'व्रीहीन्' शब्द प्रकरणप्रमाण के द्वारा वाचक के रूप में निर्णीत है, क्योंकि सारे संसार के व्रीहि का प्रोक्षण व्यर्थ एवं असम्भव है। यहाँ (ज्ञान प्रकरण में) तो "यह रास्ता है, यह कर्म, यह ब्रह्म है" इस प्रकार (ज्ञान एवं कर्म का) पृथक् प्रक्रम या आरम्भ है।

स्थान एवं समाख्या के बारे में भी इसी प्रकार तर्क कर लेना चाहिये। क्रमानुसार पठित का क्रमानुसार पठित के साथ सम्बन्ध स्थान है। संज्ञा की समानता समाख्या है। वह भी इसके विनियोग में समर्थ नहीं है क्योंकि उस प्रकार पाठ आदि नहीं हैं। इसलिये स्वतन्त्रफलत्व की सिद्धि होने पर "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है" "और वह फिर नहीं

---

१ (ख) वा। २ (क) न्तस्थस्य। ३ (ख) वरः।
४ (क) तरः। ५ (ख) त्म्यं वाक्या।

मानापदेशेऽपि रात्रिसत्रन्यायेन ब्रह्मभवनकामोऽपुनरावृत्तिकाम इति विपरिणामेन स्वतन्त्राधिकारो लभ्यते; पुनरावृत्तिहेत्वविद्याया विद्यया निवृत्तावपुनरावृत्तिः सिद्धैव स्तुत्यै अनूद्यते वेदेन, तदापि[1] न फलाभावो धियः।

"आत्मा ज्ञातव्य इत्येतन्मोक्षार्थं न तु चोदितम्।
कर्मप्रवृत्तिहेतुत्वमात्मज्ञानस्य लक्ष्यते॥
विज्ञाते चास्य पारार्थ्ये [यापि[2]] नाम फलश्रुतिः।
सार्थवादो[3] भवेदेव न स्वर्गादेः फलान्तरम्॥"

भावदीपिका

स्वतन्त्रेति। रात्रिसत्रन्यायेनेति चतुर्थे चिन्तितम्। "क्रतौ फलार्थवादमङ्गवत् कार्ष्णाजिनिः":—"प्रतितिष्ठन्ति ह वा य एता रात्रीरुपयन्ति" इति श्रूयते; तत्र 'रात्रि'-शब्देन "आयुर्ज्योतिः" इत्यादिवाक्यविहिताः सोमयागविशेषा उच्यन्ते। किमत्र स्वर्ग एवाधिकारिविशेषणं उत प्रतिष्ठा?—इति संशयः; तत्र 'एवं-कामः' इत्यश्रवणात् विधिशक्तिलभ्यः स्वर्ग एव विशेषणम्। सन्देहे हि वाक्यशेषात् स्वीकारो न निश्चये; निश्चितश्चेह सर्वाभिलषितः स्वर्गः, विधिसामर्थ्यान्नियोज्यविशेषणम्। यापि[4] प्रतिष्ठाविषया श्रुतिः, सापि लक्षणया स्वर्गपरैव कल्प्यते इति प्राप्तम्। "क्रतौ"—रात्रिसत्रादौ, न प्रतिष्ठादि विवक्षितमिति; एतावन्मात्रेण "अङ्गवत्" इति सूत्रे प्रयाजाद्यङ्गफलार्थवादोदाहरणम्, न तु तद्वत् परार्थत्वमस्ति रात्रिसत्राणाम्—एवं प्राप्ते—उच्यते—"फलमात्रेयो निर्देशादश्रुतौ ह्यनुमानं स्यात्" प्रतिष्ठाफलस्य निर्देशात् तदेवाधिकारिविशेषणम्। यत्तु विधिशक्त्या स्वर्ग इति? तन्न; मुख्यार्थश्रुतिपदानुगुण्येन विधिशक्तौ पर्यवसितायामानुमानिकस्वर्गकल्पनाऽनवकाशात्। तस्माद् वाक्यशेषस्थमेव फलमिति। अथ नाऽयं फलविधिः, तदापि विद्याया न स्वतन्त्रफलहानिः, तत्साध्यस्यैव फलस्य स्तुत्यर्थमनुवादात्—इत्याह—अपुनरावृत्तीति। अन्यच्चैवं सति स्यात्—इत्याह—विज्ञाते चास्येति।

ननु—"विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते। भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा

ज्ञानवती

लौटता" ऐसा वर्त्तमानकालिकव्यवहार होने पर भी रात्रिसत्रन्याय के द्वारा ब्रह्म होने की कामनावाला अपुनरावृत्ति कामनावाला इस प्रकार विपरिणाम के द्वारा स्वतन्त्र अधिकार प्राप्त होता है। पुनरावृत्ति के कारणभूत अज्ञान की ज्ञान के द्वारा निवृत्ति होने पर अपुनरावृत्ति सिद्ध होने पर भी वह ("ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही हो जाता है" यह श्रुति) वेद के द्वारा स्तुति के लिए अनुदित होती है। फिर भी जानने का कोई फल नहीं है ऐसा नहीं है।

"आत्मा को जानना चाहिए, यह मोक्ष के लिये नहीं कहा है (बल्कि इससे) आत्मज्ञान की कर्मप्रवृत्तिहेतुता लक्षित होती है।

और इसका पारार्थ्यज्ञान होने पर जो भी फलश्रुति ("ब्रह्म वेत्ता ब्रह्म ही हो जाता

---

[1] (ख) तदपि। [2] (क) ऽपापिनाम। (ख) पापिनाम।
[3] (क) स्वार्थवादी। (ख) सार्थवादी। [4] (ख) यातु।

इत्यपास्तञ्च भवति। अर्थवादत्वेऽपि भूतार्थवादत्वमनुवादत्वं वा न गुणवादत्वम्। न च यथा दर्शपूर्णमासाधिकृतस्य "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इत्यत्र कर्मान्तरेऽधिकारः तथा कर्माधिकृतस्यैव ब्रह्मज्ञानेऽधिकारः; कर्मानधिकृतस्यापि देवादेर्ज्ञानाधिकारस्य[1] वक्ष्यमाणत्वात्, परिव्राजकस्यानारब्धकर्मणोऽपि।

अतएव न कर्मब्रह्मविचारयोः क्रमनियमः। बहूनामेककर्तृत्वे हि कर्तुरैक्येन युगपदनुष्ठानायोगात् क्रमाकाङ्क्षा स्यात्; अत्र तु भिन्नफलत्वादङ्गाङ्गिभावे प्रमाणाभावाच्च नैककर्तृकत्वम्, येन क्रमोऽपेक्ष्येत। "श्रुत्यर्थपठनस्थानमुख्यप्रवृत्ति-

भावदीपिका

मतः ।।"–इति त्वयापि फलश्रुतेर्थवादत्वमिष्टम् ?—तत्राह—अर्थवादत्वेऽपीति। अङ्गाङ्गिभावाभावेऽपि ज्ञानकर्मणोः कर्मण्यधिकृतस्यैव ज्ञानाधिकारः स्यात् तथाच पूर्वोत्तरविचारयोः स्वतन्त्रोऽधिकारी न सिद्धचेत् ?—इत्याशङ्क्याह—न चेति। चतुर्थे चिन्तितम्—यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्सार्थलक्षणाविभक्तत्वात्:—दर्शपौर्णमासयोः "गोदोहनेन पशुकामस्य प्रणयेत्" इति श्रुतेर्गोदोहने क्रत्वर्थत्वपुरुषार्थत्वसन्देहे 'पशुकामस्य' इति समभिव्याहाराद् वाक्येन क्रतूपकारकत्वेन चोभयार्थत्वे प्राप्ते–सिद्धान्तः—नोपकारकत्वं शेषत्वं किन्तु तादर्थ्यम्; तथाच गोदोहनस्य पशुशेषत्वान्न क्रत्वङ्गत्वम्; अङ्गापेक्षा च क्रतोरुपकाराय। अन्यार्थस्यापि क्रतूपकारकत्वमविरुद्धं तेन वाक्यात् पुरुषार्थत्वमेवेति। यस्मिन्=निवृत्ते; पुंसः प्रीतिः= फलम्; भवति, तस्य लिप्सा फलप्रयुक्ता, न विधितः। कुतः ? तस्य फलसाधनस्य प्रीत्या[2] फलेनाविभागात्; साध्यसाधनयोरैक्यं विवक्षितत्वात्। साध्येच्छया साधने प्रवृत्तिः। क्रत्वर्थत्वे तु विधिप्रयुक्ताऽपि गोदोहने प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः।

यतः शेषशेषिभावे अधिकृताधिकारे[3] वा न प्रमाणं तत एतत् सिद्धम्—इत्याह—अत एवेति। क्रमप्रमाणाभावाच्च नात्र क्रमः—इत्याह अनुवादपूर्वकम्—श्रुत्यर्थेति। "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवाँ जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः। एष

ज्ञानवती

है" इत्यादि) है, वह अर्थवाद ही होगी न कि उसके स्वर्ग आदि दूसरे (फल) होंगे।"

यह (कथन) अपास्त हो जाता है। अर्थवाद होने पर भी भूतार्थवाद या अनुवाद ही होता है न कि गुणवाद। जैसे दर्शपूर्णमास में अधिकृत का "पशु चाहने वाला व्यक्ति गोदोहन से प्रणयन करे" इस कर्मान्तर में अधिकार है वैसे ही कर्म में अधिकृत व्यक्ति का ही ब्रह्मज्ञान में अधिकार है ऐसी बात नहीं है। क्योंकि कर्मानधिकृत देवता आदि एवं अनारब्धकर्मा सन्यासी का भी ज्ञान में अधिकार कहा जायगा।

इसीलिये कर्म (विचार) एवं ब्रह्मविचार में क्रम का नियम नहीं है : एक ही (कार्य) के अनेक कर्ता होने पर एक साथ अनुष्ठान असम्भव होने से क्रम की आकांक्षा होती है। यहाँ तो भिन्न फल होने से और एक फल होने पर भी अङ्गाङ्गिभाव में प्रमाण न होने से एक कर्त्ता नहीं है जिससे क्रम की अपेक्षा होती हो। और यह कहा गया है कि क्रम, श्रुति

---

१ (ख) धिकृतस्य। २ (ख) प्रीत्यफलेन। ३ (ख) तोऽधि।

प्रमाणकाः[1] क्रमाः" इत्युक्तत्वाच्च। न चात्र "अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणं दीक्षयति" इति क्त्वाश्रुतिवत् क्रमश्रुतिः। "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्" इत्यादिकं तु असञ्जातविवेकवैराग्यस्य मोक्षोपलक्षिततत्फलकसन्न्यासनिषेधकम्। "अग्निहोत्रं जुहोति" "यवागूं पचति" इत्यत्र यवागूसाध्यत्वात् अग्निहोत्रस्यार्थात् तत्पाकः प्रथमं यथा, तथाऽत्र पूर्वतन्त्रन्यायसाध्यत्वाभावान्नार्थोऽपि क्रमः। न च प्रयाजादिवत् क्रमः; विरक्तस्य उपनिषद्पाठमात्रेणापि "किमर्था वयमध्येस्यामहे" इति

भावदीपिका

वा अनृणः" इति–श्रुतिमूलस्मृतिगत–क्त्वाश्रुति-बलेन यः क्रमं सम्पादयति तं प्रत्याह—ऋणानीति। नेयं श्रुतिः स्मृतिर्वा ऋणत्रयापाकरणानन्तरमेव ज्ञानोत्पत्तिरिति व्यवस्थापयितुमीष्टे, तदभावेऽपि शुकादीनां ज्ञानोत्पत्तिस्मरणात्। नापि ज्ञानार्थं विचारं नियन्तुं प्रभवति, अकृतयज्ञादेरपि नैष्ठिकादेस्तच्छ्रवणात् –"अथैनं ब्रह्मचारिणमूचुः" इत्यादिश्रुतेः। नचाश्रमक्रमव्यवस्थापकम्, "यदिवेतरथा" इत्यादि क्रमे वेदविरोधात्—इत्याशयः[2]।

अग्निहोत्रमिति। पञ्चमे स्थितमर्थाच्च। "अग्निहोत्रं जुहोति, यवागूं पचति" इत्यत्र किं होमपाकयोर्यथापाठं, क्रमः उत पाक एव प्रथमः?—इति संशये नियामकश्रुत्याद्यभावात्, होमनिर्वृत्तेश्च द्रव्यान्तरेण सम्भवात्, यवागूपाकस्य च आरादुपकारकत्वात्, होमप्राथम्ये प्राप्ते—राद्धान्तः—पदार्थप्रयोजनापेक्षोऽनुष्ठानविधिरेव प्रयोजनोपयोगिनं क्रमविशेषं नियच्छतीति प्रमाणसद्भावात् पक्त्वैव होतव्यम्। न च द्रव्यान्तरानयनम्, श्रुतद्रव्यवैयर्थ्यप्रसङ्गात्। न च दृष्टार्थत्वे सत्यारादुपकारकत्वं पाकस्येति वाक्यार्थनिर्णायकन्यायानां पूर्वोत्तरतन्त्रयोः साधारणत्वात् "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इत्यादीनाम्। तदुक्तम्—"तत्तु समन्वयात्" इति। "शास्त्रयोनित्वात्" इति वेदप्रामाण्यसाधनन्यायसूचनाच्च निर्णीतप्रामाण्यस्य प्रमाणत्वेनोपन्यासस्य[3] युक्तत्वात्। पूर्वत्र च वेदस्य स्वातन्त्र्यमेव। अत्र वेदेश्वरयोः परस्परतन्त्रत्वम्। वेदस्योत्पत्तौ ईश्वरतन्त्रत्वम्, ईश्वरस्य पूर्वसिद्धवैदिकक्रमतन्त्रत्वम्। ततो न होमपाकयोरिवानयोः साध्यसाधकभावः। प्रयाजेति। "क्रमेण वा नियम्येत क्रत्वेकत्वे तद्गुणत्वात्"—"समिधो यजति"

ज्ञानवती

अर्थ, पाठ, स्थान, मुख्य एवं प्रवृत्ति रूप प्रमाण वाले हैं। यहाँ पर "अध्वर्यु यजमान को दीक्षित करके ब्रह्मा को दीक्षा देता है" स्थल में क्त्वा की भाँति क्त्वाश्रुति नहीं है।

(पू) (यदि कर्मविचार एवं ब्रह्मविचार में क्रम नहीं है, तो) "तीन ऋणों को दूर करके मन को मोक्ष में लगाना चाहिये" यह श्रुति व्यर्थ हो जायगी? (उ) यह श्रुति तो जिसे नित्यानित्यवस्तुविवेक एवं वैराग्य नहीं हुआ है उसके लिये मोक्षोपलक्षित एवं तत् (=मोक्ष) फल वाले सन्यास का निषेध करती है। "(अग्निहोत्र करना चाहिये और यवागू पकाना चाहिये) यहाँ पर अग्निहोत्र के यवागू साध्य होने से अर्थात् उस (=यवागू) का पाक जैसे पहले होता है उसी प्रकार यहाँ पूर्वतन्त्र (अर्थात् पूर्वमीमांसा) का न्याय से साध्यत्व न होने से आर्थक्रम भी नहीं है। प्रयाज आदि के समान भी क्रम नहीं है क्योंकि

[1] (क) प्रवृत्तिक्रमाः। [2] (ख) क्रमावेद। [3] (ख) मात्वेन।

श्रुतेरत्राधिकारात्। तद्वदेकफलवदुपकारकत्वप्रयुक्तक्रमाकाङ्क्षायाः[1] अभावे विशेष-क्रमनियामकपाठक्रमस्यात्राप्रमाणत्वाच्च। सवनीयस्थाने पश्वालम्भश्रवणात् सवनीयपशोर्यथा पूर्वमालम्भः, तथाऽत्र स्थानक्रमोऽपि नोपलक्ष्यते। ज्योतिष्टोमविकृतौ

भावदीपिका

इत्यादिषु क्रमपठितयागेषु किं यथापाठमनुष्ठानक्रमः उत न? तत्र वाक्यानां स्वार्थ-मात्रावसितत्वात्[2] न क्रमपरतेत्यनियमप्राप्ते—राद्धान्तः—यथैतानि वाक्यानि स्वार्थविधायीनि तथाऽनुष्ठानापेक्ष्यस्मृत्युपयोगीन्यपि। तानि च क्रमवन्ति स्वाध्यायविध्यध्यापितानि क्रमवन्त्येव स्मरणानि जनयन्ति। स्मृतस्य चानुष्ठानमिति स्मरणक्रमेणानुष्ठानं नियम्यते। एवं क्रमपाठो-ऽपि दृष्टार्थो भविष्यति। तस्मात् पाठक्रमेण नियम इति निर्णीतं प्राचि तन्त्रे। सूत्रार्थस्तु एकस्मिन् क्रतौ श्रूयमाणानां प्रयाजानां पाठक्रमेण प्रयोगक्रमो नियम्यते। तस्य=पाठक्रमस्य; अनुष्ठाने लोके गुणत्वावगमात्। तत् यथा स्नायात् अनुलिम्पेत, भुञ्जीतेति पाठक्रमः पाठका-पेक्षयैववक्तव्यः। पाठकस्य वा नियतपठनस्यापि काण्डादिविषये दर्शनात् स्वाध्यायविधेश्च कण्डिकाक्षरादिव्यत्यास एव बाधप्रसङ्गान्न पाठक्रमोऽत्र नियामकः। प्रयाजादिवाक्यानां चैक-प्रकरणत्वात् ऐच्छिकपाठे स्वाध्यायविधिविरोधात्।

वैलक्षण्यान्तरमाह—तद्वदिति। एकम्=फलवत् कर्म। फलवत् कर्मभेदे हि भिन्नाधि-कारिणोर्युगपदनुष्ठानसम्भवान्न क्रमाकाङ्क्षा स्यात्, तदुपकारकत्वे च प्रयाजानामेककर्तृकत्वात् क्रमाकाङ्क्षेत्यर्थः। न चात्रैकं फलवत् ज्ञानकर्मभ्यामुपकार्यमस्ति, येन क्रमाकाङ्क्षा स्यादिति भावः। सवनीयस्थान इति। उक्तं चैतत्—"स्थानाच्चोत्पत्तिसंयोगात्"। ज्योतिष्टोमवि-कारसाद्यस्क्रसंज्ञेऽतिदेशप्राप्तेष्वग्नीषोमीयादिपशुषु सहत्वगुणविधानार्थं वचनं श्रूयते—"सह-पशूनालभेत" इति। तद्विधानाच्च प्राकृतः प्रथममग्नीषोमीयः, ततः सवनीयस्ततः आनुबन्ध्य इत्येवंरूपः प्रयोगकालक्रमो निवर्त्तते। सहत्वञ्चेदं सवनीयस्थाने। तथा सति इतरयोस्तुल्य-वत् स्थानचलनं भवति। सवनीयश्चाश्विनग्रहणान्तरं कालः प्रकृतावाम्नायते—"आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीय आग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति" इति। तत्रैककालत्वलक्षण-सहत्वासम्भवादवश्यंभाविनि क्रमे कः प्रथमं प्रयुज्यताम्?—इत्यपेक्षायां किमनियमेनैषां प्राथम्यम् उत सवनीस्य?—इति संशयः।

तत्र नियामकश्रुत्याद्यभावादनियमे प्राप्ते–राद्धान्तः—स्थानात् सवनीयप्राथम्यं नियम्येत, कुतः? उत्पत्तिसंयोगात्। प्रकृतौ हि सवनीयस्याश्विनग्रहणानन्तर्यमुत्पत्ताववगतम्; विकृतौ च

ज्ञानवती

विरक्त को उपनिषत्पाठमात्र से भी ज्ञान होने से "हम लोग क्यों पढ़ेंगे" इस श्रुति से (विरक्त का) यहां (अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति में) अधिकार है एवं उसी प्रकार एकफल वाले के उपकारकत्व से प्रयुक्त आकांक्षा का अभाव होने पर विशेषक्रमनियामक पाठक्रम का यहां अभाव है। सवनीयस्थान मे पशु का आलम्मन सुने जाने से सवनीय पशु का जैसे पहले आलम्भ होता है उस प्रकार यहाँ स्थानक्रम भी लक्षित नहीं होता। क्योंकि ज्योतिष्टोम

---

[1] (क) कारत्व।

[2] (ख) तत्त्वानुक्रम।

साद्यस्केऽतिदिष्टेष्वग्नीषोमीयसवनीयानुबन्ध्येषु "सह पशूनालभेत" इतिवत् सहत्वप्रापकाभावात्। नापि मुख्ययागक्रमेणाव्यवधानाया अङ्गक्रमवदत्र क्रमः;[1] अङ्गत्वाभावा-

भावदीपिका

तेनैव कालेन स उपस्थापितः। अग्नीषोमीयस्तु सहत्ववचनेन स्वस्थानाच्चालितः; ततः प्रथमं सवनीयस्यैवोपाकरणादिप्रयोग इतरयोस्तत्साहित्यवचनात् तदानन्तर्यं मिथश्च[2] नियमः। अथवा प्रकृतिदृष्टपौर्वापर्यस्यासति बाधके त्यागायोगात् प्रथममग्नीषोमीयमुपाकृत्यानुबन्ध्य उपाकर्त्तव्य इति। मुख्येति "मुख्यक्रमेण चाङ्गानां तदर्थत्वात्" :—"सारस्वतौ भवतः।" "एतद्वै दैव्यं मिथुनं यत्सरस्वती सरस्वांश्च" इति सरस्वतीदेवतं सरस्वद्दैवतञ्च युगपत् कर्मद्वयं श्रूयते। तत्र सरस्वतीदेवतस्य याज्यानुवाक्यायुगलं प्रथममाम्नायते, तदनन्तरं पुंदेवतस्य। तत्र मन्त्राणां प्रयोगशेषत्वात् याज्यानुवाक्यापाठक्रमेण प्रधानक्रमोऽवगतः। अङ्गविशेषे तु निर्वापादौ संशयः—किमनियतोऽस्य क्रमः, उत प्रधानक्रमेण नियत इति? तत्र याज्यानुवाक्यापाठक्रमस्य प्रधानमात्रगोचरत्वादङ्गानासनुष्ठानक्रमे श्रुत्याद्यभावान्मुख्यक्रमस्य च प्रमेयत्वेन प्रमाणत्वानुपपत्तेरनियमप्राप्तौ–

सिद्धान्तः—"मुख्यक्रमेणाङ्गानां क्रमो नियम्येत तदर्थत्वात्"=प्रधानार्थत्वाद् अङ्गानाम्। यद्यपि मुख्यक्रमस्य याज्यानुवाक्यापाठक्रमापेक्षया प्रमेयत्वम्, तथापि प्रमितस्याऽस्य धूमादेरिव प्रमाणत्वमविरुद्धम्। प्रधानस्य हि प्रयोगविधिना साङ्गस्यैव प्रयोगश्चोदितः। स चावर्जनीयाद् व्यवधानादधिकव्यवधिमङ्गानां न सहते। यदि तु प्रधानान्तरसन्निधौ अङ्गानुष्ठानम्, तदा तेनैव स्वप्रधानादङ्गानि विप्रकृष्येरन्। अतो मुख्यक्रमादङ्गक्रमनियम इति जैमिनिना निरणायि।

"प्रवृत्त्या तुल्यकालानां तदुपक्रमात्"—वाजपेये "सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभेत" इति सप्तदश यागा अङ्गत्वेन श्रूयन्ते। तेषाञ्च "वैश्वदेवीं कृत्वा सह प्रचरन्ति" इति प्रयोगसाहित्यश्रवणादेकोपक्रमोपसंहार एक एवान्तरप्रयोगः। तेनैषामतिदेशप्राप्ताः प्रोक्षणादिधर्माः नैकैकत्र समापनीयाः; किं तर्हि? सर्वेष्वेक एव पदार्थः समापनीयः ततोऽन्यः, ततोऽन्यः; इतरथा ह्येकस्मिन् पशौ सर्वाङ्गानुष्ठाने प्रधानस्य द्वितीयादिपशोः सर्वाङ्गैर्विप्रकर्षः स्यात्। तत्र प्रथममेकपदार्थानुष्ठाने विशेषतो वेदाभ्यनुज्ञाभावादिच्छैव नियामिका। तदेवं स्थिते द्वितीयादिपदार्थप्रयोगे संशयः—किं प्रथम इव द्वितीयादावपीच्छैव कारणमुत प्रथमप्रवृत्त्यैव नियम इति? तत्र पूर्वपक्षः—न तावत् श्रुत्यादि इहास्ति नियामकं प्रथमाङ्गप्रवृत्तिश्च[3] पौरुषेयी वेदेन[4] नाभ्यनुज्ञायत इति न तद्वशात् उत्तरनियमः। तेन

ज्ञानवती

की विकृति=साद्यस्क में अतिदिष्ट अग्नीषोमीय, सवनीय एवं आनुबन्ध्यों में "पशुओं की एक साथ बलि करनी चाहिये" इसके समान सहप्रापकत्व का अभाव है। और न तो मुख्य याग के क्रम से अव्यवधान के लिये अङ्ग के क्रम के समान सहत्व के प्रापक का अभाव है। न ही

---

[1] (ख) योग। [2] (क) र्थत्व। [3] (क) चापौरु। [4] (ख) देनाभ्य।

देव। नापि वाजपेयाङ्गप्राजापत्यपशुष्वतिदिष्टप्रोक्षणादेर्यमारभ्यैकप्रवृत्तिस्तमारभ्यैव धर्मान्तरप्रवृत्तिवदत्र प्रवृत्तिक्रमः। (तस्मात्[1]) ब्रह्मविचारविधिः स्वतन्त्रफलाधिकारिप्रवृत्तिः, सिद्धब्रह्मविचारविषयोऽसिद्धधर्मविषयविचारनिरपेक्ष[2] इति पुष्कलम्।

[देहादावहंप्रत्ययो भ्रमो न गौणः—]

अथ कथमात्मज्ञानस्य मोक्षः फलं यावता तस्य संसारसहभावो लक्ष्यते? लिङ्गलिङ्गिभावसम्बन्धस्मृत्यनपेक्षं विषयस्वभावभेदानुविधायि 'अहम्' इति विज्ञान-

भावदीपिका

प्रथमतराश्रितपुरुषेच्छैव चरमतराङ्गनियामिका। प्रयोगसौकर्यञ्चैवं लभ्येत। इतरथा हि प्रथमप्रयोगानुसन्धानव्यग्रमनस उपरितनं च [प्रयोगं] तद्वशेन [तन्वा-]नस्य मतिक्लेशः स्यात्। तस्मादनियम इति प्राप्ते—

राद्धान्तः—एकप्रयोगतया तुल्यकालानाम्=प्रोक्षणाद्यङ्गानाम्; प्रवृत्त्या क्रमनियमः; कुतः? तदुपक्रमात्=तेन प्रधानेनाङ्गानामुपक्रमात्; तदेकप्रयोगत्वादित्यर्थः। सप्तदश यागाङ्गानि हि सहप्रयोज्यानि। प्रथमाङ्गानुष्ठाने सति द्वितीयादौ षोडशभिर्व्यवधानमभ्यनुजानन्ति न ततोऽधिकम्। प्रावृत्तिकक्रमाश्रयणे च सप्तदशसु प्रथमाङ्गानुष्ठाने द्वितीयो धर्मः प्रथमादिपशुषु क्रियमाणः षोडशभिरेव व्यवधीयते। क्रमान्तराश्रयणेऽधिकैरपि व्यवधानं स्यात्। ततः प्रयोग[-वचन-]कोपपरिहाराय प्रवृत्त्या नियम इति। सोऽयं प्रावृत्तिकोऽपि क्रमो नात्र युक्तः—इत्याह—नापि वाजपेयेति। तस्मादिति वादार्थमुपसंहरति।

[देहादावहंप्रत्ययो भ्रमो न गौणः—]

एवं प्रथमवादसंगृहीतं विचारविधिं प्रपञ्चेन उपपाद्य तत्रैव संगृहीतं प्रयोजनं प्रपञ्चेन उपपादयितुं वादान्तरमारभमाणो न्यायमतेन पूर्वपक्षयति—अथ कथमिति। यद्यपि वेदान्तवाक्यादात्मसाक्षात्कारस्य मोक्षः स्वातन्त्र्येण फलमिति व्युत्पादितम्, तथापि वेदान्तेष्वेव "तरति शोकमात्मवित्" इति श्रवणात् आत्मज्ञानस्यैव नियतमोक्षसाधनत्वम्। तच्च प्रमाणान्तरादपि भवन्निवारयितुं न शक्यते; अस्ति चात्र प्रमाणान्तरम्—इत्याशयेनाह—लिङ्गेति।

ज्ञानवती

तो मुख्य याग के क्रम से अव्यवधान के लिये अङ्ग के क्रमके समान यहाँ क्रम है। क्योंकि यहाँ अङ्गत्व ही नहीं है। और न वाजपेय याग के अङ्गभूत प्रजापति देवता वाले पशुओं में अतिदिष्ट प्रोक्षण आदि का जिससे आरम्भ करके एक प्रवृत्ति हुई उसी से आरम्भ करके धर्मान्तर की प्रवृत्ति के समान यहाँ प्रवृत्ति क्रम है। इसलिये ब्रह्मविचारविधि स्वतन्त्रफल के अधिकारी की प्रवृत्ति वाली है, सिद्धब्रह्म का विचार उसका विषय है और यह असिद्धधर्मविषय वाले विचार से निरपेक्ष है।

[देह आदि में अहंप्रत्यय भ्रम है गौण नहीं—]

(पू) आत्मज्ञान का फल मोक्ष कैसे है क्योंकि उस (=आत्मज्ञान) की संसार के साथ सत्ता लक्षित होती है? लिङ्ग (=हेतु) एवं लिङ्गी (=साध्य) के सम्बन्ध (=व्याप्ति) की

---

[1] (क) अतएव तस्मात्। (ग–घ) तस्मात्। [2] (क) सिद्ध।

मात्मनि रूपादिविज्ञानवत् प्रत्यक्षम् ; न च रूपादिस्कन्धगोचरमेतत् ; प्रतिषिद्धत्वात् ; प्रतिषिद्धो ह्यहङ्कारो रूपादिषु 'रूपं नाहम्', एवमेतत् [मृषा[१]] रूपं "तत्त्वमसि" इति। न च 'अहं रूपम्' 'अहं वेदादयः' इति कदाचिदपि रूपादिष्वहंकारो दृश्यते।

ननु भवति 'अहं गौरः' 'अहं कृष्णः' इति ? न भवतीति ब्रूमः ; न ह्यस्य द्रष्टुः 'यदेतन्ममरूपं गौरमेतदहम्' इति प्रत्ययो भवति। केवलं तु मतुब्लोपं कृत्वा षष्ठ्यर्थनिर्देशोऽयम् ; उपकारकत्वात् ; 'योऽयं सोऽहम्' इतिवत्। अतः प्रत्यक्षेण व्यतिरिक्त एव देहादिभ्य आत्मा स्फुरतीत्युद्योतकराचार्याः[२]। तथा न्यायसूत्रकारोऽपि--व्यतिरिक्तश्चेदात्माऽहंप्रत्यक्षसिद्धो न ब्रह्मवधादिपातकम् ? इत्याशङ्क्य; समादधे—"न कार्याश्रयकर्तृवधात्"[३] इति। अयमर्थः—न ब्रूमो नित्यस्यात्मनो वधाद्धिंसा, किन्तु कार्य-

भावदीपिका

अत्र लिङ्गलिङ्गिभावानपेक्षमित्यनुमानव्यवच्छेदः; सम्बन्धः=सङ्केतः तज्जन्यस्मृत्यनपेक्षमित्यागमव्यावृत्तिः; विषयस्वभावभेदानुविधायीत्यसाधारणांशग्राहकत्वोक्त्या[४] साधारणसादृश्यग्राहकोपमानव्यवच्छेदः। एवं प्रत्यक्षलक्षणाक्रान्तत्वादहमिति ज्ञानं प्रत्यक्षमित्यर्थः। अस्य बौद्धमतेनानात्मविषयमाशङ्क्य परिहरति—न चेति। अनुभवाभावादप्येवम्—इत्याह—न चाहमिति।

इत्थमनुभवाभावेऽप्यनुभवान्तरमस्ति ?—इत्याशङ्क्य[५] तद् गौणमौपचारिकमिति परिहरति—नन्वित्यादिना। यस्माद् 'रूपादिमानहम्' इत्यभिमन्यमानः 'कृष्णोऽहम्', 'गौरोऽहम्' इत्यादि-सामानाधिकरण्यप्रयोगं करोति तेन न[६] रूपादिस्कन्धविषयोऽयम्, किन्तु व्यतिरिक्तचेतनविषयो भवतीति सिद्धम्—इत्याह—अत इति। अक्षपादैरप्येतत् स्वीकृतम्—इत्याह—तथेति। व्यतिरिक्तस्यात्मनो ब्राह्मणत्वाद्यभावाच्चेतनहिंसानिमित्तं पातकं न स्यादित्यर्थः। यस्मात् कृष्णत्वादिषु व्यावृत्तेषु अहमास्पदमनुवर्त्तमानं मणि-

ज्ञानवती

स्मृति की अपेक्षा नहीं रखने वाला विषय के स्वभावभेद का अनुविधायी 'अहम्' ऐसा विज्ञान आत्मा में रूपादिविज्ञान के समान प्रत्यक्ष है। यह (=आत्मा) रुपादिस्कन्ध का विषय नहीं है। क्योंकि (उसी प्रकार) प्रतिषिद्ध है जैसे रूपादि में अहंकार प्रतिषिद्ध है=मैं रूप नहीं हूँ; उसी प्रकार यह "तत्वमसि" भी मृषा रूप है। और रूप आदि में 'मैं रूप नहीं हूँ' 'में वेद आदि हूँ' ऐसा अहंकार कभी नहीं देखा जाता। (पू) 'मैं गोरा हूँ' 'मैं काला हूँ' ऐसा होता ? (उ) ऐसा नहीं होता है यह हम कहते हैं। द्रष्टा को, 'जो यह मेरा रूप है वह मैं गोरा हूँ ऐसा अनुभव नहीं होता। यह केवल मतुप् का लोप करके षष्ठ्यर्थ निर्देश है क्योंकि उपकारक है, जैसे कि 'जो यह है वह मैं हूँ' ऐसा प्रयोग होता है (अर्थात् यहाँ 'अहं गौरः' में मतुप् का लोप करके षष्ठ्यर्थ निर्देश है गौरवतः (शरीरस्य) अहं (आत्मा)। इसलिये देहा आदि से अतिरिक्त आत्मा प्रत्यक्ष भासित होता है ऐसा उद्योतकराचार्य (न्यायवार्तिक-

---

१ (क) भिक्षारूपम्। २ न्या० वा० ता० टी०। ३ न्या० सू० ३।१।६।
४ (क) हत्वोक्त्या। ५ (क) क्यातद्। ६ (क) तेन निरूपादि।

सुखादिवेदनम्, तदाश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेः कर्तॄणामिन्द्रियाणाञ्च वधादुच्छेदाद्वैकल्याद्धिंसोपचार इति। तस्मात् 'अहम्' इति प्रत्यक्षेण व्यतिरिक्तात्मनि स्फुरत्यपि संसारोऽयमनुवर्त्तमानो नात्मज्ञानोच्छेद्यः।

अत्रोत्तरम्—'सिंहो देवदत्तः' इतिवन्नायं गौणः प्रत्ययो येन व्यतिरिक्तस्फुरणं स्यात्, किन्त्वध्यासोऽयमनाहार्यारोपरूपः प्रसिद्धः, स्थाणौ 'पुमान्' इति यथा;

भावदीपिका

सूत्रवत्ततो भिन्नम्। तस्य च जागरादिष्वेकत्वेनानुसन्धानात् द्रष्टृत्वेन, सत्त्वे सति अकारणपूर्वकत्वाच्च नित्यत्वम्। श्रुत्याऽपि "एष नित्यो महिमा" इत्यवगतम्। ततस्तज्ज्ञानं संसारोच्छेदकं चेत्, न एतावन्तं कालं तदनुवृत्तिः स्यात्, अस्ति च, ततो न तदुच्छेदकम्—इत्येवं प्राप्ते—सिद्धान्तयति—अत्रोत्तरमिति।

अत्र वक्तव्यम्—किं गौणत्वावष्टम्भेन तन्मूलं मुख्यगौणात्मनोर्व्यतिरेकस्फुरणं व्यवस्थाप्यते व्यतिरेकस्फुरणावष्टम्भेन वा गौणत्वम्? नाद्यः—इत्याह—सिंह इति। व्यतिरेकस्फुरणाभावे सिंहे सिंहत्वस्य गौणत्वाभावात्[1]। गौणत्वेन व्यतिरेकस्फुरणं निरूपयतः स्फुटमन्योन्यापेक्षणमिति भावः। किंच "अथातोऽहंकारादेशः; अहमेवाधस्तादहमुपरिष्टात्" इत्यादिना अहंप्रत्ययगम्यं पृथङ् निर्दिश्य "अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तात्, आत्मोपरिष्टात्, आत्मा पश्चात्, आत्मा पुरस्तात्, आत्मा दक्षिणतः, आत्मोत्तरतः, आत्मैवेदं सर्वमिति स वा एष एवं पश्यन्, एवं मन्वानः, एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीडः, आत्ममिथुनः, आत्मानन्दः स स्वराड् भवति। तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति। अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति। तेषां सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति"—इति यस्यात्मनो विज्ञानान्मोक्षस्तन्निर्दिशति श्रुतिः। तेन यद्यपि देहादिव्यतिरिक्तविषयत्वं चिदात्मनि, तथापि समारोपिताहङ्कारविषयोऽहंप्रत्ययः। कुतोऽस्य चिदात्मप्रत्ययत्वेन देहादौ गौणत्वाशङ्काऽपि?—इत्याह—किन्त्विति। यदि चिदात्मनि समारोपिताहङ्कारविषयोऽहंप्रत्ययस्तर्हि अधिष्ठानसामान्योल्लेखः पृथक् वक्तव्यः—इत्याशङ्क्य, प्रमाणसिद्धभेदयोरैक्यप्रत्ययस्याध्यासत्वसिद्धौ द्वयाकारोल्लेखाभावो-

ज्ञानवती

तात्पर्यटीका में कहते हैं)। न्यायसूत्रकार भी (कहते हैं कि) यदि अहंप्रत्यक्ष से सिद्ध आत्मा दूसरा है तब तो ब्रह्मवध आदि का पाप (शरीर को ही होगा आत्मा को) नहीं होगा। न कार्याश्रयकर्तृवधात्" इसका यह अर्थ है—हम यह नहीं कहते कि नित्य आत्मा के वध से हिंसा होती है किन्तु कार्य'=सुख' आदि के अनुभव के आश्रय'=शरीर' की अपने विषय की उपलब्धि के और कर्त्ता'=इन्द्रियों' के वध'=उच्छेद या वैकल्य से' हिंसा का उपचार होता है। इसलिये 'अहम्' इस प्रत्यक्ष से अतिरिक्त आत्मा के प्रकाशित होने पर भी यह संसार अनुवर्त्तमान रहता है और आत्मज्ञान से उच्छेद्य नहीं है।

(उ) इस विषय में उत्तर है—'देवदत्त सिंह है' इसके समान (मैं गोरा हूँ) यह ज्ञान गौण नहीं हैं जिससे व्यतिरेक प्रतीति हो। किन्तु जैसे स्थाणु में 'यह पुरुष है' ज्ञान होता है

[1] (ख) गौगत्वात्।

दारुवह्निवदहंज्ञात्रोस्तादात्म्यात्; 'इदं रजतम्' इतिवत् द्व्याकारत्वसम्भवात्; 'अहम्' इत्यध्याससम्भवाच्च। यथाहि 'मम भृत्यः' इति निरूढाभिमाने सति कारणविशेषात् 'अयमहमस्मि' इत्युपचारादागन्तुरभिमानः, न तथाऽत्र,

भावदीपिका

किञ्चित्करः। 'त्वम्' 'अहम्' इति च प्रत्ययवैचित्र्यादहमित्यात्रात्मीयांशोल्लेखोऽपि वक्तव्यः; अन्यथा[1] घटान्तरे[2] घटप्रत्ययवदात्मान्तरेऽप्यहंप्रत्ययो दुर्वार इत्यभिप्रेत्याह—दार्विति।

नन्वात्मानात्मनोस्तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभावयोः जडाजडत्वेन कथमैक्याध्यासः? न खलु"आदित्यो ब्रह्म"इत्यादिवदत्रास्ति विधानं येन जडाजडयोरप्यैक्याध्यासः स्यात्; न च विधानमन्तरेणापि स्थाणुपुरुषयोर्गण्डशिलादन्तावलयोरिव च चेतनाचेतनयोरैक्याध्यासः स्यादिति वाच्यम्; तद्वदत्र सादृश्यानिरूपणात्। न च गुणावयवसादृश्याभावेऽपि केतकीगन्धसदृशसर्पगन्ध इतिवत् सादृश्यान्तरं, शङ्खपीतिमादाविव कारणान्तरं, वा कल्प्यत इति वाच्यम्; वैषम्यात्। केतकीसर्पगन्धयोर्हि गुणावयवसादृश्याभावेऽपि गन्धान्तरेभ्यो व्यावर्त्तकविशेषलक्षणसादृश्यसम्भवात् भूयस्त्वोपेतगुणावयवक्रियाणां सादृश्यत्वनियमः, जात्यादावपि तद्व्यवहारात्। केचित्तस्य पदार्थान्तरत्वस्वीकाराच्च न युक्त इति मन्यते। पीतिम्नश्च नीलिमवत् तदाधारद्रव्याग्रहणेऽपि ग्रहणसम्भवाद् गुण्याकाङ्क्षरूपत्वाच्च,[3] तद्विवेचनासमर्थेन मसिनीलिम्न इव शङ्खपीतिम्नः समारोपसम्भवात्; चिदात्मनश्च विशेषाकाङ्क्षयाऽनिरूपणात्; तस्मान्न युक्तश्चेतनाचेतनयोरध्यास इति? —उच्यते—अत्र तावज्जलादावाकाशस्येव मायायां चिदात्मनः प्रतिबिम्ब इष्यते। न च तत्र सादृश्यादि प्रयोजकं किन्तूपसन्निधानमेव। मायाप्रतिबिम्बितस्य च तस्याऽहङ्कारपरिणामे तदनुगमे तदनुगतचैतन्यस्य तादात्म्येनाऽनुभावनान्न कश्चिद्दोषः। इदमंश-रजतांशयोरिवात्मानात्मनोः क्वचिदवास्तवतादात्म्याभावात् न भ्रान्तिनिमित्तमपि[4] तादात्म्यमित्यादि चोद्यं गौणत्वासम्भवादपोह्यम्। स्थिते[5] ह्यध्यासेऽन्यत्राभावस्तृतीयप्रकृतेरिवाऽकिञ्चित्करः। अन्यत्राऽघटमानसत्त्वमपि भ्रान्तौ क्वचिद् दृष्टं च गगनप्रासादि।

द्वितीयं निराचष्टे—यथा हीति। सम्प्रतिपन्नप्रमाणेन भृत्यस्वामिनोरिव चेतनदेहादिसङ्घातयोः व्यतिरेकग्रहणाभावान्न गौणत्वनिश्चयः किन्तु युक्त्या अहमिति प्रत्यक्षं यद्यपि व्यतिरिक्तात्मप्रतिष्ठं[6] क्रियते तथापि वर्णेषु ह्रस्वत्वाद्यवभास इव चन्द्रे प्रादेशि-

ज्ञानवती

उस प्रकार (मैं गोरा हूँ) यह अनाहार्य का आरोपरूप अध्यास प्रसिद्ध है। जैसे दारु एवं वह्नि में उसी प्रकार अहं एवं ज्ञाता में तादात्म्याध्यास है। जैसे 'यह चाँदी है' इस ज्ञान में दो आकार (=यह एवं चाँदी) सम्भव है उसी प्रकार ('मैं गोरा हूँ' में भी दो आकार सम्भव है) और 'अहं' यह अध्यास सम्भव है। जैसे कारणविशेष से 'मेरा नौकर है' यह अभिमान दृढ़ हो जाने पर स्वामी को 'मैं ही यह हूँ' ऐसा उपचारात् अभिमान होता है, वैसा यहाँ नहीं है, किन्तु

---

[1] (ख) अपरत्वात्। [2] (ख) पटा। [3] (ख) गुह्या।
[4] (क) मम। [5] (ख) भ्रा। [6] (क) ष्ठां।

किन्त्वसत्येव निसर्गतो देहादिव्यतिरेकवत्यात्मनि 'अहम्' इत्यभिमाने भृत्यादिविश्लेषितस्य तदागमायोद्यमवत् अत्रोद्यमस्यापि विश्लेषितस्यासम्प्रतिपत्तेः स्वस्वामिसम्बन्धोऽप्यसम्भाव्यः। स्वकर्मोपार्जितत्वाविशेषाच्च स्वेनेव भृत्यादिदेहेनापि व्यवहारः प्रसज्ज्येत। न चाविद्यापक्षेऽप्येतत्तुल्यं न स्यात्। अन्यस्मिन्नन्यात्मनाऽवभासकौ-

भावदीपिका

शल्वावभास इव च देहाद्यैक्यावभासो विस्फुटो वास्तवं भेदं[1] बाधित्वा वर्त्तते। तेन विवेकाग्रहस्याध्यासप्रयोजकस्य सद्भावात्, ऐक्यप्रत्ययाच्चाध्यासो निश्चीयत इति भावः। उपचारकारणान्तराभावाच्च नायमौपचारिकः—इत्याह—भृत्यादीति। सम्बन्धानुपपत्तिभ्यां ह्युपचारो भवति। यथा "मासमग्निहोत्रम्" इत्यत्र प्रकरणान्तरत्वान्मुख्याग्निहोत्रानुपपत्तौ द्रव्यादिसादृश्यसम्बन्धात् कर्मान्तरमग्निहोत्रमुक्तं प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वमिति।

अथ संसारस्यानादित्वादवर्त्तमानदेहापादकं कर्म पूर्वदेहसम्बन्धेनार्जितं तत्पूर्वेण तदापादकमिति न दोषः? न चान्धपरम्परैषा कल्पना; औषधादिप्रयोगक्रियया मनुष्यदेहस्य सतो व्याघ्रादिदेहान्तरसम्बन्धदर्शनाद् दृष्टपरम्परया बीजाङ्कुरवददृष्टपरम्पराश्रयणात्? तत्राह—स्वकर्मेति। न च वाच्यम् भृत्यादिदेहस्य जीवान्तरकर्मणाऽप्यारब्धत्वान्न साम्यमिति; स्वामिदेहस्यापि[2] तदुपकार्यजीवान्तरकर्मणाऽरब्धत्वात्। न च स्वपरकर्मणोराधिक्यान्न्यूनत्वाच्चायं विभागः; ऐक्याध्यासमन्तरेण स्वकर्मानिरूपणात्। एतेन योगव्याघ्रादिदेहवत् क्वचिदसाधारण्यं निरस्तम्।

न चाध्यासोऽपि सर्वत्रैकरूपः किं न स्यादिति वाच्यम्?—इत्याह—नचाविद्येति। अविद्या ह्यनादिकालं स्वप्रतिबिम्बे चिदात्मनि स्वकार्यमसाधारण्येनाऽसञ्जयति जलमिव स्वप्रतिबिम्बिते सावित्रबिम्बे। सा च प्रतिजीवं भिन्नेति सर्वत्राऽहंमानाऽप्रसङ्गे कर्मनिमित्तो भृत्यस्वाभिभावोऽपि दृष्टो न विरुध्यते; "यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः" इति श्रुतेश्च। न चाऽन्याविद्यानिर्मितदेहस्य स्वाप्नदेहवदन्याप्रत्यक्षत्वान्न दृष्टभृत्यस्वामिव्यवहारसिद्धिरिति वाच्यम्; वैचित्र्यदर्शनात्। अविद्यारब्धत्वाऽविशेषेऽपि किञ्चिदल्पकालमेव किञ्चिद् ब्रह्मज्ञानपर्यन्तमिति स्वीकारात् प्रत्यक्षत्वाप्रत्यक्षत्ववैलक्षण्योपपत्तेरन्यथोक्तभङ्ग इति भावः। आविद्यकत्वे देहाद्यात्मत्वाभिमानस्य देवादिदेहाप्तिफलानां कर्मविद्याविशेषाणां

ज्ञानवती

देह आदि से अतिरिक्त आत्मा के बारे में स्वभावतः 'मैं' ऐसा अभिमान न होने पर, जैसे भृत्य से अलग होकर (स्वामी) भृत्य के पुनरागमन के लिये उद्यम करता है उस प्रकार यहाँ पर (शरीर से) विश्लेषित (आत्मा) के उद्यम का ज्ञान नहीं होने से स्वस्वाभिभावसम्बन्ध भी असम्भव है। और (शरीर में अहंप्रत्यय को गौण मानने पर) स्वकर्मोपाजितत्व के दोनो जगह समान होने से अपने (शरीर) के समान भृत्य आदि के देह के सांथ भी व्यवहार होने लगेगा। अविद्या के पक्ष में भी यह तुल्य नहीं है, ऐसा नहीं, क्योंकि अन्य में अन्य रूप से आभास की कला स्थाणु आदि में प्रसिद्ध है।

१ (क) तद्। २ (क) स्वाम्व।

शलस्य प्रसिद्धतरत्वात् स्थाण्वादौ। न च "पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा", "रमणीयाचरणा[१] रमणीयां योनिम्" इत्याद्याम्नायात् कर्मैवात्र हेतुः; "नीहारेण प्रावृताः" इत्यादि बह्वागमानुगुण्येन पूर्वव्यवस्थापनात्। युक्तिबलाद् गौणत्वे स्थाणौ पुम्प्रत्ययोऽपि गौणः स्यात्।

अथ तत्र बाधान्मिथ्यात्वम्, नेह बाधोऽस्ति? तथा सति स्थाणौ पुंवत्,

भावदीपिका

प्रतिपादकशास्त्राप्रामाण्यप्रसङ्गात्; अतो विभिन्नदेहैक्याभिमानकामनया कर्मविद्याविशेषानुष्ठानविधायिशास्त्रबलात् नाविद्यकोऽयमभिमानः?—इत्याशङ्क्याह—न च पुण्येति। "तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुः", "यथाकारी यथाचारी यथाकर्म यथाश्रुतम्" इत्यादिशब्दात् "न तं विदाथ य इमा जजान", "यद्युष्माकमन्तरं बभूव", "नीहारेण प्रावृताः जल्प्या च" इति स्वस्वरूपभूतपरमात्माज्ञाननिबन्धनं जीवेश्वरादिविभागाध्यासः। नीहारेण प्रावृतानाम्;—'मनुष्योऽहम्', 'ब्राह्मणोऽहम्' इत्यादिदेहाद्यैक्याध्यासप्रावृतानाम्; च "उक्थशासश्चरन्ति" इत्युक्तोपलक्षितकर्मविद्याविशेषावरणात् देवादिदेहप्राप्तिरूपसंसारावरणश्रवणात्[२] कर्मविद्ययोरप्यध्यासमूलत्वम्। "न स वेद", "तं न पश्यति कश्चन तं न पश्यति", "त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानाः"—तेषां सत्यानां सतामनृतमपिधानम्; "तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः", "अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः", "अविद्यायाश्च" इत्यादय बहव आगमाः। यद्यपि कर्मविद्याविशेषागमबाहुल्यमस्ति तथापि तेषां कूटस्थब्रह्मस्वभावात्मपरागमसहस्रानुकृतागमानां देहाद्युपादानाविद्यासमर्पकाणां तद्विरुद्धविक्रियास्वभावदेहादिनिमित्तमात्रकर्मविद्याविशेषसमर्थकेभ्यो बलीयस्त्वात्तदनुसारेणैव मन्तव्य इति विहिततर्कोन्नेयम्। न खलु निरागमः कपिलकणाद्युत्प्रेक्षितः शुष्कस्तर्कः परस्परविरुद्ध प्रधानपरमाण्वादिजगदुपादानविषयतया सर्वत्र ब्रह्मैककारणवादिवेदान्तप्रतिकूलाव्यवस्थित तत्त्वज्ञानाङ्गत्वेन मोक्षापर्यवसायी मन्तव्य इति ग्रहीतुं युक्तः। "गतिसामान्यात्", "कारणत्वेन चाऽकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः" इति च यथैवैकत्र कारणत्वेन ब्रह्म व्युपदिष्टं तथैव सर्वत्रेति निर्णीतत्वाच्चेति भावः। अथान्धस्य स्वप्ने चक्षुष्मत्त्वेन व्यवहारानुभवादित्यादियुक्त्या देहात्मनोर्भेदावगमादगौणः सामानाधिकरण्यव्यपदेशः?—इत्याङ्क्याह—युक्तीति।

वैषम्यमाशङ्कते—अथेति। अथ यत्र विवेके सत्यनुच्छेदोऽपरोक्षभ्रमस्य,

ज्ञानवती

"पुण्य कर्म से पुण्य योनिवाला एवं—पाप कर्म से पापयोनि वाला होता है।" "रमणीय आचरण करने वाले रमणीय योनि—निन्दित आचरण करने वाले निन्दित योनि को प्राप्त होते हैं" इत्यादि श्रुति से कर्म ही यहाँ (=स्वर्ग आदि के लाभ में) हेतु हैं? ऐसा नहीं है। क्योंकि" नीहार से ढँके हुए" इत्यादि अनेक आगम के प्रमाण के द्वारा पहले ही व्यवस्था की जा चुकी है। (देहात्मप्रत्यय के) युक्ति के बल से गौण होने पर स्थाणु में पुरुष का ज्ञान भी गौण हो जायगा।

---

[१] (क) रमणीय चरणा। [२] (क) राचरण।

विवेकप्रत्यये देहप्रविलयः स्यात्। अथ परोक्षप्रत्ययत्वादपरोक्षभ्रमाबाधः? तन्न; ब्रह्मतत्त्वं साक्षात्कुर्वतोऽपि जीवन्मुक्तस्य देहानुवृत्तेरिष्टत्वात् अबाध्यत्वनिश्चयात्। न च स्वप्नस्याप्यवश्यं जाग्रद्बोधेन बाधः; स्वप्नानन्तरं सम्प्रसादस्यापि दर्शनात् सम्प्रसादोच्छेदेन तस्यैव जागराद्युपादानत्वेन जागरणमेव मोक्षः प्रसज्ज्येत। अतः स्वप्नदृष्टान्तेनान्त्यप्रत्ययेन विदुषो देहबाधो दुर्निरूपः। तस्मादबाध्यत्वाद्देहस्य तत्रात्मनि मुख्योऽहंप्रत्ययो गौणः सार्षपादाविव तैलप्रत्ययः।

अत्रोच्यते—"भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः[१]" "यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः

भावदीपिका

तत्रापरोक्षविवेकाभावाच्चन्द्रप्रादेशिकत्वभ्रमस्येव?—इत्याशङ्क्य दूषयति—अथेति। अथ स्वाप्नदेहवदन्त्यसाक्षात्कारेण देहोच्छेदः—इत्याशङ्क्य, स्वप्नस्य किं सर्वस्य बाधदर्शनादेव निश्चयः कस्यचिद् वा? नाद्यः—इत्याह—न च स्वप्नस्यापीति। तर्हि सम्प्रसादोच्छेद एव दृष्टान्तोऽस्तु?—तत्राह—सम्प्रसादेति।

"सुषुप्ताख्यं तमो ज्ञानं बीजं यत् स्वप्नबोधयोः" इत्याचार्यैरुक्तत्वात् तस्यैव जागराद्युपादानत्वम्। अतएव तदनुच्छेदे कस्यापि स्वप्नस्योच्छेदाभावान्न द्वितीयोऽपीति भावः। यस्मादुच्छेदात्मको बाधो दुर्निरूपः, यस्माच्च मायाविनिर्मितदेहवदस्य मिथ्यात्वबोधनमपि न समञ्जसम्, वास्तवसत्त्वभ्रमोच्छेदे हि मिथ्यात्वबोधो भवति, यदा चाधिष्ठानतत्त्वबोधेऽपि सत्त्वानुवृत्तिस्तदा वास्तवसत्त्वनिश्चयेन तद्भ्रमासम्भवात्तदुच्छेदाधीनमिथ्यात्वबोधस्य दुर्घटत्वम्; तस्मादित्युपसंहारः।

अनुमानपक्षे हि दृष्टान्तापेक्षा न श्रुतिपक्ष इत्याशयेन परिहरति—अत्रोच्यत इति।

ज्ञानवती

(पू) वहाँ (स्थाणु में पुरुष का ज्ञान होने पर उत्तरकाल में) बाध होने से मिथ्यात्व है, यहाँ (अर्थात् शरीर में अहंप्रत्ययस्थल में) बाध नहीं है क्योंकि वैसा होने पर स्थाणु में पुरुष के (ज्ञान के) समान विवेकज्ञान होने पर देह ही नष्ट हो जायेगा। (पू) (ब्रह्मज्ञान के) परोक्ष होने से अपरोक्ष भ्रम का बाध नहीं है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि ब्रह्मतत्त्व का साक्षात्कार करने वाले जीवन्मुक्त की भी देहानुवृत्ति मानी जाती है इसलिये बाध्यत्व का निश्चय नहीं है। (पू) स्वप्न का भी जाग्रत् अवस्था से अवश्य बाध होता है? (उ) स्वप्न के बाद सुषुप्ति के भी दिखाई पड़ने से सम्प्रसाद के उच्छेद से उसी (सम्प्रसाद) के जागरण के उपादान होने से जागरण ही मोक्ष हो जायगा। इसलिये स्वप्न के दृष्टान्त से अन्तिमज्ञान के द्वारा विद्वान् का देहबाध दुर्निरूप है। इसलिये देह के बाध्य न होने से उस आत्मा के विषय में मुख्य अहं का ज्ञान, वर्त्तमान सरसो के द्रव में तैलज्ञान के समान (देह में) गौण है।

(उ) इस विषय में कहते हैं—"फिर अन्त में समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है",

[१] श्वे० १।१०।

समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चासां नामरूपे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते, एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकला भूतानि प्राण इन्द्रियं नाम कर्म श्रद्धा लोको तपो मन्त्रा मनो वीर्यं शरीरञ्चेति पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति"[१] इत्यादिश्रुतिभिर्विदुषो देहस्यान्त्यप्रत्ययेन उच्छेदावधारणान्नामरूपे शक्त्यात्मकेऽपि हि भिद्येते। तथाच पारमर्षं सूत्रम्—"तानि परे तथा ह्याह[२]"। अस्य च भाष्यम्—"तानि पुनः प्राणशब्दोदितानीन्द्रियाणि भूतानि च परब्रह्मविदः तस्मिन्नेव परस्मिन्नभिप्रलीयन्ते। कस्मात्? तथा ह्याह श्रुतिः—एवमेवास्य परिद्रष्टुः[३] = समन्ताद्वर्तमानब्रह्मसाक्षात्कारवतः[४] इति।"

भावदीपिका

सव्याख्यानसूत्रसम्मत्याऽप्येतदुपपादयति—तथाचेति। श्रुत्यन्तरविरोधमुद्भाव्य परिहरति—नन्विति। एतद्व्यवस्थापनाय मतान्तरमुत्थापयति—सा कलानामिति। तद्दूषयति—तत्रेति। श्रूयतामेवं तथाप्युक्तगतेः किमायातम्?—इत्याशङ्क्य न्यायालोचनया गत्याभासोऽयम् इत्याह—तत्र येयमिति। "स यथा सोम्य! वयांसि वासो वृक्षं सम्प्रतिष्ठन्त, एवं ह वै तत्सर्वं परे आत्मनि संप्रतिष्ठते पृथिवी च पृथिवीमात्रा" इत्यादिना कार्यकारणभूतस्थूलसूक्ष्मभूतानां, "चक्षुश्च द्रष्टव्यं च" इत्यादिना सविषयेन्द्रियाणां, च "तत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति" इत्यवतारितसुषुप्तावस्थायां परमात्मनि लयं प्रतिपाद्य प्रश्नान्तरे "इहैवान्तः शरीरे स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ति"इति तत एव प्रभववर्णनात् तद्विद्यया कात्स्न्येंनोच्छेदोक्तेः पृथग्जीवसृष्टिकल्पनया न भृत्योरर्थविभागोऽयं युक्तः; अपरथा ईश्वरसृष्टेः सुप्तौ प्रलयश्रुतेः[५] कस्यचित् सुप्तेः सर्वदा सम्भवात् सर्वदा लय एव स्यात्।

ज्ञानवती

"जैसे समुद्र को जाने वाली ये नदियां बहती हुई समुद्र को प्राप्त कर अस्त हो जाती हैं और इनके नाम तथा रूप समाप्त हो जाते हैं, समुद्र कहा जाता है, उसी प्रकार इस परिद्रष्टा की ये सोलह कलायें भूत, प्राण, इन्द्रिय, नाम, कर्म, श्रद्धा, लोक, तप, मन्त्र, मन, वीर्य, शरीर ये पुरुषायण है अर्थात् पुरुष को प्राप्त करके अस्त हो जाती हैं" इत्यादि श्रुतियों से अन्तिम ज्ञान के द्वारा विद्वान् के देह के उच्छेद का निश्चय हो जाने से शक्त्यात्मक नामरूप भी नष्ट हो जाते हैं। परम ऋषि का सूत्र भी है—"तानि परे तथा ह्याह।" इसका भाष्य है—परब्रह्म को जानने वाले की वे प्राण शब्द से कही गई इन्द्रियाँ एवं भूत उसी परब्रह्म में प्रलीन हो जाते हैं। क्यों? इसे श्रुति ने कहा है—"इसी प्रकार इस परिद्रष्टा" अर्थात् चारों तरफ से वर्त्तमान ब्रह्मसाक्षात्कार वाले का।

---

[१] प्रश्नोप. ५।५। [२] ब्र०सू० ४।२।१५। [३] प्र० उ० ६।७।
[४] मुं० ३।२।७। [५] (क) लय।

[साधारणप्रपञ्चस्येश्वरमायाकृतत्ववादः, लिङ्गशरीरस्य च महाभूतोपसृष्ट-जीवाविद्याकृतत्ववादः, तत्खण्डनश्च–]

ननु—

"गताः कलाः पञ्चदशप्रतिष्ठाः
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा
परेऽव्यये सर्व एकी भवन्ति" ॥[1]

घ्राणमनसोः पृथिवीमयत्वेनैकीकरणात् कलानां षोडशानामपि पञ्चदशत्वमिति विद्वद्विषयैव पराश्रुतिः परस्मादात्मनोऽन्यत्रापि कलानां प्रलयमाह ? सत्यम्; सा तु व्यवहारापेक्षा, पार्थिवाद्याः कलाः पृथिव्यादीरेव स्वप्रकृतीरपियन्तीति व्यवहारो लौकिकः, सांव्यावहारिकप्रमाणापेक्षः। इयं श्रुतिः तात्त्विक[2]प्रमाणापेक्षा। सांव्यावहारिकप्रमाणेनानुमानेन करणानां भौतिकत्वावगमात् भूतेषु लयोऽवगतः। भूतसूक्ष्माणाञ्च साधारणानां साधारणेषु भूतेषु, प्राणानां वायौ; इतरा तु "एवमेवास्य परिद्रष्टुः" इत्यादिका विद्वत्प्रतिपत्त्यपेक्षा तात्त्विकप्रमाणापेक्षा; कृत्स्नं कलाजातं परब्रह्मविदो ब्रह्मैव सम्पद्यते तात्त्विकप्रमाणैर्वेदान्तैर्विश्वस्य ब्रह्मविवर्तताऽवगमात्।

भावदीपिका

[साधारणप्रपञ्चस्येश्वरमायाकृतत्ववादः लिङ्गशरीरस्य च महाभूतोपसृष्टजीवाविद्याकृतत्ववादः, तत्खण्डनश्च—]

तस्माद् व्याख्यारूपब्राह्मणानुसारेण "गताः कलाः" इत्यादिमन्त्रः पूर्वावस्थप्रतिष्ठागमनानुवादेन "परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति" इति सर्वलयार्थः "कर्माणि विज्ञानमयश्चात्मा"

ज्ञानवती

[साधारणप्रपञ्च का ईश्वरमायाकृतत्ववाद, लिङ्गशरीर का महाभूतोपसृष्टजीवाविद्याकृतत्व-उसका खण्डन—]

(पू) "पन्द्रह कलायें अपने-अपने उपादान में और सब देवतायें प्रतिदेवताओं में, कर्म और विज्ञानमय आत्मा ये सब पर अव्यय (= ब्रह्म) में एक हो जाते हैं"

घ्राण एवं मन के पृथ्वी के विकार होने से एक होने के कारण सोलहों कलायें पन्द्रह हो जाती हैं ऐसी विद्वद्विषयक ही पराश्रुति पर आत्मा से अन्यत्र भी कलाओं का प्रलय कहती है ? (उ) वह तो व्यवहार की अपेक्षा से (कहती) है। पार्थिव आदि कलायें अपनी प्रकृति पृथ्वी आदि में ही लीन होती हैं यह व्यवहार लौकिक है और व्यावहारिक प्रमाण की अपेक्षा रखता है। और यह (अर्थात् "यथेमाः नद्यः स्यन्दमाना—) श्रुति तात्त्विक-प्रमाण की अपेक्षावाली है। सांव्यावहारिकप्रमाण वाले अनुमान के द्वारा करणों के भौतिकत्व का ज्ञान होने से भूतों में लय जाना जाता है। साधारण भूतसूक्ष्मों का साधारण भूतों में प्राणों का वायु में। "इसी प्रकार इस परिद्रष्टा की श्रुति से प्रतिपादित अन्य

---

१ (ख) समन्ताद् ब्रह्म। २ (ख) श्रुतिः न तात्त्विक।

ब्रह्मणि मायायामुच्छिद्यमानायां तदुच्छेदात्मको बाध इत्यनूद्य विधेयविषयभेदात् श्रुत्योरविप्रतिपत्तिरिति[१] भाष्यभामतीनिबन्धाभ्यामेवावधारितम्। सा कलानां[२] भूतेषु लयप्रतिपादिका श्रुतिः सर्वजीवसाधारणव्यवहारगोचरमहाभूतविषया[३]। मायामयमहाभूतोपसृष्टानि जीवाविद्याकृतभूतसूक्ष्माणि लिङ्गदेहाकारेण विवर्तन्ते तत्रोपष्टम्भकभूतांशानां महाभूतेष्वेव विलयः; इतरास्तु पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्तीति श्रुतिर्विद्वत्प्रतिपत्त्या अविद्याकृतभूतसूक्ष्मसहितकरणग्रामादिदाहविषया इति च केचित्।

तत्र किञ्चित् परीक्षणीयम्—"कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत् प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनोऽन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च' अन्नम्=शरीरम्" इति तावज्जीवसृष्टिः श्रूयते। तत्र येयं स्वप्नगन्धर्वनगरादिसृष्टिः जीवाविद्यानिदाना, सा चेन्न मायाकृतभूतनिदाना, तर्हि तत्त्वबोधपर्यन्तमनुवर्तमानत्वाविशेषात्तद्वदेव तयैव भूतसूक्ष्मद्वारा लिङ्गारम्भोऽस्तु, किं मायामयमहाभूतोपष्टम्भेन ? अथ स्वप्ना-

भावदीपिका

वाद एवं इति द्वयोः 'सर्वे' इति बहुवचनतश्चैवमिति गत्वाभासता उपष्टम्भके लयोऽप्युक्तः। मायायाः कलोपादानत्वे जीवोपाधित्वम्; मायायाः कलानाशो वा इत्यादेश्च स्वप्नादिसृष्टौ मायो-

ज्ञानवती

(कलायें) विद्वद्ज्ञान की तथा तात्विकप्रमाण की अपेक्षा रखती हैं। परब्रह्मवेत्ता का सम्पूर्ण कलासमूह ब्रह्म ही हो जाता है क्योंकि तात्त्विक प्रमाण वाले वेदान्तों ने विश्व को ब्रह्म का विवर्त्त माना है। माया के उच्छिद्यमान होने पर ब्रह्म में तदुच्छेदात्मक बाध होता है ऐसा अनुवाद करके विधेय विषय का भेद मानने पर दोनों श्रुतियों (गताः कलाः—एवं यथेमा नद्यः स्यन्दमाना—) में विरोध नहीं है ऐसा भाष्य एवं भामती के सिद्धान्त से निश्चित है।

कलाओं का भूतों में लय प्रतिपादन करने वाली वह श्रुति सब जीवों में वर्त्तमान व्यवहार के विषयस्वरूप (पञ्चीकृत) महाभूत विषयों वाली है, मायामय (अर्थात् माया के परिणाम) महाभूत से सम्बद्ध जीवाविद्या से बने हुए भूतसूक्ष्म लिङ्गशरीर के आकार के रूप में परिणत होते हैं उनमें उपष्टम्भक (अर्थात् सहायक) भूतांशों का महाभूतों में ही लय होता है, और अन्य तो पुरुष को प्राप्त करके अस्त हो जाती हैं यह श्रुति विद्वान् की दृष्टि से अविद्या के द्वारा किये गये भूतसूक्ष्मों के सहित इन्द्रियसमूह के दाह विषय वाली है ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

इस विषय में कुछ परीक्षणीय है—

"किसके उत्क्रान्त होने पर में उत्क्रान्त होऊँगा, किसके प्रतिष्ठित होने पर प्रतिष्ठित होउँगा ऐसा (सोचकर) उसने प्राण की रचना की। प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, ज्योति जल, पृथिवी, इन्द्रिय, मन, अन्न, अन्न से वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक और लोकों में नाम (की रचना की)। अन्न का मतलब है शरीर"। इस प्रकार जीवसृष्टि सुनी जाती है। उसमें जो यह

---

[१] (ख) श्रुत्योरपिप्रतिपत्ति। [२] (ख) सकलानाम्। [३] (ख) विषयया।
[४] (क) तद्दर्शनात्। [५] (क). चाविद्या। (ख) चाप्यविद्या।

द्यारम्भोऽपि तदुपष्टब्धैरेव ? तर्हि तदुच्छेदेऽपि महाभूतांशानां तेषु विलयोऽप्रमाणसिद्ध ऊरीकार्यः स्यात्। व्यावहारिकस्थूलत्वप्रयुक्तञ्च स्थूलदेहादेर्जीवान्तरोपलम्भादि भाक्तम्, न तु साधारणमायाजन्यत्वकृतम्, तज्जन्यस्यापि सूक्ष्मस्य तद्दर्शनात्[1]।

किञ्च मायाऽवयवानां जीवाविद्यानां न चेद् व्यावहारिकमहाभूतसंसर्गारम्भ-सामर्थ्यमंशतोऽपि कथमवयवसमुदायात्मकमायायास्तदारम्भकत्वम् ? प्रत्येकं पटैक-देशारम्भसमर्थानामेव तन्तूनां समुदितानां पटारम्भकत्वात्। न (चाप्यवि[2]) द्यारब्धो मायानामकोऽवयवी अङ्गीक्रियते, येन तस्य वीर्यान्तरकल्पना स्यात्। अव-यवानां मायात्वे च समुदायस्यावस्तुत्वेन मायोपाधिरीश्वरः, जीवा अविद्योपाधय

भावदीपिका

पष्टम्भोऽस्ति न वा ? अन्त्यं निरस्याद्यमुत्थाप्य निरस्यति—अथेति। तथापि जीवान्त-व्यवहारार्हस्थूलदेहादेः साधारणमायामयमहाभूतजन्यत्वमङ्गीकार्यम् ?—इत्याशङ्क्याह—व्यावहारिकेति।

अथ व्यावहारिकस्थूलारम्भकत्वमपि मायाया एवेत्याग्रहः ?—तत्राह—किञ्चेति। अवयवा एव किमविद्याख्या माया, तदारब्धावयवी वा, तत्समुदायो वा ? क्रमेण दूषणम्—मायेत्यादि। अवयवानां समुदायस्य मायात्वे च तस्य अवस्तुत्वेनेति योजना। अस्तु तर्हि स्वाश्रयाऽव्यामोहकरी तदिच्छानुविधायिनी च तद्विपरीताऽविद्यातो भिन्नैव माया ?—इत्याशङ्क्य

ज्ञानवती

स्वप्न (सृष्टि है या) गन्धर्वनगर[3] आदि की सृष्टि है, उसका उपादान जीवाविद्या है। यदि वह मायाकृतभूतोपादान वाली होती तो तत्त्वबोधपर्यन्त एक रूप से अनुवर्त्तमान होने के कारण उसी के समान उसी (अर्थात् जीवाविद्या) के ही भूत सूक्ष्म द्वारा लिङ्ग का आरम्भ हो जाता फिर मायामयमहाभूत की सहायता से क्या लाभ ? यदि स्वप्नादि का आरम्भ भी उसी (अर्थात् मायाकृत महाभूत) की सहायता से होता है तब तो उस (अर्थात् स्वप्नजगत्) का उच्छेद होने पर भी महाभूतांशों का उन (महाभूतों) में विलय अप्रामाणिक मानना होगा। जीवान्तर के द्वारा व्यावहारिक स्थूलत्वप्रयुक्त स्थूलदेह आदि का उपलम्भ (=प्राप्ति) आदि लाक्षणिक है न कि साधारणमायाजन्यत्वकृत है, क्योंकि तज्जन्य (=मायाजन्य) का भी सूक्ष्म (शरीर का) वह (=उपलम्भ) देखा जाता है।

दूसरें माया के अवयव जीवाविद्याओं का व्यावहारिकमहाभूत के सम्बन्ध के आरम्भ का सामर्थ्य यदि अंशतः भी नहीं है तो अवयवसमुदायात्मक माया उस (=लिङ्ग शरीर) का आरम्भक कैसे हो सकती है ? क्योंकि पट के प्रत्येक एक अंश के आरम्भ में समर्थ ही तन्तु मिलकर पट के आरम्भक होते हैं और न ही अविद्या से आरब्ध माया नामक कोई अवयवी ही माना जाता है जिससे उस (=माया नामक अवयवी) के वीर्यान्तर की कल्पना हो सके। अवयवों के माया मानने पर समुदाय के अवस्तु हो जाने से मायोपाधि वाला ईश्वर है एवं

[1] (ख) तददर्श।

[2] (क) चावि। (ख) चाप्यवि।

[3] गन्धर्वनगरभ्रान्तौ जलदाः पाण्डरत्विषः। आलम्बनं गृहाट्टालप्राकाराकारधारिणः॥ ॥ न्या० मं० १॥

इति कल्पनाया दत्तो जलाञ्जलिः। अथाविद्याविलक्षणैव माया? तदापि यथैवाविद्यारब्धभूतसूक्ष्माणां मायारब्धभूतोपष्टम्भादारम्भकत्वं लिङ्गदेहं प्रति, तथैव जीवदृश्यब्रह्माण्डाद्यारम्भकत्वमपि कुतो न स्यात्? "यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूत्[1]" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्[2]" इति तत्त्वबोधेन सर्वस्याविशेषेण बाधश्रवणात्।

अथात्र मिथ्यात्वबोधनमेव बाधः, न तूच्छेदः? तर्हि षोडशकलास्थोऽपि तथा स्यात्; बाधकतत्त्वबोधस्याविशेषात्। "तानि यदा कार्यकारणविषयाकारपरिणतानि भूतान्यात्मनो विशेषात्मखिलहेतुभूतानि[3] शास्त्राचार्योपदेशेन ब्रह्मविद्यया

भावदीपिका

दूषयति—अथाविद्येति। किं ब्रह्मभूयंगतस्य तस्यैव सर्वत्र प्रतिबिम्बितत्वाभिप्रायेण सर्वात्मभावश्रुतिरिति च न वाच्यम्; षोडशकलामध्ये भूतलोकमन्त्रस्थूलशरीराणामुच्छेदश्रवणेन विरोधात्। अविभागो वचनात्:—"भिद्यते चासां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते। स एषोऽकलोऽमृतो भवति"—इति वचनान्न सविशेषो लयः, किन्त्वविभागः; "कलानामात्ममात्रता" इति सूत्राच्च नावशेषकल्पना युक्ता। अतो यथा "यवमयश्चरुर्भवति" इत्यादौ म्लेच्छानामार्याणाञ्च अनादिकालप्रवृत्तत्वात् यवादौ विप्रतिपत्तिः समा तुल्यबला। तेन यवप्रियङ्गवादौ[4] विकल्प इति प्राप्ते, "यदाऽन्या ओषधयो म्लायन्ते"—इत्यादिवाक्यशेषानुग्रहादार्यप्रसिद्धिरेव शास्त्रस्थानेति यथा निर्णीतम्, तथाऽत्रापि मन्त्रलोकादिश्रुतिपदानुसारेण नाऽवशेष इति निर्णीयते; "वेदा अवेदा, लोका अलोका" इत्यादिश्रुतेश्च; "न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद् विभक्तं यत् पश्येत्" इत्यविशेषेण जीवदर्शनयोग्यस्य निषेधाच्च; न च सकृत् प्रयुक्तं "सर्वमात्मैवाभूत्" इति कतिपयोच्छेदानुच्छेदौ वक्ति। तस्मात् सर्पो रज्जुरभूत् इतिवत् व्याख्येयम्। "अकारणमकार्यं सत् कार्यंकारणतामगात्। मोहादेव तदुच्छित्तौ ततः शास्त्रं प्रवर्त्तते ॥"—इति वार्त्तिकाच्च।

अस्तु यथाकथञ्चिद् बाधः—इत्याशङ्क्य तथापि न वैरूप्यं युक्तम्—इत्याह—अथात्रेति। भाष्यकारसम्मत्याऽप्येतद् द्रढयति—तानीति। अनेकश्रुत्यनुसारेण च श्रुत्यन्तरं नेतव्यम्—इत्याह—अतएवेति। स्थाणाविवानेकपुरुषाकारस्य एकब्रह्मणि समारोपान्न दोषः

ज्ञानवती

जीव अविद्योपाधि वाले हैं इस कल्पना को छोड़ देना पड़ेगा। यदि माया अविद्या से विलक्षण है तो भी जैसे माया से आरब्ध भूत की सहायता से अविद्या से आरब्ध भूतसूक्ष्म लिङ्गदेह के निर्माण करते हैं उसीं प्रकार (वे) जीव एवं दृश्य ब्रह्माण्ड के आरम्भक भी क्यों नहीं होंगे, क्योंकि "जिसमें सभी भूत आत्मा ही है" तथा "जहाँ इसका सब आत्मा ही है" इस तत्त्वबोध से सबका सामान्य रूप से बाध सुना जाता है।

यदि यहाँ बाध का अर्थ मिथ्यात्व का ज्ञान मात्र है, उच्छेद नहीं तो षोडशकला में रहने वाला (बाध) भी वैसा ही हो जायेगा; क्योंकि बाधकतत्त्व का बोध (दोनों जगह) समान है। भगवत्पादचार्य ने कहा है—"जब आत्मा के कार्यकारण एवं विषय के आकार

---

[1] ई० द [2] बृ० २।४।१४। [3] (क) त्माखिल [4] (ख) यववत्।

प्रविलापितानि विनश्यन्ति तदा खिल्यभावो नश्यति" इति "एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय" इत्यत्र भगवत्पादोक्तेश्च। अतएव "स उच्छ्वयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते[१]" इति विद्वद्देहस्य प्राणप्रलये व्यवस्थानश्रुतिः सर्पाध्यासोपादानाविद्यानिवृत्तौ तद्विभ्रमवासनानुवृत्तिवदन्याविद्योपादानतामप्याह। "अथायमशरीरोऽमृतः प्राणः" इति तत्रैव देहद्वयोच्छेदश्रुतेः[२]। न च प्रातीतिकारम्भकस्य व्यावहारिकारम्भोपष्टम्भको न्याय्यः; नहि स्वप्नपुत्रारम्भकवीर्योपष्टम्भो दृष्टचरः। अथ भूतसूक्ष्मा व्यावहारिकमेवारभन्ते ? तर्हि तान्यपि व्यावहारिकाण्येव स्युः। न खलु प्रातीतिककलधौतस्य व्यावहारिकाङ्गुलीयकारम्भकत्वं कस्यापि सम्मतम्। प्रतिजीवं व्यावहारिकमहाभूतसर्गाङ्गीकारे च स्वोक्तिभङ्गः। तस्माज्जीवाविद्यैव प्रातीतिकव्याव-

भावदीपिका

कश्चिदन्येषां विद्वद्देहसंस्काराद्यनुपपत्तिलक्षणः। इतश्चाविद्याया न प्रातीतिकमात्रारम्भकत्वमित्याह—न च प्रातीतिकेति। अथाविद्याया भूतसूक्ष्मद्वारा व्यावहारिकारम्भकत्वं, तेन मायिकभूतोपष्टम्भस्य युक्तत्वम्? इत्याशङ्क्य - अपाकरोति—अथ भूतेति। अङ्गीकारे च अपसिद्धान्तः—इत्याह—प्रतिजीवमिति। यस्मात् माया निरूपयितुं न शक्यते तस्मादित्युपसंहारः। मूर्त्तानां समानदेशता घटादीनां न दृष्टा ?—इत्याशङ्क्य, मैवम्; घटादिष्वपि विप्रतिपत्तेस्तुल्यत्वात्—इत्याशयेन परिहरति—अविद्येति। इच्छानभिघातरूपं प्राकाम्यं सिद्धिविशेषः। ऐश्वरभूतानां तत्कार्याणाञ्च जैवभूतत्कार्याणाञ्च लोकमन्त्रादीनां षोडशकलाश्रुत्युक्तानां समानदेशताया इव[३] च न विरोधः—इत्याह—मिश्रितेति। ऐश्वरभूतानां मिश्रणेनारम्भकत्ववत् सर्वजीवभूतानामेककार्यारम्भकत्वे एकीभूतापगमे नाशेषविशिष्टस्य तावदस्थ्यं युक्तम्। भिन्नकार्यत्वे देशस्याऽकार्यत्वान्न तुल्यताशङ्का, एकापगमादावन्यादर्शनादिशङ्का चेति भावः।

ज्ञानवती

में परिणत भूत, जो कि विशेषात्मा (अर्थात् जीव) के खिल (अर्थात् बन्ध) के कारण हैं, शास्त्र एवं आचार्य के उपदेश से (जनित) ब्रह्मविद्या के द्वारा लुप्त हो जाते हैं तो खिल्यभाव (=बन्धन) नष्ट हो जाता है।" यह "इन भूतों से उठकर" इस प्रसङ्ग में कहा है। इसलिए "वह फूल जाता है ताड़ित होने पर आर्द्रभेरी के समान आवाज करता है और आवाज करता हुआ मृत होकर शयन करता है" ऐसी विद्वद्देह के प्राण के लय के विषय में श्रुति सर्प के अध्यास के उपादान अविद्या के निवृत्त हो जाने पर उस (=सर्प) के भ्रम की वासना की अनुवृत्ति के समान अन्य अविद्योपादानता का भी कथन करती है और वहीं (=बृह० उ० मे ही) "इसके बाद यह प्राण (एवं) शरीर से अमृत" ऐसी दोनों देह (अर्थात् शरीर एवं प्राण) के अनुच्छेद की श्रुति है। प्रातिभासिक आरम्भक को व्यावहारिक आरम्भक मानना न्याय्य नहीं है। स्वप्नपुत्र का आरम्भक वीर्योपष्टम्भ नहीं देखा गया है। यदि भूतसूक्ष्म व्यावहारिक का ही आरम्भ करते हैं, तो वे भी व्यावहारिक ही हो जायेंगे किन्तु कोई भी प्रातिभासिक रजत को व्यावहारिक अंगूठी का आरम्भक नहीं मानता; और प्रतिजीव व्याव-

[३] (ख) यः वचन।

[१] बृ० ३।२।११। [२] (क) द्वयातुच्छेद।

हारिकप्रपञ्चयोरारम्भिका अविद्यावत् तत्कार्यस्यापि महाभूतादेरपि सावयवत्वानवयवत्वाभ्यामनिर्वाच्यत्वान्नानेकेषां महाभूतानां समानदेशताविरोधः। आत्यन्तिकसावयवत्वे हि योगिनां भूतादुदक इवोन्मज्जनादि, प्राकाम्यम्=इच्छानभिघातः; न स्यात्। मिश्रितभूतवन्मिश्रितकार्यदेशसाधारणसम्भवाच्चोपभोगः (स्वासाधरणा)[1]दृष्टकार्य इति पदार्थेष्वसाधारण्याव्यवहारः।

न चैवं जीवस्य स्वाविद्याविनाशेन ब्रह्मीभूतस्यापि द्वैतदर्शित्वं स्यात्, जीवाविद्याभिरेव ब्रह्मणः सर्वदर्शित्वाभ्युपगमात्, तथा च[2] "यत्र नान्यत्पश्यति"[3]

भावदीपिका

सर्वत्र सर्वकार्यस्वीकारे कथमसाधारणव्यवहारः इत्यत आह—उपभोगस्त्विति। "ग्रहणाज्जागरितवत् तद्धेतुः स्वप्न इष्यते। तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते।" यथा स्वप्नः[4] स्वप्नदृश एव साधारणविद्यमानवस्तुवत् अवभासते तथा तत्कारणत्वात् साधारणविद्यमानवस्तुवत् अवभासमानं जागरणं तद्वद् एवासाधारणं, न तु सर्वजीवसाधारणं जाग्रद्दृश्यं किन्तु प्रतिजीवमसाधारणम् स्वप्नवदिति जाग्रत्-पृथिव्यादेरसाधारणस्य श्रीगौडपादैरुक्तत्वाच्च असाधारण्याविरोधः।

प्रकटार्थकारोक्तं दोषं परिहरति—न चैवमिति। जीवस्य ब्रह्मभावंगतस्य तद्गतं सर्वदर्शित्वं चेदापाद्यते, तदन्याविद्यासमारोपितमिष्टमेव। न च तदेव संसारो येनानिष्टमाशङ्क्येत; नित्यमुक्तस्यैव देवदत्तस्येव स्वप्रतिबिम्बगतविपरीतधर्मदर्शनेऽपि तत्कृतबन्धाभावस्य स्वयमपि तत्र तत्रोक्तेः। श्रुतिश्च स्वारोपाभावाभिप्राया। अतो नास्मन्मते दोषः, किन्तु परस्यैव। न मुक्तौ स्वापेक्ष्य विशुद्धत्वलाभः—इत्याह -सर्वासामपीति। शुद्धबिम्बावाप्ते मुक्तित्वस्वीकारान्न समाशुद्धत्वप्राप्तिः ?—इत्याशङ्क्याह—चिन्मात्रेति। तदेषाऽभ्युक्ता—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म", "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता" इत्यत्र ब्रह्मविदो ब्रह्मणा

ज्ञानवती

हारिक महाभूत सृष्टि को मानने पर अपनी उक्ति का खण्डन हो जाता है। इसलिये जीवाविद्या ही प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक प्रपञ्च की आरम्भिका है क्योंकि अविद्या के समान उसके कार्य महाभूत आदि भी सावयवत्व एवं निरवयत्व से (पृथक् अतः) अनिर्वचनीय हैं। इसलिए अनेक महाभूतों का एक स्थान में रहना विरोधयुक्त नहीं है। (अविद्या के) पारमार्थिक सावयव होने पर तो योगियों का उदक के समान (पृथिवी आदि) भूत से उन्मज्जन आदि प्राकाम्य अर्थात् इच्छानभिघात नहीं होगा। मिश्रितभूत के समान मिश्रितकार्यदेशसाधारण के सम्भव होने से उपभोग भी साधारण रूप में दिखाई देने वाला कार्य है। इसलिये पदार्थों में असाधारण्य का व्यवहार नहीं होता।

(पू) अपनी अविद्या के विनाश से ब्रह्मस्वरूप होने पर भी जीव को द्वैत तो दिखलाई ही देगा क्योंकि जीवाविद्याओं के द्वारा ही ब्रह्म सर्वदर्शी होता है। इस प्रकार "जहाँ दूसरा

---

१ (क) स्वसाधारण। २ (ख) तदा च।
३ छा. ७।२४।१। ४ (ख) सुप्तः।

इत्यादि विरोध इति वाच्यम्; यतो न[१] सर्वमायातत्कार्यवैधुर्यं मोक्षः; सर्वासामपि मायानामद्वितीय(चिन्मात्र)विषयत्वेऽपि[२] तत्साक्षात्कारेणैकतमनिवृत्तेरेव परेणाप्यङ्गीकारात्। तस्या एव ब्रह्मविद्यया सर्वबाधश्रुतेरङ्गीकार्यमित्येके।

"आत्मैवाभूत्"[३] इत्यवधारणात् स्वप्नस्याविद्यान्तरकार्यत्वात्तदुच्छेदेन सत्यपि सम्प्रसादाज्ञाने बाधसम्भवात्; विलीनकार्यस्याप्यज्ञानस्य तत्त्वज्ञानेन बाधस्वीकारात् जाग्रद्बोधस्य स्थाणवादिबाधस्येव तत्त्वबोधात् प्राक् प्रमाणतया

भावदीपिका

रूपेण=नित्यज्ञानेन; विपश्चिता=सर्वज्ञेन; सह=युगपत् एव; सर्वकाम-शब्दवाच्यविश्वदर्शित्वं विदेहमुक्तौ। भगवत्पादाचार्यैरुक्तं च ब्रह्मणोऽप्योदृगेव सर्वज्ञत्वम् इति च युक्तोऽस्मत्पक्षः। अतो मुखमात्रमुपाध्याश्रयः। तस्यैव च शुद्धं रूपं बिम्बप्रतिबिम्बं चोपहितरूपमिति रूपद्वयादर्शनाद् दर्पणादेः पाण्याद्याश्रयत्वात् परमतमेव सन्दिग्धमिति भावः। "सुषुप्तोदाहृतिर्येयं तया समुपलक्ष्यते। विश्वाभिव्यक्तितः पूर्वं ब्रह्मैवाऽनामरूपकम्॥"—इति सुषुप्ताद् विश्वसृष्टिर्यथा ब्रह्मण एव सृष्टेरुपलक्षणार्थेति। तथा वार्त्तिके उक्तम्—"एवमेव अस्मादात्मनः"—इत्यत्र। यच्चोक्तं साध्यसमत्वान्न दृष्टान्तत्वम् इति—तत्राह—स्वप्नस्येति[४]। यच्च स्वप्नानन्तरं स्वप्नप्रसादस्यापि दर्शनान्न तद्बाधनिश्चयः इति--तत्राह—विलीनेति। ननु स्वप्नवज्जाग्रद्बोधस्यापि विभ्रमत्वस्वीकारात् कथं तेन स्वप्नाऽविद्याबाधः?

ज्ञानवती

कुछ नहीं देखता है" इत्यादि श्रुतियों का विरोध हो जायगा? (उ) सब माया और उसके कार्य का वैधुर्य मोक्ष नहीं है। क्योंकि दूसरे लोग भी सभी मायाओं का अद्वितीय चिन्मात्र विषय होने पर भी उसके साक्षात्कार से एकतम की ही निवृत्ति मानते हैं। सभी (जीवाविद्याओं) की ब्रह्मविद्या के द्वारा सर्वबाधश्रुति होने से (बाध) मानना चाहिये, ऐसा कुछ लोग कहते हैं।

"चूँकि आत्मा ही हो गया" ऐसा निश्चय होने से स्वप्न अविद्यान्तर का कार्य है इसलिये उस (अर्थात् अविद्यान्तर) के उच्छेद होने से सम्प्रसाद का ज्ञान न होने पर भी बाध सम्भव है; विलीन कार्य वाले अज्ञान का भी तत्त्वज्ञान के द्वारा बाध मान लिया गया है इस कारण तत्त्व बोध के पहले स्थाणु आदि के बाध के समान तत्त्वज्ञान के पहले जाग्रत्बोध के प्रमाण होने से अपने (अर्थात् जाग्रत्बोध के) विषय में जो विपर्यास है उसके हेतु अविद्या का उच्छेद होता है; मूलाविद्या के वर्त्तमान रहने पर भी वही सम्प्रसादावस्थ (अविद्या) जाग्रत् विवर्त्त के दर्शन का कारण है, इसलिये उस (ब्रह्म ज्ञान) से उसका अभिभव हो जाता है; इसलिए स्थाणु में पुरुषप्रत्यय के बाध के समान देह के बाध्य होने से वहाँ (अर्थात् देह में) अहंबुद्धि मिथ्या है (न कि गौण प्रयोग; क्योंकि) गौण वह होता है जहाँ पर प्रयोक्ता एवं बोद्धा दोनों

---

१ (ख) यतो न भू···सर्वं। २ (क) चिद् (गद्य) चिन्मात्र। ३ बृ० ४।२।१४।
४ (ख) सुषुप्ताक्षमितिर्योक्तेस्तु तत्त्वज्ञानेनाज्ञानस्योच्छेद्यत्वमात्राभिप्रायत्वान्न विद्याभेदविरोध इति भावः।

स्वविषयविपर्यासहेतवविद्योच्छेदकत्वात्; मूलाविद्यायां सत्यामपि तस्या एव संप्रसादावस्थाया जाग्रद्विवर्त्तदर्शनयोनित्वात्तेनाभिभवात्; तस्माद् बाध्यत्वाद्देहस्य स्थाणाविव पुंप्रत्ययः तत्राहंमतिर्मिथ्यैव। (परत्र परशब्दः[1]) लक्ष्यमाणगुणयोगेन[2] वर्त्तत इति यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रोः सम्प्रतिपत्तिः स गौणः, स च भेदप्रत्ययपुरस्सर एव। न च चिदात्मा तिलजस्नेहात् सार्षपवत् देहाद् भेदेनोपलभ्यते; "प्रागनात्मैव जडं सदात्मतामेत्यविद्यया" इत्यनात्मन एवान्नस्य भुक्ततामात्रेणात्मप्रत्ययालम्बनत्वेन अध्यस्तत्वप्रतिपादनाच्च। अहं प्रत्ययस्य आत्मविषयत्वं वदतापि तस्य देहैक्यग्राहकत्वं[3] विभौ चिदात्मनि परिच्छिन्नत्वोपपादनाय एष्टव्यमेव। ततो जीवविशिष्टरूपेण देहस्याज्ञानात्मकत्वमेव[4]। मुख्यात्मत्वेन गृहीतत्वे च देहस्य वधात् पातकविधावधिकारलौकिकव्यवहारौ च समञ्जसौ स्याताम्।

भावदीपिका

—इत्याशङ्क्याह—जाग्रदिति। विभ्रमत्वमपि व्यावहारिकप्रामाण्यतदभाववैलक्षण्यादिति भावः। सम्प्रसादाऽविद्याया एव मूलाविद्यात्वान्न ब्रह्मबोधमन्तरेणोच्छेदः किन्त्वभिभवमात्रम् जाग्रद्बोधेन—इत्याह—तस्या एव चेति। दृष्टान्तं विघटयति—परत्र परशब्द इति। किञ्च लोकायतिकेनाऽप्यध्यासः स्वीकार्यः किमन्यैः?—इत्याह—प्रागिति। अध्यासे युक्त्यन्तरमाह—

ज्ञानवती

को, दूसरी जगह दूसरा शब्द लक्ष्यमाणगुण के योग से प्रवृत्त हो रहा है ऐसा ज्ञान हो और यह (अर्थात् गौण प्रयोग) भेद ज्ञान के बाद होता है किन्तु जैसे तिल से उत्पन्न स्नेह से सरसो का स्नेह भिन्न प्रतीत होता है वैसे ही चिदात्मा देह से भिन्न मालूम होता है ऐसा नहीं है। क्योंकि "पहले अनात्मा ही जड अविद्या के द्वारा सदात्मता को प्राप्त होता है" इस श्रुति के द्वारा अनात्म ही अन्न के भोजन मात्र से आत्मप्रत्यय के आलम्बन के रूप में अध्यस्त होता है यह प्रतिपादित है। अहंप्रत्यय को आत्मा का विषय कहने वाले को भी विभु चिदात्मा में परिच्छिन्नत्व के उपपादन के लिए उस (आत्मा) का देह के साथ ऐक्यग्राहकत्व मानना ही चाहिये। इसलिये जीवविशिष्टरूप से देह अज्ञानात्मक ही है। और मुख्य आत्मा के रूप में गृहीत होने के कारण ही देह के बध से पाप की विधि में अधिकार एवं लौकिकव्यवहार का सामञ्जस्य हो जाता है।

वचन है—"(सत्य और झूठ) को मिलाकर यह स्वाभाविक लोकव्यवहार चलता है।" आत्म वस्तु ही सत्य है, अनिर्वाच्य अविद्या मिथ्या है। "ओम यह सत्य है 'न' यह झूठ है इसलिये आत्मा को छोड़ते हुए सब कुछ 'ओं' करना चाहिये जो सबको 'नहीं' ऐसा कहता है उसकी कीर्ति पापी होती है वह सत्य और झूठ को मिलाता है उनके मिलाने से बड़ा होता है।" जैसे सर्वस्व दान और न दान करने में दोष होने से कुछ दान और कुछ न दान के मिथुन का व्यवहार होता है, इस निर्वाह के लिए श्रुति में कहा गया है; उसी

---

[1] (क) परशब्दः परत्र, ग घ—परत्र पर शब्दः। [2] (ख) लक्ष्यमाणयोगेन।
[3] (ख) देहैक्यावग्राहकत्व। [4] (ख) ज्ञानात्मत्व।

तदुक्तम्—"सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः"[1] इति। सत्यम्=आत्मवस्त्वेव; अनृतम्=अनिर्वाच्याविद्या। "ओमिति सत्यम्, न इत्यनृतम्"। "तत्सर्वमोंकुर्यात् (अतिरिच्यदा[2]) त्मानम्; यत्सर्वं न इति ब्रूयात् पापिकास्य कीर्त्तिर्जायेत, तत्सत्यानृते मिथुनीकरोति तयोर्मिथुनात् प्रजायते=भूयान् भवति" इति। अत्र यथा सर्वस्वदानादानयोर्दोषात्[3] कतिपयदानादानमिथुनं व्यवहार इति निर्वाहायोक्तं श्रुतौ, तथैव स्वयमात्मनो विक्रियायां सर्वरेचनप्रसङ्गादुपाधिशबलस्यापि तदनाश्रयेण व्यवहार(विलोप[4])निबन्धनपापकीर्त्तिप्रसङ्गाच्च मायात्मनोर्मिथुनात् 'अहं मनुष्यः' इत्यादिः लोकव्यवहारः। तदेवं युक्तिसिद्धः 'अयमहम्' इत्यध्यासप्रत्ययः। अतोऽनेनात्मनो व्यतिरेकानुल्लेखात् उल्लेखेऽपि वेदान्तोदितरूपेण संसारबन्धविरोधिनाऽनुल्लेखादसौ न संसारविरोधी इति साम्प्रतमेव।

[अध्यासलक्षणम्—]

"अध्यासश्च स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः[1]" इत्याचार्याः। स्मर्यत इति स्मृतिः=स्मर्यमाणोऽर्थः। यद्यपि स्मरणं स्मृतिरिति धात्वर्थलक्षणम् भाव(वाची[5])

भावदीपिका

अहंप्रत्ययस्येति। अनाहार्यारोपत्वस्य स्पष्टस्याऽपलापेऽतिप्रसङ्गादित्यर्थः। एवं युक्त्याऽध्यासं निरूप्य आप्तोक्त्या श्रौतदृष्टान्तेन च निरूपयति—तदुक्तमित्यादिना।

[अध्यासलक्षणम्—]

भाष्यकारीयलक्षणेनाऽप्यध्यासं निरूपयति—अध्यासश्चेति। पञ्चपादीमतानुसारेण एतद् व्याचष्टे—स्मर्यत इति। व्याकरणविरोधं परिहरति—यद्यपीति। संज्ञा=रूढः शब्दः;

ज्ञानवती

प्रकार स्वयं आत्मा के विकृत होने पर सबके नाश का प्रसङ्ग आ जाने के कारण तथा उपाधि मिश्रित भी आत्मभिन्न का आश्रयण न करने से व्यवहार का लोप हो जाने से पापकीर्ति का प्रसङ्ग होने के कारण माया एवं आत्मा के मिथुन से 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि लोकव्यवहार चलता है। इस प्रकार 'मैं यह हूँ' यह अध्यासप्रत्यय युक्तिसिद्ध है। इसलिये इसके द्वारा आत्मा के व्यतिरेक का उल्लेख न होने से और उल्लेख होने पर भी वेदान्तोक्त रूप से संसारबन्ध के विरोधी के द्वारा उल्लेख न होने से यह ('अहं ब्राह्मणः' 'अहं मनुष्यः' ज्ञान) संसारविरोधी नहीं है, यह ठीक है।

[अध्यास का लक्षण—]

"दूसरी वस्तु में पहले देखी गई वस्तु का आभास जो कि स्मृतिरूप है, अध्यास है" ऐसा आचार्य (=शंकर) कहते है। स्मृति का मतलब है स्मर्यमाण अर्थ। यद्यपि स्मरणं=स्मृतिः यह धातु के अर्थ के अनुसार लक्षण, भाववाची है क्योंकि यह भाव में विहित घञ् आदि के स्थान में पठित क्तिन् प्रत्ययान्त शब्द है फिर भी घञ् आदि का भाव एवं कर्त्ता से

---

१ ब्र० सू० भा० १।१।१। २ (क) अतिरिच्येदा। ३ (ख) दानादनयो। ४ (क) विलोपन। ५ (क) वायाची।

भावे विहितघञादिषु पठित(क्तिन्)[१]प्रत्ययान्तः शब्दः, तथापि घञादीनां भावकर्तृव्यतिरिक्तकारकेषु [प्रयोगः, यथा][२] कार्यम् आध्रियतेऽनेन इत्याधारः इति; स्मृतिः=स्मर्यमाणोऽर्थः; संज्ञायामिवारूढशब्देऽपि विधानात् "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्" इति कर्मवाच्यपि। अतः स्मर्यमाणसदृशोऽन्यात्मना भासमानोऽर्थोऽध्यास इत्यर्थाध्यासलक्षणम्; स्मृतिसदृशोऽन्यात्मनाऽवभासो ज्ञानाध्यास इति। अर्थविशिष्टज्ञानाध्यासः [इति][३]पक्षे स्मृतिरूपशब्देन "दोषसंस्कारेन्द्रियसम्प्रयोगाख्यकरणत्रितयमुक्तम्" इति टीकाकारः। अतः स्थलान्तरे दृष्टस्य स्थलान्तरे स्मृतौ प्रत्यभिज्ञायाञ्च नातिव्याप्तिः।

भावदीपिका

तर्हि न ज्ञानाध्यासो[४] लक्षितः— इत्यत आह—स्मृतिसदृश इति। भाष्यस्य सूत्रानुकारित्वात् अनेकार्थसङ्ग्रहे न दोषः; "ब्रह्माभिप्रायमप्येकं पुरुषास्तु प्रयुञ्जते" इति न्यायाच्च। अतएव आचार्यवाचस्पतिना रूढयोगिकं च 'अवभास'—पदं व्याख्यायि। सर्वाध्यासलक्षणमेतत्

ज्ञानवती

अतिरिक्त कारकों में (भी प्रयोग होता है जैसे) कार्यमाध्रियतेऽनेनेत्याधारः (यहां आधार शब्द में करण अर्थ में घञ् है उसी प्रकार) स्मृति का मतलव है स्मर्यमाण अर्थ। संज्ञा के समान अरूढ़ (=वाचक आदि शब्द के समान जो शब्द हैं उन) शब्दों में भी "अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्" इस (पाणिनिसूत्र) से कर्तृवाची भी (घञ्) होता है। इसलिये स्मर्यमाण के सदृश अन्य रूप में भासमान अर्थ अध्यास होता है यह अर्थाभ्यास का लक्षण हुआ। और स्मृति के सदृश अन्यरूप में अवभासमान ज्ञानाध्यास होता है[५] स्मृति के समान अन्य रूप में अवभासमान अध्यास ज्ञानाध्यास होता है। अर्थविशिष्ट ज्ञानाध्यास इस पक्ष

---

१ (क) क्ति। (२) (क) केषु कार्यं। ३ ध्यासपक्षे।

४ (ख) से।

५

(विवरणाचार्य)

अध्यास

- अर्थाध्यास (भ्रमविषयक अर्थ) (रजतम्)
  - सादि
  - अनादि
- ज्ञानाध्यास (भ्रम) (इदं रजतम्)

"जीव ईशो विशुद्धा चित् तथा जीवेशयोर्भिदा। अविद्या तच्चितोर्योगः षडस्माकमनादयः" (सि० ले० सं० १, जीव स्व० वि०)॥

जीव, ईश्वर, शुद्ध चैतन्य, जीव ईश्वर का भेद, अविद्या तथा अविद्या-चैतन्य संयोग यें छ अनादि अध्यास हैं। इनके अतिरिक्त सब सादि अध्यास अर्थात् कार्याध्यास है।

ननु न सामान्यलक्षणमेतत् तावत्; मायाध्यासाव्यापनात्; मायाया अनादित्वेन स्मर्यमाणसदृशत्वस्य तत्प्रकाशस्य च साक्षिणो जन्यत्वस्याभावात्। नापि कार्याध्यासलक्षणम्; अन्तःकरणाध्यासे करणसम्प्रयोगाभावादव्याप्तेः। अथ संस्कारात्मकमन्तःकरणं प्रलयादौ स्थितमारम्भकाले तदध्यासहेतुः; यदा[1] अहङ्कारात् तत्संस्कारोद्भवस्तदा प्रलयव्यवहारः, यदा संस्कारादहङ्कारोद्भवस्तदा प्रपञ्चव्यवहार इति? तर्हि संस्कारमात्रादनुभवविज्ञानं प्रावादुकसम्प्रदायविरुद्धं प्रसज्येत। सम्प्रयोगस्य च इन्द्रियव्यापारस्य तस्मिन्नसत्यसम्भवात्। एवमपि कारणत्रितयाभावादव्याप्तिस्तदवस्था।

भावदीपिका

कार्याध्यासलक्षणं वा परसिद्धाध्यासानुवादो वा? नाद्यः—इत्याह—नन्विति। अनादित्वादेव तत्पूर्वमनुभवाभावात् पूर्वदृष्टत्वादेरसम्भवादित्यर्थः। सिद्धानुवादे देहादेः स्वाप्नराज्योपकरणवत् अविद्योपादानकत्वादेः प्रस्तुतस्यानुपयोगप्रसङ्गो द्रष्टव्यः। अथ पूर्वान्तःकरणसम्प्रयोगादुत्तरान्तःकरणमध्यासः? तर्हि साम्प्रतनिकवत् पूर्वस्यावस्थानेऽध्यासासम्भवात् रूपान्तरं वक्तव्यम्। तत्किं संस्कारात्मकम्, किं वा अवयवह्रासमात्रेण भिन्नम्, यद्वा[2] कारणात्मकम्? प्रथममुत्थापयति—अथेति। ब्रह्मसिद्धिटीकासम्मतिमाह—तदाहुरिति। दूषयति—तर्हीति। अध्यासस्य ज्ञानार्थात्मकत्वस्वीकारात्, करणसम्प्रयोगजन्यत्वस्वीकाराच्च, अत्र तदभावात् नाव्याप्तिव्यावृत्तिरित्यर्थः।

ज्ञानवती

में स्मृतिरूप शब्द से "दोष, संस्कार और इन्द्रियसन्निकर्ष ये तीन करण कहे गये हैं" ऐसा टीकाकार (वाचस्पति मिश्र) का कथन है। इसलिये स्थलान्तर में दृष्ट की स्थलान्तर में स्मृति होने पर और प्रत्यभिज्ञा होने पर अतिव्याप्ति नहीं है।

(पू) प्रश्न है कि यह सामान्यलक्षण नहीं है क्योंकि यह माया के अध्यास को व्याप्त नहीं करता। कारण यह है कि माया के अनादि होने से उसमें स्मर्यमाणसदृशत्व और उसके प्रकाशक साक्षी में जन्यत्व नहीं है। (और अध्यास का उक्त लक्षण) कार्याध्यास का भी लक्षण नहीं है क्योंकि (तब तो अन्तःकरण के अध्यास में करण (अर्थात् इन्द्रिय) का सन्निकर्ष न होने से अव्याप्ति हो जायगी। (पू) संस्कारात्मक अन्तःकरण प्रलय आदि में स्थित रहकर सृष्टिकाल में उस अध्यास, (अर्थात् अन्तःकरणाध्यास) का हेतु हो जाता है। जब अहंकार से उस संस्कार का उद्भव होता है तब प्रलय का व्यवहार और जब संस्कार से अहंकार का उद्भव होता है तब प्रपञ्चव्यवहार होता है? (उ) तब तो वादी लोगों (जो कि संस्कार से स्मृति की उत्पत्ति मानते हैं) के सम्प्रदाय के विरुद्ध संस्कारमात्र से विज्ञान की उत्पत्ति होने लगेगी। (पू) (मन सूक्ष्म रूप से स्थित रहता है यदि ऐसा कहें? (उ) तब तो उस (मन के स्थूल रूप से) न रहने पर इन्द्रियव्यापार अर्थात् सन्निकर्ष ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार भी तीनों कारणों के न होने से अव्याप्ति उसी प्रकार है।

---

[1] (ख) तदाहंकारात्।

[2] (क) पद्य।

अथ अपञ्चीकृतभूतकार्याणि सूक्ष्मशरीरावयवभूतानि चक्षुरादीनि स्थूलोपसंहारेऽपि तैजसस्य करणतया व्यापारभाञ्जि, न चेद्भोगसाधनत्वाद् व्यर्थारम्भाणि प्रसज्येरन्; विश्वस्य स्थूलैरपि चरितार्थत्वात्, स्वप्नेऽपि रथादिसृष्ट्याम्नानात् तेषां ग्रहणयोग्यो रूपादिमानर्थोऽस्ति; स्थूलानामेव च तेषां व्यावहारिकार्थज्ञानसाधनत्वम्; उपसंहारश्रुतिश्च तद्विषया; एवं मनोऽपि सूक्ष्मरूपेण सम्प्रसादादौ वर्तमानं स्थूलाध्यासहेतुरिति नाव्याप्तिः? नैतत्सारम्; संप्रसादादौ मनसोऽवस्थाने तस्यैवात्मो-

भावदीपिका

द्वितीयं सोपस्कारमुपस्थापयति—अथेति। यद्यपि रूपादिदर्शनोन्नेयानि वेदवेद्यानि वा न स्थूलानि वक्तुं शक्यन्ते तथापि गोलकाधिष्ठानादितदभावविशेषेण स्थूलसूक्ष्मविभागाभिलाप इति भावः। "स एतास्तेजोमात्राः समभ्याददानो हृदयमेवान्वक्रामति, शुक्रमादाय पुनरेति स्थानम्" इति, "तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय" इति च श्रुतिसहकृतः "स यत्र स्वपिति अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय स्वयं विहत्य स्वयं निर्माय" इत्यादि उपसंहारश्रुतिविरोधं परिहरति—उपसंहारेति। दूषयति—नैतत्सारमिति। "तम आसीत् तमसा गूढमग्रे", "तुच्छेनाभ्वपिहितम्" इत्याद्यागमात् अविद्यावगमात्; "एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च" इत्यादिना मनसो जन्मावगमाच्च; जातस्य च प्रलये लयाभ्युपगमाच्च। अतएव "अपीतौ तद्वत् प्रसङ्गादसमञ्जसम्" लये कार्यं कारणेनैक्यमापद्यमानं स्वधर्मेण रूपादिमत्त्वलक्षणेन दूषयेत्। ततश्च कारणस्य विलक्षणत्वेन सिद्धस्य तद्धर्मत्वप्रसङ्गादसमञ्जसं कारणादन्यत् कार्यमिति मतम्?—इत्याशङ्क्य[1] "न तु दृष्टान्तभावात्"[2]—नैवम्; लयो हि विशेषखिल्यभावत्यागेन सामान्यरूपेण हिमकरकादेरिवावस्थानं प्रोद्भूतकाठिन्यादित्यागेनेत्यादि दृष्टान्तभावान्न कार्यगुणभूषणासामञ्जस्यमिति[3] सिद्धान्तितम्। एवमविद्यासम्बन्धवत् अनादिजीवब्रह्मविभागस्याऽविद्यातन्त्रस्याऽङ्गीकाराच्च न जीवविभागस्थस्याविद्यातमसो ब्रह्मणि मलवत्त्वापादकत्वम्। न चाविद्यैव तत्सम्बन्धः इति शक्यं वक्तुम्; सम्बन्धिनः सम्बन्धत्वे आत्मनोऽप्यविद्यासम्बन्धत्वप्रसङ्गात्। न चाविद्यायाः समवायवत् सम्बन्धत्वेनाभ्युपगमो युक्तः, येन सम्बन्धान्तरं

ज्ञानवती

(पू) अपञ्चीकृत भूतों के कार्य (=सूक्ष्मशरीर) के अवयवभूत चक्षु आदि स्थूल (इन्द्रिय आदि) का उपसंहार हो जाने पर भी तैजस के करण के रूप में भासित होते हैं, अन्यथा भोग का साधन न होने से वे (=सूक्ष्म अवयव चक्षु आदि) व्यर्थ हो जायेंगे। विश्व के स्थूल (अर्थात् बाह्य इन्द्रियों) से भी चरितार्थ होने के कारण तथा स्वप्न में भी रथ आदि की सृष्टि के श्रुतिप्रतिपादित होने के कारण उन (इन्द्रियों) के ग्रहण के योग्य रूपादिमान अर्थ हैं। स्थूल ही वे (=इन्द्रियाँ) व्यावहारिक अर्थज्ञान के साधन हैं और उपसंहारश्रुति (अर्थात् इन्द्रियाणामुपरमे—आदि) तद्विषयक (अर्थात् स्थूल इन्द्रियविषयक) हैं। इस प्रकार मन

---

[1] (क) अननु। [2] (क) न्तलाभात्। [3] (क) रूषणा।
[4] (ख) स्यैव।

पाधित्वसम्भवादतिरिक्ताविद्याप्रसाधनानवतारात्[१]। अथ पूर्वमनभिव्यक्तं कार्यं कारणम्, उत्तरत्राभिव्यक्तं कार्यव्यवहारास्पदम्, ततः कारणाविद्यारूपेण मनसोऽवस्थानान्न दोषः? मैवम्; साधारणरूपकारणस्य असाधारणरूपकार्यार्थक्रियाया मृद इव जलाहरणादेरसम्भवात्; अपरथा सर्गवैकल्यात्।

यदि च स्वप्ने महाभूतक्रमेण सृष्टिः तदा तत्राभिनवकरणसम्भवात् जाग्रदिन्द्रियोपादानं व्यर्थम्। (अथ[२]) विषयस्यैव तत्र सर्गः? तदा सोऽप्यध्यासः, इति तदधिष्ठानमात्मनो नान्यदिति सूक्ष्मेन्द्रियाणां तत्र भ्रमहेतुत्वं[३] श्रुतिप्रवादविरुद्धम्। आत्मनो मनसा सामान्यग्रहे सम्भवति रूपादिहीनस्य सूर्याद्यनुग्रहाभावे च—

"अपास्ताशेषकरणादेव तस्यापि चात्मनः।
क्रियाकारकसिद्ध्यर्थं भावनैवास्य कारणम्॥"

भावदीपिका

न स्यात्; समवायस्येवाऽविद्यायाः[४] स्वातिरिक्तसम्बन्धिद्वयाभावात्। ततोऽन्यः सम्बन्धः। अस्य चोत्पाद्यत्वेऽविद्यायाः तदुत्पत्तेः प्राक् स्वतन्त्रतया अवस्थानप्रसङ्गेन "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढाम्"—इति शक्तित्वव्याघातात्। अतोऽनादिरप्यविद्यासम्बन्धः तत्तन्त्रः तथा विभागोऽपीत्यादिनिरूपणानवतारादित्याशयः।

तृतीयमुत्थाप्य दूषयति—अथेति। अनभिव्यक्तम्—कार्यकारणदृष्टान्तोऽप्ययुक्तः। किं स्वप्ने सर्वा सृष्टिरारभ्यते किं वा विषयमात्रसृष्टिः? आद्यं प्रत्याह—यदि चेति। द्वितीयमुत्थाप्य निरस्यति[४]—अथेति। भावनैव भावनाप्रधानं मनः। उक्तञ्च देवताधिष्ठानेनैवेन्द्रियाणां व्यापारवत्त्वम् "ज्योतिराद्यधिष्ठानन्तु तदामननात्" इति सूत्रकृता। "अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत्"—इत्याद्यामननात् अग्नेश्च स्वरूपेण मुखप्रवेशे दाहप्रसङ्गाद् वागिन्द्रियस्य च शब्दव्यञ्जकत्वेनाकाशकार्यत्वाद् वागधिष्ठात्री देवता भूत्वैव मुखं प्राविशत् इत्यवगमात्। ज्योतिरादिशब्दवाच्या[५] अग्न्यादिदेवताऽधिष्ठा-

ज्ञानवती

भी सम्प्रसाद आदि में सूक्ष्म रूप से वर्त्तमान रहते हुए स्थूल अध्यास का हेतु है इसलिये व्याप्ति नहीं है। (उ) यह तथ्य नहीं है। सम्प्रसाद आदि में मन के रहने पर चूँकि वही आत्मा की उपाधि हो जाता है इसलिए अतिरिक्त अविद्या रूप साधन का अवतार नहीं होगा। (पू) पहले अनभिव्यक्त कार्य ही कारण होता है और बाद में अभिव्यक्त कार्य व्यवहार के योग्य होता है इसलिये कारण अविद्या रूप से मन की स्थिति होने से दोष नहीं है? (उ) साधारण रूप कारण से असाधारण रूप कार्य वाली क्रिया का होना, मिट्टी से जलाहरण आदि के समान, असम्भव है; अन्यथा सृष्टि ही व्यर्थ हो जायेगी। यदि स्वप्न में महाभूत के क्रम से सृष्टि माने तो वहाँ नवीन इन्द्रिय के उत्पन्न होने से जाग्रत इद्रियाँ व्यर्थ हो जायेगी।

---

१ (क) वात्विद्या। २ (ख) अथ। ३ (ख) भ्रमहेतुत्वे।
४ (क) निरूपयति। ५ (ख) क्यग्न्या।

इति वार्त्तिकाच्च बहिरिन्द्रियागोचरत्वं दत्तस्वहस्तं स्यात्। रूपाद्युपलब्ध्याऽनुमेय-जाग्रदादीन्द्रियव्यतिरिक्तसूक्ष्मेन्द्रियाप्रसिद्धेश्च[1]। न च स्वप्ने जाग्रद्वत् अज्ञात-विषयसत्त्वमस्ति, सत्वे वा तस्य "न तत्र रथाः" इति हि श्रुतिबाधः सर्वजीव-साधारण्यं प्रतिजीवासाधारणदृष्टस्वप्नस्य स्यात्। प्राणवज्जाग्रद्देहोपयोगेऽप्यारम्भ-सम्भवाच्च। ततो नाव्यापनोद्धारः।

"असन्निहितविषयत्वञ्च स्मृतिरूपत्वम्, तच्चारोप्यस्याधिष्ठाने परमार्थतो-ऽसत्त्वम्, न देशान्तरादौ सत्त्वम्" इत्याचार्यान्तरम्; तत्रापि परत्र इत्यधिष्ठानोपादा-नात् तद्ग्राहकं करणं वक्तव्यम्। तथा च यद्यप्यविद्याध्यासे (विज्ञानात्मनः[2] केवल-स्याधिष्ठानत्वात् स्वरूपेणैव स्फुरणे) न कारणापेक्षा, तथापि मनोऽध्यासे[3] विशिष्टस्या-धिष्ठानत्वात्, तत्र च करणाभावादव्यापनमेव; तस्मादलक्षणमेतदिति ?

भावदीपिका

नमिति सूत्रार्थः। युक्त्यन्तरमाह—रूपादीति। अस्तु तर्हि स्वप्ने रूपाद्यप्रतीतिः ?—तत्राह—न चेति। स्वाप्नरूपादिप्रतीतेः शुक्तिरूप्यरूपादिप्रतीतिवदविद्यावृत्तित्वे-नापि सम्भवान्न सम्प्रयुक्तेन्द्रियजन्यत्वकल्पनेत्यर्थः। सूक्ष्मशरीरावयववत्त्वं च अन्य-थाऽपि स्यात्—इत्याह—प्राणवदिति। इदानीम् आचार्यबृहस्पतिव्याख्यानमनूद्याक्षिपति—असन्निहितेति। अत्राप्यविद्याभ्यासे करणसम्प्रयोगाभावादव्याप्तिः। अथ यत्र जडम-धिष्ठानं तत्रैव सामान्यांशज्ञानाय करणापेक्षा; आदिमति वाऽध्यासे तदपेक्षणेऽपि न तद्विलक्षणेऽविद्याध्यासे ?—तत्राह—तथाचेति।

ज्ञानवती

(पू) यदि (यह कहिये कि) वहाँ विषय की ही सृष्टि होती है (इन्द्रियों की नहीं)। (उ) तब तो वह भी अध्यास ही है अतः उसका अधिष्ठान आत्मा से अतिरिक्त दूसरा नहीं है अतः सूक्ष्म इन्द्रियाँ भ्रम का कारण है यह मत श्रुति एवं प्रवाद के विरुद्ध हो जायगा। आत्मा का मन से सामान्यग्रह संभव होने पर और रूपादिहीन के ऊपर सूर्य आदि का अनुग्रह न होने पर तथा —

"उस आत्मा का भी (ज्ञान) समस्त इन्द्रियों के निरस्त हो जाने पर (मन से) होता है। इसका (अर्थात् स्वप्न ज्ञान का) कारण भावना (अर्थात वासना) ही है वह क्रिया एवं कारक की सिद्धि के लिए है।"

इस वार्तिक से (आत्मा का) वहिरिन्द्रिय का विषय न होना प्रतिष्ठित हो जायगा। रूप आदि के प्राप्त होने से अनुमेय तथा जाग्रतइन्द्रिय से व्यतिरिक्त सूक्ष्म इन्द्रिय प्रसिद्ध नहीं है। स्वप्न में जाग्रत के समान ज्ञातविषय की सत्ता नहीं रहती। और यदि सत्ता है (ऐसा मानेंगे तो) "न तत्र रथाः" इस श्रुति का वाध हो जायगा तथा प्रत्येक जीव के लिये असाधारण रूप में देखा गया स्वप्न सर्वजीवसाधारण हो जायगा। साथ ही जैसे प्राण का (जाग्रत देह में उपयोग होता है उसी प्रकार स्वाप्न पदार्थों का भी) जाग्रत देह में उपयोग सम्भव हो जायगा। इस प्रकार अव्याप्ति का उद्धार नहीं है।

---

[1] (ख) रूपाद्यनुपलब्ध्या। [2] (क)ध्यासे न कारणा। [3] (ख)अध्यासविशिष्ट।

अत्र वदाम :—"सत्यानृतसम्भेदः" सामान्यलक्षणम् "अतस्मिंस्तद्रूपावभासः" वाऽध्यासस्य तावत्; भाष्यकारैरुभयोपादानात्[1]; तत्रापि 'शुक्लो घटः' इत्यादावपि प्रसक्तेर्न द्वितीयं स्वीयम्।

ननु सम्भेदः सम्बन्धश्चेत्, अविद्याऽऽत्मनोः सम्बन्धैः सम्बन्धान्तराभावादव्याप्तिः, तस्याप्यनृतत्वेन सत्यात्मसम्भेदस्य वक्तव्यत्वात्, अतल्लिङ्गेऽपि तल्लिङ्गस्य

भावदीपिका

सामान्यलक्षणं भिन्नं वदंस्तावत् समाधत्ते—अत्र वदाम इति। सत्यस्य वस्तुनो मिथ्यावस्तुसम्भेदो[2] अर्थाध्यासस्य लक्षणम्, तदवभासश्च ज्ञानाध्यासस्येति ज्ञेयम्। सत्यं ब्रह्मैव तत्तदविभ्रमपरम्पराधिष्ठानम्; अतएव तद्विज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा। तस्याश्च तात्पर्येण सम्पादनायैव ब्रह्मणः परमकारणत्वम्, कारणमात्रस्य च सत्यत्वम् मृदादिदृष्टान्तैश्च वेदान्तेषु निरूप्यते। ततो नेयमौपचारिकी। ब्रह्मणः कारणत्वं चाधिष्ठानत्वमेव; आरम्भपरिणामयोः सजातीयान्तरशून्यस्य निरवयवस्यासम्भवात्। अतो ब्रह्मैव परमार्थसत्यं विश्वविवर्त्ताधिष्ठानम्, नानृतं रज्ज्वादि। तेन युक्तमेतल्लक्षणम्। इदानीं न्यायानुसारिणाम् अध्याससामान्यलक्षणमाह—अतस्मिन्निति। एतच्च तन्मतानुसारेणैव दुष्टं भाष्यकारैस्तत्प्रतिबोधनायैवोपात्तम्। यदा तु स्वोक्तलक्षणस्यैकदेशेनानुवादः, तदापि शुक्लादिगुणस्य गवादिद्रव्यस्य च वृक्षयोरिवैक्यप्रतीतेर्भ्रान्तिलक्षणत्वोपपन्नत्वेऽपि प्रामाण्यस्वीकारान्न तत् स्वीयं सामान्यलक्षणम्—इत्याह—तत्रापीति।

आद्यमाक्षिपति—नन्विति। सम्भेद-शब्दस्य मिश्रणे प्रसिद्धत्वात् साक्षात् सत्यानृतयोरैक्यासम्भवाच्च अयमेवार्थश्चेदित्यर्थः। अविद्यावत् तत्सम्भेदस्याऽप्यध्यस्तत्वात्—इति हेतुमाह—तस्यापीति। ज्ञानाध्यासलक्षणमाक्षिपति—अतल्लिङ्गेऽपीति। लिङ्गस्य स्वरूपेण[3] सत्यत्वेऽपि अन्यत्र मिथ्यात्वेन स्फुरणं रजतादिरेव इति भावः। स्वपरनिर्वाहकत्वेन परसम्मतेन परं

ज्ञानवती

स्मृतिरूप होने का अर्थ है विषय का निकटवर्त्ती प्रदेश में न होना, और वह अधिष्ठान में आरोप्य का परमार्थतः असत्व है, न कि देशान्तर आदि में असत्व, यह दूसरे आचार्य का कथन है। वहाँ भी 'दूसरी वस्तु में' ऐसा अधिष्ठान का उपादान होने से उसका ग्राहक करण कहना चाहिये। इस प्रकार यद्यपि अविद्या के अध्यास में कारण की अपेक्षा नहीं है तथा केवल विज्ञानात्मा के अधिष्ठान होने के कारण स्वरूपतः ही स्फुरण होने से कारण की अपेक्षा नहीं है, तथापि मन के अध्यास में विशिष्ट का अधिष्ठान होने से और वहाँ कारण न होने से अव्याप्ति ही है, इसलिये वह लक्षण ठीक नहीं है।

(उ) इस विषय में कहते हैं—अध्यास का सामान्य लक्षण है "सत्य और अनृत का सम्भेद" अथवा "अवस्तु में वस्तुरूप का अवभास"। भाष्यकार ने दोनों को माना है। उनमें भी 'शुक्ल घट' यहाँ पर भी प्राप्ति होने से दूसरा लक्षण ठीक नहीं है।

(पू) यदि सम्भेद का अर्थ सम्बन्ध मानेंगे तो अविद्या और आत्मा का सम्बन्धों से

---

[1] (ख) भाष्यकारैरुपादानात्। [2] (क) दे। [3] (क) णास।

'दाराः' 'कलत्रम्' इत्यवभासे च अतिव्याप्तिः ? मैवं वोचः; स्वतन्त्रसम्बन्धस्य समवायस्यापि समवाय्याधारत्वेन सम्भेदवदत्राप्युपपत्तेः तथा च स[त्या]लम्बनमसत्यमित्यध्यासस्वरूपं न क्वापि व्यभिचरति, लिङ्गस्य च शब्दधर्मत्वात्; अर्थधर्मत्वे पुनरेकार्थवाचकशब्दानामनेकलिङ्गत्वं न स्यात्। अतः प्रतिमादाविव शब्दादा[[1]हार्यरूपः] एवासौ। "स्मृतिरूपः" इत्यादिलक्षणन्तु लोकवादिसम्प्रतिपन्नस्थाणुपुरुषस्वप्नादिसङ्ग्रहार्थमेव। यद्वा—परत्र सकलप्रपञ्चातीते निरवद्ये वस्तुनि अनादिकालं प्रत्यहम-

भावदीपिका

प्रति बोधयति—मैवमिति। अथ स्वपरनिर्वाहकत्वेपि सम्बन्धस्य सम्बन्धान्तराभावप्रयुक्ताव्याप्तेः कः परिहारः? उच्यते—अयमत्रार्थो विवक्षितः—इत्याह—सत्यालम्बनमिति। सम्बन्धस्याऽपि सत्यालम्बनत्वमस्तीत्यर्थः[2]। अतिव्याप्तिं परिहरति—लिङ्गस्य चेति। शब्देषु प्रतीयमानं रूपभेदात्मकं लिङ्गं कथं शब्दधर्मः? अर्थधर्मः कस्मान्न भवति?—तत्राह—अर्थधर्मत्व इति। रूपभेदविधायकव्याकरणविरोधोऽपि स्यादित्यर्थः। तथापि कथमतिव्याप्तिपरिहारः?—तत्राह—अत इति। किमर्थं तर्हि इतरल्लक्षणम् इति?—तदाह—स्मृतिरूप इति।

अथवाऽऽत्मानात्माध्यासस्य प्रस्तावात् तद्विषयमेवेदम्—इत्याह—यद्वेति। अस्मिन् पक्षे कारणत्रितयमविवक्षितम्। आह—"कोऽयमध्यासः" इति। अत्र किमः प्रमाणप्रश्नार्थत्वम्। तत्र लक्षणविन्यासछलेन प्रमाणमेवोक्तम्। स्मृत्या रूप्यते=निरूप्यते "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया" इत्यादिकयेति=स्मृतिरूपः। स्मृतेः पूर्वत्वेन मूलत्वेन दृष्टो वेदः=पूर्वदृष्टः; तेनाऽवभासो यस्य सः=पूर्वदृष्टावभासः; इति विवक्षितम्। अस्यैव सम्भावनाप्रमाणान्तर[विरोध]परिहारौ[3] "कथं पुनः प्रत्यगात्मनि" इत्यादिभाष्येण। चैतन्यस्याऽद्वितीयाऽधिष्ठानात्मप्रमाणस्याऽविद्यादोषो-

ज्ञानवती

सम्बन्ध न होने से अव्याप्ति हो जायगी क्योंकि उस (सम्बन्ध) के भी अनृत होने से सत्यात्मक सम्भेद कहना पड़ेगा। तथा अतल्लिङ्ग (जो पुल्लिङ्ग नहीं है उस) में भी तल्लिङ्ग (जैसे दाराः अथवा कलत्रम् (अनपुंसक लिङ्ग में नपुंसक) इस अवभास में अतिव्याप्ति हो जायगी?

(उ) ऐसा मत कहिये। स्वतन्त्र सम्बन्ध समवाय के भी समवायी आधार के रूप में सम्भेद होने के समान यहाँ भी उपपत्ति हो जायगी। और असत्य सत्य आलम्बन वाला होता है ऐसा अध्यास का स्वरूप कहीं भी व्यभिचरित नहीं होता। क्योंकि लिङ्ग, शब्द का धर्म है। अर्थ का धर्म होने पर फिर एकार्थवाचक शब्दों का अनेकलिङ्गत्व नहीं होगा। अतः जैसे प्रतिमा आदि में, उसी प्रकार यह (अर्थात् लिङ्गाध्यास) भी शब्द से आहार्य रूप है। 'स्मृतिरूप' यह लक्षण तो लोक एवं वादी के द्वारा ज्ञात स्थाणु में पुरुषभ्रम एवं स्वप्न आदि के लिये है। अथवा—'परत्र' (का अर्थ है) समस्त प्रपञ्च से रहित निरवद्य वस्तु (ब्रह्म) में, अनादि काल से प्रतिदिन अनुवर्त्तमान रहने के कारण स्मृतिरूप, पूर्वदृष्ट के समान अवभास

---

[1] (क) दाहार्यारोप। [2] (ख) नमस्ति। [3] (ख) हारो।

नुवर्त्तनात्[1] स्मृतिरूपः पूर्वदृष्टतुल्यावभासः सर्वोऽप्यनात्मतत्प्रतिभासरूपोऽध्यास इत्येव विवक्षितम्। एकविज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाश्रुत्यनुरोधात्।

[अख्यातिवादखण्डनम्–]

ननु प्राभाकराः मिथ्यार्थावभासमेव न मन्यन्ते कथं तेषामध्यासः[2] सम्प्रतिपन्नः? ते हि ग्रहणस्मरणयोर्गृह्यमाणस्मर्यमाणयोश्च विवेकाग्रहाद् भ्रान्तिव्यवहारं

भावदीपिका

ऽस्ति, अनादित्वाच्च पूर्वभ्रमसंस्कार इत्यादिकारणत्रितयसम्पादनं वृद्धानाम्। चैतन्यस्य प्रमाकरणत्वे वेदान्तकरणत्वादिकल्पनान्निर्वाहमात्रं द्रष्टव्यम्। ततो न कोऽपि दोषः।

[अख्यातिवादखण्डनम्—]

इदानीं वादिविप्रतिपत्तिनिरासेनोक्तमध्यासं व्यवस्थापयितुं तामुत्थापयति—नन्विति। यदा प्रतीतेरपि न मिथ्यात्वमिच्छन्ति [3]पुरोवर्त्यवभासकतत्प्रतीतेर्हि विषयव्यवस्था, रजतादिप्रतीतेश्च स्मृतित्वेन पुरोवर्त्त्यवभासकत्वाभावान्न विषयापहारेण मिथ्यात्वम्, तदाऽर्थस्य रजतादेः स्मृतिगोचरतया सत्यत्वमिच्छन्तो मिथ्यात्वं नेच्छन्तीति किमु वक्तव्यम्—इत्याह—कथं तेषामिति। कथं तर्हि भ्रान्तिबाधव्यवहारं व्यवस्थापयन्ति ते?—तत्राह—ते हीति। केवलेदमंशज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वाऽनङ्गीकारान्न पाषाणादौ प्रवृत्त्यापातः। रजतज्ञानमात्रस्य प्रवर्त्तकत्वाऽनङ्गीकाराच्च न देशान्तरादौ प्रवृत्त्यापातः। किन्तु ज्ञानद्वयं निरन्तरोत्पन्नं प्रवृत्तिहेतुः। इदमिति हि पुरोवर्त्तिज्ञानानन्तरमेव रजतस्मरणमुपजायमानमसन्निहितार्थमपि पुंसः सन्निहितावभासाभिमानं जनयति। यथा अधिष्ठानेन्द्रियसम्प्रयोगजन्यसामान्यज्ञानान्तरं जायमानं रजतादिज्ञानं अविद्यावृत्तिरूपमपि वेदान्तिनां भ्रान्तस्यैन्द्रियकत्वाभिमानं जनयति; तादृशाभिमानाच्च प्रवृत्त्युपपत्तौ चेतनव्यवहारस्य ज्ञानपूर्वकत्वानुपपत्त्या संसर्गज्ञानं वक्तव्यमित्यपास्तम्। विमतं पुरोवर्त्तिविषयं रजतार्थिनस्तत्र नियमेन प्रवर्त्तकत्वात् सम्मतवदित्याद्यनुमानस्य च, विमतानि पदानि स्वस्मारितपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि विशिष्टपदत्वात् सम्मतवत् इति चानुमाने वेदान्तिनः संसर्गज्ञानानङ्गीकाराद् बाधः। एतेन विशिष्टव्यवहारस्य संसर्गज्ञानपूर्वकत्वाभावे मध्यमवृद्धव्यवहारस्याऽपि तथात्वापत्तेर्बालस्य संसर्गज्ञानानुमानानुदयेन सङ्केतानुदयात् अप्रामाण्यं शब्दस्येति तुल्यत्वात् कु[चो]द्यतया[4] व्याख्यातम्। न च भ्रान्त्यनङ्गीकारे पूर्वपक्षप्रतीतेर्विषयासत्त्वसम्पादन-

ज्ञानवती

अर्थात् सभी अनात्मतत्प्रतिभास रूप अध्यास, यही विवक्षित है। क्योंकि एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा के बारे में श्रुति का अनुरोध है।

[अख्यातिवाद का खण्डन—]

(पू) प्रभाकर मिथ्या अर्थावभास (अर्थात् भ्रम) नहीं मानते फिर उन्हें अध्यास कैसे ज्ञात होगा? वे ग्रहण-स्मरण और गृह्यमाण-स्मर्यमाण के भेद का ग्रहण न होने से भ्रान्तिशब्द

[1] (ख) वर्त्तमानात्।

[2] (ख) तेषां मध्यासस्थं प्रपन्ना तर्हि ग्रहणस्मरणयोर्गृह्यमाणस्मर्यमाण्योर्ग्रहणयोर्गृह्यमाणयोश्च विवेका।

[3] (क) पुरोऽवर्त्त्य।

[4] (क) तो।

तन्निवृत्तेर्विवेकेन बाधव्यवहारमुपवर्णयन्ति। न च स्वरूपस्फुरणे तावन्मात्रविवेकाविवेकास्फुरणं न युक्तमिति वचनीयम्; आत्मनः स्वरूपस्फुरणे तावन्मात्रानन्दाद्यस्फुरणवत् सम्भवात्; निरवद्यानन्दादिस्फुरणे च दुःखित्वाद्यध्यासायोगात् विद्यार्थशास्त्रवैयर्थ्यात्।

नैतच्चारु; विवेकनिवर्त्त्यस्य विवेकाग्रहणस्य प्रागभावतैव[1]। दोषासाध्यत्वेन तस्य भ्रान्तिव्यवहारहेतुत्वेऽन्यदापि[2] भ्रान्तिव्यवहारप्रसङ्गेन प्रमाणव्यवहारोच्छेदात्। गृह्यमाणादेः प्रामाणिकस्फुरणे च अविद्ययाऽपि तावन्मात्रविवेकाग्रहायोगात् (कदाचिद्[3]) विभ्रमव्यवहारो न स्यात्। भेदवदभावोऽपि स्वरूपाद्वस्तुनो नातिरिच्यते चेत्?

भावदीपिका

द्वारा सिद्धान्तव्यवस्थापनार्थं शास्त्रानारम्भप्रसङ्ग इति वाच्यम्; संवेदनस्व[4]-प्रकाशत्ववादिवादिनं[5] प्रति तज्जाड्यादिपूर्वपक्षप्रतीतेः घटादिष्वनुभूतजाड्यादिस्मृतित्वेन पूर्वपक्षिणो विपरीताभिमानपरित्यागार्थत्वात् शास्त्रस्येति भावः। विवेकाग्रहोऽसिद्धः?—इत्याशङ्क्याह—न च स्वरूपेति। अतो विपरीताभिमानहेतुविवेकाग्रहसम्भवात् उक्तमार्गेणैव भ्रान्तिव्यवहार इति सिद्धम्।

तत्र वक्तव्यम्—किं विवेकाग्रहो दोषनिमित्तो भ्रान्तिव्यवहारं प्रवर्त्तयति, स्वभावसिद्धो वा? नोभयथापि—इत्याह—नैतच्चार्वित्यादिना। न चान्यदा सामान्यविशेषविषयज्ञानद्वयस्य युगपद्भावाभावान्नातिप्रसङ्ग इति वाच्यम्; विद्यमानयोरपि विवेकाग्रहासम्भवान्न दोषसहकृततन्निमित्तो भ्रान्तिव्यवहारः, नापि केवलज्ञानद्वयनिमित्तः पूर्वोक्तप्रसङ्गात्—इत्याशयेनाह—गृह्यमाणेति। स्फुरणमात्रे ह्यविद्यया[न]विवेकास्फुरणं युज्यते। विवेकस्य स्वरूपातिरेके च न त्वत्पक्षे तद्वदयमित्यर्थः। यतो विवेकाग्रहासम्भवाद् विपरीताभिमानो दुर्निरूपस्ततो न व्यवस्थेत्युपसंहारः। इतोऽपि न व्यवस्थोपपत्तिः—इत्याह—भेदवदिति।

ज्ञानवती

का प्रयोग तथा विवेक के द्वारा उसकी निवृत्ति को बाधव्यवहार कहते हैं। (पू) स्वरूप का स्फुरण होने पर तावन्मात्र के विवेक एवं अविवेक का स्फुरण न होना ठीक नहीं है? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। आत्मा के स्वरूप का स्फुरण होने पर वह तावन्मात्र आनन्द आदि के अस्फुरण के समान सम्भव है। (यदि आत्मा के) निरवद्य आनन्दांश का स्फुरण हो जाय तो (आत्मा में 'अहं दुःखी' करके जो) दुःखित्व का अध्यास है (वह नहीं रहेगा। फलतः मोक्ष हो जायगा फिर मोक्षपुरुषार्थ के लिये प्रारब्ध) विद्यार्थशास्त्र व्यर्थ हो जायेंगे।

(उ) यह मनोरम नहीं है। विवेक से निवर्त्य विवेक का अग्रहण प्रागभाव रूप ही है। दोष से साध्य न होने से उसके भ्रान्तिव्यवहार के हेतु होने पर दूसरे समय भी भ्रान्तिव्यवहार का प्रसङ्ग होने से प्रमाणव्यवहार ही उच्छिन्न हो जायगा और गृह्यमाण (=इदमंश) का प्रामाणिक स्फुरण होने पर अविद्या के भी उतने विवेक का ज्ञान न कर सकने के कारण कभी विभ्रम का व्यवहार नहीं होगा। (पू) भेद के समान अभाव भी वस्तुस्वरूप से अतिरिक्त नहीं होता?

---

[1] (ख) प्रागभावतता वा। [2] (ख) अन्यदपि। [3] (क) कदाचिदपि। (ख) कदाचिद्। [4] (ख) नस्य। [5] (ख) त्ववादिनो।

विवेकज्ञानस्यापि प्रागभावाभावात् सर्वदा सत्त्वमसत्त्वं वा प्रसज्येत। वस्तुनश्च ज्ञानेन बाधाभावात्; ततो न भ्रान्तिबाधव्यवस्था। आनन्दादयश्च भाविकरूपेण चिदभेदात् तत्प्रतिभासप्रतिभाता अपि दुःखप्रत्यनीकत्वादिरूपेणापरामृष्टा कल्पित-भेदेनाप्रतिभाता इति युज्यते; प्रमित्यभावात्। 'सर्वत्रैव स्मृतिप्रमोषेणैव विभ्रमः' इति जरतां प्राभाकराणां मतम्; स च दोषसाध्य इति भ्रमोपपत्तिः। प्रमोषस्मृतेस्तत्तोल्लेख-प्रागभावश्चेत्? उक्तो दोषः।

अथेन्द्रियस्य विशेषग्रहणशक्तिं निरुन्धन् भ्रमं प्रवर्त्तयति दोषः? तर्हि निर्वि-

भावदीपिका

वस्तुभूतस्य विवेकाग्रहस्य विवेकेन निवृत्त्यसम्भवेन[1] प्रयोजनाभावात् तदर्थमुद्यमोऽपि न स्यात्--इत्याह--वस्तुनश्चेति।

आनन्दादीनां स्वरूपभूतानामप्यविद्यावशेनाऽग्रहदुःखाद्यप्रत्यनीकत्वरूपेणान्यथाग्रहसम्भवात् नोदाहरणत्वम्--इत्याह--आनन्दादय इति। वृद्धमतमुपस्थापयति--सर्वत्रेति। प्रमोषः= विद्यमानस्याऽपहारः; व्यर्थः[2]; ज्ञानस्याऽर्थस्फुरणात्मकस्य प्रागेव स्वोचितव्यवहारप्रवर्त्तकत्वेन भ्रमव्यवहारानुदयप्रसङ्गात्। तेन स्फुरणाऽनुदय एव वाच्यः। ततः किम्?--तत्राह--प्रमोष इति। अभावस्यानादित्वाद्, भावत्वे च ज्ञानान्यसर्वभावत्वाङ्गीकारान्न दोषसाध्यत्वमित्यर्थः।

दोषस्योपयोगान्तरमाशङ्क्य परिहरति--अथेति। शक्तिनिरोधस्य कार्यगम्यत्वात् कार्यस्य च निर्विकल्पके भावादित्यर्थः। न च यत्र भ्रमव्यवहारस्तत्रैवमिति न दोषः? [य]त्र भ्रमव्यवहारस्तत्र दोषस्य मिथ्याज्ञानजनकत्वमिति परेणापि वक्तुं शक्यत्वात् पक्षनिर्धारणानुप-पत्तेरिति ज्ञेयम्।

ज्ञानवती

(उ) तब तो विवेकज्ञान के भी प्रागभाव न होने से सर्वदा सत्त्व या असत्त्व ही होने लगेगा। और वस्तु का ज्ञान से बाध न होने के कारण उससे भ्रान्ति के बाध की व्यवस्था भी न हो सकेगी। (और जो पूर्वपक्ष वालों ने यह कहा था कि आत्मा के स्वरूप का स्फुरण होने पर भी तावन्मात्र आनन्द का स्फुरण यदि हो जाय तो मोक्ष हो जायगा अतः आनन्दांश का स्फुरण नहीं होता, तो उसके बारे में यह कहना है कि—) आनन्द आदि पारमार्थिक रूप से चित् अर्थात् ज्ञान से अभिन्न है इसलिये ज्ञान के प्रतिभास से वे भी प्रतिभासित होते हैं फिर भी चूंकि दुःखविरोधी रूप में वे परामृष्ट न होकर कल्पितभेद के कारण अप्रतिभात ही रहते हैं, यही युक्त है; क्योंकि प्रमिति नहीं है। प्राचीन प्राभाकरों का मत है कि सर्वत्र स्मृति-प्रमोष से ही विभ्रम होता है और वह (=स्मृतिप्रमोष) दोषसाध्य है। इसलिये भ्रम की उपपत्ति हो जाती है। यदि आप प्रमोषस्मृति में तत्ता के उल्लेख का प्रागभाव मानते हैं तो दोष कह दिया गया है।

(पू) दोष इन्द्रिय की विशेषग्रहणशक्ति को अवरुद्ध करता हुआ भ्रम को प्रवृत्त करता है। (उ) तब तो निर्विकल्पकप्रत्यक्ष प्रमाण में भी (इन्द्रियों के द्वारा) विशेष का साक्षा-

१ (क) वो न।

२ (क) व्यर्थो स्फुरणा।

कल्पकप्रत्यक्षे प्रमाणेऽपि विशेषाग्रहाद् दोषमूलत्वसम्भवेन भ्रमव्यवहारः प्रसज्येत। अस्माकं तु दोषस्य भ्रान्तिप्रतिभातार्थोपादानाविद्याक्षोभकत्वमेव। समसमयमेव

भावदीपिका

ननु त्वन्मतेऽपि भ्रान्तेरिन्द्रियजन्यत्वानङ्गीकारात् तदन्वयव्यतिरेकयोरधिष्ठानसामान्यग्रहोपक्षीणत्ववर्णनात्, अतः एतच्चक्षुरेतच्चक्षुर्जन्ययथार्थजातीयज्ञानातिरिक्तज्ञानजनकम्, चक्षुष्ट्वात् चक्षुरन्तरवत् इति चाक्षुषभ्रमसाधनमसाधु; भवदीयानां मायावृत्तिरूपो हि विभ्रमोऽङ्गीक्रियते; तस्य च सम्प्रसादे दोषान्तरोपरमेऽप्यज्ञानसाक्ष्यानन्दवृत्तिरूपस्य स्वीकारान्न तत्र दोषोपयोगो युक्तः, दोषाप्रयुक्तत्वे च भ्रान्तिनियमो न भवेत्?—इत्याशङ्क्याह—अस्माकं त्विति। दुष्टेन्द्रियाधिष्ठानसम्प्रयोगे तदवच्छिन्नचैतन्यगताऽविद्या अन्तःकरणस्याऽधिष्ठानसामान्यांशज्ञानपरिणामसमय एव मिथ्याविशेषज्ञानात्मना परिणमते। मिथ्यार्थेन च प्रतीतिसमयमात्रवर्त्तिनो[1] दुष्टस्याऽपीन्द्रियस्य सम्बन्धार्हत्वाभावान्न तत्प्रतीतिरिन्द्रियसाध्या। अन्तःकरणवृत्तित्वे विभ्रमज्ञानस्य अन्तःकरणस्य संसारमूलाज्ञानकार्यत्वाद् व्यावहारिकशुक्त्यादिज्ञानोच्छेद्यत्वाभावापत्तेः अविद्यान्तरवृत्तित्वस्वीकारात्। सम्प्रसादे च स्वरूपचैतन्येन सम्पृक्ताऽविद्या तदवस्थाविनाशे संस्कारद्वारेणोत्थितस्याज्ञानादिपरामर्शहेतुः।

ये तु वृत्तिमास्थिषत तेषां मायोपहितस्यान्तःकरणोपहितस्येव स्वाश्रयवृत्तिकर्तृत्वे स्वप्न इव सम्प्रसादेऽपि प्रमातृत्वं प्रसज्ज्येत। तथाच "अन्यथागृह्णतः स्वप्नो निद्रातत्त्वमजानत" इत्यादिविरोधः; सम्प्रसीदत्यस्मिन् इति सम्प्रसादशब्दस्यान्वर्थबाधश्च। ततो यथास्वरूपज्ञानेन स्वसंसृष्टसर्वावभासकत्वात् सर्वज्ञत्वम् "तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।" इति श्रुतेः, "अनुकृतेस्तस्य च" इति न्यायाच्च, अभ्युपगन्तव्यम्। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इति श्रुत्यनुसारेण ज्ञानकर्त्तृत्वाभ्युपगमे "तमेव भान्तम्" इति सावधारणश्रुतेः, "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते" इत्याद्यनेकश्रुतिसंहिताया न्यायस्य च बाधप्रसङ्गात्। अनेकश्रुत्यादिविरोधे च "यथैष एष उ साधु कर्म कारयति, तं यमेभ्य उन्निनीषते; एष उ एवासाधु कर्म कारयति, तं यमेभ्योऽधोन्निनीषति" इत्येकश्रुतिः "वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि[2] दर्शयति" इति प्राणिकर्मसापेक्षत्वेन सृजतो नेशस्य वैषम्यनैर्घृण्ये; "तथाहि दर्शयति" श्रुतिः—इत्युदाहृत्य कर्मणि विषमप्रेरणया दोषं भूय आसञ्जयन्ती निरवद्यत्वाद्यनेकश्रुत्यनुसारेण प्राणिनां पूर्वाभ्यस्तविषमकर्मवासनानुगुणा विषमा प्रेरणा नावद्यमावहतीति निर्णीता; तथैषाऽपि स्वसंसृष्टमाया तद्विकारावभासपरा स्वरूपज्ञानेनेति निर्णेतव्या। "तथाच वाक्यान्वयात्" इति[3] मैत्रेयीब्राह्मणवाक्यस्य[4] ब्रह्मणि समन्वयं वर्णयद्भिः "विज्ञातारमरे केन" इति

ज्ञानवती

त्कार न होने से दोषमूलत्व की संभावना होने के कारण भ्रम व्यवहार होने लगेगा। हम लोगों (=वेदान्तियों) के (मत में) तो दोष भ्रान्ति के द्वारा ज्ञात अर्थ के उपादान अविद्या का क्षोभ करने वाला है। एक ही समय में उस (अविद्या) से आरब्ध विवर्त्त से

---

[1] (ख) वर्त्तिना। [2] (ख) तथा।

[3] (ख) दि मै। [4] (क) ब्रह्मणः।

तदारब्धविवर्ताच्छादितविशेषांशस्य अधिष्ठानस्य सामान्यांशस्यास्फुरणमेवेन्द्रियेण। तेन दोषस्य भ्रमप्रवर्त्तकत्वं युक्तम्।

अथात्रापि सादृश्यादिदोषेण स्थाण्वादाविन्द्रियासंयुक्तपुरुषादिस्मरणं साध्यत इत्येवास्त्येवात्र भ्रमे तदुपयोगः? तदापि[1] बहूनां स्मरणसम्भवात् सन्देहे प्राप्ते व्यवस्थितैकतमाभासहेतुत्वमन्तरेण दोषस्य भ्रमापर्यवसानमेव। तस्मादभ्युपेयत एव ज्ञानाद्वैराग्यवादिभिरपि विभ्रमप्रत्ययः।

भावदीपिका

विज्ञातृत्वलिङ्गेन जीवाशङ्का, ब्रह्मणस्तदभेदाभिप्रायेण विज्ञातृत्वनिर्देश इति परिजह्रे भाष्यकारैः। वृत्तिज्ञानानां प्रलये प्रलयो मायाकार्यमहाभूतादेरिव वक्तव्यः, अपरथा "सदेवेकमेवाद्वितीयमासीत्" इत्यविभागावधारणं तत्पूर्वकं च "तदैक्षत" इति वचनं न समञ्जसं स्यात्। प्रलयाभ्युपगमे च सदा सर्वज्ञत्वं न स्यात्; प्रत्युताऽज्ञत्वपूर्वकज्ञानोत्पत्तावज्ञानपारतन्त्र्यं जीववत् स्यात्। ततः स्वरूपज्ञानेन सर्वज्ञं ब्रह्म; ईक्षणव्यपदेशस्तु मायाविवर्त्ताभिप्रायः। एवं सम्प्रसादेऽपि स्वरूपज्ञानेनैवावभासकत्वं चाक्षुषादिविभ्रमानुमानं रजतादिसंसर्गज्ञानानुमानं चान्यथाख्यात्यनुसारि न दुष्यति। यद्यप्येवं ज्ञानभेदः तथापि यस्याधिष्ठानस्य सामान्यज्ञानं तस्यैव मिथ्याविशेषान्तरस्य निरन्तरं विशेषज्ञानम्; तथाच सामानाधिकरण्येनाभिलापप्रवृत्ती न विरुध्येत इति भावः।

पुनः परस्य दोषोपयोगमुद्भाव्य अपाकरोति--अथाऽत्रापीति। न चैकतमस्यैव स्मृतौ भ्रमनियमः; स्मृतेर्ग्रहणाविवेकाद् ग्रहणानुसारेण पुरोवर्त्तिप्रवर्त्तकत्ववत् ग्रहणस्यापि स्मृत्यनुसारेण देशान्तरादिस्थरजतादौ प्रवर्त्तकत्वप्रसङ्गात्। ततो विवेकाग्रहोऽपि विपर्यासद्वारैव यथाव्यवहारप्रवर्त्तक इति भावः। यस्मादयथार्थज्ञानाऽङ्गीकाराभावे 'सर्वे प्रत्ययाः' इत्यादिकथा शिष्यप्रतिवादिनोः सन्देहविपर्यासयोरभावान्नावतरति भ्रान्तिसामानाधिकरण्याभिलापादि[2] च, तस्मादित्युपसंहारः।

ज्ञानवती

आच्छादित विशेषांश (=शुक्तित्व) के अधिष्ठान (=शुक्ति) के सामान्यांश (इदंत्व) का ही इन्द्रिय से स्फुरण होता है। इसलिये दोष भ्रम का प्रवर्त्तक है—यह ठीक है।

(पू) यहाँ (=वेदान्त मत में) भी सादृश्य आदि दोष से स्थाणु आदि में इन्द्रियासंयुक्त पुरुष आदि का स्मरण सिद्ध किया जाता है इसलिये यहाँ भ्रम में उस (=दोष) का उपयोग है? (उ) तो भी (पुरुष के समान) अनेक (अन्य पदार्थों का भी) स्मरण सम्भव होने से सन्देह प्राप्त होने पर व्यवस्थित एकतम के आभास के हेतुत्व के विना दोष का भ्रम में पर्यवसान ही नहीं होगा। इसलिये वैराग्यवादी भी ज्ञान से भ्रम को स्वीकार करते हैं।

---

१ (ख) तदपि। २ (ख) ण्यालापा।

[बाधविचारः–]

विभ्रमालम्बनञ्च न परमार्थसत्; [बाधात्[1]]। उच्छेदश्चेत् अधिष्ठानतत्त्व-बोधाद् बाधः? तर्हि मुखाद्येकत्वं निश्चिन्वतोऽपि दर्पणाद्युपाधौ सति प्रतिबिम्बभेदादेः उच्छेदो नास्तीति परमार्थसत्त्वम्; पारमेश्वरमायाकार्यस्य च तथात्वात् प्राप्तम्। परमार्थसत्त्वाभावनिश्चयश्चेद् बाधः? तथापि बाधकोऽधिष्ठानतत्त्वबोध एव; निर-वधिकनिषेधस्यासम्भवात्। स चेद् रज्जुभुजङ्गादिभ्रमोपादाननिवर्तनद्वारेण तस्य-

भावदीपिका

[बाधविचारः—]

अस्तु विभ्रमसम्प्रतिपत्तिः; तदालम्बने तु कथं विप्रतिपत्तिनिरासः?—तत्राह—विभ्रमालम्बनमिति। "रजतं गृह्यमाणं हि चिरस्थायीति गृह्यते। भविष्यच्छुक्तिका-ज्ञानकालं व्याप्नोति तेन तत्॥" रजत(त्वा)दि स्थायीति प्रत्यक्षानन्तरभाव्यनुमानेन[2]; तस्य चिरस्थायिरजतविषयत्वस्योक्तत्वात्। तेनाधिष्ठानज्ञानेन निवृत्तिर्युक्ता। किं भ्रमा-लम्बनस्य अधिष्ठानयाथात्म्यज्ञानेन ध्वंसो बाधः, किं वा नेदं परमार्थसदिति निश्चय-मात्रम्?—क्रमेण प्रत्याह—उच्छेद इति। द्वितीये मिथ्यात्वानुमाने बाध्यं मिथ्येति निर्वचनं सत्ख्यातिवादिनो रूप्यादेः परमार्थसत्त्वाभावनिश्चयाभावान्नाऽप्रसिद्धविशेषणता समाधानं स्यात्। न च कदाचिदुच्छेदात्मकबाधमन्तरेण हेतुबलेनापि मिथ्यात्वबोधनं चिदात्मन इव प्रपञ्चस्य युक्तम्; न च कालान्तरवर्त्ती बाधः सम्प्रति योग्यो येन तदुपलम्भादभावो निश्चीयत[3] इति समाधानं च—इत्याशयेनाह—तथापीति। सर्वं प्रमाणज्ञानं स्वविषयाज्ञान-घातकमेवेत्यङ्गीकारादधिष्ठानप्रमाया अपि तावन्मात्रत्वे बाधकत्वप्रसिद्धिर्ज्ञानान्तरवन्न सिध्येत्; ततः प्रारब्धकार्याज्ञानविघातकत्वं वक्तव्यम्; तथाच नोक्तमात्रं बाधलक्षणम्—इत्याह—स चेदिति। पारमेश्वरमायायाश्च तत्त्वज्ञानेन परमेश्वरगतेनाप्यनङ्गीकारादुच्छेदस्य। न च

ज्ञानवती

[बाधविचार—]

साथ ही विभ्रम का आलम्वन परमार्थ सत् नहीं है क्योंकि उसका बाध हो जाता है। यदि अधिष्ठानतत्त्व (अर्थात् रजतभ्रम के अधिष्ठान शुक्तित्व) के बोध होने से बाध का अर्थ उच्छेद है? तब तो फिर मुख आदि के एकत्व (अर्थात् मेरा मुख एक ही है ऐसे) निश्चित विचार वालों को भी दर्पण आदि उपाधि के रहने पर प्रतिबिम्बभेद आदि का उच्छेद नहीं होगा। इसलिये (दर्पणगत मुख भी) परमार्थ सद् हो जायगा। और ईश्वरीय माया के कार्य (अर्थात् जगत्प्रपञ्च) के भी वैसे ही (अर्थात् अधिष्ठानतत्त्व ब्रह्म का बोध न होने से) परमार्थसत्त्व प्राप्त हो जाता हैं। यदि बाध का मतलब है परमार्थसत्त्व के अभाव का निश्चय, तो अधिष्ठानतत्त्व का बोध ही बाधक होगा क्योंकि निरवधिकनिषेध असंभव है। वह (बाध) यदि रस्सी में सर्प आदि के भ्रम के उपादान (अर्थात् जीवाविद्या) के निवर्त्तन के द्वारा ही उसके परमार्थसत्त्वाभाव के निश्चय (अर्थात इदं न परमार्थसत्) के

---

[1] (क) भावात्। [2] (ख) भावोनु। [3] (ख) तये।

परमार्थसत्त्वाभावनिश्चयाय, तदा भ्रान्तिदृष्टोच्छेदो दुर्वार एव। स च नास्ति मायाकार्यादौ, इति न बाधात् परमार्थसत्त्वाभावः ?

[मायास्वरूपविचारः-]

उच्यते—लोके तावत् करिनरतुरगादिमायाया उच्छेददर्शनाद् वेदेऽपि मायाशब्द उच्छेद्यवृत्तिरेव[1]; रूढिपरित्यागे च "निर्मिमीते[2] विकारान्" इति, "माया प्रज्ञा" इति योगवादिनो विनोदः स्यात्। "यदा[3] "तत्त्वमसि" इत्येवं जातीयकेन अभेदनिर्देशेन अभेदः प्रतिबोधितो भवति, अपगतं[4] भवति तदा जीवस्य संसारित्वं

भावदीपिका

तस्य प्रामाणिकसाक्षात्काराभावः ? "क्षेत्रज्ञं चाऽपि मां विद्धि" इति महावाक्यार्थमुपदिशता तदभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्, बाधिताऽप्यनुवर्त्तत इति बाधकप्रमाणज्ञानस्वीकाराच्च। कस्यचिदाकारस्य निवृत्तौ जीववन्नित्यमुक्तत्वभङ्गो विनाऽनुवृत्तिकारणं शेषमायानुवृत्तिप्रसङ्गादयुक्तं लक्षणम्—इत्याह—स चेति।

[मायास्वरूपविचारः—]

अनुच्छेद्यमायाऽनङ्गीकारान्नैष तावद्दोषः—इत्याह—उच्यते लोक इति। अनुच्छेद्या तत्त्वबोधशतैरपि विकारवती च यदि माया, तर्हि "माया प्रज्ञा च वयुनम्" इत्यभिधानाद्योगसम्भवाच्च, "मायिनं", "मायाभिः" इति व्यपदेशस्य 'राहोः शिरः' इतिवत् तद्विकारापेक्षया सम्भवाच्च, ब्रह्मस्वरूपप्रज्ञैव मायेति वदतो मतमन्यथाऽऽपद्यते—इत्याह—रूढि इति। अनिर्वाच्यहस्त्यश्वादौ मायाशब्दप्रयोगान्निरालम्बनज्ञानमात्रं मायेत्यस्यापि मतस्याऽभासत्वाच्च[5] मायायाः 'प्रज्ञा' इत्यभिधानस्य च मायाकार्यबुद्धिपरत्वेनोपपत्तेः[6]।

यदि चानुच्छेद्यैव[7] माया तदा—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"—इति भगवद्वचनमुन्मूलितं स्यात्। न खलु नद्यादिवत् मायायास्तरणं सम्भवति। जीवानां च[8] स्वोपाध्यविद्योच्छेदमात्रेण पुमर्थसिद्धेर्भगवदुपाधिमायायाः दुरत्ययत्वेऽपि किं स्यात् ? तस्माद् रूढिबलादुच्छेद्यैव माया। "यथा निवृत्तौ मायाया मानं श्रुत्यादि विद्यते। अनिवृत्तौ तथा नास्ति नित्या माया कुतस्ततः ?"। इतश्चैवम्—

ज्ञानवती

लिए हैं तब तो भ्रान्तिदृष्टउच्छेद दुर्वार ही है। और वह (अर्थात् उच्छेद) माया के कार्य इत्यादि में नहीं है। इसलिये बाध से परमार्थसत्ता का अभाव नहीं ले सकते (अतः बाध क्या है ?)।

[मायास्वरूपविचार—]

(उ) कहते हैं—लोक में सभी हाथी आदमी घोड़े आदि की माया का उच्छेद देखे जाने से वेद में भी माया शब्द का अर्थ उच्छेद ही है। रूढि का परित्याग करने पर 'निर्मिमीते विकारान्, इति माया' (जो विकारों का निर्माण करे) अर्थात् प्रज्ञा; ऐसा (माया शब्द को) योग (अर्थात् यौगिक शब्द) कहने वाले की हँसी हो जायगी। भाष्यकार (=आचार्य शंकर)

---

१ (क) उच्छेदवृत्त्येव। (ख) उच्छेदवत्त्येव। २ (ख) निर्मिते।
३ (ख) यथा। ४ (ख) अवगतं। ५ (क) स्यभास (ख) स्याभास।
६ (ख) कार्यपर। ७ (क) वा। ८ (क) चा।

ब्रह्मणश्च स्रष्टृत्वम्" इतिभाष्यकारैः संसारसहयोगेनेश्वरोपाधिनिवृत्त्यभिधानाच्च।
"उक्ताक्षरात्मा वष्टि तेन[न] किञ्चिदवशिष्यते।"
इति वार्तिकाच्च। तस्मात् "रज्जुवत् प्रतिजीवाविद्यया स्रष्टृत्वाद्यधिष्ठानम्[१]। प्रतिजीव-विद्यया च ब्रह्म ध्वस्तस्रष्टृत्वादिप्रपञ्चम्" इति सूक्तम्। श्रूयते "तस्याभिध्यानाद्योज-नात्तत्त्वभावात् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः[२]" इति। अत्र हि "नेह नाना[३]" इत्यादि परोक्षबाधे प्रपञ्चे पारमार्थिकसत्त्वभ्रमोपादानं निवर्तते, ब्रह्मैकत्वसाक्षात्कारे व्यवहारसत्त्वभ्रमोपादानम्, अन्त्यसाक्षात्कारे च दग्धपटवत् प्रातिभासिकसत्त्वभ्रमो-

भावदीपिका

इत्याह—यदेति। नखल्वन्यगतेन ज्ञानेनाऽन्योपाधिकार्यं निर्वर्त्तितुमर्हति, अतिप्रसङ्गात्। न च स्वोपाध्यभावे "लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" इति न्यायव्याघातान्न जीवाविद्याकृतं ब्रह्मणः स्रष्टृत्वमिति वाच्यम्; अविद्याविलक्षणमायोपाधेरप्याऽप्तकामस्वरूपसाक्षात्कारवतोऽश्ववाह-नोद्यानदर्शनादिजन्यप्रमोदविशेषकामनानिबन्धनावनिपतिलीलासमानलीलायाः अदुर्घटत्वात्। कथं तर्हि "न प्रयोजनवत्त्वात्"—आप्तकामस्य ब्रह्मणः स्वर्गादौ प्रवृत्तिर्न, यतः प्रेक्षावतः प्रवृत्तिः प्रयोजनवत्त्वेनैव दृष्टेत्यस्य पूर्वपक्षस्य लीलासूत्रं समाधानम्? तत्किं समाधानकातरतया श्रुतिप्रसिद्धमाप्तकामत्वं त्याज्यम्? "न चेयं परमार्थविषया सृष्टिश्रुतिः; अविद्याकल्पितनाम-रूपव्यवहारगोचरत्वात्, ब्रह्मात्मभावप्रतिपादनपरत्वाच्च" इति स्वप्नगन्धर्वनगराद्यध्यासस्य इवा-समुद्दिष्टप्रयोजनाया अविद्यायाः कृताया अविवक्षिताया सृष्टेर्न प्रयोजनवत्त्वाक्षेपावकाशः इति भाष्यकारैस्समाहितत्वात्। प्रतिबिम्बेश्वरस्य च बिम्बपराधीनस्य लीलायाः क्लिष्टत्वात्। अतो लीलासूत्रं स्वतन्त्रबिम्बकल्पेश्वरपरमेव। तथाच कल्पतरुः—"प्रतिबिम्बगताः पश्यन् ऋजुवक्रादिविक्रियाः। पुमान् क्रीडेद्यथा ब्रह्म तथा जीवस्थविक्रियाः॥ एवं वाचस्पते-र्लीलालीलासूत्रीयसङ्गतिः। अस्वतन्त्रत्वतः क्लिष्टा प्रतिबिम्बेशवादिनाम्" इति। अविद्या-विलक्षणोपाधेः कारणत्वे च जीवोपाधिधर्माणां मनोमयत्वादीनां मायोपाधेः सर्वात्मभावेन स्वत्वासम्भवात् "सर्वात्मत्वाद्धि ब्राह्मणे जीवसम्बन्धीनि मनोमयत्वादीनि ब्रह्मसम्बन्धीनि भवन्ति" इति मनोमयत्वादिधर्मैः सर्वोपनिषत्प्रसिद्धं "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्युपक्रान्तं ब्रह्म

ज्ञानवती

ने—"जब 'तत्त्वमसि' इस प्रकार के अभेदनिर्देश के द्वारा अभेद प्रतिबोधित होता है उस समय जीव का सांसारित्व और ब्रह्म का स्रष्टृत्व भी अपगत हो जाता है," इस प्रकार संसार के सहयोग से ईश्वरोपाधि की निवृत्ति को—कहा है। वार्तिक भी हैं—"उक्त अक्षरात्मा के जान लेने पर कुछ भी शेष नहीं बचता।

इसलिये "प्रत्येक जीव में रहने वाली अविद्या के द्वारा (ब्रह्म) रस्सी के समान स्रष्टृत्व आदि का अधिष्ठान है। और प्रत्येकजीव की विद्या से ब्रह्म ध्वस्तस्रष्टृत्वादिप्रपञ्च वाला है" यह ठीक कहा है। श्रुति कहती है—"उसके (अर्थात् परमात्मा के) अभिध्यान एवं योजन (=मनोयोग) एवं तत्त्वभावन (अर्थात् साक्षात्कार) से फिर अन्त में विश्व माया की निवृत्ति होती है"। "यहाँ पर अनेक" (कुछ भी नहीं है) इत्यादि परोक्षबाध वाले प्रपञ्च से पार-

---

१ (क) त्वादधि। २ श्वे० १।१०। ३ बृ० ४।४।१९।

पादानं माया इति "भूयः" श्रुतेरवगम्यते। निरुपाधिकभ्रमस्य चाधिष्ठानतत्त्वापरोक्ष्ये-ऽनुवृत्त्यनुपपत्तेः। औपाधिकभ्रमे च प्रातिभासिकसत्त्वभ्रमोपादानलेश एवानुवर्त्तते बाधे। अतः प्रारब्धफलकर्मणेव विदुषो दर्पणादिसन्निकर्षेणावरुद्धो मायालेशोऽपि प्रतिबन्धविगमापेक्षया समुच्छिद्यत इति नोच्छेदात्मकबाधे किञ्चिदवद्यम्। तत्त्व-साक्षात्कारेणानुच्छेद्यामिच्छन्तो मायां "पञ्चीकृतापञ्चीकृतमहाभूतस्थूलं केवल-ब्रह्मात्मैकत्वज्ञानापनोद्यम्" इत्युपदेशं स्मृतिं च विस्मृत्य अवगणय्य वा कथङ्कारं तदेकप्रमाणका नापत्रपन्ते?

अथ कथं मायानिवृत्तिरुच्छेदात्मको बाधः? यदि विरोधिविद्योदय एव तदुच्छेदः, तदा घटत एव; यदा ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मैव सः, तदा सैव नास्तीति कस्य बाधचिन्ता? अनिर्वाच्यत्वे च तस्या मायातद्योगकार्याणामन्यतमत्वापत्तिः।

भावदीपिका

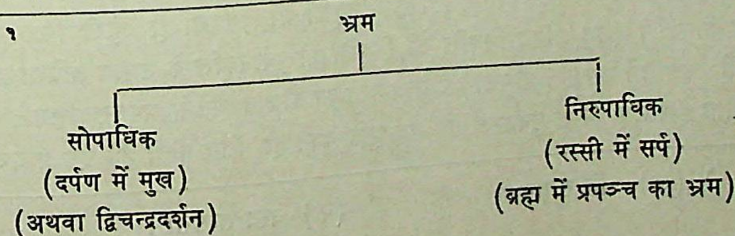
उपास्यमिति—"सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्" इति निर्णयो भज्येत। अतस्तत्त्वज्ञानानुच्छेद्या माया श्रुत्यादिविरुद्धा। त्वया च किं सर्वत्राऽनुच्छेद आशङ्क्यते किं वा औपाधिकभ्रमे? क्रमेण दूषयति—निरुपाधिकेति।

पुनराक्षिप्य पक्षभेदेन समाधत्ते—अथ कथमिति। वृत्तिरूपविद्यानु [नू] च्छेदोऽपि तद्बलादेव; तेन नोच्छेदकानवस्था। तदाह—घटत एवेति। विद्योच्छेदस्याप्युच्छेदान्तरे अनवस्थाभयात् पक्षान्तर[मुपस्थापयति]—यदा ज्ञातत्वेति। तद्दार्ढ्यार्थं पक्षान्तरमपाकरोति—अनिर्वाच्यत्वे चेति। अनिर्वाच्यत्वं माया–तत्सम्बन्ध–तत्कार्या[न्यतम]त्वप्रयोजकं न भवति

ज्ञानवती

मार्थिक सत्ता के भ्रम के उपादान (माया) की निवृत्ति होती है, ब्रह्म (से आत्मा के) एकत्व का साक्षात्कार होने पर व्यावहारिकसत्ता के भ्रम का उपादान, और अन्त्य के साक्षात्कार होने पर दग्धपट के समान प्रातिभासिकसत्त्वभ्रम का उपादान माया (निवृत्त हो जाती है) यह 'भूयः' श्रुति से ज्ञात होता है। और अधिष्ठानतत्त्व का साक्षात्कार होने पर निरुपाधिक-भ्रम की, अनुवृत्ति अनुपपन्न हो जाती है। तथा सोपाधिकभ्रम में, बाध होने पर प्राति-भासिक सत्ता के भ्रम के उपादान का लेशमात्र ही अनुवृत्त होता है।[1] इसलिये जैसे दर्पण के हटने पर दो मुख होने का भ्रम नष्ट हो जाता है उसी प्रकार (जीवन्मुक्त) विद्वान् का प्रारब्धफलवाले कर्म के द्वारा अवरुद्ध मायालेश भी प्रतिबन्ध के हटने की अपेक्षा से समुच्छिन्न हो जाता है, इसलिये उच्छेदात्मक बाध में कोई दोष नहीं है। तत्त्वसाक्षात्कार से माया को उच्छेद्य न मानने वाले लोग "पञ्चीकृत एवं अपञ्चीकृतमहाभूतस्थल केवल ब्रह्मात्मैकत्वज्ञान

[1]



निवृत्तिमत्त्वञ्चेत् तत्त्वप्रयोजकम् ? स्वेष्टमायायां व्यभिचारः; अविद्यानिवृत्तिनिवृत्तेरपि पूर्वनिवृत्तिवदविद्याविरोधात् तदुन्मज्जनायोगान्नापुनरावृत्तिगतिभङ्ग इति न[1] साधन-

भावदीपिका

किन्तु निवृत्तिमत्त्वम्, पक्षे च तन्नास्तीति। तत्राह—निवृत्तिमत्त्वमिति। न केवलं साध्याव्यापकत्वात् नायमुपाधिः साधनव्यापकत्वादपि—इत्याह—अविद्येति। ननु "न च पुनरावर्तते" इति श्रुतेरविद्यानिवृत्तेर्नित्यत्वावगमात्, तन्निवृत्तौ चाऽविद्यासद्भावप्रसङ्गात्, नेदमनुमानं युक्तम् ?—तत्राह—निवृत्तिनिवृत्तेरपीति। प्रागभावस्य हि कार्यसत्तानुमेयत्वात्; अन्यथा वन्ध्यापुत्रस्याऽपि प्रागभावप्रसङ्गाद्युक्तं तस्मिन् सति सत्त्वासम्भवान्न तदभावस्य सत्त्वाविरोधित्वम्। प्रध्वंसस्य चोत्पत्तौ प्रतियोगिसत्त्वापेक्षत्वात्, तेन प्रध्वंसप्रध्वंसोऽपि स्वप्रतियोगिनः प्रध्वंसस्यैवापेक्षामुत्पत्तौ करोति। पूर्वप्रध्वंसप्रतियोगिसत्त्वे तस्याऽनुदयात् तत्प्रध्वंसस्योदयाऽसम्भवात् नोत्पन्नस्य तस्य तत्सत्ताक्षेपकत्वं[2] कंपालकपालानामिव घटसत्ताक्षेपकत्वम्। अभावाभावे भावनियम इत्यपि न तावदत्यन्ताभावे युक्तम्, तस्य प्रागभावप्रध्वंसयोरभावादन्योऽन्याभावस्य च तस्मिन् सत्यपि सम्भवात्; अत्यन्ताभावान्तरास्थाने च नित्यत्वकोपात्; किन्तु प्रागभावप्रध्वंस एव ध्वंसप्रागभावसहितो वस्तुसत्तानिर्वाहकः, ततोऽपि नात्र सत्त्वशङ्का। अतोऽविद्यानिवृत्तिनिवृत्तावपि अविद्याया पुनरुन्मज्जनाभावान्न निवृत्तिश्रुतिविरोधोऽनुमानस्येति भावः। न च निवृत्तिनिवत्तावनवस्थादोषः शंकनीयः; अनिर्वाच्यत्वेऽपि तस्याः सदसद्वैलक्षण्योपपादनाय सत्वादि-

ज्ञानवती

से अपनोद्य है" इस उपदेश तथा स्मृति को भूलकर अथवा अपमानित कर, जब कि वे उसी को एक प्रमाण मानने वाले है, क्यों नहीं लज्जित होते।

(पू) माया की निवृत्ति उच्छेदात्मक बाध कैसे हैं ? यदि विरोधी विद्या का उदय ही उस (माया) का उच्छेद है तब तो मानना ठीक है। और यदि ज्ञातत्वोपलक्षित आत्मा ही वह (अर्थात् उच्छेद) है तब तो वही (=माया ही) नहीं है फिर किसके बाध की चिन्ता ? यदि उसको अनिर्वाच्य मानते हैं तो उस माया, (का और आत्मा) का सम्बन्ध और (उसके) कार्यों में से कोई एक (उच्छेद) होने लगेगा। यदि निवृत्तिमत्त्व ही उस (=उच्छेद) का प्रयोजक है तब तो स्वेष्टमाया में ही व्यभिचार है (क्योंकि माया का उच्छेद नहीं होता)। (पू) (यदि अविद्या की निवृत्ति ही उच्छेद है तब तो इस अविद्या की निवृत्ति की भी निवृत्ति माननी होगी अन्यथा एक ओर ब्रह्म और दूसरी ओर अविद्यानिवृत्ति इन दो तत्त्वों के परमार्थ-सत् होने से द्वैतापत्ति हो जायगी। इस प्रकार अविद्यानिवृत्ति की निवृत्ति मानने पर तदभावाभाव=तत्ता के समान अविद्या—निवृत्ति—निवृत्ति भी अविद्या ही होगी फिर माया का उच्छेद कैसा ?) (उ) अविद्यानिवृत्ति की निवृत्ति भी पूर्वनिवृत्ति के समान अविद्या की विरोधिनी है; इसलिये उस(=अविद्या)के उन्मज्जन का बोध न होने से अपुनरावृत्तिगति का भङ्ग नहीं होता (अर्थात् "न स पुनरावर्त्तते" यह श्रुति युक्त ही सिद्ध होती है) इस प्रकार साधन-

[1] (ख) इति साधन। [2] (क) नस्य तत्सत्ता।

व्यापकत्वमपि। निवृत्त्यनवस्था चानिर्वाच्यत्वेऽपि तत्सत्यत्वादिभ्रमनिवृत्तिपरम्परापत्त्या तुल्या। न ह्यनिर्वाच्यत्वप्रयुक्तोऽन्तर्भावस्तद्वर्जं स्यात्। न च पञ्चमप्रकारा सा; सदसद्वैलक्षण्यं हि ख्यातिबाधाभ्यामविद्याद्यन्तर्भावविहत्या त्यज्यते, पञ्चमप्रकारत्वेऽप्यनात्मत्वप्रयुक्तः स पुनरुद्भवन् निर्णयं वारयति; तेन "निवृत्तिरात्मा

भावदीपिका

भ्रमनिवृत्तिर्वक्तव्या। साप्यनिर्वाच्ये इति तस्या अपि सदादिवैलक्षण्योपपादनाय तत्तद्भ्रमनिवृत्तिर्वाच्या इत्यनेकानवस्थादोषप्रसङ्गाद्—इत्याह—निवृत्त्यनवस्थेति। न च वाच्यम्—निर्वाच्यत्वमविद्याद्यनन्तर्गमेऽपि भविष्यति, निर्वाच्यत्वमिव द्वैतवादिनाम् आत्मानन्तर्भावेऽपि—इत्याह—न हीति। अविद्यादि[ने]वानिर्वाच्यत्वस्य[१] निर्वाच्यत्वस्याऽऽत्मत्वेन परैर्व्याप्यनङ्गीकारादिति भावः।

पुनः पक्षान्तरं प्रत्याचष्टे—न च पञ्चमेति। ख्यातिबाधाभ्यां यत्[२] सदसद्वैलक्षण्यमिति योजना। अनिर्वाच्यत्वमविद्याद्यन्तर्गमभयात् त्यज्यते, किमुत हेत्वन्तरात्? नाद्य इत्यर्थः। अथ कात्स्न्येंनाऽविद्यानिवृत्तौ सत्यां तदुच्छेदकर्तृबाधकाभावान्न तस्याः सद्वैलक्षण्यमपि निरूपयितुं शक्यम्। न च पूर्वकालीन–"नेह नाना" इति बाधकप्रश्रयात्तच्छक्यम्; तत्सत्यत्वाकारभ्रमोपादानाविद्यानिवृत्तेरेवंभूतत्वापादनाय बाधकान्तरेऽनवस्थाप्रसङ्गात्। तर्हि वैलक्षण्यवैलक्षण्येऽपि वैलक्षण्यात्मत्वभ्रमनिवृत्तौ स एव दोषः प्रसज्ज्येत। न चानिर्वाच्यनिवृत्तिः तद्विलक्षणा वाच्येति पञ्चमप्रकारलाभः; निर्वाच्यत्वे चिदात्मवत् तद्भेदासम्भवात्, भेदे चाद्वैतश्रुतिबाधात्। तस्याश्च स्वातन्त्र्येणाऽवस्थानाऽनङ्गीकारात्, ब्रह्मणि च नाध्यासमन्तरेणाऽवस्थानम्, अध्यासस्य चाविद्योपादानत्वात्। तदङ्गीकारे च तन्निवृत्तिरूपमुक्तिव्याघातः। एवमनिर्वाच्यत्वं पञ्चमप्रकारत्वं वा निर्मूलं युक्तिविरुद्धं च। "अपोद्यमाने चाभावे भाव एवाऽवशिष्यते।" इति प्रागभावनिवृत्तेरुत्पद्यमानभावव्यतिरेको यथा नेष्यते। प्राभाकराद्यैर्भावालम्बनाभावव्यवहाराभ्युपगमाच्च। [त]स्मात्[३] युक्तोऽयं पक्षः। एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानश्रुत्यनुकूलत्वाच्च युक्तोऽयम्। अतो ज्ञानाधिष्ठानमात्रतैवाविद्यानिवृत्तेः "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" इति श्रु[तिः[४]]"आत्मनि विदिते सर्वं विदितम्" इति च श्रु[ति[५]:] पक्षान्तरे कदर्थनपरिहाराय एष्टव्या—इत्याह—तेनेति।

ज्ञानवती

व्यापकत्व भी नहीं है। (पू) (यदि आप अविद्या की निवृत्ति की निवृत्ति मानते है तो उसी प्रकार द्वैतापत्ति के भय से दूसरी निवृत्ति कीं भी निवृत्ति मानिये और फिर तीसरी की इस प्रकार अनवस्थादोष हो जाता है?)

(उ) अनिर्वाच्य होने पर भी उसके सत्यत्व आदि भ्रम की निवृत्ति की परम्परा की आपत्ति होने से निवृत्ति की अनवस्था (आपके पक्ष में भी) समान है। ऐसा नहीं है कि अनिर्वाच्यत्वप्रयुक्त अन्तर्भाव (अर्थात् चूँकि अनिर्वाच्यत्व है अतः अविद्या उसके योग और उसके कर्मों का किसी एक में अन्तर्भाव) उसको छोड़कर ही होता हो। (पू) वह पञ्चम-

१ (क) वनि। २ (क) सत्। ३ (क) य।
४ (क) तेः। ५ (क) तेः।

मोहस्य[१]" इत्येव सूक्तम्। तदेवं बाधसिद्धौ[२] विभ्रमालम्बनं [३]विशिष्टख्यातिबाध-देशान्तरादि (सत्[४]) सर्वथा, न त्वव्यवस्थापकप्रमाणादर्शनादिबलादनिर्वाच्यमनृतम्[५]। तदुपादानञ्चानृतमनिर्वाच्याऽविद्या सकलाध्यासप्रसरप्रसवभूमिः 'अहमज्ञः'

भावदीपिका

एवं वाधं निरूप्य तदुपयोगमाह—तदेवमिति। विशिष्टा=अपरोक्षा[६]; ख्यातिः= विशिष्टख्यातिः; बाधः=स्वपक्षसाधनम्; इतरत् परपक्षदूषणम्। ननु यद्यपरोक्षख्यातिबलात् तुच्छवैलक्षण्यमुच्यते तर्हि परोक्षभ्रमालम्बनेषु कथं तल्लाभः?—उच्यते – विभ्रमालम्बनत्वेन सम्प्रतिपन्नवत् तत्राऽपि तुच्छवैलक्षण्यानुमानात्। न च वैपरीत्यं शङ्कनीयम्; सम्प्रतिपन्नत्वेनाऽसम्प्रतिपन्ननिर्णयस्य प्रसिद्धतरत्वात्; यथा "त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेः" इत्याद्युपक्रमे वेदस्य संप्रतिपन्नत्वादुत्तरत्र "उच्चैः ऋचा क्रियते" इत्यादौ मन्त्रप्रतिपन्नोपक्रमानुसारेण वेद एव ऋगादिशब्दार्थो "वेदो वा प्रायदर्शनात्" इत्यत्र निर्णीतः। एवमध्यासं सम्प्रसाध्य तस्योपादानप्रसाधनमुपक्रमते—तदुपादानञ्चेति। न खलु मिथ्याभूतस्योपादानं युज्यते सत्यं वस्तु। कथं तर्हि मिथ्याभूतस्य जगतः सत्यब्रह्मोपादानत्वमिष्यते भवता? न च जगतोऽप्यविद्यैवोपादानम्; ब्रह्मलक्षणस्य लक्ष्याऽप्रवेशेनाऽसम्भवप्रसङ्गात्। ब्रह्मणोऽप्युपादानत्वेऽविद्यायामतिव्याप्तिः; मिथ्याभूतस्य मिथ्याभूतमेवोपादानमिति प्रतिज्ञाविरोधश्च। "न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात्"—अविज्ञानात्मकस्याऽस्य जगतो ब्रह्म नोपादानम्; तस्य विज्ञानात्मत्वेन जगद्विलक्षणत्वात्। न च जगदपि मणिरिव मलिनीभावादन्यथा विभाव्यम् इति वाच्यम्; यतो "विज्ञानं चाऽविज्ञानं चाऽभवत्" इति वैदिकशब्दात् तथात्वं गम्यते इत्याक्षिप्य, "दृश्यते तु"—मैवम्; विलक्षणत्वेऽप्यन्नरसरुधिरमांसादिकेशनखादीनां कार्यकरणभावदर्शनात् जगद्ब्रह्मणोरपि सम्भवत्येष इति समाहितत्वाच्च। अतो[७] भ्रमोपादानमज्ञानमित्यप्यसङ्गतम्। अथ "किं कारणं ब्रह्म"—किमस्य जगतः सर्गादौ कूटस्थनित्यस्य कारणं सहकारीति "किं कारणं ब्रह्म" इति जिज्ञासमानाः "ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।" इति श्रुतेः मायोपकरणस्यैव ब्रह्मणः कारणत्वेन केवलस्य। को भावः? किं यथाऽऽरम्भवादिनां समवायिकारणं परमाणवस्तत्संयोगश्चासमवायिकारणं निमित्तं चाऽदृष्टेश्वरेच्छादि तथा ब्रह्मोपादानं, कारणान्तरस्थानीया माया, "मायां तु प्रकृतिम्" इति श्रुतेर्वा मायोपादानं कारणान्तरं

ज्ञानवती

प्रकारा मान ली जाय (अर्थात् माया को सत्, असत्, सदसत् एवं सदसन्न इन चारो पक्षों से विलक्षण मान लिया जाय)। (उ) सदसवैलक्षण्य, ख्याति ओर बाध (दोनों) के द्वारा अविद्या में अन्तर्भाव न होने से, छोड़ दिया जाता है। पञ्चम प्रकार होने पर भी अनात्मत्वप्रयुक्त वह (अर्थात् अविद्यान्तर्भाव) उद्भूत होता हुआ निर्णय को हटा देता है। इसलिये "मोह की निवृत्ति आत्मा है" यही ठीक कहा है।

---

१ (ख) मोक्षस्य। २ (ख) बाधासिद्धौ। ३ (ख) विशिष्टस्याति।
४ (क) सत्त्वं। ५ (ख) नृतत्वम्।
६ (क) विशिष्टोऽपरोक्षः। ७ (क) अत एवात्र नोपादा।

इति सम्प्रत्ययबलसिद्धा। न चात्र ज्ञानाभावोऽवभासते, न भावरूपमज्ञानम्; भाट्टानामनुमेयस्य ज्ञानाभावस्यापरोक्षत्वायोगात्। न च प्रमाणान्तरेणावसाय[१] "अहं सुकृती" इतिवत् 'अहमज्ञः' इति व्यवहरति लोक इति साम्प्रतम्; यतस्तस्य परोक्षत्वे परात्मनीव कदाचित् स्वात्मन्य[प्यज्ञत्व[२]]सन्देहः स्यात्।

भावदीपिका

ब्रह्म? आद्ये—कूटस्थनित्यता ब्रह्मणो न स्यात्। द्वितीये—"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय" "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इति श्रुत्यनुसारेण ब्रह्मण उपादानत्वोक्तिर्भज्येत। ततो व्याकुलोऽयं सिद्धान्तः[३]?

अत्र समाधिः। यथा खलु स्वप्नद्रष्टरि आत्मनि मायया स्वप्नप्रपञ्च आरभ्यते मायादौ च विचित्राः सृष्टयः, न च तेषां स्वरूपप्रच्युतिः; तथा ब्रह्मणि विश्वः प्रपञ्चस्तयोत्पाद्यते। तथाच व्याससूत्रम्—"आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि" इति। एतादृशमुपादानत्वं ब्रह्मणो मायावीव रूपान्तरेण "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्युक्तम्। मायायाश्च चैतन्योद्भासिताया एव स्वकार्याय पर्याप्ततेति अधिष्ठातृकारणताऽपि तस्य। तथाच कल्पतरुः—"अज्ञातं नटवत् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत्। जीवाज्ञानं जगद्बीजं जगौ वाचस्पतिस्तथा॥" तथा रज्ज्वादावपि भुजङ्गाद्यारम्भकमप्यङ्गीकार्यं मिथ्यैवेति भावः। अनुभवस्याऽन्यविषयत्वमाशङ्क्य मतभेदेन निराचष्टे—न चात्रेति। ननु परोक्ष एवायमनुभव इत्यभीष्टमेतत्?—इत्याशङ्क्याह—न चेति। अत्र वक्तव्यम्—किं ज्ञानाभाव एव परोक्षः, किं वा तद्वानात्माऽपि? नाद्यः—इत्याह—यतस्तस्येति। न च वाच्यं स्वस्मिन्नप्यज्ञानविषयः सन्देहो दृश्यते, यथोपाध्यायान्तरेण पठतः—किं यथाऽध्यापनमहं पठामि ततोऽन्यथा वेति; अन्यथा तथैवेति, अन्यथैव वेति, निश्चय एव स्यात्; अथवा पूर्ववन्ममाऽज्ञानमस्ति वा न वेति संशयोऽस्तीति। तेनोक्तम्—अज्ञत्वेति। न केवलमज्ञानविषयः संशय आपाद्यते किन्तु तद्वत्यात्मन्यपि मूर्च्छावस्थे परस्मिन्निव। न च स्वात्मनो घटादिवत् प्राकट्याधारत्वेन(-परोक्षत्वात् न संशयापत्तिः, प्राकट्यस्य निरस्तत्वादिति भावः। अतएव न द्वितीयोऽपि।

ज्ञानवती

तो इस प्रकार बाध की सिद्धि हो जाने पर विभ्रम का आलम्बन विशिष्टख्याति, बाध देशान्तर आदि सर्वथा सत् है, न कि अव्यवस्थापकप्रमाण के अदर्शन आदि के बल से अनिर्वाच्य अथवा अनृत है। उस (अनिर्वाच्यरजत आदि) का उपादान अनृत एवं अनिर्वाच्य अविद्या जो समस्तअध्यासों के विस्तार की उत्पादिका है 'मैं अज्ञ हूँ', इस ज्ञान के बल से सिद्ध है। यहाँ (अर्थात् 'मैं अज्ञ हूँ' यहाँ पर) ज्ञान का अभाव नहीं भासित होता, क्योंकि अज्ञान भावरूप नहीं है। ऐसा मानने पर भाट्टों के (मत में) ज्ञानाभाव का प्रत्यक्ष नहीं होगा। (पू) 'मैं गुणवान् हूँ' के समान प्रमाणान्तर (=अनुमान) से (ज्ञानाभाव का) निश्चय करके 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसा लोकव्यवहार होता है? (उ) यह ठीक नहीं है क्योंकि उस (अर्थात् ज्ञानाभाव) के परोक्ष होने पर जैसे दूसरे की आत्मा में (यह अज्ञ है या नहीं यह सन्देह होता है) उसी प्रकार अपनी आत्मा में भी अज्ञत्व का सन्देह होने लगेगा।

---

१ (ख) अवसेय। २ (क) अध्यक्षत्व। ३ (क) सिद्धान्तः सृष्टयोः।

किञ्च "आत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि" इति द्वयी गतिर्भवतामज्ञानस्य। तत्रापरिणामस्य स्वरूपतावन्मात्रत्वं चेत्? विषयभेदाभावात् अहंस्फूर्तिरेव तदा स्यात्, "नाहमज्ञः" इत्येव वा। (अथ[1]) ज्ञानकालात् प्राक्कालावच्छेद एवात्मन्यज्ञत्वव्यवहारं प्रवर्त्तयति? तदाप्यात्मोल्लेखात् सति ज्ञाने कथं तत्प्राक्कालकल्पना; विषयस्याप्यज्ञानावच्छेदकतया ज्ञायमानत्वान्न[2] तज्ज्ञानप्राक्कालकल्पनाऽपि?

[अज्ञानस्य भावरूपत्वेऽनुमानप्रमाणमागमप्रमाणं च—]

अथ वस्त्वन्तरज्ञानात् तत्रैव वा वस्तुन्यनुभवाभावात् स्मरणाभावाद्वा ज्ञाने सत्यप्यज्ञानव्यवहारः? तथापि "अहमज्ञः"[3] इति सामान्यव्यवहारस्य सामान्यरूप-

भावदीपिका

इदानीं स्वीकारविशेषोऽपि परेषामनुपपन्नः—इत्याह—किञ्चेति। विज्ञानस्यात्मपरिणामत्वाऽभ्युपगमात् तदपरिणामस्याऽज्ञानत्वम्—"प्रत्यक्षादेरनुत्पत्तिः प्रमाणाभाव इष्यते"। स च "आत्मनोऽपरिणामो वा विज्ञानं वाऽन्यवस्तुनि।" इत्यभावप्रमाणवादिभिरुक्तम्। ज्ञानाभावोऽभावमानत्वेनाऽभ्युपगतः, वस्त्वन्तरविज्ञानं चाऽज्ञानव्यवहारहेतुत्वादज्ञानम्। अपरिणामः—किमात्ममात्रं किंवा विशिष्टात्मपदार्थान्तरं वा? पूर्वमपास्य द्वितीयमालम्बते—अथेति। ज्ञानकालादित्यत्र ज्ञानमात्रं विवक्षितं विषयज्ञानं वा?—क्रमेण प्रत्याह—तदापीति। पदार्थान्तरमपि भावोऽभावो वा? पूर्वस्मिन् यस्मिन् कस्मिंश्चित्[4] ज्ञानव्यवहारः प्रसज्येत। अभावपक्षे च प्रागुक्तो दोषः।

[अज्ञानस्य भावरूपत्वेऽनुमानप्रमाणमागमप्रमाणं च—]

प्रकारान्तरं सोपस्कारमुपस्थापयति—अथेति। न च प्रतियोगिभूतज्ञानगतसामान्यस्य तदभावेऽध्यारोपेण[5] सामान्यव्यवहार इति वाच्यम्; विशेषकल्पनाया औत्सर्गिकसामान्यकल्पनापूर्वकत्वात्। यद्यप्युत्सर्गस्य क्वचिदपवादोऽस्ति तथाप्यनन्यथासिद्धविपर्यास-

ज्ञानवती

इसके अतिरिक्त "वह आत्मा का परिणाम है अथवा अन्यवस्तु विषयक विज्ञान है" आपके अज्ञान की ये दो गतियाँ है। उनमें अपरिणाम का अर्थ यदि स्वरूपतावन्मात्रता मानते हैं तो विषयभेद न होने से 'अहम्' का ही ज्ञान होगा अथवा "मै अज्ञ नहीं हूँ" यही स्फूर्ति होगी। (पू) यदि ज्ञानकाल के प्राक्काल का अवच्छेद ही आत्मा में अज्ञत्व का व्यवहार कराता है, ऐसा माने (उ) तो भी आत्मा का उल्लेख हो जाने से ज्ञान होने पर कैसे उसके (अज्ञ.व के) प्राक्काल की कल्पना होगी? विषय के भी अज्ञान के अवच्छेदक होने से ज्ञायमान होने के कारण उसके ज्ञान के प्राक्काल की कल्पना भी नहीं होनी चाहिये।

[अज्ञान के भावरूपत्व में अनुमान और आगम प्रमाण—]

(पू) वस्त्वन्तर के ज्ञान से या उसी वस्तु में अनुभव न होने से अथवा स्मरण का अभाव होने के कारण ज्ञान के रहते हुए भी अज्ञान का व्यवहार होने लगेगा? (यह तब

[1] (क) अनज्ञान। [2] (क) जाय। [3] (ख) अहं मन्त्रः।
[4] (क) चाज्ञान। [5] (क) तदा।

मालम्बनं वक्तव्यम्; विशेषकल्पनायास्तदुत्तरत्वात्—वस्त्वन्तरज्ञानस्य[१] स्वपर; (गोचरयो–)[२]र्ज्ञातत्वाज्ञातत्वव्यवहारद्वयहेतुत्वसामञ्जस्याच्च। न च सति ज्ञाने ज्ञान-प्रागभावसामान्यं सम्भवतीति भावरूपमेवाज्ञानं साधयति 'अहमतः' इत्यनुभवः।

अस्ति च तटस्थानां प्रतियोगिस्मरणाभावेऽपि स्वात्मन्यन्धकारकल्पाज्ञाना-

भावदीपिका

कार्यानुकूलत्वाद् भावरूपाज्ञानकल्पनैव युक्ता, न तदनुकूलाभावरूपाज्ञानकल्पना इति भावः। अस्तु तर्हि भावरूपं[३] वस्त्वन्तरमेवाज्ञानम्? न; तस्योभयव्यवहारहेतुत्वं वा अन्यतर-व्यवहारहेतुत्वं वा? आद्ये ज्ञायते च न ज्ञायते च इति व्याघातपरिजिहीर्षया ज्ञाताज्ञातवस्तु-भेदमिच्छतोऽपि प्रकाशाप्रकाशव्यवहारहेतुः इति व्याघातः; इष्येते च प्रकाशाप्रकाशव्यवहार-हेतू प्रकाशान्धकारौ पृथक् भावरूपौ; तथा ज्ञानाऽज्ञानेऽप्येष्टव्ये। अन्यतरोऽप्यज्ञात-त्वव्यवहारश्चेत्? तर्हि यद्वस्तुज्ञानं तदसिद्धिप्रसङ्गः। ज्ञानं च अज्ञातत्वव्यवहारहेतुरेवेति व्याघातः। न च साक्षिवद् ज्ञानव्यावर्त्तकार्यप्रकाशमेकं[४] ज्ञानं परस्याऽस्ति तदेतदाह—वस्त्वन्तरेति। अथ वस्त्वन्तरज्ञानं ज्ञानान्तरप्रागभावसहितमज्ञातत्वव्यहारं प्रवर्त्तयति, विशेषज्ञानप्रागभावस्य चास्ति विपर्यासानुकू[ल्यम्]? मैवम्; विपर्यासस्योपादानापेक्षस्य तावन्मात्रेणानुत्थानात्। वस्त्वन्तरज्ञानमपि किञ्चिदपेक्ष्य ज्ञानान्तरं भवति; तथाच तत्सद्भावेऽपि तदभावः प्रसज्येत। तस्मिन् सति ज्ञानान्तराभावाभ्युपगम इत्य[त्रा]ह—न चेति।

युक्तिबलाद् भावरूपाज्ञानविषयत्वमनुभवस्य साधितम्। सांप्रतं युक्त्यपेक्षाऽप्यत्र नास्ति—इत्याह—अस्ति चेति। अभावस्य प्रतियोगिस्मरणाधीनस्फुरणत्वान्नायमभावा-नुभवः। न च ताटस्थ्येऽनुभव एव नास्ति; तदुत्थितस्य तत्कालीनाज्ञानानुभव-परामर्शाभावप्रसङ्गात्। न च सर्वानुभवाभावानुमानं तदा सम्भवति; ज्ञानसामग्र्यभावेन हि ज्ञानाभावोऽनुमातव्यः स्मरणाभावस्याऽनुभवाभावव्यभिचारित्वा[त्] ज्ञानाभावेन च तत्सामग्र्य-भावोऽनुमातव्य इति परम्पराश्रयात्। अथ ["नाह] खल्वयमेवं सम्प्रत्यात्मानं जानात्य-हमस्मीति नो एवेमानि भूतानि" इत्यादिश्रुत्या ज्ञानाभावो निश्चीयेत? तर्ह्यवैदिकानामेष परामर्शो न भवेदिति भावः। किञ्च वेदस्य भावरूपाज्ञानानुकूलत्वात् पूर्वानुभवस्यागन्तुका-

ज्ञानवती

होगा जब आप 'मैं अज्ञ हूं' इस सामान्यअनुभव का आलम्बन विशेषअनुभव को मानेगें। (उ) तो भी 'मैं अज्ञ हूँ' इस सामान्यव्यवहार का सामान्यरूप आलम्बन कहना चाहिये क्योंकि विशेष कल्पना उस (अर्थात् सामान्यज्ञान) के बाद होती है और स्वपरविषयक-ज्ञातत्वअज्ञातत्व (अर्थात् यह घट ज्ञात है पट ज्ञात नहीं है) इन दोनो व्यवहारों के हेतुत्व का सामञ्जस्य भी हो जाता हैं। ज्ञान के होने पर ज्ञान का प्रागभावसामान्य सम्भव नहीं होता। इसलिये 'मै अज्ञ हूँ' यह अनुभव भावरूप अज्ञान को ही सिद्ध करता है।

और तटस्थ (अर्थात् सन्देहशून्य) लोगों को प्रतियोगी का स्मरण न होने पर भी

---

१ (ख) ज्ञातस्य। २ (क) गोचरज्ञात। (ख) गोचरयोर्ज्ञात।
३ (ख) रूप। ४ (ख) वद्।

नुभवः, एवं प्रत्यक्षाभाववादेऽपि। महाप्रलये च सिद्धं भावरूपमज्ञानं वेदादेः। "यद्यपि महाप्रलये नान्तःकरणादयः समुदाचरद्वृत्तयः सन्ति, तथापि स्वकारणेऽनिर्वाच्यायामविद्यायां लीनाः सूक्ष्मेण शक्तिरूपेण कर्मविक्षेपकाविद्यावासनाभिः सहावतिष्ठन्त एव विक्षेपकाविद्याभ्रान्तयः" इत्याचार्यवाचस्पतिना देवताधिकरणेऽभिधानाच्च।

विवादगोचरापन्नं प्रमाणज्ञानं, स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकं भवितुमर्हति, अप्रकाशितार्थप्रकाशकत्वात्, अन्धकारे प्रथमोत्पन्नप्रदीपप्रभावत्, इति वृद्धप्रयोगाच्च भावरूपाज्ञानसिद्धिः। अत्र सामान्याश्रयधर्मादिपूर्वज्ञानप्रागभावव्यवच्छेदाय प्रातिलोम्येन साध्यविशेषणानि। प्रागभावविषयान्धकारकुड्यादिमिथ्यार्थमिथ्याज्ञानव्यवच्छेदाय चानुलोम्येन। मिथ्याज्ञानस्यापि मिथ्यार्थप्रकाशकस्य[१] तत्त्वांशावरकत्वं न विरुध्यते।

ननु प्रमाणज्ञानमुक्तसाध्यमित्युक्ते न तावत् सिद्धसाधनता; परैरेवंभूतविषया-

भावदीपिका

नुभवाभावविषयत्वम्, न स्वरूपानुभवाभावपरत्वम्; "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपः" इत्यादिश्रुतिशतविरोधात्। तदाह—महाप्रलये चेति। वृद्धोक्त्याप्येतदाह—यद्यपीति। समुदाचरद्वृत्तयः=व्यक्तरूपाः। मिथ्याज्ञानस्य ज्ञानत्वात् कथमावरकत्वं युक्तम्?—तत्राह—मिथ्येति।

विद्यासागरीयमुत्थापयति—नन्विति। कालस्य प्रत्यक्षत्वासम्प्रतिपत्तेर्न तदवच्छि-

ज्ञानवती

अपनी आत्मा में अन्धकारसदृश अज्ञान का अनुभव होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्षाभाववाद (अज्ञानवाद) में भी है। और महाप्रलय में (नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं—"तम आसीत् तमसा गूढमग्रे—") वेद आदि के द्वारा भावरूप अज्ञान सिद्ध ही है। आचार्य वाचस्पति ने देवताधिकरण में कहा है—यद्यपि महाप्रलय में व्यक्त वृत्तियों वाले अन्तःकरण आदि नहीं होते तथापि अपने करणभूत अनिर्वाच्य अविद्या में विक्षेपिका अविद्याभ्रान्तियाँ सूक्ष्मशक्तिरूप में कर्म की विक्षेपिका अविद्यावासनाओं के साथ वर्त्तमान रहती ही हैं।"

विवादविपय वाला प्रमाणज्ञान, अपने प्रागभाव के अतिरिक्त अपने विषयावरण, अपन निवर्त्त्य, अपने देश में वर्त्तमानवस्त्वन्तरपूर्वक होता है, क्योंकि (वह) अप्रकाशितअर्थ का प्रकाशक होता है, उदाहरणार्थ अन्धकार में उत्पन्न प्रथम प्रदीपप्रभा; वृद्ध लोगों के इस अनुमान से भावरूप अज्ञान की सिद्धि होती है। यहाँ पर (साध्य में) साध्य के विशेषण, सामान्याश्रयधर्म आदि के पूर्वज्ञान के प्रागभाव के व्यवच्छेद के लिये उलटीरीति से (प्रातिलोम्येन) हैं। एवं प्रागभाव, विषय, अन्धकार, कुडच आदि मिथ्याअर्थ के मिथ्याज्ञान के व्यवच्छेद के लिये आनुलोम्येन (अर्थात् साध्य के विशेषण सीधी रीति से हैं) मिथ्याअर्थ के प्रकाशक मिथ्याज्ञान का भी तत्त्वांशावरकत्व विरुद्ध नहीं है।

(पू) प्रमाणज्ञान उक्त (अर्थात् स्वप्रागभावव्यतिरिक्तस्वविषयावरणस्वनिवर्त्यस्व-

१ (ख) मिथ्याप्रकाश।

वरणानङ्गीकारात्; नापि धारावाहिं ज्ञानभागे बाधः; तस्यापि[1] तत्तत्कालावच्छिन्नानधिगताधिगन्तृत्वेनोक्तसाध्यवत्त्वात्[2]; अतो व्यर्थविशेषणः पक्ष इति? नैतत्; एकाज्ञानपक्षे शुक्त्यादिप्रमासु, तथा पूर्वपूर्वविज्ञानस्य विनश्यदवस्थायामेवोत्तरोत्तरज्ञानोत्पादात् स्वविषयावरणनिवर्तकत्वेन प्रत्यक्षज्ञानधारायां यथोक्तसाध्याभावेन भागे प्रसक्तबाधनिराकरणार्थत्वाद्विशेषणस्य। सिद्धे हि विशिष्टाज्ञाने तत्रापि तत्पूर्वकत्वसाधनस्य 'विमतं ज्ञानमर्थाव्यभिचारि' इति प्रयोग इव समर्थप्रवृत्तिजनकत्वेन ज्ञानप्रामाण्ये उपेक्षणीयज्ञानेषु[3] ज्ञानप्रामाण्यसाधनस्य शक्यत्वाच्च। तथा यथोक्ताज्ञानाभावे[4] च सम्प्रसादे वेदोक्तब्रह्मप्राप्तिस्तात्त्विकीति तदुत्थितानां

भावदीपिका

न्नापूर्वार्थस्य प्रत्यक्षज्ञानविषयत्वमिति बाधव्युदासार्थमेतद्विशेषणमिति परिहरति—नैतदिति। प्रकारान्तरेणैकानेकज्ञानपक्षयोर्बाधमाह—एकेति। तार्किकं प्रति हेतोर्भागासिद्धत्वव्युदासार्थमनेकाज्ञानपक्ष विशेषणमिति द्रष्टव्यम्। उक्तसाध्यवत्त्वेन निर्णीतमपि प्रमाणज्ञानं भवति; तथा[5] च प्रमाणज्ञानमात्रपक्षीकारे सिद्धसाधनता स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थमपि विवादपदेत्यादिपदं ज्ञेयम्। वेदादेर्भावरूपमज्ञानं गम्यत इत्युक्तं प्रपञ्चयति—तथा यथोक्तेति। "सोम्येमाः प्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामहे" इति, "सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामहे" इति च; "त इह व्याघ्रो वा सिंहो वा वृको वा वराहो वा कीटो पतङ्गो वा दंशो वा मशको वा यद्यद् भवन्ति तदाभवन्ति" इति सुषुप्तावस्थायां ब्रह्मप्राप्तिस्तदज्ञानाच्च संसारः

ज्ञानवती

देशगतवस्त्वन्तरपूर्वक होता है) साध्यवाला है ऐसा कहने पर सिद्धसाधनता दोष नहीं है, क्योंकि दूसरे (=अद्वैतवादियों से अतिरिक्त) इस प्रकार के विषयावरण को नहीं मानते। धारावाही ज्ञानभाग (अयं घटः अयं घटः करके जो प्रतिक्षण ज्ञान की धारा चलती है उस धारा में वर्त्तमान द्वितीय आदि ज्ञान) में बाध भी नहीं है क्योंकि वह (अर्थात् कर्म) भी ततत्कालावच्छिन्नअनधिगतार्थगन्तृ होने से उक्तसाध्यवाला हो जाता है। इसलिये पक्ष का विशेषण (=विवादगोचरापन्नं) व्यर्थ है? (उ) ऐसा नहीं है। जहाँ एक अज्ञान है उस पक्ष में, शक्ति आदि की प्रमाओं में (जैसे होता है) उस प्रकार पूर्वपूर्व विज्ञान की विनश्यत्-अवस्था में ही (अर्थात् द्वितीयक्षण में ही) उत्तरोत्तरज्ञान के उत्पन्न होने से अपने विषय के आवरण के निवर्त्तक होने से प्रत्यक्षज्ञानधारा में उक्तसाध्य के न रहने के कारण, विशेषण, भाग में प्रसक्त बाध का निराकरण करने के लिये है। और विशिष्टअज्ञान के सिद्ध होने पर वहां भी विमत ज्ञान अर्थ का अव्यभिचारी है, इस प्रयोग के समान तत्पूर्वकत्व (=स्वदेशगतवस्त्वन्तरपूर्वकत्व) साधन के सफलप्रवृत्ति के जनक होने से ज्ञानप्रामाण्य के विषय में उपेक्षणीय ज्ञानों में ज्ञानप्रामाण्य की सिद्धि सम्भव है। उस प्रकार के यथोक्त अज्ञान के अभाव स्वरूप सम्प्रसाद में वेदोक्त ब्रह्म की प्राप्ति तात्त्विक होने से उस (सम्प्रसाद) से उठे हुए

---

[1] (ख) तत्रापि। [2] (क) ध्यत्वात्। [3] (क) अनुपेक्षणीय।
[4] (ख) यथोक्तज्ञान। [5] (ख) न यथार्थं।

व्याघ्रादिभावानुवर्तनकीर्तनं वेदस्य व्याहन्येत । न च स्वरूपग्रहणे नित्ये तद्भावोऽग्रहणमावरणं घटते । आगन्तुकग्रहणाभावस्तु सवितरीव प्रदीपाभावो नावरणाय; न खलु स्वप्रकाशं विज्ञानं स्वविषयप्रमाणानुदये न भातीति तद्वदिति। विपर्यासादेस्तत्राभावाच्च तत्संस्कारस्य च शुक्त्यादाविव तत्त्वानावरकत्वात् । न च कर्मापि नर्त्तक्या इव भ्रमणविशेषः तत्त्वावरणम्; तस्यापि संस्कारादविशेषात्। अतः परिशेषादेभ्यो विलक्षणं भावरूपमज्ञानमावरणं चिदात्मनः स्वरूप(भूतस्व[1]) प्रकाशब्रह्मणः ।

[मायायाः साक्षिसिद्धत्वम्–]

श्रुतयोऽपि—"तम आसीत् तमसा गूढमग्रे"[2] "नीहारेण प्रावृताः"[3] "अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः"[4] इत्याद्याः, स्मृतयश्च—"आसीदिदं तमोभूतम्"[5] इत्याद्या यथोक्तमज्ञानं समर्पयन्ति । "तुच्छेनाभ्वपिहितम्"[6] इति श्रुतौ तु

भावदीपिका

श्रूयते। उक्तश्रुत्यनुकूला युक्तिमाह—न चेति । तदावरणं स्वरूपग्रहणाभावो वा, अन्यग्रहणाभावो वा, विपर्यासादिकं वा, तत्संस्कारो वा कर्म वेति विकल्प्य दूषणं ज्ञेयम् । लोकप्रसिद्धमुदाहृत्य वादिप्रसिद्धमुदाहरति—न खल्विति ।

[मायायाः साक्षिसिद्धत्वम्—]

अन्या अपि श्रुतयः सन्ति—इत्याह—श्रुतयोऽपीति । श्रुत्यन्तरविरोधं परिहरति—तुच्छेनेति । न खलु प्रागनुपलभ्यमानत्वात् कार्यस्याऽसत्त्वं घटादेः; एवं मृदादेरपीति । सर्वस्य

ज्ञानवती

लोगों के विषय में वेद का व्याघ्र आदि भावानुवर्त्तन का कथन व्याहत हो जायगा। स्वरूपग्रहण (अर्थात् आत्मस्वरूपज्ञान) के नित्य होने से उसका अभाव में अज्ञान आवरण घटित हो जाता है । आगन्तुक ज्ञान का अभाव तो सूर्य के विषय में प्रदीपाभाव के समान आवरण के लिये नहीं हो सकता । ऐसा नहीं है कि स्वप्रकाश विज्ञान अपने विषय वाले प्रमाण के उदय न होने पर न प्रकाशित हो । उसी प्रकार यह भी है । और वहाँ विपर्यास आदि के अभाव होने से और उसका संस्कार शुक्ति आदि के बारे में (जैसे आवरक नहीं हीता उस प्रकार) आवरक नहीं होगा । (पू) कर्म भी नर्तकीभ्रमणविशेष के समान तत्त्व का आवरक नहीं होगा ? (उ) वह भी संस्कार से विशिष्ट नहीं है : इसलिये परिशेषात् इनसे विलक्षण भावरूप अज्ञान स्वप्रकाशब्रह्म के स्वरूपभूत चिदात्मा का आवरक है।

[माया का साक्षिसिद्धत्व—]

"पहले तम से छिपा हुआ तम ही था" "नीहार से प्रावृत" "अविद्या के भीतर वर्त्तमान" इत्यादि श्रुतियाँ तथा "यह तमोभूत था" इत्यादि स्मृतियाँ यथोक्त

[1] (क) भूतं स्व । (स) भूत । [2] तै० ब्रा० २।८।९ । [3] तै० सं० ४।६।६ ।
[4] कठ० २।५ । [5] मनु० १।५ । [6] तै० ब्रा० २।८।९ ।

तुच्छशब्दोऽनिर्वाच्यार्थः; समन्ताद्वर्त्तमानब्रह्मापिधायकमायायाः प्रकृतित्वश्रुतेः। न चैवं प्रामाणिकमज्ञानं प्रमाणेन दुरुच्छेद्यमापद्येत; प्रामाणिकानामपि परैरीश्वर-साक्षात्कारेणोच्छेदस्वीकारात्। सर्वैरपि प्रामाणिकसंशयादेः (प्रमाणेनो[1]-)च्छेदाभ्युपगमाच्च; अपरथा शास्त्रीयविचारवैफल्यात्। अत्र च प्रमाणाप्रमाण-साधारणसाक्षिसिद्धाज्ञानस्य पराभिप्रेतरूपप्रतिषेधार्थत्वात् प्रमाणस्य, विनापि[2] साक्षिणा [यदि[3]] सिद्धमज्ञानं, [तदा[4]] 'त्वदुक्तमर्थं न जानामि' इत्यादिव्यवहारस्य सुषुप्ते वा प्रमाणज्ञाने वा अनुप[पत्तिः[5]]।

भावदीपिका

प्रागवस्थायास्तुच्छत्वात् तुच्छमेवोपादानम्। सति चैवं 'अज्ञानं भावरूपम् उपादानत्वात् मृदादिवत्' इति प्रयोगोऽप्यपास्त इति [न] साम्प्रतम्; घटकरककटककुण्डलाद्यवस्थस्य सतो मृदादेरेवोपलम्भात् सर्वत्रानुगतसद्वस्तुन एव तत्तत्कार्यात्मनाऽवस्थिततत्वोपपत्तेः। न चैवं माया वास्तवी प्रसज्येत, जगत्यन्वितसत्त्वात् प्रमाणसिद्धत्वाच्च, ब्रह्मवदिति वाच्यम्; शून्यकारणवादे घटादौ पृथिव्यादेरन्वितस्वाभावसत्त्वस्येवाऽप्रसङ्गात्; अवास्तवत्वेऽपि तद्वदेव व्यावहारिकप्रमाण-गोचरत्वोपपत्तेश्च। न चाज्ञानं न मानगम्यम्, तन्निवर्त्यत्वात्[6], व्यतिरेकेणात्मवदित्यपि शङ्कनीयम्—इत्याह—न चैवमिति। अज्ञानस्य प्रकारविशेषेण प्रामाणिकत्वेऽपि स्वप्नादिवत् स्वरूपेण [साक्षिवेद्यत्वात्] स्वाश्रये तदभावाच्च न कश्चिद्दोषः—इत्याह—अत्र चेति। पूर्वरूपितरीत्या प्रमाणगम्यत्वे दोषाऽभावात् किं साक्षिसिद्धत्वेन?—तत्राह—विनापीति।

ज्ञानवती

अज्ञान को बताती है "तुच्छ से आभु (=आत्मा) आवृत है" इस श्रुति में तो तुच्छ शब्द अनिर्वाच्य अर्थ को बताता है क्योंकि चारोतरफ से वर्त्तमान ब्रह्म की आवरक माया को प्रकृति करके सुना जाता है। (पू) तब तो प्रामाणिक अज्ञान का प्रमाण (ज्ञान) से उच्छेद नहीं होगा? (उ) अन्य लोग (अर्थात नैयायिक आदि) भी ईश्वर के साक्षात्कार से प्रामाणिकों (=योगियों) के (अज्ञान) का उच्छेद स्वीकार करते हैं और सभी प्रामाणिक संशय आदि का प्रमाण से उच्छेद मानते हैं; अन्यथा शास्त्रीयविचार भी निष्फल हो जायगा। इस विषय में प्रामाणअप्रमाणसाधारणसाक्षिसिद्धअज्ञानवाले प्रमाण के पराभिप्रेतरूप प्रतिषेधार्थक होने से साक्षी के बिना भी यदि अज्ञान सिद्ध है तब तो सुषुप्ति में या प्रमाणज्ञान होने पर 'तुम्हारे कहे हुए अर्थ को नहीं जानता" इत्यादि व्यवहार की अनुपपत्ति हो जायगी।

---

[1] (क) प्रमाणो नो (ख) प्रमाणे नो।
[2] (ग,घ) विना हि।
[3] (क) णासि।
[4] (क) ज्ञानं त्व।
[5] (क) अनुपपत्तेः।
[6] (ख) वर्त्य।

[मायायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वनिरूपणम्—]

ननु प्रतिवादिवचनादेव प्रतीयमाने प्रपञ्चसत्यत्वादौ साक्षिसिद्धत्वस्य वक्तुमशक्यत्वादहार्यारोपत्वे सिद्धे प्रमाणज्ञानाभावादेव यथोक्तव्यवहारसिद्धे अन्यथाप्युपपत्तिरिति चेत्? अतएव ज्ञानविशेषितोऽर्थः साक्षिसिद्ध इत्यनुपपन्नम्। वचनव्यापारे सत्यपि मायैव सत्यत्वादिवृत्तिरूपेण परिणमते चेत्? चक्षुरादिव्यापारेऽपि सैव परिणमत इति प्रमा[1] अन्तःकरणवृत्तिः, अप्रमा च मायावृत्तिः, इति व्यवस्था दुरवस्था स्यात्? मैवम्; प्रतिवादिवचनस्य प्रामाण्याभावनिश्चयेन मायावृत्त्युपस्थापकत्वात् तदुपादानमायासिद्धेः।

भावदीपिका

[मायायाः प्रत्यक्षसिद्धत्वनिरूपणम्—]

तत्रैव हि साक्षिसिद्धत्वं यत्र कारणाभावः, वादिव्यवहारेषु परस्परवचनमस्ति करणं[2] ज्ञानस्य[3], ततो न साक्षिसिद्धाज्ञानसिद्धिः—इति शङ्कते—नन्विति। तर्हि किं सा प्रतीतिः प्रमैव? तथाच वचनमात्रेण सिद्धिः परोक्तस्य प्रसज्येत, 'त्वदुक्तं न जानामि' इति व्याहन्येत?—तत्राह—आहार्यारोपत्व इति। यतो वचनकरणिका परोक्ताऽर्थप्रतिपत्तिः अतएवेत्यर्थः। अथ आहार्यारोपस्य मायिकवृत्तित्वात् वचनस्य दुष्टेन्द्रियसम्प्रयोगस्येव मायाक्षोभकत्वमेव; मायावृत्तिश्च साक्षिणमाक्षिपति स्वाश्रये प्रमाणगोचररूपा?—तत्राह—वचनव्यापार इति। अदुष्टकरणजन्यत्वमेव वृत्तेः सम्यक्त्वप्रयोजकमिति। अदुष्टचक्षुरादिव्यापारेऽपि मायैव प्रमावृत्तिरूपेण परिणंस्यत इति व्यवस्थाया असिद्धिरिति भावः।

प्रतिवादिवचनजन्यबुद्धेरारोपत्वे न तवापि विवादः, किन्तु 'न जानामि' इति व्यवहारः प्रमाणज्ञानाभावनिबन्धन इति तवाग्रहः, स न मायासि[द्धे]र्विद्यते विघाती[4]; आरोपमात्रेण तदुपादनमायासिद्धेः—इत्याह—मैवमिति। किञ्च प्रमाणज्ञानप्रागभावश्चेत् 'परोक्तं न जानामि' इति प्रतीयते, तदा तस्य प्रमाणज्ञानकार्योन्नेयत्वात्तत्र प्रमाणसद्भावापत्तौ पूर्वपक्ष एव स्वीकार्यः स्यात्, उभयसम्मतप्रमाणवत्त्वात्। न च सर्वत्र प्रमाणज्ञानात्यन्ताभावो घटते,

ज्ञानवती

[माया का प्रत्यक्षसिद्धत्वनिरूपण—]

(पू) प्रतिवादी के वचन से ही प्रपञ्चसत्यत्व के प्रतीत होने पर (इस प्रपञ्च को) साक्षिसिद्ध नहीं कहा जा सकता इसलिये (प्रपञ्च के) आहार्य आरोपत्व के सिद्ध होने पर प्रमाणज्ञान के अभाव से ही यथोक्तव्यवहार के सिद्ध होने से (इस व्यवहार की) अन्यथा (=भावरूप अज्ञान के विना भी) सिद्धि हो जाती है। इसलिये ज्ञानविशेषित अर्थ साक्षी के द्वारा सिद्ध है यह ठीक नहीं। (पू) वचनव्यापार के रहने पर (अर्थात् वचन को निमित्त बनाकर) भी माया ही सत्यत्व आदि की वृत्ति के रूप में परिणत होती है? (उ) तब तो चक्षु आदि के व्यापार के रहने पर भी वही परिणत होगी, फलतः प्रमा

---

[1] (ख) प्रमाणन्तःकरण। [2] (ख) करण।
[3] (क) ज्ञातस्य। [4] (क) विद्यते।

"सम्यक्संशयमिथ्याख्यैर्धीरेवेयं विभज्यते ।"

इत्याचार्यवचनाच्च अन्तःकरणपरिणामोऽप्यप्रमेति न कश्चिद्दोषः । "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा" इत्यादिश्रुतेर्मनोमय्या अप्रमावृत्तेरविद्याप्रधानत्वात् साक्षिसिद्धयाक्षेपकत्वात् । (अस्य[1]) चागन्तुकत्वे हेत्वन्वेषणायां किमप्यनाद्येष्टव्यमनवस्थापरिहाराय । तद् वरमस्यैवानादित्वम्, तत्त्वज्ञानोच्छेद्य [त्वं च[2]], भावत्वेन प्रतीतस्य

भावदीपिका

क्वचित् परोक्तेऽपि प्रमाणस्य दर्शनात् । अतोऽस्य व्यवहारस्य उपपादनाय भावरूपमज्ञानमेष्टव्यम् । न चाज्ञानविषयतया पराभिप्रेतोऽर्थस्तर्हि सेत्स्यतीति वाच्यम् ; परोक्ताप्रतिषेधे हि तत्सिद्धिर्वक्तव्या; यदा च परोक्तमस्माभिः प्रतिषिध्यते तदा तदज्ञानं तत्कल्पनाऽधिष्ठानब्रह्मविषयमवतिष्ठते । प्रातीतिकप्रतिमुखनिषेध[3] इव मुखविषयोऽस्माकमिति स्थिते सर्वकार्याणां प्रागभावनिवर्त्तकत्वस्य साधारण्यात् ज्ञानमज्ञानं निवर्त्तयतीत्यसाधारणप्रसिद्धेः; "धर्मेण पापमपनुदति" इत्यादिप्रसिद्धिवद् भावरूपनिवर्त्यगमकत्वाच्च[4]; (स्पष्टत्वाच्च) । व्यवस्था या काचिदस्तु इत्याशयेनाह—सम्यगिति । श्रुत्या बुद्धेर्मनःकार्यत्वावगमान्न वार्त्तिकं निर्मूलं तद्वृत्तेरप्यप्रमायाः कारणाजन्यत्वात् साक्षिप्रमाणकत्वं तद्विषयस्य न विरुध्यते—इत्याह—काम इत्यादि । विभ्रमोपादानमज्ञानमिति आचार्यव्यवस्थात उक्तश्रौतव्यवस्था बलीयसीति सा भ्रमवेद्यस्याऽज्ञानमुपादानमिति ज्ञेया । अस्मिन् पक्षे वेद्यस्यैव बाधकेनोच्छेदः मूलमायावृत्तित्वेऽपि भ्रमस्येव[5]; ततो न विशेषः । मायान्तरवृत्तित्वे च भ्रमस्य संस्काराधानपरामर्शादिकार्यं कारणोच्छेदे दुर्घटमिवेत्यपि द्रष्टव्यम् ।

एवं भावरूपमज्ञानं प्रसाध्य तस्याऽनिर्वाच्यत्वाऽनादित्वे विशेषणे साधयति—अस्य चेति । "प्रकृतिं पुरुषं चैव विध्यनादी उभावपि" इति स्मृतेरनुकूलोऽयं तर्कः । वृत्तोपयोगं

ज्ञानवती

अन्तःकरणवृत्ति है और अप्रमा मायावृत्ति है यह व्यवस्था दुरवस्था हो जायगी ? (क्योंकि तब सब मायावृत्ति हो जायगा)

(उ) ऐसा नहीं है । प्रतिवादी के वचन में प्रामाण्यनिश्चय का अभाव होने से (वह) मायावृत्ति का उपस्थापक होता है फलतः उस (=मायावृत्ति) के उपादान माया की सिद्धि होती है ।

"सम्यग् संशय, मिथ्या नाम से यह बुद्धि ही विभक्त होती है"

आचार्य के इस वचन से अन्तःकरणपरिणाम भी अप्रमा है । इसलिये कोई दोष नहीं है । "काम संकल्प विचिकित्सा" इत्यादि श्रुति से मनोमयी अप्रमावृत्ति के अविद्याप्रधान होने से ये साक्षिसिद्धि के आक्षेपक हो जाते हैं । और इस (अर्थात् ज्ञान) के आगन्तुक होने पर हेतु का अन्वेषण होने पर अनवस्था के परिहार के लिये किसी को अनादि मानना पड़ेगा । तो इससे अच्छा है कि इसी (=अज्ञान) को ही अनादि एवं

---

[1] (क) अस्याः च । (ग, घ) अस्य च । [2] (क) च्छेद्यत्वाच्चं ।
[3] (ख) प्रतीति मुख । [4] (क) कत्वाच्च व्यव । [5] (क) स्येवं ।

तथात्वेन युक्त्या दुर्घटत्वमनिर्वाच्यत्वमपि। अस्याऽशेषदुःखनिदानस्य तत्त्वज्ञाने-नोच्छेदः प्रयोजनस्यैका कोटिः स्वरूपसुखाविर्भावश्चापरा।

[सुखं दुःखाभावरूपं नास्ति—]

अत्र नैयायिका दुःखाभावं स्वतन्त्रं पुमर्थं वर्णयन्तो मोक्षदशायामानन्दं नानुमन्यन्ते; तथाहि—यदि सुखं दुःखाभावे सत्येव भवतीति सुखसाधनान्तरवत्

भावदीपिका

वदन् वृत्तापेक्षमाह—अस्याशेषेति : स्वरूपसुखं हि स्वप्रकाशं तदविद्यावरणभङ्गमेवाऽपेक्षते "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति", "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माऽप्येति", 'अभयं वै ब्रह्म; अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" इत्येवंजातीयश्रुतिभ्यो ब्रह्माऽविर्भावो मोक्षो गम्यते। ब्रह्म चाऽनन्दरूपं "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" इत्यादिश्रुतिभ्यः।

[सुखं दुःखाभावरूपं नास्ति—]

एवं श्रौतं सिद्धान्तं परिशोधयितुं पूर्वपक्षयति—अत्रेति। यथा खलु ब्रह्मणो विज्ञानैकस्वभावस्य जगत्कारणत्वे प्रतिज्ञाते 'ब्रह्मचैतन्यं ब्रह्मप्रकृतिके कार्ये स्वानुरूपं गुणान्तरमारब्धुमर्हति एकद्रव्यवृत्तित्वे सति समवायिकारणगुणत्वात्, तन्तुगतशौक्ल्य-वत् तद्विशेषगुणत्वाद्वा'। परमाणुपरिमाणं हि पारिमाण्डल्यं तत्कार्ये द्वयणुके पारि-माण्डल्यान्तरं वा अणुत्वं वा, ह्रस्वत्वं वा, नारभेत, परमाणुगतद्वित्वसंख्याया एव तदारम्भक-त्वाङ्गीकाराद् माभूत् अव्यभिचार इति द्वितीयं साधनम्—इत्यादिपूर्वपक्षाभासमप्युत्था[प्य] सिद्धान्तः परिशोधितः। "महद् दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यामेति"—अणु ह्रस्वपरिमाण-[ञ्च] द्वयणुकं पारिमाण्डल्यपरिमाणात् परमाणोर्यथा, यथा चाणुह्रस्वात् द्वयणुकात् महद्दीर्घ-परिमाणं त्र्यणुकं, तथा चेतनाद् ब्रह्मणोऽचेतनं जगत्; पाकात् पार्थिवाणुषु विशेषगुणजन्माङ्गी-कारात्[१]; शब्दबुद्ध्यादेश्च विशेषगुणारम्भ्यत्वनियमाभाववद् विशेषगुणानारम्भकत्वनियमा-भावोपपत्तेश्च—इत्याद्यनुक्तसमुच्चयार्थो वाशब्दश्चार्थः[२]। तथाऽत्रापि द्रष्टव्यम्।

तत्र दुःखाभावस्य स्वातन्त्र्येण पुमर्थत्वं प्रतिबन्द्या साधयति—तथाहीति। दुःखा-भावस्य हि स्वातन्त्र्येण पुमर्थत्वे सिद्धे श्रुतेस्तावन्मात्रेण प्रयोजनवत्त्वात् प्रामाण्यसिद्धौ ब्रह्मणि

ज्ञानवती

तत्त्वज्ञान से उच्छेद्य मान लिया जाय। भावरूप में प्रतीत होने वाले इस ज्ञान के वैसा (=भावरूप) होने से युक्ति के द्वारा अनिर्वाच्यत्व भी दुर्घट है। अशेषदुःख के कारणभूत इस (अज्ञान) के प्रयोजन की एक कोटि तत्त्वज्ञान से (इसका) उच्छेद है और दूसरी (कोटि) स्वरूप (=आत्मस्वरूप) सुख का अविर्भाव है।

[सुख दुःखाभावरूप नहीं है—]

इस विषय में नैयायिक दुःखाभाव (अर्थात् ६ इन्द्रिय ६ विषय, ६ बुद्धि, शरीर, सुख एवं दुःख इन २१ दुःखों के नाश) को स्वतन्त्र—पुरुषार्थ कहते हुए मोक्षदशा में आनन्द नहीं मानते। वह इस प्रकार—यदि दुःखाभाव के होने पर ही सुख होता तो सुख के साधनान्तर के

[१] (ख) रोच्छेदबुद्ध्या। [२] (क) चार्थसौत्रः।

दुःखाभावोऽपि मृग्यते, न तु स एव पुरुषस्य समीहितः; तर्हि भोजनादिसुखे सत्येव बुभुक्षादिदुःखं निवर्तत इति दुःखनिवृत्त्यर्थमेव भोजनादिसुखं मृग्यते, न पुनस्तदेव पुरुषस्य समीहितमिति किन्न कल्प्यते? क्वचिद् दुःखाभावे सत्यपि सुखस्येष्यमाणत्वादिति[1] चेत्? न; दुःखनिवृत्तेरपि क्वचित् सुखाभावेऽपीष्यमाणत्वादेव। दुःखनिवृत्तौ सत्यां सुखमेव भविष्यतीत्यभिसन्धिस्तत्रास्तीति चेत्? न; सुखावस्थायां नियमेन दुःखविरहो भविष्यतीत्यभिसन्धेस्तत्रापि सम्भवात्। अतएव ज्ञातदुःखाभावस्य नियमेन सुखव्यञ्जकतया तच्छेषत्वमित्यपास्तम्। तस्मात् यद्यपि दुःखनिवृत्तौ सुखम्, सुखे च दुःखहानिर्नियता, तथापि परस्परनिरपेक्षमेव पुमर्थत्वमनयोः; इच्छाया असङ्कीर्णविषयत्वात्।

ननु तथापि यथा दुःखशबलं संसारसुखमनादेयं तथा सुखशबलं दुःखमप्यादेयं

भावदीपिका

दुःखाभावपरा आनन्दश्रुतिर्भविष्यतीति भावः। विशेषात् प्रतिबन्द्युद्धारमाशङ्क्य साम्येन परिहरति—क्वचिदित्यादिना। यथा खलु सांख्येन जडस्य प्रधानस्य स्वातन्त्र्येण सृष्ट्यादौ प्रवृत्तिर्न चेत् तर्ह्यविकारस्याऽपि पुरुषस्य भ्रामकवत् सन्निधानमात्रेण प्रेरकत्वमस्ति—इत्युक्ते वेदान्तिना—भ्रामकस्याप्यागन्तुकः सन्निधिः परिमार्जनं ऋज्वव[स्था]पनं चाऽस्ति व्यापारः; पुरुषस्य तु विभुविशुद्धविज्ञानैकरसस्य न व्यापारः कोऽपि येन प्रेरकत्वम्; अन्यथा प्रलयानुपपत्तेः—इति च दूषिते न वाऽप्येतादृशः पुमान् कथं मायाप्रेरक इति सांख्यप्रतिबन्द्या वेदान्तिना—मायायाः शक्तित्वस्वीकारात् शक्तेश्च वह्न्यादेरिव शक्तिमतः स्वीकारेण[2] कार्योत्पत्तौ सहकारित्वात्, प्रधानस्य च पुरुषाश्रयत्वानङ्गीकारेण शक्तित्वाभावात् अघटमानसृष्ट्यादिबलादेव मायावादावलम्बनात्—इत्यादि-विशेषप्रदर्शनेनोद्धारः क्रियते तथाऽत्रापीति भावः। यतो न दुःखाभावस्य स्वरूपेण सुखाङ्गत्वं सम्भवति ब्रह्मज्ञानस्यैव कर्माङ्गत्वम् ततो नावस्थाविशेषापन्नस्यापि—इत्याह—अत इति।

अस्तु दुःखाभावः स्वातन्त्र्येण पुमर्थः तथापि न तादृङ्मोक्षाय प्रवृत्तिर्युक्ता?—इति

ज्ञानवती

समान दुःखाभाव भी खोजा जाता किन्तु पुरुष को वह इष्ट नहीं है; भोजन आदि सुख के होने पर ही बुभुक्षा आदि दुःख निवृत्त होता है। इसलिये दुःखनिवृत्ति के लिये ही भोजन आदि सुख खोजा जाता, परन्तु वही पुरुष को समीहित नहीं है ऐसी कल्पना क्यों नहीं कर लेते? कहीं दुःखाभाव के रहने पर सुख वांछित होता है यदि ऐसा (कहें? तो) मत (कहिये)। क्योंकि सुखाभाव के होने पर दुःखःनिवृत्ति भी इष्यमाण होती है। (पू) वहाँ (=दुःखनिवृत्ति की इच्छा में) दुःखनिवृत्ति होने पर सुख भी होगा यह निश्चय रहता है (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि सुखावस्था में भी नियमतः दुःखाभाव रहेगा यह भी वहाँ सम्भव है। इसीलिये ज्ञातदुःखाभाव के नियमतः सुखव्यञ्जक होने से 'उसका शेष है' यह कहने वाले परास्त हो गये। इसलिये यद्यपि दुःखनिवृत्ति में सुख और सुख में दुःखहानि निश्चित है तथापि इन दोनों का पुरुषार्थत्व परस्परनिरपेक्ष है, क्योंकि इच्छा का विषय असंकीर्ण है।

---

[1] (ख) सुखस्याप्येष्य। [2] (ख) स्वविकारेण।

स्यात्; दृश्यन्ते हि सुखार्थिनो यागादिदुःखमप्यनुभवन्तः; ततो दुःखस्य हेयत्वाभावान्न तदभावस्य पुमर्थत्वम् ? नैतत्; मोक्षाधिकारिणः हेयहीनस्य मुक्त्यनुपदेशात्।

तदुक्तम्—

"यस्य दुःखमुपादेयं तस्य हेयं किमुच्य[ता]म्[१]।
हेयहीनस्य का मुक्तिः केन वाप्युपदिश्यते ॥" इति।

कस्य तर्हि मुक्त्युपदेशः ? यस्तु घनतरदुःखतिमिरनिरन्तरात् संसारकान्तारात् सुखखद्योतिकासु द्योतमानास्वपि बिभेति, तं प्रत्ययं निस्तमस्कतया सुगमो मार्गः उपदिश्यते।

ननु दुर्गम एवासौ यतः सततमनुभूतविविधविचित्रदेवाद्यानन्दपरिहारेण ग्रावावस्थाप्रार्थना प्रेक्षाकारिणो दुरुद्भवा ? मैवम्; समानत्वात्। भावरूपोऽपि ब्रह्मानन्दः

भावदीपिका

शङ्कते—नन्विति। युक्तं चैतत्—इत्याह—दृश्यन्त इति। भवतु सांसारिकसुखरागिणां दुःखमपि सुखोपायबुद्ध्या उपादेयं न तु तत्र वीतरागस्य मुमुक्षोस्तद्युक्तम्—इति प्रत्याचष्टे—नैतदिति। हेयहीनस्य सुखोपायबुद्ध्या दुःखमुपाददानस्य न चेन्मुक्त्युपदेशः कीदृशस्य तर्हि ?—इति प्रश्नपूर्वकमधिकारिणं निरूपयति—कस्येति। कान्तारम्=घनतरुच्छायाऽन्धकारदुर्गमं वनम्।

अल्पसुखपरिहारेण महति सुखे प्रेक्षाकारिणां प्रवृत्तेर्दृष्टत्वात् तदभावेन चाल्पीयस्या अपि तुष्टेः प्रेक्षणान्मुमुक्षोरपि सांसारिकसुखादतिरेकवत्येव प्रवृत्तिर्युक्ता नान्यथा—इति शङ्कते—ननु दुर्गम इति। देवादेरपि मोक्षाधिकारात् तदानन्दानुभवः। प्रतिबन्द्या परिहरति—मैवमिति। प्रवृत्त्यभावतुल्यतामात्रेण प्रतिबन्दी द्रष्टव्या। न च ब्रह्मानन्दवादिनो वस्तुतः प्रवृत्त्यभावो यथा मनुष्यस्य श्रुतमात्रे देवाद्यानन्दे प्रवृत्तिः तथा ब्रह्मानन्देऽपि सा युज्यते यतः; तथाप्यैहिकविषयसुखसादृश्यात् स्वर्गसुखे प्रवृत्तिः प्रवर्त्तते। श्रुतमात्रेऽपि न

ज्ञानवती

(पू) फिर भी जैसे दुःखमिश्रित सांसारिकसुख आदेय है वैसे ही सुखशबलदुःख भी आदेय हो जायगा। सुखार्थी लोग याग आदि दुःख का अनुभव करते हुए देखे भी जाते हैं। इसलिये दुःख के हेय न होने से उसका अभाव पुरुषार्थ नहीं है। (उ) ऐसा नहीं है। मोक्षाधिकारी हेयहीन को मुक्ति का उपदेश नहीं देते। कहा है—

"जिसको दुःख स्वीकार है उसके लिये हेय क्या कहा जाय। और हेयहीन की मुक्ति कैसी अथवा कौन उसको उपदेश करेगा।"

तो किसको मुक्ति का उपदेश (होना चाहिये) ? जो सुखरूपी जुगुनुओं के रहते हुए भी कठिनतरदुःखरूपी अन्धकार से व्याप्त संसारजंगल से डरता है उसको अन्धकारहीन होने के नाते इस सुगम मार्ग का उपदेश किया जाता है।

(पू) यह तो दुर्गम ही है, क्योंकि निरन्तर अनुभूत होने वाले देवता आदि के आनन्द से रहित पत्थर की अवस्था के लिये प्रार्थना बुद्धिमान् के लिये असम्भव है ? (उ) ऐसा

---

[१] (क) किमुच्याम्। (ख) किमुच्यताम्।

शतवारमाकर्णितोऽप्यननुभूतत्वादनुभूतानन्दवैरस्याय न विवेकवत् क्षयादिदोषदर्शनाभ्यासे आविरिञ्च्याद्यानन्दादुद्वेगस्तुल्यः, इतरत्रापि आब्रह्मलोकात् सुखस्य दुःखाविनाभावदर्शनान्मोक्षसुखस्यापि तदन्वयाशङ्कया। प्रत्युत भवन्मत एव मुमुक्षानुदयः; "अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः"[1] इति श्रुतेश्च। तुल्ये च सुखदुःखयोः साधनान्वेषणे न सुखस्यैव नित्यत्वं स्वरूपत्वप्रमा च सङ्गच्छते, "यो वै भूमा तत्सुखं

भावदीपिका

विषयासाध्ये तद्विलक्षणे ब्रह्मसुख इति परस्याऽभिसन्धिः। एवमप्यतिशयविशेषस्य देवादिसुखगतस्यैहिकविलक्षणस्य प्रवर्त्तकत्ववत् ब्रह्मसुखस्य प्रवर्त्तकत्वं सम्भवतीत्यभिसन्धिमतो[2] वेदान्तिनः परिहारमाशङ्क्य—साम्यमाह—क्षयादीति। तथाप्यऽल्पीयस्त्यागात् महीयस्सुखाभिलाषेणैव प्रेक्षावत्प्रवृत्तिरित्यस्य कः परिहारः?—तत्राह—आब्रह्मेति। स्यादेवं यदि दुःखानाविलं सुखं सम्भाव्येत; तदसम्भवे तु दुःखाविलसुखत्यागेन निर्दुःखे मोक्षे प्रेक्षावत्प्रवृत्ति[र्न]युक्तैवेति भावः। यद्यपि संसारदशायां दुःखाभावोऽपि दुःखसहचरः तथापि दुःखाभावस्य मोक्षेणाप्यऽङ्गीकारेण तुल्यत्वान्नाक्षेपमर्हतीति च भावः। "मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना; तदस्यामृतस्याशरीरस्याधिष्ठानम्; आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम्; न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति" इति सशरीरसुखस्यैव दुःखाऽविनाभावः[3] श्रूयते अनुभूयते वा। अतो नाशरीरसुखस्य दुःखान्वयाशङ्का इति? तत्राह—अशरीरमिति। न चायं सांसारिकसुखनिषेधो न स्वरूपभूतनित्यसुखनिषेधः?—इत्याशङ्क्याह—तुल्ये चेति। "सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति सुखं भगवो विजिज्ञासे" इति उक्त्वा "यो वै भूमा" इत्यादिश्रुतेरुत्तरत्र च "स एवाधस्तात्" इति तमनुकृत्य "आत्मैवाधस्तात्" इति तस्यात्मत्वविधानादस्ति स्वरूपसुखम्[4] साधनान्वेषणं चाऽभिव्यक्त्यर्थं भविष्यति?—इत्याशंक्याह—यो वै भूमेति। बहोर्भावो भूमा "बहोर्लोपो भू च बहोः" इति स्मरणात्। बहोरुत्तरस्येमनिच्प्रत्ययस्य इकारलोपो बहोश्च भूरादेशो भवतीति

ज्ञानवती

नहीं है। क्योंकि (दोनो जगह स्थिति) समान है। भावरूप ब्रह्मानन्द भी सैकड़ों बार सुना गया होने पर भी अनुभूत न होने से अनुभूत (लौकिक) आनन्द के वैरस्य के लिये उसी प्रकार नहीं है जैसे कि विवेकक्षयआदि दोषदर्शन की आवृत्ति होने से ब्रह्मा पर्यन्त आनन्द का उद्वेग तुल्य है। इतरत्र भी ब्रह्मलोकपर्यन्त दुःख के साथ सुख के अनिवार्यतः दिखाई पड़ने से मोक्षसुख के बारे में भी उस (=दुःख) के अन्वय की आशंका होती है। बल्कि आपके मत में ही मुमुक्षा का उदय नहीं होता—

श्रुति है—"शरीरहीन वर्त्तमान (जीव) को प्रिय और अप्रिय नहीं छूते"। सुख एवं दुःख के साधन का अन्वेषण तुल्य होने पर सुख की ही नित्यता एवं आत्मरूप प्रमा संगत नहीं होती। "जो भूमा है वही सुख है अल्प में सुख नहीं है" इस प्रकार सुख स्वरूप

---

[1] छा० ८।१२।६।
[2] (ख) अभिमतो।
[3] (क) दिना।
[4] (क) सुख।

नाल्पे सुखमस्ति"[१] इति सुखभूमार्थिनः साधनबाहुल्यमेवोपदिश्यते। तेन ब्रह्मण्यानन्दश्रुतिः दुःखभावं सहजं परम आनन्द इति ब्रूत इति युक्तम् ?

अत्र समाधिः—अस्तितावल्लोके सुखव्यवहारः, स च दुःखाभावमात्रालम्बनो ग्रावादादपि प्रसङ्गात् दुःसम्पादः।

भावदीपिका

भूपपदव्युत्पत्तेर्बहुत्वं च नैकस्यात्मनः सम्भवति। बहूनि च सत्यविज्ञानमननश्रद्धानिष्ठाकृतिलक्षणानि सुखसाधनान्युपदिश्य "यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति" इति सुखस्य फलतया साधनानुष्ठाननिमित्ततां चोक्त्वा उच्यमानो "यो वै भूमा" इति साधनबाहुल्यमेवेति निश्चीयते।

यद्यप्यत्र महाप्रकरणोपक्रमे "तरति शोकमात्मवित्" इत्यात्मश्रुतौ अन्तेऽपि "आत्मैस्तात्" इति, यद्यपि च "नाम ब्रह्मेत्युपास्स्वेति; अस्ति भगवो नाम्नो भूय इति ? वाग्वा नाम्नो भूयसी" इत्येकस्य भूमभावः श्रुतः, यद्यपि च "प्राणो वा आशाया भूयान्" इति सगुण-ब्रह्मोपायभूतं समारोप्योपरिष्टात् "एष तु वा अतिवदति यः सत्येनाऽतिवदति" इत्युपेयनिर्गुणसत्यब्रह्माधिकारे निरूप्यमाणो भूमा "भूमा सम्प्रसादादध्युपदेशात्" इत्यत्रात्मैवेति स्थितम्। तद्विज्ञानायैव च विज्ञानादिसाधनमित्यपि; तथापि तन्मध्य एव—"अथातोऽहंकारादेशः" इत्यनात्मोपदेशवदयमनात्मोपदेश इति परो मन्यते इति भावः। तथापि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म", "आनन्दो ब्रह्म", "आत्मैवानन्दः" इत्यादिसामानाधिकरण्येन स्वरूपभूत आनन्दो ब्रह्मणः सेत्स्यति ?—इत्याशङ्क्याह तेनेति। "न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः" इत्यप्राप्तान्यदुःखनिषेधासम्भवात्, लोकसामान्येन चेतनत्वेन संभावितदुःखनिषेधात्[२], नित्यं "अपहतपाप्मा" इति दुःखहेतुपाप्माऽसम्बन्धश्रुतेश्च ब्रह्मणि दुःखाभावो न साध्यः। सामानाधिकरण्यश्रुतिश्च "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्" इत्यादिवैयधिकरण्यश्रुत्याऽवरुद्धा नैक्यं प्रतिपादयितुमीष्टे। तथापि 'शुक्लः पटः,' 'पटस्य शौक्ल्यम्' इति [उभ]यथा प्रयोगेऽपि यथा न पटे शौक्ल्याभावः एवं ब्रह्मण्यपि आनन्दसम्भवे कथं दुःखाभावपरत्वमानन्दश्रुतेः ?—तत्राह—परम आनन्द इति। सार्वभौमादिसुखानां साध्यानां प्राये ब्रह्मानन्दस्य पाठात् तस्य च साधनानुष्ठातृत्वाभावात् तस्मिन्नानन्दश्रुतिः श्रुत्यन्तरसिद्धं दुःखाभावं वाऽनुवदतु, नित्यं वा सुखं प्रतिपादयतु—इति सन्देहे विकारप्रायपठितानन्दमयस्येव नित्यस्याङ्गीकारो न युक्त इति साध्याऽभावे सहजदुःखाभावपरतैवेति भावः। लोकावगतसामर्थ्यः शब्दो वेदेऽपि बोधक इत्यौत्सर्गिकानुसारेण तावत् सिद्धान्तमाह[३]—अस्ति तावदिति।

ज्ञानवती

भूमा को चाहने वाले को साधनवाहुल्य का ही उपदेश होता है। इसलिये ब्रह्म में आनन्द की श्रुति सहज दुखाभाव रूप परमआनन्द को वतलाती है, यह ठीक है,

इस विषय में अपना समाधान है—लोक में सुख का व्यवहार होता है। वह दुःखाभावमात्र आलम्वनवाला होने पर पत्थर आदि में भी प्रसक्त होने पर अकार्य हो जायगा।

दुःख के अधिकरण में रहने वाला दुःखाभाव अथवा अनुभूयमान तद्विशिष्ट-आत्मा ही उसका आलम्बन है, इसलिये दोष नहीं है।

---

[१] छा० ७।२३। [२] (क) निषेधानित्य। [३] (क) मिह।

अथ दुःखसमानाधिकरणो दुःखाभावोऽनुभूयमानस्तद्विशिष्ट आत्मा वा तदालम्बनमिति ? न दोषः। न च सुखदुःखयोर्युगपदुपलम्भान्न दुःखाभावः सुखम्; प्रादेशिकयोः प्रदेशभेदादेव भावाभावयोरेकस्य एकत्रापि सम्भवात्। न च समग्रे वपुषि सुखदुःखे युगपदुपलभ्येते। न च क्षुधादिदुःखस्य येन केनाप्यशनादिना

भावदीपिका

ननु दुःखाभावविषयोऽयं व्यवहारः ?—इत्याशङ्क्य किं दुःखाभावमात्रविषयः ? किं वा तद्विशेषविषयः ?—इति विकल्प्य आद्ये निरस्ते द्वितीयमाशङ्कते—अथेति। तर्हि दुःखाधारे चेतने भवन्नपि दुःखाभावो न सुखव्यवहारहेतुः; कथं सुषुप्तादौ ? तत्राह—अनुभूयमान इति। अनुभूयमानदुःखाभावविशिष्ट आत्मा सुखव्यवहारहेतुरिति। श्रौतस्य "आत्मैवानन्दः" इति सामानाधिकरण्यस्योपपादनायाह—तद्विशिष्ट आत्मा वेति। एतेन 'आत्मा परमानन्दस्वभावः परप्रेमास्पदत्वात्, व्यतिरेकेण दुःखवत्' इति परास्तम्; भावरूपानन्दस्याऽप्रसिद्धत्वेनाऽप्रसिद्धविशेषणत्वात्। न चैतन्न दूषणम्, मिथ्यात्ववचनेन तत्परिहाराऽङ्गीकारात्। अथ साध्यप्रसिद्ध्यङ्गीकारे केवलव्यतिरेकित्वव्याकोपः ? तर्हि 'भूः शशविषाणोल्लिखिता' इत्यादिरपि सत्प्रयोगः स्यात्। अथ तत्र नाऽप्रसिद्धविशेषणत्वादाभासत्वम्, किन्तु प्रमाणान्तराऽपबाधनात् विपक्षबाधकाऽभावाद् वा ?—किं तत्र प्रमाणान्तरेणापबाध्यते—सत्ता वा ? तस्योल्लेखनव्यापारो वा ? आद्ये विशेषणप्रसिद्धिरेव पर्यवस्येत्, बाधश्च पक्षे विषयापहार इति लक्षणात्। वह्न्यनुष्णत्वानुमानवत्[1] पक्ष एव विशेषणस्यासत्त्वं बाधो गमयति अन्यथा जगत्यनुष्णत्वाभावप्रसङ्गात्। साधकमात्रं विना अन्यान् प्रत्यप्रसिद्धौ चाऽप्रसिद्धविशेषणता भवति। तथाच बाधकप्रमाणेन सर्वत्र सत्त्वापहारश्चेत् अप्रसिद्धविशेषणतैव। यथोष्णत्वप्रत्यक्षस्याऽनुष्णत्वसाधकाभावोपजीवनेनैवानुमानबाधकत्वम्, अन्यथा तृतीयप्रकृतेरिवोभयत्वसिद्धौ बाधकाप्रवृत्तेः; एवं सर्वत्र साधकाभावे तदुपजीवकबाधस्याऽप्रसिद्धत्वाऽक्षेपकत्वमिति न तदपह्नवः। द्वितीये च क्वचिदनुष्णत्ववत् शशविषाणसत्ताऽनुज्ञा। विपक्षबाधकाऽभावोऽपि विशेषस्य वह्निमत्त्वादेरिव सत्त्वे सत्युपयुक्तो[2] गोविषाणेनैव; तेनापि कदाचित् भूलेखनसम्भवेन साधनभङ्गस्य विपक्षे बाधकस्य सम्भवात्। ततो भवत्येतद्दूषणम्। अनिर्दिष्टस्थले प्रसिद्धत्वसम्पादनेन तस्यैव विशेषतो निर्देशेन केवलव्यतिरेकित्वसम्भवाच्च अलं कर्दमेन।

अस्तु तर्हि युगपत् सुखदुःखोपलम्भानुपपत्तिलक्षणाऽर्थापत्त्या दुःखवत् सुखस्य भावत्वं अभावेन सह भावस्योपलम्भविरोधात् ?—इत्याशङ्क्य किं 'पादे मे वेदना अन्यत्र सुखम्' इति प्रादेशिकत्वेन युगपदुपलम्भः ? अखिले वा कलेवरे ? क्रमेण प्रत्याह—न चेति। अर्थाप-

ज्ञानवती

(पू) सुख दुःख के एक साथ उपलब्ध होने से दुःखाभाव सुख नहीं है ? (उ) प्रादेशिकों (अर्थात् एक ही अवयवी के अवयवान्तरों में वर्त्तमान दुःख एवं दुःखाभाव) के प्रदेशभेद से ही भावाभाव का एक स्थान पर होना भी सम्भव है। समग्र शरीर में सुख एवं दुःख एक साथ उपलब्ध नहीं होते। (पू) क्षुधा आदि दुःख की जिस किसी भी भोजन आदि से

---

[1] (क) इव। [2] (ख) त्ययुक्तः।

निवृत्तौ सुखे सम्पन्ने तद्विशेषोपादानं भावरूपं सुखं गमयति विशेषशून्यत्वात् अभावस्य, विशेषवत्त्वे च भावत्वप्रसङ्गः स्यादिति वचनीयम्; तदुपादानस्य कदन्नादिनिमित्तदुःखान्तरवर्जनार्थत्वात् "सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः" इति वचनात्। यच्च सत्यपि[1] दुःखे विस्मापनविषयसंसर्गादाह्लाददर्शनम्, तदपि विद्यमानस्य दुःखाभावस्याभिव्यक्तिविशेषात्। ननु—

"दुःखाभावोऽपि नावेद्यः पुरुषार्थतयेष्यते।
न हि मूर्च्छाद्यवस्थायां प्रवृत्तौ दृश्यते सुधीः॥"

इत्युक्तत्वान्मोक्षावस्थायाञ्च ज्ञानस्याप्युच्छेदादज्ञातो दुःखाभावः कथं पुरुषार्थ इति स्वप्रकाशरूपं सुखमङ्गीकार्यम्? मैवम्; धर्माधर्मयोरिव यावत्सत्त्वमविज्ञातस्यापि दुःखाभावस्य पुरुषार्थत्वोपपत्तेः; परमेश्वरसाक्षात्कारेणागामिदुःखाभावानुभवाङ्गीकाराच्च[2]। अतो दुःखाभाव एव सुखमिति जरद्वैशेषिकाः।

भावदीपिका

स्यन्तरं निराचष्टे—न च क्षुधेति। यथा गजाभावे निश्चिते दृश्यमानस्तुरङ्गमो न गजाभावो वक्तुं शक्यते, तथा निश्चिते दुःखाभावे दृश्यमानं सुखं दुःखाभावविलक्षणं गम्यते—इत्याशङ्क्याह—यच्चेति। अभिव्यक्तिविशेषादुपपद्यत इति शेषः। एतेन दुःखानिरूपणत्वेऽपि[3] सुखस्य दुःखाभावत्वं चेत्, तुल्यत्वाद् दुःखमेव सुखाभावः किं न स्यात्? इत्याक्षिप्तम्; तथा सति हि दुःखानुभवस्य सुखाभावाभिव्यक्तिशेषत्वं वक्तव्यम्। तच्च नित्यसुखवादिनो न युक्तमिति चकारार्थः।

तथापि न दुःखाभावस्य मोक्षपुमर्थत्वमिति—शङ्कते—नन्विति। किं पुमर्थमात्रस्याऽयं नियमो मोक्षस्य वा? नाद्यः—व्यभिचारात्। अन्त्ये भवतामिवाऽऽत्मनो ज्ञानत्वेनोपलक्षितस्य दुःखाभावस्य पुमर्थत्वान्न दोषः—इत्याह—मैवमिति। तत्र लोके व्यपदेशभेदप्रसिद्धच-

ज्ञानवती

निवृत्ति होने पर सुख के सम्पन्न होने पर तद्विशेष का उपादान भावरूप सुख को बताता है क्योंकि अभाव विशेषशून्य होता है और विशेषवत् होने पर तो भाव होने लगेगा? (उ) उसके उपादान के कदन्न आदि निमित्त से उत्पन्न होने वाले दुःखान्तर के वर्जनार्थक होने से (तद्विशेषोपादानभावरूप सुख का गमक नहीं होगा) क्योंकि "किस अपथ्यभोजी को दुख नहीं सताते" यह वचन है। और जो यह कहा कि दुःख के रहने पर भी विस्मरण कराने वाले विषय के संसर्ग से आह्लाद का दर्शन होता है? वह (बात) भी नहीं है क्योंकि विद्यमान-दुःखाभाव अभिव्यक्तिविशेषवाला होता ही है।

(पू) "अवेद्यदुःखाभाव भी पुरुषार्थ के रूप में वांछित नहीं होता। मूर्च्छा आदि अवस्था में विद्वान् प्रवृत्त नहीं देखा जाता।" इस उक्ति से और मोक्षावस्था में ज्ञान का भी उच्छेद हो जाने से अज्ञातदुःखाभाव को पुरुषार्थ या स्वप्रकाशरूप सुख कैसे मान लिया जाय? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि धर्माधर्म के समान समस्त प्राणियों का अविज्ञातदुःखाभाव भी

---

[1] (ख) असत्यपि। [2] (ख) दुःखानुभवा। [3] (क) रूप्यत्वे।

मैवम्; 'अनेन मार्गेण गमने दुःखं न लभ्यते सुखं च लभ्यते' इत्यादि व्यपदेशाद् भिन्नमेव दुःखाभावात् सुखमिति निश्चयात्। न चात्रापि 'एवं कुर्वन् नापुत्रो भवति सपुत्रश्च भवति' इतिवदेकार्थतैव; निमित्तभेदात्; चोराद्यभावनिमित्तो हि पान्थस्य दुःखाभावः, सुखञ्च पुरस्कारादिनिमित्तम्; दृष्टान्ते तु पुत्रजन्मैवैकं निमित्तमिति वैषम्यम्। न चायं व्यपदेशो विद्यमानदुःखाभावस्याभिव्यक्तिविशेषाभिप्रायेण; विदग्धप्रयोगे हि तथा कल्पनात्, मुग्धप्रयोगे पुनर्नैवम्, दुःखाभाववति लौकिकानामुपचारेण 'सुखी' इति प्रयोगाच्च गम्यते मुख्यप्रयोगे सुखं भावरूपम्; एकस्मिन्नेकरसे मुख्यामुख्यवृत्तेरेकस्य शब्दस्य विरुद्धत्वात्। तेन भावरूपं सुखं लोके व्यवस्थितम्। देवादेः शतगुणदुःखानिरूपणान्न तदुच्छेदः सुखम्; औषधादिवन्मात्राश्रुतेश्च।

भावदीपिका

वष्टम्भेन तावत् परिहरति—मैवमिति। यथा खलु 'एवं क्रियमाणे धर्मो न भवत्यधर्मश्च भवति' इत्युक्ते न धर्मस्याऽधर्माभावत्वं गम्यते तथेहापि योज्यम्। प्रत्युदाहरणमाशङ्क्य वैषम्येण प्रत्याचष्टे—न चात्रापीति। प्रकारान्तरेणाऽन्यथासिद्धि निरस्यति—न चायमिति। अत्र किं वक्तृविवक्षानुसारेणाऽयमर्थः स्थाप्यते न्यायाऽनुरोधाद् वा? आद्यं निरस्यान्त्यं निरस्यति—दुःखेति। न खलु गोशब्दो गवि मुख्यः, औपचारिकश्च तत्रैवेति केनाप्युच्यत इति भावः। यस्माल्लोकप्रसिद्धचनादरणे बहु विप्लवेत, तस्माल्लोकप्रसिद्धमुख्यौपचारिकविभागवलात् सुखशब्दस्य भावार्थत्वम्। यदि दुःखाभावे मुख्यत्वं तदौपचारिकप्रयोगस्य दुःखमर्थान्तरं वाऽर्थः इति वाच्यम्। आद्ये—लोकविरोध एव। न खलु दुःखशालिनि लोकः सुखशब्दं प्रयुञ्जानो दृश्यत उपचारेणाऽपि। अर्थान्तरं च न[१] भावरूपसुखमन्तरेण सुखशब्दार्हं निरूप्यते। दुःखाभावसाधनस्य गुडूचीक्वाथपानादेः क्लेशाऽत्मकस्य नोपचारेणापि सुखशब्दत्वम्। दृष्टान्तेन भावरूपे सुखे सुखशब्द औपचारिकः दुःखाभावे तु मुख्यः इत्यलौकिकत्वपरिहार्थं भावरूपमेव सुखं सुखशब्दस्य मुख्योऽर्थ इति सिद्धम्—इत्याह—तेनेति।

ज्ञानवती

पुरुषार्थ होता है—परमेश्वर के साक्षात्कार से आगामी दुःखाभाव का अनुभव भी अङ्गीकार किया जाता है। इसलिये दुःखाभाव ही सुख है ऐसा प्राचीन वैशेषिक कहते हैं।

(उ) ऐसा नहीं है; क्योंकि 'इस मार्ग से चलने पर दुःख नहीं प्राप्त होता' इत्यादि व्यवहार होने से सुख दुःखाभाव से भिन्न ही है, ऐसा निश्चय होता है। (पू) 'ऐसा करता हुआ पुत्रहीन नहीं होता, सपुत्र होता है' इस (व्यवहार) के समान यहाँ (अर्थात् उक्त व्यवहार में) भी एकार्थता ही है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि निमित्तभेद है। पथिक का दुःखाभाव चोर आदि के अभाव के कारण है, और सुख पुरस्कार आदि के कारण होता है। दृष्टान्त में तो पुत्रजन्म रूप एक ही निमित्त है इसलिये वैषम्य है। (पू) यह व्यवहार वर्त्तमान दुःखाभाव की अभिव्यक्तिविशेष के अभिप्राय से होता है? (उ) ऐसा नहीं है। विद्वान् के प्रयोग में ऐसी कल्पना होती है किन्तु मुग्ध के प्रयोग में नहीं। दुःखाभाव से युक्त के विषय में 'सुखी' इस लौकिक औपचारिकप्रयोग से मालुम होता है कि मुख्यप्रयोग में सुख भाव-

[१] (ख) च भाव।

न च तस्य भावत्वे काचिदनुपपत्तिरस्ति। न च ब्रह्माद्यानन्दस्य प्रतिकल्पमनवच्छिन्नस्य कल्पभोग्यस्य स्वेच्छोपनीतस्य सुराङ्गनासङ्गादिमधुरस्य तृणवत् परिहारेण (दुःखाभाव[1])मात्रे मोहेन[2] प्रवृत्तेरनुपपत्तिर्दोषः; तस्यार्द्धवैनाशिकादिमत[3] एव प्रसरात्। अस्माकं तु सकलुषजलपरिहारेणेव निर्मलजले दुःखकोरकानाघ्रातब्रह्मानन्दे तत्परिहारेणापि प्रवृत्तिसम्भवात्। न च ब्रह्मानन्देऽपि लौकिकानन्द इव दुःखाघ्रातत्वं शक्यमनुमातुम्, सुषुप्तोत्थितस्य दुःखपरामर्शस्यापि दर्शनात्, तत्र च ब्रह्मप्तिश्रवणात् इति वचनीयम्; "कं ब्रह्म खं ब्रह्म[4]" इत्युपकोशलविद्यायां वैषयिकसुखतुल्यत्वव्यवच्छेदाय ब्रह्मसुखस्य खेन विशेषणात्; तत्कल्पनायाञ्च "शान्तं निरवद्यमभयमशोकम्" इत्यादि श्रुतिविरोधात्। यदाहुः—

भावदीपिका

लोकप्रसिद्ध्या भावरूपं सुखं प्रसाध्य युक्त्याऽपि साधयति—न चेति। यथा खलु दुःखाभावाभावस्य भावत्वेऽभावत्वव्याघातदोषस्तथा सुखस्य भावत्वे नास्तीति भावः। मोक्षे ब्रह्मरूपं सुखमजानतोऽनुपपत्तिमाशङ्क्याह—न च ब्रह्माद्यानन्दस्य[5] [इति]; भावरूपस्येति शेषः। अर्द्धवैनाशिकाः=कार्याणां वैनाशिकवत् क्षणिकत्वं नेच्छन्ति तद्वत् निरन्वयविनाशं चेच्छन्तीति वैनाशिकमतस्यार्धोपजीवनात् वैशेषिकाः। कोरकः=कलिकालेश इति यावत्। पूर्वोक्तं बाधकं निराचष्टे—न च ब्रह्मेति।

ज्ञानवती

रूप है। क्योंकि एकरस वाले एक पदार्थ में एक शब्द की मुख्यामुख्यवृत्ति विरुद्ध है। इसलिये लोक में सुख भावरूप है यह व्यवस्थित हो गया। देवता आदि के सौगुने दुःख आदि का निरूपण न होने से उसका उच्छेद सुख नहीं है। और औषध आदि के समान (सुख की) मात्रा भी सुनी जाती है। इसके अतिरिक्त सुख के भावरूप होने पर कोई अनुपपत्ति भी नहीं है।

(पू) सुरांगनासङ्ग आदि के कारण मधुर, स्वेच्छोपनीत, कल्पभोग्य, प्रतिकल्प में असीम ब्रह्मा (=हिरण्यगर्भ) आदि के आनन्द के तृणवत् परिहार से दुःखाभावमात्र में मोह से प्रवृत्ति होना अनुपपन्न है, यह दोष आ जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। इस (दोष) का न्यायवैशेषिक मत मे ही प्रसार है। हमारे यहाँ तो गन्दे जल को छोड़कर निर्मल जल में प्रवृत्ति के समान उस (दुःखमिश्रित सुख) के परिहार से भी दुःखलेश से अस्पृष्ट ब्रह्मानन्द में प्रवृत्ति सम्भव है। (पू) लौकिक आनन्द के समान ब्रह्मानन्द में भी दुःखाघ्रातत्व का अनुमान हो सकता है (ब्रह्मानन्दो दुःखसंभिन्नः, आनन्दत्वात्, लौकिकानन्दवत्) क्योंकि सो कर उठे हुए को दुःख का स्मरण भी देखा जाता है और वहाँ (=सुषुप्ति में) ब्रह्मप्राप्ति का श्रवण होता है। (उ) उपकोशलविद्या में वैषयिकसुखतुल्यत्व के व्यवच्छेद के लिये ब्रह्मसुख को "कम् (=सुखम्) ब्रह्म, खम् (=अनवच्छिन्नम्) ब्रह्म" इस बचन से 'ख' (अर्थात् आकाश) से विशेपित किया गया है। और उस (अर्थात् दुःखमिश्रित ब्रह्मानन्द) की कल्पना करने पर तो "शान्त, निरवद्य, अभय, अशोक" इत्यादि श्रुतियों से विरोध हो जाता है।

---

१ (क) दुःखभाव, (ख) दुःखाभाव। २ (क) मोहे।
३ (ख) तस्यार्थं वै। ४ छा० ४।१०।५। ५ (क) ब्रह्मानन्द।

[सौषुप्तसुखावमर्शस्य ब्रह्मसुखावमर्शत्वनिराकरणम्-]

"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। सा तु प्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः। कथम्? सुखमहमस्वाप्सम्, प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां विशारदीकरोति; दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्; गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्, गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तं अलसं मुषितमिव तिष्ठति[१]" इति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात्; असति च प्रत्ययानुभवे स्मृतयस्तद्विषया न स्युः। तस्मात् प्रत्यय-विशेषोनिद्रा। अतो निद्रायां ब्रह्मभूयमनुभूयोत्थितस्य सुखावमर्शवत् दुःखमोहयोरपि परामर्शान्नैकान्तिकसुखोपेता ब्रह्मप्राप्तिरिति?

तत्र वक्तव्यम्—निद्राप्रत्ययः प्रमाणं न वा? आदौ सत्त्वविकाराणां कान्ता-दीनां प्रमोदात्मकानां सत्वान्न जागराद्भेदः स्यात्। विपर्ययश्चेत्? "विपर्ययो

भावदीपिका

[सौषुप्तसुखावमर्शस्य ब्रह्मसुखावमर्शत्वनिराकरणम्—]

सुप्तोत्थितस्य दुःखपरामर्शं सुप्तिलक्षणकथनेन परोक्तं निरूपयति—यदाहुरिति। न विद्यन्ते जागरण इवालम्बनीभूता भावा येषाम् प्रत्ययानाम्; ते तथा; तदालम्बना वृत्तिरात्मनः। निद्राऽनिद्राप्रत्यययोर्भेदव्यपदेश औपचारिकः—इत्याशयेनाह—सेति। परामर्शाऽन्यथाऽनुपपत्त्या प्रत्ययं तावत् साधयति—सुखमहमिति। स्त्यानम्=ग्लानम् क्लान्तम्=श्रान्तम्। न केवलं प्रत्ययाऽभावे तदर्थपरामर्शो न भवेत्, प्रत्ययपरामर्शोऽपि न भवेत्—इत्याह—असति चेति। सुप्तोत्थितस्याऽपि परामर्शदर्शनात् सुप्तिरपि प्रत्ययाऽत्मिकैव जाग्रत्स्वप्नवत्—इत्याह—तस्मादिति।

तदेतद् विकल्प्य दूषयति—तत्रेति। प्रमाणत्वे सुखप्रत्ययस्य तद्विषयाणां च सत्त्वविका-राणां सुषुप्तौ सत्त्वं स्यात्। उपलक्षणं चैतत् राजसादेः। अथ यथा वैशेषिकाणां निद्रादुष्ट-

ज्ञानवती

[सौषुप्त सुखावमर्श के ब्रह्मसुखावमर्शत्व का निराकरण—]

(पू) जो कहते हैं—"अभाव का कारण (=तम) जिसका आलम्बन है ऐसी जो वृत्ति है वह निद्रा है" जागने पर स्मृति होने से वह ज्ञानविशेष है। कैसे? "मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है, मेरी प्रज्ञा को फैला रहा है; मैं दुःख पूर्वक सोया, मेरा मन मन दुःखी है, अव्यवस्थित होकर घूम रहा है; मैं गाढ़ मूढ़ होकर सोया, मेरे अंग भारी हो गये हैं, मेरा चित्त क्लान्त है, आलस्ययुक्त, चुराया सा हो गया है"; चूँकि जागने वाले को यह स्मरण नहीं होगा; और कारण का अनुभव न होने पर तद्विषयक स्मृतियाँ भी नहीं होगी; इसलिये निद्रा विशेष प्रकार का ज्ञान है। इसलिये निद्रा में ब्रह्म का अनुभव करके उठे हुये को सुखावमर्श के समान दुःख एवं मोह का भी परामर्श होने से ब्रह्मप्राप्ति ऐकान्तिक सुख से युक्त नहीं है?

१ यो० सू० १।५।

न च तस्य भावत्वे काचिदनुपपत्तिरस्ति। न च ब्रह्माद्यानन्दस्य प्रतिकल्पमनवच्छिन्नस्य कल्पभोग्यस्य स्वेच्छोपनीतस्य सुराङ्गनासङ्गादिमधुरस्य तृणवत् परिहारेण (दुःखाभाव[१])मात्रे मोहेन[२] प्रवृत्तेरनुपपत्तिर्दोषः; तस्यार्द्धवैनाशिकादिमत[३] एव प्रसरात्। अस्माकं तु सकलुषजलपरिहारेणैव निर्मलजले दुःखकोरकानाघ्रातब्रह्मानन्दे तत्परिहारेणापि प्रवृत्तिसम्भवात। न च ब्रह्मानन्देपि लौकिकानन्द इव दुःखाघ्रातत्वं शक्यमनुमातुम्, सुषुप्तोत्थितस्य दुःखपरामर्शस्यापि दर्शनात्, तत्र च ब्रह्मप्राप्तिश्रवणात् इति वचनीयम्; "कं ब्रह्म खं ब्रह्म[४]" इत्युपकोशलविद्यायां वैषयिकसुखतुल्यत्वव्यवच्छेदाय ब्रह्मसुखस्य खेन विशेषणात्; तत्कल्पनायाञ्च "शान्तं निरवद्यमभयमशोकम्" इत्यादि श्रुतिविरोधात्। यदाहुः—

भावदीपिका

लोकप्रसिद्ध्या भावरूपं सुखं प्रसाध्य युक्त्याऽपि साधयति—न चेति। यथा खलु दुःखाभावाभावस्य भावत्वेऽभावत्वव्याघातदोषस्तथा सुखस्य भावत्वे नास्तीति भावः। मोक्षे ब्रह्मरूपं सुखमजानतोऽनुपपत्तिमाशङ्क्याह—न च ब्रह्माद्यानन्दस्य[५] [इति]; भावरूपस्येति शेषः। अर्द्धवैनाशिकाः=कार्याणां वैनाशिकवत् क्षणिकत्वं नेच्छन्ति तद्वत् निरन्वयविनाशं चेच्छन्तीति वैनाशिकमतस्यार्धोपजीवनात् वैशेषिकाः। कोरकः=कलिकालेश इति यावत्। पूर्वोक्तं बाधकं निराचष्टे—न च ब्रह्मेति।

ज्ञानवती

रूप है। क्योंकि एकरस वाले एक पदार्थ में एक शब्द की मुख्यामुख्यवृत्ति विरुद्ध है। इसलिये लोक में सुख भावरूप है यह व्यवस्थित हो गया। देवता आदि के सौगुने दुःख आदि का निरूपण न होने से उसका उक्छेद सुख नहीं है। और औषध आदि के समान (सुख की) मात्रा भी सुनी जाती है। इसके अतिरिक्त सुख के भावरूप होने पर कोई अनुपपत्ति भी नहीं है।

(पू) सुरांगनासङ्ग आदि के कारण मधुर, स्वेच्छोपनीत, कल्पभोग्य, प्रतिकल्प में असीम ब्रह्मा (=हिरण्यगर्भ) आदि के आनन्द के तृणवत् परिहार से दुःखाभावमात्र में मोह से प्रवृत्ति होना अनुपपन्न है, यह दोष आ जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। इस (दोष) का न्यायवैशेषिक मत मे ही प्रसार है। हमारे यहाँ तो गन्दे जल को छोड़कर निर्मल जल में प्रवृत्ति के समान उस (दुःखमिश्रित सुख) के परिहार से भी दुःखलेश से अस्पृष्ट ब्रह्मानन्द में प्रवृत्ति सम्भव है। (पू) लौकिक आनन्द के समान ब्रह्मानन्द में भी दुःखाघ्रातत्व का अनुमान हो सकता है (ब्रह्मानन्दो दुःखसंभिन्नः, आनन्दत्वात्, लौकिकानन्दवत्) क्योंकि सो कर उठे हुए को दुःख का स्मरण भी देखा जाता है और वहाँ (=सुषुप्ति में) ब्रह्मप्राप्ति का श्रवण होता है। (उ) उपकोशलविद्या में वैषयिकसुखतुल्यत्व के व्यवच्छेद के लिये ब्रह्मसुख को "कम् (=सुखम्) ब्रह्म, खम् (=अनवच्छिन्नम्) ब्रह्म" इस वचन से 'ख' (अर्थात् आकाश) से विशेषित किया गया है। और उस (अर्थात् दुःखमिश्रित ब्रह्मानन्द) की कल्पना करने पर तो "शान्त, निरवद्य, अभय, अशोक" इत्यादि श्रुतियों से विरोध हो जाता है।

---

१ (क) दुःखभाव, (ख) दुःखाभाव। २ (क) मोहे।
३ (ख) तस्यार्थं वै। ४ छा० ४।१०।५। ५ (क) ब्रह्मानन्द।

[सौषुप्तसुखावमर्शस्य ब्रह्मसुखावमर्शत्वनिराकरणम्-]

"अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। सा तु प्रबोधे प्रत्यवमर्शात् प्रत्ययविशेषः। कथम्? सुखमहमस्वाप्सम्, प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां विशारदीकरोति; दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्; गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्, गुरूणि मे गात्राणि, क्लान्तं मे चित्तं अलसं मुषितमिव तिष्ठति[१]" इति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्शो न स्यात्; असति च प्रत्ययानुभवे स्मृतयस्तद्विषया न स्युः। तस्मात् प्रत्यय-विशेषोनिद्रा। अतो निद्रायां ब्रह्मभूयमनुभूयोत्थितस्य सुखावमर्शवत् दुःखमोहयोरपि परामर्शान्नैकान्तिकसुखोपेता ब्रह्मप्राप्तिरिति?

तत्र वक्तव्यम्—निद्राप्रत्ययः प्रमाणं न वा? आद्ये सत्त्वविकाराणां कान्ता-दीनां प्रमोदात्मकानां सत्वान्न जागराद्भेदः स्यात्। विपर्ययश्चेत्? "विपर्ययो

भावदीपिका

[सौषुप्तसुखावमर्शस्य ब्रह्मसुखावमर्शत्वनिराकरणम्—]

सुप्तोत्थितस्य दुःखपरामर्शं सुप्तिलक्षणकथनेन परोक्तं निरूपयति—यदाहुरिति। न विद्यन्ते जागरण इवालम्बनीभूता भावा येषाम् प्रत्ययानाम्; ते तथा; तदालम्बना वृत्तिरात्मनः। निद्राऽनिद्राप्रत्यययोर्भेदव्यपदेश औपचारिकः—इत्याशयेनाह—सेति। परामर्शाऽन्यथाऽनुपपत्त्या प्रत्ययं तावत् साधयति—सुखमहमिति। स्त्यानम्=ग्लानम् क्लान्तम्=श्रान्तम्। न केवलं प्रत्ययाऽभावे तदर्थपरामर्शो न भवेत्, प्रत्ययपरामर्शोऽपि न भवेत्—इत्याह—असति चेति। सुप्तोत्थितस्याऽपि परामर्शदर्शनात् सुप्तिरपि प्रत्ययाऽत्मिकैव जाग्रत्स्वप्नवत्—इत्याह—तस्मादिति।

तदेतद् विकल्प्य दूषयति—तत्रेति। प्रमाणत्वे सुखप्रत्ययस्य तद्विषयाणां च सत्त्वविका-राणां सुषुप्तौ सत्त्वं स्यात्। उपलक्षणं चैतत् राजसादेः। अथ यथा वैशेषिकाणां निद्रादुष्ट-

ज्ञानवती

[सौषुप्त सुखावमर्श के ब्रह्मसुखावमर्शत्व का निराकरण—]

(पू) जो कहते हैं—"अभाव का कारण (=तम) जिसका आलम्बन है ऐसी जो वृत्ति है वह निद्रा है" जागने पर स्मृति होने से वह ज्ञानविशेष है। कैसे? "मैं सुखपूर्वक सोया, मेरा मन प्रसन्न है, मेरी प्रज्ञा को फैला रहा है; मैं दुःख पूर्वक सोया, मेरा मन मन दुःखी है, अव्यवस्थित होकर घूम रहा है; मैं गाढ़ मूढ़ होकर सोया, मेरे अंग भारी हो गये हैं, मेरा चित्त क्लान्त है, आलस्ययुक्त, चुराया सा हो गया है"; चूंकि जागने वाले को यह स्मरण नहीं होगा; और कारण का अनुभव न होने पर तद्विषयक स्मृतियाँ भी नहीं होगी; इसलिये निद्रा विशेष प्रकार का ज्ञान है। इसलिये निद्रा में ब्रह्म का अनुभव करके उठे हुये को सुखावमर्श के समान दुःख एवं मोह का भी परामर्श होने से ब्रह्मप्राप्ति ऐकान्तिक सुख से युक्त नहीं है?

---

[१] यो० सू० १।५।

मिथ्याज्ञानमतद्रूपम्"[1] इति तल्लक्षणात् पृथङ्निद्रालक्षणं नाचक्षीत। अथ अभावाः प्रत्ययन्ते=प्रतिगच्छन्ति=लीयन्तेऽस्मिन् विकार इत्यभावप्रत्ययः=तमः; तदालम्बना वृत्तिर्जीवस्य निद्रेति विवक्षितम्? तर्हि "तमसा गूढमग्रे"[2] इत्यादिवेदानुसारान्न कापि वृत्तिरिति तमोऽवगमकत्वं[3] स्यात्। न च साङ्ख्ययोगानामात्मा सुखादि-समाहारः। अतस्तन्मते तद्विषयो नायं प्रत्यवमर्शः कस्यापि गमकः।

अथ वेदान्तिमतेन सप्रमाणसुखगमकः, तत्र हि माया सुखसाक्षिमोहकारैः परिणमते निद्रायामपि? मैवम्; तत्परिणामस्याप्रमाणत्वात्, रजतादिबोधवत्। अस्तु वा यथाकथञ्चित्, तथापि दुःखानुभवस्य गतिरशक्येति नायं सिद्धान्तः।

भावदीपिका

मनोजन्यं ज्ञानं स्वप्न इति विपर्यासत्वाऽविशेषेऽपि स्वप्नस्य पृथक् लक्षणं तथेदमपि?— इत्याशङ्क्याह—[अथेति।] अथ मनसो लयेऽपि स्वरूपज्ञानमस्ति तर्हि बाह्यविषयव्याप्ति-द्वारमनोवृत्त्याभावात् विषयाणामपि स्वरूपत्वं वाच्यम्? न च तदिष्टम्, योगाचारमत-प्रसङ्गात्। प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतीनां मनोवृत्तीनामस्वीकारात्तद्वृत्तित्वस्य निद्रायाः भंगश्च स्यात्—इत्याह—न च सांख्येति। व्याख्यान्तरमुत्थाप्य स्वमतानुकूली-करोति—अथाभाव इति?

इदानीं यूथ्यमतमुत्थाप्यापाकरोति—अथेति। सप्रमाणम्=अनुभवप्रमाणसहितम्; सुखम्; तद्‌-गमकः; परामर्श इति शेषः। वेदान्तिमतेऽपि मनसो लयात् कथं सुषुप्तौ संस्कारजनकः सुखानुभवः?—इत्यत आह—तत्र हीति। स किं प्रमाणं न वा? न चेत्? न सुखप्रमापकत्वम्। प्रमाणत्वं च न सम्मतम्—इत्याह—मैवमिति। प्रमाणत्वे वा दुःखा नुभवस्यापि प्रमाणत्वं तदानीन्तनस्य परामर्शं प्रति कारणस्य स्यात्—इत्याह—अस्तु वेति। तत्र विवेककारोक्तां गतिमुत्थाप्याऽपाकरोति—नायमिति।

ज्ञानवती

(उ) इस विषय में कहना है—निद्राप्रत्यय प्रमाण है या नहीं? पहले (पक्ष) में (=स्वप्नावस्था में) मन के विकार प्रमोदजनक कामिनी आदि का जाग्रत् (अवस्था वाली कामिनी आदि) से भेद नहीं होगा (किन्तु भेद है इसलिये निद्रा प्रमाण नहीं है)। यदि विपर्यय है तो "विपर्यय मिथ्या ज्ञान है अतद्रूपप्रतिष्ठ है" ऐस उसका लक्षण होने से निद्रा का लक्षण पृथक् नहीं कहना चाहिये था। (पू) अभाव जिस विकार में प्रतिगत अर्थात् लीन हो जाते हैं वह अभाव प्रत्यय है अर्थात् तम; उसको आधार बनाकर रहने वाली जीव की वृत्ति निद्रा है यह विवक्षित है? (उ) तब तो "पहले तम से छिपा था" इत्यादि वेद के अनुसार कोई भी वृत्ति ऐसी नहीं होगी जो तम का अवगमक हो। सांख्ययोगवादियों का आत्मा सुख आदि का समूह नहीं है। इसलिए उनके मत में उस विषय (अर्थात् तमोविषय) वाला यह प्रत्यवमर्श किसी का भी गमक नहीं है।

(पू) वेदान्ती के मत से वह प्रमाण (अर्थात् निद्राप्रत्यय) सुख का गमक है। क्योंकि उसे निद्रा में भी माया, सुख साक्षी एवं मोह के आकार में परिणत होती है? (उ) ऐसा

[1] यो० सू० १।८। [2] तै० ब्रा० २।८।९। [3] (ख) तमेव यद् गमकत्वं स्मृतेः।

अथ तीव्ररोगाद्यभिभूतस्याचिरसुषुप्तेः स्वप्नान्तर्गतदुःखानुभवविषयोऽयं परामर्शः; सौषुप्तसुखानुभवोपेतस्यापि[1] तस्याल्पकालत्वान्न परामर्शः? तर्हि स्वप्ने सुखानुभवबाहुल्यादचिरसुषुप्तेस्तत्परामर्श एवायम्, न सौषुप्तसुखानुभवस्येति किं न स्यात्? अथ ब्रह्मस्वरूपमात्रालोचनव्यापृतस्य "आनन्दो ब्रह्म"[2] इति वाक्यात् "यो वै भूमा तत्सुखम्"[3] "एष ह्येवानन्दयति"[4] आनन्दयति=आनन्दरूपेण स्फुरति; कूटस्थचिदात्मनस्तद्विकारत्वायोगादित्यादिश्रुतेश्च "आनन्द एव हि ब्रह्मत्वकारणत्वादिधर्मवत्तया[5] निरूपाधिब्रह्मरूपं निर्णीयते" इति वृद्धवचनाच्च, सुषुप्ते ब्रह्मप्राप्तिश्रवणाच्च तत्सुखानुभवो निश्चीयते? मैवम्; आगमेन[ब्रह्मण[6]:] सुखस्वरूपत्वनिश्चयेऽपि सुप्तौ तदनुभवानिश्चयात्। किञ्च स्वतःप्रामाण्यमपि प्रमाणान्तरापेक्षया निश्चायकत्वे तदनुभवस्य हीयते। न च अनुभवोऽपि मुक्ति-[सहोदरः[7]]; यतः तर्हि मायया किमावरणं कृतं स्यात्? यदि तथैव समुत्खात सकलद्वैतेन्द्रजालं सदेकरसं स्वप्रकाशानन्दविग्रहं ब्रह्म तत्त्वमाविर्भावितं स्यात्।

भावदीपिका

श्रुत्याऽनुकूल्याऽविशेषात् प्रतिबन्द्युद्धारमाशङ्कते—अथेति। आनन्दकर्तृत्वमेव किं न स्यात्?—तत्राह—कूटस्थेति। विवरणकारवचनाच्चैवम्—इत्याह—आनन्द एवेति। लक्षणया कारणत्वादित्यागेन निर्णीयत इत्यर्थः। उक्तविशेषेणानुग्राह्यस्याऽनुभवस्यानिरूपणात् कस्यानुग्रहः?—इति दूषयति—मैवमिति। प्रमाणभूताऽनुभवसद्भावे च दोषमाह—किञ्चेति। इतश्च न तत्र प्रमाणभूतोऽनुभवः—इत्याह न चेति। "न विदुः" इति श्रुतिविरोधाच्च न तत्कल्पना—इत्याह—सतीति। युक्त्यन्तरमाह—सकलेति। यद्यपि सम्प्रसादाऽवस्थाऽविद्या स्वरूपचैतन्येन व्याप्ता तदवस्थाजन्यसंस्कारबलेन परामर्शहेतुः सम्भवति तथापि "न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्", "सति सम्पद्य न विदुः" इत्यादिश्रुतिविरोधान्न तत्र वृत्तिरूपं किमपि ज्ञानम्।

ज्ञानवती

नहीं है। वह परिणाम अप्रमाणिक है जैसे कि (शुक्ति में) रजत आदि का ज्ञान। अथवा किसी प्रकार से (प्रमाण) हो भी जाय तथापि दुःखानुभव की गति असम्भव है। इसलिये यह (अर्थात् निद्रा प्रत्यय है) सिद्धान्त नहीं है।

(पू) यह तीव्र रोग आदि से अभिभूत क्षणिकसुषुप्ति वालों को स्वप्न के अन्तर्गत होने वाले दुःखानुभव के विषय वाला परामर्श है। सुषुप्ति में सुखानुभव से युक्त (पुरुष) को भी उस (=सुषुप्ति) के अल्पकालीन होने से (सुखविषयक) परामर्श नहीं होता? (उ) तव तो स्वप्न मे सुखानुभव का बाहुल्य होने से अल्पकालीन सुषुप्तिवाले को उस (दुःखानुभव) का ही यह परामर्श होता है और सुषुप्ति के सुख के अनुभव का परामर्श नहीं होता ऐसा क्यों न हो जाय? (पू) ब्रह्मस्वरूपमात्र के आलोचन मे लगे हुए ब्रह्म "आनन्द है" इस वाक्य से "जो भूमा है वह सुख है" "यही आनन्दित करता है" अर्थात् आनन्दरूप से स्फुरण करता है क्योंकि कूटस्थ चिदात्मा में विकार नहीं है, इत्यादि श्रुति से "आनन्द ही

---

१ (ख) नुभवे तस्यापि। २ छा० ७।३। ३ तै० उ० ३।६। ४ तै० २।७
५ (क) कारणादि। ६ (क) आगमेन सुख। ७ (क) सहोर्का।

"सति सम्पद्य न विदुः सति सम्पद्यामहे" इति च श्रुतेर्निर्विक्षेपमायावृतस्यैव ब्रह्मणः केवलं प्राप्तिरवधार्यते। तत्र सकलकर्मवृत्तिनिरोधे च प्रलयानुमाननिदर्शने सम्प्रसादे का कथा निरवद्यानन्दप्राकट्यस्य लब्धवृत्तिधर्मसन्दोहसाध्यस्य ? ततो नैष ब्रह्मसुखावमर्शो येन तत्र दुःखाभावमोक्षावपि[1] सम्भाव्येयाताम्। अतो दुखान्वयाशङ्कानुदयात् आनन्दस्य भावत्वेऽपि मुमुक्षोदयः स्यात्। न च भावत्वे जनिमत्त्वादिदोषः; नित्यत्वात्।

यदपि श्रोतव्यविज्ञानानन्दयोः सामानाधिकरण्यस्योपयोगित्वेन;

"तदतद्रूपिणो भावास्तदतद्रूपहेतुजाः।
तत्सुखादि किमज्ञानं विज्ञानाभिन्नहेतुजम्॥"

भावदीपिका

दुःखस्य च मनोवृत्तिविशेषरूपत्वात् सम्प्रसादे च तल्लयान्न साक्षिणाऽपि तदवभासप्राप्तिः। परपक्षेऽप्यस्य दुःखाभावादतद्विषयत्वम्, तेन तत्परामर्शस्य गत्यन्तरमनुचिन्त्यम्। तच्च शय्यावैषम्यादि। "जागरणे कार्यकरणानि श्राम्यन्ति। तदपनुत्तये व्यापारोपमः स्वापः। तत्र यदि सम्यग्व्यापारोपरमः तदा लघूनि गात्राणीतरथा गुरूणि"—इति पञ्चपादिकाकारैरप्युक्तम्। ग्रीवाव्यथादिदुःखं चोत्थितेनाऽनुभूयत इति न तत्परामर्शोऽपि सम्प्रतिपन्नः तथापि केवलब्रह्मानन्दसाक्षात्कारस्य मोक्षहेतोर्वेदान्तव्यापारमन्तरेणाऽसम्भवात् सम्भवे, वा सुप्तिमात्रेण सर्वेषां मुक्तिप्रसङ्गात् नायं सुप्तावस्ति—इत्याह—निरवद्येति। [यस्मा]त् प्रमाणेन ब्रह्मणि कोऽप्यवकाशो नावगम्यते तत एतत्सिद्धम्—इत्याह—अत इति। तथापि [न] सहजदुःखाभावपरत्वमानन्दश्रुतेरुचितम्, तस्य नित्यत्वेन जन्मध्वंसदुःखाऽसम्भवात्; भावरूपसुखस्य तु तदाशङ्का

ज्ञानवती

ब्रह्मत्वकारणत्व आदि धर्म से युक्त होने के कारण उपाधिरहित ब्रह्मस्वरूप निर्णीत होता है" इत्यादि वृद्धवचन से तथा ("हे सौम्य ! उस समय वह सत् से हो सम्पन्न जाता है) इत्यादि सुषुप्ति में ब्रह्म की प्राप्ति का श्रवण होने से वह (=ब्रह्म) सुखानुभव रूप है ऐसा निश्चय होता है ? (उ) ऐसा नहीं है। आगम के द्वारा (ब्रह्म के) सुखस्वरूपत्व का निश्चय होने पर भी सुषुप्ति में उस (ब्रह्म की सुखस्वरूपता) का अनुभव अनिश्चित है। दूसरी बात प्रमाणान्तर की अपेक्षा स्वतःप्रामाण्य भी उस अनुभव का निश्चायक होने में असमर्थ हो जाता है। अनुभव भी मुक्ति का (सहोदर) नहीं है क्योंकि (वैसा होने पर) माया का आवरण किस काम का रहेगा यदि (सुषुप्ति में) उसी प्रकार (अर्थात् मुक्ति के समान) समस्त द्वैत इन्द्रजाल को नष्ट करने वाला, सत् एक रस, स्वप्रकाशानन्दस्वरूप ब्रह्मतत्त्व आविर्भावित होगा ? और "सत् को प्राप्त होकर नहीं जान पाते कि सत् को प्राप्त हो रहे हैं" इस श्रुति से (सुषुप्ति में) किसी का विक्षेप न करने वाली माया से आवृत ही ब्रह्म की प्राप्ति निश्चित की जाती है। वहाँ (अर्थात् सुषुप्ति में) समस्त कर्मवृत्तियों का निरोध होने पर प्रलयानुमान के समान सुषुप्ति के होने पर लब्धवृत्तिधर्मसन्दोहसाध्यनिरवद्यआनन्दवाले प्राकट्य की क्या

[1] (क) दुःखमोक्षौ।

इति बाह्यसंवादेन विज्ञानाभिन्नहेतुकस्यानन्दस्य विज्ञानत्वं ब्रह्मतत्त्वसमीक्षाकारैरभ्यधायि; तदपि व्यञ्जकवृत्तेरप्यनयोर्न विलक्षणत्वम् किमुत आकाशकल्पयोर्व्यङ्ग्ययोः ? इत्यभिप्रायेण; न त्वानन्दस्य जन्यत्वमपीत्याशयः। विज्ञानत्वस्य सुखदुःखरागद्वेषादिमहासामान्यत्वमित्यभियुक्तवाचोयुक्तिः—

"मनसः परिणामोऽयं सुखदुःखोपलक्षणः।"

इति पराशरवचनात् व्यञ्जकवृत्तेरेव मनोहेतुकत्वाभिप्रायेण; अतो नानन्दस्य जन्यत्वेन नाशादिनिमित्तदुःखसम्भावनाऽपि भावरूपत्वे दोषः।

भावदीपिका

स्याल्लौकिकवत्—इत्याशङ्क्याऽह—न च भावत्व इति। श्रुतिन्यायसिद्धकूटस्थनित्यब्रह्मरूपसुखस्य न जन्माऽदिशङ्का तथाप्यानन्दस्य जन्यत्वं वेदान्तिमुखादेवाऽवधार्यते तेन तद्रूपत्वे ब्रह्मणोऽपि तदाशङ्केति। तत्राह—[यदपी-] त्यादिना। बाह्या हि प्रयुञ्जते—मनोजन्यत्वसत्त्वपरोक्षजातीयस्य विज्ञानस्य विज्ञानत्वदर्शनात् सुखादेश्च तथात्वाद्विज्ञानत्वमिति। आनन्दत्वमपरसामान्यम्; विज्ञानत्वं च महासामान्यम्; सुखादिष्वपि विज्ञानशब्दवाच्यं मनोवृत्तिरूपेषु वर्त्तनात्—इति विवरणकाराः।

ज्ञानवती

कथा हो सकती है। इसलिए यह ब्रह्मसुख का अवमर्श नहीं है जिससे वहाँ (=सुषुप्ति में) दुःखाभाव एवं मोक्ष की सम्भावना की जाय। इसलिए दुःखान्वय की आशंका के उदय न होने के कारण आनन्द के भावरूप होने पर भी मोक्ष की इच्छा का उदय हो जायगा। (आनन्द के) भावरूप होने पर जन्यत्व आदि दोष नहीं है क्योंकि (वह आनन्द) नित्य है।

(पू) जो कि[१] ब्रह्मतत्त्वसमीक्षाकार ने—

"तद् अतद् भाव तद् अतद् रूपी हेतु से उत्पन्न होते हैं (यह नियम है फिर) क्या वह सुख आदि रूप अज्ञान (सुख एवं) विज्ञान से अभिन्न हेतु से उत्पन्न होगें ?"

इस वाह्यसंवाद से श्रोतव्य विज्ञान एवं आनन्द के सामानाधिकरण्य का उपयोगी होने से विज्ञान से अभिन्न हेतु वाले आनन्द को भी विज्ञान कहा है ? (उ) वह भी इन दोनों (अर्थात् आनन्द हेतु एवं विज्ञान हेतु) की व्यञ्जकवृत्ति से तो विलक्षण है ही नहीं फिर आकाश के समान व्यंग्य (आनन्द एवं विज्ञान) का क्या कहना, इस अभिप्राय से कहा है, न कि आनन्द के जन्य होने के अभिप्राय से। "विज्ञान, सुख दुःख राग द्वेष आदि का महासामान्य नहीं है" यह अभियुक्तोक्ति—

"यह सुख दुःख उपलक्षण मन का परिणाम है"

इस पराशरवचन से व्यञ्जकवृत्ति ही मन कारण वाली है, इस अभिप्राय से कही गई है। इसलिये आनन्द के भावरूप होने पर जन्य होने से नाशादिनिमित्तकदुःख की सभावनारूप दोष नहीं है।

---

[१] यह ब्रह्म सिद्धि पर वाचस्पति मिश्र की टीका है।

[ब्रह्मानन्दे उत्कर्षापकर्षनिराकरणम्—]

अथ शतगुणोत्कर्षेण श्रूयमाण आनन्दः कथमेकरूपब्रह्मणो रूपम्? कोऽभिप्रायः? किमानन्दोत्कर्षात् साधनोत्कर्षोऽपीति तज्जन्यानन्दस्य कथं नित्यब्रह्मरूपता? किं वा तस्यैकरसब्रह्मरूपत्वे उत्कर्षेण श्रुतिर्लोकप्रसिद्धिश्च पीड्येत भेदानुमानञ्चोत्कर्षतारतम्यलिङ्गकम्? नाद्यः; प्रतिपर्यायं "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य[1]" इत्यभिव्यक्त्युपयुक्ताकामहतत्वलक्षणशुद्ध्युत्कर्षव्यतिरिक्तसाधनाश्रवणात्[2]। शुद्ध्युत्कर्षोऽपि

भावदीपिका

[ब्रह्मानन्दे उत्कर्षापकर्षनिराकरणम्—]

"स यो मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवति अन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैः भोगैः सम्पन्नतमः, स मनुष्याणां परम आनन्दः। अथ ये शतं मनुष्याणामानन्दाः ... स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते। अथ ये शतं कर्मदेवानामानन्दाः, स एक आजानदेवानामानन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतमाजानदेवानामानन्दाः, स एकः प्रजापतिलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथ ये शतं प्रजापतिलोक आनन्दाः, स एको ब्रह्मलोक आनन्दो यश्च श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतः। अथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः सम्राडिति होवाच याज्ञवल्क्यः" इति वाजसनेयिश्रुतेः, "ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य" इति तैत्तिरीयकश्रुतेश्च, आनन्दस्य तारतम्यावगमान्न दुःखवदेकरसैक्यं ब्रह्मैक्यं युक्तम्—इति शङ्कते—अथ शतगुणेति। ननु परिणामस्य तारतम्येऽपि तद्विश्रान्तौ परमाण्वाकाशादौ च नित्यं परिमाणं परैरङ्गीक्रियते तथाऽऽनन्दस्यापि "ब्रह्मणि सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवत्येष ब्रह्मलोकः सम्राडिति हैनमनुशशास याज्ञवल्क्य एषाऽस्य परमा गतिः, एषाऽस्य परमा संपत्, एषोऽस्य परमो लोकः, एषोऽस्य परम आनन्दः, एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति"—इति परमत्वेनोपक्रमात्, "अथैष एव परम आनन्द एष ब्रह्मलोकः" इत्युपसंहाराच्च, नित्यत्वसंभवे केयमाशङ्का?

उच्यते—आनन्दस्य ब्रह्मत्वं वदता नित्याऽनित्यभेदेन द्वैविध्यानङ्गीकारात्; "एतस्यैवानन्दस्य" इति श्रुत्या जीवानन्दानां तद्भेदवारणात्; तेषां साधनविशेषसाध्यत्वाभिधानाच्च भवत्येषा शङ्का; (परिमाणवत्) विकल्पासहत्वात् मैवम्—इत्याह—कोऽभिप्राय इति। यदा भेदाऽनुमानं तदा परिमाणवत्तरतमभावविशिष्टानन्दानां बहुत्वेन नैकरसब्रह्मैक्यमिति द्रष्टव्यम्। यथा खलु सूचीपाशाकाशात् उत्कृष्टो वंशपर्वाकाशः ततोऽप्युत्कृष्टतरो घटमणिकाद्याकाशः, ततोऽप्युत्कृष्टतमो मठप्रासादाद्याकाश—इति तरतमभावेन प्रतीयमानोऽप्याकाशो न स्वरूपेण साध्यः; एवमानन्दोऽपीति—मनसि निधाय वृद्धोक्तं परिहारमाह—प्रतिपर्यायमिति। एकरूपाद् व्यञ्जकात् उत्कर्षतारतम्येनाऽभिव्यक्तेर्दर्पणादावदृष्टत्वाद्, व्यञ्जकतरतमभावस्य चाश्रुतत्वात्, अयुक्तमिदम्—इत्याक्षिपति—शुद्ध्युत्कर्षोऽपीति। "स यो

ज्ञानवती

[ब्रह्मानन्द में उत्कर्षापकर्ष का निराकरण—]

(पू) सौगुने उत्कर्ष के साथ सुना जाने वाला आनन्द एक रूप ब्रह्म का रूप कैसे है? (उ) क्या मतलब है? क्या आनन्द के उत्कर्ष से (आप आनन्द के) साधन का उत्कर्ष

शतगुणानन्दवन्न श्रूयत इति चेत् ? उत्तरोत्तरलोकेषु तावन्मात्रेणानन्दोत्कर्षे च तत्र तत्रोत्कृष्टभोगसाधनश्रुतीनां तदुद्देशेनाश्वमेधादिविधीनां च प्राप्तमप्रामाण्यम्, "तरति तरति ब्रह्महत्यां योऽश्वमेधेन यजते य उ चैनमेवं वेद" इति। अनधिकृतब्राह्मण-वैश्ययोरश्वाद्युपास्तेः, "उषा वा अश्वस्य[3]" इत्यादेरधिकृतस्य च, तदनुष्ठानात् तुल्यं फलं इत्यादिश्रवणात्। अकामहतत्वं च यल्लोकसाधनावलम्बनं ततोऽन्यत्र कामपरित्यागो विषयान्तरप्रवृत्तिवारकतया चरितार्थश्च नानन्दविधायको ब्रह्मचर्या-दिवत् तपोविशेषतया वा नानन्दस्य साध्यत्वं वारयति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य

भावदीपिका

मनुष्याणां राद्धः समृद्धो भवति, अन्येषामधिपतिः सर्वैर्मानुष्यकैर्भोगैः सम्पन्नतमः"—इति साधनबाहुल्योपक्रमो व्यञ्जकोऽभिप्रेयमाणो बाध्येत। "तद्यथा राजानमायान्तमुग्राः प्रत्येनसः सूतग्रामण्योऽन्नैः पानैरावसथैः प्रतिकल्पन्तेऽयमायात्ययमागच्छतीत्येवं ह एवंविदं सर्वाणि भूतानि प्रतिकल्पन्त इदं ब्रह्मायातीदमागच्छति" इत्यादिसाधनबाहुल्यश्रवणाच्च। शुद्ध्युत्कर्षस्य दर्पणादेरिव व्यञ्जकत्वेऽपि प्रतिमादेरिवानन्दस्य स्वरूपेण साध्यत्वं दुर्वारम्—इत्याह—उत्तरोत्तरेति। किञ्चाऽयं स्वरूपेण साध्यो वेदोपदिष्टसाधनत्वात् ब्रह्महत्या-निवृत्तिवत्—इत्यभिप्रेत्याह—तरतीति। इदानीमकामहतत्वस्योत्कर्षतारतम्यमंगीकृत्याऽन्यथा-सिद्धिमाह—अकामहतत्वमिति। किञ्चेहैवाऽकामहतत्वं तादृशानन्दव्यञ्जकं, तत्तल्लोके वा? द्वितीये—लोके प्राप्तिवत् नाऽनन्दस्य साध्यत्वाभावनिश्चयः। प्रथमं प्रत्याह—श्रोत्रियस्य चेति। किञ्च यथा देवादिशरीरं वैदिककर्मसाध्यं तथा तदानन्दोऽपि,

ज्ञानवती

भी (लेते हैं) जिससे उससे उत्पन्न आनन्द की नित्यब्रह्मरूपता कैसे (होगी ? ऐसा आप पूछते हैं ?) या उसके एकरसब्रह्मरूप होने पर उत्कर्ष के वर्णन के द्वारा श्रुति एवं लोक-प्रसिद्धि तथा उत्कर्षतारतम्य हेतुवाला भेदानुमान पीड़ित होगा ?

इनमें से पहला (पक्ष) संभव नहीं क्योंकि प्रतिपर्याय "और कामना रहित श्रोत्रिय का" इस (श्रुति के द्वारा) अभिव्यक्ति के उपयुक्त कामनारहितत्व लक्षणवाली शुद्धि के उत्कर्ष से अतिरिक्त साधन का श्रवण ही नहीं होता। यदि यह कहें कि शुद्धि का उत्कर्ष भी शतगुण आनन्द के समान नहीं सुना जाता ? तो उत्तरोत्तरलोकों में तावन्मात्र (=शुद्धि के उत्कर्ष मात्र) से आनन्द का उत्कर्ष होने के कारण स्थान स्थान पर उत्कृष्टभोग के साधन की श्रुतियों का, तथा उस (अर्थात् भोग) के उद्देश से अश्वमेघ आदि विधियों का अप्रामाण्य प्राप्त हो जायगा। "जो अश्वमेघ याग करता है और जो इसको इस प्रकार जानता है वह ब्रह्महत्या को पार कर जाता है पार कर जाता है" इससे अधिकृत का, तथा "अथवा अश्व की उषा" इत्यादि के द्वारा अनधिकृत ब्राह्मण एवं वैश्य के अश्व आदि की उपासना के अनुष्ठान से तुल्य फल होता है; यह सुना जाता है। और अकामहतत्व जिस लोक की सिद्धि का आधार होता है उससे अन्यत्र काम का परित्याग विषयान्तर की प्रवृत्ति का वारक

[1] तै० उ० २।८। [2] (क) हतल। [3] बृ० १।१।

मर्त्यलोकस्थस्यैव विवक्षायां तादृगानन्दलिङ्गानुपलम्भविरोधः; "ये कर्मणा देवानपि यन्ति" इत्यादि श्रुतिविरोधाच्च ; मुमुक्षुविवक्षया सम्पादनस्य च ब्रह्मानन्दसिद्धिसव्यपेक्षत्वात्। अतः श्रोत्रियकर्मैव साध[न[1]–] विशेष इति साधनोत्कर्षतारतम्यमन्यथा प्रशंसामात्रं स्यात्। बृहस्पतेर्हिरण्यगर्भस्यानन्दः[2] श्रोत्रियेणावृजिनेनाकामहतेन[3] [सर्वः]प्रत्यक्षमुपलभ्यते। "तस्मादेतानि त्रीणि साधनानीत्यवगम्यते" इतिभाष्यकारैर्व्याकृतत्वाच्च। "सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेय[5]" इति पूर्वजन्मकृतसाधनलब्धसर्वात्मभावः कामनापूर्वं तत्तत्सर्गकर्त्ता मृत्युनामको हिरणगर्भो बृहदारण्यके श्रुतश्चेति। एवमपि परमकाष्ठां प्राप्तस्य ब्रह्मानन्दस्य न साध्यत्वे प्रमाण-

भावदीपिका

अर्द्धजरतीयन्यायस्याऽन्याय्यत्वात् – इत्याह—ये कर्मणेति। "अथाऽकामयमानो योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामः"—इति स्थूलसूक्ष्मकामरहितस्य अकामयमानस्याऽत्मकामस्याऽप्तकामत्वश्रुतेरिहैवाऽकामहतस्य परमानन्दाभिव्यक्तिरवगम्यते—तत्राह—मुमुक्षुविवक्षयेति। सिद्धे हि प्रत्यग्भूतस्य ब्रह्मण आनन्दरूपत्वे तत्कामस्य तदभिव्यक्तावाप्तकामत्वं सिद्धचेत्; तदद्यापि न सिद्धमित्यर्थः। अतः श्रोत्रियत्वाऽवृजिनत्वाऽकामहतत्वविशेषणसम्पन्नः स्तत्तदानन्दसाधनकर्मवांस्तत्साध्यमानन्दं देवादिदेहादावरुध्यत इति न साध्यत्वाऽसाध्यत्वविरोधसमाधानम्—इत्याह—अतः श्रोत्रिय इति। भवदाचार्यमतमप्येवम्—इत्याह—बृहस्पतेरपीति। हिरण्यगर्भपदस्य कर्मसाध्यत्वं कुतोऽवगतम् ? – अत आह—सोऽकामयतेति।

यथा जीवानां ब्रह्मणोऽभिन्नानां च नित्यानामपि तस्माज्जन्मादिप्रतिपादकवचनम्, "तदेतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकात् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ति सरूपाः। तथाऽक्षराद्

ज्ञानवती

होने से चरितार्थ होकर आनन्द का विधायक नहीं होता। अथवा ब्रह्मचर्य आदि तपोविशेष होने से आनन्द के साध्यत्व का भी वारण नहीं करता। यदि कामनारहित श्रोत्रिय मर्त्यलोक में ही रहने वाला हो ऐसी विवक्षा है तो उस प्रकार वाले (आनन्द) के लिङ्ग की अप्राप्तिरूप विरोध हो जायगा तथा "जो कर्म के द्वारा देवताओं को प्राप्त करते हैं" इत्यादि श्रुति से विरोध हो जायगा। और मुमुक्षु की इच्छा से (कर्म का) सम्पादन ब्रह्मानन्दसिद्धि के लिये है। अतः श्रोत्रियकर्म ही (ब्रह्मानन्दप्राप्ति का) साधन विशेष है इसलिये साधनोत्कर्ष (अवश्य मानना चाहिये) अन्यथा (साधन की उक्ति) प्रशंसामात्र रह जायगी। पापरहित अकामहत श्रोत्रिय के द्वारा बृहस्पति एवं हिरण्यगर्भ का निखिल आनन्द प्रत्यक्षतः प्राप्त किया जाता है। और भाष्यकार ने स्पष्ट कहा है कि "इस कारण ये तीन (श्रोत्रत्व, अवृजिनत्व, अकामहतत्व) साधन हैं ऐसा मालूम होता है।" और वृहदारण्यक में "उसने इच्छा की कि फिर अधिक यज्ञ से यागानुष्ठान करें" इस प्रकार हिरण्यगर्भ को पूर्वजन्म में किये गये साधन के द्वारा सर्वात्मभाव प्राप्त करने वाला, कामनापूर्वक भिन्न-भिन्नसृष्टि का कर्त्ता सुना गया है। इस प्रकार भी परमकाष्ठा को प्राप्त ब्रह्मानन्द के साध्यत्व में प्रमाण कथित नहीं होता है।

---

[1] (क) साधक। [2] (ख) आनन्द श्रोति। [3] (क) णव्रजिनेन।
[4] (क) सर्वा। [5] बृ० १।२।६।

मुक्तं भवति। अथैतस्यैवावयवशः साध्यत्वमवसीयते[१] अभेदेऽप्युपचारात्। तथाहि-"सार्वभौमसम्पदोऽन्ये मात्रामुपजीवन्ति" इत्युक्तेऽपि तस्या अन्यसाध्यत्वानध्यवसायात्।

अथ "एतस्यैव" इत्यवधारणश्रुतेर्न भेदेऽप्युपचारोऽयम्? तर्हि त्वयैव लौकिकब्रह्मानन्दयोरभेदावधारणात्, ब्रह्मणश्च नित्यत्वसंवादात् कूपाकाशवदौपाधिकमानन्दस्य साध्यत्वं निरधारि। "तस्माद्वा एतस्मात्"[२]=ब्रह्मत्वेन प्रक्रान्तान् "यो वेद निहितं

भावदीपिका

विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति" इत्यादीनामौपाधिकजन्मादिपरत्वम्, ब्रह्मानन्दजन्मादिवाक्यानामपि सम्भवति ब्रह्मानन्दयोरभ्यासेनैक्यप्रतिपादकवाक्यानामनुरोधे.. यभिसन्धिः। उत्तरमाह—एवमपीति। देवाद्यानन्दानां तदभिन्नानां न साध्यत्वं स्वरूपेणेति परमुखेनैव सम्पादयितुमाशङ्कामाह—अथेति। मात्राश्रुतेरौपचारिकत्वमाशङ्क्य परः परिहरति—अथेत्यादिना। तस्याः सार्वभौमसंपदोऽन्यासां संपदां साध्यत्वेन साध्यत्वाऽनवसायो भेदादेवेत्यर्थः। यदि तु सावधारणमात्राश्रुतिः सार्वभौमाद्यानन्दानां ब्रह्मानन्दाऽवयवत्वमाह तर्हि ब्रह्मणो वास्तवावयवाभावान्न स्वरूपेण साध्यत्वं, ततो न विकारप्रायपाठोऽपि ब्रह्मानन्दस्यानन्दमयस्येवेति सिद्धम्—इत्याह—तर्हि त्वयैवेति। "तद्वा एतद् ब्रह्माऽद्वयं बृहत्त्वान्नित्यं शुद्धं बुद्धं मुक्तं सत्यं सूक्ष्मं परिपूर्णमद्वयं सदानन्दचिन्मात्रमात्मैव।", "अत्र हि भिदामिव मन्यमानः शतधा सहस्रधा भिन्नः", "मृत्योर्मृत्युमाप्नोति", "तदेव स्वप्रकाशमहानन्दमात्मैव", "एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्माऽभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद।", "तदेतत्सत्यमात्मा ब्रह्मैव ब्रह्माऽत्मैव", "अत्र ह्येव न विचिकित्स्यम्" इत्यादिश्रुतिशतेन जीवब्रह्माऽनन्दानां स्वरूपैक्यावगमाच्च नानन्दस्य स्वरूपेण साध्यत्वम्। एतदभिसन्धाय तैत्तिरीयकश्रुतिमुदाहरति—तस्मादित्यादिना। ब्रह्मात्मानन्दानामेकरसत्वाध्यवसायाच्च न सार्वभौमसंपद्वत् सर्वोत्कृष्टोऽप्यानन्दः साध्य इत्यन्वयः।

बृहदारण्यकश्रुतावपि "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" इति सामानाधिकरण्याद् ब्रह्माऽनन्दयोरेकरसत्वावसायात् "अयमात्मा ब्रह्म" इति जीवब्रह्मणोरप्यैक्यावसायाच्चैवमित्यभिप्रेत्य जीवानन्द-

ज्ञानवती

(पू) इसी (ब्रह्मानन्द का) यदि अवयव के रूप में साध्यत्व निश्चित किया जाय (तो अवयवी ब्रह्मानन्द भी साध्य होना चाहिये।) (उ) अभेद होने पर भी उपचारतः (भेद माना जाता है। वस्तुतः ब्रह्मानन्द अखण्ड है फिर उसके अवयव का प्रश्न ही नहीं उठता) तथा "दूसरे लोग सार्वभौम सम्पत् के अंश मात्र पर जीवित रहते हैं" ऐसा कहने पर भी वह अन्य से साध्य है ऐसा निश्चय नहीं होता।

(पू) 'एतस्यैव' यहाँ पर ('एव' रूप) अवधारण की श्रुति होने से भेद होने पर भी यह उपचार नहीं है। (उ) तब तो तुम्हीं, लौकिक एवं ब्रह्मानन्द में अभेद के निर्धारण से तथा ब्रह्म के नित्यत्वसंवाद से कूपाकाश के समान आनन्द के औपाधिकसाध्यत्व का निश्चय कर दिये। "उस इस" (आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ—अर्थात्) 'तस्मात्' (का

१ (ख) सीयते भेदे।   २ बृ० १।२।६।

गुहायाम्"[१] इति प्रत्यक्तया वेद्यत्वेनोपक्षिप्तादाकाशोत्पत्तिश्रुतौ तदेतच्छब्दयोः सामानाधिकरण्यात्, तत्रैव च "आत्मनः" इत्यात्मशब्दस्य च ब्रह्मणि प्रयोगाज्जीवब्रह्मणोरैक्ये स्थिते "आनदाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि"[२] "आनन्दो ब्रह्म" इति तत्रानन्दशब्द-प्रयोगाद्, ब्रह्मात्मानन्दानामेकरसत्वाध्यवसायाच्च, "तदेतत्प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात् प्रेयोऽन्यस्मात् सर्वस्मात् अन्तरतरं यदयमात्मा"[३] इति निरुपाधिकप्रयत्नेन जीवस्यानन्दरूपत्वावधारणाच्च न सार्वभौमसम्पद्वत् सर्वोत्कृष्टोऽप्यानन्दः साध्य इति शङ्कावतारः। अतएव नेतरौ कल्पौ। न चाभिव्यक्तिपक्षे प्रकृष्टजन्मनैव शतगुणोत्कर्षाभिव्यक्तौ देवादिभोगसाधनानारम्भप्रसङ्गः। दर्पणस्येव शुद्धितारतम्ये वैराग्यतारतम्य

भावदीपिका

योरैक्यं दर्शयति। आनन्दस्य गुणत्वे ह्यन्यस्मात् सर्वस्मात् प्रेयस्त्वं चिदात्मनो दुर्निरूपम्। तद्यथा–आनन्दः गुणत्वेन साध्यो वा नित्यसिद्धो वा? आद्ये—दुःखदशायामात्मनः प्रियत्वाभावात् दुःखपरिहाराय प्रवृत्तिर्न स्यात्। न खल्वप्रियस्य शत्रोर्दुःखपरिहारे कश्चित् प्रयतमानो दृश्यते। द्वितीये—सुखायोद्यमो न स्यात्। न खलु परेण भावरूपाऽविद्याऽवरणमिष्यते यद्-भङ्गायोद्यमः स्यात्। विद्यमानेऽपि च नित्ये सुखगुणे संसारदशायामनित्यः सुखगुणो जायते नित्यश्च मोक्षदशायां व्यज्यत इति-वदन् नाऽग्ने रोहिःयमपि द्वेधा [विदध्या]त्[४]। ततः परमानन्दतैव चिदात्मन; एतत् प्रेयस्त्वम्। औपाधिकतारतम्यजन्मभेदादिस्वीकारात् आत्मन इवानन्द-स्योत्कर्षभेदप्रसिद्ध्यादेस्तदालम्बनत्वेनोपपत्ताववशिष्टं पक्षद्वयमपास्तम्–इत्याह—अतएवेति। छन्दोगश्रुतौ च "अहमेवाऽधस्तात्' इत्यहंपदलक्ष्यानवच्छिन्नसाक्षिवर्णनात् तत्राऽप्याऽऽत्मप्रकरणे भूमसुखमात्मैवेति द्रष्टव्यम्। एवं श्रुतिसहस्त्रेणाऽऽनन्दस्य स्वरूपत्वसिद्धौ साधनान्वेषणमभि-व्यक्त्यर्थमिति स्थितम्। तत्र विशिष्टदर्पणवत् विशिष्टजन्मनः विशिष्टानन्दाभिव्यञ्जकत्वं

ज्ञानवती

मतलब) ब्रह्म के रूप में प्रक्रान्त; एवं 'एतस्मात्' (का मतलब है) "जो बुद्धि में छिपे हुए को जानता है"। इससे प्रत्यक्तया वेद्य के रूप में उपक्षिप्त आत्मा से आकाश की उत्पत्ति की श्रुति होने पर 'तद' एवं 'एतत' शब्दों का सामानाधिकरण्य होने से; और वहीं 'आत्मनः' इस प्रकार ब्रह्म के विषय में आत्मा शब्द का प्रयोग होने के कारण जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य के स्थित होने पर "आनन्द से ही ये भूत (उत्पन्न होते हैं,)", "आनन्द ब्रह्म है" इत्यादि स्थलों में आनन्द शब्द का प्रयोग होने के कारण ब्रह्म आत्मा एवं आनन्द के एकरसत्व का निश्चय होने से; "वह यह पुत्र से प्रिय, वित्त से प्रिय, अन्य सभी से प्रिय है जो यह अन्तरतर आत्मा है" ऐसा निरुपाधिक प्रयत्न के द्वारा ज़ीव के आनन्दरूपत्व का निश्चय होने से; सार्वभौमसम्पद के समान आनन्द साध्य है ऐसी शंका का अवतार नहीं होता। इसलिये अन्य दोनों कल्प भी नहीं है।

अभिव्यक्ति में प्रकृष्ट जन्म के द्वारा (आनन्द के) सौगुने उत्कर्ष की अभिव्यक्ति होने पर देवादिभोगसाधन का आरम्भ होने लगेगा, ऐसा नहीं है। क्योंकि दर्पण के समान शुद्धितारतम्य

---

[१] तै० २।१। [२] तै० ३।६। [३] बृ० १।४।८। [४] (क) धेया

मपीत्युत्कृष्टोत्कृष्टविषयानुरागेण भोगभाजामानन्दनिकर्षतारतम्यापत्तेः; वैपरीत्यदर्शनाच्च; कालतारतम्येऽप्यदीर्घकालसार्वभौमादेः शतगुणोत्कर्षानन्दश्रुतिपीडनाच्च। ततो[नाभि]व्यक्तिरिति च्चोदक्षमः; मैवम्; जन्मपक्षेऽपि प्रथमतृतीयदोषयोस्तुल्यत्वात् उत्कर्षतारतम्यशालिपुण्योपस्थापितभोगसाधनसम्पर्कजन्यत्वमेव[१] शुद्ध्युत्कर्षतारतम्यस्य प्रमोदव्यञ्जकस्य न वैराग्यतारतम्यम्, येनोक्तदोषः स्यात्।

यथा च धवलरूपविशेष एव शुद्धत्वं व्यञ्जकतारतम्याद्व्यज्यते तारतम्येन शुक्लस्य, "तथास्तु स्वरूपमपि सुखम्, श्रोत्रियत्वावृजिनत्वेऽविशिष्टेऽकामहतत्वन्तु विषयोत्कर्षापकर्षतः विशिष्यते" इति भाष्यात्। आनन्दत्वञ्च ब्रह्मणः सिद्धं कृत्वा तस्य निरतिश-

भावदीपिका

प्राप्तं नाऽन्यव्यञ्जकाऽकाङ्क्षा युक्ता; तथाऽङ्गीकारे चेद्दोषः—इत्याशङ्क्याह—न चाभिव्यक्तीति। अनेकजनकवत् अनेकाऽभिव्यञ्जकोपपत्तेः शरीरस्य च विशिष्टान्तःकरणवृत्तिद्वारा व्यञ्जकत्वान्न दर्पणतुल्यत्वमिति भावः।

अस्तु वृत्तिर्व्यञ्जिका तथापि तस्या उत्कर्षो देशतो वा शुद्धितो वा कालतो वा? न सर्वथापि—इत्याह—व्यञ्जकस्येत्यादिना। सार्वभौमानन्दस्य कालनियमाभावाल्लोकान्तरानन्दानां नियतकालत्वात् न नियतशतगुणकालत्वं स्यात्। नियतकालमन्वानन्दविवक्षायां तत्पुत्रादेः सार्वभौमत्वप्रसिद्धिबाधः स्यादिति भावः। पक्षद्वयं प्रतिबन्द्या निराकुर्वन् पक्षान्तरोक्तं दोषमुद्धरति—मैवमिति। "व्यापीति तेषां सूक्ष्माणि शरीराणि महात्मनाम्। पूर्वानन्देभ्य एतेषामानन्दोऽतो महान् मतः॥"—इति शरीरदेशतारतम्यात् पित्राद्यानन्दमहत्त्वस्य वार्त्तिककारैरुक्तत्वाच्चैवमपि न दोष इति ज्ञेयम्। [यदुक्तम्]—एकरूपस्याऽप्याऽत्मानन्दस्य

ज्ञानवती

होने पर वैराग्य का तारतम्य भी होगा इस प्रकार उत्कृष्ट उत्कृष्ट विषयानुराग के द्वारा भोक्ता लोगों को आनन्द निकर्ष का भी तारतम्य होने लगेगा, एवं वैपरीत्य भी देखा जाता है। (अर्थात् जैसे जैसे अशुद्धि का तारतम्य बढ़ता है वैसे-वैसे अवैराग्य भी बढ़ता है) काल का तारतम्य मानने पर भी थोड़े समय तक सार्वभौम आदि की शतगुणोत्कर्ष के साथ आनन्दश्रुति से विरोध होता है, इसलिये आनन्द की अनभिव्यक्ति है यह भी विचारसह नहीं है? ऐसा नहीं है; (आनन्द के) जन्मपक्ष में भी प्रथम एवं तृतीय दोष के तुल्य होने से (आनन्द) उत्कर्षतारतम्यशाली पुण्य के द्वारा उपस्थित भोगसाधन के सम्पर्क से ही उत्पन्न होता है, शुद्धि के उत्कर्ष का तारतम्य, जो कि प्रमोद का व्यञ्जक है वैराग्य का तारतम्य नहीं है जिससे उक्त दोष होगा।

और जैसे व्यञ्जक के तारतम्य से धवलरूप विशेष में ही शुद्धत्व व्यक्त होता है—"उस प्रकार (ब्रह्म का) स्वरूप भी सुख हो, श्रोत्रियत्व एवं पापरहितत्व (सभी तारतम्य वालों में) समान ही रहते हैं किन्तु अकामहतत्व तो विषय के उत्कर्ष और अपकर्ष के अनुसार विशिष्ट होता है।" ऐसा भाष्य का कथन है। ब्रह्म के आनन्द को सिद्ध मानकर उसका

---

१ (ख) साधनं सम्पर्क।

यत्वसंकथनाय सातिशयानन्दकथनं "श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य"[1] इति वदन्ती श्रुतिः कामत्यागस्य यथावदभिव्यक्त्युपायत्वं सूचयति; तन्न कश्चिद्दोषः, "तत्र लौकिक आनन्दो बाह्याध्यात्मिकसाधनसम्पत्तिनिमित्त उत्कृष्टो यः, स एव निर्दिश्यते ब्रह्मानन्दानुगमार्थमकामहतत्वग्रहणञ्च तद्विशेषतः शतगुणसुखोत्कर्षोपलब्धेरकामहतत्वस्य परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वविधानार्थम्"[3] इति भगवत्पादोक्तेश्च।

"यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥"

इति व्यासोक्तेश्च। भोगसाधनस्यापि निध्यादेः क्रयादिना सम्बन्धाभावेऽपि परासंसर्गमात्रेण दृष्टस्य पुमर्थत्वदर्शनात्, कर्मकारकतया दर्शनाभावेऽपि एष्यतः स्वर्गादेः पुमर्थत्वाच्च। किमु वक्तव्यं सुखस्य परासंसर्गित्वेन साक्षात् पुमर्थत्वमिति, "तदेत-

भावदीपिका

ब्रह्मानन्दसिद्ध्यधीनत्वादिति—तत्राह—आनन्दत्वं चेति। न कश्चिद्दोषो मुमुक्षुविवक्षया संपादन इति शेषः। यच्चोक्तम्—इहस्थस्य तादृगानन्दो लिङ्गाभावादनुपपन्न इति—तदनुभवबाधितमिति व्याससंवादेनाह—यच्चेति। 'यच्च काम" इत्यनन्तरं वाच्यम्—"यतो यतो निवर्त्तते ततस्ततो विमुच्यते। निवर्त्तनाद्धि सर्वतो न वेत्ति दुःखमण्वपि" इत्येतदप्युदाहर्त्तव्यम्।

एवं ब्रह्मणः स्वरूपभूतमानन्दं प्रसाध्य तस्य पुमर्थत्वसुखलक्षणे संपादयति—भोगसाधनस्यापीति। पुंसा प्रार्थ्यमानोऽर्थः=पुरुषार्थः; स्वरूपसुखमप्यविद्याव्यवधानात् अलब्धमिव प्रार्थ्यत इति पुमर्थः। भेदाऽपाकरणेनैव वस्तुसमवेतं पुमर्थः सुखमिति

ज्ञानवती

निरतिशयत्व वताने के लिये (मनुष्य देव गन्धर्व आदि के) सातिशय आनन्द को कहा गया है। "अकामहतश्रोत्रिय का" ऐसा कहती हुई श्रुति कामत्याग की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति के उपाय को वताती है, इसलिये कोई दोष नहीं है। भगवत्पादाचार्य की उक्ति है—वहाँ लौकिक आनन्द, जो कि वाह्य एवं आध्यात्मिक साधन की सम्पत्ति का कारण है और उत्कृष्ट है, वही ब्रह्मानन्द के अनुभव के लिये निर्दिष्ट होता है और अकामहतत्व का ग्रहण, चूँकि वह उस (=वाह्यअध्यात्मिक साधन) से विशिष्ट होने से सौगुने सुखोत्कर्ष की उपलब्धि का कारण है इसलिये अकामहतत्व का परमानन्द प्राप्ति के साधनत्व का विधान करने के लिये हैं।" व्यास ने कहा है—

"लोक में जो कामसुख है और जो स्वर्गिक महत्सुख है ये दोनों तृष्णाक्षयजन्यसुख की सोलहवीं कला को भी नहीं पा सकते।"

जिस प्रकार घर में छिपी हुई निधि भी भोगका साधन है, उसका क्रय से सम्बन्ध नहीं है और वह दूसरे से सम्वन्धित भी नहीं है तो भी देखे जाने पर पुरुषार्थ का साधन होती है; उसी प्रकार यज्ञ आदि कर्म नहीं देखे जाने पर भी (स्वर्ग की) कामना करने वाले के

[1] (ख) हतस्येवेति। [2] (क) हतत्वाग्रहणम्। [3] तै० भा० २।८।

त्प्रेयः पुत्रात्" इत्यादिका श्रुतिरात्मनो निरतिशयसुखत्वेन परमपुमर्थत्वं व्यवस्थापयति। उपादीयमानं सर्वं यदर्थं यच्चात्मातिरिक्तार्थं न भवति वस्तु, तत् सुखमिति सुखलक्षणञ्चात्मनि सम्पादयति। अतो ब्रह्मणि प्रतीचि सुखस्यैवानन्दश्रुतिः। एतदनुरागोऽप्येतस्मिन्नेव प्रवर्तयन्नक्लेशेन मोक्षपर्यवसाय्येव। बलात् प्रवर्तितो हि न नियमेन फलपर्यन्तं प्रवर्त्तते। यथोक्तानन्दाविर्भावश्च तमःपटलपाटनेन विद्याया द्वितीया कोटिः।

[योगमते संसारस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्नास्ति–]

यत्पुनर्दर्शनम्—"अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः"[1]=विपर्यया

भावदीपिका

नियमो भग्न इति भावः। सर्वं यदर्थं यच्च नान्यार्थमिति सुखम्—इति सुखलक्षणं वदन्ति, तत्र दुःखसाधनस्य सुखार्थत्वं नास्तीत्युपादीयमानमित्युक्तम्। दुःखाभावस्याऽपि ज्ञायमानस्य सुखाभिव्यक्तिशेषत्वात् तदर्थमप्युपादीयमानं सुखार्थमेव। जलस्य पिपासाप्रशमहेतुत्वेन पुरुषार्थत्वेऽपि हरीतकीं भक्षयित्वा पाने माधुर्याभिव्यक्तिवत् दुःखोपशमसाधनानां तावन्मात्रेण पुमर्थत्वेऽपि प्रतिबन्धकदुःखविघातात् नित्यसुखाभिव्यक्तिशेषत्वे दुःखाभावस्याऽपि तन्न विरुध्यते। सुखस्य चात्मार्थतया प्रार्थनदर्शनादनन्यार्थत्वं सुखस्य विरुद्धमिवेति तदर्थं आत्मातिरिक्तार्थं न भवतीत्युक्तम्। यथा दुःखाभावः सुखाभिव्यक्तिफल[-शेषः] न तथा सुखं स्वातिरिक्तफल[-शेष] इति तस्याऽनन्यार्थत्वमिति भावः। एतावत्युक्तेऽपि दुःखे व्यभिचारः स्यात्—अत उक्तम्—उपादीयमानपदम्। सर्वपदं च प्रमादात् दुःखसाधनोपादानापाकरणार्थम्। रागनिबन्धनप्रवृत्तिदोषमपाकुर्वन् उपसंहरति—एतदनुरागोऽपीति।

[योगमते संसारस्यात्यन्तिकी निवृत्तिर्नास्ति—]

पराभिमतमोक्षाभासीकरणेन स्वाभिप्रेत एव सन्मोक्ष इत्याशयेन सांख्यानां मोक्षमनूद्य

ज्ञानवती

स्वर्गरूप पुरुषार्थ के साधन होते हैं। सुख का दूसरे से सम्बन्ध होने से (उसका) साक्षात् पुरुषार्थत्व कैसे कहा जाय, "वह पुत्र से भी प्रिय है" इत्यादि श्रुति आत्मा के निरतिशय सुख के रूप में परमपुरुषार्थत्व की व्यवस्था करती है। तथा 'सभी उपादीयमान (वस्तु) जिसके लिये है और जो वस्तु आत्मा से अतिरिक्त के लिये नहीं है वह सुख है' यह सुख का लक्षण आत्मा में सम्पादित करती है। इसलिये प्रत्यक्ब्रह्म के विषय में सुख की ही आनन्दश्रुति है। इसका अनुराग भी इसी में प्रवृत्त होता हुआ अक्लेशपूर्वक मोक्षपर्यवसायी ही है। बलात् प्रवृत्त कराया हुआ व्यक्ति नियमपूर्वक फल (प्राप्ति) पर्यन्त नहीं प्रवृत्त होता। पूर्वोक्त आनन्द का आविर्भाव तमःपटल के विनाश के द्वारा विद्या की दूसरी कोटि है (और तमःपटल का विनाश प्रथम कोटि)।

[योगमत में संसार की आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं होती—]

जो कि दर्शन है—"अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश ये क्लेश हैं।

---

[1] यो० सू० २।३।

इत्यर्थः। "अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिः, अविद्या"[१]। "दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेव, अस्मिता" "पुमान् दृक्शक्तिः, बुद्धिर्दर्शनशक्तिः, तयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेशः"[३]। अस्मि-इत्यस्य भावोऽस्मिता=तादात्म्याभिमानः; इत्यर्थः। "सुखानुशयी रागः",[४] "सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धः=तृष्णा=लोभः स रागः"[५]; "दुखानुशयी द्वेषः", "पूर्ववत् दुःखे तत्साधने वा [अन्यं] प्रति यो मन्युः=जिघांसा[७] क्रोधः स द्वेषः"[८]; "स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः[९]। सर्वप्राणिनामियमाशीर्नित्या भवति, मा न भूवम्, भूयासम्" इत्येषा पूर्वानुभूतमरणत्रासं गमयति कृमेरपि स्वरसतः प्रमाणव्यापाराकुशलस्यायुश्छेददृष्टयात्मकः, सोऽयमभिनिवेशः, तथा विदुषोऽपि रूढः। "अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्"[१०] प्रसङ्ख्यानवतः सतामपि क्लेशानां बीजसामर्थ्यं दग्धमिति विषयस्य सम्मुखीभावे लब्धप्रवृत्तयश्चोदारा भवन्ति इति।

"सुषुप्तास्तत्त्वलीनानां तनुदग्धास्तु योगिनाम्।
विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥"

भावदीपिका

दूषयति—यत् पुनर्दर्शनमित्यादिना। क्लेशोपशमो हि तेषां मोक्षः, तेन प्रतियोगिनः क्लेशान् निरूपयति—अविद्येति। वेदान्तिनां मायेव सांख्यानां तमोगुण एषामुपादानम्। एते च बुद्धिगता विपर्ययास्तत्प्रतिबिम्बिते पुरुषे आरोप्यमाणास्तं क्लिश्नन्ति। दर्शयति पुरुषाय स्वपरिणामारूढं विषयज्ञानमिति=दर्शनशक्तिः। उक्तक्लेशानां मियो निमित्तनैमित्तिकभावपरसूत्रेणैव तेषां प्रसुप्तिरूपं मोक्षमाह—अविद्या क्षेत्रमिति। अत्र बीजसामर्थ्यं दग्धमिति

ज्ञानवती

अनित्य, अशुचि, दुःख एवं अनात्मक वस्तु में नित्य, शुचि, सुख एवं आत्मबुद्धि अविद्या है। दृक् एवं दर्शनशक्ति की एकात्मता ही अस्मिता है। पुरुष दृक्शक्ति हैं, बुद्धि दर्शनशक्ति है; उन दोनों को एकरूप समझना ही अस्मिता क्लेश है। 'अस्मि' का भाव अस्मिता है; अर्थात् तादात्म्याभिमान। जो सुख का अनुशयी है वह राग है; सुख के जानने वाले को सुख के स्मरणपूर्वक सुख या उसके साधन के विषय में जो गर्ध अर्थात् तृष्णा=लोभ है वह राग है। जो दुःख का अनुशयी है वह द्वेष है; अर्थात् पहले वर्त्तमान दुःख या उसके साधन के विषय में दूसरे के प्रति जो क्रोध या मारने की इच्छा वह द्वेष है। स्वरसवाही तथा विद्वान् को भी उसी प्रकार प्रतीत होने वाला, अभिनिवेश है। सभी प्राणियों की यह इच्छा नित्य होती है कि 'मै न होऊँ ऐसा न हो वल्कि होऊँ' यह इच्छा पूर्वानुभूत मरणत्रास को बताती है"। (जैसे) कृमि जो स्वभावतः प्रमाणव्यापार में कुशल नहीं है, को आयुष्ट्व के उच्छेद का अभिनिवेश होता है उसी प्रकार विद्वान् को भी होता है। अविद्या

---

१ यो० सू० २।५। २ यो० सू० २।६। ३ यो० सू० भा० २।६।
४ यो० सू० २।७। ५ यो० सू० भा० २।७। ६ यो० सू० २।८।
७ (क) जिहासा। ८ यो० सू० भा० २।८। ९ यो० सू० २।९।
१० यो० सू० २।४।

इत्युक्तेश्च। तत्र वीजसामर्थ्यस्य वह्नयौष्ण्यवत् वस्तुसहभाविनो दाहे प्रधानस्याविद्यादिविकारकोशस्य दाहः केन वार्येत? तद्दाहे वा वह्नेरिवौष्ण्यं सामर्थ्यमपि[1] नश्येत्। न दृश्यते तत्त्वमनेन इत्यदर्शनम्=तमोगुणः। तस्माद् बुद्धिपरिणतप्रधानपुंसोः संयोगः तादात्म्यम्=विपर्ययः; ततो बुद्धिविकाराणामात्मनि समारोपः संसारः।

तमोगुणस्य च नित्यत्वान्न विपर्यासाद्युच्छेदो मूषिकाघ्रातशालिशक्तिवद्दाहश्चेत्? सोऽपि "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।"

विवेकख्यातावपि बुद्धयात्मनोरशुद्धयादिभावनया विरक्तचित्तस्य संस्कारमात्रता निरोधोऽसम्प्रज्ञातसमाधिर्योगः, "अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"=वैराग्या-

भावदीपिका

किं ध्वंस एव विवक्षितः किं वा प्ररोहप्रतिबन्धमात्रम्? नाद्यः—इत्याह—तत्रेति। उच्छेदश्च सिद्धान्तविरुद्धः—इत्याह—न दृश्यते इति। द्वितीयमाशङ्कते—मूषिकेति। प्रतिबन्धो हि प्रतिबन्धकाधीनः; प्रतिबन्धकश्च सत्त्वाद्यन्यतमो गुण एवेति चेत्? तस्याऽनादित्वादनुदय एव संसारस्य स्यात्; मोक्षशास्त्रानारम्भश्च। विवेकबोधः प्रधानपुंसोः प्रतिबन्धकश्चेत्? तस्याऽप्यनित्यत्वात् तदुच्छेदे पुनः क्लेशप्ररोहः स्यात्। अथ विवेकबोधसंस्कारः प्रतिबन्धकः स च नाऽनादिः नाप्यऽनित्य इति न कोऽपि दोषः?—तत्राह—सोऽपि योग इत्यादिना।

ज्ञानवती

उत्तरवर्त्ती प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार की प्रसवभूमि है। प्रसंख्यान वाले को पुरुष के लिये वर्त्तमान भी क्लेशों का वीजसामर्थ्य दग्ध हो जाता है इसलिये विषय जब सामने आ जाता है तब लब्धप्रवृत्तियाँ उदार होती हैं।

"तत्त्वों में लीन पुरुषों के क्लेश सुषुप्त, योगियों के कुछ दग्ध तथा विषयसङ्गियों के विच्छिन्न एवं उदार रूप होते हैं।"

ऐसी उक्ति है। वहाँ वह्नि एवं उष्णता के समान वस्तुसहभावी बीजसामर्थ्य का दाह होने पर अविद्यादि विकार के कोशस्वरूप प्रधान का दाह किसके द्वारा रोका जा सका है? और उसका दाह करने पर वह्नि के औष्ण्य के समान बीज के (=कर्माशय का फलदान–) सामर्थ्य भी नष्ट हो जायगा। न दृश्यते तत्त्वं अनेन (इस व्युत्पत्ति के द्वारा) अदर्श (का मतलब है) तमोगुण। बुद्धि के रूप में परिणत उस प्रधान एवं पुरुष का संयोग अर्थात् तादात्म्य ही विपर्यय है। उस (=विपर्यय) के कारण बुद्धिविकार का आत्मा में समारोप ही संसार है।

(पू) तमोगुण के नित्य होने से विपर्यास आदि का उच्छेद नहीं होगा। इसलिये (जो) दाह (है वह) मूषक के द्वारा नष्ट की गई शालि की शक्ति के समान है। (उ) वह (दाह) भी "चित्तवृत्ति निरोधरूप योग है।"

---

[1] (क) मति।

द्विषयाभिमुख्यनिरोधो, विवेकदर्शनाभ्यासेन च तावत्संस्कारशेषताख्यो निरोध इत्यादिना सक्लेश[स्य][1]चेतसः क्रियाऽक्रियाविभावनया मूर्च्छनामात्रोपदेशाद्दाह एव।एवम् "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो[2] दृढभूमिः[3]" व्युत्थानसंस्कारेण न बाध्य इत्यपि शक्त्युच्छेदमन्तरेण पारिभाषिकम्; दृष्टान्तेऽपि प्रतिबन्धमात्रं मन्त्रादिवशात् तत्परिहारात्। न च वाच्यम् "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभून्[4]" इति मुक्तौ सर्वस्यात्ममात्रताश्रवणात्, "आत्मैवेदमग्रे" इति श्रवणात् पूर्वमपि आत्मैव सर्वम्, इति पुनः सर्वात्मताऽवस्थानसम्भवात्तत्रापि मुक्तिप्रच्युतिरिति; "इन्द्रो मायाभिः" इत्याद्यागमैरेकस्यैव मायोपधानतो बहुरूपत्वाभिधानात्[5]। तत्त्वविद्यया तद्दाहे पुनः स्वरूपस्थितस्य प्रच्युतेरसम्भवात् पूर्वमात्मैकत्वा[व]धारणस्य च मायाशबलकारणमात्रविषयत्वात्। विश्वमायानिवृत्तौ न मायान्तरं पूर्वतनं नवं वा सम्बोभवीति।

भावदीपिका

संस्कारस्यापि सर्गात् प्राक् कारणानतिरेकादप्रतिबुद्धत्वेनाप्रतिबन्धकत्वादुदयः क्लेशानां दुर्वारः—इत्याशयेनोक्तम्—मात्रोपदेशाद्दाह एवेति। यतः संस्कारस्य प्रतिबन्धकत्वमनुपपन्नं ततः संस्कारदा[-हाय मार्गोप-]देशोऽपि व्यर्थः—इत्याह—स तु दीर्घ इति। दृष्टान्तं विघटयति—दृष्टान्तेऽपीति। स्वव्याघातकत्वपर्यवसानात् जात्युत्तरमेतदिति मन्वानं प्रत्याह—न च वाच्यमिति। पूर्वावस्थैक्यस्य मोक्षावस्थैक्यात् भेदमाह व्यवस्थासिद्धयर्थम्—पूर्वमिति। एकमायानिवृत्तावपि मायान्तरेण संसारः स्यात्?—इत्याशङ्क्याह—विश्वमायेति। "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इतिश्रुतेः पूर्वतनं मायान्तरं न संभवति नवं च मायावादे कारणान्तरभावान्न संभवतीत्यर्थः। न केवलं प्रतिबन्धकाऽनिरूपणात् नानुदयः क्लेशानाम्, अपितु कारणाऽलोचनयापि—

ज्ञानवती

विवेकख्याति में भी बुद्धि तथा आत्मा की अशुद्धि आदि (अर्थात् सब अशुद्ध है सब अनित्य है आदि) की भावना से विरक्त चित्तवालों का संस्कारमात्रता (रूप) निरोध असम्प्रज्ञातसमाधि योग है। "अभ्यास और वैराग्य से उस (अर्थात् चित्तवृत्ति) का निरोध होता है।" वैराग्य के द्वारा विषय की ओर जाने वाली प्रवृत्ति का निरोध होता है और (बुद्धि एवं आत्मा के) विवेकदर्शन के अभ्यास से संस्कारशेषता नामक निरोध होता है इत्यादि के द्वारा क्लेश से युक्त चित्त का ध्यान रूपी क्रिया एवं अक्रिया (=समाधिस्थैर्य) की आवृत्ति के द्वारा मूर्च्छना (अर्थात निर्वृत्तिकता के सम्पादन) मात्र के उपदेश से, दाह ही है। इस प्रकार "वह तो दीर्घकाल तक निरन्तर एवं आदर के साथ सेवित होने पर दृढ़भूमि हो जाता है।" (अर्थात्) व्युत्थानसंस्कार से बाध्य नहीं है, वह (कथन) भी शक्त्युच्छेद के बिना पारिभाषिक है। दृष्टान्त (अर्थात् मूषिकाघ्रातशालिशक्तिवाले दृष्टान्त) में प्रतिबन्धमात्र (समझना चाहिये क्योंकि) मन्त्र आदि के द्वारा उस (अर्थात् बीजप्ररोहावरोध) का परिहार हो जाता है।

(पू) "जहाँ इसका सब कुछ आत्मा ही है" ऐसा मुक्ति में सबका आत्ममात्र श्रवण होने से "यह आत्मा ही पहले था" यह श्रवण होने से पहले भी आत्मा ही सब कुछ था

---

[1] क्लेश चे [2] (क) संस्कारा। [3] यो० सू० १।१४।
[4] बृ० २।४।१४। [5] (क) त्वाघा।

तेन सांख्यस्यैव मोक्षासम्भवः, नास्माकम्। न च प्रधानस्य विवेकोऽस्ति, येन 'एतं प्रत्यहं कृतार्थं न मया पुनः प्रवर्तितव्यम्' इत्यालोच्य पुनः प्रवर्त्तते। अतो धर्माधर्म-वैराग्यावैराग्यैश्वर्यानैश्वर्याज्ञानाख्यैः "रूपैः सप्तभिरे[व[१]] तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः। सैव च पुरुषस्यार्थं विमोचयति एकरूपेण॥" ज्ञानाख्येनेति प्रकृतेर्मुख्यौ बन्धमोक्षौ पुंस्युपचर्येते; इत्यपास्तावकाशम्; अष्टाङ्गस्योपचारनिमित्तसंसर्गाभावाच्च।

[नैयायिकमतानुसारेण मुक्तेरसम्भवः –]

तथा तार्किकाणामपि भाविकसंसारकारणस्य विपर्यासादेस्तत्त्वसाक्षात्कारेणो-

भावदीपिका

इत्याह—न च प्रधानस्येति। तेन सांख्यानां बन्धमोक्षप्रक्रियाकरणं व्यर्थम्—इत्याह—अत इति। किञ्च सुखानुपपत्तिसम्बन्धाभ्यामुपचारः, अत्र चाऽसंगकूटस्थबोधविग्रहस्य न मुख्यौ बन्धमोक्षौ चेत्? स्वस्वामिभावासम्बन्धोऽपि मुख्य इत्युपचारोऽप्यपास्तावकाशः–इत्याह—असंगत्येति। एवं सांख्यानां योगानां प्रधानस्य गुणसाम्या[त्म]कस्य परमार्थसत्यत्वं नित्यत्वं चेच्छतां मोक्षोऽपास्तः। ये तु "गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथम् ऋच्छति। यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायैव सुतुच्छकम्॥"—इति गुणा अनिर्वाच्यमायात्मकाः; परमञ्च तेषां पारमार्थिकं रूपमधिष्ठानं, दृष्टचनालंबनात्—इति मोक्षं प्रतिक्षिपन्ति—न ख[ल्वेवं] कूटस्थदृष्टिरूपं ब्रह्म। योगवादिन एव सन्तो वदन्ति; न ते प्रतिपक्षा इत्युपेक्ष्यन्ते।

[नैयायिकमतानुसारेण मुक्तेरसम्भवः —]

नैयायिकादिमोक्षं प्रतिक्षिपति—तथेति। बुद्धचादिविशेषगुणोच्छेदलक्षणो मोक्षः किं

ज्ञानवती

इस प्रकार पुनः सर्वात्मता की स्थिति संभव होने से तुम्हारे मत में भी मुक्ति की प्रच्युति (=असम्भावना) है? (उ) "इन्द्र मायाओं के द्वारा (अनेक रूप को प्राप्त होता है)" इत्यादि आगमों से एक ही (ब्रह्म) को, मायारूप उपाधि के द्वारा अनेकरूप कहा जाता है। तत्त्वविद्या के द्वारा उस (अर्थात् अविद्या) का दाह होने पर पुनः स्वरूपस्थित (आत्मा) की प्रच्युति असंभव है। और पूर्ववर्णित आत्मैकत्व का निश्चय, माया से शबलित कारण (अर्थात् ब्रह्म) मात्र का विषय है। विश्वमाया की निवृत्ति होने पर न पूर्वतन और न नवीन माया ही सम्भव है। इस कारण सांख्य का ही मोक्ष असंभव है, हम लोगों का नहीं। ऐसा नहीं है कि प्रधान को विवेक है जिससे "इसके प्रति में कृतार्थ हूँ मुझे फिर प्रवृत्त नहीं होनी चाहिये' ऐसा सोचकर फिर वह (=प्रकृति) प्रवृत्त नहीं होती है। इसलिये "धर्माधर्म, वैराग्यावैराग्य, ऐश्वर्यानैश्वर्य तथा अज्ञान इन सात रूपों से अपने द्वारा प्रकृति अपने आपको बाँधती है" वही ज्ञान नामक एक रूप से ही पुरुषार्थ के प्रति मुक्त कराती है। इस प्रकार 'प्रकृति के मुख्य बन्ध और मोक्ष पुरुष में उपचरित होते हैं' इसका अवकाश नहीं है। और अष्टाङ्ग (अर्थात् धर्माधर्म आदि) का संसर्ग उपचारनिमित्तक नहीं है।

[नैयायिकमतानुसार भी मुक्ति सम्भव नहीं है—]

उसी प्रकार नैयायिकों के मत में भी पारमार्थिक संसार के कारणभूत विपर्यास आदि

---

[१] (क) वं।

च्छेदासम्भवान्न मुक्तिप्रत्याशा। अपरथा शुक्त्यादितत्त्वज्ञाने रजतादिवत् तदज्ञानस्यापि विलयादनिर्वचनीयवादप्रसङ्गः; ज्ञानमात्रनिवर्त्यत्वनियमस्यानिर्वचनीयलक्षणत्वोक्तेश्च। एतेन[१] कर्मोच्छेदोऽपि व्याख्यातः।

[कायव्यूहनिर्माणद्वारा एककाले सर्वकर्मफलभुक्तत्वासम्भवः–]

यापि परिभाषा–योगप्रभावात् कायनिकायनिर्माणेन अगस्त्यसमुद्रपानवदशेषकर्मफलोपभोगादचिरेणैव मुक्तिरिति ? सापि कथञ्चित् वर्त्तमानपरिपाक एव घटते। यदा तु ब्रह्माण्डान्तरादिविशिष्टदेशकालयोः कर्मणः पाकः, [तदा] ब्रह्माण्डान्तरादे-

भावदीपिका

ज्ञानमात्रसाध्यः किं वा कर्मसमुच्चितज्ञानसाध्यः ?—नाद्यः—इत्याह—भाविकेति। स्वाभिमतमायाव्यच्छेदाया—विपर्यासेत्युक्तम्। विपक्षेऽनिष्टप्रसंगमाह—अपरथेति। यथा वेदान्तिमते अधिष्ठानतत्त्वसाक्षात्कारेण रजताद्यर्थस्तज्ज्ञानं च निवर्त्यते तथा बुद्ध्यादिप्रपञ्चऽज्ञानस्याऽत्मगुणस्य केवलज्ञानानुच्छेदे तार्किकस्याऽनिर्वचनीयवादापत्तिः; एतस्यानिर्वाच्यलक्षणत्वेन स्वीकारात् इत्याह—ज्ञानमात्रेति। 'मुद्गरेण घटं नाशयामि' इति ज्ञानविनाश्यत्वेऽपि घटस्याऽनिर्वचनीयत्वप्रसिद्धिः तत्काले मा प्रसाङ्क्षीदिति मात्रग्रहणम्। पूर्वज्ञानसुखादेरुत्तरज्ञाननिवर्त्यत्वेऽपि नानिर्वचनीयत्वमिति चेत् ? न; अस्य पक्षतुल्यत्वात्, व्यावहारिकप्रपञ्चोच्छेदस्य प्रस्तुतत्वात्; तत्र च घटस्यापि ब्रह्मज्ञानोच्छेद्यस्याऽनिर्वाच्यत्वात्, उच्छेद्यत्वमात्रमपि लक्षणमनिर्वाच्यस्य। ज्ञानग्रहणन्तु श्रुत्यादिप्रमाणकत्वसंग्रहार्थं ज्ञानस्य। अस्माकं तु ज्ञानमज्ञानमेव हिनस्ति व्यापारेणाऽन्यत् तन्नान्तरीयकतयेति रहस्यम्। अतः स्वाप्नप्रपञ्चवत् जाग्रत्प्रपञ्चस्याप्यऽनिर्वाच्यत्वापत्तिरितिभावः। द्वितीयं प्रत्याह—एतेनेति। कर्मसहितेन ज्ञानेनोच्छेदः—कर्मोच्छेदः; कर्मणः प्राधान्याद् ग्रहणम्; कायादिचेष्टालक्षणस्य कर्मणो धर्मादिहेतोस्तदुच्छेदकत्वायोगात्।

[कायव्यूहनिर्माणद्वारा एककाले सर्वकर्मफलभुक्तत्वासम्भवः—]

अथ योगमहिम्ना धर्माधर्मात्मककर्मनिचयक्षये निमित्ताभावात् बुद्ध्यादयो न भविष्यन्ति—इत्याह—यापि परिभाषेति। कदा तर्हि न घटते ?—तत्राह—यदा त्विति। यद्यपि कर्मफलकालो न कर्मवाक्येन विहितस्तथापि शक्रसूर्यहिरण्यगर्भादिपदानामेकैककालेऽन्यस्याऽनुपभोग्य-

ज्ञानवती

का तत्त्वसाक्षात्कार से उच्छेद सम्भव न होने से मुक्ति की आशा नहीं है। (किन्तु जब पारमार्थिकजगत् का मूलकारण मिथ्या ज्ञान ही है तब उसका उच्छेद कैसे सम्भव है ?)। अन्यथा शुक्ति आदि तत्त्व का ज्ञान होने पर रजत आदि के समान उस (=तत्त्व) के अज्ञान का विलय होने से अनिर्वचनीयवाद की प्राप्ति होने लगेगी। क्योंकि अनिर्वचनीय का लक्षण कहा गया है—ज्ञानमात्रनिवर्त्यत्वनियम। इससे कर्मोच्छेद भी कह दिया गया।

[कायव्यूह के निर्माण के द्वारा एककाल में सभी कर्मफल भुक्त नहीं हो सकते—]

और जो यह परिभाषा है कि–योग के प्रभाव से कायसमूहनिर्माण के द्वारा अगस्त्य

[१] (क) पाकः ब्रह्माण्ड। [२] (ख) तेन।

राहर्तुमशक्यत्वान्न तदुपभोगसम्भावना। आहरणे वा मूर्तद्रव्याणां समानदेशत्वासम्भवादेतद्ब्रह्माण्डादन्यत्र ब्रह्माण्डकल्पना निर्मूला स्यात्। शापकृताकालजरादि च शापादिकर्मणः तत्कालफलत्वान्नोदाहरणम्। न खलु तत्र कालान्तरभावि कर्मफलाहरणम्; अतद्भूतव्याघ्रादिभावस्यापि शापादिजत्वेन स्मरणात्। "स यदि पितृलोककामो भवति सङ्कल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति"[१] "मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। य एते ब्रह्मलोके"[२] इति; "स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा भवति"[३] इति च श्रुतेः सत्यसङ्कल्पादिगुणैरर्चिरादिमार्गप्राप्तसत्यलोकाभिव्यक्तेः तादृग् देहयोगी तत्रैवाभिव्यक्तियोग्यैर्विशिष्ट उपासको यदा समनस्केन्द्रियशरीरवत्तां सङ्कल्पयति तदा तत्सम्पत्त्या

भावदीपिका

त्वात् पर्यायेण भोगकालनियमः सिद्धयति। न खलु युगपदनेकशक्रादयः; किन्तु पर्यायेणैव वर्ण्यन्त इति युक्तं विशिष्य देशकालयोः कर्मणः परिपाक इति। अङ्गीकृत्याऽप्याह—आहरणे वेति। तन्तुपटादीनामवयवावयविभूतानां यद्यपि मूर्त्तद्रव्याणामपि समानदेशताऽस्ति तथापि तद्भावरहितानां घटपटस्तम्भादीनामिव समानदेशता न सम्भवतीत्यर्थः। अथ ब्रह्माण्डाद्याहरणाऽसम्भवेऽपि कालान्तरीयभोगः? सम्भोगदेहप्रारम्भककर्मणो व्याघ्रादिभावफलत्वे शापाद्यनपेक्षाप्रसङ्गात्। यस्य कस्यचिदकस्मात् व्याघ्रादिभावप्रसङ्ग इति भावः। विशिष्टशापात्सौर्यवंशो राजा द्वादशवर्षाणि रात्रिभागे व्याघ्रोऽभूत् इति स्मर्यते।

इदानीं न्यायमते योगिनोऽनेकशरीराधिष्ठातृत्वमपि मनोद्वारकं न सम्भवति दूरत एव तद्द्वारको भोग इति वक्तुं योगफलं सप्रमाणमाह—स यदीति। "भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" इति व्याससूत्रात्तमाह "आपो वै खलु मीयन्ते लोकोऽसौ" इति श्रुतिः। तमुपासक आदिसिद्ध आह - "आपोऽमृतमय्यो मीयन्ते"=दृश्यन्ते मया; दर्शनस्यैव भोगत्वात् तवाऽप्यसौ लोक

ज्ञानवती

के समुद्रपान के समान समस्त कर्मों के फलों के उपभोग के द्वारा जल्दी ही मुक्ति हो जाती है, वह भी किसी प्रकार (कर्मों के) वर्त्तमान परिपाक में ही घटित होती है। और जब ब्रह्माण्डान्तर आदि विशिष्ट देश एवं काल के कर्म के परिपाक (का प्रश्न उठता है) तब तो ब्रह्माण्डान्तर आदि का आनयन असम्भव होने से उसके उपभोग की सम्भावना ही नहीं है। अथवा आनयन होने पर भी मूर्त्तद्रव्यों का समानदेश असम्भव होने से इस ब्रह्माण्ड से अन्यत्र ब्रह्माण्ड की कल्पना निर्मूल हो जायगी। शाप से की गई अकालजरा आदि शाप आदि कर्म के तात्कालिक फल होने से उदाहरण नहीं है। और वहाँ कालान्तरभावी कर्मफल का आहरण भी नहीं हो सकता क्योंकि शाप आदि से उत्पन्न होने के कारण अतद्भूत व्याघ्र आदि भाव का भी स्मरण होता है। "वह (अर्थात् उपासक) यदि पितृलोक की कामना वाला होता है (तब) इसके संकल्प से ही पितृ लोक उपस्थित हो जाते हैं।" "ब्रह्मलोक में जो ये काम है मन से इन कामों को देखता हुआ वह (उपासक) रमण करता है।" "वह एक प्रकार का होता है, तीन प्रकार का होता है, पाँच प्रकार का होता है।" इस श्रुति से सत्यसंकल्प आदि गुणों के द्वारा अर्चिरादि मार्ग में प्राप्त सत्यलोक की अभिव्यक्ति होती है। इस

---

[१] छा० ८।२।१। [२] छा०८।१२।५-६ [३] छा० ७।२६।

जाग्रत्पित्रादिभिः क्रीडति; यदा तु समनस्कतामात्रं सङ्कल्पयति, तदा स्वप्नमनोरथवत्; इत्यवगम्यते। तत्र भोगाधिष्ठानशरीराणि दारुयन्त्रवच्चेतनावता अहंबुध्यनाघ्रातानि न भवन्ति; 'यदवच्छिन्न आत्मनि भोगस्तदिन्द्रियग्राह्यमन्त्यावयविशरीरम्' इति लक्षणात्। अन्यथा शरीरत्वायोगात् तत्त्वदर्शनाच्च मनसो भौतिकत्वेन शरीरवत् सृष्टिसम्भवात्।

यद्यप्यन्तःकरणभेदात् जीवभेद इष्टः, तथापि भिन्नाविद्याजन्यात्, उपासकात्मनः एकान्तःकरणावच्छिन्नस्यापि विद्यासामर्थ्यात् व्याप्तिसम्भवात्; अनेकान्तःकरणावच्छेदेन तत्र तत्राहंग्रहेण भोगोपपत्तेश्च। "एकोऽपि विद्वान् ऐश्वर्ययोगादनेकभावमापद्य[1] सर्वशरीराण्याविशति" इति भाष्याच्च। नैयायिकमते च मायातो धर्माणामनभ्युपगमान्न तद्द्वाराऽनेकशरीराधिष्ठानेन भोगः सम्भवति; योगप्रभावान्मुक्तिनियमे

भावदीपिका

उपासनक्रियाफलमिति। ब्रह्मलोकं प्राप्तस्यैव भोगोऽप्यवगम्यते। "संकल्पादेव च तच्छ्रुतेः" इत्यपि सूत्रम् "तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः भावे जाग्रद्वत्' इति—तनोः=देहस्य; अभावे=स्वप्नवत् तदभावे; जाग्रद्वत् भोगोपपत्तेरिति च व्यासः। अवगम्यतां ततः किम्? —तदाह–भोगेति। "प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति"–स "त्रिधा" इत्याद्या स्मृतिः प्रदीपवद्देहान्तरेषु पूर्वदेहसमानत्वेनावेशः प्रकाशात्मनेव चैतन्यात्मनेति–सूत्रेण दारुयन्त्रतुल्यतानिराकरणादिति भावः। भोगाधिष्ठानत्वं शरीरस्य लक्षणकथनेनाह— यदवच्छिन्न इति। इन्द्रियव्यवच्छेदार्थम्–इन्द्रियग्राह्यमिति। यदा व्यतिरेकमुखेन परमते संभवम् "यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामं कामयते; सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति; तेन सम्पन्नो महीयते" इति श्रुतेर्युगपदनेकमनोऽनेकशरीरसृष्टिर्योगिनो गम्यते। मनोभेदेऽनिष्टमाशङ्क्य परिहरति—यद्यपीति। अविद्योपहितस्य मन उपाधिर्न केवलस्य; अविद्याकार्याणि च मनांसि बहून्यपि तमेव परिच्छिन्दन्तीत्यर्थः। तथापि एकमनोऽवच्छिन्नस्य मनोऽन्तरैरवच्छेदासंभवात् संसारदशायां चाऽनवच्छिन्नत्वानुपपत्तेः त्वत्पक्षोप्यऽनुपपन्नः–इत्याशङ्क्याह—उपासकात्मन इति। सत्यसंकल्पादिगुणसम्पत्तौ न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः। "सर्वान्पाप्मनोऽपहत्य सर्वेषां च भूतानां

ज्ञानवती

कारण वैसी देह वाला योगी वहीं अभिव्यक्ति के योग्य (गुणों) से विशिष्ट उपासक होने से जब मनसे युक्त इन्द्रियशरीरवत्ता की कल्पना करता है तो उसकी प्राप्ति होने से वह जाग्रत् पितृ आदि साथ क्रीडा करता है। और जब समनस्कता मात्र की कल्पना करता है तब स्वप्नमनोरथ के समान (वह पितृ आदि के साथ क्रीडा करता है) ऐसा जाना जाता है। वहाँ भोग के अधिष्ठानभूत शरीर, चेननावान् के द्वारा काष्ठयन्त्र के समान अहं बुद्धि के विषय नहीं होते ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह लक्षण है कि 'यदवच्छिन्न आत्मा में उपभोग होता है वह इन्द्रियग्राह्य अन्त्यावयवी शरीर है।' अन्यथा शरीरत्व का योग न होने से और तत्त्व का दर्शन होने से भौतिक होने के क रण मन की भी शरीर के समान सृष्टि संम्भव हो जायगी।

---

[1] (क) आपद्य।

नैकस्यापि मुक्तिरभूत्, इति मुक्तानां मनांस्यधिष्ठाय योगिनो[1] भोग इत्यपि वार्त्तम्।

ये च[2] सगुणब्रह्मोपासनात् सहैव मनसा परमेश्वरसायुज्यं व्रजन्ति, न तेषां महाभूतकार्यब्रह्माण्डस्रष्टृत्वम्;[3] तत्स्रष्टृत्वेन पूर्वसिद्धेश्वरान्वेषणजिज्ञासनपूर्वकत्वात्तदैश्वर्यस्य। "आप्नोति स्वाराज्यम्" "सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति" "तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति" इत्यादिश्रुतयस्तु यः सवितृमण्डलादिषु विशेषायतनेष्ववस्थितः परमेश्वरः, तदायत्तामेव स्वाराज्यप्राप्तिं दर्शयन्ति। यत्कारणं स्वाराज्यप्राप्तिमुक्त्वाऽनन्तरं "आप्नोति मनसस्पतिम्" इत्याह, यो हि सर्वमनसां पतिः पूर्वसिद्ध ईश्वरः, तं प्राप्नोतीत्यर्थः।

भावदीपिका

श्रैष्ठ्यं स्वाराज्यमाधिपत्यं पर्येति य एव वेद"—इतीश्वरोपासकस्य फलश्रुतेश्च। परस्य तु मनो नित्यमेकं चेति युगपदनेकशरीराधिष्ठानानुपपत्तिः।

न च वाच्यं मुक्तानां जीवानां सन्ति मनांसि; तान्यधिष्ठाय योगी तत्र तत्र देहभेदेषु युगपद् भोगभागिति; मुक्तमनसामन्त्येश्वरसाक्षात्काराधेयसंस्कारवदन्याधिष्ठातृसन्निधावप्यकार्यकरत्वोपपत्तेः। यथा च मृतशरीरेण परकायप्रवेशे न सिद्धस्य चेष्टा काचिद् दृष्टचरीति न तत्कल्पनाऽदोषमावहति तथा नित्यानि मनांसि। तानि च मुक्तानां योगबलेन यस्य कस्यचिद् भोगसाधनमिति न दृष्टं, न च श्रुतम्; प्रत्युत मनसो जन्मादि श्रुतम्। यदि च योगबलेन मुक्तमनोवशीकारः, तर्हि कस्यचित् कुतूहलवतो योगिनो मुक्तेनाऽऽत्मना तदीयमन्यदीयं वा मनः संयोज्य त्यक्तकलत्रेण वाऽलयं तद्भोगाकौतुकपूरणं को निवारयेत्? योगबलेनैवं मुक्तौ तदसंभवे मुक्तमनसोऽसंभवाच्च। ततो यत्किञ्चिदेतत्।

ननु तवाऽपि योगवशात् विश्वैश्वर्यश्रवणात् युगपदनेकेषां समानसङ्कल्पत्वेऽनेकब्रह्माण्डादिनिर्माणं युगपदापद्येत; विषमसङ्कल्पत्वे चैकस्य ब्रह्माण्डादिसर्जनमपरस्य तदैव तत् संहरणं च इत्यादिदोषो दुर्वार इति? तत्राह—ये च सगुणेति। आदिसिद्धसर्वेश्वरे नियमादेव

ज्ञानवती

यद्यपि जन्तःकरण के भेद से जीवभेद इष्ट है तथापि भिन्न अविद्या (=अस्मिता) से जन्य (अन्तःकरण) से। उपासक की आत्मा के एक अन्तःकरण से अवच्छिन्न होने पर भी विद्या (अर्थात् उपासना) के सामर्थ्य से व्याप्ति सम्भव है और अनेक अन्तःकरणावच्छेदेन स्थल-स्थल पर अहमाकारक अभिमान के द्वारा भोग की उपपपत्ति भी हो जाती है। भाष्य भी है कि "एक ही विद्वान् ऐश्वर्य (अर्थात् उपासना) के योग से अनेक भाव को प्राप्त होकर सब शरीरों में प्रवेश कर जाता है"। नैयायिक के मत में माया से (धर्मों की उत्पत्ति) न होने से उनके द्वारा अनेक शरीर को अधिष्ठान बनाकर भोग सम्भव नहीं है। योग के प्रभाव से मुक्ति का नियम होने पर एक की भी मुक्ति नहीं हुई इसलिये मुक्तों के मन को आधार मान कर योगी का भोग होता है यह भी तुच्छ है।

और जो लोग सगुण ब्रह्म की उपासना के कारण मन के साथ ही परमेश्वर के सायुज्य को प्राप्त होते हैं वे लोग महाभूत के कार्य ब्रह्माण्ड के स्रष्टा नहीं होते, क्योंकि उनका

---

[1] (ख) योग। [2] (क) ये तु च। (ग) ये च। [3] (ख) कार्य ब्रह्माण्ड।

सर्वेश्वर (त्वादी[१]–) नामुपास्ये ब्रह्मणि विद्यमानानामपि सत्यकामादिगुणवदुपास्यत्वेनाविधानात्, उपासकानां प्राप्तावपि प्रथमोपासकस्यैव हैरण्यगर्भवत् प्राप्तेः स एव पूर्वसिद्धशब्दभाक्; तस्य [च] सर्गकामनादि मायावृत्तिरेव; "सोऽकामयत

भावदीपिका

न किञ्चिद् विपरीतमापद्यत इति भावः। अथ सर्वेश्वरत्वादिगुणकेश्वरोपासनात् तद्भावसिद्धौ कस्य को नियामक इति? तत्राह—सर्वेश्वरत्वादीनामिति। "आप्नोति मनसस्पतिम्" इति श्रुतेः सर्वेश्वरप्राप्तिरवगम्यते। सा चोपास्यस्य सर्वगतस्य न गत्वा युज्यते तेन हिरण्यगर्भजीवस्येव परमेश्वरं तादृग्रूपाध्यारोपेणोपासानस्य तद्भावापत्तिः, तथेश्वरभावापत्तिर्वक्तव्या। सा चाविशिष्टा सर्वोपासकानाम्। अन्योपाधिविशिष्टस्य स्थितस्य नष्टस्य चाऽन्यात्मताऽयोग्याच्च "तृतीयं विश्वैश्वर्यम्" इति श्रुतेश्च। तस्य = परमेश्वरस्य; अभिध्यानात् विराड्सूत्रापेक्षया तृतीयं विश्वैश्वर्यं देहपाते जगत्कारणसायुज्याऽपत्त्या भवतीति च प्रकटार्थः। तत्र सायुज्यम् ईशप्रतिविम्बैक्यम्, स्वोपाधिविशिष्टस्य न संभवति। अथ स्वोपाधिरूपतुल्योपाधिरूपत्वं तद्गुणाविर्भावश्च, "पराभिध्यानात् तु तिरोहितं ततोऽस्य बन्धविपर्ययौ" इति सूत्राच्च—विद्यमानमपि तु ऐश्वर्यं मायातिरोहितं परस्येशस्याऽभिध्यानादाविर्भवति; ततः ईश्वरादज्ञाताज्ज्ञाताच्च जीवस्य बन्धमोक्षावित्यर्थः। ततः कथं व्यवस्थालाभः? तत्राह—प्राप्तावपीति। हिरण्यगर्भकारणरूपस्य ब्रह्मण्यारोपितस्योपासनात्ततोऽपि [प्राप्ताऽभिमत-] लीलाकलेवरैः भोगैश्च इत्येतादृशी यदेश्वरप्राप्तिस्तदाऽप्यनादिसिद्ध ईश्वरः सर्वधीमायाविषयीकृतं सर्वप्रपञ्चभ्रमाधिष्ठानं ब्रह्मैव--इत्याह--स एवेति। "स यत् पूर्वोऽस्मात् सर्वस्मात् सर्वान् पाप्मन औषत्"—इति श्रुतेरनुसारेण मुख्यामुख्यव्यवस्थालाभाच्च न दोष इति भावः।

नन्वीक्षणश्रवणात् ईश्वरस्य प्रमातृत्वेऽजगते जीववदज्ञत्वमपि प्रसज्येत?—इत्याशङ्क्याह—तस्य चेति। माया हि ब्रह्मण्यधिष्ठाने ईक्षणादिक्रमेण महाभूतादिभ्रमं रचयति। विभ्रमो-

ज्ञानवती

ऐश्वर्य, उस (अर्थात् ब्रह्माण्ड) के स्रष्टा होने के कारण पूर्वसिद्ध ईश्वर के अन्वेषण की जिज्ञासा के बाद होता है। "स्वर्ग का राज्य प्राप्त करता है", "सब देवता इसके लिये बलि लाते हैं", "उनका सब लोगों में यथेच्छ संचार होता है" इत्यादि श्रुतियाँ तो, जो परमेश्वर सवितृमण्डल आदि विशेष आयतनों में स्थित है, उसके अधीन ही स्वाराज्य की प्राप्ति को दिखाती हैं। स्वाराज्य की प्राप्ति का कारण कहकर बाद में "मन के पति को प्राप्त होता है" ऐसा कहा, (जिसका मतलब है) जो सभी मनों का पूर्वसिद्ध ईश्वर है उसको प्राप्त करता है।

उपास्य ब्रह्म में विद्यमान भी, सर्वेश्वरत्व आदि का, सत्य काम आदि गुणों के समान, उपास्य के रूप में विधान न होने से, उपासकों को (उपास्य के गुणों की) प्राप्ति नहीं होती। प्राप्ति होने पर भी "हिरण्यगर्भ के समान प्रथम उपासक को ही प्राप्ति होती है। वही पूर्वसिद्ध शब्द का भागी है और उसकी सर्गकामना आदि माया का ही परिणाम है। "उसने इच्छा की कि पर्याप्त यज्ञ के द्वारा फिर यजन करूँ" यहाँ पर "भूयः" श्रुति के द्वारा अश्वमेध-

---

१ (क) सर्वेश्वरत्वादिनामु, (ख) सर्वेश्वरत्वादीनामु।

भूयसा यज्ञेन भूयो यजेयेति" इति भूयःश्रुत्या अश्वमेधयजनं कृतवत एव हिरण्यगर्भात्मना संवृत्तस्य इच्छापूर्वं विराडादिस्रष्टृत्वश्रुतेश्च। ततो योगिनामिच्छया लोकान्तरसञ्चारः तत्र तत्राणिमाद्यैश्वर्यं भोगाधिष्ठाननिर्माणञ्च। तच्च नाञ्जसं न्यायमते, इति न योगप्रभावादपर्यायेण सकलकर्मफलभोगान्मुक्तिः। योगप्रभाव-हीनानामपि जडभरतादीनां मुक्तिश्रवणाच्च न तद्बलात् कर्मक्षयोपपादनं युक्तिमत्।

भावदीपिका

ऽवीक्षणं विभ्रमान्तरहेतुर्भवति। यथा स्थाणौ पुंस्त्वाऽरोपः 'मामयमवलोकयति सांप्रतं मां प्रतिरोद्धुमुद्यतः'—इत्यादिसमारोपहेतुः, यथा वा "आकाशाद् वायुः" इत्यादावाकाशादि-विभ्रमस्य वाय्वादिविभ्रमहेतुत्वम्। यदा स्वतन्त्रो मायोपाधिरीश्वरः स मायातादात्म्यमारोप्य तद्विकारांश्चात्मीयत्वेन ईक्षणादीन् मन्यते, तदा न जीवाद् विलक्षणजीवस्य मोक्षार्थं द्रष्टव्यत्वम्; जगद्बीजं निरूपयतः सूत्रस्य भंगः तयात्वे स्यात्। यदा तु प्रसुप्तस्येव स्वात्मन्यारोपमकुर्वाणस्यैव मायाविकाराः प्रभवन्ति विकारान्तरहेतुभूताः तदाऽधिष्ठा-त्वेन कारणत्वेन कारणश्रुतीनामुपपत्तौ किं स्वतन्त्रोपाधिकल्पनया? "चित्रभित्तिरिव मिथ्या मनोरमम्"इति मैत्रश्रुतेः चैत्रस्येव भित्तिरुदासीनमेव मिथ्याप्रपञ्चाऽधिष्ठानं ब्रह्मेति निर्धा-र्यताम्। यदि च "सोऽकामयत"इति परमेश्वरस्य जीवस्येव निश्छिद्र आरोपस्तदा कर्मशङ्काऽपि दुर्वारा। यदि जीवकर्मणैव स समारोपः, तर्हि तदाऽविद्योप[धा]नोऽप्यस्तु किं स्वतन्त्रेणो-पाधिनेश्वरस्य? "सर्वोपेता च तद्दर्शनात्।"—परा देवता सर्वशक्तियुक्ता "सर्वकामः सत्यसङ्कल्पः" इत्यादि श्रुतौ "तद्दर्शनात्"इति सूत्रभाष्ययोरप्ययमेवार्थः—इत्याशयेनाह—सोऽकामयत इति। प्रासङ्गिकमवधूय प्रकृतं स्वमते योगफलसम्पादनमालम्बते—तत इति। यत एवं श्रुतयो गर्जन्ति तत इत्यर्थः। ततोऽपि किम्? तदाह–तच्चेति। योगप्रभावोऽसौ, सार्व-त्रिको वा? नाद्यः; अनैकान्तात्। द्वितीये—योगहीनानां कर्मक्षयोपायाभावान्मुक्त्याशोच्छेदो योगबलात्; योगफलभोगकालेऽपि कर्मान्तरसम्भवाच्च। योगिनामप्येवम्। यद्यपि भूतोपाधि-र्भाव्युपाधेर्बलीयानिति निर्णीतम्—"अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य" इत्यत्र, तथापि अद्य तेषामी-श्वरसाक्षात्कारात् तदानीन्तनं कर्म न फलपर्यवसायि, तर्हि स एव वेदाचार्योदितः सर्वकर्मक्षया-योपासनीयः किं योगप्रभावशरणतया?—इत्याशयेनाह—योगप्रभावेति।

ज्ञानवती

यजन करने वालों की ही, जो कि हिरण्यगर्भ के रूप में संवृत्त हैं, इच्छापूर्व विराट् आदि की सृष्टि सुनी जाती है। इसलिये योगियों की इच्छा से ही लोकान्तर-संचार, स्थान-स्थान पर अणिमादि ऐश्वर्य और योगाधिष्ठान का निर्माण होता है वह (सिद्धान्त) न्यायमत में समीचीन नहीं है। इस प्रकार योग से उत्पन्न एक साथ सकलकर्मफलभोग से मुक्ति नहीं होती। क्योंकि योग के प्रभाव से हीन जडभरत आदि की मुक्ति सुनी जाती है। इसलिये उसके बल से कर्मक्षय का उपपादन युक्तियुक्त नहीं है।

[जीवन्मुक्त्युपपत्तिः–]

अस्माकं तु "भिद्यते हृदयग्रन्थिः" इत्यादिश्रुतेरभुक्तकर्मणोऽपि क्षयः। न चैवं प्रारब्धफलानामपि क्षयात् सद्यो मुक्तिरेव स्यात्, न जीवन्मुक्तिरिति शङ्कनीयम्; यत उत्सर्गोऽयं ब्रह्माधिगमे पूर्वयोः पुण्यपापयोर्विनाश इति। तस्य श्रुत्यादिप्रसिद्ध-ब्रह्मविद्भावहिरण्यगर्भादीनां महाकल्पादिजीवनावधारणात् प्रारब्धफलकर्मोपष्टब्ध-मायावेशं प्रति कुण्ठीभाव इत्यपवादः। अतएव भोगानुवृत्तिबीजकर्मवत् ब्रह्मात्मत्वसा-क्षात्कारस्य आप्रायणमनुवृत्तिकारणज्ञानार्थयज्ञादिकर्मापूर्वशेषानुवृत्तिः; इत्यपरोऽपवादः।

भावदीपिका

[जीवन्मुक्त्युपपत्तिः—]

स्वमतेऽनुज्ञानमेव सकलसंसाराऽनर्थसम्भारकारणकर्माविद्यादिनिबर्हणोपायः—इत्याह—अस्माकं त्विति। कर्मत्वाऽविशेषात् दाहकबोधकालानलाविशेषाच्च न दाहे विशेषः स्यात्; ततश्चा-निष्टापत्तिः? – इत्याशङ्क्याह — न चेति। "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये"—इत्यादिश्रुत्या जीवन्मुक्तिः प्रतिपाद्यते स्मृत्यादिभिश्च सा न स्यात्? –इति न शङ्कनीयम्; यतः "क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि"—इति सामान्यश्रुतिर्विशेषविषयया "तस्य तावदेव" इत्यादिश्रुत्या नियम्यते। यथा "सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान्"—इति विश्वस्याऽविशेषेण सकाशाज्जन्मश्रुतिः "आत्मन आकाशः" इत्यादि-क्रमविशेषविषयश्रुत्या। न च प्रारब्धफलकर्मणामविशेषः; ज्ञाताज्ञातपातकवत् सकाम-निष्कामपुण्यवच्च विशेषोपपत्तेः। न च दाहकबोधाविशेषः; शुष्कार्द्रदाहकाग्निरिव दाह्यविशे[षत्वेनेत-] द्विशेषोपपत्तेरिति[1] भावः। तथापि ब्रह्मसाक्षात्कारस्य क्षणिकत्वात् तद्विच्छेदे कृतस्य कर्मणः संसारिकृतकर्मवत् फलपर्यवसाने संसाराऽविच्छेदः स्यात्?—इत्याश-ङ्क्याह—अतएवेति। यतएव मोक्षफलकज्ञानाय यज्ञादयो विधीयन्ते अत एवेत्यर्थः। "उत्पन्ना-त्मप्रबोधानामात्माऽविद्या-तदुद्भवम्। सम्यग्ज्ञानाऽग्निना नित्यं दग्धमेव प्रजायते॥" इति वार्त्तिककारैर्बाधितावृत्तेर्विदुषा दग्धाभिमानादितया यथेष्टचेष्टाविरहस्य वर्णनाच्च। यत एवं ततो नोक्तशङ्कावकाशः—इत्याह—अत एवेति।

ज्ञानवती

[जीवन्मुक्त्युपपत्ति—]

हमारे (अर्थात् वेदान्तियों के मत में) तो "हृदय की ग्रन्थि भिन्न हो जाती है" इत्यादि श्रुति से अभुक्त कर्म का भी क्षय होता है। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि इस प्रकार प्रारब्ध कर्मों के फलों का भी क्षय होने से तत्काल मुक्ति (विदेह मुक्ति) ही हो जायगी न कि जीवन्मुक्ति; क्योंकि यह सामान्य नियम है कि ब्रह्म की प्राप्ति होने पर पूर्ववर्त्ती पुण्यपाप का विनाश हो जाता है। वह (अर्थात् नियम); श्रुति आदि में प्रसिद्ध ब्रह्मविद्भाव वाले हिरण्यगर्भ आदिकों के महाकल्पपर्यन्त जीवनधारण करने से प्रारब्ध कर्म से उपष्टब्ध माया के आवेश (अर्थात् स्वातन्त्र्य) के प्रति कुण्ठित हो जाता है, यह अपवाद हो जायगा। इसीलिये भोगानुवृत्ति के विषय में बीजभूत कर्म के समान ब्रह्मात्मत्व के साक्षात्कार का मरणपर्यन्त अनुवृत्ति के कारण ज्ञान के लिये जो यज्ञादि कर्म, उसके अपूर्व के शेष की अनुवृत्ति होती है;

[1] षत्वतत् वि—।

अतएव ज्ञानप्रमोषसम्भवाज्जीवन्मुक्तस्य कर्मलोपेन उत्तरसंसारशङ्का अपास्ता। अथ 'अथ सम्पत्स्ये'' इति श्रुत्या चास्मदादेर्देहादस्मादूर्ध्वं कैवल्यमवश्यम्भावि "ज्ञानम-प्रतिघं यस्य" इत्यादिशास्त्रादधिकारिणां ज्ञानाप्रमोषावधारणाच्च।

तथापि सति तत्त्वसाक्षात्कारे निरुपाधिकाहङ्कारादिभ्रममूलानुवृत्तिर्न युज्यत इति चेत्? मैवम्; "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इति श्रुतिविरोधेन सामान्यतोदृष्टानवतारात्। वैदिककर्मवत् वैदिकज्ञानस्यापि विचित्रशक्तित्वं

भावदीपिका

ननु "ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले, परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।"-इति श्रुत्या, "कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्"इति सूत्राच्च—कार्यात्ययः=महाप्रलयः; अतः परम्=प्रलयवर्जितं ब्रह्म; तस्य=कार्यस्य; अध्यक्षेण=ब्रह्मणा; सह तत्रत्यागच्छन्तीत्यर्थादुक्त-श्रुति-"ब्रह्मणा सहे"ति—स्मृतिभ्यां ब्रह्मादीनां प्रारब्धकर्मभोगावसाने मुक्तिरवगम्यते यद्यपि; तथापि अस्मदादीनां कुतस्तदवगमः? तत्राह—अथ संपत्स्य इति। ननु यद्यपि पारम-हंस्याऽरूढानां कुत्राप्यऽनियुक्तानां च ज्ञानाप्रतिघातसंभवात् यज्ञादिश्रुत्यर्थः संभाव्यते न पुनरधि-कारविशेषे वर्त्तमानानाम्, तेषां ज्ञानप्रतिघातसंभवात् मुक्तिश्रुतावप्यनाश्वासः?—इत्याशङ्-क्याऽह—ज्ञानमिति। "ज्ञानमप्रतिघं यस्य वैराग्यं च जगत्पतेः। ऐश्वर्यं चैव धर्मश्च सह सिद्धं चतुष्टयम्॥" इति स्मृतेरधिकारप्रापककर्मणैव नियतप्रवृत्तिः श्वासोच्छ्वासादिवन्न ज्ञानप्रतिघातकरीति भावः; तथाप्यधिकारारूढानां शक्रादीनां प्रतिपक्षविघातादेरहंकारमम-कारादिविशेषाध्याससाध्यत्वात् तस्य च तत्त्वसाक्षात्कारेण सहभावोऽनुपपन्नः?-इति शङ्कते—तथापीति। सोपाधिको हि बिम्बादिविभ्रम उपाधेः दर्पणादिलक्षणस्याऽपगममपेक्षते, न निरु-पाधिकः किमप्यपेक्षते स्वनिवृत्तये तत्त्वज्ञानमन्तरेणेति भावः। यद्येतद्युक्तिमात्रं वाऽनुमानं उभयमपि स्वतःप्रमाणश्रुतिविरोधे न स्वार्थं साधयितुं ईष्टे 'वैदिकी क्रिया न स्वर्गादिफला लौकिकक्रियावत्"—इत्यादिवत्—इत्याह—मैवमिति।

ननु तथापि यथा सावित्रप्रकाशस्य कृत्स्नतमोनिवर्त्तनपटीयसोऽपि नाऽपवरकाद्यावृतत-मोलेशनिवर्त्तकत्वं न तथा ब्रह्मज्ञानस्य संभाव्यते प्रारब्धफलकर्मणोऽपि रज्जुभुजंगादिवद-विद्यामयत्वेन विलक्षणद्रव्यकापवरकादिवत् तत्त्वप्रकाशप्रतिबन्धकत्वानुपपत्तेः?—इत्याशङ्क्याह—वैदिककर्मवदिति। न च यथा रज्जुर्भुजङ्गविवर्त्तरहिता साक्षात्क्रियते नैवं विश्वविवर्त्तशून्यं

ज्ञानवती

यह दूसरा अपवाद है। इसीलिये ज्ञानप्रमोष सम्भव होने से जीवन्मुक्त के कर्म का लोप होने के कारण उत्तरसंसार की शंका अपास्त हो गई। "अथ सम्पत्स्ये" इस श्रुति से हम लोगों के इस देह के बाद कैवल्य अवश्य होता है और यह भी है कि "जिसका ज्ञान अप्रतिघ है" इत्यादि शास्त्र से अधिकारी के ज्ञानाप्रमोष का भी निश्चय होता है।

(पू) तो भी तत्त्वसाक्षात्कार के होने पर निरुपाधिक अहंकार आदि भ्रम के मूल (=माया)की अनुवृत्ति युक्त नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है। "फिर अन्त में सम्पूर्ण माया की निवृत्ति हो जाती है" इस श्रुति से विरोध होने के कारण सामान्यतोदृष्ट (अनुमान) का अवतार नहीं हो सकता। वैदिक कर्म के समान वैदिक ज्ञान की भी विचित्रशक्तिता

वेदवादिभिरनपनोद्यः[१] एव। तस्मात् सह ब्रह्मसाक्षात्कारेण मायावेशानुवृत्तिर्न दुष्यति। अपान्तरतमा वेदाचार्यः पुराणर्षिः कृष्णद्वैपायनोऽभूत्; कृतब्रह्मसाक्षात्कारोऽपि सनत्कुमारश्च स्कन्दः; तदाधिकारिकत्वात् यावदधिकारं प्रारब्धफलकर्मवशादेव देहान्तरम्, कर्मणः सप्तजन्मादिहेतुत्वप्रसिद्धेः। न च सगुणोपास्तिकर्मणः स्वर्गभोगादस्य शेषात्, ततो हीनजन्मानुपपत्तिः; ऐश्वर्याद्यविघातात्,

भावदीपिका

ब्रह्म; ततः प्रतिबिम्बाद्यवभासमुखैक्यादिज्ञानवत् परोक्षमेव तज्ज्ञानं जीवतः; तेनान्त एव साक्षात्कार इति न जीवन्मुक्तिः; "विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्"–इत्यत्र अहंग्रहेण सगुणोपासनस्य विकल्पो नियमेनैकमेव कार्यं तस्योपास्यसाक्षात्कारद्वारा तद्भावफलत्वात्; उपासनान्तरस्यापि तथात्वेनाऽविशिष्टफलत्वात्। न च द्वौ विपरीतसाक्षात्कारौ युगपत् सम्भवत इति जीवतः सगुणसाक्षात्कारे स्वभाविकद्वैतसाक्षात्काराऽभिभववत् तत्त्वसाक्षात्कारेण कारणदाहे न तद्दाहस्यासंभावनोक्ता; निवर्त्यें सत्येव निवर्त्तकोदयस्याऽवश्यम्भावाद्। रज्ज्वादावपि सत्येव भुजंगादिप्रतिभासे साक्षात्कारः स्वीकार्यो यतः श्रुत्याद्यनुसारेण कतिपयकालसहभावोऽपि, तत एव न विरुध्यते। यथा खलु तुहिनविघातवृक्षोऽप्याशु विरलावयवतुहिनपटलं सहसा संहरति न निविडं शिलाभावमापन्नम्, तथा ब्रह्मबोधो विरोध्यप्यविद्यायाः किञ्चिद् रूपं सहसा संहरति किंचिच्च न—इति व्यवस्था युज्यते यस्मात्, तस्मादित्युपसंहारः।

पूर्वमेकस्मिन् जन्मनि मध्ये लब्धतत्त्वबोधानां न नियमेन तदैव विदेहमुक्तिः किन्तु अवशिष्टजीवनप्रतीक्षाऽपि इत्युक्तम्। सांप्रतमनेकजन्मप्रतीक्षाऽपि—इत्याह—अपान्तरतमा इति। किञ्च बोधोत्तरकालीनकर्मान्तिरवशात् देहान्तरं, पूर्वकर्मान्तिरवशाद्वा?—उभयथाऽपि बोधवैफल्यम्–इत्याशङ्क्यम्—इत्याह–तदाधिकारिकत्वादिति। यावद्भिः कलेवरैः अधिकारसिद्धिस्ताव[द]धिकारप्रापकैककर्मफलमेव। तथापि सप्तजन्मसु विशिष्टविप्रत्ववत् एकरूपमेव जन्मान्तरं वाच्यम्, इतरथा शास्त्रीयन्यायविरोधः स्यात्?—इत्याशङ्क्याह—न चेति। श्रुत्यु-

ज्ञानवती

वेदवादियों के द्वारा निराकृत नहीं की जा सकती। इस कारण ब्रह्मसाक्षात्कार के साथ मायावेशकी अनुवृत्ति दूषित नहीं होती। अपान्तरतमा नामक वेदाचार्य (दूसरे जन्म में) पुराणऋषि वेदव्यास हुए। ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले भी सनत्कुमार, स्कन्द हुए। उसका अधिकारी होने से अधिकारपर्यन्त प्रारब्धफलवाले कर्म के अधीन (होने से) देहान्तर (की प्राप्ति होती है) क्योंकि कर्म, सात जन्म आदि के हेतु हैं यह प्रसिद्ध है। स्वर्ग भोग है जिसका इस प्रकार के सगुणोपासना रूप कर्म से शेष होने से फिर हीन जन्म की अनुपपत्ति हो जायगी ऐसा नहीं है; क्योंकि ऐश्वर्य आदि का निपात नहीं होता और तन्मूलत्व (अर्थात् स्वर्गभोगमूलत्व) का निश्चय न होने से तथा "सभी लोकों में कामचार होता है" इस श्रुति से चन्द्रमण्डल से निकले हुए (लोगों) को उस (=सगुणोपासना) की दृष्टि होने के कारण उसका शेष होने से आवृत्ति नहीं होती यह सिद्धान्त नहीं टूटता।

१ (ख) रपनोद्यम्।

तन्मूलत्वान्निश्चयात् "सर्वेषु लोकेषु कामचारः" इति श्रुतेश्च चन्द्रोत्तीर्णानां तद्दृष्टेर्न तच्छेषादावृत्तिः, इति सिद्धान्तो न भज्येत।

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः[1]॥"

निर्गुणादेव साक्षात्कारादविद्याकामकर्मतत्कार्यजन्मादिप्रहाणिः। सगुणध्यानाच्च विराट्सूत्रात्मापेक्षया तृतीयं पारमेश्वरं विश्वनिर्माणाद्यैश्वर्यमनुभूय कैवल्यम्, इत्येतदाह श्रुतिः।

येषां स्वतो विभक्ता ब्रह्मणो जीवा येषां चाविभक्ताः स्वतो ब्रह्मणैव क्रीडया विभूतिदर्शनेच्छया वा स्वातन्त्र्यख्यापनार्थं चाऽविभक्ताः, तेषामीश्वरस्य स्वतन्त्रत्वा देव सेश्वरसांख्यपैलुकपैठराणां वेदान्तैकदेशिनां च पुनः कोपो न ह्यनन्तमुक्तानपि निवारयेत्। न च श्रुतिस्मृतिलक्षणा तदाज्ञैव तं वारयेत्; साङ्कुशत्वान्निरङ्कुशत्व-स्वातन्त्र्यव्याकोपात्; आज्ञाया एव निरङ्कुशत्वनियामकत्वात्[2]। दृश्यन्ते च स्वाज्ञाभङ्गमाज्ञान्तरञ्च कुर्वाणाः स्वतन्त्राः केचित्।

भावदीपिका

दाहरणव्याजेन स्वमतस्योपपन्नत्वोपसंहारः—ज्ञात्वा देवमिति। प्रकारान्तरेण परमतेषु मुक्त्यनुपपत्तिमाह—येषाञ्चेति। मह्यं तं बन्धनं नयन्ति ये[तेषां]नियामकाङ्गीकारे च स्वातन्त्र्यहानिः—इत्याह—न चेति। न च आज्ञाया एकान्तेन नियामकत्वमपि—इत्याह—दृश्यन्ते चेति।

ज्ञानवती

"समस्त बन्धनों की अपहानि वाला तथा क्लशों के क्षीण होने से जिसके जन्म और मृत्यु की हानि हो गई है, ऐसा योगी देव (अर्थात् आत्मा को) जानकर उसका ध्यान करके केवल आप्तकाम होता हुआ देह का भेद होने पर तीसरा विश्वैश्वर्य प्राप्त करता है।"

निर्गुण साक्षात्कार से ही अविद्या, काम, कर्म और उसके कार्य=जन्म आदि आदि की हानि हो जाती है। और सगुण ध्यान से विराट् सूत्रात्मा की अपेक्षा तीसरा पारमेश्वर अर्थात् विश्व-निर्माण आदि के ऐश्वर्य का अनुभव करके कैवल्य को (प्राप्त करता है); यह श्रुति कहती है।

जिन (नैयायिक सेश्वरसंख्य, पैलुक आदि) के (मत में) जीव ब्रह्म से स्वतः विभक्त हैं; और जिनके (मत में) अविभक्त हैं अर्थात् स्वतः ब्रह्म के द्वारा ही क्रीड़ावश या विभूति-दर्शन की इच्छावश स्वातन्त्र्य बताने के लिये अविभक्त हैं, ऐसे सेश्वरसांख्य पैलुक, पैठर, वेदान्तैकदेशिक के मत सें ईश्वर के स्वतन्त्र होने के कारण कदाचित् पुनः (ईश्वर का) कोप अनन्त मुक्त लोगों का (संसार-बन्धन से) निवारण नहीं कर पायेगा। (पू) श्रुतिस्मृति-लक्षणों वाली उस (ब्रह्म) की आज्ञा ही उस (ईश्वर) को (कोप से) वारित कर देगी ? (उ) तब तो वह सांकुश हो जायगा (और फलतः उसका) निरंकुशत्वरूपस्वातन्त्र्य व्याहत हो जायगा। क्योंकि आज्ञा ही निरंकुशत्व की नियामिका है। कोई-कोई स्वतन्त्र व्यक्ति अपनी आज्ञा का भङ्ग एवं आज्ञान्तर को करते हुए देखे जाते हैं।

---

[1] श्वे० उ० १।११। [2] (क) निरंकुश।

[ऐकभविकमोक्षवादस्तत्खण्डनश्च]

अथ प्रायणं सर्वकर्मणां व्यञ्जकम्, तानि च सर्वाणि मुमुक्षुदेहमारभन्ते। तत्र काम्यप्रतिषिद्धक्रियावर्जनात्, नित्याद्यनुष्ठानात् प्रत्यवायानुदयात् उत्तरशुभाशुभदेहारम्भाभावात्; प्रारब्धकर्मणाञ्च भोगेन क्षयात्, वर्त्तमानदेहपाते कैवल्यमवश्यंभावि इति मतम्? तदप्यौत्प्रेक्षणिकमेव; श्रुत्याद्यदर्शनात्; आम्नायसिद्धानेकविजातीयदेहभोग्यफलानां कर्मणामेकदेहारम्भकत्वानुपपत्तेश्च। प्रायणस्य च व्यञ्जकत्वे युगपद्विरुद्धफलानां कर्मणां युगपदेव स्वफलदानं तेषां प्रसज्येत; क्रमेण चोपलभ्यते। प्रबलस्य प्रथमं कार्यारम्भे सप्तजन्मादिप्रारम्भोऽपि; इति व्यर्था प्रायणस्य व्यञ्जकत्व-

भावदीपिका

[ऐकभविकमोक्षवादस्तत्खण्डनञ्च—]

कर्मवादिनां मोक्षमनूद्याऽपवदति–अथ प्रायणमित्यादिना। यथा वसन्तादिकालः आम्रादीनां पल्लवादिकार्योन्मुखत्वं सम्पादयति, तथा मरणकालः कर्मणां देहान्तरारम्भोन्मुखत्वं सम्पादयति; तदेतत् कर्मव्यञ्जकत्वं प्रायणस्य। तथापि मुमुक्षुदेहकृतं कर्म संसारतरुं पल्लवयेत्? तत्राह–तत्र काम्येति। तदुक्तम्—"मोक्षार्थी न प्रवर्त्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः। नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया॥" इति। यथा खलु ज्ञानान्मोक्ष इत्यत्र श्रुत्यादिसामञ्जस्यं न तथाऽश्वमेधादिकर्मभिः साक्षान्मोक्ष इति पक्षेऽपि; किमङ्ग पुनः काम्यादावकरणप्रत्यवायहानिफलनित्यकरणमात्रेण मोक्ष इति पक्षे। ततो "नान्यः पन्थाः" इत्यादिप्रत्यक्षश्रुतिविरोधादपस्मृतिरेषा। अथ विदेहलक्षणमोक्षस्यैतावता सिद्धौ श्रुत्याद्यसामञ्जस्यं स्यात्?—इत्याह—आम्नायेति। न खल्वेकजन्मारम्भकाण्येव कर्माणि भवन्त्येकजन्मनि इत्यत्र प्रमाणमस्ति। तथा च देहान्तर[प्राप्ति-]शङ्कया न निर्व्याकुलत्वेन मोक्षे प्रवृत्तिरिति भावः। यदा च विविधजन्मफलानि फलाय प्रवर्त्यन्ते प्रायणेन कर्माणि तदूर्ध्वं विदेहत्वाय, तदैकदैवैकस्य जीवस्य नानादेहारम्भो निष्प्रमाणकः प्रसज्यते इत्याह—प्रायणस्य चेति। उपलभ्यते–शास्त्रेण, अयोगवादिना स्वीक्रियते चेत्यर्थः। क्रमेणारम्भकत्वे च युगपत् सर्वकर्माभिव्यक्तिकल्पना व्यर्था। प्रकारान्तरेण क्रममापाद्य

ज्ञानवती

[ऐकभविक मोक्षवाद और उसका खण्डन—]

मृत्यु सभी कर्मों की व्यञ्जिका होती है और वे सब मुमुक्षु के देह का आरम्भ करते हैं। उसमें काम्य एवं प्रतिषिद्ध कार्यों के वर्जन से और नित्य आदि के अनुष्ठान से प्रत्यवाय का उदय न होने के कारण उत्तर शुभाशुभ देह का आरम्भ न होने, और प्रारब्धकर्मों का भोग के द्वारा क्षय होने से वर्त्तमान देह का पात (=मृत्यु) होने पर कैवल्य अवश्यम्भावी है, यह मत भी सम्भावनावश (कह दिया गया) है। क्योंकि (इस विषय में) श्रुति आदि का दर्शन नहीं होता, साथ ही (ऐसा मानने पर) आम्नाय से सिद्ध अनेक विजातीय देह के भोग्य फलों वाले कर्मों का एकदेहारम्भकत्व भी अनुपपन्न हो जायगा। तथा मृत्यु के व्यञ्जक होने पर एक साथ विरुद्धफलवाले कर्मों का एक ही फलदान भी प्राप्त होने लगेगा किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि (उन फल वाले कर्मों के फल की) प्राप्ति क्रम से होतीं

कल्पना। कल्पने चामुमुक्षोरपि मोक्षः स्यात्। कर्मानधिकृतस्य निश्चितः, कर्माधिकारिणः प्रमादात् काम्यादिसम्भवात् सन्दिग्धश्च। अतः क्रियाजत्वे नित्यत्वहानान्नेयं कल्पना।

[बौद्धसम्मतमोक्षसिद्धान्तस्य खण्डनम्—]

न च प्रदीपस्येव निर्वाणान्मोक्षः, "तस्य तायिनः" इति वचनात्, व्यवहारसिद्धसोपप्लवविज्ञानसन्तानात्मकमुमुक्षोरुच्छेदो मोक्षः; मुच्यमानाभावे मोक्षानिरूपणात्। न शून्यमेव व्यवहारसिद्धमुमुक्षुभावं ब्रह्मैव विमुच्यते; तादृशस्य वन्ध्या-

भावदीपिका

कल्पनावैफल्यमाह—प्रबलस्येति। "कृतात्ययेऽनुशयवान् दृष्टस्मृतिभ्याम्"[इत्यत्र] निर्णीतं चैतत्। अङ्गीकृत्य कल्पनादूषणमाह—कल्पने चेति। तथाऽपि मुमुक्षोः स्यादेव ?—इति मन्वानं प्रत्याह—कर्मानधिकृतस्येति। "साऽपराधवतो मुक्तिः सन्दिग्धैव प्रसज्यते। द्विजातीनां खरादेस्तु त्वदुक्त्या स्यादसंशया"—इति वृद्धवार्त्तिकाच्चैवम्। अपराधः= काम्यादिवर्जननित्यादिकरणयोः प्रमादः।

[बौद्धसम्मतमोक्षसिद्धान्तस्य खण्डनम्—]

माध्यमिकानां मोक्षं निराचष्टे—न चेति। तप्तोपलतलनिक्षिप्तजलबिन्दूनां तत्राऽदर्शनेऽपि तोयस्त्वेन समुद्रेऽन्वयवत् प्रदीपस्य तेजोद्रव्ये तेजस्त्वेनाऽन्वयाऽङ्गीकारात् तन्निरन्वयनाशोऽसंप्रतिपन्नः। तदुक्तमाचार्यवाचस्पतिना—"उदबिन्दौ च सिन्धौ च तोयभावो न भिद्यते। विनष्टेऽपि ततो बिन्दावस्ति तस्याऽन्वयोऽम्बुधौ"॥ इति द्रष्टव्यम्। प्रतिबन्दीमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। यदि व्यावहारिकमुमुक्षूच्छेदे मुच्यमानाभावस्तर्हि तवाऽपि "न विरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च बाधकः। न मुमुक्षुर्नवै मोक्ष इत्येषा परमार्थता॥"—इति वदतो मुच्यमानाभावस्तुल्यः। कल्पितसम्पादनमपि तुल्यमिति प्रतिबन्दी। सतः कल्पनाधिष्ठानत्वदर्शनाददर्शनाच्चासत इति विशेषेण परिहरति—तादृशस्येति।

ज्ञानवती

है। प्रबल (कर्म) के प्रथम कार्यारम्भक होने पर सात जन्म का प्रारम्भ भी (होता है) इसलिये मृत्यु की व्यञ्जकत्वकल्पना व्यर्थ है। और कल्पना करने पर तो अमुमुक्षु (अर्थात् तिर्यक् एवं अत्यन्तप्राकृत मनुष्य जिन्हें काम्यकर्मों का ज्ञान न होने से प्रत्यवाय नहीं लगता) का भी मोक्ष हो जायगा। जो कर्म के लिये अनधिकृत है उसके लिये (मोक्ष) निश्चित और कर्माधिकारी का प्रमाद के कारण तथा काम्यकर्म के सम्भव होने से सन्दिग्ध हो जायगा। इसलिये (मोक्ष के) क्रिया से उत्पन्न होने पर नित्यत्व की हानि होने से यह कल्पना (ठीक) नहीं है।

[बौद्धसम्मत मोक्षसिद्धान्त का खण्डन—]

(पू) प्रदीप के समान निर्वाण से मोक्ष होता है, क्योंकि "तस्य तायिनः" (उस तायी अर्थात् विज्ञानसन्तान का विमोक्ष होता है) यह वचन है। व्यवहार से सिद्ध दुःख के साथ वर्त्तमान विज्ञानसन्तानात्मक मुमुक्षु का उच्छेद मोक्ष है ? (उ) (इस मत में) मुच्यमान के

पुत्रादेर्व्यवहारसिद्धमुमुक्षुभावस्यापि अप्रसिद्धत्वात् । अतएव तत्पूर्वको विशुद्ध-विज्ञानोदयोऽपि न मोक्षः; तत्राप्युपप्लुतसन्तानदेहस्य मुमुक्षोरुच्छेदेन मोक्षार्थानुपपत्तेः । अन्त्यक्षणानुपपत्तेश्च न सन्तानोच्छेदः । अर्थक्रियायां तस्यान्त्यत्वानुपपत्तेः, तदभावे च तस्यासत्त्वेन पूर्वपूर्वासत्त्वे सन्तानस्यैवासत्त्वात् कस्योच्छेद उदीयात् ? अथ सर्वज्ञसन्ताने निरूपप्लवत्वेन सजातीयत्वेन स आरभते, तेन सत्त्वं स्वसन्ताने चान्त्यत्वम् ? तन्न; आरभ्यारम्भकभावेन सन्तानभेदानुपपत्तेः। अथ सर्वज्ञज्ञानं प्रत्यालम्बनतयैष जनकः, नोपादानतया; समनन्तरप्रत्ययस्तूपादानं तेन न तुल्यजातीयत्वेन सन्तानानुवृत्तिः ? तन्न; यतो निरन्वयविनाशाभ्युपगमेन कारणान्वयाभावात् नाभिन्नकारणस्वभावेन तुल्यजातीयत्वमिति । जनकतामात्रेण तुल्यत्वे न सन्तानोच्छेदः । तस्मादस्मत्पक्ष एव रमणीय इति प्रयोजनसिद्धिः ।

भावदीपिका

बौद्धान्तराणां मोक्षमाक्षिपति-अत एवेति । तत्पूर्वकः=सन्तानोच्छेदपूर्वकः । किञ्च सन्तानस्याऽन्त्यत्वेनाऽभिमतस्य क्षणस्य कार्यारम्भकत्वाऽनारम्भकत्वयोर्न सन्तानोच्छेदः-इत्याह-अन्त्येति । अन्त्यत्वानुपपत्तेर्न सन्तानोच्छेद इति शेषः । दोषोद्धारमाशङ्क्य पुनः दोषमासञ्जयति-अथ सर्वज्ञेति । सन्तानभेदानुपपत्तेः-पूर्वसन्तानस्याऽनुच्छेद इत्यर्थः । पुनरुद्धारमाशङ्क्य उक्तदोषं द्रढयति—अथेति । अथ सर्वज्ञसन्ताने जनकत्वेन प्रवेश एव मुक्तिः, न सन्तानोच्छेदः ? न; स्वयंप्रकाशस्य कर्मतया ज्ञानजनकत्वानुपपत्तेः । न चोपादानोपादेयभावोऽभ्युपेयते; न च प्रकारान्तरमत्र संभवति । सर्वज्ञज्ञानस्य च सर्वविषयप्रत्यक्षस्य सोपप्लवज्ञानग्राहकत्वे ग्राह्यग्राहकयोरैक्याङ्गीकारात् तस्यापि सोपप्लवत्वप्रसक्तेर्न तत्सन्तानप्रवेशो मोक्षो युक्त इति द्रष्टव्यम् । यस्मात् पक्षान्तरवत् अस्मत्पक्षे दोषो[न]दृश्यते तस्मादित्युपसंहारः ।

ज्ञानवती

अभाव में मोक्ष निरूपण हो नहीं हो सकता । (पू) शून्य एवं व्यवहारसिद्ध मुमुक्षुभाव वाला ब्रह्म ही मुक्त होता है ? (उ) ऐसा नहीं है । क्योंकि उस प्रकार के वन्ध्यापुत्र आदि का व्यवहारसिद्ध मुमुक्षुभाव भी अप्रसिद्ध है । इसीलिये तत्पूर्वक (अर्थात् दुःखमय विज्ञान सन्तान के नाश के बाद) विशुद्ध विज्ञान का उदय भी मोक्ष नहीं है । क्योंकि वहाँ भी दुष्टसन्तानदेह वाले मुमुक्षु के उच्छेद से मोक्षरूप अर्थ की अनुपपत्ति हो जायगी । और अन्त्यक्षण की अनुपपत्ति से सन्तान का उच्छेद भी नहीं हो सकता । साथ ही अर्थक्रिया में उसके अन्त्यत्व की अनुपपत्ति होने से और उस (अर्थात् अर्थक्रिया) के अभाव में उस (अर्थात् अन्त्यक्षण) के न होने से पूर्व-पूर्व के न होने पर सन्तान के ही असत् होने से किसका उच्छेद होगा ।

(पू) सर्वज्ञ के सन्तान के निरुपप्लव और सजातीय होने के कारण वह अर्थात् सोपप्लव सन्तान निरुपप्लवसन्तान का आरम्भ करता है । इसलिये सन्तान में सत्त्व तथा अन्त्यत्व है ? (उ) यह नहीं है । आरम्भ्य एवं आरम्भक भाव से सन्तानभेद अनुपपन्न है । (पू) सर्वज्ञान के प्रति यह (अर्थात् असर्वज्ञसन्तान) आलम्बन के रूप में जनक है न कि उपादान के रूप में क्योंकि उपादान तो समनन्तरप्रत्यय वाला होता है । इसलिये तुल्यजातीय के रूप में सन्तान की अनुवृत्ति नहीं होती ? (उ) ऐसा नहीं है । क्योंकि (कपूर के समान) निरन्वयविनाश मानने पर कारण का अन्वय न होने से अभिन्नकारण-स्वभाव के नाते तुल्यजातीयता नहीं है । और जनकतामात्र से तुल्यत्व होने पर सन्तानोच्छेद नहीं होता । इसलिये हमारा ही पक्ष रमणीय है । इसप्रकार प्रयोजन की सिद्धि हुई ।

अधिकारिनिरूपणम्

अथ अधिकारी यथोक्तविचारे विचारणीयः। श्रुतिस्तावत्—
"परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥"[1]

इति ज्ञानार्थश्रवणाय ब्राह्मणं गुरुपादोपसर्पणं कारयति। तस्मादौपनिषदात्मज्ञानादेः स्वतन्त्रनित्यमोक्षपुमर्थलाभः; "तमेव विदित्वा" इत्यादि वेदात्; "पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः" इति[2] व्यासूत्रात्। अतः=यथोक्तज्ञानात्; शब्दात्= उदाहृतवेदात्।

भावदीपिका

अधिकारिनिरूपणम्

अथ प्रथमवादोपक्षिप्ताऽधिकार्यनुबन्धप्रपञ्चाय वादाऽन्तरमारभते—अथेति। अधिकारिनिर्देशमवलम्ब्य श्रौतम्; तत्परीक्षा कार्या; जिज्ञासायाः श्रुतिप्रमाणकत्ववत् तदनुबन्धानामपि श्रुतिप्रमाणकत्वाय। अत एव प्रथमवादे श्रुत्यैवानुबन्धोपक्षेपः कृतः—इत्याशयेनाह—श्रुतिस्तावदिति। गुरुपादोपसर्पणादेः क्रमेण प्रयोजनमाह—ज्ञानार्थेति। "अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति" इति जाबालश्रुतेः; "अभिपूजितलाभांस्तु जुगुप्सेतैव सर्वतः। अभिपूजितलाभैर्हि यतिर्मुक्तोऽपि बध्यते॥ अल्पान्नाभ्यवहारेण रहःस्थानासनेन च। ह्रियमाणानि विषयैरिन्द्रियाणि निवर्तयेत्॥ इन्द्रियाणां निरोधेन रागद्वेषक्षयेण च। अहिंसया चभूतानां अमृतत्वाय कल्पते॥"—इति मनुस्मृतेश्च। स्वाश्रमधर्ममात्रादवगम्यते [मोक्षो] पुमर्थः; ततः किं ज्ञानेन ?—इति न वाच्यम्; कर्मकार्यस्यापि चिन्त्यत्वात्, बहुश्रुतिस्मृतिन्यायविरोधे च "पूर्णाहुत्या सर्वान् कामानाप्नोति" इतिवत् प्रशंसात्वसंभवाच्च—इत्याशयेनाह—नित्येति।

ज्ञानवती

अधिकारी-निरूपण

यथोक्त विचार होने के बाद अब अधिकारी का विचार करना चाहिये। श्रुति—

"ब्राह्मण को कर्मों के द्वारा उपलब्ध लोकों की परीक्षा करके निर्वेद को प्राप्त हो जाना चाहिये। क्योंकि कृत (अर्थात् कर्म) से अकृत (अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति सम्भव) नहीं है। वह हाथ में समित् लेकर श्रोत्रिय एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरु के ही पास आवे।"

इस प्रकार ज्ञानार्थश्रवण के लिये ब्राह्मण को गुरुपाद के समी पगमन कराती है। इसलिये उपनिषद्–प्रतिपाद्य आत्मज्ञान आदि से स्वतन्त्रनित्यमोक्ष रूप पुरुषार्थ की प्राप्ति (कथित) है। क्योंकि इस विषय में "उसी को जानकर" इत्यादि वेद, तथा "पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः" यह व्याससूत्र है। 'अतः' (का मतलब है) यथोक्तज्ञान से, 'शब्दात्' (का अर्थ है) उदाहृत वेद से।

---

[1] मुं० २।१२। [2] ब्र० सू० ३।४।१।

[ब्राह्मणत्वपरीक्षा–]

अत्र ब्राह्मणस्तावत् परीक्षणीयः। तत्र 'वृत्तं ब्राह्मणलक्षणम्' इति वदन्तः प्रष्टव्याः– कि[म]तद्विशेषणं वृत्तं तथा? यद्वा शमादिव्यावर्तकम्? वैदिकोपसर्जनम् वा? ब्राह्मणव्यवच्छेदक अथवा इति? ब्राह्मणशब्दार्थोऽपि जातिर्वा? उपाधिर्वा? लक्षणं च जातिव्यञ्जकं वा? दानादिपात्रता वा? तत्र प्रथमद्वितीययोः शूद्रादेरपि ब्राह्मणशब्दस्य जातिपरत्वे ब्राह्मणत्वप्रसङ्गः; तृतीये क्षत्त्रियवैश्ययोरपि। तथा च—"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः"[१]। "ब्राह्मणो वृहस्पतिसवेन यजेत राजा राजसूयेन", "सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः"[२] "ब्राह्मणक्षत्त्रियविशां कर्माणि प्रविभक्तानि"[३] इत्यादिश्रुतिस्मृतिलक्षणविभागप्रामाण्यव्याकोपः प्रसज्येत। अथ ब्राह्मणे[४]

भावदीपिका

[ब्राह्मणत्वपरीक्षा—]

ब्राह्मणस्य नियोगस्तत्परिज्ञानमपेक्षते इति तदर्थं यतते—अत्रेति। तत्र पुराणोक्तं ब्राह्मणलक्षणं दूषयितुं विकल्पयति—तत्रेति। किं अविशेषितवृत्तमात्रं ब्राह्मणलक्षणम्? शमो दमस्तपः शौचमित्यादि वा? वैदिकं वृत्तमात्रं वा? ब्राह्मणोद्देशेन विहितं वैदिकं वृत्तं वा?—इति विकल्प्य क्रमेण दूषणं शब्दार्थलक्षणविकल्पपूर्वकमाह—तत्रेत्यादिना। "उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्यात् ब्रह्मणश्चैव धारणात्। सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥"—इति मनुना वेदश्रवणस्य प्रभुत्वे हेतुत्वेनोपन्यासान्नायं ब्राह्मणत्वोपाधिः। तथाप्यङ्गी-

ज्ञानवती

[ब्राह्मणत्व की परीक्षा—]

इस प्रसङ्ग में ब्राह्मण की परीक्षा करनी चाहिये। इस विषय में 'ब्राह्मण का लक्षण वृत्त है' ऐसा कहने वालों से पूछना चाहिये कि क्या ब्राह्मण का अर्थ केवल वृत्त है? या शम आदि (जो कि अन्य जाति से ब्राह्मण का) व्यावर्त्तक है? अथवा वैदिकोपसर्जन (अर्थात् वेदाध्यायी होना)? अथवा (ब्राह्मण के उद्देश से विहित वैदिक वृत्त जो कि) ब्राह्मण का व्यवच्छेदक है (उससे युक्त होना)? ब्राह्मणशब्द का अर्थ भी क्या जाति है या उपाधि? और क्या लक्षण जाति का व्यञ्जक है या दान आदि की पात्रता का? उनमें प्रथम एवं द्वितीय (अर्थात् वृत्त एवं शम आदि) में ब्राह्मणशब्द के जातिपरक होने पर शूद्र आदि भी ब्राह्मण होने लगेंगे। तीसरे में (अर्थात् वेदाध्यायी को यदि ब्राह्मण माने तो) क्षत्रिय एवं वैश्य भी (ब्राह्मण होने लगेंगे) और इसप्रकार "ब्राह्मण इस (पुरुष) का मुख था राजा लोग भुजायें–" "ब्राह्मण वृहस्पतिसवन याग करें" "राजा राजसूय याग करें" "ब्राह्मण इस सभी

---

[१] पु० सू० १।
[२] मनु० १।९३।
[३] भ० गी० १८।४१।
[४] (ख) ब्राह्मणो।
[५] शमो दमस्तपः शौचं सत्यमिन्द्रियनिग्रहः। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्। गीता १८।४२।

ब्राह्मण्यादुपाधेर्ब्राह्मणशब्दः ? तर्हि "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत" इति श्रुतिबाधः । न खलु पचिक्रियायोगात् प्रागेव पाचको भवति । अथ भाव्युपाधिमपेक्ष्यायं प्रयोगः? तर्हि राजन्यवैश्ययोरपि अयमेवोपनयनकालः स्यात्; तयोरपि तद्भावात् अनेन ब्राह्मणशब्देनाभिधानात् । तथा च कालभेदवचनं बाध्येत । अथ अग्रजन्मनि रूढो ब्राह्मणशब्दः ? तर्हि अलं वृत्तलक्षणेन । ब्राह्मणवृत्तं च सन्यासादि तज्जातेरेवेति । चतुर्थेऽप्यनिष्टापत्तिः । अतो ब्राह्मणत्वयोग एव तल्लक्ष्म । अतो वृत्तस्थस्य हीनस्यापि

भावदीपिका

कृत्य दूषणमाह—तर्ह्यष्टवर्षमिति । "गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत", "पुरोडाशकपालेन तुषानुपवपति" अत्र भार्यापुरोडाशयोः भाविनोर्विशेषणत्वं गृहस्थत्वादिव्यपदेशसम्पादनाय तुषा अवहतलण्डुलानाम् । यथा वसन्तादिकालः सेचनादिक्रियाणां, तथा जीवत्वोपाधेः प्राणधारणस्य भावित्वविवक्षायां संसारस्याऽगन्तुकत्वदोषात्, अनादित्वस्याऽऽगमन्यायाभ्यां सम्भवाच्च भूतोपाधिस्वीकारो युज्यते, न तथेहजन्मान्तरीयभार्यादेः गृहस्थत्वाद्युपाधित्वं युक्तम; अतिप्रसंगात्; तथा भाविब्रह्मश्रवणाद्युपाधिः—इत्याह—अथेति । कालभेदो मनुनोक्तः "गर्भाष्टमेऽब्दे कुर्वीत ब्राह्मणस्योपनायनम् । गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भाच्च द्वादशे विशः ।" यदपि—"ब्रह्मवर्चसकामस्य कार्यं विप्रस्य पञ्चमे । राज्ञो बलार्थिनः षष्ठे वैश्यस्येहार्थिनोऽष्टमे ॥—" इत्यापवादिकः कालभेदः, तदा—तद्बाधो द्रष्टव्यः । "आषोडशाद् ब्राह्मणस्य सावित्री नातिवर्त्तते । आद्वाविंशात् क्षत्रबन्धोराचतुर्विंशतेर्विशः ॥"—इत्यापत्कालभेदबाधोऽपि ज्ञातव्यः ।

अथ "भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीवनाः । बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः । कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवादिनः ॥"—इत्यादिरूढिपंक्तिपाठादिना न यौगिकोऽयम् ? तत्राप्याह—तर्ह्यलमिति । "ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते । ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥"

ज्ञानवती

सृष्टि का धर्म के कारण स्वामी है।" "ब्राह्मण क्षत्रिय एवं वैश्यों के कर्म अलग-अलग हैं" इत्यादि श्रुतिस्मृतिलक्षण वाले विभाग के प्रामाण्य की हानि होने लगेगी ।

(पू) ब्राह्मणशब्द ब्राह्मण (अर्थ में) ब्राह्मण्य उपाधि के कारण हैं? (उ) तब तो "आठ वर्ष वाले ब्राह्मण का उपनयन करना चाहिये" इस श्रुति का बाध हो जायगा । ऐसा नहीं है कि क्रिया के योग से पहले पाचक होता है (पू) भावी उपाधि की अपेक्षा करके यह प्रयोग होता है ? (उ) तब तो क्षत्रिय और वैश्य का भी यही उपनयनकाल होने लगेगा। क्योंकि उन दोनों की भी वह (अर्थात् भावी उपाधि) होने से इस ब्राह्मणशब्द से अभिधान होने लगेगा । और इस प्रकार कालभेद का वचन बाधित हो जायेगा । (पू) ब्राह्मणशब्द अग्रजन्मा में रूढ़ है ? (उ) तब तो वृत्तलक्षण व्यर्थ है । ब्राह्मणवृत्त सन्यास आदि उस (अर्थात् ब्राह्मण—) जाति का ही होता है। चौथे (अर्थात् दानादिपात्रता) में भी अनिष्ट की आपत्ति है । इसलिये ब्राह्मणत्व (अर्थात् ब्राह्मण जाति) का योग ही उस (अर्थात् ब्राह्मण) का लक्षण है । इसलिये हीन भी वृत्तस्थ का व्यपदिश्यमान ब्राह्मणत्व पात्रता ही है । इस

व्यपदिश्यमानं ब्राह्मणत्वं पात्रतैव। एवं ब्राह्मण एव ब्रह्मणवृत्तासम्पन्नोऽब्राह्मण इत्यत्रापि। अतो ब्राह्मणत्वयोग एव तल्लक्ष्म।

ननु तथाभूतोभयजन्या ब्राह्मणत्वव्यञ्जिका व्यक्तिर्विवक्षिता, अन्यतरजन्या वा? आद्ये–व्यासादीनामब्राह्मणत्वम्। द्वितीये–मातृतः साजात्यविवक्षायां व्यासादीनामब्राह्मणत्वम्[1]। पितृतस्तस्यां धृतराष्ट्रादीनामप्रजन्मत्वम्। किञ्च ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेन जात इत्येतन्मात्रं प्रत्यक्षैकगम्यम्[2]; [3]नह्यश्वाश्व[4]तर्यादिवदन्यतरजन्यत्वचिह्नं[5] निर्णायकमस्ति। जननी च लज्जादिपरवशा चेन्नाचष्टे तदा कथं विवेकः, येन

भावदीपिका

सर्वं च ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चित् जगतीगतम्। श्रेष्ठेनाऽभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥ स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते, स्वं वस्ते स्वं ददाति च। आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जन्ते हीतरे जनाः॥"—इति मनुनाऽभ्यासेनाऽग्रजे ब्राह्मणशब्दः प्रयुज्यमानो न वृत्तापेक्षो यस्मात्, तस्माज्जातिप्रयुक्त एवायम्— इत्याह—अत इति। तर्हि "वृत्तं ब्राह्मणलक्षणम्"; "वृत्तस्थमपि चाण्डालं तं देवा ब्राह्मणं विदुः"; "ब्राह्मणानामयं ब्राह्मणः"—इत्यादिप्रयोगस्य का गतिः? तत्राह—अतो वृत्तस्थस्येति।

व्यञ्जकानिरूपणाज्जातिरपि दुर्घटा—इत्याह—नन्विति। तथाभूतत्वम्=ब्राह्मणत्वजातिमत्त्वम्; "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यादिश्रुतेः, "लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्त्तयत्॥ सर्वस्याऽस्य तु सर्गस्य गुप्त्यर्थं स महाद्युतिः। मुखबाहूरुपज्जानां पृथक् कर्माण्यकल्पयत्॥"—इत्यादिस्मृतेश्च गवादिव्यक्तिवत् धातुर्मुखजा व्यक्तिर्ब्राह्मणत्वव्यञ्जिकेति स्थिते पूर्वसर्गादुत्तरत्र विचारोऽयम्; ततो जातेरव्याप्यसिद्धत्वात् तथाभूतेत्यादि न समीचीनमिति न वाच्यम्; द्वितीयेऽपि व्यासादीनामब्राह्मणत्वमिति शेषः। व्यासमाता हि सत्यवती उपरिचरवसुनाम्नो भूपालस्य पुत्री, तस्याम्=साजात्यविवक्षायाम्। अथ प्रमाणसिद्धे विकल्पानवकाशः? तत्राह—किं चेति। एकपदव्यावर्त्यमाह—नह्यश्वेति। ननु व्यभिचाराशङ्कायां सन्देहः सन्देहे च निर्णयाङ्क्षा, सत्यां च तस्यां प्रमाणाकाङ्क्षा। न

ज्ञानवती

प्रकार ब्राह्मण ही ब्राह्मणवृत्त से असम्पन्न होने पर ब्राह्मण नहीं रहता, यहाँ भी (ब्राह्मण जाति ही ली गई है)। इसलिये ब्राह्मणत्व का योग ही उसका लक्षण है।

(पू) उस प्रकार के दोनों (=माता एवं पिता) से उत्पन्न ब्राह्मणत्व की व्यञ्जिका व्यक्ति विवक्षित है या दोनों में से किसी एक (=माता अथवा पिता) से उत्पन्न? (उ) पहले में व्यास आदि ब्राह्मण नहीं होगें। दूसरे मे भी माता से साजात्य की विवक्षा होने से व्यास आदि ब्राह्मण नहीं होगे। और पिता से साजात्यविवक्षा होने पर धृतराष्ट्र आदि ब्राह्मण हों जायेगें। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण से ब्राह्मणी में उत्पन्न है इतना ही प्रत्यक्षैकगम्य है। न कि अश्व से अश्वतरी (में उत्पन्न) के समान अन्यतरजन्यत्व का चिह्न निर्णायक है। और जननी लज्जा

---

[1] (क) विवक्षायां पितृ। [2] (ख) मात्रप्रत्यक्षैक। [3] (ख, ग) नह्यत्र। [4] (ख) अश्वतर्यादि। [5] (ख) अन्यतरान्यतरचिह्नं।

ब्राह्मणप्रेरणा स्यात्? न च व्यभिचारासम्भवोऽनादौ संसारे; कुण्डगोलकादिवर्णनवैफल्यात्।

"ब्राह्मण्यां क्षत्रियात्सूतो वैश्याद्वैदेहकस्तथा।
शूद्राज्जातस्तु चाण्डालः सर्वधर्मबहिष्कृतः॥"

इति स्मरणाच्च। एवञ्चैतदुपपन्नं यदाहुः—

"अनादौ किल संसारे निर्बाधे मकरध्वजे।
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना॥" इति॥

अतो जातिलक्षणपक्षेऽपि "ब्राह्मणो निर्वेदमायात्"[१] "ब्राह्मणमुपनयीत," "ब्राह्मणो वसन्तेऽग्नीनादधीत[२]" इति "ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः" इति शूद्रस्याप्युक्ताग्न्याधानश्रवणं[३] वेदाधिकारप्रयोजनम्, तदा "ब्राह्मणो यजेत" इत्याद्यनुपपन्नम्।

अत्रोत्तरम्—अस्ति तावत् ब्राह्मणस्य यथाक्रमं वर्णत्रये पत्नीपरिग्रहाभ्यनुज्ञा;

भावदीपिका

चाऽत्र व्यभिचाराऽनाऽशङ्कैव—इत्याशङ्क्याऽह—न चेति। कुण्डेति—"परदारेषु जायेते द्वौ सुतौ कुण्डगोलकौ। पत्यौ जीवति कुण्डः स्यात् मृते भर्त्तरि गोलकः॥"—इति मनुवाक्यादित्यर्थः। यथा समानेऽपि ब्राह्मण्ये "कुण्डिनो वशिष्ठो गौतमः" इति स्मरणलक्षणं गोत्रम्, तथा मनुष्यत्वे समानेऽपि ब्राह्मणजातिः स्मरणलक्षणा 'अयं ब्राह्मणः' इत्याद्यनादिव्यवहारगम्या इत्यप्ययुक्तं व्यभिचारसंभवे—तदाह—ब्राह्मण्यामिति। एवं व्यञ्जकाऽनिरूपणात् जात्यनिरूपणं सिद्धम्—इत्याह—एवं चैतदिति।

उक्तदोषोद्धारार्थं भूमिकां रचयति—अस्ति तावदिति। "सवर्णाग्रद्विजातीनां

ज्ञानवती

आदि के कारण परवशा होने से यदि (सन्तानोत्पत्ति के विषय में) न कहे तो कैसे विवेक होगा जिससे (सन्तान के) ब्राह्मण की प्रेरणा होगी? यह भी नहीं है कि संसार में व्यभिचार की संभावना नहीं है। क्योंकि तब तो कुण्ड एवं गोलक आदि का वर्णन व्यर्थ हो जाएगा।

"ब्राह्मणी में क्षत्रिय एवं वैश्य से उत्पन्न वैदेहक कहलाता है। और शूद्र से उत्पन्न चाण्डाल होता है। वह सब धर्मों से वहिष्कृत है।" ऐसी स्मृति है इस प्रकार यह उपपन्न हो गया। जैसा कि कहा है—

"अनादि संसार में कामदेव के निर्बाध होने तथा कुल के कामिनीमूलक होने पर जाति की क्या कल्पना करनी है।"

इसलिये जातिलक्षणपक्ष में भी "ब्राह्मण को वैराग्य धारण करना चाहिये", "ब्राह्मण का उपनयन करना चाहिये" "ब्राह्मण को वसन्त ऋतु में अग्न्याधान करना चाहिये", "राजा को ग्रीष्म में वैश्य को शरद् में" इसी प्रकार ("रथकार वर्षा ऋतु में अग्न्याधान करे" इस वाक्य से) शूद्र के लिये भी अनुक्त अग्न्याधान का श्रवण (उसके) वेदाधिकार का प्रयोजक है। और तब "ब्राह्मण को याग करना चाहिये" इत्यादि असिद्ध हो जाता है।

(उ) ब्राह्मण को क्रमशः तीनों वर्णों में पत्नी के परिग्रहण की आज्ञा है। और

---

[१] मुं० २।१२। [२] तै० ब्रा० १।१। [३] (ख) शूद्रस्यानुक्ता।

अस्ति चास्यां जायमानस्तव इति समयबन्धेनापि विवाहविधानम् तत्र परिणीताया पतिगोत्राचरणादिवत् भाषापुत्रस्य विवक्षितजातिः विधिबलादेव। ततः क्षत्रियायां[1] जातस्य व्यासादेर्धृतराष्ट्रादेश्च ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं च न विरुध्यते। विश्वामित्रस्य च ब्राह्मणचरुप्रसूतत्वादमोघसङ्कल्पदेवताप्रसादाच्च स्थाणुपल्लवितत्ववद्

भावदीपिका

प्रशस्ता दारकर्मणि। कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशोऽवराः॥ शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते। ते च स्वा चैव राज्ञस्तु ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥ यदुच्यते द्विजातीनां शूद्रादारोपसंग्रहः। नैतन्मम मतं यस्मात् तत्रात्मा जायते स्वयम्॥" इति तु याज्ञवल्क्यीयं हीनजात्यभिप्रायं चेत्? क्षत्रियादीनामपि तुल्यमिति व्यर्थं शूद्राग्रहणम्। चतुर्षु वर्णेषु "यथोपपन्नभैक्ष्येण" इत्यादि यतिभिक्षाभिधानादि श्रुत्यनुकूलञ्च मनुमतं न यथाकथञ्चित् उपनेतव्यम्। यदि कश्चिन्निषेध उत्प्रेक्ष्येत स केवलः शूद्रा-विषयो भविष्यति। स च—"न ब्राह्मणक्षत्रिययोरापद्यपि हि कर्हिचित्। कस्मिंश्चिदपि वृत्तान्ते शूद्रा भार्योपदिश्यते॥" इति मनुनैव व्यवस्थापितः। "पाणिग्रहणसंस्कारः सवर्णासूपदिश्यते। असवर्णास्वयं ज्ञेयो विधिरुद्वाहकर्मणि॥ शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदो वैश्यकन्यया। वसनस्य दशा ग्राह्या शूद्रयोत्कृष्टवेदने॥"—इति विधिभेदं च वदता मनुनाऽयमर्थोऽभिप्रेत इति गम्यते। ततः स्वातिरिक्तवर्णत्रयेऽपि स्वपूर्वकं यथा[निम्नजाति[2]]भार्यापरं ज्ञेयम्।

इदानीं समयविशेषं पुराणोक्तमाह—तत्रेति। ततोऽपि किम्?—तदाह तत इति। यद्यपि—अत्र न कोऽपि विवाहः, सत्यवत्याः कुमारीकाले व्यासोत्पत्तेः, तथापि—"ब्राह्मणं दशवर्षं च शतवर्षं च भूमिपम्। पितापुत्रौ विजानीयात् ब्राह्मणस्तु तयोः पिता॥" इति नमस्कार्यत्वज्ञापने पितृत्वविधानवत्—"इच्छयाऽन्योन्यसंयोगः कन्यायाश्च वरस्य च। गान्धर्वः स विधिर्ज्ञेयो मैथुन्यः कामसंभवः॥"—इति गान्धर्वविवाहैकदेशत्वात् गृहस्थब्रह्मचारित्ववच्च विवाहत्वेनोपचारं विवक्षितत्वाद् व्यासादेः सामयिकपुत्रत्वं ज्ञेयम्। दिव्यप्रभावश्च ब्रह्मास्त्रम्। धृतराष्ट्रादेस्तु व्यासपुत्रत्वेऽपि मातृजात्या समयबन्धेन च क्षत्रियत्वम्। "सैषा क्षत्रस्य योनिर्यत् ब्रह्म" इति बृहदारण्यकाच्च मातृजातिप्रयुक्तापि जातिः। अतएव विदुरस्य=व्यास-पुत्रस्य क्षत्रियक्षेत्रजातस्य च शूद्रत्वम्। अथ कथं विश्वामित्रस्य ब्राह्मणत्वं, न खलु तस्य माता पिता च ब्राह्मणजातिः?—अत आह—विश्वामित्रस्येति। विश्वामित्रस्य किल भगिनी

ज्ञानवती

'इसमें उत्पन्न होने वाला तुम्हारा होगा' इस प्रकार शर्त करके भी विवाह का विधान है। उसमें परिणीता के पति के गोत्र एवं चरण (अर्थात् शाखा) या आचरण (अर्थात् आचार) के समान (अर्थात् जैसे परिणीता स्त्री का गोत्र एवं आचार पति का ही माना जाता है उस प्रकार) भाषापुत्र (अर्थात् अस्यां जायमानस्तव इस प्रकार के पुत्र) की भी विवक्षितजाति शास्त्र के बल से ही होती है। इसलिये क्षत्रिया में उत्पन्न व्यास आदि एवं धृतराष्ट्र आदि का ब्राह्मणत्व एवं क्षत्रियत्व व्याहत नहीं होता। और विश्वामित्र का ब्राह्मणत्व ब्राह्मणचरु

---

१ (क) क्षत्रियाज्जा। २ क्रमपत्तीति।

ब्राह्मत्वम्। वृत्तस्थतामात्रेण जातिसङ्क्रमे तत्पुत्रपौत्रादीनां विनिर्बाधं ब्राह्मणत्वं देवताप्रतिष्ठितानामिव स्यात्। व्यभिचारश्च "युगमहिम्ना दण्डार्हः" इत्यादिना वा वार्यते। क्वचिदपवादेऽपि ज्ञातकुण्डगोलवर्जनसम्भवान्न दोषः; ऋषिवंशानां च निर्बाधत्वात् तदुद्देशेन श्रुतिप्रवृत्तिरपि। अतो ब्राह्मणसिद्धौ कुशलस्यापि वर्णगुरु-

भावदीपिका

ब्राह्मणाय दत्ता, तेन च स्वस्य पुत्रस्य चरौ क्रियमाणे विश्वामित्रमात्रा पुत्रीद्वाराऽभ्यर्थितेन क्षत्रपालकपुत्रायाऽन्योऽपि चरुर्निर्वर्त्तितः। पश्चात् तया स्वपुत्रीं प्रतार्य ब्राह्मणचरुभक्षणं कृतमिति स्मर्यते। ब्रह्मणः प्रसादाच्च तस्य ब्राह्मणत्वम्। अमोघसङ्कल्पत्वे स्थाणुपल्लवदृष्टान्तः—यथा मुनीश्वरस्याऽक्षतानां प्रक्षेपमात्रात् स्थाणोः पल्लवनिर्गमः इति स्मर्यते।

यद्येवं नानाप्रकारैर्जातिलाभः, किन्तर्हि वृत्तेनाऽपराद्धम्? तत्राह—वृत्तस्थतेति। "विप्रान्मूर्द्धावसिक्तो हि क्षत्रियायां विशः स्त्रियाम्। अम्बष्ठः शूद्र्यां निषादो जातः पारशवोऽपि च॥ वैश्याच्छूद्रयोस्तु राजन्यान्माहिष्योग्रौ सुतौ स्मृतौ। वैश्यात्तु करणः शूद्र्यां विन्नास्वेष विधिः स्मृतः॥" निषादो मत्स्यघातादिर्न, किन्तु पारशवपर्याय इति याज्ञवल्क्येन। परिणीतासु जातानामपि जात्यन्तरविधानान्न वृत्तस्य चाण्डालादिजस्य ब्राह्मणत्वशङ्काऽपि। एवं जातेस्तथाभूतोभयजन्यव्यक्त्युत्सर्गे क्वचिदपवाद उक्तः।

इदानीं व्यभिचारसमाधानमुत्सर्गानुसारेणाऽह—व्यभिचारश्चेति। दर्शितापवाद-गतिमाह—क्वचिदिति। परिवित्त्यादिवत् दोषागमशङ्कया कुण्डाऽदिवर्जनं सम्भवति। तथा च मनुः—"दाराऽग्निहोत्रसंयोगं कुरुते योऽग्रजे स्थिते। परिवेत्ता स विज्ञेयः परिवित्तिस्तु पूर्वजः॥ परिवित्तिः परिवेत्ता यया च परिविद्यते। सर्वे ते निरयं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः॥" इति। "तौ तु जातौ परक्षेत्रे प्राणिनौ प्रेत्य चेह च। दत्तानि हव्यकव्यानि नाशयेते प्रदायिनाम्॥" इति। एतच्च वेदादिप्रदानेऽपि तुल्यम्। एतदप्याह—"धर्मार्थौ यत्र न स्यातां शुश्रूषा वाऽपि तद्विधा। तत्र विद्या न वप्तव्या शुभं बीजमिवोषरे॥ विद्ययैव समं कामं मर्त्तव्यं ब्रह्मवादिना। आपद्यपि हि घोरायां नत्वेनामीरिणे वपेत्॥" इति। न च ऋषिवंशानामिति। ऋषीणामाऽर्षप्रत्यक्षेणाऽव्यभिचारिलिङ्गाऽप्तवचनादिना च तज्ज्ञानसम्भवादिति भावः। अज्ञातानां तेषां शूद्रवदनधिकारितया न फलपर्यवसायिश्रुत्यादिकम्—इत्याशयेनाह—तदुद्देशेनेति। ब्राह्मणपरीक्षाफलमाह—अत इति।

परिशोधितस्यैव विद्या दीयमाना फलवतीति विद्यैवाऽह—"विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेऽस्मि रक्ष माम्। असूयकाय मां मा दाः तथा स्यां वीर्यवत्तमा॥ यमेव तु शुचिं विद्यात् नियतं ब्रह्मचारिणम्। तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाऽप्रमादिने॥" इति। कुशल-

ज्ञानवती

से प्रसूत होने के कारण तथा अमोघसंकल्पदेवताप्रसाद के कारण स्थाणुपल्लवितत्व के समान है। वृत्तस्थतामात्र से जाति का सङ्क्रम होने पर उसके पुत्रपौत्र आदि का ब्राह्मणत्व देवताप्रतिष्ठित के समान निर्बाध हो जायगा। और व्यभिचार "युग की महिमा के अनुसार दण्ड के योग्य है" इत्यादि से वारित हो जाता है। कहीं अपवादस्थल में भी ज्ञात कुण्ड, गोल के वर्जन को संभावना होने से दोष नहीं है। और ऋषिवंशों के निर्बाध होने से उसके उद्देश

त्वात् तस्य गुरुपादोपसर्पणम्, सम्प्रदायस्य प्रामाणिकत्वाय युक्तमेव। "स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठां अथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह"[१] इति गुरुपारम्पर्यश्रुतेः।

"आचार्यदेवो भव"[२], "गुरवोऽनुवृत्तगुरवः"[३] इति वेदाचार्यवचोभ्यामपि "ब्रह्मनिष्ठम्" इति गुरूणां निष्ठासङ्कीर्तनेन [छात्रस्य[४]] अवधानोपदेशः "एष पन्था एतत् कर्म एतद् ब्रह्म" इति, "तत्सत्यं तस्मान्न प्रमाद्येत, तन्नातीयात् नह्यत्यायन्, पूर्वे ये अत्यायन् ते पराबभूवुः" इत्यैतरेयकश्रुतेश्च;

भावदीपिका

स्येत्यनेन अन्यस्य पाठावसरे छद्मना आकर्णनेन ग्रहणं न कार्यम्; चौर्यप्रसङ्गात्—इत्यपि ध्वनितम्; "ब्रह्म यस्त्वननुज्ञातमधीयानादवाप्नुयात्। स ब्रह्मस्तेयसंयुक्तो नरकं प्रतिपद्यते ॥"—इति चौर्यदोषस्मरणात्। "आचार्यदेवो भव"—इति वयसा कनीयांसमप्याचार्यं देववन्मन्येतेत्यर्थः। आह च मनुः—"न हायनैर्न पलितैर्न वित्तैर्न च बन्धुभिः। ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान्॥ अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः। अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येवं तु मन्त्रदम् ॥" इति। नमस्कारेऽपि नियमस्तेनोक्तः—"लौकिकं वैदिकं वाऽपि तथाऽऽध्यात्मिकमेव वा। आददीत यतो ज्ञानं तं पूर्वमभिवादयेत् ॥" इति। 'अनुवृत्ता गुरवो यैस्ते तथेति'—सुरेश्वराचार्यवचनम्। "ब्रह्मज्ञानाय गुरुं गच्छेत्" इत्युक्ते गुरोर्ब्रह्मनिष्ठत्वमर्थादुक्तमेव; तं प्रत्यन्यस्य गुरुत्वानुपपत्तेः। अतः स्वशब्देनोपादानम् व्यर्थम्?—इत्याशङ्क्याह—ब्रह्मेति।

गुरोरपि मनूक्तं कर्म ज्ञेयम्—"अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम्। वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममीप्सता ॥ यस्य वाङ्मनसी शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वदा। स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥ नाऽरुन्तुदः स्यादार्त्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः। ययाऽस्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥ सम्मानात् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाऽकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा। सुखं ह्यवमतः शेते सुखं च प्रतिबुध्यते। सुखं चरति लोकेऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति।" इति।

ज्ञानवती

से श्रुति की प्रवृत्ति भी है। इसलिये ब्राह्मण की सिद्धि होने पर वर्णगुरु होने से कुशल उसका गुरुपाद के समीप गमन सम्प्रदाय की प्रामाणिकता के लिये युक्तियुक्त है। क्योंकि "उसने सब विद्याओं की प्रतिष्ठाभूत ब्रह्मविद्या को ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा के लिये कहा" ऐसी गुरुपरम्परा की श्रुति है।

"आचार्यदेव बनो" (=आचार्य को देवता समझो) "गुरु अनुवृत्तगुरुवाले (होते हैं)" ऐसे वेद एवं आचार्य के वचन से भी "ब्रह्मनिष्ठम्" इस प्रकार गुरुओं की निष्ठा के कथन से छात्र के अवधान का उपदेश है। "यह रास्ता है, यह कर्म है, यह ब्रह्म है", "वह (अर्थात् ब्रह्म) सत्य है, इसलिये प्रमाद नहीं करना चाहिये", "उस (=सत्य आदि) का

---

१ मु० १।१। २ तै० १।११। ३ बृ० वा० १।२।
४ (क) नादीयात्।

"न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥[1]"

इति काठकश्रुतेश्च । 'परीक्ष्य' इति कौशलं गुरूणामपि चमत्कारकरमुपदिश्यते । तथा च बृहदारण्यकम्—"अत्र ह याज्ञवल्क्यो बिभयाञ्चकार मेधावी राजा सर्वेभ्यो माऽन्तेभ्यो उदरौत्सीत्"[2] इति; "त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा[3]" इति कठश्रुतेश्च। अकुशलाय सर्वज्ञोऽप्युपदिशन् विफलोपदेशो भवति। यथा शक्रविरोचनाभ्यां "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते[4]" इत्याद्युपदिशति । "स लोकेश्वरः" "लोकान् कर्मचितान्[5]" इति विशेषणादभ्युदयात्मकत्वं गम्यते। कुशलेन बुभुत्सावता तत्र निर्देशः कार्यः—

भावदीपिका

एवं गुणवान् गुर्वर्थकर्मणा विशुद्ध्यमानबुद्धिसत्त्वो झटिति ब्रह्मज्ञानी स्यात्, अतो विपरीतो 'बालम्'इत्यनेन विशेषणेन उक्तः । तं प्रति साम्परायः=अयः=शुभावहो विधिः; सम्यक् परोऽयः=सम्परायः; स एव साम्परायः=मोक्षोपायविद्या; सा गुरूक्तापि न प्रतिभातीत्यर्थः । मेयमस्य पदान्तरतात्पर्यमाह—परीक्ष्येति। अकुशलस्य हि परीक्षा दुर्घटेति कौशलं ध्व[नितम्] । मा अन्तेभ्यः=प्रश्नावसानेभ्यः; अथवा माऽन्तेभ्यः=पूर्वोक्तेभ्यः प्रश्नकर्तृभ्यः; ततोऽभ्यधिकं प्रश्नमालया रुरोधेत्यर्थः । भूयादिति—प्रार्थना। भूयान्=महान् वेत्यर्थः । महानिति पक्षे बहुश्रुतानां प्रत्युत्तरदाने कृशानां सहसा स्फूर्तिरहितानामक्षुद्रान्तःकरणतया नावमन्तेत्यपि द्रष्टव्यम्; अवमाने दोषस्मरणात्—"क्षत्रियं चैव सर्पं च ब्राह्मणं च बहुश्रुतम् । नाऽवमन्येत वैं भूष्णुः कृशानपि कदाचन । एतत्त्रयं हि पुरुषं निर्दहत्यवमानितम् । तस्मादेतत् त्रयं नित्यं नाऽवमन्येत बुद्धिमान्।।" इति । न केवलं विद्याग्रहणसाधनविषयं कौशलमधिकारिणो भाव्यं, किन्तु विद्याग्रहणविषयमपीति व्यतिरेकेणाह—अकुशलाय इति । कौशलस्योपयोगं पदान्तरं व्याकुर्वन्नाह—लोकानिति । "आत्मानमेव लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति" इति लोकेच्छोपदेशात्; तत्र ह्युक्तो निर्वेदोपदेश इति। कर्मचितानिति विशेषणेन निर्वेदार्हत्वमुक्तम्;

ज्ञानवती

अतिक्रमण नहीं करना चाहिये, पहले के लोग अतिक्रमण नहीं किये और जो अतिक्रमण किये वे पराजित हुए"' यह ऐतरेय श्रुति है। "वित्त के मोह से मूढ़ प्रमाद करने वाले बालक (=आत्मतत्त्वानभिज्ञ) को परलोक दिखाई नहीं पड़ता। यही लोक है, परलोक (नाम की चीज़) नहीं है ऐसा मानने वाला बार-बार मेरे वश में आता है" ऐसी कठ श्रुति है। परीक्ष्य (अर्थात् सम्यक् रूप से अनित्यत्व का निश्चय करके) इस प्रकार गुरुओं का भी कौशल चमत्कारकारी बताया जाता है। बृहदारण्यक श्रुति भी कहती है—"इस विषय में याज्ञवल्क्य डर गये कि मेघावी राजा मुझे सब अन्तों से निरुद्ध कर दिया :" कठ श्रुति है—"हे नचिकेतः हमारे पास तुम्हारे जैसा प्रष्टा हो।" सर्वज्ञ भी असमर्थ के लिये उपदेश करता हुआ विफलोपदेश होता है। जैसे इन्द्र एवं विरोचन के लिये (प्रजापति) "जो यह आँख में पुरुष दिखाई देता

---

[1] कठ० २।५। [2] बृ० ४।३।३३। [3] कठ २।९।
[4] छा० ८।७।४। [5] मु० २।१२।

"श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥"[१]

इति काठकश्रुते मोक्षाभ्युदयसाधने श्रेयःप्रेयसी, मनुष्यश्चाधिकारी।

[ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य ब्रह्मविचाराधिकारः—]

अथवा[२] एवं व्याख्या मनुष्यलोकादारभ्य यथासङ्कल्पं कुर्वाणः क्रियाभेदान् आब्रह्मलोकाच्छतगुणोत्कर्षेण श्रूयमाणानन्दार्थी तान् कर्मचितान् लोकान् परीक्ष्य= समन्तादवलोक्य "एषोऽस्य परम आनन्दः" इति श्रुतौ पूर्वोदितेषु स्वानुभवलब्ध-विश्वासतया दृढजातशुद्धः तमानन्दं कामयमानो ब्रह्मलोकस्थित[ः[३]] क्षुद्रेषु निर्वेद-वानुपसर्पति गुरुम् इति।

"यस्यैतेऽष्टाचत्वारिंशत् संस्काराः गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मनाम-करणबहिर्निष्क्रामणान्नप्राशनचूडाकरणोपनयनमेधाजननानि, अष्टौ वेदव्रतानि, स्नानं

भावदीपिका

"तस्माज्जुगुप्सेतैव" इति छान्दोग्यश्रुतेः, "अवेक्षेत गतीर्नृणां कर्मदोषसमुद्भवाः।" इति मनुस्मृतेश्च। न च सुखबहुलेऽप्यभ्युदये विवेकिनो वैराग्यमसम्भाव्यम्—इति श्रुत्यन्तरेणाह—श्रेयश्चेति।

[ब्रह्मलोकं प्राप्तस्य ब्रह्मविचाराधिकारः—]

एवं कर्मार्जितेषु लोकेषु निर्वेदोपयुक्ता परीक्षोक्ता। सा च "तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवामेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते" इत्यादि वेदद्वारिका। तां व्यवस्था-पयिष्यन् व्याख्यान्तरेण शङ्कते—अथवा एवमिति।

स्मृत्यनुसारिणी चेयं व्याख्या—इत्याह—यस्यैत इति। "गार्भैर्होमैः जातकर्मचूड़ा-मौञ्जीनिबन्धनैः। वैदिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते॥", "स्वाध्यायेन जपैर्होमैस्त्रै-

ज्ञानवती

है" इत्यादि उपदेश देते हैं। "वह लोकों का स्वामी होता है", "कर्म से प्राप्त लोकों को" इस विशेषण से अभ्युदयात्मकता प्रतीत होती है। कुशल, जानने की इच्छा वाले के द्वारा इस विषय में निर्देश करना चाहिये—

"मनुष्य को श्रेयस् एवं प्रेयस् दोनों प्राप्त होते हैं। धीर उनको अच्छी प्रकार जानकर अलग करता है। धीर पुरुष प्रेयस् की अपेक्षा श्रेयस् का वरण करता है, मन्द पुरुष योग और क्षेम के कारण प्रेयस् का वरण करता है।" इस कठोपनिषदात्मक श्रुति से श्रेयस् एवं प्रेयस् मोक्ष एवं अभ्युदय के साधन हैं। और मनुष्य (उनका) अधिकारी है।

[ब्रह्मलोक को प्राप्त व्यक्ति ब्रह्म बिचार का अधिकारी है—]

अथवा ("परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान्" की) ऐसी व्याख्या है—मनुष्यलोक से आरम्भ करके संकल्प के अनुसार क्रिया भेदों को करता हुआ ब्रह्मलोक पर्यन्त सौगुने उत्कर्ष से

[१] कठ २।२। [२] (ख) अथैवं। [३] (क) ब्रह्मलोकस्थितक्षुद्रेषु। (ख) ब्रह्मलोउ स्थितः क्षुद्रेषु।

सहधर्मचारिणीसंयोगः, पञ्चानां यज्ञानामनुष्ठानं, सप्तसोमसंस्थाः सप्तपाकसंस्थाः अनश्नन् संहिताध्ययनम्, प्रायणकर्णजपोत्क्रमणौर्ध्वदेहिकभस्मसमूहनास्थिसञ्चयनश्राद्धानि।"

"अष्टौ गुणा दया क्षान्तिः शौचमायासवर्जनम्।
अनसूयाऽथ माङ्गल्यं अकार्पण्यास्पृहे तथा॥"[1]

इति स्मृत्युक्तसंस्कारवतः "स ब्राह्मणः सायुज्यं सलोकतां गच्छति" इति फलाभिधानादपि कर्मभिर्ब्रह्मलोकगतस्य ब्रह्मविचारः सम्भाव्यते। ततो नात्राधिकारिविधुरा मीमांसा प्रणेतव्येति युक्तमेवमपि। एवमेव तु युक्तम्; शुद्धचेतसः कस्यचित् पुरुषधौरेयस्याग्रजन्मनः साङ्गोपाङ्गवेदाध्ययनवतः सहसा जातपरमानन्दानुरागस्यानुक्रमणार्थमत्रापि[2] मीमांसा प्रणेतव्यैव। यतः—

"यथा काष्ठमयो हस्ती, यथा चर्ममयो मृगः।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति॥"[3]

इति मनुना अनध्ययनस्य निन्दितत्वाच्च।

भावदीपिका

विद्यैर्नेज्यया सुतैः। महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥" इति मनुस्मृतेश्च। किं ब्रह्मलोकेऽपि विचारः सम्भवति इत्ययोगव्यवच्छेदमात्रं, किं वा तत्रैवेति अन्ययोगव्यवच्छेदः? आद्यमनुजानाति—युक्तमिति। "यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि, यथा स्वप्ने तथा पितृलोके। यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके॥"—आत्मनि=अस्मिन्नेव शरीरे; आदर्शवदतीव विविक्तं ब्रह्मोपलभ्यते। स्वप्नवत् सप्रपञ्चं आविविक्तं जल इव च पितृगन्धर्वलोकयोर्लोकान्तरे च; एवं ब्रह्मलोके पुनः छायातपवदत्यन्तविविक्तं ददृशे=पश्यति इति कठश्रुतेः युक्तमभ्यनुज्ञानम्। अन्त्यं निषेधति—एवमेवेति। अध्ययनमेव कुतः प्राप्तम्?—इति न वाच्यम्; त्वयाऽपि सन्ध्यावन्दनादारभ्य संवत्सरसाध्यकर्मपर्यन्तानां कर्मणां कार्यत्वं वदता तद्विधायकस्य वेदस्याऽध्ययनस्य विधितः स्वीकृतत्वात्। अनध्ययने दोषस्मरणं चावयोस्तुल्यम्—इत्याह—यथेति। नामधारका इत्यपि पाठः। नाममात्रं विफलं बिभ्रति—"यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाऽफला। यथा चाज्ञेऽफलं दानं तथा विप्रोऽनृचोऽफलः॥" इति मनुनैवोक्तत्वात्।

ज्ञानवती

श्रूयमाण आनन्द को चाहने वाला व्यक्ति उन कर्मचित लोकों की परीक्षा करके (अर्थात्) चारों ओर से देखकर "यह इसका परमानन्द है" ऐसी श्रुति के होने पर पहले कहे गये (वाक्यों) में अपने अनुभव से प्राप्त विश्वास के कारण उत्पन्न दृढ़ श्रद्धा वाला इस आनन्द की इच्छा करता हुआ ब्रह्मलोक में रहता हुआ क्षुद्र (आनन्दों) के विषय में वैराग्य वाला गुरु के पास जाता है।

गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, बहिर्निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूड़ाकरण, उपनयन, मेधाजनन, आठ वेद व्रत, स्नान, सहधर्मिणीसंयोग, पाँच यज्ञों का अनुष्ठान,

[1] गौ० ध० सू० १।८। [2] (ख) अनुक्रमप्रार्थनम्। [3] मनु० २।१५७।

[नित्यकर्मणां चित्तशुद्धिजनकत्वम्–]

अथ कथं चेतसः शुद्धिः ? नित्यादिकर्मणः प्रत्यवायपरिहारः फलम् , यद्वा[१]

भावदीपिका

[नित्यकर्मणां चित्तशुद्धिजनकत्वम्—]

शुद्धचेतस इत्येतदाक्षिपति—अथेति। अद्भिर्गात्राणि शुद्धयन्ति मनः सत्येन शुद्धयति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुद्धयति ॥"—इतिशुद्धयुपायस्य मनुनोक्तत्वात् कथमाक्षेप इति चेत् ? न; उपायस्य सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् किमिति सर्वे शुद्धबुद्धयः सन्तो मोक्षाय न प्रवर्त्तन्ते ? अथोपायोऽनुष्ठानमपेक्षते—किमिति तर्हि सर्वे नानुतिष्ठन्ति ? अथ—"सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्। योऽर्थे शुचिर्हि स शुचिः न मृद्वारिशुचिः शुचिः ॥ क्षान्त्या शुद्धयन्ति विद्वांसो दानेनाऽकार्यकारिणः। प्रच्छन्नपापा जप्येन तपसा वेदवित्तमाः ॥ मृत्तोयैः शुद्धयते शोध्यं नदी वेगेन शुद्धयति। रजसा स्त्री मनोदुष्टा संन्यासेन द्विजोत्तमः ॥" इति मनूक्तशुद्धिमतां मनःशुद्धयुपायसत्याद्यनुष्ठाने प्रवृत्तिर्नेतरेषामिति चेत् ? हन्त तर्हि अनादौ संसारे बन्धहेतोरविद्याया अविशिष्टत्वात् कस्मान्न सर्वेषां अर्थादिशुद्धिपूर्विका मनःशुद्धिः ?

अथाऽविद्याया अविशेषेऽपि तद्गुणानां सत्यादीनां विशेषवत्त्वात् तत्कृतं शुद्धयशुद्धिवैषम्यम् ? नैवम्; "न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः। सत्त्वं प्रकृतिजैर्युक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः ॥"—इति स्मृतेः सर्वेषां गुणसम्बन्धावगमेन तत्कृतविशेषाऽसम्भवात्। ततो युक्तोऽयमाक्षेपः। अथैकजीववादिनं प्रत्यनाक्षेपः ? न; तस्यापि कदाचित् शुद्धेर्वक्तव्यत्वात्। तस्या गुणकृतत्वे अनादित्वाद् गुणस्येतः पूर्वमेव मुक्त्यापत्तेः वर्त्तमान-

ज्ञानवती

सात सोमसंस्थ, सात पाकसंस्थ, विना कुछ खाये संहिताध्ययन, प्रायण, कर्णजप, उत्क्रमण, और्ध्वदेहिक, भस्मसमूहन, अस्थिसञ्चय, श्राद्ध ये ४८ संस्कार—जिसको हैं;

"दया, क्षान्ति, शौच, आयासवर्जन, अनसूया, माङ्गल्य अकार्पण्य और अस्पृहा ये आठ गुण" इस स्मृति से उक्तसंस्कारों वाला, "वह ब्रह्म के सायुज्य एवं सलोकता को प्राप्त होता है" इस फलाभिधान से भी कर्मो के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त हुए के लिये ब्रह्मविचार सम्भव है। इसलिये इस (संसार) में अधिकारी से रहित मीमांसा का प्रणयन नहीं होना चहिये यह भी ठीक है। इसलिये भी ठीक है कि शुद्ध चित्त वाले किसीधौरेय, साङ्गोपाङ्ग वेदाध्ययन वाले, सहसा जिसको परमानन्दानुराग हो गया है ऐसे, किसी ब्राह्मण के अनुक्रमण के के लिये यहाँ (अर्थात् इस लोक में) मीमांसा का प्रणयन करना चाहिये। क्योंकि—

"जैसे काष्ठ का हाथी, जैसे चर्म का मृग और अध्ययनशून्यविप्र यें तीनों नाम मात्र. है।" इस प्रकार मनु ने अनध्ययन की निन्दा की है।

[नित्यकर्म चितशुद्धि के जनक हैं—]

(पू) चितशुद्धि कैसे होती है ? नित्य एवं नैमित्तिक कर्मों का फल प्रत्यवायपरिहार

---

[१] (ग) यदि।

पितृलोकादि, सर्वथाऽपि न चित्तशुद्धावुपयोगः ; अपरथा नित्यानां भोगार्थानामपि शुद्धिप्रधानत्वे तत्सौलभ्यात् प्रायश्चित्तस्यापि तत्प्रसङ्गाच्च भूयानर्थोऽमुमुक्षूणामिति।

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।"[१]

इत्यादि बाध्येत। अविशुद्धचेतसश्च मुमुक्षानुदयाद्वेदानुवचनादौ विविदिषार्थ-प्रवृत्तेरप्यनुदयः, दूरत एव वेदार्थश्रवणादौ[२] प्रवृत्तेः। न च परमानन्दरागोऽपि; येन परवशीकृतः प्रवृत्तिमारभेत। तस्मादधुना शुद्ध्यर्थकर्मणा मुमुक्षा, तया[३] च तद् इति परस्पराश्रयग्रस्तम्;

भावदीपिका

संसारदर्शनं न स्यात्। कर्मकृतत्वे च शुद्ध्यर्थकर्मानुष्ठानस्यापि शुद्धिविशेषापेक्षत्वात् तुल्यः पर्यनुयोगः। किञ्च "अस्मदादेरनेकत्वान्नास्ति मातं विलक्षणे। एकजीवप्रवादोऽतः कोविदेषु न शोभते॥" अथ "न कदाचिदनीदृशं जगत्" इत्यादिशरणानामनाक्षेपोऽयम्? तथापि शुद्धिः परीक्षणीया स्वभाववादयादृच्छिकवादयोरन्यतरप्रसङ्गाऽपोहार्थम्। अथ नित्यनैमित्तिककर्म-भिश्चेतस शुद्धिः फलान्तरसम्भवा? मैवम्—इत्याह—यद्वेति। उभयार्थत्वमाशङ्क्याह—अपरथेति। काम्यानामपि शुद्ध्यर्थत्वप्रसङ्गात्। तानि च सर्वदा सर्वेषां सम्भवन्तीति च शुद्धिनियमः स्यादिति भावः। शुद्धनिरूपणे च न मोक्षार्थसाधनपरिपाटीलाभः? इत्याह—अविशुद्धेति। तथापि "स एषोऽस्य परम आनन्दः" इत्याकर्णनात् तदिच्छायां साधनपरिपाटीलाभः स्यात्? तत्राह—न चेति। अविशुद्धचेतसः सांसारिकपदार्थंराग-परवशीकृतस्य न रागान्तरसंभव इति भावः। अस्तु वा कर्मणां केषाञ्चित् चित्तशुद्ध्यर्थत्वम्; तथाप्यनियमः। अथ मुमुक्षापूर्वकृतत्वे न नियमः? साऽपि सर्वेषां कुतो न स्यात्? अथ चित्तशुद्ध्या तन्नियमः? तर्हि मुमुक्षया कर्म, ततः शुद्धिः, ततो मुमुक्षेति चक्रकम्। अथ शुद्ध्यर्थकर्मणैव मुमुक्षा? तत्राह— तस्मादि।

ज्ञानवती

है, अथवा ('कर्मणा पितृलोकः' के अनुसार इसका फल) पितृलोक आदि है, इसलिये कर्मों का सर्वथा चित्तशुद्धि में उपयोग नहीं है, अन्यथा भोगार्थक नित्य (कर्मों) के भी शुद्धि-प्रधान वाले होने पर उस (=कर्म) के सुलभ होने से प्रायश्चित का भी (अर्थात् चित्तशुद्धि) उसका प्रसङ्ग होने से अमुमुक्षुओं के लिये महान् अनर्थ हो जायगा।

"सहस्रों मनुष्यों में कोई (एक) सिद्धि के लिये प्रयास करता है।" इत्यादि बाधित हो जायगा। अशुद्धचित्तवाले को मुमुक्षा का उदय न होने से वेदानुवचन आदि के विषय में जानने की इच्छावाली प्रवृत्ति का ही उदय नहीं होगा; वेदार्थश्रवणादि में प्रवृत्ति का उदय तो दूर की बात है। परमानन्द का राग भी नहीं है जिससे परवशीकृत होकर प्रवृत्ति का आरम्भ हो जाय। इसलिये इस समय शुद्धि के लिये किये गये कर्म से मुमुक्षा, और उससे वह (अर्थात् शुद्धि के लिये कर्म) यह अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ेगा।

---

[१] भ० गी० ७।३। [२] (ख) एवनार्थे। [३] (ख) मुमुक्षुतया।

अत्र भण्यते—यत्तावन्न नित्याद्यन्तर्गतम्, नापि कामकषायप्रवर्तितम्, नापि प्रतिषिद्धं कर्म यथा भिक्षात्रयमावश्यकम्, तदुपरि स्वाहारमध्यादधिकदानादि, तस्य चित्तशुद्धिपर्यवसानमेवोचितम्। स चाधिकशुद्धये मुमुक्षाङ्कुरमुद्भावयति, परमपि परमेश्वरार्थं कर्म कारयति। तदुक्तम्—

"तस्यैकं दुःखतप्तस्य कथञ्चित् पुण्यशीलनात्।
नित्येहाक्षालितधियो वैराग्यं जायते हृदि॥" इति।

विविदिषाश्रुतिविहितकर्मणामावश्यकतत्फलात्। एवमेव कृतानां चानावश्यकतत्फलत्वादिति कथञ्चिदित्युक्तम्।

"कुर्यात् क्रियेत कर्त्तव्यं भवेत् स्यात् इति पञ्चमम्।
एतत् स्यात् सर्ववेदेषु नियतं विधिलक्षणम्॥"

इत्युक्तत्वात् "विविदिषन्ति" इति वर्त्तमानापदेशात् कथं विधिलाभः? नायं लट्-प्रत्ययान्तशब्दः, किन्तु लेट्प्रत्ययान्तः; स च विधौ, "लिङर्थे लेट्" इति स्मरणात् रूपसादृश्येऽपि प्रत्ययभेदादर्थभेदो न दोषाय।

भावदीपिका

तत्र मुमुक्षानिरपेक्षं श्रुत्युक्तं कर्म विवेचयन् उक्तदोषमुद्धरति—यत्तावदिति। कथं तस्याः साधनपरिपाटीप्रतिलाभहेतुत्वम्? तत्राह—स चेति। सुरेश्वराचार्यवाक्यगत-कथञ्चित्-पदाभिप्रायं कथयन्—उक्ता श्रुतिरप्रतिबद्धा चेत्? उक्तसाधनमालालाभे हेतुः, प्रतिबद्धा तु न तथैति नाऽनियमप्रसङ्गः—इत्याह—विविदिषेति। प्रस्तुते विविदिषाश्रुति-गृहीतानि दानकर्माणि, विधिविहितलिङादिप्रत्ययाभावान्नास्य विधायकत्वमिति कथमस्या-वश्यकफलत्वम्?—इत्याशङ्कां विधिप्रत्ययसम्पादनेनापाकरोति—नायमिति। "तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवत् ब्राह्मणो मनुष्येषु" इति "तदेतद् ब्रह्म क्षत्रं विट् शूद्रः" इति धर्मसाधकं चातुर्वर्ण्यमुपन्यस्य विशेषतो ब्राह्मणप्रशंसा। तस्य—"विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं, क्षत्त्रियाणां तु वीर्यतः। वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणां चैव जन्मतः॥"—इति मनुस्मरणात् ज्ञानाधिक्य-निमित्तं तत्सामग्रीसत्त्वगुणाधिक्यं स्वारसिकं सूचयति।

ज्ञानवती

(उ) इस विषय में कहा जाता है—जो नित्य आदि के अन्तर्गत नहीं है, और न तो कामकषाय से प्रवर्त्तित है, तथा न प्रतिषिद्ध कर्म है जैसे आवश्यक भिक्षात्रय और उसके ऊपर अपने आहार के मध्य से अधिक दान आदि, इसका पर्यवसान चित्तशुद्धि में है। और वह अधिक शुद्धि के लिये मुमुक्षाङ्कुर को उत्पन्न करता है और दूसरे (अर्थात् नित्यादि) कर्मों को भी परमेश्वर के लिये करता है कहा है—

"इस प्रकार दुःख से तप्त नित्य बुद्धि वाले उस (मोक्ष की) इच्छा से परिष्कृत (मुमुक्षु) के हृदय में किसी प्रकार पुण्यशीलन से वैराग्य होता है"। विविदिषा श्रुति, विहितकर्मों का वह (अर्थात् विविदिषा रूप) फल आवश्यक हैं, (यह बताती है)। इसी प्रकार किये गये कर्मों का वह फल आवश्यक नहीं है (अर्थात् कर्मों का सम्पादन हुआ इसलिये विविदिषा होगी ही वह कोई नियम नहीं है) इसलिये कथंचित् कह दिया गया)।

अथवा ब्राह्मणस्य सत्त्वगुणप्रधानत्वात् जन्मनैव शुद्धबुद्धिता; दृश्यते च सत्यकामादेः। "तं ह कुमारं सन्तं दक्षिणासु (यज्ञियगोषु) नीयमानासु[1] श्रद्धा विवेश।"[2] इति श्रुतेश्च। निमित्तान्तरात्तु क्वचिदन्यथात्वम्। एतदपि ब्राह्मणश्रुत्या दर्शितम्।

अथ (कीदृशी[3]) लोकपरीक्षा?

यदि लोका भुवनानि, तदेकदेशा वा, तन्निवासिजना वा, परीक्षणञ्च तेषां प्रत्येकलक्षणपरिशोधनम्; तत्कल्पायुषाऽप्यशक्यम्। अथ कथञ्चित् सङ्ग्राहक-धर्मात्मनाऽवधारणम्? तत् किं भौतिकत्वेन, प्रकृत्यात्मना वा, मिथ्यात्वेन वा? त्रिधाऽपि न निर्वेदोदयं पश्यामः। निर्वेदो हि वीतरागता, वेदनं वेदस्तदभावो वा? नाद्यः; तत्रोक्तहेतुरसाधकः[4]; चन्दनादेर्भौतिकत्वज्ञानेऽपि रागदर्शनात्। अणिमाद्यैश्व-

भावदीपिका

मुखतश्च पुराणादिषु तदुक्तम्—इत्याशयेन पक्षान्तरमाह—अथवेति। अयं च पक्षः श्रुत्यैवाऽधिकारिणं निरूपयन्त्या सूचितः—इत्याह—एतदपीति। "तपोविशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिनोदितैः। वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥ वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः। वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥"—इति मनुनापि ज्ञानभारो यस्मात् ब्राह्मणे निक्षिप्तः तस्मात् युक्ततरोऽयं पक्ष इति द्रष्टव्यम्। "परीक्ष्य लोकान्" इत्यत्र परितः=समन्तात्; ईक्षा=लक्षणतोऽवलोकनम्; यथा दशहस्तदीर्घः पटः परीक्ष्यते तावद्धस्तेक्षणेन, तथा यावल्लोकानां परिमाणं यादृक् च स्वरूपं पुराणादावुक्तं तथा साक्षादीक्षणं विवक्षितम्। किं साधारणधर्मेण, सङ्कलिततया ज्ञानं वा? आद्यं लोकशब्दस्य सम्भावितार्थं कथयन् अनूद्याऽपाकरोति—अथ कीदृशीति। अन्त्यं विकल्प्य दूषयति—अथेति। मिथ्यात्वपक्षे विशेषमाशङ्क्याऽपाकरोति—यदीति।

ज्ञानवती

(पू) "कुर्यात्, क्रियेत् कर्तव्य, भवेत् और पाँचवाँ 'स्यात्' यह सब वेदों में निश्चित रूप से विधि का लक्षण है"।

ऐसा कहने से 'विविदिषन्ति' यह वर्तमान उपदेश होने से विधि का लाभ कैसे? (उ) यह लट् प्रत्ययान्त शब्द नहीं है किन्तु लेट् प्रत्ययान्त है और 'लिङर्थे लेट्' इस स्मृति के कारण विधि में भी होता है। इसलिये रूपसादृश्य होने पर भी प्रत्ययभेद के कारण अर्थभेद दोष के लिए नहीं होता।

अथवा ब्राह्मण के सत्त्वगुणप्रधान होने से (उसकी) बुद्धि जन्म से ही शुद्ध रहती है। और सत्यकाम आदि की बुद्धि (ऐसी) देखी जाती है। तथा श्रुति है—"दक्षिणा अर्थात् यज्ञीय गायों को ले जाते समय उस कुमार के भीतर श्रद्धा प्रवेश कर गई।" कहीं कहीं निमित्तान्तर उपस्थित होने पर अन्यथात्व हो जाता है यह भी ब्राह्मण श्रुति से दिखला दिया गया।

---

[1] (ख) दीयमानासु।
[2] कठ १।१२।
[3] (क) ईदृशी। (ग) कीदृशी।
[4] (क) हेतुः साध्यः।

र्यस्य प्राकृतत्वज्ञानेऽपि तथा । प्रतीपादिव्यामोहकेन्द्रजालादेर्मिथ्यात्वज्ञानेऽपि च । द्वितीयद्वितीये निर्णयज्ञाने ज्ञानाभावोऽदृष्टविरुद्धत्वाद् दुरनुष्ठेयः । यदि वीतरागतैव निर्वेदः स च व्यामोहकारिणः स्वस्य मिथ्यात्वनिश्चयाधीनः ? नैवमपि; तथा भूतस्यापि चित्रकामिनीस्तनोन्नत्यादेर्मिथ्यात्वेन निश्चयेऽपि प्रेक्षणादिरागदर्शनात् ।

[कर्मफलाद्वैराग्योपपत्तिः—]

अथ सम्पतत्यनेनास्मादमुं लोकं फलभोगाय इति सम्पातः=इष्टादिकर्म। बह्वायासं कर्म कृत्वापि चन्द्रलोके कर्मभूमाविव देवानामुपचारपरः परतन्त्रः फलं

भावदीपिका

[कर्मफलाद्वैराग्योत्पत्तिः—]

प्रकारान्तरं सोपस्कारं श्रुत्या शङ्कते—अथ सम्पततीति । "तस्मिन् यावत् सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तंते । यथैतमाकाशमाकाशाद् वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति, धूमो भूत्वाऽभ्रं भवति, अभ्रं भूत्वा मेघो भवति, मेघो भूत्वा प्रवर्षति । तदिह व्रीहियवा औषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते । अतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं, यो यो ह्यन्नमत्ति, यो रेतः सिञ्चति, तद् भूय एव भवति" इति छान्दोग्यश्रुतिरर्थतोऽनुक्रान्ता । उपचार इति

ज्ञानवती

लोक की परीक्षा किस प्रकार की है—यदि लोक (का अर्थ) भुवन या उसका एकदेश अथवा उसके निवासी मनुष्य हैं, उनका परीक्षण (अर्थात्) प्रत्येक के लक्षण का परिशोधन तो यह एककल्प आयु वाले (मनुष्य) के भी द्वारा संभव नहीं है । (पू) किसी प्रकार संग्राहकधर्मों के द्वारा निश्चय हो जाय ? (उ) तो (यह बताइये कि) वह क्या भौतिक रूप में, या प्रकृत्यात्मना या मिथ्या के रूप में ? तीनों के द्वारा हम निर्वेद का उदय नहीं देख पाते । निर्वेद वीतरागता है; या वेदन को वेद कहते हैं उसका अभाव (निर्वेदता है) पहला (अर्थात् वीतरागता) नहीं हो सकता (क्योंकि) उस विषय में उक्त हेतु साधन नहीं है क्योंकि चन्दन आदि का भौतिकत्व ज्ञात होने पर भी वहाँ राग का दर्शन होता है । अणिमा जादि ऐश्वर्य का प्राकृतत्व ज्ञान होने पर भी वैसा (निर्वेद) नहीं है और उल्टे सीधे व्यामोहक इन्द्रजाल आदि के मिथ्यात्व का ज्ञान होने पर भी (वीतरागता नहीं है) । दूसरे पक्ष के दूसरे (अर्थात् वेदनं वेदस्तदभावः) के निर्णय का ज्ञान होने पर ज्ञानाभाव दृष्टविरुद्ध होने से कष्ट साध्य है । यदि वीतरागता ही निर्वेद है और वह व्यामोहकारी अपने के मिथ्यात्वनिश्चय के अधीन है ? तो ऐसा भी नहीं है । क्योंकि उस प्रकार के भी चित्रकामिनीस्तन की उन्नति आदि के मिथ्यारूप में निश्चय होने पर भी प्रेक्षण आदि राग देखा जाता है ।

[कर्म के फल से वैराग्य होता है—]

(पू) जिसके कारण उस (अर्थात् स्वर्ग) से इस लोक में फल भोग के लिए पतित होते हैं वही सम्पात (अर्थात्) यज्ञ आदि कर्म है । बहुत परिश्रम युक्त कर्म करके भी

भुक्त्वा तदन्ते भोगायतनस्थूलदेहरहितो भोगान्तदर्शनजशोकाग्निना [तप्तो] भूत्वा[१] व्योमादितुल्यः कालं क्षिपन् वृष्टिद्वारेण जीवान्तरभोगाधिष्ठानव्रीह्यादिदेहेन प्रवासिवत् संसर्गमनुभूयानुपभुक्तरमणीयादिकर्मभोगाय व्रीह्यादेरत्तुर्देहं प्रविश्य रेतोद्वार-

भावदीपिका

"तद्देवानामन्नं, तं देवा भक्षयन्ति" इति श्रुत्या चन्द्रलोकगतानां तत्समानदेहभाजां देवान् प्रत्यन्नत्वं निरूपितं तद्गौणं सूत्रेण व्याख्यातम्—"भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात् तथाहि दर्शयतीति"। भाक्तम्=गौणम्; तेषामन्नत्वम्; अन्यथा तद्भावाय प्रवृत्त्यनुपपत्तेः अनात्म-वित्त्वात्=कर्मजडत्वात्; तेषां देवपशुत्वम्, "न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्" इति श्रुत्यन्तरं दर्शयति यतः, अत उपचारपर इत्युपभोग्यत्वमुक्तम्। "सामान्यापत्तिरुपपत्तेः" चन्द्रमण्डले यदम्मयं शरीरमुपभोगार्थमारब्धं तदुपभोगक्षये सति प्रविलीयमानं सूक्ष्ममा-काशादिसमं स्यात्; पूर्वसिद्धाकाशाद्यैक्य[स्य] अनुपपत्तिलक्षणोपपत्तेः। "अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात्"—"अन्यैः जीवैरधिष्ठितेषु व्रीह्यादिषु संसर्गमात्रमनुशयिनः प्रतिपद्यन्ते न तत्सुखदुःखभाजो भवन्ति। पूर्ववत्। व्रीहियवादिभावाभिलापात्"—इत्यादिसूत्रभाष्य दर्शनादसमर्थं इत्यर्थः। मुण्डकेऽपि "एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्ति; एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः" इति। कर्मफलमुपक्षिप्य निन्दा श्रूयते—"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवाऽपियन्ति॥" इत्यादिना। प्लवन्ते=गच्छन्ति नाऽविनश्वरभाजः। न च "हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते" इति श्रुत्या अविनश्वरफलसिद्धिः? इष्टादिकर्मवत् दानकर्मणोऽपि क्षयित्वफलानुमानात्; "इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे सुकृते तेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं चाऽविशन्ति॥"—इति तत्रैवोक्तत्वात्।

न चाऽनुमानेन श्रुतिबाधो न युक्तः; "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्य-जितो लोकः क्षीयते"—इत्यागमसहकृतानुमानस्य केवलश्रुतिबाधकत्वसम्भवात्। न "चापाम सोममममृता अभूम"—इतिवदसंवादश्रुतिसहकृताऽमृतत्वश्रुतिस्ततोऽपि बलीयसीति मन्तव्यम्; सोमपानस्येष्टकर्मान्तर्गतत्वेन तत्फलक्षयिष्णुताऽभिधायकश्रुत्या सोमश्रुतिप्रतिरोधात्। "स्वर्ग-लोका अमृतत्वं भजन्ते"—यइति काठकवाक्यमप्येवं व्याख्यातम्। "तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये

ज्ञानवती

कर्मभूमि के समान चन्द्रलोक में देवताओं की सेवा में लगा हुआ परतन्त्र (व्यक्ति) फल को भोग कर उस (अर्थात् कर्म) के अन्त में भोगायतन-स्थूलदेह से रहित होता हुआ भोग की समाप्ति के दर्शन से उत्पन्न शोक की अग्नि के द्वारा व्योम आदि के समान तप्त (अर्थात् सूक्ष्म) होकर कालक्षेप करता हुआ वर्षा के द्वारा जीवान्तर के भोग के अधिष्ठान व्रीहि आदि के देह से प्रवासी के समान संसर्ग का अनुभव करके अनुपभुक्त रमणीय आदि कर्मयोग के लिये व्रीहि आदि के खाने वाले के देह में प्रवेश कर रेतस् के द्वारा योनि, गर्भ आदि का अनुभव करता

---

१ (क) ग्निता मृत्वा।

योनिगर्भाद्यनुभवतीत्यालोचनात् निर्वेदोदयार्थः "यावत् सम्पातमुषित्वा"[१] इत्याद्याकर्णनात् द्यां प्रति दुःखमयत्वभावनया [रागात्] विरमति दारादीन् प्रति च दृष्टदोषादेव। बाह्या अप्याहुः—"सर्वं दुःखम्" इत्यादि।

तर्हि दुःख एव लोके व्युत्पन्न आनन्दशब्दो ब्रह्मणस्तदात्मतामात्रमुपदिशन् वा कथं मोक्षायोत्थापयेत् प्रेक्षाकारिणम्? यदि च कल्पायुषामप्यानन्दस्य पृथग्भावत्वे सत्येवैषा भावना ततोऽप्युक्तानन्दलाभप्रारम्भाय; तदापि सन्ततमनुभूतप्रमोदभरनिदानवृन्दारकवनितादौ दुःखमयत्वाभावात्तथा दुःसम्पादतया भग्नोद्यमानामद्यतनानामिव का कथा वैराग्यस्य? अत्रापि ब्राह्मणश्रुत्यैव दत्तमुत्तरम्—"ब्राह्मणो हि शाश्वतधर्ममूर्तिः"[३] इति। यथा तद्विरुद्धाधर्मकार्यरागादेर्वोद्विजन्[४] मानसमेव धर्ममनुवर्त्तयन्—

"श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥"

भावदीपिका

शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः। सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥" इति। कर्मणा प्राप्यलोकभेदेऽमृताऽव्ययपुरुषश्रवणं कर्मफलस्य क्षयिष्णुत्वाभावे लिङ्गमिति—अत एव न वाच्यम्; एतदनन्तरमेव निर्वेदार्थलोकपरीक्षाविधानात्। तस्मात् "अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्" इतिवदापेक्षिकमक्षय्यत्वं कर्मफलस्यावगम्यते। सुकृतस्य ह्यक्षयत्वं फलोत्तरकालेऽप्यवस्थानप्रसङ्गादसङ्गतम्। अक्षयफलत्वेन चाक्षयत्वं न श्रुतं, न वाऽऽगमन्यायविरोधात् कल्प्यमित्याद्यप्यादिशब्देन ग्राह्यम्।

दुःखमयत्वभावना च वेदबाह्यानामपि प्रसिद्धा—इत्याह—बाह्या अपि इति। किमेषा भावना विद्यमानार्थाऽविद्यमानार्था वा? क्रमेण दूषयति—तर्हीत्यादिना। श्रुतिपदेनैवाऽस्याऽपि परिहारः सूचितः—इत्याह—अत्रापीति। उत्पत्तिरेवेति वा पाठः। तथापि निर्वेदे किमायातम्?

ज्ञानवती

इत्यादि के सुनने से स्वर्ग के प्रति दुःखमयत्व की भावना से, और स्त्री आदि के प्रति दोष के देखने से (मनुष्य) राग से विरत हो जाता है। बाह्यलोग भी ऐसा कहते हैं—"सब दुःख है" इत्यादि।

तब तो लोक में आनन्द शब्द, दुःख में ही व्युत्पन्न होता हुआ (अर्थात् आनन्द दुःखभूयिष्ठ है ऐसा ज्ञात होता हुआ) ब्रह्म की तदात्मता मात्र का उपदेश करता हुआ प्रेक्षाकारी को मोक्ष से लिये कैसे उठायेगा। यदि कल्पपर्यन्त आयु वालों की भी, आनन्द के पृथक् भाव के होने पर ही, यह भावना उससे भी उक्त आनन्दलाभ के प्रारम्भ के लिये है; तो भी निरन्तर अनुभूत प्रमोद के भार के आदिकारण देवाङ्गना आदि में दुःखमयत्व न होने से उस प्रकार दुःसम्पाद्य होने के कारण भग्न उद्यम वाले आजकल के लोगों के समान वैराग्य की क्या बात

[१] छा० ५।१०।५। [२] (ख) निदानं वृन्दा। [३] (ख) मूर्त्ति यथा।
[४] (ख) तद्विरुद्धाधर्मकार्यरागादेवोद्विजन्मानस्तमेष धर्मं।

इति सप्रमाणकं ब्रह्मभावमनुभूयैव[1] निरुद्योगो भवति। तदाह स्म मनुः--

"उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥" इति[3]।

तस्य च लोकेषु दुःखमयत्वभावनाया ईषत्करत्वाद्युक्तो निर्वेदः। तादृशपरिसंख्यान-साध्यो हि रागविरोधिचेतोवृत्तिभेदो वैराग्यम्। "कर्मचितान्" इति कर्मणो ब्राह्मण्याद्यध्यासमूलत्वात् लोकानामविद्यात्मकत्वेन संन्याससंस्कारपूर्वकश्रवणादिफलज्ञानहेयत्वेन ज्ञानार्थमुद्योजयति श्रुतिः[4]; निर्वेदस्य त्यागफलत्वात्।

ननु नैवम्; यथा[5] निर्विण्णोद्गारः –

भावदीपिका

तत्राह—तस्य चेति। परिसंख्यानम्=भावना; न तु निर्वेदः। विषयभूतदेवादिलोकानां कर्मचितत्वं "ये कर्मणा देवानपि यन्ति" इत्यादौ प्रसिद्धम्; ततः किं कर्मचिताऽनित्यत्वेन ? तत्राह—कर्मेति। न केवलं लोकानां क्षयदर्शनं वैराग्यविभूतिं प्रसूयते, द्वैतवादिभिः क्षयवतामपि पारमार्थिकत्वस्वीकारात्। परमार्थश्च स्पृहणीयो भवति। ततो यथा स्वप्नेऽध्यस्तसम्राड्भावस्य भोग्यजातमविद्यामयम्, एवमध्यस्तब्राह्मणभावभोग्यं लोकजातमविद्यामयमिति भावः।

[क्षयदर्शनं भाव]नासहकृतमव्यभिचारेण [वैराग्यविभूतिं] प्रसूते सा चाव्यभिचारेण त्यागम्=संन्यासम्; प्रसूत इत्युक्ते व्यभिचारमाशङ्कते—नन्विति। ननु दुग्धाद्यलाभात्

ज्ञानवती

है। ऐसी आलोचना (=ज्ञान) होने से, निर्वेद के उदय के लिये 'संपातपर्यन्त रहकर" है ? (उ) इस विषय में भी ब्राह्मण श्रुति ने ही उत्तर दे दिया है—"ब्राह्मण निरन्तर धर्म की मूर्त्ति है।" जिस प्रकार उससे विरुद्ध अधर्म कार्य राग से ही उद्विग्न होता हुआ मानसधर्म का ही अनुवर्त्तन करता हुआ—

"श्रुति, स्मृति, सदाचार, अपना और अपनों का प्रिय यह चार प्रकार का साक्षात् धर्म का लक्षण है।"

इससे प्रमाण के सहित ब्रह्मभाव का अनुभव कर उद्योगशून्य हो जाता है। मनु ने कहा है—

"ब्राह्मण की उत्पत्ति ही धर्म की शाश्वती मूर्ति है। धर्म के लिये उत्पन्न हुआ वह ब्रह्मभाव के लिये माना जाता है।"

लोकों में उसकी दुःखमयत्वभावना के किञ्चितकर होने से निर्वेद ठीक है। उस प्रकार के ज्ञान से साध्य, रागविरोधी चित्तवृत्ति का भेद ही वैराग्य है। श्रुति "कर्मचितान्" ऐसा (कहकर) ब्रह्मभाव के विषय में कर्म के अध्यासमूलक होने से लोकों के अविद्यात्मक होने के कारण सन्याससंस्कारपूर्वक श्रवण आदि फलज्ञान के हेय होने से ज्ञान के लिये लगाती है। क्योंकि निर्वेद त्याग का फल होता है।

---

[1] (ख) सप्राणक। [2] (ख) कल्पितः। [3] मनु० १, ९८।
[4] (क) श्रुतिनिर्वे। [5] (क) तथा।

"हतो भ्राता हता माता हतः काञ्जिकया पिता।
तथाऽप्येनां स्वगोत्रघ्नीं निन्दामि च पिबामि च॥" इति।

तथा वेदेऽपि, ब्रह्मविद्याचार्यस्य याज्ञवल्क्यस्य "नमो वयं ब्रह्मिष्ठाय कुर्मो गोकामा एव वयम्[१]" इत्युद्घोषपूर्वकं गोपरिग्रहभूपालोपदेशकरणाद्युदाहरणात्, "चर्मखण्डं-द्विधा भिन्नम्" इत्यादिनिर्वेदवर्णनपरस्य वेदान्तसूत्रकृतोऽप्सरोऽदर्शनमात्राद्रेतःस्कन्दनपुत्रविलापाद्यभिलापाच्च[२]। अतो धूर्त्तप्रलाप इव त्रयीमार्गोऽपि प्रतिभाति?

नैतत्सारम्; नचिकेतः प्रभृतीनाम्—

"देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा, नहि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः।
"अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व" इत्यादिना दुर्लभवरैः प्रलोभ्यमानानामपि—

"देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो! यन्न सुविज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्[३]॥"

भावदीपिका

काञ्जिकाया अपरित्यागो, मुमुक्षूणां तु परमानन्दलाभनिश्चयात् अल्पीयःसुखसाधनत्यागो युक्त इत्याशङ्क्याह – तथा वेदेऽपीति। स्थलान्तरेऽपि व्यभिचारयति—"चर्मखण्डं द्विधा भिन्नमपानोद्गारधूपितम्। ये रमन्ति नमस्तेभ्यः साहसं किमतः परम्॥ स्त्रीणामवाच्यदेशस्य क्लिन्ननाडीव्रणस्य च। अभेदेऽपि मनोभेदात् जनः प्रायेण वञ्च्यते॥"—इति हि व्यासः।

उदाहरणान्तरेण त्यागं संभावयन् व्यभिचारं परिहरति—नैतत् सारमिति। याज्ञवल्क्यादेरन्यस्यापि ब्रह्मसाक्षात्कारवतो जन्मान्तरीयेण त्यागेन चरितार्थस्य ज्ञानवेलायां त्यागाऽभावो न व्यभिचाराय। "अन्याश्रमिभ्यः परमपवित्रं प्रोवाच सम्यक् ऋषिसंघजुष्टम्" —इति संन्यासिभ्यो बटुभ्यो गायत्र्युपदेशवज्ज्ञानोपदेशस्य श्वेताश्वतरे श्रवणाच्च। ज्ञानार्थत्यागस्य विवक्षितत्वादिति रहस्यमाह—अयञ्चेति। ननु यदि निर्वेदे सति ज्ञानार्थः संन्यासोऽवश्यंभावी तर्हि क्रममुक्तिफलसगुणोपासकानाम् "अनियमः सर्वासामविरोधः

ज्ञानव्रती

(पू) ऐसा नहीं है। जैसा कि निर्विण्ण का उद्गार है—

"काञ्जिका (एक विशेष प्रकार की शराब) से भाई, माता, पिता मार डाले गये। तथापि इस, गोत्र का नाश करने वाली, की निन्दा भी करता हूँ और पीता भी हूँ।"

तथा वेद में भी ब्रह्मविद्या के आचार्य याज्ञवल्क्य का "हम ब्रह्मनिष्ठ को नमस्कार करते हैं हम गौ ही चाहते हैं" इस प्रकार उद्घोषपूर्वक गौ का ग्रहण भूपाल (=जनक) को उपदेशकरण आदि का उदाहरण है। "दो भागों में विभक्त चर्म का खण्ड" इत्यादि निर्वेद के वर्णन में तत्पर वेदान्तसूत्र के कर्त्ता (व्यास) का अप्सरा के दर्शनमात्र से रेतःस्कन्दन, पुत्र (के लिये) विलाप आदि कहा जाता है। इसलिये त्रयीमार्ग धूर्त्तप्रलाप के समान मालूम होता है।

(उ) यह तत्त्व नहीं है। नचिकेतस् आदि का—

"इस विषय (अर्थात् मृत्यु के बारे) में देवताओं ने विचिकित्सा की है। यह सूक्ष्म

---

१ बृ० ३।१।२। २ (ख) सूत्रकृताप्सरो। ३ कठ० १।१।२२।

इत्यादिना मोक्षमार्गादप्रस्खलनश्रवणात्। याज्ञवल्क्यस्य च—"एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज[१]" इति पारिव्राज्याम्नानात्। व्यासस्य च वासुदेवस्येव भगवल्लीलावतारत्वादप्रतर्क्यचारित्राविरोधात्। अयञ्च[२] साधकानामुपदेशो न सिद्धानामिति न कश्चिद् विरोधः। न च "एतया रौद्रेष्ट्या निषादस्थपतिं याजयेत्" इति श्रुतिबलात् निषादस्यैवाधिकारवत् "ब्राह्मणो निर्वेदमायात्" इति विशेषादेव क्षत्त्रियादेरनधिकारः; देवर्षीणां निर्वेदपूर्वकब्रह्मविद्याश्रवणात्;

भावदीपिका

शब्दानुमानाभ्याम्"—सर्वासां सगुणब्रह्मविद्यानामर्चिरादिमार्गस्याऽनियमो=यत्र श्रूयते तत्रैवेति नियमो न ? न चैवं अन्यप्रकरणस्थस्य प्रकरणान्तरनयने तद्विरोधः ? ततः प्रबलतमया "शुक्लकृष्णे गती ह्येते" इत्यादिस्मृतिसहितया "तद्य इत्थं विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते" इति पञ्चाग्निविदां श्रद्धालूनां सत्यब्रह्मोपासकानाञ्च श्रुत्या प्रकरणबाधादिति व्यासोक्तेः। प्राप्तदेवादिभावानां निर्वेदोदये संन्यासो वक्तव्यः। न च पुण्यद्वारा ज्ञानसाधनं नाऽमनुष्याणां युक्तः।

अथ ब्राह्मणव्यपदेशात् ब्राह्मणस्यैव निर्वेदः संन्यासहेतुरिति विवक्षितम् ? तर्हि व्यपदेशबलात् निर्वेदोऽपि तस्यैव स्यात्; तथा च "मघवन् मर्त्यं वा" इत्यादि निर्वेदोपदेशो बाध्येत—इत्याशङ्क्याह—न चैतयेति। "स्थपतिः निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्" इत्यत्राऽग्निवेदसंपत्त्या योग्यत्वाद् ब्राह्मणादीनामुक्तेष्टावधिकारित्वेनान्वयमाशङ्क्य तया सति निषादानां स्थपतिः=स्वामीति समासे द्वितीयायाः स्थपतिपदेनैवान्वयो न निषादपदेन; निषादश्चासौस्थपतिश्चेति समासे तु द्वितीयाया उभयपदान्वयलक्षणशब्दसामर्थ्यान्निषादस्यैवात्राऽधिकारः वर्णितः। "देवक्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशानः। स विशमसृजत

ज्ञानवती

धर्म सुविज्ञेय नहीं है। "हे निचिकेतः दूसरा वर मागो।"
इत्यादि के द्वारा दुर्लभ वरों से प्रलोभ्यमान लोगों का भी—

"देवताओं के द्वारा इस विषय में विचिकित्सा की गई। और हे मृत्यु ! तुम जिसको सुविज्ञेय नहीं कह रहे हो। इसका वक्ता तुम्हारे जैसा दूसरा कोई प्राप्य नहीं है और इसके समान कोई वरदान नहीं है।"

इत्यादि के द्वारा मोक्षमार्ग से अप्रखलन सुना जाता है। और याज्ञवल्क्य की "इतना ही अमृतत्व है ऐसा कहकर याज्ञवल्क्य सन्यास के लिये निकल गये" ऐसी परिव्रज्या कही गई है। साथ ही व्यास के कृष्ण के समान भगवत् लीला के अवतार होने से (उनके) अप्रतर्क्य चरित्र में कोई विरोध नहीं है। और यह (अर्थात् "ब्राह्मणो निर्वेदमायात्—") साधकों के लिये उपदेश है सिद्धों के लिये नहीं; इसलिये कोई विरोध नहीं है।

(पू) "इस रौद्र दृष्टि से निषादस्थपति को याग कराना चाहिये" इस श्रुति के बल से निषाद के ही अधिकार से समान "ब्राह्मण वैराग्य को प्राप्त करे" इस विशेष से ही क्षत्रिय आदि का अधिकार नहीं है ? (उ) देवता एवं ऋषियों के निर्वेदपूर्वक विद्याश्रवण से एवं

---

१ बृ० ४।५।१५। २ (ग) य च। ३ (क) अत्यांगी। (ख) त्यागिन।

"त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्" इति श्रुत्यन्तराच्च । (त्या)गिनश्चावश्यकं[3] ब्रह्मश्रवणम् इति ज्ञानफलत्वाद् ध्रुवं त्यागेनामृतत्वम् । "अरुन्मुखान् यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छम्[1]" रौति जीवब्रह्मणोरैक्यमिति रुत्=वेदान्तभागः; तत्पराङ्मुखान्; सालावृकाः= गृहपालसारमेयाः; तेभ्यः प्रायच्छम् इतीन्द्रवाक्याच्च ।

ननु किमनेन क्लेशसङ्कुलकलत्रादित्यागानुष्ठानेन, यथाकामं वर्त्तमानानामपि वाराणसीमरणसेवानुष्ठेयम् ? तत्र हि सम्भूपदेशभक्त्या ज्ञानान्मुक्त्युपपत्तेः । "अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे येनासावमृतीभूत्वा मोक्षीभवति" इति जाबालश्रुतेस्तारकं संसारसागरात् प्रणवः । (प्रमाणतो[2]) वा केचिदेतदेव ब्रह्म इत्याहुः ।

भावदीपिका

यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते" । वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति । "स शौद्रवर्णमसृत पूषणमियं वै पूषा"—इति बृहदारण्यके देवक्षत्राद्युक्तम् । निषादेष्टौ ब्राह्मणादेरधिकारश्रवणाभावादिति वैषम्यम् । तथापि संन्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वे प्रमाणदर्शनात् किमिति ब्राह्मणेनाऽपि ज्ञानार्थिना स कार्यं इति नियमलाभः ? तत्राह—त्यजतेति । "यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः" इति श्रुत्यन्तराच्च सफलज्ञानप्रकरणे श्रुतत्वात् प्रकरणेनाऽपि संन्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वं गम्यते । "त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" इतिश्रुतेस्त्यागस्य स्वातन्त्र्येण मोक्षसाधनत्वावगमविरोधमाशङ्क्य "तमेव विदित्वा" इत्यादिसावधारणश्रुतिसहकृतज्ञानाङ्गत्वविधायकश्रुत्या उदाहृतश्रुतेः पारंपर्यसाधनत्वं नियम्यते—इति परिहरति—त्यागिनश्चेति । प्रायच्छदितिपाठः । उत्तमपुरुषाभिप्रायेण—प्रायच्छमिति; इन्द्रस्य स्वव्यापारनिर्देशात् ।

त्यजतैव—इत्येतत् परिशोधयितुमाक्षिपति—नन्विति । तारकशब्दस्योभयार्थत्वमेवेति यद्यपि नास्ति, वानरविशेषे तारशब्दो नक्षत्रे च तारक इति स्वार्थिकः क प्रत्ययः, तथाप्यत्र ब्रह्मविशेषत्वा[त्ते[3]]दमर्थद्वयम्—इत्याह—तारकमिति । प्रणवप्रमाणकत्वं व्यवस्थापयितुं पूर्वपक्षमाह—केचिदिति । ननु "ब्रह्मदाशा ब्रह्मदासा ब्रह्मैवेमे कितवा" इति कैवर्त्तकर्मकर-

ज्ञानवती

"त्याग करने वाले के द्वारा ही वह ज्ञेय है" इस श्रुत्यन्तर से त्यागी के लिये ब्रह्मश्रवण आवश्यक है ऐसा ज्ञान का फल होने से त्याग से अमृतत्व निश्चित है; "मैंने वेदान्तश्रवणरहित सन्यासियों को घर पर पाले गये कुत्तों को दे दिया" ऐसा इन्द्र का वाक्य भी है। रुद्र का मतलव है वेदान्त भाग जो कि जीव एवं ब्रह्म के ऐक्य को वताता है। सालावृक (का मतलव है) घर पर पाले गये कुत्ते।

(पू) क्लेश से युक्त कलत्र आदि का त्याग करने वाले इस अनुष्ठान से क्या लाभ ? इच्छापूर्वकव्यवहार करने वालों को भी वाराणसीमरण का ही अनुष्ठान करना चाहिये। क्योंकि वहाँ शम्भु के उपदेश की भक्ति से ज्ञान होने के कारण मुक्ति की सिद्धि हो जाती है। "यहाँ पर जीवों के प्राणों के उत्क्रमण के समय भगवान् रुद्र उसके लिये तारक ब्रह्म की व्याख्या करते हैं। जिससे यह अमर होकर मोक्ष वाला हो जाता है।" इस जाबालोपनिषद्

[1] कौ० ३।१ । [2] (क) प्रमाणतं । (ख) प्रमाणतो । [3] (क) पेदि ।

[शब्दार्थयोरभेदाभावः-]

प्रणवो हि (सर्वात्मक[१] इति श्रुत्यन्तरादवगम्यते) "अकारो वै सर्वा वाक्"[२] "वाचारम्भणं च विकारः"[३] व्योमादि जगदर्थरूपं नामधेयमेवेत्यकारः सर्वात्मको गम्यते। अकारस्य चैकदेशत्वात्। किमुतन्यायेन सर्वात्मकता "एतद् वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्सर्वात्मकः"[४] इति श्रुत्यन्तरादवगम्यते। न च

भावदीपिका

द्यूतकारादिनिकृष्टजीवोदाहरणेन सर्वात्मकं ब्रह्म किंपुनर्न्यायेनोक्तं श्रुतौ। तथाच व्यास-सूत्रम्—"अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चाऽपि दाशकितवादित्वमधीयत एके" इति—"आत्मा द्रष्टव्यः" इति द्रष्टृद्रष्टव्यभेदेन, "य आत्मानमन्तरो यमयति" इति नियम्यनियन्तृत्व-भेदेन, च व्यपदेशात्। न चैवं भेद एव, तथाच न घटपटादिवदंशांशिभाव इति शङ्कनीयम्; अन्यथाऽपि=नानाव्यपदेशादपि; ब्रह्मदाशा इत्यादिकात्। ननु भेदाभेदव्यपदेशौ यद्यपि भेदतः [भवतः]तथाप्यग्निविस्फुलिङ्गयोरिव[स्यात्] न जीवब्रह्मणोरंशांशिभावसम्भवः निरंशत्वात्; न च कल्पितांशस्य चेतनत्वम् येन यथा च "तक्षोभयथा" इति तक्ष्णः स्वरूपेण छेदनाद्यकर्तृत्वे सुखावस्थत्ववत् जीवस्य स्वरूपेण कर्तृत्वाभावः सुखावस्थत्वं वा स्यात् उपधाननिमित्तञ्च छेदनादिकर्तृत्वम् दुःखावस्थत्ववत्; मन आदिकरणोपधानात् कर्तृत्वं दुःखावस्थत्वम् "तद्गुणपरात्तु तच्छ्रुतेः" इत्यौपाधिकमपि कर्तृत्वं पूर्वपूर्वधर्माधर्मापेक्षात् परस्मात् आत्मनो हेतुभूतात् कर्तुः[भवति] "एष ह्येव साधु कर्म कारयति" इत्यादिश्रुतेरिति [श्रुति]सूत्राभ्यामी-श्वराधीनौपाधिककर्तृत्वनिर्वाहार्थमंशत्वोपदेशो युज्यते। अथ "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव" इति श्रुत्यनुसारेण प्रतिबिम्बत्वमेवांशत्वे[-न] विवक्षितम् "पादोऽस्य विश्वा भूतानि", "ममै-वांशः" इतिश्रुत्यादौ सूत्रे च, तर्हि "आभास एव च" इति सूत्रं पुनरुक्तम्? न; अंशसूत्रस्यो-पाधितद्धर्मविशिष्टप्रतिबिम्बविषयत्वात्, आभाससूत्रस्य चावच्छेदपक्षव्यावृत्त्यर्थत्वात्।

[शब्दार्थयोरभेदाभावः—]

एवं ब्रह्म सर्वात्मकं कथं परिच्छिन्नः प्रणव एव तदिति? तत्राह—प्रणवो हीति। श्रुत्यैव प्रणवस्य ब्रह्मत्वोक्तेर्नात्र विवादः कार्यः—इत्याह—तथेति[५]। सर्वात्मकः=ब्रह्मेत्यर्थः। "ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्", "सर्वं ह्येतद् ब्रह्म" इति श्रुत्यन्तराच्च। न च "अथ हैनं शैव्यः

ज्ञानवती

श्रुति से प्रणव संसारसागर से पार करने वाला है। प्रमाण के द्वारा कोई इसी को ब्रह्म कहते हैं।

[शब्द और अर्थ में अभेद नहीं है—]

प्रणव सर्वात्मक है ऐसा दूसरी श्रुति से जाना जाता है। "अकार सर्वावाक् है" "वाणी का आरम्भण विकार है", आकाश आदि ओङ्क जगत् अर्थरूप नामधेय है इस प्रकार अकार सर्वात्मक ज्ञात होता है। क्योंकि अकार ओङ्कार का एक देश है। किमुत न्याय

---

१ (क) प्रणवो हि अकारो। २ ऐ० आ० २।३।६। ३ छा० ६।३।
४ प्र० ५।३। ५ मूलमस्य न प्राप्यते।

ओङ्काराभिधेयस्य ब्रह्मणः सर्वात्मकत्वं तदभिधाने। तत्रोच्यते—ओङ्कार इति कारप्रत्ययान्तत्वादर्थपरत्वाभावात् "वर्णात् कारः"[1] यत्र वर्णस्वरूपमेवाभिधेयत्वेन विवक्षितम्, तत्र केवलात् समुदिताद्वा वर्णात् परः कारप्रत्ययो भवति इति स्मरणात्। एवकार इति समुदायात् परस्यापि दर्शनात्। तस्मादकारादिवर्णसमुदायात्मकात् प्रणवात् परकारप्रत्ययस्य श्रवणादोङ्कार इति तस्यैव सर्वात्मकत्वं गम्यते। सर्वञ्च वाच्यं वागनुविद्धमेव स्फुरति 'किंसंज्ञकोऽयम् ?' इत्यादावपि सामान्याभुवेधोऽस्त्येव।

भावदीपिका

सत्यकामः पप्रच्छ—स यो ह वै तद् भगवन् मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत कतमं वाव, स तेन लोकं जयतीति ? तस्मै स होवाच—एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारस्तस्माद् विद्वान् एतेनैवायतनेन एकतरमन्वेति"—इति ओंकारस्य परापरब्रह्मोपासनस्थानत्वाद् ब्रह्मत्वव्यपदेशः; एकैकमात्रया च उपासनमुपदिश्य "य पुनरेतं त्रिमात्रेण ओमित्यनेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः; यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यते एवं हैव स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकम्, स एतस्माज्जीव(घ)नात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते"—इति क्रमेण परब्रह्मेक्षणसाधनत्वश्रवणाच्च ओङ्कारस्य न साक्षाद् ब्रह्मत्वम् ? तत्राह—न च ओंकाराभिधेयस्येति। ओङ्कारस्य प्रमाणत्वेन प्रमेयैक्योपचारोऽत्र न घटते पाणिनिस्मरणविरोधादित्यर्थः। यदापि ध्यानस्थानत्वमोंकारस्य "एतदालम्बनं श्रेष्ठम्" इति श्रुतिबलेन—"आद्यं हि त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयी यस्मिन् प्रतिष्ठिता। स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित्॥"—इति प्रणवश्रैष्ठ्यस्मृतेश्च, तदापि युक्तया तस्य सर्वात्मत्वाऽवगमादनेकसर्वात्मकायोगाच्च स एव सर्वात्मकः—इत्याशयेनाह—सर्वञ्चेति। यत्राऽपि न विशेषसंज्ञास्फुरणं तत्राऽपि शब्दसामान्यानुवृत्तेः; विशेषाणां सामान्यात् बहिर्भावाऽभावस्य श्रुत्याऽपि "स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयाद् ग्रहणाय"—इत्यादिनोक्तत्वात्। किमात्मकं

ज्ञानवती

(अर्थात् जब अकार एक देश ही सर्वात्मक है तो फिर ऊँकार इस पूरे का क्या कहना) से, "हे सत्यकाम। यह पर एवं अपर ब्रह्म जो ओङ्कार है वह सर्वात्मक है" इस श्रुत्यन्तर से (ओङ्कार की) सर्वात्मकता ज्ञात होती है।

(पू) ओङ्काराभिधेय ब्रह्म का उस (=ओङ्कार) के अभिधान में सर्वात्मकत्व नहीं है ? (उ) इस विषय में कहते हैं—ओङ्कार यह शब्द कारप्रत्ययान्त होने से अर्थपरक नहीं है। "वर्णात्कारः" सूत्र से जहाँ वर्ण का स्वरूप ही अभिधेय के रूप में विवक्षित होता है, वहाँ केवल अथवा समुदित वर्ण से परे कार प्रत्यय होता है यह स्मृति है। क्योंकि एवकार आदि (स्थलों) में समुदाय से परे भी (कार प्रत्यय का प्रयोग) देखा जाता है। इसलिये, अकार आदि वर्णसमुदायात्मक प्रणव से परे कार प्रत्यय का श्रवण होने से ओंकार होता है, अतः वही सर्वात्मक है ऐसा जाना जाता है। सब अर्थ वाणी से अनुविद्ध होकर ही स्फुरित होता है। 'इसकी क्या संज्ञा है' इत्यादि में भी सामान्य अनुवेध है ही। निर्विकल्पक (प्रयोग) में भी ऐसा ही है। और वह सामान्यरूप अनादिनिधन कूटस्थ स्फोटाख्य ब्रह्म ही है।

[1] पा० सू० वा० ३।३।१०८।

निर्विकल्पकेऽप्येवम्। तच्च सामान्यरूपमनादिनिधनं कूटस्थस्फोटाख्यं ब्रह्मैव।

तदयुक्तम्; "अशब्दम्"[1] इत्यादिश्रुतेः। शब्दार्थयोरभेदे च घटत्वादिवत्[2] कुम्भादिषु शब्दत्वजातिः श्रोत्रग्राह्यत्वं च स्यात्। अर्थस्यापरोक्षे संज्ञाया स्मर्यमाणत्वाच्च नानयोरैक्यम्।

किञ्च "आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता"[3] इति नाम्नोऽपि पारतन्त्र्यश्रवणात् तस्यापि प्रपञ्चैकदेशत्वमेव। वर्णसमुदायस्य जडस्यैकरसज्ञानशरीरब्रह्मत्वानुपपत्तेश्च।

भावदीपिका

तर्हि तच्छब्दसामान्यम्? अकारादिवर्णव्यङ्ग्यं स्फोटात्मकम्; स्फोट एव च ब्रह्मत्वेनाभिप्रेतो न वर्णमात्रं येन तस्य सर्वात्मकत्वानुपपत्तिराशंङ्क्येत—इत्याह—तच्चेति।

वाचारम्भणश्रुतेर्दुन्दुभ्यादिश्रुतेश्च प्रतिज्ञातस्य सदात्मविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्योपपादनार्थत्वान्न सर्वस्य शब्दमात्रत्वप्रतिपादनार्थत्वं ब्रह्मणः, शब्दात्मत्वनिषेधाच्च नैतद्युक्तम्—इत्याह—तदयुक्तमिति। किञ्च शब्दस्य सुवर्णादेः कुण्डलादिवत् जगत् परिणामो, ब्रह्मण इव विवर्त्तो वा? नाद्यः—इत्याह—शब्दार्थयोरिति। यथा कुण्डलादौ सुवर्णत्वं सुवर्णग्राहकग्राह्यत्वं च, तथा घटादिषु शब्दत्वान्वयः श्रोत्रवेद्यत्वं चाऽदृष्टमापद्येत। श्रोत्रग्राह्यत्वं च विवर्त्तपक्षेऽपि दूषणं द्रष्टव्यम्। अधिष्ठानस्य विभ्रमकालेऽपि स्वग्राहकेण शुक्तीदमंशादेरिव ग्रहणस्य वक्तव्यत्वात्। यश्च श्रोत्रग्राह्यशब्दो न तत्परिणामविवर्त्तरूपताऽर्थस्य, प्रमाणान्तरोपलब्धेऽर्थे सामान्यविशेषसंज्ञासंगतिग्रहात्; यथासंगतिग्रहञ्च कालान्तरेऽर्थोपलब्धौ संज्ञायाः स्मरणं भवति। अर्थस्य च घटादेरपरोक्षत्वात् दूरनिरस्तं शब्दपरिणामत्वादि—इत्याह—अर्थस्येति। उक्तं च—"यत् संज्ञास्मरणं तत्र न तदप्यन्यहेतुकम्। पिण्डः पूर्वं हि दृष्टः सन् संज्ञां स्मारयितुं क्षमः। संज्ञा हि स्मर्यमाणाऽपि प्रत्यक्षत्वं न बाधते। संज्ञिनः सा तदाऽवस्था न रूपाच्छादनक्षमा।" इति। अन्यहेतुकम्=शब्दार्थयोरैक्यहेतुकम्।

किञ्च नामरूपप्रपञ्चस्याऽविशेषेणोपादानतया ब्रह्मणो वेदे निरूपणाच्च न शब्दपरिणामदिकल्पना—इत्याह—आकाशेति। "अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य। धूत्वा शरीरमकृतकृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवानि॥"—इति फलभूतं ब्रह्मोपदिश्य "उपदिश्यमान आकाशो ब्रह्मतया कारणमान्तरं सारभूतं कार्यस्य।" ते नामरूपे अन्तरा यत् तद्

ज्ञानवती

(उ) यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि (ब्रह्म) "शब्द से रहित है" इत्यादि श्रुति है। यदि शब्द एवं अर्थ का अभेद मान लिया जाय तो घटत्व आदि के समान कुम्भ आदि में शब्दत्व जाति एवं श्रोत्रग्राह्यत्व हो जायेगा। अर्थ के प्रत्यक्ष होने पर संज्ञा का स्मरण होने से इन दोनों में ऐक्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त "आकाश ही नामरूप की नियामिका है" इस प्रकार नाम के भी पारतन्त्र्य का श्रवण होने से वह (=शब्द) भी प्रपञ्च का एक देश है। क्योंकि इसके अतिरिक्त जड वर्णसमुदाय एकरसज्ञान शरीर वाला ब्रह्म नहीं हो सकता। इसी तरह एक प्रकार के भी

[1] के० १।३।१५। [2] (क) पृथक्त्वा। [3] छा० ८।१४।

एवमेकविधस्यापि स्फोटस्याजडत्वे एकरसचेतनत्वे च नाममात्रभेदः स्यात्। तस्मान्न ओङ्कारस्य सर्वात्मकब्रह्मत्वम्, किन्तु महावाक्यत्वम्। न च अवतीति ओऽमिति व्युत्पत्त्या पदत्वमेव; विभक्तिपदवर्णानामादिमध्यान्तलोपाङ्गीकारात्। अकारादिस्पष्टपदत्रयोपपत्तौ व्युत्पत्तेरतिप्रसङ्गितयाऽस्वीकार्यत्वात्। तेन ब्रह्म-चैतन्यस्यैव प्रत्यग्भूतस्य संसारतारकत्वाश्रयणात्। यच्च भगवान् रुद्रः काश्यां मुमूर्षूणां व्याचष्ट इति; तदसमञ्जसम्;[१] तदाह[२] श्रुतिः—"नास्त्यकृतः कृतेन" इति। कृतम्=अन्तवत्; इति कृतः तद्वर्जितत्वादमृतभावो ब्रह्मत्वम्; "ब्रह्मैव सन्"[३]

भावदीपिका

ब्रह्म"—इति उपदिश्यमानं ब्रह्म नामरूपयोर्निरङ्कुशनिर्वाहकोपादानभूत आकाश एवेति "आकाशोऽर्थान्तरत्वात्"—इत्यत्र निर्णीतम्। किञ्च श्रुतौ त्रिमात्रत्वेनोपदिश्यमान ओंकारो न निष्कलादिश्रुत्युपदिष्टं ब्रह्म भवितुमर्हति—इत्याह वर्णेति। "यद्यनुत्पन्नविज्ञानो विरक्तः प्रीतिसंयुतः। यावज्जीवं जपेद्युक्तः प्रणवं ब्रह्मणो वपुः॥" —इति स्मृतौ प्रणवस्य ब्रह्मवपुस्त्वं जप्यत्वादारोपितं ज्ञेयम्। स्फोटोऽपि जडः स्वप्रकाशो वा ?—इति विकल्प्य दूषयन्नुपसंहरति—एवमित्यादिना। वाक्यस्यानेकपदात्मकत्वात्, आकारस्य चैकपदत्वप्रतिभानात्, न वाक्यत्वं युक्तम्—इत्याशङ्क्याह—न चावतीति।

अस्तु महावाक्यमोमिति; प्रस्तुते किमायातम् ?—तदाह—यच्चेति। अत्र वक्तव्यं किं काशीमरणमेव यथाकामं (वर्त्तमानम्[४]) ईश्वरं प्रसाद्य तच्छब्दमहावाक्यमात्रेण तदुत्पन्नब्रह्म-साक्षात्कारेण वा विनैव श्रवणाद्यावृत्ति मुक्तिफलाय इति जाबालश्रुतेस्तात्पर्यात् कल्प्यादव-गम्यते, अक्षराञ्जस्याद्वा ? नाद्यः; बहुश्रुत्यादिविरोधात् इत्थं तात्पर्यकल्पनाऽनुपपत्तेः। यथा आकाशाद्युत्पत्तिप्रकरणेष्वश्रुतेर्जीवोत्पत्तेः, क्वचिदग्निविस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन तदुत्पत्तिश्रुतेः, "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्याद्यविकृतब्रह्मभावप्रतिपादकबहुश्रुत्यादिविरोधान्न साक्षादुत्पत्तौ तात्पर्यम्। तदुक्तम्—"नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः" इति।

तदेतत् प्रकृतश्रुतिप्रतीकावलम्बनेनाह—तदसमञ्जसं, तदाह इति। द्वितीयं निरा-

ज्ञानवती

स्फोट के जडभिन्न और एक रसचेतन होने पर नाममात्र का भेद होगा। इसलिये ओङ्कार सर्वात्मक ब्रह्म नहीं है किन्तु महावाक्य है।

(पू) 'अवति इति ओम्' इस व्युत्पत्ति से (ओङ्कार) पद है ? (उ) विभक्ति, पद, वर्ण, नाम आदि का मध्यान्तलोप मानने से (ओंकार पद नहीं) हैं। अर्थात् सोऽहम् के स्थान पर ओ३म् हुआ है।) अकार आदि तीन पदों की स्पष्ट उपपत्ति होने पर व्युत्पत्ति में अति-प्रसक्ति होने से (व्युत्पत्ति) स्वीकार्य नहीं है। इसलिये प्रत्यक्भूत ब्रह्मचैतन्य ही संसार का तारक है। न कि ओङ्कार और जो, भगवान् रुद्र काशी में मुमूर्षुओं को व्याख्यान देते हैं (यह सिद्धान्त है) वह असमञ्जस है। वही श्रुति कहती है—"कर्म से अकृत नहीं हो सकता।" अकृत का मतलब है—ब्रह्म, (बात) कृतम् अन्तवत् इति कृतः, और उससे वर्जित होने के कारण जो अमृत भाव हैं वह ब्रह्म है। क्योंकि "ब्रह्म ही होता हुआ" यह श्रुति है। वह कृत से

१ (ख) इदमसमञ्जसम्। २ (ख) यदाह। ३ बृ० ४।४।६। ४ वर्तमानाना।

इत्यादि श्रुतेः; स कृतेन श्रीत्रितात्रिकेशवाद्यधिष्ठाननिष्पादितेन काशीक्षेत्रेण नास्ति, यतो विशिष्टदेशकालानुष्ठितं वेदोदितं स्वधर्माख्यं कर्म "एष स्वधर्मोऽभिहितो यो वेदेषु"[1] इति मैत्रश्रुतेः "धर्मेण पापमपनुदति"[2] इति पापनिवृत्तिचित्तशुद्धिसंसारयाथात्म्यदर्शनवैराग्यसन्न्यासगुरुसेवाश्रवणतत्फलज्ञानद्वारेण मोक्षाय भवतीति सर्वोपनिषदामविसंवादः।

अत्रापि च, "जनको ह वैदेहो याज्ञवल्क्यमुपसमेत्य उवाच; भगवन् सन्न्यासमनुब्रूहि"[3] इत्युपक्रमात् "सन्न्यासेन देहत्यागं करोति स परमहंसः"[4] इत्युपसंहारादपूर्वत्वात् "ब्रह्मभूयाय भवति" इति फलसंकीर्त्तनात् "प्रव्रज" इति विधिपदश्रवणात् प्रव्रजति शब्दस्य लोके चतुर्थाश्रमलक्षणसन्न्यासाभिधायित्वेन प्रसिद्धेश्च सन्न्यास्येव ज्ञानाधिकारीत्यवगम्यते। "अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः"[5] इत्यादि धर्मविधानात्, नदीपुलिनगिरिकुहराद्यनियतवासस्थानोपदेशाच्च न काशीवासोऽप्यत्रैकान्तेनाभिप्रेतः; दूरतस्तत्र मरणसाधनम्;

भावदीपिका

चष्टे—अत्रापि चेति। इतश्च संन्यासविधौ तात्पर्यम् काशीमरणे चाऽतात्पर्यम्—इत्याह—अथ परिव्राडिति। "नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाऽप्यलिङ्गात्" इत्यादिश्रुत्यन्तरानुसारेणाऽर्थान्तरसंभवाच्च। न "अत्र हि" इत्यादिश्रुतिरशक्यगतिका, येन वह्वीनामपि श्रुतीनां व्याकुलतां जनयेत्। अतो यथामूलप्रकृतेः "अप्राणो ह्यमनाः"इत्यादिश्रुत्या प्राणनिषेधात्, महाप्रलये चाऽन्यस्य प्राणासंभवात् तदधिकारे "आनीदवातं स्वधया"

ज्ञानवती

अर्थात् लक्ष्मी, त्रित (=एक ऋषि) अत्रि केशव आदि अधिष्ठान से निष्पादित काशीक्षेत्र से (सम्भव) नहीं है, क्योंकि विशिष्ट-देशकाल में अनुष्ठित वेद में कहा गया स्वधर्म नामक कर्म; पापनिवृत्ति, चित्तशुद्धि, संसारयाथात्म्यदर्शन, वैराग्य, सन्यास, गुरुसेवा, श्रवण और उसके फलज्ञान के द्वारा, मोक्ष के लिये होता है ऐसा सब उपनिषदों का एक मत है। क्योंकि इस विषय में—"जो वेदों में अभिहित है वह यह अपना धर्म है" यह मैत्र श्रुति है "धर्म से पाप को हटाता है।" यह भी श्रुति है।

इस विषय में भी—"विदेह के राजा जनक याज्ञवल्क्य के पास जाकर बोले—भगवन्! सन्यास का उपदेश कीजिये" इस उपक्रम से, "जो सन्यास से देहत्याग करता है वह परमहंस है" इस उपसंहार से, "ब्रह्मत्व के लिये होता है" इस फलकथन से, "प्रव्रज" इस विधिपद के श्रवण से, 'प्रव्रजति' शब्द के लोक में चतुर्थाश्रम—लक्षणसन्यास को बताने वाले के रूप में प्रसिद्ध होने से, सन्यासी ही ज्ञान का अधिकारी है ऐसा जाना जाता है। "इसके बाद परिव्राजक विवर्णवस्त्र वाला, मुण्डी एवं त्यागी" इत्यादि धर्म का विधान होने से एवं नदीतीर, गिरि-गुहा आदि अनियत वासस्थान का उपदेश होने से काशीवास भी सर्वदा एवं

---

[1] मै० ४।३। [2] जाबा० ४।३। [3] ना० ७।९।
[4] ना० ६। [5] जाबा० ५।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः" इत्यादिश्रुत्यालोचनया अत्रापि प्राणाः=स्वान्तः[१]-स्थप्रणिधानादिसामर्थ्यविशेषाः; तेषामुत्क्रमणम्=लक्ष्यस्याधिक्येनावलम्बनम्; सति तस्मिन् रुद्रः=परमात्मा सर्वकार्यमूलम्, वेदो वा; स्वप्रतिपक्षाननिष्टसंयोजनेन रोदयतीति रुद्रः; स्वस्यैव रूपान्तरम्=ब्रह्म व्याचष्टे; साक्षात्काराधिकारे सम्पन्ने वचनेनैव साक्षात्कारं जनयतीत्यर्थ आस्थेयः। अपरथा सकलश्रुतिस्मृत्युदितपरिपाटयाः स्वाज्ञारूपाया भङ्गे भगवान् भवोऽप्यनाप्त इव स्यात्। अतः काशीमरणं संयतस्य प्रकृष्टादृष्टादिद्वारेण झटिति मोक्षप्रवेशं प्रतिपादयतीत्येवास्थेयम्। तस्मात् "अविमुक्त

भावदीपिका

इति आनीच्छब्द 'आसीत्' इति सत्तामात्रपरतया नीतः, तथैवेयं श्रुतिरर्थान्तरतया नेतव्या—इत्याह—नायमात्मेति। यदि तु "यस्य हस्तौ च पादौ च मनश्चैव सुसंयतम्। विद्या तपश्च कीर्तिश्च स तीर्थफलमश्नुते॥"—इत्याद्यनुसारेण न यथाकामपक्षः; तत्राऽपि परिपाटी नोल्लङ्घनीया—इत्याह—अतः काशीमरणमिति। जाबालश्रुत्यन्तरस्य गतिवद् पुराणगर्जनानि श्रुतिमार्गेण नयति—तस्मादित्यादिना।

श्रुतेरर्थान्तरं मतान्तरं निरासायाह—अथवेति। महत्त्वापकर्षतारतम्यं क्वचिद् विश्रान्तम्, तारतम्यत्वात्, महत्त्वतारतम्यवदिति। अथ त्रसरेणुषु विश्रान्त्या सिद्धसाधनम्? तेषां नित्यत्वे न विवेकलाभः; अनित्यत्वे चतुरणुकादिवत् न विश्रान्तिस्थानत्वम्। अथ विश्रान्तिस्थानत्वेऽपि मूर्त्तत्वेनाऽनित्यत्वं घटादिवद् दुर्वारं परमाणूनाम्, रूपादिमत्त्वाच्च? न च निरवयवद्रव्यस्यावयवविभागविनाशयोरभावादुक्तविधत्वेऽप्युत्पन्नवन्नानित्यत्वमणूनाम्; घृतहिमकरकपरमाणूनां काठिन्यद्रवत्वपरिणामयोः सुवर्णखिल्यस्येव मूर्त्तिप्रचलनसंभवस्याऽवश्यवक्तव्यत्वेनाऽन्यत्राऽपि महाप्रलये मूर्त्तित्यागेन विलीनत्वोपपत्तेः? नैवम्; परिणामस्य तथाभूतातथाभूतत्वयोरसम्भवात्:—तथाभूते कः परिणामो नाम? अतथाभूतस्याऽतथाभूतत्वलक्षणपरिणामे प्राथमिकाऽतथाभावस्यापि तत्पूर्वकत्वेनाऽनवस्थानात्। तस्मात् सत्यामपि मूर्त्तौ

ज्ञानवती

सर्वथा अभिप्रेत नहीं है और वहाँ मरण साधन तो दूर रहा। इसके अतिरिक्त "यह आत्मा बल (अर्थात् ज्ञान,) से हीन के द्वारा लभ्य नहीं है" इत्यादि श्रुति की आलोचना से (भी काशीवास ऐकान्तेन निषेव्य नहीं है)। यहाँ (अर्थात् काशी में) भी, प्राण का मतलब है स्व अर्थात् आत्मा के अन्तस्थ के प्राणिधान आदि सामर्थ्यविशेष, उनका उत्क्रमण अर्थात् लक्ष्य का अधिक रूप में अवलम्बन। ऐसा होने पर रुद्र (अर्थात्) सब कार्य का मूल परमात्मा, अथवा अपने प्रतिपक्षियों को अनिष्टसंयोजन के द्वारा रुलाने से रुद्र (अर्थात्) वेद, अपने ही रूपान्तर ब्रह्म का व्याख्यान (अर्थात्) साक्षात्कार कराते हैं। अन्यथा समस्त श्रुति स्मृति में कथित अपनी आज्ञारूप परिपाटी के भङ्ग होने पर भगवान शंकर ही अनाप्त हो जायेंगे। इसलिये काशीमरण संयत पुरुष का प्रकृत अदृष्ट आदि के द्वारा तुरन्त मोक्ष में प्रवेश करा देता है यही अर्थ मानना चाहिये। इस कारण "अविमुक्त होकर ही सेवन करना चाहिये" इसका

१ (ख) स्वान्तस्य।

एव निषेवेत" इत्येतदपि व्याख्यातार्थम् ; "अविमुक्तं[1] वै देवानाम्" इत्यादिना[2] इहैव न परमार्थशास्त्रेण विमुक्त इत्यविमुक्तः=परमात्मा; इत्याद्यर्थपरतया वासस्थानानियमोक्तेः। अतः काशीमहिमास्थापकपुराणस्याप्युक्तार्थत्वमेवेत्यनवद्यम्[3]।

अथवा लोके यद्यपि सावयवा जन्मविनाशभाजः सत्यादयः, तथापि निरवयवाः परमाण्वादयो न तथेति चिदेकवस्तुव्यतिरेकि सर्वमनित्यं तावन्मात्रञ्च नित्यमिति न विवेको निर्वेदमूलमिति; तत्सम्पादनायाह—नास्त्यकृतः कृतेनेति। कृतः= द्व्यणुकादिविकारः, प्रयत्नसाध्यसूक्ष्मद्रव्यात्मकः; तेन सहितः परमाण्वादिरिह प्रक्रियामात्रसिद्धो नास्ति अकृतः=जन्मनाशवर्जितः; तन्त्वादिरिव पटादिविकारसहितः। यथा तेषां निष्प्रदेशानामप्रदेशवर्त्तिसंयोगादिरघटमानोऽपि कल्प्यमानो व्यवहारः

भावदीपिका

द्रवकाठिन्यविकारमात्रम्, तथा रूपादिकमपि, निमित्तविशेषात् परमाणूनाम्। आगमोऽपि परमाणूनामेव सन्धानं ब्रूते तेजःप्रभृतीननाम्; नत्वेकैकः परमाणुरुपचितापचितस्वरूप इति। तथा कालोऽपि नाऽदित्यपरिवर्त्तनमात्रम्; तद्दर्शनमन्तरेणाऽपि ज्योतिःशास्त्रोक्तप्रकारैः कालपरिमाणज्ञानात्। "अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते"—इत्यागमाच्च तन्नित्यत्वसिद्धिः। न च दिगप्यादित्योदयाद्युपलक्षितप्रदेशमात्रम्; विवादाध्यासितानि मूर्त्तद्रव्याणि युगपत् विशेषगुणशून्यानेकद्रव्यसंसर्गीणि द्रव्यत्वाद् आत्मवत्—इति लीलावतीकारेण दिक्कालयोः साधनात्। तदेतदाह—निरवयवाः परमाण्वादयो न तथेति। विकारवतां तत्त्वादीनामनित्यत्वदर्शनात् परमाण्वादीनामपि द्व्यणुकादिद्रव्यरूपादिगुणविकारवतामनित्यत्वं दुर्वारम्। अत उक्तम् "रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्" इति। विपर्ययः=अनित्यत्वादि।

सूत्रे पराभिमतन्निरवयवत्वमनुरुध्यापि परमाण्वादीनामुत्पत्तिविनाशौ सम्भावयति—यथा तेषामिति। व्यवहारः=व्यावहारिकद्व्यणुकादिकार्यकारणभावादिविषयः। कालविषयस्याऽगमस्यैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाऽनुरोधेनोत्पत्त्याद्यवारकत्वात्। यद्विज्ञानाच्च सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा तस्य कारणान्तराऽश्रवणात् "त्वं ज्ञातो भवसि, विश्वतोमुखः", "तदात्मानं स्वयमकुरुत" इत्यादिवाक्यस्य विवर्त्तविषयत्वोपपत्तेश्च, कारणान्तरकल्पनायां "न जायते म्रियते", "को ह्येनं जनयेत्", "न चास्य कश्चित् जनयिता" "ब्रह्मापूर्वम्" इत्यादिश्रुति-

ज्ञानवती

भी अर्थ व्याख्यात हो गया। "देवताओं का अविमुक्त" इत्यादि के साथ ही परमार्थ तत्त्व से न विमुक्त अर्थात् अविमुक्त परमात्मा, इत्यादि अर्थपरक होने से वासस्थान का नियम उक्त नहीं है। इसलिये काशी की महिमा का स्थापक—पुराण भी उक्त अर्थवाला ही है, यह सत्य है।

अथवा लोक में यद्यपि सावयव सत्य आदि (लोक) जन्म एवं विनाश वाले हैं फिर भी निरवयव परमाणु आदि वैसे नहीं हैं, इसलिये चिवेकवस्तु के अतिरिक्त सब अनित्य हैं केवल उतना (अर्थात् चिन्मात्र) ही नित्य है यह विवेक निर्वेदमूलक नहीं है। इसको

---

[1] (ख) अविमुक्तौ। [2] जाबा० १। [3] (ख) महिमास्थ वाचक।

पर्याप्नोति तथा निरवयवोऽप्याकाशपरमाण्वादिविकारः श्रुतिगदितपरमात्मनो मायाबलजातः। ततश्च युक्तो विवेकः।

[आश्रमचतुष्टयं गृहस्थस्यैवास्ति–]

अथवा यदाहुः—"ऐकाश्रम्यं त्वाचार्याः प्रत्यक्षविधानाद् गार्हस्थ्यस्य" इत्यैकाश्रम्यमेव गौतमेन प्रत्यक्षश्रुतेः समाप्तब्रह्मचर्यस्योक्तम्। "त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानम् इतिप्रथमः, तप एव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमाचार्यकुलेऽवसादयन्[1]" इति गृहस्थवानप्रस्थनैष्ठिकान् निरूप्य तेषां "सर्व एते

भावदीपिका

विरोधाच्च, अनवस्थापत्तेश्च, न सम्भवाऽशङ्का सतो ब्रह्मणः। तदुक्तम्—"असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः"इति। न केवलं नित्यत्वात्मनो रागाविषयत्वं मिथ्यात्वाच्च—इत्याह—मायाबलजात इति। अनेन ब्रह्मणो विश्वविवर्त्ताऽधिष्ठानस्याऽधिष्ठानान्तराऽनिरूपणात् परमार्थसत्यत्वादनुरागयोग्यत्वमर्थादुक्तम्। दिक्कालमनसां विशेषगुणशून्यत्वाऽसम्प्रतिपत्त्या वेदान्तिनं प्रति दृष्टान्ते साध्यवैकल्यादयुक्तमिति द्रष्टव्यम्।

[आश्रमचतुष्टयं गृहस्थस्यैवास्ति—]

इदानीं पुनर्विषयान्तरव्याप्त्यर्थं पक्षान्तरमाह—अथवेति। आश्रमविभागश्रुतिविरुद्धमाश्रमैक्यवचनं स्मार्त्तञ्च तत्र श्रुत्यपेक्षया दुर्बलमेव नैकाश्रम्यसाधकम्—इत्याशङ्क्याह—त्रयो धर्मस्कन्धा इति। यथा गृहस्थाऽनुष्ठेययज्ञादिग्रहणं गृहस्थाद्युपस्थापकं तथा "ओंकार एवेदं सर्वम्" इत्यन्ते उपसंहारात् सर्वात्मकब्रह्मप्रतीकत्वादोंकारो ब्रह्म; तस्मिन् सम्यक् स्थितिः संन्यासिन एव प्रसिद्धेति संन्यास्यनुष्ठेयब्रह्मसंस्थया तदुपस्थापनं श्रुतौ; यथा "न तद्भासयते

ज्ञानवती

वताने के लिये कहा "नास्त्यकृतः कृतेन"। कृत अर्थात् द्वयणुक आदि विकार जो कि प्रयत्न साध्यसूक्ष्म द्रव्यात्मक हैं, उसके सहित परमाणु आदि इस लोक में प्रक्रियामात्र से सिद्ध हैः इसलिये अकृत अर्थात् जन्म एवं मृत्यु से रहित है, ऐसा नहीं है; जैसे कि (कृत) पट आदि विकार के सहित तन्तु आदि। जैसे प्रदेश रहित उनके प्रदेश में न रहने वाला संयोग आदि व्यवहार घटित न होता हुआ कल्प्यमान होकर पर्याप्त होता (उत्पन्न हुआ माना जाता है उसी प्रकार निरवयव भी आकाश परमाणु आदि का विकार श्रुति में कथित माया के वल से उत्पन्न हुआ है। इसलिये विवेक ठीक है।

[आश्रमचतुष्टय गृहस्थ के लिये ही है—]

(पू) अथवा जैसा कहते हैं—"आचार्य लोग प्रत्यक्षविधान होने से गार्हस्थ्य को ही एक आश्रम (कहते हैं)" ऐसी प्रत्यक्ष श्रुति होने से जिसने ब्रह्मचर्य समाप्त कर लिया है उससे लिये गौतम ने ऐकाश्रम्य कहा है।

(पू) धर्म के तीन स्कन्ध हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान ये प्रथम; तप द्वितीय, ब्रह्मचारी आचार्यकुलवासी तृतीय। "अपने को आचार्यकुल में अत्यन्त अवसादित करते हुए" इस

[1] गौ ध० सू० ४।२५।

पुण्यलोका भवन्ति" इत्याश्रमफलवत् ब्रह्मसंस्थस्य "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति" इति संन्यासिनोऽप्यमृतत्वफलसङ्कीर्त्तनात्, 'पारिव्राज्यपूर्विकां ब्रह्मनिष्ठाममृतत्वकामः कुर्यात्, इति विधेर्विवक्षितत्वात् कथङ्कारमैकाश्रम्यम् ? इति च न वाच्यम्; गृहस्थस्य व्रतविशेषपरायणस्य वानप्रस्थ्यं, स्वदारसन्तुष्टस्य वृद्धोपासकस्य नैष्ठिकत्वम्, वेदान्ताभ्यासरतस्य कर्मफलत्यागिनः सन्न्यासित्वम्,

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च ॥[१]"

इत्यादि शास्त्रादवगम्यते। यतः दण्डवाक्यानि च—"ब्रह्मभावमयं सूत्रम्" इत्यादि-वदान्तरनियमपराणि। "वैणवं दण्डम्" इति तु वेणुवन्मनोदण्डादेर्बहुशाखत्वं

भावदीपिका

सूर्यः" इति स्मृत्यनुसारेण "न तत्र सूर्यो भाति" इति श्रुतिः "[यत्] ज्योतिः सूर्यो न भासयते" इत्येवं शास्त्रे व्याख्याता, तथैषाऽपि गीतास्मृत्यनुसारेणैव व्याकर्त्तव्या। छान्दोग्य एव समाप्तौ "आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्माऽतिशेषेणाऽभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याऽहिंसन् सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः; स खल्वेदं वर्त्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। "न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते"—इति गृहस्थस्यैव ब्रह्मसंस्थाफलस्याऽपुनरावृत्तेः कीर्त्तनात्। ततो युक्तेयं वचनानां गतिरिति भावः।

दण्डादिवचनानां तर्हि का गतिः ?—इत्याशङ्क्य विभागेन गतिमाह— दण्डावाक्या-नीत्यादिना। बहुशाखत्वम्—"अभ्यासेन च कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते" इत्यादिशास्त्रोक्तं मनोदण्डस्य "मेखलाजिनदण्डैस्तु ब्रह्मचारीति लक्ष्यते। गृहस्थो यष्टिवेदाभ्यां नखलौमै-र्वनाश्रमी। त्रिदण्डेन यतिश्चैव लक्षणानि पृथक् पृथक्।"—इति दण्डस्य बहिर्लिङ्गसह

ज्ञानवती

प्रकार गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं नैष्ठिकों का निरूपण करके "उनमें से ये सब पुण्यलोकवाले होते हैं" इस प्रकार आश्रमफल के समान ब्रह्म में स्थित का "ब्रह्म में संस्थित (व्यक्ति) अमृतत्व को प्राप्त करता है।" इस प्रकार सन्यासी के भी आश्रमफल का संकीर्तन होने से तथा परिव्रज्यापूर्वक अमृतत्व चाहने वाला ब्रह्मनिष्ठा करे।" इस विधि के विवक्षित होने से ऐकाश्रम्य कैसे है ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। व्रतविशेष में लगे हुए गृहस्थ का वानप्रस्थ; अपनी स्त्री से सन्तुष्ट वृद्ध उपासक का नैष्ठिकत्व, वेदान्त के अभ्यास में लीन कमथलत्यागी का सन्यासित्व,

"जो अनाश्रित (अर्थात् अनासक्त) होकर कार्य कर्म को करता है वह सन्यासी और योगी हैं।"

इत्यादि शास्त्रों से जाना जाता है। क्योंकि दण्डवाक्य—"सूत्र ब्रह्मभावमय होता है" इत्यादि के समान आन्तरनियमपरक है। "बांस का दण्ड ग्रहण करना चाहिये" इससे तो बांस के

[१] भ० गी० ६।१।

विवक्षितम्। "त्रिदण्डेन यतिः" इति बहिर्लिङ्गसहपाठः "अव्यक्तलिङ्गाः" इत्यनेनावस्थाप्यः। कन्थाकौपीनमुण्डनादिवचांसि च "येन केनचिदाच्छन्नो येनकेनचिदाशितः" इत्यादिशास्त्रात् वस्त्राद्यास्थानिरासपराणि —

"विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥"[१]

इति संयमादिमतः संसाराध्वपारभूतपदप्राप्तिसाधारण्यश्रुतेश्च। उपवीतसर्वस्वत्यागप्राजापत्येष्टिप्रभृतिनिरूपकवचोजातं मोक्षकामस्य तस्यैव यज्ञोपवीतादेः पुमर्थानङ्गत्वाभिप्रायम्; इति नाश्रमान्तरावकाश इति ?

[आश्रमभेदवर्णनमैकाश्रम्यञ्च–]

तत्प्रतिषेधति भगवतीश्रुतिः—

"नास्त्यकृतः कृतेन" इति। सत्यम्, यदि गृहस्थाश्रमः प्रत्यक्षश्रुत्या स्वरूपेण

भावदीपिका

पाठः। "अव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताऽऽचाराः"—इत्यादिश्रुत्यनुसारेणाऽन्तरदण्डपरतयैव नेतव्यः—इत्याह—त्रिदण्डेनेति। "कन्थाकौपीनवासाः स्यात्" इत्यादि वच[ना[२]नां]गतिवदवगत्यनुकूलं कठवल्लीवाक्यमाह—कन्थेत्यादिना। वचनान्तराणां गतिं वदन्नुपसंहरति—उपवीतेति।

[आश्रमभेदवर्णनमैकाश्रम्यञ्च—]

परिहारमाविष्करोति—सत्यमित्यादिना। सिद्धे हि गृहस्थाश्रमे स्वरूपेण प्रत्यक्षश्रुतिविहितत्वे कथञ्चिदाश्रमान्तरविधायकवाक्यानां गतिर्वावदूकतया उत्प्रेक्ष्येत कर्मण इव ब्रह्मवाक्यानाम्; नतु तस्य स्वरूपविधायिनी श्रुतिः प्रत्यक्षाऽस्ति। न च प्रत्यक्षाऽपि विधातुं शक्नोति; रागप्राप्तत्वेनापूर्वत्वाऽभावात्। आश्रमाऽन्तराणां स्वरूपेण विधायकप्रत्यक्षश्रुतीनां

ज्ञानवती

समान मनरूपदण्ड आदि का बहुशाखत्व (अर्थात् मन की स्थिति का कारण अनेक है यह) विवक्षित है। "तीन दण्ड से यति हैं" यह बहिर्लिङ्ग के साथ पाठ "अव्यक्त लिङ्गाः" इससे अवस्थाप्य है। कन्था, कौपीन, मुण्डन आदि के वचन, "जिस किसी से आच्छन्न जिस किसी से भोजन कराया गया" इत्यादि शास्त्र से वस्त्र आदि की आस्था के निरास को बताते हैं।

"जो विज्ञानसारथिवाला है, मन जिसका प्रग्रह है वह (संसार) मार्ग के पार विष्णु के परम पद को प्राप्त होता है।" इस प्रकार संयम आदि वाले का संसारमार्ग का पार एवं भूतपदप्राप्ति की साधारण्य श्रुति है। उपवीत, सर्वस्वत्याग, प्राजापत्य इष्टि आदि का निरूपक वचनसमूह मोक्ष चाहने वाले उसी के यज्ञोपवीत आदि का पुरुषार्थानङ्गत्व बतलाता है, इसलिये आश्रमान्तर का अवकाश नहीं है।

[आश्रमभेद का वर्णन और ऐकाश्रम्य—]

(उ) भगवती श्रुति उसका प्रतिषेध करती है—'नास्त्यकृतः कृतेन'। यह बात तब सत्य होती यदि गृहस्थाश्रम प्रत्यक्षश्रुति के द्वारा स्वरूपतः विहित होता। किन्तु ऐसा नहीं

---

[१] कठ १।३।९। [२] गानां

विहितः स्यात्; न तथा; किन्तु पश्वादीनामिव दारसंग्रहलक्षणोऽसौ स्वरसेनैव कृतः तस्य स्वरसकृतस्येत्थंभावमात्रं शास्त्रेण विधीयते। न तावत् "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्"[1] इति प्रत्यक्षश्रुतिः गार्हस्थ्यं विधत्ते, संन्यासस्यैव प्रकान्तत्वात्। अतोऽसौ "रतिपुत्रफला दाराः" इतिवद् दृष्टसफलत्वेन स्वरसतः कृत एवानूद्यते, नैवमाश्रमान्तरम्; तस्य क्लेशात्मकस्य स्वरसकृतत्वाभावात्। अथवा स्थलान्तरे

भावदीपिका

गार्हस्थ्यविधाने प्रत्यक्षेऽप्यन्यथाकरणं—शक्यं च[न]भवति। न च सर्वाश्रमकर्मणां समप्रधानतयाऽऽग्नेयादीनामिवैकफलत्वं, येन गृहस्थस्य तदनुष्ठानादपुनरावृत्तिलाभः स्यात्; "सर्वं एते पुण्यलोका भवन्ति।", "ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति"—इति पृथक् फलश्रवणात्। यदाऽत्राऽन्यत्र विहितगार्हस्थ्याऽदिपरामर्शः, तर्हि संन्यासस्यापि तत्सहपाठादन्यत्र विधानसिद्धिः; "अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः" इति सूत्राच्चाऽनुष्ठेयं संन्यासात्मकमाश्रमान्तरम्। "विधिर्वा धारणवत्"—इति अत्रैवापूर्वतया संन्यासविधिरिति सूत्रणाच्च।

फलभेदेन स्थितं चैकफलाङ्गत्वमाग्नेयादीनाम्—"प्रयोजनाभिसम्बन्धात् पृथक्सतां ततः स्यादैककर्म्यमेकशब्दाभिसंयोगात्"।—आग्नेयादिषु संशयः—किं तन्त्रेणैषां फलम्, उत भेदेनेति? तत्र परस्परनिरपेक्षैरुत्पत्तिविधिभिर्विहितानां प्रधानानां पृथक् फलाकाङ्क्षत्वात् तत्-सन्निधौ श्रूयमाणं फलं भेदेनैभिः सम्बध्यते; ततः प्रतिप्रधानं फलभेदः—इति प्राप्ते—राद्धान्तः—यद्यप्येषां पृथक्त्वम्=पृथगुत्पत्तिविहितता; तथाप्यैककर्म्यं=क्रियत इति व्युत्पत्त्या फलं कर्म ऐककर्म्यं एकफलत्वमित्यर्थः। ततः=प्रयोजनेन समुच्चितानां सम्बन्धाद्धेतोः। स एव कुतः? एकशब्दाभिसंयोगात्—दर्शपूर्णमासशब्देन हि समुदायवाचिना निर्दिश्य फले विधीयन्ते आग्नेयादयः। यथा ग्रामेणोदपानः[खन्य[2]]—ज्ञातिसमुदायशब्देन निर्देशात् समुदितैः पुंभिरुदपानः खन्यते न प्रतिपुरुषं कूपभेदः; एवमिहाऽपीति। अतः "कुटुम्बे शुचौ देशे" इत्यादिश्रुतिराश्रमान्तरस्याऽप्युपलक्षणार्थेति भावः। गृहस्थाश्रमस्य स्वरूपेण विध्यभावं सम्पादयति—न तावदिति। उपक्रमादिना संन्यासविधेरुक्तत्वादित्यर्थः। आश्रमान्तराणां वैलक्षण्यं वदन्ननुवादप्रयोजनमाह—नैवमित्यादिना। यथा खलु "सप्तदशाऽरत्निः वाजपेयस्य यूपः" इत्यत्र वाजपेयस्य यूपाभावात् यूपशब्दस्य च यूपे मुख्यत्वात् तदङ्गभूतपशुयागे यूपसद्भावात्, षष्ठ्याश्च पशुयागे यूपस्य सप्तदशारत्निपरिमाणता वाजपेयस्य निर्दिष्टा, तथा गृहस्थाश्रमस्य स्वरूपेण विधाना-

ज्ञानवती

है। बल्कि पशु आदि के समान दारसंग्रह—लक्षणवाला यह (गृहस्थाश्रम) स्वरसतः किया गया है और स्वरसतः किये गये उस (गृहस्थाश्रम) का इत्थंभावमात्र शास्त्र से विहित होता है। "ब्रह्मचर्य को समाप्त करके गृही बनना चाहिये" ऐसी प्रत्यक्षश्रुति गार्हस्थ्य का विधान नहीं करती। क्योंकि प्रकरण सन्यास का ही है। इसलिये यह (अर्थात् गृहस्थाश्रम) "स्त्री (के संग्रह) का फल रति एवं पुत्र है" इसके समान दृष्टफलक होने से स्वरसतः किया गया अनूदित होता है। आश्रमान्तर ऐसा नहीं है क्योंकि उस (=सन्यासादि आश्रमान्तर) के क्लेशात्मक होने से स्वरसकृतत्व नहीं हो सकता। अथवा स्थलान्तर में विहित वह

[1] जावा० ४। [2] खेय।

विहितं तदनूद्यते सन्न्याससमुच्चयेन विकल्पेन च विधानार्थम्, गार्हस्थ्यस्य चेत्थं-भावात्मना विधेयत्वात् विधेयपंक्तावनुवादः।

ननु "आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।"[१] इति पुत्रोत्पादनस्यावश्यकत्वात् तदर्थदारसंग्रहस्यावश्यकत्वं गम्यते; विरक्तस्यापि रुचिप्रजापतेः पितृभिर्दारसङ्ग्रहस्य कारितत्वस्मरणाच्च? मैवम्; परक्षेत्रेऽपि प्रजातन्तुसम्भवादाश्रमः श्रुत्या न प्रतीयते। रुच्यादेश्च सकषायतया मोक्षमार्गात् पातित्यवारणार्थमभ्यनुज्ञानमात्रं पित्रादीनाम्। अपरथा अनाप्तत्वप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

कामिनो वर्णयन् कामान् लोभं लुब्धस्य वर्णयन्।
नरः किं फलमाप्नोति कूपेऽन्धमिव पातयन्॥"[२]

इति। "जाया मे स्यात्"[३] इत्यादिना "अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुषः"

भावदीपिका

भावेऽपि "गृहस्थः सदृशीं भार्यां विन्देत" इत्यादिना सादृश्यादित्थंभावे विधानसद्भावात् "गृही भवेत्" इति विध्यनुकारेणाऽनुवादो विधेयानां पंक्तौ युक्तः—इत्याह—गार्हस्थ्यस्य चेति।

श्रुत्यन्तरमाशङ्क्य गतिमाह सहस्मृतिवाक्येन—नन्वित्यादिना। यदि मोक्षाधिकार एव रुचिस्तर्हि नचिकेता इव न प्रतारयितुं शक्येत। गृहस्थाश्रमस्य च "प्राजापत्यं गृहस्थानाम्" इति संसारान्तर्गतफलत्वादक्षयमोक्षमार्गात् प्रच्याव्य तदुपेदेशः पितृणां अनाप्तत्वं च स्यात् —इत्याह अपरथेति। यदाऽपि रुचिर्गृहस्थाश्रमकाम एव तदाऽप्यनुज्ञामात्रं न विधिः—इत्य-भिसन्धायाह—तदुक्तमिति। यद्वा सकषायतयेत्यस्येव विधिरेव नानुज्ञामात्रमिति। विपक्षे दण्डः—अपरथेति। स्वयंप्रवृत्तस्य न विधिः प्रवर्त्तकः, यथा कामाऽधिकारे करणांशे मीमांस-कानामिति भावः। अधिकारिभेदस्याश्रमान्तराक्षेपकस्य प्रयत्नेन निरूपणादपि न गृहस्थाश्रम एवैकः - इत्याह—जाया मे स्यादित्यादिना।

ज्ञानवती

सन्यास समुच्चय से और विकल्प से विधान के लिये अनदित होता है। गार्हथ्य के इत्थंभावात्मक रूप से विधेय होने के कारण विधेय की पंक्ति में (इसका) अनुवाद है।

(पू) "आचार्य के लिये प्रिय धन लाकर प्रजारूपतन्तु का व्यवच्छेदमत करो" इस प्रकार पुत्रोत्पादन के आवश्यक होने से उसके लिये दारसंग्रह की भी आवश्यकता प्रतीत होती है। और विरक्त भी रुचि नामक प्रजापति को पितरों के दारसंग्रह करने की स्मृति है। (उ) ऐसा नहीं है। परक्षेत्र (अर्थात् दूसरी स्त्री) में भी प्रजातन्तु सम्भव होने से आश्रम की प्रतीति श्रुति से नहीं होती। रुचि आदि के कषाय से युक्त होने के कारण पितृआदि की आज्ञा मोक्षमार्ग से पतन को हटाने मात्र के लिये है। अन्यथा अनाप्तत्व हो जायगा। कहा है—

"कामी के लिये काम का, लोभी के लिये लोभ का वर्णन करता हुआ व्यक्ति किस फल को प्राप्त करता है जैसे कि अन्धे को कुए में गिराने के समान।"

---

[१] मै० १।११।१। [२] बृ० १।४।७। [३] बृ० १।४।७।

इत्यादिना च सप्रपञ्चमुक्त्वा श्रुत्या "इति नु कामयमानः" इति कामिनमनूद्य "अथाकामयमानः" इति विरक्तिविधानाच्च । "अथाकामयमानो योऽकामो निष्कामः आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" इत्यत्राकामयमानत्वेऽकामत्वम्=प्रवर्त्तककामाभावः; तत्रनिष्कामत्वम्=सूक्ष्मकामाभावः; तत्र आप्तकामत्वं आत्मकामपदोक्तविद्याबलात् स्वरूपानन्दलाभः; इति सम्प्रदायविदो मूलमाहुः। तथापि नित्यादिज्ञानसाध्यः प्रव्रज्योपयुक्तः कामाभावो न विरुध्यते; तस्य च सर्वथा जायादिकामहीनस्य गार्हस्थ्यानुपपत्तेः । तन्मूलक्रियाभावान्न स्वर्गः। न च मोक्षस्वर्गयोर्भेदेन प्रसिद्धयोरर्थकामयोरिव भिन्नसाधनत्वेन च ऐक्यम्, ततः काण्डयोः साधनादिभेदोऽपि, अतः स्वेच्छामात्रकृतेनापि गृहस्थाश्रमेण तद्विपरीतः

भावदीपिका

नन्वकामयमानादिपदैः कामाभावानां हेतुहेतुमद्भाववर्णनलाभः ? तत्राह अथाकामयमान इत्यादिना। प्रवर्त्तककामाभावनिरूपणादिष्टसिद्धिरिति भावः। ननु "श्रोत्रियस्य चाऽकामहतस्य" इति कामाऽभावमात्रेणाऽपि विशिष्टदेवाद्याऽनन्दलाभस्योक्तत्वात् किं प्रव्रज्यया इति ? तत्राह—तस्य चेति। यथा कामस्याऽधिकारविशेषसम्पादकत्वमेव न साक्षाद्विशिष्टानन्दहेतुत्वमेम्, एवं तदभावस्याऽपि "शान्तो दान्तः" इति बाह्याभ्यन्तरेन्द्रियप्रवर्त्तककामाभावमुक्त्वा "उपरतः" इति प्रव्रज्योक्तेरधिकारविशेषसम्पादकतयैव फलपर्यवसानं गम्यत इति भावः। ननु स्वर्गस्य विशिष्टाऽनन्दरूपत्वान्मोक्षस्यापि भवद्भिस्तथात्ववर्णनात्, स्वर्गस्य च ज्योतिष्टोमादिक्रियासाध्यत्वविधानाद् गृहस्थस्य तदनुष्ठानसम्भवाच्च कथं मोक्षकामस्याऽपि प्रव्रज्यालाभः ? तत्राह—नच मोक्षेति। स्वर्गशब्दस्य लोकविशेषे प्रसिद्धस्य विना बाधकं त्यागाऽयोगात्। न च बाधकोत्प्रेक्षा; "तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति", "ते धूममभिसम्भवन्ति"—इत्यादिमार्गश्रुतेरपुनरावृत्तिश्रुतेश्च बाधप्रसंगात्। मोक्षस्य च "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति"—इति श्रुतेर्न मार्गगम्यत्वम्। स्वर्गस्याऽनन्दस्वरूपत्वेऽपि "तं न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि सः"—इति श्रुतेः कृत्स्नाऽभिव्यक्तिभेदेन मोक्षस्वर्गभेदव्यवहारोपपत्तेः कृत्स्नाऽभिव्यक्तिकामस्य प्रव्रज्योपपद्यत इति भावः।

ज्ञानवती

"मुझे स्त्री (प्राप्त) हो जाती" इत्यादि के द्वारा तथा "इसलिये कहते हैं यह पुरुष काममय ही है" इत्यादि श्रुति के द्वारा सप्रपञ्च कहकर "ऐसी इच्छा करता हुआ" इस प्रकार कामी का अनुवाद करके "न कामना करता हुआ" इस प्रकार विरक्ति का विधान किया गया है। सम्प्रदाय के वेताओ ने "इसके बाद कामना न करता हुआ जो अकाम, निष्काम, और आत्मकाम होता है, उसके प्राण उत्क्रान्त नहीं होते" यहाँ पर अकामयमानत्व के विषय में मूल को कहा है। अकामत्व का मतलब है प्रवर्त्तक काम का अभाव, निष्कामत्व का सूक्ष्मकाम का अभाव, आत्मकामत्व का आप्तकामोक्तविद्या के बल से स्वरूपानन्दलाभ। फिर भी नित्य आदि ज्ञान से साध्य, प्रव्रज्या के उपयुक्त काम का अभाव विरुद्ध नहीं होता क्योंकि जाया आदि की कामना से हीन उसके गार्हस्थ की अनुपपत्ति होती है। और तन्मूलक क्रिया का अभाव होने से स्वर्ग नहीं होते। अर्थ और काम के समान भिन्न रूप में प्रसिद्ध मोक्ष और स्वर्ग के भिन्न साधन वाले होने से एकता नहीं है। इस प्रकार काण्डों (अर्थात्

संन्यासादिरकृतः सह अवस्थाभेदमात्रतया नास्ति। यथा कथञ्चिच्चतुर्णामाश्रमाणामनुष्ठानस्येतरेणापि कर्तुं शक्यत्वात्; गार्हस्थ्यैकाग्र्यायोगाच्च; यावज्जीवजरामर्यादाऽग्निहोत्रवीरहाश्रुतेर्भस्मान्तताल‍िङ्गस्याविरक्तविषयत्वेनाप्युपपत्तेश्च[1]; ऐकाश्रम्यस्याश्रमभेदप्रतिपादकस्मृतिविरुद्धत्वाच्च।

[एकदण्डिसंन्यासे श्रुत्युपपत्तिः–]

तथाहि काण्वायनस्मृतिः—

"चत्वार आश्रमाः षोडशभेदा भवन्ति। तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति गायत्रो ब्राह्मः, प्राजापत्यो, बृह इति। य उपनयनादूर्ध्वं त्रिरात्रमक्षारलवणाशीः

भावदीपिका

अतो नाऽऽश्रमभेदोऽपनेतव्यः; अपरथा ब्रह्मचार्येक एवाश्रमः स्यात्—इत्याह—यथाकथञ्चिदिति। ननु "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः।", "वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्वासयते", "भस्मान्तं शरीरम्"—इत्यादिविरोधादाश्रमभेदेऽपि न संन्यासाऽऽश्रमलाभः ?—इत्याह—यावज्जीवेति। अनन्यथासिद्धसंन्यासश्रुत्या अन्यथाऽपि सिद्धा कर्मश्रुतिर्नियम्यते "यदा प्रजापतिर्वरुणायाश्विनमनयत्" इत्यन्यथासिद्धोपक्रमेण "वरुणो वा एनं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति; यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतश्चतुष्कपालान्निर्वपेत्" इति प्रतिगृह्णाति सम्प्रदायेत्यपि सम्भवादन्यथाऽपि सिद्धत्वे नोत्तरं नियम्यत इति भावः। "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्"—इति त्यागस्य ज्ञानाङ्गत्वेनाऽऽत्मपालकत्वात् अनुष्ठानं विधाय ज्ञानाऽशक्तस्य कर्मविधानादस्ति संन्यासाश्रमलाभ इति च भावः। एवं संन्यासमप्यन्तर्भाव्याऽऽश्रमभेदसिद्धावैकाश्रम्यस्मृतिरग्राह्या। इतश्चाऽग्राह्या, यत आश्रमाणामवान्तरभेदविधायिस्मृतिविरुद्धा—इत्याह—ऐकाश्रम्यस्येति।

[एकदण्डिसंन्यासे श्रुत्युपपत्तिः—]

"आत्मानं मोक्षयन्तः" इति स्मृत्योच्यते मोक्षस्य ज्ञानैकहेतुत्वं प्रसिद्ध[म्]। तदभावे

ज्ञानवती

कर्मकाण्ड एवं ज्ञानकाण्ड में) साधन आदि का भेद भी है। इस कारण केवल स्वेच्छा से कृत गृहस्थाश्रम से उसके विपरीत सन्यास आदि अकृत है (और) अवस्थाभेदमात्र होने से नहीं है। क्योंकि चारों आश्रमों का अनुष्ठान इतर के द्वारा भी जिस किसी प्रकार किये जा सकते हैं, साथ ही गार्हस्थ्य और एकाग्र्य का योग नहीं है। तथा भस्मान्तताल‍िङ्ग वाली यावज्जीव जरामार्यादाअग्निहोत्र, वीरहा श्रुति के अविरक्तविषयक होने से उपपति हो जाती है। साथ ही ऐकाश्रम्य, आश्रमभेदप्रतिपादक स्मृति से विरुद्ध भी है।

[एकदण्डि संन्यास के विषय में श्रुति की उपपत्ति—]

काण्वायन स्मृति भी कहती है—सोलहभेदों वाले चार आश्रम होते हैं। उनमें ब्रह्मचारी चार प्रकार के होते हैं—

---

[1] (ख) लिङ्गस्य विरक्त।

गायत्रीमधीते, स गायत्रः। योऽष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि वेदब्रह्मचर्यं चरेत्, प्रतिवेदं द्वादश वा, यावद्ग्रहणान्तं वा वेदस्य, स ब्राह्मः। स्वदारनिरतश्च ऋतुकालाभिगामी सदा परदारवर्जी प्राजापत्यः। अथवा चतुर्विंशद्वर्षाणि गुरुकुलनिवासी ब्राह्मः। अष्टाचत्वारिंशद्वर्षवासी च प्राजापत्यः। आप्रायणात् गुरोरपरित्यागी नैष्ठिको बृहन्निति। गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति–वार्त्ताकवृत्तयः, शालीनवृत्तयो, यायावरा, घोरसन्यासिकाश्चेति। तत्र वार्त्ताकवृत्तयः कृषिगोरक्षवाणिज्यमगर्हितमुपयुञ्जानाः। शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्तः आत्मानं प्रार्थयन्ते शालीनवृत्तयः। यजन्तो न याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापकाः पतितानाञ्चत्यागिनः शून्यागारदेवगृहनिवासिनः [यायावराः। उद्धृतपरिपूरिताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन् प्रत्यहं कृतोञ्छवृत्तिः ग्रामवासी घोरसंन्यासिक इत्युच्यते हिंसाविमुखत्वात्।

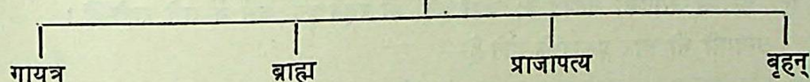
वानप्रस्थोऽपिचतुर्विधः–वैखानसः, औदुम्बरः, बालखिल्यः, फेनपश्चेति। तत्राकृष्टपच्यौषधीभिर्ग्रामबहिष्कृताभिरग्निहोत्रादि कुर्वन् वैखानसः। यस्तु प्रातरुत्थाय यां दिशं पश्यति तत्रत्यौदुम्बरबदरीनीवारश्यामाकैः कर्मपरः स औदुम्बरः। यस्तु जटावल्कलधारी अष्टौ मासान् वृत्त्युपार्जनं कृत्वा चातुर्मास्ये संगृहीताशीः कार्त्तिक्यां संगृहीतपुष्पफलत्यागी स बालखिल्यः। फेनपास्तु शीर्णपर्णफलवृत्तयः

भावदीपिका

परमहंसस्याऽपि कथं मोक्षः?—इत्यत आह—परमहंसस्य चेति। ज्ञानस्य फलत्वस्मृतेश्च

ज्ञानवती

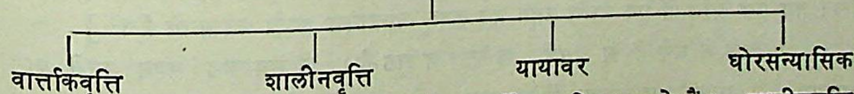
ब्रह्मचारी



जो उपनयन के बाद तीन रात्रि तक विना नमक का भोजन करता हुआ गायत्री को पढ़ता है वह गायत्र है। जो ४८ वर्ष तक अथवा प्रतिवेद १२ वर्ष अथवा वेद के ग्रहणपर्यन्त, वेदब्रह्मचर्य का आचरण करता है वह ब्राह्म होता है। अपनी स्त्री में अनुरक्त ऋतुकाल में जाने वाला सदा परदारवर्जी प्राजापत्य होता है। अथवा २४ वर्ष तक गुरुकुल में रहने वाला प्राजापत्य होता है। मृत्युपर्यन्त गुरु का परित्याग न करने वाला नैष्ठिक बृहन् होता है।

गृहस्थ भी चार प्रकार के होते हैं—

गृहस्थ



उनमें वार्त्ताकवृत्ति वाले कृषि, गोरक्षण और अगर्हित वाणिज्य करते हैं। शालीनवृत्ति सौ साल वाली क्रियाओं से याग करते हैं; एवं आत्मा की प्रार्थना करते हैं। [कुयें आदि से निकालकर भरे हुए जल से कार्य करने वाला, प्रतिदिन गिरे हुए अन्न को एकत्र करने वाला, ग्रामवासी घोर सन्यासी कहा जाता है क्योंकि वह हिंसाविमुख होता है।

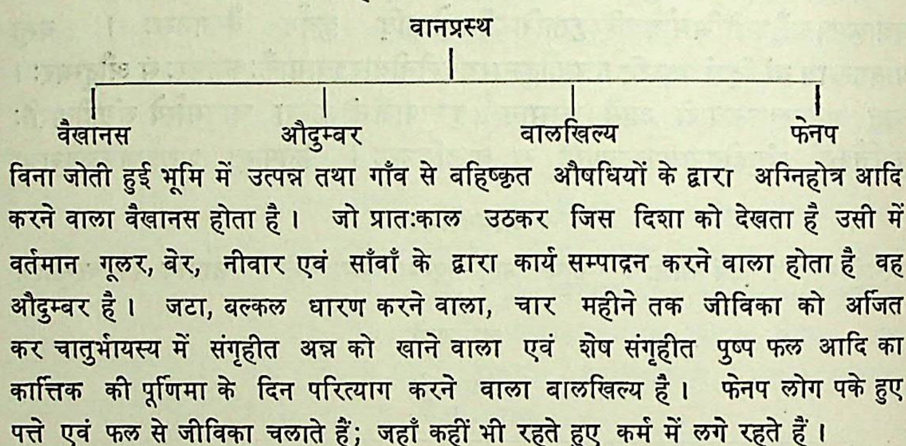
यत्रक्वचिद् वसन्तः कर्मपरा इति। तथा परिव्राजकाश्चतुर्विधाः—कुटीचकाः, बहूदकाः, हंसाः, परमहंसाश्चेति। तत्र स्वपुत्रगृहे भिक्षां चरन्तस्त्रिदण्डिनः कुटीचकाः। बहूदकास्तु त्रिदण्डिनः शिक्यजलपवित्रपादुकासनशिखायज्ञोपवीतकौपीनकाषायवेषधरास्तीर्थान्यटन्तो भैक्ष्यं चरन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते। हंसा एक दण्डिनः शिखावर्जं यज्ञोपवीतधराः शिक्यकमण्डलुपाणयः ग्रामैकरात्रिवासिनः कृच्छ्रचान्द्रायणपराः।[1]]

"तेषां न धर्मो नाधर्मो न सत्यं नापि चानृतम्।
सर्वसहाः सर्वमयाः[1] समलोष्ठाश्मकाञ्चनाः॥"

यथोपपन्नचातुर्वर्ण्यभैक्षचर्यं चरन्त आत्मानं मोक्षयन्त इति। परमहंसस्य च शमदमाद्युपबृंहितम्—

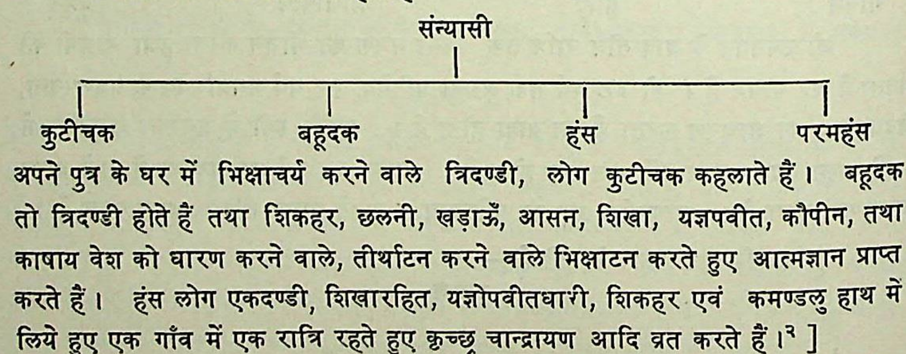
ज्ञानवती

वानप्रस्थ के भी चार प्रकार हैं—



विना जोती हुई भूमि में उत्पन्न तथा गाँव से वहिष्कृत औषधियों के द्वारा अग्निहोत्र आदि करने वाला वैखानस होता है। जो प्रातःकाल उठकर जिस दिशा को देखता है उसी में वर्तमान गूलर, वेर, नीवार एवं साँवाँ के द्वारा कार्य सम्पादन करने वाला होता है वह औदुम्वर है। जटा, वल्कल धारण करने वाला, चार महीने तक जीविका को अर्जित कर चातुर्भायस्य में संगृहीत अन्न को खाने वाला एवं शेष संगृहीत पुष्प फल आदि का कार्त्तिक की पूर्णिमा के दिन परित्याग करने वाला बालखिल्य है। फेनप लोग पके हुए पत्ते एवं फल से जीविका चलाते हैं; जहाँ कहीं भी रहते हुए कर्म में लगे रहते हैं।

सन्यासी भी चार प्रकार के होते हैं—



अपने पुत्र के घर में भिक्षाचर्य करने वाले त्रिदण्डी, लोग कुटीचक कहलाते हैं। बहूदक तो त्रिदण्डी होते हैं तथा शिकहर, छलनी, खड़ाऊँ, आसन, शिखा, यज्ञपवीत, कौपीन, तथा काषाय वेश को धारण करने वाले, तीर्थाटन करने वाले भिक्षाटन करते हुए आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं। हंस लोग एकदण्डी, शिखारहित, यज्ञोपवीतधारी, शिकहर एवं कमण्डलु हाथ में लिये हुए एक गाँव में एक रात्रि रहते हुए कृच्छ्र चान्द्रायण आदि व्रत करते हैं।[2]]

"उनके न धर्म हैं न अधर्म, न सत्य न झूठ है। वे सब कुछ सहन करने वाले, सर्वमय, ढेले, पत्थर एवं कञ्चन में समभाव रखने वाले होते हैं।"

"विधि के अनुसार चारों वर्णों में भिक्षाचरण करने वाले आत्मा को मुक्त कराने वाले परमहंस का।"

---

[1] (ख) सर्वसमाः [2] ब्र० सू० भा० रत्नप्रभा टीका ३।४।१८।

"इज्याचारदमाहिंसादानस्वाध्यायकर्मणाम् ।
अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥[१]"
"सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम्पश्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥[२]"

इति याज्ञवल्क्येन मनुना चोक्तत्वात् ब्रह्मनिष्ठत्वमेव प्रधानधर्मः ।

"यतीनामुपशमो धर्मो नियमो वनवासिनाम् ।
दानमेकं गृहस्थानां शुश्रूषा ब्रह्मचारिणाम् ॥"

इत्यत्र च शमग्रहणं दानसुश्रूषावत् प्रधानधर्मोपलक्षणार्थम् । अतएव—

"चत्वारोऽप्याश्रमा ह्येते सन्ध्यावन्दनवर्जिताः ।
ब्राह्मण्यादेव हीयन्ते यद्यप्युग्रतपोरताः ॥"

इति सन्ध्यावन्दनाधिकृतसन्यासिविशेषविषयमेव, न परमहंसविषयम् । "अत

भावदीपिका

तन्निष्ठायाः प्रधानधर्मत्वं दर्शादिवत् युक्तम्—इत्याह—अयमिति । यतीनां शम एव प्रधानधर्मः स्मृत्या प्रतिपाद्यते, तेन कथं ज्ञाननिष्ठा प्रधानधर्मे इति ? तत्राह—यतीनामिति । "शान्तः पश्येत्" इति शमस्य ज्ञानाङ्गत्वावगमादङ्गेना[-ङ्गचु-]पलक्षणम्, यथाऽश्ववारान् दृष्ट्वा 'अश्वा आगच्छन्ति' इत्युक्ते प्रधानाश्ववारोपलक्षणं लोके, तथाऽत्रापि "पौण्डरीकेऽश्वसहस्रम्" इत्यादिना दानस्य यागाङ्गत्वावगमात् यागोपलक्षणम्—"इष्टापूर्त्तं दत्तमित्युपासते" इति समुच्चयविधानात् प्रधानभूतसमुच्चयोपलक्षणम्; एवं शुश्रूषाया "यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति । तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥"—इति विद्याऽङ्गत्वावगमात् विद्याऽर्जनं प्रधानो धर्मो लक्ष्यते । एवं वनवासिना नियमेन "स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः । दाता नित्यमनादाता सर्वभूताऽनुकम्पकः ॥" इत्यादिप्रधानधर्मोपलक्षणं द्रष्टव्यम् ।

अस्तु ज्ञाननिष्ठा परमहंसस्य प्रधानधर्म; तथाऽपि शमादिवत् सन्ध्यावन्दनमपि स्यात्; प्रकरणे दोषस्मरणात् ? तत्राह—अत एवेति । सन्ध्या पूर्वाश्रमप्राप्ता चेत् ? न; निषेधविरोधात् । गृहस्थवनस्थयोस्तु निषेधाऽभावात् पूर्वानुवृत्तिर्न दुष्यति । उत्तराऽश्रमप्राप्ता चेत् ?

ज्ञानवती

यज्ञ, आचार, दम, अहिंसा, दान, स्वाध्याय (कर्म भी होते हैं) ।

"जो योग से आत्मा का दर्शन है यह परम धर्म है ।"

"सब प्राणियों में अपने को, और अपने में सब प्राणियों को अच्छी तरह देखता हुआ आत्मयाजी स्वर्ग का राज्य प्राप्त करता है ।"

इस प्रकार याज्ञवल्क्य एवं मनु के द्वारा उक्त होने से शम दम आदि से उपबृंहित ब्रह्मनिष्ठत्व ही प्रधान धर्म है ।

"यतियों का धर्म उपशम, वनवासियों का नियम, गृहस्थों का दान एवं ब्रह्मचारियों का धर्म सुश्रूषा है ।"

---

[१] या० स्मृ० १।८ ।

[२] मनु० १२।९१ ।

ऊर्द्ध्वममन्त्रवदाचरेत्[1] (दोषोद्भवदर्शनात्) त्रिसन्ध्यादौ स्नानमाचरेत् सन्धिं समाधावात्मन्याचरेत्[2]।" इत्यादि आरुणिश्रुतेः निरुदका ध्यानसन्ध्या इति च। मनुरप्याह—

"चातुर्वर्ण्यं त्रयो वेदाश्चत्वारः पृथगाश्रमाः।
भूतं भवद्भविष्यच्च सर्वं वेदाद् भविष्यति ॥[3]"

इति चतुर्णामाश्रमाणां पृथक्कर्त्तव्यताविधिम्[4]। न च यथोक्तषोडशभेदत्वं गृहस्थ-

भावदीपिका

तदकरणे दोषोऽङ्गीकृत एवेति भावः। "निरुदका ध्यानसन्ध्या कायक्लेशविवर्जिता। सन्धिनी सर्वभूतानां सा सन्ध्या ह्येकदण्डिनाम् ॥"—इति श्रुत्यन्तरमाह—निरुदकेति।

ऐकाश्रम्यस्मृतेर्वेदाभ्यनुज्ञातमानवस्मृतिबाधाऽपि—इत्याह—मनुरप्याह इति। प्रमाणबाधमुक्त्वा न्यायबाधमाह—न चेति। योग्यतया ह्यन्वयो भवति; यथा—"सेयं देवतैक्षत; हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि"—इत्यत्र "समानकर्त्तृकयोः पूर्वकाले" क्त्वा प्रत्ययस्मरणात् जीवस्य प्रवेशक्रियाकर्त्तृत्वात् व्याकरणक्रियाऽन्वयप्रतिभासेऽपि तस्य तत्र सामर्थ्याऽभावेनाऽयोग्यत्वात् [न] तदन्वय इति "संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्" इत्यत्र स्थितम्। संज्ञामूर्त्ती=नामरूपे; क्लृप्तिः=व्याकरणम्; त्रिवृत्=त्रिगुणम्=तेजोऽबन्नलक्षणं भूतम्; तत्कर्त्तुः=तेज आदेः स्रष्टुः=ब्रह्मणः; व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषोपदेशादित्यर्थः। यथा वा "स्रुवेणाऽवद्यति", "हस्तेनाऽवद्यति", "स्वधितिनाऽवद्यति" इत्यविशेषश्रवणेऽपि योग्यतया स्रुवेण[द्रवतो]ऽवदानं, हस्तेन चरोः, स्वधितिनोभयतोधरिण मांसस्याऽवदानं, तथैकस्य युगपत् क्रमेण वा यथोक्ताऽश्रम[-भे-]दान्वयायोग्यत्वान्न तद्वक्तुं युक्तम्। यद्यपि गृहस्थस्य द्वादशैव भेदाः प्राप्नुवन्ति तथापि नैष्ठिकस्य यावज्जीवत्वात् तत्र चैतरेषामन्तर्भावसम्भवात् षोडशग्रहणं द्रष्टव्यम्।

ज्ञानवती

यहाँ पर शम का ग्रहण दान एवं सुश्रूषा के समान प्रधान धर्म के उपलक्षण के लिये हैं। इसलिये—

"यद्यपि उग्रतप में रत तथापि सन्ध्यावन्दन से रहित ये चारों आश्रम ब्रह्मण्य से ही हीन हो जाते हैं।" यह (वचन) सन्ध्यावन्दन में अधिकृत सन्यासीविशेष का ही विषय है न कि परमहंस का विषय। "इसके बाद अमन्त्रवत् आचरण करना चाहिये क्योंकि दोष की उत्पत्ति देखी जाती है, तीनों सन्ध्याओं के आदि काल में स्नान करना चाहिये, आत्मा के विषय में समाधि में सन्धि का आचरण करना चाहिए।" यह आरुणि श्रुति है तथा ध्यान की सन्ध्या उदक हीन भी होती है। मनु ने भी कहा है—

"चारो वर्ण, तीन वेद, चार पृथक्-पृथक् आश्रम, भूत, वर्तमान एवं भविष्यत् सब वेद से हो जायगा।"

---

[1] (ख) मन्त्रवदाचारे। [2] आ० उ० २। [3] मनु० १२।९७। [4] (ख) विधिः।

स्यैकस्य सम्भाव्यते। न च बहुस्मृतिविरोधे गौतमस्मृतिः प्रमां जनयति बह्वद्वैत-श्रुतिविरोधात् द्वैतश्रुतिरिव। न च आश्रमान्तरं गार्हस्थ्यानधिकृतानाम्; गार्हस्थ्यारूढानां याज्ञवल्क्यादीनां प्रव्रज्याश्रवणात्, तेषां च श्रवणमननोत्तरं ध्यानार्थमेवाश्रमो[१] विद्वत्सन्न्यास इति परिभाष्यते। अतः सन्ति चत्वार आश्रमाः विशेषाच्च सन्यासः श्रुतिस्मृत्योर्विधिदृष्टः। मैत्रायणीब्राह्मणे च—

भावदीपिका

अस्तु बहुस्मृतिन्यायविरोधः; ततः किम्?—तदाह—न च बहुस्मृतीति। अनन्यथासिद्धन्यायाऽनुगृहीतवहुस्मृतिविरोधे तद्विपरीता गौतमस्मृतिर्बाध्यत इति भावः। अनन्यथासिद्धत्वमसिद्धम्?—इत्याशङ्क्याह—न चाश्रमान्तरमिति। ननु याज्ञवल्क्येन गृहस्थाऽवस्थायामेव जनकाय ब्रह्मविद्योपदिष्टे[ति] श्रूयते; न च दृढीकारमन्तरेणोपदेशः सम्भवति; दृढीकृते च ज्ञाने प्रयोजनाभावादर्थवादमात्रं संन्यासवचनम्?—इत्याशङ्क्याह--तेषां चेति। मननेन दृढीकारादुपदेशसंभवः, साक्षात्कारफलाय च संन्यासः। अत एव च शास्त्रे वाक्ययोजनात्मकश्रवणेन विरोधव्युदासात्मकमननेन च पुरुषार्थरूपे ब्रह्मण्यवधारिते तत्साक्षात्कारसाधनचिन्ता तार्त्तीयविचारेण। संन्यासस्य प्राधान्येन वर्णनीयत्वात् तं विशिनष्टि—विशेषाच्चेति।

संन्यासोऽप्येकदण्डिनः--"त्रिदण्डस्य परित्याग एकदण्डस्य धारणम्। एकस्मिन् दृश्यते वाक्ये तस्मादस्य प्रधानता॥" इति व्यासेन "शिखी मुण्डी वा" इत्यनेकस्मृतिषु विकल्पवचनैः साम्यप्राप्तौ श्रुतिषु त्रिदण्डत्यागेन विधानादेकदण्डस्य प्राधान्यस्यापनेन प्राधान्यात् तत्राऽधिकं प्रयतते—मैत्रायणीति। अयज्ञोपवीतित्वं ज्ञानाधिकृतस्य परमहंसस्याऽनुपपन्नम्?

ज्ञानवती

यहाँ चारों आश्रमों की कर्त्तव्यताविधि है। यथोक्त षोडशभेद एक गृहस्थ के लिये सम्भव नहीं है। और बहुत स्मृतियों के विरोध होने पर गौतमस्मृति, बहुत सी अद्वैतश्रुति के विरोध होने पर द्वैतश्रुति के समान, प्रमा नहीं उत्पन्न करती। साथ ही जो गार्हस्थ्य में अनधिकृत हैं (जैसे अन्ध मूक पङ्गु आदि स्त्री पुरुष), उनके लिये दूसरा आश्रम नहीं है। क्योंकि गार्हस्थ्य में आरूढ़ याज्ञवल्क्य आदि की प्रव्रज्या सुनी जाती है, और उनके श्रवण मनन के वाद ध्यान (अर्थात् निदिध्यासन) के लिये ही विद्वत्सन्यासाश्रम है, ऐसा लगता है। इसलिये चार आश्रम हैं। और विशेष होने के कारण सन्यास, श्रुति एवं स्मृति में विधानतः कहा गया है।

(पू) ("अचोदनाचापवदतिः" अर्थात् सन्यासकी विधि नहीं है और अपवाद है इसलिये सन्यास नहीं स्वीकार करना चाहिये।)

(उ) ("विधिर्वा, धारणवत्" अर्थात् जैसे धारण के विषय में "उपरि हि देवेभ्यो धारयति" यह वचन है अर्थात् जुहू के ऊपर समिध् को रखना चाहिये यह विधान है) उसी प्रकार सन्यास का भी विधान है। (इस प्रकार सूत्रकार ने सन्यास का विधान किया है)। मैत्रायणी ब्राह्मण में—"इसके बाद पारिव्राट् एक वस्त्र धारण करने वाला, मुण्डी, उदरपात्री,

[१] ध्यानात्मक।

"अथ परिव्राडेकशाटीपरिहितो मुण्ड उदरपात्री अरण्यनित्यो भिक्षार्थी ग्रामं प्रविशेदासायं प्रदक्षिणेनाविचिकित्सन् सार्ववर्णिकं भैक्षचरोऽभिशस्तपतितवर्जम-यज्ञोपवीती शौचनिष्ठः काममेकं वैणवं दण्डमाददीत" इत्येकदण्डी कीर्त्यते। यज्ञायोपवीतम् = यज्ञोपवीतम्; "श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः" इति ज्ञानिनः परमहंसस्य यज्ञोपवीतप्राप्तिः न ज्ञानिनोऽपि; विदुरादेः तदप्राप्तेः; परमहंसस्य तत्प्रतिषेध[का]गमविरोधाच्च।

जाबालश्रुतावपि –

"अथ परिव्राड् विवर्णवासाः मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय (कल्पते[१])।" इति। अस्मिंश्च प्रतिप्रसवे यज्ञोपवीतादिपरिग्रहाविधानात्।

"शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतञ्च तन्मयम्।
ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदुः॥"

भावदीपिका

—इत्याशङ्क्याह—यज्ञोपवीतीति। अथ विदुरादेर्जन्मान्तरे ज्ञाननिष्पादनात् अभावो यज्ञोपवीतस्य ? तथापि न परमहंसस्य तत्प्राप्तिः; ज्ञानस्य देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकमुख्य-युक्तिसहयज्ञत्वाभावात्। व्युत्पत्तिमात्रं च न प्रमाणम् "एतद्वै जरामर्यं च सत्रं यदग्निहोत्रम्" "जरया ह्येवास्मान्मुच्यते मृत्युना वै" इति आजरामर्यात् अग्निहोत्रिणोऽग्निहोत्रम्। [तदेवं] सन्यासे यज्ञाभावेन यज्ञोपवीतत्यागप्रसंगात्; अतो विधानाभावान्निषेधो विजयी—इत्याशयेनाह—तत्प्रतिषेधकेति।

विधानाभावे श्रुत्यन्तरमुदाहरन् निरूपयति—जाबालेति। मुण्डश्चैकदण्डी कीर्त्यत इत्यनुषङ्गः। उचितोपवीतान्तरविधानाच्च "कार्पासमुपवीतं स्यात् विप्रस्योर्ध्वकृतं त्रिवृत्। सणसूत्रमयं राज्ञो वैश्यस्याऽविकसूत्रकम्॥"–इति स्मृत्युक्तोपवीताप्राप्तिः—इत्याह – शिखेति।

ज्ञानवती

जंगल में रहने वाला, प्रतिदिन भिक्षा के लिये ग्राम में सायंकाल तक प्रदक्षिणा से प्रवेश करे। विना किसी सन्देह के सभी वर्णों की भिक्षा ले; किन्तु अभिशस्त (अर्थात् जिसके उपर महापाप का आरोप किया गया है उस) से न ले, यज्ञोपवीतरहित, शौचनिष्ठ और यथेच्छ एक बाँस का दण्ड ले", इस प्रकार एकदण्डी का वर्णन है। यज्ञोपवीत का मतलब है यज्ञ के लिये उपवीत। "द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानयज्ञ श्रेयस्कर है" इस प्रकार ज्ञानी परमहंस को यज्ञोपवीत की प्राप्ति होती है ? ऐसा नहीं है। क्योंकि यद्यपि ज्ञानी तथापि विदुर आदि को उसकी (यज्ञोपवीत की) प्राप्ति नहीं है, एवं परमहंस के लिये उस (यज्ञोपवीत) के प्रतिषेध के विषय में जो आगम हैं उससे विरोध हो जायगा। जाबालश्रुति में भी—

"इसके बाद परिव्राट् विवर्णवासा, मुण्डी, असंग्रही, पवित्र, अद्रोही, भिक्षाचारी ब्रह्मभूय के लिये माना जाता है।" इस प्रतिप्रसव[२] में यज्ञोपवीत आदि के परिग्रह का विधान नहीं है। और—

---

१ (क) भवति कल्पते। (ख) कल्पचे।

२ प्रसक्तप्राप्तिकस्य प्रमाणान्तरेण निवृत्तिप्रसक्तौ पुनर्विधानं प्रतिप्रसवः।

इति ज्ञानमययज्ञोपवीतविधानाच्च ।

"अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा ।
स शिखीत्युच्यते विद्वान्नेतरे केशधारिणः ॥"

इति इतरनिन्दया तद्विधेर्दार्ढ्याच्च । तथा कौषीतकिब्राह्मणे—"सशिखान् केशान्निकृत्य विसृज्य यज्ञोपवीतम्" इत्युपक्रम्य "किमस्य यज्ञोपवीतं, का वाऽस्य शिखा कथं वाऽस्योपस्पर्शनमिति ? तान् होवाच—इदमेवास्य यज्ञोपवीतं यदात्मज्ञानं विद्या शिखा नीरैस्सर्वत्रावस्थितैः कार्यं निर्वर्तयति" इति प्रश्नोत्तराभ्यां तस्यैव दृढीकरणात् । ततः प्रमाणवानेकदण्डाश्रमः । न च "यावन्न स्युस्त्रयो दण्डास्तावदेकेन पर्यटेत्" इति स्मृतेः त्रिदण्डभङ्गादिविषयमेकदण्डवाक्यम् ; "अथ परिव्राड्" इति प्रथमप्रतिप्रसव एव एकदण्डविधानात् ।

भावदीपिका

एतेन परमहंसानां पूर्वशिखात्यागोऽपि समाहितः । तत्रैव वचनान्तरमाह—अग्नेरिवेति । उभयाप्राप्त्यनुकूलवचनान्तरमाह—तथा कौषीतकीति । दण्डवाक्यस्य स्मृत्यनुसारेणाऽन्यथासिद्धिसम्भवात् अयज्ञोपवीतत्वादिवाक्यानामप्यन्यथासिद्धेरुत्प्रेक्षा सम्भवति, एकप्रघट्टकगतत्वात्; ततः कथमेकदण्डाऽश्रमः प्रमाणवान् ?—इत्याशङ्क्याह—न च यावदिति । मैत्रायणिब्राह्मणे "अथ परिव्राड्" इत्यादिना त्रिदण्डविरुद्धधर्मान् विधाय "काममेकं वैणवं दण्डमाददीत" इति प्रथमत एवैकदण्डविधानात्; स्मृतिस्त्रिदण्डिन एव पूर्वदण्डत्यागात् सहसा दण्डत्रयालाभे एकेनाऽपि वर्त्तयेत; नादण्डी भूयात् त्रिदण्डलाभपर्यन्तं इति एवंपरा । ततः श्रुतीनामर्थान्तराभावात् प्रमाणवानेवैकदण्डाश्रम इति भावः ।

ज्ञानवती

"जिसकी शिखा ज्ञानमयी है और उपवीत भी ज्ञानमय है उसी का सब ब्राह्मण्य है ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं ।"

इस (वचन) से ज्ञानमय यज्ञोपवीत का ज्ञान होता है । एवं,

"अग्नि के समान जिस व्यक्ति को ज्ञानमयी शिखा है अन्य शिखा नहीं, वह शिखी कहा जाता है दूसरे केशधारी नहीं ।"

इस प्रकार दूसरों की निन्दा से उस विधि की दृढ़ता है । तथा कौषीतकि ब्राह्मण में—"शिखा के सहित केश को काटकर यज्ञोपवीत को त्यागकर, इस प्रकार उपक्रम करके "इसकी क्या शिखा है ? क्या यज्ञोपवीत है ? इसका उपस्पर्शन कैसे है ? ऐसा उनसे कहा कि यही उसका यज्ञोपवीत है जो आत्मध्यान है, विद्या शिखा है और सर्वत्र स्थित जलों से कार्य करता है" इस प्रश्नोत्तर से वही दृढ़ किया जाता है । इसलिये एकदण्डाश्रम प्रमाणवान् है ।

(पू) "जब तक तीन दण्ड न हो तब तक एक से पर्यटन करना चाहिये" इस स्मृति से एकदण्डवाक्य त्रिदण्डभङ्ग आदि के विषयवाला है ? (उ) ऐसा नहीं है । "अथ परिव्राट्—" इस प्रथम प्रतिप्रसव में ही एकदण्ड का विधान है ।

"कर्मण्यधिकृता ये च वैदिके ब्राह्मणादयः।
तैस्तु धार्यमिदं सूत्रं कर्माङ्गं तद्धि वै श्रुतिः ॥"

इति श्रुतिः परमहंसानां सकलकर्मत्यागिनां केवलं तत्त्वंपदार्थवाक्यार्थविचारपराणामयज्ञोपवीतित्वं द्रढयति।

"विना यज्ञोपवीतेन स्वाचान्तोऽप्यशुचिर्भवेत्।"

"उपासने गुरूणां वृद्धानामतिथीनां जपहोमकर्मणि भोजनाचमनस्वाध्याये च यज्ञोपवीती स्यात्।"

"नित्योदकी नित्ययज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी नित्यवृषलान्नवर्जी।
ऋतौ च गच्छन् विधिवच्च जुह्वन् न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥"

इत्याम्नानेन[१] क्रत्वर्थपुरुषार्थोपवीतविभागस्य ऋतुगमनादिवदन्यविषयत्वाच्च। तस्माद्वेदस्मृत्याचारप्रमितः सन्यासो बलादुपवीतादेर्न साहसमात्रेणापलपनीयः। स च "यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।"

भावदीपिका

यज्ञोपवीतस्य कर्माङ्गत्वेन विनियोगात् परमहंसानां कर्माभावाच्च न यज्ञोपवीतप्राप्तिः—इति पूर्ववदाढर्चार्थमाह—कर्मणीति। ननु परमहंसस्याऽप्याचमनादिक्रियासम्भवात् यज्ञोपवीतस्य च तदङ्गत्वस्मरणात् कथं तस्य तदभाव इति ? तत्राह—विना यज्ञोपवीतेनेति। "इदमेवास्य तद्यज्ञोपवीतं य आत्माऽऽपः प्राश्याऽऽचम्याऽयं विधिः"—इत्यादिश्रुतेराश्रमान्तरधर्मसहपाठाच्च स्मृतेरन्यपरत्वं व्यवस्थाप्यत इति भावः। "गायत्रीं च स्वाग्नौ समारोपयेत"—इति गायत्र्या अपि शारीराग्नौ समारोपविधानात् यागो द्रष्टव्यः। एवमैकाश्रम्यस्मृतेराश्रमभेदविधायकश्रुतिस्मृतिबाधं प्रपञ्च्याऽऽश्रमान्तरकालभेदवचनबाधमभिसन्धायाऽऽह—स चेति। "चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाऽऽद्यं गुरोर्द्विजः।

ज्ञानवती

"जो ब्राह्मण आदि, वैदिक कर्म में अधिकृत हैं उनके द्वारा यह सूत्र धारण किया जाना चाहिये। क्योंकि वह कर्म का अङ्ग है, ऐसी श्रुति है।"

यह श्रुति सकलकर्मत्यागी, केवल तत्त्वंपदार्थ एवं वाक्यार्थ के विचार में लगे हुए परमहंसों के अयज्ञोपवीतित्व को दृढ़ करती है।

"गुरु वृद्ध और अतिथि लोगों की उपासना में, जप होम कर्म में, भोजन आचमन और स्वाध्याय में यज्ञोपवीती होना चाहिये।"

"नित्य उदक (=सन्ध्या, तर्पण) वाला, नित्ययज्ञोपवीत वाला, नित्य स्वाध्यायी, नित्य शूद्र का अन्न न खाने वाला, ऋतु में गमन करने वाला, एवं विधिवत् होम करने वाला ब्राह्मण ब्रह्मलोक से च्युत नहीं होता।"

इस वेदवाक्य से क्रत्वर्थ एवं पुरुषार्थ के लिये उपवीत का विभाग ऋतुगमन आदि के समान अन्य (अर्थात् गृहस्थ) का विषय है। इसलिये वेद स्मृति एवं आचार से प्रमित सन्यास बलात् उपवीत आदि के लिये साहसमात्र से अपलाप करने योग्य नहीं है। और

१ (ख) आम्नानेनाक्षेपक्रत्वर्थं।

"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ।"
"संसारमेव निःसारं दृष्ट्वा सारदिदृक्षया ।
प्रव्रजन्त्यकृतोद्वाहाः परं वैराग्यमाश्रिताः ॥"

इति श्रुतिस्मृतिभ्यां प्रागेव दारसंग्रहादुच्यमानः कथं गृहस्थाश्रमान्तर्वर्ती स्यात् ? न च ऋणत्रयापाकरणस[न्त]त्यादिकालविधानविरोधः । यथा खलु "ता अब्रुवन् वरं वृणामहा ऋत्वियात्—ऋतुगमनात् प्रजां विन्दामहै काममाविजनितोः प्रसवपर्यन्तं संभवामः—सम्भोगं लभेमहि" इति वृत्रहत्याभागनिक्षेपे स्त्रीणामिन्द्राद् वरप्रार्थना श्रुतिमूला—

"यथाकामी भवेद् वाऽपि स्त्रीणां वरमनुस्मरन् ।"

इति स्मृतिः कालविशेषविशेषणस्यापि स्त्रीकामातिरेकादकाण्डेऽपि सम्भोगस्यानुष्ठेयतां विधत्ते । तथा वैराग्यातिरेकात् कृतदारस्याकृतदारस्य वा, प्रसूतस्य वाऽप्रसूतस्य वा प्रव्रज्यां श्रुतिर्विधत्ते यतः । तस्माद् गौतमवचनं गार्हस्थ्यप्रशंसापरं नाऽऽश्रमान्तरस्य, स्वयमपि तत्र "पूर्वे त्रय आश्रमिणः" इति परिषल्लक्षणकथने कीर्तितस्य प्रतिषेधार्थम् ।

भावदीपिका

द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥ वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः । चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत् ॥"—इति मनुना कालविशेषविधानात् । "ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् । अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ॥"— इति साक्षेपकृत्यविशेषावधिविधानाच्च कथं गृहस्थाश्रमात् प्रागेव संन्यासलाभः ? तत्राह— न चेति । "ऋतौ भार्यामुपेयात्" इति कालविशेषविधिबाधवदत्रापि बाधसम्भवात् । "जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिः ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यः, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्यः, एष वा अनृण"—इति श्रुतिमूलस्मृतेर्विषयैकदेशापहारो बाधः संकोचापरपर्यायो युक्त

ज्ञानवती

वह—"अथवा ब्रह्मचर्य से ही प्रव्रज्या ग्रहण कर लेनी चाहिये" । "जिसदिन विराग हो उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिये ।"

"अविवाहित लोग संसार को निस्सार देखकर तत्त्वदर्शन की इच्छा से परमवैराग्य को आश्रित होकर संन्यास लेते हैं ।"

इस श्रुति और स्मृति से दारसंग्रह से पहले उच्यमान संन्यास कैसे गृहस्थाश्रम का अन्तर्वर्त्ती होगा ? ऐसा नहीं है कि ऋणत्रय के अपाकरण एवं सन्तति आदि कालविधान का विरोध है । जैसे कि उन्होंने कहा—"हम वर माँगती हैं, ऋतुगमन से प्रजा को प्राप्त करें, प्रसव—पर्यन्त यथेच्छसम्भोग प्राप्त करें" ऐसी, वृत्रहत्या के भाग के निक्षेप के समय स्त्रियों की इन्द्र से वर प्रार्थना श्रुतिमूलक है—

"स्त्रियों के वर का स्मरण करता हुआ पुरुष यथाकामी हो सकता है" (अर्थात् ऋतु से भिन्न काल में भी स्त्रीगमन कर सकता है) ।

यह स्मृति कालविशेष से विशेषित सम्भोग की अनुष्ठेयता का स्त्रीकाम के अतिरेक से अनवसर में भी विधान करती है । उसी प्रकार चाहे अविवाहित हो या विवाहित, सन्तानयुक्त या

"अर्थस्य मूलन्निकृतिः क्षमा च कामस्य रूपं च वयोवपुश्च।
धर्मस्य यागादि दया दमश्च मोक्षस्य सर्वोपरमः क्रियाभ्यः ॥"

इति व्यासोक्तेश्च। अपरथा "औदुम्बरीं स्पृष्ट्वोद्गायेत्" इति श्रुत्या सर्ववेष्टनस्मृतेरिव वेदेन बाधः केन वार्येत ? संन्यासश्च वागुपसर्जनो मानसः सङ्कल्पविशेषो विधिरागाभ्यामनुष्ठेयत्वेन प्राप्तस्य त्यागविषयः ; निष्पन्नस्य काम्यादेस्त्यागायोगात्।

[संन्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वम्–]

ननु एवमपि न ज्ञानाङ्गं संन्यासो गम्यते, "चत्वारः पृथगाश्रमाः" इत्यादि-

भावदीपिका

इति भावः। कर्मत्यागस्य मोक्षोपायत्वस्मृतेश्च न तत्प्रतिषेधार्थं गौतमवचनम्; विपक्षेऽप्रामाण्यप्रसङ्गाच्चैवम्—इत्याह—अर्थस्येति। निकृतिः=परिच्छेदः; कपर्दकमात्रस्याऽपि सुहृद्भावेनाऽत्यागः; वयः=तारुण्यम्; तद्युक्तं वपुः=वयोवपुः। नन्वागामिक्रियाणामप्राप्तत्वान्न त्यागः सम्भवति वस्त्रादिवत् प्राप्तानां च कृतत्वादेव; ततः कथं क्रियाभ्य उपरमः संन्यासोऽनुष्ठेय इति ? तत्राह संन्यासश्चेति।

[सन्न्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वम्—]

एवं संन्यासं निरूप्य तस्य ज्ञानाङ्गत्वं सप्रपञ्चं पूर्वपक्षयति—नन्वेवमपीति। विधिवाक्यैरेव ज्योतिष्टोमादेरिवाङ्गत्वं गम्यते ?—इत्याशङ्क्याह—चत्वार इति। ननु "त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः" इति श्रुतेः, "एतावदरे खल्वमृतत्वम्" इति ज्ञानस्यामृतत्वव्यपदेशाच्च, त्यागज्ञानयोः साध्यसाधनभावोऽवगम्यते ?—इत्याशङ्क्याह—विशेषत इति। किं साक्षाज्ज्ञानसाधकः संन्यासः, किं वा आश्रमान्तरे तत्त्वविषये अनवधानादिलक्षणप्रमादादि-

ज्ञानवती

निःसन्तान हो, वैराग्यातिरेक के कारण श्रुति उसकी प्रव्रज्या का विधान करती है, इसकारण गौतम का वजन (कि "ऐकाश्रम्यन्त्वाचार्याः, प्रत्यक्षविधानात् गार्हस्थ्यस्य"), "गार्हस्थ्य की प्रशंसा को वताता है न कि स्वयं वहाँ" पूर्ववर्त्ती तीन आश्रम वाले" इस परिषत् के लक्षण के कथन के समय कीर्त्तित आश्रमान्तर के प्रतिषेध के लिये है—और—

"अर्थ का मूल तिरस्कार और क्षमा, काम का रूप अवस्था और शरीर, धर्म का याग आदि दया एवं दम तथा मोक्ष का मूल क्रियाओं से सब प्रकार का विराम है।"

यह व्यास की उक्ति है। अन्यथा "औदुम्बरी को छूकर उद्गान करना चाहिये" इस श्रुति से सर्ववेष्टनस्मृति के समान वेद के द्वारा वाध का निवारण कौन कर सकेगा ? और संन्यास वाणी के त्याग वाला, मानससंकल्प विशेष, विधि एवं राग के द्वारा अनुष्ठेय के रूप में प्राप्त का त्याग है क्योंकि निष्पन्न को काम आदि का त्याग सम्भव नहीं है।

[सन्यास ज्ञान का अङ्ग है—]

(पू) इस प्रकार भी सन्यास ज्ञान का अङ्ग है ऐसा नहीं ज्ञात होता, "चार पृथक् आश्रम" इत्यादि वचन नित्यसंन्यास के द्वारा या प्रायश्चित्तार्थसन्यास के द्वारा चरितार्थ

वचांसि नित्यसंन्यासेन प्रायश्चित्तार्थसंन्यासेन वा चरितार्थानि विशेषतो ज्ञानाङ्गत्ववचनादृष्टेश्च। न च प्रमादादिवर्जनार्थैषः।

"प्रमादिनो वहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसन्दूषिताशयाः॥"

इत्युक्तत्वात्। आश्रमान्तरेऽपि पुरुषविशेषसम्भवाच्च, न; "त्यजतैव हि तज्ज्ञेयम्"

भावदीपिका

सम्भवात् ब्रह्मसंस्थत्वाऽनुपपत्तेस्तद्वर्जनाङ्गत्वेन? आद्ये—श्रवणस्याऽपि साधनत्वविधानात् व्रीहियववद् विकल्पः किं श्रवणसंन्यासयोः किं वा विकल्पस्याष्टदोषत्वात्:—तथाहि—[पूर्वं व्रीहि]प्रयोगेऽयववाक्यस्य प्रतीतप्रामाण्यत्यागोऽप्रतीताप्रामाण्यस्वीकारः; पुनर्यवप्रयोगे तस्यैव परित्यक्तप्रामाण्यस्वीकारः स्वीकृताप्रामाण्यत्यागश्चेति यववाक्ये चत्वारो दोषाः; एवं व्रीहिवाक्येपि—इत्यष्टदोषो विकल्पः; स चागत्या स्वीक्रियते। तदुक्तम्—"एवमेषोऽष्टदोषोऽपि यद् व्रीहियववाक्ययोः। विकल्प आश्रितस्तत्र गतिरन्या न विद्यते।" इति। 'व्रीहियवाभ्यां यजेत' इति प्रमाणाभावात् मिश्रणेन वा क्रमेणैकैकश्येन वा समुच्चयानुपपत्तेः, यजनसाधनत्वेन द्रव्यमात्रप्राप्तौ पक्षप्राप्तानां व्रीहियवानां परस्परानपेक्षतया पुरोडाशादिनिर्वर्त्तनसमर्थानामप्राप्तपक्षपूरणेन नियमविधौ समुच्चयकल्पनानुपपत्तेश्च "गतिरन्या न विद्यते" इत्युक्तम्। अतः श्रवणसंन्यासयोः समुच्चयः? तथापि न सम्भवः। श्रवणादिव संन्यासाद् बोधोदयादर्शनादिति भावः।

द्वितीयं निराचष्टे—प्रमादीति। अथ सर्वेषां प्रमादादि दुःसम्पादम् पुरुषधौरेयस्य कस्यचित् तदसंभवात्?—इत्यत आह—आश्रमान्तरेऽपीति। संन्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वमागमादवगम्यमानं तावन्न शक्यं विकल्पधूलीभिः तिरस्कर्त्तुं, ततो यथा "आसु तदा नाडीषु सृप्तो भवति", "ताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते", "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते" इति नाडीपुरीतत्परमात्मनां जीवस्य सुप्तिस्थानत्वेन श्रुतानां द्वारद्वारिभावेन कथञ्चित् समुच्चयोऽन्तःकरणोपाधिविशिष्टस्य जीवस्य नाडीपुरीतदाधारत्वं तद्वारेण निलीनान्तःकरणोपाधेः परमात्मनि शयनम्; तदुक्तम्—"तदभावो नाडीषु श्रुतेरात्मनि च" इति—तस्य="मायामात्रं तु" इति प्रकृतस्य स्वप्नस्य; अभावः [सुप्तिः]। एवं संन्यासस्य श्रवणस्य द्वारत्वेन तेन ज्ञानफले समुच्चयः—इत्याशयेन प्रत्याह—त्यजतैवेति। संन्यासस्य प्रकृष्टतमादृष्टजनकतया प्रमादादिवर्जनद्वारेण ज्ञानाङ्गत्वात् परोक्तं प्रतिषेधं

ज्ञानवती

हैं, तथा 'ये विशेष रूप में ज्ञान के अङ्ग हैं' यह वचन दृष्ट नहीं है। यह प्रमाद आदि के वर्जन के लिये भी नहीं है, क्योंकि—

"प्रमादी (अर्थात् आत्मस्वरूप का चिन्तन न कर वहिर्मुख वृत्तिवाले) वहिश्चित्त, पिशुन, झगड़ालू सन्यासी भी दुरदृष्ट के बल से दूषित आशय वाले देखे जाते हैं।"

ऐसा वचन है। और आश्रमान्तर में भी पुरुषविशेष सम्भव हैं।

(उ) ऐसा नहीं है। "त्यागी के द्वारा ही वह ज्ञेय है" इस श्रुति से सन्यास ज्ञान का

इति श्रुत्या सन्यासस्य ज्ञानाङ्गत्वावगमात्। पुरुषविशेषस्य आश्रमान्तरेऽपि सम्भवेन व्यर्थोऽयमित्यपि तदा स्यात् यद्यस्मिन्नेव जन्मनि कृतस्यास्याङ्गत्वम्; न तथा; किन्तु "तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास एवात्यरेचयत्" इति परमतपोरूपत्वावधारणात्तादृगदृष्टोत्पादनेन यदाकदाचिदपि कृतस्य,

"संन्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्त्वाः।"

इति श्रुतेश्च।

ननु "येन केनचन[1] यजेतापि दर्विहोमेनाप्यनुपहतमना एव भवति" इति श्रुतेः,

"महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः॥"

भावदीपिका

व्यवस्थापयति—पुरुषेति। ननु "न्यास इति ब्रह्म"—इति श्रुतेः, "यज्ञेन देवानाप्नोति वैराजं तपसा पुनः। संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानं वैराग्यात् प्रकृतौ लयः॥"—इति स्मृतेश्च ब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्वेनाऽभिहितस्य संन्यासस्य कथं ज्ञानाङ्गत्वम्? न चाऽनुषङ्गिकं फलमेतत्; तथा सति ब्रह्मलोकगतानामेव ज्ञानाधिकार इति अत्र मीमांसाप्रणयनं मुधा स्यात्। ब्रह्मणि ज्ञातेऽपि सद्यो मुक्तिर्वा न भवेत्—तत्राह—संन्यासयोगादिति। संन्यासस्य चित्ते प्रमादादिजनककल्मषविशेषकषणहेतुत्वं तावत् आम्नायते। तत्र यतय इति यमादिमात्रशीलानामुपादानात्तेषां शुद्धसत्त्वानां "ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले", "वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः" "परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे" इति ब्रह्मलोके ज्ञानोत्पत्तिजीवन्मुक्तिपूर्वकविदेहमुक्त्यवधारणतदभिप्रायेणोक्ते श्रुतिस्मृती। "त्यजतैव" इति त्यागेन, "त्यक्तेन" इति च श्रुतिर्ज्ञानप्रवणसंन्यासाभिप्राया। तेनासौ संन्यासो विनापि ब्रह्मलोकगमनं सत्त्वशुद्धिद्वारेण ज्ञानपौष्कल्यपर्यवसायीति न कश्चिद्दोष इति भावः।

सत्त्वशुद्धिः किं संन्यासैकसाध्या किं वा संन्यासेनाऽपि? नाद्यः; साधनान्तरविधिविरोधात्। नान्त्यः; विकल्पापत्तौ "त्यजतैव" इत्यवधारणबाधात्—इत्यभिसन्धिराक्षिपति—ननु येन केनचनेति। विधिभेदोऽधिकार्यनुबन्धभेद—फलभेदे पर्यवस्यन्नाक्षिपति। तथा च

ज्ञानवती

अङ्ग है, ऐसा ज्ञात होता है। 'पुरुषविशेष के आश्रमान्तर में भी सम्भव होने से यह व्यर्थ है' यह भी तब होता यदि इसी जन्म में किया हुआ यह अङ्ग होता। किन्तु वैसा है नहीं। बल्कि "उन उन अपकृष्ट तपस्याओं का सन्यास में ही अतिरेचन किया" इस प्रकार (सन्यास) के परमतपोरूप का अवधारण होने से वैसे अदृष्ट उत्पादन के द्वारा जिस किसी भी समय किया गया (सन्यास ज्ञान का अङ्ग होता है)। श्रुति भी है—

"सन्यास के योग से यतिलोग शुद्ध सत्त्ववाले होते हैं।"

(पू) जिस किसी से याग करना चाहिये। यहाँ तक कि दर्विहोम से भी, (इससे) अनुपहतमना (=शुद्धचित्त वाला) ही होता है। इस श्रुति से—

"महायागों एवं यागों से यह शरीर ब्राह्मी बनाई जाती है।"

इस स्मृति से विना सन्यास के भी सत्त्वशुद्धिफल का लाभ होने से यह उसके लिये नहीं है।

[1] (ग) न च येन केन।

इति स्मृतेश्च विनापि संन्यासं सत्त्वशुद्धिफललाभान्नैष तदर्थ इति, दर्विहोमो [होम[1]] रूपोऽग्निहोत्रादिकर्मविशेषः ? मैवम्; ममत्वहान्युपयुक्ता देहादावनात्मनि प्रत्यगात्मनि च ब्रह्मत्वाविष्कारस्य झटिति कारणं विवेकाङ्कुरयुक्ता या परा शुद्धिः तस्याः परतपोरूपसन्यासैकलभ्यत्वात् । वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थत्वे तस्या हेतुसमीहानुपन्यासात् । "कर्मणा पितृलोकः" इति श्रुतेः "यथा आम्रे फलार्थं निर्मिते[2] छायागन्धौ अनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते" इति स्मृतेश्च नियतकर्मणोऽपि संसारफलत्वात्। "नियतस्य तु संन्यासः" इत्यादिवचनमविरक्तविषयमेव। अतोऽस्त्येव ज्ञानार्थः सन्यासः। न च "यज्ञेन यजेतैव" इति च विरुद्धम्; हलान्नाभ्यां जीवनवदविरुद्धत्वात्। परिपक्वज्ञानस्य च कतिपयज्ञानवासनासञ्चयार्थानेकजन्मलभ्यत्वाज्जन्मान्तरानुष्ठितोऽपि संन्यासोऽवश्यम्भावी सार्वभौमपदस्येव[3] पूर्वकर्मसामग्री।

भावदीपिका

संन्यासविधेः फलस्य कर्मासाध्यत्वावगमान्नोभयदोषप्राप्तिः—इत्यभिप्रेत्य प्रत्याचष्टे—मैवमिति। तथापि काम्यादिकर्मसंन्यास एव न नित्यादिसंन्यासः, सर्वेश्वरस्मृतिविरोधात् ? अत आह—कर्मणेति। "सर्वधर्मान् परित्यज्य" इत्युपसंहारादेवं व्यवस्थाप्यत इति भावः। पूर्वं द्वारफले कर्मतत्त्यागयोः साधनत्वविरोधः परिहृतः; सांप्रतं परमफले ज्ञानाख्ये परिहरति—न चेति। यथा हलेन कर्षणमन्नोत्पत्तौ साधनं, तदभावश्च सर्वदा कर्षणे क्रियमाणे धान्यानामुत्सादनादन्नाऽनिष्पत्तेः; हलान्नाभ्यां जीवनव्यपदेशस्तु पारम्पर्येण; (तथा) कर्मणो मोक्षफले ज्ञानेन समुच्चयसूचनार्थः। ततः "कर्मणैव हि संसिद्धिम्" इत्यपि पारम्पर्याभिप्रायं कर्मतत्त्यागविध्यनुरोधेन द्रष्टव्यम्। यतो नास्ति विरोधगन्धः; ततो यदुक्तं यदा कदापि कृतस्येति तत्सिद्धम्—इत्याह—परिपक्वेति। एवं महाफलत्वात् संन्यासस्य गृहस्थाश्रमात् प्रागप्यनुष्ठानमिति विकल्पः सिद्धः।

ज्ञानवती

और दर्विहोम होमरूप अग्निहोत्र आदि एक विशेष प्रकार का कर्म है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अनात्म देह आदि में ममत्व की हानि के लिये और प्रत्यगात्मा में ब्रह्मत्व के आविष्कार के कारण विवेकाङ्कुर के लिये जो पराशुद्धि है वह परतप रूप सन्यास से ही लभ्य है। वेदान्त के विज्ञान सुनिश्चित अर्थ के विषय में उस (अर्थात् चित्तशुद्धि) की हेतुसमीहा का उपन्यास नहीं है। "कर्म से पितृलोक" इस श्रुति से जैसे फल के लिये लगाये गये आम में छाया और गन्ध बाद में उत्पन्न होती है इसी प्रकार धर्म का आचरण करने वाले को अर्थ बाद में उत्पन्न होते हैं" यह स्मृति है। इसीलिये नियतकर्म का फल संसार ही होता है। "सन्यास नियत का होता है।" इत्यादि वचन अविरक्तविषयक हैं। इसलिये ज्ञान के लिये सन्यास है ही।

(पू) "यज्ञ से यजन करना ही चाहिये" यह वाक्य विरुद्ध हो जायगा ? (उ) हल और अन्न से जीवन के समान विरोध नहीं है। (अर्थात् जैसे हल जीवन का परम्परया

---

[1] (क) याग। [2] (क) निमित्ते, (ख) निमित्ते निर्मिते।
[3] (ख) भावी सह सार्वभौम।

यद्यपि चतुर्णामाश्रमाणां न समुच्चयनियमः "यदि वेतरथा" इत्यादिविकल्पश्रुतिविरोधात्, तथापि "संन्यासयोगात् यतयः शुद्धसत्वाः", "त्रिदण्डं कमण्डलुं शिक्यं पात्रं जलपवित्रं शिखा यज्ञोपवीतं चेत्येतत्सर्वं भूः स्वाहेत्यप्सु परित्यजेत्" इति च श्रुतेः संन्यासभेदानामस्त्येव समुच्चयः। अतो न प्रथमत एव पारमहंस्यं युक्तम्? मैवं वोचः; "अथ योगिनां परमहंसानां कोऽयं मार्गः? तेषां का स्थितिरपि?' इत्युपक्रम्य "पुत्रमित्रकलत्रबन्धून् शिखां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा स्वाध्यायं च सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य अयं ब्रह्माण्डं च हित्वा कौपीनं दण्डमाच्छादनं स्वशरीरस्योपभोगार्थाय लोकस्योपचाराय च गृह्णीयात्" इति प्रथमत एव पारमहंस्यविधानात्। अतोऽत्रापि वैराग्यानतिरेके विकल्प एव त्रिदण्डेन[१]। 'यदि च' (।?) इत्यादि श्रुतिविरुद्धमुपेक्षणीयम्। गृहाश्रमादिचिह्नान्तरवद् एकदण्डस्याप्युपलक्षणार्थं वा। न खलु "नखलोमैर्वनाश्रमी" इत्याद्युक्तमात्रं तत्र चिह्नम्; सकाषायोऽनुत्पन्नविज्ञानोऽशक्तश्चेमं[२] विधिमाचरेत्–

भावदीपिका

इदानीं विकल्पान्तरं व्यवस्थापयितुं शङ्कते—यद्यपीति। प्राथम्यस्याऽपि श्रुतत्वात् समुच्चय एवेत्यवधारणमयुक्तम्—इत्याह—मैवमिति। पारमहंस्यविरुद्धस्मृतेर्गतिमाह—त्रिदण्डेनेति। अविरोधं सम्पाद्य विकल्पहेतुं वैराग्यातिरेकं सप्रतियोगिकं निरूपयति—सकाषाय इति। ननु ब्राह्मणमात्रस्य सत्त्वप्रधानत्वात् तस्य च संन्यासकारणविवेकवैराग्य-

ज्ञानवती

साधन है और अन्न साक्षात् उसी प्रकार यज्ञ, चित्तशुद्धि का परम्परया साधन है और ज्ञान साक्षात् साधन है)। जिस प्रकार पूर्वकर्मसामग्री सार्वभौमपदका (कारण होती है) उसी प्रकार परिपक्व ज्ञान के कतिपयवासनासञ्चयार्थ अनेकजन्म के लभ्य होने के कारण जन्मान्तरानुष्ठित संन्यास भी अवश्यम्भावी है।

यद्यपि "यदि वेतरथा" (अर्थात् यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत् गृहाद्वा, वनाद्वा) इत्यादि विकल्पश्रुति से विरोध होने के कारण चारों आश्रमों का समुच्चयनियम नहीं है, तथापि "यति लोग सन्यास योग से शुद्ध सत्त्व वाले होते हैं" और "त्रिदण्ड, कमण्डलु शिक्य, पात्र, जल को पवित्र करने वाला वस्त्र, शिखा, यज्ञोपवीत यह सब 'भूः स्वाहा' कह कर जल में छोड़ दे," इस श्रुति से सन्यास भेदों का समुच्चय है ही। इसलिये पहले (अर्थात् कुटीचक से) ही परमहंस होना ठीक नहीं (किन्तु कुटीचक से बहूदक, बहूदक से हस, हंस परमहंस होना ठीक है)।

(उ) ऐसा मत कहिये क्योंकि "योगियों परमहंसों का यह कौन सा मार्ग है? उनकी स्थिति भी क्या है?" ऐसा उपक्रम करके "पुत्र, मित्र, कलत्र, वन्धु शिखा, यज्ञोपवीत को छोड़कर, स्वाध्याय और सब कर्मों को छोड़कर, ब्रह्माण्ड का त्याग कर यह (संन्यासी) कौपीन दण्ड, आच्छादन, अपने शरीर के उपभोग के लिये और लोकोपचार के लिये धारण करे" इस प्रकार पहले ही परमहंस का विधान है। इसलिये यहाँ पर भी वैरांग्य का

[१] (ख) त्रिदण्डिना। [२] (ख) सक्तेश्च।

"त्रिदण्डं कुण्डिकां चैव सूत्रं चाधिकपालिकाम् ।
जन्तूनां वारणं वस्त्रं सङ्ग्राह्यं सर्वमेव तु ॥"

इति अगस्त्यस्मरणात्; अल्पवैराग्याधिकारत्वाच्च त्रिदण्डस्य। एकदण्डस्य पुनर्ब्राह्मणत्वसाधारण्येऽपि सर्वस्मिन्ननात्मवर्गे वैराग्यं परमविवेकपूर्वकसाधारणम्; ब्राह्मणस्यैवात्राधिकारात् ।

[संन्यासो ब्राह्मणेभ्य एवास्ति—]

ननु "त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः" इति सूत्रकारवचनात् बृहद्व्रताश्रमवेदाध्ययनाश्रमान्तरसाधारण्याच्च राजन्यवैश्ययोरपि चतुर्थाश्रम इति चेत् "ब्राह्मणो निर्वेदमायात्", "ब्राह्मणो व्युत्थाय प्रव्रजेत्" इतिवदनयोरप्युपदेशात्? मैवम्; न च शूद्रस्याध्ययनाङ्गोपनयनस्य विद्याप्राप्त्यर्थस्य च उपसदना-

भावदीपिका

हेतुत्वात् कथं विकल्प इति?—तत्राह—ब्राह्मणत्वेति। अग्नेरिव स्वारसिकसत्त्वस्य प्रतिबन्धसम्भवादिति भावः ।

[संन्यासो ब्राह्मणस्यैवास्ति—]

ब्राह्मणस्यैवेत्यवधारणमाक्षिपति—ननु त्रयाणामिति। सूत्रस्य पौरुषेयत्वात् मूलं वाच्यम्; तच्च न दृश्यते; ततो न सूत्रस्य प्रमाजनकत्वम् – इति प्रत्याह—ब्राह्मण इति। ननु "सर्वधर्मान् परित्यज्य" इत्यर्जुनं प्रति पारमहंस्योपदेशात् संन्यासमात्राधिकाराभावेऽपि अस्ति राजन्यादेः पारमहंस्याधिकारः?—इत्याशङ्क्याह—न च शूद्रस्येति। "कर्मण्येवाधिकारस्ते" इत्यादेरप्युपदेशात् विशेषश्रुत्यभावेन निर्णय इत्यर्थः। अथ ब्राह्मणश्रुत्यैव

ज्ञानवती

अतिरेक न होने पर त्रिदण्ड के द्वारा विकल्प ही है। 'यदि च' इत्यादि श्रुतिविरुद्ध है अतः उपेक्षणीय है। अथवा गृहस्थाश्रम आदि के चिन्हान्तर के समान एक दण्ड के उपलक्षण के लिये है। ऐसा नहीं है कि "नख एवं लोम से वनाश्रमी होता है" इत्यादि उक्तमात्र उस विषय में चिह्न है क्योंकि काषाययुक्त अनुत्पन्नविज्ञानवाला अशक्त इस विधि का आचरण करे—

"त्रिदण्ड, कुण्डिका, सूत्र, अधिकपालिका, जन्तुओं का वारण वस्त्र, सब संग्राह्य है।"

ऐसी अगस्त्य-स्मृति है। और त्रिदण्ड का अल्पवैराग्य में अधिकार है। फिर एकदण्ड के ब्राह्मणत्वसाधारण होने पर भी सभी अनात्मवर्ग में जो वैराग्य है वह परमविवेकपूर्वक और असाधारण होता है। क्योंकि इसमें ब्राह्मण का ही अधिकार है।

[सन्यास ब्राह्मणों के लिये ही है—]

(पू) "तीनों वर्णों के लिये वेद को पढ़कर चार आश्रम हैं" सूत्रकार के इस वचन से तथा बृहद्व्रत आश्रम, वेदाध्ययन, आश्रमान्तरसाधारण होने से राजन्य एवं वैश्य को भी चतुर्थाश्रम है। "ब्राह्मण को विराग होना चाहिये", ब्राह्मण को व्युत्थान कर प्रव्रज्या ग्रहण करनी चाहिये" के समान उन दोनों (अर्थात् क्षत्रिय एवं वैश्य) को भी

परपर्यायसंस्कारविशेषात्मकोपनयनस्याभावेऽप्युत्तमवर्णाचार्यैर्विहितस्य मन्त्रराज-विद्यायामिव क्षत्रियादेः संन्यासे विशेषश्रुतिरस्ति; "ब्रह्मणो=वेदस्य बृंहणात् वर्णिनो ब्राह्मणास्त्रयः" इति ब्राह्मणशब्दस्य साधारण्ये च बृहस्पतिसवादावपि त्रयाणामधिकारप्रसङ्गात्। न च "ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत् गृहाद् वनीभूत्वा प्रव्रजेत्" इति साधारण्यश्रवणादन्यत्रापि त्रयाणामवकाशः; साधारणश्रुतेर्विशेषश्रुति-नियामकत्वेऽतिप्रसङ्गात्। अतो यथा याजनादिवचनबलादसाधारणम्, तथैव संन्यासोऽप्यग्रजस्य।

ननु जनकप्रश्नात् जाबालश्रुतौ विशेषोऽवगम्यते? मैवम्; बहुज्ञत्वार्थमपि प्रश्नसम्भवात्। एतेन—

भावदीपिका

अवयववृत्त्या तत्संग्रहः?—इत्याशङ्क्याऽह—ब्रह्मण इति। अथ न व्युत्पत्तिमात्रं येनाऽति-प्रसंगः स्यात्, अस्ति तु श्रुतिरपि?—इत्यत आह—न च ब्रह्मचर्यमिति।

व्युत्पत्तेरगमकत्वात् यद्यपि सामान्यश्रुत्युपोद्वलकत्वं न सम्भवति तथापि लिङ्गस्य गमकत्वात् तदुपोद्वलिता श्रुतिः सामान्यश्रुतिः विशेषश्रुतेः क्षत्राद्युपलक्षकत्वमापादयतीति शङ्कते—नन्विति। याज्ञवल्क्यस्यैव जनकस्य प्रव्रज्याश्रुत्यभावात् प्रश्नमात्रस्य चाऽन्यथापि संभवान्न लिङ्गबलमपि सामान्यश्रुतेः इत्याह—बहुज्ञत्वेति। "ब्राह्मणा विविदिषन्ति।"

ज्ञानवती

उपदेश हो जाता है? (उ) ऐसा नहीं है। (पू) जैसे उत्तमवर्ण के आचार्यों के द्वारा विहित विद्याप्राप्ति के लिये अध्ययन के अङ्ग उपनयन के समान (शूद्र के विषय में) उपसदन अपरपर्याय वाले संस्कारविशेषात्मक उपनयन का अभाव होने पर शूद्र का मन्त्रराज (=ॐ नमः शिवाय) विद्या में अधिकार है उसी प्रकार क्षत्रिय आदि की भी सन्यास में विशेषश्रुति है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि तब ब्रह्म-वेद के बृंहण (=बढ़ाने) से तीनों वर्ण ब्राह्मण हैं इस प्रकार ब्राह्मणशब्द के (वर्णत्रय) साधारण होने पर वृहस्पतिसवन आदि (जो कि ब्राह्मण का ही कर्त्तव्य है) में तीनों वर्णों का अधिकार होने लगेगा।

(पू) ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गृहस्थ होना चाहिये, गृहस्थ से वानप्रस्थ होकर सन्यस्त हो जाना चाहिये" इस साधारण्य के श्रवण से अन्यत्र भी तीनों का अवकाश है? (उ) साधारणश्रुति के विशेषश्रुति की नियामिका होने पर अतिप्रसक्ति हो जायेगी। इसलिये जैसे वचन के बल से याजन आदि असाधारण है उसी प्रकार सन्यास भी ब्राह्मण का ही है।

(पू) जाबालश्रुति में जनक के प्रश्न से विशेष ज्ञात होता है? (उ) बहुत जानने के लिये भी प्रश्न सम्भव है। इससे—

"वहाँ जो हमारे आश्रित नगरनिवासी वृद्ध रहते हैं वे सब प्रसन्न करके कह दिये जाँय कि पाण्डु जंगल को चले गये।"

यह वचन निर्ममता का द्योतकमात्र है (न कि संन्यास का)। आचार प्रमाण नहीं है। [इसलिये "स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे" इसके समान अधिकारिविशेषनिरूपकश्रुति के अनुसार ही साधारणश्रुति समझी जानी चाहिये।

"पौरवृद्धाश्च ये तत्र निवसन्त्यस्मदाश्रिताः ।
सर्वे प्रसाद्य वक्तव्याः पाण्डुः प्रव्रजितो वनम् ॥"

इति निर्ममताद्योतनमात्रं, नाचारप्रमाणं स्यात् । अतो "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इतिवदधिकारिविशेषनिरूपकश्रुत्यनुसारेण साधारणश्रुतिर्नेतव्या ।

"मुखजानामयं धर्मो वैष्णवं लिङ्गधारणम् ।
बाहुजातोरुजातानां न त्रिदण्डो विधीयते ॥"

इति भगवल्लीलावताराश्रमप्रतिषेधाच्च[1] । न च त्रिदण्डनिषेधादेकदण्डप्राप्तिः;

भावदीपिका

इत्यत्र यथा ब्राह्मणशब्दस्योपलक्षणार्थत्वं क्षत्रियादेरपि विविदिषाऽधिकारात् तथा संन्यासस्थलेऽपि ? नैवम्; प्रमाणान्तरस्य विधायकस्याऽभावेऽपि उपलक्षणस्याऽतिप्रसङ्गित्वादित्यूह्यम् । पाण्डोरपि स्त्रीसङ्गेन शापवशात् मृतस्य लिङ्गधारणादिस्मरणाऽभावादन्यदपि न लिङ्गम्—इत्याह—एतेनेति । अस्ति व विशेषश्रुतेः स्मृत्यनुग्रहोऽप्यसाधारण्यप्रतिपादने—इत्याह—मुखजानामिति । अथवा स्वर्गकामस्याऽपि शूद्रादेर्वेदाध्ययनादिसामर्थ्याऽभावादग्निहोत्रादावनधिकारो युक्तः; क्षत्रियवैश्ययोस्तु वेदादिसामर्थ्याद् भविष्यति संन्यासेऽधिकारः; "पालाशं बैल्वं दण्डं औदुम्बरमजिनमेखलां शिखां यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा" इति वर्णान्तराधिकारदण्डत्यागेन संन्यासश्रवणलिङ्गाच्च ?—इत्याशङ्क्याह—मुखजानामिति । "यावन्न स्युस्त्रयो दण्डास्तावदेकेन वर्त्तयेत्" इतिवद् ब्राह्मणस्यैव पालाशदण्डाभावे बैल्ववदौदुम्बरादिदण्डसंभवान्मुञ्जालाभ इव मेखलायै द्रव्यान्तरविधानवच्च । आह च मनुः—"ब्राह्मणो बैल्वपलाशौ, क्षत्रियो वाटखादिरौ । पैलवौदुम्बरौ वैश्यो, दण्डावर्हति धर्मतः ॥ पैलवः पीलुवृक्षस्य मौंजी त्रिवृत् समा श्लक्ष्णा । कार्या विप्रस्य मेखला क्षत्रियस्य तु मौर्वी ज्या वैश्यस्य शणतान्तवी ॥ मुञ्जालाभे तु कर्त्तव्या कुशाश्मन्तकबल्बजैः । त्रिवृता ग्रन्थिनैकेन त्रिभिः पञ्चभिरेव वा ॥" इति । मौर्वी कृष्णमयी नैतदैकान्तिकं लिङ्गमिति भावः ।

स्मृतेरेकान्ततो निषेधकत्वाऽभावमाशङ्क्याह—न च त्रिदण्डेति । अत्र वक्तव्यं

ज्ञानवती

वैष्णवलिङ्गधारण, यह मुख से उत्पन्न होने वालों का धर्म है । बाहु से उत्पन्न और उरु से उत्पन्न होने वालों को त्रिदण्ड का विधान नहीं है ।"
इससे संन्यासाश्रम का प्रतिषेध है । (पू) त्रिदण्ड के निषेध से एक दण्ड की प्राप्ति है ? (उ) 'वैष्णवम्' इससे सर्वलिङ्ग का संग्रह हो जाता है । उत्तर (त्रिदण्डो विधीयते) उसका उपलक्षण है । अन्यथा लिङ्गान्तर की विधियाँ अनवसर पर प्राप्त होने लगेंगी । यद्यपि सत्यकाम जाबाल के प्रति विमर्श विना गोत्रज्ञान के है यह बात सत्य है क्योंकि "अब्राह्मण ऐसा नहीं कह सकता" इससे शूद्र का मायावी होना सम्भव है, और अब्राह्मण शब्द से उसका व्याच्छेद होने से उपनयनयोग्य त्रैवर्णिक के विषय में ब्राह्मण शब्द सुना गया है; तथापि 'मुखजानाम्' इस विशेष से सन्यास में नियम की उपपत्ति होती है । उपनयन के लिये ही

---

[1] (ख) ताराश्रय ।

'वैष्णवम्' इति सर्वलिङ्गसङ्ग्रहात्; उत्तरस्य तदुपलक्षणार्थत्वात्। अपरथा लिङ्गान्तरविधीनामकाण्डताण्डवप्रसङ्गात्[२]। यद्यपि सत्यकामजाबालं प्रति विमर्शो गोत्रापरिज्ञानलक्षणः[३] "नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति" इति शूद्रस्य मायावित्वसम्भवात् अब्राह्मणशब्देन तद्व्यवच्छेदादुपनयनयोग्ये त्रैवर्णिके ब्राह्मणशब्दः श्रुतः, तथापि 'मुखजानाम्' इति विशेषणात् संन्यासे नियमोपपत्तेः; उपनयनार्थमेव गौतमेन तत्परीक्षणात्। ततो ब्राह्मणस्यैव "संन्यासेन देहत्यागं करोति" इति श्रुतेः प्रत्यावृत्तिवर्जितः संन्यासः। सूत्रस्य च स्मृतितुल्यत्वेन परिहृत्यैव स्मृतिविरोधं[४] स्वार्थसाधकत्वात्। यदि सूत्रकारस्य प्रत्यक्षा क्षत्रियादिसन्यासविधायनी किमित्यात्रेयस्य सहजसर्वज्ञोपज्ञस्य न तथा येन तन्निषेधति। किञ्च "अयज्ञोपवीती कथं ब्राह्मणः" इति सन्यासावस्थायामपि ब्राह्मणस्यैव परामर्शात्।

भावदीपिका

वैष्णवमिति किं त्रिदण्डैकदण्डयोः संग्रहः त्रिदण्डस्यैव वा? आद्यं प्रत्याह—वैष्णवमिति इति। प्रापकान्तरं निषेधेन हि यावत् प्राप्तं तावन्निषेद्धव्यमिति तावदुत्सर्गः। विशेषनिषेधश्च यद्यप्य[प]वादकः, तथापि यत्र प्राप्तिस्तत्रैव; प्राप्तिश्च रागतो विधितो वा; तत्र क्षत्रियादे रागतः तावत् क्लेशात्मकसंन्यासप्राप्तिर्न सम्भाव्यते। विधिश्चाग्रजं प्रत्येव दृश्यते, अतो वैदिकत्वमात्रेण प्राप्तिमारोप्य प्रवर्त्तमानो निषेधो नैकतरविषय एवेति नियन्तुं शक्यत इति भावः। नान्त्यः—इत्याह—अपरथेति। एकस्यैव संग्रहोऽपरथाशब्दार्थः। तदाऽप्येकदण्डस्य विध्यभावादसंग्रहो, विहितस्याऽपि वा? आद्ये—विना बाधकं विधिबाधे क्षत्रियादेरेकदण्डसंपादनस्याऽपि बाधः—इत्याह—लिङ्गान्तरेति। द्वितीयेऽसंग्रहकारणानिरूपणादाकस्मिकत्वापत्तिर्दोष इति द्रष्टव्यम्। पुनरपि ब्राह्मणश्रुत्यैव क्षत्रियादिसंग्रहमाशङ्क्य उक्तस्मृत्यवष्टम्भेन निराचष्टे—यद्यपीति। एवं श्रुतिमूलत्वाऽभावे स्थिते—"ब्राह्मणः क्षत्रियो वा वैश्यो वा प्रव्रजेत् गृहात्" इति स्मृत्या सह सूत्रमप्यपस्मृतिः—इत्याह—सूत्रस्य चेति। उपज्ञा= आद्यं ज्ञानम् सर्वज्ञत्वविषयं यस्य सः, तथा; तस्य। ब्राह्मणश्रुत्यन्तरेणापि सूत्रस्य बाधं सम्भावयति—किञ्चेति। एतेन "ब्रह्मचर्यं समाप्य"—इत्यादिश्रुतेरपि विशेषविषयत्वप्रतीतिरुक्ता।

ज्ञानवती

गौतम ने उसकी परीक्षा की थी। इससे "सन्यास से देह त्याग करता है" इस श्रुति के कारण ब्राह्मण के लिये ही सन्यास प्रत्यावृत्तिवर्जित है। और स्मृति के तुल्य होने के कारण सूत्र स्मृतिविरोध को छोड़कर ही स्वार्थसाधक हो सकता है। यदि सूत्रकार को क्षत्रिय आदि की सन्यासविधि प्रत्यक्ष हो तो सहजसर्वज्ञबुद्धि वाले आत्रेय को वैसी क्यों नहीं हैं जिससे उसका निषेध करते हैं। इसके अतिरिक्त "यज्ञोपवीतरहित कैसे ब्राह्मण हैं" इससे संन्यासावस्था में भी ब्राह्मण का ही परामर्श है।

---

[२] (ख) काण्डदण्ड। [३] (क) लक्षणं: (सत्यम्)।
[४] (ख) विरोधस्य।

[संन्यासिनः प्रत्यावृत्तिर्नास्ति-]

अथ कथं प्रत्यावृत्तिवर्जनम्? "अरण्यमियात् इति पदं ततो न पुनरेयात्" "तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि" इति श्रुतिन्यायाभ्याम्। ननु "आख्यातानामर्थं ब्रुवतामधिकारिशक्तिः सहकारिणी" इति न्यायात् योऽसमर्थः प्रवृत्तोऽपि तस्य प्रत्यावृत्तौ न दोषं पश्यामः, कथमपरथा यावज्जीवाधिकारस्याग्निहोत्रस्य जरामर्यादत्वाभ्यनुज्ञा? तर्हि तद्वदेवानुष्ठानविशेषहानिरेव, न तद्भावलाभः। अथ प्रायश्चित्तात्तल्लाभः—

भावदीपिका

[संन्यासिनः प्रत्यावृत्तिर्नास्ति—]

एवं ब्राह्मणस्यैव प्रत्यावृत्तिवर्जितः संन्यासः इत्यत्र ब्राह्मणस्यैवेत्युपपादितम्। प्रत्यावृत्तिवर्जितत्वमुपपादयितुमुपक्रमते—अथ कथमिति। अरण्यम्=तद्वासाद्युपलक्षितं संन्यासम्। तद्भूतस्य=तदाश्रमसंस्कारसंयुक्तस्य; "नियमात्तद्रूपाभावेभ्य" इति सौत्रो हेतुः। तत्र "ततो न पुनरेयात्" इति=नियमः। "ब्रह्मचर्यं समाप्य" इत्यारोहवदवरोहविध्यभावः=अतद्रूपता। अभावः=शिष्टाचारादर्शनम्। सामर्थ्यस्याऽधिकारिविशेषणत्वावष्टम्भेन शङ्कते—नन्विति। आख्यातानाम्=कुर्यादित्यादीनाम्=क्रियाविशेषान् विदधताम्। यथा प्रमाणाभासेन प्रतीतोऽप्यर्थोऽप्रतीत एव तथाऽधिकार्याभासेन कृतमप्यकृतमित्याशयः। "एतद्वै जरामर्यमग्निहोत्रम्" इति लिङ्गादेवमवगम्यते च—इत्याह—कथमपरथेति। स्यादेवं यद्याश्रमः क्रियामात्रं स्यात्, न तथा; किन्तु क्रियाविशेषजन्यः संस्कारः, यस्मिन् सति क्रियाविशेषा विधीयन्ते प्रतिषिध्यन्ते च। नच ततः परावृत्तिः, किन्तु तत्प्रयुक्तक्रियाविशेषनिवृत्तिमात्रमशक्तौ भवति। ततो यथा वनस्थ एव वा गृहस्थ एव वा सन्नगृहस्थाश्रमी वा ब्रह्मचर्याश्रमी वा भवति, तथा संन्यासाऽऽश्रमी सन्नपि न पूर्वाऽऽश्रमी भवति। न चाऽसमर्थस्य क्रियाधेयः संस्कारो न भवति। मा भूत् षण्ढकस्य पत्नीसंयोगसंस्कृतस्याऽसंस्कृतत्वम्, अपरथा तदूढायाः पुनर्भूत्वमपि भज्येत। न च तस्याः पुत्रोत्पादनयोग्यताया अभावेन विवाहानधिकारान्न पुनर्भवदोषः; अधिकारिणोऽपि योग्यतायाः कार्यगम्यत्वात्, केनाऽपि हेतुना पुत्रानुत्पादे पुनर्भूत्वाऽभावप्रसङ्गात्। प्रमाणाभासाधेयसंस्कारादपि प्रत्यावृत्तिर्दुर्घटैव; सत्कार्यस्मृत्याद्यनुत्पादप्रसङ्गात्—इत्यभिप्रेत्याह—तर्हि तद्वदेवेति।

आशयानभिज्ञः शङ्कते—अथ प्रायश्चित्तादिति। प्रायश्चित्तस्याऽविहितक्रियाजन्यदुरितविरोधित्वात्तन्निवर्त्तकत्वेऽपि आश्रमग्रहणक्रियाजन्यसंस्काराऽविरोधित्वेन तन्निवर्त्तकत्वा-

ज्ञानवती

[संन्यासी की प्रत्यावृत्ति नहीं है—]

(पू) प्रत्यावृत्ति का निषेध कैसे हैं? (उ) "जंगल को जाना चाहिये, यह ज्ञान का साधन (पद्यते गम्यते अनेनेति पदम्) है। वहाँ से फिर नहीं लौटना चाहिये।" जैमिनि का भी (मत है कि) "तद्भूत (अर्थात् परमहंसाश्रम को प्राप्त) का अतद्भाव (अर्थात् परमहंसाश्रम को छोड़कर अन्याश्रम ग्रहण करना) नहीं है" यह श्रुति एवं न्याय है। (पू) "आख्यात का अर्थ बताने वालों की अधिकारी की शक्ति सहकारिणी होती है" इस न्याय से जो असमर्थ होते हुए प्रवृत्त भी हो गया उसकी प्रत्यावृत्ति में दोष नहीं देखते, अन्यथा कैसे यावज्जीवाधिकार अग्निहोत्र की जरामर्यादत्व अभ्यनुज्ञा होती। (उ) तो उसी प्रकार

"संन्यस्य दुर्मतिः कश्चित् प्रत्यावृत्तिं व्रजेत् यदि ।
स चरेत् [कृच्छ्रं पतति षण्मासादनन्तरम्]॥"

इति संवर्त्तस्मरणात् ।

"ये प्रत्यवसिता विप्राः प्रव्रज्याभ्यो विनिर्गताः[1] ।
अनायकनिवृत्ताश्च गृहस्थाश्रमचिकीर्षवः ॥
चरित्वा त्रीणि कृच्छ्राणि त्रीणि चान्द्रायणानि च ।
जातकर्मादिसंस्कारैः संस्कृताः शुद्धिमाप्नुयुः ॥"

इति यमवचनाच्च ? अत्रापि शुद्धिमात्रं वाचनिकोऽर्थो, न तद्भावः; गोवधप्रायश्चित्ते सशिखवपनजातकर्मादिसंस्कारैस्सह प्राप्तयज्ञोपवीतस्यानात्यन्तिकत्वात्, दारसंयोगविध्ययोगाच्च[1] । अथ "गृहस्थाश्रमचिकीर्षवः" इत्युक्तत्वात्तदुपयुक्ता शक्तिर्गम्यते,

भावदीपिका

सम्भवात् । सति च तस्मिन् विध्यन्तरमन्तरेण नाऽऽश्रमान्तरलाभः—इत्याह—अत्राऽपीति । का तर्हि यज्ञोपवीतादेः प्रायश्चित्तार्थत्वेन प्राप्तस्य गतिः ? तत्राह—गोवधेति । प्रायश्चित्ताङ्गत्वेन पुनः संस्कारकर्मणि तत्र तत्र विहितहोमादिमात्रं न मौञ्जीधारणादि तथाप्यङ्गीकृत्योक्तम् । प्रत्यक्षविध्यभावेऽप्याक्षिप्तो विधिरस्ति —इति शङ्कते—अथेति । आक्षेपस्यैवा-

ज्ञानवती

अनुष्ठानविशेष की हानि ही है न कि तद्भावलाभ (अर्थात् सन्यासाश्रम से इतर आश्रमों का लाभ) । (पू) प्रायश्चित्त से उनका लाभ होगा ?

(उ) "यदि कोई दुर्मति संन्यास लेकर प्रत्यावृत्ति को प्राप्त होता है तो उसे छ मास तक कृच्छ व्रत करना चाहिये और बाद में (यदि गृहस्थादि आश्रम का ही) सेवन किया तो पतित हो जाता है ।"
यह संवर्त्त स्मृति है ।

"जो प्रत्यवसित ब्राह्मण प्रव्रज्या से विनिर्गत हैं, अनायक निवृत्त हैं (अर्थात् साम्राज्य में धर्म आदि का कोई नियामक नहीं है इससे सब लोग स्वेच्छाचार कर रहे हैं अतः मुझे भी स्वेच्छाचरण करना चाहिये ऐसा मानने वाले हैं) तथा गृहस्थाश्रम को करने की इच्छा वाले हैं ।"

"वे तीन कृच्छ्र एवं तीन चान्द्रायण करके जातकर्म आदि संस्कारों से संस्कृत होकर शुद्धि को प्राप्त होते हैं ।"

यह यम स्मृति का भी वचन है । यहाँ पर भी शुद्धिमात्र वाच्यार्थ है न कि तद्भाव (अर्थात् अधःआश्रमवास) । क्योंकि गोवध के प्रायश्चित्त में शिखा के सहित वपन, जातकर्म आदि संस्कारों के साथ प्राप्त यज्ञोपवीत नित्य नहीं है । तथा दारसंयोगविधि का योग नहीं है ।

(पू) "गृहस्थाश्रम ग्रहण करने की इच्छा वाले" ऐसा कहने से उपयुक्तशक्ति मालूम होती है, न कि अतद्भाव की सिद्धि । (उ) ऐसा नहीं है । प्रतिषिद्धचिकीर्षा में अपगुरण (अर्थात् हाथ उठाना) आदि के समान प्रायश्चित्त उस विधि (अर्थात् गार्हस्थ्यविधि) का आपेक्षक नहीं हो सकता । उस पूर्वलिङ्ग के रहने पर गृहस्थाश्रम करने की इच्छा वाले के प्रायश्चित्तार्थ यज्ञोपवीतादित्याग के द्वारा गृहस्थ के समान प्रायश्चित्त के लिये दूसरा

[1] (ख) प्यनिर्गता ।

नातद्भावसिद्धिः ? न ; प्रतिषिद्धचिकीर्षायाम[व]गुरणादिवत् प्रायश्चित्तस्य तद्विध्यनाक्षेपकत्वात् । पूर्वलिङ्गे सति च तस्मिन् गृहस्थाश्रमचिकीर्षोः प्रायश्चित्तार्थं लिङ्गान्तरं भजतः पुनस्तल्लिङ्गानुसन्धानोपपत्तेश्च । उपपातके महापातके वा कृतप्रायश्चित्तोऽपि शिष्टसम्व्यवहारात् बहिरेव इति वैयासिकमतमालोच्य गृहस्थाश्रमं तस्मिन् चिकीर्षत्यपि तस्मादतद्भाव एव नातोऽन्यथा यस्मात्, "भिक्षुः हिरण्यं रसेन दृष्ट्वा ब्रह्महा भवेत्" इति रागमात्रं निमित्तीकृत्य प्रतिषिद्धार्थे महापातकोदयज्ञापनात् स्वनिष्ठायां दार्ढ्यमभिप्रैति श्रुतिः । एवं [स्वदुहिता[२]] स्मृतिरपि गृहस्थाऽश्रमचिकीर्षादिलक्षणमानसप्रत्यावृत्तावपि महत् प्रायश्चित्तमिति स्वनिष्ठाया अप्रच्युतिरेव शुद्धिमताऽनुष्ठेयेति शिक्षयति । तदेतदाह—"श्रोत्रियम्" इति । अपरथा "ब्रह्मनिष्ठम्" इति विशेषणेनैवालम् ; "आत्मक्रीड, आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः" इति पुनस्तथैवाम्नानाच्च । "समित्पाणिः" इति विरक्तत्वात् यत्किञ्चित् प्राभृतं विवक्षितम् । सोऽयमधिकारी श्रुतिसमर्पितोऽद्वैतब्रह्ममीमांसायाम् ।

भावदीपिका

योगान्नैवम्–इति परिहरति—न; प्रतिषिद्धेति । अवगुरणम् = ब्राह्मणं प्रति हस्ताद्युद्यमनम् । न चाश्रमान्तरपरिभ्रष्टतैकान्तप्रसङ्गहानाय विधिकल्पना–इत्याह–सति च तस्मिन् [इति] =स्वाश्रम इति यावत् । "कृतप्रायश्चित्ताः शुद्धयेयुः तद्व्रतं सम्यक् करेयुः धर्मदर्शनम्" इति कूर्मपुराणे । अनाशकप्रव्रज्याप्रच्युतानां विशुद्धानां भूयस्तद्व्रतानुसन्धानाच्च न प्रकारान्तरसम्भव इति चकारार्थः । कृतप्रायश्चित्तस्यापि पतितस्य शिष्टसंव्यवहारनिषेधादपि न विवाहादिव्यवहाराय विधिकल्पना–इत्याह–उपपातक इति । प्रायश्चित्तस्मृतेर्विवक्षितमर्थं वदन्नुपसंहरति—अतो यथेति । उक्ताभिप्रायं श्रुतिपदमवलम्बमानो वाक्यान्तरसम्वादेन चोक्तं दृढीकुर्वन् वादार्थमुपसंहरति—तदेतदाहेत्यादिना ।

ज्ञानवती

लिङ्ग (=जनेऊ) धारण करने वाले के लिये फिर उस लिङ्ग के अनुसन्धान की उपपत्ति हो जाती है। उपपातक या महापातक के होने पर कृतप्रायश्चित्त (व्यक्ति) भी शिष्टसंव्यवहार के कारण वहिष्कार्य है। इस व्यास के मत की आलोचना करके उसके गृहस्थाश्रम चाहने पर भी उससे अतद्भाव (अर्थात् अधस्तन आश्रम की प्राप्ति) नहीं है। इसलिये अन्यथा नहीं है। क्योंकि "भिक्षु हिर य को (लेने की) इच्छा से देखकर ब्रह्मघाती होता है" इससे रागमात्र को निमित्त करके प्रतिषिद्ध अर्थ के विषय में महापातक के उदय के ज्ञापन से श्रुति अपनी निष्ठा में दृढ़ता बताती है। इसी प्रकार स्व (अर्थात् वेद) की पुत्री स्मृति भी 'गृहस्थाश्रम प्राप्त करने की इच्छा रूप मानसप्रत्यावृत्ति होने पर भी वहुत वड़ा प्रायश्चित्त है' ऐसी अपनी निष्ठा से शुद्धियुक्त पुरुष च्युत न हो यह शिक्षा देती है। वही कहा— "श्रोत्रियम् ।" अन्यथा "ब्रह्मनिष्ठम्" यही विशेषण पर्याप्त था। क्योंकि "आत्मरति आत्मक्रीड, क्रियावान् यह ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ है" यह फिर वहीं (अर्थात् मुण्डकोपनिषत् में ही) कहा गया है। "समित्पाणिः" से यत्किञ्चित् उपायन विवक्षित है। अद्वैतब्रह्म की मीमांसा में यही अधिकारी श्रुतिसमर्पित है।

---

[१] (ख) अदार। [२] (क) हिता, (ख) स्यादुहिता।

विषयनिरूपणम्

[उपक्रमः-]

अथ विषयः परीक्षणीयः—"एकधैवानुद्रष्टव्यम्" इति तावदद्वैतं विषयः

भावदीपिका

विषयनिरूपणम्

[उपक्रमः –]

आद्यवादसंगृहीतवेदान्तानां विषयं परिशोधयितुं वादान्तरारम्भः—इत्याह—अथ विषय इति। ननु को वेदान्तानां विषयः? यस्तेभ्यः प्रमीयते स इति चेत्? कस्तर्हि प्रमीयत इति? तत्राह—एकधैवेति। ननु –"सर्वकर्मा सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः" इत्यादिश्रुतिभिः अनेकधाऽपि प्रमीयते? अथाऽनेकधात्वमौपाधिकम्; तदपि च न पाकजलौहित्यादिवत्तात्त्विकम्; तदुक्तम्—"न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि" इति। स्थानम्=उपाधिः; उपहितस्योपाधिः स्थानत्वेन प्रतिभासते। उभयलिङ्गम्=उभयरूपम्; यतः सर्वत्र ब्रह्मप्रतिपादनपरेषु वाक्येषु "अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्" इत्यादिषु निष्प्रपञ्चैकधात्वाऽवगमोऽस्ति। ननु वामनीभामनीत्वादिगुणानां देवताविग्रहादिवत् वेदेनैव प्रमितत्वात्, प्रतिषेधायोगात्? अथ दर्शपौर्णमासयोः "नानृतं वदेत्" इत्याम्नातं तत्र 'वदेत्' इत्याख्यातेन क्रियाया अभिधानात् प्रकरणाच्चानृतवदनस्य क्रत्वर्थत्वं प्राप्तम्; लिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानादीनां च श्रुत्यनुमापकत्वेन प्रामाण्यात् श्रुत्या अनृतवदनस्य क्रतुशेषत्वं प्राप्तम्; यदर्थं निषेध्यं निषेधोऽपि तदर्थं इति "नाऽनृतं वदेद्" इति क्रत्वर्थनिषेध्येन प्रकरणात् पूर्वं श्रुत्यनुमापकवाक्येनानद्य यथा निषिध्यते तथा अनेकधात्वमपीति मतम्? न; क्रियायां षोडशिग्रहणादिवत् विधिप्रतिषेधाभ्यां विकल्पावकाशात् वस्तुनि च तदयोगात् एकानेकरसत्वमेव वक्तव्यम्। न च "उदरमन्तरं कुरुते" इत्याद्यनेकरसनिन्दया तस्य निषेधैकान्तपर्यवसानम्; "अनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च" इति जर्त्तिलयवागूहोमनिन्दायाः "पयसाऽग्निहोत्रं जुहुयात्" इति विधिशेषार्थवादत्वस्वीकारात्। निषेधकल्पने हि "जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्" इत्यादिविधर्विधिनिषेधाभ्यां विकल्पः प्राप्नुयात्। न च तदर्था निषेधकल्पना युक्ता; व्रीहियववत् जर्त्तिलगवीधुकयवागूपयोहोमवाक्यैरेव विकल्पलाभात्। ततो दुःसम्पादं ब्रह्मण एकधात्वमिति?

उच्यते—प्रमाणान्तरागोचरमप्यनेकधात्वं वदन्त्या श्रुत्या "मायां तु प्रकृतिं विद्यात्", "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते", "चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरमम्" इत्यादिना पारमार्थिकांशविकलमेवोच्यते। ततो निषेधानां निरङ्कुशतया द्वैतपारमार्थिकत्वनिषेधसिद्धावद्वैते तात्पर्याच्च श्रुतीनां तदेव प्रपञ्चरूपशून्यं परमार्थः। तदुक्तम्—"अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्"

ज्ञानवती

विषय-निरूपण

[उपक्रम—]

अब विषय की परीक्षा करनी चाहिये—श्रुति के द्वारा "एकधैवानुद्रष्टव्यम्" (अर्थात् एक प्रकार से=एक रूप से=एकतया=अद्वितीयतया ही देखना चाहिये) इससे अद्वैतविषय

श्रुत्योपन्यस्यते। तच्च स्वभावप्रतिबद्धत्वादेव[1] प्रमाणान्तराणां विषयीकारासम्भवात् तेषाञ्च लक्षणावृत्तिवैधुर्येण विषयीकारमन्तरेण प्रतिपादकत्वायोगादनन्यसाधारणतया विषयः। विद्वदनुभवस्याप्यागमार्थसाक्षात्कारानतिरेकात्[2], आगमप्रमाणेन पुनर्लक्षणावृत्तिबलात् विषयीकारमन्तरेणापि विरुद्धांशप्रहाण्या प्रतिपादयितुं शक्यत्वात्।

भावदीपिका

इति। श्रुतीनां तत्प्रधानत्वम्=तात्पर्यवत्त्वम्। ननु "मनसैवेदमाप्तव्यम्" इति श्रुतेर्मनस एवैतद्विषयः; विषयस्य च सुखादेरिव लिङ्गादिविषयत्वमिव वेदान्तविषयत्वमपीति चेत्? कथं साधारणस्य वेदान्तविषयत्वव्यपदेश इति? तत्राह—तच्चेति। स्वप्रकाशस्य प्रत्यग्भूतब्रह्मणो घटादिवदिन्द्रियसम्प्रयोगजन्यज्ञानासम्भवान्न मनोविषयत्वं केवलस्याऽसङ्गविग्रहस्य।

यद्यपि—अन्यत्रानुपरक्तमपि चैतन्यमन्तःकरणे उपरज्यते, तत्रैव च व्यज्यते; यथा—गोत्वाऽऽदयः सर्वगता अपि नाश्वादावुपरज्यन्ते, जातिसंकरप्रसंगात्, किन्तु गवाऽदिव्यक्तावेवोपरज्यन्ते तत्रैव च व्यज्यन्ते; तथा—यदाकारेणान्तःकरणं परिणमते तदाकारेण चैतन्यं व्यक्तं न सर्वविषयाणामेकदैव प्रकाशकमिति प्रतिकर्मव्यवस्थायामुक्तम्; तथाऽपि—अन्तःकरणेन "अहम्" इत्येव व्यज्यते; तत्र च जडाजडात्मकद्वयस्फुरणान्न केवलस्य मनोगम्यत्वम्। न च विशिष्टे गृहीतसम्बन्धतया शब्दवत् केवलबोधकत्वं शङ्कनीयम्—इत्याह—तेषाञ्चेति। 'मनसैव" इति तु सावधानत्वमात्राभिप्रायम्। न च विदुषां धारावाही ब्रह्मानुभवो मानस इति नायमभिप्रायः कल्पनीय इति वाच्यम्—इत्याह—विद्वदनुभवस्यापीति। आगमादपरोक्षज्ञानस्य सम्पादितत्वादत्यन्ताभ्यासाच्च तद्व्यापारलक्षणान्न विदुषामपि मनोमात्रजन्यो ब्रह्मसाक्षात्कार इति भावः। न च बुद्ध्यारूढस्य बुद्ध्यैव सप्रपञ्चत्वादनारूढस्य च प्रतिपादनायोगात् कथमागमस्याऽपि केवलविषयत्वम्? तदभावे च कथं विषयविषयिभावसंबन्धोऽपि? तत्राह—आगमेति। लाक्षणिकी हि बुद्धिः सर्वाकारविधुरं चिदेकरसं स्वात्मनि प्रतिबिम्बयन्ती प्रतिबिम्बस्य तया सप्रपञ्चत्वेऽपि बिम्बं निष्प्रपञ्चमवस्थापयति। यथा खलु नभोमध्यगतं मार्त्तण्डमण्डलं नेत्रतेजोऽभिभावकतया साक्षात् परिच्छेत्तुमशक्नुवन् कश्चिन्नेत्रानुकूले निर्मलजले प्रतिबिम्बितं जलसम्बन्धेन सप्रपञ्चमपि बिम्बरूपेणातीतजलसम्बन्धप्रपञ्चमवस्थापयति। यद्यपि प्रतिबिम्बितो बोधस्तद्रूपताबुद्धिर्वा प्रमाणम्, प्रमेयञ्च

ज्ञानवती

उपन्यस्त होता है। और वह स्वभावप्रतिबद्ध होने के कारण प्रमाणान्तरों का विषय नहीं हो सकता; और वे (अर्थात् प्रमाणान्तर) लक्षणा वृत्ति के विना विषय वनाने के अतिरिक्त प्रतिपादक नहीं हो सकते। इसलिये यह विषय अनन्यसाधारण (अर्थात् प्रमाणान्तराप्रतिपाद्य) है।

(पू) यदि कहिये कि विद्वदनुभव से यह कार्य होगा (उ) (तो वह भी) आगमार्थ (अर्थात् आगम से प्रतिपादित अर्थ) के साक्षात्कार से अतिरिक्त नहीं है। आगमप्रमाण, विषय करने के विना भी लक्षणावृत्ति के बल से विरुद्धांश को छोड़ते हुए प्रतिपादन कर सकता है

---

[1] (ख) प्रतिबुद्धत्वात्। [2] (ख) आगमोर्थ।

अनेन प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धः ; तस्य चाऽऽनन्दादिस्वलक्षणस्य यथाकथञ्चित् तत्प्रसिद्धयैव प्रसिद्धेर्विशेषविप्रतिपत्तेश्च, प्रमाणेन प्रसिद्धत्वाप्रसिद्धत्वयोर्वेदान्तानां निर्विषयत्वम् प्रतिपादनासमर्थत्वञ्च इति विषयसम्बन्धाऽऽक्षेपोऽपि परास्तः। आनन्दादिशब्दाश्चान्तःकरणाद्युपहितानन्दादिषु व्युत्पन्ना लक्षणया स्वप्रकाशमपि लक्ष्यं गमयन्ति। न च वाच्यम् स्वप्रकाशस्यात्यन्ताविषयस्य ज्ञानं प्रत्याकारप्रदत्वायोगात् (निराकारत्वे[1] विशेषात्) स्वप्रकाशात् स्वप्रकाशादिविशेषविषयत्वनिरूपणं ज्ञानस्य न स्यादिति ; यतो यथा खलु मदीयनिरूपणानिवारणमत्यन्ताविषये कुर्वती[2] भवन्निरूपणा तत्रविषयत्वभ्रमनिरासेन विषयत्वमेव दृढीकरोति अन्यथा निवारणाशक्तत्वात्, एवं ममापि; न तावदयमेकान्तेनाविषयोऽस्मत्प्रत्ययविषयत्वादिति कथञ्चित् विषयत्वस्याप्यभ्यनुज्ञानाच्च।

भावदीपिका

बिम्बं बोधैकरसं ब्रह्म न प्रमाणाधेयप्राकट्यभाक् तथापि तदाऽऽवरणाविद्यानिवृत्तिप्रमाणजन्यामपेक्ष्य प्रमितं ज्ञानं ब्रह्मेत्युपचर्यते। तदाहुः सुरेश्वराचार्याः—"अविद्यानाशमात्रं तु फलं नुरुपचर्यते।" इति। नुः=पुंसः।

तथाऽपि भवतां पदार्थ एव वाक्यार्थः। प्रमिते च पदार्थे पदसंगतिस्ततो वाक्यव्यापारतः प्रागेव प्रमितं ब्रह्म कथं तद्गोचरः? अप्रमितं चेत् सुतरां न गोचरः—इत्यत आह—तस्य चेति। आनन्दादिपदानां विशिष्टे प्रसिद्धत्वात् कृतसङ्केतानां लक्षणया केवलप्रतिपादनान्न वैयर्थ्यादिदोष इति भावः। उक्तमाविष्करोति—आनन्दादीति। स्वप्रकाशत्वं सर्वथाऽन्यप्रकाशागोचरत्वमिति मन्वानस्याऽऽशङ्कामपाकरोति—न च वाच्यमिति। यद्यप्ययमेव स्वप्रकाशशब्दार्थस्तर्हि तस्य बुद्धयनारोहात्तदनुवादपूर्वकाक्षेपायोगात्ततो व्यावहारिकविषयत्वावलम्बनेन वास्तवस्वप्रकाशनिरूपणायां न कोऽपि दोष इति भावः। अन्तःकरणमप्यहंप्रत्ययाऽऽकारेण परिणतञ्चैतन्याविर्भावहेतुतया आत्मव्यवहारं प्रवर्त्तयति, न केवलम्। नाऽपि साक्षी केवलः, सुषुप्तावप्यात्मव्यवहारप्रसङ्गात्; अतस्तद्वृत्त्यभिव्यक्त आत्मा व्यवहारयोग्यतया विषय इव भवतीति भाष्यकारैरप्युक्तम्—इत्याह—न तावदिति।

ज्ञानवती

(जैसे तत्त्वमसि में)। इससे प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध और आनन्दादिस्वरूपलक्षण वाले उसका यथाकथञ्चित् उसकी प्रसिद्धि के द्वारा ही प्रसिद्धि होने से विशेष का ज्ञान हो जाता है। इस कारण, 'प्रमाण के द्वारा प्रसिद्ध अथवा अप्रसिद्ध (विषय) वेदान्त के विषय नहीं ही सकते और (वेदान्त उनके) प्रतिपादन में असमर्थ हो जायगा', यह विषय एवं सम्बन्ध का आक्षेप भी निरस्त हो गया। आनन्द आदि शब्द अन्तःकरण आदि से उपहित आनन्द आदि में व्युत्पन्न होकर लक्षणा के द्वारा स्वप्रकाश रूप लक्ष्य को भी बताते हैं।

(पू) स्वप्रकाश और अत्यन्त अविषय के, ज्ञान के प्रति आकारप्रद न होने से निराकारत्व में विशेष वाले स्वप्रकाश से ज्ञान, स्वप्रकाश आदि विशेषविषय का निरूपक नहीं होगा।

१ (क) योगात् (स्वप्रकाशात्) (ख) योगात्निराकारत्वे विशेषात् स्वप्रकाशात्।
२ (ख) कुर्वतां।

[अद्वैतलक्षणम्—]

अथ किं लक्षणमद्वैतस्य? तात्त्विकद्वैतविधुरं सद्वस्त्वद्वैतम्। ननु द्वैतस्य तात्त्विकत्वविशेषणं स्वसिद्धञ्चेत्? तदा व्याघातः; असद्वस्तुनो निरूपाख्यस्य तात्त्विकद्वैतधर्मवत्त्वायोगात्[1]; सद्वस्तुधर्मत्वे तस्य च तद्वैधुर्याभिधाने व्याघातात्; परसिद्धञ्चेत्[2]? तदाऽप्यात्मवत् स्वपरसाधारणत्वे स एव दोषः। अथ परस्य तात्त्विकतया सिद्धं भ्रान्तिसिद्धमेव तव? तथाप्यद्वैताभिमते सद्वस्तुनि ब्रह्मणि भ्रान्तिसिद्धद्वैताङ्गीकारान्न व्याघातान्मुच्यसे। परेष्टतात्त्विकत्वविशेषणमात्रवैधुर्योक्तौ च स्वेष्टप्रपञ्चविशिष्टस्य सद्वस्तुत्वाभावात् स एव दोषः। ततो नैतल्लक्षणं चोदक्षमम्।

भावदीपिका

[अद्वैतलक्षणम्—]

एवमद्वैतस्य विषयत्वं सम्भाव्य तल्लक्षणतो निरूपयितुं पृच्छति—अथेति। अत्र चाऽद्वैते किं प्रमाणम्? किञ्च लक्षणम्?—इति प्रश्ने प्रश्नवाक्यगतप्रमाणलक्षणशब्दयोः सामान्यार्थत्वविशेषार्थत्वे च तद्विवक्षयैव प्रमाणं लक्षणमित्येव चोत्तरमिति खण्डनकाराः—"यथाविधं यं विषयं निजस्य प्रश्नस्य निर्वक्ति परो यथोक्त्या। वाच्यस्तथैवोत्तरवादिनाऽपि तयैव वाचा स तथाविधोऽर्थः॥" इति। तदप्युद्धृतं प्रतिवाच्यम्। जनार्दनोक्तमुत्थाप्याऽऽक्षिपति—तात्त्विकेति। प्रतियोगिभूतं तात्त्विकं द्वैतं स्वसिद्धं परसिद्धं वा?—इति विकल्पः। यदाऽपि तात्त्विकत्वं द्वैतस्य परसिद्धं तदाऽपि विशेष्यद्वैतवैधुर्यमपि विवक्षितं विशेषणमात्रवैधुर्यं वा? नाद्यः—इत्याह—तदाऽपीति। मायामयद्वैतस्य तात्त्विकांशनिषेधमात्रं बाधो

ज्ञानवती

(उ) जैसे अत्यन्त अविषय में मेरी निरुपणा का निवारण न करती हुई आपकी निरूपणा वहाँ पर विषयत्वभ्रम के निराश के द्वारा अविषयत्व को ही दृढ़ करती है अन्यथा वह निवारण में अशक्त हो जायगी, उसी प्रकार मेरी भी है। 'यह (अर्थात् ब्रह्म) ऐकान्तेन अविषय नहीं है क्योंकि हमारे ज्ञान का विषय है' इसके द्वारा किसी प्रकार विषयत्व का भी अनुज्ञान होता है।

[अद्वैत का लक्षण—]

(पू) अद्वैत का लक्षण क्या है? (उ) तात्त्विकद्वैत से रहित सद्वस्तु अद्वैत है। (पू) द्वैत का तात्त्विकत्व विशेषण (स्वसिद्ध अर्थात् अद्वैतमतानुरोधेन उक्त है या परसिद्ध) यदि स्वसिद्ध है तो व्याघात है। क्योंकि निरुपाख्य (अर्थात् शब्द से अनिर्वाच्य) असद्वस्तु तात्त्विकद्वैतधर्म वाली नहीं हो सकती। और उस (अर्थात् तात्त्विकत्व) के सद् वस्तु के धर्म होने पर उसका (अर्थात् तात्त्विक द्वैत का) वैधुर्यकथन होने पर व्याघात हो जायगा।

(पू) यदि परसिद्ध हो (अर्थात् द्वैतवादी के मतानुसार तात्त्विकत्व विशेषण हो)? (उ) तो भी आत्मा के समान स्व एवं पर के साधारण होने पर वही दोष होगा। (पू) पर के मत में तात्त्विकरूप से सिद्ध होने के कारण भ्रान्तिसिद्ध ही तुम्हारा (अर्थात् अद्वैत

---

[1] (क) धर्मत्वा। [2] (क) परिसिद्धं, (ख) परसिद्धं।

अथ मायामयप्रपञ्चस्य वस्तुविघातकत्वाभावान्न व्याघातः? न; तत्र-तत्र विशिष्टस्य मिथ्यात्वोक्तिव्याघातात्। अथ सदवस्त्वद्वैतम्; न च सत एवाद्वैतत्वान्न लक्ष्यलक्षणविभागः; 'अनुभूतिः प्रमा' 'खं छिद्रम्' इतिवत्तदुपपत्तेः[1]; इति मतम्? न; सतः सामान्यत्वे व्यक्त्यस्वरूपत्वे च स्फुटभेदादद्वैतव्याघातात्।

कथञ्च द्वैतमतात्त्विकम्? यावता भवत्प्रमाणेन प्रत्यक्षान्तरेण वा इन्द्रियार्थसंयोगमात्रजन्यविधायकप्रत्यक्षा[दि]धर्मिग्रहणादिसहकार्यन्तरविशिष्टेन[2] घटपटादयो भावाः परस्परव्यावृत्तात्मानः प्रमीयन्ते। ननु—

"गृहीत्वा वस्तुसद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिताज्ञानं जायते[ऽक्षा[3]]नपेक्षया॥"

भावदीपिका

नोच्छेद इत्यङ्गीकारादित्यर्थः। द्वितीये मिथ्याद्वैतस्य सदद्वैताव्याघातकत्वात् सदद्वैतमिति विशेष्यमाशङ्क्य प्रत्याचष्टे—अथेत्यादिना। [विकल्पा]न्तरमाशङ्क्य निरस्यति—अथेत्यादिना।

परेण द्वैतस्य प्रमाणतस्तात्त्विकत्वाङ्गीकारान्न किमप्यद्वैतलक्षणं परं प्रति संगच्छते—इत्याह—कथञ्चेति। परस्पराश्रयतर्कोपहतत्वान्नोक्तप्रमाणादभेदसिद्धिरित्याक्षिपति—

ज्ञानवती

का) मत है? (उ) तथापि अद्वैताभिमत सद्वस्तु ब्रह्म में भ्रान्तिसिद्ध द्वैत के अङ्गीकार करने से तुम व्याघात से मुक्त नहीं हो पाते हो। और दूसरे के द्वारा इष्ट तात्त्विकविशेषणमात्र-वैधुर्य कहने पर स्वेष्ट प्रपञ्चविशिष्ट (अर्थात् तात्त्विकत्वाभाववत्त्वेन इष्ट प्रपञ्चविशिष्ट) के सद्वस्तु न होने से वही दोष है। इसलिये यह लक्षण विचारसह नहीं है।

(पू) मायामय प्रपञ्च के वस्तु के विघातक न होने से व्याघात नहीं है? (उ) स्थान-स्थान पर विशिष्ट के मिथ्यात्वोक्ति का व्याघात हो जायगा।
(पू) सत् ही अद्वैत है? (पू) सत् के ही अद्वैत होने से लक्ष्यलक्षणविभाग नहीं होगा? (उ) "अनुभूति प्रमा है" "आकाश छिद्र है" इसके समान उसकी उपपत्ति हो जायगी। (उ) सत् के सामान्य और व्यक्ति स्वरूप न होने पर स्पष्ट भेद होने से अद्वैत का व्याघात हो जाता है।

(पू) द्वैत अतात्त्विक कैसे है? (उ) क्योंकि आप (अर्थात् नैयायिक) के प्रमाण से या प्रत्यक्षान्तर से इन्द्रियार्थसंयोग मात्र से उत्पन्न होने वाले विधायक प्रत्यक्ष से धर्मि-ग्रहण आदि सहकार्यन्तरविशिष्ट के द्वारा घट पट आदि पदार्थ परस्पर व्यावृत्तात्मक प्रतीत होते हैं।

(पू) "वस्तु सद्भाव का ग्रहण करके और प्रतियोगी का स्मरण करके मानसिक नास्तिता का ज्ञान अक्ष (अर्थात् चक्षुरिन्द्रिय) की अनपेक्षा से होता है।"
इससे अभावप्रमाण धर्मी (अर्थात् अभावप्रतीति का आधार) एवं प्रतियोगी दोनों के ज्ञान की

---

[1] (ख) वदुपपत्ते। [2] (ख) ग्रहणात्। [3] (क) ह्यन।

इति धर्मिप्रतियोगिज्ञानसापेक्षत्वा[1]भिधानादभावप्रमाणस्य, धर्मिप्रतियोगिभावश्च नाविभागे वस्तुमात्रे, तस्य धर्मित्वे प्रतियोग्यभावः प्रतियोगित्वे च धर्म्यभाव इति 'नेदमिह' 'नायमयम्' इति विशेषनिषेधो न स्यात्। तस्मादसङ्कीर्णस्वभावौ भिन्नावेव धर्मिप्रतियोगिनौ प्रतिपद्य यथोक्तनिषेधः सिध्येत्। तथा चेतरेतराश्रयत्वम्—असङ्करपूर्वकमभावज्ञानं ततश्चासंकरसिद्धिरिति।

किञ्च योग्यानुपलब्धिरभावज्ञानकारणम्। सा चावस्तुत्वात्[2] न चक्षुरादिवदज्ञातैव बोधहेतुः, असमर्थत्वात्; अतोऽनुपपन्नतया बोधहेतुः। विषयव्यतिरिक्तज्ञानकारणे परिपूर्णे सति ज्ञानानुत्पादो विषयाभावादेव। एकतमज्ञानहेतुसत्वे[3] सत्यपि विषये ज्ञानानुत्पादसम्भवात् इत्यनुपपत्त्या, ज्ञानहेतुसत्वे[4] ज्ञातत्वमवश्यंभावि तस्याश्चोपलब्ध्यभावतया[5] धर्म्यादिज्ञानाधीनं ज्ञानमिति, स एव दोषः। सा चेद् वस्त्वन्तरज्ञानं नासिद्धे वस्तुभेदे सिद्ध्यति; अपरिणामोऽपि न स्तिमितावस्थैव; सर्वाप्रतिपत्तौ कस्यचिदभावस्य ज्ञातत्वासम्भवात्। तस्मात् सत्यपि वस्त्वन्तरज्ञानरूपपरिणामे विवक्षितज्ञानरूपपरिणामाभावोऽभावज्ञानहेतुः। न चैष विशेषः प्राग् वस्तुभेदबुद्धेः सिद्ध्यतीति। तदा चेतरेतराश्रयत्वम्। एवं प्रत्यक्षविशेषस्यापि धर्म्यादिज्ञानसापेक्षस्याभावपरिच्छेदकत्वात् भेदसिद्धिपूर्वकतैव दोषः।

भावदीपिका

नन्विति। प्रकारान्तरेण परस्परापेक्षणमापादयति—किञ्चेत्यादिना। किञ्चाऽनुपलब्धिर्वस्त्वन्तरज्ञानं वा, आत्मनो ज्ञानपरिणामरहितावस्था वा ? क्रमेण प्रत्याह—सा चेदिति। सर्वाप्रतिपत्तौ धर्म्यादिज्ञानस्याऽप्यभावान्नाभावमात्रं प्रमाणाभावो वा प्रमेयाभावो वा ज्ञातुं शक्यत इत्यर्थः।

ज्ञानवती

अपेक्षावाला, बताया गया है। धर्मी एवं प्रतियोगीभाव अविभक्त एक वस्तु में नहीं होते क्योंकि उस (अर्थात् वस्तु) के धर्मी होने पर प्रतियोगी का अभाव एवं प्रतियोगी होने पर धर्मी का अभाव होगा। अतः 'यह यहाँ नहीं है' या 'यह यह नहीं है' ऐसा विशेषनिषेध नहीं होगा। इसलिये भिन्नस्वभाव वाले एवं भिन्न धर्मी तथा प्रतियोगी को प्राप्त करके ही यथोक्तनिषेध होगा। इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जायगा अर्थात् भेदपूर्वक अभावज्ञान होगा। फिर उससे भेद की सिद्धि होगी।

इसके अतिरिक्त योग्य अनुपलब्धि अभावज्ञान का कारण है। और वह अवस्तु होने से चक्षु आदि के समान अज्ञात होती हुई बोध का हेतु नहीं है, क्योंकि असमर्थ है; इसलिये अनुपपन्न होकर बोध का हेतु होती हैं। विषय के अतिरिक्त जितने ज्ञान के कारण हैं उनके परिपूर्ण होने पर यदि ज्ञान की उत्पत्ति न हो तो (वह उत्पत्ति) विषय के अभाव से ही (नहीं होती) इसमें अनुपपत्ति यह है कि एकतम ज्ञान के हेतु के रहने पर भी विषय के न रहने पर ज्ञान की अनुत्पत्ति सम्भव है। ज्ञान के हेतु के रहने पर ज्ञातता अवश्यंभावी है

[1] (ख) त्वादभिधा। [2] (ख) च वस्तुत्वा। [3] (ख) हेतुत्व सत्त्वे।
[4] (क) ज्ञात। [5] (ख) भावः तथा।

अत्रोत्तरम्—प्रमाणाधीना वस्तुव्यवस्था, न वस्त्वधीना प्रमाणव्यवस्था; वस्तुन एव व्यवस्थापकत्वे प्रमाणान्वेषणवैफल्यप्रसङ्गादिति तावत् सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। प्रमाणञ्च किञ्चित् सत्तां प्रमेयस्य व्यवस्थापयति; यथा निर्विकल्पकं सविकल्पकयोनि[१]; पूर्वानुभवसंस्कारादि प्रत्यभिज्ञायोनि, (नैतावता[२]) प्रातिस्विकप्रामाण्यहानिः सविकल्पकादेः। नापीतरेतराश्रयम्; निर्विकल्पकादेः स्वार्थसिद्धौ स्वोत्पत्तौ वा सविकल्पकाद्यनपेक्षणात्। एवमभावज्ञानमपि चक्षुरादिजन्यं धर्मिग्रहणं संस्कार-

भावदीपिका

सोपस्कारं मीमांसकः समाधत्ते—अत्रोत्तरमिति। 'अयमयं न भवति', 'इदमिह

ज्ञानवती

और वह (अर्थात् अनुपलब्धि) उपलब्धि का अभाव रूप है इस कारण धर्मी (भूतले घटाभावः इस ज्ञान के प्रति भूतल) आदि के ज्ञान के अधीन (भूतलं घटाभाववत्) यह ज्ञान है। इस प्रकार वही (इतरेतराश्रय) दोष है। और यदि वह वस्त्वन्तर का ज्ञान है तो वह वस्तुभद के सिद्ध न होने पर सिद्ध नहीं हो सकती। अपरिणाम भी निश्चलावस्था ही नहीं है क्योंकि सवका अज्ञान होने पर किसी अभाव का ज्ञातत्व असम्भव है। इसलिये वस्त्वन्तरज्ञानरूप परिणाम होने पर भी विवक्षितज्ञानरूप परिणाम का अभाव, अभावज्ञान का हेतु है। और यह विशेष वस्तुभेदज्ञान के पहले सिद्ध नहीं होता और तव इतरेतराश्रयत्व आ जायेगा।

(उ) इस विषय में उत्तर है—प्रमाण के अधीन वस्तुव्यवस्था है न कि वस्तु के अधीन प्रमाणव्यवस्था। क्योंकि वस्तु के ही व्यवस्थापक होने पर प्रमाण का अन्वेषण विफल हो जायेगा यह सर्वतन्त्र सिद्धान्त है ?[३]
कोई भी प्रमाण प्रमेय की सत्ता की व्यवस्था करता है। जैसे निर्विकल्पक सविकल्पक का कारण है; पूर्वानुभव संस्कार आदि प्रत्यभिज्ञा के कारण हैं। इससे सविकल्पक आदि की व्यक्तिगत प्रामाण्यहानि नहीं है। इतरेतराश्रय भी नहीं है, क्योंकि निर्विकल्पक आदि स्वार्थ की सिद्धि में या अपनी उत्पत्ति में सविकल्पक आदि की अपेक्षा नहीं (रखते) इस प्रकार जो अभावज्ञान भी चक्षुरादिजन्य धर्मी के ज्ञान एवं संस्कार से उत्पन्न प्रतियोगी के

---

[१] (ख) यथानिर्विकल्पकं प्रत्यक्षं किञ्चिच्च तद्विशेषं यथा सविकल्पकप्रत्यक्षादि तत्र यथा निर्विकल्पकं सविकल्पकयोनि। [२] (क) न तावता। (ख) नैतावता।
[३] सिद्धान्त चार प्रकार का होता है—

सिद्धान्त
स्वतन्त्रसिद्धान्त, परतन्त्रसिद्धान्त, समानतन्त्रसिद्धान्त, सर्वतन्त्रसिद्धान्त

(१) जो स्वतन्त्र ही निश्चित होता है। (२) जो पराधीन होकर निश्चित होता है। (३) जो स्वतन्त्र एवं परतन्त्र दोनो रूप में निश्चित होता है। (४) सर्वतन्त्र सिद्धान्त को सभी लोग मानते हैं।

हेतुकं प्रतियोगिस्मरणं चापेक्ष्य यज्जायते न तदपेक्षम्, तदुभयमुत्पत्तावर्थपरिच्छेदे वा ततः कथमन्योऽन्यापेक्षणम् ?

अथ पूर्वं घटभूतलयोरसङ्कीर्णयोराधाराधेयत्वेन प्रतिपन्नयोरपेक्षणात्, अन्यथा विशेषनिषेधायोगात्, तथाच धर्मिप्रतियोगिभावस्यासङ्कीर्णतापरिच्छेदपूर्वकपरिच्छेदकत्वात्[1] भवत्येवासङ्कीर्णता परिच्छेदस्य, तत्पूर्वकत्वं परस्पराश्रयदोषः ? नैवम्; यथा खलु यूपाहवनीयादिपदेभ्यो वस्तुमात्रप्रतीतौ "यूपं तक्षति" इत्यादिबलात् दारुप्रतीतिः; ततोऽपि खादिरबैल्वादिविशेषपरिच्छेदो वचनान्तरात्, एवमव्युत्पन्नस्य प्रत्यक्षेण घटादिस्वरूपसिद्धौ भूतले घट इत्याप्तवाक्यादसङ्कीर्णत्वेनाधाराधेयत्वेन प्रत्ययः; कालान्तरे च तत्राभावप्रमाणेन प्रत्यक्षान्तरेण वा घटाभावप्रतीतौ कथमन्योऽन्यापेक्षणम् ? अपरथा किमद्वैतलक्षणम् ?—इति मम प्रश्ने श्रुत्यर्थानुसारेण त्वया तद्वक्तव्यम्। ततश्च श्रुत्यार्थप्रत्यय इत्यत्रापि तत्स्यात्। एवं 'अयं अयं न भवति' इति तादात्म्यनिषेधेपूत्प्रेक्षणीयम्। न च वाच्यम्—तादात्म्यं प्रमितं, न निषेधः

भावदीपिका

नाऽस्ति'—इत्यभावज्ञानस्याऽनेकत्वोल्लेखं विनाऽनुत्पादात् भवत्येवान्योन्यापेक्षा—इत्याह—अथेति। श्रौतदृष्टान्तेन प्रत्याह—नैवमिति। विपक्षे दण्डमाह—अपरथेति। उत्प्रेक्षाया असंभवमाशङ्क्याह—न च वाच्यमिति। किंपुनर्न्यायमाह—निषेधवेलायामिति। संक्षेपेण सिद्धान्तमाह—तर्हीति। भङ्गयन्तरम्=भङ्गः=बाधो यस्य तद् भंगि=अध्यस्तजातम्; तदन्तरमबाध्यमधिष्ठानमद्वैतमित्यर्थः।

ज्ञानवती

स्मरण की अपेक्षा करके उत्पन्न होता है, वह (धर्मी का ज्ञान आदि) अपनी उत्पत्ति या अर्थपरिच्छेद में उस (अभावज्ञान) की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये अन्योऽन्याश्रय कैसे है ?

(पू) पहले भिन्न-भिन्न घट एवं भूतल का आधाराधेयत्वेन ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा विशेषनिषेध (अर्थात् 'इह भूतले घटो नास्ति') नहीं हो पायेगा। इस प्रकार धर्मी एवं प्रतियोगिभाव के भेदज्ञानपूर्वक निर्णययुक्त होने से तथा भेदनिर्णय के तत् (धर्मी एवं प्रतियोगी ज्ञान) पूर्वक होने से परस्पराश्रय दोष होता ही है ?

(उ) ऐसा नहीं है। जैसे यूप, आहवनीय आदि पदों से वस्तुमात्र की प्रतीति होने पर "यूप का तक्षण करना चाहिये" इत्यादि के बल से दारु की प्रतीति होती है फिर वचनान्तर से खादिर, बैल्व आदि विशेष का निर्णय होता है इसी प्रकार अव्युत्पन्न (पुरुष) को प्रत्यक्ष रूप से घटादिस्वरूप की सिद्धि होने पर 'भूतले घटः' इस आप्तवाक्य से पृथक् रूप में आधाराधेय के रूप में ज्ञान होता है। फिर कालान्तर में अभावप्रमाण के द्वारा अथवा प्रत्यक्षान्तर से घटाभाव की प्रतीति होने पर अन्योन्याश्रय कैसे है ? अन्यथा 'अद्वैत का लक्षण क्या है ?' ऐसा मेरा प्रश्न होनें पर तुम श्रुति के अर्थ के अनुसार उसे कहोगे और फिर उस (अद्वैत) श्रुति से अर्थ का ज्ञान, इस प्रकार यहाँ भी वह (=अन्योन्याश्रय) हो जायगा। इसी प्रकार 'यह नहीं है' इस तादात्म्यनिषेध में भी समझ लेना चाहिये।

---

[1] (ख) परिच्छेदत्वात्। [2] (ख) अपरथाभेद।

प्रविशेत्; अप्रमितश्चेत्, अप्रसक्तप्रतिषेधो नार्थवान् इति ; यथा जगतः कार्यत्वात् सामान्येन कारणे सिद्धे प्रधानत्वादिकं प्रावादुकविशेषमत्यनुसारेण प्राप्तं प्रतिषिध्यते, तथा मुग्धतमादिमत्यनुसारेण घटादौ पटादित्वं प्रसक्तं प्रतिषेधास्पदम्। अपरथा कथं[2] भेदप्रपञ्चविलयद्वारेण च निरूपणं ब्रह्मण आहुराम्नाये, अभेदादेरनुत्थानात् ? प्रतिषेधवेलायां भूतले समारोपित एव चैत्रः प्रतिषिध्यते; विद्यमानस्य तदयोगात्। अतः क्वचित् प्रमितप्रतियोगिकाभावेऽपि यदैवं तदा किमु वक्तव्यं सर्वत्राप्रमितप्रतियोगिकात्यन्ताभावे ; समारोपितस्य प्रतिषेध इति तार्किकोद्गाराच्च । ततो बहुत्वात् सतां न सदद्वैतमित्यपि लक्ष्मेति तर्हि भङ्ग्यन्तरमुपास्यमद्वैतलक्षणार्थम् ?

अत्र समाधि :—"यस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति तदद्वैतम्" इति श्रौतं लक्षणम्। यथा खलु "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वाऽस्मिन् लोके जुहोति यजते तपस्तप्यते बहूनि वर्षसहस्राणि अन्तवदेवास्य तद् भवति[1]" इत्यस्मादक्षरज्ञानपूर्वकं कर्म कुर्वताऽनन्तं फलं भवति इति न विवक्षितम् ; अक्षरज्ञानस्य कर्मदाहकत्वात्; किन्तु प्राशस्त्यमेव; एवमत्रापि "उत तमादेशमप्राक्ष्यः[2]" इत्यादिना न

भावदीपिका

प्रपञ्चमाह—अत्र समाधिरिति। अन्यज्ञानादन्यज्ञानत्वस्याऽसंभवमाशङ्क्याह—यथाखल्विति। अप्राक्षीरिति अप्राक्ष्य इति श्रौतपदार्थकथनम्। अपरोक्षबाधावलम्बनेन लक्षणं

ज्ञानवती

(पू) (तादात्म्य प्रमित है या अप्रमित ?) यदि तादात्म्य प्रमित है तो निषेध का प्रवेश ही नहीं होगा ? और यदि अप्रमित है तो अप्रसक्तप्रतिषेध अर्थवान् होता नहीं। जैसे जगत् के कार्यरूप होने से कारण के सामान्यरूप से सिद्ध होने पर प्रावादुकविशेष के मतानुसार प्राप्त प्रधानत्व आदि का प्रतिषेध होता है, उसी प्रकार मुग्धतम आदि के मति के अनुसार घटादि में प्रसक्त पटत्व आदि प्रतिषेध का स्थल है। अन्यथा अभेद आदि का अनुत्थान होने से आम्नाय[3] में भेदप्रपञ्चविलय के द्वारा ब्रह्म का निरूपण कैसे कहा गया है— प्रतिषेध बेला में भूतल में समारोपित चैत्र का ही प्रतिषेध होता है क्योंकि विद्यमान का वैसा होना मुश्किल है। इसलिये यदि कहीं-कहीं प्रमित के प्रतियोगी का अभाव रहने पर ऐसा होता है तो सर्वत्र अप्रमित प्रतियोगी का अत्यन्ताभाव होने पर क्या कहना। तथा "समारोपित का प्रतिषेध होता है" यह तार्किकों का उद्गार भी है। इसलिये सत् के अनेक होने से 'सद् अद्वैत हैं' यह भी लक्षण नहीं है। तो अद्वैत के लक्षण के लिये भङ्ग्यन्तर की उपासना करनी चाहिये ?

(उ) इस विषय में समाधान है—"जिसके विज्ञात होने पर सब विज्ञात हो जाता है वह अद्वैत है" यह श्रुतिप्रतिपादित लक्षण है। जैसे कि "हे गार्गि ! जो इस अक्षर को

---

[1] तै० सं० २।२।५। [2] छा० ६।१।

[3] क्रान्तिदर्शी लोग इसकी प्रसिद्धि वेद के द्वारा कहते हैं। तथा भेदप्रपञ्च के विलय के द्वारा उसका निरूपण करते हैं। ब्र० सि०।

ब्रह्मज्ञानं कल्पकोटिभिरपि दुर्ज्ञेयप्रपञ्चविशेषज्ञानार्थम्, किन्तु "यस्मिन् विज्ञाते सर्वम्=जगद्; विज्ञातम्=दग्धम्=ज्ञातत्वोपलक्षितम्; ब्रह्मैव तद् भवति" इति विवक्षितम्, "ज्ञातं ब्रह्मैव प्रपञ्चदाहः" इति स्वीकारात्। अध्यस्तस्यात्यन्तिक-रूपानिरूपणादधिष्ठानमेव तदाकारेण दृढमिति तद्विज्ञाने दर्शितरूपान्तरैन्द्रजालिकवत् परमरूपेण तस्य विज्ञातत्वं वा भवतीति विवक्षितम्। उभयथाऽपि नासम्भवः, नाप्यतिव्याप्तिः; "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्युभयथाऽपि सम्भवात्। न च सर्वज्ञकल्पे वेदेऽपि विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति; तस्यापि कल्पनाकलेवरत्वात्। न च कल्पितविज्ञानमेव परमार्थविज्ञानम्।

एतेन काल्पनिकाः सामान्यधर्मा अपि व्याख्याताः; तदज्ञानेऽप्यर्थविशेषज्ञान-

भावदीपिका

सम्भाव्य परोक्षबाधावलम्बनेनाऽपि सम्भावयति—अध्यस्तस्येति। असम्भवाभावेऽप्यति-व्याप्तिः स्यात्? तत्राह—नापीति। उभयथाऽपि परोक्षापरोक्षबाधयोरसंभवाभावं सम्पाद्याऽति-व्याप्त्यभावं किमुतन्यायेन सम्पादयति—न च सर्वज्ञेति। वेदस्य नाम प्रपञ्चकदेशत्वात् तस्मिन् विज्ञाते सर्वं नामाऽपि विज्ञातं न भवति। दूरत एवार्थजातमिति भावः।

ननु "यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य" तदभिव्यक्तशब्दसामान्यस्य "न बाह्यान् शब्दान्"=विशेषरूपान्; "शक्नुयाद् ग्रहणाय"=ग्रहीतुम्; दुन्दुभेस्तु सामान्यशब्दस्य ग्रहणेन तदनतिरिक्तास्तत्र कल्पिता विशेषा गृहीता भवन्ति। दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दविशेषस्य च ग्रहणेन तदवान्तरः शब्दविशेषः तत्र कल्पितो गृहीतो भवति—इति श्रुतेः, शब्दसामान्ये ज्ञाते अर्थस्याऽपि तत्र कल्पितत्वात् सर्वं ज्ञातं भवतीति तत्रातिव्याप्तिः?—इत्याशङ्क्याह—एतेनेति। तेषामपि मृदादिसामान्यवत् कल्पितत्वान्न तज्ज्ञानात् परमार्थज्ञाततेत्यर्थः। किन्तु पारमार्थिकस्याप्यर्थस्य शब्दे कल्पितत्वाभावान्न तज्ज्ञातताऽपि शब्दविज्ञानाद् भवति—इत्याह—तदज्ञानेऽपीति। न चाऽऽगमपर्यालोचनया ब्रह्मव्यतिरिक्तं सर्वप्रपञ्चकल्पना-ऽधिष्ठानमस्ति, यत्राऽतिव्याप्तिराशङ्क्येताऽपि। तद्विज्ञानाच्च ब्रह्मज्ञातता वाच्या; ब्रह्मणश्च तत्र कल्पितत्वम्; तस्य च सत्त्वे "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः", "सदेव सोम्य", "सत्यं ज्ञानम्"—इत्यादिश्रुतिभ्यो ब्रह्मैव तदिति कथं तत्रैव तल्लक्षणस्याऽतिव्याप्तिः? असत्त्वेन तस्य सर्वा-नुस्यूतसामान्यरूपप्रमाणाभावेनाऽधिष्ठानत्वव्याघातादिति भावः।

नन्वत्र महाभूतसृष्ट्यादिकमेव प्रतिपाद्यते अन्यथा त्रिवृत्करणादिप्रतिपादनस्य वैय्य-र्थ्यान्न खलु अधिष्ठानतत्त्वविज्ञानेन समारोपितस्य पारमार्थिकरूपविज्ञानोपपादने त्रिवृत्करणादि-

ज्ञानवती

न जानकर इस लोक में कई हजार वर्षों तक हवन करता है, याग करता है, उसका वह अन्तवत् ही होता है", इससे अक्षरज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए अनन्त फल होता है यह नहीं विवक्षित है क्योंकि अक्षरज्ञान कर्म का दाहक है; किन्तु प्राशस्त्य (विवक्षित) है। इसी प्रकार यहाँ भी "क्या उस आदेश को पूछा" इत्यादि के द्वारा प्रपञ्चविशेष के ज्ञान के लिये ब्रह्मज्ञान कोटिकल्प में भी दुर्ज्ञेय है किन्तु जिसके ज्ञात होने पर सब जगत् विज्ञात (=दग्ध) हो जाता है वह ज्ञातत्वोपलक्षित ब्रह्म ही हो जाता है; यह विवक्षित है, क्योंकि

योगाच्च[1]। न च तत्त्वसमुदायस्य विभज्यैकदेशेन कथनमवयुत्यवादो यदेकात्म-तत्त्वकीर्तनम् यथा—"पुत्रे जाते वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्" इत्यस्य कपालसमुदायस्य "यदष्टाकपालो भवति" इति विभज्यैकदेशकथनम्, यतो यथा "यद्द्वादशकपालो भवति" इत्युपसंहारात् तदुपक्रमाच्च द्वादशकपाल एव विधेय इतरोऽर्थवादः, तथा उपक्रमोपसंहाराभ्यां सदेकात्मतत्त्वस्य विधेयत्वमवगम्यते। अतोऽत्र ईक्षण-

भावदीपिका

वर्णनोपयोगोऽस्ति। ततः कारणवस्तुनः प्रशंसामात्रमेकविज्ञानात् सर्वविज्ञानवर्णनम्। न च सृष्ट्यादिवर्णनस्य फलाऽभावः। यथा खलु इष्टादिकारिणां चन्द्रमण्डलारोहावरोहावुपाश्रित्य द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषास्वग्निध्यानात्मकपञ्चाऽग्निविद्याविधानम् "असौ वाव लोको गौतमाऽग्निः" इत्यादिकं विशिष्टलोकफलम्; तथा विशिष्टपुरुषनिर्मितमार्त्तण्डमण्डलादौ हिरण्मयाद्युपासनविधानं विशिष्टफलम्; गङ्गादितीर्थे इव माघस्नानादिविधानं सम्भवति फलं यतः—इत्यत आह—न च तत्त्वसमुदायस्येति। अत्र हि "सदेव सौम्येदमग्रे" इति सृष्टेः प्राक् सदेव जगतः तत्त्वभूतमुपक्रान्तं तस्यैव "अन्नेन सोम्य शुङ्गेनाऽपो मूलमन्विच्छ; अद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ; तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ। सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः" इत्यनुमानेन परमकारणतया व्यवस्थापनात्। "ऐतदात्म्यमिदं सर्वं; तत्सत्यम्; स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" इत्यावृत्त्योपसंहाराच्च सदेव वस्तुतात्पर्येण प्रतिपाद्यमवगम्यते। तद्विज्ञानस्य च "आचार्यवान् पुरुषो वेद, तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये"—इति फलसङ्कीर्त्तनात्, सृष्ट्यादिवर्णनस्य स्वातन्त्र्येण फलकल्पनाऽनुपपत्तेश्च; सर्वविज्ञानप्रयोजकैकविज्ञानस्यैव च मोक्षफलज्ञानत्वात् "तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय"—इति सत एकस्यैकनिमित्तोपादानत्वाभिध्योपदेशात्तस्य सर्वत्र निर्वाहार्थं त्रिवृत्करणादि-

ज्ञानवती

ज्ञातब्रह्म ही प्रपञ्च का दाह है यह स्वीकार किया गया है। अथवा अध्यस्त के आत्यन्तिक रूप का निरूपण न होने से अधिष्ठान ही उस (अर्थात् अध्यस्त) के आकार के रूप में दृढ है, इस लिये उस (अर्थात् अधिष्ठान) का विज्ञान होने पर रूपान्तर दिखाने वाले ऐन्द्रजालिक के समान परमरूप में वह विज्ञात होता है, यह विवक्षित है। दोनों प्रकार से न तो असम्भव (दोष) है और न अतिव्याप्ति। "वाणी का आरम्भण, विकार, नामधेय है, मृत्तिका ही सत्य है" एसा दोनों प्रकार से सम्भव है। सर्वज्ञकल्प वेद के भी विज्ञात हो जाने पर सब विज्ञात हो जाता है, ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह भी कल्पनाकलेवर है। और कल्पित विज्ञान ही परमार्थविज्ञान नहीं होता।

इससे काल्पनिक सामान्यधर्म भी व्याख्यात हो गये। क्योंकि उनका ज्ञान न होने पर भी अर्थविशेष का ज्ञान हो जाता है। (पू) एकात्मतत्त्व का कीर्त्तन, तत्त्वसमुदाय का विभक्त करके एकदेश रूप में कथन अर्थात् अवयुत्यवाद हो जायेगा। जैसे कि "पुत्र के उत्पन्न होने पर वैश्वानर देवता वाले द्वादशकपाल का निर्वाप करना चाहिये" यहाँ कपाल-समुदाय का "जो अष्टाकपाल होता है" इस प्रकार विभक्त करके कथन है। (उ) ऐसा

[1] (ख) तज्ज्ञानेऽपि।

पूर्वकस्रष्टृत्वादिप्रपञ्चवाद एवार्थवादः। तथा च बृहतेर्धातोरर्थानुगमात् सर्वतोऽसङ्कुचितबृहत्वसम्पन्नं मीमांस्यत्वेनोपक्षिप्तं ब्रह्मैवाद्वैतपदार्थः सम्पत्स्यते विषयो वेदान्तानाम्। न च प्रत्यक्षेणाद्वैते गृहीते तत्पादोपजीविना लिङ्गादिना सदर्थग्राहकेणापि शक्यपरिच्छेदं द्वैतं, किं पुनर्वस्त्वसत्ताबोधकेन षष्ठप्रमाणेन; तथाहि—

"भावांशेनैव संयोगो योग्यत्वादिन्द्रियस्य हि।"

भावदीपिका

वर्णनाच्च। साम्प्रतं मृदादीनां मिश्रितानां कार्यदर्शनात् पूर्वं मिश्रणाऽनुमानात् तत्कर्तुः सतोऽन्यत्वे सद्विज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाऽनुपपत्तेश्च सत एव प्रतिपाद्यत्वे सति सृष्ट्यादिवर्णनस्य तदर्थार्थवादत्वमिति भावः। न च यथोक्ताद्वैतस्य वेदान्तविषयत्वे ब्रह्मजिज्ञासेति ब्रह्मविषयत्वविरोधः शङ्कनीयः—इत्याह—तथा चेति। [सद्]ब्रह्मणोर्भेदाभावादित्यभिप्रायः।

एवमद्वैतलक्षणस्य श्रुत्या परिशोधितस्य तर्कतः परिशोधनमारभ्यते :—तत्र द्वैतस्याभावादिप्रमाणसिद्धत्वेन समारोपासिद्धेर्नैकाधिष्ठानविज्ञानात् सर्वविज्ञानसम्भवः ?—इत्याशङ्कायामाह—न च प्रत्यक्षेणेति। द्वैतं ह्यन्योन्याभावात्मकमभावप्रमाणविषयः; स च वस्तुनोऽन्यो वा स्यादनन्यो वा ? तत्र प्रत्यक्षभेदपक्षे [प्रत्यक्षं]वस्त्वेव गृह्णाति किम् ? किं वा अभावप्रमाणसहकृतं तत्तद्-विशिष्टं वस्तु परिच्छिनत्ति ? द्वितीयेऽनिष्टः प्रमाणसम्प्लवः; सम्भूयकारित्वं वा प्रसज्येत। आद्ये—प्रत्यक्षस्याऽद्वैतग्राहकत्वात् तद्विरोधेनाऽभावस्य दुर्बलस्य द्वैतेऽप्रामाण्यम्—तदाह—किं पुनरिति। इदानीं परोक्त्यैव प्रत्यक्षस्याऽनुस्यूतविषयत्वसम्पादनेन व्यावृत्तिविषयाऽभावप्रमाणबाधकत्वमभिसन्धायाह—तथाहीति। सामान्यविशेषयोर्भेदाभेदवादिभिरभेदस्याऽभ्युपगमात् प्रत्यक्षस्याऽभावांशाऽग्राहकत्वे सिद्धमभेदग्राहकत्वं व्यावृत्त्याऽत्मकभेदस्यदुर्बलेनाऽभावप्रमाणेन व्यवस्थापयितुमशक्यत्वाच्चाद्वैतमेव विजयत इति भावः।

ज्ञानवती

नहीं है क्योंकि जैसे—"जो द्वादशकपाल होता है" ऐसा उपसंहार होने से और उस (अर्थात् द्वादशकपाल) के उपक्रम के होने से द्वादशकपाल ही विधेय है, शेष अर्थवाद हैं, उसी प्रकार उपक्रम एवं उपसंहार के द्वारा सद् एकात्मतत्त्व का विधेयत्व ज्ञात होता है। इसलिये यहाँ ईक्षणपूर्वक स्रष्टृत्व आदि प्रपञ्चवाद ही अर्थवाद हैं, इस प्रकार वेदान्तों का विषय बृह धातु का अर्थानुगमन करने से सर्वतः असंकुचित्, बृहत्त्वसम्पन्न मीमांस्यत्वेन उपलक्षित ब्रह्म ही अद्वैतपदार्थ ज्ञात होता है।

(पू) प्रत्यक्षरूप से अद्वैत का ग्रहण होने पर तत्पादोपजीवी सदर्थग्राहक अनुमान आदि के द्वारा भी द्वैत का निर्णय सम्भव है फिर वस्तु का अभावबोधक षष्ठप्रमाण व्यर्थ है। कहा है—"योग्य होने के कारण इन्द्रिय का भावांश से ही संयोग होता है।" ऐसा कहने से वहाँ भावांश शब्द से सामान्य अथवा धर्मी वस्तु ली जाती है। और केवल अद्वैत पदार्थ उससे (अर्थात् भावांश से) भिन्न नहीं है। क्योंकि दोनों प्रकार से प्रत्यक्षत्व कहा जाता है।

"मुद्ग, माष, तिल आदि में जहाँ उनके परस्पर मिल जाने से भेद का ज्ञान नहीं होता वहाँ एकबुद्धिग्राह्य जाति इन्द्रिय का विषय होती है।"

इत्युक्तत्वात्तत्र भावांशब्देन सामान्यं वा धर्मि वस्तु वा ; केवलमद्वैतपदार्थश्च ततो नो भिन्नः। उभयथाऽपि प्रत्यक्षत्वोक्तेः—

"मुद्गमाषतिलादौ च यत्र भेदो न गृह्यते।
तत्रैकबुद्धिनिर्ग्राह्या जातिरिन्द्रियगोचरः ॥[1]
आराद् दृष्टे च पुरुषे सन्देहो ब्राह्मणादिषु।
न स्याद्यतो[2] न गृह्येत सामान्यं चक्षुरादिना ॥[3]
आविर्भावतिरोभावधर्मकेष्वनुयायि यत्।
तद्धर्मि यत्र वा ज्ञानं प्राग्धर्मग्रहणाद्भवेत् ॥"[4]

इति; तदयुक्तम् ; प्रतिद्रव्यं भिन्नरूपोपलम्भात् इति ।

[निर्विकल्पकस्य सामान्यविशेषोभयग्राहकत्वम्—]

सामान्यविषयत्वमध्यक्षस्य भट्टपादैः प्रतिषिद्धमपि इति चेत्? मैवम्; तत्रैव –

"निर्विकल्पकबोधेऽपि द्व्यात्मकस्यापि वस्तुनः।
ग्रहणं लक्षणाख्येयं ज्ञात्रा शुद्धं तु गृह्यते ॥"[5]

इत्युभयग्रहस्योक्तत्वात् निर्विकल्पकस्य सामान्यमात्रग्रहणेनैव चरितार्थत्वमित्यस्यैव पक्षस्य निषिद्धत्वावगमात्। लक्षणाख्येयं इति सविकल्पे द्वयोः प्रतिभासानुपपत्त्या

भावदीपिका

भावांशनिर्वचनद्वारेणैतदाविष्करोति—तत्रेति । अथ 'सुरभि चन्दनम्' इतिवदनेकप्रमाणविषयो भिन्नाभिन्नवस्तु प्रत्यक्षप्रमेयत्वेन व्यवस्थाप्यम्; अथवा तदीयवचनान्तरस्य प्रघट्टकानुसारेणार्थो वाच्यः—इत्याशयेन शङ्कामाह—तदयुक्तमिति ।

[निर्विकल्पकस्य सामान्यविशेषोभयग्राहकत्वम्—]

सामान्यात्मना भिन्नरूपोपलम्बनमभ्युपगमविरुद्धं विशेषाणाञ्च सामान्यभिन्नानाँ न भिन्नरूपसम्भवः; विशेषभेदे च सामान्यभेदप्रसंगान्न भिन्नरूपोपलम्भनोक्तिर्युक्ता—इत्याह—

ज्ञानवती

"दूर से देखे गये पुरुष में ब्राह्मण आदि विषयक सन्देह नहीं होता क्योंकि उस समय सामान्य चक्षु आदि के द्वारा गृहीत नहीं होता।"

"जो आविर्भाव एवं तिरोभाव धर्मवालों में अनुयायी है वह धर्मी है या जहाँ धर्म—ज्ञान के पहले ज्ञान हो वह धर्मी है।"

(उ) यह ठीक नहीं है। क्योंकि हरएक द्रव्य के साथ भिन्न रूप मिलता है।

[निर्विकल्पक सामान्यविशेष दोनों का ग्राहक है—]

(पू) भट्टपाद ने प्रत्यक्ष के सामान्यविषयत्व का प्रतिषेध किया है।

(उ) ऐसा उचित नहीं है। वहीं—

"द्व्यात्मक (अर्थात् सामान्य धर्मी-विशेष-धर्मात्मक) भी वस्तु का निर्विकल्पक बोध होने पर भी ज्ञान, लक्षणा के द्वारा आख्येय है। ज्ञाता तो शुद्ध का ज्ञान करता है।"

---

[1] श्लो० वा० १।५।२४। [2] (ख) स्याद्यतो। [3] श्लो० वा० ५।२५। [4] श्लो० वा० ४।१५२। [5] श्लो० वा० १।४।११८।

गम्यं निर्विकल्पके द्व्यात्मकग्रहणम्। तदाह—

"तत्रार्थापत्तितः पूर्वदृष्टोऽयमिति गम्यते।
नैव हि प्रागदृष्टेऽर्थे प्रत्यभिज्ञानसम्भवः॥" इति।

तथा—

"सर्ववस्तुषु बुद्धिश्च व्यावृत्त्यनुगमात्मिका।
जायते, द्व्यात्मकत्वेन विना सा च न सिद्ध्यति॥
स्थितं नैव हि जात्यादेः परत्वं व्यक्तितो हि नः।
यदि ह्येकान्तो भिन्नं विशेष्यात्स्यात् विशेषणम्॥
स्वानुरूपां तदा बुद्धिं विशेष्ये जनयेत् कथम्॥[1]" इति।

भावदीपिका

नैवमिति। निर्विकल्पेनोभयग्रहस्वीकारात्ततः प्राक् प्रमाणान्तरव्यापाराद्यभावान्न सुरभिचन्दनन्यायावकाशोऽपि—इति मत्वाऽऽह—तत्रैवेति। यदाऽपि द्व्यात्मकं वस्तु प्रत्यक्षगोचरस्तदापि भेदांशस्य ज्ञानं धर्म्यादिज्ञानपूर्वकमित्यभेदज्ञाने प्रत्यक्षतः स्थिते तेन वाऽन्येन वा न भेदप्रमा; उपजीव्यविरोधात्। तदेतत् परोक्तिपुरस्कारेणैवाऽऽह—तथा सर्ववस्तुष्विति। ननु सदसतोरिव विरुद्धात्मकयोरभेदासम्भवाज्जातिव्यक्तयोर्भेद एव; ततः कथं सर्वं वस्तु द्व्यात्मकं प्रतिज्ञायते अनुवृत्तबुद्धेश्चात्यन्तभिन्नसामान्योपरागेणाऽपि वस्तुनि संभवात्?—इत्यत आह—स्थितं नैव हीति। 'खण्डो गौः'—इत्यादिसामानाधिकरण्याऽवभासस्याऽत्यन्तभेदेऽश्वमहिषादिवदसंभवादिति भावः।

ज्ञानवती

इस प्रकार दोनों ज्ञान के उक्त होने से निर्विकल्पक की चरितार्थता सामान्यमात्र के ग्रहण से ही हो जाती है; इसी पक्ष का निषेध ज्ञात होता है। लक्षणाख्येय का मतलब है कि सविकल्पक में दोनों के प्रतिभास की अनुपपत्ति होने से निर्विकल्पक में द्व्यात्मक ग्रहण गम्य है। वही कहा है—

"यह पूर्वदृष्ट है यह बात अर्थापत्ति से जानी जाती है। क्योंकि पहले न देखे गये अर्थ में प्रत्यभिज्ञान सम्भव नहीं है।"

तथा—

"सब वस्तुओं में व्यावृत्त्यनुगमात्मिका बुद्धि उत्पन्न होती है (व्यावृत्त्यनुगमात्मिका का मतलब है सामान्य विशेषात्मिका। व्यावृत्ति=विशेष, अनुवृत्ति=सामान्य) और वह द्व्यात्मकत्व के बिना नहीं सिद्ध होती।" "हम लोगों के मत में जाति आदि व्यक्ति से पर (अर्थात् पृथक्) नहीं है।"

"यदि विशेष्य से विशेषण एकान्ततः भिन्न होता तो वह विशेष्य में स्वानुरूप बुद्धि को कैसे उत्पन्न करता?"

इस प्रकार सामान्य एवं विशेष के अभेदकथन से एक के ग्रहण से दोनों का ग्रहण अभिमत है। जैसे भावांशग्राहक (अर्थात् धर्मधर्मी का ग्राहक) प्रत्यक्ष, घट का प्रत्यक्ष कराता हुआ

[1] श्लो० वा० आकृतिवाद ५।

सामान्यविशेषयोरभेदाभिधानादेकतरग्रहणेनोभयग्रहणमभिमतम् । यथा च भावांशग्राहकं प्रत्यक्षं घटं गोचरयत् भावांशभिन्नं पटाद्यात्मकमपि गोचरयति इति षष्ठप्रमाणं तद्विरोधेन[१] घटपटयोर्व्यवच्छेदं गोचरयेत्, यथा चाभिज्ञातताया: परिच्छेदाभावेऽपि प्रत्यभिज्ञायां स्फुरणम्, तथा निर्विकल्पके विशेषांशस्फुरणाभावेऽपि सविकल्पके स्फुरणोपपत्तेरभेदावगाह्येव निर्विकल्पकमवसीयते। यदि च निर्विकल्पके संज्ञोल्लेखवैकल्यम्, तदा सविकल्पकानुभवान्तरजन्यसंस्कारहेतुकतत्स्मरणव्यवधानेन जायमानं सविकल्पकं धूमदर्शनव्याप्तिस्मृतिभ्यामिवानुमानं व्यवहितं कुतः प्रत्यभिज्ञा नाम लभेत ? निर्विकल्पकार्थे संज्ञोल्लेखे च न सविकल्पकान्निर्विकल्पकं भिद्येत। यदि च निर्विकल्पकेऽप्यन्योन्याभावरूपो भेदः सिद्ध्यति तदा किमु वक्तव्यं सविकल्पक इति ?

"वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रिता।"

इति वस्त्वसङ्करसिद्ध्यर्थं[अ]भावप्रमाणाभ्युपगमो व्यर्थः।

भावदीपिका

उभयग्राहकत्वगमकाऽर्थापत्तिरप्यन्यथाऽप्युपपत्तिदोषग्रस्ता—इत्यभिप्रेत्याऽऽह—यथा चेति। सविकल्पकं प्रमाणमभ्युपगच्छता तस्य निर्विकल्पकाज्ञानविषयत्वं वक्तव्यम्; प्रत्यभिज्ञायाश्चाभिज्ञागोचरमात्रविषयत्वे भावानां तद्बलेन स्थायित्वसमर्थनानुत्थानान्न समानविषयप्रमाणोदाहरणम्। नचाविकल्पकसविकल्पकयोर्धारावाहिज्ञानतुल्यत्वम्; दृढादृढसंप्रयोगजन्यत्वेनातुल्यसामग्रीकत्वात्; अस्पष्टबोधकत्वानुभवाच्च निर्विकल्पकस्य साजात्यानुपपत्तौ धाराऽनुपपत्तेरिति भावः। किञ्च निर्विकल्पकं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धोल्लेखविकलं स्वीक्रियते किं यथाऽऽहुर्न्यायवादिनः, तद्युक्तं, वा ? क्रमेण दूषणमाह—यदि चेत्यादिना। द्वितीये दूषणान्तरमाह—यदि चेति। निर्विकल्पके विस्पष्टभेदस्फुरणे तज्जन्यसविकल्पके प्रत्यभिज्ञाऽऽत्मके सुतरां तस्य स्फुरणसंभवात् तदर्थाभावस्वीकारो विफल इत्यर्थः। एवं वस्तुनो भिन्नस्याऽन्योन्याऽभावात्मकभेदस्य प्रत्यक्षेण ग्रहणासंभवात्तेन च केवले तद्रहिते वस्तुनि गृहीते न दुर्बलेनाभावप्रमाणेनाऽस्य ग्रहणं सम्भवतीत्युक्तम्।

ज्ञानवती

भावांश से भिन्न पटाद्यात्मक वस्तु को भी विषय बनाता है इसलिये छठाँ प्रमाण उसके विरोध में घट एवं घट के व्यवच्छेद को बतायेगा। और जैसे अभिज्ञातता के परिच्छेद के अभाव में भी प्रत्यभिज्ञा होने पर स्फुरण होता है, उसी प्रकार निर्विकल्प में विशेषांश का स्फुरण न होने पर भी सविकलपक में स्फुरण होने से निर्विकल्पक अभेदावगाही ही निश्चित होता है। यदि निर्विकल्पक में संज्ञा का उल्लेख नहीं है तो सविकल्पकानुभवान्तरजन्यसंस्कारहेतु वाले उसके स्मरण के व्यवधान से जायमान सविकल्पक, धूमदर्शन की व्याप्ति एवं स्मृति से व्यवहित अनुमान के समान, प्रत्यभिज्ञा नाम क्यों नहीं प्राप्त करेगा। और निर्विकल्पक अर्थ में संज्ञा का उल्लेख होने पर निर्विकल्पक सविकल्पक से भिन्न नहीं होगा। यदि निर्विकल्पक में अन्योन्याभावरूप भेद सिद्ध हो जाता है तो सविकल्पक में क्या कहना।

१ (क) तद्विरुद्धेन।

अन्योन्याभावोऽप्यन्योन्यस्वरूपम्, तद्धर्मो वा ? आद्ये परस्पराभावाऽऽत्मान एव सर्वे भावा इत्यभाव एव जगतस्तत्त्वं स्यात्। भावानामेवाभावमात्मन्यन्तर्भाव्याऽवशेषे चान्योन्याभावात्मकद्वैताभावादद्वैतमेव भङ्ग्यन्तरेणोक्तं स्यात्। धर्मोऽप्येक एव सर्वत्र, प्रतिभावं वा पृथक् ? उभयथाऽप्यभावप्रमाणवादिनः प्रत्यक्षागोचरत्वाद्-द्वैतमेव प्रत्यक्षगोचरः स्यात्।[1] तद्विरोधे च नाभावप्रमाणाद् दुर्वलाद्[2] भेदः; चिदात्मनश्च स्वप्रकाशत्वस्य वक्ष्यमाणत्वात्। अतस्तस्य सजातीयप्रतियोगिको वा विजातीयप्रतियोगिको वा नान्योन्याभावः[3] शक्यपरिच्छेदः; 'अयमयन्न भवति' इतिधर्मिप्रतियोगिनोरेकज्ञानपरिच्छेद्यत्वस्यासम्भवात्, इतरेतराभावस्यापि स्वभावत्वे चैतन्यानतिरेकः प्रमाणाविषयत्वञ्च[4] स्यात् चितश्चोपलब्धिस्वभावायाः योग्यानुपलब्ध्यसम्भवात्। योग्यता हि (विषया[5])तिरिक्तक्लृप्तोपलब्धिकारणानि। चितश्चोपलब्ध्यगोचरत्वान्न तत्कारणसम्भवः। ततो नेतरेतराभावरूपं द्वैतं तात्त्विकम्। विगीतो न वास्तवः, अन्योन्याभावत्वात्; एकस्यैव वर्णस्य ह्रस्वत्वदीर्घत्वाभ्यां प्रतिभासमानान्योन्याभाववत्।

भावदीपिका

इदानीमनन्यत्वपक्षे दूषणं वक्तुं विकल्पयति—अन्योन्याभावोऽपीति। स किमनन्य एव स्वरूपवत्, जात्यादिधर्मवत् अन्यानन्यो वा ?—इति विकल्पार्थः। आक्षेप्यभावपरिशेषो वा वस्तुपरिशेषो वेति विकल्प्य दोषमाह—आद्य इति। चिदात्मनो विशेषतस्तदभावमाह—चिदात्मनश्चेति। अभावप्रमाणमङ्गीकृत्य तस्य ग्राहकत्वाभाव उक्तः। इदानीं सामग्रचनिरूपणात् तदपि न संभवति—इत्याह—चितश्चेति। न केवलं ग्राहकाभावादन्योन्याभावात्मकभेदस्याऽवास्तवत्वं, अवास्तवत्वसाधकादपि—इत्याह—विगीत इति। न चौपाधिकत्वमुपाधिः; निरुपाधिकभ्रमगोचरेषु रज्जुभुजंगादिषु साध्याव्याप्तेः। न च तेऽपि रज्ज्वादिपरिणामतया वास्तवा एवेति न तत्र साध्यवृत्तिः; परिणामत्वे कटकमुकुटादेरिव कस्यचिद् दृश्यत्वज्ञानमात्रोच्छेद्यत्वानुपपत्तेरिति भावः। न चात्माऽन्योन्याभावेऽनैकान्तस्तस्य प्रामाणिकत्वेन वास्तवत्वादिति

ज्ञानवती

"वस्तुओं के भेद की सिद्धि उसके (अर्थात् भेदज्ञान के) प्रामाण्य के आधीन है।" इसके कारण वस्तु के भेद की सिद्धि के लिये अभावप्रमाण का मानना व्यर्थ है।

अन्योन्याभाव भी अन्योन्य स्वरूप है या उस (=अन्योन्य) का धर्म है ? (अर्थात् घट में पट का भेद घटस्वरूप है या घट का धर्म है ?) पहले (पक्ष) में सभी भाव अन्योन्याभावात्मक हैं इसलिये अभाव ही संसार का तत्त्व होने लगेगा। अभावात्मा में अन्तर्भावित करके भावों के अवशेष होने पर अन्योन्याभावात्मक द्वैताभाव से भङ्ग्यन्तर के द्वारा अद्वैत ही उक्त हो जायगा। धर्म भी सर्वत्र एक ही है या प्रतिभाव पृथक ? दोनों ही प्रकार से अभावप्रमाणवादी के प्रत्यक्ष का विषय न वनने से अद्वैत ही प्रत्यक्ष का विषय हो जायगा। और उसका विरोध होने पर दुर्वल अभावप्रमाण से भेद (सिद्ध) नहीं होगा। चिदात्मा का स्वप्रकाशत्व आगे चलकर कहेंगे। इसलिये अन्योन्याभाव उस (=चैतन्य) का सजातीय प्रतियोगिक है या विजातीय प्रतियोगिक है यह निर्णय नहीं हो सकेगा। क्योंकि 'यह

[1] (ख) प्रत्यक्षागोचर। [2] (ख) प्रमाण दुर्वलात्। [3] (ख) वा अन्योऽन्या। [4] (क) प्रमाणविषयत्वं। [5] (क) विषयतातिरिक्त।

एतेन आत्मा आत्मप्रतियोगिकान्योन्याभाववान्, द्रव्यत्वात्, पटवत्, इत्यपास्तम्; प्रातिभासिकस्य सिद्धत्वात् वास्तवत्वे च दृष्टान्ताभावात्। न चान्योन्याभावस्यावास्तवत्वे चेतनाचेतनयोर्वास्तवतादात्म्यं प्रसज्येत; चन्द्रे कल्पितप्रादेशिकत्ववस्तुसत्परिमाणयोरवास्तवान्योन्याभावेऽपि वास्तवतादात्म्याभावात्; कल्पितवस्तुसतोर्धर्मस्य भावितनष्टपुत्रालिङ्गनवत् वास्तवत्वायोगाच्च।

[अचेतनवर्गस्य कल्पनामयत्वम्—]

अथ कथमचेतनवर्गस्य कल्पनामयत्वम्? "अतोऽन्यदार्तम्"[1] अतः=

भावदीपिका

वाच्यम्–इत्याह–एतेनेति। आभासाद् वास्तवत्वासिद्धेर्नानैकान्तिकत्वमिति भावः। अथवा तस्यापि पक्षत्वान्नानैकान्तिकता। एतेनेति तु भागे धर्मिग्राहकबाधव्युदासार्थम्। तथाऽपि प्रतिकूलतर्कपराहतमनुमानम्—इत्याशङ्क्याह—न चेति। अन्योन्याभाववदचेतनस्याऽपि कल्पितत्वाभ्युपगमान्न दोष इत्यर्थः। एवं व्याप्त्यभावात् प्रशिथिलमूलोऽयं तर्काभास इत्युक्तम्। इदानीमापाद्यस्य वास्तवतादात्म्यस्याऽसिद्ध्याभासः—इत्याह—कल्पितेति।

[अचेतनवर्गस्य कल्पनामयत्वम्—]

नन्वचेतनस्य कल्पितत्वे सति स्यादुक्तं दोषद्वयं, तदेव कुतः प्रमाणात्? इत्याह—अथेति। न च 'अयमार्त्तरवः' इत्यादिवदार्तत्वव्यपदेशो दुःस्थतामात्रपरः। उषस्तचाक्रायणेन

ज्ञानवती

यह नहीं है' ऐसा धर्मी एवं प्रतियोगी का एकज्ञानपरिच्छेद्यत्व असम्भव होने से अन्योन्याभाव—रूप होने से (वह) चैतन्य से अनतिरिक्त (=अभिन्न) और प्रमाण का विषय होने लगेगा। और चित् के उपलब्धिस्वभाववाला होने के कारण योग्यानुपलब्धि असंभव है। जो विषय से अतिरिक्त होते हुए क्लृप्तउपलब्धि के कारण हैं वही योग्यता है। चित् के उपलब्धि का विषय न होने से उसका कारण सम्भव नहीं है। इसलिये अन्योन्याभावरूप द्वैत तात्त्विक नहीं है। एक ही वर्ण के ह्रस्वत्व, दीर्घत्व के द्वारा प्रतिभासमान अन्योन्याभाव के समान अन्योन्याभाव होने से (सत् का) विगीत (=भेद) वास्तविक नहीं है।

इससे आत्मा, आत्मप्रतियोगिकअन्योन्याभोव वाला है, क्योंकि द्रव्य है, पट के समान यह अनुमान अपास्त हो गया। क्योंकि प्रोंतिमासिक के सिद्ध होने[2] से (सिद्धसाधन दोष है और) वास्तवत्व में कोई दृष्टान्त नहीं है। (पू) अन्योऽन्याभाव के अवास्तविक होने पर चेतन एवं अचेतन में वास्तविक तादात्म्य हो जायगा? (उ) चन्द्र में कल्पितप्रादेशिकत्व एवं वस्तु सत् परिमाण में अवास्तव अन्योन्याभाव होने पर भी वास्तव तादातमय का अभाव है तथा कल्पित एवं वस्तुसत् के धर्म की भावित एवं नष्ट पुत्र के आलिङ्गन के समान वास्तविकता भी नहीं है।

[अचेतनवर्ग कल्पनामय है—]

(पू) अचेतनवर्ग कल्पनामय कैसे है? (उ) "अतोऽन्यदार्त्तम्' = इससे = चेतन आत्मा

---

[1] बृ० ३।४।२।

[2] ब्रह्म से जीव का भेद माध्वमत में पारमार्थिक है, अद्वैत मत में औपाधिक है। नैयायिक एवं सांख्य भी पारमार्थिक मानते हैं।

चेतनादात्मनः; अन्यत् = अचेतनजातम्; आर्त्तम् = अनृतम्, ऋतम् = सत्यं न भवति, इति साक्षादाम्नायात्। "इदं सर्वं यदयमात्मा"[1] इत्यनात्मवर्गस्या-

भावदीपिका

"यत् साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व" इति पृष्टेन याज्ञवल्क्येन "यः प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः" इत्यादिना पारोक्ष्येण निरूपिते "यथाऽयं गौरसावश्व इति साक्षादपरोक्षत्वेन ब्रूहि" इति पुनः पृष्टेन "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्यादिना गवादिवदा-परोक्ष्यायोग्योऽयं न तथा दर्शयितुं शक्यः। स्वयंप्रकाशः "एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतो-ऽन्यदार्त्तम्" इति वदता अनात्मवर्गस्य स्वावभासनाय प्रमाणान्तरापेक्षलक्षणदुःस्थत्वस्य द्योतनादितिवचनीयम्; [उत्तर] ब्राह्मणे हि कहोलेनाप्येवमेव पृष्टे "योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति एतं वै तमात्मानं विदित्वा ब्राह्मणाः पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाऽथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" इति तद्विज्ञानाय सर्वत्यागपूर्वकं "तस्माद् ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य" इत्यादिना श्रवणादि विधाय "अतोऽन्यदार्त्तम्" इत्युपसंहाराज्ज्ञाननिवर्त्यत्वं लक्षणार्थत्वाऽवगमात् "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतोऽतोऽन्यदार्त्तम्" इत्यमृतत्वविरुद्धार्त्तत्वस्य= मृतत्वस्य; विद्यमानाऽनात्मवर्गे विरोधान्मिथ्यात्वेनाऽवधारणाच्च। तदेतदृचाऽभ्युक्तम्—"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्द्धते नो कनीयान्। तस्यैवं स्यात् पदवित्तं विदित्वा न लिप्यते कर्मणा पापकेन। तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽत्मन्ये-वात्मानं पश्यति"—इति सोपस्कारं ज्ञानमुपदिश्य "सर्वमात्मानं पश्यति" इति सर्वस्याऽऽत्मता-वन्मात्रत्वेन दर्शननिरूपणाच्चाऽनात्मवर्गस्य मिथ्यात्वमवधार्यते।

न चात्र सर्वशब्देनाऽऽत्मैव कृत्स्नोऽभिधीयते न विजातीयं जगन्मात्रपरिशेषमिति वाच्यम्; "नैनं पाप्मा तरति; सर्वं पाप्मा तरति; नैनं पाप्मा तपति; सर्वं पाप्मा तपति" इति सजातीयपरसर्वशब्दयोरनन्तरमेव दर्शनाच्चेति। पाप्मशब्देन पुण्यस्यापि विवक्षितत्वात् अनन्तरसर्वशब्दयोः सजातीयविजातीयपरत्ववत् पूर्वसर्वशब्दस्याप्युभयपरत्वावधारणात्। तस्मात् "अतोऽन्यदार्त्तम्" इत्यत्र मिथ्यात्वमेवार्त्तत्वम्। "आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्" इत्येकचेतनविज्ञानेन सर्वविज्ञानं प्रतिज्ञाय तदुपपत्तये "ब्रह्म तं परादाद्योऽन्यत्राऽत्मनो ब्रह्म वेद" इत्यादिना ब्रह्मक्षत्रलोकदेववेदभूतानां चेतनाद् भेददर्शनं विपुला-नर्थजालमूलतया निन्दित्वा "इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानि इदं सर्वं यदयमात्मा"—इत्युपसंहारेणाऽऽत्मव्यतिरेकेणाऽनात्मवर्गस्य मिथ्यात्वं श्रुतिर्वर्णयति—इत्याह—इदं सर्वमिति। न चात्राऽत्मन एव सर्वत्वं विधीयते न सर्वस्यात्माऽनतिरेक इति शङ्कनीयम्। "स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्यान् शब्दान् शक्नुयात् ग्रहणाय", "स यथाऽऽर्द्रैधनाग्नेरभ्याहितस्य पृथक् धूमा विनिश्चरन्ति", "स यथा सर्वासामपां समुद्र

ज्ञानवती

से, अन्य=अचेतन वर्ग, आर्त्त=ऋत् अर्थात् सत्य नहीं है ऐसा साक्षात् आम्नाय है। "यह सब जो है वह आत्मा है" इससे अनात्मवर्ग के आत्मत्व का विधान है तथा उभयत्व (=

[1] २।४।६ बृ०।

त्मत्वविधानादुभयत्वासम्भवाच्च। यदपि "विज्ञातञ्चाविज्ञातञ्च"[1] इति द्विरूपत्वाभिधानं "तदात्मानं स्वयं जगदात्मनाऽकुरुत" इत्यादि च; तदपि "इन्द्रो मायाभिः"[2] इत्यादेरागमात्, पुरुषस्य विशुद्धस्याविशुद्धविक्रियायोगोऽसङ्गत इत्याक्षेपसमाधानरूपात्तदनुसार्येव। न खलु शुभ्रतरतन्तूनां नीलपटविक्रिया दृष्टचरी। न च कार्यानुसारेण ब्रह्मापि विज्ञानाविज्ञानात्मकम्; "एकधैवानुद्रष्टव्यम्"[3] "कृत्स्नः प्रज्ञानघनः" इत्यादिश्रुतिव्याकोपात्; बाह्यज्योतिर्वदात्मज्योतिषोऽपि एकविधत्वसम्भवाच्च। तस्मादविज्ञानं मायाभाग एव। तथा "ब्रह्म

भावदीपिका

एकायतनम्" "स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एव, एवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव" इति दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्व्याकोपादिति भावः।

अथ "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तं चामूर्त्तं च"—इति प्रपञ्चरूपविधानादात्मतावन्मात्रत्वविधानाच्चोभयरूपं ब्रह्म गम्यते; तथा "अथात आदेशो नेति नेति"—इति निषेधद्वयेन सकार्यरूपद्वयं प्रतिषिध्य "न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति" इति नेतीत्युक्तादस्मान्निषेधादन्यत् परं निषेध्यरूपं "नह्यस्ति" इति निषेधञ्च प्रशस्य "अथ नामधेयम्—सत्यस्य सत्यमिति; प्राणा वै सत्यं, तेषां एष सत्यम्"—इति प्राणोपलक्षितरूपद्वयस्य व्यावहारिकसत्यस्य परमाधिष्ठानं परमार्थसत्यमेष आत्मा इति श्रुत्यैकरूपत्वाध्यवसायः। "प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति, ततो ब्रवीति च भूयः" इति सूत्राच्च। रूपद्वयस्य प्राधान्येन प्रकृतत्वम्; ब्रह्मणस्तु कस्य रूपे? ब्रह्मण इति व्यावर्त्तकस्योपसर्जनतया प्रकृतत्वाभावात्। प्रधानं हि प्रकृतमुच्यते प्रकर्षेण कृतम्=प्रतिपादितम् इति। तेन प्रकृतैतावत्त्वम्=प्रकृतं रूपद्वयमात्रम्; श्रुतिः प्रतिषेधति—न रूपि ब्रह्म। तच्च ततः=प्रतिषेधात् अनन्तरम्; ब्रवीति=परमार्थसत्यत्वेन "सत्यस्य सत्यम्" इति। ततो नायं सर्वनिषेध इत्येवमर्थादिति वाच्यम्। यथा खलु परिसंख्याया विधिव्यवहारविषयत्वेऽपि प्राप्तविषयत्वेन सर्वथाऽप्यप्राप्तविषयत्वपक्षाप्राप्तविषयत्वाभावे विधित्वासम्भवेन प्राप्तैकदेशनिषेधकत्वेन निषेधान्तर्गतत्वम्; तत एव स्वार्थस्य विधेयस्य त्यागः, परार्थस्य निषेधनस्य स्वीकारः, प्रमाणान्तरप्राप्तैकदेशबाधश्चेति त्रिदोषी परिसंख्यायां कीर्त्यंते; तथैव "अथात आदेशो नेति नेति" इति निषेधव्यवहारास्पदस्याऽप्यस्य वेदप्रत्यक्षादिसिद्धमूर्त्तामूर्त्तनिषेधकत्वाऽयोगात् नेतीति यो निषेध सः द्वयस्य नेतीत्ययमेव पर आदेश इति निर्वचनसम्भवात्। तेनोभयरूपमेव ब्रह्म? तत्राह—उभयत्वेति। परिसंख्यायास्तावदन्याभावविशिष्टत्वेनाऽपूर्वविधिपरत्वादनुदाहरणत्वम्।

यद्यपि व्रीह्यादीनां यथा स्वरूपेण प्रमितानामपि यागसम्बन्धो वेदैकगम्यस्तथा रूपद्वयस्य

ज्ञानवती

अचेतनवर्ग का आत्मा और असत्य होना) असंभव है। जो कि—"विज्ञात एवं अविज्ञात है" इस (श्रुति) के द्वारा दो रूप का अभिधान है तथा "(=ब्रह्म) ने आत्मा को स्वयं जगत् रूप में किया" इत्यादि (वचन हैं), वह भी "इन्द्र मायाओं के द्वारा (अनेक रूप को प्राप्त होता है)" इत्यादि आगम से, विशुद्ध पुरुष का अविशुद्धविक्रिया के साथ योग असंगत है,

[1] तै० २।४। [2] बृ० २।५। [3] बृ० ४।४।२०।

तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद"[१] इत्यारभ्य "सर्वं तं परादाद्योऽन्यत्रात्मनः सर्वं वेद" इत्यन्तेन ब्राह्मणत्वाद्यनात्मवर्गः[२] स्ववास्तवाभिमानिनं योनिजत्वाद्यापादनेन "स एव श्रेयोमार्गात् प्रच्यावयति" इति निन्दया अनात्मवर्गस्य कल्पनामयत्वमवगम्यते। तथा "आत्मनि विज्ञाते सर्वं विज्ञातम्" इति प्रधानप्रतिज्ञाऽपि दुन्दुभ्यादिदृष्टान्तप्रपञ्चोपासितचरणा अनात्मवर्गस्य आत्मतावन्मात्रतां गमयन्ती कल्पनामयत्वं गमयति। यस्मात् न्यायसम्पादनाय सूत्रयामास—"तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः" इति भगवान् बादरायणः ;=तस्मात्=ब्रह्मणोऽधिष्ठानभूतात् ; स्वमायया समारोपितस्य प्रपञ्चस्य अनन्यत्वमिति "वाचारम्भणं विकारोनाम-

भावदीपिका

प्रमाणन्तरसिद्धत्वेऽपि ब्रह्मसम्बन्धो वेदैकगम्यो निषेधस्य च प्राप्तिपूर्वकत्वेन प्रापकविध्यपेक्षया दुर्बलत्वम्; तथापि वैदिकनिषेधवादानामुन्मत्तप्रलापतुल्यताव्युदासार्थं विधिसमानबलत्वं कल्पयित्वा षोडशिग्रहणादिविकल्पः स्थितः। न खल्वत्र "न तौ पशौ करोति" इतिवत् पर्युदासः; अत्र हि पशुयागेऽङ्गजातस्यातिदेशेन प्राप्तौ तावाज्यभागौ वर्जयित्वाऽन्यदङ्गजातं कार्यं इत्यतिदेशभूतः पर्युदासः। षोडशिग्रहणाग्रहणवाक्ययोस्तावन्मात्रविषयत्वात् किं वर्ज्यं किं कार्यं स्यात् ? न च "आश्रावयेति चतुरक्षरम् अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरं यजेति द्व्यक्षरं यजामह इति पञ्चाक्षरं द्व्यक्षरो वषट्कार एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञं यज्ञमन्वायत्त" इति सप्तदशाक्षरस्य मन्त्रगणस्य सप्तदशगणात्मकहिरण्यगर्भदृष्टिदृष्टतद्भावेन स्तुतस्याऽनारभ्याधीतत्वात् सर्वयज्ञेषु विधौ ततो "नाऽनुयाजेषु येयजामहं करोति" इति शेषे श्रूयमाणमनुयाजवर्जितेषु येयजामहः कार्य इत्युपदेशशेषोः, यथा पर्युदासः; तथा वाऽत्र सम्भवति। अत्र हि अनुयाजवर्जितेष्विति उक्ते, के ते ?—इत्यपेक्षायां 'यजतयः' इति विशेषसमर्पकं पूर्ववाक्यं पर्यवसाना-

ज्ञानवती

इस आक्षेप के समाधान रूप होने से तदनुसारी ही है। शुभ्रतरतन्तुओं की नीलपटविक्रिया (कहीं भी) दृष्टचर नहीं है।

(पू) कार्य के अनुसार ब्रह्म भी विज्ञानाविज्ञानात्मक है ? (उ) (ऐसा मानने पर) "एक ही रूप में देखना चाहिये", "समस्त प्रज्ञान घन है" इत्यादि श्रुति का व्याकोप हो जायगा; तथा वाह्यज्योति के समान आत्मज्योति भी एक ही प्रकार की सम्भव है; इस कारण अविज्ञान मायाभाग ही है। तथा "ब्राह्मण जाति उसे छोड़ देती है जो ब्राह्मण को आत्मा से पृथक् जानता है" यहाँ से लेकर "सब उसे छोड़ देता है जो सब को आत्मा से अन्यत्र समझता है" यहाँ तक ब्राह्मणत्व आदि अनात्मवर्ग स्ववास्तवाभिमानी के योनिजत्व आदि के आपादन से, "वही श्रेयोमार्ग से प्रच्युत कर देता है" इस निन्दा से, अनात्मवर्ग का कल्पनामयत्व जाना जाता है। तथा "आत्मा के ज्ञात होने पर यह सब ज्ञात हो जाता है" यह प्रधान प्रतिज्ञा भी, जो कि दुन्दुभि आदि दृष्टान्तप्रपञ्च से उपासितचरण वाली है, अनात्म वर्ग की आत्मतावन्मात्रता को बतलाती हुई उसके कल्पनामयत्व को बताती है। जिस

---

[१] बृ० ४।५७। [२] (ख) त्वादना।

धेयम्", "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्" इत्यादिशब्देभ्य एव प्रतीयते । वास्तवत्वे चानात्मवर्गस्य "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन्"[१] इत्यात्मतावन्मात्रताऽवशेषश्रुतिबाधः "यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः"[२] "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्"[३] इति चाऽऽत्मतत्त्वज्ञानेनानात्मवर्गस्याऽऽत्मतावन्मात्रताऽवसानावसायाच्च कल्पनामयत्वमवगम्यते ।

भावदीपिका

याऽपेक्षितमिति युक्ता तच्छेषता। "नाऽतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति"—अस्य तु स्वयं विशेषनिष्ठत्वात् विधिशेषत्वानुपपत्तेः । न चार्थवादत्वेन नेतुं शक्यम्; यथा दर्शपौर्णमासस्थं "न तौ पशौ करोति" इति पशावविद्यमानौ आज्यभागावत्र विद्येते इति दर्शादिस्तुतितया नीतम् । तन्निषेधस्य तत्करणस्तुतित्वानुपपत्तेरगत्या विकल्पः एव ।

न चैवं ब्रह्मणः सप्रपञ्चत्वनिष्प्रपञ्चत्वविकल्पः । स न तावद् कालभेदेन परिणामकाले सप्रपञ्चं लयकाले च निष्प्रपञ्चमिति; तथा च श्रुतिः—"सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" इति पूर्वकाले निष्प्रपञ्चं "तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत" इत्युत्तरकाले सप्रपञ्चमाह; एतदनुसारेण [आख्यात]परामर्शकश्रुतयः सप्रपञ्चनिष्प्रपञ्चविधिका नेतव्याः; तथा सति मुक्त्युपायवैफल्यात् । सत्यपि तस्मिन् स्थितिकाले निष्प्रपञ्चब्रह्मस्वरूपेणाऽवस्थानलक्षणमोक्षासम्भवात् लये च तदभावेऽपि तत्संभवात् । न च देशभेदेन विकल्पः "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्याऽमृतं दिवि" इति श्रुतेर्युक्तः; यथा खलूपकारभूमार्थिनः षोडशिग्रहणाधिष्ठानत्वं, क्रतुनिष्पत्तिमात्रार्थिनः तद्वर्जनाधिष्ठानत्वं, तथा ब्रह्मणोऽपि प्रपञ्चतदभावाधिष्ठानत्वप्रयोजकं किञ्चिद् वाच्यम्; तच्च वैदिकस्य वेदोक्तमेव ग्राह्यम् । अतो "मायां तु प्रकृतिम्" इत्यादिवेदात् प्रमाणान्तरज्ञातप्रपञ्चसम्बन्धबोधकानां ब्रह्मणो वाक्यानां 'त्वया दृष्टं रूप्यं मायामयम्'-इत्याप्तवाक्यवत् स्वाभाविकनिष्प्रपञ्चत्वबोधकनिषेधवाक्येभ्यो दुर्बलत्वान्न देशकालविकल्पाऽवकाशः । एतेन वास्तवप्रपञ्चतदभावयोः क्रमसमुच्चयोऽपास्तः । एकदैव वास्तवप्रपञ्चतदभावाधिष्ठानत्वस्य सुतरामनाशङ्कनीयत्वान्न वास्तवोभयरूपत्वं संभवतीति भावः । यद्येकदैव विज्ञानाविज्ञानभावो ब्रह्मणः श्रुत्योच्यते तथा युगपत् सप्रपञ्चत्व-

ज्ञानवती

कारण न्यायसम्पादन के लिये भगवान् बादरायण ने सूत्र बनाया—"तदनन्यत्वम् आरम्भणशब्दादिभ्यः ।" तत्=तस्मात्=उस अधिष्ठानभूत ब्रह्म से, अपनी माया के द्वारा समारोपितप्रपञ्च का अनन्यत्वम्=अनन्यत्व "वाणी का आरम्भण विकार नामधेय है", "यह सब आत्ममय है" इत्यादि शब्दों से ही प्रतीत होता है । और अनात्मवर्ग के वास्तविक होने पर "पहले यह अकेला आत्मा ही था दूसरा कुछ नहीं था" इस आत्मतावन्मात्रावशेष श्रुति का बाध हो जायगा । "जिस विज्ञान वाले के लिये सभी भूत आत्मा ही होते हैं", जहाँ इसके लिये सब आत्मा ही है" इन (श्रुतियों) के द्वारा आत्मतत्त्व के ज्ञान से अनात्मवर्ग का, आत्मतावन्मात्रतावसान का निश्चय होने से, कल्पनामयत्व जाना जाता है ।

---

[१] ऐ० १।१ । [२] ईश ६ । [३] बृ० ४।५।१५ ।

कल्पितश्चायं प्रतीतिसमय एव अन्यथा प्रमितत्वात् चित्रनिम्नोन्नतादिवत्; "इदं सर्वं यदयमात्मा"[१] (इत्यविशेषेण[२]) अनात्मवर्गस्यात्मत्वप्रमितेः। न च चित्रनिम्नोन्नतादिग्राहिणो युक्तो बाध्यबाधकभावः, निपुणचाक्षुषप्रत्ययेनैव संवादात्, आगमस्य तु प्रापञ्चिकप्रमाणेन संवादाभावान्न तस्य बाधकत्वनिश्चय इति वचनीयम्; संवादाभावेऽपि चन्द्रप्रादेशिकत्वादिप्रत्यक्षस्याऽऽगमेन बाधस्याविगीतत्वात्। विगीतः=कल्पितः; भारूपस्वसंलग्नत्वेन[३] भासमानत्वात् सवितृच्छिद्रवत्। "भारूपः" "आदित्यवर्णम्" इत्याऽऽगमेनात्मनो भारूपत्वावगमात्। तस्य च अहंममप्रत्ययालम्बनत्वेनानात्मवर्गस्य भासनात्। न च पुरुषविशेषस्यैव भासनात् तत्र कल्पितत्वम्; देहात्मभावेन व्यभिचारात्। तस्मादनात्मवर्गस्य कल्पितत्वादात्मनस्तत्सापेक्षोन्योन्याभावोऽपि कल्पित एवेति सिद्धम्।

भावदीपिका

निष्प्रपञ्चत्वे किं न स्याताम् वास्तवे अपीति ?—अत आह—यदपीति। न केवलं श्रुत्याऽनात्मवर्गस्य कल्पितत्वाऽवगमो, युक्तितोऽपि–इत्याह—कल्पितश्चाऽयमिति। धर्मिग्राहकसम्वादित्वमुपाधिमाशङ्क्य साध्याव्याप्त्या दूषयति—न च चित्रनिम्नेति। द्वितीयप्रयोगेऽप्येकस्यैवाऽवभासमानत्वमुपाधिमाशङ्क्य एकस्मिन् देहेऽनेकेषामात्मत्वाऽवभासात् साध्याव्याप्त्या प्रत्याह—न च पुरुषेति।

ज्ञानवती

चित्र की निम्नता एवं उच्चता आदि के समान यह कल्पित है क्योंकि प्रतीति के समय ही अन्यथा ज्ञात होता है। "यह सब जो है वह आत्मा है" इस प्रकार अविशेष रूप से अनात्मवर्ग की आत्मत्वप्रमिति होती है। (पू) चित्र की निम्नता एवं उन्नति का ग्रहण करने वाले का बाध्यबाधकभाव ठीक है, क्योंकि निपुणचाक्षुषप्रत्यय के द्वारा ही संवाद (अर्थात् समानविषयकज्ञानान्तर) हो जाता है; किन्तु आगम का प्रापञ्चिकप्रमाण से संवाद न होने से उसके बाधकत्व का निश्चय नहीं होता? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। संवाद न होने पर भी चन्द्र के प्रादेशिकत्व आदि के प्रत्यक्ष का बाध आगम से अविगीत है। विगीत (का अर्थ है) कल्पित। ज्ञान अपने से संलग्न होने के कारण सवितृच्छिद्र के समान भासमान होता है। "भारूपः" "आदित्यवर्णम्" इत्यादि आगम से आत्मा प्रकाशरूप ज्ञात होता है। और वह 'मैं' और 'मेरा' इस ज्ञान के आलम्बन के रूप में अनात्मवर्ग को प्रकाशित करता है। (पू) पुरुषविशेष के भासन से वहाँ कल्पितत्व है? (उ) नहीं है; क्योंकि तब तो देहात्मभाव से व्यभिचार हो जायगा। इसलिये अनात्मवर्ग के कल्पित होने से आत्मा का तत्सापेक्ष अन्योन्याभाव भी कल्पित ही है, यह सिद्ध है।

---

१ बृ० २।४।६। २ (क) इत्यादिविशे०। (ख) इत्यविशे।
३ (ख) भारूपस्तु सं०।

[जीवपरयोर्भेदस्यौपाधिकत्वम्–]

नापि चेतनान्योन्याभावस्तात्त्विकः। न तावद्ब्रह्मणोऽन्यो जीवः; "अयमात्मा ब्रह्म[१]" इत्याद्यैक्याम्नानात् "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि[२]" इति प्रसिद्धजीवमनुकृष्य तस्योत्तमपुरुषत्वप्रतिपादनाच्च। न चासाधारणबन्धमोक्षाभ्यामन्योन्याभावसिद्धिः परस्परं जीवानाम्, परमात्म[नो]ऽपि[३] बन्धमोक्षाभ्यां तद्विधुरादिति शङ्कनीयम्; "प्रतिबोधविदितं मतम्[४]" "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव[५]" "सर्वभूतान्तरात्मा[६]" इत्याद्याम्नायैः परमात्मन एव जलसूर्यकघटाकाशादिवदवच्छेदभेदो जीवो बन्धमोक्षभागी इत्यवसायात्; "अतएव चोपमा सूर्यकादिवत्[७]" इति व्याससूत्राच्च।

भावदीपिका

[जीवपरयोर्भेदस्यौपाधिकत्वम्—]

अथ व्यावहारिकत्वेन चेतनभेदस्तवाऽपि संमतः; स च [तात्त्विकः] भासमानत्वात् आत्मवदिति साधन[साधना]व्याप्तिर्बाधश्च ग्राहकविरोधात्—इत्याह—अयमात्मेति। आनुमानिकं वास्तवभेदमपास्य आर्थापत्तिकमपास्ते—न चासाधारणेति। "तद्यो यो देवानाम्"—इत्यादिव्यवस्थाश्रुत्यन्यथाऽनुपपत्त्या हि वास्तवो मुक्तानां बद्धानां च भेदो वाच्यः; श्रुतिविरोधे च व्यवस्थाश्रुतेरौपाधिकभेदविषयत्वेनोपपत्तावर्थानुपपत्तेरनुदयात् इति भावः। औपाधिकत्वमाक्षेपपूर्वकं सम्पादयति—अजो ह्येक इति। यद्यपि ब्रह्मवज्जीवस्याऽनुपपदमजत्वं प्रतीयते तथाच तद्वदेव स्वतन्त्रत्वेन वास्तवभेदः प्रतिभाति तथापि नित्यद्रव्येषु द्रव्यत्वोपाधिनित्यगुणत्ववदजस्य जीवस्याजमायोपाधिसम्भवान्न स्वाभाविकं जीवत्वम्। न च प्राणधारणमात्रोपाधिकं जीवत्वम्; स्वतोऽसङ्गस्य निष्क्रियस्य प्राणधारणेनैवाऽनिर्वाच्यमायोपाधेराक्षेपात्—इत्याशयेनाह—न चौपाधिकस्येति।

ज्ञानवती

[जीव एवं पर का भेद औपाधिक है—]

चेतनों का अन्योन्याभाव भी तात्त्विक नहीं है। जीव ब्रह्म से अन्य नहीं है क्योंकि "यह आत्मा ब्रह्म है।" इत्यादि के द्वारा ऐक्य कहा गया है। एवं "इसी का (=जीव का) फिर तुम्हारे लिये व्याख्यान करूँगा" इसके द्वारा प्रसिद्ध जीव का अनुकर्षण करके उस (अर्थात् "तत्त्वमसि" आदि के विचार के द्वारा शोधित जीव) के उत्तमपुरुषत्व का प्रतिपादन किया गया है। (पू) असाधारण वन्ध एवं मोक्ष से जीवों के परस्पर अन्योन्याभाव की सिद्धि होती है? परमात्मा का भी वन्ध एवं मोक्ष से रहित होने के कारण भेद है? (उ) ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि "प्रत्येक वोध (अर्थात् बौद्ध प्रत्यय) में (उसे) विदित माना गया है।" "एक एक रूप में प्रतिरूप (अर्थात् प्रतिबिम्बित) हुआ" "सब भूतों का अन्तरात्मा है" इत्यादि श्रुतियों के द्वारा जलसूर्यक (अर्थात् जल में सूर्य के प्रतिबिम्व) के समान

१ वृ० २।५।१९। २ छा० ८।११।३। ३ (क) परमात्मनाऽपि। (ख) परमात्मापि। ४ केन १२। ५ कठ २।२।९। ६ श्वे० ६।११। ७ ब्र० सू० ३।२।१८।

"अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः[१]" इत्यनुपदाजत्वश्रवणादौपाधिकत्वेन भेदोक्तिरयुक्तेति चेत्? न; तत्रैव "योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः"[२] इत्येकस्यैवानेकाजभावनिर्णयात्। न चौपाधिकस्याजत्वानुपपत्तिः; औपाधिकस्योपाधिजन्मनैव[३] जन्मव्यवहारात्। जीवोपाधेस्तु मायाया अजात्वेन श्रुतिसिद्धाया जन्माभावेन तदुपाधेर्जीवस्य [अज-][४]त्वनिर्देशो जाघटीति[५]। अग

भावदीपिका

अथ युक्तं गुणवत्त्वस्य द्रव्यत्वसमव्यापकत्वादनादित्वेऽपि प्रयोज्यप्रयोजकत्वम्? जीवत्वाविद्यासम्बन्धयोस्तदभावात्, विम्बस्याऽविद्यया विषयविषयिभावसम्बन्धेऽपि जीवत्वानङ्गीकारात्, आश्रयस्वसम्बन्धस्यौपाधिकत्वसिद्ध्यधीनत्वाच्च। अथ विषमव्यापकस्यापि द्रव्यत्वस्य परमाणुष्वनादिपृथिवीत्वादिप्रयोजकत्ववत् अविद्यासम्बन्धस्य जीवत्वप्रयोजकत्वम्? तथापि "अजामेकाम्" इत्यनौपाधिकाजत्वसम्पन्नप्रकृतिसन्निधानात् "अजो ह्येकः" इत्याद्यजशब्दस्य [औ]पाधिकाजत्वार्थ[त्वं] युक्तम्—इत्यभिसन्धायाह—[अजो ह्येकः] इति। अविद्याश्रयत्वसम्बन्धस्य जीवत्वसमव्यापकस्य यद्यप्यौपाधिकजीवसिद्ध्यधीनत्वम्; तथाऽपि एकत्वशास्त्रविरोधादनौपाधिकाजत्वस्य सन्निधानसहकृताजश्रुत्या प्रतिपादनस्याऽशक्यत्वात्। अजश्रुतिर्हि कमप्यजमाह, जीवस्तु प्रकृतिपरिग्रहादिलिङ्गादवगम्यते। ततो "व्रीहीन् प्रोक्षति"—इति सामान्यश्रुतिरिव व्रीहिविशेषप्रकरणापेक्षा प्रकरणानुगुण्येनैव विशेषं व्यवस्थापयति यथा, तथा लिङ्गाऽनुगुण्येनाऽसौ श्रुतिः प्रकृतिसम्बन्धमेव जीवमजत्वेन व्यवस्थापयन्ती नौपाधिकत्वं वारयति। तेन न मुख्यश्चेतनभेदः प्रमाणवान्—इत्याशयेनाह—तर्हि मुख्य इति। श्रुतिवशे-

ज्ञानवती

घटाकाश के समान परमात्मा का ही अवच्छेदरूप भेद वाला जीव वन्ध एवं मोक्ष का भागी है, यह निश्चय है। और व्याससूत्र है—"अतएव च उपमा सूर्यकादिवत्।"

(पू) "एक अज (इस अजा से) प्रीति करता हुआ अनुशयन करता है, और अन्य अज भुक्तभोगा इस (अजा) को छोड़ता है।" यहाँ अनुपपद अजत्व का श्रवण होने से औपाधिक रूप में भेद की उक्ति ठीक नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि वहीं (अर्थात् श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही)" एक प्रत्येक योनि में अधिष्ठित रहता है" इससे एक ही (परमात्मा) के अनेक अजभाव का निर्णय है।

(पू) तब तो औपाधिक के अजत्व की अनुपपत्ति हो जायगी? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि उपाधि के जन्म के द्वारा ही औपाधिक के जन्म का व्यवहार होता है। माया के अजा होने से श्रुतिसिद्ध जीवोपाधि के जन्माभाव से उसकी उपाधि जीव का अजत्वनिर्देश नहीं घटित होता। यदि औपाधिक का मतलब अगतिकगति है तो चिदात्मा के मुख्यभेद

---

[१] श्वे० ४।४। [२] बृ० माध्य ३।८।

[३] (क) चौपाधिकस्योपाधिजन्ना, (ख) चौपाधिकस्याजत्वानुपपत्तिः, औपाधिकस्य उपाधिजन्म। [४] (क) आत्मजत्व।

[५] (क) जाघटीति ननु अग, (ख) जाघटीति अग।

तिका गतिरौपाधिकत्वम्? तर्हि मुख्यश्चिदात्मनो भेदो निरूपणीयः। न च "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरो, यमात्मा न वेद, यस्यात्मा शरीरं, य आत्मानमन्तरो यमयति"[१] इत्याधाराधेयादिभावेन मुख्यश्चेतनभेदः प्रतीयते इति[२] वाच्यम्; अस्मादेवामुख्यभेदप्रमितेः। न खलु निन्तृत्वेनाभिमतस्य विभोश्चिदात्मनो नियम्ये जीवात्मनि कुण्डे बदरवन्मुख्या वृत्तिर्घटते। अथैषा विषयसप्तमी, विषयाद्विषयिणश्चान्तरत्वं तदवेद्यत्वं (तन्नियन्तृत्वञ्च[३]) प्रसिद्धम्? तर्हि "यस्यात्मा शरीरम्"[४] इत्यपि किं मुख्यमेवाभिमतमायुष्मतः? तथा च जीवस्य प्रसिद्धशरीरत्वेनोपक्षीणत्वात्तन्नियन्ता जीव एवेश्वर इत्युक्तं स्यात्। तस्मादुपाधिविशिष्टस्य उपाधिशीर्णत्वप्रयुक्तजीवभावापन्नस्य परमात्मनोऽत्र शरीरत्वमास्थेयम्। बिम्बस्य चाव्यवहितस्वरूपस्योपाधिव्यवहितस्वरूपप्रतिबिम्बापेक्षयाऽन्तरत्वम्; व्यवहितश्च जीवो बिम्ब-

भावदीपिका

नैव मुख्यं भेदमाशङ्क्याऽऽह—न च य आत्मनीति। स्थितेराधारापेक्षाया तिष्ठन् इति निर्दिष्टायाः सन्निधौ य आत्मनि इति सप्तम्या आधारार्थत्वनिर्णयात् विषयसप्तम्याशङ्का तावन्न युज्यते। तथा जीवस्य शरीरत्वं मुख्यं न युक्तं तेनाऽऽधारत्वशरीरत्वयोरौपचारिकत्वात् तदाक्षिप्तो भेदोऽप्यौपचारिको युक्तः, तात्पर्यवदेकत्वश्रुत्यनुग्रहात्। अवेदनादीनामप्येतत्-सहचराणामौपचारिकत्वान्न मुख्यभेदसाधकत्वम्—इत्यभिप्रेत्याऽऽह—तर्हीति। औपाधिकभेदे कथमन्तर्बहिर्भावो जीवस्य ब्रह्मास्फुरणं च? न खलु दण्डकुण्डलोपाधिभिन्नस्य देवदत्तस्य स्वापेक्षयाऽन्तर्बहिर्भावः स्वरूपाऽस्फुरणं वा? तत्राऽऽह—बिम्बस्य चेति। अविद्योपाधेर्दर्पणादिवत् प्रतिबिम्बग्राहकत्वेनोक्तव्यवहारहेतुत्वाऽङ्गीकारान्न दण्डादिवदवच्छेदकत्वमात्रं, येनोक्तदोषः स्यादिति भावः।

ज्ञानवती

का निरूपण करना चाहिये। (पू) "जो आत्मा में रहता हुआ, आत्मा का अन्तर्वर्त्ती है जिसको आत्मा नहीं जानता, आत्मा जिसका शरीर है जो अन्तर्वर्त्ती (होकर) आत्मा का नियमन करता है" इस प्रकार आधाराधेय आदि भाव से (जीव का) मुख्यचेतन से भेद प्रतीत होता है। (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि इसी से अमुख्य भेद की प्रमिति होती है। ऐसा नहीं है कि नियन्ता के रूप में अभिमत विभु चिदात्मा की, नियम्य जीवात्मा के विषय में कुण्ड एवं बदर के समान, मुख्या वृत्ति नहीं घटित होती। यदि यह (अर्थात् "आत्मनि तिष्ठन्" इस स्थल में) विषय सप्तमी है और विषय से विषयी का अन्तरत्व उसका अवेद्यत्व एवं उसका नियन्तृत्व प्रसिद्ध है? तो "आत्मा जिसका शरीर है" क्या यह भी आपको मुख्य ही अमिमत है? यदि ऐसा है तो प्रसिद्धशरीर के रूप में उपक्षीण होने से उसका नियन्ता जीव ही ईश्वर कहा जायगा। इस कारण यहाँ उपाधिविशिष्ट एवं उपाधिविशकलितत्वप्रयुक्त जीवभावापन्न परमात्मा का ही शरीरत्व मानना चाहिये। अव्यवहितस्वरूपवाला बिम्ब उपाधिव्यवहितस्वरूपवाले प्रतिबिम्ब की अपेक्षा आन्तर है और व्यवहित

[१] बृ० माध्य ३।८। [२] (क) प्रतीयत अस्या।
[३] (क) नियन्तृत्व, (ख) तन्नियन्तृत्वं। [४] बृ० ३।६।२२।

कल्पं परमात्मानं तद्रूपतानुशीलनात्[1] प्रा[क्][2] विरुध्यते, "यन्न वेद" इति। "वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च"[3] इति श्रुतेर्बिम्बब्रह्मावगमात् "एष त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा"[4] इत्यभेदनिरूपणाच्च। "समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः",[5] "द्वा सुपर्णा"[6] इत्यागमोऽपि न चिदात्मनो मुख्यं भेदं गमयति। अत्रापि नैकविधं वृक्षालिङ्गनं मुख्यं सम्भवति। जीवस्य हि "रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते कुपूयचरणाः कुपूयाम्"[7] इत्यागमात् कर्मानुबद्धं देहवृक्षालिङ्गनम्; परमात्मनस्तु "य आत्मा अपहत पाप्मा"[8] "स न साधुना कर्मणा वर्द्धते नो एवासाधुना कनीयान्"[9] इत्यादिशास्त्रात् केवलं विभुतया कारणतया वा नियम्यतया जीवेन समानवृक्षपरिरम्भः। अतः समानश्रुतिः

भावदीपिका

बिम्बप्रतिबिम्बभाव एव ब्रह्मणः कुतोऽवगम्यते ?—इत्यत आह—वायुर्यथैक इति। बिम्बब्रह्मेति बिम्बशब्दो बिम्बप्रतिबिम्बपरः, "प्रतिबोधविदितम्" इत्यादौ न विस्पष्टोऽयं विभागोऽत्र तु विस्पष्ट इति भेदः। ननु परमात्मनो ज्ञानरूपत्ववादिनां तस्य तत्र तत्र प्रतिबिम्बभावो बहिर्भावश्च, तथा जीवात्मनो बुद्धिवृत्तिषु प्रतिबिम्बभावो बुद्धिभावश्च, नैतावता जीवपरमात्मनोर्वास्तवभेदाभावः, तथाऽत्रापि किन्न स्यात् ? अत आह—एष त आत्मेति। "अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" इति परमात्मनः स्वस्यैव जीवत्वव्यपदेशात् "स एष इह प्रविष्टः" "स प्राणन्नेव प्राणो नाम" इत्यादिश्रुतिभिः जीवस्य परमात्मत्वाज्जीवानामभेदेन परमात्मानमुपगच्छन्ति "त्वं वा अहमस्मि भगवो देव इति अहं वै त्वमसि भगवो देवते" इति "एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः" इत्यादिना ग्राहयन्ति चेति भावः। अस्तु तर्हि श्रुत्यन्तरात् मुख्यश्चेतनभेदः, एकत्वश्रुतीनां सगुणवाक्यवत् "तं यथा यथोपासते" इति सामान्यश्रुत्यपेक्षितोपास्यविशेषसमर्पकत्वेन गतिसम्भवात् ? तत्राऽऽह—समान इति। परमात्मनः कारणतया

ज्ञानवती

जीव बिम्बकल्प परमात्मा से उसकी रूपता के अनुशीलन के पहले विरुद्ध होता है। इस विषय में "जो नहीं जानता" यह श्रुति भी है। "जैसे एक वायु भुवन में प्रविष्ट हुआ प्रत्येक रूप में प्रतिरूपित होता है।" इस श्रुति से बिम्ब ब्रह्म का अवगमन होने से "यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है इससे अन्य द्रष्टा नहीं है" इससे अभेद का निरूपण होता है; तथा "समान वृक्ष में पुरुष निमग्न है", "दो सुपर्ण" यह आगम भी चिदात्मा का मुख्य भेद नहीं बताता। यहाँ भी एक ही प्रकार का मुख्य वृक्षालिंगन सम्भव नहीं है। "रमणीय आचरण वाले रमणीय योनि को प्राप्त करते हैं दुष्ट आचरण वाले दुष्ट योनि को" इस आगम से जीव का कर्मानुबद्ध देहरूपीवृक्ष का आलिंगन (ज्ञात होता) है, परमात्मा का तो, "जो आत्मा अपहतपाप वाला है वह सत्कर्म से न बढ़ता है और असात् कर्म से छोटा होता है"

---

[1] (ख) तन्निरूपता। [2] (क) यः (ख) ज्ञ। [3] कठ २।१।१०।
[4] बृ० ३।६।२३। [5] मुं० ३।१।२। [6] मुं० ३।१।१।
[7] छा० ५:१०।७। [8] छा० ८।७।१। [9] बृ० ४।४।२२।

परमात्मन एवौपाधिकजीवभावे मुख्यवृत्तिं लभते ; "अथ येऽन्यथा अतो विदुः अन्यराजानस्ते क्षय्यलोकाः भवन्ति[१]" इत्यादिभेददर्शननिन्दनाच्च भेदस्यामुख्यत्वं गम्यते। एवं यत्र यत्र जीवपरयोः जीवानां वोपाधिमनुक्त्वा भेदोऽभिधीयते, तत्र तत्रैवमुपाधिकत्वमुत्प्रेक्षणीयं वेदे। चिदात्मभेदानुमानं जीवकौमुद्यां निराकरिष्यते। तस्मान्न चिदात्मनामन्योन्याभावो भेदक इति स्थितम्।

[प्रत्यक्षभेदग्रहणमप्यभेदोल्लेखपूर्वकम्–]

ये तु प्रत्यक्षेण भेदं गृह्णन्ति तेषामप्यभेदोल्लेखः पूर्वं, वस्तुस्वरूपग्रहणपूर्वकत्वाद्धर्मिप्रतियोगिभावस्य। धर्मिप्रतियोगिभावभेदप्रतीत्योः परस्पराश्रयव्युदासाय

भावदीपिका

देहालिङ्गनं कारणस्यैव जीवभावेन प्रवेशश्रुतेः; उपासनस्य च यथाविधि यथावस्थितवस्तुविषयत्वेऽनुपपत्त्यभावात्। न खलु सर्वत्राऽन्यस्वान्याऽऽत्मभावसमारोपेणोपासनम्; फलमार्गाद्यनुचिन्तनेन व्यभिचारात्। एकत्वश्रुतीनामुपास्यसमर्पकत्वेऽप्यद्वैतसिद्धेर्दुर्वारत्वान्न वास्तवभेदसिद्धिरित्यभिप्रायः। "द्वा सुपर्णा" इत्यत्राऽपि न द्वैतं विधित्सितम्; तस्य शाखान्तरे निन्दितत्वात्। न च शाखाभेदेनाऽग्निहोत्रवत् विधेयत्वम्; विकल्पस्य निरस्तत्वात्—इदमाह—अथ य इति।

[प्रत्यक्षभेदग्रहणमप्यभेदोल्लेखपूर्वकम्—]

एवं भाट्टमतं सोपस्कारं निराकृत्य नैयायिकादिमतं निराचष्टे—ये तु प्रत्यक्षेणेति। यद्यभेदः स्वरूपमेव वस्तुनः, तर्हि तद्ग्रहणेन गृहीत एव। यदि भेदवद्धर्मविशेषः, तदाऽपि निष्प्रतियोगिकश्चेत् तदा भेदात् पूर्वं गृह्येत। प्रतियोग्यपि स्वरूपमेव चेत्? तदाऽप्येवम्।

ज्ञानवती

इत्यादि शास्त्र से केवल विभु के रूप में अथवा कारण के रूप में नियम्य होने के कारण जीव के साथ समानवृक्ष में परिरम्भ (प्रतीत होता) है। इसलिये ("समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः" यह) समानश्रुति परमात्मा के ही औपाधिकजीवभाव में मुख्यवृत्ति को प्राप्त करती है। इसके वाद "जो इसे (=आत्मा को) अन्यरूप में जानते हैं अन्य स्वामी वाले हैं वे क्षय्य लोक वाले होते हैं।" इत्यादि भेददर्शन की निन्दा से भेद का अमुख्यत्व मालूम होता है। इस प्रकार छोड़कर) जहाँ-जहाँ उपाधि को न कहकर जीवात्मा एवं परमात्मा का अथवा जीवों का भेद कहा जाता है वहाँ वहाँ वेद में इसी प्रकार औपाधिकत्व की उत्प्रेक्षा करनी चाहिये। चिदात्माओं के भेदानुमान का निराकरण जीवकौमुदी में करेगें। इसलिये यह स्थित हो गया कि अन्योन्याभाव चिदात्माओं का भेदक नहीं है।

[प्रत्यक्षभेदग्रहण भी अभेदोल्लेखपूर्वक होता है—]

जो प्रत्यक्ष रूप में भेद का ग्रहण करते हैं उनमें मत में भी पहले अभेद का उल्लेख होता है। क्योंकि धर्मी एवं प्रतियोगिभाव (का ग्रहण) वस्तुस्वरूपग्रहणपूर्वक होता है। स्वरूपमात्रेण गृहीत धर्मी एवं प्रतियोगिभाव के भेद की प्रतीतियों के अन्योऽन्याश्रय को हटाने के लिए भेद की प्रतीति को धर्मी एवं प्रतियोगिभाव के ग्रहण के बाद माना जाता है।

---

[१] छा० ७।२५।

स्वरूपमात्रेण गृहीतयोः धर्मिप्रतियोगिभावग्रहणपूर्वकं[1] भेदप्रतीत्यभ्युपगमाच्च। तथा चोपजीव्यैक्यप्रत्यक्षविरोधान्नात्र द्वैतप्रत्यक्षं प्रमाणम्। तदुक्तम्—

"अभेदं नोल्लिखन्ती धीर्न भेदोल्लेखनक्षमा।
तथा चाद्ये [ऽप्रमाण]त्वात्[2] नान्त्ये स्वापेक्षवैशसात्॥"[3] इति।

भेद एव पूर्वं गृहीत[4] इति चेत्, यदि मतम् वस्तुस्वरूपग्राहकमपि प्रत्यक्षं भूतलादिषु घटादिकं गोचरयत् ततो भेदेनैव गोचरयति प्रथमत एव भूतले घटो दृश्यत इत्यसङ्कीर्णानुभवात्? मैवम्; निर्विकल्पकेन तयोः स्वरूपमनुभूय संज्ञां स्मृत्वा सविकल्पकेन तदुल्लेखनानन्तरं व्यवस्थिताधाराधेयत्वविवेकप्रत्ययपूर्वकत्वादस्य। यतो निर्विकल्पकं सन्मात्रावगाह्येव।

भावदीपिका

अनन्यश्चेत्? तर्हि भेदः=भेदवादप्रसंगः; स चानिष्टो नैयायिकानामिति सर्वथाऽप्यभेदग्रहः पूर्व एवेति भावः। खण्डनकारैरुक्तञ्चैतत्—इत्याह—तदुक्तमिति। युक्त्यनुभवयोरनुभवो बलवान् इति मन्वानः शङ्कते—भेद एवेति। पूर्ववाद्येव स्वोक्तं विवृणोति—यदि मतमिति। स विकल्पकाऽनुभवस्याऽविकल्पाऽनुभवपूर्वकत्वात्तत्र चाऽभेदस्फुरणादुपजीव्यविरोधस्तदवस्थः—इति परिहरति—मैवमिति।

ज्ञानवती

इस प्रकार उपजीव्य के ऐक्य के प्रत्यक्ष के विरोध से यहाँ द्वैत का प्रत्यक्ष प्रामाणिक, नहीं है। वही कहा है—

"अभेद को विषय न वनाती हुई बुद्धि, भेद का उल्लेख कराने में समर्थ नहीं होती। इस प्रकार पहले में प्रमाण न होने के कारण (अभेद सिद्ध होता हैं) अन्त्य (=भेद) मे नहीं क्योंकि स्वापेक्ष (भेदज्ञान के प्रति अपेक्षित जो अभेदज्ञान है उस) का बाघ हो जाता है"।

(पू) पहले भेद का ही ग्रहण होता है? यदि यह स्वीकार है कि वस्तुस्वरूप का ग्राहक भी प्रत्यक्ष भूतल आदि में घट आदि को प्रकाशित करता हुआ फिर भेदपूर्वक ही प्रकाश करता हैं क्योंकि पहले से ही 'भूतल पर घड़ा दिखाई दे रहा हैं' ऐसा असंकीर्ण अनुभव होता है? (उ) ऐसा नहीं है। निर्विकल्प के रूप में उन दोनों के (अर्थात् भूतल एवं घट के) स्वरूप का अनुभव करके संज्ञा का स्मरण करके सविकल्पक के रूप में उनका उल्लेख होने के वाद होने से यह (अर्थात् 'भूतल पर घट दिखाई दे रहा है' यह अनुभव) व्यवस्थित आधाराश्रेयत्वविवेकप्रत्ययपूर्वक होता है। क्योंकि निर्विकल्पक सन्मात्रावगाही ही है।

---

[1] (ख) भावपूर्वकं। [2] (क) प्रमाण। [3] खं० खं० खा० १।१८।
[4] (ख) पूर्वमगृहीत।

[सच्छब्दार्थनिरूपणम्–]

ननु घटसत्तामात्रश्चेत् सच्छब्दार्थः? तदा 'घटोऽस्ति' इति न वक्तव्यम्, पुनरुक्तत्वात्। एवं 'घटो नास्ति' इत्यपि व्यवहारो न स्यात्, घटशब्दस्य तदर्थत्वात्, नास्ति इत्यसत्त्वार्थेन सहाप्रयोगात्। तदुक्तं धर्मकीर्तिना—

"घटोऽस्तीति न वक्तव्यं सन्नेव हि घटो यतः।
नास्तीत्यपि न वक्तव्यं विरोधात् सदसत्त्वयोः॥[१]" इति।

'सन् घटः' इत्यत्र घटशब्दस्य वै[य्यर्थ्य[२]]म्। अतः सद्ब्रह्मैकं जगत् इत्यप्ययुक्तम्।

भावदीपिका

[सच्छब्दार्थनिरूपणम्—]

एवं नैयायिके निरस्ते बौद्धः प्रत्यवतिष्ठते—ननु घटसत्तामात्रमिति। यदि सन्मात्रं प्रत्यक्षगोचरः, सच्च ब्रह्म तवाभिमतम्, तदा ब्रह्मणो वेदैकगोचरत्वविघातस्तावत् दोषान्तरं चापद्यते—इत्याह—तदा घटोऽस्तीति। अस्तु तर्हि 'नास्ति घटः' इति व्यवहारः तदा घटशब्दस्य विधायकत्वाभावेन पुनरुक्तत्वाऽभावात्? तत्राह—एवमिति। नञोऽसत्त्वार्थत्वादनुवादकस्याऽपि घटशब्दस्य सार्वकालिकबाह्यसत्त्वविषयस्य नञा समभिव्याहारो न युक्त इत्यर्थः। पूर्वं घटशब्दस्य सन्मात्रार्थत्वात् अस्तीति-पदवैयर्थ्यमुक्तम्। सम्प्रति घटशब्दस्य वैयर्थ्यमाह—सन्नेवेति। सद्घटयोरैक्यात् सच्छब्देनैव घटसिद्धेरित्यर्थः। ननु यद्यपि निर्विकल्पकं सद्वस्त्वनुस्यूतं गोचरयति तथाऽपि तत्र घटादिविशेषाः कल्पिताः सन्ति तेन सविकल्पकव्यवहारेण न शब्दान्तरवैयर्थ्यम्? तत्राऽऽह—तेनेति। येन कुसुमेषु सूत्रमिव

ज्ञानवती

[सत्शब्दार्थ-निरूपण—]

(पू०) यदि सत् शब्द का अर्थ घटसत्तामात्र है तो 'घटोऽस्ति' ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि पुनरुक्त हो जाता है। इसी प्रकार 'घटो नास्ति' यह भी व्यवहार नहीं होगा क्योंकि घट शब्द के सदर्थक होने से असत्त्वार्थक 'नास्ति' के साथ प्रयोग नहीं हो सकता। धर्मकीर्त्ति ने कहा है—

"घट है' ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि घट सत् ही है। 'नहीं है' यह भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि सत्त्व असत्त्व में विरोध है"।

'सन् घटः' यहाँ घट शब्द व्यर्थ है। इसलिये सद् ब्रह्म, एक जगत् यह भी ठीक नहीं है। अतः निर्विकल्पकप्रत्यक्ष का विषय केवल सत् से अनुस्यूत है। यह प्रक्रिया रमणीय नहीं है। किन्तु इस (अर्थात् निर्विकल्पकप्रत्यक्ष), जो कि स्वलक्षण विषय वाला है और अप्राप्त हैं, का एकाकारप्रतिनियत ही विधिव्यवच्छेदरूप, सविकल्पक-प्रत्ययद्वय के प्रसव का हेतु है। नील आकार का आलोचन नील का परिच्छेद करता हुआ नील के अभाव का व्यवच्छेद करता है; क्योंकि उसका (अर्थात् अनील का) व्यवच्छेद न होने पर उस (अर्थात् नील) का परिच्छेद नहीं होगा। क्योंकि सभी भाव अपने अभाव

---

१ (ख) एवं। २ (क) वैधर्म्य।

तेन निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य न सन्मात्रमनुस्यूतविषय इति प्रक्रिया रम्या। किन्त्वस्य स्वलक्षणगोचरस्याभ्रान्तस्यैकाकारप्रतिनियत एव विधिव्यवच्छेदरूपः सविकल्पकप्रत्ययद्वयप्रसवहेतुः। तथा हि—नीलाकारमालोचनं नीलं परिच्छिन्दत्[2] नीलाभावं व्यवच्छिनत्ति; तदव्यवच्छेदे तत्परिच्छेदानुपपत्तेः स्वाभावव्यवच्छेदरूपत्वात् सर्वभावानाम्। तदभावाविनाभाविनश्च पीतादय इति नीलैकाकारप्रतिनियतानपि व्यवच्छिनत्ति। तदिदं नीलाकारतया, 'नीलमिदम्' इति च, तन्नियततया, 'नान्यत्' इति च विधिव्यवच्छेदरूपौ प्रकल्पौ प्रसूते, तदनवसाये तदर्थिनां तत्र प्रवृत्तिनियमानुपपत्तेः पीताद्यव्यवच्छेदे नीलार्थिनस्तत्रापि प्रवृत्तिः स्यात्। तदुक्तम्—"तत्परिच्छिनत्ति, ततोऽन्यद् व्यवच्छिनत्ति, तृतीयप्रकाराभावं सूचयति।" इति प्रक्रिया रमणीया।

भावदीपिका

मिथोविच्छिन्नदेशेषु विशेषेषु न सद्वस्त्वनुभूयते तेषु सहितानुगतप्रत्ययस्य काल्पनिकसामान्यगोचरत्वं तेनेत्यर्थः। किन्तु इति प्रक्रिया रमणीयेत्युत्तरेणाऽन्वयः।

कस्तर्ह्यस्य विषयः?—इत्यपेक्षायाम्—आह—अस्येति। स्वलक्षणं सर्वतो व्यावृत्ताकारं विशेषमात्रमविकल्पमेयम्। शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं हि सामान्यमन्वेषणीयम्; परस्परव्यावृत्तरूपाणामनन्तानामेकशब्दप्रवृत्तिनिमित्तत्वाऽसम्भवेनाऽशक्यसंकेतत्वात् तेन विशेषज्ञानं शब्दसञ्जल्पशून्यमविकल्पमेव। "अशक्यसमयो ह्यात्मा सुखादीनामनन्यभाक्। तेषामतः स्वसंवित्तिर्नाभिजल्पानुषङ्गिणी॥" इत्युक्तत्वाच्च। अतो ज्ञानस्वरूपवत्तन्मात्रप्रकाश्यविशेषाणां बाधानिरूपणात्—अभ्रान्तस्येत्युक्तम्। कथं तर्हि शब्दसञ्जल्पविशिष्टो विशेषव्यवहारः? तत्राऽऽह—एकाकारेति। यथा तवाऽखण्डे सद्वस्तुनि कल्पितविशेषालम्बना निर्विकल्पकजन्या सविकल्पकप्रतीतिः, तथा मम कल्पितसामान्यालम्बनशब्दसञ्जल्पवती सेत्यर्थः। निर्विकल्पकविधिप्रत्ययस्य सविकल्पाऽऽत्मकविधिप्रत्ययहेतुत्वेऽपि कथमितरव्यवच्छेदप्रत्ययहेतुत्वम्, विधिनिषेधयोरत्यन्तविरूपत्वात्? अत आह—तथाहि नीलाकारमिति। अभावनिषेधप्रत्ययहेतुत्वमविरुद्धमिति भावः। तदनवसाय इत्येतत् प्रकटयति—पीतादीति। तृतीयेति। यद्यपि नीलविधौ तदभावपीतादिकयोर्व्यवच्छेद आर्थिकः प्रतिभाति तथाऽपि नीलाभावाऽभावो नीलमेवेति नीलप्रत्यक्षगोचरस्तथा पीताद्यभावोऽपि नीलमिति तत्प्रत्यक्षमेव पीताद्यभावप्रत्यक्षम्;

ज्ञानवती

के व्यवच्छेदरूप होते हैं और पीत आदि उसके अभाव के अविनाभावी होते हैं इसलिये नीलएकाकार के साथ प्रतिनियतों का भी व्यवच्छेद करता है। वह यह (अर्थात् नील) 'यह नील है' इस नीलाकार रूप मे और तन्नियत 'नान्यत्' इस रूप में विधि एवं निषेध रूप प्रकल्प को उत्पन्न करता है और उस (=नील) का निश्चय न करने पर उसके (अर्थात् नील के) चाहने वालों की वहाँ (अर्थात् नील में) प्रवृत्ति के नियम की अनुपपत्ति होने से पीत आदि का व्यवच्छेद न होने पर नीलार्थी की वहाँ (=पीत में) भी प्रवृत्ति हो जायगी। कहा है—'उसका परिच्छेद करता है, उससे भिन्न का व्यवच्छेद करता है, तीसरे प्रकाराभाव को सूचित करता है"। यह प्रक्रिया रमणीय है।

---

[2] (ख) परिच्छिन्नं।

न रमणीया। अस्ति तावद् भ्रान्तावपि रजताद्यर्थिन इतरपरिहारेण तत्र प्रवृत्तिः। न च निर्विकल्पकपूर्वकौ यथोक्तविकल्पौ ; रजतादेः शुक्त्यादौ प्रामाणिकत्वापत्तेः ; "कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम्" इति प्रत्यक्षलक्षणाभिधानात्। निर्विकल्पकस्य प्रमाणत्वात् प्रामाणिकस्थले तज्जन्यविकल्पाधीनः प्रवृत्तिनियमश्चेत् ? न ; यावद्बाधं भ्रान्तावपि प्रामाणिकत्वात्।

"तस्माद् बोधात्मकत्वेन प्राप्ता बुद्धेः प्रमाणता।
अर्थान्यथात्वहेतूत्थदोषज्ञानैरपोद्यते ॥[3]"

भावदीपिका

तेनार्थिकत्वं भ्रान्तम्। एवं प्रकारद्वये व्यवस्थिते य एतद्विलक्षणः प्रकारस्तृतीयः नीलस्य शङ्क्यमानः शून्यत्वानिर्वाच्यत्वलक्षणः, तदभावं तदापादकयुक्तीनामाभासत्वं सूचयति। प्रमाणविरोधे युक्तेराभासत्वं सुप्रसिद्धमिति भावः।

किं सर्वत्र प्रमाणभूतनिर्विकल्पकपूर्वकावेतौ प्रत्ययौ, प्रामाणिकस्थले वा ? नाद्यः—इत्याह—अस्ति तावदिति। न च प्रमाणभूतनिर्विकल्पकपूर्वकाविति द्रष्टव्यम्। सोपस्कारं द्वितीयमाशङ्कते—कल्पनाऽपोढमिति। प्रत्यक्षाऽऽभासव्यवच्छेदार्थम्—अभ्रान्तम् इत्युक्तम्। अनुमानव्यवच्छेदार्थम्—कल्पनाऽपोढमिति। कल्पना=शब्दसंजल्पः; तदपोढम्=तद्धीनम्। एवं निर्विकल्पकस्य प्रमाणत्वमुक्त्वा तत्पूर्वकत्वमूलमाह—प्रामाणिकेति। प्रमाणत्वोल्लेखमात्रं विवक्षितम्, अपवादरहितं वा प्रमाणत्वम् ? नोभयम्—इत्याह—न; यावदिति। निर्विकल्पकस्योक्तसविकल्पानपेक्षस्याऽद्वैतानुभावकत्वाभावादिति भावः। अस्माकं भ्रान्तिस्थलेऽपि

ज्ञानवती

(उ) (यह पक्ष या प्रक्रिया) रमणीय नहीं है। भ्रान्ति में भी रजत आदि को चाहने वाले की इतर (अर्थात् रजत से अन्य) के परिहारपूर्वक उस (अर्थात् रजत) में प्रवृत्ति होती है। ऐसा नहीं है कि यथोक्त विकल्प (अर्थात् पहले रजतत्व का ज्ञान फिर रजत का ज्ञान इस दो विकल्पों) में पहले निर्विकल्पकज्ञान होता है। क्योंकि तब तो शुक्ति आदि में रजत आदि के ज्ञान की प्रामाणिकता हो जायगी। कारण यह है कि प्रत्यक्ष का लक्षण कहा गया है—प्रत्यक्ष कल्पना से रहित अभ्रान्त होता है (पू) निर्विकल्पक ज्ञान के प्रमाण होने से प्रामाणिक स्थल में प्रवृत्ति का नियम तज्जन्यविकल्प के अधीन है ? (उ) ऐसा नहीं है। भ्रान्ति में भी बाधपर्यन्त प्रामाणिकता रहती है।

"इस कारण बोधात्मक (अर्थात् ज्ञानस्वरूप) होने के कारण अबुद्धि (अर्थात् भ्रान्तिज्ञान) की प्रामाणिकता प्राप्त है, वह हेतु में स्थित अर्थान्यथात्वज्ञान से या (हेतु में स्थित) दोष के ज्ञान से वारित की जाती है।"

ऐसी भट्टपाद की उक्ति है। और तत्त्वावेदनप्रामाण्य इस स्थल में ज्ञात नहीं है। सन्मात्रतत्त्ववाद में यह दोष नहीं है (अर्थात् व्यवहारिकदशा में जो अबाधितत्त्व है वही तत्व है यदि ऐसा मानते हैं तो 'अयं घटः' इत्यादि ज्ञान में अप्रामाण्य नामक दोष नहीं है।)

[3] श्लो० वा० २.५३।

इति भट्टपादोक्तेः। तत्त्वावेदनप्रामाण्यञ्च न चैतत्स्थले सम्प्रतिपन्नम्। (सन्मात्र[1])-तत्त्ववादे च नायं दोषः; अधिष्ठानात्मना प्रामाणिकत्वात् (सतश्च[2]) रजताद्यात्मनेव घटाद्यात्मना दोषविशेषवशात् प्रतिभाने प्रवृत्तिनियमोपपत्तेः। अस्त्यर्थ एव च 'घटोऽस्ति' इति [तद्भावेन], 'स मे नास्ति' इत्यतद्भावेन च व्यवह्रियते स्थाणौ पुमानिव। ततो न शब्दादेः[3] पौनरुक्त्यं सत्त्वासत्त्वविरोधो वा। नीलज्ञाने पीताद्युल्लेखादेव तत्परिहारेण नीले प्रवृत्तिश्च व्यावृत्तिग्रहणमन्तरेणापि। नीलज्ञानं च ज्ञातान्यव्यवच्छेदकम्, नाऽव्यवच्छेदकमेव[4]; अज्ञायमाने पीतादिव्यवच्छेदा-सम्भवात्; नीलज्ञाने पीतादेरज्ञानात्; ज्ञानयौगपद्याभावादन्यज्ञानेनापि ज्ञातत्वा-

भावदीपिका

सत्ताप्रतीतेरधिष्ठानसत्ताविषयत्वात् विशेषविकल्पप्रत्ययस्यैवाऽप्रामाण्यं न निर्विकल्पकस्य—इत्याह—सन्मात्रेति। अतो निर्विकल्पकस्य विशेषमात्रावगाहकत्वकल्पनाऽनुभवाद्यनुकूलत्वात् संगतेति स्थितम्। इदानीं यदुक्तं कुसुमसूत्रवत् सदनुस्यूतं नानुभूयते, अनुगतप्रत्ययस्तु कल्पित-सामान्यगोचर इति—तत्रेदमुपतिष्ठते—सतश्चेति। अखण्डमेव सद्वस्तु मायाबलादनेकवि-लक्षणाऽऽकारप्रपञ्चरूपेण भासते। तच्च शुक्त्यादिवदधिष्ठानतयाऽनुगतं केवलविशेषग्राहक-प्रमाणस्याऽनुगतप्रत्ययबाधकस्याऽनिरूपणादिति व्यावृत्तव्यवहारस्यान्यथोपपादनेनोक्तम्। समा-रोपितविशेषभेदस्वीकारादेव न शब्दान्तरवैयर्थ्यादि दोषोऽपि—इत्याह—अस्त्यर्थ एव चेति।

विशेषभेदस्य काल्पनिकत्वमनङ्गीकुर्वतोऽपि नीलादिप्रत्यक्षेण न तद्ग्रहो युक्तः—इति पुनः परमतं निराचष्टे—नीलज्ञान इति। प्रवृत्तिविषयार्थज्ञानादेव प्रवृत्तिसिद्धावर्थान्तरज्ञानस्याऽकिञ्चित्करत्वान्न तत्र प्रमाणव्यापारः कल्पनीयः। न च पीताद्यभावो नीलमेव; पीतादीनां नीलाभावाऽविनाभावस्वीकारात्, नीलाऽभावाऽभावस्य नीलत्वेऽपि तदविनाभूतपीताद्यभावस्य नीलत्वाऽनुपपत्तेः; अन्यथा नीलाभाव एव पीतादिरिति वक्तव्यं, न तदविनाभाववानिति। ततो न नीलविधिरेव पीतादिव्यवच्छेद इति भावः। किञ्च व्यवच्छेदप्रतीतेर्धर्मिप्रतियोगि-प्रतीत्यधीनत्वात् तत्र किमेकज्ञानेनोभयप्रतीतिर्द्वाभ्यां वा? नोभयमपि–इत्याह–नीलज्ञानञ्चेति।

ज्ञानवती

क्योंकि अधिष्ठान के रूप में वे प्रामाणिक हैं। (पू) (तो फिर अयथार्थ व्यावहारिक जगत् में प्रवृत्ति कैसे होती है?) (उ) जैसे दोषविशेष के कारण सत् (=शुक्ति आदि) का रजत आदि के रूप में प्रतिभान होता है और प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार माया अविद्या आदि का) दोषविशेष के कारण प्रतिभान होने पर प्रवृत्ति हो जाती है। 'घटोऽस्ति' इस प्रकार (तद्भाव) एवं 'स मे नास्ति' इस अतद्भाव के रूप में स्थाणु में पुरुष की भाँति अस्त्यर्थ ही व्यवहृत होता है। इस कारण (घट) शब्द आदि का पौनरुक्त्य नहीं है और सत्त्वासत्त्व-विरोध भी नहीं है।

नील के ज्ञान में पीत आदि का उल्लेख न होने से ही उस (अर्थात् पीत) के परिहार

---

[1] (क) तन्मात्र तत्त्ववादेः। (ख) सन्मात्रतत्त्वावेदादेव। [2] (क) अतस्त्व। (ख) सतश्च। [3] शब्दादेरपौन। [4] (ख) चाव्यवच्छेद।

सम्भवात् । न च स्वाभाववदविशेषेणान्यव्यवच्छेदः ; स्वाभावव्यच्छेदमन्तरेण स्वविधानस्यानुपपन्नत्ववदन्यव्यवच्छेदमन्तरेणानुपपन्नत्वाभावात् रूपव्यवच्छेदमन्तरेणापि तत्समानदेशरसविधानात् ।

अथ तथाऽपि रसस्य रूपताव्यवच्छेदो रसैकाकारप्रत्ययाद्वाच्य एव, रूपासंसृष्टरसैकाकारप्रत्ययाभावे तद्व्यवहारनियमानुपपत्तेः ? मैवम् ; केवलविज्ञानादेवेतरव्यवच्छेदे निषेधाय दत्तो जलाञ्जलिः । (नीलभावा[1])विनाभूतत्वाच्चेत् पीतादिव्यवच्छेदः ? स तर्हि लिङ्गात् न प्रत्यक्षतः ; अतः स्वरूपभूतो भावभेदः प्रत्यक्षगम्यः। न खलु नीलस्य सत्तायामपि अनुभवमन्तरेणास्ति व्यवस्थापकं प्रमाणम् । स च नीलसत्तां व्यवस्थापयन् पीतादिव्यावृत्तस्वभावामेव तां व्यवस्थापयति इत्यनुभवमार्गागतम् । अपरथा सत्तायामपि प्रमाणान्तरं मृग्यं स्यात् । सर्वस्वरूपभेदानामेकस्वरूपान्तर्गमादद्वैतम् । स्वरूपानेकत्वं च (भेदासिद्धा[2]) वसिद्धम् ।

भावदीपिका

प्रकारान्तरेण पीताच्च व्यवच्छेदमाह—न चेति । 'इह जले रसः' इत्युक्ते यथा रससत्तैव प्रतीयते न रूपाद्यभावः तथा 'इह नीलम्' इत्युक्तेऽपि नीलसत्तैव प्रतीयते न पीताद्यभाव इत्यर्थः ।

तथाऽपि रसस्य रूपतादात्म्याप्रतीतेस्तद्व्यवच्छेदसिद्धिरिति शङ्कते—अथेति । यदि विधिप्रत्ययेनैव साक्षादन्यव्यवच्छेदसिद्धिः, तर्हि अनुभवविरोधो विधिर्व्यवच्छेदविकल्पौ प्रसूत इति च व्याहतम्—इत्याह—मैवमिति । अथ न साक्षाद् व्यवच्छेदकत्वम् ? तत्राह—नीलाभावेति । प्रत्यक्षस्य भेदग्राहकत्वप्रतिज्ञा भेदस्य लैङ्गिकत्वे भज्येत, काल्पनिकभेदेऽपि लिङ्गोपपत्तेश्चेति भावः। बौद्धगन्धित्वाद् गुरुमतमपि तन्निरासप्रस्तावेऽनूद्य रूपयति – [अतः] स्वरूपेति । किं स्वरूपपरिशेषः स्वरूपभेदवादो भेदपरिशेषो वा ? आद्ये—न भेदो नाम इत्यद्वैतापत्तिः । द्वितीये—केवलभेदस्य प्रत्यक्षत्वमनुभवविरुद्धम्; स्वरूपैकत्वे भेदसिद्धिः, एवं स्वरूपैकत्वसिद्धिश्च भेदसिद्ध्यधीनेति परम्पराश्रय इत्यर्थः सर्वेत्यादिदूषणग्रन्थस्य । यदुक्तं स च नीलसत्तामित्यादि—तद् दूषयति-किञ्चेति ।

ज्ञानवती

से नील में प्रवृत्ति व्यावृत्तिग्रहण (अर्थात् 'नील पीत से व्यावृत्त है' इस ज्ञान) के विना भी हो जाती है और नीलज्ञान ज्ञात से अन्य का व्यवच्छेदक है, अव्यवच्छेदक नहीं है । (नील आदि के) ज्ञात न होने पर पीत आदि का व्यवच्छेद संभव नहीं है । और नीलज्ञान में पीत आदि का ज्ञान न होन से तथा (दो या अनेक) ज्ञान के एक साथ न होने से अन्यज्ञान (=पीतादिज्ञान) से भी ज्ञातत्त्व असम्भव है । (पू) स्वाभाव के समान सामान्य रूप से अन्य का व्यवच्छेद है ? (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि स्वाभाव के व्यवच्छेद के विना स्वविधान के अनुपन्न होने के समान अन्यव्यवच्छेद के विना अनुपपत्ति हो जाती है क्योंकि रूप का व्यवच्छेद हुये विना भी तत्समानदेशवाले रस का विधान होता है ।

(पू) फिर भी रस के एकाकारप्रत्यय के कारण रस की रूपता का व्यवच्छेद होता ही है क्योंकि रूप से असंसृष्ट रसैकाकारप्रत्यय के अभाव में तद्व्यवहार(=रस व्यवहार) के

---

[1] (क) नीलाभावा । [2] (क) भेदसिद्धा, (ख) भेदासिद्धा ।

[नीलादिप्रत्ययस्य पीतादिव्यवच्छेदकत्वाभावः—]

किञ्चास्य नीलसत्तापीतादिव्यवच्छेदपरिच्छेदौ नानुभवमार्गागतौ। ननु पीतादिव्यावृत्त्यस्फुरणे नीले पीतादिस्फूर्तिरपि स्यात्, तथा च नासङ्कीर्णनीलव्यवहारसिद्धिरिति चेत्? न; त्वयाऽपि व्यावृत्तेः पृथक्त्वानङ्गीकारेण नीले नीलत्वस्येव पीतादेरपि सङ्करस्य वारयितुमशक्यत्वात्। नीलतामात्रोल्लेखेन तद्वारणं चेत्? नोऽपि तुल्यम्। अखण्डस्वरूपप्रतीतिरेव चेत् भेदप्रतीतिः? तदा 'अयमनयोर्भेदः' 'अयमस्माद् भिन्नः' इति च व्यवहारस्य यथाज्ञानत्वासिद्धेरद्वैतव्यवहारस्य च यथाज्ञानत्वादद्वैतमेव भङ्ग्यन्तरेण वर्णितं स्यात्।

भावदीपिका

[नीलादिप्रत्ययस्य पीतादिव्यवच्छेदकत्वाभावः—]

विपक्षबाधकेन परिच्छेदद्वयं साधयति—नन्विति। पीतादिभ्यो भेदो नीलस्य स्वरूपमेव त्वयेष्यते; तथाच विशेषणभूतपीतादेरपि स्वरूपत्वमापद्येत। अथ पीतादिस्वरूपमपि भेद एव न भेदविशेषणम्? तथाऽपि स्वरूपभेदो यथा न स्वरूपं नीलस्य नीलाद् भिनत्ति तथा पीतादेरपि न भिन्द्यात्; धर्मिप्रतियोगिभावाप्रतीतेस्तुल्यत्वात्—इति दूषयति—न त्वयाऽपीति। अथ भेदोल्लेखाभावेऽपि नीलत्वस्यैवोल्लेखात् पीताद्यसंकरः? सोऽस्माकमपि समानः—इत्याह—नीलतामात्रेति। इतश्च न स्वरूपप्रतीतिरेव भेदप्रतीतिः—इत्याह—अखण्डेति। अद्वैतमेव प्रामाणिकं वर्णितं स्यात्। भेदव्यवहारस्य

ज्ञानवती

नियम की अनुपपत्ति हो जायगी? (उ) ऐसा नहीं है। तब तो केवल विज्ञान से ही इतर का व्यवच्छेद होने पर निषेध को जलाञ्जलि दे देनी पड़ेगी। (पू) नीलभाव के अविनाभूत होने से पीत आदि का व्यवच्छेद हो जायगा? (उ) तब तो वह अनुमान से होगा प्रत्यक्ष से नहीं। इसलिये स्वरूपभूतभावविशेष प्रत्यक्षगम्य है। नील की सत्ता रहने पर भी अनुभव के विना व्यवस्थापक प्रमाण हो, ऐसी बात नहीं है। और वह (=अनुभव) नील की सत्ता को व्यवस्थापित करता हुआ पीत आदि से व्यावृत्तस्वभाव वाली ही उस (सत्ता) को व्यवस्थापित करता है, ऐसा अनुभव मार्ग से प्राप्त है। अन्यथा सत्ता के विषय में भी दूसरा प्रमाण खोजना पड़ेगा। सर्वस्वरूपभेदों (अर्थात् घटभेद पटभेद आदि) के एकस्वरूपान्तर्गत होने से अद्वैत है। और स्वरूप का अनेकत्व भेद के असिद्ध होने पर असिद्ध है।

[नील आदि ज्ञान, पीत आदि ज्ञान का व्यवच्छेदक नहीं है—]

इसके अतिरिक्त इस (=धर्मकीर्त्ति) के अनुसार नीलसत्ता (का परिच्छेद) एवं पीत आदि के व्यवच्छेद (अर्थात् निर्णय) अनुभवमार्ग में नहीं आये हैं। (पू) पीत आदि की व्यावृत्ति के स्फुरण न होने पर नील में पीत आदि की स्फूर्त्ति भी होने लगेगी? और इस प्रकार असंकीर्ण नीलव्यवहार की सिद्धि होने लगेगी? (उ) ऐसा नहीं है। तुम्हारे (=धर्मकीर्त्ति के) द्वारा भी व्यावृत्ति के पृथक स्वीकार न करने से नील में नीलत्व के समान पीत आदि के भी संकर का वारण असम्भव हो जायगा। (पू) नीलतामात्र का उल्लेख

किञ्च यथा प्रसिद्धभेदस्य[1] भेदस्य नीलस्वरूपमात्रत्वम्, तथा पीतादेरपि किन्न स्यात्? अपेक्षायाश्च पौरुषेयत्वात्। सापेक्षं स्वरूपं भेदः, इत्यप्ययुक्तम्। अत्र च पुंसः तद्गतनिरपेक्षत्वमापद्यते[2]। अथ वस्तुनो धर्मो भेदः? विभागादिलक्षणत्वेऽस्य गुणादावभेद एव तात्त्विकः स्यात्। सामान्यधर्मश्चेत्? न विशेषेषु भेदः स्यात्। विशेषधर्मत्वेऽप्येवम्, विशेषेषु विशेषधर्मान्तराभावात्। न च सामान्यविशेषाभ्यां

भावदीपिका

निर्विषयत्वसम्भवाच्चाऽद्वैतमेव प्रामाणिकं, न द्वैतम्—इत्याह—किञ्चेति। किञ्च स्वरूपमात्रं चेद् भेदः, तत्प्रतीतौ प्रतियोग्यपेक्षा न स्यात्। अथ सापेक्षं स्वरूपं भेदः? तत्राह—अपेक्षायाश्चेति। यदि न नीलादिधर्मापेक्षा कथं तर्हि प्रतियोग्यपेक्षा न स्यात्?—इत्यापाद्यते—अनिष्टापर्यवसानादिति। पृथक्त्वं वा द्रव्यं वा कर्म वा तदा गुणादौ तदभावापत्तिः। यदि सामान्यप्रभेदस्तदा सामान्यादिषु सा; यदि विशेषस्तदा विशेषेषु; यदि च समवायस्तदा तस्मिन्नित्यर्थः।

अथ षट्पदार्थातिरिक्तो धर्मो भेदः? तत्राऽऽह—न चेति। अत्र विशेषाः द्रव्यादयः पञ्च सामान्यविलक्षणा द्रष्टव्याः। किं च पृथक्त्वादिर्न संयोगेन समवायेन वा प्रत्यक्षग्राह्य

ज्ञानवती

होने से उसका वारण है? (उ) यह तो हमारे मत में भी तुल्य है। (पू) अखण्डस्वरूप की प्रतीति ही भेद की प्रतीति है? (उ) तव तो 'यह इन दोनों में भेद है' 'यह इससे भिन्न है' ऐसे व्यवहार, तथा ज्ञान के अनुसार व्यवहारवाले सिद्धान्त के असिद्ध होने के कारण अद्वैतव्यवहार के ज्ञानानुसारी होने से अद्वैत ही भङ्ग्यन्तर से वर्णित हो जायेगा।

इसके अतिरिक्त जैसे प्रसिद्धभेदवाला भेद नीलस्वरूपमात्र होता है उसी प्रकार पीत आदि का भी क्यों नहीं हो जाता। क्योंकि अपेक्षा (बुद्धि) तो पौरुषेय है। सापेक्षस्वरूप ही भेद है यह (कहना) भी ठीक नहीं है क्योंकि इस विषय में पुरुष के तद्गतनिरपेक्षत्व की ही आपत्ति हो जाती है। (पू) भेद वस्तु का धर्म है? (उ) इसके (=भेद के) विभाग आदि लक्षण होने पर गुण आदि में अभेद ही तात्त्विक हो जायगा। (पू) यदि (भेद) सामान्यधर्म है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि तव तो विशेषों में भेद हो जायगा। विशेष धर्म होने पर भी ऐसा ही है। क्योंकि विशेष नाम का धर्मान्तर नहीं रहता। और धर्म की सामान्य एवं विशेष से अतिरिक्त भङ्गी प्रसिद्ध नहीं है और प्रसिद्ध होने पर भी 'घट सत् है' 'गाय स्वस्तिमती है' इत्यादि सामानाधिकरण्यप्रत्यय, जो कि अविरुद्धप्रसरवाला है, सामान्यविशेष का भेद कैसे करेगा? (पू) अनुगतप्रत्यय एवं व्यावृत्तप्रत्यय से सिद्ध सामान्य एवं विशेष में प्रवर्त्तमान सामानाधिकरण्यप्रत्यय का ऐक्यनिवन्धन युक्त नहीं है। उसी प्रकार 'नीलमुत्पलम्' यहाँ भेदपूर्वकसिद्ध द्रव्य एवं गुण का (अभेदज्ञान) ऐक्यनिवन्धन नहीं है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अनुगतप्रत्यय व्यक्ति में असंक्रान्त जाति को तथा व्यक्तिप्रत्यय जाति से अनालिङ्गित व्यक्ति को विषय बनता हुआ किसी के द्वारा अनुभूत नहीं है। भट्टपाद भी कहते हैं—

---

[1] (ख) प्रसिद्धभेदस्य नील। [2] (ख) तद्गते निर।

भङ्गयन्तरं धर्मस्य प्रसिद्धम्। प्रसिद्धत्वे वा 'सन् घटः' 'गौः स्वस्तिमती' इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययो विरुद्धप्रसरः कथं सामान्यविशेषौ[1] भिन्द्यात्?

ननु अनुग(त)व्यावृ[त्त]प्रत्ययाभ्यां[2] सिद्धयोः सामान्यविशेषयोः प्रवर्त्तमानः सामानाधिकरण्यप्रत्ययो नैक्यनिबन्धनो युक्तः, तथा 'नीलमुत्पलम्' इति भेदेन सिद्धयोर्द्रव्यगुणयोः? मैवम्; अनुगतप्रत्ययो व्यक्त्यसंक्रान्तां जातिं व्यक्तिप्रत्ययश्च जात्यनालिङ्गितां व्यक्तिं परिच्छिन्दन्नानुभूतः केनापि यतः। तदाहुर्भट्टपादा अपि—

"न तु जातिविनिर्मुक्ता व्यक्तिर्दृष्टा कदाचन।" इति।

अतः 'सन् घटः' इत्यादि सल्लग्नप्रत्यये 'दण्डी देवदत्तः' इतिवत् भेदे प्रथमा नैव,

भावदीपिका

इष्यते, संयुक्तसमवायादिश्च न संयोगादिवदुभयनिष्ठः; तथा सति पृथक्त्वादिवच्चक्षुरादेः घटादिसमवेतत्वमपि स्यात्, पृथक्त्वादेरपि चक्षुरादिना संयुक्तत्वं दुर्वारम्। नापि विशेषणत्वादिवदेकैकनिष्ठत्वम्; तथा सति दण्डदेवदत्तयोर्मध्ये संयोगवच्चक्षुरादेः पृथक्त्वादेश्च संयोगसमवायाभ्यामन्यः सम्बन्ध आपाद्येत। न खलु समवायान्यभावानां विशेषणविशेष्यभावः, आधाराधेयभावात्; य एकैकनिष्ठाः सम्बन्धाः मध्ये सम्बन्धान्तरमन्तरेणेष्यन्ते काणादादिभिः। अतः प्रत्यक्षस्य द्रव्यमात्रसम्बन्धसंभवात्तन्मात्रं ग्राह्यं न भेदगन्धोऽपि। तथाऽपि भेदप्रसिद्धेः का गतिः? प्रवलप्रसिद्धयन्तरबाधितत्वात् भ्रान्तित्वं गतिः—इत्याह—प्रसिद्धत्वञ्चेति।

ननु व्यावृत्तप्रत्ययस्य श्रुतेरिव लिङ्गेन सामानाधिकरण्यप्रत्ययेनोपजीव्यत्वान्न बाधः संभवति? मैवम्; या हि श्रुतिर्लिङ्गेनोपजीव्यते न तया सह विरोधप्राप्तिः यया च विरोधो न सोपजीव्या। अतः श्रुतिः साक्षात् विनियोक्त्री; लिङ्गं तु स्वानुकूलश्रुतिव्यवधानेनेति तयोर्विरोधे बाध्यबाधकभावः। तेनैक्यप्रत्ययस्य प्रतियोगिप्रतीतिव्यवधानाभावात्तद्भावाच्च व्यावृत्तप्रत्ययस्य तस्यैवैक्यप्रत्ययेन बाधः। तथाऽपि 'सन् घटः' इत्यादिप्रत्ययस्यार्ऽर्थद्वयपरामर्शित्वात्तद्ग्राहकोपजीवित्वमस्ति?—इति शङ्कते—नन्वनुगतेति। तत्किं भिन्नविषय एव सामानाधिकरण्यप्रत्ययो भिन्नाभिन्नविषयो वा? नाद्यः; अश्वमहिषादिवत् भेदोल्लेखाभावाद्—इत्याह—मैवमिति। अन्त्यमुपसंहारच्छलेन प्रत्याचष्टे—अत इति। अतो भेदप्रत्ययस्य विषयाऽनिरूपणाद् भ्रान्तित्वात्तद्बाधकतयैव चन्द्रैकत्वप्रत्ययवत् सामानाधिकरण्यप्रत्यय उपजायत इति भावः।

अभेदस्फुरणस्यौपाधिकत्वादनौपाधिकत्वाच्च भेदप्रत्ययस्य विपरीत एव बाध्यबाधक

ज्ञानवती

"कभी भी जाति से रहित व्यक्ति नहीं देखी गई है।"

इसलिये 'सत्तावान् घट' इत्यादि सत्ता से युक्त ज्ञान में (उसी प्रकार) भेद में प्रथमा (विभक्ति) नहीं है जैसे 'दण्डी देवदत्त' में भेद में प्रथमा (विभक्ति) नहीं है। (इसकारण) विशेषण एवं विशेष्य रूप सम्बन्धियों के संयोगमात्र से स्फुरण न होने से अभेद ही कहना

---

[1] (क) विशेषणौ। [2] (क) ति।

संयोगमात्रेण विशेषणविशेष्ययोः सम्बन्धिनोरस्फुरणादभेद एव वक्तव्यः। न च भिन्नयोरेव समवायादभेदास्फुरणम्; अनिष्पन्नस्य घटादेः समवायानिरूपणात्। निष्पन्नस्य च संयोगो युक्तः; सिद्धस्य च समवाये तल्लक्षणभङ्गात्। न खलु निष्पद्यमानमलब्धसत्ताकं समवायेन नियन्तुं शक्यते। न च समवेतमेवोत्पद्येत; घटादिप्रध्वंसस्यापि कपालादिसमवेततयोत्पत्तिप्रसङ्गात्; समवायस्य चेह प्रत्यहेतुत्वेन लक्षणात् तन्निवन्धनं 'सति घटः' 'घटे सत्' इति वा प्रत्ययो व्यधिकरण एव स्यात्।

भावदीपिका

भावः—इत्याशङ्क्याऽह—न च भिन्नयोरेवेति। समवायौपाधिकाभेदस्फुरणं वृक्षयोरिव सन्निधानौपाधिकं वदता निरूपाधिकं भेदस्फुरणं निरूपणीयम्; तच्च न वृक्षयोरिव सद्घटयोः संप्रतिपन्नम्। ततश्चन्द्रभेदप्रत्ययवत् भेदोल्लेख एव भ्रान्त इति भावः। किंच भवता कार्यकारणयोः समवाय इष्यते; सोऽपि दुर्निरूपः इत्याह सद्वस्तुन एव बिम्बः तद्रूपघटादिकार्य [इति] वक्तुम्—अनिष्पन्नस्येति। अस्तु तर्हि निष्पन्नस्येति? तत्राऽऽह—निष्पन्नस्य चेति। युतसिद्धत्वमनित्यानां, द्वयोः पृथगाश्रयत्वं परस्परपरिहारेण, यथा घटपटयोः; नित्यानां च द्वयोरन्यतरस्य वा पृथग् गतिमत्त्वं यथा परमाण्वोश्च। तत्र घटादिकं कारणसमवायमन्तरेण यदि सिद्धं, तर्हि "सदकारणवत् नित्यम्" इत्युक्तत्वात् घटादेर्नित्यत्वप्रसंगो दोषः समवायासिद्धिश्चेत्यर्थः।

अस्तु तर्हि निष्पद्यमानस्य समवायः?—इत्यत आह—न खल्विति। ननु समवायो नित्यो व्यापकश्च स्वकारणाभिमतवस्त्ववच्छिन्नो जायमानमेव कार्यमाकाश इव व्याप्नोति; प्रध्वंसस्य च समवायिकारणाभावान्न समवेततयोत्पत्तिप्रसङ्गः?—इत्याशङ्क्योक्तम्—कपालादीति। यथा कपालावच्छिन्नसमवायेन व्याप्यमानो घटः कपालसमवेतो जायते एवं तद्ध्वंसोऽपीति न शक्यते वक्तुम्। भाववदभाव[-योरु-]पादानैक्यासंभवादित्यप्यलब्धसत्ताकमित्यनेनाशङ्काऽपाकरणीया; अनुत्पन्नदशायां घटतद्ध्वंसयोर्विशेषाभावात्। अविशेषणकपालानां तत्कारणत्वं विरुद्धं संयोगविभागकारणत्ववद्दुर्वारमिति। एवं कार्यकारणयोः समवायाऽनिरूपणात् कारणस्य चन्द्रद्वित्ववत् कार्यं विवर्त्तमात्रमिति भेदधीर्भ्रम एव। इदानीं 'सन् घटः' इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययः समवायलक्षणाऽऽलोचनया न तन्निबन्धनः—इत्याह समवाय चेति। "अयुतसिद्धानामाधार्याधारभूतानामिह प्रत्ययहेतुर्यः

ज्ञानवती

चाहिये। (पू) समवाय के कारण दो भिन्न पदार्थों के अभेद का स्फुरण नहीं होता? (उ) अनिष्पन्न घट आदि के समवाय का निरूपण ही नहीं होता। और निष्पन्न का संयोग ठीक है क्योंकि सिद्ध का समवाय होने पर उस (अर्थात् समवाय) का लक्षण भग्न हो जायगा। जो निष्पद्यमान है अलब्धसत्तावाला है उसका समवायेन नियमन नहीं हो सकता। (पू) समवेत ही उत्पन्न होगा? (उ) तब तो घटा आदि के प्रध्वंस की भी कपाल आदि में समवेत होकर उत्पत्ति होने लगेगी। और समवाय के इहप्रत्ययहेतुरूप लक्षण होने से उसके कारण 'सति घटः' या 'घटे सत्' ऐसा व्यधिकरण प्रत्यय होने लगेगा।

अथार्थतो व्यधिकरण एव प्रतीतिरस्तु[१], न समानाधिकरणः 'सन् घटः' इति प्रत्ययः ? तर्हि 'सिंहो देवदत्तः' इतिवत् समवायनिबन्धनो न स्यात्। जातिव्यक्त्योरिव गुणगुणिनोरपि भेदासम्भवात् 'नीलमुत्पलम्'इत्याद्यनुदाहरणं सामवायिकगौणसामानाधिकरण्यस्य। न चात्यन्तभिन्नयोरसंलग्नेन समवायेन क्षीरोदकयोरग्न्ययसोर्वा संयोगेनैव शक्यमैक्यमुद्भासयितुम्। विना सम्बन्धं परस्परात्मना

भावदीपिका

सम्बन्धः स समवाय"—इति लक्षणम्। तस्य भेदाऽसिद्धचपेक्षत्वाच्चाधाराधेयभावादेस्तदभावे न समवायसिद्धिः। अतएव भेदसमवायसिद्धयोरितरेतराऽपेक्षत्वेनाऽसाधकत्वसाम्यम्। असम्बद्धतया च समवायस्य न भेदतिरोधायकत्वम्; लाक्षादिकं संश्लिष्टमेव काष्ठफलकादिभेदतिरोधायकं दृष्टम्। स्वरूपेण तिरोधायकत्वं च [अ]भेदवतोऽपि समानम्। संबन्धाऽभ्युपगमे च तत्राऽपि पर्यनुयोगसाम्यादनवस्थितिः। "समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः" इति व्यासोक्तेश्चेति चकारार्थः।

ननु सत्तावान् सन्नित्युच्यते; तेन न मुख्योऽयं समानाधिकरण्यप्रत्ययो यथैवाऽज्ञ इति प्रत्ययः ?—इति शङ्कते—अथार्थत इति। तर्हि नाऽभिप्रेतलाभ इत्यापन्नम्। ननु सिंहगुणसमानगुणसमवायनिबन्धनः सिंहशब्द इव प्रत्ययहेतुत्वम् वा ? अयोगव्यवच्छेदेनाऽन्ययोगव्यवच्छेदेन वा 'घटे रूपम्' इत्यादिप्रत्ययस्य संयोगहेतुकत्वानुपपत्तेः। न च घटरूपयोरपि संयोग एव; घटपटवत् पृथक्गतिमत्त्वादिप्रसंगात्; न च तथा दृश्यत—इत्याशङ्कयाह—जातिव्यक्त्योरिवेति। न केवलमसम्बन्धस्य समवायस्य भेदतिरोधायकत्वाऽसम्भवः, ऐक्योद्भासकत्वाऽसम्भवोऽपि—इत्याह—न चात्यन्तभिन्नयोरिति। अथ सम्बन्धान्तरमन्तरेण गुणगुण्यादेर्यत् परस्परापरिहारेण वृत्तिसम्पादकं स समवायः, स च नित्यो भवतु, यथा काणादानाम्; निमित्तमात्रजन्यो वा; समवायिजन्यत्वे समवायानवस्थानात्, इति च प्राभाकराणाम् ? तदाह—विनेति। यदि सम्बन्धमन्तरेणैक्यस्फुरणोपाधित्वं समवायस्य, तर्हि तस्य समवायिभ्यामर्थान्तरत्वं दुर्निरूपम्। ताभ्यां हि स निरूणीयः; न च सम्बन्धमन्तरेण

ज्ञानवती

(पू) अर्थतः व्यधिकरण ही प्रतीति हो 'सत्तावान् घट' यह सामानाधिकरण ज्ञान न हो ? (उ) तब तो 'देवदत्त सिंह है' इसके समान (सत्तावान् घटः ज्ञान) समवायसम्बन्ध से युक्त नहीं होगा। जाति व्यक्ति के समान गुण एवं गुणी का भी भेद असंभव होने से 'नीला उत्पल' इत्यादि, समवायसम्बन्धवाले गौणसामानाधिकरण्य का उदाहरण नहीं है। क्षीर और उदक के अथवा अग्नि और लौहे के संयोग के समान दो अत्यन्तभिन्न पदार्थो का ऐक्य असम्बद्धसमवाय से उद्भासित नहीं हो सकता। (पू) विना सम्बन्ध के तादात्म्येन समवाय हो जायगा ? (उ) तब तो पदार्थन्तरत्व की प्राप्ति ही नहीं होगी। वही कहा है—

"उस (अर्थात् घटत्व) के आत्मरूप (=घटरूप) होने से अन्यसम्बन्ध की कल्पना नहीं होती। धर्म एवं धर्मी में अभेद होने से (उनका)स्वरूप समवाय है।"

---

१ (ख) रस्तु सामाना।

समवायश्चेत्? न पदार्थान्तरत्वलाभः। तदाहुः—

"अथ तस्यात्मरूपत्वान्नान्यसम्बन्धकल्पना।
अभेदात्समवायोऽस्तु स्वरूपं धर्मधर्मिणोः॥" इति।

यस्य च 'शुक्लो गौः' इत्यादयो बुद्धयो व्यवहाराङ्गभूताः द्रव्येषु गुणजात्युपधाननिबन्धनाः, तस्यैता न यथावस्तु; जातिगुणद्रव्याणामन्योन्यपदार्थान्तरत्वात्; तथा च न वस्तुनिबन्धनो व्यवहारः; अध्यक्षानुपदर्शितस्य (व्यवहाराङ्गत्वात्[1], अध्युपदर्शितस्य) चातथात्वात्। एवं च प्रत्ययविरचितेनैवायमर्थेन व्यावृत्तो व्यवहारोऽनुवृत्तश्च इति व्यर्था वस्तुभेदकल्पना। व्यावहारिकबुद्धीनां यथार्थत्वाय वस्तुभेदः कल्पनीयः। अतएव समवायस्य—

भावदीपिका

निरूपणं भावस्य। न चैतौ समवायिनाविति विनाऽपि सम्बन्धं समवायस्य निरूपकत्ववत्तयोस्तन्निरूपकत्वं; तस्याप्यसम्प्रतिपत्तेः—इत्याशयेनाह—नेति। भावकार्यस्य च निमित्तमात्रजन्यत्वस्याऽदृष्टान्तसिद्धस्य स्वीकारो न गुरोर्गुरुत्वं द्योतयति। न च प्रत्यक्षाद्यत्राऽस्ति। जन्यत्वेऽनन्तसमवायकल्पनागौरवमपि, अत एवेति गुरुमतेऽधिकं द्रष्टव्यम्। वार्त्तिके तस्याऽत्मरूपत्वं स्वयं सम्बन्धरूपत्वम्। अभेदात्=भेदग्राहकाऽभावात्। अथवा न समवायस्य समवायिभ्यां सम्बन्धापेक्षा; तस्य समवाय्यात्मत्वात् इति शङ्का।

इदानीं सामवायिकं सामानाधिकरण्यमभ्युपेत्य वास्तवभेदानुपयोगित्वं तस्याऽद्वयस्य [इति पक्षान्तरमुपस्थापयति—यस्य चेति]। न च शुक्लशब्दो गुणे तद्वति च तुल्यवृत्तिः; अन्याय्यश्चानेकाऽर्थत्वमिति न्यायविरोधात्। न च केवलद्रव्यविवक्षायां

ज्ञानवती

जिसके मत में "शुक्लो गौः' इत्यादि बुद्धियाँ व्यवहार (अर्थात् शब्दप्रयोग, उपादान अथवा परित्याग) के अङ्गभूत हैं तथा द्रव्यों में गुण-जाति-उपाधिसम्बन्ध वाली हैं, उसके मत में ये वस्तु के अनुसार नहीं होतीं; क्योंकि जाति, गुण एवं द्रव्य एक दूसरे की अपेक्षा पदार्थान्तर हैं। और इस प्रकार व्यवहार वस्तु से सम्बद्ध नहीं होता क्योंकि प्रत्यक्ष से अनुपदर्शित (वस्तु) व्यवहार का अङ्ग होती है और अध्युपदर्शित उस प्रकार की नहीं होती और इस प्रकार यह व्यवहार प्रत्यय से विरचित अर्थ से ही व्यावृत्त एवं अनुवृत्त होता है इस लिये वस्तुभेद की कल्पना व्यर्थ है। व्यावहारिकबुद्धियों की यथार्थता के लिये वस्तुभेद की कल्पना करनी चाहिये। और उसके कल्पित होने पर व्यवहार के ऐक्यनिबन्धन न होने से अयथार्थत्व का परिहार नहीं होता। इसीलिये समवाय के विषय में—

"भेद होने पर भी यदि उसका भेदान्तर्धानसामर्थ्य स्वीकार है तो एक ही का वह क्यों नहीं होता जो इस प्रकार अवभासित होता है।"

ऐसा (कहा गया)। इसलिये अनुवृत्तप्रत्ययप्रमाणवाला सामान्य तथा व्यावृत्तप्रत्ययप्रमाणवाला विशेष दो वस्तु नहीं हैं।

---

१ (क) अध्यक्षानुपदर्शितस्य चातथा। (ख) नुप्रदर्शितस्याव्यवहाराङ्गत्वात् अध्युपदर्शितस्य चातथा।

"भेदान्तर्धानसामर्थ्यं तस्य भेदेऽपि चेन्मतम्।
हन्तैकस्यैव तत् किं न यदेवमवभासते॥"

इति। अतो न सामान्यविशेषौ द्वे वस्तुनी, अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययप्रमाणके।

[वैनाशिकमतेन पूर्वपक्षः—]

मा भूदर्धवैनाशिकादिमतमेतत्, वैनाशिकमतं पुनर्भविष्यति। विशेषा[१] एव व्यावृत्तिधीवेद्याः परमार्थवस्तु, अनुस्यूतधीवेद्यं सामान्यं कल्पितम्। एवं

भावदीपिका

शुक्लादिशब्दप्रयोगः सम्प्रतिपन्नः। प्रत्यक्षव्यवहारे च न शुक्लोऽयमित्यत्र शुक्लशब्दो गुणिलक्षणया गौणवृत्तिरिति शक्यं वक्तुम्। शाब्दे हि व्यवहारे तथा स्यात्। "पूर्वापर-विशिष्टद्वयोपलक्षितं स्वरूपमात्रज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्" इति प्रकटार्थः। यद्यपि प्रत्यक्षे लक्षणाया दुर्घटत्वाद् दुर्घटमिव तेन भिन्नानामैक्योल्लेखः काष्ठफलकाद्यैक्योल्लेखवदौपाधिको भ्रान्तश्चेति भावः; यतः सामवायिकसामानाधिकरण्यप्रत्ययाङ्गीकारेऽपि न वास्तवभेद-लाभोऽतः—इत्याह—अतएवेति। एवं परपक्षमुन्मूल्य स्वपक्षे युक्तिमाह - भिन्नयोरपीति[२]।

[वैनाशिकमतेन पूर्वपक्षः—]

समवायानिरूपणादेकस्य वस्तुनो मायया‌ऽनेकविशेषकल्पनापदत्वस्याऽऽगमसिद्धत्वाच्च 'सन् घटः' इत्यादौ न समवायाच्छादितभेदं सामान्यविशेषात्मकं वस्तुद्वयं भातीति स्थिते आगमाऽ-नङ्गीकारवादी प्रत्यवतिष्ठते - मा भूदिति। विप्रतिपन्ना विशेषाः स्वानुस्यूते वस्तुनि कल्पिता इत्यादेरप्रसिद्धविशेषणत्वम्। मिथ्यान्यावृत्तमात्रवादिनं प्रति मिथ्यात्वं व्यावर्तमान-प्रपञ्चे मिथ्यात्ववादिभिरुक्तम्। प्रपञ्चशब्दस्यानन्तविशेषेषु विनाऽनुस्यूतं सङ्ग्राहकं धर्मं प्रवृत्त्यनुपपत्तेः कल्पिताऽनुस्यूताङ्गीकारे तद्वदेव परस्याऽपि कल्पितत्वं केन वार्येत ? "यत् सत् तत्क्षणिकम्" इत्याद्यपि कल्पितसामान्यावलम्बनम्। समारोपेऽपि 'इदम्' इति सामान्यांश एव कल्पितो न रजतादिविशेष इति बौद्धाः। अयं पट एतत्तन्तुनिष्ठाऽत्यन्ताभावप्रतियोगीत्याद्यपि प्रत्येकमनन्तविशेषे दुःशकम्। वेदश्चाप्रमाणमेव। ततो विशेषा एव परमार्थसन्त इति मतं

ज्ञानवती

[वैनाशिकमत के अनुसार पूर्वपक्ष—]

यह अर्द्धवैनाशिक (अर्थात् नैयायिक एवं वैशेषिक) का मत न हो, वैनाशिक (अर्थात् योगाचार एवं सौत्रान्तिक) का मत तो होगा ही। व्यावृत्तिबुद्धि से वेद्य विशेष ही परमार्थ वस्तु है अनुस्यूतधी से वेद्य सामान्य तो कल्पित ही है। इसी प्रकार प्रवाह, ज्वाला, घूम आदि का ज्ञान है। (पू) वहाँ पर भी विषयान्तर के आकरवाली संसर्गवाली बुद्धि प्रमाण है।

(उ) तब तो अनुवृत्त बुद्धि का भी व्यावृत्ताकार संसर्ग न होंने से अपने विषय में प्रमाण्य का वारण कौन करेगा ? 'एकाकार प्रतिनियम के बल से निर्विकल्पक के द्वारा सब जगह से व्यावृत्त विशेष की सिद्धि नहीं होती' ऐसा कहा गया है। और एकाकारप्रतिनियम के इतरव्यवच्छेदक होने पर 'यह यहाँ नहीं है', 'यह यह नहीं है' ऐसा अभावज्ञान व्यर्थ हो

---

[१] (ख) विशेपत।   [२] अस्य मूलं न लभ्यते।

प्रवाहज्वालाधूमादिविवेकः। तत्रापि विषयान्तराकारा संसर्गवती बुद्धिः प्रमाणं चेत्? अनुवृत्तधियोऽपि व्यावृत्ताकारसंसर्गाभावात् स्वगोचरे प्रामाण्यं केन वार्यंत? न च एकाकारप्रतिनियमबलात् निर्विकल्पकेन सर्वतो व्यावृत्तविशेषसिद्धिः, इत्युक्तम्। एकाकारप्रतिनियमस्येतरव्यवच्छेदकत्वे च 'नेदमिह' इति 'नेदमिदम्' इति चाभावप्रमाणवैफल्यम्, अविशेषेण तादात्म्यसंसर्गयोर्निषेधसिद्धेः[१]। न च संसर्गनिषेधेन साफल्यम्; तस्य संसर्गज्ञानपूर्वकत्वात् प्रतिनियमपक्षे च तदनिरूपणात्।

अथ मिथ्यासंसर्गज्ञानमस्ति? तर्हि 'भूतले घटः' इत्यादिसंसर्गज्ञानस्य मिथ्यात्वात् रजतादिवत् घटादेः बहिःसत्त्वापलापः स्यात्। संसर्गमात्रसमारोपान्न दोषश्चेत्? स क्वापि वस्तुसन्न वा? आद्ये तस्योभयनिष्ठत्वनियमादनुस्यूतवस्तुसिद्धिः; नान्त्यः; अत्यन्तासतो वन्ध्यासुतादेः समारोपादर्शनात्।

भावदीपिका

साधीय इति भावः। विशेषेषु प्रमाणत्वेनाऽभिमत [स्य] प्रत्ययस्य सामान्येऽपि भावान्न सत्त्वे विशेषो युक्तः; ज्वालादावैक्यप्रत्ययस्य शुक्तिरजतादिविशेषप्रत्ययेन समानयोगक्षेमत्वात्—इति दूषयति - तत्रापीति। तर्हि पुनर्वस्तुद्वयसत्त्वं प्रसक्तम्? तत्राऽऽह—न चैकाकारेति। अभ्युपपत्त्याऽप्याह - एकाकारेति। यथैवैकाकारप्रतिनियमादन्यस्याऽन्यात्मताऽर्थान्निषिद्धा भवति तथा संसर्गोऽपीति वक्तुं शक्यत्वान्न भूतले घट इति व्यवहारः संसर्गकालेऽपि। घटः पट इति तादात्म्यव्यवहार इव स्यात्? —इति न वक्तव्यम्; सविकल्पकप्रत्ययेन संसर्गोल्लेखात्, तादात्म्यस्य चाऽनुल्लेखात्, पृथक्निषेधापेक्षत्वानपेक्षत्ववैषम्यसम्भवात् - इत्याशङ्क्याह—नच संसर्गेति। यथा भूतलादिविषयं प्रति नियताकारं ज्ञानमिष्यते तथा संसर्ग इति प्रतिनियताकारं तद्व्यवहाराय वक्तव्यं ज्ञानम्; तच्च ते [न] युक्तं, भूतले घटसंयोगस्य सम्बन्धिसम्पिण्डितस्यैवोल्लेखात्। नच स्वतन्त्रः संसर्गो नाम।

अथ संसर्गव्यवहाराय तज्ज्ञानं भ्रान्तमिष्यते?—इत्याह—अथेति। तर्किं घटसहितः संसर्गो मिथ्या समारोप्य व्यवह्रियते? केवलो वा समारोप्य घटविशेषितो व्यवह्रियते? आरोपितशुक्तौ इदंविशेषित इदं रजतमिति संव्यवह्रियमाण इव नोभयम्—इत्याह—तर्हीति। समारोपादर्शनाद् इत्यपरोक्षविषयम्। दृष्टान्ताऽर्थो विज्ञानवाद्युपन्यासः।

ज्ञानवती

जायगा, क्योंकि सामान्यरूप से दो तादात्म्यसंसर्गों का निषेध सिद्ध है। संसर्ग का निषेध होने से सफलता मिल जायेगी, यह बात भी नहीं है; क्योंकि वह (अर्थात् निषेध) संसर्गज्ञानपूर्वक होता है और प्रतिनियमपक्ष में उसका निरूपण नहीं है।

(पू) अच्छा तो मिथ्यासंसर्ग का ज्ञान है (ऐसा मान लीजिये)? (उ) तब तो 'भूतल पर घट' इत्यादि संसर्गज्ञान के मिथ्या होने से रजत आदि के समान घट आदि की वहिःसत्ता का अपलाप हो जायगा। (पू) ससर्गमात्र का समारोप होने से दोष नहीं है? (उ) वह (अर्थात् समारोप) कहीं वस्तु सत् है या नहीं? पहले पक्ष में उसके उभय-

१ (क) निषेधसिद्धेः। (ख) निषेधा सिद्धेः।

अथ ज्ञानाकारस्य बहिः समारोपः? तथाहि—सौत्रान्तिकस्य बाह्यं वस्तु सत्, तत्र ज्ञानाकारस्याध्यारोपः। विज्ञानवादिनोऽपि यद्यपि न बाह्यवस्तु सत् तथाप्यविद्यावासनासमारोपितमस्ति लैङ्गिकं बाह्यं, तत्र ज्ञानाकारस्याध्यारोपः। तत्रापि ज्ञाने संसर्गाकारस्य व्यवस्थापकतया संसर्गाकारौ वक्तव्यौ। अत उभयानुस्यूतवस्तुसिद्धिः। तेन प्रतिनियमपक्षे न कीदृशोऽपि संसर्ग इत्यभावनैर्ष्यर्थ्यम्।

अपि च चित्रज्ञाने नीलाद्यन्यतमाकारप्रतिनियमाभावाद् भेदो रूपाणां न सिध्येत्। अथ चित्रज्ञानस्याप्येकैकरूपप्रतिनियतपूर्वकत्वान्न दोषः? तर्हि चित्रज्ञानस्य बहिरङ्गोऽवयवी विषयश्चेत्, अनुस्यूतवस्तुसिद्धिः; समारोपितश्चेत्, अनुस्यूतबौद्धवस्तु-

भावदीपिका

अव्यापकश्च प्रतिनियमो नैकान्तेन विशेषतत्त्वव्यवस्थापकः—इत्याह—अपि चेति। अथ चित्राऽवयविन एकस्य विरुद्धधर्मत्वासंभवान्न तज्ज्ञानं प्रमाणं, प्रत्येकज्ञानान्येव तु प्रमाणं, तत्पूर्वकञ्च चित्रज्ञानं सविकल्पकं भ्रान्तम्; ततो नाऽव्यापकः प्रतिनियमः?—इत्याशङ्क्याह—तर्हीति। एकस्या ज्ञानव्यक्तेः स्वात्मप्रकाशनकर्तृत्वकर्मत्वविरुद्धधर्मयोगेऽपि भेदाभावो यथा भवतः, तथा चित्रावयविन ऐक्यसंभवात् तदङ्गीकारेऽनुस्यूतबाह्यवस्तुसिद्धिः। [ननु] तथाऽवयविनोऽवयवेभ्यो दुर्निरूपत्वात् तद्भानं भ्रान्तिः? तत्राह—समारोपितश्चेदिति। किञ्च चित्रज्ञानं तावद् वस्तुसत्; अन्यथा समारोपितस्य तत्राऽसत्त्वशङ्कयोच्छेदप्रसङ्गात्। तत्र भेदाभेदादिविकल्पेन न नीलादयो बहव आकारा निर्मापिताः। तेन तोयादिधर्मविरुद्धधर्माध्यासमात्रेण भेदः, ततो नैकं चित्रज्ञानमित्यर्थज्ञानयोरसत्त्वे शून्यवादप्रसङ्गः। ते चाऽऽकारा बुद्धेर्भेदाभेदाभ्यां दुर्निरूपा अपि निर्वाच्या एव। तथा ब्रह्मणोऽप्यनिर्वाच्यविश्वाकारसंभवे विशेषा

ज्ञानवती

निष्ठत्व का नियम होने से अनुस्यूत (अर्थात् सम्बद्ध) वस्तु की सिद्धि होती है। अन्तिम भी नहीं है, क्योंकि अत्यन्त असत् वन्ध्यापुत्र आदि का समारोप नहीं देखा जाता।

(पू) ज्ञान के आकार का बाहर (अर्थात् बाह्य वस्तुओं में) समारोप होता है? वह इस प्रकार-सौत्रान्तिक के मत में बाह्यवस्तु सत् है। उसमें ज्ञान के आकार का अध्यारोप होता है। विज्ञानवादी के मतमें भी यद्यपि बाह्य वस्तु सत् नहीं है तथापि अविद्यावासना से समारोपित लैङ्गिक बाह्य है। उसमें ज्ञान के आकार का अध्यारोप होता है। उस ज्ञान में भी संसर्ग के आकार के व्यवस्थापक होने से संसर्ग के दो आकार कहने चाहिये (और वे दो आकार हैं (१) ज्ञानगत आकार और (२) बाह्यवस्तुगत आकार। इसलिये वस्तु की सिद्धि दोनों में अनुस्यूत है। अतः प्रतिनियम पक्ष में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार अभाव व्यर्थ है।

और भी चित्र के ज्ञान में नील आदि अन्यतम आकार का प्रतिनियम न होने से रूपों का भेद सिद्ध नहीं होगा। (पू) चित्रज्ञान के भी एकैकरूपप्रतिनियतपूर्वक होने से दोष नहीं होगा? (उ) तब तो चित्रज्ञान का विषय यदि बहिरंग अवयवी है तो अनुस्यूतवस्तु की सिद्धि हो जातीं है। और यदि समारोपित है तो अनुस्यूतबौद्धवस्तु की सिद्धि होती है। इसी प्रकार नगरत्रैलोक्य आदि बुद्धियों में आकारों के बुद्धि से अतिरिक्त अनुभूत न होने से

सिद्धिः। एवं नगरत्रैलोक्यादिबुद्धिष्वप्याकाराणां च बुद्धिव्यतिरेकेणाननुभूयमानत्वाद्बुद्धयात्मकत्वाच्च इत्येकस्या एव बुद्धेरनिर्वचनीयानेकाकारावभाससिद्धौ ब्रह्मणोऽप्यनिर्वचनीयाशेषविशेषाकारप्रतिभासो न विरुध्यते।

किञ्च यदि निर्विकल्पकं सर्वतो व्यावृत्ताकारं स्वलक्षणं गृह्णाति, तर्हि समारोप्यमाणादपि व्यावृत्तौ स्फुरन्त्यां का कथा समारोपस्य? न च स्वलक्षणस्य सविकल्पविषयत्वमस्ति। अतो नानुमेयादिमेय इवास्मिन् प्रत्यक्षसमारोपः स्यात्। 'नीलं नभः' इत्यादिसमारोपस्तु चाक्षुषाकाशवादिनां न नोपपद्यते। अस्तु वा

भावदीपिका

एव परमार्थसन्त इति न वाचोयुक्तिर्युक्तिमती—इत्याह—आकाराणां चेति। किञ्चाऽनिर्वाच्यत्वे समारोप आकाराणां वक्तव्यः।

सामान्यवस्तुनश्च तत्र स्वलक्षणमधिष्ठानं निर्विकल्पेन गृहीत्वा किं तत्र सविकल्पकः समारोपः? सविकल्पकसमारोप एवाधिष्ठानाऽध्यस्तयोः स्फुरणम्?—क्रमेण प्रत्याह—किञ्चेति। न च स्वलक्षणस्याऽधिष्ठानत्वम्, रज्जुत्वादिवदगृहीतांशासम्भवात्। सामान्यरूपेण गृहीते विम्बविशेषसमारोपो रज्ज्वादौ दृष्टः; सामान्यस्य च सत्यत्वं, विशेषान्तरस्य च निजविशेषप्रमया बाधश्च। न च स्वलक्षणतत्त्ववादिनः सामान्यांशोऽस्ति; ततोऽपि नाऽऽरोप इति न च स्वलक्षणस्येति चकारार्थः। न च "अप्रत्यक्षेऽपि ह्याकाशे बालास्तलमलिनताद्यध्यस्यन्ति" इति भाष्यविरोधात् कथमप्रत्यक्षे प्रत्यक्षसमारोपनिषेधः? इत्युक्ते—आह—नीलं नभ इति। भाट्टानां चाक्षुषमाकाशम्। नच नीरूपद्रव्यत्वादचाक्षुषत्वम्? योगिवादिनः कालादौ व्यभिचारात्। अयोगिचाक्षुषं न भवतीति विशेषणे च 'अद्य निर्मलमाकाशम्'—इत्यादि चक्षुर्व्यापारान्वयव्यतिरेकवत् व्यवहारविरोधात्। न चाकाशविशेषितस्याऽभ्रादिमलाभावाऽप्रत्यक्षत्वेऽप्ययं व्यवहारः संगच्छते, प्रागेवमूर्त्तानुपलम्भमात्रेण। भाष्यकारैरपि बौद्धाधिकरणे—'आवरणाऽभावमात्रमाकाशम्' इति पक्षे एकपक्ष्यावरणे 'इहाऽऽकाशप्रदेशे पक्षी नान्यत्र' इति व्यवहारो न स्यात्। आवरणसद्भावादावरणीयस्याऽभावाच्च न द्वितीयपक्ष्यवकाशोऽप्येवं स्यात्। अथ यत्रैको न वर्त्तते तत्र द्वितीयस्याऽवकाशः? तर्हि यत्र तत्र प्रत्ययगोचर आकाशः सिद्ध इति प्रत्यक्षत्वं पक्ष्याद्याधारत्वेनाऽऽकाशस्येष्टम्। 'अप्रत्यक्षेऽपि' इत्यंगीकारवादः। व्यवहारे भट्टनय इत्यङ्गीकारादिति भावः।

अङ्गीकृत्याऽप्यनिष्टमासञ्जयति—अस्तु वेति। न चायं युक्तः—इत्याह—न च

ज्ञानवती

और (उन आकारों के) बुद्ध्यात्मक न होने से एक ही बुद्धि के अनिवर्चनीय अनेक आकारावभास की सिद्धि होने पर ब्रह्म के भी अनिवर्चनीय अशेषविशेष आकार का प्रतिभास विरुद्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त यदि निर्विकल्पक सबसे व्यावृत्ताकार वाले स्वलक्षण का ग्रहण करता है तो समारोप्यमाण मे भी व्यावृत्ति का स्फुरण होने पर समारोप की कथा ही क्या होगी? स्वलक्षण सविकल्पक का विषय नहीं होता। इसलिये अनुमेय आदि मेय पदार्थों के समान इसमें (अर्थात् स्वलक्षण में) प्रत्यक्ष का समारोप नहीं होगा। 'नीला आकाश' इत्यादि समारोप चाक्षुषआकाशवादियों के मत में नहीं उत्पन्न होता ऐसा नहीं है। अथवा यथा-

थथाकथञ्चित् स समारोपः; तथाऽप्यनेकेष्वेकत्वसमारोपे चित्रादिज्ञानानामाकारेषु समारोपः दुष्परिहरः। न च पादपा इव विज्ञानान्यपर्यायेण स्थितिभाञ्जि येन वनत्ववच्चित्रज्ञानत्वसमारोपः स्यात्। प्रवाहादीनां चाभिन्ने जलादिद्रव्ये भेदेन समारोपितानां पुनरभेदेन समारोपणं, न वस्तुतो भिन्नेष्वभेदसमारोपणं दृष्टं तत्रापि; न च[1] भेदस्य मृत्सुवर्णादिकार्यकारणतुल्यजातीयत्वव्यवहारार्थक्रियाहेतोः कल्पितत्वम्; तवार्थक्रियाकारित्वस्य परमार्थसल्लक्षणत्वात्। यदि कल्पितमप्यैक्यं व्यवहाराङ्गम्, तर्हि ब्रह्मणः कल्पितं नानात्वं तथा किं न स्यात्? अतएव

भावदीपिका

पादपा इवेति। परोक्तं दृष्टान्तं विघटयति—प्रवाहेति। स्वमतव्याहतं चाऽनुस्यूतवस्तुनः काल्पनिकत्वम्—इत्याह—न चाऽभेदस्येति। बौद्धेनाऽनुमानं मानमिष्यते, तस्य च व्याप्तिबलेन प्रवृत्तेः। तस्य च सामान्यं विषयः सामान्यस्याऽवस्तुत्वे भ्रान्तत्वेनाऽनुमानस्याऽपि सामान्यविषयस्य भ्रान्तत्वं स्यादिति न चेति चकारार्थः। सत्यं ज्ञानमित्यादौ कल्पितं सत्यत्वादिसामान्यं यथा तवाऽऽगमिकस्य व्यवहाराऽङ्गं, तथा ममाऽप्यनुमानादिव्यवहाराङ्गम्? मैवम्; आगमस्य लक्षणया सामान्यातीतप्रमाजनकत्वात्; अनुमानादेश्च लक्षणाविधुरत्वात् सामान्यानुपपत्तेः। एवमेवाङ्गीकारे ऽप्याह—यदि चेति। भेदस्य प्रत्यक्षत्वं निराकृत्य काल्पनिकत्वं न व्यवहारिकप्रामाण्यविघातकमित्येनैवानुमानविषयत्वं पराकरोति—अत एवेति। सव्यभिचारं चैतत् - इत्याह—

ज्ञानवती

कथंचित् वह (अर्थात् नीला आकाश यह) समारोप हो ही जाय तो भी अनेकों में एकत्व का समारोप होने पर चित्रादिज्ञानों का आकारों में समारोप दुष्परिहरणीय है। वृक्षों की तरह विज्ञान एक साथ स्थित नहीं होते जिसने (वृक्षों में) वनत्व के समान (नील पीत आदि पृथक्-पृथक् रूपों मे) चित्रज्ञानत्व का समारोप हो। और भेदपूर्वकसमारोपितप्रवाह आदि का अभिन्न जल आदि द्रव्य मे फिर अभेदेन समारोप होता है। वस्तुतः भिन्न में अभेद का समारोप नहीं देखा गया है। और उसमें भी मिट्टी सुवर्ण आदि कार्यकारणतुल्यजातीयत्वव्यवहारवाली अर्थक्रिया के हेतु कल्पित नहीं है। क्योंकि तुम्हारा अर्थक्रियाकारित्व परमार्थसत्लक्षणवाला है। यदि कल्पित भी ऐक्य, व्यवहार का अङ्ग होता है तो ब्रह्म का कल्पितनानात्व वैसा क्यों नहीं होगा? इसलिये विभिन्न अर्थक्रियाकारित्व आदि कारणों के द्वारा भावों के पारमार्थिकभेद के अनुमान का अवकाश नहीं है। जैसे तुम्हारा एक ही नीलज्ञान उसका परिच्छेद करता है उससे अन्य का व्यवच्छेद करता है और तृतीयप्रकाराभाव को सूचित करता है; और जैसे दहन एवं स्पर्श के परमाणुओं का दाहपाकलक्षण वाली अर्थक्रियाओं का विभाग है; उसी प्रकार मेरी भी एक वस्तु अनेक और विरुद्ध अर्थक्रिया करती है।

इसके तिल से ही तेल, दूध से ही दधि इत्यादि व्यवस्था भी व्याख्यात हो गई। अपने में अनुस्यूत सदात्मा से भेद का अभाव न होने से तिल एवं दूध से तेल एवं दधि के

---

[1] (ग) चा।

विभिन्नार्थक्रियाकारित्वादिहेतुभिर्न भावानां भाविकभेदानुमानावकाशः । यथा चैकमेव नीलज्ञानं तत्परिच्छिनत्ति, ततोऽन्यद्व्यवच्छिनत्ति, तृतीयप्रकाराभावं सूचयति तव; यथा च दहनस्पर्शपरमाणूनां दाहपाकलक्षणार्थक्रियाविभागः; तथा ममाप्येकं वस्तु अनेका अर्थक्रियाः करोति विरुद्धाश्च ।

एतेन तिलेभ्य एव तैलम्, पयस एव दधि, इत्यादि व्यवस्थाऽपि व्याख्याता; स्वानुस्यूतसदात्मना भेदाभावात् तिलपयसोर्दध्नः तैलस्य चोभयार्थक्रियात्वोपपत्तेः । अतः सामान्यरूपग्राहकं प्रत्यक्षप्रमाणमेवेति न विशेषा एव तत्त्वम् ।

[सत्ताजातेर्व्यवस्थापनम्—]

योऽपि मन्यते—न सत्ता नाम सामान्यमिति, स वक्तव्यः—किं जातिबाधकात्तदभावः, उत प्रमाणाभावादिति ? नाद्यः; न तावद् व्यक्तेरभेदः खादिवदत्र

भावदीपिका

यथा चेति । अनुमाननिरासेन तदन्तर्गतार्थापत्तिनिरासः सिद्धः—इत्याह—एतेनेति । काल्पनिकभेदावलम्बनेनाऽन्यथाऽप्युपपत्तिमुक्त्वा स्फुटयति—स्वाऽनुस्यूतेति ।

[सत्ताजातेर्व्यवस्थापनम्—]

[यद्यपि] प्रत्यक्षं सविकल्पकं तथाऽपि 'सन् घटः' इति सत्ता प्रतीयते; सा च न प्रामाणिकीति प्राभाकरीयाः । ते हि प्रमाणयोगाद्युपाधिनैव सद्व्यवहारं मन्यन्ते —तत्राऽऽह—योऽपीति । "व्यक्तेरभेदस्तुल्यत्वं सङ्करोऽथाऽनवस्थितिः । रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसङ्ग्रहः ॥"—इति उदयनोक्तबाधकाऽभावं तावदाह—न तावदिति । द्रव्यत्वादावुक्त-

ज्ञानव्रती

दोनों अर्थ क्रिया की उपपत्ति हो जाती है । इसलिये सामान्यरूप का ग्राहक प्रत्यक्ष प्रमाण ही है । अतः विशेष ही तत्त्व नहीं है ।

[सत्ताजाति की व्यवस्थापना—]

और जो लोग मानते हैं कि सत्ता नामक सामान्य नहीं है उनसे कहना चाहिये कि क्या जातिबाधक होने से उसका अभाव है या प्रमाण का अभाव होने से ? पहला (पक्ष) नहीं है । आकाश आदि के समान व्यक्ति का अभेद वहाँ जाति का बाधक नहीं है । क्योंकि सत्तावाले द्रव्य, गुण एवं कर्म अनेक व्यक्ति हैं । हस्तत्व एवं करत्व के समान अन्यूनानतिरिक्तवृत्तितावाला तुल्यत्व भी नहीं है क्योंकि सत्ता की अपेक्षा द्रव्यत्व आदि न्यूनवृत्ति वाले हैं । सङ्कर भी नहीं है—परस्परपरिहारपूर्वक वर्त्तमान दो पदार्थों का एकत्र समावेश (सङ्कर कहलाता) है । जैसे भूतत्व के परिहारपूर्वक मनमें वर्त्तमान मूर्त्तत्व का और मूर्त्तत्व के परिहारपूर्वक आकाश में वर्त्तमान भूतत्व का पृथिवी में समावेश है—क्योंकि द्रव्यत्व आदि सत्ता को छोड़कर नहीं रहते । अनवस्था भी नहीं है क्योंकि जाति में जाति के स्वीकार के समान द्रव्यत्व आदि में सत्ता को स्वीकार नहीं किया जाता ।

(पू) सत्ता में उसके अभावमात्र से अनवस्था का अवतार न होने से द्रव्यत्व आदि में वह (=अनवस्था) रह जायगी ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये । क्योंकि प्रत्येक एक

जातिबाधकः ; सत्तावतां द्रव्यगुणकर्मणामनेकव्यक्तित्वात् । नापि तुल्यत्वम्= अन्यूनानतिरेकवृत्तित्वम्; हस्तत्वकरत्ववत् सत्ताऽपेक्षया द्रव्यत्वादेर्न्यूनवृत्तित्वात् । न च सङ्करः=परस्परपरिहारेण वर्त्तमानयोरेकत्र समावेशः; यथा भूतत्वपरिहारेण मनसि वर्तमानस्य मूर्त्तत्वस्य तत्परिहारेणाऽऽकाशे वर्तमानस्य भूतत्वस्य च पृथिव्यां समावेशः; द्रव्यत्वादेः सत्तापरिहारेणाप्यवर्तमानत्वात् । नाप्यनवस्थितिः; जातौ जातिस्वीकार इव द्रव्यत्वादौ सत्ताऽनङ्गीकारात् । न च सत्तायां तदभावमात्रेणानवस्थाऽनवताराद् द्रव्यत्वादावस्तु सेति वचनीयम्; प्रत्येकमेकव्यक्तित्वात् । समुदायवृत्तित्वं च समवायस्येवागुणस्य संयोगवृत्तित्वम् पदार्थान्तरत्वाय । ततः सत्तायामिव न द्रव्यत्वादावपि सत्ता । नापि रूपहानिः; यथा पाचकत्वादिसामान्ये तदुपाधेरागन्तुकत्वान्नित्यत्वलक्षणहानिः, विशेषत्वजातौ विशेषरूपहानिः, निस्सामान्या अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धिहेतवो[1] विशेषाः, इति तल्लक्षणात्, न तथाऽत्र; द्रव्यात्वाद्युपाधेरनागन्तुकत्वाद्; द्रव्यत्वादेर्निःसामान्यत्वरूपाभावाच्च । नाप्यसम्बन्धः, यथा समवायत्वजातेः समवायान्तराभावात् । अतः सत्ताया जातित्वे बाधकाभावान्न प्रमाणगम्यत्वम्, तद्योग्यत्वं वा सत्त्वम् इत्युपाधित्वमास्थेयम् ।

नापि प्रमाणाभावः; 'सन् घटः'(सन् घटः'[2]) इत्यनुगतप्रत्ययस्य प्रमाणत्वात् । न चैष कालविशेषनिबन्धनः; कालेऽपि भावात् । वस्तुसत्तावच्छिन्नस्यैव कालस्य वर्त्तमानत्वव्यपदेशश्चेत् ? तर्हि न वर्त्तमानकालसंसर्गाधीनं सत्त्वम्; किन्तु सत्त्वसंसर्गाधीनो वर्त्तमानकालः ।

भावदीपिका

बाधकाभावात् सत्ताऽनङ्गीकारो न युक्तः--इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । वर्तमानकालसम्बन्धात् घटादौ सत्त्वव्यवहारश्चेत्, तर्हि वर्तमानकाले वर्त्तमानकालान्तरसम्बन्धाऽभावात् सत्त्वव्यवहारो न स्यादित्युक्तम् उदयनमतेन प्रत्यवतिष्ठते—वस्तु सत्तेति । वैपरीत्याऽपादनेन परिहरति—तर्हीति ।

ज्ञानवती

व्यक्ति (में रहता) है । गुणहीन की संयोगवृत्तिता समवाय के समुदायवृत्तित्व के समान पदार्थान्तरत्व के लिये है । इसलिये जैस सत्ता में, उस प्रकार द्रव्यत्व आदि में भी सत्ता नहीं है । रूपहानि भी नहीं है । जैसे पाचकत्व आदि सामान्य में उस (अर्थात् पाचकत्व) उपाधि के आगन्तुक होने से नित्यत्वलक्षण की हानि होती है, विशेषत्व आदि में विशेष रूप की हानि है क्योंकि विशेष सामान्यरहित अत्यन्तव्यावृत्तबुद्धि के हेतु हैं यह उनका लक्षण है, वैसा यहाँ नहीं, है । क्योंकि द्रव्यत्व आदि उपाधि यहाँ आगन्तुक नहीं है, और द्रव्यत्व आदि का निःसमान्यरूप भी नहीं है । जैसे समवायत्वजाति का समवायान्तर नहीं होता उस प्रकार असम्बन्ध भी नहीं है । इसलिये सत्ता के जातित्व में बाधक न होने से प्रमाणगम्यत्व नहीं है या उसके योग्य होना सत्त्व है । इसप्रकार उपाधित्व मानना चाहिये ।

प्रमाणाभाव भी नहीं है । क्योंकि 'घट है', 'घट है' ऐसा अनुगतप्रत्यय प्रमाण है । यह (अनुगतप्रत्यय) कालविशेष के कारण भी नहीं है क्योंकि काल में भी वह (=अनुगत-

---

१ (ख) व्यावृत्तिबुद्धि । २ (क) सन् पटः । (ख) सन् घटः ।

अथ यथा 'खण्डो गौः' इति गोप्रत्यभिज्ञानं तथा सतः सदन्तरे, तत् किन्तु[१] सद्रूपेण किं वा विशेषरूपेण ? द्वितीये, यथा देवदत्तं दृष्ट्वा पुनः पश्यतः प्रत्यभिज्ञानं, तथा खण्डं दृष्ट्वा मुण्डं पश्यत इति गोत्वस्याप्यपलापः स्यात्। एवं घटं दृष्ट्वा शरावं पश्यतः तथा प्रत्यभिज्ञाभावात् (मृदादि[२]) लोपप्रसङ्गः। सामान्यरूपप्रत्यभिज्ञानं च प्रकृतेऽप्यस्ति। अतएव न प्रथमः कल्पः। एतच्च पदार्थत्रयवर्ति पराभिप्रेतम्। तत्त्वदर्शिनां तु सर्वपदार्थविशेषकल्पनाऽधिष्ठानत्वेनानुस्यूतं ब्रह्मैव सत्त्वम्, "सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्" इति श्रुतेः। यत् खलु भ्रान्तौ दृष्टं बाधेऽप्यनुवर्त्तते, तदबाध्यत्वात्[३] सत्यमिति व्यपदिश्यते; यथा शुक्तौ इदन्ता। यत्पुनर्न पूर्वं नापि बाधेऽनुवर्त्तते

भावदीपिका

जातिग्राहकवैलक्षण्यान्नास्य जातिग्राहकत्वम् - इत्याशङ्कामुत्थाप्य विकल्पेन दूषयति—अथेत्यादिना। ननु जातिरूपे सत्त्वविशेषाणां समारोपोऽङ्गीकृतश्चेत् गोत्वादौ गवादिव्यक्तीनां समारोपः स्यात्; तथाच नाऽद्वैताऽधिष्ठानलाभः ? तत्राऽऽह—एतच्चेति। न चैतादृशं सत्त्वमप्रामाणिकम्; सर्वपदार्थेषु सत्त्वप्रत्यभिज्ञानात्, वेदाच्च तदवगमात्—इत्याह—सत्यं च इति।

सत्याऽनृते विविच्य श्रुतेस्तात्पर्यमाह—यत्खल्वित्यादिना। ननु विवर्त्तत्वे प्रपञ्चस्य प्रासादादिनिर्माणान्यनेकनैपुणोपेतशिल्पिसाध्यानि प्रतिजागरणं सहस्रादिसंवत्सरावधि प्रत्यभिज्ञाय मानतया स्वप्नादिनिर्माणविलक्षणानि महता प्रयत्नेन विनाश्यतया च ज्ञानमात्रो-

ज्ञानवती

प्रत्यय) रहता है। (पू) वस्तु सत्ता से अवच्छिन्न काल का ही वर्त्तमान व्यवहार होता है ? (उ) तब तो वर्त्तमानकाल के सम्बन्ध के आधीन सत्त्व नहीं होगा किन्तु सत्त्व के संसर्ग के अधीन वर्त्तमानकाल हो जायगा।

(पू) जैसे 'खण्डो गौः' (अर्थात् हृष्ट पुष्ट नाटे कद की गौ) ऐसी गौ की प्रत्यभिज्ञा होती है उसी प्रकार सत् की दूसरे सत् में हो जायगी ? (उ) तो वह क्या सद्रूप से होगी या विशेषरूप से ? दूसरे पक्ष में जैसे देवदत्त को देखकर फिर देखने वाले को प्रत्यभिज्ञान होता है उसी प्रकार खण्ड को देखकर मुण्ड (सींग से रहित गौ) को देखने वाले (को भी होगा) और इस प्रकार (विशेष की प्रत्यभिज्ञा होने पर सामान्य) गोत्व का भी अपलाप हो जायगा। इसी प्रकार घट को देखकर शराव को देखने वाले को उस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा होने से मिट्टी आदि का लोप होने लगेगा। (और चूँकि) सामान्यरूप का प्रत्यभिज्ञान तो प्रकृत में भी है। इसलिये प्रथम कल्प नहीं है। और यह तीनों पदार्थों (अर्थात् द्रव्य, गुण एवं कर्म) में रहने वाला है यह दूसरे को इष्ट है। किन्तु तत्त्वदर्शी लोग (अर्थात् वेदान्ती) को तो सभी पदार्थ विशेष की कल्पना के अधिष्ठान के रूप में अनुस्यूत ब्रह्म ही सत्त्व है क्योंकि "सत्य और अनृत सत्य ही गया" ऐसी श्रुति है। जो भ्रान्ति में दिखलाई पड़ता हुआ बाध में भी अनुवृत्त होता है वह सत् है क्योंकि उसका बाध नहीं है जैसे शुक्ति में इदन्ता। और

---

१ (क) किन्न। २ (क) मुण्डादि। (ख) मुञ्जादि। ३ (ख) तदाबा।

तदनृतम्; यथा रजतादिविशेषः। तथा च व्यावहारिकप्रातीतिकविशेषविवर्त्ताधिष्ठानं सन्मात्रमेव वस्तु। यदि च सामान्यविशेषौ अनुवृत्तव्यावृत्तप्रत्ययप्रमाणकौ द्वे वस्तुनी, तर्हि द्रव्यस्य ताभ्यामभेदाभावात्, अद्रव्ये तदुपाधिनिबन्धनोऽनुवृत्तव्यावृत्तव्यवहारः स्फटिकलौहित्यादिवदयथाज्ञाननिबन्धनः स्यात्। न च 'शुक्लो गौः' इत्यादिज्ञानस्यौपाधिकज्ञानवदयथात्वमिष्यते। अत्र च जातिगुणद्रव्याणामेकत्वप्रत्याख्यानात्। अतो नैषा कल्पना।

नापि सामान्यविशेषात्मकमेकं वस्त्विति कौमारिलादिप्रक्रिया। एवं द्वयात्मकमनुवृत्तं व्यावृत्तं च इति विरुद्धकोटिद्वयालम्बनज्ञानस्य संशयज्ञानवत्

भावदीपिका

च्छेद्यविवर्त्तरूपाणि न संगच्छन्ते; ततः सामान्यांशवत् विशेषांशोऽप्यकल्पित एव?— इत्याशङ्क्याऽऽह—यदि चेति। किं सामान्यविशेषोपेतं द्रव्यमिष्यते यथाऽऽहुस्तार्किकाः? किं वा सामान्यविशेषात्मकमेकं वस्तु, यथाऽऽहुर्भट्टपादाः? नाद्यः - इत्याह—तर्हीति। न खलु 'शुक्लो गौः'—इत्यत्र गुणसामान्ये एव प्रतीयेते न द्रव्यमिति वाच्यम्; 'शुक्लां गामानय' इत्युक्ते तयोरानयनाऽयोग्यत्वेनाऽप्रवृत्तिप्रसंगात्। न च द्रव्यप्रतीतिर्गुणादिप्रतीत्यनन्तरं लक्षणयेति नायं दोषः? केवलतीरादिप्रतीतिवत् केवलद्रव्यप्रतीतेरभावात्। न च सामानाधिकरण्यप्रयोगे आधाराधेयभावप्रतीतिः – इत्याह—अत्र चेति।

द्वितीयं प्रत्याचष्टे—नाऽपीति। ननु संशयज्ञानस्य निर्णयज्ञानेन बाधादप्रामाण्यम्,

ज्ञानवती

जो न तो (भ्रान्ति के) पूर्व अनुवृत्त होता है न बाध होने पर, वह अनृत है, जैसे रजत आदि विशेष। इस प्रकार व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक विशेष (घट, पट आदि एवं स्वप्नगज आदि) के विवर्त्त का अधिष्ठान सत्मात्र ही वस्तु है। यदि अनुवृत्तप्रत्ययप्रमाण वाला सामान्य तथा व्यावृत्तप्रत्ययप्रमाण वाला विशेष ये दो वस्तुयें हैं तो द्रव्य का उनसे अभेद न होने से अद्रव्य (अर्थात् गुण आदि) में तदुपाधि (अर्थात् अनुवृत्तएवं व्यावृत्त प्रत्ययप्रमाण वाली वस्तुरूप उपाधि) वाला अनुवृत्त एवं व्यावृत्त का व्यवहार स्फटिक में लौहित्य आदि के समान अयथाज्ञान के कारण होने लगेगा। और 'गाय सफेद है' इत्यादि ज्ञान को औपाधिक ज्ञान (अर्थात् 'स्फटिक लाल है' के समान) को लोग अयथार्थ नहीं मानते। क्योंकि यहाँ (=नैयायिक के मत में) जाति, गुण एवं द्रव्य के एकत्व का प्रत्याख्यान हो गया है। इसलिये यह (अर्थात् जाति, गुण एवं द्रव्य परस्पर भिन्न है यह नैयायिकसम्मत) कल्पना (ठीक) नहीं है।

सामान्यविशेषात्मक एकवस्तु है, यह कुमारिलभट्ट की प्रक्रिया भी (ठीक) नहीं है (भाट्टमत वाले भेदाभेदवादी हैं।) इसी प्रकार अनुवृत्त एवं व्यावृत्त द्वयात्मक है (ऐसा मानने पर) विरुद्धकोटिद्वयालम्बन (वाले इस) ज्ञान का संशयज्ञान के समान प्रामाण्य ही अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि निर्णय के साथ व्यभिचार होने से निर्णयज्ञान के द्वारा संशय का बाध होने के कारण अप्रामाण्य नहीं है किन्तु विरुद्धार्थक होने से। इसी प्रकार यहाँ भी है।

प्रामाण्यानुपपत्तेः व्यभिचारान्निर्णयेन सह संशयस्य न निर्णयज्ञानेन बाधादप्रामाण्यम्; किन्तु विप्रतिषिद्धार्थत्वात्। एवमत्रापि।

किञ्च भेदाभेदवादे यदि सामान्यविशेषयोरन्योन्याभावलक्षणो भेदोऽस्ति, तदा कथं तदभावात्मा[1] अभेदः? अभेदश्चेत् कथं भेदः? स्वरूपभेदश्च सुतरामैक्याभावः। अभेदे चैकतरबुद्ध्योभयसिद्धेः[2] बुद्ध्यन्तरस्य वैय्यर्थ्यम्। विशेषविशिष्टस्य च विशेषानुयायित्वाभावान्नास्मिन् पक्षेऽनुवृत्तबुद्धेः प्रमाणताऽपि। केवलस्यानुगमे च भेदवाद एवानुगतव्यावृत्तयोः प्रसज्येत, केवलस्य वस्तुत्वाभावात्। सामान्यस्यानुगमेऽपि न वस्त्वनुगतिः स्यात्; सामान्यविशेषात्मकचित्ररूपत्वाद् वस्तुनः।

"सामान्यं नहि वस्त्वात्मा विशेषश्चित्र एव सः।
तत्त्वस्यानन्वयतोऽभेदवादः[4] शब्दान्तरादयम्॥"

इत्युक्तेश्च। तस्मान्नैषोऽपि पक्षो रमणीयः।

भावदीपिका

उभयाऽत्मत्वज्ञानं तु निर्णयात्मकमेव; ततो नाऽप्रामाण्यम्? तत्राऽऽह—व्यभिचारादिति। अथ संशये कोटिद्वयग्राहकप्रमाणाभावात् विप्रतिषिद्धत्वम्; अत्र तु भेदाभेदसामानाधिकरण्यप्रत्ययः प्रमारूप एव? भेदः अन्योन्यात्मताविरोधी धर्मो वा स्वरूपमेव वा? अभेदोऽपि तदभावो वा तद्विरोधिधर्मान्तरं वा? सर्वथापि न संगच्छते—इत्युक्त्वा अभेदपक्षे दोषान्तरमाह- अभेदे चेति। न च भेदोऽप्यस्तीति न वैयर्थ्यम्? तथा सत्यभेदधीकार्यस्य भेदधिया बाधप्रसङ्गात्। न खलु अभेदधीकार्यमभेदोल्लेखमबाधित्वा भेदधीः स्वकार्यं भेदोल्लेखं प्रसूते। अथ पर्यायेणोभयबुद्ध्योः सार्थकत्वम्? तर्हि कदाचिदपि उभयात्मकवस्तुप्रतिभा न स्यात्। अथ सामान्यप्रत्ययस्य विशेषभिन्नस्वार्थंबोधकत्वात् तत्राऽस्त्युभयात्मकवस्तूल्लेखः? तत्राऽऽह—विशेषविशिष्टस्य चेति। अथाऽऽनुगतधीप्रामाण्यलोभेन केवलसामान्याऽनुगमः दृश्यते? तत्राऽऽह - केवलस्य चेति। एवं च सामान्यप्रत्ययस्य वस्तुप्रत्ययत्वमपि न स्यात्—इत्याशयेनाऽऽह—केवलस्य चेति।

ज्ञानवती

इसके अतिरिक्त भेदाभेदवाद मे यदि सामान्य एवं विशेष का भेद अन्योन्याभाव लक्षणवाला है तो उस (अर्थात् सामान्य एवं विशेष से अन्योन्याभाव) के अभाववाला अभेद कैसे होगा? और यदि अभेद है तो भेद कैसे होगा? यदि स्वरूपभेद है तवतो अच्छीतरह ऐक्याभाव है। और (सामान्य विशेष के) अभेद मानने पर एक ही के ज्ञान से दोनों की सिद्धि होने के कारण ज्ञानान्तर व्यर्थ हो जायगा। साथ ही विशेषविशिष्ट के विशेषानुयायी न होने से इस पक्ष में अनुवृत्त बुद्धि प्रमाणिक भी नहीं होगी। केवल का अनुगम करने पर भेदवाद में ही अनुगत एवं व्यावृत्त की प्रसक्ति हो जायगी क्योंकि केवल कोई वस्तु नहीं है। और सामान्य का अनुगम करने पर भी वस्तु की अनुगति नहीं होगी क्योंकि वस्तु सामान्यविशेषात्मक चित्ररूप होती है।

---

[1] (ख) आत्माभेद। [2] (ग) अभेदे च।
[3] (क) सिद्धे न। [4] (ख) भेद।

[सत्ताया ब्रह्माभिन्नत्वम्–]

अतः सदेकरसब्रह्मणि सर्वेषां विशेषाणां समारोपः। अत्र च यद्यपि बाह्यं सादृश्यादि भ्रमकारणं नास्ति, अद्वैतवादे भेदाधिष्ठानस्य सादृश्यादेरसम्भवात्; तथाऽप्यान्तरो मायादोषो भ्रमकारणमस्ति, सादृश्यादेश्चानियतत्वात्। तदुक्तम्—

"अयथार्थधियो बीजं अवश्यं बाह्यमेव न।
दृष्टस्तिमिरकाचादिरान्तरोऽपि ह्युपप्लवः ॥" इति।

ब्रह्मणः स्वयंप्रकाशस्य स्वरूपेण प्रामाण्यानङ्गीकारान्नाज्ञानावरणं विरुध्यते बौद्धानां स्वप्रमाणज्ञानस्येव। अतोऽस्मन्मते समारोपो युक्तः।

भावदीपिका

[सत्ताया ब्रह्माभिन्नत्वम्—]

ननु प्रसिद्धभ्रमवैलक्षण्यान्न विशेषात्मकजगतो भ्रमत्वं युक्तमित्युक्तम्? मैवम्; वेदाचार्योक्तमायाप्रकृतिकत्वेनाऽन्तरङ्गेण सारूप्यात्; स्वप्नप्रत्ययादिवत् [सदृश]प्रत्ययसाध्यत्वाऽविरोधात्; तत्त्वज्ञानेनोच्छेद्यत्वेन च। सादृश्यादिनिमित्तं च बहिरङ्गं तदभावो न दोषः। तदाहुर्वाचस्पतिमिश्राः—"विवर्त्तस्तु प्रपञ्चोऽयं ब्रह्मणोऽपरिणामिनः। अनादिवासनोद्भूतो न सारूप्यमपेक्षते ॥" इति—इत्यभिसन्धायाऽऽह—अत्र चेति। ननु स्वभावजडे स्थाण्वादावावरणानपेक्षणान्मायोपादानको विभ्रमो युक्तः; स्वप्रकाशे तु ब्रह्मणि विनाऽऽवरणं न भ्रमो युक्तः; आवरणे च तमसेव सावित्रस्य तेजसो ज्ञानेनाऽत्र [निवारणं] दुःसंपादम्?—अत आह—ब्रह्मण इति। न खल्वज्ञानमात्रं निवर्त्त्यम्; घटज्ञानेनाऽपि

ज्ञानवती

"सामान्य वस्तुरूप नहीं है, और यिशेष? वह तो चित्र ही है। इसलिये तत्त्व (अर्थात् भेदाभेद) का अन्वय न होने से यह (अर्थात् भेदाभेदवाद) शब्दान्तर से अभेदवाद ही है।"

ऐसी उक्ति है। इसलिये यह पक्ष भी रमणीय नहीं है।

[सत्ता ब्रह्म से अभिन्न है—]

इसलिये सत् एकरस ब्रह्म में ही सभी विशेषों का समारोप है। और यद्यपि यहाँ (अर्थात् ब्रह्म में इतर के समारोप में) सादृश्य आदि भ्रम का कारण नहीं है क्योंकि अद्वैतवाद में भेद के अधिष्ठान (=ब्रह्म) का सादृश्य आदि असम्भव है; तथापि आन्तरमायारूप दोष भ्रम का कारण है। क्योंकि सादृश्य आदि अनियत होते हैं। कहा है—

"अयथार्थ बुद्धि का बीज निश्चित रूप से बाह्य ही नहीं है। क्योंकि (रजत आदि भ्रम में) तिमिर, काच आदि आन्तरिक दोष भीं (बीज के रूप में) देखा गया है।"

स्वयंप्रकाश ब्रह्म का स्वरूपतः प्रामाण्य न मानने से बौद्धों के स्वप्रमाणज्ञान के समान अज्ञानावरण का विरोध नहीं होता। इसलिये हमारे मत में समारोप ठीक है। और बौद्धों के (मत में) स्वलक्षण प्रमाणज्ञान में अविद्या के असम्भव होने से उनका (परस्पर) भिन्न ज्ञानो में अविद्यावशात् समारोप भी ठीक नहीं है। प्रमाणज्ञान के रहने पर ही उत्पन्न हुआ भी (एकत्वसमारोप) विरुद्धनिवर्त्तक के न होने पर निवृत्त नहीं होगा।

बौद्धानाञ्च स्वलक्षणप्रमाणज्ञाने विद्याया[१] असम्भवान्न [तेषाम्] भिन्नज्ञानेष्व-विद्यावशादेकत्वसमारोपोऽपि । प्रमाणज्ञाने सत्येव जातोऽपि विरुद्धनिवर्त्तकाभावान्न निवर्तेत । अतएव तत्त्वज्ञानार्थशास्त्रारम्भोऽपि व्यर्थः । न च [अप्रमा] रूपमपीश्वरज्ञानं स्वाश्रयद्वारा ससम्बन्धमपि भास्वररूपवदज्ञानतमोनिरासि, किमुवाच्यं प्रमारूपं तथा इति । स्वरूपज्ञानं च प्रमात्रनपेक्षत्वात् साधारणम् ।

[प्रपञ्चस्याऽनिर्वाच्यत्वम्–]

नन्वनात्मा सर्वोऽपि मायामरीच्युदकादिवन्न वस्तु ; केवलमात्मवस्त्वेव परमार्थ इति विवेकवतो ब्रह्ममीमांसायामप्यधिकारात् [यतएव] शास्त्रेणाप्यस्यैवार्थस्य साध्य-त्वात् कथं न वैय्यर्थ्यं तदारम्भस्य ? मैवम् ; आपातपरोक्षापरोक्षविभागोपपत्तेः ।

भावदीपिका

पटाद्यज्ञाननिवृत्तिप्रसंगात्; किन्तु यद्विषयं तत्, तद्विषयप्रमाणज्ञानेन । न च ब्रह्म तथा, अज्ञानसाधकं च तत् । न च तेजोऽपि नायनं तमसः साधकं तद्बाधकं भवतीत्यादि प्रागेव निवेदितमिति भावः । व्यतिरेकदृष्टान्तं प्रपञ्चयति स्वपक्षदाढर्याय—बौद्धानामिति । अभ्यु-पेत्याऽऽह—प्रमाणेति । किंपुनर्न्यायेन स्वपक्षमुपपादयति तार्किकं प्रति—न च प्रमारूपमिति । अप्रमारूपमित्युपलक्षणम् । प्रमाऽप्रमारूपं न भवति कुतः ? – इत्यत आह—स्वरूपेति ।

[प्रपञ्चस्याऽनिर्वाच्यत्वम्—]

भवतु स्वप्रकाशज्ञानविग्रहस्याऽपि ब्रह्मणो मायावरणं तथाऽपि मीमांसाविषयत्वं तस्य दुर्घटम् ?—इत्याह—नन्विति । आपातविवेकेनेहाऽमुत्रकर्मफलवैराग्यस्योत्पादयितुमशक्यत्वात् दृढो विवेको न शास्त्रीयात् विशिष्यते । अथ न बिवेकाय मीमांसाऽऽरम्भः किन्तु समन्व-यादिशोधनाय ? तथाऽपि तद्द्वारेण श्रोतुरुक्तविवेकात् नाधिकं मीमांसाफलम्—इत्याह—यत एवेति । यथा मायाविनिर्मितव्याघ्रादिक्रूरसत्त्वसंत्रासाऽऽकुलः कस्यचिद् वाक्यादापातत्तो मिथ्यात्वं जानाति; ततो युक्तयाऽतिशयेन तथात्वं जानन्नपि दर्शनमात्रजनितभयानुवृत्तिनिवृत्तये तदुच्छेदकवस्तुतत्त्वसाक्षात्काराय यतते; तथेहापि श्रुतिवादबलादापाततो युक्तया चाऽतिशयेन निश्चिन्वन्नपि प्रपञ्चमिथ्यात्वं तदुच्छेदकतत्त्वसाक्षात्कारानुकूलावृत्तिगुणकमीमांसायां प्रवर्त्तते इति प्रत्याह—मैवमिति । अभियुक्ततमयुक्तिसाध्यपरोक्षविवेकस्याऽपि तन्निरपेक्षादतिशयि-

ज्ञानवती

इसलिये (बौद्धों के अनुसार) तत्त्वज्ञान के लिये शास्त्रारम्भ भी व्यर्थ है। अप्रमारूप भी ईश्वरज्ञान अपने आश्रय (=ईश्वर) के द्वारा ससम्बन्ध (अर्थात् इतर पदार्थ से सम्बद्ध) होने पर भी भास्वररूप के समान अज्ञानरूप तम का निरास नहीं करता फिर प्रमारूप का क्या कहना। और स्वरूपज्ञान प्रमाता की अपेक्षा न रखने के कारण साधारण होता है।

[प्रपञ्च का अनिर्वाच्यत्व—]

(पू) समस्त अनात्मपदार्थ मायामरीचि में उदक आदि के समान (सद्) वस्तु नहीं है, केवल आत्मवस्तु ही परमार्थ है, इस विवेक वाले का ब्रह्ममीमांसा में भी अधिकार होने से

[१] (ख) ज्ञाने विद्यायाः ।

तत्र च परोक्षविवेकस्य यद्यप्यनात्मप्रपञ्चे प्रवृत्तिवारकत्वं तथाऽप्यस्योच्छेदहेतुत्वाभावात् तदर्थतत्त्वसाक्षात्काराय यतमानस्यानुग्रहाय शास्त्रारम्भोपपत्तेः; परोक्षविवेकस्यापि तारतम्याच्च; प्रपञ्चश्च चन्द्रद्वित्वादिवदनिर्वाच्यत्वात् तत्त्वसाक्षात्कारेण निवर्त्तत एव। न चानिर्वाच्यत्वमेवाप्रसिद्धम्; कविनाऽपि तमोवाय्वादिवर्णनव्याजेन तत्प्रसिद्धेर्दर्शितत्वात्—

"व्यसरन्नु भूधरगुहान्तरतः पटलं बहिर्वहुलपङ्करुचि।
दिवसावसान(पटुनस्तमसः[1]) वहिरेत्य चाधिकमभक्त([2]गुहाः[3]) ॥
"किमलम्बताम्बरविलग्नमधः किमवर्धतोर्ध्वमवनीतलतः।
प्रससार तिर्यगथ दिग्भ्य इति प्रचुरीभवन्न निरधारि तमः[4] ॥"

भावदीपिका

तत्वात् तदर्थमपि मीमांसाप्रवृत्तिर्युक्ता—इत्याह—परोक्षेति। प्रपञ्चस्याऽनिर्वाच्यापरनामकमिथ्यात्वेऽपि तत्त्वसाक्षात्कारान्निवृत्तौ सन्दिहानं दृष्टान्तेन बोधयति—प्रपञ्चश्चेति। यस्त्वनिर्वाच्ये संशयवान्, अमुं बोधयति—न चेति। कविना=माघपण्डितेन। दिवसावसाने प्रचुरीभवत् तमो न निरधारि=न निर्धारितम्। कथं नु किं दिवसावसानपटुनस्तमसो बहुले पङ्कसदृशं पटलं भूधरगुहान्तरतो बहिः व्यरसत्। अथवा बहिर्देशादागत्यातिशयेन गुहा अभजत्। किञ्चाऽम्बरविलग्नम्=अधोदेशभूतले लग्नम्; पातालाद् वोर्ध्वमवर्द्धत। दिग्भ्यः सकाशात् वा तिरश्चीनं प्रससारेत्यादिप्रकारैर्न निर्धारित-

ज्ञानवती

और चूँकि शास्त्र के द्वारा भी यही अर्थ साध्य है इससे उसका आरम्भ व्यर्थ क्यों नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि परोक्षापरोक्षविभाग की उपपत्ति आपाततः होती है। वहाँ पर (अर्थात् परोक्षापरोक्षविभाग में) यद्यपि परोक्षविवेक, अनात्मप्रपञ्च के विषय में प्रवृत्ति का वारक है तथापि चूँकि यह उच्छेद का हेतु नहीं है इस कारण एतदर्थ (अर्थात् उच्छेदार्थ) तत्त्वसाक्षात्कार के लिये प्रयत्न करने वाले के अनुग्रह के लिये शास्त्रारम्भ उचित है। और क्योंकि परोक्षविवेक का एक तारतम्य है तथा प्रपञ्च चन्द्रद्वित्व आदि के समान अनिर्वाच्य होने से तत्त्वसाक्षात्कार के द्वारा निवृत्त हो ही जाता है, इस कारण भी शास्त्रारम्भ उचित है। (पू) अनिर्वाच्यत्व ही अप्रसिद्ध है? (उ) ऐसा नहीं है। कवि ने भी तम वायु आदि के वर्णन के बहाने उसकी प्रसिद्धि दिखलायी है—

"दिवसावसान के समय समर्थ, तथा सघन कीचड़ के समान (काली) कान्तिवाला अन्धकारपटल, पहाड़ की गुफा के भीतर से आकर बाहर (गवाक्ष आदि प्रदेशों में) फैल गया अथवा बाह्य प्रदेश से जाकर अधिक से अधिक गुफाओं का आश्रय ले लिया।"

"बढ़ता हुआ अन्धकार क्या आकाश से लगा हुआ नीचे की ओर लटक रहा है या पृथिवी तल से ऊपर की ओर बढ़ रहा है (अथवा) दिशाओं के (चारों ओर) तिर्यक् होकर फैल रहा है? यह निश्चय नहीं हो पाया।"

---

[1] (ख) पटुनभसो। [2] (क) गुणः।
[3] शि० ब० ९।१९। [4] वही ९।२०।

इति। प्रावादुकाश्च प्रपञ्चस्येतरेतराभिप्रेतत्वादिप्रतिषेधेन दाडिमीफलमिव स्वरूपं निष्कुलीचक्रुः। तदाहुस्तत्रभवन्तो गौडपादाः—

"स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम्।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते॥"

इति। तथाहि—

विशेषात्मकमेव जगदिति बाह्यवादिनः। तेषु कल्पितमेकत्वं सामान्यव्यवहारं प्रवर्तयति[१]। द्वयमप्यकल्पितं पृथक् पृथक् वस्त्विति वैशेषिकादयः। सामान्यं विशेषात्मकमेकं वस्त्विति कौमारिला अनैकान्तवादिनश्च।

ननु तर्ह्यात्मनोऽप्यनिर्वचनीयत्वम्, प्रावादुकैर्विरुद्धरूपेण निरूपणात्? मैवम्; भेदकल्पनाया अभेदोपादानत्वात्। धर्मिप्रतियोगिनोर्व्यासज्य वर्त्तते चेद् भेदः, तदा प्रत्येकगतमेकत्वं तत्सत्त्वोपादानम्; यदि प्रतियोगिनमपेक्ष्य धर्मिण्येव वर्त्तेत, तदा धर्म्यैक्यं तदुपादानम्। न च नित्यं भेदे प्रमाणमस्ति, दृश्यते चैकस्मिन् चन्द्रे भेदसमारोप इत्यभेदोपादानक एव सः; अनिर्वाच्यस्याधिष्ठानत्वानुपपत्तेश्च। आत्मनश्चाभेदात्मकत्वान्नानिर्वाच्यत्वम्।

भावदीपिका

मित्यर्थः। कविनाऽपीत्यपि सूचितमाह—प्रावादुकाश्चेति। निष्कुली=निर्बीजं [नि]र्वन्धावकाशम्—इत्याह—मैवमिति। [निष्कुलीचक्रुः=] निःसारीचक्रुः

प्रतिवन्द्या शङ्कते—नन्विति। विप्रतिपत्तौ सत्यामप्यात्मनो भेदकल्पनोपादानत्वविशेषान्न प्रतिभेदः। किमनित्यो नित्यो वा? आद्ये संयोगद्वित्वादिवत् धर्मिप्रतियोगिनोर्द्वयोः समवैति केवले धर्मिणि वा? क्रमेण दूषणम्। एकोपादानस्याऽपि भेदस्य घटरूपवद् वास्तवत्वं किं न स्यात्?—इत्याशङ्क्य तथाविधभेदस्य मिथ्यात्वदर्शनात् मैवम्—इत्याह—दृश्यते चेति। अभेदस्य सत्यत्वमप्यधिष्ठानत्वाच्चन्द्रवद् द्रष्टव्यम्—इत्याह—अनिर्वाच्यस्येति। तथाऽप्यात्मनः कथं निर्वाच्यत्वम्? तत्राऽऽह—आत्मनश्चेति। "सलिल एको द्रष्टाऽद्वैत" इत्यादिश्रुतेरभेदावगमादित्यर्थः।

ज्ञानवती

प्रावादुक लोग प्रपञ्च के स्वरूप को अन्योन्याभिप्रेतत्व आदि प्रतिषेध के द्वारा दाडिमीफल के समान स्पष्ट किये हैं। श्रीमान् गौडपाद कहते हैं—

"द्वैतवादी अपने सिद्धान्त की व्यवस्थाओं में दृढ़निश्चय वाले होकर परस्पर विरोध रखते हैं। उनके द्वारा इस (अर्थात् प्रपञ्च) का विरोध नहीं किया जाता।"

विशेषात्मक ही जगत् है ऐसा बाह्यवादी (कहते हैं) उनमें कल्पित एकत्व सामान्य व्यवहार को प्रवृत्त करता है। दोनो ही अकल्पित पृथक-पृथक वस्तु है ऐसा वैशेषिक आदि (कहते हैं)। कौमारिल एवं अनैकान्तवादी (कहते हैं कि)सामान्यविशेषात्मक एक ही वस्तु है।

(पू) तब तो आत्मा भी अनिवचनीय होगा क्योंकि प्रावादुकों ने विरुद्ध रूप के

---

१ (ख) प्रवर्त्तयतो।

[अभेदोपादाना भेदकल्पना—]

ननु यथा मुखाद्यभेदस्य प्रसिद्धं दर्पणादिषु प्रतिमुखादिभेदोपादानत्वम्, न खलु तत्र मुद्रायोगात् प्रतिमुद्रावन्मुखाद्याकारः, तथा सति समानपरिमाणत्वम्, मुखाद्यसन्निधानेऽपि स्थितिश्च स्यात्। परिणामेऽप्येवम्। अतोऽनिर्वचनीय एव तत्र मुखाद्याकारो भेदश्च। तथा वनादौ भेदोपादानाऽभेदकल्पना; तत्र कुतो निर्णय इति?

उच्यते—भेदस्यैवाधिष्ठानत्वे परमाणोरभेदसमारोपाधिष्ठानं न परमाणुद्वयम्; एक सिद्ध्यपेक्षत्वाद् द्वयस्य। तयोरपि द्वयसिद्धिपूर्वकत्वात्; किन्तु तदवयवा वक्तव्याः। तेषामपि प्रत्येकमेकत्वसमारोपे तदवयवाः, तत्राप्येवमित्यनवस्थितेः परमाण्वैक्यस्य समारोपासिद्धेः। अनन्तावयवत्वे चोक्तनीत्याऽणोरपि पर्वतपरिमाणत्व-

भावदीपिका

[अभेदोपादाना भेदकल्पना—]

अविनिगमं तर्काऽवष्टम्भेन शङ्कते—नन्विति। दृष्टान्तमुपपादयति—न खल्विति। भेदस्य सर्वत्राऽभेदाधिष्ठानत्वाऽनुपपत्तेरभेदस्य च सर्वत्र भेदाधिष्ठानत्वोपपत्तेरिदमेव विनिगमनकारणम्—इत्याह—उच्यत इति। अवयवानवस्थामङ्गीकुर्वाणं प्रत्याह—अनन्तेति। भेदस्या-

ज्ञानवती

निरूपण किया है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि भेद की कल्पना अभेद उपादानवाली होती है।

धर्मी और प्रतियोगी का भेद व्यासज्यवृत्त्या है यदि ऐसा कहें? तब तो प्रत्येकगत एकत्व उसकी सत्ता का उपादान होता है, और यदि प्रतियोगी की अपेक्षा न करके (भेद) धर्मी में ही है (ऐसा मान लें तो) तो धर्मी का ऐक्य ही उसका उपादान होगा। नित्यभेद में कोई प्रमाण नहीं है क्योंकि एक चन्द्र में भेद समारोप देखा जाता है। इसलिये वह (अर्थात् भेदसमारोप) अभेदोपादान वाला ही है; क्योंकि अनिर्वाच्य का अधिष्ठानत्व अनुपपन्न है। चूँकि आत्मा अभेदात्मक है इसलिये अनिर्वाच्य नहीं है।

[अभेदोपादाना भेदकल्पना—]

(पू) जैसे मुख आदि के अभेद का दर्पण आदि में प्रतिमुख आदि भेद का उपादानत्व प्रसिद्ध है। (पू) वहाँ मुद्रा के योग से मुख आदि का आकार प्रतिमुद्रा के समान हो जाता है? (उ) ऐसा नहीं है; क्योंकि ऐसा होने पर (दोनों का) परिमाण समान हो जायगा तथा मुख आदि के पास में न रहने पर भी (प्रतिमुख की) स्थिति होने लगेगी। परिणाम होने पर भी ऐसा ही होगा। इसलिये वहाँ मुख आदि का आकार तथा भेद अनिर्वचनीय है। उसी प्रकार वन आदि के विषय में भी भेदोपादान वाली अभेद की कल्पना है। इसलिये वहाँ कैसे निर्णय हो?

(उ) परमाणु के भेद का ही अधिष्ठान होने से (अर्थात् यदि परमाणु भेद का ही अधिष्ठान है, ऐसा मान लें तो) परमाणुद्वय अभेद के समारोप के अधिष्ठान नहीं होंगे; क्योंकि दो (परमाणु)) को एक (परमाणु) की सिद्धि की अपेक्षा होती है। ओर वे दोनों (परमाणु) भी दो की सिद्धि के बाद ही होते हैं, किन्तु उनके अवयवों को कहना पड़ेगा।

प्रसङ्गात्। भेदश्च व्यावृत्तिरूपः। स च व्यावर्त्यव्यावृत्तिमत्परतन्त्रः। स्वरूपैक्यं च न तथा। तस्मान्न सर्वत्र भेदस्याधिष्ठानत्वम्।

यः पुनः पादपेषु 'एकं वनम्' इति समारोपः [स न] सन्मूलाधिष्ठानस्यैक्यविघाती; तथाहि—"सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः" इति सदेकरसं ब्रह्म महाभूतभेदग्रामाधिष्ठानं श्रूयते; तथा "त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्" इति भूतभेदस्य स्वकार्यभेदाधिष्ठानत्वं, तत्कार्याणाञ्च पादपानामभेदभ्रमाधिष्ठानत्वम्। अतो जीव इव स्वप्नाध्यासपरम्पराया ब्रह्मैव सर्वस्या अस्या अध्यासपरम्पराया अधिष्ठानम्। न च वनैक्यवत् ब्रह्मैक्यं कल्पितं युक्तम्; प्रत्येकं पादपानां वनत्वाभावात्; समुदायस्य चावस्तुत्वात्तद्गतबहुत्वसंख्यायाश्चैकवस्तुत्वेऽपि वनत्वव्यवहारालम्बनत्वस्य पश्वादिष्वदर्शनादनुपपत्तेः पादपत्रये तस्या अविशेषिताया विद्यमानत्वेऽपि वनत्वव्यवहाराभावात्; अस्मिन् वने सहस्रं पादपाः' इति भेदेन व्यवहाराच्च उक्तं वनैक्यं समारोपितम्।

भावदीपिका

भेदाऽपेक्षसिद्धित्वादपि नाऽभेदाऽधिष्ठानत्वम्—इत्याह—भेदश्चेति। तथाऽपि क्वचिद् भेदस्याभेदाधिष्ठानत्वं संशयं जनयति—इत्याह—यः पुनरिति। यथैक्याधिष्ठानस्याऽपि पादपादिभेदस्य कल्पितत्वं, तथा सफलभेदाऽधिष्ठानब्रह्मैक्यस्याऽपि कल्पितत्वं किं न स्यात्? कल्पितैकदृष्टान्तलाभाच्च—इत्याशङ्कायामाह—न च वनैक्यवदिति। बहुत्वसंख्यायाः वस्तुत्वात् वनत्वव्यवहाराऽऽलम्बनत्वमाशङ्क्य तस्या अविशेषषितायास्तत्त्वं पादपविशेषिताया वा?—इति विकल्प्य दूषयति—तद्गतेति। ब्रह्मैक्यकल्पना हि नानाभूते ब्रह्मणि वक्तव्या, पादपद्वये

ज्ञानवती

उनमें भी प्रत्येक में एकत्व का समारोप होने पर उनके अवयवों को, उसके बाद भी उसी प्रकार; इस तरह अनवस्था होने से परमाणु के ऐक्य का समारोप असिद्ध हो जायगा। और अनन्त अवयव होने पर उक्त रीति से अणु भी पर्वत के परिमाण वाला होने लगेगा। किन्तु भेद व्यावृत्तिरूप होता है। और वह व्यावर्त्य एवं व्यावृत्तिमत् के अधीन है। किन्तु स्वरूप का ऐक्य ऐसा नहीं है। इसलिये सर्वत्र भेद (अभेद का) अधिष्ठान नहीं है।

और जो—पादपों में 'एक वन' ऐसा समारोप है वह सन्मूलक अधिष्ठान के ऐक्य का विघातक नहीं है। वह इस प्रकार—"हे सोम्य। ये सब प्रजायें सन्मूलक हैं" इससे सदेकरस ब्रह्म, महाभूतभेदसमूह का अधिष्ठान सुना जाता है; तथा "तीन ही रूप सत्य हैं" इससे भूतभेद का अपने कार्य भेद का अधिष्ठानत्व और उसके कार्य वृक्षों का अभेदभ्रमाधिष्ठानत्व (सुना जाता है)। इसलिये स्वप्नाध्यासपरम्परा का जीव के समान इस समस्त अध्यासपरम्परा का अधिष्ठान ब्रह्म ही है।

(पू) वन के ऐक्य के समान ब्रह्म के ऐक्य की कल्पना हो जायगी? (उ) यह ठीक नहीं है। क्योंकि प्रत्येक वृक्ष वन नहीं हो सकता; और समुदाय के अवस्तु होने से उसमें रहने वाली बहुत्व संख्या के एक वस्तु होने पर भी वनत्व के व्यवहार का आलम्बन वृक्ष आदि में न देखे जाने से अनुपपत्ति हो जाती है। तथा तीन वृक्षों में उस (अर्थात् बहुत्व संख्या) के समान रूप से रहने पर भी वनत्व का व्यवहार नहीं होता। तथा 'इस

ब्रह्मैक्यकल्पनायां पुनर्न बीजं पश्यामः। न तावद्विचित्रकार्यजनकत्वं भेदमूलम्, येनैक्यं कल्पितं स्यात्। एकैकस्यापि बीजस्याङ्कुरपत्रकाण्डादिविचित्रकार्यदर्शनात्।

अथ तत्राऽप्यवयवानां भिन्नानामेव कारणत्वम्? तत्र वक्तव्यम्[1]—किं बीजावष्टब्धा अवयवा अङ्कुरमारभ्य चरितार्थाः, अन्य एवादृष्टानुकृष्टा पत्राद्यारभ्य फलाद्यारभन्ते? (किं वा[2] बीजावयवसंगृहीताः सर्वारम्भकाः?) किं वा बीजावयवा बीजान्तरमारभन्ते परे तु अङ्कुरादि बीजान्तरादर्वाक्? आद्ये विजातीयानेककार्यव्यवधानेऽपि नीलाकारे ज्ञानस्य सजातीयनीलाकारज्ञानोपादानत्ववत् साम्प्रतजबीजाकारावयवानां विजातीयाङ्कुरादिकार्यव्यवधानेन सजातीयबीजोपादानत्वमिति कल्पना भज्येत। द्वितीये बीजावयवानामल्पतमत्वात् पार्थिवावयवेषु वर्त्तमानाप्यतैजसाद्यवयवानामिव कार्ये स्वजातिव्यवहारहेतुत्वं न स्यात्। तृतीये 'बीजादङ्कुरोऽजायत' इति प्रवादोऽस्तमियात्। तस्मादनिर्वाच्य एवात्र कार्यकदम्बं प्रति कारणभावो वक्तव्यः। स च नैकस्याप्यनुपपन्नः।

भावदीपिका

पादपैक्यकल्पनावत्। न च नानात्वं गमकमस्ति—इत्याह—न तावदिति। दृष्टान्ताऽऽक्षेपं विकल्प्य दूषयति—तत्र वक्तव्यमित्यादिना।

ज्ञानवती

वन में हजारों वृक्ष हैं' ऐसा भेदपूर्वक व्यवहार होता है। इसलिये उक्त वन का ऐक्य समारोपित है। किन्तु ब्रह्म की ऐक्य की कल्पना में कोई बीज नहीं देखते। (ब्रह्म का) विचित्रकार्य का जनक होना भी भेद का मूल नहीं है जिससे ऐक्य कल्पित हो जाय; क्योंकि एक-एक बीज का भी अङ्कुर, पत्ता, तना आदि विचित्र कार्य देखा जाता है।

(पू) वहाँ पर भिन्न अवयव ही कारण हैं? (उ) इस विषय मे कहना है—क्या बीज में अवष्टब्ध अवयव अङ्कुर का आरम्भ करके चरितार्थ हो जाते हैं, और दूसरे (अवयव) अदृष्ट से प्रेरित होकर पत्र आदि का आरम्भ करके फल आदि का आरम्भ करते हैं? अथवा बीज के अवयव सामूहिक रूप में सर्वारम्भक हैं? अथवा बीज के अवयव बीजान्तर का आरम्भ करते हैं और दूसरे लोग बीजान्तर से अर्वाचीन अङ्कुर आदि उत्पन्न करते हैं? पहले (पक्ष) में विजातीय अनेक कार्य का व्यवधान होने पर भी नीलाकार का ज्ञान, जैसे सजातीय नीलाकार के ज्ञान का उपादान होता है, उसी प्रकार इस समय उत्पन्न बीजाकार अवयवों के, विजातीय अङ्कुर आदि कार्य के द्वारा व्यवधान होने से, (यह) सजातीय बीज का उपादान (है) यह कल्पना भग्न हो जायगी। दूसरे (पक्ष) में बीजावयवों के अल्पतम होने से पार्थिव अवयवों में वर्त्तमान जल तेज आदि के अवयवों की भाँति वे कार्य में अपनी जाति के व्यवहार के कारण नहीं बनेंगे। तीसरे पक्ष में बीज से अङ्कुर उत्पन्न होता है यह प्रवाद समाप्त हो जायगा। इस कारण कार्यकदम्ब के प्रति कारणभाव को अनिर्वाच्य ही कहना चाहिये। और वह एक का भी अनुपपन्न नहीं।

---

[1] (ग) न च वक्तव्यम्। [2] (क) फलाद्यारभन्ते किं वा बीजावयवा बीजा। (ख) फलाद्यारभन्ते किं वा बीजावयवसंगृही।

[त्रिवृत्करणस्य पञ्चीकरणोपलक्षणत्वम्–]

किञ्च यथैवावयवानां बीजादिचूर्णानाममृदा[१] प्रविष्टानां घटाकारोऽपि इति विचित्रकार्याविरोध एकैकशेनापि, तथा ब्रह्मणोऽप्यवयवानां सहकारिसव्यपेक्षाणाभेव चेत् तथाभावः ? तर्हि ब्रह्मणोऽप्यस्ति मायासहकृत्वरी सजातीयानां संयुक्तानामनेकेषामारम्भकत्वं द्रव्यं प्रतीति नियम आरम्भवादेन। विवर्तपक्षे त्रिवृत्करणस्य "तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति श्रुत्या निरूपणात् केवलसजातीयनियमस्य दुर्लभत्वाच्च, "यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य" इति त्रिवृत्करणलिङ्गश्रुतेः। न चैवमेकभूततयैव व्यवहारः प्रसज्येत; भूतान्तरभागस्याल्पत्वात्। अल्पचणकचूर्णादिप्रक्षेपेऽपि हिङ्ग्वादाविवासङ्कीर्णव्यवहारोपपत्तेः।

भावदीपिका

[त्रिवृत्करणस्य पञ्चीकरणोपलक्षणत्वम्—]

एकस्य च किं सर्वथाऽनेककार्यकरत्वं नाऽस्ति, युगपद् वा ? नाद्यः—इत्याह—किञ्चेति। ब्रह्मणः क्रमेणाऽनैककार्यकरत्वं च "आत्मन आकाशः" इत्यादौ श्रुतम्; ततो युगपदसंभवो न दोष इति स्थेयम्। सहकृत्वरी=सहकारिणी। नन्वाकाशादेर्द्रव्यत्वात्तदारम्भकत्वे ब्रह्मणः पटाद्यारम्भकतन्त्वादिवदनेकत्वसिद्धावैक्यं कल्पितम्—इत्याशङ्क्याऽऽह - सजातीयेति। किञ्च किं केवलसजातीयानेकत्वं विवक्षितं द्रव्यान्तरविशिष्टस्य वा ? द्वितीये प्रत्येकमैक्याऽऽरोपे परमाण्वैक्याऽऽरोपोक्तं दूषणम्। प्रथमं प्रत्याह—त्रिवृतकरणस्येति। ततो न तन्त्वादीनां केवलसजातीयत्वलाभः; परमाणूनां च विप्रतिपन्नत्वान्नोदाहरणत्वलाभ इति भावः। न केवलं श्रौतं त्रिवृत्करणं, लैङ्गिकमपि—इत्याह - यदग्नेरिति। "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्"—इति त्रिवृत्करणं सूत्रकारस्याऽप्यभिप्रेतम्। "पञ्चम्यामाहुतौ आपः पुरुषवचसो भवन्ति" इत्यत्र भूतान्तरसद्भावेऽप्याप इति निर्देशं व्युत्पादयामः। मिश्रणेऽनिष्टमाशङ्क्य "वैशेष्यात्तु तद्वादः" इति सूत्राऽनुसारेण परिहरति—न चैवमिति।

ज्ञानवती

[त्रिवृत्करण पञ्चीकरण का उपलक्षण है—]

इसके अतिरिक्त जैसे अवयव बीज आदि के चूर्ण का, जो कि मिट्टी आदि में प्रतिष्ठित हैं; घट का आकार भी (हो जाता है) ऐसा विचित्र कार्य का अविरोध एक-एक के साथ भी है, उसी प्रकार यदि ब्रह्म के अवयवों का भी, जो कि सहकारिसव्यपेक्ष हैं, उन्हीं का उस प्रकार का (अर्थात् कार्याकारेण परिणाम) हो तो ब्रह्म के सजातीय संयुक्त अनेक का आरम्भकत्व, द्रव्य के प्रति माया सहायक है यह नियम आरम्भवाद में नहीं है। विवर्त्तपक्ष में "उनमें से एक-एक को त्रिवृत्-त्रिवृत् किया" इस श्रुति से त्रिवृत्करण का निरूपण है। तथा केवल सजातीय नियम दुर्लभ है। इसलिये "जो अग्नि का लाल रूप है वह तेज का रूप है, जो शुक्ल है वह जल का और जो कृष्ण है वह अन्न का" ऐसा त्रिवृत्करण लिङ्ग सुना जाता है। (पू) इस प्रकार एकभूतता का व्यवहार होने लगेगा ? (उ) ऐसा नहीं

---

१ (ख) मृदा।

पञ्चीकरणञ्च न श्रुतम् । नापि गुणोपसंहारन्यायेन वाय्वाकाशयोरिव छन्दोगश्रुतावस्योपसंहारः ; तद्वदस्य श्रुत्यन्तरेऽप्यश्रुतत्वाच्छ्रुतिन्यायाप्रसिद्धस्योपलक्षणादतिप्रसङ्गात्[1] । न चामिश्रितत्वे तयोर्भोगसाधनत्वं न स्यात्, मिश्रणेऽपि महतो रूपवतो रूपादर्शने तत्तद्साधनत्वादपञ्चीकृतवदविमिश्रणेऽपि कार्यारम्भोपपत्तेश्च मुधा मिश्रणकल्पना । तेजोऽबन्नानां श्रुतमपि[2] मिश्रणं प्रपञ्चसृष्टावुपसंह्रियते चेत् ? तर्हि रूपमपि स्वाभाविकम् पवनाकाशयोरुपसंहर्त्तव्यं स्यात् । न च अग्न्यादाविव वाय्वाकाशयोर्भूतान्तरस्थरूपादिदर्शनम्[3] मिश्रणलिङ्गमस्ति । न चानुद्भूतत्वान्न तद्दर्शनम् ;[4] अयुक्तित्वात् न्यायसहकृतश्रुतिविरोधेन ।

भावदीपिका

त्रिवृत्करणप्रसङ्गेन पञ्चीकरणमप्याक्षेपपूर्वकं व्युत्पादयति—पञ्चीकरणमिति । न चाऽन्यत्राश्रुतमश्रुतस्थले नेतव्यमिति शङ्क्यम्—इत्याह—नाऽपीति । ननु प्रकरणेन पञ्चीकरणं गम्यते, वाय्वाकाशोपसंहारेण पञ्चानां सृष्टिप्रकरणे स्थिते यत्र श्रुतो विभागः पञ्चानां युक्तोऽन्यथा प्रकरणविरोधः स्यात्—इत्याशङ्क्याऽऽह—श्रुतिन्यायेति । अतिप्रसङ्गं वक्ष्यति [अन्यतोऽप्र]सिद्धिमाह—न चेति । महतो रूपवतोः=पवनाकाशयोः । न चाऽमिश्रितत्वे कार्याऽसाधकत्वम्, "आकाशाद्वायुः" इत्यादिश्रुतिविरोधात्—इत्याह—पञ्चीकृतवदिति । पूर्वप्रतिज्ञातमतिप्रसङ्गमाह—तेज इति । श्रुतिप्रकरणयोरभावमुक्त्वा लिङ्गाऽभावमाह—न चाऽग्न्यादाविवेति । अदर्शनस्याऽन्यथासिद्धिमाशङ्क्य परिहरति—न चेति । ननु पञ्चीकरणे पुराणादिवाक्यं प्रमाणम् ? तत्राऽऽह—न्यायेति ।

ज्ञानवती

है; क्योंकि (वहाँ) थोड़ा भूतान्तर का भाग है । जैसे हींग आदि में थोड़ा सा चना का चूर्ण मिलाने पर भी असंकीर्ण व्यवहार की उपपत्ति होती है (उसी प्रकार यहाँ भी हो जायगी) ।

पञ्चीकरण सुना नहीं गया है । और गुणोपसंहारन्याय से वायु और आकाश के समान (अर्थात् जैसे वायु और आकाश में अन्य तत्त्वों का उपसंहार हो जाता है उसी प्रकार) छन्दोगश्रुति में इसका उपसंहार होता है, उसी प्रकार इस (अर्थात् पञ्चीकरण) के, श्रुत्यन्तर में भी अश्रुत होने से, श्रुति और न्याय से अप्रसिद्ध का उपलक्षण होने से अतिप्रसङ्ग हो जायेगा । (पू) अमिश्रित होने पर भी वे दोनों भोग के साधन नहीं होंगे ? (उ) मिश्रण होने पर भी महान् एवं रूपवान् के रूप का दर्शन न होने पर उन-उन के साधन न होने से तथा अपञ्चीकृत के समान विमिश्रण न होने पर भी कार्यारम्भ की उपपत्ति न होने से मिश्रण की कल्पना व्यर्थ है । (पू) तेज, जल तथा अन्न का श्रुत भी मिश्रण प्रपञ्च की सृष्टि में उपसंहृत होता है यदि ऐसा कहें ? (उ) तब तो रूप का भी पवन एवं आकाश में स्वाभाविक उपसंहार करना पड़ेगा । अग्नि आदि के समान वायु एवं आकाश के विषय में, भूतान्तर में रहने वाला रूपादिदर्शनवाला भी मिश्रण लिङ्ग का नहीं है । और अनुद्भूत

---

[1] (ख) लक्षणेऽतिप्र । [2] (ख) श्रुतममिश्र । [3] (ख) दर्शन मिश्रण ।
[4] (ख) भूतत्वात्तदर्शनं विरोधे च स्मृतेः तथाहि ।

तथाहि –सत्यप्यभिभावके विपरीतरूपे वह्न्यादौ तुल्यभागक्षेपे च भूतान्तर-रूपमुद्भूतं[1] दृश्यते, वाय्वाकाशयोस्तु विपरीतरूपाभावे स्वरूपेण रूपानारम्भकत्वे[2] चान्यथारूपमात्राप्रकाशप्रसङ्गात् तदनुद्भूतत्वं कथङ्कारं युक्तिमत् ? न्यायसहकृतश्रुति-विरोधे च स्मृतेरपि स्वार्थाव्यवस्थापकत्वात्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"यत्राप्येकं श्रुतौ कर्म स्मृतौ चान्यत् प्रतीयते।
मिथस्तयोर्विरोधे तु श्रौतेऽनुष्ठानमिष्यते॥" इति।

यद्यपि पञ्चानां मिश्रणनिषेधो नास्ति, तद्विधौ च त्रयमिश्रणं लभ्यते, तथाऽपि 'त्रयः वित्र्यः' इति वचनमिवौत्प्रेक्षिकपञ्चवचनबाधकं भवत्येव। ततस्त्रिवृत्करणपक्ष एव साधीयान्। अस्तु वा पञ्चीकरणं, यथासम्प्रदायं मायावादत्वात्; मायायाश्च

भावदीपिका

त्रिवृत्करणं न पञ्चीकरणमिति निषेधाभावेन स्मृतेः प्रामाण्यमाशङ्क्याह—यद्यपीति। प्रतिभटश्रुतौ प्रत्यक्षायां मूलश्रुत्यवमानानुदयादौत्प्रेक्षिकत्वं समाधत्ते—अस्तु वेति। प्रकरण-बलादुसंहृतवाय्वाकाशयोर्विभागो गम्यते। न च तैत्तिरीयेऽविभागप्रकरणादनुपास्यगुणाना-मिवोपासनाप्रकरणोपसंहारेणोपास्यत्वेन विभागप्रकरणोपसंहारेण विभाग इति वचनीयम्; यतोऽत्र [न स्मृत्या]दि प्रकरणानुकूलं दृश्यते; तथा "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिन् शेते सर्वस्य वशी" इत्यादिनिर्गुणविद्यागतगुणानामनुपास्यतया श्रुतानामपि "य इहात्मानमनुविद्य व्रज-न्त्येतांश्च सत्यान् कामान्" इत्युपासनप्रकरणोपसंहृतानामुपास्यत्वं वर्णितम्—"कामादीतरत्र" इत्यादौ। एवमविभागप्रकरणस्थयोरपि वाय्वाकाशयोर्विभागप्रकरणोपसंहृतयोः विभागोप-संहारो न निरूप्यत इति भावः। यदुक्तम्—विभागोपसंहारे स्वाभाविकरूपाद्युपसंहारोऽपि स्यादिति ?—तत्रेदमुपतिष्ठते—मायावादत्वादिति। मायावादेन किं स्यादिति ? तदाह—मायायाश्चेति। स्वाभाविकरूपाद्युपसंहारेऽपि न दोष इति भावः। तत्रैव वाय्वाकाशयो

ज्ञानवती

होने से उसका दर्शन नहीं होता ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि न्यायसहकृत श्रुति का विरोध होने से वह अयुक्तियुक्त है।

वह इस प्रकार—वह्नि आदि में अभिभावक विपरीतरूप तथा तुल्यभागक्षेप के रहने पर भी भूतान्तर का रूप उद्भूत दिखाई पड़ता है किन्तु वायु एवं आकाश का तो विपरीतरूप के न रहने पर और स्वरूपतः रूप का अनारम्भक होने पर अन्यथारूपमात्र के अप्रकाश की प्रसक्ति होने से उसका अनुद्भूतत्व कैसे युक्तिमत् है। और न्यायसहकृत श्रुति का विरोध होने पर स्मृति भी स्वार्थ की व्यवस्थापिका नहीं है। वही भट्टपाद कहते हैं—

"जहाँ पर भी एककर्म श्रुति में अन्य, तथा स्मृति में अन्य प्रतीत होता है वहाँ उन दोनों में आपस में विरोध होने पर श्रुति वाले (कर्म) में अनुष्ठान माना जाता है।"

यद्यपि पाँच के मिश्रण का निषेध नहीं हैं, और उसकी विधि में तीन का मिश्रण प्राप्त होता है, फिर भी "पितृसम्बन्धी तीन" इस वचन के समान औत्प्रेक्षिक पाँच के वचन का बाधक हो ही जाता है। इसलिये त्रिवृत्करण पक्ष ही साधीयान् है। अथवा पञ्चीकरण

[1] न्तरं रूपं। [2] (ख) रूपापरारम्भ।

सावयवत्वानवयवत्वाभ्यां रूपवत्त्वारूपवत्त्वाभ्यां तथा सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वाच्याया अवाच्यविचित्रकार्ययोनित्वस्य ब्रह्मोपाश्रयणेन युक्तत्वात्; दावानलादिसंसर्गलब्धरौद्र-स्पर्शातिरेके पवनस्यानुभूयमानेऽपि रूपानुभवाभावात्; वाय्वाकाशयोर्भूतान्तरमिश्रणे दोषाभावाच्च; सम्भावितार्थस्मृत्यनुमितश्रुत्या पञ्चीकरणं निर्णेतुं शक्यते।

[कार्यस्यानिर्वाच्यत्वम्–]

इतश्च द्वैतस्य मायामयत्वमास्थेयम्। तथाहि – प्रत्यक्षादिः कुम्भादीनामेकान्तेन सत्त्वस्य व्यवस्थापने व्यापृतश्चेत् 'प्रध्वस्तो घटः' इत्याद्यसत्त्वव्यवस्थापने न व्याप्रियेत, ब्रह्मणः सत्त्वव्यवस्थापकं प्रमाणमिव; व्याप्रियते च। तेन गम्यते ब्रह्मसत्त्वविलक्षणं कुम्भादीनां सत्त्वमिति। अथ चिराचिरत्वेन तुल्यत्वाभावेऽपि कालतस्तुल्यमेव? बाध्यत्वे नास्त्येव, तत्त्वानुभूतेरेव प्रमाणत्वात्। प्रत्यक्षादेरपि तत्त्वावेदकतयैव प्रामाण्यस्य वक्तव्यत्वात्। अतो न प्रत्यक्षादिसिद्धस्य कुम्भादिसत्त्वस्य ब्रह्मसत्त्वस्येव केनापि कदाचिदपि बाधः सम्भाव्यते, देहाऽऽत्मप्रत्यक्षस्य देहस्यान्नरसविकृतित्वस्य

भावदीपिका

रूपाऽऽद्युपलम्भप्रसङ्गानुकूलत्वेन नायनतेजोरूपार्थादिवदनुपलम्भसम्भवात् भूतान्तरमिश्रणे-ऽप्येवम्—इति दृष्टान्तेनाऽऽह—दावानलादीति। रौद्रः = उष्णः। एवं हिमसंसर्गलब्धशीत-स्पर्शाऽतिरेकेऽनुभूयमानरूपाऽनुभवाऽभाव उदाहर्त्तव्यः।

[कार्यस्यानिर्वाच्यत्वम्—]

एवं प्रासङ्गिकं समाप्य प्रस्तुत एव द्वैतस्य कल्पितत्वे युक्त्यन्तरमाह—इतश्चेति। अथ न सर्वकालं सत्त्वं परमार्थिकत्वम्, मायावादिनामप्येकजीवपक्षे सर्वदा संसाराऽनुवृत्ति-मुपपादयतां तस्य पारमार्थिकत्वप्रसङ्गात्; किन्तु बाधाऽभावात्; स चाऽत्राऽप्यस्तीति शङ्कते—अथेति। न चैवं देहाऽऽत्मप्रत्यक्षस्याऽपि प्रामाण्यापत्तिः; वैषम्यात्—इत्याह—देहाऽऽत्मेति।

ज्ञानवती

ही हो सकता है, क्योंकि मायावाद सम्प्रदाय के अनुसार है, और सावयवत्व-निरवयवत्व, रूपवत्त्व-अरूपवत्त्व, तथा सत्त्व एवं असत्त्व के द्वारा अनिर्वाच्य माया का, ब्रह्म के उपाश्रय के द्वारा, अवाच्यविचित्रकाययोनित्व उचित है, और पवन के दावानल आदि के संसर्ग से लब्ध रौद्रस्पर्शातिरेक का अनुभव होने पर भी रूप का अनुभव नहीं होता। तथा वायु एवं आकाश का भूतान्तर से मिश्रण होने पर दोष नहीं है। संभावित अर्थवाली स्मृति से अनुमित श्रुति के द्वारा पञ्चीकरण का निर्णय किया जा सकता है।

[कार्य अनिर्वाच्य है—]

इसकारण द्वैत को मायामय मानना चाहियै। वह इस प्रकार—एकान्तरूप से सत्त्व की व्यवस्थापना करने पर यदि कुम्भ आदि का प्रत्यक्ष व्यापृत होता है, तो (वह प्रत्यक्ष) 'घट नष्ट हो गया' इत्यादि असत्त्व की व्यवस्थापना में ब्रह्म की सत्ता के व्यवस्थापक प्रमाण के समान व्यापृत नहीं होगा। किन्तु व्यापृत होता है; इससे यह सिद्ध होता है कि कुम्भ आदि की सत्ता ब्रह्म की सत्ता से पृथक् है। यदि चिर और अचिर होने के कारण तुल्य न होने पर भी काल की दृष्टि से तुल्य ही है? (तो भी) बाध्यत्व में (तुल्यता) नहीं है क्योंकि

गुडादेरिवेक्ष्वादिविकृतित्वस्य ग्राहकमूलप्रत्यक्षेण बाधादप्रामाण्यं युक्तम्। अत्र तु तन्नास्तीति।

यद्येवं तर्हि घटप्रत्यक्षस्य पूर्वभाविपिण्डप्रत्यक्षेण बाधादप्रामाण्यं कुतो न स्यात्? एवं ततोऽपि पूर्वावस्थाग्राहकप्रत्यक्षान्तरेणोत्तरोत्तरप्रत्यक्षस्य बाधादप्रमाणत्वं केन वार्येत? एवं घटप्रत्यक्षेण तद्ध्वंसप्रत्यक्षस्य, अनुमानादौ च तुल्यमिदम्; तेन तत्तदवस्थाव्यवस्थापनशूराणां[१] सर्वेषामविरोधेन प्रामाण्यम्; रज्जुभुजङ्गादि-बोधानामपि तत्प्रसङ्गात्। तथा च त्वयैव अध्यक्षादेरतत्त्वावेदकत्वमावेदितम्।

किञ्च 'तत्त्वानुभूतिः प्रमा' इत्यत्र तस्य भावः तत्त्वं अनुगतं वस्तु न व्यभिचारि व्यभिचारात्मकक्लृप्तमिथ्यात्वयोग्यतासम्पन्नं शुक्तिकलधौतादिवन्न भवतीत्यर्थः। न च तादृशं कुम्भादि, ततः कथं तदनुभूतिः स्यात् तत्त्वानुभूतिः? न च रज्जुभुजङ्गादेर्ज्ञानमात्रनिवर्त्यत्वान्मिथ्यात्वं, कुम्भादेश्च मुद्गरादिना तदनि-वर्त्तकेन निवर्त्यत्वात्तद्वैलक्षण्यमिति वचनीयम्; कुलालादेः प्रमाणव्यापारे सति जायमानत्वाच्च इत्यपि। ईश्वरज्ञानेन प्रपञ्चध्वंसाभ्युपगमात्, जन्मनाशयोरेव-दुर्निरूपत्वाच्च।

भावदीपिका

अयं विशेषः प्रकृतेऽपि तुल्यः—इत्याह—यद्येवमिति। पिण्डादिग्राहकप्रत्यक्षाणां सम्बद्धं वर्तमानं च गृह्यते चक्षुरादिनेति तथानुसारेण प्रामाण्यमाशङ्क्य चक्षुरादीनां रूपादिसम्बन्धस्याऽनिरूप-णात्; तद्रहितद्रव्यस्याऽप्रत्यक्षत्वात्; प्रतीतिभावस्याऽतिप्रसङ्गित्वाच्च मैवम्—इत्याह—न च तदवस्थेति। प्रमालक्षणमपि कुम्भादिप्रमाणं नाऽस्ति—इत्याह—किञ्चेति। कुम्भादे रज्जुभुजङ्गादिवैलक्षण्यस्याऽपि सद्भावात्तदनुभूतेस्तत्त्वाऽनुभूतित्वं 'तत्त्वमनारोपितं रूपम्' इति लक्षणानुसारेण संभाव्यते—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। कुलालव्यापाराऽऽदिना जन्माऽदेर्दु-र्निरूपत्वादपि घटादेरनिर्वाच्यत्वम्—इत्याह—जन्मेति।

ज्ञानवती

तत्त्वानुभूति ही प्रमाण है और प्रत्यक्ष आदि का भी प्रामाण्य तत्त्वावेदक के रूप में ही कहा जाता है। इसलिये ब्रह्म की सत्ता के समान प्रत्यक्ष आदि से सिद्ध कुम्भ आदि की सत्ता का बाध किसी से भी, कभी भी सम्भव नहीं है। अन्न रस की विकृति देह का, ईख आदि की विकृति गुड़ आदि के समान, ग्राहकमूलप्रत्यक्ष से बाध होने के कारण देह और आत्मा के प्रत्यक्ष का, अप्रामाण्य ठीक है। यहाँ वह नहीं है।

यदि ऐसा है तो घट के प्रत्यक्ष का पूर्वभावी पिण्ड के प्रत्यक्ष से बाध होने से अप्रामाण्य क्यों नहीं हो जाता? और इसी प्रकार उससे भी पूर्वावस्था के ग्राहक प्रत्यक्षान्तर से उत्तरोत्तर प्रत्यक्ष का बाध होने से अप्रमाणत्व किससे वारित होगा? इसी प्रकार घटप्रत्यक्ष से उसके ध्वंस के प्रत्यक्ष का (भी अप्रामाण्य है) और अनुमान आदि में यह तुल्य है। इससे तत्तदवस्था की व्यवस्था में शूर सभी का विरोध प्रामाणिक (हो जायगा) और रज्जु में भुजङ्ग आदि बोध की भी वही (=प्रामाण्य) प्राप्त होगा। और इस प्रकार तुम्हारे ही द्वारा प्रत्यक्ष के अतत्त्व का आवेदकत्व आवेदित किया गया।

---

[१] (ग) न च तदवस्था।

ननु कथं दुर्निरूपत्वम्; प्रलयशब्देन च कार्यशून्यं कारणमभिधीयते, न पुनः कार्यस्य कारणे लयः प्रलयः; एवं सत्यसदुत्पद्यते सन्निरुध्यत इत्ययमर्थ उक्तो भवतीति न्यायवार्तिककारैर्निरूपितत्वादिति चेत्? तदयुक्तम्; दग्धपटादेः कारणतन्त्वादिनाशेनापि प्रलयाभ्युपायात् कार्यशून्यं कारणं प्रलय इत्यनुपपत्तेः। [नापि] कार्यस्य[1] निरन्वयनाशे च न कारणावस्थानेन प्रयोजनमपि पश्यामः। शक्त्यात्मनाऽपि कार्योच्छेदेऽत्यन्तासत एवोत्पत्तौ नियतकारणानिरूपणात्, अकस्माद्वा यस्मात् कस्माच्चिद्वा कार्योत्पत्तिसम्भवात्; अतो न कार्यकारणव्यवस्था काचित् स्यात्; केनाप्याकारेण कार्यस्य कारणेऽनवस्थाने कारकव्यापारस्य निरर्थकत्वप्रसङ्गाच्च। कारणस्य

भावदीपिका

नैयायिकः शङ्कते—नन्विति। द्व्यणुकादिकार्यशून्यम् विभक्ततयाऽवस्थितं परमाणुलक्षणम्=कारणम्; प्रलयः=कार्यस्य ध्वंसः; तद्वत्तया कारणं लक्षणया प्रलयशब्देनोच्यते लयः। कर्माङ्गानामिव संकोचमात्रं भूभूधरादीनां निष्प्रमाणकम्। यादृशास्तन्त्वादयः पटाऽऽद्यारम्भकाः तद्विघटने तादृशत्वेन पुनरवस्थानं तेषां दृष्टत्वात् न पर्यनुयोगमर्हतीत्यर्थः। पटादिकार्यस्य संयुक्ततन्त्वादिना द्वितन्तुकादिक्रमेण जन्मनोऽपि पूर्वमज्ञतो दृष्टत्वात्, सतश्च पाटनादेरपि दृष्टत्वान्न जन्मविनाशयोर्दुर्निरूपत्वम्—इत्याह—एवमिति। तत्र प्रलयनिर्वचनं तावत् दूषयति—तदयुक्तमिति। पक्षश्चाऽयमनुपपन्नः—इत्याह—कार्यस्येति। 'असदुत्पद्यते'

ज्ञानवती

इसके अतिरिक्त 'तत्त्वानुभूति प्रमा है' यहाँ 'तस्य भावः तत्त्वम्' यह अनुगत वस्तु है, व्यभिचारी नहीं है; अर्थात् व्यभिचारात्मक कल्पितमिथ्यात्व की योग्यता से सम्पन्न शुक्तिरजत आदि के समान नहीं हैं। कुम्भ आदि तो वैसे ही हैं तो फिर उसकी अनुभूति तत्त्व की अनुभूति कैसे होगी? (पू) रज्जु में भुजङ्ग आदि की ज्ञानमात्र से निवृत्ति होने से मिथ्यात्व है, और कुम्भ आदि का उस (अर्थात् रज्जु-भुजङ्ग) के अनिवर्तक मुद्गर आदि से निवर्त्य होने के कारण वैलक्षण्य है। क्योंकि वह कुलाल आदि के प्रामाणिक व्यापार के होने पर उत्पन्न होता है। (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि ईश्वरज्ञान से प्रपञ्चध्वंस माना जाता है। और जन्म एवं नाश ही दुर्निरूप है।

(पू) दुर्निरूप कैसे है? प्रलयशब्द से कार्यशून्य कारण कहा जाता है, न कि कार्य का कारण में लय प्रलय है। इस प्रकार सत् में असत् उत्पन्न होता है, (इससे) 'सत् निरुद्ध हो जाता है' यह अर्थ उक्त होता है—ऐसा न्यायवार्त्तिककार ने निरूपण किया है। (उ) यह कहना ठीक नहीं है। दग्ध पट आदि के कारण (स्वरूप) तन्तु आदि के नाश से भी प्रलय मानना पड़ेगा इसलिये कार्यशून्य कारण प्रलय है, यह अनुपपन्न है। और कार्य का निरन्वय नाश होने पर कारण की स्थिति से प्रयोजन भी नहीं दिखाई पड़ता। शक्ति के रूप में कार्य का उच्छेद होने पर अत्यन्त असत् की ही उत्पत्ति होने पर निश्चित कारण का निरूपण न होने से अकस्मात् अथवा जिस किसी भी (कारण) से कार्य की उत्पत्ति सम्भव होने लगेगी। इसलिये कोई भी कार्यकारण व्यवस्था नहीं रहेगी। और कारण में

[1] (ख) कार्यत्व निसू।

निष्पन्नत्वेनातिशयानपेक्षणात् कार्यस्य चासत तदाधारार्थताविरहात्; न च सतो विनाशोऽपि कार्यत्वादुक्तन्यायेन कारकव्यापारसाध्यः। सदसतोश्च नाशजन्मनी चेद् आत्मखपुष्पादेरपि किं न स्याताम्?

अत्राह सांख्यः—

सत्यम्; न जन्मविनाशौ कस्यचित्, किन्तु व्यक्तितिरोभावौ तद्व्यवहार-निर्वाहकौ इति लयेऽपि सूक्ष्मरूपेण स्थितस्य स्थूलरूपेणाभिव्यक्तिः कारकव्यापारफल-मिति सत्कार्यवादिनां प्रक्रिया।

नैयायिकोऽप्याह—तच्चैतन्न, कस्मात्[1]? उत्पत्तिविशेषकत्वात्। व्यक्तिः =उत्पत्तिविशेषः। कथम्? नानुपजातविशेषस्य व्यक्तिर्यतः। अथानुपजातविशेषं व्यज्यत इति मन्यसे? नित्यं व्यक्तिः स्यात्। एतेन तिरोभावोऽपि व्याख्यातः।

भावदीपिका

इत्युक्तं निराचष्टे—नाऽपीति। यदुक्तं 'सन्निरुध्येत' इति—तत्राऽऽह—न च सत इति। किञ्च किमविशेषितयोः सदसतोर्नाशजन्मनी किं वा विशेषितयोः? नाऽऽद्यः—इत्याह—सदसतोश्चेति। "प्रागसज्जायत" इति च निरस्तम्, ततश्च जन्मभागसन्निवर्तत इति दुर्निरूपमिति न विशेषितपक्षोऽपि।

मताऽन्तरं मताऽन्तरेणाऽपाकरोति—अत्राऽऽहेत्यादिना। पूर्वं निगूढाऽवयवः धर्मोऽभूत् साम्प्रतं व्यक्ताऽवयवो जात इति व्यवहारात्। व्यक्तेरुत्पत्तिविशेषत्वं प्रसृताऽवयववत्वादिना जातत्वमिति चेत्? न व्यक्तिशब्दार्थः; निगूढावयवदशायामपि व्यक्तिव्यवहारः स्यात्—इत्याह—नित्यं व्यक्तिः स्यादिति। तिरोभावः=स्वरूपेण विद्यमानस्याभिभवमात्रम्; [तच्च] घटपटादेः सर्वोपलब्धियोग्यस्य न सम्भवति विना तमःकुड्यादिना; तत्र च मार्जाराऽऽदीनां दर्शनसम्भवात्, प्रलयव्यवहाराऽभावाच्च। स्वरूपोपमर्दनाऽदर्शनं चेत् तिरोभावः? तर्हि पर्यायेण

ज्ञानवती

कार्य की किसी भी रूप में सत्ता न रहने पर कारक का व्यापार निरर्थक हो जायगा। क्योंकि कारण निष्पन्न है इसलिये (उसे) अतिशय की अपेक्षा नहीं है और कार्य के असत् होने से उसके आधार के लिये भी (कुछ नहीं चाहिए)। (पू) सत् का विनाश होने पर भी कार्य होने के नाते उक्त न्याय से (वह) कारकव्यापार से साध्य होगा और यदि सत् एवं असत् का नाश एवं जन्म होता है तो आत्मा और खपुष्प आदि का भी क्यों नहीं होता?

इस विषय में सांख्य का कहना है—ठीक है, जन्म और विनाश किसी का नहीं है, किन्तु व्यक्ति एवं तिरोभाव उस व्यवहार के निर्वाहक हैं इसलिये प्रलयावस्था में भी सूक्ष्मरूप से स्थित की स्थूल रूप से अभिव्यक्ति कारकव्यापार का फल है यह सत्कार्यवादियों की प्रक्रिया है।

नैयायिक भी कहते हैं—ऐसा नहीं है। क्यों? उत्पत्तिविशेष होने से। व्यक्ति (का मतलब है) उत्पत्तिविशेष। कैसे? क्योंकि अनुपजातविशेष की व्यक्ति नहीं होती। यदि

---

[1] (ख) तस्मात्।

तिरोभाव इति विद्यमानतैव। नक्षत्रादिवन्न किञ्चिन्निवृत्तं चेत्? तन्न युक्तम्; न ह्यनिवृत्तविशेषस्य सर्वेषामग्रहणं युक्तिमत्; नक्षत्रादेरपि कस्यचिद्दर्शनात्। नित्य-कार्यपक्षे च पूर्वापरभावव्याप्तः कार्यकारणभावोऽपि कुतस्त्यः? व्यक्तेरपि नित्यत्वे व्यङ्ग्यत्वं न कारकप्रयोजनमपि। आगन्तुकत्वे चासत्कार्यवादप्रसङ्ग इति। एवं नासत्कार्यवादे सत्कार्यवादे वा जातिनाशौ। अनिर्वाच्याविद्यानिर्वाच्यावेव परि-शिष्टौ कार्येण सहैव—

"सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते॥
असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते।
वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वाऽपि जायते॥"

इति गौडपादीयोक्तेश्च। कुलालादिव्यापारस्यापि न कुम्भादेः परमार्थसत्त्वाऽऽक्षेप-

भावदीपिका

परमताऽभ्युपगमः—इत्याह—तिरोभाव इति। यदा च न कोऽपि विशेषो जायते, न च विनश्यति, तदा न कार्यकारणव्यवहारलाभः—इत्याह—नित्येति। न च व्यक्तावप्ययं युक्तः—इत्याह—व्यक्तेरपीति। यदुक्तं कुलालाऽऽदिप्रमाणसिद्धव्यापारे सति जायमानत्वात् कुम्भादेः पारमार्थिकत्वमिति—तत्राऽऽह—कुलालाऽऽदीति। तथाऽपि व्यापाराद्यनेकं वस्तु परमार्थ-

ज्ञानवती

अनुपजातविशेष व्यक्त होता है ऐसा मानते हो तो व्यक्ति नित्य हो जायगी। इससे तिरो-भाव भी व्याख्यात हो गया। यदि (आप) यह कहते हैं कि तिरोभाव का मतलब नक्षत्र आदि के समान विद्यमानता ही है तब तो कुछ निवृत्त नहीं हुआ? तो यह ठीक नहीं है। सभी का अनिवृत्तविशेष का अज्ञान युक्तिमत नहीं है। क्योंकि कोई नक्षत्र आदि (दिन में) भी देखा जाता है। और नित्यकार्यपक्ष में पूर्वापरभाव से व्याप्त कार्यकारण भाव भी कहाँ का होगा? इसके अतिरिक्त व्यक्ति के भी नित्य हो जाने पर व्यक्त करने वाले का (कोई) प्रयोजन भी नहीं होगा; तथा आगन्तुक होने पर असत्कार्यवाद की प्राप्ति हो जायगी। इस प्रकार सत्कार्यवाद या असत्कार्यवाद में जन्म एवं नाश नहीं है। (ये दोनों) कार्य के साथ ही अनिवार्य अविद्या के अनिर्वाच्य परिशिष्ट हैं—

"सत् का जन्म माया के द्वारा तत्त्वतः युक्त नहीं है। जिसके (मत में) तत्त्वतः जन्म होता है उसके (मत में) उत्पन्न ही जन्म होता है। असत् का जन्म माया से अथवा तत्त्वतःयुक्तियुक्त नहीं है। वन्ध्यापुत्र न तो तत्त्वतः और न माया से उत्पन्न होता है।" ऐसी गौडपाद की उक्ति है। जैसे मायावी का व्याघ्र आदि भाव के लिये वर्णिकाग्रहण आदि व्यापार व्याघ्र आदि भाव के परमार्थतत्त्व का आक्षेप नहीं करता उसी प्रकार कुलाल आदि का व्यापार भी कुम्भ आदि की परमार्थसत्ता का आक्षेपक नहीं है। इस कारण तत्वपदार्थ अद्वैत ही है। समस्त अनेकात्मक (वस्तु) एकवस्तुसापेक्ष है क्योंकि (वह) उसका (=एक का) समुच्चयरूप है। इसलिये एकबुद्धिपूर्वक अनेकबुद्धि, चन्द्रमा आदि में

त्कत्वम्। यथा खलु मायाविनो वर्णिकाग्रहणादिव्यापारो व्याघ्रादिभावाय न व्याघ्रादिभावपरमार्थत्वमाक्षिपति। तस्मादद्वैतमेव तत्त्वपदार्थः। सर्वञ्चानेकात्मकमेकवस्तुसापेक्षं, तत्समुच्चयरूपत्वात्। अत एकबुद्धिपूर्वकानेकबुद्धिश्चन्द्रादाविव भ्रान्तिः। एकबुद्धिस्तु नानेकबुद्धिमपेक्षते, अनेकबुद्धिविषये तस्या निरालम्बनाया उदयासम्भवेनानेकबुद्धेरेतत् प्रतिकूलत्वात्। अनेकालम्बनायास्तु बुद्धेरेकबुद्ध्यालम्बनस्य विषये निवेशसम्भवेनैकबुद्धेरप्रतिकूलत्वात्। ततोऽप्यद्वैतं परमार्थः। "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" इति वेदस्तीर्थकराणां सदादिविकल्पालम्बनमविकल्पमद्वैतं[१] सत्यमाह।

भगवत्पादाचार्या अपि –

"सदसत्सदसच्चेति विकल्पात् प्राग् यदिष्यते।
तदद्वैतं समत्वाच्च नित्यं चान्यद्विकल्पितात्॥"

इति। मण्डनमिश्राश्च—प्रपद्यन्ते प्रवादिनः कञ्चिदर्थस्वभावमेकं यस्यायं पञ्च षड्वा इत्यादिप्रभेदसंग्रह इति। तेनाद्वैतविकल्पावलम्बनानां प्रमाणाभिमतानां

भावदीपिका

मिति कथमहेतुत्वप्रतिज्ञा ? तत्राऽऽह—सर्वं चेति। अनेकबुद्धेस्तर्हि प्रतिकूलैकबुद्ध्यपेक्षा कथम् ? अत आह—अनेकाऽऽलम्बनायास्त्विति। उक्तं वेदाऽऽचार्यसंमत्या द्रढयन् द्वैतविषयप्रमाणत्वेनाऽभिमतप्रत्यक्षाऽऽदेर्गतिमाह—एकमित्यादिना।

ज्ञानवती

(में वर्त्तमान अनेक बुद्धि के) समान भ्रान्ति होती है। किन्तु एकबुद्धि अनेकबुद्धि की अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि अनेकबुद्धि के विषय में उसके (=एक बुद्धि के) आलम्बनरहित होने से उदय सम्भव न होने से अनेकबुद्धि इसके (=एकबुद्धि के) प्रतिकूल हो जाती है। और अनेक आलम्बन वाली बुद्धि का एकबुद्धि के आलम्ब के विषय में निवेश सम्भव होने से एकबुद्धि प्रतिकूल नहीं होती। इससे भी अद्वैत परमार्थ है। "एक सत् को विप्र अनेक प्रकार से कहते हैं" इस प्रकार वेद शास्त्रकारों के सद् आदि विकल्प के आलम्बन स्वरूप अविकल्प अद्वैत को सत्य कहता है।

भगवत्पादाचार्य भी (कहते हैं)—

"विकल्प से पहले यह जो सत्, असत् और सदसत् माना जाता है वह सम होने से अद्वैत है और दूसरे विकल्पित की अपेक्षा नित्य है।"

मण्डनमिश्र (का कथन है)—

"प्रवादी लोग अर्थस्वभाव वाले किसी एक (वस्तु) को मानते हैं जिसका कि यह पाँच या छ इत्यादि प्रभेदसंग्रह है। इससे अद्वैतविकल्पावलम्बन वाली प्रमाण के रूप में अभिमत (वस्तुओं) का व्यवहार में विसंवाद न दिखलाई पड़ने से व्यावहारिक प्रामाण्य है, न कि तत्त्वावेदनलक्षण (प्रामाण्य)। इसलिये हमारा अद्वैत सर्वथा उपपन्न है।"

---

१ (ख) लम्बनं विकल्प।

व्यवहारे विसंवादस्यादर्शनात् व्यावहारिकं प्रामाण्यम्, न तत्त्वावेदनलक्षणम्। अतो नोऽद्वैतं[1] सर्वथोपपन्नम्।

[प्रकरणारम्भप्रतिज्ञा–]

इदञ्चाद्वैतं सन्दिग्धत्वात् सप्रयोजनत्वाच्च विचारगोचरः। सन्देहश्च साधारणप्रतीतिमन्तरेण नावतरतीति साधर्म्यवदस्यापि लोकतो वेदतो वा सम्पाद्यत्वमिति समपादि। इदं तत् सत् [अर्थो[2]] वस्तु इति सामान्यरूपेण दयाद्यात्मना तस्य प्रसिद्धत्वात् धर्मवत्, द्वैतस्य मिथ्यात्वोपपादनेन सम्भावितविषयत्वाच्च[3] शास्त्रस्य संभावितविषयत्वादारम्भोऽपि सम्भाव्यते। 'अधिकारिणः प्रमितिजनको वेदः' इति न्यायात्। अनधिकारिभिः कुतूहलादिना शास्त्रमिदमुपाश्रितमपि न फलपर्यवसायीति नासम्भावितप्रयोजनत्वाशङ्काऽपि। न खलु शूद्रादिना क्रियमाण-

भावदीपिका

[प्रकरणारम्भप्रतिज्ञा—]

तथाऽप्यस्य कथञ्चित् विचारगोचरत्वं—तदाह - इदं चेति। स्थाण्वादाविव विशेषसन्देहः साधारणरूपदृष्टौ वक्तव्यः—इत्यत आह—सन्देहश्चेति। समपादि ब्रह्मसिद्धिकारादिभिरिति शेषः। कथं सम्पादितः ? तत्राऽऽह—इदमिति। स्वीयस्य द्वैतमिथ्यात्वसम्पादन उपयोगितामाह—द्वैतस्येति। तथाऽपि सर्वेषां शास्त्रश्रोतॄणां [अद्वैत-] साक्षात्काराऽसम्प्रतिपत्तेः [न] कोऽपि संभावितपदोपपन्नः ? तत्राऽऽह—अधिकारिण इति।

ज्ञानवती

[प्रकरणारम्भप्रतिज्ञा—]

और सन्देह साधारणप्रतीति के विना नहीं होता इसलिये यह अद्वैत सन्दिग्ध एवं प्रयोजन युक्त होने से विचार का विषय है। साधर्म्य के समान उसका भी लोक एवं वेद से सम्पाद्यत्व है अतः सम्पादन किया गया। 'यह वह सत् अर्थ वस्तु है' इस प्रकार सामान्यरूप से दया आदि के रूप में धर्म के समान प्रसिद्ध है। द्वैत के मिथ्यात्व के उपपादन के द्वारा (वह) सम्भावितविषय वाला है। इस कारण शास्त्र के संभावितविषय वाला होने से आरम्भ की भी सम्भावना होती है। क्योंकि "वेद अधिकारी की प्रमिति का जनक होता है" यह न्याय है। जैसे शूद्र आदि के द्वारा क्रियमाण अग्निहोत्र आदि का फलावसान नहीं होता ऐसी बात नहीं है, उसीप्रकार अनधिकारियों के द्वारा कुतूहल आदि से इस शास्त्र का उपाश्रयण किया इसलिये फलपर्यवसायीं नहीं हुआ, इसप्रकार की असम्भावितप्रयोजनत्व की आशङ्का भी नहीं है। इसलिये अध्वरशास्त्र के असम्भावित प्रयोजनत्व की आशङ्का नहीं हो सकती। प्रथम सूत्र प्रधानरूप में विषय के प्रयोजन को बताने के लिये है। तन्त्रान्तर में भी कहा गया है—

---

[1] (ख) अतो नाद्वैतं सर्वथोपपन्नमिदं नाद्वैतम्।
[2] (क) अर्थे।
[3] (ख) संभावितत्वाच्च।

मग्निहोत्रादि न फलावसानमिति स्यादध्वरशास्त्रस्यासम्भावितप्रयोजनत्वाऽऽशङ्का। विषयप्रयोजनसूत्रणाय च प्राधान्येन प्रथमं सूत्रम्। तदुक्तम्, तन्त्रान्तरेऽपि—

"अथातो धर्मजिज्ञासा' सूत्रमाद्यमिदं कृतम्।
धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम्॥"

इति।[१] आभ्यामाकृष्टोऽप्यधिकारी सम्भवति; न च अधिकारिणा एते। दृश्यते हि वेतनादिना व्यापारस्य कर्त्तुरभावे स्वेनाप्यनुष्ठानं सति प्रयोजनादौ। न च दिवाकीर्तिर्निर्व्यापारोऽस्त्यधिकारीत्यकाण्डेऽपि मुण्डनं कार्यते। अत उक्तम्—प्राधान्येनेति। शास्त्रीयचतुःसूत्रिकायां किञ्चित् किञ्चित् बालव्युत्पादनाय वक्तुं प्रकरणमिदमारब्धम्, तेन सूत्रावलम्बनम्; अत्र हि संक्षेपेण शारीरकार्थस्य समाविष्टत्वात्। न पुनः—

"उपोद्घातः पदं चैव पदार्थः पदविग्रहः।
चालना प्रत्यवस्थानं व्याख्यानं तस्य षड्विधम्।"

इति व्याख्यानमेवारब्धम्। अतो न पदशो व्याख्याय—

"यदुपन्यस्य जिज्ञास्यं पञ्चाङ्गन्यायमानतः।
निर्णीतं पञ्चधा ब्रह्म वेदव्यासेन तन्नुमः॥"

भावदीपिका

एवमनुबन्धचतुष्टयमुपवर्ण्य तत्रोपात्ताऽऽद्यसूत्रव्यापारतारतम्यं सर्वस्य [सूत्रिततत्वार्थं]माह—विषयेति। अधिकार्यैव प्राधान्येन कस्मान्न सूच्यते? तत्राऽऽह—आभ्यामिति। "फलश्रुत्यङ्कुशाऽऽकृष्टः श्रवणादौ प्रवर्त्तते"—इति तैत्तिरीयवार्तिकाच्च। वेतनम्=मूल्यम्; दिवाकीर्तिः=क्षौरकर्त्ता। सूत्रालम्बनोपदेशे व्याख्यानाऽकरणे च कारणमाह—शास्त्रीयेत्यादिना। प्रतिपाद्यमथ बुद्धौ सङ्गृह्य प्रागेवैतदर्थमर्थान्तिरवर्णनम्=उपोद्घातः। अधिकरण-

ज्ञानवती

मीमांसा के प्रयोजनभूत धर्म नामक विषय का प्रवचन करने के लिये ही "अथातो धर्मजिज्ञासा" नामक यह पहला सूत्र किया गया है।"

इन दोनों (=प्रयोजन और विषय) से आकृष्ट अधिकारी भी सम्भव है; न कि अधिकारी से ये दोनों। वेतन आदि के द्वार व्यापार के कर्त्ता के अभाव में प्रयोजन आने पर स्वयं अनुष्ठान देखा जाता है। ऐसा नहीं है कि नाई=अधिकारी इस समय व्यापार रहित है इसलिए अनवसर पर भी मुण्डन करा दिया जाय। इसलिये कहा गया—प्रधान रूप से। शास्त्रीयचतुःसूत्रिका में कुछ कुछ लड़कों को योग्य बनाने के लिये कहने के उद्देश्य से इस प्रकरण का आरम्भ किया गया है। इस कारण सूत्र का अवलम्बन किया गया है। क्योंकि यहाँ शारीरक का अर्थ संक्षेप में समाविष्ट है। न कि—

"उपोद्घात, पद, पदार्थ, पदविग्रह, चालना, प्रत्यवस्थान (यह) उसका, छ प्रकार का व्याख्यान माना गया है"—

---

[१] श्लो० वा० १।१।११।

यश्चात्र परसिद्धान्ते पूर्वाऽऽचार्योक्तदोषोद्धारः सोऽपि, तस्य दोषत्वव्यवस्थापनायैव। न खलु कण्टकोद्धारस्तस्य पादतलदूषणत्वं प्रतिषेधति शिष्याणां पुनः स्थापनार्थमूहाय च इति सकलमनाविलम्।

उद्भिन्ननीलदलनीरजरा(जि)लक्ष्मीलक्ष्मीकटाक्षवलयार्पितलक्ष्मवक्षाः[1]।
श्रेयस्तनोतु भवतां भवतापहन्ता चक्रायुधः श्रुतिवितानविनीततत्त्वः॥
गौरीपतिं गौरमयूखलेखया विभ्राजितं बभ्रुजटाऽवमृष्टया।
वदामहे मन्मथदाहउल्ललत्कपालखण्डभ्रमया भवच्छिदम्॥

भावदीपिका

रूपमस्य पुनः प्रदर्श्यत इति स्तुतिव्याजेनाऽऽह—यदुपन्यस्येति। विषयप्रयोजननिर्णयस्वरूप-सिद्धान्ताः=पञ्चाङ्गानि स्वरूपप्रमाणानि; विधिसाधनफलो विचारः पञ्चधा। यद्वेदार्थादि-खण्डनोद्धारस्याऽनौचित्यं परिहरति—यश्चात्रेति।

इष्टदेवताप्रार्थनव्याजेन विषयपरीक्षां सङ्कलयति—उद्भिन्नेति। उद्भिन्नम्= विकसितम्; नीलदलम्=नीरजम्=नीलोत्पलम्; तद्राजिः=श्रेणी; तस्या लक्ष्मीः= शोभा; तया युक्तलक्ष्म्याः कटाक्षमण्डलम्; तेन अर्पितं लक्ष्म=श्रीवत्साख्यं लाञ्छनं वक्षसि यस्य, सः तथा; विनीतम्=विनिर्णीतम्; भवतापहन्तेति प्रयोजनं सङ्कलयति।

अध्यायान्तरेणेश्वरं वर्णयिष्यन् नमस्कारव्याजेनोपस्थापयति—गौरीपतिमिति। गौर-मयूखः=चन्द्रः; बभ्रुः=कपिला; भवच्छिदमिति="विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम् तिष्ठमानस्य तद्विदः"—इति श्रुतेरभ्युदयनिःश्रेयसोपपादकमित्यर्थः।

ज्ञानवती

इससे व्याख्यान का ही आरम्भ है। इसलिय पदशः व्याख्यान न करके—

"जिस जिज्ञास्य का उपन्यास करके पञ्चाङ्गन्यायप्रमाण के द्वारा वेदव्यास ने ब्रह्म को पाँच प्रकार से निर्णीत किया उनको (हम) नमस्कार करते हैं।"

और जो यहाँ दूसरे के सिद्धान्त में पूर्वाचार्यों के द्वारा उक्त दोषों का उद्धार है, वह भी उनकी दोष की व्यवस्थापना के लिये ही है। कण्टकोद्धार उसके पादतल के दूषणत्व का प्रतिषेध नहीं करता। इसके अतिरिक्त (वह) शिष्यों की स्थापना के लिये ऊहार्थ भी हैं। इस प्रकार सब कुछ निर्मल है।

खिले हुए नीलदलवाले कमल की पंक्ति की शोभा से युक्त लक्ष्मी के कटाक्षवलय से अर्पित चिह्न से युक्त वक्षवाले, संसार के ताप को नष्ट करने वाले, तथा श्रुतिवितान से तत्त्व का ज्ञान कराने वाले, चक्रायुध भगवान विष्णु आपका मंगल करें।

(हम लोग) पीली जटा से अवमृष्ट गौर मयूख की लेखा से तथा मन्मथ-दाह से चमकीले कपालखण्ड की भ्रमि से शोभायमान, संसार का नाश करने वाले गौरीपति की वन्दना करते हैं।

---

१ (क) राज। (ग) राजि।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयाश्रम-पूज्यपादशिष्यस्य
भगवतो रामाद्वयस्य कृतौ वेदान्तकौमुद्यां
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥

भावदीपिका

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयाऽऽश्रमपूज्यपादशिष्यस्य रामाद्वयस्य कृतौ स्वकृतवेदान्तकौमुदीभावदीपिकायां प्रथमोऽध्यायः ॥

स्वस्ति श्रीरमणाय तुभ्यमुदयस्थानावरोधक्षम-
प्रेक्षाशक्तिमते [सदात्म]वपुषे [शश्वत्] स्वयंज्योतिषे ।
आनन्दाऽब्धिविहारिणे श्रुतिशतैराधीयमानत्विषे
निर्व्यूढाऽखिलसेतवे दशरथक्षोणीभृतः सूनवे ॥

श्रीनृसिंहार्पणमस्तु ॥

ज्ञानवती

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयाश्रमपूज्यपाद के शिष्य
भगवान् रामाद्वय की कृति वेदान्तकौमुदी का
॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

———

द्वितीयोऽध्यायः

मङ्गलाचरणम्

आनन्दज्ञानदेहोऽप्यनुप(द)[1]ममलस्वान्तसंसेवनीयो[2]
(यः स्वस्मात्)[3] सम्विभज्य[4] स्फुटमिव कमलामालयं मङ्गलानाम् ।
धत्ते वक्षःक्षमायां भ्रममिव विदधत्तार्किकाणां (पुमर्थे[5])
सोऽस्मान्[6] संसारचक्रभ्रमभिदुर[दृशाऽऽ]लिङ्गतु[7] ग्लानबोधान्[8] ॥

भावदीपिका

ॐ श्री रामचन्द्राय नमः । श्री गणेशाय नमः । श्री सिद्धेश्वराय नमः ।

स्वस्ति श्रीरमणाय तुभ्यमुदयस्थानावरोधक्षम-
प्रेक्षाशक्तिमते सदाऽत्मवपुषे [शश्वत् स्वयं-][9]ज्योतिषे ।
आनन्दाऽब्धिविहारिणे श्रुतिशतैराधीयमानत्विषे
निर्व्यूढाऽखिलसेतवे दशरथक्षोणीभृतः सूनवे ॥

मङ्गलाऽऽचरणच्छलेन लक्षणनिरूपणार्थाऽध्यायाऽऽरम्भं सम्भावयति—आनन्देति । तार्किका हि नित्यगुणभूतज्ञानेन सर्वज्ञ ईश्वरो जगत्कर्त्तेति मन्वते । सुखं च जीवस्याऽनित्यं गुणभूतम्; नेश्वरस्य तत् स्वरूपं गुणो वेति । सोऽयं (वेषः)[10] श्रुत्यर्थे परमेश्वरेण लीलाविग्रहद्वयं कुर्वतोद्भाव्यते । (कमला)=लक्ष्मीः=सकलाऽऽनन्दमयी मूर्त्तिः स्वस्माद्भिन्नै-कोपभुज्यते भगवतेत्यादिजल्पनहेतुः । सोऽयं तेषां भ्रमोऽन्येषां च तदसत्त्वाऽऽदिविशेषयोः लक्षणनिरूपणेन निरस्यत इत्यारम्भसम्भावना । अनुपदम्=वारम्वारम् । स्वान्तम्= अन्तःकरणम् । भिदुरा=भेदनशीला ।

ज्ञानवती

जो चिदानन्ददेहवाला होकर भी निर्मल अन्तःकरण वालों के द्वारा पग पग पर सम्यक् रूप से सेवनीय है, तार्किकों के पुरुषार्थ के विषय में मानों भ्रम उत्पन्न कर रहे (अर्थात् लक्ष्मी को भगवान् के वक्ष पर पड़ी देखकर तार्किकों को भ्रम हो रहा है कि यह पुरुष है या स्त्री) जो मङ्गलों की आलय कमला को अपने से अलग करके वक्षरूपी पृथिवी पर स्पष्ट धारण किये हैं; वे, ग्लानबोध वाले हम लोगों का, संसारचक्रभ्रम का भेदन करने वाली दृष्टि से, आलिङ्गन करें ।

---

[1] (क) अनुपमम् (ग घ) अनुपदम् । [2] (ग) सेवनीयौ ।
[3] (क) यस्य स्वात् । (ग घ) स्वस्मात् । [4] (ग) संभविष्यत् ।
[5] (क) पुमर्थैः । (ग) पुमर्थे । [6] (क ग) अस्मात् ।
[7] (क) दशां । (ख) दशा । (ग) दशा । [8] (ग) बोधात् ।
[9] (क) पु । [10] (क) वेषां ।

[ब्रह्मलक्षणनिरूपणोपक्रमः–]

अथ "जन्माद्यस्य यतः" इति ब्रह्मणो लक्षणं निरूपणीयम्; प्रमाणादिविचारस्य (ब्रह्म[1])विचारापेक्षत्वात्। अत्र केचित्—व्योमादिमहाभूतानां भौतिकानां च ब्रह्माण्डादीनां जन्मान्तगमकहेतुप्रयोजनान्यथाऽनुपपत्त्योर्वक्तुमशक्यत्वादसम्भवि

भावदीपिका

[ब्रह्मलक्षणनिरूपणोपक्रमः—]

एवमारम्भं संभाव्य निरङ्कुशमारभते—अथ जन्मादीति। ननु लक्षणप्रमाणाऽविरोधसाधनफले विचाराणां प्रधानब्रह्मविचारप्रतिज्ञया संगृहीतत्वात् तेषु लक्षणमेव प्रथमं कुतो विचार्यते इति?—आह—प्रमाणादीति। लक्षणे हि ज्ञाते प्रमाणजिज्ञासा, तस्मिंश्च ज्ञाते विरोधादिशङ्काऽवतार इति पौर्वापर्यसिद्धिरित्यर्थः। यद्यपि "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" इत्यादिश्रुतिग्रथनार्थं सूत्रमिदम्, श्रुतिश्च स्वतःप्रमाणतया नाऽऽक्षेपमर्हति, तथाऽपि सम्भाविताऽर्थत्वे सत्येव; अपरथा "आदित्यो यूपः" इत्यादेरपि स्वार्थे प्रामाण्याऽऽपातात् अनन्यथासिद्धिप्रयोजनपर्यवसानं वक्तव्यम्। मा भूदुपकार्याऽङ्गिप्रयोजनेन प्रयोजनवत्त्वेऽप्यङ्गस्याऽन्यथा स्वतन्त्रप्रयोजनत्वेन स्वर्गादिः कल्पना। अत्र च संभावनोक्तप्रयोजनयोरभावान्न मुख्याऽर्थत्वम्, इत्यध्वरमीमांसकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते—इत्याह—अत्र केचिदिति। न च स्वाप्नव्योमादिवज्जाग्रद्व्योमादिसृष्टिः सम्भवति। न खलु अर्थसृष्टिः स्वप्ने, "न तत्र रथाः" इत्यादिनिषेधात्। सृष्टिवचनं च "बहिष्कुलायादमृतश्चरित्वा" इत्यादिवन्न मुख्याऽर्थम्। न च भ्रान्तिमात्रदृष्टान्तेन व्यवस्थिता सृष्टिः सम्भावयितुं शक्या। मा भूत् 'वन्ध्यापुत्रो जातः'—इति वाचनिकभ्रमाऽनुसारेण व्यवस्थितवन्ध्यापुत्रसृष्टिसम्भावना; न खलु सत्त्वं सृष्टिप्रयोजकम्; आत्मनोऽपि सृष्टिप्रसङ्गात्। तस्मादसम्भवः; व्योमाऽदिसृष्टेर्मायायाऽप्यव्यवस्थितत्वाऽभावात्।

ननु "सोऽकामयत भूयसा यज्ञेन भूयो यजेय" इति अश्वमेधफलम् हिरण्यगर्भत्वम्, प्राप्तस्य पुनस्तत्करणकामनाश्रवणात्। सूक्ष्ममहाभूतमयं च हिरण्यगर्भशरीरम्। महाभूतसृष्टिमाक्षिपति—"सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वाऽसंभूत्याऽमृतमश्नुते॥" अत्राऽसम्भूतिपदच्छेदेन प्रकृतिलयभावलक्षणममृतत्वं विनाशधर्मकहिरण्यगर्भतत्कारणोपासनसमुच्चयफलं श्रूयमाणं महाभूतकारणं गमयति। तस्मादुपासनाक्रियावाक्यप्रामाण्यप्रयोजना सृष्टिः; अभ्युपगतं तथेति चेत्? मैवम्; "विद्यया देवलोकः" देवलोको हि लोकानां श्रेष्ठः; तस्मादविद्यां प्रशंसति—"विद्यया तदारोहन्ति यत्र कामाः परा

ज्ञानवती

[ब्रह्मलक्षणनिरूपण का उपक्रम—]

अब "जन्माद्यस्य यतः" इस ब्रह्म के लक्षण का निरूपण करना चाहिये, क्योंकि प्रमाण आदि के विचार को ब्रह्म के विचार की अपेक्षा होती है।

इस विषय में कुछ लोग (कहते हैं)—व्योम आदि महाभूत और भौतिक ब्रह्माण्ड आदि के जन्म एवं नाश के गमक हेतु के प्रयोजन एवं अन्यथा अनुपपत्ति के न कह सकने के

[1] (क) स्वरूप।

लक्षणमिदमाचक्षते। तथा हि–लक्षणं तावत् प्रसङ्गाप्रसङ्गविग्रहं[१] केवलव्यतिरेकि। अभ्युपगतव्याप्यं प्रति (व्याप्येनानिष्टव्यापकप्रसञ्जनं[२]) च प्रसङ्गः। प्रसञ्जनञ्च स्वीकारार्हताबोधनम्। अथास्ति ह्यप्रसङ्गोऽपि[३] सम्भावना (नाम तर्कः[४])—यदि

भावदीपिका

गताः। न तत्र दक्षिणा यन्ति नाऽविद्वांसस्तपस्विनः॥" इत्यादिना सिद्धिप्राप्तेरपि श्रवणात्। "कति देवा याज्ञवल्क्य?"—इत्यत्र "त्रयश्च त्रि च शता च" इत्यादिना अनेकदेवान् प्रतिज्ञाय निष्कर्षे "प्राण एको देवः" इति वर्णयन्त्या श्रुत्या देवाऽदिविग्रहस्य शब्दमात्रतया सम्पादितत्वाच्चोपासनावाक्यानां केनाऽपि फलेन प्रामाण्योपपत्तेः न महाभूतादि-सर्गसिद्धिरिति भावः।

अत्र लक्षणस्वरूपाऽऽलोचनया तावदसम्भवं वक्तुमुपक्रमते—तथा हीति। प्रसङ्गविग्रहम् केवलव्यतिरेकि—नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम् अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात् लोष्ठवत्—इत्यादि-कम्; अनुभूतेरनुभाव्यत्वेऽननुभूतित्वप्रसङ्गात् घटवदित्यादि च। सर्वं कार्यं सर्ववित्कर्त्तृकम्, कार्यत्वात्, न यदेवं न तदेवं यथाऽऽत्मादि। अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा, अनुभूतित्वात्, न यदेवं न तदेवम्, यथा घटः, इत्यादिरप्रसङ्गविग्रहम्।

बालव्युत्पादनाय प्रसङ्गलक्षणमाह—अभ्युपगतेति। व्याप्यम्=व्यतिरेकसाध्याभावः। तदभ्यु-पगतं येन 'मा भूत् सात्मकं शरीरम्' इत्यादि प्रकारेण तं प्रति अनिष्टम् व्यापकं प्राणाऽऽदि-मत्त्वाऽभावलक्षणम्। एतच्च साध्याऽभावमनङ्गीकुर्वाणं प्रति प्रसञ्जयितुमशक्यमिति—अभ्युपगतव्याप्यं प्रतीति उक्तम्। यदि शरीरं घटो न स्यात्, प्राणाऽऽदिमदपि न स्यात इत्यादि प्रसङ्गाभास-व्यवच्छेदार्थम्—व्याप्येनेत्युक्तम्। अत्र चाऽनिष्टपदेनोभयाऽनिष्टत्वस्य विवक्षितत्वात्; नहि प्राणाऽऽदिभावाऽभावो वादिनोऽभीष्टः। तेन व्याप्येनैकतराऽनिष्टव्यापक प्रसञ्जनात्मकादनुमानात् भेदः प्रसङ्गस्य। न चेदमप्राणादिमत् इति विपर्ययपर्यवसानात् प्रतिवाद्यनिष्टव्यापकप्रसञ्जनाच्चाऽनुमानाऽभेद इति केवलव्यतिरेकिता द्रष्टव्या। न चैवं प्रमाणाऽऽनुग्राहकत्वभङ्गः प्रसङ्गांशेऽनुमानत्वाऽभावात् तदनुग्राहकत्वोपपत्तेः; निर्धूमोऽयम्, निरग्नित्वात्—इत्युक्ते हेतोः सन्दिग्धाऽसिद्धत्वात् कालाऽत्ययाऽपदिष्टत्वाच्च। यद्यग्निमान् न स्यात् तर्हि धूमवानपि न स्यात्—इति प्रसङ्गस्याऽनुमानत्वाऽसम्भवात्। अतएव "अनिष्ट-व्यापकप्रसञ्जनम्," "व्याप्याऽऽरोपेण व्यापकाऽऽरोपः" इति च तर्कलक्षणमाहुः। प्रसञ्जनम्=प्राणाऽऽदिमत्त्वाद्यभावाऽऽनुष्ठानं तद्विरुद्धमिति मन्वानं प्रत्याह—प्रसञ्जनं चेति। व्याप्तिबलेन स्वीकारयोग्यत्वं बोधनमित्यर्थः।

उक्तं तर्कलक्षणमाक्षिप्य समाधत्ते—अथेत्यादिना। तर्हि इतरलक्षणस्य किं प्रयोज-

ज्ञानवती

कारण यह लक्षण असम्भव है। वह इस प्रकार—लक्षण, प्रसङ्गाप्रसङ्गरूपवाला केवल व्यतिरेकी होता है। जिसे व्याप्त प्राप्त है उसके प्रति व्याप्य के द्वारा अनिष्ट व्यापक की प्राप्ति प्रसङ्ग है। प्रसञ्जन (का मतलब है) स्वीकारार्हता का ज्ञान।

---

१ (क) विग्रहम्। २ (क)-(अ) व्याप्येन अनिष्ट प्रसंञ्जनं, (ग) प्रति व्याप्येनानिष्टव्यापकप्रसञ्जनं। ३ (क) असंगोऽपि।
४ (क) संभावना यदि, (ख) संभावना नाम तर्को यदि।

जलं सहकारिभिः सम्पत्स्यते तदा मे तृषं शमयिष्यतीति ? मैवम् ; प्रसञ्जनं च स्वीकारार्हताबोधनमित्याह ; आहार्यारोपरूपतायास्तर्कस्योक्तत्वात् । सम्भावनाया अपि तथात्वात् । इतरलक्षणस्य तदुपकरणत्वात् । यथा 'स्वव्याघातकमुत्तरं जातिः' इति तात्पर्येण लक्षणं विवक्षन्, प्रयुक्ते हेतौ, समीकरणाभिप्रायेण 'प्रसङ्गो जातिः' इत्यवोचत् ; कृते हि हेतुप्रसङ्गे स्वव्याघातकत्वस्यावतारयितुं शक्यत्वात् । एवमत्राप्याहार्यारोपसम्पादनार्थं[1] यत्किञ्चिदुपलक्षणत्वेन (उच्यते[2]) अतो न दोषः । तथा च न्यायविदामग्रणीराचार्यवाचस्पतिः "स्मृतिरूपः" इत्याद्यध्यासलक्षणेऽवभासपदमुद्धृत्य "अवसन्नोऽवमतो[3] वा भासोऽवभासः प्रत्ययान्तरबाधश्चास्यावसादोऽवमानो वा । एतावता मिथ्याज्ञानमित्युक्तं भवति । तस्येदमुपव्याख्यानं पूर्वदृष्टेत्यादि" इति विवक्षाविशेषेण व्याचकार ।

भावदीपिका

नम् ?—तदाह—इतरेति । जातिवादिनाऽपि दृष्टान्तबलेनैव शब्दसावयवत्वादि प्रसञ्जनीयम् । सर्वसाम्याऽऽपादने च दृष्टान्तत्वस्यैवाऽसम्भवादित्यादिना स्वव्याघातकत्वम् । "स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टाऽवभासः" इति भाष्यकारीयं लक्षणम् । अवसादः=परोक्षबाधः । अवमानः =परोक्षबाधः । सूत्रकारीयलक्षणे अव्याप्तिशङ्कैव नाऽस्ति इति तत् पुरस्करोति—अवि

ज्ञानवती

(पू) अप्रसङ्ग भी सम्भावना नामक तर्क है (जैसे—) यदि जल सहकारियों के साथ हो जायगा तो मेरी तृष्णा का शमन कर देगा ? (उ) ऐसा नहीं है । "प्रसञ्जन स्वीकारार्हता का ज्ञान है" ऐसा कहा है । क्योंकि तर्क की आहार्यारोपरूपता कही गई है । और सम्भावना भी वैसी ही है । दूसरा लक्षण उसका उपकरण है । 'जैसे अपना व्याघातक उत्तर जाति है' इस तात्पर्य से लक्षण कहने की इच्छा वाले ने 'प्रयुक्त हेतु में समीकरण के अभिप्राय से प्रसङ्ग (की प्राप्ति) जाति है' ऐसा कह दिया; क्योंकि हेतु की प्राप्ति हो जाने पर अपने व्याघातकत्व की अवतारणा असम्भव है । इसी प्रकार यहाँ भी आहार्यारोप के सम्पादन के लिये कुछ भी उपलक्षण के रूप में कह दिया जाता है । इसलिये दोष नहीं है । न्यायवेत्ताओं में मूर्धन्य आचार्य वाचस्पति ने "स्मृति रूपः" इत्यादि अध्यास के लक्षण में अवभासपद को उद्धृत करके "अवसन्न या अवमत भास= अवभास है । इसका अवसाद या अवमान ज्ञानान्तर का बाध है । इतने से मिथ्या ज्ञान उक्त होता है । पूर्वदृष्ट इत्यादि; उसका उपव्याख्यान है" ऐसा विवक्षाविशेषपूर्वक व्युत्पादन किया है ।

"जिसका तत्त्व ज्ञात नहीं है उस अर्थ के विषय में कारण की उपपत्ति के द्वारा तत्त्वज्ञान के लिये ऊह, तर्क है" ऐसा गौतमाचार्य (कहते हैं) । सामने वर्त्तमान ऊर्द्धधर्मी, जो कि सामान्य रूप से ज्ञात है पर जिसका तत्त्व ज्ञात नहीं है (अर्थात्) जिसका स्वरूप निर्णीत नहीं है, के बारे में जिज्ञासा होती है । उसके बाद संशय होता है—क्या यह स्थाणु है या पुरुष । उसके बाद कारण की उपपत्ति के द्वारा (अर्थात्) विपर्यय में अनिष्टापत्ति

[1] (ग) त्राप्याह—आहार्य । [2] (क) ऊचे, (ग) उच्यते । [3] (ग) अवमते ।

"अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितः तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः" इति च अक्षपादाचार्यः। पुरोवर्त्तिन्यूर्ध्वे धर्मिणि सामान्यतो ज्ञातेऽविज्ञाततत्त्वे=अनिर्णीतयथास्वरूपे जिज्ञासा तावद्भवति; ततः संशयः—'किमयं स्थाणुः पुरुषो वा' इति। तदनन्तरं (कारणोपपत्तितो[1])=विपर्ययेऽनिष्टापत्तितो भवितव्यताऽऽत्मा[2] भवति प्रत्यय ऊहरूपस्तर्कः– पुरुषेणा[ने]न[3] भवितव्यमिति। अनिष्टापत्तिस्तु [सततमिह वाहान् वाहयति राजेति][4] न शक्यं तृणमात्रकेणापि स्थातुमत्र, किं पुनर्रियता स्थाणुना? इति। एतच्च सर्वं सम्भावनायां व्यक्तमेव।

तथा चेत्थं प्रसङ्गात्मनाऽप्रसङ्गात्मना[5] वा इदं ब्रह्मेति व्यवहर्त्तव्यं, जगज्जात्यादिहेतुत्वात्, व्यतिरेकेणाविगीतवत्। "सजातीयविजातीयाद्व्यवच्छिन्नं वा, सजातीयविजातीयव्यवच्छेदो वा व्यवहारसिद्धिर्वा लक्षणप्रयोजनम्[6]" इत्युदयनेनोदीरणादित्युक्तौ हेतोरसिद्धत्वाज्जगज्जात्यादिकारणत्वाभावस्य[7] चेष्टत्वादसम्भवः; तस्यैव च लक्षणत्वात्। अतएव तर्कविशेषा अपि नात्र सावकाशाः।

भावदीपिका

ज्ञातेति। वाहाः=अश्वाः। उक्तं प्रस्तुते समर्थयति—तथाचेति। अब्रह्मत्वे जगज्जन्माद्यकारणत्वप्रसङ्गात्। 'सजातीयविजातीयव्यवच्छिन्नं यतो जन्मादि तद् ब्रह्म' इत्युक्ते कुलालादि सजातीयं, विजातीयं च मृदादि, घटजन्माऽऽदिकारणं ब्रह्म प्राप्नोति; तद्व्यच्छेदार्थम्—तस्यैवेति पदमित्यर्थः। तस्यैव=कारणत्वस्यैव। सामान्यलक्षणस्य विशेषलक्षणसंस्पर्शः सम्यगनुभवसाधनत्वस्येव सम्यगपरोक्षाऽनुभवसाधनं प्रत्यक्षमित्यादिसंस्पर्शो दृष्टः; तेन तल्लक्ष्याऽसम्भवे विशेषलक्षणलक्ष्याऽसम्भवः—इत्याह—अत एवेति।

ज्ञानवती

होने से भवितव्यतात्मा प्रत्यय ऊह रूप तर्क होता है—इसे पुरुष होना चाहिये। अनिष्टापत्ति तो—यहाँ राजा रोज घोड़ों को दौड़ाया करता है इसलिये यहाँ पर तृणमात्र भी नहीं ठहर सकता फिर इतने बड़े स्थाणु की क्या बात—यह है। और यह सब संभावना में व्यक्त ही है।

इस प्रकार प्रसङ्ग रूप से या अप्रसङ्ग रूप से 'यह ब्रह्म है' ऐसा व्यवहार करना चाहिये; क्योंकि (वह) जगत् के जन्म आदि का हेतु है, व्यतिरेक से, अविगीत के समान। "सजातीय-विजातीय से व्यवच्छिन्न अथवा सजातीय-विजातीय से व्यवच्छेद या व्यवहार-सिद्धि ही लक्षण का प्रयोजन है" ऐसा उदयनाचार्य के कहने से इस उक्ति में हेतु के असिद्ध होने से और जगत् के जन्मादिकारणत्वाभाव के इष्ट होने से (लक्षण) असम्भव है, क्योंकि वही लक्षण है। इसलिये विशेष तर्क के लिये भी यहाँ अवकाश नहीं है।

---

[1] (ख) उपपत्ति सत्त्वे, (ग) उपपत्तितो। [2] (ग) भवितव्यतात्मता। [3] (क) न्ये।
[4] (क) सततमिह वा मान्वा यतिनाजेति। (ग) मनतमिह राहान् वायति राजेति।
[5] (क) प्रसंगात्मनां प्रसङ्गा। [6] (ग) वा प्रयोजनम्।
[7] त्वाभावप्रसङ्गस्य।

[आत्माऽऽश्रयादेर्लक्षणम्—]

तथा हि—स्वस्यान्व्यवहितस्वापेक्षणमात्माश्रयः। अस्य च सम्बन्धद्वारभेदादाभासत्वम्, यथा प्रमेयत्वस्याऽऽत्मनि वृत्तौ। क्वचिन्नैवमपि, यथाऽनेककालस्थस्य घटस्य पूर्वकालवृत्त्यात्मन उत्तरकालवृत्तिमात्मानं प्रति कारणत्वे। अन्योन्यस्याव्यवहितान्योन्यापेक्षणमन्योन्याश्रयः। अस्य (च[1]) व्यक्तिभेदादुद्धारः। यथा ज्ञानेन

भावदीपिका

[आत्माऽऽश्रयादेर्लक्षणम् -]

तर्कविशेषाच्चाऽऽत्माश्रयाऽऽद्याः—तानाह—तथाहीत्यादिना। 'स्वाऽपेक्षयाऽऽत्माश्रयः' इत्युक्तेऽन्योन्याश्रयाऽऽदावतिव्याप्तिः स्यात्; तदर्थम्—स्वस्येत्युक्तम्। 'स्वस्य स्वाऽपेक्षणम्' इत्युक्तेऽपि अन्यव्यवहारसम्पादनपूर्वकस्वव्यवहारसम्पादने आत्माऽऽश्रयाऽऽभासे प्रसक्तिः स्यात्; तदर्थम्—अव्यवहितेति। तर्कमात्रदूषणानि आपाद्याऽसिद्धिरापादकाऽसिद्धिरुभयाऽसिद्धिः प्रशिथिलमूलता मिथस्तर्कविरोध इष्टाऽऽपत्तिर्विपर्ययाऽपर्यवसायित्वमिति। यदीश्वरः शरीरी स्यात् तर्हि कर्त्ता स्यात्—इत्यापादकाऽसिद्धिः; शरीरित्वस्य परेणाऽनङ्गीकारात्। यदीश्वरो देही स्यात् तर्हि धर्मादिशाली स्यात्—इत्युभयाऽसिद्धिः; उभयस्याऽपि परेणाऽनङ्गीकारात्। प्रशिथिलमूलत्वं तु - यदीश्वरः कर्त्ता स्यात् तर्हि ब्राह्मणः स्यात् इति; कर्त्तृत्वब्राह्मणत्वयोर्व्याप्त्यभावात्। मिथस्तर्कविरोधस्तु—यदीश्वरः कर्त्ता स्यात् तर्हि रागी स्यात्, इत्युक्ते, यदि विमतस्य कर्त्ता न स्यात् तर्हि आकस्मिकं स्यात्, इति तर्कद्वयस्याऽपि तुल्यत्वात्। इष्टाऽऽपत्तिस्तु—'यदीश्वरः कर्त्ता स्यात्तर्हि ज्ञानवान् भवेत्' इतीश्वरज्ञानवत्त्वस्य परेष्टत्वात्। विपर्ययाऽपर्यवसानं तु—यदीश्वरश्चेतनः स्यात् तर्ह्यनित्यज्ञानः स्यात् इति; अनित्यज्ञानस्तु न भवति ततश्चेतनो न भवति इति वक्तुमशक्यत्वादिति। एतच्च स्वपक्षसिद्ध्यङ्गे तर्के दूषणम्, न परमतदूषणाङ्गे; तत्र प्रसङ्गमात्रेणाऽलम्।

प्रसङ्गोऽपि पराद्युपगतव्याप्यव्यापकाऽपेक्ष एव। प्रस्तुते तु—यदि प्रमेयत्वं स्वस्मिन् वर्त्तेत तर्ह्यात्माऽऽश्रयः स्यात्, इत्युक्ते कः प्रतीकारः?—इत्युक्ते हि विशेषाऽऽकाङ्क्षामाह—अस्य चेति। 'अन्यापेक्षित्वम्'—इत्यात्माऽऽश्रयव्यावृत्तिः। 'अन्योन्यापेक्षितत्वम्'—इत्यनवस्थाव्यवच्छेदः। 'अव्यवहिते' च चक्रकनिवृत्तिः। मध्यमापेक्षया व्यवहितत्वमाद्यन्तयोश्चक्रकेऽप्यस्ति इति अन्योऽन्यस्येत्युक्तम्। अन्योन्याश्रयेऽपि द्वयोर्मध्ये

ज्ञानवती

[आत्माश्रय आदि का लक्षण—]

वह इस प्रकार—अपने को अव्यवहित अपने की अपेक्षा का होना आत्माश्रय है। यह सम्बन्धद्वार के भेद से दोषाभास हो जाता है। जैसे—प्रमेयत्व की आत्मा में वृत्ति के विषय में। कहीं ऐसा नहीं भी है—जैसे अनेक काल में रहने वाले घट का उसकी पूर्वकाल में रहने वाली वृत्तिता का उत्तरकाल में रहने वाली वृत्तिता के प्रति कारणत्व होने में। एक दूसरे को अव्यवहित एक दूसरे की अपेक्षा होना अन्योन्याश्रय है, और इसका व्यक्ति के भेद से उद्धार होता है। जैसे ज्ञान से संस्कार को और उससे ज्ञान को उत्पन्न करने में।

[1] (क) अस्य व्यक्ति।

संस्कारस्य, तेन च ज्ञानस्य जनने। अन्तरितस्यापेक्षितत्वे तदेव द्वयम्—आत्माश्रयोऽन्योन्याश्रयश्च[1] चक्रकम्। अस्या[2]-(पि व्यक्तिभेदादुद्धारः।) यथा बीजेनाङ्कुरः तेन च स्तम्बः, तेन च बीजं जन्यत इत्यत्र। विरुद्धसमुच्चयो व्याघातः। अस्य च कालभेदादिनोपाधिनाऽनवकाशः। यथा जननादौ। उपपाद्योपपादकप्रवा[हा][3]-नवधिरनवस्था। क्रियायाः परम्पराऽऽनन्त्यानपेक्षणादस्या उद्धारः। यथा—सामग्र्या कार्यजननाय स्वसामग्र्यानन्त्यानपेक्षणे। तामेतामधो धावन्तीमनवस्थामाचक्षते। क्वचिन्नैवमपि – यथा स्वाश्रये भिन्नबुद्धिजननाय स्वगतभेदानुपजीवनादपि[4] भेदस्याऽऽनन्त्यप्राग्लोपादिदोषात्।

"प्राग्लोपाविनिगम्यत्वप्रमाणापगमैर्भवेत्।
अनवस्थितिमास्थातुरचिकित्स्या त्रिदोषता॥"

भिन्ने भेदस्थित्यङ्गीकारे[5] भेदव्यवहाराय पूर्वभेदवैय्यर्थ्यम्। अनेकभेदानां[6] युग-

भावदीपिका

एकस्य स्वाऽपेक्षयात्माऽऽश्रयः परस्पराऽपेक्षायामन्योन्याश्रयश्च विवक्षाभेदेन स्यात् न तावता चक्रकं भवतीत्यत उक्तम्—अन्तरितस्येति। मध्यमस्याऽपेक्षणीयत्वे सतीत्यर्थः। प्रथमस्य द्वितीयं, द्वितीयस्य तृतीयं, तृतीयस्य प्रथममपेक्ष्य सिद्धौ चक्रकम्। प्रवाहस्यानवधित्व-विशेषणं चक्रकादिव्यवच्छेदार्थम्। बीजादिसामग्र्या अधस्तनाङ्कुराद्यनन्तसामग्र्यपेक्षणेऽपि स्वोत्पाद्याऽङ्कुराद्युत्पादने तदनपेक्षणान्मूलरूपाभावः—इत्याह—क्रियेति। यदि भेदो भेदान्तरवत् भिन्ने वर्त्तते तर्हि अपूर्वभेदेनैव तद्व्यवहारसिद्धौ पूर्भभेदवैप्यर्थ्यम्। तथापूर्वभेदोऽपि भेदान्तरभिन्ने वर्त्तते इति तत्राऽपि तद्वैय्यर्थ्यमेवं सर्वत्र—इत्याह - भिन्नेति। पूर्वपूर्वभेदस्य

ज्ञानवती

अन्तरित की अपेक्षा होने पर वही दोनों आत्माश्रय और अन्योन्याश्रय चक्रक कहलाते हैं। इसका भी व्यक्तिभेद से उद्धार होता है। जैसे बीज से अंकुर, उससे स्तम्ब, उससे बीज उत्पन्न होता है, यहाँ पर। विरुद्ध का समुच्चय व्याघात है। इसका काल-भेद आदि उपाधि के द्वारा अनवकाश है, जैसे जनन आदि में। उपपाद्य-उपपादक के प्रवाह की अनवधि अनवस्था है। क्रिया की परम्परा के आनन्त्य की अपेक्षा न करने से इसका उद्धार हो जाता है। जैसे सामग्री के कार्यजनन के लिये अपनी सामग्री के आनन्त्य की अपेक्षा न होने पर। उस इसको नीचे नीचे दौड़ती हुई अनवस्था कहते हैं। कहीं ऐसा नहीं भी है—जैसे अपने आश्रय में भिन्न बुद्धि उत्पन्न करने के लिये अपने में वर्त्तमान भेद के अनुपजीवन से भी भेद के आनन्त्य प्रागलोप आदि दोष होने से—

"प्राग्लोप, अविनिगम्यत्व, प्रमाण के लोप के द्वारा अनवस्था मानने वाले की त्रिदोषता का निवारण असम्भव है।"

---

१ (ग) श्रयश्च चक्रकम्। २ (क) अस्य।
३ (क) हो। ४ (ग) स्वगतभिन्नबुद्धिजननाय स्वगतभेद।
५ (ग) भिन्नभेदस्थिति। ६ (ग) अनन्तभेदानां।

पद्धर्मिसम्बन्धे किम्भेदविशिष्टे किम्भेदस्थितिरनवस्थितिः,[१] युगपदनन्तभेदग्राहका-भावाच्च। तामेतामूर्ध्वधावन्तीमनवस्थामाचक्षते। (स्वाभ्युपगते[२] दोष)तुल्यता-प्रतिबन्दीविशेषादनवकाशोऽस्याः। यथा धूमानुमानेऽप्युपाधिशङ्का[३][प्रतिबन्ध्या]-तर्कानुकूलत्वात्। विकल्पेनान्वययोग्येनैकस्मिन्नभ्युपगते[४] तदेकदेशान्वयनियमनिर्धा-रणाशक्यत्वमविनिगमः; सत्प्रतिपक्षहेत्वोरिव निर्धारयितुं शक्यान्वययोः परस्पर-प्रतिक्षेप एव पर्यवसानात्।

भावदीपिका

भेदव्यवहारायोत्तरोत्तरभेदापेक्षणात् ऊर्ध्वधावनम्। पराऽभ्युपगते एकस्मिन् दोषे आपाद्यमाने तस्यैवाऽन्यस्मिन्नभ्युपगते तत्तुल्यताप्रतिबन्दी स्यात्; अत उक्तम्—स्वाऽभ्युपगत इति। यदि 'सः श्यामः' इत्यादेः सोपाधिकत्वम्, तर्हि धूमाऽनुमानेऽपि सः तदिति प्रतिबन्ध्या वह्न्यभावे धूमस्याऽऽकस्मिकत्वप्रसङ्ग इत्याद्यनुकूलतर्कविशेषात् आभासत्वम्—इत्याह—यथेति। 'त्वमपि चोरः'—इतिवत् समानचोद्ये मताऽनुज्ञानिग्रहाऽऽपत्तेः न प्रतिबन्द्यवकाश इति चोद्धारः।

विकल्पेनेति—यथा अग्नीषोमीयपशावेकस्मिन् एकपाशके "अदितिः पाशं प्रमु-मोक्तु", "अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तु" इति मन्त्रावाम्नायेते। तत्र पाशमित्यस्य समवेतार्थत्वात् प्रयोगो बहुवचनान्तस्याऽसमवेतार्थत्वादुत्कर्ष इति प्रापय्य आद्यतन्त्रे राद्धान्तितम्—"विप्रति-पत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वात् गुणे त्वन्याय्यकल्पनैकदेशत्वात्" इति। पाशप्राति-पदिकस्य प्रधानाऽर्थस्योभयत्र प्रत्यभिज्ञानात्, संख्यागुणार्थविभक्तिवचनस्य गुणत्वेनैकदेशस्य प्रधाननियामकत्वाऽयोगात्, तुल्यत्वेन मन्त्रयोर्विकल्प इति। तत्राऽयमेव मन्त्रः प्रयोक्तव्य इत्येक-देशाऽन्वयनियमनिर्धारणाऽशक्यत्वम्; व्रीहियवादौ च। तत्र "सोमाऽभावे पूतिकानभिषुणुयात्" इत्याप्तैर्मुख्यलाभे प्रतिनिधेरन्वयबाधेन मुख्यस्यैवाऽन्वयनियम इति तद्व्यवच्छेदाय विकल्पे-नेत्युक्तम्। समुच्चयेनाऽसमुच्चयेनाऽन्वययोग्येनैकस्मिन् आग्नेयादावेकदेशाऽन्वयनियमनिर्धारणा-पेक्षैव न भवतीति वक्तुम्—विकल्पेनेति। सत्प्रतिपक्षेति। नित्यमाकाशम् मूर्त्तद्रव्यत्वात् आत्मवत्; अनित्यमाकाशम् अस्मदादिबाह्येन्द्रियबाह्यगुणाऽऽधारत्वात् घटवत्—इति सत्प्रति-पक्षहेतू।

ज्ञानवती

भेद व्यवहार के लिये भिन्न में भेद की स्थिति मान लेने पर पूर्व-भेद व्यर्थ हो जाता है। अनेक भेदों के एक साथ धर्मी से सम्बद्ध होने पर किंभेद विशिष्ट में किंभेद की स्थिति, अनवस्था होती है। और एक साथ अनन्तभेद के ग्राहक का अभाव होने से भी (अनवस्था होती है)। उस इसको ऊपर दौड़ती हुई अनवस्था कहते हैं। अपने को प्राप्त दोषतुल्यता प्रतिवन्दीविशेष के कारण इसका निवारण होता है। जैसे धूम के अनुमान में भी उपाधि-शंका के प्रतिवन्दी में तर्कानुकूल होने से अन्वययोग्य विकल्प के द्वारा एक के प्राप्त होने पर उसके एकदेश के अन्वयनियम का निर्धारण सम्भव न होना अविनिगम है। क्योंकि सत्प्रतिपक्ष एवं हेतु के समान नियम निर्धारण करने में जिनका अन्वय संभव है उन दोनों का परस्पर प्रतिक्षेप में ही पर्यवसान होता है।

---

१ (ग) स्थितिरविनिगमः। २ (क) विशेषानव।
३ (क) नुमाने(वा विंशत्या) प्रति। ४ (ख) योग्येऽनेकस्मिन्।

ननु अन्यतरमादाया[पि] प्रकृतस्योपपत्तिसम्भवेनाविनिगमस्य दोषत्वमेवानुपपन्नं केवलं पुंसः, तत्र यदि संशयः स्यात्; स च किं न स्यात् इति चेत्? न; भावानवबोधात्। [तेन] प्रमाणासम्भवेन कश्चिदपि विशेषः[1] कथमभ्युपगन्तुं शक्यो[2] यमादाय वस्तुगत्याऽप्येकस्यान्वयः स्यात्? नन्वेवं प्रमाणाभाव (एव[3])

भावदीपिका

भूषणकारेणोक्तम्—शब्दो गुणः, सामान्यवत्त्वात्, स्पर्शवत्त्वे सति बाह्यैकेन्द्रियग्राह्यत्वात्, सामान्यवत्त्वे सति सामान्यवतामनाधारत्वात् वा, रूपवत् इति शब्दस्य गुणत्वसिद्धिः। परिशेषाच्चाऽऽकाशगुणत्वमिति। तस्याऽस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वान्न द्वितीयहेत्वसिद्धिः। अनयोश्च हेत्वोर्य एकतरनिर्वाहं कर्त्तुमसमर्थः, तं प्रत्येवाऽविनिगमनोदाहरणत्वम्। मन्त्राद्युदाहरणं तु पूर्वोक्तं सर्वान् प्रतीति द्रष्टव्यम्। एतदेव स्पष्टीकर्त्तुं शङ्कते—नन्विति। यथा ह्याकाशस्य नित्यत्वे [प्रकृते][4] तस्यारम्भकाऽवयवाऽभावात् तद्विभागविनाशयोर्नाशप्रयोजकयोरभावेन द्रव्यस्य तस्य नित्यत्वाऽनुमानमादायैव निर्णयः। अनित्यत्वे च प्रकृते श्रुत्यानुकूल्यात् तस्य चेश्वरसर्वज्ञत्वादाविव दृष्टान्ताऽनपेक्षणात् पटादिदृष्टान्ताऽपेक्षाऽवयवविभागाऽद्यपेक्षया प्रबलत्वात् अनित्यत्वाऽनुमानमादायैव निर्णय इत्यर्थः। अनुमानञ्चेदुदाहृतमन्त्रादेः प्राबल्यदौर्बल्यव्यवस्थापक प्रमाणाभावादविनिगमोऽभिप्रेत इति समाधत्ते—तेनेति।

एवं तर्हि प्राबल्यव्यवस्थापकप्रमाणाभावादेकैकतरस्य नियमेनाऽन्वयाऽनवधारणम्, नाऽविनिगमात् इति शङ्कते—नन्वेवमिति। वेदत्वाद्यविशेषेणाऽविनिगमप्राप्तौ वेदत्वादौ सत्यपि श्रुत्याद्यनुग्रहतद्विरहाभ्यां प्राबल्यादेः क्वचिद्दर्शनात् तच्चिन्तयोक्तम्—अनादौ तदभावो व्यवस्थाप्य[5] इति। प्रथमप्राप्ताऽविनिगमस्यैव दोषत्वम्; अस्य चाऽन्यतरपक्षे अनुग्राहकविशेषदर्शनात् अनुमानस्थले दर्शित उद्धारः। मन्त्राऽऽदौ तदभावादैच्छिकाऽऽदिविकल्पसाधक-

ज्ञानवती

(पू) यदि केवल पुरुष को इस विषय में संशय हो तो अन्यतर को लेकर अप्रस्तुत की उपपत्ति संभव न होने से अविनिगम का दोष ही अनुपपन्न है, और वह संशय होगा क्यों नहीं? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि भाव का ज्ञान नहीं है। प्रमाण के असम्भव होने से कोई भी विशेष कैसे प्राप्त किया जा सकता है? जिसको लेकर वस्तुगत्या भी एक का अन्वय हो। (पू) इस प्रकार तो प्रमाण का अभाव ही दोष होगा न कि अनिश्चय? (उ) उसके अनिश्चय से अनुमेय होने के कारण प्रथम प्राप्त अनिश्चय का ही उपन्यास उचित है। वाहुल्यदृष्ट की अपेक्षा करके अबाहुल्यदृष्टता के द्वारा दुर्बल का प्राप्ति के योग्य न होना उत्सर्ग है। जैसे स्वस्थ एवं जागते हुए के ज्ञान में प्रामाण्य और प्रामाण्य के निर्धारक प्रमाण का अनुपनिपात समान होने पर भी विना बाधक के प्रामाण्य को प्राप्त करते हुए के प्रति होता है न कि अप्रामाण्य को (प्राप्त करते हुए के प्रति) जिसको तर्क के मत से आधार मानकर कहा गया है—

---

[1] (ख) शेषः, (ग) विशेष। [2] (ख) शक्यो यमादाय। [3] (क) भावदोषः, (ग) भाव एव दोषः। [4] (क) प्रवृत्त। [5] मूले न लभ्यत।

दोषः स्यात् नाविनिगम[1] इति चेत् ? तस्याविनिगमोन्नेयत्वेनाविनिगमस्यैव प्रथमोपनतस्य उपन्यासौचित्यात् । बाहुल्यदृष्टमपेक्ष्याबाहुल्यदृष्टतया दुर्बलस्यानुपगमार्हता[2] उत्सर्गः । तद्यथा स्वस्थस्य (जाग्रतो[3] ज्ञाने) प्रामाण्याप्रामाण्यनिर्धारकप्रमाणानुपनिपाताविशेषेऽपि विना बाधकं प्रामाण्यमभ्युपगच्छन्तं[4] प्रति स्यात् न त्वप्रामाण्यं, यं तर्कमतेनावलम्ब्याहु[5]:—

"तस्माद् बोधाऽऽत्मकत्वेन" इत्यादि ।

ननु बलवदेककोटिकसंशयत्वादुत्सर्गस्य[6] स कथं तर्कः स्यात् इति चेत् ? न ; उत्सर्गस्य सम्भावनायाश्चार्थस्थित्यनुकूलतयाऽवलम्ब्यत्वात् ; संशयस्यानेवं-

भावदीपिका

त्वमेव । भूयोदर्शनम् = उत्सर्गः । तस्य फलं बाहुल्यम् । अबाहुल्यस्य दुर्बलत्वेनाऽनङ्गीकारार्हत्वम् । साध्यसाधनयोरैक्योपचारः । अतएव बाहुल्यदर्शनस्यैव साधनाऽनुकूलत्वमुदाहरति—यं तर्कमिति ।

ननु कर्मवाक्यानां बाहुल्यादबाहुल्याच्च ज्ञानवाक्यानां यथासं[ज्ञानाय][7] एवैकतरपरत्वे वेदस्य तत एव तन्निरासार्थं समन्वयनिरूपणम् । अपरथा स्वतःप्रामाण्यवत् ज्ञानपरत्वस्याऽनुपगम एव प्राप्नोति । ततः प्रामाण्यादावपि संशय एवाऽयम् ?—इति शङ्कते—नन्विति । प्रामाण्यादौ संशये सति निर्णयाऽङ्गत्वेनोत्सर्गाऽवलम्बनात् स्थाणुपुरुषसन्देहे पुरुषत्वसम्भावनाया इव न तस्य संशयत्वमिति समाधत्ते—नेति । सम्भावनया च स्वार्थस्थित्यर्थं उत्सर्गोऽपेक्षित इत्यपि संशयात्तदनपेक्षिताद् भेदः । भूयोदर्शनमात्रलक्षण[8]त्वाच्चोत्सर्गस्य न संशयत्वम् । कर्मवाक्यबाहुल्यदर्शनस्य च कर्मकाण्ड एवाऽल्पविस्तीर्णप्रकरणयोर्विस्तीर्णप्रकरणार्थस्यैव वेदार्थत्वप्रसङ्गादनिष्टाभासवत्त्वम् । तदुक्तम्—"प्रामाण्याय न बाहुल्यं न ह्येकत्राऽप्रमाणता । वस्तुन्यटन्ति मानानि [किन्त्वे]कत्रैकस्य मानता ।।"—इति सुरेश्वरा-

ज्ञानवती

"इसलिये बोधात्मक रूप में—" इत्यादि ।

(पू) उत्सर्ग के वलवद् एककोटिक संशय वाला होने से वह तर्क कैसे होगा ? (उ) ऐसा नहीं है । क्योंकि उत्सर्ग एवं संभावना अर्थ की स्थिति के अनुकूल होने से अवलम्बन करने योग्य हैं, संशय के ऐसा न होने से उत्सर्ग एक कोटि में निविष्ट होता है । संशय के कोटिद्वयावगाही होने से सुगम एवं असुगम दुर्बल होता है और कल्पनागौरव है । दृष्टजातीय की अपेक्षा करके अदृष्टजातीय की प्रतीति दुःख से होती है, थोड़े की अपेक्षा करके बहुत (की प्रतीति भी दुःख से होती है) इत्यादि सर्वजन अनुभव सिद्ध है, जैसे नैयायिक आदि के प्रति, क्षित्यादि में प्रत्येक कार्य के प्रति भिन्न-भिन्न कर्ताओं के अभ्युपगम के

---

[1] (ख) न विनिगमः । [2] (ख) गमोत्सर्ग ।
[3] (क) जानतो ज्ञाने, (ख) जानतो ज्ञानं, (ग) जाग्रतो ज्ञानं ।
[4] (ग) मप्रामाण्य । [5] (ख) तर्कमेतमेव ।
[6] (ग) कोटिकः संशय एवोत्सर्गः तत्कथं । [7] (क) ज्ञाय । [8] (क) म्य ।

भावात्[1]; उत्सर्गस्यैककोटि-(निविष्टत्वात्[2]); संशयस्य कोटिद्वया-(वगाहित्वात्[3]) सुगमासुगमयोरसुगमदुर्बलत्वं कल्पनागौरवम्। दृष्टजातीयमपेक्ष्यादृष्टजातीयं दुःखेन प्रतीयते (स्वल्पमपेक्ष्य[4]) बहु इत्याद्यखिलजनानुभवसिद्धमेतत्। यथा नैयायिकादीन् प्रति क्षित्यादिषु प्रतिकार्यकर्तृणां[5] भिन्नानामभ्युपगमापादके; यथा च सौगतं प्रति प्रत्येकं कारणानां समर्थानामनेकसमानदेशकालनीलादि-(व्यक्त्युत्पादके[6]) च। दूषणानुकूलमिदम्। तदेतद्व्यतिरेकेण कल्पनालाघवं साधनानुकूलं [अ] समर्थानेककल्पनागौरवं[7] समर्थाल्पकल्पनालाघवमिति—चाहुः। [8]प्रामाणिकाव्यवहार्यमसमाधेयजातीय[मनौ]चित्यं[9] वैयात्यनामकम्। तस्य भेदाः

भावदीपिका

चार्थः—इत्याशयेनाऽऽह—उत्सर्गस्येति। एतेनाऽस्योद्धारोऽप्युक्तः। दृष्टजातीयेन बहुनाऽपि प्रकृतसम्भवेऽल्पस्याऽप्यदृष्टस्य कल्पने कल्पनागौरवं दृष्टाऽदृष्टप्रतीतिद्वारकं स्यात्। यथाऽध्ययनविधेः दृष्टाक्षरग्रहणाद्यनेकप्रयोजनवत्त्वेन सम्भवे साक्षाददृष्टस्वर्गफलकल्पने, एकस्याऽनेककार्यकर्तृत्वदर्शनात् क्षित्यादेरेककर्तृत्वसम्भवे प्रतिकार्यं कर्तृभेदकल्पने, च गौरवम्। अस्य ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वात् घटवत् इति स्वप्रकाशप्रतिपक्षप्रयोगवदुभयाऽनुकूलत्वभ्रमं व्यावर्त्तयति—दूषणेति। अस्य चोद्धारः कल्पनीये सम्प्रति प्रमाणदर्शनात्। यथा महतः प्रासादादेरनेककर्तृत्वे तदेतदिति सुगमाऽसुगमयोः सुगमप्राबल्यकल्पनालाघवम्, तथा क्षित्यादेरेककर्तृत्वे अस्य च साधनाऽनुकूलत्वात् एव नोद्धारः—प्रतिपक्षोद्धारादेव तत्सिद्धेः। तथा हि—कल्पनालाघवेनैव क्षित्यादेरेकः कर्त्ता नैयायिकैः साध्यते। स च "पत्युरसामञ्जस्यात्" इति बादरायणेनाऽपोह्यते। परिशेषकल्पनालाघवादेरागमोक्तेश्वरेऽपि सामञ्जस्यमित्ययुक्तम्। तटस्थसर्वेश्वरस्य स्वीकारेणाऽऽगमस्याऽसामञ्जस्यादिना बाधकस्योपचरितार्थत्वप्रसङ्गान्न तटस्थेश्वरकल्पना युक्तेत्यर्थः।

स्पष्टार्थं लक्षणान्तरमाह—असमर्थेति। दुरुत्तरमात्रं असमाधेयजातीयं भवति इति। प्रामाणिकाव्यवहार्यमित्युक्तम्, अनौचित्यं चेति पर्यायः। अवस्तुन्यत्यन्ताऽभावे विधेः

ज्ञानवती

आपादक के विषय में। और जैसे बौद्ध के प्रति प्रत्येक समर्थ कारणों के अनेक समान देश काल नील आदि व्यक्ति के उत्पादक में यह दोष के अनुकूल है। इसके विपरीत चलने पर कल्पना का लाघव साधनानुकूल असमर्थ अनेक कल्पना का गौरव और अल्प कल्पना का लाघव है।

प्रामाणिक, अव्यवहार्य, असमाधेयजातीय, अनौचित्य वैयात्य होता है। उसके भेद प्रश्नवैयात्य आदि हैं। प्रश्न का विषय न जानने वाले प्रष्टा के विषय में प्रश्न का अनौचित्य

---

1 (ख) संशयत्वेनैवं, (ग) संशयत्वस्य नैवं। 2 (क) यथात्वात्, (ख) निविष्टत्वात्। 3 (क) वगाहित्वं, (ग) वगाहित्वात्।
4 (क) समपेक्ष्य, (ग) स्वल्पमपेक्ष्य। 5 (ग) प्रतिकार्यं।
6 (क) व्यत्तयुत्पादायके, (ग) व्यक्त्युत्पादके। 7 (क) समर्था।
8 (क) प्रामाणिका, (ग) प्रमाणिक। 9 (क) समाधेयजातीयमौ (ख) समाधेयमौ।

प्रश्नवैयात्यादयः। प्रश्नविषयमप्रमिण्वति प्रष्टरि प्रश्नानौचित्यं प्रश्नवैयात्यम्। यथा अवस्तुनि विधिनिषेधयोः किमिच्छसीति प्रमाणव्यवहारे सौगते[1]। अप्रतिसमाधेयप्रश्नपरम्परायां मौनं वैयात्यमित्याहुः[2]।

त एते सोद्धारास्तर्काः नात्रावसरं लभन्ते। तथा हि—यदि जगज्जात्यादि तत एव तदाऽऽत्माश्रयः; जन्म (नाशतो नाशश्च[3] जन्मनः) इत्यन्योन्याश्रयः, इत्यादिप्रकारेणावकाशो वक्तव्यः जन्माद्यभावे[4] च कथं नः स्यात्।

[महाविद्यानुमानस्वरूपम्—]

अथ महाविद्यानुमानेन[5] जगदनित्यत्वं साध्यते; तथा हि—केवलान्वयिनि

भावदीपिका

सत्ताविषयत्वात् तत्प्राप्तिपूर्वकत्वाच्च निषेधस्य घटादाविवाऽसम्भवात् प्रश्नानौचित्यं विधिनिषेधयोः। मध्ये लक्षणान्तरमाह—अप्रतिसमाधेयेति। अप्रतिसमाधेयप्रश्नपरम्परायां मौनम्; उत्तरपरम्पराऽवलम्बने प्रश्नाऽनवस्थावदुत्तराऽनवस्थाप्रसङ्गान्मौनमेवोत्तरम्। तदुक्तम्—'अत्र सहृदयानां मूकतैवोचिता' इति। कार्यं हि स्वस्मात् भिन्नात् कार्यनिरपेक्षाऽऽत्मलाभाद् दृष्टमित्यादिव्याप्त्युपजीविनोऽमी तर्का इत्यभिप्रेत्य प्रकृते योजनां कथयति—तथा हीति। धूमादेरपि वह्न्यादिसहभावनियमदर्शनात् केवलस्य वृत्तौ व्याघात इत्यादियोजनाप्रकारो द्रष्टव्यः। यत्र विरुद्धसमुच्चयः तत्र व्याघात इत्यादि व्याप्तेर्व्याघाताद्यप्रसिद्धावप्रसिद्धेः।

[महाविद्याऽनुमानस्वरूपम्—]

तर्कप्रवृत्त्यर्थं जन्मादिसाधनमाशङ्कते—अथेति। बालव्युत्पादनाय महाविद्यालक्षणमाह—तथा हीति। धूमवत्त्वादेरन्वयव्यतिरेकिणो महाविद्यात्ववारणायाऽऽह—केवलान्वयीति।

ज्ञानवती

प्रश्नवैंयात्य होता है। जैसे अवस्तु के विषय में, 'विधि एवं निषेध में से क्या चाहते हो? ऐसा प्रमाणव्यवहार करने वाले बौद्ध के विषय में। अप्रतिसमाधेय प्रश्नपरम्परा होने पर मौनवैयात्य होता है।

उन इन उद्धार-युक्त तर्कों का यहाँ अवसर नहीं है। वह इस प्रकार—यदि जगत् का जन्म आदि वहीं (ब्रह्म) से ही होता है तो आत्माश्रय है; नाश से जन्म और जन्म से नाश यह अन्योन्याश्रय है, इत्यादि प्रकार से अवकाश कहना पड़ेगा और वह हम लोगों के जन्म आदि के अभाव मे कैसे होगा?

[महाविद्या अनुमान का स्वरूप—]

अव महाविद्या अनुमान से जगत् की अनित्यता सिद्ध करते हैं—वह इस प्रकार—केवलान्वयीव्यापक में प्रवर्त्तमान हेतु, पक्ष में व्यापकप्रतीति के अपर्यवसान के बल से वादी

१ (ख) प्रमाणव्यवहारं सौ, (ग) प्रमाणव्यवहारिणं सौ। २ (ग) इति चाहुः।
३ (क) जन्म नाशतो नाशतश्चजन्म, (ग) जन्मनाशतो नाशश्च जन्मनः।
४ (ग) अभावे कथं स्यात्। ५ (ग) नुमानेन मानेन।

व्यापके प्रवर्त्तमानो हेतुः पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलादन्वयव्यतिरेकि (साध्यविशेषं वाद्यभिमतं[१]) साधयन् महाविद्येत्युच्यते। तस्य च महाविद्यात्वम-सिद्ध्यादिसकलदोषविरहात्[२]। प्रमेयत्वादीनां निर्णीत(पक्ष[३])वृत्तित्त्वेन पक्षधर्मत्वा-सिद्धेरसम्भवात् केवलान्वयिसाध्याभावाप्रसिद्धौ साध्याभावाधिकरण(विपक्षा[४]) सम्भवेन यस्य कस्यचिदुपाधित्वेनाभिधीयमानस्यावश्यकपक्षेतरत्वदोषग्रस्तत्वेन[५] उपाधित्वासिद्धौ[६] व्याप्यत्वासिद्धेरपि निरस्तत्वात्।

अथ स्वर्गापूर्वादिकं कस्यचित् प्रत्यक्षं, प्रमेयत्वात्, करतलादिवत्; इत्यत्र केवलान्वयिन्यप्ययोगिप्रत्यक्षत्वमुपाधि? तथा च[७] न सर्वज्ञकर्तृशून्यं (सर्वं[८])कार्यम्, आकाशवदकार्यत्वप्रसङ्गात् इति; (अत्र[९]) केवलव्यतिरेकिण्यपि कर्तृशून्यत्वमुपाधिः? तदसारम्; योगिनमनङ्गीकुर्वतो न तद्व्यवच्छेदायायोगीति विशेषणं (युक्तं[१०]) यतः।

भावदीपिका

व्यापके=व्यापकस्य सिद्ध्यर्थमिति यावत्। ऋजुरीत्या साधनसम्भववारणार्थम्—पक्षे व्यापकप्रतीत्यपर्यवसानबलात् इत्युक्तम्। तर्हि ज्ञानं वेद्यं वस्तुत्वात् इत्यादौ प्रसङ्गः? इत्यत उक्तम्—अन्वयव्यतिरेकिसाध्यविशेषं (वाद्यभिमतं) साधयन् इति। एतादृश-हेतोर्महाविद्याशब्दाभिधेयत्वं व्युत्पादयति—तस्य चेति।

उपाधिप्रकरणोक्तां[११] व्याप्यत्वासिद्धिमुत्थाप्य प्रत्याचष्टे – अथेत्यादिना। केवल-व्यतिरेकिण्यन्वयव्यतिरेकधर्मकोपाधेः प्रसङ्गादभावः स्थाप्यते। विगीताः प्रत्यया यथार्थाः प्रत्ययत्वात् [करा[१२]]दिप्रत्ययवत्—इत्यत्र दुष्टसामग्र्यप्रसूतत्वोपाधेरप्रसूतत्वस्य घटादिप्रत्ययेष्व-

ज्ञानवती

के अभिमत अन्वयव्यतिरेकी साध्यविशेष को सिद्ध करता हुआ महाविद्या कहा जाता है। और उसका महाविद्यात्व असिद्धि आदि समस्त दोषों के न रहने से है। प्रमेयत्व आदि के निश्चित पक्षवृत्ति होने के कारण पक्षधर्मता की असिद्धि के असम्भव होने से केवलान्वयी साध्याभाव की प्रसिद्धि नहीं होती। फलतः साध्याभावाधिकरणरूप विपक्ष के असम्भव होने से उपाधि के रूप में कहे जाने वाले जिस किसी के आवश्यक पक्षेतरत्व दोष से ग्रस्त होने के कारण उपाधित्व की असिद्धि होने पर व्याप्यत्वासिद्धि भी निरस्त हो जाती है।

(पू) स्वर्ग अपूर्व आदि किसी को प्रत्यक्ष हैं, प्रमेय होने से, करतल आदि के समान; इस केवलान्वयी में भी अयोगिप्रत्यक्षत्व उपाधि है। और उसी प्रकार सब कार्य सर्वज्ञकर्तृ से शून्य नहीं है आकाश के समान, अकार्यत्व की प्राप्ति होने से, इस केवलव्यतिरेकी मे भी

---

[१] (क) साध्याभिमतं, (ग) साध्यविशेषं वाद्यभिमतं। [२] (ग) असिद्धत्वादि।
[३] (क) अपक्ष, (ग) पक्ष। [४] (क) विवक्षा, (ग) विपक्षा।
[५] (ग) पक्षेतरदोष। [६] (ग) उपाधित्वानुपपत्तौ।
[७] (ग) तथा न। [८] (ग) सर्वज्ञ कर्तृकशून्यं सर्वे कार्यं।
[९] (क) इति केवल। (ग) इत्यत्रकेवल। [१०] (क) विशेषणं यतः। (ग) विशेषणं युक्त यतः। [११] उपाधिप्रकरणे (चिन्तामणौ) उक्तां।
[१२] (क) का।

प्रत्यक्षत्वस्य साध्यव्याप्तौ सत्यां साधनाव्यापकत्वार्थमेवायोगिविशेषणोपादानात् पक्षेतरता च।

अथायोगिप्रत्यक्षता चातदपेक्षिताऽविप्रकर्षोपलक्षणम् ? नैवम् साधुः; (अविप्रकृष्टत्वे) सति प्रत्यक्षत्वोपाधेः पक्षेतरत्वात्; साध्यव्याप्तौ सत्यां साधनाव्याप्त्यर्थं विशेषणोपादानात्; एतस्यैव [च] पक्षेतरलक्षणत्वात्। अविप्रकृष्टत्वमेवोपाधिश्चेत्? तस्य विषमव्यापकत्वे यत् पुनर्विप्रकृष्टम्, न तत् कस्यचित् प्रत्यक्षमित्युदाहरणाभावात् (साध्या[1])व्यापकत्वम्। उपाधेः समव्यापकत्वे चाविप्रकृष्टत्वं विप्रकृष्टाभावत्वमेव चेत्? तन्न करतलादौ इति साध्याव्यापकत्वमेव; विप्रकर्षासहत्वं चेत् (तर्हि[2]) नित्यानुमेयादौ कालादिविप्रकर्षाभावे तद्भावेऽपि साध्याभावाद-

भावदीपिका

भावात् साध्यव्याप्त्यर्थमेव विशेषणम्। ततो न पक्षेतरत्वमिति सूचनार्थम्—साध्यव्याप्तौ सत्यामित्युक्तम्।

परोक्तं निर्वचनमाशङ्क्य दूषयति—अथाऽयोगीति। किमयोगिशब्दोऽविप्रकृष्टत्वार्थः केवलः; प्रत्यक्षत्वं न त्यज्यते योगिविशेषणस्यैवाऽघटमानत्वात्? किं वा प्रत्यक्षत्वविशिष्टः? इति विकल्प्य दूषणम्—एतस्यैव चेति। यत्र साध्यव्याप्तौ सत्यां साधनाऽव्याप्त्यर्थं विशेषणं स पक्षेतरः इति लक्षणं दुष्टसामग्र्यप्रसूतत्वोपाधौ अप्रसूतत्वं साधनाऽव्याप्त्यर्थं भवति, पक्षे तदभावात्। साध्यव्याप्तिस्तु न भवति। तेन दुष्टसामग्रीति विशेषणं साध्यव्याप्त्यर्थमेवेति—न तत्राऽतिव्याप्तिरित्युक्तम्। समव्यापकत्वे—अविप्रकृष्टत्वं—विप्रकृष्टाऽभावत्वं वा, विप्रकर्षाऽसहत्वं वा, विप्रकृष्टाऽन्योन्याऽभावत्वं वेति विकल्पः। तद्भावेऽपि = विप्रकर्षाऽसहत्वभावेऽपि; साध्यस्य निश्चितस्य कस्यचित् प्रत्यक्षत्वस्य त्वयाऽनङ्गीकारान्न समव्याप्तिः। यत्र कस्यचित् प्रत्यक्षत्वं तत्राऽन्योन्याभाववत्त्वं सिद्धमेवेति पक्षव्यावृत्त्यर्थमेव—विप्रकृष्टत्वग्रहणम्। नित्यानुमेयादेश्च पक्षत्वात् तत्रोपाधिवृत्तौ साधनव्यापकत्वदोषः स्पष्ट एव। स्वभावविप्रकर्षासहत्वविवक्षायामपि स्वभावविशेषणस्य पक्षव्यावृत्त्यर्थत्वात् पक्षेतरतैव। अविप्रकृष्टत्वार्थस्य विकल्पात् पक्षेतरतेति - अर्थेत इत्युक्तम्। विशेषणस्य साध्यसमव्याप्तिप्रयोजनत्वान्न पक्षेतरता? इति शङ्कते—नित्यानुमेय इति।

ज्ञानवती

कर्त्तृशून्यत्व उपाधि है? (उ) यह (कहना) तत्त्वहीन है। क्योंकि योगी को नहीं मानने वाले को उससे व्यवच्छेद के लिये अयोगी ऐसा विशेषण देना युक्त नहीं है और प्रत्यक्षत्व रूप की साध्यव्याप्ति होने पर साधनाव्यापकत्व के लिये ही अयोगिविशेषण देने से पक्षेतरता है।

(पू) अयोगिप्रत्यक्षता उससे अपेक्षित न होकर अविप्रकर्ष का उपलक्षण है? (उ) यह ठीक नहीं है क्योंकि अविप्रकृष्ट होने पर प्रत्यक्षत्वरूप उपाधि पक्ष से इतर हो जायगी इससे साध्य की व्याप्ति होने पर साधन की व्याप्ति के लिये विशेषण दे देने से यही पक्ष से इतर का लक्षण हो जाता है। (पू) अविप्रकृष्टत्व ही उपाधि है यदि ऐसा मानलें?

[1] (क) साध्य। (ग) साध्या। [2] (क) चेत् नित्या। (ग) चेत्तर्हि नित्या।

साध्यव्यापकत्वम्। विप्रकृष्टान्योन्याभाववत्त्वं चेदविप्रकृष्टत्वम् ? तर्हि पक्षव्यवच्छेदार्थमेव विशेषणम्, ततः पक्षेतरता। अर्थतः नित्यानुमेयेऽन्योन्याभाववत्त्वेऽपि[1] साध्याभावान्न समव्याप्तिश्चेत् ? तर्हि तत्तायां कस्यचित् प्रत्यक्षत्वेऽपि विशिष्टोपाध्यभावान्न साध्यव्याप्तिरेव।

एवं कर्त्तृशून्यत्वोपाधावपि कर्त्तृपदस्य पक्षमात्रव्यवच्छेदार्थत्वात् पक्षेतरता दुर्वारा; पक्षद्वयेऽपि व्यतिरेकान्वयव्याप्त्योरयोगात्; अन्वयव्यतिरेकनियतोपाध्यनु-

भावदीपिका

तथाऽप्येकतो भावान्न समव्याप्तिलाभः ?—इत्याह तर्हीति। कर्त्तृशून्यत्वं हि कर्त्रत्यन्ताभाववत्त्वम्। तत्र यत्किञ्चित् अत्यन्ताभाववत्त्वं पक्षेऽस्ति इति तद्व्यावृत्त्यर्थं विशेषणमिति पक्षेतरता। न चाकर्त्तृकत्वमात्रोपाधिः तस्य च सर्वज्ञकर्त्तृकत्वस्य साध्यस्याऽभावेन समव्याप्तिराकाशेऽस्ति; साध्यसमव्यापक इति साध्यशब्दस्य तदभावस्याऽपि सङ्ग्राहकत्वादिति वाच्यम्; मीमांसकस्य घटादौ सर्वज्ञकर्त्तृकत्वाऽभावेऽप्यकर्त्तृकत्वाऽभावेन व्यापकत्वस्य साध्यभावं प्रत्यसिद्धेः। कर्त्तृशून्यत्वोपाधावप्येवम्। ततः साध्यव्यापकतया पक्षेतरतुल्यतेति दुर्वारमित्यर्थः। किञ्च केवलव्यतिरेकिणि सपक्षाऽभावान्न साध्योपाधेरन्वयव्याप्तिः सम्भवति। केवलान्वयिनि च विपक्षाऽभावान्न व्यतिरेकव्याप्तिः; उपाधेश्चोभयाऽपेक्षत्वात्। साधनाऽव्यापकत्वार्थं पक्षे उपाध्यभावमिच्छता साध्याऽभावस्तत्रेष्ट एव। स किं उपाध्यभावात् प्रमाणान्तराद्वा ? आद्ये सिद्धो व्यतिरेकोपयोगः। अन्त्ये साध्याऽभावप्रमाणबाध एव दोषो नोपाधिः। अतोऽन्वयव्यतिरेकाभ्यां समव्यापकोदाहरणे निषिद्धत्वे यदनिषिद्धं तदधर्मसाधनं न भवति[वेदेषु, तर्हीति]व्यतिरेकोपलम्भाच्च। अन्यथोपाधेः साध्यव्यापकत्वस्य स्वव्यावृत्त्या साध्यव्यावर्त्तनेन हेतुव्याप्तिभञ्जनस्य चाऽसम्भवात्—इत्याह—पक्षद्वयेऽपीति। मा भूदसिद्धो

ज्ञानवती

(उ) तो उसके विषमव्यापक होगे पर फिर 'जो विप्रकृष्ट होता है वह किसी को प्रत्यक्ष नहीं होता' ऐसा उदाहरण होने से साध्याव्यापकत्व हो जाता है। (पू) उपाधि के समव्यापक होने पर अविप्रकृष्टत्व विप्रकृष्टाभावत्व है ? (उ) वह नहीं है क्योंकि 'करतलादौ' यह साध्याव्यापकत्व ही है। (पू) विप्रकर्षासहत्व है ? (उ) तो नित्य अनुमेय आदि में कालादिविप्रकर्षाभाव होने पर उसके होने पर भी साध्याभाव होने से साध्यव्यापकत्व नहीं है। (पू) यदि अविप्रकृष्ट का मतलब विप्रकृष्ट का अन्योन्याभाव है ? (उ) तब तो पक्ष के व्यवच्छेद के लिये ही विशेषण है इसलिये पक्षेतरता (दोष आ जाता है)। (पू) अर्थतः नित्यानुमेय के विषय में अन्योन्याभाव होने पर भी साध्याभाव होने से समव्याप्ति नहीं है। (उ) तब तो तत्ता में किसी का प्रत्यक्ष होने पर भी विशिष्ट उपाधि न होने पर साध्यव्याप्ति ही नहीं है।

इसी प्रकार कर्त्तृशून्यत्व की उपाधि में भी कर्त्तृपद के पक्षमात्र व्यवच्छेदार्थक होने से पक्षेतरता का वारण दुष्कर है; क्योंकि दोनों पक्षों में व्यतिरेक एवं अन्वय व्याप्तियों का

---

[1] (ग) अन्योऽन्याभावत्वे।

पपत्तेश्च । ततो यत्किञ्चिदेतत् । केवलान्वयिसाध्याभावाप्रसिद्धत्वेनैव च साध्याभाववन्मात्रवृत्तित्वसाध्याभावसाधकसमानबलसाध्याभावसाधकाधिकबलरूपाणां विरुद्धत्वानैकान्तिकत्वप्रतिपक्षबाधानामप्यनुपपत्तेः विपक्षाभावेन विपक्षवृत्तित्वाशङ्का[2]सम्भवेन तन्निवृत्त्यर्थं तर्काकाङ्क्षाऽभावेन तर्कविरहादीनामप्यदूषणत्वादिति ।

[उक्तानुमानभेदाः—]

सा चेयं महाविद्या बहुप्रकारा; काचिदन्वयव्यतिरेकिणः पक्षं पक्षीकृत्य प्रवर्तते, काचित् सपक्षम्[3], काचिद् विपक्षम्, काचित् साध्यम्, काचित् साध्याभावमिति ।

भावदीपिका

विरुद्धाद्यन्यतमस्तु; स्यात् ततः कथमस्य हेतोर्महाविद्यात्वम् ? तत्राऽऽह—केवलान्वयीति । विपक्षबाधकतर्काभावतत्प्रयुक्तसन्दिग्धानैकान्तिकत्वशङ्कितोपाधित्वदूषणान्यपि विपक्षाभावादेव न भवन्ति । न च कस्यचित्प्रत्यक्षत्वं किञ्चिन्निष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगि धर्मत्वात् रूपवत् इति विपक्षसम्भावना; प्रमेयत्वं किञ्चित्वस्तुनिष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगि धर्मत्वात् इति प्रमाणाऽभावेऽपि प्रमेयवस्तुसिद्धिरित्याद्यतिप्रसङ्गबाधात्—तदेतदाह—विपक्षाऽभावेनेति ।

[उक्तानुमानभेदाः—]

भागकथनपूर्वकं प्रस्तुते महाविद्याप्रयोगानाह—सा चेयमित्यादिना ।

ज्ञानवती

योग नहीं होने से अन्वयव्यतिरेक नियत उपाधि की अनुपपत्ति हो जाती है । इसलिये यह कुछ है । और केवलान्वयी साध्याभाव के प्रसिद्ध न होने से ही साध्याभाववन्मात्रवृत्तित्व तथा साध्याभावसाधक समानबल वाले तथा साध्याभाव के साधक अधिकबलरूपवाले विरुद्धत्व अनैकान्तिकत्व, प्रतिपक्ष एवं बाध की भी अनुपपत्ति हो जाने से विपक्षाभाव होने के कारण विपक्षवृत्तित्व की आशंका सम्भव न होने से उसकी निवृति के लिये तर्क की आकाङ्क्षा के अभाव के कारण तर्क विरह आदि भी दोष नहीं होंगे ।

[उक्त अनुमान के भेद—]

वह महाविद्या बहुत प्रकार की है । कोई अन्वयव्यतिरेकी वाले पक्ष को पक्ष बनाकर प्रवृत्त होती है; कोई (उसके) सपक्ष को; कोई (उसके) विपक्ष को, कोई (उसके) साध्य को, कोई (उसके) साध्याभाव को ।

---

१ (ग) साध्याभावमात्र । २ (ख) विपक्षः वृत्तित्वाशङ्कासम्भवेन ।
(ग) विपक्षवृत्तित्वशंका ।
३ (ख) सपक्षं काचित् साध्यम्, (ग) सपक्षं काचित् साध्यम् ।

[पृथिव्याद्यनित्यत्वे महाविद्याऽनुमानम्–]

तत्र (पक्षं पक्षीकृत्योच्यते[1])—पृथिव्यादि, अनित्यम् , कार्यत्वात् , कुम्भवत् इत्यन्वयव्यतिरेकिणि महाविद्या—विमतं स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणानित्यनिष्ठाधिकरणम् , मेयत्वात् , घटवत् , ये पक्षे तदितरस्मिंश्च[2] वर्तन्ते धर्माः, तेषु पक्षतदितरवृत्तित्वं नामधर्मः तदत्यन्ताभावश्च स्वस्वेतरवृत्तित्वानाक्रान्तत्वम् , तद्वांश्च स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणम् , स चासावनित्यनिष्ठश्च, तेन स्वस्वेतरवृत्तित्वात्यन्ताभाववदनित्यनिष्ठधर्मवान् पक्ष इति प्रतिज्ञार्थः[3]। अयञ्च प्रमेयत्वादिहेतुः स्वस्वेतरवृत्तित्वानाक्रान्तानित्यनिष्ठधर्मवत्त्वं पक्षे गमयन् अनित्यत्वमन्तर्भाव्य गमयति। नहि[4] पक्षे नित्यत्वमनधिगम्य[5] पक्षमात्रनिष्ठस्यानित्यनिष्ठत्वं शक्याधिगमम्[6]। नापि[7] पक्षे पक्षमात्रनिष्ठानित्यनिष्ठधर्मवत्त्वमनधिगम्य(पक्ष[8])तदितरवृत्तित्वाना-

भावदीपिका

[पृथिव्याद्यनित्यत्वे महाविद्याऽनुमानम्—]

पृथिव्यादिकमनित्यनिष्ठाऽधिकरणमित्युक्ते सत्ताद्यधिकरणत्वेन सिद्धसाधनता स्यात्—अत उक्तम्—स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरणेति। तथाऽपि नित्यमात्रवृत्तिनित्यत्वाधिकरणत्वेन सिद्धसाधनता स्यात्—अत उक्तम्—[अनित्यनिष्ठाऽधिकरणेति]। अत्यन्ताऽभावः स्वस्वेतरवृत्तित्वाऽनाक्रान्तत्वलक्षणः। आक्रम्यते अन्यद्वस्तुस्तु [यद्बलेन] तत्=आक्रान्तत्वम्=सत्त्वम्; तद्विरोधि=अनाक्रान्तत्वम्=असत्वम्; तद्वान्=स्वस्वेतरवृत्तित्वात्यन्तासत्त्वलक्षणतदत्यन्ताऽभाववद्—धर्मः। स्वस्वेतरवृत्तित्वाऽनधिकरणप्रतिज्ञां निरुच्य हेतोः साध्यगमकत्वमपर्यवसानबलेनाऽऽह–अयञ्चेति। मा भूत् पक्षमात्रनिष्ठधर्मस्याऽनित्यनिष्ठत्वाऽधिगमः;

ज्ञानवती

[पृथिवी आदि के अनितयत्व में महाविद्यानुमान—]

उनमें से पक्ष को पक्ष में रखकर कहते हैं—

पृथिवी आदि अनित्य हैं, कार्य होने से, घट के समान, इस अन्वयव्यतिरेकी में महाविद्या है—विमत स्व एवं स्व से इतर के वृत्तित्व के अनधिकरण स्वरूप अनित्यनिष्ठअधिकरणवाला है, मेय होने से, घट के समान। जो धर्म पक्ष एवं उससे अन्य में रहते हैं उनमें पक्ष एवं तदितरवृत्तित्व नामक धर्म रहता है। उसका अत्यन्ताभाव स्व एवं स्वेतरवृत्तित्वानाक्रान्तत्व होता है, और तद्वान स्वस्वेतरवृत्तित्वानधिकरण होता है और वह अनित्य में रहने वाला है। इस प्रकार स्वस्वेतरवृत्तित्व का अत्यन्ताभाववत्अनित्यनिष्ठधर्मवान् पक्ष है, यह प्रतिज्ञा का अर्थ है। और यह प्रमेयत्व आदि हेतु पक्ष में स्वस्वेतरवृत्तित्व से अनाक्रान्त अनित्यनिष्ठधर्मवत्त्व को बताता हुआ अनित्यत्व को अन्तर्भावित करके बताता है। क्योंकि पक्ष में अनित्यत्व को

---

१ (क) तत्र पृथिव्यादि। २ (ग) पक्षतदितरस्मिश्च। ३ (ख) प्रतिज्ञातार्थः। ४ (ख) नापि। ५ (ग) पक्षे नित्यत्वमधि। ६ (ग) शक्यागमम्। ७ (ख) नहि। ८ (क) गम्यतदितर, (ग) गम्य पक्ष तदितर।

नाऽपीति। क्रान्तानित्यनिष्ठधर्मवत्त्वं शक्याधिगमम्; पक्षव्यतिरिक्तमात्रवृत्तिधर्मस्य पक्षे व्याघातेनोपसंहर्तुमशक्यत्वात्। तदिदं व्यापकप्रतीतेरनित्यत्वादिकमनालम्ब्यानुत्पत्तिरूपमपर्यवसानमाहुः।

इदानीं सपक्षं पक्षीकृत्योच्यते—अयं घट एतद्घटपक्षीकृतपृथिव्याद्यन्यान्यानित्यान्यः, मेयत्वात्, आकाशवत्। एतद्घटपक्षीकृतपृथिव्याद्योः[1] ये अन्यत्वे तदुभयत्वरहितः एतद्घटपक्षीकृतपृथिव्याद्यन्यान्यः, स चासावनित्यश्च तदन्यत्वाधिकरणमित्यर्थः। एतद्घटपक्षीकृतपृथिव्याद्यन्यान्यानित्यान्यत्वं च एतद्घटान्यत्वेन वा स्यात्, पक्षीकृतपृथिव्याद्यन्यत्वेन वा स्यात्। पूर्वस्मिन् व्याघातः; न ह्ययं घट एतस्माद् घटादन्य इति सम्भाव्यते। द्वितीये तु[2] पृथिव्याद्यनित्यत्वसिद्धिः यदि पक्षीकृतं पृथिव्यादि नानित्यम्, कथं पक्षीकृतानित्यान्यत्वं घटे स्यात्।

भावदीपिका

को दोष ? तत्राऽऽह—स्वस्वेतरशब्दवाच्यपक्षतदितरोभयवृत्तित्वाऽनधिकरणाऽनित्यघटनिष्ठघटाकाशात्माऽदिसंयोगाद्यधिकरणत्वादात्माऽऽकाशादेः सपक्षत्वेन केवलान्वयित्वमस्य द्रष्टव्यम्।

घटस्य यतः कुतश्चित् स्वाऽन्यस्मादनित्यादन्यत्वं सिद्धमिति—अत उक्तम्—पक्षीकृतपृथिव्याद्यन्येति। पृथिव्याद्यन्यान्यत् पृथिव्याद्येव; तदनित्यत्वस्याऽद्याऽप्यसिद्धत्वात् अप्रसिद्धविशेषणत्वम्—इत्यत उक्तम्—एतद्घटेति। एतद्घटपक्षीकृतपृथिव्याद्यन्याऽन्यत्वमनित्यत्वं च घटस्य प्रसिद्धं, तदन्यत्वं च दृष्टान्तेऽस्ति; घटस्य च घटादन्यत्वाऽसम्भवात् पृथिव्याद्यनित्यमपर्यवसानबलेन सिद्ध्यतीति व्याख्याने—एतद्घटेति। तृतीयस्तु प्रयोगो मूल एव विशदः।

ब्रह्मणि पृथिव्यादिनित्यसंयोगादिः यथोक्तो धर्मः। अनित्यत्वम् अनित्यत्वाऽन्योन्याऽभावव्यतिरिक्ताऽधिकरणमित्युक्ते प्रमेयत्वाद्यधिकरणत्वेन सिद्धसाधनता स्यात्—अत उक्तम्—एतत्पृथिव्यादीति।

ज्ञानवती

विना जाने पक्षमात्र में रहने वाले का अनित्य में रहना जाना नहीं जा सकता। और न तो पक्ष में पक्षमात्रवृत्ति अनित्यनिष्ठधर्मवत्त्व को विना जाने पक्षतदितरवृत्तित्व से अनाक्रान्त अनियतनिष्ठधर्मवत्त्व को जाना जा सकता है। क्योंकि पक्षव्यतिरिक्तमात्रवृत्ति धर्म को पक्ष में व्याघात के द्वारा उपसंहृत नहीं किया जा सकता। इसलिये व्यापकप्रतीति के अनित्यत्व आदि का आलम्बन न करके अनुत्पत्तिरूप अपर्यवसान कहा गया है।

अब सपक्ष को पक्ष बनाकर कहते हैं—यह घट इस घट के द्वारा पक्षीकृत पृथिवी आदि से अन्य (जो) अनित्य (पदार्थ उससे) अन्य है, मेय होने से, आकाश के समान। इस घट के द्वारा पक्षीकृत पृथिवी आदि से जो अन्य (अर्थात्) तदुभयत्व से रहित है वह एतद्घट पक्षीकृतपृथिवीआदि से अन्य से अन्य है, और वह अनित्य, उसका अधिकरण, यह अर्थ है। एतद्घटपक्षीकृतपृथिवीआदि से अन्य उससे अन्य अनित्य उससे अन्यत्व (जो है वह) एतद्घट से अन्य के रूप में भी होगा, अथवा पक्ष के रूप में माने गये, पृथिवी आदि से अन्य के रूप में होगा। पहले (पक्ष) में व्याघात है क्योंकि यह घट इस घट से अन्य है ऐसा सम्भव

[1] (ग) पृथिव्यादिकयोः कार्येऽन्य। [2] (ग) द्वितीये पृथिव्या।

अथ विपक्षीभूतं[1] ब्रह्म पक्षः, एतत्पृथिव्यादीतरा(नित्यानित्य[2])वृत्तित्वरहिता-नित्यनिष्ठाधिकरणम्, मेयत्वात् (घटवत्[3])। अनित्यनिष्ठाधिकरणमित्युक्ते [4]प्रमेयत्वादिभिरनित्यनिष्ठैरेतत्पृथिव्यादिनित्यत्वेऽप्युपपद्यमानैरर्थान्तरता[5] स्यात्; तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पृथिव्यादीतरानित्यनित्यवृत्तित्वरहितग्रहणम्। एतत्पृथिव्यादीतरानित्यनित्यवृत्तित्वरहिताधिकरणमित्युक्ते[6] नित्यत्वतदवान्तरैः ब्रह्मनिष्ठैरेतत्पृथिव्यादिनित्यत्वेऽप्युपपद्यमानैरर्थान्तरता स्यात्: तन्निवृत्त्यर्थं नित्यनिष्ठग्रहणम्। नित्यनिष्ठत्वरहितानित्यनिष्ठाधिकरणमित्युक्ते व्याघातः। नहि नित्यनिष्ठत्वरहितो नित्ये ब्रह्मणि (वर्तत इति[7]) सम्भवति; तन्निवृत्त्यर्थमेतत्पृथिव्यादीतरानित्यग्रहणम्[8]।

यद्यपि ब्रह्मणि नित्यवृत्तित्वरहितो धर्मो व्याहतः, तथाऽप्येतत्पृथिव्यादीतरानित्ये नित्ये च ये (धर्माः[9]) वर्त्तन्ते तेषु यदेतत्पृथिव्यादीतरानित्यनित्यवृत्तित्वं धर्मः, तद्रहितो धर्मो ब्रह्मणि न व्याहतः। एतत्पृथिव्यादीतर[10]नित्यवृत्तित्वरहितानित्यनिष्ठाधिकरणमित्युक्ते व्याघातः; यस्य कस्यचिदपि ब्रह्मधर्मस्य एतत्पृथिव्यादीतर-

ज्ञानवती

नहीं है। दूसरे में पृथिवी आदि के अनित्यत्व की सिद्धि है; यदि पक्ष के रूप में स्वीकृत पृथिवी आदि अनित्य नहीं है तो पक्षीकृत अनित्य से अन्यत्व घट में कैसे होगा?

अब विपक्षीभूत ब्रह्म = पक्ष, एतत्पृथिवी आदि से इतर अनित्यनित्यवृत्तित्वरहितअनित्यनिष्ठ अधिकरण वाला है, क्योंकि मेय है, घट के समान। अनित्यनिष्ठ अधिकरण वाला ऐसा कहने पर अनित्यनिष्ठ प्रमेयत्व आदि से, जो कि एतत्पृथिवी आदि के नित्य होने पर भी उपपद्यमान हैं, उनसे अर्थान्तरता हो जायगी, उसकी निवृत्ति के लिये एतत्पृथिव्यादीतरानित्यनित्यवृत्तित्त्वरहित का ग्रहण है। एतत्पृथिव्यादीतरानित्यनित्यवृत्तित्वरहिताधिकरण, ऐसा कहने पर नित्यत्व और उसके अवान्तर जो ब्रह्मनिष्ठ एतत्पृथिव्यादि के नित्य होने पर उपपद्यमान है, उनसे अर्थान्तरता हो जायगी, उसकी निवृत्ति के लिये नित्यनिष्ठ का ग्रहण है। नित्यनिष्ठत्वरहितअनित्यनिष्ठअधिकरण, ऐसा कहने पर व्याघात है; क्योंकि नित्यनिष्ठत्वरहित नित्य ब्रह्म में वर्त्तमान है ऐसा संभव नहीं है, उसकी निवृत्ति के लिये एतत्पृथिव्यादीतरअनित्य का ग्रहण है।

यद्यपि ब्रह्म में नित्यवृत्तित्वरहित धर्म व्याहत है तथापि एतत्पृथिव्यादि से इतर अनित्य एवं नित्य में जो धर्म वर्त्तमान हैं उनमें जो एतत्पृथिव्यादि से इतर अनित्यनित्यवृत्तित्वधर्म है उससे रहित धर्म ब्रह्म में व्याहत नहीं है। एतत्पृथिव्यादीतरनित्यवृत्तित्वरहितानित्यनिष्ठाधिकरण ऐसा कहने पर व्याघात होता है। क्योंकि जिस किसी भी ब्रह्मधर्म के

---

१ (ग) कृतं। २ (क) नित्यनित्य। (ग) नित्यनित्य।
३ (क) मेयत्वात् अनित्य। (ग) मेयत्वात् घटवत् अनित्य। ४ (ग) मेयत्वादिभिः।
५ (ग) उपपद्यमानैः। ६ (ग) रहितानित्यनिष्ठाधिकरणं।
७ (क) सम्भवति। (ग) वर्तत इति सम्भवति। ८ (ग) नित्यं ग्रहणं।
९ (क) च येवर्त्तन्ते तेषु। (ग) च ये धर्माः तेषु।
१० (ग) दीतरनित्यब्रह्मनिष्ठत्वेन तद्रहितत्वानुपपत्तेः तन्निवृत्यर्थमनित्यग्रहणम्।

नित्यब्रह्मनिष्ठत्वेन तद्रहितत्वानुपपत्तेः तन्निवृत्त्यर्थमनित्यग्रहणम् । एतत्पृथिव्यादीतरनित्यनिष्ठत्वरहितधर्मस्य ब्रह्मणि[१] व्याहतत्वेऽपि एतत्पृथिव्या[२]दीतरानित्यनिष्ठत्वरहितधर्मस्याव्याहतत्वात् । एतत्पृथिव्या[३]दीतरानित्यनिष्ठत्वरहितानित्यनिष्ठाधिकरणमित्युक्ते चाप्रसिद्धविशेषणता । न ह्येतत्पृथिव्यादीतरानित्यत्वसिद्धेः[४] पूर्वं एतत्पृथिव्यादीतरानित्यनिष्ठत्वरहितस्यानित्यनिष्ठत्वं शक्याधिगमम् ; तन्निवृत्त्यर्थं नित्य(ग्रहणम्[५]) ।

एतत्पृथिव्यादीतरानित्यनिष्ठत्वरहितानित्यनिष्ठाप्रसिद्धत्वेऽपि एतत्पृथिव्यादीतरानित्य[६]नित्यनिष्ठत्वरहितानित्यनिष्ठस्यैतत्पृथिव्यादीतरानित्यत्वादेः सुप्रसिद्धत्वात् एतत्पृथिव्यादीतरानित्यनित्यवृत्तित्वरहितो धर्म एतत्पृथिव्यादीतरानित्यवृत्तित्वरहितो धर्म एतत्पृथिव्यादीतरानित्यमात्रवृत्तिर्वा, नित्यमात्रवृत्तिर्वा, एतत्पृथिव्याद्येतत्पृथिव्यादीतरानित्यमात्रवृत्ति(नित्यमात्रवृत्तिर्वा),[७] एतत्पृथिव्यादिमात्रवृत्तिर्वा, एतत्पृथिव्यादिब्रह्मव्यतिरिक्तनित्यमात्रवृत्तिर्वा, एतत्पृथिव्यादिब्रह्ममात्रवृत्तिर्वा ? प्रथमतृतीय(चतुर्थ[८])पञ्चमा ब्रह्मणि व्याहताः । द्वितीयस्त्वनित्यनिष्ठग्रहणेन

ज्ञानवती

एतत्पृथिव्यादीतरनित्य ब्रह्म में रहने से तद्रहितत्व की अनुपपत्ति हो जाती है । उसकी निवृत्ति के लिये अनित्य का ग्रहण है । उससे एतत्पृथिव्यादीतरनित्यनिष्ठत्वरहितधर्म के ब्रह्म में व्याहत होने पर भी एतत्पृथिव्यादीतरअनित्यनिष्ठत्वरहितधर्म अव्याहत रहता है । एतत्पृथिव्यादीतरानित्यनिष्ठत्वरहितानित्यनिष्ठाधिकरण ऐसा कहने पर अप्रसिद्धविशेषणता दोष है । क्योंकि एतत्पृथिव्यादि से इतर के अनित्यत्व की सिद्धि से पूर्व एतत्पृथिव्यादीतरानित्यनिष्ठत्वरहित का अनित्यनिष्ठत्व नहीं जाना जा सकता । उसकी निवृत्ति के लिये नित्य ग्रहण है ।

एतत्पृथिव्यादीतरानित्यनिष्ठत्वरहित अनित्यनिष्ठ के अप्रसिद्ध होने पर भी एतत्पृथिव्यादि से इतर अनित्यनित्यनिष्ठत्वरहितअनित्यनिष्ठएतत्पृथिव्यादीतरअनित्यत्व आदि के सुप्रसिद्ध होने से, एतत्पृथिव्यादि से इतर अनित्यनित्यवृत्तित्व से रहित धर्म या तो एतत्पृथिव्यादि से इतरअनित्यमात्र में रहने वाला होगा, या नित्यमात्र में रहने वाला, या एतत्पृथिव्यादि एवं एतत्पृथिव्यादि से इतर अनित्यमात्र में रहने वाला नित्यमात्रवृत्ति होगा, या एतत्पृथिव्यादिमात्र में रहने वाला या एतत्पृथिव्यादिब्रह्मव्यतिरिक्तनित्यमात्र में रहने वाला या एतत्पृथिव्यादिब्रह्ममात्र में रहने वाला होगा ? (इनमें से) प्रथम, तृतीय, चतुर्थ एवं पञ्चम विकल्प ब्रह्म में व्याहत हैं । और दूसरा अनित्यनिष्ठग्रहण के द्वारा निरस्त है । षष्ठ का अनित्यनिष्ठत्व एतत्पृथिव्यादि के अनित्यत्व का अन्तर्भाव करके ही सिद्ध होता है क्योंकि

---

१ (ग) धर्मिणि व्याह ।
२ (ग) दीतरनित्यनित्यनिष्ठ ।
३ (ग) दीतरनित्य ।
४ (ग) पृथिव्याद्यनित्यत्व ।
५ (क) नित्यपदम् । (ग) नित्यग्रहणम् ।
६ (ख) नित्यानित्य ।
७ (क) अनित्यमात्रवृत्तिर्वा, (ख) अनित्यमात्रनित्यमात्रवृत्तिर्वा ।
८ (क) तृतीयपञ्चमा, (ग) तृतीयचतुर्थपञ्चमा ।

दूरनिरस्तः। षष्ठस्य त्वनित्यनिष्ठत्वमेतत्पृथिव्याद्यनित्यत्वमन्तर्भाव्यैव सिद्धयति, ब्रह्मानित्यत्वस्योभयवादिसिद्धत्वादिति एतत्पृथिव्याद्यनित्यत्वसिद्धिः।

अथ साध्यं पक्षीकृत्योच्यते—अनित्यत्वम्, अनित्यत्वान्योन्याभावव्यतिरिक्तै[1]तत्पृथिव्यादिनिष्ठा(त्यन्ताभाव[2])प्रतियोगिनिष्ठत्वरहिताधिकरणम्, मेयत्वात्, घटवत्। अनित्यत्वान्योन्याभावव्यतिरिक्तश्चासावेतत्पृथिव्यादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठत्वम्, तद्रहितश्चान्योन्याभावो वा स्यात्, तस्य स्वातिरिक्तत्वे सतीति विशेषणायोगात्; तत्त्वे सति एतत्पृथिव्यादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठत्वरहितो वा। आद्यो व्याहतः; नह्यनित्यत्वमनित्यव्यतिरिक्तमिति सम्भवति। एतत्पृथिव्यादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठत्वरहितश्चानित्यत्वे तर्ह्येव स्यात्, यद्यनित्यमेतत्पृथिव्यादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि न स्यादिति अनित्यत्वस्यैतत्पृथिव्यादिनिष्ठत्वसिद्धिः। अनित्यत्वस्यान्योन्याभावमुपादाय (घटादौ[3]) साध्यप्रसिद्धिः।

भावदीपिका

पृथिव्यादिनित्यत्ववादिनां एतत्पृथिव्यादिनित्याऽऽद्यत्यन्ताऽभावप्रतियोगि अनित्यत्वम्। तत् नित्यत्वरहितो नित्यत्वाऽन्योन्याऽभावो भवति। नह्यनित्यत्वमनित्यत्वादन्यत्। अनित्यत्वस्य तदधिकरणत्वसाधने बाधः स्यात्—अत उक्तम्—अनित्यत्वाऽन्योन्याभावव्यतिरिक्तेति। अथवा पृथिव्यादिनिष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगिनिष्ठत्वरहितो धर्मो न प्रसिद्धः—इत्यनित्यत्वाऽन्योन्याभावव्यतिरिक्ते[-ति विशेषणम्]। अनित्यत्वाऽन्योन्याऽभावस्य स्वव्यतिरिक्तत्वे सति एतत्पृथिव्यादिनिष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगिनिष्ठत्वाऽभावान्नाऽप्रसिद्धविशेषणता। पूर्वत्र विशेषणे [सत्यपि] बाधशङ्केति पक्षान्तरमन्योन्याऽभावमात्रस्योक्तरूपत्वप्रसिद्धेरनित्यत्वस्य यत्किञ्चिदन्योन्याऽभावाऽधिकरणत्वेन सिद्धसाधनत्वं स्यात्—अत उक्तम्—अनित्यत्वेति। कथं तद्रहितत्वमन्योन्याऽभावस्य?—इत्यत आह—तस्य स्वाऽतिरिक्तत्वे सतीति। तत्त्वे सति=अनित्यत्वान्योन्याऽभावव्यतिरिक्तत्वे सतीत्यर्थः।

ज्ञानवती

ब्रह्म का नित्यत्व उभयवादिसिद्ध है। इस प्रकार एतत्पृथिव्यादि के अनित्यत्व की सिद्धि होती है।

अब साध्य को पक्ष बनाकर कहा जाता है—अनित्यत्व, अनित्यत्वान्योन्याभावव्यतिरिक्तएतत्पृथिव्यादिनिष्ठ अत्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठत्वरहितअधिकरण वाला है, मेय होने से, घट के समान। और अनित्यत्वान्योन्याभावव्यतिरिक्त यह एतत्पृथिव्यादिनिष्ठअत्यन्ताभाव के प्रतियोगी में रहने वाला है और अन्योन्याभाव उससे रहित होगा क्योंकि उसमें 'स्वातिरिक्तत्वे सति' यह विशेषण नहीं है, अथवा (स्वातिरिक्त होते हुए) एतत्पृथिव्यादिनिष्ठअत्यन्ताभावप्रतियोगिनिष्ठत्व से रहित होगा, पहला (पक्ष) व्याहत है, क्योंकि अनित्यत्व अनित्यत्व से व्यतिरिक्त है, ऐसा सम्भव नहीं है। एतत्पृथिव्यादिनिष्ठअत्यन्ताभावप्रतियोगीनिष्ठत्व रहित (धर्म) अनित्यत्व में तभी रहता यदि अनित्यत्व एत्तपृथिव्यादिनिष्ठअत्यन्ताभाव का प्रतियोगी

---

[1] (ग) व्यतिरिक्तश्चासौ एतत्। [2] (क) अत्यन्तभाव, (ख) अत्यन्ताभाव।
[3] (क) घटे, (ग) घटादौ।

अथ साध्याभावपक्षीकारः—(अनित्यत्वात्यन्ताभावः,[१] अनित्यत्वान्योन्याभावव्यतिरिक्तैतत्पृथिव्यादिनिष्ठाभावप्रतियोगि, मेयत्वात्, घटवत्), अनित्यत्वात्यन्ताभावस्य चान्योन्याभावव्यतिरिक्तोऽभावोऽत्यन्ताभाव एव तस्य; प्राक्प्रध्वंसाभावविरहादनित्यत्वात्यन्ताभावस्य चात्यन्ताभावोऽनित्यत्वमेवेति एतत्पृथिव्याद्यनित्यत्वसिद्धिरिति जन्माद्यपि[२] (पृथिव्यादेरनित्य-)भावत्वादेवेति[३] नासम्भवि ब्रह्मणो लक्षणम्।

अत्रोच्यते--किमिदमनित्यत्वं साध्यते, प्रध्वंसात्मकं वा अव्यवस्थितस्वरूपत्वम्[४] वा? नाद्यः; लयवादिभिः (सर्वथा[५]) उच्छेदापरपर्यायप्रध्वंसानुपगमात्। अथ

भावदीपिका

दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं परिहरति—अनित्यत्वेति। अनित्यत्वाऽन्योन्याऽभावस्य चाऽतिरिक्तत्वे सति एतत्पृथिव्यादिनिष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगिनिष्ठत्वरहितत्वादधिकरणत्वेन घटादौ साध्यलाभः। अनित्वत्वाऽत्यन्ताभाव एवैतत्पृथिव्यादिनिष्ठाऽभावप्रतियोगीत्युक्ते पृथिव्यादिनिष्ठाऽन्योन्याऽभावप्रतियोगी भवति इति सिद्धसाधनं स्यात्—अत उक्तम्—अनित्यत्वात्यन्ताऽभावस्य चाऽन्योन्याभावव्यतिरिक्तेति। अनित्यत्वाऽत्यात्यन्ताऽभावस्य चाऽन्योन्याऽभावव्यतिरिक्तो भावस्तत्प्रतियोगीत्युक्तेऽपि कथं साध्यसिद्धिः?—अत आह—अनित्यत्वात्यन्ताऽभावस्य चाऽत्यन्ताऽभावोऽनित्यत्वमेवेति। नित्यत्वाऽत्यन्ताऽभाववति नाशसिद्धावपि कथं जन्मसिद्धिः?—अत आह—जन्मादीति। एवं जगतो जन्माऽसिद्धौ तर्कप्रसरात्तदात्मकलक्षणसिद्धिरिति वेदान्तिनोक्ते मीमांसकः प्रत्याह—अत्रोच्यत इति।

ज्ञानवती

नहीं होता इस प्रकार अनित्य की एतत्पृथिव्यादिनिष्ठत्वसिद्धि होती है अनित्यत्व के अन्योऽन्याभाव को लेकर घट आदि में साध्य की प्रसिद्धि हो जाती है।

अब साध्याभाव को पक्ष करके कहते हैं—अनित्यत्वात्यन्ताभाव, अनित्यत्वान्योन्याभाव से अतिरिक्त एतत्पृथिव्यादिनिष्ठ अभाव का प्रतियोगी है, क्योंकि मेय है, घट के समान। अनित्यत्व के अत्यन्ताभाव का अन्योन्याभाव व्यतिरिक्त अभाव अत्यन्ताभाव ही है, क्योंकि वह प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव से रहित है। अनित्यत्व के अत्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव अनित्यत्व ही है। इस प्रकार एतत्पृथिव्यादि के अनित्यत्व की सिद्धि होती है। अतः पृथिवी आदि का जन्म आदि भी पृथिवी आदि के नित्यत्वाभाव के कारण होता है। इस प्रकार ब्रह्म का लक्षण असम्भव नहीं है।

इस विषय में कहा जाता है—यह कौन सा अनित्यत्व सिद्ध किया जा रहा है—प्रध्वंसात्मक या अव्यवस्थितस्वरूपत्व? पहला (पक्ष) नहीं हो सकता, क्योंकि प्रलयवादी

---

१ (क) पक्षीकारः अनित्यत्वाभावस्य, (ग) पक्षीकारः अनित्यत्वात्यन्ताभाव-......अनित्यत्वात्यन्ताभावस्य। २ (ग) जन्मापि।
३ (क) पृथिव्यादेनित्य। (ग) पृथिव्यादेरनित्य। ४ (ग) व्यवस्थितरूपत्वं।
५ (क) सर्वतः। (ग) सर्वथा।

थथा नियोगवादिनां तस्य सदा साध्यत्वाकारानुपरमेऽपि तद्विषय(यागादि[1]-)निष्पत्त्या प्रेरकत्वाकारोपरमः, अपरथा यागादि(निष्पादना[2]-)नुपरमप्रसङ्गात्; तथा पृथिव्यादेरपि कस्यचिदाकारस्यानित्यत्वमुपरम इति चरमः पक्षः? तर्हि परिणामिनित्यत्ववादिनां तस्य सिद्धत्वेन सिद्धसाधनत्वात्।

[नैयायिकप्रक्रियया सर्गध्वंसौ-]

अथ नैयायिकप्रक्रियया सर्गध्वंसौ साध्येते। विगीतम्, जन्मप्रध्वंसवत्; सावयवत्वात्, मध्यमपरिमाणत्वात्[3], विन्यासविशेषत्वात्, उपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्वात्, एकदेशेनोत्पादध्वंसवत्त्वात्, अरणिमथनादग्नेश्चन्द्रकान्ताज्जलस्य-चोत्पाददर्शनात्; (घटपटादिवत्[4]);

तदपेशलम्; अवयवसमवायस्य समवायानङ्गीकारवादिनं[5] प्रति (सावयवत्वस्या[6]-) सिद्धत्वात्; अवयवारभ्यत्वस्य च साध्याविशिष्टत्वात्; अवयवसहभावस्य

भावदीपिका

[नैयायिकप्रक्रियया सर्गध्वंसौ—]

द्वितीयं सोपस्कारमुत्थाप्य निराचष्टे—अथेत्यादिना। वियोगो हि साध्यैकस्वभावः [तद्वा]दिभिरिष्यते। प्रक्रियान्तराऽवलम्बनेन शङ्कमानं प्रत्याचष्टे—तदपेशलमिति। सावयवत्वमवयवसमवायवत्त्वं वा? अवयवाऽस्तित्वं वा? अवयवैः सह वर्तनं वा? यथा प्रसिद्धं वा?—इति विकल्प्य आद्यहेतुं हृदयति—अवयवसमवायस्येत्यादिना। अवयवतादात्म्यं च सावयवत्वम्; तस्य मीमांसकं प्रति सिद्धत्वेऽपि नैयायिकं प्रत्यसिद्धत्वेनाऽन्यन्तराऽसिद्धिः द्रष्टव्या। अवयवसहभावोऽपि अवयवैः सहैकत्र समवायः संयोगो वा? अन्त्ये एकत्वं (दुर्गतम्) दधिबदरयोरिवावयवावयविभावाऽनुपपत्तेः सावयवत्वाऽसिद्धिः स्यात्। नाद्यः—इत्याह—अवयवसहभावस्य चेति। अपसिद्धान्तश्चाऽस्मिन् पक्षे—इत्याह—अवयवेभ्य

ज्ञानवती

सर्वथा उच्छेदापरपर्यायवाले प्रध्वंस को नहीं मानते। (पू) जैसे नियोगवादियों के मत में उसके (नियोग के) सदा साध्यत्वाकार के अनुपरम होने पर भी तद्विषयक यागआदि की निष्पत्ति होने से प्रेरकत्व का आकार उपरत हो जाता है, अन्यथा याग आदि के निष्पादक का अनुपरम होने लगेगा; उसी प्रकार पृथिवी आदि के भी किसी आकार के अनित्यत्व का उपरम होता है ऐसा अन्तिम पक्ष मान लें? (उ) तब तो परिणामिनित्यत्ववादियों (के मत में) उसके सिद्ध होने से सिद्धसाधनता दोष हो जाता है।

[नैयायिकप्रक्रिया के अनुसार सर्ग एवं ध्वंस—]

(पू) अब नैयायिकप्रक्रिया के अनुसार सृष्ट और ध्वंस की सिद्ध की जाती हैं—विवादग्रस्त (जगत्) जन्म-प्रध्वंस वाला है, सावयवत्व, मध्यमपरिमाणत्व, विन्यासविशेषत्व,

[1] (क) रागादि। (ग) यागादि। [2] (क) निष्पादका। (ग) निष्पादना।
[3] (ग) मध्यपरि। [4] (क) घटादिवत्। (ग) घटपटादिवत्।
[5] (ग) कारात्वादिनं [6] (क) सावयवस्य। (ख-ग) सावयवत्वस्य।

च देशतो विवक्षायां द्व्यणुकावयवयोः परमाण्वोर्नित्यद्रव्यतया देशाभावेनासिद्धत्वाद-वयवेभ्योऽन्यत्रावयविनः[१] समवायानङ्गीकाराच्च यथाप्रसिद्धसावयवत्वस्य च पुञ्ज-वादिनामिवानारम्भेऽपि सम्भवात्; मध्यमपरिमाणस्य च सावयवत्वसिद्ध्यधीन-त्वेनासिद्धेः; विन्यासविशेषस्य च विजातीय-(परमाण्वो-)[२]रिवाधाराधेयभावस्य विनाऽप्यारम्भं सम्बन्धविशेषादुपपत्तेः; उपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्वस्य च द्व्यणु-केष्वभावादसिद्धेस्तज्जातीयत्वस्य च परमाणुष्वपि भावेनानैकान्तात्; पृथिव्यादेरेक-देशसर्गध्वंसाभ्यां (कार्त्स्न्येन[3] क्ष्मा-)परमाणुरूपपृथिव्यादौ प्रसङ्गादिष्टक्षतिकरम्। अतो नायं हेतुकलापः सर्गध्वंससाधनक्षमः क्ष्मादेः। एतेन क्षित्यादेः सकर्त्तृ-कत्वानुमानमपि पूतिकूश्माण्डीकृतम्। तथा हि प्रयुञ्जते—क्षित्यादिकं[४] सकर्त्तृकं कार्यत्वात्, कुम्भवत्।

भावदीपिका

इति। भूभूधरादीनां यथा प्रसिद्धं सावयवत्वं आरम्भं विनाऽप्यनादिनिधनत्वेऽपि सम्भवति बौद्धैरारम्भाऽनङ्गीकारात्। पुञ्जवादिनामिवेत्यनारम्भमात्रे दृष्टान्तः। मध्यमपरिमाणत्वं सावयवत्वव्याप्तम्। सावयवत्वस्योक्तप्रकारेणाऽनिरूपणात्तदपि दुर्निरूपम्—तदाह—मध्यमेति। अथ उपलभ्यमानस्याऽधिष्ठानजातीयत्वं विवक्षितं तच्च द्व्यणुकेष्वप्यस्ति; [तेन]नाऽसिद्धि ? तत्राऽऽह—तज्जातीयत्वस्य चेति। अरणिमथनादिदृष्टान्ताऽनुसारेणैव चेज्जन्मादिस्तदा पृथिव्यास्ते समवायिकारणत्वं स्वानभिमतं प्रसज्येत। (क्षित्यादे)र्जन्मानि (सकर्त्तृकाणि) जन्मत्वात् (इति) त्वत्कर्त्रनुमानं लक्षणं चाऽपास्तम्—इत्याह—एतेनेति।

ज्ञानवती

उपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानत्व, एकदेशेन उत्पादध्वंसत्व अरणिमथन से अग्नि की और चन्द्रकान्त से जल की उत्पत्ति का दर्शन आदि हेतुओं के कारण; घटपट आदि के समान।

(उ) यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि अवयवसमवाय का समवाय न मानने वाले के प्रति सावयवत्व असिद्ध है। और अवयवारभ्यत्व के साध्य से अविशिष्ट होने से अवयव-सहभाव की देशतः विवक्षा होने पर द्व्यणुक के अवयव=दो परमाणुओं के नित्यद्रव्य होने के कारण देशाभाव होने से (सावयवत्व) असिद्ध हो जाता है। अवयवों से अन्यत्र अवयवी के समवाय को न मानने से यथाप्रसिद्धसावयत्व पुञ्जवादियों के समान अनारम्भ में भी सम्भव होता है। और सावयव की सिद्धि के अधीन होने से मध्यमपरिमाण असिद्ध हो जायगा। विजातीय दो परमाणुओं के समान विन्यासविशेष का आधाराधेयभाव आरम्भक के बिना भी सम्बन्धविशेष से उपपन्न हो जायगा। द्व्यणुक में न रहने के कारण उपलभ्यमान स्पर्शा-धिष्ठानत्व के असिद्ध हो जाने से और तज्जातीयत्व के परमाणुओं में भी रहने से अनैकान्त हो जाता है, और पृथिवी आदि के एकदेश में सृष्टि एवं ध्वंस के द्वारा समूचे रूप में पृथिवी

---

१ (ग) भावेनसिद्ध। २ (क) परमाणोरिव, (ग) परमाण्वोरिव।
३ (क) ध्वंसाभ्यांपरमाणु, (ख) ध्वंसाभ्यां कार्त्स्न्येन तदनुमानं परमाणु, (ग) ध्वंसाभ्यां कार्त्स्न्येनक्ष्मा- परमाणु। ४ (ग) क्षित्यादि।

[क्षित्यादेः कर्त्ता एकः सर्वज्ञश्चास्ति—]

ननु कार्यमात्रस्य तद्विशेषस्य वा सर्वज्ञाशरीरिकर्त्रा न क्वापि व्याप्तिरुपलब्धा? अथ कर्तृमात्रेण व्याप्तिरस्तीत्यनुमानेन कर्तृमात्रसिद्धौ[1] सर्वज्ञत्वादिकं तस्यानुपपत्तिलभ्यम्? तदसुन्दरम्; कतिपयपरिचयमात्रेणापि कर्तृत्वोपलम्भात्। नहि कुम्भकारोऽदृष्टं निमित्तं ज्ञातुमीष्टे, नापि मधुधारणादिप्रयोजनविशेषम्, नापि कर्तृपुरुषविशेषम्? नैवम्;[2] विशेषोपपत्तेः। कुलालो हीश्वरपरतन्त्रो यथाकथञ्चित् करोतु नाम; ईश्वरः पुनरीश्वरानवस्थापरिहाराय स्वतन्त्रः सन्नादिसर्गे प्रवर्त्तमानः कथङ्कारं सेवाफलदानव्यापृतः सार्वभौम इवाविज्ञाय तत्तदुचितं प्रवर्त्तेत? न च

भावदीपिका

[क्षित्यादेः कर्त्ता एकः सर्वज्ञश्चास्ति—]

निरस्य (-व्याप्ति-)ज्ञापनाय आक्षेपसमाधाने करोति—नन्वित्यादिना। कर्तृविशेषव्याप्तिः कार्यस्य विवक्षिता कर्त्तृमात्रव्याप्तिर्वा? आद्ये साध्यवैकल्यम्—इत्याह—सर्वज्ञेति। द्वितीये न विवक्षितं कर्तृसिद्धिः। अथ परिशेषात् कार्यविशेषात् सर्वज्ञकर्त्तृसिद्धिः? नह्यचेतनस्याऽसर्वज्ञस्य चेतनस्य वा (निखिल-)शरीराद्यशेषकार्येषु (नैरन्तर्येण) कर्त्तृत्व घटते। ततो विवादाऽध्यासितं सर्वज्ञकर्त्तृकमस्मदा[-द्यनधीन-]जन्मकार्यत्वात् व्यतिरेकेण [घटादिवत्]; विवादाध्यासितं स्वोत्पादनप्रवीणज्ञानिकारणकम् विशिष्टकार्यत्वात् चित्राऽऽदिवत्। तदेतदाह—अथ कर्तृमात्रेणेति। सर्वज्ञत्वं निरन्तरं सान्तरं वा? द्वितीये नाऽभिमतेश्वरसिद्धिस्त्वदुक्त्यैव। प्रथमं प्रत्याह—कतिपयेति। अदृष्टमधुधारणकूप[पाता]दीनामपि कार्यत्वात्। सर्वसम्बन्धिकार्यकर्त्तृकर्त्तृत्वात् सर्वज्ञत्वं दुर्वारम्—इति समाधत्ते—नैवमिति। अथ कार्यं

ज्ञानवती

परमाणुरूप पृथिवी आदि में प्रसक्ति होने से इष्टनाशक है, इसलिये यह हेतुसमुदाय पृथिवी आदि के सृष्टि एवं ध्वंस की सिद्धि में सक्षम नहीं है। इससे पृथिवी आदि का सकर्त्तृकत्वानुमान भी तिरस्कृत हो जाता है। प्रयोग करते हैं—क्षित्यादि सकर्त्तृक है कार्य होने से, कुम्भ के समान।

[पृथिवी आदि का कर्त्ता एक और सर्वज्ञ है—]

(पू) कार्यमात्र की अथवा उसके विशेष की, सर्वज्ञ अशरीरी कर्त्ता के द्वारा कहीं भी व्याप्ति उपलब्ध नहीं है? (पू) कर्त्तृमात्र से व्याप्ति है इस अनुमान से कर्त्तामात्र सिद्ध हो जाने पर उसका सर्वज्ञत्व आदि अनुपपत्ति से प्राप्त हो जायगा? (उ) यह सुन्दर नहीं है। क्योंकि कुछ परिचय मात्र से भी कर्त्तृत्व की प्राप्ति हो जाती है। कुम्भकार अदृष्टरूप-निमित्त को नहीं जान सकता, और न मधुधारण आदि प्रयोजनविशेष को, न कर्त्तृपुरुषविशेष को ही जानता है। (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि उपपत्ति में वैशिष्ट्य है। कुम्हार ईश्वर के अधीन होने के कारण जिस किसी प्रकार कर भी ले; किन्तु ईश्वर तो ईश्वर की अनवस्था के परिहार के लिये स्वतन्त्र होता हुआ आदि सर्ग में प्रवृत्त होता हुआ सेवा-फलदान में लगा हुआ सार्व-

---

[1] (ख) ऋतुपुरुष। (ग) कर्त्तृमात्रासिद्धौ। [2] (ग) नैव।

महतः प्रासादादेः कार्यस्य बहुकर्तृकत्वोपलम्भादत्रापि[1] तदापत्तिः ; सार्वभौमन्याये-नैकस्यापि सम्भवात् । आदिसर्गे बहूनां शरीरादिरहितानां ज्ञानेच्छायत्नाः कल्पनीया नित्या एव । अतो वरमेकस्यैव तत्कल्पनम् ।

अतः कार्यमहत्त्वस्य बहुकर्तृकत्वेन व्याप्तत्वान्न कल्पनालाघवन्यायावतारः ; किन्तु गौरवमेव युक्तम् । तथा—एकस्य शरीरादिरहितस्य नित्यज्ञानेच्छाप्रयत्ना इति परस्यैव कल्पना गरीयसीति न दूषणावकाशः । न चैवमपि कल्पनालाघवादे-कानेककर्तृसन्देहे एकः कर्तेति सम्भावनेव[2], न निर्णय इति वाच्यम् ; उक्तन्यायेन बहुकर्तृकत्वानङ्गीकार्यत्वे (सति कार्यत्वेन[3]) तन्निर्णयात् ।

भावदीपिका

विशेषात् सर्वज्ञकर्तृसाधने कार्यविशेषाणां बहुकर्तृक[-त्व-]स्य दृष्टत्वात् पृथिव्यादेरनिष्ट-बहुकर्तृकत्वापत्तिः ? सा किं [दृष्टत्व-]मात्रेण युक्तत्वेन वा ? नाद्यः—इत्याह—सार्व-भौमन्यायेनेति । द्वितीयं प्रत्याह—आदिसर्गे इति । यतोऽन्यथादर्शनेन महत्कार्यस्य बहुकर्तृकत्वेन व्याप्तिः [न] निर्मला, यतश्च बहुसर्वज्ञकल्पने गौरवमुक्तम्, तत एतदनवकाशम् —इत्यत आह—अत इति ।

अनुग्राह्यप्रमाणाभावात् न तर्कमात्रेण निर्णयः ?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चैवमपीति । विमतमेककर्तृकमेव असम्भवद्बहुकर्तृकत्वे सति कार्यत्वात् सम्मतवत्—इत्यनुमानान्निर्णय इत्यर्थः ।

ज्ञानवती

भौम के समान तत्तदुचित को विना जाने किस प्रकार प्रवृत्त हो जायगा ? (पू) बहुत बड़े प्रासाद आदि कार्य के बहुकर्तृत्व की प्राप्ति होने से यहाँ पर भी उस (अर्थात् बहुकर्तृत्व) की आपत्ति हो जायगी ? (उ) सार्वभौमन्याय से एक की भी सम्भावना है । आदि सर्ग में शरीरादिरहित अनेकों के नित्य ज्ञान इच्छा और यत्न की कल्पना करनी पड़ेगी । इससे अच्छा है कि एक ही की वह (अर्थात् ज्ञान इच्छा और यत्न की) कल्पना की जाय ।

इसलिये कार्यमहत्त्व के अनेक कर्त्ता से व्याप्त होने के कारण कल्पनालाघव वाले न्याय का अवतार नहीं हो सकता, किन्तु गौरव ही ठीक है । इस प्रकार शरीरादिरहित एक के नित्यज्ञान इच्छा एवं प्रयत्न हैं ऐसी दूसरे की ही कल्पना अधिक अच्छी है; अतः दोष का अवकाश नहीं है । (पू) इस प्रकार भी कल्पनालाघव होने से एक अनेक कर्त्ता के सन्देह होने पर 'एक कर्त्ता है' यह सम्भावना ही है, निर्णय तो नहीं है ? (उ) उक्त न्याय से अनेक कर्तृकत्व के न स्वीकार करने पर कार्यत्व से उसका निर्णय हो जाता है ।

और जो—जैसे पचि के योग से पक्ता वैसे कृ धातु के योग से कर्त्ता (होता है) अतः पक्षधर्मता के वल से कृतिमत् से सम्बन्ध सिद्ध होने पर भी प्रमा के समान सम्बन्ध कैसे सिद्ध होगा क्योंकि भ्रान्ति एवं उत्प्रेक्षा आदि से युक्त कृतिमत्त्व कुलाल आदि में ही अधिक

[1] (ग) कार्यस्य बहुकत्वोपलंभात् प्रयत्नाः कल्प । [2] (ग) सम्भावनैव निर्णयः ।
[3] (क) कार्यत्वे तन्निर्णय । (ग) कार्यत्वे सति कार्यत्वेन तन्निर्णं ।

य[-द्[1]-]पि यथा पचियोगात् पक्ता तथा कृतियोगात् कर्त्ता, अतः पक्षधर्मता-बलात् (कृतिमत्[2]-)सम्बन्धे सिद्धेऽपि प्रमावत्सम्बन्धः कथं सिध्यति भ्रान्त्युत्प्रेक्षादि-पूर्वककृतिमत्त्वस्य[3] कुलालादावेव बहुलमुपलम्भादिति ? तदप्यसमीक्षिताभिधानम्; भ्रान्त्यादिकारणमधर्माज्ञानरागादिकं क्षित्यादिकर्त्तुरसंसारित्वेन न संगच्छते यतः। नियतयुगधर्मग्रहनक्षत्रसञ्चारादिलिङ्गैरनुमीयमानस्य कर्त्तुः ज्योतिश्शास्त्रादिप्रणेतुरिव प्रमावत्तयैव[4] गम्यमानत्वात् [अविगीत[5]-]प्रमातृभाववेदनिर्मातृत्वेनापि तस्यानु-मानादेव।

यच्च (यदुपादान[6]-)साक्षात्काराधीनं कृतिमत्त्वम्, तदनेकान्तम्[7], अस्मदादीनां शब्दकर्त्तृत्वेऽपि तदुपादानसाक्षात्कारानभ्युपगमात्; न[8] च तस्यापि पक्षता, अनादि-

भावदीपिका

कार्यस्योत्पादनाऽऽनुकूलप्रयत्नेऽपि प्रमावत्कर्त्तृत्वे अन्वयव्यतिरेकयोरभावान्न सर्वज्ञ-कर्त्तृलाभः ?—इति पुनराक्षिप्य समाधत्ते—यद्पीति। पूर्वत्र न सर्वविषयं ज्ञानमात्रमित्या-[ऽऽक्षेपः]। इदानीं न सर्वविषयं प्रमाणज्ञानमिति विभागः भ्रान्त्यादिकारणसद्भावाद्वा, प्रमात्मकाऽ-भावाद्वा ? नोभयम् इति क्रमेणाऽऽह—तदपीति। प्रयोजकान्तरमाह—अविगीतेति वेदान्तिनामपि "जन्माद्यस्य यतः" इति जगत्कर्त्तृत्वेन सर्वविषयज्ञानमात्रं सिद्धम्। "शास्त्र-योनित्वात्" इत्यत्र पाणिन्यादिदृष्टान्तेन वेदकर्त्तृत्वेन प्रमावत्त्वं साध्यते च। अत्र वेदस्य नित्यत्वेन समस्तजगत्कारणत्वलक्षणाऽसम्भवनिरास एव। आकाशा[-देरपि]सृष्टौ सम्भावितायां वेदादीनामपि सृष्टेरसम्भवाऽऽशङ्काऽनवतारादिति नैयायिकस्याऽभिमतम्। कुम्भविषयकृतिमत्त्व-वदिति नैयायिकानुमानं सर्वविषयसाक्षात्कारसाधकम्। शब्दविषयकृतिमत्त्वस्याऽपि पक्षत्वा-न्नानेकान्त इति चेत् ? तत्राऽऽह—न चेति। उदयनोद्गारस्याऽन्यविषयत्वान्नाऽयं दोषः - इति

ज्ञानवती

मिलता है—ऐसा (कहा); वह कथन भी असमीक्षित है। क्योंकि भ्रान्ति आदि के कारणभूत अधर्म, अज्ञान, राग आदि पृथिवी आदि के कर्त्ता के असंसारी होने से उससे संगत नहीं होते। निश्चित युगधर्म, ग्रहनक्षत्रसंचार आदि लिङ्गों से अनुमीयमान कर्त्ता, ज्योतिः-शास्त्र आदि के प्रणेता के समान, चूँकि प्रमा के ही द्वारा गम्यमान है इसलिये; तथा अविज्ञातप्रमातृभाव वाले के वेद निर्माता होने से भी; उसका अनुमान होता है। और जो कि जो, उपादान के साक्षात्कार के आधीन कृतिमत्त्व है वह अनेकान्त है, हम लोगों के शब्दकर्त्ता होने पर भी उसके उपादान का सांक्षात्कार ही प्राप्त न होने से उसकी पक्षता भी नहीं है। क्योंकि सकर्तृक अनादिप्रसिद्धकर्त्ता से अन्य है—ऐसा उदयन का उद्गार है—

---

[1] (क) यद्यपि [2] (क) कृतिसम्बन्धे, (ग) कृतिमतसम्बन्धे। [3] (ख) उत्प्रेक्षेति।
[4] (ग) प्रमावत्तैव। [5] (क) ज्ञा, (ग) अवगीतप्रमाणभाव।
[6] (क) तदुपादान, (ग) यदुपादान। [7] (ग) तदनैकान्तम्।
[8] (क) गमात्। न च तस्या (ग) गमात् न तस्याः।

प्रसिद्धकर्तृकादन्यत् सकर्तृकम् (इत्युदयनोद्गारात्[1]) इति; तदप्यलीकम्; विमतं सकर्तृकं, कार्यत्वादिति सामान्यतोदृष्टाभिप्रायेण उदयनेनोद्गारात्। विशेषविवक्षायां हि यथोक्तसाध्यवतो घटादेरेव दृष्टान्तत्वेन शब्दादेरपि पक्षनिक्षेपात्[2], व्यजनाभिघातात् द्व्यणुकादिप्रक्रमेण पवनस्य, आरणेयस्यारणिमथनात्, पाषाणोत्पाटनादिना शारीरजलस्य जन्मनः प्रसिद्धत्वात् यथैवास्मदादिकर्तृकमेतदनादि-(प्रसिद्धमपि[3]) पक्षनिक्षिप्तम्, तथा शब्दादिकमपीति सन्तोष्टव्यम्। न च वाच्यम् तादृशोऽनुपलभ्यमानोऽपि कर्त्ता[4] यदीष्यते, तदा नरशिरसि शृङ्गमप्ययोग्यत्वादनुपलभ्यमानमस्त्येव इति प्रसङ्गः स्यादिति; पिशाचादेरनुपलभ्यमानस्यापि भेदेन सङ्क्रान्तस्यैव कर्त्रन्तरस्य कार्यविशेषेण सत्त्वसम्भवेनाप्रसङ्गात्। अपरथाऽनीश्वर[5]-वादिनामपि पिशाचादेरनुपलभ्यमानस्य सत्त्वे नृशृङ्गादेरपि सत्त्वं केन वार्येत?

भावदीपिका

परिहरति—तदपीति। सामान्यतोदृष्टम्=साक्षात्काराऽसाक्षात्कारसाधारणतया दृष्टं कृतिमत्त्वमात्रम्। तत्साधनाऽभिप्रायेण भागे सिद्धसाधनता तया सार्द्धम्। दृष्टान्तलाभार्थं चोदयनस्योद्गार इत्यर्थः। विशेषणांशेन पक्षप्रवेशं दृष्टान्तेनाऽऽह—व्यजनेति। द्व्यणुकाऽऽदिरूपेण व्यजनपवनादेरपि पक्षत्वात्तदुपादानसाक्षात्कारवत् कर्त्तृसाधने यद्यप्यनादिशब्देन आकाशादयः प्रसिद्धकर्त्तृकशब्देन च घटादयो गृह्यन्ते तेभ्योऽन्यच्च पक्षः, तथाऽऽप्यस्मदादिकर्त्तृकमेतदनादौ व्यवहारे प्रसिद्धमित्यभिप्रेत्य अनादिप्रसिद्धमपीत्युक्तम्। यदि कुलालादेरन्य उपादानसाक्षात्कारवान् कर्त्ताऽस्ति, र्तांह तद्वदुपलभ्येत, न चोपलभ्यत इति अनुपलब्धिबाधमाशङ्क्याऽऽह—न च वाच्यमिति। अयोग्यत्वान्नोपलभ्यते चेत् तर्ह्यतिप्रसङ्ग इत्यर्थः। देहान्तरं संक्रान्तस्य

ज्ञानवती

वह भी झूठा है। क्योंकि उदयन ने विमत, (पदार्थ) सकर्तृक है, कार्य होने से, इस सामान्यतोदृष्ट के अभिप्राय से कहा है। विशेषविवक्षा होने पर यथोक्तसाध्यवान् का घट आदि के ही दृष्टान्त होने से शब्द आदि के भी पक्ष में पड़ जाने से; पंखे के अभिघात से द्व्यणुक आदि क्रम से पवन का, अरणिमथन से अग्नि का, पत्थर आदि के उखाड़ने आदि से पसीने का जन्म प्रसिद्ध होने से जैसे हम लोग जिसके कर्त्ता हैं वह यह (पदार्थ) अनादि पक्ष में निक्षिप्त हो गया वैसे ही शब्द आदि भी हैं ऐसा सन्तोष करना चाहिये।

(पू) वैसा अनुपलभ्यमान भी कर्त्ता यदि माना जाता है तो पुरुष के शिर में अयोग्य होने से अनुपलभ्यमान भी सींग है ही ऐसा प्रसङ्ग हो जायगा? (उ) पिशाच आदि के अनुपलभ्यमान होने पर भी भेद पूर्वक संक्रान्त दूसरे कर्त्ता के कार्यविशेष के द्वारा भी सत्त्वप्रसङ्ग से प्रसङ्ग नहीं है। अन्यथा अनिश्वरवादियों के (मत में) भी अनुपलभ्यमान पिशाच आदि की सत्ता होने पर पुरुषसींग की भी सत्ता का वारण कौन कर सकेगा? इसलिये ये सब

[1] (क) इत्युदयनेनोद्गा, (ग) इत्युदयनोद्गा।
[2] (ग) विक्षेपात्।
[3] (ग) अनादिप्रसिद्धमपेिक्षनिक्षिप्तम्।
[4] (ग) कर्त्रा।
[5] (ख) नीश्वरवादिनापि।

तस्मात् चोद्याभासा अमी। तदेतत् सकर्तृकत्वानुमानं कार्यत्वस्य सावयवत्वसम्पाद्यत्वेन तदपाकरणादपाकृतम्।

[धर्मादिनैव सृष्टेरुपपत्तावीश्वरकल्पना व्यर्था–]

अथापि अङ्कुरादिकार्यं उपादानगोचरापरोक्षविज्ञप्तिचिकीर्षाकृतिमज्जन्यं, कार्यत्वादेव, कुम्भवत्, ततोऽस्मदादिविलक्षणकर्तृसिद्धिः? एवमप्यसाधु; अस्ति तावत् कर्मणः फलहेतुत्वं प्रसिद्धम्, तन्नाङ्कुराद्युत्पादमन्तरेण सम्भवति। ततः कर्त्तार एव कर्मद्वारेणाङ्कुरादीनुत्पाद्य तत्फलं सम्पादयन्ति। तेन कार्यत्वमन्यथाऽपि सेत्स्यतीति न विलक्षणकर्त्तरीदम् प्रमाणम्।

ननु न[1] तावत् धर्माधर्मावङ्कुरोत्पत्तौ व्यापारमर्हतः[2] सुखाद्युत्पत्तौ एव

भावदीपिका

पिशाचादेर्भेदेनाऽनुपलभ्यमानस्याऽपि यथा कार्यविशेषेण सत्त्वं तथा विवक्षितकर्त्तुरपि—इत्यर्थं प्रतिबन्द्योपपादयति—अपरथेति। एतेनेत्युक्तं दूषणप्रकारं स्फुटयति—तदेतदिति।

[धर्मादिनैव सृष्टेरुपपत्तावीश्वरकल्पना व्यर्था—]

उदयनप्रयोगं निरस्य लीलावतीप्रयोगमुत्थापयति निराकर्त्तुम्—अथाऽपीति। यद्यपि पृथिव्यादेरभूत्वाभावित्वलक्षणं कार्यत्वं मीमांसकं प्रत्यसिद्धं, तथाऽप्यङ्कुरादेस्तत् सिद्धमिति अपिशब्दस्यार्थः; कार्यत्वादेवेत्ययोगव्यावृत्त्यर्थं एवकारः। दूषयति—एवमपीति। कर्मणां फलपर्यवसानाऽन्यथाऽनुपपत्त्याऽङ्कुरादिसृष्ट्याक्षेपकत्वात्। चेतनाऽऽग्रहश्चेत्? अस्ति जीवश्चेतनो निर्मातेत्यर्थः।

तदेतत् परिशोधयितुमाक्षिपति—ननु न तावदिति। धर्माऽधर्मयोरङ्कुराद्युत्पत्तौ असाधारणकारणत्वं वा साधारणकारणत्वं वा? द्वितीये प्रत्यक्षं वा शास्त्रं वा तत्र मानम्? न सर्वथाऽपीति क्रमेणाऽऽह—सुखादीति। अर्थादीति=अर्थानर्थौ=सुखदुःखे इति यावत्।

ज्ञानवती

प्रश्नाभास हैं। तो यह सकर्तृकअनुमान कार्यत्व के सावयवत्वसम्पादन के द्वारा उसका अपाकरण करने से अपाकृत हो गया।

[धर्म आदि के द्वारा सृष्टि की उपपत्ति होने से ईश्वर की कल्पना व्यर्थ है—]

(पू) फिर भी अङ्कुर आदि कार्य उपादानगोचरअपरोक्षविज्ञप्तिचिकीर्षाकृतिमत् से उत्पन्न होने वाला है, कार्य होने से, कुम्भ के समान; इस (अनुमान) से हमलोगों से विलक्षण कर्त्ता की सिद्धि हो जाती है? (उ) इस प्रकार भी ठीक नहीं है। कर्म का फलहेतुत्व प्रसिद्ध है और वह अङ्कुर आदि की उपपत्ति के विना सम्भव नहीं है। इससे कर्त्ता ही कर्म के द्वारा अंकुर आदि का उत्पादन करके उसके फल का सम्पादन करते हैं। इससे कार्यत्व अन्यथा भी सिद्ध हो जायगा, इसलिये विलक्षणकर्त्ता में यह प्रमाण नहीं है।

(पू) धर्माधर्म अंकुर की उत्पत्ति में व्यापार के योग्य नहीं है, वे सुख आदि की उत्पत्ति में ही कारण होते हैं, धर्म आदि दृष्टकारण नहीं है और शास्त्र धर्म आदि को अर्थ आदि का

[1] (ख) ननु धर्मा, (ग) ननु तावत्धर्मा। [2] (ख) व्यापारमहतः।

तयोर्हेतुभावात्[१]; नहि धर्मादि दृष्टं कारणम्, शास्त्रं तु धर्मादेरर्थादिहेतुतामाचष्टे नाङ्कुरादेर्हेतुताम्[२]; न चाङ्कुराद्युत्पादमन्तरेण सुखादेरपर्यवसानात् तत्रापि धर्मादेर्हेतुत्वकल्पनेति वाच्यम्; कुम्भाद्युत्पत्तावपि तत्प्रसङ्गात्; तथा च कर्त्तृनियमासिद्धिः; तत्र चातिरिक्तव्यापारकल्पनेऽत्रापि तत्कल्पनं न्याय्यम्, दृष्टानुसारात्? तन्न चोपपन्नम्; प्रमाणाभावात्। न ह्यङ्कुरादयोऽस्मदादिव्यापारेणान्वयव्यतिरेकावनुभवन्तोऽनुभूयन्ते। ([३]शास्त्रञ्च) न धर्माधर्माभ्यामृतेऽन्यं कर्तृगं व्यापारं प्रतिपादयितुमीष्टे। न चाङ्कुरादीनामकर्त्तृकत्वं[४] न्याय्यम्; कार्यत्वव्याघातात्। न चान्यो व्यापारः कर्त्तृत्वोपयोगी; कृतेरेव तदुपयोगात्। कल्प्यमानाऽपि कर्त्तृगामिनी-कृतिर्न सर्वकर्तृगा कल्प्या; कल्पनागौरवात्; अनुपयोगाच्च। कृतेर्नित्यत्वे जीव-

भावदीपिका

श्रुतार्थापत्तिमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। इष्टप्रसङ्गं परिहरति—तथा चेति। यावतां सुखादिपर्यवसायी कुम्भादिः, तावतां धर्मादिना प्रारब्ध इति तावन्तः कर्त्ता-[रः][५] इति कुलाल एव घटशरावादिकर्त्तेति कर्त्तृनियमो न स्यादित्यर्थः। अथ व्यापारविशेषः कुम्भाद्युत्पत्तौ कुलालादेः कर्त्तृनियमहेतुः? तत्राऽऽह—तत्र चेति। कथं प्रमाणाभावः—इत्याशङ्क्य प्रत्यक्षं वा शास्त्रं वाऽत्र प्रमाणम्? नाद्यः—इत्याह—नहीति। शास्त्रमपि साधारणव्यापारपर्यवसितं विशेषाऽभिधाने प्रत्यक्षविरोधादसमर्थम्; ततो नान्त्योऽपि—इत्याह—शास्त्रं चेति। तर्हि कर्त्रनिरूपणादकर्त्तृकमेवाऽस्त्वङ्कुरादि?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चाङ्कुरादीनामिति। अस्तु तर्हि इच्छालक्षणव्यापारविशेषात् जीवानामङ्कुरादिकर्त्तृत्वम्? तत्राऽऽह—न चान्य इति। कृतिहानेच्छामात्रेणाङ्कुरादिकर्त्तृत्वं घटादिकर्त्तृत्ववन्न लभ्यत इत्यर्थः। तर्हि प्रयत्नः कल्पनीयः—इत्याह—कल्प्यमानाऽपीति। अङ्कुराद्युत्पत्त्यनुकूलप्रयत्नस्य शरीराऽनपेक्षणात्; अपेक्षणे वा बीजाद्यन्तःप्रवेशात्—इति अङ्कुरादिघटनार्थं प्रत्यक्षविरुद्धं प्रसज्येत। शरीराऽनपेक्षस्य तस्य सर्वकार्यसमर्थस्याऽनेकस्य कल्पने गौरवं स्यादित्यर्थः। अधिकोपयोगाऽनिरूपणाच्च—इत्याह—अनुपयोगाऽच्चेति। तथाऽपि कथमीश्वरसिद्धिः?—इत्यत आह—कृतेरिति। कृतिर्नित्या वाऽनित्या वेति विकल्पः।

ज्ञानवती

हेतु कहता है न कि उसे अंकुर आदि का हेतु बतलाता है। (पू) अंकुर आदि की उत्पत्ति के विना सुख आदि का पर्यवसान न होने से वहाँ पर भी धर्म आदि के हेतुत्व की कल्पना होनी चाहिये? (उ) ऐसा मत कहिये। क्योंकि कुम्भ आदि की उत्पत्ति में भी उसकी प्राप्ति होने लगेगी। और इस प्रकार कर्त्ता के नियम की असिद्धि हो जायगी। और वहाँ अतिरिक्त व्यापार की कल्पना करने पर देखे गये के अनुसार यहाँ भी उसकी कल्पना उचित है। (उ) यह ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ऐसा अनुभव नहीं होता कि अंकुर आदि हमलोगों के व्यापार के साथ अन्वयव्यतिरेक का अनुभव करते हों। शास्त्र धर्माधर्म के विना अन्यकर्त्ता में वर्त्तमान व्यापार को प्रतिपादित करने में समर्थ नहीं है।

[१] (ग) तथा हेतु। [२] (ग) नाङ्कुरादिहेतुतां। [३] (क) शास्त्राच्च, (ख) शास्यं च, (ग) शास्त्रं। [४] (ग) कर्त्तृत्वं। [५] कर्त्ता।

व्यतिरिक्तकर्तृ[१]सिद्धिः, अनित्यत्वेऽपि तथैव; तस्या इच्छापूर्वकत्वात्; इच्छायाश्च ज्ञानपूर्वकत्वात्। न चास्मदादीनामङ्कुराद्युपादानगोचरसाक्षाद्विज्ञानादिकं[१] सम्भवतीति सर्वज्ञकर्तृसिद्धिरिति केचित् प्रगल्भन्ते।

तेऽपि प्रतियन्त्रणीयाः। "जात्यायुर्भोगाः कर्म-(विपाकाः[२])" इति शास्त्रादङ्कुरादीनाञ्च जीवविशेषाणां स्थावरजातिः[३] कर्महेतुरिति (शास्त्रसिद्ध[४]-) मेवेति शास्त्रं धर्मादीनामङ्कुरादिहेतुत्वं (नाचष्टे[५]) इति विस्पष्टं वचो वैयात्यमूलमेव। "फलिन्यो न ओषधयः पच्यन्ताम्" "फलिन्योः ह वै तत्रौषधयः पच्यन्ते। यत्रैतेन यज्ञेन यजन्ते" [६]इति यजुर्मन्त्रब्राह्मणाभ्यामङ्कुरादेः कर्मकार्यत्वावगमाच्च। [७]धर्मत्वं च

भावदीपिका

सुखाद्युत्पत्तावेव धर्माधर्मयोर्हेतुभावः इति तावदनुपपन्नम्– इत्याह—जात्यायुर्भोगा इति। जातिः=जन्म; आयुः=जीवनम्; भोगः=सुखादिः। एते त्रयोऽपि धर्माऽधर्माऽऽत्मककर्मणो विपाकाः=कार्यम् स्मृत्यादिप्रसिद्धम्। तेन सुखदुःखे एव धर्माधर्मकार्यमित्यनुपपन्नम् "शरीरजैः कर्मदोषैः याति स्थावरतां नरः। वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्त्यजातिताम्॥"—इति स्मरणात्, वेदाच्च। धर्मादिरङ्कुरादिकारणत्वं न शास्त्रप्रमाणकमित्येतद्धाष्टर्यमेव—इत्याह– अङ्कुरादीनां चेति। कर्म हेतुर्यस्याः सा=कर्महेतुः। धर्मतत्फलयोर्वेदैकवेद्यत्वात्; वेदेन चाऽङ्कुराऽदेर्धर्माऽदिकार्यत्वाऽवगमान्न तदनुकूलप्रयत्नाऽऽधारेश्वरसिद्धिः— इत्याह—धर्मत्वं चेति। न च बुद्धस्य धर्मज्ञानाऽसम्भवोऽपि नैयायिकेन वक्तुं शक्यः येन

ज्ञानवती

अंकुर आदि का अकर्तृकत्व न्याय्य नहीं है, क्योंकि कार्यत्व का व्याघात है। और अन्य-व्यापार कर्तृत्व का उपयोगी नहीं है क्योंकि वहाँ कृति का ही उपयोग है। और कल्प्यमान भीं कर्तृगामिनी कृति सभी कर्त्ता में वर्त्तमान के रूप में कल्पित नहीं हो सकती, क्योंकि कल्पना का गौरव है और उसका कोई उपयोग नहीं है कृति के नित्य मानने पर जीव से अतिरिक्त कर्त्ता की सिद्धि होती है और अनित्य मानने पर भी वही है, क्योंकि वह (=कृति) इच्छापूर्वक होती है, और इच्छा ज्ञानपूर्वक होती है।

(पू) हमलोगों के मत में अंकुर आदि उपादान का विषय साक्षात् विज्ञान आदि सम्भव नहीं है, इसलिये सर्वज्ञ कर्त्ता की सिद्धि होती है, ऐसी कुछ लोग (कहने की) धृष्टता करते हैं।

(उ) उनका भी नियम होना चाहिए। "जाति आयु एवं भोग, कर्म के फल हैं" इस शास्त्र से अंकुर आदि जीवविशेषों की स्थावर के रूप में उत्पत्ति कर्म-हेतु वाली है यह शास्त्र से सिद्ध है। यह शास्त्र शास्त्रविद् को धर्म आदि को अंकुर आदि का हेतु नहीं बताता यह स्पष्टवचन वैयात्यमूलक ही है। "हम लोगों की औषधियाँ फलवती होकर पकें", "जहाँ (लोग) इस यज्ञ से अनुष्ठान करते है वहाँ औषधियाँ फलवती होकर पकती

---

[१] (ख) प्युत्पादन। [२] (क) विपाकः, (ग) विपाकाः। [३] (ग) जातिकर्म।
[४] (क) शास्त्रं सिद्धम्, (ग) शास्त्रसिद्धमेव। [५] (क) हेतुत्वं नाचष्टे,
(ख) हेतुतां शास्त्रविदमाचष्टे। [६] (ग, घ) धर्मतत्त्वं। [७] तै० ब्रा० ३।८।१३।

चोदनैकप्रमाणकम्, अपरथा सर्वज्ञाभिमतबुद्धाद्युपदिष्टचैत्यवन्दनादेरपि धर्मकोटित्वमग्निहोत्रादिवत् केन वार्येत? यदीश्वरस्य योगिनां वा धर्मः प्रत्यक्षः कुतस्तदा बुद्धस्य न स्यात्? विप्रलम्भार्थमन्यथोपदेशश्चेत्? तर्हि वेदविरुद्धसिद्धान्ताविशेषान्नैयायिकाभिमतेश्वरकल्पनायां[1] न विश्वासलेशः स्यात्; निराकरिष्यते च प्रत्यक्षत्वं धर्मस्य। अतो वेदैकवेद्यस्य धर्मस्य वेदोदितं तत्तदुचितफलजनकत्वं विनाऽपि प्रयत्नान्तरं न विरुध्यते। दृश्यते च विनाऽपि [धना-][3]दिप्राप्तिः। प्रयत्नं कुर्वन्तोऽपि महान्तमुद्योगं दुर्गता एवं[4] केचित्। ततो विज्ञायते धर्माधर्मार्थप्रयत्न एव प्रयत्नान्तरनिरपेक्षः शुभाशुभफलहेतुः[5]। एतेन--

भावदीपिका

चैत्यवन्दनादेर्धर्मत्वमपक्रियेत—इत्याह—यदीति। अथ सम्यक् धर्मं प्रत्यक्षयन्नपि बुद्धाचार्यो दैत्यमोहनार्थं धर्माभासमुपदिष्टवान् ततो न तस्याऽग्निहोत्रतुल्यता शङ्कनीया? तत्राऽऽह—विप्रलम्भार्थमिति। अत्र वेदान्तीभूत्वा मीमांसकः परिहरति—तर्हीति। वेदो जीवस्य निजरूपतया ब्रह्मप्रतिपादकः। अधुना स्वमतेनाऽऽह—निराकरिष्यत इति। प्रत्यक्षलक्षणनिरूपण इत्यर्थः। अस्तु वेदैकवेद्यो धर्मः; ततः किम्? तत्राऽऽह—अत्र इति। किञ्च दृष्टाऽनुसारेण प्रयत्नाऽन्तरं कल्पनीयम्; दृष्टश्चाऽधुनिकवाणिज्याऽऽदिप्रयत्नेन रत्नाऽऽविलाभः केषाञ्चित्; तमन्तरेणाऽपि केषाञ्चित्; अतस्तेषां कालान्तरीयधर्मार्थप्रयत्न एव रत्नाऽऽदिलाभहेतुरिति वक्तव्यम्; आधुनिकप्रयत्नस्य फलाऽविनाभावाऽभावाच्च। तेन नियतो धर्माद्यर्थ एव प्रयत्नो तत्फले व्याप्रियते—इत्याह—दृश्यते चेति। दुर्गताः=दरिद्राः। एतेनेत्युक्तवक्ष्यमाणयोः परामर्शः।

ज्ञानवती

है" इस यजुर्मन्त्र एवं ब्राह्मण से अंकुर आदि का कर्मकार्यत्व मालूम होता है। धर्म का तत्त्व तो चोदनामात्रप्रमाण वाला है। अन्यथा सर्वज्ञ के रूप में अभिमत बुद्ध आदि से उपदिष्ट चैत्यवन्दन आदि की धर्मकोटिता का अग्निहोत्र आदि के समान कौन वारण कर सकता था? यदि ईश्वर अथवा योगियों को धर्म का प्रत्यक्ष होता है तो फिर बुद्ध को क्यों नहीं हो पाता। यदि यह कहिये कि प्रवञ्चना के लिये अन्यथा उपदेश किया गया, तो वेदविरुद्ध सिद्धान्त के समान होने से नैयायिकाभिमत ईश्वर की कल्पना में जरा सा भी विश्वास नहीं होगा और धर्म का प्रत्यक्षत्व निराकृत हो जायगा। इसलिये वेदैकवेद्य धर्म वेद में कहे गये तत्तद् उचित फल का जनक है (यह कथन) विना प्रयत्नान्तर के भी विरुद्ध नहीं है। देखा भी जाता है कि प्रयत्न के विना धन आदि की प्राप्ति होती है महान् उद्योग करने वाले भी कुछ लोग दुर्गति को प्राप्त हो गये। इससे ज्ञात होता है कि धर्माधर्म के लिये प्रयत्न ही प्रयत्नान्तरनिरपेक्ष एवं शुभाशुभफल का हेतु है। इससे—

"इस कारण प्रत्यक्ष से अविरुद्ध देवता की आराधना से फल होता है न कि केवल अपूर्व

---

[1] (ग) काभिमतेश्वरेश्वरत्व। [2] (घ) अत्र। [3] (क) निधना
[4] (ग) एतावत। [5] (ग) शुभाशुभहेतु।

"तस्माद् दृष्टाविरोधेन देवताराधनात् फलम् ।
न त्वपूर्वात्कर्मणो वा केवलात्तद्विरोधतः[2] ॥"

इत्याचार्यवाचस्पत्युक्ताभि-(प्रायम्[3]) "फलमत उपपत्तेः" इति व्याससूत्रमपि शिथिलीकृतम् । भूपालस्य सेवादिकर्मणा प्रसादनवदग्निहोत्रादिना महेशप्रसादनानुमानस्य वैदिककर्मणाऽपि प्रसादने[4] दृष्टान्तलाभादग्निहोत्रादिना प्रसादननियमासिद्धिप्रसङ्गेन पराहतत्वात् । 'वसुदानः' इत्याद्यागमस्य चोपासनार्थगुणारोपपरत्वादग्निहोत्रादिफलदातरि न मानत्वम्, येनैतदनुमानं तदर्थसम्भावकं स्यात् । (यथा च[5]) सौषुप्तप्राणप्रेरणोपयुक्तः प्रयत्नो जीवस्य ज्ञानेच्छाभ्यामनुत्थापितोऽपि नैयायिकैरङ्गीकृतः सुकृतादिवास [-नयैव][6], तथा व्यापकस्य तस्य तत्तदङ्कुराद्यनुकूलः प्रयत्नः (किमिति[7]) नाङ्गीक्रियते ?

भावदीपिका

अथाऽऽगमेन प्रयत्नवानीश्वरः फलदाताऽवगम्यते "स एव एष महानज आत्माऽन्नाऽऽदो वसुदानः", "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म, रातेर्दातुः परायणं, तिष्ठमानस्य तद्विदः", "कर्माऽध्यक्षः सर्वभूताऽधिवासः"—इत्याद्यागमदर्शनात् । युक्तिश्च तत्र संभावनाऽर्थोपपत्तिशब्देनोच्यते । नाऽनुमानं स्वतन्त्रं प्रमाणं येनोभयथा दर्शनादनिर्णयः स्यात्—इत्याशङ्क्याऽऽह—वसुदानेत्यादिना । "विन्दते वसु य एवं वेद"—इति ध्यानक्रियाया एवाऽऽर्थिकमपि फलहेतुत्वं प्रतीयते नेश्वरस्य; तेन युक्तिरपि क्रियापक्षस्यैव लघीयसी । "एष एव साधु कर्म कारयति यमेभ्य उन्निनीषति"—इत्यादेश्च वैषम्याऽऽदिपरिहाराय "यथाकारी" इत्यादिश्रुतेश्च प्रामाण्याय कर्मण एव भगवत्प्रेरकत्वस्याऽवश्यकत्वात्, अङ्कुराद्युपादानप्रेरकत्वस्य असम्भवाच्च नेश्वरपक्षस्येति भावः । यदुक्तं जीवानामङ्कुराद्यनुकूलं प्रयत्नान्तरं न सम्भवति इति । तत्राऽऽह—यथा चेति ।

ज्ञानवती

से अथवा केवल कर्म से । क्योंकि उससे (=दृष्ट से) विरोध है" इससे आचार्य वाचस्पति के द्वारा कहे गये अभिप्राय वाला "(ईश्वर कर्मफलों का सम्पादन करता है इस सिद्धान्त की) उपपत्ति होने से (संसार कर्म) का फल है" यह व्याससूत्र भी शिथिल कर दिया गया । सेवा आदि कर्म के द्वारा भूपाल को प्रसन्न करने के समान अग्निहोत्र आदि के द्वारा महेशप्रसादन का अनुमान, अवैदिक कर्म के द्वारा प्रसादन होने में दृष्टान्त मिलने के कारण अग्निहोत्र आदि के द्वारा प्रसादन के नियम की असिद्धि का प्रसङ्ग होने से, पराहत हो जाता है । "वसुदान" इत्यादि आगम उपासनार्थ गुणारोपपरक होने से अग्निहोत्र आदि फल के विषय में प्रमाण नहीं है जिससे यह अनुमान उस अर्थ का सम्भावक होता । जिस प्रकार ज्ञान और इच्छा से अनुत्थापित भी जीव का सुषुप्तावस्थप्राणप्रेरणोपयुक्त प्रयत्न नैयायिकों ने मान लिया है उसी प्रकार सुकृत आदि वासना से ही व्यापक उसका तत्तदङ्कुरादि का जनक प्रयत्न क्यों नहीं मान लिया जाता ?

---

[1] (ग) केवलादत । [2] (ख) विरुध्यते । [3] (क) प्रायः, (ग) प्रायम् ।
[4] (ग) प्रसादनेऽपि ह । [5] (क) तथा च, (ग घ) यथा च ।
[6] (क) नैव [7] (क) किमपि, (ग) किमिति ।

[आत्यन्तिकी सृष्टिः प्रलयश्च न स्तः–]

किञ्च ईश्वरप्रयत्नोऽपि न कुलालादिप्रयत्नतुल्यः; युतायुतकरणशून्यत्वात्तस्य। न चैवं बहुकर्तृगामिनी कृतिरिति कल्पनागौरवम्; साधारणकार्यस्य जीवानां प्रत्येकमदृष्टकल्पनायामिवागौरवात्। अतएव नानुपयोगः। (नित्यायां[१]) च कृतौ नादृष्टापेक्षाऽपि युक्तिमती; ईशस्य (सदायुक्तस्य[२]) निर्विषयप्रयत्नासम्भवेन स्वयमेव सर्गादिसम्भवात्। एवं चानवच्छिन्नतया इदानीमिव सर्गप्रलयौ स्याताम्, नात्यन्तिकौ; ज्ञानेच्छयोरपि प्रयत्नप्रवर्तकयोरीशस्यैकरूपत्वात्[३]।

भावदीपिका

[आत्यन्तिकी सृष्टिः प्रलयश्च न स्तः—]

शरीरापेक्षस्यैव प्रयत्नस्य कार्यकरत्वं नः सम्प्रतिपन्नम्—इत्याह—किञ्चेति। नित्यः प्रयत्नश्चाऽऽद्याप्यसिद्धः इति न वैषम्याऽऽशङ्काऽपि इति किञ्चेत्यस्याऽर्थः। तर्हि सौषुप्तप्रयत्नवदनेकत्वाद् गौरवं स्यात्?—अत आह—न चैवमिति। अदृष्टार्थं प्रयत्नाऽनेकत्ववदनुपयोगोऽपि न वक्तव्यः—इत्याह—अत एवेति। एवं स्वपक्षमुपपाद्य परपक्षं प्रतिक्षिपति—नित्यायां चेति। दूषणान्तरमाह—एवं चेति। न च दहनशक्तेरिव प्रतिबन्धेन प्रयत्नाऽ[-न-][४]वकाश; सर्वप्राणिनां नियतकालविशेषे शरीराद्यभावार्थकर्मविध्यदर्शनात् इति भावः। न च नित्यप्रयत्नपक्षे ज्ञानेच्छयोरुप[-यो-]गो[५]दृश्यते। अनित्यत्वे हि सजातीयमर्थं चेदिच्छति ततस्तद्विषयं प्रयत्नं करोति—इति युक्त उपयोगः। अथ विषयविशेषे प्रवर्तकत्वेनाऽङ्गुलीसंयोगादेरिव दहनशक्तेः स्फोटाऽऽदिजनने उपयोगः? तत्राऽऽह—ज्ञानेच्छयोरपि इति। ज्ञानस्य च वह्निप्रकाशवत् प्रतिबन्धोऽपि न संभाव्यते। कथमपरथा सर्वदा सर्वज्ञत्वं भगवतः?

ज्ञानवती

[आत्यन्तिक सृष्टि और प्रलय नहीं होते—]

और भी ईश्वर-प्रयत्न भी कुलाल आदि के प्रयत्न के समान नहीं है, क्योंकि वह युतायुतकरणशून्य है। (पू) इस प्रकार कृति अनेक कर्तृगामिनी हो जायगी यह कल्पनागौरव हो जायगा? (उ) किसी साधारण कार्य के लिये जीवों में प्रत्येक की अदृष्टकल्पना के समान गौरव नहीं है। इसीलिये उपयोग नहीं है। और कृति के नित्य होने पर अदृष्ट की अपेक्षा भी ठीक नहीं है। सदायुक्त ईश्वर के निर्विषयक प्रयत्न के असम्भव होने से स्वतः सृष्टि आदि सम्भव है। और इस प्रकार इस समय के समान सृष्टि और प्रलय अनवच्छिन्न रूप से होने लगेंगे न कि आत्यन्तिक, क्योंकि ईश्वर के ज्ञान एवं इच्छा भी, जो कि प्रयत्न के प्रवर्तक हैं, एकरूप हैं।

और जो किरणावलीकार ने—यद्यपि भगवान् की 'इत्येवम्' आकारवाली इच्छा एक ही है तथापि उपाधिभेद से संजिहीर्षा, चिकीर्षा इत्यादि कही जाती है। उपाधि भी काल

---

१ (क) नित्यानां, (ख ग, घ) नित्यायां। २ (क) परोद्युक्तस्य, (ग) सदायुक्तस्य। ३ (ग) वर्त्तकयोः। ४ (क) लाव। ५ (क) भो।

यदप्याह किरणावलीकारः—"यद्यपि भगवत इच्छा अस्तीत्येवमाकारैकैव, तथाऽप्युपाधिभेदात् सञ्जिहीर्षा चिकीर्षेत्यादिरुच्यते; उपाधिरपि कालविशेषो वर्षशतान्तादिशब्दवाच्यः, तदुत्पतिरेवेच्छाया[1] उत्पत्तिः" इति; तदप्यचारु; उपाध्यनेकाकारत्वमन्तरेणासम्भवेन [2]परस्परव्यपेक्षत्वात्। तथा हि—सर्गानुकूलः सर्गेच्छामन्तरेण, संहारानुकूलश्च सञ्जिहीर्षामन्तरेण कथमुत्पद्येत[3]? उद्वाहादिवाञ्छयैव तदनुकूलकालसाधनदर्शनात्।

यदि लब्धवृत्ति प्राण्यदृष्टं भगवदिच्छानियामकं तर्हि तस्य वृत्तिलाभोऽपि तदधीन इति स एव दोषः। सहकारिलाभ[4] एव वृत्तिलाभः; सहकारि च वर्षशतान्तादिकाल इति ब्रुवतश्चादृष्टवृत्त्या सहकारिकाललाभेनेच्छानियमः[5], ततः कालनियम इति पूर्वदोष एव।

भावदीपिका

अथ ज्ञानप्रयत्नयोरेकरूपत्वेऽपि इच्छावैषम्यात् व्यवस्था; तच्चोपपादितं तार्किकशिरोमणिना?—इत्याशङ्क्य प्रत्याचष्टे—यदप्याहेति। वर्षशताऽन्ताऽऽदिकालस्य सवितृपरिस्पन्दलक्षणीयत्वात्, तस्य चेश्वरेच्छासाध्यत्वात्, इच्छायाः कालवैषम्यहेतुत्वं वक्तव्यम्; तथा च 'एतावन्तः सवितृपरिस्पन्दा भवन्तु'—इत्यादीच्छया कालः साधनीयः; तेन चेच्छा तदनुकूला साधनीयेति परस्पराऽऽश्रयः। इच्छाया नियामकान्तरमाशङ्कते यदीति। अदृष्टस्य सर्गानुकूलस्य वृत्तिलाभे सिसृक्षाकारता भगवदिच्छायाः संहाराऽनुकूलस्य च वृत्तिलाभे संजिहीर्षाकारता भवति इति चेत्? अदृष्टे वृत्तिलाभः? तदधीनो न वा? नाद्यः—इत्याह—तर्हीति। द्वितीयमाशङ्क्याऽऽह—सहकारीति। सहकारिकाललाभाऽऽत्मिकयाऽदृष्टवृत्त्येति सामानाधिकरण्यं तृतीययोः। यथाऽदृष्टस्य भगवदिच्छादिनियन्तृत्वं तथाऽङ्कुराद्युपादाननियन्तृत्वसम्भवे व्यर्था नित्यप्रयत्नाऽऽदिमदीश्वरकल्पना—इत्याह—किञ्चेति। अतिप्रसङ्गमाशङ्क्य परि-

ज्ञानवती

विशेष, वर्ष, शताब्द आदि शब्दों से वाच्य है और उसी की उत्पत्ति इच्छा की उत्पत्ति है—ऐसा कहा—

वह भी ठीक नहीं है। उपाधि के अनेकारत्व के भगवदिच्छा के अनेकाकारत्व के विना असम्भव होने से अन्योन्याश्रय है। वह इस प्रकार—सृष्टि की इच्छा के विना सृष्टि के अनुकूल और संजिहीर्षा के विना संहारानुकूल (व्यापार) कैसे उत्पन्न होगा। विवाह आदि की इक्छा से ही तदनुकूल काल-साधन जाता है।

यदि, जिसको वृत्ति प्राप्त है, ऐसे प्राणी के अदृष्ट की नियामिका भगवदिच्छा है तो उसका वृत्तिलाभ भी उसके अधीन है इस कारण वही दोष आ जाता है। सहकारी का लाभ ही वृत्ति का लाभ है। और सहकारी वर्ष शताब्द आदि काल है ऐसा कहने वाले के अदृष्टवृत्ति से सहकारिकाललाभ से. इच्छा का नियमन और उससे काल का नियमन इस प्रकार पूर्वदोष (=अन्योन्याश्रय) ही है।

---

[1] (ग) तदुत्पत्तिरेवेच्छया। [2] (ग) परस्य व्य। [3] (ग) उत्पद्यते।
[4] (ग) सहकारिवृत्तिलाभ एव। [5] (ख) सहकारिलाभेन।

किञ्चादृष्टस्य भगवदिच्छाकृतिनियामकस्याङ्कुराद्युपादाननियामकता केन[1] वार्येत ? न चैवं घटाद्युपादाननियामकताऽपि प्रसज्येत। अथेश्वरवादिनामीश्वरप्रयत्नस्य घटादावङ्कुरादौ च[2] तुल्यत्वेऽपि कुलालादिप्रयत्नावकाशः ? तथाऽदृष्टवादिनोऽपि[3] सम्भवात्। इतश्च नात्यन्तिकसर्गप्रलयौ; प्रलये हि चिरकालं भोगो विच्छिद्येत, न च तद्युक्तम्; कर्मवतां युगपद्वृत्तिनिरोधस्याप्रामाणिकत्वात्[4]। तदाहुर्भट्टपादाः—

"न च कर्मवतां युक्ता स्थितिः संभोगवर्जिता।" इति।

स्यान्मतम् विवादास्पदानि सर्वप्राणिकर्माणि कदाचिदपर्यायं फलारम्भवैमुख्यभाञ्जि, कर्मत्वात्, सुषुप्तकर्मवत् ? नैतत्; दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात्। तस्मात् "जात्यायुर्भोगाः कर्मविपाकाः" इति त्रैविद्यवृद्धाः। न खलु जात्यायुषी अनारभमाणानि (कर्माणि[5]) भोगाय कल्पन्ते, तत्र यद्यपि सुषुप्तकर्माणि[6] न जातिमारभन्ते, नापि भोगम्, तथाऽप्यायुरारभन्त एव। तथा च श्रुतिः—"प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्"

भावदीपिका

हरति—न चैवमिति। एवं क्षित्यादिकं सकर्तृकं अङ्कुरादि चेति—सामान्यविशेषप्रयोगाभ्यां वा जगत्कर्त्तुः साधयितुमशक्यत्वात् महाभूताऽऽदिसर्गाद्यसिद्धिरुक्ता। साम्प्रतं प्रलयस्वरूपाऽऽलोचनया तदसम्भवे सर्गस्याऽप्यसिद्धिः—इत्याह—इतश्चेति।

प्रमाणाऽभावोऽसिद्धः; उदयनाचार्योक्ताऽनुमानसद्भावात्—इत्याशङ्कते—स्यान्मतम् इति। फलशब्देन कार्यमात्रं विवक्षितम् ? भोगो वा ? नाद्यः—इत्याह—नैतदिति। एतद-

ज्ञानवती

इसके अतिरिक्त भगवदिच्छा और कृतिके नियामक अदृष्ट की अंकुर आदि की उपादाननियामकता का वारण कौन करेगा ? इस प्रकार घट आदि उपादान की नियामकता भी नहीं प्राप्त होगी।

(पू) ईश्वरवादियों के ईश्वर प्रयत्न के घट आदि और अंकुर आदि के विषय में तुल्य होने पर भी कुलाल आदि के प्रयत्न का अवकाश है ? (उ) ऐसा तो अदृष्टवादी के मत में भी सम्भव है। आत्यन्तिक सृष्टि एवं प्रलय इस कारण नहीं होते—प्रलय में भोग चिरकाल तक विच्छिन्न हो जायगा, और यह ठीक नहीं है, क्योंकि कर्म वालों युगपत् वृत्तिनिरोध अप्रामाणिक हो जायगा। भट्टपाद कहते हैं—

"कर्मवानों की संभोग से रहित स्थिति युक्त नहीं है"।

(पू) यदि यह कहिये कि विवादास्पद सब प्राणियों के कर्म, कदाचिद् एकसाथ फलारम्भवैमुख्य के भाजक हैं, कर्म होने से, सुषुप्त कर्म के समान। (उ) यह भी ठीक नहीं है क्योंकि दृष्टान्त में साध्य नही है, क्योंकि "जन्म, आयु एवं भोग ये कर्म के फल हैं" ऐसा

---

१ (ख) तेन।
२ (ग) अंकुरादावतु।
३ (ग) तथाप्यदृष्ट।
४ (ग) प्रामाणिकत्वात् सुषुप्तकर्मवत्।
५ (क) तानि, (ग) कर्माणि।
६ (ख) यद्यपि सुषुप्तकर्माणि सुप्त।

इति। प्राणोऽपि तत्कर्मवशादेव शरीरं परिपालयन् वर्त्तते स्वप्न(-सुषुप्त्योः[१]) मृतभ्रान्तिपरिहारायेति सम्प्रदायकर्तृवचनाच्च। अत एतदनवकाशं यदाहुः—पूर्वारम्भपरिक्षयात्तदुत्तरारम्भवैमुख्याच्चान्तरालकालः प्रसुप्तिरिति। अतः साध्यविकलो दृष्टान्तः।

यदप्युवाचोदयनः—"सुषुप्तवद् वृत्तिनिरोधश्चेत् क्रमेणैव प्रलयः स्यात्? इत्याशङ्क्य, न च स्वहेतुबलायातैः कारणैः कार्यैर्वा क्रमेण भवितव्यम्; अनियतत्त्वादेव; अतो युगपत् प्रलयः सर्वग्रासोपरागवत् त्रिदोषसन्निपातवद्वा[२]। (यथा[३]) हि वातपित्तश्लेष्मणाञ्च [४]प्रकोपप्रशमक्रमाभावेऽपि [यदा] एकदा सन्निपातः स्यात् तदा देहसंहारः, तथा (कालानल[५]–)पवनमहार्णवानां सन्निपाते, ब्रह्माण्डदेहप्रलयावस्थायां युगपदेव भोगरहिताश्चेतनाः[६] स्युः?" इति; तदसारम्; (साम्प्रतमिव[७]) अहोरात्रस्थानादिकालमहोरात्रपूर्वकत्वानुमानेन प्रलयासम्भवात्।

भावदीपिका

तुसारेण सुषुप्तिलक्षणमप्ययुक्तम्—इत्याह—अत एतदिति। द्वितीये सुषुप्तवदनारम्भः स्यात् कर्मत्वेन सुषुप्तकर्मवत्। तदाऽपि प्राणादिसत्ताऽरम्भश्चाऽनुमीयते। अत्र परोक्तं परिहारमुत्थाप्य दूषयति—यदप्युवाचेत्यादिना। भोगरहिता इति प्राणाऽदिराहित्यस्याऽप्युपलक्षणम्।

ज्ञानवती

त्रैविद्यवृद्ध लोग कहते हैं लेकिन अनारभमाण कर्म जाति एवं आयु को भोग के लिये कल्पित नहीं करते। उनमें यद्यपि सुप्तकर्म न तो जन्म का आरम्भ करते हैं, न मृत्यु का, तथापि आयु आ आरम्भ करते ही हैं। श्रुति भी है—"प्राण से निम्न कोटि के कुलाय की रक्षा करता हुआ"। "प्राण भी उसके कर्मवश ही शरीर की रक्षा करता हुआ स्वप्न एवं सुषुप्ति में मृत की भ्रान्ति के परिहार के लिये वर्त्तमान रहता है" ऐसा सम्प्रदायकर्त्तृक वचन है। इसलिये इसका अवकाश नहीं है जैसा कि कहा है—पूर्वारम्भ का परिक्षय होने से और उत्तरारम्भ का वैमुख्य होने से अन्तराल काल प्रसुप्ति होता है। इसलिये दृष्टान्त साध्य से रहित है।

जो कि उदयन ने कहा—सुषुप्त के समान यदि वृत्तिनिरोध है तब क्रम से ही प्रलय होगा ऐसी आशंका करके, अपने हेतु के बल से आये हुए कारणों अथवा कार्यों को क्रमिक नहीं होना चाहिये क्योंकि वे अनियत हैं। इसलिये पूर्णग्रहण के समान या त्रिदोषसन्निपात के समान प्रलय युगपत् होता है। जिस प्रकार वात पित्त और कफ के प्रकोपप्रशम के क्रम का अभाव होने पर भी यदि एक बार सन्निपात हो जाय तो देह का संहार हो जाता है उसी प्रकार कालानल पवन एवं महार्णव के सन्निपात में ब्राह्मण्ड रूप देह की प्रलयावस्था में चेतन एक ही साथ भोग रहित हो जाते हैं—यह (कहना) व्यर्थ है, क्योंकि इस समय

---

[१] (क) स्वप्नसुषुत्तयोः (ग) स्वप्नसुषुप्त्योः।
[२] (ग) त्रिदोषनिपात। [३] (क) तथा, (ख) (ग) यथा।
[४] (ग) चयत्प्रकोप। [५] (क) अनिलानल' (ख) (ग) कालानल।
[६] (ग) चेताः। [७] (क) सांप्रतमिव, (ग) सांप्रतामिव।

[सृष्टिप्रलयौ निष्कारणौ निष्फलौ च–]

यदप्यूचे—अहोरात्रमात्रपूर्वकत्वे सिद्धसाधनत्वम् (निरन्तर[१]-)पूर्वकत्वे चाप्रयोजकत्वं सर्गानुवृत्ति-(निमित्त-)[२]ब्रह्माण्डस्थितिरूपकालोपाधिनिबन्धनत्वात् तस्य,[३] तदभाव एव व्यावृत्तेः[४]; तदप्यनुचितम्[५] उदयनस्य; उक्तोपाधिव्यावृत्तौ साध्यव्यावृत्तेः प्रलयानङ्गीकारकारणोपन्यासवन्तं[६] प्रत्युदाहर्तुमशक्यत्वेनोपाधेः साध्या-

भावदीपिका

[सृष्टिप्रलयौ निष्कारणौ निष्फलौ च—]

अनुमानस्य दुष्टत्वान्न प्रलयाऽभावसाधकत्वमित्याशङ्कामुत्थाप्य निराचष्टे—यदप्यूचे= उक्तमिति। विषमव्यापकोऽयमुपाधिः ? समव्यापको वा ? नोभयमपि--इत्याहउ--क्तोपाधीति। समव्यापकत्वेऽपि निषिद्धत्वादावव्यतिरेको वक्तव्य एव; अन्यथा पक्षादुपाधिव्यावृत्त्या साध्यव्यावृत्तेरुदाहर्त्तुमशक्यत्वेन हेतुव्याप्तिभञ्जकदूषणाऽपर्यवसानं स्यात्। यद्यपि यत्र साध्यं तत्रोपाधिरिति साध्याऽऽकर्षणमुपाधेः सम्भवति, यत्रोपाधिः तत्र साध्यमिति हेतुकृत्यं चोपाधेर्यद्यपि; तथाऽपि पक्षे तदभावः साधनाऽव्यापकत्वस्याऽपि लक्षणनिर्वाहार्थ एव चेत् ? तर्हि साध्यसमव्यापकत्वस्याऽपि लक्षणनिर्वाहार्थत्वं केन वार्येत ? तथा च न कस्याऽप्यंशस्य हेतुव्याप्तिभङ्गोपयोगः स्यादित्याशङ्क्येत। ततो यथा हेतुविशेषणानां लक्षणनिर्वाहे, साध्यनिर्वाहे चोपयोगः तथोपाधिलक्षणविशेषणानां हेतुव्याप्तिभङ्गे, लक्षणनिर्वाहे चोपयोगो वाच्यः; तेन पक्षादुपाधिव्यावृत्त्या साध्यव्यावृत्तिरिति हेतुसाध्ययोर्विघटनात् सिद्धो व्यतिरेकोपयोगः। किञ्च समव्याप्तिपक्षे व्यतिरेकाऽभावे केवलान्वयिहेतूनां साध्यसमव्यापकत्वं सपक्षव्यापकानां साधनाऽव्यापकत्वं चाऽस्ति। साधनविशिष्टे साधनाऽवृत्तेः, एकस्य व्याप्यव्यापकत्वाऽयोगाच्च तत्राऽतिव्याप्तिः स्यात्; तद्व्युदासार्थोऽपि व्यतिरेकोऽभ्युपेयः। एतेन "समव्यापकश्चेत् पक्षेतरोऽपि सदुपाधिः" इति गंगापुरीयं निरस्तम्।

ज्ञानवती

वालों के समान अनादि काल से अहोरात्र के अहोरात्र पूर्वक अनुमान के द्वारा प्रलय असम्भव है।

[सृष्टि एवं प्रलय निष्कारण तथा निष्फल हैं—]

और जो वह कहा—

(पू) अहोरात्रमात्रपूर्वक मानने पर सिद्धसाधन है और निरन्तर पूर्वकत्व के होने पर अप्रयोजकत्व दोष है क्योंकि वह सर्गानुवृत्ति के निमित्त ब्रह्माण्ड की स्थिति रूप काल की उपाधि के कारण है। और उसके अभाव में ही व्यावृत्ति होगी। (उ) यह भी अनुचित है क्योंकि उदयन की उक्त उपाधि की व्यावृत्ति होने पर साध्य की व्यावृत्ति होने से प्रलय को न मानने वाले के प्रति उदाहरण देना असंभव होने से उपाधि साध्य की अव्यापक होती है।

---

१ (क) निरन्त, (ग) निरन्तर। २ (क) निमित्तब्रह्मा, (ग) निमित्तं ब्रह्मा। ३ (ग) बन्धनत्वात्। ४ (ग) व्यावृत्तः। ५ (क) व्यावृत्तेः उदयन, (ख) (ग) व्यावृत्तेरिति तदप्यनुचितम्, उदयन। ६ (ग) कारकारणोप।

ऽव्यापकत्वात्[1]। अथ समव्यापकोऽयमुपाधिः; एवमपि दिनमणिभ्रमणपूर्वकाहोरात्रस्य ब्रह्माण्डस्थितिकालत्वेनैव सम्भवेन[2] साधनव्यापकत्वात्, तथाऽपि सर्गाद्यहोरात्रपक्षीकारादाश्रयासिद्धिरिति चेत्? मैवम्; स्वप्रसिद्धस्वायम्भुवमन्वन्तरादेवाद्याहोरात्रपक्षीकारेणाप्यस्यार्थस्य[3] साधयितुं शक्यत्वात्। ततो न सर्गप्रलयसद्भावः[4]; नाप्यनयोः फलमस्ति; देहादिसर्गप्रलयमात्रेणापि कर्मफलभोगसिद्धेः।

अथापि क्रीडार्थं[5] स्वातन्त्र्यप्रकटनार्थं वा भगवान् करोति? तर्हि[6] सृष्ट्य-

भावदीपिका

दूषणान्तरं वक्तुं समव्यापकं पृथक् करोति—अथेति। पक्षकृताऽहोरात्रेऽपि सर्गाऽनुवृत्तिनिमित्तब्रह्माण्डस्थितिरूपकालत्वोपाधेः सद्भावात् साधनव्यापकत्वम्। ननु यस्मिन्नहोरात्रे द्वयणुकाऽऽदिसर्गः प्रवर्त्तते तस्य निरन्तराहोरात्रपूर्वकत्वं साधनीयम्; अन्यथा सिद्धसाधनस्यो[7][क्तत्वाच्च]। तच्चाऽप्रसिद्धम्—इत्याह —तथाऽपीति। भङ्ग्यन्तराऽवलम्बनेनाऽश्रयाऽसिद्धि परिहरति—मैवमिति। यत्परस्य सर्गाद्याहोरात्रं प्रसिद्धं तत्स्वायम्भुवमन्वन्तरादप्याद्यम्; वर्तमानाऽहोरात्रादारम्य पूर्वकालगणनया यच्चतुर्युगसहस्राऽदेराद्यमहोरात्रं तस्यैव परस्य सर्गाद्याहोरात्रत्वेन सम्मतत्वात्। तत्पक्षीकारेणाऽपि प्रलयाऽभावः साधयितुं शक्य इत्यर्थः। एवं सर्गप्रलयगमकहेत्वभावं प्रसाध्य प्रयोजनाभावं साधयति—नाप्यनयोरिति। यथेदानीं प्रतिदेहं सर्वा[ङ्गीण-][8] महाभूतब्रह्माण्डाऽऽदिसर्गः कर्मफलाऽर्थः ईश्वरेणाऽऽरभ्यते तथा न कदाचिदारभ्येतेत्यर्थः।

अथ महाभूताऽदिसर्गः ऐश्वर्यनिर्वाहायैव न कर्मफलसिद्ध्यर्थः? तर्हि निरंकुशैश्वर्यनिर्वाहार्थं देहसुखादिसृष्टिरपि कर्मनैरपेक्ष्येण वक्तव्या; तथा च कर्मणां वैफल्ये तद्विधीनामप्रामाण्यादिदोषाऽऽदिप्रसङ्गः? तदेतदाह—अथाऽपीति। अस्तु तर्हि ईश्वरेच्छा-

ज्ञानवती

(पू) यदि यह उपाधि समव्यापक हो। (उ) तब भी सूर्य के भ्रमणपूर्वक अहोरात्र के ब्रह्माण्डस्थितिकाल के रूप में ही सम्भव होने से साधन का व्यापकत्व हो जाता है। (पू) तो भी सृष्टि के प्रथम अहोरात्र के पक्ष मानने से आश्रयासिद्धि है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि स्वप्रसिद्ध स्वायम्भुव मन्वन्तर से ही प्रथम अहोरात्र को पक्ष मानने से भी इस अर्थ की सिद्धि हो सकती है। इस कारण सृष्टि और प्रलय की सत्ता नहीं है और न इन दोनो का फल है, क्योंकि देह आदि के सर्ग एवं प्रलय मात्र से भी कर्मफलों के भोग की सिद्धि हो जाती है।

(पू) यदि यह कहिये कि भगवान् क्रीड़ा या स्वतन्त्रता प्रकट करने के लिये सृष्टि करते हैं? (उ) तब तो सृष्ट्यन्तर भी उसी प्रकार से करते; और इस प्रकार कर्मों की विफलता और वैषम्य नैर्घृण्य आदि दोष आ जाते हैं। अतः (वे भी) कर्म के अधीन होकर ही करते हैं इसलिये प्रसुप्त (कर्मों) का (कुछ न कुछ) उद्बोधक कहना पड़ेगा। यदि वह

---

[1] (ग) साध्यव्याप। [2] (ग) सम्भवेन व्याप्य। [3] (ग) कारकारणोप।
[4] (ग) प्रलयौ युक्तौ। [5] (ग) स्यात् क्रीडार्थं।
[6] (ग) करोति सृष्टचन्तर। [7] (क) क्ततत्वात्। [8] (क) ङ्गेन।

न्तरमपि तथैव कुर्यात्। (तथा[1] च)कर्मणां वैफल्यम्, वैषम्यनैर्घृण्यादिदोषः। अतः कर्मपरतन्त्र एव करोतीति तेषां प्रसुप्तानामुद्बोधकं वक्तव्यम्। तच्चेदीश्वरेच्छा, तर्हि सैव कर्मोद्बोधमिव कर्मनिरपेक्षैव सर्वं किमिति न कुर्यात्। तस्याश्च[2] कर्महेतुकत्वे उक्तो दोषः। अथ तस्या निमित्तान्तरम् भविष्यति? तर्हि तदेव तामिव सर्वं कुर्यात्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"कर्मणां वाऽप्यभिव्यक्तौ[3] किं निमित्तं तदा भवेत्।
ईश्वरेच्छा यदीष्येत सैव स्याल्लोककारणम्॥
ईश्वरेच्छा(वशित्वे[4]) च निष्फला कर्मकल्पना।
यद्वा तस्या निमित्तं यत्तद्भूतानां भविष्यति॥"

इति। भूपालादेरनित्येच्छायाः सेवादिकर्मजन्यत्वसम्भवात् फलदाने प्रवृत्तिहेतुत्वं युक्तम्, न नित्यैकरूपायाः।

एतेनाग्निहोत्रादिफलम् (सम्प्रदाने यागकरणादिविज्ञानवता[5]) दीयमानम्, व्यवहितफलत्वात्, सेवादिफलवत्, इत्यपास्तम्। न च (नित्यत्वं[6]) ज्ञानेच्छादौ प्रमाणम्। अथ अयं घटः एतज्जनकानित्यज्ञानेतरज्ञानजन्यः,[7] जन्यत्वात्, पटवत्,

भावदीपिका

कर्मोद्बोधहेतुः? तत्राऽऽह—तच्चेदिति। सा किं स्वतन्त्रा? कर्मतन्त्रा वा? अन्यतन्त्रा वा?—इ ति विकल्पदूषणं द्रष्टव्यम्। दृष्टान्तवैषम्येणाऽनुमानाऽन्तरं निराकर्त्तुं वैषम्यमाह—भूपालादेरिति। नित्यमिच्छादिकमङ्गीकृत्योक्तम्। न च तत्सम्भवति—इत्याह—न चेति। प्रमाणाऽभावम[—प्यस-]हमानं[8] प्रति आह—अथाऽयमिति। अनित्यज्ञानजन्यत्वेन सिद्धसाधनताव्युदासार्थं तदितरपदम्। तर्ह्यप्रसिद्धविशेषणता स्यात्? अत उक्तम्—एतज्जनकेति। एतज्जनकाऽनित्यज्ञानेतरज्ञानजन्यत्वं च पटे प्रसिद्धम्। अदृष्टसहकृताऽनित्यज्ञानजन्यत्वेनाऽपि जन्यत्वो-

ज्ञानवती

ईश्वरेच्छा है तो वही कर्मोद्बोध के समान कर्मनिरपेक्ष होकर ही सब कुछ क्यों नहीं कर लेगी। और उसके कर्म के हेतु बनने में दोष कह दिया गया है। यदि (यह कहें कि) उसका कारण दूसरा होगा तो वही उस (ईश्वरेच्छा) के समान सबको कर देगा। वही भट्ट-पाद कहते हैं—

"अथवा कर्मों की अभिव्यक्ति का कारण क्या होगा? यदि ईश्वरेच्छा मानें तो वही लोक का कारण होगी।

और ईश्वरेच्छा के वश होने पर कर्म की कल्पना व्यर्थ है। अथवा उसका जो निमित्त है ही भूतों का भी होगा।"

---

१ (क) किंच, (ग) तथा च। २ (ग) तस्याः कर्म।
३ (ग) चाभिव्यक्तो। ४ (क) वशत्वे, (ग) वशित्वे।
५ (क) संप्रदानादिविज्ञान, (ग) संप्रदाने पाककरणादिविज्ञान।
६ (ख) नित्यत्वै, (ख) नित्यत्वं। ७ (ख) नित्यज्ञानेच्छाजन्यः।
८ (क) मव्यवह।

इत्यनुमानात् नित्यज्ञानसिद्धिः ? एवमिच्छाप्रयत्नविशेषणात् तयोरपि सिद्धिरिति मतम् ? नैतन्मनोहरम्; उक्तविधज्ञानाद्यजन्यादृष्टजन्यत्वेनापि[1] जन्यत्वोपपत्तेरप्रयोजकत्वात्; एतज्जनकानित्यादृष्टेतरादृष्टजन्यत्वानुमानप्रसराच्च[2]।

[ब्रह्मलक्षणासम्भवः—]

अथात्मत्वं नित्यविशेषगुणवन्निष्ठं, (आत्मजातित्वात्[3]), सत्तावत्। न च स्पर्शसहभावित्वमुपाधिः; पृथिवीत्वस्य[4] स्पर्शसहभावित्वे नित्यविशेषगुणवन्निष्ठ-

भावदीपिका

पपत्तेर्न नित्यज्ञानाऽदिसिद्धिरिति परिहरति—नैतदिति। अतिप्रसङ्गाच्च नैतत्—इत्याह—तज्जनकेति। न च वाच्यं वैधकर्माऽनुष्ठानमन्तरेणाऽदृष्टस्वीकारे कर्मकाण्डाऽप्रामाण्यापत्तिर्बाधिकेति? "धर्मात् सुखं च ज्ञानं च" इत्यादिवचनान्नित्यज्ञानस्वीकारेऽपि तस्यास्तुल्यत्वादिति द्रष्टव्यम्।

[ब्रह्मलक्षणासम्भवः—]

अनुमानाऽन्तरेण प्रत्यवतिष्ठते—अथात्मत्वमिति। विशेषगुणवज्जीवनिष्ठत्वेन सिद्धसाधनत्वव्युदासार्थं नित्यपदम्। उपाधिमाशङ्क्य समविषमव्यापकविकल्पेन निराचष्टे—न चेति। या पुनरात्मत्वजातिः सा नित्यविशेषगुणवन्निष्ठा इति व्यतिरेकः कुत्राऽवधार्यत इति ?

ज्ञानवती

भूपाल आदि की अनित्य इच्छा की सेवा आदि कर्म से उत्पत्ति सम्भव होने से फलदान में प्रवृत्ति का कारण होना ठीक है, किन्तु नित्य एक रूप (इच्छा) का नहीं।

इससे अग्निहोत्र आदि का फल सम्प्रदान के विषय में पाककरण आदि जानने वाले के द्वारा दिया जाता है, व्यवहित फल होने से, सेव आदि फल के समान, यह अपास्त हो गया। और न तो नित्यत्व ज्ञान इच्छा आदि में प्रमाण है।

(पू) यह घट, एतज्जनक अनित्य ज्ञान से भिन्न ज्ञान से जन्य है, जन्य होने से, घट के समान, इस अनुमान से नित्यज्ञान की सिद्धि होगी ? इसी प्रकार इच्छा प्रयत्न विशेषण (देने) से उन दोनों (नित्य इच्छा नित्य प्रयत्न) की भी सिद्धि हो जायेगी यदि यह मानें ? (उ) तो यह मनोहर नहीं है। क्योंकि उक्त प्रकार के ज्ञान आदि से अजन्य अदृष्टजन्यत्व के द्वारा भी जन्यत्वोपपत्ति अप्रयोजक हो जाती है। और एतज्जनकअनित्यअदृष्टेतरअदृष्टजन्यत्व के अनुमान की प्राप्ति होती है।

[ब्रह्मलक्षण असम्भव है—]

(पू) आत्मत्व, नित्यविशेषगुणवत् में रहता है, आत्मजातिवाला होने से, सत्ता के समान। (पू) स्पर्शसहभावित्व उपाधि है ? (उ) पृथिवीत्व के स्पर्शसहभावी होने पर

---

[1] (ग) उक्तविधज्ञानाद्यन्तरेणापि। [2] (ग) एतज्जनकानित्य, (क) एतज्जनकानित्या, (ख) एतज्जनकनित्या।
[3] (क) आत्मत्वात्, (ग) आत्मजनित्वात्। [4] (ग) पृथित्वास्पर्श।

त्वाभावेन साध्यासमव्यापकत्वात्। विषमव्यापकत्वाङ्गीकारेऽपि[1] यत्र स्पर्शसहभावित्वं नास्ति, नास्ति तत्र[2] विशेषगुणवन्निष्ठत्वम् मनस्त्व इवेति व्यतिरेकव्याप्तौ अनात्मजातित्वस्योपाधित्वात्[3], सत्ताया (व्यतिरेकस्थ)लत्वाच्च। न च पृथिवीत्वं नित्यविशेषगुणवन्निष्ठं, परमाणुजातित्वात्, सत्तावत् इत्यतिप्रसङ्गः[4]; "पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।" इत्यनुकूलश्रुतिवदत्र[5] प्रमाणवैधुर्येण पृथिवीविशेषगुणानां पाकजत्वग्राहकप्रमाणविरोधेनानुमानानुत्थानात्। ततो नित्यज्ञानादिसिद्धिः।

नैतच्चतुरश्रम्; आत्मत्वं न (नित्य[7]-)विशेषगुणवन्निष्ठम्, जलाद्यवृत्तित्वात्, पृथिवीत्ववदिति प्रत्यनुमानात्. आगमस्य चागमान्तरानुसारेण निर्गुणवस्तुपरस्य वा जीवगतज्ञानात्मकशक्तिपरस्य[8] वाऽत्रौदासीन्यात्।

भावदीपिका

तत्राऽऽह—सत्ताया इति। सत्ताजातेरात्मनि नित्यविशेषगुणवज्जलपरमाण्वादौ च वृत्तेर्व्यतिरेकग्रहणस्थलत्वम्। अतिप्रसङ्गबाधमाशङ्क्य परिहरति—न च पृथिवीत्वमिति। प्रत्यनुमानेन प्रत्याह—नैतच्चतुरश्रमिति। सत्ताद्रव्यत्वयोर्व्यभिचारवारणार्थं जलाद्यवृत्तिपदम्। आगमस्य चोक्तस्य मतभेदेनाऽन्यपरत्वं सम्पादयन्ननुमानाऽबाधकत्वं सम्पादयति—आगमस्य चेति। भाट्टैः परिणामशक्तेः स्वाभाविकत्वस्वीकारात् आगमस्य तत्परत्वम्।

ज्ञानव्रती

नित्यविशेष गुणवन्निष्ठत्व का अभाव होने से साध्यासमव्यापक होने के कारण यहाँ उपाधि नहीं है। विषमव्यापकत्व मान लेने पर भी जहाँ स्पर्शसहभावित्व नहीं है, वहाँ (उसी प्रकार) विशेष गुणवन्निष्ठत्व नहीं है जैसे मनस्त्व में। इस प्रकार व्यतिरेकव्याप्ति में अनात्मजातित्व उपाधि है। तथा सत्ता व्यतिरेकस्थल वाली है। (पू) पृथिवीत्व, नित्यविशेषगुणवन्निष्ठ है, परमाणुजातित्व होने से, सत्ता के समान, यह अतिप्रसङ्ग हो जायगा ?

(उ) ऐसा नहीं है—क्योंकि—

"इसकी परा शक्ति विविध ही सुनी जाती है और ज्ञान, बल, क्रिया स्वाभाविकी है।"

इस अनुकूलश्रुति के समान यहाँ प्रमाण न रहने से पृथिवी के विशेषगुणों का पाकजत्वग्राहकप्रमाण से विरोध होने के कारण अनुमान प्राप्त नहीं होता। इससे नित्य ज्ञान आदि की सिद्धि होती है।

(उ) यह कथन प्रशस्त नहीं है। क्योंकि यहाँ प्रतिकूल अनुमान होता है—आत्मत्व, नित्यविशेषण गुणवान् में नहीं रहता, जल आदि में न होने से पृथिवीत्व के समान। और निर्गुणशक्तिपरक अथवा जीवगत ज्ञानात्मकशक्तिपरक आगम के आगमान्तरानुसारी होने से यहाँ वह (=अनुमान) उदासीन है।

---

[1] (ग) त्वाङ्गीकारेण। [2] (ग) नास्ति विशेष। [3] (ख) जातित्वस्य उपाधित्वस्य उपाधित्वात्। (ख) सत्तायाअप्य—लत्वाच्च। [4] (क) सत्ताया अप्यलत्वाच्च, [5] (ग) दित्यनिधित्वात्। सत्ताया व्यतिरेकप्रसङ्गः। [6] (ग) अनुकूलाम्नानवत्। [7] (क) न विशेष, (ग) न नित्यविशेष। [8] (ग) ज्ञानादिपरिणामशक्ति।

अथ पार्थिवद्व्यणुकादि नित्यविशेषगुणवज्जन्यम्, कार्यत्वात्, आप्यद्व्यणुकादिवत् [इत्यनुमानेनेष्टसिद्धिः ?] न च नित्यविशेषगुणसमवायिसिद्ध्या अर्थान्तरता; पार्थिवाणूनां नित्यविशेषगुणत्वस्य [1]उभयासंवादात्; नैषोऽपि साधुः प्रयोग; तादृक्समवायि-(जन्यत्वाभावेन[2]) (परमाणुवत्[3]) जन्यत्वाभावानुमानात्।

अथ वायुत्वं रूपात्यन्ताभाववन्नित्यविशेषगुणवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि[4], द्रव्यत्वव्याप्यजातित्वात्[5] (पृथिवीत्ववत्) इति प्रयुज्यते? न च वायुनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वमुपाधिः; पक्षेतरत्वात्; इति भवतामीश्वराभिमते वर्तमानात्मत्वेन[6]

भावदीपिका

अनुमानाऽन्तरेऽर्थान्तरत्वदोषमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। परप्रसिद्ध[-स्याऽर्थान्त-]रस्य[7] प्रसाधनेऽप्यर्थान्तरता स्यादन्यया सर्वत्राऽर्थान्तरता प्रसरेदित्यर्थः। अनुमानाऽन्तरेणैव प्रत्याह—नैषोऽपि इति। विमतं नित्यविशेषगुणवज्जन्यं न भवति नित्यविशेषगुणवत् समवायिकारणाऽजन्यत्वात् परमाणुवत्—इत्यनुमानम्। पुनरनुमानान्तरम् - वायुत्वं पृथिवीनिष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगि भवतीति। सिद्धसाधनताहानार्थं नित्यविशेषगुणवन्निष्ठेत्युक्तम्। तर्हि जलपरमाण्वादिनिष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगित्वेन सिद्धसाधनता? तत् उक्तम्—रूपात्यन्ताभाववदिति। रूपाऽत्यन्ताऽभाववत्त्वे सति नित्यविशेषगुणवान् वायुरेव; वायुत्वस्य च तन्निष्ठाऽत्यन्ताऽभावाऽसम्भवात्। जीवाऽकाशयोश्च विशेषगुणवत्त्वे नित्यविशेषगुणशून्यत्वात् तद्गुणवदीश्वरसिद्धिः। अत्राऽप्युपाधिमाशङ्क्य प्रत्याह—न चेति। एतदप्यसाधु—इत्याह - भवतामिति।

ज्ञानवती

(पू) पार्थिव द्व्यणुक आदि, नित्यविशेषगुणवान् से उत्पन्न है, कार्य होने से, जल के द्व्यणुक आदि के समान इस अनुमान से इष्ट सिद्धि हो जायगी और ऐसा नहीं है कि नित्यविशेषगुण के समवायी की सिद्धि के द्वारा वह अर्थान्तर हो जायगा क्योंकि पार्थिव परमाणु और नित्यविशेषगुणत्व दोनो संवादी नहीं है? (उ) यह भी अनुमान ठीक नहीं है। क्योंकि उस प्रकार के समवायिजन्यत्वाभाव के द्वारा परमाणुवत्जन्यत्वाभाव का अनुमान हो जाता है।

(पू) वायुत्व, रूपात्यन्ताभाववत्नित्यविशेषगुणवत्निष्ठअत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, द्रव्यत्वव्याप्यजातित्व होने से, पृथिवीत्व के समान, ऐसा, अनुमान होता है। और यह भी नहीं है कि वायुनिष्ठ अत्यन्ताभाव का प्रतियोगित्व उपाधि है, क्योंकि वह पक्ष से भिन्न है। आप लोगों के ईश्वराभिमत में वर्त्तमान होने के कारण व्यभिचार होने से उसका प्रयोग (आप लोगों को) नहीं करना चाहिये क्योंकि वहाँ द्रव्यत्वव्याप्य जाति के रहने पर भी यथोक्त साध्य नहीं है।

(पू) और जो कि ईश्वर का ज्ञान नित्य है, दो में न रहते हुए ईश्वर में रहने के कारण, उस (अर्थात् ईश्वर) के महत्त्व के समान। (पू) इस प्रकार तो जीव का ज्ञान भी

---

१ उभयसं। २ (क) जन्यत्वेन, (ग) जन्यत्वाभावेन।
३ (क) परमाणुजन्य। (ग) परमाणुवज्जन्य। ४ (ग) भावनित्य।
५ (क) जातित्वात् इति। (ग) जातित्वात् पृथिवीत्ववदिति।
६ (ख) वर्तमानत्वेन, (ग) वर्त्तमानत्वेन। ७ (क) स्यान्त।

व्यभिचारान्न[1] तत्प्रयोक्तव्यम्, तत्र[2] द्रव्यत्वव्याप्यजातित्वे सत्यपि यथोक्त-साध्याभावात्।

यच्चेश्वरज्ञानं[3] नित्यं द्विष्ठव्यतिरेके सतीश्वरनिष्ठत्वात्, तन्महत्त्ववत्; न चैवं जीवज्ञानमपि नित्यम्, द्विष्ठव्यतिरेके सति जीवनिष्ठत्वात्, तन्महत्त्ववदित्यति-प्रसङ्गः; जीवज्ञानस्यानित्यत्वग्राहकविरोधात्; तच्च न[4]; ईश्वरस्य स्वनिष्ठप्रत्युत्पन्न-घटादिसंयोगाद्याधारत्वधर्मस्य[5] घटादीतरधर्मित्वेन साम्प्रतमेव क्रियमाणनिर्णयव्या-वर्त्तनीयपक्षत्वेन च तन्निष्ठेन व्यभिचारात्। ईश्वरज्ञानेच्छाप्रयत्नाः, आश्रयव्यापिनो, नित्यगुणत्वात्, रूपवत् इत्यप्रयोगः अतएव; नित्यत्वस्य दुर्वचत्वात्। तस्मान्न नैया-यिकप्रक्रिययाऽपि जगज्जन्मादिरिति सुशकमिति ब्रह्मलक्षणमसम्भवदुष्टमिति सिद्धम्।

[ब्रह्मलक्षणसमर्थनाय सिद्धान्तोपक्रमः—]

एवं प्राप्ते सिद्धान्तः—"जन्माद्यस्य यतः" इति। "यतो वा इमानि भूतानि

भावदीपिका

संयोगाऽऽदिव्यवच्छेदाय—द्विष्ठेति। अतिप्रसङ्गबाधं निराचष्टे—न चैवमिति। व्यभि-चारित्वादसाधकोऽयं हेतुः—इत्याह—तच्च नेति। हेत्वसिद्ध्या अनुमानान्तरं निराकुर्वन्नु-पसंहरति—ईश्वरेति।

[ब्रह्मलक्षणसमर्थनाय सिद्धान्तोपक्रमः—]

"ब्रह्मविदाप्नोति परम्"—इति ब्राह्मणवाक्येन ब्रह्मतज्ज्ञानतत्फलानि सूत्रोक्तानि तेषाम्। "तदेषाऽभ्युक्ता। सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"—इति ब्रह्मणः स्वरूपलक्षणमृचा वर्णितम्। तद्गता-ऽनन्तत्वप्रपञ्चनाय "तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"—इत्यादिना ब्रह्मणो जगत्-कारणत्वमुक्तम्। तदेव च श्रोतृविशेषं प्रति। "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते; येन

ज्ञानव्रती

नित्य है क्योंकि दो में न रहते हुए जीव में रहता है उसके महत्त्व के समान, ऐसी अतिव्याप्ति हो जायगी? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि जीव का ज्ञान अनित्यत्व के ग्राहक का विरोधी है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि ईश्वर के स्वनिष्ठ प्रत्युत्पन्न घट आदि के संयोग के आधारत्व रूप धर्म का घट आदि से इतर धर्मी होने से उस=(ईश्वर) में वर्त्तमान इसी समय क्रियमाण निर्णय व्यावर्त्तनीय पक्ष से व्यभिचार हो जाता है। इसीलिये ईश्वर के ज्ञान इच्छा एवं प्रयत्न आश्रय के व्यापी है, नित्यगुण होने से, रूप के समान, यह प्रयोग नहीं होता; क्योंकि नित्यत्व कहना कठिन है। इस कारण नैयायिक की प्रक्रिया से भी जगत् का जन्म आदि नहीं है ऐसा अच्छी तरह सम्भव है। इसलिये ब्रह्म के लक्षण की दुष्टता असम्भव है।

[ब्रह्मलक्षणसमर्थन के लिये सिद्धान्तोपक्रम—]

ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त है—"जन्माद्यस्य यतः" (जिससे इस जगत् का जन्म आदि होता है)।

---

१ (क) चारान्न तत्, (ग) चारात् तत। २ (ख) तदद्रव्यत्व।
३ (ख) तच्चेश्वर। ४ (ग) तच्च ईश्वरः
५ (क) संयोगाद्याधारत्व धर्मस्य, (ग) संयोगाधारत्वधर्मं प्रति।

जायन्ते" इत्यादिका सर्गप्रलयोपवर्णनमुखेन "तद् ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्व" इति (जिज्ञासाकथनपरा श्रुतिरेवोपन्यस्ता न हेतुविशेषः, श्रुतत्वाच्च जन्मादेः; श्रौतं जन्मादिकारणं, ब्रह्मलक्षणं नासम्भवि। [ननु] सर्गप्रलयोपवर्णनम्) इति दैवपुरुष[१]-कारप्रभावप्रदर्शनार्थम्।[२] "सर्वे हि तत्प्रभावेण प्रवर्त्तन्ते तदुपरमे वोपरमन्ति"

भावदीपिका

जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म" इति तटस्थलक्षणमुक्तं श्रुत्या। तच्च भगवता व्यासेन लक्षणद्वयं "जन्माद्यस्य यतः"—इति सूत्रेण ग्रथितम्। ततः श्रौतत्वात् "आग्नेयोऽष्टाकपालः" इत्यादिवन्नाऽसम्भवाऽऽशङ्कामर्हति। अथ कथमनेनैव स्वरूपलक्षणं सूचितम्? उच्यते कारणत्वम् जगद्विभ्रमाऽधिष्ठानत्वम्; अधिष्ठानस्य च सत्यत्वं स्थाण्वादौ प्रसिद्धम्; "प्रज्ञानस्य नामधेयानि"—इति मायावशेन सप्रपञ्चस्याऽधिष्ठानस्य प्रज्ञानशब्देनाऽभिधानात्; "विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" इति निर्णयवाक्याच्च आकाशाऽऽदिकारणत्वाद्देशतः कालतश्च[४] राहित्यम्; द्वितीयस्य जगतो विभ्रममात्रत्वात् वस्तुतोऽप्या[५][-नन्त्यम्]। "आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि" इति, "विज्ञानमानन्दम्" इति लक्षणा-न्तरगताऽऽनन्दस्याऽपि जगद्बीजे निर्दिष्टत्वात् युक्तं स्वरूपलक्षणसूत्रणम्। तदेतदाह — जन्माद्यस्येति।

सृष्ट्यादि[-श्रुतेः[६]] स्वार्थपरत्वाऽभावात् नाऽऽग्नेयाऽऽदिवाक्यतुल्यत्वमिति शङ्कते— नन्विति। केवलदेवशरणता न युक्ता, प्रयत्नोऽपि महान् कर्त्तव्यः - इत्यर्थपरत्वात् सर्गादिवा-क्यानां मुख्यार्थसम्भावनाप्रयोजनयोरभावादित्यर्थः। सम्भावना तावत् स्वप्नादिवत्; न च तत्र ज्ञानमात्रम्; प्रसिद्धरथादिनिषेधेन तदवस्थोचितरथादिसृष्टिविधानात्। न च मनोरथसृष्टिवदेषा ज्ञानमात्रम्; "स्वप्नाऽन्त उच्चावचमीयमानो रूपाणि देवः कुरुते बहूनि"—इति रूपकर्तृत्वाभि-धानात्। "रूपशश्च रूपे" इत्यादावर्थे प्रयुज्यमानो दृश्यते। "उतेव स्त्रीभिः सह मोदमानः" इतीवशब्दात् ज्ञानमेव तदाकारमिति मनोरथेनेति चेत्? न; "यानि ह्येव जाग्रत् पश्यति तानि सुप्तः"—इति दृश्यदर्शनयोर्विभागकथनाज्जाग्रदर्थतुल्याऽर्थक्रियासमर्थाऽर्थाऽभावपरत्वेनाऽपि 'इव' शब्दसम्भवात्। प्रस्पष्टं च मनोरथाद्वैलक्षण्यं स्वप्नस्य। "बहिः कुलायात्" इति च जाग्रद्देहाऽभिमानाऽभावमात्रपरम्; अपरथा देशान्तरादौ विहरतः प्रबोधो नामग्रहणमात्रेण न स्यात्। कल्पितत्वाऽविशेषेऽपि जाग्रत्स्वप्नब्राह्मण्यादेरिवान्तरविशेषेण जाग्रत्व्योमाऽदिसृष्टे-र्व्यवस्थितत्वोपपत्तेः।

ज्ञानवती

(पू) "जहाँ से ये भूत उत्पन्न होते हैं—" इत्यादि सृष्टि एवं प्रलय के वर्णन के द्वारा "उस ब्रह्म को विशेष रूप से जानो" इस जिज्ञासा की कथनपरकश्रुति ही उपन्यस्त है न कि हेतुविशेष, जन्म आदि के श्रुत होने से; श्रुतिसम्बन्ध जन्मआदि के कारणभूत ब्रह्म का लक्षण असम्भव नहीं है। (पू) तो वह सर्ग प्रलय का वर्णन इस प्रकार दैव के पौरुष का प्रदर्शन करने के लिये हैं। "सब उस प्रभाव से प्रवर्तित होते हैं और उसका उपरम होने पर उपरत होते हैं"

---

[१] (क) इति देव तुरुष, (ग) इति जिज्ञासाकथनपरा।
[२] (ग) प्रभावप्रविभा दर्शना। [३] (ख) तद्भवेन।
[४] (क) न्त। [५] (क) चान्त। [६] (क) स्मृतेः।

इति भट्टपादैरुक्तत्वान्नैव श्रुत्याऽपि सर्गादिसिद्धिः ? इदमसमञ्जसम् ; शब्दस्य[1] वह्न्यादाविव स्वार्थबोधनेऽनाधेयाशक्तिरिति "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" इति स्थितत्वात्। यदि पौरुषेयसङ्केताधेया शब्दे शक्तिः, तदा तदाधानात्[2] प्रागबोधकतया शब्दे न सङ्केत एवावतरेत्। अथ सर्गकाले सर्वज्ञेन सङ्केतिताः शब्दा अस्मदादीनां व्यवहार्याः; न चाद्य[3] सङ्केतकरणमपि इदं नामास्य इति इदमा निर्दिश्यैवेति स्वाभाविकत्वासिद्धिः[4]; प्रमाणान्तरसिद्धे सामान्यविशेषशब्दयोः सङ्केतात् प्रथमव्युत्पत्तौ, सङ्केताधीन एव[5] शक्तिः 'अस्य' इत्यादिसामान्यशब्देऽपि

भावदीपिका

एवं सम्भावना सिद्धा, प्रयोजनं च वक्ष्येत—इत्यभिसन्धायौत्सर्गिकं यथोपात्तार्थत्वं वक्तुं शब्दसामर्थ्यं निर्धारयति—इदमसमञ्जसमिति। यथा व्रीह्यादेः प्रोक्षणाद्याधेया अदृष्टजननशक्तिस्तथा शब्दस्याऽर्थधीजननशक्तिः सङ्केताऽधेया चेत् ? तदा 'भू सत्तायाम्' स्वर्ग नाक इत्यादि सङ्केतस्य निवारकाऽभावेनैकस्थित्यप्रसङ्गे व्याकरणाभिधानशास्त्रविप्लवः स्यात्—इति संस्कृतशब्दानां सर्वत्र व्यवस्थिताऽर्थबोधसमर्थता सङ्केतो न सिद्ध्येत् इति विपक्षे बाधमाह—यदीति। विप्लवव्युदासार्थं शङ्कते—अथेति। ईश्वरोऽपि शिष्यान् प्रति सङ्केतं कुर्वन् केनाऽपि शब्देन वस्तु निर्दिश्य तं करोतीति वक्तव्यम्। निर्देशाऽर्थशब्दस्य सङ्केतात् प्राक् अबोधकत्वादर्थज्ञानाभावे सङ्केताऽनवतारप्रसङ्गः; तेन तस्य स्वाभाविकी बोधनशक्तिर्वक्तव्या। एवं शब्दान्तराणामपि, अर्धजरतीयस्याऽन्याय्यत्वात्–इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। बालोऽपियदा सङ्केतं ग्राह्यते तदा तस्य निर्देशाऽर्थं शब्देऽपि सङ्केताऽभावात् प्रत्यक्षसिद्धस्याऽर्थस्याऽङ्गुल्यादिना प्रदर्शनेन सामान्यविशेषशब्दसङ्केतं ग्राह्यते इति सम्प्रतिपन्नत्वात् आद्येश्वरसङ्केतेऽपि तत्सम्भवादित्यर्थः। यथारुचि सङ्केतस्य न्यायबाह्यत्वात् पूर्वसङ्केताऽनुरोधे च स्वाभाविकशक्ति-

ज्ञानवती

ऐसा भट्टपाद ने कहा है। इस कारण श्रुति से भी सृष्टि आदि की सिद्धि नहीं होती ? (उ) यह असङ्गत है। वह्नि आदि में (वर्तमान शक्ति के समान) शब्द की भी स्वार्थ-बोधन में अनाधेया शक्ति है। और शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध औत्पत्तिक (=स्वाभाविक) है यह निश्चित है। यदि शब्द में शक्ति पौरुषेय संकेत के द्वारा आधेय है तो उसके आधान के पहले बोधक न होने के कारण शब्द में संकेत ही अवतरित नहीं होगा।

(पू) सृष्टि काल में सर्वज्ञ ने शब्दों को संकेतित कर दिया है और वे हमारे व्यवहार्य हैं ? (पू) प्रथम संकेत का किया जाना भी, 'इसका यह नाम है' इस प्रकार यह (इदम्) शब्द के द्वारा निर्देश करके हुआ होगा। इस कारण स्वाभाविकत्व की असिद्धि हो जाती है। (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि प्रमाणान्तर से सिद्ध होने पर सामान्य एवं विशेष शब्द का प्रथम व्युत्पत्ति से संकेत हो जाता है। इसलिये इसकी शक्ति इष्ट आदि शब्द में (वर्तमान शक्ति के समान) सामान्य शब्द में भी संकेत के अधीन है।

---

१ (ग) शब्दस्य चक्षुरादीनामिव।
२ (ग) प्रयोगबोधकत्वाविशेषान्न सं।
३ (ग) न वाद्य।
४ (ग) स्वाभाविकशक्तिसिद्धिः।
५ (ख) संकेतानि न···शक्ति।

इष्टादिशब्द[1] इव ? मैवम्[2]; प्रतिशब्दं प्रयोगकल्पनस्य वाचकशक्त्यालोचनपूर्वकत्वाभावे प्रमात्वाद्यविशेषापातात्। प्रति-(कल्पं) तथा[3] सङ्केते च द्रव्यगुणकर्मादिशब्दार्था (व्यवस्थितत्वादि[4]) विरुद्धबहुकल्पनाप्रसङ्गात्। ततः पूर्वकल्पप्रयोगानुस्मरणेन भगवानपि प्रयोगान् कल्पयतीति न तेनाध्याधेया शब्दे शक्तिः। ततः पुरुषबुद्ध्यपेक्षाभावादपौरुषेयत्वे सम्बन्धस्यानपेक्षतालक्षणं शब्दस्य प्रमाण्यं स्थितम्। (औत्सर्गिकञ्च[5]) शब्दस्य विवक्षितार्थत्वम्।

क्वचित्तु प्रमाणान्तरविरोधादविवक्षितार्थत्वमपवादः[6] (न च वेदस्यापि अध्ययनविधिबलात् विवक्षितार्थता; अध्ययनविधिवाक्यस्येव स्वार्थबोधकत्वमात्रेण

भावदीपिका

सिद्धिः। न चैवं सङ्केतवैफल्यम् ? यथा खलु मण्यौषधादीनां स्वाभाविकशक्तौ सत्यामपि प्रयोगोपयोगाय तज्ज्ञापकः सङ्केतः, एवं शब्दस्याऽपीति [आह] मैवमिति। किन्त्वेश्वरसङ्केताऽऽहितशक्तेरन्यसङ्केतो ज्ञापक एवेष्यते। अथ ईशसङ्केतोऽप्येष्टव्यः; प्रतिकल्पं सङ्केताऽन्यथात्वे कदाचिद् द्रव्यशब्दस्य गुणादौ सङ्केतो गुणादिशब्दस्य द्रव्येऽन्यत्र वा सङ्केत इति 'द्रव्यादय षडेव पदार्थाः, ते च पृथिव्यादयः' —इति शास्त्रकृद्वचनं कालभेदाऽपेक्षं देशभेदाऽपेक्षं लौकिकवचनवदनिर्धारकं स्यात्; ऐच्छिकत्वेऽर्थानामपि विप्लवप्रसङ्गात्। द्व्यणुकाद्यारम्भप्रक्रियाऽपि न नियता सिद्ध्येत् - इत्याह —प्रतिकल्पमिति। सम्बन्धस्य=अर्थबोधनसामर्थ्यस्य।

एवं शब्दस्य बोधसामर्थ्यं निरूप्य औत्सर्गिकं चेति उत्सर्गबाधमाशङ्क्याह — न चेति। अन्यथा विध्यनवस्था स्यात्। न चाध्ययनविधेः स्वपरनिर्वाहकत्वान्नाऽनवस्था,

ज्ञानवती

(उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रत्येक शब्द में प्रयोग की कल्पना के पहले वाचकशक्ति का आलोचनपूर्वकत्व न रहने पर प्रमात्व आदि के सामान्य की आपत्ति हो जायगी। और प्रत्येक शब्द में उस प्रकार का संकेत होने पर द्रव्य गुण कर्म आदि शब्दों के अर्थ की अव्यवस्था आदि विरुद्ध अनेक कल्पना का प्रसङ्ग होने लगेगा। इससे भगवान् भी पूर्व-पूर्व कल्प के प्रयोग के स्मरण के द्वारा प्रयोगों की कल्पना करते हैं। अतः वे भी शब्द में शक्ति का आधान नहीं करते। इससे पुरुष की बुद्धि की अपेक्षा न होने से अपौरुषेय होने पर शब्द का सम्बन्ध की अनपेक्षतालक्षण वाला प्रामाण्य स्थित हो गया। और शब्द का विवक्षितार्थत्व स्वाभाविक है।

तथा कहीं प्रमाणान्तर से विरोध होने पर विवक्षितार्थत्व अपवाद है। वेद की भी, अध्ययनविधि (=स्वाध्यायोऽध्येतव्यः) के बल से विवक्षितार्थता नहीं है क्योंकि अध्ययनविधिवाक्य के समान स्वार्थबोधकत्वमात्र से विवक्षितार्थता की सिद्धि होती है। और उस सर्ग आदि के प्रतिपादक वाक्य के भी स्वार्थबोधक होने से विवक्षितार्थ होने पर सर्ग आदि की सिद्धि होगी।

---

[1] (ख) इष्टाशब्द इव। [2] (ग) एवं भगवतोऽपि प्रयोग कल्प।
[3] (क) शब्दम्। [4] (क) व्यवस्थितत्वापत्त्या, (ग) व्ययस्थितत्वादिविरुद्धवहुः।
[5] (क) औत्पत्तिकं। [6] (क) अपवादः अंकुरादीनायिव, (ग) अपवादः न वेदस्याप्यध्ययन···।

विवक्षितार्थत्वोपपत्तेः। तस्य च सर्गादिवाक्यस्यापि स्वार्थबोधकत्वात् विवक्षितार्थत्वे सर्गादि सिद्ध्येत् । न चाकाशादिसर्गप्रलययोः प्रयोजनाभावः;) अङ्कुरादीनामिव तेषामपि जीवविशेषाधिष्ठितत्वेन भोगोपयोगिभावसम्भवात् । अन्यथा मनुष्यादि[1]-(शरीरेष्वपि स्थितेष्वेव) कर्मानुसारेण सञ्चारोपपत्तौ तत्सर्गादिकमपि न स्यात् । 'एतत् स्थूलशरीरमात्मनः" इति पञ्चीकरणप्रकरणे भाष्यकारवचनाच्च, कर्मविपाकस्मृतेश्च —

"ब्रह्मा विश्वसृजो[2] धर्मो महानव्यक्तमेव च ।
उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः ॥"

भावदीपिका

विवक्षितार्थत्वस्य विध्यनपेक्षलौकिकवाक्येषु दर्शनात्, अकस्मात् विधिसामर्थ्यकल्पनायोगात्; तथाऽपि निष्प्रयोजनत्वात् अविवक्षितत्वम् । तत्राऽऽह—न चेति । जीवविशेषाऽऽकाशाभिभावेन ब्रह्मोपासकाः; तेषामध्यात्मपरिच्छिन्नकरणादेरधिदैवभावेन व्याप्तत्वं "भूरित्यग्नौ प्रतिष्ठति" — इत्यादौ "त्रीण्यात्मनो कुरुते मनो वाचं प्राणम्"—इत्यादौ च प्रसिद्धम् । यदि न कर्मणोऽभिनवभोगस्थानाऽऽक्षेपकत्वम् तत्राऽऽह—अन्यथेति । न चाऽयं न वृद्धोक्तः सिद्धान्त इति शङ्कनीयम्—इत्याह—एतदिति । सकार्याणां पञ्चीकृतमहाभूतानां स्थूलशरीरत्वम्, अपञ्चीकृतानां च सूक्ष्मशरीरत्वम्, तत्कारणमात्माज्ञानं च भगवत्पादाचार्यैरुक्तम्; न चैतदोत्प्रेक्षिकम्; श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धत्वात् इत्यर्थः । ब्रह्मा=चतुराननः; विश्वसृजः=प्रजापतयः; धर्मः=यमः; महान्=हिरण्यगर्भः; अव्यक्तम्=माया; असम्भूतित्वेन उपास्याः । श्रुत्योपदिष्टा=सात्त्विकी=सत्त्वपरिणामसगुणब्रह्मज्ञानसाध्या । आसक्तिः=कर्मफलम्— "यज्ञेन देवानाप्नोति वैराजं तपसा पुनः । संन्यासाद् ब्रह्मणः स्थानं वैराग्यात् प्रकृतौ लयः ॥" इत्यादि आदिशब्दार्थः । वैराग्यात्=फलान्तरविषयात्, असम्भूत्युपासनसहितात्

ज्ञानवती

(पू) आकाश आदि की सृष्टि एवं प्रलय का कोई प्रयोजन नहीं है । (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि अङ्कुरआदि के समान उनके भी जीवविशेष के द्वारा अधिष्ठित होने से भोगोपयोगीभाव सम्भव है । अन्यथा मनुष्य आदि के शरीर के भी स्थित होने पर ही कर्म के अनुसार संचार की उपपत्ति होने पर उसकी सृष्टि आदि भी नहीं होगी । "यह आत्मा का स्थूल शरीर है", इस पञ्चीकरण के प्रकरण मे भाष्यकार के वचन तथा कर्मविपाक स्मृति —

"ब्रह्मा, प्रजापति, धर्मराज, महान् (हिरण्यगर्भ) और अव्यक्त (=माया) (इनकी) इस (गति) को मनीषी लोग उत्तम सात्त्विकी गति मानते हैं ।"

इत्यादि के द्वारा अव्याकृत नामक से लेकर मूलाभिमान पर्यन्त कर्मफल का ज्ञान होने से अंकुर आदि के रेतस्, गर्भ आदि न होने पर भी कर्मफल के स्थान के समान आकाश आदि

१ (क) मनुष्यादिशरीरादिष्वे, (ग) मनुष्यादि शरीरेष्वपि स्थितेष्वेव ।
२ (ग) विश्वसृजा ।

इत्यादेरव्याकृताख्यमूलाभिमानपर्यन्तं कर्मफलावगमादङ्कुरादीनां रेतोगर्भाद्यभावेऽपि कर्मफलस्थानत्ववदाकाशादेरपि तथात्वम्[१]; तेषां लीलादेहेन विशेषभोगसम्भवाच्च; पृथिव्यादेर्लीलाविग्रहस्मरणाच्च। न च त्रिवृत्करणादौ विभज्यमानानां पूर्वाधिष्ठातृभिः परित्यागनाशादिव्यवहार(प्रसङ्गः[३]); वृक्षादेरर्धावशेषस्यापि जीवनदर्शनाच्च; जलोदरादिवृद्धाविव[४] भूतान्तर(भागापगमे[५])ऽपि तत्त्वाविघाताच्च; भूतेषु कारणदेवताया जीवात्मनाऽनुप्रवेशश्रवणाच्च; (वृक्षादिवदेव[६]) स्वपरकर्मफलोपभोगार्थसर्गादिसम्भवाच्च। "शतायुर्वै पुरुषः[७]" इति स्थितिकालपरिमाणश्रवणात्, तदन्ते प्रलयाच्च सर्गप्रलयसद्भावसिद्धिः[८]। प्रलयकालपरिमाणं तद्विधायकस्मृत्यनु-

भावदीपिका

प्रकृतिसायुज्यलक्षणः तल्लयः फलम्। न चाऽऽकाशादिप्राप्तानां भोगाऽसम्भवः? तदभावेऽपि "मनसा एतान् पश्यन् रमते" इति श्रुतेः स्वाप्नभोगकल्पोपभोगस्वीकारात्, ऐच्छिकदेहविशेषैः स्थूलभोगसम्भवाच्च—इत्याह अङ्कुरादीनामिति। स्मरणम्=विष्णुपुराणादौ।

प्रसिद्धगर्भवज्जीवाऽधिष्ठितानां भूतानामुत्पत्तौ गर्भस्येव विभजने मरणप्रसङ्गात् कल्पान्तपर्यन्तभोगाऽनुपपत्तिः?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। अतिसूक्ष्माणामपि सृष्टिवद् विभागसम्भावनार्थश्चकारः—जीवदर्शनाच्चेति। न च भागाऽन्तरसञ्चारप्रयुक्तोऽपि दोषः—इत्याह—जलोदरेति। पुनर्दार्ढ्यार्थं जीवाधिष्ठानं सम्भावयन् भूतानां सर्गं सम्भावयति—भूतेष्विति। अधुना प्रलयं सम्भावयति—शतायुरिति। कियन्तं कालं प्रलीनाऽवस्थेति? अत आह—प्रलयेति। ब्राह्ममानेन संवत्सरशतं प्रलीनतेति विष्णुपुराणादौ प्रसिद्धम्। कर्मणः फलसम्बन्धविधायकेन फलकालस्याऽचोदितत्वात् फलदृष्टयनुसारेण च श्रुतिदृष्टयोः फलारम्भतदभावाऽवस्थयोरनपलापाद्युक्तो युगपत् सर्वप्राणिनां कर्माऽनारम्भे प्रलयः। अस्मद्देहे जायमानकुम्भादिकर्मवत् हिरण्यगर्भदेहे जायमानजीवकर्मणां तद्देहारम्भपर्यन्तौदासीन्योपपत्तेश्च।

ज्ञानवती

का भी वैसा (अर्थात् कर्मफल स्थान) है। और उनका लीलादेह के द्वारा विशेषभोग सम्भव है। तथा पृथिवी आदि का लीलाविग्रह स्मृतिप्रतिपाद्य है। (पू) त्रिवृत्करण आदि में पूर्वाधिष्ठाताओं के द्वारा विभज्यमानों के विषय में परित्याग नाश आदि का व्यवहार होने लगेगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि वृक्ष आदि के अर्द्ध अवशेष रहने पर भी जीवन देखा जाता है। और जलोदर आदि की वृद्धि होने पर (जैसे तत्त्व का विघात नहीं होता उसी प्रकार) भूतान्तर भाग का अपगम होने पर भी तत्त्व का विघात नहीं होगा। और भूतों में जीवात्मा रूप से कारण देवता का अनुप्रवेश भी सुना जाता है। तथा वृक्ष आदि के समान ही अपने तथा दूसरे के कर्म फल के उपभोग के लिए (वृक्ष आदि

---

१ (ग) तदुपपत्तेः। २ (ग) लीलादेः। ३ (क) व्यवहारः, (ग) व्यवहारप्रसङ्गः। ४ (ख) जलोदरादेः। ५ (क) भूतान्तरापगमेऽपि, (ग) भूतान्तरभागापगमेऽपि। ६ (क) वृक्षादेः स्वपर, (ग) वृक्षादिवदेवस्व। ७ तै० ब्रा० ३।८।६०। ८ (ग) प्रवाहसिद्धिः।

मितश्रुतिप्रमाणकं नापनेयम्। जीवमायाविषयीकृतस्य ब्रह्मणस्तत्र विवर्त्तमानमायाविकारैः सर्वज्ञत्वादिगुणस्य व्योमादिनिमित्तोपादानभावसम्भवाच्च।

"अथात्माविद्या[१] व्यक्तादिरूपेण प्रथते तदा।
तन्निवृत्तौ निवृत्तिः स्यात् निवृत्तिः केवलात्मना[२]।"

इति वार्त्तिकाच्च। इतश्च न सर्गादिप्रयोजनाभावः; विध्यनुसारेण "तं यथा यथोपासते" "तस्याभिध्यानातृतीयम्"=विराटसूत्रात्मापेक्षया "विश्वैश्वर्यम्"[३] इति च

भावदीपिका

ननु "आत्मन आकाशः", इत्यादिवाक्यैर्ब्रह्मणः कार्यसम्बन्धोऽवगम्यते; "तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरम्", "न तस्य कार्यम्"इत्याद्यैश्च तद्भावोऽवधार्यते; ततो जगतो जन्मादिसम्भवेऽपि[न] तद्ब्रह्मणः कारणत्वनिर्णयः ?—इत्यत आह—जीवेति। मायिकस्वाभाविकविभागोपपत्तेः श्रुत्योरविरोधान्निर्णयः। सर्वं मायातद्विकाराऽऽत्मकं स्वरूपप्रज्ञया[भास्यते] "सर्वज्ञं ब्रह्म", "तमेव भान्तम्" इत्यादिश्रुतेः नाऽऽगन्तुकया कारणसाध्यया; "पश्यत्यचक्षुः" इत्यादिश्रुतिविरोधात्। मायावृत्तिपक्षेऽपि युगपद्द्वैताऽद्वैतप्रकाशविरोधाद्याशङ्का स्यात्। ततः स्वरूपप्रज्ञयैव निराविलं सर्वज्ञत्वम्। आदिशब्दात् सर्वशक्तित्वादिगुण इव कार्यनिर्वाहाङ्गत्वाद् गुणः। जीवमायेत्यत्र सुरेश्वराचार्यसम्मतिमाह—अथेति। अव्यक्तहिरण्यगर्भविराडादिप्रपञ्चाऽऽत्मना यस्मिन् पक्षे आत्माऽविद्या प्रथते=परिणमते=प्रकाशते वा; तदाऽयं प्रपञ्चः। तन्निवृत्तौ विद्ययेति पूरणीयम्। निवर्त्तेत सत्यत्वे स्वीयमायाकृतत्वे वा न निवर्त्तेत सत्यत्वान्नित्यमुक्तत्वविघाताच्च निवृत्तिरपि न परिशिष्यते किंपुनर्निवर्त्यः प्रपञ्च इत्यर्थः।

अथ "प्राण एको देशः" इत्यन्तर्भावश्रुत्या देवतानां नाममात्राऽवगमान्नाऽऽकाशादिदेवताविग्रहसृष्टिप्रयोजनम् ?—इति पराऽभिप्रायं निराचष्टे— इतश्चेति। बहुश्रुतिविरोधात् अन्तर्भावाऽवगमस्याऽङ्गाऽङ्गिभावव्याप्यव्यापकभावाऽभिप्रायत्वं द्रष्टव्यम्। तथाऽपि ब्रह्मण आप्तकामस्य

ज्ञानवती

की सृष्टि भी संभव है। "पुरुष सौ वर्ष की आयुवाला होता है" इस प्रकार स्थितिकाल के परिमाण का श्रवण होने से और उसके अन्त में प्रलय होने से सृष्टि एवं प्रलय के सद्भाव की सिद्धि होती है। उस (अर्थात् प्रलयकाल परिमाण) के विधायक स्मृति से अनुमित श्रुतिप्रमाण वाले प्रलयकाल के परिमाण का अपनयन नहीं करना चाहिये। वहाँ (अर्थात् ब्रह्म में) विवर्तमान माया के विकारों से सर्वज्ञत्व आदि गुण वाले, जीव एवं माया को विषय करने वाले ब्रह्म का व्योमादिनिमित्तोपादानभाव सम्भव है।

"इसके वाद तव आत्मा, अविद्या अव्यक्त आदि रूप से फैलने लगती है। (विद्या के द्वारा) उसकी निवृत्ति होने पर (अव्यक्त आदि की) निवृत्ति होती है। और निवृत्ति केवलात्मरूप से होती है।"

इस वार्त्तिक (से भी यही सिद्ध होता) है। इसलिए भी सर्ग आदि का प्रयोजन नहीं है कि विधि के अनुसार "जैसे-जैसे उसकी उपासना करता हैं।" "उसके सर्वतोभावेन

१ (ख) अथात्मविद्या। २ बृ० वा०पृ० ३६६। ३ श्वे १।११।

श्रुतेरविकृतेश्वरोपासकस्य[1] तद्भावफलार्थत्वादनिर्वाच्यसर्गे [प्रयोजनानपेक्षणात्[2]]। न च विधौ ब्रह्मणि वा तात्पर्यवतां वचसां न देवतादौ प्रामाण्यम्, येन "देवो भूत्वा-देवानप्येति", इति[3] श्रुतिः प्रमाणं स्यात् इति वचनीयम्; "सोमेन यजेत", इति सोमद्रव्ययुक्तयागविधौ गुणांशे तात्पर्याभावेऽपि प्रामाण्यवदत्राप्युपपत्तेः। (लता[4]-) चन्द्रयोः प्रसिद्धात् सोमशब्दादन्यत्र (एतद्वाक्यार्थान्वयित्वेन[5]) अप्राप्तत्वात्।

भावदीपिका

प्रयोजनाऽभावात् क्रीडाविहारादेरप्यप्राप्तसुखविशेषाऽर्थत्वान्न सर्गादौ प्रवृत्तिर्युक्ता। न चोभयोः श्रौतत्वादविरोधः ? क्रियायाः क्षणभङ्गुरायाः कालान्तरभाविफलसाधनत्वस्य श्रौतत्वेऽपि देवता-प्रसादाऽऽदिव्यापारेण विरोधपरिहारवदत्राऽपि तस्य कर्त्तव्यत्वात्। अत आह—अनिर्वाच्येति। "देवस्यैष स्वभावः" इति वृद्धैर्मर्यास्वभावाऽवलम्बनेन विरोधपरिहारादित्यर्थः। सार्वभौमा-ऽऽनन्दोपक्रमेण देवाऽऽद्यानन्दवर्णनमुत्कर्षोत्कर्षेण देवादिविग्रहं गमयति। देहवत् सुतदर्शनादेव लोकप्रसिद्धेश्च मनुष्यलोक इतिवत्। ततस्तद्द्देवताविग्रहसिद्धिः। देवो भूत्वा "देवभावसाक्षा-त्कारमुपासनप्रकर्षजं लब्ध्वैतद्देहान्ते तद्देहं लभते" - इति वचनाच्च। अथ कर्मब्रह्मकाण्डयोः तयोरेव तात्पर्यभेदेन च वाक्यभेदः स्यात्? इत्यत आह—न च विधाविति। "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्"—इति न्यायात् प्रत्यक्षसिद्धे सोमादौ न प्रामाण्यम्? इत्यत आह—लतेति। "श्रेयःसाधनता ह्येषां नित्यं वेदात् प्रतीयते"—इति धर्मसाधनत्वेनाऽपूर्वत्वस्य द्रव्याणां स्व[य]मुक्तत्वादित्यर्थः।

ज्ञानवती

ध्यान से विराट्, सूत्रात्मा की अपेक्षा तृतीय विश्वैश्वर्य प्राप्त करता है।" इस श्रुति से अविकृतेश्वर के उपासक का तद्भाव (=अविकृतेश्वर भाव) रूप फलार्थ होने से अनिर्वाच्य सर्ग में किसी प्रयोजन की अपेक्षा नहीं होती।

(पू) विधि अथवा ब्रह्म में तात्पर्य वाले वचनों का देवता आदि के विषय में प्रामाण्य नहीं है जिससे "देवता होकर देवताओं को प्राप्त करता है" यह श्रुति प्रमाण होगी ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। जैसे "सोमेन यजेत" इस सोमद्रव्ययुक्त याग की विधि में-गुणांश में तात्पर्य न होने पर भी (इस विधिवाक्य का) प्रामाण्य है, उसी प्रकार यहाँ भी उपपत्ति है। क्योंकि लता एवं चन्द्र में प्रसिद्ध सोमशब्द से अन्यत्र इस वाक्यार्थ के अन्वयी के रूप में लता की प्राप्ति नहीं है।

---

१ (ग) अव्याकृतेश्वर। २ (क) प्रयोजनान्वेपणात्, (ग) प्रयोजनानन्वेषणात्। ३ बृ० ६।१।२। ४ (क) महेश्वर, (ग) लता। ५ (क) एतद्वाक्यात्, (ख) एतद्वाक्यात्··· लतायाः, (ग) अन्यत् एतद्वाक्यार्थान्ययित्वेन लतायाः।

[विग्रहवती देवताऽस्ति—]

अथ "सोमेन यजेत" इति सिद्धवदनुवादेन सोमगुणस्यार्थसिद्धत्वात्[१] तद्विषयप्रमाणान्तरा-(क्षेपान्न[२] विशिष्ट-)विधेरेव तत्र प्रामाण्यम्; विशिष्टविधेर्विशेषण-विध्याक्षेपकत्वाभ्युपगमात्[३] "सोममभिषुणुयात् सोमाभावे पूतिकानभिषुणुयात्" इति प्रमाणान्तरे[४] ग्रहणादभिषवणयोग्यद्रव्यविशेषावगमाच्च? तथाऽपि सर्वत्र विशेषणस्य मानान्तरासिद्धत्वात्तथैव श्रुत्योन्मीलितस्य सोमादिगुणस्य[५] "ऐन्द्रं दधि" इत्यादिना देवतागुणस्यापि प्रामाणिकत्वमपह्नोतुमशक्यमेव।

"प्राप्ते कर्मणि नानेको विधातुं शक्यते गुणः।

भावदीपिका

[विग्रहवती देवताऽस्ति—]

पृथग्गुणविध्यवष्टम्भेन शङ्कते—अथेति। पृथग्विधिसम्भावनार्थं तद्विषयं विध्यन्तरमुदाहरति—सोममिति। प्रमाणाऽन्तरग्रहणयोग्यस्याऽभिषवणयोग्यस्य च द्रव्यविशेषस्य सोमादेरभिषवणादिविध्याविष्टतयाऽवगमात् पृथग् विधिः सम्भाव्यत इत्यर्थः। एवमपि देवता-विग्रहो दुरपह्नवः, द्रव्यदेवतयोः तद्धितश्रुत्या इन्द्रो देवताऽस्य='ऐन्द्रम्' इत्यादिकया सम्बन्धाऽवगमात्; विद्यमानाऽविद्यमानयोश्च वन्ध्यासुतराजकुमारयोरिव सम्बन्धाऽसम्बन्धसम्भवात्; अन्यथा क्रियाफलसाध्यसाधनसम्बन्धेऽपि अविश्वासप्रसङ्गात्। न च लोकसिद्धमेव व्रीह्यादि-वत् क्रियाङ्गं, येन देवतायास्तदभावात् असत्सम्बन्ध औपचारिकः कल्प्येत; वेदाऽसिद्धस्याऽपि यूपाऽऽहवनीयस्तोमविशेषादेः क्रियाङ्गत्वाऽभ्युपगमात्; तेन तात्पर्याऽभावेऽपि प्रामाण्यं तत्रेष्ट-व्यम्। तदाह—तथाऽपीति।

पृथग् गुणविधिकल्पनेऽपि देवताविग्रहः सिद्धयतीत्युक्तम्; साम्प्रतं तदप्यनुचितम्—इत्याह—प्राप्त इति। कर्मणि पृथक्विहिते सति एकेन वाक्येनाऽनेको[१] गुणो विधातुं न शक्यते;

ज्ञानवती

[विग्रहवती देवता है—]

(पू) यद्यपि "सोमेन यजेत" इस सिद्धवत् के अनुवाद से सोमगुण के अर्थ से सिद्ध होने से उस विषयवाले प्रमाणान्तर का आक्षेप होने से (सोमगुण) विशिष्ट विधि का ही वहाँ प्रामाण्य नहीं है। क्योंकि विशिष्टविधि विशेषणविधि का आक्षेप करती है ऐसी मान्यता है और" सोम का अभिषव करना चाहिये" "सोम के अभाव में पूतिका (अर्थात् कंटीला करञ्ज) का अभिषव करना चाहिये" ऐसा प्रमाणान्तर का ग्रहण होने से अभिषवण के योग्य द्रव्यविशेष का ज्ञान होता है।

(उ) तथापि सब जगह विशेषणान्तर के मानान्तर से सिद्ध न होने के कारण उसी प्रकार श्रुति से उन्मीलित सोम आदि गुण का, तथा "इन्द्र देवता सम्बन्धी दधि" इत्यादि (वचनो) के द्वारा देवता रूप गुण का, प्रामाण्य छिपाया नहीं जा सकता।

"कर्म के प्राप्त होने पर अनेक गुण का विधान नहीं किया जा सकता। और

१ (ग) स्यार्थत्वात्तद्विषय। २ (क) क्षेपात्तत्विद्शिष्ट, (ख) (ग) क्षेपान्नविशिष्ट।
३ (ग) विध्याक्षेपाम्युः। ४ (ख) विशेषणान्तरग्रहणाभि।
५ (ग) सोमादिगुणवत्।

अप्राप्ते तु विधीयन्ते बहवोऽप्येकयत्नतः ।।"[१]

इति। अपूर्वस्य कर्मणोऽनेकगुणविशिष्टस्य विध्यङ्गीकाराच्च चतुर्थ्यन्तशब्दमात्रस्य तदुद्भासितरूपविशिष्टस्य[२] वा बुद्धिशरीरस्य देवतात्वे "वज्रहस्तः पुरन्दरः" इत्यादि-विशेषस्वरूपवर्णना, अहल्याजारत्व-वृत्रवधकर्तृत्व-तीर्थप्रणेतृत्व-मेघवरदानादिवर्णना[३] विफला निर्मूला च प्रसज्येत। कल्पमन्वन्तरादिकालभोग्यकर्मविशेषफलानाञ्च मर्त्यदेहभोग्यत्वासम्भवात्तद्विषया[४] वेदवादाः बार्हस्पत्यानामिव विकत्थिताः स्युः[५]। प्रमाणान्तरप्राप्तिविरोधयोश्चासतोः देवतादौ मन्त्रादिपदसमन्वयस्यापाकरणा-योगाच्च। अन्तर्धानानेकशरीरधारणादिशक्तियोगाच्च[६] न यागादौ दर्शनयुग-(पद्भाग[७]) ग्रहणासम्भवादिदोषप्रसङ्गः, एकदेहत्वेऽपि तस्या भानोरिव तदुद्देशेन

भावदीपिका

गुणानां परार्थत्वात् परस्परमन्वयाऽऽसम्भवात्; प्रतिगुणं प्रधानविध्यावृत्तौ वाक्यभेददोषप्रसङ्गात्, यथा 'दध्ना पयसा तण्डुलैर्जुहोति' इत्युक्ते अग्निहोत्रकर्मणः पृथग्विहितत्वात्। न चैवं "सत्यं ज्ञानमनन्तम्'इति विशेषणानां "ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्" इत्युक्ततदनुवादेन सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्मानन्तं ब्रह्मेति प्रत्येकमन्वयाऽऽङ्गीकाराद् वाक्यभेददोषः? लक्षणवाक्यत्वात्। लक्षणवाक्यं हि सजातीयविजातीयेभ्यो व्यावृत्त्युपयुक्तविशेषणसमर्पणमात्रेण लक्ष्यविशेषविधिपरमेव। "दध्ना जुहोति" इत्यादिकं तु गुणविधिपरमेवेति। भवत्यनेकगुणतात्पर्ये वाक्यभेदो न प्रकृतेऽधिपक्षे दण्डाच्च देवताविग्रहो वक्तव्यः—इत्याह—चतुर्थ्यन्तेति। दण्डान्तरमाह—कल्पेति। इतश्च देवताविग्रहः स्वीकार्यः, औत्सर्गिकस्याऽपवादकारणाऽभावात्—इत्याह—प्रमाणान्तरेति। विग्रहवत्त्वे ऋत्विगादिवत् यागस्थले दर्शनं देवतायाः प्रसज्येतेत्याद्यस्त्य-पवादः? अत आह—अन्तर्धानेति। युगपद् भागग्रहणं प्रकारान्तरेणाऽप्याह—एकेति। अतोऽस्ति सण्डालाद्यतिरिक्ता तदधिष्ठात्री सूर्यादिदेवता स्यमन्तकमणिदानकर्मोत्पादिनी

ज्ञानवती

अप्राप्त होने पर तो एक प्रयत्न (=विधि) के द्वारा अनेक का भी विधान हो जाता है।"

इसके द्वारा अनेकगुणविशिष्ट अपूर्वकर्म की विधि को स्वीकार करने से चतुर्थ्यन्तशब्द-मात्रावाले अथवा उस (अर्थात् चतुर्थ्यन्तशब्द) से उद्भासित रूपविशेषवाले बुद्धिशरीर के देवता होने पर "पुरन्दर वज्रहस्त हैं" इत्यादि विशेषस्वरूप का वर्णन तथा अहल्या के जारत्व वृत्रवधकर्त्तृत्व, तीर्थप्रणेतृत्व एवं मेघवरदान आदि का वर्णन विफल एवं निर्मूल हो जायगा। और कल्प मन्वन्तर आदि काल में भोग्य कर्मविशेषों के फलों का मर्त्यदेह-भोग्यत्व असम्भव होने से वृहस्पति के मतों के समान उस विषय वाले वेद के सिद्धान्त निन्दित हो जायेगें। देवता आदि के विषय में प्रमाणान्तर की प्राप्ति एवं विरोध, जो कि असत् है, उनके मन्त्र आदि पद के समन्वय के अपाकरण का योग नहीं होगा। और अन्तर्धान अनेक शरीरधारण आदि शक्ति के योग से याग आदि में दर्शन, युगपद्भागग्रहण की असम्भावना आदि दोष की

[१] तं० वा० २।२।६। [२] (ग) विशेषस्य। [३] (ग) प्रेरणा वरदाना।
[४] (ग) विषयो वा। [५] (ग) कदर्थिता। [६] (ग) अन्तर्धानेनैकविग्रह।
[७] (क) तद्, (ख ग) पद।

युगपदनेकेषां हविस्त्यागो नमस्कारवन्न विरुध्यते। अतः सर्वथाऽस्त्येव विग्रहवती देवता।

[देवताविग्रहानित्यत्वेऽपि शब्दनित्यत्वम्—]

[1]तस्याश्चानित्यत्वेऽपि शक्रत्वादिजातेर्नित्यत्वाङ्गीकारात्[2] शक्रादिव्यक्तीनां क्रमेणानेकत्वात्तदनुगतजातित्वोपपत्तेश्च[3]। "युगपत् कार्त्स्न्येनानेकत्र वर्त्तमाना जातिः" इति लक्षणे च प्रलये ज्ञानत्वादिजातिः ईश्वरज्ञानादिषु, दिनादौ दिनत्वादिजातिश्च न स्यात्। "अनेकत्र कार्त्स्न्येन वर्त्तमाना जातिः" इति लक्षणाच्च। तस्याश्च शक्रादिशब्दार्थत्वेन शब्दार्थसम्बन्धस्यानित्यत्वाप्रसङ्गाच्च विग्रहवत्त्वे[4] न कश्चिद्दोषः। तत्र स्थावरभावादारभ्य यावदव्याकृतभावस्तावत् सर्वं कर्मविपाककुटुम्ब[5]

भावदीपिका

व्याख्यानेभ्यः—इत्याह—अत इति। "भावं तु बादरायणो अस्ति हि" इति व्याससूत्राच्च—विशुद्धब्रह्मविद्यायामधिकारस्य भावम्=विग्रहसद्भावम्; च देवतानां बादरायण आचार्यो मन्यते यतः। तासामर्थ्यित्वाद्यधिकारकारणमस्ति "वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम" इत्यादिविग्रहगमकं चाऽस्तीत्यर्थः।

[देवताविग्रहाऽनित्यत्वेऽपि शब्दनित्यत्वम्—]

देवतादिव्यक्तेरनित्यत्वात्, एकव्यक्तित्वेनेन्द्र[त्वा]दिजात्यसम्भवाच्च,[6] लौकिकदेवदत्तादिशब्दवत् नित्यत्वविघातक आगन्तुरर्थसम्बन्धो वेदशब्दानां दोषो विग्रहवद्देवतापक्षे?—इत्यपि नाऽऽशङ्कनीयम्—इत्याह—तस्याश्चेति। एवं सति जातिलक्षणभङ्गः?—इत्याशङ्क्य तस्याऽऽभासत्वान्न दोषः—इत्याह—युगपदिति। दिनाऽऽदिशब्देन सूर्यस्य परिस्पन्दविशेषो गृह्यते। देवताविग्रहस्यानसिद्धौ फलितमाह - तत्रेति। महाप्रलयप्रयुक्तं दोषं परिहरति—

ज्ञानवती

प्राप्ति नहीं है। एक देह होने पर भी उस (अर्थात् देवता) का सूर्य के नमस्कार के समान उसके उद्देश से एक साथ अनेक का हविस्त्याग, विरुद्ध नहीं होता। इस कारण सर्वथा शरीरधारिणी देवता है।

[देवताविग्रह के अनित्य होने पर भी शब्द नित्य है—]

उसके (अर्थात् देवताव्यक्ति के) अनित्व होने पर भी शक्रत्व आदि जाति नित्य मानी जाती है। और शक्र आदि व्यक्ति के क्रमशः अनेक होने से तदनुगत जातित्व की उपपत्ति होती है। "एक साथ सम्पूर्ण रूप से अनेक में वर्त्तमान जाति कहलाती है" ऐसा लक्षण करने पर प्रलयकाल में ईश्वरज्ञान आदि में ज्ञानत्व आदि जाति और दिन आदि में दिनत्व आदि जाति नहीं रहेगी। इसलिये 'अनेकमें सम्पूर्णरूप से वर्त्तमान जाति कहलाती है' ऐसा लक्षण है। और उसके शक्र आदि शब्द का अर्थ होने से शब्द, अर्थ एवं सम्बन्ध के अनित्यत्व का प्रसङ्ग न होने से विग्रहवती होने में कोई दोष नहीं है। उसमें स्थावर भाव से लेकर जहाँ

१ (ग) तस्या अनि। २ (ग) नित्वत्वात्। ३ (ग) तदेनुगजाति। ४ (ग) विग्रहवत्वे कश्चित्। ५ (ग) कुटुम्बमेव। ६ (क) या।

एव तेन कर्मफलोपपादनार्थमेवात्यन्तिकसर्गप्रलये। महालये जात्युच्छेदेऽपि सुप्तोत्थितवदनादौ संसारे लयोत्थितस्य धातुः पूर्वतुल्यप्रवृत्तेरदोषः।

यदि नाव्याकृतभावः उपासनादिक्रियाफलम्, किन्त्वनादिविक्षेपप्रधानमायायामविद्यामय्यां तद्विलक्षणायां वा स्वोपहितेश्वरस्वरूपानावरकत्वात् प्रतिबिम्बितं चैतन्यमीश्वरो जगत्कर्त्ता जीवानां प्रशास्ता न कदाचित् (संसारी[१]) न कदाचित् (मायो[२])पाधिप्रध्वंसेन केवलबिम्बकल्पचैतन्यात्मना स्थितिभागव्याकृताह्वयोऽनादिसिद्ध एव; तदाऽपि यदि तदुपासकः फलभाक्, तदा पूर्वसिद्धेश्वरभावस्येदानीमसाध्यत्वादुपहितस्योपासकस्योपहितैक्यायोगाच्चानन्ताव्याकृतेश्वरप्रसङ्गो दुर्वारः। तथा च इष्टसिद्धिः—

"विद्याक्रियाभ्यां न[३] ब्रह्म पूर्वसिद्धं भवेदयम्।
कुलालव्यापृतेः किं स्यात् पूर्वसिद्धघ(टो)दयः[४]॥"[५] इति।

भावदीपिका

महाप्रलय इति। शक्तिरूपेण सर्वस्याऽवस्थानात्, "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति श्रुतेश्च, न व्यत्यासाऽऽशङ्कोदयः। कारणसायुज्यपर्यन्तं कर्म सगुणविद्याफलं तन्मतान्तरोपस्थापनेन परिशोधयति—यदीति। तदुपासकः फलभाक् न भवति चेत्? "आप्नोति स्वाराज्यम्", "तृतीयं विश्वैश्वर्यम्" इत्यादिश्रुतिविरोधात्।

ज्ञानवती

तक अव्याकृतभाव है वहाँ तक सब कर्मविपाक का समूह ही है। इसलिये कर्मफल का उपपादन करने के लिये ही आत्यन्तिक सृष्टि एवं प्रलय होते हैं। महाप्रलय में जाति का उच्छेद होने पर भी सुप्तोत्थित के समान अनादि संसार में प्रलय से उठे हुए ब्रह्मा की पूर्व (प्रवृत्ति) के समान प्रवृत्ति होने से कोई दोष नहीं है।

यदि अव्याकृतभाव उपासना आदि क्रिया का फल नहीं है, किन्तु अविद्यामयी अथवा उससे विलक्षण अनादिविक्षेपप्रधाने माया में स्वोपहित ईश्वर रूप का अनावरक होने से प्रतिबिम्बित चैतन्य ईश्वर जगत् का कर्त्ता, जीवों का प्रशासक कभी भी संसारी नहीं है और न कभी माया रूप उपाधि का नाश होने से केवल बिम्बकल्प चैतन्यात्म रूप से स्थिति वाला अव्याकृत नामक अनादिसिद्ध ही है; तो भी यदि उसका उपासक फल का भागी होता है तो पूर्वसिद्ध ईश्वरभाव के इस समय साध्य न होने से उससे उपहित उपासक का उससे ऐक्य न होने के कारण अनन्त अव्याकृत ईश्वर की प्राप्ति दुर्वार हो जायगी। वही (बात) इष्ट सिद्धि (में कही गई) है—

"यह (=जीव) विद्या और क्रिया के द्वारा पहले से सिद्ध ब्रह्म नहीं हो सकता। क्या कुलालव्यापार के द्वारा पूर्वसिद्ध घट का उदय होता है?"

---

[१] (क) संसारी, (ग) ससारि। [२] (क) अन्यो, (ग) मायो।
[३] (ग) क्रियाभ्यास-पूर्व। [४] (क) टाः, (ग) टोः।
[५] इ० सि० २।८८।

न च[1] स्वरूपविषयप्रामाणिकसाक्षात्कारे सति कदाचिदप्यनुच्छिद्यमाना माया माया भवति; (मायावि[2]) साक्षात्कारे व्याघ्रादिभावलक्षणमायायाश्च्छेददर्शनात्[3]। हिरण्यगर्भस्यापि सहैव ब्रह्मवित्समाजेन तथाऽन्येषाञ्च विद्यया कैवल्याशा समुच्छिद्येत भगवतो मायाया अनिवृत्तौ। न च[4] मिथ्यात्वेऽप्यनादित्ववदनुच्छेद्यत्वमपि मायायाः; उच्छेदात्मकबाधाभावे[5] मिथ्यात्वस्यैवायोगात्। अतो यथा प्रतिकल्पं भिद्यते हिरण्यगर्भस्तथैवाव्याकृतेश्वरोऽपि। न चैवम् "नेतरोऽनुपपत्तेः" इत्यादिन्यायस्य जीवस्य सर्गकर्तृत्वादिनिषेधकस्यानवकाशः;[6] यतो हिरण्यगर्भावधिरेव (स्थावरभावादारभ्य[7]) जीवव्यपदेशः, अव्याकृतः पुनरीश्वरव्यपदेश एव यथा ब्रह्मभूयंगतस्य बिम्बतैव[8]।

भावदीपिका

एवं साधनसाध्यमीश्वरं अनेकं व्यवस्थाप्य स्वाऽभिप्रेतमताऽऽदिसिद्धमीश्वरं वक्तुं पराऽभिप्रेतमपास्यति—न चेति। "वेदान्तकृद् वेदविदेव चाऽहम्"—इत्याद्यागमेन प्रामाणिकसाक्षात्कारलाभः। अनुच्छेद्यत्वोपपत्तिरपि न युक्ता—इत्याह—न चेति। सति तत्त्वसाक्षात्कारे कदाचित् केनाऽप्याकारेणोच्छेदाऽभावे ब्रह्मवन्मिथ्यात्वाऽनुपपत्तेरुच्छेदे नित्यमुक्तत्वाऽऽदिसम्भवो द्रष्टव्यः। इदानीं साधनसाध्यमीश्वरं प्रपञ्चयति—अत इति। अतः=नित्यसिद्धेश्वरात्; साधनसाध्योऽपीश्वरत्वात्सर्गादिकर्त्ता; तस्य च साधकत्वात् जीवत्वमपीति सूत्रविरोधः—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चैवमिति।

ज्ञानवती

स्वरूपविषय का प्रामाणिकसाक्षात्कार होने पर कभी भी अनुच्छिद्यमान माया माया नहीं होती क्योंकि मायावी का साक्षात्कार होने पर व्याघ्र आदि भावलक्षण वाली माया का उच्छेद देखा जाता है। भगवान की माया की निवृत्ति न होने पर विद्या के द्वारा ब्रह्मवित् समाज के साथ ही हिरण्यगर्भ तथा अन्य लोगों के कैवल्य की आशा उच्छिन्न हो जायगी। (पू) मिथ्यात्व के होने पर भी अनादित्व के समान माया का अनुच्छेद्यत्व भी है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि उच्छेदात्मक बाध का अभाव होने पर मिथ्यात्व ही नहीं होगा। इसलिये जैसे हिरण्यगर्भ प्रतिकल्प में भिन्न होता है उसी प्रकार अव्याकृत ईश्वर भी। (पू) "नेतरोऽनुपपत्तेः" (अनुपपत्ति होने से परमात्मा ही आनन्द रूप है दूसरा कोई नहीं) इत्यादि न्याय वाले जीव के सर्गकर्तृत्व आदि निषेधक का अवकाश नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि स्थावर भाव से प्रारम्भ कर जीव का अव्याकृत व्यपदेश हिरण्यगर्भ की अवधि तक ही होता है फिर ईश्वर व्यवहार ही होता है जैसे कि ब्रह्मभूयस्त्व को प्राप्त व्यक्ति की बिम्बता ही होती है।

---

[1] (ग) इति च। [2] (क) मायायाः (ग) मायावि। [3] (ग) उच्छेद। [4] (ग) न मिथ्यात्वे। [5] (ग) भावेऽपि मि। [6] (ग) निबोधकस्य। [7] (क) वधिरेव जीव, (ग) वधिरेव स्थावरभावादारम्यजीव। [8] (ग) ब्रह्मतै।

किञ्च हिरण्यगर्भोऽपि प्रायः[१] परत्वेनोच्यते, किमु अव्याकृतः। "हिरण्यगर्भ उपाधिशुद्ध्यतिशयापेक्षया[२] प्रायशः पर एवेति श्रुतिस्मृतिवादाः प्रवृत्ताः। संसारित्वं तु क्वचिदेव दर्शयति[३]" इति बृहदारण्यकवृत्तावाचार्यैरभिधानात्। तस्मात् बिम्बमेवानादिरीईश्वरः तस्य प्रतिबिम्बत्वे[४] अनादिप्रपञ्चभ्रमाधिष्ठानस्य निरङ्कुशनियन्तृत्वाद्यनुपपत्तिः[५] प्रतिबिम्बस्य प्रतिबिम्बनियन्तृत्वाद्यसिद्धेः प्रसज्येत। तथा च श्रुतिः—

"यथा वटबीजसामान्यमेकमनेकान् स्वाव्यतिरिक्तान् (वटान्[६]) सबीजानुत्पाद्य तत्र पूर्णः सन्तिष्ठति, एवमेवैषा माया स्वाव्यतिरिक्तानि पूर्णानि क्षेत्राणि दर्शयित्वा जीवेशावाभासेन[७] करोति माया चाविद्या[८] च स्वयमेव भवति सैषा

भावदीपिका

किं पुनर्न्याय्यम् ?—इत्याह—किञ्चेति। एवं सिद्धदशाऽऽपन्नस्येश्वरव्यपदेशं दृढीकृत्य सूत्राऽनुपपत्तिं परिहरति—तस्मादिति। यस्मादागन्तुरीश्वर ईश्वरव्यपदेशभागप्यनादिकालप्रवृत्तसर्गाऽऽदिनिर्वाहको न भवति तस्मादित्यर्थः। एकस्यैव ब्रह्मप्रतिबिम्बस्य जीवत्वमीश्वरत्वं वाऽवस्थाभेदेनोक्तम्; तत्र श्रुतिं प्रमाणयति—तथा च श्रुतिरिति। ययेश्वरो हिरण्यगर्भश्च सर्वगतः सर्वमय ईश्वरस्तत्कल्पाऽन्तत्वात् हिरण्यगर्भः, एवं सर्वे जीवाः स्वस्वाऽविद्याद्वारेण सर्वमयाः, सर्वं चाऽनेन प्रकारेण सर्वमयम्। एवमुच्छेद्याऽविद्याऽविद्यामयी माया जगत्कारणत्वं ब्रह्मणः प्रवर्त्तयति इत्युक्तम्। जगद्विभ्रमाऽधिष्ठानत्वाऽभिप्रायेण जगदाकारपरिणामिनोऽव्याकृतस्य भाष्यवार्त्तिककारैरुच्छेद्यत्ववर्णनादप्येवम् इत्याह—हिरण्यगर्भ इति।

ब्रह्मणोऽन्यादृशकारणत्वाऽसम्भवाच्च, "भूयश्चाऽन्ते विश्वमायानिवृत्तिः"—इत्यादिश्रुतौ

ज्ञानवती

इसके अतिरिक्त हिरण्यगर्भ भी प्रायः 'पर' कहा जाता है। फिर अव्याकृत क्यों (नहीं कहा जायगा)। "हिरण्यगर्भ उपाधिशुद्धि के अतिशय की अपेक्षा प्रायः पर ही है यह श्रुति एवं स्मृति के सिद्धान्त से सिद्ध है। संसारित्व तो कहीं दिखाता है" ऐसा आचार्य ने वृहदारण्यकवृत्ति में कहा है। इस कारण बिम्ब ही अनादि ईश्वर है। उसके प्रतिबिम्ब होने पर प्रतिबिम्ब के नियन्तृत्व आदि की सिद्धि न होने से अनादिप्रपञ्च-भ्रम के अधिष्ठान के निरङ्कुश नियन्तृत्व आदि की अनुपपत्ति हो जायगी। श्रुति भी है—

"जैसे एक साधारण वट का बीज अपने से अव्यतिरिक्त सबीज वटों को उत्पन्न करके उसमें पूर्ण रूप से रहता है, उसी प्रकार यह माया अपने से अव्यतिरिक्त पूर्ण क्षेत्र को दिखाकर जीव और ईश्वर को आभास से उत्पन्न करती है। यह वह चित्र सुदृढ़,

---

१ (ख) अभिप्रायः परत्वे, (ग) अपि परत्वे।
२ (क) उपास्ति शुद्धचतिशयापेक्षया, (ग) अस्ति शुद्धचतिप्रयोगापेक्षया।
३ (ग) न्ति। ४ (ग) प्रतिबिम्बादि। ५ (ख) उपपत्तेः, (ग) अनुपपत्तेः।
६ (क) रिक्तान् सबीजान्, (ख) रिक्तान् वटान् सबीजान्।
७ (ख) जीवेशाभासेन। ८ (ग) माया च विद्या च,

चित्रा सुदृढा" इत्येकेनैव[1] ब्रह्मण आभासेन स्वयमविद्याव्यपदेशवती, "जीव [व्यवहारकर्मा[2]-] विद्याविशेषाभ्यां तिरस्कृतावरणसामर्थ्यात्, जीवानां [3]तूपाधिगताशुद्धिबाहुल्यात् संसारित्वमेव प्रायशोऽभिलप्यते" इत्याचार्योदीरणात्[4] मायाव्यपदेशवती चेश्वरव्यवहारं प्रकृतिः करोतीत्यर्थः। "चित्रा सुदृढा" इति चित्रव्योमादिविवर्तवती, न स्वप्नसुदृढा, किन्तु जाग्रद्व्यवहारस्य कर्मकाण्डानुबन्धस्य निर्वाहहेतुत्वेन सुदृढा[5]। तथा च श्रुतिः—

"हिरण्यगर्भस्त्रिरूप ईश्वरवद् व्यक्तचैतन्यः सर्वगो ह्येष ईश्वरः क्रियाज्ञानात्मा सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः (सर्वमयाः[6]) सर्वावस्थास्थितिः[7]" हिरण्यगर्भो हि व्याकृतजगदात्मस्वरूपभावनया तदात्मभावफलभागी तस्य वृक्षस्येवाव्याकृतं[8] जडमज्ञानलक्षणं[9] क्रियाज्ञानवासनोपेतं जगदङ्कुरावस्थामूलं[10] "तद्धेदन्तर्ह्यव्याकृतमासीत्" इतिश्रुत्योक्तम्। मूलोच्छेदे हि संसारवृक्षस्योच्छेदः सम्भवतीत्यतो मूलवर्णनमित्याचार्याः।

भावदीपिका

सम्यग्ज्ञाननिवर्त्याऽविद्यायां मायाशब्दप्रयोगादित्यादिविवरणदर्शनाच्च, न स्वतन्त्रनित्योपाधिकल्पनाऽवकाशः—इत्याह—ब्रह्मण इति। इतोऽपि न स्वतन्त्रोपाधिकल्पना—इत्याह—

ज्ञानवती

माया और अविद्या स्वयं होती है।" इस प्रकार ब्रह्म के एक ही आभास से स्वयं अविद्या व्यवहार वाली है। क्योंकि जीव व्यवहारविशेष (अर्थात्) कर्म (विशेष), एवं अविद्याविशेष के द्वारा (उसमें) तिरस्कृत आवरण का सामर्थ्य है। और जीवों का तो उपाधिगत अशुद्धि की अधिकता होने से प्रायः संसारित्व ही कहा जाता है ऐसा आचार्यों के द्वारा कहा गया है। अर्थात् प्रकृति माया कहलाती हुई ईश्वर का व्यवहार करती है। "चित्रा सुदृढ़ा" का मतलब है चित्र जो व्योम आदि उस विवर्त्त वाली; न कि स्वप्न के समान अदृढ़। किन्तु कर्मकाण्डानुबन्ध वाले जाग्रद्व्यवहार के निर्वाह का कारण होने से सुदृढ़ है।

श्रुति भी है—

"हिरण्यगर्भ के तीन रूप हैं (वह) ईश्वर के समान व्यक्त चैतन्य वाला है, यह ईश्वर है, सर्वगामी है, क्रियाज्ञानात्मक है, सब कुछ है, सबसे पूर्ण है, सर्वमय सब जीव है, सब अवस्था की स्थिति है।" हिरण्यगर्भ व्याकृत जगदात्मस्वरूप की भावना से तदात्मफल का भागी होता है, वृक्ष के समान उसका ही अव्याकृत, जड़, अज्ञान लक्षण से युक्त क्रिया ज्ञान की वासना से युक्त जगत् की अंकुरावस्था का मूल, "वह यह उस समय अव्याकृत था" इस

---

१ (ग) एतेनैव। २ (क) व्यवहारं कर्म, (ग) व्यवहारकर्म। ३ (ग) जीवानुपाधि। ४ (ग) र्येरुदीर। ५ (क) सुदृढा (नृसिंहो १) तथा, (ग) सुदृढा तथा। ६ (क) सर्वमायाः, (ग) सर्वमया। ७ नृसिंहो० १। ८ (ग) चाव्याकृतम्। ९ (ग) लक्षणा न क्रिया। १० (ग) वस्था तद्धेः। ११ (ग) धिष्ठानत्वस्यैव। १२ (ग) कारणैरेव।

ब्रह्मणः स्वयं कारकत्वाभावान्न मायाब्रह्मणी सूत्रद्वयवद्रज्ज्वाः कारणं मायासहकृतं वा ब्रह्म किन्तु जगदात्मना विवर्तमानमायाधिष्ठानस्यैव[1] ब्रह्मणः कारणत्वमिति स्वीकारात्। "अन्तर्यामी चेश्वरो नियम्यजीवकार्यकरणैरेव[2] कार्यकरण'वान्नियन्ता" इति सिद्धान्तकारोऽघोषीत्। जीवाविद्ययैवाविद्यावानित्यपि-सम्भवात्। अतः (समष्टि[3]-) साक्ष्येवान्तर्यामी वक्तव्यः अतो नोपाधिभेदो युक्तः; हिरण्यगर्भस्यैव[4] लिङ्गसमष्ट्यात्मकस्य भूतानां पञ्चीकरणेन स्थूलविराडादिकारणत्व-सम्भवात्[5]। यदि चोपाध्यन्तरमव्याकृतमीश्वरस्य[6], तर्हि हिरण्यगर्भस्य बीजावस्थेयम्। एतदुच्छेदेन संसारवृक्षोच्छेद इत्यादिभाष्यवार्त्तिकविरोधः।

भावदीपिका

अन्तर्यामी चेति। "अभिचाकशीति" अभिपश्यति एव केवलं चेत् कथं तस्य प्रेरकत्वम्?—इत्याकाङ्क्षायां दर्शनमात्रमेव तस्य प्रेरकत्वमित्युक्त्वा "सत्त्वोपाधिरीश्वरः" इति भाष्यकारीयं वचो न स्वतन्त्रोपाधिगमकम्; स्वशक्त्या नियन्तृत्वे च लीलावतारेषु पुराणाद्युक्तः शोक-मोहादिरपि तत्कृत इति न संसारिभ्यो विशेषः स्याद् भगवत इति भावः। "दृष्टेर्द्रष्टार-मित्यत्र यः साक्षी प्रागुदाहृतः। अन्तर्यामीति सोऽत्रापि नातोऽन्योऽस्तीति भण्यते"॥ इति वार्त्तिककारैः "न दृष्टेर्दृष्टारं पश्येः" इत्यत्र बुद्ध्याद्यागमाऽपायसाक्षिण एवाऽभिहितस्याऽन्तर्या-मित्वेन निर्णीतत्वाच्च न त्वंपदार्थोपाधेरविद्यातः तदुपाध्यन्तरलाभः।

ज्ञानवती

श्रुति से कहा गया है। मूल का उच्छेद होने पर ही संसारवृक्ष का उच्छेद हो सकता है इसलिये मूल का वर्णन (होता है) ऐसा आचार्य लोग (कहते हैं)।

चूँकि ब्रह्म स्वयं कारक नहीं है इसलिये माया एवं ब्रह्म, रज्जु के दो सूत्रों के समान अथवा माया सहकृत ब्रह्म कारण नहीं है, किन्तु सांसारिकरूप से विर्त्तमान माया का अधिष्ठान रूप ब्रह्म ही कारण है ऐसा स्वीकार (किया गया है) और अन्तर्यामी ईश्वर नियम्यजीवकार्य के करने से ही कार्यकरणवान् नियन्ता है, ऐसी सिद्धान्तकार ने भी घोषणा कर दी है। जीव की अविद्या से ही (ईश्वर) अविद्या वाला है ऐसा भी सम्भव है। अतः समष्टि के साक्षी को ही अन्तर्यामी कहना चाहिये। इसलिये उपाधि का भेद ठीक नहीं है क्योंकि लिङ्गसमष्टयात्मक हिरण्यगर्भ ही भूतों के पञ्चीकरण के द्वारा स्थूल विराट् आदि का कारण हो सकता है। यदि अव्याकृत ईश्वर की दूसरी उपाधि है तो हिरण्यगर्भ की यह बीजावस्था है। इसके उच्छेद से संसारवृक्ष का उच्छेद होता है; इत्यादि भाष्य-वार्त्तिक से विरोध हो जाता है।

---

१ (ग) (ख) कारणवान्। २ (ग) तन्नियन्ता।
३ (क) समस्तसाक्ष्येव, (ग) समष्टिसाक्ष्येव।
४ (ग) गर्भस्यैव समष्टयात्मकभूतानां। ५ (ग) करणेन च संभ।
६ (ग) मन्तरस्य। ७ (क) व, (ग) वा। ८ (ख) तदपि।

[जीवोपाधेः स्वरूपम्–]

अथानन्तजीवोपाध्यनन्ताज्ञानावयवसमाहाररूपा मायै(वा)व्याकृतम्[१] तत्त्वज्ञानेन च तदवयवा उच्छिद्यन्ते, ततो न विरोधः? तदाऽपि समष्टिसृष्टेः कारण-समष्टिशरीरहिरण्यगर्भोपाधिमायावयवोपाधेरेवेश्वरस्य साधारणसृष्टिकर्तृत्वम्; जीवोपाध्यविद्याऽवयवानां साधारणसृष्टिपरिणामानभ्युपगमात्। अथ तत्तदवयवोच्छित्तौ समष्टीश्वरोच्छित्तिभयात् स्वतन्त्रैव काचिन्माया परोपाधिरव्याकृतशब्दार्थः? तर्हि तस्य जीवगततत्त्वज्ञानेनोच्छेदानङ्गीकाराद् भाष्यविरोधस्तदवस्थः।

"यन्तृत्वहेतुविध्वस्तावेष सम्पद्यतेऽक्षरम्।"[२]

"प्रत्यगात्मनो नियन्तृत्वं कारणत्वञ्चाज्ञानहेतुकं तस्य ज्ञानान्निवृत्तावेष आकाशः कार्यकारणविलक्षणमक्षरं सम्पद्यते।" इति वार्त्तिकाच्च।

किञ्च "कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्ते" इत्यादिना प्रागेव प्राणादिसर्गतः सङ्कल्प-

भावदीपिका

[जीवोपाधेः स्वरूपम्—]

भाष्यादेरन्यपरत्वं मत्वाऽऽह—अथेति। तथाऽपि न नित्यत्वलाभः—इति मत्वाऽऽह—तदाऽपीति। समाहारस्याऽवस्तुत्वात् अवयवानां चाऽसाधारणसृष्टिहेतुत्वाऽभ्युपगमान्न साधारण-सृष्टिलाभोऽपि—इत्याह—जीवोपाधीरिति। पक्षान्तरे पूर्वोक्तविरोधो दुर्वारः—इत्याह—अथेति। अपि च षोडशकलासृष्टौ साधारणत्वेनाऽभिमतवेदलोकस्थूलशरीरादेर्गणनात्, जीव-कर्तृकत्वश्रवणाच्च, "तत्राऽपरविद्याविषयः कर्त्रादिसाधनक्रियाफलभेदरूपः संसारोऽनादिरनन्तो दुःखरूपत्वाद्धातव्यः प्रत्येकं शरीरिभिः सामस्त्येन" इति मुण्डकविवरणे भाष्यकारैरुक्तेश्च। जीवानां चाऽविद्ययैव सृष्टिरिति नोपाध्यन्तरलाभः—इत्याह—किञ्चेति। कस्तर्ह्युपासकाऽनु-

ज्ञानवती

[जीवोपाधि का स्वरूप—]

(पू) अनन्त जीव की उपाधिस्वरूप अनन्त अज्ञान रूप अवयव का समूहरूप माया ही अव्याकृत है, और तत्त्वज्ञान से उसके अवयव उच्छिन्न हो जाते हैं; इस कारण विरोध नहीं है? (उ) तो भी समष्टि सृष्टि का कारण समष्टि शरीर रूप जो हिरण्यगर्भ उसकी उपाधि माया के अवयव उपाधि वाले ही ईश्वर का साधारणसृष्टिकर्तृत्व है, क्योंकि जीव की उपाधि=अविद्या के अवयवों का साधारण सृष्टि के रूप में परिणाम नहीं माना जाता। (पू) तब तत्तद् अवयव का नाश होने पर समष्टि ईश्वर के उच्छेद के भय से कोई स्वतन्त्र ही माया (जो) पर की उपाधिरूप है (वही) अव्याकृत शब्द का अर्थ है? (उ) तब तो जीवगत तत्त्वज्ञान से उसका उच्छेद न मानने से भाष्य का विरोध तदवस्थ ही रह जाता है। तथा (इसके समर्थन में—)

"नियन्तृत्व हेतु के विध्वस्त हो जाने पर यह अक्षर बन जाता है।"

"प्रत्यगात्मा का नियन्तृत्व एवं कारणत्व अज्ञानहेतुक है। ज्ञान से उसकी निवृत्ति होने पर यह आकाश कार्यकारण से विलक्षण अक्षर बन जाता है।"

यह वार्त्तिक भी है। (पू) इसके अतिरिक्त यदि "किसके उत्क्रान्त होने पर मैं"

१ (ग) नैव मायाकाचिन्माया प।   २ बृ० वा० ३।८।४३।

पूर्वजीवसर्गाङ्गीकारश्चेत्, तन्मध्यपातिमन्त्रादिशब्दवाच्यवेदादिसर्गस्यापि तन्मूलत्वेन प्रत्येकं सर्वस्रष्टृत्वं जीवानामनिवार्यम्।

"विज्ञानपुरुषस्येदं स्वभावादेव सर्वदा।
आत्मैव हि जगत् कृत्स्नं साधारणविशेषवत्॥
अभिव्यक्तेः[1] पुरात्वेतत् रूपमासीत् स्वभावतः।
(अभिव्यक्तौ[2]) तु तत्साक्षात् समष्टिव्यष्टिलक्षणम्॥"[3]

इति वार्तिकाच्च प्रत्येकं सकलप्रपञ्चलाभः। अथेयमपि मायोपाधिसृष्टिः? गतं तदा षोडशकलोच्छेदवादेन। दृश्यते च चन्द्राद्यधिष्ठानः समारोपिताकाशविशेषो-भूमिष्ठैः; स च जीवाविद्याजन्योऽभ्युपेयतेऽसाधारणत्वात्। एवं तत्र तत्रोपादानतया-नुवर्त्तमानाऽविद्या पटान्तरकल्पमायावयवत्वशालिनी स्यात्। "अनेन जीवात्मनाऽनु-प्रविश्य"[4] "स एष इह प्रविष्टः[5] इति श्रूयमाणः प्रवेशः किमीक्षणकर्त्तुः कारणस्य

भावदीपिका

पासकयोर्विशेषः?—इत्याशङ्क्य सर्वात्मकत्वाऽभिमानोऽनभिमानश्च विशेषः इत्याह—[अभि-व्यक्ते-]रिति। विलक्षणमायया षोडशकलासर्गाऽङ्गीकारे दोषाच्च—इत्याह—अथेयमपीति। अविद्याया मायावयवत्ववाचोयुक्तिरप्यनुपपन्ना; तथा च न विलक्षणा; नाऽप्यविद्याऽवयववती माया—इत्याह—अनेनेति। "योऽसावविद्योत्सङ्गस्यः प्राक् प्रविष्ट इतीरितः। स्रष्टृ-ब्रह्मैवाऽविद्याऽऽदिप्रविष्टं ब्रह्म वा इदम्"॥—इत्यत्र ब्रह्म शब्दवाच्यं "अहं ब्रह्म" इत्यहंपदार्थ-श्चेति वार्त्तिकभाष्यकाराभ्यां बिम्बकल्पस्यैव प्रवेशो न्यरूपि।

ज्ञानवती

इत्यादि के द्वारा प्राणादिसृष्टि के पहले संकल्पपूर्वक जीव की सृष्टि को आप मानते हैं तो? (उ) उसके बीच में आने वाले मन्त्र आदि शब्द से वाच्य वेद आदि की दृष्टि के भी तन्मूलक होने से प्रत्येक जीव का सर्वस्रष्टृत्व अनिवार्य हो जायगा।

"विज्ञान पुरुष के स्वभाव से ही साम.न्य एवं विशेष वाला यह समस्त जगत् आत्मा ही है।"

"यह रूप स्वभावतः अभिव्यक्ति के पहले भी था और अभिव्यक्ति होने पर तो समष्टि व्यष्टि लक्षण वाला वह साक्षात् आ ही जाता है।"

इस वार्त्तिक से भी प्रत्येक (जीव) को समस्तप्रपञ्च का लाभ होता है।

(पू) यह भी माया की उपाधि की सृष्टि है? (उ) तब तो षोडशकला सम्बन्धी उच्छेदवाद समाप्त हो जायगा। भूमिपर रहने वाले लोग चन्द्र आदि के आधारभूत समारोपित आकाशविशेष को देखते हैं और वह जीव की अविद्या से जन्य माना जाता है, क्योंकि असाधारण होने के कारण इस प्रकार जगह-जगह उपादान के रूप में अनुवर्त्तमान अविद्या पटान्तर के समान माया के अवयवत्व वाली हो जायगी। "इस जीवात्मा के रूप से

१ (घ) अव्यक्तेः। २ (क) अभिव्यक्तातु, (ग) अभिव्यक्तौ तु।
३ बृ० वा० ५।१६।४८,५०। ४ छा० ६।३।२।
५ बृ० १।४।७। ६ (क) अव्यक्ते।

चिन्मात्रस्य वा ? आद्ये नित्यमुक्तत्वं बद्धत्वञ्च मायोपाधेः। अन्त्ये अन्यस्येक्षण-प्रवेशसङ्कल्पः[१] अन्यस्य प्रवेश इति किं केन सङ्गतम् ?

अथानादिसिद्धे प्रतिबिम्बतया (कूल[२]-)पिपतिषावत् सङ्कल्पश्रुतिरुपचरितार्थेति मतम् ? तर्हि व्योमादिसर्गसङ्कल्पो मुख्य इति का प्रमा ? चेतनस्य[३] स्वगतविकाराभावान्मायावृत्तय एव सङ्कल्पादिरूपाः स्वरूपज्ञानेनान्तर्बहिर्भास्यमानास्तद्धर्मतया[४] समारोप्यमाणा ईक्षणादिवेदप्रामाण्याय। तच्च न स्वतन्त्रमेवोपाधिमपेक्षते। विशेषतश्च तत्त्वज्ञानेनाप्यनुच्छेद्यम्।

किञ्च यदि विच्छिन्नोपाधिः, तदा तस्यापि यद्विज्ञानात् सर्वविज्ञानं[५] तत्सर्वं भ्रमाधिष्ठानमायाविषयीकृतं[६] तत्त्वम्पदार्थ इति तत्पदार्थत्वे स्थिते स्फुटमजागलस्तनायमानत्वम्। यच्च[७] स्वतन्त्रोपाधिकृतं कारणत्वं जीवानां[८] (तद्-)भ्रमहेतुः

भावदीपिका

संसारस्याऽऽगन्तुकत्वभयात् प्रवेशश्रुतेरन्यार्थत्वे स्वतन्त्रमायाया अनिरूपणान्नेक्षणादिकमपि तत्कृतम्—इत्याह—अथेति। न चेक्षणादिश्रुत्या स्वतन्त्रोपाधिलाभः—इत्याह—चेतनस्येति। इतश्च न स्वतन्त्रोपाधिः—इत्याह—किञ्च यदीति। किञ्च जीवानामीश्वरो जगत्कारणमित्यादिविभ्रमो मायाकार्योऽविद्याकार्यो वा ? उभयथाऽपि दोषः—इत्याह—यच्चेति। अध्यासस्याऽर्थज्ञानात्मकत्वस्वीकारादर्थाऽध्यासस्य जीवाऽविद्याकृतत्वे कारणत्वाद्यर्थस्य न माया-

ज्ञानवती

अनुप्रवेश करके" "वह यह यहाँ प्रविष्ट है," यह श्रूयमाण प्रवेश क्या ईक्षणकर्त्ता कारण का है अथवा चिन्मात्र का ? प्रथम पक्ष में मायोपाधि वाले (जीव) का नित्य मुक्तत्व एवं बद्धत्व हो जाता है, और अन्तिमपक्ष में अन्य का ईक्षणप्रवेश-संकल्प और अन्य का प्रवेश, इस प्रकार किसकी किससे संगति है ?

(पू) अनादिसिद्ध में प्रतिबिम्व के रूप से प्रवेश होने पर किनारा गिरने की इच्छा के समान संकल्पश्रुति उपचरित (=लक्षित) अर्थ वाली है—यदि ऐसा विचार है ? (उ) तो आकाश आदि की सृष्टि का संकल्प मुख्य है फिर प्रमा क्या ? चेतन में स्वगतविकार न होने से मायावृत्तियाँ ही संकल्प आदि रूप होकर ईक्षण आदि वेद के प्रामाण्य के लिये स्वरूपज्ञान के द्वारा भीतर बाहर भासित होती हुई उस धर्म के रूप में समारोपित होती हैं। और वह (=चेतन) स्वतन्त्र उपाधि की अपेक्षा नहीं रखता। साथ ही विशेष रूप से तत्त्वज्ञान के द्वारा भी वह उच्छेद्य नहीं है।

इसके अतिरिक्त यदि (वह) विच्छिन्न उपाधि वाला है तो वह भी; जिसके विज्ञान से सब कुछ जाना जाता है वह सब भ्रम का अधिष्ठान माया के द्वारा विषयी किया गया तत्त्वं पदार्थ है इस प्रकार तत् पदार्थ के स्थित होने पर; अजागलतस्तन के समान स्पष्ट

---

१ (ग) ईक्षणं प्रवेशसंक। २ (क) तया पिपतिषा। (ग) तया कूलपिपतिषा।
३ (ग) चैतन्यस्य। ४ (ख) बहिर्हास्यमाना।
५ (ग) तत्सविभ्रमविज्ञानमाया। ६ (ग) कृतं न तत्त्वम्।
७ (ग) यच्चास्वतन्त्रो। ८ (ग) नां तद् भ्रम। (क) नां भ्रम।

स एवोपाधिश्चेत् भ्रमान्तरस्यापि स्यात्। (अथ[1]) स्वोपाधिकृतः कारणत्वज्ञानमात्राध्यासः ? तदा जीवदृष्ट्या नास्ति कारणत्वं नामार्थ इति तत्पदवाच्यं निरालम्बनं[3] ज्ञानमात्रं स्यात्। यदा पुनरनिश्चितरज्जुन्यायः, तदा प्रत्येकं "पूर्णमदः पूर्णमिदम्[4]" इत्याद्युपदेशेन सर्वजडांशस्य सर्पादिवदुच्छेदेन तत्त्वम्पदार्थयोः सैन्धवघनवत् विज्ञानघनताऽऽविर्भावो मोक्षः क्षोदक्षमः स्यात्। अपरथा एकतरोपाध्यनुच्छेदेनार्धजरतीयं भवेत्।

"बोधाबोधौ नभो दृष्ट्वा कृत्स्नधीनीडगौ यथा।
बाध्येतरात्मकौ स्यातां तथेहात्मनि गम्यता ॥"

इति। जीवगताज्ञानविषयतया जगद्धेतुताऽऽदिभ्रमवर्णनाच्च[5]। एतदेव स्फोरयति—"सर्वे जीवाः सर्वमयाः" इति।

"यदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते किमुत तद् ब्रह्मावेद्यस्मात् तत्सर्वमभवत्" इति प्रतिजीवं विद्यया सर्वस्यात्मतयोपसंहारश्रुतेश्च

भावदीपिका

जन्यत्वलाभः। अथ ज्ञानमात्रमविद्योत्थम्? तत्राऽऽह—नास्ति कारणत्वमिति। एवं परस्याऽसामञ्जस्यमुक्त्वा स्वस्य सामञ्जस्यमाह—यदा पुनरिति। यथा 'सोऽयम्' इत्यत्र देशकालवैशिष्ट्येऽर्थतः सत्येऽसत्ये वाऽखण्डत्वज्ञानं विवक्षामात्रेण, न तथा 'तत्त्वमसि' इत्यत्र युक्तम्; तथा सति जीवोपाध्युच्छेदेऽपि संशयः स्यात्—इत्याह—अपरथेति। तस्माज्जीवाऽविद्ययैव ब्रह्मणः सृष्टत्वादीत्यभियुक्ताऽऽगमवचोभ्यां दर्शयति—बोधेति। यस्मादाविद्यकसर्गादौ वेदस्याऽऽनुकूल्यं सम्भवति ततः सम्भवति ब्रह्मणः कर्मविद्याफलदानाय तत्कर्तृत्वम्। उपपन्नं चैवं "फलमत उपपत्तेः" इति प्रघट्टकार्थमुपसंहरति—तत इति। एवमाकाशादिसृष्टिसम्भवे

ज्ञानवती

रूपसे व्यर्थ है। और यदि स्वतन्त्रोपाधिकृतकारणत्व जोवों के तद्भ्रम का हेतु वही उपाधि है ऐसा (मानते हैं तो) प्रमान्तर का भी (वही उपाधि) हो जायगा। (पू) अपनी उपाधि के द्वारा किया गया कारण का ज्ञानमात्र अध्यास है? (उ) तब तो जीव की दृष्टि से कारण कोई चीज नहीं है इसलिये निरालम्बनज्ञानमात्र ही तत् पद का अर्थ होगा। और जब अनिश्चित रज्जुन्याय है तो प्रत्येक के लिये वह (ब्रह्म) पूर्ण है वह (जीव) भी पूर्ण है इत्यादि उपदेश के द्वारा सर्प आदि के समान समस्त जडांश का उच्छेद हो जाने से तत् एवं त्वं पदार्थ का सैन्धवघन के समान विज्ञानघनता के आविर्भाव वाला मोक्ष विचारसह हो जायगा। अन्यथा एक उपाधि का उच्छेद न होने से अर्द्धजरतीय (की आपत्ति) हो जायगी।

"आकाश को देखकर 'नभः कृत्स्नं' यह बोध तथा 'नभः नीडगः' यह अबोध जैसे इतरात्मक (अर्थात अबाध्य) एवं बाध्य होता है उसीप्रकार यहां आत्मा में भी समझना चाहिये (अर्थात 'आत्मा विभु है' यह बोध एवं अबाध्य है तथा 'आत्मा शरीरावच्छिन्न है' यह अबोध तथा बाध्य है)"

---

१ (क) अतः स्वोपाधि। (ग) अथ स्वोपाधि। २ (ग) अध्यासः जीव।
३ (ग) लम्बनमात्रं। ४ बृ० ५।१ ५ (ग) वर्णनाय।

प्रतिजीवोपादानत्वप्रतीतेः। ततो नात्यन्तिकसर्गप्रलययोरसम्भवः। अतएव च "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् नान्यत् किञ्चनमिषत्। स ईक्षत लोकानसृजत् इति। स इमान् लोकानसृजत्—अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भःपरेणदिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो[1] या अधस्तात्ताः आपः[2]।" इति लोकमात्र-सृष्टिरन्यत्र पि महाभूतसृष्टेरुपलक्षणार्थाः। "नान्यत् किञ्चित्" इत्यत्रापि कार्त्स्न्ये-

भावदीपिका

सर्वत्र साऽनुसन्धेया—इत्याह—अतएव चेति। यद्यप्यत्र लोकमात्रसृष्टिः तथाऽप्यन्यत्र वर्त्तमानायाः महाभूतसृष्टेरुपलक्षणार्था, सर्वोपनिषदां "गतिसामान्यात्" इति सूत्रेणैकविधाऽवगति-हेतुत्वसूचनात्, अत्राऽपि तत्सृष्टिगमकसद्भावाच्चेत्यर्थः। एवं कर्मवादनिरासेन लक्षण-सम्भावनोक्ता।

"तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते। अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चाऽमृतम्॥"—इत्यादिश्रुत्यनुसारेण तपसा=ज्ञानेन=पर्यालोचनेन सृष्टिविषयेण। "मनसश्चेन्द्रियाणां च ऐकाग्र्यं परमं तपः। तज्ज्यायान् सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते॥"—इति श्रुत्युक्तमेव तपः; तस्येन्द्रियाद्यभावात। तेन यथोक्ततपसा भूतयोन्यक्षरं ब्रह्म चीयते= उत्पिपादयिषितमिदं जगदङ्कुरमिव बीजं उच्छूनतां गच्छति। तत उपचितात् ब्रह्मणः; अन्नम्=अद्यते भुज्यते इत्यन्नम्; अव्याकृतं साधारणं संसारिणां नैकस्येश्वरस्योपाधिभूतम् अनाद्यपि व्याचिकीर्षाऽवस्थारूपेणाऽभिजायते। ततः प्राणः=हिरण्यगर्भः; ततः समष्ट्यात्मकं मनः; तस्मात्सत्यम्=भूतपञ्चकं स्थूलम्; ततोः क्रमेण भूरादयो लोकाः; ततः प्राणिवर्णाऽऽश्रमक्रमेण कर्माणि; कर्मसु चाऽमृतम्=कर्माऽनाशेऽभुक्ते कर्मणि भवत्येवेति कर्मफलमित्यर्थः। न च कर्मनिमित्तममृतं मोक्ष एवेति भ्रमितव्यम्; "एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवाऽपियन्ति", "नाकस्य पृष्ठे सुकृते तेऽनुभूत्वा इमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति"—इति श्रुतिविरोधात्।

ज्ञानवती

इस श्लोक के द्वारा जीवगत अज्ञातविषयता के कारण जगत्-हेतुतादि के भ्रम का वर्णन है। इसी को स्पष्ट करते है—"सब जीव सर्वमय है।" जो यह कहा कि—

"जिस ब्रह्मविद्या के द्वारा भावी मनुष्य सब कुछ जान जाते हैं क्या उस ब्रह्म को जान गये जिससे वह सब हुआ"। विद्या के द्वारा प्रत्येक जीव के विषय में सब का आत्मा के रूप में उपसंहार सुना जाता है, इस कारण प्रत्येक जीव के उपादानत्व की प्रतीति होती है। इसलिये आत्यन्तिक सर्ग एवं प्रलय असम्भव नहीं है। और इसीलिये—"यह एक ही आत्मा पहले था और दूसरा कुछ नहीं था, उसने ईक्षण किया कि लोकों का सृजन करें। उसने इन लोकों की सृष्टि की अम्भ (अर्थात् द्यौस्) मरीचि (अर्थात् अन्तरिक्ष) मर (अर्थात् मृत्युलोक) आप (अर्थात् पाताल) इस अम्भ से परे द्यौस् प्रतिष्ठित है; अन्तरिक्ष मरीचि है; पृथिवी मर है जिसके नीचे पाताल है।" यह लोकमात्र की सृष्टि अन्यत्र भी महाभूतसृष्टि के उपलक्षण के लिये है। "नान्यत् किञ्चित्" यहां पर भी संपूर्ण रूप में अभाव का श्रवण होने से उत्पत्ति

---

[1] (ग) मरो चया। [2] ऐ० १।१।

नाभावश्रवणात् प्रसूतिरपि कात्स्न्र्येन गम्यते। कारणात्माऽवशेषश्रवणाच्च शून्यकारणवादोऽप्यपास्तः। छन्दोगश्रुतौ च "तद्धैक आहुः असदेवेदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सञ्जायत" इति पूर्वपक्षत्वेन शून्यकारणवादमुत्थाप्य "कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यात्? इति होवाच। कथमसतः सज्जायेत?" इति निर्युक्तिकत्वेन तन्निराकृत्य "सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहु स्याम् प्रजायेय" इति[1] सत्कारणवादं निर्धार[2] भगवती श्रुतिः। ततोऽन्यत्रापि "असद्वा इदमग्र आसीत्" इत्यादौ व्यक्तकार्यविधुरे सत्येव कारणे प्रयुक्तोऽयमसच्छब्द इति गम्यते। न च "असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत" इति "असदेवेदमग्र

भावदीपिका

अधुना अस्तु कात्स्न्र्येन जगतो जन्माऽऽदि तथाऽपि न तल्लक्ष्यं सदेकरसं ब्रह्म किन्तु शून्यमेवेति अर्थान्तरता लक्षणस्येति मतं पराचष्टे—कारणाऽऽत्मेति। किं श्रुतिपर्यालोचनया शून्यकारणता, युक्तितो वा? नाद्यः; आत्मशब्दात्। न चाऽयं शून्ये व्युत्पन्नो वन्ध्यापुत्राऽऽदिशब्दवत्। 'आप्लृ' व्याप्तौ; "आत्मा ह्येषामङ्गानां मध्यमः" इति व्यापनयोग्ये वस्तुनि व्युत्पन्नत्वाच्च न शून्यं आत्मशब्दार्थ इत्यर्थः। श्रुत्यन्तरे सतः कारणत्वं व्यवस्थाप्यते—"सत्यं स आत्मा" इति। अत आत्मत्वविधानाच्च नाऽऽत्मशब्दशून्याऽर्थत्वम्—इत्याह—छन्दोगेति। स्वाभाविकेनाऽऽगन्तुकेन वा सामर्थ्येन विशिष्टस्य सहकार्यन्तराऽपेक्षस्य कारणत्वमिष्टम्; न च वन्ध्यापुत्रतुल्यस्य तत् सम्भवति; ततः शून्यकारणत्वं निर्युक्तिकमित्यर्थः। तैत्तिरीयकेऽपि "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः"—इत्यात्मनः कारणत्वमुपन्यस्य "स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः" इत्यन्त्यकार्यस्य तत्त्वविधाने पृथिवीकार्यस्य पर्वतादेरिव न तस्य पृथिव्या इवाऽसत्त्वं सम्भावयितुं शक्यम्। अथ तद्गताऽसच्छब्दादेव निश्चीयते? तत्राऽऽह—ततोऽन्यत्रापि इति। सर्वोऽयमसत्कारणत्वप्रतिषेधो नात्यन्तकः "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयाज्जुह्वति येऽग्निहोत्रम्"—इत्यादिवदेकीयमतसिद्धत्वात्—इ[त्या]शङ्क्याऽऽह—न चेति। अग्निहोत्रादे-

ज्ञानवती

भी सम्पूर्णरूप से प्रतीत होती है। कारण के रूप में अवशेष का श्रवण होने से शून्य कारणवाद भी अपास्त हो गया। और छन्दोगश्रुति में—"कुछ लोग कहते हैं पहले एक ही अद्वितीय असत् ही था उस असत् से सत् उत्पन्न हुआ" ऐसा पूर्वपक्ष के रूप में शून्य कारणवाद का उत्थान कराकर "कैसे सौम्य ऐसा हो सकता है? ऐसा कहा। कैसे असत् से सत् उत्पन्न होगा? इस प्रकार निर्युक्तिक रूप से उसका निराकरण करके "हे सौम्य! पहले यह एक ही और अद्वितीय सत् ही था। उसने ईक्षा की कि बहुत हो जाऊँ उत्पन्न हो जाऊँ" इस प्रकार भगवती श्रुति सत्कारणवाद का निश्चय करती है। इससे अन्यत्र भी "अथवा यह पहले असत् था" इत्यादि में व्यक्त कार्य से रहित सत् कारण के विषय में यह 'असत्' शब्द प्रयुक्त हुआ है, ऐसा मालुम पड़ता है।

(पू) "अथवा यह पहले असत् ही था। उससे सत् उत्पन्न हुआ।" यह पहले असत् ही था वह सत् था वह सम्भूत हुआ" ऐसा शाखान्तर में वर्त्तमान असद्वाद अनुदितादि

---

[1] छा० २।२। [2] (ग) निदधार। [3] तै० २।७।

आसीत् तत्सदासीत् तत्समभवत्" इति[1] च शाखान्तरीयोऽसद्वादोऽनुदितादि-होमवदितरत्र[2] निन्द्यत[3] एव न वस्तुतो निरस्यत इति वाच्यम्; "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद" इत्यादिना ब्रह्मणि सति वर्णिते '(तदप्येषश्लोको[4]) भवति असद्वा[5]" इत्यवतारणात् "अव्यक्तनामरूपं सदेवासत्" इत्युक्तमित्यवधारणात् "तत्सदासीत्" इत्युत्तरसच्छब्दाद् वन्ध्यासुतादौ कार्योन्मुखत्वेना-(प्यप्रवर्तमानान्[6]) "असदेवेदम्" इत्यत्रापि सन्निर्देशावगमादवैदिकत्वसिद्धेः।[7]

भावदीपिका

रिवाऽसतः कारणत्वविधायकशाखान्तरस्याऽदर्शनात्। न च निषेधबलात् प्रसञ्जकशाखा-कल्पना; कामं ब्रह्मवधादिकर्त्तव्यतानिषेधवदन्यथाऽपि सम्भवात्। न च निषेधश्रुतिपौर्वापर्या-ऽऽलोचनया तद्विध्यवगमः—इत्याह—अस्ति ब्रह्मेति। "ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा" इति आनन्द-मयपर्यायान्तेषु उपन्यस्तब्रह्मणः साऽङ्गाऽन्नमयादेरिवाऽऽनन्दमयस्याऽपि साङ्गस्य कदाचिदसत्त्वं विकारत्वाद् ब्रह्मणोऽप्येवं तदङ्गत्वादिति मन्वानं प्रति स्वप्रधानं ब्रह्ममात्रं द्रष्टव्यं, तद्दर्शनात् परप्राप्तिफलं न प्रस्मर्त्तव्यम् इति वेदाचार्यः "असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेद्" इत्यत्राऽसद्दर्शनं निन्दित्वा "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः" इति च सद्दर्शनं पुरस्कृत्य "सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत। यदिदं किञ्च। तत्सृष्ट्वा तदेवाऽनुप्राऽविशत्"—इति सत्त्वसम्पादनार्थं कामाऽदिमत्त्वेन चेतनस्य कारणत्वं वर्णयंस्तस्य दृष्टानुसारेण सत्त्वमेवाभिप्रैति। द्रष्टृत्वादिरूपेण, कार्यवैशिष्ट्योपलंभ-लक्षणप्रवेशेन च "सत्यं चाऽनृतं च सत्यमभवत्" इति "सच्च त्यच्चाऽभवन्निरुक्तं च"—इत्यादि-प्रपञ्चभेदकारणस्य सद्रूपत्वं प्रतिज्ञाय "तत्सत्यमित्याचक्षते" इति तदुपसंहृत्य "असद्वा" इति श्लोक उदाहृतस्तेन उत्तरत्र "रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति।", "को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्; एष ह्येवाऽऽनन्दयति"—इत्यादिना सद्रूपाऽनुकूलस्यैव रसत्वादेर्वर्णनान्नाऽसत्कारणवादप्रतीतिरित्यर्थः। वाक्यान्तरेऽप्येवम्—इत्याह—तत्सदासीदिति। सत्=कार्योन्मुखम्; आसीत्। "तपसा चीयते ब्रह्म" इति श्रुतेः। समभवत् कार्याकारेणेति वर्णनात् असतश्चैतदसम्भवान्नाऽसद्वादो वैदिक इत्यर्थः।

ज्ञानवती

होम के समान अन्यत्र प्रनिन्दित होता है न कि वस्तुतः निरस्त किया जाता है। (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि "ब्रह्म है ऐसा यदि जानता है" इत्यादि के द्वारा ब्रह्म के सत् रूप में वर्णित होने पर "तो भी यह श्लोक होता है कि अथवा असत् है" ऐसी अवतारणा करके "अव्यक्त नामरूप सत् ही असत् है" ऐसा निश्चय किया गया है। "वह सत् था" ऐसा वाद में सत् शब्द से वन्ध्यापुत्र आदि के विषय में कार्योन्मुखरूप से भी प्रवर्त्तमान नहीं होने से तथा 'असत्' एवं 'इदम्' यहां पर भी सन्निर्देश का ज्ञान होने से (असद्वाद के) अवैदिकत्व की सिद्धि होती है।

---

१ छा० ३।१९।१। २ (ग) अनुदितो होम। ३ (ग) प्रनि।
४ (क) तदप्येष तत्र चैषश्लोकः। (ग) तदप्येष श्लोको। ५ (ग) दद्वा।
६ (ग) प्रवर्त्तनात्। (ग) प्रवर्त्तमानात्। ७ सिद्धिः।

[आकाशस्य निरुपाख्यत्वम्—]

ननु नैवम्; बौद्धसिद्धान्ते तावदाकाशं निरुपाख्यम्[१]। न च शब्दस्याश्रयान्तरानिरूपणात्तदाश्रयस्य नभसो न शून्यत्वम्; "शब्दतन्मात्रं नभोऽजायत" इति (वदतः[२]) आश्रयाश्रयिभावानिरूपणात् (नित्यं[३] विभु) च द्रव्यं स्वतन्त्रं शब्द इति वदतोऽपि। योगपैठरादिमते तु विनाऽपि विकृतिं कर्णशष्कुल्यवरोधमात्रेण नभसः श्रोत्रत्वव्यवहारवत् भेर्याद्यवरोधमात्रेण तदुपाधिकशब्दसमवायित्व-

भावदीपिका

[अकाशस्य निरुपाख्यत्वम्]

शाखाभेदाऽभावेऽपि प्रघट्टकभेदेन सदसत्कारणवादो वैदिक इति महता प्रयत्नेन प्रत्यवतिष्ठते—ननु नैवमिति। आकाशस्य कारणत्वं श्रुत्या तावदुक्तम्, तच्च निरुपाख्यमिति निरुपाख्यकारणवादो वैदिक इति अभिनिविशमान आह—बौद्धेति। शब्दगुणस्याऽऽश्रयाऽऽकाङ्क्षायां गन्धाद्यविनाभावाऽभावात् पृथिव्याद्यनाश्रयत्वेन तदाश्रय आकाशं भावरूपं सेत्स्यति ?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। किमेतद्वेदान्तिना, भाट्टेन, वैशेषिकादिना वा ?—इति विकल्प्य दूषणम्। भूतेषु गुणगुणिव्यवहारो 'राहोः शिरः' इतिवदिति वेदान्त्युद्गारात्। न च तर्हि शब्द एवाऽस्तु नभस्तथाऽपि भावरूपमिति वाच्यम्; शब्दस्य वाद्यसाध्यत्वदर्शनात् परिच्छिन्नत्वेन देशतोऽपरिच्छिन्ननभस्त्वानुपपत्तेः। योगाः=वैशेषिकाः; पैठराः=नैयायिकाः। निरवयवत्वेन शून्यनभसोरविशेषाद् अवरोधमात्रेणेत्युक्तम्। न च शब्दस्य रूपवत् सजातीयगुणवदिन्द्रियग्राह्यत्वेन श्रौतसिद्धौ तदात्मकाऽऽकाशसिद्धिः; तद्वद्द्रव्यग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वस्याऽपि प्रसङ्गात्। गन्धादिवत् द्रव्याऽग्राहकग्राह्यत्वे वा बाह्यत्वाऽविशेषे सत्यपि सुखवदसजातीयगुणेन्द्रियग्राह्यत्वमपि स्यात्। श्रौतं च यद्गुणः शब्दस्तत्कार्यमपि तथा स्यात्। तथाहि—'अयं भेरीशब्दः' 'अयं काहलशब्दः'—इत्यादिव्यवहारबलाद् भेर्यादिसमवाय्येव शब्दः समवाय्यवयवद्वारा गन्धवदिन्द्रियोपस्थानसम्भवात्, आगन्तुकसामग्रीसाध्यत्वाच्च। न च गन्धादिवद्यावद्द्रव्यभावित्वमिति भावः।

ज्ञानवती

[आकाश का निरुपाख्यत्व—]

ऐसा नहीं है, बौद्ध सिद्धान्त में आकाश निरुपाख्य (अर्थात् शून्य) है। (पू) शब्द के आश्रयान्तर का निरूपण न होने से उसका आश्रय आकाश शून्य नहीं है ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि "शब्दतन्मात्र वाला नभ उत्पन्न हुआ" ऐसा कहने वाले (अर्थात् बौद्ध) के मत में आश्रयाश्रयिभाव का निरूपण नहीं है। और जो शब्द को नित्य विभु एवं स्वतन्त्र द्रव्य कहते हैं (उनके मतानुसार भी ऐसा ही है)। योग (=वैशेषिक) एवं पैठर (=नैयायिक) आदि के मत में तो विकृति के विना भी कर्णशष्कुल्यवरोधमात्र से जैसे आकाश के बारे में श्रोत्र का व्यवहार होता है, उसी प्रकार भेरी आदि के अवरोधमात्र से तदुपाधिकशब्दसमवायित्व-

---

[१] (ग) निरुपाख्यं व्यवस्थितं। [२] (क) वदत्र, (ख ग) वदतः।
[३] (क) नित्यं च विभु, (ग) नित्यं विभु।

व्यवहारसम्भवादनुपाख्यमेव नभः। छन्दोगश्रुतावेव च साम्नो निस्सीमप्रतिष्ठा-विचारे—"अस्य लोकस्य का गतिरिति? आकाश[१] इति होवाच। सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि आकाशादेव समुत्पद्यन्ते; आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति; आकाशो ह्येवैभ्यो[२] ज्यायानाकाशः परायणम्। स एष परो वरीयान् उद्गीथः सः एषोऽनन्तः"[३] इत्याकाशस्य जगन्मूलत्वमुक्तम्। असतश्च सत्प्रतियोगिकस्य सन्ततभावाभावात्[४] कारणावस्थानम्[५] मा भूदिति तस्य कारणत्वप्रतिषेधोऽयम् "कथमसतः सज्जायेत" इति न[६] तन्निष्प्रतियोगिकस्य; तस्य सन्ततभावात्[७]। अत एव "सदेव" इत्यादिवेदेनास्यैवानुच्छित्तिधर्मतया "न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति" इति श्रुतेः सङ्कीर्त्तनं न मोक्षे किमपि ज्ञानमस्तीत्यर्थः। सर्वस्य च (सदभि[८]-)मतस्य "नेह

भावदीपिका

निरुपाख्यत्वेऽपि कुतोऽस्य कारणत्वाऽवगतिः? तत्राऽऽह—छन्दोगेति। साम्नः= उद्गीथस्य तदुपास्यप्रणवस्य। "आकाशः सम्भूतः"—इत्यादेः वस्तुतः शून्यत्वमेव तत्कार्यस्येति ख्यापनार्थत्वान्न कार्यकारणत्वविरोध इति भावः। तर्हि सदसत्कारणत्वश्रुत्योस्तुल्यबलतया किं विकल्पः कल्पभेदेन द्वयोः कारणत्वाऽभिप्रायः ततो नैकान्ताऽसत्कारणवाद इति?—नेत्याह—असतश्चेति। असन्निषेधपूर्वकं सत्कारणविधानबलाद्विकल्पो वक्तव्यः। तत्रा-ऽसन्निषेधस्तावदन्यथासिद्धः; "इदमसदासीत्" इत्यत्र 'इदं'शब्दवाच्यस्य जगतोऽसच्छब्दवाच्यो-ऽभावः कल्पान्तजातः प्रध्वंसो न तस्य कारणत्वं कारणान्तराऽपेक्षत्वात् इति निषेधश्रुतेरर्थः। न पुनरत्यन्ताऽभावरूपम्; सतस्तस्याऽनादिनिधनत्वात्। न च सत्त्वं नाम धर्मो भवताऽभ्युपेयः; नाऽपि स्वरूपसत्त्वं मृत्सुवर्णादिवत् विकार्यङ्गीकरोति भवान्; तेन सत्कारणविधानमपि विव-क्षितम् इत्याह—अत एवेति। निषेधवादाश्च सर्वेऽप्यस्मत्पक्षाऽनुकूलाः—इत्याह—सर्वस्य

ज्ञानवती

व्यवहार के सम्भव होने से आकाश अनुपाख्य ही है। छन्दोग श्रुति में ही साम की निस्सीम प्रतिष्ठा के विचार में "इस लोक की क्या गति है? आकाश ऐसा कहा। ये सभी भूत आकाश से ही उत्पन्न होते है और आकाश में अस्त होते हैं। आकाश इनकी अपेक्षा प्रशस्य है; आकाश परम अयन है; वह यह उद्गीथ; परम उत्कृष्ट है; वह यह अनन्त है"। इस प्रकार आकाश को संसार का कारण कहा गया है। सत् जिसका प्रतियोगी है ऐसे असत् का सर्वदा भाव न होने से कारण के रूप में स्थिति न हो इसलिये, कैसे असत् से सत् उत्पन्न होगा। निष्प्रतियोगिक उसके कारणत्व का प्रतिषेध नहीं है। क्योंकि वह (अर्थात् सत्) तो निरन्तर रहता है। इसलिये "सदेव" इत्यादि वेद के द्वारा इसी का अनुच्छित्ति धर्म के रूप में "मर कर जाने के वाद संज्ञा नहीं रहती" इस श्रुति का कथन है। इसका मतलव है कि मोक्ष में कोई भी ज्ञान नहीं है। सदभिमत सवका, "यहाँ नाना कुछ नहीं है" "जो स्थूल नहीं, अणु नहीं हैं"

---

१ (ग) इति चाकाश। २ (क) हे (हेयवैभ्यो) (ग) ह्येवैभ्यो।
३ छा० १।९।१। ४ (ग) सततं। ५ (ख) कारणानवस्थानं।
६ (ग) न तु नि। ७ (ग) सततं। ८ (क) तदभिः' (ग) सदभि।

नानाऽस्ति किञ्चन" "अस्थूलमनणु" इत्यादिनिषे(द्धाद्धि[१]) सदेव परमार्थमिति गम्यते। न च निषेधस्यावधित्वेन सदवशेषलाभः; स्वप्नरजतादिनिषेधे शुक्तिकाद्यवधे-(रदर्शनात्[२])। अतएव सदधिष्ठान एव भ्रम इत्यप्ययुक्तम्। न च वाच्यम् स्वप्नप्रपञ्चः सह तत्तदारोपमालया सदात्माधिष्ठानस्तदवधिनिषेधश्चेति[३] न शून्यवादावकाश इति; तस्याद्यापि विचार्यत्वात्।

ननु तथाऽपि न[४] निर्णयः, (जागरणे[५]) सदधिष्ठानत्वस्यापि दर्शनात्? मैवम्; स्वाप्नदृष्टान्तेन जाग्रत्प्रपञ्चमिथ्यात्वस्योभयसम्प्रतिपन्नत्वात्। तदेतदाहुः—

"इदं वस्तुबलायातं यद्वदन्ति[६] विपश्चितः।
यथा यथाऽर्थाश्चिन्त्यन्ते विविच्यन्ते तथा तथा॥

भावदीपिका

चेति। ननु निषेधस्य कस्य कुत्राऽभाव इत्यभावाऽऽश्रयवस्त्वपेक्षत्वात् सद्वस्तुलाभ इति? नेत्याह—न चेति। शक्तिकाद्यवधेः परमार्थरूपस्येत्यर्थः। एतेन नियमविशेषोऽप्यपास्तः—इत्याह—अत एवेति। व्यभिचारनिरूपणात् नाऽपि नियमभङ्गः?—इत्याशङ्कयाऽऽह—न च वाच्यमिति। 'अहमिहैव ऽस्मिन् सदने शयान एकाकी; मिथ्यैव सपरिकरस्य मम देशान्तरगमनमभूत्' इति व्युत्थितस्य देशाद्यधिष्ठानबाधदर्शनान्न परमार्थसदधिष्ठानत्वं स्वप्नस्य वक्तुं युक्तम्; अपरथा ब्रह्माऽऽत्मभावसाक्षात्कारेणैव स्वप्नबाधोऽपि प्रसज्येतेति भावः।

तथाऽप्यसदधिष्ठानत्वं मिथ्यैकाऽधिष्ठानत्वं वा व्यवस्थापयितुं न शक्यम्, क्वचिदन्यथाऽपि दर्शनात् इति शङ्कते—नन्विति। अत्र मिथ्याभूतस्य अधिष्ठानत्वं तावत्सम्पादयति - मैवमिति। आत्माऽनात्मनोरन्योन्याऽध्यासवादिनां मिथ्याभूतस्याऽधिष्ठानत्वं सुतरां सम्मतमित्यर्थः। सम्प्रत्यभियुक्तसंवादेनाऽसतोऽधिष्ठानत्वं व्यवस्थापयति—तदेतदाहुरिति। शून्यमेव जगद्विभ्रमाऽधिष्ठानमिति यद्विपश्चितः सर्वज्ञा माध्यमिका वदन्ति। इदं वस्तूनां बलात्=सत्त्वं

ज्ञानवती

इत्यादि निषेध से, सत् ही परमार्थ है ऐसा जान पड़ता है। (पू) निषेध की अवधि होने से सद् रूप अवशेष का लाभ हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि स्वप्नरजत आदि का निषेध होने पर शुक्तिका आदि अवधि नहीं देखी जाती। इसलिये सद् अधिष्ठान में ही भ्रम होता है यह (कहना) भी अयुक्त है। (पू) स्वप्नप्रपञ्च तत्तद्आरोपमाला के साथ सदात्माधिष्ठान वाला है और निषेध भी तदवधि (=सत् अवधि) वाला है इस प्रकार शून्यवाद का अवकाश नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि वह तो आज भी विचार्य है।

(पू) तो भी निर्णय नहीं हुआ क्योंकि जागरण होने पर सदधिष्ठान का भी दर्शन होता है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि स्वप्नदृष्टान्त के द्वारा जाग्रत् प्रपञ्च का मिथ्यात्व उभयसम्मत है। वही कहा है—

---

[१] (क) निषेध्याद्धि, (ग) निषेधाद्धि। [२] (क) वधेर्दर्शनात्, (ग) वधेरदर्शनात्।
[३] (ग) धिष्ठानतदवधि। [४] (ग) तथाऽपि निर्णयो. [५] (क) जागरेण।
(ग) जागरणे। [६] (ग) सदवदन्ति।

बुद्ध्या विविच्यमानानां (स्वभावो[१]) नावधार्यते।
अतो निरभिलप्यास्ते निस्स्वभावाश्च देशिताः॥"

इति। [२]विविच्यन्ते=न क्वचिदपि (व्यवतिष्ठन्ते[३]) इत्यर्थः, न तु निर्णीयन्त इति।

[अविद्यायां प्रमाणम्–]

ननु बाधो विभ्रमस्याधिष्ठानविषयप्रमाणादिति परीक्षकाः। प्रमाणञ्च प्रकाशातिशयं वा ज्ञानावरणध्वसं वा विदधाति, निरुपाख्ये[४] च नोभयं सम्भवति, ततो बाधायोगान्न शून्याधिष्ठानो जगद्भ्रमः? अथ समारोप्यस्य[५] न्यायाघातासहिष्णु-

भावदीपिका

सामर्थ्याऽऽलोचनात्; आयातम्=व्यवस्थितत्वेन प्राप्तम्; यतो यथा यथा क्षणिकत्वेन स्थायित्वेन न वा निर्णेतुम्, अर्थाः=अधिष्ठानाऽधिष्ठेयलक्षणाः [चिन्त्यन्ते]=उपक्रम्यन्ते; तथा तथा न व्यवतिष्ठन्ते; उभयोः क्षणिकत्वे नित्यत्वे वा तदनुपपत्तेः। नित्यसतां चाऽधिष्ठानानां यौक्तिकबुद्ध्या विविच्यमानानां तथाभूतः स्वभावो नाऽवधारयितुं शक्यते; सत्त्वेन प्रतिभासमानस्याऽनित्यस्यैवाऽधिष्ठानत्वाऽनुभवात्। अतः सत्त्वेन निरभिलप्याः=निर्वक्तुमशक्याः; निःस्वभावाः सन्तः=नित्यस्याऽसम्भवेन शून्याऽधिष्ठानाः शून्यपरमार्था एव सर्वज्ञैरुक्ता इत्यर्थः।

[अविद्यायां प्रमाणम्—]

उक्तं सदेकस्वभावं वस्तु नाऽस्तीति; तथाऽपि पारमार्थिकमनित्यमपि सद्वस्तु? इति शङ्काविशुद्धचर्थमाक्षेपमाह—नन्विति। प्रत्यक्षस्थले रज्ज्वादिप्रमायां सर्पाऽऽदिभ्रमनिवृत्तिदर्शनात् आप्तवाक्यस्याऽपि तत्त्वप्रमामूलस्यैव तन्निवर्त्तकत्वादिति भावः। स्थाणौ पुरुषविभ्रमे दूरस्थस्यैव निश्चेष्टत्वादिलिङ्गेन बल्मीकं वा आद्यात् पाषाणो वा इत्यवधारणादपि तन्निवृत्तिदर्शनात् नाऽधिष्ठानप्रमायास्तत्प्रयोजकत्वनियमः? इति शङ्कते—अथेति। भवत्वेवं परमार्थ-

ज्ञानवती

"जो विद्वान् लोग कहते हैं कि यह वस्तु के बल से आया है तो जैसे-जैसे अर्थो की चिन्ता की जाती है वैसे-वैसे वे पृथक् होते चलते हैं।

बुद्धि के द्वारा विविच्यमान पदार्थो के स्वभाव का निश्चय नहीं किया जाता। इसलिये वे अनिर्वचनीय एवं निस्स्वभाव कहे गये हैं।"

'विविच्यन्ते' का मतलव है कहीं भी व्यवस्थित नहीं होते, न कि विनिर्णीत नहीं होते।

[अविद्या में प्रमाण—]

(पू) विभ्रम का वाध अधिष्ठानविषयक प्रमाण से होता है ऐसा परीक्षक लोग कहते हैं। और प्रमाण या तो प्रकाशातिशय का (आधान) करता है या ज्ञानावरण का ध्वंस,

---

१ (क) स्वरूपं, (ग) स्वभावो। २ (ग) विचिन्त्यन्ते।
३ (क) व्यवतिष्ठते, (ग) व्यवतिष्ठन्ते। ४ (ग) विरुपाख्ये।
५ (ग) समारोत्त्यन्याया।

त्वमेव[1] बाध्यत्वम् ? तन्न; मूलप्रमाण[2]विकलन्यायस्याभासत्वात्[3]। अतस्तत्त्वावेदकप्रबलपरिपन्थिप्रमाणोपातमन्तरेण प्रपञ्चावेदकप्रत्यक्षादेः कथङ्कारं व्यावहारिकप्रामाण्यव्यवस्थापनेन शून्यमेव परमार्थ[4] इति व्यवस्थाप्येत ? ब्रह्मवादिनां पुनर्नायं दोषः; तत्राविद्यावरणध्वंसस्य[5] प्रमाणफलत्वाङ्गीकारादिति।

"अकारणमकार्यं सत् कार्यकारणतामगात्।
मोहादेव ततः शास्त्रं तदुच्छित्तौ प्रवर्त्तते[6]॥"

इति जगत्कारणत्वप्रयोजकमोहोच्छेदाय शास्त्रारम्भ इति सुरेश्वराचार्योक्तेश्च। जिज्ञास्यब्रह्मविद्यया (श्रुत[7]-)द्वैतोच्छेदस्य सम्भावनाय प्रपञ्चमिथ्या वर्णनस्याचार्यवर्यैः श्रुतफलस्य कर्मण इवापूर्वादिवर्णनस्या-(व[8]-)स्थानाच्च नायं दोषः। कस्यचित्

भावदीपिका

निर्णयाऽव्यापृतस्य; तद्व्यापृतस्य तु नैतद्युक्तं निष्चेष्टत्वादेः पुंसोऽपि कारणविशेषात् सम्भवेन नोदाहरणमपि युक्तम्—इति परिहरति—तन्नेति। न च पर्यनुयोगसाम्यम्—इत्याह—ब्रह्मवादिनामिति। न चैवं प्रमाणादेव सकार्यमोहोच्छेदनसम्भवे तन्मिथ्यात्वसम्भावकन्यायवैफल्यम्—इत्याह—जिज्ञास्येति। आचार्यवर्यैः=विवरणकारैः। दृष्टान्ताऽवष्टम्भेन प्रत्याह—नाऽयमिति। एवं यौक्तिकत्वेन शून्यतत्त्वस्य मुग्धानामज्ञातत्वस्याऽनुभवसिद्धत्वेन

ज्ञानवती

निरुपाख्य में दोनों की संभावना नही है। इसलिये बाध का योग न होने से जगत् का भ्रम शून्याधिष्ठान वाला नहीं है ? (पू) समारोप्य का न्यायाघातासहिष्णुत्व ही बाध्यत्व है ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि वेद से रहित न्याय आभास है। इस लिये तत्त्व के आवेदक प्रबलपरिपन्थी प्रमाण के उपनिपात के विना प्रपञ्च के आवेदक प्रत्यक्ष आदि का, व्यावहारिकप्रामाण्य की व्यवस्था के द्वारा शून्य ही परमार्थ है, यह (मत) कैसे व्यवस्थापित होगा ? ब्रह्मवादियों के मत में यह दोष नहीं है क्योंकि वहाँ अविद्या के आवरण के ध्वंस को प्रमाण का फल माना गया है।

"अकारण अकार्य होता हुआ कार्यकारणता को प्राप्त हो गया तब शास्त्र मोहवश उसके उच्छेद में प्रवृत्त होता है।"

इस प्रकार जगत्कारणत्व के प्रयोजक मोह के उच्छेद लिये शास्त्र का आरम्भ है ऐसी सुरेश्वराचार्य की उक्ति है। जिज्ञास्य ब्रह्मविद्या के द्वारा श्रुत द्वैत के उच्छेद की सम्भावना के लिये प्रपञ्च के मिथ्यात्ववर्णन का आचार्यवर्यों के द्वारा, श्रुतिफल वाले कर्म के समान अपूर्व आदि वर्णन का अवस्थान होने से यह दोष नहीं है। किसी विप्रलम्भक के वाक्य से 'वन्ध्या का पुत्र दौड़ता है' ऐसा विभ्रम होने पर तुच्छ ही वन्ध्यापुत्र धावनभ्रम

---

१ (ग) घातसहिष्णु। २ (ख) तन्नमूल प्रमाणं। (ग) तन्मूलप्रमाण।
३ (ग) विकलस्यन्यायस्यासत्वा। ४ (ग) परार्थ। ५ (ग) वरणाध्वंसस्य।
६ बृ० वा० पृ० ३२७। ७ (क) श्रितः, (ख) श्रितं, (ग) श्रुत।
८ (क) स्यास्थासा, (ग) स्यावस्थाना।

विप्रलम्भकस्य[1] वाक्याद् 'वन्ध्यापुत्रो धावति'इति विभ्रमे वन्ध्यापुत्रस्य तुच्छस्यैव धावनभ्रमाधिष्ठानत्वं तुच्छत्वालोचनया (धावना[2]-)सम्भवेन तद्बाधावधित्वञ्च[3] यथा तत्प्रतिवादकवाक्यस्य च यावद्बाधं प्रामाण्यम्, तद्वदत्रापि सम्भवात्। अतः शून्यकारणवाद एव श्रुतेरप्यभिप्रेत इति ?

अत्र समाधिः—"नाभाव उपलब्धेः[4]"=जगत्कारणमभावः=शून्यं न भवति; श्रुत्या प्रमाणेन सत्कारणविज्ञानात्। "एवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुङ्गेन तेजोमूलमन्विच्छ; तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ; सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः[5]" इति छन्दोगश्रुतिः "तत्तेजोऽसृजत्" इत्यादिना सतः कारणत्वमुपन्यस्य सत्वाख्यापनमनुमानमूचे यत.।

भावदीपिका

वेदप्रमाणगम्यत्वसम्भवे तद्धीनप्रत्यक्षादेः तेन बाधः सुखकरः—इत्याशयेनाऽऽह अत इति।

सूत्रार्थशोधनत्वादस्य विचारस्य बौद्धाधिकरणसूत्रेण सिद्धान्तमुपक्रमते—नाभाव इति। यद्यप्येतद्बाह्यार्थाभाववादपरतया भाष्यकारैः प्राधान्येन व्याख्यातम्, तथाऽपि सर्वतोमुखत्वादपि प्राधान्येन योजयितुं शक्यम्। अपां कठिनीभूतहिमकरकफेनमुक्ताफलादिकारणत्वदर्शनात् काठिन्योपेतपृथिवीकारणत्वाऽनुमानाऽवतारात्, तेजसोऽपि चन्द्रादेरप्कारणत्वमवश्यायजलादिलिङ्गेन निश्चित्य तन्मूलाऽनुमानप्रवृत्तेश्च। एवं सतः काष्ठोपलादेः आग्नेयतेजसो जन्मदर्शनात् तत्कारणं सद्वस्त्वनुमातव्यमिति वदन्ती श्रुतिस्तुच्छमेव सतताऽनुवर्त्तमानतामात्रेण सच्छब्दवाच्यमाकाशशब्दवाच्यं च कारणं नाऽभिप्रैति विशेषतः "सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः" मृन्मूला लोष्टपिण्डघटादय इति वदन्तीत्यर्थः।

ज्ञानवती

का अधिष्ठान है। तुच्छत्व की आलोचना के द्वारा धावन असम्भव होने से उसके बाध तक ही (धावन की) अवधि है, और जैसे उसके प्रतिपादक वाक्य का बाध तक ही प्रामाण्य है, उसी प्रकार यहाँ भी सम्भव है। इसीलिये शून्यकारणवाद ही श्रुति को भी अभिप्रेत है।

(उ) इस विषय में समाधान है—"अभाव नहीं है क्योंकि उपलब्धि होती है।" जगत् का कारण अभाव (अर्थात्) शून्य नहीं है। क्योंकि श्रुति प्रमाण के द्वारा सत्कारणक ज्ञान होता है। "इसी प्रकार सौम्य अन्न शुंग से जल का मूल खोजो और जलशुंग से तेज का मूल खोजो तेजशुंग से सत् मूल को खोजो। हे सौम्य। ये सब प्रजायें सन्मूलक हैं, सत् उनका आयतन है, सत् में प्रतिष्ठित हैं" ऐसी छन्दोग श्रुति ने "उसने तेज की सृष्टि की" इत्यादि के द्वारा सत् के कारणत्व का उपन्यास कर सत्त्व के स्थापन का अनुमान बताया है।

---

[1] लंभकवाक्यात्। [2] (क) भावनसंभवेन। (ग) धालनासंभवेन।
[3] (ग) वधित्वं यया। [4] ब्र० सू० २।२।२८।
[5] छा० उ० ८।५, ६, ७।

ननु सतोऽपि[1] निर्विकारत्वादौपचारिकमेव कारणत्वमेकस्यानेकत्वं च। अनिर्वाच्याविद्या च जगदाकारेण विवर्त्तमाना उपचारहेतुः। एतच्च शून्यपक्षेऽपि तुल्यम्; तेनाविद्यावच्छून्यमेव शुङ्गलिङ्गानुमेय-(मिति[2]) चेत्? मैवम्; अविद्यायाः[3] साधकं न शून्यमेव; तुल्यत्वात्। न च (स्वप्रभवत्वम्[4]); अविद्यात्वव्याघातात्।

भावदीपिका

अनुमानस्य प्रतिकूलतर्कमाशङ्कते—नन्विति। कार्यानुकूलव्यापारवत्त्वं चेत् कारणत्वं तर्ह्यपसिद्धान्तः; निर्विकारत्वस्वीकारात् ब्रह्मणः, ध्वंसादिप्रसङ्गश्च। ततो न मुख्यकारणत्वाऽनुमानं युक्तम्। अस्तु तर्ह्यौपचारिकम्? तर्ह्यवादौ मुख्यकारणत्वप्रतिषेधविरोधः। अस्तु वा औपचारिकं कारणत्वम्। न च कार्यकारणभावानेकत्वम्; उपचारकारणं च तव सर्वतश्चैतन्यव्याप्ताऽविद्या जगदाकारेण परिणममाना मृदादाविवाऽऽलोकव्याप्ता घटाद्याकारेण तत्र परिणामाभासबुद्धिमुद्भावयन्ती—इत्याह —अनिर्वाच्येति। एवमपि सत्कारणवाद एवेति न वाच्यम्—इत्याह—एतच्चेति। "असङ्गो नहि सज्जते", "अत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्" इत्यादिश्रुतेः ततोऽपि शून्यस्यैव नाऽऽलोकवदविद्यालिङ्गनम्। एवमेव कारणत्वं शून्यस्याऽपि किं न स्यात्?—इत्यर्थः। किञ्च प्रकाशरूपब्रह्मणोऽविद्यातमोवरणकल्पना न युक्ता; शून्यस्याऽपि जडत्वात् कथंचित् घटादेरिव बाह्यतमसा तेनाऽऽवरणं युक्तम्—इत्यभिप्रेत्याऽऽह—तेनेति। यथा बाह्यतमसो द्रष्टा लौकिकः प्रसिद्धः तथाऽविद्यातमसोऽपि अनादिसिद्धस्याऽनादिसिद्धः कश्चित् द्रष्टा वक्तव्यः। न च प्रपञ्चाऽऽरम्भकत्वाऽनारम्भकत्ववद् बाह्यान्तरतमसोः सापेक्षाऽनपेक्षावैलक्षण्यं युक्तम्; तथा सत्यज्ञानाऽप्रतीतेर्न तत्प्रतिबोधनार्थशास्त्राऽवतारः स्याद् यद्बलेन शून्यपरिशेषोऽपि व्यवस्थाप्येत। न च शून्यस्याऽविद्यासाक्षित्वं सम्भवति—इत्याह—मैवमिति। अथाऽविद्यैव तस्याः साक्षी, किमंशतः? स्वयं वा? आद्ये जडस्य चैतन्यधर्मकत्वे लोकायतादिमताऽऽपत्तिः। चैतन्यस्य जातिवदाकारविशेषत्वे व्यक्तिस्थानीयाऽविद्योच्छेदेऽपि तस्याऽवस्थानसम्भवान्न शून्यपरिशेषः स्यात्। न द्वितीयः—इत्याह—न चेति। अथ साधकं बाधकं च प्रमाणमेव, तच्चाऽविद्यामयं ममाऽप्यस्ति, न अवि-

ज्ञानवती

(पू) सत् के भी निर्विकारी होने से कारणत्व तथा एक का अनेकत्व औपचारिक है; अनिर्वाच्य अविद्या जगत् के आकार में विवर्त्तमान होती हुई उपचार की हेतु है; और यह शून्य के पक्ष में भी तुल्य है इससे अविद्या के समान शून्य ही शुंगलिङ्ग के द्वारा अनुमेय है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अविद्या का साधक शून्य ही नहीं है क्योंकि तुल्यता है। स्वप्रभवत्व भी नहीं है क्योंकि अविद्यात्व का व्याघात हो जायगा। प्रमाण उसका साधक नहीं है, क्योंकि तब बाधकाभाव की प्राप्ति हो जायगी। (पू) प्रपञ्च के समान प्रत्यक्ष आदि साधक हैं और आगम बाधक हैं। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि व्यवस्था-प्रमाण के भेद से अविद्या में प्रत्यक्ष आदि भी शून्यपक्ष में चिदंशहीन असाधक है। 'मैं अज्ञ हूँ' ऐसा

---

१ (ग) शतो नि। २ (क) इति। (ग) मिति।
३ (ग) अविद्या माया साथ। ४ (क) प्रभत्वं। (ग) प्रभवत्वं।

न च प्रमाणं तस्याः[१] साधकम्; बाधकाभावप्रसङ्गात्। न च प्रपञ्चस्यैव[२] प्रत्यक्षादि साधकम् (बाधकश्चागमः[३]); व्यवस्थाप्रमाणभेदेनाविद्यायाम् प्रत्यक्षादीनामपि शून्यपक्षे चिदंशहीनाना[४]-(मसाधकत्वात्)। 'अहमज्ञः' इत्याश्रयतया प्रतीयमानो यदि शून्यान्नातिरिच्यते वन्ध्यापुत्रवत् (तर्हि[५]) नैवं प्रतीयेत। न च शून्यस्यावरणीयं रूपमस्ति येन तद्विषयत्वमविद्याया वर्ण्येत।

ननु चिदात्मनोऽपि निरंशस्य[६] नाऽऽवरणीयं किञ्चिदस्ति ? सत्यम्; (रूपान्तराभावेऽपि[७]) स्वरूपमावरणीयमस्ति। जात्यादावन्यापोह(-त्वादिभ्रम[८]-)वन्नाधिष्ठा-

भावदीपिका

द्यावतः; प्रमातुरभावे प्रमाणाऽवृत्तेः; अस्तु वा, तथाऽपि यदेव साधकं तदेव बाधकम्? प्रमाणान्तरं वा? नाद्यः—इत्याह—न च प्रमाणमिति। त्वया साक्षिणोऽनङ्गीकारात् केवलस्य साधकत्वं तस्यैव प्रमाणवृत्त्यभिव्यक्तस्य बाधकत्वमिति वक्तुं न शक्यमिति भावः। नान्त्यः—इत्याह—न चेति। चिदंशो ग्राहकः प्रमाता, अविद्यावांश्च प्रमाणव्यापारयिता, युक्त्यनुभवसिद्धो नाऽपलापमर्हति—इत्याह—अहमज्ञ इति। न चाऽनादिकालमविद्यावत्तया प्रतीयमानस्तन्मयो युक्तः, नाऽपि तस्य शून्यविषयज्ञानं संभवति येन शून्यनिर्णयाय शास्त्राऽऽरम्भः स्यात्—इत्याह—न चेति।

प्रतिवाद्याशङ्कते—नन्विति। निरंशस्य=निरवयवस्य सामान्यविशेषाकारशून्यस्य च 'अहमज्ञः' इत्यविद्यावत्तया ज्ञानं, एकस्याऽवयवस्याऽऽकारस्य वा तदपरस्याऽज्ञानमिति न सम्भवतीत्यर्थः। यद्यप्यंशाकारभेदो नाऽस्ति चैतन्यस्य तथाऽपि स्वरूपमविद्याभ्रमाऽधिष्ठानत्वयोग्यमस्ति। न च भ्रमोऽवयवाकारभेदवस्तुनि; यतो व्यभिचारात्—इत्याह—सत्यमित्यादिना। न च द्वयोरनादित्वे चैतन्यमेवाधिष्ठानं अनन्ताऽविद्येति नियामकाऽभावः?

ज्ञानवती

आश्रय के रूप में प्रतीयमान (पदार्थ) यदि वन्ध्यापुत्र के समान, शून्य से अतिरिक्त नहीं होता तो ऐसी प्रतीति नहीं होती। शून्य का आवरणीय रूप नहीं है जिससे उसे अविद्या का विषय कहा जाय।

(पू) यदि चिदातमा भी निरंश है तो उसका आवरणीय कुछ नहीं है। (उ) सत्य है। रूपान्तर का अभाव होने पर भी जाति आदि में अन्यापोहत्व आदि स्वरूप आवरणीय है। इसलिये भ्रम के समान अधिष्ठानसामान्य के ग्रहण आदि, भ्रम के प्रयोजक नहीं है। किन्तु अविद्या के ही (ग्रहण आदि भ्रम के प्रयोजक) हैं। इसके अतिरिक्त प्रकाश-स्वरूप

---

१ (ग) तस्य साधक। २ (ग) प्रपञ्चस्यैव।
३ (क) साधकं व्यवस्था, (ख) साधकं, वाधकश्चागमो व्यवस्था।
४ (क) हीनानां साध, (ग) हीनानामसाध। ५ (क) तिरिच्यते वन्ध्या, (ग) तिरिच्यते तर्हि वन्ध्या। ६ (ग) निरंशस्य वरणीयम्।
७ (क) न्तरमावे, (ख) न्तराभावे। ८ (क) त्वादितिभ्रम। (ग) त्वादिभ्रम।

नसामान्यग्रहणादेर्भ्रमप्रयोजकत्वम्[1]; किन्तु अविद्याया[2] एव। अन्यच्चापि[3] तस्य च प्रकाशात्मकस्य सवितुरिव जलदाद्यविद्याकरणं सम्भवति। जडस्य त्वप्रकाश-(मानत्वं[4]) नाविद्यावरणकृतम्, किन्तु जडत्वकृतमेव; तेनाविद्यापर्यालोचनया न शून्यतत्त्ववादः। अत औपचारिकमपि कारणत्वं सत एव। चेतनस्यैव च मायासचिवस्य मुख्यं कारणत्वं वेदान्तेषु स्थितमेव, अन्यस्य मुख्यस्यानिरूपणात्। न च ब्रह्मण्यविद्याविरहात् राजादिवत् स्वगतव्यापारसमारोपाभावेन[5] वेदोक्त-

भावदीपिका

"तद् ब्रह्म" "तद्विजिज्ञासस्व" इति वेदविद्यायां मुमुक्षुं प्रत्यप्रतिपादनस्य नियामकत्वात्। अविद्या च त्वज्ज्ञानं 'न जानामि' इति ज्ञानविषया प्रसिद्धा। शून्यस्याऽविद्याभ्रमाऽधिष्ठानत्वमपि द्रष्टुरभावादिना न सम्भवति। यथा च स्थूलप्रकाशस्य स्थूलमावरणं दृश्यते तथा सूक्ष्मप्रकाशस्याऽत्मनोऽपि सूक्ष्ममविद्याऽऽवरणं सम्भवति न तुच्छस्य; दृष्टान्ताऽभावात्–इत्याह–तस्य चेति। ततो नाऽविद्यावच्छून्यं शुङ्गलिङ्गेन कारणतयाऽनुमेयं किन्तु सद्वस्त्वेव—इत्याह—तेनाऽविद्येति। ईक्षत्यधिकरणादौ च विस्तरेणैतत्स्थितम्—इत्याह—चेतनस्यैवेति। "आकाशस्तल्लिङ्गात्" इत्यपि सूत्रं स ब्रह्मैव आकाशो न शून्यम्; "तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छेति" "अस्य लोकस्य का गतिः" = प्रतिष्ठाऽऽश्रय इति च "सद्वस्तुप्रकाशलिङ्गात्" इति संवादनीयमत्र। ततो यदा सोपाख्यस्याऽपि प्रधानादेरीक्षणकामनाद्यनिरूपणान्न तत्पूर्वकं कारणत्वं तदा कथं निरुपाख्यस्य शून्यस्य कारणत्वाऽऽशङ्काऽपि ?—इत्यर्थः।

तथाऽपि 'अहमज्ञः' इत्यादिप्रत्ययानुसारेण जीवस्याऽविद्या चेत् तदा विम्बकल्पस्य ब्रह्मणो न मायाव्यापारयितृत्वादि सम्भवति। न च जीवस्य कारणत्वमप्यभ्युपेयते। तेन चेतनकारणवादोऽपि दुर्घटः इति ? तत्राऽऽह—न च ब्रह्मणीति। अथ जीवाऽविद्यैव ब्रह्मणि व्यापाराऽऽदिविक्षेपं रचयति स्वनियमाद्यर्थं मन इव विवेकाऽऽदिव्यापारं जीवे ? न, वैषम्यात्; मनो हि जीवोपाधिः स्वोपहिते जीवे स्वकार्यमासञ्जयतीति युक्तम्; अविद्या तु दर्पणवन्न बिम्बे

ज्ञानवती

उस (=चिदंश) का भी, मेघ आदि के द्वारा सूर्य के समान, अविद्या के द्वारा आवरण सम्भव है। और जड का तो अप्रकाशमानत्व अविद्या-आवरणकृत नहीं है। अपितु जडत्वकृत ही है। अतः अविद्या की पर्यालोचना के द्वारा शून्यतत्त्ववाद नहीं है। इसलिये औपचारिक भी कारण सत् ही है। और वेदान्तों में मायासचिव चेतन ही मुख्य कारण माना गया है। क्योंकि अन्य मुख्य (कारण) का निरूपण नहीं है।

(पू) ब्रह्म में अविद्या न होने के कारण राजा आदि के समान स्वगतव्यापार का समारोप न होने से वेदोक्तप्रशासन की अनुपपत्ति हो जायगी, और अन्यारोपितव्यापार के द्वारा प्रधान अविद्या का भी नियन्तृत्व प्राप्त होने लगेगा ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये।

---

[1] (ग) ग्रहादेः। [2] (ग) विद्यायाः। [3] (ग) अन्यथाऽपि।
[4] (ग) मानत्वात्, (ख ग) मानत्वं। [5] व्यापारे समा।

प्रशासनानुपपत्तिः, अन्यारोपितव्यापारेण प्रधानादेरपि नियन्तृत्वं प्रसज्येतेति वाच्यम्; व्यापारप्रशासने व्यापारान्तराभावेऽपि चैतन्यस्यैव (प्रशासनवत्[1]) समारोपितव्यापारेणापि चैतन्यस्यैव[2] प्रशासनोपपत्तेः। अन्यथा साक्षात् स्वगतो व्यापारो मायाया एवेति प्रशासनकर्तृत्वं केन वार्येत ? मायाक्षोभकत्वं भ्रामकत्वादिवत्[3] अनाश्रयत्वाप्रतिबिम्बत्वयोर्युक्तम्। ततश्च सद्वस्तुन एवाविद्यातत्कार्यसमारोपाधिष्ठानत्वात् "नेह नानाऽस्ति किञ्चन" इत्यादिनिषेधोऽपि[4] तदवधिक एवेति न

भावदीपिका

किञ्चित् कर्त्तुमर्हति, करणेऽप्यतिप्रसङ्गः—इत्याह—अन्यारोपितेति। अज्ञानदशायामेव ब्रह्मणः कारणत्वम्; ज्ञातस्य देहाऽऽदिबन्धकारणत्वेऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्। न च ब्रह्मदृष्टचैव तदज्ञातत्वं युक्तम् ? सर्वज्ञत्वव्याकोपात्। न च ब्रह्मोपाधिनैव जीवान् प्रति ज्ञातं ब्रह्म ? तथा सति कदाऽपि [अ][5]ज्ञातत्वाऽनुपपत्तेः। अतएव नोभयोपाधिप्रयुक्तमज्ञातत्वं तस्य, तेन जीवाऽविद्ययैवाऽज्ञातं तत्कारणं भवत् तत्तदीक्षणकामनाप्रशासनादिविक्षेपाधिष्ठानं तत्तत्स्वरूपचैतन्येन व्याप्नुवत् तत्तद्धर्मकमिवाऽवभासत इति उक्तप्रायम्। अनेकाकारोऽपि तस्याऽपि प्रशासनात्, वर्णेष्वारोपितह्रस्वत्वादिवदर्थक्रियाहेतुत्वसम्भवाच्च। न च विक्षेपस्य स्वोपाधिनियमोऽस्तिः ? पुरुषादिविक्षेपेऽपि स्थाण्वादौ तदनङ्गीकारात्, प्रत्यङमुखत्वादिभ्रमस्य दर्पणाद्युपाधिकृतस्य भेदभ्रमस्य च बिम्बाऽधिष्ठानत्वस्वीकाराच्च। न चाऽतिप्रसङ्ग इत्याह—व्यापारेति। विपक्षे बाधकं वदन् स्वपक्षं संभावयति—अन्यथेति। न च भ्रामकस्याऽपि देशविशेषस्थापनमार्जनाऽऽदिव्यापारात् प्रेरयितृत्वम्; एवं गन्धस्याऽपि सम्प्रयोगविशेषात् क्षोभकत्वं; तच्चागन्तुर्व्यापारो न ब्रह्मणः कूटस्थनित्यस्येति कथं मायाक्षोभकत्वम् ?—इति वाच्यम्; अधिष्ठानत्वप्रदानमात्रेण शून्यासम्भाव्येन परेषामपि सम्प्रतिपन्नफलोन्मुखीभावाऽवस्थकर्मणा क्षोभोन्मुखमायाया विकारसम्भवे व्यापारान्तराऽनपेक्षणात् इति चकारार्थः। एवं सतः कारणत्वं व्यवस्थाप्य शून्यवादिनाऽन्यथानीतवाक्यानामार्जवं सम्पादयति—ततश्चेत्यादिना। सद्वस्तुन एव तात्पर्येणाऽद्वितीयत्वप्रतिपादनार्थं नानात्वनिषेधानां प्रवृत्तेः न तद्बलेन शून्यमेव परमार्थ इत्यर्थः।

ज्ञानवती

क्योंकि व्यापारप्रशासन में व्यापारान्तर न होने पर भी चैतन्य के ही प्रशासन के समान समारोपित व्यापार के द्वारा भी चेतन का ही प्रशासन उपपन्न होता है। अन्यथा साक्षात् स्वगत व्यापार माया का ही है इससे प्रशासनकर्त्तृत्व का वारण कौन करेगा ? भ्रामक आदि के समान अनाश्रयत्व एवं अप्रतिबिम्बत्व का मायाक्षोभक होना उचित है। इसलिये सद्वस्तु के ही अविद्या और उसके कार्य के समारोप का अधिष्ठान होने से "यहाँ कुछ भी अनेक नहीं है" इत्यादि निषेध भी उसी अवधि (=सद् अवधि) वाला है इसलिये शून्य परमार्थ नहीं है। मोक्ष में भी वह (=चैतन्य) अनुवृत्त होता है। "मरने के बाद संज्ञा नहीं रहती", यह केवल विशेषज्ञानाभाव का संकीर्त्तन मात्र है।

---

१ (ग) प्रशासनात्, (ग) प्रशासनवत्। २ (ग) स्यैवाप्रशासनो। ३ (ग) भ्रामकादिवत्,। ४ निषेधो तद। ५ (क) ज्ञातत्वा।

शून्यपरमार्थता। मोक्षेऽपि "तदनुवर्त्तते" इति "न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति[१]" इति विशेषज्ञानाभावसङ्कीर्त्तनमात्रम्[२]।

न च प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधवत् बुद्धिपूर्वाबुद्धिपूर्वविनाशवदाकाशं निरुपाख्यम्; निरोधस्यापि निरुपाख्यत्वे साध्यत्वानुपपत्तेः साधनोपदेशवैय्यर्थ्यात्। आकाशस्य च प्रतिबिम्बप्रदत्वान्मुखादिवन्न निरुपाख्यत्वम्, प्रत्यक्षवादिनां प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च। न चालोकाभाववन्मूर्त्ताभावसमारोपितनीलरूपः प्रतिबिम्बादिनिर्वाहकः; निरुपाख्यभ्रमाधिष्ठानापरोक्षभ्रमादर्शनात्[३], केशोण्डुकभ्रमस्यापि तेजोऽवयवाद्यधिष्ठानत्वात्[४]। न च मूर्त्तानामत्यन्ताभाव आकाशम्; वन्ध्यासुतवन्मूर्त्तादर्शनप्रसङ्गात्। अन्योन्याभावश्च घटादीनामितरसन्निष्ठ[५] एव, न स्वतन्त्रः, य आकाशव्यवहारालम्बनं स्यात्। प्राक्प्रध्वंसाभावावपि मृत्पिण्डकपालादिनिष्ठौ। आत्मनः[६] सकाशादाकाशस्योत्पत्तिश्रवणाच्च नानुपाख्यत्वम्। न च एषा श्रुतिर्गौणी; "आकाशा-

भावदीपिका

न चाकाशश्रुतिरपि शून्यार्था—इत्याह—न चेति। "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्"—इति विद्यां निरूप्य "सैषा भार्गवी वा वारुणी विद्या परमे व्योमन्" इत्याकाशपर्यायस्योत्तरोत्तरशतगुणाऽऽनन्दपरमकाष्ठारूपाऽऽनन्दविग्रहे ब्रह्मणि प्रयोगात् तस्य न शून्यार्थत्वं युक्तितोऽप्येवम्—इत्याह—आकाशस्य चेति। एवं निष्प्रतियोगिकाऽभावत्वमाकाशस्य निराकृत्य सप्रतियोगिकाऽभावत्वमपि मतान्तरव्युदासार्थं व्युदस्यति—न च मूर्त्तानामिति। आकाशस्य वाय्वाश्रयत्वात्, क्रियायाः लोकसिद्धत्वात् बौद्धैः स्वीकाराच्च, जन्मनाशविकारस्य श्रौतत्वाच्च, भावरूपमाकाशम्—इत्याह—आत्मन इति। अत्र नित्याऽऽकाशवादिनां मतं प्रसङ्गान्निराचष्टे ब्रह्मणो निरंकुशकारणत्वसम्पादनार्थम्— न चैषेति। निरवयवस्याऽस्पर्शस्य च द्रव्यस्याऽऽत्मवन्न मुख्योत्पत्तिः सम्भवति। तेन शब्दाद्यर्थक्रियाकारित्वाऽभिप्रायेणोत्पत्तिश्रुतिः। तदु-

ज्ञानवती

(पू) प्रतिसंख्या अप्रतिसंख्या निरोध के समान बुद्धिपूर्वक अबुद्धिपूर्वक विनाश वाला आकाश निरुपाख्य है? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि निरोध के भी निरुपाख्य होने पर साध्यत्वानुपपत्ति होने से साधन का उपदेश व्यर्थ हो जायगा। एवं आकाश के प्रतिबिम्बप्रद होने के नाते मुख आदि के समान निरुपाख्यत्व प्रत्यक्षवादियों के (मत में) प्रत्यक्षसिद्ध है।

(पू) आलोकाभाव के समान मूर्त्ताभाव में समारोपित नीलरूप, प्रतिबिम्ब आदि का निर्वाहक है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि निरुपाख्य भ्रमाधिष्ठान में अपरोक्षभ्रम का दर्शन होने से केश एवं उण्डुक के भ्रम का भी तेज एवं जल के अवयव आदि ही अधिष्ठान है। (पू) मूर्त्तों का अत्यन्ताभाव आकाश है? (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि फिर वन्ध्यापुत्र के समान मूर्त्त का अदर्शन होने लगेगा। और घट आदि का अन्योन्याभाव इतर सत् में ही रहता है न कि स्वतन्त्र है जो कि आकाश व्यवहार का आलम्बन होगा। (घट आदि के)

---

१ (ख) संज्ञाऽस्तीत्यविशेष। २ (ग) मात्रसंकीर्त्तनं। ३ निरुपाख्याधिष्ठान
४ (ग) अवयवाधिष्ठान। ५ (ग) इतरनिष्ठ। ६ (ग) आत्मवत् शकाशात्।

द्वायुः वायोरग्निः" इत्यादावपि तत्प्रसङ्गात्। न खलु सकृत्पठितस्यापौरुषेयस्य[२] शब्दस्य एकत्र गौणत्वमपरत्र[३] मुख्यत्वमिति युज्यते।

ननु वाय्वादावपि गौणत्वमेव, सम्भूतश्रुतेः, परमाणूनामनुत्पादात् सजातीयद्व्यणुकादेश्च स्वमात्रारभ्यत्वात्? तथाऽपि तावत् "पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नमन्नात्पुरुषः" इत्यत्र तवापि मुख्ये बाधकाभावान्न[३] गौणत्वम्। सूक्ष्माणाञ्च तेजो-

भावदीपिका

क्तम्—"गौण्यसम्भवात्" इति। ननु "तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्"—इत्यत्र सकृत्प्रयुक्तोऽपि 'सम्भवति' शब्दो जीवेभ्योऽन्यत्र मुख्योत्पत्तिवाची जीवानां त्वौपाधिकजन्मवाची यथा, तथा 'सम्भूत'-शब्दोऽपि गौणमुख्यजन्मवाची किं न स्यात्? मैवम्; तत्र हि जीवानां ब्रह्मैक्योपदेशकबहुश्रुतिविरोधात्, उपाधीनां मुख्यजन्मसम्भवाच्च, "अन्नात् पुरुषः" इति शुक्रद्वारेण पुरुषमात्रोत्पत्तिश्रवणेऽपि—"योऽसावतीन्द्रियोऽग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः। सर्वभूतमयो नित्यः स एष स्वयमुद्बभौ।"—इति वचनात् प्रथमशरीरिणस्तदन्तरेणाऽपि जन्माऽवधारणात् समुदायपरशब्दस्य संकोचसम्भवाद्यतथाभावः "आकाशः सम्भूतः" इत्यस्य विशेषनिष्ठस्य प्रथमस्थान एव गौणत्वं बाधमन्तरेण न युक्तम्।

अथ "वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्" इत्यादिबाधकमिहाऽप्यस्ति?—इति मन्वानः शङ्कते—नन्विति। युक्तिबाधमप्याह—परमाणूनामिति। अमृतत्वश्रुतिः "सैषा नाऽस्तमिता देवता यद्वायुः" इत्यादिका। एकज्ञानेन सर्वज्ञानप्रतिज्ञा द्वितीयसत्त्वे सम्भाव्यमानया तथा "यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्" इति न्यायेन संकोचनीया। वाय्वादयो हि परमाणुरूपाः? द्व्यणुकाऽऽदिरूपाश्च? तत्राद्या निष्कलाश्चिदात्मवन्न कस्माच्चिदपि जायन्ते। तज्जातीयाश्च द्व्यणुकाऽऽदयः तेभ्य एवाऽणुभ्य जायन्त इति तार्किकाभिमानः परमाणुप्रमाणाऽभावेन निराकरिष्यते। गौणत्वनियमं तावन्निराचष्टे—तदाऽपीति। तथाऽपि "वायोरग्निः" इत्यादौ न मुख्यार्थलाभः; सम्भूतश्रुतेः तेषां परस्परविरोधेन कार्यकारणभावाऽसम्भवात्?—इत्याशङ्क्याऽऽह—सूक्ष्माणाञ्चेति। उद्भूतरूपस्पर्शानामेव बाध्यबाधकभावः। कथं तर्हि

ज्ञानवती

प्रागभाव एवं प्रध्वंसाभाव भी मृतपिण्ड एवं कपाल आदि में रहते हैं। और आत्मा के पास से आकाश की उत्पत्ति का श्रवण होने से (आकाश का) अनुपाख्यत्व नहीं है। (पू) यह श्रुति गौण है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि "आकाश से वायु, वायु से अग्नि" इत्यादि में भी उसका प्रसङ्ग है। एक वार पढ़े गये अपौरुषेय शब्द का एक जगह गौण होना दूसरी जगह मुख्य होना ठीक नहीं हैं।

(पू) वायु आदि में भी गौणत्व है क्योंकि सम्भूतश्रुति है। तथा परमाणु की उत्पत्ति नहीं होती और द्व्यणुक आदि स्वमात्र से आरम्भ्य है? (उ) तो भी "पृथिवी से ओषधियाँ, ओषधियों से अन्न, अन्न से पुरुष" यहाँ पर तुम्हारे मत में भी मुख्य में बाधक न

---

[१] (ग) पठितस्य पौरु।
[२] (ग) परत्र।
[३] (ग) मुख्यबाधाभावात् गौ।

जलादीनां विरोधाभावान्न कार्यकारणभावासङ्गतिः। न च निरंशद्रव्यत्वादात्मवदाकाशस्यानुत्पादः; स्वाप्नवदनिर्वचनीयस्योत्पादसम्भवात्[1]। सावयवत्वानवयवत्वाभ्यामनिर्वाच्यमायाकार्यत्वेनानवयवत्वसम्भवाच्च[2]। न चांशवत्त्वे वायोरिव व्यजनाभिघातादिना (नभसोऽपि[3]) निमित्तविशेषेणोत्पादप्रसिद्धिः स्यात्, खननादिना विवराद्युत्पत्तिप्रसिद्धेरभिव्यक्तिपरत्वादिति शङ्कनीयम्; उत्पादेऽपि रूपस्पर्शविधुरत्वेन तमोवद्वायुवच्च दर्शनस्पर्शनायोग्यत्वेन तत्प्रसिद्ध्यभावसम्भवात्।

भावदीपिका

"विपर्ययेण क्रमोऽत उपपद्यते च"—इति वचनात् उत्पत्तिक्रमादृष्टानुसारेण लये विपर्ययेण क्रमः='पृथिवी प्रथमं लीयत इत्यादि' वदतः तन्मात्राणां संहारकत्वमुच्यते। निमित्तभेदात् सुवर्णपिण्डस्यैव द्रवीभावो द्रवस्य च पिण्डीभावो व्याकृतस्याऽव्याकृतताऽव्याकृतस्य व्याकृततेत्यङ्गीकारात्, सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरभावे लये बाध्यबाधकभावाऽभावादिति भावः। आकाशस्याऽनुत्पत्तिरिति—संभूतश्रुतेर्निरंकुशत्वार्थम्—न च निरंशेति। निरंशद्रव्यत्वाऽस्पर्शद्रव्यत्वादिहेतुना द्व्यणुकाऽऽदिक्रमेणाऽऽरम्भो निषिध्यते चेत्? सिद्धसाधनम्। परिणामनिषेधाद्यात्मनश्चेत्? उक्तो दोषः। मायायाश्चेद्? अनैकान्तिकता। मायापरिणामे, स्वाप्नाऽऽकाश इत्याशयः। विपक्षे बाधकादेकान्ततोऽनंशत्वं वक्तव्यम्; ततो नाऽसिद्धो हेतुः?—इत्याशङ्क्याह—न चांशवत्त्व इति। अस्ति विवरम्=छिद्रं जातमित्यादिप्रसिद्धिः इष्टप्रसञ्जनम्—इत्याशङ्क्याह खननेति। त्वयाऽपि देशतो व्यापकत्वस्वीकारान्नेष्टप्रसञ्जनमिति भावः। सर्वगतस्याऽप्यसर्वगतशब्दपरिणामवत् परिणामान्तरस्याऽपि वायुवच्च सम्भवात्। अत उक्तम्—"एतेन मातरिश्वाऽपि व्याख्यातः" इति। यदाऽऽकाशमसम्भाव्यमानोत्पत्त्यपि जायते तदा व्यजनादिना दृष्टोत्पत्तिर्वायुर्जायत इति किमु वक्तव्यमिति स्वाऽभिप्रायत्वेन उक्तम्—उत्पादेऽपीति।

ज्ञानवती

होने से गौणत्व नहीं है। और सूक्ष्म तेज जल आदि के विरोध न होने से कार्यकारण भाव की असंगति नहीं होगी। (पू) निरंश द्रव्य होने से आत्मा के समान आकाश की उत्पत्ति नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि स्वप्नगत (अनिर्वचनीय) के समान अनिर्वचनीय उत्पत्ति संभव है। और सावयवत्व अनवयवत्व के द्वारा अनिर्वचनीय माया का कार्य होने से अनंशत्व भी सम्भव है।

(पू) अंशवाला होने पर पंखे के अभिघात आदि के द्वारा वायु के समान आकाश की भी निमित्तविशेष से उत्पाद की प्रसिद्धि हो जायगी, क्योंकि खनन आदि के द्वारा विवर आदि की उत्पत्ति अभिव्यक्तिपरक है? (उ) ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि उत्पाद होने पर भी रूप एवं स्पर्श से रहित होने के कारण अन्धकार एवं वायु के समान दर्शन एवं स्पर्श के अयोग्य होने से उसकी प्रसिद्ध का अभाव भी सम्भव है।

---

[1] (ग) स्वप्न। [2] (ग) नानंशत्वस्यापि सत्त्वाच्च। [3] (क) भेदेऽपि,

नन्वारब्धद्रव्यस्य रूपस्पर्शयोरन्यतरवत्त्वेनैव[१] भोगसाधनत्वम्, विषयरूपेण (न वाऽस्य[२]) तत्त्वम्[३]; न चाकाशकार्यं शरीरं प्रसिद्धं ततो नास्योत्पादः ? मैवम्; अनिर्वाच्यवादान्नियमासम्प्रतिपत्तेश्चाविगीतप्रामाण्यवेदस्मृतिप्रतिपादितजीवविशेषाणां देहादित्वेनोपयोगाच्च नारम्भवैफल्यं व्योम्नः। आसमन्तात् काशत इत्याकाश इति योगवृत्तेरपि न्यायोपगृहीतत्वात्[४], साधोः विभुत्वादिगुणयोगात्, "आकाशवत् सर्वगतः" इत्यादिवेदात्, क्लृप्ताद्रूढार्थैकदेशग्रहेण छन्दोगश्रुतौ चाकाशशब्दं ब्रह्मैव। गुणलक्षणाद्वारा[५] अर्थान्तरवृत्तेर्गौण्या इव साक्षाल्लक्ष्यार्थवृत्तेर्लक्षणाया। श्रुतौ[६] चाकाशशब्दं ब्रह्मैव, ततो न प्रमाणशून्येन[७] शून्येन ब्रह्मलक्षणस्यार्थान्तरता।

भावदीपिका

प्रकारान्तरेणाऽनारम्भं शङ्कते—नन्वारब्धेति। अस्तु तर्हि शरीररूपेणेन्द्रियक्रमेण वा भोगसाधनत्वम्? तत्राऽऽह—न चाकाशेति। श्रोत्रेन्द्रियत्वं च नित्यस्याऽप्युपाध्यवच्छेदात् सम्भवतीति भावः। पञ्चीकरणसम्पादने रूपादिसंपादनात् रूपाद्युपलब्धिप्रसङ्गस्याऽपाकृतत्वाच्चाऽऽकाशे तद्वत्ताभावोऽसिद्धः—इत्याह—मैवमिति। गुणोपसंहारेण प्राप्ताकाशादौ "सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमा देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य" इति देवताशब्दपूर्वकमत्र जीवशब्दप्रयोगात् जीवविशेषशरीरत्वागमात् शरीरत्वेनोपभोगसम्भवाच्चाऽऽरम्भसार्थक्यम्। न च तत्र तेजःप्रमुखैव सृष्टिः, कल्पभेदेन विकल्पसम्भवात्? इति वाच्यम्; तत्प्रमुखसृष्टौ वाय्वाकाशयोरभावात् पञ्चात्मकमित्यादिश्रुतिविरोधात्। न चैतत्; पञ्चसृष्टिपक्षे श्रुतिन्यायाऽनुगृहीताकाशादिसृष्टिप्रतिपादकबहुश्रुतिविरोधे छान्दोग्यश्रुतेरुपलक्षणार्थत्वोपपत्तेः। वायुभावापन्नाद् ब्रह्मणस्तेजसः सृष्टिस्तेजसोऽपस्तथा ह्याहेति। "वायोरग्निः" इति श्रुतिबलादुक्ता चेति भावः। एवं सर्वथा न निरुपाख्यमाकाशम्, श्रुत्या युक्त्या वा। ततो नाऽऽकाशात् भूतानि जायन्त इति श्रुतियुक्तिभ्यामसत्कारणवादः। कथं तर्हि चेतने ब्रह्मणि जडवाच्याकाशशब्दः? तत्राऽऽह—आ समन्तादिति। न्यायभेदाभ्यां क्लृप्तत्वात् व्योमाख्यमुख्यवृत्तेरपि

ज्ञानवती

(पू) आरब्ध द्रव्य, रूप एवं स्पर्श में से किसी एक के रूप में भोग के साधन हैं, अथवा विषयरूप में इनका तत्त्व (=भोगसाधनत्व) नहीं है, किन्तु आकाशकार्यवाला शरीर प्रसिद्ध नही है इसलिये इसकी उत्पत्ति नहीं है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अनिर्वाच्यवाद होने से एवं नियम के ज्ञात न होने से प्रसिद्ध प्रामाण्यवाले वेद एवं स्मृति से प्रतिपादित जीवविशेषों का देह आदि के रूप में उपयोग होने से आकाश का आरम्भ विफल नहीं है। 'आसमन्तात्, काशते इति आकाशः' ऐसी योगवृत्ति के भी न्याय से उपगृहीत होने के कारण साधु के विभुत्व आदि गुणयोग से "आकाश के समान सर्वगत" इत्यादि वेद से क्लृप्त रूढार्थैकदेशग्रह के द्वारा छन्दोगश्रुति में आकाश शब्द ब्रह्म ही है। गुणलक्षणा के द्वारा अर्थान्तरवृत्तिवाली

---

१ (ग) तरत्वेनैव। २ (क) वास्य, (ख ग) न वास्य। ३ (ग) तद्वत्वम्।
४ (ग) गृहीतात्। ५ (ग) गुणलक्षणार्थाद्वारार्था।
६ (ग) ततो श्रुतौ। ७ (ग) शून्येन ब्रह्म।

[अणुकारणतावादस्तन्निराकरणञ्च—]

अथ "न्यग्रोधफलमत आहरेति। इदं भगव इति। भिन्धीति। भिन्नं भगव इति। किमत्र पश्यसीति? अण्व्य एवेमा धाना भगव इति। आसामङ्गैकां भिन्धीति। भिन्ना भगव इति। किमत्र पश्यसीति? न किञ्चन भगव इति। तं होवाच—यं वै सोम्यैतमणिमानं न निभालयसे, एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एवं महान् न्यग्रोधस्तिष्ठति; श्रद्धत्स्व सोम्येति"[1] इति छन्दोगश्रुतौ सूक्ष्मतमकारणस्योपपत्त्या निरूपणात् परमाणव एव जगत्कारणम्[2]? नैतच्चतुरश्रम्; "यतो वा इमानि" इति 'यतः' इति पञ्चमीश्रुत्या ब्रह्मणो जगन्निमित्तोपादानत्वाध्यवसायात्।

भावदीपिका

साधोर्गुणयोगात् आकाशब्दं ब्रह्मेत्यन्वयः। केचिदुक्तां योगवृत्तिमाचक्षते; तदयुक्तमिव। यथा खलु क्लृप्तो योगः कल्प्यां रूढिं बाधते, अन्यथा पङ्कजशब्दस्य कमले रूढत्वप्रसङ्गात्; निराकृता च तत्र रूढिर्वृद्धैः, तथा क्लृप्तो गुणयोगोऽपि कल्प्यं योगं बाधते; अपरथा 'सिंहो देवदत्तः' इत्यत्राऽपि यथाकथञ्चित् योगकल्पनया गुणवृत्तिबाधः स्यात्; यथा 'गंगायां घोषः' इत्यत्र साक्षाल्लक्ष्यार्थवृत्तिसम्भवे गुणयोगलक्षणया न गौणीवृत्तिर्गङ्गाशब्दस्येत्यर्थः।

[अणुकारणतावादस्तन्निराकरणञ्च—]

यद्यप्याकाशाऽऽदिकारणे प्रस्तुते परमाणुशङ्का नाऽऽञ्जसी आकाशादेस्तदारम्यत्वाऽनङ्गीकारात्, तथाऽपि यद् द्रव्यं जायते तत् परमाणुभिरेवेति प्रक्रियाभङ्गार्थमिदमाशङ्कते—अथेति। धानाः = कणिकाः; न निभालयसे = न पश्यसि। उभयकारणत्वस्य लक्षणत्वेन विवक्षितत्वान्न परमाणुभिरर्थान्तरतेति परिहरति—नैतच्चतुरश्रमिति। चेतनस्य निमित्तत्वं

ज्ञानवती

गौणी के समान लक्षणा भी साक्षात् लक्ष्यार्थ वृत्ति होती है और श्रुति में आकाशशब्द ब्रह्म ही है। इसलिये प्रमाणशून्य शून्य के द्वारा ब्रह्मलक्षण की अर्थान्तरता नहीं है।

[अणुकारणतावाद और उसका निराकरण—]

(पू) "न्यग्रोध का फल लाओ। यह है भगवन्! इसको तोड़ो। तोड़ दिया गया भगवन्! यहाँ क्या देख रहे हो? ये छोटी-छोटी धाना हैं भगवन्! इनमें से एक को तोड़ो। तोड़ दी गई भगवन्! यहाँ क्या देख रहो हो? कुछ भी नहीं भगवन्! उस (उद्दालक) ने कहा—हे सौम्य! जिस इस अणिमा को तुम नहीं देख पा रहो हो, हे सौम्य! इसी अणिमा से यह महान् वटवृक्ष उत्पन्न होता है। हे सौम्य! श्रद्धा करो।" इस प्रकार छन्दोग श्रुति में सूक्ष्मतम कारण की उपपत्ति के द्वारा निरूपण होने से परमाणु ही जगत् के (उपादान) कारण हैं।

(उ) यह प्रशस्त नहीं है। "जहाँ से ये सब" यहाँ 'यतः' इस पञ्चमीश्रुति से ब्रह्म के जगत् के निमित्तोपादानत्व का निश्चय होने से "जनिकर्त्तुः प्रकृतिः" इससे इस जायमान कर्त्ता के उत्पादन में अपादान संज्ञा का विधान करके "अपादाने पञ्चमी" इससे यहाँ पञ्चमी

[1] छा० उ० ६।१-२। [2] (ग) तत्कारणम्,।

"जनिकर्त्तुः प्रकृतिः"[१] इति जायमानकर्त्तुः[२] अस्योत्पादनेऽपादानसंज्ञां विधाय "अपादाने पञ्चमी" इति[३] तत्र पञ्चम्या विधानात्; मृदादिदृष्टान्तैः कारणविज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञाया उपपादनात्। वटधानादृष्टान्तेन परमाणूपादानत्वोपपादने च निमित्तादेस्तद्विज्ञानासम्भवात्[४]। प्रतिकूलत्वपरिहारार्थं तस्या आनुगुण्येन कारणब्रह्मगतसूक्ष्मत्वपरत्वेनाणिमदृष्टान्तनयनाच्च।

"मृदादयो हि दृष्टान्ताः प्रतिज्ञामनुरुन्धते।
धानास्तामुपरुन्धाना भक्तिमार्गं प्रपेदिरे॥"[५]

इति च कल्पतरुः। "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो"[६] इति ब्रह्मण्यप्यणिमकीर्त्तनात्तदेव मायामहिम्ना लब्धपरिणामभावं[७] पटाद्युपादानमपि।

"अणोरणीयान् महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥"[८]

भावदीपिका

प्रसिद्धम्। अपादानपञ्चम्या च शृङ्गा[-द्धनु-]र्जायत[९] इतिवदुपादानत्वं लभ्यत इत्यर्थः। न केवलं श्रुत्यन्तरपर्यालोचनयैवैवं, एतत्पर्यालोचनयाऽप्येतदवगम्यते। का तर्ह्यणिमश्रुतेर्गतिः? तत्राऽऽह—मृदादीति। धाना इत्यणिमश्रुत्युपलक्षणम्। भक्तिमार्गम्=गौणार्थत्वम्। तथाऽपि वटधानादीनां परममहत्परिमाणब्रह्मोपादानत्वमनेकेषामेकोपादानत्वं च न दृष्टाऽनुसारि? तत्राऽऽह—स एष इति। श्रुत्यन्तरेऽपि नाऽणुशब्दः पराऽभि-

ज्ञानवती

का विधान कर मिट्टी आदि दृष्टान्तों के द्वारा कारण का विज्ञान होने से समस्त विज्ञान की प्रतिज्ञा का उपपादन करने से और वट-धाना के दृष्टान्त से परमाणु-उपादानत्व के उपपादन के द्वारा निमित्त आदि से उसका विज्ञान होने पर विज्ञान असम्भव होने से प्रति-कूलत्व के परिहार के लिये उसके अनुरूप कारण ब्रह्म में वर्त्तमानसूक्ष्मत्वपरता के द्वारा अणिमा के दृष्टान्त का नयन हुआ है।

"मृदादि दृष्टान्त प्रतिज्ञा का अनुरोध करते हैं और धाना उसका उपरोध करती हुई भक्ति मार्ग (=गौण अर्थ) को प्राप्त होती हैं।"

ऐसा कल्पतरु (का वचन) है "वह यह जो अणिमा है एतदात्मक यह सब है, वह सत्य है, वह आत्मा है—हे श्वेतकेतु वही तुम हो" इस प्रकार ब्रह्म में भी अणिमा का कथन होने से वही माया की महिमा से परिमाण भाव को प्राप्त हुआ पट आदि का उपादान भी है।

"सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर महान् से भी महत्तर आत्मा इस जीव की (हृदय-) गुहा में

---

१ पा० सू० १।४।३०। २ (ग) जायमानस्यो। ३ पा० सू० २।३।२८।
४ (क) देस्तद्विज्ञानासंभ। (ग) देस्तद्विज्ञाने विज्ञानासंभ।
५ क० १।४।२८। ६ छा० ६।७। ७ (ख) परिमाणभावं। (ग) परमाणुभाव—वटा। ८ कठो० १।२।२०। ९ (क) रो

इति कठश्रुतावपि अणीयश्शब्दश्चेतने प्रयुक्तः। "तदैक्षत बहु स्याम्"[१] इतीक्षणपूर्वकबहुभावप्रार्थनया निमित्तत्वमुपादानत्वं च वेदयति वेदाचार्यः। न च पुत्रपौत्रादिना बहुभावप्रार्थनवदिदं निमित्तत्वेऽपि घटते, अपरथा "तत्तेज ऐक्षत बहु स्याम् प्रजायेय इति ता आप ऐक्षन्त बह्वयः स्याम प्रजायेमहि" इति प्रत्येकमीक्षणबहुभावप्रार्थनवर्णनवैफल्यात्[२] "तदात्मानं स्वयमकुरुत"[३] इति[४] "आत्मा वै जायते पुत्रः" "अर्धो वा एष आत्मनो यत् पत्नी"[५] इत्यादिवत् योज्यमिति शङ्कनीयम्; तत्तदुपाध्युपरक्तस्य[६] तस्यैवेक्षणपूर्वकतत्तदवान्तरबहुभावप्रार्थनसम्भवान्मायाप्रकृतिमायोपाधिबहुरूपत्वादिश्रुत्यनुसारेण[७] "तदात्मानम्"इत्यादिश्रुतयोऽनिर्वाच्यविकारात्मना पूर्वसिद्धमात्मानमकुरुत[८] देवदत्त इवात्मानं व्याघ्रमिति योजनीयाः। अतो नाणुभिरप्यर्थान्तरता। न चाणूनामुपादानत्वेऽपि मानम्।

भावदीपिका

प्रेतपरः—इत्याह—अणोरणीयानिति। अक्रतुः=सांसारिकपुमर्थसङ्कल्पवर्जितः। धातूनाम्=शरीरधारकाणाम्=मन आदीनाम्; प्रसादात्। अणीयस एव परमाणुत्वाऽभ्युपगमात्राऽणुशब्दाद् द्वयणुकसाधारणात् तत्सिद्धिः। एवं चेतनेऽणिमशब्दप्रयोगात्, "ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्"—इति सर्वस्य तद्भावविधानाच्च, स्थितं निमित्तोपादानत्वं द्रढयितुमाह—तदैक्षतेति। उभयपरत्वस्य प्रघट्टकाननुरूपत्वान्निमित्तमात्रपरेयं श्रुतिः?—इत्याशङ्क्याह—न चेति। तथाऽपि तैत्तिरीयके उभयं प्रतीयते?—इत्याशङ्क्याऽह—तदात्मानमिति। पूर्वसिद्धस्याऽऽत्मनः करणाऽयोगादाकारान्तरकरणे वा पूर्वाकारस्य कुण्डलादिभावे सुवर्णपिण्डस्यैवाऽपायप्रसङ्गात् स्थितिकाले मुक्तानां निर्विकारप्राप्तिर्न स्यादित्यर्थः। अणुपक्षे नैकस्य निमित्तोपादानत्वं युक्तम्। केवलमुपादानत्वमपि तेषां न प्रामाणिकम्—इत्याह—न चाऽणूनामिति।

ज्ञानवती

छिपा है। निष्काम और शोकरहित पुरुष मन की प्रसन्नता के द्वारा उसकी महिमा को देखता है।"

इस कठश्रुति में भी अणीयस् शब्द चेतन अर्थ में प्रयुक्त है। "उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ। इससे वेदाचार्य ईक्षणपूर्वक बहुभाव की प्रार्थना के द्वारा (ब्रह्म के) निमित्तत्व एवं उपादानत्व का आवेदन करते हैं।

(पू) पुत्रपौत्र आदि के द्वारा बहुभावप्रार्थना के समान यह निमित्तत्व में भी घटित होता है। अन्यथा "उस तेज ने ईक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न होऊँ उस जल ने ईक्षा की हम बहुत हो जायँ उत्पन्न होवें" यह, प्रत्येक का ईक्षण एवं बहुभाव की प्रार्थना का, वर्णन व्यर्थ हो जाने से "उसने आपने को स्वयं किया" "आत्मा ही पुत्र होकर उत्पन्न होता है।" "यह आत्मा का अर्द्धभाग है जो पत्नी है" इत्यादि के समान योजना कर लेनी चाहिये?

---

१ छा० ६।२। २ (ग) वैकल्यात्। ३ (ग) स्वयं जगदात्मना अकुरुत।
४ तै० आ० २।७। ५ तै० ब्रा० ३।३।४। ६ (ग) नीयतत्तदवान्तर।
७ (ग) प्रकृतितत्त्वमायो। ८ (ग) आत्मानमकृतं दे—नाणुभिरर्था।

[परमाणुकारणतावादनिराकरणम्–]

अथ मन्त्रवर्णात् परमाणूपादानत्वसिद्धिः –

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो हस्त उत विश्वतस्पात्।
सम्बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥"[१]

अत्र प्रथमेन सर्वज्ञत्वम्; चक्षुषा दृष्टेरुपलक्षणात्। द्वितीयेन वक्तृत्वम्; मुखेन वागुपलक्षणात्। तृतीयेन सर्वसहकारित्वम्; बाहुना सहायोपलक्षणात्। चतुर्थेन व्यापकत्वम्; पदा व्याप्त्युपलक्षणात्। पञ्चमेन धर्माधर्मलक्षणप्रधानकारणत्वम्; तौ[२] हि लोकयात्रावहनात्=बाहू। षष्ठेन परमाणुरूपप्रधानाधिष्ठेयत्वम्; तेन गतिशीलत्वात् पतत्रव्यपदेशः। सन्धमति सञ्जनयन्निति व्यवहितोपसर्गसम्बन्धः, "व्यवहिताश्च"[३] इति पाणिनिस्मरणात्। (सञ्जनयन्[४])=समुत्पादयन् इति[५] चार्थः। द्यावा इति=ऊर्ध्वसप्तलोकोपलक्षणम्, भूमी इति=अधस्तात्। एक इति=अनादिता—इति कुसुमाञ्जलिकारः। ततः परमाणूपादानत्वसिद्धिः।

भावदीपिका

[परमाणुकारणतावादनिराकरणम्—]

उदयनोक्तं मतमुत्थाप्य अन्यथयति—अथेत्यादिना। प्रथमेन विशेषणेनेत्यादि योज्यम्। प्रकारान्तरेण युक्तत्वमाह—परमाणुवाद इति। निरंशत्वमेव कुतः? तत्राऽऽह—

ज्ञानवती

(उ) ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, भिन्न-भिन्न उपाधि से उपरक्त उसी के ईक्षणपूर्वक तत्त-दवान्तर वहुभावपार्थना के सम्भव होने से मायाप्रकृति मायोपाधि वहुरूपत्वआदि के श्रुति के अनुसार "तदात्मानं" इत्यादि श्रुतियों की अनिर्वाच्य एवं पूर्वसिद्ध अपने की विकारात्मक रूप से (उसी प्रकार) किया जैसे देवदत्त अपने को व्याघ्र (वना लेता है), ऐसी योजना करनी चाहिये। इसलिये अणुओं के द्वारा भी अर्थान्तिरता नहीं है और न अणुओं के उपादान होने में प्रमाण ही है।

[परमाणुकारणतावाद का निराकरण—]

(पू) मन्त्रवर्णो से परमाणुओं के उपादानत्व की सिद्धि होती है—

"समस्त चक्षुओं वाला, समस्त मुखों वाला, समस्त हाथों वाला, समस्त पैरों वाला, गतियों के द्वारा स्वर्ग एवं पृथिवी को सम्यक् उत्पन्न करता हुआ एक देव वाहुओं के द्वारा संधमन करता है।"

यहाँ प्रथम विशेषण से सर्वज्ञत्व (जानना चाहिये) 'क्योंकि चक्षु शब्द' दृष्टि का उपलक्षण है। दूसरे से वक्तृत्व; क्योंकि मुख वाणी का उपलक्षण है। तीसरे से सर्वसहकारित्व क्योंकि बाहु के द्वारा सहायक का उपलक्षण किया गया है चौथे के द्वारा व्यापकत्व, क्योंकि पद के द्वारा व्याप्ति को उपलक्षित किया गया है। पाँचवे से धर्मलक्षण वाला प्रधान कारण (वताया गया है) क्योंकि वे लोकयात्रा के वाहन के कारण बाहु (कहे आते हैं)। छठें के

१ तै० आ० १०।१।३। २ (ख) तेन हि। ३ पा० सू० १।४।८२।
४ (क) संयोजयति। ५ (क) समुत्पादान्नेति चा, (ग) समुत्पादन्निवा।

तदप्यसारम् ; एकः = सर्वथा भेदासहिष्णुः ; देवः=स्वप्रकाशश्चिदात्मा ; एवं भूतोऽपि सम्बाहुभ्याम्=सतः = परमात्मनो बहुभावकारणाभ्याम्=विचारासहाविद्याभ्याम् ; द्यावाभूमी जनयन्=एतदुपलक्षितगगनादिसर्गकारी इत्युपादानकारणम् । तत एव विश्वतश्चक्षुः' इत्यादिविशेषणम् । तथा सम्पतत्रैः=पतनात् सम्यक्त्राणकारणैः=लीला(-विग्रहा[१]-) वतारैः, धमति=बृंहणं करोति शब्दयति वा शास्त्राण्युपदिशतीति निमित्तकारणमपि स ; इति व्याख्यायाः सकलवेदान्तानुकूलतया गरीयस्त्वात् । परमाणुकारणवादे संयोजयति इति दुर्योजम् ; निरंशपरमाणूनां कर्माभावात्[२] संयोगानुपपत्तेः ।

तथा हि—'निरंशः परमाणुः' इति किरणावलीकारेण न्यरूपि । स्थूलकार्यस्य लोष्ठादेरवयवक्रियाविभागादिन्यायेन विभज्यमानस्याल्पतरतमादिभावात् यतो नाल्पीयस्तं परमाणुमाचक्ष्महे[३] । एष ह्यवयवावयविप्रसङ्गो न तावन्निरवधिरेव ; अनन्ता-

भावदीपिका

तथा हीति । आरम्भकाऽवयवानां प्रथमं क्रियते तेषां विभागः; ततोऽसमवायिकारणभूततत्संयोगाविनाशे तदारब्धद्रव्यविनाश इति न्यायः । यतो नाल्पीय इत्यसिद्धम्, परमाणुवददृश्यानामल्पीयसां स्वीकारे बाधकाऽभावात्—अत आह—एष हीति । तन्तूनामिव संख्यासाम्ये

ज्ञानवती

द्वारा परमाणुरूप प्रधान का अधिष्ठेयत्व (बताया गया है) इससे गतिशील होने के कारण पतत्र का व्यवहार है । सन्धमति और सञ्जनयन् यहाँ उपसर्ग का सम्बन्ध व्यवहित है । क्योंकि पाणिनि ने "व्यवहिताश्च" यह सूत्र कहा है । संजनयन् का अर्थ है समुत्पादयन् । "द्यावा" यह ऊपरके सात लोकों का उपलक्षण है, "भूमी" यह नीचे (के सात्त लोकों को बताता है) । 'एक' यह अनादिता (का उपलक्षण है) ऐसा कुसुमाञ्जलिकार (का कथन है) । इससे परमाणुओं के उपादानत्व की सिद्धि होती है ।

(उ) यह (कथन) भी निस्तत्व है, एक (अर्थात्) सर्वथा भेद का असहिष्णु, देव (अर्थात्) स्वप्रकाश चिदात्मा, ऐसा होकर भी संबाहुओं के द्वारा (अर्थात्) सत्=परमात्मा के बहुभाव कारणों के द्वारा (अर्थात्) विचारासह अविद्याओं के द्वारा द्यावाभूमी को उत्पन्न करता हुआ इससे उपलक्षित गगन आदि की सृष्टि का कर्त्ता है इस प्रकार उपादान कारण है । इसीलिये "विश्वतश्चक्षुः" इत्यादि विशेषण है । उसी प्रकार संपतत्र अर्थात् पतन से सम्यक् रूप से त्राणकारणों अर्थात् लीलाविग्रहावतारों से, धमति अर्थात् वृद्धि करता है अथवा शब्द करता है अर्थात् शास्त्र का उपदेश करता है इसलिये वह निमित्तकारण भी है—यह व्याख्या समस्तवेदान्त के अनुकूल होने के कारण अधिक प्रशस्य है । और परमाणुकारणवाद में 'संयोजयति' की योजना कष्टसाध्य है, क्योंकि निरंशपरमाणुओं में कर्म न होने से संयोग की उपपत्ति नहीं होती ।

वह इस प्रकार—परमाणु निरंश है ऐसा किरणावलीकार ने निरूपण किया है ।

---

१ (क) लीलावतारैः, (ग) लीलाविग्रहावतारैः । २ (ख) कर्मभावात् ।

३ (ग) चक्ष्महे-दीनां परिमाणाभेदानुपपत्तेः न च का ।

वयवारब्धत्वाविशेषेण मेरुसर्षपयोः तुल्यपरिमाणत्वप्रसङ्गात्। न च कारणसंख्याया अविशेषेऽपि परिमाणप्रचयात् विशेष इति युक्तम्; तयोरपि (सम्बन्धि[1]-) संख्याविशेषाभावेऽनुपपत्तेः[2]। द्रव्यत्वावयवविभागविनाशावपि प्रलयावधिकस्य चिदन्त्यस्य चिदवयवत्वे तदनुपपत्तेः। द्रव्यस्यावयवविभागविनाशाभ्यां विना विनाशाभावात्। नापि विभागावधिः; तस्य विभज्यमानाश्रयतया तदभावेऽनुपपत्तेः। न चैकाश्रय एव विभाग इति युक्तम्; किञ्चिद्धि कुतश्चित् विभज्यते, न तु तदेव तस्मात्। तस्मान्निरवयवावधिरवयवावयविप्रसङ्ग[3] इति ज्ञायत इति। न चावयवान्तराणां क्रियादर्शनान्मूलावयवाभिमतपरमाणूनामपि क्रियाऽध्यवसायः; अनित्यत्वाद्यध्य-

भावदीपिका

परिमाणभेदात्तत्कार्यपरिमाणभेदः; कार्पासपिण्डानामिव प्रशिथिलाऽवयवसंयोगलक्षणप्रचयविशेषाद्वा मेर्वादीनां परिमाणभेदः स्यात् ?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न च कारणेति। न च कार्यवत्तदवयवानां अन्त्यपर्यन्तो नाश एवेति वाच्यः—इत्याह—नाऽपीति। अन्त्यस्य सावयवत्वेनाऽवयवाऽऽरब्धत्वाऽऽदिदोषस्योक्तत्वात् तस्याऽवश्यं निरवयवत्वमित्यर्थः। तथाऽपि वा निरवयवद्रव्याऽवधिलाभो यावत्कर्त्तुं शक्यते तावद्विभागे कृते स एवाऽणुभूतोऽवधिः स्यात् ?—इत्यत आह—नाऽपीति। तथाऽप्येकाश्रयतयाऽविभागसिद्धौ तस्यैव संयोगाऽश्रयत्वेनाऽऽरम्भकत्वोपपत्तेः न द्व्यणुकाऽवयवयोर्निरवयवत्वलाभः; तत्राऽऽह—न चेति। एवं निरंशत्वात् परमाणोर्न क्रिया सम्भवति। निरंशत्वेनाऽऽत्मादिवन्न क्रियानिषेधोऽनवयवत्वोपाधेः ?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। यत्र पुनरवयवत्वं तत्र सक्रियत्वं यथा तन्त्वादाविति व्यतिरेके सावयवत्वोपाधेरनिष्ट-

ज्ञानवती

स्थूलकार्य लोष्ठ आदि के अवयव क्रियाविभाग आदि न्याय के द्वारा विभज्यमान के अल्पतर (अल्प–)तम आदि भाव होने से जिससे छोटा नहीं है उसको (हम) परमाणु कहते हैं। यह अवयवावयवी का प्रसङ्ग निरवधि नहीं है, क्योंकि तब तो अनन्त अवयवारब्धत्व के समान होने से सुमेरु पर्वत एवं सरसो तुल्यपरिमाण वाले होने लगेंगे। (पू) कारण संख्या के समान होने पर भी परिमाणप्रचय के कारण विशेष हो जाँय ? (उ) यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उन दोनों की भी सम्बन्धी संख्याविशेष के अभाव होने पर अनुपपत्ति हो जाती है। द्रव्य के अवयव का विभाग एवं विनाश भी प्रलयावधिक चिदन्त्य का (हैं) और चिद् के अवयव होने पर उसकी अनुपपत्ति हो जाती है। अवयव के विभाग एवं विनाश के विना द्रव्य का विनाश नहीं होता। (विनाश) विभागावधिक भी नहीं है, क्योंकि विभज्यमान का आश्रय होने के कारण उसके अभाव में उसकी अनुपपत्ति हो जाती है। एकाश्रय में ही विभाग हो, यह ठीक नहीं है, क्योंकि कोई कहीं से विभक्त होता है; एक ही एक से विभक्त नहीं होता। इसलिये अवयवावयवीप्रसङ्ग निरवयवअवधि वाला है, ऐसा ज्ञात होता है।

---

१ (क) तयोरपि संख्या (ग) तयोरपि सम्बन्धिसंख्या।
२ (ग) नुपपत्तेः न एष ह्यवयवावयविप्रसङ्गो न तावन्निरवधिरेव।
३ (ग) निरववयवः अयं प्रसङ्गः।

वसायस्यापि प्रसङ्गात्; प्रत्यक्षसिद्धत्रसरेणूनां मूलावयवानां क्रियावतां सम्भवे तदितरकल्पनाऽनवताराच्च[1]। तस्य चावयवकल्पनायां न प्रमाणं पश्यामः।

अथ त्रसरेणुर्महान्, चाक्षुषद्रव्यत्वात्, महत्त्वे सति द्रव्यत्वाच्च, अनेकद्रव्योत्पन्नघटवत्। यदि हि द्रव्यस्य चाक्षुषता महत्त्वमन्तरेण स्यात्, दूरदूरतरादौ न महत्परिमाणप्रकर्षमनुविदध्यात्। यदि चास्यानेकद्रव्यता नाद्रियते, महत्त्वमपि नाद्रियेत; तद्व्यावृत्तौ तस्यैव व्यावृत्तेः। न च चाक्षुषत्वे सति महत्त्वे सतीति द्रव्यत्वहेतुविशेषणयोः परमाण्वसिद्धौ व्यावर्त्याभावः; नित्यः शब्दः ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति प्रयोग इव स्वसिद्ध(-व्यवच्छेदार्थत्वात्[2])?

नैतद्युक्तम्; प्रमाणान्तरगृहीतविशेषणावग्रहणवादे 'परमाणुजन्योऽयं घटः' इति प्रत्यक्षपरमाणौ चाक्षुषद्रव्यत्वहेतोर्व्यभिचारात्। अतो न महत्त्वसिद्धिरिति न

भावदीपिका

प्रसङ्गाच्चेत्यर्थः। मूलाऽवयवानां क्रियावत्त्वाऽऽग्रहश्चेत्? तत्राऽऽह—प्रत्यक्षेति। ननु तस्याऽपि सावयवत्वात् कथं तदतिरिक्तकल्पना [निरस्येत]? तत्राऽऽह—तस्य चेति।

प्रमाणाऽदर्शनमयुक्तमिति शङ्कते—अथेति। परमाणुषु व्यभिचारवारणार्थं चाक्षुषेत्युक्तम्। तथाऽपि कथमवयवसिद्धिः? अत आह—महत्त्वे सतीति। विपक्षबाधकाऽभावोऽपि नाऽऽशङ्क्यः -इत्याह यदि हीति। द्वितीये बाधकमाह—यदि चेति। विशेषणस्य परं प्रति वैयर्थ्यमाशङ्क्याऽऽह —न चेति। तथाऽपि त्वन्मतेनेवेदं दुष्टम्—इत्याह—नैतद्युक्तमिति। यः पुनरेवं नेच्छति तं प्रत्यप्रयोजकत्वं वक्तव्यम्। न चोक्तं बाधकं

ज्ञानवती

(पू) अवयवान्तरों की क्रिया दिखाई पड़ने से मूल अवयव के रूप में अभिमत परमाणुओं की भी क्रिया का निश्चय हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अनित्यत्व आदि के निश्चय की भी प्राप्ति होने लगेगी और प्रत्यक्षसिद्ध त्रसरेणु, जो कि मूल अवयव और क्रियावान् है, उसके सम्भव होने पर उनसे इतर की कल्पना का अवसर नहीं होने से उसके अवयव की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं दिखाई पड़ता।

(पू) त्रसरेणु महान् है, क्योंकि चाक्षुप द्रव्य है, ओर (उसमें) महत्त्व रहते हुए द्रव्यत्व है, जैसे कि अनेक द्रव्य से उत्पन्न घट। यदि महत्त्व के विना भी द्रव्य की चाक्षुषता होती तो दूर एवं दूरतर आदि (स्थान) में महत् परिमाण के प्रकर्ष का विधान न होता। और यदि इसकी अनेकद्रव्यता का आदर नहीं होता तब तो महत्त्व का भी आदर नहीं होता। क्योंकि उसकी व्यावृत्ति होने पर प्रसकी भी व्यावृत्ति हो जाती है। (पू) च.क्षुप होने से महान् होने से, द्रव्यत्वहेतु के विशेपणों का परमाणु की असिद्धि होने पर व्यावर्त्तन नहीं होगा? (उ) ऐसा नहीं ह। क्योंकि, शब्द नित्य है, क्योंकि ध्वनिधर्म से अन्य होते हुये श्रवण का विपय होने के कारण, शब्दत्व के समान, इस प्रयोग के समान स्वसिद्धव्यवच्छेदअर्थवाला है।

[1] (ख) नाव। [2] (ग) छेदा।

तेनानेकद्रव्यत्वानुमानम्। न च महत्त्वमन्तरेण द्रव्यस्य[1] चाक्षुषत्वे दूरदूरतरादौ महत्परिमाणप्रकर्षानुविधानाभावः तस्य दोषः; परिमाणान्तरग्राहकत्वे सत्यपि तत्सम्भवात्। अणुपरिमाणद्रव्यस्याचाक्षुषत्वेऽपि न महत्परिमाणमचाक्षुषमेव[2], येन दूरादिद्रव्यचाक्षुषता[3] महत्परिमाणप्रकर्षव्याप्ता न स्यात्। अस्तु वा त्रसरेणुर्यथा तथा, परमाणुस्तु सक्रियो न सम्भवत्येव। न च अयं घटः एतदतिरिक्तानित्यमूर्त्तातिरिक्तमूर्त्तान्यः, द्रव्यत्वात्, (पटवत्) इति नित्यमूर्त्ततया तत्सिद्धौ क्रियावत्त्वसिद्धिः; सक्रियस्यानित्यत्वेन[4] नित्यत्वव्याघातात्। अतः संयोगविभागयोः

भावदीपिका

साधीयः–इत्याह—न च महत्त्वमिति। कथं सम्भवः? इत्यत आह—अणुपरिमाणेति। एवं त्रसरेणुसम्पादनेन व्यतिरिक्ताऽणुकल्पनाऽपास्ता। स्वतन्त्रत्रसरेणूपादानत्वकल्पनाऽपि मायाप्रकृतित्वश्रुतिविरुद्धा, "आत्मनः प्राणो जायते यथा पुरुषे छाया" इति श्रुत्यन्तराच्च। न च छायाया देह उपादानम्? अन्त्याऽवयवित्वव्याकोपात्, पिण्डस्येव घटोत्पत्तौ देहस्य छायोदयेऽन्यथात्वादर्शनाच्च। न च द्रव्यान्तरं तदारम्भकं युक्तिसहम्; तेनाऽविद्यैव तमोरूपेण परिणममाना छाया; तथा प्राणिजगदपि। तेन त्रसरेणुपक्षमुपेक्ष्य तार्किकपक्षं प्रस्तुतं प्रतिक्षिपति—अस्तु वेति। मूर्त्तस्य क्रियादर्शनात्, नित्यमूर्त्ते मानाऽभावाच्चेत्यर्थः। अस्ति वक्ष्याऽनुमानं मानम्? इत्याशङ्क्याऽऽह—न चायमिति। अनित्यमूर्त्तातिरिक्तमूर्त्तस्याऽप्रसिद्धत्वेनाऽप्रसिद्धविशेषणताव्युदासार्थम्—एतदतिरिक्तेति। एतदतिरिक्ताऽनित्यमूर्त्ताऽतिरिक्तो मूर्तोऽयमेव घटः, एतदन्यत्वं पटे प्रसिद्धमित्यदोषः। मूर्त्तस्य सावयवत्वेन व्याहतत्वात्, नित्यसावयवप्रसङ्गात्, सक्रियस्याऽनित्यत्वेन व्याप्तेर्विरुद्धसमुच्चयेन व्याघातप्रसङ्गाच्च,

ज्ञानवती

(उ) यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रमाणान्तरगृहीतविशेषणावग्रहणवाद में, यह घट परमाणु से जन्य है इस प्रत्यक्षपरमाणु में चाक्षुषद्रव्यत्वहेतु का व्यभिचार हो जाता है। इसलिये उससे अनेकद्रव्यत्व का अनुमान नहीं हो सकता।

(पू) महत्त्व के विना द्रव्य के चाक्षुष होने पर दूर दूरतर आदि (वस्तु) में महत् परिमाण के प्रकर्ष के अनुविधान का अभाव उसका दोष है? (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि परिमाणान्तर के ग्राहक होने पर भी वह सम्भव है। अणु परिमाणवाले द्रव्य के चाक्षुष होने पर भी महत्परिमाण (वाले द्रव्य) अचाक्षुष नहीं हैं जिससे दूरवर्त्ती आदि द्रव्य की चाक्षुषता महत् परिमाण के प्रकर्ष से व्याप्त नहीं होगी। अथवा त्रसरेणु जैसा भी हो, परमाणु तो सक्रिय सम्भव नहीं है।

(पू) यह घट, एतदतिरिक्त अनित्यमूर्त्त से अतिरिक्त मूर्त्त से अन्य है, द्रव्य होने के कारण, घट के समान, इस प्रकार नित्य मूर्त्त होने से उस (अर्थात् परमाणु) की सिद्धि होने से क्रियावत्त्व की सिद्धि हो जाती है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि सक्रिय के अनित्य होने

---

[1] (ग) द्रव्य। [2] (ग) परिमाणचाक्षुष। [3] (ग) दूरादिता महत्।
[4] (क) घटवत्, न—पटवत्। [5] (क) सक्रियत्वा, (ग) सक्रियस्या।
[6] (ग) कर्मतस्तदभावः।

कर्मजन्ययोः सर्गप्रलयबीजयोरभाव एवाणूनाम्। तदुक्तम्—"उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभाव[१]" इति। एतेन षट्पदार्थसङ्ग्रहोऽपि व्याख्यातः।

[पदार्थपदनिरूपणम्–]

ननु षट्पदार्था इति समासः पदं वा? आद्ये न संख्यालाभः; 'सप्तग्रामः' इतिवत्; "दिक्संख्ये संज्ञायाम्[१]" इति पाणिनिस्मरणात्। दिग्वाचिनः संख्यावाचिनः शब्दाः संज्ञायां गम्यमानायामुत्तरपदेन समस्यन्ते तत्पुरुषसंज्ञकसमास इति सूत्रार्थः। दक्षिणाग्निः, सप्तग्राम इत्यादयः संज्ञाशब्दा रूढा अपि व्युत्पाद्यन्ते= दक्षिणदिशि वर्त्तमानोऽग्निर्दक्षिणाग्निः; सप्तानां ग्रामः सप्तग्राम इति। अतः संज्ञापदत्वान्न संख्यालाभः। षट् च ते पदार्थाश्च इति कर्मधारयादपि संज्ञासमासस्य रूढत्वेन बलीयस्त्वाच्च[२]। असमासपदाभिधाने नान्यान्तर्भावः। षडेते (गावः[३])

भावदीपिका

नेदमनुमानं युक्तमित्यर्थः। उभयथा =संयोगार्थं विभागार्थं च। एवं परमाणूनामप्रामाणिकत्वे तानपेक्ष्य षट्पदार्थसङ्ग्रहोऽप्यप्रामाणिकः—इत्याह—एतेनेति।

[पदार्थपदनिरूपणम्—]

बालव्युत्पादनाय तान्युपन्यस्य लेशतः परिशोधयितुमाक्षेपमाह—ननु षट् पदार्था इति। ननु व्युत्पत्तिसम्भवान्न रूढत्वमेषां येन संज्ञासमासः स्यात्? तत्राऽऽह—दक्षिणाग्निरिति। उत्तरपदार्थ एव दक्षिणादिपदस्यार्थः, क्लृप्तरूढिबाधकत्वे योगस्याऽतिप्रसङ्गादिति भावः। ननु कर्मधारयस्याऽपि सम्भवात् संख्यालाभः?—इत्यत आह—षट् चेति। कर्मधारयस्याऽवयवार्थे सापेक्षत्वात्तदनपेक्षसंज्ञासमासाद् दुर्बलत्वमित्यर्थः। द्वितीयं

ज्ञानवती

से नित्यत्व का व्याघात हो जाता है। इसलिये सृष्टि एवं प्रलय के बीच, कर्म से जन्य, परमाणुओं के संयोग एवं विभाग का अभाव ही है। कहा गया है—

"दोनों प्रकार से कर्म नहीं है इतलिये उसका अभाव है।"

इससे छ पदार्थों के संग्रह का भी व्याख्यान हो गया। (पू) छ पदार्थ कौन-कौन हैं? (उ) द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये छ पदार्थ हैं।

[पदार्थपदनिरूपण—]

(पू) 'षट्पदार्थाः' यह समास है या पद? प्रथम पक्ष में संख्या का लाभ नहीं होगा जैसे कि 'सप्तग्रामः' में; क्योंकि 'दिग्संख्ये संज्ञायाम्" यह पाणिनि का सूत्र है। दिग्वाची एवं संख्यावाची शब्द संज्ञा की प्रतीति होने पर उत्तरपद के साथ समस्त होते हैं वह तत्पुरुषसंज्ञक समास होता है यह सूत्र का अर्थ है। 'दक्षिणाग्निः', 'सप्तग्रामः', इत्यादि संज्ञाशब्द रूढ होकर भी व्युत्पादित होते हैं। दक्षिण दिशा में वर्त्तमान अग्नि दक्षिणाग्नि, सात ग्रामों का (=समूह) सप्तग्राम होता है। इसलिये संज्ञा पद होने से संख्या का लाभ नहीं होता। संज्ञा समास, रूढ़ होने से 'षट् च ते पदार्थाः' इस कर्मधारय से भी

---

[१] पा० सू० २।१।५०। [२] (ग) बलीयस्त्वाच्चासमप।

[३] (क) षडेते भावाः, (ग) षडेते गावः।

इत्युक्ते नहि (सकलगवाम्[१]) तत्रैवान्तर्भावः सम्बोभवीति। अथ षडेव वस्तूनि भावस्वरूपाणि सप्तमस्त्वभावो नान्यत् किञ्चिदस्तीत्यभिप्रायः? तर्हि कुतोऽन्याभावोऽज्ञायि[२] भवता? न तावदनुपलम्भमात्रात्; अतिप्रसङ्गात्। न च योग्यानुपलब्ध्या; लोकान्तरादिवर्तिनामभावानां[३] भवतोऽयोग्यत्वात्[४]। न च सर्वज्ञसूत्रकारवचनादपीति वाच्यम्; तेषां विवाददर्शनात्। न च 'एकः सर्वज्ञो नेतरः' इति प्रमाणमस्ति। अन्तर्भावकल्पनायाञ्चैकस्मिन् सा लघीयसी इति?

अत्रोत्तरम्[५]—षडेव भावरूपाः पदार्थाः इत्यसमास एवात्राभिहितः; अन्यत्वेन कल्प्यमानभावस्य सम्प्रतिपन्नभाववद् द्रव्यादीनां षण्णामन्यतमलक्षणवत्त्वेनानुमानात्[६]। तदाह लीलावतीकारः—

"भावत्वाधिष्ठिताः सर्वाः प्रत्येकं व्यक्तयो मताः।
द्रव्यादिषट्कविच्छेदमेलकेन विवर्जिताः॥"

भावदीपिका

प्रत्याचष्टे—असमासेति। अन्यान्तर्भावाय विशिनष्टि—अथ षडेवेति। अन्याऽभावसाधकाऽभावान्नैवम्—इत्याह—तर्हीति। आप्तवाक्यादन्याऽभावोऽवगत इत्यपि न वाच्यम्—इत्याह—न चेति। ननु कणाद एव सर्वज्ञो नाऽन्यः?—इत्याह—न चैक इति। अन्तर्भावकल्पनायामपि न त्वदुक्तसंख्यालाभः - इत्याह—अन्तर्भावेति। आह वैशेषिकः—अत्रोत्तरमिति। कथं तर्ह्यन्याऽन्तर्भावः? तत्राऽऽह—अन्यत्वेनेति। न च दृष्टानुऽसारेणाऽदृष्टाऽनुमाने स्वर्गादौ पार्थिवशरीराद्यनुमानप्रसङ्गः; "अदोऽम्भः परेण दिवम्"—स्वर्गस्थशरीराणां अम्भोमयत्वश्रुतिविरोधात्; "तद्यथेह कर्मचितो लोकः" इत्यादि श्रौताऽनुमानेऽपि

ज्ञानवती

बलवत्तर है। असमास पद का अभिधान करने पर दूसरे में अन्तर्भाव नहीं होता है। 'ये गायें छ हैं' ऐसा कहने पर समस्त गायों का वहीं (=छ संख्या में) अन्तर्भाव सम्भव नहीं है। (यदि यह कहिये कि) छ ही वस्तुयें भावस्वरूप हैं सातवीं अभाव दूसरी कुछ नहीं; यह अभिप्राय है? तो आप दूसरे का अभाव कहाँ से जाने? अनुपलम्भ से (जान) नहीं (सकते) क्योंकि अतिव्याप्ति हो जायगी। योग्यानुपलब्धि से भी नहीं (जान सकते) क्योंकि (वस्तु का) लोकान्तरवर्त्ती अभाव आपके योग्य नहीं है। सर्वज्ञसूत्रकार के वचन से (जान लेगें) ऐसा (भी नहीं कहना चाहिये) क्योंकि विवाद देखा जाता है। एक सर्वज्ञ है दूसरे नहीं, ऐसा प्रमाण नहीं है। एक में अन्तर्भाव की कल्पना करने से वही (कल्पना) लघीयसी है?

(उ) इस विषय में उत्तर है—छ ही भावरूप पदार्थ हैं यह असमास ही यहां उक्त है क्योंकि अन्य के रूप में कल्प्यमान भाव का सम्प्रतिपन्नभाव के समान द्रव्यादि छ का अन्यतम लक्षण के रूप में अनुमान होता है। लीलावतीकार ने कहा है—

---

१ (क) सलेगवा, (ग) सकलगवां
२ (ग) अज्ञापि।
३ (ग) वर्त्तिनां भावानां।
४ (ग) योग्य।
५ (ग) अत्रानुत्तरम्।
६ (ग) अनुभवात्।

इति। अतो योग्यानुपलब्ध्या भावान्तरस्याभावनिश्चयाभावेऽपि भावत्वलिङ्गेन तन्निश्चयात् षडेव इत्यवधारणोपपत्तेः। न च शक्त्यादिपदार्थानां षट्स्वन्तर्भावश्चेदेकस्मिन्नेव सर्वान्तर्भावोऽस्तु, कल्पनाया लघीयस्त्वादिति[१] वचनीयम्; समानबलप्रमाणसिद्धव्यावृत्तस्वभावानां भावानामेकान्तर्गमस्य दुःसम्पादत्वात्। न चैकप्रमाणं बलवच्छक्त्यादीनां वा तुल्यमेतत् इति शङ्कनीयम्; स्वरूपेण षोढा व्यावृत्तव्यवहारहेतावेकस्मिन् प्रमाणादर्शनात्। स्फोटादिजनकत्वधर्मेणैव[२] शक्तिव्यवहारहेतुत्वात्। अप्रतिबन्धस्वरूपात् कार्यसिद्धावतिरेकसाधकदौर्बल्याच्च।

[लक्षणप्रयोजनम्—]

ननु यदेतद्द्रव्यादिलक्षणम्, तन्न तावल्लक्ष्यस्वरूपावगतये; परस्पराश्रया-

भावदीपिका

प्रसङ्गस्य तुल्यत्वाच्चेति भावः। कल्पनालघीयस्त्वशङ्कां निराचष्टे न चेति। तुल्यबलत्वमसिद्धं, सिद्धत्वे वा शक्त्यादेरपि; स्फोट उभयवादिसम्प्रतिपन्नस्फोटकारणाऽतिरिक्तभावकारणजन्यो जन्यत्वात् घटवत् इत्यादिप्रमाणसिद्धस्य नाऽन्तर्भावः—इत्याह—न चैकेति। द्रव्यादिभावेन परिणतस्य षोढा व्यवहारे हेतुत्वमेकस्य चेत्? तत्राऽपि प्रमाणाऽदर्शनात् इत्येव हेतुर्द्रष्टव्यः। न च "बहु स्याम्" इत्यादिश्रुतिविरोधात् वाङ्मात्रस्य विशिष्टाऽर्थक्रिया च युक्ता इत्याशयः। शक्तिप्रमाणस्याऽतुल्यबलत्वमाह—स्फोटादीति। शक्तत्वव्यवहाराऽन्यथाऽनुपपत्तेरन्यथाऽप्युपपत्तिरित्यर्थः। न च जनकत्वमेवाऽतिरिक्तशक्तिं विनाऽनुपपन्नम्? शक्तौ व्यभिचारात्। अतोऽनुमानमप्ययुक्तम्—इत्याह—अप्रतिब[न्ध][३]ति।

[लक्षणप्रयोजनम्—]

एवमुद्देशं परिशोध्य लक्षणं परिशोधयितुं शङ्कते—ननु यदेतदिति। लक्ष्याऽवगतिर्वा

ज्ञानवती

"सभी प्रत्येक व्यक्तियां भावत्व में अधिष्ठित मानी गई हैं। (वे) द्रव्यादि छ के विच्छेद एवं मेल से रहित हैं।"
इसलिये योग्यानुपलब्धि के द्वारा उसका निश्चय होने से 'षडेव' इस अवधारण की उपपत्ति हो जाती है।

(पू) यदि शुक्ति आदि पदार्थों का छ में अन्तर्भाव हो जाता है तो एक ही में सबका अन्तर्भाव हो जाय? क्योंकि कल्पना का लाघव हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। समान बल वाले प्रमाण से सिद्ध व्यावृत्तस्वभाव वाले भावों का एक में अन्तर्भाव दुःसम्पाद्य है (पू) एक प्रमाण बलवान् है या यह शक्ति आदि के तुल्य है? (उ) ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि स्वरूपतः छः प्रकार के व्यावृत्तव्यवहारवाले हेतु के होने पर एक के विषय में प्रमाण के दिखाई न पड़ने से (पदार्थ) स्फोट आदिजनकत्व धर्म के द्वारा ही शक्तिव्यवहार का हेतु है, अप्रतिबन्धस्वरूप है, तथा कार्यसिद्धि में अतिरेकसाधक की दुर्बलता है।

[लक्षण का प्रयोजन—]

(पू) जो यह द्रव्य आदि का लक्षण है वह लक्ष्य के स्वरूप के ज्ञान के लिये नहीं है,

---

१ (ग) कल्पनालघी। २ (ग) धर्मेणशक्ति। ३ (क) द्ध

पातात् = लक्ष्ये[१] दृष्टे तल्लक्षणदृष्टिः (लक्षणदृष्टेश्च[२]) तद्दृष्टिऽरिति; नापि द्रव्यलक्षणमद्रव्य०।वृत्तये; (द्रव्यलक्षणे सिद्धे[३]) तत्प्रतियोगिकाद्रव्यसिद्धिः, तत्सिद्धौ च तद्व्यावृत्तये द्रव्यलक्षणमितीतरेतराश्रयात्? मैवम्; यथा हि श्रुत्या "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" इत्युद्देशनपूर्वकं[४] पराभिमतप्रधानादेरब्रह्मणो व्यवच्छेदार्थं "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति लक्षणं निर्दिश्यते, तथा द्रव्यादयः षट् पदार्थाः इत्युद्दिश्य "गुणाश्रयो द्रव्यम्" इत्यादिलक्षणमितरव्यवच्छेदाय। तत्र यथा पृथिव्याः क्वचिद् गन्धवत्त्वेन लक्षणेन विशिष्टाया दर्शने "गन्धवती पृथिवी" इति ततोऽन्यत्रापि लक्षणं प्रवर्त्तते तथा जीवांशे ब्रह्मलक्षणस्य; तथैव द्रव्यलक्षणस्य[५] प्रवृत्तौ नेतरेतराश्रयदोषः। न च प्रामाणिकवादिनां सर्वत्रप्रमाणपरीक्षितस्यैवाभ्युपगम-(नियमात्) लक्ष्यस्य सिद्धत्वासिद्धत्वयोर्न लक्षणावकाश इति शङ्कनीयम्; अभ्युपगमसिद्धान्तेनापातसिद्धाभ्युपगमेन परीक्षाऽङ्गीकारात्, "अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगम सिद्धान्तः"[६] इति अक्षपादसूत्राच्च।

भावदीपिका

अलक्ष्यव्यावृत्तिर्वा लक्षणासाध्येति विकल्पदूषणं प्रतिबन्द्या समाधत्ते—मैवमिति। अस्तु द्वितीयः पक्षः; तद्दोषाभावस्तु कथम्?—तदाह—तत्रेति। लक्ष्यविकल्पमपि लक्षणविघटकं निराचष्टे—न प्रमाणिकेति। प्रमाणसिद्धत्वं न लक्षणं वारयति, तस्य व्यवहारविशेषार्थ-

ज्ञानवती

क्योंकि अन्योन्यात्रय हो जायगा—लक्ष्य के दृष्ट होने पर उसके लक्षण की दृष्टि और लक्षण की दृष्टि से उसकी दृष्टि होगी। द्रव्य का लक्षण अद्रव्य की व्यावृत्ति के लिये भी नहीं है, क्योंकि द्रव्यलक्षण के सिद्ध होने पर तत्प्रतियोगिक अद्रव्य की सिद्धि होती है और उसकी सिद्धि होने पर उसकी व्यावृत्ति के लिये द्रव्य का लक्षण; इस प्रकार अन्योन्यात्रय हो जाता है। (उ) ऐसा नहीं है, जैसे श्रुति के द्वारा—"ब्रह्मविद् परम (ब्रह्म) को प्राप्त करता है" यहाँ उद्देशपूर्वक पर के द्वारा अभिमत प्रधान आदि अब्रह्म से भिन्न के व्यवच्छेद लिये "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" इस लक्षण का निर्देश होता है, उसी प्रकार 'द्रव्य आदि छ पदार्थ हैं' ऐसा उद्देश करके 'गुण का आश्रय द्रव्य है' इत्यादि लक्षण इतर के व्यवच्छेद के लिये हैं। जैसे पृथिवी के गन्धवत्त्व लक्षण के द्वारा कहीं विशिष्ट का दर्शन होने पर 'गन्धवती पृथिवी' यह लक्षण वहाँ से अन्यत्र भी प्रवृत्त होता है उसी प्रकार जीवांश में ब्रह्म लक्षण का; उसी प्रकार द्रव्य-लक्षणकी प्रवृति होने पर इतरेतराश्रय दोष नहीं है।

(पू) प्रामाणिक वादियों के सर्वत्र प्रमाणपरीक्षित के ही अभ्युपगम का नियम होने से लक्ष्य के सिद्धत्व-असिद्धत्व के विषय में लक्षण का अवकाश नहीं है। (उ) ऐसी शंका

१ (ग) लक्ष्येन दृष्टो। २ (क) लक्षणदृष्टिश्च। (ग) लक्षणदृष्टेश्च।
३ (क) सिद्धिद्रव्य। (ग) सिद्धद्रव्य। ४ (ग) उद्देशपूर्वकं।
५ (ग) द्रव्यादिलक्ष। ७ (क) नियत्वात्, (ग) नियमात्।
६ न्या० सू० १।१।३१।

ननु लक्षणं केवलव्यतिरेक्यनुमानमुदयनादिना जगदे; तथाहि —'गुणवद् द्रव्यम्' इति व्यवहर्तव्यम्, गुणाश्रयत्वात् न यदेवं न तदेवं, यथा वस्त्वन्तरम् ? तद्दुराशामात्रम्; हेतोरसिद्धत्वात्। सिद्धे हि गुणाद्विभागे गुणाश्रयत्वसिद्धिः, तत्सिद्धौ च गुणातिरिक्तद्रव्यसिद्धिरिति परस्पराश्रयात्। किञ्च द्रव्याभावप्रमितेर्द्रव्यप्रमितिसापेक्षतया तदसिद्धौ व्यतिरेकानवधारणात्[1] सन्दिग्धानैकान्तिकत्वमप्रसिद्धविशेषणत्वं च सुप्रसिद्धमिति ?

नैतदवदातम्; 'लोहितः स्फटिकः' इति शौक्ल्याग्रहेऽपि स्फटिकस्य, कस्यायं गन्ध इत्याश्रयाग्रहणेऽपि ग्रहणाद् गन्धस्य गुणगुणिभेदसिद्धेर्द्रव्यत्वेन संमतस्याभ्रादेरागमापायादिरूपाद्[2] गुणाद्विभागस्य प्रसिद्धत्वात्; "यथा घटादयो रूपादिमन्तश्चक्षुरादिकरणैरुपलभ्यन्ते[3]" इति वेदान्ताचार्योदीरणाच्च। अतो न गुणाश्रयत्व-(मसिद्धम्[4])।

भावदीपिका

त्वात्। एतदप्ययुक्तमिति सोपस्कारमाह—नन्विति। दूषणान्तरादपि प्रयोगाभासोऽयम्—इत्याह—किञ्चेति। द्रव्यस्याऽद्याप्यसिद्धत्वात् अप्रसिद्धविशेषणताऽपि—इत्याह—अप्रसिद्धेति। द्रव्यगुणविभागस्य लोकवादिव्यवहारसिद्धत्वात् नाऽसिद्धो हेतुः—इत्याह - नैतदवदातमिति। सति परस्पराश्रये कथमसिद्धत्वाऽभावः ? तत्राऽऽह -प्रसिद्धेति। कृष्णे रूपे शुक्लं रूपं

ज्ञानवती

नहीं करनी चाहिए। क्योंकि अभ्युपगम सिद्धान्त के द्वारा आपात सिद्ध के अभ्युपगम के द्वारा परीक्षा स्वीकार कर ली जाती है। और अक्षपाद का सूत्र है—"अपरीक्षित के अभ्युपगम से तद्विशेष का परीक्षण अभ्युपगम सिद्धान्त है।"

(पू) लक्षण केवलव्यतिरेकी अनुमान होता है—ऐसा उदयन आदि ने कहा है; वह इस प्रकार—"गुणवद् द्रव्य है" ऐसा व्यवहार करना चाहिये, गुणाश्रय होने से, जो ऐसा नहीं है वह वैसा नहीं है, जैसे वस्त्वन्तर ? (उ) यह दुराशामात्र है, क्योंकि हेतु असिद्ध है; गुण से विभाग के सिद्ध होने पर गुणाश्रयत्व की सिद्धि होती है और उसकी सिद्धि होने पर गुणातिरिक्त द्रव्य की सिद्धि होती है, ऐसा अन्योऽन्याश्रय हो जाता है। इसके अतिरिक्त द्रव्याभावप्रमिति के द्रव्यप्रमितिसापेक्ष होने से उसकी असिद्धि होने पर व्यतिरेक का निश्चय न होने से सन्दिग्धअनैकान्तिकत्व और अप्रसिद्धविशेषणत्व सुप्रसिद्ध है।

यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि 'स्फटिक लाल है' इस प्रकार स्फटिक के शौक्ल्य का ग्रहण न होने पर स्फटिक का, तथा यह किसका गन्ध है ?—इस प्रकार आश्रय का ग्रहण न होने पर भी गन्ध का ग्रहण होने से गुण-गुणी का भेद सिद्ध है तथा द्रव्य के रूप में संमत बादल आदि का आगम एवं विनाश आदि रूप गुण होने से विभाग सुप्रसिद्ध है। वेदान्ताचार्य ने कहा भी है—"जैसे रूपादिमान् घट आदि चक्षु करणों से प्राप्त किये जाते हैं।" इसलिये गुणाश्रयत्व असिद्ध नहीं है और इसीलिये प्रसिद्ध गुणाश्रय के रूप में द्रव्यत्व का विधान होने पर परस्पराश्रय का अवतार नहीं है। रूपादि के रूपाश्रयत्व की प्रसिद्धि न होने से क्रिया आदि के भी द्रव्यत्व की प्रसिद्धि न होने से व्यतिरेकस्थलत्व की सिद्धि होने

---

[1] (ग) कावधा। [2] (ग) संमितस्य प्रादेशमाणायिरूपादिगुणात्।
[3] (क) कारणै। [4] (क) श्रयत्वप्रसिद्ध, (ग) श्रयत्वमसिद्धं प्रसिद्ध।

प्रसिद्धगुणाश्रयत्वेन द्रव्यत्वविधाने परस्पराश्रयानवताराच्च, रूपादेः रूपाश्रयत्व-प्रसिद्ध्यभावाच्च, क्रियादेरपि द्रव्यत्वप्रसिद्ध्यभावाच्च, व्यतिरेकस्थलत्वसिद्धेर्न[१] सन्दिग्धानैकान्तिकत्वम्। प्रसिद्धस्यैव 'द्रव्यम्' इति व्यवहारस्य स्थलविशेषे (कर्तव्यताऽभिधानाच्च[२]) नाप्रसिद्धविशेषणत्वम्। सामान्यप्रसिद्धिविशेषाप्रसिद्धिभ्यां केवलव्यतिरेकिणोऽप्रसिद्धविशेषणगतार्थत्वयोरुदयनाचार्येण[४] कृतपरिहारत्वात्।

[द्रव्यादेर्लक्षणम्—]

तथाऽपि "गुणाश्रयो द्रव्यम्" इत्यलक्षणम्; उत्पन्नमात्रं द्रव्यं (क्षणमगुणं[५]) तिष्ठति इत्यङ्गीकारादव्याप्तेः। गुणादिष्वपि "चतुर्विंशतिर्गुणाः" इत्यादि (संख्या-गुणान्वयवीक्ष[६]-)णादतिव्याप्तिश्च। न च तत्र संख्याप्रतीतिर्भ्रमः; "नवद्रव्याणि" इत्यादाविव बाधादर्शनात्? नैतत्; गुणाश्रयशब्देन गुणो यदाश्रय एव इति विवक्षितत्वात्। न खलु गुणो भवति न भवति चाश्रयपरतन्त्र इति प्रसिद्ध-

भावदीपिका

क्रिया पृथिवी जलं वेत्यादि प्रसिद्ध्यभावेनाऽत्र द्रव्यत्वाऽभावप्रतिपत्तौ व्यतिरेकाऽवधारणोपपत्तेर्न सन्दिग्धानैकान्तिकता—इत्याह—रूपादेरिति। दोषान्तरमपि न साधीयः—इत्याह—प्रसिद्धस्यैवेति।

[द्रव्यादेर्लक्षणम्—]

प्रकारान्तरेण द्रव्यलक्षणमाक्षिपति—तथाऽपीति। स्फटिके लौहित्यप्रतीतिवदेषा भ्रान्तिः, गुणानां द्रव्ये सन्निधानात्?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न च तत्रेति। क्रमेण दोषमुद्गिरति—नैतदिति। समवायस्य नित्यसम्बन्धत्वात् नित्यसन्निधानात् अबाधितव्यवहारस्याऽन्यथाऽप्युपपत्तेः पृथक् संख्यागुणाऽनिरूपणात् नाऽतिव्याप्तिर्यदि,तर्हि द्रव्यगतनवत्वसंख्याव्यवहार

ज्ञानवती

से सन्दिग्धअनैकान्तिकत्व नहीं है। प्रसिद्ध ही 'द्रव्यम्' इस व्यवहार की, स्थलविशेष में कर्तव्यता का कथन होने से, अप्रसिद्धविशेषणता नहीं है। उदयनाचार्य ने सामान्य की प्रसिद्धि और विशेष की अप्रसिद्धि के द्वारा केवल व्यतिरेकी के अप्रसिद्धविशेषणत्व तथा गतार्थत्व का परिहार कर दिया है।

[द्रव्य आदि के लक्षण—]

तो भी "गुणाश्रयो द्रव्यम्" यह लक्षण नहीं है क्योंकि उत्पन्न मात्र द्रव्य एक क्षण तक निर्गुण एवं निष्क्रिय रहता है ऐसा स्वीकार करने से अव्याप्ति हो जायगी। गुण आदि में भी 'चतुर्विंशतिर्गुणाः' इत्यादि संख्या के गुण के अन्वय का अन्वीक्षण होने से अतिव्याप्ति हो जायगी। वहाँ संख्याप्रतीति भ्रम है ऐसा भी नहीं है, क्योंकि 'नव द्रव्याणि' इत्यादि के समान बाध नहीं देखा जाता।

---

१ (ग) त्वेन संदि। २ (ग) स्थलत्वे विशेषे। ३ (क) कर्तव्यता विधा। (ग) कर्तव्यताभिधा। ४ (ग) व्यतिरेकिणो प्रसिद्धि। ५ (क) मगुणं क्षणं। (ग) क्षणमगुणं। ६ (क) संख्यान्वयान्वीक्ष, (ग) संख्यागुणान्वयवीक्ष।

मार्गागतम् । तथा च क्षणान्तरे सत्तामालम्बमानो गुणो द्रव्याश्रयापेक्ष एव तामालम्बत इति नाव्याप्तिः । द्रव्यसंख्ययैव चैकार्थसमवायात्[1] गुणादिषु संख्याव्यवहारोपपत्तेः पृथक् संख्यागुणाभावान्नातिव्याप्तिः । नवत्वसंख्यायास्तत्र भावेऽपि[2] द्रव्यगतचतुर्विंशत्याद्यवान्तरसंख्याव्यवहारस्य गुणादिषु सम्भवात् । न चैवं द्रव्येषु परार्धसंख्याया अपि सम्भवात्, गुणादिष्वपि तत्प्रसङ्गः; न खलु गम्भीरं भागीरथीस्रोतः (सकलमपि[3]) पिपासुभिः पातव्यम्, पातव्यञ्चेदन्यथा (चुलुक-[4]) मात्रमपीति सार्वभौमाज्ञैवमिति किम्वदन्त्यस्ति कापि, किन्तु यावदुपयुक्तं तावदेव, तथाऽत्रापि नियमसम्भवात् । न चैवम् द्रव्यसत्तयैव गुणकर्मणोरपि सत्ताव्यवहारोपपत्तेर्न सत्ता कल्पनीयेति वाच्यम्; यथा द्रव्येष्वेव सत्तायां द्रव्यत्वेन (तुल्यं वृत्तित्वं[5]) जातिबाधकम्, तथा तत्र जातिबाधकाभावात् । न च रूपादिषु संख्याऽभ्युपगमेऽपि संयोग इव समवायस्वीकारे नानवस्था, संख्यायामेव तदभ्युपगमे सा

भावदीपिका

एव स्यात्; न चाऽस्ति ? तत्राऽऽह— नवत्वेति । द्रव्येषु बहुविधसंख्यासम्भवात् नियामकाऽभावे नियमो न सम्भवति ?—इत्याशङ्क्याह— न चैवमिति । गुणत्वेन व्यवस्थापकबलात् चतुर्विंशतिसंख्याप्रतीतिनियम इति भावः । किम्वदन्ती=जनश्रुतिः । सन्निधानबलात् अन्यत्राऽन्यधर्मव्यवहारेऽनिष्टप्रसङ्गमाशङ्क्याऽऽह—न चेति । तर्हि गुणेष्वपि संख्या स्वीकरणीया, बाधकाऽभावात् ?—अत आह—न च रूपादिष्विति । अनित्यरूपादेः कार्यद्रव्यवत् कारणा-

ज्ञानवती

ऐसा नहीं है क्योंकि 'गुणाश्रय' शब्द के द्वारा गुण जिसके आश्रित रहता हो, वह विवक्षित है । गुण है और आश्रयपरतन्त्र नहीं है ऐसा प्रसिद्धप्रस्थानसम्मत नहीं है । इस प्रकार क्षणान्तर में सत्ता का आलम्बन करने वाला (गुण) द्रव्यरूप आश्रय की अपेक्षा रखकर ही उसका आलम्बन करता है । इसलिये अव्याप्ति नहीं है । द्रव्य की संख्या से ही एक अर्थ का समवाय होने से गुण आदि में संख्या के व्यवहार की उपपत्ति होने से पृथक् संख्या गुण के अभाव के कारण अतिव्याप्ति नहीं है । वहाँ नवत्वसंख्या के होने पर भी द्रव्य में रहने वाली चतुर्विंशति आदि अवान्तर संख्या के व्यवहार के गुण आदि में संभव होने से (अतिव्याप्ति नहीं है) । इस प्रकार द्रव्यों में परार्धसंख्या के संभव होने पर गुण आदि में में भी उसकी प्राप्ति होने लगेगी ? ऐसा नहीं है । गंभीर भागीरथी का पूर्ण श्रोत पिपासुओं के द्वारा पेय नहीं है और यदि पेय भी हो जाय तो सार्वभौम की आज्ञा ऐसी नहीं है कि चुल्लू भर पिया जाय किन्तु जितना उपयुक्त है उतना ही । उसी प्रकार यहाँ भी नियम संभव है ।

(पू) इस प्रकार द्रव्य की सत्ता से ही गुण-धर्म की भी सत्ता के व्यवहार की उपपत्ति होने से सत्ता की कल्पना नहीं करनी चाहिये ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि

---

[1] यागुणा । [2] (ख) संख्ययासूत्रभावे । [3] (क) सकलंपिपा । (ग) सकलमपि पिता । [4] (क) लुचुक, ख ग चुलुक । [5] (क) तुल्यवृत्तित्वं, (ग) तुल्यंवृत्तित्वं । [6] ता व्या ।

स्यादिति तत्रैव न स्यादिति वचनीयम्; संख्याया गुणत्वेन संख्यासमवायित्वे कथं नानवस्था? रूपादीनां समवायिकारणत्वे संख्यां प्रति नित्यरूपादेः परमाणुवत् स्वातन्त्र्यप्रसङ्गात्, तत्त्वे गुणत्वानिरूपणाच्च। नातो निर्दिष्टं "गुणाश्रयो द्रव्यम्" इति (लक्षणं लक्ष्यं[१] गमयति)।

यदप्याहुः—गुणवत्त्वं[२] द्रव्यत्वजातिव्यञ्जकं चेन् गुणस्यापि विशेषणभूतस्य तद्व्यञ्जकत्वेन द्रव्यत्वापत्तिरिति? तदप्यनुचितम्; ऋत्विग्विशिष्टस्य यागकर्तृत्वेऽपि यथा ऋत्विजां न यजमानत्वम्, किन्तु याजकत्वमेव, तथाऽत्रापि सम्भवात् नियमस्य। पूर्वपूर्वविकारविशिष्टस्योत्तरोत्तरकारणत्वेऽपि परमात्मनो यथा न विकाराणां कारणत्वम्; अनेककारणप्रसङ्गात्। ततो द्रव्यत्वजाति-(योगेऽपि[३]) द्रव्यलक्षणं युक्तम्।

भावदीपिका

दन्यत्र गमनस्याऽऽपादयितुमशक्यत्वात् नित्यरूपादेरित्युक्तम्। एतेन 'समवायिकारणं द्रव्यम्'—इति लक्षणस्याऽपि गुणेषु संख्यासमवायिकारणत्वप्रयुक्ता[-ति-][१]व्याप्तिर्निरस्ता।

द्रव्यालक्षगात्तमपि परिशोधनपूर्वकमाह—यदप्याहुरित्यादिना। "प्लवा ह्येतेऽदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म" इति यजमानस्याऽन्यवैशिष्ट्याऽवगमात्। न च 'यजन्ति' इति व्युत्पत्तेरपि यजमानाः? ऋतुयजनाद् यजमानस्याऽपि ऋत्विक्त्वप्रसङ्गात्। तथा च फलव्यत्यासप्रसङ्गः। सम्प्रतिपन्नतमं वेदान्तिनो दृष्टान्तयति—पूर्वपूर्वेति। "अग्निर्मूर्धा" इत्यादि विराट्सर्गवर्णने हिरण्यगर्भद्वारेणाऽपि ब्रह्मण एव सर्गकर्तृत्वम्"—इत्यादिभाष्यकारोक्तिदर्शनादित्यर्थः।

ज्ञानवती

जैसे द्रव्यों में ही सत्ता में द्रव्य के रूप में तुल्यवृत्तित्व जाति का बाधक है उस प्रकार वहां जाति बाधक नहीं है। (पू) रूप आदि में संख्या का अभ्युपगम होने पर भी संयोग के समान समवाय के स्वीकार करने पर अनवस्था नहीं होगी, संख्या में ही उस (अर्थात् रूप) का अभ्युपगम होने पर वह होगी इस लिये वहीं वह नहीं होगी? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। संख्या के गुण के रूप में संख्या का समवायी होने पर कैसे अनवस्था नहीं होगी। रूप आदि के समवायिकारण होने पर संख्या के प्रति परमाणु के समान, नित्यरूप आदि स्वतन्त्र होने लगेंगे। और ऐसा होने पर गुणत्व का निरूपण नहीं होगा। इसलिये निर्दिष्ट "गुणाश्रयो द्रव्यम्" यह लक्षण लक्ष्य का गमक नहीं होता।

और जो यह कहा—यदि गुणवत्त्व द्रव्यत्व जाति का व्यञ्जक है तो विशेषणभूत गुण के भी उसका व्यञ्जक होने से द्रव्यत्व की आपत्ति हो जायगी? वह भी अनुचित है; जैसे ऋत्विग् विशिष्ट के याग का कर्ता होने पर भी ऋत्विज् लोग यजमान नहीं होते किन्तु याजक ही रहते हैं उसी प्रकार यहाँ भी नियम संभव है। पूर्वपूर्वविकारविशिष्ट के उत्तरोत्तर का कारण होने पर भी जैसे परमात्मा विकारों का कारण नहीं होता क्योंकि अनेक कारण की प्राप्ति होने लगेगी। इसलिये द्रव्यत्व जाति का योग होने पर भी द्रव्य का लक्षण ठीक है।

---

[१] (क) लक्ष्वं गमयति लक्षणम्, (ग) लक्षणं लक्ष्यं गमयति।
[२] (ग) गुणत्वं।
[३] (क) योगोऽपि, (ग) योगोऽपि।

'सामान्यवानचलनात्मकः समवायिकारणताहीनो गुणः'। रूपादीनां[१] समवायिकारणताया निरस्तत्वाच्च नासम्भवि लक्षणम्। 'सामान्यवान् स्पर्शरहितो द्रव्याश्रितः कर्मातिरिक्तो गुणः' इत्यपि लक्षणम्। न च गुणात् कर्मणो भेदासिद्धौ कर्मव्यावृत्तिरयुक्ता; असामान्यत्वादिविशेषणप्रसङ्गात्[२]; 'शुक्लो रूपम्' 'मधुरो रसः'[३] 'निम्नप्रवणा गतिर्जलस्य' इति भेदप्रसद्धेरपरीक्षिताभ्युपगमेन परीक्षास्वीकाराच्च।

संयोगविभागयोरनपेक्षजातीयं कर्म। न च समवायिकारणेश्वरेच्छाद्यपेक्षणाद-

भावदीपिका

द्रव्यलक्षणं संक्षेपेण परिशोध्य गुणलक्षणं परिशोधयितुमालम्बते—सामान्यवानिति। सामान्याऽऽदित्रिककर्मद्रव्यव्युदासार्थानि विशेषणानि। अतिव्याप्त्यभावेऽप्यसम्भवः?—इत्याशङ्क्याह—रूपादीनामिति। सामान्यादित्रिक-स्पर्शवद्-अस्पर्शवद्द्रव्य-कर्मव्युदासाय लक्षणान्तरविशेषणानि। भेदस्योभयसिध्यधीनत्वात् असम्भवमाशङ्क्याऽऽह—न च गुणादिति। नेमानि तत्त्वानि ब्रह्मवदलोकप्रमाणसिद्धानि येनाऽसम्भव आशङ्क्येतेति भावः। लोकसिद्धत्वे लक्षणवैय्यर्थ्यम्—इत्याद्यपि न च वाच्यम्—इत्याह—अपरीक्षितेति। दृष्टवददृष्टपरीक्षणार्थं लक्षणं न व्यर्थं परिहारान्तरञ्चैतत् संयोगविभागयोः। प्रत्येकं द्रव्यादौ चाऽतिव्याप्तिवारणाय कर्मलक्षणे विशेषणद्वयम्। अन्त्याऽवस्थकर्मणोऽवयवविभागजनकत्वेऽपि अवयवविनाशात् संयोगाऽकारणत्वात् तत्राऽव्याप्तिव्यवच्छेदार्थं जातिपदम्। अविशेषितानपेक्षत्वमसंभवि—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति।

वैयाकरणोक्ते लक्षणभ्रमं निराचष्टे यथा बुद्धादिप्रोक्तस्य धर्मत्वभ्रमम्—"पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्राऽङ्गमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥" इति

ज्ञानवती

(जो) 'सामान्यवान, अचलनात्मक, (तथा) समवायिकारणता से रहित (है' वह) गुण होता है। रूप आदि की संख्यासमवायिकारणता के निरस्त हो जाने से लक्षण असम्भवी नहीं है। 'सामान्यवान्, स्पर्श से रहित, द्रव्य में रहने वाला, कर्म से अतिरिक्त गुण है' यह भी लक्षण है। (पू) गुण से कर्म का भेद असिद्ध होने पर कर्म की व्यावृत्ति ठीक नहीं है। (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि असामान्यत्व आदि विशेषण का प्रसङ्ग है, तथा रूप शुक्ल है, रस मधुर है, जल की गति निम्न प्रवण है ऐसा भेद प्रसिद्ध है। तथा अपरीक्षित का अभ्युपगम होने से परीक्षा स्वीकार की गई है।

'जो संयोग एवं विभाग का अनपेक्षकारणजातीय होता है वह कर्म है'। (पू) समवायिकारण ईश्वरेच्छा आदि की अपेक्षा होने से असम्भव दोष आ जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। जैसे द्रव्य द्रव्यान्तर की अपेक्षा संयोग एवं विभाग का आरम्भक होता है क्योंकि दोनों उभयनिष्ठ हैं उस प्रकार कर्म का नहीं है क्योंकि दो में से एक के कर्म के द्वारा भी संयोग आदि की सिद्धि होती है इतना ही विवक्षित है। 'परसमवेत क्रिया के फल वाला कर्म कहलाता है' यह कर्म कारक का लक्षण है, क्रिया का नहीं। पर्ण में समवेत पतन-

---

१ (क)संख्यासम, (ग)सम। २ (ख)सामान्यत्वादि। ३ (ग)मधुरो निम्न।

सम्भवः; यथा द्रव्यस्य द्रव्यान्तरापेक्षया संयोगविभागारम्भकत्वम्, तयोरुभयनिष्ठत्वात्, नैवम् कर्मणः[१]; अन्यतरकर्मणाऽपि संयोगादिसिद्धिरित्येतावन्मात्रस्य[२] विवक्षितत्वात्। 'परसमवेतक्रियाफलशालि हि कर्म[३]' इति कर्मकारकस्य लक्ष्म, न क्रियायाः। पर्णसमवेतपतनक्रियाफलविभागभाजोऽपि[४] वृक्षस्य 'वृक्षात् पर्णं पतति' इत्यपादानत्वादलक्षणञ्चैतत्। न च गुरुफलादिसंयोग एव विभागपतनयोर्युगपज्जनकः; संयोगस्य क्रियाद्वारमन्तरेण विभागहेतुत्वे केवलविभागजनकत्वस्यापि प्रसङ्गात्।

'नित्यमेकमनेकसमवेतं सामान्यम्'। न चैकपदम् व्यर्थम्; नित्येष्वनेकसमवेतेषु जलपरमाणुरूपादिषु प्रसक्तिवारणार्थत्वात्। न च तत्रापि प्रत्येकमेकत्वमस्तीति[५] प्रसक्तिरेव; एकव्यक्तेरनेकसमवायस्य विवक्षितस्य तत्राभावात्। यदि

भावदीपिका

धर्मस्य "शास्त्रपरिमाणात्" बुद्धाद्युक्तीनां च तद्बाह्यत्वात् जैमिनिराचार्यः—परसमवेतेति। देवदत्तस्य गतिक्रियाफलभूतग्रामसंयोगाऽभावित्वेऽपि कर्मत्वाभावात् परसमवेतेत्युक्तम्। न चैतत् कर्मकारकव्यवस्थापकमपि—इत्याह—पर्णेति। उक्तविभागस्य क्रियाजन्यत्वाऽभावान्नातिव्याप्तिः?—इत्याशङ्क्याऽऽह न च गुरुफलेति। मूत्रपुरीषयोर्युगपद्भावेऽपि कदाचिदव्यभिचारवदत्राऽपि स्यादित्यर्थः।

अनेकसमवेतसंयोगद्वित्वादिव्युदासाय नित्यमित्युक्तम्। तथाऽप्येकपदं विफलम्—इत्याह—न चेति। एकपदार्थस्य तत्र भावान्नोक्तफललाभः—इत्यत आह—न च तत्राऽपीति। प्रमाणेन लक्षणार्थं द्रढयति—यदीति। ननु यादृशे द्रव्यादौ सामान्यमिष्यते

ज्ञानवती

क्रिया के फल पर्णविभाग के भाजन वृक्ष के 'वृक्षात् पर्णं पतति,' इस प्रकार अपादान होने से यह लक्षण दुष्ट है।

(पू) गुरु फल आदि का संयोग ही विभाग और पतन का एक साथ जनक है? (उ) ऐसा नहीं है। संयोग के, क्रिया द्वार के विना भी, विभाग का हेतु होने पर केवलविभागजनकत्व की भी प्राप्ति हो जायगी।

'नित्य, एक, अनेक में समवेत, सामान्य होता है'। (पू) एक पद व्यर्थ है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि नित्य एवं अनेक समवेत पद जलपरमाणुरूप आदि में प्राप्ति के वारण के लिये हैं। (पू) वहाँ भी प्रत्यक में एकत्व है इसलिये प्राप्ति तो है ही? (उ) ऐसा नहीं है। एक व्यक्ति के विवक्षित अनेक समवाय का वहाँ अभाव है। यदि सामान्य न होता तो भिन्नों में अनुगताकार प्रत्यय न होता। द्रव्य, गुण एवं कर्म के भी सामान्य के द्वारा ही अनुवृत्त व्यवहार का हेतु होने से अननुवृत्तों में भी अनुवृत्त प्रत्यय का भ्रम होने लगेगा। क्योंकि उसके आधारभूत अनुवृत्त के स्वीकार करने पर सामान्य की सिद्धि हो जाती है।

---

१ (ग) कर्मणः नियमः अन्य— २ (ग) सिद्धे। ३ (ग) शालि कर्म।
४ (ग) विभागोऽपि। ५ (ग) प्रत्येकत्वमस्ति।

सामान्यं न स्यात्, भिन्नेष्वनुगताकारः[१] प्रत्ययो न स्यात्। द्रव्यगुणकर्मणामपि सामान्यद्वारेणैवानुवृत्तव्यवहारहेतुत्वात् अननुवृत्तेष्वनुवृत्तप्रत्ययस्य[२] भ्रमत्वप्रसङ्गात्। तदालम्बनानुवृत्तस्वीकारे सामान्यसिद्धेः। न च तथाऽपि न सत्तासामान्यम्, प्रमाणयोगस्यैव तद्व्यवहारोपपादकत्वात्[३] इति शङ्कनीयम्; तथा सति प्रथमत एव 'अस्ति' इति प्रत्ययस्य प्रमाणादनुपपत्तेः। अस्ति च सत्ताया अभूत्, अस्ति, भविष्यति, इति त्रैकाल्यः प्रत्ययः। स[४] च प्रमाणयोगस्य वर्त्तमानैकरूपत्वादनुपपन्नः। भूतादिप्रमाणयोगलक्षणं सत्त्वं वर्तमानप्रमाणेन गृह्यते चेत्? भूतादिप्रमाणस्यापि वर्त्तमानप्रमाणगम्यत्वेन सत्त्वप्रसङ्गः। अनाश्रितकाल-(विशेष[५]-)

भावदीपिका

तादृशस्य तस्याऽनुवृत्तव्यवहारहेतुत्वोपपत्तेः अन्यथाऽप्युपपत्तिः?—इत्याशङ्क्याऽऽह—द्रव्यगुणेतिः। यादृशस्य ब्रह्मणो मायासम्बन्धस्तादृशस्य जगत्कारणत्वम् इतिवदेतदनुपपन्नमितिभावः। सामान्यद्वारेणैवैतदुपपादयति—अननुवृत्तेष्विति। गुरुमतमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। प्रमाणशब्देन चक्षुरादि विवक्षितम्? तत्फलं प्रमा वा? नाद्यः- इत्याह—तथा सतीति। इन्द्रियस्याऽतीन्द्रियत्वेन तत्संयोगस्य प्रत्यक्षत्वाऽनुपपत्तेः 'घटोऽस्ति' इत्यादिप्रतीत्यनुदयेनानुदयलक्षणं प्रत्यक्षस्याऽप्रामाण्यं स्यादित्यर्थः। प्रमायोगलक्षणं च सत्त्वं प्रमातर्यैवेति 'घटोऽस्ति' इति वक्तव्ये 'प्रमाताऽस्ति' इति व्यवहारः स्यात्। विषयनिष्ठा चेत् प्रमा? तदा मतान्तराऽऽपत्तिः। स्वप्रकाशं च घटादिसत्त्वं ब्रह्मवादमापादयेत्। जडत्वे प्रथमप्रमायाः सत्त्वात्मनैवोपक्षीणत्वात् प्रथमतोऽस्तिप्रत्ययो न स्यात् इत्याशयेन प्रथमत इत्युक्तम्। प्रमाणयोगस्य च सत्त्वेऽस्तीत्येव प्रत्ययः स्यात्, प्रमाणेन स्वयोगस्य वर्तमानस्यैव ग्रहणात्; तथा च त्रैकाल्यप्रत्ययो न स्यात्—इत्याह—अस्ति चेति। प्रमाणान्तरेण त्रैकाल्यप्रत्ययमाशङ्क्याऽतिप्रसङ्गमाह—भूतादीति। मा भूत् तर्हि वर्त्तमानत्वविशेषणं सत्त्वस्य, ततो न तद्विशेषणभूतप्रमाणग्रहप्रसङ्गः?—इत्याशङ्क्याऽऽह—अनाश्रितेति। मण्डनमिश्र-

ज्ञानवती

(पू) तो भी सत्ता सामान्य नहीं है, क्योंकि प्रमाणयोग ही उसके व्यवहार का उपपादक होता है? (उ) ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। ऐसा होने पर पहले ही, 'अस्ति' इस प्रत्यय की प्रमाण के द्वारा अनुपपत्ति हो जायगी।

सत्ता का 'हुआ' 'है' 'होगा' ऐसा त्रिकालवर्त्ती ज्ञान होता है। और वह प्रमाणयोग के वर्त्तमान एक रूप होने से अनुपपन्न है। यदि वर्त्तमान प्रमाण के द्वारा भूत आदि प्रमाणयोगलक्षण वाला सत्त्व लिया जाय तो भूत आदि प्रमाण के भी वर्त्तमानप्रमाणगम्य होने से सत्त्व की प्राप्ति होने लगेगी। अनाश्रितकालविशेष प्रमाणयोग मात्र के सत्त्व का लक्षण होने पर प्रमित के नष्ट होने से अर्थक्रिया की प्राप्ति हो जायगी। कहा है—

---

१ (ग) अनुगताकारप्रत्ययो। २ (ग) अननुवृत्तेष्वनुवृत्तेष्वनुवृत्तप्रत्ययस्य।
३ (ग) सद्। ४ (ख) स्वस्य च।
५ (क) कालयोगप्रमाणमात्रस्य, (ग) काललिशेषप्रमाणयोगमात्रस्य।

प्रमाणयोगमात्रस्य सत्त्वलक्षणत्वे प्रमितनष्टेनार्थक्रियाप्रसङ्गात्। तदुक्तम्—

"प्रमाणयोगमात्रञ्चेत् सत्ताऽसत्ता विपर्ययः।
प्राप्ता प्रमितनष्टेन घटेन मधुधारणा॥"

इति। वर्तमानप्रमाणयोगः सत्त्वं चेत्? प्रत्यक्षाद्यगोचरस्य भूमौ निखातनिध्यादेः स्मर्यमाणस्य चासत्त्वलक्षणत्वान्नियता[1] (सत्त्वप्रतीति -)[2]रेव स्यात् न संशयो जीर्णराजधान्यादिषु स्यात्। न च द्रव्यत्वादिसामान्यत्रयविषयस्तदुपलक्षितद्रव्यादिविषयो वा सच्छब्दः साधारणो न सत्तावचनः, यथा विभीतकत्वादिजातिसमुदायविषयः तदुपलक्षितविभीतकादिव्यक्तिविषयो वाऽक्षशब्दो नाक्षत्वजातिविषय इत्यपि शोभनम्; (सत्ताया) अभावप्रापकस्य[3] प्रत्यभिज्ञाऽभावस्य द्रव्यत्वादावपि सम्भवात्। न खलु जलं दृष्ट्वा तेजो भूमिं वा पश्यतो बुद्धिरूपसाम्यमस्ति। अथ मात्रयाऽस्ति अनुगमस्तत्र? सोऽत्रापि; सतो[4] निरुपाख्यत्वे लक्षणस्यैकरूपत्वात्। न च 'स एवायम्' इत्येकत्वसाधनमनुसन्धानमेव; अभिन्नदेशकालस्याप्येकत्वावगमात्। तस्मादस्ति सत्तासामान्यम्।

भावदीपिका

संवादपूर्वकं दूषणान्तरमाह - तदुक्तमिति। तस्मादतिरिक्तमेव सत्त्वं प्रमाणयोगात्। तथाऽपि न भवदभिमतसिद्धिः, अर्थान्तरसम्भवात्? इत्याशङ्क्याऽऽह—न च द्रव्यत्वादीति। सत्तायाः प्रत्यभिज्ञासिद्धत्वात् न चैतच्छोभनम्। अथ नाऽस्ति प्रत्यभिज्ञा? तत्राऽऽह—सत्ताया इति। अथ गुणवत्त्वादिना तत्राऽनुगमः सिध्यति? तत्राऽऽह—सोऽत्रापीति। आग्रहवादिनं प्रत्याह—न च स एवेति। 'स एवायम्' इति द्रव्यादौ प्रत्यभिज्ञाऽभावात् सत्ता तदा न स्यात् यदा स्वरूपमेव तदीयं सा स्यात्। अनुगतसत्प्रत्ययाऽऽलम्बने तु नाऽपलापमर्हति सन्मात्रं यस्मात्तस्मादित्युपसंहारः।

ज्ञानवती

"सत्ता एवं असत्ता का विपर्यय यदि प्रमाणयोगमात्र है तो प्रमित (किन्तु) नष्ट घट से मधुधारण प्राप्त हो जायगा।"

यदि वर्त्तमान प्रमाण का योग सत्त्व है तो प्रत्यक्ष आदि का अविषय जीर्णराजधानी आदि में भूमि में गड़ी निधि आदि का, जो कि स्मर्यमाण है, असत्त्व लक्षण होने से नियत असत्त्व की प्रतीति ही होगी संशय नहीं। (पू) जैसे अक्ष शब्द विभीतकत्व आदि जातिसमुदायविषयक है अथवा उस (अर्थात् जाति) से उपलक्षित विभीतक आदि व्यक्तिविषयक है न कि अक्षत्वजातिविषयक, उसी प्रकार सत् शब्द द्रव्यत्व आदि सामान्यत्रयविषयक है या तदुपलक्षित द्रव्य आदिविषयक साधारण है न कि सत्ता वाची? (उ) यह भी सुन्दर नहीं है। क्योंकि सत्ता के अभाव का प्रापक प्रत्यभिज्ञा का अभाव द्रव्य आदि में भी सम्भव है। ऐसी बात नहीं है कि जल को देखकर तेज अथवा भूमि को देखने वाले का बुद्धिरूप साम्य हो जाता हो। (पू) मात्रा से वहाँ अनुगम होता है? (उ) वह तो वहाँ भी है। क्योंकि

---

१ (ग) त्वानियता। २ (क) सत्वे प्रती, (ग) सत्त्वप्रती।
३ (क) सत्तायाम्। (घ) सत्तायाः। ४ (ग) सतां निरुपाख्य वैलक्ष।

किञ्च अभावस्यापि प्रमाणगम्यत्वादतिव्याप्तिः, अभावश्च यदि प्रमाणविषयात् सतो व्यावृत्तः, यथा वा बौद्धगन्धिमीमांसकः, यदि वा सर्वशक्तिविरहः सतो व्यावर्त्तमानो अर्थक्रियाशक्तात् सर्वथाऽपि प्रमेयः। अपरथा सत्त्वेनैव[1] व्यवस्थापनयोगात्[2] "दृष्टिपूतं न्यसेत् पादम्" इत्यादिशास्त्रोक्तचरणन्यासादिव्यवहारस्याभावापरिच्छेदे प्रवृत्त्यनुपपत्तेश्च।

अथ यत्र प्रवर्त्तते तस्य केवलत्वविज्ञानात्? तत्र वक्तव्यम्[3]—संविदः कैवल्यं प्रति नियताकारत्वं प्रवृत्तिहेतुः, किं वा विषयस्यैव? आद्य स्थूलभूतलावलम्बिज्ञानमात्रात् प्रवर्त्तेत, न[च] सूक्ष्मं कीटकण्टकादिकं[4] जिज्ञासेत; जिज्ञासते च। विषयोऽपि स्वरूपेण केवलः विवक्षितो, विशेषणयोगाद् वा? नाद्यः; कण्टकादिमिश्रमपि भूतलं

भावदीपिका

परोक्तं सत्तालक्षणमसम्भवेन निरस्याऽतिव्याप्त्याऽपि निरस्यति किञ्चेति। अभावे लक्षणं सम्पादयति—अभावश्चेति। युक्तिशास्त्रयोरन्यथासिद्धिमाशङ्कते अथेति। असत्त्वेनैव व्यवस्थापनस्य केवलवस्तुविषयत्वेनाऽपि उपपत्तेः "निवृत्तिः केवलात्मना" इति वेदान्तिनां प्रपञ्चाऽभावस्य केवलात्मतया व्यवस्थापनवदिति भावः। विशेषणे सत्यपि प्रवर्त्तमानस्य केवलमिदमितिबुद्धिविषयत्वं वा, विशेषणयोगाद्वेत्यस्य अर्थः। दृष्टान्तश्च साध्यतुल्य इत्याशयः। प्रमाणान्तरस्याऽन्यथासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। सोऽपि तेन युक्तः—इत्याह—

ज्ञानवती

सत् के निरूपाख्य होने पर लक्षण एकरूप हो जाता है। (पू) 'स एवायम्' इस तरह एकत्व का साधन अनुसन्धान ही है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अभिन्न देशकाल का भी एकत्व जाना जाता है। इसलिये सत्ता सामान्य है।

इसके अतिरिक्त अभाव के प्रमाणगम्य होने से अतिव्याप्ति हो जायगी और यदि अभाव प्रमाणविषय वाले सत् से व्यावृत्त है या जैसे बौद्धगन्धि मीमांसक (कहते हैं)—(अभाव) समस्तशक्ति से रहित अर्थक्रियाशक्त सत् से व्यावर्त्तमान सभी प्रकार से प्रमेय है। अन्यथा सत्त्व से ही व्यवस्थापन होने से अभाव का निर्णय न होने पर "दृष्टि से पवित्र करके पैर रखना चाहिये" इत्यादि शास्त्रोक्त चरणन्यास आदि व्यवहार की, प्रवृत्ति ही अनुपपन्न हो जायगी।

प्रश्न है कि-जहाँ प्रवृत्त होता है (वहाँ) उसके केवलत्वज्ञान से? उस विषय में कहना चाहिये—कैवल्य के प्रति प्रवृत्ति का हेतु क्या संविद का नियताक.रत्व है या विषय का? प्रथम पक्ष में (मनुष्य) स्थूल भूतल के अवलम्वी ज्ञानमात्र से ही प्रवृत्त हो जायगा, सूक्ष्म कीट कण्टक आदि की जिज्ञासा नहीं करेगा किन्तु जिज्ञासा करता है। विषय भी स्वरूप से केवल विवक्षित है अथवा विशेषण के योग से? पहला पक्ष नहीं (हो सकता) क्योंकि कण्टकादिमिश्रित भी भूतल केवल है ऐसा (समझकर) कण्टक के सहित भूतल में (चरणन्यास

१ (ग) असत्वेनैव। २ (ग) व्यवस्थापना।
३ (ख) वक्तव्यं कं संविदः। ४ (ग) सूक्ष्मं कीकटं कण्ट।

स्वरूपेण केवलमिति सकण्टकेऽपि प्रवृत्तिः स्यात्। द्वितीये तु कल्पे विशेषणस्याभावव्यतिरिक्तस्य कैवल्योपयुक्तस्यासम्भवात्, अभावबुद्ध्यभावे भावबुद्धिभ्रमः[१] सद्व्यवहारभ्रम इति, सुषुप्त्यादौ त्रैलोक्याभावदर्शनभ्रमप्रसङ्गात्। अभावाप्रमेयत्वे च सद्बुद्ध्यभावे सद्व्यवहाराभावे चेति विशेष्यतया, अभावबुद्धिरभावव्यवहार इति च विशेषणत्वेनाभावस्य प्रतिभाऽनुपपत्तेर्न भ्रमोऽपि। अतोऽभावस्यापि प्रमाणगम्यत्वात् भवत्येव सत्त्वलक्षणस्यातिव्याप्तिः। अत एव[२] अर्थक्रियाकारित्वान्न सत्त्वापेक्षमर्थक्रियाकारित्वं सत्त्वम्। अतः सत्ता जातिः सिद्धा। सा च महासामान्यम्, द्रव्यादित्रयेऽवान्तरजातिरिति[३]। अत एव न तद्धीने द्रव्यत्वादौ संयोगे समवायवत्तद्वृत्तिः।

'नित्येष्वेव द्रव्येष्वेव वर्तन्त एव ये तेऽन्त्या विशेषाः'। आत्मत्वमनस्त्वयोश्च

भावदीपिका

अभावेति। मतान्तरं निरस्यति [अत][४] एवेति। सिद्धसत्तायां वृत्तिं साधयति—सा चेति। ननु सदित्यनुगतप्रत्ययबलात् यथा द्रव्यादौ सत्ता तथा द्रव्यत्वादावपि किं न स्यात्? न चैवं सत्तायामपि सत्ताऽऽपत्तिः? 'घटो घटः' इतिवत् 'सत्ता सती' इति विशदांशाऽर्थप्रतीत्यभावात्; मैवम्; विशदांशव्यवहारजनकत्वमात्रेण जातित्वेऽतिप्रसङ्गात्। सत्तायाश्च परजातित्वस्वीकारे नैवं वक्तुं युक्तम्—इत्याह—अत एवेति। द्रव्येष्वेवेति गुणत्वकर्मत्वसत्ताव्यवच्छेदो नित्येष्वेवेति द्रव्यत्वादिव्यवच्छेदः। वर्तन्त एवेत्येतत्फलमाह—आत्मत्वेति।

ज्ञानवती

की) प्रवृत्ति हो जायगी। और दूसरे कल्प में अभावव्यतिरिक्तविशेष, जो कि कैवल्य के उपयुक्त हो, असम्भव हो जायगा। और अभाव की अभावबुद्धिवाले शब्दव्यवहार के आलम्बन के रूप में सिद्धि भी है।

(पू) सद्वुद्धि के अभाव में अभावबुद्धि का भ्रम ही सद्व्यवहार का भ्रम है? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि सुषुप्ति आदि में त्रलोक्याभाव के दर्शन का भ्रम होने लगेगा। और अभाव के प्रमेय न होने पर सद्वुद्धि के अभाव में एवं सद्व्यवहार के अभाव में, इस प्रकार विशेष्य के रूप में तथा अभावबुद्धि, अभावव्यवहार इस प्रकार विशेषण के रूप में अभाव की प्रतिभा की अनुपपत्ति होने से भ्रम भी नहीं है। इसलिये अभाव के भी प्रमाणगम्य होने से सत्त्वलक्षण की अतिव्याप्ति हो ही जाती है। इसी लिये अर्थक्रियाकारी होने से सत्त्वापेक्ष अर्थक्रियाकारित्व रूप सत्त्व नहीं है। अतः सत्ताजाति सिद्ध है। और वह महासामान्य है। द्रव्य आदि तीन में अवान्तर जाति है। इसलिये उससे हीन द्रव्यत्व आदि में संयोग होने पर समवाय के समान उसकी वृत्तिता नहीं है।

नित्य में ही द्रव्यों में ही जो रहते हैं वे अन्त्य = विशेष कहलाते हैं। आत्मत्व एवं मनस्त्व के सर्ववृत्तित्वाभाव के कारण ही अतिव्याप्ति नहीं है। एक में अर्थात् एक व्यक्ति

---

१ (ग) भावेभाव।
२ (घ) सत एव।
३ (ग) जातिमिति।
४ (क) सत्

सर्ववृत्तित्त्वाभावादेव नातिव्याप्तिः, एकस्मिन्=एकव्यक्तौ नित्यद्रव्य एव वर्त्तमानो जातिरहितो विशेष इति प्रत्येकं लक्षणस्य विवक्षितत्वाच्च नाव्याप्तिः।

'अयुतसिद्धानां आधार्याधारभूतानामिहप्रत्ययहेतुर्यः सम्बन्धः स समवायः'। सुखधर्मयोः[१] कार्यकारणभावसम्बन्धव्यवच्छेदार्थमाधार्याधारभूतानामित्युक्तम्। आकाशतद्वाचकशब्दयोः सम्बन्धापोहार्थम् 'इहप्रत्ययहेतुः' इति, कुण्डबदरयोराधाराधेयभावसम्बन्धव्यवच्छेदार्थं[२]युतसिद्धानामिति उक्तम्। न च 'इह भूतले घटो नास्ति' इति विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धेऽतिव्याप्तिः; मुख्यस्य सम्बन्धस्योभयनिष्ठत्वेन प्रसिद्धस्य विवक्षितत्वात्। यद्यप्येवमयुतसिद्धानां सम्बन्धः समवाय इत्येतावताऽलम्, तथाऽपि परिष्कारत्वेनावशिष्टम्। भावयोर्वा सम्बन्धिनोर्विवक्षित-

भावदीपिका

तथाऽपि सर्वेषां सर्वद्रव्यवृत्तित्वाऽभावात् प्रत्येकमव्याप्तिः? तत्राऽऽह—एकस्मिन्निति। आत्मत्वमनस्त्वव्यावृत्त्यर्थमेकव्यक्तावित्युक्तम्।

कन्दलीकारमतेन पदकृत्यमाह—सुखेति। परोक्तमुद्धरति—न चेहेति। न चैवं पदान्तरवैयर्थ्यम्? 'घटे रूपम्' इत्यादिप्रत्ययस्य समवायप्रमाणतया उदयनाचार्येण वर्णितत्वात्—इत्याशयेनाऽऽह—यद्यपीति। प्रकारान्तरेणाऽप्युक्तो दोषः सुखोद्धारः—इत्याह भावयोर्वेति। न च समवायाऽसिद्धौ अयुतसिद्धत्वाऽनिरूपणात् अनेन तन्निरूपणे परस्पराश्रयः? रूपादेः पटादिभ्यः पटादेश्च तन्त्वादिभ्यः पृथग्गमनाऽदर्शनेन पृथगाऽऽश्रयाऽऽश्रयत्वस्याऽभावलक्षणाऽयुतसिद्धत्वस्य पूर्वमपि सिद्धत्वात्—इति भावः। पूर्वं परमाणूनां तर्कितानामपि क्रियातत्फलसंयोगानिरूपणात् न तैः कारणभूतैः सह षट्पदार्थवाद इत्युक्तम्। साम्प्रतमागमविरुद्धत्वादयं

ज्ञानवती

में एवं नित्यद्रव्य में ही वर्त्तमान जातिरहित विशेष होता है। इस प्रकार प्रत्येक लक्षण के विवक्षित होने से अतिव्याप्ति नहीं है।

अयुतसिद्धों का, आधेय आधार भूतों के इहप्रत्यय (=यह इसमें है इस ज्ञान) का हेतु जो सम्बन्ध वह समवाय है। सुख एवं धर्म के कार्यकारणभाव के व्यवच्छेद के लिये आधार्य एवं आधारभूत ऐसा कहा गया। आकाश एवं तद्वाचक शब्द के सम्बन्ध को हटाने के लिये 'इहप्रत्ययहेतुः' ऐसा कहा है। कुण्ड एवं बदर के आधाराधेयभाव के व्यवच्छेद के लिये 'अयुतसिद्धानाम्' कहा है।

(पू) 'वहाँ भूतल पर घट नहीं है' इस विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध में अतिव्याप्ति हो जायगी?

(उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि जो मुख्यसम्बन्ध उभयनिष्ठ के रूप में प्रसिद्ध (है वही) विवक्षित है। यद्यपि इस प्रकार 'अयुतसिद्धों का सम्बन्ध समवाय है' इतना ही पर्याप्त था तो भी (शेष कथन) परिष्कार के रूप में अवशिष्ट है, अथवा भावरूप सम्बन्धियों के विवक्षित होने से अतिव्याप्ति नहीं है।

---

१ (ग) धर्मयोः कारण। २ (ग) सिद्धीनां।

त्वान्नातिव्याप्तिः। तदेवं लक्षणतः षट् पदार्थाः। एते च "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" इत्यागमप्रमाणात् कर्माविद्यादिवशात् विवर्त्तमानब्रह्मविकारा एव, न परमार्थाः[१] इति न परमाणुषु[२] जगदुपादानलक्षणस्यार्थान्तरतेति।

[स्वभाववादस्तन्निराकरणं च—]

अथ स्वभावादेव जगत् प्रभवति न कर्मादेरुपयोगः, न चैवं कृतविप्रणाशाकृताभ्युपगमदोषः; श्रुत्यादिना तावदेवमवसायात्[३]—ब्रह्मविकारा एव। तथा हि—

भावदीपिका

वादो न युक्तः—इत्याह—एते चेति। यथा खलु द्वैतत्वे सदसती भावाऽभावाविति निर्दिष्टभावतत्त्वस्य द्रव्यादिलक्षणयोगात् एकस्यैव [भावस्य] षोढा व्यवहारः। न च भावत्वं सामान्यम्? सत्तातः परजात्यनङ्गीकारात्। अभावश्च सम्बन्धाऽभावान्न भावाऽऽधारः, स्वतन्त्रत्वे च 'भूतले घटाऽभावः' इत्यादिप्रतीतेः भ्रमत्वप्रसङ्गः। तस्माद् भावपदार्थः सदेकं ब्रह्मैव अविद्यावशात् अन्यथैवाऽवभासमानं द्रव्यादितदभावव्यवहारास्पदं गौतमाद्याचार्यैरुपदिष्टम्। परे तु परं भ्राम्यन्ति—"दुर्गमः परमार्थः", "न नरेणाऽवरेण प्रोक्तः, एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः", "नैषा तर्केण मतिरापनेया" इत्यादि। अवरः=आगमरहस्याऽभिज्ञानहीनः=आचार्याभासः; तर्काणामव्यवस्थित्वात् अव्यवस्थितबहुधा रूपेण चिन्त्यमानः। तेन श्रुत्यनुकूलतयैव कुशलेन नेतव्यं मतं महाभागानां परमर्षीणां वेदबाह्यत्ववारणायेत्यलमिति।

[स्वभाववादस्तन्निराकरणं च—]

कर्माऽविद्यादिवशात् इत्येतदाक्षिपति—अथेति। अनेकवादिप्रसञ्जितं दोषमुद्धरति—न चैवमिति। अपिर्युक्तिसमुच्चयार्थः। सर्वकार्याणां सुप्तिप्रलययोर्लयाऽङ्गीकारात् पुण्यादेश्च शक्त्यात्मकश्च सर्गनिमित्तत्वे सत्कार्यवादानङ्गीकारात्। अकृतस्याऽपि तदात्मकस्य

ज्ञानवती

तो इस प्रकार लक्षण की दृष्टि छ पदार्थ हैं, और ये "एक सत् को विप्र लोग अनेक प्रकार से कहते हैं" इस आगम प्रमाण से कर्म एवं अविद्या आदि के वशीभूत विवर्त्तमान ब्रह्म के विकार ही हैं न कि परमार्थ। इसलिये परमाणुओं में जगदुपादानलक्षण की अर्थान्तरता नहीं है।

[स्वभाववाद और उसका निराकरण—]

(पू) स्वभाव से ही जगत् उत्पन्न होता है कर्म आदि का उपयोग नहीं है?

(पू) इस प्रकार तो कृतप्रणाश एवं अकृताभ्युपगम दोष हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि श्रुति आदि ऐसा निर्णय करती है। "ब्रह्म के विकार ही हैं।" वह इस प्रकार—"तो जैसे इस आकाश में बाज अथवा सुपर्ण विशेष रूप से घूम घाम कर, थक कर पंखो को बटोर कर घोंसले की ओर जाता हैं उसी प्रकार वह पुरुष इस अन्त के लिये दौड़ता है जहाँ सोया हुआ कुछ भी कामना नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है।"

[१] (ग) स परमाणव इति। [२] (ख) परमाणुः, (ग) परमाणुभिः।
[३] (ग) सायात् तथाहि।

"तद्यथाऽस्मिन्नाकाशे[१] श्येनो वा सुपर्णो वा विपरिपत्य श्रान्तः संहत्य पक्षौ सल्लयायैव ध्रियते, एवमेवायं पुरुषः एतस्मा[२] अन्ताय धावति यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति"।[3] श्येन इव शीघ्रगः; सुपर्णः; संहत्य (=अप्रसार्य[४])= निश्चलौ कृत्वा; संलीयतेऽस्मिन् इति, सल्लयः=नीडम्; ध्रियते स्वात्मनैव अन्तः=लयः अस्मिन् स्वप्नादेरित्यन्तः=सम्प्रसादः। "तद्वा[५] अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्मा अभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम्। तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं शोकान्तरम्। अत्र पिता ऽपिता भवति, भ्रूणहाऽभ्रूणहा, चाण्डालोऽचाण्डालः, पौल्कसोऽपौल्कसः, श्रमणोऽश्रमणस्तापसोऽतापसोऽनन्वागतं पुण्येनानन्वागतं पापेन, तीर्णो हि तदा सर्वान् शोकान् हृदयस्य भवति" इति (सुषुप्ता[६]-)वस्थायां सकारणजात्यादेः पुण्यपापयोश्च (तस्याविच्छेदतामवतार्य[७]) प्रतिपादयति बार्हदारण्यकी श्रुतिः। चाण्डालः=ब्राह्मण्यां शूद्राज्जातः। पौल्कसः=क्षत्रियायां शूद्राज्जातः। श्रमणः=संन्यासी। तापसः= वनस्थः। तथा च सुषुप्त्यनन्तरं[८] सर्वं स्वभावादेव प्रभवति तथा प्रलयानन्तरमपीति गम्यते। "यत्र चैतत् सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति आसु तदा नाडीषु सुप्तो भवति तं न कश्चन (पाप्मा[९]) स्पृशति। तेजसा हि तदा सम्पन्नो

ज्ञानवती

श्येन के समान शीघ्रगामी सुन्दर पंखों वाला संहत्य (अर्थात् बटोर कर) निश्चल करके जिसमें संलीन होता है वह सल्लय=नीड है। जिसमें अपने से ही स्वप्न आदि का अन्त= लय धारण करता है वह अन्त=सम्प्रसाद है। अथवा "वह इसका निर्बन्ध पाप से रहित अभय रूप है। जैसे प्रिय स्त्री के द्वारा आलिङ्गित होता हुआ बाहरी कुछ नहीं जानता न भीतरी ही, इस प्रकार यह पुरुष प्राज्ञ आत्मा के द्वारा आलिङ्गित होकर न तो कुछ बाहरी (बात) जानता है न भीतरी॥ वह इसका आप्तकाम, आत्मकाम, अकाम शोकान्तर रूप है। यहाँ पिता अपिता हो जाता है, माता अमाता, लोक अलोक, देव अदेव, वेद अवेद, यहाँ स्तेन अस्तेन हो जाता है, भ्रूणहा अभ्रूणहा, चाण्डाल अचाण्डाल, पौल्कश अपौल्कश, श्रमण अश्रमण, तापस अतापस, पुण्य से अनन्वागत, पाप से अनन्वागत (वह) उस समय हृदय के सभी शोकों को पार कर जाता है।" इस प्रकार सुषुप्तावस्था में सकारण जन्म आदि से और पुण्यपाप से उसकी अविच्छेदता को अवतारित करके बृहदारण्यक श्रुति उससे अविच्छेद का प्रतिपादन करती है। चाण्डाल-ब्राह्मणी में शूद्र से उत्पन्न चाण्डाल होता है। क्षत्रिया में शूद्र से उत्पन्न पौल्कश। श्रमण (का अर्थ है) संन्यासी। तापस=वानस्थ। इस प्रकार सुषुप्ति के बाद सब स्वभाव से ही उत्पन्न होता है इसी प्रकार प्रलय के बाद भी, ऐसा

---

१ (ग) न्नायकाशे। २ (ग) तस्मादन्ताय। ३ बृ० उ० ४।३।
४ (क) प्रसार्य, (ग) अप्रसार्य। ५ (ग) तद्वा।
६ (क) सुप्तावस्थायां, (ग) सुषुप्तावस्थायाम्। ७ (ग) तस्यां विच्छेदतामवतार्य,
८ (ग) सुषुप्तादुत्थानं। ९ (ग) पाम्मा।

भवति।" इति छन्दोगश्रुतिः । "तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत" इति कर्त्तुर-नुपादानेन स्वभावमूलत्वावधारणाच्च । तदेतदयुक्तम्; (यस्मादन्तःकरण[१]-)(सम्वलितस्यैवात्मनः[२] पुण्यादिसंश्लेषः न केवलस्याभङ्गविग्रहस्य तत्रत्योपाधि-)कञ्चुकस्य सङ्कोचादसंश्लेषः उपाधिधर्माणामविरुद्धः । तेजसा = ब्रह्मणा। सम्पन्नः सर्वदा आत्मसम्पन्नोऽपि[३] स्वप्नजागरयोरुपाधिविशेषात् असम्पन्न इव तदा स्वापे प्रसन्नजल[४]-(सूर्यवत्) निर्विक्षेपमायोपाधिस्वरूपोल्लासात् सम्पन्न इति

भावदीपिका

निमित्तत्वप्रसक्तेः अकृताभ्यागमो दुर्वारः। कृतस्य च शक्त्यात्मकेनाऽकृतेन विशेषाऽभावात् कृतविप्रणाश इत्यादिका युक्तिः। इदानीं ब्रह्मणोऽपि अनुपयोगमाह—तन्नामरूपाभ्यामिति। अभिव्यक्तस्य वर्तमानदशायां कार्यविशेषस्य "रमणीयाचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते"—इति श्रुतेरवगमादभिव्यक्तस्यैव संस्कारशेषतयाऽवस्थितस्य प्रलयाद्युत्थानेऽपि कार्यकारणत्वं, न सर्वदाऽनभिव्यक्तस्य—इति व्यवस्थासम्भवान्न स्वभाववादोक्तदोषप्रसङ्गः - इति प्रत्याह—तदेतदिति। अनिर्वाच्यवादाच्च नाऽत्यन्तसत्कार्याऽऽश्रितो दोषः आसञ्जनीयोऽनन्वागतयोः श्रुतेश्च न संस्कारात्मना सत्त्ववारकत्वम्—इत्याह—यस्मादिति। तर्हि सर्वदोपाधिधर्माणां उपाधिगतत्वादात्मनः पापाद्यसंसृष्टत्वं, तत एव सर्वदा ब्रह्मसम्पन्नत्वमिति व्यर्थं प्राऽज्ञेना-ऽऽत्मना सम्परिष्वक्तत्वादिवचनम्?—इत्याशङ्क्याऽऽह—तेजसेति। चञ्चलत्वादिधर्माणां जलगतत्वेऽपि तदुपहितसूर्ये समारोपवत् आत्मन्युपाधिधर्मसमारोपसम्भवात्; तद्विशिष्टस्य च तद्विधुरस्वरूपासन्नत्वसम्भवाच्चोपाध्युपरमे च तदुभयव्यावृत्तेर्न श्रुतिवैयर्थ्यमित्यर्थः।

ज्ञानवती

समझना चाहिये। "जहाँ यह सोया हुआ, समस्त हुआ, संप्रसन्न हुआ, स्वप्न को नहीं जानता तब शीघ्र ही नाड़ियों में सो जाता है। उसको कोई पाप स्पृष्ट नहीं करता। उस समय वह तेज से सम्पन्न हो जाता है।" यह छन्दोगश्रुति हैं। "वह नाम और रूप से ही व्याकृत हुआ है।" इस प्रकार कर्त्ता के अनुपादान से स्वभावमूलत्व का निश्चय होता है। वह यह ठीक नहीं है—चूँकि अन्तःकरणोपाधि से संवलित ही आत्मा का पुण्य आदि से संश्लेष होता है न कि केवल अभंगविग्रह वाले आत्मा का, क्योंकि वहाँ की उपाधि कञ्चुक का रूप कञ्चुक के संकोच से असंश्लष अविरुद्ध है। तेजसा (का मतलव है) ब्रह्मणा। सम्पन्न (अर्थात्) सर्वदा आत्मसम्पन्न भी स्वप्न एवं जागरणरूप उपाधि विशेष से असन्पन्न सा (रहता) है। "उस समय (अर्थात्) स्वप्नावस्था मे प्रसन्न जलसूर्य के समान (प्रसन्न ही रहता है)" निर्विदोष मायारूप उपाधि के स्वरूप के उल्लास से सम्पन्न ऐसा विशिष्ट और

---

१ (क ख) अन्तकरणों,। (ग) पाधिसंवलितस्यैवात्नः।

२ (क) पाधिकंचुकस्यसंकोच,

३ (ख) सर्वतादात्म्या, (ग) सर्वदानात्म्या।

४ (क) प्रसन्न एव निर्वि, (ग) प्रसन्न जलसूर्यवत् निर्वि।

विशिष्यते। पापाद्यसंस्पृष्टश्च "अहरहर्गच्छन्त्योऽपि न विदुः" इति सानुक्रोशवीप्सयोः सम्पत्तावप्युपसंहारात्, अविद्यावृत्तेश्च नान्यः सम्पन्नोऽन्यो निष्क्रान्त[1] इति शङ्काऽवकाशः।

त्रिविधाः कर्मविपाकश्रुतयश्च दृश्यन्ते। तथा हि—"ये चामीऽरण्ये श्रद्धां सत्यमुपासते। सत्यम्=ब्रह्म; श्रद्धालव उपासते इत्येतत्। तेऽर्चिरभिसम्भवन्ति; अर्चिषोऽहरह्नः[2] आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासानुदगादित्य एति; मासेभ्यो देवलोकम्; देवलोकादादित्यम्; आदित्याद्वैद्युतम्, वैद्युतात् पुरुषो-(ऽमानवः[3]) एत्य ब्रह्मलोकान् गमयति; तेषु=ब्रह्मलोकेषु[4]; पराः=परावतः; वसन्ति[5]। तेषां इह न

भावदीपिका

ननु तथाऽप्युपाध्युपरमे तदनवच्छिन्नचैतन्यमिश्रणात् जीवस्य पुनरुपाधेस्तद्भागाऽऽवरकत्वाऽनियमात् अन्यस्यैवौपाधिकभोगाऽऽपत्तौ अकृताऽभ्यागमादितादवस्थ्यम्? तत्राऽऽह—अहरहरिति। अहरहः सम्पद्य' ति सति सम्पत्तौ वीप्सोपसंहारेणैकवाक्येषु प्रजानां प्रत्यहं ब्रह्मगमनात् 'देवदत्तः प्रत्यहं नगरं गच्छति' इत्युक्त इव जीवान्तरोत्थानशङ्काया असम्भवात्, अविद्यायाश्च मूलोपाधेर्गमनोपाधिजलादिवन्नियतमानत्वादनादिकालं तत्प्रतिबिम्बितस्य एकत्वोपपत्तेः। तस्य एकदेशविकाराऽन्तःकरणाद्यवच्छेदकत्वाऽनवच्छेदकत्वाऽभिप्रायेण कर्माऽऽदिसंस्पर्शनतदभावब्रह्मसंवित्तितदभावानामभिधानम्, ब्रह्मगमनस्याऽविद्याऽऽवरणे सत्यसम्भवात्—इत्याह—अविद्यावृत्तेश्चेति।

इतोऽपि न स्वभाववादो जीवभेदो वा प्रत्यहम्—इत्याह—त्रिविधा इति। अर्चिरादय=तदभिमानिन्यो आतिवाहिक्यो देवताः; लोकान्तरं गच्छतां मूर्च्छितानामिव सम्पिण्डितकरणग्रामाणां अन्याऽधीनगमनलिङ्गात्। तदुक्तम्—"आतिवाहिक्यस्तल्लिङ्गात्" इति।

ज्ञानवती

पाप आदि से असंस्पृष्ट रहता है "प्रतिदिन जाती हुई भी नहीं जानतीं" इस प्रकार सानुक्रोश एवं वीप्सा का (आत्म—) सम्पत्ति में भी उपसंहार होता है और अविद्या की आवृत्ति से अन्यसम्पन्न अर्थात् अन्यनिष्क्रान्त नहीं है ऐसी शंका का अवकाश नहीं है।

कर्मविपाक की श्रुतियाँ तीन प्रकार की देखी जाती हैं—इस प्रकार "जो ये अरण्य में श्रद्धा सत्य की उपासना करते हैं, वे अर्चियों को प्राप्त होते हैं, अर्चि से प्रतिदिन आपूर्यमाण पक्ष को, आपूर्यमाण पक्ष से जिन छ मासों से आदित्य उत्तरायण होता है (उनको), मासों से देवलोक को, देवलोक से आदित्य को, आदित्य से वैद्युत को, वैद्युत से अमसवपुरुष आकर उनको ब्रह्मलोक को प्राप्त कराता है। वे पर अर्थात् परावत ब्रह्मलोक में रहते हैं, उनकी यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती। और जो यज्ञ दान एवं तप से लोकों को जीतते हैं वे धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से अपक्षीयमाण पक्ष को, अपक्षीयमाण पक्ष

---

१ (ख) व्यर्थित इति, (ग) व्युच्छित इति।
२ (ग) अहरह आपूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासान्।
३ (क) मानस एत्, (ग) मानव एत्य।
४ (ग) पुनः पुनरावृत्तिः।
५ (ग) परावरों भासन्ति।

पुनरावृत्तिः[१]। अथ ये यज्ञेन दानेन तपसा लोकान् जयन्ति, ते धूममभिसम्भवन्ति धूमाद्रात्रिम्[२]; रात्रेरपक्षीयमाणपक्षम्, अपक्षीयमाणपक्षाद्यान् षण्मासान् दक्षिणादित्य एति, मासेभ्यः पितृलोकम्, पितृलोका-(चन्द्रमसं[३]) ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति; तांस्तत्र देवा यथा सोमं राजानं आप्यायस्वापक्षीयस्व, [इति] सोमं राजानं (लता[४]-) रूपिणं जलसेकेनाप्याय्य[५] (निष्पीड्य[६] च) मुहुर्मुहुः भक्षयन्ति; इत्येवमेनांस्तत्र[७] भक्षयन्ति। तेषां यदा तत्पर्यवैत्यथेममेवाकाशमभिनिष्पद्यन्ते[८], आकाशाद्वायुम्, वायोर्वृष्टिम्, वृष्टेः पृथिवीम्, ते पृथिवीं प्राप्यान्नं भवन्ति, त एवमेवानुपरिवर्तन्ते[९]। अथ य एतौ पन्थानौ न विदुः, ते कीटाः पतङ्गा (यदिदं[१०]) दन्दशूकम्" इति वाजसनेयिश्रुतेः। न च प्रलयार्थं (कर्मविध्य[११]-) श्रवणात् स्वभावादेव स इति,

भावदीपिका

ननु यद्यपि हिरण्यगर्भभावविषयान्त्यसाक्षात्कारवतां तादृशदेहान्तरायभूतदेहान्तरासम्भवात् मूर्च्छितानां गतिरस्तु; "तद्य इत्थं विदुः"—इति पञ्चाऽग्निविदां अतत्क्रतूनामपि गत्यादिश्रवणान्न तेषां देहान्तराऽसम्भावना, तथाऽपि न देवतानामसम्भवः; मूर्च्छितानां तदाक्षेपकत्वात्; पञ्चाऽग्निविदामपि तत्साहचर्यात्तुल्यभागित्वाच्च नान्तरदेहकल्पना। दक्षिणमार्गे यद्यपि तत्क्रतुत्वं कस्यचिन्नास्ति केवलकर्मत्वात्; तथाऽपि "आहुतिभिरावाहयति"—इत्याह्वानमधुरोक्तिपूजनाऽऽदिश्रवणात् देवतासिद्धौ न्यायक्लृप्तधूमाद्यभिमानिसिद्धिः। दन्दशूकम् = दशनशीलं सर्पादि।

प्रकारान्तरेण स्वभाववादमाशङ्क्याऽऽह—न च प्रलयार्थेति। स्वभावादेवेति। स्वभावस्य श्रौतकारणत्वाऽङ्गीकारेण किमेतदुच्यते श्रौतकारणस्य स्वभावो धर्मो वा सहकार्य-

ज्ञानवती

से जिन छ मासों से सूर्य दक्षिणायन होता है (उनको); मासों से पितृलोक को, पितृलोक से चन्द्र को; वे चन्द्र से प्राप्त होकर अन्न हो जाते हैं उनको वहाँ देवता लोग जैसे सोम राजा को भिगोओ, कूटो, इस प्रकार (कहकर) सोम राजा को जो कि लता रूपी है, जलसेक से गीला कर के, निचोड़कर बार बार खाते हैं इसी प्रकार इनको वहाँ खाते हैं उनका जब तात्पर्यवन होता है (वे) इसी आकाश को प्राप्त होते हैं आकाश से वायु को, वायु से वृष्टि को, वृष्टि से पृथिवी को, वे पृथिवी को प्राप्त करके अन्न हो जाते हैं। वे इसी प्रकार अनुविपरिवर्तित होते रहते हैं। और जो लोग इन दोनों रास्तों को नहीं जानते वे कीट, पतङ्ग, दन्दशूक जो (कुछ) यह है (होते हैं)" यह वाजसनेयी श्रुति है।

(पू) प्रलय के लिये कर्मविधि का श्रवण न होने से स्वभाव से ही वह हो जायगा (अर्थात् महाप्रलय के समान महासर्ग भी स्वभाव से ही हो जायगा)? (उ) ऐसा नहीं

---

१ (ग) पुनः पुनरावृत्तिः।
२ (ग) भवन्ति रात्रैः।
३ (क) चन्द्रं, (ग) चन्द्रमसम्।
४ (क) जड़, (ग) लता।
५ (ग) रूपिणं सेकेन।
६ (क) निष्पीड्य। (ग) निष्पीड्य च।
७ (ग) एवमेवचानांस्तत्र।
८ (ग) अथ तमेव।
९ (ख) नुविपरिवर्तन्ते।
१० (क) यदीदं, (ग) यदिदं।
११ (क) क्रमाद्य, (ग) क्रमविध्य।

महाप्रलयवन्महासर्गेऽपि स्वभावत[1] एवेति वाच्यम्; घृतादेः काठिन्यवन्मूलकारणस्यैव संस्थानविशेषात्मककार्यस्य कारणात्मतापत्तेः[2] प्रलयाङ्गीकारात्। न च स्वभावो मूलकारणं श्रुतं[3] माया त्वनिर्वाच्या यत्किञ्चिन्निमित्तमपेक्ष्यानपेक्ष्य वा(स्वानुरूपं[4]) चेष्टते प्रकृतित्वेन श्रुता; स्वभावपक्षे विशिष्टकालादिनिमित्तोपादानायोगाच्च।

न च वाच्यम् कर्मापीत्यादि[5] कार्यं कर्मादिवशाच्चेत्? करोत्यनवस्था; स्वभावादेव चेत्? न स्वभाववादापलाप[6] इति; "यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत् यथाऽग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिङ्गाः व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः, (सर्वे लोकाः[7]), सर्वे देवाः, सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति" इत्यात्मन इव कर्माविद्याद्युपाधेः स्वभावतः

भावदीपिका

न्तराऽनपेक्षत्वलक्षणः—इत्याह—घृतादेरिति। नान्त्यः—इत्याह—माया त्विति। "यथाकारी यथाचारी", "यथाकर्म यथाश्रुतम्" इत्यादिश्रुतेरनपेक्षत्वं न जाघटीति। अनपेक्ष्य वेत्ययमर्थः—जीवानां प्रधानभूतस्य हिरण्यगर्भस्य नियतकालविशेषभोगदायिकर्मसमाप्तौ तद्देहभङ्गेन तदनुरोधिजीवानां देहाः अस्मदादिदेहाऽनुरोधिक्रम्यादिदेहवन्न स्थातुमीशते—इति न लयार्थकर्माऽपेक्षेति। न केवलं श्रुतिविरुद्धोऽयं स्वभावो युक्तिविरुद्धोऽपि—इत्याह स्वभावपक्ष इति। तथाऽपि कस्यचिदेवं धर्मस्वीकारे स्वभावसिद्धिः?—इत्याशङ्कयाऽऽह—न च वाच्यमिति। स्वभावस्य कर्माऽऽदिधर्मत्वे कर्माऽऽदेस्तदपेक्षणादेवाऽनपेक्षत्वाऽसिद्धिः। अथ कर्माऽऽदिस्वरूपमेव स्वभावः, स जगतः सर्वप्रकारेण कारणं, न ब्रह्म? तन्न तावदागमिकम्—इत्याह—स यथेति।

ज्ञानवती

कहना चाहिये। घृत आदि के काठिन्य के समान संस्थानविशेषात्मककार्यस्वरूप मूलकारण की कारणात्मता की आपत्ति होने से प्रलय माना जाता है। स्वभाव को मूलकारण के रूप में नहीं सुना गया है। माया तो अनिर्वाच्य है (वह) जिस किसी निमित्त की अपेक्षा करके या न करके स्वानुरूप चेष्टा करती है। वह प्रकृति के रूप में सुनी गई है। स्वभाव पक्ष में विशिष्टकाल आदि का निमित्ति उपादान का योग नहीं है।

(पू) यदि कर्म आदि भी कर्म आदि के वश होकर ही होता है तो (क्रिया की) अनवस्था होती है, और यदि स्वभाव से होता है तो स्वभाववाद का अपलाप नहीं? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। वह-"जैसे मकड़ी से तन्तु निकलते हैं, जैसे अग्नि से छोटी चिनागारियां निकलती हैं इसी प्रकार इस आत्मा से सब प्राण (चक्षु आदि), सब लोक, सब देव, सब भूत निकलते हैं"। इससे कर्म अविद्या आदि उपाधि वाले आत्मा से ही स्वभाव-सृष्टि का का आश्रयण होता है। (पू) लूयते केदारः स्वयमेव (क्यारी स्वयं ही काटी जाती है) इसके समान यदि 'व्याक्रियते' यह कर्मकर्त्ता में प्रयोग है ऐसा कहें? (उ) तो अल्पप्रयाससाध्य होने के अभिप्राय से तद्वान् कर्त्ता का बोध कराती ही है। (पू) यदि 'गम्यते ग्रामः' (गाँव जाया जाता है) इसके समान कर्म में ही (प्रयोग) हो तो। (उ) देवदत्त

---

[1] (ग) स्वभाव, [2] (ग) करणा, [3] (ग) अश्रुतं।
[4] (क) अनुरूपं। (ग) स्वोंतुरूपं। [5] (ग) कर्मविच्यादि।
[6] (ग) दापह्नवः। [7] (क) चक्षुरादिकाः, (ग) सर्वेलोका।

सर्गाश्रयणात्[१]। 'लूयते केदारः स्वयमेव' इतिवद् व्याक्रियत इति कर्मकर्त्तरि प्रयोगश्चेत्? अल्पप्रयाससाध्यत्वाभिप्रायत्वात् कर्त्तारं तद्वन्तं गमयत्येव। 'गम्यते ग्रामः' इतिवत् कर्मण्येव चेत्? देवदत्तेन ग्रामो गम्यत इतिवदीश्वरेण[२] तद्व्याक्रियत इति कर्तृप्रतीतेर्न स्वभावादेव व्याक्रियत इति युक्तम्। 'वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठाः प्रत्य[३] कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशजातिकुलरूपायुःश्रुतवृत्तवित्तसुखमेधसो[४] जन्म प्रतिपाद्यन्ते। विश्वञ्चः=विपरीताः; नश्यन्ति"[५] इति स्मृतेः। 'तद्य इह रमणीयचरणाः" इत्यादिश्रुतेश्च स्वर्गैकफलकर्मणो[६] निःशेषेण भोगेऽपि कर्मान्तरेणावशिष्टेन[७] 'यद्यपहृतसर्वस्वोऽपि गृहगतेन शेषधनेन वित्तवान्[८]' इतिवत् शेषशब्दवाच्येन योनिफलाच्च। कर्मणः क्षणध्वंसित्वेऽप्यपूर्वात्मना स्थायिन उपाधित्वसम्भवाच्च[९]। न्यरूपि चापूर्वं भट्टपादैः।

भावदीपिका

परोक्तमागमं बह्वागमाऽनुरोधेन स्वपक्षेऽनुकूलयति—लूयत इति। न च स्वतन्त्र ईश्वर एव स्वभावोऽन्यो वा कश्चित्? कर्मवादिविरोधात् इत्याह—वर्णा इत्यादिना। शेषशब्दस्य स्वर्गफलशेषपरत्वे तस्य स्वर्गार्थत्वश्रुतिबाधप्रसङ्गात्। विवक्षितमर्थमाह—स्वर्गैकेति। पथि=मार्गे। ननु क्षणिकस्य कर्मणः कर्मसहकृतं विश्वकारणमिति व्यावर्त्तकत्वलक्षणमुपाधित्वं कथं चिरविनष्टस्य इति? तत्राऽऽह—कर्मण इति। सर्वप्रकारेण स्वभावः कारण-

ज्ञानवती

के द्वारा ग्राम जाया जाता है इसके समान ईश्वर के द्वारा उसका व्याकरण होता है इस प्रकार कर्त्ता की प्रतीति होने से स्वभाव से ही (यह) व्याकृत नहीं होता। यह (कहना) ठीक है। "वर्ण एवं आश्रम में रहने वाले अपने कर्म में लगे हुए यहाँ से जाकर कर्मफल का अनुभव करके उससे शेष के द्वारा विशिष्ट देश जाति-कुल-रूप-आयु-श्रुत-वृत्त-वित्त-सुख एवं बुद्धि वाले, जन्म को प्राप्त करते हैं, वाकी विपरीत (जो हैं वे) नष्ट हो जाते है" इस स्मृति से "वे जो यहाँ रमणीय आचरग वाले हैं—" इत्यादि श्रुति से स्वर्गमात्रफल वाले कर्म का निश्शेष रूप से भोग होने पर भी अवशिष्ट कर्मान्तिर से जैसे अपहृतसर्वस्व (व्यक्ति) भी गृह में बचे धन के द्वारा धिनवान् कहा जाता है इसी के समान शेष शब्द से वाच्य (कर्म के द्वारा) योनि का फल (होता है)। कर्म के क्षणव्वंसी होने पर भी अपूर्व के रूप में स्थायी (कर्म) की उपाधि सम्भव है। और भट्टपाद ने अपूर्व का निरूपण किया है।

अथवा क्षीर आदि से उत्पद्यमान सभी दधि आदि कार्य सहसा स्थूलात्मक रूप में ही नहीं उत्पन्न होते, तो क्या? पहले सूक्ष्म रूपान्तर का अनुभव करते हैं उसी प्रकार सर्ग आदि भी अंकुर आदि अवस्था में अपूर्व अवस्था को प्राप्त होते हैं और उत्पद्यमान उस (अवस्था) के द्वारा के ही उत्पन्न होते हैं। कहा भी है—

---

१ (ग) श्रवणात्। २ (ग) वदाश्रयेणा। ३ (ग) प्रत्येक।
४ (ग) सुखमेधास्यमजिन्म। ५ गौ० घ० सू० २।३।२९। ६ (ग) सर्गैक।
७ (ग) रेण विशिष्टेन। ८ विलसति। ९ (ग) उपाधि।

अथवा सर्वाण्येव कार्याणि दध्यादीनि क्षीरादेरुत्पद्यमानानि न सहसा स्थूलेनैवात्मनो(-त्पद्यन्ते[१]) किन्तर्हि? सूक्ष्माणि तावद्रूपान्तराण्यनुभवन्ति[२] एवं (सर्गादयो[३]-) ऽप्यङ्कुराद्यवस्थायां तावदपूर्वावस्थां प्रतिपद्यन्ते तया चोत्पद्यमानया त एवोत्पन्ना भवन्ति। आह च—

"काष्ठैः पक्तव्यमित्युक्ते निर्दिष्टा ज्वलनक्रिया।
अङ्कुरे जायमाने च वृक्षोऽप्युत्पन्न इष्यते॥"

तच्च वेदैकप्रमाणकम्—

"फलाय विहितं कर्म क्षणिकं [४]चिरभाविने।[५]
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येवमपूर्वमपि[६] गम्यते॥"

वेदवाक्योपात्तयागादिसम्बन्धाऽन्यथानुपपत्त्या तच्चोदनयाऽपूर्वमपि चोदितं[७] भविष्यतीति प्रमाणवत्। तस्मादस्त्यपूर्वमिति। अन्वयव्यतिरेकादिसिद्धकारणभावानां स्वभावादेव जनकत्वेऽपि न कार्यस्य जगतः स्वभावत एव[८] प्रभवत्वम्, ईश्वरोपासनाया[९] विश्वैश्वर्यफलायाः क्रियाया महासर्गादिमूलत्वाच्च। एवं स्वभावस्याप्य-

भावदीपिका

मित्येतदागमाऽननुकूलमित्युक्तम्। अनुकूलत्वमपि—इत्याह—अन्वयेति। न च वाच्यं महासर्गादिनिमित्तकर्माऽप्रतीतेरस्वभावरक्षोऽप्यनुपपन्न इति—इत्याह—ईश्वरेति। असम्भूत्याद्युपासनस्य प्रकृतिसायुज्यफलस्य हिरण्यगर्भसायुज्यफलोपासनवत् वेदात् प्रतीतेरित्यर्थः।

एवं स्वभावेन ब्रह्मलक्षणस्यार्थान्तरत्वं निरस्य "कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा" इति

ज्ञानवती

"काष्ठों से पकाना चाहिये ऐसा कहने पर ज्वलनक्रिया निर्दिष्ट होती है। और अङ्कुर के उत्पद्यमान होने पर वृक्ष भी उत्पन्न समझा जाता है।"

और इसमें वेद भी प्रमाण है—

"चिरभावी फल के लिये विहित कर्म क्षणिक होता है। अतः उसकी सिद्धि अन्यथा नहीं होती इस प्रकार अपूर्व का भी बोध होता है।"

जैसे कि वेदवाक्य से प्राप्त याग आदि की अन्यथा उपपत्ति न होने से उसकी चोदना के द्वारा अपूर्व भी चोदित होता है। इसलिये अपूर्व है। अन्वय व्यतिरेक आदि से सिद्ध कारणभाववालों के स्वभाव से ही जनक होने पर भी कार्य जगत् की स्वभावतः उत्पत्ति नहीं है और विश्वैश्वर्यफलवाली ईश्वरोपासनारूपक्रिया महासर्ग आदि का मूल है। इस प्रकार स्वभाव के भी नियामक न होने पर कुछ भी नियामक नहीं है। यदृच्छा से सब होता है ऐसा यादृच्छिक पक्ष भी दूर से निरस्त ही है।

---

[१] (क) उत्पद्यते। (ख) उत्पद्यन्ते। [२] (ग) अनुभवति।
[३] (क) स्वर्गोदयोः। (ख) स्वर्गोदयो। [४] (ग) चिरभावेन।
[५] बृ० पा० १।२।१५-१२-बृ० १।२।१। [६] (ग) मान्यथेत्ये।
[७] (ग) चोदयिदितं। [८] (ग) स्वभावप्रभवत्वं
[९] (क) ईश्वरोपासनया, (ग) ईश्वरोपासनाया।

नियामकत्वे न किञ्चिन्नियामकम् : यदृच्छयैव सर्वं भवतीति यादृच्छिकपक्षो (दूरापेत[1]) एव ।

[कालोपादानत्वं, तत्खण्डनं प्राणोपादानवादश्च–]

एतेन कालवादोऽप्यपास्तः । अथ विशेषान्नैवम् ; तथा हि—"नैवेह किञ्चनासीद्" व्यक्तमित्यर्थः । "मृत्युनैवेदमावृतमासीत्" "तस्यार्चत[2] आपो जायन्त" आपो वा अर्कः" "यावत्य आपः तावानसौ चन्द्रः"[3] एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः, तस्य रात्रय एव पञ्चदशकलाः ध्रुवैवास्य षोडशी कला" इत्यादिश्रुतेः ।

भावदीपिका

श्रुतौ स्वभावात्पृथङ्गनिर्दिष्टयदृच्छया तन्निरस्यति—एवमिति । यदृच्छास्वरूपं न किञ्चिन्नियामकमिति । स्वभाववादे हीत्थं स्वभावादेवं करोतीति स्वभावो नियामकः । यदृच्छापक्षे तु न किञ्चिन्नियामकम्, अनियतचेष्टेष्वेव यादृच्छिकत्वप्रसिद्धेः तथेयमप्यनियता विश्वचेष्टा । यदि हि नियता चेष्टा स्यात् तदा सर्ग एव वा प्रलय एव वा स्यात् । एतच्च नियतकालसर्गाऽऽदिफलकर्मविध्यादिबलादपास्तम् ।

[कालोपादानत्वं, तत्खण्डनं प्राणोपादानवादश्च—]

अवैदिकत्वेन पक्षान्तरमप्याक्षिपति - एतेन कालवाद इति । अवैदिकत्वं कालस्याऽसिद्धम् – इत्याह—अथेति । मृत्युः=कालः; तस्य निमित्तत्वमुपादानत्वं च वारकतया लयस्यानत्वेन । सम्भावितमाह—तस्याऽर्चत इति । अर्चनसृष्ट्यादिपर्यालोचनेनाऽऽत्मनः सर्वज्ञत्वसम्भावनम् । आपः=सूक्ष्माणि भूतानि; तत्कार्यञ्च तदभिन्नं स्थूलभूतब्रह्माण्डद्वारेण चन्द्रसूर्यलक्षणम् । इदानीं सूर्यादिद्वारकविकृतकालाऽऽत्मकमविकृतकालाऽऽत्मकं च मिश्रीकृतकालकारणत्वव्यवत्यर्थमुपासनार्थम्—आह—स एष इति । तथा च श्रुत्यन्तरम्—"पञ्चपादं पितरं द्वादशाऽऽकृतिं दिव आहुः परे अर्द्धे पुरीषिणम् । तथेमेऽन्य अपरे विचक्षणं सप्तचक्रे-

ज्ञानवती

[कालोपादानत्व, उसका खण्डन तथा प्राणोपादानवाद—]

इससे कालवाद भी अपास्त हो गया । अथवा विशेष के कारण ऐसा नहीं है, वह इस प्रकार—

(पू) "यहाँ कुछ नहीं था अर्थात् व्यक्त (नहीं था) । मृत्यु से ही यह आवृत था । अर्चना करते हुए उससे जल उत्पन्न हुआ, जल ही सूर्य है, जितना जल है उतना ही यह चन्द्र है ।" "यह संवत्सर प्रजापति सोलह कला वाला है । रात्रियाँ ही उसकी पन्द्रह कलाये हैं, ध्रुवा ही इसकी सोलहवीं कला है ।" इत्यादि श्रुतियों से और—

"हे पाण्डव ! काल, भूतों के भाव एवं अभाव के लिये हैं । इस (जगत् को) कालमूलक जानकर हे अर्जुन ! स्थैर्यघन वाले हो जाओ ।"

इत्यादि स्मृति से निमेष आदि में परमाणु आदि की कल्पना की उपपत्ति हो जाती है। इसलिये स्वभाव के समान काल आगमप्रमाण से रहित नहीं है ऐसा कालवादी कहते हैं।

---

[1] (ग) दूरापेत एव । [2] (घ) तस्यार्चन । [3] बृ० १।२।१ ।

"कालो भावाय[1] भूतानामभावाय च पाण्डव !।
कालमूलमिदं ज्ञात्वा भव स्थैर्यधनोऽर्जुन !॥"

इत्यादि स्मृतेश्च परमाण्वादिकल्पनोपपत्तेश्च निमेषादिषु, ततो न स्वभाववदनागमिकः काल इति कालवादिनः। (दृश्यते[2]) च वसन्तादि-(काल[3]-) प्रयुक्तः पुष्पादिप्रसवः। अतो निमित्तमुपादानञ्च काल एव जगत (इति चेत् ?)

नैवम्; "मृत्युनैवेदमावृतमासीत्[4]" इत्यत्र "तमसा गूढमग्रे"[6] इति श्रुत्यन्तरानुसारेण 'कार्यगर्भं मायाविशिष्टं कारणं ब्रह्म आसीत्' इत्यवधारणात्। अशनाया=मृत्यु (श्चेत्? तदा[7]) न कालशङ्काऽपि; अशनायया=बुद्धिधर्मेण तदुपाधिहिरण्यगर्भो लक्ष्यते। अविद्यैव वा मृत्युः—

भावदीपिका

षळराहुरर्पितम्" इति शिशिरहेमन्तावेकीकृत्य पञ्च ऋतवः। पादा इव द्वादशमासाः; आकारणात्=अवयवीकरणात्; आकृतिर्यस्य तं दिवः परस्तात् स्थानेऽपि पुरीषम्=आपः; तद्विकारवन्तम्; विचक्षणम्=सर्वज्ञम्; पितरं जगत् इति निमित्तमाहुः। इमे=अन्ये; अपरे=अन्ये वाऽस्मिन् सप्तचक्रे=शीघ्रगतिमति कालचक्रे; षड्ऋतवः अरा यस्य, तत्र जगदर्पितमित्युपादानञ्च कालमाहुरित्यर्थः। यदि चाऽल्पपरिमाणारब्धं महदिति श्रद्धा साऽप्यत्र युज्यते—इत्याह—परमाण्वादाविति। दृष्टानुकूलश्च कालवादः—इत्याह—दृश्यते चेति।

बहुश्रुतिविरोधे एका तदानुगुण्येन नीयते यथा सत्कारणश्रुतिस्ततो नैषा ब्रह्मणः तत्त्वान्तरकालविषया श्रुतिः—इत्याह—नैवमिति। किञ्च "अशनाया हि मृत्युः"इति निर्वचनान्न कालसिद्धिः—इत्याह—अशनायेति। प्रकरणाच्च तद्धर्मको हिरण्यगर्भो मृत्युरिति न कालशङ्का युक्ता—इत्याह—अशनाययेति। नित्यकूटस्थाऽऽत्मनि मरणभ्रान्तिजनकत्वादविद्या=मृत्युः; सैव चाऽत्राऽशनायाऽऽद्याकारेण परिणमते—इत्याह—अविद्यैवेति।

ज्ञानवती

वसन्त आदि काल के कारण पुष्प आदि का प्रसव देखा जाता है। इसलिये काल ही जगत् का निमित्त और उपादान है। यदि ऐसा कहें तो?—

(उ) ऐसा नहीं है। "मृत्यु से ही यह आवृत था", यहाँ पर "तमस् के द्वारा पहले छिपा था।" इस श्रुत्यन्तर के अनुसार कार्यगर्भ वाला मायाविशिष्ट ब्रह्म कारण था ऐसा निश्चय होता है। यदि अशनाया का अर्थ मृत्यु मानेंगे तब तो काल की शंका भी नहीं हो सकती। बुद्धि के धर्म अशनाया से उस उपाधिवाला हिरण्यगर्भ लक्षित होता है। अथवा अविद्या ही मृत्यु है—

"जो यह वर्त्तमान अविद्या नामरूप आदि के द्वारा विस्तृत होती है, उसका अत्यन्त सूक्ष्म माया (अंश) मृत्यु कहा जाता है।"

---

१ (ग) भवाय। २ (क) इष्यते, (ग) दृश्यते। ३ (क) वसन्तादिप्रयुक्तः, (ग) वसन्तादिकालप्रयुक्तः। ४ (क) इति नैवम्, (ग) इति चैन्नैवम्।
५ बृ० उ० १।२।१। ६ तै०ब्रा०२।८।९। ७ (क)चेन्नकाल,। (ग)चेत्तदा न काल।

"नामरूपादिना येयमविद्या प्रथते सती ।
माया तस्या : परं सौक्ष्म्यं मृत्युनैवेति भण्यते ॥"[१]

इति सुरेश्वराचार्यवचनात् सूर्यादीनां च कालेन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावात् (तदात्मत्वव्यपदेश:[२]) ।

"मृत्युर्यस्योपसेचनं कालमूषकभक्षक: ।
कालस्वरूपी भगवान् कृष्ण: पृथुललोचन: ॥"

"काल: कलयतामस्मि" इति श्रुतिस्मृतिभ्यां कालस्य परमात्ममायाविभूतित्वावधारणात् "मृत्युर्धावति पञ्चम:" इति च पारतन्त्र्यश्रुते: नेश्वरत्वं कालस्य। ननु मायाविकारा महाप्रलये साकल्येन लीयन्ते, तत्र कालोऽपि लीयत इति चेत्? एतावान् प्रलयकाल इति कथङ्कारं परिकलनं पुराणमार्गेषु? कथं वा "सदेवेदमग्र आसीत्" इति भूतकालव्यपदेश: ? यदि च तिष्ठति तहर्यनादिप्रवृत्तस प्रलयप्रवाहे न जायते न च लीयते इति स्वतन्त्रं तत्त्वम्; उच्यते—"(तद्यद्रेत आसीत्[३]) स

भावदीपिका

अविद्या मायेति सामानाधिकरण्यं नित्यमायाव्युदासार्थम्। "प्रजाकामो वै प्रजापतिः। स तपोऽतप्यत। स मिथुनमुत्पादयते—रयिं च प्राणं चेति। एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।" "आदित्यो ह वै प्राणः रयिरेव चन्द्रमाः" इति प्रश्नश्रुतेः, हिरण्यगर्भसृष्टसूर्यचन्द्रगतिसाध्यसंवत्सरस्य परम्परया तदात्मना परिणतप्रजापत्यात्मना विचक्षणत्वादिगुणोपन्यासः, सूर्याद्यात्मत्वोपन्यासश्च। ततोऽपि न कालस्य श्रौतकारणत्वसिद्धिः—इत्याह—सूर्यादीनां चेति। इतोऽपि न स्वतन्त्रकालस्य आगमिकत्वम्—इत्याह—मृत्युरिति। तर्कबलेन कालस्य स्वतन्त्रं कारणत्वम्। "प्रधानपुरुषकालेश्वराः प्रलयेऽपि वर्त्तमानाः जगतः कारणमिति पुराणबलेन च शङ्कते—नन्विति। लयपक्षमभ्युपेत्याऽऽह—उच्यत इति।

ज्ञानवती

इस सुरेश्वराचार्य के वचन से और सूर्य आदि का काल के साथ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव होने से तदात्मत्व का व्यवहार होता है। "मृत्यु जिनकी चटनी है, जो काल मूषक को खाने वाले हैं, ऐसे काल स्वरूप विशाल नेत्र वाले भगवान् कृष्ण।" "कलयन करने वालों में मैं काल हूँ" इन श्रुति एवं स्मृतियों से काल के परमात्ममाया की विभूतित्व के अवधारण से "मृत्यु पाँचवीं दौड़ती है" इन पारतन्त्र्य श्रुति से काल ईश्वर नहीं है।

(पू) प्रलय में माया के विकार सम्पूर्णरूप से लीन हो जाते हैं, उसमें काल भी लीन हो जाता है? यदि ऐसा (कहें)। (उ) तो पुराणभागों में 'इतना प्रलयकाल है' यह गणना कैसे होती है? और कैसे "यह पहले सत् ही था" यह भूतकाल का व्यवहार होता है। और यदि वर्त्तमान है तो अनादि काल से प्रवृत्त वह सृष्टि एवं प्रलय के प्रवाह में न उत्पन्न होता है और न लीन होता है इसलिये स्वतन्त्र तत्त्व है?

(इस विषय में) कहते हैं "वह जो रेतस् था वह संवत्सर हुआ उसके पहले संवत्सर

---

[१] बृ० वा० १।२।१३५ [२] (क) तदात्मत्वाभावात्। (ग) तदात्मेत्वव्यपदेशः।
[३] (क) यद्यद्रेतः, (ग) तद्यद्हेतः।

संवत्सरोऽभवत् न ह ततः पुरा संवत्सर आस" इति कालजन्मश्रुतेः, "तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्" इत्यविशेषश्रुतेश्च लीयत एवं कालः। 'ईशः कालकारः' इति परमेश्वरस्य कुम्भकार इतिवत् कालस्य कुम्भवत् जनकव्यापारकर्मत्वे कल्पते व्यपदेशः। अतो व्याकृतं कालमुपजीव्य पुराणश्रुत्यादिव्यपदेशः। यथा खलु लोकदृष्टान्तेनाव्याकृते नामरूपे विषयीकृत्य(तद्व्याकरण[१]-)व्यापारः परमेश्वरस्य (कालाप्रलये[२]-)ऽपि। द्युमणिभ्रमणौपाधिककाल-(प्रसंख्यानासम्भवस्या-)[३]परिहार्यत्वाच्च। मेघादीनां धूमादिद्रव्यान्तरोपादानत्वप्रसिद्धेः कालस्य निमित्तत्वमात्रम्। ततो न कालप्रक्रिया।

अथ "सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमेवाभ्युज्जिहते", "प्राणो वाव संवर्गः, स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति, प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रम्, प्राणं मनः, प्राणो ह्येवैतान् संवृङ्क्ते" "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" "प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा" इति च वेदे[४] प्राणकारणवादः। "प्राणो वै बलम्" इति श्रुतेः

भावदीपिका

"यः कालकारो गुणी सर्वविद्यः" इति श्रुत्यन्तरमाह—ईशः कालकार इति। यतो ब्रह्मकार्यनामरूपान्तर्गत एव कालः—अत आह – अत इति। यदि सूर्यादिसाध्य एव कालो व्यपदेशभेदहेतुः ? तत्राऽऽह—कालाप्रलयेऽपि इति। दृष्टानुसारेण च न कालस्योपादानत्वलाभः—इत्याह—मेघादीनामिति। ज्योतिःशास्त्रञ्च कर्माङ्गभूतव्यक्तकालपरीक्षापरं न स्वतन्त्रकालपरम्। पुराणञ्च श्रुत्यनुसार्येव प्रमाणम्—इत्यभिसन्धायाऽऽह—तत इति।

एवं कालतत्त्वेन ब्रह्मलक्षणस्याऽर्थान्तरत्वं व्युदस्य शक्तितत्त्वेन तन्निराकर्त्तुमुत्थापयति—अथेति। प्राणमेवाश्रित्य उज्जिहते=उद्गच्छन्ति; संवरणात् संहरणाच्च वागादीनाम्=संवर्गः। प्राणशब्दस्य श्रुत्यन्तरानुसारेण विवक्षितमर्थमाह—प्राणो वै बलमिति। शक्तेः

ज्ञानवती

नहीं था" इस प्रकार काल के जन्म की श्रुति है और "उसी प्रकार अक्षर से यह विश्व उत्पन्न होता है" यह सामान्य श्रुति है। काल का लय होता ही है। ईश काल के कर्त्ता हैं इस प्रकार परमेश्वर का कुम्भ के जनक कुम्भकार के समान काल के जनक के व्यापार के रूप में व्यवहार कल्पित होता है। इसलिये व्याकृत काल को कारण मानकर पुराण श्रुति आदि का व्यवहार होता है, जैसे कि लोक दृष्टान्त के द्वारा अव्याकृत नामरूप को विषय करके परमेश्वर का त्रिकाल मे तद्व्याकरण व्यापार भी होता है। और सूर्यपरिस्पन्द रूप औपाधिक काल के प्रसंख्यान का असंभव होना अनिवार्य है। मेघ आदि की धूम आदि द्रव्यान्तर के उपादानत्व की प्रसिद्धि होने से काल निमित्तमात्र है। इसलिये काल की प्रक्रिया नहीं है।

"ये सब भूत प्राण में ही अभिसंविष्ट होते हैं प्राण को ही छोड़ते हैं" "प्राण ही संवर्ग है, वह जब सोता है, वाणी प्राण को ही प्राप्त होती है, चक्षु प्राण को, श्रोत्र प्राण को,

---

१ (क) तद्व्याकृत, (ग) तद्व्याकरण। २ (क) कालत्रये, (ख, ग) कालाप्रलये।
३ (क) कालसंख्यानां भस्मी, (ग) कालप्रसंख्यासम्भवस्था। ४ (ग) वेदेन।

(शक्तिः प्राणशब्दार्थः[1])। न च शक्तिर्न पदार्थान्तरम्; गुणादिवृत्तित्वात्। न द्रव्यादिष्वन्तर्गमः, भिन्नसामग्रीग्राह्यत्वाच्च। 'ज्ञास्यामि ते शक्तिं पाषाणमुत्पाटय', इति कार्यानुमेयत्वव्यपदेशात्। अन्यथा प्रतिबन्ध्यविकलः प्रतिबन्धोऽपि न प्रसरेत्। न च स्वरूपस्यैव कार्यौदासीन्यं प्रतिबन्धशब्दार्थः, केनान्यथा शक्तेरपि शक्त्यन्तरं वार्येत इति वचनीयम्; बीजतन्त्वादेः कुसूलाद्यवस्थानदशायां कार्यौदासीन्येऽपि प्रतिबन्धत्वव्यवहारप्रसरात्। सत्यां सामग्र्यां (कार्यौदासीन्यं[2]) प्रतिबन्धश्चेत् (प्रतिबन्धो विसामग्री)[3] इति स्वोक्तिव्याघातः।

भावदीपिका

पृथक् पदार्थत्वमेव कणादादयो न सहन्ते कुतः स्वतन्त्रशक्तितत्त्वलाभ इति ? तत्राऽऽह— न चेति। द्रव्यान्तर्भावे गुणादिषु शक्तिव्यवहारो बाधितो लुप्यते। एवं गुणाद्यनन्तर्भावे अन्यत्राऽन्तर्भावमपोह्य व्यतिरेकं साधयति—भिन्नेति। युक्त्यन्तरमाह अन्यथेति। प्रतिबन्धकालेऽपि वह्न्यादेः स्वरूपत एवोपलम्भात् प्रतिबन्धनीयं तद्भिन्नमित्यर्थः। अन्यथासिद्धे प्रतिबन्धे न शक्तिलाभः—इत्याह—न चेति। औदासीन्यमात्रं प्रतिबन्धः सत्यां चासामग्र्यामिति विकल्पक्रमेण दोषः। प्रतिबन्धः=विसामग्री; तद्धेतुः प्रतिबन्धकः भावो यथा तथाऽभावः कारणं कार्यवन्मतः इति उदयनाचार्याः। यदोत्तम्भकसद्भावात् प्रतिबन्धकव्यावृत्त्या वा प्रतिबन्धाभावः कार्यं भवति, अन्यथा कार्योदयाऽनुपपत्तेः, तथा मुख्यकार्यस्य सोऽपि कारणमिति प्रतिबन्धकाभावविशिष्टा सामग्रीत्यङ्गीकृत्य सत्यां तस्यां प्रतिबन्धाभिधाने व्याघातः। दृष्टा च सामग्री, स्फोटादेः करतलाऽनलादिसंयोगो नाऽन्या अदृष्टा च दुरितविशेषलक्षणा। न चाऽस्यां सत्यां विसामग्रीलक्षणः प्रतिबन्धः तदन्य-

ज्ञानवती

मन प्राण को (प्राप्त होते हैं) प्राण ही इनका संवरण करता है" "हे सौम्य ! मन प्राणवन्धन वाला है" "मैं प्रज्ञात्मा प्राण हूँ" इस प्रकार वेद में प्राणकारणवाद है। "प्राण ही बल है" इस श्रुति से प्राण शब्द का अर्थ शक्ति है।

शक्ति पदार्थान्तर नहीं है, ऐसा नहीं है क्योंकि वह गुण आदि में रहती है। द्रव्य आदि में उसका अन्तर्भाव नहीं है, क्योंकि वह भिन्नसामग्रीग्राह्य है। 'जानूँगा तुम्हारी शक्ति जरा पत्थर उखाड़ो' इस प्रकार कार्य से (शक्ति के) अनुभवत्व का व्यवहार होता है। अन्यवा प्रतिबन्ध्य से रहित प्रतिबन्ध भी प्रसरित नहीं होगा।

(पू) स्वरूप का ही कार्य के प्रति उदासीन होना प्रतिबन्ध शब्द का अर्थ है, अन्यथा कौन शक्ति के शक्त्यन्तर का वारण करेगा ?

(उ) ऐसा नहीं कहना चाहिए क्योंकि बीज एवं तन्तु आदि के कुसूल-अवस्थानदशा में कार्य के प्रति उदासीन होने पर भी प्रतिबन्धत्व का व्यवहार होता है।

(पू) सामग्री में कार्य की उदासीनता प्रतिबन्धक होती है यदि (ऐसा कहें) ?

---

[1] (क) प्राणशब्दार्थः शक्तिः। (ग) शक्तिः प्राणशब्दार्थं।
[2] (क) सामग्र्यां प्रतिबन्धः, (ग) सामग्र्यां कार्यौदासीन्यप्रतिबन्धः।
[3] (ख) प्रतिबन्धोऽपि सामग्री।

[प्राणपदेन शक्तेर्विवक्षितत्वात् अतिरिक्तशक्तिव्यवस्थापनम्-]

किञ्च प्रमाणसिद्धस्य युक्तिमात्रेणापह्नवेऽतिप्रसङ्गात् वह्निः स्वमात्रसम्बन्ध्यतीन्द्रियसापेक्षः कारणम्, कारणत्वात्, आत्मवत्। (स्थिति-)स्थापकसंस्कारस्य कालाद्यन्योऽन्याभावस्य च स्फोटाद्युत्पत्तौ स्वरूपनिर्वाहोपक्षीणस्यानपेक्षणीयत्वान्न तेन सिद्धसाधनत्वम्। न च आत्मत्वमुपाधिः; गुरुत्वाधारे साध्याव्यापनात्। न च स्वमतसिद्धशक्तौ अनैकान्तिकता; तस्यापि कार्यानुरूपतादृशोत्कर्षाद्यनपेक्षणात्[1]। अयमग्निरेतन्निष्ठात्यन्ताभावेष्टसाध्यान्यतराधिकरणम्, मेयत्वात्, घटवत्। तथा अयमग्निः एतदन्योऽन्याभावात्यन्ताभावेष्टसाध्यात्यन्ताभावान्यतररहितः, मेयत्वात्, घटवत्। तत्र[2] च एतदन्योऽन्याभावात्यन्ताभाववति[3] पक्षे तद्रहितत्वं[4] पक्षे

भावदीपिका

तमाभावात्मको युक्तः। यदि च प्रतिबन्धकसन्निधानमेव प्रतिबन्धः, स एव विसामग्री, तदाऽपि प्रतिबन्धकस्योत्तम्भकस्य वह्न्यादेश्च परस्परसन्धाने कार्यजन्म न स्यात्। अथोत्तम्भकाऽसन्निधानसहितं मन्त्रादिसन्निधानं प्रतिबन्धः? तर्हि प्रतिबन्धाऽभाववद् उत्तम्भकोऽपि सामग्र्यन्तःपातीति तदभावेऽपि कार्यं न स्यात् इत्यहो दुर्गतिः कार्यस्य! ततो न प्रतिबन्धाभावः सामग्र्यन्तर्गतः किन्तु प्रतिबन्धनिवारकतया अन्यथासिद्धिः; उत्तम्भकोऽपि तदापादकतयेति।

[प्राणपदेन शक्तेर्विवक्षितत्वात् अतिरिक्तशक्तिव्यवस्थापनम्—]

विसामग्रीव्यतिरिक्तप्रतिबन्धविषयो वह्न्यादिस्वरूपव्यतिरिक्तैव शक्तिः—इत्याशयेनाऽऽह—किञ्चेति। प्रमाणम्=प्रतिबन्धाऽनुपपत्तिः। शक्तेश्चाऽनन्यगतिकतया कार्यवैमुख्यं प्रतिबन्ध इति भावः। अनुमानमप्यत्र मानम्-[इत्याह—] वह्निरिति। करतलाऽऽदिसंयोगव्यावृत्त्यर्थम्—अतीन्द्रियेति। अदृष्टाऽपेक्षया च सिद्धसाधनत्वव्युदासाय—स्वमात्रसम्बन्धपदम्। तथाऽपि कार्योत्पत्त्यनुकूलकालसंयोगेन सिद्धसाधनं उक्तम्—नाऽत्रेति। एवमपि सिद्धसाधनत्वमाशङ्क्याऽऽह—स्थितेति। दोषान्तरमुद्धरति—न चेति। सर्वभावानां शक्त्यङ्गीकारेण व्यतिरेकाऽभावश्च उपाधेः। स्वरूपशक्तिवादिनस्तु तादृशोत्कर्षाद्यभावान्न सिद्धसाधनम्—इत्याह - एतन्निष्ठेति। तदेतन्निष्ठं रूपादिधर्मजातं स्वारम्भकावयवनिष्ठत्वं

ज्ञानवती

(उ) तो प्रतिबन्ध विसामग्री है इस अपनी उक्ति का व्याघात हो जायगा।

[प्राणपद से शक्ति के विवक्षित होने से अतिरिक्त शक्ति का व्यवस्थापन—]

इसके अतिरिक्त प्रमाण से सिद्ध (वस्तु) का युक्तिमात्र से अपलाप करने पर अतिप्रसङ्ग हो जायगा केवल अपने से सम्बन्धित अतीन्द्रियसापेक्ष अग्नि कारण है कारणत्व होने से, आत्मा के समान स्थितिस्थापक संस्कार एवं काल आदि अन्योन्याभाव, जो कि स्वरूपनिर्वाह में उपक्षीण हैं, के स्फोट आदि की उत्पत्ति में अनपेक्षणीय होने से उससे सिद्धसाधन नहीं ह।

---

[1] (ख) उत्कर्षानपेक्ष, (ग) उत्कर्षाद्यपेक्षणात्। अयमग्नि एतदन्यो।
[2] (ग) अत्र च।
[3] (ग) भावप्रतिपक्षे।
[4] (क) रहितत्वं पक्षे सिद्धदिष्ट। (ग) रहितत्वं पक्षे व्याहतमितीष्ट।

(व्याहतमितीष्टसाध्यात्यन्ताभावरहितत्वं पक्षे) सिध्यदिष्टसाध्यमन्तर्भाव्य सिध्यति इतीष्टसाध्यसिद्धिः । व्रीह्यादिकर्मकारकनिष्ठप्रेक्षणादिसाध्यातीन्द्रियातिशयमन्तरा तद्विधानान्यथानुपपत्तिरपि शक्तिं व्यनक्ति, शास्त्रीयापूर्वस्याप्यनात्मनिष्ठत्वस्येष्टत्वात् । तदाहुर्भट्टपादाः—

"कर्मभ्यः प्रागयोग्यस्य कर्मणः पुरुषस्य वा ।
योग्यता शास्त्रगम्या या परा साऽपूर्वमिष्यते ॥"

इति प्रधानकर्मणामङ्गकर्मणां च प्राक्कारणात् स्वर्गादिप्राप्त्ययोग्याः पुरुषाः क्रतवश्च स्वकार्ययोग्यास्तामुभयीमप्ययोग्यतां व्युदस्य प्रधानैरङ्गैश्च योग्यतोपजन्यत इत्यवश्यं सर्वेणाभ्युपगन्तव्यम्; असत्यां तस्यामकृतसमत्वप्रसङ्गात् । सैव च पुरुषगता वा क्रतुगता

भावदीपिका

विवक्षितम् । वक्रर्षिच प्रत्यनुमानमेतत् । ततो नेष्टसाध्याऽधिकरणमित्येतावताऽलमिति वाच्यम् ? अन्यतरत्वस्योभयाऽधीनत्वात्, उभयाऽधिकरणत्वबाधाच्च विशेषणोपयोगः । श्रुतार्थापत्तिरप्यत्र मानम्—इत्याह—व्रीह्यादीति । संस्कृतव्रीह्यादिव्यवहारस्याऽत्मनिष्ठसंस्कारोत्पत्तौ बाधप्रसङ्गात्, स्नानशौचादिसंस्कारस्याऽपि व्यतिरिक्तात्मनिष्ठत्वे विवादाच्च—इत्याशयेनाह—शास्त्रीयेति । एवं व्यतिरिक्तशक्तिसिद्धौ स्वतन्त्राऽपि सा युक्ता, आगमप्रामाण्यात्—इत्याशयेनाऽऽह—सैव चेति । स्पष्टः सिद्धान्तः ।

ज्ञानवती

(पू) आत्मत्व उपाधि है ? (उ) ऐसा नहीं है—क्योंकि गुरुत्वाधार में साध्य की अव्याप्ति हो जायगी । (पू) स्वगतसिद्धशक्ति में अनेकान्तिकता हो जायगी ? (उ) ऐसा भी नहीं है, क्योंकि वह भी कार्य के अनुरूप वैसे उत्कर्ष आदि की अपेक्षा नहीं रखती । उदाहरणार्थ यह अग्नि इसमें रहने वाले अत्यन्ताभाव एवं इष्टसाध्य (इनमें से) अन्यतर का अधिकरण है, मेय होने से घट, के समान ; तथा यह अग्नि इस अन्योन्याभाव के अत्यन्ताभाव एवं इष्टसाध्य के अत्यन्ताभाव (इनमें से) अन्यतर से रहित है, मेय होने से घट के समान; वहाँ इस अन्योऽन्याभाव के अत्यन्ताभाव वाले पक्ष में जो तद्रहितत्व है वह पक्ष में व्याहत है इसलिये इष्टसाध्य के अत्यन्त भावरहितत्व पक्ष में सिद्ध होते हुए इष्टसाध्य को अन्तर्भूत करके सिद्ध होता है । इस प्रकार इष्टसाध्य की सिद्धि व्रीहि आदि कर्म कारक में रहने वाले प्रोक्षण आदि साध्य में रहने वाले अतीन्द्रिय अतिशय के विना उसके विधान की अन्यथानुपपत्ति वाली भी शक्ति को प्रकट करती है, क्योंकि शास्त्रीय अपूर्व भी अनात्मनिष्ठ ही वाञ्छित है । भट्टपाद ने कहा है—

"अयोग्य कर्म अथवा पुरुष की, कर्म के पहले जो शास्त्रगम्य परयोग्यता है वह अपूर्व समझी जाती है ।"

कारण से पहले स्वर्ग आदि की प्राप्ति के अयोग्य पुरुष एवं क्रतु, जो अपने कार्य के अयोग्य हैं, के प्रधान एवं अङ्ग कर्मों की उन दोनो अयोग्यताओं को हटा कर प्रधान एवं अङ्गों के द्वारा योग्यता उत्पन्न होती है यह सबको अवश्य मानना चाहिये, क्योंकि उसके न होने पर अकृतसमत्व की प्राप्ति होने लगेगी । और वही पुरुषगत या क्रतुगत योग्यता इस

वा योग्यता शास्त्रेऽस्मिन्नपूर्वमित्युपदिश्यत इति। न च व्रीह्यादौ चेतनगुणो धर्म एव योग्यता इति विलक्षणशक्तिसिद्धिः। सैव प्राणश्रुत्या जगद्बीजमुक्तम् इति प्राप्तम्।

अत्र समाधिः—शक्तिर्हि शक्यमिव शक्तमप्यपेक्षते। तथा च यस्तस्या अधिष्ठाता स एव जगद्बीजम्। स्वतन्त्राऽपि चेतना स्यात् अचेतना वा; आद्ये कथं कूटस्थाया अमुष्या जगद्विकारपरम्परा? माया(-शक्त्यन्तरत्व[1]-) स्वीकारे च पर्यायेण ब्रह्मपक्ष एव कक्षीकृतः। अचेतना चेत्? अधिष्ठातृसापेक्षत्वात्[2] न स्वतन्त्रा। प्राणश्रुतिश्च प्राणोपाध्यात्मविषयतयाऽपि[3] घटते। अतो न शक्तिपक्षोऽपि।

[प्रधानकारणवादस्तन्निराकरणं च–]

एतेन 'स्वतन्त्रसत्यं ईश्वरतन्त्रं[4] वा प्रधानं जगदुपादानम्' इति निरस्तप्रायम्। (यदपि[5]) सङ्गिरन्ते—

भावदीपिका

[प्रधानकारणवादस्तन्निराकरणं च—]

पक्षान्तरेणाऽप्यर्थान्तरत्वं निराकरोति—एतेनेति। असङ्गेश्वरस्य प्रधानाधिष्ठानत्वाऽनुपपत्तेः, आविद्यकसम्बन्धे वाऽविद्यावाद इति भावः। न तत् सत्ताऽपि, प्रमाणाऽनिरूपणात् — इति वक्तुमुत्थापयति—यदपीति। कारणमस्तीति पूरणं शून्यब्रह्मपरमाणुव्युदासाय। वस्त्वित्यादिपदानि च मायया सिद्धसाधनता; "तन्मायैव सुतुच्छकम्" इति योगशास्त्रे दृष्टिपथप्राप्तस्य गुणरूपस्य मायात्वाऽभिधानाच्च न पारमार्थिकप्रधानसिद्धिरिति वाच्यम्?

ज्ञानवती

शास्त्र में अपूर्व कही जाती है। व्रीहि आदि में चेतनगुण वाला धर्म ही योग्यता नहीं है इस प्रकार विलक्षण शक्ति की सिद्धि होती है और वही प्राणश्रुति के द्वारा जगत् का बीज कही गयी है?

(उ) इस विषय में समाधान है—शक्य के समान शक्ति को शक्त की भी अपेक्षा होती है। और इस प्रकार जो उसका अधिष्ठाता है वही जगत् का बीज है। स्वतन्त्र होकर भी वह या तो चेतन होगी या अचेतन? प्रथमपक्ष में कूटस्थ इसकी जगत्विकारपरम्परा कैसे होगी? और मायाशक्त्यत्मकत्व स्वीकार करने पर क्रमशः ब्रह्म पक्ष ही माना जाता है। और यदि अचेतना है तो अधिष्ठातृसापेक्ष होने से स्वतन्त्र नहीं होगी। और प्राण की श्रुति प्राणोपाधि के रूप में भी घटित होती है। इसलिये शक्तिपक्ष भी नहीं है।

[प्रधानकारणवाद और उसका निराकरण—]

इससे स्वतन्त्र सत्य अथवा ईश्वराधीन प्रधान जगत् का उपादान है यह भी प्रायः निरस्त है। जो कि कहते हैं—

(पू) "भेदों के परिमाण से, समन्वय से, शक्ति के कारण प्रवृत्ति होने से, कारण कार्य का विभाग होने और वैश्वरूप के अविभाग से, जगत् का कारण अव्यक्त है।"

---

[1] (क) शक्त्यात्मकत्व, (ख, ग) शक्त्यान्तरत्व, [2] (ग) दधिष्ठानसा।
[3] (ग) विषयता घटते। [4] (ग) ईश्वरपरतन्त्रं।
[5] (क) तदपि, (घ) यदपि,

"भेदानां परिमाणात्, समन्वयात्, शक्तितः प्रवृत्तेश्च।
कारणकार्यविभागादविभागाद्वैश्वरूपस्य ॥
कारणमस्त्यव्यक्तम्"

भेदानाम्=महदादिविशेषाणाम्; इति अन्वयः। भिद्यन्त इति भेदाः=विकाराः; अविभक्तजडवस्तुप्रकृतिकाः, अमी, परिमितत्वात्, घटशरावादिवत्। विगीतम्, सुखदुःखमोहसामान्यप्रकृतिकम्, नियमेन तदन्वितस्वभावत्वात्; (नियमेन[1]) यद् यदन्वितस्वभावं तद् तत्सामान्यप्रकृतिदृष्टम्; यथा मृत्सामान्यान्वितस्वभावा घटशरावादयः तत्प्रकृतिकाः। तदन्वितस्वभावत्वञ्च भावानां रागद्वेषमोहहेतुत्वेन। असुखाद्यात्मकत्वे[2] च तदसम्भवात् सुखदुःखमोहा एव[3] सत्त्वरजसतमांसि। अनेन च त्र्यात्मकेन [सता[4]] विश्वं प्रधीयत इति प्रधानमित्युच्यते, चेतनं प्रत्युपकारकत्वेन गुणभूतमवितथम्।

भावदीपिका

वसति=तिष्ठति इति वस्त्विति अनुपपदवस्तुशब्देन पारमार्थिकत्वद्योतकेन तद्व्यावृत्तेः। योगवाक्यस्य बहिर्मुखत्वव्यावृत्तिमात्रपरत्वात् कालादेश्च निराकृतत्वात् न तेनाऽपि सिद्धसाधनमिति भावः। सुवर्णादेः स्वभावकत्वेऽपि तत्प्रकृतित्वाऽभावाद्—अत उक्तम्—नियमेनेति। न चाऽसिद्धो हेतुः—इत्याह—तदन्वितेति। न च सुखाऽदिसाधनत्वेन रागादिहेतुत्वं वाच्यम्—इत्याह—असुखेति। विषयस्य माधुर्याद्याकाराऽभिव्यक्तेरेव सुखादिरूपतयाऽनुभवो न तत्साधनत्वकल्पनाऽवकाश इत्यभिमानः सांख्यस्येति भावः। तथाऽपि सत्त्वाऽऽदिमयप्रकृतिसिद्धिः कथम्? तत्राऽऽह—सुखेति। कार्यकारणयोरैक्यात्, वृक्षाऽङ्कुरान्तरपृथिव्यादिवत् किञ्चिद्वैषम्याच्च, उभयव्यवहार इति भावः। पुरुषार्थायाः प्रकृतेः कथमनन्यशेषवाचिप्रधानशब्दत्वम्? तत्राऽऽह—अनेन चेति। प्रधानशब्दस्याऽमात्येऽपि दृष्टत्वात् नान्यत्र शे[-षि-]वाचकत्वनियम इत्याशयः।

ज्ञानवती

भेदों का (अर्थात्) महत् आदि विशेषों का, ऐसा अन्वय है। जिनका भेदन होता है वे ये भेद (अर्थात्) विकार अविभक्त जड़ वस्तुप्रकृति वाले हैं, परिमित होने से, घट शराव आदि के समान। विवादग्रस्त विषय, सुखदुःख-मोह रूप सामान्यप्रकृति वाला है, क्योंकि नियमतः उससे युक्त स्वभाववाला है, नियम से जो जिससे युक्त स्वभाववाला होता है, वह उसके साधारणप्रकृतिवाला देखा गया है, जैसे मृत्सामान्य से अन्वितस्वभाव वाले घट शराव आदि उस (अर्थात् मिट्टी) प्रकृति वाले हैं। भावों का तदन्वितस्वभावत्व रागद्वेषमोह के हेतु के रूप में है। ओर सुखाद्यात्मक न होने पर उसकी सम्भावना न होने से सुखदुःखमोह हो सत्त्व रजस् एवं तमस् है। इन तीन के द्वारा ही विश्व धारण किया जाता है इसलिये प्रधान ऐसा कहा जाता है, चेतन के प्रति उपकारण होने से (वह) गुणभूत ठीक है।

---

१ (क) त्वात् यद, (ख, ग) त्वान्नियमेन यद्। २ (घ) सुख।
३ (ग) एव च। ४ (क) समा।

विगानगोचरो विभक्तं[1] जडवस्तुप्रकृतिकम्, (प्रकृतिशक्तिमत्वात्[2]) रथादिवत्, तरङ्गादिवद्वा;[3] समानानां कार्यकारणविभागस्य लोके दर्शनात्; जगच्च जडम्, इति जडप्रधानप्रकृतिकम्। तथैव जडवस्तुप्रकृतिकम्, विचित्रकार्यत्वात् एकबीजप्रकृतिकाङ्कुरकाण्डादिवत्; (तथा[4]) महतः परमव्यक्तम् इति। "अजामेकाम्—" इत्यादिश्च वेदः प्रधानं प्रथयति। न च जीवादन्यः कश्चिदीश्वरः। स एव स्वमहिमप्रतिष्ठितो वेदान्तैस्तथा तथोच्यत इति लिङ्गादिबलात् प्रधानसिद्धिरिति।

तत्र समाधिः प्रधानस्य गुणानां साम्यात्मकस्य पृथग्वस्तुत्वाभावात् विभक्ता गुणा एव जगद्विकारकारणमिति नाविभक्तजडवस्तुप्रकृतित्वप्रतिज्ञा साधीयसी। अविभक्तत्वे संयुक्तत्वं चेत्? अणुभिः सिद्धसाधनम्। परिमितत्वमपि देशतश्चेत्? आकाशादौ नास्तीति भागासिद्धिः। कालतश्चेत्? न काल इति स एव दोषः। वस्तुतश्चेत्? गुणपुंसोः व्यभिचारः संख्यातः। परिमितत्वञ्चासिद्धम्; विकाराणा-

भावदीपिका

आगमोऽप्यत्रमानम्—इत्याह—तथेति। न चाऽत्र रथत्वेन प्रकृतं शरीरम् अव्यक्तम्? तत्राऽऽह—व्यक्तस्य लक्षणापरम्परया वृत्तिकल्पनात्—"इन्द्रियेभ्यः पराः" इति किमुतन्यायेन शरीरादर्थानां परत्वकल्पनाया युक्तत्वादव्यक्तपदेनाऽर्थाल्लब्धशरीरग्रहणाऽयोगादिति मन्यते। काष्ठाभूतपुरुषस्य कारणात् परत्वस्य "कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्च"—इत्यादाविष्टत्वान्नाऽप्रस्तुताऽभिधानदोषोऽपीति भावः। ननु 'अजा'-शब्देन ईश्वरस्य सहकारिणी मायोच्यते न प्रधानम्? तत्राऽऽह—न च जीवादिति। वेदस्याऽग्रप्रसूतकपिलनिर्णीतार्थत्वेऽनुमानाऽनुकूले सम्भवति न तत्प्रतिकूलाऽर्थनिर्णयो युक्त इत्याशयः। अविभक्तत्वम् एकरसत्वं संयुक्तत्वं वा?—क्रमेण प्रत्याह—प्रधानस्येति। अविभक्तत्वेति विशेषणेऽप्याद्यो दोषः। हेतुरप्ययुक्तः—इत्याह—परिमितत्वमपीत्यादिना। सुखाद्यन्वयो वृक्षदेहादौ बीजाऽवस्थायामपि घटादौ

ज्ञानवती

विवाद का विषय विभक्तजडवस्तुप्रकृतिवाला है प्रकृतिशक्तिमान् होने से, द्रव्य आदि अथवा तरङ्ग के समान। समान (पदार्थों) का कार्यकारण विभाग लोक में देखा जाता है और जगत् जड है इसलिये जडप्रधानप्रकृतिवाला है उसी प्रकार (जगत्) जडवस्तुप्रकृतिक है, विचित्रकार्य होने से, एक बीजप्रकृतिवाले अंकुर काण्ड आदि के समान। उसी प्रकार महत् परमअव्यक्त कारणवाला है। और "अजामेकाम्" इत्यादि वेद प्रधान का विस्तार करता है। जीव से अन्य कोई ईश्वर नहीं है। वही अपनी महिमा में प्रतिष्ठित, वेदान्तों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से कहा जाता है, इस प्रकार लिङ्ग आदि के बल से प्रधान की सिद्धि होती है।

(उ) इस विषय में समाधान है—गुणों की साम्यावस्थारूप प्रधान के पृथक् वस्तु न होने से विभक्तगुण ही जगत्विकार के कारण हैं, इसलिये अविभक्त जड़वस्तु के प्रकृति

१ (ख, ग) विभक्त।
२ (क) प्रकृतिक तथादि, (ग) प्रकृतिकं प्रकृतिशक्तिमत्वात् द्रव्यादि।
३ शतरंगादि। ४ (क) गथा, (य) तथा।

मनन्तत्वात्; सर्वभावानां सुखाद्यन्वयासिद्धेश्च; सुखादिसाधनत्वेनापि रागादिहेतुत्वसम्भवाच्च। न च (मुखादिवत्[1]) सुखादिरूपत्वं चेतोवृत्तौ प्रतिफलितमनुभूयते। भावानां प्रकृतिशक्तिमत्त्वं च स्वतो रथादौ न सम्मतम्; अश्वाद्यनपेक्षत्वप्रसङ्गात्। परतः प्रवृत्तिशक्तौ च विमतं चेतनव्यापारापेक्षप्रवृत्तिशक्ति(-मत्[2]), जडत्वात्, रथादिवत्, इति परतन्त्रकारणसाधकत्वेन विरुद्धत्वात्; चेतनप्रकृतिकं वा आगन्तुकत्वात् बुद्धौ तत्प्रतिबिम्बवत् इति प्रतिसाधनत्वाच्च[3]।

चतुर्थमप्यसाधनम्; अणुमायावादयोरपि जडत्वेन समानप्रकृतित्वोपपत्तेः।

भावदीपिका

मृदाद्यन्वयवन्न दृष्टः—इत्याह—सर्वभावानामिति। दुःखाऽभावेऽपि रागदर्शनान्न रागहेतुत्वं सुखस्य गमयति। तृप्तस्य तादृश एव विषये द्वेषदर्शनात्, अन्यथासिद्धं रागादिहेतुत्वम्—इत्याह—सुखादीति। न च लावण्याद्यभिव्यक्तिरेव सुखम्; तदनन्तरं भोगरागाधिक्यस्य लिङ्गादिप्रवृत्तिजनकस्य सुखोद्देशेनाऽनुभूयमानत्वात्—इत्यभिप्रेत्याऽऽह—न चेति। प्रवृत्तिः स्वतः परतो वेति हेत्वन्तरं दूषयति—प्रवृत्तीति। चेतनप्रकृतित्वम् = चेतनविवर्त्तत्वम् = सुखाद्याकारपरिणतबुद्धौ प्रतिबिम्बितत्वेनोपरागवदित्यर्थः।

मिथ्यावस्तुत्वं मिथ्याज्ञानवद् दुर्वारम् इति मायावस्तुत्वमविरुद्धम्। अव्यक्तपदस्य लक्षणायाः शब्दवृत्तेः अर्थाच्च शरीरपरत्वग्रहणं न्याय्यत्वात् प्रकृतपरिशिष्टशरीरविषय एवाऽव्यक्तशब्दः। कार्यस्य कारणाऽनन्यत्वात् ततः परत्वे कारणात् परत्वमपि सेत्स्यति—

ज्ञानवती

होने की प्रतिज्ञा उचित नहीं है। (पू) यदि अविभक्त होने पर संयुक्तत्व है? (उ) तो अणुओं के द्वारा सिद्ध का साधन हो रहा है। (पू) यदि देश को लेकर परिमितत्व है? (उ) तो आकाश आदि में (परिमितत्त्व) नहीं है, अतः भागासिद्धि दोष है। (पू) यदि काल को लेकर मानें? (उ) तो काल नहीं है अतः वही दोष (=भागासिद्धि) है। (पू) वस्तु को लेकर मानें? (उ) तो गुण एवं पुरुष का व्यभिचार कहा गया है। और परिमितत्व असिद्ध है क्योंकि विकार अनन्त है एवं सब भावों का सुख आदि के साथ अन्वय असिद्ध है। तथा सुख आदि के साधन के रूप में भी रागादि की हेतुता सम्भव है। चित्तवृत्ति में मुख आदि के समान सुखादिरूपता का प्रतिबिम्बित होना अनुभूत नहीं होता। भावों की प्रकृतिशक्तिमत्ता रथ आदि में स्वतःसम्मत नहीं है क्योंकि तब तो अश्व आदि की अपेक्षा ही नहीं रहेगी। और परतःप्रवृत्तिशक्ति में विमत, चेतनव्यापारापेक्षप्रवृत्तिशक्तिवाला है, जड होने से रथ आदि के समान, इस प्रकार परतन्त्रकारण साधक होने से विरुद्ध हो जाता है। अथवा (विमत) चेतन प्रकृति वाला है, आगन्तुक होने से बुद्धि में उसके प्रतिबिम्ब के समान, ऐसा प्रतिसाधन हो जाता है।

---

[1] (क) सुखादिवत्। (ख) मुखादिवत्, (ग) मुखादिवत्।
[2] (क) शक्ति। [3] (क) प्रति, (ख) प्रसिद्ध।

मायया सिद्धसाधनत्वान्न पञ्चममपि। अव्यक्तादिश्रुतेश्च माया-(तद्विकारपरत्वेना-[1]) प्युपपत्तेः। तत्र अव्यक्तपदं कारणमायावाचि रथत्वेन प्रकृतम् "सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्" इत्युक्तप्रकरणविष्णुपदस्य निरतिशयपरत्वज्ञप्तये[2] इति "इन्द्रियेभ्यः पराः" इत्यादौ प्रपञ्चे परिशिष्टं शरीरं प्रतिपादयति। अजापदं च श्वेताश्वतरे शाखान्तरसिद्धतेजोऽबन्नरूपावान्तररोहितादित्रिवर्णप्रकृतिपरम्[3], स्वप्रकरणोक्तां 'मायाम्' इति परां प्रकृतिं वा निरूपयति[4]। किञ्च गुणवैषम्यं सर्गकाले न पुंव्यापारात्; तस्याकर्तृत्वाभ्युपगमात्। न कर्माणि तदा विद्यन्ते। विद्यमानानि वा न प्रकृतिप्रेरकाणि "निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनाम्" इत्युक्तत्वात्।

अथ "वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्" इति भणितत्वात् सुखेतरसृष्ट्योः प्रतिबन्धकयोरधर्मस्य च धर्मस्य च परस्परोत्सारकत्वे निष्प्रतिबद्धानां गुणानां केदाराम्भसामिव स्वतन्त्रवृत्तिः? तन्न; तयोः प्रसुप्तयोः शक्त्यवस्थापन्नयोरितरेतरोत्सारकत्वानुपपत्तेः; अपरथा मोक्षेऽपि सर्गः स्यात्। न च मिथ्याज्ञानरागादयो[5] मनस्यनुत्पन्ने[6]

भावदीपिका

इत्याशयेनाऽऽह--अव्यक्तादीति। विवृणोति—तत्रेति। प्रधाने प्रमाणं निराकृत्य तस्य कारणत्वं निराचष्टे--किञ्चेति। वरणम्=प्रतिबन्धकम्; पानीयस्येव केदारादौ गुणवैषम्यवत् कर्मोद्बोधस्याऽपि हेत्वभावात्; अनुद्बुद्धस्य च वैषम्यहेतुत्वेऽतिप्रसङ्गात् - इत्याह--तन्नेति। उद्बोधकमाशङ्क्याऽऽह--न चेति। अतो न प्रधानसाधनाऽनुमानाऽनुरोधेन वेदान्तव्याख्येति ईश्वरका-

ज्ञानवती

चौथा भी साधन नहीं है क्योंकि अणुवाद एवं मायावाद दोनों के ही जड़ होने से समानप्रकृतित्व की उपपत्ति हो जाती है। और माया के सिद्ध साधन होने से पाँचवाँ विकल्प भी नहीं है। अव्यक्तादिश्रुति माया एवं उसके विकारपरक होने पर भी उपपन्न हो जायगी। उसमें अव्यक्तपद कारण माया का वाचक है रथ के रूप में प्रकृत "वह रास्ते के पार प्राप्त हो जाता है वह विष्णु का परमपद है" इस उक्त प्रकरण में विष्णुपद के निरतिशयपरत्व के ज्ञापन के लिये है। "इन्द्रियों से पर" इत्यादि प्रपञ्च में परिशिष्ट शरीर का प्रतिपादन करता है। और श्वेताश्वतर उपनिषद में अजा पद शाखान्तर में सिद्ध तेज जल अन्न रूप अवान्तरलोहितादि त्रिवर्णप्रकृति (परक) है। अथवा अपने प्रकरण में उक्त 'मायाम्' इस प्रकार प्रकृति का निरूपण करता है। इसके अतिरिक्त सृष्टिकाल में गुणों का वैषम्य पुरुष के व्यापार से नहीं होता क्योंकि उसका कर्त्तृत्व नहीं माना गया है। और उस समय कर्म भी नहीं रहते। अथवा विद्यमान रहने पर भी वे प्रकृति के प्रेरक नहीं है क्योंकि "निमित्त प्रकृति के अप्रयोजक हैं" ऐसा कहा गया है।

(पू) "तब क्षेत्रिक के समान वरणभेद होता है" इस कथन से सुख और इतरसृष्टि के प्रतिवन्धक अधर्म एवं धर्म के परस्पर उत्सारक होने पर निष्प्रतिबद्धगुणों की, क्यारी के जल के समान, स्वतन्त्र वृत्ति है। (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रसुप्त एवं शक्ति की

---

१ (क) कारत्वे, कारपरत्वे,। २ (ग) ज्ञप्तये। ३ (ख) परं प्रकृतिपरम्। ४ (ख) निरूपयति न किञ्च। ५ (ग) ज्ञानं वा रागादयो वा। ६ (ग)मनस्युत्पन्ने।

तद्वृत्तयः सम्भवन्ति याः कर्मोद्बोधं कुर्युः साम्यभङ्गं वा तद्गुणानाम्[१]। तदाहुर्भट्टपादा अपि—

"पुमानकर्त्ता येषान्तु तेषामपि गुणक्रिया।
कथमादौ भवेत्तत्र कर्म तावन्न विद्यते॥
मिथ्याज्ञानं न तत्रास्ति रागद्वेषादयोऽपि वा।
मनोवृत्तिर्हि सर्वेषां न चोत्पन्नं मनस्तदा॥"

इति। ईश्वरोऽपि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः" इति लक्षणवान्। स्वरूपज्ञानेनैव चेद् गुणवैषम्यादिकारणं[२] न जीवः कस्मात्? विशेषाभावात्। सर्वदा वा कस्मान्न स्यात्? अन्तःकरणाधीनसार्वज्ञ्यञ्चेत्[३]? न सर्गात्प्राक् तत् इति न स्वकार्यकरत्वम्। तस्मात् निरीश्वरवाद एव। सेश्वरवादेऽपि ईक्षणपूर्वक(-सर्गसम्भवात्[४]) गुणवैषम्यानिरूपणाच्च प्रधानस्यो-(द्रक्तेन सत्त्वगुणेन[५]) सार्वज्ञ्यासम्भवाच्च "तत्त्वमसि" इति चेतनस्य कारणैक्योपदेशानुपपत्तेश्च, नैषा प्रक्रिया युक्ता। न च "यस्मिन् पञ्च पञ्चजनाः" इति सांख्यतत्त्वानुवादः; पञ्चजनशब्दस्य मनुष्ये रूढस्य

भावदीपिका

रणता सिद्धा। स चेश्वरो न योगसम्मतः सम्भवति—इत्याह—ईश्वरोऽपीति। क्लेशाः= अविद्यादयः। कर्मविपाकः=सुखादि। तद्वासना=आशयः। उपसंहारव्याजेन हेत्वन्तरं समुच्चिनोति—तस्मादिति। वाक्यान्तरस्य प्रधानवादपरत्वभ्रमं व्युदस्यति—न च यस्मिन् पञ्चेति। उक्तं च "संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च" इति पञ्चज्ञाने-

ज्ञानव्रती

अवस्था को प्राप्त उन दोनों (- धर्म, अधर्म) के एक दूसरे के उत्सारक होने की अनुपपत्ति है। अन्यथा मोक्ष में भी सृष्टि होने लगेगी। मन के उत्पन्न न होने पर मिथ्याज्ञान राग आदि एवं उसकी वृत्तियाँ सम्भव नहीं है जो कि उन गुणों का साम्यभंग करेंगी या कर्म का उद्बोध करेंगी। भट्टपाद ने भी कहा है—

"जिनके यहाँ पुरुष कर्त्ता नहीं है उनके यहाँ भी प्रथम वार गुण में क्रिया कैसे होगी। क्योंकि उस समय कर्म नहीं रहता।"

"उस समय मिथ्या ज्ञान अथवा राग द्वेष आदि नहीं रहते। सबकी मनोवृत्ति नहीं रहती और उस समय मन भी उत्पन्न नहीं रहता है।"

ईश्वर भी "क्लेश, कर्म विपाक एवं वासना से अपरामृष्ट पुरुष ईश्वर है" इस लक्षण-वाला है। (वह) स्वरूप ज्ञान के द्वारा ही यदि गुणवैषम्य का कारण है तो जीव किस विशेष के अभाव के कारण (गुणवैषम्य का कारण) नहीं है। अथवा उसका सर्वदा अन्तःकरणाधीन कार्यक्रम क्यों न हो यदि (ऐसा कहें) तो सृष्टि के पहले वह नहीं है। इस प्रकार स्वकार्यकरत्व नहीं है। इस कारण निरीश्वरवाद ही है।

---

[१] वा गुणानाम्। [२] (ग) वैषम्यं। [३] (क) सार्वज्ञश्चेत्, (ख) सर्वज्ञश्चेत्।
[४] (क) सर्गा, (ख) सर्ग। [५] (क) सर्व, (ख) सत्त्व। (ग) द्रेजतेन सत्त्व।

"प्राणस्य प्राणम्" इत्यादिवाक्यशेषोक्तमनुष्यसम्बन्धि पञ्चप्राणादिपरत्वात्; 'प्राणादयो वाक्यशेषात्" (इति सूत्रात्[१])। ततो न श्रौतत्वेन युक्तत्वं तत्प्रक्रियायाः। न च "ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति = प्रपूरयति; जायमानञ्च[२] पश्येत् स ईश्वर सर्वात्मा" इति श्रुत्युक्तसर्ववित्कपिलप्रोक्तत्वात् एषा साध्वी; स्वस्य ज्ञानामृतैः पोषकमीश्वरमपलपतः कपिलस्य श्रुत्या प्रतिपादनविरोधात् कपिलनाममात्रवतस्तु प्रक्रिया न श्रौत(-समकक्षा[३])।

[बौद्धमतोपपादनम्–]

"सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे

भावदीपिका

न्द्रियाणि इत्येकार्थक्रियायोगो यथा पञ्चकसंग्राहकस्तथा प्रधानादिष्वभावेन नानाभूतानां "पञ्च पञ्चजनाः" इतिपञ्चपञ्चकालाभः; लाभेऽपि दोष एव। "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इत्याधारभूतात्मसहितानां सप्तविंशतित्वेन संख्यातिरेकप्रसङ्गात् न संख्योपसंग्रहवाक्यादपि अयं वादः। यथा 'सप्त सप्तर्षयः' इत्युक्ते संख्याविशेषो द्वितीयसप्तशब्दान्न लभ्यते तथेहाऽपीत्यर्थः; न कर्तृगौरवादप्येतदग्राह्यम्—इत्याह—न चेति।

[बौद्धमतोपपादनम्—]

मतान्तरेणाप्यर्थान्तरत्वं निराचष्टे--सेयमिति। बालव्युत्पादनाय तत्प्रक्रियां निरा-

ज्ञानवती

सेश्वरवाद में भी ईक्षणपूर्वक सृष्टि के असंभव होने से और गुणवैषम्य का निरूपण न होने से, प्रधान के उद्रिक्त सत्त्वगुण के द्वारा सार्वज्ञ के असम्भव होने से, "वह तुम हो" इस प्रकार चेतन के, कारण के साथ, ऐक्य के उपदेश की अनुपपत्ति होने से यह प्रक्रिया ठीक नहीं है। (पू) "जिसमें पाँच पञ्चजन" यह सांख्यतत्त्व का अनुवाद हैं? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि मनुष्य अर्थ में रूढ़ पञ्चजन शब्द "प्राण का प्राण" इस वाक्यशेष से उक्त मनुष्य सम्बन्धी पञ्चप्राण आदि को बतलाने वाला है। क्योंकि "वाक्यशेष से प्राण आदि है" यह सूत्र है। इसलिये वह प्रक्रिया श्रौत के रूप में युक्त नहीं हैं। (पू) "जिसने कपिल ऋषि को पहले पैदा किया और उनको ज्ञान से पूरित किया और उत्पन्न होते हुए देखा वह ईश्वर सर्वात्मा" इस श्रुति में कथित सर्ववित् कपिल के द्वारा उक्त होने से यह (प्रक्रिया) ठीक है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि ज्ञानामृत के द्वारा अपने पोषक ईश्वर का अपलाप करने वाले कपिल का श्रुति के द्वारा प्रतिपादनविरोध होने से कपिल नाममात्र वाले की प्रक्रिया श्रौत के समकक्ष नहीं है।

[बौद्धमत का उपपादन—]

"उस इस देवता ने ईक्षण किया कि मैं इस जीवात्मा के द्वारा इन तीनो देवताओं में प्रवेश करके नामरूप का व्याकरण करूँ। इस प्रकार उनमें से एक एक को त्रिवृत्-त्रिवृत्

---

१ (क) शेषात् ततो। (ग) शेषादिति सूत्रात्ततो। २ (ग) जायमानं जगत्।
३ (क) समक्षा, (ग) समकक्षा।

व्याकरवाणि इति तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्" इति च (ईक्षणपूर्वकं कर्तृत्व[१]-) श्रवणात् सङ्घातात्मकं (चेतन[२]-)व्यापारजन्यमेव विश्वमिति न बौद्धमतावकाशः।

तथा हि बुद्धाचार्याणां छात्राश्चत्वारः—सौत्रान्तिको वैभाषिको योगाचारो माध्यमिकश्च। तत्र आद्यौ ज्ञानार्थास्तित्ववादिनौ। तृतीयो ज्ञानैकस्कन्धवादी। तुरीयो न किञ्चिद्वादी। तत्रापि वैभाषिको बाह्यार्थप्रत्यक्षतां भाषते। सौत्रान्तिकस्तु ज्ञानदर्पणे प्रतिरूपदर्शनात् नीलादीनां बिम्बानामनुमेयत्वमेव मनुते। तयोश्च समुदायद्वयी चेतनव्यापारनिरपेक्षा बाह्याध्यात्मभेदेन। बाह्यं भूतं भौतिकञ्च। पृथिव्यादीनि चत्वारि भूतानि नभश्चावरणाभावमात्रं निरुपाख्यम्। भौतिकानि=रूपादयश्चक्षुरादयश्च। आध्यात्मिकम्[३]=चित्तं चैत्तञ्च। तयो रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्काराख्याः पञ्च स्कन्धाः। यथा "पञ्च पञ्चजनाः" इत्यत्र काण्वानां प्राणश्रोत्रचक्षुर्मनोज्योतिःसंज्ञकाः, माध्यन्दिनानां अन्नपञ्चमाः ज्योतिर्वर्जिता पञ्च, न तथा ईश्वरव्यवस्थिता इति। तत्र सविषयाणि इन्द्रियाणि रूपस्कन्धः=रूप्यन्ते विषया एभिरिति रूपशब्देन इन्द्रियाण्युच्यन्ते। रूप्यन्त इति रूपाणि=विषयाः। यद्यपि

भावदीपिका

कर्त्तुं च संक्षेपेण दर्शयति—तथा हीत्यादिना। अनेकान्तवादनिरासार्थं स्कन्धानां व्यवस्थितत्वमाह—यथेति। बाह्यानामधिभूतत्वात् पृथिव्यादिविषयाणां कथमध्यात्मता? तत्राह—यद्यपीति। किमियं लोकबलात् कल्पना? युक्तिबलाद्वा? नाद्यः—इत्याह—

ज्ञानवती

किया" इस प्रकार ईक्षणपूर्वक कर्त्तृत्व का श्रवण होने से सन्धानात्मक विश्व चेतनव्यापार से जन्य ही है; अतः बौद्धमत का अवकाश नहीं है।

वह इस प्रकार—आचार्य बुद्ध के चार छात्र हुए—सौत्रान्तिक, वैभाषिक, योगाचार एवं माध्यमिक। उनमें प्रथम दो, ज्ञान एवं अर्थ की सत्ता को मानते हैं। तीसरा ज्ञानरूप एक स्कन्ध को मानता है। चौथा कुछ नहीं मानता। उनमें भी वैभाषिक बाह्य अर्थ की प्रत्यक्षता को कहता है। और सौत्रान्तिक ज्ञानदर्पण में प्रतिरुप का दर्शन होने से नील आदि विम्बों को अनुमेय ही मानता है। उन दोनों की समुदायद्वयी बाह्य एवं अध्यात्मभेद से चेतनव्यापारनिरपेक्ष है। बाह्य भूत एवं भौतिक है। पृथिवी आदि चार भूत हैं। और आकाश आवरणाभावमात्र निरुपाख्य हैं। रुप आदि एवं चक्षु आदि भौतिक है। चित्त एवं चैत्त आध्यात्मिक है। उन दोनों के रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा एवं संस्कार ये पाँच स्कन्ध हैं। जैसे "पाँच पञ्चजन" यहाँ पर काण्व शाखा वालों की प्राण, श्रोत्र, चक्षु, मन, एवं ज्योति संज्ञा वाली और माध्यन्दिनों की ज्योति के स्थान पर अन्न वाली पाँचवीं संज्ञा है। उस प्रकार ईश्वर व्यवस्थित नहीं है। उनमें से विषय के सहित इन्द्रियाँ, रूप स्कन्ध हैं 'रूप्यन्ते विषया एभिः' (इस विग्रह के द्वारा) रूप शब्द से इन्द्रियाँ कही जाती हैं। 'रूप्यन्ते' (इस विग्रह से) रूप का मतलव है विषय। यद्यपि रूप्यमाण पृथिवी आदि

१ (क) पूर्वकं कर्त्तृ, (ख) पूर्वक कर्त्तृत्व, (ग) पूर्वकं कर्त्तृत्व।
२ (क) पञ्चस्कन्ध, (ग) चेतन।
३ अध्यात्म।

रूप्यमाणाः पृथिव्यादयो बाह्याः तथाऽपि कायस्थत्वात्, कायाकारेण संहतत्वात्, इन्द्रियसम्बन्धत्वाद् वा अध्यात्मम्। अहमाकारं रूपादिगोचरं चेन्द्रियादिजन्यं दण्डायमानं निर्विकल्पकं संवेदनं विज्ञानस्कन्धः। चित्तस्य प्रियाप्रियोदासीनविषय-स्पर्शसुखाद्यवस्था वेदनास्कन्धः। संज्ञास्कन्धो नाम विकल्पप्रत्ययः। यथा 'गौरः कुण्डली ब्राह्मणो गच्छति' इति। रागद्वेषमोहाः क्लेशाः[1]; उपक्लेशाश्च मदमानादयः; धर्माधर्मौ च संस्कारस्कन्धः। तत्र 'अहम्' इत्यालयविज्ञानमात्रं चित्तम्। इतरे स्कन्धाश्चैत्तम्। क्षणभङ्गुरचतुर्विधाणुहेतुको भूतभौतिकसमुदाय एकः; अपरो रूपादि-पञ्चस्कन्धहेतुकश्च इति समुदायद्वयीति। सेयं लोके मृदादिसमुदायस्य चेतनव्यापार-पूर्वकत्वान्न तन्निरपेक्षा भवितुमर्हति। ततो लोकानुसारि श्रुतिपक्ष एव रमणीयः।

अथ भोक्तुराश्रयः[2] क्रियावासनामयो भोगार्थं समुदायमाक्षिपति क्षणिकस्य[3] भोक्तुराश्रयाश्रयत्वाभावात्। तस्य स्वातन्त्र्यासम्भवे तदपि कुतस्त्यम्? चित्ताभि-ज्वलनाधारः[4] समुदायः; इत्यप्यशोभनम्; समुदायसिद्धौ[5] हि विषयेन्द्रियसंयोगः

भावदीपिका

सेयमिति। गृहप्रासादादिन्यायेन विशेषाः प्रयत्नाधीना दृष्टा। न चाऽसंहतानां वायव्यपर-माणूनां अन्यमेलकत्वं युक्तम्, तत्संघातश्च न प्रयत्नमन्तरेण संभाव्यते। युक्त्यभावोऽप्यत एव। "समुदाये उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः"—इति सूत्राच्च भूतभौतिकचित्तचैत्तसमुदाय-द्वयस्याऽपि चेतनव्यापारमन्तरेणाऽप्राप्तिरसम्भव इत्यर्थः।

अथाऽस्ति युक्त्यन्तरम्? तदपि न सम्यक्—इत्याह—अथेति। क्षणभङ्गवादे मिलि-

ज्ञानवती

बाह्य हैं फिर भी शरीर में रहने के कारण शरीर के आकार से संहत होने से अथवा इन्द्रिय-सम्बद्ध होने से वे अध्यात्म हैं। अहमाकारक रूप आदिविषय वाला, इन्द्रिय आदि से अन्य दण्डायमान निर्विकल्पक संवेदन विज्ञानस्कन्ध है। चित्त के प्रिय एवं अप्रिय तथा उदासीन विषय के स्पर्श सुख आदि की अवस्था वेदनास्कन्ध है। संज्ञास्कन्ध का मतलब है विकल्प-प्रत्यय। जैसे गोरा एवं कुण्डलवाला ब्राह्मण आता है। राग, द्वेष, मोह, क्लेश और उपक्लेश मद मान आदि और धर्म, अधर्म संस्कारस्कन्ध है। 'अहम्' ऐसा आलयविज्ञान-मात्र चित्त है। अन्य स्कन्ध चैत्त हैं। क्षणभङ्गुर चार प्रकार के अणु हेतुओं वाला भूतभौतिकसमुदाय एक, और रूप आदि पाँच स्कन्धहेतु वाला दूसरा, यह दो समुदाय है। वह यह लोक में मृदादि समुदाय के चेतनव्यापारपूर्वक होने से उससे निरपेक्ष नहीं हो सकती। इसलिये लोकानुसारी श्रुतिपक्ष ही रमणीय है।

(पू) क्रिया एवं वासना से युक्त भोक्ता का आश्रय भोग के लिये समुदाय का आक्षेप करता है पर क्षणिक भोक्ता के आश्रयाश्रयत्व न होने से उसकी स्वतन्त्रता असंभव होने से वह भी कहाँ होगा? चित्त के अभिज्वलन के आधार वाला समुदाय है?

---

[1] (ग) वेशाः। [2] (ग) राशयः। [3] (ग) क्षणिकं।
[4] (ग) नाधीनः। [5] (ग) समुदायद्वयासिद्धौ।

ततश्चित्ताभिज्वलनादितरेतराश्रयात्। न च सर्वभावानां क्षणिकत्वे प्रमाणमस्ति। न तावत् प्रत्यक्षम्, येन हि घटादिना यदिन्द्रियं संयुक्तम्, तस्यानन्तरक्षणे सत्त्वाभावादुत्पन्नमपि विज्ञानं कुत्र प्रमाणीभवेत्। सम्प्रयोगस्य कारणत्वेन ज्ञानकार्येण नियतपूर्वक्षणवर्त्तिना[१] नियतोत्तर(-क्षण[२]-)भाविना सहभावासम्भवाच्च[३]व्यापारवत्तया न कारणत्वं वक्तव्यम्। तथा च पूर्वक्षणवर्त्तिन उत्तरक्षणे जायमानव्यापारकार्याश्रयत्वेऽनेकक्षणावस्थानादपसिद्धान्तः।

नीलाभासस्य चित्तस्य नीलाद्यालम्बनाख्यप्रत्ययान्नीलाकारता; समनन्तरप्रत्ययात् पूर्वज्ञानाद्बोधरूपता; चक्षुषोऽधिपतिप्रत्ययात् रूपग्रहणं प्रतिनियमः; आलोकात् (हेतोः[४]) स्पष्टता। एवं सुखादीनामपि चैत्तानाम् (=चित्ताद्भिन्नहेतुजानाम्[५]); चत्वार्येतान्येव कारणानि इति कार्यकारणभावाश्रयणाच्च। न च[६] क्षणिकानामनुपकृतत्वे सति (उपकृतत्वम्[७]); क्षणद्वयावस्थानप्रसङ्गात्। न च

भावदीपिका

तानां सतां मेलनमनुपपन्नं मिलितानामेवोत्पत्तौ न मेघतमःपटलाद्युदाहरणम्; क्षणिकत्वे चलनकर्तृत्वस्याऽनिरूपणात्। न च क्षणभङ्गोऽपि प्रामाणिकः—इत्याह—न च सर्वभावानामिति। न चैकस्मिन्नेव क्षणे संप्रयोगो ज्ञानं च तज्जन्यमिति युक्तम्; तदा कार्यकारणभावभङ्गात्—इत्याह—सम्प्रयोगस्येति। नयनादेः ज्ञानकारणत्वमपि क्षणभङ्गेऽनुपपन्नम्—इत्याह—व्यापारेति। न च माऽस्तु कारणत्वम्—इत्याह—नीलाभासस्येऽति। अर्थानामपि कार्यकारणभावोऽनुपपन्नः—इत्याह—न च क्षणिकानामिति। प्रत्यक्षस्य स्थायि-

ज्ञानवती

(उ) यह भी सुन्दर नहीं है। क्योंकि समुदाय की सिद्धि होने पर विषयइन्द्रियसंयोग उसके वाद चित्त का अभिज्वलन इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जाता है। समस्त भावों के क्षणिकत्व में प्रमाण नहीं हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है, जिस घट आदि से जो इन्द्रिय संयुक्त होता है उसकी वाद वाले क्षण में सत्ता न होने से उत्पन्न भी विज्ञान कहाँ प्रमाण होगा। सम्प्रयोग के नियतपूर्वक्षणवर्त्ती कारण होने से नियतउत्तरक्षणभावीकार्य के साथ सहभाव असम्भव होने से व्यापार के रूप में कारणत्व कहना पड़ेगा। और इस प्रकार पूर्वक्षणवर्त्ती के उत्तरक्षण में जायमानव्यापार कार्य का आश्रय होने पर अनेक क्षण के होने से अपसिद्धान्त हो जायगा।

नीलाभास चित्त की नील आदि आलम्बन नामक प्रत्यय से नीलाकारता होती है, समनन्तरप्रत्यय से पूर्वज्ञान बोधरूपता होती है, चक्षु के अधिपतिप्रत्यय से रूपग्रहण का प्रतिनियम होता है, आलोक हेतु से स्पष्टता होती है। इस प्रकार चित्त से भिन्न कारणों से जायमान

---

[१] (ग) भाविना। [२] (क) उत्तरभाविना। (ग) उत्तरक्षणभाविना।
[३] (ग) भाव। [४] (क) आलोकात्, (ग) आलोकात् हेतो।
[५] (क) चत्वारि, (ख) चित्ताद् भिन्नहेतुजानां चत्वारि।
[६] (ग) लाक्षणिकानां। [७] (क) अकृतत्वम्, (ख) उपकृतत्वम्।

जलाद्यनुपकृतानां[१] बीजानां अङ्कुरादिजनकत्वं दृष्टम्। ततो न क्षणिकत्वम्; केवलाद्धेतोर्हेतूप(-निबन्धसंज्ञानात्[२])! नापि सहकारिसमवधानात्[३] प्रत्ययोपनिबन्ध(-संज्ञानात्[४]) कार्योत्पादः। प्रत्यक्षञ्च प्रत्युत 'स एवायं स्फटिकः' ('स एवाहम्'[५]) इति विषयात्मनो[६](-रस्थायित्व-)मेव स्थापयति। क्षणभङ्गवादे (पुरुषभेदवादे[७]) च 'मयेदमनेनाभिप्रायेणोक्तम्' इति ग्रन्थगमनिकाऽतिदुर्लभा[८] स्यात्। न च "यत्सत् तत्क्षणिकम्" इत्यादिलिङ्गं प्रमाणम्; तस्य स्थायिव्याप्तिसंस्कारापेक्षत्वेन क्षणिकत्वेनानुत्थानात्।

भावदीपिका

-पक्षपातो यथा न तथा क्षक्षिकपक्षपात इति न तद्बलात् क्षणिकत्वमाशङ्कनीयम्—प्रत्यक्षं चेति। "अनुस्मृतेश्च" इति सूत्राच्च अनुस्मृतक्षणिकत्वमनुपपन्नम्। इतश्चानुपपन्नम्—इत्याह—क्षणभङ्गवादे चेति। अस्तु तर्हि अनुमानमत्र मानम्? तत्राऽऽह—न च यदिति। एवं चेतनाऽपेक्षसंघातनिरासेन—'अस्ति'—इति सत्प्रत्ययाऽऽलम्बनस्योपादानत्वं ब्रह्मणो निरूपयति "अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ?"—इत्यसद्वादिन्यनुपलभ्यत्वेन श्रुतस्य।

ज्ञानवती

चैत्त सुख आदि के भी ये ही चार कारण हैं इस प्रकार कार्यकारणभाव का आश्रयण होता है।

(पू) क्षणिकों के अनुपकृत होने पर उपकृतत्व हो जायगा। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि तब दो क्षण तक की स्थिति का प्रसङ्ग हो जायगा। जल आदि से अनुपकृत बीजों का अङ्कुरादिजनकत्व नहीं देखा गया है। इसलिये हेतूपनिबन्धनसंज्ञक केवलहेतु के कारण क्षणिकत्व नहीं है। और न तो प्रत्ययोपनिबन्ध का ज्ञान होने से सहकारी के समवधान से कार्य की उत्पत्ति होती है। बल्कि प्रत्यक्ष ही 'यह वही स्फटिक है' 'मैं वही हूँ' यह अनुभव विषय एवं आत्मा का अस्थायित्व ही स्थापित करता है और क्षणभङ्गवाद और पुरुषभेदवाद में 'मैंने इस अभिप्राय से इसे कहा' यह ग्रन्थगमनिका अत्यन्त दुर्लभ हो जायगी।

(पू) "जो सत् है वह क्षणिक है" इत्यादि अनुमान प्रमाण है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि स्थायी व्याप्तिसंस्कार की अपेक्षा रखने से क्षणिक के रूप में उसका उत्थान नहीं होता है।

(पू) विना उपमर्दन के प्रादुर्भाव नहीं होता, (अर्थात्) बीज, मृत्पिण्ड, क्षीर के उपमर्दन के विना अंकुर, कुम्भ, दधि आदि कार्य की उत्पत्ति नहीं देखी जाती। (उ) यह भी सुन्दर नहीं है। उपमर्द (का अर्थ है) प्रध्वंस, क्या वह स्वभावतः होता है या

---

१ (ग) उपकृतानां। २ (क) निबन्धनसंज्ञानात्।
३ (ख) समवधानप्रत्ययो। ४ (क) संज्ञात्।
५ (क) स एवायं-स्थायित्व। ६ (ग) स एवाह-अस्थायित्व।
७ (क) भङ्गवादे च मया। (ग) भङ्गवादे पुरुष भेदादे च मया।
८ (ग) गमनिकाऽपि।

नानुपमृद्य प्रादुर्भावः, बीजमृत्पिण्डक्षीराद्यनुपमर्देन अङ्कुरकुम्भदध्यादिकार्य-(प्रादुर्भावात्[1]) इत्यप्यसुन्दरम्; उपमर्दः=प्रध्वंसः; स किं स्वरसतः, कार्यप्रयुक्तो वा? आद्ये क्त्वाप्रत्ययानुपपत्तिः; कार्यं हि कारणमुपमृद्य प्रादुर्भवति, इति मानात्। अन्त्ये कार्यस्य पूर्वमपि सत्त्वं स्यात्। कारणस्य चासतोऽपि[2] नाश्यत्वायोगात् स्वहेतूच्छित्तयेऽलं चेत्? अजातमपि सत्, यदि द्वयमप्यभ्युपेतं स्यात्। "न ह्यसद्धन्यते सता" इति सुरेश्वराचार्यवचनाच्च। न च स्वयं पिण्डादिकारणम्, किन्तु तदनुगता मृदेव। पिण्डाभावेऽपि कपालावस्था वा मृद एव कुम्भकारणत्वम्, इति नैषा प्रक्रिया।

योगाचारस्तु—युक्तितो भवदभिमतप्रामाण्यायाश्च "कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतरः सः आत्मा येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति?" इत्याद्युक्त्वा "सर्वाण्येतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति एष ब्रह्मा, एष इन्द्रः, एष प्रजापतिः, एते सर्वे देवाः, इमानि च पञ्च महाभूतानि" इत्यादिना प्रज्ञानगतमेव विश्वप्रपञ्चं स्फुरति न बाह्यम् किञ्चन इत्युदीर्य "सर्वं तत् प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म" इत्यैतरेयकश्रुतेः प्रमाणादिविभागोऽपि

भावदीपिका

नाऽनुपमृद्येत्यादिना कार्यकाले कारणसत्त्वाभावाच्च न कार्येण विनाश्यत्वम्—इत्याह—कारणस्य चेति। अजातस्योच्छेदकत्वाऽयोगात् कार्यकारणद्वयमपि युगपद्वक्तव्यम्। बीजादेरकारणत्वाच्च न कारणोपमर्द्दोऽपि युक्तः—इत्याह—न च स्वयमिति।

मतान्तरेण सम्भवनिरासाय तदुत्थापयति—योगाचारास्त्विति। विज्ञानैक[-पदार्थ-]वादे कथं प्रमाणप्रमेयप्रमातृविभागः? तत्राऽऽह—प्रमाणादीति। प्रमेयम्=उल्काऽऽकार-

ज्ञानवती

कार्यप्रयुक्त? प्रथम पक्ष में क्त्वा प्रत्यय की उपपत्ति नहीं होती। क्योंकि कारण का उपमर्दन करके कार्य उत्पन्न होता है यह प्रमाण सिद्ध है। अन्त्य (पक्ष में) कार्य की पहले भी सत्ता होने लगेगी। असत् भी कारण के नाश्यत्व का योग न होने से अपने हेतु के उच्छेद के लिये वह (अर्थात् कार्य) पर्याप्त है यदि ऐसा कहें? तो अनुत्पन्न भी सत् हो जायगा यदि दोनो ही मान लिया जाता है। क्योंकि सुरेश्वराचार्य का वचन है कि "असत् सत् के द्वारा कभी नहीं मारा जाता"। पिण्ड आदि स्वतः कारण नहीं है किन्तु तदनुगत मृद् ही कारण है। पिण्ड के अभाव में भी कपाल-अवस्था वाली मिट्टी ही कुम्भ का कारण है इसलिये यह प्रक्रिया (युक्त) नहीं है।

योगाचार तो—युक्तिपूर्वक एवं आपके मतानुसारी प्रामाण्य से "आत्मा कौन है (जिसकी) हम लोग उपासना करते हैं वह कौन आत्मा है जिससे देखता है, जिससे सुनता है अथवा जिससे गन्धों को सूंघता है" इत्यादि कह कर "ये सब प्रज्ञान के नाम हैं यह ब्रह्मा, यह इन्द्र, यह प्रजापति, ये सब देवता और ये पञ्चमहाभूत" इत्यादि के द्वारा प्रज्ञानगत ही

१ (क) प्रादुर्भावेन, (ग) प्रादुर्भावात्।

२ (ग) असतो विनाश्य-स्वयं नष्टं कारणं पिण्डादि।

विज्ञानमात्रावलम्बी इति विज्ञानैकस्कन्धवादिनः। तथा हि—प्रमाता, प्रमाणम्, प्रमेयम्, प्रमितिः इति हि चतसृषु विधासु तत्त्वपरिसमाप्तिः। असामान्यतमाभावेऽपि (तत्त्वस्या[1]-) व्यवस्थापनात् तत्र स्वरूपविज्ञानस्या (-सत्त्वाकार[2]-) प्रयुक्तम् प्रमेयं, प्रमेयप्रकाशनम् प्रमाणफलम्, तत्प्रकाशनशक्तिः प्रमाणम्, तद्वत्तया प्रमाता। तथा च विज्ञानस्कन्धमात्रं तत्त्वम्।

[बाह्यार्थवादी बौद्धपक्षः—]

वैभाषिकसौत्रान्तिकयोः प्रमाणादिविभागो यद्यपि विज्ञाने कल्पितः, तथाऽपि

भावदीपिका

रूपम्; तत्प्रकाशो ज्ञानमेव। प्रमा=अप्रकाशनशक्तिव्यावृत्तिकल्पिता शक्तिः। किं बहुना विज्ञानस्यैव कल्पितरूपभेदेन प्रमेयाऽऽदिचतुष्टयम्। ननु वेदान्तिनोऽपि 'घटः प्रकाशते', 'पटः काशते' इति सामानाधिकरण्याऽवभासात् ज्ञानप्रकाश एव घटाऽऽदिकम्? घटाऽऽद्याकारप्रकाशविस्तरे च तदभावः सुषुप्तौ "पृथिवी च तन्मात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च"—इत्यादावात्मनि लयप्रतिपादनात्। अतः को विशेषो योगाचारस्य येनैतत् पूर्वपक्षीक्रियते? निर्विकल्पं च विज्ञानं 'सुप्तोत्थितस्य सविकल्पविज्ञानं निर्विकल्पकपूर्वं तत्त्वात् सम्मतवत्'—इत्यङ्गीक्रियते योगाचारेणाऽपि? सत्यम्; तथाऽपि नित्यकूटस्थमद्वैतज्ञानं वेदान्तिनो मतम्, प्रत्यक्षाऽऽदिप्रसिद्धश्च प्रपञ्चः; न तस्य तु। परमार्थतस्तु न प्रपञ्चगन्धोऽपिः—तदुक्तम्—"ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थसत्। तदेवाऽर्थस्वरूपेण भ्रांतिदर्शं ततः स्थितम्॥"—इति भगवता पराशरेण। अतो युक्तोऽयं पूर्वपक्षः।

[बाह्यार्थवादी बौद्धपक्षः—]

प्रत्यक्षादिसिद्धप्रपञ्चानङ्गीकारं मतभेदप्रदर्शनेन योगाचारस्याऽऽह—वैभाषिकेति। तद्भावः=करणफलभावः। कुठारस्य छेत्तृहस्तगतस्य कथं खदिरे वृत्तिः? तत्राऽऽह—

ज्ञानवती

विश्वप्रपञ्च का स्फुरण होता है किसी बाह्य का नहीं ऐसा कहकर "सब उस प्रज्ञा स्वरूप नेत्र वाला है, प्रज्ञान में प्रतिष्ठित है, लोक प्रज्ञानेत्र वाला है, प्रज्ञा प्रतिष्ठा है, प्रज्ञान ब्रह्म है" ऐसी ऐतरेय श्रुति से प्रमाण आदि का विभाग भी विज्ञानमात्रावलम्वी है ऐसा विज्ञानैकस्कन्धवादी कहते है। वह इस प्रकार—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एवं प्रमिति इन चार विधाओं में तत्त्व की परिसमाप्ति होती है। असामान्यतम के अभाव में भी तत्त्व की व्यवस्था न होने से वहाँ प्रमेय स्वरूपविज्ञान ही आकार से युक्त होता है। प्रमाण का फल प्रमेय का प्रकाशन है, उसके प्रकाशन की शक्ति प्रमाण है और तद्वान् होने के नाते प्रमाता होता है। इस प्रकार विज्ञानस्कन्धमात्र ही तत्त्व है।

[बाह्यअर्थवादी बौद्धपक्ष—]

वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक के मत में यद्यपि विज्ञान में प्रमाण आदि का विभाग

---

१ (क) भावेऽपि तत्र। (ग) तत्त्वस्य व्यवस्थापनात्।

२ (क) स्याकारयुक्तं (ख) स्यासत्याकारयुक्तं, (ग) स्यासत्त्वाकारप्रयुक्तम्।

प्रमेयं बाह्यमेव। तथा हि—भिन्नाधिकरणत्वे हि प्रमाणफलयोस्तद्भावो न स्यात्। न हि खदिरगोचरे संयोगाविष्टरूपेण परशौ पलाशद्वैधीभावो भवति। तस्मादनयो-रैकाधिकरण्यं वक्तव्यम्। कथञ्च तद्भवति, यदि ज्ञानस्थ एव प्रमाणफले भवतः? ज्ञानप्रकाशो हि फलम्; तज्जननशक्तिश्च प्रमाणम्; तयोश्च ज्ञाननिष्ठत्वेन जन्यजनक-भावः। न च ज्ञानं (स्वलक्षण[१]-)मनंशमंशाभ्यां वस्तुसद्भ्यां युज्यते। तदेवं ज्ञानमज्ञान(-व्यावृत्ति[२]-)कल्पितज्ञानत्वाङ्गं फलम्। अशक्तिव्यावृत्तिपरिकल्पितात्मा-ऽनात्मप्रकाशनशक्तयंशं प्रमाणम् प्रमेयं त्वस्य बाह्यमेवेति वैभाषिकाः। सौत्रान्तिकनये[३] अर्थज्ञानस्यार्थसारूप्यमनोलाकारव्यावृत्त्या कल्पितं नीलाकारत्वं प्रमाणं प्रतिबिम्बस्येव बिम्बम्; बाह्यं प्रति तस्य व्यवस्थापनहेतुत्वात्; अज्ञानव्यावृत्तिकल्पितं च ज्ञानत्वं फलम्; व्यवस्थाप्यत्वात्। तथा ह्याहुः—"न हि वित्ति(-सत्तैव[४]) तद्वेदना युक्ता, तस्याः सर्वत्राविशेषात्, तां तु सारूप्यमाविशत्, सरूपत्वं घटयेत्।" तां वित्तिं

भावदीपिका

संयोगाविष्टेति। संयोगव्यापारवतो हि तस्य कारणत्वम्; तदाविष्टस्य च कुठारस्य खदिरे वृत्तिरस्तीत्यर्थः। तथाऽपि कथं प्रमाणादिविभागो ज्ञानगतः? तत्राऽऽह—कथञ्चेति। तथाऽपि कथं कल्पितत्वं प्रमाणाऽऽदेः? तत्राऽऽह—न चेति। कथं तर्हि सौत्रान्तिकमते प्रमाणादेः कल्पितत्वम्?—तदाह—सौत्रान्तिकेति। योगाचारकृतखण्डनादपि तस्य बाह्याऽर्थप्रत्यक्षाऽऽद्य-प्रामाण्यसम्मतिमाह—बाह्यार्थश्चेति। किं परमाणुरूपो बाह्योऽर्थः प्रत्यक्षः? तत्समूहरूपो

ज्ञानवती

कल्पित है तो भी प्रमेय बाह्य ही है। इस प्रकार-भिन्न अधिकरण होने पर प्रमाण एवं फल कल्पित नहीं होंगे। संयुक्त रूप से खदिर विषय वाले परशु में पलाश का द्वैधीभाव नहीं होता। इसलिये इन दोनों का ऐकाधिकरण्य कहना पड़ेगा, और यदि प्रमाण एवं फल, ज्ञान में ही हो तो वह कैसे होगा? ज्ञान का प्रकाश फल है, और उसको उत्पन्न करने की शक्ति प्रमाण है, तथा उन दोनों का ज्ञान में रहने के कारण जन्यजनक सम्बन्ध है। अंशभूत दो सद्वस्तुओं से स्वलक्षण अनंश ज्ञान युक्त नहीं होता। तो इस प्रकार ज्ञान, अज्ञान में रहने वाले कल्पितज्ञानत्व का अंगरूप फल है। अशक्ति, व्यावृत्ति, परिकल्पित, आत्मअनात्म-प्रकाशनशक्ति का अंश प्रमाण है। और इसका प्रमेय बाह्य ही है ऐसा वैभाषिक कहते हैं।

सौत्रान्तिक के सिद्धान्त में जैसे प्रतिबिम्ब का बिम्ब उसी प्रकार-अर्थज्ञान का अर्थ-सारूप्य अनीलाकार की व्यावृत्ति के द्वारा कल्पित नीलाकारत्व प्रमाण है। क्योंकि बाह्य के प्रति वह व्यवस्था का हेतु है। अज्ञान की व्यावृत्ति से कल्पित ज्ञानत्व फल है, क्योंकि वह व्यवस्थाप्य है। वही कहा है—

"ज्ञान की सत्ता के द्वारा ही उसकी वेदना युक्त नहीं है क्योंकि वह (=ज्ञान) सर्वत्र समान है। (ज्ञान) उसमें समान रूप से प्रवेश करता हुआ सरूपत्व को घटित करता है।"

---

१ (क) ज्ञानं, (ख, ग) ज्ञानं स्वलक्षणं।
२ (क) वृत्ति, (ख) व्यावृत्ति, (ग) अज्ञाने व्यावृत्ति।
३ (ग) नयेऽपि ज्ञानस्य। ४ (क) सतैव, (ग) सत्तैव,

स्वप्रतिविम्बेन समानरूपां कुर्वाणं विषयं तद्वित्तिगतं सरूपत्वं[1] तद्विषयभावेन[2] घटयेत् प्रकाशमात्रस्य सर्वत्र साधारण्येन नीलादिविषयविशेषे[3] वेदनत्वायोगात् इत्यर्थः। बाह्यार्थश्च न परमाणुमात्ररूपः; (प्रत्यक्ष[4] एक-)स्थूलनीलावभासस्यानेकपरमसूक्ष्मपरमाणुगोचरत्वायोगात्। न च प्रतिभासधर्मः स्थौल्यमिति युक्तम्; विकल्पासहत्वात्। किमयं प्रतिभासस्य (=अज्ञानस्य[5]) धर्म उत प्रतिभासकालेऽर्थस्य तदुपाधिकस्तत्कृतो धर्मः ? यदि पूर्वः कल्पः; अद्धा; तथा सति हि स्वांशालम्बनमेव विज्ञानमभ्युपेतं स्यात्। द्वितीय इति चेत्? तथा हि रूपपरमाणवः[6] एव निरन्तरमुत्पन्ना एकविज्ञानोपारोहिणः स्थौल्यम्। न च औपाधिकस्थौल्यविषयत्वात् अत्र कस्यचिद् भ्रान्तता। न हि न ते रूपपरमाणवः; न च न निरन्तरमुत्पन्नाः; न चैकविज्ञानानुपारोहिणः। तेन मा भून्नीलत्वादिवत् परमाणुधर्मः, प्रत्येकं परमाणुष्वभावात्; प्रतिभासदशापन्नानां तु तेषां भविष्यति बहुत्वादिवत् सांवृत्तं स्थौल्यम्; विशकलितपरमाणुतत्त्वावरकत्वात्। संवृत्तिः=नानाबुद्धिगृहीतपरमाणूनां निरन्तरदेशावच्छिन्नत्वेन

भावदीपिका

वा ? नाद्यः—इत्याह—एकेति। परमाणूनां सूक्ष्मत्वेऽपि प्रातिभासिकं स्थौल्यमस्तीति चेत्? तत्राऽऽह—न चेति। द्वितीयं विवृणोति—तथा हीति। निरन्तरा मेघपटलवन्नीलपरमाणव उत्पन्नाः यद्यप्यवयवी स्थौल्याधारो नास्ति तथाऽपि त एव एकबुद्ध्यारूढाः स्थौल्यम्। न चैवं भ्रान्तताऽपि येन प्रत्यक्षस्योऽप्रामाण्यमाशङ्क्येत—इत्याह—न चौपाधिकेति।

ज्ञानवती

उस वित्ति को अपने प्रतिविम्ब के द्वारा समान रूप करने वाले विषय को उस वित्ति में वर्त्तमान सरूपत्व को उसके विषय के रूप में घटित कराता है, क्योंकि प्रकाशमात्र के सर्वसाधारण होने से नील आदि विषयविशेष में वेदनता नहीं हो सकती। और वाह्य अर्थ परमाणुमात्ररूप-प्रत्यक्ष एक नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष में स्थूल नीलावभास अनेक परमसूक्ष्मपरमाणु का विषय नहीं होता।

(पू) स्थूलता प्रतिभास का धर्म है।

(उ) ऐसा नहीं है क्योंकि (यह) विकल्पसह नहीं है—क्या यह प्रतिभास (रूप) अज्ञान का धर्म है अथवा प्रतिभास काल में अर्थ का उसकी उपाधिवाला उसके द्वारा किया गय धर्म है ? यदि प्रथम कल्प ठीक है तो वैसा होने पर विज्ञान का स्वांशावलम्बन ही मानना पड़ेगा। यदि दूसरा मानेगें तो निरन्तर उत्पन्न रूपपरमाणु वाले एकविज्ञान के उपारोही की स्थूलता होगी। और औपाधिकस्थौल्य का विषय होने से यहाँ किसी को भ्रान्ति नहीं होती। वे रूपपरमाणु नहीं हैं ऐसा नहीं है। और निरन्तर उत्पन्न न होते हों ऐसा भी नहीं है। एक विज्ञान के अनुपारोही भी नहीं है। इसलिये नीलत्व आदि के समान

---

[1] (ख, ग) सरूपयन्तं। [2] (ग) तं विषय।
[3] (ग) विषयविशेषत्वायोगात्। [4] (क) प्रत्यक्षके, (ग) प्रत्यक्ष एक।
[5] (क) ज्ञानस्य। [6] (ख) स्व। [7] (ग) व्यासीवृतं।

बुद्धिः ; तदुपाधिकं सांवृत्तम्। यथाऽऽहुः—

"ग्रहे नैकस्य चैकेन किञ्चिद्रूपं हि गृह्यते।
सांवृत्तं प्रति(-भासस्थं[1]) तदेकात्मन्यसम्भवात्॥
न च तद्दर्शनं[2] भ्रान्तं नानावस्तुग्रहाद्यतः।
सांवृत्तं ग्रहणं नान्यन्न च वस्तुग्रहो भ्रमः॥"

इति। तन्नैरन्तर्यावभासस्य भ्रान्तत्वात्। गन्धरसस्पर्शपरमाण्वन्तरिता हि नीलपटाद्यर्थे[3] नीलरूपपरमाणवो न[4] निरन्तराकाराः। तस्मात् आरात् सान्तरेषु तरुषु एकघनवन-प्रत्ययवत् एकस्थूलप्रत्ययः सान्तरेषु भ्रान्तः परमाणुषु। भ्रान्तत्वे च न घटादिप्रत्ययस्य व्यक्तेः स्वलक्षणतया[5] न शक्यसङ्केतत्वेन तद्विषयस्य कल्पनाऽपोढत्वेऽपि प्रत्यक्षत्वम्; "कल्पनाऽपोढमभ्रान्तम् प्रत्यक्षम्" इति लक्षणात्। नापि परमाणुसमूहाः स्तम्भा-

भावदीपिका

नैकस्य=अनेकस्य परमाणोरित्यर्थः। नैरन्तर्यम्=भेदराहित्यं तावन्नेष्यते परमाणूनां ग्रहे नैकस्येत्यादिव्याघातात्। न च विजातीयाणुमिश्रणराहित्यम्; अत्यन्तसूक्ष्माणां मिश्रण-स्याऽवर्जनीयत्वात्—इति प्रत्याह—तन्नेति। भ्रान्तत्वेऽपि किम्? तदाह—भ्रान्तत्वे वेति। कल्पना=वाचकशब्दः; तद्रहितत्वेऽपि; कुतः? व्यक्तेः स्वलक्षणतया सर्वतो व्यावृत्ताकार-विशेषात्मनाऽनन्तत्वेन वाचकशब्दसंगत्यभावेन तदुल्लेखराहित्यम्=कल्पनाऽपोढत्वम्। द्वितीयेऽपि स्तम्भादयः परमाणुभ्योऽभिन्नाः भिन्ना वेति विकल्पदोषमाह—नाऽपीति।

ज्ञानवती

(स्थौल्य) परमाणु का धर्म भले न हो क्योंकि प्रत्येक परमाणु में (उस धर्म का) अभाव है किन्तु प्रतिभासदशापन्न उन (अर्थात् परमाणुओं) का तो वहुत्व आदि के समान सांवृत्त स्थौल्य हो ही जायगा। क्योंकि विशकलित परमागु तत्त्व के आवरक हैं। संवृत्ति का अर्थ है नानाबुद्धिगृहीतपरमाणुओं की निरन्तरदेशावच्छिन्न के रूप में बुद्धि। उसकी उपाधिवाला जो होता है वह है सांवृत्त। और जो कहा है—

"एक के द्वारा एक का ग्रहण करने पर किसी रूप का ग्रहण नहीं होता। क्योंकि प्रतिभास में रहने वाला सांवृत्त तदेकात्मा में असंभव है।

चूंकि नाना वस्तु का ग्रहण होने से उसका दर्शक भ्रान्त नहीं है (इसलिये) सांवृत्त-ग्रहण भी अन्य नहीं है और न वस्तुग्रह भ्रम है"।

वह नैरन्तर्यावभास के भ्रान्त होने के कारण (कहा है)। गन्ध, रस, स्पर्श के परमाणुओं से अन्तरित नीलरूप परमाणु नीलपट आदि अर्थ में निरन्तराकार नहीं है। इस कारण दूर के सान्तर वृक्षों के बारे में एक घनवनप्रत्यय के समान सान्तरपरमाणुओं में एक स्थूलप्रत्यय भ्रान्त है। और भ्रान्त होने पर घट आदि प्रत्यय व्यक्ति के स्वलक्षण होने से शक्यसंकेत के कारण उस विषय के कल्पनारहित होने पर भी (उसका) प्रत्यक्षत्व नहीं है, क्योंकि

[1] (क) भादिस्थं, (ग) भासस्थं। [2] (क) दर्शकं (ग) दर्शनं।
[3] (ग) पदार्थ नील। [4] (ग) परमाणवो निरन्त।
[5] (ग) तदानन्तानाशक्यसंकेततया।

दयोऽवयविनः प्रत्यक्षाः ; तेषामभेदे परमाणुभ्यः परमाणुत्वमेव इत्युक्तदोषात्। भेदे तु गवाश्वस्येव नावयवावयविभावः स्यात्, स्वातन्त्र्येणोपलम्भश्च स्यात्। एवं भेदाभेदविकल्पेन जातिगुणकर्मादीनि प्रत्याचक्षीत। ततो न प्रत्यक्षं वाह्ये घटादौ प्रमाणमिति ?

तदेतदयुक्तम्; भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्याभ्युपगमेनैव[1] व्यावहारिकप्रामाण्य[2]-प्रत्यक्षगोचरत्वाभ्युपगमात्। न च घटादीनां ज्ञानविग्रहवत्त्वे सहोपलम्भनियमः प्रमाणम्[3]; द्वयोरेकदेशकालत्वस्य[4] सहशब्दार्थत्वेन[5], प्रत्युत भेदसाधकत्वेन विरुद्धत्वात्। अथ असहानुपलभ्यमानत्वमेव सहशब्दार्थः ? तर्हि रूपप्रकाशयोर्व्यभिचारः ; घटादिरूपस्य[6] सावित्रादिप्रकाशैक्याभावात्। अथ विज्ञानेनासहानुपलभ्यमानतया[7] घटादीनां विज्ञानस्वरूपस्यैव तदभेदसाधनेनानेकान्तः[8] ? तदा हि कल्पितबाह्यत्वादिनाऽनेकान्तः—

भावदीपिका

आह सिद्धान्ती—तदेतदिति। तथाऽप्यनुमानेन घटादीनां ज्ञानैक्ये बाह्यसत्त्वग्राहकप्रत्यक्षं श्रुतिरजतादिप्रत्यक्षवत् भ्रान्तम्? तत्राह—न च घटादीनामिति। ऐक्ये सहशब्दार्थाऽसम्भवादित्यर्थः। विरुद्धत्वाभावाय शङ्कते—अथाऽसहेति। किं ऐक्येनोपलम्भः? गवाश्ववत् पृथगनुपलम्भो वा? एकोपलम्भो वा? आद्ये सिद्धिः; इतरयोस्तु व्यभिचारः—इत्याह —तर्हीति। प्रत्यक्षविरुद्धञ्चानुमानम्। न च प्रत्यक्षमेव भ्रान्तम्? घटादेरर्थक्रियाकारि-

ज्ञानवती

"प्रत्यक्ष कल्पना रहित एवं अभ्रान्त है" ऐसा लक्षण है। न तो परमाणुसमूह स्तम्भ आदि अवयवी ही प्रत्यक्ष हैं क्योंकि उनका अभेद होने पर परमाणुओं से परमाणुत्व ही (उत्पन्न होगा।) इस प्रकार उक्त दोष है। भेद होने पर तो गो और अश्व की तरह अवयवावयवीभाव नहीं होगा और स्वातन्त्र्येण उपलम्भ भी हो जायगा। इस प्रकार भेदाभेदविकल्प से जाति, गुण, कर्म आदि का प्रत्याख्यान हो जायगा। इस लिये प्रत्यक्ष वाह्य घट आदि (की सत्ता) में प्रमाण नहीं है।

तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि भेद एवं अभेद से अनिर्वाच्य के अभ्युपगम के द्वारा ही व्यावहारिकप्रामाण्यप्रत्यक्षविषयत्व का निश्चय होता है। (पू) घट आदि के ज्ञानविग्रहवान् होने पर सहोपलम्भनियम प्रमाण है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि दोनों एकदेशकाल के सह शब्दार्थ होने के कारण, उल्टे भेदसाधक होने से विरुद्ध हैं। (पू) यदि सह शब्द का अर्थ सहोपलभ्यमान के अभाव का अभाव हो? (उ) तब तो रूप एवं प्रकाश में व्यभिचार हो जायगा। क्योंकि घट आदि के रूप एवं सूर्य आदि के प्रकाश में ऐक्य नहीं है। (पू) विज्ञान के साथ अनुपलभ्यमान न होने से घट आदि का उसके साथ अभेद सिद्ध होने से विज्ञानस्वरूप ही अनेकान्त हो जायगा? (उ) तब तो कल्पित बाह्यत्व

---

[1] (ग) उपगमेनेव। [2] (ग) अप्रामाण्य। [3] (ख) प्रमाणम। [4] (ग) कालस्य। [5] शब्दार्थत्वे। [6] (ग) लभ्यतया। [7] (ग) लभ्यतया। [8] (ग) नानैकान्त। [9] (ख) तथा हि।

"यदन्तर्ज्ञेयरूपं तु बहिर्वदवभासितम्[१]"

इति स्वयमेव प्रयुक्तत्वात्; बहिष्ट्वेन प्रतीतस्यान्तरज्ञानाकारत्वसाधनस्य स्वानुभवविरोधश्च। तथा 'अहम्' इत्यालयज्ञानसन्ताने सत्यपि कदाचित् भवन्तो नीलादिप्रत्ययाः तद्व्यतिरिक्तहेतुकाः भवितुमर्हन्ति; ये यस्मिन् सत्यपि कादाचित्कास्ते तदतिरिक्तहेतुसापेक्षाः; यथा एकस्मिन्नकुर्वत्यपि विवक्षां जिगमिषां वा विवक्षाजिगमिषाप्रत्ययौ पुरुषान्तरकर्तृकौ; तेषां यो बाह्योऽर्थः स हेतुः इत्यनुमानविरुद्धत्वञ्च[२]। न च वाच्यम् सन्तानैक्येऽपि सन्तानिनां क्षणानां भेदेन शक्तिभेदात् केषाञ्चिदेव नीलादिज्ञानजनकत्वम् न सर्वेषाम्; तेन कादाचित्कत्वं नीलादिप्रत्ययानाम्, ततः स्वसन्तानविज्ञानजन्यत्वोपपत्तेः, पक्षेऽपि विपक्षत्वसम्भावनया सन्दिग्धानैकान्तिकता इति; क्षणानां भेदस्य शक्तिभेदहेतुत्वे एकस्य शक्तिः, नान्यस्य इत्येकस्यैव नीलज्ञानजनने[३] सामर्थ्यमिति नीलविज्ञानप्रवाहानुदयप्रसङ्गात्। बाह्यार्थवादिनाञ्च नीलादीनां शक्तत्वेऽपि[४] सन्निधानादिसहकारिसमवधानापेक्षत्वात् तत्प्रत्ययानां कादाचित्कत्वोप-

भावदीपिका

त्वग्राहकत्वात्—इत्याह—बहिष्ट्वेनेति। प्रमाणान्तरविरोधमाह—तथाऽहमिति। योगाचारोक्तदोषमुद्धरति—न च वाच्यमिति। वाह्यार्थवादे अर्थानां ज्ञानहेतूनां सद्भावे सदा

ज्ञानवती

आदि के द्वारा अनेकान्त है क्योंकि—

"जो अन्तर्ज्ञेय रूप है वह वाह्य के समान मालूम पड़ता है।"

ऐसा स्वयं कहा है। वाह्यरूप में प्रतीत आन्तरज्ञानाकारत्व के साधन का अपने अनुभव से विरोध है और 'अहम्' इस आलयज्ञानसन्तान के रहने पर भी कभी उत्पन्न होने वाले नील आदि प्रत्यय उससे अतिरिक्त हेतु वाले हो सकते हैं, क्योंकि जो जिसके रहने पर भी कादाचित्क हैं वे उससे अतिरिक्त हेतु की अपेक्षावाले होते हैं, जैसे एक के विवक्षा या जिगमिषा न करने पर भी पुरुषान्तरकर्त्तृक विवक्षा-जिगमिषाप्रत्यय होते हैं, उनका जो वाह्य अर्थ है वह हेतु है यह अनुमानविरुद्ध है।

(पू) सन्तान के एक होने पर भी सन्तानी क्षणों के भेद से शक्ति का भेद होने के कारण कुछ ही नील आदि, ज्ञान के जनक होगे न कि सब; इसलिये नील आदि प्रत्यय कादाचित्क हैं, क्योंकि वहीं से स्वसन्तानविज्ञानजन्यत्व की उपपत्ति हीती है। पक्ष में विपक्ष की संभावना होने से सन्दिग्ध अनैकान्तिकता है? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि क्षणों के भेद के शक्तिभेद के हेतु होने पर एक की शक्ति है अन्य की नहीं इसलिये एक का ही नीलज्ञानजनन में सामर्थ्य होने से नीलविज्ञानप्रवाह के अनुदय का प्रसङ्ग आयगा। और वाह्यार्थवादियों के मत में नील आदि के शक्त होने पर भी सन्निधान आदि सहकारी के समवधान की अपेक्षा होने से उनके प्रत्ययों के कादाचित्कत्व की उपपत्ति हो जाती है।

---

[१] (ग) भासते। [२] (ग) विरुद्धञ्च।
[३] (ग) जनन। [४] (ग) शक्तित्वे।

पत्तेः। न च बाह्यानां यथाऽनेकेषां नीलविज्ञानजनकत्वं कर्मत्वेन, तथा ऽऽलयविज्ञानानां कर्तृत्वेनेति वाच्यम्; भूतभवित्रोर्भेदानङ्गीकारवत्[१] क्रियाकारकयोर्भूतेर्भेदानङ्गीकारात् नीलादिज्ञानस्यालयज्ञानकर्तृकत्वायोगात्[२]।

[विज्ञानवादनिराकरणम्—]

किञ्च यदि विज्ञानमेव ग्राह्यग्राहकरूपम् तदा 'नीलमहं जानामि' इति द्व्याकारं ग्रहणं भवेत्। आकारयोश्च परस्परभेदवद् विज्ञानादपि भेदश्चेत्? स एव तात्त्विको ग्राहकादिविज्ञानाद् भिन्नं वस्तु आक्षिपेत्। एकविज्ञानादनन्यत्वे च ग्राह्यग्राहकयोर्ज्ञानस्यैक्यात् ग्राह्यमेव ग्राहकमेव वा विज्ञानं पर्यवस्येत्। मिथोऽपि तयोरेकत्वात् ग्राह्यग्राहकयोश्च परस्परसापेक्षरूपत्वात् एकतराभावे[३] द्वितीयाभावनियमात्। तथा च (एकतरा-) कारोपरमे[४] द्वितीयोपरमात् ज्ञानस्य (चांशद्वयवैधुर्यात्[५]) निःस्वभावत्वेनाभावपर्यवसानं स्यात्। किञ्च परस्परभिन्नाभ्यामा-

भावदीपिका

ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गात् न तत्सद्भावोऽभ्युपेयः?—इत्याशङ्क्याऽऽह—बाह्यार्थवादिनां चेति। एकस्यैव शक्तिः—इत्यस्य परिहारमाशङ्क्याऽऽह—न च बाह्यानामिति। "भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।"—इति उत्पत्तिकर्तॄणामुत्पत्तेः कर्त्रादिकारकस्य च परस्परैक्याऽङ्गीकारविरुद्धमालयज्ञानस्य नीलादिज्ञानकर्तृत्वमित्यर्थः।

[विज्ञानवादनिराकरणम्—]

अस्तु तर्हि आलयज्ञानमेव नीलादिज्ञानम्? तत्राऽऽह—किञ्चेति। अस्तु, ततः किम्? तत्राऽऽह—आकारयोश्चेति। आकारयोर्विज्ञानाऽभेदे परस्परमपि भेदो न स्यात्—इत्याह—एकविज्ञानादिति। न चैकाकारताऽपि युक्ता—इत्याह—ग्राह्यग्राहकयोश्चेति। एवमाकारस्य ज्ञानाऽभेदे दोषो उक्तः, तस्याऽऽकाराऽभेदे दोषमाह—किञ्चेति। तथाऽपि न बाह्यवस्तु-

ज्ञानवती

(पू) जिस प्रकार बाह्य अनेक (पदार्थ) कर्म होने कारण नीलविज्ञान के जनक हैं उसी प्रकार आलयविज्ञान कर्त्ता के रूप में (अनेक क्यों नहीं होते?) (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। भूत एवं भविष्यद् वृत्ति में भेद स्वीकार न करने के समान क्रिया एवं कारक में भूत में भेद न मानने से आलयज्ञान नीलादिज्ञान का कर्त्ता नहीं होगा।

[विज्ञानवाद का निराकरण—]

और भी यदि विज्ञान ही ग्राह्यग्राहकरूप है तो 'मैं नील घट जानता हूँ' यह ज्ञान दो आकार वाला हो जायगा।

(पू) दो आकारों के परस्पर भेद के समान विज्ञान से भी भेद होगा, यदि ऐसा कहें तो? (उ) वही तात्त्विक होता हुआ ग्राहक आदि विज्ञान से भिन्न वस्तु का आक्षेप करेगा। और एक विज्ञान से अनन्य होने पर ग्राह्य और ग्राहक का ज्ञान से ऐक्य होने से विज्ञान या

१ (ग) भूति। २ (ग) ज्ञानकत्वा। ३ (ग) एकतया,
४ (क) एका' (ग) एकतरा। ५ (ग) चांशवैधु, (ग) चांशद्वयवैधु।

काराभ्यां विज्ञानस्याभेदात् स्वरूपं भिद्येत। भेदे च सिद्धं ग्राह्यग्राहकवस्तुद्वयम्; तयोश्च ज्ञानमिति संज्ञा चेत्? अस्तु नाम सा। अथ भिन्नत्वेऽपि ज्ञानान्तर्भूतमेव ग्राह्यम्? तर्हि, ज्ञानं-ज्ञानं इति द्वयोरनुगतप्रत्ययः स्यात्; न चास्ति; व्यतिरिक्त-सामान्यानङ्गीकाराच्च। अथ अन्यव्यावृत्तिकल्पितांशं ग्राह्यग्राहकाकारं[1] विज्ञानमिति न कश्चिद्दोषः? मैवम्; विज्ञानमात्रवादिनोऽपोह्यवस्त्वन्तराभावात्। अज्ञानमपि[2] नापोह्यम्; तस्याभावपुषो ("भावान्तरमेवा[3]-)भावः" इति वस्त्वन्तरत्वाभ्यु-पगमात्[4]। अपोह्यत्वादपि तस्य वस्तुत्वमवश्यंभावि नीलज्ञानापोह्यपीतादिज्ञानवत्। तथा च ज्ञानापोहस्याज्ञानत्वे (ज्ञानव्यतिरिक्तं[5]) वस्त्वापद्येत। तथाऽऽहुर्भट्टाचार्याः—

भावदीपिका

सिद्धिः—इत्याह—अथेति अनुगतप्रत्ययविषयाऽभावोऽसिद्धः—इत्याह—अथान्येति। व्यावृत्तिः = अपोहः; स चाऽपोह्यमपेक्षते; न च तत्तवाऽस्ति—इत्याह—मैवमिति। असामान्यं वा अघटादिकं वाऽपोह्यं विज्ञानादन्यत्र च नास्ति। अथा(-न्य-)ज्ञानम्—इत्यत आह—अज्ञानमिति। अज्ञानम्=ज्ञानाभावः; ज्ञानादन्यस्य तद्विरुद्धस्य वा वस्त्वन्तरस्याऽनङ्गी-कारात्। अभावश्चाऽनादिनिधनो ज्ञानादन्यश्चेत्? सहोपलम्भनियमस्य तत्र ज्ञानैक्येन व्यभि-चारः; तेन भावान्तरमभावः; विषयाकारशून्यस्य ज्ञानस्याऽपोह्यत्वाऽसम्भवात्। न च ज्ञाने तस्य ज्ञानान्तरमभावः, न च तुच्छमपोह्यम्, तस्यैकरसत्वेनाऽनेकविधव्यावृत्तव्यवहाराऽप्रवर्त-

ज्ञानवती

तो ग्राहक के रूप में सिद्ध होगा या ग्राह्य के। क्योंकि परस्पर दोनों के एक होने पर भी ग्राह्य और ग्राहक के परस्पर सापेक्षरूप होने से एक के अभाव में दूसरे के अभाव का नियम है। और इस प्रकार एक आकार का उपरम हो जाने पर द्वितीय का भी उपरम हो जाने से ज्ञान का अंशद्वयवैधुर्य होने से निःस्वभाव के रूप में अभाव का पर्यवसान हो जायगा। इसके अति-रिक्त परस्पर भिन्न दो आकारों से विज्ञान का अभेद होने से स्वरूप भिन्न हो जाता है। और भेद होने पर ग्राह्य एवं ग्राहक दो वस्तुयें सिद्ध हो जाती हैं तथा उन दोनों की 'ज्ञान' यह संज्ञा यदि होती है, तो वह हो, यदि भिन्न होने पर भी ज्ञान के अन्तर्भूत वाला ही ग्राह्य है तो ज्ञानम्—ज्ञानम् ऐसा दोनों का अनुगत प्रत्यय होगा। और वह है नहीं क्योंकि व्यतिरिक्त सामान्य को नहीं माना जाता।

(पू) अन्वयावृत्ति से कल्पित अंश वाला ग्राह्यग्राहकाकार विज्ञान है इसलिये कोई दोष नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है। विज्ञानमात्रवादी के यहाँ अपोह्य वस्त्वन्तर नहीं है अज्ञान भी अपोह्य नहीं हैं, क्योंकि अभाव शरीर वाले हैं उसका भावान्तर ही अभाव है इस प्रकार वस्त्वन्तर को स्वीकार करते हैं। अपोह्यत्व होने से भी उसका वस्त्वन्तर अवश्यं-

---

[1] (ख) अथ व्यावृत्तिकल्पितांशं। (ग) अन्यथाव्यावृत्ति अन्याथांशं कल्पितांशम्।
[2] (ग) अज्ञानमिति। [3] (क) भावान्तर एव। (ग) भावान्तरमेव।
[4] (ग) वस्त्वन्तराभ्युप।
[5] (क) अज्ञानत्वे ज्ञानव्यतिरिक्तत्वं, (ग) ज्ञानत्वेन व्यतिरिक्तं।

"वस्त्वन्तरस्य चाभावात्त्वयाऽपोहोऽपि दुष्करः।
नाज्ञानं नाम किञ्चित् स्यादपोह्यज्ञानवादिनः॥
अपोहो न ह्यभावस्य कथञ्चिदुपपद्यते।
वस्त्वन्तरमभावः स्यादपोह्यत्वाच्च वस्तुता॥
तेनाज्ञाननिवृत्तौ ते ज्ञानेऽन्योऽर्थः प्रसज्यते॥"

इति। अथ कल्पितमपोह्यम्? तदपि न; अत्यन्तासत्यस्य कल्पनाऽनुपपत्ते। अज्ञान-निर्भासा अपि तव[1] बुद्धिरेव; अज्ञानं च प्रकल्पितम्; ततश्च ज्ञानमेवापोह्यम; तथा[2] च न ज्ञानत्वसिद्ध्यर्थं ज्ञानापोहो युज्यते। न खलु वृक्षत्वसिद्ध्यर्थं वृक्षा एवापोह्यन्ते। अपोह्ये च विज्ञाने विज्ञानत्वं न भवेत्। नहि वृक्षत्वकल्पनायां अपोह्येषु घटादिषु वृक्षत्वम्। किञ्च अस्मिन् मते स्मृतिरपि न संगच्छते।

"अतीतत्वानुविद्धं हि ग्राह्यमत्रानुभूयते।"

न च प्रत्युत्पन्नविज्ञानस्यातीताकारसमावेशः सम्बोभवीति। विचित्रार्थाभावे च सर्वं

भावदीपिका

कत्वात्, तुच्छव्यावृत्तस्य सत्त्वैकत्वेन व्यवहारात्—इत्याह—अपोह्यत्वादिति। प्रकारान्तरमा-शङ्क्याऽपवदति—अथेति। अज्ञानं कल्पितं अत्यन्ताऽसत्यं च सम्मतम्? तदपि न तव—इत्याह—अज्ञानेति। अस्तु तथा; को दोषः?—अत आह—तथा चेति। दोषान्तरम्[आह]—अपोह्ये

ज्ञानवती

भावी है जैसे कि नील ज्ञान से अपोह्य पीत आदि का ज्ञान। इस प्रकार अज्ञानापोह के अज्ञानत्व होने पर ज्ञान व्यतिरिक्त वस्तु की आपत्ति हो जायगी।

भट्टपादाचार्य ने कहा है—

"वस्त्वन्तर का अभाव होने से तुम्हारे द्वारा अपोह दुष्कर है। अपोह्यज्ञानवादी के मत में अज्ञान नाम की कोई चीज नहीं है।

अभाव का अपोह किसी भी प्रकार सिद्ध नहीं होता। अभाव वस्त्वन्तर हो जायगा और अपोह्य होने से वस्तु (हो जायगा)। इसलिये तुम्हारे अज्ञान की निवृत्तिवाले ज्ञान में अन्य अर्थ प्राप्त होता है।"

(पू) अपोह्य कल्पित है? (उ) यह भी नहीं है, क्योंकि अत्यन्त असत्य की कल्पना ठीक नहीं है। अज्ञाननिर्भास भी तुम्हारी बुद्धि ही नहीं है, और अज्ञान प्रकल्पित है, इसलिते अज्ञान ही अपोह्य नहीं है, इस प्रकार ज्ञानत्व की सिद्धि के लिए ज्ञान का अपोह ठीक नहीं है। ऐसा नहीं है कि वृक्षत्व की सिद्धि के लिए वृक्ष ही हटाये जाते हैं। इस प्रकार विज्ञान के अपोह्य होने पर विज्ञानत्व नहीं होगा। वृक्षत्व की कल्पना करने में अपोह्य घट आदि में वृक्षत्व नहीं होता। इसके अतिरिक्त इस मत में स्मृति भी संगत नहीं होती।

"अतीतत्व से अनुविद्ध ही ग्राह्य यहाँ (=स्मृति में) अनुभूत होता है।"

प्रत्युत्पन्न विज्ञान का अतीताकार मे समावेश सम्भव नहीं है। और विचित्र अर्थ

---

१ (क-ख-ग) न तव। २ क न तथा (ग) तथा।

विज्ञानं नीलाकारं पीताकारमेव वा किं न स्यात् ? स्वप्नेऽप्यनिर्वाच्यार्थवैचित्र्याभ्युपगमात् "न तत्र रथाः" इत्यादि श्रुतेः । उक्तञ्च —

"मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ।"

मात्रशब्देन जागरणस्य मायामयत्वाविशेषेऽपि 'सति प्रमातर्यबाध्यत्वम्' । स्वप्नस्य तु बाध्यत्वं विवक्षितम् । ततः सूत्रादप्येतत् । अथ वासनाभेदात् ज्ञानवैचित्री ? स एव कुतः ? ज्ञानभेदाच्चेत् ? अन्योन्यापेक्षणम् । न चानादित्वेन परिहारः; भेदग्राहकप्रमाणाभावात्; वासनाया अपि प्रमाणशून्यत्वात् जाग्रदर्थोपलब्धिजन्यवासनाजन्यत्वाच्च; स्वप्नोपलब्धेर्बाह्यार्थोपलब्ध्यजन्यवासनाजन्यार्थाकारोपलब्धेरसम्प्रतिपत्तेश्च । अतो बाह्यार्थसिद्धौ (तत्कारणं[1]) ब्रह्मलक्षणं नापलापमर्हति ।

[जैनमतं तन्निराकरणं च—]

अथ अर्हताः अनेकान्तवादमवतारयन्तो लक्षणमाक्षिपन्ति । तथा हि—

भावदीपिका

चेति । न केवलमपोहाऽलोचनया बाह्यवस्तुसिद्धिः स्मृत्यालोचनयाऽपि—इत्याह—स्वप्नेऽपीति । "सन्ध्ये सृष्टिराह हि"—इत्यादिना स्वप्ने जाग्रत्तुल्यसृष्टिशङ्कायां मायाशब्दो न भेदक इति मात्रशब्द—इत्याह –मात्रेति । हेत्वन्तरं निराचष्टे—अथेति । अनादित्वमाशङ्क्य बीजाङ्कुरवन्नाऽनादित्वेनाऽत्र परिहारस्तद्वदत्र कार्यकारणव्यक्तिभेदाऽनिरूपणात्—इत्याह—न चेति । स्वप्नदृष्टान्तोऽपि विषमः—इत्याह—जाग्रदिति ।

[जैनमतं तन्निराकरणं च—]

मतान्तरेणाऽसम्भवमाशङ्कते—अथार्हता इति । अद्धा = प्रत्यक्षेण = साक्षात्; प्रवो-

ज्ञानवती

के अभाव में सब विज्ञान नीलाकार क्यों नहीं हो जाता । क्योंकि स्वप्न में भी अनिर्वाच्य अर्थवैचित्र्य माना जाता है, क्योंकि "न तत्र रथा" इत्यादि श्रुति है । और कहा भी है—

"संपूर्ण रूप से अनभिव्यक्तस्वरूपवाला होने से मायामात्र है ।" मात्रशब्द से जागरण के समानरूप से मायामयत्व होने पर भी प्रमाता में अबाध्यत्व है, और स्वप्न का तो बाध्यत्व विवक्षित है । इसलिये सूत्र से भी यही (अर्थ अपेक्षित) है । (पू) वासना के भेद से ज्ञान की विचित्रता है? (पू) वही (अर्थात् वासना भेद ही) कैसे ? (पू) ज्ञान भेद से यदि ऐसा यदि ऐसा कहें ? (उ) तो अन्योन्याश्रय है । (पू) अनादि होने के नाते परिहार हो जायगा ? (उ) ऐसा नहीं है । क्योंकि भेदग्राहक प्रमाण का अभाव है । तथा वासना भी प्रमाणशून्य होने से जाग्रत् अर्थ की उपलब्धि से जन्य वासना से जन्य है । तथा स्वप्न की उपलब्धि से बाह्य अर्थ की उपलब्धि से अजन्य वासना से जन्य अर्थाकार की उपलब्धि अनुचित है । इसलिये बाह्य अर्थ की सिद्धि होने पर उसका कारण ब्रह्मलक्षण अपलाप के योग्य नहीं है ।

[जैनमत एवं उसका निराकरण—]

जैनधर्मावलम्बी अनेकान्तवाद की अवतारणा करते हुए लक्षण के ऊपर आक्षेप

---

[1] (क) तत्कारणत्व, (ग) तत्कारणं ।

"आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" "यस्सर्वज्ञः" "को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः अर्वाग् देवा अस्य विसर्जनाय[1] अथा को वेद यत आबभूव इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न, योऽस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सोऽङ्ग वेद यदि वा न वेद" इत्यव्यवस्थारूपभवदभीष्टश्रुतेः[2] 'द्रव्य-पर्याययोरैक्यम्' इत्यादियुक्तेश्च[3] इति न नियतलक्ष्यसिद्धिरिति[4]। ननु निर्धारित-मपि सन्देहपुरस्सरं श्रुत्यन्तरे—"तथा हि ब्रह्मवादिनो वदन्ति—किं कारणं ब्रह्म", ब्रह्म[5] तावत् स्वयं विशुद्धं, अशुद्धविक्रियामूलं न इति किं सहकारिकारणमस्य इति किं कारणं केन सहकृतम्। "कुतो स्म जाता जीवामहे केन क्व च संप्रतिष्ठाः"=अधि-ष्ठिताः केन सुखेतरेषु "वर्त्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम्"।

भावदीपिका

चत्। कुत=आरभ्य; कुतः=कारणादेर्विशिष्टस्य कुतः इत्यनुषङ्गः। अथा—दैर्घ्यं छान्द-सम्। यत आरम्भः; यतः=कारणात्; दधे=धारयति; कश्चित्। यदि वा स्वसामर्थ्येनैव सर्वं महाभूतब्रह्माण्डादि तिष्ठति सर्गादर्वाञ्चो देवा अस्य महाभूतिं [न जानन्ति]। न च हिरण्य-गर्भः सर्वं विकल्पमात्रं जानाति इत्यप्येकान्तः—इत्याह—योऽस्याऽध्यक्ष इति। व्योमन्= दिवि=सत्यलोके; ब्रह्म वाऽध्यक्षः। द्रव्यं=सामान्यम्; पर्यायः=विशेषः; तयोरेकान्तेन भेदाऽभेदयोरनिरूपणात् अनेकान्तपर्यवसितत्वम्। सर्ववेदान्तानामेकवाक्यत्वे निश्चितार्थाऽनुसारे-णाऽनिश्चितार्थस्य व्यवस्थापनम्; तथा "अन्यदेव तद्विदिताद्वा अविदितादधि"—इत्यस्य "अहं ब्रह्माऽस्मि" इति निर्णीतार्थवाक्यानुसारेण विदिताविदितौ=व्याकृताव्याकृते कार्यकारणे; ताभ्यां हेयोपादेयाभ्यामन्यद्वस्तु ब्रह्मेत्युक्ते अहेयोपादेय आत्मैव ब्रह्मेति लभ्यत इत्यर्थो निर्णीतः। तथेहाऽपि श्रुत्यन्तराऽवगतमायाकारणत्वानुसारेणाव्यवस्थावादेनाऽनिर्वाच्यमायावाद उपक्षिप्तः इति सिद्धान्तयति—ननु निर्धारितमपीति। हे ब्रह्मविदः केनाधिष्ठिता वयम् व्यवस्थां वर्त्तामहे इत्यन्वयः। नियतिः=दैवम्; यतो जन्मादि, स किं कालादिः प्रत्येकम्?

ज्ञानवती

करते हैं। वह इस प्रकार—"आनन्द से ही ये भूत उत्पन्न होते हैं", "जो सर्वज्ञ है", "कौन जानता है कौन यहाँ कह सकता है यह विशिष्ट सृष्टि कहाँ से आयी"। "अर्वाक् देवता इसके विसर्जन के लिये"। "कौन जानता है जहाँ से यह सृष्टि उत्पन्न हुई है", "यदि वह उसको धारण करता है या नहीं धारण करता है", "जो इसका अध्यक्ष स्वर्ग लोक में है वह इसको जानता है और नहीं जानता है"। ऐसी अव्यवस्था रूप आपकी अभीष्ट श्रुति है। 'द्रव्य एवं पर्याय का ऐक्य है' इत्यादि युक्ति के कथन से नियतलक्ष्य की सिद्धि नहीं होगी।

(पू) निर्धारित भी (तत्त्व) श्रुत्यन्तर में सन्देह युक्त हो जाता है? वह इस प्रकार—ब्रह्मवादी कहते हैं (जगत् का) कारण ब्रह्म कैसा है"? ब्रह्म स्वयं विशुद्ध है अशुद्धविक्रिया का मूल नहीं है, इसलिये इसका सहकारी कारण क्या है? किससे यह सहकृत

---

[1] (ग) विसर्जनेनाथ। [2] (ख) अवस्थारूपक भवदभी। रूपक भवदभी।
[3] (ग) यूक्तयुक्तेश्च। [4] (ग) लक्ष्यासिद्धि। [5] (ग) ब्रह्महतात् स्वयं।

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्याः।
संयोग एषां न तु आत्मभावात् आत्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः॥"
इति मीमांसमानाः—
"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निरूढाम्।"
इति "मायां तु प्रकृतिम्", "योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः" इति च श्वेताश्वतरोपनिषदि मायायाः (त्रिगुणमय्याः[१]) ब्रह्माधिष्ठितायाः जगत्कारणत्वम् ब्रह्मण एव वा तदुपकरणस्य इति निर्धारणश्रवणात्।

"संयुक्तमेतत् क्षरमक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशः।
अनीशश्चात्मा बध्यते भोक्तृ(-भावात्[२]) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।"[३]

इतीश्वरपक्षप्रकटीकरणाच्च तत्रैव। न चात्र पारमेश्वर्याः शक्तेः प्रदेशाः योनिशब्दवाच्याः; ("प्रकृतियोन्यो[४]-)रैक्यस्य विवक्षितत्वात् "योनिम्" इति तस्या एवावगमात्" इति भाष्योक्तत्वात्। अतोऽविद्यैव प्रतिजीवगता जगद्योनिः माया ब्रह्मविषयाः, ततो न भवदभिमतप्रमाणाभावाः श्रुतय एवानेकान्तवादमवतारयन्ति इति वाच्यम्; अव्यवस्थाश्रुतेः; सृष्ट्याद्यनिर्वाच्यतापरत्वस्याचार्यैरुक्तत्वाच्च।

भावदीपिका

संयोगः=समुदायो वाऽमीषाम्? तत्र जडानां तदधिष्ठितत्वाद्ययुक्तम्। अस्तु तर्हि चेतनः जीवः?—इत्याह—न त्वात्मभावादिति। जीवस्य स्वातन्त्र्ये स्वानिष्टकरत्वं सुखे पारतन्त्र्यं च न युक्तम्—इत्याह—आत्माऽप्यनीश इति। वाक्यान्तरादप्येवमवगम्यते—इत्याह—संयुक्तमिति। योनिम् इति वीप्सया स्वतन्त्राऽनवयवभूता प्रकृतिरुच्यते। मायाऽवयवानां जीवोपाधित्वे मुक्तौ तस्या भागश उच्छेदे तदनुच्छेदपरिभाषा न स्यात्। साधारणप्रपञ्चस्य भागश उच्छेदश्च प्रसज्येत, कतिपयतन्तूच्छेदे पटभागोच्छेदवत्। आचार्यमतविरुद्धा चेयं व्याख्या—इत्याह—न चात्रेति। अनेकान्तश्रुतेर्गतिमाह—अव्यवस्थेति।

ज्ञानवती

है? "कहाँ से किसके द्वारा उत्पन्न होकर हम लोग जी रहे हैं? तथा कहाँ अधिष्ठित हैं? हे ब्रह्म वेत्ता लोग! किसके द्वारा सुख एवं दुःख में व्यवस्था का व्यवहार कर रहे हैं?"

"काल स्वभाव, नियति, यदृच्छा भूत और पुरुष ये कारण है (या नहीं) इस पर विचार करना चाहिये। इनका संयोग भी (अपने शेषी) आत्मा के अधीन होने से कारण नहीं हो सकता तथा जीवात्मा भी सुख दुःख के हेतु (पुण्य पाप कर्मों) के अधीन है" (इसलिये वह भी कारण नहीं हो सकता)।

इस प्रकार मीमांसा करते हुए—

"वे ध्यान-योग में (लीन) होकर अपने गुणों से निरूढ देवात्मशक्ति को देखे"।

"माया को प्रकृति" "प्रत्येक योनि में अकेला अधिष्ठित रहता है" इस प्रकार श्वेता-

---

१ (क) त्रिगुणायाः, (ग) गुणमय्याः। २ (क) भोक्तृभावनात्, (ग) भोक्तृभावात्।
३ (क) पापैः, (ग) पाशैः। ४ (क) प्रकृतियोऽन्यो, (ग) प्रकृतयोऽन्यो।

यच्चोच्यते—

"द्रव्यपर्याययोरैक्यमभेदप्रतिपत्तितः।
तथा कथञ्चिन्नानात्वं भेददृष्टेर्वशादपि॥"

इति ; तदप्यपरीक्षिताभिधानम् ; न खलु प्रतीतिमात्रेण(तत्त्वव्यवस्था[1]) ; रज्जुभुजंगादेरपि तत्त्वान्तरत्वप्रसङ्गात् तत्र भेदप्रतीतिर्न प्रमाणीभवितुमर्हति, तत्प्रमाणत्वस्य विषयपरीक्षायां निराकृतत्वात्। तस्मादद्वैतप्रतीतिरेव प्रमाणं तत्त्वव्यवस्थापकम्। अतएव एतदनवकाशम्—

"कैश्चिद्व्यतिरिक्तत्वं कैश्चिच्च व्यतिरिक्तता।
दूषिता साधिता चापि न च तत्र बलाबलम्॥

भावदीपिका

इदानीमनेकान्तयुक्तिमनूद्याऽपनुदति—यच्चेति। प्रतिपत्तिरनिर्णीता ? प्रमात्वेन निर्णीता वा ? आद्यमपोह्याऽन्त्यमपवदति—तत्रेति। एवमद्वैतैकान्तनिर्णयेऽन्यदप्यपास्तम्—इत्याह—अत इति। यथा खलु पाखण्डिभिर्वेदस्याऽप्रामाण्येऽनादिकालमुद्घुष्यमाणेऽपि न न्यायतत्त्वानुसारित्वं तस्य, तथा द्वैतप्रत्ययस्याऽपि वेद इव पुंवचोभिः। अद्वैतधीर्द्वैतधियोपजीव्या

ज्ञानवती

श्वतर उपनिषद् में त्रिगुणमयी ब्रह्माधिष्ठिता माया जगत् का कारण है, ब्रह्म उसका उपकरण ही है—ऐसा निश्चय सुना जाता है।

"इस संयुक्त क्षर, अक्षर, व्यक्ताव्यक्त संयुक्त विश्व का ईश्वर भरण करता है। अनीश आत्मा भोक्तृभावना के नाते बद्ध होता है और देवता (=आत्मा) को जानकर सब पाशों से मुक्त होता है।"

इस प्रकार वहीं (=श्वेताश्वतर उपनिषद् में ही) ईश्वर पक्ष को प्रकट किया गया है।

(पू) पारमेश्वरीं शक्ति के प्रदेश ही योनि शब्द के अर्थ हैं ? क्योंकि "प्रकृति एवं योनि की एकता की विवक्षा है। 'योनिम्' से उसी का ज्ञान होता है" ऐसा भाष्य में कहा गया है। इसलिये प्रत्येक जीव में वर्त्तमान अविद्या ही जगत् की योनि माया ब्रह्मविषय वाली है। इसलिये आपके द्वारा अभिमत प्रमाणभाव वाली श्रुतियाँ ही अनेकान्तवाद की अवतारणा नहीं करती हैं ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि अव्यवस्था की श्रुति है। आचार्यो ने सृष्टि आदि के अनिर्वाच्यतापरत्व को कहा है।

और जो यह कहा जाता है—अभेद के ज्ञान से द्रव्य एवं पर्याय का ऐक्य है। उस प्रकार भेददृष्टि के वश किसी प्रकार नानात्व भी हो सकता है वह कथन भी अपरीक्षित है। प्रतीतिभाव से तत्त्व की व्याख्या नहीं होती, क्योंकि तब तो रज्जुभुजङ्ग आदि की भी तत्त्वान्तरता की प्राप्ति होने से वहाँ भेद की प्रतीति प्रमाण नहीं हो सकती। क्योंकि उसका प्रमाणत्व विषयपरीक्षा करने पर निराकृत हो चुका है। इस कारण अद्वैत की प्रतीति ही तत्त्व का व्यवस्थापक प्रमाण है। इसीलिये इसका अवकाश नहीं है—

---

[1] (क) तत्र, (ग) तत्त्व। [2] (ग) तत्त्वान्तर।

कदाचिन्निश्चितं कैश्चित्तस्मान्मध्यस्थता वरम् ।
तेनान्यानन्यते तस्य स्तो नस्तस्येति कीर्त्यते ।।
तस्माच्चित्रवदेवात्र मृषा स्यादेकरूपता ।
वस्त्वनेकान्तवादाच्च न सन्दिग्धा प्रमाणता ।।"

इति । आत्मवस्तुनश्चाभेदसत्त्वैकान्तावधारणात्; आगमन्यायाभ्यां प्रपञ्चस्य वास्तवसत्त्वैकान्ताद्यनभ्युपगमाच्च; तत्रानैकान्तोऽपि न नो दोषाय; अनेकान्तवादे[1] सप्तैव पदार्था इत्यवधारणायोगाच्च ।

तथा हि—जीवाजीवौ संक्षेपण द्वौ[2] पदार्थौ; आस्रवसंवरनिर्जरबन्धमोक्षाः पञ्चपदार्थाः तयोरवान्तरा इति सप्त । कार्यकारणैक्यात् प्रकृतिपुरुषाख्ये द्वे[3] एव संग्रहेण तत्त्वे । तथा कतिपयविकारगणनेन समस्तानि पञ्चविंशतितत्त्वानि इति

भावदीपिका

सम्भाविता यतः तेन न च तत्र बलाबलमित्ययुक्तम् । कश्चायमनेकान्तः ? किं सदसद्रूपत्वं सर्ववस्तूनाम् ? किं वा सदेकरसत्वेऽपि भिन्नाभिन्नत्वम् ? नोभयम्—इत्याह—आत्मवस्तुन इति । अथाऽऽत्मव्यतिरिक्तस्योक्तरूपत्वम् ? तत्राऽऽह—प्रपञ्चस्येति । भिन्नाऽभिन्नत्वे दोषान्तरमाह—अनेकान्तेति । अभिन्नत्वादेकः पदार्थं इत्यपि संभवात् सप्तैवेति भेदाऽवधारणं न स्यादित्यर्थः । नन्वास्रवादीनामचेतनत्वात् कथं चेतनजीवाऽवान्तरभेदत्वम् ? तत्राऽऽह—कार्येति । गणनामात्रस्य विवक्षितत्वात् न दोष इत्यर्थः । किं चानैकान्तवादे

ज्ञानवती

"किसी ने अव्यतिरिक्तत्व और किसी ने व्यतिरिक्तत्व को दूषित एवं सिद्ध किया है। इसलिये उनमें प्रावल्य और दौर्वल्य नहीं है ।

किन्हीं ने कदाचित् निश्चित कर लिया है इस कारण मध्यस्थता ही ठीक है। इसलिये उसके एवं हमारे मत में अन्यता और अनन्यता है और नहीं है ऐसा कहा जाता है ।

इसलिये यहाँ पर एकरूपता चित्र के समान व्यर्थ है । और वस्तु के अनेकान्तवाद से प्रमाणता सन्दिग्ध नहीं है ।"

आत्मवस्तुके अभेदसत्त्वैकान्त का निश्चय करने से तथा आगम एवं न्याय के प्रपञ्च के वास्तवसत्त्व एकान्त आदि के स्वीकार न करने से वहाँ पर अनेकान्त भी हमारे दोष के लिये नहीं है । इसके अतिरिक्त अनेकान्तवाद में सात ही पदार्थ हैं यह निश्चय ठीक नहीं है ।

इस प्रकार —जीव और अजीव संक्षेप में दो पदार्थ हैं । आश्रव, संवर, निर्जर, बन्ध एवं मोक्ष ये पाँच उन दोनों के अवान्तर पदार्थ हैं, अतः सात (पदार्थ हैं) । कार्यकारण के ऐक्य से प्रकृति एवं पुरुष नामक दो संक्षेप में तत्त्व है । उसी प्रकार कुछ विकार की गणना से समस्त तत्त्व २५ है ऐसा सांख्यों की तरह जैनमत वालों ने भी किसी परिभाषा के अनुसार कहा है —

---

[1] (क) वादेन, (ग) वादे । [2] (ग) संक्षेपेण पदार्थौ । [3] पुरुषाख्ये एव ।

यथा सांख्या एवं विवसना अपि कयाचित् परिभाषयोक्तमाहुः—तत्र बोधात्मको जीवः, जडवर्गस्त्वजीवः। आस्रवसंवरनिर्जराख्यास्त्रयः प्रवृत्तिलक्षणाः। द्वेधा प्रवृत्तिः—सम्यङ् मिथ्या च। तत्र[१] मिथ्याप्रवृत्तिरास्रवः। आस्रवयति पुरुषं विषयेषु इति इन्द्रियप्रवृत्तिः आश्रवः। ततश्च पौरुषं ज्योतिः विषयान् स्पृशन् तद्रूपादिविज्ञानाकारेण परिणममानं संसरति[२] इत्यनर्थहेतुत्वात् सा मिथ्याप्रवृत्तिरास्रवः। कर्माणि वा कर्त्तारमभिव्याप्य स्रवन्ति=अनुगच्छन्ति इत्याश्रवाः। संवरनिर्जरौ च सम्यक्प्रवृत्ती। तत्र शमदमादिरूपा प्रवृत्तिः संवरः। सा (ह्यास्रवश्रोतसो[३]) द्वारं संवृणोति इति संवरः। निर्जरस्तु अनादिकाल(-प्रवृत्त[४]-)कषायकलुषपुण्यापुण्यप्रहाणहेतुः तप्तशिलाऽऽरोहणादिः। स हि निःशेषेण पुण्यपापे सुखदुःखोपभोगेन जरयति इति निर्जरः। बन्धः=कर्मविशेषः ज्ञानावरणीयादिः। विगलितसमस्तक्लेशतद्वासनस्यासंवरणज्ञानस्य सुखैकतानस्यात्मनोऽलोकाकाशावस्थानं[५] मोक्ष इत्येके। अन्ये सततोर्ध्वगमनशीलो जीवो [६]धर्माधर्मास्तिकायावरुद्धस्तद्विमोक्षाद् यदूर्ध्वं[७] गच्छत्येव स मोक्ष इति। 'अस्ति' इति कायनात्=शब्दनात् अस्तिकाय इति तेषां संज्ञा इति सप्तपदार्थाः संक्षेपविस्तारापेक्षयोक्ताः। अनेकान्तवादे नैतन्नियमः स्यात्। न चानेकान्तवादे प्रीतिमध्यस्थता शोका अपि नियताः स्युः। तथा हि—कटकभङ्गेन कुण्डलोत्पादे कुण्डलार्थिनः

भावदीपिका

सत्त्वकाल एवाऽसत्त्वं कालान्तरे वा वस्त्वन्तरात्मना वाऽसत्त्वं स्वरूपेण सत्त्वम्? नाद्यः—इत्याह—न चानेकान्तवाद इति। उत्पत्त्यादेर्युगपत्सत्त्वात् असत्त्वाच्चोक्तो दोषः।

ज्ञानवती

उनमें बोधात्मक जीव है। जड़ वर्ग अजीव है। आस्रव, संवर एवं निर्जर तीन प्रवृत्तिलक्षण वाले हैं। प्रवृत्ति दो प्रकार की है—सम्यक् और मिथ्या। उनमें मिथ्याप्रवृत्ति आस्रव है। आस्रव का मतलब है वह इन्द्रियप्रवृत्ति जो पुरुष को विषयों में आस्रवित करे। उससे पौरुषज्योति विषयों का स्पर्श करती हुई तत्तद् रूप आदि विज्ञान के आकार में परिणत होती हुई संसरण करती है। इस प्रकार अनर्थ का हेतु होने से वह मिथ्या प्रवृत्ति आश्रव है। अथवा कर्म में कर्त्ता को अभिव्यापित करके जो श्रवण करे अर्थात् अनुगमन करे वे आश्रव हैं। संवर एवं निर्जर सम्यक् प्रवृत्तियाँ हैं। उनमें शम दम आदि वाली प्रवृत्ति संवर हैं। क्योंकि वह आश्रव के स्रोत के द्वारों का संवरण करती है अतः संवर है। और निर्जर अनादि काल से प्रवृत्त कषाय से कलुष पुण्य-अपुण्य के त्याग का हेतु तप्तशिलारोहण आदि है। वह निःशेष रूप से सुख-दुःख के उपभोग के द्वारा पुण्य और पाप को जीर्ण करती है, अतः निर्जर है। ज्ञानावरणीय आदि कर्म-विशेष बन्ध है। जिसका समस्तक्लेश एवं उसकी वासना समाप्त हो गई है ऐसे असंवरण ज्ञान, सुखैकतान

१ (ग) तत्र मिथ्याप्रवृत्तिराश्रवयति पौरुषंज्योतिविषवानिनिद्रयप्रवृत्तिः ततश्च तद्रूपा।
२ (ग) संचरति। ३ (क) आश्रवः स्रोतसो। (ग) आश्रवस्रोतसो।
४ (क) वृत्त, (ख, ग) प्रवृत्त ५ (ग) लोककोशा।
६ (ग) धर्माधर्मावस्ति। ७ (ग) विमोक्षादत्यूर्ध्वं।

प्रीतिः, कटकार्थिनः शोकः, सुवर्णमात्रार्थिनो मध्यस्थता प्रसिद्धा। तदाहुर्मण्डनमिश्राः—

"उत्पत्तिस्थितिभङ्गानामेकत्र समवायतः।
प्रीतिर्मध्यस्थताशोकाः[1] स्युर्न स्युरिति दुर्घटम्[2] ॥"

न चालङ्कार एवायमनेकान्तवादिन इति वाच्यम्; तथा हि स्वर्गादि प्राप्तमपि इति नोपायारम्भोऽप्राप्तमपि[3] इत्यारम्भ इत्यादि विरुद्धानुष्ठानाशक्तं जगन्निश्चेष्टं (दोलायमानं[4]) प्रसज्येत। सति चैवं सप्तभङ्गीनयोपन्यासोऽपि प्रयासायैव स्यात्, सप्तानामेकान्तभङ्गानां समाहारः सप्तभङ्गी; तस्या नयः=सप्तभङ्गीनयः।

[सप्तभङ्गीनयस्तद्दोषश्च—]

तथा हि—स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्ति नास्ति इति च, स्यादवक्तव्यः,

भावदीपिका

उत्तरपक्षद्वये पक्षान्तराऽपत्तिर्दोषः। इष्टप्रसङ्गं परिहरति--न चाऽलंकार इति। स्वर्गादिः स्वात्मसम्बन्धित्वेन युगपत् सत्त्वाऽसत्त्वाभ्यां दोलायमानत्वं इदमपीष्टप्रसञ्जनमिति न वाच्यम्—इत्याह—सति चैवमिति।

[सप्तभङ्गीनयस्तद्दोषश्च—]

'स्यादस्ति' इति साध्यत्वं सिद्धत्वञ्च विरुद्धं मत्वाऽऽह—स्याच्छब्द इति। सप्त-

ज्ञानवती

वाले आत्मा की अलोकाकाश में स्थिति मोक्ष है ऐसा कुछ लोग कहते हैं। अन्य लोगों (का कथन है कि) निरन्तर उर्ध्वगमनशील जीव धर्माधर्म रूप अस्तिकाय से अवरुद्ध होकर उससे विमोक्ष के लिये जो ऊपर जाता है वह मोक्ष है। 'अस्ति' इस प्रकार कायन अर्थात् शब्द करने से उनकी अस्तिकाय संज्ञा है। इस प्रकार संक्षेप में सात पदार्थ संक्षेप विस्तार की अपेक्षा से कहे गये हैं। अनेकान्तवाद में यह नियम नहीं होगा।

ऐसा भी नहीं है कि अनेकान्तवाद में प्रीति, मध्यस्थता एवं शोक भी नियत हो जायेंगे? वह इस प्रकार—कटक के भङ्ग एवं कुण्डल की उत्पत्ति होने पर कुण्डलार्थी की प्रीति एवं कटकार्थी का शोक एवं सुवर्णमात्र चाहने वाले की मध्यस्थता प्रसिद्ध है। वही मण्डनमिश्र ने कहा है—

"एक जगह समवाय सम्बन्ध से उत्पत्ति, स्थिति एवं भङ्ग के रहने से प्रीति, मध्यस्थता एवं शोक होगें या नहीं होगें यह कहना कठिन है।"

(पू) अनेकान्तवादी की यह वात अलंकार में ही है? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। स्वर्ग आदि प्राप्त हो गया है इसलिये उपाय का आरम्भ नहीं, अप्राप्त है अतः आरम्भ भी, इत्यादि विरुद्ध अनुष्ठान में असक्त जगत् निश्चेष्ट एवं दोलायमान हो जायगा। और ऐसा होने पर सप्तभंगी नय भी केवल प्रयास के लिये ही होगा।

[सप्तभंगी नय एवं उसका दोष—]

सात एकान्त भंगों का समाहार सप्तभंगी और उसका नय (=शास्त्र) सप्तभंगी नय

१ (ग) मध्यस्थेन। २ ब्र० सि० २।२४।
३ (ग) रम्भो प्राप्त। ४ (क) डोलायमानं, (ग) दोलायमान।

स्यादस्ति चावक्तव्यश्च, स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च, स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च इति सप्त भङ्गाः। तत्र भावस्य विधिविवक्षायामाद्यः; निषेधविवक्षायां द्वितीय; उभयविवक्षायां तृतीयः; सदसत्त्वयोर्वाचः क्रमवर्तित्वाद्युगपद्भावेन वक्तुमशक्यतायां चतुर्थः; स्यादस्तिभङ्गो नास्तित्वेन सहावक्तव्यः[१] स्यादस्तिभङ्गोऽस्तित्वेन सहावक्तव्यः स्यादस्तिनास्तिभङ्ग एकैकेन सह। स्यादस्ति इत्येव स्यान्नास्ति इत्येव वा वक्तव्यः। स्याच्छब्दः खल्वयं निपातः तिङन्तसदृशोऽनेकान्तत्वद्योतकः। ततो नास्य साध्यार्थता। यथाऽऽहुः—

"वाक्येष्वनेकान्त(-वि[२]-)द्योति गम्यं प्रति विशेषणम्।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वा-(त्तिङन्त[३]-)प्रतिरूपकः॥"

'स्यादस्ति' इत्यादिवाक्ये स्याच्छब्दो गम्यमस्त्यादिकं प्रति विशेषणं भूत्वाऽनेकान्तत्वं द्योतयति 'स्यादस्ति'='कथञ्चित् अस्ति' इति अर्थयोगित्वात्; अन्यथा निरर्थकः स्यादित्यर्थः। नयश्च यदि सामान्यविशेषयोरैक्यमेव स्यात्, तदाऽनुवृत्तव्यावृत्तव्यवहारौ युज्येते। विशेषस्य सामान्यान्तर्भावे व्यावृत्तव्यवहारस्य सामान्यस्य च तदन्तर्भावेऽनुवृत्तव्यवहारस्य चाभावप्रसङ्गात्। अत्यन्तभेदे च गवाश्ववद्व्यतिरेकोपलम्भः स्यादित्यर्थः। सोऽयं सप्तभङ्गीनयोपन्यासः।

भावदीपिका

भङ्गीमुक्त्वा तन्नयमाह—[नयश्चेति]। विशेषस्य सामान्यमात्रता ? सामान्यस्य विशेषमात्रता वा ? नोभयमपि—इत्याह—विशेषस्येति। अस्तु तर्ह्यत्यन्तभेदः ? न—इत्याह—अत्यन्तेति।

ज्ञानवती

(होता है)। वह इस प्रकार—शायद है, शायद नहीं है, शायद है और नहीं है, शायद अवक्तव्य है, शायद है और अवक्तव्य है, शायद नहीं है और अवक्तव्य है, शायद है और नहीं है और अवक्तव्य है, ये सात विकल्प हैं। उनमें से भाव की विधिविवक्षा होने पर पहला है, निषेध विवक्षा में दूसरा, दोनो की विवक्षा में तीसरा है, सत् एवं असत् वाणी के क्रमवर्त्ती होने से (उनका) एक साथ कथन असंभव होने पर चौथा है, शायद है यह विकल्प शायद नहीं है के साथ कथन योग्य नहीं है, स्यादस्ति भङ्ग अस्ति के साथ अवक्तव्य है, स्यादस्ति और नास्ति एक एक के साथ। या तो 'स्यादस्ति' यही कहिये या 'स्यान्नास्ति' यही। 'स्यात् शब्द निपात है जो तिङन्त के समान अनेकान्तत्व को बताता हैं इसलिये यह साध्य के लिये नहीं है जैसा कि कहा है—

वाक्यों में गम्य के प्रति विशेषण (होता हुआ) स्यात् निपात अनेकान्त का विद्योतक होता है (और) अर्थयोगी होने से तिङन्त का प्रतिरूपक है।"

'स्यादस्ति' इत्यादि वाक्यों में 'स्यात्' शब्द गम्य अर्थात् 'अस्ति' आदि के प्रति विशेषण होकर अनेकान्तत्व को बतलाया करता है, क्योंकि स्याद् अस्ति—किसी प्रकार है ऐसे अर्थ से युक्त है, अन्यथा निरर्थक हो जायगा। और शास्त्र (का अभिमत है कि) यदि सामान्यविशेष का ऐक्य हो जाय तो अनुवृत्त एवं व्यावृत्त व्यवहार ठीक होते हैं।

---

[१] (ग) सहवत्ति। [२] (ग) कान्तद्योति। [३] (क) तिङ्गन्त, (ग) तिडन्त।

किञ्च भेदाभेदाभ्या(-मुभयात्मकवादेऽपि[1])वस्तुतः सामान्यविशेषयोर्नैकैकात्मकत्वेनैकत्रोभयव्यवहारः स्यात् इति तुल्यम् यदि (सामान्यविशेषचित्ररूपो[2] वस्तुनः आत्मविशेषाननुगमात् वस्त्वननुगमे भेदव्यवहार एव तत्रेति नामान्तरेण भेदवाद एवायम्। तदाहुः—

"सामान्यं नहि वस्त्वात्मा विशेषश्चित्र एव सः।
तस्यानन्वयतो भेदवादः शब्दान्तरादयम् ॥"

इति मण्डनाचार्याः। एतेन—

"कार्य[3]-)रूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥"

इति निरस्तम्। वस्तुनोऽपि यदि कार्यकारणरूपोपाधिको भेदाभेदाभ्यां सम्भेदः, तथा सति कार्यकारणरूपाभ्यामप्युपाधिद्वयाधीनः संसर्गः, एवं तत्र तत्र इत्यनवस्था। एवं कार्यकारण (-भाव-) रूपयोर्वस्तुनश्च रूपिणः परस्परं भेदाभेदसिद्ध्यर्थं[4] त्रयाणामुपाधित्वेन द्वे द्वे रूपे कल्पनीये, तथा ताभ्यामपि इत्यनवस्था सहस्रधा प्रसरेत्।

भावदीपिका

किञ्च भिन्नाऽभिन्नं वस्तु सामान्यात्मकं वा विशेषात्मकं वा केवलमिष्यतेऽनुवृत्तव्यावृत्तव्यवहारार्थं उभयात्मकं त्विष्यते? तदाऽपि युक्तैकात्मकत्व इव नोभयव्यवहारलाभः—इत्याह—किञ्चेत्यादिना। अनेकान्तवादान्तरं निराचष्टे—एतेनेति। न स्वाभाविकौ भेदाऽभेदौ किन्तु कार्यकारणत्वोपाधिकौ वस्तुनः? तर्हि कार्यकारणत्वयोरपि एकरसत्वे असम्भवात् तत्राऽप्युपाध्यन्तरं वाच्यम्; तथा च रूपाऽनवस्थाऽधिको दोषः—इत्याह—वस्तुनोऽपि इति। अनवस्थाऽन्तरमाह—एवमिति।

ज्ञानवती

विशेष का सामान्य में अन्तर्भाव होने पर व्यावृत्त व्यवहार वाले सामान्य का उसमें अन्तर्भाव होने पर अनुवृत्तव्यवहार का अभाव प्राप्त होने लगेगा। और अत्यन्त भेद होने पर 'गो' एवं 'अश्व' के व्यतिरेक की प्राप्ति होने लगेगी। यही सप्तभंगीनय का उपन्यास है।

इसके अतिरिक्त भेद एवं अभेद के द्वारा उभयात्मकवाद में भी वस्तु के सामान्य-विशेष का भी एक-एक करके एक जगह दोनों का व्यवहार होगा। यह तुल्य है। "यदि सामान्यविशेष चित्ररूप वस्तु का आत्मविशेषानुगमन होने से वहाँ वस्तु का अननुगम होने पर भेद व्यवहार होता है तो नामान्तर से यह भेद ही है।"

मण्डनाचार्य ने कहा है—

"सामान्य वस्त्वात्मा नहीं है और विशेष? वह तो चित्र ही है। उसका अनवयव भेदवाद शब्दान्तर आदि हैं। इससे—

"जैसे स्वर्ण के रूप से अभेद एवं कुण्डल आदि के रूप से भेद होता है (उसी प्रकार) कार्यरूप से नानात्व एवं कारणरूप से अभेद होता है।"

---

१ (क) उभयात्मकत्वा (द्यात्वा)त् वियदादेऽपि (ग) उभयात्मकवादेऽपि।
२ (क) यदिसामान्यविशेषयोंः नैनैका। (ग) यदि सामान्यविशेषचित्ररूपो वस्तुन।
३ (क) चित्र (ग) कार्यं। ४ (ग) परस्पर।

अथ निरुपाधेरेव कार्यकारण (-भाव -) रूपसम्बन्धः ? तर्हि भेदाभेदाभ्यामपि तथाऽस्तु । तथा च — "कार्यरूपेणनानात्वमभेदः कारणात्मना" इति । तदुक्तम् - "कार्यकारणव्यवहारोऽप्येकधैव" इत्यादि ; वेदान्ततत्त्वतः[2] सत्कार्यादिपक्षे दुर्निरूपत्वाच्च । तस्माद् भेदाभेदाभ्यामनिर्वाच्यमायोपाधिना कार्यकारणरूपे परिकल्पिते चिदात्मनि स्वप्न इवेति न्याय्यम् ।

यदपि—"तत्सत्यं स आत्मा" इति कारणस्य सत्यत्वसंकीर्त्तनम् ; तदपि कार्यापेक्षया चिरत्वेन सत्यमन्यत् इति, कार्यस्यासत्यत्वदार्ढ्याय वा । "सदेवेदमेकमेवाद्वितीयमग्र आसीत्" इति यथा कार्यस्य कारणतावन्मात्रत्वादत्यन्ताभेदनिर्देशः[3], तथा विचार्यमाणे कारणरूपस्य (ब्रह्मण्यदर्शनाद्[4] वा) तत्सत्यं ब्रह्मैव इति व्यपदेशः । अत एव "यतो वा" इत्यादि कारणोपदेशमुखेन "तद् ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति उपदेशः ।

भावदीपिका

अथ स्वत एव कार्यकारणरूपसंसर्गः, अतो न रूपाऽनवस्था स्यात् ? तथाऽपि भेदाऽभेदयोरुपाध्यपेक्षायामनवस्था स्यादेव; तेन तयोरपि निरुपाधिकत्वं वाच्यम्; तथा च स्ववचनव्याघातः—इत्याह —अथेत्यादिना । कारणव्यवहारस्य सापेक्षिकत्वसम्भवान्न तदुपाधिकवास्तवभेदाऽभेदपक्षोत्थानमपि —इत्याह —कार्येति । वादिभिः परस्परं दूषितत्वाच्च अनायासेन ब्रह्मवादसिद्धौ वेदान्ती सुखमेवाऽनुभवति न परपक्षोन्मूलनाय । रागादिकं विवादोत्पत्तौ कारणम्; तदुक्तम्—विवादश्चेति । निक्षिप्य विरोधोद्भावकारणं तैः संरक्षितसद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवत्—इत्याशयेनाह—सत्कार्यादीति । कारणरूपस्याऽसत्यत्वं श्रुति-

ज्ञानवती

यह (कथन) निरस्त हो गया। यदि भेदाभेद से वस्तु का भी कार्यकारणरूप उपाधि वाला भेद है तो वैसा होने पर कार्यकारण रूप के द्वारा संसर्ग दो उपाधियों के आधीन है इस प्रकार और और जगह भी, इसलिये अनवस्था हो जायगी। इस प्रकार कार्यकारणरूपों के एवं रूपी वस्तु के परस्पर भेदाभेद की सिद्धि के लिये तीनों (अर्थात् कार्य कारण एवं वस्तु) के दो-दो रूप की कल्पना करनी पड़ेगी उसी प्रकार उन दोनों के द्वारा भी, इस प्रकार अनवस्था हजारों रूप से फैल जायगी।

यदि यह कहिये कि उपाधि रहित का ही कार्यकारणभावरूप सम्बन्ध होता है, तब तो भेद एवं अभेद के द्वारा भी वैसा हो होना चाहिये और इसीलिये—कार्यरूप से नानात्व तथा कारण रूप से अभेद ऐसा (कहा गया है)। कहा भी है—'कार्यकारण व्यवहार भी एक ही प्रकार का" इत्यादि। वेदान्ततत्त्व (की दृष्टि) से सत्कार्य आदि के पक्ष में (यह) कहना कठिन है। इसलिये भेद और अभेद के द्वारा अनिर्वाच्य मायारूप उपाधि के द्वारा स्वप्न के समान कार्यकारणरूप चिदात्मा में परिकल्पित ही है यही उचित है।

और जो "वह सत्य है वह आत्मा है—"इससे कारण के सत्यत्व का कथन है, वह

---

१ (क) कारणरूप, (ख) कारणभावरूप। २ (ग) वेदात् न।
३ (ग) न्तभेद। ४ (क) ब्रह्मदर्शनात्। (ग) ब्रह्मण्यदर्शनात्।

उपक्रमादिनाऽद्वैते (फलमिति[1]) तात्पर्यवदिह वाक्यम्। अध्यस्तसर्गवाक्यानां पुनस्तदनुरोधेन[2] मायामयसर्गविषयाणामात्यन्तिकाद्वैतबुद्ध्यवतारोपायमात्रत्वात्। "एकत्वमनुपश्यतः" शोकादिनिवृत्तिवदेकत्वानेकत्वे अनुपश्यतः फलाश्रवणाच्च। अतो नानेकान्तवादो रमणीयः, किन्त्वनिर्वाच्यवाद एव।

[भागवतमतखण्डनम्--]

यच्च भागवता मन्यन्ते -"तदेतत्सत्यम् --

यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य ! भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥"

भावदीपिका

विरुद्धम् ?—इत्याशङ्क्याऽऽह—यदपीति। केवलज्ञानममृतत्वसाधनमिच्छतः उपदेशादपि कारणत्वमनिरूपणीयमेव—इत्याह - अत एवेति। का तर्हि सर्गवाक्यानां गतिः ?—तामाह—उपक्रमेति। फलवत्सन्निधावपि स्वतन्त्रफलश्रवणे कथञ्चित् तात्पर्ये गौरवाऽऽशङ्का स्यात्; तदत्र नास्ति—इत्याह—एकत्वमिति।

[भागवतमतखण्डनम्—]

एवं लक्षणस्याऽव्यवस्थितत्वं निरस्तम्। इदानीं लक्षण[-गत-]स्य कारणत्वस्य स्वतो मायया वा—इत्यव्यवस्थितत्वं निराकर्त्तुं स्वतः पक्षमुद्भावयति—[यच्चेति]। तदेतत् परमार्थसत्यं न पुनः "तदेतत् सत्यम् मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्निति" कर्मसत्त्ववद्-

ज्ञानवती

भी कार्य की अपेक्षा चिर होने से दूसरा सत्य है, अथवा कार्य के असत्यत्व की दृढ़ता के लिये है। "पहले यह सत् ही एक ही=अद्वितीय था" इससे जैसे कार्य के कारणतावन्मात्र होने से अत्यन्त अभेद का निर्देश है, उसी प्रकार विचार करने पर कारणरूप का ब्रह्म में दर्शन न होने से वह सत्य ब्रह्म ही है यह व्यवहार है। इसीलिये "जहाँ से—"इत्यादि कारणोपदेश के बहाने "उस ब्रह्म को जानो" यह उपदेश है। इस वाक्य का उपक्रम आदि के द्वारा अद्वैत फल वाले में तात्पर्य है। और अध्यस्त सृष्टिवाक्य पुनः उसके अनुरोध से मायामयसृष्टि विषय वाले आत्यन्तिक अद्वैतबुद्धि के अवतार के उपाय मात्र हैं। एकत्व को देखने वाले के शोक आदि की निवृत्ति के समान एकत्व एवं अनेकत्व को देखने वाले के लिये फल नहीं सुना गया है। इसलियें अनेकान्तवाद रमणीय नहीं है किन्तु अनिर्वाच्यवाद ही (रमणीय) है।

[भागवतमत का खण्डन —]

(पू) और जो भागवत मतवाले मानते हैं—

"वह यह सत्य है। जैसे सुदीप्त अग्नि से समानरूप वाले हजारों विस्फुलिंग उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार हे सोम्य अक्षर से अनेक प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं और उसी में पुनः लौट आते हैं।"

---

[1] (क) फलवति, (ग) फलमिति। [2] (ग) वाक्यानां तद्।

इति श्रुतेः निरञ्जनज्ञानविग्रहो भगवान् परमात्मा वासुदेवाख्यः ; तस्य संकर्षणाख्यो जीवः प्रथमो विकारः स्थूलस्फुलिङ्गकल्पः ; तस्य च प्रद्युम्नाख्यं मनः ; तस्याप्यनिरुद्धाख्योऽहंकारो विकार इति ; अन्यथा सरूपत्वापत्तेः ;

मन्दमेतदपि; केवलाग्नेर्विस्फुलिङ्गादर्शनात्[१]। बाह्यसंक्रान्तिवत् मायाक्रान्तिरपि चिदात्मनो विकाराय वक्तव्यैव श्रुत्यभिमता इति। तदुक्तम् —

"तमःप्रधानक्षेत्राणां चित्प्रकाशः चिदात्मनाम्।
परः कारणतामेति भावनाज्ञानकर्मभिः॥"

इति। ततः क्षुद्रोऽयं पक्ष उपेक्षणीयः।

[पाशुपतमतनिराक्रिया स्वरूपलक्षणविचारोपक्रमश्च—]

कार्यकारणयोगविधिदुःखान्ताः पञ्च पदार्थाः पशुपतिना पशुकल्पजीवानां संसारपाशविमोक्षायोपदिष्टाः। स च भगवान् निमित्तकारणमेव इति न्यायानुसारितत्प्रणेतृकागमप्रामाण्यात् पाशुपता भाषन्ते। कार्यम्=प्राधानादिकं महदादि ;

भावदीपिका

व्यावहारिकं यस्मात् अक्षराज्जीवानामुपाधिभेदभिन्नानामुत्पत्तिप्रलयौ। "तदेतत् सत्यम्" इति सिद्धान्तव्याख्या। तत्र परस्य भ्रमः स्वतो भिन्ना जीवा ब्रह्मणो विकारा इति। "अक्षरात् परतः परः" इति मायया उक्तत्वान्न स्वतो जन्मादिशङ्का मुण्डकश्रुतौ। श्रुत्यन्तरविरोधाच्च — इत्याशयेनाऽऽह — मन्दमेतदिति। युक्त्याऽऽचार्यसंवादादप्येवम् — इत्याह — केवलाग्नेरिति।

[पाशुपतनिराकरणं स्वरूपलक्षणविचारोपक्रमश्च—]

तथाऽप्यभिमतोभयकारणत्वं लक्षणे असम्भवि ?—इति शङ्कामाह—कार्यकारणेति।

ज्ञानवती

इस श्रुति के अनुसार निरञ्जन, ज्ञानशरीर वाले भगवान् वासुदेव नाम वाले परमात्मा हैं, संकर्षण नामक जीव उनका प्रथमविकार स्थूल स्फुलिंग के समान है, और प्रद्युम्न नामक उसका मन है, उसका भी अनिरुद्ध नामक अहंकार विकार है। अन्यथा सरूपत्व की अनुपपत्ति हो जायगी।

(उ) यह विचार भी मन्द है क्योंकि केवल अग्नि से विस्फुलिङ्ग का दर्शन नहीं होता तथा श्रुति को मानने वाले को यह कहना ही पड़ेगा कि से वाह्य संक्रान्ति के समान माया की क्रान्ति भी चिदात्मा के विकार के लिये हैं। कहा भी है -

"तमस् प्रधान क्षेत्रों वाले, चिदात्माओं का चित् प्रकाश भावना ज्ञान तथा कर्म के द्वारा परकारणता को प्राप्त होता है।"

इसलिये यह क्षुद्र पक्ष उपेक्षणीय है।

[पाशुपत मत—उसका निराकरण तथा स्वरूपलक्षण के विचार का उपक्रम—]

कार्य,कारण, योग, विधि एवं दुःखान्त ये पाँच पदार्थ भगवान् पशुपति के द्वारा पशुकल्प जीवों के संसारपाश के विमोक्ष के लिये उपदिष्ट हैं। और वह भगवान् निमित्त

---

[१] (ग) दर्शनाद दाह्य

कारणम्=प्रधानं पशुपतिश्च ; योगः=ओंकारोपासनादिः ; विधिः=त्रिषवणभस्मस्नानादिः ; दुःखान्तः=मोक्ष इति। तत्र वदामः—आगमस्य वेदविरुद्धस्य बुद्धादिवाक्यवत् अतीन्द्रियार्थेषु पुरुषाशक्तितः[1] तत्र सापवादत्वसम्भव[2] इत्यप्रामाण्यमध्वरमीमांसायामेवोक्तम्। आत्मा, द्रव्योपादानं, अनन्त्यावयवित्वे सति द्रव्यत्वावान्तरजात्यधिकरणत्वात्, पृथिव्यादिवत् इत्यनुमानाच्च न निमित्तमात्रतावादः। मनश्च पक्षतुल्यम्। अतो न तेन व्यभिचारः। न च अविभुत्वमुपाधि[3]; समव्यापकत्वे तव गुणादौ साध्याव्याप्तेः विषमव्यापकत्वे च यद्विभु तन्न द्रव्योपादानमिति व्यतिरेकस्य मां प्रत्युदाहर्तुमशक्यत्वात्।

ननु आम्नाय एव "यः पृथिव्यां तिष्ठन् यो अप्सु तिष्ठन्" इत्यादिना मृदादे-

भावदीपिका

आगमबलं तावदयुक्तम्—इत्याह—तत्रेति। अथ चेतनस्य द्रव्योपादानत्वं न यौक्तिकम्? न; त्वन्मतेन तस्याऽपि सम्भवात्-इत्याह—आत्मेति। घटादावाकाशादौ च व्यभिचारवारणार्थं हेतौ क्रमेण विशेषणम्। समाऽसमविकल्पाऽसहत्वान्नोपाधिरपि—इत्याह—न चेति। न च [यत्र] द्रव्योपादानत्वं तत्राऽविभुद्रव्यत्वमित्यङ्गीकारान्न साध्याऽव्याप्तिः? अन्त्यावयविषु व्यभिचारात्। तत्त्वादीनामनारब्धद्रव्याणामपि विनाशदर्शनात् अन्त्यावयवित्वमपि न विशेषणम्। न च तर्हि हेतोस्तत्र व्यभिचारः? जात्यधिकरणत्वेन तज्जातीयत्वस्य विवक्षित्वात्, उपादानासाधारणजातीयत्वस्याऽनारब्धद्रव्येष्वपि भावात्, 'द्रव्योपादानं द्रव्यम्' इति व्याप्तिसिद्धौ अविभुत्वस्य पक्षमात्रव्यावृत्त्यर्थत्वेन पक्षेतरत्वाच्च।

आगमबाधमाशङ्कते—नन्विति। आगमस्योपादानत्वाऽविघातेनाऽप्युपपत्तेः मैवम्—

ज्ञानवती

कारण ही है। ऐसा न्याय का अनुसरण करने वाले एवं उसके प्रणेता पाशुपत आगम को प्रमाण मानकर कहते हैं। कार्य का मतलब है—प्रधान तत्त्व से उत्पन्न महत् आदि। कारण का अर्थ है—प्रधान और पशुपति। योग=ओंकार की उपासना आदि, विधि=त्रिषवण भस्मस्नान आदि, दुःखान्त=मोक्ष। इस विषय में हम कहते हैं—वेदविरुद्ध आगम के बुद्ध आदि के वाक्य के समान अतीन्द्रिय अर्थों में पुरुष की अशक्ति के कारण वहाँ सापवादत्व सम्भव है यह अप्रामाण्य अध्वरमीमांसा में ही कहा गया है और आत्मा, द्रव्य का उपादान है, क्योंकि अन्त्यावयवी होते हुए द्रव्यत्व की अवान्तर जाति का अधिकरण है, पृथिवी आदि के समान इस अनुमान से निमित्तमात्रतावाद नहीं है। और मन पक्ष के समान है, इसलिये उससे व्यभिचार नहीं है।

(पू) अविभुत्व उपाधि है? (उ) ऐसा नही है, क्योंकि समव्यापक होने पर तुम्हारे गुण आदि में साध्य की अव्याप्ति है। और विषमव्यापक होने पर जो विभु है वह द्रव्य का उपादान नहीं है यह व्यतिरेक मेरे प्रति उदाहरण के रूप में देना सम्भव नहीं है।

(पू) आम्नाय ही "जो पृथिवी में रहता हुआ, जो जल में रहता हुआ" इत्यादि

---

१ (ग) शक्तिस्तत्र। २ (ग) संभवत्यप्रामा। ३ (ग) नन।

रुपादानात् अधिष्ठातारं पृथक् करोति, तेन तद्विरुद्धमनुमानम् ? नैतत्; मृदादेरपि ब्रह्मोपादानम्, तत्र दारुणीवाग्निर[1]-[व्यक्तः[2]] अन्तर्यामी मायाप्राधान्यात् उपादानमव्याकृताकाश इत्यव्याकृतान्तर्यामिभेदस्य[3] मायिकस्य अङ्गी(-कारेणाम्नायोपपत्तेः)। न च ब्रह्म न द्रव्योपादानं निर्गुणत्वात्, गन्धादिवत् इति प्रत्यनुमानम्; केवलस्यानुपादानत्वेन सिद्धसाधनत्वात्, उपाधिशवलस्य गुणवत्त्वादसिद्धश्च हेतुः; परमाणूनामनेकप्रयुक्तसंयोगगुणविशिष्टानां द्रव्यारम्भकत्वस्वीकाराच्च; (उपादानत्वस्य[4]) (सद्रूपेण[5]) जगत्कार्येऽन्वयाच्च। न च "मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्" "मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते" इत्यागमबलात् निमित्तमात्रत्वं ब्रह्मणो मन्तव्यम्; उभयत्वेऽ-

भावदीपिका

इत्याह--नैतदिति। अनुमानबाधमपवदति--न च ब्रह्मेति। अन्यप्रयुक्तगुणस्योपादाननिर्वाहकत्वं परस्परस्याऽपि सम्मतम्--इत्याह--परमाणूनामिति। न च शून्यवादवदनन्वय उपादानत्वबाधकोऽस्ति - इत्याह--उपादानस्येति। श्रुत्यन्तरबाधमपाकरोति--न चेति। चैतन्यव्याप्तमायाया जगदाकारपरिणामः। ब्रह्मण उपादानत्वं नाम अजमायाऽधिष्ठातृत्वम्। चैतन्यस्य दारुणीवाऽग्नेर्विक्रियोपादानत्वम्;, निमित्तत्वं च स्वरूपेण रविवत्, न व्यापारविशेषेण कुलालवत्। अतो न श्रुतिविरोधः - इत्याशयः। इदानीं कार्यस्याऽव्यवस्थया कारणत्वाऽव्यवस्था,

ज्ञानवती

के द्वारा मृदादि उपादान से अधिष्ठाता को पृथक् करती है इसलिये अनुमान उसके विरुद्ध है? (उ) ऐसा नहीं है। मृदादि का भी उपादान ब्रह्म है। उसमें, जैसे लकड़ी में अग्नि (अनभिव्यक्त है) उसी प्रकार अन्तर्यामी अनभिव्यक्त है। मायाप्राधान्य के कारण अव्याकृताकाश उपादान है इसलिये अव्याकृत अन्तर्यामी भेदवाले मायिक के स्वीकार करने से आम्नाय की उपपत्ति हो जाती है। (पू) ब्रह्म, द्रव्य का उपादान नहीं है, निर्गुण होने से, गन्ध आदि के समान यह प्रत्यनुमान हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल का उपादान न होने से सिद्ध-साधनता हो जायगी। और उपाधिशवल के गुण होने से हेतु असिद्ध है। तथा अनेकप्रयुक्तसंयोगगुणविशिष्ट परमाणुओं का द्रव्यारम्भकत्व स्वीकार किया गया है। और उपादानत्व का सत् रूप से जगत् कार्य में अन्वय है।

(पू) "प्रकृति को माया एवं महेश्वर को मायावी जानना चाहिये" "मुझ अध्यक्ष के द्वारा प्रकृति उत्पन्न करती है" इस आगम के बल से ब्रह्म को निमित्त मात्र मानना चाहिये?

(उ) दोनों (अर्थात् उपादान एवं निमित्त) के होने पर भी ऐसा निर्देश "उसने ईक्षा की" इत्यादि के अनुसार सम्भव है। तेज आदि की सृष्टि सर्वत्र आकाश आदि के क्रम से ही अभिप्रेत है। (उनका) प्राथम्य निर्देश तो सब कार्य साक्षाद् ब्रह्म की सृष्टि है इसको बताने के लिये तथा अपूर्व कार्य के निवारण के लिये हैं जैसे कि अनेक पुत्र वाले

---

१ (ग) च दारुणीव। २ (क) अभिव्यक्तः (ग) अभिव्यक्तमन्त।
३ (ख) भेदस्याधिकस्य। ४ (क) कारेणोभयोपपत्तेः, (ख) कारेण मायोपपत्ते।
(ग) कारेणाम्नायोपपत्तेः। ५ (क) दानस्य, (घ) दानत्वस्य।
६ (क) तद्रूपेण, (ग) सद्रूपेण।

प्येवं निर्देशस्य "तदैक्षत" इत्याद्यनुसारेण सम्भवात्। आकाशादिक्रमेणैव च सर्वत्र सृष्टिरभिप्रेता तेज आदेः; प्राथम्यनिर्देशस्तु सर्वकार्याणां साक्षाद् ब्रह्मसृष्टिः इति ख्यापनार्थो पूर्वकार्यनिवारणार्थो[१] बहुपुत्रस्य कनीयांसमुद्दिश्य 'अस्यायं जनकः' इतिवत्। तेनैकसर्गरूपसत्कार्येण[२] उक्तरूपकारणत्वलक्षणमविरुद्धम्। तस्मादसम्भवादिदोषाभावान्निराकुलं तटस्थलक्षणं ब्रह्मणः।

[स्वरूपलक्षणम्—]

अथ स्वरूपलक्षणं संक्षेपेण भण्यते—'सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म' इति च

भावदीपिका

तेन लक्षणस्याऽनिर्णयमाशङ्क्याऽऽह—आकाशादिति। अवान्तरमहाप्रघट्टकार्थान् उपसंहरति—तेनेत्यादिना।

[स्वरूपलक्षणम्—]

"भावलक्षणया वाक्यमहं ब्रह्मेति बोधकम्। तत्रोक्तो ब्रह्मशब्दार्थो य ह आदेय उच्यते॥,"
"य इदं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्। ईशानं भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते॥"
मधु=फलम्, अत्तीति=मध्वदः; जीवः; तं ईशानत्वेनाऽनुभूय आत्मानं गोपयितुम् निन्दितुम् च नेच्छति निर्भयः कृतार्थश्च स्यात्; अन्तिकात्=तत्क्षणादिति कठश्रुतेः। सर्वश्रुतिषु चैक्यज्ञानं फलवदाम्नायते। बृहदारण्यके च "तद्यो यो देवानाम्" इत्यादिविशेषः। अतो जीवब्रह्मणोर्लक्षणया=भागत्यागभागोपादानलक्षणया ऐक्यं निरूपणीयमिति ब्रह्मपदार्थे हेयो अंशो मायासाचिव्याज्जगत्कारणत्वलक्षणो निरणायि। साम्प्रतमुपादेयांशो निर्णीयते—इत्याह—स्वरूपेति। "आनन्दादयः प्रधानस्य"—इति सूत्रात् आनन्दपदोपसंग्रहे 'च'-शब्दादात्मत्वसंग्रहः। "आत्मन आकाशः", "तमेवैकं जानथ आत्मानम्", "तद्यदात्मविदो विदुः" इत्यादिश्रुतिभ्यः; "यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चाऽत्ति विषयानिह। यच्चाऽस्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते।"—इति निरुक्तेरपि। आप्नोति=व्याप्नोति; जगत्कारणत्वात्। आदत्ते लयकाले सन्ततोऽधिष्ठानतया बाधोत्तरमपि भावोऽस्य जीवभावापन्नं च विषयानुपलभते इत्यात्मा। ब्रह्म चाऽनन्तपदेनैव त्रिविधाऽन्तवारणात् सत्यज्ञानादि; न ततो भिन्नं वस्तु किन्तु ब्रह्मैवेति सिद्धौ न पदान्तरवैयर्थ्यम्; त्रिविधान्तवारणस्य शून्यपक्षेऽपि सम्भवात्। न चैवमपि सत्यपदेनाऽलम्; यद्वा सत्यमबाध्य-

ज्ञानवती

(पिता) को सबसे छोटे को लक्ष्य करके (कहा जाता है) कि 'यह इसका पिता है'। इसलिये एकसर्गरूप सत्कार्य के द्वारा उक्तरूप कारणत्व लक्षण ठीक नहीं है। इस कारण असम्भव आदि दोष के अभाव से ब्रह्म का तटस्थ लक्षण निराकुल है।

[स्वरूपलक्षण—]

अव स्वरूपलक्षण संक्षेप म कहा जाता है—

"सत्यं ज्ञानमनन्तमानन्दं ब्रह्म" यह स्वरूप लक्षण है। उसमें सत्त्व का व्यवहार

---

१ (ख) नार्थेन ततः पूर्वं, (ग) नार्थोन ततः अपूर्ववार्य।

२ (ग) तेनैकरूपसर्गकार्येण एकरूपसार्गकार्यत्वलक्षण।

स्वरूपलक्षणम्। तत्र सत्त्वव्यवहारो न तावत् सत्तासमवायोपाधिः; सत्तादावपि तस्य निर्बाधस्य दर्शनात्; द्वे तत्त्वे सदसती भावाभावौ[1] इत्यविशेषेण संग्रहाच्च। सत्त्वं मुक्त्वाऽपि भावत्वं चेत्? 'षडेव भावाः' इति व्यपदेशो न स्यात्। अत एवार्थक्रियाप्रमाणयोग्योपाधिरपि[2] न युज्यते; तयोरपि सत्त्वव्यवहारात् तत्र परनिबन्धनत्वे(-ऽनवस्थानाच्च[3])। अतः स्वरूपसत्त्वमेव[4] सद्व्यवहारहेतुः; तच्च चिदात्मनो ब्रह्मणः (समानम्[5])।

भावदीपिका

मिति न शून्यव्यावर्त्तकत्वं सत्यपदस्य? नैवम्; संभवार्थमपि विशेषणसम्भवात्; ज्ञानगुणेश्वरव्यावृत्तेः सत्यपदमात्रादसिद्धेः। अबाध्यं चाऽधिष्ठानमेव। न च शून्यमधिष्ठानं इत्यवादिष्म; ततः सत्यपदात्तद्व्यावृत्तिः। सत्यं ब्रह्मेति उक्तेऽपि जडत्वाऽऽशङ्का स्यात्। ततो न ज्ञानपदवैयर्थ्यम्। पराऽभिमतं सतः निराऽकुर्वन् स्वाऽभिप्रेतं सत्यपदस्य शून्यव्यावर्त्तकत्वोपयुक्तमर्थमाह—तत्रेति। स्वयं सर्वभावानां सच्छब्देन सङ्ग्रहणात्, एकस्य च सच्छब्दस्य स्वरूपसामान्यलक्षणसत्त्वद्वयसन्निधानशक्त्ययोगाच्च न सामान्यसत्त्वसिद्धिः—इत्याह—द्वे तत्त्वे इति। स्वरूपसत्त्वमेव तत्त्वम्; न चेत् अभावस्य भावत्वप्रसङ्गः स्यात्; न चैतदिष्टम्—इत्याह—सत्त्वमिति। चिदात्मन्यपि सत्त्वव्यवहारात् शुक्तिकलधौतादेरपि सद्व्यवहारस्याऽधिष्ठानसत्त्वविषयत्वाच्चिदात्मनश्चाऽधिष्ठानाऽनिरूपणात्। न च देहा[-दिकं] तदधिष्ठानं समारोपितं च शून्यमेवेति न चिदात्मसत्त्वसिद्धिरिति वाच्यम्? स्वप्ने शयानदेहस्य चैतन्यसमारोपेण व्यवहाराऽभावाद् देहान्तरस्य सचितिकस्य समारोपो वक्तव्यः। ततः स्वप्नदेहादिव जाग्रद्देहस्याऽपि समारोपितत्वात् सदधिष्ठानभ्रमस्योक्तत्वादधिष्ठानान्तरापेक्षायामनुस्यूतसद्वस्तुसिद्धौ सिद्धं जगत्कारणस्य चिदात्मनः सत्त्वम्—इत्याह—तच्चेति।

ज्ञानवती

सत्तासमवायरूप उपाधिवाला नहीं हैं। क्योंकि सत्ता आदि में भी निर्बाध रूप से उसका दर्शन होता है। तथा दो तत्त्व हैं—सत्-असत्, भाव-अभाव ऐसा सामान्यरूप से संग्रह है।

(पू) सत्य को छोड़कर भी भावत्व है? (उ) तब तो छ ही भाव हैं यह व्यवहार नहीं होगा। इसीलिये अर्थक्रियाप्रमाण के योग्य उपाधि भी ठीक नहीं होती है। क्योंकि उन दोनों के भी सत्त्वव्यवहार होने से वहाँ पर निबन्धनत्व में अनवस्था हो जायगी। इसलिये स्वरूपसत्त्व ही सद्व्यवहार का हेतु है। और वह चिदात्मा ब्रह्म के विषय में समान है।

वाचस्पतिमिश्र ने कहा है—"चिदात्मा तो श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण का विषय है, उसका मूल उससे अविरुद्ध न्याय से निर्णीत, शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाववाला है, सत्त्व से ही निर्वाच्य है"। अबाधित स्वयंप्रकाशता ही इसकी सत्ता है। और वह चिदात्मा का स्वरूप ही है न कि उससे अतिरिक्त सत्तासामान्य का समवाय और अर्थक्रियाकारिता।

१ (ख) भावावित्य।
२ (ग) प्रमाणयोगो।
३ (क) ऽनवस्थानात्। (ख) निबन्धनत्वे नाऽनवस्थानात्।
४ (ग) स्वरूपमेव।
५ (क) समानः, (ग) समानम्।

तदाहुर्वाचस्पतिमिश्राः—"चिदात्मा तु श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणगोचरस्तन्मूलतदविरुद्धन्याय(-निर्णीतः[१]) शुद्धबुद्धमुक्तस्वभावः सत्त्वेनैव निर्वाच्यः; अबाधितत्वं प्रकाशतैवास्य सत्ता। सा च स्वरूपमेव चिदात्मनो, न तु तदतिरिक्तसत्तासामान्यसमवायोऽर्थक्रियाकारिता[२] च" इति। न च स्वरूपसत्त्वमपि प्रतिभावं भिद्यते। अपरथा केषाञ्चित्सत्त्वे सर्वेषां सत्त्वात् नष्टानष्टोत्पन्नानुत्पन्नविभागो न स्यात्। अतो नाद्वैतसत्त्वसिद्धिरिति वचनीयम्।

(यथा[३] हि) सत्तायां सत्यामपि द्रव्यादिव्यक्तीनामुपरागानुपरागमात्रेण[४] सत्त्वासत्त्वादिव्यवहारः परेषाम्, तथा ब्रह्मसत्त्वे सत्यपि नष्टादिव्यवहारसम्भवात्। कथं तर्हि स्वरूपसत्त्वम्, यद्यसत्यपि स्वरूपे वर्त्तते? उच्यते—स्वरूपसत्त्वं हि यद्बलेन मायाविजृम्भितः प्रपञ्चो लोहपिण्ड इव अग्न्यात्मना सदात्मना (रज्जुदैर्घ्येणेव[५]) रज्जुभुजङ्गः प्रतिभासते तदेवाधिष्ठानभूतं ब्रह्म अस्य स्वरूपं तत्त्वत इति। अत एव "इदं सर्वं यदयमात्मा" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इति 'रज्जुरियं न सर्पः' इतिवत् सर्वदा ब्रह्मात्मकत्वं जगतो वदति श्रुतिः। आरम्भणशब्दादिभ्यश्च आकाशादिप्रपञ्चस्यानृतत्वावधारणात्।

भावदीपिका

सत्त्वज्ञानयोर्भेदे "एकधैव" इत्यादि विरोधः स्यात्—अत आह—अबाधितेति। अस्तु स्वरूपसत्त्वं भावानां तथाऽपि तस्य प्रतिभावं भेदात् सच्छब्दप्रवृत्तिहेतुरनुगतो न सिद्ध्यति? न चाऽद्वैतात्मसत्त्वम्—इत्याशङ्क्याऽऽह—न च स्वरूपेति। सत्त्वैक्ये बाधमाह—अपरथेति। तर्हि प्रतिज्ञाभङ्गः—इत्याह—तर्हीति। स्यादयं दोषो यदि समारोपितस्याऽधिष्ठानं परमार्थस्वरूपं न स्यात्—इत्याह—उच्यते इति। यद्बलेन=यत्सत्त्वबलेन; प्रपञ्चः सदात्मना प्रतिभासते तद् ब्रह्मैवाऽस्य तत्त्वतः स्वरूपमित्यन्वयः। कथं प्रपञ्चस्य समारोपितत्वम्? तत्राऽऽह—आरम्भणेति।

ज्ञानवती

स्वरूपसत्त्व भी प्रतिभाव भिन्न नहीं है अन्यथा किन्हीं की सत्ता होने पर सबकी सत्ता होने से नष्ट—अनष्ट, उत्पन्न—अनुत्पन्न का विभाग नहीं होगा। इसलिये अद्वैत सत्त्व की सिद्धि नहीं होती ऐसा कहना चाहिये।

जिस प्रकार—दूसरों के मत में सत्ता के होने पर भी द्रव्य आदि व्यक्तियों के उपराग एवं अनुपराग मात्र से सत्त्व—असत्त्व आदि का व्यवहार होता है। उसी प्रकार ब्रह्म सत्त्व के रहने पर भी नष्ट आदि व्यवहार सम्भव है। (पू) यदि स्वरूप के न रहने पर भी वर्त्तमान है तो स्वरूपसत्ता कैसे? (उ) कहते हैं—स्वरूपसत्त्व वह है जिसके बल से मायाविजृम्भित प्रपञ्च सदात्मा के रूप में उसी प्रकार प्रतिभासित होता है जैसे लोहपिण्ड अग्नि के रूप में या रज्जु के दैर्घ्य के द्वारा रज्जु भुजङ्ग के रूप में, वही

---

[१] (क) निर्णीतः, (ख) निर्णीतः। [२] (क) समवायार्थ।
[३] (क) तथा हि, (ग) यथा हि। [४] (ग) सत्यादि।
[५] (क) रज्जुदैं, (ग) रज्जुदै।

[ब्रह्म विवर्त्तोपादानम् माया च परिणामिनी--]

ननु "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इति वाचा[1] केवलमस्ति इत्यारभ्यते न तु वस्तु सन् विकारः यतो नामधेयमात्रं पुरुषस्य चैतन्यमिति पुरुषचैतन्ययोः (सम्बन्ध इतिवत्[2]) यथाश्रुतार्थे नामधेयेन 'उदकमाहर' इत्यादिव्यवहारप्रसङ्गात्[3]। अवश्यमर्थान्तरपरिग्रहेण एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपक्रमात् नामधेयत्वं मिथ्यात्वम्। तथा सति—

"आशामोदकतृप्ता ये ये चोपार्जितमोदकाः।
रसवीर्यविपाकादि तुल्यं तेषां प्रसज्यते॥"

भावदीपिका

[ब्रह्म विवर्त्तोपादानं माया च परिणामिनी—]

नामधेयश्रुतेर्मुख्यार्थाऽवलम्बनेन शङ्कते—नन्विति। एकविज्ञानेन सर्वज्ञानोपक्रमात् मिथ्यात्वं नामधेयपदार्थो न भवति। नामधेयशब्दस्य नाम्नि श्रुतत्वेन प्रबलत्वादर्थप्रपञ्चस्य च तन्मात्रत्वे स्वोचितार्थक्रियाया असम्भवात् तस्य स्वतन्त्रसत्त्वमित्यर्थः। स्वतन्त्रस्वरूप-सत्त्वाऽभावे दोषमाह तथा सतीति। आशामोदकोपार्जितमोदकयोः स्वतन्त्रसत्त्वाऽभावा-ऽविशेषात् अर्थक्रियाविशेषो न स्यात् इति प्रसङ्गो न युक्तः; जले वह्नौपाधिकौष्ण्यतारतम्या-दाहार्थक्रियातारतम्यदर्शनात्; अज्ञातस्याऽधिष्ठानत्वात्; तस्य च चिराऽचिरकाले निवर्त्तक-विशेषस्य दर्शनात्; तथाऽधिष्ठानाऽऽत्मौपाधिकसत्त्वेऽपि सम्भवात्—इत्याह – न प्रसज्यत इति। अथाग्नेयपरमाणूनां बाहुल्यवत् न ब्रह्मसत्त्वस्य तारतम्यं येनार्थक्रियातारतम्यं स्यात् ?

ज्ञानवती

अधिष्ठान भूत ब्रह्म इसका तात्त्विक स्वरूप है। इसीलिये "यह सब जो है आत्मा है, "यह सब ब्रह्म है" ऐसीं श्रुति यह रस्सी है सर्प नहीं है इसके समान सदा जगत् का ब्रह्मात्मकत्व बताती है। क्योंकि आरम्भण शब्द आदि के द्वारा आकाश आदि प्रपञ्च का अनृतत्व निश्चित होता है।

[ब्रह्म विवर्तोपादान है और माया परिणामिनी है—]

(पू) "वाणी का आलम्बन विकार नामधेय है" इससे वाणी केवल है ऐसा आरम्भ किया जाता है न कि वस्तु सत् विकार है। क्योंकि पुरुष का नामधेयमात्र चैतन्य है। जैसे पुरुष एवं चैतन्य का सम्बन्ध है। यथाश्रुत अर्थ में नामधेय से 'जल लाओ' इत्यादि व्यवहार होने लगेगा। अर्थान्तिर के ग्रहण से एक विज्ञान से सर्वविज्ञान का उपक्रम होने से नामधेय अवश्य मिथ्या है। ऐसा होने पर—

"जो आशा मोदक से तृप्त हैं और जो उपार्जित मोदक वाले हैं उनका रस, वीर्य, विपाक आदि तुल्य होने लगेगा"।

---

१ (ग) वाच। २ (क) सम्बन्धवदिति, (ग) सम्बन्ध इतिवदिति।
३ (ग) इत्यादि प्रसङ्गात्।

न प्रसज्यते व्यावहारिकसत्त्वानपलापेन चेत् ? उच्यते—नामधेयश्रुतिश्च देह[1] आत्मा नामधेयमात्रमितिवत्। न च ब्रह्मपरिणामः प्रपञ्चः; विवर्त्तनिर्वाहकमायोपकरण-श्रुतेः। परिणामश्च कार्त्स्न्येन चेत् ? द्वितीयपरिणामाभावः; "त्रिपादस्यामृतं दिवि"

भावदीपिका

तत्राऽऽह - व्यावहारिकेति। यथा स्वयं रज्ज्वां समारोपितरज्जुसत्त्वभाक्त्वं भुजंगस्य दृष्टम्; मायाविनिर्मितरज्जुसर्पस्य धावनमुखप्रसारणफणाऽऽटोपादिव्यक्ताऽर्थक्रियाकारित्वम्; न च तत्र परैः समारोपितस्य सत्त्वतारतम्यं तदधिष्ठानस्य वाऽभ्युपेयते; तथा प्रकृतेऽपि यावद्बाधं सम्भवति; न पुनर्मायाया अल्पकालं वा स्वतन्त्रं तुच्छव्यावृत्तत्वमपि अपरोक्षत्वेन न प्रतीतिं माया गमयति। [सा चा-]धिष्ठानसत्त्वोद्वलिता प्रातीतिकव्यावहारिकप्रपञ्चगर्भा भवति। अत एव "नित्यनिवृत्तावपि मूढैरात्मेव दृष्टा" इति, "चित्रभित्तिरिव मिथ्यामनोरमम्" इति श्रुतिः। "स्वाश्रयनिष्ठाऽत्यन्ताभावसमानाधिकरणतया प्रतीयमानत्वं मिथ्यात्वम्" इति च वृद्धाः। स्वतन्त्रसत्त्वे य चिदात्मवत् ज्ञानमात्रादुपपन्नो वेदोक्तो भङ्गो भज्येतेति भावः।

एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानोपपादनार्थदृष्टान्ताऽन्तर्गतनामधेयश्रुतेः मिथ्यात्वपर्यवस्थानमेव युक्तम्—इत्याह—नामधेयेति। "आत्मनः आकाशः सम्भूतः" इति 'सम्' उपसर्गात् स्वतन्त्रसत्त्वेनोत्पत्तिरवधार्य ततो मायावादोऽनास्थामात्रं प्रपञ्चे। तात्पर्येण प्रतिपाद्यैक-विज्ञाननिमित्तसर्वविज्ञानप्रतिज्ञाऽऽनुकूल्यात् मायावादस्याऽनास्थानिवृत्तिमात्रपरत्वम्। अथ परिणामेऽपि प्रतिज्ञा स्यात् ? तत्राऽऽह—न च ब्रह्मेति। "कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्द-कोपो वा"—इति सूत्रकृद्भिः परिणामः स्वरूपेण ब्रह्मणो निराकृतश्च—इत्याह परिणाम-श्चेति। यथैकस्य सुवर्णगोलकस्य कटकाकारपरिणामे सावयवस्याऽपि तस्य न तदैव मुकुटा-कारपरिणामः तथा निरवयवस्य ब्रह्मणो न भवति इति किमु वाच्यम्। अथ "आत्मन आकाशस्ततो वायुस्ततस्तेजः" इत्यादि श्रुतेः क्षीराद्दधि ततस्तक्रं नवनीतं घृतमित्यादिवन्नास्ति युगपदेवैकपरिणामः ? तर्हि स्थितिकाले तक्रादिसमये दुग्धदधिवत् ब्रह्माकाशादेरभावप्राप्तो श्रुतिविरोधो दार्ढ्यं ढौकते—इत्याह—त्रिपादस्येति। एकदेशोऽपि सत्यः ? कल्पितो वा ?—

ज्ञानवती

(पू) व्यावहारिक सत्ता का अपलाप न होने से प्रसक्त नहीं होता है यदि ऐसा कहें तो ?—(उ) कहा जाता है—नामधेय की श्रुति 'देह आत्मा नामधेय मात्र हैं' इसके समान है। (पू) ब्रह्म का परिणाम प्रपञ्च है ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि विवर्त्तनिर्वाहक मायोपकरण की श्रुति है। (पू) और यदि परिणाम संपूर्ण रूप से होता है ऐसा कहें ? (उ) जो द्वितीय परिणाम का अभाव हो जायगा। और 'इसका अमृत तीन पाद स्वर्गलोक में है" इस अविकृतश्रुति के साथ विरोध हो जायगा। (पू) यदि एक देश से सावयवत्व मानेगें तो ? (उ) "पुरुष दिव्य शान्त एवं अमूर्त्त है, निष्कल एवं निष्क्रिय है" इत्यादि श्रुति का व्याकोप हो जायगा। इसलिये मायाविकार के बल से

---

[1] (ग) देहात्म।

इत्यविकृतश्रुतिविरोधश्च। एकदेशेन चेत्? सावयवत्वम्; (ततो[1]) "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" "निष्कलं निष्क्रियम्[2] (शान्तम्)" इत्यादिश्रुतिकोपः। तस्मात् मायाविकारबलात् विवर्त्त एव जगत् इति ब्रह्मैव तु[3] स्वरूपसत्त्वम् "बह्वङ्कुरा" इति मायाविकारश्रुतेश्च।

"सर्वज्ञकरुणानुन्ना विचारज्ञानकामना।
ईक्षणोपचयान्नादिरूपेणाथ विवर्त्तते॥"

इति वार्त्तिककृद्भिः सङ्गृहीताश्च विकाराः श्रुत्युक्ताः। यथा सिक्तस्य बीजस्य अङ्कुरोत्पत्तेः (पूर्वभाविनः[4]) उच्छूनताविकारविशेषाः भवन्ति तथा मायाया आकाशादिविकारविशेषाः[5]। तत्र सृष्ट्यवसरोद्भूतेन सर्वप्राणिविषयेण ज्ञानविशेषेण मायाविकारेण ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वम्। ततः प्राणिविषयः करुणाविकारः; ततो नुन्नमायाविषय एव प्रेरणाविकारः; ततः कथं प्राणिनां[6] पुमर्थो भवति इति विचारविकारः; ततः सृष्ट्यैव इति विचारफलज्ञानविकारः; ततः सृष्टिकामनाविकारः; ततः कथं सृजामि[7] इतीक्षणविकारः; ततः किञ्चिदुपचय उच्छूनताविशेषस्थानीयो विकारः;

भावदीपिका

नाद्यः—इत्याह—एकेति। नान्त्यः—इत्याह—तस्मादिति। कल्पितः प्रदेशो मायाविकार एवेति विवर्त्तवाद एवेत्युक्तम्। तत्र मायाविकारसद्भावे सव्याख्या तापनीयश्रुतिः प्रमाणयति—बह्वङ्कुरेति। बृहदारण्यकवार्त्तिककारैरपि मायाविकाराः श्रुतितात्पर्येण

ज्ञानवती

जगत् विवर्त्त ही है। इस कारण ब्रह्म ही स्वरूप सत् है। इसके अतिरिक्त "बहुत अंकुरों वाली" ऐसी मायाविकार की श्रुति है।

"सर्वज्ञ की करुणा से प्रेरित (माया) विचार, ज्ञान, कामना, ईक्षण, उपचय अन्न आदि के रूप में विवर्त्तित होती है"।

ऐसा वार्त्तिककार के द्वारा संगृहीत विकारसमूह, श्रुति में उक्त है। जैसे सींचे हुए बीज की अंकुरोत्पत्ति के पहले होने वाले उच्छूनता आदि विकारविशेष होते हैं उसी प्रकार माया के आकाश आदि विकारविशेष हैं। सृष्टि के अवसर पर उद्भूत सर्वप्राणिविषयकज्ञानविशेष मायाविकार के द्वारा ईश्वर का सर्वज्ञत्व है। उसके बाद प्राणिविषयक करुणाविकार है, इसके बाद प्रेरितमायाविषयक प्रेरणाविकार है, फिर 'कैसे प्राणियों का पुरुषार्थ हो' यह विचारविकार हैं, पुनः सृष्टि के द्वारा ही हो सकता है ऐसा विचार का फल ज्ञानविकार है, इसके अनन्तर सृष्टि की कामना का विकार है, इसके बाद 'कैसे प्राणियों की सृष्टि करूँ' यह ईक्षणविकार है, उसके बाद कुछ उपचय अर्थात् उच्छूनताविशेषस्थानीयविकार है, तब गर्भाङ्कुर के समान अनभिव्यक्तरूप अन्न आदि शब्द वाला पृथिवी

---

१ (क) अतो (ग) ततो। २ (ग) निष्क्रियमित्यादि। (ग) निष्क्रय शान्तमित्यादि।
३ (ग) तत्। ४ (क) पूर्वा, (ग) पूर्व। ५ (ग) विकाराद् विकार।
६ (ग) कथं प्राणिनः सृजामि। ७ (ग) कथं प्राणिनः।

ततो गर्भाङ्कुरवदनभिव्यक्तरूपान्नादिशब्दपृथिव्यादिरूपेण विकार इत्यर्थो वार्त्तिकस्य।

"ईश्वराव्याकृतप्राणविराड्भूतेन्द्रियादिकम्[1] ।
नाविद्योपाश्रयं मुक्त्वा सम्भाव्यं प्रत्यगात्मनि ।।"

अव्याकृतम्=जगन्मूलम् ; तदन्तःस्थितोऽन्वर्यामी। आदिशब्दाद्देहो विषयश्च इत्यष्टावस्थाः सुरेश्वराचार्यैरप्युक्ताः। "त्रिपादस्यामृतं दिवि" "अतो ज्यायांश्च पुरुषः" इति चाम्नातं विकारावर्त्तिरूपं[2] प्रतिबिम्बेश्वरस्य नाञ्जसम् ; मुख्यामृतत्वव्यापित्वयोस्तत्रासम्भवात्। अतो यस्यायं (पादस्थानीयो[3]) प्रपञ्चः स न प्रतिविम्बात्मा भवितुमर्हति। बिम्बं च जीवानां साधारणम् "त्रिपादस्य" इति व्यपदेशं नार्हति।

"यया यया भवेत् पुंसां व्युत्पत्तिः प्रत्यगात्मनि ।
सा सैव[4] प्रक्रियेह स्यात् साध्वी सा चानवस्थिता ।।"

इति सुरेश्वराचार्योक्तेश्च। अनात्मप्रति(-पत्तिघात्यनु[5]च्छेद्यमायावादो[6]) ग्राह्यः। अतो मुख्यमेव परं ब्रह्म जीवाविद्यादिस्वविकारपरम्पराधिष्ठानत्वेन[7] स्वीक्रियमाणमीश्वरनामधेयालम्बनं सदेकरसं च ; तदुक्तम्—एवं ज्ञानमपि ब्रह्मैव।

भावदीपिका

सङ्गृहीताः—इत्याह—**ईश्वरे**।

एवं विवर्त्तत्वात् प्रपञ्चस्य स्वतन्त्रसत्त्वं नास्तीत्युक्तम्। सांप्रतं तत्त्वसाक्षात्काराऽनुच्छेद्यमायायां तस्याः स्वतन्त्रसत्त्वशङ्कायां नाऽद्वैतसत्त्वनिर्णय इति स्वतन्त्रमायोपाधेरीश्वरत्वं निराकुर्वन्नुच्छेद्यजीवाविद्याविषयीकृतस्येश्वरत्वं च वदन्निर्णयं करोति—त्रिपादस्येत्यादिना। अथ बिम्बरूपापेक्षयाऽयमीश्वरस्य व्यपदेशः ? तत्राऽऽह—बिम्बं चेति। अस्तु वा यथाकथञ्चित् व्यपदेशः तथाऽपि नेयं प्रक्रिया ग्राह्या—इत्याह—यया ययेति। एवमधिष्ठानवतं ब्रह्मैवैकं सिद्धं सत्त्वम्—इत्याह—सदैकरसमिति।

ज्ञानवती

आदि के रूप में विकार होता है यह वार्त्तिक का अर्थ है। सुरेश्वराचार्य ने भी आठ अवस्थाओं को कहा है—

"ईश्वर, अव्याकृत, प्राण, विराट, भूत, इन्द्रिय आदि। आदि शब्द से देह एवं विषय (उक्त ईश्वर अव्याकृत आदि) अविद्योपाश्रय को छोड़कर प्रत्यगात्मा में सम्भाव्य नहीं है।"

अव्याकृत का मतलव है जगत् का मूल। उसके भीतर अन्तर्यामी स्थित है। "इसका तीन अमृत पाद स्वर्गलोक में है," "इसलिये यह पुरुष श्रेष्ठ है" यह श्रुति प्रतिविम्ब ईश्वर का विकारावर्त्ति रूप है, यह (कहना) उचित नहीं है। क्योंकि मुख्य अमृतत्व एवं व्यापित्व वहाँ सम्भव नहीं है। इसलिये यह पादस्थानीय प्रपञ्च जिसका है वह प्रतिविम्बात्मा नहीं हो सकता। और जीवों का साधारणविम्ब 'त्रिपादस्य' ऐसे व्यवहार के योग्य नहीं है। क्योंकि सुरेश्वराचार्य की उक्ति है—

---

१ (ग) किं। २ (ख) विकार। ३ (क) वाद, (ग) पाद।
४ (ग) सा चेव। ५ (क) द्यात्य। (ख, ग) द्यात्य।
६ (क) मान, (ग) माया। ७ (ग) परम्परास्पदीक्रियमाण।

ननु लोकवेदयोः कर्त्तव्यतयोपदिश्यमानं प्रमाणादिव्यापारसाध्यं च ज्ञानं कथं नित्यसिद्धं ब्रह्म ? उच्यते--वेदे तावत् आत्मतत्त्वं शब्दैकगोचर इति शाब्दीप्रतिपत्तिर्नोत्पत्तौ कर्मविधिवाक्यार्थबोधवदधीतवेदस्य स्वयमुत्पद्यमानत्वाद्विधेया ; अन्यथा कर्मविधिवाक्यार्थबोधोत्पत्तावपि विधौ तस्याप्यवबुद्धार्थस्य प्रवर्त्तकत्वात् तदर्थबोधोत्पत्तौ विध्यन्तरम् इत्यनवस्थाप्रसङ्गात् ।

ननु यथाऽध्ययनविधितः कर्मविधीनां पाठः तथा "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः" इति बोधोत्पादोऽपि, अधिगतिविधितः स्वाध्यायविधेः स्वपरपाठप्रयोजकत्वेनानव[1]—स्थापरिहार (वदत्रापि[2])-सम्भवात् ? मैवम् ; दृष्टफले सम्भवत्यदृष्टकल्पनाऽनुपपत्तेः ;

भावदीपिका

उक्तं सत्यपदेन ब्रह्मव्यतिरिक्तवस्तुनः स्वतन्त्रसत्त्वाऽनिरूपणादेव ज्ञानमपि तदेवेति । उक्तम् भङ्ग्यन्तरेण शोधयितुमाक्षिपति—नन्विति । न च ज्ञानस्य धात्वर्थत्वाऽभावादविधेयत्वम् ? 'छिनत्ति' इतिवत् 'जानामि' इत्यभिमानेन व्यवहाराबाधात्; छिदेः कुठारादिवदत्रोचितकरणसम्भवाच्च—इत्याह—प्रमाणेति । आदिपदात् इतिकर्त्तव्यतारूपः तर्कः । वेदे तावत् विधेयत्वं ज्ञानस्य निराचष्टे—उच्यत इति । तत्र शाब्दप्रतिपत्तौ उत्पत्तिनिश्चयादिप्रकारः विधेयत्वनिरासमुपक्रमते—वेदे तावदिति ।

अनवस्थोद्धारमाशङ्क्य तां व्यवस्थापयन् क्लृप्तं बोधे विध्यन्तरं निराचष्टे—नन्वित्यादिना । अस्तु तर्हि कर्मविधिरेवाऽर्थाऽवबोधेतिकर्त्तव्यताविधायक इत्यत एव न वाच्यम्—

ज्ञानवती

"जिस जिस (प्रक्रिया) के द्वारा पुरुषों की प्रत्यगात्मा में व्युत्पत्ति होती है वही वही प्रक्रिया यहाँ साध्वी है और वह अनवस्थित है ।"

(इससे) अनात्मप्रतिपत्ति के घातक से अनुच्छेद्य मायासिद्धान्त ग्राह्य है । इसलिये मुख्य ही परं ब्रह्म जीव अविद्या आदि अपने विकार की परम्परा के अधिष्ठान के रूप में स्वीक्रियमाण ईश्वर नाम वाले का आलम्बन, और सदेकरस है । वही कहा है—इस प्रकार ज्ञान भी ब्रह्म ही है ।

(पू) लोक एवं वेद में कर्त्तव्य के रूप में उपदिश्यमान और प्रमाण आदि व्यापार से साध्य ज्ञान नित्य सिद्ध ब्रह्म कैसे ? (उ) (इस विषय में) कहते हैं ? वेद में आत्मतत्त्व केवल शब्द का विषय है इसलिये शाब्दी प्रतिपत्ति, उत्पत्ति में कर्मविधिवाक्यार्थबोध के समान अधीतवेद वालों के लिये स्वयं उत्पद्यमान होने से विधेय नहीं है । अन्यथा कर्मविधि, वाक्यार्थबोधोत्पत्तिवाली विधि में भी उसके भी ज्ञात अर्थ के प्रवर्त्तक होने से उस अर्थ के बोध की उत्पत्ति में विध्यन्तर की (प्राप्ति होगी और इस प्रकार) अनवस्था की प्राप्ति होने लगेगी ।

(पू) जैसे अध्ययनविधि से कर्मविधि का पाठ होता है उसी प्रकार "वेद को सम्पूर्ण रूप से जानना चाहिये" इस ज्ञान की उत्पत्ति भी अधिगतिविधि से स्वाध्याय विधि के स्वपरपाठ प्रयोजक के रूप में अनवस्था के परिहार के समान यहाँ भी संभव है ?

---

[1] (ख) स्वपाठ । [2] (क) वदतोऽपि, (ख) वदतापि, (ग) वदत्रापि ।

"दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनम्" इति न्यायात्, अध्ययनविधिनाऽर्थाक्षिप्तावबोध[1]-विधेरपूर्वार्थत्वाभावेन विधित्वात्। कर्मविधेश्च कर्मबोधोपक्षीणत्वात्[2] न (स्वस्यार्थाव-बोधने[3]) व्यापारः। अथ न बोधमात्रे विधिः किन्तु निश्चये? सोऽपि शब्दतश्चेत्? विधिं विनाऽपि[4] स्यात्; (अन्यतश्चेत्[5]? शब्दस्य फले सापेक्षत्वेन स्वतो मानत्वं न स्यात्। अथ शब्देन बोधमात्रम्? विप्रलम्भकवाक्यार्थबोधवत् वैयर्थ्याशङ्का स्यात्।) न; 'अर्थो ज्ञातव्यः' इत्युक्तेस्तात्पर्येण वैयर्थ्याशङ्काऽनुदयात् विवक्षितार्थे बोधोत्पत्तौ विधिः? एवमपि एतद्विधेर्विध्यन्तरमन्तरेण विवक्षितार्थत्ववदितरवाक्येष्वपि तत्सम्भवात्; शब्दधर्मतात्पर्यनिर्णायकलिङ्गैरपि विवक्षितार्थबोधोत्पादे विधिवैय-र्थ्याच्च। नापि विधानादेव यागादीनामिव ज्ञानस्य पुमर्थसाधनत्वं इति तद्विधिः,[6] ज्ञेयाभिव्यक्तिलक्षणज्ञानफलस्य[7] विधिमन्तरेणापि सम्भवात्; प्रवृत्त्यादिफलस्य सिद्ध-वस्तुन्यसम्भवाच्च। न च माषपरिमितहेम्नः पञ्चमभागात्मककृष्णलानां "सौर्यं चरुं

भावदीपिका

इत्याशयेनाह—कर्मविधेश्चेति। निश्चयपक्षमपि शाब्दविकल्पेन दूषयति—अथेत्यादिना। प्रकारान्तरेण विधिप्रवेशमाशङ्क्य अपाकरोति—अर्थेति। अविवक्षिताऽर्थेऽपि निश्चयः कस्य-चित् सम्भवति। इदं प्रकारान्तरम्। अन्यथासिद्धेश्चाऽस्य न विधिः—इत्याह—शब्दधर्मेति। फलपर्यवसानाय विधिमाशङ्क्य फलस्य प्रस्तुते वैधत्वाऽनिरूपणेन समाधत्ते—नाऽपीति। अथाऽदृष्टविशेषसिद्धये विधिः? नैवमपि; दृष्टाऽविद्यानिवृत्तिफलस्य ज्ञानस्याऽसम्भाव्यमान-फलान्तरेच्छया दृष्टार्थऽविध्यनुपपत्तेः— इत्याह—न चेति।

ज्ञानवती

(उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि दृष्टफल के संभव होने पर अदृष्ट (फल) की कल्पना ठीक नहीं है; कारण उसका अर्थ कर्मावबोधन देखा गया है यह न्याय है। अध्ययनविधि के द्वारा अर्थाक्षिप्त अवबोधविधि के अपूर्वार्थत्वाभाव के कारण विधि न होने से तथा कर्मविधि के कर्म का बोध कराकर उपक्षीण हो जाने से स्व(अर्थात् विधि) का अर्थावबोधन में व्यापार नहीं है।

(पू) बोधमात्र में विधि नहीं है किन्तु निश्चय में है। और वह (=निश्चय) भी शब्द से यदि हो तो विधि के विना भी हो जायगा।

(पू) अन्य से होगा, यदि ऐसा कहें?

(उ) तब तो शब्द के फल के विषय में सापेक्ष होने से स्वतःप्रामाण्य नहीं होगा। अथशब्द से बोधमात्र होता है ऐसा मानने पर भी विप्रलम्भक वाक्य के समान वैयर्थ्य की आशंका होने लगेगी। 'अर्थ जानना चाहिये' इस उक्ति के तात्पर्य से वैयर्थ्य की शंका का उदय न होने से विवक्षितार्थ होने पर बोधोत्पत्ति में विधि है? ऐसा भी नहीं कहना

[1] (क) नार्था, (ग) नाप्या। [2] (ग) बोधे क्षीण। [3] (क) स्वतः तस्यार्था, (ग) स्वस्यार्था। [4] (ग) विधिनापि। [5] (क) स्यात् अर्थो, (ग) स्यात् अन्यतश्चेत्—अर्थो। [6] (ख, ग) तत्र विधिः। [7] (ख) व्याप्तिः।

निर्वपेत् शतकृष्णलमायुष्कामः" इति विधेः पाकासम्भवेऽपि चरितार्थत्वाय स्वीक्रियते पुंसा पचतेर्विक्लेदनार्थत्वात् पुरुषसाध्यं जलाग्निसंयोगमात्रम्, तद्वदिह सम्भवति; तत्रादृष्टोत्पाद[1](-फलत्वात्[2]; पुंव्यापारस्य दृष्टस्य तु ज्ञानस्येच्छानुविधेयत्वात्)।

अथ भूतत्वात् ब्रह्मणः सम्भवत्प्रमाणान्तरगोचरत्वात्तद्वाक्यानाम्, विधेश्च साध्यैकस्वभावत्वेन तद्वाक्यस्यातथात्वात्[3]; अतो मूलप्रमाणसापेक्षत्वेनानुवादलक्षणाप्रामाण्यपरिहाराय विधिः?

मैवं वोचः; प्रत्यक्षादेर्भूतार्थस्य[4] तथाविधाप्रामाण्यासम्भवात्[5]; आप्त(वाक्यस्य[6]) मूलप्रमाणसापेक्षस्याप्युत्पत्तौ मूलप्रमाणप्रमितावेवमयं पुरुषो वेद इति निरपेक्षत्वेन प्रामाण्यस्वीकाराच्च। एतद्वदनाप्तवचसो वक्तृगतप्रमागमकत्वाभावात्

भावदीपिका

पुनः प्रकारान्तरमाशङ्क्य प्रत्याह—अथेति। अथ वाक्यस्यैव? तत्राऽऽह—आप्तेति। 'नद्यास्तीरे पञ्च फलानि सन्ति'—इति भूतार्थस्याऽप्याप्तवाक्यस्य प्रामाण्यं चेह नानाप्रसुखादि-व्यक्तेन किमपराद्धं तन्न प्रमाण्यमिति? तत्राऽऽह—एतद्वदिति। वेदेन च मूलप्रमाणाऽभावात्

ज्ञानवती

चाहिये। इस प्रकार भी इस विधि के विध्यन्तर के विना विवक्षितार्थत्व के समान अन्य वाक्यों में भी वह संभव होगा। और शब्दधर्मतात्पर्य के निर्णायक लिङ्गों के द्वारा भी विवक्षित अर्थबोध की उत्पत्ति होने पर विधि व्यर्थ हो जायगी। यह भी नहीं है कि याग आदि के समान ज्ञान विधान से ही पुरुषार्थ का साधक है इसलिये उसकी विधि हो, क्योंकि ज्ञेय अभिव्यक्तिलक्षण वाले ज्ञान के फल की सम्भावना विधि के विना भी है तथा प्रवृत्ति आदि फल सिद्ध वस्तु में असम्भव है।

माषपरिमित स्वर्ण के पञ्चम भाग वाले कृष्णलों (अर्थात् सुवर्ण यव) के, "आयुष्काम व्यक्ति सूर्यदेवतासम्बन्धी कृष्णल रूप चरु का निर्वाप करे।" (इस विधि को) पाक के असम्भव होने पर भी विधि के चरितार्थ होने के लिये स्वीकार करते हैं। पच् धातु के विक्लेदनार्थक होने से उसका अर्थ) पुरुषसाध्य जल एवं अग्नि का संयोगमात्र है, उसी प्रकार यहाँ भी है। वहाँ पुरुष के व्यापार का फल अदृष्ट की उत्पत्ति है। और दृष्टज्ञान इच्छा का अनुविधेय नहीं है।

(पू) भूत होने से ब्रह्म से उत्पन्न होता हुआ (तथा) उन वाक्यों के प्रमाणान्तर का विषय होने से, तथा विधि के साध्यैकस्वभाव होने से उस वाक्य के वैसा न होने से (इसलिये) मूलप्रमाणसापेक्ष होने से अनुवादलक्षण वाले अप्रामाण्य के परिहार के लिये विधि (मान ली जाय)?

(उ) ऐसा मत कहिये। प्रत्यक्ष आदि भूतार्थ का उस प्रकार का प्रामाण्य असम्भव है। मूलप्रमाणसापेक्ष आप्तवाक्य की भी उत्पत्ति होने पर मूलप्रमाण की प्रमिति

---

१ (ग) तत्त्वा। पुंव्यापारस्य—अथ।
२ (क) फलकत्वात् अथभूत, (ख, ग) फलत्वात्
३ (ग) स्यातत्वात।
४ (ग) भूतार्थं तथा।
५ (ग) प्रामाणभावात्।
६ (क) वाक्य। (ग) वाक्यस्य।

वाक्यार्थे न तद्द्वारेणापि प्रामाण्यम्, इत्याप्तानाप्तवाक्ययोर्विशेषः। नियोगस्य च लौकिकव्युत्पत्तिस्थले, वेदे वा कल्पितव्युत्पत्तिस्थले, प्रवृत्त्यनुमितप्रवर्त्तनज्ञानविशेषणतया साध्यस्यावश्यमनुमानगोचरत्वेन[1] शब्दैकवेद्यत्वायोगात्[2] न तत्परत्वेऽपि निरपेक्ष-प्रमाणत्वलाभः[3]। अत एव 'शाब्दज्ञानविषयपदार्थसंसर्गलक्षणवाक्यार्थसिद्धये[4] विधिः' इत्यपास्तम्। न खलु नियोगः साक्षात् तत्र प्रमाणम्; प्रवर्त्तकमात्रत्वात्। अन्यथा-ऽनुपपत्त्या चेत्? इतरेऽपि पदार्था न स्वरूपमात्रज्ञाप्तये पदैकसमभिव्याहारेणोच्यन्ते[5]। विशिष्टार्थप्रत्यायनप्रयुक्ता हि समभिव्याहृतिरिति। तेन तुल्यत्वान्न विशेषण[6]-नियोगस्यैव संसर्गाक्षेपकत्वम्, आकाङ्क्षादिबलेनेतरेषामपि तदाक्षेपकत्वात्। अतो न शाब्दज्ञाने[7] नियोगावकाशः।

भावदीपिका

ब्रह्मणश्च "पराञ्चि खानि", न "तत्र चक्षुर्गच्छति", "श्रोत्रस्य श्रोत्रम्", न "दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येः" इत्यादिश्रुतेरननुभवाच्च भूतत्वेऽपि न प्रमाणान्तरगोचरत्वम्; ततो न नियोगाऽपेक्षा। कुतश्च नाऽपेक्षा?—इत्याह—नियोगस्य चेति। पुनः प्रकारान्तरमतिदेशेन प्रत्याचष्टे—अत एवेति। वाक्यार्थविशेषप्रत्ययो विध्यधीनः पूर्वं तु वाक्यार्थमात्रं तदधीनमिति विशेषः। साक्षादनुपपन्नतया वा नियोगादुक्तवाक्यार्थप्रमा? नोभयमपि—इत्याह—न खल्विति।

ज्ञानवती

में 'इस प्रकार यह पुरुष जानता है' ऐसा निरपेक्षरूप में प्रामाण्य मान लिया गया है। इसी की तरह अनाप्तवचन के वक्तृगत प्रमागमक न होने से वाक्यार्थ में उसके द्वारा भी प्रामाण्य नहीं है यह आप्त एवं अनाप्त वाक्यों में भेद है। और नियोग के लौकिक व्युत्पत्ति वाले स्थल में या कल्पित व्युत्पत्ति वाले स्थल—वेद में प्रवृत्ति की अनुमिति के प्रवर्तक ज्ञान के विशेषण के रूप में साध्य के अवश्य अनुमान के विषय होने से शब्दैकवेद्यत्व का अभाव होने से तत्परक होने पर भी निरपेक्षप्रमाणत्व का लाभ नहीं है। इसीलिये शाब्दज्ञानविषयपदार्थसंसर्गलक्षणवाक्यार्थ की सिद्धि के लिये विधि है यह (कथन) अपास्त हो गया। वहाँ नियोग साक्षात् प्रमाण नहीं है क्योंकि प्रवर्त्तक मात्र है।

(पू) अन्यथा अनुपपत्ति के कारण (साक्षात् प्रमाण है?) (उ) तब तो दूसरे भी पदार्थ स्वरूपमात्र को बतलाने के लिये पदैकसमभिव्याहार से नहीं कहे जाते हैं। समभि-व्याहृति, विशिष्ट अर्थ को बतलाने के लिये प्रयुक्त होती है। इसलिये तुल्य होने से विशेष रूप से नियोग ही संसर्ग का आक्षेपक नहीं हैं, क्योंकि आकांक्षा आदि के बल से दूसरे भी उसके आक्षेपक होते हैं। इसलिये शाब्दज्ञान में नियोग का अवकाश नहीं है।

---

१ (ग) वाक्यस्यावस्य। २ (ग) भावात्। ३ (ग) प्रमाणस्याभावः।
४ (ग) शब्द। ५ (ग) पदैः। ६ (क) विशेषण।
७ (ग) शब्द।

[ब्रह्मज्ञाने विधिसम्भवो नास्ति–]

अथ साक्षात्काररूपं[1] संसर्गावगाहकशाब्दज्ञानात्तदावृत्तिक्रियायाश्च विलक्षणं ग्राह्यग्राहकविकल्पातीतवस्त्ववगाहि ज्ञानं विधीयते ? तदपि न ; तस्य ब्रह्मातिरेकानिरूपणात्। अतिरेके हि ग्राह्यग्राहकविकल्पातीतत्वासम्भवात् प्रमाणत्वे यथावस्तुत्वे च शाब्दज्ञानस्यापि प्रमाणत्वेन तथात्वान्न वैलक्षण्यम्। शब्दस्य च (तत्र[2]) प्रमाणत्वे "सर्वमिदं ब्रह्म" इति प्रतिपत्तव्यम् इति ज्ञातव्याप्रमितावुत्पत्तिविधेरेवासिद्धेः।

भावदीपिका

[ब्रह्मज्ञाने विधिसम्भवो नास्ति—]

शब्दज्ञाने प्राथमिके विधिं निरस्य साक्षात्कारलक्षणविशेषे तमुद्भाव्य दूषयति—अथ साक्षात्कारेति। बुद्धचुद्बोधस्यैव प्रमाणत्वाऽङ्गीकारात् अनतिरेको ब्रह्मणः सकाशात् अस्य, ततो न साध्यतेति शेषः। अतिरेके वृत्तेर्जडाया ग्राह्यत्वात् ज्ञेयाऽनुसारित्वं न स्याद्यतः—इति हेतुमाह—अतिरेके हीति। "प्रतिबोधविदितं मतम्", "अमृतत्वं हि विन्दते" इति श्रुतेः बोधाः=बुद्धिप्रत्ययाः; बोधं बोधम्=प्रतिबोधम्=प्रतिबिम्बरूपेण तदवभासकम्; सर्वप्रत्यक्तया हेयोपादेयविलक्षणत्वे विदितम्=सम्यङ्‌ मतम्। यत एवं मननादमृतत्वं आविद्यकमृत्युपरिहारेणेत्यर्थः। अथ घटादिज्ञानस्य घटादेरिव स्थौल्याद्यभावेऽपि तत्र प्रमाणत्वम् यथार्थत्वं च; तथा विधिसाध्यजडवृत्तिबोधस्य ब्रह्मण्यपि इत्याह—प्रमाणत्वेनेति। तर्हि प्राथमिकशाब्दज्ञानवत् अविधेयत्वेऽपि प्रामाण्यसम्भवान्न विधेयत्वलाभः शब्दस्यैव ? अथाऽत्र साक्षात्कार एव प्रमाणं, स च द्रव्य इति विधीयत इति विध्यवकाश ? तत्राऽऽह—शब्दस्येति। यदि च मीमांसासहितशब्दान्निर्विचिकित्समपरोक्षमेव जायते [तर्हि व्यर्थं] "मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः"–इति श्रवणमननाऽतिरिक्तसहकारिविधानम् "सहकार्यन्तरविधिः" इत्यत्र। न च निर्णीतं बाध्येत। औत्सर्गिकं च परोक्षज्ञानकरणत्वं शब्दस्य विना बलवद् बाधकमपोद्येत। यज्ञानीनां च शमादीनां च समन्वयविरोधाभ्यां निर्णीतब्रह्मज्ञानस्याऽप्रामाणत्वे साक्षात्काराय विधिः। ज्ञानविधिवादिनं प्रति विधिवाक्येनैव प्रमितब्रह्मोद्देश्यत्वेन विरुद्धत्रिकद्वयापादनञ्च भज्येत। अद्वैतसत्यत्वाऽध्यवसायेन समस्तद्वैतसत्यत्वकल्पक आकारो मायाया निवर्त्तते। अर्थक्रियासमर्थप्रपञ्चोपादानमायाऽऽकारः तत्त्वसाक्षात्कारेण विलीयते। अपरोक्षप्रतिभासयोग्यार्थाऽऽभासजनकस्तु मायालेशः अन्त्यसाक्षात्कारेणोच्छिद्यते इति ज्ञानसिद्धयाचार्यैः परोक्षबोधस्य मायाऽऽकारविशेषनिवर्त्तकत्वेन प्रामाण्याऽभ्युपगमाच्च। जीवब्रह्मणोः ऐक्ये तात्पर्येण

ज्ञानवती

[ब्रह्मज्ञान में विधि संभव नहीं है—]

(पू) संसर्गावगाहक शाब्दज्ञान और उसकी आवृत्ति क्रिया से विलक्षण साक्षात्कार रूप ग्राह्यग्राहकविकल्प से अतीत वस्तु के अवगाही ज्ञान का विधान होता है ?

(उ) वह भी नहीं है। क्योंकि वह ब्रह्म से अतिरिक्त का निरूपण नहीं करता। अतिरेक में ग्राह्यग्राहकविकल्प से रहित के असम्भव होने से और प्रमाण के रूप में यथावस्तु

---

[1] (ग) रूप। [2] (क) तत्रा, (ग) तत्र।

"मोक्षकामः प्रज्ञां साक्षात्कारलक्षणां कुर्वीत" इति अधिकारविधेर्दूरनिरस्तावकाशता ; यथा अग्निहोत्रं प्रकृत्य "जर्त्तिलयवाग्वा वा जुहुयात् गवीधुकयवाग्वा वा", "न ग्राम्यान् पशून् हिनस्ति, नारण्यान्", "पयसाऽग्निहोत्रं जुहुयात्" इति श्रुत्योक्तम्, तत्र ग्राम्यारण्यपशुहिंसाविधुरत्वाज्जर्त्तिलगवीधुकहोमः प्रशस्तः, ततोऽपि पयोहोमस्य प्राशस्त्यार्थं "अनाहुतिर्वै जर्त्तिलाश्च गवीधुकाश्च" इति जर्तिलगवीधुकहोमौ निन्द्येते, अतो जर्त्तिलादिवाक्यं पयोहोमशेषोऽर्थवादः ; एवं "द्रष्टव्यः" इत्यात्मनस्तद्दर्शनस्य वा प्रशंसार्थोऽर्थवादः एव, न विधेरवकाशः।

अवकाशोऽपि न ज्ञानस्य मोक्षाङ्गत्वेन न तावत् चैत्रस्य (ग्रामाप्राप्तिवत्[१] जीवस्य ब्रह्मप्राप्तिर्ज्ञानसाध्या ; विभुत्वात् ; आत्मत्वाच्च। विज्ञानं विनाऽपि प्राप्तत्वात्

भावदीपिका

पर्यवसानतः प्रामाण्यसिद्धेस्तथाऽऽकारोल्लेखादेव नोत्सर्गस्याऽपवादः। तेन मीमांसासचिवशब्दोत्थं परोक्षं प्रमाणञ्च ज्ञानम्। ज्ञेयस्याऽपरोक्ष्यमात्रेण ज्ञानस्य तथात्वेनैव प्रामाण्ये च देहादिव्यतिरिक्ताऽऽत्माऽस्तित्वाऽनुमानस्याऽपरोक्ष्यं स्यात्। अतो यथा तत्राऽपरोक्षमप्याऽऽत्मत्वं परोक्षप्रमाऽधिरूढं प्रतीयते तथा शब्दादपि लक्षणया निष्प्रपञ्चाऽऽत्मप्रमा परोक्षाऽपि न विरुद्धचते। तेन युक्तम्—शाब्दज्ञानस्यापि प्रमाणत्वेनेति। का तर्हि द्रष्टव्येत्यस्य गतिः ?—तामाह—यथेति। जर्तिलाः=आरण्याः। गवीधुकाः=कुसुम्भबीजतुल्याः आरण्यकाः।

किञ्च स्वर्गार्थं क्रियैव मोक्षार्थं ज्ञानं विधातव्यं न चाऽस्य तत्फलत्वं सम्भवति—इत्याह—अवकाशोऽपि। विधेरिति शेषः। न वा पुनरावृत्तियुक्तमार्गश्रुतेर्गत्या प्राप्त्यव-

ज्ञानवती

होने पर शाब्दज्ञान के भी प्रमाण के रूप में वैसा होने से वैलक्षण्य नहीं है। और वहाँ शब्द के प्रमाण होने पर "यह सब ब्रह्म है" ऐसा जानना चाहिये, क्योंकि प्रमा के विषय में उत्पत्तिविधि ही असिद्ध है। "मोक्ष चाहने वाला साक्षात्कार लक्षण वाली प्रज्ञा (को प्राप्त) करे" इस अधिकारविधि का किसी भी प्रकार अवकाश नहीं है। जैसे अग्निहोत्र को प्रकृति मानकर "या तो जंगली तिल की यवागू से हवन करना चाहिये या जंगली गेहूँ की यवागू से," "ग्राम्य पशुओं को नहीं मारना चाहिये न जंगली पशुओं को," दूध से अग्निहोत्र करना चाहिये" ऐसा श्रुति के द्वारा कहा गया है उसमें ग्राम्य एवं अरण्य पशु की हिंसा से रहित होने के कारण जर्त्तिल या गवीधुक के होम की प्रशंसा है। उसकी अपेक्षा भी पयोहोम की प्रशंसा के लिये जर्त्तिल एवं गवीधुक आहुति (के योग्य) नहीं है इस प्रकार जर्त्तिल एवं गवीधुक के होम की निन्दा की जाती है। इसलिये जर्त्तिल आदि वाक्य पयोहोम का शेष=अर्थवाद है। इसी प्रकार "द्रष्टव्यः" यह श्रुति आत्मा अथवा उसके दर्शन की प्रशंसा के लिये अर्थवाद ही है। इसलिये विधि का अवकाश नहीं है।

ज्ञान का मोक्ष के अङ्ग के रूप में भी अवकाश नहीं है। चैत्र की ग्रामाप्राप्ति के समान जीव की ब्रह्मप्राप्ति ज्ञानसाध्या है। विभु और आत्मस्वरूप होने से विज्ञान के

१ (क) चैत्रस्य ग्रामप्राप्तस्य, (ग) चैत्रस्य ग्रामाप्राप्तिवत।

मार्गश्रुतेः कार्यब्रह्मविषयत्वात् "न च पुनरावर्त्तते" इत्यपुनरावृत्तिश्रवणात् न परं ब्रह्म गन्तव्य तस्याः कार्यब्रह्मप्राप्तस्य) क्रमेण निर्गुणब्रह्मप्राप्तिपक्षेऽपि सम्भवात्। "इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते" "तेषामिह न पुनरावृत्तिः" इति 'इमं' 'इह' इति विशेषणात् वर्त्तमानब्रह्माण्डे मानवावर्त्ते पुनरावृत्त्यभावपरा वा श्रुतिः; निर्गुणप्रकरणे क्वचिन्मार्गश्रुतेः स्तुत्यर्थत्वाच्च। न च कुसुमरसानां मधुनि, नदीनां समुद्र इव च जीवस्य ब्रह्मणि (समावेशादवि[१]-)भागलक्षणो मोक्षः साध्यः; अनवयवत्वादुभयोः। तत्राप्यवयविनोऽवयव्यन्तरप्रवेशे[२] विनाशात्; परमाणूनां (च[३]) परमाण्वन्तरभावाभावात्; "तथा विद्वान् नामरूपे" औपाधिके "विहाय" इत्याद्यविभागश्रुतेश्च भेददृष्टिर्न भवति इत्येतावन्मात्रपरत्वात्। न च औषधादिना मनुष्यस्य व्याघ्राकारपरिणामवत् जीवस्य[४] ब्रह्मत्वेन परिणामः साध्यः; "अयमात्मा ब्रह्म" इति

भावदीपिका

गमः—इत्याह—मार्गश्रुतेरिति। "अत्र ब्रह्म समश्नुते", "न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति" इत्यादिश्रुतेः परब्रह्मविदो गत्यभावाऽवगमात्। "हिरण्मये परेकोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्। तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः॥"—इति प्राप्यनिरवद्यब्रह्मणोऽत्रैव श्रवणाच्चापुनरावृत्तिश्रुतेश्चाऽन्यथाऽपि सम्भवात्—इत्याह—न चेति। [दहरा-]द्युपासनफलाऽनुसारेण व्याख्याय पञ्चाऽग्न्याद्युपासनफलाऽनुसारेणाऽपुनरावृत्तिश्रुतिं व्याचष्टे—इमं मानवमिति। "इमान् लोकान् कामा[न्नी-]कामरूप्यनुसञ्चरन्", इति नित्यनिर्विशेषप्रकरणे गतिः श्रूयते। क्वचिदर्चिरादिमार्गोऽपि; तस्य का गतिः?—तत्राऽऽह—निर्गुणेति। प्रकारान्तरेण मोक्षस्य ज्ञानक्रियासाध्यत्वं पराचष्टे—न चेति। अविभागः संयोगो वा ऐक्यं वा? नाद्यः—इत्याह - अवयवत्वादिति। सावयवस्य बहिस्थितस्याऽन्नादेर्मुखाऽऽदिप्रवेशसंयोगयोर्दर्शनादनवयवे तदसम्भव इत्यर्थः। न द्वितीयः—इत्याह—तत्राऽपीति। न च नित्यानां भिन्नानामैक्यं दृष्टम्—इत्याह—परमाणूनां चेति। तर्हि "परात् परं पुरुषमुपैति दिव्यम्", "निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति", "मामेवैष्यस्यसंशयम्" इत्यादिश्रुतिस्मृतीनां कोऽर्थः? तत्राऽऽह—तथा विद्वान् इति। पक्षान्तरं निराकुर्वन् फलितमुपसङ्गृह्णाति—न चेति।

ज्ञानवती

बिना भी (ब्रह्म के) प्राप्त होने से मार्गश्रुति कार्यब्रह्मविषयक है। "फिर नहीं लौटता" इस अपुनरावृत्ति का श्रवण होने से परं ब्रह्म की प्राप्ति विहित) नहीं है क्योंकि वह (प्राप्ति) कार्यब्रह्म की प्राप्ति के क्रम से निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति वाले पक्ष में भी सम्भव है। "इसीलिये इस मानवआवर्त्त को नहीं लौटते।" "उनकी यहाँ पुनरावृत्ति नहीं होती" श्रुति 'इमम्' एवं 'इह' ऐसा विशेषण देने से वर्त्तमान ब्रह्माण्ड अथवा मानवावर्त्त में पुनरावृत्ति के अभाव को बताने वाली है। क्योंकि निर्गुण (ब्रह्म) के प्रकरण में मार्ग की श्रुति स्तुत्यर्थक होती है।

---

१ (क) प्रवे, (ग) समावे। २ (ख) प्रवेशो।
३ (क) परमाणूनां पर। (ग) परमाणूनाञ्च पर। ४ (ग) जीवत्वेन परि।

"ब्रह्मैव सन् (ब्रह्माप्येति[१])" इति च पूर्वमपि सिद्धत्वात्। अतः परिशेषेण अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षत्वमास्थेयम्।

विद्यैव चाविद्यास्तमयः[२] तत्त्वदर्शिभिरुच्यते। अतो न साध्यसाधनभावो ज्ञानमोक्षयोः। तेन वेदे ज्ञानस्य स्वरूपफलालोचनया न कार्यत्वावगमः। एवं लोकेऽपि उपाधिवशादप्याकाशस्येव जन्मविनाशभेदादिव्यवहारोपपत्तेः। श्रुत्यनुसारेण ब्रह्मैव ज्ञानं तच्च स्वप्रकाशम्, सर्वावभासकस्यान्याधीनप्रकाशानुपपत्तेः[३]। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" "न तत्र सूर्यो भाति" इत्यादिश्रुतेः अनन्याधीनतया प्रकाशमानतैव च स्वप्रकाशता 'अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं स्वप्रकाशत्वम्' इति वा लक्षणम्।

भावदीपिका

यजनक्रियास्वर्गयोरिव ज्ञानमोक्षयोः न साध्यसाधनभावो यस्मात् तस्मात् एतत्सिद्धम्—तेनेति। लोके व्यञ्जकवृत्त्यपेक्षयाऽपि कर्त्तव्यतां दृष्टान्तेन सम्भावयति—उपाधिवशादिति। स्वप्रकाशत्वसाधनेन जडवृत्तिवैलक्षण्यं व्यवस्थापयितुमाह—तच्चेति। वन्ध्यापुत्रस्याऽऽदित्याद्यधीनप्रकाशाभावेऽपि न स्वप्रकाशत्वमिति—अत आह—तस्य भासेति। श्रुतिसंगृहीतं लक्षणं विशदयति—अनन्येति। आचार्योक्तमपि उक्तदार्ढ्यायाऽऽह—अवेद्यत्व इति। अवेद्यत्वे सत्यपरोक्षत्वम्। श्रुतिसंवादार्थं व्यवहारयोग्यत्वपदम्। स्वपरव्यवहाराऽनुकूलप्रकाशत्वं स्वप्रकाशत्वमिति लक्षणाऽऽरूढं स्वप्रकाशत्वं व्यावहारिकमेव, न "यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" इति द्योतयितुम्। योग्यताया उपलक्षणत्वेऽपि तदुपलक्षितत्वस्य विशेषणत्वे मुक्तावव्याप्तिरुपलक्षणत्वे ज्ञानान्तरं विना प्रकाशमानतया "सकृद् विभातम्" इत्यादिश्रुत्युक्तमेव स्वप्रकाशलक्षणत्वं पर्यवस्येत इति द्रष्टव्यम्।

ज्ञानवती

(पू) कुसुमरसों का मधु में तथा नदियों का समुद्र में (प्रवेश) के समान जीवों का ब्रह्म में समावेश होने से अविभागलक्षण वाला मोक्ष साध्य है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि दोनों अवयवरहित हैं। वहाँ भी एक अवयवी के दूसरे अवयवी में प्रवेश होने पर विनाश होने से और परमाणुओं के परमाण्वन्तर भावाभाव होने से। "उसी प्रकार विद्वान् औपाधिक नामरूप को छोड़कर।" इत्यादि अविभाग की श्रुति से भेददृष्टि नहीं होती इतना ही वतला देना उसका काम है।

(पू) औषध आदि के द्वारा मनुष्य के व्याघ्राकार के परिणाम के समान जीव का ब्रह्म के रूप में परिणाम साध्य है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि "यह आत्मा ब्रह्म है "ब्रह्म होकर के ही ब्रह्म को प्राप्त करता है" इस प्रकार (ब्रह्मप्राप्ति) पहले भी सिद्ध हैं। अतः परिशेषात् अविद्यानिवृत्ति को ही मोक्ष मानना चाहिये।

तत्त्वदर्शियों के द्वारा अविद्याअस्तमय शब्द से विद्या ही कही जाती है। अतः ज्ञान एवं मोक्ष का साध्यसाधनभाव नहीं है। इसलिये वेद में ज्ञान के स्वरूपफल की आलोचना

---

[१] (क) सन् इति, (ग) सन् ब्रह्माप्येति इति।

[२] (ग) शान्तातदस्तमयं ज्व।

[३] (ग) प्रकाशानुपपत्त्या।

[आत्मनः स्वप्रकाशत्वेऽनुमानम्–]

ननु अस्य परज्ञानेष्वसम्भवात् अव्यापनाऽऽशङ्काऽपि स्यात्; स्वाश्रय इति विशेषणे च स्वशब्देनैकतमविवक्षायामुक्तो[1] दोषः; सर्वविवक्षायां च सर्वत्र सर्वस्य तदभावादुक्तो दोषः; एवं प्रकाशमानत्वमपि[2] नानन्याधीनतया परज्ञान इति पूर्वलक्षणमप्ययुक्तम् इति चेत्? (उभयत्रापि[3]) स्यात्; स्वाश्रय एवानुव्यवसायमन्तरेण स्फुरणस्य स्वप्रकाशत्वस्य परस्यानुव्यवसायाधीनस्फुरणलक्षणवेद्यत्ववत् विवक्षितत्वात्। (यच्च[4]) गुरुमतानुसारिणः सङ्गिरन्ते—तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहौ "गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्" इत्यादौ कुटादेर्गणस्य कुटादित्वादिविरहेऽपि[5] स्वोपसंग्राहकत्ववत् संवेदनस्य विषयव्यवहारजनकस्य संवेदनान्तरवैधुर्येऽपि स्वव्यवहारोपायसंग्राहकत्वं स्वप्रकाशत्वमिति; तत्राप्यनन्याधीनतया प्रकाशमानता न व्यभिचरति, किन्तु

भावदीपिका

[आत्मनः स्वप्रकाशत्वेऽनुमानम्—]

अपरोक्षव्यवहारः सार्वत्रिकः स्वाश्रये वा? नाऽद्यः—इत्याह—नन्विति। नाऽन्त्योऽपि, स्वशब्दार्थविकल्पाऽसहत्वात्—इत्याह—स्वाश्रय इति। आद्याऽवष्टम्भेन प्रत्याह[—ने-]ति। मतान्तरात् स्वमतविवेकं करोति—यच्चेति। कुटः=संचूर्णनम्। ननु सहजविषयाकारमुद्रितं ज्ञानं विषयविषयिभाग्येवाऽस्ति; ततो निराकारं ज्ञानं स्वप्रकाशब्रह्मणः स्वरूपं

ज्ञानवती

के द्वारा कार्यत्व का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार लोक में भी जैसे उपाधिवशात् (आकाश का जन्म-विनाश होता है उसी प्रकार) जन्मविनाशभेद आदि के व्यवहार की उपपत्ति होने से श्रुति के अनुसार ब्रह्म ही ज्ञान है। और वह स्वप्रकाश है। क्योंकि सर्वविभासक की अन्याधीनप्रकाशता असिद्ध है। "उसकी ज्योति से यह सब भासित होता है" "वहाँ सूर्य प्रकाशित नहीं होता" इत्यादि श्रुति से अनन्य के अधीन प्रकाशमानता ही स्वप्रकाशता है, अथवा वेद्य न होते हुए अपरोक्षव्यवहार के योग्य होना स्वप्रकाश का का लक्षण है।

[आत्मा के स्वप्रकाशत्व में अनुमान—]

(पू) परज्ञान में असंभव होने से इस (=स्वप्रकाशलक्षण) की अव्याप्ति की आशङ्का भी होगी। और स्वाश्रय विशेषण देने पर स्वशब्द से किसी एक की विवक्षा होने पर दोष कह दिया गया, सबकी विवक्षा होने पर सब जगह सबका अभाव होनेसे दोष कह दिया गया। इसी प्रकार प्रकाशमानत्व भी अन्य के अधीन नहीं है।

(पू) परज्ञान (में असम्भव होने से) पहला लक्षण भी ठीक नहीं है यदि ऐसा है? (उ) तब तो दोनों प्रकार हो जायगा, क्योंकि स्वाश्रय में ही अनुव्यवसाय के विना

---

१ (ग) उक्त। २ (ग) प्रकाशमानमपि। ३ (क) न उभयथाऽपि। (ख) न उभयत्रापि, (ग) उभयत्रापि। ४ (क) तच्च, (ग) यच्च। ५ (ग) विरहोऽपि।

सविषयत्वमन्तर्भाव्य सा बौद्धानामेव (स्वकर्मत्वेन[१] च विषयाकार-) शून्यं ज्ञानं नास्त्येव निराकारां बुद्धिमनुमिमीमहे इति कर्ममीमांसकैः स्वीकारात्।

"अर्थेनैव विशेषो हि निराकारतया धियाम्।"

इति च; ईश्वरवादिनश्च तदीयज्ञानस्याजन्यत्वेन विषयलिङ्गाद्यर्पिताकाराभावात्; सौगतैरपि मुक्तौ विशुद्धज्ञानाभिधानात्; आर्हतैः सांख्यैश्च आत्मनो निर्विषयज्ञान-विग्रहत्वमङ्गीकृतमेव।

प्रयोगश्च—अनुभूतिः स्वयंप्रकाशा अनुभूतित्वात् व्यतिरेकेण घटवत्। न च अप्रसिद्धविशेषणः (साध्यः[२]); घटादिप्रकाशस्यान्यनिबन्धनत्वप्रसिद्धेः। अत्र च स्वशब्देन[३] तत्प्रतिषेधात् प्रतियोगिप्रसिद्ध्यैव[४] च तदभावप्रसिद्ध्युपपत्तेः।

ननु अप्रसिद्धाभावस्य आत्मवत् तत्प्रतियोगित्वस्याप्यप्रसिद्धत्वान्नैवम्; अथ वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि धर्मत्वात् शौक्ल्यवत् इति धर्मिमात्रनिष्ठतया[५]

भावदीपिका

कुतः? तत्राऽऽह—न चेति। वृद्धोक्तमनुमानमप्यत्र मानम्—इत्याह—प्रयोगश्चेति। प्रतिज्ञादोषमुद्धरति—न चेति। तथाऽपि तदभावसिद्धिः कथम्? तत्राऽऽह—प्रतियोगीति। अभावस्य हि प्रतियोग्यपेक्षकस्यैवाऽसिद्धौ तत्प्रतियोगित्वं दुर्घटम्—इत्याह—नन्विति। प्रकारा-न्तरेण विशेषणप्रसिद्धिमाशङ्क्य प्रत्याचष्टे—अथ वेद्यत्वमित्यादिना। वेद्यत्वं किं वृत्ति-

ज्ञानवती

स्वप्रकाशस्फुरण दूसरे के अनुव्यवसाय के अधीन स्फुरणलक्षवेद्यत्व के समान, विवक्षित है। जो कि गुरुमतानुयायी कहते हैं—जैसे तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि में गाङकुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्" इत्यादि में कुटादित्व के न रहने पर भी कुटादिगण अपने के उपसंग्राहक होते हैं, उसी प्रकार ज्ञानान्तर के न रहने पर भी विषयव्यवहारजनक जो ज्ञान अपने व्यवहार के उपाय का संग्राहक होता है वह स्वप्रकाश होता है। वहाँ भी अन्य के अधीन न होने से प्रकाश-मानता व्यभिचरित नहीं होती किन्तु अविषयत्व को अन्तर्भावित करके वह (अर्थात् स्व-प्रकाशता होती है)। बौद्धों के ही स्वकर्म होने से ज्ञान, विषय के आधार से शून्य नहीं है। क्योंकि 'हम निराकार बुद्धि का अनुमान कर रहे हैं' ऐसा कर्ममीमांसक स्वीकार करते हैं। और—

"बुद्धि के निराकार होने के कारण अर्थ के द्वारा ही (बुद्धि में) विशेष होता है।" यह भी है। तथा ईश्वरवादी भी उसके ज्ञान के जन्य न होने से विषयलिङ्ग आदि से अर्पित आकार का अभाव (मानते) हैं। बौद्ध भी मुक्ति में विशुद्ध ज्ञान का अभिधान करते हैं। आर्हत एवं सांख्यों ने भी आत्मा का निर्विषयज्ञानशरीरत्व स्वीकार किया ही है।

और प्रयोग भी है—अनुभूति स्वयंप्रकाश है, क्योंकि उसमें अनुभूतित्व है, जैसे कि व्यतिरेक से घट। (पू) पक्ष अप्रसिद्धसाध्यवाला है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि

---

१ (क) बौद्धानां वस्त्वकर्म। न च, (ग) बौद्धानामेव स्वकर्मत्वेन च। २ (क) पक्षः। ३ (ग) स्वयं। ४ (क) सिद्ध्यैव, (ख) असिद्ध्यैव। ५ (ख) धर्म।

तदभावप्रसिद्धेः[१] नाप्रसिद्धविशेषणता ? केवलव्यतिरेकिणश्चानुभूतिलक्षणधर्मिविशेषनिष्ठतया[२] तत्साधनान्नानवकाशः ? तन्न ; किञ्चिच्छब्देन[३] वेदनीयस्य[४] ग्रहणे वेद्यत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्वप्रतिज्ञाविरोधात् । वेद्यत्वं फलव्याप्यत्वञ्चेत् ? नित्यानुमेयादिनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वेन तस्य सिद्धसाधनता तार्किकं प्रत्यप्रसिद्ध(-विशेषणता[५]) च फलासिद्धेः ।

[स्वप्रकाशत्वलक्षणम्—]

अथ यदनभ्युपगमे[६] असमीहितप्रसक्तिः तत् सामान्यतो मानयोग्यम्[७], स्वयंप्रकाशत्वानभ्युपगमे च ज्ञानस्य घटाद्यविशेषात् जगदान्ध्यात्[८] असमीहितप्रसक्तेर्नाप्रसिद्धविशेषणत्वम् ; तदयुक्तम् ; निलीनज्ञानेनापि स्वमहिम्ना विषये प्रकाशाङ्गीकारात् ।

भावदीपिका

व्याप्यत्वम् ? फलवाप्यत्वं वा पक्षे ?—इति विकल्पः । शब्दवेद्यत्वं तस्य वृत्तिव्याप्यत्वात्, कुतो वृत्तिव्याप्यत्वाऽभावः स्थितः ? फलं च कर्मकारकजन्यधीवृत्तिव्यक्तं चैतन्यं परस्याऽप्रसिद्धम्—इति दोषान्तरमाह—तार्किकमिति ।

[स्वप्रकाशत्वलक्षणम्—]

उदयनरीत्याऽऽश्रितं समाधानं निरस्य लीलावतीकारमताऽऽश्रितं समाधानमुत्थाप्याऽऽक्षिपति—अथेति ।

ज्ञानवती

घट आदि के प्रकाश का दूसरे के द्वारा होना प्रसिद्ध है। और यहाँ स्वशब्द से उसका प्रतिषेध होने से प्रतियोगी की प्रसिद्धि के द्वारा ही उसके अभाव की प्रसिद्धि की उपपत्ति हो जाती है। जैसे आत्मा के अभाव का प्रतियोगी अप्रसिद्ध है उसी प्रकार उसके प्रतियोगी के भी अप्रसिद्ध होने से ऐसा नहीं है ?

(पू) वेद्यत्व, किसी में रहने वाले अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है, धर्म होने से, शौक्ल्य के समान, इस अनुमान से धर्मीमात्र में होने से उसके अभाव की प्रसिद्धि होने के कारण अप्रसिद्धविशेषणता नहीं है, और अनुभूतिलक्षण धर्मिविशेष में रहने के कारण उसका साधन होने से केवलव्यतिरेकी का अवकाश नहीं है ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि किञ्चित् शब्द से वेदनीय का ग्रहण होने से वेद्यत्वात्यन्ताभावाधिकरणत्व की प्रतिज्ञा का विरोध हो जायगा। (पू) वेद्यत्व फलव्याप्यत्व है; यदि (ऐसा कहें ?) (उ) तो नित्य अनुमेय आदि में वर्त्तमान अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी होने से वह सिद्धसाधन हो जायगा और फल के असिद्ध होने से तार्किक के यहाँ अप्रसिद्धविशेषणता दोष हो जायगा ?

[स्वप्रकाशत्व का लक्षण—]

(पू) जिसके न मानने पर अनिष्ट की प्राप्ति होती हो वह सामान्यरूप से प्रमाण के योग्य हैं; स्वयंप्रकाशत्व के न मानने पर ज्ञान के घट आदि से विशिष्ट न होने के कारण

---

१ (ख) भावप्रसिद्धविशेषणता । २ (ग) धर्मं । ३ (ख) केचित् ।
४ (ख) वेदनीयस्य वेद्य । ५ (क) विशेष्यता । (ख) विशेषणता ।
६ (ग) यदभ्यु । ७ (ग) योग्यस्वयं । ८ (ख) दान्ध्यासमी ।

अथ प्रकाशमानमेव ज्ञानं विषयप्रकाशम्, अव्यवधानेन स्वविषयान्ध्यविरोधित्वात्, आलोकवत्[1], स्वापारोक्ष्यं[2] ज्ञानान्तरायत्तं चेत्? तस्य तस्याप्येवमिति अनवस्था इति तुल्यत्वात्; अभद्रमेतत्; भवतोऽपि प्रमाणत्वेन सम्मतं चक्षुरादिजन्यान्तःकरणवृत्तिविशेषात्मकं क्रोडीकृतचैतन्यमपि[3] न स्वप्रकाशमिष्टं मानम्; अपरथा चिज्जडविभागो न स्यात्। अतस्तस्य सत्ता (प्रमाणम[4]-)न्तरेणैव चेद्? घटादेरपि तथा स्यात् इति प्रमाणसङ्ग्रहो व्यर्थः। न च स्वप्रकाशं साक्षिज्ञानं तत्र प्रमाणं, येनानवस्था न स्यात्; प्रमाणस्याज्ञानबाधकत्वात्; तस्य च तत्साधकत्वात्। अतो बलात् प्रमाणन्तरापत्तौ कुतो नानवस्था इति? अत एव अयं घटः एतद्घटान्यत्वे सति अनुभाव्यत्वा(-नधिकरणान्यः[5]) द्रव्यत्वात् (पटवत्[6]) इति महाविद्या-

भावदीपिका

आपातपरिहारमाक्षिप्य रहस्यपरिहारमाह—अथ प्रकाशमानमेवेति। दूरादौ व्यभिचारवारणार्थम्—अव्यवधानेनेत्युक्तम्। एतावता कथमनवस्था तुल्या? तामाह परिशेषात्—अतस्तस्येति। कथं साक्षिज्ञानमप्रमाणम्? अत आह—प्रमाणस्येति। प्रयोगाऽन्तरेणाऽपि नाऽप्रसिद्धविशेषणतापरिहारः। तदाह—अत एवेति। घटस्य यत्किञ्चिदन्यत्वं सिद्धमिति सिद्धसाधनताव्युदासार्थम्—अनुभाव्यत्वाऽनधिकरणाऽन्य इति। अप्रसिद्धविशेषणतापरिहाराय—घटान्यत्वे सतीत्युक्तम्। घटत्वानधिकरणत्वे सति घटस्याऽनुभाव्यत्वाऽनधिकरणत्वं प्रसिद्धम्। तर्हि घटान्तरादन्यत्वेन सिद्धसाधनमिति? अत उक्तम्—एतदिति। वृत्तिव्याप्यत्वफलव्याप्यत्वयोर्दोषः प्रथमप्रयोगोक्तः।

ज्ञानवती

संसार के अन्धा होने से अनिष्ट की प्राप्ति होने से अप्रसिद्धविशेषणता नहीं है? (उ) यह युक्त नहीं है। निलीनज्ञान के द्वारा भी अपनी महिमा से विषय में प्रकाश माना जाता है।

(पू) प्रकाशमान ही ज्ञान विषय का प्रकाशक है, क्योंकि वह अव्यवहित रूप से अपने विषय के आवरण का विरोधी है, आलोक के समान। (पू) अपना अपारोक्ष्य ज्ञानान्तर के अधीन है यदि (ऐसा कहें)? (उ) तो उसका, और इसी प्रकार उसका, इस प्रकार अनवस्था हो जायगी। अतः तुल्यता है।

(उ) यह सुन्दर नहीं है। प्रमाण के रूप में समस्त, चक्षु आदि से जन्य अन्तःकरण वृत्तिविशेषात्मक क्रोडीकृत आपका भी चैतन्य स्वप्रकाश इष्ट नहीं है, अन्यथा जड़ एवं चेतन का विभाग भी नहीं होगा। इसलिये यदि उसकी सत्ता प्रमाण के विना ही है तो घट आदि की भी होनी चाहिये फिर प्रमाणसंग्रह व्यर्थ हो जायगा। स्वप्रकाश साक्षिज्ञान भी वहाँ प्रमाण नहीं है जिससे अनवस्था नहीं होगी, क्योंकि प्रमाण अज्ञान का बाधक है औंर वह (=अज्ञान उसका साधक है। इसलिये वलात् प्रमाणान्तर की आपत्ति होने पर अनवस्था क्यों नहीं

---

१ (ग) आरोधिलोकवत्। २ (ग) स्वपरोक्षं। ३ (ग) क्रोडीकृतं।
४ (क) प्रमाणान्तरमन्त, (ग) प्रमाणमन्त। ५ (क) नधिकरणत्वान्यः, (ग) नधिकरणान्यः। ६ (क) घट। (ग) पट।

प्रयोगात् विशेषणप्रसिद्धिः ? (इत्यपास्तम्[१]); प्रथमप्रयोगदोषात्; अतो नायं प्रयोगः स्वप्रकाशत्वसाधकः।

अत्र वदामः—"यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म" इत्यागमेन ज्ञानान्तरमन्तरेणापरोक्षत्वप्रतिपादनात् ब्रह्म तावत् स्वप्रकाशम्; गुणभूतज्ञानादपरोक्षत्वे साक्षात् पदानुपपत्तेः। अनुमानं चागमस्यैव युक्तिमात्रमनुकूलम्। न च अप्रसिद्धविशेषणता;

भावदीपिका

श्रुत्या तावदुक्तलक्षणं स्वप्रकाशत्वं प्रमीयते—इत्याह—अत्रेति। यद्येवं किमनुमानेन ? प्रमाणस्य प्रमाणान्तरापेक्षणे स्वतस्त्वहानिः सम्प्लववादो वा स्यात् ? अत आह—अनुमानञ्चेति। युक्तिमात्रम्। "इत्यनास्था विजयते वेद्यत्वप्रतिषेधने। प्रमाणं तदनुग्राह्यं 'यत्साक्षात्' इति च श्रुतिः॥"—इति रहस्यम्। "अनुमा प्रायशो दृष्टा तेन सा मा विरच्यताम्। ब्रह्मास्त्रसदृशी युक्तिः श्रुतेः स्यादुपकारिका॥" इत्याशयः। 'विमता धीः स्वसमानाश्रयस्वसमानकालस्वगोचरविज्ञानविरहप्रयुक्तव्यवहारहीना न भवति धीत्वात् अनुव्यवसायवत्'—इत्यपि दृष्टान्ते साध्यवैकल्यात् अयुक्तम्। अथेशज्ञानं दृष्टान्तः ? तर्हि तत्प्रत्यपरोक्षतया विषयत्वात् [कपाला-]दिवत् अवेद्यत्वानुमानविरोधः। न च प्रकाशत्वात् स्वावान्तरजातीयाऽप्रकाश्यत्वानुमानं सर्वप्रकाशकेशप्रत्यक्षवादिनं प्रत्यसिद्धं व्याप्तित्वात्—इत्यादिदुष्टत्वोत्प्रेक्षणात् युक्तिमात्रत्वं, परगर्वभञ्जनाय वा—इत्याह—[न चेति]। ज्ञानस्य कर्मतया स्वविषयज्ञानत्वं चेत् अन्यथा स्वव्यवहाराऽनवतारात्, तदा [द्वितीयं] ज्ञानं प्रथमज्ञानव्यवहारजनने स्वप्रकाशनिरपेक्षम् ? सापेक्षं वा ? ज्ञानाधेयघटगतप्राकट्यजनने स्वप्रकाशनिरपेक्षं वा ? आद्ये प्रथमज्ञानस्याऽपि स्वविषयव्यवहारे स्वप्रकाशनिरपेक्षत्वापातात् प्रथमज्ञानव्यवहारः आकस्मिकः; [प्राकट्यपक्षे] 'ज्ञातो घटः' इति ज्ञानविषयको व्यवहार आकस्मिकः; ज्ञानाधेयघटगतप्राकट्यबलाद्वेति नैयायिकस्योभयथाऽप्यनिष्टम्। [यदि]द्वितीयज्ञानादयं व्यवहारः तदा घटस्य च तद्विषयज्ञानस्य च ज्ञातताव्यवहार आकस्मिकघटाऽऽकारादिः स्यात्। न द्वितीयः; तदा घटज्ञानस्याऽपि प्रकाशमानस्यैव घटव्यवहारहेतुत्वं स्यादिति दैवादनुव्यवसायानुत्पादे प्रथमं वन्ध्यमेव लीयेत। अथ जाते तत्प्रकाशकं जायत एव ? न; नहि सुषुप्ति-

ज्ञानवती

होगी ? इसीलिये यह घट इस घट से अन्य होते हुए अनुभाव्यत्व के अनधिकरण से अन्य है, क्योंकि द्रव्य है, जैसे पट—इस महाविद्या के प्रयोग से विशेषण की प्रसिद्धि है, यह (कथन) अपास्त हो गया क्योंकि प्रथमप्रयोग में दोष है। इसलिये यह प्रयोग (=अनुमान) स्वप्रकाशत्व का साधक नहीं है।

इस विषय में कहते हैं—

"जो साक्षात् एवं अपरोक्ष ब्रह्म" इस आगम से ज्ञानान्तर के विना अपरोक्षत्व का प्रतिपादन होने से ब्रह्म स्वप्रकाश है, क्योंकि गुणभूत ज्ञान से अपरोक्ष होने पर साक्षात् वेद की अनुपपत्ति हो जायगी। और अनुमान तो आगम का ही युक्तिमात्र एवं (उसके) अनुकूल है। (पू) अप्रसिद्धविशेषणता (दोष) आ जायगा ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि वेद्यत्व

१ (क) अपास्यम्।

वेद्यत्वे प्रकाशप्रतिषेधे ज्ञानेच्छादेरिवाष्टद्रव्याश्रितत्वनिषेधेऽभीष्टस्यार्थात् प्रसिद्धिसम्भवात्; विप्रतिपत्तितः प्रसिद्धेश्च। न चानवस्थासाम्यम्; अस्मन्मते ज्ञानं नाम अन्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तं चैतन्यं, ततो व्यञ्जकवृत्तेर्जडत्वेऽपि[1] तस्य तथाविधप्रमाणान्तरनिरपेक्षतया स्फुरतः स्वप्रकाशत्वे स्थिते कुतोऽनवस्थाऽवतारः? ततो नानुमानमप्यसाधकम्। अतः श्रुतिन्यायसिद्धं[2] स्वप्रकाशज्ञानशरीरत्वं ब्रह्मणः, "न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न श्रुतेः श्रोतारं शृणुयाः, न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः, न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः, एष त आत्मा सर्वान्तरोऽतोऽन्यदार्तम्" इति स्वप्रकाशाद्वितीयसदात्मनिर्धारणात्।

भावदीपिका

मरणप्रलयमोक्षाणामभावः स्यात्। अतो वेद्यत्वे ज्ञानस्य नियमेन प्रकाशो न स्यात् इति—सूक्तं 'वेद्यत्वे प्रकाशप्रतिषेधे' इति।

एवं तर्कितेऽर्थेऽनुमानप्रवृत्तौ नाऽप्रसिद्धविशेषणत्वमिति पररीत्यैव प्रकारान्तरेण प्रसिद्धिमाह—विप्रतिपत्तित इति। अन्यथा हि बौद्धादयः स्वप्रकाशत्वं वर्णयन्ति। अत आत्मा आकाशादिव न सामान्यतः प्रसिद्धस्य विशेषतो विप्रतिपन्नस्य अनुमानेनाऽऽकाशभावादिसाधन इव शब्दाश्रयतया नाऽप्रसिद्धविशेषणता। परोक्तमुद्धरति—न चेति। किञ्च 'त्वज्ज्ञानं तवाऽपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वे सति वेद्यं न भवति ज्ञानत्वान्मदीयज्ञानवत्'। ननु किमत्र विवक्षितम्?—किं वेद्यत्वं भवति किन्त्वपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वं न भवति इति? किं वा वेद्यत्वेऽसत्यपरोक्षव्यवहारयोग्यत्वम्? नाद्यः; 'त्वज्ज्ञानं तवाऽपरोक्षव्यवहारयोग्यं न भवति' इति अनिष्टपर्यवसायित्वात्। द्वितीये दृष्टान्ते साध्यवैकल्यमिति चेत्? नैवम्; परज्ञाने यथान्यासं प्रसिद्धस्यैव साध्यस्य स्वज्ञाने साध्यत्वाद्विकल्पाऽनवकाशात्—इत्यादिवृद्धोक्तमन्यदप्यनुसन्धेयम्—इत्याशयेनाह—अतः श्रुतिन्यायेति। श्रुतिशब्देन संगृहीतां श्रुतिमाह—न दृष्टेरिति। प्रतीचः स्वप्रकाशत्वं "अत्राऽयं पुरुषः स्वयंज्योतिः", "आत्मनैवाऽयं ज्योतिषाऽऽस्ते"—इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धम्; "प्रत्यगात्मानमैक्षत" इति ब्रह्मणः प्रत्यगात्मत्वेन वेदनश्रवणाच्च तस्य स्वप्रकाशत्वम्। ननु "यथा गार्ग्य! मरीचयोऽर्कस्याऽस्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति, ताः पुनरुदयतः प्रचरन्ति, एवं ह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवन्ति, तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति" —इत्यादिना स्वप्ने सर्वकरणानां मनस्युपसंहारमुपवर्ण्य, "अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति

ज्ञानवती

होने पर, प्रकाश का प्रतिषेध होने पर, ज्ञान एवं इच्छा आदि के समान अष्टद्रव्याश्रितत्व का निषेध होने पर अभीष्ट की अर्थात्प्रसिद्धि सम्भव है। और विप्रतिपत्ति के कारण प्रसिद्धि है। (पू) अनवस्था (दोनों पक्षों में) समान हो जायगी? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि हमारे मत में ज्ञान का मतलब होता है—अन्तःकरण वृत्ति से अभिव्यक्त चैतन्य। इसलिये व्यञ्जकवृत्ति के जड़ होने पर भी उसके उस प्रकार के प्रमाणान्तर से निरपेक्ष रूप में स्फुरण करने वाले के स्वप्रकाशत्व के स्थित होने पर कैसे अनवस्था होगी? अतः अनुमान भी (ब्रह्म के स्वप्रकाशत्व का) साधक नहीं है। इसलिये ब्रह्म का स्वप्रकाशज्ञानशरीरत्व श्रुति एवं न्याय से सिद्ध है—"दृष्टि के द्रष्टा को नहीं देख सकते,

---

१ (ग) व्यञ्जक ततो वृत्तेः। २ (ग) न्यायप्रसिद्धं।

"अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" इति तस्य ब्रह्मत्वेन कीर्त्तनाच्च सिद्धं ब्रह्मणः स्वप्रकाशज्ञानविग्रहत्वम्। द्रव्यबोधरूप[1] आत्मा, तस्य बोधांशेन (कर्तृत्वम्[2] द्रव्यांशेन) कर्मत्वम् इति पक्षे द्रव्यांशस्य जडसाधारण्यात् अनात्मत्वे बोधांशे कर्मकर्तृभावविरोधात् बलादापतति स्वप्रभवत्त्वम् इति।

[ब्रह्मण आनन्दत्वमनन्तत्वं च–]

एवमानन्दोऽपि ब्रह्म; "आनन्दो ब्रह्म" इति श्रुतेः। "आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्"

भावदीपिका

यद्दृष्टं दृष्टं स्यात्"—इत्यादिना मनसः स्वप्नदर्शने स्वातन्त्र्यश्रवणात् कथमात्मनः स्वप्नाधिकृतस्य स्वयंज्योतिःशब्देन व्यवहारः? मीमांसकैः कर्मकर्तृत्वभावेन वेद्यत्वस्वीकाराच्च? तत्राऽऽह—द्रव्येति। श्रुतेरवस्थाधर्मं मनसि निक्षिप्य तत्साक्षिण आत्मनो ब्रह्मत्वप्रतिपादनपरत्वात्। "एतत् सर्वं पर आत्मनि सन्तिष्ठते"—इति परमात्मनि सर्वस्य सुषुप्तौ लयमुक्त्वा "एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः। स ह यो ह वै तदच्छायमशरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरम् वेद्यते यस्तु सर्वज्ञः सर्वो भवति"—इत्युपसंहारात् "मनसो मनः" "येनाऽऽहुर्मनो मतम्" इत्यादिश्रुतेः मनःकरणेन आत्मकर्तृकः आत्मप्रकाशः—इत्यनुपपन्नम्, अप्रकाशमानस्य स्वप्रकाशनाय करणव्यापारयितृत्वाऽनुपपत्तेश्च। न खलु सुप्तस्य मूर्च्छितस्य वा आत्माऽनुसन्धानशून्यस्य करणव्यापारयितृत्वं प्रसिद्धम्। न च मनोनिरपेक्ष आत्मनः स्वविषयप्रकाशपरिणामः संबोभवीति? घटादेरपि तत्प्रसङ्गात्, आत्माश्रितज्ञानक्रियाऽऽधेयप्राकट्योच्छेदप्रसङ्गात्। प्रमाणसिद्धे हि व्यवस्था भवति, न चाऽऽत्मनः क्रियागुणपरिणामे प्रमाणमस्तीति भावः।

[ब्रह्मण आनन्दत्वमनन्तत्वं च]

एवं नित्यं स्वप्रकाशं अत एवाऽखण्डं ज्ञानं ब्रह्मेति व्यवस्थाप्य आनन्दत्वं व्यवस्थापयति—एवमिति। भेदश्रुतिविरोधमाशङ्क्याऽभेदश्रुतेर्बहुश्रुत्यानुगुण्येन शब्दाद् बाधं दर्शयति—

ज्ञानवती

श्रुति के श्रोता को नहीं सुन सकते, मति के मन्ता का मनन नहीं कर सकते, विज्ञान के विज्ञाता को नहीं जान सकते, यह तुम्हारा आत्मा सर्वान्तर है। इसके अतिरिक्त सब तुच्छ है।" इसश्रुति के द्वारा स्वप्रकाश अद्वितीय सत् आत्मा का निर्धारण होने से "यह आत्मा ब्रह्म सबका अनुभव करने वाला है" इस प्रकार उसका ब्रह्म के रूप में वर्णन होने से ब्रह्म का स्वप्रकाशज्ञानशरीरत्व सिद्ध है। आत्मा द्रव्यबोध रूप है वह बोधांश की दृष्टि से ज्ञान का कर्त्ता और द्रव्यांश की दृष्टि से कर्म है। इस पक्ष में द्रव्यांश के जडसाधारण होने से अनात्म होने पर बोधांश में कमकर्तृभावविरोध होने से स्वप्रभत्व बलात् आ जाता है।

[ब्रह्म का आनन्दत्व एवं अनन्तत्व]

इसी प्रकार आनन्द भी ब्रह्म है क्योंकि "आनन्द ब्रह्म है" यह श्रुति है। (पू) "ब्रह्म

---

[1] (ग)द्रव्यम्। [2] (क) बोधांशेन कर्मत्वम्,(ग)बोधांशने कर्तृत्वम् द्रव्यांशेन कर्मत्वम्।

इति भेदश्रुतेः गुणप्रयुक्तं सामानाधिकरण्यं चेत् ? मैवम् ; "न बिभेति कुतश्चन" इति तद्विज्ञानादभयश्रुतिविरोधात् । "द्वितीयाद्वै भयं भवति", "उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति", "मृत्योस्स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" इति च भेददर्शिनां भयश्रवणात् । अत उपचारतो भेदनिर्देशो बहुश्रुत्यनुसारेण ; ततो न आनन्दो ब्रह्म इति गौणं[1] सामानाधिकरण्यम् । "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति", "प्रज्ञानस्य नामधेयानि", "प्रज्ञानेत्रो लोकः", "अदृष्टं द्रष्टृश्रुतं श्रोतृ", एतस्यैवानन्दस्यान्यानिभूतानि मात्रामुपजीवन्ति" इत्यादिश्रुतिभ्यः सत्यं ज्ञानमानन्दश्च ब्रह्मण एव स्वरूपं सकलभूतेषु कल्पितावच्छेदं विपरीतमिवाभासते ।

अनन्तत्वं च प्रपञ्चेन मैत्रोपनिषदि श्रूयते—"ब्रह्म ह वा (इदमग्र[2]) आसीत् । एकोऽनन्तः प्रागनन्तो दक्षिणतोऽनन्तः प्रतीच्यनन्त उर्ध्वं चान्यां च सर्वतोऽनन्तो न ह्यस्य प्रागादिदिशः कल्प्यन्ते" इत्यादिना[3] स्वशब्देन देशावच्छेदस्य इदमेकशब्दाभ्यां वस्तुकालाभ्यामवच्छेदस्य च प्रतिषेधात् "अनन्तं ब्रह्म" इति "सत्यं

भावदीपिका

आनन्दमित्यादिना । ननु यदि सत्यज्ञानानन्दाः ब्रह्मण एकैकस्य रूपं कथं तर्हि बहुधा विच्छेदाऽवभासः ? - इत्यत आह—एकमिति । मायामहिम्ना स्वप्न इवाऽयमवसायः, गत्यन्तरासम्भवात् इत्यर्थः । अनन्तत्वं भेदाऽवभासस्य काल्पनिकत्वसम्पादनद्वारा । पूर्णरूपत्वमनन्तपदेन लक्षणया सिध्यतीत्याशयवान् आह—अनन्तत्वं चेति । विवक्षितमर्थमाह—स्वशब्देनेति । एवंविधाऽनन्तशब्दार्थे श्रुतिरेव प्रयासं करोति—इत्याह—सत्यमिति ।

ज्ञानवती

के आनन्द को जानता हुआ" इस भेदश्रुति से सामानाधिकरण्य गौण है यदि ऐसा कहें ? (उ) तो ऐसा नहीं है । क्योंकि "किसी से नहीं डरता है" इस श्रुति से उसके विज्ञान से अभय की श्रुति का विरोध हो जायगा । "दूसरे से भय होता है", "थोड़ा भी भेद करता है तो उसको भय होता है", "वह मृत्यु की मृत्यु को प्राप्त होता है जो यहाँ नानात्व देखता है" इस प्रकार भेद देखने वालों के भय का श्रवण है । इसलिये अनेक श्रुति के अनुसार भेद का निर्देश उपचारतः है । इसलिये "ब्रह्म आनन्द स्वरूप है" यह सामानाधिकरण्य गौण नहीं हैं । "एक सत् को विप्र अनेक प्रकार से कहते हैं", "संसार प्रज्ञानेत्र वाला है", "अदृष्ट को देखने वाला अश्रोतृ को सुनने वाला", "इसी आनन्द की मात्रा से अन्य प्राणी जीवित है" इत्यादि श्रुतियों से सत्य ज्ञान एवं आनन्द ब्रह्म का ही स्वरूप समस्त प्राणियों में कल्पित अवच्छेद वाला विपरीत के समान भासित होता है ।

और अनन्तत्व मैत्रोपनिषद् में विस्तार के साथ सुना जाता है—"(सृष्टि के) पहले यह ब्रह्म ही था, एक अनन्त, पूर्व में अनन्त, दक्षिण में अनन्त, पश्चिम में अनन्त, उत्तर में अनन्त, ऊपर एवं अन्यत्र सर्वत्र अनन्त था । इसकी पूर्व आदि दिशायें कल्पित नहीं थीं ।" इत्यादि के द्वारा स्वशब्द से देशावच्छेद का, 'इदम्' एवं 'एक' शब्दों से वस्तु एवं काल के द्वारा अवच्छेद का प्रतिषेध होने से "ब्रह्म अनन्त है", "ब्रह्म सत्य ज्ञान अनन्त है" इससे

१ (ग) गौण । २ (क) इदग्र । (ख) इदमग्र । ३ (ख) इत्यादि ।

ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इति आनन्त्यं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये[1] "यतो वा" इत्यादिना तत्र समारोपरूपः प्रपञ्च उक्तः। प्रतिविम्वेश्वरस्यापि तदन्तर्गतस्य न परमकारणभावः; एकविज्ञानेन सर्वविज्ञानमुक्तोपसृप्यत्वाद्यसम्भवात्। अत एव "जन्माद्यस्य यतः" इति न तस्य सृष्टिकार्येण कारणतया लक्ष्यत्वम्। बिम्ब एव निर्विक्षेप(-सविक्षेप[2]-) मायोपाधित्वेन जीवानां लय उदयश्च तत इत्यङ्गीकारात्।

[सति] बिम्बब्रह्मणि मायारोपनिषेधे च (सर्वप्रकार[3]-)मानन्त्यं प्रमाणीक्रियते[4], "तमेव धीरो विज्ञाय" इत्यवधारणेन अन्यस्य "यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः" इति प्रसक्तस्य ज्ञेयत्वप्रतिषेधेन मायामयत्वावगमाच्चायमर्थोऽवगम्यते। न चात्र ज्ञानं विधीयते न प्रतिषिध्यते किञ्चित्[5]; अवधारणश्रुतिवैयर्थ्यात्।

भावदीपिका

जीवोपाध्यविद्यातो विभिन्नमायाप्रतिबिम्बित ईश्वरो जगदुपादानमिति पक्षे जीवाविद्यानां स्वतन्त्रप्रपञ्चाऽऽरम्भकत्वात् निरङ्कुशोपादानत्वं दुर्घटमेव इति पक्षान्तरोपादानेनाऽऽनन्त्यं विशदयति—सति बिम्बेति। श्रुत्यन्तरेणाऽप्यानन्त्यं प्रपञ्चयति—तमेवेति। उक्तश्रुतेरर्थान्तरमाशङ्क्याऽऽह—न चात्रेति। अस्तु तर्ह्युभयपरत्वम् ?—इत्याशङ्क्याऽऽह—अन्येति। यद्यपि परैर्ब्रह्मणोऽपि देशाऽनवच्छेद आकाशादितुल्य एवेष्यते तथाऽपि वस्त्वन्तरस्य काल्प-

ज्ञानवती

आनन्त्य की प्रतिज्ञा करके उसकी सिद्धि के लिये "जिससे" इत्यादि के द्वारा उसमें समारोपरूप प्रपञ्च कहा गया है। उसके अन्तर्गत प्रतिविम्ब ईश्वर का भी परमकारणभाव नहीं है। क्योंकि एक के विज्ञान से सबके विज्ञान को कहकर उपसृप्यत्व आदि असम्भव है। इसलिये "इसका जहाँ से जन्म आदि है" इससे सृष्टिकार्य के द्वारा कारण के रूप में वह लक्ष्य नहीं हैं। क्योंकि विम्ब में ही निर्विक्षेप सविक्षेप माया की उपाधि के रूप में जीवों का लय एवं उदय वहीं से है ऐसा माना गया है।

और विम्ब ब्रह्म में माया के आरोप का निषेध होने पर सब प्रकार का आनन्त्य प्रमाणित किया जाता है। "धीर उसी को जान कर" इस अवधारण से अन्य के "जिसमें पाँच पञ्चजन और आकाश प्रतिष्ठित हैं" इससे प्राप्त के ज्ञेयत्व का प्रतिषेध होने से यह अर्थ जाना जाता है। (पू) यहाँ ज्ञान का विधान होता है, किसी का प्रतिषेध नहीं होता ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अवधारणश्रुति व्यर्थ हो जायगी। और अन्य का निषेध होने पर तथा विधि के प्रति-

---

[1] (ग) तत्सिद्धे।
[2] (क) सविशेष। (ग) सविक्षेप।
[3] (क) सर्वपरमानन्त्यं। (ग) सर्वप्रकारमानन्त्यम्।
[4] (ख) प्रमी।
[5] (ग) प्रतिषिध्यते न किञ्चित्।

अन्यनिषेधे विधौ च प्रतिपाद्यमाने वाक्यं भिद्येत। "नानुध्यायाद् बहून् शब्दान्" तत्प्रकाश्यानर्थान् इति चाङ्गवाक्येऽन्यज्ञेयत्वप्रतिषेधात् प्रधानवाक्येऽपि प्रतिषेध एव प्रतिपाद्यो गम्यते।

[ब्रह्मणः त्रिविधपरिच्छेदाभावः सगुणविद्याभेदश्च—]

परैरपि ब्रह्मणो देशतः कालतश्च अनवच्छेद इष्यते। न च ईदृग् वस्तु वस्तुतोऽवच्छेदमर्हति। न च आकाशादेर्देशकालाभ्यामनवच्छेदो युगपत्; सर्वमूर्त्तसंयोगितामात्रेण विभुत्वाभिधानात्; मूर्त्तदेशाव्यापनात् व्यापने वा[१] मूर्त्तिस्वरूपतद्रूपादिवत् संयोगित्वाभिधानमनुपपन्नम् उत्पत्तिप्रलयश्रुत्या च कालावच्छेदोऽपि तस्य। अणूनाञ्च "तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्" इति श्रुतेः तस्य त्रिविधोऽप्यवच्छेदो मायामरीच्युदकस्वप्नगन्धर्वनगरसवितृसुष्यादिसहोदरः, इत्यखण्डत्वमनन्तत्वं ब्रह्मणः। "सत्यं ज्ञानम्" इत्यत्र "आनन्दादयः प्रधानस्य" इति सूत्रात्

भावदीपिका

निकत्वसाधनान्न दोषः। तथाऽपि विधिनिषेधोभयदर्शनात् कथमेकतरपरत्वनिर्णयः?—तत्राऽऽह—नाऽनुध्यायादिति।

[ब्रह्मणः त्रिविधपरिच्छेदाभावः सगुणविद्याभेदश्च—]

लेशतो युक्तिमप्याह—परैरिति। एवंभूतस्याऽप्याकाशादेरवच्छेदो वस्तुतः परैरिष्टः। तत्राऽऽह—न चेति। यद्यपि आव[-रणा-]पसरणे तत्र तत्र आकाशदर्शनात् तस्य तस्य देशतोऽनवच्छेदः प्रतिभाति तथाऽपि मूर्त्तस्वरूपदेशाऽऽलोचनया न तस्य स प्रतिभाति; अन्यथा संयोगाभावो दोषः। सत्यमित्यादि वाक्ये आनन्दपदाऽभावात् अयुक्तं तदर्थोत्पादनादि इति? तत्राऽऽह—सत्यमिति।

ज्ञानवती

पाद्यमान होने पर वाक्यभेद हो जायगा। "बहुत शब्दों का तथा उनसे प्रकाश्य अर्थों का अनुध्यान नहीं करना चाहिए" इस अंगवाक्य में अन्यज्ञेयत्व का प्रतिषेध होने से प्रधान वाक्य में भी प्रतिषेध ही प्रतिपाद्य प्रतीत होता है।

[ब्रह्म का त्रिविध परिच्छेदाभाव एवं सगुणविद्या से भेद—]

दूसरे लोग भी ब्रह्म का देशतः एवं कालतः अनवच्छेद ही मानते हैं। और वस्तुतः ऐसी वस्तु अवच्छेद के योग्य नहीं है।

(पू) आकाश आदि का देश एवं काल से अवच्छेद नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि एक साथ सब मूर्त्त (पदार्थों) की संयोगितामात्र से विभुत्व कह दिया जाता है क्योंकि मूर्त्तदेश व्यापक नहीं है। अथवा व्यापक होने पर भी मूर्त्ति स्वरूप और उसके रूप आदि के समान संयोगित्व का कथन अनुपपन्न है। और उत्पत्ति तथा प्रलय की श्रुति से उसका कालावच्छेद भी है। अणुओं का और "उसी प्रकार अक्षर से यह विश्व उत्पन्न होता है" इस श्रुति से उस (=ब्रह्म) का तीनों प्रकार का अवच्छेद, मायामरीचि उदक, स्वप्नगन्धर्वनगर, सवितृछिद्र आदि का सहोदर

[१] (ग) व्यापदेशो मूर्त्त।

शाखान्तरीयानन्दोपसंहारेण यथोक्तलक्षणमविरुद्धम्। "आनन्दादयः प्रधानस्य ब्रह्मणो धर्माः सर्वे सर्वत्र, प्रतिपत्तव्याः। "सर्वत्र[१] हि तदेवैकं प्रधानं विशेष्यं ब्रह्म न भिद्यते" इति भाष्याच्च।

न चैवं सगुणब्रह्मविशेषणानामपि अपुनरुक्तानां तत्र-तत्रोपसंहारप्रसङ्गेन निर्गुणविद्यावत् सगुणविद्याया अप्येकविधत्वेनैक्यप्रसङ्ग इति शङ्कनीयम्; "नाम ब्रह्मेत्युपासीत" इत्यादिप्रतीकोपासनानां "त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि" इत्याद्यहंग्रहोपासनानाञ्चाधिष्ठानविग्रहाप्रत्यभिज्ञातैकदेशगुणसमुदायफल-भेदाद्[२] विद्याभेदे स्थिते गुणोपसंहाराप्रसङ्गात्; इतिशब्दशिरस्कस्य ब्रह्मशब्दस्य[३] ब्रह्मदृष्टिमात्रपरत्वात्; ब्रह्मप्रत्ययस्योपासनकर्मतया (प्रधानेनाक्षेपात्[४];) अन्यधियो-ऽन्यत्रक्षेपः प्रकृतलक्षणपुरस्सरः[५], सगुणस्य हि ब्रह्मणः तत्तद्धिरण्मयादिविकारावस्था-भेदेन भेदात्; अप्रतीकालम्बनान् अहंग्रहोपासनारतान् वैद्युतं स्थानमर्चिरादिमार्गेण गतान्[६] अमानवः पुरुषः सत्यलोकं नयति, न प्रतीकालम्बनान् तद्गतानपि इति शास्त्रे फलभेदव्यवस्थापनाच्च। निर्गुणविद्याविषयस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणस्तारतम्या-

भावदीपिका

शाखान्तरीयोपसंहारेऽनिष्टप्रसङ्गमाशङ्क्याऽऽह—न चैवमिति। अधिष्ठानम्= उपासनास्थानम्; विग्रहः=उपास्यस्वरूपम्। स्थलान्तरे सत्यभिज्ञातैकदेशो गुणसमुदायो यथोपकोशलविद्यायाम् "एतं संयद्वाम इत्याचक्षते; एतं हि सर्वाणि वा इमान्यभिसं-यन्ति"—इत्यादिगुणसमुदायः, फलस्य च तेषां भेदात्। प्रतीकनिरुक्तिपूर्वकं संक्षेपेणोक्तं विशदयति—इति शब्देति। न च विद्यात्वात् निर्गुणविद्याऽपि सगुणवद् भिन्ना—इत्याह—निर्गुणेति। फलस्य विद्यायाश्च न भेदगन्ध इत्यर्थः। तथाऽपि निषेधविशेषणानामनुप-

ज्ञानवती

है इसलिये ब्रह्म अखण्ड तथा अनन्त है। "सत्यं ज्ञानम्" यहाँ पर आनन्द आदि को प्रधान बतलाने वाले इस सूत्र से शाखान्तरीय आनन्द का उपसंहार होने से लक्षण ठीक है। और "आनन्द आदि प्रधान ब्रह्म के सब धर्म सब जगह जानन चाहिए। क्योंकि सब जगह वही एक प्रधान विशेष्य ब्रह्म भिन्न नहीं होता" यह भाष्य है।

(पू) अपुनरुक्त सगुण ब्रह्म के विशेषणों के भी जगह-जगह उपसंहार के प्रसंग से निर्गुण विद्या के समान सगुणविद्या के भी एकविध होने पर ऐक्य की प्राप्ति हो जायगी?

(उ) ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। "नाम ब्रह्म है ऐसी उपासना करनी चाहिये" इत्यादि प्रतीक उपासनाओं तथा "भगवति देवते तुम मैं हूं और मैं तुम हो" इत्यादि अहंग्रहोपासनाओं का अधिष्ठानविग्रह अप्रत्यभिज्ञात एकदेश गुणसमुदायरूप फलभेद के कारण विद्याभेद के स्थित होने पर गुणोपसंहार की प्राप्ति नहीं होगी। इति शब्द जिसके बाद में है ऐसा ब्रह्म शब्द ब्रह्मदृष्टि-मात्रपरक है। ब्रह्मज्ञान के उपासना के कर्म होने से प्रधान के द्वारा आक्षेप होने से अन्यबुद्धि का

१ (ख) सर्वत्रैव। २ (ग) ज्ञानैक। ३ (ख) शब्दनिरस्तस्य ब्रह्म, (ग) शब्दशिरकस्य न ब्रह्म। ४ (क) प्राधान्याना। (ख ग) प्रधानेना। ५ (ख) प्रतिकृति। (ग) प्रतीक इति। ६ (ग) वैद्युतस्या।

भावादेव तद्विद्याफलस्य तदात्मसंप्रतिपत्तिरूपस्य न भेदगन्धोऽप्युपपद्यते[१], "ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति", "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इत्यादिश्रुतेः। आनन्दादिविधिविशेषणवत्[२] स्थूलादिनिषेधविशेषणानामल्पनिषेधविशेषणस्थले[३] "अक्षरधियां(त्वविरोधः[४])" इति सूत्रकृतोपसंहारस्य वर्णितत्वात्। सर्वत्राखण्डैकरसब्रह्मतत्त्व-प्रतिपत्ति-)वाक्यात्[५] इति।

"कालादिप्रविभक्तं सद् यद्[६] ब्रह्माभूदविद्यया।
तत् प्रत्यक्तत्त्वसम्बोधात् ध्वस्ते ध्वान्तेऽन्तरात्मनि॥
आत्मानमेव तद् ब्रह्म ब्रह्मैवात्मेत्यवेच्छ्रुतेः॥"

इति। आविद्यककालादिविभागस्याविद्योच्छेदादुच्छित्तावात्मान्वितत्वेन व्यतिरेकेण अभावात्मना वा परिशेषासम्भवात्। "यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्ति" इति श्रुतेः "अद्धाशब्दवाच्यासन्दिग्धवाक्यार्थसाक्षात्कारेणाखण्डैकरसावशेषः"[७] इति वार्त्तिकाच्च सर्वमवदातम्।

भावदीपिका

संहारे न सत्त्वैकरसप्रतिपादनसिद्धिः ? अत आह—आनन्दादीति। अक्षरधियाम्= धीजनकानाम्; विशेषणानामस्थूलत्वादीनामिव। प्रघट्टकार्थमाप्तोक्त्या संगृहीतं दर्शयति—कालादीति। प्रत्यक्तत्त्वसम्बोधं श्रुत्या विशदयति—यस्य स्यादिति।

ज्ञानवती

अन्यत्र क्षेप प्रकृतलक्षण के बाद है क्योंकि सगुण ब्रह्म का भिन्न-भिन्न हिरण्मय आदि विकारावस्थाभेद से भेद होता है। अप्रतीकालम्बन वाले अहंग्रहोपासनारत, अर्चिरादि मार्ग से वैद्युत स्थान को प्राप्त हुए (लोगों) को अमानव पुरुष सत्यलोक में ले जाता है न कि प्रतीकालम्बन वाले तद्गत (पुरुषों) को भी; ऐसी शास्त्र में फलभेद की व्यवस्था है। निर्गुणविद्याविषय वाले निर्विशेष ब्रह्म का तारतम्य न होने से ही उस विद्या के फल का, जो कि तदात्मसंप्रतिपत्तिरूप हैं, जरा सा भी भेद उपपन्न नहीं होता। क्योंकि "ब्रह्म होकर ही ब्रह्म को प्राप्त करता है", "ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ही होता है" इत्यादि श्रुति है। आनन्द आदि विधिविशेषण के समान स्थूल आदि निषेधविशेषणों का अल्पनिषेधविशेषण वाले स्थल में "अक्षरधियान्त्वविरोधः" इस प्रकार सूत्रकार ने उपसंहार का वर्णन किया है। सर्वत्र अखण्ड एकरस ब्रह्मतत्व की प्रतिपत्ति वाक्य से होती है। "सत् जो ब्रह्म अविद्या के द्वारा काल आदि के रूप में प्रविभक्त है वह प्रत्यक्तत्त्व का सम्बोधक होने से अन्तरात्मा में अन्धकार के ध्वस्त हो जाने पर आत्मा को ही ब्रह्म करके जानता है क्योंकि "आत्मा ही ब्रह्म है" यह श्रुति है"। अविद्या वाले काल आदि विभाग का अविद्या के उच्छेद से उच्छेद होने पर आत्मान्वित होने से व्यतिरेकेण अथवा अभावात्मना परिशेष असम्भव है। "जिसको विलकुल सन्देह नहीं है" इस श्रुति से तथा "अद्धा शब्द से वाच्य असन्दिग्धवाक्यार्थ के साक्षात्कार से अखण्डैकरस वचता है" इस वार्तिक से सब स्पष्ट है।

---

१ (ख) भेदग्रन्थो। २ (ग) विधि। ३ (ग) अस्थूल।
४ (क) त्वविरोघ। (ग) त्वविरोघ। ५ (क) प्रमितिः, (ग) प्रतिपत्तिः।
६ (ख) अथ। ७ (ग) वाक्यार्थत्वमपर्याय।

[वाक्यानामखण्डार्थत्वे पूर्वपक्षः-]

अथ कथं वाक्यस्याखण्डब्रह्मार्थत्वम् ? अपर्यायपदानां[1] घटपटादिपदवत् एकरसार्थत्वानुपपत्तेः । ननु क इत्थमाचक्षीत ? न तावद् वैयाकरणः, तेन स्वयमेव[2] प्रातिपदिकप्रथमाविभक्त्योः एकरसार्थवृत्तिताऽभ्युपगमात्; नापि सौगतेन इत्थं पर्यनुयुज्यते, 'विज्ञानं भिन्नम्' इति वाक्ये विज्ञानभिन्नशब्दयोः एकरसार्थवृत्तिताऽभ्युपगमात्; नो खलु विज्ञानादन्यस्तद्भेदो येन भिन्नपदस्यार्थातिरेको वर्ण्येत; अत एव न गुरुमतानुसारिणोऽप्येवं पर्यनुयोगावकाशः, समानन्यायत्वात्; कणभक्षाक्षचरण-कौमारिलपक्षपातिनोऽपि स्वरूपभेदवादिनः प्रागुन्नीतन्यायेन शिक्षणीयाः; धर्मभेद-वादिनस्तु 'भेदो भिन्नः' इत्युदाहरणेन; न खलु भेदस्य भेदान्तरमस्ति, येन भिन्न-पदस्यार्थातिरेको वर्ण्येत; तस्मात् सर्वतन्त्रसिद्धान्तोऽयमखण्डवाक्यार्थ इति ।

अत्र ब्रूमः—वाक्यं[3] तावदनेकपदात्मकः शब्दः (अधिकृतः[4]) "सुप्तिङन्तं पदम्"

भावदीपिका

[वाक्यानामखण्डार्थत्वे पूर्वपक्षः—]

एवं लक्ष्यस्वरूपं संभाव्य वाक्यस्य तत्प्रमापकत्वनिरूपणाय वादान्तरमारभते—अथ कथमिति । प्रमाणाधीना प्रमेयसिद्धिरितिवत् अस्य सर्वतन्त्रसिद्धान्तत्वात् अनुपपन्नोऽयमाक्षेपः—इत्याह—नन्विति । धातुविभक्तिवर्जमर्थवच्छब्दरूपं प्रातिपादिकरूपं नाम चेति विभाषिता । बाह्यानाम् अबाह्यानां क्रमेण सम्प्रतिपत्तिं साध्यसिद्ध्यनुकूलत्वेनाऽऽह—नाऽपीति । साध्यसमन्वितानि साधीयान्युदाहरणानि—इत्याह—अत्र ब्रूम इति । कथमेतावताऽनुदा-

ज्ञानवती

[वाक्यों के अखण्डार्थत्व में पूर्वपक्ष—]

(पू) (तत्त्वमसि आदि) वाक्यों का अखण्डब्रह्मार्थत्व कैसे है ? क्योंकि अपर्याय पदों का घट पट आदि पदों के समान एकरसार्थत्व अनुपपन्न है। प्रश्न है कि ऐसा कौन कहता है ? वैयाकरण नहीं कह सकता क्योंकि वह प्रातिपदिक एवं प्रथमाविभक्ति की एकरसार्थवृत्तिता को (अर्थात् उनको एकरूप अर्थ का बोधक) मानता है। बौद्ध भी ऐसा पर्यनुयोग नहीं कर सकता क्योंकि वह 'विज्ञान भिन्न है' इस वाक्य में विज्ञान एवं भिन्न पदों की एकरसार्थवृत्तिता मानता है। भेद विज्ञान से अन्य नहीं है जिससे 'भिन्न' पद का अर्थातिरेक वर्णित हो। इसीलिये गुरुमतानुयायियों के लिये भी ऐसे पर्यनुयोग का अवकाश नहीं है। तुल्यन्याय के कारण कणाद, गौतम एवं कौमारिल के पक्ष वाले भी, जो कि स्वरूपभेदवादी हैं, पूर्वोक्त न्याय के द्वारा शिक्षणीय हैं। धर्मभेदवादी लोग तो 'भेद भिन्न है' इस उदाहरण के द्वारा शिक्षणीय हैं। भेद का भेदान्तर नहीं होता जिससे भिन्न पद का अर्थातिरेक वर्णित हो। इस कारण यह अखण्ड-वाक्यार्थ सभी शास्त्रों का सिद्धान्त है।

(उ) इस विषय में कहते हैं—अनेक पदात्मक शब्द वाक्य माना गया है। "सुबन्त एवं तिङन्त पद है" ऐसा पदलक्षण का विधान करने वालों ने प्रातिपदिक एवं प्रथमाविभक्ति को

---

१ (ग) पदानां ।
२ (ग) स्वयमेवं ।
३ (ख) वाक्ये ।
४ (क) अविकृतं (ग) अधिकृतः ।

इति पदलक्षणं च विदधता प्रातिपदिकप्रथमाविभक्त्योः मिलितयोः[१] पदत्वमुक्तम्। अतः "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" इति यद्यपि प्रातिपदिकप्रथमाविभक्तयोरेकार्थत्वमुक्तम्, तथाऽपि पदानामखण्डार्थत्वे नोदाहरणम्। शाब्दप्रतीत्य[२]-जन्यशाब्दप्रतीतिजनकं वर्णात्मकं पदम्; शाब्दपदार्थधीजन्यशाब्दवाक्यार्थधीजनकं वाक्यम्। शब्दप्रतीत्यजन्येति हेयम्। शाब्दप्रतीत्यजन्यधीजनकमक्षादि, अतः शाब्दप्रतीतिजनकेति। पदार्थधीजनकमदृष्टादि[३], अतः वर्णेति। अत्रापि लक्षणे[४] प्रातिपदिकौघस्य वाक्यत्वाभावाद् विभक्तिरन्तरा न[५] शक्यते हातुम्। 'विज्ञानं भिन्नम्' इत्यत्र च पृथक् भेदधर्माभावेऽपि 'विज्ञानम्' इति यथाप्रसिद्धानुवादेन व्यक्तयो नीलपीताद्याकारा [बह्व्यः[६]] इति विधीयते 'भिन्नम्' इति। तेन[७] सामान्यविशेषयोः शब्दद्वयेन प्रतिभानात् नोदाहृतिलाभः द्वयोः। स्वलक्षणमात्रार्थत्वे च पर्याय-

भावदीपिका

हरणत्वम्? तत्राऽऽह—अत इति। प्रातिपदिकार्थमात्रे प्रथमाविभक्तिरेवं लिङ्गपरिमाणयोरपि। वृक्षः, कुण्डं, कुमारी—इति लिङ्गवचने प्रथमा। प्रस्थः; कुणवाः—इत्यादि परिमाणवचने। पाणिन्याचार्यस्य तावदपर्यायपदानां अखण्डार्थत्वं न सम्मतम्। पदस्य वक्ष्यलक्षणेऽपि नोदाहरणलाभः—इत्यनुवादपूर्वकमाह—शाब्देति। हेयमित्युत्तरत्राऽप्यनुषङ्गः। समासे यद्यपि विभक्तिः प्रतिपदं न भासते तथाऽपि पदार्थोक्तौ विभक्तिरवश्यंभाविनी। राज्ञः पुत्रः=राजपुत्रः—इत्यादौ समासपदे चाऽपर्यायशब्दानां पदात्मकानामखण्डार्थत्वं न सम्मतम्। वाद्यन्तरस्याऽप्यसम्मतिमाह—विज्ञानमिति। धर्मभेदाऽभावेऽपि स्वरूपभेदस्वीकारात् स्वरूपाणां चाऽनेकत्वात् नाऽखण्डार्थत्वलाभः। आग्रहवन्तं प्रत्याह—द्वयोरिति। भिन्नो घटः, पटो

ज्ञानवती

मिलाकर पद कहा है। इसीलिये "प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा" कहकर यद्यपि प्रातिपदिक एवं प्रथमाविभक्ति को एकार्थवाची कहा गया है, तो भी (यह) पदों के अखण्डार्थत्व में उदाहरण नहीं है। शाब्दप्रतीति से अजन्य शाब्दप्रतीति का जनक वर्णात्मक पद होता है एवं शाब्दपदार्थधी से जन्य शाब्दवाक्यार्थधी का जनक वाक्य होता है। 'शाब्दप्रतीत्यजन्य से' इस (पद को) छोड़ देना चाहिये। चूँकि शाब्दपदार्थधी का जनक अक्ष आदि है इसलिये 'शाब्द प्रतीतिजनक' (को भी छोड़ देना चाहिये)। पदार्थबुद्धि के जनक अदृष्ट आदि है इसलिये 'वर्ण' (पद छोड़ देना चाहियें)। इस लक्षण में भी प्रातिपदिक समूह के वाक्य न होने से दूसरी विभक्ति नहीं छोड़ी जा सकती। 'विज्ञान भिन्न है' यह पृथक् भेद धर्म का अभाव होने पर भी 'विज्ञानम्' इस यथाप्रसिद्ध अनुवाद के द्वारा नीलपीत आदि आकार वाले बहुत से व्यक्ति हैं इसलिये 'भिन्नम्' ऐसा विधान होता है। इसलिये सामान्य एवं विशेष का दो शब्द से प्रतिभान होने से दोनों के उदाहरण का लाभ नहीं है। और स्वलक्षणमात्र अर्थ होने पर पर्याय रूप में उदाहरण नहीं है।

---

१ (ग) प्रथमाविभक्तयोः अतः। २ (ग) शब्दे। ३ (ग) अदृष्टादिवर्णेति। ४ (ग) अत्रापि प्राप्ति। ५ (ग) विभक्त्यन्त नाशक्य। ६ (क) बहवः। ७ (ग) तेन शब्दात् द्वयोः प्रतिभा।

त्वेनानुदाहरणत्वम्। अतो नेदमप्युदाहरणम्। अन्येषामपि स्वरूप(-भेदादि-)वादिनां[१] अनयैव दिशोदाहरणं नेतव्यम्। 'भिन्नो भेदः' इत्यत्र च भेदस्य भेदान्तरविधानाभावेऽपि भेदो वस्तुनो धर्म इति सम्बन्धो विधीयते[२] (प्रतिवस्त्वजन्यः)[३] इति वा; तेनैतदप्यनुदाहरणम्। तस्मान्न सर्वतन्त्रसिद्धान्तोऽयमखण्डवाक्यार्थ इति।

यच्चोच्यते—अपर्यायशब्दानां संसर्गगोचर(-प्रमितिजनकत्वं[४]), एकप्रातिपदिकार्थमात्रपर्यवसायित्वं वा अखण्डार्थत्वमिति? मैवम्[५]; यत आद्यलक्षणे तावत् अनेकविशेषणव्यावृत्तभेदसंज्ञक[६] विशिष्टपदार्थात्मकवाक्यार्थप्रमाजनका(-पर[७]-)पर्यायशब्देषु (अतिव्यापनम्[८]); अन्यथा भेदसंसर्गवाक्यार्थयोर्भेदाभावप्रसङ्गात्। सर्वथा संसर्गगोचरप्रमाजनकत्वं चेद् विवक्षितम्? तर्हि अप्राप्तयोः प्राप्तिः संयोगः, नित्यसम्बन्धः समवायः; इत्यादिसंसर्गलक्षण(-वाक्येष्वतिव्याप्तिरिहारः[९]) स्वयंकृतो न

भावदीपिका

भिन्न—इति भिन्नपदस्याऽनुवर्त्तमानस्याऽपर्यायत्वं यद्यपि, तथाऽपि व्यतिरिक्तभेदाऽभावार्थत्वं स्वलक्षणमात्रार्थत्वं च न सम्मतम्; पर्यायत्वप्रसङ्गश्च दुर्वार एकरसार्थत्व इत्यर्थः। उदाहरणान्तरं विघटयति—भेदो भिन्न इति।

अखण्डार्थत्वनिरुक्तिरपि न साध्वी—इति अनूद्याह—यच्चोच्यते इति। 'शीतोष्णस्पर्शवन्तौ पयोयावकौ'—इत्यत्र अतिव्याप्तिव्युदासार्थम् – एकप्रातिपदिकेति। शीतस्पर्शं पयः इत्यादिव्युदासाय—मात्रपदम्। विशिष्टप्रतीतौ संसर्गभानेऽपि कथञ्चित् नाऽतिव्याप्तिरित्यपि न वाच्यम्—इत्याह—सर्वथेति। स्वयं तत्र प्रदीपकारैः असम्भवग्रस्तं द्वितीयमपि

ज्ञानवती

इसलिये यह भी उदाहरण नहीं है। अन्यस्वरूपभेद आदि वादियों के (मत में) भी इसी दिशा से उदाहरण समझना चाहिये। 'भिन्नो भेदः' यहाँ भेद का भेदान्तरविधान न होने पर भी भेद वस्तु का धर्म है इस सम्बन्ध का विधान होता है अथवा प्रतिवस्तु से अजन्य का (विधान होता है); इसलिये यह भी उदाहरण नहीं है। इसलिये यह अखण्डवाक्यार्थ सर्वतन्त्र का सिद्धान्त नहीं है।

(पू) और जो कहा जाता है कि अपर्याय शब्दों का संसर्गगोचरप्रमितिजनकत्व अथवा एकप्रातिपदिकाथमात्रपर्यवसायित्व अखण्डार्थत्व है?

(उ) तो ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रथम लक्षण में अनेक विशेषण से व्यावृत्तभेदसंज्ञकविशिष्टदार्थात्मकवाक्यार्थप्रमाजनकअपरपर्यायशब्दों में अतिव्याति है। अन्यथा भेदसंसर्गवाक्यार्थभेदाभाव का प्रसंग होने से सर्वथा संसर्गागोचरप्रमाजनकत्व यदि विविक्षत है तो'अप्राप्त की प्राप्ति संयोग एवं नित्यसम्वन्व समवाय है इत्यादि संसर्गलक्षण वाक्यों में अतिव्याप्ति का स्वयंकृत

---

१ (क) भेद। (ग) भेदादि। २ (ख) इति विधीयते। ३ (ग) वस्त्वजन्य। ३ (क) वस्त्वन्य, ४ (क) प्रमादि। (ख ग) प्रमिति। ५ (क) मैवं आद्यलक्षणं। ६ (ग) संज्ञिक। ७ (क) जनकापर्याय। (ग) जनकापरपर्याय। ८ (क) इति व्यापन्नम्, (ग) अतिव्यापनम्। ९ (क) लक्षणेष्वव्याप्ति, (ग) लक्षण वाक्येष्वतिव्याप्ति।

स्यात्। द्वितीयेऽपि (लक्षणायाः[1]) एकप्रातिपदिकार्थमात्रपरत्वं[2] वक्तव्यम्—

"वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तितः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते॥"

'मानान्तरविरोधे' इत्यादि वा लक्षणालक्षणम्। पदानां पदार्थस्वरूपमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्याऽऽक्षिप्ता प्रतिपत्तिर्लक्षणा इति च त्रिविधाऽपि संसृष्टार्थप्रमैव लक्षणया न अखण्डार्थप्रमा इत्यसम्भवदोषः।

यच्चोक्तम्— विश्वेदेवा देवता अस्या इत्यस्मिन्नर्थे "साऽस्य देवता" इति सूत्रेणाण्प्रत्ययविधानात् वैश्वदेवी' इत्यण्प्रत्ययान्तपदेन आमिक्षाया विश्वदेवसम्बन्धः केवलः सन्निधानात् प्रतिपाद्यते; 'दण्डी' इति इनिप्रत्ययान्तेन[3] सन्निहितदेवदत्तसम्बन्धमात्रं दण्डस्य; 'कमण्डलुमान्' इति मतुप्प्रत्ययेन[4] कमण्डलुसम्बन्धमात्रम्; चित्रागावोऽस्य 'चित्रगुः' इति बहुव्रीहिसमासेन देवदत्तस्य चित्रगोसम्बन्धमात्रं विधेयम् (इत्यवयविपदानां[5]) अखण्डार्थवृत्तितायां सुलभमुदाहरणमिति;

भावदीपिका

लक्षणम्—इत्याह—द्वितीयेऽपीति। लक्षणसंभावनार्थान्युदाहरणान्यनूद्य प्रत्याचष्टे—यच्चोक्तम् इति। द्रव्यदेवताया उपकार्योपकारकत्वम्, इतरत्र विशेषणविशेष्यभावः। उदाहृतसम्बन्धस्य द्व्याकारत्वात् सामान्यविशेषाकारद्वयघटितवस्तुवत् नाऽखण्डैकरसत्वमित्यर्थः। न च लक्षणवाक्येनाऽखण्डार्थत्वाऽनुमानं शकारविन्यासम्; 'तारकासप्तकं, सप्तर्षयः' इत्यादौ व्यभिचारात्; एकव्यक्तिलक्षणवाक्यत्वस्याऽपि 'नानावर्णं वासः, चित्रः पट'—इत्यादावनैकान्तः। एकरसव्यक्तिलक्षणं वाक्यत्वं परस्याऽसिद्धम्। एतेन 'अपर्यायपदानां संसर्गगोचरप्रमाजनकत्वलक्षणाऽखण्डार्थत्वस्य साधनेनोक्तहेतौ व्यभिचारः'—इत्यपि परास्तम्। अत्राऽपि ह्यर्थाऽननुसन्धानेनोच्चार्यमाणलक्षणवाक्येषु व्यभिचारवारणाय प्रमाजनकत्वविशेषणेऽपि विवक्षितकादि-

ज्ञानवती

परिहार नहीं होगा। दूसरे में भी लक्षणा को एकप्रातिपदिकार्थपरक कहना पड़ेगा।

"वाक्यार्थ में वाच्यार्थ के सम्बन्ध की अनुपपत्ति होने से तत्सम्बन्धवश प्राप्त का अन्वय होने से लक्षणा कही जाती है।"

अथवा 'मानान्तरविरोध' इत्यादि लक्षणा का लक्षण है। पदों के पदार्थस्वरूपमात्रपरक होने पर वाक्यप्रामाण्य की अनुपपत्ति से आक्षिप्त प्रतिपत्ति लक्षणा (होती है) और वह तीन प्रकार की होती हुई भी लक्षणा के द्वारा संसृष्टार्थ प्रमा है न कि अखण्डार्थ प्रमा इसलिये दोष असम्भव है।

(पू) और जो कहा—विश्वेदेव देवता हैं जिसके इस अर्थ में 'साऽस्य देवता' इस सूत्र से अण् का विधान होने से वैश्वदेवी इस अण्प्रत्ययान्तपद से आमिक्षा का विश्वदेव से सम्बन्ध केवल सन्निधान से प्रतिपादित किया जाता है; 'दण्डी' इस 'इनि' प्रत्ययान्तपद के द्वारा दण्ड का सन्निहित

---

[1] (क) लक्षणया, (ग) लक्षणायाः। [2] (ग) प्रातिपदिक।
[3] (ग) प्रत्ययान्ते। [4] (ग) प्रत्ययान्ते। [5] (क) अपर्याय। (ग) अवयवि।

तदपि उपकार्यत्वोपकारकत्वयोर्विशेषणत्वविशेष्यत्वयोर्वा परस्परपरिहारेण स्थितिभाजोः अखण्डत्वानुपपत्त्या पराकर्त्तव्यम्; तयोरेव विवक्षितसम्बन्धात्मकत्वात्। ततो न सत्यज्ञानाद्यवान्तरवाक्यस्याखण्डार्थत्वम्। एवं महावाक्यस्यापि। अथ 'सोऽयम्' इति प्रत्यभिज्ञावाक्ये तदेतद्देशकालविशिष्टयोः ऐक्यप्रतिपादनायोगात् अवश्यं लक्षणायां पूर्वदेशकालोपलक्षितस्य एतद्देशकालविशिष्टेनाभेदप्रतिपादनस्य केवलविशिष्टयोरभेदासम्भवेनासम्भवात्; तथा सति वर्त्तमानकालविशिष्टस्य पूर्वमपि सद्भावप्रसङ्गात् वर्त्तमानकालोऽपि पूर्वं प्रसज्येत; साक्षादेवाभेदप्रतिपादने सम्भवति पूर्वकालाद्युपलक्षिते वर्त्तमानकालादिवैशिष्ट्यधर्मप्रतिपादनेनार्थादभेदः सिद्ध्यति इति वक्तुमशक्यत्वाच्च साक्षाद् बुभुत्सितार्थप्रतिपादनप्रयोजनवत्तया चोभयपदलक्षणस्वीकारस्यागौरवात्[2]; तेनाखण्डार्थत्वे महावाक्यस्यापि तल्लाभ इति?

भावदीपिका

मात्रप्रमाजनकोक्तवाक्येष्वनैकान्तः। स्वार्थप्रमाजनकत्वविशेषणं च स्वार्थस्य साध्यत्वेनाऽसिद्धमिति तदपीत्यपेरर्थः। दण्डादिसंयोगस्याऽखण्डत्वेऽपि दण्डाऽदिपदस्यैवाऽखण्डार्थत्वं न वाक्यस्येति भावः। अवान्तरवाक्यस्य महावाक्याऽङ्गत्वात् तत्पदार्थशोधकत्वेन अर्थात्तदाक्षेपेऽपि साक्षात् तमाह—एवमिति। विशिष्टसंसर्गाऽतिरिक्तवस्तुनिष्ठत्वं वाक्यस्याऽखण्डार्थत्वम्। भेदनिषेधसामानाधिकरण्याऽनुपपत्तिश्च तत्र प्रमाणम् प्रतिविम्बमितिवत् 'तत्त्वमसि' इत्यस्य निषिद्धभेदसामानाधिकरण्यत्वेनाऽखण्डार्थताऽनुमानाच्चेति अत्यधिकञ्च निरस्यते। प्रत्यभिज्ञावाक्यतुल्यत्वेनांऽशद्वयखण्डनेनार्थादखण्डपर्यवसानात्। उदाहरणभङ्गेन तदाक्षेप्तुं तदनुवदति—अथेति। अभेदप्रतिपादनस्य एकपदलक्षणया सम्भवात् उभयलक्षणामवलम्ब्य अखण्डार्थत्वं व्युत्पादयति—पूर्वदेशेति।

ज्ञानवती

देवदत्त से सम्बन्धमात्र, और कमण्डलुमान् इस मतुप् प्रत्यय से कमण्डलु का सम्बन्धमात्र (प्रतिपादित किया जाता है; चित्र गायें हैं जिसकी वह चित्रगु इस बहुव्रीहि समास से देवता का चित्र गो से सम्बन्धमात्र का विधान करना चाहिये; यह सब अवयवी पदों का अखण्डार्थवृत्तिता में सुलभ उदाहरण है?

(उ) वह भी उपकार्यत्वउपकारत्व के अथवा विशेषणत्वविशेष्यत्व के परस्पर परिहार से अवशिष्ट पदों के अखण्डत्व की अनुपपत्ति के द्वारा पराकृत किया जाना चाहिये क्योंकि वे दोनों विवक्षितसम्बन्धवाले हैं। इसलिये सत्य ज्ञान आदि अवान्तर वाक्य का अखण्डार्थत्व नहीं है। इसी प्रकार महावाक्यार्थका भी (अखण्डार्थत्व नहीं है)।

(पू) 'सोऽयम्' इस प्रत्यभिज्ञावाक्य में तदेतद्देशतदेतत्कालविशिष्टों का ऐक्यप्रतिपादन न होने से अवश्य लक्षणा होने पर केवल एवं विशिष्ट का अभेद असंभव होने के कारण पूर्वदेशकालोपलक्षित का एतद्देशकालविशिष्ट के साथ अभेदप्रतिपादन के असम्भव होने से, वैसा होने पर वर्त्तमानकालविशिष्ट का पहले भी सद्भाव होने से वर्तमानकाल भी पहले प्राप्त होने लगेगा। साक्षात् ही अभेद का प्रतिपादन सम्भव होने पर पूर्वकालाद्युपलक्षित में वर्त्तमानकालादिवैशिष्ट्य

[1] (ग) सद्भावे। [2] (ग) गौरवत्वात्।

नैतच्चतुरश्रम्[१] ; अभिज्ञाद्वयेन देवदत्तैक्ये सिद्धे प्रत्यभिज्ञाया न विषयं न मूलवाक्यस्य वा अवस्यामः[२]। न च भेदभ्रमाभावो विषयः ; तद्वाचकपदाभावात् ऐक्यविधाननान्तरीयकतया च तत्सिद्धौ न वाक्यविषयत्वम्। 'अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्[३]' "यश्च अर्थादर्थो न स चोदनाऽर्थः" इति च न्यायात्। पूर्वापरकालविशिष्टैकगोचरं[४] प्रत्यक्षम्, तदुपलक्षितैकगोचरत्वं[५] वा प्रत्यभिज्ञानं चेद् ? वाक्यस्य विशिष्टार्थत्वमूलानुरोधात्[६] प्रत्यक्षस्यानिश्चलक्षणावृत्तिप्रसङ्गः। लक्षणया तत्प्रतिपादने च भेदभ्रमाभाववैशिष्ट्यमेव वाक्यार्थः स्यात्, ततो नाखण्डार्थत्वम्। एवं महावाक्यस्यापि।

भावदीपिका

आप्तवाक्यस्य मूलप्रमाणाऽपेक्षत्वात्, अत्र च प्रत्यभिज्ञा मूलं वाच्यम्। तस्याश्च किमेकं स्वरूपं विषयो भेदाऽभावो वा ? नोभयमपि—इत्याह—अभिज्ञेति। वाचकपदाऽभावेऽपि अर्थात्तत्सिद्धिरित्यप्ययुक्तम्—इत्याह—ऐक्येति। प्रत्यभिज्ञाया लक्षणाऽऽलोचनयाऽपि नाऽखण्डार्थता—इत्याह—पूर्वेति। लक्षणायाः शब्दैकवृत्तेः प्रत्यक्षेऽसम्भवात् न ततोऽखण्डार्थत्वसिद्धिः। यदाऽपि स इत्यंशः साक्षिसिद्धः, अयमिति प्रत्यक्षं सिद्ध्यति, सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, तदाऽपि नाऽखण्डार्थत्वलाभः; संस्काराऽनुपयोगप्रसङ्गश्च। स्मृतिव्यवधानेन स हि साक्षिणः प्रकाशकत्वे प्रत्यक्षस्य तत्सहितस्य वा ज्ञानजनकत्वे संस्कारोपयोगः स्यात्। तत्र स्मृतिव्यवधानेऽनुभवव्यवधान इव साधारण्येन साक्षिसिद्धव्यपदेशः स्यात् 'अयम्' इत्यंशे चाऽभिज्ञायामिव सम्प्रयोगमात्रेणाऽपि प्रत्यक्षस्य करणत्वसम्भवात् तदनुपयोगो दुर्वारः। न च 'अयम्' इत्येतावता भेदभ्रमव्युदासो, येनाऽत्र संस्कारोपयोगः कल्प्येत। न च नास्त्येव संस्कारः ? पूर्वभ्रमादिसंस्कारस्योत्तरभ्रमादिसामग्रीत्ववर्णनविरोधात्। अत एव स्मृताविव संस्कारोपयोग इत्यपि न वाच्यम्; विभ्रमाद्युपयोगे च न प्रत्यभिज्ञायामुपयोगः—इति युक्तिविकलम्। अस्तु तर्हि लक्षणया तत्प्रतिपादनादपूर्वत्वम् ? तत्राह—लक्षणयेति। लक्षणास्वरूपाऽऽलोचनया विशिष्टसिद्धिः।

ज्ञानवती

धर्म का प्रतिपादन होने से अभेद अर्थात् सिद्ध होता है यह कहना अशक्य होने के कारण साक्षात् बुभुत्सित अर्थ के प्रतिपादन के प्रयोजन वाला होने से उभयपद की लक्षणा को स्वीकार करने का गौरव नहीं है। इसलिये अखण्डार्थ होने पर महावाक्य भी अखण्डार्थक होता है।

(उ) यह चतुरश्र नहीं है। दो अभिज्ञाओं से देवदत्त का ऐक्य सिद्ध होने पर यह न तो प्रत्यभिज्ञा का विषय है और न मूलवाक्य का, ऐसा (हम) निश्चय करते हैं। (पू) भेदभ्रम का अभाव विषय है ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि तद्वाचक पद न होने से ऐक्यविधान के नान्तरीयक होने से उसकी सिद्धि होने पर वाक्यविषयता नहीं है। क्योंकि "प्राप्त न होने पर शास्त्र अर्थवान् होता है," "और जो अर्थ अर्थात् प्राप्त है वह चोदना का अर्थ नहीं है" यह न्याय है। यदि पूर्वापरकालविशिष्ट एकविषयकप्रत्यक्ष अथवा उससे उपलक्षित एकविषयक प्रत्यभिज्ञान है ?

१ (ग) चतुरश्रम् तद्वाचक। २ (ख) पश्यामः। ३ (ग) अप्राप्ते शास्त्र।
४ (ग) परविशिष्टे। ५ (क) गोचरत्वं वाक्यस्यापि किं वा।
(ग) गोचरत्वं वा। ६ (ग) मूलाऽनिरो।

किञ्च अहंपदलक्षितस्य ब्रह्मपदलक्ष्याभेदात्[१]

"श्रुत्यादिप्रतिबद्धं सद् विशेषार्थं भवेत् पदम् ।"

इति सुरेश्वराचार्यवचनाच्च न पदान्तरस्यावकाश इति न (वाक्यस्य[२]) अर्थैक्यम् । विरुद्धांशव्यावृत्तेश्चार्थिकत्वान्न व्यावर्त्त्यार्थभेदात् पदान्तरसार्थक्यम् । अथ (ब्रह्मत्वोप[३]-)देशमन्तरेण विरोधास्फुरणान्न लक्षणैव प्रवर्त्तते, तेन न व्यर्थं ब्रह्मपदम् ; 'सुखमहमस्वाप्सम्' इत्यत्र सुप्तावहंकाराभावात् अहंशब्दस्य आत्मनि लक्षणया प्रयोगाङ्गीकारात् ? मैवम् ; पदद्वयप्रयोगेऽपि लक्षितयोर्भेदे 'नीलमुत्पलम्' इत्यादिवत् गौणसामानाधिकरण्यप्रसङ्गात् । अभेदे पूर्वोक्तन्यायेन न वाक्यलाभ इति वाक्यस्याखण्डार्थत्वं मनोरथमात्रम् इति ।

भावदीपिका

इतश्च न [सोऽहं-]वाक्यस्याऽखण्डार्थत्वम्—इत्याह—किञ्चेति । यथा खलु-"ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।" इत्यत्र पृथिव्याद्यशेषप्रपञ्चोच्छेदकत्वज्ञानं ईष्टे इतीट् तेन [=ईशा] इत्येकपदेनैव, तथाऽत्रापि भविष्यतीत्यर्थः । लक्षणस्यैक्येऽपि संसारित्वादिविरुद्धांशभेदात् तत्प्रहाणेन तत्प्रयोग इत्यपि न वाच्यम्—इत्याह—विरुद्धेति । शोधितत्वंपदार्थे चिन्मात्रे संसाराऽभावस्याऽसिद्धत्वात् न तदर्थं ब्रह्मपदाऽवकाशः । एवं ब्रह्मपदलक्ष्येऽपि पूर्णचैतन्ये पारोक्ष्याऽप्रतीतेरहंपदवैय्यर्थ्यम् । ब्रह्मपदोपयोगमाशङ्क्य समाधत्ते—अथेति । लक्षणाया असिद्धिरुक्ता; लक्ष्यमपि भेदाऽभेदविकल्पोपहतम्—इत्याह—यदेति । लक्षितयोर्भेदस्याऽपि दर्शनाद्विकल्पोत्थानम् ।

ज्ञानवती

तो वाक्य के विशिष्टार्थत्वमूलानुरोध से प्रत्यक्ष की अनिष्टलक्षण आवृत्ति होने लगेगी । और लक्षणा के द्वारा उसका प्रतिपादन करने पर भेदभ्रमाभाव का वैशिष्ट्य ही वाक्यार्थ हो जायगा, इसलिये अखण्डार्थत्व नहीं है । इसीप्रकार महावाक्य का भी (अखडार्थत्व नहीं है) ।

इसके अतिरिक्त अहंपद से लक्षित (वस्तु) का ब्रह्मपद से लक्ष्य (वस्तु) से अभेद होने से तथा

"श्रुति आदि से प्रतिवद्ध होने वाला पद विशेषार्थक होता है"

सुरेश्वराचार्य के इस वचन से पदान्तर का अवकाश नहीं है इसलिये वाक्यार्थ का अर्थैक्य नहीं है । और विरुद्धांश की व्यावृत्ति के आर्थिक होने से व्यावर्त्य अर्थ के भेद से पदान्तर सार्थक नहीं है ।

(पू) ब्रह्मत्वोपदेश के विना विरोध का स्फुरण न होने से लक्षणा ही प्रवृत्त नहीं होगी इसलिये ब्रह्म पद व्यर्थ नहीं है क्योंकि 'मैं सुखपूर्वक सोया' यहाँ पर सुषुप्ति में अहंकार न होने से 'अहं' शब्द का आत्मा अर्थ में प्रयोग लक्षणा के द्वारा माना गया है । (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि दो पदों का प्रयोग होने पर भी दो लक्षित का भेद होने पर 'नीलकमल' इत्यादि के समान गौणसामानाधिकरण्य की प्राप्ति होने लगेगी । अभेद होने पर पूर्वोक्त न्याय के द्वारा वाक्यलाभ नहीं होता इस प्रकार वाक्य का अखण्डार्थत्व मनोरथमात्र है ?

---

१ लक्ष्या भेदाः । २ (क) वाक्यार्थैक्यम्,

३ (क) ब्रह्मात्मत्वोप । (ग) ब्रह्मत्वोप ।

[अखण्डार्थनिरूपणम्–]

अत्र समाधिः—यथा खलु—"अथातो यज्ञं व्याख्यास्यामो द्रव्यं देवता त्यागः" इति त्रिस्कन्धमुक्त्वा "तदङ्गमितरत्" इति ब्रह्मविद्याऽङ्गकर्मकाण्डस्य यज्ञमात्रपर्यवसानमुक्तम्, तथैव "अथातो ब्रह्मविद्यां व्याख्यास्यामः विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः", "अहं ब्रह्मास्मि" इति त्रिस्कन्धमुक्त्वा "तदङ्गमितरत्" इति ब्रह्मविद्यामात्रपर्यवसानम् उपनिषदोऽप्यनुकरणीयम्। तावत् कतम आत्मा ? इति[1] (प्रश्ने) "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" इति प्राणादिव्यतिरेकं मध्ये स्वप्नादिराहित्यं चोक्त्वा अन्ते शोधितं[2] त्वं पदार्थं "योऽयं विज्ञानमयः" इति वाक्येनानूद्य "स वा एष महानज आत्मा" इति तत्पदार्थैक्यप्रतिपादनदर्शनात्। 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्वर्त्तते स ज्योतिः पुरुषः=स्वप्रकाशः परमात्मा' इति[3] (व्याख्याने उपसंहारे "स वा एष महानज आत्मा" इति) पृथक् परमात्मभावविधानात् समग्रस्य

भावदीपिका

[अखण्डार्थनिरूपणम्—]

उपनिषदां तावदखडार्थे पर्यवसानं महावाक्यप्राधान्यावष्टम्भात्, किमु वाच्यं महावाक्यस्य तदर्थत्वे—इत्याह—अत्रेति। उक्तम् कात्यायनेन सूत्रकृता। संक्षेपेणाऽद्वैतार्थत्वमाविष्करोति—कतम इति। योऽयमित्यादि वाक्यं महावाक्यतयाऽपि कैश्चिद्व्याख्यातम्, तत्रोपसंहारे "योऽयं विज्ञानमयः" इत्यनेन समग्रं पूर्ववाक्यं विवक्षितं [प्राणेषु इत्यन्तमेव]

ज्ञानवती

[अखण्डार्थ-निरूपण—]

(उ) इस विषय में समाधान है—जैसे—

"अब इसलिये यज्ञ का व्याख्यान करेंगे—द्रव्य, देवता त्याग" इस प्रकार तीन स्कन्धों को कहकर "उसका अङ्ग दूसरा है" इस प्रकार ब्रह्मविद्या कर्मकाण्ड की यज्ञमात्र में समाप्ति कही गयी है उसी प्रकार 'अब इसलिये ब्रह्मविद्या का व्याख्यान करेंगे', "ब्रह्म विज्ञान आनन्द स्वरुप है", "प्राणों में हृदय में जो यह विज्ञानमय अन्तज्योंति पुरुष है," "मैं ब्रह्म हूँ" इन तीन स्कन्धों को कहकर "उसका अंग दूसरा है" इस प्रकार उपनिषद् के भी ब्रह्मविद्यामात्रपर्यवसान का अनुकरण करना चाहिये। "कौन आत्मा है ? ऐसा (प्रश्न होने पर) जो यह विज्ञानमय प्राणों में, हृदय में, अन्तज्योंति पुरुष है" ऐसा (उसके) प्राण आदि से व्यतिरेक और मध्य में स्वप्नादिराहित्य को कहकर अन्त में शोधित त्वं पदार्थ को "जो यह विज्ञानमय" इत्यादि

---

१ (क) इति योऽयं, (ग) इति प्रश्ने योऽयं।

२ (ग) शोधितत्वं।

३ (क) परमात्मा इति पृथक्, (ख ग) परमात्मेति व्याख्याते पृथक्।

"योऽयम्" इत्यादिवाक्यस्यानुवादत्वं पूर्वविरुद्धं स्यात्। तेनावान्तरवाक्यमेवैतत्। "स्वयंज्योतिः आत्मनैव ज्योतिषा" इति चोक्ते कतमो[1] ज्योतीरूप आत्मा? इति प्रश्ने ज्योतीरूप इति चोत्तरं साधु; यज्ञब्रह्मणोरेव वेदार्थत्वात्। अत एव तयोरेव जैमिनिबादरायणाभ्यां जिज्ञास्यत्वेनोपक्षेपः। यथा च सानुबन्धयागपरिच्छेदाय सिद्धोपदेशः तथा ब्रह्माद्वैतपरिच्छेदाय[2] श्रवणादिसाध्यनिर्देशः; साक्षात्कारोपकारकत्वात्। तदेवं सकलोपनिषत् एकं वाक्यं ब्रह्माद्वैतपरम्[3]। न च अपर्यायशब्दानां तदर्थानां च भिन्नार्थत्वं शक्यमनुमातुम्; "प्रज्ञानस्य नामधेयानि"

भावदीपिका

वा? नाद्यः—इत्याह योऽयमिति। न द्वितीयः—इत्याह—स्वयंज्योतिरिति। अस्मिन् पक्षे पूर्ववाक्यस्य महावाक्यत्वाऽनुपपत्तौ एकदेशावर्त्तनेनैकदेशाऽनुवादो नाऽयुक्तः। अथवा ज्योतिःपदेन तत्पदार्थत्वविधानं न युज्यते; ज्योतिःपदस्य त्वंपदार्थपरामर्शित्वात्—इत्याह—स्वयंज्योतिरिति। अतो महावाक्यत्वेनोपसंहारात् पूर्वमपि महावाक्यत्वं कथम्?—इत्यादिर्घटनामात्रम्; तृतीयवेदार्थस्याऽनिरूपणाच्च। वेदान्तानां च यज्ञप्रतिपादनाऽदर्शनात् आत्माऽद्वैतमेवार्थः—इत्याह—यज्ञेति। आप्तसम्मत्याऽप्येवम्—इत्याह—अत एवेति। ननु वेदान्तेषु निर्गुणश्रवणादिविधानं सगुणोपासनविधानं च दृश्यते, तत् कथमद्वैतार्थता? अत आह—यथा चेति। सिद्धम्=स्वर्गादि; महाप्रकरणस्याऽद्वैते पर्यवसानादवान्तरवाक्यभेदेऽपि न दोष इति भावः।

इदानीं महावाक्योपकरणवाक्यस्याऽखण्डार्थत्वं परोक्तदोषोद्धारेण व्यवस्थापयति—न चाऽपर्यायेति। कथं तर्ह्यौपनिषदत्वव्यपदेशः इत्युक्तम् ब्रह्मणः?—इत्यत आह—

ज्ञानवती

वाक्य से अनुवाद करके "वह यह महान् अज आत्मा है" इस प्रकार तत्पदार्थ से ऐक्यप्रतिपादन को देखा जाता है;" जो यह विज्ञानमय प्राणों में हृदय के अन्तर में, है वह ज्योति-पुरुष स्वप्रकाश परमात्मा" ऐसा व्याख्यान होने पर उपसंहार होने पर "वह यह महान् अज आत्मा है" इस प्रकार पृथक् परमात्मभाव का विधान हुआ है, (इस कारण) समूचे 'योऽयम्' इत्यादि वाक्य का अनुवादत्व पूर्वविरुद्ध हो जायगा। इसलिये यह अवान्तरवाक्य ही है। "स्वयंज्योति अपनी ही ज्योति से" ऐसा कहने पर, कौन ज्योतिरूप आत्मा है? यह प्रश्न होने पर ज्योतिरूप यह उत्तर ठीक है क्योंकि यज्ञ एवं ब्रह्म ही वेद के अर्थ हैं। इसलिये जैमिनि एवं व्यास के द्वारा उन्हीं दोनों का जिज्ञास्य के रूप में उपक्षेप है। और जैसे सानुबन्ध याग के परिच्छेद के लिये सिद्ध का उपदेश है उसी प्रकार ब्रह्माद्वैत के परिच्छेद के लिये श्रवण आदि साध्य का निर्देश है क्योंकि (श्रवण आदि) साक्षात् परोपकारक हैं। तो इस प्रकार समस्त उपनिषदें एकवाक्य है तथा ब्रह्माद्वैतपरक है।

(पू) अपर्याय शब्दों का और उसके अर्थों का भिन्नार्थत्व अनुमित किया जा सकता है? (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि "प्रज्ञान के नामधेय हैं", इस श्रुति से घट पट आदि शब्दों का भी ब्रह्मैकार्थ के रूप में दृष्टान्त नहीं है। कहा भी है—

---

[1] (ग) कतम। [2] (ग) द्वैतच्छेदाय। [3] (ग) वाक्यं न च।

इति श्रुतेः घटपटादिशब्दानामपि (ब्रह्मैकार्थत्वेन[1]) दृष्टान्ताभावात्। (उक्तञ्च[2])।

"सर्वप्रत्ययवेद्ये वा ब्रह्मरूपे व्यवस्थिते।
प्रपञ्चस्य प्रविलयः शब्देन प्रतिपाद्यते॥
प्रविलीनप्रपञ्चेन तद्रूपेण न गोचरः।
मानान्तरस्येति मतमाम्नायैकनिबन्धनम्॥[3]"

इति। "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इति विशेषरूपाणामनृतत्वाभिधानात्। न च "योऽयं विज्ञानमयः" इत्यत्र विज्ञप्तिर्विज्ञानं ब्रह्म, तद्विकारो जीवो विज्ञानमयः, सोऽप्येवं मिथ्या इति शङ्कनीयम्; 'पृथिवीमयः' इत्यादि प्रायार्थमयट्प्राये पाठात्। (अत एव[4]) बुद्धिप्रायो विज्ञानमयः।

"यावान् ल्युडर्थस्तेनायं तदविद्यैकहेतुकः।
अविशिष्टो मतो यस्मात् तदाभासैकवर्त्मना॥[5]"

ल्युडर्थः=विज्ञानम्; असौ चिदाभासेनाविशिष्टः, "चिदाभासोऽपि तेनाविशिष्टः तत्प्रायः" इति वार्त्तिकाच्च; सत्त्वेनानुस्यूतत्वाच्च[6] तत्तदाकारोपसंहारे च सन्मात्रावशेषात्

भावदीपिका

प्रविलीनेति। सम्भावनातर्कबाधितं चाऽनुमानम्—इत्याह—वाचेति। विकारत्वादतत्त्वेऽनिष्टमाशङ्क्याह—न च योऽयमिति। प्रायार्थः प्रधानार्थे; यथा—स्त्रीमयो जाल्म इति। वैशिष्ट्यमिथ्यात्वस्येष्टत्वात् नाऽनिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः। शून्याऽद्वैतभ्रमं व्युदस्यति—तेनेति। दृश्यस्य मिथ्यात्वेऽपि द्रष्टुर्विकारस्य सत्त्वान्न शून्यवादाऽवकाशः इत्याशयः।

ज्ञानवती

"अथवा सर्वप्रत्ययवेद्यत्व ब्रह्मरूप के व्यवस्थित होने पर प्रपञ्च का प्रविलय, शब्द से प्रतिपादित होता है।"

"प्रविलीन प्रपञ्च के द्वारा उसी रूप से (वह) प्रमाणान्तर का विषय नहीं है यह मत केवल आम्नाय का है।"

"वाणी का आलम्बन विकार नामधेय है" ऐसा (कहकर) विशेषरूपों के अनृतत्व का अभिधान किया गया है। (पू) "जो यह विज्ञानमय" यहाँ पर विज्ञप्तिरूप विज्ञान ब्रह्म है और उसका विकार जीव विज्ञानमय है वह (जीव) भी इसी प्रकार मिथ्या है?

(उ) ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि पृथिवीमय इत्यादि प्रायार्थमयट् का प्राय अर्थ में पाठ होता है। इसीलिये विज्ञानमय का अर्थ बुद्धिप्राय है, क्योंकि—

"जितना ल्युट्प्रत्ययान्त का अर्थ है उससे यह तदाभासरूप एक सिद्धान्त से उस अविद्यारूप एक हेतु वाला अविशिष्ट माना गया है।"

ल्युडर्थ शब्द का अर्थ है विज्ञान। यह चिदाभास से अविशिष्ट है और चिदाभास भी

---

[1] (क) ब्रह्मकाण्डत्वेन, (ग) ब्रह्मकाण्डत्वेन, (ग) ब्रह्मैकार्थत्वेन।
[2] (क) उक्तश्च। [3] ब्र० सि० ४।३, ४ [4] (क) अतो, (ख) अत एव।
[5] बृ० वा० ४।३।३१५। [6] (ख) नाननुस्यूत।

"सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते"
इत्यभियुक्तवचनाच्च अखडार्थत्वोपपत्तौ विपरीत(-सन्धानस्य[1]) आभासत्वाच्च।

'प्रकृष्टप्रकाशः[2] सविता:' इत्यपर्यायशब्दैरनेकान्ताच्च सर्वं तावद्वाक्यं अपूर्वार्थ-विशेषप्रमापकत्वेनैव प्रमाणम्। यथा 'कनकाचले जम्बूवृक्षस्य महागजप्रमाणानि फलानि' इति जम्बूसामान्यानुवादेन महागजप्रमाणफलत्वमपूर्वं प्रमापयद्वचः, एवमत्रापि; तच्च प्रकृष्टादिवाक्यस्यापूर्वप्रमापकत्वमखण्डार्थत्वेनैव,[3] प्रकर्षादिवैशिष्ट्यस्य[4] लोकसिद्धत्वात्[5] युक्तत्वाच्चाखण्डार्थत्वस्य। तथा हि—यादृशस्य सवितुः प्रकर्ष-गुणाश्रयत्वं तादृशस्यैव प्रकृष्टशब्दवाच्यत्वसम्भवे तदतिरिक्तप्रकर्षगुणकल्पनायां प्रमाणाभावात्[6]। न च प्रकर्षो गुणः; प्रकृष्टो गन्धोऽम्बुगतिश्च इति गुणादावपि

भावदीपिका

इतश्च नाऽनुमानं युक्तम्—इत्याह—प्रकृष्ट इति। कथमत्र साध्याऽभावो येन व्यभिचारः? तत्राऽऽह—सर्वं तावदिति। अथाऽत्राऽपि वैशिष्ट्यं प्रतिपाद्यम्—तत्किं प्रत्यक्षसंवादात्? युक्तिबलाद् वा? नाद्यः; स्वतःप्रामाण्यसाधनात्; तत्र च संवादाऽनपेक्षणात्; अपेक्षायां वा अपेक्षणीयस्यैव प्रामाण्यात्—इत्याह—प्रकर्षादीति। नान्त्यः—इत्याह—युक्त-त्वाच्चेति। गुणत्वमप्ययुक्तम्—इत्याह—न चेत्यादिना। प्रकाशः प्रभारूपोऽपि विवक्षितः

ज्ञानवती

उससे अविशिष्ट अर्थात् तत्प्राय ही है, यह वार्तिक है। तथा सत्त्व से अनुस्यूत है, और भिन्न-भिन्न आकार का उपसंहार होने पर सन्मात्रावशेष रहता है, और "आकृति के नष्ट होने पर जो अन्त में रह जाता है" यह अभियुक्तवचन है, तथा अखण्डार्थत्व की उपपत्ति में विपरीतसन्धान आभास-मात्र है (इसलिये जीव मिथ्या नहीं है)।

'प्रकृष्टप्रकाशवाला सूर्य है' इन अपर्याय शब्दों से अनेकान्त होने के कारण सब वाक्य अपूर्वार्थविशेष के प्रमापक के रूप में ही प्रमाण हैं। जैसे—सुवर्ण-पर्वत पर जम्बूवृक्ष के महागज के परिमाण वाले फल हैं यहाँ जम्बूसामान्य के अनुवाद के द्वारा कथन अपूर्व महागजप्रमाण-फलवत्त्व को प्रमाणित करता है, उसी प्रकार यहाँ भी है। और वह प्रकृष्ट आदि वाक्य का अपूर्वप्रमापकत्व अखण्डार्थ के रूप में ही है। क्योंकि प्रकर्षआदिवैशिष्ट्य लोकसिद्ध है तथा अखण्डार्थत्व युक्त है। वह इस प्रकार—जिस प्रकार का सूर्य प्रकर्षगुण का आश्रय है उसी प्रकार के (सूर्य का) प्रकृष्टशब्दवाच्यत्व सम्भव होने पर उसके अतिरिक्त प्रकर्षगुण की कल्पना में कोई प्रमाण नहीं है।

प्रकर्षगुण नहीं है क्योंकि जल की गति एवं गन्ध प्रकृष्ट है ऐसा गुण आदि में भी उसका व्यवहार होता है।

(उ) (प्रकर्ष) प्रकाश भी नहीं है। क्योंकि मण्डलावयवों से अन्यत्र उसके अभाव का प्रसङ्ग हो जायगा। मध्य में निविड अवयव से आरब्ध चन्द्र के समान समस्त प्रभाद्रव्य ही

---

१ (क)साध्यस्य, (ख) सन्धानस्य। २ (ग) प्रकृष्टः।
३ (ग) स्यपूर्वं। ४ (ग) प्रकर्षाविशिष्टस्य। ५ (ग) लोका।
६ (ख) भावात् नापि:

व्यपदेशात्। नापि प्रकाशो गुणः; मण्डलावयवेभ्योऽन्यत्र तदभावप्रसङ्गात्। मध्ये निविडावयवारब्धश्चन्द्र[1] इव सकलं प्रभाद्रव्यमेव प्रकाशशब्दार्थः। अतो निविडविरलावयवावस्थाभेदमात्रेण[2] सवितुः प्रकाश इति भेदोपचारः। तेन प्रकर्ष-प्रकाशौ नांशुमालिनि (भिद्येते[3]) व्यवच्छेद्ययोश्च निकर्षशार्वरयोश्च[4] भेदात् न पदान्तरवैयर्थ्याऽऽशङ्का, प्रकृष्टप्रकाशशब्दाभ्यां स्ववाच्यसामान्यपरित्यागेन सवितृ-प्रातिपदिकार्थमात्रस्य विशेषरूपस्यापूर्वस्य पदार्थमात्रस्य सामान्यात्मकस्य प्रसिद्धत्वेन तत्परत्वे वाक्यप्रामाण्यानुपपत्तेर्लक्षणया[5] (बोधनाद्) अखण्डार्थत्वं (वाक्यस्य[6]) सुस्थम्। सामान्याभिधानेनार्थान्निकर्षादिव्यवच्छेदात्[7] न तद्व्यावृत्तेर्वाक्यार्था-न्तर्गमोऽपि। अतः सिद्धमनैकान्तिकत्वम्।

एवं च सन्मात्रतया लोकतो वेदतश्च[8] कारणतया प्रसिद्धस्य ब्रह्मणो विज्ञाना-

भावदीपिका

किं मण्डलाकार एव वा ? नाद्यः – इत्याह—मण्डलेति। नान्त्यः—इत्याह—मध्य इति। अवयविन एकत्वात् अखण्डार्थत्वाऽविरोध इत्यर्थः। कथं तर्हि भेदव्यवहाराः ? तत्राऽऽह अत इति। अंशुमालिनि—सूर्ये; वर्त्तमानस्तापत्वेन प्रकर्षप्रकाशौ न भिद्येते चेत् व्यर्थं तर्हि पदान्तरम् ?—तत्राऽऽह—व्यवच्छेद्ययोश्चेति। निकृष्टप्रकाशो नक्षत्रादिः प्रकृष्टपदमन्तरेण व्यवच्छेत्तुं न शक्यते। तथा प्रकृष्टं शार्वरं तमः प्रकाशपदमन्तरेण। ततो न पदान्तरवैय्यर्थ्यम्। तर्हि अनेकांशप्रसक्तौ पदद्वयप्रवृत्तिप्रयोजकभेदात् कथमखण्डार्थत्वम् ? तत्राऽऽह—प्रकृष्टेति। प्रकृष्टशब्देन प्रकर्षगुणः, प्रकाशशब्देन च प्रकाशत्वसामान्यं, तेन गुणसामान्याऽविष्टा सवितृव्यक्तिः प्रतिपाद्यतेऽनेन वाक्येनेत्युक्तम्। प्रकर्षशब्दाऽभिधेयस्य परिमाणविशेषस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात् सामान्यस्याऽप्येवं वैशिष्ट्याच्चाऽबुभुत्सितत्वात् सवितृप्रातिपदिकार्थ एव लक्षणया प्रतिपाद्यते। लक्षणायाः प्रयोजकम्—अहंपदार्थमात्रस्य सामान्यात्मकस्येति। तथाऽपि न तावदखण्डै-करसत्वम्; विरुद्धांशव्यावृत्तेरपि प्रतिपाद्यत्वादित्यपि नाऽऽशङ्क्यम्—इत्याह—सामान्येति।

ज्ञानवती

प्रकाश शब्द का अर्थ है। अतः निविडविरलावयवावस्थाभेदमात्र से 'सविता का प्रकाश है' ऐसा भेद का व्यवहार होता है। इसलिये प्रकर्ष एवं प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं है। व्यवच्छेद्य निकर्ष एवं शार्वर के भेद से पदान्तर के वैयर्थ्य की शंका भी नहीं है। प्रकृष्ट एवं प्रकाश शब्दों के द्वारा स्ववाच्य सामान्य के परित्याग से सवितृप्रातिपदिकार्थमात्रविशेषरूप की, और अपूर्व-पदार्थमात्रसामान्यात्मक के प्रसिद्ध होने से तत्परक होने पर वाक्यप्रामाण्य की, अनुपपत्ति होने से लक्षणा के द्वारा बोध होने से वाक्य का अखण्डार्थत्व ठीक है। सामान्याभिधान के द्वारा

---

१ (ख) चन्द्रोदय पट इव समलं, (ख) चन्द्रोदयपट इव समण्डलं।
२ (ग) निविडा।
३ (क) विद्येते, (ग) भिद्येते।
४ (ग) श.र्वरयोः भेदा—।
५ (क) लक्षणया अखं, (ख) लक्षणया बोधनया अखं, (म) लक्षणया बोधनावख—।
६ (क) वाक्यार्थस्य, (ग) वाक्यस्य।
७ (ग) निःकर्षादि।
८ (ख, ग) हेतुतश्च।

नन्दादिः; विशेषरूपं सामान्यवाचिभिः विज्ञानादिपदैः तद्विधानेनार्थात् जडत्वादि-व्यवच्छेदात्।

"प्रतिपद्य पदार्थं हि विरोधात्तद्विरोधिनः।
पश्चादभावं जानाति वध्यघातकवत् पदात् ॥"

इति च आचार्यैरुक्तत्वात् लक्षणया अपूर्वं प्रमीयते। न खलु स्वप्रकाशाभावरूपानन्दात् ज्ञानं सत्त्वं वा पृथक्, येन लक्षणया संसर्गः प्रमीयेत। आनन्दश्च ब्रह्मैव इत्य-वादिष्म, प्रयोजनकौमुद्यां च श्रुतियुक्तिभ्यामेतत् (प्रायंसिष्म[1])। ततो नात्र चित्रवद-नेकरूपत्वाऽऽशङ्काऽपि; कल्पितब्राह्मण्यविधानेन[2] मिथ्याशङ्किताब्राह्मण्यव्यावृत्तिवत् कल्पितसत्यत्वादिसामान्यविधानात् मिथ्याशङ्कितानृतजडत्वादिव्यावृत्त्युपपत्तेश्च।

[महावाक्यप्रयोजनम्—]

"स एष संप्रसादोऽस्मात् शरीरात् समुत्थाय विविक्तं त्वं पदार्थं ज्ञात्वा स्वेन

भावदीपिका

दार्ष्टान्तिके सत्त्वादिसामान्याभावेऽपि तद्विशेषणानामनेकत्वादेकरसत्वलाभः—इत्यत आह—न खल्विति। प्रायंसिष्म=नियमितवन्त इत्यर्थः। तथाऽपि सत्यत्वादिधर्मस्य वास्तवत्वा-भावात् कथं तद्विधानादनृतत्वादिव्यवच्छेदः? अत आह—कल्पितेति।

[महावाक्यप्रयोजनम्—]

एवं पदान्तरवैयर्थ्यं परिहृत्याऽधुना तत्सार्यक्यं प्रपञ्चयति—स एष इति। तथाऽपि

ज्ञानवती

अर्थात् निकर्ष आदि का व्यवच्छेद होने से उसकी व्यावृत्ति से वाक्यार्थ में अन्तर्गम भी नहीं है। इसलिए अनैकान्तिकत्व असिद्ध है।

इस प्रकार विज्ञान आनन्द आदि, लोक एवं वेद में सन्मात्र के रूप में तथा कारण के रूप में प्रसिद्ध ब्रह्म का विशेष रूप है। क्योंकि सामान्यवाची विज्ञान आदि पदों से उसका विधांन होने से जडत्व आदि का व्यवच्छेद हो जाता है।

"विरोध के कारण पदार्थ को जानकर वाद में पद से उसके विरोधी का अभाव बध्य-घातक के समान जाना जाता है।"

ऐसा आचार्य के कथन से लक्षणा के द्वारा अपूर्व का ज्ञान होता है। ज्ञान अथवा सत्त्व स्वप्रकाश भावरूप आनन्द से पृथक् नहीं है जिससे लक्षणा के द्वारा संसर्ग का ज्ञान करते। और "आनन्द ब्रह्म ही हैं" ऐसा कह चुके हैं और प्रयोजनकौमुदी में हमने इसका श्रुति एवं युक्ति से नियमन किया है। इसलिये यहाँ पर चित्र के समान अनेकरूपत्व की शङ्का भी नहीं है। कल्पित ब्राह्मण्य का विधान होने से मिथ्याशंकित अब्राह्मण्य की व्यावृत्ति के समान, कल्पित सत्यत्व आदि सामान्य का विधान होने से मिथ्याशंकित अनृत जडत्व आदि की व्यावृत्ति की सिद्धि हो जाती है।

[महावाक्य का प्रयोजन—]

"वह यह सम्प्रसाद (स्वरूप आत्मा) इस शरीर से उठकर विविक्त त्वं पदार्थ को

---

१ (क) प्रायः शिष्टम्, (ग) प्रायंशिष्म। २ (ग) भिधानेन।

रूपेण ब्रह्मणाऽभिनिष्पद्यते। तत्साक्षात्कारवान् ततो मायाऽऽवरणभङ्गेन परञ्ज्योतिर्ब्रह्मस्वरूपमुपसंपद्यते"। "उपनिष्पद्य" इति मुखं व्यादाय स्वपिति इतिवत् (इत्यवस्थाभेदवतो)[१] जीवस्य क्रमेण वाक्यार्थज्ञानोक्तेः। एकैकमपि पदं "विज्ञानम्" इत्यादि श्रुत्यादिप्रतिबन्धविशेषार्थं[२] सद्विज्ञानाद्यंशविषयाज्ञानावयवोच्छेदाय प्रभवति। वाक्यं च सामग्र्यांशविषयमज्ञानं[३] तदंशि (-बोधनेन[४]) विधुनोति। एवमवान्तरवाक्याभ्यां ब्रह्माहंपदार्थयोः प्रत्येकमज्ञाननिवृत्तौ तयोरवच्छेदविभ्रमोपादानमविद्या महावाक्यकृतैक्यबोधेन प्रविलीयते। "सिद्धन्तु निवर्त्तकत्वात्" इति भेदनिवर्त्तकत्वमात्रेण च[५] तत्त्वमादेः प्रामाण्यं सिद्धमित्यर्थो ग्राह्यः; अज्ञातप्रमाजनकत्वप्रमाण[६]-लक्षणस्यात्राव्याप्तिप्रसङ्गात्। किन्त्वेकैकपदात् स्फुरदप्यैक्यं न भेदप्रत्यनीकाकारेण[७]-स्फुरतीति तदाकारप्रमाजनकत्वेनैव प्रामाण्यं सिद्धमित्यर्थो ग्राह्यः। यद्यपि[८] च

भावदीपिका

महावाक्यस्य कथमखण्डार्थत्वम्? अत आह—एवमिति। लक्षणायाः संसृष्टार्थत्वनियमस्य भग्नत्वादपूर्वविशेषमात्रप्रमापकत्वेन प्रामाण्योपपादनात् अखण्डार्थत्वं महावाक्यस्याऽपि निराकुलमिति भावः। वाक्यकारवचनविरोधं स्वोक्तस्य परिहरति—सिद्धं त्विति। तदिदानीं परोक्तं ब्रह्मपदवैय्यर्थ्यं पराकरोति—यद्यपि चेति। तर्हि सामानाधिकरण्यस्य तुल्यत्वाच्छ्रुत्यन्तराच्च ब्रह्मणोऽपि प्रत्यक्त्वविषयाऽज्ञानवत्त्वं प्राप्तम्; तच्च

ज्ञानवती

जानकर अपने रूप से (अर्थात्) ब्रह्म से युक्त होता है। उसका साक्षात्कार करने वाला फिर माया के आवरण के भङ्ग के द्वारा परंज्योति ब्रह्म को प्राप्त होता है।" उपनिष्पद्य शब्द (का प्रयोग) 'मुख को खोल कर सोता है' इसके समान है, क्योंकि इस अवस्थाभेद वाले जीव का क्रम से वाक्यार्थज्ञान कहा गया है। 'विज्ञानम्' इत्यादि एक-एक पद श्रुति आदि प्रतिबन्धविशेष के लिये होता हुआ विज्ञान आदि अंशविषयक ज्ञानावयव के उच्छेद के लिए समर्थ होता है। और वाक्यसामग्री अंशविषयक अज्ञान को उसके अंशी के ज्ञान के द्वारा नष्ट कर देती है। इस प्रकार दो अवान्तर वाक्यों से ब्रह्म एवं अहं दो पदार्थों में से प्रत्येक के अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर उनके अवच्छेद रूप विभ्रम का उपादान अविद्या महावाक्य के द्वारा सम्पादित ऐक्यबोध से विलीन हो जाती है। "निवर्त्तक होने से सिद्ध है" इस प्रकार भेद-निवर्त्तकत्वमात्र से "तत्त्वम्" आदि का प्रामाण्य सिद्ध है यह अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि अज्ञातप्रमाजनकत्वप्रमाणलक्षण की यहाँ अतिव्याप्ति होने लगेगी। किन्तु एक-एक पद से स्फुरित होता हुआ भी ऐक्य भेदप्रत्यनीकाकारेण स्फुरित नहीं होता, इसलिये तदाकार प्रमाजनक के रूप में ही प्रामाण्य सिद्ध है—यह अर्थ ग्राह्य है। यद्यपि "कौन अनन करता कौन प्राणन करता, यदि यह आकाश आनन्द न होता", "वह यह आनन्द की मीमांसा", "आनन्द से ही", "आनन्द ब्रह्म" इस प्रकार ब्रह्म एवं अहं पदार्थों का

---

१ (क) अवस्थावतो, (ग) अवस्थाभेदवतो। २ (ग) प्रतिबद्धं।
३ (ग) सामग्री। ४ (क) बोधेन, (ग) बोधनेन। ५ (ख) मात्रेण न तत्त्व।
६ (ख) ज्ञात। ७ (ग) प्रत्यनीकारेण। ८ (ग) यद्यपि च।

"को ह्येवान्यात्[1] कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" "सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा", "आनन्दाद्ध्येव", "आनन्दो ब्रह्म" इति च ब्रह्माहंपदार्थयोः आनन्दैकरसत्वेन स्वरूपतो विशेषो नावधार्यते; तथाऽपि यथा सांख्यानां विज्ञानैकरसत्वेऽपि पुंसां प्रतिदेहं वास्तवो भेदः तथा अनयोरपि ? इति मन्दाऽऽशङ्का मा भूत् इति श्रुतिर्वत्सलतयोपदिशति—"अहं ब्रह्मास्मि" इति सामानाधिकरण्येन ।

"तदाहुर्यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भविष्यन्तो मनुष्या मन्यन्ते"

इति मनुष्यप्रक्रमानुसारेण "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्", "किमु तद् ब्रह्मावेत्" इत्यत्र च ब्रह्मशब्देनाधिकारी ब्राह्मणः परं ब्रह्मैव मायाप्रतिबिम्बितमभिधीयते, न बिम्बकल्पम्, येन तस्य विद्यया अविद्याविनाशायोग आशङ्क्येत । यथा[2] च (देवदत्तस्य रूप[3]-)वेषादिपरावृत्तिनिमित्तो भेदविभ्रमः स्वरूपे स्फुरत्यपि प्रत्यक्षेणाऽऽप्तो[4]-पदेशाद्विना[5] न निवर्तते तथा जीवादभिन्नब्रह्मणोऽपि अहंपदेन लक्षणया स्वरूपे स्फुरत्यपि जगज्जनकत्वादिनिमित्तो भेदविभ्रमो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्युपदेशमन्तरेण भेदविरोध्याकारप्रमाहेतुं न नाशमायाति इति न पदान्तरवैय्यर्थ्यम् ।

भावदीपिका

निरवद्यत्वनित्यमुक्तत्वविरुद्धम् ? तत्राऽऽह—तदाहुरिति । न खलु सामानाधिकरण्यं चेतनत्वात् जीवब्रह्मणोऽप्यज्ञत्वादि गमयति; जीवानामानन्त्येन तावदज्ञानवत्त्वे ब्रह्मणः प्रत्येकं ज्ञानादवद्यब्रह्मभावश्रुतिस्मृतिसहस्रविरोधात् इत्यभिसन्धिः । प्रकारान्तरेण ब्रह्मपदसार्थक्यमाह—यथा चेति ।

ज्ञानवती

आनन्दैकरसत्वेन स्वरूपतः विशेष निश्चित नहीं किया जाता तो भी सांख्यों के यहाँ विज्ञानैकरस होने पर भी जैसे पुरुष का प्रति देह वास्तविक भेद है उसी प्रकार इन दोनों का भी ? ऐसी मन्द आशंका न हो इसलिये श्रुति "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा सामानाधिकरण्य के द्वारा प्रेम से उपदेश करती है । वही कहा है—

"जिस ब्रह्मविद्या से मनुष्य सब कुछ होते हुए माने जाते हैं ।"

ऐसा मनुष्य प्रक्रम के अनुसार "यह ब्रह्म ही पहले था", "क्या ब्रह्म को जाना" यहाँ ब्रह्म शब्द से अधिकारी ब्राह्मण परम ब्रह्म ही माया प्रतिबिम्बित कहा जाता है, न कि बिम्बकल्प, जिससे उसका विद्या के द्वारा अविद्या के विनाश के अयोग की आशंका की जाती । जैसे देवदत्त के रूप वेष आदि की परावृत्तिरूप निमित्त वाला भेदविभ्रम स्वरूप के स्फुरण होने पर भी प्रत्यक्ष आप्तोपदेश के विना निवृत्त नहीं होता उसी प्रकार जीव से अभिन्न ब्रह्म का भी अहम् पद से लक्षणा के द्वारा स्वरूप का स्फुरण होने पर भी जगज्जनकत्व आदि निमित्तवाला भेदविभ्रम 'अहं ब्रह्मास्मि' इस उपदेश के विना भेदविरोधी आकार-प्रमा के हेतु का नाश नहीं करता । इसलिये पदान्तरवैय्यर्थ्य नहीं है ।

---

१ (ग) वान्यात् यदेष ।
२ (ख) तथा ।
३ (क) देयदत्तस्वरूप, (ग) देवदत्तस्य रूप ।
४ (ग) प्रत्यक्षेणोप ।
५ (ग) विना निव ।

"ननु प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्" इति एकविज्ञानात् सर्वविज्ञानप्रतिज्ञादृष्टान्तश्रुतिभ्यां ब्रह्मणो जगत्प्रकृतित्वनिरूपणात्, ब्रह्मपदार्थविज्ञाने विज्ञातव्यानवशेषात्[१] अहं पदं व्यर्थमिति चेत्? न व्यर्थम्; द्वयोरपि विच्छेदभ्रमनिमित्तप्रावादुकविप्रतिपत्तिर्द्वैराश्यात्[२]। जीवव्यतिरिक्तप्रपञ्चस्य ब्रह्मविवर्त्तत्वेन ब्रह्मतावन्मात्रत्वात् तद्विज्ञानेन तद्विज्ञानसम्भवेऽपि न जीवविज्ञानसम्भव इति "तत्त्वमसि" इति 'त्वम्'पदम्। तद्वत् 'अहम्'पदमपि विच्छेदभ्रमनिरासफलत्वात्। यत्र च पदार्थः प्रमि[-तः[३]] स्यात्, तत्र स इतरपदार्थविशिष्टः प्रतिपाद्यः, यस्त्वज्ञातः स नान्यैः शक्यो विशिष्टः प्रतिपादयितुं इति स एव वाक्येन प्रमेयः। प्रमिते च तस्मिन् वाक्यसमाप्तेर्न विशिष्टपरत्वम् एवमादौ।

भावदीपिका

इदानीमहंपदवैयर्थ्यमाशङ्क्य समाधत्ते—नन्वित्यादिना। ब्रह्मणो भिन्नो जीव इति विप्रतिपत्तेरैक्योपदेशतदनुकूलयुक्तिभ्यामन्तरेण निराकर्त्तुं अशक्यत्वान्मृदादिदृष्टान्ताऽनुसारेणैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायाः सर्वकार्यविज्ञानमयत्वेन नयनसम्भवाच्च न तद्बलात् ब्रह्मणः प्रत्यगैक्यसिद्धिः येनाऽहंपदवैयर्थ्यं स्यादिति परिहारार्थः। इदानीमवान्तरमहावाक्ययोरखण्डार्थत्वाऽनुकूलं युक्त्यन्तरं वृद्धोक्तमाह—यत्र चेति। सत्यादिवाक्यं ब्रह्मपदार्थमात्रस्य बुभुत्सितस्य निरूपणोपक्षीणम्। महावाक्यं च प्रतीचो यथार्थस्वरूपोपक्षीणं भेदनिषेधवाक्यसहस्रविरोधान्न वैशिष्ट्यं लौकिकलक्षणादिवाक्यानां विशिष्टपरत्वेऽपि प्रतिपादयतीति भावः। लक्ष्यस्य क्वचित् सच्छब्दवाच्यत्वं मानान्तरसिद्धं चेति [न नियमः]। स्वतःसिद्धसर्वभेदशून्यवस्तुवादिनं प्रति केवलव्यतिरेकाऽभावादनुपपन्नत्वादिति ऊह्यम्। पदव्युत्क्रमदोषं परिहरन् व्याख्याभासदं व्यामोहकं विधुनोति—यद्वृत्तेति।

ज्ञानवती

(पू) "प्रकृति है, प्रतिज्ञादृष्टान्त का उपरोध न होने से" इसके द्वारा एक के विज्ञान से सबके विज्ञान की प्रतिज्ञा के दृष्टान्त एवं श्रुति से, ब्रह्म के जगत्-प्रकृतित्व का निरूपण होने से ब्रह्मपदार्थ का ज्ञान होने पर विज्ञातव्य का शेष न होने से 'अहम्' पद व्यर्थ है? (उ) व्यर्थ नहीं है। क्योंकि दोनों ही विच्छेद भ्रम के निमित्त प्रावादुक की विप्रतिपत्ति के कारण दो राशि (=मत) वाले हो जाते हैं। जीव से अतिरिक्त प्रपञ्च के ब्रह्मविवर्त्त होने के कारण ब्रह्मतावन्मात्र होने से उसके विज्ञान से उस (=ब्रह्म) का विज्ञान सम्भव होने पर भी जीव का विज्ञान सम्भव नहीं है इसलिये तत्त्वमसि में त्वम् पद है। उसी प्रकार अहम् पद का भी फल विच्छेदभ्रम का निरास है। जहाँ पर पदार्थ प्रमित होगा वहाँ वह इतरपदार्थविशिष्ट प्रतिपाद्य होगा और जो अज्ञात होगा वह दूसरों के द्वारा विशिष्ट प्रतिपादित नहीं हो सकता; इसलिये वही वाक्य से प्रमेय है। और उसके प्रमित होने पर वाक्यसमाप्ति विशिष्टपरक नहीं है। इसी प्रकार (अहं ब्रह्मास्मि) आदि में भी (समझना चाहिये)

---

१ (ख,ग) विज्ञातव्यावशेषाभावात्। २ द्वैराग्यात्।
३ (क) तुः।

"यद्वृत्तयोगः प्राथम्यं इत्युद्देश्यस्य लक्षणम् ।"

इति भट्टपादैः उक्तत्वात् प्रथमं निर्दिष्टतत्पदार्थस्योद्देश्यत्वम् ? इत्यपि नाशङ्कनीयम् ; "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" इतिवदपूर्वार्थस्यापवादकत्वेन 'तद्' इत्यस्य विधेयपरत्व-सम्भवात्[१] । न च वाच्यम् "उत तमादेशमप्राक्ष्यः" इत्युपक्रमात् गर्वातिरेकं वहंस्त्वमभद्रोऽसि इत्युपहासमात्रमेतत् , न ब्रह्मोपदेश इति वा ; आख्यायिकायाः तत्त्वकथनाय[२] द्वारमात्रत्वात् ; उद्दालकश्वेतकेतुव्याजेन गुरुशिष्यमात्रसङ्ग्रहात् ; "अतः 'तत्त्वमसि' इत्येवमनुशिष्याय शिष्यते" इति ब्रह्मसिद्धिकारवचनाच्च । तस्मात् 'स एवायं नान्यः' इति सोपस्कारोपदेशवत् 'अहं ब्रह्मैवास्मि नान्यः' इति सूत्रितत्वात् "तमेवैकं जानथ आत्मानम्" इत्याथर्वणेऽपि श्रवणात् "तदात्मानमेवावेत्" इत्यत्रापि तस्य श्रवणात् ।

"अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।
ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः ॥"

इति कठवल्ल्यां "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुष ईशानः" इति महावाक्ये "स एवाद्य" इत्यवधारणात् "यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" इति तत्रैव वर्णनात् "पूर्णमदः पूर्णमिदम्"

भावदीपिका

यद्वृत्तम्=यच्छब्दः । "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते ॥"—इत्यत्राऽप्यवधारणान्न भेदगन्धाऽऽशङ्का महावाक्यार्थे—इत्याह—पूर्णमिति । एतेनाऽपर्यायपदानां संसर्गाऽगोचरप्रमाजनकत्वमित्यादिलक्षणं समर्थितम् ।

ज्ञानवती

(पू) यत् शब्द का जिसके साथ योग होता है वह उद्देश्य होता है ।" (जैसे – यत्र घमस्तत्र वह्निः इस स्थल में धूम) ।

ऐसा भट्पाद के कहने से पहले निर्दिष्ट तत् पदार्थ उद्देश्य है ? (उ) यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये । "जो आग्नेय आठकपालों वाला" इसके समान अपूर्वार्थ का अपवाद होने से 'तद्' शब्द का विधेयपरक होना संभव है ।

(पू) "क्या तुमने उस आदेश को पूछा" ? इस उपक्रम के तथा गर्वातिरेककीर्त्तन से से आदेशनिरूपणपूर्वक वह (=उपदेश)- 'इस कारण तुम मूर्ख हो गर्वातिरेक का वहन करते हुए तुम अभद्र हो' ऐसा—उपहास मात्र है ब्रह्मोपदेश नहीं है ?

(उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये । क्योंकि आख्यायिका तत्त्वकथन के लिये द्वारमात्र है । उद्दालक एवं श्वेतकेतु के व्याज से समस्त गुरु एवं शिष्य का संग्रह है । "इसलिये तत्त्वमसि इस प्रकार अनुशिष्य को उपदेश दिया जाता है" यह ब्रह्मसिद्धिकार का वचन है । इसलिये "वह यही है दूसरा नहीं है" ऐसा सोपस्कार उपदेश के समान "मैं ब्रह्म ही हूँ दूसरा नहीं" ऐसा कथित है । "वह इसी पुरुषब्रह्म को विस्तृत देखा" इस ऐतरेय महावाक्यों से निश्चय का श्रवण होता है ।" उसी एक आत्मा को जानो" ऐसा आथर्वण श्रुति में भी श्रवण है । "उस आत्मा को ही जानो" यहाँ भी उसका श्रवण है ।

---

१ (ग) पदत्व ।

२ (ख) मथनाय ।

अदः=ब्रह्म; इदम्=प्रत्यक्; इति बृहदारण्यकाच्चावान्तरवाक्यमहावाक्ययोः अखण्डार्थत्वं निर्मलम् इति लक्षणपरिशुद्धिः।

वन्दे कृष्णपदाम्बुजं सुरपथस्रोतस्विनीश्रोतसो[१]
द्राघीयस्समयस्थितिप्रविदलद्व्यक्तोर्ध्वरेखाऽङ्कितम्।
यद्वैरोचनिमुक्तमूर्धजजटाभृङ्गावलीभिर्बभौ[२],
यत्कामानलतप्तवक्षसि तथा गोपी दधौ[३] गौरवात्॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयाश्रमपूज्यपादशिष्यस्य
भगवतो रामाद्वयस्य कृतौ वेदान्तकौमुद्यां
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥

भावदीपिका

अध्यायान्ते मङ्गलं प्रवृत्तिप्रतिबन्धव्युदासाय कुर्वन् लक्षितेश्वरं लीलावतारूपं प्रसिद्धलक्षणसम्भावनायाऽऽह—वन्दे इति। सुरपथः=[सुर-]गमनम्; तत्रत्या स्रोतस्वती=मन्दाकिनी; तस्याः स्रोतसः=प्रवाहस्य; दीर्घतरकालवहनात् व्यक्तः=विस्पष्टः; ऊर्ध्वरेखालाञ्छितम्; कृष्णस्य=विष्णोः; पदाम्बुजं वन्दे इत्यन्वयः। प्रसिद्धमपि कमलं मन्दाकिनीस्रोतसि स्थित्या उर्ध्वेषु=श्रेष्ठेषु; कमलेषु; रेखा=मर्यादा; तद्भावापन्नं श्रेष्ठतमम्। वैरोचनिः=बलिः।

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयानुभवपूज्यपादशिष्यस्य भगवतो
रामद्वयस्य कृतौ स्वकृतौ वेदान्तकौमुदीभावदीपिकायां
द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः॥

ज्ञानवती

"अंगुष्ठमात्र पुरुष धूमरहित ज्योति के समान, भूत भविष्य, का स्वामी वही आज है और वही कल है।"

ऐसा कठवल्ली में "अंगुष्ठमात्र ईश है" इस महावाक्य में "वही आज है" इस अवधारण से "जो ही यहाँ है वही वहाँ है जो ही वहाँ है वही यहाँ है" ऐसा भी वहीं वर्णन है। "यह पूर्ण है वह पूर्ण है "यह=ब्रह्म; वह=प्रत्यक्" ऐसी बृहदारण्यक श्रुति है। इस प्रकार अवान्तर वाक्य एवं महावाक्य का अखण्डार्थत्व निर्मल है यह लक्षण की परिशुद्धि है।

मैं कृष्ण के उस चरणकमल की वन्दना करता हूँ जो सुरपथ की श्रोतिस्विनी के श्रोत के दीर्घतर समय तक रहने से प्रविदलत (अर्थात् पैर के तलुवे के फटने से) स्पष्ट ऊर्द्ध रेखा से अंकित है, और और जो वैरोचनि (अर्थात् राजा बलि) की खुले हुए बालों की जटा रूप भृङ्गावली से शोभायमान हुआ, और जिसे कामानल से तप्त वक्षःस्थल पर गोपी ने गौरव के साथ धारण किया था।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीमदद्वयाश्रमपूज्यपाद के शिष्य
भगवान रामाद्वय की कृति में स्वकृति वेदान्तकौमुदी का
दूसरा अध्याय समाप्त॥

———

१ (ग) स्रोतस्वती। २ (ग) सटा। ३ (ग) ददौ।

तृतीयोऽध्यायः

मङ्गलाचरणम्

(मौलावुन्मील[१]-)दुच्चैर्विदलितमदनोद्दीपनञ्चान्द्रमर्चिः
क्रोडे विक्रीडमानां कुवलयनयनां कालिकामप्यकाले।
भूयो भूयो विभूत्या विदधतमधिकं ध्यानतानप्रदीपम्
वन्दे वन्दारुवृन्दप्रमदविभवदं श्रेयसे चन्द्रचूडम्॥

अथोक्तलक्षणे ब्रह्मणि प्रमाणं परीक्षणीयम्। तत्र तावत् "सत्सम्प्रयोगे

भावदीपिका

मासीष्ट माऽभीष्टमनङ्गशत्रुर्दासीष्ट तुष्टः परमद्य दिव्यम्।
घोषीष्ट वाऽनिष्टमवार्यमन्यैश्चेषीष्ट शिष्टां मम बुद्धिमुच्चैः॥[२]

उक्तस्याऽशेषशून्यस्याऽखण्डैकरसस्वप्रकाशब्रह्मणः प्रमाणसूचकं सूत्रं अध्यायान्तरेण तात्पर्यतो व्याकरिष्यन्निष्टदेवतावर्णनव्याजेन प्रमाणान्तरतिरस्कारकत्वं ब्रह्मणो वेदैकप्रमाणकत्वायाऽऽह—मौलाविति। मौलौ=शिरसि मुकुटे वा; उन्मीलत्=विकसत्; चन्द्रस्य अर्चिः=ज्योतिः। क्रोडे=उत्सङ्गे [विक्रीडमानाम्]=क्रीडां कुर्वाणाम्; कालिकाम्=गौरीञ्च नीलोत्पलछविनेत्राम्। अकाले दर्पमदनोद्दीपकत्वात् ध्यानसन्ततिघातकत्वाच्च [भूयो भूयः]=पुनः पुनः; विभूत्युद्दलनेनाऽधिकमपि दधानं वन्दनशीलवृन्दस्याऽनन्दसम्पत्तिदं श्रेयसे=अभिमतप्रयोजनाय; चन्द्रचूडं वन्दे—इत्यन्वयः।

अध्यायनिरूप्यमाह—अथेति। लक्षणनिरूपणाऽनन्तरं प्रमाणाऽवसरो भवति, शब्दमात्रे निर्दिष्टे प्रमाणजिज्ञासाया दर्शनादर्शनाच्च, लक्षणोक्त्यनन्तरं तस्याः। ननु "वेदान्तवाक्यकुसुमग्र[-थना-]र्थत्वात् सूत्राणाम्" इत्युद्घोषात्, लक्षणसूत्रेण प्रमाणत्वेन सम्मतवेदान्तवाक्यानां ग्रथनाच्च, व्यर्थं पृथक्प्रमाणसूत्रणम्? न च स्वतःप्रामाण्यवादे लक्षणश्रुतेः स्वार्थप्रमितये शास्त्रशब्दितवाक्यान्तराऽपेक्षा घटते। अत आह—प्रमाणं परीक्षणीयमिति। लक्षणसङ्गृही-

ज्ञानवती

मैं श्रेयस् के लिये (उस) भगवान् चन्द्रशेखर की वन्दना करता हूँ जिन्होंने मौलि में विकसित होते हुए (नेत्र के द्वारा) अधिक मात्रा में मदन के गर्व को ध्वस्त कर दिया है; जो अपनी विभूति से चन्द्रमा की किरण को एवं अनवसर में गोद में विशेष क्रीड़ा करती हुई नील कमल के समान नेत्रों वाली कालिका को अधिक (उत्कृष्ट) बनाने वाले हैं; समाधि के विस्तार के लिये उत्कृष्ट प्रकाश स्वरूप हैं तथा वन्दनाशील लोगों को आनन्द एवं वैभव देने वाले हैं।

अब, जिसका लक्षण कह दिया गया है, उस ब्रह्म के विषय में प्रमाण की परीक्षा करनी

---

१ (क) माला—लदु, (ख) मालावु–लदु, (घ) मौलावुन्मीलद्दू।

२ [अभीष्टं मा मासीष्ट=मा परिच्छिनत्तु। दासीष्ट=दद्यात्। अन्यावार्यमनिष्टं शब्देन मा प्रकाशयतु; शब्दान्योपायेन प्रकाशयतु। चेषीष्ट=वर्धयतु।]

पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म वत् प्रत्यक्षम्।"[1] तत्र सत् इति लोकप्रसिद्धं विद्यमानोपलम्भत्वमाह।

ननु –

"अतीतानागतेऽप्यर्थे सूक्ष्मे व्यवहितेऽपि च।
प्रत्यक्षं योगिनामिष्टं कैश्चिन्मुक्तात्मनामपि॥"
"प्रत्यक्षादर्शि भगवान् व्यासो भूतभविष्यताम्।"

इति भारतवचनाच्च;

"प्रत्यक्षमनुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्म[2]शुद्धिमभीप्सता॥"[3]

इति मनुना धर्मस्य प्रत्यक्षगोचरत्वाभिधानाच्च, अनागताद्युपलम्भनमपि प्रत्यक्षमिति

भावदीपिका

तमेव प्रमाणं प्रमाणान्तरसाधारणव्यवच्छेदेन तद्गतदोषाऽऽशङ्कानिरा[-सेन च] [4]ब्रह्मणि व्यवस्थापनीयमित्ययमारम्भः। बालव्युत्पादनाय प्रमाणान्तराणां लक्षणव्युत्पाद[-नम्। निधि-]ज्ञानादेः पुमर्थत्वाऽभावात् तत्साधनाऽनुष्ठाने [न]प्रवृत्तिः। अनुष्ठानञ्च धात्वर्थस्यैव इति क्रियापर्यवसानम्। भूभागादेर्निधिमत्त्वादिज्ञानमात्रस्याऽपुमर्थत्वात् प्राप्तिफलोद्धरणादिक्रियापर्यवसायित्वमेव वाक्यस्य। न च न्यायप्राप्तपदपूरणमात्रेण वाक्यद्वयाऽऽपत्तिः? गुणोपसंहारवत् विशिष्टार्थैक्येनैकवाक्यत्वसम्भवादिति भावः।

तत्र पक्षान्तराणां भट्टमतेन प्रतिक्षेपसम्भवात् तदेवोत्कृष्टमिति प्रत्युपस्थापयति—तत्रेति। विशेषणपदार्थं जैमिनीयलक्षणस्योपक्षिप्य परिशोधयितुमाक्षिपति—नन्विति। विद्यमानमात्रोपलम्भनं प्रत्यक्षमिति नियमश्चेत्? अयुक्तम्; अनियमश्चेत्? धर्मेऽपि प्रमाणान्तरसम्भावनया चोदनैकप्रमाणकत्वं व्याहन्येत—इत्याशयः। किं दृष्टाऽनुसारोऽप्यत्राऽस्ति

ज्ञानवती

चाहिये। पुरुष की इन्द्रियों का सत् (वस्तु) के साथ संयोग होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रत्यक्ष है। 'सत्, का अर्थ है लोकप्रसिद्ध विद्यमान की प्राप्ति।

(पू) "अतीत अनागत सूक्ष्म व्यवहित भी अर्थ के विषय में योगियों का प्रत्यक्ष माना गया है। कुछ लोग मुक्तात्माओं का भी (उक्त विषयों में प्रत्यक्ष मानते हैं)"।

"भगवान् व्यास ने भूत एवं भविष्य को प्रत्यक्ष देखा"।

इस महाभारत के वचन से तथा —

"धर्मशुद्धि को चाहने वालों को प्रत्यक्ष, अनुमान एवं भिन्न-भिन्न आगम वाला शास्त्र ये तीन अच्छी तरह से जान लेना चाहिये।"

इस प्रकार मनु के द्वारा धर्म के प्रत्यक्षविषयत्व का अभिधान करने से अनागत आदि की प्राप्ति भी प्रत्यक्ष है?

---

[1] (ख) तत्प्रत्यक्षत आसीत्। [2] (ख) कर्म। [3] मनु० १२।१०५।
[4] (क) सनञ्च।

चेत् ? तन्न; यद्यपि सूक्ष्मव्यवहितयोरिन्द्रियाणां नैर्मल्याद्यतिशयवशादुपलम्भः समस्ति गृध्रादिचक्षुर्वत्, तथाऽपि स्वग्राह्ययोरेव सतोः; तदाहुः –

"यस्याप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घनात्।
दूरसूक्ष्मादिदृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥"[१]

इत्यदृष्टातिशयकल्पनेऽतिप्रसङ्गाच्च। आगमस्य च गतेर्विद्यमानत्वात्[२] तेन विद्यमानोपलम्भ एव चक्षुरादिभिः। न च प्रत्यभिज्ञायां अविद्यमानतत्तोपलम्भादव्याप्तिः; अदुष्टेन्द्रियेणैकदेशसन्निकर्षादपि[३] जायमानबुद्धेः सङ्कलितपटादिबुद्धिवत्[४] प्रत्यक्षत्वाङ्गीकारात्। एतदेव च 'विद्यमान'गिरा विवक्षितम्। 'अयं पर्वतो वह्निमान्' इत्यनुमानस्य[५] इन्द्रियकरणकत्वाभावात् नातिव्याप्तिस्तत्र। अदुष्टेन्द्रियजन्यत्वेऽपि

भावदीपिका

किं वाऽऽगमबलादेवम् ? नाद्यः—इत्याह—तन्नेति। द्वितीयं प्रत्याह—आगमस्य चेति। चकारादनुमानदुष्टत्वम्। तथाऽपि न नियमः ?–इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। पूर्वदेशकालवैशिष्टयस्य प्रत्यक्षदृष्टस्यैव कदाचित् प्रत्यभिज्ञायां ग्रहणात् पटाद्यान्तरीयवत्, न तथैवाऽतीन्द्रियार्थग्रहणप्रसङ्ग इति द्रष्टव्यम्। न च एतदनभिप्रेतम्; कालद्वयसंबन्ध्येकवस्तुप्रत्यक्षस्यैव प्रत्यभिज्ञानस्वीकारात्—इत्याशयेनाऽऽह—एतदेवेति। तथाऽप्यनुमानविशेषे व्यापकत्वम् ? अत आह—अयमिति। पर्वतग्रहणे प्रत्यक्षस्य सहकारित्वेऽपि करणत्वाऽभावात्, करणस्य चाऽत्र जनकत्वेन विवक्षितत्वान्नाऽतिव्याप्तिरित्यर्थः। उभयकारणत्वे च ज्ञानस्य परोक्षाऽपरोक्षोभयात्मकत्वं प्रसज्येत; न चैतदिष्टम्; जातिसङ्करप्रसङ्गात्। अथवा विलक्षणसामग्रीकत्वात् परोक्षाऽपरोक्षविलक्षणप्रसङ्गः। अतः एकतरसहकार्येव शिष्टज्ञानमिति द्रष्टव्यम्। स्थलान्तरेऽतिव्याप्तिमुत्थाप्य प्रत्याचष्टे—अदुष्टेति। दुष्टेन्द्रियकारणकत्वेन तत्र लक्षणं नास्ति इत्यपि नाशङ्कनीयम्—इत्याह—अदुष्टेति। न केवलं प्रयोगशब्दावयवादत्र प्रयोगा-

ज्ञानवती

(उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि यद्यपि सूक्ष्म एवं व्यवहित (पदार्थों) का इन्द्रियों के नैर्मल्य आदि अतिशय के कारण प्रत्यक्ष सम्भव है; जैसे कि गृध्र आदि की चक्षु का, तो भी (वह) स्वग्राह्य ही सत् का (होता है)। कहा है—

"दूर सूक्ष्म आदि दृष्टि में जिस किसी का भी अतिशय देखा गया है वह अपने विषय का अतिलङ्घन न करते हुए रूप में श्रोत्र का विषय नहीं होता।"

इस प्रकार अदृष्टातिशय की कल्पना में अतिव्याप्ति हो जायगी। और आगम की गति विद्यमान है (अर्थात् आगम को भी प्रमाण माना गया है)। इसलिये चक्षु आदि के द्वारा विद्यमान का ही उपलम्भ हो जाता है।

(पू) प्रत्यभिज्ञा में अविद्यमान तत्ता का उपलम्भ होने से अव्याप्ति हो जायगी ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि दोषरहित इन्द्रिय के द्वारा एकदेशसन्निकर्ष से भी जायमान बुद्धि का प्रत्यक्षत्व संकलितपटादिबुद्धि के समान माना गया है। यही 'विद्यमान' शब्द के

---

[१] श्लो० वा० २।११४। [२] (ख) वन्द्यमानत्वात। [३] (घ) दुष्ट।
[४] (क) सङ्कलित। [५] (ख) बुद्धिश्चेत। [६] (ख) लिङ्गेन्दियस्य इन्द्रियकरण।

चित्रनिम्नोन्नताऽऽदिप्रत्यक्षस्याभासत्वमिति चेत्? नेदम्; चित्रनिम्नोन्नतादेः अवस्तुत्वेनेन्द्रियसन्निकर्षाभावात् रेखान्यासविशेषस्यैव तत्र दोषत्वात्। अत एव दुष्टेन्द्रियसम्प्रयुक्तायां शुक्तौ कलधौतबुद्धिर्न प्रत्यक्षम्। तदाहुः—

"सम्यगर्थे च संशब्दो दुष्प्रयोगनिवारणः।
प्रयोग इन्द्रियाणां च व्यापारोऽर्थेऽपि कथ्यते॥
दुष्टत्वात् शुक्तिकायोगो वार्यते रजतेक्षणात्॥"[१]

इति। बौद्धाः (गोलकमात्रमि[२]-)न्द्रियाण्याहुः। सांख्या योगाश्च आहङ्कारिकाणि व्यापकानीन्द्रियाण्याहुः। युक्तिश्च—कृष्णसारे सत्येव रूपोपलब्धेः कृष्णसारमेव चक्षुः इत्याद्या बौद्धानाम्। यदि भौतिकानि इन्द्रियाणि, तदा वास्यादिवत् यावत्

भावदीपिका

ऽर्थाभावान्नातिव्याप्तिः किन्तु समुपसर्गार्थस्य निर्दुष्टत्वस्याऽभावादपि—इत्याह—रेखेति। समुपसर्गार्थाभावादन्यत्राऽतिव्याप्तिरस्त्येव—इत्याह—अत एवेति। यद्यपि चित्रोन्नत्यादिवत् रजतादौ नेन्द्रियस्य प्रयोगलक्षणो व्यापारः समस्ति, तथाऽपि अधिष्ठाने प्रयोगसद्भावात् दोषान्निजविशेषाऽग्रहणविशेषान्तरग्रहणहेतुत्वात् दुष्प्रयोगत्वम्—इत्याह दुष्टत्वादिति। मतान्तराऽवष्टम्भेन विशेषणद्वये नियतं सूचितम्।

अव्याप्त्यसम्भवाभ्यामाक्षिपति—बौद्धा इति। ननु गोलकमात्रे भेषजादिप्रयोगात् तत्रैवेन्द्रियवृत्तिरवगम्यते; दर्पणादावेकदेशसंस्कारेण समग्रसंस्काराऽदर्शनाच्च?—इत्यत आह—

ज्ञानवती

द्वारा विवक्षित है। यह पर्वत वह्निमान् है—इस अनुमान के इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न न होने से वहाँ अतिव्याप्ति नहीं है। (पू) अदुष्ट इन्द्रिय से जन्य होने पर भी चित्र की निम्नता उच्चता आदि प्रत्यक्षाभास है—यदि ऐसा कहें? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि चित्र की निम्नता उच्चता आदि के अवस्तु होने से इन्द्रियसन्निकर्ष के अभाव के कारण रेखान्यासविशेष का ही वहाँ दोष है। कहा है—

"सम्यक् अर्थ के विषय में सम् शब्द दुष्प्रयोग का निवारक है। प्रयोग (=प्रत्यक्ष) होने पर व्यापार अर्थ के विषय में भी कहा जाता है और रजत के दर्शन से, दुष्ट होने के कारण शुक्ति का योग भी वारित हो जाता है।"

(पू) बौद्ध लोग गोलकमात्र को इन्द्रिय कहते हैं। और सांख्य-योग इन्द्रियों को आहंकारिक व्यापक मानते हैं। 'कृष्णसार (कनीनिका) के रहने पर ही रूप की उपलब्धि होने से कृष्णसार ही चक्षु है—इत्यादि बौद्धों की युक्ति भी है। यदि इन्द्रियाँ भौतिक ही हैं तो वास्य आदि के समान जितना (उनका) परिमाण है उतनी ही अर्थक्रिया होगी। इसलिये चक्षु की अपेक्षा महत्तर पर्वत आदि का ग्राहकत्व उपपन्न नहीं होगा। इसलिये चक्षु आदि (बौद्धों के मत से) भिन्न अहंकार के विकार है।

अधिष्ठान में जो चिकित्सा आदि का प्रयोग किया जाता है वह भी उसी का

---

१ श्लो० वा० ११४।२८। २ (क) इन्द्रिय, (ख) मात्रमिन्द्रिव।

परिमाणं तावत्येवार्थक्रिया स्यात्; अतश्चक्षुषो महत्तरपर्वतादिग्राहकत्वं न युक्तम्; ततोऽन्यदाहङ्कारिकं चक्षुरिति।

"चिकित्सादिप्रयोगश्च योऽधिष्ठाने प्रयुज्यते।
सोऽपि तस्यैव संस्कार आधेयस्योपकारकः॥
तद्देशस्यापि संस्कारः सर्वव्याप्त्यर्थ इष्यते।
चक्षुराद्युपकारश्च पादादावपि[1] दृश्यते॥
तस्मान्नैकान्ततः[2] शक्यं संस्कारात्तत्र वर्त्तनम्॥"[3], [4]

इत्याद्याः सांख्यानाम्। तत्र आद्ये श्रोत्रचक्षुषोर्दवीयोऽर्थग्राहकयोरप्राप्यकारित्वम् इति न सम्प्रयोगनियमः। द्वितीये पुरुषस्य इन्द्रियाणामिति शरीरप्रदेशवृत्तिकथनमयुक्तमिति।

अत्रोच्यते—विमते, सन्निकृष्टग्राहके, इन्द्रियत्वात्, त्वगिन्द्रियवत्। श्रोत्रस्य दूरदेशोत्पन्नस्य शब्दस्य ग्रहणाय गतिर्वक्तव्या। वीचीतरङ्गन्यायेन जायमानान्त्यस्यैव

भावदीपिका

चिकित्सेति। पादाभ्यञ्जनादिजन्योऽतिशयो यथा दूरवर्त्तिनि चक्षुषि तथा गोलकानधिष्ठितेऽपि तस्मिन् गोलकस्थाने कृतः संस्कारो न विरुध्यते। दर्पणादिदृष्टान्तस्त्वस्मान्निजदृष्टान्तात् बहिरङ्गत्वादव्यवस्थापक इति भावः। ननु व्यापकेन्द्रियस्य सर्वत्र संस्कृतस्य सर्वत्रार्थज्ञानं प्रसज्येत; तथा च विनैव योगाद्यनुष्ठानं [-दू-]रदर्शित्वादिसिद्धिसौलभ्यं स्यात्? न स्यात्; मनोऽवधानादिसहकार्यभावात्—इत्याशयेनोपसंहरति—तस्मादिति।

मतान्तरस्याऽप्रमाणमूलत्वात् नोक्तदोषावकाशः—इत्याह—अत्रोच्यत इति। विमते =चक्षुःश्रोत्रे; दूरदेशे जायमानशब्दस्य श्रौतसम्बन्धो न रश्मिद्वारा; नापि समवायात्। ततः कथं संसृष्टग्राहकत्वप्रतिज्ञा? तत्राह—श्रौतस्येति। ननु श्रोत्रसमवेतोऽन्त्य एव शब्दः तेन गृह्यते नाऽनन्त्यादिरिति तार्किकाः। ततः किमर्थं गतिकल्पनम्? अत आह—वीचीतरङ्गेति। दूरस्थस्य दिग्विशेषे शब्दे श्रवणाऽनुपपत्तिर्यथा तार्किकस्य तथा तवाऽपि श्रौतगतिरनुपपन्ना; न

ज्ञानवती

संस्कार है, आधेय का उपकारक है। उस देश का भी संस्कार सर्वव्यापी प्रयोजन के लिये होता है। क्योंकि चक्षु आदि के उपकार (का फल) पाद आदि में भी देखा जाता है। इस कारण संस्कार से वहाँ (अर्थात् एक इन्द्रिय में) एकान्ततः वर्त्तन सम्भव नहीं है—इत्यादि सांख्यों का मत है। उनमें प्रथम (='सत्सम्प्रयोग' पद के विषय) श्रोत्र एवं चक्षु दूरदेशीय वस्तु के ग्राहक है अतः अप्राप्यकारी है इसलिये संयोगनियम नहीं है। दूसरे 'पुरुष का' 'इन्द्रियों का' ऐसा शरीरप्रदेशवृत्ति का कथन ठीक नहीं है?

(उ) इस विषय में कहते हैं—

विमत, सन्निकृष्ट के ग्राहक हैं, इन्द्रिय होने से, त्वगिन्द्रिय के समान। दूरदेश में उत्पन्न शब्द का ग्रहण करने के लिये गति कहनी पड़ेगी, वीचीतरङ्गन्याय से जायमान अन्त्य

---

[1] (ख) पदादावपि। [2] (ख) नैकं ततः [3] (ख) वर्त्मनाम्।
[4] श्लो० वा० ४।४६।

श्रोत्रप्राप्तस्य ग्रहणे प्राच्यां प्रतीच्यां वा शब्दं शृणोतीति व्यवहारस्य तार्किकेण सम्पादयितुमशक्यत्वात्। श्रोत्रपर्यन्तमेक एव वा (शब्दो[१]) वाच्यः। चक्षुःश्रवसः श्रोत्रगोलकाभावेऽपि शब्दोपलम्भदर्शनात्; गोलकरूपस्य कृष्णसारस्य व्यतिरिक्तेन्द्रियाधिष्ठितत्वसिद्धेः; ततो न तदेव चक्षुः। न च स्फटिकान्तरितलौहित्यस्योपलब्धेरप्राप्यकारि चक्षुः; स्फटिकादेः स्वच्छतया नायनरश्मिप्रतिघातकत्वाभावेऽपि तदन्तरितग्रहणोपपत्तेः; अपरथा कुड्याद्यन्तरितस्यापि उपलब्धिप्रसङ्गात्; गोलकसद्भावेऽपि अन्धमूकाद्यबाधितव्यवहारात् न गोलकमात्रमिन्द्रियम्, नाप्यप्राप्यकारि। रश्मिद्वारेण महत्तरपर्वतादिग्राहकोपपत्तौ च न तावत्परिमाणत्वविभुत्वकल्पनाऽपि युक्ता। श्रोत्रचक्षुषोश्चान्यत्रकार्यदर्शनेन त्वगिन्द्रियस्य शरीरमात्रवृत्तौ शरीराद्यन्यत्रावृत्तिः

भावदीपिका

लिङ्गशरीरावयवत्वेन, तस्य स्वातन्त्र्येण गतिसम्भवात्। शक्तिलक्षणावयवसद्भावेऽप्येवम्—इत्याशङ्क्याह—श्रोत्रपर्यन्तमिति। इदानीं बाह्यमतस्याऽभासत्वमाह—चक्षुःश्रवस इति। चक्षुःश्रवाः=सर्पः। यदि प्राप्यकारि चक्षुः स्यात् तर्हि द्रव्यान्तरव्यवहितं न गृह्येत; गृह्यते च काचाभ्रस्फटिकजलाद्यन्तरितम्; ततः प्रतिकूलतर्कपराहतं संसृष्टैकार्थग्राहकत्वानुमानम्? तत्राह—न चेति। अतिरिक्तेन्द्रिये युक्त्यन्तरं वदन् कृष्णसारमेवेन्द्रियमिति नियमं निराकरोति—गोलकेति। कृष्णसारे सति रूपदर्शनस्य वर्त्यधिष्ठितदीपवत् व्यतिरिक्तेन्द्रियपक्षेऽपि सम्भवादिति भावः।

इदानीं सांख्ययुक्तेराभासत्वमाह—रश्मीति। न केवलमिन्द्रियविभुत्वकल्पना प्रमाणशून्या, प्रमाणविरुद्धा च–इत्याह–श्रोत्रचक्षुषोरिति। श्रोत्रचक्षुषोः शरीरादन्यत्रावृत्तिरनुमा-

ज्ञानवती

ही श्रोत्रप्राप्त (शब्द) के ग्रहण के विषय में 'पूर्व या पश्चिम में शब्द को सुनता हैं' यह व्यवहार तार्किक के द्वारा संपादित नहीं किया जा सकता। अथवा श्रोत्रपर्यन्त एक ही शब्द कहना चाहिये। सर्प के श्रोत्रगोलक के अभाव में भी शब्द की प्राप्ति देखे जाने से यह सिद्ध होता है कि गोलकरूप कृष्णसार किसी अन्य इन्द्रिय से अधिष्ठित है। इसलिये वही चक्षु नहीं है।

(पू) चक्षु स्फटिकान्तरित लौहित्य की उपलब्धि का प्राप्यकारी नहीं है? (उ) ऐसा नहीं (कहना चाहिये) क्योंकि स्फटिक आदि के स्वच्छ होने के कारण नायन रश्मि का प्रतिघातक न होने पर उससे अन्तरित के ग्रहण की उपपत्ति हो जाती है। अन्यथा कुड्य आदि से अन्तरित की भी उपलब्धि हो जायगी। गोलक रहने पर भी अन्धे एवं मूक आदि के अबाधित व्यवहार देखे जाने के कारण गोलकमात्र इन्द्रिय नहीं है। और वह प्राप्यकारी भी नहीं है। रश्मियों के द्वारा महत्तर पर्वत आदि के ग्राहकत्व की उपपत्ति होने पर (इन्द्रियों के) परिमाणत्व एवं विभुत्व की कल्पना भी ठीक नहीं है। "सब अनन्त हैं" इस अधिदैवदशा के अभिप्राय से भौतिकत्व को विना छोड़े ही श्रोत एवं चक्षु का अन्यत्र

[१] (क) शब्दे।

(त्वगिन्द्रिवत्[१]) इन्द्रियत्वेन अनुमातव्या। "सर्वेऽनन्ताः" इत्यादिदैवदशाऽभिप्रायेण भौतिकत्वमपरित्यज्यैव। ततो नाहङ्कारिकमिन्द्रियम्। अतः "संप्रयोग"पदं "पुरुषस्येन्द्रियाणाम्" इति च नानुपपन्नम्। जन्मातिरिक्तव्यापारत्वे बुद्धेः नयनादिकारकाविशेषप्रसङ्गवारणार्थं[२] "बुद्धिजन्म" इत्युक्तम्। तदाहुर्भट्टपादाः —

"बुद्धिजन्मे'ति चाप्याह जायमानप्रमाणताम्।
व्यापारः कारकाणां हि दृष्टो जन्मातिरेकतः ॥
प्रमाणेऽपि (तथा[३]) मा भूत् इति जन्म[४] विवक्ष्यते।
न हि तत्क्षणमप्यास्ते जायते वा प्रमात्मकम् ॥
येनार्थग्रहणे पश्चात् व्याप्रियेतेन्द्रियादिवत्।
तेन जन्मैव विषये बुद्धेर्व्यापार इष्यते ॥"[५]

इति। यदि सम्प्रयुक्तग्राहकमेव प्रत्यक्षम् (का[६]) तर्हि योगि (प्रत्यक्षागमगतिः[७]) ? उच्यते-

भावदीपिका

तव्या इत्यन्वयः। नन्वात्मवद् व्यापकस्याऽपि वृत्तिलाभः प्रदेशभेद एव सर्वत्र कार्यप्रसङ्गाभावोऽप्यत एवेति दृष्टान्तः साध्यविकलः; श्रुतिविरोधश्च ?—इत्यत आह—सर्वेऽनन्ता इति। आत्मनो अनन्यगतिकविभुप्रमाणवत् इन्द्रियाणामभावात्। त्वगिन्द्रियस्याऽपि कार्यविशेषेण शरीरमात्रवृत्तित्वे स्थिते साध्यवैकल्यमिति द्रष्टव्यम्। न च मनोवैभववत् अहङ्कारवैभवसम्भवात् तत्कार्येन्द्रियव्यापकत्वलाभः—इत्याह—भौतिकत्वमिति। मनोवैभवव्यापकाऽहङ्कारयोः प्रमाणादर्शनादिति भावः। पदान्तरकृत्यमाह—जन्मेति। बुद्धिरित्येवोक्ते व्यभिचाराऽभावेऽप्यर्थान्तरसूचनाय जन्मपदम्। यथा "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं अव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्"–इति अक्षपादीयलक्षणे निर्विकल्पकादिसंग्रहार्थम्—अव्यपदेश्यमिति। आगमस्य प्रकरणाऽनुरूप्येण गतिमाह—उच्यत इति। भूतादिदर्शनं वेदानुसारि ?

ज्ञानवती

कार्य देखे जाने से, त्वगिन्द्रिय के शरीरमात्र में रहने पर त्वगिन्द्रिय के समान, इन्द्रिय के रूप में (वे) शरीर आदि से अन्यत्र नहीं रहते इसका भी अनुमान करना चाहिये। इसलिये इन्द्रिय आहंकारिक नहीं है। इसलिये 'पुरुषस्य, इन्द्रियाणां संप्रयोग' पद अनुपपन्न नहीं है। बुद्धि के जन्म से अतिरिक्त व्यापार होने पर नयन आदि कारकसामान्य के प्रसङ्ग के वारण के लिये 'बुद्धिजन्म' ऐसा कहा गया है। भट्टपाद ने कहा है—

"बुद्धिजन्म यह (शब्द) भी जायमानप्रमाणता को कहता है। क्योंकि कारकों का (उनकी) उत्पत्ति के अतिरिक्त भी व्यापार देखा जाता है।" "उस प्रकार प्रमाण में भी न हो इसलिये जन्म की विवक्षा होती है। वह (=कारक) एक क्षण भी नहीं टिकता है अथवा प्रमात्मक होता है।" "जिससे कि अर्थ के ग्रहण से इन्द्रिय आदि के समान (वह)

---

१ (क) त्वगिन्द्रियत्वेन, (ख) त्पगिन्द्रियवदिन्द्रियत्वेन।
२ (ख) कारक। ३ तदा (ख) तथा। ४ (ख) जन्माविवक्षते।
५ श्लो० वा० ४।५३।५६। ६ (क) प्रत्यक्षं तर्हि।
७ (क) प्रत्यक्षाणामगतिः, (ख) प्रत्यक्षागमगतिः।

"दिव्यं चक्षुर्ददाम्यहम् ।"
"प्रादात्तेषां स भगवान् दिव्यं चक्षुर्जनार्दनः ।"

इति च विश्वरूपादिविषयातिशयमात्रेणापि तदुदाहरणात् योग्यार्थविषयमेव तत् तावद् व्यवस्थितम् । भूतभविष्यद्भूपालादिचरित्रदर्शनस्य च वेदमूलस्मृतित्वेनाप्युपपत्तेः[1] । वेदानामनन्तत्वात्, व्यासादीनां तद्दर्शनस्य प्रसिद्धत्वाच्च, "अनन्ता वै वेदाः" इति श्रुतेः । पुराणकाराणामपि तत्तदाख्यायिकाव्याजेन धर्मादिनिरूपण एव तात्पर्यात् "श्रूयतां धर्मसर्वस्वम्" इत्युद्गारात् । न च अनागतादिसंवादात् तदध्यक्षत्वाध्यवसायः; यथैव अगदङ्कारस्य आह्वानकर्तृचेष्टालिङ्गात् रोगिजीवितादिप्रतिभा संवादवती, ज्योतिश्शास्त्राच्च जन्मोपक्रमप्रायणावधि[2] कर्त्तव्या जातिप्रतिभा सांप्रतम्, तथा कालान्तरे तदाहितसंस्कारस्य सामान्याधर्मविषयव्याप्तिसंस्कारस्येव प्रणिधानाद्युद्बु-

भावदीपिका

स्वतन्त्रं वा ? नाद्यः—इत्याह—भूतेति । पुरूरवःप्रभृतीनामाख्यानानि वेदेषु प्रसिद्धानि । छन्दसि विभक्तीनां कालनियमाभावात् अस्मदप्रसिद्धवैदिकाख्यानसंभवाच्च भूतवद् भविष्यतामपि बहूनां वैदिकत्वोपपत्तिः—इत्याह—वेदानामिति । द्वितीये नैकान्तेन प्रामाणिकप्रतीतिलाभः—इत्याह—पुराणेति । ननु तथाऽपि अद्य श्वः परश्वो वा तद् भविष्यतीत्युक्ते तथा दर्शनादस्ति योगिनामवर्त्तमानमपि प्रत्यक्षम् ? तत्राह—न चेति । अगदङ्कारः=वैद्यः। स्मृतावपि संवादसम्भवान्न प्रत्यक्षस्याऽवर्त्तमानग्राहकत्वलाभः । इदानीं किम्पुनर्न्यायेनैतद्

ज्ञानवती

वाद में व्यावृत होता। इसलिये विषय में बुद्धि का जन्म ही व्यापार माना जाता है।" (पू) यदि संप्रयुक्तग्राहक ही प्रत्यक्ष है तब तो योगिप्रत्यक्षों और आगम की क्या गति होगी ? (उ) कहते हैं।

"मैं दिव्य चक्षु दे रहा हूँ", "भगवान जनार्दन ने उनको दिव्य चक्षु दिया।" यह विश्वारूपादिविषयातिशयमात्रेण भी उसका उदाहरण होने से वह (=योगीप्रत्यक्ष) योग्यार्थविषयक ही है ऐसा व्यवस्थित है। भूत एवं भावी भूपाल आदि के चरित्र के दर्शन की उपपत्ति वेदमूलवाली स्मृतियों से भी हो जाती है, क्योंकि वेद अनन्त हैं, और व्यास आदि को उनका दर्शन प्रसिद्ध है। श्रुति भी है "अनन्ता वै वेदाः"। पुराणकारों का भी तत्तदाख्यायिका के बहाने से धर्म आदि के निरूपण में ही तात्पर्य है। क्योंकि "श्रूयतां सर्वधर्मस्वम्" यह (व्यास का) उद्गार है।

(पू) अनागत आदि के संवाद से उसके प्रत्यक्षत्व का निश्चय हो जायगा ? (उ) ऐसा नहीं है। जैसे कर्त्ता की वैद्य के आह्वान आदि चेष्टारूप लिङ्ग से रोगी को जीवनादि की प्रतिभा संवादवती होती है। तथा जैसे ज्योतिष शास्त्र से जन्म के प्रारम्भ से मरण पर्यन्त करने योग्य जन्म की प्रतिभा उचित है उसी प्रकार सामान्यधर्मविषयक व्याप्तिसंस्कार के समान, कालान्तर में उस (=वेद आदि) से आहित संस्कार, प्रणिधान आदि के द्वारा उद्बुद्ध

---

[1] (क) मूलत्वे स्मृति । [2] (ख) प्रायणाधि ।

द्धस्य संवादास्पदप्रत्ययहेतुत्वसम्भवात्; हिरण्यगर्भस्यापि स्वयं प्रतिभातवेदस्य[1] वेदद्वारेणैव धर्मादिप्रमाऽङ्गीकारात्; किमङ्ग! अन्येषाम्। मनुवाक्ये च प्रत्यक्षम्=श्रुतिः; स्मृतिः=अनुमानम्; शास्त्रञ्च=मीमांसा। प्रत्यक्षस्यैव ग्रहणञ्चेत्? अयोगिप्रत्यक्षगम्योऽपि धर्मः (प्रसज्येत[2]); तस्मात् योगिनामनागतादिज्ञानं चेत्? प्रतिभासमात्रं स्वप्नवत्। न च संवादविषयोऽपि स्वप्नो भविष्यत्प्रत्यक्षम्; अक्षपादादिभिः[3] (विपर्ययत्व[4]) स्वीकारात्।

[योगिप्रत्यक्षस्य अतीन्द्रियार्थे प्रसरो नास्ति–]

ननु स्वर्गापूर्वदेवतादयः कस्यचित् प्रत्यक्षम्; प्रमेयत्वात्, वस्तुत्वात्, सत्त्वात्; घटादिवत्। विपक्षे च बाधकं तदर्थविधिवैयर्थ्यप्रसङ्गः। यथैव खलु मनसो निद्रोपघातापेक्षस्य वहिरुपप्लुतसाक्षात्कारजनकत्वेऽपि मनस एव सर्वार्थग्राहकत्व-

भावदीपिका

द्रढयति—हिरण्यगर्भस्यापीति। कथं तर्हि मनुना धर्मे प्रत्यक्षमुक्तम्? तत्राऽऽह—मनुवाक्ये चेति। प्रतिभामात्रेण कथं संवादः? तत्राऽऽह—न चेति।

[योगिप्रत्यक्षस्यातीन्द्रियार्थे प्रसरो नास्ति—]

तथाऽप्यनुमानबलादपेक्षितप्रत्यक्षसिद्धिः— इत्याह नन्विति। वन्ध्यापुत्रादौ तुल्यत्वेन प्रमेयत्वेऽपि कस्यचित् प्रत्यक्षत्वाभावात् अत उक्तम्— वस्तुत्वादिति। भ्रान्तिदृष्टवस्तुनः कस्यचित् प्रत्यक्षप्रमाविषयत्वाऽभावात् अत उक्तम्— सत्त्वादिति। तदर्थः=सर्वदर्शित्वार्थः—योगादिविधिः। ननु योगिमनसः सर्वार्थग्राहकत्वे मनस्त्वाऽविशेषात् अस्मदादिमनसोऽपि तथात्वाऽपत्तावन्धादिव्यवहारबाधः?—इत्याशङ्क्याऽऽह—यथैवेति। अथ तत्र

ज्ञानवती

होने पर संवादास्पदप्रत्यय का हेतु हो सकता है। जिसको वेद स्वयं प्रतिभात है ऐसे हिरण्य गर्भ भी वेद के द्वारा ही धर्म आदि की प्रमा को स्वीकार करते हैं, तो फिर दूसरों का क्या कहना? और मनु के वाक्य में श्रुति प्रत्यक्ष है, स्मृति अनुमान है और मीमांसा शास्त्र है। यदि प्रत्यक्ष का ही ग्रहण होगा तो धर्म भी अयोगिप्रत्यक्ष से गम्य होने लगेगा। यदि उससे योगियों को अनागत आदि का ज्ञान होता है ऐसा कहें तो वह तो स्वप्न के समान प्रतिभास मात्र है। (पू) स्वप्न भी भविष्य में प्रत्यक्ष होने वाला संवाद का विषय है? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि अक्षपाद आदि ने (स्वप्न का) विपर्ययत्व स्वीकार किया है।

[योगिप्रत्यक्ष का अतीन्द्रिय अर्थ में प्रसर नहीं है—]

(पू) स्वर्ग, अपूर्व, देवता आदि, किसी को प्रत्यक्ष है, क्योंकि ये प्रमेय, वस्तु एवं सत् है, जैसे के घट। उसके लिये (प्रयुक्त) विधि के वैयर्थ्य का प्रसङ्ग उसके विपक्ष में वाधक है। जैसे निद्रा के वशीभूत मन के वाहरी सम्बद्ध (पदार्थ के) साक्षात्कार का जनक होने पर भी मन का ही सर्वार्थग्राहकत्वप्रयुक्त अन्धवधिराद्यभाव का प्रसङ्ग नहीं है उसी प्रकार योगजधर्म से

---

[1] (ख) प्रतिभान।
[2] (क) प्रमज्येत, (ख) प्रसज्येत।
[3] (क) अक्षपादादेः, (ख) अक्षपादादिभिः।
[4] (क) विपर्यय, (ख) विपर्ययत्व।

प्रयुक्तो नान्धबधिराद्यभावप्रसङ्गः, तथैव योगजधर्मानुगृहीतस्य बहिरनुपप्लुतसाक्षात्कारजनकत्वेऽपि; यथैव निद्रोपघातादेः अन्वयव्यतिरेकाभ्यां बहिरुपलब्धावेव सहकारित्वाध्यवसायः, तथैव योगजधर्मस्य तद्विधेरेवानुपप्लवः, इति न कश्चिद् विरोध इति, योगिप्रत्यक्षसिद्धिं किरणावलीकारो निबबन्ध; तदसारम्; रसादयः कस्यचिच्चाक्षुषाः, प्रमेयत्वात् रूपादिवत्, इत्यपि प्रयोगप्रसरात्।

ननु रसादिषु रूपैकव्यञ्जकमिन्द्रियं चक्षुर्मतम्, तथा च प्रतिज्ञापदयोर्व्याघातः;[१] यदि हि रसादिषु रूपमात्रव्यञ्जकं चक्षुः कथं तद्ग्राह्या रसादय इति? मैवम्; तुल्यत्वात्; स्वर्गादीनामतीन्द्रियतयैव प्रसिद्धेः; तथा च ऐन्द्रियकत्वप्रतिज्ञायां व्याघातः प्रतिपत्तृभेदेन[२] वा विरोधो रसादिष्वपि तुल्यः, कस्यचिदेव चाक्षुषत्वसाधनात्; चक्षुर्लक्षणं चासंस्कृतचक्षुषि चरितार्थम्। न च स्वप्नेऽपि मनसो बाह्यार्थसाक्षात्कारे स्वातन्त्र्यं सर्वसम्प्रतिपन्नम्; "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" इति श्रुतेः मनसो गजाद्याकारपरिणतस्य विषयतयैव अवस्थानस्वीकारात्। न च वाच्यम्

भावदीपिका

सहकारी प्रमाणसिद्धः; न अत्र?—इत्याह—तथैवेति। अतिप्रसङ्गेन दूषयति—तदसारमिति। तदुक्तं परिहारमाभाष्योन्मूलयति—नन्विति। अन्यदपि तुल्यम्—इत्याह—प्रतिपत्तृ इति। तर्हि चक्षुर्लक्षणस्य का गतिः? तत्राऽऽह—चक्षुरिति। दृष्टान्तं विघटयति—न चेति। इष्टप्रसङ्गमाशङ्क्याऽऽह—न च वाच्यमिति। श्रवः=श्रवणम्। चक्षु-

ज्ञानवती

अनुगृहीत के बाहरी असम्वद्ध (पदार्थ के) साक्षात्कार का जनक होने पर भी। जैसे अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा निद्रोपघात आदि का बाह्य उपलब्धि में ही सहकारित्व निश्चित होता है उसी प्रकार योगजधर्म की उस (=योगीधर्म की) विधि का ही अनुपप्लव है इसलिये कोई विरोध नहीं है ऐसा योगिप्रत्यक्ष की सिद्धि को किरणावलीकार ने भी निवद्ध किया है? (उ) यह (कथन) निस्तत्त्व है। क्योंकि रस आदि किसी के चक्षु के विषय हैं, प्रमेय होने से, रूप आदि के समान—यह भी प्रयोग होने लगेगा।

(पू) रस आदि में व्यञ्जक इन्द्रिय चक्षु माना गया है, और इस प्रकार प्रतिज्ञा पदों (=रसादयः, स्वर्गापूर्वादयः कस्यचित प्रत्यक्षं) का व्याघात होता है, यदि रस आदि में रूपमात्र का व्यञ्जक चक्षु है तो उसके ग्राह्य रस आदि कैसे हो सकते हैं? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि तुल्य होने से स्वर्ग आदि अतीन्द्रिय के रूप में ही प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार ऐन्द्रियकत्व की प्रतिज्ञा में व्याघात है या ज्ञाता के भेद से रस आदि में भी अविरोध तुल्य है क्योंकि किसी का चाक्षुषत्व सिद्ध करने से चक्षु का लक्षण असंस्कृत चक्षु के विषय में चरितार्थ है। (पू) स्वप्न में भी बाह्य अर्थ के साक्षात्कार में मन का स्वातन्त्र्य सबको ज्ञात है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि "यहाँ यह पुरुष स्वयंज्योति है" इस श्रुति से गज आदि के आकार में परिणत मन का विषय के रूप में ही अवस्थान स्वीकार किया गया है। (पू)

१ (ख) प्रत्यभिज्ञा। २ (ख) भावेन।

योगिनां रसादयोऽपि चाक्षुषाः सन्तु, किं दुष्करं कर्मविशेषस्य चक्षुःश्रवसोऽपि[1] [सर्पस्य[2]] दर्शनात् इति; धर्मादेरपि तथात्वप्रसङ्गात्।

किञ्च योगिनां युगपदनेककायनिर्माणश्रवणात् तत्र तत्रेन्द्रियसर्गेऽपि[3] नित्यस्य मनसः तदभावात् तद्विना विज्ञानक्रमो वा सुखादिसाक्षात्कारो वा न देहान्तरेषु सङ्गच्छते इति "स एकधा भवति स द्विधा भवति" इत्यादि शास्त्रमपि न तार्किकनये योगिनि प्रमाणम्; योगविधानस्यातिशयविशेषादपि सम्भवाच्च।

"अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरीशिता।
प्राकाम्यञ्च वशित्वञ्च यत्रकामावसायिता॥"

प्राप्तिः=अङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिस्पर्शः। प्राकाम्यम्=इच्छानभिघातः; यथा भूमावुदकइवोन्मज्जनादिः। ईशिता=भौतिकोत्पत्त्यादावैश्वर्यम्। वशित्वम्=भूतादिनियन्तृता। इच्छामात्रेण सकलविषयलाभः=यत्रकामावसायिता; इति योगफलं धर्मादेरप्रत्यक्षत्वेऽपि संगच्छते[4]। ततो विद्यमानमात्रोपलम्भनं प्रत्यक्षम्।

भावदीपिका

ग्राह्यत्वे च धर्माधर्मयोर्योगिनां मुक्ताऽवस्थादिवर्णनवैफल्यमित्यपि द्रष्टव्यम्। विपक्षबाधकमप्यनुपपन्नम्—इत्याह—किञ्चेति। न केवलं परमते योगविधिरनुपपन्नः अन्यथासिद्धश्चेत्याह योगेति। योगफलाऽऽलोचनयाऽन्यथासिद्धत्वं विशदयति अणिमेति।

ज्ञानवती

योगियों को रसादि भी चाक्षुप हो जाँय, क्या दुष्कर है क्योंकि चक्षुःश्रवस् भी सर्प का कर्मविशेष (=श्रवण) देखा जाता है। (उ) तब तो धर्मादि भी वैसे ही होने लगेंगे।

इसके अतिरिक्त योगियों के एक साथ अनेकशरीरनिर्माण का आश्रय होने तत्तद् (शरीर) में इन्द्रिय की सृष्टि होने पर भी नित्य मन का उसका (=सृष्टि का) अभाव होने से उस (अर्थात् मन) के बिना देहान्तर में विज्ञान का क्रम या सुख आदि का साक्षात्कार संगत नहीं होता। "वह एक प्रकार का होता है, वह दो प्रकार का होता है" इत्यादि शास्त्र भी तार्किकनय वाले योगी के विषय में प्रमाण नहीं है। क्योंकि योगविधान के अतिशयविशेष से भी (यह) सम्भव है।

"अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, ईशिता, प्राकाम्य, वशित्व एवं यत्रकामावसायित्व।"

प्राप्ति का अर्थ है—अंगुली के अग्रभाग से चन्द्रमा आदि का स्पर्श। प्राकाम्य का मतलब है—इच्छा का अनभिघात; जैसे कि उदक के समान भूमि में डूब जाना आदि। ईशिता—भौतिक उत्पत्ति आदि के विषय में ऐश्वर्य को कहते हैं। वशित्व—भूत अदि की नियन्तृता को बताता है। और इच्छामात्र से समस्तविषय का लाभ—यत्रकामावसायिता है। यह योगफल धर्म आदि के प्रत्यक्ष न होने पर भी संगत होता है। इसलिये विद्यमानमात्रोपलम्भन प्रत्यक्ष है।

---

[1] (क) अचक्षुः। [2] (क) सर्वस्य।
[3] (क) इन्द्रियसङ्गेऽपि, (ख) तत्रे–द्वेन्द्रियसङ्गेऽपि। [4] (ख) न सङ्गच्छते।

[घटाद्यभावस्य प्रत्यक्षत्वं नास्ति–]

न च घटाद्यभावोऽपि प्रत्यक्षः, अभावेन सह इन्द्रियस्य संयोगसमवाययोरभावात्, विशेषणविशेष्यभावमात्रेण संयुक्तभूतलेनाभावस्य प्रत्यक्षत्वं न[1] युक्तम्; पर्वतस्थवह्नेरपि तथा भावेन प्रत्यक्षत्वप्रसङ्गात्। नापि योग्यताख्यः सम्बन्धः; तस्य सर्वप्रमाणप्रमेयसाधारण्येन विशेषसम्बन्धोच्छेदप्रसङ्गात्। अतो न घटाद्यभावः प्रत्यक्षः किन्तु योग्यानुपलब्धिकरणकमर्थाभावज्ञानमभाव इत्यभावप्रमाणगम्यः।

न च एतदनुमानम्; अनुपलब्धेरज्ञातकरणत्वात्; अन्यथा अनुपलब्ध्यन्तरवेद्यत्वेनानवस्थानात्। न च उपलब्धिवदनुपलब्धेरपि स्वतःसिद्धसाक्षिप्रसादसिद्धत्वात् अनवस्थाप्रतीकारः; साक्षिणो निर्विकल्पकज्ञानत्वादनुपलब्धेश्चोपलब्ध्यभावत्वेन सविकल्पकविषयत्वात्; अन्यथा सुषुप्ते विषयज्ञानाभावस्याविरोधिभावरूपा-

भावदीपिका

[घटाद्यभावस्य प्रत्यक्षत्वं नास्ति—]

यथा प्रत्यक्षस्य सद्वस्तुग्राहकत्वानियमोऽभावस्यापि ग्राहकत्वात्, तथैवाऽवर्त्तमानग्राहकत्वं स्यात्? अत आह—न चेति। पराभिमतं सम्बन्धं निराचष्टे—विशेषणेति। मा भूत् प्रत्यक्षोऽभावस्तथाऽपि आनुमानिकः स्यात्, यथाऽऽहुर्बौद्धाः? तेषां हि निर्विकल्पकमेव प्रत्यक्षं प्रमाणम्; तच्च नीलादिभावग्राहकम्; योग्याऽनुपलब्धिरेव च लिङ्गम्? तत्राह—न चैतदिति। ज्ञाताया एव करणत्वमस्तु को दोषः?—इत्याशङ्क्य तस्य ज्ञानं किमनुपलब्ध्यन्तरात्? अन्यस्माद्वा? नाद्यः इत्याह—अन्यथेति। अन्यत् परोक्तं निरस्यति—न चेति। अनुमेयत्वाऽभिधानं तत्त्वप्रदीपिकाकाराणाम्। अनवस्थासाम्यादभावप्रमाणमपि न सिद्धचेत्?—इत्याशङ्-

ज्ञानवती

[घट आदि के अभाव का प्रत्यक्ष नहीं है—]

(पू) घट आदि का अभाव भी प्रत्यक्ष है? (उ) ऐसा नहीं हैं। क्योंकि अभाव के साथ इन्द्रिय के संयोग एवं समवाय का अभाव होने से विशेषणविशेष्यभावमात्र से संयुक्त भूतल के साथ अभाव का प्रत्यक्ष युक्त नहीं है। क्योंकि उस प्रकार तो पर्वतस्थ वह्नि का भी वैसा अभाव होने से प्रत्यक्ष होने लगेगा। योग्यता नामक सम्बन्ध भी नहीं है; क्योंकि उसके सर्वप्रमाणप्रमेयसाधारण होने से विशेष सम्बन्ध का उच्छेद होने लगेगा। इसलिये घट आदि के अभाव का प्रत्यक्ष नहीं हैं। किन्तु योग्यअनुपलब्धिकरणक अर्थाभाव का ज्ञान अभाव है और यह अभावप्रमाणगम्य है।

(पू) यह अनुमान है? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि अनुपलब्धि अज्ञातकारण वाली होती है। अन्यथा (उसके) अनुपलब्ध्यन्तरवेद्य होने से अनवस्था हो जायगी। (पू) उपलब्धि केसमान अनुपलब्धि के भी स्वतःसिद्ध साक्षी के प्रसाद से सिद्ध होने के कारण अनवस्था का प्रतीकार हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि साक्षि का ज्ञान निर्विकल्पक है और अनुपलब्धि स्वरूपोपलब्धि का अभाव होने से सविकल्पकविषयवाली है। अन्यथा

---

[1] (ख) संयुक्तम्। [2] (ख) श्वो श्वोपलब्ध्य।

ज्ञानानुभवेनानुमेयत्वाभिधानं अवधूतं स्यात्। सत्तामात्रेण च लोचनादिवदनुपलम्भः प्रमेयाभावविज्ञानकारणम्, ततः तद्वदेव कार्योन्नेयत्वात् नाभावप्रमाणवादिनोऽप्यनुपलब्धेः कदाचिदनुपलब्ध्यन्तरवेद्यत्वादनवस्था तुल्या इति शङ्कनीयम्; न चैवमनुपलम्भान्निर्धारणे सत्त्वासत्त्वसंशीतिर्न स्यात्, किन्तु असत्वनिश्चय एव; चाक्षुषार्थे तत्त्वान्यत्वसन्देहवत्तदुपपत्तेः।

ननु तर्हि मध्याह्ने चैत्रं पश्यतः प्रातःकालीनतदभावविज्ञानम्, तत्रैव देशविशेषे तदनुपलम्भस्य प्रागभावस्य[1] दर्शने[2] निवृत्तत्वात् निर्मूलतया न स्यात्? नैवम्; तत्र केवलभूतलोपलम्भस्मरणादिलिङ्गगम्यत्वादभावस्य। भूतलविशेष एवानुपलम्भस्य प्रमाणत्वात्[3]। तदुक्तम्—

"प्रमाणपञ्चकं यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्त्वसत्ताऽवबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता॥"[4]

इति (तदेवम[5]-)भावप्रमाणमपि परिशुद्धम्। अतो न घटाद्यभावः प्रत्यक्षो येन

भावदीपिका

क्याऽऽह—सत्तामात्रेति। सत्तामात्रेण ज्ञापकत्वेऽनिष्टप्रसङ्गमाशङ्क्याऽऽह—न चैवमिति। संशीतिः=संशयः। चक्षुषः सत्त्वादज्ञानस्याऽपि कार्यकरत्वं न विरुध्यते। अनुपलब्धेस्त्वसद्रूपाया न कार्यं युक्तमित्यपि न वाच्यम्; तार्किकेण प्रतिबन्धाभावस्य स्फोटादिकारणत्वस्येष्टत्वात्, धर्म्यादिज्ञानस्य सहकारिणः स्वीकाराच्च। अज्ञातदुःखाभावस्य सुखाभिव्यक्तिकार्यकरत्वस्य वेदान्तिभिरभ्युपगमात् जाग्रत्स्वप्नयोस्तीव्रवायुविक्षिप्तदीपादिवद् अवभासमानोऽपि स्वरूपानन्दो विचित्रदुःखासंकुलतया नाऽवभासते। सुषुप्ते तु तदुपशमात् स्पष्टमवभासत इति कीर्त्तनाच्च।

अथ सार्वत्रिकत्वान्नाऽभावः प्रमाणमित्याशङ्क्य सर्वत्राऽभावप्रमाणवेद्य एवाभाव इत्यनङ्गीकारान्न दोषः?—इत्याह—ननु तर्हीति। जायते=प्रवर्त्तते। अभावप्रमाणस्वीकारमुक्त्वा तत्सम्पातमुपसंहरन् प्रकृतमुपसंहरति—तदेवमिति। भवत्वेवं प्रत्यक्षलक्षणं

ज्ञानवती

सुषुप्ति में अविरोधी भावरूप अज्ञान का अनुभव होने से विषयज्ञानाभाव के अनुमेयत्व का कथन निरर्थक हो जायगा। और अनुपलम्भ सत्तामात्र से लोचन आदि के समान प्रमेयाभाव के विज्ञान का कारण है। इसलिये उसी के समान कार्योन्नेय होने से अभावप्रमाणवादी के यहाँ भी अनुपलब्धि के कदाचित् अनुपलब्ध्यन्तरवेद्य होने से अनवस्था समान है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। (पू) इस प्रकार अनुपलम्भ से निर्धारण होने पर सत्त्व एवं असत्त्व का संशय नहीं होगा किन्तु असत्त्व का निश्चय ही होगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि चाक्षुष अर्थ में तत्त्व एवं अन्यत्व के सन्देह के समान उसकी उपपत्ति हो जायगी।

(पू) तब तो मध्याह्न में चैत्र को (किसी स्थान में) देखने वाले को उसी स्थान-विशेष में उसके प्रागभावरूप अनुपलम्भ का दर्शन होने पर निवृत्त होने से निर्मूल होने के

---

[1] प्रागभावरूपस्येत्यर्थः। [2] (ख) अदर्शने। [3] (ख) अप्रमाणत्वात्।
[4] श्लो० वा० ५। अभाव १। [5] (क) एवम्, (घ) तदेवम्।

तस्यासदुपलम्भनमाशङ्क्येत। तत्र ब्रह्मणः "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद सन्तमेनं ततो विदुः" इति श्रुतेः सदेकरसत्वेऽपि निर्विकल्पकप्रत्यक्षस्य च—

"आलोच्यते वस्तुमात्रं ज्ञानेनापातजन्मना।"

इति सन्मात्रग्राहित्वेऽपि न केवलस्य प्रत्यक्षत्वम्, किन्तु मायावेशेन कारणतया कार्यप्रपञ्चानुस्यूतस्य ; भावत्वादेव च नाभावप्रमाणगम्यताऽपि।

[अनुमानस्य प्रामाण्यव्यवस्थापनम्—]

अनुमानं पुनः "ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनात् एकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे

भावदीपिका

तथाऽपि ब्रह्मणस्तद्गोचरत्वं चेत् "प्रत्यक्षतः पश्यति शुद्धचक्षुः" इत्युद्गारात् किं शास्त्रयोनित्वेन ? तत्राह—तत्रेति। प्रत्यक्षतः इति शाब्दसाक्षात्काराऽभिप्रायम्; "न चक्षुषा गृह्यते", "यच्चक्षुषा न पश्यति", "चक्षुषः चक्षुः" इत्यादिश्रुतेः। श्रुत्युक्तब्रह्मवेदनफलादर्शनाच्च न प्रत्यक्षगम्यं केवलं ब्रह्म। तर्हि तदानीमेव साधिताऽभावगम्यं स्यात् "स एष नेति नेति" इत्यादि श्रुतेः ?—इत्यत आह—भावत्वादिति। एष इत्यपरोक्षत्वेन निर्दिष्टस्य द्रष्टुः निषेधस्याऽशक्यत्वात्, निषेध्यप्रपञ्चाऽभावग्राहकत्वेन तद्विलक्षणत्वाच्च, नाऽभावप्रमाणगम्यत्वं ब्रह्मणः स्वाभावत्वेन प्रपञ्चाभावत्वेन वेति भावः।

[अनुमानस्य प्रामाण्यव्यवस्थापनम्—]

प्रमाणान्तरपरीक्षापूर्वकं तदगम्यत्वं ब्रह्मणो वक्तुमुपक्रमते—अनुमानमिति। प्रत्यक्षादिव्यवच्छेदार्थं एकदेशदर्शनात् इत्युक्तम्। तर्हि लिङ्गदर्शनात् व्याप्तिस्मृतावतिव्याप्तिः ?—अत उक्तम्—एकदेशान्तर इति। अनुवादाभासयोः व्यवच्छेदार्थम्—असन्नि-

ज्ञानवती

कारण, प्रातःकाल में होने वाले उसके अभाव का ज्ञान नहीं होगा ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि वहाँ अभाव, केवल भूतलोपलम्भ स्मरण आदि लिङ्ग से गम्य है। अनुपलम्भ भूतलविशेष में ही प्रमाण है। कहा है—

"जिस वस्तुस्वरूप के विषय में (प्रत्यक्ष आदि) पाँच प्रमाण नहीं उपस्थित होते वहाँ वस्तु की असत्ता को वताने के लिये अभाव प्रमाण होता है।"

तो इस प्रकार अभावप्रमाण भी परिशुद्ध है। इसलिये घट आदि का अभाव प्रत्यक्ष नहीं है जिससे उसके असदुपलम्भ की आशङ्का की जाय। "ब्रह्म है, ऐसा जो जानता है तो उसको (लोग) सत् ही जानते हैं" इस श्रुति से ब्रह्म के सदेकरस होने पर भी, और निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के—

"आपाततः उत्पन्न ज्ञान के द्वारा वस्तुमात्र का आलोचन होता है"—इससे सन्मात्र के ग्राही होने पर भी केवल (सत्) का प्रत्यक्ष नहीं होता। किन्तु मायावेश के कारण के रूप में कार्यप्रपञ्च से अनुस्यूत का (प्रत्यक्ष होता है)। और (ब्रह्म के) भावस्वरूप होने से ही अभावप्रमाणगम्यता भी नहीं है।

[अनुमान का प्रामाण्यव्यवस्थापन—]

जिसका सम्बन्ध ज्ञात है उसके एकदेश को देखने से एकदेशान्तर में वर्त्तमान दूरवर्ती अर्थ के वारे में बुद्धि अनुमान है। जिसको सम्बन्ध ज्ञात है वह या तो प्रमाता हो या

बुद्धिः ।" ज्ञातसम्बन्धः=प्रमाता वा एकदेशवान् वा, ज्ञातश्चासौ सम्बन्धश्च इति विग्रहे च एकदेशौ (सम्बन्धिनौ[१]) ज्ञातसम्बन्धशब्देन समुदायात्मकं द्वयं वा, तस्य समुदायिनौ चैकदेशौ; तदाहुर्वार्त्तिककृतः—

"प्रमाता ज्ञातसम्बन्ध एकदेश्यथवोच्यते ।
कर्मधारयपक्षे वा सम्बन्धिन्येकदेशता ।
द्वयं वा ज्ञातसम्बन्धमुपलब्धं परस्परम् ।
तस्यैकदेशशब्दाभ्यामुच्येते समुदायिनौ ॥"[२]

इति । सम्बन्धश्च लिङ्गधर्मस्य लिङ्गिना व्याप्तिः । सा च व्याप्यव्यापकभावनिर्वाह्या ।

"यो यस्य देशकालाभ्यां समो न्यूनोऽपि वा भवेत् ।

भावदीपिका

कृष्ट इति । असम्भवव्युदासार्थम्—ज्ञातसम्बन्धस्येति । एतद्विवृणोति—ज्ञातेति । ज्ञातः सम्बन्धो यस्य इति विग्रहे प्रमाता ज्ञातसम्बन्धः । ज्ञातः सम्बन्धः धूमवत्त्वादेर्यस्मिन्निति विग्रहे च पर्वतादिः । तथा तद्धर्मवत्त्वेन तच्छब्दनिर्देश्यता शुक्ल इत्यादिवत् । 'बहुव्रीहेः कर्मधारयो बलीयान्'–इति विग्रहान्तरमाह—ज्ञातश्चेति । विग्रहत्रयेऽपि एकदेशशब्दार्थमाह—एकदेशाविति । साध्यसाधने=एकदेशाविति । विग्रहान्तरेऽप्याह—ज्ञात इति । ज्ञातः सम्बन्धः परस्परं यस्येति विग्रहे सम्बन्धस्यानेकविधत्वाद्विवक्षितमाह—सम्बन्धश्चेति । व्याप्तिः=अव्यभिचरितः सहचरभावः । स च न चैत्र[-मैत्र-]योरिव समान[-देशकाल-]भावेन किन्तु नियतगम्यगमकभावेन—इत्याह—सा चेति । व्याप्यव्यापकयोर्वार्त्तिकेन लक्षणं गमयति—यो यस्येति । धूमवत्त्वादेर्न्यूनवृत्तेरपि गमकत्वात्, अत उक्तम्—न्यूनोऽपि वेति । न च वाच्यं समत्वे कथं नियतगम्यगमकभावः इति ? दृष्टत्वादिना तदुपपत्तेः । यथा प्रमेयत्व-कस्यचित्प्रत्यक्षत्वयोः समवृत्तित्वेऽपि अदृष्टादौ साधयितुमनिष्टत्वात् प्रमेयत्वयस्य कस्यचित् प्रत्यक्षत्वस्येष्टत्वाच्च सम्प्रतिपत्तेः, विप्रतिपत्तेश्च प्रमेयत्वस्याऽप्यदृष्टादौ सिद्धत्वाद-सिद्धत्वाच्च कस्यचित् प्रत्यक्षत्वस्येति गम्यगमकत्वनियमः । एवमन्यत्राऽप्यूह्यम् ।

ज्ञानवती

एकदेशवाला (=पक्ष) हो । 'ज्ञातश्चासौ सम्बन्धश्च' इस विग्रह में ज्ञातसम्बन्ध शब्द से समुदायात्मक अथवा दो एकदेश सम्बन्धी (लिये जाते हैं) । उसके समुदायी एकदेश हैं । वार्त्तिककार ने कहा है—

"प्रमाता या तो ज्ञातसम्बन्ध वाला या एकदेशी (=धर्मी-धूम) कहलाता है । अथवा कर्मधारयपक्ष में सम्बन्धी (=धूम) में एकदेशता होती है । अथवा दो (=लिङ्ग और लिङ्गी=धूम और अग्नि) परस्पर ज्ञातसम्बन्ध वाले उपलब्ध (होते हैं) उसके एकदेश शब्दों से दो समुदायी कहे जाते हैं ।"

लिङ्ग के धर्म का लिङ्गी से सम्बन्ध व्याप्ति होती है । और वह व्याप्ति व्याप्य-व्यापकभाव (रूप सम्बन्ध) से निर्वाह्य है ।

"जो जिसके देश एवं काल के बराबर या न्यून होता है वह व्याप्य होता है । और

---

१ (क) एकदेशौ ज्ञात, (ख) एकदेशौ सम्बन्धिनौ ज्ञात । २ श्लो०वा०अनु २।३ ।

स व्याप्यः व्यापकस्तस्य समो वाऽप्यधिकोऽपि वा ॥"
"भूयोदर्शनगम्या च व्याप्तिः सामान्यधर्मयोः ॥"

ननु विशेषाणां साध्यत्वे तेषामनुगमाभावात् न व्याप्तिः ; सामान्यसाधने स्वव्याप्तिग्रहकालत एव तस्य सिद्धत्वात् सिद्धसाधनता ; यथाऽऽह चार्वाकः—

"विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाधनम् ।"

इत्यादिदोषदुष्टत्वात् न च नोऽनुमितिः[१]प्रमा इति ? इदमसाम्प्रतम् ; सामान्यधर्मयोरेव प्रयोज्यप्रयोजकत्वाङ्गीकारात् । तदाहुः—

भावदीपिका

सर्वधूमवह्न्यादिव्यक्तीनामव्यभिचारग्रहणस्य कल्पयितुमप्यशक्यत्वात् अनिश्चय एव व्याप्तेः प्राप्तः कुतस्तद्बलाल्लिङ्गस्य गमकत्वम् ? तत्राऽऽह—भूयोदर्शनेति । भूयसां व्यक्तीनामव्यभिचारदर्शनम्=भूयसां पुरुषाणां वा तद्दर्शनम्=भूयोदर्शनम् । व्यभिचारस्य पार्थिवत्वलोहलेख्यत्वयोरिव सत्त्वदर्शनं चकारार्थः । तर्ह्यदृष्टव्यक्तिषु कथं व्याप्तिनिश्चयः सामान्यद्वारेण ?—इत्याह—सामान्येति । सामान्यधर्मौ धूमवत्त्ववह्निमत्त्वादिकौ । "विशेषेऽनुगमाऽभावात् सामान्ये सिद्धसाधनात् । तद्वतोऽनुपपन्नत्वात् अनुमानकथा कुतः ॥"—इति परोक्तखण्डनमुद्भावयति—नन्विति । पर्वतनिष्ठं वह्निमत्त्वं साध्यते चेत् ? तस्य धूमवत्त्वमात्रेण व्याप्त्यभावो दोषः । अथ पर्वतनिष्ठधूमत्त्वस्य तेन व्याप्तिः ? तर्हि महानसादौ गृहीतव्याप्तेः सहसा पर्वतशिखरे विशिष्टं धूममेवाऽलोकयतो जायमानतन्निष्ठवह्निबुद्धितदानयनादिप्रवृत्त्यादिविरोधाः । वह्निमत्त्वमात्रं साध्यते चेत् ? तत्राह—सामान्येति ।

एवं व्याप्तिरपि केवलव्यक्तीनां, जात्यालिङ्गितानां, केवलजातीनां वा, न युक्तेति साध्यसाधनवत्त्वयोर्वक्तव्या । तयोरप्युक्तप्रकारेण नानुमानोपयोगित्वमिति प्राप्ते—आह—इदमसाम्प्रतमिति । सामान्यधर्मयोर्धूमवत्त्ववह्निमत्त्वादिकयोर्गम्यगमकत्वेन व्याप्तिः ।

ज्ञानवती

उसका व्यापक या तो बराबर होता है या अधिक । सामान्यधर्म की व्याप्ति बार-बार दर्शन से जानी जाती है ।"

(पू) विशेष धर्मों के साध्य होने पर उनका अनुगम न होने से व्याप्ति नहीं होगी और सामान्य (धर्म के) साधन होने पर अपनी व्याप्ति ज्ञान के समय से ही उसके सिद्ध होने से सिद्धसाधनता (दोष) आ जायगा । जैसा कि चार्वाक कहते हैं—

"विशेष में अनुगम का अभाव और सामान्य में सिद्धसाधन होता है ।"

इत्यादि दोष से दुष्ट होने पर हमारे मत में अनुमिति प्रमा नहीं है ।

(उ) यह ठीक नहीं है । क्योंकि दो सामान्य धर्मों में ही प्रयोज्यप्रयोजकत्व माना जाता है । कहा है—

"दृश्यमान व्याप्ति का कोई न कोई धर्म प्रयोजक होता है जिसके रहने पर यह (=व्याप्ति) होती है । ऐसा शक्ति के द्वारा निरूपित होता है ।"

---

[१] (ख) अनुगमाभावो न ।

"व्याप्तेश्च दृश्यमानायाः कश्चिद्धर्मः प्रयोजकः।
यस्मिन् सत्यमुना भाव्यम् इति शक्त्या निरूप्यते ॥"

व्याप्तिग्रहणसमये हि धूमवत्त्वादेः प्रयोजकत्वं प्रयोज्यत्वं च वह्निमत्त्वादेर्धर्मस्य गृह्यते; पर्वतादेश्च व्यभिचारित्वात् न प्रयोजकविशेषणत्वं प्रयोज्यविशेषणत्वं वा। अनयोरनौपाधिकाविनाभावग्रहादेकतरदर्शनादन्यतरस्यापूर्वदेशसम्बन्धो गृह्यत इति कथङ्कारं सिद्धसाधनता ? विशेषस्य साध्यसाधनत्वानभ्युपगमादेव न व्याप्त्यभावो दोषः। (यच्च[१]) व्याप्तिसंवेदनसमये यत्र यत्र धूमवत्त्वं तत्र तत्र वह्निमत्त्वम् इति वीप्साविषयतया पर्वतादिप्रदेशोऽपि प्रतीतश्च[२] अन्यथा सर्वोपसंहारवद् व्याप्त्यभावात् तदनुमानं न इति ? तदचतुरश्रम् ; वीप्साया अव्यभिचारदार्ढ्यार्थत्वात् पार्थिवत्व-लोहलेख्यत्वयोरिव न क्वचिदपि केनचिदपि व्यावहारिकेण व्यभिचारो दृष्टचर इत्यर्थः। न च संगमनीयोऽप्यसौ; अनुमानमन्तरेण कथाप्रवृत्त्याद्यनुपपत्तेरावश्यक-

भावदीपिका

ततश्चाऽनुमानमित्यङ्गीकृतमस्ति तावदित्यर्थः। इदानीं दोषमुद्धरति—अनयोरिति। सिद्ध-साधनतां पुनरुज्जीव्य दार्ढ्यायाऽपाकरोति—यच्चेति। यथा गृहीतसङ्गतीनि पदानि पदार्थ-स्मृतिसहकृतानि अपूर्वं वाक्यार्थं बोधयन्ति प्रमाणभावं भजन्ते तथा धूमवत्त्वादिगृहीतव्याप्ते-र्व्याप्तिस्मृतिसहकृतं सदपूर्वदेशविशिष्टं वह्निमत्त्वादिकं गमयत् प्रमाणमिति न वक्तव्यम्; पर्वतादेः प्रागपि ग्रहसम्भवेन सिद्धसाधनताऽऽपत्तेः—इत्याह—(तद-)चतुरस्रमिति। वीप्सा-यास्तावदन्यथासिद्धत्वादपि। अदृष्टोऽपि व्यभिचारः शङ्क्यते चेत् स किं व्याप्तिं कामप्य-वलम्ब्य ? एवमेव वा ? प्रथमे दोषसाम्यम्; द्वितीये त्वनाक्षेप एव—इत्याशयेनाह—न चेति।

ज्ञानवती

व्याप्तिज्ञान के समय धूमवत्त्व को धर्म का प्रयोजक और वह्निमत्त्व को प्रयोज्य माना जाता है। और पर्वत आदि व्यभिचारी होने से न तो प्रयोजक के विशेषण हैं, न प्रयोज्य के विशेषण; इन दोनों के अनौपाधिक अविनाभाव के ज्ञान के कारण (दोनों में से) एक के दर्शन से दूसरे का अपूर्वदेश से सम्बन्ध लिया जाता है इसलिये कैसे सिद्धसाधनता होगी ? विशेष का साध्यसाधनत्व न मानने से ही व्याप्त्यभाव का दोष नहीं है।

(उ) यह चतुरश्र नहीं है। वीप्सा अव्यभिचार की दृढ़ता के लिये होती है, इस कारण पार्थिवत्त्व एवं लोहलेख्यत्व के समान कहीं भी किसी भी व्यावहारिक से व्यभिचार दृष्टचर नहीं है। यह संगमनीय भी नहीं है, क्योंकि अनुमान के विना कथाप्रवृत्ति आदि की अनुपपत्ति होने से आवश्यक तत्प्रामाण्य के मानने पर व्यभिचार की शंङ्का अपने की व्याघातक हो जायगी। विवादविषय असत्य है, अनुपलभ्यमान प्रागवस्था वाला होने से, व्यतिरेक से पराभिमतात्म होने से; ऐसा वैतण्डिकों में मुख्य—माध्यमिक के द्वारा भी प्रयोग माने जाने से अव्यभिचार का निरूपक होने के कारण वह्निमत्त्व आदि मात्र उपयुक्त है न कि पर्वत आदि। इसलिये यह कहा है—

---

१ (क) यत्तु, (ख) यत्र, (घ) यच्च। २ (ख) चेत् :

तत्प्रामाण्याभ्युपगमे व्यतिरेकेण पराभिमतात्मवन् इति वैतण्डिकमुख्येन माध्यभिकेनापि प्रयोगोपगमात् अव्यभिचारनिरूपकतया वह्निमत्त्वादिमात्रमुपयुज्यते, न पुनः पर्वतादिरपि। अत इदमाहुः—

"अग्नेः पूर्वतरञ्चात्र देश एवानुभूयते।
तज्ज्ञानकालबुद्धश्च[1] न देशः स्याद् विशेषणम्॥"[2]

न चैवं देशस्य ज्ञातत्वादनुमानवैफल्यम्;

"देशस्य पर्वतादेश्च स्वरूपे पावकादृते।
गृहीतेऽग्निविशिष्टस्य पुनर्ज्ञानं न दुष्यति॥
तस्माद्धर्मविशिष्टस्य धर्मिणः स्यात् प्रमेयता।
सा देशस्याग्नियुक्तस्य धूमस्यान्यैश्च कल्पिता॥"[3]

यदा हि उपाधिप्रयुक्तव्याप्तिमुपजीव्य हेतुः प्रवर्त्तते, तदा दृष्टोऽपि [स] न साध्यांशप्रमां प्रसूते। तदाहुः—

भावदीपिका

सत्तादशायामनुपलभ्यमानत्वमसिद्धमिति—अत उक्तम्—प्रागिति। भवत्वव्यभिचारार्था वीप्सा तथाऽपि कथमपूर्वार्थत्वम्?—तदाह—अव्यभिचारेति। कतिपयव्यक्तिनिष्ठतयाऽगृहीतसामान्यधर्मयोरगृहीतता; न शङ्कितव्यभिचारयोर्व्याप्तिसम्भवेनाऽपूर्वदेशविशेषे एकतरदर्शनस्यैव साधनविषयस्य साध्यविषयस्यैकदेशान्तरदर्शनस्य तद्विषयस्य च प्रमाणत्वप्रमेयत्वे विरुद्धे इति वार्त्तिकमुखेनाह—अत इदमाहुरिति।

अधुना व्यभिचारनि[-श्च-]याय प्रतिपक्षनिरूपणेन प्रयतते—यदा हीति। साध्यव्यापकः

ज्ञानवती

(पू) और जो कि, व्याप्ति के संवेदन के समय जहाँ-जहाँ धूमवत्त्व है वहाँ-वहाँ वह्निमत्त्व है इस वीप्सा का विषय होने से पर्वत आदि प्रदेश भी प्रतीत होता है अन्यथा सबके उपसंहार के समान व्याप्ति के न होने से उसका अनुमान नहीं होगा? (यह कथन है)

"यहाँ अग्नि से पूर्वतर देश का ही अनुभव होता है। उसके ज्ञानकाल से ज्ञातदेश विशेषण नहीं होता।"

(पू) इस प्रकार देश के ज्ञात होने से अनुमान व्यर्थ है?

(उ) "अग्नि के विना पर्वत आदि देश के स्वरूप के गृहीत होने पर पुनः अग्निविशिष्ट का ज्ञान दुष्ट नहीं है।"

"इसलिये धर्मविशिष्ट धर्मी प्रमेय है और अग्नियुक्त देश और धूम की वह (=प्रमेयता) अन्य लोगों के द्वारा कल्पित है।"

और हेतु जब उपाधिप्रयुक्त व्याप्ति को कारण मानकर प्रवृत्त होता है तब देखा गया भी वह (=हेतु) साध्यांश की प्रमा को उत्पन्न नहीं करता। कहा है—

"परप्रयुक्त व्याप्तियों के कार्य दूसरे हैं। दृष्ट होने पर भी उन के द्वारा व्यापकांश की अवधारणा इष्ट नहीं है।"

---

१ (ख) तदज्ञान। २ श्लो० वा० अनु ४५। ३ श्लो० वा० अनु ४५।४८।

"अन्ये[1] परप्रयुक्तानां व्याप्तीनामुपजीवकाः ।
तैर्दृष्टैरपि नैवेष्टा व्यापकांशावधारणा ॥"

इति । उपाधिश्च "साधनाऽव्यापकत्वे सति साध्यसमव्यापक उपाधिः" इत्येके ; विषमव्यापक इत्यपरे । उपाधिश्च यथा हि—विमता हिंसा, अधर्मसाधनम्, हिंसात्वात्, रागप्रयुक्तहिंसावत् । अत्र निषिद्धत्वमुपाधिः ; यत्र यत्राधर्मसाधनत्वं तत्र तत्र निषिद्धत्वम्, यथा रागमूलहिंसायाम् । यत्र च निषिद्धत्वं तत्राधर्मसाधनत्वम्, यथा सुरापानादाविति[2] साध्यसमव्याप्तिः । तथा शब्दो द्रव्यम्, साक्षादिन्द्रियसम्बन्धेन गृह्यमाणत्वात्, पटवत् । अत्र अश्रावणत्वमुपाधिः ; यत्र द्रव्यत्वम्, तत्राश्रावणत्वम् यथा पटे । यत्र पुनः श्रावणत्वम्, तत्राद्रव्यत्वम्, यथा शब्दत्वसामान्ये । अश्रावणत्वेऽपि रूपादौ द्रव्यत्वाभावात् विषमव्याप्तिरेवायम् । तदाहुर्भट्टपादाः—

"निषिद्धत्वेन हिंसानामधर्मत्वं प्रयुज्यते ।
तदभावे न तत्सिद्धिर्हिंसात्वादप्रयोजकात् ॥"[3]

भावदीपिका

साध्यसमव्यापको वा उपाधिरित्युक्ते वह्निसामग्रीमत्त्वस्याप्युपाधिता स्यात्—अत उक्तम्—साधनाऽव्यापकत्वे सतीति । साधनाऽव्यापकत्वं साध्यान्वयमात्रं च पर्वतेतरत्वादेरप्यस्ति इति—साध्यसमव्यापक इत्युक्तम् । इन्द्रियसम्बन्धेन गृह्यमाणे रूपादौ साक्षादागमगृह्यमाणे धर्मादौ अनुमानग्राह्ये गुरुत्वादौ च व्यभिचारवारणाय द्वितीयो हेतुः । विशेषणे विषमव्यापकस्य पक्षेतराद्भेदसिध्यर्थं व्यतिरेकव्याप्तिमाह - यत्र पुनः श्रावणत्वमिति ।

ज्ञानवती

और उपाधि—"साधन के अव्यापक होते हुए साध्य की समव्यापक उपाधि है"—ऐसा कुछ लोग (कहते हैं); विषम व्यापक है—ऐसा दूसरे लोग (कहते हैं) । उपाधि जैसे–विवादग्रस्त हिंसा, अधर्म का साधन है, हिंसा होने से रागप्रयुक्त हिंसा के समान—यहाँ निषिद्धत्व उपाधि है । जहाँ-जहाँ अधर्मसाधनत्व है वहाँ निषिद्धत्व है; जैसे—रागमूलक हिंसा में । और जहाँ निषिद्धत्व है वहाँ अधर्मसाधनत्व है; जैसे—सुरापान आदि में; यह साध्यसम व्याप्ति है । तथा शब्द, द्रव्य है, साक्षात् इन्द्रियसम्बन्ध से गृह्यमाण होने से, पट के समान । यहाँ अश्रावणत्व उपाधि है । जहाँ द्रव्यत्व है वहाँ अश्रावणत्व है जैसे पट में । और जहाँ श्रावणत्व है वहाँ अद्रव्यत्व है जैसे शब्दत्वसामान्य में । अश्रावणत्व होने पर भी रूप आदि में द्रव्यत्व न होने से यह विषम व्याप्ति ही है । भट्टपाद ने कहा है—

"हिंसाओं के निषिद्धत्व से अधर्मत्व का प्रयोग होता है । और उसका (=निषिद्धत्व का) अभाव होने से हिंसात्व के अप्रयोजक से उसकी (=अधर्मत्व की) सिद्धि नहीं होती ।"

---

[1] (ख) अन्यो ।
[2] (ख) सुरापानादि—विति ।
[3] श्लो० वा० अनु १८ ।

न्यायवेत्तारश्च—समवायः समवेतः, सम्बन्धत्वात्, संयोगवत्—इत्यत्र सम्बन्धत्वे सति समवेतत्वे कार्यत्वं उपाधि इति।

[यागीयहिंसायां निषेधाप्रवृत्तिः—]

ननु श्येनादिवत् "न हिंस्यात्" इति श्रुतेः अग्नीषोमीयादेरपि निषिद्धत्वेन हिंसायाः साधनव्यापकत्वमुपाधेः इति चेत्? नैवम्; श्येनस्यापि विधानालम्बनस्य निषेधासम्भवात्। यदाहुर्भट्टपादाः—

"चोदनालक्षणो यश्च श्येनादिरिह गम्यते।
निषेधाभावतस्तस्य कथं ब्रूयादनर्थताम्॥
यद्यपि स्याद् विधिस्पृष्टे निषेधो नैव तादृशः।
विज्ञायते ह्यनर्थत्वं षोडशिग्रहणादिवत्॥"[1]

भावदीपिका

पक्षेतरे हि यः पक्षः स साध्यवानिति न व्यतिरेकोऽस्ति, पक्षे साध्यस्य सन्दिग्धत्वात्। सत्तादौ समवेतत्वेऽपि कार्यात्मकत्वाभावात्, अतः साध्यविशेषणम्—सम्बन्धत्वे सतीति।

[यागीयहिंसायां निषेधाप्रवृत्तिः—]

विशेषितसाध्योऽप्युपाधिर्न दोषाय, एवमप्युपाधिनिर्वाहात्। आद्यमुदाहरणमाक्षिपति—नन्विति। द्वितीयमप्ययुक्तं अजसंयोगे साध्याव्याप्तेरिति द्रष्टव्यम्। दृष्टान्तं तावद् विघटयति—नैवमिति। निषेधः प्रसक्तिपूर्वकस्तावत् प्रसक्तिमपेक्षते। अत्र च रागादिप्रसक्तवैरिहिंसानिषेध्यलाभेन चरितार्थो निषेधो युद्धविधिप्रयुक्तवैरिहिंसामपि नाऽपेक्षते। किमु वैधं श्येनाख्यं तद्विलक्षणं कर्म नाऽऽकाङ्क्ष्यते इति वाच्यम्? तर्हि किं वैधे निषेधो नास्त्येव? तथा च निषेधाधीनो वैधो विकल्पोऽपि न स्यात्। आह अतः—यद्यपीति। अनर्थत्वम्=अधर्मत्वम्। यद्यपि निषेधो निषेध्यस्याऽधर्मत्वानर्थाधिक्यसाधनत्वबोधनफलो नाऽनुष्ठानमात्रनिवारणफलः तस्याऽन्यतोऽपि सम्भवात्, तथाऽपि विधिप्रतिबद्धशक्तिः समबलमल्लान्तरप्रतिबद्धबलो मल्ल इव स्वरसं कार्यं जहाति। विधेः प्रसञ्जकत्वेनोपजीव्यस्य बलाधिक्ये संभवत्यपि निषेधशास्त्रस्याऽप्रामाण्यपरिहाराय निषेधस्य तेन तुल्यबलं कल्पयित्वाऽ-

ज्ञानवती

और न्यायवेत्ता लोग—समवाय, समवेत है, सम्बन्ध होने से, संयोग के समान, यहाँ पर सम्बन्ध के होते हुए समवेतत्व में कार्यत्व उपाधि है—ऐसा मानते हैं।

[यागीय हिंसा में निषेध की प्रवृत्ति नहीं है—]

(पू) श्येन आदि के समान "हिंसा नहीं करनी चाहिये" इस श्रुति से अग्नीषोमीय-आदि के भी निषिद्ध होने से हिंसा-उपाधि साधन का व्यापक है? (उ) ऐसा नहीं है। विधान के आलम्बन श्येन का भी निषेध असम्भव है। जैसा कि भट्टपाद ने कहा है—

"जो चोदनालक्षण श्येन आदि यहाँ जाना जाता है, निषेध के न होने से उसकी अनर्थता को कैसे कहा जाय?"

---

[1] श्लो० वा० २।२०२-३।

"श्येनादेरविधानं चेत् कस्यान्यस्य विधेयता।
सर्वत्रावस्थितो न्यायो भावनांशद्वये विधिः॥
स बाध्यते ह ये चामी ज्योतिष्टोमादयो मताः।
धर्मत्वेन न तेऽपि स्युः हिंसासाधनका हि ते॥
न चाविधीयमानस्य फलतत्साधनांशता।
साधनत्वेन[1] विहितं न चाविहितमुच्यते॥
तेनार्थग्रहणेनोक्ता विधेयस्येह धर्मता।
निषेध्यानामनर्थत्वं अर्थसिद्धन्न सूत्रितम्॥"[2]

भावदीपिका

नुष्ठानाभावमात्रं फलं कल्प्यते। न च वाच्यं यथा विधिस्पृष्टे निषेधान्नाऽनर्थत्वं तथा तस्मिन्नेव निषेधस्पृष्टे विधिबलादर्थत्वमपैतीति? करणाकरणयोः फलाभावादुभयाऽप्रामाण्यमिति अनुष्ठानवत्तदभावस्याऽपि फलानुकूलत्वेनाऽवलम्बनात् उभयप्रामाण्योपपत्तेः। अयं च विशेषो विधिप्रकरणादवगन्तव्यः। यथा—कस्यचित् स्यानं समबलौ योद्धुमागतौ, तेन प्रभुणा सख्यं कारितौ तदनुकूलं कुर्वाते, तथा अतिरात्रविधिप्रकरणप्राप्तौ उक्तौ विधिनिषेधौ तदनुकूलौ भवत इति भावोऽनुसन्धेयः। चोदनालक्षणत्वं श्येनादेर्विपक्षबाधकेन साधयति सिद्धचर्थम्—श्येनादेरिति। कर्त्तव्यफलात्मकभावनाया अंशो यत्र तत्र फलस्य धात्वर्थत्वाभावात् तस्यैव च साक्षात् प्रयत्नसाध्यत्वादविधेयत्वम्। करणेतिकर्त्तव्यतयोस्तु धात्वर्थत्वाद्विधेयत्वम्। तदाह—भावनांशद्वये विधिरिति।

अथ हिंसासाधनत्वात् अविधेयत्वम्? तत्र समित्कुशादिछेदिका हिंसा विवक्षितयागसाधनभूता? तत्फलभूता शत्रुहिंसा वा? नाद्यः—इत्याह—ये चामी इति। द्वितीये बलाद्विधिरापतति—इत्याह—न चेति। यदि फलसाधनत्वान्यथाऽनुपपत्तौ साधनत्वेन विधानात् विहितत्वे च धर्मत्वं श्येनादेः, तर्हि चोदनालक्षणो यो धर्म इत्यत्राऽर्थग्रहणं किमर्थं व्यावर्त्याऽदर्शनात्? अत आह—तेनेति। चोदनाशब्दस्य विधिप्रतिषेधसंग्राहकत्वात् उभयोर्धर्मत्वे प्राप्ते विधेयस्य धर्मत्वकथनार्थं अर्थशब्द इत्यर्थः। तर्हि प्रतिषेधचोदनाप्रमाणकस्याऽधर्मत्वं केन सूत्रितम्? तत्राऽऽह—निषेध्यानामिति। विधेयानां धर्मत्वे स्थितप्रतिषेधस्य

ज्ञानवती

"यद्यपि विधि से स्पृष्ट (स्थल) में (वर्त्तमान) निषेध वैसा निषेध नहीं है (तथापि) षोडशीग्रहण आदि के समान उसका अनर्थत्व जाना जाता है।"

"यदि श्येन आदि का विधान नहीं है तो दूसरे किसका विधान है? यह न्याय सर्वत्र अवस्थित है कि भावना के दोनों अंशों में विधि होती है।

"वह बाधित होता है। जो ये ज्योतिष्टोम आदि धर्म के रूप में स्वीकृत हैं वे भी नहीं होंगे क्योंकि वे हिंसा के साधन हैं।"

"अविधीयमान की फल एवं उस (=फल) की साधनांशता नहीं है जो साधन के रूप में विहित है वह अविहित नहीं कहा जाता।"

[1] (ख) साधकत्वेन। [2] श्लो० वा० २।२०३,८,९,१६

"श्येनादीनामविधेयत्वादिष्टस्यापि च साधनात्।
उपचारादनर्थत्वं फलद्वारेण वर्ण्यते ॥"[१]

इति। श्येनादिना यत्फलसाध्यं फलं अतीवहिंसात्मकं[२] तन्निषिद्धत्वात् अनर्थाय इति तत्साधनं श्येनादिकमनर्थ इत्युपचर्यते। अग्नीषोमीयादेस्तु फलं स्वर्गो न निषिद्धम् तेन न तद्द्वाराऽप्यनर्थत्वम्।

अथ विधेर्द्विविधो व्यापारः साध्यसाधनसम्बन्धो अनुष्ठापनं च, श्येनादौ च रागतोऽनुष्ठानप्राप्तौ विधेरनुष्ठापकत्वाभावे निषेधप्रवेशादनर्थत्वम्? तन्न; कामाधिकारे करणांशे रागतः प्रवृत्त्यङ्गीकारात्; सेतिकर्त्तव्यस्य करणत्वाच्च; इतिकर्त्तव्येऽग्नीषोमीये रागनिबन्धनहिंसायामनिषेधप्रवेशात् तस्यापि त्वन्मतेऽनर्थत्वं स्यात्। (यश्च[३]) "न हिंस्यात्" इति साधारणो निषेधः, तस्मात् सामान्यद्वारप्रवृत्तौ[४] "अग्नी-

भावदीपिका

विधिविरोधित्वात् तदर्थस्य धर्मविरोध्यधर्मत्वं अर्थात् सिद्धं भवतीति सूत्रितम्। धर्मविरोध्येवाऽधर्म इति; उक्तं च –"नामधात्वर्थयोगीव नैव नञ् प्रतिषेधकः। वदत्यब्राह्मणाऽधर्मावन्यमात्रविरोधिनौ॥" इति। तत्कथं श्येनादावधर्मत्वप्रवादः? अत आह—श्येनादीनामिति। गुरुमतेनाऽनर्थत्वमुद्भाव्याऽपाकरोति—[अथेति]। साध्यसाधनसम्बन्धस्तद्बोध इत्यर्थः।

एवं दृष्टान्तमुन्मथ्य निषेधस्य प्रकृतेऽवकाशमाह—यश्चेति। विधिस्पृष्टे साक्षा-

ज्ञानवती

"इसलिये यहाँ अर्थग्रहण से विधेय को धर्म कहा गया है। निषेध्यों का अनर्थत्व अर्थ से सिद्ध है (इसलिये) सूत्र के द्वारा नहीं कहा है।"

"श्येनआदि के विधेय न होने से और इष्ट के भी साधन होने से उपचारात् फल के द्वारा अनर्थत्व का वर्णन होता है।"

श्येन आदि के द्वारा जो साध्यफल अतीव हिंसात्मक है उसके निषिद्ध होने से अनर्थ के लिये वह साधन है; अतः श्येनादिक अनर्थ है—ऐसा उपचरित होता है। अग्नीषोमीय आदि का फल-स्वर्ग निषिद्ध नहीं है इसलिये उसके द्वारा अनर्थत्व भी नहीं है।

(पू) विधि का दो प्रकार का व्यापार है—साध्यसाधनसम्बन्ध और अनुष्ठापन। श्येन आदि में रागतः अनुष्ठान की प्राप्ति होने पर विधि के अनुष्ठापक न होने के कारण निषेध का प्रवेश होने से अनर्थत्व हो जायगा?

(उ) ऐसा नहीं है। कामाधिकार में करण अंश में रागतः प्रवृत्ति मानते हैं, और इतिकर्त्तव्यता के सहित ही करण होता है इतिकर्तव्य अग्नीषोमीय में रागनिबन्धन हिंसा के विषय में निषेध का प्रवेश न होने से वह भी तुम्हारे मत में अनर्थ हो जायगा। और जो कि "हिंसा नहीं करनी चाहिये" यह साधारण निषेध है, उससे सामान्यद्वार की प्रवृत्ति होने पर "अग्नीषोमीय पशु का आलम्भन करना चाहिये" यह विशेषविधि साक्षात् अपने

---

[१] श्लो० वा० २।२१६।
[२] (ख) प्रतीव।
[३] (क) यच्च, (घ) यश्च।
[४] (ख) प्रवृत्तो।

षोमीयं पशुमालभेत" इति विशेषविधिः साक्षात् स्वविषयं परिच्छिन्दंस्तस्यावकाशं प्रतिषेधति इति न पक्षे निषिद्धत्वं येन साधनव्यापकता स्यात्।

[उपाधिनिरूपणम्—]

ननु तथाऽपि नायमुपाधिः, सपक्षत्वस्यापि[1] साध्यसमव्यापकत्वेनोपाधित्व-प्रसङ्गेनानुमानमात्रोच्छेदात्; यच्चोदाहरणम्—सः श्यामः, मैत्रातनयत्वात्, सम्मतवत्, इत्यत्र शाकाद्याहारपरिणतिपूर्वकत्वमुपाधिः इति? तच्चासत्; साधनव्यापकत्वात् परिदृश्यमानमैत्रातनयस्तोमे मैत्रातनयत्वस्य शाकाद्याहारपरिणत्या व्याप्तिमुपलभ्य देशान्तरवर्तिन्यपि तदनुमानात्। न चाहारविपर्ययाशङ्कया व्याप्तेरनिश्चयः; तथा सति कार्यत्वस्यापि सकर्तृकत्वेन व्याप्त्यनिश्चयप्रसङ्गात्। एतेन 'साध्यसमानवृत्तित्वे सति पक्षावृत्तित्वम् उपाधिः' इत्यप्यपास्तम्। न च विषमव्यापकोऽपि, पक्षेतरत्व-स्याप्युपाधित्वप्रसङ्गात्।

भावदीपिका

न्निषेधेऽपि नाऽधर्मत्वं किन्त्वनुष्ठानभावाऽभावविकल्प एव। अयं च निषेधो विधिस्पृष्टं नाऽवलम्बते अपि तु दूरत एव निषिद्धत्वम्; तद्व्याप्यं चाऽधर्मसाधनत्वं ततोऽप्यति दूरत इत्यर्थः।

[उपाधिनिरूपणम्—]

प्रकारान्तरेणोपाधिमाक्षिपति—नन्विति। उदाहरणस्याऽभासत्वादपि लक्षणस्याऽभा-सत्वम्—इत्याह—यच्चोदाहरणमिति। ननु तस्य गर्भदशायां मातुराहारान्तरसम्भवात् न व्याप्तिग्रहः? तत्राऽऽह—न चेति। भूयोदर्शनाद् व्याप्त्यनिश्चये इष्टहानिरित्यर्थः। अस्तु तर्हि विषमव्यापक उपाधिः? तत्राऽऽह—न चेति। यत्र साध्यं तत्र पक्षेतरत्व-

ज्ञानवती

विषय का परिच्छेद करती हुई उसके अवकाश का प्रतिषेध करती है इसलिये पक्ष में निषिद्धत्व नहीं है जिससे साधन की व्यापकता होती।

[उपाधिनिरूपण—]

(पू) तो भी यह उपाधि नहीं है क्योंकि सपक्ष के भी साध्यसमव्यापक होने से उपाधित्व का प्रसङ्ग होने के कारण अनुमानमात्र का उच्छेद हो जायगा। और जो उदाहरण दिया—वह साँवला है, मित्रा का तनय होने से, सम्मत से समान; यहाँ पर शाकाद्याहारपरिणति-पूर्वकत्व उपाधि है—यह ठीक नहीं है। क्योंकि साधन के व्यापक होने से परिदृश्यमान मैत्रतनय 'स्तोम' में मैत्रतनयत्व के, शाकाद्याहारपरिणति के द्वारा व्याप्ति को प्राप्त कर देशान्तरवर्त्ती में, उस (=श्यामत्व) का अनुमान हो जाता है।

(पू) आहारविपर्यय की आशंका से व्याप्ति का निश्चय नहीं होगा?

(उ) तब तो कार्यत्व के भी सकर्त्तृक होने से व्याप्ति का निश्चय नहीं होगा। इससे 'साध्यसमानवृत्ति होते हुए पक्ष में न रहना उपाधि है' यह भी परास्त हो गया। विषमव्यापक भी नहीं है, क्योंकि तब तो पक्ष से इतर भी उपाधि हो जायगा।

---

[1] (ख) सपक्षस्यापि।

ननु यः पक्षोऽसावग्निमान् न भवति इति व्यतिरेकासिद्धयैवास्यादुष्टत्वम्; पक्षे साध्यस्य सन्दिग्धत्वेनाभावानिश्चयात्; विषमव्यापकेऽपि साध्यस्योपाधिना अन्वयव्यतिरेकशालित्वस्यैव साध्यव्यापकत्वात्? मैवम्; सत्यन्वये वस्तुगत्या विद्यमानस्यापि व्यतिरेकस्य व्याप्तिभङ्गानङ्गतयाऽनुपाधिलक्षणत्वात्।

यश्च उपाधिलक्षणाभिधायी श्लोकः—

"एकसाध्याविनाभावे मिथः सम्बन्धशून्ययोः।
साध्याभावाविनाभावी स उपाधिर्यदत्ययः॥"

हिंसात्वनिषिद्धत्वयोः रागप्रयुक्तहिंसायां अधर्मसाधनत्वैकसाध्याविनाभावे[1] सति सुरापानादौ हिंसात्वाभावेऽपि निषिद्धत्ववर्त्तनान् मिथः सम्बन्धशून्ययोर्यस्य निषिद्धत्वस्यात्ययः साध्यस्योक्तस्य अभावेनाविनाभाववान् स उपाधिरिति? सोऽप्यसाधुः; ईश्वरानुमाने शरीरिजन्यत्वस्योपाधितापातात्, अतिव्यापकत्वाद् वा। यदा प्रसिद्धोपाधेरप्येतादृशी दशा, तदा शङ्कितोपाधिवज्रस्य सर्वत्र पातसम्भवात् इति।

भावदीपिका

मित्यन्वयसम्भवेऽपि व्यतिरेकाऽभावान्न पक्षेतरप्रसङ्गः—इति शङ्कते—नन्विति। पक्षेतरत्वधर्मे व्यतिरेकसम्भवात् भवत्येवाऽतिप्रसङ्गः; ततः समव्याप्तिरेव वक्तव्या—इत्याशयेनाह—मैवमिति। शरीरजन्यत्वाभावस्य सकर्त्तृत्वाभावेनाऽकाशादौ व्याप्तत्वाद् अव्यतिरेकत्वमस्याऽप्यस्तीत्यर्थः। पक्षेतरमात्रे च प्रसङ्गः—इत्याह—अतिव्यापकत्वाद्वेति। शङ्कितोपाधेरिति केनचिल्लक्षणेन सिद्धिः; ततस्तन्निरासात्। न केवलं निरासः किन्त्वतिप्रसङ्गादपि—इत्याह—सर्वेति।

ज्ञानवती

(पू) जो पक्ष है यह अग्निमान् नहीं है इस व्यतिरेकासिद्धि से ही यह दोष रहित है क्योंकि पक्ष में साध्य के सन्दिग्ध होने से अभाव का निश्चय होता है। विषम व्यापक में भी साध्य का उपाधि के साथ अन्वयव्यतिरेकयुक्त होना ही साध्य का व्यापकत्व होता है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अन्वय होने पर वस्तुगत्या विद्यमान भी व्यतिरेक के व्याप्तिभङ्ग का अङ्ग न होने से उपाधि का लक्षण नहीं होता।

(पू) और जो उपाधि का लक्षण कहने वाला श्लोक है—

"परस्पर सम्बन्धशून्य दो में से एक के साध्य (=अधर्म) का अविनाभाव होने पर जिसका अभाव, साध्याभाव (=अधर्मत्वाभाव) का अविनाभावी है वह उपाधि है।"

हिंसात्व एवं निषिद्धत्व में रागप्रयुक्त हिंसा में अधर्मसाधनत्व (रूप) एक साध्य का अविनाभाव के होने पर सुरापान आदि में हिंसात्व का अभाव होने पर भी निषिद्धत्व का व्यवहार होने से परस्पर सम्बन्धशून्य दो में से जिसके निषिद्धत्व का अभाव हो जाता है उक्त साध्य के अभाव से अविनाभाव वाला वह उपाधि है, यह भी ठीक नहीं। (उ) क्योंकि ईश्वरानुमान में शरीरिजन्यत्व की उपाधिता की आपत्ति होने लगेगी। अथवा

---

[1] (ख) साधनतैक।

अत्र वदामः—न तावत् सपक्षत्वमुपाधिः, पक्षस्यापि यत्किञ्चिदपेक्ष्य सपक्षत्वेन साधनाव्यापकत्वाद् प्रकृतसपक्षत्वं चेत्? तर्हि अत्राप्यनतिप्रसङ्गित्वं विशेषणमूह्यम्। यत्किञ्चिदपेक्षपक्षस्य सपक्षत्वमस्ति इति प्रकृतविशेषणे पक्षेतरत्वात् व्यतिरेके प्रकृतविपक्षत्वोपाधेश्च नायमुपाधिः। न च मैत्रतनयत्वेन शाकाद्याहार-परिणत्यनुमानम्; दोहदवैचित्र्येण प्रतिगर्भं शाकाद्याहारनियमाभावेन सन्दिग्धा-

भावदीपिका

क्रमेण दूषणान्युद्धरति—अत्रेति। सपक्षत्वमात्रं चोपाधिः? प्रकृतत्वविशेषितं वा? नोभयमपि—इत्याह—न तावदिति। किञ्चेदं विशेषणं साध्यव्याप्तौ सत्यामसत्यां वा? नाद्यः; पक्षेतरलक्षणप्रवेशात्। न च पक्षेतर एवाऽयमापाद्यत इति वाच्यम्? "न च विषम-व्यापकोऽपि पक्षेतरत्वस्याऽप्युपाधित्वप्रसङ्गात्" इति स्वोक्तिव्याकोपात्। प्रसिद्धश्चाऽस्य समव्याप्त्यभावः। अथ यथा पक्षस्य यत्किञ्चिदपेक्ष्य सपक्षत्वं तथा सपक्षस्याऽपि यत्किञ्चि-दपेक्ष्य विपक्षत्वमप्यस्ति; ततो यत्र साध्यं तत्र सपक्षत्वमिति न नियता व्याप्तिरिति? तदर्थमेव प्रकृतग्रहणं न साधनाऽव्याप्त्यर्थं येन पक्षेतरता स्यात्। यथा 'सर्वे प्रत्यया यथार्थाः अविगीतत्वत्' इत्यत्र दुष्टसामग्र्यप्रसूतत्वोपाधेः 'ज्ञानत्वं यथार्थमात्रवृत्ति अयथार्थवृत्तित्वात्यन्ताभावाधिकरण-ज्ञानमात्रवृत्तित्वात् प्रमाणत्ववत्' इत्यत्र च दुष्टसामग्र्यप्रसूतमात्रवृत्तित्वोपाधेरप्रसूतत्वं घटादि-प्रमायास्तु नास्तीति साध्यव्याप्त्यर्थमेव विशेषणम्। दुष्टसामग्र्यप्रसूतवृत्तित्वं स्मृतिप्रमयो-र्वर्त्तनात् ज्ञानत्वेऽप्यस्ति इति साधनव्यापकत्वव्युदासार्थम्—मात्रपदम्। तथाऽपि यत्र साध्यं तत्र प्रकृतसपक्षत्वम्, यत्र च तदत्ययः तत्र साध्याभावोऽपि पक्ष इति व्यतिरेके प्रकृतविपक्षत्वो-पाधेः प्रकृतसपक्षत्वस्याऽभासत्वम्। न च समव्यापके व्यतिरेकदूषणमयुक्तम्? 'ज्ञानं वेद्यं वस्तु-त्वात् घटवत्' इति समव्यापकस्याऽपि हेतोः 'वेद्यत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि धर्मत्वात् शौक्ल्यवत्' इत्यवेद्यस्याऽपि कस्यचित् सम्भवेन संभावितविपक्षतया विपक्षबाधकमन्तरेणाऽप्रयोज-कत्वस्य वेदान्तिभिरुद्भावनात्। निषिद्धत्वव्यतिरेके देवपूजाब्राह्मणभोजनादावुपाधेरदर्शनात् एतद्वदन्यस्याऽप्यदुष्टत्वं वक्तव्यम्। न चाऽत्रापि विहितत्वमुपाधिः? विहितपश्वादिहिंसायां गतत्वेन साधनव्यापकत्वात्। अनेनाऽभिसन्धिना आह—दोहदेति। दोहदः=इच्छा। अयाऽन्येषां

ज्ञानवती

वह अतिव्यापक हो जायगी। जब प्रसिद्ध उपाधि की यह दशा है तब शङ्कितउपाधिवज्र का पात सर्वत्र सम्भव है।

इस विषय में कहते हैं—सपक्षत्व उपाधि नहीं हैं। (पू) पक्ष के भी जिस-किसी की अपेक्षा सपक्ष होने से साधनव्यापक होने के कारण यहाँ भी सपक्ष हो जायगा? (उ) तो यहां पर भी अनतिप्रसङ्गित्व विशेषण का ज्ञान कर लेना चाहिये। क्योंकि जिस किसी की अपेक्षा पक्ष का सपक्षत्व है, ऐसा प्रकृत विशेषण होने पर पक्षेतरत्व है और व्यतिरेक होने पर प्रकृतविपक्षत्व की उपाधि है, इसलिये यह उपाधि नहीं है। (पू) मित्रातनय होने के कारण शाकाद्याहार की परिणति का अनुमान हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। दोहदवैचित्र्य के कारण प्रत्येक गर्भ में शाकाद्याहार के नियम का अभाव होने के कारण सन्दिग्ध अनैकान्त है, तथा वैचित्र्य की कल्पना मित्रा के सब पुत्रों में रहने वाले श्यामत्व के निश्चय के अधीन

नैकान्तात्; अवैचित्र्यकल्पनायाश्च सर्वमैत्रतनयगतश्यामत्वनिश्चयाधीनत्वात्। सति चैवम् विप्रतिपन्नस्यापि निश्चये कुतोऽनुमानम्? कुतस्तरामुपाधिः? कुतस्तमां साधनव्याप्तिः? अत एव न कार्यत्वप्रतिबन्दिग्रहोऽपि; अदृष्टेनाशङ्कितव्यभिचारत्वात् त्वयोक्तो न दोषः। अन्यथा प्रमाणं विनाऽपि प्रमेयं स्यात् इत्यादिप्रसङ्गात्। कारणपूर्वकत्वमन्तरेणाकार्यत्वादनाशङ्कता पक्षेतरप्रसरेण[1] च व्यतिरेकासिद्धेः। साध्यव्यापकत्वाभावे न तत्र विषमव्यापकत्वमपि। पक्षेतरत्वधर्मेऽपि पक्षान्योऽन्याभाववत्त्वेन पक्षेतरत्वस्वीकाराच्च न तस्य व्यतिरेकस्थलत्वम्। न च व्यतिरेकस्य व्याप्तिभङ्गानङ्गत्वम्; व्यापकाभावप्रयुक्तं हि व्याप्याभावज्ञानं व्यतिरेकः; पक्षे च व्यापकोपाध्यभावप्रयुक्तव्याप्यसाध्याभावनिश्चयेनैव हेतोर्व्याप्तिभङ्गफलाङ्गीकारात् कथङ्कारमस्यानङ्गत्वम्? अन्वयवदस्य (व्यतिरेकस्य[2]) बलेनैवाङ्गत्वात् न पक्षेतरे

भावदीपिका

श्यामत्वदर्शनात् अवैचित्र्यं कल्प्यते? तत्राऽऽह—अवैचित्र्येति। कारणगुणपूर्वकत्वमन्तरेणाऽकार्यत्वात् व्यभिचारस्याऽनाशङ्क्यता। एवमप्याशङ्कायां प्रमाणं विनाऽपि प्रमेयं स्यादित्यादिप्रसङ्गाऽवतारात् ब्रह्मप्रमाणादिविचाराऽनुदयोऽपि प्रसज्येत—इत्याह - अन्यथेति। पक्षेतरत्वधर्मे व्यतिरेको न सम्प्रतिपन्नः—इत्याह—पक्षेतरत्व इति। न च व्यतिरेकस्याऽनङ्गत्वात् अन्वयमात्रस्य च पक्षेतरत्वेऽपि भावादयुक्तं लक्षणं विषमव्यापकस्येति वाच्यम्? —इत्याह न चेति। एवंवचने पक्षेतरे प्रसङ्गः, तस्य व्यतिरेकोदाहरणाभावात्—इत्याह—अन्वयवदिति। अस्याऽपि=व्यतिरेकस्याऽपि। आदर्शः=दृष्टान्तः। शरीरिणा जन्यं

ज्ञानवती

है। और ऐसा होने पर विप्रतिपन्न श्यामत्व का भी निश्चय होने पर अनुमान कहाँ है? कहाँ उपाधि और कहाँ साधनव्याप्ति? इसलिये कार्यत्व के प्रतिवन्दी का ग्रह भी नहीं है। और अदृष्ट के कारण व्यभिचार की शङ्का न होने से तुम्हारे द्वारा उक्त दोष भी नहीं है। अन्यथा 'प्रमाण के विना भी प्रमेय हो जायगा' इत्यादि का प्रसङ्ग होने लगेगा। तथा कारणपूर्वकत्व के विना कार्य न होने अनाशङ्कित पक्षेतर की प्राप्ति से व्यतिरेक की असिद्धि हो जायगी। साध्यव्यापकत्व के न रहने पर वहाँ विषमव्यापकत्व भी नहीं हैं। पक्षेतरत्व धर्म होने पर भी पक्ष के अन्योन्याभाववान् होने के कारण पक्षेतरत्व के स्वीकार करने से वह व्यतिरेक स्थल भी नहीं है।

(पू) व्यतिरेक व्याप्तिभङ्ग का अङ्ग नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है। व्यापकाभावप्रयुक्त व्याप्याभाव का ज्ञान व्यतिरेक होता है। और पक्ष में व्यापक ही उपाधि के अभाव से प्रयुक्त व्याप्य=साध्य के अभाव के निश्चय के द्वारा ही हेतु के व्याप्तिभङ्ग रूप फल को मानने से कैसे यह अङ्ग नहीं है? अन्वय के समान इस (व्यतिरेक) के वल से ही अङ्ग होने से पक्षेतर में प्राप्ति नहीं है।

(पू) शरीरजन्यत्व रूप उपाधि में अतिव्याप्ति हो जायगी? (उ) ऐसा नहीं

[1] (ख) पक्षेतरत्वाच्च। [2] (क) द्यादशत्वव्य।

प्रसक्तिः। न च शरीरजन्यत्वोपाधावतिव्याप्तिः; "साध्याभावाविनाभाव यत्ययः" इत्यत्र निरुपाधिकत्वस्य व्यवहितत्वात् शरीरजन्यत्वव्यतिरेके च सोपाधिकत्वात्। यदाह मानमनोहरकारः—"न च विमतं शरीरिणा जन्यम्[१], जन्यत्वात् इत्यनेन प्रकरणसमत्वम्; नापि तज्जन्यत्वमुपाधिः; अकार्यत्वोपाधेव्यर्थविशेषणत्वाच्च" इति। अर्थाबाधकेन शङ्कितोपाधिविधूतेश्च न सर्वानुमानोच्छेदप्रसङ्गोऽपि।

"यावच्चाव्यतिरेकित्वं[२] शतांशेनापि शङ्क्यते।
विपक्षस्य कुतस्तावद्धेतोर्गमनिकाबलम्॥"

इति शङ्कितोपाधिस्वीकाराच्च। व्याप्तिभञ्जकत्वेन चोपाधेर्दूषणत्वम्—

"व्यभिचारो[-न्न-]यं[३] कुर्वन्नुपाधिर्याति दोषताम्।
एतदेव च सर्वेषामुपाधीनां परायणम्॥"

भावदीपिका

विमतमिति शेषः। क्षित्यादेरङ्कुरादेर्वा शरीरिणा साक्षाज्जन्यत्वप्रतिज्ञाया असम्भावितत्वात्। उपाधेर्व्यतिरेके सोपाधिकत्वं पक्षेतरत्वं च—इत्याह—अकार्यत्वेति। अनङ्गीकारे उद्धारप्रयासाऽनुपपत्तेः—इत्यत आह—यावच्चेति।

उपाधिलक्षणं समाप्य तस्य दूषणत्वप्रकारमाह—व्याप्तीति। समव्यापकस्याऽपि पक्षेऽभावेनाऽभावे साध्यस्य हेतोः वर्त्तमानस्य व्यभिचारोन्नायकत्वम्। बाधायत्तव्यभिचारात् हेतोः सोपाधिकत्वाऽनुमानेन व्याप्त्यभावो गम्यते। बाधाद्वोपाधिरुन्नीयताम्, अन्येन व्यभिचारेण वा - इति तार्किकोद्गारात्। परस्पराऽश्रयत्वेऽपि प्रमाणप्रमेयवत् न दोषः तत्राऽपि। ननु निरुपाधिकः सम्बन्धो व्याप्तिः; साधनाऽव्यापकः साध्यव्यापकश्चोपाधिः—इत्युपाधिसिद्धौ व्याप्तिसिद्धिस्तत्सिद्धौ चोपाधिसिद्धिरित्यन्योऽन्याऽपेक्षत्वात् नैकस्यापि सिद्धिः? - इत्याशङ्क्याह —

ज्ञानवती

है। क्योंकि 'साध्याभावअविनाभावव्यत्यय' यहाँ पर निरुपाधिकत्व व्यवहित है। तथा शरीरजन्यत्व व्यतिरेक में सोपाधिक है। जैसा कि मानमनोहरकार कहते हैं—

ऐसा नहीं है कि—विमत, शरीरी से जन्य है, जन्य होने से, इस (अनुमान) से प्रकरणसमत्व हो जायगा, और न तो तज्जन्यत्व उपाधि है क्योंकि अकार्योपाधि विशेषण व्यर्थ हो जायगा। अर्थाबाधक के कारण शङ्कितोपाधि के हट जाने से सब अनुमान के उच्छेद का प्रसङ्ग भी नहीं है।

"जब तक विपक्ष के अव्यतिरेकित्व की शतांश से भी शङ्का की जाती है तब तक (साध्य की सिद्धि के लिये) गमनिकाबल कैसे हो सकता है (अर्थात् हेतु साध्य का गमक नहीं हो सकता)।"

इस प्रकार शङ्कितोपाधि स्वीकार की गई। और व्याप्ति का भञ्जक होने से उपाधि का दोष कहा गया है—

"व्यभिचार को प्राप्त कराती हुई उपाधि दोषता को प्राप्त होती है। यही सब उपाधियों का परायण है।"

(पू) तब तो उपाधि एवं व्याप्ति का परस्परसापेक्षलक्षण दोष हो जायगा।

---

[१] (ख) जन्यमनन्यत्वात्। [२] (ख) यावच्च। [३] (क) न्व।

इत्युक्तत्वात्। न च उपाधेर्व्याप्तेश्च परस्परसापेक्षलक्षणत्वं दोषः; यथैव खलु धूमधूमध्वजादिव्याप्तिः प्रत्यक्षाप्तोपदेशाभ्यामवधार्यते तथैव स्फटिकलौहित्यादेरौपाधिकभावेनापि। ततश्च भूयोदर्शनबलेन धूमादिव्याप्तेस्तद्विलक्षणत्वमवधार्यते, न निरुपाधिकसम्बन्धो व्याप्तिरिति, किन्तु अव्यभिचरितसम्बन्धो व्याप्तिरिति लक्षणम्। साध्यव्यापकत्वाच्चोपाधेः साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं च साधनाव्यापकत्वम्; तेन समासमव्यापकत्वोपाधेर्निष्कलङ्कता। शिष्टं चाभ्युपगमसिद्धान्तेन निर्वाह्यम् इति। एतदनुमानम्। न चानेनापि ब्रह्म गम्यते, लिङ्गाभावात्।

[कुसुमाञ्जल्युक्तहेतुभिरीश्वरानुमानम्—]

अत्राह—असमञ्जसमेतदिति कुसुमाञ्जलिकारः; तथा हि—

"कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः॥"[1]

भावदीपिका

न चेति। लक्षणस्य प्रमाणाऽनुसारित्वात्, प्रमाणस्य च निरपेक्षत्वात्, लक्षणान्तरस्वीकाराच्च, सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धप्रमाणप्रमेयादौ दोषस्य तुल्यत्वाच्च, अभ्युपगमसिद्धान्तेन कथञ्चिन्निर्वाहस्य समत्वाच्च, दूषणवादिनाऽपि लक्षणाद्यसिद्धदूषणैर्दूषयितुमशक्यत्वाच्च, नाऽतीव दूषणाभिनिवेशः कर्त्तव्य इत्याशयः। अस्त्वेतदनुमानम्; तेन ब्रह्मणि किमायातम्? – तदाह—न चेति।

[कुसुमाञ्जल्युक्तहेतुभिरीश्वरानुमानम्—]

अनुमानाऽगम्यत्वं ब्रह्मणः परदर्पभङ्गपूर्वकं सम्पादयितुं पराऽनुमानान्यनुभाषते—अत्राऽऽहेत्यादिना। लक्षणप्रक्रियायां भग्नाऽनुमानेभ्योऽन्यानि बहून्येतानि। साक्षाच्चेतन-

ज्ञानवती

(उ) जैसे धूमध्वज आदि की व्याप्ति प्रत्यक्ष एवं आप्तोपदेश के द्वारा निश्चित की जाती है उसी प्रकार स्फटिकलौहित्य आदि के औपाधिक भाव से भी। इसलिये भूयोदर्शन के बल से धूमादिव्याप्ति का तद्विलक्षणत्व निश्चित किया जाता है। निरुपाधिक सम्बन्ध व्याप्ति नहीं है किन्तु 'अव्यभिचरित सम्बन्ध व्याप्ति है'—यह लक्षण है, और उपाधि के साध्य का व्यापक होने से साध्यवन्निष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्व एवं साधनवन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व साधन का अव्यापकत्व है। उससे समासमव्यापकत्व रूप उपाधि निष्कलङ्क है। अभ्युपगम सिद्धान्त से शिष्ट का निर्वाह कर लेना चाहिये। यह अनुमान है। इसके द्वारा भी ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि लिङ्ग नहीं है।

[कुसुमाञ्जलि में कहे गये हेतुओं के ईश्वर का अनुमान—]

इस विषय में–यह असमञ्जस है–ऐसा कुसुमाञ्जलिकार कहते हैं। वह इस प्रकार—

"कार्य, आयोजन, धृति आदि से, पद से, प्रत्यय से, श्रुति, से, वाक्य से और संख्या-विशेष से अव्यय विश्वविद् साध्य है।"

[1] न्या० कु० ५।१।

क्षित्यादिकम्, कर्तृपूर्वकम्, कार्यत्वाद्, कुम्भवत्। कार्यत्वञ्च रथादिवत्[1] सावयवत्वात्; तथा परमाण्वादयः, चेतनायोजिताः प्रवर्त्तन्ते, अचेतनत्वात् (वास्यादिवत्[2]); अन्यथा कारणं विना कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः; अचेतनक्रियायाः चेतनाधिष्ठानकार्यत्वावधारणात्। क्षित्यादिकं ब्रह्माण्डपर्यन्तं जगत् साक्षात् परम्परया वा विधारकप्रयत्नाधिष्ठितम्, गुरुत्वे सत्यपतितत्वात्[3], वियति विहङ्गमशरीरवत्; तत्संयुक्तद्रव्यवच्च। अदृष्टादेव केवलात् स्तिमितपवनसहकृताद् वा[4] तदुपपत्तेः अन्यथासिद्धमिदमिति चेत्? न; तद्भावेऽपि प्रयत्नान्वयव्यतिरेकानुविधानेन तस्यापि स्थितिं प्रति कारणाभावावधारणात्; प्राणस्येव स्तिमितवायोरपि प्रयत्नाधिष्ठितत्वसम्भवाच्च। ब्रह्माण्डादिद्व्यणुकपर्यन्तं जगत्, प्रयत्नवद्विनाश्यम्, विनाश्यत्वात्, पाट्यमानपटवत्। न च समवायादिनाशेन नाशोत्पत्तेरप्रयोजकत्वम्; नाशस्यापि दृष्टात् प्रयत्नपूर्वकत्वानुमानात्।

भावदीपिका

प्रयत्नपूर्वकत्वं कार्यविशेषाणामुभयसम्प्रतिपन्नं तदपूर्वकत्वं कस्यचित् ततो न विपरीताऽनुमानाऽवतारः—इत्याशयेनाऽऽह—क्षित्यादिकमिति। अन्यतराऽसिद्धिं परिहरति—कार्यत्वं चेति। अवयवसमवायाऽनङ्गीकारेऽपि परेषामवयवतादात्म्यस्य संयोगस्य वा परिणामोपयुक्तस्य परिणामिनित्यत्ववादिनां क्षित्यादिषु प्रसिद्धत्वात्। सावयवत्वमात्रस्य प्रमाणभेदेऽपि प्रमेयत्वमात्रवद् [ना-]न्यतराऽसिद्धत्वमिति चकारार्थः। आयोजिताः=प्रयत्नेनाऽधिष्ठिताः। क्षितिकर्तृत्वेनाऽपीश्वरत्वं साधयन्ति –क्षित्यादिकमिति। व्यापकानामपतितत्वेऽपि विधारकप्रयत्नाऽधिष्ठानाऽभावात्, अत उक्तम्—गुरुत्वे सतीति। अन्यथासिद्धिं हेतोराशङ्क्याऽपाकरोति—अदृष्टादेवेति। भाराऽदिस्थितेरदृष्टाधीनत्वेऽपि यत्नाऽधीनत्ववद् अत्राऽपि सम्भवात् नाऽन्यथासिद्धिः। धृत्यादेरित्यादिशब्दसंगृहीतम् विनाशकर्तृकत्वेनेश्वरसाधनमाह—ब्रह्माण्डादीति। विनाश्यत्वं कार्यत्वात्। कार्यद्रव्यस्य [समवायिकारणनाशात् अ-][5]समवायिकारणनाशाद्वा सम्भवान्नोक्तसाध्यसिद्धिः –अत आह—न चेति। चेतनेन पाट्यमानसंयोगादिविनाशाद्वा

ज्ञानवती

पृथिवी आदि कर्तृपूर्वक है, कार्य होने से, घट के समान। और कार्यत्व रथ आदि के समान है, सावयव होने से; उसी प्रकार परमाणु आदि चेतन से आयोजित होकर प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि (वे) अचेतन हैं, वास्य आदि के समान; अन्यथा कारण के विना कार्य की उत्पत्ति होने लगेगी। अचेतन क्रिया का चेतनाधिष्ठानकार्यत्व निश्चित है। पृथिवी से लेकर ब्रह्माण्डपर्यन्त जगत् साक्षात् अथवा परम्परया विचारवान् के प्रयत्न से अधिष्ठित है, क्योंकि गुरुत्व के रहते हुए पतित नहीं होता, आकाश में पक्षिशरीर के समान, और उससे संयुक्त द्रव्य के समान। केवल अदृष्ट से या शान्तपवनसहकृत से उसकी उपपत्ति हो जाने से वह (=ईश्वर) अन्यथासिद्ध है यदि ऐसा कहें? तो ऐसा नहीं है। उसके रहने पर भी

१ (ख) रथादिवृत्तावय। २ (क) वायवादिवत्, (ख) वास्यादिवत्।
३ (ख) सत्यविपत्तित्वात्। ४ (ख) सहस्रकृताद्वा
५ (क) द्रव्यस्य समवायिकारणनाशाद्वा।

तथा पद्यते=गम्यते व्यवहाराङ्गमर्थोऽनेन इति वृद्धव्यवहारः पदम्, ततोऽपीश्वरसिद्धिः। यदेतत् पटादिनिर्माणनैपुण्यं कुविन्दादीनाम्, वाग्व्यवहारश्च व्यक्तवाचाम्, लिपितत्क्रमव्यवहारश्च बालानाम्, स सर्वः स्वतन्त्रपुरुषविश्रान्तः;[२] व्यवहारत्वात् निपुणतरशिल्पिनिर्मितापूर्वघटनानैपुणवत्, चैत्रमैत्रादिव्यवहारात्, पत्राक्षरवत्; पाणिनीयवर्णक्रमनिर्देशवच्च। न च कल्पान्तरीयव्यवहारानुस्मर्तृहिरण्यगर्भादिपुरुषविश्रान्त्या सिद्धसाधनत्वम्; अद्याऽपि मीमांसकस्य हिरण्यगर्भकल्पान्तराद्यसंप्रतिपत्तेः। वेदान्तिनश्च "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्" इत्यादिवेदप्रामाण्यात् हिरण्यगर्भादेः स्वातन्त्र्याभावात्।

प्रत्ययादपि। प्रत्यय इत्यनेन समाश्वासविषयं प्रामाण्यमुच्यते। तथा च आगमसम्प्रदायोऽयं कारणगुणपूर्वकः, प्रमाणत्वात् प्रत्यक्षादिवत्। न चानाप्तप्रणीतत्वगुणजन्यत्वेनार्थान्तरत्वम्; अनाप्ताप्रणीतत्वगुणस्य कार्यगतत्वेन कारणगुणत्वाभावात् आप्तवाक्यस्येव कारणगुणपूर्वकत्वस्य वेदे[३] विवक्षितत्वात्।

श्रुतेः खल्वपि। सर्वज्ञप्रणीता वेदाः, वेदत्वात्, यत्पुनर्न सर्वज्ञप्रणीतं नासौ

भावदीपिका

दत्राऽपि प्रयत्नपूर्वकत्वाऽनुमानादित्यर्थः। अन्यथासिद्धिं मतभेदेन निरस्यति—न चेति। आगमसम्प्रदायः=आगमप्रामाण्यम्। प्रत्यक्षादौ=इन्द्रियसम्प्रयोगादौ; सावधानत्वादिः=कारणगुणः।

ज्ञानवती

प्रयत्न के अन्वयव्यतिरेक के अनुविधान से स्थिति के प्रति उसके भी कारणभाव का निश्चय करने से प्राण के समान स्तिमितवायु का भी प्रयत्नाधिष्ठतत्व संभव है। ब्रह्माण्ड से लेकर द्वयणुकपर्यन्त जगत् प्रयत्नवद्विनाश्य है, विनाश्य होने से, पाट्यमान पट समान। (पू) समवाय आदि के नाश से नाश की उत्पत्ति होने से अप्रयोजकत्व हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि नाश के भी दृष्ट होने से प्रयत्नपूर्वकत्व का अनुमान होता है।

उसी प्रकार पद्यते=गम्यते व्यवहाराङ्गमर्थो येन इस व्युत्पत्ति से वृद्धव्यवहार पद है। उससे भी ईश्वर की सिद्धि होती है। जो यह जुलाहे आदि का पटादिनिर्माणनैपुण्य, व्यक्त-वाणी वालों का वाग्व्यवहार, बच्चों का लिपि एवं उसके क्रम का व्यवहार वह सब, स्वतन्त्र पुरुष में रहता है, क्योंकि व्यवहार है, निपुणतर शिल्पी से निर्मित अपूर्वघटनानैपुण्य के समान, चैत्रमैत्र आदि का व्यवहार होने से, पत्राक्षर होने से, पाणिनीयवर्णक्रमनिर्देश के समान। (पू) कल्पान्तरीयव्यवहारानुस्मर्तृहिरण्यगर्भ आदि पुरुष की विश्रान्ति से सिद्धसाधनत्व हो जाता है? (उ) ऐसा नहीं है। आज भी मीमांसक के हिरण्यगर्भ कल्पान्तर आदि की असंप्रतिपत्ति हो जायगी। और वेदान्ती के यहाँ, "जो ब्रह्मा को पहले बनाता है" इत्यादि वेद के प्रामाण्य से हिरण्यगर्भ आदि के स्वातन्त्र्य का अभाव है।

प्रत्यय से भी। "प्रत्ययात्" इसके द्वारा विश्वासविषयक प्रामाण्य का कथन होता है। वह इस प्रकार—यह आगमसम्प्रदाय, कारणगुणपूर्वक है, प्रमाणत्व होने से, प्रत्यक्षादि के

१ (ख) चेद्। २ (ख) विश्रान्त। ३ (ख) वेद।

वेदः, यथा इतरवाक्यम् इति। न च अप्रसिद्धविशेषणत्वम्; योगिसिद्धया अर्थान्तरत्वं च इति वचनीयम्; सर्वज्ञशब्देन स्वोत्पाद्यसम्प्रदानादिविज्ञानवत्त्वस्य प्रसिद्धस्यैव विवक्षितत्वात्। योगसिद्धेश्च वेदोदितानुष्ठानमूलत्वेन वेदकर्त्तृत्वानुपपत्तेः।

अन्वयतो वा; वेदवाक्यानि, पौरुषेयाणि, वाक्यत्वात्, अस्मदादिवाक्यवत्। न च प्रमाणान्तरगोचरार्थत्वं तत्रोपाधिः। न च सुगताद्यागमानां पौरुषेयत्वेऽप्यतथात्वात् साध्याव्यापकत्वम्, प्रमाणत्वे सति पौरुषेयत्वस्य विवक्षितत्वात् इति शङ्कनीयम्; प्रणेतृप्रमाणान्तरगोचरार्थत्वस्य पक्षेऽपि भावेन साधनव्यापकत्वात्।

भावदीपिका

परोक्तमर्थान्तरं व्यधिकरणत्वेनाऽपास्यति—न चेति। अन्यथासिद्धयादिदूषणानि तत्त्वविवेकोक्तानि। प्रेक्षाकारिणः स्वकार्यविज्ञानं प्रसिद्धम्। सर्वकार्यकर्त्तुः प्रेक्षाकारिणः स्वकार्यविज्ञानवत्त्वमेव; सर्वज्ञत्वं प्रसिद्धमेव ईश्वरस्याऽपि विवक्षितम्; ततो नाऽप्रसिद्धता—इत्याह—सर्वज्ञशब्देनेति। श्रुतेरित्येतत् प्रकारान्तरेण विषयव्याप्त्यर्थं व्याचष्टे—अन्वयतो वेति। अस्मिन् पक्षे श्रुतेरित्यस्यैव विवरणम्—वाक्यादिति। व्याख्यान्तरे तु द्वयं स्वतन्त्रं भविष्यति। अथवा वाशब्दश्चार्थः; अत्राऽपि द्वयं स्वतन्त्रम्। सोपस्कारं परोक्तमुपाधिं विधुनोति—न चेति। पौरुषेयत्वं हि—प्रमाणान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य तत्राऽभिनवविरचना। यथा मन्वादीनां वेदात्तदर्थमुपलभ्य तत्र स्वरुच्या वाक्यनिर्माणम्। एवमीश्वरस्याऽपि स्वप्रत्यक्षेणाऽर्थमुपलभ्य तत्र स्वेच्छया वेदवाक्यनिर्माणं नैयायिकैरिष्यते। जगत्यनाप्ताऽप्रणीतवाक्यस्याऽऽप्तप्रणीतत्वेन प्रामाण्यदर्शनात्। वेदस्याऽपि प्रमाणवाक्यत्वं तथैव वक्तव्यम्। अतो न यथार्थाऽवबोधकत्वमात्रेण प्रत्यक्षादिवत् वाक्यस्य प्रमाणत्वोपपत्तौ प्रमाणवाक्यत्वं नाऽप्तप्रणीतत्वसाधकम् इति वाच्यम्। न चेदानीमस्मदादिभिरुच्चार्यमाणवेदवाक्यानामस्मत्प्रणीतत्वेऽपि प्रमाणवाक्यत्ववत् सर्गादावीश्वरेणोच्चार्यमाणानां प्रमाणवाक्यत्वोपपत्तौ न प्रमाणान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य तत्र स्वेच्छाविरचनलक्षणपौरुषेयत्वलाभ इति वाच्यम्? केनाऽपि मन्वादिवाक्यवत् प्रमाणान्तरेणाऽर्थमुपलभ्याऽविरचितवाक्यस्याऽनाप्तवाक्यवत् प्रमाणत्वाऽनुपपत्तेरिति पक्षेऽपीत्यपिशब्दस्य भावार्थः।

ज्ञानवती

समान। (पू) अनाप्तअप्रणीतत्व गुण से जन्य होने से अर्थान्तरत्व हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अनाप्तअप्रणीतत्व गुण के कार्यगत होने से कारणगुणत्व न होने के कारण आप्तवाक्य के समान कारणगुणपूर्वकत्व वेद में विवक्षित है।

श्रुति से भी। वेद सर्वज्ञ के द्वारा प्रणीत है, वेदत्व के कारण; जो सर्वज्ञप्रणीत नहीं है वह वेद नहीं है; जैसे अन्य वाक्य। (पू) यहाँ अप्रसिद्धविशेषणत्व है; तथा योगी के द्वारा सिद्धि होने से अर्थान्तरत्व है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि सर्वज्ञशब्द से प्रसिद्ध स्वोत्पाद्यसम्प्रदानादिविज्ञानवत्त्व ही विवक्षित है। और योगसिद्धि के वेद में कथित अनुष्ठानमूलक होने से योगी का वेदकर्त्तृत्व अनुपपन्न है।

अन्वय से भी। वेदवाक्य पौरुषेय हैं, वाक्य होने से, हमारे वाक्य के समान। (पू) वहाँ प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व उपाधि है? (पू) सुगत आदि के आगमों के पौरुषेय होने

सङ्ख्याविशेषाच्च ; द्व्यणुकत्र्यणुके तावत् परिमाणवती, द्रव्यत्वात् ; तच्च परिमाणं कार्यं, गुणत्वात्। न च द्व्यणुके प्रमाणाभावः ; महतः कार्यद्रव्यस्य अकार्यद्रव्यारब्धत्वनियमेन द्व्यणुकसिद्धेः। अन्यथा परमाणुभिरेव बहुत्वसंख्योपेतैर्महद्द्रव्यारम्भे गोघटादेरपि तैरेवारम्भात् आन्तरालिकाल्पाल्पतरादिकार्योपलम्भविरोधात्। तदा हि त्र्यणुकवदनुपलक्षितरेखोपरेखो घटादिरपि स्यात्। तथा च संस्थानभेदानुपलम्भे तदभिव्यङ्ग्यं घटत्वादिकमपि नोपलभ्येत।

ननु एष विचारः द्व्यणुकेऽपि समानः ; तैरपि हि यदि बहुभिः कार्यद्रव्यमारभ्यते पटादयोऽप्यारभेरन्, तथा चान्तरालिककार्यपरम्पराऽनुपलम्भप्रसङ्गः ; अथ

भावदीपिका

अन्त्यं हेतुं व्याचष्टे—संख्येति। द्व्यणुकपरिमाणाऽसमवायिकारणपरमाणुगतद्वित्वसंख्यानिमित्ताऽपेक्षाबुद्धेरस्मदाद्याधाराया असम्भवात् तदाधार ईश्वरः सिद्ध्यतीति वक्तुं तत्परिमाणं साधयति—द्व्यणुकेति। त्र्यणुकग्रहणमुदाहरणार्थम्। अस्य कार्यत्वेन कारणाऽकाङ्क्षामाह—तच्चेति। आद्याऽनुमाने आश्रयाऽसिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। त्र्यणुकं कार्यद्रव्यारब्धम् महत्त्वे सति कार्यद्रव्यत्वात् कुम्भादिवत्—इत्यनुमानेन द्व्यणुकसिद्धिः। न च तदपि कार्यद्रव्यारब्धं साध्यम्? उक्तहेतोरभावात्। न च कार्यद्रव्यत्वमात्रं हेतुः? कस्याऽप्यकार्यकारणाऽसिद्धेः प्रधानवादाद्यवतारप्रसङ्गात्। हेतोरन्यथासिद्धिं परिहरति—अन्यथेति। किं कार्यान्तराणामपि परमाणव एवाऽऽरम्भकाः? उत त्र्युणकस्यैव? नाद्यः इत्याह—गोघटादेरिति। अवान्तरकार्याऽनारम्भे न केवलं तदुपलम्भविरोधः किन्तु दोषान्तरमपि—इत्याह—तदा हीति। द्वितीयमवतारयितुं प्रतिबन्द्यामाह—नन्विति। द्वितीयोऽपि दोषो द्रष्टव्यः। मयैवाऽनङ्गीकारान्न दोषद्वयम्—इत्याह—अथेति। एवकारस्याऽयोगव्यावृत्त्यर्थत्व-

ज्ञानवती

पर भी वैसा न होने से साध्याव्यापकत्व है? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि प्रमाणत्व के होते हुए पौरुषेयत्व विवक्षित है? (उ) ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि पक्ष में भी प्रणेता के प्रमाणान्तरगोचरार्थत्व के होने से साधनव्यापकत्व है।

संख्याविशेष से भी (विश्वविद की सिद्धि होती है,) द्व्यणुक एवं त्र्यणुक उतने परिमाण वाले हैं, द्रव्य होने से; और वह परिमाण कार्य है, क्योंकि गुण है। (पू) द्व्यणुक में प्रमाण का अभाव है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि महत् कार्य द्रव्य के अकार्यद्रव्यारब्धत्वनियम के कारण द्व्यणुक की सिद्धि होती है। अन्यथा बहुत्व संख्या से युक्त परमाणुओं के द्वारा ही महत् द्रव्य का आरम्भ होने पर गो घट आदि का भी इन्हीं से आरम्भ होने से आन्तरालिक अल्प-अल्पतर आदि कार्योपलम्भ से विरोध हो जायगा। तब तो त्र्यणुक के समान घट आदि भी अनुपलक्षित रेखा एवं उपरेखा वाला हो जायगा। और इस प्रकार संस्थानभेद के न प्राप्त होने पर उससे अभिव्यङ्ग्य घटत्व आदि की भी उपलब्धि नहीं होगी।

(पू) यह विचार द्व्यणुकों में भी समान है, यदि अनेक (परमाणुओं) के द्वारा कार्यद्रव्य का आरम्भ होता है तो उन (द्व्यणुकों) के द्वारा भी पट आदि का आरम्भ होना चाहिए। और इस प्रकार आन्तरालिक कार्यपरम्परा की उपलब्धि नहीं होगी। इसलिये

तैस्त्रसरेणुरेवारभ्येत इति नियमः, न च तमारभ्यान्यारम्भः अन्यस्यापि पूर्वकार्यदेशस्थितौ मूर्त्तानां समानदेशत्वं विरुद्धमापद्येत; पूर्वोत्तरकार्ययोर्न्यूनाधिकदेशतया समानदेशत्वेऽप्यविरोधः इत्यपि नास्ति; न्यूनदेशतया हि यत्र नास्ति तत्राधिकदेशस्यास्तु इति मा विरौत्सीत्, स्वदेशे तु विरुध्यादेव; तत्राप्यविरोधे मूर्त्तत्वं जह्यात्, अवयवरूपादिवत्; अतः त्रसरेणुरेव द्व्यणुकैरारभ्यते परमाणुभिरपि स एवारभ्यत इति तुल्यम्, विशेषो वा वक्तव्यः?

उच्यते—यथा ह्यवयवावयविप्रसङ्गः परमाणुषु विश्राम्यति तथाऽयमवयविसंख्याऽपकर्षः क्वचिद् विश्राम्येत्; समानदेशत्वे लोष्टतदवयवानां समानगुरुत्व-

भावदीपिका

मप्यस्ति। प्रस्तुतेन भ्रान्तिं वारयति—न चेति। कार्यद्वयस्य द्वचणुकान्येव देश इति पटादेरवयविनोऽवयवदेशत्वेऽपि कार्यद्वयस्याऽवयवावयविभावशून्यस्य समानदेशत्वं विरुद्धमिति न वाच्यम्? पूर्वकार्यापेक्षयोत्तरकार्यस्याऽधिकपरिमाणत्वेन समानदेशत्वाऽनियमात्। अत आह—पूर्वेति। तावतामेवाऽरम्भकत्वे द्वचणुकेषु प्रचयपरिमाणभेदयोरभावात् कार्ययोः परिमाणभेदोऽनुपपन्नः। तथाऽप्यङ्गीकृत्योक्तं सिद्धमन्ययोगव्यवच्छेदमुपसंहरति—अत इति। यदि द्वचणुकोपक्रमाऽरम्भेऽश्रद्धा तर्हि प्रतिबन्दीनिरासहेतुर्वाच्यो विशेषः—इत्याह—विशेषो वेति।

द्वचणुकवादी विशेषं परिशेषेणोपपादयति—उच्यत इति। परोक्तं व्यभिचारं

ज्ञानवती

उनके द्वारा त्रसरेणु का ही आरम्भ होता है—यह नियम है। उसका आरम्भ करके दूसरे का आरम्भ नहीं हो सकता। क्योंकि अन्य के भी पूर्वकार्य के देश में रहने पर मूर्त्तों का समान-देशत्व विरुद्ध हो जायगा। पूर्वोत्तर कार्यों के न्यूनाधिक देश होने से समान देश होने पर भी विरोध नहीं है—ऐसा भी नहीं है। (कोई वस्तु) न्यूनदेशतया जहाँ नहीं है वहाँ दूसरी अधिकदेश वाली (वस्तु) हो ऐसा विरोध नहीं होगा किन्तु अपने देश में तो विरोध होगा ही, वहाँ भी विरोध न होने पर (परमाणु) मूर्त्तत्व को छोड़ देगा जैसे कि अवयव रूप आदि को। इसलिये द्वयणुकों के द्वारा त्रसरेणु का ही आरम्भ किया जाता है, इसलिये परमाणुओं के द्वारा भी उसी का आरम्भ होना चाहिए—यह वात समान है, अथवा विशेष धर्मी कहना चाहिए?

(उ) इस विषय में कहते हैं—जैसे अवयव-अवयवी का प्रसङ्ग परमाणुओं में विश्रान्त होता है, उसी प्रकार इस अवयवी की संख्या के अपकर्ष का भी कहीं विश्राम होना चाहिए। समान देश होने पर लोष्ठ एवं उसके अवयवों का गुरुत्व समान हो जायगा।

(पू) त्रित्व अपकर्ष-काष्ठा है?

(उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि द्वित्व एवं एकत्व में यह संभव है। उसमें से एक तो अनारम्भक है। क्योंकि अवयवसंयोग की उपपत्ति न होने पर असमवायिकारण नहीं है। और अनेक संख्या के होने पर अवयव की अपेक्षा अवयवी के अधिक परिमाण की अनुपपत्ति हो जायगी। क्योंकि अवयव की अपेक्षा अवयवी के अधिक परिमाणत्व का नियम है। (पू) दो दुकूल से आरब्ध रज्जुद्रव्य में व्यभिचार हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि वहाँ आरम्भ को नहीं मानते।

प्रसङ्गात्। न च त्रित्वमपकर्षकाष्ठा; द्वित्वैकत्वयोः सम्भवात्। तत्रैकमनारम्भकम्; अवयवसंयोगानुपपत्तावसमवायिकारणाभावात्। अनेकसंख्याभावे चावयविनोऽवयवापेक्षयाऽधिकपरिमाणानुपपत्तेः; अवयवापेक्षया चावयविनोऽधिकपरिमाणत्वनियमात्। न च दुकूलद्वयारब्धरज्जुद्रव्ये व्यभिचारः; तत्रारम्भानङ्गीकारात्। अथ अन्त्यावयवित्वेनानारम्भकत्वम्, ततश्च अन्त्यावयवित्वे परस्पराश्रयप्रसङ्गो दोषः? नैवम्; घटादिकार्यद्रव्यसमवेतद्रव्यानुपलम्भादेव[१] तदनारम्भकत्वसिद्ध्यापत्त्याऽवयविव्यवहारस्यातदुपजीवनेन सिद्धेः। दुकूलादेस्तु रज्ज्वाकारसङ्कलनेऽपि 'दुकूलमानीयताम्' इत्यादिव्यवहारानुवृत्तेर्न[२] तद्द्रव्यान्तरत्वशङ्काऽवकाशः। एकस्य चावयवस्य विभागानुपपत्तेः तत्कार्यस्य विनाशासम्भवेन नित्यत्वप्रसङ्गात्। तथा च द्वित्वमपकर्षपर्यन्तः, तदादिरयमारम्भः, तेन द्व्यणुकसिद्धिः; तत्परिमाणस्य न परमाणुपरि-

भावदीपिका

निराचष्टे—न चेति। अङ्गीकारस्तर्कविरुद्ध इत्याशामात्रम्—इत्याह—नैवमिति। आरम्भाऽङ्गीकार एव प्रसिद्धिविरुद्धः इत्याह दुकूलादेरिति। न चात्राऽनारम्भे सूत्राणामपि रज्ज्वारम्भकत्वविलोपः शङ्कनीयः? तत्र प्रसिद्धिविरोधाद्यभावात्। एकावयवस्याऽनारम्भकत्वे युक्त्यन्तरमाह—एकस्य चेति। तथाऽपि कथं तत्परिमाणस्य संख्याविशेषाऽरब्धत्वम्? परिशेषादेव—इत्याह—तत्परिणामस्य चेति। नित्यस्य परममहत्परिमाणस्याऽनारम्भकत्ववन्नित्याणुपरिमाणस्याऽनारम्भकत्वम्। न च वाच्यम् गगनस्याऽनारम्भकत्वात् तत्परिमाणमप्यनारम्भकमस्तु? परमाणोस्त्वारम्भकत्वात् तद्गतरूपादिवत् तत्परिमाणस्याऽरम्भकत्वमविरुद्धमिति। यद्द्रव्यमारम्भकं तद्गुणोऽप्यारम्भक इति सामान्यव्याप्तेः सकाशान्नित्यपरि-

ज्ञानवती

(पू) अन्त्यावयवी होने से आरम्भकत्व मान लेगें और तब अन्त्यावयवी होने पर परस्पराश्रयप्रसङ्ग दोष हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। घटादि रूप कार्यद्रव्य में समवेत द्रव्य की प्राप्ति से ही उसके आरम्भकत्व की सिद्धि की आपत्ति होने से अवयवी व्यवहार की सिद्धि उसके उपजीवन से होती है। और दुकूल आदि की तो रस्सी के आकार में बदल देने पर भी 'दुकूल लाइये' इत्यादि व्यवहार की अनुवृत्ति होने से वहाँ द्रव्यान्तरत्व की शङ्का का अवकाश नहीं है। साथ ही एक अवयव के विभाग की अनुपपत्ति होने से उसके कार्य का विनाश असंभव होने के कारण नित्यत्व की आपत्ति होने लगेगी। तथा इस प्रकार वहाँ (अवयवी) से लेकर द्वित्व के अपकर्ष पर्यन्त यह आरम्भ है। इससे द्वयणुक की सिद्धि होती है। और उसके परिमाण का कारण परमाणु-परिमाण नहीं है। क्योंकि (परमाणु) नित्य परिमाण वाला है।

प्रचय के द्वारा उपेक्षणीय भी नहीं है, क्योंकि अवयवसंयोग नहीं है। इसलिए अनेक संख्या बच जाती है। और वह अपेक्षाबुद्धि जन्य है, क्योंकि अनेक संख्या है। और हम लोगों की अपेक्षाबुद्धि परमाणुओं में संभव नहीं है, इसलिये जिसको यह है वह सर्वज्ञ है।

---

१ (ख) कार्यं कार्यगुण। २ (ख) अनुवृत्तेः तद्रव्य।

माणं कारणम्; नित्यपरिमाणत्वात्[1]। न च प्रचयोऽपेक्षणीयः; अवयवसंयोगाभावात्। अतोऽनेकसंख्या परिशिष्यते; सा चापेक्षाबुद्धिजन्या; अनेकसंख्यात्वात्। न चास्मदादीनां अपेक्षाबुद्धिः परमाणुषु सम्भवति; तद्यस्यासौ स सर्वज्ञः। न च एकत्वद्वयमेव कारणम्, न तदारब्धद्वित्वसंख्या इति वचनीयम्; एक इतिवत् द्वौ इत्यप्यबाध्यव्यवहारात्। द्वित्वसंख्याऽङ्गीकारे चैकत्वयोः कारणत्वकल्पना मुधा। तदेवं सर्वहेतूनामनवद्यत्वान्नकारप्रक्षेपेणायं श्लोको योजनीय इति तत्त्वविवेककारोक्तं नकारान्तरप्रक्षेपेण प्रतिक्षेपणीयम्। अतो ब्रह्मणि लिङ्गाभावोऽनुपपन्न इति।

अत्र राद्धान्तः—नैष लिङ्गकलापः साधीयान्; क्षित्यादेः कर्त्तृपूर्वकत्वं कर्मद्वारेण सर्वजीवनिर्वाह्यम् इति सिद्धसाधनत्वात्।

यदाहुर्भट्टपादाः—

"कस्यचिद्धेतुमात्रत्वं यद्यधिष्ठातृतेष्यते।
कर्मभिः सर्वजीवानां तत्सिद्धेः सिद्धसाधनम्॥"[2]

भावदीपिका

माणमनारम्भकमिति विशेषव्याप्तेः प्रबलत्वादिति मनसि निधाय आह नित्यपरिमाणत्वादिति। प्रशिथिलावयवानां औत्तराऽधरभावेन संयोगस्य कार्पासादेरिव परमाणोरसम्भवः स्पष्टः—इत्याह—न चेति। परिमाणस्य संख्याप्रचयपरिमाणानामन्यतमजन्यत्वनियमात् द्वयोरभावत्वादयं परिशिष्यते - इत्याह - अत इति। तथाऽपि द्वित्वस्याऽनपेक्षणात् न तज्जनकाऽपेक्षाबुद्धिबलात् ईश्वरसिद्धिः? तत्राऽऽह—न चैकत्वद्वयमिति। किं द्वित्वसंख्यैव नास्ति? किं वा विद्यमानाऽप्यनारम्भिका? नोभयम्—इत्याह—एक इति।

तत्र कार्यत्वात् कर्त्तृमात्रपूर्वकत्वं वा विशिष्टकर्त्तृपूर्वकत्वं वाऽङ्कुरादेः साध्यते क्षित्यादेर्वा? क्रमेण प्रत्याह—क्षित्यादेरिति। क्षित्यादेः परिमाणविशेषविशिष्टरूपस्यो[-पभोग[3]-]

ज्ञानवती

दो एकत्व ही कारण है, न कि उससे आरब्ध द्वित्व संख्या? ऐसा नहीं कहना चाहिए। 'एकः' के समान 'द्वौ' यह भी व्यवहार अबाधरूप से होता है। इस कारण द्वित्व संख्या मान लेने पर दो एकत्व को कारण मानना व्यर्थ है। तो इस प्रकार सब हेतुओं के अनवधि होने से यह श्लोक नकार के प्रक्षेप के साथ जोड़ना चाहिए—ऐसे तत्त्वविवेककार के कथन पर नकारान्तर का प्रक्षेप कर देना चाहिए। इसलिये ब्रह्म में लिङ्गाभाव अनुपपन्न है?

इस विषय में सिद्धान्त है—यह लिङ्गसमूह ठीक नहीं है। क्योंकि क्षित्यादि का कर्त्तृपूर्वकत्व कर्म के द्वारा सब जीवों से निर्वाह्य है, इस प्रकार सिद्धसाधन दोष हो जाता है। भट्टपाद ने कहा है—

"किसी का हेतुमात्र होना यदि अधिष्ठातृता मानी जाती है तो सब जीवों के कर्मों के द्वारा उसकी सिद्धि होने से सिद्धसाधन है।"

(पू) जैसे कुम्भकार आदि स्रष्टव्य को नाम एवं आकार से बुद्धि में लिखकर मिट्टी-

---

१ (ख) परिणामत्वात्।
२ श्लो० वा० सं० आ० परि० ७५।
३ (क) पयोग।

इति। अथ यथा कुलालादिः स्रष्टव्यं नामत आकारतश्च बुद्धौ समालिख्य मृदाद्युपादानं सक्षात्कुर्वन् व्यापारयति यथोक्तः कर्त्ताऽपि तथा, इति विवक्षितत्वान्न दोषः ? नैवमपि; परमाण्वादयो न साक्षाच्चेतनाधिष्ठेयाः शरीरेतरत्वात्, यत्पुनः साक्षादधिष्ठेयम्, न तदेवम्, यथाऽस्मच्छरीरम्; नापि परम्परयाऽधिष्ठेयाः स्वव्यापारे शरीरानपेक्षत्वात् स्वचेष्टायामस्मच्छरीरवत्; व्यतिरेकेण वा दण्डाद्युदाहरणम् इति सत्प्रतिपक्षत्वात्। न च वाच्यम् परमाण्वादीनामपि साक्षात्प्रयत्नवदधिष्ठेयत्वं[1] शरीरत्वमिष्यत एव, तेन शरीरे शरीरेतरत्वमसिद्धम् इति; 'यदवच्छिन्ने आत्मनि भोगः' इत्यादि भवदुक्तलक्षणशरीरस्य विवक्षितत्वात्। तद्विवक्षायां घटपटादेरपि शरीरत्वव्यपदेशप्रसङ्गः स्यात् प्रसिद्ध (-विभागभङ्गश्च[2]) एवम्। इष्यते हि कार्यद्रव्यस्यैव शरीरेन्द्रियविषयविभागस्तार्किकैः। एवञ्च हेतोः साध्यावैशिष्ट्यम् इत्यपि प्रत्युदस्तम्; प्रसिद्धशरीरेतरत्वस्य निस्सन्दिग्धत्वात्।

किञ्च कर्त्तृपूर्वकत्वं तदिच्छानन्तरभावित्वं भवदभिमतं न युक्तम्; यतः

भावदीपिका

साधनस्य जीवाऽदृष्टजन्यत्वसम्भवात् सिद्धसाधनत्वम्। अधिष्ठातृता=कर्त्तृता। कुसुमाञ्जलिकारोक्तमेवाऽशङ्क्याह—न च वाच्यमिति। ननु मयैवोभयमुक्तं तत्किमेतन्न विवक्ष्यते ? तत्राऽह—तद्विवक्षायामिति। विभागः कार्यद्रव्यं शरीरेन्द्रियविषयभेदात्त्रिधेति घटादेः शरीरत्वे भज्येत। तदुक्तमेव दूषणं प्रत्याह—एवञ्चेति। इतश्च न कार्यत्वाऽनुमानं युक्तम्—इत्याह—किञ्चेति। आदर्शे=दृष्टान्ते। किञ्च चेतना भृत्यछात्रादयः स्वाम्याचार्याऽदिचिकीर्षाऽनुरोधेन कार्यं कुर्वाणा दृश्यन्ते, नाऽचेतना मृदादयः; तद्विरुद्धं चैतत्—इत्याह—

ज्ञानवती

आदि उपादान का साक्षात्कार करता हुआ व्यापार करता है, उसी प्रकार यथोक्त कर्त्ता भी—ऐसा विवक्षित होने से कोई दोष नहीं है। (उ) ऐसा भी नहीं है। क्योंकि परमाणु आदि, साक्षात् चेतन से अधिष्ठेय नहीं है, क्योंकि वे शरीर से भिन्न है। जो साक्षाद् अधिष्ठेय है वह ऐसा नहीं है। जैसे कि हम लोगों का शरीर। (परमाणु) परम्परया भी अधिष्ठेय नहीं है क्योंकि अपने व्यापार में वे शरीर की अपेक्षा नहीं रखते, जैसे कि अपनी चेष्टा में हम लोगों का शरीर। अथवा व्यतिरेक में दण्ड आदि उदाहरण हैं। इस प्रकार सत्प्रतिपक्ष होता है।

(पू) परमाणु आदि का भी साक्षात्प्रयत्नवदधिष्ठेयत्व वाला शरीरत्व माना ही जाता है। इसलिए शरीर में शरीरेतरत्व असिद्ध है ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि आपके द्वारा 'जिससे अवच्छिन्न आत्मा में भोग (सम्पन्न) होता है' इत्यादि उक्तलक्षणवाला शरीर विवक्षित है। उसकी विवक्षा होने पर घट पट आदि में भी शरीरत्व का व्यवहार होने लगेगा; एवं इस प्रकार का विभागभङ्ग प्रसिद्ध है। और तार्किक लोग भी कार्यद्रव्य का ही शरीरेन्द्रियविषयविभाग मानते हैं। इस प्रकार 'हेतु साध्य से विशिष्ट नहीं है'—यह भी पर्युदस्त हो गया। क्योंकि प्रसिद्ध शरीरेतरत्व निःसन्दिग्ध है।

इसके अतिरिक्त आपका अभिमत तदिच्छानन्तरभावित्वरूप कर्त्तृपूर्वकत्व ठीक नहीं है,

---

[1] (ख) त्व। [2] (क) विभागश्च, (ख) विभागभङ्गश्च।

स्यादेकदेशे साध्यवैधुर्यम् अचेतनभावस्य इच्छामनुरुन्धत इति प्रयत्नाधिष्ठानस्य चापहस्तितत्वात्।

[कार्यादीश्वरानुमानं तन्निरासश्च–]

यच्च कार्यपदस्य व्याख्यान्तरं यदुद्देशेन यः शब्दः प्रवृत्तः स्यात्, स तत्परः; तथैव लोकव्युत्पत्तेः। तथा हि प्रशंसावाक्यं उपादानमुद्दिश्य लोके प्रयुज्यते तदुपादानपरम्; निन्दावाक्यं हानमुद्दिश्य प्रयुज्यते तद्धानपरम्। वेदेऽप्येवं विधिशक्त्युत्तम्भकत्वार्थमभ्युपेयम्; अन्यथाऽर्थवादानां सर्वथैवानर्थकत्वप्रसङ्गः। स चोद्देशो व्यवसायोऽधिकारोऽभिप्रायो भाव आशय इत्यनर्थान्तरम् इति तदाधारप्रणेतृपुरुषधौरेयप्रसिद्धिः। तथा च प्रयोगः—वैदिकानि प्रशंसावाक्यानि उपादानाभिप्रायपूर्वकाणि, प्रशंसावाक्यत्वात्, 'परिणतिसुरसमाम्रम्[1]' इति लोकवाक्यवत्। एवं निन्दावाक्यानि हानाभिप्रायपूर्वकाणि निन्दावाक्यत्वात्, 'परिणतिविरसं

भावदीपिका

अचेतनेति। योगिनां विवादास्पदत्वात् नोदाहरणम्। मीमांसकं प्रति साक्षात् प्रयत्नवदधिष्ठेयत्वं च निराकृतं ततो न कुलालवद् व्यापारयितृत्वं शङ्कनीयम्—इत्याह—प्रयत्नेति।

[कार्यादीश्वरानुमानं तन्निरासश्च—]

अस्तु तर्हि तदेदं व्याख्यान्तरम्? तत्राऽह—यच्चेति। उत्तम्भकत्वं पुंसः प्ररोचनादिद्वारेण। विधिशक्तेरप्रतिवद्धत्वसंभवेनोद्देश्यसिद्धावपि कथमीश्वरसिद्धिः? तत्राह—स चेति। उक्तं प्रयोगारूढं करोति—तथा चेति। प्रकारान्तरेणाऽपि कार्यशब्दवाच्यमभिप्रायमाह विपक्षबाधकछलेन—अपि चेति। अर्थः=वाक्यशेषलक्षणः। अयोग्यत्वादनुपलम्भो नाऽभा-

ज्ञानवती

क्योंकि अचेतनाभाव की इच्छा का अनुरोध करने वाले का आदर्श में साध्यवैधुर्य हो सकता है, क्योंकि प्रयत्नाधिष्ठान निरस्त है।

[कार्य से ईश्वरानुमान और उसका निरास—]

और जो कार्य पद का व्याख्यान्तर–जिस उद्देश्य से जो शब्द प्रवृत्त हो वह तत्परक होता है, क्योंकि वैसी ही लोक की व्युत्पत्ति है। वह इस प्रकार—प्रशंसा वाक्य लोक में ग्रहण को उद्देश करके प्रयुक्त होता है, (इसलिये) वह उसके उपादान को बताता है। निन्दावाक्य त्याग को (इसलिये) वह उसके उपादान को वताता है, निन्दावाक्य त्याग को उद्देश करके प्रयुक्त होता है, (अतः वह) उसका परित्याग बतलाता है। वेद में भी इसी प्रकार विधिशक्तिउत्तम्भकत्व अर्थ मानना चाहिये; अन्यथा अर्थवाद सर्वथा अनर्थक हो जायेंगे। वह उद्देश्य, व्यवसाय, अधिकार, अभिप्राय, भाव, आशय इस प्रकार अपरपर्याय वाला है, इसलिये उसके आधारप्रणेता, पुरुषधौरेय की प्रसिद्धि है। इस प्रकार प्रयोग है,—वैदिक प्रशंसावाक्य उपादान-अभिप्रायपूर्वक हैं, प्रशंसावाक्य होने से, 'आम पकने से मीठा है' इस लोकवाक्य के समान। इसी प्रकार निन्दावाक्य त्याग-अभिप्रायपूर्वक हैं, निन्दावाक्य होने से, 'कटहल पकने से विरस है' इस

---

१ (ख) सुरसमात्रमिति।

पनसम्' इति लोकवाक्यवत्। अपि च न चेदेवं, श्रुतार्थापत्तिरपि हीयेत; सिद्धो ह्यर्थः प्रमाणस्य विषयः ; न तत्र तेनैव कर्त्तव्यः। न च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यत्र 'रात्रौ भुङ्क्ते' इति वाक्यशेषोऽस्ति; अनुपलम्भबाधितत्वात्; उत्पत्तिव्यक्ति-सामग्रीताल्वादिव्यापारविरहात्; अयोग्यस्याशङ्कितुमशक्यत्वात्। तस्मादभिप्रायस्था एव परिशिष्यन्ते; गत्यन्तराभावात्। स चेद् वेदे नास्ति, नास्ति श्रुतार्थापत्तिः इति तद्व्युत्पादनानर्थक्यप्रसङ्गः[1]। तस्मात् कार्यतात्पर्यादुन्नीयते—'अस्ति प्रमाता' इति।

तच्चासत्; "अन्धो मणिमविन्दत्। तमनङ्गुलिरावयत्। सोऽग्रीवः प्रत्यमुञ्चत्।" इत्यादिप्रशंसायास्त्वन्धत्वाद्युपादानपरत्वप्रसङ्गात्; भो! भो! भल्लाक्ष! भल्लाक्ष! इत्यादिविरुद्धप्रशंसादर्शनाच्च न प्रशंसया[2] उपादानाभिप्रायसाधनमवतरति इति। "अशरीरं वाव सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः" इति प्रियस्पर्शनिषेधनिन्दया मोक्षस्यानु-पादानपरत्वप्रसङ्गाच्च; अभिप्रायविकलबालवाक्यवत् अर्थवादानामर्थविशेषोपपत्तेश्च। "अथ येऽन्यथाऽतो विदुः अन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति" इत्याद्यर्थवादानां तटस्थे-

भावदीपिका

वादित्याशङ्क्य शनैरुच्चारणस्याऽप्यभावान्मैवम्—इत्याह—उत्पत्तीति। प्रमाता=अभिप्रा-याधारोऽर्थमुपलभ्य वेदविरचयिता ईश्वरः।

अनुमानद्वयं क्रमेण व्यभिचारयति—अन्ध इति। आवयत्=प्रोतवान्। प्रत्य-मुञ्चत्=गले बद्धवान्। भल्लाक्ष!=भद्राक्ष! ; यदुक्तमर्थवादानां सर्वथैवाऽनर्थकत्वम्—तत्प्रत्याह—अभिप्रायेति। दृश्यते हि बालवाक्यस्य भाव्यर्थसंवादो न चोपादानाद्यभिप्रायः। तथाऽर्थवादानामभिप्रायपूर्वकत्वादेरभावेऽपि बोधनसामर्थ्येनैव रुच्याद्युत्पादनद्वारा विध्याद्येक-वाक्यत्वेन प्रामाण्यसम्भवादित्यर्थः। [3][अपवाद-]श्चायमनुपपन्नः—इत्याह—अथेति। ननु—"विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः। अभिधेयोऽनुमेया तु कर्तृरिष्टाऽभ्युपायता।"—इति विधेरभिप्रायत्वस्वीकारात् वेदे च विधिसद्भावात् अभिप्रायवदीश्वरसिद्धिस्तथाऽपि

ज्ञानवती

लोकवाक्य के समान। और भी यदि ऐसा नहीं हो, तो श्रुतार्थपत्ति भी छूट जायगी, प्रमाण का विषय सिद्ध अर्थ होता है, न कि उसी से (=प्रमाण से) वहाँ कर्त्तव्य होता है।

(पू) 'देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता और मोटा है' यहाँ पर रात में भोजन करता है यह वाक्य शेष है, क्योंकि अनुपलम्भ से बाधित है, उत्पत्ति व्यक्तिसामग्री ताल्वादिव्यापार रहित है, क्योंकि अयोग्य की आशङ्का नहीं हो सकती। इसलिये (पदार्थ) अभिप्रायस्थ ही रह जाते हैं, क्योंकि दूसरा उपाय नहीं है। यदि वह वेद में नहीं है तो श्रुतार्थापत्ति भी नहीं है, अतः उसका व्युत्पादन अनर्थक हो जायगा। इसलिये कार्य तात्पर्य से अनुमान होता है कि प्रमाता है।

यह असत् है। "अन्धे ने मणि को प्राप्त किया। उसको अङ्गुलिरहित (व्यक्ति) ने गूँथा। उसको ग्रीवा रहित ने पहना" इत्यादि प्रशंसा तो अन्ध आदि उपादानपरक होने से, तथा हे! हे! भल्लाक्ष! भल्लाक्ष! इत्यादि विरुद्ध प्रशंसा देखने से प्रशंसा से उपादान अभिप्राय का साधन नहीं मालूम होता। "शरीर रहित इस (आत्मा) को प्रिय एवं

[1] (ख) तदुत्पादना ; [2] (ख) प्रशंसायाः। [3] (क) पक्ष।

श्वराभिप्रायपूर्वकत्वं च विरुद्धम्। न चाभिप्राये शब्दः प्रमाणम्; अर्थासिद्धि-प्रसङ्गात्। "अतः"-शब्दात् प्रशंसा निन्दा वा प्रतीता विधिव्यासेधस्थले[1] शाब्द-न्यायवलात् अङ्गतया पुरुषाभिमुख्यवैमुख्यमात्रफलतया वा व्यवस्थाप्यते, न पुरुषा-भिप्रायपूर्वकतया; श्रुतार्थापत्तावपि पीनत्वाद्यर्थ एवानुपपद्यमानः स्वोपपादकं गमयति रात्रिभोजन(-कन्द[2]-)रसायनादिकमजानतोऽपि 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि-प्रयोगदर्शनात्[3]; पीनत्वहेतूनामनेकत्वाच्च। नानाऽभिप्रायप्रतीतौ प्रत्युत सन्देहेन विवक्षितवाक्यशेषासिद्धेश्च। तस्मात् वाच्यभूतार्थघटनार्थं वाक्यशेषपूरणम्; तच्च वेदेऽपि इति नानुपपत्तिबलादीश्वराभिप्रायलाभः।

भावदीपिका

दुर्वारा?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। सर्वोऽपि शब्दो वक्तुरभिप्रायं साक्षाद् गमयति इति साहसमात्रम्; वाचकपदाभावात्। प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां वाचकशक्त्या क्रियाकर्त्तव्यतैव विधि-वाक्येष्वपि प्रतीयते। अभिप्रायस्तु लौकिकेष्वपि शब्देष्वनुमीयते। अभिप्रायश्च तात्पर्यं चेदुपक्रमादिगम्यम्, शब्दधर्मः वेदेष्वङ्गीक्रियते। तस्माच्चार्थविशेष एव व्यवस्थाप्यते न वक्तृविशेषः। तेनाऽन्यथाऽर्थासिद्धिप्रसङ्गो युक्तः। अङ्गतया—मीमांसकैकदेशीयाऽभिप्रायेण न खलु विधेः स्वव्यापारेऽपि प्रवर्त्तनादावङ्गाऽपेक्षा युज्यते। प्रकारान्तरं विघटयति—श्रुतेति। वाक्यशेषोऽभिप्रायस्य इत्येतन्न केवलं व्यभिचारि निर्णयविरोधि च—इत्याह—पीनत्वेति। तस्मादर्थविशेषवदेव वाक्यशेषस्योहः। श्रुतार्थापत्तौ दृष्टार्थापत्ताविव दृष्ट्यादेरर्थादर्था-न्तरमापद्यत इत्यर्थापत्तिरित्यन्वर्थलाभाच्च—इत्युपसंहरति—तस्मादिति।

ज्ञानवती

अप्रिय नहीं छूते" इससे प्रियस्पर्शनिषेध की निन्दा के द्वारा मोक्ष का अनुपादानपरत्व प्राप्त होने लगता है, तथा अभिप्राय से विकल वालवाक्य के समान अर्थवादों की अर्थ-विशेषों की उप-पत्ति होती है। "जो इसको इससे अन्य रूप में जानते हैं, जिनका स्वामी (आत्मा से अतिरिक्त) दूसरा है, वे क्षय लोक वाले होते हैं" इत्यादि अर्थवाद तटस्थ ईश्वर के अभिप्राय वाले हैं, यह विरुद्ध हो जाता है।

(पू) अभिप्राय में शब्द प्रमाण है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अर्थ की असिद्धि हो जायगी। इसलिये विधि या निषेधस्थल में शब्द से प्रतीत होने वाली प्रशंसा या निन्दा, शब्द प्रमाण के बल से अङ्ग के रूप में, या पुरुषाभिमुख्यवैमुख्यमात्र फल के रूप में व्यवस्थापित होती है न कि पुरुषाभिप्रायपूर्वक के रूप में। श्रुतार्थापत्ति में भी पीनत्व आदि अर्थ ही अनुपप-पद्यमान होकर अपने उपपादक का बोध कराता है क्योंकि रात्रि-भोजन कन्द एवं रसायन आदि को न जानने वाले को भी 'पीनो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि प्रयोग करते हुए देखा जाता है और पीनत्व के हेतु अनेक हो सकते हैं। बल्कि अनेक अभिप्राय की प्रतीति होने पर सन्देह के कारण विवक्षित वाक्यशेष की असिद्धि होती है। इसलिये वाक्यशेष की पूर्ति बतलाये जाने वाले अर्थ के संघटन के लिये की जाती है, और वह वेद में भी है, इसलिये अनुपपत्ति के बल से ईश्वराभि-प्राय का लाभ नहीं होता।

---

[1] (ख) व्यासेधः। [2] (क) भोजनरसा, (ख) भोजनकन्दरसा। [3] (ख) प्रयोगा।

[आयोजनादेरीश्वरानुमाननिरासः—]

आयोजनमपि[१] निरयववस्य क्रियानिरासे पुरैव निरस्तम्। न खलु शतधा गलहस्तितमपि नभश्चलति।

अथ वेदाः कदाचिद् सर्ववेदार्थविद्व्याख्याताः[२], अनुष्ठातृमतिचलनेऽपि निश्चलानुष्ठानत्वात्, यदेवम् तत् समस्ततदर्थविद्व्याख्यातम्, यथा मन्वादिसंहिता। अन्यथा त्वनाश्वासेऽननुष्ठानम्, अव्यवस्थानात् अनुष्ठानाव्यवस्था वा भवेत् अनादेशिकत्वात् इत्यायोजनं प्रयुज्यात्।

तदपि कुशलतमतया विश्वासपात्रमनुव्यासाद्यादेशवशात्, निश्चितपदार्थनिश्चलानुष्ठानलाभेनान्यथासिद्धत्वात् न प्रयोक्तव्यम्; असर्वज्ञत्वेऽपि तेषां विध्यादि-

भावदीपिका

[आयोजनादेरीश्वरानुमाननिरासः—]

आयोजनम्=परमाणुक्रियाकारयितृत्वम्; तत् प्रतिज्ञातुमपि न शक्यते—इत्याह—आयोजनमपीति। निरासे निरस्तम् :—परमाणुकारणवादनिरासे प्रबलप्रयत्नां क्रियां निराचष्टे—न खल्विति। हस्तग्रहाऽयोग्यत्वात्तदभावाच्च न कुलालवन्मेलनमणूनामीश्वरस्य सम्भवति। व्याख्यान्तरमनूद्य निराचष्टे—अथेति। न च तेषामसर्वज्ञत्वान्न विध्यादिविवेकत्वमिति वाच्यम्—इत्याह—असर्वज्ञत्वेऽपीति। अनादिप्रवृत्तवेदार्थसम्प्रदाये न

ज्ञानवती

[आयोजन आदि से ईश्वरानुमान का निरास—]

क्रियानिराश होने पर आयोजन भी पहले ही निरस्त हो गया। आकाश सौ बार गलहस्त देने पर भी नहीं चलता।

(पू) वेद कभी सर्ववेदार्थवेत्ता के द्वारा व्याख्यात हैं; क्योंकि अनुष्ठाता की बुद्धि के विचलित होने पर भी (वे) निश्चल अनुष्ठान वाले हैं, जो ऐसा है वह समस्त तदर्थवेत्ता के द्वारा व्याख्यात है, जैसे—मनु आदि की संहिता। अन्यथा अविश्वास होने पर अननुष्ठान या अव्यवस्था से अनुष्ठान की अव्यवस्था हो जायगी क्योंकि अनादेशिक है—इस आयोजन का प्रयोग होने लगेगा।

(उ) उस(=अनुमान)का भी, कुशलतमता के कारण विश्वासपात्र मनु व्यास आदि के आदेशवश निश्चित पदार्थ के द्वारा निश्चल अनुष्ठान का लाभ होने से अन्यथासिद्ध होने के कारण, प्रयोग नहीं करना चाहिये। क्योंकि असर्वज्ञ होने पर भी वे (=मनु आदि) विधि आदि के विवेचन में कुशल हैं। भट्टपाद ने कहा है—

"मनु आदि आवश्यक रूप से सब शाखाओं के अध्येता नहीं हैं। वे प्रयत्न के द्वारा शाखान्तर के पढ़ने वालों से सुनकर अपने वाक्यों के द्वारा ही अर्थमात्र को स्मरण के लिये निबद्ध किये। इसलिये वे विधि अर्थवाद का विवेक कर सकते हैं।"

गुरु होने पर भी पतन का अभाव नित्य ब्रह्माण्डअधोगमनवादी के प्रति असिद्ध है।

---

१ (ख) अयोनिजमपि। २ (ख) विद्व्याख्यासा।

विवेचनकुशलत्वात्। तदाहुर्भट्टपादाः—न चावश्यं मन्वादयः सर्वशाखाध्यायिनः; ते हि प्रयत्नेन शाखान्तराध्यायिभ्यः श्रुत्वाऽर्थमात्रं स्ववाक्यैरपि स्मरणार्थं निबध्नीयुः; शक्नुवन्ति हि ते विध्यर्थवादौ विवेक्तुमिति।

गुरुत्वे सत्यपातित्वं च नित्यं ब्रह्माण्डाधोगमनवादिनं प्रत्यसिद्धम्; शाखाग्रच्युताफलफलशर्करादेश्च[1] तीव्रतरवेगभागितया भूभागसंसर्गभावत्वं न विरुध्यते। क्वचित् तस्य[2] प्रयत्ना[-द्वि-][3]धारकत्वसम्भवाच्च प्रयत्नसमानदेश एव विधारकत्वं चेत्? विहङ्गमस्यापि पतत्रलग्नतृणपर्णादिविधारकत्वनिदर्शने साध्यवैधुर्यं स्यात्। साक्षात् परम्परया वा विधारकप्रयत्नाधिष्ठितम् इति च प्रतिज्ञा हीयेत। विनाश्यत्वं च ब्रह्माण्डादेरनीश्वरवादिनं प्रत्यसिद्धम्। न च सावयवत्वात् विनाश्यत्वम्; तस्यैवानिरूपणात् इत्यवादि। एवं व्यवहारनैपुणादि तत्तज्जातीयपुरुषविशेषप्रवर्त्तितमपि न नोत्प्रेक्षा[-नि-]बद्धम्[4] इति। दृष्टान्तेऽप्यपूर्वघटनोपादानाच्च।

अथैवं पदं व्याख्यायते—प्रणव-ईशानादिशब्दो जगत्कर्तृवाची, असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्रप्रयुज्यमानत्वात्, यः शब्दो यत्र वेदवृद्धैरसति वृत्त्यन्तरे प्रयुज्यते, स

भावदीपिका

किञ्चिद् दुर्घटम्। तथाऽपि फलपाषाणादेर्भूमिसम्बन्धो न स्यात्—इत्यत आह—शाखेति। किञ्च प्रयत्नस्य सत्तामात्रं विधारणोपयोगि? विधार्यसमानदेशत्वं वा? नोभयमपि—इत्याह—क्वचिदिति। पतत्रम्=पक्षः। निर्जीवपक्षभागकेशादाविव प्रयत्नाऽभावात्। सावयवत्वमात्रमप्रयोजकम्, आयोजनाद्यनिरूपणात्—इत्यपि द्रष्टव्यम्। त्वदुक्त्याऽप्येवम् इत्याह—दृष्टान्तेऽपीति। लाक्षणिकादिपदैर्व्यभिचारो मा भूत् इति—अत उक्तम् . असति वृत्त्यन्तर

ज्ञानवती

और शाखाग्रच्युत अपरिपक्व फल (एवं ऊपर फेंके गये) पत्थर के टुकड़े आदि के तीव्रतर वेगभागी होने से भूभागसंसर्गभावत्व विरुद्ध नहीं होता। (पू) कहीं पर उस का प्रयत्न के द्वारा विधारकत्व संभव होने से प्रयत्न-समानदेश में ही विधारकत्व है? (उ) तब तो विहङ्गम के भी पंख में लगे हुए तृणपर्णादिविधारकत्व का उदाहरण होने पर साध्यवैधुर्य होने लगेगा। और साक्षात् अथवा परम्परया विधारकप्रयत्नाविष्ठित है—यह प्रतिज्ञा समाप्त हो जायगी। ब्रह्माण्ड आदि का विनाश्यत्व अनीश्वरवादी के प्रति असिद्ध है। (पू) सावयव होने से विनाश्यत्व है? (उ) उसी (=सावयत्व) का निरूपण न होने से ऐसा नहीं है—ऐसा कहा है। इसी प्रकार व्यवहारनिपुणता आदि तज्जातीय पुरुषविशेष के द्वारा प्रवर्तित होने पर भी हम लोगों के लिये उत्प्रेक्षानिवद्ध नहीं है—ऐसी बात नही है। और दृष्टान्त में भी अपूर्वघटना का उपादान है।

(पू) यदि इस प्रकार पद की व्याख्या करें—प्रणव, ईशान आदि शब्द जगत्कर्त्ता के वाचक हैं, क्योंकि वृत्त्यन्तर न होने पर (उसका) वृद्ध लोगों के द्वारा उसी (अर्थ) में प्रयोग होता है। जो शब्द वृत्त्यन्तर के न होने पर जिस (अर्थ) में वेदवृद्धों के द्वारा प्रयुक्त होता है

---

१ (क) फलफल, (ख) फल।
२ (ख) क्वचिदवयवस्य।
३ (क) दि।
४ (क) दिवद्धम्, (ख) दिवुद्धम्।

तस्य वाचकः यथा स्वर्गशब्दः[१] सुखविशेषे प्रयुज्यमानः तस्य वाचकः ; प्रयुज्यते चायं जगत्कर्त्तृरिति। अन्यथा निरर्थकत्वप्रसङ्गे सार्थकपदकदम्बकसमभिव्याहारानुपपत्तिरिति ? तदाऽप्यप्रसिद्धविशेषणता।

अथेदं सार्थकम्, अविगानेन श्रुतिस्मृतीतिहासेषु प्रयुज्यमानत्वात् घटपदवत् इति सामान्यतः सिद्धे, कोऽस्यार्थः ? इति व्युत्पित्सोर्विमर्शे सति निर्णयः स्वर्गादिपदवत् इति नोक्तदोषः (इति) ? न[२] : एवं सति जीवस्यैश्वर्यविशेषाच्चक्रवपादिवत् [वर्त्तनादिवत्] ईशानादिपदाविष्करणसम्भवात्; सर्वथाऽपि श्रुतीनां मुख्यार्थत्वे जीवभेदानादिविग्रहत्वादिप्रसङ्गाच्च।

लौकिकवत् वैदिकमपि 'अहम्' इति पदं स्वप्रयोक्तारमेवाह, इत्यपि जघन्यम्; "कस्मिन्न्वहम् उत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि" इति वेदात् कर्त्तुर्जीवस्याहंपदवाच्यत्वात्। अथ ईश्वरप्रयुक्तमहं पदं ईश्वरमाह इति विवक्षितम्? तदा परस्परापेक्षणम्। प्रामाण्यस्यकर्त्तृगुणपूर्वकत्वस्य[३] निराकरणादेव न प्रत्ययादपि ईश्वरसिद्धिः।

भावदीपिका

इति। जगत्कर्त्तुरप्रसिद्धत्वात् अप्रसिद्धविशेषणता। परिहारार्थं परिशेषोऽनुपपन्नः—इत्याह—न; एवमिति।

अथ जीवस्य निरङ्कुशमीशानादित्वं न सम्भवति ? तत्राऽऽह—सर्वथाऽपीति। पदस्य व्याख्यान्तरं निराचष्टे—लौकिकवदिति। व्याख्यान्तरं निरस्तप्रायम्—इत्याह—

ज्ञानवती

वह उसका वाचक होता है, जैसे स्वर्ग शब्द सुखविशेष में प्रयुक्त होता हुआ उस (=सुखविशेष) का वाचक है। यह 'जगतकर्त्तुः' शब्द भी प्रयुक्त होता है, अन्यथा निरर्थकत्व का प्रसङ्ग होने पर सार्थकपदसमूह के कथन की अनुपपत्ति हो जायगी ? (उ) तो भी अप्रसिद्धविशेषणता दोष आ जायगा।

(पू) यह सार्थक है, अविगीत रूप में, श्रुति स्मृति इतिहास में प्रयुज्यमान होने से, घट पट के समान; इस प्रकार सामान्य रूप में सिद्ध होने पर इसका क्या अर्थ है?—ऐसा जानने की इच्छा वाले को विमर्श होने पर; स्वर्ग आदि पद के समान—इसका निर्णय होता है; इसलिये उक्त दोष नहीं है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर जैसे ऐश्वर्यविशेष के द्वारा ईश्वर आदि ने चक्रवपा (हृदय को घेरने वाली चक्राकार चर्वी) आदि का आविष्कार किया उस प्रकार) अथवा ईशान आदि के व्यवहार के समान जीव का ऐश्वर्यविशेष से आविष्करण सम्भव हो जायगा। और श्रुतियों के सर्वथा मुख्यार्थ होने पर जीवभेद, अनादिविग्रहत्व आदि भी सम्भव हो जायगा।

लौकिक के समान वैदिक भी 'अहं' यह पद स्वप्रयोक्ता को ही बतलाता है—यह (कथन) भी जघन्य है। "मैं किसके उत्क्रान्त होने पर उत्क्रान्त होऊँगा।" इस वेद के द्वारा कर्त्ता जीव अहंशब्द का वाच्य है। (पू) ईश्वरप्रयुक्त अहंपद ईश्वर को बताता है—

१ (ख) स्वर्गादि। २ (क) दोषः न, (ख) दोष इति च। ३ (ख) स्यानिरा।

अथ प्रत्ययो लिङादिः; स च प्रवृत्त्यादिविषयं[1] वक्तुरभिप्रायात्मकं विधिमभिधत्त इति वेदवक्त्रीश्वरसिद्धिः। यदाह—

"विधिर्वक्तुरभिप्रायः प्रवृत्त्यादौ लिङादिभिः।
अभिधेयोऽनुमेया तु[2] कर्त्तुरिष्टाभ्युपायता॥"[3]

इति? एतच्चार्थवादगतिकथने व्याख्यातम्। इष्टसाधनोपदेश एव च विधिः इति वक्ष्यामः। वेदानां सर्वज्ञप्रणीतत्वमप्यसाधु; सर्वज्ञानिरुक्तेः नित्यज्ञानगुणस्य व्युदासात्। जन्यज्ञानं च जीवस्यापि प्रमाणषट्कव्यापारात् तुल्यम्। एवं सार्वज्ञबीजं चेत् प्रमाणं प्रत्यक्षानुमेयादिप्रमेयविभागो न स्यात्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"एकेन तु प्रमाणेन सर्वज्ञो येन कल्प्यते।
नूनं स चक्षुषा सर्वान् रसादीन् प्रतिपद्यते॥"[4]

भावदीपिका

एतच्चेति। निराकरिष्यते च इत्याह—इष्टेति। सर्वज्ञत्वं नित्यज्ञानेन? जन्यज्ञानेन वा? द्वितीये प्रमाणषट्कात् सर्वज्ञानम्? एकतमप्रमाणाद् वा?—क्रमेण प्रत्याह—नित्येति। एकमनुमानादिमध्ये चेत्? ईश्वरप्रत्यक्षवादभङ्गः। प्रत्यक्षञ्चेत्? तज्जीवस्याऽपि तुल्यमिति प्रमेयविभागो न स्यात्। यथा चक्षुषा रसादिप्रतिपत्तिर्दुःसाध्या तथैकेन प्रमाणेन सर्वाऽर्थप्रतिपत्तिपरवेदस्याऽपि श्रोत्रादिप्रमाणान्तराऽपेक्षप्रतीतेर्न सर्वप्रत्यायकत्वम्; किं वाच्यं प्रमाणान्तरस्य—इत्याशयेनाऽऽह—नूनं स चक्षुषेति। "यः सर्वज्ञः सर्ववित्" इत्यागमात् प्रसिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—न

ज्ञानवती

यह विवक्षित है? (उ) तब तो अन्योन्याश्रय हो जायगा। कर्त्तगुणपूर्वकत्वरूप प्रामाण्य के निराकरण से ही प्रत्यय से भी ईश्वर की सिद्धि नहीं है।

(पू) प्रत्यय लिङ आदि हैं, और वेदवक्ता के अभिप्रायस्वरूप प्रवृत्ति आदि विषय वाली विधि को कहते हैं इसलिये वेद के वक्ता ईश्वर की सिद्धि होती है। और जो यह कहा है कि—

"लिङ आदि के द्वारा वक्ता का अभिप्रायरूप विधि, प्रवृत्ति आदि के विषय में अभिधेय होती है। कर्त्ता की इष्टाभ्युपायता अनुमेय है।"

(उ) इसकी व्याख्या अर्थवादगति के कथन में हो गई है। और इष्टसाधन का उपदेश ही विधि है—ऐसा कहेंगे। वेदों का सर्वज्ञप्रणीतत्व भी ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वज्ञ की निरुक्ति न होने से नित्यज्ञानगुण का व्युदास है। और जीव का भी जन्यज्ञान (प्रत्यक्ष आदि) छ प्रमाणों के व्यापार से (ईश्वर के) तुल्य है। और यदि सार्वज्ञबीज प्रमाण है ऐसा (कहें) तो प्रत्यक्ष एवं अनुमेय ज्ञान का विभाग नहीं होगा। भट्टपाद ने कहा है—

'एक प्रमाण से सर्वज्ञ की कल्पना जिसके द्वारा की जाती है निश्चित ही वह चक्षु के द्वारा सब रस आदि को जानता है।" (पू) आगम के द्वारा सर्वज्ञ का निश्चय होने पर विकल्प

---

१ (ख) विषयः। २ (ख) अनुमेयात् स्यात्। ३ न्या० कु० ५।१५।
४ श्लो० वा० २।११२।

इति। न च आगमेन सर्वज्ञावधृतौ विकल्पोऽनवसरः; तत्प्रणीतत्वेन तस्य प्रामाण्ये परस्पराश्रयात्। नरान्तरप्रणीतत्वे च अतीन्द्रियार्थत्वात् [नद्या[१]-]दिवचोवदप्रामाण्यम्। नित्यागमबलेन चेत् सर्वज्ञसिद्धिः? तर्हि तत्प्रणयनार्थत्वात् सर्वज्ञकल्पना व्यर्था स्यात्। तदाहुः—

"आगमस्य च नित्यत्वे सिद्धे तत्कल्पना वृथा।"[२]

इति। किञ्च—

"कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते॥[३]
सर्वज्ञो नावबुद्धश्च येनैवं स्यान्न तं प्रति।
तद्वाक्यानां प्रमाणत्वं मूलाज्ञानेऽन्यवाक्यवत्॥"[४]

एतेनान्वयप्रयोगोऽपि व्याख्यातः।

भावदीपिका

चेति। सिद्धे हि वेदस्य प्रामाण्ये ततः सर्वज्ञप्रसिद्धिः, ततश्च सर्वज्ञप्रणीतत्वानुमानेन वेदस्य प्रामाण्यसिद्धिरिति परस्पराऽपेक्षापरिहाराय अन्यप्रणीतत्वं नित्यत्वं वा वक्तव्यम्। आद्ये न निश्चितप्रामाण्यलाभो नाऽपीश्वरप्रणीतत्वाऽनुमानम्। एतच्च द्वितीयेऽपि तुल्यम्—इत्याह—नित्येति। सर्वज्ञप्रणीतत्वाद्वेदप्रामाण्यज्ञाने दोषान्तरमाह भट्टोक्त्यैव—किञ्चेति। एवं पौरुषेयत्वे वेदस्य प्रामाण्यानिर्वाहात् प्रमाणवाक्यत्वेन पौरुषेयत्वानुमानमप्ययुक्तम्—इत्याह—एतेनेति।

ज्ञानवती

का अवसर नहीं है? (उ) उसके द्वारा प्रणीत होने से उस (=आगम) का प्रामाण्य होने पर अन्योन्यात्रय हो जायगा। पुरुषान्तर से प्रणीत होने पर अतीन्द्रियार्थ होने से नद्यादिवचन (अर्थात् जैसे नदी के किनारे फल हैं' यह साधारण आदमी के द्वारा कहा गया वचन अप्रामाणिक होता है उस) के समान अप्रामाण्य हो जायगा। (पू) नित्य आगम के द्वारा सर्वज्ञ की सिद्धि होती है यदि ऐसा कहें?' (उ) तो उसके प्रणयन के लिये सर्वज्ञ की कल्पना व्यर्थ हो जायगी। कहा है—

"आगम का नित्यत्व सिद्ध होने पर उसकी कल्पना व्यर्थ है।" और भी

"तुम्हारे यहाँ बहुत से सर्वज्ञ कल्पनीय होंगे। क्योंकि जो सर्वज्ञ नहीं होगा वह सर्वज्ञ को नहीं जानेगा।"

"जिसके द्वारा सर्वज्ञ जाना नहीं गया उसके प्रति उसके वाक्यों का प्रामाण्य नहीं होगा जैसे कि मूल अज्ञान में अन्य वाक्य का (अर्थात् जैसे सामान्य आदमी की बात का प्रसङ्ग न जानने पर उसकी बात अप्रामाणिक रहती है उसी प्रकार)।"

इससे अन्वयप्रयोग भी व्याख्यात हो गया।

---

१ (क) दध्या। २ श्लो० वा० २।१२०।
३ श्लो० वा० २।१३५। ४ श्लो० वा० पृ० १३६।

[वेदकर्तृत्वेनेश्वरानुमाननिरासः-]

अथ "श्रुतेः" इत्येवं व्याख्यायते—कृत्स्न एव वेदोऽयं परमेश्वरगोचर एव। तथा हि—स्रष्टृत्वेन पुरुषसूक्तेषु, विभूत्या रुद्रेषु, शब्दब्रह्मत्वेन मण्डलब्राह्मणे, प्रपञ्चं पुरस्कृत्य निष्प्रपञ्चतयोपनिषत्सु, यज्ञपुरुषत्वेन मन्त्रविधिषु, देहाविर्भावैरुपाख्यानेषु, उपायत्वेन च सर्वत्र इति ? तदाऽपि वेदस्येश्वरप्रणीतत्वेन प्रामाण्ये वेदाच्चेश्वरसिद्धावितरेतराश्रयः। तात्पर्यमात्रेण प्रामाण्ये च जीवाभिन्नेश्वरसिद्धिराज्ञसी न त्याज्या। कर्मवाक्यानां स्वर्गादिफलवत्तया स्वार्थपर्यवसितानामीश्वरपरत्वकल्पनाऽनुपपत्तेश्च न कृत्स्नोऽपि वेदस्तत्परः।

[अनुमानादीश्वरसिद्धिस्तन्निरासश्च—]

यदपि[1] संसर्गभेदप्रतिपादकत्वं वाक्यत्वम्। तथा च यत्पदकदम्बकं यत्संसर्गभेदप्रतिपादकं, तत्तदपेक्षप्रमाणमूलज्ञानपूर्वकम्[2], यथा लौकिकं तथा वैदिकम्; तत ईश्वरसिद्धिरिति ? तदपि वेदस्येश्वरप्रणीतत्वे प्रामाण्यासम्भवादपार्थम्, अतीन्द्रियार्थ-

भावदीपिका

[वेदकर्तृत्वेनेश्वरानुमाननिरासः—]

अथ शब्दधर्मतात्पर्यमात्रेण वेदप्रामाण्यम् ? तत्राऽऽह—तात्पर्येति। प्रतिज्ञाऽप्येषाऽनुपपन्ना—इत्याह—कर्मवाक्यानामिति। वाक्यपदस्याऽपि व्याख्यान्तरमनूद्याऽपाकरोति—यदपीति।

[अनुमानादीश्वरसिद्धिस्तन्निरासश्च—]

अन्यथासिद्धत्वाच्च नैतत्—इत्याह—विवक्षितेति। सेश्वरसांख्याऽनुमानसूत्रमपि न रमणीयम्—इत्याह—तदपीति।

ज्ञानवती

[वेद के कर्त्ता के रूप में ईश्वर के अनुमान का निरास—]

(पू) "श्रुति से" इसका ऐसा व्याख्यान करेंगे—यह समस्त वेद परमेश्वर का ही विषय हैं। वह इस प्रकार—स्रष्टा के रूप में पुरुषसूक्तों में, विभूति के द्वारा रुद्रों में, शब्दब्रह्मत्वेन मण्डलब्राह्मण में, प्रपञ्च को सामने रखकर निष्प्रपञ्च रूप से उपनिषदों में, यज्ञपुरुष के रूप में मन्त्रविधियों में, देहाविर्भावों से उपाख्यानों में, और उपाय के रूप में सर्वत्र (ईश्वर ज्ञात है) ?

(उ) तो भी ईश्वरप्रणीत होने से वेद के प्रामाण्य होने पर और वेद से ईश्वर की सिद्धि होने पर अन्योन्याश्रय हो जाता है। तात्पर्यमात्र से प्रामाण्य होने पर जीवाभिन्न ईश्वर की सिद्धि सर्वथा त्याज्य नहीं है। कर्मवाक्यों के स्वर्गादिफलवान् होने से स्वार्थपर्यवसितों की ईश्वरपरत्व कल्पना के अनुपपन्न होने से सारा वेद भी तत् (=ईश्वर-) परक नहीं है।

[अनुमान से ईश्वरसिद्धि और उसका निरास—]

(पू) और जो (यह कहते हैं कि-) संसर्गभेदप्रतिपादक वाक्य होता है। जो पद—समुदाय जिस संसर्गभेद का प्रतिपादक है, वह तदपेक्षप्रमाणमूलज्ञानपूर्वक है, जैसे लौकिक वैसे

[1] (ख) तदपि। [2] (ख) तत्तदपेक्षा प्रमाण।

दर्शित्वेन भगवतः परमाप्ततया तत्प्रणीतवेदस्य प्रामाण्यं वक्तव्यम्। सिद्धे च तस्य प्रमाणमूलत्वे संसर्गभेदापेक्षाबुद्धिपूर्वकत्वेन तत्प्रणेतृपुरुषातीन्द्रियार्थदर्शित्वसिद्धेः इति। विवक्षितसंसर्गभेदप्रतिपादककुमार्यादिवाक्यवदपेक्षाबुद्धिविधुरस्यापि सम्भवाच्च। संख्या च परमाण्वारम्भनिराकरणेनैव निराकारि। ततो न कार्यादेर्ब्रह्मलिङ्गत्वम्।

"तस्य निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्;" सातिशयानां ज्ञानशक्त्यैश्वर्याणां क्वचिन्निरतिशयत्वम्, परिमाणवत् इति निरतिशयज्ञानाद्याधारेश्वरसिद्धि; इति योगानुमानम्; तदप्यसमञ्जसम्; सातिशयत्वस्य रागादीनामिव अन्यथाऽपि सम्भवात्; अन्यथा निरतिशयरागादिमानपीश्वरः स्यात्; रागादीनाञ्चानीश्वरे निरतिशयत्वे ज्ञानादेरपि तथैव स्यात्। अतो न स्वतन्त्रमनुमानं ब्रह्मणि प्रमाणम्।

[ब्रह्मण उपमानगोचरत्वनिरासः—]

नगरानुभूतचरगोपिण्डस्य वनमुपेयुषः साक्षाद् गवयमीक्षमाणस्य अनेन

भावदीपिका

[ब्रह्मण उपमानगोचरत्वनिरासः—]

सोपस्कारमुपमानमनुवदति तस्याऽपि ब्रह्माऽविषयत्वप्रदर्शनार्थम्—नगरेति। परोक्त-

ज्ञानवती

वैदिक—इससे ईश्वर की सिद्धि होती है ?

(उ) वह भी, वेद के ईश्वरप्रणीत होने में प्रामाण्य सम्भव न होने से निरर्थक है। अतीन्द्रियार्थदर्शी होने के कारण भगवान के परम आप्त होने से उनके द्वारा प्रणीत वेद का प्रामाण्य कहना चाहिये। और सिद्ध होने पर उसके प्रमाणमूलक होने पर संसर्गभेदापेक्षाबुद्धिपूर्वक होने से उसके प्रणेता पुरुष के अतीन्द्रियार्थदर्शित्व की सिद्धि होती है। कुमारी आदि के विवक्षितसंसर्गभेदप्रतिपादक वाक्य के समान अपेक्षाबुद्धि से रहित का भी (वाक्यत्व) सम्भव है। और संख्या, परमाणु के आरम्भ के निराकरण के द्वारा ही निराकृत कर दी गई। इसलिये कार्य आदि ब्रह्म का लिङ्ग नहीं है।

(पू) "उसका सर्वज्ञबीज निरतिशय है।" सातिशय ज्ञान शक्ति एवं ऐश्वर्य का, कहीं निरतिशयत्व होता है, परिमाण के सामान—इस प्रकार निरतिशय ज्ञान आदि के आधार ईश्वर की सिद्धि होती है—यह योग (दर्शन) का अनुमान है। (उ) वह भी असमञ्जस है। क्योंकि राग आदि के समान सातिशयत्व अन्यथा भी सम्भव है। अन्यथा निरतिशयरागादिमान् (व्यक्ति) भी ईश्वर हो जायगा और राग आदि के अनीश्वर में निरतिशय होने पर ज्ञान आदि भी वैसे ही हो जायेंगे। इसलिये स्वतन्त्र अनुमान भी ब्रह्म में प्रमाण नहीं है।

[ब्रह्म के उपमानगोचरत्व का निरास—]

जिसने नगर में गोपिण्ड का अनुभव किया है वह वन में गया है, और साक्षात् गवय को देख रहा है। उसको 'इसके समान मेरी गौ है'—ऐसा प्रत्यक्ष गवयसादृश्यविशिष्ट रूप में असन्निकृष्ट गोपिण्ड का ज्ञान उपमान है।

सदृशी मदीया गौः' इति प्रत्यक्षगवयसादृश्यविशिष्टतया सन्निकृष्टगोपिण्डग्रहणमुपमानम्। न च वाच्यम्—भूयोऽवयवसामान्ययोग एव सादृश्यम्, तच्च बुद्ध्यनारूढेऽपि प्रतियोगिनि गोत्ववत् निर्विकल्पकेनाकलितं पुनर्गवयस्य प्रतियोगिनो दर्शने परामृश्यते सविकल्पकेन तत्र किमपरमवशिष्यते यत्रोपमानमिष्यत इति; गोत्वेऽपि निर्विकल्पकानुभवस्य विशिष्टप्रत्यभिज्ञानुपपत्तिबलेन गम्यमानत्वाङ्गीकारात्। अतोऽपरिकलितनिर्विकल्पकानुभवबलेनैव प्रत्यभिज्ञोपपादनम् न विना पाण्डित्यात्; तदुक्तम्—

"तत्रार्थापत्तितः पूर्वं दृष्टोऽयमिति गम्यते।
नैव हि प्रागदृष्टेऽर्थे प्रत्यभिज्ञानसम्भवः॥"

अथ "सादृश्यज्ञानकरणकं ज्ञानमुपमानम्' इति स्वीकारात्; तथा च एतस्य तत्सदृशत्वान्यथानुपपत्तिरेव तस्यैतत्सदृशत्वं गमयति इति नोपमानावकाश इति? मैवम्; विनाऽपि प्रत्यक्षागमाभ्यां व्याप्तिग्रहं प्रथमत एव झटिति 'अनेन सदृशी मदीया गौः' इति प्रमोदयात् सर्वव्याप्तिनिरपेक्षत्वावधारणात्। तथा (च[1]) लक्षणखुरादि-

भावदीपिका

मन्तर्भावं निराचष्टे—न चेति। संप्रतिपन्ना हि प्रत्यभिज्ञा स्मृतिर्वा पूर्वानुभवं गमयति; न चोपमानवादिनं प्रति सम्प्रतिपत्तिरस्ति। अथाऽयोग्यत्वान्निर्विकल्पकानुभवः पूर्वं सम्पाद्यते निर्विकल्पकानुभूतेऽपि सहकारिविशेषात् सविकल्पकप्रत्यभिज्ञादिकं च? तत्राऽपि सादृश्यविशिष्टगोपिण्डस्येन्द्रियाऽसन्निकृष्टत्वात् प्रत्यभिज्ञापक्षस्तावद् दुःस्थः। सहकारी चाऽधिकांशज्ञान एव वक्तव्यः संस्कार इव प्रत्यभिज्ञायाम्; कथमपरया स्मृतौ तत्तोल्लेखः स्यात्? पूर्वं च सविकल्पकाऽनुभवाऽसम्प्रतिपत्तेः। ततः स्मृतिपक्षोऽपि दुःस्थ एव।

तथाऽपि न पृथगुपमानसिद्धिरिति शङ्कते—अथेति। अर्थापत्तेः किं व्याप्त्युपजीवनमप्यस्ति? न वा? नाद्यः—इत्याह—विनाऽपीति। द्वितीयं प्रत्याह—तथा चेति। यदि

ज्ञानवती

(पू) भूयोअवयवसामान्ययोग ही सादृश्य है, और वह बुद्धि में आरूढ न होने पर भी प्रतियोगी में गोत्व के समान निर्विकल्पक से अनाकलित होकर फिर गवय के प्रतियोगी का दर्शन होने पर सविकल्पक से परामृष्ट होता है। वहाँ दूसरा क्या बचता है जहाँ उपमान होगा?

(उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। गोत्व के विषय में भी विशिष्ट प्रत्यभिज्ञा की अनुपपत्ति के बल से निर्विकल्पक अनुभव का भी गम्यमानत्व स्वीकार किया गया है। इसलिये अपरिकलित निर्विकल्पक अनुभव के बल से ही प्रत्यभिज्ञा का उपपादन विना पाण्डित्य के नहीं हो सकता। वही कहा है—

"वहाँ अर्थापत्ति से 'यह पहले दृष्ट है' यह गम्य होता है। क्योंकि पहले न देखे गये अर्थ में प्रत्यभिज्ञान संभव नहीं है।"

(पू) 'सादृश्यज्ञानकरणक ज्ञान उपमान है' ऐसा माना जाता है। इस प्रकार—अमुक की तत्सदृशत्वान्यथानुपपत्ति ही अमुक का एतत्सदृशत्व बतलाती है—इस प्रकार का

१ (क) तथा, (ख) तथा च।

साहश्यज्ञानं शब्दविज्ञानवन्न स्यात् सदृशत्वान्यथानुपपत्त्या यथोक्तार्थज्ञानहेतुः। अतो नार्थापत्तिरुपमानम्; ब्रह्म च "न तस्य प्रतिमा", "न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते" इत्यागमान्नोपमानगम्यम्।

"आदित्यवर्णम्" इत्यत्र न भास्कररूपवत्त्वसाधर्म्यं प्रतिपाद्यते; ब्रह्मणो नीरूपवत्त्वात्। नापि तेजोद्रव्यात्मना सालक्षण्यम्,—"तत्तेजोऽसृजत" इति कार्यकारणभावश्रुतेः इति वाच्यम्; विवर्त्तकार्यस्य साहश्यनियमाभावात्। न च प्रकाशनक्रियासाहश्यम्; निष्क्रियत्वात्। एतेन आत्मकार्यत्वादि[1] व्याख्यातम्। अङ्गुष्ठाकाशोपमानं च "ज्यायानाकाशात्" इत्यादिना प्रतिषिद्धम्। तस्मान्मन्दप्रतिबोधनार्थं यत्किञ्चित्साहश्यमारोप्यते। आरोपितञ्च न प्रमाण(-गोचरम्[2]), अतोनेदमुपमान(-गोचरम्)[3]।

भावदीपिका

साधर्म्यज्ञानमात्रात् साधर्म्यज्ञानमिव वैधर्म्यज्ञानं जायते, तर्ह्युपमानशब्देन दृष्टान्तशब्देन वैधर्म्यदृष्टान्त इव संगृहीतम् इति साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेयं प्रसज्यते। "अर्थापत्तिरियं व्यक्तमिति चेत् प्रकृतं न किम्।"—इत्यधिकप्रमाणाऽपादनमसमञ्जसमित्याशयेनाह—अत इति। उपमानाऽगम्योऽप्यस्तीति—अत आह—आदित्येति। संभावितप्रकारैः सादृश्यासम्भावान्नोपमानप्रमाणकं ब्रह्मेति संक्षेपः।

ज्ञानवती

अवकाश नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष एवं आगम के विना भी व्याप्ति का ज्ञान 'इसके सदृश हमारी गाय है' इस प्रमा का उदय होने से, सर्वव्याप्ति निरपेक्षत्व का निश्चय होने से, हो जाता है और इस प्रकार लक्षण खुर आदि के सादृश्य का ज्ञान शब्दविज्ञान के समान सदृशत्व की अन्यथानुपपत्ति से यथोक्त अर्थ (=गो) के ज्ञान का हेतु नहीं होगा। इसलिये अर्थापत्ति उपमान नहीं है।

और ब्रह्म "उसकी प्रतिमा नहीं है", "उसके समान या उससे अधिक नहीं दिखाई देता" इस आगम से उपमानगम्य नहीं है। "आदित्य के समान" यहाँ पर भास्कर रूपवत्त्वसाधर्म्य नहीं प्रतिपादित होता क्योंकि ब्रह्म नीरूप है। तेजोद्रव्यात्मरूप से भी सालक्षण्य है क्योंकि "उसने तेज को बनाया" ऐसी कार्यकारणभाव की श्रुति है? ऐसा भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि विवर्त्तकार्य में सादृश्य का नियम नहीं है। प्रकाशनक्रियासादृश्य भी नहीं है; क्योंकि वह (=ब्रह्म) निष्क्रिय है। इससे आत्मकार्यत्व आदि का भी व्याख्यान हो गया। अङ्गुष्ठ, आकाश का उपमान भी "आकाश से ज्यायान् है" इत्यादि के द्वारा प्रतिषिद्ध है। इसलिये मन्द के प्रतिवोध के लिये जिस किसी सादृश्य का आरोप किया जाता है। और आरोपित (पदार्थ) प्रमाण का विषय नहीं होता। इसलिये यह उपमान का विषय नहीं है।

---

[1] (ख) वर्ष। [2] (क) गोचरः, (ख) गोचरम्।
[3] (क) गोचरः, (ख) गोचरम्।

[ब्रह्मणः अर्थापत्तिगोचरत्वनिरासः–]

एवं नार्थापत्तेरपि (गोचरं[1]) ब्रह्म। अन्यथाऽनुपपद्यमानदर्शनादुपपादके बुद्धिरर्थापत्तिः। यथा जीवतो देवदत्तस्य गृहेऽभावदर्शनात् बहिस्सत्त्वाधिगतिः।

अथ देवदत्तो बहिरस्ति, जीवने सति गृहनिष्ठाभावप्रतियोगित्वात्, सम्मतवत् इत्यनुमानमेव; एतत्गृहनिष्ठाभावानवधारणे[3] च कल्पकाभावाद् अर्थापत्तेरनुदयप्रसङ्गात्? मैवम्; उत्प्रेक्षिकावयवैरनुमानत्वप्रसङ्गेऽतिप्रसङ्गाद् प्रसङ्गोन्नेयानुमानवादोच्छेदात्। पक्षधर्मत्वादिबोधस्य बहिःसत्त्वबोधाधीनत्वे च परस्पराश्रयत्वम्। तदाहुः—

भावदीपिका

[ब्रह्मण अर्थापत्तिगोचरत्वनिरासः—]

अनुपपद्यमानान्तरादिबुद्धिव्यवच्छेदार्थम्—उपपादक इति। उपपादकदृष्टचादिविषयाऽऽप्तवाक्यादिबुद्धिव्यवच्छेदाय—अनुपपद्यमानदर्शनादिति। पृथक्त्वाऽऽक्षेपं पराकरोति—मैवमिति। 'नेदं निरात्मकं जीवच्छरीरम्, अप्राणादिमत्त्वप्रसङ्गात् लोष्टवत्' इति प्रसङ्गद्वारेण केवलव्यतिरेकी। 'विमतं सात्मकं प्राणादिमत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा लोष्टम्' इत्येवंरूपो यथाऽनुमानम्, एवमत्राऽवयवोत्प्रेक्षायां प्रसङ्गोन्नेयत्वं न स्यात्; प्रसङ्गस्य स्पष्टानुमानप्रसङ्गात्। नहि तेनैव तदुन्नेयं सम्भवति। तदाह—प्रसङ्गेऽतीति। किञ्चाऽनुमानस्य पक्षधर्मताऽदिग्रहपूर्वकत्वात्। अत्र च पक्षधर्मताग्रहो न तावत् प्रत्यक्षेण, पक्षस्याप्रत्यक्षत्वात्; नाऽप्यनुमानेन, 'देवदत्तो जीवने सति गृहनिष्ठाभावप्रतियोगी' इति प्रतिज्ञायां लिङ्गाभावात्। न च देवदत्तत्वं लिङ्गम्? गृहाऽवस्थिते तस्मिन्नेव व्यभिचारात्। अथ बहिःसत्त्वे सतीति विशेषणान्न दोषः? तत्राऽऽह—पक्षधर्मत्वादीत्यादि।

ज्ञानवती

[ब्रह्म के अर्थापत्तिविषयत्व का निरास—]

इस प्रकार ब्रह्म अर्थापत्ति का भी विषय नहीं है। अन्यथा अनुपपद्यमान का दर्शन होने से उपपादकविषयकबुद्धि अर्थापत्ति कहलाती है। जैसे जीवित देवदत्त का घर में अभाव देखने से बहिःसत्त्व का ज्ञान।

(पू) देवदत्त बाहर है, जीवित रहने पर गृहनिष्ठ अभाव का प्रतियोगी होने से, सम्मत के समान, (इस प्रयोग से) यह (=अर्थापत्ति) अनुमान ही है। क्योंकि एतद्-गृहनिष्ठ अभाव के अनिश्चय में कल्पक न होने से अर्थापत्ति का उदय नहीं होता। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि उत्प्रेक्षिक अवयवों से अनुमानत्व के प्रसङ्ग में अतिप्रसक्ति हो जायगी। इस कारण प्रसङ्गोन्नेय अनुमान का उच्छेद हो जायगा। और पक्षधर्मता आदि के ज्ञान के, बहिःसत्त्वज्ञान के अधीन होने पर अन्योन्याश्रय होने लगेगा। कहा भी है—

"यदि पक्षधर्मता आदिका विज्ञान बहिः (-सत्त्व के) ज्ञान से होता है तो उनसे उसका बोध होने से अवश्य अन्योन्याश्रयता हो जायगी।"

योग्यानुपलब्धिगम्य अभाव के देशान्तर में न रहने से व्याप्ति प्रत्यक्ष नहीं है और अनुमान

---

१ (क) गोचरः, (ख) गोचरम्। २ (ख) निष्ठभाव।

"पक्षधर्मादिविज्ञानं बहिःसम्बोधतो यदि।
तैश्च तद्बोधतोऽवश्यं अन्योन्याश्रयता भवेत्॥"[1]

न च योग्यानुपलब्धिगम्यस्याभावस्य[2] देशान्तरत्वाभावेन व्याप्तिः प्रत्यक्षा। अनुमानस्य च व्याप्तिसापेक्षत्वात्। अतोऽर्थापत्त्यैव देशान्तरे सत्त्वमवसाय कथञ्चिद् व्याप्तिग्रह इति कथमर्थापत्त्यपलापः? तदाहुः—

"तेन सम्बन्धवेलायां सम्बन्ध्यन्यतरो ध्रुवम्।
अर्थापत्त्याऽवगन्तव्यः पश्चादस्त्यनुमानता॥"[3][4]

इति। तस्मात् यथाकथञ्चिद् व्याप्तिमात्रमुपजीव्य प्रमां जनयन्ती अर्थापत्तिः नानुमानेऽन्तर्गममर्हति। ब्रह्म च नानयाऽपि गम्यते; तदन्तरेणानुपपद्यमानाभावात्।

भावदीपिका

शब्दोक्तव्याप्त्यसम्भवमाह—न चेति। यदाऽहमत्र तदा नाऽन्यत्र इति व्याप्तिग्रहोऽपीषत्कर इत्युदयनाचार्याः। तत्राऽभावस्य निराकरणात् न प्रत्यक्षं क्रमते। अथाऽनुमानं क्रमते? तत्राऽह—अनुमानस्य चेति। यथाऽनुमानं व्याप्तिसापेक्षं सा च व्याप्तिर्दुरधिगमा उक्तप्रकारेण, अत इत्युपसंहारः।

नन्वर्थापत्तेरपि व्यतिरेकव्याप्तिर्दुर्वारा 'उपरिदेशवृष्ट्याद्यभावा नदी पूराद्यभावात् वृष्ट्यादिपूर्वकत्वदर्शनाच्च'? मैवम्; व्याप्त्युपजीवनेऽपि तर्कवदनुमानबहिर्भावसम्भवात्। तेन विना नोपपद्यते इत्युक्तेऽर्थात् तत्सत्तयोपपद्यते इति चेद् व्याप्तिरापाद्यते? तत्रोच्यते—किमत्र व्यतिरेको विवक्षितः? किं वाऽन्वयः? नाद्यः; अनुमानान्तर्भावाय वह्न्यभावे धूमाभावस्य जलादौ दर्शनात्। पर्वते वह्निश्चेन्न स्यात्तर्हि धूमोऽपि न स्यादिति प्रसङ्गस्य व्यतिरेकव्याप्त्युपजीवित्वे अनुमानत्वाऽभावात्। नान्त्यः; गन्धविशेषाद्यन्वयोपजीवनेन विलीनघृताऽदिग्राहकप्रत्यक्षस्य प्रत्यक्षत्वमेव नाऽनुमानत्वम्—इत्यङ्गीकारात्। तेन युक्तमुक्तम्—यथाकथञ्चित् व्याप्तिमात्रमुपजीव्येति। अस्या ब्रह्मण्यनुपयोगं दर्शयन् प्रमाणसूत्रमवतारयति—ब्रह्म चेति।

ज्ञानवती

व्याप्तिसापेक्ष है; इसलिये अर्थापत्ति के द्वारा ही देशान्तर में सत्ता का निश्चय करके किसी प्रकार व्याप्ति का ज्ञान हो जाता है इसलिये अर्थापत्ति का अपलाप कैसे हो सकता है? कहा है—

"इसलिये सम्बन्ध के समय दूसरे सम्बन्धी को निश्चित ही अर्थापत्ति के द्वारा जानना चाहिये। वाद में अनुमान होता है।"

इसलिये जिस किसी प्रकार व्याप्तिमात्र को कारण मानकर प्रमा को उपपन्न करती हुई अर्थापत्ति अनुमान में अन्तर्भाव के योग्य नहीं है।

और ब्रह्म तो इसके द्वारा भी ज्ञात नहीं होता, क्योंकि उसके विना अनुपपद्यमान का अभाव है। ऐसा नहीं है कि प्रत्यग्रूप सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म के अभाव में कोई लौकिक या वैदिक क्रिया कर्त्ता आदि का व्यवहार उपपन्न-न होता हो। बल्कि उसके रहने पर ही होता है।

---

[1] श्लो०वा०पृ०४५७। [2] (ख) भावस्या।
[3] (ख) पश्चात् सानु। [4] श्लो० वा० १.४।२०६

न खलु प्रत्यग्रूपसच्चिदानन्दाद्वयब्रह्मव्यतिरेकेण लौकिको वा कश्चिद् वैदिको वा क्रिया-कर्त्रादिव्यवहारो नोपपद्यते, प्रत्युत तस्मिन् सत्येव; कारणत्वाधिष्ठानत्वादिरूपेणार्थापत्तिगम्यत्वेऽपि विवक्षितरूपेण तदगम्यत्वात्। तदेवं प्रमाणासत्त्वेन सप्तमरसादेरिव ब्रह्मणो सत्त्वाशङ्कायां भगवान् बादरायणः सूत्रयामास—

"शास्त्रयोनित्वात्" इति।

आम्नायप्रमाणकं ब्रह्म इत्यर्थसंक्षेपः।

"आम्नायतः प्रसिद्धिश्च कवयोऽस्य प्रचक्षते।"

इत्यभियुक्तोक्तेश्च। आम्नायो नाम शाब्दं प्रमाणम्; तदेव शास्त्रमत्रोक्तमिति। "शब्द-

भावदीपिका

"कारकाण्युपमृद्नाति विद्या बुद्धिमिवोषरे। तत्सत्यमतिमादाय कर्म कर्त्तुं व्यवस्यति॥" इत्याचार्योक्तेरुक्तात्मनो व्यवहारविरोधित्वं प्रत्युतेत्युक्तम्। तर्हि किं सर्वथाऽनुपयोगोऽर्थापत्तेः? तदा च भेदनिन्दाद्यन्यथाऽनुपपत्त्याद्युद्भावनं न स्यात्; जगद्वैचित्र्यान्यथाऽनुपपत्त्याद्यभिधानं च। तत्राऽऽह—कारणत्वेति। अत्र हि ब्रह्मणः शास्त्रकारणत्वे एव प्रतिपाद्ये समन्वयसूत्रे समन्वयप्रतिपाद्यं तदेवाऽनुवर्त्तेत; न चाऽनुवर्त्तित्वम्। न च वेदकारणत्वेनाऽसङ्कुचत्सर्वज्ञत्वनिरूपणार्थमेव? वेदसृष्टिवाक्ये अर्थसृष्टेरपि श्रवणात् जन्मादिसूत्रेणैव तदुपपत्तेः। न च जन्मादिसूत्रेऽर्थसिद्धं सर्वज्ञानं कुलालादेरिव, अत्र तु स्वविवर्त्तवेदस्य या प्रकाशनशक्तिः सा ब्रह्मण एवेति स्वरूपेण स्वसंसृष्टाऽशेषवस्तुप्रकाशकत्वलक्षणं सर्वज्ञत्वं निरूप्यत इत्यर्थभेदात् अगतार्थत्वम्। लक्षणप्रमाणयोरार्थिकार्थनिरूपणव्यवधानस्य प्रमाणोपन्यासेनाऽपि तल्लाभसम्भवेऽनुचितत्वात्।

अत एव प्रमाणोपन्यासपरत्वेन वर्णकान्तरं भाष्यकारैरकारि—इत्याह—आम्नायप्रमाणकमिति। अभियुक्ताः=मण्डनमिश्राः। आम्नायशब्दस्य स्मृत्यादिसंग्रहार्थं शाब्दप्रमाणव्युत्पादनाय च केवलवेदपरत्वं शास्त्रशब्दस्य च विवक्षितम्—इत्याह—आम्नायो नामेति। किंलक्षणं तत्?—इत्याकाङ्क्षायां अध्वरमीमांसागतमेव लक्षणमाह—शब्देति। मतभेदेन पदार्थं कथयन् परोक्तं दोषमुद्धरति—[1][शास्त्रमत्रेति]।

ज्ञानवती

कारणत्व अधिष्ठानत्व आदि रूप में अर्थापत्ति से गम्य होने पर भी विवक्षित रूप से वह अगम्य है।

तो इस प्रकार प्रमाण न रहने से सप्तम रस आदि के समान ब्रह्म के असत्त्व की आशङ्का होने पर भगवान् बादरायण ने सूत्र बनाया—

"शास्त्रयोनित्वात्"

इसका संक्षिप्त अर्थ है—ब्रह्म के विषय में आम्नाय प्रमाण है।

"कवि भी इसकी प्रसिद्ध आम्नाय से कहते हैं।"

यह अभियुक्त की उक्ति भी है। आम्नाय का मतलब है—शब्द-प्रमाण। यहाँ वह शास्त्र (शब्द से) कहा गया है। "शब्दविज्ञान से असन्निकृष्ट अर्थ में बुद्धि शाब्द कहलाती है"।

---

१ (क) शब्दमात्रेति।

संविज्ञानात्[1] असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धि शाब्दम्"। यद्विज्ञानमनुमानरूपम् न तत्राति-व्याप्तिः; व्याप्तिज्ञानस्यापि तत्र[2] भावात्।

[शब्दप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावस्तन्निराकरणञ्च--]

ननु बौद्धा योगाश्च नानुमानतः शब्दप्रमाणस्य भेदं मन्यन्ते। तथा हि—

"प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणेऽसदृशात्मना।
अप्रत्यक्षस्य सम्बन्धादन्यतः प्रतिपत्तितः॥"

असदृशात्मना[3] सम्बन्धादविनाभावात्। अन्यतः प्रामाणान्तरात् अप्रत्यक्षस्यार्थस्य प्रतिपत्तितः इति द्वयं (प्रमाणमिति[4])। अतः शब्दो नानुमानाद् भिद्यते।

"प्रत्यक्षान्यप्रमाणत्वात् तद्दृष्टार्थबोधनात्।
सामान्यविषयत्वाच्च त्रैकाल्यविषयाश्रयात्॥"

इच्छया विनियुज्यमानशब्दात् अर्थप्रतीतिवत् धूमादेरभावात् नानुमानं

भावदीपिका

[शब्दप्रमाणस्यानुमानेऽन्तर्भावस्तन्निराकरणञ्च—]

"शब्दविज्ञानात्"इत्यस्य तात्पर्यम् पक्षान्तरनिरासेन वक्तुं पूर्वपक्षयति—नन्विति। योगाः=संयुक्तपरमाण्वादिकारणवादिनो वैशेषिकाः। अप्रत्यक्षस्याऽर्थस्याऽनुमानादेव सिद्धेस्तृतीयप्रमाणाऽनवकाशः इति बाह्यवार्त्तिकार्थमाह—असदृशात्मनेति। प्रतिज्ञामात्रेणाऽप्रत्यक्षाऽर्थस्याऽनुमानगम्यत्वे च प्रमाणसंप्लवे अनेकप्रमाणसम्भवान्न भेदाऽभावसिद्धिः? तत्राऽऽह-प्रत्यक्षान्येति। प्रमाणसिद्धेऽन्तर्भावे सम्प्लवोऽप्यप्रमाणक इत्याशयः। सालक्षण्यवृद्धैर्लक्षणस्याऽपि दर्शनान्नैकान्तेनाऽन्तर्भावः?—इति शङ्कते--इच्छयेति। यथा सङ्केतमात्रेण शब्दस्य बोधकत्वं

ज्ञानवती

और विज्ञान अनुमान रूप है (इसलिये) वहाँ अतिव्याप्ति नहीं हैं, क्योंकि व्याप्तिज्ञान वहाँ पर भी है।

[शब्दप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव और उसका निराकरण—]

(पू) बौद्ध और योग मतवाले अनुमान से शब्द प्रमाण का भेद नहीं मानते। वह इस प्रकार—

"अप्रत्यक्ष का भिन्न रूप सम्बन्ध से, और दूसरे (प्रमाण) से ज्ञान होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाण हैं।

"असदृशात्मना" का मतलब है—अविनाभावसम्बन्ध से। "अन्यतः" का अर्थ है—प्रमाणान्तर से अप्रत्यक्ष धर्मी की प्रतिपत्ति से ये दोनों प्रमाण हैं। इसलिये शब्द अनुमान से भिन्न नहीं है। क्योंकि यह प्रमाण प्रत्यक्ष से अन्य है और तद्दृष्ट (=प्रत्यक्ष दृष्ट) अर्थ का बोध कराता है, तथा इसका विषय सामान्य है।

(पू) त्रैकाल्यविषय का आश्रय होने से एवं इच्छा के अनुसार शब्द का प्रयोग होने से

---

[1] (ख) संविज्ञानात्। [2] (ख) तथा।
[3] (ख) सदृशात्मना [4] (क) प्रमाणयति, (ख) प्रमाणमिति।

शब्द इति चेत् ? मैवम् ; यथेष्टविनियोगेन प्रतीतिजनकस्याप्यङ्गव्यापारस्यानुमानत्वात् , (हस्त-)संज्ञादयश्च[१] कृतसङ्केता अर्थं प्रतिपादयन्तो लिङ्गशरीराः । पदमप्येवम् । न चास्त्यज्ञातसम्बन्धं पदं किञ्चिद्प्रकाशकम् ; तेनानुमानान्न पृथक् प्रमाणं शब्द इति ?

भावदीपिका

न तथा धूमादेः; किन्तु पक्षधर्मताद्यपेक्षया । तेन पृथक्त्वमपि संभाव्यत इति न वक्तव्यम् व्यभिचारात्—इत्याह—मैवमिति ।

उक्तमाविष्करोति—हस्तसंज्ञादयः इति । 'ऊर्ध्वीकृततर्जन्या दशसंख्या ज्ञेया'—इत्यादिवचनात् आदिशास्त्रकृतो हस्तकादिसङ्केतो वाऽङ्गुल्यादिदर्शनादर्थविशेषप्रत्यायकः । तादृशश्च प्रत्यय आगमजन्य एवेति "समयबलात् सम्यक् परोक्षाऽनुभवसाधनमागमः" इति वदन् भूषणकारो भणति । तत्र सङ्केतितादधिकार्थप्रतीतेरभावात् स्मरणस्याऽऽगमप्रमाणफलेऽन्तर्गमः प्रसज्येत । प्रस्तुतसंसर्गाद्यधिकार्थप्रतीतेस्तद्द्योतकशब्दान्तराऽविज्ञानेऽनुमानफलतयैव पर्यवसानमिति मन्यमानः पदेऽप्युक्तन्यायमतिदिशति—पदमप्येवमिति । ननु 'गामानय'इति शब्दात् अपूर्वसंसर्गप्रतीतेः अनुमानफलत्वमसङ्गतम्; नह्यत्र व्याप्त्याद्यनुसन्धानमस्ति ? तत्राऽऽह—न चास्तीति । एतादृशप्रयोगे सङ्केतवेलायां गवानयनवाक्यार्थस्य ज्ञातत्वादत्यन्ताभ्यासात् व्याप्त्यनुसन्धानाऽभावेऽपि स्वार्थानुमानवदनुमानता न विरुध्यत इति भावः । तत्र बाह्येनाऽऽप्तबुद्धादिवाक्यानां प्रामाण्यं तावदिष्यते "देशना लोकनाथानाम्" इत्यादि वदता । तेषाञ्च प्रामाण्यमनुमानत्वेन । तथा शाब्दप्रमाणाऽन्तर्गतवेद्यप्रमाजनकवेदस्याऽवश्यकप्रामाण्ये पौरुषेयत्वे वा अनुमानाऽन्तर्गमो वक्तव्यः । तत्राऽपौरुषेयत्वे शब्दो गृहीताऽविनाभाव एव धूमवत्त्वादिवत् बोधकः; तेनाऽसावनुमानमेव; गृहीतसम्बन्धस्यैवं बुद्धेरुत्पत्तेः । "एते पदार्थाः मिथोः संसर्गवन्तः आकाङ्क्षादिमद्भिः पदैः स्मारितत्वात् 'गामानय' इति पदार्थवत्" इति । यद्वा "एतानि पदानि स्मारितपदार्थसंसर्गज्ञानपूर्वकाणि आकाङ्क्षादिमत्त्वे सति पदार्थस्मारकत्वात् गृहीतसङ्केतस्य वाक्यश्रवणसमनन्तरं यथार्थमेव 'उद्गामभ्याज'इति पदवत्" । न चैवमर्थाऽसिद्धिः ? ज्ञानाऽवच्छेदकतया तत्सिद्धेः ।

ज्ञानवती

अर्थप्रतीति के समान धूम आदि के (स्वेच्छापूर्वक अर्थप्रत्यायक) न होने से अनुमान शब्द नहीं है—यदि ऐसा (कहें) ?

(उ) ऐसा मत कहिये । यथेष्ट विनियोग के कारण प्रतीतिजनक भी अङ्गव्यापार अनुमान होता है । जिसके बारे में सङ्केत किया जा चुका है ऐसी हाथ (पैर) आदि संज्ञायें अर्थ का प्रतिपादन करती हुई लिङ्गशरीर हैं । पद भी ऐसा ही है । ऐसा नहीं है कि अज्ञातसम्बन्धवाला पद किसी का प्रकाशक होता है । इसलिये अनुमान से पृथक् शब्द प्रमाण नहीं है ?

(उ) इस विषय में समाधान है—

"यदि शब्द एवं अनुमान का लक्षण के द्वारा अभेद है तो वह लक्षण (घटित) न होने से वेदज्ञान अप्रमाण हो जायगा ।

१ (क) घुसंज्ञा, (घ) हस्तसंज्ञा ।

अत्र समाधिः—

"लक्षणेन त्वभिन्नत्वं यदि शब्दानुमानयोः ।
वेदज्ञानाप्रमाणत्वं स्यादतल्लक्षणत्वतः ॥
आप्तवादादिसंवादसामान्यान्नृवचस्सु हि ।
लक्षणेनानुमानत्वात् प्रामाण्यं सिद्धिमृच्छति ॥
वेदे त्वाप्तनराभावात् सम्बन्धानुभवादृते ।
लक्षणं नानुमानस्येत्यप्रामाण्यं[1] प्रसज्यते ॥"[2]

ननु "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादिवेदस्य यथार्थत्वात् अग्निहोत्रादिवाक्यमपि यथार्थं, वेदत्वात्, वायुक्षेपिष्ठवेदवत् इति चेत्? मैवम्; "आदित्यो यूपः" इत्यादौ व्यभिचारात्। मुख्यवृत्तित्वविशेषणे च मुख्यत्वं यथाप्रतीयमानार्थत्वं

भावदीपिका

न चैतद्युक्तम्; अविनाभावस्य शब्दार्थयोर्निराकरिष्यमाणत्वात् । गृहीतसङ्केतस्य वाक्यश्रवणसमनन्तरं विनाऽनुमानं वाक्यार्थप्रत्ययस्याऽनुभवसिद्धस्याऽनुमानिकत्वं दुःसम्पादम् । अथैवमप्यस्ति पूर्वं यदनेनाऽभाणि वाक्यं तद् यथार्थमासीत्; साम्प्रतमप्यनेनोच्यमानं यथार्थमेवेति ? तदपौरुषेयवेदे न युक्तम्—इत्याह—लक्षणेन त्विति । सम्बन्धाऽनुभवः यद्यदनेनोच्यते तत्तद्यथार्थमिति व्याप्तिज्ञानम् आप्तसंवादाभावेऽपि प्रमाणान्तरेणैकदेशसंवादादेकदेशान्तरस्य प्रामाण्यमनुमीयते चेत्तदप्ययुक्तम् । प्रत्यक्षस्यैवं प्रामाण्याऽनुमानेऽप्यनुमानत्वाऽनङ्गीकारात् व्यभिचाराच्चेत्याह—मैवमिति । अथ "आदित्यो यूपः" इत्यादेः प्रमाणान्तरविरोधेन घृताक्तयूपस्याऽऽदित्येन तेजस्त्वगुणसाम्यात् "आदित्यो यूपः" इत्यादिगुणवृत्तित्वस्वीकारादत्र मुख्यवृत्तित्वे सति वेदत्वं विवक्षितम्; ततो न व्यभिचार इति चेत् ? तत्र वक्तव्यम्—यथार्थमुख्य[-वृत्ति[3]-]त्वयोरर्थभेदोऽस्ति ? न वा ? नाद्यः; तदनिरूपणात् । प्रमाणान्तरविरुद्धार्थाऽऽदित्ययूपादिवाक्यव्यवच्छेदाय मुख्यावृत्तित्वम् । मुख्यार्थे बाधराहित्यं यथार्थत्वमेव यतो वक्तव्यम् । नान्त्यः—इत्याह—मुख्येति । अविनाभावाऽनिरूपणा चेत् ? न शब्दस्य

ज्ञानवती

आप्तवाद आदि के संवाद के तुल्य होने से पुरुष वाक्यों में आप्तत्व लक्षण के द्वारा अनुमान के कारण प्रामाण्य की सिद्धि होती है ।

वेद में तो आप्त मनुष्य न होने से सम्बन्ध के अनुभव के विना अनुमान का लक्षण (घटित) नहीं होता । इसलिये अप्रामाण्य प्राप्त होता है ।"

(पू) "वायु शीघ्रकारी देवता है।" इत्यादि वेद के यथार्थ होने से अग्निहोत्र आदि वाक्य भी यथार्थ हैं, क्योंकि वे वेद हैं, वायुक्षेपिष्ठवेद के समान ? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि "यूप आदित्य है" इत्यादि में व्यभिचार हो जायगा । 'मुख्यवृत्तित्व' विशेषण देने पर मुख्यत्व का मतलव है—यथाप्रतीयमानअर्थत्व । इस प्रकार साध्य से अवैशिष्ट्य है। इसके अतिरिक्त बाह्यों (=वौद्धों) के स्वभाव, कार्य एवं अनुपलब्धि तीन अंग होते हैं।

---

[1] (ख) लक्षणेनानुमानश्च । [2] श्लो० वा० पृ० ४१८ । [3] (क) व्यक्ति ।

इति साध्यावैशिष्ट्यम्। अपि च स्वभावकार्यानुपलब्धयः त्रीणि लिङ्गानि बाह्यनाम्। तत्र न शब्दार्थयोरनुपलब्धिसम्बन्धः; प्रमाणाभावात् प्रमेयाभाव इति ह्यनुपलब्धेर्गमकत्वम्; तयोश्च भावरूपत्वात्। द्वयोरेकतरस्य वा भावत्वे सम्भवति चेत्? तदपि नास्ति। न च अपोह एव शब्दार्थ इति विद्यत एवैकतरस्याभावत्वम्; अपोहस्याभावस्य भावान्तरत्वाभ्युपगमात्। अन्यापोहस्य तुच्छत्वे वाऽन्यशब्दार्थस्यापि तुच्छत्वं चेत्? सर्वं तुच्छमेव पर्यवस्येत्। अन्यन्तरापोहस्य च तस्य तस्य सत्त्वे न भावो नाम[1] भावान्तरादन्यः स्यात्। न च धूमाग्न्योरिव शब्दार्थयोः कार्यकारणसम्बन्धोऽस्ति। न चार्थविवक्षाजन्यत्वात् शब्दस्यार्थकार्यत्वम्; अन्यथा

भावदीपिका

लिङ्गत्वेनाऽर्थप्रमाणत्वम्—इत्याह—अपि चेति। यदि गृहे मार्जारप्रचारो नास्ति, सन्ति तर्हि मूषकाः सुखिन इत्येकतराभावेऽप्यनुपलब्धेः लिङ्गत्ववद् अत्र तन्न सम्भवति; द्वयोः सद्रूपत्वात्—इत्याह—तदपीति।

अथ मन्यते अस्त्येकतरस्याऽभावत्वम्? तत्राह - न चापोह एवेति। किं पीतादिव्यावृत्तिरेव नीलादिशब्दार्थः? किं वा तया कल्पितं नीलत्वम्?—इत्याह—तदपीति। सामान्यम्। द्वितीये कल्पितस्य बुद्धिसत्त्वाऽङ्गीकारान्नाऽन्यतरस्याऽप्येकान्ततोऽभावः। द्वितीयेऽप्यभावो भावान्तरमेव? तुच्छो वा? प्रथमेनाऽन्यतराभावलाभः—इत्याह—अपोहस्येति। द्वितीये यदपोहः तदपि तुच्छम्? सद्वा? नाद्यः—इत्याह—अन्यापोहस्येति। अन्यशब्दार्थस्य सद्रूपत्वं चेत्? तर्हि तस्याऽप्यन्तराऽपोहस्य तुच्छत्वं सत्त्वं चेति व्याघातः। किञ्च तुच्छस्य केवलस्याऽन्यविशेषणस्य वा शब्दार्थत्वेऽभावोऽ[-लीक[2]] इति वा नीलादिशब्दादुल्लेखः स्यात्। अनुल्लिख्यमानस्तु न भाववत्ततो विलक्षणः—इत्याशयेनाऽऽह—अन्यान्तरेति। तदेवं शब्दार्थयोर्नाऽन्यतरस्याऽपि असत्त्वमिति नाऽनुपलब्धिसम्बन्धः।

अथ शब्दस्य साक्षादर्थकार्यत्वाभावेऽपि द्वारभेदेन तदस्ति—इत्याशङ्क्याह—न चेति।

ज्ञानवती

उनमें से शब्द एवं अर्थ में अनुपलब्धि सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि प्रमाणाभाव से प्रमेय का अभाव ही अनुपलब्धि का गमक है, और वे दोनो (=शब्द तथा अर्थ) भावरूप हैं। दो में से एक का भाव रहने पर सम्भव होता है यदि ऐसा कहें? तो वह भी नहीं है।

(पू) अपोह (=तद्भिन्नभिन्नत्व) ही शब्दार्थ है इसलिये एकतर का अभाव तो है ही? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अपोहरूप अभाव भावान्तर माना जाता है। (पू) अन्य अपोह के तुच्छ होने पर अन्य शब्दार्थ भी तुच्छ हो जायगा? (उ) तब तो सब कुछ तुच्छ ही हो जायगा। और अन्य अन्यतर अपोह के तत्तद् सत्ता रुप होने पर भाव भावान्तर से अन्य नहीं होगा।

और न धूम और अग्नि के समान शब्द एवं अर्थ का कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध है। (पू) अर्थविवक्षाजन्य होने से शब्द अर्थ का कार्य है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अन्यथा विवक्षा करने वाले को भी अन्यथा शब्दप्रयोग करते देखा गया है।

---

1 (ख) नामतः। 2 (क) लाभ।

विवक्षतोऽप्यन्यथा [1]शब्दप्रयोगदर्शनात्। नापि वृक्षत्वशिंशपात्वयोरिवानयोः स्वभावप्रतिसम्बन्धः; एकार्थसमवायेन तादात्म्याभावात्; शब्दार्थयोरेकदेशकालनियमाभावात्; अविनाभावपक्षधर्मवत्तया च लिङ्गत्वे सिद्धेऽनुपलब्धित्वादेर्निर्लिङ्गत्वप्रयोजकत्वात्। लिङ्गभेदोऽप्यवैदिकस्यैव शोभते; कृत्तिकोदयस्य रोहिण्युदयासत्तिं प्रति स्वभावकार्यानुपलब्धित्वाभावेऽपि लिङ्गत्वात्[2] 'त्रीण्येव लिङ्गानि' इति नियमानुपपत्तेः। एतेन

"[यदनुमेयेन][3] सम्बद्धं प्रसिद्धञ्च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥"[4]

भावदीपिका

प्रतिसम्बन्धः=व्याप्तिः। जात्योः कार्यकारणभावाऽभावात् स्वाभाविकैकार्थसमवायस्यैवाऽविनाभावत्वं तादात्म्यं जातिरूपत्वेनैकरूपत्वम्। रूपरसादिवदेकार्थसमवायमात्रमप्यत्र नाऽस्ति—इत्याह—शब्दार्थयोरिति। अशिंशपाऽपोहस्य शिंशपाशब्दार्थस्य अवृक्षापोहस्य च वृक्षशब्दार्थस्य गम्यत्वं च। तयोश्च नैकस्वभावत्वम् कार्यकारणभावो वा; अन्यभेदाऽभ्युपगमात्। बुद्धेस्तद् वक्तुं न शक्यम्। कार्यत्वं च न धूमगतं गमकत्वप्रयोजकम्; धूमाद् वह्नेश्च धूमजन्माऽभ्युपगमेन व्यभिचारात्। ततो न लिङ्गस्य स्वभावत्वादि गमकत्वप्रयोजकम्; किन्त्वविनाभूतत्वमेवेति। लिङ्गत्रिभागोऽपि परस्याऽयुक्तः—इत्याह—अविनाभावेति। अस्तु लिङ्गाऽनियमः तथाऽपि काणादानां वेदस्य पौरुषेयत्वात् कोऽप्यविनाभावो वेदस्य लिङ्गत्वाऽपादको भविष्यतीति? अत आह—एतेनेति। यद्यद् वेदवाक्यमित्यादिव्याप्तिनिराकरणेनाऽपास्य इत्यन्वयः। परोक्तहेतूनामाभासत्वाच्च न शाब्दस्याऽनुमानाऽन्तर्भावसाध-

ज्ञानवती

(पू) वृक्षत्व एवं शिंशपात्व के समान इनमें स्वभावप्रतिसम्बन्ध है। (उ) ऐसा भी नहीं है। क्योंकि एक अर्थ के समवाय से तादात्म्य का अभाव है। शब्द और अर्थ के एक देश तथा एक काल के नियम का अभाव है। व्याप्ति के पक्ष में रहने से लिङ्गत्व के सिद्ध होने पर अनुपलब्धित्व आदि निर्लिङ्गत्व के प्रयोजक हैं। लिङ्गभेद भी अवैदिक को ही शोभा देता है। क्योंकि स्वभावकार्यानुपलब्धि के न रहने पर भी, कृत्तिकोदय के रोहिणी की उदयासत्ति के प्रति, लिंग होने से तीन ही लिंग है यह नियम अनुपपन्न हो जाता है।

इससे—

"जो अनुमेय (=पक्ष) से सम्बद्ध तथा तदन्वित (=सपक्ष में) प्रसिद्ध एवं तदभाव (=विपक्ष) में नहीं हो वह लिङ्ग अनुमापक होता है।"

अर्द्धवैनाशिक के द्वारा उपदिष्ट यह शब्द का लिङ्गलक्षणयोग भी अपास्त हो गया। और प्रत्यक्ष से अन्य प्रमाण, व्याप्ति आदि उपाधि से उपहित है। (पू) 'गामानय' इत्यादि शब्द में व्याप्ति आदि है? (उ) वैसा होने पर अनुमान वाक्य के समान (उसके) पाँच

---

१ (ख) कार्य दर्शनात्। २ (ख) लिङ्गत्वम्।
३ (क) अनुमेयेन। ४ प्र० पा० भा० अनु०।

इति अर्द्धवैनाशिकोपदिष्टलिङ्गलक्षणयोगोऽपि शब्दस्यापास्तः। प्रत्यक्षान्यप्रमाणत्वं च[1] व्याप्त्यादिमत्त्वोपाध्युपहितम्। न च 'गामानय' इत्यादिशब्दे व्याप्त्यादिकम्; तथा सत्यनुमानवाक्यवत् पञ्चावयवत्वं वक्तव्यम्। न च 'गाम्' इति प्रतिज्ञा, 'आनय' इति हेतुः इत्याद्यवयवकल्पनाऽस्ति। तेनोपाधेर्न साधनव्यापकत्वम्।

ननु विलीनघृतादिग्राहकप्रत्यक्षस्य गन्धादिव्याप्तिसापेक्षस्याप्यनुमानत्वाभावान्न साध्यसमव्यापकता, समव्यापकस्य चाचार्यसम्मतत्वात्—

"समासमाविनाभावावेकत्र स्तो यदा तदा।
समेन यदि नो व्याप्तिस्तयोर्हीनोऽप्रयोजकः॥"

इति? नैतत्; सर्वाङ्गत्वेन विवक्षितत्वात्; विप्रलम्भकवाक्यस्य प्रत्यक्ष-

भावदीपिका

कत्वम्—इत्याह—प्रत्यक्षेति। साधनव्यापकत्वं परिहरति—न चेति। शाब्दमात्रस्याऽन्तर्भावविवादे गवानयनाऽदिवाक्यस्य दृष्टान्तत्वं पूर्वोक्ताऽनुमानद्वयेऽनुपपन्नं द्रष्टव्यम्। "संस्थानेन घटत्वादि ब्राह्मणत्वादि जन्मतः। क्वचिदाचारतश्चापि समग्रं चाऽनुपालितात्॥ घृतं विलीनं[तत्रैव[2]]गन्धेन च रसेन च" इति न्यायाऽवष्टम्भेन शङ्कते—नन्विति। "एकसाध्याऽविनाभाव"—इत्यादि उदयनलक्षणं यद्यपि समासमव्यापकसाधारणं तथाऽपि भट्टोक्तं समव्यापकाऽवष्टम्भेनैवेति। तदुदाहरति—समासमेति। कस्यचित् प्रत्यक्षत्वसाधने प्रमेयत्वहेतोः साध्यसमव्यापकत्वमस्तीति तस्याऽप्युपाधित्वप्रसक्तावाह - समेनेति। समव्यापकेनोपाधिना यदि नो व्याप्तिस्तर्हि हीनो=यत्र साध्यं तत्राऽयम्; यत्राऽयं तत्र साध्यमिति समव्याप्तावपि विवक्षितव्यतिरेकव्याप्त्यभावेन न्यूनोऽप्रयोजकः साध्यस्य प्रमेयत्वादिः; पक्षे तदभावेऽप्युपाधिभावाऽङ्गीकारात्। तेन 'साधनाव्यापकत्वे सति साध्यसमव्यापकत्वम्' उपाधेर्लक्षणं व्यतिरेकमन्तर्भाव्य [न][3]साध्यसमव्यापकत्वमात्रम्; येन प्रमेयत्वादौ प्रसक्तिः।

विशिष्टोपाधेः प्रत्यक्षेऽभावान्न साध्यव्यापकत्वम्—इत्याह—नैतदिति। हेत्वन्तरं व्यभिचारयति—विप्रलम्भकेति। तद्दृष्टबोधनादित्यर्थप्राप्तेर्विवक्षितत्वान्न व्यभिचारः—

ज्ञानवती

अवयवों को कहना पड़ेगा। किन्तु 'गाम्' यह प्रतिज्ञा 'आनय' यह हेतु, इत्यादि अवयव की कल्पना नहीं है। इसलिये उपाधि, साधन का व्यापक नहीं है।

(पू) गन्धादिव्याप्तिसापेक्ष भी विलीनघृतआदिग्राहक प्रत्यक्ष के अनुमान न होने से साध्यसमव्यापकता नहीं है। और समव्यापक आचार्यसम्मत है —

"जब सम एवं विषम अविनाभाव एकत्र हों तो यदि सम से व्याप्ति नहीं है तो उन दोनों में हीन (व्याप्ति का) प्रयोजक नहीं होता।"

(उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि विप्रलम्भक वाक्य सर्वाङ्गत्वेन विवक्षित नहीं है और प्रत्यक्षदृष्ट अर्थबोध भी अनुमान प्रमाण नहीं होता। (पू) यदि अर्थबोधन (का मतलब) अर्थाव्यभिचरितत्व है? (उ) तो "मणि एवं प्रदीप प्रभाओं को (मणि समझकर······

[1] (ख) प्रत्यक्षान्यथा। [2] (क) विलीनं गन्धेन। [3] (क) भाव्य साध्य।

दृष्टार्थबोधकस्याप्यनुमानप्रमाणत्वाभावाच्च। अर्थबोधनमर्थाव्यभिचारित्वं[१] चेत्? "मणिप्रदीपप्रभयोः" इत्युक्तमिथ्याज्ञाने व्यभिचारः। सामान्यविषयत्वं च वाक्यरूपशब्दस्य नास्ति;

"सामान्यं हि पदं ब्रूते विशेषो वाक्यवक्तृकः।"

इत्याचार्यवचनात्। जातिविषयत्वं प्रत्यक्षस्याप्यर्धवैनाशिकमतेऽस्ति, अनुस्यूतवस्तुव्यवस्थापनाच्च। वैशेषिकमतेऽपि त्रैकाल्यविषयत्वं योगिप्रत्यक्षे व्यभिचरति।

[शब्दार्थयोः सम्बन्ध औत्पत्तिको न तु साङ्केतिकः—]

कस्तर्हि शब्दार्थयोः सम्बन्धः? "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"। यथा खलु व्रीह्यादीनां प्रोक्षणाद्याधेया फलविशेषजननशक्तिः न तथा शब्दे सङ्केताधेया शक्तिः अर्थप्रकाशनाय, किन्त्वनाधेया वह्नेरिव दाहकशक्तिः, सम्बन्धश्च सैव,

भावदीपिका

इत्यत आह—अर्थेति। अथ प्रमाणत्वे सति प्रत्यक्षाऽदृष्टार्थबोधकत्वमनुमानहेतुः तदाऽपि किञ्चित्प्रत्यक्षाऽदृष्टार्थत्वे प्रत्यक्षविशेषे व्यभिचारः। सर्वप्रत्यक्षाऽदृष्टार्थत्वं च योगीश्वरवादे सिद्धम्। अस्मदादिसर्वप्रत्यक्षाऽदृष्टार्थत्वविवक्षायां प्रत्यक्षमूलाऽऽप्तवाक्येष्वसिद्धिः। श्रोतुः प्रत्यक्षाऽदृष्टार्थत्वस्याऽपि पूर्वदृष्टगवानयनादिवाक्येष्वसिद्धिरित्याद्यूह्यम्। हेत्वन्तरमपवदति—सामान्येति। अनैकान्तिकञ्चैतत्—इत्याह—जातीति।

[शब्दार्थयोः सम्बन्ध औत्पत्तिको न तु साङ्केतिकः—]

प्रत्यक्षाऽन्यत्वे सति त्रैकाल्यविषयत्वं चेद् वेत्तुः तर्हि तादृशस्मृतौ व्यभिचारः। प्रमाणत्वविशेषणे च व्याप्त्यादिमत्त्वोपाधिरनुसन्धेयः। तथाऽपि सम्बन्धं विना अर्थप्रतिपादनेऽतिप्रसङ्गात् सम्बन्धो वक्तव्यः—इत्याह—कस्तर्हि इति। सूत्रेणैव उत्तरयति—औत्पत्तिक इति। बहूनामेकं घटं प्रत्यक्षयतां इन्द्रियसंयोगभेदवन्नैकार्थे प्रतिज्ञानं शक्तिभेदः—इत्याह—

ज्ञानवती

श्लोक के द्वारा कथित) मिथ्याज्ञान में व्यभिचार हो जायगा। और वाक्यरूप शब्द का सामान्यविषयत्व है ही नहीं। क्योंकि—

"पद सामान्य को बताता है और वाक्य विशेष को बताता है।"

ऐसा आचार्य का वचन है। तथा अनुस्यूतवस्तु की व्यवस्थापना के कारण अर्धवैनाशिक मत में भी प्रत्यक्ष का विषय जाति है। वैशेषिक के मत में भी त्रैकाल्यविषयत्व योगिप्रत्यक्ष में व्यभिचरित होता है।

[शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध औत्पत्तिक है साङ्केतिक नहीं—]

तो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध क्या है? "शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध औत्पत्तिक (=स्वाभाविक) है"। जैसे व्रीहि आदि में प्रोक्षण आदि के द्वारा आधेय फलजननशक्ति होती है उस प्रकार शब्द में अर्थप्रकाशन के लिए शक्ति सङ्केत से आधेय नहीं है। किन्तु वह्नि की दाहक शक्ति के समान अनाधेय है। और वही सम्बन्ध है। वार्तिक भी है—

---

१ (ख) अर्थव्यभिचा–।

"शक्तिरेव हि सम्बन्धः" इति वार्त्तिकाच्च। (किञ्च[1]) बहूनामेकविधशब्दमाकर्णयतां बहुधा कल्पनेष्यते। यदि च सङ्केताधेया शक्तिः तदा सङ्केतात् प्राक् अर्थप्रकाशनाभावात् 'अस्यार्थस्यायं शब्दो वाचकः' इति सङ्केत एव नावतरेत्।

अथेश्वरेण सर्गादौ कृतसङ्केतशब्दाच्छात्रादिपारम्पर्येण लोकेषु प्रवर्त्तमाना यावदद्य व्यवहारं निर्वहन्ते, तदाऽपीश्वरः कल्पान्तरीयशब्दार्थानुसन्धानेन शब्दसर्गं करोति चेत्, कल्पान्तरेष्वप्येवमित्यनाधेयैव शक्तिरापद्यते; अन्यथा प्रतिकल्पमन्यथाऽन्यथा कल्पने "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इति स्वोक्तिव्याघातो भगवतः। तस्मात् सङ्केतः स्वारसिकशक्त्युन्मीलित एव, [अन्यथा] वह्नेरिव सन्निधिविशेषः धर्मादेरपि

भावदीपिका

बहूनामिति। लाघवादप्येवम्—इत्याह—किन्त्विति। नो खलु अङ्गुल्यादिसंयोगवद्वह्नेः शक्तिभेदः। एवं शब्दशक्तेरपि लाघवादेकत्वम्। शक्तिसम्बन्धोऽप्यागन्तुकः किं तदा स्यात्?—अत आह—यदि चेति।

सङ्केतव्यक्तिभेदात् प्रतिपुरुषं शक्तिभेदे शब्दस्यैकस्मिन् अर्थेऽप्यनन्तशक्तिप्रसङ्गः। अथ एक एव सङ्केतः शक्त्याधायकः?—इति शङ्कते—अथेति। अस्मिन् पक्षे अर्वाचीनसङ्केतवैफल्यम्। अथ शक्त्युन्मीलकत्वेन साफल्यम्? तर्हि ईश्वरसङ्केतोऽप्युन्मीलक एवाऽस्तु, एकरूपत्वलाभाद्युक्त्यन्तराऽनुग्रहाच्च—इत्याह—तदाऽपीति। "ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः। शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः।"—इत्यादिशास्त्राच्च पदाऽऽरूढानामेकरूपनामादेः प्रतिकल्पमवगमान्नेश्वरस्याऽपीच्छया सङ्केतो निरङ्कुशः। इतश्चैवम्—इत्याह—धर्मादेरपि इति। "तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्", "पुण्यः पुण्येन कर्मणा" इत्यादिश्रुतेः [2][पद-]स्येश्वरेण प्रतिकल्पं सङ्केतभेदे क्रियमाणे कलौ हीनवर्णान् ब्राह्मणत्वेन ब्राह्मणांश्च हीनवर्णत्वेन स्थापयिष्यति। "भूपालाः" इत्यादिपुराणात् अधर्मे धर्मसंज्ञा धर्मे

ज्ञानवती

"शक्ति ही सम्बन्ध है"। इसके अतिरिक्त एक प्रकार के शब्द को सुनने वाले अनेक लोगों को बहुत प्रकार की कल्पना होती है। यदि शक्ति सङ्केताधेय है तो सङ्केत से पहले अर्थ का प्रकाशन न होने से 'इस अर्थ का वाचक यह शब्द है' यह सङ्केत ही अवतरित नहीं होगा।

(पू) ईश्वर के द्वारा सृष्टि के आदि में सङ्केत किये गये शब्दों से शास्त्रादिपरम्परा के द्वारा लोक में प्रवर्त्तमान (शब्द) आज तक व्यवहार का निर्वाह करते हैं तो भी ईश्वर कल्पान्तरीय शब्द एवं अर्थ के अनुसन्धान से शब्द की सृष्टि करता है? (उ) तो कल्पान्तरों में भी ऐसा ही (होता है) इस प्रकार अनाधेया शक्ति का ही आपादन होता है। अन्यथा प्रत्येक कल्प में दूसरी-दूसरी कल्पना होने पर "ब्रह्मा ने यथापूर्व कल्पना की" इस भगवत् की अपनी उक्ति का ही व्याघात हो जायगा। इस कारण सङ्केत स्वाभाविक शक्ति से ही उन्मीलित है। अन्यथा वह्नि के सन्निधिविशेष के समान कल्पान्तरीय धर्म आदि भी अन्यथा हो जायेंगे (अर्थात् जैसे प्रतिरोधक चन्द्रकान्तमणि के पास में आने पर वह्नि शीतल

---

[1] (क) वार्त्तिकाच्च बहू। (घ) वार्त्तिकाच्च किञ्च बहू। [2] (क) यद।

कल्पान्तरीयस्यान्यथात्वापत्तेः; अस्मिन् कल्पेऽकस्मात् सुखदुःखोदयप्रसङ्गश्च। अत एव चक्षुरादीनामिव शब्दस्याविनाभावसम्बन्धमन्तरेणैव स्वार्थप्रकाशकत्वात् नानुमानान्तर्गमः। गवादि(-शब्दाः[१]) जातेः, आकाश(-शब्दो[२]) व्यक्तेः, दण्डयादि-शब्दाश्चोपाधेः प्रकाशनसमर्थाः। दण्डाद्युपाधेरनित्यत्वेऽपि तद्गतदण्डत्वादि-जातेर्नित्यत्वात् जातिवाचकशब्दवदुपाधिशब्देऽपि सम्बन्धनित्यत्वं च युक्तम्। तदेतदाह—'शब्दविज्ञानात्' इति।

ये त्वाहुः—आप्तोपदेश आगमः; आप्तश्च प्रमाणान्तरेणामुमर्थमुपलभ्य तत्र वाक्यं रचयति; ततश्च मूलप्रमाणपुरस्कारेणैव शब्दोऽर्थप्रकाशक इति; तेऽपि प्रतिबोधनीयाः-स्वयमननुभूतार्थेऽपि[३] 'नूनमनेनानुभूतोऽसौ' इत्याप्तोक्तिनिबन्धना प्रमाणान्तर-

भावदीपिका

[वाध[४]-]संज्ञेति पुण्यापुण्यसुखदुःखानां नियतकार्यकारणभावाऽसिद्धेरप्रामाण्यं प्रसज्येत। न च शक्तिसामर्थ्यात् अधर्मोऽपि सुखाय इत्यादिकल्पना युक्ता; "धाता यथापूर्वम्" इत्यादिविरोध-स्योक्तत्वादित्यर्थः। यत एव स्वाभाविकसामर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः शब्दस्यार्थेन; स चोन्मीलना-पेक्षोऽपि नाऽविनाभावः, तल्लक्षणविकलत्वात्; प्रकारान्तरेण शब्दार्थयोरविनाभावनिरासाच्च; चक्षुरादेश्च सामर्थ्याऽतिरिक्तसंयोगादेर्निरूपणायाऽपेक्षणाच्च न तेषामपि सामर्थ्यमेव सम्बन्ध इति शङ्केति सिद्धं शब्दस्य पृथक् प्रामाण्यम्—इत्याह—अत इति। सामर्थ्यमर्थभेदेन विभजते—गवादिशब्दा इति। दण्डतत्संयोगशब्दयोः जातौ व्युत्पन्नत्वान्न दोषः। उक्तार्थं पदमवतारयति—तदेतदिति।

असन्निकृष्टपदतात्पर्यमाह—ये त्वाहुरिति। दूषणाय निर्धारयति—स्वयमिति। वाक्यार्थप्रमितिः [वक्तु[५]-]र्न प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षार्थे वाक्यप्रयोगायोगात्। अस्तु तर्ह्यनुमानेन? नैवम्; तादृगर्थे लिङ्गाऽनिरूपणात्; न च वाक्यत्वं लिङ्गम्—इत्याह—वाक्येति। यथा हि

ज्ञानवती

हो जाती है उसी प्रकार धर्म भी अधर्म हो जायेंगे) और इस कल्प में सुख और दुख का उदय अकस्मात् होने लगेगा। इसीलिये चक्षु आदि के समान शब्द के अविनाभाव सम्बन्ध के विना ही स्वार्थ का प्रकाशक होने से (शब्द का) अनुमान में अन्तर्गम नहीं होता। 'गौ' आदि शब्द जाति के, 'आकाश' आदि शब्द व्यक्ति के और 'दण्डी' आदि शब्द उपाधि के प्रकाशन में समर्थ हैं। 'दण्डी' आदि उपाधि के अनित्य होने पर भी उसमें वर्तमान दण्डत्व आदि जाति के नित्य होने से जातिवाचक शब्द के समान उपाधि शब्द में भी सम्बन्ध की नित्यता ठीक है। वही कहा है—

"शब्द के विज्ञान से—"

(पू) जो लोग कहते हैं— आप्त का उपदेश आगम है। और आप्त पुरुष प्रमाणान्तर से अर्थ को प्राप्त करके वहाँ वाक्य की रचना करता है। इसलिये मूलप्रमाण को सामने रख कर ही शब्द अर्थ का प्रकाशक है ?

---

१ (क) शब्दः, (घ) शब्दाः। २ (क) शब्दो, (घ) शब्दाः।
३ (ख) भूतार्थो। ४ (क) बोध। ५ (क) श्रोतु।

सम्भिन्ना बुद्धिर्जायते। तत्र विषयाप्रमितौ तद्व्यावृत्तस्य वक्तुरनुभवस्य प्रमित्यनुदयात्। वाक्यलिङ्गेन विशिष्टवाक्यार्थानुभवानुमानं च सव्यभिचारम्। तेन वक्तुरत्र भावस्य परिशेषात् वाक्यादेव वाक्यार्थप्रमितौ प्रमितस्य वाक्यार्थप्रमित्यङ्गत्वे परस्परापेक्षणम्; अप्रमितस्य च वाक्याप्रयोगहेतुत्वमेव। वक्तृज्ञानस्यैव च वाक्यार्थप्रमापकत्वे, पदानां, पदानन्तरसिद्धपदार्थानां वा, पदातिरिक्तस्य वाक्यस्य वा, वाक्यार्थप्रमितिसामर्थ्यकथा प्रावादुकानां प्रविलीयेत। अतो वक्तृज्ञानं तद्गतभ्रान्तिप्रमादादिदोषनिवारकतयैव[1] चरितार्थम्; आप्तस्यापि पुरुषत्वेन तत्सम्भवात्।

[वेदस्य पौरुषेयत्वनिरासः--]

यदपि शावरवचः—"पुरुषवचनात् एवमयं[2] पुरुषो वेद' इति प्रत्ययः [न]

भावदीपिका

ध्वनिविशेषश्रवणात् वक्तृविशेषाऽनुमानं, न तथा वाक्यश्रवणादेव वाक्यार्थज्ञानम्; अगृहीतसङ्केतानामदर्शनात्। अतो वाक्यश्रवणादेव तदर्थप्रमा वाच्या; सा चाऽनुपपन्ना—इत्याह—तेनेति। अस्तु तर्ह्यप्रमितस्य वक्तुरनुभवस्य वाक्यार्थप्रमित्यङ्गत्वम्; तथा च नान्योन्याऽपेक्षा? तत्राह—अप्रमितस्य चेति। आप्तप्रयोगस्याऽनुभवमूलत्वात् प्रयोगहेतुतदनुभवस्याऽपि वाक्यव्यापारादेव प्रमितिः?—इत्येतदपि न वाच्यम्—इत्याह—वक्तृज्ञानस्यैव चेति। स्वपक्षस्योपपादयितुमशक्यत्वात् नायमिष्टप्रसङ्गः। नन्वाहार्याऽऽरोपेणाऽपि विप्रलम्भकवाक्यप्रयोगसम्भवात् आप्तवाक्याऽर्थप्रमा कुत्र उपयुज्यते? तत्राह—अत इति। अर्थव्यभिचारनिवारकतया जातमपि आप्तज्ञानं उपयुक्तम्।

[वेदस्य पौरुषेयत्वनिरासः—]

भाष्यकारवचनमपि उक्ताऽनुसारेण नेतव्यम्—इत्याह—यदपीति। प्रमाणान्तराऽ-

ज्ञानवती

(उ) उन्हें भी बताना चाहिये— स्वयं अननुभूत अर्थ के विषय में भी —'निश्चय ही इसने इसका अनुभव किया है' यह आप्तोक्ति हेतु वाली तथा प्रमाणान्तर से युक्त बुद्धि उत्पन्न होती है। क्योंकि वहाँ विषय की प्रमिति न होने से उससे व्यापृत वक्ता के अनुभव की प्रमिति नहीं उदित होती। और वाक्यलिङ्ग से विशिष्ट वाक्यार्थ के अनुभव का अनुमान व्यभिचार युक्त है। इसलिये यहाँ परिशेषात् वक्ता के भाव का, वाक्य से ही वाक्यार्थ की प्रमिति होने पर और प्रमिति के वाक्यार्थप्रमिति का साधक होने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है। और अप्रमित का हेतु तो वाक्य का अप्रयोग है ही। और वक्तृज्ञान के ही वाक्यार्थप्रमापक होने पर प्रावादुकों की पदों की अथवा पदानन्तर सिद्ध पदार्थों की अथवा पदातिरिक्त वाक्य की वाक्यार्थप्रमितिसामर्थ्यकथा ही विलीन हो जायगी। इसलिये वक्ता का ज्ञान उसमें रहने वाले भ्रान्ति, प्रवाद आदि दोष का निवारक होकर ही चरितार्थ हो जाता है। क्योंकि आप्त के भी पुरुष होने से वह (=दोष) संभव है।

[वेद के पौरुषेयत्व का निरास --]

(पू) और जो शबर स्वामी का वचन है—पुरुष के वचन से 'ऐसा वह पुरुष जानता

---

१ (ख) निराकरण। २ (ख) पुरुषवचनवेदमयम्।

त्वेवमयमर्थः"[१] इति ; तदपि वक्तृज्ञानस्याप्रामाण्यबोधाय । न प्रामाण्यमेव तदधीन-मिति व्याख्येयम् । यदाहुर्भट्टपादाः—

"प्रामाण्यस्थापनन्तु स्यात् वक्तृधीहेतुसम्भवात् ।'[२]

स्थापनम्=बाधराहित्यम् । प्रत्यक्षादि लक्षणकथनेन वेदार्थे त[-द-]सम्भव-प्रतिपादनमपि[३] न वेदस्यस्य प्रामाण्यायैव । किन्तु (स्वतः[४]—) सिद्धप्रामाण्यस्य प्रमाणान्तरसम्भवनिमित्तसन्देहादिबाधपरिहाराय । तदेतदाह—असन्निकृष्ट' इति। श्रोतुरनधिगतोऽ[५]बाधितश्चासन्निकृष्टः । तदाहुः—

"असन्निकृष्टवाचा च द्वयमत्र जिहासितम् ।
ताद्रूप्येण प्रतीतत्वं तद्विपर्ययतोऽपि च ॥"[६]

यदप्यूचुः[७]—(वक्तुरर्थविषयविवक्षाप्रमाणयो शब्दः प्रमाणं नार्थः तदुक्तं धर्मकीर्तिना-

"नान्तरीयकताभावात् शब्दानां वस्तुभिः सह ।
नार्थसिद्धिस्ततस्ते हि वक्त्रभिप्रायसूचकाः ॥"[८]

भावदीपिका

सम्भवज्ञानं वेदार्थे यथा तत्प्रमोपयोगाय तथा वक्तृज्ञानमपि वाक्यार्थप्रमोपयोगी ?—इत्याशङ्क्याह—प्रत्यक्षादीति । अवतारितमिदं व्याचष्टे—श्रोतुरिति । अर्थ इति पदव्यावर्त्यमाह—यदप्याहुरिति । शब्दस्य प्रामाण्यं शब्दत्वमात्रप्रयुक्तम् ? वक्तृगुणजन्याऽतिशय-

ज्ञानवती

है' ऐसा ज्ञान होता है, न कि यह अर्थ ऐसा है ? (उ) वह भी वक्तृज्ञान के अप्रामाण्य के बाध के लिये है । न कि प्रामाण्य ही उसके अधीन है—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। भट्टपाद ने कहा है—

"प्रामाण्य का स्थापन वक्ता की बुद्धि रूप हेतु से सम्भव है ।
स्थापन का अर्थ है— बाध से रहित ।······"

लक्षण के कथन से वेदार्थ में तत्सम्भव प्रतिपादन भी वेद के प्रामाण्य के लिये ही नहीं है। किन्तु स्वतःसिद्ध प्रामाण्य के प्रमाणान्तरसम्भव के निमित्त सन्देह आदि बाध के परिहार के लिये है। वही यह कहा है—"असन्निकृष्ट" इत्यादि। जो श्रोता को अधिगत न होने वाला और अबाधित है (वह) असन्निकृष्ट है । कहा भी है—

"असन्निकृष्ट वाणी से यहाँ पर ताद्रूप्येण प्रतीतत्व तथा तद्विपर्यय से भी (प्रतीतत्व) दोनों का त्याग अभीप्सित है ।"

और जो कहा—वक्ता की अर्थविषयविवक्षा एवं प्रमाण के विषय में शब्द प्रमाण है न कि अथ के विषय में। धर्मकीर्त्ति ने कहा है—

---

१ (ख) त्विच्छासमर्थं । २ (ख) वक्तृता । ३ (क) तत्स ।
४ (क) स्वः, (ख) स्वतः । ५ (ख) तो बाधितश्चासन्नि ।
६ श्लो० वा० १।२।१६७ । ७ (क) यदप्यूचः यदि शब्दस्य, (ख) यदप्यभूः वक्तुरर्थविषय—। ८ श्लो० वा० पृ० ३६२ ।

इति । [तस्या-]यमर्थः—यदि शब्दस्यार्थे प्रामाण्यं हन्त कस्मादनाप्तप्रणीतात् [1]वाक्यतो नार्थनिश्चयः प्रवृत्तिसामर्थ्यं वा ? नो खल्वाप्तानाप्तप्रणेतृकस्य 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति वचसः कश्चिदस्ति स्वरूपतो विशेषः। न च वक्तृगुणदोषा वचसः; किञ्च नासावुत्सहते विशेषम्; स हि शब्दस्य व्यक्तिमात्र एवोपयुज्यते[2] न पुनरस्य कार्येऽपि ; स तु तेनाभिव्यक्तः समर्थश्चेदर्थेऽपि निश्चयाय अनाप्तप्रयुक्तोऽपि स तादृश एव इति तमादधीत, स नादधानो वा नूनमसमर्थः। ततश्चाप्तप्रणीतालौकिकप्रमाणकारणे नान्तरीयककार्यात् तदनुमानान्मूलप्रामाण्याद्यनुमानान्मूलप्रमाणविवक्षाभ्यामनन्तरजायमानात् समर्थप्रवृत्तिकार्थजनकाच्छब्दादर्थसम्प्रत्ययो न त्वनाप्तप्रणीतात् तत् स्यात्। स्वभावस्य[3] तदुत्पत्तेश्च तन्नान्तरीयकताऽभावान्मूलप्रमाणाद्यविनाभावाभावात् तदनुमापकत्वाभावात् इति।

तदप्यनालोचिताभिधानम्; मध्यमवृद्धप्रवृत्तेरर्थैकनिष्ठत्वात् अर्थप्रमित्यभावे-

भावदीपिका

प्रयुक्तम् वा ? नोभयम्—इत्याह—यदीति। अनाप्तवाक्यस्य प्रमाणविवक्षाद्यननु[-मापकत्वं] कथम् ? तत्राह—ततश्चेति। किमर्थाविशेषितयोर्विवक्षामूलप्रमाणयोः शब्दप्रमाणम् ? तद्विशेषितयोर्वा ? नाद्यः—इत्याह—मध्यमेति। अर्थप्रमितेरुक्तप्रकारेण शब्दाद् विनाऽसम्भवात्

ज्ञानवती

"अर्थ के साथ शब्दों की नान्तरीयकता के अभाव के कारण अर्थसिद्धि नहीं होती। इस कारण वे वक्ता के अभिप्राय के सूचक होते हैं।"

इसका यह अर्थ है— यदि शब्द का अर्थ के विषय में प्रामाण्य है तो किस अनाप्तप्रणीत वाक्य से अर्थ का निश्चय या प्रवृत्तिसामर्थ्य नहीं है। आप्त एवं अनाप्त प्रणीत 'नदी के किनारे फल हैं' इस वचन का स्वरूपतः कोई विशेष नहीं होता। और न वचन के (गुण-दोष) वक्ता के गुण-दोष होते हैं। तथा यह शब्द विशेष का उत्साह भी नहीं करता। क्योंकि वह (=विशेष दोष) केवल शब्दव्यक्ति में ही उपयुक्त होता है न कि इसके कार्य में भी। और (यदि ऐसा कहें) कि वह उससे (=आप्त से) अभिव्यक्त होकर समर्थ होता है तो अनाप्तप्रयुक्त होने पर भी अर्थ के विषय में भी निश्चय के लिये वह (=शब्द) वैसा ही है, इसलिये उसको (अर्थप्रत्यय) कहेगा। और आधान न करता हुआ वह समर्थ नहीं होगा। इसलिये आप्त के द्वारा प्रणीत अलौकिक प्रमाण के कारण के होने पर नान्तरीयक कार्य उसके अनुमान से मूलप्रामाण्य आदि के अनुमान से मूलप्रमाण एवं विवक्षा के बाद जायमान समर्थ-प्रवृत्तिकार्यजनक शब्द से अर्थ का सम्प्रत्यय होगा न कि अनाप्तप्रणीत से वह (=कार्य) होगा। क्योंकि स्वभाव और उसकी उत्पत्ति उसकी नान्तरीयकता के अभाव (=अर्थव्याप्यत्वाभाव) से मूलप्रमाण आदि के अविनाभावाभाव से तदनुमापकत्वाभावरूप (=अर्थानुमापकत्वाभावरूप) है।

(उ) यह कथन भी अनालोचित है। मध्यमवृद्ध की प्रवृत्ति के अर्थैकनिष्ठ होने से

---

१ (ख) प्रणीतात् ततो नार्थं।

२ (ख) युज्यते तेन पुनः।

३ (ख) स्वभावः स्यात् तदु।

ऽनुपपत्तेः स्वयमुत्तमवृद्धो भूत्वाऽपि विवक्षादेः (प्रयोगहेतुतामेव[१]) जानाति न शब्दविषयताम्। तथा च शाब्दनिर्णयः[२]—

"प्रवृत्त्या न विवक्षाधीर्गम्यतेऽर्थैकनिष्ठया।
प्रयोगहेतुतामेव पश्चादपि समीक्षते॥"

इति। सविकल्पकप्रत्यक्षे च विनाऽपि विवक्षां शब्दोल्लेखः, विवक्षादेश्च प्रयोगलिङ्गगम्यतयाऽनन्यलभ्यत्वाभावान्न शब्दार्थत्वम्, विवक्षादिवाचकपदाभावाच्च; अपदार्थस्य वाक्यार्थत्वेऽतिप्रसङ्गाच्च। तस्माद् यथासामर्थ्यग्रहणमर्थ एव शब्दगोचरः अनाप्तवाक्यस्य च प्रणेतृदोषेणौत्सर्गिकार्थपरत्वस्यापवादमात्रत्वात्, (स्वतो[३]) अप्रत्यायकत्वे विधिसहस्रेणापि प्रत्यायकत्वादर्शनाच्च। अतश्चक्षुरादेरिव शब्दस्यौत्सर्गिकं यथार्थत्वम्, तेनार्थ एव शब्दो मानम्; तदेतदाह—अर्थ इति। अतः परिशुद्धं शब्दस्य लक्षणम्।

भावदीपिका

नान्योऽपि। किञ्च बालेन मध्यमवृद्धबोधाऽनुसारेण शब्दार्थो ज्ञातव्यः; तथा च न विवक्षादेः शब्दार्थत्वलाभः इत्याह—स्वयमिति। विवक्षाधीः शब्दान्न निश्चीयते। प्रवृत्तेरर्थैकनिष्ठायाः तदपरिज्ञानेऽनुपपत्तेरिति पूर्वार्द्धार्थः। शब्दस्य विवक्षाऽनुमापकत्वमप्यनेकान्तम्—इत्याह—सविकल्पकेति। युक्त्यन्तरादप्येवम्—इत्याह—विवक्षादेश्चेति। तदुक्तम्—यदि शब्दादर्थप्रतीतिस्तर्ह्यनाप्तप्रणीतात् कस्मान्न इति? तत्राह—अनाप्तेति। अर्थप्रत्यायकत्वस्य सङ्केतवेलायामग्रहे दोषाच्चार्थ एव प्रामाण्यमिति दर्शयति—स्वत इति।

ज्ञानवती

अर्थप्रमिति का अभाव होने पर अनुपपत्ति होने से स्वयं उत्तमवृद्ध होकर भी विवक्षा आदि की प्रयोगहेतुता को जानता है न कि शब्दविषयता को। शाब्दनिर्णय भी है—

"अर्थैकनिष्ठप्रवृत्ति से विवक्षा की बुद्धि नहीं जानी जाती। बाद में भी प्रयोगहेतुता की ही समीक्षा होती है।"

सविकल्पक प्रत्यक्ष में विना विवक्षा के भी शब्द का उल्लेख हो जाता है। विवक्षा आदि प्रयोगलिङ्ग से गम्य होने के कारण अनन्यलभ्यत्वाभाव तथा विवक्षादिवाचक पदाभाव होने से शब्दार्थ नहीं है, अपदार्थ के वाक्यार्थ होने पर अतिप्रसक्ति हो जायगी, इसलिये सामर्थ्यग्रहण के अनुसार अर्थ ही शब्द का विषय है; अनाप्तवाक्य प्रणेता के दोष से औत्सर्गिक अर्थपरत्व के अपवादमात्र हैं; स्वतः अप्रत्यायक होने पर विधिसहस्त्र के द्वारा भी प्रत्यायकत्व नहीं देखा जाता; इसलिये चक्षु आदि के समान शब्द का औत्सर्गिक यथार्थत्व है। इसलिये अर्थ में ही शब्द प्रमाण है। इसलिये कहा— अर्थः। इसलिये शब्द का लक्षण परिशुद्ध हो गया।

---

१ (क) विषयतामेव, (ख) हेतुतामेव। २ अयं प्रकाशानन्दकृतो ग्रन्थः।
३ (क) ततो, (घ) स्वतो।

[शब्दशब्दार्थनिरूपणम्—]

"शब्दविज्ञानात्" इत्यत्र शब्दशब्देन तज्जातिरुच्यते; पाचकादिशब्दवदवय[1]-वार्थाभावेनोपाध्यसम्भवात्। न च वाच्यम् अखण्डस्यापि 'इदम्' 'तद्' आदिशब्दस्य पुरोदेशसम्बन्धाद्युपाधिवदत्रापि श्रोत्रग्राह्यत्वं तटस्थोपाधिरभिधीयत इति; उपाधि-ज्ञानपूर्वकत्वात् औपाधिकशब्दप्रयोगस्य श्रोत्रग्राह्यत्वस्य च प्रत्यक्षाविषयत्वात्। अनुमानमपि[2] (तथा[3] हि)—विमतः शब्दः श्रोत्रग्राह्यः, शब्दत्वात्, सम्मतवत् इत्यन्वयव्यतिरेकी केवलव्यतिरेकी वा? उभयथा प्रथमशब्दप्रत्ययानुपपत्तेः। सामान्यस्य तु प्रत्यक्षत्वेऽपि न काचिदनुपपत्तिः इति तदेव शब्दशब्देनाभिधातव्यम्।

भावदीपिका

[शब्दशब्दार्थनिरूपणम्—]

एवं लक्षणपदानां सार्थक्यमुक्त्वा शब्दशब्दार्थं निर्वक्ति पक्षाभासनिरासाय—शब्देति। पचनक्रियादियोगोपाधेरिव शब्दाऽवयवोपात्तत्वाभावेऽपि उपाधौ शब्दार्थत्वमिष्टम्?—इत्याशङ्क्याह—न च वाच्यमिति। पुरोदेशादिसम्बन्धलक्षणोपाधेः परिज्ञाने सत्येवेदंतदादिशब्द-प्रवृत्तिदर्शनात्। अत्र चोपाधिपरिज्ञानं प्रत्यक्षात्? अनुमानाद्वा? नाद्यः—इत्याह—श्रोत्रेति। नान्त्यः—इत्याह—अनुमानमपीति। विमतः शब्द इति प्रतिज्ञाऽऽदिशब्दस्योपाध्यपरिज्ञाने परिज्ञानाऽयोगात् अनुमानस्यैवाऽप्रवृत्तिः—इत्याह—उभयथेति। शब्दत्वजातेस्तु प्रत्यक्षत्वान्न दोषाऽवकाशः—इत्याह—सामान्यस्येति।

ज्ञानवती

[शब्दशब्दार्थ-निरूपण—]

"शब्दविज्ञानात्" यहाँ पर 'शब्द' शब्द से उसकी जाति कही जाती है। क्योंकि पाचक आदि के समान अवयवार्थ न होने से उपाधि असंभव है। (पू) 'इदम्' 'तत्' आदि अखण्ड भी शब्द के पुरोदेश सम्बन्ध इत्यादि उपाधि के समान यहाँ भी श्रोत्रग्राह्यत्व तटस्थोपाधि कही जाती है?

(उ) ऐसा नहीं कहना चाहिए। क्योंकि औपाधिक शब्द का प्रयोग उपाधिज्ञान पूर्वक होता है और श्रोत्रग्राह्यत्व प्रत्यक्ष का विषय न होने से अनुमान है। इस प्रकार विमत शब्द, श्रोत्रग्राह्य है, शाब्दत्व के कारण, सम्मत (शब्द) के समान, यह (अनुमान चाहे) अन्वय-व्यतिरेकी है या केवल व्यतिरेकी, दोनो प्रकार से प्रथम शब्द प्रत्यय की अनुपपत्ति हो जाती है। सामान्य के तो प्रत्यक्ष होने पर भी कोई अनुपपत्ति नहीं है। इसलिये वही शब्द शब्द से कहा जाना चाहिये।

---

[1] (ख) अवयवार्थं। [2] (घ) अनुमानम्।
[3] (क) यथा। (ख) तथा।

[शब्दानित्यत्वं तन्निराकरणं च--]

अथ शब्दत्वाधारो नित्योऽनित्यो वा ? अनित्य इति तावदाह। तथा हि-- अयं शब्दो अनित्यत्वातिरिक्त-एतद्धर्मत्वरहिताधिकरणम, मेयत्वात्, घटवत्। अत्र[1] चानित्यत्वव्यतिरिक्तैतद्धर्मेष्वनित्यत्वव्यतिरिक्तैतद्धर्मत्वं नाम धर्मः, तद्रहितश्च पक्षावृत्तिर्वा[2] ? अनित्यत्वं वा ? तत्र प्रथमः पक्षो नोपसंहर्तुं शक्यः; पक्षावृत्तिः[3] पक्षे वर्त्तत इति व्याघातात्। तस्माद् द्वितीयमनित्यत्वं पक्षे सिद्धयति। अयं शब्दोऽनित्यत्वात्यन्ताभावव्यतिरिक्तैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वरहितात्यन्ताभावाधिकरणम्, मेयत्वात्, घटवत्। अत्र चानित्यत्वात्यन्ताभावव्यतिरिक्ताश्चते एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनश्च इति विग्रहः। तेषु वाऽनित्यत्वात्यन्ताभावव्यतिरिक्तैतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं नाम धर्मः, तद्रहितश्च पक्षवृत्तिर्वा स्यात्? अनित्यत्वात्यन्ताभावो वा ? आद्यस्यात्यन्ताभावः पक्षे व्याहतः। तेनानित्यत्वात्यन्ताभावात्यन्ताभावः पक्षे सिद्धयति। स चानित्यत्वमेव[4], इत्यनित्यत्वं पक्षे सिद्धयति।

भावदीपिका

[शब्दानित्यत्वं तन्निराकरणं च—]

तार्किकमतनिरासेन मीमांसकमतव्यवस्थापनाय विमर्शपूर्वकं तदुद्भावयति—अथेति। एतद्धर्मत्वरहितं प्रति एतस्याऽपि करणत्वं व्याहतमिति। तत उक्तम्—अनित्यत्वव्यतिरिक्तेति। अनित्यत्वव्यतिरिक्तत्वे सत्येतद्धर्मत्वरहितत्वमनित्यत्वस्याऽस्तीति न व्याघातः। एतन्निष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगित्वरहिताऽत्यन्ताऽभावाऽधिकरणमित्युक्ते व्याघात इति—अत उक्तम्—अनित्यत्वात्यन्ताऽभावव्यतिरिक्तेति। अनित्यत्वाऽत्यन्ताऽभावस्तु तद्व्यतिरिक्तत्वे सत्येतन्निष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगित्वरहितो भवतीति न व्याघातः। अनित्यत्वाऽत्यन्ताऽभावव्यतिरिक्तस्यात्यन्ताऽभावाधिकरणमित्युक्तेऽनित्यत्वस्य तदत्यन्ताभावव्यतिरिक्तत्वात् तदत्यन्ताऽभावाधिकरणत्वेन सिद्धसाधनत्वं स्यात्। अत उक्तम्—एतन्निष्ठाऽत्यन्ताऽभावप्रतियोगित्वरहितेति।

ज्ञानवती

[शब्द का अनित्यत्व और उसका निराश—]

शब्द का आधार नित्य है या अनित्य ? कहते हैं कि अनित्य है। वह इस प्रकार— यह शब्द, अनित्यत्वातिरिक्त एतद्धर्मत्वरहित का अधिकरण है, मेय होने से, घट के समान। यहाँ अनित्यत्वव्यतिरिक्त एतद्धर्मो में अनित्यत्वव्यतिरिक्त एतद्धर्मत्व नामक धर्म है और उससे रहित (धर्म) क्या पक्ष में अवृत्ति है या अनित्यत्व है ? उनमें से पहले का पक्ष में उपसंहार नहीं किया जा सकता क्योंकि पक्ष में न रहने वाला पक्ष में है—यह व्याघात हो जाता है; इसलिये पक्ष में द्वितीय अनित्य सिद्ध होता है। यह शब्द, अनित्यत्वात्यन्ताभाव से अतिरिक्त एतत्निष्ठ अत्यन्ताभाव के प्रतियोगित्व से रहित अत्यन्ताभाव का अधिकरण है, मेय होने से, घट के समान। यहाँ अनित्यत्वात्यन्ताभावव्यतिरिक्ताश्च ते एतन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगिनश्च—यह विग्रह है। अथवा उनमें अनित्यत्वात्यन्ताभावव्यतिरिक्तएतनिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्व धर्म

---

[1] (ख) अत्र वा नित्य। [2] (क) पक्ष। [3] (ख) वक्ष। [4] (ख) स च।

अयं शब्दः सम्प्रतिपन्नैतद्धर्मत्वानाक्रान्ताधिकरणम्, मेयत्वात्, घटवत्। अत्र च सम्प्रतिपन्नैतद्धर्मेषु सम्प्रतिपन्नैतद्धर्मत्वं नाम धर्मः तदनाक्रान्तश्च शब्दवृत्तित्वरहितो वा? विप्रतिपन्नमनित्यत्वं वा? प्रथमो व्याहतत्वात् न पक्षे सिद्ध्यति। तेन विप्रतिपन्नानित्यत्वसिद्धिः। अनित्यः शब्दः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्, घटवत्। न च इदं प्रत्यभिज्ञानबाधितम्, (तस्यैव[1]) पृथुपृथुतरमन्दमन्दतरत्वादि-विरुद्धधर्मग्राहकप्रत्यक्षबाधितत्वात्। न च[2] तेषामौपाधिकत्वाददोषः; स्वाभाविक-शौक्ल्यधर्मविशिष्टस्य स्फटिकस्य प्रमाणसिद्धत्वे हि तत्रौपाधिकलौहित्यमास्थीयते, अत्र तु तदभावात्। न च ध्वनिधर्मा गृह्यन्ते, येन संस्कारोपनीतानां समारोपः स्यात् गृह्यमाणानामेव वा। न च श्रवणेनैव तद्ग्रहणम्; अवायवीत्वेन तस्य वायुधर्माग्राहकत्वात्, चक्षुर्वत्। तारादयो वा न वायुधर्माः, श्रावणत्वात् कादिवत्। वायुर्वा न श्रवणग्राह्यधर्मः, मूर्त्तत्वात्, पृथिवीवत्।

भावदीपिका

एतद्धर्मत्वाऽनाक्रान्ताऽधिकरणमित्युक्ते व्याघात एव। तेनोक्तम्—सम्प्रतिपन्नेति। प्रत्य-भिज्ञाया बाधितत्वेन दुर्बलत्वान्न बाधकत्वम्—इत्याह—तस्यैवेति। एतेनोत्पत्तिधर्मकत्व-स्याऽन्यतराऽसिद्धत्वमपास्तम्, नित्यत्वसाधकप्रत्यभिज्ञाया अप्रमाणत्वात्। तीव्रत्वादीनां ध्वनिधर्माणां वर्णेषु समारोपितानां [ग्रहः[3]] प्रत्यक्षाभासो न प्रत्यभिज्ञाबाधकः?—इत्यत आह—न च तेषामिति। समारोपोऽप्यनुपपन्नः—इत्याह - न चेति। श्रवणेन चेद् ग्रहणं तदा वक्तव्यम् ध्वनयो वायवीया वा? नाभसा वा? नाद्यः—इत्याह—अवायवीयत्वे-नेति। तस्य=श्रवणस्य।

ज्ञानवती

है, और उससे रहित क्या पक्षवृत्ति होगा या अनित्यत्वात्यन्ताभाव होगा? पहले का अत्यन्ताभाव पक्ष में व्याहत है। इसलिये अनित्यत्वात्यन्ताभाव का अत्यन्ताभाव पक्ष में सिद्ध होता है। और वह अनित्य ही है। इसलिये पक्ष में अनित्यत्व सिद्ध होता है।

यह शब्द, संप्रतिपन्न एतद्धर्मत्व से अनाक्रान्त का अधिकरण है, मेय होने से, घट के समान—यहाँ सम्प्रतिपन्नएतद्धर्मो में सम्प्रतिपन्नएतद्धर्मत्व धर्म है, और उससे अनाक्रान्त क्या शब्दवृत्तित्वरहित है या विप्रतिपन्न अनित्यत्व है? पहला व्याहत होने से पक्ष में सिद्ध नहीं होता; इसलिये विप्रतिपन्न अनित्यत्व की सिद्धि होती है। शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मवाला होने से, घट के समान। (पू) यह प्रत्यभिज्ञान से बाधित है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि वही पृथु पृथुतरत्व मन्द मन्दतरत्व आदि विरुद्धधर्मग्राहकप्रत्यक्ष से बाधित है। (पू) उनके औपाधिक होने से दोष नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि स्वाभाविकशौक्ल्यधर्मविशिष्ट स्फटिक के प्रमाण सिद्ध होने पर उसमें औपाधिक लौहित्य का आधान होता है। और यहाँ उसका अभाव है। ध्वनि के धर्म यहाँ गृहीत नहीं होते जिससे संस्कारोपनीतों का या गृह्यमाणों का समारोप हो। (पू) श्रवण से ही उसका ग्रहण होता है? (उ) अवयवावयवी होने से वह वायुधर्म का ग्राहक नहीं होता चक्षु के

---

१ (क) तस्याः, (ख घ) तस्यैव। २ (ख) न चैषां। ३ (क) ग्राहः।

अथ ध्वनयोऽपि नाभसाः, तथा च तद्धर्मग्रहणं श्रवसाऽप्युपपद्यत, इति? न; तारस्तारतरो वाऽयं गकार इत्यत्र ध्वनीनामस्फुरणात्। न च व्यक्त्या विना सामान्यस्फुरणम्; प्रमाणाभावात् व्यक्तिस्फुरणसामग्रीविशिष्टा[1] जातिस्फुरणसामग्री यतः। तस्मादनित्य एव शब्द इति कुसुमाञ्जलिकारादयः।

'नित्य एव शब्दो द्रव्यम्' इति तौतातितानुसारिणः। 'नित्योऽयं नभसो विशेषगुणः' इति केचिन्मीमांसकाः। न च तावदनित्यत्वानुमानानि 'स एवायं गकारः' इति प्रत्यभिज्ञा(-बलात्[2]) बाधितविषयाणि। न चाजातबाधाऽपि संवित् न

भावदीपिका

द्वितीयमुत्थाप्य दूषयति—अथेति। श्रवसा=श्रवणेन। वर्णातिरिक्तध्वनीनामस्फुरणात्। अथ सामान्येन ध्वनिस्फुरणमस्ति वर्णग्रहणे? तत्राऽह—न चेति। [उक्ता[3]-]नुमानाऽतिरिक्तं कुसुमाञ्जलिकारोक्तं "अनित्यः शब्दः सामान्यवत्त्वे सति अस्मदादिबाह्येन्द्रियग्राह्यत्वात् घटवत्"—इत्यादिसंग्रहार्थम्—आदिग्रहणम्। न च घटत्वादिसामान्येषु सदित्यबाधिताऽनुगतप्रत्ययात् सत्तासामान्यवत्त्वेनाऽनेकान्तः, सत्तायां सत्प्रत्ययेऽपि विलक्षणप्रत्ययाऽभावाद् न सत्ताप्राप्तिरिति वाच्यम्; सत्तायाः अवान्तरजातिमत्येव द्रव्यादौ दर्शनात्; अत्र च तदभावात्; 'विगीतं सत्तारहितं जातिम[-दाश्रय[4]-]रहितत्वात् सत्तावत्'—इति प्रयोगश्च। न च सद्घटत्वमित्यादिप्रत्यक्षाबाधः? नभोनीरूपत्वाऽनुमानेनैव तन्नीलताप्रत्यक्षस्य बाधसम्भवात्। पक्षान्तरमुपक्षिप्य पूर्वपक्षं प्रतिक्षिपति—नित्य एवेति। केचित्=प्राभाकराः। प्रत्यभिज्ञा[5]

ज्ञानवती

समान। तार आदि भी वायु के धर्म नहीं है, श्रवण (का विषय) होने से, 'क' आदि के समान। वायु भी श्रवणग्राह्य धर्म नहीं है, मूर्त्त होने से पृथिवी के समान।

(पू) ध्वनियाँ भी आकाश से उत्पन्न हैं। इसलिये उनके धर्म का ग्रहण कान से भी हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। 'यह गकार तार या तारतर है' यहाँ ध्वनियों का स्फुरण नहीं है। (पू) व्यक्ति के विना सामान्य का स्फुरण होगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रमाण नहीं है, कारण यह है कि जातिस्फुरणसामग्री व्यक्तिस्फुरणसामग्री से विशिष्ट होती है। इसलिये शब्द अनित्य ही है ऐसा कुसुमाञ्जलिकार आदि का कहना है?

(उ) शब्द द्रव्य नित्य ही है ऐसा तौतातितमतानुसारी कहते हैं। कुछ मीमांसकों का कहना है कि यह नभस् का विशेष गुण है। (पू) अनित्यत्व के अनुमान—यह वही गकार है—इत्यादि प्रत्यभिज्ञा के वल से वाधितविषयवाले हैं? (पू) अजातबाधा भी संवित् अभ्रान्ति नहीं है? (उ) ऐसा नही है क्योंकि सामान्यतो दृष्ट की—भ्रान्ति, विगीत है, ज्वालादि प्रत्यभिज्ञा के समान—यहाँ अतिव्याप्ति हो जायगी। कहा भी है—

---

[1] (ख) विशिष्ट। [2] (क) प्रत्यभिज्ञाबाधितविषयाणि, (ख) अप्रत्यभिज्ञा वलात्—बाधित विषयीणि। [3] (क) वक्ता। [4] (क) मत्परोरहि। [5] (क) कराः। सम्विन्नभिन्ना निष्पन्नाप्रत्य।

अभ्रान्तिः, सामान्यतो दृष्टस्य विगीता भ्रान्तिः ज्वालादिप्रत्यभिज्ञावत् इत्यस्याति-प्रसङ्गात्। यदाहुः तत्र—

"उत्प्रेक्षेतापि यो मोहादजातमपि बाधनम्।
स सर्वव्यवहारेषु संशयात्मा क्षयं व्रजेत्॥" इति।

[ध्वनेः वर्णव्यञ्जकत्वम्—]

ननु वर्णानां प्रत्युच्चारणमन्यथात्वं सर्वजनप्रसिद्धम्, कथमपरथा सोमशर्माऽयमधीते, न विष्णुशर्मा, इति ध्वनिविशेषलिङ्गकः प्रत्ययः? मैवम्; भेदप्रत्ययस्यौपाधिकत्वात्। यदाहुर्भट्टपादाः—

यथैव तव गत्वादि गम्यमानं द्रुतादिभिः।
विशेषैरपि नानेकमेवं वर्णोऽपि नो भवेत्॥
त्वयाऽपि व्यञ्जकव्यक्तिभेदाद् भेदोऽभ्युपेयते।
ममापि व्यञ्जकैर्नादैर्भेदबुद्धिर्भविष्यति॥[2]

अतः 'स एवायं गकारः' इत्यादिप्रत्यभिज्ञायाः गत्वादिजात्यालम्बनत्वेन प्रामाण्यं न वक्तव्यम्; व्यक्त्यालम्बनतया प्रामाण्यसम्भवात्। तदप्याहुः—"येन व्यक्तिभेदो गकारादेः खण्डमुण्डादिवन्निरुपाधिकः प्रमाणेन नानुभूयते।"

"तेन यत् प्रार्थ्यते जातेः तद्वर्णादेव लभ्यते।
व्यक्तिलभ्यं तु नादेभ्यः इति गत्वादिधीर्वृथा॥"[3]

भावदीपिका

च बाधिता चेत्, किमनुमानेन ? प्रत्यक्षेण वा ? नाद्यः—इत्याह—सामान्यमिति।

[ध्वनेः वर्णव्यञ्जकत्वम्—]

द्वितीयमाशङ्क्य प्रत्याह—नन्विति। औपाधिकत्वं वर्णभेदस्याऽस्तु ततः किम्? तत्राऽह—अतः स एवेति। तत्प्रामाण्यसम्भवात् तस्या बाधकत्वमिति शेषः। श्लोकस्य

ज्ञानवती

"जो मोहवश, अनुत्पन्नबाध की भी उत्प्रेक्षा करता है, समस्त व्यवहारों के विषय में संशयात्मा वह नाश को प्राप्त होता है।"

[ध्वनि वर्ण की व्यञ्जिका है—]

(पू) वर्णों के पृथक्-पृथक् उच्चारण में अन्यथात्व सर्वजन प्रसिद्ध है, अन्यथा कैसे, यह सोमशर्मा पढ़ रहा है न कि विष्णुशर्मा, यह ध्वनिविशेष लिङ्ग वाला ज्ञान होगा ?

(उ) ऐसा नहीं है क्योंकि भेदज्ञान औपाधिक है। भट्टपाद ने कहा है—

"जैसे तुम्हारा गम्यमान गत्व आदि द्रुत आदि (ध्वनि-) विशेषों के द्वारा भी अनेक नहीं होता उसी प्रकार वर्ण भी (अनेक) नहीं होता।"

"तुम भी व्यञ्जक व्यक्ति के भेद से भेद मानते हो। हमारी भी व्यञ्जकनादों के द्वारा भेदबुद्धि होगी।"

---

[1] (ख) दृशा। [2] श्लो० वा० पृ० ५१६। [3] श्लो० वा० पृ० ५१।

न च उपाधिभेदाग्रहणात् तदाश्रितधर्माणामप्यग्रहात् अनौपाधिकत्वम्; अन्यथाऽपि सम्भवात्। अत आहुः—

"मधुरं तिक्तरूपेण श्वेतं पीततया तथा।
गृह्णन्ति पित्तदोषेण विषयं भ्रान्तचेतसः॥
तथा वेगेन धावन्तो नाव्यारूढाश्च गच्छतः।
पर्वतादीन् विजानन्ति भ्रमेण भ्रमतश्च तान्॥[1]
मण्डूकवसयाऽक्ताक्षा वंशानुरगबुद्धिभिः।
व्यक्त्यल्पत्वमहत्त्वाभ्यां सामान्यञ्च तदाश्रयम्॥
गृह्णन्ति यद्वदेतानि निमित्तग्रहणाद्विना।[2]
व्यञ्जकस्थमबुध्वैव व्यङ्ग्ये भ्रान्तिर्भविष्यति॥"

दूरादुच्चारणे वर्णव्यक्त्यभावेऽपि यः आकर्ण्यते स वर्णव्यतिरिक्तो

भावदीपिका

पूरणमाह—येनेति। स्फटिकादाविवोपाधिभेदाऽग्रहात् कथं तस्यां धर्मसमारोपः?—इत्याशङ्क्याह—न चोपाधीति। पित्तद्रव्यस्य रसननयनगतस्य प्रत्यक्षेणाऽग्रहेऽपि तत्स्थधर्मसमारोपो दृष्टः। उपाधिग्रहेऽपि तत्स्थधर्मस्य स्फुटमगृहीतस्य समारोपे दृष्टान्तः—तथा वेगेनेति। इदानीं निमित्तमात्रोपहितभेदयोरग्रहेऽपि भ्रमे निदर्शनम्—मण्डूकेति।

ज्ञानवती

इसलिये 'यह वही गकार है' इत्यादि प्रत्यभिज्ञा का, गत्व आदि जाति के आधार पर प्रामाण्य नहीं कहना चाहिये। क्योंकि व्यक्ति के आलम्बन होने से प्रामाण्य सम्भव है। वही कहा है—जिससे गकार आदि व्यक्तिभेद खण्ड (शरीर का अर्द्धभाग) मुण्ड आदि के समान प्रमाण के द्वारा निरुपाधिक अनुभूत नहीं होता।"

"इसलिये जो जाति से प्रार्थित होता है वह वर्ण से ही प्राप्त हो जाता है। व्यक्ति का लाभ तो ध्वनियों से होता है। इसलिये गत्व आदि (जाति) को मानना व्यर्थ है।"

(पू) उपाधि के भेद का ग्रहण न होने से उसके आश्रित धर्मों का भी ग्रहण न होने के कारण औपाधिकत्व नहीं है? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि अन्यथा भी सम्भव है। इसीलिये कहा है—

"भ्रान्तचित्तवाले पित्त के दोष से मधुर विषय को तिक्त रूप से, श्वेत को पीत रूप से ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार वेग से दौड़ने वाले तथा नौका पर आरूढ़ होकर चलने वाले भ्रम वश उन पर्वत आदि को जाते हुए तथा भागते हुए समझते हैं।"

"जिस प्रकार मेढक की चर्बी से अञ्जित नेत्र वाले बांस को सर्प बुद्धि से तथा उसके आश्रित सामान्य को व्यक्ति के अल्पत्व एवं महत्त्व के द्वारा बिना कारण के ज्ञान के (लोग) ग्रहण करते हैं, (उसी प्रकार) व्यंग्यस्थ को न जानकर ही व्यंग्य में भ्रान्ति हो जायगी।"

दूर से उच्चारण होने पर वर्ण की स्पष्टता के अभाव में भी जो सुनी जाती है वह वर्ण से

---

[1] श्लो० वा० पृ० ५२०। [2] (ख) ग्रहणार्दिना।

गम्यते इति ध्वनिः। स च प्रत्यासीदतः[1] पुंसः स्वधर्माणां वर्णे पुंसामारोपहेतुः। न चाव्यक्ता वर्णाः एव ध्वनिः; ध्वनिभेदेऽपि वर्णस्य तदुपरक्तस्य खण्डाद्युपरक्त-गोत्ववत् प्रत्यभिज्ञानात्। न च वर्णत्वसामान्यमेतत्; तस्य उदात्तादिधर्मवैधुर्यात्; वर्णगतोदात्तादीनां तत्र समारोपाङ्गीकरणाच्च। एवञ्च ध्वनिवत् तद्धर्माणामपि ग्रहणात् समारोपः। ध्वनिश्च नाभसोऽशब्दात्मकोऽवर्णात्मकः,[2] शब्द एव वा, श्रावणश्च। अतोऽनन्ता गादिव्यक्तयः। तासु च प्रत्यभिज्ञानिर्वाहाय गत्वादि-जातिः। तत्र च द्रुतादिव्यवहारो वर्णोपाधिक इति गरीयसीं कल्पनां हित्वा वर्णेषु ध्वनिकृतो भेदव्यवहार इति लघीयसी कल्पना स्वीकार्या। न च[3] व्यञ्जकाङ्गीकारे युगपदभिव्यक्तिरापद्यते, रूपरसादिवत् दीपेनानभिव्यक्तिसम्भवात्।

भावदीपिका

जात्यादेः व्यङ्ग्यात् भेदेनाऽस्फुरणात् व्यञ्जकस्थमबुध्वा यदुक्तं वर्णाऽतिरिक्तध्वनीनाम-स्फुरणादिति तत्राऽऽह—दूरादिति। ततः किम्? तदाह—स चेति। दूरादाकर्ण्यमानोऽपि वर्णं एव न तदत्तिरिक्तो ध्वनिः? तत्राह—न चेति। तार्किकेणाऽपि नदीघोषादेः अवर्णा-त्मकत्वस्वीकारात् न तावत्तदभाव एव। "ऋच्यूढं साम गीयते" इति गानेषु ध्वनिवर्ण-मिश्रणस्य प्रसिद्धत्वाच्च। अथ दूरादाकर्ण्यमानं वर्णसामान्यमेव? न; व्यक्तिग्रहणं विना सामान्यग्रहणस्य त्वयैव वारितत्वात्। तदाह—न च वर्णत्वेति। युक्त्यन्तरमाह—तस्येति। विरुद्धधर्मत्वं तदङ्गीकारेण द्रढयति—वर्णेति। एवं वर्णाऽतिरिक्तोदात्तादि-धर्मकध्वनिसिद्धावौपाधिकत्वं तद्धर्माणां वर्णेषु सिद्धम्—इत्याह—एवं चेति। यदुक्तम्—ध्वनिर्वायवीयो नाभसो वेति, तत्रान्त्यमङ्गीकरोति - ध्वनिश्चेति। क्रमेण वर्णप्रकाश-सिद्धयर्थं गरीयस्यपि कल्पनाऽङ्गीकार्या?—इत्याशङ्क्याह - न च व्यञ्जकेति। किं व्यञ्जकमात्राद्युगपत् अभिव्यक्तिः? तद्विशेषाद्वा? नाद्यः—इत्याह—रूपेति।

ज्ञानवती

व्यतिरिक्त ध्वनि मानी जाती है। और वह निकट आने वाले पुरुष के अपने धर्मों के वर्ण में पुरुषों के आरोप का हेतु है। (पू) अव्यक्त वर्ण ही ध्वनि है? (उ) ऐसा नहीं है; क्योंकि ध्वनि का भेद होने पर भी उससे उपरक्त वर्ण का खण्ड आदि से उपरक्त गोत्व के समान प्रत्यभिज्ञान होता है। (पू) यह वर्णत्व सामान्य है?

(उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि वह उदात्तादि धर्म से रहित है। और वर्णगत उदात्त आदि का उसमें समारोप मान लिया गया है। इस प्रकार ध्वनि के समान उसके धर्मों का भी ग्रहण होने से समारोप होता है। और ध्वनि आकाश से उत्पन्न है, अशब्दात्मक है, अवर्णात्मक है, अथवा शब्द ही है, एवं श्रोत्र का विषय है। इसलिये ग आदि व्यक्तियाँ अनन्त हैं और उनमें प्रत्यभिज्ञा के निर्वाह के लिये गत्व आदि जाति है। और उसमें द्रुत आदि व्यवहार वर्णोपाधिक हैं—इस गरीयसी कल्पना को छोड़कर वर्णों में भेदव्यवहार ध्वनिकृत है इस लघीयसी कल्पना को मानना चाहिये। (पू) व्यञ्जक के मानने पर एकसाथ अभिव्यक्ति

[1] (ख) स च—त्यासीत्। अतः। [2] (ख) नाभसः। शब्दा।
[3] (घ) न वा।

अथ समानेन्द्रियग्राह्यसमानदेशसमानजातीयानां वर्णानामभिव्यक्तिक्रमोऽनुपपन्नः; न चात्मनामिव तथाभूतानां विचित्रमनोव्यञ्जनीयत्ववत् तेषां विचित्रध्वनिव्यङ्ग्यत्वम्; मनसोऽणुत्वेन द्वारापेक्षस्य तत्सामग्रीनियम्यत्वात्, ध्वनेस्तु तद्वैधुर्यात् ?

मैवं वोचः। यथा चक्षुषोऽनुग्राहकत्वेनालोकस्य घटादिव्यञ्जकत्वं तथा ध्वनेरपि श्रोत्रानुग्राहकत्वेन। यदाहुर्भट्टपादाः—

"यथा घटादेर्दीपादिरभिव्यञ्जक इष्यते।
चक्षुषोऽनुग्रहादेवं ध्वनिस्याच्छ्रोत्रसंगतेः[1] ॥"[2]

ध्वनेश्चावच्छेदकघटादेर्व्यापकमात्रसाधारण्येऽपि[3] 'नभोमात्रे घटाकाशः' इत्याद्य-

भावदीपिका

द्वितीयमुत्थापयति—अथेति। पृथिवीत्वादिना समानजातीयानां परमाणूनां युगपद् ग्रहो नाऽस्ति—इत्यत उक्तम्—इन्द्रियग्राह्येति। रूपरसादिव्यवच्छेदाय—समानेति। भिन्नदेशस्थरूपादीनां व्यवच्छेदाय—समानदेशेति। समानेन्द्रियग्राह्यत्वेऽपि घटत्वपृथिवीत्वसत्तादेः स[-[4]मान-]देशत्वे च सत्यपि प्रमाणगम्यत्वाऽदिविचित्रव्यञ्जकव्यङ्ग्यत्वमस्तीति—अत उक्तम् समानजातीयेति। न च महत्त्वदीर्घत्वयोरेकनिष्ठयोः ह्रस्वत्वाऽणुत्वविचित्रप्रतियोगिव्यङ्ग्ययोर्व्यभिचारः; समानजातिराहित्यस्याऽपि संग्रहात्, महत्त्वादेश्च परिमाणत्वावान्तरजातिसम्भवात्, वर्णानां च प्रत्येकं व्यक्त्यैक्येन तदभावाच्चेति। परोक्तं व्यभिचारं प्रत्याचष्टे—न चेति।

ध्वनिर्दर्पणवत् प्रज्ञानलक्षणः [[5]उप-]पद्यत इति परिहरति—मैवमिति। ध्वनेर्दर्पणादितुल्यत्वेऽपि न दोषः—इत्याह—ध्वनेश्चेति। घटादेराकाशाऽवच्छेदकत्ववत् कालाऽवच्छेदकत्वेऽपि घटाऽऽकाशादेस्तत्परिमाणरजोधूमाद्यविच्छिन्नत्वव्यवहारवत् घटकालादेरभावात्;

ज्ञानवती

की आपत्ति होती है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि रूप रस आदि के समान दीप से अनभिव्यक्ति संभव है।

(पू) समान इन्द्रियग्राह्य समानदेश समानजातीय वर्णों की अभिव्यक्ति का क्रम अनुपपन्न हो जायगा ? (पू) आत्माओं के समान तथा भूतों के विचित्रमनोव्यञ्जनीयत्व के समान वे (=वर्ण) विचित्रध्वनि से व्यंग्य हैं ?

(उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अणु होने के कारण माध्यम की अपेक्षा वाला मन तत् (=माध्यम) सामग्री से नियम्य है। और ध्वनि तो उस(=माध्यम)से रहित है।

(उ) ऐसा मत कहिये। जैसे चक्षु के अनुग्राहक होने से आलोक घट आदि का व्यञ्जक होता है उसी प्रकार ध्वनि भी श्रोत्र के अनुग्राहक होने से (वर्ष की अभिव्यञ्जिका होता है।) जैसा कि भट्पाद कहते हैं—

---

[1] (क) संस्कृते। (ग) संगतेः। [2] श्लो० वा० १।६।४२।
[3] (घ) ध्वनेश्च। [4] (क) सन्दे। [5] (क) लक्षणापद्य।

वच्छिन्नव्यवहारप्रवर्त्तकत्ववन्नियमोपपत्तेः। तैजसत्वाविशेषेऽपि[1] [विवस्वतो[2]] दिग्व्यवहारप्रवर्त्तकत्वं न पावकादेः इतिवच्च। नित्यः शब्दो ध्वनिधर्मान्यत्वे सति श्रावणत्वात् शब्दत्ववत् इति प्रयोगोऽप्यत एव साधुः।

[शब्दस्य द्रव्यत्वम्—]

एवं नित्यत्वे सिद्धे शब्दस्य द्रव्यत्वं साधनीयम्। द्रव्यं शब्दः साक्षादिन्द्रिय-सम्बन्धेन गृह्यमाणत्वात्, घटवत्। अथ असिद्धो हेतुः ; न हि श्रोत्रगुणत्वे वाऽसिद्धे साक्षात् सम्बन्धे शब्दस्य प्रमाणमस्ति। सामान्यवत्त्वेन सामान्यादित्रय-

भावदीपिका

वर्णानामपि तथा सम्भवान्न युगपदभिव्यक्त्यापत्तिः। कालाऽऽकाशादेरतीन्द्रियत्वाऽविशेषेऽपि उक्तव्यवहारवैषम्यवत् ऐन्द्रियकत्वाऽविशेषेऽपि वर्णानां व्यवहारवैषम्यसम्भवात्। न च व्यञ्जकध्वनीनामेकजातीयत्वाद्दीपादीनामिवाऽविशेषेण व्यङ्ग्यव्यक्तिरित्याशङ्कनीयम् ; व्यवहारविशेषप्रयोजकाऽवान्तरविशेषसम्भवात्—इत्याह—तैजसत्वेति। यत एवं वर्णनामौपाधिको जन्मादिव्यवहारो घटते ततो नित्यत्वप्रयोगोऽपि युक्तः—इत्याह—नित्य इति।

[शब्दस्य द्रव्यत्वम् —]

नित्यः शब्दो द्रव्यं चेति प्रतिज्ञाय नित्यत्वं प्रसाधितम्। द्रव्यत्वं साधयति—एवमिति। रूपादौ व्यभिचारवारणार्थं—साक्षादिति विशेषणम्। उदयनोक्तमुत्थापयति—अथेति। अस्तु तर्हि तत्सिद्ध्या हेतुसिद्धिः?—इति शङ्कते—सामान्येति। उभयपरिशेषा-

ज्ञानवती

"जैसे चक्षु के अनुग्रह से दीप आदि को घट आदि का अभिव्यञ्जक माना जाता है। उसी प्रकार श्रोत्र की सङ्गति से ध्वनि (वर्ण का व्यञ्जक) माना जाता है।"

और जैसे अवच्छेदक घट आदि के व्यापकमात्रसाधारण होने पर भी 'नभस् मात्र में घटाकाश है' इत्यादि अवच्छिन्नव्यवहारप्रवर्त्तकत्व के समान शब्द के व्यापक होने पर भी ध्वनि के अवच्छेदकत्व के नियम की उपपत्ति हो जाती है। (अग्नि और सूर्य का) तैजसत्व समान होने पर भी जैसे सूर्य दिग्व्यवहार का प्रवर्त्तक है अग्नि आदि नहीं हैं, उसी प्रकार।

इसीलिये शब्द नित्य है, क्योंकि (उसमें) ध्वनिधर्मान्यत्व होने के साथ श्रावणत्व है, शब्दत्व के समान, यह प्रयोग भी ठीक है।

[शब्द द्रव्य है—]

इस प्रकार नित्यत्व के सिद्ध होने पर शब्द का द्रव्यत्व सिद्ध करना चाहिये। शब्द द्रव्य है, क्योंकि साक्षात् इन्द्रियसम्बन्ध से गृह्यमाण है, घट के समान।

(पू) हेतु असिद्ध है, क्योंकि द्रव्यत्व या श्रोत्रगुणत्व के असिद्ध होनें पर शब्द के साक्षात् सम्बन्ध में कोई प्रमाण नहीं है। (पू) सामान्यवत्त्व से सामान्यादित्रय (=सामान्य, विशेष, समवाय) की व्यावृत्ति होने पर मूर्त्त द्रव्य के समवाय न होने के कारण कर्मत्व का निषेध होने से, द्रव्य एवं गुण के बचने पर संयोग एवं समवाय में से कोई एक सम्बन्ध होगा? (उ) ऐसा

१ (घ) तैजसत्ववि। २ (क) स्वतो।

व्यावृत्तौ मूर्त्तद्रव्यासमवायेन कर्मत्वनिषेधाद्[1] द्रव्यगुणत्वपरिशेषे संयोगसमवाययोरन्यतरः सम्बन्ध इति चेत् ? न ; बाधकबलेन परिशेषे द्रव्यत्वस्यापि निषेधात् लिङ्गग्राहकप्रमाणबाधापत्तेः[2]। तथा हि--न शब्दो द्रव्यम् [बहिरि-]न्द्रियव्यवस्थाहेतुत्वात्, रूपवत् इति परिशेषात् गुणत्वेन समवायिसिद्धौ लिङ्गग्राहकप्रमाणबाधात् नाव्यवहितसम्बन्धग्राह्यत्वेन द्रव्यत्वसिद्धिरिति।

एतन्न साधु ; बहिरिन्द्रियव्यवस्थाहेतुत्वेन गुणत्वानुमाने मूर्त्तगुणत्वानुमानमपि रूपादिवत् प्रसरेत्। बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वस्य बहिर्मुखेन्द्रियान्तराजन्यजन्यसाक्षात्कारगोचरत्वेनापि सम्भवाच्च। न च सुखादिवत् केवलमनोवेद्यः शब्दः ; बधिराभावप्रसङ्गात्। अतो न लिङ्गग्राहकप्रमाणबाधः। तदेवं वर्णात्मकः शब्दो द्रव्यम् नित्यश्च इति व्यवस्थितम्।

भावदीपिका

द्धेतुसिद्धिर्द्रव्यत्वमेव च साध्यत इति न साधनवैय्यर्थ्यम् ? तर्हि गुणत्वेन साक्षादिन्द्रियसम्बन्धग्राहकप्रमाणविरुद्धा द्रव्यत्वप्रतिज्ञा—इत्याह—न बाधकेति। आत्मनि मनस इन्द्रियस्य व्यवस्थाहेतौ व्यभिचारवारणायोक्तम्—बहिरिति। प्रसङ्गतर्कबाधितं लिङ्गग्राहकं न द्रव्यत्वप्रतिज्ञाबाधनक्षमम्—इत्याह—एतदिति। घ्राणाद्यग्राह्यघटादेरिव शब्दस्य द्रव्यत्वेऽपि बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वसम्भवेनाऽन्यथासिद्धत्वाच्च नैतद् बाधकम्—इत्याह—बहिरिन्द्रियेति। वेदान्तिना साक्षिसाक्षात्कार[-गोचर-]स्य[3] मन आदेर्बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वं नाऽस्तीति। अत उक्तम्—जन्येति। शब्दस्य मनोवेद्यत्वान्न बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्वमित्यपि नाऽशङ्कनीयम्—इत्याह—न चेति।

ज्ञानवती

नहीं है। क्योंकि बाधकबल के कारण परिशेष होने पर द्रव्यत्व का भी निषेध होने से लिङ्गग्राहक प्रमाण के बाघ की आपत्ति हो जायगी।

वह इस प्रकार—शब्द द्रव्य नहीं है, क्योंकि बहिरिन्द्रिय व्यवस्था की हेतु है, रूप के समान, इस प्रकार परिशेषात् गुण होने से समवायी की सिद्धि होने पर लिङ्गग्राहकप्रमाण का बाघ होने से अव्यवहितसम्बन्धग्राह्य के रूप में द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं है ?

(उ) यह ठीक नहीं है। क्योंकि बहिरिन्द्रियव्यवस्था के हेतु के रूप में गुणत्व का का अनुमान करने पर रूप आदि के समान मूर्त्तगुणत्व का भी अनुमान होने लगेगा। और बहिरिन्द्रियव्यवस्थापकत्व दूसरी बहिर्मुख इन्द्रिय से अजन्य होते हुए जन्यसाक्षात्कार का विषय होने से सम्भव है। (पू) शब्द, सुख आदि के समान केवल मनोवेद्य है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि बधिर आदि का अभाव हो जायगा। इसलिये लिङ्गग्राहकप्रमाण का बाघ नहीं है। तो इस प्रकार वर्णात्मक शब्द द्रव्य हैं और नित्य है यह व्यवस्थित हो गया।

---

[1] (ख) निषेधादद्रव्य। [2] (ख) प्रमाणत्वाप।
[3] (क) कारो चास्य।

[वर्णा अर्थप्रत्यायकाः—]

अथ अर्थप्रत्यायकत्वं वर्णानां कथम् ? उच्यते—

"तेषामस्ति हि सामर्थ्यमर्थप्रत्यायनं प्रति ।
यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने ॥
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः ।
तेषां तु गुणभूतानामर्थप्रत्यायनं प्रति ॥
साहित्यमेककर्त्रादिक्रमश्चापि विवक्षितम् ।[1]
कर्त्रेकत्वनिमित्ते च क्रमे सति[2] नियामकम् ॥
प्रयुञ्जानस्य यत्पूर्वं वृद्धेभ्य क्रमदर्शनम् ॥"[3]

न च संहत्यकारिणां क्रमोऽनुपपन्नः,

"दृष्टश्च पौर्णमासादेः क्रमः संहत्यकारिणः । "

भावदीपिका

[वर्णा अर्थप्रत्यायकाः—]

शब्दप्रमाणस्वरूपं निरूप्य तस्य वोधकत्वधर्मं प्रश्नपूर्वकमाह—अथेति । सामर्थ्यञ्चेत् यथाकथञ्चित् प्रयुक्तेभ्यस्तेभ्योऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्—अत आह—यावन्त इति । यथा स्तम्भादीनां वंशादिधारणाऽशक्तावपि क्रमविशेषाऽपेक्षा तथा वर्णानामपि । भिन्नपुरुषकर्तृकोच्चारणक्रमाणां सामर्थ्यप्रज्ञानमपि न युक्तम्—अत आह - तेषामिति । एककर्तृकत्वेऽपि विच्छिद्य विच्छिद्य एकैकवर्णोच्चारणे सामर्थ्यप्रज्ञानं न स्यात्, तेनादिपदमविच्छेदार्थग्रहार्थम् । क्रमस्याऽपि नवत्वे तन्नियतार्थबोधनम्; अत आह—कर्त्रेकत्वेति । ननु वर्णानां मिलितानां अस्ति युगपद्भावः वर्णानां स्तम्भादीनामिव क्रमेण संघटितानां स्वकार्ये क्रमेणोच्चारणेऽपि

ज्ञानवती

[वर्ण अर्थ के प्रत्यायक हैं—]

(पू) "वर्ण अर्थ के प्रत्यायक कैसे हैं ? (उ) कहते हैं—उनका अर्थप्रत्यायन के प्रति सामर्थ्य है ।

"जितने जैसे और जो वर्ण जिस अर्थ के प्रतिपादन में ज्ञातसामर्थ्य वाले होते हैं वे उसी प्रकार अवबोधक होते हैं ।

अर्थप्रत्यायन के प्रति गुणभूत उन (वर्णों) का साहित्य तथा एक कर्त्ता आदि (के द्वारा प्रयोग का क्रम भी विवक्षित है ।

कर्त्ता के एकत्व निमित्त वाले क्रम के रहने पर पूर्ववृद्धों के द्वारा क्रम का दर्शन प्रयोक्ता का नियामक है ।"

(पू) संहत्यकारियों का क्रम अनुपपन्न है ? (उ) ऐसा नहीं है । संहत्यकारी पौर्णमास आदि का क्रम देखा गया है । इसी का विचार किया जाता है—

---

[1] (ख) विवक्षितः । (ख) क्रमेतद्धि ।

[2] (क) क्रमे सति ।

[3] श्लो० वा० पृ० ५२८ ।

एतदेव विचार्यते—अस्ति तावद् गकारादिवर्णोपलब्ध्यनन्तरमर्थबुद्धिः ; सा किं वर्णेभ्य एव ? किं वा तदतिरिक्तस्फोटात्मकशब्दात् ? इति ; तत्र न तावदेकैकस्मादुपलब्धादनुपलब्धाद्वा वर्णादर्थधीः सम्भवति ; इत्याह—अदर्शनाद्वर्णान्तरवैयर्थ्याच्च। अथ वर्णसमुदायादर्थबुद्धिः ?

"न वा यत्रैकशोऽशक्तिः[१], तत्र सर्वेष्वशक्तता।[२]
रथाङ्गानि हि दृश्यन्ते शाल्यादिवहनादिषु॥
रथस्यापि तु यत्कार्यं शाल्यादिवहनं न तत्।
प्रत्येकं दृश्यते किञ्चिन्मनागपि यथेहितम्॥"[३]

तथाऽपि प्रत्येकं जायमानक्षणभङ्गुराभिव्यक्तिविशिष्टानां न समुदायः समुदियात्; उपलब्धिकारणानां वर्णोच्चारणानां क्रमवर्तित्वात्। संस्काराणाञ्च स्मृतिहेतूनां प्रतिवर्ण निरपेक्षतया स्मृतिहेतुत्वान्न स्मृत्यधिरूढानामपि समुदायः। अतोऽर्थबुद्धिकार्यपरिशेषानुमानगम्याद्वर्णभेदेऽप्येकोऽयं शब्द इति प्रत्यक्षावसेयात् अर्थधीः स्फोटत[४] एव।

भावदीपिका

इत्येतद् व्यवस्थापयितुं विचारमारभते—एतदेवेति। स्फोटवाद्याह—तत्रेति। एकैकशोऽशक्तानां कथं समुदाये शक्तिः ? अत आह—न वेति। समुदायोऽनुभवे ? स्मृतौ वा ? नाद्यः—इत्याह—तथाऽपीति। नान्त्यः—इत्याह—संस्कारणां चेति। तथाऽपि तत्पक्षे किं प्रमाणान्तरम् ? तदाह—अत इति।

ज्ञानवती

गकार आदि वर्ण की उपलब्धि के बाद अर्थ की बुद्धि होती है। वह क्या वर्णों से ही (होती है)? अथवा उससे अतिरिक्त स्फोटात्मक शब्द से ? उनमें से एक एक उपलब्ध या अनुपलब्ध वर्ण से अर्थबुद्धि सम्भव नहीं है। इसलिये कहा है—अदर्शन होने से और वर्णान्तर के व्यर्थ होने से। (पू) वर्णसमुदाय से अर्थबुद्धि (होती है) ?

"ऐसा भी नहीं है कि जहाँ एक अशक्त है वहाँ सब में अशक्तता है। क्योंकि धान आदि के वहन आदि में रथ के अङ्ग (चक्र समर्थ) देखे जाते हैं।

रथ का जो भी कार्य शाल्यादि का वहन है वह प्रत्येक अङ्ग में कुछ थोड़ा भी और यथोप्सित भी नहीं दिखाई देता है।"

(उ) तो भी प्रत्येक जायमान क्षणभङ्गुर अभिव्यक्तिविशिष्ट का समुदाय उत्पन्न नहीं होगा। क्योंकि उपलब्धि के कारणभूत वर्णोच्चारण क्रमवर्ती होते हैं। और स्मृति के हेतुओं संस्कारों के प्रति वर्णनिरपेक्ष के रूप में स्मृति के हेतु होने से स्मृत्यभिरूढों का भी समुदाय नहीं होगा। इसलिये अर्थबुद्धिरूप कार्य के परिशेषानुमानगम्य से वर्णभेद होने पर भी 'यह एक शब्द है' ऐसा प्रत्यक्ष निश्चय होने से अर्थ की बुद्धि स्फोट से ही होती है।

---

१ (ख) एकशो शक्ति।
२ (ख) सर्वेष्टशक्तक्ता।
३ श्लो० वा० पृ० ५३२।
४ (ख) स्फोट एव।

[स्फोटस्य निराकरणम्—]

अत्र वदामः—स्फोटः किं नेत्रादिवदनभिव्यक्त एव अर्थधियमादधाति ? यद्वा अभिव्यक्तः ? आद्ये शब्दप्रयोगवैफल्यम् ; द्वितीये पर्यनुयोगसाम्यम् । तदाहुर्भट्टपादाः—

"यस्यानवयवः स्फोटो व्यज्यते वर्णबुद्धिभिः ।
सोऽपि पर्यनुयोगेन नैवैतेन विमुच्यते ॥"[1]

एकस्मृत्यारूढानां (स्फोटा[2]-) भिव्यञ्जकत्वं चेत् सम्पाद्यते ? तन्नोऽपि समानम् इति । अर्थबुद्धिश्च यदनन्तरं जायते तदेवास्या निमित्तं वक्तव्यम् । सा च 'गौः' इत्यत्र वर्णद्वयज्ञाने अतीतेऽन्त्यज्ञानतः पराग्भवति[3] इति ईदृगेवास्या निमित्तमवकल्प्यते । न [4]पूर्ववर्णोपलब्धिसंस्कारसहकृतान्त्यवर्णोपलब्धिकार्यमर्थबुद्धिः ; अर्थसंस्कारस्य प्रत्यक्षत्वाभावात् तत्सहितान्त्यवर्णस्य प्रत्यक्षत्वासम्भवात् ; श्रोतुर्न ज्ञातशब्दजन्यार्थधीः ततो न बालस्य सङ्गतिग्रहः स्यात् ; तर्हि 'गौः' इत्येकस्मृत्यारूढाः प्रत्येकग्रहपूर्वकमर्थधियमाधास्यन्ति[5] । तेषु च सङ्गतिग्रहः स्यात् ।

भावदीपिका

[स्फोटस्य निराकरणम्—]

परिशेषादर्थबाधकत्वं स्फोटस्य तावदनुपपन्नम्—इत्याह—अत्रेति । अथ संस्काराणां प्रत्येकवर्णस्मृत्युत्पादे निरपेक्षाणामपि कार्याऽनुकूलनिमित्तविशेषपराविष्टानां दर्शाद्यपूर्वाणामिव साहित्येनैककार्यत्वं कल्पयित्वा एकस्मृत्यारूढवर्णानां [यथा] स्फोटव्यञ्जकत्वं कल्प्यते तयाऽर्थव्यञ्जकत्वं किं न स्यात् ?—इत्याह—एकेति । स्वपक्षे विशेषमाह—अर्थबुद्धिश्चेति । अतीतस्य वर्णद्वयज्ञानस्य कथं कारणत्वम् ? तत्राह—तन्नेति । संस्कारेऽप्यनिष्टमाशङ्क्य प्रकारान्तरं युक्तमाह—अर्थेति ।

ज्ञानवती

[स्फोट का निराकरण—]

(उ) इस विषय में कहते हैं—

स्फोट क्या नेत्र आदि के समान अनभिव्यक्त होकर ही अर्थ की बुद्धि का आधान करता है ? या अभिव्यक्त होकर ? प्रथम पक्ष में शब्द का प्रयोग व्यर्थ हो जायगा; दूसरे में पर्यनुयोग का का साम्य है। भट्टपाद ने कहा है—

"जिसका अनवयव स्फोट, वर्ण-बुद्धि से व्यक्त होता है वह भी, पर्यनुयोग के कारण इससे मुक्त नहीं होता ।"

यदि एक स्मृति में आरूढ़ को (स्फोट का) अभिव्यञ्जक मानते हैं तो वह हमारे यहाँ भी समान है । जिसके बाद अर्थबुद्धि उत्पन्न हो उसी को इसका निमित्त कहना चाहिये । और वह 'गौः' यहाँ पर दो वर्ण के ज्ञान के बीत जाने पर अन्त्यज्ञान से उत्पन्न होती है । इसलिये इसका ऐसा ही निमित्त माना जाता है । अर्थबुद्धि पूर्ववर्ण की उपलब्धि

[1] श्लो० वा० पृ० ५३३ । [2] (क) रूढानानभि । (ख) रूढानाम् स्फोटाभि । [3] पराभवति इति दृगेव । [4] (ख) पूर्ववर्णोपलब्धिकार्यं । [5] (ख)मध्यास्यन्ति ।

यदपि 'गौः' इत्येकं पदम् इति प्रत्येकवर्णज्ञानेभ्यो भिन्नं विज्ञानं स्फोटालम्बनं प्रत्यक्षमिति; तदप्यपेशलम्; गकारादिवर्णत्रयातिरेकेणार्थान्तरस्यानुभवाभावात्¹। यथा व्यञ्जकधूमज्ञानव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यवह्निज्ञानं तथा व्यञ्जकवर्णज्ञानातिरिक्तं व्यङ्ग्यस्फोटज्ञानमपि वक्तव्यमेव। न च गकारादीनामप्यपर्यायं वर्णोपलम्भः।

अथ वर्णत्रयोपलब्धिजनिताः संस्काराः सम्भूयाशेषवर्णविषयमेकं स्मरणमुत्पादयेयुः? न तर्हि स्मर्यमाणवर्णावलम्बिपदविज्ञानं प्रत्यक्षं स्मर्यमाणशौक्ल्यादिप्रतिभासवत्। अत एव वर्णानां न स्वातिरिच्यमानस्फोटव्यञ्जकत्वम्। यदा च वर्णातिरिक्तस्फोटो नानुभूयते, तदा रत्नतत्त्वमिव प्रतीन्द्रियसंयोगमभिव्यक्तावपि बहुभिः स्फुटं स्फोटः प्रत्येकवर्णव्यक्तोऽपि बहुभिर्व्यज्यते। ततो न प्राग्वत् उत्तरेषां

भावदीपिका

एवं परिशेषाऽनुमानं स्फोटविषयं निराकृत्य प्रत्यक्षमुद्भाव्य अपाकरोति—यदपीति। अतिरिक्तस्फोटाऽनुपलम्भादेव तत्र संगतिग्रहोऽप्यपास्तः। अथ ध्वन्यवच्छिन्नसङ्केतितवर्णावच्छिन्नं स्वतोऽपरोक्षं ब्रह्मचैतन्यमेव स्फोट इति परिभाष्यते तदा वर्णाऽऽदिद्वैतमिथ्यात्वादेरपि स्वीकाराऽऽपत्तिः; "ऋचोऽक्षरे परमेव्योमन्", "वेदा अवेदाः" इति च श्रुतेः ब्रह्मणि वेदानां कल्पितत्वात्, मुख्यो वेदो ब्रह्मैवेति हि वेदान्तमर्यादासमुदितवर्णानामप्रत्यक्षत्वाच्च। तदुपरक्तस्य कल्पितस्याऽपि स्फोटस्य न प्रत्यक्षत्वम्—इत्याह—न चेत्यादि। यतो वर्णविज्ञानं न प्रत्यक्षं अत एवेत्यर्थः। अथ प्रत्येकवर्णज्ञानस्य प्रत्यक्षत्वात्तदारूढवर्णस्य च स्फोटव्यञ्जकत्वम्? न चैवं वर्णान्तरवैयर्थ्यम्? व्यक्तितारम्यात्—इत्यत आह—यदा चेति।

ज्ञानवती

के संस्कार से सहकृत अन्त्यवर्ण की उपलब्धि का कार्य नहीं है। क्योंकि अर्थसंस्कार के प्रत्यक्ष न होने से उसके सहित अन्त्यवर्ण का भी प्रत्यक्षत्व असम्भव है। यदि श्रोता को ज्ञातशब्द से उत्पन्न होने वाली अर्थधी नहीं होती तो लड़के को संगति का ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये 'गौः' इस एक स्मृति में आरूढ़ (वर्ण) प्रत्येक के ज्ञान के वाद अर्थधी का आधान करते हैं। और उनमें संगति का ज्ञान हो जायगा।

(पू) और जो 'गौः' यह एक पद है, ऐसा प्रत्येक वर्ण के ज्ञान से भिन्न एवं स्फोट को आधार वनाकर उत्पन्न होने वाला विज्ञान प्रत्यक्ष है? (उ) यह भी ठीक नही है। क्योंकि गकार आदि तीन वर्णों के विना अर्थान्तिर का अनुभव नहीं होता। जैसे व्यञ्जक धूम के ज्ञान से पृथक् व्यङ्ग्य वह्नि का ज्ञान होता है उसी प्रकार व्यञ्जक वर्ण के ज्ञान से पृथक् व्यङ्ग्य स्फोट का ज्ञान कहना ही पड़ेगा। वर्ण की प्राप्ति गकार आदि का भी अपर्याय नहीं है।

(पू) तीन वर्णों की उपलब्धि से उत्पन्न हुए संस्कार एक साथ होकर सर्ववर्णविषयक एकस्मरण को उत्पन्न करते हैं? (उ) तव तो स्मर्यमाण वर्ण के अवलम्बी पद का विज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होगा, जैसे कि स्मर्यमाण शौक्ल्य आदि का प्रतिभास। इसीलिये वर्ण अपने से अतिरिक्त स्फोट के व्यञ्जक नहीं हैं। और जब वर्ण से अतिरिक्त स्फोट का अनुभव नहीं होता तो रत्नतत्त्व के समान प्रत्येक इन्द्रियसंयोग के साथ अभिव्यक्ति होने पर भी अनेक के द्वारा स्फुट

¹ (ख) अनुभावात्:

वर्णानां वैयर्थ्यम्; प्राक्तनसचिवस्योत्तरस्यैव स्फुटव्यञ्जकत्वात्। अर्थप्रत्ययस्य तु शाब्दस्य परोक्षस्य स्फोटप्रत्यक्षवन्न स्फुटास्फुटत्वम्, येन वर्णान्तरसाफल्यं स्यात्—इति चोद्यमपास्तम्। अनेकेषां वर्णानां निरुपाधिकैकबुद्धिविषयत्वाभावेऽपि 'एकं पदम्' इति प्रतीतेश्चैकार्थप्रतिपादनोपाधिविशिष्टवर्णावलम्बनत्वेनापि सम्भवात्। यदाहुर्भट्टपादाः—

"गौरित्येकमतित्वन्तु नैवास्माभिर्निवार्यते।
तद्ग्राह्यैकार्थतायाश्च शब्दे स्यादेकतामतिः॥"[1]

अस्मिन् कल्पे चाभिधेयधीहेतुभावः त्रयाणामपि वर्णानामेकस्मरणसमारोहिणां ग्राव्णामिवैकपिठरधारणम्। न चैवमन्योऽन्याश्रयः, 'अर्थेन सह सम्बन्धबोधाधीनतदर्थबोधकस्य च पदावधारणाधीनत्वात् इति वाच्यम्; क्रमविशेषवतां वर्णानामर्थधीजनकत्वात्। अर्थधीदर्शनेन तत्र सामर्थ्यमनुमाय पदव्यवहारस्य वर्णेषु सम्भवात्।

तथा हि—न पदावधारणाधीनः सम्बन्धबोधः, किन्तु तदधीनं पदविज्ञानम्।

भावदीपिका

तर्ह्यर्थस्याऽपि व्यक्तिपरत्वोपपत्तेर्न निर्णयः?—इत्याशङ्क्याह—अर्थप्रत्ययस्य त्विति। तर्कपराहतत्वान्नाऽस्य पदत्वव्यवस्थापकत्वम्?—इत्याशङ्क्याह—न चेति। पदविज्ञानविधुराणामपि ग्रामीणानां मार्गभोजनादिशब्दार्थप्रतिपत्तेरविसंवादित्वात् नान्योन्याऽपेक्षणम् इति?

ज्ञानवती

स्फोट प्रत्येक वर्ण से व्यक्त होता हुआ भी वहुतों से व्यक्त किया जाता है। इसलिये—पहले वालों के समान बाद वाले वर्ण व्यर्थ नहीं है, क्योंकि प्राक्तन जिसके सचिव हैं ऐसा उत्तरवाला ही वर्ण स्फुट व्ञ्जक होता हैं। और शब्द से जन्य परोक्ष अर्थप्रत्यय तो स्फोट प्रत्यक्ष के समान स्फुटास्फुट नहीं है जिससे वर्णान्तर सफल हो—यह कथन अपास्त हो गया। क्योंकि अनेक वर्णों के निरुपाधिक एकबुद्धि का विषय न होने पर भी 'एक पद है' इस प्रतीति से एकार्थप्रतिपादनोपाधिविशिष्ट वर्णावलम्बन के रूप में भी (साफल्य) सम्भव है। भट्टपाद ने कहा है—

"हम लोग 'गौः' इस एक बुद्धि का निवारण नहीं करते। और शब्द में उससे ग्राह्य एकार्थता की एकताबुद्धि होती है।"

इस कल्प में पत्थरों के एक पिठरधारण के समान एक स्मरण में आरूढ होने वाले तीनों वर्ण अर्थबुद्धि के हेतु हैं। (पू) इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जायगा, क्योंकि अर्थ के साथ सम्बन्ध बोधाधीनतदर्थबोधकपदावधारण के अधीन है? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि क्रमविशेषवाले वर्ण अर्थबुद्धि के जनक होते हैं। और अर्थधी के दर्शन से उसमें सामर्थ्य का अनुमान करके वर्णों में पद का व्यवहार सम्भव होता है।

इस प्रकार—सम्बन्ध का ज्ञान पद के निश्चय के अधीन नहीं है बल्कि उसके (=सम्बन्ध-

---

[1] श्लो० वा० पृ० ५४०।

कारकभेदाभिधायि हि पदम्। पद्यतेऽनेन—इति व्युत्पत्त्या तु तच्छब्दाश्च कार्य-सम्बन्धबोधोपहितसीमानो नासति तस्मिन् प्रवर्तितुमीशते। न च स्वरूपभेदस्ता-दृशः तावतां वर्णानां धर्मान्तरेभ्यस्तेभ्यो वाऽतावद्भ्यस्तावद्भ्यो[१] वाऽतादृग्भ्यो[२] वाऽन्त्यविज्ञानोपारोहिणामर्थप्रत्यायनात् प्राक् न [३]प्रथते, येन सम्बन्धिभेदाग्रहे[४] सम्बन्धभेदो न निरूप्येत। तथा च सम्बन्धबोधनाख्यानमप्यमीषामीषत्करम्[५] समवधृतैकाभिधेयहेतुभावानां च तेषां पश्चात् 'पदम्' इति व्यपदेशः नानुपपन्न इति तत्त्वबिन्दुकारैः समाहितत्वात्। तस्मादर्थधीर्न[६] स्फोटसाध्या।

अपरे पुनः पूर्ववर्णोपलब्धिसंस्कारलब्धानुग्रहोऽन्त्यवर्ण एव संस्कारः प्रसिद्धो वा वासनामयः; स एवार्थधीहेतुः—इत्याहुः। यतः सर्व एव—

"दृढज्ञानगृहीतेऽर्थे संस्कारोऽस्तीति मन्यते।"

भावदीपिका

तत्राऽह—तच्छब्दाश्चेति। तथाऽपि पदाऽनवधारणे कथं तस्याऽर्थेन सम्बन्धः? तत्राऽह—न चेति। तावतां यावतां पदत्वमर्यतः सम्बन्धबोधनोपाख्यानम्।

पक्षान्तरमुद्भावयति—अपर इति। तथाऽपि वाक्यार्थप्रमायाः कथं संस्कारमात्रहेतु-कत्वम् वर्णोपलब्धिसंस्काराणामनेकेषामपि वर्णसमुदायस्मृतिजनकत्वस्यैवेष्टत्वात्? तत्राऽह-

ज्ञानवती

ज्ञान के) अधीन पद का ज्ञान है। पद तो कारक-भेद को बताता है। 'पद्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति से कार्यसम्बन्धबोध से उपहित सीमा वाले उसके शब्द, उसके न रहने पर प्रवृत्त नहीं हो सकते। ऐसा नहीं है कि उन तावत् अतावत् अथवा अतादृश धर्मान्तरों से अन्त्यविज्ञानोपा-रोही उतने वर्णों का वैसा स्वरूपभेद अर्थप्रत्यायन के पहले नहीं प्रथित होता जिससे सम्बन्धिभेद का ग्रहण न होने पर सम्बन्ध के भेद का निरूपण न हो सके। इस प्रकार इनका सम्बन्धबोधा-नाख्यान भी ईषत्कर है और समवधृतएकाभिधेयहेतुभाववाले उनका बाद में (पदम्) यह व्यवहार अनुपपन्न नहीं होता। ऐसा तत्त्वबिन्दुकार ने समाधान किया है। इसलिये अर्थधी स्फोट-साध्य नहीं है।

दूसरे लोग—अथवा पूर्व वर्ण की उपलब्धि के संस्कार से प्राप्तअनुग्रहवाला अन्त्यवर्ण ही वासनामय संस्कार प्रसिद्ध है। और वही अर्थधी का हेतु है—ऐसा कहते हैं। क्योंकि सभी लोग—

"दृढ़ज्ञान से गृहीत अर्थ (के विषय) में संस्कार (उत्पन्न होता है) ऐसा मानते हैं।"

और उसके अर्थधी के हेतु होने में किसी को भी विवाद नहीं है।

"यद्यपि संस्कार का स्मृतिहेतुत्व व्यवस्थित है तथापि कार्यान्तर में भी उसका सामर्थ्य प्रतिषिद्ध नहीं होता।

---

१ (ख) वा तावद्भ्यः। २ (ख) तादृक्। ३ (ख) प्राक् प्रथते।
४ (ख) ग्रहः। ५ (ख) करमवमृशतताभिधेयहेतुभावाधीनस्तेषां।
६ (ख) अर्थाधीन स्फोट।

तस्य चार्थधीहेतुत्वे कस्यापि न विसंवादः ॥

"यद्यपि स्मृतिहेतुत्वं संस्कारस्य व्यवस्थितम् ।
कार्यान्तरेऽपि सामर्थ्यं न तस्य प्रतिषिध्यते ॥"[१]

अपूर्वप्रतिपत्तिकारणत्वमन्यत्रादृष्टचरम् ।

"शब्दपक्षेऽपि तच्चैतत् अदृष्टत्वान्न मुच्यते ।
कार्यबोधनशक्तत्वं तुल्यं संस्कारशब्दयोः ॥
क्षीणार्थापत्तिरेवं च न स्फोटं परिकल्पयेत् ॥"[२]

अतः संस्कारपक्ष एव रमणीयः ? न रमणीयः ; न खलु वर्णस्य स्मरणकारण-संस्काराणामेकस्मरणारूढार्थावबोधाभ्यर्णवर्णान् विहाय तत्कारणत्वपरिग्रहो युक्तायते । यदाहुराचार्याः—

"तेन श्रोत्रमनोभ्यां स्यात् क्रमाद् वर्णेषु यद्यपि ।
पूर्वज्ञानं (परस्तात्तु) युगपत्स्मरणं भवेत् ॥
तदारूढास्ततो वर्णा न दूरेऽर्थावबोधनात् ।
शब्दादर्थमितिस्तेन लौकिकैरभिधीयते ॥"

इति । तस्मादयातयामानां वर्णानामेवार्थबोधकत्वम् । न च स्मृत्यजनक एव वर्णोपलब्धिसंस्कार अर्थधीहेतुरिति साम्प्रतम् । स्फोटात्मकं पदं निराकुर्वता पदव्यव-

भावदीपिका

यद्यपीति । कथमन्यत्राऽदृष्टमत्र कल्प्यते ?—इत्याशङ्क्य पदस्थले शब्दस्याऽपि "पदमभ्यधिकाभावात् स्मारकान्न विशिष्यते" पदजन्यज्ञानस्य सङ्केतवेलायां पदार्थप्रमाणविषयादधिकविषयाभावात्; अन्यथा विनाऽपि सङ्केतं बोधकत्वप्रसङ्गात् गृहीतग्रहणत्वेन स्मृतित्वोक्तेः स्मृतिमात्रजन्यत्वं कल्प्यम् । तदाह—न रमणीयमिति । अभ्यर्णान्=निकटान्; स्मृतिद्वारा पलायिनं प्रत्याह—न चेति । इष्यतां स्मृतौ किमायातम् ? अत आह—वर्णेति ।

ज्ञानवती

अपूर्व प्रतिज्ञान का कारण अन्यत्र नहीं देखा गया ।

"शब्दपक्ष में भी वह यह अदृष्ट होने से मुक्त नहीं होता । संस्कार एवं शब्द की विशिष्टकार्यबोधनशक्ति तुल्य है । इस प्रकार क्षीण अर्थापत्ति स्फोट की परिकल्पना नहीं करती ।"

इसलिये संस्कारपक्ष ही रमणीय है ?

यह रमणीय नहीं है । क्योंकि वर्णों के स्मरण के हेतुभूत संस्कारों का एक स्मरणारूढ अर्थावबोध के समीप पहुँचे वर्णों को छोड़कर तत्कारणत्व (=संस्कारकारणत्व) का परिग्रह ठीक नहीं है । आचार्य ने कहा है—

"इसलिये यद्यपि श्रोत्र एवं मन से वर्णों के विषय में क्रम से पूर्व ज्ञान हो जाय तो भी बाद में तो एक साथ स्मरण होता है ।

---

१ (क) परस्तान्न, (ख) परस्तात्तु ।

द्वारायाशेषवर्णावमर्शिविज्ञानं तावदेष्टव्यमेव। वर्णसमुदायस्मृतिश्च वर्णानां पदत्वोपायः। तदाहुः—

"पदावधारणोपायान् बहूनिच्छन्ति सूरयः।
क्रमन्यूनातिरिक्तत्वस्वरवाक्यश्रुतिस्मृतीः॥"[1]

राजा जारा इति क्रमः; गौर्गोमान् इति न्यूनातिरिक्तत्वम्; स्वरो भाषिकादिः 'पञ्चजना' इत्यादौ।

"छन्दोगाः (बह्वृचाश्चैव[2]) तथा वाजसनेयिनः।
उच्चनीचस्वरं प्राहुः स वै भाषिक उच्यते॥"

इति अन्तोदात्तस्वराख्यं भाषिकस्वरमाहुः। वाक्यं पदान्तरसमभिव्याहारः 'अश्वो गच्छति' इति। यथा क्रियापदान्तरोपादानात् 'अश्वः' इत्यस्य (अक्रिया[3]—) पदत्वधीः। उद्भिदादेर्यागनामपदत्वं 'यजेत' इति सामानाधिकरण्यश्रुत्या। स्मृतिश्च वर्णसमुदाय-

भावदीपिका

'टुओश्वि' गतिवृद्ध्योरित्यस्य रूपम् अश्व इति। संस्कारस्य वर्णस्मृतिद्वारस्याऽनुभवसिद्धत्वान्न साक्षादर्थहेतुकत्वात् तुल्यो दोषः। सर्वाऽनुदात्तो जनशब्दश्चान्तोदात्तः "समासस्य" इति सूत्रेण समासस्याऽन्तोदात्तत्वविधानात् द्वितीयपञ्चजनशब्दयोः समासो गम्यते तदा समासपदनिर्णयः। भाष्यिकसंज्ञे तु—शतपथब्राह्मणस्वरविधायकग्रन्थे। "स्वरितोऽनुदात्तो वा" इति सूत्रेण यो मन्त्रदशायामनुदात्तः स्वरितो वा स ब्राह्मणे उदात्तो भवतीत्यपवाद आश्रितः। ततः 'पञ्चजनाः' इत्यत्र आकारादितरेषामनुदात्तानां ब्राह्मणे उदात्तत्वम्। "उदात्तमनुदात्तमनन्त्यम्" इति च सूत्रेण मन्त्रदशायामनन्त्यस्य परलग्नवत्तयोच्चार्यमाणस्याऽनुदात्तत्वं विहितम्। ततश्च नकारोपरितन आकार 'आकारश्च' इत्यनेन संलग्नतयोच्चार्यमाणोऽनुदात्तो भवति। सति चैवमन्ताऽनुदात्तस्वरो भाषिकः। अन्तो[-दात्तो][4] भाषिकः इति न ब्राह्मण-

ज्ञानवती

दूर में अर्थाविबोध करने से वर्ण तदारूढ नहीं हैं। इसलिये लौकिक लोग शब्द से अर्थ का ज्ञान बतलाते हैं?"

इस कारण अविनष्ट वर्ण ही अर्थ के बोधक हैं। (पू) स्मृति का अनुत्पादक ही वर्णोपलब्धिसंस्कार अर्थज्ञान का हेतु है? (उ) यह उचित नहीं है। स्फोटात्मक पद का निराकरण करने वाले को पद-व्यवहार के लिये सभी वर्णों का स्मरण करने वाला विज्ञान मानना ही चाहिये और वर्णसमुदाय की स्मृति ही वर्णों के पदत्व का उपाय है। कहा है—

"विद्वान लोग पद के निश्चय के क्रम, न्यून, अतिरिक्तत्व, स्वर, वाक्य, श्रुति, स्मृति (आदि) अनेक उपायों को चाहते हैं।"

'जारा' 'राजा' यह क्रम है। 'गौः' 'गोमान्' यह न्यूनातिरिक्तत्व है, स्वर, 'पंचजनाः' इत्यादि में भाषिक आदि है।

---

[1] श्लो॰ वा॰ पृ॰ ८९६। [2] (क) बह्वचाश्चैव। (ख) बह्वृचाश्चैव।
[3] (क) क्रिया, (ख) अक्रिया। [4] (क) अन्तो पारि—।

विषया। तथा च तत एवार्थधीसिद्धिरस्तु, किं संस्कारकारणवादेन ? वर्णोपलब्धीनां[1] स्मृत्यजनकसंस्कारजनकत्वकल्पना च निर्मूलेति वर्णपक्ष एव रमणीयः।

एवं तावदेकार्थप्रतिपादनोपाधौ वर्णा एव पदव्यवहारभाजः एकसंसर्गप्रतिपादनोपाधौ च पदानि वाक्यव्यवहारभाञ्जि। नैभ्यो व्यतिरिच्यमाने पदवाक्ये-स्फोटात्मके प्रत्यक्षगम्ये मानान्तरगम्ये वा इति स्थिते विचार्यते—

[वाक्यार्थबोधकत्वं पदानां पदार्थानां वा ?—]

किं पदानामेव साक्षाद्वाक्यार्थबोधकत्वम् ? पदार्थस्मृत्यवान्तरव्यापाराणां वा ? स्मृतपदार्थानां वा इति ? तत्र प्रवृत्तिलिङ्गेन वाक्यार्थधीरेवान्वयव्यतिरेकाभ्यां शब्द-साध्येति अन्विताभिधानवादिनः। न च वाक्यार्थज्ञानकारणभूतपदार्थज्ञाननिदान-

भावदीपिका

पाठकाऽनुसारेणेति द्रष्टव्यम्। अस्तु वर्णस्मृतिः; ततः किम् ? तत्राऽऽह—तथा चेति। पक्षश्चाऽयमनुपपन्नोऽन्त्यवर्णसाक्षात्कारजन्यसंस्कारव्यतिरेकेण संस्काराणां स्मृतिजनकत्व-नियमस्याऽपि गौतमादेः सम्मतत्वात्—इत्याह—वर्णोपलब्धीनामिति।

[अर्थबोधकत्वं पदानां पदार्थानां वा ?—]

वृत्ताऽनुद्रवणेन प्रघट्टकान्तरमवतारयति—एवमिति। प्राभाकरीयमुत्थापयति—तत्रेति। वाक्यश्रवणसमनन्तरं मध्यमवृद्धस्य प्रवृत्तिदर्शनात् तन्मात्राद् व्युत्पन्नस्य प्रवृत्त्य-दर्शनाच्च तदर्थं बुद्ध्वा प्रवृत्त इति गम्यते। न च व्यवधानं लक्ष्यते; तेन पदानां साक्षादन्विताऽभिधानं अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिति न वाच्यम्; तयोरन्यथासिद्धत्वात्, व्यवधान-दर्शनाच्च—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। तदुक्तम्—"विना पदार्थस्मरणमन्वयाऽप्रतिपत्तितः।

ज्ञानवती

"छन्दोग वह्वृच तथा वाजसनेयी लोग उच्चनीच स्वर का उच्चारण करते हैं। वही भाषिक कहा जाता है। इस प्रकार अन्तोदात्त स्वर को भाषिक कहते हैं।"
वाक्य का मतलव दूसरे पदों का समूह; जैसे–'अश्वो गच्छति'। जैसे क्रियान्तर का उपादान होने से 'अश्वः' इसकी अक्रियापदत्वधी होती है। 'उद्भिद्' आदि याग का नाम पद है, यह 'यजेत' सामानाधिकरण श्रुति से है। और स्मृति वर्ण-समुदायविषयक होती है। फिर उसी से अर्थधी की सिद्धि हो जाय संस्कार-कारणवाद से क्या लाभ ? वर्णोपलब्धियों की स्मृत्यजनकसंस्कारजनकत्वकल्पना निर्मूल है। इसलिये वर्णपक्ष ही रमणीय है।

[पद अर्थबोधक हैं या पदार्थ ?—]

इस प्रकार. एकार्थप्रतिपादन उपाधि में वर्ण ही पदव्यवहार के भागी होते हैं। और (पदार्थों के) एक सम्बन्ध प्रतिपादन की उपाधि में पद वाक्यव्यवहार के भाजक होते हैं। इनसे अतिरिक्त स्फोटात्मक पद एवं वाक्य प्रत्यक्षगम्य या प्रमाणान्तरगम्य नहीं है—ऐसा स्थित होने पर विचार किया जाता है—

क्या पद ही साक्षात् वाक्यार्थ के वोधक हैं ? या पदार्थ की स्मृति के अवान्तरव्यापार ?

---

[1] (ख) लब्धानां।

त्वात् तद्वेदकतयाऽन्यथासिद्धत्वम्, अन्वयव्यतिरेकयोः; अन्त्यपदार्थधीव्यवधानाच्च नाव्यवधानाद्वाक्यार्थधीजनकत्वं पदानामिति मन्तव्यम्; 'गामानय' इति पदद्वयस्य बुद्धिविपरिवृत्तिसमय एव क्रियाकारकभावेन संसर्गप्रतिपत्तेर्व्यवधानादर्शनात्। किञ्च पदावापोद्वापाभ्यां संसर्गावापोद्वापौ, न पदार्थज्ञानावापोद्वापाभ्याम्; अन्वयिपदार्थस्मरणेऽपि दैवगत्या समभिव्याहृतपदार्थानामेवान्वयधियो निष्प्रत्यूहमुदयात्।

[अभिहितान्वयवादे शाब्दबोधप्रकारः—]

अत्र अभिहितान्वयवादिनाः समादधते—पदार्थस्मरणव्यवधानमन्तरेणैव पदानामन्वितबोधजनकत्वे विनाऽपि सङ्गतिग्रहं तत्प्रसज्येत। क्रमेण च पदान्या-

भावदीपिका

तत्तत्पदार्थस्मृतयस्तेषामन्वयबोधिकाः ।। इति। समुदितपदार्थव्यापाराद् वाक्यार्थधीर्वक्तव्या। न च समुदितानां पदार्थस्मारकत्वं लक्ष्यत इति हेत्वर्थः। अथ पदानां क्रमेणाऽऽकर्णने अवश्यम्भाविनी पदार्थस्मृतिः, तथाऽपि न तस्याः कारणत्वम्?—इत्याह—किञ्चेति। पदार्थस्मृतेः करणत्वेऽनन्वयिपदार्थस्मरणे व्यवहितवाक्यार्थाऽसिद्धिप्रसङ्गात् समभिव्याहृतपदार्थस्मरणाऽनियमेऽपि पदानामेवान्वितधीकरणत्वं लिङ्गस्येव व्याप्तिस्मृतिसहकृतस्य लिङ्गिधीकरणत्वम्। तत्तु स्वशक्त्यैवेति मतान्तराद्विशेषः।

[अभिहितान्वयवादे शाब्दबोधप्रकारः—]

भट्टपादीयमतेन प्रत्यवतिष्ठते—अत्रेति। पदार्थस्मरणस्याऽनुपयोग एव किमभिप्रेतः? सोऽयुक्त—इत्युक्तम्। यदि तदेव नाऽस्ति, तत्राह—क्रमेण चेति। यद्यपि समुदितानां

ज्ञानवती

या स्मृतपदार्थ? इनमें से प्रवृत्तिलिङ्ग के द्वारा वाक्यार्थधी ही अन्वयव्यतिरेक के द्वारा शब्दसाध्य है—ऐसा अन्विताभिधानवादी कहते हैं। (पू) वाक्यार्थज्ञान के कारणभूत पदार्थज्ञान का निदान होने से उसका ज्ञापक होने के कारण (पद) अन्यथासिद्ध हो जायेंगे, और अन्वयव्यतिरेक के अन्त्यपदार्थधी का व्यवधान होने से पद अव्यवधानेन वाक्यार्थधी के जनक नहीं होंगे? (उ) ऐसा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि 'गाम्, आनय' इन दो पदों के बुद्धिविपरिणाम के समय में ही क्रियाकारकभाव के रूप में सम्बन्धज्ञान का व्यवधान नहीं देखा जाता। इसके अतिरिक्त संसर्ग के अवापोद्वाप, पद के अवापोद्वाप से होते हैं न कि पदार्थज्ञान के अवापोद्वाप से; कारण यह है कि अन्वयीपदार्थ का स्मरण होने पर भी दैवगति से समभिव्याहृत पदार्थों की ही बुद्धि निर्विघ्न होकर उदित होती है।

[अभिहितान्वयवाद में शाब्दबोध प्रकार—]

इस विषय में अभिहितान्वयवादी समाधान देते हैं—पदार्थस्मरण के व्यवधान के विना ही पदों के अन्वितबोधजनक होने पर सम्बन्धज्ञान के बिना भी उसकी (वाक्यार्थबोध की) प्रसक्ति हो जाती है। पदार्थ क्रमशः सुने जाते हैं, फिर प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान अवश्यंभावी है, क्योंकि सम्बन्ध ज्ञात है, इसलिये अव्यवधान कहना चाहिये। इसके अतिरिक्त—

"जाति को आकृति कहते हैं जिससे व्यक्ति को आकार मिलता है। और वह सामान्य पिण्डों की एक बुद्धि से होता है।

कर्ण्यन्ते, ततः प्रत्येकं पदार्थबोधोऽवश्यंभावी, विदितसङ्गते; ततो (व्यवधानं)[1] वाच्यम्। किञ्च—

"जातिमेवाकृतिं प्राहुः व्यक्तिराक्रियते यया।
सामान्यं तच्च पिण्डानामेकबुद्धिनिबन्धनम् ॥
तन्निमित्तं च यत्किञ्चित् सामान्यं शब्दगोचरः।
सर्व एवेच्छतीत्यत्र निर्विरोधोऽत्र वादिनाम् ॥"[2]

इति सामान्यस्य पदगोचरत्वाभिधानात् तत्रैव च सङ्गतिग्रहावबोधनव्यवधानेनैव[3] विशेषवाक्यार्थबोधकत्वं पदानामादेयम्।

पदाच्च पदार्थमात्रज्ञानं संगत्यनुरोधादन्वितज्ञानं वा न तावत् प्रमा; प्रमाणान्तरदृष्टार्थत्वादज्ञाते सङ्गतिग्रहायोगात्। नापि विपर्यासः; बाधवैधुर्यात्। न च संशयः; कोटिद्वयविकलत्वात्। नापि च विकल्पः; निर्वस्तुकत्वाभावात्। अतः स्मृतिरेव। तेनान्वितप्रमाव्यवधानेनैव शब्दस्य चाभिधाव्यापारोऽपि न विभुद्रव्यस्य परिस्पन्दः।

"(वर्णात्मानस्तु[4]) ये शब्दाः नित्याः सवर्गतास्तथा।
पृथगद्रव्यतया ते हि न गुणाः कस्यचिन्मता ॥"

इति विभुद्रव्यत्वस्वीकाराच्च। गुणपक्षेऽप्येवम्। नापि प्रयत्नः; अचेतनत्वात्।

भावदीपिका

स्मारकत्वं नाऽस्ति तथाऽपि प्रत्येकमस्ति तत्—इत्याह—तत इति। अभिधाव्यापाराऽऽलोचनयाऽपि स्मरणमवश्यंभावि—इत्याह—शब्दस्येति। यतः प्रसिद्धं व्यापारद्वयं शब्दस्य न सम्भवति, यतश्चाऽन्यादृशः कल्पयितुं न शक्यः सङ्गत्यनुपयोगप्रसङ्गात्, ततोऽयमेव व्यापारो युक्तः—

ज्ञानवती

और उसका जो कुछ निमित्त और सामान्य शब्द का विषय है उसको सब लोग चाहते हैं। इस विषय में वादियों का ऐक्यमत्य है।"

इस प्रकार सामान्य को पद का विषय कहने से और वहीं (=पद में) सङ्गतिज्ञान के अवबोधन के माध्यम से ही पदों को विशेषवाक्यार्थ का बोधक समझना चाहिये।

पद से पदार्थमात्र का ज्ञान अथवा संगति के अनुरोध से अन्वित-ज्ञान प्रमा नहीं है क्योंकि अर्थ के प्रमाणान्तर से दृष्ट होने से अज्ञात में संगति के ज्ञान का योग नहीं है। विपर्यास भी नहीं है, क्योंकि बाध नहीं है। संशय भी नहीं है, क्योंकि कौटिल्य से रहित है। विकल्प भी नहीं है क्योंकि निर्वस्तुकत्व नहीं है। इसलिये (अन्वित ज्ञान) स्मृति ही है। उससे अन्वित प्रमा व्यवधान से ही (उत्पन्न होती है)। और शब्द का अभिधाव्यापार भी विभु द्रव्य का परिस्पन्द नहीं होता।

"जो शब्द वर्णात्मक, नित्य तथा सर्वगत हैं वे पृथक् द्रव्य के रूप में हैं न कि किसी को वे गुण के रूप में स्वीकार्य हैं।"

---

१ (क) अव्यवधानं, (ख) व्यवधानं। २ श्लो० वा० ५४६।
३ (ख) ग्रहावबोधन। ४ (क) वर्णात्मस्तु, (ख) वर्णात्मानमस्तु।

अतः शब्दविज्ञानमेव पदार्थस्मरणजननशक्त्युपबृंहितम्, तस्याभिधाव्यापारः। अतोऽपि पदार्थस्मरणव्यवधानम्। न च सङ्केतग्रहदशायां गृहीतसाहचर्यवशात् पदार्थस्मृत्युपपत्तेः संसर्गधीजननशक्तिरेव शब्दस्याभिधाव्यापारः; तथा सति 'एतदस्याभिधायकम्' इति सङ्केतस्यैवानुदयात् पदार्थस्यापि साहचर्यात् पदस्मारकत्वेन तदभिधानत्वप्रसङ्गात्। तेनान्विताभिधाने पदार्थवाक्यार्थाभिधाव्यापारद्वयप्रसङ्गः; शब्दबुद्धिकर्मणां च विरम्यव्यापारानङ्गीकारात्। यदि च संसर्गग्रहोऽपि संसर्गसामान्यस्य, तदा पदानां भूयः समभिव्याहारलब्धातिशयानां हरीतक्यादिन्यायेन पूर्वसंसर्गविशेषप्रमापकत्वं प्रथमत एव इति नाधिकोऽभिधाव्यापारः। तथाऽपि हरीतकीगुणादीनामिवागृहीतसामर्थ्यानामपि यदृच्छाप्रयुक्तानां पदानां स्वकार्यकरत्वं प्रसज्येत; अन्यवाक्यार्थसम्बन्धज्ञानाच्चेत्[१] अन्यबोधः? तथा पदार्थान्तरबोधस्यापि प्रसङ्गात्। 'गामानय' इत्युक्ते तुरङ्गिणीबन्धनबोधः स्यात्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"अन्यवाक्यार्थसम्बन्धज्ञानच्चान्यो न गम्यते।
सामान्यदृष्टक्लृप्तौ च लभ्यते न विशेषधीः॥"[२]

भावदीपिका

इत्याह—अत इति। लिङ्गभूतशब्दविज्ञानव्यवच्छेदाय पदार्थेत्यादिपदम्। सहचरयोश्चैत्रमैत्रयोरेकतरविज्ञानं पदार्थभूताऽन्यतरस्मरणजननशक्त्युपबृंहितम्; नाऽभिधा व्यापार इति? अत उक्तम्—शब्दविज्ञानमिति। यदा चायऽमेवाऽभिधाव्यापारः, तदाऽनेन स्मरणमेव शक्त्यवष्टम्भेन साध्यम्; वाक्यार्थज्ञानं तु लाक्षणिकमेव तदा पर्यवस्यति। अथ पदार्थस्मरणं न व्यापारः शब्दस्याऽन्यथाऽपि सिद्धत्वात्? अत आह—न चेति। एवञ्च नाऽभिधा व्यापारान्तराणां निरूपणमिति कुतो न वाच्यम्? तत्राऽऽह—तथा सतीति। 'इदं जातिवाचकं पदम्', 'इदं व्यक्तिवाचकम्' इति सङ्केतस्य प्रसिद्धत्वात् साहचर्यात् स्मारकत्वमात्रस्याऽभिधानत्वेऽतिप्रसङ्गाच्च—इत्याह—पदार्थस्याऽपीति। अस्तु व्यापारगौरवम् अभ्युपगतत्वान्न दोषः इत्यपि वाच्यम्—इत्याह—शब्देति। प्रकारान्तराऽवष्टम्भेन समाधानमाशङ्क्य प्रत्याचष्टे—यदि चेति। सङ्गतिमङ्गीकृत्याऽप्याह—अन्येति। तुरङ्गिणी=घोटकी। अतः परस्याऽभिधाव्यापारगौरवं स्थितम्।

ज्ञानवती

इस प्रकार (शब्द के) विभुद्रव्यत्व को स्वीकार भी किया गया है। गुणपक्ष में भी ऐसा ही है। प्रयत्न भी नहीं है क्योंकि अचेतन है। अतः शब्दविज्ञान ही पदार्थस्मरणजननशक्ति से उपबृंहित है, और उसका व्यापार अभिधा है। इसलिये भी पदार्थस्मरण का व्यवधान है।

(पू) सङ्केतग्रहदशा में गृहीतसाहचर्यवश पदार्थस्मृति की उपपत्ति होने से संसर्गधीजननशक्ति ही शब्द का अभिधा व्यापार है?

(उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि ऐसा होने पर 'यह इसका अभिधायक है' ऐसे सङ्केत का उदय न होने से पदार्थ के भी साहचर्य से पदस्मारक के रूप में उसका अभिधान होने लगेगा। इसलिये अन्विताभिधानवाद में पदार्थ—(अभिधाव्यापार एवं) वाक्यार्थ—अभिधाव्यापार दो

१ (ख) अन्यसम्बन्धवाक्यार्थज्ञाना। २ श्लो० वा० पृ० ९११।

इति । यदा तु वाक्यार्थधीकरणभूतानां पदानाम्—

"न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः ।"[१]

इति पदार्थस्मरणमवान्तरव्यापारः क्रियाया इवापूर्वं, न तदाऽधिकोऽभिधाव्यापारः—

"साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथाऽपि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥
वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥"[२]

इत्युक्तत्वाच्च स्मृतपदार्थानां वाक्यार्थधीहेतुत्वेऽपि नैवाभिधाव्यापारान्तरम् ।

ननु यदाऽपि पदाभिहितानां पदार्थानामाकाङ्क्षाऽऽदिवशात् अन्वयबोधकत्वम् तदाऽपि पदानां पदार्थबुद्धिसामर्थ्यं पदार्थेषु च वाक्यार्थबुद्धिसामर्थ्याधानसामर्थ्यकल्पनागौरवाय? न; एवं वदतोऽपि पदार्थानां स्वार्थे इतरस्मिंश्च तदन्वये सामर्थ्यकल्पनात् तदस्त्येव इति न दोषं पश्यामः ।

ज्ञानवती

(व्यापारों) का प्रसङ्ग हो जायगा । और शब्द बुद्धि एवं कर्म ये विरत होकर व्यापार नहीं करते यह सिद्धान्त है । यदि संसर्गग्रह भी संसर्गसामान्य का होता है तो भूयःलब्धसमभिव्याहारातिशय वाले पदों का हरीतक्यादिन्याय[३] से पूर्वसंसर्गविशेषप्रमापकत्व पहले से ही है इसलिये अधिक अभिधा का व्यापार नहीं है । तो भी हरीतकी गुड आदि के समान अगृहीतसामर्थ्य वाले भी यदृच्छाप्रयुक्तपदों का स्वकार्यकरत्व प्राप्त होगा और यदि अन्यवाक्यार्थ के सम्वन्ध के ज्ञान से अन्यवोध होता है, तो पदार्थान्तरबोध भी होने लगेगा । जैसे 'गाम् आनय' ऐसा कहने पर 'घोड़ी बांधो' यह बोध—होने लगेगा । भट्टपाद ने कहा है—

"अन्य वाक्यार्थ के सम्वन्ध से ज्ञान से अन्य नहीं जाना जाता है । सामान्य (पदार्थों) का व्याप्तिज्ञान होने पर विशेष (पदार्थ) के ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती ।"

और जब वाक्यार्थ के कारणभूत पदों का—

"हमारे पद वाक्यार्थबोध के समय में भी सामर्थ्य को नहीं छोड़ते ।"

इसके अनुसार पदार्थस्मरण रूप अवान्तरव्यापार क्रिया के समान अपूर्व हैं तो अधिक अभिधाव्यापार (स्वीकार्य) नहीं है—

"वर्ण यद्यपि पदार्थ के प्रतिपादन का साक्षात्कार करते हैं तो भी इस निष्फल (अभिधाव्यापार) में पर्यवसित नहीं होते ।"

"वाक्यार्थ के ज्ञान के लिये उनकी प्रवृत्ति में पदार्थप्रतिपादन पाक में काष्ठ की ज्वाला के समान अनिवार्य है ।"

ऐसा कहने से स्मृत पदार्थों के वाक्यार्थधीहेतु होने पर भी अभिधा व्यापारान्तर नहीं है ।

(पू) जब भी पदों एवं अभिहित पदार्थों को आकाङ्क्षादिवश अन्वयबोधक (माना

---

१ श्लो० वा० ९०७ । २ श्लो० वा० ९४३ ।

३ जल की मधुरता व्यक्त नहीं रहती पर हरीतकी (हर) खाने के वाद जल मीठा लगता है । इस प्रकार हरीत की जल की मधुरता का व्यञ्जक है । यही हरीतकी न्याय है ।

"वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः ।"

(अतो[१]) लक्षणया बोधकत्वेन न गौरवशङ्काऽपि । न चैवमपूर्वार्थत्वभङ्गः; लक्षणायामर्थापत्त्यवकाशेऽपि[२] तस्या उपक्रमादिवत् तात्पर्यमात्रव्यवस्थापकत्वात्[३] लाक्षणिकशब्दस्यापूर्वार्थत्वव्याघातात् । यश्च केवलादर्थादर्थो न शब्दस्य कयाऽपि वृत्त्या तात्पर्यात् स एव चोदनार्थः । तथा च—

"शब्दप्रामाण्यनिर्णीत्यै पदार्थेभ्यो यथेष्यते ।
अत्यन्तादृष्टवाक्यार्थप्रतिपत्तिस्तथोच्यते ॥"[४]

इति प्रक्रम्य—

"भावनावचनस्तावत्तां[५] स्मारयति लोकवत् ।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रत्ययार्थश्च सेष्यते ॥"[६]

भावदीपिका

स्वस्य तदभावमाह वाक्यार्थ इति । ननु लक्षणपदानामर्थमात्रपरत्वे वाक्यप्रामाण्याऽनुपपत्त्याऽऽक्षिप्ताऽर्थविशेषाऽप्रतीतिः; ततः कथं लाक्षणिकत्वे शब्दस्याऽपूर्वार्थम् ? तत्राऽऽह—न चैवमिति । 'यश्चार्थादर्थो न स चोदनार्थः' इति न्यायस्य तर्हि को विषयः ? तमाह—यश्चेति । प्रघट्टकसंमत्यैतद् द्रढयति तथा चेति । भावनावचनः=प्रस्तुते वैदिको लिङादिः । प्रकृत्यर्थस्य यागादेः करणत्वेन व्यवस्थितत्वात्, तदुत्पादनप्रयत्नलक्षण-

ज्ञानवती

जाता है) तो भी पदों का पदार्थबुद्धिसामर्थ्य एवं पदार्थों में वाक्यार्थबुद्धि के आधान का सामर्थ्य कल्पनागौरव के लिये है । (उ) 'ऐसा नहीं है'—इस प्रकार कहने वाले का भी पदार्थों का स्वार्थ एवं परार्थ के विषय में उसके अन्वय में सामर्थ्य की कल्पना करने से वह (=कल्पना गौरव) है ही । इसलिये हम दोष नहीं देखते ।

"लक्ष्यमाण वाक्यार्थ सर्वत्र ही है—यह स्थिति है ।"

इसलिये लक्षणा के द्वारा बोधक होने से गौरव की शङ्का भी नहीं है । (पू) इस प्रकार अपूर्वार्थत्व का भङ्ग हो जायगा ? (उ) ऐसा नहीं है । क्योंकि लक्षणा में अर्थापत्ति का अवकाश होने पर भी उसके उपक्रम आदि के समान तात्पर्यमात्र के व्यवस्थापक होने से लाक्षणिक शब्द का अपूर्वार्थत्व व्याहत हो जायगा । और शब्द का जो अर्थ केवल अर्थ से (उत्पन्न) है, न कि किसी भी वृत्ति से तात्पर्य से (उत्पन्न है,) वही चोदना का अर्थ है । इस प्रकार—

"शब्द के प्रामाण्य के निर्णय के लिये पदार्थों से अत्यन्तादृष्टवाक्यार्थ का ज्ञान जैसा चाहते हैं वैसा कहा जायेगा ।"

ऐसा प्रकरण चला कर—

---

१ (क) लक्षणयावोध, (ख) लक्षणयाऽतोवोध । २ (ख) त्यवकाशोऽपि । ३ (ख) त्वम् । ४ श्लो० वा० पृ० ९१४ । ५ (ख) तावत्तरः । ६ श्लो० वा० पृ० ९१४ ।

ततश्च भावना भाव्यमाकाङ्क्षमाणा योग्यतासन्निधानाभ्यां स्वर्गादिना भाव्येन सम्बध्यते; 'यजेत' इति यागस्य करणत्वेनार्थसिद्धमन्वयं तृतीयाश्रुतिः स्पष्टीकरोति इत्यादिना सप्रपञ्चमुपवर्ण्य—

"एवं पदार्थवाक्यार्थसङ्घातैरुपकल्पिताम् ।
विशिष्टां भावनां प्राप्य वृत्तिर्विधिनिषेधयोः ॥
यद्यप्यन्यैरसंस्पृष्टां विधिः स्पृशति भावनाम् ।
तथाऽप्यशक्तितो नासौ तन्मात्रे पर्यवस्यति ॥
अनुष्ठेये हि विषये विधिः पुंसां प्रवर्त्तकः ।
अङ्गत्रयेण[1] चापूर्णां नानुतिष्ठति भावनाम् ॥"

इत्याद्युपसंहारेण वार्त्तिककारैरपूर्वार्थत्वनिर्णयात्, अग्निना सिञ्चेत्' इत्यादौ । तेन पदार्थेषु प्रतीतेषु पश्चाद्योग्यतादिवशात् तेषामन्वयप्रमितिः इति वाक्यलक्षणाऽऽलोचनयाऽपि युक्तोऽभिहितान्वयः ।

भावदीपिका

भावनाया प्रत्ययार्थत्वम् । किं तर्हि भाव्यम् ? तदाह—ततश्चेति । प्रकृत्यर्थस्य करणत्वे लिङ्पदेनैव तत्सिद्धौ 'ज्योतिष्टोमेन' इत्यादिपदवैय्यर्थ्यम् ? तत्राऽऽह—यजेतेति । पदैकवाक्यत्वं वाक्यैकवाक्यत्वं च भावनापर्यवसितं तदावलम्बनतया विधिप्रतिषेधयोः प्रामाण्यम् इत्याह—एवमिति । विशिष्टभावनापर्यवसायित्वं स्पष्टयति—यद्यपीति । प्रयत्नविशेषस्य प्रमाणान्तरतोऽप्राप्तत्वात्—अन्यैरसंस्पृष्टम्—इत्युक्तम् । 'आकाङ्क्षासन्निधियोग्यतावन्ति पदानि वाक्यम्'—इति वाक्यलक्षणाऽलोचनया पक्षान्तरं समर्थयते परपक्षशैथिल्याय—अग्निनेति ।

ज्ञानवती

"तवतक भावना का वचन उस (भावना) का लोक के समान स्मरण कराता है और अन्वय व्यतिरेक से वह प्रत्यय का अर्थ मानी जाती है ।"

इसके बाद भावना भाव्य की आकाङ्क्षा करती हुई योग्यता एवं सन्निधि के द्वारा स्वर्गादिभाव्य से सम्बद्ध होती है । 'यजेत' इस स्थल में याग का कारण के रूप में अर्थसिद्ध अन्वय, तृतीयाश्रुति स्पष्ट करती है, इत्यादि के द्वारा सप्रपञ्च वर्णन करके—

"इस प्रकार पदार्थ, वाक्यार्थ के संघातों के द्वारा उपकल्पित विशिष्ट भावना को प्राप्त करके विधि एवं निषेध की वृत्ति होती है ।

यद्यपि विधि अन्यों के द्वारा असंस्पष्ट भावना का स्पर्श करती है, तथापि अशक्ति के कारण वह तन्मात्र में पर्यवसित नहीं होती ।

विधि अनुष्ठेयविषय में पुरुषों की प्रवर्त्तक है । (वह) अंगत्रय से अपूर्ण भावना का अनुष्ठान नहीं करती ।"

इत्यादि उपसंहार के द्वारा वार्तिककार ने 'अग्नि से सींचना चाहिये' इत्यादि में अपूर्वार्थत्व का निर्णय कर दिया है । इससे पदार्थों के ज्ञात होने पर बाद में योग्यता आदि के कारण उनके

---

[1] (ख) त्रयेण पूर्णान्ता नानु ।

ननु पदार्थानां बोधकत्वे सप्तमप्रमाणत्वप्रसङ्ग इति चेत्? तुल्यमेतत् यागादिक्रियायां क्षणभङ्गिन्यां स्वर्गार्थिनः कार्यबुद्ध्यनुपपत्त्या कल्प्यमानक्रियाविलक्षणकार्यवाक्यार्थपक्षेऽपि। तत्रापि हि पदेभ्यः प्रतीतस्वर्गादिपदार्था एव वाक्यार्थप्रमित्यङ्गम्; अन्यथा यथाश्रुता क्रियैव वाक्यार्थः स्यात्; लिङ्गादेरिव पदार्थानां शाब्दप्रमाणान्तर्गमोपपत्तेश्च। तस्मात् पदानामेव पदार्थस्मृत्यवान्तरव्यापाराणां स्मृत्यालिङ्गितपदार्थानां वाक्यार्थप्रमित्यङ्गत्वम्, न पुनः पदानां साक्षात्, इत्ययमेव पक्षः साधीयान्। शब्दप्रवृत्तिनिमित्तं तु समन्वयकौमुद्यां व्यवस्थापयिष्यामः।

[नैयायिकाभिमतोच्छन्नप्रच्छन्नवादस्य खण्डनम्—]

अथ सूत्रोपात्तं वेदाख्यं शास्त्रं चिन्तनीयं पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वाभ्याम्।

भावदीपिका

अनिष्टप्रसङ्गं साम्येन परिहरति—तुल्यमिति। तत्संमत्येवाह—लिङ्गादेरिति। लिङ्गादेः श्रुतिं कल्पयित्वा विनियोजकत्वं भट्टमते तत्र स्मृतितुल्यतया शाब्दत्वम्; स्वातन्त्र्येण विनियोजकत्वपक्षे तूदाहरणाऽलाभः। यस्मादस्मिन् पक्षे नाऽभिधाव्यापारगौरवं वाक्यलक्षणसमावेशश्च तस्मात्, इत्युपसंहारः। भवत्वेवं बोधकत्वनिर्णयः; तथाऽपि शब्दार्थः कार्यं वा अन्यद्वा इति निर्णेतव्यम्। तत्राह—शब्देति।

[नैयायिकाभिमतोच्छन्नप्रच्छन्नवादस्य खण्डनम्—]

एवं बालव्युत्पादनाय शाब्दप्रमाणनिर्णयं संक्षेपेण कृत्वा तदेकदेशस्य प्रस्तुतस्य वेदार्थस्य निरङ्कुशप्रामाण्याय विचारमारभते—अथेति। सिद्धान्तेन तावदुपक्रमते दर्शितायां हि श्रुतौ

ज्ञानवती

अन्वय की प्रमिति होती है। इस प्रकार वाक्य के लक्षण की आलोचना के द्वारा भी अभिहितान्वयवाद ठीक है।

(पू) यदि ऐसा कहें कि पदार्थों के बोधक होने पर सप्तम प्रमाण का प्रसंग होने लगेगा? (उ) तो यह तो तुल्य है। वाक्यार्थपक्ष में भी क्षणभङ्गिनी यागादि क्रिया में स्वर्गार्थी की कार्यबुद्धि की अनुपपत्ति होने से क्रिया से विलक्षण कार्य की कल्पना होती है। वहाँ भी पदों से प्रतीत स्वर्गादि पदार्थ ही वाक्यार्थ की प्रमिति के अंग हैं। अन्यथा यथाश्रुत क्रिया ही वाक्यार्थ हो जायगी। क्योंकि लिंग आदि के समान पदार्थों के शब्द प्रमाण के अन्तर्गम की उपपत्ति है। इसलिये स्मृति के द्वारा आलिङ्गित पदार्थ वाले, पदार्थस्मृति रूप अवान्तर व्यापार वाले पद ही वाक्यार्थप्रमिति के अङ्ग हैं न कि साक्षात् पद, यही पक्ष साधीयान् है। शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त की तो समन्वय कौमुदी में व्यवस्था करेगें।

[नैयायिकाभिमत उच्छन्नप्रच्छन्नवाद का खण्डन—]

अब सूत्र में उपात्त वेद नामक शास्त्र का, पौरुषेयत्व एवं अपौरुषेयत्व (की दृष्टि) से विचार करना चाहिये। श्रुति के बल से (वेद का) अपौरुषेयत्व प्रतीत होता है। वह इस प्रकार—"जैसे आर्द्र इन्धन एवं अग्नि, जो कि प्रज्वलित हैं, से धूम पृथक् निकलते हैं उसी प्रकार इस महान् भूत का निश्वसित यह ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास,

श्रुतिबलात्तावत् अपौरुषेयत्वं प्रतिभाति। तथा हि—"यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितात् पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति एवं वा अरे अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतत् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो अथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि सर्वाण्यस्यैतानि (निश्व-)सितानि"[1] इति बृहदारण्यके श्रूयते। विद्या=देवजनविद्या नृत्तशास्त्रादि। उपनिषदः=रहस्योपासनाः। श्लोकाः=ब्रह्मणः प्रतिपादकमन्त्राः। "आत्मेत्येवोपासीत" इत्यादिसङ्ग्रहवाक्यानि=सूत्राणि। तद् विवरणम्=अनुव्याख्यानम्। मन्त्रव्याख्या=व्याख्यानम्। इतिहासाद्यष्टविधं ब्राह्मणम्। ऋगादिः=मन्त्रः। तत्राग्निधूमदृष्टान्तोपादानात् निश्वसितश्रुतेश्च प्रमाणान्तरेणार्थमालोच्य तत्र वेदवाक्यरचना लोकवाक्यवत् इत्ययं पक्षो न श्रुतिसम्मतः।

भावदीपिका

तदर्थसम्भवाय न्यायो वक्तव्य इति—श्रुतिबलादिति। तात्पर्यमाह—तत्रेति। यद्यपि ईक्षणपूर्विकैव सृष्टिः शब्दार्थयोर्ब्रह्मणः प्रसिद्धा, तथाऽपि ताल्वादिव्यापारपूर्वकशब्दसृष्टेरीक्षणपूर्वकत्वमवश्यंभावि; अपरथा प्रमत्तादिवत् अयथावत्क्रमाऽद्यापत्तेः। न च सत्यसङ्कल्पस्य सङ्कल्पमात्रेण यथावत् सृष्टयुपपत्तौ किमीक्षणेन स्रष्टव्यसामान्यविशेषप्रयोजनाद्यवधारणाय योगेन इति वचनीयम्; सर्वथाऽनवधारणे सङ्कल्पाऽयोगात्, कथञ्चित् अवधारणे च "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः" इत्यादि श्रुतेः संकोचे कारणाभावाच्च, निरङ्कुशमवधारणं वक्तव्यम्; तथाऽपि महोपाध्यायवत् पूर्वाऽनुपूर्व्युच्चारणे यथा निःश्वसितश्रुतिराञ्जसी न तथाऽभिनवाऽनुपूर्व्युच्चारणे। विकटप्रयोगछन्दोबन्धादेः अभिनवपक्षे न सर्वज्ञाऽनुरूपत्वं स्यादित्यनादित्वं वैदिकवर्णानुपूर्व्यं दृष्टान्ते नाऽनुपपन्नम्, श्रुतिन्यायाबाधितत्वात्। न चोपाध्यायवत् कर्त्तृत्वे कर्त्तृत्वव्यपदेशाऽयोगः; प्रवर्त्तकत्वेन तथा व्यपदेशे उपाध्यायस्याऽपि वेदकर्त्तृत्वव्यपदेशः स्यादिति वाच्यम्; ईशस्योपाध्यायवत् परोच्चारणाऽपेक्षमाणत्वकेन कर्त्तृत्वव्यपदेशाऽसम्भवात्।

एतदेव चाऽपौरुषेयत्वमिति-[अ[2]-]प्रतिबन्धेन उपपादयितुं उदयनमतेन तावत् पूर्वपक्ष-

ज्ञानवती

पुराण, विद्या, उपनिषदें, श्लोक, सूत्र, अनुव्याख्यान सभी इसके निश्वसित हैं"। ऐसा वृहदारण्यक में सुना जाता है। विद्या (का मतलब है) देवजन की विद्या—नृत्तशास्त्र आदि। उपनिषद् रहस्योपासना (का नाम है)। श्लोक—अर्थात् ब्रह्म के प्रतिपादक मन्त्र। 'आत्मा है, ऐसी ही उपासना करनी चाहिये' इत्यादि सङ्ग्रहवाक्य—सूत्र हैं, और उसका विवरण अनुव्याख्यान है। मन्त्रों की व्याख्या व्याख्यान है। इतिहास आदि आठ प्रकार का ब्राह्मण है। ऋग् आदि मन्त्र हैं। वहाँ अग्निधूम दृष्टान्त के उपादान से और निश्वसितश्रुति से प्रमाणान्तर के द्वारा अर्थ की आलोचना करके वहाँ वेदवाक्य की रचना लोकवाक्य के समान है यह पक्ष श्रुतिसम्मत नहीं है।

---

[1] बृ० उ० २।५। [2] (क) प्रति।

यन्नैयायिका आहुः—स्मृत्यनुमितानां शाखानामुच्छेददर्शनात् स्वातन्त्र्येण स्मृतीनामाचाराणां च प्रामाण्यानभ्युगमात् मन्वादीनां अतीन्द्रियार्थदर्शने प्रमाणाभावात् आसंसारमाम्नातस्य वेदत्वव्याघातेनानुमानायोगात् उत्पत्तितोऽभिव्यक्तितोऽभिप्रायतोऽनवच्छिन्नवर्णमात्रस्य निरर्थकत्वात्। तस्मात् प्रत्यक्षश्रुतिरेव मूलं स्मृतीनामाचारस्य च। सा चेदानीं नास्ति इति शाखोच्छेदः। एवं सर्वोच्छेदे कदाचिदुत्पत्तिः; तेन स्मृतिरिव श्रुतिरपि मूलसापेक्षा इति निःश्वसितश्रुतिर्न पौरुषेयत्वं प्रतिषेधति इति।

एतच्च आचाराधिकरणपूर्वपक्षपातित्वात् तेनैव राद्धान्तेनावधूतम्। तथा हि—

भावदीपिका

यति—यदिति। यज्जातीयं कार्त्स्न्येन छिद्यते न तन्नियमेन तादृगुत्पद्यते दीपज्वालादिवत्। तथा वेदोऽपि कार्त्स्न्येनोच्छिद्यते; अतो न नियतरूपेणोत्पद्यते इत्यनुमानमभिसन्धाय तत्सम्पादयितुमुपक्रमते—स्मृत्यनुमितेति। अथ श्रुतिनिरपेक्षैव स्मृतिः प्रमाणम्? तर्हि किं प्रत्यक्षमूलतया, पुंवचसः प्रत्यक्षाऽऽगमयोरन्यतरमूलत्वेन प्रामाण्यात्; तच्च न मीमांसकस्येष्टम्, धर्मादिविष-[-येन][1] वेदान्तिनोऽपीष्टम्?—इत्याह—स्वातन्त्र्येणेति। नित्यलिङ्गाद्यनुमेया नित्यमनाम्नातैव श्रुतिरिति मीमांसकप्रक्रियामाक्षिपति—आसंसारमिति। वर्णानां किलाऽम्नानाऽनुपूर्व्यविशेषरहितानां वेदत्वाभावात्; आनुपूर्वीविशेषस्य च अनाम्नानपक्षे दुर्निरूपत्वात्—इत्याह—उत्पत्तित इति। निरर्थकत्वात् अवेदत्वात् एकदेशोच्छेदस्य संप्रतिपन्नत्वात् पटादिवत् कदाचित् सर्वोच्छेदाऽनुमानात् पुनरुत्पादेन नियमेन तादृगानुपूर्व्यरचनाऽसम्भव इति प्रमाणान्तरेणाऽर्थमुपलभ्य मन्वादीनामिव स्वेच्छया तत्र वचनरचनालक्षणं पौरुषेयत्वं वेदस्येति। एतदाह—एवमिति।

तदेतज्जैमिन्याचार्येणाऽपाकृतम् न यत्नान्तराऽपेक्षा—इत्याह—एतच्चेति। अष्टका-

ज्ञानवती

जो कि नैयायिक कहते हैं—

स्मृति के द्वारा अनुमित शाखाओं का उच्छेद देखे जाने से; स्वतन्त्रतापूर्वक स्मृतियों एवं आचारों का प्रामाण्य न मानने से; मनु आदिकों के अतीन्द्रियार्थ-दर्शन में प्रमाण न होने से; संसारपर्यन्त आम्नात के वेदत्व-व्याघात के कारण अनुमान न होने से; उत्पत्ति से अभिव्यक्ति से अभिप्राय से; अनवच्छिन्न वर्णमात्र के निरर्थक होने से; इस कारण प्रत्यक्षश्रुति ही स्मृतियों एवं आचार का मूल है। और वह इस समय नहीं है, इसलिये शाखाओं का उच्छेद है। इस प्रकार सबका उच्छेद होने पर कभी उत्पत्ति होती है। इस कारण स्मृति के समान श्रुति भी मूलसापेक्ष है। इसलिये निःश्वसितश्रुति (वेद के) पौरुषेयत्व का प्रतिषेध नहीं करती है।

(उ) आचाराधिकरण के पूर्वपक्षपाती होने से यह (कथन) उसी सिद्धान्त से अवधूत है। वह इस प्रकार—"धर्म के शब्दमूलक होने से शब्दरहित अनपेक्ष हो जायगा (इस सूत्र

[1] (क) यो।

"धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात्" "वैदिकशब्दप्रमाणको हि धर्मः। अतोऽशब्दम्[2]=अदृष्टमूलभूतवेदशब्दम्=स्मृति जातम् 'अष्टकाः कर्त्तव्याः' इत्यादि; तस्य न प्रामाण्यमपेक्षितव्यम्। शब्दस्य तावदेकमेव प्रत्यक्षं प्रमाणम्। स च एतेनानवगम्यमानोऽस्ति इत्युच्यते। ततोऽपरं[3] धर्मास्तित्वमेव निष्प्रमाणकमभ्युपगन्तव्यम्" इति। यथैव धर्मसम्बन्धादर्शनात् न तत्र किञ्चिल्लिङ्गमुच्यते तथा अष्टकादिस्मृतावपि। आगमोऽपि नित्यो नोपलभ्यते, पौरुषेये च न विश्वासः। दृश्यन्ते ह्यनागमिकानप्यर्थानागमिकत्वाध्यारोपेण केचिदद्यत्वेऽभिदधानाः। न च सर्वेषां स्मृतिप्रणयिनामविगानम्, येन पौरुषेयागमबलात् उपलब्धपूर्वश्रुतिमूलत्वं स्यात्। यदि तु प्रलीनशाखामूलता कल्प्येत् ? ततः सर्वासां बुद्धादिस्मृतीनामपि तद्द्वारं प्रामाण्यं प्रसज्येत। यस्यैव च यदभिप्रेतं, स एव तत्प्रलीनशाखामस्तके निक्षिप्य प्रमाणीकुर्यात्। तस्मादप्रमाणमिति।

अत्र राद्धान्तः—

भावदीपिका

दिस्मृतेर्मूलं वेदः प्रत्यक्षोऽप्यस्ति ?—इति शङ्कमानं प्रत्याह—शब्दस्येति। अस्तु तर्हि लिङ्गादागमाद् वा तदवगतिः ? तत्राऽऽह—यथैवेति। आगमो वेदो वा पौरुषेयवचनमात्रं अविसंवादिवचनं वा ? सर्वथाऽपि न–इत्याह आगमोऽपीति। अथाऽष्टकादिस्मृतिमूलं श्रुतिः प्रलीनत्वान्न दृश्यते; ततो युक्तं स्मृतेः प्रामाण्यम् ? तत्राऽऽह—यदि त्वति। अयमत्र विशेषः—केनाऽप्यदृष्टमूलत्वे सति प्रलीनशाखामूलत्वस्मृतेः अतिप्रसङ्गादयुक्तत्वं पूर्वपक्षीयो मन्यते। नैयायिकस्तु—मन्वादिभिरुपलब्धश्रुतिमूलैव स्मृतिः प्रणीता, साम्प्रतं सा श्रुतिर्नोपलभ्यते, ततः प्रलीनेति। उभयथाऽप्यत्र समानमिति।

ज्ञानवती

का अर्थ है—) धर्म वैदिकशब्दप्रमाण वाला है। इसलिये अशब्द अर्थात् अदृष्टशब्दवाला स्मृतिसमूह, "अष्टकाः कर्त्तव्याः" इत्यादि हैं। उसके प्रमाण्य की अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। शब्द का एक ही प्रमाण=प्रत्यक्ष है। और वह (=धर्म) इस शाब्द प्रमाण से अवगम्यमान है—ऐसा कहा जाता है। इससे अतिरिक्त धर्म का अस्तित्व ही निष्प्रमाणक समझना चाहिये।" जैसे धर्म सम्बन्ध के न देखे जाने से वहाँ कोई लिङ्ग नहीं कहा जाता उसी प्रकार अष्टकादि स्मृति में भी। आगम भी नित्य मिलता नहीं और पौरुषेय में विश्वास नहीं है। कुछ लोग आज अनागमिक भी अर्थों को आगमिकत्वाध्यारोप के साथ कहते हुए देखे जाते हैं। सभी स्मृतिप्रणेताओं का प्रामाण्य नहीं है जिससे पौरुषेय आगम के वल से उपलब्ध पूर्वश्रुतिमूलता होगी। और यदि प्रलीनशाखामूलता की कल्पना की जाय तो उसके द्वारा सभी बुद्ध आदि की स्मृतियों का प्रामाण्य होने लगेगा। और किसी को जो अभिप्रेत होगा वही उस प्रलीनशाखामस्तक में निक्षेप करके प्रमाणित करने लगेगा। इसलिये अप्रमाण है—

१ (ख) शब्दं मूलं स्यात्। २ (ख) शब्दं।
३ (ख) ततो परं।

"अपि वा[१] कर्त्तृसामान्यात् प्रमाणमनुमानं स्यात्"। य एव वेदार्थानुष्ठातारः त एव स्मार्त्ताचारस्यापि इति प्रमाणमेवानुमानमष्टकादिस्मृतिः। सर्वथा तावन्मन्वादिप्रणीताः स्मृतयः शेषाणि च विद्यास्थानानि स्वार्थं प्रतिपादन्त्युपलभ्यन्ते। मन्वादीनाञ्चाप्रत्यक्षत्वात् तद्विज्ञानमूलमदृष्टं किञ्चिदवश्यं कल्पनीयम्। सर्वत्रैव चादृष्टकल्पनायां तादृशं कल्पनीयं यद् दृष्टं नापि विरुणद्धि; न चादृष्टान्तरमासञ्जयति। तत्र भ्रान्तौ तावत् सम्यङ्निबन्धशास्त्रदर्शनविरोधापत्तिः सर्वलोकाभ्युपगतदृढप्रामाण्यबाधश्च। तदानीन्तनैश्च पुरुषैरपि भ्रान्तिर्मन्वादीनामनुवर्तिता तत्परिहारोपन्यासो मन्वादीनामित्यनेकादृष्टकल्पना। तथा विप्रलम्भेऽपि विप्रलिप्सोः प्रयोजनम्, लोकस्य च तत्र भ्रान्तिः तस्याश्चेयन्तं कालमनुवृत्तिः इत्याद्याश्रयणीयम्। उत्पन्नस्य च दृढस्य प्रत्ययस्य प्रामाण्यनिराकरणात् दृष्टविरोधः। तस्मात् सर्वेभ्यश्चोदनाकल्पनागरीयसी। तत्र हि तावन्मात्रादृष्टाभ्युपगमः; शेषास्तु महाजन-

भावदीपिका

पूर्वपक्षाऽन्तर्वर्त्तित्वेन नैयायिकपक्षस्योक्तं सिद्धान्तमादाय व्याचष्टे—अपि वेति। मूलाऽदर्शनादप्रामाण्यमुक्तं परिहर्तुं सूचितं न्यायमाविष्करोति—सर्वथेति। तर्हि मन्वादिमुखात् सन्मूलं प्रमातव्यम्? तत्राह—मन्वादीनामिति। तर्हि यथाकथञ्चित् कल्पताम्? अत आह—सर्वत्रैवेति। प्रस्तुते किमनाहार्याऽऽरोपो मूलम्? आहार्याऽऽरोपो वा विप्रलिप्सापर्यायः? श्रुतिरेव वा?—इति विमर्शे श्रुतिरेव मूलं परिशेषात्—इत्याह—तत्रेति। सम्यक्निबद्धत्वं काव्यादेरप्यस्ति? तत उक्तम्—सर्वलोकेति। यद्वा शुक्तिरूप्यादिज्ञानवत् अनाहार्याऽऽरोपे सम्यक्प्रबन्ध एवाऽनुपपन्नोऽन्यच्चाऽनुपपन्नम्—इत्याह—सर्वेति। आहार्याऽऽरोपश्च कदाचित् कस्यचिदेव स्यात् ततस्तदानीन्तनपण्डितरस्वीकारात् प्रवादपारम्पर्येणाऽन्येषामर्वाचीनानां च पामरपाखण्डादिवत् अस्वीकारः प्राप्नुयात्। अन्यथा भ्रान्तानां मन्वादीनां समकालीनपण्डितान् प्रति प्रामाण्यसम्पादनकल्पना स्यात्—इत्याह—तदानीन्तनैश्चेति। कथं वा तावन्मात्राऽदृष्टाऽभ्युपगमः? तत्राऽऽह—शेषास्त्विति। न च शूद्रा-

ज्ञानवती

इस विषय में सिद्धान्त है—"अथवा कर्त्तृसामान्य से अनुमान प्रमाण हो जायगा।" जो ही वेदार्थ के अनुष्ठाता हैं, वे ही स्मार्त आचार के भी; इस प्रकार अष्टकादिस्मृति अनुमान प्रमाण है ही। मनु आदि के द्वारा प्रणीत स्मृतियाँ और शेषविद्यास्थान सर्वथा स्वार्थ का प्रतिपादन करती हुई प्राप्त होती हैं। और मनु आदि के अप्रत्यक्ष होने से उस विज्ञान का मूल कुछ अदृष्ट अवश्य मानना पड़ेगा और सभी जगह अदृष्ट की कल्पना करने पर तादृश कल्पनीय जो दृष्ट है वह विरुद्ध नहीं होता। और न अदृष्टान्तर की आसक्ति होती है। और वहाँ भ्रान्ति होने पर सम्यङनिबन्ध शास्त्रदर्शन के विरोध की आपत्ति होती है और सर्वलोकाभ्युपगत दृढ़-प्रामाण्य का बोध हो जाता है। उस समय के पुरुषों के द्वारा भी मनु आदि की भ्रान्ति का अनुवर्त्तन किया गया और मनु आदि का उसके परिहार का उपन्यास भी है ऐसी अनेक अदृष्ठ की कल्पना है। उसी प्रकार विप्रलम्भ में भी विप्रलिप्सु का प्रयोजन है और लोक की उस विषय

१ (घ) च।

परिग्रहादयः सर्वा अनुविधीयन्ते। संभाव्यते च मन्वादीनां चोदनापूर्वविज्ञान-कारणत्वेन। तदर्थमेवाह—"तेनोपपन्नो[१] वेदसंयोगस्त्रैवर्णिकानाम्" इति। यानि पुनरनुपपन्नवेदसम्भावनानां म्लेच्छादीनामतीन्द्रियार्थस्मरणानि तेषां मूलविकल्प-नावेलायामेव चोदना सम्भावनास्पदं नारूढेति पारिशेष्यादप्रमाणत्वम्।

कथं तर्हि मन्वादिस्मृतिमूलभूतचोदना नोपलभ्यते ?

"शाखानां विप्रकीर्णत्वात् पुरुषाणां प्रमादतः।
नानाप्रकरणस्थत्वात् स्मृतेर्मूलं न दृश्यते॥"

नानाप्रकरणगतवाक्यसंग्रहणेनाध्ययने च क्रमान्यत्वात् स्वाध्यायविधिविरोधः स्यात्। शक्नुवन्ति हि ते विध्यर्थवादान् विवेक्तुम्। तत्र स्मृतेर्विध्यात्मकत्वात् प्रकृतितादात्म्यानुमाने लब्धास्पदेऽर्थवादपूर्वकत्वं निष्प्रमाणकम्।

भावदीपिका

दीनामिव मन्वादीनां वेदाऽसम्भवोऽपि—इत्याह—सम्भाव्यते चेति। आह भाष्यकारः। तर्हि तत्र तत्र महाजनत्वेन सम्मतैः परिग्रहात् यस्य कस्यचित् वचनस्य धर्मादौ प्राप्तं प्रामाण्यमित्यत एव नाऽऽशङ्कनीयम्—इत्याह—यानीति।

यदि मन्वादिवाक्यं श्रुतिमूलं, तर्हि सा कथं न दृश्यते ? इत्याह—कथमिति। अनुपलम्भे कारणमाह—शाखानामिति। तर्ह्युपयुक्तवाक्यानां ततस्तत उद्धृत्य एकत्र संग्रहेण पाठः किमिति न प्रवर्त्यते ? तत्राऽऽह—नानेति। तयाऽप्यर्थवादो विधिर्वा मूलं स्मृतेरिति कुतोऽवधार्यते ? मन्वादीनां वा कथं तद्विवेकोऽसर्वज्ञत्वात् ? तत्राऽऽह—शक्नुवन्तीति। असर्वज्ञत्वेऽपि शाब्दन्यायविषयत्वमात्रेणाऽऽधुनिकानामिव तद्विवेकोपपत्ते-रिति। ततः किम् ? तदाह—तत्रेति।

ज्ञानवती

में भ्रान्ति है और उससे इतने काल तक अनुवृत्ति है इत्यादि का आश्रयण करना चाहिये। उत्पन्न दृढप्रत्यय के प्रामाण्यनिराकरण से दृष्ट का विरोध होता है। इस प्रकार सबकी अपेक्षा विधि की कल्पना गरीयसी है। वहाँ पर उतनी ही विधि की कल्पना होती है। शेष सब आस्तिक जन के परिग्रह आदि स्वयं विहित होते हैं। और पूर्वविज्ञानकारण के रूप में मनु आदि की चोदना की सम्भावना होती है। उसी के लिये कहा—"उससे त्रैवर्णिकों का वेदसंयोग उपपन्न है।" और जो अनुपपन्न वेदसंभावना वाले म्लेच्छादिकों के अतीन्द्रियार्थस्मरण हैं, उनकी मूलकल्पना के समय ही सम्भावना चोदनास्पद आरूढ नहीं है इसलिये परिशेषात् अप्रमाणत्व है।

(पू) तो मनु आदि स्मृति की मूलभूत चोदना क्यों नहीं प्राप्त होती ?

(उ) "शाखाओं के विप्रकीर्ण होने से, पुरुषों के प्रमाद से नाना प्रकरण में रहने के कारण स्मृति का मूल नहीं देखा जाता।"

और नाना प्रकरणगत वाक्यों के संग्रह से अध्ययन होने पर क्रम के अन्य होने से स्वाध्यायविधि का विरोध हो जायगा। वे विधि एवं अर्थवाद का विवेक कर सकती हैं।

[१] (ख) पपन्ने।

अपि च "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्", "स सर्वोऽभिहितो वेदे" इति स्वयमेव स्मर्तृभिः आत्मा बध्वा समर्पितः। तच्चेदं नियोगतः तत्कालैः कर्तृभिर्बुद्धिपूर्वकारित्वादुपलब्धम्; अतः सिद्धं वेदद्वारं प्रामाण्यम्। यद्यपि शाखान्तरेषु विद्यन्त एव श्रुतयः, तथाऽपि कस्यां शाखायां काः पठ्यन्ते ? इत्यस्यांशस्य विस्मरणम्। वैदिकत्वमात्रं तु प्रामाण्यसिद्धये परिपालयन्ति। तद्विशेषविज्ञानं पुनरनौपाधिकत्वात् अकर्त्तव्यमेव। तेन स्मृत्यनुमितश्रुतीनां नासत्त्वेनोच्छेदः[१] शक्यते वक्तुम्; कलावपि कलापग्रामादावध्येतृणां वर्णनात्। अतएवाचारोच्छेदोऽपि न शाखोच्छेदानुमापकः। प्रलयं प्रसार्योच्छेदकल्पनेऽपि न वेदस्येश्वरप्रणीतत्वम् सर्वज्ञबुद्धादिप्रणीतत्वम् देशनानामिव शङ्कनीयं निर्वोढुम्। यत आहुः—

भावदीपिका

वेदमूलत्वप्रतिज्ञानाच्च मन्वादिवाक्यानां, बुद्धादिवाक्यानां तदभावाच्च, यत्र तत्र स्थितिः श्रुतिमूलत्वेन कल्पनीया—इत्याह—अपि चेति। मूलवेददर्शनं च समकालीनानां, मन्वादिभि [-रन्यथा][२] प्रचाराऽभावप्रसङ्गात्—इत्याह—तच्चेति। स्मृतिमूलभूताः श्रुतयो बह्वचो बहुभिरुपलभ्यन्त एव; या अपि बहुभिर्नोपलभ्यन्ते ता अपि तत्तदध्येतृभिरुपलभ्यन्त एव; ततो न द्वारान्तराऽऽशङ्का—इत्याशयेनाह—यद्यपीति। अनुष्ठानस्य वैदिकत्वज्ञानादेवोपपत्तेर्विशेषविज्ञानाऽनुपयोगः। न च कलियुगेऽपि सर्वथाऽध्ययनाऽभावोऽपीति। एवमेकदेशोच्छेदोऽपि दुःसंपादो वेदस्य किमुत कात्स्न्र्येनोच्छेद इति कात्स्न्र्येनोच्छिद्यमानत्वादित्यसिद्धो हेतुः। अथ प्रलये सोऽस्ति ? तत्राऽऽह—प्रलयमिति। दृष्टान्ते निर्वाहाऽसम्भवमाह—यत आहुरिति। बुद्धः=रागादिरहितस्तद्वान् ? द्वितीये नित्यसिद्धत्वोक्तिव्याघातः; प्रथमे नोपदेशव्यापारः शिष्यादिरागाऽभावात्; निर्व्यापारस्य च प्रणेतृत्वमनुपपन्नम्—

ज्ञानवती

उनमें स्मृति के विध्यात्मक होने से प्रकृति से तादात्म्यानुमान होने पर (उनकी) अर्थवादपूर्वकता निष्प्रमाणक है।

और भी "समस्त वेद धर्म का मूल है" "वह सब वेद में कह दिया गया है" इनके द्वारा स्मृतिकर्ताओं ने स्वयं आत्मा को बाँध कर समर्पित कर दिया है। और वह यह नियोगपूर्वक तात्कालिक कर्त्ताओं के द्वारा बुद्धिपूर्वकारी होने से प्राप्त है। इसलिये वेद के माध्यम से प्रामाण्यसिद्ध है। यद्यपि दूसरी शाखाओं में श्रुतियाँ हैं तो भी किस शाखा में कौन पढ़ी जाती हैं इस अंश का विस्मरण हो जाता है। और वैदिकत्वमात्र का तो प्रामाण्य की सिद्धि के लिये परिपालन करती हैं। उसका विशेषविज्ञान अनौपाधिक होने के नाते नहीं ही करना चाहिये। इस कारण स्मृति से अनुमित श्रुतियों का असत्त्वेन उच्छेद नहीं कहा जा सकता। क्योंकि कलिकाल में भी कलाप ग्राम आदि के विषय में अध्येताओं का वर्णन है। इसीलिये आचारोच्छेद भी शाखोच्छेद का अनुमापक नहीं है। प्रलय को प्रसारित करके उच्छेद की कल्पना करने पर भी देशनाओं के सर्वज्ञ बुद्धादि के द्वारा प्रणीत होने के समान वेद के ईश्वरप्रणीत्व के निर्वाह की शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि कहा है—

१ (ख) नोच्छेदं। १ (क) रमघा।

"रागादिरहिते तस्मिन् निर्व्यापारे व्यवस्थिते ।
देशनाऽन्यप्रणीतैव स्यादृते प्रत्यवेक्षणात् ॥
सान्निध्यमात्रतस्तस्य पुंसश्चिन्तामणेरिव ।
निस्सरन्ति यथाकामं कुड्यादिभ्योऽपि देशनाः ॥"
एवमाद्यच्यमानन्तु श्रद्दधानस्य शोभते ।
कुड्यादिनिःसृतत्वाच्च नाश्वासो देशनासु नः ॥
किमु बुद्धप्रणीताः स्युः किमु कैश्चिद्दुरात्मभिः ।
अदृश्यैर्विप्रलम्भार्थं पिशाचादिभिरीरिता ॥[१]"

[अपौरुषेयत्वेन वेदाः प्रमाणम्—]

अथ रागादिरहितोऽपि भगवान् प्राणिकर्मोपरोधेन विग्रहमादाय महोपाध्याय इव शास्त्रसङ्ग्रहं कृत्वा वेदान् निर्भयं प्रवर्त्तयति ; तेन युक्तो नैयायिकपक्षः शक्यो निर्वोढुम् ; निःश्वासश्रुतिरपि (वषट्कारत्वात्[२]) सङ्गच्छते ? तथाऽपि यथापूर्वम-कल्पयत् अपूर्वं वा—इति कुतो निश्चयः ? न च तदीयज्ञानस्य प्रामाण्याध्यवसायोऽपि,

भावदीपिका

इत्याह--रागेति । प्रत्यवेक्षणम्=रागपूर्वकप्रणयनसङ्कल्पाऽऽदि । एवंभूतस्याऽपि प्रणेतृत्वं दृष्टान्तबलेनाऽऽशङ्क्य प्रत्याचष्टे सान्निध्येति । अथ ईश्वरस्य ईश्वरत्वनिर्वाहार्थं एतद् [घटते][३] इति वैषम्यमाशङ्क्याऽऽह—तथाऽपीति

[अपौरुषेयत्वेन वेदाः प्रमाणम्—]

अयथापूर्वकत्वे प्रमाणाऽभावात् प्रामाणिकयथापूर्वकत्वे चाऽपौरुषेयत्वसिद्धिः । इतश्चा-ऽपौरुषेयत्वमेव युक्तम्—इत्याह—न चेति । प्रपञ्चितं चैतत् पूर्वत्र । भूषणकारोक्तमा-

ज्ञानवती

"रागादि से रहित उसके निर्व्यापार के व्यवस्थित होने पर प्रत्यवेक्षण के विना देशना अन्य के द्वारा प्रणीत होगी ।

चिन्तामणि के समान उस पुरुष के सान्निध्यमात्र से कुड्यादि से भी देशनायें मनमाना निकलती हैं ।

इत्यादि कथन श्रद्धालु को शोभा देता है। और कुड्यादि से निःसृत होने से देशनाओं में हमारा विश्वास नहीं है ।

क्या वे बुद्ध के द्वारा प्रणीत हैं या किन्हीं दुरात्माओं के द्वारा प्रणीत है अथवा विप्रलम्भ के लिये अदृश्य पिशाचादिकों से कथित हैं ।"

[वेद अपौरुषेय होने से प्रमाण हैं—]

(पू) राग आदि से रहित भी भगवान प्राणियों के कर्म के उपरोध से शरीर धारण करके महोपाध्याय के समान शास्त्रसंग्रह करके वेदों का निर्भय प्रवर्त्तन करते हैं, इसलिये युक्त नैयायिक-

[१] श्लो० वा० १।२।१४०।
[२] (क) वत्कार, (ख) वषट्कार।
[३] (क) घट ।

येन तेनोपलभ्यार्थं तत्र वाक्यरचनात् तत्प्रामाण्यविश्वासः स्यात्। न च तदुक्तस्य पुत्रेष्ट्यष्टकादेर्दृष्टफलत्वात् तदध्यवसायः; तदुक्तत्वस्याद्रव्यसिद्धत्वात्। ततो नेश्वर-प्रणीतो वेदः; नापि विज्ञानविशेषवत्प्रणीतः; तादृशज्ञानासम्भवात्। तदाहुः—

"एवं यैः केवलं ज्ञानं इन्द्रियाद्यनपेक्षिणः।
सूक्ष्मातीतादिविषयं जीवस्य परिकल्पितम्॥
नर्ते तदागमात् सिद्ध्येन्न च तेनागमो विना।
(दृष्टान्तोऽपि[१]) न तस्यान्यो नृषु कश्चित् प्रतीयते[२]॥"

ततो न प्रमाणान्तरेणार्थमुपलभ्य तत्र वेदवाक्यनिर्माणमिति साम्प्रतम्।

ननु नित्यसिद्धप्रतिभानपक्षोऽपि न विश्वासाय। तथा हि—

"न हि तत्रापि विस्रम्भो दृष्टोऽनेन कृतोऽथवा।

भावदीपिका

शङ्कयाऽऽह- न च तदुक्तस्येति। पक्षान्तरमपाकरोति--नाऽपीति। दृष्टान्ताऽभावाच्च नाऽनुमानात्तत्सिद्धिर्येन परस्पराऽपेक्षणं न भवेत्—इत्याह--दृष्टान्तोऽपीति। एवं पक्षान्तर-निरासेन वर्दति--नाऽपीति।

शेषितं स्वपक्षं मीमांसक आक्षिपति - नन्विति। अस्मिन् पक्षे "धाता यथापूर्वम-कल्पयत्"—इत्यस्याऽनृतत्वस्याऽपि सम्भवात् पुरुषदोषसम्भवे न निरङ्कुशं प्रामाण्य-

ज्ञानवती

पक्ष का निर्वाह हो सकता है। निःश्वासश्रुति भी वषट्कार के कारण संगत हो जाती है। (उ) तो (उसने) भी पूर्व के अनुसार कल्पना की अथवा अपूर्व, यह निश्चय कैसे होगा? उसके ज्ञान का प्रामाण्याध्यवसाय भी नहीं है जिससे उससे अर्थ को प्राप्त कर वहाँ वाक्य की रचना होने से उसके प्रामाण्य का विश्वास हो जाय। (पू) उसके उक्त पुत्रेष्टि अष्टका आदि के दृष्ट-फलक होने से उसका निश्चय होगा? (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि उसकी उक्ति द्रव्यसिद्ध नहीं है। इसलिये वेद ईश्वरप्रणीत नहीं है। और न विज्ञान विशेषवान् से प्रणीत हैं क्योंकि वैसा ज्ञान असम्भव है। कहा है—

"इस प्रकार जो लोग इन्द्रियाद्यनपेक्षी जीव के सूक्ष्म अतीतादिविषयक केवल ज्ञान की परिकल्पना करते हैं।

वह विना आगम के सिद्ध नहीं होगा और न उसके विना आगम सिद्ध होगा। इसलिये मनुष्यों में इससे भी अन्य कोई दूसरा उसका दृष्टान्त प्रतीत नहीं होता।"

इसलिये प्रमाणान्तर से अर्थ को प्राप्त कर वहाँ वेदवाक्य का निर्माण ठीक नहीं है।

(पू) नित्यसिद्ध प्रतिभानपक्ष भी विश्वास के लिये नहीं है। वह इस प्रकार है—

"वहाँ भी इसने न तो विश्वास देखा है और किया है। पुरुष सर्वदा प्रायः अनृतवादी होते हैं।

जैसे आज विश्वास नहीं है उसी प्रकार कालान्तर में भी (नहीं) हुआ। आगम और

---

१ (क) दृष्टोऽस्तोऽपि, (ख) दृष्टान्तोऽपि। २ श्लो० वा० पृ० ८८।

सर्वदा चापि पुरुषाः प्रायेणानृतवादिनः ॥
यथाऽद्यत्वे न विस्रम्भः तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ।
स्वप्नादिज्ञानवच्चापि प्रत्ययोऽस्यागमार्थयोः ॥
भवेदिति सशङ्कानां प्रामाण्यं युज्यते कथम् ॥"[1]

ब्रह्मस्वरूपज्ञानस्य च प्रमाणाप्रमाणसाधारणत्वात् । अथ व्यवस्थितं कल्पान्तरीयस्मरणमास्थीयते, ततो निराशङ्कतया प्रामाण्यं युज्यते ? तर्ह्यागमस्मृतिवत् तदर्थस्मृतेरपि दुर्वारत्वात् अर्थमुपलभ्य विरचनापक्षप्रद्वेषो वृथैव भवतः । यतः "यो ह्यनुचरितं शब्दं गृह्णात्यर्थेऽस्य का कथा" । किं च नैयायिकपक्षादपि हीनोऽयं पक्षः ।

"पुमांस्तावत् स्वतन्त्रः स्यादर्थग्रहणवादिनाम् ।
आगमप्रतिभाने तु पारतन्त्र्यं द्वयोरपि ॥"[2]

भवत्पक्षेऽपि वेदस्य पारतन्त्र्यं सममिति चेत् ? न;

"अनेकपुरुषस्थत्वादेकत्रैव च जन्मनि ।
ग्रहणस्मरणाद्वेदे न स्वातन्त्र्यं विहन्यते ॥"[3]

भावदीपिका

मित्युक्तं—प्रायेणेति । प्रमाणशुद्धचा च न स्मृतिवदपि प्रामाण्यम्—इत्याह—स्वप्नेति । किञ्च अस्य ज्ञानस्वरूपमागन्तुकम् ? न वा ? आद्ये न प्रामाण्यनिश्चयः—इत्याह—ब्रह्मेति । अन्त्यमुद्भाव्य प्राह—अथेति । अथ द्वयोः स्मरणेऽपि यथा पूर्वोच्चारणाङ्गीकारात् प्रद्वेष इत्याशङ्क्य तस्यैवोत्तमत्वात् प्रद्वेष्यत्वम्—इत्याह—किञ्चेति । एकतरांशे साम्यमाशङ्क्य तदपि नाऽस्ति—इत्याह—भवत्पक्षेऽपीत्यादिना । विच्छिन्नसम्प्रदायत्वे हि

ज्ञानवती

अर्थ के विषय में इसका प्रत्यय स्वप्न आदि के ज्ञान के समान होगा इस प्रकार सशङ्कों का प्रामाण्य कैसे ठीक होगा ?"

और ब्रह्मस्वरूप ज्ञान प्रमाणाप्रमाणासाधारण है । (पू) व्यवस्थितकल्पान्तरीयस्मरण को माना जायगा और तव निराशङ्क होने के नाते प्रामाण्य ठीक हो जायगा ? (उ) तव तो आगमस्मृति के समान उसके अर्थ की स्मृति के भी दुर्वार होने से अर्थ को प्राप्त करके आपका विरचनापक्षप्रदेश भी व्यर्थ ही है । क्योंकि जो अर्थ के विषय में अनुच्चरित शब्द को ग्रहण करता है, उसकी क्या कथा (हो सकती है) । इसके अतिरिक्त यह पक्ष नैयायिक पक्ष से भी हीन है ।

अर्थग्रहणवादियों के मत में पुरुष स्वतन्त्र हो जायगा । और आगम का प्रतिभान होने पर तो दोनों का पारतन्त्र्य है ।"

(पू) आपके पक्ष में भी वेद का पारतन्त्र्य समान है ? (उ) ऐसा नहीं है ।

"अनेक पुरुष में रहने से और एक ही जन्म में ज्ञान और स्मरण होने से वेद में स्वातन्त्र्य का विघात नहीं होता ।"

उपाध्याय और ईश्वर का भी साम्य नहीं है—

---

[1] श्लो० वा० २ १४५ । [2] श्लो० वा० २ १४८ । [3] श्लो० वा० २।१४९ ।

उपाध्यायेश्वरयोरपि न साम्यम् ;

"अन्यथाकरणे चास्य बहुभ्यः स्यान्निवारणम् ।
एकस्य प्रतिभानन्तु कृतकान्न विशिष्यते ॥"[१]

कालभेदेषु सम्प्रदायप्रवर्तकैकपुरुषवदीश्वरस्य प्रवर्त्तकत्वमित्यपि नाशङ्कनीयम् ;

"अतश्च सम्प्रदायेऽपि नैकः पुरुषः इष्यते ।
बहवः परतन्त्राः स्युः सर्वेऽप्यद्यत्ववन्नराः ॥"

तस्मात् पुरुषतन्त्र एवानादिनिधनो वेद इत्यास्थेयम् ।

[सृष्टिप्रलयाभ्युपगमेऽपि वेदे पुरुषास्वातन्त्र्योपपत्तिः–]

अत्र समाधिः; यथैव खलूच्यते—लिङ्गादीनां तु नित्यत्वात् नित्यमनुच्चारितश्रुत्यनुमानकरणमविरुद्धम् इति, नित्यस्य लिङ्गादेर्नित्यश्रुतिमूलत्वम्, तथैव श्रुतीनां नित्यत्वेऽपि नित्यब्रह्ममूलत्वं कस्मान्नोच्यते ?

भावदीपिका

वेदस्य पारतन्त्र्यं स्यात्; तत्तु प्रलयाऽनङ्गीकारवादिनो नास्तीत्यर्थः । यच्चोक्तं महोपाध्यायवदीश्वरः प्रवर्त्तक इति वेदान्तिभिः, तदप्ययुक्तम्—इत्याह—उपाध्यायेति । साम्यान्तरं प्रत्याचष्टे – कालेति ।

[सृष्टिप्रलयाऽभ्युपगमेऽपि वेदे पुरुषास्वातन्त्र्योपपत्तिः –]

अनादित्वेऽपि वेदस्येश्वराऽधीनत्वं तावदविरुद्धम्––इत्याह—यथैवेति । [अ-]नित्य[२]-त्वेऽपि अनादित्वादित्यर्थः । मन्त्रादिद्रष्टॄणां—"कल्पान्ताऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः । लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयंभुवा ॥" तत्र "ऋग्वेद एवाऽग्नेरजायत" इत्यागमाद्विच्छिन्नस्येश्वरप्रवर्त्तितस्य संप्रदायस्य 'स एवाऽयं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः' इतिवत् प्रवर्त्तकत्वे सम्भवति न

ज्ञानवती

"इसके अन्यथाकरण में वहुतों से निवारण हो जायगा । एक का प्रतिभान तो कृतक से विशिष्ट नहीं होता ।"

कालभेदों में सम्प्रदायप्रवर्त्तक एकपुरुष के समान ईश्वर का प्रवर्त्तकत्व है यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिये ।

"इसलिये सम्प्रदाय में भी एक पुरुष नहीं माना जाता । वहुत से परन्तत्र हो जायेंगे और सभी पुरुष आज के समान होंगे ।"

इसलिये अनादिनिधन वेद पुरुषतन्त्र नहीं है ऐसा मानना चाहिये ।

[सृष्टि में भी वेद पुरुष से स्वतन्त्र नहीं है—]

इस विषय में समाधान है—

जैसे कहते हैं—लिङ्ग आदि के नित्य होने से नित्य अनुच्चारित श्रुति का अनुमान अविरुद्ध है, नित्य लिङ्ग आदि नित्यश्रुतिमूलक हैं, उसी प्रकार श्रुतियों के नित्य होने पर भी नित्यब्रह्ममूलकता क्यों नहीं कहते ?

---

१ श्लो० वा० ४।२।१५० ।   २ (क) नित्य ।

किञ्च येऽपि वर्णानां नित्यत्वमास्थिषत तैरपि पदादीनामनित्यत्वमभ्युपेतव्यम्। आनुपूर्व्यवन्तो हि वर्णाः पदम्; पदानि चानुपूर्व्यवन्ति वाक्यम्; वाक्यानि चानुपूर्व्यवन्ति प्रकरणम्; प्रकरणानि चानुपूर्व्यवन्ति शास्त्रम्। व्यक्तिधर्मश्चानुपूर्व्यं न वर्णधर्मः। वर्णानां नित्यानां विभूनाञ्च देशतः कालतो वा पौर्वापर्यायोगात्। व्यक्तिश्चानित्या इति कथं तदुपगृहीतानां वर्णानां नित्यानामपि पदता नित्या? पदानित्यतया च वाक्याद्यनित्यता व्याख्याता। तस्मान्नृत्यानुकरणवत् पदाद्यनुकरणम्। यथा हि यादृशं गात्रचलनादि नर्त्तकः करोति तादृशमेव शिक्षमाणा अनुकरोति नर्त्तकी न तु तदेव व्यनक्ति, एवं यादृशीमानुपूर्वीं वैदिकानां वर्णपदादीनां करोत्यध्यापयिता तादृशीमेवानुकरोति माणवको न तु तामेवोच्चारयति; आचार्यव्यक्तिभ्यो माणवकव्यक्तीनामन्यत्वात्। तस्मान्नित्यानित्यवादिनां न लौकिकवैदिकपदवाक्यादिपौरुषेयत्वे विवादः, केवलं वेदवाक्येषु पुरुषस्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्ये विप्रतिपत्तिः। यथाहुः—

"यत्नतः प्रतिषेध्या नः पुरुषाणां स्वतन्त्रता।"

भावदीपिका

वेदस्य बहुकर्त्तृत्वशङ्का। यादृशां वर्णानां वेदत्वं तेषां प्रवाहरूपेणाऽनादित्वेऽपि न स्वरूपेणाऽनादित्वमिति वृद्धवचनेनोपपादयति—किञ्चेति। आस्थिषत = आस्थिताः। ततः कथमेतावताऽनित्यत्वम्? तत्राऽऽह—व्यक्तीति। तथाऽपीश्वराधीनप्रवृत्तित्वं वेदस्य न युक्तम्—इत्याह—नन्विति। न च ग्रहादेः पूर्वजन्माधीतस्मृतेर्जातिस्मराणां चात्रोदाहरणत्वम्; अत एव तेषां हि पराधीनमध्ययनं जन्मान्तरेषु; नेश्वरस्य स्वयंप्रतिभातवेदस्य "यो ब्रह्माणं विदधाति

ज्ञानवती

इस अतिरिक्त जो लोग वर्णों की नित्यता को मानते हैं उन्हें भी पद आदि का अनित्यत्व मानना ही चाहिये। आनुपूर्वी वाले वर्ण पद हैं; आनुपुर्वीयुक्त पद वाक्य हैं; आनुपूर्वी वाले वाक्य प्रकरण हैं; आनुपूर्वी वाले प्रकरण शास्त्र हैं। आनुपूर्व्य व्यक्ति का धर्म है वर्ण का धर्म नहीं है, क्योंकि नित्य एवं विभु वर्णों का देशतः एवं कालतः पौर्वापर्य नहीं होता। व्यक्ति अनित्य है इसलिये उसके द्वारा गृहीत नित्य वर्णों की पदता कैसे नित्य हो सकती है। और पद की अनित्यता से वाक्य की अनित्यता व्याख्यात हो जाती है। इसलिये नृत्य के अनुकरण के समान पद आदि का अनुकरण होता है। जैसे, जैसा गात्रचलन आदि नर्त्तक करता है वैसा ही शिक्षमाण नर्त्तकी भी करती है, न कि उसी को व्यक्त करती है, उसी प्रकार अध्यापक वैदिक वर्ण, पद आदि की जैसी आनुपूर्वी (का उच्चारण) करता है वैसी ही (आनुपूर्वी का उच्चारण) माणवक करता है न कि उसी का उच्चारण करता है, क्योंकि आचार्यव्यक्तियों से माणवकव्यक्तियाँ भिन्न हैं। इसलिये नित्यानित्यवादियों के वीच लौकिकवैदिकपदवाक्य आदि के पौरुषेयत्व के विषय में विवाद नहीं है केवल वेदवाक्यों में पुरुष के स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्य में विप्रतिपत्ति है। जैसा कि कहा है—

"हम लोगों के लिए पुरुषों की स्वतन्त्रता यत्नतः प्रतिषेध्य है।"

(पू) "स्वाध्याय पढ़ना चाहिये" ऐसा वेद का परतन्त्र अध्ययन सुना जाता है, "आचार्य-

इति। ननु "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति परतन्त्रं वेदाध्ययनं श्रूयते; "आचार्याधीनो वेदमधीष्व" इति च। अतो वेदाध्ययनं प्रत्यस्मादृशगुरुशिष्यपारम्पर्यमविच्छिन्नं वेदस्यानादितां गमयति। ब्रह्मणश्च पूर्वसर्गानुसारेण तादृशानुपूर्व्यरचना न प्रमाणवती, घुणाक्षरन्यायस्य व्यभिचरितत्वात्। न च सर्वज्ञत्वं नियामकम्; अन्यथा विजानतोऽप्यन्यथोच्चारणदर्शनात्। ततो न सर्वथा वेदसर्ग इति स्वीकार्यम्।

ननु वधयागदानब्रह्महत्यादयो ([1]अर्थानर्थ-)हेतवो ब्रह्मविवर्त्ता अपि न सर्गान्तरे विपरीयन्ते; नहि जातु क्वचित् सर्गे ब्रह्महत्या अर्थहेतुः, अनर्थहेतुश्चाश्वमेधो भवति, अग्निः क्लेदयति आपो दहन्ति इति; यथा अत्र सर्गे नियतानुपूर्व्यं वेदाध्ययनं अभ्युदयनिःश्रेयसहेतुः, अन्यथा तदेव (वाग्वज्रतया[2]) अर्थनहेतुः, एवं सर्गान्तरेष्वपीति तदनुरोधात् सर्वज्ञोऽपि सर्वशक्तिरपि पूर्वसर्गानुसारेण वेदान् विरचयन् न

भावदीपिका

पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै" इत्यादिवचनादीशस्योपाध्यायनिरपेक्षवेदाधिगम इत्यपि न वाच्यम्; प्रतिमन्त्रमार्षभेदश्रुतेः बहूनां स्वयंभुवां पातात्, चतुराननस्य प्रतिवक्त्रभेदप्राकट्यश्रवणाच्च, नेश्वराऽध्यापिततत्त्वनिर्णयो यस्मात् तस्मात्—इत्याह—अत इति। किञ्च ब्रह्म पूर्ववत् वेदानुच्चारयति इत्यत्र न नियामकं दृश्यते। अथ यथा कीटस्य स्तम्भे स्वैरमुल्लिखतोऽपि अक्षरविशेषो भवति तथा स्वैरमुच्चारणेऽपीश्वरस्य तथैव वेदाऽविर्भाव इति? तन्न; कीटस्याऽनक्षरात्मकरेखावत् अन्यथाभावसम्भवात् -इत्याह—ब्रह्मणश्चेति। नियामकमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। सम्यक् व्याकरणादिवेदिनामप्य[-न्यथा][3] प्रयोगादिदर्शनात् अन्यथात्वाऽशङ्का दुर्वारित्यर्थः। दृष्टान्तबलेनाऽन्यथात्वाऽऽशङ्कामाक्षिपति—नन्विति। "मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥"—इति वचनाद् वाग्वज्रता एतत्कल्पदृष्टान्तेन कल्पान्तरेष्वपि नियता।

ज्ञानवती

के अधीन होकर वेद पढ़ो" यह भी है। इसलिये वेदाध्ययन के प्रति हमारे जैसे लोगों की अविच्छिन्न गुरुशिष्य की परम्परा वेद की अनादिता को बताती है। और ब्रह्म की पूर्वसृष्टि के अनुसार वैसी आनुपूर्व्यरचना प्रामाणिक नहीं है, क्योंकि घुणाक्षरन्याय का व्यभिचार हो जाता है। (पू) सर्वज्ञत्व नियामक है? (उ) यह भी नहीं है। क्योंकि दूसरे रूप में जानता हुआ भी अन्यथा उच्चारण (करता) देखा जाता है। इस कारण सर्वथा वेद की सृष्टि नहीं है ऐसा मानना चाहिये।

(पू) वध, योग दान, ब्रह्महत्या आदि, अर्थ और अनर्थ के हेतु, ब्रह्म के विवर्त होने पर भी सर्गान्तर में विपरीत नहीं होते। किसी सर्ग में ब्रह्महत्या अर्थ का हेतु नहीं होती, अश्वमेध अनर्थ का हेतु नहीं होता; अग्नि भिगोती नहीं और जल दाह नहीं करते। जैसे इस सर्ग में निश्चित आनुपूर्वी के अनुसार वेदाध्ययन अभ्युदय एवं निःश्रेयस् का हेतु है, अन्यथा वही वाग्वज्र होने से अनर्थ का हेतु हो जायगा; उसी प्रकार सर्गान्तरों में भी,

---

[1] (क) अर्थहेतव, (ख) अर्थानर्थहेतवः। [2] (क) वाग्वज्रया, (ख) वाग्वज्रतया। [3] (क) प्यस्य।

स्वतन्त्रः ? नैवम्; एवमपि कल्पनादनवच्छिन्नगुरुशिष्यपारम्पर्याश्रयणस्यैव युक्तत्वात्। यतो ब्रह्महत्यादिफलं वेदैकप्रमाणकम् देशादिभेदेन भेषजादिवीर्यविपाकवत् सर्गान्तरेऽप्यन्यथाऽप्युत्प्रेक्षेत। चैत्यवन्दनादिवचसामपि सर्वज्ञबुद्धेन सर्गान्तरानुसारेणैव विरचितत्वात् तत्साधनभावस्य तदेकप्रमाणत्वात् वेदवदप्रतिबन्धं प्रामाण्यं केन वार्येत ?

अत्रोच्यते—सर्गप्रलयौ तावदसाधिषाताम्। प्रलये च सम्प्रदायोच्छेदस्यावश्यकत्वात्। अतः "धाता यथापूर्वमकल्पयत्" इत्यादिश्रुतिप्रामाण्यानुसारेण वेदेश्वरयोः पारतन्त्र्याभ्युपगमो युक्त एव विधेः। गुरुप्रसादलभ्यत्वं चाध्ययनस्य फल एवोपयुज्यते। ईश्वरस्य च फलासंसर्गत्वात्। न च एकस्य प्रतिभाने अनाश्वास इति युक्तम्; पुराणाद्युपदिष्टविप्रलिप्सापूर्वकचैत्यवन्दनादिवाक्येष्वेव तस्याप्रति-

भावदीपिका

तेनाऽनुमानादेव पूर्वसर्गाऽनुसारेणोत्तरसर्गप्रवृत्तेरपि नाऽन्यथात्वाऽऽशङ्केत्याह मीमांसकः—नैवमिति। अर्थानुसारेण प्रमाणनियमकल्पनात् वरं नियतप्रमाणाऽनुसारेणाऽर्थनियमकल्पनमित्यर्थः। न केवलमनाश्वासोऽतिप्रसङ्गश्च—इत्याह—चैत्येति।

स्यादेतत् यदि महासर्गाऽऽदिकं न निरूप्येत; निरूपितं च तत्; ततो यथापूर्वाऽनुरोधो युक्त एव श्रुत्यादिवशात्—इत्याह—अत्रोच्यत इति। यथा प्रतिसंवत्सरमयनऋतुमासपक्षदिवससूर्यगत्यादि एकरूपं तथा वेदोऽपीति। यदुक्तमाचार्याधीनत्वमध्ययनस्य तन्मानुषाध्ययनम्—इत्याह—विधेरिति। अनाश्वासोऽप्ययुक्तः—इत्याह—न चेति। विप्रलम्भ-

ज्ञानवती

इसलिये उसके अनुरोध से सर्वज्ञ भी, सर्वशक्तिमान् भी पूर्वसृष्टि के अनुसार वेदों की रचना करता हुआ स्वतन्त्र नहीं है ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि ऐसी भी कल्पना करने पर अनवच्छिन्न गुरुशिष्यपारम्पर्य का आश्रयाण ही युक्त है। क्योंकि ब्रह्महत्या आदि फल वैदेकप्रमाण वाला है, (और वह) देश आदि के भेद से औषध आदि के वीर्यविपाक के समान सर्गान्तर में भी अन्यथा उत्प्रेक्षित होने लगेगा।

(पू) चैत्यवन्दन आदि वचनों के भी सर्वज्ञ बुद्ध के द्वारा सर्गान्तरानुसार ही विरचित होने से तत्साधनभाव के तदेकप्रमाण वाला होने से वेद के समान अप्रतिवन्धप्रामाण्य का वारण कौन कर सकता है ?

(उ) उस विषय में कहते हैं—सृष्टि एवं प्रलय की सिद्धि हो चुकी। और प्रलय में संप्रदाय का उच्छेक आवश्यक है। इसलिये "ब्रह्मा ने पहले जैसी रचना की" इत्यादि श्रुतिप्रामाण्य के अनुसार विधि का वेद एवं ईश्वर का पारतन्त्र्य ठीक ही है। और गुरुप्रसादलम्यत्व तो अध्ययन के फल के विषय में ही उपयुक्त होगा। क्योंकि ईश्वर का फल से कोई सम्बन्ध नहीं है। (पू) एक के प्रतिभान में अविश्वास हो जायगा ? (उ) यह ठीक नहीं है। क्योंकि पुराण आदि में उपदिष्ट विप्रलिप्सापूर्वक चैत्यवन्दन आदि वाक्यों में ही उसका अप्रतिवन्ध है। इसीलिये वेद के सदृश भी नहीं है। सृष्टि के आदि में होने वाले धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य वाले प्रजापति, देवताओं एवं ऋषियों का स्वरूपनिश्चय सिद्ध होता है कि क्या यह विप्रलम्भक है

बन्धत्वात्। अत एव न तेषां वेदतुल्यताऽपि। सर्गादिभुवां च प्रजापतिदेवर्षीणां धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्यसंगमानामुपपद्यते[1] स्वरूपावधारणम्, किमयं विप्रलम्भकोऽन्यथा वा? इति। तत्र विप्रलिप्साद्यस्मरणान्नाकाशोऽनाश्वासस्य। अत एव स्वप्नप्रत्ययवदागमप्रत्ययोऽस्य नैकान्तेन विश्वासाय प्रामाण्यस्य इति व्युदस्तम्; सत्यसङ्कल्पत्वेन यथावत् प्रतिभानसम्भवाच्च। पूर्वानुसारेण विरचनादेव चाध्यापकादिवन्न तदुक्तत्वमात्रेण प्रामाण्यम्, येन तदुक्तत्वप्रामाण्ययोरन्योन्यापेक्षणं[2] परेषामिव।

परमते च वेदस्य बोधकत्वमनुपपन्नमेव। तथा हि टीकाकारमते तावत्—उपलब्धिधर्म एव क्रमो वर्णेषु समारोपणीयः। अतः क्रममात्रस्य वर्णमात्रस्य वा वेदशब्दानर्हत्वात् विशिष्टप्रत्ययाभावाच्च अविवेकमात्रं वेद इत्यर्थावबोधो न स्यात्। अन्यथाख्यातौ पुनर्विशिष्टप्रत्ययमात्रत्वात् विशिष्टार्थाभावात् विज्ञानातिरिक्तो वेदो न स्यात्। न चोपलब्धिक्रमोपलक्षितवर्णो वेदो न विशिष्ट इति युक्तम्; क्रमविशिष्टवर्णप्रत्ययस्य प्रत्यक्षत्वात्। अनिर्वचनीयवादे पुनर्विशिष्टार्थप्रत्यययोर्भावात् विज्ञानव्यतिरेकेणार्थस्यानिर्वचनीयत्वेऽपि अर्थक्रियासमर्थतया तुच्छव्यावृत्तसत्त्वाभ्युपगमादस्त्येव अर्थावबोधसमर्थो वेदः। स्वतन्त्रेश्वरवादिनामपि तस्य सर्वज्ञत्वम् यथासिद्धसर्वप्रकाशन एवोपयुज्यते नो पुनरन्यथाभूतविरचनाय। अन्यथाभूतविरचने च स्वेच्छानिर्मितत्वात् नियतस्वरवर्णशिक्षादिविनयनिबन्धनं मन्वादिवाक्येष्विव प्रत्यवायकीर्त्तनं न

भावदीपिका

कत्वप्रयुक्तो वा? यथावदनवधारणप्रयुक्तो वा? आद्यं निरस्याऽन्त्यं निरस्यति—अत एवेति। पौरुषेयत्वप्रयुक्तोऽपि दोषोऽत्र नाऽस्ति —इत्याह—पूर्वेति। प्राभाकरादिमते प्रत्युत दोषात् अयमेव पक्षो रमणीयः—इत्याह—परमते चेति। भाट्टमते विशेषमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। स्वपक्षे विशेषमाह—अनिर्वचनीयेति। प्रक्रियान्तरं विघटयति—स्वतन्त्रेति।

ज्ञानवती

अथवा अन्यथा। उसमें विप्रलिप्सा आदि का स्मरण न होने से अविश्वास का अवकाश नहीं है। इसीलिये स्वप्नप्रत्यय के समान इस आगमप्रत्यय का प्रामाण्य एकान्ततः विश्वास के लिये नहीं है, यह (कथन) व्युदस्त हो गया। क्योंकि सत्यसङ्कल्प होने से यथावत् प्रतिभान सम्भव है। और पूर्वानुसार विरचन होने से ही अध्यापक आदि के समान तदुक्तत्वमात्र से प्रामाण्य नहीं है। जिससे दूसरों के समान तदुक्तत्व एवं प्रामाण्य में अन्योन्याश्रय हो जायगा।

और दूसरों के मत में वेद का बोधकत्व अनुपपन्न ही है। टीकाकार के मत में—उपलब्धिधर्मवाला ही क्रम वर्णों में समारोपित होना चाहिये। इसलिये क्रममात्र अथवा वर्णमात्र के वेदशब्द के अयोग्य होने से तथा विशिष्टप्रत्ययाभाव होने से अविवेकमात्र वेद है यह अर्थज्ञान नहीं होगा। और अन्यथाख्याति में विशिष्टप्रत्ययमात्र होने के कारण विशिष्टार्थ न न होने से वेद विज्ञान से अतिरिक्त नहीं होगा। (पू) उपलब्धिक्रमोपलक्षितवर्ण वाला भेद विशिष्ट नहीं है? (उ) यह ठीक नहीं है। क्योंकि क्रमविशिष्टवर्ण का ज्ञान प्रत्यक्ष है।

१ (ख) सङ्गं नानाप्युप। २ (ख) तदुक्तत्वा।

स्यात्; अर्थज्ञापनस्यैव विवक्षितत्वात्। अतो यथाऽवस्थितमनुस्मृत्योच्चारयति भगवान् अध्यापक इव इति न विशेषं पश्यामः प्रक्रियान्तरस्य।

[ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वोपपादनम्—]

सर्वज्ञत्वमपि "यः सर्वज्ञः स सर्ववित्" इति सामान्यरूपेण विशेषरूपेण च स्वरूपचैतन्यव्याप्तमेव सर्वं सर्वास्ववस्थासु इति।

"तमेवभान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"।

इति वेदादेवावसीयते। सर्वप्रकाशनसमर्थशब्दोपादानभावात् सर्वज्ञं ब्रह्म इति चाभियुक्ताः। मायावृत्तिभिः सर्वं वेत्ति इति वा सर्वज्ञं ब्रह्म। अस्मिन् पक्षे न सदा सर्वज्ञत्वम् इति न युगपद्द्वैताद्वैतवृत्तिविरोधः। सत्यसङ्कल्पादेव च यथार्थप्रतिभा। तस्मान्निःश्वसितश्रुतेर्वेदाख्यशास्त्रं यथोपपादितापौरुषेयभावं युक्तं ब्रह्मणि मानम्। नित्यप्रत्यक्षवादिनां न वर्तमानकाले भूतानागतयोः प्रत्यक्षता वर्त्तमानवत्

भावदीपिका

[ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वोपपादनम्—]

पूर्वसर्गाऽनुस्मृत्युपपादकं सर्वज्ञत्वं सप्रमाणकमाह—सर्वज्ञत्वमपीति। अभियुक्तपक्षोदाहरणेन श्रौतपक्ष एव दृढीक्रियते। व्यापकं स्वरूपज्ञानमेव सर्वकार्याऽनुस्यूततया वृत्तिव्यक्ततया वा सर्वप्रकाशकम्। विरुद्धवृत्त्या युगपद्भावोऽनुपपन्न इति? अत आह—अस्मिन्निति। प्रमाणवृत्तीनां करणजन्यत्वनियमात् सर्गादौ च तदभावात् कथं यथा तत्प्रतिभानम्? तत्राऽऽह—सत्येति। मायाऽङ्कुरा बहवो वर्णिताः—बह्वङ्कुरेति। तदारोपेण सर्वमुपपन्नम्। परमते सर्वविषयप्रमित्या सर्वज्ञत्वं कुतो नाऽङ्गीक्रियते? तत्राऽऽह—नित्येति। अस्तु तर्हि

ज्ञानवती

और अनिर्वचनीयवाद में विशिष्टार्थ एवं (विशिष्ट) ज्ञान के होने से विज्ञान से व्यतिरिक्त अर्थ के अनिर्वचनीय होने पर भी अर्थक्रिया में समर्थ होने के कारण तुच्छ से व्यावृत्तसत्ता को मानने के कारण वेद अर्थबोध में समर्थ हैं ही।

[ईश्वर का सर्वज्ञत्वोपपादन—]

स्वतन्त्र ईश्वरवादियों के (मत में) भी उसका सर्वज्ञत्व यथासिद्ध सर्वप्रकाशन में ही उपयुक्त होता है न कि नवीन रचना के लिये। क्योंकि नवीन रचना में स्वेच्छया निर्मित होने से मनु आदि के वाक्यों के समान नियत स्वर वर्ण की शिक्षा आदि के कारण, प्रत्यवायकीर्त्तन नहीं होगा। क्योंकि अर्थज्ञापन ही विवक्षित है। इसलिये भगवान् अध्यापक के समान यथावस्थितं का अनुसरण करके उच्चारण करते हैं इसलिये (हम) प्रक्रियान्तर का विशेष नहीं देखते। सर्वज्ञत्व भी "जो सर्वज्ञ सर्ववेत्ता" ऐसा सामान्यरूप से है। विशेष रूप से सब अवस्थाओं में सब कुछ स्वरूपचैतन्य से व्याप्त ही है। ऐसा—

"उसी के प्रकाश के पीछे सब प्रकाशित होता है, उसी के प्रकाश से यह सब प्रकाशित प्रकाशित होता है।"

इस वेद से निश्चित होता है। अभियुक्तों का कथन है कि सर्वप्रकाशनसमर्थ शब्द का उपादान

इति नैकविधप्रत्ययेन सर्वज्ञत्वं सङ्गच्छेत्। वर्त्तमानसर्वज्ञत्वं च सर्गात् प्राङ्न भवति इति सर्वोऽप्यबुद्धिपूर्वकः प्रसज्येत। करणविशेषस्य चाभावादेव नियामकस्य विप्रकृष्टसन्निकृष्टार्थसाधारणज्ञानस्य कुतः प्रत्यक्षसंज्ञा, मानान्तरसंज्ञैव कुतो न भवेत्? प्रमाणविशेषत्वानिरूपणे च "कृत्स्नः प्रज्ञानघनः" इति श्रुतेः नित्यज्ञानस्यात्मरूपतैव इत्यस्मत् पक्ष एव रमणीयः। क्रमविशेषवर्णात्मकवेदतदर्थयोश्च युगपदाविर्भावान्नार्थज्ञानपूर्विका भगवतो वेदसृष्टिः। वेद एव च यथोक्तलक्षणं ब्रह्म तत्त्वावेदनभरं सोढुं क्षमते। तस्यापुरुषतन्त्रस्य निर्दोषत्वेन निरङ्कुशप्रामाण्यात्। यथा हि—

कर्पूररेणुरमणीयपयांसि यस्याः
आकाशकाचकलशीमधि[-कृत्य[१]यन्ति]

भावदीपिका

वर्त्तमानसर्वज्ञत्वम्? तत्राऽऽह—वर्त्तमानेति। प्रत्यक्षविषयाऽभावात् अप्रत्यक्षत्वमुक्तम्। सामग्र्यभावादप्येवम्—इत्याह—करणेति। इदानीं गुणत्वमप्यस्याऽनुपपन्नम्—इत्याह—प्रमाणेति। यदुक्तमनुस्मृत्य विरचने पौरुषेयत्वमिति तदपि पूर्वक्रमाऽनुस्मरणेऽन्यथोच्चारणाऽभावे च न दोषः—इत्याह क्रमेति। किमिति प्रतिबन्धेन चैतदेव प्रसाध्यते—अत आह—वेद एवेति। उक्तं दृष्टान्तेन स्फुटयति—तथा हीति।

तां धुनीम्=मन्दाकिनीसंज्ञाम्; आशंसते=प्रार्थयते। ब्रह्मणा वा किं तत्त्वान्तरमेवाऽवलम्ब्यताम्? तत्राऽऽह—यद्वेदा इति। प्रतिजानते=प्रतिपाद्यत्वेनोपक्षिपन्ति तात्पर्यतः

ज्ञानवती

होने से ब्रह्म सर्वज्ञ है। अथवा मायावृत्तियों से सबको जानता है, इसलिये ब्रह्म सर्वज्ञ है। इस पक्ष में सदा सर्वज्ञत्व नहीं रहेगा इसलिये एक साथ द्वैताद्वैतवृत्ति का विरोध नहीं है। सत्यसङ्कल्प होने से ही यथार्थ ज्ञान होता है। इसलिये निःश्वसितश्रुति से वेद नामक शास्त्र, जो कि यथोपपादित पौरुषेयभाव वाला है, ब्रह्म के विषय में उचित रूप से प्रमाण है। नित्यप्रत्यक्षवादियों के मत में वर्तमान काल में भूत और भविष्य की प्रत्यक्षता वर्तमान के समान नहीं है इसलिये एकविधप्रत्यय से सर्वज्ञत्व संगत नहीं होगा। और वर्त्तमान सर्वज्ञत्व सृष्टि के पहले सम्भव नहीं है इसलिये सृष्टि भी अबुद्धि पूर्वक होने लगेगी। करणविशेष के अभाव से ही नियामकविप्रकृष्टसन्निकृष्टार्थसाधारणज्ञान की प्रत्यक्ष संज्ञा क्यों है मानान्तर संज्ञा ही क्यों नहीं होती। प्रमाणविशेषत्व का निरूपण न होने पर "सम्पूर्ण प्रज्ञानघन" इस श्रुति से नित्य ज्ञान की आत्मरूपता ही है इसलिये हमारा पक्ष ही रमणीय है। क्रमविशेष वर्णात्मक वेद एवं उसके अर्थ का युगपत् आविर्भाव होने से भगवान् की वेदसृष्टि अर्थज्ञानपूर्विका नहीं है। और वेद ही यथोक्तलक्षण ब्रह्मतत्त्व के आवेदन का भार सहने में समर्थ है क्योंकि वे पुरुषतन्त्र नहीं है अतः निर्दोष होने से (उनका) निरङ्कुश प्रामाण्य है। जैसे—

जिसका कर्पूररेणु के समान रमणीयजल आकाशरूपी काचकलश को भी आधिकृत

---

१ (क) मपि वा यामति, (ख) मधि वायमेति।

ब्रह्माण्डमण्डलकरण्डधृतां धुनीन्ता-
माशंसते खलु महेश्वर एव वोढुम् ॥

यद्वेदाः प्रतिजानते प्रतिपदं तात्पर्यपर्यायतो
ब्रह्मैकं बहुजिह्ममोहनिवहच्छेदाय वेद्यं बुधैः ।
प्रेक्षावांस्तदपास्य हास्यपदवीं तत्त्वान्तरं को भजेत्
प्रावारीयति कम्बलं परिमलस्निग्धोऽपि कः कामुकः ॥

वेदो मानमवादि वादिकरिणा, व्यासेन योऽयं स्वतो
ब्रह्मण्यत्र विमानमङ्ग वद किं मानं न वेति स्फुटम् ।
सर्वज्ञोऽपि परीक्ष्य यं स्वमुकुटे चक्रे कलानां निधिम्
किन्तस्याद्य सदाऽवदातसहजज्योतिष्मतश्चिन्त्यताम् ॥

तस्मात् सर्वमनाकुलम् ।

भावदीपिका

प्रतिपादयन्ति च । तत्त्वान्तरज्ञानानां संसारकारणमोहकपटप्रवाहोच्छेदो नास्ति तव "विदित्वा" इत्यादिवेदात् । प्रावारीयति=प्रावृणोति ।

इदानीं ब्रह्मणः शास्त्रयोनित्वस्य निश्चलत्वं विशदयति । अधिदैवतं बादरायणेन प्रमाणीकरणादाह—वेद इति । वादिकरिणा=वादिगजेन्द्रेण । तर्कपादेन दर्शितञ्च विशेषतो वादिमर्दनम् । सर्वज्ञः=ईश्वरः ।

ज्ञानवती

(=पूरित) करके आगे बढ़ता है । ब्रह्माण्डमण्डल के पिटारी में धारण की गई उस धुनी (=गंगा) को वहन करने में महेश्वर ही समर्थ हैं ।

जिस ब्रह्म को वेद प्रतिपद तात्पर्यपर्याय के रूप में जानते हैं (अर्थात् वेद का प्रत्येक पद जिस ब्रह्म का प्रतिपादक है) और जो विद्वानों के द्वारा अनेक, कुटिल मोहसमूह के नाश के लियं, जानने योग्य है । उसको छोड़ कर कौन प्रेक्षावान् (=सदसद्-विवेकशील) हास्यास्पद तत्त्वान्तर को भजेगा । परिमलस्निग्ध भी कौन कामुक कम्बल को ओढ़ता है ।

जिस वादिकरि व्यास ने इस वेद को स्वतःप्रमाण कहा है, बोलो ! कि इस ब्रह्म के विषय में वह दुष्ट प्रमाणवाला कैसे है ? वह प्रमाण है या नहीं—यह स्फुट है । सर्वज्ञ ने भी जिस कलाओं के निधि (=चन्द्रमा) की परीक्षा कर अपने मुकुट में धारण किया है, सदा स्वच्छ सहज ज्योतिष्मान् उसके बारे में आज क्या सोचना है ?

इसलिये सब अनाकुल है ।

शशिखण्डशिखण्डमण्डनं (हेमव्याड[१]-) वरण्डपीडितम् ।
गरुडध्वज[-चण्डिकाद्वयोः] कलहव्रीड(-विडम्बितं[३]) नुमः ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयाश्रमपूज्यपादशिष्यस्य
भगवतो रामाद्वयस्य कृतौ वेदान्तकौमुद्यां
तृतीयोऽध्यायः समाप्तः ॥

भावदीपिका

आदावुक्तप्रयोजनामेव देवस्तुतिं करोति—शशीति । शशिखण्डशिखण्डः=शिखा; मण्डनं [यस्य तं] नुमः । हेमव्याडः=सर्पः; स एव वरण्डः=प्राकारभित्तिः । हरिहर-देहधारणे उमाऽर्द्धशरीरधारणे च निमित्तं कलहः=मदर्थं धारणीयं मदर्थं धारणीयमिति यो मिथो विवादः; तेन व्रीडा=लज्जा; तेन विडम्बितम्=विकृतीकृतम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयानुभवपूज्यपादशिष्यस्य
रामाद्वयस्य कृतौ स्वकृतवेदान्तकौमुदीभावदीपिकायां
तृतीयोऽध्यायः ॥

ज्ञानवती

चन्द्रकला जिसके मस्तक का आभूषण है, जो सर्प के प्राचीर से पीडित है ऐसे (भगवान विष्णु तथा पार्वती दोनों का शरीरार्द्ध धारण करने के नाते), विष्णु तथा चंडिका इन दोनों के कलह से उत्पन्न लज्जा के आधारभूत (शङ्कर) को हमारा नमस्कार है ।

श्रीमत् परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमद्याश्रमपूज्यपाद के शिष्य
भगवान् रामाद्वय की कृति वेदान्तकौमुदी में
तीसरा अध्याय समाप्त ॥

---

१ (क) डवलव्यालण्ड, (घ) हेमव्याड ।
२ (क), (घ) जण्डिकाद्वययोः ।
३ (विडम्वनं, (घ) विडम्बितम् ।

चतुर्थोऽध्यायः

[शब्दस्य कार्य एव प्रामाण्यात् ब्रह्म न शास्त्रयोनि—]

शास्त्रप्रमाणकं ब्रह्म इत्यभ्यधायि। अत्र चोदयन्ति कार्यार्थविषयमेव (शाब्दं[१]) प्रमाणमङ्गीकुर्वाणाः – न शब्दप्रमाण-(गोचरम्[२]) ब्रह्म इति। तथा हि—(क्रियाज्ञानं[३]) तत्फलज्ञानं वा प्रवर्त्तकम्—इति वृद्धमीमांसकाः। इष्टसाधनज्ञानं रागो वा तथा इति (वेदान्तितार्किकौ)[४]। लिङादिशब्दः तद्व्यापारो वा प्रवृत्तिबीजमिति भावना-

भावदीपिका

[शब्दस्य कार्य एव प्रामाण्यात् ब्रह्म न शास्त्रयोनि—]

प्रत्यज्ञायि गतेऽध्याये ब्रह्मणः शास्त्रमानता।
तस्या एव प्रतिज्ञाया विशुद्धिः क्रियतेऽधुना॥

—इति मन्वान आह—शास्त्रप्रमाणकमिति। ननु "शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः शाब्दम्" इति लक्षणं प्रमाणान्तराऽगोचरसिद्धब्रह्मार्थत्वेऽपि घटते, तस्य च वाक्यात्मकत्वात्। वाक्यार्थश्चान्विताः पदार्थाः, तदन्वयो वा। स च 'निधिमानेष भूभागः', 'फलिता अमी द्रुमाः'—इति सिद्धार्थपरत्वेऽपि सङ्गच्छते, क्रियाऽध्याहारस्य च वाक्यसामर्थ्यप्रतीतान्वयपूर्वकस्य पुरुषस्याऽऽकाङ्क्षोत्थापनाऽनन्तरभाविनः पूर्वस्माद्वाक्यान्तरत्वापादकत्वेन पूर्ववाक्यगतसिद्धार्थपर्यवसानाऽऽवारकत्वात्। ततो न युक्तः पूर्वपक्षः? इत्यत आह—कार्येति। सिद्धार्थवाक्यानां कैमर्थ्यवशेन "सोऽरोदीत्", "वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता" इत्यादीनां समर्थकक्रियासमन्वयेन प्रामाण्याविसंवादात्। न च ब्रह्मवाक्यानां स्वार्थज्ञानमात्रेण प्रयोजनलाभान्न क्रियापरत्वमिति वाच्यम्; "आचार्यवान् पुरुषो वेद", "तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथसम्पत्स्ये", "भूयश्चाऽन्ते विश्वमायानिवृत्तिः" इत्यवधिश्रुतेः, ज्ञानमात्रसाध्ये च अनाद्यविद्यानिरासे विलम्बदर्शनाच्च, अस्ति ज्ञानाऽतिरिक्तसाधनाऽपेक्षा मोक्ष इति गम्यते। वैदिकं च साधनं क्रियाज्ञानात्मकमेवेति क्रियाप्रवेशो ब्रह्मवाक्यानामिति मन्यमानस्य युक्तः पूर्वपक्ष इति भावः।

शाब्दस्य प्रमाणस्य प्रवृत्तिक्रियापर्यवसायित्वं मतभेदेन तावदाह—तथा हीति। शब्दभावनायाः वाक्यार्थनिरूपणेन साध्यत्वं शाब्दप्रमाणस्य सेत्स्यति। प्रवर्त्तनात्मकभावनायाः

ज्ञानवती

[शब्द का कार्य में ही प्रामाण्य होने से ब्रह्म शास्त्रयोनि नहीं है—]

'ब्रह्म शास्त्रप्रमाण वाला है' ऐसा कहा गया है। शब्दप्रमाण को कार्यार्थविषयक ही मानने वाले इस विषय में कहते हैं कि—ब्रह्म शब्दप्रमाण का विषय नहीं है। वह इस प्रकार—क्रिया का ज्ञान अथवा उसके फल का ज्ञान प्रवर्त्तक है—ऐसा वृद्ध मीमांसक कहते हैं। इष्टसाधन अथवा राग वैसा (=प्रवर्त्तक) है ऐसा वेदान्ती और तार्किक कहते हैं। लिङ आदि

---

१ (क) शब्दं, (ख ग) शाब्दम्। २ (क) गोचरः, (ख) गोचरम्।
३ (क) कार्यं, (ग) क्रियाज्ञानं। ४ (क) तार्किकाः, (ग) तार्किकौ।

वादिनो भाट्टाः। लिङादिशब्दातिरिक्तः शब्दोऽभिधा तद्व्यापारो वा तथा इति वैयाकरणादयः। तत्र भाट्टानां शाब्दव्यवहारे शब्दभावना तावत् सर्वत्र प्रवृत्तिनिमित्तम्। तत्राभूतार्थप्रादुर्भावफलं करोत्यर्थमात्रं भावना। तथा हि—

"सिद्धकर्तृक्रियावाचिन्याख्यातप्रत्यये सति।
सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थोऽवगम्यते॥"[१]

इह[२] केभ्यश्चिद्धातुभ्यः परा तिङ्विभक्तिरुच्चार्यमाणा कर्त्रात्मलाभमेव व्यापारं प्रतिपादयति; यथा अस्तिभवतिविद्यतिभ्यः। अपरेभ्यस्तु सिद्धे कर्त्तरि अन्यात्मलाभविषयव्यापारप्रतीतिः; यथा यजति, ददाति, पठति, पचति, गच्छति इति। द्रव्यमेव

भावदीपिका

शब्दव्यापारत्वेऽपि तत्प्रतिपाद्यत्वात् वाक्यार्थत्वम्; प्रवर्त्तकत्वचिन्तया वाक्यार्थ एव व्यवस्थाप्यते इति। भावना शाब्दी आर्थी च। अनयोर्लक्षणप्रपञ्चो वक्ष्यमाणः। संक्षेपेण तु शब्दस्य प्रवर्त्तनाव्यापारः—शाब्दी भावना; प्रवर्त्यव्यापार आर्थी भावना इति। अनयोः सामान्यरूपं विशेषविभागोपयोगि वक्तव्यम्—इत्यत आह—तत्राऽभूतार्थेति। करोत्यर्थमात्रम्=सिद्धकर्तृव्यापारमात्रम्। शब्दव्यापारः पुंव्यापारो वेति विशेषणे एकैकत्राऽव्याप्तेः तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापार इति लक्षणसम्पादनार्थम्—अभूतार्थप्रादुर्भावफलमिति। भूतस्य =सिद्धस्य प्रादुर्भावसम्भवात्—अभूतार्थेत्युक्तम्। एतद्वार्त्तिकेन प्रपञ्चयति—तथा हीति।

सिद्धेतिकर्तृविशेषणस्योपयोगमाह—इहेति। अस् भुवि, भू सत्तायामित्यादि धातुभ्यः परा वर्त्तमानार्था विभक्तिः स्वरूपोपयुक्तमेव स्थितिव्यापारं वदति। अत एतद्व्यवच्छेदार्थम्—सिद्धेति। सिद्धकर्तृव्यापारं दर्शयति—अपरेभ्यस्त्विति। परस्वरूपाऽनुकूलो व्यापारः=सिद्धकर्तृव्यापारः। ननु मृदादेर्घटादिस्वरूपानुकूलो व्यापारो न दृश्यते, वक्तव्यश्च, कारणत्वात्? तत्राऽऽह—द्रव्यमेवेति। घटादेर्द्रव्यस्याऽपि तादृशो व्यापारो

ज्ञानवती

शब्द अथवा उसका व्यापार प्रवृत्ति का बीज है—ऐसा भावनावादी भाट्ट कहते हैं। लिङ आदि शब्द से अतिरिक्त शब्द अभिधा या उसका व्यापार (प्रवर्त्तक) है—ऐसा वैयाकरण कहते हैं। उनमें से भाट्टों के शाब्दव्यवहार में शब्दभावना सब जगह प्रवृत्ति का कारण है। उसमें अभूतार्थप्रादुर्भावफलवाली करोतिअर्थमात्र, भावना है। इस प्रकार—

"आख्यातप्रत्यय के सिद्ध कर्त्तृक्रियावाची होने पर सामानाधिकरण्य के द्वारा 'करोति' का अर्थ जाना जाता है।"

यहाँ कुछ धातुओं से परे तिङ विभक्ति उच्चरित होती हुई कर्त्ता के आत्मलाभरूप ही व्यापार का प्रतिपादन करती है। जैसे—अस् भू विद (धातुओं) से परे। दूसरे (धातुओं) से कर्त्ता के सिद्ध होने पर अन्यात्मलाभविषयकव्यापार की प्रतीति होती है। जैसे यज, दा, पठ्, पच्, गम्, धातु से। द्रव्य ही विशिष्टशक्ति से युक्त, प्रचलित आत्मतत्त्ववाला, विप्रकीर्णस्वभाववाला, पूर्वापरीभूत, पूर्वावस्था से प्रच्युत, परावस्था को अप्राप्त, नानाक्षणव्यासक्त होता

---

१ मी० वा० २।१।१।

२ (ग) स ह।

विशिष्टशक्त्युपेतं प्रचलितात्मतत्त्वं विप्रकीर्णस्वभावं[1] पूर्वापरीभूतं पूर्वावस्थातः प्रच्युतं परामवस्था(-मप्राप्तं[2]) नानाक्षणव्यासक्तव्यापारशब्दवाच्यं भवति। तत्र कदाचित् कर्त्तुरेवमवस्था[3] प्रतीयते; कदाचित् सिद्धे कर्त्तर्यन्यस्य[4]। तद्यदा[5] कर्त्तुरेवैषाऽवस्था भवति, तदाऽसौ स्वयमेवान्यस्मादात्मलाभमपेक्षमाणः परनिष्पत्तावव्याप्रियमाणत्वात्[6] न करोतिशब्दवाच्यतां भजते। तदा तु लब्धात्मलाभो[7]-ऽन्यत्र व्याप्रियते, तदा 'करोति' इत्येवमपदिश्यते। तथा च किं करोति? पचति; किं करोति? पठति; किं करोति? गच्छति—इति सामान्यविशेषरूपेण सामानाधिकरण्यप्रयोगो दृश्यते। न तु किं करोति? भवत्यस्ति च इति प्रयुज्यते। तस्मा-

भावदीपिका

न दृश्यते? तत उक्तम्—विशिष्टशक्त्युपेतमिति। अप्रचलितस्याऽविप्रकीर्णस्वभावस्य व्यापारत्वं दुर्घटं ततः प्रचलितत्वादिविशेषणम्। एवं क्रियाया अपि पूर्वापरीभावः। आदौ स्थाल्यधिश्रयणं, पश्चाज्जलपूरणं, ततस्तण्डुलप्रक्षेपः—इत्याद्यवयवकल्पना। यथा मृदादेः प्रचलितात्मतत्त्वस्य = विक्षिप्तस्वभावस्य, तथा क्षणभङ्गिनो विक्षिप्ताऽवस्थाद्वयं न घटते। अत उक्तम्– पूर्वाऽपरीभूतस्येति। तस्यैव व्याख्या नानाक्षणव्यासक्तस्य। पिण्डाद्यवस्थायाः पूर्वाऽवस्थात्यागेन प्राप्तायाः न व्यापारशब्दवाच्यत्वं घटादिजन्यद्रव्यान्तराऽभावात्तथा तस्य तन्न सम्भवति यद्यपि, तथाऽपि स्वानुऽरूपकार्यारम्भशक्तिमतोऽवस्थाविशेषविशिष्टस्य व्यापारशब्दवाच्यत्वं न विरुध्यते। एवं सर्वत्र यथासम्भवं व्यापारो द्रष्टव्यः।

स च व्यापारो नियतः—इत्याह—तत्रेति। ततः किम्? तदाह—तद्यदेति। कदा तर्हि भजते? तदाह—तदा त्विति। सामानाधिकरण्येन करोत्यर्थोऽवगम्यते इत्युदाहरणेन व्याचष्टे—तथा चेति। क्रियासामान्यविशेषयोः सिद्धकर्त्तृकयोरेवैकाधिकरण्यव्यपदेशो न सिद्धाऽसिद्धकर्त्तृकयोः—इत्याह– नत्विति। यस्मादसिद्धकर्त्तृव्यापारवचनत्वं करोत्यर्थवदाख्यातस्य न युज्यते तस्मादित्युपसंहारः। एवं करोत्यर्थमात्रं भावनेत्यस्य सिद्धकर्त्तृव्यापारमात्रं भावनेत्ययमर्थः श्लोकेन निरुक्तः। भावनायाश्चांऽशत्रयं भाव्यं तत्साधनं

ज्ञानवती

हुआ व्यापार शब्द का अर्थ होता है। उसमें कभी कर्त्ता की ही ऐसी अवस्था प्रतीत होती है। और कभी कर्त्ता के सिद्ध होने पर अन्य की। तो जब कर्त्ता की ही यह अवस्था होती है तो यह स्वयं ही अन्य से कर्त्तृत्वलाभ की अपेक्षा करता हुआ दूसरे की सिद्धि में व्याप्रियमाण न होते हुए करोतिशब्द की वाच्यता का भागी नहीं होता। और जब लब्धात्मलाभ होकर अन्यत्र व्यापृत होता है तो 'करोति' ऐसा व्यवहार होता है। जैसे कि करोति? पचति; किं करोति? पठति; किं करोति? गच्छति; ऐसा सामान्यविशेषरूप से सामानाधिकरण्य का प्रयोग देखा जाता है, न कि, किं करोति? भवति और अस्ति ऐसा प्रयोग होता है। इसलिये लब्धात्मक

---

[1] (ग) स्वभावं। [2] (क) प्राप्तं, (ग) अप्राप्तम्। [3] (ग) कर्त्रैवमवस्थः।
[4] (ग) अन्यः। [5] (ख) तद्यथा। [6] (ग) माणत्वन्न।
[7] (ग) लब्धात्मनो।

ल्लब्धात्मककर्तुर्व्यापारवचनानि[1] करोत्यर्थवन्त्याख्यातानि। तत्र च क्रियमाणेन केनचिदवश्यं भवितव्यम्। कुतः ?

"करोतिः क्रियमाणेन न[2] कश्चित् कर्मणा विना।
भवत्यर्थस्य कर्ता च करोतेः कर्म जायते ॥
नित्यं न भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता।
न (तस्य[3]) क्रियमाणत्वं खपुष्पाकाशयोरिव ॥[4]"

य एव हि (प्रवृत्त[5]-)भवनः सम्भावितभावनो[6] वा ऽन्येन प्रयुज्यते, स एव क्रियमाणत्वेनावधार्यते, नान्यः।

"करोत्यर्थस्य यः कर्त्ता भवितुः स प्रयोजकः।
भविता तमपेक्ष्याथ प्रयोज्यत्वं प्रपद्यते[7] ॥

भावदीपिका

तदितिकर्त्तव्यता च। भाव्यम् तावद्विशोधयति—तत्र चेति। करोतेः सकर्मकत्वात् केनचित् कर्मभूतेन क्रियमाणेन भाव्येन भवितव्यमेव; किन्तर्हि कर्मणा भाव्यं भवेद् ? अत आह—भवत्यर्थस्येति। भवत्यर्थकर्त्ताऽपि कः ? इत्यत आह—नित्यमिति। व्यतिरेकेणोक्त्वा अन्वयेनाऽऽह य एव हीति। प्रवृत्तभवनः प्रारब्धोऽपरिसमाप्तो अनारब्ध एव वा आरम्भयोग्यो; यथा घटादिः। इदानीं भवनकर्त्तुर्भाव्यस्य प्रयोज्यत्वसंज्ञां सम्पादयति—करोत्यर्थस्येति। भाव्यनिष्ठो भावकव्यापारो भावनेति च निर्वचनं अत्राऽप्यस्ति। आदिभावकव्यापारव्युदासार्थम्—भाव्यनिष्ठपदम्। तत्र भावकशब्देनोक्तः करोत्यर्थस्य भावनाख्यव्यापारस्य कर्त्ता प्रयोजक उच्यते। भविता=भवनकर्त्ता=भाव्यः; तं भावकम्=प्रयोजकम् अपेक्ष्य प्रयोज्य इत्युच्यते। प्रयोगकर्त्ता=प्रयोजककर्त्ता। कर्मसु व्यवहारार्थं संज्ञाविधानम्। उक्तं

ज्ञानवती

कर्त्ता के व्यापारवचनस्वरूप आख्यात, 'करोति' अर्थवाले हैं। और वहाँ कोई क्रियमाण अवश्य होना चाहिये क्योंकि—

"कोई भी करोति विना क्रियमाण कर्म के (नहीं होती)। 'भवति' अर्थ का कर्त्ता 'करोति' का कर्म होता है।

जिसका नित्य भवन नहीं है या जिसकी नित्य भूतता है, आकाशकुसुम एवं आकाश के समान उसका क्रियमाणत्व नहीं है।"

जो ही प्रवृत्तभवनवाला तथा सम्भावित भावनवाला अन्य के द्वारा प्रयुक्त होता है, उसी का क्रियमाण के रूप में निश्चय होता है दूसरे का नहीं।

'जो करोति अर्थ का कर्त्ता है, भविता का वही प्रयोजक है, और उसकी अपेक्षा रखकर भविता प्रयोज्यत्व को प्राप्त होता है।

---

१ (ख) लब्धार्थकर्त्तुः, (ग) लब्धात्मककर्त्तृ। २ (ख) क्रियमाणेन कश्चित्।
३ (क) तत्स्यात्।(ग)तस्य। ४ मी० वा०२।१।१। ५ (क) वृत्त।
(ख, ग) प्रवृत्त। ६ (ग) भवनो। ७ (ख) प्रयुज्यते।

प्रयोज्यकर्तृकैकान्तव्यापारप्रतिपादकाः ।
ण्यन्ता एव प्रयुज्यन्ते तत्प्रयोजककर्मसु ॥"

[ण्यन्ता=]भावयति क्लेदयतीत्याद्याः ।

"शक्तयः सर्व(-भावानां[1]) नानुयोज्याः स्वभावतः ।
तेन नाना वदन्त्यर्थान् प्रकृतिप्रत्ययादयः ॥"

एवं करोत्यर्थद्वारेण सर्वाख्यातेषु भावयत्यर्थसिद्धिः[2] ।

"तेन भूतिषु कर्तृत्वं प्रतिपन्नस्य वस्तुनः ।
प्रयोजकक्रियामाहुर्भावनां भावनाविदः ॥
अभिधाभावनामाहुरन्यामेव लिङादयः ।
अर्थात्मभावना त्वन्या सर्वाख्यातेषु गम्यते ॥"[3]

भावदीपिका

व्यवहारं व्याकरणरूढं दर्शयति—प्रयोज्येति । प्रयोज्यप्रयोजककर्मसु व्यापारेषु वक्तव्येषु नियतप्रयोज्यकर्तृव्यापारप्रतिपादका अपि ये णिप्रत्ययान्ताः शब्दाः उभयव्यापारवन्तस्ते प्रयुज्यन्ते । यथा—भावयति=भवनं कारयति । कारयति यः स हेतुश्चेति कर्तृद्वयव्यापारवचनत्वं भावयत्यादेः । एको भवति धातुः प्रत्ययश्चैकः कथं कर्तृद्वयव्यापाराऽभिधानम् ? तत्राऽऽह—शक्तय इति । यथाऽनेकार्थधातूनां प्रकरणादिवशात् एकार्थनियमस्तथा एकार्थधातूनां प्रत्ययविशेषादनेकार्थत्वम् । सत्ताद्योतकाऽर्थस्याऽपि धातोः प्रत्ययभेदाच्च सामर्थ्यभेदो भावयतीत्यादौ तिङणिचश्चेति प्रत्ययभेदः। एवं भावयिता भवितुर्भवनाऽनुकूलं व्यापारं करोति, तं च भवनव्यापारं कारयति इति व्यापारद्वयाऽभिधायित्वं भावयतीत्यादेः सिद्धम् —इत्याह—एवमिति। एवं भाव्यपरिशोधनेनोक्तां भावनां निगमयति—तेनेति । सामान्योक्तां भावनां विभजते—अभिधाभावनामिति ।

ज्ञानवती

प्रयोज्यकर्तृक एकान्त व्यापार के प्रतिपादक ण्यन्त ही तत्प्रयोजक कर्मों में प्रयुक्त होते हैं ।

भावयति, क्लेदयति इत्यादि सब भावों की शक्तियाँ स्वभावतः अनुयोज्य नहीं है । इसीलिये प्रकृति, प्रत्यय आदि भिन्न-भिन्न अर्थों को बतलाते हैं ।"

इस प्रकार 'करोति' अर्थ के द्वारा सब आख्यातों में 'भावयति' अर्थ सिद्ध होता है ।

"इस कारण भावना को जानने वाले कर्तृत्व को प्राप्त वस्तु की प्रयोजक क्रिया को भावना कहते हैं ।

लिङ्ग आदि दूसरी ही अभिधा भावना को बताते हैं और अर्थात्मिका भावना तो दूसरी है जो सब आख्यातों में (निहित) जानी जाती है ।"

---

[1] (क) भावनां ।   [2] (ग) अर्थः सिद्धः ।
[3] मी० वा० २। १। १।

[आर्थीभावनानिरूपणम्—]

तत्रार्थभावना पुरुषस्य सामान्यविशेषात्मकव्यापाररूपा; सामान्यावगमपूर्वको व्यापारविशेषावगमश्च। कर्त्ता च व्यापारवान् भावनाव्यापारानुपपत्तिगम्यः। स यत्र प्राधान्येन गम्यते, तत्र तत्संख्या वचनार्थः; यथा 'करोति' इत्युक्ते 'एकः' इति लभ्यते। यत्र कर्म प्राधान्येन गम्यते 'पच्यते' इत्यादौ, तत्र कर्मसङ्ख्यैव[1] वचनार्थः। कर्त्ता तु देवदत्तेन इत्यादितृतीयया गम्यते, न तत्संख्या वचनार्थः। यदा हि सर्वाख्यातवर्त्तिनी करोतिधातुवाच्या पुरुषव्यापाररूपा भावनाऽवगता भवति, तदा तद्विशेषाः सामान्याख्यातव्यतिरिक्तशब्दविशेषाभिधेया विधिप्रतिषेधभूतभविष्यद्वर्त्तमानादयः[2] प्रतीयन्ते। तथा च सर्वत्र सामान्यतः करोत्यर्थोऽवगम्यते। किं करोति? पचति; किमकार्षीत्? अपाक्षीत्; किं करिष्यति? पक्ष्यति; किं (कुर्यात्[3])? पचेत्; किं न कुर्यात्? न पचेत्; इति।

भावदीपिका

[आर्थीभावनानिरूपणम्—]

अन्यां विलक्षणामर्थभावनां प्रपञ्चयति—तत्रेति। द्वैविध्येऽप्यवगमे विशेषमाह शाब्दव्यवहारविशेषाऽनुरोधाय—सामान्यावगमेति। प्रकृतिप्रत्यययोर्भावना-तत्करणत्वेऽर्थः। कथं कर्त्रवगमो भावनावादिना? तत्राऽऽह—कर्त्तेति। तर्ह्येकवचनाद्यर्थः क इति? तत्राऽऽह—स यत्रेति। अनुपपत्त्या प्राधान्येन गम्यते तर्हि कर्मप्राधान्यस्थले कथम्? तत्राऽऽह—यत्र कर्मेति। "कर्तृकरणयोस्तृतीया" इत्यनुसारेणाऽऽह —कर्त्ता त्विति। भवत्वेवं भावना प्राधान्येन प्रतिपाद्या; ततः किम्? तदाह—यदा हीति।

ज्ञानवती

[आर्थीभावना का निरूपण—]

उनमें आर्थीभावना पुरुष का सामान्यविशेषात्मकव्यापाररूप, सामान्यवगमपूर्वक व्यापार विशेषावगमस्वरूप हैं। और व्यापारवान् कर्त्ता भावनाव्यापार की अनुपपत्ति से जाना जाता है। वह जहाँ प्रधान रूप से जाना जाता है, वहाँ उसकी संख्या वचन का अर्थ है। जैसे—'करोति' ऐसा कहने पर 'एक' ऐसा जाना जाता है। और जहाँ 'पच्यते' इत्यादि (स्थलों) में कर्म का प्राधान्येन ज्ञान होता है, वहाँ कर्म की संख्या ही वचन का अर्थ होती है और कर्त्ता 'देवदत्तेन' इत्यादि तृतीया से जाना जाता है न कि उसकी संख्या वचन का अर्थ होती है। जब सब आख्यात में रहने वाली 'करोति' धातु की वाच्य पुरुषव्यापाररूप भावना ज्ञात होती है तो उसके विशेष सामान्याख्यात व्यक्ति शब्द से अभिधेय विधि, प्रतिषेध, भूत, भविष्य, वर्त्तमान आदि प्रतीत होते हैं। इस प्रकार सब जगह सामान्यरूप से करोति' अर्थ जाना जाता है। किं करोति? पचति। किमकार्षीत्? अपाक्षीत्? किं करिष्यति? पक्ष्यति। किं कुर्यात्? पचेत्। किं न कुर्यात्? न पचेत्।

---

[1] (ग) क। [2] (ग) मानादयः तथा च।
[3] (क) कार्यं, (ग) कुर्यात्।

[शब्दभावनानिरूपणम्—]

तथाऽर्थात्मिकायां भावनायां लिङादिशब्दानां यः पुरुषं प्रति प्रयोजकव्यापारः स द्वितीयः शब्दधर्मोऽभिधा भावना विधिः, इत्युच्यते ; सा च शाब्दी भावना शब्दकर्तृकार्थज्ञानभाव्यनिष्ठा, शब्दज्ञानकरणिका, सम्बन्धज्ञानसंस्कारेतिकर्त्तव्यताका सर्वशब्दानामविशेषवती। लिङादिशब्दे तु भिद्यते। सा हि लिङादिकर्तृकार्थभावनात्मकपुरुषप्रवृत्तिलक्षणभाव्यनिष्ठा स्वज्ञानकरणिका स्तुतिनिन्दाऽर्थवादादिज्ञानेतिकर्त्तव्यताका च (समाश्रीयते[1])। लिङादीनां विधिविवक्षया प्रयुज्यमानानां चेतनविषयप्रयोगत्वात् पुरुषप्रयत्नः पुरुषार्थभाव्यनिष्ठो धात्वर्थकरणको लोकवेदोचितेतिकर्त्तव्यताकोऽर्थभावनालक्षणः[2], करोत्यर्थोऽभिधेयः[3]।

तत्र स्वाभिधेयार्थभावनाज्ञानजनको लिङादिव्यापारः स्वाभिधेयार्थभावनाम-

भावदीपिका

[शब्दभावनानिरूपणम्—]

एवमर्थभावनां सामान्यविशेषाऽऽत्मना उक्त्वा शब्दभावनां निरूपयति - तथेति। स द्वितीयः प्रयोजकव्यापार इत्यर्थः। नन्वप्रवृत्तप्रवर्त्तनवदज्ञातज्ञापनमपि शब्दव्यापारः सोऽपि भावनात्वेन किमिति नोच्यते ? तस्याः प्रमाणान्तरसाधारण्यान्नादरः – इत्याशयेनाऽऽह—सा चेति। भिद्यते स्वरुपेणांऽशतश्च – इत्याह—सा हीति। अर्थभावनामत्र प्रपञ्चयति—लिङादीनामिति।

वेदे प्रवर्त्तनाया पुंव्यापाररूपाया असम्भवात् कथं तदभिधानम् ? तत्राऽऽह—तत्रेति। भेदः पुंव्यापाराऽभिधायिलौकिकवाक्येभ्य इति शेषः। प्रवर्त्तनाजनकत्वं शब्दस्य केन

ज्ञानवती

[शब्दभावनानिरूपण—]

इसी प्रकार अर्थात्मिकाभावना में लिङ आदि शब्दों का पुरुष के प्रति जो प्रयोजनव्यापार है, वह द्वितीय शब्दधर्म अभिधाभावना विधि ऐसा कहा जाता है। और वह शाब्दी भावना शब्दकर्त्तृक अर्थज्ञान के द्वारा साध्य में रहने वाली, शब्दज्ञानकरण वाली, सम्बन्धज्ञानसंस्कारइतिकर्त्तव्यतावाली सब शब्दों में सामान्यवाली है। लिङ आदि शब्द में तो भिन्न हो जाती है। वहाँ वह लिङ आदि कर्त्तावाली अर्थभावनात्मकपुरुषप्रवृत्तिलक्षणभाव्य में रहने वाली, स्वज्ञानकरणवाली, स्तुतिनिन्दारूप अर्थवादादिज्ञानइतिकर्त्तव्यतावाली ली जाती है। विधि की विवक्षा से प्रयुज्यमान लिङ आदि के चेतनाविषयप्रयोग होने से पुरुष का प्रत्यय जो कि पुरुषार्थभाव्यनिष्ठ है, धात्वर्थकरणक है, लोकवेदोचितइतिकर्त्तव्यतावाला है ऐसा अर्थभावनालक्षण 'करोति' का अर्थ है।

इसमें स्वाभिधेयआर्थभावनाज्ञान का जनक लिङ आदि व्यापार स्वाभिधेय आर्थभावना को भी उत्पन्न करता है, यह भेद है। कैसे ? लिङ आदि के श्रवण के वाद प्रवृत्ति दृष्ट

---

[1] (क) समाश्रीयते (ग) समश्रियते। [2] (ख) कार्थ।

[3] (ग) करोत्यर्थोऽभिधेयार्थभावना।

प्युत्पादयति इति भेदः। कथम्? लिङादिश्रवणानन्तरं प्रवृत्तिदर्शनात् शब्दमात्रस्याऽगृहीतसम्बन्धस्याप्रवर्त्तकत्वात् प्रवृत्तिहेतुं कञ्चिदर्थमभिधाय शब्दः प्रवर्त्तयति, इति गम्यते। तत्र शाब्दभावनाऽतिरिक्तकार्याद्यभिधाने शाब्दभावनाऽभिधाने च कल्पनागौरवात् तामेवाभिधाय अर्थभावनां प्रवृतिं जनयति, इति परिशेषार्थापत्तिभ्यां कल्प्यते। ततश्चार्थभावना भाव्यनिष्ठा, शब्दभावना[1] केवलं तदर्था न भाव्यनिष्ठा; प्रवृत्तिजनकत्वस्य प्रमाणसिद्धत्वात्। अभिधानजन्यं शब्दभावनाविषयज्ञानं[2] प्रवर्त्तकज्ञानत्वात् प्रवृत्तिलक्षणभाव्यनिष्पादनद्वारेण शब्दभावनाया करणतामश्नुते[3]। अंशत्रयसहितार्थभावनाविषयस्तुतिनिन्दाऽर्थवादविज्ञानस्यापि[4] प्ररोचनद्वारेण[5] प्रवृत्ति-

भावदीपिका

प्रमाणेनाऽवगम्यते ?—इत्याह—कथमिति। प्रमाणं वक्तुं सम्प्रतिपन्नं तावदाह—लिङादीति। ननु कार्याभिधानेन शब्दः प्रवर्त्तयिष्यति किं व्यापारान्तरेण? तत्र वक्तव्यम्—कार्यं वा रागादिर्वा प्रवर्त्तक इति वदता तस्य व्यापार इष्यते? न वा? अन्त्ये न प्रवर्त्तकत्वं कार्यादेः, प्रथमे न प्रवर्त्तनाव्यापारः शब्दस्याऽपि किं न स्यात्? अचेतनत्वेन चेन्न शब्दस्य प्रवर्त्तना, कार्यादेरपि तर्हि न स्यात्। अस्तु शब्दस्याऽपि प्रवर्त्तना तर्हि?—इति वदन्तं प्रत्याह—शाब्देति। कार्यादिकं तद्व्यापारश्चाऽभिधातव्यस्तथा स्वव्यापारोत्पाद्योऽभिधेयश्चेति स्वीकारे गौरवापत्तेः स्वव्यापार एवोत्पाद्याभिधेय इति लाघवादङ्गीकार्यम्।

शब्दभावनाया अंशत्रये भाव्यांशो विशदीकृतः। अवशिष्टमंशद्वयं विशदयति—अभिधानेति। कार्यज्ञानमेव बालेन स्वप्रवृत्तौ हेतुत्वेनाऽवगतं परप्रवर्त्तकं शब्दार्थतया

ज्ञानवती

होने से अगृहीत सम्बन्धवाले शब्दमात्र के प्रवर्त्तक न होने से प्रवृत्ति हेतु किसी अर्थ को बताकर करता है ऐसा जाना जाता है। उनमें शब्दभावना से अतिरिक्त कार्य आदि का अभिधान होने, और शाब्दभावना का अभिधान होने पर कल्पना का गौरव होने से उसी अर्थ भावना का अभिधान कर प्रवृत्ति को उत्पन्न करता है इसी परिशेष एवं अर्थापत्ति से कल्पना की जाती है। इससे अर्थभावनाभाव्य में शब्दभावना केवल उसका अर्थ है न कि भाव्य में रहती है, क्योंकि प्रवृत्तिजनकत्व प्रमाणसिद्ध है। अभिधानजन्य शब्दभावनाविषयकज्ञान, प्रवर्त्तकज्ञान होने से निष्पदान के द्वारा शब्दभावना की करणता को प्राप्त होता है। अंशत्रयसहित अर्थ भावना के विषय स्तुति निन्दा अर्थवाद विज्ञान के भी प्ररोचन के द्वारा प्रवृत्तिहेतु होने से शब्दभावना के प्रति इतिकर्त्तव्यतात्व के अवधारण का अभाव होने पर कैसे प्रवृत्ति का जनक होगा? और वह परिशेष एवं अर्थापत्ति के द्वारा अपने अभिधेय का अनुवाद करता है तो इस प्रकार अंशत्रयसहित शब्दभावना शाब्दव्यवहार में प्रवृत्ति का हेतु है।

(पू) शब्दभावना स्वात्मा में कर्त्ता की प्रवृत्ति की हेतु के रूप में प्रतीत होती है जिससे

---

१ (ग) भावना न केवलं तज्ज्ञानभाव्यनिष्ठा।
२ (ग) भावनाविषयं विज्ञानप्रवर्त्तक। ३ (ख) करणतास्तु। ते।
४ (ग) विज्ञानमपि। ५ (ग) प्ररोचना द्वारण।

हेतुत्वात् शब्दभावनां[1] प्रति इतिकर्त्तव्यतात्वावधारणाभावे[2] कथं प्रवृत्तिजनकत्वम् ? (सा च[3]) परिशेषार्थापत्तिभ्यां स्वाभिधेयमनुवदति[4]। तदेवमंशत्रयसहिता शब्दभावना शाब्दव्यवहारे प्रवृत्तिहेतुः ।

अथ शब्दभावना[5] कर्त्तुः स्वात्मनि प्रवृत्तिहेतुतया प्रतीयते येन प्रतिपत्तुरपि शब्दार्थतया साऽनुमीयेत ; ततस्तस्याः शब्दार्थत्वावधारणाभावे कथं प्रवृत्तिजनकत्वम् ? न च[6] परिशेषार्थापत्तिभ्यां स्वाभिधेयाभिधानमवगम्यते ; लोकसिद्धकार्यानुमानेनैवान्यथासिद्धे ; एकस्य शब्दस्य शब्दार्थभावनाऽभिधेयद्वयकल्पनागौरवाच्च ! अतो न भावनावादो युक्तः ?

अत्रोच्यते—स्तनन्धयस्यापि 'एहि स्तनं पिब वत्स' इतिजननीवचनमाकर्णयतो यदि 'अयं शब्दो मां स्तनपानं प्रति प्रयोजयति' इति विज्ञानं नाभविष्यत् नाकरिष्यत् प्रवृत्तिमपि इति 'शब्दभावना' इति विशेषनामापरिज्ञानेऽपि स्वरूपावधारणस्यानपवादात्[7]। कार्यं च प्रेरणैव चेत् ? न विवादः। प्रवृत्तिलक्षणं च कार्यं प्रेरणसापेक्ष

भावदीपिका

निश्चीयते—इति शङ्कते—अथेति। शब्दार्थभूतं च शाब्दव्यवहारकारणं वक्तव्यम्; तदेवं सति न संभवति—इत्यत आह—तत इति। प्रमाणमप्यन्यथासिद्धम्—इत्याह—न चेति। स्वः=स्वीयो व्यापार एव; अभिधेयम् ; तस्याऽभिधानम्। किञ्च कार्यज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वे शब्दगतप्रवर्त्तनाऽनपेक्षणान्नाऽस्मत्पक्षे गौरवं किन्तु भवत्पक्ष एव इत्याह—एकस्येति।

प्रयोजकव्यापारो भावनेत्युक्तत्वात्, तस्याश्च प्रसिद्धत्वात् बालस्य, न भावनावादस्याऽयुक्तत्वम्—इत्याह—अत्रोच्यत इति। स्तनं धयति=पिबति इति स्तनन्धयः= बालः। किञ्च कार्यं प्रेरणा ? प्रवृत्तिर्वा ? नोभयथाऽपि—इत्याह—कार्यञ्चेति।

ज्ञानवती

कि ज्ञाता को भी शब्दार्थ के रूप में उसका अनुमान होता है। इस कारण वह शब्दार्थ की निश्चायिका न होने पर प्रवृत्ति की जनक कैसे होगी ? (पू) परिशेष और अर्थापत्ति से स्वाभिधेयाभिधान जान लिया जायगा ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि (वह परिशेष और अर्थापत्ति) लोकसिद्ध कार्यानुमान से ही अन्यथा सिद्ध हो जाती हैं और एक शब्द के शाब्दभावना एवं आर्थभावना दो अभिधेय की कल्पना का गौरव हो जायगा। इसलिये भावनावाद ठीक नहीं है ?

(उ) इस विषय में कहते हैं—बच्चे को भी, जो कि, 'आओ बच्चे स्तन पियो' ऐसा माता का वचन सुन रहा है, यदि 'यह शब्द मुझे स्तनपान के प्रति प्रयुक्त करता है' ऐसा विज्ञान

---

[1] (ख) भावनं। [2] (ख) इतिकर्त्तव्यतात्वमनुभवति। तदेव मं।
[3] (क) स च, (ख) न च। [4] (ख) अनुभवति।
[5] (ग) भावना न बलेन स्वात्मनि प्रवृत्तिहेतुतया प्रतीता येन प्रतिपत्तुरपि शब्दार्थः तदा सानु। [6] (ग) न परिशेषा।
[7] (ख) स्यानवधारणात्। (ग) स्यानवधीरणात्।

मेव। प्रेक्षावतः शब्दव्यापारप्रवृत्तिभ्यां विलक्षणकार्यस्य बालेनाविज्ञातत्वाच्च पर्यनुयोगः तवैवायम्। प्रेरणासामर्थ्याच्चावगम्यमानमिष्टसाधनं[1] न वाक्यार्थः। तदाहुर्विधिविवेके मण्डनमिश्राः—

"साधने पुरुषार्थस्य सङ्गिरन्ते त्रयीविदः।
बोधं विधौ समायत्तमतः स [2]प्रविचिन्त्यते" ॥[3]

इति। "अनुमेया तु कर्त्तुरिष्टाभ्युपायता"[4] इत्युदयनेनाप्युक्तत्वाच्च। न च वक्तुरभिप्रायो विधिः; 'कुरुष्व' इति शब्दोपात्तप्रेरणापरिहाण्या तदनुमेयाभिप्रायविधिकल्पनासम्भवान्। अतः[5] प्रेरणायाः प्रमाणसिद्धत्वात् नाभिधेयद्वयकल्पनागौरवम्। अतो भावनापक्ष एव रमणीयः।

ननु शब्दभावना नाम शब्दस्वरूपमेव इत्यनुपपन्नम्[6]; भावार्थतया हि

भावदीपिका

अप्रसिद्धत्वदोषश्चोष्ट्रलकुटन्यायेन तवैव—इत्याह—शब्दव्यापारेति। अथेष्टसाधनत्वज्ञानं प्रवर्तकम्? तत्र वक्तव्यम्—साधनत्वज्ञानं कारणश्रुत्या वा? प्रेरणासामर्थ्याद्वा? आद्ये "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गम्" इत्येव वक्तव्यम्, यजेतेति प्रेरणा व्यर्था। अन्त्यं प्रत्याह—प्रेरणेति। विधौ समायत्तम्=विधिः=प्रेरणा; तदधीनम्। इष्टसाधनत्वस्य विध्यधीनत्वं तार्किकसम्मतं चेदुपेयते विधिरपि तत्सम्मतोऽभ्युपेतव्यः "विधिर्वक्तुरभिप्रायः" इति तद्वचनात्? अत आह—न चेति। पिण्डमुत्सृज करं लेढीति न्यायापातः।

तार्किकस्य वेदे च वक्तुरभावस्योक्तत्वेन शब्दव्यापार एव प्रेरणत्येतत् परिशोधनाय विधिविवेकोक्तं पूर्वपक्षमाह—नन्विति। किं शब्दस्वरूपमेव शब्दभावना? तद्व्यापारो वा?

ज्ञानवती

नहीं होता तो वह प्रवृत्ति भी नहीं करता, इस कारण 'शब्दभावना' इस विशेषनाम का ज्ञान न होने पर भी स्वरूप का निश्चय होता ही है। यदि कार्य प्रेरणा ही है तो विवाद नहीं है। क्योंकि प्रवृत्ति-लक्षणकार्य प्रेरणासापेक्ष होता ही है। लड़के को प्रेक्षावान् के शब्दव्यापार एवं प्रवृत्ति से विलक्षण कार्य ज्ञान न होने से तुम्हारा ही यह पर्यनुयोग है। प्रेरणासामर्थ्य से अवगम्यमान इष्टसाधन नहीं है। विधिविवेक में मण्डनमिश्र कहते हैं—

"ऋग् यजुः एवं साम वेद के वेत्ता लोग पुरुषार्थ के साधन में ज्ञान को विधि में निहित बताते हैं। इसलिये उस (=विधि) का विचार किया जाता है।"

उदयन ने भी कहा है कि—"कर्त्ता की इष्टाभ्युपायता अनुमेय है।" (पू) वक्ता का अभिप्राय विधि है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि 'करो' इस शब्द से प्राप्त प्रेरणा के अपरित्याग से तदनुमेय अभिप्रायविधि की कल्पना असंभव है। इस कारण प्रेरणा के प्रमाणसिद्ध होने से अभिधेयद्वय की कल्पना का गौरव नहीं है। इसलिये भावना पक्ष ही रमणीय है।

(पू) क्योंकि भावार्थ के रूप में प्रमाण होने से, अनियमपूर्वक प्रवृत्ति होने से, संविद का

---

१ (ग) सामर्थ्यं वाव। २ (ग) विविच्यते। ३ विधि वि० पृ० १।
४ न्या०कु० ५।१५। ५ (ग) अतः प्रेरणासिद्ध। ६ (ग) अनुपपन्नवत् तथा हि।

प्रमाणत्वात्, अनियमात् प्रवृत्तेः संविदाश्रयात् समभिव्याहृतेः शाब्दो[1] न विधिः कार्यकल्पनात्, प्रमाणं हि शब्दः प्रतिज्ञायते—"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" इति। बोधकं च प्रमाणमबाधितानधिगतासन्दिग्धार्थप्रयोजनकम्। तत्र प्रवृत्तेर्हेतुं कञ्चनार्थातिशयमवगमयन्नेव[2] शब्द-(श्चोदनात्वेन[3]) प्रमाणतामश्नुते। शब्दस्वरूपविधिवादिनस्तु मते स्वयमेव प्रवृत्तेरप्रमायाः कारकः स्वां[4] प्रमाणतामपजह्यात्।

कथं तर्हि "चोदनेति क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनम्" इति च "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्" इति च शब्दस्यैव विधित्वोपदेशः? उच्यते विध्यभिधायकत्वाच्छब्दोऽपि तथा (व्यपदेश्यः[5]) इति। शब्दस्वातन्त्र्ये च पुंसः प्रवृत्तौ, नियोगतो-(ऽवश्यं[6]) प्रवृत्तिः स्यात्। तथा च "अकुर्वन् विहितं कर्म"[7] इति धर्मसूत्रकाराणां वचनं निर्विषयं स्यात्। नहि तदानीं बलवदनिलसलिलौघनुद्यमानस्येवेच्छाऽपि तत्र प्रवृत्तिं प्रति पुरुषस्य। अतो विषयादौ[8] प्रवृत्तेरनियमो न स्यात्। ज्ञापकश्च

भावदीपिका

नाद्यः—इत्याह—शब्दस्वरूपमेवेति। प्रमाणत्वादिति हेतुं विवृणोति—प्रमाणं हीति। लक्षणशब्देन प्रमाणं संगृह्यते। केवलं बोधकत्वे कथं चोदनात्वेन प्रामाण्यम्; चोदना हि क्रियायाः प्रवर्त्तकं वचनमिति? अत आह—तत्रेति। ततः किम्? तदाह—शब्देति। स्वयमेवेति—हेतुभूताऽर्थातिशयबोधकत्वमन्तरेणेत्यर्थः।

भाष्यसूत्रविरोधमुद्भाव्य प्रत्याह—उच्यत इति। अनियमात् प्रवृत्तेरिति हेत्वन्तरं व्याचष्टे—शब्दस्वातन्त्र्ये चेति। स्वातन्त्र्यं प्रयोजककर्त्तृत्वात् ज्ञानकरणत्वाभावाच्च। नन्विच्छाऽपि प्रवृत्तिं प्रति साधनम्; ततस्तदभावे विहितकरणासम्भवान्न निर्विषयं स्मृतिवचनम्? तत्राऽऽह—नहीति। संविदाश्रयादित्येतत् विवृणोति ज्ञापकश्चेति। स्वरूपं

ज्ञानवती

आश्रय होने से और समभिव्याहृति के कारण शब्दभावना शब्द का स्वरूप ही है यह कथन अनुपपन्न है; विधि शाब्द नहीं है क्योंकि कार्य की कल्पना होती है। शब्द प्रमाण है ऐसी प्रतिज्ञा है—"चोदना लक्षण वाला अर्थ धर्म है।" और बोधक प्रमाण, अबाधित-अनधिगत असन्दिग्ध अर्थ की प्रमा का जनक है। ऐसी स्थिति में शब्द प्रवृति के हेतुभूत किसी अर्थातिशय को बताता हुआ ही चोदना के रूप में प्रमाणता को प्राप्त होता है। और शब्दस्वरूप विधिवादी के मत में तो स्वयं ही प्रवृत्ति की अप्रमा का वारक अपनी प्रमाणता को छोड़ देगा।

(पू) तो कैसे "चोदना यह वचन क्रिया का प्रवर्त्तक है" यह और "विधि के द्वारा एक वाक्य होने से" ऐसा शब्द को ही विधित्व का उपदेश है? (उ) कहते हैं—विधि के अभिधायक होने से शब्द को भी वैसा ही कहते हैं। शब्दस्वातन्त्र्य में पुरुष की प्रवृत्ति होने पर नियोग के कारण प्रवृत्ति अवश्य होगी। और इस प्रकार "विहित कर्म को न करता

---

[1] (ग) शब्दो। [2] (ग) गमयन् शब्दः।
[3] (क) चोदनार्थत्वेन। (ग) चोदनात्वेन। [4] (ग) तां।
[5] (क) दिश्य। (ग) देश्ये। [6] (क) अवश्य। (ग) अवश्यं।
[7] मनु० ११।४४। [8] (ग) अस्मिन् पक्षे।

स्वरूपतत्कर्मसम्बन्धविषयज्ञानमपेक्षते, न तु कारकः। लिङादिस्वरूपं च प्रवृत्तेः कारकम्। ततो वाय्वादिनुद्यमानस्येव प्रवृत्तिविषयादिसंविदाश्रयणं न स्यात्। न चाभिधायकत्वेन[१] अज्ञापकस्य केवलं कारकस्य शङ्खध्वनेः प्रवर्तितव्यम् इत्युपयुक्तस्वरूपसम्बन्धसंविद एव प्रवर्त्तन्ते नेतर इति (न तत्र[२]) व्यभिचारः।

अनभिधायकोऽपि शंखध्वनिर्न प्रवृत्तौ कारकः अपि तु प्रवृत्तिहेतुमभिप्रायविशेषमनुविधेयस्यावगमयन् ज्ञापक एवेत्यव्यभिचारात्। न च प्रवृत्तिकारकोऽपि (लिङादिः[३]) प्रवृत्तिविषयमवगमयति; प्रबलपवनेरितस्येव परतन्त्रप्रवृत्तौ[४] वेदस्यानङ्गत्वात्। न च कारकोऽपि प्रायेण अहिदंशः[५] ज्ञानमपेक्षत इति व्यभिचारः; शङ्काविषेणापि मरणदर्शनेन[६] विज्ञानस्यैव तत्र कारणत्वात्। बालादीनामपि प्राग्भवीयवासनाप्रबोधात् अहिदंशविज्ञाने सत्येव मरणम्[७]। प्रत्ययमात्रात् प्रकृतिमात्राच्चार्थ-

भावदीपिका

शब्दस्य, तस्य च कर्म विषयः, तयोः प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावसम्बन्धविषयं विज्ञानम्; तदपेक्षते ज्ञापकः। अगृहीतसंगतेः शब्दस्योद्बोधकत्वादवाचकत्वेनाऽज्ञापके शब्दविशेषे संविदाश्रयणेन व्यभिचारमाशङ्क्याऽऽह—न चेति।

अनुविधेयस्य=अनुसरणीयस्य स्वाम्यादेः। ननु लिडादेः प्रवृत्तिकारकत्वं तद्विषयत्वज्ञापकत्वं चेष्यते। ततः संविदाश्रयणं युक्तम्? तत्राऽऽह—न च प्रवृत्तीति। कारको ज्ञानं नाऽपेक्षते इत्येतद्व्यभिचारी?—इत्याशङ्क्याऽऽह न च कारकोऽपि इति। बालादीनां सर्पदंशादिगतमरणसाधनत्वज्ञानाऽभावात् तदा मरणदर्शनाच्च न तस्य मरणसाधनत्वनियमः? तत्राऽऽह—बालादीनामिति। समभिव्याहृतिरित्येतद्विभज्यते—प्रत्ययेति। सहाऽभिधाय-

ज्ञानवती

हुआ"—यह धर्मसूत्रकार का वचन निर्विषयक हो जायगा। क्योंकि उस समय बलवत् अनिलसलिल के समूह से प्रेरित के समान पुरुष की प्रवृत्ति के प्रति इच्छा भी होती है। इसलिये अविषय आदि में प्रवृत्ति का नियम नहीं होगा। स्वरूप उसके कर्म तथा सम्बन्ध के विषय के ज्ञान की अपेक्षा ज्ञापक को होती है कारक को नहीं। लिङ आदि का स्वरूप प्रवृत्ति का कारक है। इसलिये वायु आदि से नुद्यमान के समान प्रवृत्ति, विषय आदि के ज्ञान का आश्रयण नहीं होगा। अनभिधायक के रूप में अज्ञापक (अतः) केवल कारक शंखध्वनि की 'प्रवृत्ति होनी चाहिये' इस प्रकार उपयुक्त स्वरूपसम्बन्ध को जानने वाले ही प्रवृत्त होते हैं दूसरे नहीं, इसलिये वहाँ व्यभिचार नहीं होगा।

अनभिधायक भी शंखध्वनि प्रवृत्ति में कारक नहीं है बल्कि अनुविधेय की प्रवृत्ति के हेतु अभिप्रायविशेष का अवगमन कराती हुई ज्ञापक ही है। इसलिये व्यभिचार नहीं है। (पू) प्रवृत्तिकारक भी लिङ आदि प्रवृत्तिविषय का अवगमन कराते हैं? (उ) ऐसा नहीं है।

---

१ (ग) अनभि। २ (क) तत्र। (ग) न तत्र।
३ (क) लिङ्गादिः, (ग) लिङादिः। ४ (ख) परतन्त्रा।
५ (ग) देशो। ६ (ख) मरणो। ७ (ग) परिमाणम्।

प्रतीत्तेरनुपपत्तेः प्रकृतिप्रत्यययोः सहाभिधानात् समभिव्याहृतिः स्यात्, नान्यथा। तथा हि—प्रकृत्यर्था[1] (-नुवादाद्वा[2], यथा)-एको द्वौ वहव इति? प्रकृत्यर्थद्योतनाद्वा, यथा—'कुमारी' इति ङीप् प्रत्ययः स्त्रीत्वं द्योतयति? प्रकृत्यर्थसम्बन्ध्यर्थान्तराभिधानाद्वा, यथा—पचति पाचकः (दण्डी) इति[3]। अवाचकस्य तु लिङादेः[4] प्रवृत्तिकारकस्य न समभिव्याहारो युक्तः; सहाभिधानाभावात्।

अपि चाश्रुतफलेषु[5] (यज्ञादिषु[6]) स्वर्गादिफलाध्याहारः (क्वचिदु[7]—) पकारकल्पना समिदादौ, श्रुतानामपि पुरुषविशेषणतया स्वर्गादीनां फलत्वाध्यवसाय इति सर्व एव महिमा विधेः। स च शब्दस्य विधिभावेऽनुपपन्नः। न हि तदा

भावदीपिका

कत्वेन समभिव्याहृतिमुदाहरति—तथा हीति। एकादिप्रकृत्यर्थभूतानां संख्या प्रत्ययेनाऽनूद्यते, प्रातिप्रदिकप्रथमाविभक्त्योरेकार्थत्वात्। कुमारेति प्रकृत्यर्थस्य स्त्रीपुंसाधारण्यात् असाधारणार्थ-द्योतकत्वं प्रत्ययस्य। दण्डीति पाचकस्य विशेषणे दण्डोऽस्यास्तीति 'अस्य' इति प्रकृत्यर्थस्य पाचकस्य सम्वन्ध्यर्थान्तरं दण्डसम्वन्धलक्षणं प्रत्ययेनोच्यते। प्रस्तुते तु नैवम्—इत्याह—अवाचकस्य त्विति। कार्यकल्पनादित्येतद्वद्याचष्टे—अपि चेति। अश्रुतफलेषु विश्व-

ज्ञानवती

क्योंकि प्रवल पवन से प्रेरित के समान वेद परतन्त्रप्रवृत्ति में अङ्ग नहीं है। (पू) सर्पदंश कारक होते हुए प्रायः ज्ञान की अपेक्षा रहता है इसलिये व्यभिचार हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि शंकाविशेष से भी मरण देखे जाने से विज्ञान ही वहाँ (=मरण मे) कारक है। वालकों का भी प्राक्तन जन्म की वासना के प्रवोध से सर्पदंश का विज्ञान होने पर ही मरण हो जाता है। केवल प्रत्यय या केवल प्रकृति से अर्थप्रतीति की उत्पत्ति न होने के कारण प्रकृति-प्रत्यय के साथ कथन से समभिव्याहृति होती है, अन्यथा नहीं।

वह इस प्रकार—प्रत्यय के द्वारा या तो प्रकृत्यर्थ का अनुवाद होने से; जैसे—एक, दो, वहुत ऐसा (अर्थ ज्ञात होता है); या प्रकृत्यर्थ के द्योतन से; जैसे—कुमारी में ङीप् प्रत्यय स्त्रीत्व का द्योतन करता है। अथवा प्रकृत्यर्थसम्वन्वी अथान्तर के अभिवान से; जैसे—पचति से पाचक। प्रवृत्ति के कारण अवाचक लिङ आदि का समभिव्याहार ठीक नहीं है, क्योंकि (प्रकृति और प्रत्यय का) सहाभिधान नहीं है।

इसके अतिरिक्त अश्रुतफलवाले यज्ञादिकों के विषय में स्वर्ग आदि फल का आक्षेप होता है। कहीं समिद् आदि में उपकार की कल्पना है। श्रुत भी स्वर्ग आदि के पुरुष-विशेषण होने के कारण, फलत्व का निश्चय होता है, इस प्रकार यह सव महिमा विधि की है। और वह शब्द के विधिभाव होने पर अनुपपन्न है। उस समय अनवकल्पमान

---

१ (ख) प्रतीत्यर्थ। २ (क) नुगताद्वा एको, (ग) नुवादाद्वा यथा एको।
३ (क) इति। (ग) दण्डी इति। ४ (ग) लिङ्गतः।
५ (ग) च। ६ (क) स्वर्गादि। (ग) यज्ञादिषु स्वर्गादि।
७ (क) आरादु (ग) क्वचिदु।

शब्दादनवकल्पमानं फलं क्रतूपकारं च विना [अनुपपद्यमानं] किञ्चिद् गम्यते, यच्छब्दादवगतं[१] फलादिना विनाऽनुपपद्यमानं फलादिकल्पनाबीजं भवेत्। तस्माद्धेतुपञ्चकान्न लिङादिशब्द एव विधिः।

[शब्दभावना लिङादेर्वाच्या—]

अथाभिधाभावनाम्=अभिधायाः=शब्दस्य, भावनाम्=प्रवर्त्तनाम्; लिङादयः प्रतिपादयन्ति[२]। एवञ्च कारकत्वेन यदप्रामाण्यमासञ्जितं, तत् स्वकार्यप्रवर्त्तनाज्ञापकत्वेन परिहृतम्। इच्छायाश्चावश्यंभावनियमाभावात् प्रवृत्त्यनियमोऽप्यनुपपन्नः; प्रवृत्तिहेतुं बुद्ध्वा पुरुषस्येच्छया प्रवृत्तिः। तेन ज्ञापकत्वे सति संविदाश्रयणमप्युपपन्नम्। प्रकृत्यर्थानुरक्तप्रवर्त्तनाभिधायिना च प्रत्ययेन सह प्रकृतेः समभिव्याहारविशेषोऽप्युपपन्नः। शब्दव्यापारश्चाभिहितः इच्छा(-सहकारं)[३] प्रवर्तयति इति कार्यकल्पनाऽप्युपपन्नेति।

नैतत् सारम्; तथा हि—

भावदीपिका

जिदादिषु विधिदर्शने हि तस्याऽधिकार्याद्यपेक्षणात् तस्य च फलाद्यपेक्षणात् सर्वमेतद्युक्तम्। शब्दस्य कारकत्वपक्षे फलानुपकारकं च विनाऽनवकल्पमानं न शब्दादवगम्यते इत्यन्वयः।

[शब्दभावना लिङादेर्वाच्या—]

द्वितीयमुत्थापयति—अथेति। प्रवर्त्तनाम्=व्यापाररूपाम्। पूर्वविकल्पदोषाऽप्राप्तिमाह—एवं चेति। ज्ञापकत्वे च न दोषान्तरमपि—इत्याह—इच्छायाश्चेति। नायमपि पक्षो युक्तः—इत्याह-—नैतत् सारमिति। शब्दस्य प्रवर्त्तना, प्रैषादिर्वा, अन्यो वा कश्चित्

ज्ञानवती

फल तथा (अनवकल्पमान) क्रतूपकारक शब्द के विना अनुपपद्यमान होकर कुछ नहीं मालूम होता, जो कि शब्द से अवगत होकर फल आदि के विना अनुपपद्यमान फल आदि की कल्पना का वीज हो। इसलिये पाँच हेतुओं से लिङ आदि शब्द ही विधि नहीं है।

[शब्दभावना लिङः आदि की वाच्या है—]

(पू) लिङ आदि अभिधाभावना –अभिधा अर्थात् शब्द की, भावना अर्थात् प्रवर्त्तना को प्रतिपादित करते हैं। और इस प्रकार कारक के रूप में जो अप्रामाण्य गृहीत है, वह अपने कार्य की प्रवर्त्तना का ज्ञापक होने से परित्यक्त है। और इच्छा के अवश्यंभाव नियम न होने से प्रवृत्ति का नियम भी उपपन्न नहीं है, तथा प्रवृत्ति के हेतु को जानकर इच्छा के द्वारा पुरुष की प्रवृत्ति होती है। इसलिये ज्ञापकत्व के होने पर संविद का आश्रयण भी उपपन्न हो जाता है। प्रकृत्यर्थ में अनुरक्त प्रवर्त्तना के अभिधायी प्रत्यय के साथ प्रकृति का समभिव्यावहारविशेष भी उपपन्न हो जाता है। और शब्दव्यापार अभिहित होकर इच्छा के सहकारी को प्रवृत्ति कराता है इसलिये कार्यकल्पना भी उपपन्न हो जाती है?

(उ) यह तथ्य नहीं है। वह इस प्रकार—

---

[१] (ख) देवावगतं। [२] (ख) प्रवर्त्तयन्ति।
[३] (क) सहकारी। (ग) सहकारां।

"न प्रयोगानिरूप्यत्वात्[1] वैय्यर्थ्यात् पूर्वदोषतः।
अप्रवृत्तेः[2] फलायोगात् रूपोक्ते (व्यापृतिः[3]) श्रुतेः॥"

श्रुतेः=लिङादिशब्दस्य; व्यापृतिः=प्रवर्तनालक्षणो व्यापारोऽविधिर्न भवति; कुतः ? प्रयोगानिरूपणात्। न[4] हि प्रेषणाऽध्येषणाऽभ्यनुज्ञानलक्षणः शब्दस्य प्रयोगो व्यापारो निरूप्यते; शब्दोच्चारणानन्तरमुपलभ्यमानस्यापि तस्य पुंधर्मत्वात्। न च वाच्यम्—यथा कारीषोऽग्निरध्यापयति इत्यध्ययनप्रवृत्तौ समर्थं शीतापनोद-मध्येतुर्भावयन् कारिषाग्निरध्ययने प्रवर्त्तयति पुरुषम्; एवं लिङादयोऽपि प्रवृत्तिसमर्थं कञ्चिदुपकारं पुरुषस्याचरन्तः स्वव्यापारेण प्रवर्त्तयिष्यन्तीति; प्रमाणान्तरेण तदुपकारानुपलब्धेः; शब्दस्य च सम्बन्धबोधसापेक्षत्वात् तत एव सम्बन्धिनोऽर्थस्य प्रतीतौ परस्पराश्रयप्रसङ्गात्।

स्यान्मतम्—पवनादिरिव लिङादिः प्रेरयति पुरुषम्, किं (मानान्तरतस्तद्-[5] व्यापार-)ग्रहणेन इति ? मैवम्; तथा हि सति तद्वदेव प्रवर्त्तकत्वोपपत्तेः व्यापारा-

भावदीपिका

व्यापारः ? आद्यं निरस्य द्वितीयं निराचष्टे—न च वाच्यमिति। करीषः=शुष्कगोमयः; तद्भवः=कारीषः। तादृशो व्यापारः प्रमाणान्तरगम्यो वा ? शब्दगम्यो वा ? नोभयमपि—इत्याह—प्राणान्तरेणेति।

वैय्यर्थ्यादित्येव तदाशङ्कामुखेनाऽऽह—स्यान्मतमिति। अत्रैव पूर्वदोषत इत्येतद्

ज्ञानवती

"प्रयोग के अनिरूप्य होने से, व्यर्थ होने से, पूर्वदोष से, अप्रवृत्ति से एवं रूपोक्ति के कारण श्रुति का व्यापार नहीं होता।"

श्रुति (अर्थात्) लिङ आदि शब्द की व्यापृति (अर्थात्) प्रवर्त्तनालक्षणव्यापार विधि नहीं होती। क्यों ? प्रयोग का निरूपण नहीं है। प्रेषणा, अध्येषणा अभ्यनुज्ञानलक्षण शब्द का प्रयोग व्यापारनिरूपित नहीं होता क्योंकि शब्द के उच्चारण के बाद उपलभ्यमान वह पुरुष का धर्म होता है। (पू) "कारीष अग्नि (=शुष्क गोमय से प्रदीप्त अग्नि) पढ़ाता है" जैसे यहाँ अध्ययन की प्रवृत्ति में समर्थ अध्येता के शीतापनोद को उत्पन्न करता हुआ कारीष अग्नि अध्ययन में पुरुष को प्रवृत्त करता है उसी प्रकार लिङ आदि भी पुरुष के प्रवृत्तिसमर्थ किसी प्रकार का आचरण करते हुए उसे अपने व्यापार से प्रवृत्त कराते हैं, (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये, क्योंकि प्रमाणान्तर से उसके उपकार की उपलब्धि नहीं होती, और शब्द के सम्बन्धबोध सापेक्ष होने से उसी से सम्बन्धी अर्थ की प्रतीति होने पर अन्योऽन्याश्रय होने लगेगा।

(पू) यदि यह माना जाय कि—पवन आदि के समान लिङ आदि भी पुरुष को प्रेरित करते हैं, मानान्तर से उसका व्यापारग्रहण करने से क्या लाभ है ? (उ) तो ऐसा नहीं है।

---

[1] (ख) प्रयोगो। [2] (ख) वृत्तः। [3] (क) व्यापृति।
[4] (ग) नहि प्रेषणात्। नहि प्रेषणाध्ये।
[5] (क) मानान्तर, (ग) मानान्तरस्तद्व्यापार।

भिधानस्य वैयर्थ्यात्; पूर्वोक्ताप्रमाणत्वादिदोषप्रसङ्गाच्च। शब्दप्रयोगे तद्व्यापारे सत्यपि न पुमान् प्रवर्त्तते[1]। न हि सर्वस्मिन् प्रवर्त्तयति प्रवृत्तिः प्रेक्षावताम्, अपि तु अनुविधेये। न चार्थानर्थप्राप्तिपरिहाराद्यनुविधानकारणं स्वाम्यादाविव शब्दे समस्ति। न च फलप्राप्तिरनुविधानकारणम्; तथा सति फलात् प्रवृत्तेः प्रवर्त्तना-वैयर्थ्यात्। स्वव्यापारेण कृतेनावभासितेन शब्दे प्रवर्त्तयितरि[2] फलावगमा-योगाच्च। आप्ते हि सप्रत्ययक्रिये हितकामे प्रवर्त्तयति अन्यथाऽनुपपत्त्या फलावगमः।

अथ शास्त्रत्वेन फलावगमः? शासनाद्धि शिष्याणां शास्त्रमुच्यते; शासनं च (शक्तितः[3]) समारोपरूपव्यवच्छेदेन[4] हिताहितप्राप्तिपरिहारोपायतत्त्वप्रज्ञापनम्[5]; ततश्च न[6] शास्त्रत्वादेव पुरुषश्रेयोऽधिगतिः[7] प्राक् फलावगमाच्छास्त्रत्वादेव[8] सिद्धेः, फलावगमाच्च शास्त्रत्वे परस्पराश्रयप्रसङ्गात्[9]। लिङादिव्यापारे च विधौ लिङादि-स्वरूपाभिधानप्रसङ्गः।

भावदीपिका

योजयति—पूर्वेति। अप्रवृत्तिं व्याचष्टे—शब्देति। अस्तु तर्ह्यनुविधेयत्वं शब्दस्य? तत्राऽऽह—न चेति। अङ्गीकृत्याऽप्याह—न च फलेति। अनुविधानं प्रेरणाऽनुसारणं फल-हेतुतयाऽनुविधेयत्वेऽपि फलेच्छया प्रवृत्तेर्न शब्दस्य प्रवर्त्तकत्वं, फलाऽयोगादिति। तद्व्याचष्टे—स्वव्यापारेणेति।

प्रकारान्तरेण फलाऽवगममाशङ्क्य प्रत्याह—अथेत्यादिना। रूपोक्तेरित्येतत्

ज्ञानवती

क्योंकि वैसा होने पर उसी के समान प्रवर्त्तकत्व की उपपत्ति होने से व्यापाराभिधान व्यर्थ हो जायगा। और पूर्वोक्त अप्रमाणत्व आदि दोष होने लगेगा। शब्द प्रयोगवाले उसके व्यापार होने पर भी पुरुष प्रवृत्त नहीं होता। प्रेक्षावानों की प्रवृत्ति सबके विषय में प्रवृत्त नहीं कराती अपितु अनुविधेय के विषय में प्रवृत्ति कराती है। और शब्द में स्वामी आदि के समान अर्थ-अनर्थ की प्राप्ति एवं परिहार आदि का अनुविधान-कारण सम्भव नहीं है। और फल की प्राप्ति अनुविधान का कारण नहीं है, क्योंकि वैसा होने पर फल के कारण प्रवृत्ति होने से प्रवर्त्तना व्यर्थ हो जायगी। किये गये तथा अवभासित अपने व्यापार के कारण शब्द के प्रवर्त्तयिता होने पर फलावगम का योग नहीं होगा। सप्रत्ययक्रिया वाले हितकाम में आप्त के प्रवृत्त कराने पर अन्यथा (=आप्तप्रेरितत्वाभाव की) अनुपपत्ति से फल का अवगम होता है।

(पू) शास्त्र होने के नाते फल का ज्ञान हो जायगा? (पू) (ऐसा नहीं है)। शिष्यों का शासक होने से शास्त्र कहा जाता है। और शासन शक्ति से समारोपरूप व्यवच्छेद के द्वारा हिताहित की प्राप्ति एवं परिहार के उपाय के तत्त्व का प्रज्ञापक होता है। इसलिये

---

१ (ग) प्रवर्त्तेत। २ (ग) प्रवर्त्तयति। ३ (क) संकेत। (ग) शक्तितः।
४ (ख) रोपव्यव। ५ (ग) ज्ञानं। ६ (ग) च शास्त्रत्वा।
७ (ग) गतः। ८ (ग) प्राकफलावगमाक्च। ९ (ग) प्रसङ्ग।

यदि लिङादिस्वरूपं (नाभिधीयेत[१]) ततस्तन्नावगतम् इति तद्विशिष्टव्यापाराप्रत्ययात् तद्रूपोक्तिप्रसङ्गः[२] विनाऽभिधाभावनां विधिरूपाम्। अथाऽर्थाभिधाव्यापार एव शब्दस्य भावनाविधिर्लिङ्गाद्यर्थ इति, तस्य च व्यापारस्यार्थसम्बन्धेन फलप्रसवोन्नीतसद्भावस्य प्रवृत्ति(-जननं[३]) प्रति सामर्थ्यमात्रमुन्नेयम्? नैवमपि; सर्वशब्दानां यथास्वमभिधेयेष्वभिधाव्यापार इति घटादिशब्देभ्योऽपि प्रवृत्तिप्रसङ्गात्। न च लिङ्गाद्यर्थभूतः प्रैषादिरेव विधिः; अपौरुषेये वेदे तदसम्भवात्। अतो न भावनानिर्णयः?

[शब्दभावनाज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वम्--]

अत्र वदामः—शब्दस्य प्रवर्त्तनालक्षणो व्यापारः प्रैषादिः न सम्भवति[४],

भावदीपिका

विभजते—लिङादीति। रूपोक्तेः परिहारमाशङ्कते—अथेति। प्रवर्त्तना कथम्? तस्य बोधनसमर्थस्य प्रवर्त्तनासामर्थ्यं गम्यते? तत्राऽऽह—तस्य चेति। बोधनसामर्थ्यादिव प्रवर्त्तनासामर्थ्यमनुमीयते? प्रवृत्तिलिङ्गाद्वा? नाद्यम् इत्याह—नैवमपीति। प्रवृत्तिश्च शब्दाऽवगतप्रैषादिना अपि इति न द्वितीयः। अस्तु तर्हि प्रैषादिरेव भावना?—नेत्याह—न चेति।

[शब्दभावनाज्ञानस्य प्रवर्त्तकत्वम्—]

प्रवर्त्तनापक्षाऽङ्गीकारेण सिद्धान्तयति—अत्रेति। प्रकारान्तरेण विधायकतायाः निरा-

ज्ञानवती

शास्त्र होने के कारण ही पुरुष के श्रेयस् का ज्ञान नहीं होता क्योंकि फलावगम से होने से पहले ही शास्त्र होने के कारण सिद्ध होने से और फलावगम से शास्त्र के होने पर परस्पराश्रय होने लगेगा। और लिङ आदि व्यापार के विधि होने पर लिङ आदिस्वरूप के अभिधान का प्रसङ्ग होने लगेगा।

यदि लिङ आदि के स्वरूप का अभिधान न किया जाय तो, उसका ज्ञान नहीं हुआ इसलिये तद्विशिष्टव्यापार का ज्ञान न होने से विधिरूप अभिधाभावना के विना तद्रूपोक्ति (=व्यापाररूपोक्ति) की प्राप्ति होने लगेगी। (पू) शब्द का अर्थाभिधाव्यापार ही भावनाविधि लिङ आदि का अर्थ है; और उस व्यापार का अर्थ से सम्बन्ध होने पर प्रवृत्तिजनन के प्रति फलप्रसव से अनुमित सद्भाव के सामर्थ्यमात्र का अनुमान करना पड़ेगा। इस प्रकार भी अभिधेयों में सब शब्दों का इच्छानुसार अभिधाव्यापार नहीं है, क्योंकि तब तो घट आदि शब्दों से भी प्रवृत्ति होने लगेगी। लिङ आदि का अर्थभूत प्रैषा आदि ही विधि नहीं है क्योंकि अपौरुषेय वेद में वह असम्भव है। इस कारण भावना का निर्णय नहीं हो पाता है?

[शब्दभावना का ज्ञान प्रवर्त्तक है—]

(उ) इस विषय में कहते हैं—शब्द का प्रवर्त्तनालक्षणव्यापार प्रैषा आदि सम्भव नहीं है क्योंकि अचेतन होने से यह सम्भव नहीं है। और वह प्रयोज्य चेतन के द्वारा सम्भव

---

[१] (क) धीयते। (ग) वीयेत। [२] (ग) प्रसङ्गतोऽपि नाभिधाभावना विधिरूपाम्।
[३] (क) ज्ञानं, (ग) जननं। [४] प्रैषाद्यसम्भवेऽपि।

अचेतनत्वात्[१] इत्येतत्तावन्न सम्भवति; प्रयोज्यचेतनद्वारेण तत्सम्भवात्। अन्यथा लिङादेर्विधायकशब्दता न स्यात्। वदन्ति स्म च भट्टाचार्याः—

"यद्यपि चाचेतनत्वात् न लिङादिष्वेवं विधिप्रयोजकत्वं सम्भवति, तथाऽपि पुरुषस्य[२] प्रयोजकस्य प्रयोज्यत्वानुपपत्तेः तद्गतचैतन्यद्वारेण विधायकानां प्रयोजकता। यदि चैवं न कल्प्येत नैवेष्टविधायकव्यपदेशो भवेत्।"[३] तद्गतचैतन्यद्वारेण इत्येवं वदद्भिश्च शब्दप्रयोगे तद्व्यापारे सत्यपि पुमान्न प्रवर्त्तेत स्वाम्यादाविव (शब्देऽर्थानर्थ[४]-)प्राप्तिपरिहाराद्यनुविधानकारणाभावात् इति चोद्यमपास्तम्। दृश्यते चाधिकारिणो विधायकशब्दश्रवणमात्रात् स्वास्थ्य(-प्रच्युति[५]-)रूपा प्रवृत्तिः, न शब्दमात्राकर्णनात्। तेन गम्यते प्रवर्त्तनाव्यापारः। न च प्रवर्त्तनाव्यापारमुत्पाद्य तदभिधाने तदाधारस्वरूपाभिधानम्; तस्य शब्दैकगम्यत्वेन सङ्गतिग्रहात्[६] बोधकत्वे च सङ्गतिग्रह इति परस्पराश्रयश्च स्यात् इति वचनीयम्; (आधाराबोध[७]-)कत्वेऽपि श्रोत्रादेः शब्दादिबोधकत्वाङ्गीकारात्; शब्दस्वरूपस्य च प्रमाणान्तरादप्य-

भावदीपिका

कृतत्वान्निराकरिष्यमाणत्वाच्च तदुक्त्यैव दोषविशेषं निराचष्टे—तद्गतेति। बोधनसामर्थ्यवत् प्रवर्त्तनासामर्थ्यं शब्दविशेषस्याऽविरुद्धम्—इत्याह—दृश्यते चेति। परोक्तं प्रत्याचष्टे—न चेति। यदि व्यापार एव शब्दादिवत् शब्देनाऽवगम्यते तर्हि तदाधारः केनाऽवगम्यते? तत्राऽऽह—शब्दस्वरूपस्येति। कस्तर्हि परस्पराश्रयपरिहारः? तत्राऽऽह—परस्परेति। नियोगादेरपि शब्दैकगम्यत्वाऽङ्गीकारेण तुल्यो दोषः। अथ स्वर्गकामाऽऽदिसम-

ज्ञानवती

है। अन्यथा लिङ आदि शब्द विधायक नहीं होंगे। भट्टाचार्य कहते हैं—

"यद्यपि अचेतन होने से लिङ आदि में इस प्रकार का प्रयोजकत्व सम्भव नहीं है, तो भी प्रयोजक पुरुष के प्रयोज्यत्व की अनुपपत्ति होने से उसमें वर्त्तमान चैतन्य के द्वारा विधायक प्रयोजक हो जाते हैं। यदि ऐसी कल्पना नहीं होगी तो विधायक व्यापार भी नहीं होगा।" तद्गत चैतन्य के द्वारा-ऐसा कहने वालों के द्वारा शब्दप्रयोग उसके व्यापार के होने पर भी स्वामी आदि के समान पुरुष प्रवृत्त नहीं होगा क्योंकि शब्दों में अर्थ एवं अनर्थपरिहार आदि के अनुविधान का कारण नहीं है-यह प्रश्न निरस्त हो गया। अधिकारी के विधायकशब्दश्रवणमात्र से स्वास्थ्य-प्रच्युतिरूप (=अकर्मण्यतानिवृत्तिरूप) प्रवृत्ति देखी जाती है, न कि शब्दमात्र के सुनने से। उससे प्रवर्त्तना व्यापार समझा जाता है।

(पू) प्रवर्त्तना व्यापार को उत्पन्न करके उसका अभिधान होने पर उसके आधारस्वरूप का अभिधान होता है, वह शब्दैकगम्य होने से सङ्गतिग्रह होने के कारण बोधक होता है और बोधक होने पर संगति का ग्रहण होता है; इस प्रकार अन्योन्याश्रय हो जायगा? (उ) ऐसा

१ (ग) न तावन्न। २ (ग) पुरुषस्य प्रयोज्य।
३ तं०वा० १।२।१ पृ० ११४। ४ (क) शाब्दानर्थं। (ग) शब्देर्थानर्न।
५ (क) प्रच्युत, (ग) प्रच्युति। ६ (ग) ग्रहोद्।
७ (क) अर्थाबोध, (ग) आधाराबोध।

वगमात्[१]; परस्पराश्रयस्य च नियोगादिवादेऽपि तुल्यत्वात्; यथाकथञ्चित् समाधानस्यास्मन्मतेऽपि सम्भवाच्च। अतः प्रवर्त्तनाव्यापारस्य भावनात्वं युक्तम्।

अथ कर्मप्रवर्त्तकमभिमतसाधनताज्ञानं, तस्य प्रवर्त्तनाप्रयोजकव्यापारः, तया[२] खल्वभिमतसाधने कर्मणि स्वयं दुःखात्मकेऽपि (प्रवर्त्येत[३])? नैतत्; प्रवृत्तिकर्तुः प्रयोजकः प्रवर्त्तकः, सिद्धश्च स[४] भवति। तदिह सिद्धं चेत् कर्मप्रवृत्तेः (प्राक्[५] ज्ञान-) प्रवृत्तेर्भावनया भाव्यम्। (न जातु[६]) सिद्धं गमनस्य भानं[७] भवितुमर्हति, असिद्धं (चेत्? न[८]) प्रवर्त्तकम्। (अत एव[९]) क्रियातिरिक्तो नियोगो न प्रवर्त्तकः। तस्यापि साध्यैकस्वभावत्वाश्रयणादनियोगप्रत्ययः[१०] सिद्ध एव प्रवर्त्तकः। सोऽपि विषयरूपनियोगानिरूपणात्[११] कुतस्त्यः? तस्यापदार्थत्वे वाक्यार्थत्वानुपपत्तेः

भावदीपिका

भिव्याहारतर्कबलेनाऽवगते नियोगादौ संगतिग्रहान्नेतरेतराश्रयता? तर्ह्यत्राप्येवं परिहारः—यथाकथञ्चिदिति।

तथाऽपि प्रवर्त्तकान्तरसम्भवान्नायं पक्षः—इत्याह—अथेति। प्रवर्त्तकलक्षणाऽसम्भवात् कर्मणो न प्रवर्त्तकत्वम्—इत्याह—नैतदिति। ततः किम्? तदाह—तदिहेति। नियोगवादी विशेषमाशङ्कते—अथेति। असौ विशेषः कर्मपक्षेऽपि तुल्यः, तथाऽप्यभिमतसाधनत्वं व्यापारस्य पक्षान्तरेऽपि वक्तुं शक्यत्वान्नैकान्तेन कर्मणः प्रवर्त्तकत्वलाभः। नित्यादिकर्मणि समीहितसाधनत्वव्यापाराऽसम्भवाच्च कर्मणो न सर्वत्र प्रवर्त्तकत्वम्। नियोगस्य तु राजाऽऽज्ञावत् प्रवर्त्तकत्वान्नायं दोष इत्यभिमानो नियोगवादिनः सिद्धे नियोगे सिध्येत्—इत्याह—सोऽपीति। स किं पदार्थः? वाक्यार्थो वा? द्वितीयं प्रत्याह—तस्येति। भेदरूप-

ज्ञानवती

नहीं कहना चाहिये; क्योंकि आधार का बोधक न होने पर भी श्रोत्र आदि का शब्दादि-बोधकत्व माना गया है, और शब्दस्वरूप का प्रमाणान्तर से अवगम होता है, तथा परस्पराश्रय तो नियोगवाद में भी समान है एवं यथाकथञ्चित् समाधान तो हमारे मत में भी समान है। इसलिये प्रवर्त्तनाव्यापार का भावनात्व ठीक है।

(पू) कर्म का प्रवर्त्तक इष्टसाधनताज्ञान है, प्रवर्त्तना उसका प्रयोजक व्यापार है, उसके द्वारा (पुरुष) इष्टसाधनवाले कर्म में चाहे वह स्वयं दुःखात्मक हो तो भी, प्रवृत्त होगा? (उ) ऐसा नहीं है। प्रवृत्तिकर्ता का प्रयोजक ही प्रवर्त्तक होता है, और वह (=प्रवर्त्तक) सिद्ध होता है। और वह यदि यहाँ सिद्ध है तो कर्मप्रवृत्ति के पहले ज्ञानप्रवृत्ति की भावना को होना चाहिये। कभी भी गमन का सिद्ध भान नहीं हो सकता; और यदि असिद्ध है तो प्रवर्त्तक नहीं हो सकता। इसीलिये क्रियातिरिक्त नियोग प्रर्वर्त्तक नहीं है। उनके भी साध्यैक-

---

१ (व) प्रमाणान्तरादव। २ (ग) त्वया, ३ (क) प्रवर्त्यते, (ग) प्रवर्त्येत।
४ (ग) सम्भवति। ५ (क) प्राक् प्रवृत्तेः (ग) प्राक् ज्ञानप्रवृत्तेः।
६ (क) न चात्र, (ग) न जातु। ७ (ख) गमनस्याभावं।
८ (क) न। (ग) चेन्न। ९ (क) सत एव। (ग) अत एव।
१० (क ग) दर्थनियोग। ११ (ग) विषयभूतनि।

पदार्थस्यैकस्य पदार्था(-न्तरोपकल्पितविशेषस्य[१] वाक्यार्थत्वात्। असम्बन्धरूपत्वाच्च न सम्बन्धरूपोऽप्यसौ) वाक्यार्थः। नापि पदार्थः; मानान्तसिद्धत्वाभावेन[२] सङ्गतिग्रहा(-संभवात्[३]) लोके (गृहीतसङ्गतिरेव। वेदे च मुख्यासम्भवे गुणाद्वाऽप्यभिधानं स्यात् यथा[४]) "ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते" इति श्रुत्या लिङ्गबाधेन विनियोगे इन्द्रशब्दस्य फलैश्वर्यादिगुणात् गार्हपत्ये वृत्तिः; सहस्रसंवत्सरे कर्मणि च मनुष्यस्याधिकारिणः तावज्जीवनासंभवात् अहर्वाची संवत्सरशब्दः।

अथाऽस्ति तादृशो लिङादिपदस्य सामर्थ्यातिशयो (येनागृहीत[५]-)सम्बन्धमपि कतिपयश्रवणं[६] सहकारि जनयति विलक्षणविषयमवबोधम्; कतिपयश्रवणसमनन्तरं

भावदीपिका

वाक्यार्थत्वाऽभावेऽपि संसर्गवाक्यार्थरूपोऽसौ भविष्यति? तत्राऽऽह—असम्बन्धेति। आद्यं निरस्यति—नाऽपीति। यथा सिंहशब्दो माणवके वर्त्तमानो न तत्र संगतिमपेक्षते तथा नियोगे लिङादिशब्दोऽपि। तथा सति "गुणाद्वा" इति सूत्रसामञ्जस्यं स्यात्। तत्राऽऽह—लोक इति।

सम्बन्धस्याऽशास्त्रमूलत्वाल्लोकग्रहणम्। मुख्यार्थे सङ्गत्यभावे लोके वेदे वा मुख्यार्थ-गुणलक्षणया अर्थान्तरे वृत्तिलक्षणो गौणप्रयोगो नेष्टः। एवं माणवकादिशब्दस्येव नियोग-शब्दस्य मुख्यार्थे संगतिर्वाच्या; सा च शब्दैकवेद्यत्वे न संभवति। मा भूत् तर्हि संगतिः, तथाऽपि नियोगप्रत्ययो भविष्यतीति साहसमात्रेणाऽऽह—अथेति। तर्ह्यन्यशब्देऽप्येवं बोधकत्वं

ज्ञानवती

स्वभावत्व का आश्रयण होने से अनियोग प्रत्ययसिद्ध ही प्रवर्त्तक है। वह भी विषयरूपनियोग का निरूपण न होने से कहाँ का है। उसके अपदार्थ होने पर वाक्यार्थत्व की अनुपपत्ति होने से पदार्थान्तिरोपकल्पितविशेषवाला एकपदार्थ वाक्यार्थ है। और असम्बन्ध रूप होने से यह वाक्यार्थ सम्बन्धरूप भी नहीं है। पदार्थ भी नहीं है क्योंकि मानान्तर से सिद्ध न होने के कारण संगतिग्रह के असंभव होने के कारण लोक में संगतिग्रह है ही। और वेद में मुख्य के असंभव होने पर गुण से अभिधान हो जायगा। जैसे—"ऐन्द्री (ऋचा) के द्वारा गार्हपत्य (अग्नि) का उपस्थान करना चाहिये" इस श्रुति से लिङ्ग का वाध होने के कारण विनियोग में फल ऐश्वर्य आदि गुण होने से इन्द्र शब्द की गार्हपत्य में वृत्ति है। और सहस्रसंवत्सर वाले कर्म में अधिकारी मनुष्य का उतना जीवन असम्भव होने से संवत्सरशब्द योग्यता का वाचक है।

(पू) लिङादिपद का सामर्थ्यतिशय वैसा है जिससे अगृहीतसम्बन्धवाला भी, कतिपय-श्रवणसहकारी विलक्षणविषयक अवबोध को उत्पन्न करता है, क्योंकि कुछ सुनने के बाद उसका सद्भाव हो जाता है। गृहीतसंगतिवाले अन्य शब्द स्वार्थ का अभिधान करते हैं इसलिये उस

---

१ (क) (न्वयस्यैव तथात्वात्) नाप्यसौ (ग) न्तरोपकल्पित········।
२ (ग) सिद्धत्वात्। ३ (क) ग्रहाभावात्, (ग) ग्रहासंभवात्।
४ (क) लोके। वेदे च। (ग) लोके गृहीत········।
५ (क) येन। (त) येना। ६ (त) श्रवणा।

तत्सद्भावात्[1]। न चान्ये गृहीतसङ्गतयः शब्दाः स्वार्थमभिदधति इति अनेनापि तथा भवितव्यम्। माभूदन्येषां न साक्षात्कार्यार्थता इत्यस्यापि तथाभावः।

नैवम्, प्रथमश्रवणाद्धि[2] सम्बन्ध्यन्तराग्रहे शतशोऽपि श्रुताल्लिङादेः विलक्षण-विषयबोधानुत्पत्तेः। व्यवहारदर्शनस्य च प्रसिद्धार्थसम्बन्धिदर्शनगर्भतयो[3]-त्पत्ते(-रुपपत्तेश्च[4]) नादृष्टचरसामर्थ्यातिशयकल्पना औत्सर्गिकशब्दमात्रवर्त्तिसम्बन्धा-पेक्षापवादेन असति बलवद्बाधकोपनिपाते युज्यते।

अथ मध्यमवृद्धव्यवहारलिङ्गेन बालस्यात्मोपमया लिङादीनां[5] सामान्येन कार्याभिधायिताबुद्धिः। न च[6] श्रेयःसाधनतैव कार्यता; परस्परपरिहारस्थिति-लक्षणविरोधाधारत्वात्। न ह्यस्ति सम्भवो यदेव समीहितं प्रति साधनत्वं, तदेव

भावदीपिका

कुतो न भवति सामर्थ्यभेदात्?—इत्याशयेनाऽऽह—न चान्य इति। कतिपयश्रवणानन्तरं नियोगबोधः सार्वजनीनो न भवति भवदनुभवश्च विप्रतिपन्नः इत्याह नैवमिति। न च शब्दान्तरप्रवृत्तिलिङ्गेन नियोगाऽनुभवो गम्यते; प्रमाणान्तरप्रसिद्धशब्दसम्बन्धिक्रिया-बोधेनाऽपि तत्संभवात्—इत्याह—व्यवहारेति। अतः प्रवृत्तिलक्षणबाधकस्याऽन्यथा-सिद्धेनोत्सर्गभङ्गः।

सामान्यद्वारेणाऽलौकिकसंगतिः—इत्याह तथेति। श्रेयःसाधने कार्यबुद्धेर्न सामान्य-द्वाराऽपि त्वदभिमतकार्ये सङ्गतिः?—इत्याशङ्क्याह—न चेति। कृतिसाध्यत्वं तत्; न श्रेयः-

ज्ञानवती

(=लिङ) को भी वैसा होना चाहिये यह भी नहीं है। अन्य की साक्षात् कार्यार्थता न हो इसलिये इस (=लिङ) को भी वैसा ही होना चाहिये? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रथमश्रवण से सम्बन्ध्यन्तर का ज्ञान न होने पर सैकड़ों बार सुने गये लिङ आदि से विलक्षण-विषयबोध की उत्पत्ति नहीं होगी। और व्यवहारदर्शन की प्रसिद्धार्थसम्बन्धीदर्शन के गर्भ के रूप में उत्पत्ति की उपपत्ति होने से अदृष्टचर सामर्थ्यातिशय की कल्पना औत्सर्गिकशब्दमात्रवर्त्ती सम्बन्धापेक्षापवाद के बलवद् बाधकोपनिपात न होने पर युक्त नहीं है।

(पू) मध्यमवृद्धव्यवहाररूप लिङ्ग के द्वारा बालक को (ज्ञान होता है उसी प्रकार) आत्मोपमा के द्वारा (अर्थात् मध्यम वृद्ध की प्रवृत्ति कार्यज्ञानजन्य है प्रवृत्ति होने से मेरी प्रवृत्ति के समान इस अनुमान में उदाहरण) लिङ आदि की सामान्यरूप से कार्याभिधायिताबुद्धि होती है। (पू) श्रेयःसाधनता ही कार्यता है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि परस्परपहिार-स्थितिलक्षण विरोध आधार है (अर्थात् इष्टसाधनत्व के विना कार्य और कार्य के विना इष्टसाधनत्व आधार है)। ऐसा संभव नहीं है कि जो समीहित के प्रति साधन हो वही कृति

---

[1] (ग) तद्भावात्।
[2] (ग) णादि।
[3] (ग) दर्शना
[4] (क) त्पत्तेश्च।
[5] (ग) लिङ्गादिनां।
[6] (ग) चाश्रयः।

कृतिं प्रति साध्यत्वमिति ; सुखस्य (कृतिसाध्यत्वे[१]-)ऽपि समीहितसाधनत्वाभावात्। तदुक्तम्—

"कार्यता कृतिसाध्यत्वं फलसाधनता पुनः।
(कारणत्वं[२]) फलोत्पादे ते भिद्येते परस्परम्॥"

इति। तच्च[३] "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यादिवाक्येषु स्वर्गकामस्य नियोज्यस्य क्षणभङ्गुरक्रियायां कार्यधियोऽसम्भवात् अतिरिक्तं क्रियातः कार्यमवगम्यते, तदेव च लोकेऽपि कार्यम्। न च लोके प्रैषादयः कार्ये उपाधय एव[४] न तु शब्दार्थाः। त एव चोपाधयो (येऽत्र[५]) तटस्था प्रयोगदर्शनमात्रेण (शब्दार्थं[६]) विशेषे व्यवस्थापयन्ति। यथा दृतिहरिपदाभिधेयत्वे पशुत्वमुपाधिः। तथा हि—पशुत्वं तटस्थमेवाभिधानानिवेशि सत् दृतिहरिपदार्थत्वं पशावेव नियच्छति। एवं

भावदीपिका

साधनत्वमेव। कुतः? व्यभिचारात्—इत्याह—सुखस्येति। ननु साक्षात् कृतिसाध्यत्वं धात्वर्थस्यैव, श्रेयःसाधनत्वमपि तस्यैव, ततः कथं विलक्षणकार्यभ्रमः? तत्राऽऽह—अग्निहोत्रमिति। उक्तं च व्युत्पत्तिरपि कार्येऽर्थे व्यवहाराऽनुसारिणी किन्तु निर्धारणामात्रं वेदवाक्यविमर्शजमिति। ततो युक्तः सामान्यद्वारा अपूर्वविशेषे संगतिग्रहः। अधुना सर्वप्रत्ययवेद्य एवेति ब्रह्मणः सोपाधिकरूपेण लोकसिद्धत्वं निरूपाधिकान्तरेण वेद्यत्वं वेदेनैव, तथा कार्यस्याऽपि—इत्याह तदेव चेति। सम्बन्धाऽर्थमाविष्करोति—न चेति। तर्हि तेषामपि शब्दार्थत्वं स्यात्? अत आह—अत एवेति। "हरतेर्दृतिनाथयोः पशौ" इति स्मरणात्। दृतिः

ज्ञानवती

के प्रति साध्य हो क्योंकि सुख के कृतिसाध्य होने पर भी (उसमें) समीहितसाधनत्व का अभाव है। कहा है—"कार्यता कृतिसाध्य है, फलसाधनता कारणत्व है। फल की उत्पत्ति में वे दोनों परस्पर भिन्न हैं।"

और वह "स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र होत्र करे" इत्यादि वाक्यों में नियोज्य स्वर्गकाम की क्षणभङ्गुर क्रिया में कार्यबुद्धि के असम्भव होने से क्रिया से कार्य अतिरिक्त समझा जाता है और वही लोक में भी कार्य है। (पू) लोक में प्रैषा आदि, कार्य में उपाधियाँ ही है न कि शब्द के अर्थ। वही उपाधियाँ यहाँ तटस्थ होती हुई प्रयोगदर्शनमात्र से शब्दार्थ को विशेष रूप में व्यवस्थापित करती हैं। जैसे दृति, हरि पद के अभिधेयत्व में पशुत्व उपाधि है। वह इस प्रकार—पशुत्व तटस्थ ही अभिधानानिवेशी होता हुआ दृति हरि पदार्थत्व का पशु में ही नियमन करता है। इसी प्रकार प्रैषा आदि भी अभिधानानिवेशी होकर कार्यविशेष में ही व्यवस्था करते हैं। वे अभिधेय नहीं है?

---

१ (क) साध्यस्यापि, (ग) साध्यत्वेऽपि   २ करणत्वं। (ग) कारणत्वं।
३ (ग) इति अग्नि।   ४ (ग) एव प्रैषादयो न तु।
५ (क) अत्र। (ग) येऽत्र।   ६ (क) शब्दार्थे, (ग) शब्दार्थं।

प्रैषादयोऽप्यभिधानाविनिवेशिन एव[1] कार्यं विशेषे व्यवस्थापयन्ति न पुनरभिधेया इति ग्रहणसम्भवात् (उपपन्नं नियोगाभिधानं लिङादीनामिति उक्तञ्च—

"कार्यमेव च वक्तॄणां ज्यायः समकनीयसाम्।
[प्रवर्त्त्यापेक्षयाभेदात् प्रैषादिव्यपदेश-]भाक्।।"[2]

इति। ज्यायसा कनीयांसं प्रति प्रतिपाद्यमानं कार्यं प्रैष उच्यते, समेनामन्त्रणं, हीने-) नाध्येषणमित्यौपाधिकभेदस्योक्तत्वाच्च[3]। कार्यत्वेन नियोज्यं च स्वात्मनि प्रेरयन् असौ नियोग इति मीमांसानिष्णातैरभिधीयत इति च।

[नियोगस्य लिङर्थत्वनिराकरणम्—]

अत्र समाधिः—सत्यम्; कर्त्तव्यताऽभिधायिनो लिङादयः; कर्त्तव्यता च क्रियाया एव नापूर्वस्य, लोकादिनाऽवधार्यत्वात् शब्दसामर्थ्यस्य; (तस्याः[4]) एव च

भावदीपिका

चर्मप्रसेविकः; पशौ=पशुत्वे गम्यमाने दृतिनाथयोरुपसर्गयोः सतो हरतिधातोरिन् प्रत्ययो भवति। तथा च हरति इति दृतिहरिरित्यविशेषेण यस्य कस्य [-चित्] प्राप्तौ पशुत्वं नियामकत्वेनोपाधिः। कार्ये नियोगशब्दं सम्पादयति—कार्यत्वेनेति।

[नियोगस्य लिङर्थत्वनिराकरणम्—]

आह भावनावादी—सत्यमिति। कृतिसाध्यमिति सत्यम्; तथाऽपि साक्षात् कृतिसाध्यत्वं क्रियाया एवेति सैव कार्यमस्तु। अथ कथञ्चित् कृतिसाध्यं कार्यम्? तन्न; फलेऽपि गतत्वात्। अथ फलाऽतिरिक्तत्वेऽपि कथञ्चित् तत्क्रियाकृतिसाध्यकार्यम्? तत्किं लोकसिद्धमपि? किं वा वैदिकमेव ब्रह्मवत्? उभयं वोक्तप्रकारेण? नाद्यः—इत्याह—कर्तव्यता चेति।

ज्ञानवती

(उ) ऐसा नहीं है क्योंकि सम्बन्धग्रहण सम्भव होने से लिङ आदि का नियोगाभिधान उपपन्न हो जाता है। कहा भी है—"वक्ताओं का (अभि-)प्राय ही बराबर वालों या छोटों का कार्य है।" प्रवर्त्त्य की अपेक्षा से भेद होने के कारण वह प्रैष आदि व्यवहार का भागी होता है। इस प्रकार बड़े के द्वारा छोटे के प्रति प्रतिपाद्यमान कार्य प्रैष कहा जाता है। सम के द्वारा आमन्त्रण, छोटे के द्वारा अध्येषण, ऐसा औपाधिक भेद कहा गया है। और कार्य के रूप में नियोज्य को अपने विषय में प्रेरित करता हुआ यह नियोग है—ऐसा मीमांसानिष्णातों के द्वारा कहा जाता है।

[नियोग लिङ का अर्थ नहीं है—]

(उ) इस विषय में समाधान है–सत्य है। लिङ आदि कर्तव्यता के अभिधायक हैं एवं कर्त्तव्यता क्रिया की ही होती है अपूर्व की नहीं, क्योंकि शब्द का सामर्थ्य लोक के द्वारा

---

[1] (ग) एवं। [2] प्रक० पं० २।११

[3] (क) सम्भवात्। उत्कृष्टप्रेरितस्य प्रवृत्तेः समकनीयसां प्रवृत्यपेक्षया भेदात् सः प्रैषादिव्दपदेशभाग इति। नाध्येषणं हानम् इत्यौ।

[4] (क) अत। (ग) तस्या।

कार्यतया प्रवृत्तिहेतुत्वेन स्वात्मनि (मानान्तरेण[१]) विदितत्वात्[२] न अपूर्वस्य; तस्य मानान्तरागोचरत्वात्। उपाधयश्चेन्मानान्तरसिद्धाः नैकस्तेष्वन्वयी प्रवर्त्तको नियोगाख्यः प्रमाणान्तरागोचरः[३] (पशुत्ववत्। न खलु) पशुत्वोपाधिप्रयुक्तदृतिहरि-शब्दोऽर्थात्[४] न मानान्तरागोचरः; पशुत्वस्यापि तदापत्तेः। न च परमते आनन्दादिवद् विशिष्टस्य मानान्तरगोचरत्वम्, (उपाधीनामेव) [५]केवलस्य शब्दैकवेद्यत्वं युक्तम्; आनन्दादिवदपूर्वस्य लोके सामान्यतोऽप्यप्रसिद्धेः। ततः प्रमाणान्तरगोचरत्वादुपाधीनामेव लिङादिवाच्यत्वज्ञानम्। तेषामेव च[६] शब्दार्थता; विदितसङ्गतित्वात्।

अथ वेदे क्रियाऽतिरिक्तं कार्यं तथाऽपि तस्यैव लिङाद्यर्थता, न पुनः क्रियाया अपि लौकिक्या इति कुतस्त्यम्? अनेकार्थत्वस्य अनेकशक्ति(-कल्पना[७]-) गौरवेणा-

भावदीपिका

द्वितीयं प्रत्याह—उपाधयश्चेति। प्रवर्त्तकत्वादेव ज्ञानं वक्तव्यम्। तत्र प्रैषाद्युपाध्यङ्गीकारे पशुत्ववदुपाधीनां प्रमाणान्तरगोचरत्वेन दृतिहरिशब्दार्थवत् कार्यस्य ज्ञातत्वसम्भवात् न वेदक-वेद्यत्वनिर्णयः। प्रैषादीनां वक्तृज्यायस्त्वादीनां प्रत्यक्षेण पशुत्वज्ञानज्ञातत्वात् नियोगस्य व्यवस्थाप्यस्य ब्रह्मवत् स्वतःसिद्धत्वाऽभावात् प्रमाणान्तरगोचरत्वेनैव तज्ज्ञानस्य प्रवर्त्तकज्ञानत्वं वाच्यमिति भावः। निरुपाधिकत्वे संगत्यसम्भवो दोषः। तृतीयं निराचष्टे—न चेति।

स्वर्गकामादिसमभिव्याहारबलात् कार्यसिद्धिमनूद्याऽपवदति—अथेति। नियोगवादी

ज्ञानवती

अवधार्य है। इसलिये कार्यता के रूप में प्रवृत्ति का हेतु होने से आत्मा में मानान्तर के द्वारा विदित होने से अपूर्व की (कार्यता[८]) नहीं है, क्योंकि वह मतान्तर का विषय नहीं है। यदि उपाधियाँ मानान्तर सिद्ध हैं तो उनमें से एक भी नियोग नामक अन्वयी, पशुत्व के समान प्रवर्त्तक एवं प्रमाणान्तर का विषय नहीं है। पशुत्वोपाधिप्रयुक्त दृति हरि शब्द अर्थात् मानान्तर के विषय नहीं हैं, ऐसा नहीं है। क्योंकि पशुत्व को भी उस (=मानान्तर विषयत्व) की आपत्ति हो जायगी। (पू) दूसरे के मत में आनन्द आदि के समान विशिष्ट का मानान्तर-गोचरत्व एवं केवल उपाधियों का शब्दैकवेद्यत्व युक्त है? (उ) यह नहीं है, क्योंकि आनन्द आदि के समान अपूर्व लोक में सामान्यतः भी प्रसिद्ध नहीं है। इसलिये प्रमाणान्तर का विषय होने से उपाधियों के ही लिङादिवाच्यत्व का ज्ञान होता है। और वे ही शब्द के अर्थ हैं, क्योंकि उनकी सङ्गति ज्ञात है।

(पू) वेद में क्रिया के अतिरिक्त कार्य है तो भी वही (=अपूर्व ही) लिङ आदि का अर्थ है न कि लौकिक क्रिया भी, ऐसा क्यों है? (उ) अनेकशक्ति की कल्पना के गौरव

---

१ (क) भागा। (ग) माना। २ (ग) त्मत्वपूर्वस्य।
३ (क) गोचरः पशुत्वो (ग) गोचरः पशुत्ववत् पशुत्वो। ४ (ग) हरिशब्दार्थो।
५ (क) गोचरत्वं केवलस्य, (ग) गोचरत्वं उपाधीनामेव केवलस्य।
६ (ग) त एव च शब्दार्थाः। ७ (क) गौरवेण। (ग) कल्पनागौरवेण।
८ मीमांसक लोग अपूर्व को कार्य मानते हैं।

न्याय्यत्वात् । लक्षणयाऽपि च (क्रियायाः[1]) लौकिकस्य (लिङ्गादि[2]-) प्रयोगस्योपपत्तेः क्रियाकर्त्तव्यतानान्तरीयकत्वात् अपूर्वकर्त्तव्यताया असाधितायाः क्रियाया तत्साधनत्वानुपपत्तेः लौकिकप्रयोगाविरोधात् । अपूर्वकर्त्तव्यतायास्तु लोके क्रियाकर्त्तव्यतानान्तरीयकत्वानुपलब्धेर्वैपरीत्यानुपपत्तेः; अत्यन्तप्रयोगाभ्यासाच्च । लाक्षणिकस्यापि वाचकत्वा(-भिमानात्[3]) अपूर्वाभिधाननियमसिद्धिरिति चेत् ? न[2]; अनेकार्थत्वमनेकशक्तिकल्पनागौरवादन्याय्यम् चेत् तर्ह्यपूर्वाण्यनेकविधि-प्रभावाद् भवन्ति नाना इति कथमैकार्थ्यं लिङः[4] ? अथ कृतिव्याप्यतायाः प्रवृत्ति-निमित्तस्य सर्वत्राविशेषात् रूपभेदेऽपि अपूर्वाणामेकैव शक्तिः ? तर्हि क्रियाया अपि कर्त्तव्यतारूपाया अभिधानाय न शक्त्यन्तरापेक्षा लिङः ।

अथ यद्यपि कर्त्तव्यताशब्दसाम्यम् , तथाऽपि कृतिं प्रति तव मता[5] कर्तव्यता

भावदीपिका

हेतुमाह—अनेकेति । कथं तर्हि क्रियायाः प्रयोगः ? तत्राऽऽह—लक्षणयेति । कथं लक्षणा ? अत आह—क्रियेति । शब्दशक्त्या प्रतीयमानस्य नियोगस्य साक्षात्कर्त्तव्यताऽयोग्यत्वात् तद्योग्या क्रिया लक्षणया प्रतिपाद्यते, गङ्गाशब्देनेव वासयोग्यं तीरमित्यर्थः । न वा अपूर्वं साक्षात्क्रियमाणक्रियानान्तरीयकतया निष्पाद्यते इति वैपरीत्यं शङ्कनीयम्; अज्ञादिनियोगे तददर्शनात्—इत्याह—अपूर्वेति । कथं तर्हि क्रियावाचकत्वाभिमानो लिङादीनाम् ? तदाह—अत्यन्तेति । सार्षपादाविव तैलशब्दस्येति भावः । प्रतिबन्द्या समाधत्ते—नानेकेति । परिहारसाम्यमाह—तर्हीति ।

विशेषप्रदर्शनेन प्रतिबन्दीमाक्षिपति—अथेति । 'मया नियोगो निष्पादनीय' इति राजभटादिभिः ह्लदो दृष्ट—इति तस्य कृत्युद्देश्यता । कीदृशी तर्हि क्रियाकर्त्तव्यता ?

ज्ञानवती

के कारण अनेकार्थत्व अन्याय्य है । लक्षणा के द्वारा भी क्रिया के लौकिक लिङ आदि प्रयोग की उपपत्ति होने से लौकिक प्रयोग का विरोध नहीं है । और अपूर्व कर्त्तव्यता के तो वैपरीत्य की लोक में क्रिया-कर्त्तव्यता के नान्तरीयकत्व की अनुपलब्धि होने से, अनुपपत्ति होती है, तथा अत्यन्त प्रयोग का अभ्यास है । (पू) लाक्षणिक के भी वाचकत्वाभिधान होने से अपूर्वाभिधान नियम की सिद्धि होती है यदि ऐसा कहें ? (उ) तो नहीं है । यदि अनेकशक्तिकल्पना का गौरव होने से अनेकार्थत्व अन्याय्य है तो अपूर्व अनेकविधि के प्रभाव से अनेक होते हैं फिर लिङ एकअर्थवाला कैसे है ? (पू) सर्वत्र कृतिव्याप्तता के प्रवृत्तिनिमित्त के होने से रूपभेद होने पर भी अपूर्वो की एक ही शक्ति है ? (उ) तो कर्त्तव्यरूपा क्रिया के भी अभिधान के लिये लिङ को शक्त्यन्तर की अपेक्षा नहीं होगी ।

(पू) यद्यपि कर्त्तव्यता शब्द का साम्य है तो भी कृति के प्रति तुम्हारी कर्त्तव्यता

---

[1] (क) क्रियया, (ख) क्रियायाः । [2] (क) लिङ्गादि, (ग) लिङादि ।
[3] (क) भिधानात् । (ग) भिमानात्, । [2] (ग) नन्वेकार्थं ।
[4] (ग) लिङा । [5] (ग) ईप्सिततमता ।

नापूर्वस्य,[1] तदुद्देशेन पुरुषप्रयत्नस्य कृतेरप्रवृत्तेः ;[2] सैव च लिङादिप्रवृत्तिनिमित्तम्, नत्वेवंरूपा क्रियाकर्त्तव्यता ; तस्याः दुःखरूपतया तां प्रति प्रधानभावानुपपत्तेः ; ओदनाद्यर्थप्रवृत्तकृतिव्याप्यतालक्षणा त्वस्य[3] ओदनादिहेतोः कर्त्तव्यता, सा चान्यत्वान्न शक्त्यन्तरेण लिङादिगोचर इति ? (तन्न; विशेषाभावात्[4]) क्रियाकर्त्तव्यतायाः। न खल्वपूर्वमुद्दिश्य कृतिः प्रवर्तितुमर्हति, असुखत्वेनेच्छापूर्वककृतिधर्मत्वानुपपत्तेः[5]।

भावदीपिका

तामाह—ओदनादीति। एवञ्चाऽर्थभेदात् शक्तिभेदगौरवं त्वन्मते, न मन्मते इति विशेषान्न प्रतिबन्ध्यवकाशः—इत्याह—सा चेति। नाऽयं विशेषो युक्तः—इति परिहारमाह—तन्नेति। क्रियाकर्त्तव्यतायाः सकाशात् नियोगकर्त्तव्यतायाः विशेषाभावः कथम् ? तदाह—न खल्विति। राजाऽऽज्ञाया अपि विपक्षे दण्डभयादिष्टसाधनत्वाद्वाऽनुष्ठानम्। न चाऽत्राऽपि विहिताऽकरणे दण्डभयमस्ति––

"अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसज्यंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति ॥"—

इत्यकरणविरुद्धकरणयोस्तुल्यवदनर्थहेतुत्वाऽवगमात्। न चाऽकुर्वन्निति शतृप्रत्ययः विहित-करणाऽऽलस्यहेतुपूर्वकृतविरुद्धक्रियावत्त्वस्याऽनर्थहेतोर्लक्षणार्थः; विहिताऽकरणस्य तत्प्रागभावस्य प्रागभावगमकक्रियाविशेषाऽनुत्पादात्तदत्यन्ताऽभावस्य वा भावरूपाऽनर्थहेतुत्वाऽसम्भवात् इति वाच्यम् ; विरुद्धक्रियावत्त्वस्य पूर्वपतनहेतुत्वेन सिद्धस्य 'अकुर्वन् पतनमृच्छति' इति पुनः पतनहेतुत्वाऽनुवादवैफल्यात्; उक्त्यभावस्याऽपि मूकीभावस्य कथायां भावरूपवादिपरा-जयादिहेतुत्वस्य दुर्वारत्वात् विहिताऽभावस्याऽपि भावकार्यहेतुत्वमविरुद्धमिति युक्तिसहकृतात्। "निन्दितं च समाचरन्" इति भावकार्यहेतुसमभिव्याहारात् तस्य पतनहेतुत्वनिश्चय इति विपक्षे दण्ड इति [न] शङ्कनीयम्; कथायामपि समयबन्धक्रियाया भावात्मिकायाः पराजय-हेतुत्वादत्यन्ताऽभावकारणत्वाऽसम्प्रतिपत्तेः। न च वेदनाऽत्यन्ताभावसहकृतायास्तस्याः कारणत्वादत्यन्ताभावोऽपि कारणम् ? व्यापारविधुरस्य कारणत्वाऽनिरूपणात्। न च तद्विषयं ज्ञानं तद्व्यापारः ? "तज्जन्यस्तज्जन्यजनको व्यापारः" इति लक्षणात्। तद्विषयज्ञानस्याऽभावे

ज्ञानवती

अभिमत है न कि अपूर्व की। क्योंकि उसके उद्देश से पुरुषप्रयत्न (अर्थात्) कृति में प्रवृत्ति नहीं होती। और वही (=कृति ही) लिङ आदि का प्रवृत्तिनिमित्त है। न कि इस प्रकार की क्रिया-कर्त्तव्यता है, क्योंकि उसके दुःख रूप होने से उसके प्रति प्रधानभाव की उपपत्ति नहीं होगी। ओदन आदि के लिये प्रवृत्त (मनुष्य) की कृतिव्याप्यता लक्षणा तो इसके ओदन आदि हेतु की कर्त्तव्यता है, और वह अन्य होने से शक्त्यन्तर के विना लिङ आदि का विषय नहीं है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि क्रियाकर्त्तव्यता विशिष्ट नहीं है। कृति अपूर्व को उद्देश करके प्रवृत्त नहीं हो सकती, क्योंकि सुखयुक्त न होने से इच्छापूर्वक कृतिधर्मत्व की अनुपपत्ति होती है।

---

[1] (ग) पूर्वस्य। [2] (ग) प्रवृत्तेः। [3] (ग) तस्याः।
[4] (क, ख) तन्निविशे। (ग) तन्न विशे। [5] (ग) कर्मत्वा।

इष्टादिसाधनत्वकल्पनयोद्देश्यत्वं च क्रियाया अपि समानम् । उद्देश्यत्वञ्च फलतत्साधनयोरेव (प्रसिद्धम्[1])। अपूर्वावान्तरव्यापारायाः क्रियाया एव स्वर्गादिसाधनत्वोपपत्तेश्च न क्वापि नियोगकल्पना । तदाहुः—

"फलाय विहितं कर्म क्षणिकं चिरभाविने ।
तत्सिद्धिर्नान्यथेत्येवमपूर्वमपि गम्यते ॥
श्रुतार्थपत्तिरेवैका प्रमाणं तस्य चेष्यते ।
शब्दैकदेशभावाच्च[2] स्वार्थेष्वागम एव नः ॥"[3]

येन वाक्येन यागात् स्वर्गो भवति प्रयाजादिभ्यश्च प्रधानोपकार इत्येतच्चोद्यते,

भावदीपिका

व्यापाराऽभावात्; विहिताऽकरणेऽपि विषयाऽन्तरव्यासक्तस्य प्रत्यवायाऽनुदयप्रसङ्गात् सत्तामात्रेण पराजयहेतुत्वस्याऽप्यसंप्रतिपत्तेः । तेनाऽगत्या यथोक्तैव स्मृतिव्याख्या ।

आस्तां वा वेदान्तिप्रक्रियैषा, गुरोरभावाऽनङ्गीकरणात् । अकरणात् प्रत्यवायो [दण्डः] सम्पाद्यः; विरुद्धक्रियातः प्रत्यवायोदयस्वीकारे चाऽकरणे दण्डोक्तिव्याघातो वेदान्त्यनुमतः । अकुर्वन्निति विरुद्धकर्मग्रहे च "निन्दितं च समाचरन्" इति व्यर्थं स्यात् । अतो न नियोगस्य साक्षात्कृत्युद्देश्यत्वम्, विपक्षे दण्डभयात् । अस्तु तर्हीष्टसाधनत्वादुद्देश्यत्वम् ? तर्हि न नित्यकाम्यवैषम्यं स्यात् । न च क्रियातोऽपि नियोगस्य वैषम्यम्—इत्याह—इष्टादीति । न च प्रकारान्तरेण तदस्त्विति वाच्यम्—उद्देश्यत्वं चेति । एवं कर्त्तव्यताभेदस्य क्रियानियोगयोरनिरूपणात् तुल्यैव तदभिधानशक्तिर्लिङ्गादेः । इदानीं नियोगे शक्तिरेवाऽनुपपन्नेति स्वमतस्यैवाऽङ्गीकार्यतामाह—अपूर्वेति । अपूर्वं वार्त्तिकेन संपादयति—तदाहुरिति । स्पष्टयति—श्रुतेति । तर्ह्यपूर्वस्याऽशब्दत्वं प्राप्तम्; तथा च तद्द्वारा क्रियाफलयोः साध्यसाधनभावोऽपि न शाब्द इति शङ्का स्यात्? तत्राऽऽह—शब्दैकदेशेति । यथा प्रयाजादिविधिना प्रयाजादेः फलोपकाराऽवबोधोऽन्यथा फलवत्प्रकरणे पाठव्याकोपः स्यात्, एवं फलवद्दर्शादिविधिना तस्य फलसमर्थो व्यापारोऽवबोध्यते इति शाब्दत्वमपूर्वस्य - इत्याह—येनेति ।

ज्ञानवती

तथा इष्टादिसाधनत्व के द्वारा कल्पना क्रिया का उद्देश्यत्व भी समान है । और उद्देश्यत्व तो फल और उसके साधन का ही प्रसिद्ध है । साथ ही अपूर्व अवान्तरव्यापारवाली क्रिया की ही स्वर्गादिसाधनत्व की उपपत्ति होने से कहीं भी नियोग की कल्पना नहीं है । कहा है—

"चिरभावी फल के लिये विहित कर्म क्षणिक होता है । उसकी सिद्धि अन्यथा नहीं हो सकती । इसलिये अपूर्व भी माना जाता है ।"

और उसका (=अपूर्व का) एकमात्रप्रमाण श्रुतार्थापत्ति ही मानी जाती है । क्योंकि अपने प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में श्रुतार्थापत्ति आगम का एकदेश है । अतः हमारे मत में वह आगम ही है ।"

---

[1] (क) प्रसिद्धा, (ग) प्रसिद्धम् । [2] (ग) शाब्दैक ।
[3] तै० ब्रा०२।१।२।

(तेनावश्यं[1]) विनष्टानामप्येषां काऽपि स्वर्गोत्पादनशक्तिरस्ति[2] इत्यभ्युपगन्तव्यम्।

"लौकिकं चापि यत्कर्म फले कालान्तरोद्गतौ।
तत्रापि शक्तिरेवाऽऽस्ते नत्वपूर्व(-गिरो[3]-)च्यते ॥
यागादेव फलं तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति।
(सूक्ष्म[4]-)शक्त्यात्मकं वा तत्फलमेवोपजायते ॥"[5]

इति। "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" इत्यत्र क्रियायाः सामान्येन फलसाधनत्वे-

भावदीपिका

किं तर्हि श्रुतार्थापत्त्यभिलापेन लौकिकक्रियासाम्येन वैदिकक्रियापरसम्भावनमात्रम्?—इत्याशयेनाऽऽह—यागादेवेति। शक्तिस्तज्जन्यो व्यापारः। असति व्यापारवति कर्मणि कथं तद्व्यापारसद्भावः? अत्राऽऽह—सूक्ष्मेति। नाऽयं नियोगवादिन आक्षेपो युक्तः; तेनाऽपि हि परमाऽपूर्वाऽवान्तराऽपूर्वविभाग इष्यते। तत्र नियोग एवाऽपूर्वपदार्थः? क्रियाव्यापारो वा तत्सिद्धयनुकूलः? आद्ये—साक्षादपूर्वोक्त्या नियोगस्य सदा साध्यैकस्वभावत्वोक्तिर्व्याहन्येत। न च क्रिययाऽभिव्यक्तिरिष्यत एव? सिद्धस्यैव घटादेरभिव्यक्तिदर्शनात्। द्वितीये च—नियोगस्योत्पादाभिव्यक्त्योरयोगाद् व्यापारवैय्यर्थ्यम्; सत्यप्युत्पादादौ क्रियातः साक्षात् सम्भवात् तद्वैफल्यम्। असिद्धत्वादेव नियोगस्य प्रेरणाशक्त्यसंभवात् किञ्चित् कुण्ठीभावोऽपि कर्मसाध्य इति युक्तम्। षड्यागानां युगपदभावात्, कालान्तरे नष्टक्रियाव्यापारेण तदुत्पादाद्यङ्गीकारे चाऽसति व्यापारवति कथं सः?—इत्याक्षेपसाम्यम्। दृष्टश्च गमनक्रियायां प्रत्येकपादक्षेपाणां मुख्यग्रामसंयोगाख्यफलोपकारी मध्ये देशान्तरसंयोगो व्यापारः; स च न क्रियासमवेतः। तथा यागादिक्रियाव्यापारोऽपि कर्त्तृसमवायी क्रियानाशेऽपि न विरुध्यते। वा–शब्द आशङ्कानिराकरणार्थः।

तदपूर्वात्मकं क्रियायाः फलं कार्यं जायत एव। तर्हिं क्रियासमवाय्येव? न; किन्तु सूक्ष्मक्रियाशक्तिसानात्मा आश्रयो यस्य तत्सूक्ष्मशक्त्यात्मकम्। एवं क्रियाया युक्तिसम्भावितं फलसाधनत्वं क्रियावाक्यव्याख्यानेन विशदयति –अग्निहोत्रमिति। स्वर्गकामपदेन स्वर्ग

ज्ञानवती

जिस वाक्य से, याग से स्वर्ग होता है प्रयाज आदि प्रधान का उपकार, यह पूछा जाता है, उसके द्वारा विनष्ट भी इनकी स्वर्गोत्पादन शक्ति अवश्य नहीं है, ऐसा मानना चाहिये।

कालान्तर में उत्पत्ति होने वाले फल के विषय में लौकिक भी जो धर्म हैं, वहाँ भी शक्ति ही है न कि अपूर्व (यही) यहाँ कहा जाता है।"

"वह फल शक्ति के द्वारा याग से ही सिद्ध होता है। अथवा वह फल ही सूक्ष्म शक्त्यात्मक उत्पन्न होता है।"

"स्वर्ग की इच्छा वाला अग्निहोत्र करे" यहाँ पर क्रिया का सामान्य के द्वारा फलसाधनत्व मालुम होने पर यदि सन्निहितस्वर्गफलविशेष के रूप में सम्बन्ध होता। ऐसा

---

[1] (क) नावश्यं, (ग) तेनावश्यं।
[2] (ग) त्पादे न शक्तिः।
[3] (क) मिहो, (ख, ग) गिरो।
[4] (क) ब्रह्म, (ग, घ) सूक्ष्म।
[5] तै० ब्रा० २।१।२।

ऽवगते सन्निहितस्वर्गः[1] (फलविशेषत्वेन[2]) (सम्बध्यते[3])। न च स्वर्गकामस्योपदेशबलात् यागस्वर्गयोः साध्यसाधनत्वेनान्वयकल्पना ; "दण्डी प्रैषानन्वाह" इतिवत् स्वर्गकामपदं विशेषणस्वर्गपरं वा ? अधिकारिव्यावर्त्तकम् वा ?—इति संशये अर्थिन उपदेशा इत्युत्सर्गात् विशिष्टाधिकारिप्राप्तेर्विशेषणपरत्वनिश्चयात्[4]। अतो भावनापक्ष एव सूत्रकारादिभिरपि निर्णीतः। तथा हि—"आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् आनर्थक्यमतदर्थानाम्, तस्मादनित्यमुच्यते।"[5] अयमर्थः -

"सिद्धप्रमाणभावस्य धर्मे वेदस्य सर्वशः।
विध्यर्थवादमन्त्राणां उपयोगोऽधुनोच्यते ॥"[6]

धर्मे सामान्यतः प्रामाण्ये सिद्धे समस्तस्य वेदस्य विध्यर्थवादमन्त्रनामधेयात्मकस्य यथाविभागं धर्मं प्रत्युपयोगः प्रतिपाद्यते। तत्र पूर्ववाद्यभिप्रायः—"चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः" इत्युपक्रमात् "तस्य ज्ञानमुपदेशः" तस्य=धर्मस्य ; ज्ञानं—ज्ञायते अनेन इति=प्रमाणम् ; उपदेशः=चोदना।

भावदीपिका

एव समर्प्यते नाऽधिकारी, तस्य प्रकारान्तरेण लाभात्। तेन यजेतेति विहितत्वेन क्रियाया यत्किञ्चित् फलसम्बन्धे सिद्धे स्वर्गकामपदेन फलविशेषः समर्प्यत इत्येतन्न वाच्यम्; तस्याऽधिकारिसमर्पकत्वेऽपि स्वर्गफलत्वलाभात्—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। "मैत्रावरुणः प्रेष्यात्" इति प्रैषकर्त्तुः प्राप्तत्वात् दण्डीतिपदं दण्डविशेषणपरम्; तथा विशिष्टाऽधिकारिणोऽपि प्राप्तेः फलश्रुतिबलात् विशेषणपरमेव स्वर्गकामपदम्। एवं च सति भट्टपादोक्ताऽभिप्रायमेव कर्मशास्त्रम्—इत्याह—अत इति। तदभिप्रायमर्थवादादधिकरणसंक्षेपेणाऽऽह—तथा हीति। उपयोगविशेषस्य प्रामाण्यनिर्णयपूर्वकत्वात् उपजीव्याऽऽद्यपादसङ्गतिमाह सिद्धेति। उपात्तपूर्वपक्षसूत्रं विवृणोति—तत्रेति। विधिप्रतिषेधशब्दाऽतिरिक्तशब्दगम्यत्वं चोदनादिसूत्रेण

ज्ञानवती

नहीं है कि स्वर्ग चाहने वाले को उपदेश के बल से याग एवं स्वर्ग की साध्य एवं साधन के रूप में अन्वयकल्पना होती है। "दण्डी प्रैषानन्वाह" इसके समान स्वर्गकामपद विशेषण स्वर्ग परक है ? या अधिकारी का व्यावर्त्तक है ?—ऐसा संशय होने पर 'अर्थिने उपदेशाः' इस उत्सर्ग से विशेष अधिकारी की प्राप्ति होने पर विशेषणपरत्व का निश्चय होता है। इसीलिये सूत्रकार आदि ने भी भावनापक्ष का ही निश्चय किया है। वह इस प्रकार है—

"आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् तस्मादनित्यमुच्यते"। इसका अर्थ यह है—धर्म के बारे में सिद्धप्रमाणभाववाले वेद के विधि अर्थवाद एवं मन्त्रों का उपयोग इस समय कहा जाता है।

धर्म के विषय में सामान्यतः प्रामाण्य के सिद्ध होने पर विधि अर्थवाद-मन्त्र-

---

[1] (ग) सन्निहितः स्वर्गः। [2] (क) विशेषश्चेन्न, (ग) विशेषत्वेन।
[3] (क) सम्बन्ध्यते। [4] (ग) प्राप्तेर्वि।
[5] जै० सू० १।२।१। [6] तं० वा० १।२।१।

"चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः ॥"[१]

इति वचनात्[२]। "तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः"[३] तत्र=वेदे; भूतानाम्=सिद्धवाचिपदानाम्; कार्यवाचिपदेन समाम्नायः=सम्बन्धः; इत्युपसंहारात् विधिप्रतिषेधयोरेव प्रामाण्यं प्रतिपादितम्। न च तद्व्यतिरिक्तशब्दगम्यत्वं धर्माधर्मयोः, नाप्यनधिगतार्थबोधनं मुक्त्वा शब्दव्यापारोऽस्ति। अतश्च यावन्त्येव साध्यसाधनेतिकर्तव्यतावाचित्वेन[४] पदानि विधिप्रतिषेधान्तर्गतानि, तेषां भवतु प्रामाण्यम्; यानि त्वतिरिक्तार्थानि अर्थवादमन्त्रनामधेयानुपातीनि "सोऽरोदीत्", "इषे त्वोर्जे त्वा", "उद्भिदा" इत्येवमादीनि तानि सत्यप्यपौरुषेयत्वे[५] स्वार्थाभिधानसामर्थ्ये च धर्माधर्मयोरप्रमाणम्। "अतदर्थत्वात्" यथाश्रुतगृहीतानां तावत् प्रतिपत्त्यनुपलब्धेः प्रसिद्धमेवातदर्थत्वम्। अथ कयाचिच्छब्दवृत्त्या तादर्थ्यं कल्प्येत? एवमपि

भावदीपिका

प्रत्याख्यातम्; तेन नार्थवादानां विध्यादिवद्धर्मादौ प्रामाण्यम्। तदाह—न चेति। न च धर्माद्युत्पादकत्वेनाऽर्थवादानां प्रामाण्याऽऽशङ्का—इत्याह—नाऽपीति। अतदर्थानामिव हेतुत्वेन योजयति—अतदर्थत्वादिति। तादर्थ्यं मुख्यवृत्त्या वा? वृत्त्यन्तरेण वा? नोभयथाऽपि—इत्याह—अथेति।

ज्ञानवती

नामधेयात्मक वेद का यथाविभाग धर्म के प्रति उपयोग का प्रतिपादन किया जाता है। इस विषय में पूर्ववादी का अभिप्राय है—"चोदनालक्षण वाला अर्थ धर्म है" इस उपक्रम से "तस्य ज्ञानमुपदेशः" उसका (अर्थात्) धर्म का; ज्ञान (अर्थात्) ज्ञायते अनेन यह प्रमाण; उपदेश =चोदना है। क्योंकि "चोदना, उपदेश और विधि एक अर्थ के वाची है"

"तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः" वहाँ (अर्थात्) वेद में, भूतों का,(अर्थात् सिद्धवाची पदों का) कार्यवाची पद के साथ समाम्नाय (अर्थात्) सम्बन्ध है—ऐसा उपसंहार होने से विधि एवं प्रतिषेध का ही प्रामाण्य प्रतिपादित किया गया है। धर्माधर्म का उससे व्यतिरिक्त शब्दगम्यत्व नहीं है और न तो अनधिगतार्थबोधन को छोड़कर शब्द का (कोई दूसरा) व्यापार है। इसलिये साध्यसाधनइतिकर्त्तव्यतावाची के रूप में जितने भी पदार्थ विधि एवं प्रतिषेध के अन्तर्गत हैं उनका प्रामाण्य हो जाय, किन्तु जो अतिरिक्त अर्थवाले अर्थवाद-मन्त्र-नामधेय के अनुपाती "वह रोया", "तुमको अन्न के लिये तुमको बल के लिये", "उद्भिदा" इत्यादि हैं वे अपौरुषेय तथा स्वार्थ के अभिधान में समर्थ होने पर भी धर्म और अधर्म में अप्रमाण हैं। "अतदर्थत्वात्" का अर्थ है—यथाश्रुतगृहीतों की प्रतिपत्ति की अनुपलब्धि होने से प्रसिद्ध ही अतदर्थ है।

(पू) किसी शब्दवृत्ति से तादर्थ्य की कल्पना प्रतिपत्ति की अनुपलब्धि से हो जाय (क्योंकि तुम्हारे यहाँ अतदर्थत्व प्रसिद्ध ही है) तो भी व्यवस्था हेतु के अभाव से धर्माधर्म का निश्चय नहीं हो सकेगा। जो वाक्य से गृहीत हैं, अध्याहार, विपरिणाम आदि से उन्हीं की यथेष्ट कल्पना की जा सकती है।

---

[१] श्लो० वा० १।५।११। [२] (ग) वचनाय परामर्शात्।
[३] जै० सू० १।१।२५। [४] (ग) वाचित्वे। [५] (ग) सत्यप्यपौरुषेयत्वे।

व्यवस्थाहेत्वभावान्न धर्माधर्मयोरवधारणं स्यात्। यदेव हि वाक्यगृहीतं तदेवाध्याहारविपरिणामादिभिर्यथेष्टं कल्पयितुं शक्यते।

तथा "सोऽरोदीद्" इत्येतदेव तावत् वाक्यं विशिष्टपुरुषचरितोपन्यासद्वारा रोदनकर्त्तव्यतापरम्। यद्वा महतामप्येवंविधाः प्रमादाः भवन्ति तस्मात् प्रयत्नेन वर्जयितव्यम् इति। अतो विधिप्रतिषेधयोरस्फुटत्वात् धर्माधर्मत्वेन निर्णेतुं शक्त्यभाव इति।

[अर्थवादानां प्रामाण्यव्यवस्थापनम्—]

अत्र सिद्धान्तः—"विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः"[१]। सकलस्य तावद् वेदस्य "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यध्ययनभावना विधीयते। तत्र 'किं भावयेत्'?—इत्यपेक्षायां अध्ययनमित्यवगतमपि पुरुषप्रवर्त्तनशक्तियुक्तेन विधायकेनापुरुषार्थसाध्यायां भावनायां प्रवर्त्तनाशक्तिप्रसक्तेः तदंशान्निराक्रियते। ततश्चाध्ययनेन इत्यविरोधात् सन्निधेश्च करणांशे निविशते। तेन किम् (इत्यपेक्षिते[२]) यच्छक्यत इत्युपबन्धादक्षरग्रहणमित्यापतति।

तस्याप्यपुरुषार्थत्वात् तेन किम्? इति पदावधारणमित्युपतिष्ठते। तेनापि पदार्थज्ञानम्, तेन च वाक्यार्थज्ञानम्, तेन चानुष्ठानेन स्वर्गादिफलप्राप्तिरिति। एतावति प्राप्ते निराकाङ्क्षितं[३] भवति। एवं सर्वविधीनां प्राक् पुमर्थलाभाद-

भावदीपिका

[अर्थवादानां प्रामाण्यव्यवस्थापनम्—]

सिद्धान्तसूत्रं विवृणोति सोपस्कारम्—सकलस्येति। "अष्टवर्षो ब्राह्मण उपगच्छेत् सोऽधीयीत" इति विपरिणामवाक्ये स्वाध्यायभावना अर्थादवगम्यते "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इत्यत्र मुख्यतः। तेनैतत् पुरस्कारः। भावनाया भाव्याद्यंशं युक्तिलेशेनाऽऽह अंशविशेषेऽर्थवादानामुपयोगेन प्रामाण्याय—तत्रेत्यादिना। तदंशात्=भाव्यांशात्। यत एव स्वर्गा-

ज्ञानवती

तथा "सोऽरोदीत्" यही (वाक्य) विशिष्ट पुरुष के चरित के उपन्यास के द्वारा रोदनकर्त्तव्यतापरक है। अथवा बड़े लोगों को भी इस प्रकार के प्रमाद हो जाते हैं इसलिये प्रयत्नपूर्वक वर्जित करना चाहिये। इसलिये विधि एवं प्रतिषेध के स्फुट न होने से धर्माधर्म के रूप में निर्णय करने के लिये शक्ति का अभाव है?

[अर्थवादों के प्रामाण्य की व्यवस्थापना—]

(उ) इस विषय में सिद्धान्त है। "विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः"। "स्वाध्ययोऽध्येतव्यः" इससे समस्त वेद की अध्ययनभावना का विधान होता है। वहाँ किं भावयेत्? ऐसी अपेक्षा होने पर 'अध्ययन' ऐसा अवगत होकर भी पुरुषप्रवर्त्तनशक्ति से युक्त विधायक (लिङ) के द्वारा अपुरुषार्थसाध्यभावना में प्रवर्त्तनाशक्ति की प्रसक्ति होने के कारण

---

१ जै० सू० १।२।७।

२ (क) अपेक्षते। यच्छक्यत। (ग) अपेक्षिते यच्छक्यत।

३ (ग) निराकाङ्क्षी।

पर्यवसानम्। अक्षरावाप्तिरेवाध्ययनविधिफलम् इति अत एव नास्थेयम्। न च स्वर्गादिफलोऽसौ साक्षादेव।

न खलु सहसैव विधिदर्शनात् स्वर्गाद्येव फलं (कल्प्यते[1])। योग्यतया हि यस्य यत्रानन्तरभाविनि व्यापारो लक्ष्यते तदेव तस्य कार्यमित्यवधार्यते। तत्र यदि तावत् तदनुसारेणैव कियत्यप्यध्वनि फलमासाद्यते ततो नान्तरा कल्पनमर्हति; पारम्पर्यप्रयोजनेनापि श्रुतविध्यन्यथाऽनुपपत्तिलक्षणर्थापत्त्युदयात्[2]।

एतेनैतदपास्तम् "स्वाध्यायाध्ययनेन स्वर्गं भावयेत्" इति वाक्यविपरिणाम इति। यदाहुः—

"न चाक्षरावाप्तिपर्यन्त एव विधिव्यापारः"; साक्षादपुमर्थत्वं भवदभिमतार्था-

भावदीपिका

दिफलत्वं तत एव। ननु किं परम्परया? मुखत एवास्तु स्वर्गफलत्वम्? तत्राऽऽह—न चेति। विधिश्रुतिबलात् साक्षात् तत्फलत्वं किं न स्यात्? अत आह—पारम्पर्येति। मतान्तरव्युदासेनैतत् द्रढयति—एतेनेति। अन्यदपि परोक्तं प्रतिक्षिपति—न चाक्षरेति। अक्षराऽवाप्तेः साक्षात् पुमर्थत्वाभावात् कथं तत्पर्यन्त एव व्यापारः, स्वोक्तिविरोधात्?— इत्याह—स्वाध्याय इति। एवमध्ययनविधेस्तत्राऽऽह—साक्षादिति। दृष्टो हि तस्यार्थः

ज्ञानवती

तदंश (=अध्ययनांश) से निराकृत कर दिया जाता है। इसके वाद 'अध्ययनेन' ऐसे अविरोध और सन्निधि से (अध्ययन का) करणांश में निवेश होता है। उसके द्वारा 'किम्?' ऐसी अपेक्षा होने पर जो शक्य है इस अध्याहार से अक्षर का ग्रहण (होना चाहिए) ऐसा आपतित होता है।

उसके भी अपुरुषार्थ होने से उसके द्वारा 'क्या ?' ऐसा पद का अवधारण उपस्थित होता है। उससे भी पदार्थ का ज्ञान होता है। उससे वाक्यार्थ का ज्ञान, उससे अनुष्ठान होने से स्वर्ग आदि फल की प्राप्ति होती है। इतना प्राप्त होने पर (भावयेत् पद) निराकाङ्क्षित होता है। इस प्रकार सब विधियों का पुरुषार्थलाभ के पहले पर्यवसान नहीं होता। इसीलिये अध्ययनविधि का फल अक्षरावाप्ति है ऐसी आस्था नहीं करनी चाहिये। और यह (=अध्ययनविधि) साक्षात् ही स्वर्गादिफलवाली भी नहीं है।

विधि के दर्शन से सहसा ही स्वर्गादि ही फल कल्पित नहीं होता। योग्यता के द्वारा जिसका जिस अनन्तरभावी में व्यापार लक्षित होता है वही उसका कार्य है—ऐसा निश्चय किया जाता है। उसमें यदि उसके अनुसार (चलने पर) कुछ ही रास्ते में फल की प्राप्ति हो जाती है तो दूसरी कल्पना ठीक नहीं है, क्योंकि पारम्पर्यप्रयोजन के द्वारा भी श्रुत विधि की अन्यथा अनुपपत्ति लक्षण वाली अर्थापत्ति का उदय हो जाता है।

इससे 'स्वाध्याय अध्ययन के द्वारा स्वर्ग को उत्पन्न करना चाहिये इस वाक्य का विपरिणाम है'—यह अपास्त हो गया जैसा कि कहते हैं—

---

[1] (क) कल्प्येत, (ग) कल्प्यते। [2] (ग) त्यनुदयात्।

वबोधस्यापि तुल्यम्। अन्यथा अध्यापनविधेरेव स्वर्गादिपर्यन्तं (व्यापारादुत्तर[१]-) विध्यानर्थक्यम् इति वाच्यम्; आप्तवाक्यवत् प्राप्तमात्रस्यापुमर्थत्वात्। न च ब्रह्मयज्ञपारायणादिहेतुतया प्रयोजनम्; अवश्यकर्त्तव्यतालक्षणार्थावबोधाद्विना तस्याप्यसिद्धेः। न च पित्राद्युपदेशात् सन्ध्योपासनादिवत् तत्सिद्धिः; प्रेक्षाकारिणो हि (विधितदर्थं[२]-)प्रदर्शनमन्तरेण प्रवर्त्तयितुमशक्यत्वात् "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इति विहिताध्ययनस्यार्थावबोध(-क्रत्वनु[३]-)ष्ठानादिपरम्परया फलवत्त्वम् तावत्; राजसूयादीनां च केषाञ्चित् वेदाधिकृतानामप्यनुष्ठानासम्भवात् तत्पाठः पाठार्थ एव स्यात्। अतस्तत्राध्ययन(-विधेः[४]) अर्थवत्त्वानुपपत्त्या प्राणाग्निहोत्रे[५] आस्यमाहवनीयः इत्यादिसम्पादनात् तत्कर्मफलसिद्धिर्वक्तव्या" इति; वेदान्तिभिरपि स्वीकाराच्च।

यत्र त्वनन्तरदृष्टं कार्यं न स्वयं पुरुषार्थो नापि पारम्पर्येण तमाप्नोति; यथा

भावदीपिका

कर्मावबोधनमिति भवदभिमतस्य। अथ स्वर्ग एव मुख्यं फलमुक्तम्? तत्राऽऽह—अन्यथेति। परोक्तं पुमर्थत्वं निराचष्टे—न चेति। अन्यथाऽपि सिद्धिं निराचष्टे—न चेति। इतोऽपि नाऽक्षरावाप्तिपर्यन्त एव व्यापारः; स्वोक्तिविरोधात्—इत्याह—स्वाध्याय इति।

एवमध्ययनविधेः पारम्पर्येण फलवत्त्वम्। यत्र पुनर्नैवं तत्र कथम्?—तदाह—यत्र त्विति। एवं भाव्यांशं निर्धार्य, करणांशं चाध्ययनविधौ विध्यन्तरेष्वपि यथा सम्भवन्यायमति-

ज्ञानवती

(पू) विधि का व्यापार अक्षरावाप्ति पर्यन्त ही नहीं है आपके द्वारा अभिमत अर्थावबोध का भी साक्षाद् अपुमर्थत्व तुल्य है? स्वर्गादि पर्यन्त अध्यापन विधि का ही व्यापार होने से उत्तरविधि निरर्थक हो जायगी? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि आप्तवाक्य के समान प्राप्तमात्र (=स्वाध्यायमात्र) भी पुमर्थ नहीं है। (पू) ब्रह्मयज्ञपारायण आदि का हेतु होना ही प्रयोजन है? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि अवश्यकर्त्तव्यतालक्षण अर्थावबोध के विना उसकी भी असिद्धि हो जाती है। (पू) पिता आदि के उपदेश से सन्ध्योपासन आदि के समान उसकी सिद्धि हो जायगी? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि प्रेक्षाकारी भी विधि और उसके अर्थ प्रदर्शन के विना प्रवृत्त नहीं हो सकता। "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विहित अध्ययन का अर्थावबोध क्रतु का अनुष्ठान आदि परम्परा के द्वारा फलवत्त्व है, और राजसूय आदि कुछ का वेदाधिकृत लोगों के लिये भी अनुष्ठान असंभव होने से उसका पाठ, पाठ के लिये ही हो जायगा। इसलिये वहाँ पर अध्ययन विधि के अर्थवत्त्व की अनुपपत्ति के द्वारा "प्राणाग्निहोत्रे[६] आंस्यमाहवनीय" इत्यादि के सम्पादन से उस कर्म के फल की सिद्धि कहनी चाहिये—यह अपास्त हो गया क्योंकि ऐसा वेदान्ती लोग भी स्वीकार करते हैं।

किन्तु जहाँ अनन्तरदृष्ट कार्य न स्वयं पुरुषार्थ है और न परम्परा से उस (=पुरुषार्थ)

---

१ (क) व्यापारे उत्तर, (ग) व्यारादुत्तर। २ (क) विहितदर्थं, (ग) विधितदर्थं।
३ (क) कत्वानु, (ग) क्रत्वानु। ४ (क) विधिः। (ग) विधेः।
५ (ग) होत्रं मुखमाह। ६ प्राणाग्निहोत्र एक प्रकार का उपासना-कर्म है। उसमें मुख को ही आहवनीय अग्नि समझा जाता है।

होमस्याहवनीयप्राप्तिः भस्मसाद्भावो वा; तत्र तदतिक्रमेण कर्मण एव साक्षाददृष्ट-कल्पना। सर्वत्र चैतल्लक्षयितव्यम्।

इह च लिङादियुक्तवाक्येषु द्वे भावने गम्येते—शब्दात्मिका अर्थात्मिका च। अर्थात्मिकया अर्थवादा नापेक्ष्यन्ते। शब्दात्मिकया तु ग्रहीष्यन्ते। सा ह्येव प्रवर्त्तते 'भावयेत्' इति। तत्र लिङादीनां प्रयोजनकर्त्तृत्वं, पुरुषः (प्रयोज्यः, तेन[1]) किम्? इत्यपेक्षायां पुरुषप्रयत्नवर्त्तनम् इति सम्बध्यते।

अथवा योग्यतयैव लिङादिविषया क्रिया उच्यते 'प्रवर्त्तयेत्' इति। अत्र किम्? इत्यपेक्षिते 'पुरुषम्' इति सम्बध्यते। यद्यपि (चा[2]-)चेतनत्वात् लिङादि-ष्वेवंविधं प्रयोजकत्वं न सम्भवति तथाऽपि पुरुषस्य प्रयोज्यस्य[3] प्रयोजकत्वानुपपत्तेः तद्गतचैतन्यद्वारेण प्रयोजकता। अथ केन?—इत्यपेक्षिते पूर्वसम्बन्धानुभवापेक्षेण

भावदीपिका

दिश्य, अधुना भावनाविभागाऽनुवादेनाऽर्थवादानामितिकर्त्तव्यतांशत्वं सम्पादयति—इह चेति। 'भावयेत्' इति प्रयोजकव्यापाराऽभिधानात् प्रयोज्यप्रयोजकावाह तत्रेति। तर्हि राज्ञोऽमात्यं प्रति 'भारमिमं ग्रामान्तरं प्रापय' इत्युक्तौ दासप्रयोक्ता यथाऽमात्यः तथा शब्दाऽधिकारिणोर्मध्ये प्रयोक्त्रन्तरमापद्येत—इत्यत आह—अथवेति। योग्यतयेत्येतत् विवृणोति—यद्यपि चेति। 'यजेत' इति पुरुषस्य प्रयोज्यत्वं सिद्धं अपौरुषेयशब्दे च 'शब्द एव मां प्रवर्त्तयति' इत्यबाधितबुद्ध्या तं प्रति शब्दस्य प्रवर्त्तकस्य सिद्धिरित्यर्थः। एवं पुरुषप्रवृत्तिलक्षणे भाव्ये स्थिते करणाद्यंश-

ज्ञानवती

को प्राप्त करता है जैसे होम का आहवनीयप्राप्ति या भस्मसाद्भाव, वहाँ पर उसके अतिक्रमण से कर्म की ही साक्षात् अदृष्ट कल्पना है। और सर्वत्र इसे लक्षित करना चाहिये।

और यहाँ लिङादियुक्त वाक्यों में दो भावनायें जानी जाती हैं—शब्दात्मिका और अर्थात्मिका। अर्थात्मिका के द्वारा अर्थवादों की अपेक्षा नहीं की जाती। किन्तु शब्दात्मिका के द्वारा (अर्थवादों का) ग्रहण होता है। वही 'भावयेत्' इस रूप में प्रवृत्त होती है। वहाँ लिङ आदि प्रयोजक है, पुरुष प्रयुक्त होता है। उसके द्वारा क्या?—इस अपेक्षा में पुरुषप्रयत्न का वर्तन—यह सम्बद्ध होता है।

अथवा योग्यता के द्वारा ही 'प्रवर्त्तयेत्' ऐसी लिङ आदि विषयक क्रिया कही जाती है। वहाँ 'किसको?'—ऐसी अपेक्षा होने पर 'पुरुष को'—इसका सम्बन्ध होता है। यद्यपि अचेतन होने से लिङ आदि में इस प्रकार का प्रयोजकत्व संभव नहीं है, तो भी प्रयोज्य पुरुष के प्रयोजकत्व की अनुपपत्ति के कारण उसमें रहने वाले चैतन्य के द्वारा प्रयोजकता होती है। 'किसके द्वारा?'—ऐसी अपेक्षा होने पर 'पूर्वसम्बन्ध के अनुभव की अपेक्षा करने वाले विधिविज्ञान के द्वारा'—यह अन्वय होता है। 'कैसे'?—ऐसा (प्रश्न होने पर) 'प्राशस्त्यज्ञान से अनुगृहीत के द्वारा',—ऐसा (उत्तर है)। क्योंकि ऐसा है? बुद्धिपूर्वकारी पुरुष जब तक 'यह प्रशस्त है'—ऐसा नहीं जानते तब तक नहीं प्रवृत्त होते, वहाँ विधि विभक्ति रुक जाती है और उसे

१ (क) प्रयोज्यते ननु, (ग) प्रयोज्यस्तेन। २ (क) वा। (ग) चा।
३ (ग) प्रयोज्यत्वानुप।

विधिज्ञानेन इति सम्बध्यते। कथम् इति? प्राशस्त्यज्ञानानुगृहीतेन इति। कुत एतत्? बुद्धिपूर्वकारिणो[1] हि पुरुषा यावत् प्रशस्तोऽयं इति न बुध्यन्ते, तावन्न प्रवर्त्तन्ते, तत्र विधिविभक्तिरवसीदति तां प्राशस्त्यज्ञानमुत्तभ्नोति[2]। तत्र (पुरुषार्थात्मके[3]) फलांशे सर्वस्य स्वयमेवानुष्ठानम् भवतीति प्रसिद्धत्वान्न वेदादुत्पद्यमानमपेक्ष्यते। साधनेतिकर्त्तव्यतयोस्त्वप्रवृत्तपुरुषनियोगाच्छास्त्रमेव प्राशस्त्यप्रतिपादनायाऽऽकाङ्क्ष्यते। तत्पुनः केन क्रियते?—इति साधनापेक्षा; सा यदि वा फलेन निर्वर्त्त्यते प्रशस्तोऽयं[4] फलत्वात् इति।

[अर्थवादाः स्तुतिनिन्दापराः—]

अथवा विधिनैव[5] सर्वदोषाऽऽशङ्काविनिर्मुक्तवेदविहितत्वात् इति। अथवा विशिष्टद्रव्यदेवतेतिकर्त्तव्यतायुक्तत्वात् इति। एवञ्च न प्ररोचनाऽन्यकृता कर्माङ्गम्।

भावदीपिका

माह—अथेति। बालवद् विनाऽपि प्राशस्त्यज्ञानं प्रवृत्तिमाशङ्क्य तदुपयोगमाह—कुत इत्यादिना। तर्हि किमंशत्रयेऽप्यविशेषेण प्राशस्त्यज्ञामनपेक्ष्यते? नेत्याह—तत्रेति। आकाङ्क्षापूर्वकं साधनादौ तदुपयोगमाह—तत्पुनरिति। तत्कर्म क्लेशात्मकं केन हेतुना क्रियेत?—इत्याकाङ्क्षा। अयम्=यागः।

[अर्थवादाः स्तुतिनिन्दापराः—]

तर्हि येन केनचित् प्राशस्त्यज्ञानसिद्धौ किमर्थवादैः? तत्राऽऽह—एवञ्चेति। आम्नातं-

ज्ञानवती

प्राशस्त्यज्ञान उत्तम्भित करता है। वहाँ पुरुषार्थात्मक फलांश में सबका स्वतः अनुष्ठान होता है। ऐसा प्रसिद्ध होने से वेद से उत्पद्यमान की अपेक्षा नहीं होती। साधन और इतिकर्त्तव्यता में तो अप्रवृत्तपुरुष का नियोग होने से, शास्त्र ही प्राशस्त्यप्रतिपादन के लिये आकांक्षित होता है। फिर वह किससे किया जाता है, इस प्रकार साधन की अपेक्षा होती है। और वह फल से निवृत्त होती है क्योंकि फल होने के कारण यह प्रशस्त है।

अथवा विधि से ही होती है क्योंकि सब दोष की आशङ्का से विनिर्मुक्त वेद के द्वारा विहित है। अथवा विशिष्ट द्रव्य देवता इतिकर्त्तव्यता से युक्त है। इस प्रकार अन्य के द्वारा की गई स्तुति कर्म का अङ्ग नहीं है।

[अर्थवाद स्तुतिनिन्दापरक हैं—]

और न तो "अर्थवादों के द्वारा प्रयोजनान्तर की सिद्धि करनी चाहिये" इस आम्नान के सामर्थ्य से दोनों नियम हैं। इससे प्रतिषेधापेक्षित द्वेष की सिद्धि के लिये निन्दा पद की संगति का व्याख्यान हुआ है, वहां भी द्वेष के विना निन्दा निर्वृत्त नहीं होती, और द्वेष की उत्पत्ति अप्रशस्तप्रत्यय के अधीन है।

---

१ (ग) बुद्धिकारिणो।
२ (ग) मुत्तभ्नाति।
३ (क) पुरुषार्थात्मक, (ग) पुरुषार्थात्मके।
४ (ग) भूमिफलत्वात्।
५ (ग) विनैव।

न वा अर्थवादैः प्रयोजनान्तरं साधनीयं (इत्याम्नान[१]-)सामर्थ्यात् (उभय नियमः[२]। एतेन) प्रतिषेधापेक्षितद्वेषसिध्यर्थं निन्दापदसङ्गतिर्व्याख्याता। तत्रापि न द्वेषाद्दते निन्दा[३] निवर्त्तते। द्वेषश्चाप्रशस्तप्रत्ययाऽधीनोत्पत्तिः।

"इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रतरिष्यति॥"

"वेदः समुपबृंहणः" इति च स्मरणात्। एवं भारतादिवाक्यान्यपि व्याख्येयानि। तेषामपि "श्रावयेच्चतुरो वर्णान्" इत्येवमादिविध्यनुसारेण पुरुषार्थान्वेषणात्। अक्षरादीन्यतिक्रम्य धर्मार्थकाममोक्षाधर्मानर्थदुःखसंसारसाध्यसाधनप्रतिपत्ति-(रुपादान[४]-) परित्यागाङ्गभूतः फलम्। तत्रापि मोक्षाधर्मादिषु (केचित्[५]) साक्षाद् विधयः। केचित् पुनः परकृतिपुराकल्परूपेणार्थवादाः[६]। सर्वेष्वाख्यानेषु[७] च तात्पर्ये सति "श्रावयेत्" इति विधेरानर्थक्यात् कथञ्चिद्गम्यमानस्तुतिनिन्दा-

भावदीपिका

विधिप्रकरणे। एवं स्तुतिवादानामितिकर्त्तव्यतांशे प्रवेशमुक्त्वा निन्दाऽर्थवादानां तमाह—एतेनेति। एवं वेदे अर्थवादानां प्रामाण्यं प्रसाध्य तद्दाढर्यार्थं वेदमूलेतिहासादावपि तत्सम्पादयति—इतिहासेति। ऋनुविधिस्थानीयानाह तत्राऽपीति। किमित्याकाशादि-कारणतदीयमहाकल्पाऽवान्तरकल्पाऽऽदिकार्यादौ तात्पर्यं नोच्यते किमर्थवादत्वेन? तत्राऽऽह—सर्वेति। "श्रावयेत्" इति मीमांसनं सूचितम्। अध्ययनविधेरर्थावबोधपरत्वे 'श्रावयेत्' इत्यस्य तत्परत्वं किमु वाच्यं यतः ततो न श्रुतमात्रं तत्त्वमवधारणीयम्। सति च न्यायतो

ज्ञानवती

"इतिहास और पुराण से वेद कास मुपबृंहण करना चाहिये। अल्पश्रुत से वेद डरता है कि यह मुझे प्रतारित कर देगा।"

"वेद को पुराण आदि के सहित (पढ़ना चाहिये)" यह स्मृति भी है। इसी प्रकार महा-भारत आदि वाक्यों का भी व्याख्यान करना चाहिये। क्योंकि उनका भी, "चारो वर्णों को सुनाना चाहिये" इत्यादि विधि के अनुसार पुरुषार्थ के लिये अन्वेषण होता है। अक्षर आदि की प्राप्ति को छोड़ कर धर्म, अर्थ काम, मोक्ष, अधर्म, अनर्थ, दुःख, संसार साध्यसाधन की प्रतिपत्ति (जो कि) उपादान एवं परित्याग का अंगभूत है; फल नहीं है। उनमें भी मोक्ष, धर्म आदि के बारे में कुछ साक्षात् विधियाँ है। और कुछ दूसरे से निर्मित पुराण आदि के समान अर्थवाद हैं। सभी आख्यानों में तात्पर्य होने पर 'श्रावयेत्' इसविधि के अनर्थक होने से किसी प्रकार गम्यमान स्तुतिनिन्दा का परिग्रहण होता है। और तत्परक होने से अत्यन्त उपाख्यान तत्त्व का अभिनिवेश नहीं करना चाहिये। वेदप्रस्थान के अभ्यास से ही बाल्मीकि द्वैपायन आदि ने उसी प्रकार अपने वाक्यों का प्रणयन किया है। उनमें भी कुछ विधि एवं प्रतिषेध तो श्रुतिमूलक हैं और कुछ अर्थ सुखादि लोकमूलक। उसी प्रकार कुछ अर्थवाद वैदिक ही हैं,

---

[१] (क) इत्यज्ञा, (ग) इत्याम्ना। [२] (क) उभयमतेन, (ग) उभय—एतेन।
[३] (ग) विद्वान् निव, [४] (क) रुपो न, (ग) रुपादान।
[५] (क) केषु, (ग) के। [६] (ग) प्रकृति। [७] (ग) सर्वोपाख्या।

परिग्रहः। तत्परत्वाच्च नातीवोपाख्यानतत्त्वाभिनिवेशः कार्यः। वेदप्रस्थाना-(भ्यासेन हि[१]) वाल्मीकिद्वैपायनप्रभृतिभिः तथैव स्ववाक्यानि प्रणीतानि। तत्र तु विधिप्रतिषेधाः केचित् (श्रुति[२]-) मूलाः, केचिदर्थसुखादिषु लोकमूलाः। तथा अर्थवादाः केचिद्वैदिकाः एव अपरे लौकिकाः, केचित्तु काव्यन्यायेन स्वयमेव रचिताः। सर्वे च स्तुत्यर्थतया वेदवदेव प्रमाणम्।

[मन्त्राणां प्रामाण्यनिरूपणम्—]

इत्थमर्थवादानां प्रामाण्ये सिद्धे मन्त्राण्यपि चिन्त्यन्ते—"तदर्थशास्त्रात्"। स्वाध्यायाध्ययनविधिनैव मन्त्राः पुमर्थाय नीयन्ते। तथा हि—

दर्शपूर्णमासादिभिः क्रमप्रकरणाभ्यां यावत् संस्पृश्यते, तावत् सर्वमुप-कारकत्वेन स्वीक्रियते मन्त्ररूपमपि[३]। तत्र प्रयाजादिवाक्यान्यर्थं समर्प्य

भावदीपिका

विधिपरत्वे किम्?—तदाह—तत्परत्वाच्चेति। किं तर्हि वेद एव तन्मूलम्? न—इत्याह—तत्र त्विति।

[मन्त्राणां प्रमाण्यनिरूपणम्—]

कथं तर्हि मन्त्राणां प्रामाण्यम्?—अत आह—इत्थमिति। ज्ञाते हि पराभिप्रायेण सर्ववेदप्रामाण्यप्रकारे तत्प्रतिषेधेन वेदान्तानां प्रकारान्तरं सुकरं भवति इत्ययं प्रयासः। पूर्वपक्षसूत्रतात्पर्यमाह—स्वाध्यायेति। क्रियाप्रवेशं विना कथं पुमर्थता? तत्राऽऽह—तथा-हीति। क्रमो याज्याऽनुवाक्या-मन्त्रकाण्डाऽऽदिगतः। 'यज'—इत्युक्ते शस्यमाना ऋग्—याज्या। 'अनुब्रूहि'—इत्युक्ते च शस्यमाना ऋग्—अनुवाक्या। तर्ह्यङ्गवाक्यानामपि मन्त्रवत् स्वरूपेण विनियोगः प्राप्तः? अत आह—तत्रेति। तर्ह्यर्थवादवत् स्तुत्यर्थ-

ज्ञानवती

दूसरे लौकिक हैं, और कुछ काव्यन्याय के द्वारा स्वयं रचित हैं। और सब स्तुत्यर्थ होने के नाते वेद के हीं समान प्रामाणिक हैं।

[मन्त्रों का प्रामाण्य—]

इस प्रकार अर्थवादों का प्रामाण्य सिद्ध होने पर मन्त्रों की भी चिन्ता की जाती है—"तदर्थशास्त्रात्"। स्वाध्याय अध्ययन विधि के द्वारा ही मन्त्र पुरुषार्थ के लिये उपनीत होते हैं। वह इस प्रकार—

दर्शपूर्णमास आदि से क्रम एवं प्रकरण के द्वारा जब तक संस्पर्श किया जाता है, तब तक उपकारक के रूप में सब मन्त्र रूप भी स्वीकृत होता है। उसमें प्रयाज आदि वाक्य अर्थ का समर्पण करके चरितार्थ होते हुए स्वरूप संस्पर्श होने पर भी प्रयोज्यता को नहीं प्राप्त होते। किन्तु मन्त्र कर्मानौपयिक अर्थ को बतलाने के कारण उस अंश (=अभिहितार्थांश) से अनपेक्षित हैं। स्तुति विधि और स्मृति की प्रकारान्तर से सिद्धि होती है इसलिये प्रयोगवचन के द्वारा

---

[१] (क) प्रस्थानात् वाल्मी, (ग) प्रस्थानाभ्यासेन हि वाल्मी।

[२] (क) वृत्ति, (ग) श्रुति।

[३] (ग) पि च तत्रे।

चरितार्थानि स्वरूपसंस्पर्शे सत्यपि प्रयोज्यतां न प्रतिपद्यन्ते। मन्त्राः पुनः कर्मानौपयिकार्थाभिधायित्वात् तेनांशेनानपेक्षिताः। स्तुतिर्विधिस्मृतीनां च प्रकारान्तरेण सिद्धिः इति प्रयोगवचनेनैषां रूपमेवाङ्गीक्रियते। (स्वाध्यायाध्ययन[१]) चोदनाऽपि प्रत्यासन्नतरं मन्त्रस्वरूपमेव समर्प्य चरितार्थत्वात् न विप्रकृष्टं यावद् गच्छति। तस्माद्रूपमेवाङ्गम्। तथा च तदर्थं शास्त्रादीन्युच्यन्ते। यथा खलु[२] (नीली-)रोगाद्युपहतेन्द्रियस्य चक्षुरस्त्येवेति परैर्दृश्यते। परेण तु नीयमानमुपलभ्य न पश्यति इति ज्ञायते, तथा मन्त्ररूपमालोचयताम् अर्थप्रकाशनशक्तिबुद्धिः यद्यपि भवति, तथाऽपि परेण विनियोगं दृष्ट्वा स्वयं विनियोजक(-शक्तिः[३]) नास्ति इति गम्यत इति; एवं प्राप्ते सिद्धान्तः—

"अविशिष्टस्तु[४] वाक्यार्थः।" मन्त्रोच्चारणं तावत् (अक्षर[५]-) ग्रहणेन कृतार्थीकृतम्, न साक्षात्क्रत्वङ्गतां प्रतिपद्यते; अक्षराणां च द्रव्यवदनितिकर्त्तव्यतात्वात्

भावदीपिका

त्वेन विधेयस्मारकत्वेन वा मन्त्रोपयोगः स्यात्? अत आह—स्तुतीति। प्रकारान्तरं स्मृतौ ग्रहणकवाक्यादीनां चाऽध्ययनविधिनाऽर्थाऽवबोधद्वारेण मन्त्रोपयोगः—इत्याह—स्वाध्यायेति। "इषे त्वा"—इति 'शाखां छिनत्ति' इत्यादिमन्त्रस्वरूपविनियोजकं शास्त्रम्। ननु मन्त्राणामर्थोऽपि प्रतिभाति ततः कथं स्वरूपेणैव विनियोगः? तत्राऽऽह—यथेति। स्वयं विनियोजकशक्तिः—कर्त्तव्यताख्यापनशक्तिः। अवशेषं परिशेषेणाऽऽह—मन्त्रेति। तर्ह्यध्ययनेन गृहीतमन्त्राणां विनियोगोऽस्तु? तत्राऽऽह—अक्षराणां चेति। तर्हि पदार्थज्ञानेन

ज्ञानवती

इनका रूप ही स्वीकृत होता है। स्वाध्यायाध्ययन का वचन भी प्रत्यासन्नतर मन्त्र स्वरूप को ही समर्पित करके चरितार्थ हो जाने के कारण चूंकि दूर नहीं जाता है, इसलिये रूप ही अंग है। इसलिये उसके हेतु शास्त्र आदि कहे जाते हैं। जैसे नीली रोग आदि से दूषित इन्द्रिय वाले को 'चक्षु है' ऐसा दूसरे लोग देखते हैं, किन्तु वह दूसरे से नीयमान को प्राप्त कर भी नहीं देखता है—ऐसा ज्ञात होता है, उसी प्रकार मन्त्र रूप का आलोचन करने वालों को अर्थप्रकाशनशक्ति वाली बुद्धि यद्यपि होती है तो भी दूसरे के द्वारा विनियोग को देखकर स्वयं विनियोजक शक्ति नहीं है ऐसा जाना जाता है। ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त है—

वाक्यार्थ अविशिष्ट है। मन्त्र का उच्चारण अक्षरग्रहण से कृतार्थीकृत होने से साक्षात् क्रतु का अङ्ग नहीं होता और द्रव्य के समान, अक्षरों के इतिकर्त्तव्यतारूप न होने से प्रकरण के द्वारा ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार निराकाङ्क्ष होने से वाक्यार्थप्रत्यय के द्वारा पदार्थज्ञान का ग्रहण नहीं होता। वाक्यार्थप्रत्यय तो अकृतार्थ हो कर प्रकरण के रूप में विपरिवर्त्तमान होता हुआ क्रियात्मक होने प्रयोगवचनाकाङ्क्षित कर्मसमवेत अनुष्ठास्यमान अर्थ की स्मृति का फल

---

[१] (क) स्वाध्यायकथन, (ग) स्वाध्यायाध्ययन।
[२] (क) खलु नीरो, (ग) मुखनीली रो। [३] (क) शब्दो, (ग) शक्तिः।
[४] (ग) अवशिष्ट। [५] (क) अर्थं, (म) अक्षर।

प्रकरणेनाग्रहणम् । एवं पदार्थज्ञानस्य वाक्यार्थप्रत्ययेन नैराकाङ्क्ष्यादग्रहणम् । वाक्यार्थप्रत्ययस्त्वकृतार्थः प्रकरणे विपरिवर्त्तमानः क्रियात्मकत्वात् प्रयोगवचनाकाङ्क्षितकर्मसमवेतानुष्ठास्य(-मानोऽर्थ[१]-)स्मृतिफलत्वेनेतिकर्त्तव्यता भवति । तत्राऽदृष्टकल्पनानिमित्ताभावः । समाम्नानान्यथाऽनुपपत्तौ[२]हि तत्कल्प्येत ; नोपपन्नेऽर्थवत्त्वे । यद्यपि च कल्पनाऽवसरो भवेत्, तथाऽपि कामं वाक्यार्थप्रत्ययादेव । [३]तच्चौपयिकार्थप्रतीतिनिराकाङ्क्षाद्[४] वा स्यात् । अवश्यं च दृष्टादृष्टयोः विनियुज्यमानस्य प्रमाणमुपन्यसितव्यम्[५] । इह च प्रकरणात् दृष्टार्थता स्यात् लिङ्गाददृष्टार्थता ।

"अर्थात्प्रकरणाल्लिङ्गादौचित्याद्देशकालतः ।
शब्दार्थान् प्रतिपद्यन्ते न शब्दादेव केवलात् ॥"

इत्युक्तत्वात् ।

भावदीपिका

विनियुज्यते ? तत आह—एवमिति । यद्यक्षरग्रहणं पदार्थज्ञानेन चरितार्थम्, तच्च वाक्यार्थज्ञानेन, तर्हि तदपि क्वचिच्चरितार्थमुपेक्षणीयम् । यथा च नाऽवशिष्टम् तत्राऽऽह—वाक्यार्थेति । ननु समाम्नानबलाद् दृष्टमेव किञ्चिन्मन्त्रफलं कल्पतां किं ग्रहणकवाक्यादिलब्धस्मृतिफलेन ?—इत्यत आह—तत्रेति । समाम्नानस्याऽक्षरग्रहणेन चरितार्थत्वस्योक्तत्वादित्यर्थः । वाक्यार्थप्रत्ययादुपपन्नमर्थवत्त्वम् । अदृष्टकल्पना यदि सर्वथाऽपीष्टा तत्राऽऽह—यद्यपीति । तर्ह्येवमस्तु ? नेत्याह—अवश्यं चेति । प्रमाणञ्चाऽदृष्टपक्षे न तथा बलवद्यथा दृष्टार्थत्वे—इत्याह—इह चेति । लिङ्गम्=प्रकाशनसामर्थ्यम् । तस्माद् दृष्टस्मृतिफलत्वं अर्थनियामकत्ववत् विनियोगनियामकत्वं लिङ्गादेः—इत्याशयेनाऽऽह—अर्थादिति । तत्र

ज्ञानवती

होने के कारण इतिकर्त्तव्यता होता है। वहाँ अदृष्टकल्पना के निमित्त का अभाव है। वेद वचन की अन्यथानुपपत्ति होने पर उस (=अदृष्ट) की कल्पना की जाती है न कि अर्थवत्त्व के उपपन्न होने पर। यद्यपि (अदृष्ट की) कल्पना का अवसर होता तथापि वाक्यार्थप्रत्यय से ही (कल्पना हो जाय) और वह औपयिक अर्थ की प्रतीति से निराकांक्ष होने पर होता (इसलिये) अवश्य दृष्टादृष्ट में विनियुज्यमान के प्रमाण का उपन्यास करना चाहिये। यहाँ प्रकरण से दृष्टार्थता है, लिङ्ग से अदृष्टार्थता ।

"अर्थ से, प्रकरण से, लिङ्ग से, औचित्य से, देशकाल से, शब्दार्थों को जाना ज़ाता है न कि केवल शब्द से"—

ऐसा कहा गया है। वहाँ प्रकरण का अशक्य अर्थ में विनियोग नहीं हो सकता इसलिये एकान्तेन यह बात आती है कि जितना शक्य हो उतना मन्त्र से करना चाहिये। यह (मन्त्र) अदृष्ट (को उत्पन्न कर सकता) है इस विषय में लौकिक या वैदिक प्रमाण नहीं है। इस कारण लिङ्ग एवं प्रकरण दोनो की दृष्टार्थ प्रयोग के साथ एक वाक्यता होती है। और

---

१ (क) मानार्थं, (ग) मानोऽर्थं । २ (ग) वाऽन्यथाऽनुपपत्त्या हि ।
३ (ग) नत्वौपयि । ४ (ग) क्ष्याद्वा । ५ (ग) न्यासि ।

तत्र न प्रकरणमशक्येऽर्थे विनियोक्तमर्हति इत्येकान्तेनैतदापतति यच्छक्नुयात्, तन्मन्त्रेण कुर्यादिति। न चासावदृष्टं शक्नोति इति लौकिकं वैदिकं वा प्रमाणं विद्यते। तस्मादुभयोर्लिङ्गप्रकरणयोर्दृष्टार्थप्रयोगेणैकवाक्यता। एवं च सति याज्ञिकप्रयोगप्रसिद्धेर्न मूलान्तरकल्पनाक्लेशो भविष्यती[1] (-त्यतः स्वाभाविकमेवार्थप्राधान्यमवस्थितमिति) मन्त्राणामपि विध्येकवाक्यत्वेन प्रामाण्यम्।

[नामधेयप्रामाण्यनिरूपणम्—]

(अथ[2]) नामधेयानां तदुच्यते—"उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं[3] तस्मात् सर्वं तदर्थं स्यात्"[4]। उद्भिदादीन्युदाहृत्य सन्देहः क्रियते—किमेते कञ्चिद्धर्मं प्रत्युपयोगं गच्छन्ति उत न इति ? किम् प्राप्तम् ? आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यम्। न ह्येते विध्यादिष्वन्तर्भवन्ति साध्यसाधनेतिकर्तव्यताऽनभिधायित्वात् तावच्चोदनाबाह्यत्वम्, स्तुतिबुद्ध्यभावादर्थवादातिरेकः, कर्माङ्गद्रव्यदेवतादिप्रकाशयितव्यार्थाभावान्मन्त्रकार्यनिवृत्तिः[5]। न च अन्यत् (वेदे[6]) प्रयोजनमस्ति इत्यप्रमाणं एवंजातीयका, इत्यवान्तरपूर्वपक्षं कृत्वा उक्तम्।

भावदीपिका

प्रकरणस्य लिङ्गसापेक्षत्वात् न तन्नियामकत्वम्—इत्याह—तत्रेति। अदृष्टार्थत्वे च न लिङ्गाऽनुकूलत्वम्—इत्याह—न चासाविति। अतो यत्र लिङ्गाऽऽनुकूल्यं तदेव प्रकरणेनाऽनुमोदनीयम्—इत्याह—तस्मादिति। अस्मिन् पक्षे लाभमाह—एवं चेति।

[नामधेयप्रामाण्यनिरूपणम्—]

कथं तर्हि नामधेयप्रामाण्यम् ?—इत्यत आह—अथेति। पूर्वपक्षसूत्रं व्याचष्टे—आम्नायस्येति। प्रकारत्रयाद् बाह्यत्वेनाऽप्रामाण्यं पूर्वपक्षैकदेशिनो मतम्। अधुना मुख्य-

ज्ञानवती

ऐसा होने पर याज्ञिकप्रयोग की प्रसिद्धि होने से मूलान्तर कल्पना का क्लेश नहीं होगा। इसलिये अर्थ का प्राधान्य स्वाभाविक ही है—यह निश्चित हो गया। इस प्रकार विधि के साथ एक वाक्यता होने से मन्त्रों का भी प्रामाण्य है।

[नामधेयप्रामाण्यनिरूपण—]

अब नामधेयों का वह (=प्रामाण्य) कहा जाता है—"सामान्नाय का यह अर्थ (=कोई भाग विधि है कोई अर्थवाद यह अर्थ) कह दिया गया है इसलिये सब (उद्भिद् आदि पद उस (=प्रयोजन) के लिए है।"

(पू) उद्‌भिद् आदि का उदाहरण देकर सन्देह किया जाता है—ये किसी धर्म के प्रति उपयोग को प्राप्त होते हैं या नहीं ? क्या प्राप्त है ? आम्नाय के क्रियार्थक होने से

---

[1] (क) भविष्यति इति मन्त्राणामपि, (ख ग) भविष्यतीत्यतः स्वाभाविकमेवार्थप्राधान्यमवस्थितमिति मन्त्रणामपि, [2] (क) नामधे, (ग) अथ नामधे। [3] (ग) यैदमर्थं। [4] मी० सू० १।४।२। [5] (ग) कर्माङ्गभूतैवसंज्ञक। [6] (क) वेदेन, (ग) वेदे।

सर्वस्य त्रिविभागत्वात् वेदस्योक्तेन हेतुना उद्भिदाद्यप्रमाणत्व(-मतिरेकात्[१]) न सिद्धयति यदा तदा तदर्थत्रयान्यतमार्थं इति स्थितम्। तदा विचारः—किमर्थम् इति ? न तावदर्थवादत्वम् ; वाक्यशेषत्वाभावात्। कथं पुनरयं न वाक्यशेषो यावता वायुक्षेपिष्ठत्वादिवत् एकवाक्यताऽवगम्यते ; नैतदस्ति ; विधायकस्य हि यः शेषः, स वाक्यशेषः ; सोऽर्थवादः ; अयन्तु विध्युद्देशादेव नातिरिच्यत इति न वाक्यशेषः। न चास्य मन्त्रत्वम्[२] ; ताद्रूप्येणाप्रतीतेः ; अध्येतृस्मरणाभावाच्च। तस्माद्विध्युद्देशान्तर्गम एव।

भावदीपिका

पूर्वपक्षदर्शनार्थं स्थलशुद्धिं विधत्ते—सर्वस्येति। न चाऽन्यद् वेदे प्रयोजनमस्तीत्युक्तेन हेतुना। ततः किम् ? तदाह—यदेति। किमर्थम्=स्तुत्यर्थं, स्मृत्यर्थं, विधानार्थं वा ? परिशेषाद् विधानार्थं तावत्—इत्याह न तावदिति। विध्येकवाक्यत्वाऽऽगमात् उद्भिदादेर्वाक्यशेषत्वम् दृष्टान्तबलादवगम्यते ?—इति शङ्कते—कथमिति। वाक्यैकवाक्यत्वेनाऽर्थवादत्वं वायुक्षेपिष्ठत्वादिवदभिप्रेतम्; तदत्र नास्ति—इत्याह --नैतदिति। विधिवाक्यस्थपदानां फलसमर्थकत्वञ्च सम्प्रतिपन्नम्; न तेषां स्तुत्यर्थत्वम् नामधेयानि च विचार्यन्ते। तेन सिद्धवदर्थवादत्वं [न शक्यं] वक्तुमित्यभिप्रायः। ननु "तमसो मा ज्योतिर्गमय"—इत्यादि-यजुर्मन्त्रवदस्य छन्दोबन्धाभावेऽपि मन्त्रत्वं स्यात् ? अत आह—अध्येत्रिति। प्रतिमन्त्रमार्षेयं छन्दो दैवतं, वागध्येता, द्रष्टा ऋषिः।

ज्ञानवती

(ये) अनर्थक हैं। ये विधि आदि में अन्तर्भूत नहीं होते। साध्यसाधनइतिकर्त्तव्यता के वाचक न होने से (ये) चोदनाबाह्य हैं; स्तुतिबुद्धि के अभाव से अर्थवाद भी नहीं हैं; कर्माङ्ग द्रव्य देवता आदिप्रकाशयितव्य अर्थ का अभाव होने से मन्त्रकार्य की निवृत्ति हो जाती है। वेद में अन्य प्रयोजन है नहीं, इसलिये इस जाति वाले (अर्थात् नामधेय) अप्रमाण हैं, इस प्रकार अवान्तर पूर्वपक्ष करके कहा गया है—

(उ) समस्त वेद के तीन विभाग होने से उक्त हेतु के द्वारा उद्भिद आदि के अप्रमाणत्व के अनतिरेक से जब (कोई अर्थ) सिद्ध नहीं होता तो (वह) उन तीन अर्थ से अन्यतम अर्थ होता है ऐसा स्थित होता है। तब विचार होता है किसलिये ? अर्थवादत्व है नहीं, क्योंकि वाक्यशेष नहीं है। (पू) फिर यह वाक्यशेष क्यों नहीं है क्योंकि वायुक्षेपिष्ठत्व आदि के समान एकवाक्य की शेषता जानी जाती है ? (उ) ऐसा नहीं है। विधायक का जो शेष होता है वह वाक्यशेष है, वह अर्थवाद है। यह तो विधि के उद्देश्य से ही अतिरिक्त नहीं है इसलिये वाक्यशेष नहीं है। यह मन्त्र भी नहीं है, क्योंकि उस रूप से प्रतीति नहीं हो रही है। और अध्येताओं के द्वारा स्मरण नहीं होता। इसलिये (यह) विधि के उद्देश्य के भीतर ही है।

---

[१] नतिरेकात्। (ग) मतिरेकात्। ,[२] (ग) शेषः। न चास्य मन्त्रता।

तत्र च गुणविधिर्नामधेयं वा[१] ? प्रातिपदिकं तावदुद्भेदनसमर्थे द्रव्ये खनित्रादाववयवप्रसिद्ध्या[२] (वर्तते[३])। न च समुदायोऽर्थान्तरवाची लोके प्रसिद्धः। न च लोकादनवगतो (अर्थो वेदा[४]-)देवावगम्यते; सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात्। तृतीयाऽपि च करणवाचिनी। क्रियायाश्च शक्तिमद् द्रव्यम् तदाधारा वा शक्तिः करणम्। तेन उद्भित्साधनको यागो विज्ञायत इति प्राप्ते; सिद्धान्तः—

"अपि वा नामधेयं स्यात् यदुत्पत्तावपूर्वमभिधायकत्वात्"[५]। यस्य यागस्योत्पत्ता(-व[६]-)पूर्वं निष्पद्यते तस्येदं नामधेयमेव; गुणविधायकत्वानुपपत्तेः। तत्र फलं प्रति गुणे विधीयमाने परपदसम्बन्धविधानं, व्यवहितकल्पना, औत्पत्तिकसोमबाधः, अनदनीयेन च खनित्रादिना(ऽत्यन्ता[७]-)ऽप्रसिद्धेन याग इति च दोषाः। तथा

भावदीपिका

एवं स्थलशुद्धिं विधाय पूर्वपक्षमाह—तत्र चेति। कस्तर्हि गुणः ?—इत्यत आह—प्रातिपदिकं उद्भिदेति। उद्भिनत्तीति उद्भिद् इत्यवयवार्थः कस्मादिष्यते ? अखण्डशब्दार्थ एव कस्मान्न गृह्यते ? तत्राऽऽह—न चेति। कस्तर्हि तृतीयार्थः ? तत्राह - तृतीयेति। तथाऽप्युद्भिदः=खनित्रादेः कथं यजनक्रियायां करणत्वम् व्रीह्यादिवत् ?—इत्याह - क्रियायाश्चेति। गुणः किं फलं प्रति ? यागं प्रति वा ? नाद्यः—इत्याह—तत्रेति। 'उद्भिदा पशुं प्राप्नोति' इति पदान्तरसम्बन्धो 'यजनेन फलं भावयेत्' इत्यस्य विधातव्यः। अत एव सन्निहितयागत्यागाद् व्यवहितकल्पनं सोमस्य साधारण्याभिप्रायेणौत्पत्तिकत्वम् "उद्भिदा यजेत" इत्यत्र "सोमेन यजेत" इतिवदनुपादानात्। अनदनीयत्वेऽपि समिधोऽस्ति, तथाऽपि सोऽनेकत्र प्रसिद्धः—इत्यत उक्तम्—अत्यन्ताऽप्रसिद्धेनेति। एतच्च युक्तिद्वयमभ्युच्चयमात्रम्। ध्रौवाज्यस्य प्राप्तावपि दध्यादिस्वीकारात् अर्हशादौ वचनोक्ते नात्यन्ताप्रसिद्धत्वं यतः। द्वितीयं प्रत्याह—तथेति। तथा सति "दध्ना जुहोति" इतिवत् गुणविधानेनैव चरितार्थत्वात्

ज्ञानवती

उसमें गुणविधि है कि नामधेय है ? (यह) प्रातिपदिक (है यह) तो उद्भेदन-समर्थ-द्रव्य खनित्र आदि में अवयवप्रसिद्धि से ज्ञात होता है। अर्थान्तरवाची समुदाय लोक में प्रसिद्ध नहीं है। ऐसा नहीं है कि लोक आदि में अनवगत अर्थ वेद से ही जाना जाता है। क्योंकि सम्बन्ध शास्त्र का हेतु नहीं है। तृतीया भी करणवाचिनी है। और क्रिया का करण (या तो) शक्तिमद् द्रव्य अथवा उसका आधार शक्ति है। इसलिये उद्भिदसाधन वाला याग जाना जाता है ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त है—

"अपि वा नामधेयं स्यात् यदुत्पत्तौ अपूर्वमविधायकत्वात्" (इसका अर्थ है–) जिस याग की उपत्ति में अपूर्व निष्पन्न होता है उसका यह नामधेय ही है। क्योंकि गुणविधायकत्व की अनुपपत्ति हो जाती है। उसमें फल के प्रति गुण का विधान होने पर परपदसम्बन्धविधान, व्यवहितकल्पना, औत्पत्तिकसोम का बाध, अनदनीयखनित्र आदि के द्वारा अत्यन्त अप्रसिद्ध से

---

१ (ग) धेयं। प्राति। २ (ग) दवयव। ३ (क) वर्त्तते। (ग) गम्यते।
४ (क) अर्थवादा। (ग) अर्थो वेदा। ५ जै० सू० १।४।२।
६ (क) त्रापूर्वं। ७ (क) प्यत्यन्ता, (ग) त्यन्ता।

यागं प्रति गुणविधौ फलपदानर्थक्यम्, प्रत्ययव्यापारविप्रकृष्टतादयो दोषाः। द्रव्य-यागयोर्भेदात् "उद्भिदा यजेत" इति यागसामानाधिकरण्यं न स्यात्। 'उद्भिद्वता यजेत' इत्युक्ते मत्वर्थलक्षणाप्रसङ्गात्। 'उद्भिदा यागं भावयेत्', 'यागेन फलम्' इति वैयधिकरण्ये च यागस्य फलं प्रति साधनत्वं द्रव्यं प्रति साध्यत्वमिति वैरूप्यापत्तिः। विध्यावृत्तौ (च[१]) वाक्यभेदः। तथा विशिष्टविधौ अनेकविधि-शक्तिकल्पना मत्वर्थलक्षणाऽऽदयो दोषाः। तस्मान्न गुणविधिः किन्तु विधेय-यागनामधेयतयैव विध्युद्देशान्तर्गम इति।

[स्मृतीनामपि प्रामाण्यम्—]

एवं स्मृतिप्रामाण्यमपि विध्युद्देशान्तर्गमेनोक्तम्। तथा हि—

भावदीपिका

फलपदानर्थक्यम्। प्रत्ययव्यापारो यागस्य कर्त्तव्यताबोधः; तस्मिन् सति गुणाऽऽकाङ्क्षोत्थानात्। इतोऽपि न यागं प्रति गुणविधानमित्यादि परोक्तमाह—द्रव्येति। 'यजेत' 'यागेन भावयेत्' इत्यर्थे सिद्धे 'उद्भिदा' इति सामानाधिकरण्याऽनुपपत्तिः। सोमेनेतिवत्तद्वत्त्वं चेत् विवक्षितम्? तत्राऽऽह—उद्भिद्वतेति। अथ "दध्ना जुहोति" इतिवत् वैय्यधिकरण्यं विवक्षितम्? तत्राऽऽह—उद्भिदेति। "उद्भिदा यजेत पशुकामः" इत्यत्र यागस्योभयथाऽन्वये वैरूप्यम्। न केवलं वैरूप्याऽपत्तिः वाक्यभेदश्चाऽऽपद्यते—इत्याह—विध्येति। पक्षान्तरेऽपि दोषान्तरमाह—तथेति। विशेषणांशेऽपि शक्तिरिति अनेकशक्तिता। तद्वतेति मत्वर्थः।

[स्मृतीनामपि प्रामाण्यम्—]

तर्हि स्मृतीनां कथं प्रामाण्यम्? अत आह—एवमिति। स्मृतेर्वेदमूलत्वेनैव प्रमाणत्वं

ज्ञानवती

याग, ये दोष आ जाते हैं। तथा याग के प्रति गुण का विधान होने पर फलपद का आनर्थक्य, प्रत्ययव्यापारविप्रकृष्टता आदि दोष आ जाते हैं। द्रव्य एवं याग में भेद होने से "उद्भिदा यजेत" यहाँ याग का (उद्भिद के साथ) सामानाधिकरण्य नहीं होगा। और 'उद्भिद्वता यजेत' ऐसा कहने पर मत्वर्थलक्षणा की प्राप्ति हो जायगी। 'उद्भिदा यागं भावयेत्', 'यागेन फलं भावयेत्' ऐसा वैयधिकरण्य होने पर याग का फल के प्रति साधनत्व और द्रव्य के प्रति साध्यत्व—यह वैरूप्य होने लगेगा। और विधि की आवृत्ति होने पर वाक्यभेद हो जायगा। उसी प्रकार विशिष्टविधि होने पर अनेकविधिशक्तिकल्पना मत्वर्थलक्षणा आदि दोष होते हैं। इसलिये गुणविधि नहीं है किन्तु विधेय याग के नामधेय के रूप में विध्युद्देश में (इसका) अन्तर्गम है।

[स्मृतियों का भी प्रामाण्य है—]

इसी प्रकार स्मृति का प्रामाण्य भी विध्युद्देश के अन्तर्गम से कहा गया है। वह इस प्रकार—

"विरोध होने पर स्मृतिवन्धनप्रामाण्य की उपेक्षा नहीं होती। अविरोध होने पर वेद से उसके मूल का अनुशीलन होता है।

१ (क) वृत्तौ वाक्य, (ग) वृत्तौ च वाक्य।

"विरोधे त्वनपेक्षं स्यात्, प्रामाण्यं स्मृतिबन्धनम्।
अविरोधे हि वेदेन, तन्मूलमनुशील्यते ॥
या तु वेदविरुद्धेह स्मृतिः काचन दृश्यते।
सा तु स्याद् भ्रान्तिमूलैव न स्पष्टश्रुतिमूलिका ॥
स्वातन्त्र्येण प्रमाणत्वं स्मृतेस्तावन्न सम्मतम्।
वेदमूलानुमानं च प्रत्यक्षेण विरुद्ध्यते ॥
वेदवाक्यानुमानं हि तावदेव प्रवर्त्तते।
तदर्थविषयं यावत् प्रत्यक्षं नोपलभ्यते ॥
प्रत्यक्षे श्रूयमाणे तु न विद्येतानुमानिकम्।
न हि हस्तिनि दृष्टेऽपि तत् (पादेना[1]-)नुमीयते ॥"[2]

अतः स्मृतीनां वेदानुसारेण विध्यादिष्वन्तर्भावात् प्रामाण्यम्। तथोपनिषदामपि इति प्राप्ते; आह—

"तत्तु समन्वयात्" इति।

सम्यक् तात्पर्येण ब्रह्मात्मैकत्वनिरूपणे वेदान्तपदानामन्वयदर्शनात् तद्वेदान्त-

भावदीपिका

तन्मूलत्वेनाऽपि प्रामाण्यसम्भवात्, अदृष्टार्थे प्रमाणान्तराऽनिरूपणात्—इत्याह—या त्विति। स्पष्टश्रुत्यभावेऽनुमेयश्रुतिमूलत्वं स्यात्; कथं भ्रान्तिमूलत्वम्? तत्राऽऽह—स्वातन्त्र्येणेति। प्रत्यक्षा श्रुतिर्यस्मिन्न दृश्यते तस्मिन्नेवाऽन्यथात्वख्यापिका या स्मृतिः सा तु न मूलभूतां श्रुतिमनुमापयति, प्रत्यक्षश्रुत्या निराकाङ्क्षया प्रमित्युत्पादात्—इत्याह—प्रत्यक्ष इति। तथाऽप्युपनिषदां किमायातम्? अत आह—तथेति। अर्द्धजरतीयाऽनुपपत्तेरित्यर्थः।

सूत्रार्थसंक्षेपं सुखबोधायाऽऽह—सम्यगिति। विधिशेषत्वेन वेद्यत्वं व्यवच्छिनत्ति।

ज्ञानवती

यहाँ जो वेदविरुद्ध कोई स्मृति दिखाई पड़ती है वह भ्रान्तिमूला ही होती है न कि स्पष्ट-श्रुतिमूला।

स्मृति का प्रामाण्य स्वतन्त्ररूप से सम्मत नहीं है। और वेदमूलक अनुमान प्रत्यक्ष से विरुद्ध होता है।

वेद वाक्य के द्वारा अनुमान तभी तक प्रवृत्त होता है जब तक तदर्थविषय की प्रत्यक्ष प्राप्ति नहीं हो जाती।

प्रत्यक्ष के सुने जाने पर आनुमानिक ज्ञान नहीं होता। हाथी के देखे जाने पर कोई उसके पैर से (उसका) अनुमान नहीं करता।"

इसलिये वेद के अनुसार स्मृतियों का विधि आदि में अन्तर्भाव होने से प्रामाण्य है, उसी प्रकार उपनिषदों का भी है, ऐसा प्राप्त होने पर कहा—

"तत्तु समन्वयात्"।

---

१ (क) पदेन, (ग) पादेन। २ तै० ब्रा० १।३।२।

वेद्यं, तदेकवेद्यं च इत्यर्थसंक्षेपः। अत्र हि न धर्म इव चोदनाप्रवर्त्तकं वचनं प्रमाणम् प्रवृत्त्यसाध्यत्वाद् ब्रह्मणः। किन्तु समन्वय उपनिषत्पदानाम् "फलिता अमी द्रुमाः" इत्यादिवत्। स च "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्येवमादिवत् दृश्यत्वाद् वह्निदग्धृत्वादिवन्न सन्देहमर्हति। तदाहुर्भट्टपादाः—

"(स्पष्टे[१]) शब्दात् प्रतीतेऽर्थे नानर्थक्यं हि शङ्क्यते।
अग्नौ दहति दृष्टे वा दग्धृत्वं किं विचार्यते॥" इति।

भावदीपिका

ब्रह्म एकमेव मुख्यमेव वेद्यं न विधिशेषभूतमिति। कथमयमेवाऽर्थो वेदान्तानाम्?—इत्याह—अत्र हीति। वेदान्तेषु प्रदृश्यमानमपि चोदनारूपं वाक्यं न प्रमाणत्वेन स्वीकार्यम्, "अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि" इत्यावृत्तिदर्शनेन मुमुक्षोरधिकाराऽवधारणात्; "अभयं वै ब्रह्म, अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि" इत्यादिदर्शनाच्च ब्रह्मभावस्य मोक्षत्वाऽवगमात्; तस्य च "भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु", "एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि" इति ज्ञेयत्वात्। तज्ज्ञानाधिकारायाऽध्यारोपितप्रपञ्चाऽऽश्रयणेन प्रवर्त्तमाना चोदना न तत्त्वाऽऽवेदनं प्रमाणम्; मुख्यफले क्रियायाः साक्षादनुपयोगादपि न चोदनोपयोगः—इत्याह—प्रवृत्त्यसाध्यत्वादिति। न च ज्ञानमात्रात् पुमर्थश्चेत् "तस्य तावदेव" इत्यवधिश्रुत्यनुपपत्तिः? रज्ज्वादिसाक्षात्कारेऽपि द्वैविध्यदर्शनात्:—कस्यचित् समसमयमेव निःशेषभ्रमसन्तत्युच्छेदः; कस्यचिच्च कियन्तं कालं पूर्वाऽनुस्मृतिसरूपा साऽनुवर्त्तते सहकार्येण भयादिना। तेन तत्राऽविद्याकाराऽवशेषोऽधिष्ठानसाक्षात्कारेऽपि गम्यते। तथा "तदिदमप्येतर्हि य एवं वेद "अहं ब्रह्मास्मि" इति स इदं सर्वं भवति"—इत्यादिश्रुतेः समकालमपि फलं गम्यते। तेनाऽवधिश्रुतिः पुरुषविशेषाऽपेक्षैवेति न ज्ञानोत्तरकालं क्रियाऽवकाशः। अविद्याकारविशेषनिवृत्तौ च "पश्यन् प्रतिपेदे" इति ज्ञानस्यैव साधनत्वं गम्यते। यदि नाऽत्र चोदना प्रमाणं किन्तर्हि प्रमाणम्? तदाह किन्त्विति। यद्यपि 'फलिताः' इत्यादौ कैमर्थ्यवशेन 'तस्मात् फलानि पातय' इत्यादि क्रियोत्प्रेक्ष्येत, तथाऽप्यत्र "ब्रह्मविदाप्नोति परम्"—इत्युक्ते किं तद् ब्रह्म इत्येवाऽऽकाङ्क्षा जायते। सा च सिद्धपदसमन्वयेन पूर्यते। तदाह—स चेति।

ज्ञानवती

सम्यक् तात्पर्य से ब्रह्मात्मैकत्व का निरूपण होने पर वेदान्तपदों का अन्वय देखे जाने से वह वेदान्त से वेद्य है और एक उसी से वेद्य है यह सूत्रार्थ का संक्षेप है। यहाँ पर धर्म के समान चोदना का प्रवर्त्तकवचन प्रमाण नहीं है। क्योंकि ब्रह्म प्रवृत्तिसाध्य नहीं है। किन्तु उपनिषदपदों का समन्वय है। जैसे—'ये वृक्ष फलित हैं'। और वह "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि के समान दृश्य होने से वह्निदग्धृत्व आदि के समान सन्देह के योग्य नहीं है। भट्टपाद ने कहा है—

"शब्द से स्पष्ट अर्थ प्रतीत होने पर आनर्थक्य की शङ्का नहीं होती। अग्नि को जलते हुए देखे जाने पर क्या दग्धृत्व का विचार होता है?"

---

१ (क) स्पष्ट, (ग) स्पष्टे।

[उपनिषदां न मन्त्रवत् स्मारकत्वम्–]

न च उपनिषदां मन्त्रान्तर्गमः;[१] कर्मौपयिकार्थास्मारकत्वात्। किञ्च उपनिषदां मन्त्राणामिव कर्मणि विनियोगे तद्गतोपासनाविधानानि[२] तिरोधीयेरन्। तदाहुः—"प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात्"।[३] "यथा प्रकाशः सौरश्चान्द्रमसो वा वियद्व्याप्याऽवतिष्ठमानोऽङ्गुल्याद्युपाधिसम्बन्धाद् ऋजुवक्रादिभावं तेषु प्रतिपद्यमानेषु तद्भावमिव प्रतिपद्यते, एवं ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिसम्बन्धात्तदाकारतामिव प्रतिपद्यते तदालम्बनो ब्रह्मण आकारविशेषोपदेश उपासनार्थो न विरुध्यते। एवमवैयर्थ्यमाकारवद् ब्रह्मविषयाणामपि वाक्यानां भविष्यति"[४]। इति सूत्रभाष्यकाराः। मन्त्रेष्वप्याहुः—

"अनुष्ठाने पदार्थानामवश्यंभाविनी स्मृतिः।
अनन्यसाधनानन्यकार्यैर्मन्त्रैः प्रसाध्यते॥"[६]

भावदीपिका

[उपनिषदां न मन्त्रवत् स्मारकत्वम्—]

एवं वेदान्तानां पृथक् प्रामाण्यप्रकारमुपक्षिप्य तथोपनिषदामपि इति मन्त्रादिसाम्यमतिदेशनिरासेन व्यवस्थापयति—न चोपनिषदामिति। एवमनिष्टाऽऽपत्तिः–इत्याह—किञ्चेति। उपासनविधानं वेदान्तेषु शास्त्रकारसम्मत्या दर्शयति—तदाहुरिति। मन्त्रेषु वा कथं विधिपदतिरोधानं येन वेदान्तेषु तदापद्यते? तत्राऽऽह—मन्त्रेष्वप्याहुरिति। वार्त्तिकविवरणेना-

ज्ञानवती

[उपनिषदें मन्त्रों के समान स्मारक नहीं हैं—]

और उपनिषदें मन्त्र के अन्तर्गत हैं नहीं, क्योंकि कर्मौपयिक अर्थ की स्मारिका नहीं है। इसके अतिरिक्त मन्त्रों के समान उपनिषदों का धर्म में विनियोग होने पर उसमें वर्तमान उपासना के विधानों का तिरोधान हो जायगा। कहा है—

"प्रकाशवच्चावैय्यर्थ्यात्"

(इसका अर्थ यह है—)जैसे सूर्य या चन्द्रमा का प्रकाश आकाश में रहता हुआ अंगुली आदि के सम्वन्ध से ऋजुवक्र आदि भाव को उनके प्रतिपद्यमान होने पर उनके भाव के समान ही प्रतिपन्न होता है; इसी प्रकार ब्रह्म भी पृथ्वी आदि उपाधि के सम्बन्ध से तदाकारता के समान प्रतिपन्न होता है; उसके आलम्बन ब्रह्म का आकारविशेषोपदेश उपासनार्थ विरुद्ध नहीं होता। इसी प्रकार आकार के समान ब्रह्मविषयक वाक्यों का भी वैय्यर्थ्य नहीं होगा। ऐसा सूत्रभाष्यकार कहते हैं। मन्त्रों में भी कहा गया है—

"अनुष्ठान में पदार्थों की अवश्यंभाविनी स्मृति जो कि अन्यसाधनों वाली नहीं है, अनन्यकार्य वाले मन्त्रों में सिद्ध की जाती है।"

---

१ (ग) मन्त्रान्तर्गमः त्सवत्। २ (ग) विधानान्यपि तिरो।
३ ब्र० सू० ३।२।१५। ४ (ग) प्रतिपद्यते वदालम्बन।
५ ब्र० सू० भा० ३।२।१५। ६ तं० वा० २।१।३१।

न तावदनुष्ठवेलायामस्मृतः कश्चिदपि पदार्थः शक्यः कर्त्तुमित्यवश्यंभाविन्या स्मृत्या योग्यसाधनमात्रापेक्षणात्[1] यत्किञ्चित् ब्राह्मणार्थानुसन्धानं वा, पूर्वपदार्थ-प्रत्यवेक्षणं वा, सूत्रग्रन्थो वा, आत्मीयग्रहणकवाक्यानि वा,[2] उपद्रष्ट्रादि वा साधनं ग्रहीतुमारभ्यते।[3] तत्रानन्यप्रयोजनान्मन्त्रान् प्रकरणे[4] पठ्यमानान् सामान्यतः 'किमप्येभिः कर्त्तव्यम्' इत्येवं प्रयोगवचनेन गृह्यमाणानुपलभ्य 'यादृशेन वाक्येन स्मृतिः कर्त्तुमाकाङ्क्ष्यते तद्रूपा एते'–इति विदित्वा लिङ्गप्रकरणानुमितश्रुत्या विनियोगे सत्यभिधानार्थता विज्ञायते। ततश्चोपायान्तराण्यप्रमाणकत्वान्निवर्त्तन्ते[5]। नियमादृष्ट[—सिद्धितश्च[6]] मन्त्रैरेव स्मृत्वा (कृतं[7]) कर्माभ्युदयकारीत्यवधार्यते। तथा मन्त्रेषु पठ्यमानाः 'वदामि' 'गृह्णामि' 'निर्वपामि' इत्यादिभावनास्तिरोधीयन्त इति। एवमुपनिषद् (-गता[8]) "आत्मेत्येवोपासीत्" इत्यादि भावना अपि तासां मन्त्रवत् कर्माङ्गत्वेऽपि तिरोधीयेरन्।

ननु मन्त्राणां विधायकत्वपक्षाश्रयणमपि मीमांसायामस्ति? तथा हि (ये त्वेव[9]-)माहुः—

"यस्माद् व्रीह्यादिवन्मन्त्राः करणत्वेन कर्मणाम्।
ब्राह्मणेन नियुज्यन्ते तद्वत्तेन[10] विधायकाः॥[11]

इति। तैरपि सामान्यतो दृष्टमात्रं व्यपदिष्टम्। कुतः?

भावदीपिका

ऽपेक्षितं दर्शयति—न तावदिति। लिङ्गम्—स्मृतिसामर्थ्यं, क्रिया—प्रकरणं च। अस्मिन् पक्षे विशेषमाह—नियमेति। अप्रमाणकोपायपक्षेनाऽदृष्टसिद्धिः।

उक्तदोषोद्धारमाशङ्कते—नन्विति। तथाऽपि न मन्त्रवत् कर्माङ्गत्वमुपनिषदाम्—

ज्ञानवती

अनुष्ठान वेला में विना स्मरण किये कोई पदार्थ नहीं किया जा सकता इसलिये अवश्यंभाविनी स्मृति के द्वारा योग्यसाधनमात्र की अपेक्षा होने से जो कोई, ब्राह्मणार्थ का अनुसन्धान, या पूर्वपदार्थ का प्रत्यवेक्षण, या सूत्रग्रन्थ या आत्मीयग्रहणक वाक्य या उपद्रष्टा आदि साधन ग्रहण किया जाता है। वहां अनन्य प्रयोजनवाले तथा प्रकरण में पठ्यमान मन्त्रों को सामान्यतः 'इनके द्वारा कुछ किया जाना चाहिये' इस प्रकार प्रयोगवचन से गृह्यमाण को प्राप्त कर जिस प्रकार के वाक्य से स्मृति करने की इच्छा होती है ये उसी प्रकार के हैं—ऐसा जानकर लिङ्गप्रकरण से अनुमित श्रुति के द्वारा विनि-योग होने पर अभिधानार्थता जानी जाती है। फिर तो प्रमाण-रहित होने से उपायान्तर निवृत्त हो जाते हैं। और नियम अदृष्ट की सिद्धि होने पर मन्त्रों के द्वारा ही स्मरण

---

[1] (ग) योग। [2] (ग) वाक्यानि च। [3] (ग) लभ्यते।
[4] (ग) न्त्रात् प्रकरणे पठ्यमानत्वात्। [5] (ग) कत्वाल्लिंगप्रकरणानुभिवर्त्तते।
[6] (क) सिद्धिश्च। (ग) सिद्धेश्च। [7] (क) कृत, (ग) कृतं।
[8] (क) गत, (ग) गता। [9] (के) येप्येत। (ग) यत्वेव।
[10] (ग) वदवर्त्तेन। [11] तं० वा० २।१।३१।

"विधिशक्तिर्नियोगेन न मन्त्रस्यापनीयते ।[1]
स्वतो विधास्यति ह्येष नियोगात् स्मारयिष्यति ॥"[2]

इति विधायकत्ववर्णनात् । तथोपनिषदामपि । एवमपि मन्त्रवदुपनिषदां लिङ्गप्रकरणयोर्विनियोजकश्रुत्यनुमापकयोरभावात् समाख्या स्थानं, तत् प्रकरणं, तद्वाक्यं तल्लिङ्गं, तच्छ्रुतिं कल्पयति विनियोगाय । अत एव—

"बाधिकैव श्रुतिर्नित्यं समाख्या बाध्यते सदा ।
मध्यमानान्तु बाध्यत्वं बाधकत्वमपेक्षया ॥

भावदीपिका

इत्याह—एवमपीति । श्रुत्यनुमापकत्वेन किम् ? स्वातन्त्र्येण विनियोजकत्वं किं न स्यात् ? अत आह—समाख्येति । यतः श्रुत्यनुमानं विना तद्व्यतिरिक्तानां विनियोजकत्वे करणत्वादिना विस्पष्टो विनियोगो न लभ्येत यथा "बर्हिर्देवसदनं दामि" इत्यत्राऽनेन लुनातीति श्रुतिं विना । अत एव तदनुमानं युक्तं वार्तिकसंवादेन द्रढयति—बाधिकैवेति । पूर्वाऽपेक्षया तदुपजीवित्वात् बाध्यत्वं, उत्तराऽपेक्षया निरपेक्षत्वात् बाधकत्वं, लिङ्गादीनाम् ।

ज्ञानवती

करके किया गया कर्म अभ्युदयकारी होता है—ऐसा निश्चित किया जाता है । इस प्रकार मन्त्रों में पठ्यमान वदामि, गृह्णामि, निर्वपामि इत्यादि भावनायें तिरोहित हो जाती हैं। इसी प्रकार उपनिषद् में रहने वाली "आत्मा, ऐसी ही उपासना करनी चाहिये" इत्यादि भावना भी उनके मन्त्र के समान कर्माङ्ग होने पर भी तिरोहित हो जायेंगी ।

(पू) मीमांसा में मन्त्रों का विधायकपक्षाश्रयण भी है । जो कि ऐसा कहते हैं—

"चूँकि व्रीहि आदि के समान मन्त्र कर्मों के करण के रूप में ब्राह्मण के द्वारा नियोजित होते हैं, इसलिये वे विधायक नहीं हैं ।"

वे लोग भी सामान्यतोदृष्टमात्र का व्यवहार करते हैं । क्योंकि "मन्त्र की विधिशक्ति नियोग के द्वारा अपनीत नहीं होती । यह स्वतः विधान करेगी तथा नियोग से स्मरण करायेंगी ।"

(उ) ऐसा विधायकत्व का वर्णन है ।

उसी प्रकार उपनिषदों का भी है । तो भी मन्त्र के समान विनियोजकश्रुति के अनुमापक लिङ्ग एवं प्रकरण के अभाव के कारण समाख्या विनियोग के लिये उसके प्रकरण, उसके वाक्य लिङ्ग उसकी श्रुति की कल्पना करती है । इसीलिये—

"श्रुति नित्य ही बाधिका है । समाख्या सदा बाधित होती है । मध्यपातियों का तो बाध्यत्व एवं बाधकत्व अपेक्षा के कारण होता है।

जैसे शीघ्र प्रवृत्ति होने के कारण श्रुति लिङ्ग आदि की बाधिका है । उसी प्रकार विनियोग में भी वही पहले प्रवृत्त होती है ।"

---

[1] (ग) स्यापि । [2] तं० वा० २।१।३१ ।

यथा शीघ्रप्रवृत्तत्वाल्लिङ्गादेर्बाधिका श्रुतिः।
तथैव विनियोगेऽपि सैव पूर्वं प्रवर्त्तते ॥"[1]

इति विनियोगं प्रति सन्निकर्षविप्रकर्षाभ्यां श्रुत्यादीनां प्राबल्यदौर्बल्यकृते विरोधे बाध्यबाधकभाव इत्यङ्गीकारान्न कर्माङ्गत्वलाभः।

[उपनिषदोऽपि प्रमाणभूताः–]

प्रत्युत "तानि वा एतान्यवराणि तपांसि न्यास[2] एवात्यरेचयत्" इत्यादिकर्म[3]-त्यागलिङ्गात् "एष पन्था एतत्कर्म एतद्ब्रह्म" इति प्रकरणविभागाच्च कर्मानङ्गत्वमेवो-

भावदीपिका

समाख्यायाः श्रुतेश्चोत्तरोत्तरपूर्वप्रामाणभावान्नोभयम्; तथाऽपि विनियोगे श्रुतिपुरस्कारः कथम्? तत्राऽऽह—यथेति।

[उपनिषदोऽपि प्रमाणभूताः—]

अत्र च श्रुत्यनुमानाभावान्न कर्माऽङ्गत्वलाभः। कर्माऽनङ्गत्वनिर्धारणादप्येवम्—इत्याह—प्रत्युतेति। एवं लिङ्गप्रकरणयोः श्रुत्यनुमानद्वारेण मन्त्रविनियोजकयोरत्राऽभावात्, अनङ्गत्वाऽऽवेदकयोः लिङ्गप्रकरणयो सद्भावाच्च, नोपनिषदां मन्त्रत्वेन कर्मणि प्रामाण्यम्। अस्तु तर्हि अर्थवादत्वम्, कर्मकर्त्तुरात्मनो नित्यशुद्धत्वादिगुणाऽऽरोपेण स्तुतिसम्भवात्? उपनिषत्स्वपि मन्त्रोपासनक्रियादर्शनात् उद्गीथादिवत् प्रकरणान्तरगतक्रियाशेषत्वसम्भवाच्च न प्रकरणान्तरतादोषः? स्वप्रकरणस्थक्रियायां विध्यर्थवादमन्त्रत्वेन यथाविभागमुपनिषदां व्यवस्थासम्भवाच्च, तत्र प्रकरणान्तरगतक्रियाकर्त्तुर्भोक्तुश्च स्तावका वेदान्ता इति भट्टमताऽनुसारिणः आत्मा भोक्तेत्याहुः। "पिप्पलं स्वाद्वत्ति", "जुषमाणोऽनुशेते", "स हि कर्त्ता सप्ताऽन्नानि मेधया जनयन् धिया अजनयत्"—इत्यादिना सिद्धे भोक्तृत्वादौ तदभाववर्णनस्य 'सार्वभौमोऽसौ स्वस्थः किमपि न करोति न भुङ्क्ते' इत्यादिवत् व्यापारोपरमदशापरत्वेनाऽविरोधात्। क्रियासामान्यस्य लोकसिद्धत्वेऽपि यागादिक्रियाविशेषाणां वेदप्रतिपाद्यत्ववत् कर्त्तृत्वादिविशेषस्याऽतत्सम्भवान्न तद्वचसामनुवादत्वं वचनीयमिति। तदेतद्-

ज्ञानवती

इस प्रकार विनियोग के प्रति सन्निकर्ष एवं विप्रकर्ष के द्वारा श्रुति आदि का प्राबल्य-दौर्बल्य के द्वारा किये गये विरोध में बाध्यबाधक भाव होता है—ऐसा स्वीकार करने से कर्माङ्गत्व का लाभ नहीं होता।

[उपनिषदें भी प्रामाणिक हैं—]

बल्कि "उन इन अवर तपस्याओं का संस्थान में ही अति रेचन किया।',

इत्यादि कर्मत्याग लिङ्ग से और "यह पथ है, यह कर्म है, यह ब्रह्म है" ऐसा प्रकरण विभाग होने से उपनिषदों का कर्मानङ्गत्व ही प्रतीत होता है। (पू) इन (उपनिषदों का) अर्थवादत्व भी है? (उ) नहीं है। क्योंकि अविधायकवाक्यशेष होने पर अर्थवादत्व स्वीकार होता

[1] तं० वा० ३।३।१४। [2] (ग) स एवा। [3] तै० उ० १।४।९९।

पनिषदां गम्यते। न चार्थवादत्वमप्यासाम्; (अविधायक[1]-) वाक्यशेषत्वेन अर्थवादत्वस्वीकारात्; अत्र च तदभावात्; तस्मात् "वायव्यं पशुमालभेत" इतिवत् प्रशंसापूर्वकविध्यदर्शनाच्च।

किञ्च अर्थवादानामपि मानान्तराविरुद्धाज्ञातप्रत्यायकत्वात् भूतार्थवादत्वेन[2] स्वार्थे मानत्वम्।

"विरोधे गुणवादः स्यादनुवादोऽवधारिते।
भूतार्थवादस्तद्धानादर्थवादस्त्रिधा मतः॥"

भावदीपिका

भाट्टमतं तावन्निराचष्टे—अविधायकेति। सर्वकर्मविधिशेषत्वे प्रतिकर्मनियमेन सकलवेदान्तानां कर्त्तृस्तावकतया प्ररोचनार्थमावृत्तिः फलादिप्रशंसावदापद्येत। फलाद्यर्थवादानां च प्रकरणादिवशात्, स्वार्थे फलशून्यत्वाच्च, फलवत्कर्मशेषत्वम्। वेदान्तानां च कर्मवाक्यक्रमपठितानामपि स्वतन्त्रफलश्रुतीनां सौर्यादीनामिव अन्याऽङ्गत्वं क्रमेण प्रयोज्यत्वं वा दुःसम्पादम्।

तथा हि—"अङ्गवत् क्रतूनामानुपूर्व्यम्"। "सौर्यं चरुं निर्वपेत् ब्रह्मवर्चसकामः", "अर्यम्णे चरुं निर्वपेत् स्वर्गकामः", "प्राजापत्यं चरुं निर्वपेत् शतकृष्णलमायुष्कामः" इत्यादि क्रमपठितक्रतुषु चिन्ता—किं पाठक्रमेणैते प्रयोज्याः? उताऽनियमेन? इति। तत्र यथाऽङ्गानां समिदादीनां एकेन युगपत्करणाऽशक्तेः क्रमाऽऽकाङ्क्षायां पाठात् क्रमनियमः, एवं क्रतूनामपि—इति प्राप्ते राद्धान्तः—"न वाऽसम्बन्धात्"। अङ्गेष्वेकप्रयोगवचनपरिग्रहात् अस्ति क्रमाऽकाङ्क्षा; क्रतुषु तु नानाफलेषु नैकः प्रयोगवचनोऽस्ति। न च सर्वे मिलित्वा प्रयोजयन्ति। तेनैषामेकप्रयोगवचनाऽभावान्नाऽस्ति क्रमाऽऽकाङ्क्षा किन्तु पुरुषस्य। न च तदीप्सितं विधिप्रतिपाद्यम् इति तदिच्छयैव। क्रमस्त्वध्ययनार्थं इति निर्णीतम्। वेदान्तानां च स्वतन्त्रं फलं वर्णितम्। ततो न कर्मप्रयोगवचनेन स्वप्रकरणगतार्थवादवत् वेदान्तानां युक्तं ग्रहणम्। कर्त्तृत्वविशेषादेरपूर्वत्वेऽपि अनर्थान्तर्गतत्वात् न तत्त्वेन वेद्यत्वम्। व्यावहारिकेणाऽपि तेन कर्मकाण्डप्रामाण्यसिद्धेः। तदाह—अत्र च तदभावादिति। तदनिरूपणादित्यर्थः। सामान्यान्तराऽभावादप्येवम्—इत्याह—तस्मादिति।

प्राभाकरास्तु प्रक्रियाभेदादितरकर्माऽनङ्गत्वमनुमन्यमानाः स्वप्रक्रियागतोपासनाविधि-

ज्ञानवती

है, और यहाँ वह है नहीं, इस कारण "वायुदेवता वाले पशु का आलम्भन करना चाहिये" इसके समान प्रशंसापूर्वक विधि नहीं देखी जाती है।

इसके अतिरिक्त यदि अर्थवादों का भी मानान्तरविरुद्ध अज्ञात प्रत्यायक होने से भूतार्थवाद के रूप में स्वार्थ में प्रामाण्य—

"विरोध में गुणवाद होता है, अवधारित में अनुवाद, और इसका त्याग होने से भूतार्थवाद होता है। (इस प्रकार) अर्थवाद तीन प्रकार का सम्मत है।"

---

[1] (ख) विधायक, (ग) विविधायक, (घ) विधायक।
[2] (ग) भूतार्थं वा मानत्वं।

इति वचनात् यदा, तदा किमु वक्तव्यं स्वतन्त्रवाक्यानां तात्पर्यवतां प्रयोजनाय वाक्यन्तरान्वयं प्रयाजादिवाक्यवत् अनिच्छतां[2] स्वार्थे निरङ्कुशं मानत्वम् इति ? सगुणोपासनाविधायिप्रकरणस्य कर्मप्रकरणादविशेषात्। निर्गुणवचसां[3] स्यादुपास्यप्रशंसा(-परत्वेन[4] अर्थवादत्वमिति चेत् ? यद्यपि तेषु प्रशंसा अस्ति निर्गुणस्य तथाऽपि तस्य सगुणब्रह्मसम्बन्धित्वात् निर्गुणद्वारेण सगुणस्यैव प्रशंसा गम्यते गौणी। तदाह भगवान् जैमिनिः—"गुणवादस्तु।" अयमर्थः—यत्र तावत् विधिस्तुत्योः एकविषयत्वं तत्रोपपाद्यतां नाम सम्बन्धः विषयनानात्वे तु कथम् ? इति ; गुणात्"—इत्याह। यत्र क्रिया हि सम्बन्धे स्तोतव्ये तत्सम्बन्ध्यन्तरतः स्तूयते तत्र तद्द्वारेणापि

भावदीपिका

परत्वं वेदान्तानां मेनिरे। न च "राजानमखण्डाधिपत्यमुपासीत"—इत्यादिवत् विवक्षितवस्तुसिद्धौ नोपासनापरत्वं प्रतिपक्षायेति वचनीयम्; तत्र ह्युपास्योपासकयोः भेदान्न वस्तुसिद्धिः प्रतिकूला; अत्र तु ऐक्येनैव वस्तुसिद्धिर्वक्तव्या। तथा वाऽभोक्तृत्वे प्रामाणिकोपासननियोगफलाऽसम्भवात् अप्रामाण्यपरिहाराय वस्तुसिद्धिप्रतिकूलत्वमेव वेदान्तानां वयमिति। तदाह—सगुणेति। ननु "अस्ति ब्रह्मेति चेद् वेद सन्तमेनं ततो विदुः" इत्यादौ ज्ञानप्रशंसया निर्गुणस्य विधित्सिततत्वप्रतीतेः कथं तस्य सगुणप्रशंसापरत्वम् ? तत्राऽऽह—यद्यपीति। क्षेपिष्ठत्वादिना वर्ण्यमानस्याऽपि वायोरवान्तरवाक्याऽन्वये सम्भवत्यप्यन्यशेषत्वं तद्वाक्यानां दृष्टम्, रुद्ररोदनादिवदपूर्वत्वेऽपि। एवं स्वतन्त्रफलत्वं च "वायुरेवैनं स्वेन भागधेयेनोपधावति" इतिवत् इत्यमीषामभिमानः।

अभोक्तृत्वस्य परमतात्पर्येण प्रतिपादनात् मुक्तौ सर्वैरनङ्गीकाराच्चोपसानायाः सांसारिकफलत्वात् तस्य च "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" इत्यौपाधिकरूपेणाऽपि

ज्ञानवती

इस वचन से है तो प्रयाज आदि वाक्य के समान प्रयोजन के लिये वाक्यान्तर के साथ अन्वय न चाहने वाले तात्पर्यवाले स्वतन्त्र वाक्यों का स्वार्थ में निरंकुशमानत्व कैसे कहा जाय ? क्योंकि सगुणोपासनाविधायी प्रकरण का कर्मप्रकरण से कोई विशेष नहीं है। और निर्गुणवचनों के उपास्यप्रशंसापरक होने से अर्थवाद है—यदि ऐसा कहें तो यद्यपि उनमें निर्गुण की प्रशंसा है तथापि उसके सगुण ब्रह्म के सम्बन्धी होने से निर्गुण के द्वारा सगुण की ही प्रशंसा गौडी जानी जाती है। वही भगवान जैमिनि ने कहा है—"गुणवाद तो"। इसका वह अर्थ है—जहाँ विधि एवं स्तुति का विषय एक है वहाँ सम्बन्ध का उपपादन हो जाय किन्तु विषय के नाना होने पर कैसे होगा ? तो कहा —गुण से।" जहाँ क्रिया-सम्बन्ध के स्तोतव्य होने पर वह दूसरे सम्बन्धी से स्तुत होता है वहाँ उसके द्वारा भी लोक और वेद में स्तुतिसिद्ध होने पर प्रकारान्तर से नहीं

---

१ (ग) इति इच्छतां। २ (क) वचसां न स्यात्। (ग) वचसां स्यात्।
३ (क) प्रशंसापरत्वम्। तद्बहिर्भूतेन। (ग) प्रशंसापरत्वेन अर्थवादत्वमिति। चेत्······। तद्बहिर्भूतेन।

लोके वेदे च स्तुतिसिद्धेः न प्रकारान्तरतः इति ? नैवम्; "द्वा सुपर्णा" इत्यादेः कर्मफलभोक्तृजीवानुवादेन अभोक्तृब्रह्मतद्विधिनाऽर्थत्वाभोक्तृप्रशंसाबुद्धिः सत्त्वविषयत्वेन तद्वर्जितवद्बुद्धजीवपरत्वेन वा, भेदे तात्पर्याभावात्। तद्विरोधेनाद्वैतवाक्यानां गुणवादित्वं यतः सगुणप्रकरणस्यार्थाभावेन निर्गुणस्य तदुपकारकत्वेनान्वयासिद्धेः। न च निर्गुणप्रकरणे कस्यचिद्विद्यमानस्य विद्यमानस्य वा उपासनार्थमारोपणा; यावतोपक्रमादितात्पर्ये लिङ्गैः अद्वैते तात्पर्यमवधार्यते पारमार्थिकैव तात्पर्यमानाश्चेद् भवितव्यमिति सम्भावितार्थत्वम्। तच्च द्विविधम्—प्रधानबुद्धिफलत्वाविरोधेनार्थान्तरबुद्धिफलत्वम्; अवान्तरतात्पर्यनिरुपाधिकशेषिबुद्धिफलत्वम् [इति]। तच्च वेदे उपक्रमादिलिङ्गगम्यम्। तथा हि—"आत्मनि विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम्" इति उपक्रमात् "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्"

भावदीपिका

सम्भवान्न निर्गुणवचसामर्थवादत्वम्—इत्याह—नैवमिति। एवं निर्गुणफलविधिसम्भवे प्रकरणभेदोऽपि नियामकः—इत्याह—सगुणेति। वृत्तिकाराः पुनरुपासनानियोगपरत्वेऽपि वस्तुसिद्धिं वेदान्तेभ्य शशंसिरे। निर्गुणप्रकरणोदितमेव मुमुक्षूणामुपास्यं तत्तद्रूपेण तत्फलं च ब्रह्माऽऽत्मसाक्षात्कारोऽविद्याऽऽवरणप्रहाण्या ब्रह्मभावः। न च तत्र भोग्यं किञ्चिदस्ति येन भोक्त्रभावो दोषः स्यात्। एतत् प्रत्याचष्टे—न च निर्गुणेति। उपासनस्यैव निर्गुणविषयस्य विना द्वारं मोक्षफलत्वम् तावत् परैरपि नेष्यते। पारम्पर्येण चेष्टमेव। ततो नाऽयं प्रतिपक्षः। न चोपासनमपि परमतात्पर्यविषयः येन यागे द्रव्यदेवतावत् भिन्नरूपाऽऽकाङ्क्षा स्यात्। साक्षान्मोक्षफलत्वाऽऽशङ्का वा स्यात्। कुतः ? इत्याह—यावतेति। मतभेदाऽभिप्रायेण

ज्ञानवती

होता ? ऐसा नहीं है। "द्वा सुपर्णा" इत्यादि की कर्मफलभोक्तृ जीव के अनुवाद के द्वारा अभोक्तृ वृहत्तम विधि के द्वारा अर्थत्व अभोक्तृ की प्रशंसा बुद्धि सत्त्वविषय के कारण या उससे रहित बुद्धजीवपरक है क्योंकि भेद में तात्पर्य नहीं है। उसके विरोध से अद्वैत वाक्यों का गुणवादित्व है क्योंकि सगुणप्रकरण का अर्थ न होने से निर्गुण का उसका उपकारक होने से अन्वय असिद्ध हो जाता है। निर्गुण प्रकरण में किसी विद्यमान या अविद्यमान के उपशमन के लिये आरोप नहीं क्योंकि उपक्रम आदि के तात्पर्य में लिङ्गों के द्वारा अद्वैत में तात्पर्य निश्चित किया जाता है। अथवा पारमार्थिक ही तात्पर्य निश्चित किया जाता है। यदि ऐसा कहें तो यह सम्भावित अर्थ होना चाहिये। और वह दो प्रकार का है (१) प्रधानबुद्धिफलत्व का विरोध न करते हुए अर्थान्तरबुद्धिफलत्व, (२) अवान्तरतात्पर्यनिरुपाधिक शेषिबुद्धिफलत्व—यह अर्थ है। और वह वेद उपक्रम आदि, लिङ्ग से जानने योग्य है। वह इस प्रकार—"आत्मा के विज्ञात होने पर यह सब विज्ञात होता है" यह उपक्रम करके "जब इसके लिये सब आत्मा ही हो गया" यह उपसंहार किया है। "यह सब जो है आत्मा है" यह अभ्यास है। "विज्ञाता को किससे जाना जाय ?", यह अपूर्वार्थ है। "इतना अशेषत्व अमृतत्व है" यह फलश्रवण है, "भूतों से उठकर उन्हीं में समाहित हो गया" यह अर्थवादोपादान है। दुन्दुभि आदि उपपत्ति का कीर्तन होने से दुन्दुभि आदि से अभिव्यक्त शब्दसामान्य से बहिर्भूत होने के कारण उसके विशेषों का ग्रहण नहीं

इत्युपसंहारात्। "इदं सर्वं यदयमात्मा" इत्यभ्यासात्, "विज्ञातारमरे केन विजानीयात्" इत्यपूर्वार्थत्वात्। "एतावदशेषत्वममृतत्वम्" इति फलश्रवणात्, "भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवान्वविनश्यत्" इत्यर्थवादोपादानात्, दुन्दुभ्याद्युपपत्ति-कीर्त्तनाच्च दुन्दुभ्याद्यभिव्यक्तशब्दसामान्यात्) बहिर्भूतत्वेन तद्विशेषाणामग्रहात्। तत्रारोपितत्ववत् स्वानुविद्धविशेषाणां[१] तत्रारोपेण ततोऽनतिरेकबुद्धेर्निर्धार्यत एवात्माद्वैतम् श्रुतौ। स्थितिकाले चिन्मात्रत्वेन दुन्दुभ्यादिशब्दानां[२] दृष्टान्तत्वम्। प्रागुत्पत्तेराद्ये धाम्नि आविद्यकप्रलये सर्वासामविभागस्थानमब्धिः। विद्यानिमित्त-प्रलये च सैन्धवखिल्यो दृष्टान्तः। न चैवमर्थप्रतीतौ अविवक्षितार्थत्वेन जपमात्रो-पयोगित्वाऽऽशङ्काऽपि। अत एव जपवादिनाऽपि कस्यचिददृष्टस्य कल्पनीयत्वात् तद्वरं दृष्टमेव (स्वार्थप्रत्यायनप्रयुक्तं[३]) फलमनर्थनिवृत्त्यादि।

किञ्च पदोच्चारणमात्रप्रयुक्तादृष्टमपि परममन्त्राणामिव स्वार्थप्रत्यायनप्रयुक्तम्।

भावदीपिका

तात्पर्यं विभजते—तच्चेति। अज्ञाताविरुद्धार्थमात्रेण प्रामाण्यसम्भवान्न द्वाराऽर्थे तात्पर्यम्, 'अनन्यलभ्यः शब्दार्थः' "अप्राप्ते शास्त्रमर्थवत्" इति च न्यायात्। अपूर्वत्वस्य सर्वप्रामाण्य-साधारण्यात् तात्पर्यलिङ्गमध्यगणनं संख्यापूरणार्थमेव। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः'—इत्युप-क्रमाद्यपेक्षप्राकरणिकार्थविषयमित्यभियुक्ताः। एवं ब्रह्मवाक्यानां अर्थप्रकाशकत्वे विध्यर्थवाद-मन्त्रभावैः कर्मप्रवेशो निरस्तः। ये त्वर्थप्रकाशकत्वमसंभाव्याऽर्थत्वं मन्वाना अपलपन्ति जपार्थांश्च वेदान्तान् मन्यन्ते तान् प्रत्याह—न चैवमिति। "वेदान्तशतरुद्रियप्रणवादिजपं बुधाः। सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते।"—इति तत्तत्क्रत्वध्ययनब्रह्मयज्ञवन्नार्थ-विवक्षावारकम्। सफलार्थाऽवबोधस्याऽपलापे सर्पादिबाधकज्ञानादेरप्यप्रामाण्यप्रसङ्गान्नैष पक्षो युक्तः।

किमुतन्यायमाह—किञ्चेति। पूर्वमर्थात् विध्यन्तरभावो निराकृतः। साम्प्रतं साक्षा-

ज्ञानवती

होता। उसमें आरोपितत्व के समान स्वानुविद्ध (=ब्रह्म में अनुगत) विशेषों का वहाँ (=ब्रह्म में) आरोप होने से उससे अनतिरेक बुद्धि (अर्थात् ब्रह्म में आरोपित विशेषों का ब्रह्म से अतिरिक्त में अभाव जाने वाली बुद्धि) से श्रुति में आत्माद्वैत का निर्धारण होता ही है। स्थिति काल में चिन्मात्र के विषय में दुन्दुभि आदि के शब्दों के दृष्टान्त हैं। उत्पत्ति के पहले प्रथम स्थल आविद्यकप्रलय में सबका अविभाग स्थान समुद्र है। और विद्यानिमित्तप्रलय में सैन्धवखिल्य दृष्टान्त है। और इस प्रकार अर्थ की प्रतीति होने पर अविवक्षित अर्थ होने जपमात्रोपयोपगित्व की आशङ्का भी नहीं है। इसीलिये जपवादी के द्वारा भी किसी अदृष्ट के कल्पनीय होने से स्वार्थप्रत्यायन प्रयुक्त फल अनर्थनिवृत्त आदि दृष्ट ही उससे अच्छा है।

इसके अतिरिक्त पदोच्चारणमात्रप्रयुक्त अदृष्ट भी परममन्त्रों के समान स्वार्थप्रत्यायन प्रयुक्त हैं। तो दृष्ट के पर होने पर यथोक्त अविरुद्ध का क्या कहना। किन्तु अदृष्टोच्चारण

१ (क) सदनुविद्ध। २ (ग) शब्दत्वं। ३ (क) प्रत्ययेन, (ग) प्रत्यय।

तदा किमु वाच्यं दृष्टस्य परत्वे यथोक्तमविरुद्धम्; परं अदृष्टोच्चारणवादिनोऽपि तन्नियमादपरमवश्यं कल्पनीयमदृष्टम्; तन्ममापि प्रत्यायननियमाद् भविष्यति इत्यविरोधः, इति मन्त्राणां दृष्टपदार्थस्मृतिसमवेतं परं[1] स्वार्थप्रत्यायनप्रयुक्तं फलमिति। एवं न मन्त्रार्थवादवद् उपनिषद्भावनाशेषः[2]; नापि विधिरत्र कश्चिन्निश्चितो येन तत्प्रवेश आशङ्क्येत।

"अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च।
अन्नप्रदानमारामः पूर्त्तमित्यभिधीयते॥
शरणागतसन्त्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम्।
बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तं तदभिधीयते॥

इत्यादेः कर्त्तव्योपदेशस्याभावाच्च। न च[3] सिद्धार्थकथने फलादर्शनात् प्रमाणान्तरसापेक्षत्वप्रसक्तेश्च यथाकथञ्चित् प्रमाणान्तरागोचरफलवत् साध्यार्थकथनमेव

भावदीपिका

न्निराकरोति—नापीति। विधौ सति कर्त्तव्यविशेषा विवक्षिता ज्ञानमेव वा। तत्र ज्ञानविधिरपास्तो बहुशः। आद्यं प्रत्याह —अग्निहोत्रमिति। "यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने। तदाज्यभागावन्तरेणाऽऽहुतीः प्रतिपादयेत्॥"

—इत्याद्यनुवादः। "प्लवा ह्येते अदृढाः" इत्यादि निन्दाऽर्थः। अदृष्टोऽपि विधिः कल्पनीयः, अन्यथा दोषदर्शनात् ?—इति शङ्कां प्रत्याचष्टे—न चेति। दृष्टान्तोऽसम्मतः—

ज्ञानवती

वादी के लिये भी उस नियम के होने पर अपर अदृष्ट की कल्पना अवश्य करनी चाहिये, तो मेरे यहाँ भी प्रत्यायननियम होने से हो जायगा; इसलिये विरोध नहीं है। इसलिये मन्त्रों का दृष्ट पदार्थस्मृतिसमवेत दूसरा स्वार्थप्रत्यायनप्रयुक्त फल है। इस प्रकार मन्त्रार्थवाद के समान उपनिषदें भावना की अङ्ग नहीं है। न यहाँ कोई निश्चित विधि है जिससे उसके प्रवेश की आशङ्का होगी।

"अग्निहोत्र तपः, सत्य, वेदों का अनुपालन, और वैश्वदेव इसका अनुष्ठान इष्ट कहा जाता है।

वापी, कूप, तालाब आदि और देवता का आयतन, अन्नदान, आराम इसका करना यह पूर्त्त कहा जाता है।

शरणागत की रक्षा, भूतों का अहिंसन, और बहिर्वेदि जो दान है वह दत्त कहा जाता है।'
इत्यादि कर्त्तव्योपदेश का अभाव है।

(पू) सिद्धयर्थ कथन में फल का दर्शन न होने से और प्रमाणान्तरसापेक्षत्व की प्राप्ति होने से जिस किसी प्रकार प्रमाणान्तर का अविषय फलयुक्त साध्य अर्थ का कथन ही युक्त है। (उ) ऐसा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि 'स्थाणु' ऐसा सिद्धकथन होने पर भी भयनिवृत्ति

---

[1] (ग) वरं [2] (ग) भाव। [3] (ग) सिद्धा।

युक्तमिति मन्तव्यम्। किन्तु 'स्थाणुः' इति सिद्धकथनेऽपि भयनिवृत्तिपुरुषार्थोपलम्भात्। न च तत्राप्यभिलषितस्थानप्राप्तिरेव प्रयत्नसाध्यः पुमर्थः; स्थानान्तरं (अ[१]-)गच्छतोऽप्यन्धकारादौ चोरभ्रमदर्शनात्। सिद्धस्यापि रूपादिशून्यस्यात्मनः प्रमाणान्तरागोचरत्वेन (तत्सापेक्षत्वं) (वेदस्य च[३]) स्यात्। पुरुषप्रणीतत्वञ्च प्रमाणान्तरसापेक्षत्वप्रयोजकम्। न चापौरुषेये[४] वेदे सिद्धार्थेऽपि तत् प्रसञ्जयितुं शक्यम्। न च साध्याङ्गत्वेऽपि सिद्धत्वप्रयुक्तमात्मनः सापेक्षत्वं व्यावर्त्त्यते[५]; प्रमितस्यैवाङ्गत्वेन विनियोगात् ब्रह्मणो विज्ञानविधौ[६]। न च वेदादन्यप्रमाणगोचरोऽसौ इत्युद्घोषितमस्माभिः—"एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्"[७]—इति।

[सर्वशाखास्वेकं कर्मेव ब्रह्माप्येकम्—]

यथा फलसंयोगद्रव्यदेवतात्मकरूपैक्यादिना सर्वशाखास्वेकं कर्म, तथा

भावदीपिका

इत्याशङ्क्याऽऽह—न तत्राऽपीति। "सर्पान् कुशाग्राणि तथोदपानं ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति। अज्ञानतस्तत्र पतन्ति केचित् ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्॥" इति ज्ञानस्याऽनर्थनिरासकत्वं दृष्टम्। वचनोक्तं द्वितीयदोषमुद्धरति—सिद्धस्यापीति। सापेक्षत्वप्रयोजकाऽभावादप्येवम्—इत्याह पुरुषेति। किञ्च विधिवादिना ब्रह्मणः कर्त्तव्यत्वाभावात् कर्त्तव्यान्तराऽभावस्य चोक्तत्वात् ज्ञातव्यत्वमेव वाच्यम्; तच्च न शब्दज्ञानेन, विधिं विनाऽपि तत्सम्भवात्। अतो मीमांसासहितशब्दप्रमितस्य साक्षात्कारविध्यन्वयो वक्तव्यः। तत्र च तुल्यो दोषः—इत्याह—न च साध्येति। पूर्वमप्यराकृतश्चाऽयं दोषः—इत्याह न चेति। कस्याञ्चिच्छाखायां विध्यदर्शनेऽपि न सर्वशाखानां सिद्धैकार्थत्वम्—इत्यपि न वाच्यम्—इत्याह—एकं वेति।

ज्ञानवती

पुरुषार्थ की प्राप्ति हो जाती है। (पू) वहाँ पर भी अभिलषित स्थान की प्राप्ति ही प्रयत्नसाध्य पुरुषार्थ है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि स्थानान्तर को न जाने वाले को भी अन्धकार आदि में स्थाणु में चोरभ्रम का दर्शन होता है। सिद्ध भी रूप आदि से शून्य आत्मा के प्रमाणान्तर का विषय न होने से वेद तत्सापेक्ष (=प्रमाणान्तरसापेक्ष) नहीं होगा। पुरुषप्रणीतत्व (का मतलब है) प्रमाणान्तरसापेक्षत्वप्रयोजक है। और वह अपौरुषेय वेद (रूप) सिद्ध अर्थ में भी प्रसक्त नहीं हो सकता। (पू) साध्य का अङ्ग होने पर भी आत्मा का सिद्धत्वप्रयुक्तसापेक्षत्व व्यावृत्त हो जाता है? (उ) नहीं। क्योंकि विज्ञानविधि में प्रमित ही ब्रह्म का अङ्ग के रूप में विनियोग होता है। और यह वेद से अन्य प्रमाण का विषय नहीं है—ऐसा हमने "एकं वा संयोगरूपचोदनाख्याविशेषात्" इससे घोषित कर दिया है।

[सब शाखाओं में एक कर्म के समान ब्रह्म भी एक है—]

जैसे फलसंयोगद्रव्यदेवतात्मकरूपऐक्य आदि के द्वारा सब शाखाओं मे एक कर्म होता

---

[१] (क(गच्छ। (ग) अगच्छ। [२] (क) पेक्षं, (ग) पेक्षत्वं।
[३] (क) वेद्यस्थानं, (ग) वेदस्य न। [४] (ग) नापौरु। [५] (ग) वर्तते।
[६] (ग) ज्ञान। [७] मी० सू० २।४।९।

सर्वशाखा(-प्रत्ययं[1]) चोदनाद्यविशेषात् इति ब्रह्मापि सर्वोपनिषत्स्वेकं प्रमातव्यम्—इति सूत्रयामास भगवान् व्यासः।

[प्रतिपदाधिकरणन्यायः—]

फलरूपं (च[2]) ब्रह्मैवानन्दशरीरमावेदितम्। तेन न[3] फलसिद्धयर्थमप्यङ्गत्व-कल्पना। अतः स्वातन्त्र्येणैवोपनिषत्समन्वयगम्यं ब्रह्म, तथाऽपि[4] किं प्रतिपदा-धिकरणन्यायेन ? यद्वा प्रकारान्तरेण समन्वयः। तथा हि वर्णयन्ति—किं सर्वाणि पदानि फलेन सम्बन्ध्यन्ते किं वा एकमिति ? किं प्राप्तम् ? प्रतिपदमिति। (कुतः[5]) ? ऐकरूप्येण सम्बन्धः प्रधाने च[6] न च सिद्धयति। तस्मात् फलपदेनैव सर्वं सम्बध्यते (पदम्[7])। यदि विशेषो गम्यते इदं फलसम्बन्धयोग्यं नेदम् इति, ततः किञ्चिदेव सम्बध्येत; अगम्यमाने तु सर्वाणि पदानि तेनैव सम्बध्यन्ते। यदि चैकं फलसम्बन्धि[9] इतराणि तत्सम्बन्धीनि कल्प्यन्ते तदैकस्य (फलं[10]) प्रत्युपादान(-विधानं[11]) गुणभावात्, इतरस्य[12] तं प्रति उद्देशानुवाद-प्राधान्याद्वैरूप्यमिति वाक्यभेदप्रसङ्गः। सर्वेषां तु फलं प्रति उपादीयमानानामैक-

भावदीपिका

[प्रतिपदाधिकरणन्यायः—]

सिद्धार्थत्वे च फलाभावो विध्यपेक्षाहेतुः परिहृतः—इत्याह—फलरूपञ्चेति। अधुना समन्वयप्रकारव्यवस्थापनाय पूर्वपक्षयति—तथाऽपीति। आद्यं प्रपञ्चयति—तथा हीति। विपक्षे बाधमाह—यदि चेति। उपादानत्वं साध्यत्वं उद्देश्यत्वं सिद्धत्वेन अन्वयद्वयार्थभेदा-

ज्ञानवती

है, क्योंकि सब शाखा, प्रत्यय चोदना आदि समान है। उसी प्रकार ब्रह्म भी सब उप-निषदों में एक समझना चाहिये—ऐसा भगवान् व्यास सूत्र बनायें हैं।

[प्रतिपदाधिकरणन्याय—]

और फलरूप ब्रह्म ही आनन्द-शरीर कहा गया है। इसलिये फलसिद्धि के लिये भी अङ्गत्व की कल्पना नहीं है। इसलिये स्वतन्त्रतापूर्वक ही ब्रह्म उपनिषद्समन्वय-गम्य है, तो फिर प्रतिपदाधिकरणन्याय से क्या फायदा है। अथवा प्रकारान्तर से समन्वय है—तो इस प्रकार वर्णन करते हैं—क्या सब पद फल से सम्बद्ध होते हैं या एक। क्या प्राप्त है ? प्रतिपद। क्यों प्रधान में एक रूप में सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इसलिये फलपद से ही सब पदों का सम्बन्ध होता है। यदि विशेष मालूम पड़ता कि यह फल सम्बन्ध के योग्य है, यह नहीं, तब तो कुछ का ही सम्बन्ध होता। किन्तु न मालूम होने पर तो सब पदों का उसी से सम्बन्ध होता है। यदि एक फलसम्बन्धी है और दूसरे उसके

---

[1] (क) प्रत्यय, (ग) प्रत्ययं। [2] (क) रूपं, (ग) रूपञ्च। [3] (ग) तेन फल।
[4] (ग) तथा। [5] (क) कृतः, (ग) कुतः। [6] (ग) नै न च।
[7] (क) ते यदि, (ग) ते पदं यदि। [8] (ग) ने सर्वं। [9] (ख) फलमसम्ब।
[10] (क) तं। (ग) फलं। [11] (क) विधान। (ग) विधानं।
[12] (ग) इतरस्तु प्र।

रूप्यात् तत्र सम्बन्धोपपत्तिः। सर्वश्च सति सम्भवे गुणमतिलङ्घ्य प्रधानेनैव (सम्बध्यते)। तस्मात् सर्वेषां फलसम्बन्धात् धर्मत्वम् इति। एवमुपनिषत्पदानामपि प्रत्येकं जीवब्रह्मणोरेकत्वे समन्वयश्चेत्? सत्यज्ञानाद्यन्यतमपदार्थज्ञानान्मोक्षः प्रसज्येत; वाक्यार्थज्ञानाद्वा[1]। न च तथेष्यते। अथैतत्सिद्धान्तानुसारेण समन्वयः? तथा हि—

"फलेन यस्य सम्बन्धः (सतो[2]) पूर्वं प्रकल्प्यते।
तदल्पत्वोपपत्तौ च न युक्ता बहुकल्पना॥"[3]

यदि (हि[4]) फलसम्बन्धमात्रपर्यवसाय्येव वाक्यं भवेत्, ततः कदाचित् सर्वाण्यपि फलेन सम्बद्ध्येरन्। इह तु तावन्मात्रेणासिद्धेरपूर्वमन्यत् कल्पितव्यम्; तच्चान्यथाऽनुपपत्तिप्रमाणकम्। तत्रैकापूर्वकल्पनयोपपन्ने वाक्ये नादृष्टान्तरकल्पना प्रमाणमस्ति। यो हि बहून्यपूर्वाणि कल्पयति, कल्पयत्यसावेकम्, तच्चेत् कल्पितं अर्थवत्त्वाद् वाक्यस्य क्षीणान्यथाऽनुपपत्तिर्नापूर्वान्तरस्य प्रमाणं भवति। तस्मादेकमेव फलसम्बन्धि, तस्माच्चापूर्वमितरत्[5] फलवदुपकारि—इत्यध्यवसीयते। न चात्र विरोधो भविष्यति;

भावदीपिका

द्वा वाक्यभेदः। स्वपक्षे दोषाऽभावमुक्त्वा न्यायमनुकूलयति—सर्वश्चेति। दार्ष्टान्तिकमाह—एवमिति। प्रकारान्तरं वक्ष्यति। अधुना पूर्वमेव सिद्धान्तभङ्ग्या अनुवर्त्तयति—अथेति। कल्पतामपूर्वम्; ततः किम्? तदाह—तच्चेति। तर्हि पूर्वोक्तं वैरूप्यं स्यात्? अत आह—न चात्रेति। उद्भिदादिपदानामुद्भिदाख्यद्रव्यस्य यागसम्बन्धप्रतिपादकत्वाऽभावात् नामधेयत्वपक्षेन पूर्वोक्तवैरूप्याऽऽपत्तिः। तथाऽपि "सोमेन यजेत" इत्यादौ

ज्ञानवती

सम्बन्धियों की कल्पना की जाती है, तो एक का फल के प्रति उपादान विधान है क्योंकि गुण भाव है, तथा दूसरे का उसके प्रति उद्देश, अनुवाद, प्राधान्य होने से वैरूप्य हो जाने के कारण वाक्यभेदप्रसङ्ग हो जायगा। और फल के प्रति उपादीयमान सबका ऐकरूप्य होने से वहाँ सम्बन्ध की उपपत्ति हो जाती है। सम्भव होने पर सब लोग गुण का अतिक्रमण कर प्रधान के साथ ही सम्बद्ध होते हैं। इसलिये सबका फल के साथ सम्बन्ध होने से धर्मत्व है। इस प्रकार यदि प्रत्येक उपनिषद् का जीव-ब्रह्म के एकत्व में समन्वय है, तो अज्ञान आदि अन्यतमपदार्थ का ज्ञान होने पर अथवा वाक्यार्थज्ञान होने पर मोक्ष होने लगेगा किन्तु वैसा वाञ्छित नहीं है।

यदि इस सिद्धान्त के अनुसार समन्वय हो? इस प्रकार—

"फल के साथ जिसका सम्बन्ध सत् से पहले प्रकल्पित होता है। उसके अल्पत्व की उपपत्ति होने पर बहुतों की कल्पना युक्त नहीं है।"

यदि वाक्य फलसम्बम्न्धमात्रपर्यवसायी ही होता, तो कदाचित् सभी फल के साथ

---

[1] (क) ज्ञानाद्वा वा, (ग) ज्ञानं वा। [2] (ख) सतो।
[3] तं० वा० २।१।१। [4] (क) यदि फल। (ग) यदि हि फल।
[5] (ग) इतरफल।

नामधेयत्वेन परिहारात्। अगत्या वा "दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि" इतिवन्मत्त्वर्थ-लक्षणाऽऽश्रयणात् अर्थाक्षिप्तसाध्यांशद्वारेण वा धात्वर्थैरात्मीयकरणग्रहणासिद्धिः।

एवं स्थिते कतरदेकं सम्बध्यताम् इति? सर्वथा अनेकादृष्टकल्पनापरिहाराद-नियम प्राप्तावुच्यते—

"प्रधानं फलसम्बन्धि तत्सम्बन्ध्यङ्गमिष्यते।
प्रधानाङ्गत्वमेकस्य न चैकत्राऽवकल्पते॥"

न ह्येकस्मिन् वाक्ये तदेव फलसम्बन्धात् कदाचित्[1] प्रधानं, कदाचिच्च फलवदुपकारा-

भावदीपिका

तत्प्रतिपादनाद्वैरूप्यम्? तत्राऽऽह—आगत्या वा इति। जीवतो मेषस्य शुक्ललोमजः उभयत एकतो वा दशायुक्तः कम्बलः=दशापवित्रम्। दशापवित्रशब्देन यथा तस्य केवलस्य ग्रह-मार्जनहेतुत्वाऽसम्भवात् करसम्बन्धो लक्ष्यते, तथा 'सोमेन' इत्यत्र अद्रव्यकयागासम्भवात् द्रव्यान्तरस्य चाऽग्रहणात् सोमद्रव्यस्य सम्बन्धो लक्ष्यते; अतो न सम्बन्धद्वयप्रतिपादनवैरूप्यम्। अथवा क्रियायाः फलवत्त्वनियमात् तस्याश्च निष्पन्नाया फलहेतुत्वात् निष्पत्तेश्च करणभूत-द्रव्याधीनत्वाद् द्रव्यलक्षणा। ततो लक्षितलक्षणान्यायेन सम्बन्धद्वयदोषः—इत्याह—अर्थाऽऽक्षिप्तेति।

उक्ताऽनुवादेन पूर्वपक्षं संकलय्य सिद्धान्तमाह—एवमित्यादिना। प्रधानम्=आख्या-तम्। अङ्गत्वमपि तस्य पाक्षिकं वारयति - प्रधानेति। यस्मादपूर्वप्रतीतितत्फलपदसंबन्धि-

ज्ञानवती

सम्बद्ध हो जाते। यहाँ तो उतने से ही असिद्ध होने से दूसरे अपूर्व की कल्पना करनी पड़ेगी ओर वह अन्यथानुपपत्ति प्रमाण वाला है। वहाँ एक अपूर्व की कल्पना से वाक्य के विषय में अदृष्टान्तर की कल्पना प्रमाण नहीं है। जो बहुत अपूर्वों की कल्पना करता है वह एक की भी कल्पना करता है, यदि वह कल्पित है तो अर्थवान् होने से वाक्य की क्षीण अन्यथा अनुपत्ति अपूर्वान्तर का प्रमाण नहीं होती। इसलिये एक ही फलसम्बन्धी है, और उससे अन्यफलवाले का उपकारी है ऐसा निश्चय होता है।

(पू) यहाँ विरोध हो जायगा? (उ) नहीं। क्योंकि नामधेय होने से परिहार हो जायगा। अथवा अगत्या 'दशापवित्र से ग्रह का सम्मार्जन करना चाहिये' इसके समान मत्वर्थलक्षणा के आश्रयण से या अर्थाक्षिप्त साध्यांश के द्वारा धात्वर्थों के द्वारा आत्मीय-करणग्रहण की असिद्धि होती है। ऐसा होने पर किस एक का सम्बन्ध हो? इस प्रकार सर्वथा अनेक अदृष्ट की कल्पना के परिहार से अनियम की प्राप्ति होने पर कहते हैं—

"प्रधान (अर्थात् आख्यात) फल से सम्बन्धित होता है। उससे सम्बन्धित अङ्ग माना जाता है। एक जगह एक का प्रधानत्व एवं अङ्गत्व नहीं कल्पित होता है।"

ऐसा नहीं है कि एक वाक्य में कदाचित् फल से सम्बन्ध होने के कारण प्रधान और कदाचित् फलवत् का उपकार होने से अङ्ग होना ठीक है, क्योंकि अङ्गाङ्गीभाव का रूप

---

[1] (ग) कदाचिच्च।

दङ्गं युज्यते; नियतरूपत्वादङ्गाङ्गिभावस्य। तस्मान्नियोगेनाख्यातादपूर्वप्रतीतिरिति। एवमत्राप्येकतमपदात् ब्रह्मप्रतीतिर्वक्तव्या पदान्तराणां कर्मवाक्यवत् फलवदुपकारकत्वम्। न च एतद्युज्यते; तद्वत् प्रकरणेतिकर्त्तव्यताद्याकाङ्क्षाऽभावात्; अन्यथा साध्यत्वप्रसङ्गात्। प्रकारान्तरमपि। "भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः[1] क्रिया प्रतीयेत एष ह्यर्थो विधीयते" इत्यत्र यथा, तथोपनिषदां वाच्यम्; समन्वयेऽन्यस्याप्रसिद्धत्वात्। तथा हि—यावानेव ह्यनन्यलभ्योऽर्थः शब्दाद् गम्यते, स सर्वः शब्दार्थः सर्वत्र चाख्याते धात्वर्थः, तदनुरक्ताश्च भावना विज्ञायन्ते। तस्माद् भावार्थत्वव्यपदेशो यागदानाद्याख्यातानामिति भावार्थनिरुक्तिपूर्वकमुक्तम्। सर्वत्र हि फलं साध्यरूपत्वात् सिद्धसाधनमपेक्षते न साध्यान्तरम्, नामार्थश्च सिद्धत्वात् तदपेक्षापूरणसमर्थो नाख्यातार्थः; स्वयमेव तत्साध्यत्वात्। तस्माद् द्रव्यादिलभ्यं[2] फलमिति प्राप्ते सिद्धान्तः—

"भावार्थाः कर्मशब्दा ये तेभ्योऽपूर्वक्रियागतिः।
तैः कुर्यात् यजिना स्वर्गमेष ह्यर्थो विधीयते॥"[3]

केवलभावनाकर्मणोऽनुवादकशब्दान्नापूर्वावगतिः, किन्तु धात्वर्थोपरक्तभावनाभिधा-

भावदीपिका

प्रधानमाख्यातम्। क्रियायाः फलसम्बन्धपक्षे तदुपपत्तेश्च तस्या एव फलसम्बन्धः; प्रस्तुते तदभावं दर्शयन् प्रकारान्तरमाह—एवमित्यादिना। दृष्टान्तं प्रपञ्चयति—तथा हीति। पूर्वपक्षमाह—सर्वत्र हीति। नामसिद्धार्थं पदं, तदर्थो द्रव्यादि; स एव फलाऽऽकाङ्क्षापूरको न क्रिया—इत्याह—नामार्थश्चेति। सिद्धान्तवार्त्तिकार्थमाह—केवलेति। भावो भावने-

ज्ञानवती

निश्चित होता है। इस कारण नियोग के कारण अख्यात से अपूर्व की प्रतीति होती है। इसी प्रकार यहाँ भी किसी एक पद से ब्रह्म की प्रतीति तथा पदान्तरों का कर्म वाक्यों के समान फलवत् का उपकारत्व कहना चाहिये। किन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि उसके समान प्रकरण इतिकर्त्तव्यत्यतादि की आकांक्षा का अभाव है, अन्यथा साध्यत्व की प्राप्ति हो जायेगी।

प्रकारान्तर भी है—जैसे—"कर्मबोधक शब्द भावना अर्थ वाले हैं उनसे अपूर्व क्रिया की प्रतीति होती है यह (=भावना) अर्थ विहित होता है।" वैसे उपनिषदों का भी कहना चाहिये, क्योंकि समन्वय में अन्वय अप्रसिद्ध है, वह इस प्रकार—शब्द से जितना ही अनन्य लभ्य अर्थ मालुम होता है, वह सब शब्दार्थ है और सर्वत्र आख्यात में धात्वर्थ है और उससे अनुरक्त भावनायें विज्ञात होती हैं। इस कारण याग, दान आदि आख्यातों को धात्वर्थ कहा जाता है—ऐसा भावार्थ निरुक्तिपूर्वक कहा गया है। सर्वत्र साध्यरूप होने के कारण फल सिद्धसाधन की अपेक्षा करता है, न कि साध्यान्तर की; और सिद्ध होने के कारण नामार्थ उसकी अपेक्षा की पूर्ति में समर्थ है न कि आख्यातार्थ, क्योंकि वह स्वयं ही उसका साध्य है। इस कारण द्रव्य आदि से लभ्य फल है ऐसा प्राप्त होने पर सिद्धान्त है—

---

[1] (ग) कर्मशब्दार्थेभ्यः। [2] (ग) द्रव्यादिभ्यः फलं। [3] तं० वा० २।१।

यक—'यजेत'—इत्यादिशब्दात्। फलसम्बन्धो हेतुः अपूर्वप्रतिपत्तेः; सम्बन्धश्च भावनाऽऽकाङ्क्षापूर्वकः। सा च भावशब्देभ्यः प्रसरन्ती दृश्यते न द्रव्यगुणशब्देभ्यः। तस्मादाख्यातेभ्योऽपूर्वभावना गम्यते, तत एव फलमिति। तथा च[1] शब्दविशेषेभ्यो ब्रह्म प्रतीयते चेत्? तदा भावनावत् प्रतिवाक्यं भेदफलादिकमापद्येत। न च तादृशाः शब्दविशेषाः दृश्यन्ते। अतः शास्त्रप्रमाणकत्वेन[2] ब्रह्मणः, समन्वयात् इत्यसमर्थो हेतुरिति।

अत्रोच्यते—समर्थ एवासौ। इष्यते हि परेणाप्याख्यातस्य वाक्यत्वम् तदर्थभूतभावनाबोधकस्य। तेनास्माकमप्याख्यातस्थाने महावाक्यम्, इतरपदस्थानीयञ्चावान्तरवाक्यम्; महावाक्योपकारिपदार्थशुद्ध्या तद्गतानां सत्यज्ञानादिपदानामखण्डार्थे लक्षणया समन्वयस्य दर्शितत्वात्। तथा महावचःसमन्वयस्यापि करणादिवत् पदार्थभेदाभावादेव न वाक्यभेदाद्याशङ्का; सकलपदानां प्रत्येकं[3]

भावदीपिका

त्यादिशब्दोऽनुवादकः। परस्पराऽनुरक्तशब्दव्यवच्छेदार्थं भावार्थाः कर्मशब्दाः—इत्युक्तम्। तैः शब्दैः 'यागेन स्वर्गं भावयेत्' इति कथं विधीयते? तत्राऽऽह—फलसम्बन्ध इति। ततः किम्? तदाह—सम्बन्धश्चेति। 'भावयेत्' इत्युक्ते किं? केन? कथम्?—इत्यन्वयो लभ्यताम्। भावना तु नामशब्देभ्यो ज्ञातस्य—इत्यपि न वाच्यम्—इत्याह—सा चेति। 'आपद्यताम्' इत्यपि न वाच्यम् इत्याह—न चेति। कथं समर्थः?—इत्याह—इष्यते हीति। वाक्यार्थभूतभावनाबोधकत्वात् आख्यातस्य वाक्यत्वं पारिभाषिकम्। प्रतिपदाधिकरणसिद्धान्तन्यायेन समन्वयस्तावन्न विरुद्धः। इतश्च स्वरूपलक्षणे उभयवाक्यसमन्वयः—इत्याह—तद्गतानामिति। क्रियाकारकादिभावेन समन्वयाऽङ्गीकारादेव न वाक्यार्थभेदः, तत्प्रयुक्तवाक्यभेदो वा—इत्याह—करणेति। तदानीं प्रतिपदाधिकरणपूर्वपक्षाऽनुसरणेऽपि

ज्ञानवती

"जो भावार्थ कर्म शब्द हैं उनसे अपूर्व क्रिया का ज्ञान होता है। उनके द्वारा 'याग से स्वर्ग उत्पन्न करना चाहिये' यह अर्थ विहित होता है।"

केवल भावना कर्मवाले अनुवादक शब्द से अपूर्व का ज्ञान नहीं होता किन्तु धात्वर्थोपरक्तभावनाभिधायक यजेत' इत्यादि शब्द से। अपूर्व की प्रतिपत्ति के कारण फलसम्बन्ध हेतु है, और सम्बन्ध, भावना की आकांक्षा के बाद होता है। और वह भावशब्दों से फैलती देखी जाती है, न कि द्रव्यगुणशब्दों से। इसलिये आख्यातों से अपूर्वभावना जानी जाती है और उसी से फल। इस प्रकार यदि शब्दविशेषों से ब्रह्म की प्रतीति होगी तो भावना के समान प्रत्येक वाक्य में भेद फल आदि की आपत्ति हो जायेगी। किन्तु वैसे शब्दविशेष नहीं दिखाई देते। इसलिये ब्रह्म के शास्त्रप्रमाणवाला होने के कारण 'समन्वयात्' यह हेतु समर्थ नहीं है।

(उ) इस विषय में कहते हैं—यह समर्थ ही है। तदर्थ (अर्थात् आख्यातार्थ) भूत

---

[1] (ग) तथा शब्द। [2] (ग) प्रमाणत्वे। [3] (ग) प्रत्येके।

समन्वयेऽपि न कर्मवाक्यवदपूर्वगौरवम्, तदङ्गीकारात्[७] तत्तदंशाविद्योच्छेदफलस्य दृष्टत्वात्। नाप्येकैकपदार्थज्ञानान्मोक्षः; दर्शादिभ्यः स्वर्ग इव प्रत्येकं सच्चिदानन्दाद्वयादिपदानां प्रत्येकं समग्रांशाज्ञापकत्वादेव; मोक्षस्य समस्ताविद्योच्छेदरूपत्वाच्च। अतो युक्तः सर्वपदानां समन्वयः। न च "आग्नेयोऽष्टाकपालः"–इत्यत्र "आग्नेयः" इति तद्धितान्तर्गताग्निपदस्य मन्त्रत्वेन देवताप्रकाशकत्वेन हविःप्रक्षेपोऽग्निशब्देनैव देवतामुद्दिश्य यथा, तथा तत्त्वप्रकाशने ब्रह्माद्यन्यतमपदनियमोऽपि (देवतोद्देशस्या[१]–) दृष्टाङ्गत्वेन नियमसम्भवात्। अत्र तु दृष्टाविद्याध्वंसफलत्वादनियमोपपत्तेः।

भावदीपिका

न दोषः—इत्याह—सकलेति। कथमनङ्गीकारः? कथं वा गौरवपरिहारः? तत्राऽऽह—तत्तदंशेति। दोषान्तरमुद्धरति—नाऽपीति। ब्रह्माऽविद्यास्तमयस्य कात्स्न्येनांऽशतश्च मोहान्तर्गतत्वात् अंशतः प्रत्येकं श्रुतिलिङ्गादिप्रतिबद्धपदार्थज्ञानानामज्ञाननिवर्तकत्वात् मोक्षफलत्वं प्रत्येकमविरुद्धम्। मोक्षः समग्र इति शेषः। बहुशृङ्खलाबद्धस्यैकैकाऽपगमे मोक्षवदंशतो मोक्षः। भावार्थाऽधिकरणन्यायेऽपि महावाक्यादिशब्दविशेषः। तस्य च भिन्नशाखागतैककर्मवाक्यवन्न विभिन्नाऽर्थत्वाऽऽदिशङ्का। सत्यादिवाक्येषु ब्रह्मपदस्य लक्ष्यनिर्देशकरस्य "अहं ब्रह्मास्मि" इति महावाक्ये दर्शनात् पदनियमं प्राप्तमपाकरोति—न चाग्नेय इति।

ज्ञानवती

भावनाबोधक आख्यात का वाक्यत्व दूसरे लोग भी मानते हैं। इसलिये हमारे मत में भी आख्यात के स्थान में महावाक्य और इतरपदस्थानीय अवान्तर वाक्य हैं, क्योंकि महावाक्योपकारी पदार्थ की शुद्धि से तद्गत सत्य ज्ञान आदि पदार्थों का अखण्डार्थ में लक्षणा के द्वारा समन्वय दिखाया गया है। इस प्रकार महावाक्य के समन्वय के भी, करण आदि के समान पदार्थभेदाभाव होने से ही, वाक्यभेद आदि की आशंका नहीं है, और सब पदों का प्रत्येक के साथ समन्वय होने पर भी कर्मवाक्य के समान अपूर्व का गौरव नहीं है, क्योंकि उसको स्वीकार न करने से तत्तदंश की अविद्या का उच्छेद रूप फल देखा जाता है और न तो एक-एक पदार्थ के ज्ञान से मोक्ष होता है, क्योंकि दर्श आदि के द्वारा स्वर्ग के समान प्रत्येक सच्चिदानन्द अद्वय आदि पद प्रत्येक समग्रांश के अज्ञापक ही है तथा मोक्ष समस्त अविद्या का उच्छेद रूप है। इसलिये सब पदों का समन्वय ठीक है।

(पू) "आग्नेयोऽष्टाकपालः" यहाँ पर 'आग्नेय' इस तद्धित के अन्तर्गत अग्निपद के मन्त्र के रूप में देवता का प्रकाशक होने से जैसे देवता को उद्देश करके अग्नि शब्द के द्वारा ही हविःप्रक्षेप होता है, उसी प्रकार तत्त्व के प्रकाशन में ब्रह्म आदि अन्यतम पद का नियम भी है, क्योंकि देवतोद्देश के अदृष्टाङ्ग होने से नियम सम्भव है। और यहाँ तो दृष्टि अविद्याध्वंस (रूप) फल होने से अनियम की उपपत्ति होती है।

---

७ (ग) ततनङ्गी।   १ (क) देवतावेशस्य। (ग) देवतोद्देशस्य।

[वेदान्तानां सकलक्लेशनिवर्त्तकत्वेन प्रामाण्यम्—–]

किञ्च आथर्वणश्रुतीनामिव यज्ञाङ्गानुपयोगित्वेऽपि वेदान्तानां केवलपुरुषार्थत्वेनापि प्रामाण्योपपत्तेर्वेदोषरा[२] वेदान्ता इति प्रलापमात्रं केषाञ्चित्। यदाहुः वार्त्तिककृतः—

"यदि यज्ञोपयोगित्वं नेहास्त्याथर्वणश्रुतेः।
अर्थान्तरप्रमाणत्वं केनास्या प्रतिहन्यते[३]॥
(शान्तिपुष्ट्यभिचारार्थम् एकब्रह्मर्त्विगाश्रिताः)।
क्रिया यथा प्रमीयन्ते तथैवात्मीयगोचराः॥
न चायमपि यज्ञाङ्गविधिः शान्त्यादिशास्त्रवत्।
अतोऽस्यापि प्रमाणत्वं पुरुषार्थेन न चार्थतः॥"

–इति। अत्र च सकलक्लेशोपशान्तिः शान्त्यादिशास्त्रवद् दृष्टमेव फलम्;

"शरदर्कांशुजं तापं निन्ये तारापतिः शमम्।
अहंमानोद्भवं दुःखं विवेकः[४] सुमहानिव॥"

–इति पराशरवचनात्।

भावदीपिका

[वेदान्तानां सकलक्लेशनिवर्त्तकत्वेन प्रामाण्यम्—]

एवं यज्ञसम्बन्धार्थप्रतिपादनाऽभावेऽपि वेदान्तानां प्रामाण्यमुक्तम्—तद् दृष्टान्तेन स्फोरयन् मताभासं व्युदस्यति—किञ्चेति। अत्र च पुरुषार्थत्वं विस्पष्टम्—इत्याह—अत्र चेति। उदाहरणान्तरमाह—निषेधेति। नञ एष स्वभावो यत् स्वसम्बन्धिनोऽभावं बोधयति इति न्यायान्नञो मुख्य अभावोऽर्थः। तदन्यतद्विरुद्धौ अमुख्यौ। तत्र 'ब्राह्मणो

ज्ञानवती

[वेदान्तों का सकलक्लेशनिवर्त्तक के रूप में प्रामाण्य है—]

इसके अतिरिक्त आथर्वणश्रुतियों के समान यज्ञाङ्ग के अनुपयोगी होने पर भी वेदान्तों की केवल पुरुषार्थ के रूप में प्रामाण्योपपत्ति होने से 'वेद के ऊषर वेदान्त हैं' यह किन्हीं लोगों का प्रलाप मात्र है। जैसा कि वार्तिककार कहते हैं—

"यदि यहाँ आथर्वणश्रुति का यज्ञोपयोगित्व नहीं है तो इसका अर्थान्तर प्रमाणत्व किसके द्वारा प्रतिहत हो सकता है।"

"जैसे शान्ति पुष्टि एवं अभिचार के लिये एक ब्रह्म तथा ऋत्विक् के आश्रित क्रियायें (होती हैं) उसी प्रकार आत्मीयविषयक (क्रियायें भी एक के आश्रित होती हैं)"।

"शान्ति आदि शास्त्र के समान यह भी यज्ञाङ्गविधि नहीं है। इसलिये पुरुषार्थतः इसकी भी प्रमाणता है न कि अर्थतः।"

---

२ (ग) वेदोखरा। ३ (क) प्रतिहन्यते इति अत्र च। (ग) प्रतिहन्यते। शान्तिपुष्ट्यभिचा······। ४ (ग) विवेकस्तु। ५ (क) च मृख्या, (ग) नभोमुख्या।

निषेधवाक्यानाञ्च (नञो[1]) मुख्यार्थत्यागेन क्रियान्तलक्षणाद्वरं तत्परिग्रहेण 'न सर्पायाङ्गुलिं दद्यात्' इत्यादौ प्रसिद्धा(-ऽनिष्टोपायत्व-)ज्ञानं' तद्वद्वेदान्तानां सिद्धबोधकत्वसम्भवाच्च। न च "तत्त्वमसि" इति नवकृत्वोऽभ्यासात् समिदादिवत् तत्त्वभेदः। तत्र हि कस्य विधित्वम्?—इत्यनिश्चयात् अन्येषां विधेयानुवादेन गुणविधित्वासम्भवात् सर्वयजतीनां तुल्यत्वेन कर्मभेदः। अत्र त्वेकस्यैव कर्मणः किञ्चित्तदुपयोग्येकत्वानुवादत्वादितरेषामेक एव विधिः इति न तत्त्वभेदशङ्का; "भूय एव मा भगवान् विज्ञापयतु" इति पूर्वोक्तेरेव प्रश्नाद्यज्ञकाण्डस्यादृष्टार्थत्वविप्लवाच्च।

भावदीपिका

न हन्तव्यः' इत्यादौ प्राप्तक्रियाया 'हन्तव्यः' इत्यनुवादेन कर्त्तव्यताया तदभावो न—इति बोध्यते। निषेधाच्च दृष्टात् अर्थादधिकतराऽनर्थहेतुत्वप्रतीतेः प्रेक्षाकारिण औदासीन्यसम्भवे विधारकतद्विरुद्धसङ्कल्पाऽदिक्रियान्तरलक्षणाऽनुपपत्तेः नामधात्वर्थाभ्यां योगे नञः पर्युदासाऽर्थता 'अब्राह्मणः' 'अधर्मः'—इति चोक्ता। "नामधात्वर्थयोगी च नैव नञ् प्रतिषेधकः" इति। 'न हन्यात्' इत्यत्र चाऽऽख्यातादिसम्बन्धात् नञः प्रसज्यप्रतिषेधाऽर्थतैव। अभावमनङ्गीकुर्वतोऽपि यादृशो नञोऽर्थो मुख्यः केवलत्वेनाऽवस्थानलक्षणः सिद्धोऽभ्युपगम्यते; अन्यथा मुख्याऽनुपपत्त्याऽर्थान्तरकल्पनाऽनुपपत्तेः तादृशस्य क्रियागताऽनिष्टद्योतकत्वं वक्तव्यमेव; न चेत् सङ्कल्पाऽदिकल्पना विफलैव; क्रियावारणायाऽनिष्टद्योतनाच्च। क्रियौदासीन्यं सम्भावितम्, ततः सर्वथा दुर्वारं निषेधानां सिद्धार्थत्वम्। तदाह नञो मुख्यार्थेति। सिद्धार्थत्वे नाऽखण्डार्थत्वम्?—इत्याशङ्क्याह—न चेति। अनेनाऽभ्यासाख्यतात्पर्यलिङ्गस्य प्रातिपदिकत्वाऽऽशङ्काऽपि पर्यहारि। अधुना दृष्टार्थत्वप्रयुक्तं दोषं परिहरति—यज्ञेति।

ज्ञानवती

यहाँ शान्ति आदि शास्त्र के समान सकलक्लेश की उपशान्ति दृष्ट ही फल है—क्योंकि—

"जैसे सुमहान विवेक अहंमानोद्भव दुःख को, (उसी प्रकार) तारापति शरत् कालीन सूर्य के ताप को शान्त कर दिया।"

यह पराशर का वचन है। तथा निषेध वाक्यों के नञ् के मुख्यार्थत्याग के द्वारा क्रियान्तलक्षण से अच्छा है उसके परिग्रह के द्वारा 'सर्प को अङ्गुलि नहीं देनी चाहिये' इत्यादि में प्रसिद्ध अनिष्टोपायत्व-ज्ञान। उसी प्रकार वेदान्तों का सिद्धबोधकत्व सम्भव है।

(पू) "तत्त्वमसि" इस नव बार अभ्यास होने से समिद् आदि के समान तत्त्वभेद है? (उ) नहीं है। क्योंकि वहाँ किसका विधित्व है?—यह निश्चय न होने से अन्य का विधेयानुवाद होने के कारण गुणविधित्व असम्भव होने से सब यजतियों का बराबर-बराबर कर्म-भेद है। वहाँ तो एक ही कर्म का किञ्चित् तदुपयोगी एकत्वानुवाद होने से दूसरों की एक ही विधि है इसलिये तत्त्वभेद की शङ्का नहीं है। तथा "भगवन् मुझे फिर बतलाइये" इस पूर्णोक्ति वाले प्रश्न से ही यज्ञकाण्ड का अदृष्टार्थत्व विप्लुत हो जाता है।

---

[1] (क) नुपायत्व, (ग) निष्टोपायत्व। [2] (ग) दुपयोग्युदत्कानु।

"लोकायतिकमूर्खाणां नैवान्यत् कर्म विद्यते।
यावत्किञ्चिददृष्टार्थं तद्दृष्टार्थं हि कुर्वते ॥
वैदिकान्यपि कर्माणि दृष्टार्थान्येव ते विदुः।
अल्पेनापि निमित्तेन विरोधं योजयन्ति च ॥
तेभ्यश्चेत् प्रसरो नाम दत्तो मीमांसकैः क्वचित्।
न च कञ्चन मुञ्चेयुः धर्ममार्गं हि ते सदा ॥
प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः।
नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचरे ॥[1]"

इति न चार्वाकवत् अस्माकं मीमांसकेष्वप्रसरः। न चात्र विरोधयोजनमात्रेणाप्रामाण्यं कर्मकाण्डस्यास्माभिर्वर्ण्यते, किन्तु विवर्तदृष्टिमाश्रित्य[2] "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" इत्यादिकी। एवं दृष्टश्रुतिमूलब्रह्मसमन्वितगीतादिस्मृतीनामपि मूलान्तरोद्भवत्वेनापस्मृतित्वमुपनयनादिस्मृतिवन्न मन्तव्यम्। यदाहुर्भट्टपादाः—

भावदीपिका

वेदान्तानां दृष्टार्थत्ववत् कर्मकाण्डस्य दृष्टार्थत्वं यदि कयाऽपि भङ्ग्या लोकायतिकवत् अस्माभिरङ्गीक्रियेत, तदाऽयं दोषः स्यात्; न च तथाऽङ्गीक्रियते। 'न हिंस्यात्' इत्यादावविरोधसाधकन्यायपमश्यन्तः पश्यन्तो वा वावदूकत्वेन विरोधं ततश्चाऽप्रामाण्यं योजयन्ति। एवं च नाऽस्माभिर्योज्यते—इत्याह—न चात्रेति।

इदानीमितिहासपुराणयोः स्मृतीनां च वेदान्ताऽनुकूलानां तेषां सिद्धार्थे सिद्धे प्रामाण्ये तत्र तत् सम्भावयति—एवमिति। दृष्टान्तं स्पष्टयति—यदाहुरिति। अधुना सूत्रभाष्यादि-

ज्ञानवती

"लोकायतिक मर्खों के लिये कोई दूसरा कर्म नहीं है। जो कुछ अदृष्टार्थ है (उसे) वे दृष्टार्थ ही करते हैं।

वैदिक कर्मों को भी वे दृष्टार्थ ही जानते हैं। और थोड़े भी निमित्त से विरोध जोड़ देते हैं।

यदि मीमांसकों ने उन्हें कहीं भी प्रसर दे दिया तो किसी भी धर्ममार्ग को वे सदा नहीं छोड़ेंगे।

जब तक बन्दर या पिशाच कहीं भी प्रसर नहीं पाते तब तक वे अपने विषय पर आक्रमण नहीं करते।"

चार्वाकों के समान हमारा मीमांसकों में प्रसराभाव नहीं है। और न तो यहाँ विरोधयोजनमात्र से हम कर्मकाण्ड के अप्रामाण्य का वर्णन करते हैं, किन्तु "जिस समय इसके लिये सब आत्मा ही हो गया" इत्यादि इस प्रकार विवर्तदृष्टि का आश्रय लेकर (उस प्रकार का वर्णन करते हैं)। दृष्टश्रुतिमूल ब्रह्मसमन्वित, गीता आदि स्मृतियों का भी, मूलान्तर से उत्पन्न होने से उपनयन आदि स्मृति के समान अपस्मृतित्व नहीं मानना चाहिये। भट्टपाद ने कहा है—

---

[1] तं० वा० १।३।२। [2] (ग) विद्ध।

"कठमैत्रायणीयादिपठितश्रुतिमूलिकाः ।
दृश्यन्ते स्मृतयः सर्वाः यदोपनयनादिषु ॥
तदा तन्मध्यपात्येकं वाक्यं किञ्चिदपस्मृतिः ।
मूलान्तरोद्भवं वक्तुं जिह्वा[1] नो न प्रवर्त्तते ॥"[2]

इति । "अथातो धर्मजिज्ञासा" इति च वेदार्थैकदेश एवो(-पलक्षितः[3]); स एव च "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" इत्यादिना विध्यर्थवादमन्त्राणामुपयोगेन निगृह्यते[4]; वेदान्तानां ब्रह्मसमन्वयस्य न्यायसिद्धत्वात् । अत एव पृथगारम्भोऽपि । न च धर्मशब्देन वेदार्थमात्रं न तदेकदेश इति युक्तम्; प्रामाण्यसाधनात् प्राक् सामान्यप्रतिपत्तिविशेषप्रतिपत्तिपुरुषार्थसाधनत्वानां वेदार्थेऽसम्भवेन जिज्ञासाऽनुदयात् । तथा सति चोदनालक्षणत्वविशेषणवैय्यर्थ्याच्च[5] । चोदनायाः प्रवर्त्तकवचनत्वेन वेदविशेषत्वाच्चोदनाशब्देनापि वेदविवक्षायामर्थवादादेरपि प्रमाणत्वेन द्वितीयाधि-

भावदीपिका

स्वमताऽविरोधि सम्पादयति—अथातः इति । गुरुमतमपाकरोति—न चेति । प्रामाण्यसाधनस्य जिज्ञासाप्रतिज्ञोत्तरत्वात् तदसिद्धौ उन्मत्तादिवाक्यवत् अर्थजिज्ञासा वेदस्य न स्यात् । इतश्च नैतत्—इत्याह—तथा सतीति । अत्राऽपि तदभिप्रायं निरस्यति—चोदनेति ।

ज्ञानवती

"जब उपनयन आदि में कठ मैत्रायणीय आदि के द्वारा पठित श्रुतिमूलवाली सब स्मृतियाँ दिखाई पड़ती हैं—

तो उनके मध्य में आने वाला एक वाक्य कुछ अपस्मृति तथा मूलान्तर से उत्पन्न है ऐसा कहने के लिये हमारी जिह्वा प्रवृत्त नहीं होती ।"

और "अथातो धर्मजिज्ञासा" यह वेदार्थैकदेश ही उपलक्षित है, और वही "आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्" इत्यादि के द्वारा विधि अर्थवाद मन्त्रों के उपयोग के रूप में निगृहीत होता है । क्योंकि वेदान्तों का ब्रह्मसमन्वय न्यायसिद्ध है । इसीलिये पृथ्क आरम्भ भी है ।

(पू) धर्मशब्द से वेदार्थमात्र (लिया जाता है) न कि उसका एकदेश; यह ठीक है ? (उ) यह ठीक नहीं है । क्योंकि प्रामाण्यसाधन के पहले सामान्यप्रतिपत्ति विशेषप्रतिपत्ति और पुरुषार्थसाधनत्वों के वेदार्थ में असम्भव होने से जिज्ञासा का उदय नहीं होता । और ऐसा होने पर चोदनालक्षणत्व विशेषण व्यर्थ हो जायगा । चोदना के प्रवर्त्तक वचन होने के कारण वेदविशेष होने से चोदनाशब्द से भी वेदविवक्षा में अर्थवाद आदि के भी प्रमाण होने से द्वितीय अधिकरण से ही अर्थविशेष की व्यवस्था होने से अर्थवादआदि अधिकरण का आरम्भ नहीं होता, और प्रामाण्यविचार सिद्ध है, इसलिये उसके प्रामाण्य की चिन्ता का अवतार नहीं होगा । सामान्यात्मक लोकप्रवादाख्य प्रमाणाभास के द्वारा प्रसिद्ध धर्म को उद्देश करके उसका अग्निहोत्र, चैत्यवन्दन आदि के रूप में विचार करने पर यह सब ठीक नहीं लगता ।

---

[1] (ख) जिह्वानो । [2] तं० वा० १।३।२ । [3] (क) पक्षिप्तः ।
[4] (ग) विचार्यते । [5] (ग) विशेषणा ।

करणेनैवार्थविशेषव्यवस्थापनात् अर्थवादाद्यधिकरणानारम्भः सिद्धः[1] प्रामाण्यविचारश्च इति तत्प्रामाण्यचिन्ताऽनवतारः स्यात्। लोकप्रवादाख्यप्रमाणाभासेन प्रसिद्धं सामान्यात्मना धर्ममुद्दिश्य तस्याग्निहोत्रचैत्यवन्दनादित्वेन विचारे न[2] सर्वमेतद्युज्यते। वेदार्थस्य पुनर्विचारे सिद्धसाध्यादिभेदेन सन्देहे तन्निर्णय एव कर्त्तव्यः स्यात्। वेदार्थजिज्ञासा तत्र वेदः प्रमाणं च इति। अनुचितं च पण्डितंमन्यस्य धर्मचोदनाशब्दयोर्लाक्षणिकत्वप्रसङ्गात् सर्ववेदवाक्योदाहरणस्य मुख्यार्थबाधकस्यादर्शनाच्च धर्मशब्दस्य चैत्यवन्दनादावपि प्रसक्तत्वेन वेदार्थे रूढत्वासम्भवात्। अस्तु वा वेदार्थजिज्ञासैवेयम्, तथाऽपि श्रुतिलिङ्गादिप्रमाणकब्रह्मसमन्वयस्य श्रौतस्य स्मार्त्तेन कार्यार्थसमन्वयेन नापह्नवो युक्तः।

"यावदेकं श्रुतौ कर्म स्मृतौ चान्यत्(प्रतीयते[3])।
तावत्तयोर्विरुद्धत्वे श्रौतानुष्ठानमिष्यते॥"[4]

इति वार्त्तिकान्मन्वादिवचोवत् व्यासवचोऽपि युगादिषु प्रवर्त्तमानं प्रमाणमेव। तदाहुः—

"वेदेनैवाभ्यनुज्ञाता येषामेव प्रवक्तृता।
नित्यानामभिधेयानां मन्वन्तरयुगादिषु॥

भावदीपिका

स्वाभिप्रायं घटयति—लोकेति। पदाऽभिप्राये दोषान्तरमाह—वेदार्थस्येति। अनौचित्यमाह—वेदार्थेति। वेदार्थ इत्युक्त एव तत्र वेदप्रमाणत्वस्य लब्धत्वादनुचितं द्वितीयं सूत्रम्। धर्मनिर्देशे तूचितमेव। लक्षणाऽपि न युक्ता—इत्याह—सर्वेति। मुख्यत्वेऽदोषमाह—धर्मशब्दस्येति। अङ्गीकारेऽपि नाऽस्मत्पक्षहानिः—इत्याह—अस्तु वेति। उपोद्बलकान्तरमाह—मन्वादीति।

ज्ञानवती

वेदार्थ का फिर से विचार करने पर सिद्धसाध्य आदि भेद से सन्देह होने पर उसका निर्णय ही करना होगा। वेदार्थ की जिज्ञासा और उसमें वेद प्रमाण है। और अनुचितपण्डितम्मन्य के धर्म और चोदना सम्बन्ध के लाक्षणिकत्व की प्राप्ति होने से और सब वेद वाक्योदाहरण के मुख्यार्थबाधक का अदर्शन होने से धर्म शब्द के चैत्यवन्दन आदि में भी प्रसक्त होने से वेदार्थ में रूढत्व असम्भव है। अथवा यह वेदार्थजिज्ञासा ही हो, तो भी श्रौत श्रुति लिङ्ग आदि प्रमाणवाले ब्रह्मसमन्वय का स्मार्त कार्यार्थसमन्वय के द्वारा अपह्नव ठीक नहीं है।

"जब तक श्रुति में एक कर्म और स्मृति में दूसरा प्रतीत होता है तब तक उनके विरुद्ध होने पर श्रौत अनुष्ठान माना जाता है।"

इस वार्त्तिक से मनु आदि के वचन के समान युग के आदि में प्रवर्त्तमान व्यास का वचन भी प्रमाण ही है। कहा है—

"मन्वन्तर, युग आदि में नित्य अभिधेय जिनकी प्रवक्तृता वेद से ही अभ्यनुज्ञात है—

---

[1] (ग) सिद्धप्रामाण्यं चिन्ताऽनव। [2] (ग) विचारे सर्वं।
[3] (क) इतीर्यते, (ग) प्रतीयते। [4] तं० वा० १।३।२।

तेषां विपरिवर्त्तेषु कुर्वतां धर्मसंहिताम्[१]।
वचनानि प्रमाणानि नान्येषामिति[२] निश्चयः ॥"[३]

तस्मादध्वरमीमांसाऽऽलोचनया[४] ब्रह्मणि वेदान्तसमन्वयो नानुपपन्नः ।

[वेदान्तानामुपासनादौ अवान्तरतात्पर्यम्—]

एवं निर्विशेषे[२] ब्रह्मणि वेदान्तानामुत्सर्गसिद्धे समन्वये तत्प्रतिपत्त्यर्थं क्वचिद् विशेषविवक्षया विशेषनिरूपणे तत्र महातात्पर्ये सत्येवावान्तरतात्पर्यात् अवान्तरवाक्यभेदेनोपासनाविधिरपि मन्दानुकम्पार्थमपवादत्वेन ; यथा हिरण्मय-पुरुषादौ । अन्नमयादिश्च निर्विशेषपुच्छब्रह्मज्ञानद्वारमेव । एवमन्यत्राप्यूह्यम् । न चाभूतार्थप्रादुर्भावफला[६] भावनैव सर्वत्र वाक्यार्थः ; सिद्धार्थवादानामपि बहुलमुप-

भावदीपिका

[वेदान्तानामुपासनादौ अवान्तरतात्पर्यम्—]

एवं समन्वयं निरूप्य उत्सर्गापवादाभ्यां विभजते वाक्यविशेषसमावेशाय—एवमिति । अपवादाऽपवादमाह—अन्नमयेति । 'येऽन्नं ब्रह्मोपासते' इत्यादिनिर्गुणविद्याऽनधिकृतस्याऽन्यार्थ-कोशोपासनमाश्रित्य विधानन्यायेन कथञ्चित् घटमानमपि द्वारं स्तुत्यर्थद्वारोपासनेऽप्यैवं फलं [चेत्] किं वाच्यं द्वारिब्रह्मसाक्षात्कारे--इत्याशयः । किञ्च भावनावादोऽपि न युक्ति-सहो येनाऽन्यत्राऽपि तन्नियम आशङ्क्येत—इत्याह—न चाभूतार्थेति । जयत्वसौ कलानिधि-कुलदीपको रुक्मिणीरमणो रणरभसतुरगखुरमुसलदलितऽवनीतलव्युच्छलद्बहलधूलीपटलवल-यितव्योमकेशचक्रवालाऽलङ्कारमार्तण्डमण्डलपृथुलमुक्ताफलो वकासुरवाहुतालीवनविखण्डनः—इत्यादिसिद्धार्थवाक्यान्युपलभ्यन्ते यत इत्यर्थः । न चाऽत्राऽपि भावनाशब्दोऽध्याहार्यः । स

ज्ञानवती

धर्म संहिता (की रचना) करने वाले उन लोगों के वचन, विरोध होने पर प्रमाण हैं दूसरों के नहीं—ऐसा निश्चय है ।"

इस कारण अध्वरमीमांसा की आलोचना से ब्रह्म के विषय में वेदान्त का समन्वय अनुपपन्न नहीं है ।

[वेदान्तों का उपासना आदि में अवान्तर तात्पर्य है—]

इस प्रकार निविशेष ब्रह्म में वेदान्तों का समन्वय उत्सर्गसिद्ध होने पर उसकी प्रतिपत्ति के लिये कहीं विशेष की विवक्षा से विशेष का निरूपण होने पर उसमें महातात्पर्य होने पर ही अवान्तरतात्पर्य होने से अवान्तर वाक्यभेद के द्वारा उपासनाविधि भी अपवाद के रूप में मन्द की अनुकम्पा के लिये (आती है) । जैसे कि—"हिरण्मय पुरुष" आदि में । और अन्नमय आदि निर्विशेष पुच्छब्रह्म ज्ञान का द्वार ही है । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये । (पू) अभूत अर्थ के प्रादुर्भावरूप फलवाली भावना ही सर्वत्र वाक्यार्थ है । (उ) ऐसा नहीं

१ (ग) संहिताः ।
२ (ख) न ह्येषां ।
३ तं० वा० १।३ ३ ।
४ (ग) लोचनायाः ।
५ (ग) विशेषो ।
६ (ग) च भूता ।

लम्भात्। न च सर्वत्र क्रियोत्प्रेक्षणं न्याय्यम्; निराकाङ्क्षान्वये सत्यपि क्रियाकल्पनायामतिप्रसङ्गात्। 'अयमात्मा ब्रह्म'' इत्यादौ च ''अस्तिर्भवन्ती परः प्रथमपुरुषोऽप्रयुज्यमानोऽपि गम्यते'' इति स्मरणात् 'अस्ति'[१] इत्यादिविवक्षितक्रियालाभात्। किञ्च—

''श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते, प्रेया मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥

इति पुरुषस्य प्रवृत्तिं प्रति[२] स्वातन्त्र्यश्रवणात् इष्टसाधनादिबोध एव शब्दसाध्यः, न प्रवृत्त्यादिकमपि फलवत्। साधनेतिकर्त्तव्यतयोरपि फलरागेण समुत्पादितरागेणैव

भावदीपिका

किं पदाऽन्वयपर्यवसानाय ? वैयर्थ्यपरिहाराय वा ? नाद्यः—इत्याह—निराकाङ्क्षेति। वर्णनप्रयोजनं च पुण्यविशेषो न भावनाऽन्तराऽऽकाङ्क्षी। न च देवताऽनङ्गीकारवादिनां तद्वर्णनविधानमपि शोभत इति द्रष्टव्यम्। हर्षादिफलस्य श्रोतृगतस्याऽनपलपनीयत्वाच्चेत्यपि पदसमन्वयसामञ्जस्याय क्रिया वेदान्तेष्वपि स्वीकृता न दोषाय। ''धावतेति न दानार्थे पदं यद्वत् प्रयुज्यते। एधीत्यादि तथा नेच्छेत् स्व-स्व-सिद्धार्थवाचिनी॥''—इत्युक्तत्वात् विपरीतैव वार्यते। तत्त्वमिति प्रथमाविभक्तेः प्रातिपदिकार्थात् अव्यतिरिक्ताऽर्थत्वात् अर्थात् प्रतीतलिङ्गसंख्यादेश्च अद्वैतश्रुतिबाधितत्वात् लक्षणया अखण्डार्थता न विरुद्धेति। तदाह—अयमात्मेति। 'अस भुवि'—इति धातुः भवन्ती वर्त्तना-तत्परोऽस्तीत्यादिरूपेण प्रयोक्तव्यः। इदानीं स्वाभिमतं प्रवर्त्तकवाक्यार्थं निरूपयन् परपक्षमाभासीकरोति—किञ्चेति। श्रेयःप्रेयसी=मोक्षाऽभ्युदयौ। तत्साधने मनुष्यस्य कर्मज्ञानाऽधिकारित्वात् तं प्रति वेदमुखादायातः। तयोश्च यत्स्वरूपेणेष्टसाधनं मन्यते तत्र प्रवर्तते शब्दव्यापारं विनाऽपि

ज्ञानवती

है क्योंकि सिद्ध अर्थवादों की कभी-कभी उपलब्धि होती है। (पू) सर्वत्र क्रिया का उत्प्रेक्षण होगा ? (उ) यह न्याय्य नहीं है। क्योंकि निराकाङ्क्ष अन्वय के होने पर भी क्रिया की कल्पना में अतिप्रसक्ति हो जायगी। और ''यह आत्मा ब्रह्म है'' इत्यादि में ''अस्ति भवन्ति इत्यादि क्रिया का प्रथम पुरुष प्रयुज्यमान न होने पर भी समझ लिया जाता है।'' इस स्मृति से 'अस्ति' इत्यादि विवक्षितक्रिया का लाभ होता है। और भी—

''श्रेय और प्रेय ये दोनो मनुष्य के पास आते हैं। धीर पुरुष उनको प्राप्त कर विचार करता है। धीर पुरुष प्रेय की अपेक्षा श्रेय का वरण करता है और मन्द पुरुष योगक्षेम के कारण प्रेय का वरण करता है।''

इस प्रकार पुरुष का प्रवृत्ति के प्रति स्वातन्त्र्यश्रवण होने से इष्टसाधन आदि का वोध ही शब्द का साध्य है न कि फलवत् प्रवृत्ति आदि भी। साधन और इतिकर्त्तव्वता के भी फलराग से समुत्पादित राग के द्वारा ही प्रवृत्त के तद्विशेषबोधनमात्र से ही शास्त्र का चरितार्थत्व सम्भव है। यद्यपि साधनविशेष का ज्ञान न होने से सामान्य के द्वारा भी इतिकर्त्तव्यता वाञ्छित होती है, तथापि अर्थित्वादिसम्पन्न (व्यक्ति की फलवती नैसर्गिकी

१ (ग) अस्मि। २ (ग) प्रवृत्तिनिवृत्ती स्वातन्त्र्ये।

प्रवृत्तस्य तद्विशेषबोधनमात्रेण शास्त्रस्य चरितार्थत्वसम्भवात्। यद्यपि साधनविशेषानवगमेनेतिकर्त्तव्यतां वाञ्छति सामान्येनापि, तथाऽप्यर्थित्वादिसम्पन्नस्य फलवती[1] नैसर्गिकी प्रवृत्तिः इति विधेरज्ञातज्ञापनं[2] एव व्यापारः अनेनैव च प्रकारेण प्रयोज्यचैतन्यद्वारेण शब्दस्य (प्रवर्त्तकत्वं[3] सम्भवति, पक्षादिशब्देन पुरुषस्य हितस्याधानेन) प्रवर्त्तकत्वदर्शनात्। कृति (-साध्यतै[4]-) कार्थसमवायिनी हित (-साधनता[5]-) विधिरिति हि वृद्धाः। रागगोचरे हितसाधने च चन्द्रोदयादौ कृतिसाध्यत्वाभावेनाप्रवृत्त्यर्थं अनुपपदं कृतिसाध्यत्वं वा विशेषणम्। तस्माल्लोकवेदयोः सिद्धे समन्वयः सिद्धः।

[न्यायमतनिरूपणम् प्रमात्वलक्षणखण्डनं च—]

अथ न्यायविरुद्धोऽयं समन्वयः। न्याये हि षोडशतत्त्वानि निरूपितानि। "प्रमाण-प्रमेय-संशय—प्रयोजनः दृष्टान्त-सिद्धान्त—अवयव-तर्क-निर्णय—वाद—

भावदीपिका

नियोगादिकं च साधनविशेषेतिकर्त्तव्यतयोर्विधित एव प्रवृत्तिरित्यप्याग्रहो मुधैव - इत्याह—यद्यपीति। वेदे प्रवर्त्तकपुरुषस्याऽभावात् लिङादेरेव प्रवर्त्तना पुरुषगतचैतन्यद्वारेण—इत्युक्तं विघटयति—अनेनैव चेति। उक्तविध्यर्थेऽभियुक्तसंमतिमाह – कृतीति। कृतिसाध्यताविशेषणकृत्यमाह—रागेति। अप्रवृत्तेः कृतिसाध्यताविशेषणमिति शेषः। अथवा कृतिसाध्येष्टसाधनत्वमेव विधिवाक्यार्थो लाघवात् पूर्वोक्तादपि—इत्याह—एकतमेति।

[न्यायमतनिरूपणं प्रमात्वलक्षणखण्डनं च—]

"पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥"—इति न्यायस्य विद्यास्थानत्वेन ग्रहणात् तद्विरोधे समन्वयनैर्मल्यमिति पूर्वपक्षयति—अथेति। ननु यथा "सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः" तपः इति "तपो नित्यः

ज्ञानवती

प्रवृत्ति होती है, इसलिये अज्ञातज्ञापन विधि का व्यापार है, क्योंकि इसी प्रकार से प्रयोज्यचैतन्य के द्वारा शब्द का प्रवर्त्तकत्व सम्भव है क्योंकि पक्ष आदि शब्द से पुरुष के हित का आधान होने से प्रवर्त्तकत्व देखा जाता है। कृतिसाध्यता रूप एक अर्थ की समवायिनी हितसाधनता विधि है ऐसा वृद्ध लोग कहते हैं। और राग के विषय हितसाधन चन्द्र के उदय आदि के बारे में कृतिसाध्यत्वाभाव से ही अप्रवृत्ति होने से एकतमकालसम्बन्ध की व्यावृत्ति के लिये अनुपपद या कृतिसाध्यत्व विशेषण है। इसलिये लोक एवं वेद में सिद्ध होने पर समन्वय सिद्ध है।

[न्यायमतनिरूपण एवं प्रमात्वलक्षण का खण्डन—]

(पू) यह समन्वय न्यायविरुद्ध है। न्याय में सोलह तत्त्वों का निरूपण है—"प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा,

---

[1] (ग) फलत्ववति। [2] (ज) रज्ञातव्यापारः।

[3] (क) स्य प्रवर्त्तकत्वदर्शनात, (ग) स्य न्नवर्त्तकत्वं ···· दर्शनात्।

[4] (क) साध्यै, (ग) साध्यते। [5] (क) साधन, (ग) साधनता।

जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-जाति-निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः।"[१] इत्युद्देशपूर्वकं त्रिविधा अस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः उद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति। तत्र नामधेयेन पदार्थाभिधानमात्रमुद्देशः। उद्दिष्टतत्त्वव्यवस्थापको धर्मो लक्षणम्। लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वा इति प्रमाणैः तत्त्वावधारणं परीक्षा। विभागस्य चोद्देश एवान्तर्भावः। तत्र "प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि।" "प्रमाणानि" इत्यनेनैव निरुक्तिसामर्थ्यात् विशेषविभागाक्षिप्तं[२] सामान्यलक्षणं सूच्यते प्रमासाधनानि (प्रमाणानि[३]) इति। प्रमायाः साधकतममेव प्रमाकरणम्।

भावदीपिका

पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेतिनाको मौद्गल्य" इति सत्यादीनां विहितत्वाऽविशेषेऽपि राथीतरादीनां न स्वरुच्या तत्त्वभेदाऽभिमानः किन्तु प्रमाणतदनुकूलन्यायमूलो वक्तव्योऽन्यथा तत्त्वोपदेशविप्लवाऽऽपत्तेः। ततो वेदप्रमाणतदनुकूलन्यायनिर्णीते तत्त्वाभेदे कथं तद्भेदाऽऽशङ्का? प्रमाणादिमूलशङ्कायां च नास्ति प्रतीकार इति दुर्घटोऽयमारम्भः। सत्यम्; तथाऽपि गौतमोक्तौ वेदार्थभ्रान्त्या श्रद्दधानानां तत्प्रक्रियाप्रदर्शनेनैव अवेदार्थत्वाविष्करणायाऽयमारम्भः। कथालक्षणाद्यंशेनैव च न्यायस्य वेदाऽनुकूल्यात् विद्यास्थानत्वमपीति विशदम्। न खलु प्रमाणादीनां निग्रहस्थानान्तानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमो वेदसिद्धान्तः; "एकधैवानुद्रष्टव्यम्", "नेह नाना" इत्यादिश्रुतेः। उद्देशपूर्वकमित्येतत् प्रपञ्चयति—त्रिधा हीति। अभिधानं लक्षणादावप्यस्ति इति मात्रपदम्। पदार्थत्वादिसाधारणधर्मव्यवच्छेदाय—तत्त्वव्यवस्थापकः—इत्युक्तम्। "गुणाश्रयो द्रव्यम्"—इति लक्षितस्य 'समवायिकारणं द्रव्यम्'—इत्यादिलक्षणेनैव तत्त्वाऽवधारणव्युदासार्थं—प्रमाणैः—इत्युक्तम्। सत्त्वमात्राऽवधारणव्युदासाय—यथालक्षणम्—इत्युक्तम्।

ननु तत्त्रिविधं प्रमाणमिति विभागकरणमप्येवंजातीयं दृश्यते; तत्कथं त्रिविधत्वनियमः? तत्राऽऽह—विभागस्य चेति। निर्देशमात्रेणैव विभागस्य ज्ञातुं शक्यत्वात् पृथक् तत्कथनं व्यर्थम्। न चैवं लक्षणपरीक्षाभ्यामेवाऽलम्, लक्ष्यवाचकपदैरेव निर्देशलाभात्—इति वाच्यम्; श्रोतॄणां विभागबुभुत्साऽऽकुलानां विभागगर्भोद्देशस्याऽनुरञ्जकत्वेनोपादानसम्भवात्, लक्षणाऽऽकाङ्क्षाजनकत्वाच्चेति द्रष्टव्यम्। प्रमाणविशेषाणामुद्देशात् प्रमाणप्रमेत्याद्युद्देशगतप्रमाणोद्देशस्य सामान्यलक्षणमन्तरेण निराकाङ्क्षत्वाऽनुपपत्तेः। अत आह प्रमाणानीति। प्रमीयते अनेनेति निरुक्तिः साधनत्वं व्यनक्ति। प्रमाया इति "साधकतमं करणम्" इति

ज्ञानवती

हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान के तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति होती है।"

इस प्रकार (सोलह तत्त्व) उद्देशपूर्वक (निरूपित हैं)। इस शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा। उनमें से नाम लेकर पदार्थ का कथनमात्र—उद्देश है। उद्दिष्ट तत्त्व का व्यवस्थापक धर्म—लक्षण है, और लक्षित, लक्षण के अनुकूल उपपन्न होता है या नहीं—इस प्रकार प्रमाणों से तत्त्व का निश्चय—परीक्षा है। विभाग का

[१] न्या० सू० १।१। [२] (ग) क्षिप्त।
[३] (क) सावनानि इति, (ग) साधनानि प्रमाणानि इति।

कर्त्तृत्वानधिकरणत्वे सति प्रमासार्वत्रिकं कारकं प्रमाकरणम्। प्रमाकारकावृत्तिप्रमाकारकनिष्ठात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वं प्रमासार्वत्रिकत्वम् इति लक्षणं न युक्तम्। उभयावृत्तिपदेन कर्त्तृकर्मव्यावृत्तौ प्रमासार्वत्रिकं कारकं प्रमाकरणम् इत्येतावताऽलम्; प्रमासार्वत्रिकव्यापारस्य कारकपदेन व्यवच्छेदात्। प्रमा च स्मृतेरन्यो व्यभिचारी स्वतन्त्रः (परिच्छेदः); लोके[2] तथा व्यवहारात्। नहि लोकः स्मृतिम् अर्थव्यभिचारिणौ (च संशय[3]-) विपर्ययौ प्रमाणपराधीनं च तर्कप्रमामाचष्टे। अत एतदनवकाशं यत्केचिदाहुः—

स्मृतेरन्यत्वं[4] प्रमाणेन व्यवस्थाप्यते ? अप्रमाणेन वा ? प्रमया साध्ये प्रमाणविशेषे स्मृतेरन्यप्रमासिद्धिः; ततस्तत्करणतया प्रमाणसामान्यसिद्धिः; सिद्धौ च

भावदीपिका

लक्षणोपपन्नं प्रमाकरणम् =प्रमासाधनम्; विवक्षितमिति शेषः। तेन न कारणमात्राऽवलम्बनेन कर्त्तादावतिव्याप्तिः शङ्कनीया।

परोक्तलक्षणे रुचिमुत्पादयति स्वकीयं करणलक्षणं द्रढयति - कर्तृत्वेति। कर्त्तुः सर्वप्रमासाधारण्यात् प्रमासार्वत्रिकत्वं विद्यत इति—कर्त्तृत्वानधिकरणेत्युक्तम्। प्रमायाः कर्मत्वेन कारकं घटादिर्भवति इति प्रमासार्वत्रिकपदम्। घटादेः कर्त्तरि प्रमाकारकत्वेऽपि प्रमासार्वत्रिकत्वं नास्ति, अनुमानादिप्रमायाः कर्माऽजन्यत्वात्। प्रमाकारकनिष्ठाऽभावमात्राऽप्रतियोगिकर्मकारकत्वव्यवच्छेदार्थम्—प्रमाकारकनिष्ठाऽत्यन्ताऽभावाऽप्रतियोगित्वग्रहणम्। कर्त्तृत्वव्युदासार्थं प्रमाऽप्रमेत्यादि कुतो न युक्तम्? तत्राऽह—उभयेति। उभयाऽवृत्तिः—प्रमाऽप्रमाकारकाऽवृत्तिः। एतत्पदेन कर्त्तृव्यावृत्तौ प्रमाकारकनिष्ठेत्यादिपदेन कर्मव्यावृत्तौ चेति शेषः। पदशब्देन पदान्तरस्याऽपि संग्रहात्। न च कर्त्तृत्वाऽनधिकरणपदवत् कारकपदमपि व्यर्थं शङ्कनीयम्—इत्याह—प्रमेयेति। का प्रमा यत्करणम्? तदाह—प्रमा चेति। विशेषणकृत्यं संग्रहेणाऽऽह—नहीति। लोकोऽर्थाऽव्यभिचाराऽदिदर्शी। एतत्परोक्तव्युदासने विमलीकरोति—अत इति। अत एवेति—एतत्

ज्ञानवती

उद्देश मे ही अन्तर्भाव है। उनमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द प्रमाण हैं। "प्रमाणानि" इतने से ही निरुक्तिसामर्थ्य के द्वारा विशेष विभाग से आक्षिप्त सामान्यलक्षण सूचित होता है कि प्रमा के साधन प्रमाण हैं। और प्रमा का साधकतम ही प्रमा का कारण है। कर्तृत्व का अधिकरण न होते हुए प्रमासार्वत्रिक कारक, प्रमा का कारण होता है इतना ही कहना पर्याप्त है, क्योंकि प्रमासार्वत्रिक व्यापार का कारकपद से व्यवच्छेद हो जाता है। प्रमा-स्मृति से अन्य अव्यभिचारी स्वतन्त्र परिच्छेद है क्योंकि लोक में वैसा व्यवहार होता है। लोक स्मृति, अर्थ के व्यभिचारी संशय विपर्यय और प्रमाणपराधीन तर्क को प्रमा नहीं कहता। इसलिये इसका अवकाश नहीं है। जो कुछ लोग कहते हैं—

(आप) स्मृति का अन्यत्व प्रमाण से व्यवस्थापित करते हैं या अप्रमाण से? प्रमा

---

[1] (ख) कारक।
[2] (क) लोके, (ख, ग) परिच्छेदः लोके।
[3] (क) न प्रमाण, (ग) च संशय।
[4] (ग) रन्यत्वं प्रमाणवि०।

तस्य प्रमाणविशेषसिद्धिः इति चक्रकम्। प्रमाणेन प्रमाव्यवस्थापनं तया च प्रमाणव्यवस्थापनमिति परस्पराश्रयं वा। (द्वितीये[1]) व्यर्थं प्रमाण(-निरूपणम्[2]); अप्रमाणादपि[3] व्यवस्थासिद्धेरिष्टत्वात् इति प्रमास्वीकारास्वीकारयोरनाक्षेपात्; स्वीकारस्य तल्लक्षणादिनिश्चयमूलत्वात् प्रमाणशून्यविप्रतिपत्तेः सर्वत्र सुलभतया सर्ववादविधिनिषेधप्रसङ्गात्। वितण्डाप्रवृत्तेरपि परिशेषात् स्वपक्षसिध्यभिसन्धानपूर्वकत्वस्य व्युत्पादितत्वात् परिशिष्टतत्त्वानुभूतेः प्रमाणत्वानपलापाच्च[4]। एतेनैत(दप्यपास्तं[5]) यदाहुः खण्डनकाराः—

[प्रमालक्षणम्—]

"तत्त्वानुभूतिः प्रमा" इत्यत्र 'तस्य भावस्तत्त्वम्'—इत्यर्थविवक्षायां प्रकृतार्थेन किं

भावदीपिका

=प्रमाणम् 'अयं संशयः', 'एषा भ्रान्तिः', 'एतत् सम्भावनामात्रम्', 'एतत् स्मरामि केवलम्',—इति लोको व्यवहरति यत इत्यर्थः। इतश्च नैतत्—इत्याह—प्रमास्वीकारेति। न चैवं परोक्तलक्षणाऽद्युन्मूलने परप्रसिद्धिशरणताऽपि युक्ता; न चोन्मूलनमपि दूषणम्; लक्षणादेरप्यपलापात्। न च वैतण्डिकत्वं परित्राणकारणम्—इत्याह—वितण्डेति। वेदान्तानामद्वैते समन्वयस्य प्रत्यक्षादिविरोधाऽऽशङ्कायां अविरोधाऽध्यायाऽरम्भात् तत्र प्रत्यक्षादेः ब्रह्माविषयत्वाऽगमप्राबल्यादिभिर्विरोधाऽऽशङ्कोत्थितावपि परकीयदर्शनाऽभासीकरणाय खण्डनप्रवृत्तेः स्वपक्षस्थापनदार्ढ्यार्थत्वान्नैकान्ततो वितण्डेयम्। महामल्लमर्दनन्यायमनुसरन्नाह–एतेनेति।

[प्रमालक्षणम्—]

किं तत्त्वशब्दः यौगिको स्वरूपवचनो वा? किं वा यद्देशकालसम्बन्धि यस्य स्वरूपं

ज्ञानवती

से साध्य होने पर स्मृति के प्रमाणविशेष होने पर अन्य प्रमा की सिद्धि होगी उसके बाद उसके करण के रूप में प्रमासामान्य की सिद्धि होगी और (उसकी) सिद्धि होने पर प्रमाणविशेष की सिद्धि होगी; इस प्रकार चक्रक (दोष हो जायगा)। अथवा प्रमाण से प्रमा की व्यवस्था और उससे प्रमाण की व्यवस्था इस प्रकार अन्योन्याश्रय (हो जायगा)। दूसरा मानने पर प्रमाण निरूपण व्यर्थ है क्योंकि अप्रमाण से भी व्यवस्थासिद्धि इष्ट है; इसलिये प्रमा के स्वीकार और अस्वीकार के अनाक्षेप से स्वीकार के तल्लक्षणादि निश्चयमूलक होने से प्रमाणशून्यविप्रतिपत्ति के सर्वत्र सुलभ होने से सर्ववादविधिनिषेध का प्रसङ्ग आ पड़ेगा। तथा वितण्डाप्रवृत्ति के भी परिशेषात् स्वपक्षसिद्धि के अभिसन्धानपूर्वकत्व के व्युत्पादित होने से परिशिष्ट तत्त्वानुभूति से प्रमात्व का अनपलाप हो जाता है। इससे, खण्डनकार जो (प्रमा का निम्नलिखित स्वरूप) कहते हैं, वह भी अपास्त हो गया—

[प्रमा का लक्षण—]

"तत्त्व की अनुभूति प्रमा है" यहाँ पर 'तस्य भावः तत्वम्' इस अर्थ की विवक्षा होने

---

[1] (क) द्वितीयं, (ग) द्वितीये। [2] (क) निरूपणप्रमा। (ग) निरूपणमप्रमा।
[3] (ग) दपि चास्तु व्यवस्था। [4] (ग) प्रमाणत्वा।
[5] (क) तदपा, (ग) तदप्यपा।

परामृश्यते ? प्रस्तुताभावात्। अथ अनुभूत्या स्वसम्बन्धी विषयः आक्षेपात् बुद्धिस्थः कार्यते, स तच्छब्देन परामृश्यते ? वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थतायामेव प्रकरणपदार्थ-विश्रामात्। तेन यस्यार्थस्य यो भावस्तत्तस्य तत्त्वमुच्यते; न; अरजतादेरपि[१] रजताद्यात्मनाऽनुभूतिविषयितासम्भवात् असत्यानुभूत्यव्यवच्छेदात्; भवितुः अतत्त्वशब्दार्थत्वप्रसङ्गेन च धर्मांशे विशिष्टे च प्रमाया अप्रमात्वापातात्।

अथ तत्त्वशब्दः स्वरूपमात्रवचनः ? तदपि न; स्वरूपत्वस्य जातेः उपाधेर्वा स्वात्मनि वृत्त्यवृत्तिभ्यामनुपपत्तेः[२] स्वरूपशब्दार्थस्यैकस्यासम्भवे प्रतिविषयव्यावृत्त्या लक्षणस्याव्यापकत्वापातात् कथं[३] तत्त्वशब्दः ? कथं च 'तत्त्वम्'—इति पदेन विपर्यासादेर्निरासः ? तथा हि—शुक्तौ यो 'रजतम्' इति प्रत्ययः, सोऽपि स्वरूपबुद्धिर्भ-

भावदीपिका

प्रतीतं तस्य तद्देशकालसम्बद्धं स्वरूपं तत्त्वम् ? यद्वा यद् यथाभूतं प्रतीयते तत्तथाभूतं परमार्थतो व्यवस्थितं तत्त्वम् ? नाद्यः—इत्याह—तस्य भाव इति। तच्छब्द उक्तपरामर्शी वा ? बुद्धिस्थपरामर्शी वा ? आद्यं निरस्याऽन्त्यमुत्थापयति–अथेति। आक्षेपादनुभूतेः सकर्मकत्वबलात् ज्ञानविषयमात्रस्य भावः तत्त्वमित्यप्ययुक्तम्—इत्याह—नेति। अथ भावः सामान्यम्, स मिथ्यारजतादेर्नाऽस्तीत्यतिव्याप्तिः। कथं तथाऽप्यव्याप्तिः ?—इत्याह—भवितुरिति। सामान्याऽनुभूतेरेव प्रमात्वे धर्म्यंशादिप्रमायामव्याप्तिः। द्वितीयमुत्थाप्य दूषयति—अथेति। कथं स्वरूपपदार्थस्यैकस्याऽसम्भवः ? तत्राऽऽह—स्वरूपत्वस्येति। अतिव्यापकं चैतत्–इत्याह—कथं चेति। अनुभूतित्वं विपर्यासादेरस्तीति तत्त्वपदेन तद्व्यावृत्तिर्वक्तव्या। न चाऽस्य

ज्ञानवती

पर प्राकृत अर्थ वाले तत् शब्द से क्या जाना जाय ? क्योंकि प्रस्तुत कोई नहीं है। (पू) अनुभूति के द्वारा स्वसम्बन्धी विषय के द्वारा आक्षेप बुद्धिस्थ किया जाता है और वह तत्शब्द से परामृष्ट होता है, क्योंकि वक्ता एवं श्रोता की बुद्धिस्थता में ही प्रकरणपदार्थ का विश्राम होता है। इस लिये जिस अर्थ का जो भाव होता है वह उसका तत्त्व कहा जाता है ? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि अरजतादि की भी रजतादि के रूप में अनुभूतिविषयता सम्भव होने से असत्यअनुभूति का व्यवच्छेद नहीं होता, और भविता के अतत्त्वशब्दार्थप्रसंग के द्वारा विशिष्टधर्मांश में प्रमा के अप्रमात्व की आपत्ति हो जायगी।

(पू) तत्त्वशब्द स्वरूपमात्र का वाची है ? (उ) यह भी नहीं है, स्वरूपत्व की जाति अथवा उपाधि के आत्मा में रहने और न रहने से अनुपपत्ति होती है। एक स्वरूप शब्दार्थ के असम्भव होने पर प्रतिविषय की व्यावृत्ति होने के कारण लक्षण के अव्यापकत्व की आपत्ति होने से तत्त्वशब्द कैसे है ? और कैसे 'तत्त्वम्' इस पद से विपर्यास आदि का निरास होता है ? इस प्रकार शुक्ति में जो 'रजतम्' यह प्रत्यय है वह भी स्वरूपबुद्धि से होता ही है। ऐसा नहीं है कि धर्मी इदन्ता अथवा रजतत्व स्व का रूप नहीं है और न तो उनका प्रतिभासमान सम्बन्ध स्वरूप है सो वात नहीं होगी (पू) स्वरूप नहीं है यह कहना ठीक है, क्योंकि समवाय ही उन दोनों का सम्बन्ध मालूम होता है और वह स्वरूप ही है ? (उ) सत्य है। समवायस्वरूप

---

१ (ग) रजतादे। २ (ख) मुपप। ३ (ग) पातात् कथं च तत्त्वेति पदेन।

वत्येव। नहि धर्मी इदन्ता रजतत्त्वं वा न स्वस्य रूपम्, नापि तयोः प्रतिभासमानः सम्बन्धोः स्वरूपं[१] न स्यात्। अथ न स्वरूपमिति (युक्तम्), समवायो हि तयोः सम्बन्धः प्रतिभाति, स च स्वरूपमेव; सत्यम्; समवायः स्वरूपम्। स एव तु शुक्ति[—वृत्तेः][२] रजतत्त्वस्य नास्ति इति चेत्? मैवम्; तत्र नास्तित्वेऽपि स्वरूपतायाः अव्यावृत्तेः। न हि 'गृहे देवदत्तो नास्ति' इति स्वरूपं न स्यात्।

अथ न स्वरूपमात्रं तत्त्वम्, किन्तु यद्देशकालसम्बन्धि यस्य स्वरूपं प्रतीतम्, तस्य तद्देशकालसम्बन्धिस्वरूपं तत्त्वमुच्यते? (नैवमपि[३] यद्यथाभूतं प्रतीयते तद्यदि प्रतीतिसमयमपहाय कालान्तरे तथाभूतं स्यात्, तदाऽप्येवं तत्त्वं स्यादेवेति भाविपाकजरागः कुम्भः) श्यामतादशायामपि रक्तोपाधिना रक्ततयोपलभ्यमानः तत्त्वं स्यात्,

भावदीपिका

स्वरूपवचनत्वे सा सम्भवति। कुतः?—इत्यतत आह—नहीति। यावत् प्रतिभासते तावत् कथं स्वरूपं सम्बन्धस्याऽस्वरूपत्वादित्यपि न वाच्यम्—इत्याह—नाऽपीति। शङ्काऽऽभासमुत्थाप्य निराचष्टे—सत्यमित्यादिना।

तृतीयमनूद्याऽपवदति अथेति। देशादौ देशाद्यभावेऽपि स्वरूपलक्षणस्तत्त्वशब्दार्थोऽस्ति, तेन नाऽव्याप्तिरित्यप्ययुक्तम्। अनयोरेकैकस्योभयस्य वा लक्षणत्वे अव्याप्तिरेव—इत्याह—न तत्त्वेति। चतुर्थेऽप्यतिव्याप्तिः—इत्याह—नैवमपि इति। एतद्व्युदासाय यो यदा यथाभूतः प्रतीयते स तदैव तथा परमार्थतो व्यवस्थितः तत्त्वमित्यपि न वाच्यम्—इत्याह—

ज्ञानवती

है। वही (=समवाय ही) तो शुक्तिवृत्ति रजतत्व का नहीं है यदि ऐसा कहें तो मत कहिये। क्योंकि वहाँ अस्तित्व न रहने पर भी स्वरूपता की व्यावृत्ति नहीं होती। ऐसा नहीं है कि (देवदत्त घर पर नहीं हैं इसलिये स्वरूप नहीं होगा।

(पू) स्वरूपमात्र तत्त्व नहीं है, किन्तु जिसका जिस देश काल से सम्बन्धी उसका स्वरूप प्रतीत होता है, उसका उस देश काल से सम्बन्धी स्वरूप, तत्त्व कहा जाता है। (उ) ऐसा भी नहीं है, जो जिस प्रकार से प्रतीत होता है वह यदि प्रतीति के समय को छोड़ कर कालान्तर में वैसा होता है तो भी ऐसा तत्त्व होता। इस प्रकार भावी पाक से उत्पन्न राग वाला कुम्भ श्यामतादशा में भी रक्तोपाधि रक्तता के द्वारा उपलभ्यमान, तत्त्व हो जायगा। इसलिये उसकी बुद्धि भी प्रमा हो जायगी। और 'यदा' 'तदा' इस विशेषण का प्रक्षेप होने पर कालविशिष्टता की प्रतीति होने पर अप्रमात्व की आपत्ति हो जायगी। क्योंकि कालवैशिष्ट्य का ज्ञान होने पर भी कालान्तर का सम्बन्ध सम्भव नहीं है (पू) अन्योपाध्यवच्छिन्न के द्वारा सम्भव हो

---

१ (क) स्वरूपमिति युक्तं, (ग) स्वरूपं न स्यात्। अथ न स्वरूपमित्युक्तं। २ (क) व्यक्तेः।
३ (क) च्यते एवमपि देशकालसम्बन्धांशे प्रमाया अप्रमात्वापातात्। तयो स्वरूपमेव तत्त्वशब्दार्थ इति चेत्, न; तत्त्वपदस्यानेकार्थत्वे लक्षणाव्यापकत्वापत्तेः। कुम्भश्यामता (ग) नैवमपि। यद्यथाभूतं……श्यामता।

इति तद्बुद्धेः प्रमात्वापत्तेः। 'यदा' 'तदा' इति विशेषणप्रक्षेपणे च कालविशिष्टता-प्रतीतेर(·प्रमात्वा'-)पातः। न हि कालवैशिष्ट्यावगमेऽपि कालान्तरसम्बन्धः सम्भवी। (अन्योपाध्यवच्छिन्नाः) अन्योपाध्यवच्छिन्नेन[2] सम्भन्त्स्यन्ति इति चेत् ? तर्हि दण्ड्यपि देवदत्तः कुण्डलिनं स्वमारोक्ष्यत्येव। उपाधिभेदेऽप्युपधेयस्यैकत्वा-निवृत्तेर्नैवम् इति चेत्? तुल्यमिति तत्त्वमनारोपितं स्वरूपमिति[3] निर्वचनस्या-खण्डितत्वाच्च।

[प्रत्यक्षलक्षणं अनुभूतित्वखण्डनं च—]

यच्चानुभूतित्वखण्डनम्—अनुभूतित्वं[4] न ज्ञानत्वावान्तरजातिभेदः; तज्जाति-त्वस्यैव गमकाभावात्। 'अनुभवामि' इति प्रत्ययानुगमवशात् तत्सिद्धिरिति चेत्? न; माघमासीयनिशाऽवसाने सितासित्सरित्सम्भेदस्नायिनः सत्यपि शब्दबलात्

भावदीपिका

यदा तदेति। कालान्तरसम्बन्धं सम्भावयति—अन्येति। सम्भन्त्स्यति=सम्बन्धं गमिष्यति। उपाधिभेदेऽप्युपहितस्य कालस्यैक्यान्न काले कालाऽन्तरसम्बन्धः इत्याह—तुल्यमिति। तदेतत्खण्डनं प्रमास्वीकाराऽस्वीकारविकल्पादिना निरस्तम्। निरुक्त्यन्तरं च ब्रह्मवादिनामनपोह्यमस्ति—इत्याह तत्त्वमिति। "तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा च बाह्यतः। तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत्।"—इति ब्रह्मवादिना-मुद्गारात्।

[प्रत्यक्षलक्षणं अनुभूतित्वखण्डनं च—]

एतस्य खण्डने च न वेदान्तानां तत्त्वाऽऽवेदनलक्षणं प्रामाण्यमुद्घुष्यमाणं सेत्स्यति। अंशान्तरखण्डनमप्युद्धर्त्तुमनुवदति—यच्चेति। जातिसाधकमुत्थाप्याऽपवदति—अनुभवामीति। सितासिते सरितौ=गंगायमुने; तयो सम्भेदः=संगमः=प्रयागः। वैपरीत्याच्चैवम्—

ज्ञानवती

जायेगें? (उ) तव तो दण्डी देवदत्त, कुण्डली अपने ऊपर ही चढ़ जायगा। (पू) उपाधि के भेद होने पर भी उपधेय के एकत्व की निवृत्ति न होने से ऐसा नहीं होगा? (उ) तव तो समान ही है। इस प्रकार—'तत्त्व अनारोपितस्वरूप वाला है' यह निर्वचन अखण्डित है।

[प्रत्यक्ष का लक्षण और अनुभूतित्व का खण्डन—]

(पू) और जो अनुभूतित्व का खण्डन—अनुभूतित्व ज्ञानत्व का अवान्तर जातिभेद नहीं है, क्योंकि तज्जातित्व का ही गमक नहीं है। (पू) 'अनुभव करता हूँ' इस प्रत्यय के अनुगम के कारण उसकी सिद्धि हो जायगी? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि माघमास की रात्रि के बीत जाने पर प्रयाग में स्नान करने वालों को शब्द के बल से भावी स्वकीय सुख का ज्ञान होने पर भी 'सुख का अनुभव करता हूँ' इस ज्ञान का उदय नहीं होता। वल्कि शीतसम्भूतवेदना के

---

[1] (क) प्रमाणता। (ग) प्रमात्वा।
[2] (क) सम्भवी अन्योपाध्यवच्छिन्नेन। (ग) सम्भवी अन्योपाध्यवच्छिन्ना अन्योपाध्य। [3] (क) रूप। [4] (ग) तिस्तावन्न।

भाविस्वकीयस्वर्गसुखसम्प्रत्यये 'सुखमनुभवामि' इति प्रत्ययानुदयात्। प्रत्युत शीतसम्भूतवेदनासम्वेदनादेव। परस्त्रिया उपगन्तुर्जनस्य[१] आस्तिककामुकस्य शब्दाधीने सत्यपि भाविनरकगमनानुभवनीययातनाऽधिगमे 'दुःखमनुभवामि' इति मतेरनुपपत्तेः, प्रत्युत 'अमन्दमानन्दं संविदानः साम्प्रतमस्मि' इति प्रत्ययात्। यदि तु शब्दोपदर्शितव्याप्तिजमनुमानमनुभव एव स्यात्, तर्हि 'सुखं दुखं चानुभवामि' इति तयोः प्रत्ययः स्यात्।

नापि स्मृत्यन्यत्वमनुभूतित्वम्; यत्किञ्चित्स्मरणान्यत्वं स्मृत्यन्तरेऽप्यस्ति इति तत्राप्यनुभूतित्वप्रसक्तेः। सर्वस्मृत्यन्यत्वं चेत्? तर्हि मदीयादिस्मृतिव्यक्तिभ्यो भवता कथं व्यतिरिक्तत्वमवधारणीयं प्रमायाः? परकीयज्ञाने परस्याऽस्मादृशो(-ऽध्यक्षा[२]—)ऽसम्भवात्। नाप्यनुमानार्थापत्ती; लिङ्गानुपपद्यमानयोः सर्वत्रार्वाग्दृशा प्रत्येतुमशक्यत्वात्। उपमानाद्यसम्भवोऽपि स्फुट एव। ततः कथं सर्वाभ्यः स्मृतिव्यक्तिभ्यो व्यतिरेको निरूप्यः प्रमाया? इत्यनवबोधात् असिद्धि-

भावदीपिका

इत्याह—प्रत्युतेति। वेदना संवेदनमेवाऽस्ति इति 'सुखमनुभवामि' इत्यस्याऽभावः। संविदानः=अनुभवन्। एतावता को दोषः? अव्याप्तिः—इत्याह—यदि त्विति। शब्दोपदर्शिता व्याप्तिः='यत् प्रयागस्नानं तत् स्वर्गसुखनिदानम्'—इत्यादिका। अतीताऽनागतसुखाद्यनुभवे अनुभवत्वजातौ सत्यामपि तद्गमक-'अनुभवामि'-इतिव्यवहाराऽभावादव्याप्तिरित्यर्थः।

अथ स्मृत्यन्यत्वस्याऽनुभूतित्वस्वीकारात् तस्य च शब्दाद्यनुभवेऽपि भावाद् नाऽव्याप्तिः? तत्राऽऽह—नाऽपीति। सर्वस्मृत्यतिरेकस्य प्रसिद्धप्रमाणाऽनवसेयत्वात् असम्भव-

ज्ञानवती

संवेदन से ही (दुःख का अनुभव) होता है। (इसी प्रकार) दूसरी स्त्री का उपभोग करने वाले आस्तिक कामुक के शब्दाधीन भावी नरकगमनानुभवनीय यातना का ज्ञान होने पर भी 'दुःख का अनुभव करता हूँ'इस ज्ञान की अनुपपत्ति हो जाती है। वल्कि 'इस समय अमन्द आनन्द का अनुभव कर रहा हूं' ऐसा ज्ञान होता है। यदि शब्द के द्वारा उपदर्शित व्याप्ति से उत्पन्न अनुमान अनुभव ही होता तो 'सुख एवं दुःख का अनुभव कर रहा हूँ' इस प्रकार उन दोनों का अनुभव होता है।

अनुभूति स्मृति से अन्य भी नहीं है। क्योंकि यक्तिञ्चित्स्मरणान्यत्व स्मृत्यन्तर में भी है, इसलिये वहाँ भी अनुभूतित्व की प्राप्ति हो जायगी। (पू) यदि यह कहा जाय कि सर्वस्मृत्यन्यत्व (ही अनुभूतित्व है) (उ) तब तो हम लोगों की स्मृति व्यक्तियों से आप प्रमा का व्यक्तिरिक्तत्व कैसे निश्चित करेगें। क्योंकि दूसरे के ज्ञान में हम लोग जैसे दूसरे का प्रत्यक्ष असम्भव है। अनुमान और अर्थापत्ति भी नहीं है, क्योंकि लिङ्ग से अनुपपद्यमान दोनों का सर्वत्र अर्वाचीन दृष्टि से प्रत्यय नहीं हो सकता। उपमान आदि का असम्भव भी स्पष्ट ही है। तो सब स्मृतिव्यक्तियों से प्रमा का व्यतिरेक कैसे निरूपित किया जाय ऐसा ज्ञान न होने से लक्षण की सिद्धि नहीं होती।

---

१ (ग) स्त्रियं च संभुञ्जानस्यास्तिक। २ (क) ध्यूहा। (ग) ध्यक्षा।

(लक्षणस्य)। न च वाच्यम्—(स्मृतित्वेन[1]) सर्वाः स्मृतिव्यक्तयः सर्वकालसर्व-पुरुषसम्बन्धिन्यः स्वात्मायां स्मृतिव्यक्तिं प्रत्यक्षयता[2] पुरुषेण प्रत्यक्षादेवावगम्यन्ते, सामान्यलक्षणद्वयप्रत्यासत्त्या व्याप्तिग्रहकाल[3] इव व्याप्यव्यापकव्यक्तय इति ; दृष्टान्त-दार्ष्टान्तिकयोर्दोषग्रस्तत्वात्। तथा सति एकं प्रमेयं प्रत्यक्षयतः प्रमेयत्वसामान्य-प्रत्यासत्त्या विश्वमेव प्रत्यक्षं स्यात्। एवमभ्युपगच्छतश्च—"श्रद्दधीमहि सार्वज्ञमिदं यदि जानासि किमस्मच्चेतसि (वर्त्तते[4])" इति ; तदयुक्तम् ; तात्कालिकासाधारण-कारणविशिष्टसामग्रीजन्यं ज्ञानमनुभूतिः, तत्सामान्यं च "अयमनुभवोऽयमनुभवः[5]" इति सर्वत्रानुगतमनुभूतित्वं इत्यङ्गीकारात्। न च वाच्यम् कार्य(-गत[6]-)लक्षणानुगममन्तरेण क कारणता क साधारण्यं ज्ञेयमिति ; अर्थावग्रहत्वादिलक्षणस्य कृतिसाध्यस्य ज्ञानादिकार्येऽनुगमाभावे परोक्तप्रतीत्यनुदयेन खण्डनानामप्यनवतार-प्रसङ्गात्।

भावदीपिका

वित्वम्। प्रत्यक्षेणैव तत्सिद्धिसम्भवान्न लक्षणाऽसिद्धिः—इत्याशङ्क्याऽऽह—**न च वाच्यमिति**। एवमस्तु, को दोषः ? तत्राऽऽह—**एवमिति**। उदयनाचार्योक्तनिर्वचनेन प्रत्याचष्टे—**तदयुक्तमिति**। एतदप्यसम्भवि—इत्याशङ्क्याऽऽह—**नच वाच्यमिति**। विवादवेलायां परवचनाज्जायमानप्रतीतिः द्वैततात्त्विकत्वादिविषया। न स्मृतिस्तावदिष्यते; नाऽपि वेदान्ते-भ्योऽद्वैतप्रतीतिः ; तथाऽविपर्यस्ताऽनुभवस्वीकारात्, प्रमारूपाऽनुभवस्वीकारात् च। एवं कार्यसिद्धौ तत्स्मृतिव्यवच्छेदाय उक्तकारणत्वाऽपलाप इति भावः।

ज्ञानवती

(पू) स्मृति होने से सर्वकाल सर्वपुरुष सम्बन्धिनी सब स्मृतिव्यक्तियाँ अपनी स्मृति व्यक्ति को प्रत्यक्ष करने वाले पुरुष के द्वारा उसी प्रकार प्रत्यक्ष ही जानी जाती हैं जैसे कि सामान्य-लक्षणद्वय की प्रत्यासत्ति के द्वारा व्याप्तिज्ञानकाल में व्याप्यव्यापक व्यक्तियाँ (जानी जाती हैं) ? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकिदृष्टान्त एवं दार्ष्टान्तिक दोषग्रस्त हैं। ऐसा होने पर एक प्रमेय का प्रत्यक्ष करने वालों को प्रमेयत्वसामान्य की प्रत्यासत्ति के द्वारा विश्व का ही प्रत्यक्ष होने लगेगा। और इस प्रकार जानने वाले को—

'यदि आप जानते हैं कि हमारे चित्त में क्या है, तो इस सर्वज्ञता के प्रति हम श्रद्धा करेंगें।'

(उ) यह कहना अयुक्त है, क्योंकि तात्कालिकअसाधारणकारणविशिष्ट सामग्री से जन्य ज्ञान अनुभूति है, और उसका सामान्य 'अयमनुभवः, अयमनुभवः' इस प्रकार सर्वत्र अनुगत रहने वाला अनुभूतित्व है—ऐसा माना जाता है। (पू) कार्यगतलक्षण के अनुगम के विना कहाँ कारणता और कहाँ साधारण्य जाना जायगा ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि अर्थावग्रहत्व आदि लक्षण वाले कृतिसाध्य का ज्ञानआदि कार्य से अनुभव न होने पर परोक्त प्रतीति का उदय न होने से खण्डनों का भी अवतार नहीं होगा।

---

[1] (क) स्मृतित्वे च। (ग) स्मृतित्वेन। [2] (क) प्रत्यक्षतया।
[3] (ग) सामान्यलक्षणेन्द्रियप्रत्याव्याप्ति। [4] (क) विपरिवर्त्तते, (ग) वर्त्तते।
[5] (ग) यमनुभवति। [6] (क) कार्यल, (ग) कार्यगतल।

यदप्यवादि—"तत्त्वानुभूतिः प्रमा" (इत्यनेन[१]) काकतालीयमपि यथार्थं ज्ञानं व्याप्यते। तद्यथा पाणौ पञ्च वराटकान् पिधाय कश्चित् पृच्छति—'कति वराटकाः' इति ? पृष्टश्च अजाकृपाणीयन्यायेन ब्रवीति 'पञ्च' इति। ततः 'पञ्च' इति ज्ञानमस्ति वक्तुः श्रोतुश्च। तच्च न (तत्त्व[२]-)पदेन व्यवच्छेत्तुं शक्यम्; तस्य पञ्चसंख्याऽवच्छित्त्वेनातथाभूतत्वाभावात्[३]। नापि अनुभवशब्दव्यवच्छेद्यः; अननुभूतचरगोत्वेन स्मरणलक्षणात्। न च प्रमैव तत् इत्युररीकरणीयम्; मध्येऽध्यक्षादिदुरन्तभावत्वात् इति; तदप्यसारम्; 'कति वराटकाः'—इत्युक्ते नानासंख्यावच्छिन्नवराटकस्मृतौ[४] "पञ्च वराटकाः" इत्येतत् स्मृत्युद्गारादनुभवपदेन तद्व्यवच्छेदोपपत्तेः। तत्र विप्रतिपत्तौ संख्यान्तरस्मृत्युद्गारदर्शनात्। अनुभूयन्ते हि पाणौ बहुवारं तादृग्वराटकाः। (ततः समीचीनमेव प्रमालक्षणं[५] "इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं[६])ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्।" यच्छब्द-

भावदीपिका

एवमंशदूषणमुद्धृत्य समग्रदूषणमुद्धर्तुमुत्थापयति—यदपीति। स्तम्भे खड्गोऽवलम्बितोऽस्ति तत्राऽजा बद्धा। दैवाच्च खड्गपातेऽजा मृता—इत्यजाकृपाणीयन्यायः। प्रत्यक्षादीनां मध्य इत्यर्थे मध्ये अक्षाऽऽदिसम्प्रयोगाद्यभावात् अनन्तर्भाव इत्यर्थः। उदवदति—तदप्यसारमित्यादिना।

करणप्रमाणवादे फललक्षणं कथम्? तत्राऽऽह—यच्छब्देति। यतश्चक्षुरादेरर्थसन्नि-

ज्ञानवती

(पू) जो कि यह कहा कि—"तत्त्वानुभूतिः प्रमा" इससे काकतालीय भी यथार्थज्ञान व्याप्त होता है। जैसे—हाथ में पाँच कौड़ियां बन्द करके कोई पूछता है—"कितनी कौड़ियां हैं"? पूछा हुआ व्यक्ति अजाकृपाणीयन्याय से कहता है—"पाँच"। तब वक्ता और श्रोता दोनों को 'पाँच' यह ज्ञान होता है। और वह तत्त्वपद से व्यवच्छिन्न नहीं किया जा सकता। क्योंकि वस्तुतः वह पाँच संख्या से अवच्छिन्न होने से अतथाभूत नहीं है और न तो अनुभवशब्द से व्यवच्छेद्य में अननुभूतगोचर होने से स्मरणलक्षण की उपेक्षा होती है। वह प्रमा ही है ऐसा भी नहीं मानना चाहिये क्योंकि मध्य में प्रत्यक्षआदि दुरन्तभाव है।

(उ) यह (कथन) तत्त्वहीन है, क्योंकि, 'कितनी कौड़ियाँ'?—ऐसा कहने पर नानासंख्यावच्छिन्न कौड़ियों की स्मृति होने पर पाँच कौड़ियाँ यह स्मृति होने से अनुभवपद से उसके व्यवच्छेद की उपपत्ति होती है। उसमें सन्देह होने पर संख्यान्तर की स्मृति का उद्गार देखा जाता है। हाथ में वैसी कौड़ियों का अनुभव कई बार होता है। इसलिये प्रमा का लक्षण—इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न अव्यवहार्य अव्यभिचारी निश्चयात्मक ज्ञान प्रत्यक्ष है"—समीचीन है। यत्शब्द के पूरण से चूँकि चक्षुरादि का ऐसा ज्ञान है, अतः प्रत्यक्ष है। फल से करण के

---

[१] (क) इत्येतत् (ग) इत्यनेन। [२] (क) तत्।
[३] (ग) संख्यावस्थितत्वेन। [४] (ग) नानासंख्यान्तर।
[५] (ग) प्रमाणल। [६] (क) सन्निकर्षकृतमुत्पन्नं, (ग) सन्निकर्षोत्पन्नं।

पूरणेन यतश्चक्षुरादेरेतादृशं ज्ञानं, तत्प्रत्यक्षमित्यर्थः। फलेन कारणलक्षणात् निर्विकल्पकावरोधार्थं तत्र "अव्यपदेश्य"—पदम्। क्षित्यादि[1] स्वरूपमात्रग्राहि, न तु मिथो विशेषणविशेष्यभावावगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकं प्रत्यक्षम्। सविकल्पकावरोधार्थं "व्यवसायात्मक"—पदम्। व्यवसायो, निश्चयो, विकल्प इत्येकोऽर्थः। विकल्पात्मकं ज्ञानं 'गौः' इत्युल्लेखि सविकल्पकमित्यर्थः।

तदाहुः —

"अस्ति ह्यालोचनं ज्ञानं प्रथमं निर्विकल्पकम्।
बालमूकादिविज्ञानसदृशं शुद्धवस्तुजम्॥[2]
ततः परं पुनर्वस्तु धर्मैर्जात्यादिभिर्यया।
बुद्ध्याऽवसीयते साऽपि प्रत्यक्षत्वेन संमता॥"[3]

इति। चक्षुरादेर्घटादेश्च संयोग-संयुक्तसमवाय-संयुक्तसमवेतसमवाय-समवाय-समवेतसमवाय-विशेष्यविशेषणभावरूपः षोढा (इन्द्रियार्थसन्निकर्षः[4]) "सन्निकर्ष"—पदेनोक्तः। न च वचनीयं योग्यतासम्बन्धेनैव प्रमितिकार्यस्योपपत्तेः न षोढा सम्बन्धकल्पना युक्तिमतीति; योग्यताया यावद्द्रव्यभाविन्याः संयोगादिनिरपेक्षत्वे सर्वदा कार्यकरत्वप्रसङ्गात्। न च संयोगजन्यघटादिद्रव्यप्रमायां संयोगस्यार्थविशेषणत्वे

भावदीपिका

कर्षविशेषात् अव्यभिचारिज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। अव्यभिचारिसाक्षात्कारकरणं प्रत्यक्षमित्युक्तं भवति। एतावच्चेल्लक्षणं किमर्थं पदान्तरम्? तत्राऽऽह—निर्विकल्पेति। पदान्तरार्थमाह—चक्षुरादेरिति। यद्यपि युवस्थविरादिपिण्डसंयुक्तकालः आदित्येन संयुक्तः; तत्र च परिस्पन्दाः समवेताः; ततः संयुक्तसंयुक्तसमवायलक्षणोऽप्यस्ति सम्बन्धस्तथाऽपि नाऽसौ प्रत्यक्षाङ्गम्, आदित्यपरिस्पन्दानां अप्रत्यक्षत्वात्। ततो युक्तम्—षोढेति। परोक्तमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। संयोगाद्यपेक्षायां च तदनपलापः। यथा बीजादेरङ्कुराऽऽदिजननयोग्यता-

ज्ञानवती

लक्षित होने से निर्विकल्पक के अवरोध के लिये यहाँ 'अव्यपदेश्य' पद कहा है। क्षिति आदि का स्वरूपमात्रावगाही न कि परस्पर विशेषणविशेष्यभावावगाही ज्ञान निर्विकल्प प्रत्यक्ष है। सविकल्प के अवरोध के लिये 'व्यवसायात्मक' पद दिया है। व्यवसाय, निश्चय, विकल्प ये एक अर्थ के वाची है। विकल्पात्मक ज्ञान 'गौ' ऐसा उल्लेख करने वाला सविकल्पक है। कहा है—

"पहले पहल आलोचन ज्ञान निर्विकल्पक होता है। वह बालक एवं मूक आदि के ज्ञान के समान, तथा शुद्धवस्तु से उत्पन्न होता है।

उसके बाद फिर धर्म जाति आदि के द्वारा जिस बुद्धि से दूसरी वस्तु निश्चित की जाती है वह (बुद्धि) भी प्रत्यक्ष मानी गई है।"

चक्षु आदि एवं घट आदि का संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय तथा विशेष्यविशेषणभाव रूप सन्निकर्ष इन्द्रियार्थ-सन्निकष पद से कहा गया

---

[1] (ग) जात्यादि। [2] श्लो० वा० पृ० १६८।
[3] श्लो०वा०पृ०१७२। [4] (क)सन्निकर्षपदेन,(ग)इन्द्रियार्थन्निसकर्षः सन्निकर्षपदेन।

प्रत्यक्षाप्रत्यक्षसंयोगस्याप्रत्यक्षत्वादर्थाप्रत्यक्षत्वमिति शङ्कनीयम्; स्वप्रकाशत्वादि[१]-विशेष(-णस्या[२]-)ऽप्रत्यक्षत्वेऽपि[३] ज्ञानप्रत्यक्षतावत् अत्रापि (तत्[४]-)सम्भवात्। न च संयुक्तसमवायमात्राद्रूपस्य चाक्षुषत्वे रसादेरपि चाक्षुषत्वप्रसङ्गः; कार्यदर्शनगम्य-योग्यतानियामकत्वे सत्येव सम्बन्धविशेषाऽऽकाङ्क्षायामुक्तसम्बन्धनिवेशात् विपरीतापादनस्याशक्यत्वात्। न च यदि श्रोत्रे नभोभागनिग्रहे[५] समवायात् शब्दोपलम्भः[६] स्यात् तर्हि बधिरस्यापि इति वचनीयम्; भेरीदण्डसंयोगस्येव आकाशावच्छेदस्य[७] (दुष्टत्वे[८]) समवायस्य तथाविध (-कार्याकरत्व[९]-) सम्भवात्। न च अभावोऽक्षगम्यः[१०]।

"षट्पदार्थातिरिक्तत्वादसत्त्वाद्वा नृशृङ्गवत्"

इति, न विशेषणविशेष्यभावसम्बन्धोपयोग इति वाच्यम्, द्वैतस्य सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वाच्यत्वमिच्छतो हेतोरसिद्धेः साधनविकलत्वाच्च दृष्टान्तस्य।

भावदीपिका

सद्भावेऽपि जलादिसंसर्गाऽपेक्षा तथेन्द्रियाणामपि योग्यताऽतिरिक्तोऽर्थसंसर्गविशेषो युक्तः। अन्यदप्यन्योक्तं प्रत्याह—न च संयोगेति। अतिप्रसङ्गं परोक्तं व्युदस्यति—न चेति। इष्टाऽपलापाऽन्तरमनिष्टप्रसङ्गं चाऽपाकरोति—न च [यदि] श्रोत्रेति। तस्मान्नभोमात्रं श्रोत्रमितीष्टाऽपलापः। इष्टाऽपलापान्तरं निराचष्टे—न चेति। अभावस्याऽनिर्वाच्यत्वाऽभ्युपगमे यद्यपि शक्त्यादिवत् प्रातीतिकः षट्पदार्थाऽतिरेकः सम्भवति, तथाऽपि वास्तवाऽनभ्युपगमादसिद्धिः। प्रातीतिकातिरेकस्य स्वरूपेणाऽभावाऽनङ्गीकारवादिनः प्राभाकरस्याऽपि भूतले घटाऽभाव इति व्यवहारस्याऽविसंवादात् अनपलनीयत्वमात्रेण साधनत्वादसिद्धो हेतुः। इन्द्रिय-

ज्ञानवती

है। (पू) योग्यता सम्बन्ध से ही प्रमिति कार्य की उपपत्ति होने से छ प्रकार सम्बन्धों की कल्पना ठीक नहीं है? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। यावद्द्रव्यभाविनी योग्यता के संयोगादिनिरपेक्ष होने पर सर्वदा कार्यकरत्व की प्राप्ति होने लगेगी। (पू) संयोगजन्य घट आदि द्रव्य की प्रमा में संयोग के अर्थविशेषण होने पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष के संयोग के प्रत्यक्ष न होने से अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं होगा? (उ) ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि स्वप्रकाशत्व आदि विशेषण के प्रत्यक्ष न होने पर भी ज्ञान की प्रत्यक्षता के समान यहाँ भी वह (=प्रत्यक्ष) सम्भव है। (पू) संयुक्तसमवायमात्र से रूप के चाक्षुष होने पर रस आदि के भी चाक्षुषत्व की प्राप्ति होने लगेगी? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि कार्यदर्शनगम्य-योग्यता के नियामक के रहने पर ही सम्वन्धविशेष की आकांक्षा होने पर उक्त सम्बन्ध का निवेश होने से विपरीत आपादन असम्भव है। (पू) यदि श्रोत्र में आकाश भाग का निग्रह होने पर समवाय सम्बन्ध से शब्द का उपलम्भ हो जाता है तो वधिर को भी होना चाहिये?

१ (क) त्। २ (क) णत्वस्य, (ग) णस्य। ३ (ग) त्वे ज्ञान।
४ (क) पि सं। (ग) पि तत् सं। ५ (ग) विग्रहे।
६ (क) समवायाच्छेदो। ७ (ग) च्छेदकस्य। ८ (क) दृष्टत्वे, (ग) दुष्टत्वे।
९ (क) कार्यं। (ग) कार्या। १० (ग) नाभावोऽक्ष।

अपर आह—किमर्थमिदमुच्यते ? किं सजातीयविजातीयव्यवच्छिन्नतत्प्रतीत्यर्थम् ? उत साक्षात्कारित्वप्रतीतये तच्चिह्नोपदर्शनमिदम् ? उत व्यवहारार्थम् ? नाद्यः[१]; किं सजातीय इति प्रत्यक्षत्वेन साजात्यं ते[२] विवक्षितम् ? रूपान्तरेण वा ? नाद्यः ; तस्मात् व्यवच्छेदावधेः (सजातीयाद[३]-) व्यावृत्तत्वे व्यवच्छेदकत्वानुपपत्त्या व्यावृत्तत्वस्वीकारेणाव्यापकत्वात् । नापि द्वितीयः ; विजातीयपदोपादानवैयर्थ्यात् । अस्ति हि प्रमेयत्वादिना सर्वसाजात्यम् ।

भावदीपिका

व्यापारादभावव्यवहारस्याऽविसंवादात् अनपलपनीयत्वमात्रेण साधनत्वादसम्भवादसिद्धत्वम् । अतिरेकाऽनतिरेकाभ्यामप्यनिर्वाच्यत्वादसिद्धो हेतुः । इन्द्रियव्यापारादभावव्यवहारबलेन तस्य प्रत्यक्षत्वं वदतः प्रसिद्धाऽतिरेकाऽनङ्गीकारे अर्द्धजरतीयस्य न्याय्यत्वादभावप्रत्यक्षमप्यङ्गीकार्यं स्यात् । द्वितीयहेतोः स्पष्ट एव दोषः ।

परप्रसिद्धयवलम्बनेऽप्येवम् । प्रत्यक्षलक्षणस्य प्रयोजनाऽऽक्षेपं परोक्तमुत्थापयति – अपर आहेति । प्रत्यक्षत्वेन सजातीयात् प्रत्यक्षस्याऽव्यावृत्तत्वे व्यावृत्तत्वाऽनुपपत्तौ व्यावृत्तत्वस्य च स्वीकृतत्वात् लक्षणस्य व्यवच्छेदकत्वाऽनुपपत्तेः अव्यापकत्वम्=असम्भवित्वम्—इत्यर्थः । रूपान्तरं सर्वसाधारणं प्रमेयत्वादि चेत् ? तर्हि विजातीयभावात् तद्व्यवच्छेदार्थं न विजातीयपदोपयोगः—इत्याह—विजातीयेति । अथ मध्यस्थजात्या साजात्यं ततो विजातीयपदव्यवच्छेद्यसम्भवः—इत्याह—अथेति । प्रमाणत्वं प्रत्यक्षेऽप्यस्ति ततस्तज्जातीयव्यवच्छेदे प्रत्यक्षस्याऽपि व्यवच्छेदात् व्यवच्छेद्यस्याऽलक्ष्यस्याऽभाव इति न वाच्यम् विवक्षाविशेषात्—

ज्ञानवती

(उ) नहीं । क्योंकि भेरीदण्डसंयोग के समान आकाशावच्छेद के दुष्ट होने पर समवाय का वैसा कार्यकरत्व सम्भव है । (पू) अभाव अक्षगम्य नहीं है ।

"छ पदार्थ से अतिरिक्त होने से या नृश्रृंग के समान असत् होने से" ।

इसलिये विशेषणविशेष्यभावसम्बन्ध का उपयोग नहीं है ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये क्योंकि द्वैत का सत्त्व एवं असत्त्व से अनिर्वचनीयत्व चाहने वाला हेतु असिद्ध है, तथा दृष्टान्त साधनरहित है ।

दूसरे लोग कहते हैं—ऐसा क्यों कहते हो ? क्या सजातीयविजातीय से व्यवच्छिन्न उसकी प्रतीति के लिये (कहते हो) ? या साक्षात्कारित्व की प्रतीति के लिये यह उस चिन्ह का उपदर्शन है ? या व्यवहार के लिये ? पहला (पक्ष संभव) नहीं । क्या आपको साजात्य 'सजातीयः' ऐसा प्रत्यक्ष के रूप में विवक्षित है ? या दूसरे रूप में ? प्रथम नहीं हो सकता । उस व्यवच्छेदावधि वाले प्रत्यक्षसजातीय के अव्यावृत्त होने पर व्यवच्छेदकत्व की अनुपपत्ति होने से व्यावृत्तत्व स्वीकार करने से अव्याप्ति हो जाती है । दूसरा भी नहीं है, क्योंकि विजातीय पद का उपादान व्यर्थ है क्योंकि प्रमेयत्वादि के रूप में सबके साथ साजात्य है ।

(पू) प्रमाणत्व आदि विशेष के नाते यह साजात्य विवक्षित है यदि ऐसा कहें ? (उ)

---

१ (ग) आद्य ।

२ (ग) त्यं अपेक्षितं ।

३ (क) पक्षजातीय, (ग) सजातीय ।

४ (ग) संगृह्य ।

अथ प्रमाणत्वादिना विशेषेण साजात्यं विवक्षित्वेदमुच्यते ? तर्हि लक्ष्यस्यापि प्रमाणत्वेन साजात्यात् तद्व्यवच्छेद्यकोटिप्रविष्टतया सङ्ग्राह्याभावप्रसङ्गः।[१] लक्ष्यस्य यत्प्रमाणत्वादिभिः सजातीयम्, तद्व्यवच्छेद्यम्। न च लक्ष्यस्य लक्ष्यं सजातीयम्, षष्ठ्यर्थस्य भेदव्यवस्थितत्वात् इति चेद् ? एवं तर्हि लक्ष्यापेक्षया भिन्ना[१] व्यवच्छेदा इत्येवोच्यताम्, कृतं प्रमाणत्वादिना साजात्येन प्रकृतानुपयोगिना वर्णितेन। यदा च लक्ष्यादन्यत्वं परेषामवगतम्, तदा [परेभ्यो-]ऽन्यत्वमपि[२] लक्ष्यस्यार्थादवगम्यत इति सिद्धम् (अग्रत[३]) एव लक्षणयोजनमिति व्यर्थं लक्षणाख्यानम्।

अस्तु वा विवक्षावैचित्र्यवशात् कथमपि ईदृशमभिधानम्, तथाऽपि न (तावद्दर्शनेन[४]) लक्षणेनानवगतेनैव व्यवच्छिन्नप्रतीतिसम्भवः; अतिप्रसङ्गात्[५]। न विज्ञातेन; दुरवधारणत्वात्। न तावदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पत्तिः प्रत्यक्षा; अप्रत्यक्षविशेषणत्वात्। नापि कार्येण लिङ्गेन तदनुपपत्त्या वा तदवगमः; ताभ्यां सामान्यतः कारणमात्राक्षेपेण कारणगतानुगतरूपासिद्धावेकरूपलक्षणासिद्धेः।

भावदीपिका

इति शङ्कते—लक्ष्यस्येति। तर्ह्येवमुच्यताम् ? तत्राऽऽह—यदा चेति। अङ्गीकारेऽपि लक्षणमनवगतम् ? अवगतं वा ? नोभयमपि—इत्याह—तथाऽपीति। कथं दुरवधारणम् ? तर्हि किं प्रत्यक्षेण ? अनुमानेन वा ? अर्थापत्त्या वा ? नाद्यः—इत्याह—न तावदिति। नोत्तरौ—इत्याह—नाऽपीति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षत्वलक्षणकारणगताऽनुगतरूपस्य कार्यस्यैक-

ज्ञानवती

तब तो लक्ष्य का भी प्रमाण के रूप में साजात्य होने से उसके द्वारा व्यवच्छेद की कोटि में प्रविष्ट होने से सङ्ग्राह्य का अभाव होने लगेगा। लक्ष्य का भी जो प्रमाणत्व आदि के द्वारा साजात्य है वह व्यवच्छेद्य है। (पू) लक्ष्य का लक्ष्य सजातीय नहीं होता, क्योंकि षष्ठ्यर्थ का भेद व्यवस्थित है, यदि ऐसा कहें ? (उ) तो इस प्रकार व्यवच्छेद लक्ष्य की अपेक्षा भिन्न है यही कहिये, प्रकृतानुपयोगी प्रमाणत्व आदि के साजात्य का वर्णन व्यर्थ है। और जब दूसरे का लक्ष्य से अन्यत्व मालुम है, तो लक्ष्य का दूसरों से अन्यत्व भी मालुम हो जाता है। इससे लक्षण का योजन पहले से ही सिद्ध है। अतः लक्षण का कथन व्यर्थ है।

अथवा विवक्षा-वैचित्र्य के कारण किसी प्रकार ऐसा कथन हो भी जाय, तो भी लक्षण के द्वारा अवगतदर्शन से ही व्यवच्छिन्नप्रतीति सम्भव नहीं होगी क्योंकि अतिप्रसङ्ग हो जायगा। विज्ञात के द्वारा भी नहीं, क्योंकि अवधारण कठिन है। (पू) इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की उत्पत्ति प्रत्यक्ष है ? (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि अप्रत्यक्ष विशेषण है। कार्यरूप लिङ्ग अथवा उसकी अनुपपत्ति से भी उसका ज्ञान नहीं होता। क्योंकि उनसे सामान्यतः कार्यकारणमात्र का आक्षेप होने से कारणगतानुगत रूप की असिद्धि होने पर एकरूपलक्षण की सिद्धि नहीं होती। (पू)

१ (क) भिन्नाद्। (ग) भिन्ना। २ (क) परस्मात्।
३ (क) मदग्रत। (ग) अग्रत। ४ (क) भावदर्श। (ग) तावदर्श।
५ (ग) गात् नापि।

कार्यस्यैकजात्यादेकजातीयकारणसिद्धिः इति चेत् ? तर्हि कार्यगतैकजात्यस्य पूर्वमवश्यं प्रत्येतव्यत्वाङ्गीकारे ततः सजातीयव्यवच्छेदप्रतिपत्तिरस्तु, कृतमनया (पारंपर्यत्व-सृष्ट्या[1])। नापि (द्वितीयः[2]); साक्षात्कारित्वावगममन्तरेण तच्चिह्नावगमानुपपत्तेः। तदवगमाच्चास्य प्रतीतावन्योऽन्याश्रयप्रसङ्गः। नापि तृतीयः; स ह्येवंरूपो यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजातिः तत् प्रत्यक्षमिति व्यवहर्त्तव्यम् इति; अयमप्यनुपपन्नः; लक्षणस्य ज्ञातुमशक्यत्वात्। साक्षात्कारित्वात्तु तदवगमे साक्षात्कारित्वमेवास्तु व्यवहारनियमनिदानम्; अव्यवहितप्रतिपत्तिकत्वात्।

अव्यभिचारिपदं च व्यर्थम्। न हि शुक्तौ रजतज्ञानं रजतेन्द्रियसन्निकर्षादुत्पन्नम्, येन व्यवच्छिद्येत। ततो नैतल्लक्षणं युक्तमिति ?

अत्रोच्यते— उपन्यस्यते तावत् परेणापि ब्रह्मणो लक्षणम्। किंलक्षणं पुनस्तद् ब्रह्म ?—इत्याकाङ्क्षापुरस्सरम्—"जन्माद्यस्य यतः" इति। तत्र जीवप्रधानादिकं सजातीयविजातीयाभिमतं व्यवच्छिद्यते। तथा च पर्यनुयोगसाम्यम् प्रपञ्चस्या-

भावदीपिका

जात्यात् सिद्धिः स्यात् ?—इति शङ्कते—कार्यस्येति। एवं चेल्लक्षणवैयर्थ्यम्—इत्याह—तर्हीति। अथ साक्षात्कारित्वाल्लक्षणाऽवगमेन व्यवहारः ? तत्राऽऽह—साक्षात्कारित्वादिति।

संग्रहेण सिद्धान्तयति—अत्रोच्यत इति। शून्यवादिनोऽपि लक्षणाऽऽद्यनवलम्बने शून्यपदार्थनिर्वाहोऽपि दुःशकः। परिशेषतस्तत्प्रमा च दुर्घटेति द्रष्टव्यम्। तर्ह्येकैकाऽनुमानस्य सर्वप्रमाणपूर्वकत्वाऽभावात् अव्याप्तिः ? तत्राऽऽह—तत्प्रत्यक्ष इति। यथायोग्यस्य विवक्षितत्वात् असाधारणव्यक्तिलक्षणत्वाभावाच्च न व्याप्तिरित्यर्थः। विवक्षाविशेषेण पुनराह—

ज्ञानवती

कार्य के एकजातीय होने से एकजातीय कारण की सिद्धि हो जायगी—यदि ऐसा कहें ? (उ) तो कार्यगत ऐकजात्य का पहले अवश्यप्रत्येतव्य स्वीकार करने पर उससे सजातीय का ज्ञान हो जायेगा, फिर यह पारम्पर्यसृष्टि व्यर्थ हो जायगी। दूसरा भी नहीं है, क्योंकि साक्षात्कारित्व के ज्ञान के बिना उसके चिह्न का ज्ञान अनुपपन्न हो जायगा। और उसका ज्ञान होने से इसकी प्रतीति होने पर अन्योन्याश्रय होने लगेगा। तीसरा भी नहीं है; वह इस प्रकार का है—जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष जाति है उसका 'प्रत्यक्ष' ऐसा व्यवहार करना चाहिये। यह भी अनुपपन्न है, क्योंकि लक्षण को जानना असम्भव है। और साक्षात्कारित्व से उसका अवगम होने पर साक्षात्कारित्व ही व्यवहारनियम का कारण हो जाय, क्योंकि वह अव्यवहितप्रतिपत्ति वाला है।

और अव्यभिचारि पद व्यर्थ है। शुक्ति में रजतज्ञान रजतइन्द्रियसन्निकर्ष से नहीं उत्पन्न होता, जिससे वह व्यवच्छिन्न हो जाय। इसलिये यह लक्षण ठीक नहीं है।

इस विषय में कहते हैं—'वह ब्रह्म किस लक्षण वाला है ?'—इस आकांक्षा के बाद दूसरे भी ब्रह्म का लक्षण उपन्यस्त करते हैं—"जन्माद्यस्य यतः"। उसमें जीवप्रधान आदि सजातीय तथा विजातीय का अभिमत व्यवच्छिन्न हो जाता है। इस प्रकार पर्यनुयोग का

---

1 (क) दृष्ट्या, (ग) सृष्ट्या। 2 (क) द्वितीयं, (ग) द्वितीयः।

निर्वाच्यत्वेऽपि लक्षणादे(-र्व्यवस्थित'-)ब्रह्मरूपलक्ष्यगमकत्वमास्थीयत एव; अपरथा तस्याप्यनिर्वाच्यत्वप्रसङ्गात्। ततः खण्डनानामपि स्वव्याघातकत्वान् अखण्डनतैव। तेन युक्तमेव प्रत्यक्षलक्षणम्।

[अनुमाननिरूपणं विभजनं च–]

तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं चानुमानं इति (लक्ष्यम्[2]); तत्पूर्वकमिति लक्षणम्। तानि सर्वप्रमाणानि पूर्वं यस्येति। अत्र पक्षे प्रमाणचतुष्टयपूर्वकमप्यनुमानं सिध्यतीति नाव्याप्तिः। व्याप्तिकाले महानसादावेकं लिङ्गदर्शनम्, पर्वतादौ च धर्मिणि द्वितीयम्, इत्येते लिङ्गदर्शने पूर्वं यस्य। तथा च 'अयं धूमवान्' इत्यादेः परामर्शज्ञानस्य तदिदं तत्पूर्वकं परामर्शज्ञानमनुमानम्। व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तेः।

तदनुमानं त्रिविधम्—तत्र पूर्वं तावत् कारणम्, तत् विद्यते विषयतया यस्य परामर्श ज्ञानस्य, तत् कारणेन कार्यानुमानं पूर्ववत्। यथा—वृष्टिमन्त एते मेघाः,

भावदीपिका

व्याप्तिकाल इति। प्रत्यक्षलक्षणस्यैव पूर्ववृत्तत्वात् कथं तच्छब्देन अनेकपरामर्शः क्रियते? तत्राऽऽह—व्याख्यानत इति। चतुर्णां पूर्वं क्रमात् तदेकदेशप्रत्यक्षाऽऽकृष्टचतुष्टयपरामर्शो नाऽनुपपन्नः। अथवा व्याख्यानविशेषात् अनेकविशेषसङ्ग्रहे सूत्रस्य सर्वतोमुखत्वान्न कोऽपि दोषः।

[अनुमानस्य निरूपणं विभजनं च –]

"अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम्। अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः।" सूत्रोक्तं विभागं संगृह्य व्याचष्टे प्रत्येकम्—तत्र पूर्वमिति। अचिरप्रभा=विद्युत्।

ज्ञानवती

साम्य अर्थात् प्रपञ्च के अनिवर्चनीय होने पर भी लक्षण आदि का व्यवस्थित ब्रह्मरूपलक्ष्यगमकत्व माना ही जाता है, अन्यथा वह भी अनिर्वाच्य हो जायगा। इसलिये अपना व्याघातक होने से खण्डनों की भी अखण्डनता ही है। इसलिये प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक ही है।

[अनुमान का निरूपण एवं विभजन—]

यह तत्पूर्वक त्रिविध अनुमान पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट लक्ष्य है। "तत्पूर्वकम्" यह लक्षण है। (इसका अर्थ है)—वे सब प्रमाण पूर्व हैं जिसके। इस पक्ष में चारप्रमाणपूर्वक भी अनुमान सिद्ध होता है इसलिये अव्याप्ति नहीं है। व्याप्तिकाल में महानस् आदि में प्रथम लिङ्गदर्शन होता है, पर्वत आदि धर्मी में दूसरा; इस प्रकार ये दोनों लिङ्गदर्शन पहले हैं जिसके। इस प्रकार 'अयं धूमवान्' इत्यादि परामर्शज्ञान का तदिदं तत्पूर्वक परामर्शज्ञान अनुमान है। क्योंकि व्याख्यान से विशेष ज्ञान होता है।

वह अनुमान तीन प्रकार का होता है—उनमें से पहले जिस परामर्शज्ञान का कारण

---

[1] (क) व्यवास्थि। (ग) व्यवस्थित। [2] (क) वक्ष्यमाणम्, (ग) लक्ष्यम्।

गम्भीरध्वानवत्त्वे, नीरप्रभावत्त्वे च चटुलवलाकावत्त्वे च अत्युन्नतत्वात्; य एवं स तथा; यथा दृष्टो मेघः; तथा चामी; तस्मात्तथा। कारणस्य प्रागुपयोगात् अनुपयुक्तं कार्यम्=शेषः; स विद्यते विषयतया यस्य परामर्शज्ञानस्य, तत्कार्येण कारणानुमानम् शेषवत्; यथा—उपरिवृष्टिदेशसम्बन्धिनी नदी, कलुषितोदकत्वे, शीघ्रतरस्रोतस्त्वे, फलफेनकाष्ठादिवहनत्वे च सति पूर्णत्वात्, यैवम्[1] सा तथा; यथोभयसिद्धा नदी; तथा चेयम्; तस्मात्तथा।

अकार्यकारणभूतेन (अविनाभाविना[2]) धर्मेण यदनुमानं तत् सामान्यतोदृष्टम्; यथा अदूरवर्त्तिजलाशया एते वृक्षाः, अजहद्वृत्तिबलाकावत्त्वात्, य एवं स तथा; यथा उभयसिद्धो वृक्षः; तथा चामी; तस्मात्तथा। अथवा व्यतिरेकात् पूर्वं[3] प्रतीयते इति पूर्वोऽन्वयः स एव (शुद्धोऽस्या[4]-)स्तीति पूर्ववत् केवलान्वयिविवक्षित(-तज्जाती[5]-)योपपत्तौ विपक्षहीनम्। यथा अभिधेयो विशेषः, प्रमेयत्वात्, यत्प्रमेयं तदभिधेयम्; यथा सामान्यम्; तथा च विशेषः; तस्मादभिधेयः। अदृष्टादिकं कस्यचित् प्रत्यक्षम्, प्रमेयत्वात्, मीमांसकानामप्रत्यक्षात्वाच्च अस्मत्सुखादिवत् इति वा।

भावदीपिका

चटुला=चपला। पूर्ववदिति भेदं व्याख्याय शेषवत् इति द्वितीयं भेदं व्याचष्टे—कारणस्येति। अजहद्वृत्तिबलाकावत्त्वात्=अत्यजद्बलाकोपेतत्वादित्यर्थः। भेदान्तरसंग्रहार्थं प्रकारान्तरमाह - अथवेति।

ज्ञानवती

विद्यमान हो वह कारण से कार्य का अनुमान पूर्ववत् होता है। जैसे—ये मेघ वर्षा करने वाले हैं, क्योंकि ध्वानवान्, नीरप्रभावान्, चटुलवलाकावान् होते हुए अत्यन्त ऊँचे हैं। जो ऐसा होता है वह वैसा होता है, जैसे दृष्ट मेघ, ये वैसे हैं, इसलिये वैसे हैं। कारण का पहले उपयोग होने से अनुपयुक्त कार्य शेष है, वह जिस परामर्शज्ञान के विषय के रूप में हो वह कार्य से कारण का अनुमान शेषवत् होता है। जैसे—यह नदी ऊपर वर्षा वाले देश से सम्बन्धयुक्त है, क्योंकि कलुषित उदकवाली, शीघ्रतरस्रोतवाली, फलफेनकाष्ठआदि का वहन होते हुए पूर्ण है, जो इस प्रकार की होती है वह वैसी होती है, जैसे उभयसिद्ध नदी, यह भी वैसी है, इसलिये वैसी है।

कार्यकारणरहित अविनाभावि धर्म से जो अनुमान होता है, वह सामान्यतोदृष्ट है, जैसे—ये वृक्ष अदूरवर्त्ती जलाशय वाले हैं क्योंकि अजहद्वृत्तिबलाकावाले हैं, जो ऐसा है वह वैसा है, जैसे उभयसिद्ध वृक्ष, ये भी वैसे हैं इसलिये वैसे हैं। अथवा व्यतिरेक से पहले प्रतीत होता है इसलिये पूर्व का अर्थ है—अन्वय। वही शुद्ध इसके पास है वह पूर्ववत् है। केवलान्वयी से विवक्षित तज्जातीय की उपपत्ति होने पर विपक्ष (=केवलव्यतिरेकी) हीन है। जैसे—

१ (ग) यथैवम्। २ (क) नाना, (ग) अविनाभाविना।
३ (ग) पूर्वं। ४ (क) शुद्धेनास्ति। (ग) शुद्धोऽस्यास्ति।
५ (क) त जातीय। (ग) ततजातीय।

ननु सन्दिग्धाश्रया (-सिद्धः [१]) अयं हेतुः। न खलु अदृष्टादिव्यक्तीनामनन्तानामतीन्द्रियाणामेकेन प्रमाणेन[२] धर्मत्वेन निश्चयः शक्यः कर्तुम्। न च बहूनां प्रमाणानां सम्भूय धर्मिनिश्चायकत्वं संभाव्यते; स्वगोचरशूरत्वात् सर्वेषामिति? नैवम्; प्रत्यक्षागमाद्यनेकप्रमाणोपकल्पितमर्त्यलोकादिप्रपञ्च[३] (-स्येव[४]) मिथ्यात्वानुमाने (दृष्टादेः[५]) धर्मित्वेन निश्चयोपपत्तेः; स्वगोचरशूरत्वेऽपि प्रमाणानां प्रमातुस्तत्तदर्थनिश्चयोपपत्तेश्च। तदुक्तम्—

"यदि षड्भिः प्रमाणैः स्यात् सर्वज्ञः केन वार्यते॥"

इति। न च कस्यचिच्छब्दस्यानिर्धारितत्वात् तद्विशेषितं प्रत्यक्षमप्यप्रसिद्धविशेषणम्[६]; पक्षस्य विशेष्यस्य प्रकारान्तरलभ्यत्वेन सामान्यप्रसिद्धौ[७] च विशेषप्रसिद्ध्युपपत्तेः। न च विपक्षे बाधाभावः; असंभाविते विपक्षे बाधकानुपयोगेनादोषत्वात्। न च प्रत्यक्षत्वं किञ्चिन्निष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगि, धर्मत्वात्, रूपवत् इति विपक्षसम्भावना; (अयोगि[८]-) प्रत्यक्षत्वस्य (तथात्वेन[९]) सिद्धसाधनत्वात्; तदतिरिक्तस्य तवाप्रसिद्धत्वात् धर्म्यसिद्धेश्च। ततो नैषा दूषणरीतिः साध्वी।

भावदीपिका

उदाहरणान्तरमाक्षिपति —नन्विति। प्रतिबन्द्या समाधत्ते—नैवमिति। स्वगोचरशूरत्वं वाऽकिञ्चित्करम्—इत्याह—स्वगोचरेति। दोषान्तरमुद्धरति—न चेति। विपक्षसंभावनां प्रमाणेनाऽऽशङ्क्याऽऽह —न च प्रत्यक्षत्वमिति। रसवती=महासनम्। अत्रापि

ज्ञानवती

विशेष अभिधेय होता है, प्रमेय होने से, जो प्रमेय है वह अभिधेय है, जैसे सामान्य, विशेष भी वैसा ही है, इसलिये अभिधेय है। अथवा अदृष्ट आदि किसी को प्रत्यक्ष होता है, प्रमेय होने से, अथवा मीमांसकों को अप्रत्यक्ष होता है, जैसे हमारे सुखादि।

(पू) यह हेतु सन्दिग्धाश्रयासिद्ध हेतु है। क्योंकि अनन्त अतीन्द्रियव्यक्तियों का एक प्रमाण से धर्मी के रूप में निश्चय नहीं किया जा सकता। (पू) बहुत प्रमाणों का एकत्रित होकर धर्मी का निश्चायकत्व होना सम्भव है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि सब स्वगोचर में ही शूर हैं।

(उ) ऐसा नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष, आगम आदि अनेक प्रमाण से उपपलित मर्त्य देवलोक आदि प्रपञ्च के समान मिथ्यात्व का अनुमान करने पर दृष्ट आदि का धर्मी के रूप में निश्चय होता है तथा स्वगोचरशूर होने पर भी प्रमाणों के प्रमाता के तत्तदर्थ के निश्चय की उपपत्ति हो जाती है। कहा भी है—

"यदि छ प्रमाणों से होता तो सर्वज्ञ का वारण कौन करता।"

---

१ (क) सिद्धे। २ (ग) केन धर्मत्वेन। ३ (ग) मर्त्यदेवलो।
४ (क) स्यमि, (ग) स्येवमि। ५ (क) दृश्यत्वादे, (ग) दृष्टादे।
६ (ग) प्य प्रमितमित्यप्रसिद्ध। ७ (ग) प्रसिद्ध्युपपत्तेः।
८ (क) संयोगि। (ग) अयोगि। ९ (क) अतथात्वेन। (ग) तथात्वेन।

पश्चात् प्रतीयमानत्वात् शेषो व्यतिरेकः, स एव शुद्धोऽस्यास्तीति शेषवत्; तेन च (केवलव्यतिरेकि[१]-)पक्षव्यापकत्वे सपक्षाभावे च विपक्षावृत्तिः; यथा—जीवच्छरीरं, सात्मकम्, प्राणादिमत्त्वात्; यत्सात्मकं न भवति तन्न प्राणादिमत्; यथा घटः; न च जीवच्छरीरं न प्राणादिमत्; तस्मात् सात्मकम्।

यत्सामान्येन अन्वयव्यतिरेकाभ्यां द्वाभ्यामपि दृष्टम्, तत्सामान्यतोदृष्टमन्वयव्यतिरेकि; यथा पर्वतोऽग्निमान् धूमवत्त्वात्, यो धूमवान् सोऽग्निमान्; यथा रसवतीप्रवेशः; तथा चायम्; तस्मात् तथा।

ननु अग्निमत्त्वमात्रेण व्याप्तिश्चेत्? प्रागेव प्रत्यक्षमिति वैफल्यमनुमानस्य। न च पर्वतावच्छिन्नवह्निमत्त्वेनाविनाभावग्रहो धूमस्य इति चेत्? मैवम्; धूमवत्त्वस्यैव प्रत्यक्षत्वाविवादात्; क्वचित् पर्वतेऽपि व्याप्तिग्रहाच्च। न च पक्षे तद्ग्रहण-

भावदीपिका

परोक्षत्वमुत्थाप्याऽपाकरोति—नन्वित्यादिना। किं वह्निमत्त्वमनुमानवेलायां प्रत्यक्षम्? यदा कदाचिद् वा? नाऽन्त्ये वैफल्यम्, आधुनिकप्रमायाः फलत्वात्। नाद्यः—इत्याह—मैवमिति। किं पर्वतमात्रे व्याप्तिग्रहः? पक्षीकृते वा? नोभयमपि—इत्याह—क्वचिदिति।

ज्ञानवती

(पू) किसी शब्द के अनिर्वारित होने से उससे विशेषित प्रत्यक्ष भी अप्रसिद्धविशेष वाला है? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि पक्ष विशेष्य के प्रकारान्तर से लभ्य होने के कारण सामान्य की प्रसिद्धि होने पर विशेषप्रसिद्धि की उपपत्ति होती है। (पू) विपक्ष में बाध का अभाव है? (उ) नहीं है। असंभावितविपक्ष में बाधक का उपयोग न होने से दोष नहीं है। (पू) प्रत्यक्षत्व, किञ्चिन्निष्ठअत्यन्ताभाव का प्रतियोगी है; धर्म होने से, रूप के समान, इस प्रकार विपक्ष की सम्भावना है? (उ) नहीं है, क्योंकि अयोगी के प्रत्यक्षत्व के वैसा होने से सिद्धसाधन हो जाता है और उससे अतिरिक्त तुम्हारे यहाँ अप्रसिद्ध होने से धर्मी की असिद्धि हो जाती है। इसलिये यह दूषणरीति ठीक नहीं है।

बाद में प्रतीयमान होने से शेष व्यतिरेक होता है। वही शुद्ध जिस के पास है वह शेषवत् (कहलाता है) और उससे केवलव्यतिरेक पक्ष की व्यापकत्व और सपक्षाभाव में विपक्ष की अवृत्ति होती है। जैसे जीवशरीर सात्मक है, प्राणादिमान् होने से, जो सात्मक नहीं होता वह प्राणादिमान् नहीं होता, जैसे घट; जीव शरीर प्राणादिमत् नहीं है ऐसा नहीं है, इसलिये सात्मक है।

जो सामान्यरूप से अन्वयव्यतिरेक दोनों से ही दृष्ट है वह सामान्यतोदृष्ट अन्वयव्यतिरेकी होता है, यथा—पर्वत अग्निमान् है, धूम होने से; जो जो धूमवान् होता है वह अग्निमान् होता है; जैसे रसोई घर, यह उसी प्रकार है इसलिये वैसा है।

(पू) यदि अग्निमत्त्वमात्र से व्याप्ति मानते हैं तो पहले ही प्रत्यक्ष है अतः अनुमान विफल है। ऐसा नहीं है कि पर्वतावच्छिन्न वह्निमत्त्व के साथ धूम का अविनाभाव है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि धूमवत्त्व के ही प्रत्यक्षत्व का विवाद नहीं है और कहीं पर्वत में भी व्याप्ति-

१ (क) च व्यति। (ग) च केवलव्यति।

मपराधः; पक्षाभिमतेऽपि[२] कालभेदेन व्याप्तिग्रहात्। न च विवक्षितधूमवह्निव्यक्त्योरविनाभावाग्रहोऽपराधः[१]; व्यक्तिविशेषस्यासाध्यत्वात्; वह्निमत्त्वधर्मस्यैव खलु साध्यत्वात्। न चेदानीं पक्षे व्याप्त्यग्रहोऽपराधः[२]; पूर्वगृहीताविनाभावस्यैवेदानीं स्मृतस्य साधकत्वात्; ततो न कश्चिद्दोषः।

[उपमाननिरूपणम्–]

"प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्।" प्रसिद्धेन = गवा; साधर्म्यात् = सादृश्यात्; साध्यस्य = संज्ञा(–संज्ञि[३]-)सम्बन्धस्य; साधनम् = सिद्धिः। 'अयं गवयशब्दवाच्यः' इति बुद्धिः (यतो[४]) भवति, तत् सादृश्यज्ञानमुपमानप्रमाणम्। 'कीदृग् गवयः?' इत्येवं पृष्टो नागरिकैः यदा ब्रवीत्यारण्यको वाक्यम्—'यथा

भावदीपिका

तथाऽपि पक्षाऽभिमते विवक्षितव्यक्त्योर्न व्याप्तिग्रहः तत्राऽऽह—न चेति। अपराधाऽन्तरं प्रत्याह—न चेति।

[उपमाननिरूपणम्—]

अस्य शब्दाऽन्तर्भावो नाऽऽशङ्कनीयः—इत्याह—कीदृग् गवय इति। वाक्यार्थज्ञानं यद्यपि पदार्थाऽनुभवाऽऽहितसंस्कारजपदार्थस्मृत्यपेक्षं भवति, तथाऽपि वाक्यार्थाऽनुभवाऽऽहितसंस्कारजस्मृत्यपेक्षं न भवति। श्रुतघटाऽऽदिलक्षणवाक्यस्य तद्दर्शने तादृशस्मृत्यपेक्षसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धबोधनिमित्तं लक्षणज्ञानं व्यवच्छिनत्ति—सादृश्यज्ञानमिति। तर्हि वैधर्म्यज्ञानमपि प्रमाणाऽन्तरं स्यात्। साधर्म्यमिव वैधर्म्यं मानमेयं प्रसज्येत—इत्युक्तत्वात्। अत

ज्ञानवती

ग्रह होता है। (पू) पक्ष में उसका अग्रहण है? (उ) नहीं है। क्योंकि पक्षाभिमत में भी कालभेद से व्याप्तिग्रह हो जाता है। (पू) विवक्षित धूम एवं वह्निव्यक्ति का अविनाभाव का अग्रहण ही अपराध है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि व्यक्तिविशेष साध्य नहीं है, वह्निमत्त्वधर्म ही साध्य है। (पू) इस समय पक्ष में व्याप्ति का ग्रहण न होना अपराध है? (उ) नहीं है। क्योंकि पूर्वगृहीत अविनाभाव ही इस समय स्मृत होकर साध्य हो रहा है। इसलिये कोई दोष नहीं है।

[उपमाननिरूपण—]

प्रसिद्धसाधर्म्य से साध्य को सिद्ध करना उपमान है। प्रसिद्ध अर्थात् 'गौ' से, साधर्म्य अर्थात् सादृश्य के कारण साध्य अर्थात् संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध का साधन अर्थात् सिद्धि जिससे 'अयं गवयशब्दवाच्यः'—बुद्धि होती है; उसका सादृश्यज्ञान उपमानप्रमाण है। 'गवय कैसा है' ऐसा नागरिक के द्वारा पूछे जाने पर अरण्यनिवासी जब वाक्य कहता है—'जैसे गौ वैसे गवय'। तब इसे सुनकर वन को जाने वाले नगरनिवासी को वाक्यार्थ के अनुभव से उत्पादित संस्कार से

---

१ (ग) पक्षातिमते। २ (ग) परोध। ३ (ग) परोध।
४ (क) संज्ञासम्ब, (ग) संज्ञासंज्ञिसम्ब०। ५ (क) ततो, (ग) यतो।

गौर्गवयस्तथा' तदा तच्छ्रुत्वा वनं गतस्य नागरिकस्य गवयगतसादृश्यज्ञानं वाक्यार्थानुभवाहितसंस्कारजस्मृत्यपेक्षं संज्ञासंज्ञिसम्बन्धबुद्धिं[१] कुर्वदुपमानमेव।

[शब्दनिरूपणम्—]

"आप्तोपदेशः शब्दः।" आप्तः खलु=साक्षात्कृतधर्मा, यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। तस्योपदेशः परप्रयोजनवत्पदमात्रं शब्दः।

अत्र यदा वाक्यज्ञानं प्रमाणं तदा वाक्यार्थज्ञानं फलम्। पदार्थस्मृत्या-काङ्क्षायोग्यता(-ऽऽसत्तिप्रकरणादिधिय[२]) अन्तरालिक्य इतिकर्त्तव्यताः। यदा वाक्यार्थज्ञानं प्रमाणम् तदा उपादानादिबुद्धिः फलम्। नास्तिका हि प्रत्यक्षदृष्टार्थमेव शब्दं मानं मन्यन्ते। (अत आह[३]—) "स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।" यथैव

भावदीपिका

आह—साधर्म्यग्रहणस्येति। क्रमेलकः=उष्ट्रः। सादृश्यज्ञानस्योपमानफलत्वाऽनङ्गीकारात् न प्रमाणान्तराऽऽपत्तिरित्यर्थः।

[शब्दनिरूपणम्—]

पूर्वत्र ज्ञानाऽनुवर्तनादत्राऽपि तदनुवर्त्तयति—अत्र यदेति। तृतीयलिङ्गवत् यदा वाक्य-ज्ञानं प्रमाणम्=करणमित्यर्थः। विभागसूत्रमवतारयति विभागस्योद्देशाऽन्तर्गतस्य संग्रहप्रयोजन-ज्ञापनाय—नास्तिका इति। नास्तिकाः=लोकायताः; प्रत्यक्षमेव प्रमाणं मन्यमाना एवं वदन्ति—प्रत्यक्षदृष्टेति। परिकीयेच्छादौ लिङ्गेन वचनेन वा प्रमाऽनुत्पादे बालादिभ्यः

ज्ञानवती

उत्पन्न स्मृति की अपेक्षा वाला, गत गवयसादृश्यज्ञान, संज्ञासंज्ञीसम्बन्ध की बुद्धि को उत्पन्न करता हुआ उपमान ही है।

[शब्दनिरूपण—]

आप्त का उपदेश शब्द है। आप्त का मतलब है—धर्म का साक्षात्कार करने वाला वाला; जैसा देखा हैं वैसा अर्थ बताये जाने की इच्छा से प्रयुक्त उपदेष्टा। उसका उपदेश परप्रयोजनवत्पदमात्र शब्द है।

यहाँ जब वाक्यज्ञान प्रमाण है तो वाक्यार्थज्ञान फल है। पदार्थस्मृति, आकाङ्क्षा, योग्यता, आसक्ति, प्रकरण आदि आन्तरालिकी बुद्धियाँ इतिकर्त्तव्यतायें हैं। जब वाक्यार्थज्ञान प्रमाण होता है तब उपादान आदि की बुद्धि फल होती है। नास्तिक प्रत्यक्षदृष्ट अर्थ वाले शब्द को ही प्रमाण मानते हैं। इसलिये कहा—

---

१ (ग) सम्बन्धबुद्धि विदधदुपमानसाधर्म्यग्रहणधर्ममात्रोपलक्षणीयत्वात्। अतितीव्र-कठोरकंटकाशी दीर्घवक्रग्रीवः प्रलम्बोष्ठ्रः कुत्सितावयवसन्निविष्टः पशूनामपसदः क्रमेलक इतिश्रुत्वा दाक्षिणात्यस्योत्तरापथमागतस्य तद्देशधर्मज्ञानमप्यसाधूत्तराप्रथमा-गतस्याताद‍ृशधर्मज्ञानमप्यसौ क्रमेलकशब्दवाक्यः इति संज्ञासंज्ञिसम्बन्ध बुद्धि कुर्वदु।

२ (क) योग्यताप्रकरणादय आन्तरालिक्य, (ग) योग्यताऽऽसत्तिप्रकरणादिधिय आन्तरालिक।

३ (क) तत्राह, (ग) अत आह।

दृष्टार्थः शब्दो मानम् तथाऽदृष्टार्थोऽप्याप्तोक्तत्वाविशेषात्—इत्यर्थः। यथोक्तस्य च मालतीमाधवादिवाक्येऽभावात् व्याहतिरित्यव्याप्तिः[१]। "आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम्।" अस्त्यन्यदपि[२] द्रव्यादिसमवायान्तं प्रमेयम्। यत्तु मोक्षोपयोगि तद्द्वादशविधमेव इति 'तु' शब्दार्थः। तत्रेच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानाद्यात्मलिङ्गम्—इच्छादयः क्वचिदाश्रिताः, गुणत्वात्; यो गुणः, स तथा; यथा रूपम्; तथा चैते; तस्मात्तथा। न च पारिशेष्यान्मन एवैतदाश्रय इति नाऽऽत्मलिङ्गता; (भृत्यस्येव[३]) मनसः स्वनियमार्थेच्छाद्याधारत्वानुपपत्तेः।

"चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्"। चेष्टा=स्पन्दमात्रम्। तदाश्रयो घटादिरपि

भावदीपिका

स्तन्यादिज्ञाने प्रवृत्त्यभावप्रसङ्गात्। प्रत्यक्षाऽदृष्टे वचनप्रामाण्यमेष्टव्यमेव। यथाप्रमाणदृष्टार्थमात्रप्रणीतत्वमाप्तोपदेशत्वम् यदा, तदा परोक्त-दोषाऽनवकाशः—इत्याह—यथोक्तस्येति। 'तु'-शब्देनाऽन्यव्यवच्छेदे द्रव्यान्तराऽऽदिस्वीकारविरोधं मन्वान आह—अस्तीति। आत्मनो लक्षण-प्रमाणसूचकं सूत्रं व्याचष्टे सङ्ग्रहेण—इच्छादय इति। परोक्तमपाकुर्वन् लक्षणमपि परिष्करोति इच्छादीनाम्—नचे ति। कामः संकल्प इत्यादिश्रुतिस्तु चेतनविशेषगुणानां मनः-संयोगैकाऽसमवायिकारणत्वतत्प्रयुक्तक्रमोत्पत्तिमत्त्वात् तदधीनत्वविशेषात्; 'वारिदो धान्यं वर्षति'इतिवत्—इति मन्यते। हिताहिते=सुखदुःखे।

बाह्वादिना घटादिचेष्टा यद्यपि उक्तप्रयोजना भवति तथाऽपीष्टग्रामप्राप्त्याद्यर्था रथा-

ज्ञानवती

"स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्।" इसका अर्थ है कि—जैसे दृष्टार्थशब्द प्रमाण है वैसे अदृष्टार्थ भी, क्योंकि आप्तोक्तत्व (दोनों में) समान है। और यथोक्त (=दृष्टार्थ) का मालतीमाधव आदि के वाक्य में अभाव होने से व्याघात हो जायगा। इसलिये अव्याप्ति होती है।

"आत्मा शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रकृति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख तथा अपवर्ग ये प्रमेय (=जानने योग्य) हैं।"

दूसरा भी द्रव्यादिसमवायान्त प्रमेय है। जो कि मोक्षोपयोगी है वह द्वादश प्रकार का ही है—यह 'तु' शब्द का अर्थ है। उनमें इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-सुख-दुःख—ज्ञान आदि आत्मा के लिङ्ग हैं, इच्छा आदि कहीं आश्रित हैं, गुण होने से; जो गुण है वह वैसा है, जैसे रूप, ये भी उसी प्रकार के हैं, इसलिये वैसे हैं। (पू) परिशेषात् मन ही इनका आश्रय है इसलिये (ये) आत्मा के लिङ्ग नहीं हैं? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि मृत्यु के समान मन के, अपने नियमार्थ, इच्छा आदि के आधारत्व की अनुपपत्ति हो जाती है।

"चेष्टा इन्द्रिय एवं अर्थ का आश्रय शरीर है।"

चेष्टा=स्पन्दमात्र। उसका आश्रय घट आदि भी हो जायगा, इस लिये हितासित

---

१ (ग) नातिव्याप्तिः। २ न्या० सू० १.२।
३ (क) करणस्यैव, (ग) भृत्यस्येव।

इति हिताहितप्राप्तिपरिहारार्थस्पन्दचेष्टासामर्थ्याद् द्रष्टव्या। तथाऽपि रथादिनाऽनेकान्तः। अतो 'मूर्त्तान्तराप्रयोज्यत्वे सति'—इति विशेषणमुन्नेयम्। पाणिपादादयोऽपि[1] चैवम्। अतो 'ऽन्त्यावयवित्वे सति'—इत्यूह्यम्। योग्यताऽऽश्रयणाच्च न पाषाणमध्यवर्त्तिमण्डूकशरीराव्याप्तिः; तस्यापि पाटिते पाषाणे चेष्टाश्रयत्वात्। इन्द्रियाणि तु यद्यपि घ्राणरसनाचक्षुःस्पर्शनानि स्वावयवाश्रितानि, श्रोत्रमनसी त्वतदाश्रिते,[2] तथाऽपि तदुपघातानुग्रहयोगित्वमाश्रयत्वम् द्रष्टव्यम्। यथा—'ग्रामीणाः ग्रामण्यमाश्रिताः' इति। अर्थास्तु गन्धादयो यद्यपि न देहाश्रयाः, तथाऽपि तेषां कार्यं (सुख[3]-)दुःखसंवेदनरूपं देहाधिष्ठानमिति शरीराश्रयत्वं द्रष्टव्यम्। "घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि इन्द्रियाणि भूतेभ्यः"। जिघ्रत्यनेन—गन्धं गृह्णाति इति घ्राणम्। रसयत्यनेन—रसमास्वादयति इति रसनम्। चष्टेऽनेन—रूपं पश्यतीति चक्षुः। त्वक्स्थानमिन्द्रियम्—त्वक्। शृणोत्यनेन—शब्दं गृह्णाति इति श्रोत्रम्—इति निर्वचनसामर्थ्यात् इन्द्रियाणि

भावदीपिका

दिचेष्टा तथा भवति—इत्यत आह—तथाऽपीति। अतः "इन्द्रियाणि हयानाहुः" इत्यादि रूपकमात्रमेव। महावृक्षकोटरान्तर्वर्त्तिनिश्चलतृणादिवत् तादृगिन्द्रियाणां देहचालकत्वाऽनुपपत्तेः युक्तं मूर्तान्तराऽप्रयोज्यत्वं देहस्य। तथाऽपि शरीराऽऽरम्भकाऽवयवेषु व्यभिचारः—इत्याशङ्क्य—अपाकरोति—पाणीति। एवमतिव्याप्तिं व्युदस्याऽव्याप्तिं व्युदस्यति—योग्यतेति। आश्रयः समवायी विवक्षित इति मन्वानं प्रत्याह—इन्द्रियाणि त्विति। ग्रामीणाः=ग्रामस्थाः; ग्रामण्यम्=ग्रामचालकम्। अर्थानामपि यथाकथञ्चिद्देहाऽऽश्रयत्वं विवक्षितम्—इत्याह—अर्थास्त्विति। तेषां किं लक्षणम्—इत्याह—जिघ्रतीति। इतिकर्त्तव्यतास्थानीयव्यापारेऽतिव्याप्तिं परिहरति—

ज्ञानवती

की प्राप्ति एवं परिहार के लिये स्पन्दरूपचेष्टासामर्थ्ययात् देखी जानी चाहिये। तो भी रथ आदि के द्वारा अनेकान्त है। इसलिये 'दूसरे मूर्त्त से प्रयोज्य न होने वाला'—यह विशेषण देना चाहिये। पाणि पाद आदि भी ऐसे हैं। इसलिये 'अन्त्यावयवी होते हुए'—ऐसा तर्क कर लेना चाहिये। योग्यता का आश्रयण होने से पापाणमध्यवर्ती मण्डूकशरीर में अव्याप्ति नहीं होगी; क्योंकि पाषाण के फाड़ देने पर वह भी चेष्टा का आश्रय हो जायगा। यद्यपि घ्राण रसना चक्षुः स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ अपने अवयवों में आश्रित हैं, श्रोत्र और मन तदाश्रित नहीं है तथापि तदुपघातानुग्रहयोगित्व आश्रयत्व देखना चाहिये। जैसे कि ग्रामीण ग्रामणी के आश्रित हैं। गन्ध आदि विषय यद्यपि देह के आश्रित नहीं हैं तो भी उनका कार्य सुखदुःखसंवेदनरूप देहाधिष्ठान वाला है इसलिये शरीराश्रयत्व देखना चाहिये।" घ्राण—रसना-चक्षु-त्वक् श्रोत्र इन्द्रियां भूतों से '(उत्पन्न हैं)।" जिससे सूँघता है अर्थात् गन्धग्रहण करता है वह घ्राण है। जिससे रसास्वाद करता है वह रसना है। जिससे रूप देखता है वह चक्षु है। त्वक् का स्थान इन्द्रिय त्वक् है। जिससे श्रवण करता है अर्थात् शब्द का ग्रहण करता है वह

---

१ (ग) पादादयो। २ (ग) त्वनाश्रिते।
३ (क) सर्वदा, (ग) सुख।

लक्षणान्यपि भवन्ति। ग्रहणकरणत्वस्य विवक्षितत्वाच्च न इन्द्रियार्थसन्निकर्षे गन्धादिज्ञानसाधनेऽतिव्याप्तिः। शरीरसंयुक्तमतीन्द्रियं[१] संस्कारदोषव्यतिरिक्तं साक्षात् प्रतीतिसाधनमिन्द्रियं—इति सामान्यलक्षणम् 'इन्द्रिय'—पदेनैवसूचितम्।

"गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः"। पृथिव्यादयश्च गुणाश्च इति द्वन्द्वः। तत्र पृथिव्यादयः पृथिव्यप्तेजांसि। गुणाश्च धर्माः सङ्ख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्व(—द्रवत्वस्नेह-) वेगकर्म[२] सामान्यसमवायाभावास्तेषामिन्द्रियाणामर्थाः।

"बुद्धिरुपलब्धिज्ञानमित्यनर्थान्तरम्।" बुद्ध्यादिपर्यायाविधेयत्वं बुद्धेर्लक्षणम्। पर्यायात्मकलक्षणाभिधानं सांख्यमतनिरासार्थम्। तेषां हि प्रधानस्याद्यो विकारो बुद्धिः; बुद्धेपरिणतिविशेषो ज्ञानम्; तद्वृत्तिरुपलब्धिः[३]; तच्चायुक्तम्; बुद्ध्यादीनां पर्यायत्वेन लोकत एव सिद्धेः।

भावदीपिका

ग्रहणेति। साधनं कारणमात्रमुक्तम्; करणोक्तौ विशेषणान्तरवैयर्थ्यम्; 'साक्षात्कारप्रतीतिकरणमिन्द्रियम्'—इत्येतावता चरितार्थत्वात्। बुद्धिप्रसरणाय विस्तृतं लक्षणम्, सहकारिसङ्ग्रहार्थं च। अकर्मकाराऽऽत्मभावनादिव्युदासो विशेषणैः।

इन्द्रियार्थसूत्रं व्याचष्टे—पृथिव्यादयश्चेति। पर्यायात्मक लक्षणकृत्यमाह—पर्यायेति। तद्वृत्तिः=तत्राऽभिव्यक्ता चित्। 'लोकत एव सिद्धेरर्थाऽवग्रहो बुद्धिः'–इति लक्षणमपि तत एवेत्यर्थः।

ज्ञानवती

श्रोत्र है—इस निर्वचनसामर्थ्य से इन्द्रियाँ लक्षण भी होती है। ग्रहणकरणत्व के विवक्षित होने से गन्धादि ज्ञान के साधन इन्द्रियार्थसन्निकर्ष में अतिव्याप्ति नहीं है। ('शरीर से संयुक्त, अतीन्द्रिय, संस्कारदोष से व्यतिरिक्त साक्षात् प्रतीति का साधन इन्द्रिय' है—ऐसा सामान्य लक्षण इन्द्रियपद से ही सूचित किया गया है।

"गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द ये पृथिवी आदि के गुण हैं और (इन्द्रियाँ) उनके अर्थ हैं पृथिव्यादयश्च गुणाश्च यह द्वन्द्व है। उनमें पृथिव्यादि-पृथिवी जल तेज हैं, और गुण धर्म, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व, स्नेह, वेग, कर्म, सामान्य, समवाय, अभाव उन इन्द्रियों के अर्थ हैं।

"बुद्धि उपलब्धि ज्ञान यह अपरपर्याय है"। बुद्धि आदि पर्याय का अभिधेय बुद्धि का लक्षण है। पर्यायात्मक लक्षण का कथन सांख्यमत के निरास के लिये हैं। उनके (मत में) प्रधान का प्रथम विकार बुद्धि है और बुद्धि की परिणतिविशेष ज्ञान है। उसकी वृत्ति उपलब्धि है, यह ठीक नहीं है। क्योंकि बुद्धि आदि के पर्याय होने से लोक से ही सिद्ध हो जाता है।

---

[१] (ग) संयुक्तमिन्द्रियसं। [२] (क) परत्ववेग, (ग) परत्वद्रवत्वस्नेहवेग।
[३] (ग) उपलब्धिः स्वक्रिया।

"युगपज्ज्ञानानुत्पादो मनसो लिङ्गम्"। चक्षुरादयः स्वक्रियासु क्रमकारि-करणान्तरसापेक्षाः सत्त्वेऽप्यनुत्पाद्योत्पादकत्वाद् वास्यादयः इव हस्तापेक्षाः। "प्रवृत्ति-र्वाग्बुद्धिः शरीरारम्भः"। आरम्भोऽनुष्ठानं प्रवृत्तिः। तत्र वाचिकी सत्यासत्या (दिका[१]); कायिकी दानहिंसादिका; मानसी शुद्धाशुद्धात्मिका; यथाक्रमं पुण्यपापहेतुः। "प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः" रागद्वेषमोहाः। "पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभाव"। पुन—इत्यभ्या-सोक्तिः। अपूर्वाभिः—शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः; सम्बन्धः=उत्पत्तिः; प्रेत्य=मृत्वा; भावः=जन्म—प्रेत्यभावः स पुनः पुनरुत्पत्तिरित्यर्थः।

"प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्"। यथोक्तप्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः सुखदुःख-संवेदनतत्साधककर्मरूपः सह देहादिभिः फलम्। "बाधनालक्षणं दुःखम्"। बाधनम्=पीडा; तया स्वविषया बुद्धिर्लक्ष्यते। तेन तद्विषयत्वाद् बाधनाच्च तदनु-षङ्गिणश्च देहादयो दुःखम्। सा च बाधनाबुद्धिः दुःखे मुख्या, दुःखिदेहादौ च गौणी। "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः"। तेन=दुःखेन, शरीरादिनाऽत्यन्तं[२] विमुक्तिः= अपवर्गः।

भावदीपिका

मनसो लक्षणसूत्रं व्याचष्टे—चक्षुरादय इति। दोषाः=रागादयः प्रसिद्धलक्षणाः—इत्याह—दोषा इति। अभ्यासोक्तौ कोऽर्थः? तत्राऽऽह—अपूर्वाभिरिति। लक्षणफल-माह—तेनेति।

ज्ञानवती

"एक साथ ज्ञान की अनुत्पत्ति मन का साधक है" चक्षु आदि अपनी क्रियाओं में क्रमकारी करणान्तर की अपेक्षा रखते हैं क्योंकि सत् होने पर भी अनुत्पाद्य के उत्पादक है, जैसे कि वास्य आदि को हाथ आदि की अपेक्षा होती है। "वाणी मन तथा शरीर का व्यापार प्रवृत्ति है"। आरम्भ का मतलब है—अनुष्ठान; वही प्रवृत्ति है। उनमें वाचिकी—सत्य असत्य आदि ; कायिकी—दान हिंसा आदि ; एवं मानसी—शुद्धाशुद्धतिमका क्रमशः पुण्यपाप की हेतु हैं। "जो प्रवृत्ति के कारण हैं वे दोष हैं" अर्थात् राग-द्वेष-मोह। प्रेत्यभाव का अर्थ है—पुनः उत्पत्ति। पुनः—यह अभ्यासोक्ति है। अपूर्व शरीरेन्द्रिय-बुद्धि एवं वेदनाओं से सम्बन्ध—उत्पत्ति है। प्रेत्य (का अर्थ है) मरकर, भाव (का मतलब है) जन्म; (इसलिये) प्रेत्यभाव (का मतलब हुआ) बार-बार उत्पत्ति।

प्रवृत्ति के दोष से उत्पन्न अर्थ फल है। यथोक्त प्रवृत्तिदोष से जनित अर्थ=सुख दुःख-संवेदन, उसका साधक कर्म रूप देह आदि के साथ फल है। "बाधना को दुःख कहते हैं। बाधना का मतलब है पीडा। उसके द्वारा स्वविषया बुद्धि लक्षित होती है। उससे उसका विषय होने से और बाध न होने से उसके अनुषङ्गी देह आदि दुःख हैं। वह बाधनाबुद्धि दुःख में मुख्य है, और दुःखी देह आदि में गौण। "तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः"। उस दुःख शरीर आदि से अत्यन्त विमोक्ष-अपवर्ग है।

---

१ (क) सत्यादि, (ग) सत्यादिका। २ (ग) शरीरगतिना।

[संशयनिरूपणम्—]

"समानानेकधर्मोपपत्तेः विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः"[1]। तत्र विमर्शः संशय—इति सामान्यलक्षणम्। विरोधिनानार्थावमर्शः=विमर्शः; 'किमयं' 'किं वा अयम्'—इति। स त्रिविधः। तत्र समानो धर्मो यस्यासौ समानधर्मा=धर्मी; तस्योपपत्तेः=उपलब्धेः संशयो भवति। एवं सति विशेषास्मरणेऽपि समानधर्मधर्मिणो दर्शनात् संशयः स्यात्। अत उक्तम्[2]—विशेषापेक्ष इति ; विशेषस्मृत्यपेक्ष इत्यर्थः।

तथाऽपि[3] सहकारतरुमनुभूय दूरं गतस्य (तस्य कुञ्जरसमान[4]—) धर्मोपलम्भे करितरुरूपविशेषस्मृतौ च संशयः स्यात्—नगो वा नागो वा—इति ; अत उक्तम्—"उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च"—इति। साधकबाधकप्रमाणाभावात् इत्यर्थः। न च सहकारादौ साधकबाधकप्रमाणाभावोऽस्ति इति भावः। तदेवं कारणद्वयोपकृतः[5] समानधर्मोपलम्भः संशयः ; यथा—ऊर्द्धत्वविशिष्ट(-धर्मि[6]-)दर्शनात् अयं 'स्थाणुः' 'पुरुषो वा'—इति।

भावदीपिका

[संशयनिरूपणम्]

पदार्थान्तरलक्षणमादाय व्याकरोति—समानेति। सहकारः=आम्रः। अनेकापा-

ज्ञानवती

[संशयनिरूपण—]

"साधारण तथा विशेष धर्म के तथा विरुद्ध दो पक्षों के, ज्ञान से प्राप्ति और अप्राप्ति दोनों पक्षों की अव्यवस्था से विशेष की अपेक्षा रखने वाला ज्ञान संशय है। उसमें 'विमर्शः संशयः' यह सामान्य लक्षण है। विरोधी नाना अर्थ का अवमर्श विमर्श है—क्या यह है अथवा यह। वह तीन प्रकार का होता है—उनमें समान धर्म जिसका होता है वह समानधर्मा धर्मी होता है। उसकी उपपत्ति से उपलब्धि का संशय होता है। ऐसा होने पर विशेष का स्मरण न होने पर भी समानधर्म वाले धर्मी का दर्शन होने से संशय होता है। इसलिये विशेष ऐसा कहा गया उसका अर्थ है—विशेष स्मृति की अपेक्षा (रखने वाला)।

तो भी आम के वृक्ष का अनुभव करके दूर गये हुए उस (व्यक्ति) को हाथी के समान धर्म की प्राप्ति होने पर तथा करितरुरूप विशेष की स्मृति होने पर संशय होगा—यह नग है या नाग। इसलिये कहा गया—उपलब्धि एवं अनुपलब्धि की अव्यवस्था से। इसको अर्थ है—साधकबाधकप्रमाण के अभाव से। अर्थात् आम आदि में साधकबाधकप्रमाण का अभाव नहीं है। तो इस प्रकार दो कारणों से उपकृत समान धर्म का उपलम्भ संशय है। जैसे—ऊर्द्धत्वविशिष्ट धर्मी को देखने से, यह स्थाणु है या पुरुष।

---

१ (ख) पत्तेरनुप। २)ग) उक्तं जरसमानधर्मोपलंभ करितरुरूपविशेषापे।
३ (ग) तथा हि। ४ (क) तद्गतसमान, (ग) तस्य कुंजरसमान।
५ (ग) भावः कारणद्वयोपकृतान समान। ६ (क) धर्म, (ग) धर्मि।

एवमनेकधर्मोपपत्तेः कारणद्वयोपकृतायाः सन्देहः। तत्र गुणत्वेन समानजातीयं रूपादि; असमानजातीये च द्रव्यकर्मणी,[१] तदिदमनेकम्। तस्मादनेकस्मात् व्यावृत्तो धर्मो अनेकापादान-व्यावृत्तिहेतुत्वात् लक्षणया अनेक इत्युच्यते; असाधारण इत्यर्थः। अनेकोऽसाधारणो[२] धर्मो यस्य असौ अनेकधर्मा=असाधारणधर्मा; तस्योपपत्तेः=उपलब्धेः; सन्देहः; यथा—कारणमात्रविभागजविभागजत्वात् किं शब्दो द्रव्यम्? गुणः? कर्म वा? न हि कारणमात्रविभागजविभागजं[३] द्रव्यगुणकर्मणामन्यतमद् इति। ततस्ततो व्यावृत्तं तस्मात्=स्मारकत्वेनासाधारणधर्मोपलम्भात्; सन्देहः। एवं विप्रतिपत्तेरपि विशेषणद्वयसहितायाः सन्देहः; विप्रतिपत्तेर्वादिगताया[४] दुर्ज्ञातत्वात्। तच्छब्देन तदुत्थितः प्रवादो गृह्यते; यथा अस्त्यात्मा इत्येकः; नास्त्यात्मा इत्यपरः; ततो (विरुद्धं[५]) प्रवादं शृण्वतः पार्श्वस्थस्य सन्देहो भवति —किमस्त्यात्मा न वा—इति। तदेवं त्रिपदविशेषणः त्रिविधः संशयः; स चायं प्रमाणे प्रमेये वाऽन्तर्भवन् न्यायाङ्गत्वात् पृथगुक्तः। उक्तञ्च—

भावदीपिका

-दानकव्यावृत्तिः=अनेकस्माद् व्यावृत्तिः। कारणमात्रविभागः=वंशाऽऽद्यारम्भकदलाऽऽदिविभागः; तज्जो दलाऽऽदेराकाशविभागः; तज्जत्वात् जन्यत्वेन जात्यादावनन्तर्भावात्। भावत्वाच्च द्रव्याद्यन्यतमत्वेनैव सन्देहः। संशयज्ञानस्य तज्जनकस्य चाऽज्ञानादावन्तर्भावसम्भवात् पृथगुक्तिः किमर्था? तत्राऽऽह—स चायमिति।।

ज्ञानवती

इसी प्रकार दो कारणों से उपकृत अनेक धर्म की उपपत्ति होने से सन्देह होता है। उसमें गुण के रूप में समानजातीय रूप आदि हैं और असमानजातीय द्रव्य एवं कर्म। वह यह अनेक है। उस अनेक से व्यावृत्त धर्म अनेक अपादानव्यावृत्त का हेतु होने से लक्षणा के द्वारा अनेक कहा जाता है। इसका मतलब है—असाधारण। अनेक=असाधारण धर्म है जिसका यह अनेकधर्मा=असाधारणधर्मा है; उसकी उपपत्ति (अर्थात्) उपलब्धि से सन्देह होता है। जैसे कारणमात्र विभागजविभाग होने से शब्द क्या द्रव्य है, या गुण, या कर्म? क्योंकि कारणमात्र विभागजविभागज द्रव्य गुण एवं कर्म से अन्य नहीं होता। इसलिये उससे व्यावृत्त हुआ, उससे स्मारक होने के कारण असाधारण धर्म का उपलम्भ होने से सन्देह होता है। इस प्रकार दो विशेषणों के सहित विप्रतिपत्ति से भी संदेह होता है क्योंकि वादिगत विप्रतिपत्ति दुर्ज्ञात होती है। तत् शब्द से तदुत्थित प्रवाद लिया जाता है। जैसे—आत्मा है ऐसा एक (कहता है), आत्मा नहीं है ऐसा दूसरा कहता है। तो विरुद्ध प्रवाद सुनने वाले पार्श्वस्थ (पुरुष) को सन्देह होता है—क्या आत्मा है या नहीं। तो इस प्रकार त्रिपदविशेषणवाला तीन प्रकार का सन्देह होता है, और वह प्रमाण अथवा प्रमेय में अन्तर्भूत होता हुआ न्याय का अंग होने से पृथक् कहा गया। कहा भी है—

---

१ (ग) कर्मणोः। २ (ख) अनेकोऽसाधा।
३ (क) विभागजं देहः विप्रतिपत्तेः। ४ (ग) विप्रतिपत्तेर्वादिगतया।
५ (क) विरुद्धं।

"तत्र नानुपलब्धेऽर्थे न निर्णीते प्रवर्त्तते ।
किन्तु संशयिते न्यायस्तदङ्गं तेन संशयः ।।" इति ।

[प्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तनिरूपणम्—]

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम् ।" यमर्थं—प्राप्तव्यं हातव्यं वा—तं निश्चित्य कर्म आरभते तत् प्रयोजनम् । ससाधनसुखदुःखावाप्तिहानेरित्यर्थः ।

"प्रयोजनमनुद्दिश्य न यन्न्यायं[1] प्रयुञ्जते ।
प्रमेयान्तर्गतं तस्मात् भेदेनोक्तं प्रयोजनम् ।।"

"लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ।" लौकिकाः=प्रतिपाद्याः; परीक्षकाः=प्रतिपादकाः—वादिप्रतिवादिनः—इत्यर्थः । तेषां यत्रार्थे साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभाविनि साध्यवैधर्म्यात् अतद्धर्मभाविनि वा बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ।

"एषामेवावहिर्भूतो दृष्टान्तः पृथगुच्यते ।
न्यायसम्बन्धविज्ञानस्थानं यन्नामुना विना ।।"

"तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः" सिद्धान्तः । तन्त्र्यन्ते=व्युत्पाद्यन्ते प्रमेयाण्यनेन इति तन्त्रं—प्रमाणम् ; तदेवाधिकरणम्=आश्रयो येषामर्थानां ते यथा प्रामाणिका इत्यर्थः । तेषामभ्युपगमसंस्थितिः=अङ्गीकरणम्—सिद्धान्तः । सामान्यलक्ष्मेदम् ।

भावदीपिका

[प्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तनिरूपणम्—]

फलत्वेन प्रमेयाऽन्तर्गतं प्रयोजनं लोकानां शास्त्रीयाऽर्थे बुद्धिसाम्याऽसम्भवात् विवक्षितमर्थमाह—लौकिकाः प्रतिपाद्या इति । न्यायसम्बन्धः=व्याप्त्यादिः । यत्=यस्मात्; न्यायसम्बन्धविज्ञानस्थानं दृष्टान्तं विना अनुमानं भवति प्रतितन्त्रम्=समसमानं तन्त्रः; एकोऽर्थो=

ज्ञानवती

"न्याय न तो अनुपलब्ध अर्थ में और न निर्णीत अर्थ में किन्तु संशयित अर्थ में प्रवृत्त होता है; इसलिये संशय उसका अङ्ग है ।"

[प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-निरूपण—]

(मनुष्य) जिस अर्थ को अधिकृत करके प्रवृत्त होता है—वह प्रयोजन है । (अर्थात्) जिस प्राप्तव्य या हातव्य अर्थ का निश्चय करके कर्म का आरम्भ किया जाता है वह प्रयोजन है । अर्थात् ससाधन सुख दुःख की अवाप्ति एवं त्याग ।

"चूँकि न्याय, प्रयोजन को विना उद्देश्य किये प्रयुक्त नहीं होता, इसलिये प्रमेय के अन्तर्गत प्रयोजन को भेदपूर्वक कहा गया है ।"

लौकिक परीक्षक का जिस अर्थ में बुद्धिसाम्य हो वह दृष्टान्त है—लौकिक का अर्थ है—प्रतिपाद्य । परीक्षक (का मतलब है) प्रतिपादक; अर्थात् वादी एवं प्रतिवादी । उनका—साध्यसाधर्म्य होने से तद्धर्मभावी अथवा साध्यवैधर्म्य होने से अतद्धर्मभावी जिस अर्थ में बुद्धिसाम्य हो वह दृष्टान्त है ।

[1] (ग) न च न्यायं ।

स चतुर्विधः—सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्। तत्र सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः। यथा—प्रमाणं प्रमेयबोधनमिति। समानतन्त्रसिद्धः प्रतितन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः। यथा—इदं सांख्यानाम्, इदं योगानाम् इति। यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः, सोऽधिकरणसिद्धान्तः। यस्यार्थस्य हेतोर्वा पक्षस्य वा सिद्धावन्यस्य प्रकरणस्य प्रक्रियमाणस्यानुक्तस्यार्थस्य सिद्धिर्भवति सोऽधिकरणसिद्धान्तः। तत्रेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता[1] दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् इति हेतोः सिद्धावनुषङ्गिणोऽर्थाः; इन्द्रियनानात्वम्; (नियत[2]-)विषयाणि इन्द्रियाणि; गन्धादि(-व्यतिरिक्तं[3]) द्रव्यम् गुणाधिकरणम्; अनियतविषयाश्चेतना इति। विवादाध्यासितं बुद्धिमत्पूर्वकम् इति पक्षसिद्धावनुषङ्गिणोऽर्थाः सर्वज्ञत्वादयः सिद्धान्ताः[4]। अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः। अपरीक्षितम्=साक्षात्

भावदीपिका

द्रव्यं तत्संख्यादिकं च। एकार्थग्रहणमेकैकस्य विद्यते तथाऽपि नेन्द्रियव्यतिरिक्तत्वं चक्षुरादेः—अत उक्तम्—दर्शनस्पर्शनाभ्यामिति। स्वप्रधानभूताऽऽत्मत्वे इन्द्रियाणां परस्परोपकरणत्वाऽनुपपत्तेरतिरिक्तज्ञातृसिद्धिः।

ज्ञानवती

"इन्हीं (=वादी प्रतिवादी) में वहिर्भूत दृष्टान्त पृथक् कहा जाता है। क्योंकि इसके विना न्यायसम्बन्ध का विज्ञानस्थान नहीं है।"

"शास्त्र, अधिकरण तथा अभ्युपगम (इन तीनों, के द्वारा माने हुए विषयों की सम्यक् व्यवस्था मानना सिद्धान्त है।" तन्त्र्यन्ते=व्युत्पाद्यन्ते अनेन प्रामाण्यानि—इस प्रकार तन्त्र का अर्थ है—प्रमाण। वही अधिकरण अर्थात् आश्रय है जिन अर्थों का वे यथा-प्रामाणिक हैं। उनकी अभ्युपगमसंस्थिति (अर्थात् अंगीकरण) सिद्धान्त है। यह सामान्यलक्षण है। अर्थान्तिरभाव से वह चार प्रकार का होता है—सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र अधिकरण और अभ्युपगमसंस्थिति। उनमें सर्वतन्त्राविरुद्ध तन्त्र में अधिकृत अर्थवाला सर्वतन्त्र सिद्धान्त है। जैसे- प्रमाण प्रमेय का ज्ञापक है। समानतन्त्र से सिद्ध प्रतितन्त्र से असिद्ध प्रतितन्त्र सिद्धान्त हैं। जैसे—यह सांख्यों का, यह योग का। जिसकी सिद्धि में अन्यप्रकरण की सिद्धि होती है, वह अधिकरण सिद्धान्त है। जिस अर्थ के हेतु अथवा पक्ष की सिद्धि होने पर अन्य प्रकरण के प्रक्रियमाण अनुक्त अर्थ की सिद्धि होती है, वह अधिकरण सिद्धान्त है। उसमें ज्ञाता इन्द्रिय से व्यतिरिक्त है क्योंकि दर्शन और स्पर्शन से एकार्थ का ग्रहण होता है, इस हेतु से सिद्धि होने से अनुषंगी अर्थ है। इन्द्रियानानात्व, नियतविषय वाली इन्द्रियां हैं, गन्ध आदि से अतिरिक्त द्रव्य है, गुण का अधिकरण अनियत विषयवाले चेतन है। विवादाध्यासित बुद्धिमत्–पूर्वक है—इस पक्ष की सिद्धि होने पर अनुषंगी अर्थ सर्वज्ञत्व आदि सिद्धान्त हैं। अपरीक्षित का अभ्युपगम होने से उसका विशेषपरीक्षण अभ्युपगमसिद्धान्त हैं। अपरीक्षित (का मतलब है) साक्षात् शास्त्रसे अनुक्त; जैसे मन का इन्द्रियत्व; उसका अभ्युपगम होने से अभ्युपगम सिद्धान्त है। कैसे जाना जाता है?

---

१ (ग) तन्त्रेन्द्रिय। २ (क) तद, (ग) नियत।
३ (क) दि द्रव्य, (ग) दि व्यतिरिक्त द्रव्य। ४ (ग) सिध्यन्ति।

शास्त्रेणानुक्तम् ; यथा मनस इन्द्रियत्वम् ; तस्याभ्युपगमात् अभ्युपगमसिद्धान्तः । कथं (ज्ञायते[१]) तदनुक्तमप्यभ्युपेतं सूत्रकृता इति तद्विशेषपरीक्षणं करोति । यतः—

"धर्मिणं प्रापयन्नेष ह्याश्रयासिद्धिवारकः ।
वादजल्पवितण्डानां हेतुरित्युच्यते पृथक् ॥"

[अवयवनिरूपणम्—]

"प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि अवयवाः ।" 'अवयवाः' इत्यनेन साधकवाक्येन[२] निर्देशत्वं सामान्यलक्षणमवयवानां सूचितम् । तत्र "साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।" सिषाधयिषितधर्मविशिष्टो धर्मीह साध्यः ; तस्य निर्देशः=अङ्गीकरणं—प्रतिज्ञा। यथा—अनित्यः शब्द इति । "उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ।" "साध्यसाधनं हेतुः"—इति सामान्यलक्षणम् । साध्यं साध्यतेऽनेन इति व्युत्पत्त्या साध्यसाधनपरम्[३] । तत्रोदाह्रियतेऽस्मिन् इति उदाहरणं=दृष्टान्तधर्मी ; तेन साधर्म्यं साध्यधर्मिणः । कृतकत्वादि साधनम् । तस्मात् यदुत्थितं ज्ञान-

भावदीपिका

[अवयवनिरूपणम्—]

परीक्षितधर्म्यभ्युपगमे प्रथमन्यायाऽप्रवृत्तेः निरालम्बनकथाऽनवताराच्च परीक्षिताऽभ्युपगमः । प्रतिज्ञालक्षणं व्याचष्टे—सिषाधयिषितेति । असाध्यस्य साधनाऽसम्भवात् साध्य-

ज्ञानवती

उससे अनुक्त भी सूत्रकार के द्वारा अभ्युपेत है इसलिये उसका विशेष परीक्षण करता है। क्योंकि—
यह (=अभ्युपगम सिद्धान्त) "धर्मी को सूचित करता हुआ आश्रयासिद्धि वारक तथा वाद जल्प एवं वितण्डा का हेतु है, इसलिये पृथक् कहा जाता है।"

[अवयवनिरूपण —]

"प्रतिज्ञा हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन ये अवयव हैं"। 'अवयवाः' इस साधक वाक्य के द्वारा अवयवों का निर्देशत्व सामान्यलक्षण सूचित किया गया है। उनमें साध्य का निर्देश प्रतिज्ञा है। सिषाधयिषितधर्मविशिष्ट धर्मी साध्य है। उसका निर्देश=अङ्गीकार प्रतिज्ञा है। जैसे शब्द अनित्य है। उदाहरण के साधर्म्य से साध्य का साधन हेतु कहलाता है। 'साध्यसाधनं हेतुः' यह सामान्य लक्षण—साध्यं साध्यतेऽनेन—इस व्युत्पत्ति से साध्यसाधनपरक है। उसमें उदाह्रियते अस्मिन् यह उदाहरण—दृष्टान्तधर्मी है ; उससे साध्यधर्मी का साधर्म्य है। कृतकत्व आदि साधक (=हेतु) हैं। इसकारण ज्ञान, विवक्षा आदि के क्रम से उत्थित जो 'कृतकत्वात्' इत्यादि वचन साध्य का साधन है, वह हेतु है। यहाँ जब उदाहरण से साधर्म्य इत्येतावन्मात्रत्व विवक्षित है तो केवलान्वयी हेतु होता है। और जब विशेषनिषेधार्थक होने से अनुदाहरणरूप विपक्ष से वैधर्म्य होता है तो अन्वयव्यतिरेकी होता है। उसी प्रकार वैधर्म्य होनेपर विपक्षस्वरूप उदाहरण से वैधर्म्य (अर्थात्) व्यतिरेक से ही साध्य का साधन (होने पर) वह हेतु व्यतिरेकी होता है।

---

१ (क) तद्, (ग) ज्ञायते तद् । २ (ख) वाक्येन, (ग) वाक्यैक ।
३ (क) परं, (ख) पदम् ।

विवक्षादिक्रमेण वचनं 'कृतकत्वात्' इत्यादि साध्यसाधनं हेतुः। अत्र तु यदा उदाहरणेन साधर्म्यं इत्येतावन्मात्रत्वं विवक्षितम्, तदा केवलान्वयि हेतुः; यदा तु विशेषनिषेधार्थत्वात् अनुदाहरणेन विपक्षेण वैधर्म्यम, तदा अन्वयव्यतिरेकी। तथा वैधर्म्ये तु उदाहरणेन विपक्षस्वरूपेण वैधर्म्यात् व्यतिरेकादेव साध्यसाधनम्, स हेतुर्व्यतिरेकी।

"साध्यसाधर्म्यात् तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्।" साध्यसाधनयोर्व्याप्तिः[१] अनेन उदाह्रियत इति उदाहरणम्—इति निरुक्तिः सामान्यलक्षणम्। सर्वं तु सूत्रं साधर्म्योदाहरणलक्षणम्। तथा च साध्येन=पक्षेण; साधर्म्यात्=कृतकत्वादेः प्रयोजकात्; यः तद्धर्मभावितस्य=पक्षस्य[२]; धर्मः=नित्यत्वादिः; (स[३] चासौ) भावश्च विधीयमानः (सोऽस्यास्ति[४]) इति तद्धर्मभावी दृष्टान्तः; तद्वचनम् इत्यर्थः। एतत् साधर्म्योदाहरणम्। तत्र[५] साध्यसाधर्म्यात् इति साधनविकलमपास्तम्। तद्धर्मभावी इति साध्यविकलम्। द्वाभ्यां पदाभ्यामुभयविकलम्।

"तद्विपर्ययात् विपरीतम्।" तेन=पक्षेण; विपर्ययात्=वैधर्म्यात्=निरात्मकत्वात् योऽतद्धर्मभावी प्राणादिमत्त्वरहितो घटादिः—तदचलम् वैधर्म्योदाहरणम्।

"उदाहरणापेक्षस्तथा इत्युपसंहारो न तथा इति वा साध्यस्य उपनयः।" उदाहरणापेक्षः साध्यस्य=पक्षस्य; दृष्टान्तसिद्धव्याप्तिहेतुमत्तयोपसंहार उपनय इति सामान्यलक्षणम्। तथा[६] इति, न तथा इति सामान्यापेक्षे द्वे विशेषलक्षणे।

भावदीपिका

साधनमित्युक्तम्। सामान्येन विशेषः कथं लभ्येत? तत्राऽऽह—अत्र त्विति। भूषणकारोक्तं

ज्ञानवती

"साध्य के समान धर्म वाला होने से उसके धर्म को रखनेवाला दृष्टान्त उदाहरण कहलाता है"। साध्य एवं साधन की व्याप्ति जिससे उदाहृत हो—वह उदाहरण है—यह कथन सामान्यलक्षण है। और समान सूत्र, साधर्म्य के उदाहरण का लक्षण है। इस प्रकार साध्य (अर्थात्) पक्ष से कृतकत्व आदि साधर्म्य प्रयोजक होने से जो तद्धर्मभावितपक्ष का धर्मनित्यत्व आदि, वह (तद्धर्म) और भाव अर्थात् विधीयमान है जिसका वह तद्धर्मभावी दृष्टान्त है, उसका वचन। यह साधर्म्य का उदाहरण है। साध्यसाधर्म्य कहने से साधनविकल (उदाहरण=अयोगोलक आदि) अपास्त हो गया। तद्धर्मभावी कहने से साध्यविकल (अर्थात् ह्रदादिवत् यह उदाहरण और) दो पदों (साध्यसाधर्म्य और तद्धर्मभावी पदों) से दोनो से रहित (उदाहरण जैसे शब्दवत् यह निरस्त कर दिया गया) है।

"उसका विपर्यय होने से विपरीत होता है।" उस (अर्थात्) पक्ष से विपर्यय (अर्थात्) निरात्मक वैधर्म्य से जो अतद्धर्मभावी प्राणादिभावरहित घट आदि है वह वैधर्म्य का अचल उदाहरण है।

---

१ (ग) अत्रोदाह्रियते साध्य।
२ (ग) पक्षधर्मे।
३ (क) स यस्यासौ, (ग) स चासौ।
४ (ग) अस्ति, (ग) सोऽस्ति।
५ (ग) अत्र।
६ (ग) तयेति सामा—।

तथा च कृतकः शब्दः—न च तथा प्राणादिमज्जीवच्छरीरम् इति ।

"हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्"। तस्मात् इति हेत्वपदेशानन्तरं तत्सहितमेव यत् प्रतिज्ञायाः स्वार्थद्वारा पुनरभिधानं तन्निगमनम्—तस्मादनित्य इति ।

"वादजल्पवितण्डानां प्रवृत्तौ हेतवो यतः ।
तत्त्वव्यवस्थितेः स्थानं अतो भेदेन भाषिताः ॥"

अवयवाः ।

"अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितः तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ।" पुरोवर्त्तिन्यूर्ध्वे धर्मिणि सामान्यतो ज्ञाते विवक्षिते तत्त्वेऽनिर्णीतयथास्वरूपे जिज्ञासा तावद् भवति । ततः संशयः—"किमयं स्थाणुः पुरुषो वा"—इति । तदनन्तरं कारणोपपत्तितः= विपर्ययेऽनिष्टापत्तितो भवितव्यतात्मा भवति प्रत्यय ऊहरूपस्तर्कः—पुरुषेणानेन भवितव्यमिति । अनिष्टापत्तिस्तु—सततमिह वाहान् वाहयति राजा इति न शक्यं तृणमात्रकेणापि स्थातुमत्र, किं पुनरियता स्थाणुना—इति ।

"इतिकर्त्तव्यतारूपो विषयस्य विवेचनात् ।
प्रमाणस्य यतस्तर्कस्तेनायं (सुभाषितः)[१] ॥"

पृथक् प्रमाणार्थसन्देहेऽस्य निर्णयाङ्गत्वेनापेक्षणादेव न संशयान्तर्भावः शङ्कनीयः ।

भावदीपिका

निरस्यति—प्रमाणार्थेति ।

ज्ञानवती

जो उदाहरण की अपेक्षा रखनेवाला तथा वैसा है,वैसा नहीं है इस प्रकार उपसंहार वाला होता हैवह साध्य का उपनय होता है।" उदाहरणापेक्ष साध्य (अर्थात्) पक्ष का दृष्टान्तसिद्धव्याप्ति के हेतुमत् के रुप में उपसंहार उपनय है—यह सामान्यलक्षण है। 'तथा' और 'न तथा' ये सामान्यापेक्ष दो विशेषलक्षण हैं। 'तथा' (का उदाहरण है) शब्द कृतक है, और 'न तथा' का जीवशरीर प्राणादिमत् है।

" 'तु' के कथन से प्रतिज्ञा का पुनः कथन निगमन है।" 'तस्मात्' इस हेतु के व्यपदेश के वाद उसके सहित ही जो प्रतिज्ञा का स्वार्थ के द्वारा फिर कथन वह निगमन है। (जैसे—) इस कारण अनित्य है।

"वाद, जल्प, वितण्डा की प्रवृत्ति में जो हेतु पहले कह दिये गये चूंकि वे हेतु तत्त्वव्यवस्था के कारण हैं इसलिये भेदपूर्वक कह दिये गये।"

(इस प्रकार) अवयवों (का निरूपण हुआ)।

जिस अर्थ का तत्त्व अज्ञात है उसके विषय में कारण की उपपत्ति के द्वारा तत्त्वज्ञान के लिये ऊह करना तर्क है।"

पुरोवर्त्ती ऊर्ध्वधर्मी के सामान्यरूप से ज्ञात होने पर अनिर्णीत यथास्वरूप वाले तत्त्व के विवक्षित होने पर जिज्ञासा होती है। उसके बाद संशय होता है,—यह स्थाणु है या पुरुष ? उसके बाद कारण की उपपत्ति से (अर्थात्) विपर्यय में अनिष्टापत्ति होने से भवितव्यतात्मा

[१] (क) सुतोषितः, (ग) भाषितः ।

"विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः।" विमृश्य इति=संशयं कृत्वा, यदर्थस्य तर्कविवेचितस्यावधारणं पक्षप्रतिपक्षाभ्यामिति लक्षणया तद्विषय-साधनदूषणाभ्यां स निर्णयः। निर्णयाङ्गत्वादस्य जल्पवितण्डयोरनिर्णयार्थत्वाच्च पृथगुक्तोऽयम्।

[कथालक्षणम्—]

"प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रति-पक्षपरिग्रहो वादः।" पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहस्यानेनैव नानाप्रवर्त्तना विचारविषया वचनसन्दब्धिः[1] कथा—इति कथायाः सामान्यलक्षणं सूचितम्। सर्वन्तु कथा-विशेषवादलक्षणार्थम्। तत्र सामान्यतोऽधिगतस्य वस्तुनः=शब्दादेः, विशेषैः=नित्यत्वानित्यत्वादिकै[2], एकाधिकरणौ=विरुद्धौ एककालौ अनवसितौ पक्षप्रतिपक्षौ। तयोः परिग्रहोः=अङ्गीकारवचनम्—वादः। एवं च जल्पवितण्डे अपि वादः [स्याताम्[3]]। अत उक्तम्—'प्रमाण' इत्यादि।

प्रमाणेन तर्केण वा[4] पक्षस्य साधनम्=सिद्धिः; प्रतिपक्षसाधनस्योपालम्भः उपालब्धिश्चास्मिन् क्रियत इति। न च[5] एवमपि तुल्यता; अभिप्रायनियमात्;

भावदीपिका

[कथालक्षणम्—]

संदब्धिः=सन्दर्भः। तर्हि सिद्धान्तऽविरुद्धः—इत्यादि किमर्थम्?—तत्राऽऽह—उप-

ज्ञानवती

प्रत्यय ऊहरूप तर्क होता है—'इसे पुरुष होना चाहिये'। अनिष्टापत्ति तो—'यहाँ राजा निरन्तर घोड़ों को दौड़ाता है इसलिये तृणमात्र भी नहीं ठहर सकता फिर इतना बड़ा स्थाणु कैसे रह सकता है'।

"प्रमाणविषय का विवेचन करने से चूँकि तर्क प्रमाण का अङ्ग है इससे यह सुभाषित है।"

प्रमाणार्थ का सन्देह होने पर इसकी पृथकनिर्णयाङ्ग के रूप में अपेक्षा होने से ही संशय में अन्तर्भाव की शङ्का नहीं करनी चाहिये।

"पक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा विमर्श करके अर्थ का निश्चय करना निर्णय है।" विमृश्य=संशय करके, पक्ष एवं प्रतिपक्ष के द्वारा तर्कविवेचित जिस अर्थ का लक्षणा के द्वारा स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का निराकरण दोनों के द्वारा निश्चय होता है वह निर्णय है। इसके निर्णयाङ्ग होने से और जल्प तथा वितण्डा के अनिर्णयार्थ होने से यह पृथक् कहा गया है।

[कथा के लक्षण —]

"जिसमें प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और खण्डन हों तथा जो सिद्धान्त के विरूद्ध न हो और पाँच अवयव से युक्त हो ऐसा पक्ष और प्रतिपक्ष का परिग्रह (=स्वीकृति) वाद है"। पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह का इसी के द्वारा नानाप्रवर्त्तनाविचारविषयवाली वचनसंदृब्धि कथा होती है—यह कथा का सामान्य लक्षण सूचित है। और सब अंश तो कथाविशेष—वाद के लक्षण के

---

[1] (ग) सदृ दृचि। [2] (ग) दिकौ। [3] (क) स्यात्।
[4] (ग) च। [5] (ग) नापि।

लम्भतत्त्वतो हि तर्कसहितप्रमाणमूला अवयवा भवन्तु मा वा भूवन्। वादिनोस्त्वयमभिप्रायः—भवन्ति प्रमाणमूला एव इत्येतावतैव वादः। जल्पवितण्डयोस्त्वाभासेनापि प्रत्यवस्थेयम् एकान्ते पराजयाद् वरं संशय इति। उपालम्भपदेन सर्वनिग्रहस्थानप्राप्तौ नियमार्थं—'सिद्धान्त' इत्यादि पदद्वयम्। तत्र सिद्धान्ताविरुद्ध इत्यनेनापसिद्धान्तो वादे न चोद्य इति लभ्यते। पञ्चपदात् न्यूनाधिके, अवयवोपपन्नपदाच्च हेत्वाभासाः। स्वपक्षसाधनपरपक्षसाधनोपालम्भः स्वपक्षसाधनसाधनपरपक्षसाधनसाधनदूषणशब्दतो[१] विवक्षितानि साधनोपालम्भशब्देनैवोक्तानि। प्रतिज्ञादयश्च प्रमाणशब्देनैवोक्ताः। अतो न तत्कथनाय पञ्चावयवपदम्; किन्तु न्यूनादिनिग्रहस्थानसूचनायैव। न च अयं नियमोऽष्टनिग्रहस्थानक एव वादः; किन्तु यावत्यनुद्भाविते तत्त्वप्रतिपत्तिव्याघातः तत्सर्वमुद्भाव्यम्। न स्वप्रतिभादि; तस्यानुद्भावनेऽपि तत्त्वाविरोधात् शिष्यादिविषयत्वाच्च वादस्य नाप्रतिभादिचोदना

भावदीपिका

पदेनेति। स्वपक्षाऽसाधनादिसंग्रहार्थमेवैतत् कस्मान्न स्यात्? अत आह—स्वपक्षेति। तर्हि किमेतावन्त्येव वादे निग्रहस्थानानि? न—इत्याह—न चायमिति। अपसिद्धान्तो न्यूनमधिकं हेत्वाभासाश्च पञ्च इत्यष्टौ निग्रहस्थानानि। कथं शिष्यादिभिः सह वादः कर्त्तव्यः

ज्ञानवती

लिये हैं। उसमें सामान्यरूप से ज्ञात वस्तु शब्द आदि के नित्यत्व अनित्यत्व आदि विशेषों के द्वारा एकाधिकरण वाले विरुद्ध, एक कालिक, अनिश्चित पक्ष प्रतिपक्ष होते हैं। उन दोनों का परिग्रह अर्थात् अङ्गीकारवचन वाद होता है और इस प्रकार जल्प एवं वितण्डा भी वाद हो जायेंगें। इसलिये 'प्रमाण' इत्यादि कहा।

प्रमाण अथवा तर्क से पक्ष का साधन (अर्थात्) सिद्धि और प्रतिपक्ष के साधन का उपालम्भ (अर्थात्) उपलब्धि इसमें की जाती है। (पू) इस प्रकार भी तुल्यता है? (उ) नहीं है। क्योंकि अभिप्रायनियम है। तत्त्वतः अवयव तर्कसहितप्रमाणमूलक होते हों या न होते हों; वादियों का तो यह अभिप्राय है कि (वे) प्रमाणमूल ही होते हैं इसलिये इतने से ही वाद है। जल्प और वितण्डा का तो आभास भी हो सकता है एकान्ततः पराजय होने की अपेक्षा संशय ठीक है। उपालम्भ पद से सर्वनिग्रहस्थान की प्राप्ति होने पर नियम के लिये सिद्धान्त इत्यादि दो पद हैं। उसमें 'सिद्धान्ताविरुद्ध' इसके द्वारा वाद में अपसिद्धान्त नहीं लाना चाहिये—यह प्राप्त होता है। 'पञ्च' पद से न्यूनाधिक और 'अवयवोपपन्न' पद से हेत्वाभास (नहीं लेना चाहिये ऐसा प्राप्त होता है)। स्वपक्षसाधन परपक्षसाधन का उपालम्भ स्वपक्षसाधनसाधन—परपक्षसाधनसाधनदूषण शब्द से विवक्षित, साधनोपालम्भशब्द से कहे गये हैं। और प्रतिज्ञा आदि प्रमाण शब्द से ही कही गई हैं। इसलिये उसके कथन के लिये 'पञ्चावयव' पद नहीं है; किन्तु न्यूनादिनिग्रहस्थान की सूचना के लिये ही है। यह वादनियम अष्टनिग्रह स्थान वाले में ही नहीं है, किन्तु जितने के अनुद्भावित होने पर तत्त्व की प्रतिपत्ति का व्याघात होता हो उतना

[१] (क) अज्ञाव, (ग) ज्ञाताव।

न्याय्या। तदाह—तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिशिष्टश्रेयोऽर्थिभिरनुसू युभिरभ्युपेयात् इति। त्रिविधफलत्वाच्च वादस्य। (अज्ञाताव[1]—)बोधो (ज्ञातानुज्ञानं[2]) संशयच्छेद इति त्रीणि (फलानि[3])। (प्रमेयो[4]पृथग्वाद उपलक्षयितुमुच्यते। तादृशो व्यवहारश्च तत्त्वज्ञानाय जायते।

"यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः।" अभिप्राय-नियमवर्जं सकलेन वादलक्षणेनोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भश्च जल्पः। समाधाने[5] परेणोक्ते झटिति तात्त्विकोत्तरास्फुरणे समाकुलबुद्धेश्छलादिप्रयोगः। कदाचिदसौ छलादिना व्याकुलबुद्धिरुत्तरं न प्रतिपद्येत; अतो[6] निगृह्यते इति। एवं चासदुत्तरत्वेऽपि एषां सिध्युपालब्ध्यङ्गता।

"स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा।" सः=जल्पः, एव प्रतिपक्षे=[7]प्रतिवादि-पक्षे यदा स्थापनया=साधनवाक्येन, हीनो भवति तदा वितण्डा। पक्षमङ्गीकृत्य न

भावदीपिका

विपर्यस्तप्रतिवादिमुखनिरोधार्थत्वात् कथाया इति? तत्राऽऽह—त्रिविधेति। तत्त्वनिर्णय-प्रधानत्वं वादस्य व्यवस्थापितम् प्रागेव। उपलक्षयितुम्=विवेकेन ज्ञापयितुम्।

ज्ञानवती

सब उद्भावित करना चाहिये; न कि समाधान की अप्रतीति। उसका अनुभावन होने पर भी तत्ता का विरोध होने से और शिष्य आदि का विषय होने से वाद की प्रतिभादि चोदना न्याय्य नहीं है। वही कहा—"शिष्य गुरु सब्रह्मचारी के द्वारा उपदिष्ट श्रेय को चाहने वाले अनिन्दकों के द्वारा उसे प्राप्त करना चाहिये"। और क्योंकि वाद के तीन प्रकार के फल होते हैं, अज्ञात का अवरोध, ज्ञात का अनुज्ञान, और संशय का उच्छेद—ये तीन फल हैं। पृथक्वाद प्रमेय में भी उपलक्षित करने के लिये कहा जाता है। और वैसा व्यवहार तत्त्वज्ञान के लिये जाना जाता है।

"जो वाद कथा के लक्षण से युक्त हो तथा छल जाति तथा निग्रहस्थान से जिसके स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का खण्डन होता हो वह जल्प है।" अभिप्राय नियम को छोड़कर वाद के समस्त लक्षण से युक्त और छल-जाति-निग्रहस्थान का साधन और उपालम्भ जल्प है। दूसरे के द्वारा समाधान के उक्त होने पर तुरन्त तात्त्विक उत्तर का स्फुरण न होने पर समाकुलबुद्धि वाले के लिये छल आदि का प्रयोग होता है। कदाचित् छल आदि के द्वारा व्याकुल बुद्धि वाला यह (पुरुष) उत्तर न दे सके इसलिये निगृहीत किया जाता है। और इस प्रकार उत्तर न होने पर भी ये सिद्धि की उपलब्धि के अङ्ग होते हैं।

"वही प्रतिपक्ष की स्थापना से हीन वितण्डा होता है।" वह (अर्थात्) जल्प ही प्रतिपक्ष (अर्थात्) प्रतिवादी के पक्ष में जब स्थापना (अर्थात्) साधनवाक्य से हीन होता है तब वितण्डा

---

१ (क) ज्ञाव, (ग) ज्ञाताव। २ (क) नुमानं, (ग) नुज्ञानं।
३ (क) कोक्तानि। (ग) फलानि। ४ (क) प्रमेयेऽपि, (ग) प्रमेयो।
५ (ग) सम्यक्साधने। ६ (ग) ततो। ७ (ग) एव प्रति।

स्थापयति, किन्तु प्रथममेवोपालभते द्वितीयः। तत्त्वाध्यवसायसंरक्षाहेतुभूते उभेऽपि, कण्टकवृतितुल्यत्वात्। अतो भेदेन भाषिते।

[हेत्वाभासलक्षणम्——]

"सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमातीतकाला हेत्वाभासाः।" हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्यात् हेतुवदवभासमानाः—हेत्वाभासाः—इति सामान्यलक्षणं 'हेत्वाभासा' इत्यनेन पदेन[1] सूचितम्। सर्वेण तु विभागः पञ्चैव इति। तत्र अनैकान्तिकः—सव्यभिचारः। एकोऽन्तः सपक्षः, अपरश्च विपक्षः। तत्रान्वयेन व्यतिरेकेण वा गत उभयपक्षगामी इत्यर्थः। अन्वयेनासाधारणानैकान्तिकः;[2] यथा—नित्यः शब्दः, प्रमेयत्वादिति। व्यतिरेकेणासाधारणानैकान्तिकः; यथा—नित्याभूर्गन्धवत्त्वात्, इति।

"सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।" सिद्धान्तमङ्गीकृत्य तमेव यो विरुणद्धि —स विरुद्धः; यथा—नित्यः शब्द; कृतकत्वात् इति। अत्र च हेतुद्वारा पुंसोऽभ्युपगमो हेतावुपचरितः अभ्युपगमविषयतामात्रेण च पक्ष एव सिद्धान्त उक्तः। तेन तु (तद्विरोध्येव[3]) विरुद्धो न मीमांसकस्येव विशेषे विरुद्ध इत्युक्तम्। न हि विशेषोऽभ्युपगमविषयः प्रतिज्ञापदागोचरत्वात्, किन्तु प्रतिज्ञातार्थानुषङ्गी। यथा—विवादाध्यासितं[4] बुद्धिमद्धेतुकम्—इत्यत्र सर्वज्ञत्वादिः[5]।

भावदीपिका

[हेत्वाभासलक्षणम्—]

व्यतिरेकेण=व्यावृत्त्या; प्रमेयत्वस्याऽन्वयेन सपक्षविपक्षगामित्वम्। गन्धवत्त्वस्य सपक्षविपक्षाभ्यां व्यावृत्तत्वेनाऽसाधारणत्वं कस्माद् विशेषविरुद्धो न भवति? इत्यत आह—न हीति। आनुषङ्गिकस्य सर्वज्ञत्वाऽऽदेः बुद्धिमत्पदेनाऽनुपादानात् कुलालादौ घटादिकर्त्तरि

ज्ञानवती

होता है। पक्ष को मानकर स्थापना नहीं होती किन्तु दूसरा पहले ही प्राप्त हो जाता है। दोनो ही तत्त्व के निश्चय की संरक्षा के हेतुभूत हैं, कयोंकि कण्टकवृत्ति (कँटीला बेढ़ा) के समान है। इसीलिये भेदपूर्वक कहे गये हैं।

[हेत्वाभास के लक्षण—]

"सव्यभिचार-विरुद्ध-प्रकरणसम-साध्यसम-अतीतकाल ये हेत्वाभास है। हेतुलक्षण का अभाव होने से जो हेतु नहीं हैं वे हेतुसामान्य के कारण हेतु के समान अवभासमान होते हुए हेत्वाभास हैं—यह सामान्य लक्षण 'हेत्वाभासाः' इस सामान्य पद से कहा गया है। सबके द्वारा तो विभाग (कहा गया कि) पाँच ही हैं। उनमें अनैकान्तिक सव्यभिचार हैं। एक अन्त सपक्ष होता है दूसरा विपक्ष। (वह) अन्वय या व्यतिरेक से गत होकर उभयपक्षगामी होता है। अन्वय के द्वारा असाधारण अनैकान्तिक होता है। जैसे—शब्द, नित्य है, प्रमेय होने से। व्यतिरेक के द्वारा अनैकान्तिक, जैसे—पृथिवी नित्य है गन्ध होने से।

---

[1] (ख) पद। [2] (ख) अन्वयेन साधा। [3] (क) तु तदविरोधो। (ग) तदविरोध्येव। [4] (ग) दास्पदम्। [5] (ग) दित्यस्मात्।

"यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमुपदिष्टः प्रकरणसमः।" प्रक्रियेते=प्रसूयेते[१] इति प्रकरणम्—पक्षप्रतिपक्षौ। तयोश्चिन्ताऽवमर्शात्[२] प्रभृति निर्णयम् यावदालोचनम्; सा यस्माद् भवति (स एव[३]) निर्णयार्थं यदोच्यते तदा प्रकरणसमो भवति। सर्वथा सत्प्रतिपक्षः प्रकरणसम इति ज्ञेयः; अन्यथा अनैकान्तिकेऽपि प्रसङ्गात्; निदर्शनम् यथा-नित्यः शब्दो वस्तुत्वे सत्यनुपलभ्यमानानित्यधर्मकत्वात्; आकाशवत्। एवम् अनित्यः शब्दो वस्तुत्वे सत्यनुपलभ्यमाननित्यधर्मकत्वात्; घटवत्। (न चे[१]-)तरेतरवाद्यभिप्रायेणासिद्ध एवान्तर्भावः। (सन्देहावस्थायां[२]) द्वयोर्वादिनोः प्रकरणसमाङ्गीकारात् तदा च तयोरुद्भावनासामर्थ्यात्। सामर्थ्ये त्वन्यतरासिद्धत्वमेव। एवमन्यदप्युदाहरणम्—मूर्त्तं मनः क्रियावत्त्वात्, शरवत्; अमूर्त्तं मनः अस्पर्शवत्त्वात्, (अकाशवत्[३]) इति।

"साध्याविशिष्टः साध्यत्वात् साध्यसमः"; साध्येन यो विशिष्टः=तुल्यः स साध्यसमः। अत्र चासिद्धः साध्यसमः इत्येव सूत्रे सिद्धे साध्याविशिष्टपदं

भावदीपिका

तदभावात् पक्षविपक्षमात्रवर्त्ती विशेषे विरुद्धो नाऽयमित्यर्थः। अन्यतराऽसिद्धे अन्तर्भावं निराचष्टे—न चेति। विशेषणकृत्यमाह—अत्र चेति। यथा साध्यमेकतरस्य सिद्धमन्य-

ज्ञानवती

"सिद्धान्त को प्राप्त कर उसका विरोधी विरुद्ध होता है"। सिद्धान्त को प्राप्त करके उसी का जो विरोध करता है—वह विरुद्ध है। जैसे—शब्द, नित्य है, कृतक होने से। यहाँ हेतु के द्वारा पुरुष का अभ्युपगम हेतु में उपचरित होकर अभ्युपगम विषयतामात्र से पक्ष ही सिद्धान्त (के रूप में) कहा गया है। इससे उसका विरोधी ही विरुद्ध है न कि मीमांसक के समान विशेष में विरुद्ध है—ऐसा कहा गया है। प्रतिपदागोचर होने से विशेष, अभ्युपगम का विषय नहीं है किन्तु प्रतिज्ञात अर्थ का अनुषङ्गी है। जैसे—'विवादाध्यासित बुद्धिमत्हेतु वाला है'—यहाँ पर सर्वज्ञत्व आदि।

"जिस हेतु से (संशय के आधार, पक्ष प्रतिपक्ष रूप) प्रकरण की चिन्ता होती है वह (दुष्ट हेतु) प्रकरणसम है"। निर्णय के लिये उपदिष्ट होने पर प्रक्रियेते इति प्रकरणम् अर्थात् पक्ष-प्रतिपक्ष। उनकी चिन्ता अवमर्श से लेकर निर्णयपर्यन्त जिससे होती है वही निर्णय के लिये जब कहा जाता है तब प्रकरणसम होता है। सर्वथा सत्प्रतिपक्षप्रकरणसम ऐसा समझना चाहिये, अन्यथा अनैकान्तिक में भी प्रसङ्ग हो जायगा। उदाहरण जैसे—शब्द, नित्य है, क्योंकि वस्तु होते हुए अनुपलभ्यमान अनित्य धर्म वाला है, आकाश के समान। और न तो भिन्न भिन्न वादियों के अभिप्राय से असिद्ध में ही अन्तर्भाव है। क्योंकि दो वादियों की सन्देह की अवस्था में प्रकरण-सम माना जाता है—क्योंकि तब दोनों की उद्भावना का सामर्थ्य होता है। और सामर्थ्य

---

[७] (ग) प्रस्तू। [८] (ग) न्ताविम। [९] (क) सुख, (ग) स एव।
[१] (क) न वा, (ग) न चे। [२] (क) वस्थाने, (ग) वस्थायां।
[३] (क) शादिवत्, (ग) शवत्।

अन्यतरासिद्धस्यापि संग्रहार्थम्। अन्यथा अत्यन्तासिद्ध एव परमसिद्धः स्यात्। (नन्वेवं[1]) अन्यतरासिद्ध एवैकः स्यात्, अन्येषां सर्वथा सिद्धत्वेन साध्यविशेषाभावात्? अत उक्तम्—साध्यत्वात् इति।

साध्यत्वेन ह्यसिद्धत्वमुच्यते। तच्च केषाञ्चित् सर्वदा, केषाञ्चित् कदाचित्कम् इत्यविरोधः।

"कालात्ययापदिष्टः कालातीतः।" काल इति हेतूपन्यासकालः स तु सन्देहविशिष्टः, सन्दिग्धे न्यायप्रवृत्ते। तस्य कालात्ययः प्रत्यक्षादिभिः तद्विपरीतार्थनिर्णयात् तस्मिन् कालात्ययेऽपदिष्टः=उपदिष्टः=उपन्यस्तो यः स कालात्ययापदिष्टः।

[छलादीनां लक्षणानि-]

"वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्।" वक्तुं विवक्षितादर्थादन्योऽर्थोऽत्रार्थः। तस्य विकल्पः=कल्पना; तस्योपपत्तिः=सद्भावः; तया विवक्षितार्था-

भावदीपिका

तरस्याऽसिद्धम् तथा हेतुरपीति साध्याऽविशिष्टः परमसिद्धः स्यात्—इति च्छेदः। साध्यसम—इति लक्ष्यनिर्देशः। उभयाऽसिद्धेऽव्याप्तिमाशङ्क्य निरस्यति—नन्वेवमिति।

[छलादीनां लक्षणानि—]

छलादेरुपयोगमाह—सम्यगिति। मतद्वये साध्यानामुभयाऽसिद्धत्वमेकतरमते साध्या-

ज्ञानवती

होने पर अन्यतर की असिद्धि ही है। इसी प्रकार दूसरा भी उदाहरण है—मन, मूर्त है, क्रियावान् होने से, वाण के समान। मन, अमूर्त है, स्पर्शरहित होने से, आकाश के समान।

"साध्य के समान (दुष्ट हेतु) साध्यसम होता है।" साध्य से जो अविशिष्ट (अर्थात्) तुल्य है वह साध्यसम है। यहाँ असिद्धः साध्यसमः' इसी से सूत्र के सिद्ध होने पर साध्याविशिष्टः' पद दूसरे असिद्ध के भी संग्रह के लिये हैं। अन्यथा अत्यन्त असिद्ध ही परम सिद्ध हो जायगा। (पू) इस प्रकार एक अन्यतर से असिद्ध ही होगा? क्योंकि अन्य के सर्वथा सिद्ध होने से साध्यविशेष का अभाव है। (उ) इसलिये कहा गया है—साध्यत्वात्। साध्यत्व से असिद्धत्व कहा जाता है। और वह किन्ही (वस्तुओं) का सर्वदा होता है किन्हीं का कभी कभी। इसलिये विरोध नहीं है।

कालः—यह हेतु का उपन्यास काल है। वह सन्देहविशिष्ट है क्योंकि सन्दिग्ध में न्याय की प्रवृत्ति होती है। उसका कालात्यय है क्योंकि प्रत्यक्ष आदि के द्वारा उससे विपरीत अर्थ का निर्णय होता है, उस कालात्यय में जो अपदिष्ट अर्थात् उपदिष्ट—उपन्यस्त है वह कालात्ययापदिष्ट है।

[छल आदि के लक्षण—]

"अर्थ के विकल्प की उपपत्ति के द्वारा वचन का विघात छल है।" कहने के लिये विवक्षित अर्थ से अन्य अर्थ यहाँ अर्थ है। उसका विकल्प (अर्थात्) कल्पना; उसकी उपपत्ति (अर्थात्)

[1] (क) नत्वेव, (ग) नन्वेव।

दर्थान्तरकल्पनया यो वचनविघातः क्रियते तच्छलम्। तत्त्रिविधम्—वाक्छलम्, सामान्यछलम्, उपचारछलं च। अविशेषाभिहितेऽर्थेवक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्। अविशेषेण सामान्येनाभिहितेऽर्थे या वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरस्य कल्पना तद् वाङ्निमित्तत्वात् वाक्छलम्। यथा—'नवकम्बलोऽयं माणवकः'—इति नूतनाभिप्रायेणोक्ते कश्चिन्नवसंख्याऽभिप्रायेण प्रतिषेधति—'कुतोऽस्य नवकम्बलाः'? इति। सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थस्य कल्पना सामान्यच्छलम्। यथा 'चतुर्वेदाभिज्ञोऽयं ब्राह्मणः'—इत्युक्ते व्रात्येनानैकान्तोक्तिः। धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्; शब्दस्य धर्मः प्रयोगः तस्य विकल्पो द्वैविध्यम्-प्रधानता प्रधानताभेदेन। तेन निर्दिश्यतेऽनेन इति व्युत्पत्त्या वाक्ये, 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्येवंरूपे सति योऽर्थसद्भावस्य प्रतिषेधः क्रियते—'न मञ्चाः क्रोशन्ति अचेतनत्वात् इति।' अर्थसद्भावेन च प्रतिषेधः—'पुरुषाः क्रोशन्ति न मञ्चाः'—इति तदुपचारनिमित्तत्वादुपचारच्छलम्।

"साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः[1]।" प्रतीपमवस्थानम्—प्रत्यवस्थानम्। तेन द्वितीयवाद्येव जातिवाद्युक्तः। यथा पक्षे सति प्रतिपक्षवचनं स्थापनायां सत्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। एवं सति सम्यक्साधने प्रसङ्गात्। अत उक्तम्—साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामिति। तन्मात्राभ्याम्[2]—अप्रयोजकाभ्यामिति ज्ञेयम्।

ज्ञानवती

सद्भाव; उसके द्वारा (अर्थात्) विवक्षित अर्थ से अर्थान्तर की कल्पना के द्वारा जो वचनविघात किया जाता है—वह छल है। वह तीन प्रकार का होता है—वाक्छल, सामान्यछल, उपचारछल। "सामान्य रूप से कहे गये अर्थ में वक्ता के अभिप्राय से भिन्न अर्थ की कल्पना वाक्छल है।" अविशेष अर्थात् सामान्यरूप में उक्त अर्थ में जो वक्ता के अभिप्राय से अर्थान्तर की कल्पना है वह वाङ्निमित्त होने से वाक्छल है। जैसे 'यह विद्यार्थी नवकम्वलवालाहै' इस (वाक्य के) नूतन के अभिप्राय से उक्त होने पर कोई नव संख्या के अभिप्राय से प्रतिषेध करे 'कहाँ इसके पास नव कम्वल हैं?' "सम्भावित अर्थ का अत्यन्त सामान्य के साथ योग होने से असम्भावित अर्थ की कल्पना सामान्य छल है।" जैसे—'यह ब्राह्मण चतुर्वेदाभिज्ञ है' ऐसा कहने पर असंस्कृत, वेदाध्ययनहीन व्यक्ति के द्वारा व्यभिचार की उक्ति होती है। धर्म के विकल्प का निर्देश होने पर अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध उपचार छल है।" शब्द का धर्म अर्थात् प्रयोग; उसका विकल्प अर्थात् प्रधानता और अप्रधानता के भेद से द्वैविध्य। उससे 'निर्दिश्यतेऽनेन'—इस व्युत्पत्ति से वाक्य में 'मचान बोल रहे हैं' इस रूप के होने पर जो अर्थसद्भाव का प्रतिषेध किया जाता है—'मचान नहीं बोल रहे हैं क्योंकि वे जड़ हैं।' उसके और अर्थसद्भाव से प्रतिषेध जैसे—'पुरुष बोल रहे हैं मचान नहीं' उसके उपचार का निमित्त होने से यह उपचार छल है।

---

१ (ग) प्रत्यवस्थानं तेन द्वितीयवाद्येव जातिवाद्युक्तः यथा पक्षे सति प्रतिपक्ष एव स्थापनायां सत्यां प्रत्यवस्थानं जातिः। प्रतीप।

२ (क) मिति तस्मात् हेत्वाभासअप्र—। (ग) मिति तन्मात्राभ्यामप्र—।

"विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ।" अन्यथाऽभिहितस्यान्यथा प्रतिपत्तिः=विप्रतिपत्तिः। स्वपरोत्तरसाधनासंवित्तिः=अप्रतिपत्तिः। त एते षोडश-पदार्थाः समयादौ[1] लक्षणतो निरूपिताः। एतद्विरुद्धोऽयमद्वैतसमन्वय इति।

अत्र वदामः—अस्यैव तत्त्वविभागस्य साङ्ख्याद्यभिमततत्त्वविभागेन विरुद्धत्वात् सर्ववादिविभागकल्पनाऽऽलम्बनस्य चाविभक्तवस्तुनः सर्वाविरुद्धत्वात् तद्विषय-वेदान्तसमन्वयस्य पदार्थविभागालम्बनन्यायकलापेन न विरुद्धत्वं युक्तम्। पदार्थ-भेदस्य च तत्र तत्र (खण्डितत्वात्[2])। न च एतेषां तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाय: द्वैत-दर्शनाद् भयश्रवणात्। तस्मादद्वैते वेदान्तानां युक्त एव समन्वयः।

भावदीपिका

नामन्यतराऽसिद्धत्वम्। तस्य सन्देहविशिष्टस्य कालस्य प्रधानता=मुख्यता। अयं विभागः सर्वद्वैतिनां सम्मतः? श्रुतिसम्मतो वा? नाद्यः—इत्याह—अस्यैवेति। उपजीव्यत्वाद्यदेकं वेदान्तवेद्यं तत्त्वं न तदुपजीवकेन बाध्यम्—इत्याह—सर्ववादीति। द्वितीयं निराचष्टे—पदार्थभेदस्यैवेति। "अथाऽत आदेशो नेति नेति" इत्यादौ पदार्थभेदः खण्डितः। "नानापत्त्या प्रमामात्रान्न तेऽर्थाः स्वीक्रियोचिताः। तद्धियस्तदुरीकारे स्वाश्र[-ये[1]] [कल्पितः[2]] स तु"॥ प्रमामात्रं नार्थमात्रम्, घटप्रमया पटादिसिद्धिप्रसङ्गात्। विषयविशिष्टप्रमाया विषयसिध्यपेक्षत्वात् आत्माऽऽश्रयादिरिति खण्डनमपि दुरुत्तरतमं स्वप्रकाशवादिनः। प्रपञ्चितं चैतदद्वैतकौमुद्याम्।

ज्ञानवती

"साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा खण्डन-जाति है।" प्रतीप (अर्थात् उल्टा) अवस्थान प्रत्यवस्थान है। उससे द्वितीयवादी ही जातिवादी कहा गया है। जैसे पक्ष के रहते हुए प्रतिपक्ष का वचन स्थापना के होने पर प्रत्यवस्थान जाति होती है। पर ऐसा होने पर सम्यक् साधन में प्रसंग हो जायगा। इसलिये कहा गया—साधर्म्य एवं वैधर्म्य के द्वारा। इसलिये हेत्वाभास-प्रयोजकों के द्वारा जाति होती है--ऐसा जानना चाहिये।

विरुद्ध ज्ञान और अज्ञान निग्रहस्थान है। दूसरे प्रकार से कहे गये का दूसरे प्रकार से समझना विप्रतिपत्ति है। अपने और दूसरे के उत्तर के साधन का अज्ञान अप्रतिपत्ति है। वे ये सोलह पदार्थ समय आदि में लक्षणपूर्वक निरूपित हो गये। यह अद्वैत का समन्वय इससे विरुद्ध है।

इस विषय में कहते हैं—इसी के तत्त्वविभाग का सांख्य आदि के द्वारा अभिमत तत्त्वविभाग से विरोध होने के कारण और सर्ववादी विभाग की कल्पना के आलम्वन अविभक्त वस्तु के सर्वाविरुद्ध होने से उसके विषय वेदान्तसमन्वय का पदार्थविभागालम्बनन्यायकलाप से विरुद्धत्व ठीक नहीं है। और पदार्थभेद जगह-जगह खण्डित है तथा इनका तत्त्वज्ञान निःश्रेयस् के लिये नही है, क्योंकि द्वैतदर्शन से भय का श्रवण होता है। इसलिये अद्वैत में वेदान्तों का समन्वय ठीक है।

---

[1] (ग) अक्षपादैः। [2] (क) सन्दिग्धत्वात्। (ग) खण्डितत्वात्।
[3] (क) यं। [4] (क) कश्चित्।

त्वंपदार्थविचारः

[चार्वाकमतेन पूर्वपक्षः—]

अथ "अहं ब्रह्मास्मि" इति अहं पदार्थो निर्णेतव्यो यस्य ब्रह्मत्वं विधातव्यम्। न च "सोऽहमस्मीत्यग्रे व्याहरत[1] ततोऽहं नामाभवत्" इति श्रुतेः शुद्धस्यैव 'अहम्' इति नामधेये शोधनानवतारः स्यात्। श्रुतेः प्रथमजशरीरिविषयत्वेन नाम्नोऽपि संविदितविषयावधारणात्[2]। तत्र केचिदाहुः—

भावदीपिका

त्वंपदार्थविचारः

[चार्वाकमतेन पूर्वपक्षः—]

"एवं ब्रह्मपदार्थस्य प्रबन्धेन विशोधनम्। अकारि क्रियते न्यायैरहमर्थविशोधनम् ॥" तदाह अथेति। निर्णयप्रयोजनमाह—यस्येति। 'अहम्'—इत्यत्राऽशुद्धांशाऽपोहेन सुवर्णस्येवाऽवशिष्टशुद्धांशस्य ब्रह्मत्वं बोधनीयम् "अहं ब्रह्माऽस्मि"—इति। ननु "पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते" इति परोक्षस्य ब्रह्मणोऽपरोक्षस्य च जीवस्याऽनुवादपूर्वकं परस्पराऽतिरेकविधानात् उपसंहारे, प्रक्रमेऽपि "अहं ब्रह्मास्मि"—इत्यत्राऽतिरेकोऽवगम्यते ? मैवम्; "पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाऽवशिष्यते" इत्युभयविधानात् पूर्णात् लक्षणया पूर्णं केवलमादाय तस्य भेदकाऽभावात् अखण्डं पूर्णमेवाऽवशिष्यते इत्युत्तरार्धविरोधात्। उपसंहारेऽपि बिम्बप्रतिबिम्बवदेवाऽतिरेकाऽवगमात्। तथाऽपि श्रुत्यन्तराऽविरोधाय आदानं हानं च न युज्येत ?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न च सोऽहमिति। प्रक्रान्तस्य पुरुषविधत्वस्य "आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः" इति "सोऽहमस्मि" इति व्यवहारस्य च केवले सम्भवात् युक्तो हानादानविभाग इत्यर्थः।

देहे सत्येव चैतन्यदर्शनात्तत उद्धृतस्य घटरूपस्येवाऽनिरूपणात् न जडांशहानेनोपात्तचिदंशस्य ब्रह्मत्वबोधनं युक्तमिति बार्हस्पत्यमतमुत्थापयति—तत्र केचिदाहुरिति। ननु

ज्ञानवती

त्वपंदार्थविचार

[चार्वाक मत से पूर्वपक्ष—]

अब "मै ब्रह्म हूँ" इसमें 'अहं' पदार्थ का निर्णय करना चाहिये जिसके ब्रह्मत्व का विधान करना है। (पू) "पहले सोऽह्मस्मि ऐसा कहा। इसलिये 'अहं' नाम हुआ"—इस श्रुति से शुद्ध का ही अहं—ऐसा नाम होने पर शोधन का अवतार नहीं होगा ? (उ) ऐसा नहीं है; क्योंकि श्रुति के प्रथमजशरीरिविषय होने से नाम के भी संविदित विषय का निश्चय होता है। इस विषय में कोई लोग कहते हैं—

पृथिवी आदि भूतों का समूह ही 'अहं' पदार्थ है, अलग-अलग अदृष्ट भी, मिले हुए स्त्रीपुरुष के समान, मिलित भूतों का भोग संभव है। (पू) स्वतन्त्र भोक्ताओं का गुणप्रधानभाव (के रूप में) साध्य संघात युक्त नहीं है। स्त्रीपुरुष के भी दो शरीरों का ही गुणप्रधानभाव है न कि केवल जीवात्माओं का। (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि—

---

[1] (ग) व्याहरं। [2] (ग) सपिण्डित विषयत्वाप।

पृथिव्यादिभूतसङ्घ एवाहंपदार्थः एकैकश्येनादृष्टोऽपि स्त्रीपुंसयोः इव मिलित-भूतानां भोगः सम्भवति। न च स्वतन्त्रभोक्तृणां गुणप्रधानभावसाध्यसंघातो न युक्तः; स्त्रीपुंसयोरपि शरीरयोरेव गुणप्रधानभावो न केवलभोक्त्रोरिति वाच्यम्;

"आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।"

—इति श्रुतेः विशिष्टस्यैव भोक्तृत्वाङ्गीकारात्; विशिष्टयोश्च स्त्रीपुंसयोर्दृष्टत्वादेव भोगस्यानपह्नवात्।

अथ चैतन्यस्य विशेषगुणत्वेन रूपादिवत् न देहे सति व्युपरमः संभवति। तथा च कथं स्वापादि? न च तदनभिव्यक्तिस्तदुपपत्तिः[१]; तदभिव्यक्तेरपि तद्धर्मत्वे

भावदीपिका

चैतन्याऽऽश्रयो भोक्ता; देहस्य च भूतसङ्घातस्य न भोक्तृत्वं सम्भवति, प्रत्येकं भूतानां तददर्शनात्। प्रत्येकमदृष्टस्य च संघातेऽपि न सम्भावना। रजःसंकुलजलस्य सावित्र-प्रभापवनसम्पर्के चतुर्णां भूतानां संघातेऽपि चैतन्यभोगयोरसम्प्रतिपत्तेश्च। नैवं देहाऽऽकार-परिणतानां मद्याऽऽकारपरिणतद्रव्यविशेषाणामेव मादकशक्तिश्चैतन्यं सम्भवति यतः—इत्याशये-नाह—एकैकश्येनेति। [ननु][२] मद्यद्रव्याणां मेलनेन परिणामयिता चेतनोऽन्योऽस्ति भूता-नामप्येवं कल्पनीयः? स्वातन्त्र्येण भूतानां भोगोद्देशेन प्रवृत्तौ यत्र तत्र शरीराऽऽकारापरिणामः प्रसज्येत। न च स्वतन्त्राणां परस्पराऽनुगुण्येन प्रवृत्तिर्युक्ता—इत्यत आह—न चेति। भवतामपि केवलश्चेतनो न भूतमेलने समर्थः। तान्यप्येवम्। संघातसाध्यपुण्याद्यभावेन च नेश्व-रादिनाऽप्येतदनुष्ठेयम्, "कृतप्रयत्नाऽपेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धाऽवैय्यर्थ्याऽऽदिभ्यः" इत्युद्गा-रात्। अथ युक्तिमार्गमविगणय्य पुण्यादेः संघातादेश्च कार्यकारणभावो बीजाऽङ्कुरवत् अनादि-त्वेनाऽवलम्ब्यते? तर्ह्यस्माकमप्यनादिप्रवाहपतितपूर्वपूर्वमातृपितृसंघातमूलोत्तरोत्तरसंघातमाला न विरुध्यते इति भावः। विशिष्टानां भोगः सुप्रसिद्धश्च—इत्याह—विशिष्टयोश्चेति। न च वाच्यं स्त्रीपुरुषयोः प्रत्येकं चेतनावत्त्वात् युक्तो भोगोद्देशेन संघातः; भूतानां तु प्रत्येकं चेत-नावैधुर्यात् न भोगोद्देशः सम्भवति येन संघातः स्यादिति। पूर्वपूर्वपित्रादेः पुत्रादिदर्शनजन्या-ह्लादोद्देशेन मेलकत्वस्योक्तत्वात्।

तथाऽपि चैतन्यस्य न देहधर्मत्वं युक्तम्—इत्याह—अथेति। चैतन्याऽनभिव्यक्तौ स्वापादिः स्यात्? न—इत्याह—न चेति। चैतन्यस्याऽभिव्यक्तिस्वभावस्याऽनभिव्यक्त्यनुपपत्तेः

ज्ञानवती

"मनीषी लोग आत्मा इन्द्रिय और मन से युक्त को भोक्ता कहते हैं"। इस श्रुति से विशिष्ट का हीं भोक्तृत्व माना गया है। और दो विशिष्टों का तो भोग स्त्रीपुरुष के देखे जाने से ही नहीं छिप सकता।

(पू) चैतन्य, रूप आदि के समान विशेषगुण है, अतः देह के रहने पर भी व्युपरम सम्भव नहीं है? क्योंकि उसकी अभिव्यक्ति के भी उसका धर्म होने पर वैसा भाव समान है? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि गन्ध के विशेष गुण होने पर भी मल्लिकामुकुल आदि में कादाचित्क अभिव्यक्ति देखी जाती है और भल्लातकआदि के द्वारा विनश्यद् देह रूप से व्यभिचार भी है।

---

[१] (ग) दुपपत्तेः। [२] (क) ननु द्रव्यं।

तथा भावस्य समानत्वात्; नैवम्; गन्धस्य विशेषगुणत्वेऽपि मल्लिकामुकुलादौ कादाचित्काभिव्यक्तिदर्शनात्; भल्लातकादिना विनश्यद्देहरूपेण[१] व्यभिचाराच्च। वैशेषिकैरपि चैतन्यस्य विशेषगुणत्वं वदद्भिः तस्य स्थितेऽप्यात्मनि जन्मविनाशाङ्गीकारेण स्वापाद्युपपादनस्वीकाराच्च न तन्मतेनायं पर्यनुयोगः; वेदान्तिभिश्चैतन्यस्य विशेषगुणत्वानङ्गीकाराच्च।

अथान्तःकरणवृत्तिप्रतिबिम्बितचैतन्यस्य बिम्बभूते आत्मन्यध्यस्तत्वेन तदध्यासात्[२] विशेष(-गुणत्व[३]-)व्यवहारः, तथाऽपि भूतविशेषगुणत्वेन रूपादिवत् (यावत्देह[५]-)भावित्वसाधने भवत्येवान्यतरासिद्धिः। विशेष(-गुणत्व[४]-)मात्रेण यावद्देहादिभावित्वसाधने वैशेषिकस्य सुखादिशब्दाभ्यां वेदान्तिनश्चातपा[-[६]दिना] विनश्यद्रूपेण व्यभिचारः।

भावदीपिका

अभिव्यक्तेः धर्मत्वेऽपि चैतन्यवदनुपरमतुल्यत्वात् न स्वापादिः स्यात्। न च प्रकाशस्य युक्ता आगन्तुकी अभिव्यक्तिरित्यर्थः। किं विशेषगुणत्वमात्रमनुपरमाभिव्यक्त्योः कारणम्? देहविशेषगुणत्वं वा? नोभयमपि—इत्याह क्रमेण—नैवमिति। उपरम एव च स्वापादौ चैतन्यस्योद्भूतगन्धस्येव पुनर्मुकुलभावकुसुमस्य। आद्यपक्षे मतभेदेन दोषमाह—वैशेषिकैरपीति।

यथाकथञ्चित् विशेषगुणत्वं सम्पादयति—अथेति। वृत्तिविशिष्टाऽऽकारेणाऽध्यस्तत्वं न स्वरूपेण, तस्य बिम्बाऽभिन्नत्वाऽभ्युपगमात्। तदाऽपि किं सविशेषणं विशेषगुणत्वं विवक्षितम्? किं वा तावन्मात्रम्? नोभयथाऽपि—इत्याह—तथाऽपीति।

ज्ञानवती

चैतन्य को विशेष गुण बतलाने वाले वैशेषिकों के द्वारा भी उसके स्थित होने पर भी आत्मा में जन्मविनाश के स्वीकार करने से स्वाप आदि के उपपादन को मान लेने से उनके मत से यह पर्यनुयोग नहीं है। और वेदान्ती लोग चैतन्य को विशेष गुण नहीं मानते।

(पू) अन्तःकरणवृत्ति में प्रतिबिम्बित चैतन्य के बिम्बभूत आत्मा में अध्यस्त होने से उस अध्यास के कारण विशेषगुणत्व का व्यवहार होगा? (उ) तो भी भूतविशेष का गुण होने से रूप आदि के समान यावद्देहभावित्व के सिद्ध होने पर भी एक की असिद्धि हो जाती है। विशेषगुणत्वमात्र से यावद्देहादिभावित्व साधन होने पर, वैशेषिक का सुखादि शब्दों से और वेदान्ती का आतप आदि के द्वारा नष्ट होने वाले रूप से व्यभिचार होता है।[७]

(पू) देह के आत्मा होने पर बाह्येन्द्रिय (के द्वारा आत्मा की) वेदना की आपत्ति हो जायगी। और चक्षु तथा त्वक् के विना दूसरे के द्वारा रूपवान् (वस्तु) का ग्रहण सम्भव नहीं है। (पू) यह हमें इष्ट है। (उ) ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि अव्यावृत्त बाह्येन्द्रिय को भी

---

[१] (ग) रूपेणस्वापाद्युपपादनस्वीकाराच्च न तन्मतेनायं पर्युव्यभि।
[२] (ग) तदाश्रितत्वात्। [३] (क) गुण, (ग) गुणत्व।
[४] (क) देहभावाभावि। (ग) यावदेहभावि। [५] (क) गुण, (ग) गुणत्व।
[६] (क) दि, (ग) क्षि। [७] वेदान्ती सूर्य के ताप से रूप का नाश मानते है।

अथ देहस्यात्मत्वे बाह्येन्द्रियवेदनापातः; न हि चक्षुःस्पर्शने विना अन्यतो रूपवद्ग्रहणसंभवः। न चेष्टापत्तिः; अव्यावृत्तबाह्येन्द्रियस्यापि 'अहम्'-इत्यात्मोपलब्धेः। न च चक्षुषोऽतिरिक्तस्य स्पर्शनस्येव मनसोऽभिरूपवद्ग्राहकत्वं[1] कल्प्यम्; कल्पकाभावात्। न च निमीलितनयनस्यापि अहम्मतिः कल्पिका इति युक्तम्; तस्या नीरूपविषयत्वेनाऽप्युपपत्तेः[2]। उक्तातिप्रसक्त्या च विनिगमनसम्भवः।

अत्र वदामः—केयं निमीलितनयनस्य अहंमतिः? किं गौरत्वादिविशेषिता? किं वा सुखादिविशेषणा? सर्वथा निर्विशेषणा वा? आद्ये कथङ्कारं नीरूपविषयत्वेनोपपत्तिः? चार्वाकमते च चक्षुषोपलब्धस्यानुवादमात्रत्वात्। द्वितीयेऽपि—नामजातिरूपादेः अत्यन्ताभ्यस्तस्य सङ्घातस्य तादात्म्याध्यासवादिनो 'अहम्'-इति प्रत्ययस्य विषयत्वेन तस्य च नीरूपविषयत्वम्। बार्हस्पत्यस्य तु चक्षुरादिना विषयसंश्लेषवद्देहं तत्र विकारिणमनुभूय निमीलितनयनस्याप्येवं अनुवादसम्भवात्। एतेन

भावदीपिका

तथाऽपि देहस्याऽऽत्मत्वमनुपपन्नम्—अथेति। एषा उपलब्धिर्मानसी—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। कल्पकाऽभावोऽसिद्धः—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति। तथाऽपि किं विनिगमनकारणं रूपवद्विषया वा, नीरूपविषया वा, एषोपलब्धिरिति? अत्र आत्मनश्चक्षुरादिगोचरत्वप्रसक्तिरेव नियामिका—इत्याह—उक्तेति। विकल्पाऽसहत्वान्मैवम्—इत्याह—अत्रेति। तुल्यत्वं प्रत्याचष्टे—चार्वाकेति। दाहच्छेदादिवेदनाहेतुसमानाश्रयैव वेदना सुखाऽऽदिलक्षणेत्यङ्गीकाराच्च। वेदान्तिभिः 'सुखमहम्' इत्यादिप्रत्ययस्य मनःपरिणामत्वेऽपि सुखादेरेवंरूपवद्विषयत्वं, मनसः पाञ्चभौतिकस्य रूपाऽङ्गीकाराच्च अहंशब्दप्रत्यययोः पुरुषविधविषयत्वाऽऽङ्गीकारात् न तृतीयेऽपि नीरूपविषयत्वम्—इत्याह—एतेनेति। अन्यदपि वेदान्त्युक्तं प्रत्युक्तम्—

ज्ञानवती

'अहम्'—ऐसी आत्मा की उपलब्धि होने लगेगी। (पू) चक्षु से अतिरिक्त स्पर्श के समान मन के अभिरूपवद्ग्राहकत्व की कल्पना कर लेगें। (उ) नहीं। क्योंकि कल्पक नहीं है। (पू) निमीलितनयनवाले की भी 'अहंमति' कल्पिका है? (उ) यह ठीक नहीं है। क्योंकि उसकी तो नीरूप विषय के रूप में भी उपपत्ति हो जाती है और उक्त अतिप्रसक्ति के कारण विनिगमन सम्भव नहीं है।

(उ) इस विषय में कहते हैं—यह निमीलित नयन की अहम्मति क्या है? क्या गौरत्व आदि से विशेपित है? या सुख आदि विशेषणविशिष्टविषय वाली है? या विशेषण—विशिष्ट विषय से रहित है? प्रथम पक्ष में नीरूपविषय होने से कैसे उपपत्ति होगी? और चार्वाक के मत में चक्षुष के द्वारा उपलब्ध का अनुवादमात्र होता है। दूसरे (विकल्प) में भी नाम जाति रूप आदि के अत्यन्त अभ्यस्त संघात के तादात्म्याध्यासवादी के अहम्'—इस प्रत्यय का विषय होने से उसका नीरूपविषयत्व है। और वृहस्पति के मत में तो चक्षु आदि के द्वारा विषयसंश्लेष के समान देह को वहाँ (=उस अनुभव में) विकारी समझ कर निमीलित नयनवाले को भी ऐसा अनुवाद सम्भव है। इससे तीसरे का भी व्याख्यान हो गया। इसीलिये जिस

[1] (क) विरूप, (ग) अभिरूप। [2] (ग) रूप।

तृतीयोऽपि व्याख्यातः। अत एव प्रत्यक्षादेव व्यतिरिक्तात्मासिद्धौ (यत्-)[1] प्रत्यक्षातिरिक्तप्रमाणाभावाद्देहव्यतिरिक्तात्मनो [अस्ति[2]-]त्वाभिधानं, तदपोद्यम्—इत्यपोद्यम्। बाह्यप्रत्यक्षस्यान्तरस्य च यथायोगं भूतसङ्घाततत्कार्यग्राहकत्वमात्रेण चरितार्थत्वात्, 'य एवाहं बाल्ये पितरावन्वभूवं स एव स्थाविरे प्रणप्तॄननुभवामि' इति प्रत्यभिज्ञा-[3]मपि 'स एवायं देवदत्तः' इतिवद्देह एवाभाति। 'मम शरीरम्' इति व्यपदेशो नास्तिकस्य, आस्तिकस्य 'ममाऽत्मा' इति व्यपदेशवदौपचारिको नीयते[4]। तेन 'अहं मनुष्यः' इति तादात्म्यवत् 'मम शरीरम्' इति भेदो भाति इति न प्रतिबन्दी युक्ता।

अथ देहो न चैतन्याश्रयो, भूतत्वात्, घटवत्[5]; न च अनुमानं न मानम्; बाधकाभावात्। भवताऽपि प्रत्यक्षव्यतिरेकमात्रं नेष्यते न प्रामाण्यम्; कथाऽनधिकारप्रसङ्गात्; तदसाधु; कदाचिच्चैतन्यानाश्रयत्वेन सिद्धसाधनत्वात्। यथैव कदाचित् चैतन्यानाश्रयत्वम् व्यतिरिक्तस्यात्मनः; तथा भूतात्मकस्यापि, इति स्वीकारात्; 'वेदविद्वान् ब्राह्मणः' इति सामानाधिकरण्यप्रत्ययविरोधाच्च।

भावदीपिका

इत्याह—अत एवेति। अथाऽतिरिक्तविषयत्वं युक्त्या व्यवस्थाप्यते ? तत्राऽऽह—य एवाऽहमिति। परिणामभेदेन द्रव्यभेदस्य निराकरिष्यमाणत्वात् युक्त्याभासोऽयमित्यर्थः। युक्त्यन्तरमपाकरोति—ममेति।

मा भूदहमिति प्रत्यक्षेण व्यतिरिक्ताऽऽत्मसिद्धिः; अनुमानेन तु देहस्याऽनात्मत्वसिद्धावर्थादतिरिक्तः सेत्स्यति ?—इत्याह—अथ देह इति। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनं प्रति अनुमानमयुक्तमित्यति न वाच्यम्—इत्याह—न चेति। किं कदाचिच्चैतन्याऽनाश्रयत्वं साध्यते ? सर्वदा वा ? नाद्यः—इत्याह—तदसाध्विति। सर्वदा चैतन्याऽनाश्रयत्वं च परसम्मताऽऽत्मनोऽपि तुल्यम्—इत्याह—कदाचिदिति। इतश्च नाऽनुमानं युक्तम्—इत्याह—वेदविदिति।

ज्ञानवती

प्रत्यक्ष से व्यतिरिक्त आत्मा की सिद्धि न होने पर उसके प्रत्यक्ष से अतिरिक्त प्रमाण न होने से देह से व्यतिरिक्त आत्मा की अस्तिता का कथन उस (=चार्वाक) के द्वारा अपोद्य है वह (हम वेदान्ती के द्वारा) अपोद्य है। क्योंकि बाह्य प्रत्यक्ष और आन्तर प्रत्यक्ष यथायोग भूतसंघात और उसके कार्य के ग्राहकत्वमात्र से चरितार्थ हैं। 'जो मैं बचपन में पितरों का अनुभव किया वही वार्द्धक्य में प्रणप्ताओं का अनुभव कर रहा हूँ'—इस प्रत्यभिज्ञा में भी 'यह वही देवदत्त है' इसके समान देह ही आभासित होती है। नास्तिक का 'मेरा शरीर' यह व्यवहार आस्तिक के 'मेरी आत्मा' इस व्यवहार के समान औपचारिक माना जाता है। इसलिये 'मैं मनुष्य हूँ' इस तादात्म्य के समान 'मेरा शरीर' ऐसा भेद प्रतीत होता है, इसलिये प्रतिबन्दी ठीक नही है।

(पू) देह चैतन्य का आश्रय नहीं है, भूत होने से घट के समान। (पू) अनुमान प्रमाण नही है ? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि बाधक नहीं है। आप भी प्रत्यक्ष से व्यतिरेकमात्र नहीं चाहते, न तो प्रामाण्य, क्योंकि कथानधिकार का प्रसंग हो जायगा। (उ) यह असाधु है।

---

[1] (क) तत्, (ग) यत्। [2] (क) नास्ति। [3] (ग) ज्ञयापि।
[4] (ग) न न घटते। [5] (ग) घटवत्। तदसाधुः।

यदप्युक्तम्—चैतन्यविशिष्टस्य 'अहम्'—प्रत्ययवेद्यत्वेऽन्यत्रापि 'अहम्'—प्रत्ययप्रसङ्गः। अथ स्वशरीर एव 'अहम्'—इति मतिः।

ननु स्वमतमवधार्य वदन्तु भवन्तः, न च प्रसङ्गसाम्यम्; अस्मन्मते परात्मनोऽप्रत्यक्षत्वेन तदप्रसङ्गात्; न च त्वं तदिच्छसि; तदसिद्धिप्रसङ्गात्; तदप्यनालोचनपूर्वकम्; यद्यात्मत्वप्रयुक्तमेव 'अहम्'—धीगम्यत्वम्, तदा कथं न प्रसङ्गसाम्यम्? यदि वा (तत्प्रत्यक्षत्वं[१] मूलं), तदप्यनुचितम्; योगिनामीश्वरस्य वा परात्मसु प्रत्यक्षेष्वपि अहंबुध्यभावात्।

अथ चैतन्यस्य भूतविशेषगुणत्वे रूपादिवत् पृथिव्यादिव्यापितापातः, तदा घटादावपि चैतन्यं समवेयात्। देहावयवेष्वपि चैतन्योपलब्धिः स्यात्?

नैतदपि; पार्थिवलोहितादिरूपेणैकप्रतीकवर्त्तिना शब्देन च व्यभिचारात्। देहव्यतिरिक्ताऽऽत्मगुणत्वेऽपि (चेतन[२]-)गुणत्वात् तत्परिमाणवच्चैतन्यस्य सर्वत्र-प्रसङ्गः स्यात्। संघाताधीनचैतन्यस्य प्रत्येकं भूतेषु (प्रसञ्जयितुं[३]) अशक्यत्वाच्च;

भावदीपिका

अन्यदपि अन्योक्तमुत्थापयति—यदपीति। देहाऽऽत्मवादे स्वपराऽऽत्मनोः प्रत्यक्षत्वान्न प्रत्ययविभागः सम्भवति—इत्याह—ननु स्वमतमिति। प्रत्यक्षैकप्रमाणवादिनः पराऽऽत्मनोऽप्रत्यक्षत्वेऽसिद्धिप्रसङ्गात्—इत्याह—तदसिद्धिरिति। साम्येन प्रत्याह—तदपीति। प्रसङ्गाऽन्तरमाशङ्कते—अथेति। ततः किम्? तदाह—तदेति। किमेकव्यक्तेरेव व्यापित्वमापाद्यते? किं वा व्यक्तिभेदेन? नाद्यः—इत्याह—नैतदपीति। अन्त्ये प्रसङ्गसाम्यमाह—देहेति। स्वमते विशेषमाह—संघातेति। तथाऽपि दृश्यत्वादनात्मत्वं देहस्य घटा-

ज्ञानवती

क्योंकि कदाचित् चैतन्य का अनाश्रय होने से सिद्ध साधन हो जायगा। जैसे आत्मा से व्यतिरिक्त कभी चैतन्य का अनाश्रय होता है, उसी प्रकार भूतात्मक का भी होता है—यह माना गया है तथा 'विद्वान् ब्राह्मण जानता है' यह सामानाधिकरण्य प्रत्यय का विरोध है।

(पु) और जो कहा—चैतन्यविशिष्ट देह के अहम्प्रत्ययवेद्य होने पर अन्यत्र भी अहम् प्रत्यय का प्रसङ्ग हो जायगा। (पू) अपने शरीर में भी 'अहम' ऐसी बुद्धि हो जायगी? (पू) आप अपना मत निश्चित करके बोलें न कि प्रसङ्गसाम्य के अनुसार। (उ) हमारे मत में दूसरे की आत्मा के अप्रत्यक्ष होने से उसका प्रसङ्ग नहीं है। और तुम वह चाहते नहीं, क्योंकि उसकी असिद्धि हो जायगी। (उ) यह (कथन) भी अनालोचनपूर्वक है। यदि 'अहम्'-धीगम्यत्व आत्मत्वप्रयुक्त ही है तो प्रसङ्गसाम्य क्यों नहीं है? अथवा यदि प्रत्यक्षत्व उसका मूल है तो भी अनुचित है, क्योंकि योगियों अथवा ईश्वर को दूसरे की आत्मा का प्रत्यक्ष होने पर भी अहम्बुद्धि नहीं होती।

(पू) चैतन्य के भूतविशेष के गुण होने पर रूप आदि के समान वह पृथिवी आदि में व्याप्त होने लगेगा और तब घट आदि में भी चैतन्य समवेत होने लगेगा। देहावयवयों में भी चैतन्य

---

१ (क) प्रत्यक्षमूलत्वं। (ग) प्रत्यक्षत्वं मूलं। २ (क) पतन, (ग) चेतन।
३ (क) प्रेक्षयितुं, (ग) प्रसञ्जयितुं।

देहाकारपरिणतानामेव भूतानां चैतन्यस्वीकारात् । अतो देहस्य अहंपदार्थत्वे न दोषं पश्यामः ; दृश्यत्वादेरात्मत्वेऽपि योजयितुं शक्यत्वात् । न च स्वर्गादिफलकर्मचोदनावशादतिरिक्ताऽऽत्मसिद्धिः ; सुखविशेषात्मकस्य स्वर्गस्यानेनैव देहेन भोगसम्भवेन तदनाक्षेपात् ; मेरुपृष्ठादिगमनस्य[१] पादुकाऽऽदिसिद्धिबलेन सुकरत्वाच्च; "यज्ञायुधीर्यजमानः स्वर्गं लोकं याति"—इति (वेदोप[२]-)पत्तेः ; अनेकशरीरहेतुपुण्यादेः (स्वोचित[३]-)सुखदुःखद्वारेणैकेनापि शरीरेण भोगोपपत्तेश्च । फले देहान्तरे च तात्पर्ये वाक्यं भिद्येत । योगबलेन चिरकालयौवनस्थायित्वादिसंभवेन देवदेहत्वव्यपदेशव्युत्पादनाच्च । विग्रहवत्त्या देवताया अध्वरमीमांसकैरनभ्युपगमाच्च[४] । न च प्रत्यक्षागोचरप्रेतादिसंवादाद्देहव्यतिरिक्त आत्मा ; कदाचित् प्रेतादेरपि शरीरं दृश्यत एव प्रत्यक्षेण न पुनर्व्यतिरिक्तात्ममात्रम् , यतः "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते

भावदीपिका

दिवत् इत्याशङ्क्य, न तार्किकमीमांसकानामात्मनि व्यभिचारात्—इत्याशयेनाऽऽह—दृश्यत्वादेरिति । स्वर्गः सुखविशेषो देशविशेषो वा न विलक्षणाऽऽत्माऽऽक्षेपकः—इत्याह—सुखेति ।

"अदुष्टाऽपतितां भार्यां यौवने यः परित्यजेत् । सप्तजन्म भवेत् स्त्रीत्वं वैधव्यञ्च पुनः पुनः ॥"—इत्यनेकजन्मविलक्षणदेहफलककर्मणां कथमेकदेहोपभोग्यत्वम् ? तेनाऽनेकदेहसञ्चारी देहविलक्षणश्चेतनोऽभ्युपगन्तव्यः । इत्यत आह—अनेकेति । मुख्ये बाधमाह—फल इति । तथाऽपि देहत्वव्यपदेशो मनुष्यदेहस्य कथं सङ्गच्छेत ?—योगेति । मीमांसकान् प्रति एतत्सम्पादनीयमपि न भवति—इत्याह—विग्रहेति । विलक्षणाऽऽत्मनि युक्त्यन्तरमपाकरोति—न चेति । युक्त्यनुग्राह्यं श्रुत्यन्तरमन्यथयति—तं विद्येति । तथाऽपि ग्रहादे-

ज्ञानवती

की उपलब्धि होने लगेगी ? (उ) यह भी नहीं है। क्योंकि पार्थिवलोहित आदि रूप से तथा एकप्रतीकवर्त्ती शब्द से व्यभिचार हो जायगा। देहव्यतिरिक्त आत्मा का गुण होने पर भी भी चेतन गुण के कारण उसके परिमाण के समान चैतन्य का भी सर्वत्र प्रसङ्ग होने लगेगा। और संघाताधीन चैतन्य का प्रत्येक भूत में देखना असम्भव होने से देहाकार में परिणत ही भूतों का चैतन्य माना जायगा। इसलिये देह के आत्मपदार्थ होने में दोष नहीं दिखाई पड़ता। क्योंकि देह को आत्मा मानने पर दृश्यत्व आदि आत्मा में भी जोड़ा जा सकता है।

(पू) स्वर्गादि फल वाले कर्म की चोदना के कारण अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि होती है। (उ) नहीं। क्योंकि सुखविशेषात्मक स्वर्ग का इसी देह से भोग सम्भव होने से उसका आक्षेप नहीं होगा। और पादुका आदि की सिद्धि के वल से मेरुपृष्ठ आदि का गमन भी सुकर है। तथा "यज्ञायुध वाला यजमान स्वर्गलोक को जाता है",—इस वेदकी उपपत्ति होती है। और अनेक शरीर के हेतु पुण्य आदि की स्वोचित सुखदुःख के द्वारा एक शरीर से भी भोगोपपत्ति होती है। फल और देहान्तर में तात्पर्य होने से वाक्यभेद हो जायगा। और योगवल के द्वारा

---

१ (ग) मेरुपृष्ठादिसिद्धिः । २ (क) चोपपत्तो (ग) वेदोपपत्तेः ।
३ (क) चोचित, (ग) स्वोचित । ४ (क) रनभ्यु । (ग) रभ्यु

पूर्वप्रज्ञा च[१]" इतिवत्[२] जन्मान्तरीयत्वेन प्रज्ञाया अप्रत्यभिज्ञानादेवासङ्गतम्। देहान्तरसञ्चारश्च कदलीगर्भफलन्यायेन[३] देहस्यैव। श्राद्धादिक्रिया च कर्त्तुरेव फलदायिनी; कथमपरथा सर्वथा मुक्तस्य पक्षान्तरेऽपि पुत्रादेः श्राद्धादिक्रिया फलपर्यवसायिनी स्यात्? जातिस्मरादेश्च स्वप्नदृष्टवत् मिथ्याऽर्थानुवादकत्वात्। तस्मादयमेव पक्षो रमणीयः—इति बार्हस्पत्याः।

[देहातिरिक्तात्मनिरूपणम् : सिद्धान्तः—]

तत्र ब्रूमः कथाऽधिकारलोकयात्रासिद्धौ शब्दानुमानयोः स्वरूपमात्रावगाहिप्रत्यक्षा(-गृहीतप्रामाण्ययोः प्रामाण्यात्[४]) तत्सिद्धदेहातिरिक्तचेतनस्य न कथञ्चिदपह्नवः शक्यानुष्ठानः।

भावदीपिका

देहाऽन्तरसञ्चारेण वदनाऽदिदर्शनादतिरिक्त आत्मा—इत्याह—देहान्तरेति। उक्तं चैतत्—"कदाचित् प्रेतादेरपि शरीरं दृश्यते"—इति। कथं कर्त्तुरेव इत्यवधारणम्? तत्राऽऽह—कथमपरथेति। जातिस्मराणां देवतावादिनां च जन्मान्तरप्रतिभानं तद्गमकम्? इत्याशङ्क्याऽऽह—जातीति। अन्यसंवादाऽभावेन न तद्वाक्यं प्रमाणमित्यर्थः।

[देहातिरिक्ताऽऽत्मनिरूपणम् : सिद्धान्तः—]

प्रमाणविशेषं सम्पादयन् प्रमेयविशेषं संपादयति—कथेति। प्रत्यक्षेणाऽगृहीते हि तत्साधनत्वादौ प्रामाण्यं ययोस्तयोः प्रामाण्यात्। दर्शनकर्त्तृपर्यालोचनयाऽप्येवम्—इत्याह—

ज्ञानवती

चिरकालयौवनस्थायित्व आदि के संभव होने से देवदेहत्व के व्यवहार का व्युत्पादन सम्भव है। और विग्रहवती देवता को अध्वरमीमांसक नहीं मानते।

(पू) प्रत्यक्षागोचर प्रेत आदि का संवाद होने से देहव्यतिरिक्त आत्मा है? (उ) नहीं है। क्योंकि कदाचित् प्रेत आदि का भी शरीर प्रत्यक्ष देखा जाता है, किन्तु अतिरिक्त आत्मामात्र नहीं देखा जाता। क्योंकि "विद्या, कर्म तथा पूर्वप्रज्ञा उसका आरम्भ करती हैं",—इसके समान जन्मान्तरीय होने से प्रज्ञा का प्रत्यभिज्ञान न होने से (आपका कथन) असङ्गत है। और देहान्तर का सञ्चार कदलीगर्भफलन्यायेन देह का ही होता है। श्राद्ध आदि क्रिया भी कर्त्ता को ही फल देती है अन्यथा पक्षान्तर में भी सर्वथा मुक्त की श्राद्ध आदि क्रिया कैसे फलपर्यवसायिनी होगी। (पूर्व) जन्म का स्मरण आदि तो स्वप्नदृष्ट के समान मिथ्या अर्थ के अनुवादक हैं। इसलिये यही पक्ष रमणीय है—ऐसा वार्हस्पत्यों का कथन है।

[देहातिरिक्त आत्मा का निरूपण-सिद्धान्त—]

(उ) इस विषय में कहते हैं—कथा के अधिकारी लोक की यात्रा की सिद्धि होने पर शब्द और अनुमान के स्वरूपमात्रावगाही प्रत्यक्ष से अगृहीतप्रामाण्यवालों का प्रामाण्य होने से उन (=शब्द और अनुमान) से सिद्ध देहातिरिक्त चेतन का अपह्नव किसी भी प्रकार नहीं हो सकता।

---

१ वृ० उ० ४।४।३। २ (ग) इति च।
३ (ख, ग) पत्र। ४ (क) प्रामाण्यात्, (ग) प्रामाण्ययो प्रामाण्यात्।

किञ्च बृहस्पतिः सहस्राक्षस्य वस्वाद्युपलक्षितसुरसमूहाधिपतेः पुरोधाश्चेत्? तर्हि भारतभूभागे सम्यगनुष्ठिताश्वमेधशतफलत्वात् सहस्राक्षपदस्य तथेतरेषां पुरुषाणामपि "ये कर्मणा देवानपि यन्ति" इत्यागमात् तत्तत्कर्मविशेषफलत्वात् पूर्वदेहविनाशेन फलशालित्वे नानादेहसञ्चार्यात्मसिद्धिः संस्कारेणप्रेतत्वादिव्यावृत्त्या[1]। प्रेतादीनामपि च विरुद्धमरणादिकर्मफलानां कथङ्कारं देहतावन्मात्रत्वम्? तेन सुराचार्यस्य नैतत् तात्त्विकमनुमतं भाति। सुराश्च लोकेऽनुवर्त्तमानं (देहान्तरे-[2]ष्वात्मानं) जन्मान्तरीयचरित्रसंवादेन द्रढयन्ति। (स्वप्ने[3] च) जाग्रद्व्यवहारो (न[4]) बाह्यज्योतिरनुग्रहाभावे करणादिज्ञानाधीनः; विलक्षणात्; 'ज्योतिरात्मा' "आत्मनैवायं[5] ज्योतिषाऽऽस्ते"—इत्यस्मादवगम्यते[6]। "अथासुराणां ह्येषोपनिषत्" इति छन्दोगश्रुतेः कश्चिदसुर एव बृहस्पतिर्नाम? तदाऽपि जातिस्मृत्यादिबलाद्

भावदीपिका

किञ्चेति। संस्काराऽभावे प्रेतत्वादिस्मरणात्—संस्कारेण—इत्युक्तम्। युक्त्यन्तरमाह—प्रेतादीनामिति। यदुक्तं स्मृतिसंवादो नाऽस्तीति तत्राऽऽह—जातिस्मृत्यादीति। किञ्च चैतन्यस्य यावद्देहभावित्वं मरणाऽसम्भवभीत्या नेष्यते; आगन्तुकत्वे च व्यतिरिक्तचेतनसिद्धिः—इत्याह—स्वप्ने चेति।

अधुना प्रसिद्धवैलक्षण्येऽपि संग्रहकर्त्तुर्नाऽस्माकं क्षतिः—इत्याह—अथेति। किञ्च चैतन्यं रूपस्पर्शवत् सबाह्याभ्यन्तरदेहधर्मो वा? आन्तर एव वा? आद्ये चक्षुरादिग्रहणयोग्यं

ज्ञानवती

इसके अतिरिक्त यदि बृहस्पति, वसु आदि के द्वारा उपलक्षित सुरसमूह के अधिपति, इन्द्र के पुरोधा हैं तो सहस्राक्ष पद के, भारतभूभाग में सम्यग् अनुष्ठित सौ अश्वमेधों का फल होने से, उसी प्रकार अन्य पुरुषों (=वसु आदि) के भी "जो कर्म से देवताओं को प्राप्त होते हैं" इस आगम से तत्तत् कर्मविशेष का फल होने से पूर्वदेह (=मनुष्यदेह) के नाश के द्वारा फलशाली होने पर संस्कार के द्वारा प्रेतत्व आदि की व्यावृत्ति होने से नानादेहसञ्चारी आत्मा की सिद्धि कैसे होगी? और विरुद्ध मरण आदि कर्म के फलभूत प्रेत आदि का देहतावन्मात्रत्व कैसे होगा? इसलिये सुरेश्वराचार्य का यह अनुमत तात्त्विक नहीं प्रतीत होता। देवता लोग लोक में अनुवर्त्तमान देहान्तरों में आत्मा को जन्मान्तरीय चरित्रसंवाद से दृढ़ करते हैं। स्वप्न में भी जाग्रद्व्यवहार बाह्य ज्योति के अनुग्रह के अभाव में करण आदि ज्ञान के अधीन नहीं है, क्योंकि विलक्षण, "आत्मा ज्योति है", "यह अपनी ज्योति से रहता है", इस (श्रुति) से जाना जाता है।

(पू) "यह उपनिषद् असुरों की है"—इस छन्दोगश्रुति से बृहस्पति नामक कोई असुर ही है? (उ) तो भी जन्मस्मरण आदि के बल से आत्मा का देहव्यतिरेक दुर्वार है। (पू)

---

१ (ग) स. संस्कार। २ (क) न्तरात्मा, (ग) न्तरेष्वात्मा।
३ (क) स्वप्नेऽपि न च। (ग) स्वप्ने च। ४ (क) रो वा—(ग) रो न वा।
५ (ग) तद्धेतुरात्मनैव। ६ (ग) इत्यवगम्य।

देहव्यतिरेक[1] आत्मनो दुर्वारः। न च चैतन्यं प्रत्यक्षदेहधर्मः; शूलादिवदान्तरतयाऽपि[2] देहधर्मत्वेन व्यपदेशादर्शनात्; आन्तरदेहदेशपरिणामत्वानङ्गीकाराच्च।

अथ 'गच्छामि', 'जानामि'-इति समानव्यपदेशाद् गतिज्ञानयोः समानाधारत्वं स्फुरति? तर्हि रथादिना गच्छतोऽप्येवंविधव्यपदेशदर्शनात्[3] रथादेरपि प्रज्ञाऽऽधारत्वं प्रसज्येत। अथ रथारूढ इव देहारूढश्चेतनो नानुभूयते? अनुभूयत एव स्वप्नं सेवमानैः। देहस्यैवात्मत्वे स्वाप्नदेहस्यौषधादिगृहीतस्य च व्याघ्रादिदेहस्यापगमे द्रष्टुरपगमात् पुनः स्वदेहे तथाऽनुभूतानुसन्धानं न[4] स्यात्। (अन्तरा[5]) मरणे च यमदर्शनात् पुनरायातस्य तथाऽनुभवसंवादाच्च। अतो नागमा अपि "यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम तथा वक्ष्यामि" इति प्रतिज्ञाय—

"योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्।
एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते॥[6]"

इति (व्यतिरिक्तात्म[7]-)निरूपणपराः स्वर्गादिपराश्च यथाकथञ्चित् कदर्थनीयाः। तेन न देह एवाहंपदार्थः। देहोऽपि (घटशरा[8]-)वादिवत् परिमाणभेदाद् भिन्न

भावदीपिका

स्वप्रकाशं वा नाऽनुभूयते—इत्याह—न चेति। द्वितीयेऽप्येवम्—इत्याह—शूलेति। सम्मतश्चाऽयं पक्षः—इत्याह—अन्तरेति। परः स्फुरणं सम्पादयति—अथेति। अतिप्रसङ्गसङ्कोचमाशङ्कते—अथेति। अनुभवं द्रढयति—देहस्यैवेति। उपोद्बलकान्तरमाह—आन्तरेति। इदानीमागमविशेषप्रामाण्यं तद्विरुद्धम्; अत उत्थापयति निराकर्त्तुं—देहोऽपीति। ननु

ज्ञानवती

चैतन्य प्रत्यक्ष देह का धर्म है? (उ) नहीं है। क्योंकि शूल आदि के समान आन्तर रूप से भी देहधर्म के रूप में व्यपदेश नहीं देखा जाता, और आन्तर देहदेशपरिमाणत्व को नहीं स्वीकार किया जाता।

(पू) 'जाता हूँ', 'जानता हूँ' इस समान व्यवहार से गति एवं ज्ञान का समान आधार मालूम होता है? (उ) तब तो रथ आदि के द्वारा जाने वाले का भी इस प्रकार का व्यवहार देखे जाने से रथ आदि भी प्रज्ञा का आधार होने लगेगा। (पू) रथारूढ के समान देहारूढ चेतन का अनुभव नहीं होता सेवमानों के द्वारा स्वप्न का अनुभव होता ही है? (उ) देह के ही आत्मा होने पर स्वाप्न देह का और औषधादिगृहीत देह का अपगम होने पर द्रष्टा का अपगम होने से फिर उस देह में अनुभूत का अनुसन्धान नहीं होगा। और बीच में मरने पर

---

[1] (ग) रेकं। [2] (ग) पि देहधारत्वं।
[3] (ग) देशाङ्गीकारात् च अथ गच्छामि जानामि-इति समानदेशात्—
[4] (ग) स्यात्। [5] (क) मरणे। (ग) अन्तरामरणे। [6] कठोप० २।२।८।
[7] (क) रेका, (ग) रिक्ता। [8] (क) सरा, (ग) घटशरा।

इति कश्चिदाह । न च देहान्तरारम्भासम्भवः; अनारब्धत्वे भुक्तपीतयोः चर्मप्रसेविकादिनिक्षिप्तयोरिव परिणामवत्त्वं न स्यात् । यदपि पराशरमुनिनोक्तम्—

"मृन्मयं हि गृहं यद्वद् मृदा लिप्तं स्थिरीभवेत् ।
पार्थिवोऽयं तथा देहः पार्थिवैः परमाणुभिः ॥"

—इति; तदपि कुड्यादिवद् देहस्यान्तरलोपासम्भवात् परमाणुग्रहणाच्चारम्भं (न[१]) गोचरयति; ततः परिमाणभेदाद् भेद इति ? नैतत् साधु ; वृद्धिविकारेणापि परिमाणभेद-

भावदीपिका

देहाऽऽरम्भकशुक्रादेरभावात् कथं देहान्तराऽऽरम्भः ?—इत्याशङ्क्याऽऽह—न चेति । अवयवानामारम्भकत्वे शुक्राद्यभावोऽप्रयोजकः—इत्याशयः ।

अभिनवाऽऽरम्भे लेपस्मृतिविरोधमाशङ्क्याऽऽह—यदपीति । परिमाणभेदोऽन्यथाऽपि सम्भवन्न देहभेदं सम्पादयति—इत्याह—नैतत्साधु इति । समानाऽऽख्येन वायुना सूक्ष्मतमाऽन्नपानरसस्य नाडीषु साम्येन नयनाद् [वृद्धयु-[२]]पपत्तौ नाऽऽरम्भः कल्पनीयः । विरुद्धा चेयं

ज्ञानवती

यम का दर्शन होने के वाद फिर आने वाले को वैसा अनुभव होता है । इसलिये—"हे गौतम ! मरण को प्राप्त करके आत्मा जैसा होता है वैसा कहूँगा ।" ऐसी प्रतिज्ञा करके—.

"अन्य देही (=आत्मा) शरीरत्व के लिये योनि में प्रवेश करते हैं । दूसरे कर्म एवं श्रुत के अनुसार स्थाणु में अनुसंयत होते हैं ।"

—इस प्रकार पुरुष स्वप्न में यथेच्छकाम का निर्माण करता हुआ जागता है । वही शुद्ध, वही ब्रह्म और वही अमृत कहा जाता है ।"

ये व्यतिरिक्त आत्मनिरूपणपरक तथा स्वर्गादिपरक आगम भी यथाकथचिन्त् कदर्थनीय नहीं है । इसलिये देह ही अहंपदार्थ नहीं है । देह भी घट शराव आदि के समान परिमाणभेद से भिन्न है—ऐसा कोई कहते हैं—

देहान्तर का आरम्भ असंभव नहीं है । क्योंकि अनारब्ध होने पर चर्मप्रसेविका आदि में निक्षिप्त के समान भुक्त एवं पीत का परिणामवत्त्व नहीं होगा ।

(पू) और जो पराशर मुनि ने कहा—

"जिस प्रकार मिट्टी का घर मिट्टी से आलिप्त होकर स्थिर होता है, उसी प्रकार यह पार्थिवदेह पार्थिव परमाणुओं से (आलिप्त होकर पुष्ट होता है) ।"

वह भी कुड्यादि के समान आन्तरलोप के असम्भव होने से (अर्थात् जैसे दीवाल का कुछ भाग गिर जाता है वैसे शरीर के कुछ अवयव का गिरना असम्भव होने से) और परमाणुग्रहण होने से आरम्भ को विषय नहीं वनाता । इसलिये परिणामभेद से भेद है ? (उ) यह ठीक नहीं है । क्योंकि बुद्धि और विकार से भी परिणामभेद सम्भव है । अन्यथा 'बढ़ रहा है'—इस लोक व्यवहार का तथा "आठ वर्ष वाले ब्राह्मण का उपनयन करना चाहिये" इस शास्त्रीयव्यवहार का उच्छेद हो जायगा । यह व्यवहार सन्तानालम्बन नहीं है क्योंकि वह

---

१ (क) रम्भं गोचरयति । (ग) रम्भं न विवारयति । २ (क) हृद्यु ।

सम्भवात्। अपरथा 'वर्धते'—इति लोकव्यवहारस्य "अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत" —इत्यादि शास्त्रीयव्यवहारस्य चोच्छेदः स्यात्। न च सन्तानालम्बनोऽयं व्यवहारः; तस्यावस्तुभूतत्वात्; सन्तानिनां भेदाच्च द्वितीयादिशरीरिणां योनिजत्वादिव्यवहारस्योच्छेदप्रसङ्गात् वतो न परिणामभेदाद्देहभेदः।

न च "अयं पृथिवी शरीरम्"—इत्याम्नायात् पृथिवीमात्रारम्भः; "पञ्चात्मकम्"—इति श्रुत्या त्रिवृत्करणश्रुत्या पञ्चत्ववचनाच्च विनाशे[1] पृथिवीश्रुतेर्भूतान्तरोपलक्षणत्वोपपत्तेः। भूतान्तरस्यापचये देहस्यापचयदर्शनाच्च तन्त्वपचयेऽपचीयमानपटस्य तन्त्वारब्धत्ववत् (पञ्चारब्धत्वनिश्चयात्[2])। न च सुवर्णवत् अन्यथासिद्धिः; (शुक्र[3]-) शोणितयोर्भुक्तपीतयोश्च श्रुत्यैव धातुविशेषारम्भकत्वेन जलाद्यात्मकत्वयोर्विनियोगात्। न च प्रत्यक्षाप्रत्यक्षारब्धत्वेन घटादेरप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः[4]; प्रत्यक्षाप्रत्यक्षशब्दाभ्यां सरूपनीरूपविवक्षायामपि यावदवयवैरारम्भः, तावदवयवानां प्रत्यक्षत्वाभावेऽपि घटादेः प्रत्यक्षत्ववत् अनियतारब्धस्यापि तत्सम्भवेन प्रसङ्गस्य

भावदीपिका

कल्पना - इत्याह अपरथेति। व्यवहारान्तरमप्युच्छिद्येत - इत्याह—द्वितीयादीति। अष्टवर्षाऽऽदिश्रुतिबलेन भेदो निरस्तः। श्रुत्यन्तराऽवष्टम्भे नैकाऽऽरब्धत्वं निरस्यति—न चाऽयमिति। युक्तिरप्यत्राऽस्ति—इत्याह—भूतान्तरेति। पार्थिवाऽवयवाऽपचये सुवर्णस्याऽपचयदर्शनेऽपि तदारब्धत्वाऽभाव[-वद्भवेत्]—इत्याशङ्कयाऽऽह—न चेति। त्रिवृत्करणश्रुत्या सुवर्णस्याऽपि केवलतैजसत्वाऽसम्प्रतिपत्तेरित्यर्थः। "अस्थिस्नायुमज्जा पितृतः। त्वङ्मांसशोणिता मातृतस्तद्वीर्यादित्यर्थः"—इत्यादिश्रुतेः। पञ्चारब्धत्वे परोक्तं दोषं परिहरति —न चेति। अन्त्यकार्यपर्यन्तं

ज्ञानवती

अवस्तुभूत है और सन्तानियों के भेद से द्वितीयादि शरीरियों के योनिजत्व आदि व्यवहार का उच्छेद हो जायगा। इसलिये परिणामभेद से देहभेद नहीं है।

(पू) "पृथ्वी शरीरम्"—इस वेद से यह पृथ्वीमात्रारब्ध है? (उ) नहीं है। "पञ्चात्मकम्" इस श्रुति से और त्रिवृत्करण श्रुति से पञ्चत्व का वचन होने से विनाश होने पर पृथ्वी श्रुति से भूतान्तर के लक्षणत्व की उपपत्ति होती है। भूतान्तर का अपचय होने पर देह का अपचय दिखाई देता है। तन्तुओं का अपचय होने पर अपचीयमान पट तन्तुओं से आरब्ध के समान (शरीर के) पञ्चारब्धत्व का निश्चय होता है। (पू) सुवर्ण के समान अन्यथासिद्धि हो जायगी। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि शुक्र और शोणित के, भुक्त और पीत के, श्रुति के द्वारा ही धातुविशेष का आरम्भक होने से दोनों का जलाद्यात्मकत्व विनियोग होता है। (पू) प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष से आरब्ध होने के कारण घट आदि का प्रत्यक्ष नहीं होगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष शब्दों से सरूप-नीरूप की विवक्षा होने पर भी

---

[1] (ग) विनाशो। [2] (क) रब्धत्ववत्। न च, (ग) रब्धत्ववत् पञ्चारब्धत्वनिश्चयात् न च। [3] (क) शुक्ल, (ग) शुक्र। [4] (ख) त्वेनाप्रत्यक्षत्व (प) त्वेनोप्रत्यक्षत्वप्रसङ्गः। परमाण्वारम्भवादिनां सर्वस्य प्रत्यक्षारब्धत्वेन घटा।

दुर्बलत्वम्। न खलु रूपवन्तोऽपि घटस्य अन्तरावयवाः प्रत्यक्षीभवन्ति। इन्द्रियेणैकदेशसन्निकर्षेऽपि प्रत्यक्षज्ञानस्वीकारात् वायुवनस्पतिसंयोगादेर्धर्मिग्रहणसापेक्षत्वेन तदग्रहणे ग्रहणाभावो युक्तः; शरीरस्य पुनः द्रव्यस्य समग्र(-स्व[१]-)समवायिग्रहणाभावेऽपि घटादेरिव ग्रहणसम्भवाच्च। अतो बाधकाभावात् पञ्चात्मकं शरीरम्। तच्च नात्मेति स्थितम्।

इन्द्रियाण्यपि न (गोलक[२]-)मात्रम्; सर्पादेः श्रोत्रादिगोलकाभावे[३] कार्यापलापप्रसङ्गात्। अत एव न गोलकशक्त्यो(ऽपि; नापि[४]) दृगादिशक्तिसम्पिण्डित आत्मा, तत्रैव शक्तिश्चक्षूरूपात्मना परिणमते—इत्येकदेशिकल्पना। "एतेभ्यः कार्यकारणाकारपरिणतेभ्यो भूतेभ्यः प्रतिविम्बतया तेषु समुत्थाय मात्रासंसर्गः"—इति[५] च श्रुतेर्भूतविकारत्वागममात्रम्[६]।

भावदीपिका

परमाणूनामुपादानत्वस्वीकारात् सर्वस्य प्रत्यक्षाऽप्रत्यक्षाऽऽरब्धत्वम्। विवक्षाऽविशेषोऽप्यसङ्गतः—इत्याह—प्रत्यक्षेति। दृष्टान्तोऽपि परोक्तो न युक्तः—इत्याह—वायुवनस्पतीति। सूक्ष्मतमत्वात् वाय्वाकाशयोस्तद्भागस्याऽप्रत्यक्षत्वेऽपि भूतत्रयभागस्योद्भूतरूपाऽऽदेः प्रत्यक्षत्वसम्भवेन पञ्चारब्धत्वेऽपि प्रत्यक्षत्वं देहस्य सम्भवतीत्यर्थः। महाप्रघट्टकाऽर्थमनूद्य प्रघट्टकान्तरमारभते—तच्चेति।

इन्द्रियाण्यपि—इति। समुदितानि प्रत्येकं वा नाऽऽत्मा। तानि च न गोलकमात्रम्—इत्यन्वयः। प्रत्यक्षैकवादिनो गोलकादतिरिक्तेन्द्रिये प्रमाणाऽभावात् गोलकानां चेन्द्रियत्वाऽसम्भवान्न तेषामात्मत्वम्। अस्तु तर्हि मनःपारतन्त्र्यम्; तथा च नाऽयं दोषः? तत्राऽऽह अत इति। यद्यपि गमनादौ दुर्गाऽदिस्थले चेतनाऽन्तरपारतन्त्र्यमस्ति, तथाऽपि न ग्राहकत्वे; तेन युगपद्ग्रह-

ज्ञानवती

जितने अवयवों से आरम्भ होता है उतने अवयवों के प्रत्यक्ष न होने पर भी घट आदि के प्रत्यक्षत्व के मान अनियतारब्ध का भी वह (=प्रत्यक्ष) सम्भव होने से प्रसङ्ग दुर्बल हो जायगा। रूपवान् भी घट के अन्तरावयव प्रत्यक्ष नहीं होते। इन्द्रिय के द्वारा एकदेश का, सन्निकर्ष होने पर भी प्रत्यक्षज्ञान के माने जाने से वायुवनस्पतिसंयोग आदि के धर्मिग्रहणसापेक्ष होने से उसका ग्रहण न होने पर ग्रहणाभाव ठीक है। किन्तु शरीर द्रव्य का समग्रस्वसमवायीग्रहण न होने पर भी घटादि के समान ग्रहण सम्भव है। इसलिये बाधक न होने से शरीर पञ्चात्मक है और वह आत्मा नहीं है—ऐसा निश्चित हुआ।

इन्द्रियाँ भी केवल गोलक नहीं हैं क्योंकि तब तो सर्प आदि के श्रोत्र आदि के गोलक न होने से (श्रवण आदि), कार्य का अपलाप होने लगेगा। इसीलिये गोलक शक्तियाँ नहीं है है और न तो दृक् आदि शक्ति से सम्पिण्डित आत्मा है, और वहीं शक्ति चक्षुरूप में परिणत होती है ऐसी कल्पना एकदेशी है। "कार्यकारण के आकार में परिणत इन भूतों से प्रतिविम्ब के रूप

---

१ (क) ग्र स, (ग) ग्र स्वेस—। २ (क) मेल, (ग) गोल।
३ (क) भावात्। ४ (क) वि० (ग) पि: ५ बृ० ४।५।१३।
६ (ग) अवगमात्।

नापि पित्तधातुगतं तेज एव स्थानावच्छेदेनेन्द्रियम्, इति वैधकल्पना; चक्षुर्वत् इतरेषामप्यालोकापेक्षाप्रसङ्गात्।

(तानि[१]) च समुदितानि प्रत्येकं वा नाऽऽत्मा; तथा सत्यन्यतमनाशेन मूकान्धबधिरादौ नाशव्यवहारप्रसङ्गात्। (द्वितीये[२]-)ऽपि सर्वेषां स्वातन्त्र्ये विमनस्क-(स्याप्यर्थ[३]-) दृष्टिर्युगपत् स्यात्। अतः सर्वेन्द्रियानुभूतानुसन्धानसिद्ध्यर्थं मन एव तत्तदिन्द्रियात्मोपकरणं सर्वार्थसाधकम्, इत्यपि दुर्घटम्। ग्राहकत्वे चेतनपारतन्त्र्य-दृष्टेश्च। अतो न तान्यप्यात्मा।

"तानि चैकादश; दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदाऽस्माच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति"[४]—इति आमुक्तेः सहभावप्रकाशकवेदात् कार्यानुसाराच्च भौतिकत्वेऽपि सत्त्वासत्त्वप्रधानभूतजन्यतया ज्ञानक्रियाकर्तृत्वविभागस्तेषाम्। न च "श्रोत्रादीनि च पञ्च", "षष्ठञ्च मनः"—इति इन्द्रियाणि षडेव, व्यापकं त्वगिन्द्रियमेव तत्तत्स्थानविशिष्टं तत्तत्कार्यकरमिति न कर्मेन्द्रियकल्पना इति वाच्यम्; आत्मन एव त्वगिन्द्रियस्येव व्यापकस्य तथात्वकल्पनादनिन्द्रियवादप्रसङ्गात्; एकेन्द्रियवाद-

भावदीपिका

प्रसङ्गो दुर्वारः। न चेष्टापत्तिः; 'नाऽश्रौषमन्यमना अभूवम्'—इत्यादिव्यवहारविरोधादिति भावः। अनात्मत्वे संख्यायामनादरः। तथा च संख्याश्रुतिव्याकुलत्वम्—इत्यपि न मन्तव्यम्—इत्याह—तानि चेति। आत्मा न मनः। अनात्मत्वे व्यवहारार्थं नामरूपं कर्मेति त्रित्वं त्रयं वा—इति यथा श्रुत्योक्तं तथैषामपि संख्या—इति न संख्याश्रुतेर्वैयर्थ्यमित्यर्थः। इन्द्रियाणां कार्यभेदं कारणभेदेन सम्पादयति—भौतिकत्वेऽपि चेति।

ज्ञानव्रती

उनमें उठ कर" और "मात्रासंसर्ग"—इस श्रुति से भूतिविकारत्व का अवगममात्र होता है।

और न तो पित्तधातुगत तेज ही स्थानावच्छेदेन इन्द्रिय है—ऐसी कल्पना वैध है। क्योंकि चक्षु के समान दूसरों को भी आलोक की अपेक्षा होने लगेगी।

समुदित अथवा पृथक् पृथक् वे (=इन्द्रियाँ) आत्मा नहीं हैं, क्योंकि ऐसा होने पर एक का नाश होने पर मूक, अन्ध, बधिर आदि (व्यक्तियों) में नाश की प्राप्ति होने लगेगी। दूसरे (पक्ष) में भी, सबके स्वतन्त्र होने पर विमनस्क की भी एक साथ अर्थदृष्टि हो जायगी इसलिये सब इन्द्रियों के अनुभूत अनुसन्धान की सिद्धि के लिये 'मन ही तत्तदिन्द्रिय आत्मा का उपकरण सर्वार्थ साधक है'—यह भी दुर्घट है। और ग्राहक होने पर चेतनपारतन्त्र्य की दृष्टि हो जायगी। इसलिये वे भी आत्मा नहीं है।

"और वे, (इस प्रकार) ग्यारह" पुरुष में ये दशप्राण और आत्मा ग्यारहवाँ वे जब इस शरीर से उत्क्रान्त होते हैं, रुलाते हैं"—ऐसा मुक्ति तक सहभाव के प्रकाशक वेद से, और कार्यानुसार होने से भौतिकत्व होने पर भी सत्त्वासत्त्वप्रधान भूत से जन्य होने से उनका ज्ञान-क्रियाकर्तृत्वविभाग है। (पू) "श्रोत्र आदि पाँच" और "छठाँ मन" इस प्रकार इन्द्रियाँ

---

१ (क) खानि, (ग) तानि। २ (क) द्वितीयो (द्वितीये।
३ स्य व्यर्थं, (ग) स्याप्यर्थं। ४ तस्यापि

प्रसङ्गाच्च। न च देहेऽन्द्रियसङ्घातोऽप्यात्मा; सङ्घातस्यासनादिसङ्घातवत् परार्थत्वात्। न च तर्हि देहादिसङ्घातस्यापि सङ्घातार्थत्वमासनादिवत् प्रसज्यत इति वाच्यम्; वास्यादिकरणानां हस्तादिकरणप्रेर्यत्वेऽपि हस्तादेः तथात्वस्य केनाप्यनङ्गीकारात्। तथैव च सङ्घातार्थत्वमेव सङ्घातस्य इत्यापादयितुमशक्यम्; आसनादिसङ्घातस्यापि तुल्यसङ्घातार्थत्वाभावात्। दृष्टञ्चैक[-विध-][1]प्रकाशशरीरभास्वत्प्रकाशतया त्रैलोक्यसङ्घातस्य[2] तद्वशवर्त्तित्वम्। एवं विज्ञानैकतानविग्रहचेतनप्रकाशतया तद्वशवर्त्तित्वं देहादिसङ्घातस्याऽवयंभाव्येव। अतः केवलो देहः करणानि वा तदुभयसङ्घातो वा नाऽऽत्मा, किन्तुलोकान्तरसञ्चारी विभुः कर्मफलभोक्ता तावदास्थेयः।

"अन्नरसमयः प्राणमयो, मनोमयः[3]"; "ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गायेति"[4], "त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि"[5]-इत्यागमात् "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति

भावदीपिका

तर्कितसंख्यानिरासेन श्रौतीं द्रढयति—न चेति। अतिप्रसङ्गमाङ्क्याऽऽह—न च तर्हीति। किं तुल्यप्रेर्यत्वमापाद्यते ? किं वा तुल्यार्थत्वम् ? किं वा तुल्यवशत्वमात्रम् ? नाद्यः—इत्याह—वास्याऽऽदीति। न द्वितीयम्—इत्याह—तथैव चेति। नान्त्यः—आदित्यवाद् विलक्षणाऽत्मसिध्यवारकत्वात्। "यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत !।"—इति स्मृतेश्च—इत्याह—दृष्टं चेति। श्रुत्याभासबलेन

ज्ञानवती

छ ही हैं। व्यापक त्वगिन्द्रिय ही तत्तत्स्थानविशिष्ट होकर तत्तत्कार्य को करता है; इसलिये कर्मेन्द्रिय की कल्पना नहीं है ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि त्वगिन्द्रिय के समान व्यापक आत्मा को ही वैसा मान लेने से अनिन्द्रियवाद और एकेन्द्रियवाद होने लगेगा। (पू) देहेन्द्रियसंघात आत्मा है ? (उ) ऐसा भी नहीं है। क्योंकि संघात आसन आदि के समान परार्थ होते हैं। (पू) तब तो आसन आदि के समान देहादिसंघात संघात के लिये हो जायेंगे ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि कोई भी वास्य आदि करणों का हस्तादिप्रेर्य होने पर भी हस्त आदि को वैसा (=प्रेर्य) नहीं मानता। उसी प्रकार संघात संघात के लिये ही हैं—यह उपपादन असम्भव हो जायगा, क्योंकि आसन आदि संघात का भी तुल्यसंघातार्थत्व नहीं है। देखा गया है कि एकविधप्रकाशशरीर वाले सूर्य का प्रकाश होने से त्रैलोक्यसंघात ही उसके वश में हो जाता है। इस प्रकार विज्ञानैकतानविग्रहचेतन से प्रकाश्य होने के कारण देह आदि का संघात अवश्य तद्वशर्त्ती है। इसलिये केवल देह, अथवा करण, अथवा दोनों का संघात आत्मा नहीं है किन्तु लोकान्तर संचारी, विभु, कर्मफल का भोक्ता; आत्मा है।

(पू) "अन्नरसमय, प्राणमय, मनोमय," "वे वाणी को कहे—हममें से तुम उड़ो", "तुम बूढ़े होकर डंडे से चलते हो" इस आगम से "प्रेत मनुष्य के विषय में जो यह विचिकित्सा है कि

---

[1] क विल [2] तै० २।१। [3] बृ० ३।९।४।
[4] बृ० १।३।२। [5] श्लो० ४।३।

चैके'' इत्युत्तरपक्षत्वेनोपानाच्च[1] लोकायतिकमतं नापह्नोतुं युक्तमिति चेत् ? नैवम्; तदेतत् पदनीयमस्य सर्वस्य यदयमात्मा''[2]—इति सर्वसारभूतात्मनो विज्ञाने तात्पर्योपदेशात् ''यथा ह वै पदेनानुविन्देत''–इति पदन्यासलिङ्गेन गवादिलाभवत् बुद्ध्यादिसङ्घाते चित्प्रतिबिम्बलिङ्गेन बिम्बभूतपूर्णचैतन्येन लाभोपदेशात् न प्रसिद्धान्नमयत्वादिसम्भवः, यतः अन्नमयादीनां अन्तरा दृष्टिसञ्चारणेन ब्रह्ममयनिरुपचरितात्मप्रतिपत्त्यर्थं ''ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'' –इति श्रुतेरुपन्यासात्। आनन्दमयस्यात्मनः पुच्छमयत्वेन[3], श्रुतमपि ब्रह्म निरपेक्षया श्रुत्या (प्रत्यायितं[4]) प्रथमश्रुत्या चरमश्रुतावयवार्थपुच्छश्रुतिम्। आनन्दमयवादिनोऽपि मुख्य(-पुच्छत्वा[5]-) सम्भवात्, स्वार्थच्युतत्वेन दुर्वलं बाधित्वा स्वप्रधानं ब्रह्म निरतिशयप्रतिष्ठात्वेन पुच्छम् इति व्यवस्थितत्वाच्च। प्रकरणात्पूर्वपक्षतया ''योनिमन्ये प्रपद्यन्ते'', ''न जायते म्रियते''—इत्यादेर्व्यवस्थापनाच्च। इन्द्रियाणामिन्द्रियान्तरस्वीकारे तेषामप्यात्मत्व[6]स्तवार्थमिन्द्रियानवस्था-

भावदीपिका

प्रत्यवतिष्ठमानं तात्पर्योपेतश्रुत्यन्तरेण पराचष्टे—नैवमिति। पदनीयम्—अवगमनीयम्। परोक्तश्रुतेराभासतां विशदयति—अन्नमयादीनामिति। ''आनन्दमयोऽभ्यासात्''—इत्यत्र निर्णीतं चैतत्—इत्याह—आनन्दमयस्येति। यद्यपि ''नायमस्तीति चैके'' इत्युत्तरत्राऽभिहितं तथाऽपि न तावन्मात्रं व्यवस्थापकम्। ''तद्धैक आहुः असदेवेदमग्र आसीत्''–इतिवत्—इत्याह—प्रकरणादिति। ''अस्तीत्येवोपलब्धव्यः'' इत्यस्तित्वनिर्णयाच्चेति ज्ञेयम्। ''ते ह वाचमूचुः''—इत्यादेरधिष्ठातृदेवतापरत्वं कल्पनीयं मुख्याऽर्थाऽसम्भवात्—इत्याह—इन्द्रिया-

ज्ञानवती

कुछ लोग कहते हैं कि यह नहीं है।'' इस उत्तरपक्ष के रूप में उपादान होने से लोकायतिकमत छिपाने योग्य नहीं है ? (उ) ऐसा नहीं है। ''जो यह आत्मा है वह यह इस सबका गमनीय है।'' इस प्रकार सबके सारभूत के विज्ञान में तात्पर्योपदेश होने से, ''जैसा कहा कि पद से प्राप्त करना चाहिये'' ऐसा पदन्यास लिङ्ग से गो आदि के लाभ के समान वुद्धि आदि के संघात में चित्—प्रतिबिम्ब के लिङ्ग से बिम्बभूत पूर्ण चैतत्य के द्वारा लाभ का उपदेश होने से प्रसिद्ध अन्नमयत्व आदि (ब्रह्म में) सम्भव नहीं है। क्योंकि अन्नमय आदि के बीच-बीच दृष्टिसंचार के द्वारा ब्रह्ममय निरुपचरित आत्मा के ज्ञान के लिये ''ब्रह्म पूँछ-प्रतिष्ठा है''—इस श्रुति का उपन्यास है। आनन्दमय आत्मा के पुच्छ के रूप में सुना गया भी ब्रह्म निरपेक्षश्रुति प्रथमश्रुति के द्वारा चरमश्रुतावयवार्थ पुच्छश्रुति को प्रतीत कराया गया है। आनन्दमयवादी के मत में भी मुख्यपुच्छत्व असंभव है, स्वार्थ से च्युत होने से दुर्वल पुच्छत्व को बाध कर स्वप्रधान ब्रह्म निरतिशय प्रतिष्ठा के रूप में 'पुच्छम्'—इस प्रकार से व्यवस्थित है। प्रकरण होने से पूर्वपक्ष के रूप में ''दूसरे लोग योनि को प्राप्त होते हैं'', ''न उत्पन्न होता है न मरता है'' इत्यादि की व्यवस्था है। इन्द्रियों

---

[1] कठ १।२०। [2] वृ० १।४।७। [3] (ग) पुच्छावयवत्वेन।
[4] (क) प्रच्यावयति, (ग) प्रत्यायितं।
[5] (क) पुच्छा, (ग) पुच्छत्वा। [6] (ग) आत्मत्वासेवादार्थ।

प्रसङ्गाच्च। भूतार्थवादत्वात् शरीरादे रथहयादिरूपककल्पनया व्यतिरिक्तात्मप्रतिपादनाच्च। ततोऽनागमिकं (बार्हस्पत्यं[1]) मतम्।

[जीवस्य लोकान्तरसञ्चारः—]

अथ व्यापकस्यात्मनः कथं लोकान्तरसञ्चारः? उच्यते[2]—उपाधयः पञ्चतन्मात्रमहाभूताख्या; तदारब्धं[3] लिङ्गशरीरम्। तत्र स्थूलदेहे त्वक्षाणि नित्याकाशकल्पस्यात्मन उपाधिः; तदुपहितोऽसौ लोकान्तरं [देहान्तरं रंहति[4]] तल्लग्नधर्माधर्मफलं च (तत्र तत्र भुङ्क्ते[5]) इति तत्त्वदर्शिनः। "अस्ति खल्वन्योऽपरो भूतात्माख्यो योऽयं (सितासितैः[6]) कर्मफलैरभिभूयमानः सदसद्योनिमापद्यते"—इति मैत्रश्रुते, "सर्वेऽनन्ता[7]", "समो मशकेन समो नागेन"[8]—इति प्राणाद्यात्मक(लिङ्गस्य)[9] अनन्तस्यापि स्थूलदेहे सङ्कोचावगमात् तत्सहितस्य[10] गत्युपपत्ते-

भावदीपिका

णामिति। श्रुत्यन्तरादप्येवम्—इत्याह—शरीरादेरिति। "आत्मानं रथिनं विद्धि"—इत्यादिश्रुतेः।

[जीवस्य लोकान्तरसञ्चारः—]

विभुः कर्मफलभोक्तेति पूर्वमुक्तम् प्रश्नपूर्वकं च। यथेत्यादिना गतिरानन्त्यश्रुतिविरुद्धा लिङ्गस्याऽपि—इत्याशङ्क्याऽऽह—सर्वेऽनन्ता इति। मशकहस्त्यादिसाम्यश्रुत्या सङ्कोच-

ज्ञानवती

का इन्द्रियान्तर स्वीकार करने पर उनके भी आत्मत्वस्तुति के लिये इन्द्रियों की अनवस्था होने लगेगी। इसलिये बार्हस्पत्य मत आगमिक नहीं है।

[जीव का लोकान्तर सञ्चार—]

(पू) व्यापक आत्मा का लोकान्तरसंचार कैसे होता है? (उ) कहते हैं—पञ्चतन्मात्र महाभूत नामक उपाधियाँ हैं, उससे आरब्ध लिङ्गशरीर हैं। स्थूल देह में इन्द्रियाँ नित्य आकाशकल्प आत्मा की उपाधियाँ हैं, उनसे उपहित यह लोकान्तर और देहान्तर को जाता है और तल्लग्न धर्माधर्म का फल जगह-जगह भोगता है ऐसा तत्त्वदर्शी लोगकहते हैं। "दूसरा भूतात्मा नामक है जो यह शुभाशुभ कर्मों के फलों से अभिभूयमान होता हुआ सद्सद् योनि को प्राप्त करता है"—इस मैत्र श्रुति से "सब अनन्त हैं", "मशक के समान नाग के समान" इस प्रकार प्राणाद्यात्मक लिङ्ग वाले अनन्त का भी स्थूल देह में सङ्कोच ज्ञात होने से उसके सहित की गति की उपपत्ति हो जाती है। अपना मन ही केवल लोकान्तर को जाकर तत्तत् कलेवर में अनुप्रविष्ट होकर तदवच्छिन्न आत्मा का भोग साधन करता है।" "जैसे अनस्=शकट सुस-

---

[1] (क) स्पत्य, (ग) स्पत्यय्। [2] (ग) उच्यते। पञ्च।
[3] (ग) रब्धं सूक्ष्मोदेहः तानि च तत्र-तत्र स्थूलदेहवीजादीनि, (क) आकाशकल्प।
[4] (क) देशान्तरमीहते, (ग) देहान्तरमीहते, [5] (क) तत्रानुभूयते, (ग) तत्र भुङ्क्ते। [6] (क) तदाश्रिय, (ख, ग) सितासि: [7] बृ० १।३।२२।
[8] बृ० १।४।७। [9] (क) लिङ्गात्, (ग) लिङ्गस्य। [10] (ग) तद्वीजैः।

(आत्मन[1]) एव केवलं लोकान्तरं गत्वा तत्तत्कलेवरानुप्रविष्टं तदवच्छिन्नस्यात्मनो भोगं साधयति इति। "तद्यथाऽनः सुसमाहितं सम्भारोपेतं शकटमुत्सर्जत् शब्दं कुर्वद्याति एवमेवायं शारीर आत्मा लिङ्गदेहोऽविद्याकर्मकर्मफलभोगवासनामय-पूर्व(-प्रज्ञासम्भारः[2]) प्रज्ञेनात्मना (अन्वारूढः[3]) अधिष्ठितः उत्सर्जन् हिक्कादिशब्दं कुर्वन् याति"—इति जाग्रत्स्वप्नदृष्टान्तेनेहलोकपरलोकसञ्चारार्थो वेदाविरुद्धः पक्षः।

किञ्च अस्मिन् पक्षे धर्माधर्मयोर्देहदेशमात्रवर्त्तिक्रियानिष्पन्नयोर्लोकान्तरवर्त्त्या-त्मप्रदेशसमवायाभावात्[4] भारतभूभागमपहाय क्रिययाऽपि तयोरनुत्पत्तेर्देवादि-(भोगोद्भवो[5]) न स्यात्। प्रदेशवर्त्तिन्यपि क्रिया चेत् सर्वत्राधत्ते धर्मादिकं[6] संस्कारम्, तदा तत्कार्यं प्रमोदादिकं देहप्रदेशादन्यत्रापि प्रसज्येत। क्रियाया इव विषयेन्द्रियसंप्रयोगस्यापि सर्वत्र स्वकार्याधायकत्वसम्भवात्।

भावदीपिका

विकासौ व्यवस्थाप्येते। तार्किकपक्षप्रतिक्षेपेण स्वपक्षं द्रढयति—आत्मन एवेति। युक्तिविरुद्ध-श्चायं पक्षः—इत्याह – किञ्चाऽस्मिन्निति। अथ पादाऽभ्यञ्जनक्रियाया नेत्रसंस्कारवत् विहि-तादिक्रियाया इवेति। न अन्यत्राऽऽत्मनः संयोगस्याऽसमवायिकारणस्याऽभावान्नाऽतिप्रसङ्गस्तस्यैव नियामकत्वेऽणुमात्रप्रदेश [एव] सुखाऽद्युत्पत्तिः स्यात्। सर्वाऽङ्गसुखाऽद्यनुभवश्च प्रसिद्ध इति। धर्माऽऽदेरपि मनःसंयोगाऽसमवायिकारणत्वात् अणुमात्र उत्पत्तिर्दुर्वारा स्यात् इति च द्रष्टव्यम्।

ज्ञानवती

माहित भार से युक्त होकर शब्द करता हुआ जाता है इसी प्रकार यह शरीर आत्मा, लिङ्गदेह, अविद्या, कर्म, कर्मफलभोग, वासनामय, पूर्वप्रज्ञासंभारसन्तान वाला प्राज्ञ आत्मा से अन्वारूढ़ अधिष्ठित उत्सर्जन करता हुआ अर्थात् हिक्का आदि शब्द करता हुआ जाता है"—इस जाग्रत्स्वप्नदृष्टान्त से इहलोकपरलोकसञ्चारार्थपक्ष वेद से अविरुद्ध है।

इसके अतिरिक्त इस पक्ष में देहदेशमात्रवर्त्ती क्रिया से निष्पन्न धर्माधर्म का लोकान्तर-वर्त्ती आत्मप्रदेश में समवाय न होने से भारत भूभाग को छोड़कर क्रिया के द्वारा भी उन दोनों (=धर्माधर्म) की उत्पत्ति न होने से देव आदि भोग का उद्भव नहीं होगा। यदि प्रदेशवर्त्तिनी भी क्रिया सर्वत्र धर्मादिक संस्कार का आधान करती है तो उसका कार्य प्रमोद आदि देहप्रदेश से अन्यत्र भी होने लगेगा, क्योंकि क्रिया के समान विषयेन्द्रियसंयोग का भी सर्वत्र स्वकार्याधायकत्व सम्भव है।

(पू) कहीं पर सत्ता के द्वारा ही धर्म आदि फलोपयोगी होते हैं, क्योकि पिता आदि में वर्त्तमान वैश्वानरीय इष्टि आदि क्रिया का भी पुत्रपूतत्व आदि फल सुना जाता है। इसप्रकार कर्मवद् द्रव्य को छोड़कर स्व (=कर्मवद् द्रव्य) में भी असमवेत क्रिया का फल साधन में (हेतुत्व सुना जाता है)? (उ) तो गुरुत्व आदि के समान स्वाश्रयसंयोगापेक्ष (कर्मवत् द्रव्य में) धर्म आदि के स्वकार्यकर होने से तत्तदधीनभोगसाधनोत्पत्ति के धर्मादिनिमित्त होने से तदाश्रय

---

[1] (क) स्वजन, (ग) चात्मन। [2] (क) सन्तानः, (ग) संभारः।
[3] (क) नात्मनि रूढो, (ग) नान्वारूढः। [4] (ग) मात्रावर्त्ति।
[5] (क) भोगसद्भावो (ग) भोगोद्भावो : [6] (ग) दि। [1] (क) इव।

अथ क्वचित् सत्तयैव (धर्मादिकं[1]) फलोपयोगि, वैश्वानरीयेष्टयादिक्रियायाः पित्रादिगताया अपि पुत्रपूतत्वादिफलश्रवणात्[2], कर्मवद्द्रव्यं मुक्त्वाऽपि स्वासमवेतायाः (फलसाधने[3]) क्रियायाः ? तदा (गुरुत्वादेरिवाश्रयसंयोगापेक्षस्यैव[4]) धर्मादेः स्वकार्यकरत्वेन तत्तदधीनभोगसाधनोत्पत्तेः धर्मादेर्निमित्तत्वात्[5] तदाश्रयस्यात्मनोऽपि तत्र तत्र वर्त्तनेन व्यापकत्वसाधनं व्याकुलं स्यात्। एकदेशवर्त्तिगुरुत्वादेः (स्वशून्याश्रय[7]-)प्रदेशसंयोगापेक्षस्य कार्य(-करत्वासंप्रति[8]-)पत्तेः। (अतः[9]) स्वर्गादिवर्त्यात्मप्रदेशे धर्मादिसमवायो वक्तव्यः एव; स च न सम्भवति इत्युक्तम्। तस्मादागमानुसरणेनैव व्यापकत्वमात्मनो लोकान्तरसञ्चारो वा वक्तव्यः। आगमश्चोदाहृतः[10] (सूक्ष्म[11]-)शरीरपरः जीवस्य कर्मसहितस्वाविद्ययोपार्जितमपि जगत् क्षेत्रादिवत् कर्षणादिक्रियान्तरं कर्मान्तरं भोग(-साधनत्वे[12]) अपेक्षते। सूक्ष्मशरीरगतं च क्रियादि वासनारूपम्। कारणाविद्यासहचरितस्य तदभेदात्। प्राणादिपञ्चकं, भूतसूक्ष्मपञ्चकं, कर्मेन्द्रियपञ्चकं, बुद्धीन्द्रियपञ्चकं, अन्तःकरणं,

भावदीपिका

प्रादेशिकत्वेऽपि न दोषः—इत्याह—अथेति। "पुत्रे जाते वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत्। यस्मिन् जाते निर्वपति पूत एव स भवति" इत्यादिवचनात्। इष्टहान्या परिहरति—तदेति। दृष्टान्तं विघटयति—एकदेशेति। प्राणिकर्मनिमित्ता सृष्टिः—इति सर्वसम्मतम्। ततः स्वाविद्योपार्जितत्वप्रयुक्तं कर्माऽनपेक्षत्वप्रसङ्गं परिहरति—जीवस्येति। ननु सूक्ष्मशरीरस्य सुप्त्यादौ प्रलयात् तद्गतकर्मणोऽपि प्रलयाऽऽपत्तौ कथं तस्य सृष्ट्याविनिमित्तत्वम्? तत्राऽऽह—सूक्ष्मेति। लिङ्गस्याऽपि संस्कारात्मनाऽवस्थानाऽङ्गीकारान्न दोषः। स्मृतितोऽपि वेष्टितगमनं सम्पादयति—प्राणादिपञ्चकमिति। भूताऽऽत्मा यथोक्तः

ज्ञानवती

आत्मा के भी स्थान-स्थान पर रहने से व्यापकत्व साधन व्याकुल हो जायगा। क्योंकि स्वशून्यआश्रयप्रदेशसंयोगापेक्ष एकदेशवर्त्ती गुरुत्व आदि के कार्यकरत्व का ज्ञान नहीं है। इसलिये स्वर्गादिवर्त्ती आत्मप्रदेश में धर्मादिसमवाय ही कहना चाहिये और यह सम्भव नहीं है—ऐसा कह दिया गया है। इसलिये आगम के अनुसरण के द्वारा आत्मा का व्यापकत्व अथवा लोकान्तर का संचार कहना चाहिये और आगम उदाहृतसूक्ष्मशरीरपरक होता हुआ जीव के कर्मसहित अपनी अविद्या से उपार्जित कर्षण आदि क्रिया के बाद क्षेत्र आदि के समान जगत् के भोगसाधनत्व में कर्मान्तर की अपेक्षा रखता है। और सूक्ष्मशरीरवर्त्ती क्रिया आदि वासनारूप है। क्योंकि कारणाविद्यासहचरित का उससे (=कारणाविद्या) से अभेद है। प्राणादि पाँच भूतसूक्ष्म पाँच,

[1] (क) कर्मा, (ग) घर्मा। [2] कर्मवद् द्रव्यं मुक्त्वाऽपि
[3] (क) फलाधाने, (ग) फलसाघने। [4] (क) इच्छादेः स्वाश्रय, (ग) गुरुत्वादेरिवाश्रय। [5] (क) च, (ग) एव। [6] (ग) दवीयो।
[7] (क) स्वाश्रय, (ग) स्वशून्याश्रय। [8] (क) त्व। (ग) त्या।
[9] (क) अथ, (ग) अतः। [10] (ग) चोदना। [11] (क) स, (ग) सूक्ष्म।
[12] (क) कत्वे, (ग) नत्वे।

अविद्या कामः कर्म च इति पुर्यष्टकम् मोक्षादर्वाग् जीवबन्धनमागमप्रसिद्धम्—

"पुर्यष्टकेन लिङ्गेन प्राणाद्येन स युज्यते।
तेन बद्धस्य वै बन्धो मोक्षो मुक्तस्य तेन च ॥"

इति स्मृतेश्च। ननु भूतात्माऽपि मिश्रणेन[1] नयति इति वक्तव्यम्, तच्चात्रानुपपन्नम्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"स्वतस्तावदमूर्त्तत्वान्न भूतैर्मिश्रताऽऽत्मनः।
ततश्च तैरसंश्लिष्टो न नेतुं शक्यते क्वचित् ॥"[2]

यदा मूर्त्तानामपि सूक्ष्माणां चन्द्रादित्यप्रकाशादीनां न मृत्पिण्डादिभिः सह मिश्रत्वमुपपद्यते तन्नयनेन वा नयनं [[3]भवति]; तदाऽऽत्मनः स्वभावेनात्यन्ताऽमूर्त्तस्य भूतैर्मिश्रत्वं नयनं भवति इति कुत एतदिति ?

[प्रतिबिम्बात्मवादः—]

स्यादेवम्, यदि मिश्रणेन नयन(-मुपपाद्येन[4]); न तथा; प्रतिबिम्बत्वेन

भावदीपिका

किं मिश्रणेन चेतनं लोकान्तरं नयति ? प्रतिबिम्बितत्वेन वा ? आद्योऽनुपपन्नः—इत्याह—नन्विति।

[प्रतिबिम्बात्मवादः—]

द्वितीयाऽभ्युपगमेन प्रत्याह—स्यादेवमिति। श्रुतिसूत्राभ्यां मिश्रितस्यैव गमनं

ज्ञानवती

कर्मेन्द्रिय पाँच, बुद्धीन्द्रिय पाँच,, अन्तःकरण, अविद्या, काम और कर्म यह पुर्यष्टक जो मोक्ष से पहले जीव का बन्धन है आगमप्रसिद्ध है—

"वह जिस प्राण आदि वाले पुर्यष्टक लिङ्ग से जुटता है, उससे बद्ध का बन्धन और उससे मुक्त का मोक्ष होता है"। यह स्मृति है।

(पू) भूतात्मा भी मिश्रण से चलता है—ऐसा कहना चाहिये और वह यहाँ अनुपपन्न है। भट्टपाद ने कहा है—

"अमूर्त्त होने से आत्मा की भूतों के साथ स्वतः मित्रता नहीं है। फिर उनसे असंश्लिष्द हुए विना वह कहीं नहीं ले जाया जा सकता।"

जब मूर्त्त भी सूक्ष्म चन्द्र आदित्य के प्रकाश आदि का मृतपिण्डादि के साथ मित्रत्व नही उपपन्न होता है, अथवा उसके नयन से नयन होता है, तो स्वभावतः अत्यन्त अमूर्त्त आत्मा का भूतों के साथ मिश्रत्वनयन होता है—यह कैसे ?

[प्रतिबिम्बात्मवाद—]

(उ) ऐसा होता यदि मिश्रण के द्वारा नयन की उपपत्ति की जाती, किन्तु वैसा है नहीं, प्रतिविम्व के रूप में नयन उपपादित होता है। "(आत्मा) देहान्तर की प्राप्ति होने पर पञ्चभूत-

---

[1] (ग) श्रवणेन। [2] श्लो० वा० २।१।२। [3] (क) नयनं, (ग) नयनं वा भवति। [4] (क) पाद्यते, (ग) पाद्येत।

हि नयनमुपपाद्यते "तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति सम्परिष्वक्तः" इत्यत्र (द्युपर्जन्य[१]-) पृथिवीपुरुषयोषाऽऽख्येषु श्रद्धापूर्व[-हु-]तानां दधिपयःसोमरसाद्यपामपूर्वात्मकसूक्ष्म-रूपेण पुरुषमिश्रितानामातिवाहिकदेहैः[२] प्रथमे, द्वितीये चन्द्ररूपेण, तृतीये वृष्टिरूपेण, चतुर्थेऽन्नरूपेण भूतानां पञ्चमशमाहुतौ योषिदग्नौ हुतानां पुरुषवचस्त्वश्रवणेन[३] आसां च त्रिवृत्कृतत्वात् भूतमिश्रितजीवस्य (गमनं[४]) वर्णितं श्रुत्युक्तं च प्रतिविम्बा-भिप्रायेण[५]। अपरथा इष्टादिकर्मरहिताना(-माहुत्यभावात्[६]) देहबन्धो न स्यात्। उक्तश्च यमालये दुःखभोगावनन्तरं "संयमने त्वनुभूय"[७] इत्यत्र सूत्रकृता।

"तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।"[८] इति मनःप्रधानलिङ्गस्य गतिश्रुतेश्च।

"अपहारो यथा भानोः सर्वतो जलपात्रकैः।
तत्क्रियाऽऽकृतिदेशाभिः तथा बुद्धिभिरात्मनः॥"

इति सुरेश्वराचार्यवचनाच्च। न च अमूर्त्तात्मनो[९] रूपत्वात् प्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वा-

भावदीपिका

प्रतीयते। तत्कथं त्यज्यते? तत्राऽऽह—तदन्तरेति। कथमयमभिप्रायो गम्यते? तत्राऽऽह—अपरथेति। अविद्यावेष्टनस्याऽनादित्वात् कर्मकृत्वाऽनुपपत्तेरधिकरणस्यारो.........

.........[१०]शात् "रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव", "एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्" —इति प्रतिबिम्बभाववर्णनाच्च। दुरपलापोऽयं पक्षो लोकाऽतीतश्रौतधर्मादिफलवत् केवलदृष्टा-ऽनुसरणे लोकायतवाद एव विजयी स्यादिति भावः।

ज्ञानवती

सूक्ष्मांशो से संयुक्त होकर (लोकान्तर को) जाता है।" यहाँ पर द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषा, नामक पाँच अग्नियों में श्रद्धापूर्वक हवन किये गये दधि पयस् सोमरस आदि जल (आदि) अपूर्वात्मक सूक्ष्मरूप से पुरुष मिश्रित का अतिवाहिक देहों से प्रथम में, दूसरे में चन्द्र रूप से, तीसरे हवन किये गये में वृष्टि रूप से, चौथे में अन्न रूप से, पाँचवी आहुति में योषित अग्नि में हवन किये गये भूतों का पुरुषवचस्त्वश्रवण के द्वारा इनके त्रिवृत्कृत होने से श्रुति में कथित भूतमिश्रितजीव के गमन का वर्णन प्रतिबिम्ब के अभिप्राय से है, अन्यथा इष्ट आदि कर्मरहितों की आहुति न होने से देहवन्ध नहीं होगा। यमालय में बाद में दुःख और भोग को सूत्रकार ने "संयमने त्वनुभूय" यहाँ पर कहा है।

लिंग(—शरीर) कर्म के साथ आसक्त होकर जहाँ इसका मन निषक्त है उसी को प्राप्त होता है।"

---

१ (क) पर्जन्य, (ग) द्युपर्जन्य। २ (ग) देवैः। ३ (ग) चनत्वश्रवणात्।
४ (क) स्य वर्णि, स्य गमनं वर्णि। ५ (ग) प्रायेणैव। ६ (ग) मुत्पत्त्य, (ग) माहुत्य। ७ ब्र० सू० ३।१।१। ८ बृ० उ० ४।४।६।
९ (ग) भूतात्मनो। १० प्रायः पञ्चदशपंक्तयोऽप्राप्ताः।

भावः शङ्कनीयः; रूपस्य तत्राप्यङ्गीकारात्; अविद्याया अचिन्त्यशक्तित्वाद्रूपादि-कार्योपादानत्वेन प्रतिबिम्बोद्ग्राहित्वस्य सम्भवाच्च; तस्याश्चलाचलादिरूपेणा-निर्वाच्यत्वाच्च। न च नीरूपस्य चेतनस्य शब्दादिवन्न प्रतिबिम्बता; तदुक्तम्—

"शब्दगन्धरसादीनां कीदृशी प्रतिबिम्बता।"

इति शङ्कनीयम्; नीरूपस्यापि नभसो जले प्रतिबिम्बदर्शनात्। न च वाच्यम्-नभसोऽपि समारोपितरूपस्यैव प्रतिबिम्बदर्शनात् आत्मनश्च तदभावात् न प्रति-बिम्बताऽऽपत्तिरिति; अविद्यामहिम्ना तस्यापि सम्भवात्; "तद्धेतदन्तर्ह्यव्याकृतमासीत्[1]" "अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योहमस्मि इति न स वेद" इति[2] चाविद्याया वेदे साक्षिसिद्धायाः सूत्रितत्वात्; प्रमाणविषयत्वे तस्या अज्ञानविषयत्वे-नाज्ञानानवस्थानात्;

"आराममस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन[3]।"

"तन्न पश्यन्त्यकृत्स्नो हि सः[4]।"

इति च यथावत्त्वदर्शनविरोधित्वेन तस्या अवधारणाच्च। अत एव "आदित्य-वर्णम्[5]" इति समारोपितरूपाभिप्रायेणाह वेदाचार्यः।

ज्ञानवती

इस प्रकार मनःप्रधान लिंग की गति सुनी जाती है।

"जैसे जल पात्रकों के द्वारा सूर्य का सर्वतः आच्छादन होता है उसी प्रकार मन की क्रिया एवं प्रयत्नदेश वाली बुद्धियों से आत्मा का आच्छादन होता है—ऐसा सुरेश्वराचार्य का वचन है। (पू) अमूर्त्त आत्मा के नीरूप होने से प्रतिबिम्ब का उद्ग्रहण नहीं होगा (उ) ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि वहाँ भी रूप को माना गया है, और अचिन्त्य शक्ति होने से अविद्या के रूप आदि कार्य का उपादान होने से प्रतिविम्वोद्ग्राहितत्व सम्भव है, तथा वह चल और अचल आदि रूप से अनिर्वाच्य है। (पू) नीरूप चेतन की शब्द आदि के समान प्रतिबिम्वता नही है? कहा भी है—"शब्द, गन्ध, रस आदि की कैसी प्रतिबिम्वता?"

(उ) ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि नीरूप भी आकाश का जल में प्रतिबिम्ब देखा जाता है। (पू) आकाश के भी समारोपित रूप का ही प्रतिबिम्ब देखे जाने से और आत्मा के (बारे में) उसका अभाव होने से प्रतिविम्वतापत्ति नहीं होगी? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि अविद्या की महिमा से वह भी सम्भव है। "वह यह अव्याकृत था"। "जो दूसरी देवता की उपासना उस समय करता है वह दूसरा है मैं दूसरा हूँ इस प्रकार वह नहीं जानता।" इस प्रकार अविद्या को वेद में साक्षीसिद्ध सूचित किया गया है। उसका प्रमाण-विषयत्व होने पर अज्ञान विषय होने से अज्ञान की स्थिति नहीं रहती; तथा "इसके आराम को लोग देखते हैं पर उसको कोई नहीं देखता", "उसको नहीं देखते क्योंकि वह अकृत्स्न है" इस प्रकार यथावत्त्वदर्शन के विरोधी के रूप में उसका निश्चय हुआ है। इसीलिये वेदाचार्य ने समारोपित- रूपाभिप्राय से "आदित्यवर्णम्"—ऐसा कहा है।

---

१ बृ० उ० १।४।७। २ बृ० १।४।१०। ३ बृ० ४।३।
४ बृ० १।४।७। ५ श्लो० ३।८।

अथाप्यनाद्यविद्यायामनादिप्रतिविम्बभावः कथं रूपसमारोपपूर्वकः ? उच्यते—वेदस्यानादित्वात् (तेनैव[1]) च "आदित्यवर्णम्", "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव[2]" इति च रूपसमारोपप्रतिबिम्बभावयोरवगमात् तत्प्रामाण्यानुसारेणैव तन्निर्णयः।

अथवा चाक्षुषप्रतिबिम्ब एव रूपनियमः। प्रतिबिम्बपक्षे च द्विगुणीकृत्य नभोवत् वृत्तिसद्भावात् अवच्छेदपक्षे च तदसम्भवात् हृदयाद्यवच्छिन्नेऽन्तर्यामितया[3] परमात्मनोऽवस्थानासम्भवेन प्रतिबिम्बपक्ष एव रमणीयः। घटादेरवच्छेदकत्वे च तावति प्रदेशे तदपसारणे नभसोऽभावप्रसङ्गात्। तत्रापि यथाकथञ्चित् कल्पने[4] जलदर्पणादाविव प्रतिबिम्बत्वस्यैव कल्पनीयत्वात्।

अत्र च मुखादौ दर्पणादिसन्निधानात्[5] विच्छिन्नदेशत्वप्रत्यङ्मुखत्वारोपवत् चैतन्ये मायया भेदादिसमारोपः[6] स्फटिकलौहित्यवदहङ्कारोपाधिकः। कर्तृत्वादि-(भ्रमः[7]) रज्जुसर्पादिवत् निरुपाधिकः। अहं मनुष्यादि(-भ्रमः) वस्तुतोऽसङ्गस्य

भावदीपिका

केचिदवच्छेदपक्षं कक्षीचक्रुः। स्वपक्षस्य ततोऽपि युक्ततरत्वं दर्शयन् ग्राह्यतामाह—प्रतिबिम्बपक्षे चेति। "अन्तर्यामित्वं घटाऽऽद्यवछिन्नाऽऽकाशं प्रति अनवच्छिन्नमहाकाशस्येव अवच्छिन्नजीवान् प्रति बिम्बभूताऽनवच्छिन्नब्रह्मण :"—इत्यभियुक्ताः। आकाशावच्छेदवत् ब्रह्मावच्छेदः—इत्यपि न युक्तम्—इत्याह—घटादेरिति। इदानीं शास्त्रे विस्तृतोदाहरणानां संग्रहं समारोपविशेषोपयुक्तमाह—अत्र चेत्यादिना। प्रतिबिम्बस्य सत्यत्वे चिदाभासप्रसिद्धिः कथम् ?

ज्ञानवती

अनादि अविद्या में अनादि प्रतिविम्बभाव रूपसमारोपपूर्वक कैसे है ? (उ) कहते हैं—वेद के अनादि होने से और उसी से "आदित्य के वर्ण का" "रूप रूप के प्रतिरूप हो गया" इस प्रकार रूपसमारोप और प्रतिविम्बभाव का अवगम होने से उस प्रामाण्य के अनुसार ही उसका निर्णय होता है।

अथवा चाक्षुषप्रतिबिम्ब में ही रूप का नियम है। और प्रतिविम्बपक्ष में दोगुना करके आकाश के समान वृत्ति होने से और अवच्छेद पक्ष में उसके असम्भव होने से हृदय आदि से अवछिन्न में अन्तर्यामी के रूप में परमात्मा की स्थिति असम्भव होने से प्रतिबिम्ब पक्ष ही रमणीय है। और घट आदि के अवच्छेदक होने पर उतने प्रदेश में उसका अपसारण होने पर आकाश का अभाव होने लगेगा। वहाँ भी यथाकथञ्चित् कल्पना करने पर जलदर्पण आदि के समान प्रतिबिम्बत्व की ही कल्पना करनी चाहिये।

और यहाँ मुख आदि में दर्पण आदि का सन्निधान होने से विच्छिन्नदेशत्व प्रत्यङ्मुखत्व के आरोप के समान चैतन्य में माया के द्वारा भेद आदि का समारोप स्फटिकलौहित्य के समान

---

[1] (क) तत्रैव, (ग) तेनैव। [2] बृ० २।५। [3] (ग) ब्रह्माण्डा।
[4] (ग) कलुषित। [5] (क) दर्पणादादि समारोपः।
[6] (क) दि रज्जु, (ग) दि भ्रमोरज्जु। [7] (क) क्रमो, (ग) भ्रमो।

(कुम्भा[1]-)काशवत् सङ्गसमारोपः अनीश्वरत्वेश्वरत्वादिधर्म उपाधिसन्निधिकृतश्चिदाभास उच्यते ।

[आत्मनः मध्यमपरिमाणस्य निराकरणम्---]

अथ किमनया कल्पनया, चेतन एवास्तु देहपरिमाणः, स च पक्षिवत् वृक्षान्तरफलं तत्तद्देहसंक्रमणेन कर्म (भुङ्क्ताम्[2]) तत्रैव च भोगदर्शनम् तत्परिमाणत्वगमकम्; न चेतरत्र विषयेन्द्रियसंप्रयोगाभावेन भोगादर्शनं व्यापकस्यापि इति मन्तव्यम्? तथा सति चक्षुराद्यन्यतमस्य शरीरैकदेशवर्त्तिनो विषयविशेषसंप्रयोगेण समग्रशरीरप्रदेशवर्त्यात्मनि भोगानुदयप्रसङ्गात् ।

किञ्च बद्धात्मनां शरीरादत्यन्तव्यतिरेकाभावादस्त्येव मूर्त्तत्वं जीवस्य तेन

भावदीपिका

तत्राऽऽह—अनीश्वरत्वेति । चैतन्ये आभासः=चिदाभास इत्यर्थः । प्रतिबिम्बस्य लोकान्तरसंचार उपाधिद्वारेणेष्यते? न वा? न चेत् "रंहति सम्परिष्वक्तः"—इत्यादिभङ्गोऽर्चिरादिगतिश्रुतिव्याकोपश्च । गतिश्चेदुपाधेः परिच्छिद्यत्वात् अनवच्छिन्नभागगतमुक्तचैतन्यप्रतिबिम्बाऽवग्रहे मुक्तानां बन्धो, विनैव च ब्रह्मज्ञानं पूर्वाऽवरुद्धबद्धभागमुक्तता स्यात् ।

[आत्मनो मध्यमपरिमाणस्य निराकरणम्—]

प्रतिबिम्बस्य चलने च न निश्चलबिम्बैकघटनेति । दुर्घटोऽयं पक्ष इति मन्वानो दिगम्बरः प्रत्यवतिष्ठते—अथेति । "पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्"—इति श्रुत्यभिमतोऽप्ययं पक्षः—इत्याह—स चेति । युक्तिमप्याह—तत्रैव चेति । युक्तेरन्यथासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—न चेतरत्रेति । मूर्त्तत्वे युक्त्यन्तरं वदन् गमनमुपपादयति—किञ्चेति । शरीरपरिमाणत्वं मूर्त्तत्वम्; किं तत् मिश्रणनिमित्तमेव? स्वाभाविकमेव

ज्ञानवती

अहंकारोपाधिक है। कर्तृत्व आदि का भ्रम रज्जुसर्प आदि (के भ्रम) के समान निरुपाधिक है। 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि भ्रम वस्तुतः असङ्ग का कुम्भाकाश के समान सङ्गसमारोप है। अनीश्वरत्व ईश्वरत्व आदि धर्म (जो कि) उपाधिसन्निधिकार का है, चिदाभास कहा जाता है।

[आत्मा के मध्यमपरिमाण का निराकरण--]

(पू) इस कल्पना से क्या? चेतन ही देह के परिमाण वाला हो जाय और वह वृक्षान्तर के फल को पक्षी के समान, कर्म को तत्तद् देहसङ्क्रमण के द्वारा भोगे। और वही भोग का दर्शन उसके परिमाणत्व का गमक मान लिया जाय। अन्यत्र विषयइन्द्रियसंप्रयोग न होने से व्यापक का भी भोग-दर्शन नहीं होगा—ऐसा नहीं मानना चाहिये, क्योंकि ऐसा होने पर शरीर के एकदेश वर्त्तमान चक्षु आदि में से किसी का विषयविशेष से संयोग होने के कारण समग्रशरीरप्रदेशवर्त्ती आत्मा में भोग का उदय नहीं होगा।

(पू) और भी बद्ध आत्माओं का शरीर से अत्यन्त व्यतिरेकाभाव होने के कारण जीव का मूर्त्तत्व है ही। इसलिये मिश्रित होने से लोकान्तर आदि की गति भी सम्भव है? (उ) यह

---

[1] (क) महा, (ग) कुम्भा। [2] (क) भुङ्क्ते। (ग) भुक्ताम्।

मिश्रत्वेन लोकान्तरादिगतिरपि सम्भवतीति; तन्न; शरीरे[1] मिश्रितत्वेन शरीरपरिमाणतया मूर्त्तत्वे परस्पराश्रयप्रसङ्गात्—मिश्रत्वान्मूर्त्तत्वम् मूर्त्तत्वाच्च मिश्रत्वम्—इति। तस्मान्मुक्तावस्थानिदर्शनेनास्य लक्षणतोऽमूर्त्तत्वान्नशरीरसम्पर्कनिमित्तमूर्त्तत्वसिद्धिः। ततश्च शरीरादन्यः तेनासम्पृक्तश्चा(-स्पर्शवत्त्वात्[2]) वायुना कृष्यमाणे शरीरे गच्छति तद्गताऽऽकाशप्रदेशवदात्माऽवच्छिन्नस्तथैव तिष्ठेत्। नहि तस्य वायुना पृथिव्यादिभिर्वा प्रेरणम्, येन स्वेरितः परप्रेरितो वा गच्छेत्। (ज्वाला[3]-) प्रभृतीनां तु स्पर्शसम्भवात्[4] वायुना प्रेर्यमाणाना(-मुल्मु[5]-)कादिना वा नीयमानानां युक्तं गमनम्। तेन केवलशरीरं गच्छदचेतनं स्यात्। किञ्चार्हतैरभ्युपगम्यमानोऽयं शरीरपरिमितोऽभ्युपगम्यते। तत्रापि बह्वदृष्टं कल्पनीयम्। तदाहुर्भट्टपादाः—

"सद्भावोऽवयवानां[6] च तथा तेषामनन्ता।
संश्लेषश्च विनाऽन्येन तद्भावेऽपि च नित्यता॥
अतिसंकोचविस्तारौ पुत्तिकाहस्तिदेहयोः।
अन्तराभवसञ्चारः तद्भावाज्ञानकारणे[7]॥"

नो खलु द्रवत्वादिना विना अवयवानां कश्चित् संश्लेषहेतुर्विद्यते। न चासं-

भावदीपिका

वा? नाद्यः - इत्याह—तन्नेति। अन्यं परिशिनष्टि—तस्मादिति। मुक्ताऽवस्थायां शरीरसम्पर्काऽभावेऽपि मूर्त्तत्वाऽङ्गीकारात् स्वाभाविकमेव मूर्त्तत्वम्; ततः को दोषः?—तमाह—ततश्चेति। दीपज्वालादीनां वर्त्त्याद्यधीनगमनवद् अस्य गमनमाशङ्क्याऽऽह—ज्वालेति। अस्पर्शस्य च गगनवत् स्वतः परतो गमनं मूर्त्तत्वं च दुर्घटमिति नायं पक्षो युक्तः। इतश्च अयुक्तः—इत्याह—किञ्चेति। संश्लेषश्च विनाऽन्येन—इत्येतद् विवृणोति—नो खल्विति।

ज्ञानवती

नहीं है। शरीर में मिश्रित होने से शरीरपरिमाण के कारण मूर्त्त होने पर अन्योन्याश्रय हो जायगा—मिश्रित होने से मूर्त्तत्व और मूर्त्त होने से मिश्रिततत्व। इसलिये मुक्तावस्था के निदर्शन से इसके लक्षणपूर्वक मूर्त्त होने से शरीरसंपर्कनिमित्तमूर्त्तत्व की सिद्धि नहीं होती। इसलिये आत्मा शरीर से अन्य उससे असंपृक्त (है) क्योंकि स्पर्शवत्त्व नहीं है। वायु के द्वारा कृष्यमाण. शरीर के जाने पर तद्गत आकाशप्रदेश के समान आत्मावच्छिन्न (शरीर) उसी प्रकार रहेगा। उसकी वायुके द्वारा अथवा पृथिवी आदि के द्वारा प्रेरणा नहीं होती जिससे अपने से अथवा दूसरे से प्रेरित होकर वह चले। ज्वाला आदि का तो स्पर्श सम्भव होने से वायु से प्रेर्यमाण अथवा उल्मुक आदि से नीयमान होने पर गमन युक्त है। इसलिये केवल शरीर जाता हुआ अचेतन हो जायगा। इसके अतिरिक्त आर्हतों के द्वारा गम्यमान यह (आत्मा) शरीरपरिमित माना जाता है। वहाँ भी बहुत से अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ती है। भट्टपाद ने कहा है—

---

[1] (ग) शरीर।
[2] (क) स्पर्शत्वात्, (ग) स्पर्शवत्वात्।
[3] (क) जाल, (ख) जल, (ग,घ) ज्वाला।
[4] (क) सम्भवात्, (ग) सम्बन्धाद्।
[5] (क) मूल्य, (ग) मुल्मु।
[6] (ख) तद्भावः।
[7] तं० वा० २।१।२।

श्लिष्टानामेकजीवारम्भसामर्थ्यम्। सर्वसंयोगानाञ्च वियोगावसानत्वात् घटादितुल्यस्य जीवस्य कदाचित् प्रध्वंसो भवेत् (छेदश्च[१]); छिन्नावयवानां बहिष्पातश्च। गात्रच्छेदे च तद्वर्तिनां जीवावयवानां ततो निस्सृत्यावशिष्टे शरीरभागे पुनः प्रवेशश्च इत्येतदप्यप्रमाणकम्।

यत्तु वियोजितगात्राणां हस्तादीनां स्फुरणं दृष्टम्, तदभिघातप्रेरितवायुनिमित्तम् इति; न तावता (जीवावयवानां[२]) गतिर्विज्ञायते। तथा सति सङ्कोचविकासावेतेषां भवत इत्यत्र न किञ्चित् प्रमाणम्। प्रदीपप्रभाप्रभृतीनां प्रत्यक्षत्वात् सङ्कोचाद्युपपद्यते। न च प्रदीपप्रभायां सङ्कोचो भवति; शरावादिच्छादने शेषप्रभाविनाशात्।

एतेन विकासोऽपि प्रत्युक्तः। अन्य एव ह्यवयवाः तत्र प्रतीयमाना विस्तारं

भावदीपिका

आकस्मिकसंश्लेषोऽप्यनुपपन्नः—इत्याह—सर्वेति। अनेन तदभावेऽपि च नित्यता—इति विवृतम्। चकारसूचितमदृष्टान्तरकल्पनं निस्सरणप्रवेशाय चैतन्यस्याऽच्छिन्नस्य पटवत् प्रसारणमनुपपन्नमाह—गात्रच्छेदे चेति।

चैतन्याऽवयवानां निर्गमनं विना तत्कालच्छिन्नगात्रकम्पो न घटते—इत्याशङ्क्याऽऽह—यत्त्विति। स्पर्शाऽभावादेव न चैतन्यस्य वायुवत् कम्पहेतुत्वम्—इत्यर्थः। प्रसारणमतोऽपि न युक्तम्—इत्याह—तथा सतीति। निस्सरणप्रवेशयोरभावे सतीत्यर्थः। प्रदीपप्रभावत् प्रसारणं वैषम्येण निराचष्टे—प्रदीपेति। असम्मतश्चाऽयं दृष्टान्तः—इत्याह—न चेति। प्रसारितपटस्येव

ज्ञानवती

"अवयवों का सद्भाव, उनकी अनन्तता, अन्य के विना संश्लेष, सद्भावमें भी नित्यता, पुत्तिका (=एक प्रकार का कृमि) एवं हस्ती के देह में (आत्मा का) अतिसंकोच और विस्तार अन्तराभव का संचार (अर्थात्एक देह से दूसरे देह में जाना) यह सब तद् (=देहान्तर—) भाव के अज्ञान रूप कारण के होने पर (होता है)।'

द्रवत्व आदि के विना अवयव का कोई संश्लेषहेतु नहीं है। और असंश्लिष्टों का एकजीवारम्भसामर्थ्य नहीं है। तथा सब संयोगों के वियोगावसान होने से घटादितुल्य जीव का कदाचित् प्रध्वंस और छेद हो जायगा। छिन्न अवयवों का बहिष्पात हो जायगा। गात्रच्छेद होने पर तद्धर्मी जीवावयवों का उससे निकलकर अवशिष्ट शरीर भाग में फिर से प्रवेश-यह भी अप्रमाणक है।

और जो (यह कहा) कि वियोजितगात्रवाले हाथ आदि का स्फुरण देखा जाता है वह अभिघातप्रेरितवायुनिमित्तक है, इससे जीव के अवयव की गति नहीं जानी जाती, ऐसा होने पर इनका संकोच विकास होता है; तो इस विषय में कोई प्रमाण नहीं है। प्रदीपप्रभा आदि प्रत्यक्ष होने से संकोच आदि उपपन्न होता है। प्रदीपप्रभा में संकोच नहीं होता, क्योंकि सराव आदि से ढक देने पर शेषप्रभा का विनाश हो जायगा।

---

१ (क) भवेत्, (क) छेदश्च। २ (क) वानुग, (ग) वानांग।

जनयन्ति इति न तावतामेव विकासः। स्पर्शवतां च परस्परं देशप्रतिबन्धाद्देशान्तरव्याप्त्या विकासो घटते। जीवावयवानां त्वमूर्त्तत्वात् सर्वेषां समानदेशत्वाविघातान्नित्यमणुमात्रत्वप्रसङ्गः।

कथं चैकस्य जीवस्य पुत्तिकाहस्तिदेहपरिमितौ सङ्कोचविकासौ युज्येते? मरणकाले चान्तराभवशरीरसञ्चरणम्? तच्चास्ति। केनचित् प्रतिबन्धेन सदपि न गृह्यते। तेन च शरीरान्तरे जीवनिक्षेप इत्यादि निष्प्रमाणकम्। तस्मात् सर्वगत एव। अत एव न पक्षिवदुत्प्लुत्य देहान्तरसञ्चारोऽस्य। स्थायित्वादेव च न क्षणिकाभम्—इत्यालयविज्ञानात्मकस्यात्मनो देहान्तरे शब्दादिज्ञानकार्यलाभस्तत्सञ्चारः। सेन्द्रिय(-देहोत्पत्तौ[१]) परमाणूनामिव प्रतिक्षणमात्मोत्पत्तौ उपादाना-

भावदीपिका

प्रमायाः सकलाऽदर्शनात् विनाश इत्यर्थः। इतश्च न विकासो युक्तः—इत्याह—स्पर्शवतां चेति। द्वितीयं वार्त्तिकं विवृणोति—कथञ्चेति। एवं युक्त्या सर्वगतत्वे स्थिते "स पर्यगात्", "आकाशवत् सर्वगतश्च"—इत्यागमाऽनुसारेण "पुरः स पक्षी भूत्वा"—इत्यादि श्रुतिः औपाधिकप्राणादिकोशविशिष्टस्वरूपविषया—इत्याह—अत एवेति। अविद्यायाश्च यत्र तत्र भ्रमोपादानत्वात् सर्वगतत्वे प्रतिबिम्बचैतन्यस्याऽपि तत्त्वेऽविद्याकोशचलनेन तत्र चलनत्वाऽदिसंसारारोपः; अतो न बद्धमुक्तव्यत्यासदोषः; नाऽपि निश्चलबिम्बैक्यविरोधः—इति द्रष्टव्यम्। मताऽन्तरोक्तं लोकाऽन्तरसञ्चारं निराचष्टे—स्थायित्वादेवेति। स्थायित्वाभावे कर्माऽऽश्रयत्वतत्कृतलोकाऽन्तरसंचारयोरनुपपत्तेः। न च तत्सन्ताने कर्मोद्भवः पूर्वं तस्मिन्नेव सन्ताने कार्पासरक्ततावत् उत्तरत्र फलोद्भव इति लोकान्तरोपपत्तिः? निरन्वयविनाशे कार्पासरक्तताऽऽदेरप्यदृष्टान्तत्वात्; निरन्वयोत्पत्तेरप्ययोगाच्च अन्वयिद्रव्याऽऽङ्गीकारे स्थायिवादाऽऽपत्तिः। आत्मनश्च ज्ञानैकरसस्याऽनुस्यूतनित्यज्ञानोपादानाऽऽभ्युपगमे तस्यैव श्रुत्युक्ताऽऽत्मत्वसम्भवे व्यर्था क्षणिकविज्ञानविग्रहाऽऽत्मकल्पना—इत्याशयेनाऽऽह—सेन्द्रियेति।

ज्ञानवती

इससे विकास भी खण्डित हो गया। दूसरे ही अवयव वहाँ प्रचीयमान होते हुए विस्तार उत्पन्न करते हैं; इसलिये उतने का ही विकास नहीं होता। स्पर्शवानों का परस्पर देहप्रतिबन्ध होने से देहान्तरव्याप्ति से विकास होता है। और सब जीवावयवों का तो अमूर्त्त होने से समान देशत्वाविघात होने से नित्य अणुमात्रत्व का प्रसङ्ग हो जाता है।

कैसे एक जीव का पुत्तिकाहस्तीदेहपरिमित संकोच और विकास युक्त होता है और मरणकाल में अन्तराभवशरीर का सञ्चरण? वह होता है। किन्तु सत् होते हुए भी किसी प्रतिबन्ध के कारण ग्रहण नहीं होता। इससे शरीरान्तर में जीव का निक्षेप इत्यादि निष्प्रमाणक है। इसलिये (जीव) सर्वगत ही है। इसीलिये पक्षी के समान कूद कर इसका देहान्तरसञ्चार नहीं है। स्थायी होने से ही क्षणिक के समान नहीं है। इसलिये आलयविज्ञानात्मक आत्मा का देहान्तर में शब्द आदि ज्ञानकार्य का लाभ और उसका संचार नहीं है। जैसे भूत सूक्ष्मों का उपमर्दन कर कर के वेदान्तियों के यहाँ नया-नया स्थूल देह का आरम्भ होता है उस-

[१] (क) होत्पत्तेः, (ग) होत्पत्तौ।

भावाच्च। यथा भूतसूक्ष्माणामुपमृद्योपमृद्य नवनवस्थूलदेहारम्भकत्वं वेदान्तिनाम्।

[आत्मनोऽणुपरिमाणनिराकरणम्—]

यत्तु श्यामाकतण्डुलवालाग्रमात्रत्वाद्यभिधानं, तत्सूक्ष्मग्रहणगोचरत्वाद् विभोरेव, औपाधिकानुवादो वा; "तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत्"—इति व्याससूत्रात्। यदि च अणुमात्र आत्मा भवति तदा यावानेष[1] प्रदेशविशेषः तेनाधिष्ठितस्तन्मात्रगतानामेव सुखादीनामुपलब्धिः प्राप्ताः[2]। ततश्चैकस्मिन् क्षणे शिरःपादादिवेदनाऽनुभवो न स्यात्। न च तस्य मण्यादेरिव प्रभामण्डलं देहव्यापिज्ञानम्। ज्ञानस्य गुणत्वे[3] सक्रियत्वे वा न तदणुमात्रम्[4]। अथ लघुसञ्चारित्वात्तत्तदुपलभत इत्युच्यते? न तत्र[5] प्रमाणमस्ति। न च कालभेदो

भावदीपिका

[आत्मनोऽणुपरिमाणनिराकरणम्—]

ननु श्रुतीनामपि विप्रतिपत्तेः तदुक्तेऽपि कथं विश्वासः?—इत्यत आह यत्त्विति। उपाधिभूतबुद्धेः अल्पपरिमाणगुणसमानाऽणुत्वारोपेण सूचीपाशाऽऽकाशन्यायेन प्राज्ञस्य परमात्मन इवोपासार्थं हृदयपरिमाणत्वाऽऽदिव्यवहारो जीवस्याऽऽराऽग्रमात्रत्वादिव्यवहारः, "वालाऽग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चाऽनन्त्याय कल्पते।"—इति श्रुतेः स्वाभाविकाणुपरिमाणस्याऽनन्त्यनिरूपणात्—इत्याह—औपाधिकेति। युक्तिविरुद्धा चाऽणुत्वश्रुतिः न वास्तवाऽर्था—इत्याह—यदि चेति। यथेन्द्रनीलोऽल्पपरिमाणोऽपि दुग्धे निक्षिप्तः स्वप्रभया दुग्धं व्याप्नोति, तथा जीवोऽणुरपि स्वचैतन्येन देहमित्यपि न वाच्यम्; चैतन्यस्य प्रभावत् स्वतन्त्रद्रव्यत्वाभावात्—इत्याह—न चेति। अथ शीघ्रं भ्रमन् प्रदेशान्तरगतां वेदनामनुसन्धत्ते? तदप्यप्रामाणिकम्—इत्याह—न तत्रेति। किञ्च कालभेदेन तथाऽनुसन्धानं किम्? किं वैकस्मिन् क्षणे? नोभयमपि—इत्याह—न चेति। एकस्मिन्नेव क्षणे भ्रमतो न कुत्राऽपि क्षणमात्रमपि भोगः स्यात्।

ज्ञानवती

प्रकार सेन्द्रियदेह की उत्पत्ति होने पर परमाणुओं के समान प्रतिक्षण आत्मा की उत्पत्ति होने में (कोई) उपादान नहीं है।

[आत्मा के अणुमात्रत्व का निराकरण—]

और जो कि (आत्मा के बारे में) श्यामाकतण्डुल, वालाग्रमात्रत्व आदि कथन है वह सूक्ष्मग्रहणगोचर होने से विभु का ही है। अथवा औपाधिक अनुवाद है। व्याससूत्र है—

"तद्गुणसार (—बुद्धिगुणप्रधान होने के कारण आत्मा का) अणीयस्त्व व्यवहार होता है जैसे प्राज्ञ का"। यदि आत्मा अणुमात्र है तो जितना यह प्रदेशविशेष उससे अधिष्ठित है तन्मात्रगत ही सुख आदि की उपलब्धि प्राप्त होगी। तो फिर एक ही क्षण में शिर पाद आदि में वेदना का अनुभव नहीं होगा। मणि आदि के प्रभा-मण्डल के समान उसका देहव्यापी ज्ञान नहीं है। ज्ञान के गुण होने पर या सक्रिय होने पर वह अणुमात्र नहीं है। (पू) यदि यह कहा

---

[1] (ग) नेव। [2] (ग) प्नोति। [3] (ग) गुणत्वस्य रूपत्वे।
[4] (ग) तदयोगात्। [5] (ग) तत्र।

लक्ष्यते, (अनवस्थित[1]-)स्योपलब्धिकालासम्भवान्नैकत्राप्युपलभ्येत । तस्माद-कल्पनेयम् ।

फलभोक्तुश्च कर्त्तृत्वमर्थसिद्धम् साक्षात् "ब्राह्मणो यजेत"—इति विनियोग-सिद्धञ्च (देहबुद्ध्यादि-[2])तादात्म्याध्यासमूलमेव । शास्ति च "स हि कर्त्ता" इति श्रुत्यनुसारि "दृष्ट्वैव पुण्यं च पापं च"—इति जागरेऽपि स्वप्नवत् साक्षात्कर्त्तृत्व-निषेधात् शास्त्रकृत् "कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्"–इति । तेन न साक्षादात्मनो गत्यादि-कर्त्तृत्वं शङ्कनीयम्; देहादौ चेतन इति विशेषप्रतिभासात् चेतनोऽप्यत्राध्यस्तः ।

भावदीपिका

यदुक्तम्–उपाधिसम्पृक्तस्यैव गत्यादिकं जीवस्य–इति, तदयुक्तम्; विहितक्रियाकर्त्तृत्ववतत्फ-लभोक्तृत्ववत् गत्यादेः स्वतः सम्भवात्; अन्यथा श्रुतिसूत्रविरोधः-- इत्यत आह—फलभोक्तु-श्चेति । "निष्कलं निष्क्रियम्"—इत्यादि ब्रह्मणा जीवस्य महता प्रयत्नेन "स एष इह प्रविष्टः" "अयमात्मा ब्रह्म"—इत्यादिना ऐक्यवर्णनाद्, "अकायमव्रणम्"—इत्यादिना देहादिनिषेधाच्च । देहाद्यैक्याध्यासेनैव "प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति वदन् वाऽग्निः"—इत्यादिश्रुतिसिद्धेन कर्त्तृत्वम् । भोक्तृत्वमपि "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः"—इति सोपाधिकस्यैव न वास्तव-कर्त्तृत्वाऽऽक्षेपकमिति भावः ।

यदि चिदात्मनि स्थाणाविव वल्मीकस्य पुरुषे वा देहादेर्जडस्याऽध्यासस्तर्हि तस्य बोध-सम्बन्धविधुरत्वात् "विद्वान् यजेत"—इत्यादिनियोगो भज्येत— इत्यत आह—देहादाविति । ननु शुक्तित्वादिविशेषप्रतिभासोऽध्यासविरोधी दृष्टः; कथं चैतन्यस्य 'जानामि'—इत्यादिविशे-षप्रतिभासबलात् रजतादेरिव अध्यस्तत्वम् ? मैवम्; शुक्तित्वाद्यपि रजतादिभ्रमाऽधिष्ठानात् अन्यत्र दृष्टं नाऽध्यासविरोधि दृष्टम्, दृष्टं च रजतादिविशेषस्य प्रतिभासमानस्याऽपि अन्यत्रा-ऽधिष्ठाने स्वाऽध्यासस्य विरोधित्वम् । न च स्वस्मिन् अध्यस्ते स्वस्य विशेषरूपेणाऽध्यासो

ज्ञानवती

जाय कि लघुसञ्चारी होने से तत्तद की प्राप्ति होती है ? (उ) तो यह भी नहीं । क्योंकि इसमें प्रमाण नहीं है । और कालभेद भी लक्षित नहीं होता । अनवस्थित उसकी उपलब्धि का काल असम्भव होने से एकत्र उपलब्ध भी नहीं होता । इसलिये यह कल्पना ठीक नहीं है ।

फलभोक्ता का कर्त्तृत्व साक्षात् अर्थसिद्ध है और "ब्राह्मण को याग करना चाहिये" इस प्रकार विनियोगसिद्ध है किन्तु यह (कर्त्तृत्व) देह, बुद्धि आदि के तादात्म्याध्यास के कारण है । शास्त्रकार "वह कर्ता है"—इस श्रुति तथा "पुण्य और पाप को देखकर ही"—इस श्रुति के द्वारा स्वप्न के समान जाग्रत् अवस्था में भी होने से साक्षात्कर्त्तृत्व का "निषेध कर्ता शास्त्रर्थवत्त्वात्" —ऐसा उपदेश देते हैं । इससे आत्मा के साक्षात्गति आदि के कर्त्तृत्व की शंका नहीं करनी चाहिये, देह आदि में 'चेतन' ऐसा विशेष प्रतिभास होने से चेतन भी यहाँ (=देह आदि में) अध्यस्त है । और अधिष्ठानभूतविशेष स्वनिष्ठ के रूप में दृष्ट होकर ही अध्यास का विरोधी है । तथा विशिष्ट ही चेतन का अविद्या आदि के द्वारा देह आदि में अध्यास होनेसे मिथ्यात्व की आशंका नहीं है ।

बुद्धि का, पुरुष के द्वारा उपराग, विषय के द्वारा उपराग, और व्यापारोपराग ये तीन

१ (क) वस्तुतस्तस्यो, (ग) अनवस्थितस्यो । २ (क) बुद्ध्या, देहबुद्ध्या ।

विशेषश्चाधिष्ठानभूतः[1] स्वनिष्ठतया दृष्ट एवाध्यासविरोधी। चेतनस्य च विशिष्टस्यैव अविद्यादिभिर्देहादावध्यासान्न मिथ्यात्वाऽऽशङ्का।

अथ बुद्धेः पुरुषोपरागो विषयोपरागो व्यापारोपरागश्च—इत्यंशत्रयम् 'मयेदं कर्त्तव्यम्'—इति भाति। तत्र 'मया'—इति पुरुषोपरागो विवेकाग्रहादसत्यो दर्पणस्येव मुखोपरागः। सांख्यानामपि विपर्यासोऽस्ति, किन्तु बुद्ध्याश्रय एव इत्यविरोधः। 'इदम्'—इति विषयोपरागः इन्द्रियद्वारकः परिणामविशेषः सत्यः, यथा दर्पणस्य मलिनिमा। तदुभयोपरागनिबन्धनः 'कर्त्तव्यम्'—इति व्यापारोपरागः। तथा च 'सैव कर्त्री'—इति सांख्याः; तथा बुद्धेरेव भोक्तृत्वमापद्यते। न च बुद्धेरेव भोक्तृत्वमात्मन्युपचर्यते। न च बुद्धेर्लोहपिण्डकल्पाया वह्निस्थानीयचिदात्म-

भावदीपिका

न दृष्ट इति वाच्यम्, रज्ज्वामध्यस्ते सर्पे तदाकारदैर्घ्याऽऽदिवत् स्वाऽध्यस्तेऽध्यासासम्भवात्। तदाह—विशेषश्चेति। अत एव दैर्घ्यादिविशिष्टरज्जुवत् न चैतन्यस्य स्वरूपेण मिथ्यात्वाऽऽशङ्काऽपि—इत्याह - चेतनस्य चेति। यदा सविलासाऽज्ञानाऽधार एव दैर्घ्याऽऽदिविशिष्टरज्जुवत् अचैतन्यस्याऽप्यधिष्ठानं तदा नाऽज्ञानतत्कार्ययोरधिष्ठानत्वमिति सत्यस्य मिथ्यासम्भेद एवाऽध्यासः—इति रहस्यम्। इतरेतराऽध्यासस्तु यथादृष्टानुसारी द्रष्टव्यः।

इदानीं मताऽन्तरनिराकरणेन कर्त्तृत्वाऽद्यध्यासं द्रढयितुं तदुत्थापयति—अथेति। असत्यत्वे विपर्यासोऽनिष्ट आपद्येत—इत्याह—सांख्यानामपीति। "अनित्याऽनात्माऽशुचिषु नित्यात्मशुचिख्यातिरविद्या"—इति सांख्यैरविद्यायाः स्वीकारादिति। आत्मनो भोक्तृत्वं स्वीकृत्य बुद्धेरेव कर्त्तृत्वस्वीकारोऽनुपपन्नः; गमनादिकर्त्तुरेव तज्जन्यश्रमाऽदिफलभोक्तृत्वस्य 'श्रान्तोऽहं पादे व्यथा मे महती, मुखे च शोषो महान्'—इति दर्शनात्। अतस्तयोरेकाऽश्रयत्वं वक्तव्यम्। तदाह—तदेति। अथ विक्रियारूपं भोक्तृत्वं बुद्धेरेव चिदात्मनः सुखित्वोपलब्धिविग्रहस्य तदौपचारिकम्? तदपि न—इत्याह—न चेति। सुखाऽऽदिसाक्षात्कारो हि भोगः प्रसिद्धः; बुद्धेश्च जडत्वान्न

ज्ञानवती

अंश हैं। (यह उपराग) 'मया इदं कर्त्तव्यम्' इस रूप में प्रतीत होता है। उसमें 'मया'—यह पुरुषोपराग विवेकाग्रह के कारण असत्य है, जैसे दर्पण में मुख का उपराग। सांख्यों के मत में भी विपर्यास होता है, किन्तु बुद्धि ही आश्रय है इसलिये विरोध नहीं है। 'इदम्'—यह विषयोपराग इन्द्रियद्वारकपरिणामविशेष, सत्य है। जैसे दर्पण की मलिनिमा। उन दोनों के उपराग के कारण 'कर्त्तव्यम्'—यह व्यापारोपराग है। इस प्रकार वही (=बुद्धि) कर्त्री है ऐसा सांख्यवाले (कहते हैं) तब बुद्धि का ही भोक्तृत्व प्राप्त होता है। बुद्धि का ही भोक्तृत्व आत्मा में उपचरित नहीं होता और न लोहपिण्डकल्प बुद्धि के वह्निस्थानीय चिदात्मसंक्रान्ति के विना दाहप्रकाश आदि के समान भोगशालित्व सम्भव है, क्योंकि भोग शब्द का अर्थ सुख आदि की उपलब्धि है। और उपलब्धि के ज्ञानात्मक होने से और बुद्धि को उपलब्धि संभव होने से चेतन की कल्पना व्यर्थ हो जायगी। इसलिये चेतन का ही मुख्य भोक्तृत्व सम्भव होने पर कर्त्तृत्व भी उसका मानना चाहिये। (पू) तो वह्नि की दाहशक्ति के समान जो स्वाभाविकी शक्ति है वह आत्मा की नहीं होगी?

[1] (ग) नस्य स्व।

संक्रान्तिमन्तरेण दाहप्रकाशादितुल्यभोगशालित्वं सम्भवति; सुखाद्युपलब्धेर्भोग-शब्दार्थत्वात्। उपलब्धेश्च चिदात्मकत्वात् बुद्धेश्चोपलब्धिसम्भवे कर्तृत्वमपि तस्यैवास्थेयम्। न च तर्हि स्वभाविकी या शक्तिः दाहशक्तिरिव (वह्नेरात्मनः[१])न स्यात् इति मन्तव्यम्; तथा सति तथा ज्ञानोच्छेद्यत्वासम्भवेन मोक्षानुपपत्तेः। तदुक्तम्—

"नहि स्वभावो भावानां व्यावर्त्तेदौष्ण्यवद्रवेः"

—इति। ननु स्वाभाविक्या अप्यङ्कुरजननशक्तेः शाल्यादिबीजस्य मूषिकाघ्राणादिदोषेणोच्छेदः प्रसिद्ध इति चेत्? न; तत्रापि प्रतिबन्धकमात्रत्वात् (दुष्ट[२]-)दृष्टिनिपातादिनिमित्त(—विच्छायत्वादेः[३]) प्रतीकारविशेषेणो(-च्छेदः[४] प्रसिद्धः—इत्यु-)पशमदर्शनात्; तद्वदत्रापि सम्भवात्। (प्रतिबन्धकस्य[५]) चानन्तकालास्थायिनि कदाचिन्नाशात्। तेन अविद्याजन्यबुद्ध्युपाधिगतं लोकसिद्धं क्रियावेशात्मकं कर्त्तृत्वं भोक्तृत्वं च चिदात्मनि तत्तादात्म्याध्यासान्मिथ्याभूतमुपजायते (व्यवहाराक्षमं[६]) लोकवेदयोः।

भावदीपिका

साक्षात्कारो युक्तः उपलब्धिपर्यायः—इत्याह—उपलब्धेरिति। न च कूटस्थबोधस्वभावस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वादिविक्रिया वास्तवीत्यध्यास एव शरणम्—इत्याशयेन ऽऽह—अत इति। आध्यात्मिककल्पनायाः स्वाभिमतायाः पुनर्दाढर्यार्थं मतान्तरमाशङ्क्याऽपाकरोति—न च तर्हीति। क्वचिदुच्छेदस्याऽपि दर्शनान्न मोक्षाऽसिद्धिः?—इति शङ्किते—प्रत्याह—न तत्राऽपीति। न च दृष्टान्तमात्रेण स्पष्टप्रमाणप्रकृष्टनिष्क्रियत्वश्रुतिशताऽवगणेन पारमार्थिकी क्रियाशक्तिः तस्याश्चोच्छेद इति कल्पयितुं शक्यम्। दृष्टान्तोऽपि नैकान्तेन सम्मतः। तेन प्रतिबन्धकल्पनाऽप्ययुक्ता। न च क्रियामन्तरेण प्रतिबन्धकं कर्मणः। सा च फलतः स्वरूपतश्चाऽनित्येति विलक्षणहेतुः। तदाह—प्रतिबन्धकस्य चेति।

ज्ञानवती

(उ) ऐसा नहीं मानना चाहिये। क्योंकि वैसा होने पर उस प्रकार ज्ञानोच्छेद्यत्व के असम्भव होने से मोक्ष की उपपत्ति नहीं होगी। वही कहा है—

"रवि की उष्णता के समान वस्तुओं का स्वभाव व्यावृत्त नहीं होता।"

(पू) स्वाभाविक भी अंकुरजननशक्ति का शाल्यादिबीज के मूषिकाघ्राण आदि दोष के द्वारा उच्छेद प्रसिद्ध है? (उ) नहीं। क्योंकि यहाँ भी प्रतिवन्धक मात्र है। दुष्ट दृष्टिनिपाताआदिनिमित्तवाले विच्छायत्व आदि का उच्छेद प्रतीकारविशेष के द्वारा प्रसिद्ध है—ऐसा उपशम देखा जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी सम्भव है। अनन्त काल तक अस्थायी वस्तु के विषय में प्रतिवन्धक का नाश कदाचित् होता है। इसलिये अविद्याजन्य बुद्धि आदि उपाधिवर्त्तमान लोकसिद्ध एवं क्रियावेशात्मक कर्तृत्व और भोक्तृत्व; चिदात्मा में तत्तादात्म्याध्यास के कारण लोक वेद में व्यवहार के अयोग्य मिथ्यारूप में उत्पन्न होता है।

---

१ (क) रात्मा न, (ग) रात्मनः। २ (क) वतात् दृष्टि, (ग) त्वात् दुष्टदृष्टि।
३ (क) यकत्वा, (ग) यत्वा। ४ (क) पशम, (ग) च्छेदः प्रसिद्ध इति पशम।
५ (क) न्धस्य (ग) न्धकस्य ६ रक्षम (ग) राक्षमं।

ननु —

"स्वाभाविकीमविद्यान्तु नोच्छेत्तुं कश्चिदर्हति ।
विलक्षणोपपाते हि नश्येत् स्वाभाविकं क्वचित् ॥
न ह्यैकात्म्याभ्युपायानां हेतुरस्ति विलक्षणः ।"

—इत्युक्तत्वादाविद्यकक्रियाशक्तेरपि नोच्छेद इति चेत् ? मैवम् ; क्रियात्वाविशेषेऽपि पुण्यापुण्यविभागः पुण्येन चापुण्यनिवृत्तिरितिवत् अविद्यात्वाविशेषेऽपि प्रमाणवस्तुमात्रतन्त्रविद्यायाः वैलक्षण्येनाविद्यादाहकत्वोपपत्तेः । तस्मादविद्योपाधिरेव क्रियाशक्तिरात्मनः ।

एतेन ज्ञानजननशक्तिरपि व्याख्याता—

"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।"

भावदीपिका

अविद्याया अपि स्वाभाविकत्वाऽङ्गीकारात् अनिर्वेदो अनुच्छेदो मोक्षस्तुल्यः ?—इति शङ्कते—नन्विति । विलक्षणहेत्वभावोऽसिद्धो वेदान्तवाक्योत्थान्तःकरणवृत्त्यभिव्यक्तविलक्षणचैतन्यवह्निना सवृत्तिकाऽविद्यातदभावयोर्ग्रासोपपत्तेः । तस्य स्वविलक्षणमात्रग्रसनशीलत्वात् अभावस्य निःस्वभावस्य साध्यत्वाऽभावात् सत्स्वभावस्य च दाह्यत्वात् तस्य चाऽध्याससम्बन्धिनाऽसङ्गचैतन्याऽऽधारत्वाऽसम्भवादध्यासस्य चाऽविद्योच्छेदे तदात्मकस्याऽसम्भवात् । अविद्यानिवृत्तेरनिर्वाच्यत्वपञ्चमप्रकारत्वयोरप्युक्तदोषान्नाऽवशेषोपपत्तिः—इत्याशयेनाऽह मैवमिति। शक्त्यन्तरमपि श्रुत्युक्तमस्ति—इत्यत आह—एतेनेति । "न तस्य कार्यं करणं च विद्यते न तत्समश्चाऽभ्यधिकश्च दृश्यते ।"-- इति कार्यकारणप्रपञ्चनिषेधे सति शून्यताऽऽशङ्कायां "परास्य शक्तिः"–इत्युपन्यासात् ज्ञानमेवाऽस्य स्वरूपम्; सामर्थ्यं कारणत्वम्; क्रिया च कार्यम्; तदुभयमस्वरूपमिति न तन्निषेधेऽपि स्वरूपशून्यतेति श्रुत्यन्तराऽनुसारेणाऽस्याः श्रुतेरर्थः—इत्यर्थः ।

ज्ञानवती

(पू) "कोई भी स्वाभाविकी अविद्या का उच्छेद नहीं कर सकता । किन्तु विलक्षण (वस्तु) के आ जाने पर कहीं स्वाभाविक भी नष्ट होता है ? ऐकात्म्य (ज्ञान) उपायों का हेतु विलक्षण नहीं होता ।"

—ऐसा कहने से आविद्यक क्रियाशक्ति का भी उच्छेद नहीं होता ?

(उ) ऐसा मत (कहिये) । क्रियात्व के समान होने पर भी पुण्य अपुण्य का विभाग, पुण्य से अपुण्य की निवृत्ति (इसके) समान अविद्यात्व के अविशेष होने पर भी प्रमाणवस्तुमात्रतन्त्र विद्या के वैलक्षण्य के द्वारा अद्यिादाहकत्व की उपपत्ति हो जाती है । इसलिये आत्मा की क्रियाशक्ति अविद्योपाधिक है ।

इससे ज्ञानजनन शक्ति का भी व्याख्यान हो गया ;

"इसकी परा शक्ति अनेक तथा ज्ञान बल और क्रिया स्वाभाविक सुनी जाती हैं ।"
—यह आगम भी अनेक आगम के अनुसार अनादि अविद्योपाधि-निबन्धना शक्ति को ही बताता है । और कार्य, कारण आदि प्रतिषेध के अनुसार तथा "और गुणरहित"—इत्यादि श्रुति से ज्ञान आदि गुण भी आत्मा का नहीं है ।

—इत्यागमोऽपि वह्वागमानुसारेणानाद्यविद्योपाधिनिबन्धनामेव शक्तिमाह। कार्यकारणादिप्रतिषेधानुसारेण च "निर्गुणश्च"—इत्यादिश्रुतेश्च न ज्ञानादिकं गुणोऽप्यात्मनः। न च इच्छाद्याश्रयतयाऽष्टद्रव्यातिरिक्तात्मनोऽवधारणात् तद्गुणत्वापलापो न युक्तः, श्रुतेश्च रूपादिगुणनिषेधकतयाऽप्युपपत्तेरिति वाच्यम्; "अरूपमस्पर्शम्"—इत्यादिना रूपादेः पृथक् प्रतिषेधात्। "किंज्योतिरेवायं पुरुषः"—इत्यारभ्य जाग्रद्व्यवहार(-कारणं[1]) सावित्रादिज्योतिर्निरूप्य तदभावे स्वाप्नव्यवहारस्य "आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति"—इति स्वरूपज्योतिषो निरूपणात्। पूर्वदेहस्य प्रत्यक्षेण तादवस्थ्योपलम्भेऽपि युव(-स्थविरा[2]-)दिदेहावयवस्य स्वाप्नदेहाकारेण परिणामाभ्युपगमस्यानुग्राहकादित्याद्यभावेऽकिञ्चित्करत्वात्। "को ह्येवान्यात्? कः प्राण्यात्? यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्", "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते", "अथ यो वेद

भावदीपिका

मा भूत् आत्मनो ज्ञानपरिणामशक्तिः; गुणस्तु ज्ञानं भविष्यति, यथाऽऽहुस्तार्किकाः? इत्यत आह—निर्गुणश्चेति। उदयनोयं रहस्यमाशङ्क्याऽऽह—न चेति। "कामः संकल्पः" —इत्यादिश्रुतेरिच्छादयो मनोगुणाः। न च मनसः स्वनियमाऽर्थेच्छागुणाऽनुपपत्तिः; चौर्यात्मीयशुद्ध्यर्थप्रायश्चित्तादीच्छायाः स्वदण्डहेतोर्लोकस्य दर्शनात्। न चेच्छाऽऽद्याश्रयत्वेनाऽनुमानं श्रुतिशरणैरास्थीयते—इत्याह किं ज्योतिरित्यादिना। स्वप्ने देहान्तरपरिणामात् देह एव चाऽत्मा न ज्योतिःस्वरूप - इति प्रसङ्गात् लोकायतमपाकरोति—पूर्वेति। अस्य देहस्य तावत् परिमाणमान्तरं शयानदृष्टिविरोधात् अनुपपन्नम्। धाष्टर्यमात्रेण तदङ्गीकारेऽपि स्वप्ने व्यवहारो नाऽदित्याद्यनुगृहीतचक्षुरादिनिबन्धनः; नाऽपि मनोमात्रं बाह्यार्थप्रकाशने पटु; ततोऽवश्यं साक्षिरूपं ज्योतिः स्वतोऽविद्याविवर्त्तस्वप्नप्रपञ्चस्येष्टव्यमित्यर्थः। अन्यात्=अपानव्यापारं कुर्यात्; प्राण्यात्=प्राणनव्यापारं वा कः कुर्यात्; असति प्राणादिप्रवर्त्तके सन्निधिमात्रेणाऽऽनन्दरूपे प्रत्यगात्मनि। "न प्राणेन नाऽपानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाऽऽश्रितौ।"—इति श्रुत्यन्तरादित्याऽऽह—को ह्येवान्यादिति। जिघ्राणि=गन्धमुपाददे।

ज्ञानवती

(पू) इच्छा आदि आश्रय के रूप में आठ द्रव्य से अतिरिक्त आत्मा का निश्चय होने से उसके गुण का अपलाप ठीक नही है और श्रुति की तो रूप आदि गुण के निषेधक के रूप में भी उपपत्ति हो जाती है? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। "रूपरहित स्पर्शरहित"—इत्यादि के द्वारा (आत्मा का) रूप आदि का पृथक् प्रतिषेध है। "यह पुरुष किंज्योति ही है"—यहाँ से लेकर जाग्रद् व्यवहार का कारण सूर्य आदि की ज्योति का निरूपण करके उसके अभाव में स्वाप्न व्यवहार वाली स्वरूपज्योति का "आत्मा ही इसकी ज्योति होती है"—इससे निरूपण किया गया है। पूर्वदेह का प्रत्यक्ष रूप से तादवस्थ्य की प्राप्ति होने पर भी अनुग्राहक आदित्य आदि के अभाव में युवा, स्थविर, आदि के देह के अवयव का स्वाप्न देहाकार मे परिणाम अकिञ्चित्कर है। "कौन अनन करता, कौन प्राणन करता यदि यह आकाश-आनन्द नहीं होता", "जो आँख में यह पुरुष दिखाई पड़ता है।" "जो जानता है–'इसे सूँघूँ' वह आत्मा गन्ध के लिये घ्राण

---

[1] (क) कारण, (ग) कारणं। [2] (क) स्थाविर, (ग) स्थविर।

'इदं जिघ्राणि'—इति स आत्मा गन्धाय घ्राणम्", "योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु" इत्याद्यागमतदनुकूलन्यायैर्विज्ञानादिशरीरतयैवात्मनो[1] निर्णेतुं शक्यत्वाच्च ।

[आत्मनश्चिद्रूपत्वसमर्थनम्—]

यद्यपि विज्ञानमयशब्दो बुद्धिकोश(-प्रधान[2]-)माह, तथाऽप्यन्तर्ज्योतिः—इति साक्षिणं चिद्रूपं निरूपयति । तथाहि अचिद्रूपस्य चिद्रूपविकारश्चेत्, देहस्यैव भूतमयस्य सर्वलोकानुसारेण स किन्न स्यात्? यदि देहे सत्यपि स्वापादौ चैतन्याभावान्न तस्य चिद्विकारत्वम्, तर्हि व्यतिरिक्तस्यापि जडस्य तथात्वान्न स्यात्। एवमानन्दोऽपि प्रशस्तिविषयानुभवजन्यो जडस्यानुभवासम्भवात्[3] न विकारः सम्भवति । अतश्च स्वरूपमेव विज्ञानमानन्दश्च चेतोवृत्तिविशेषव्यञ्जनीयावभ्युपेयौ। न चैवमिच्छाद्वेषदुःखादेरपि स्वरूपताऽऽपत्तिः, तस्याप्येवं सम्भवात्—इति वचनीयम्; तस्य "कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा"—इत्यादिना मनोधर्मत्वावधारणात् ।

प्रत्युपस्थितविषये सामान्यतो ज्ञाते इष्टत्वविशेषेणावधारणं संकल्पः काममूलम् । "सत्यकामः सर्वकामः" इत्यादेश्च "तद्वा अस्य एतदतिच्छन्दा"

भावदीपिका

घ्राणम् = गन्धज्ञानाय घ्राणोपाधिः आत्मा ।

[आत्मनश्चिद्रूपत्वसमर्थनम्—]

विज्ञानमयस्य "अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः:"—इति कोशत्वेन कीर्त्तनान्नाऽऽत्मत्वमपि श्रुत्योक्तम् तत्राऽऽह—सत्यकाम इति । ननु ज्ञानस्याऽपि मनोधर्मत्वाऽवगमात् नाऽऽत्मत्वम्

ज्ञानवती

है", "जो यह प्राणों में विज्ञानमय है"—इत्यादि आगम और उसके अनुकूल न्याय के द्वारा विज्ञानादिशरीर के रूप में ही आत्मा का निर्णय सम्भव है ।

[आत्मा के चिद्रूपत्व का समर्थन—]

यद्यपि विज्ञानमय शब्द बुद्धिकोशप्रधान को कहता है तो भी "अन्तर्ज्योति" यह (वाक्य) साक्षी चिद्रूप का निरूपण करता है । वह इस प्रकार—

यदि अचिद् रूप (अर्थात् जडरूप देह) का चिद्रूप (=ज्ञान रूप) विकार है तो भूतमय-देह का ही सब लोक के अनुसार वह (=विकार) क्यों नहीं होता । यदि देह होने पर स्वाप आदि में चैतन्याभाव होने से वह चिद् का विकार नहीं है, तो व्यतिरिक्त जड का भी वैसा होने से नहीं होगा । इस प्रकार आनन्द भी प्रशस्त विषय के अनुभव से जन्य होता हुआ जड का अनुभव असम्भव होने से विकार नहीं हो सकता । इसलिये स्वरूप ही विज्ञान और आनन्द चित्तवृत्तिविशेष से व्यञ्जनीय मानना चाहिये । (पू) इस प्रकार इच्छा, द्वेष, दुःख आदि की भी स्वरूपता होने लगेगी ? क्योंकि उसका भी ऐसा (=चित्तवृत्तिविशेषव्यञ्जनीयत्व) सम्भव है ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये । "काम संकल्प विचिकित्सा" इत्यादि (वचन) के द्वारा यह (=इच्छा आदि) मन का धर्म निश्चित किया गया है ।

---

[1] (ग) लः ज्ञानैर्वि । [2] (क) प्रणिधान, (ग) प्रधान । [3] (ग)- जीवस्य ।

इत्यादिमोक्षदृष्टान्तसौषुप्तरूपपरश्रुत्यनुसारेणोपासनाप्रकरणाच्चौपाधिकपरत्वावगमात्। उक्तश्रुतौ च धीशब्दः श्रुत्यन्तरानुसारेण व्यञ्जकवृत्तिविषयः। अतो निर्गुण एवात्मा।

तस्य चानेकावस्थाऽनुसन्धानकालव्यवहितक्रियाफलशालित्वादिबलात् चतुर्विधबौद्धकल्पनाबाह्यत्वम्[1]। नित्यः सर्वगतश्च तार्किकादेः सम्मत एव चिदात्मा। सर्वगतत्वादेव चाकाशवदेकत्वमपि।

अथ "आत्मा द्रव्यत्वव्यतिरिक्तापरजात्याधारः, अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात्[2]; कुम्भवत्"—इत्यनुमानात् भेदः साध्यते। द्रव्यत्वव्यतिरिक्तापरजात्याधारत्वे सतीति वक्तव्यमेव। तथा च विवक्षितजातिवत् नानात्वस्याप्यपर्यवसान-(वृत्त्यसिद्धेः[3])व्यर्थं पदान्तरम्। न च भेदे किं मानम्?—इति प्रश्नानुरूपत्वार्थमनुमानादेव नानात्वज्ञानार्थं च पदान्तरम्। वक्तुः प्रयोगेष्वर्थात् साध्यज्ञानेऽपि प्रश्नानुरूपत्वस्याविसंवादात्।

भावदीपिका

अत्राऽऽह—उक्तश्रुतौ चेति। उक्ताऽनुवादपूर्वकं प्रघट्टकान्तरं प्रस्तावयति—तस्य चेत्यादिना। सर्वगतत्वेऽपि नाऽऽकाशवदेकत्वं, प्रबलभेदसाधकसद्भावाद्—इत्याह—अथेति। सत्ताद्रव्यत्वाऽऽधारत्वेन सिद्धसाधनत्वव्युदासाय द्रव्यत्वव्युदासाय—द्रव्यत्वव्यतिरिक्ताऽपरजातीत्युक्तम्। विशेषणाऽन्तरं प्रोक्तं प्रतिषेधति—द्रव्यत्वेति। कृत्यमाशङ्कयाऽऽभासयति—न चेति।

ज्ञानवती

प्रत्युपस्थित विषय के सामान्य रूप से ज्ञात होने पर इष्टत्वविशेष का अवधारण संकल्प काममूलक है। और "सत्यकाम सर्वकाम"—इत्यादि "वह इसका अतिच्छन्दा"—इत्यादि मोक्षदृष्टान्त सौषुप्तरूप परश्रुति के अनुसार और उपासनाप्रकरण के कारण, औपाधिकपरक माना जाता है। उक्त श्रुति में धीशब्द श्रुत्यन्तर के अनुसार व्यञ्जकवृत्तिविषयवाला है। इसलिये आत्मा निर्गुण ही है।

और अनेक अवस्थानुसन्धानकालव्यवहित क्रियाफलशालित्व आदि के बल से वह चतुर्विध बौद्धकल्पना के बाहर है। नित्य और सर्वगत तार्किक आदि का सम्मत ही चिदात्मा है। और सर्वगत होने से ही आकाश के समान (उसका) एकत्व भी है।

आत्मा द्रव्यत्वव्यतिरिक्त अपरजाति का आधार है. अश्रावणविशेषगुण का अधिकरण होने से, कुम्भ के समान—इस अनुमान से भेद सिद्ध किया जाता है। द्रव्यत्व से अतिरिक्त अपरजात्याधारभेद से नाना है—ऐसा साध्य होने पर भी द्रव्यत्वव्यतिरिक्तपृथिवीत्वाद्यपरजात्याधार पृथिव्यादि के भेद से नानात्व के सिद्ध होने से सिद्धसाधनता का वारण करने के लिये 'द्रव्यत्वव्यतिरिक्तअपरजात्याधारत्वे सति'—इतना कहना ही चाहिये। इस प्रकार विवक्षितजाति के समान नानात्व के भी अपर्यवसानवृत्ति के द्वारा सिद्ध होने से पदान्तर व्यर्थ है। (पू) भेद में क्या प्रमाण है? इस प्रश्न की अनुरूपता के लिये और अनुमान से ही नानात्व के ज्ञान के लिये पदान्तर है? (उ) नहीं है; क्योंकि वक्ता के प्रयोगों में अर्थात् साध्यज्ञान न होने पर भी प्रश्नानुरूपत्व का अविसंवाद है।

---

१ (ग) बोध। २ (ग) श्रवणावि। ३ (क) वृत्यासिद्धेः, (ख) वृत्यसिद्धिः।

[आत्मशब्देन जातिः स्वीक्रियते व्यक्तिर्वा ?—]

ननु किमत्र आत्मशब्देन जातेः पक्षीकरणम् व्यक्तेर्वा ? आद्ये-अपसिद्धान्तः; जातेर्जात्याधारत्वानुपगमात्। द्वितीये—सन्दिग्धविशेष्यः पक्षः; जात्याधारत्वे सन्दिग्धे व्यक्तित्वसन्देहात्। अथ प्रमित एव धर्मी—इति तार्किकाभिमानं हित्वा लोकप्रसिद्धस्यात्मपदार्थस्य पक्षीकरणम्? तदा लोके देहादेरात्मत्वप्रसिद्धेः सिद्ध-साधनम्। किञ्च ईश्वरोऽपरजात्याधार उक्तहेतुनिदर्शनाभ्याम्। अतोऽति-प्रसङ्गलक्षणप्रतिकूलतर्कपराहतत्वात् अनुकूलतर्कविरहाच्चाप्रयोजको हेतुरिति ?

नैष दोषः, सतो[१] द्रव्यत्वजात्याधारतया व्यक्तित्वेन सिद्धस्यात्र केवल-मेकानेकत्वेन विगीतस्य कार्यविशेषात् द्रव्यान्तराद् व्यावृत्तस्य प्रयोगे पक्षीकरणात् 'एकामानन्दव्यक्तिं विज्ञानादिशब्दा लक्षयन्ति'—इति शब्दार्थविशेषत्वाभिधाने

भावदीपिका

[आत्मशब्देन जातिः स्वीक्रियते व्यक्तिर्वा ?—]

जनार्दनोक्तमुत्थापयति—नन्वित्यादिना। विशेषमवधूय पक्षोक्तौ दोषमाह—अथेति। अतिप्रसङ्गदुष्टं चेदम्—इत्याह—किं चेति। व्यक्तिपक्षाऽवलम्बनेन तत्रोक्तं दोषमुद्धरति—नैष दोष इति। न चाऽन्यतराऽऽश्रया सिद्धिराशङ्कनीया—इत्याह—एकामिति। ईश्वरस्य जातिमात्रं साध्यते किं ? यद्वेश्वरत्वजातिः ? नोभयथाऽपि—इत्याह—

ज्ञानवती

[आत्मशब्द से जाति मानते हैं या व्यक्ति—]

(पू) आत्मशब्द से जाति मानते हैं या व्यक्ति ? प्रथम (पक्ष) में अप-सिद्धान्त हो जायगा क्योंकि जाति का आधार जाति नहीं मानी जाती। दूसरे में पक्ष सन्दिग्ध-विशेष्य वाला है, क्योंकि जाति के आधार के सन्दिग्ध होने पर व्यक्तित्व का सन्देह हो जाता है। (पू) प्रमित ही धर्मी है—इस तार्किकाभिमान को छोड़कर लोकप्रसिद्ध आत्मपदार्थ को पक्ष वनायेंगे ? (उ) तव लोक में देह आदि के आत्मत्वप्रसिद्धि सिद्धसाधन हो जायगी। इसके अतिरिक्त उक्त हेतु तथा निदर्शन के द्वारा ईश्वर अपरजाति का आधार है इसलिये अति-प्रसङ्गलक्षणवाले प्रतिकूलतर्क से पराहत होने से और अनुकूल तर्करहित होने से, हेतु प्रयोजक नहीं है। (उ) यह दोष नहीं है। क्योंकि द्रव्यत्वजाति का आधार होने से व्यक्ति के रूप में सिद्ध सत्, जो कि केवल एक अनेक रूप में विगीत है तथा कार्यविशेष के कारण द्रव्यान्तर से व्यावृत्त है, का अनुमान में पक्ष बनता है।

विज्ञान आदि शब्द एक आनन्दव्यक्ति को लक्षित करते हैं, इस प्रकार शब्दार्थविशेषत्व का कथन होने पर दूसरे का भी व्यक्तित्व ज्ञात होता है। ईश्वर की भी आत्मत्वजाति मानी गई है और सिद्धसाधन भी है। तथा ईश्वरत्वजाति की विवक्षा में दृष्टान्त नहीं है। (पू) पटकी पृथिवीत्वअवान्तरजाति के समान आत्मत्व ईश्वर की दूसरी जाति है, यदि ऐसा (कहें) ? (उ) (तो इस प्रकार आप आत्मा को) द्रव्यत्व के अपरजाति (=आत्मत्व जाति) का आधार

१ (ग) सत्ताद्रव्यत्व।

परस्यापि व्यक्तित्वसम्प्रतिपत्तेः। ईश्वरस्यापि आत्मत्वजातेरिष्टत्वात्; सिद्ध-साधनत्वाच्च। ईश्वरत्वजातिविवक्षायां च दृष्टान्ताभावः। पटस्य पृथिवीत्वा-वान्तरजातिरिव ईश्वरस्यात्मत्वापरजातिश्चेत्? द्रव्यत्वापरजात्याधार इति साध्यते "एको रुद्रः" इत्यागमबाधः, "एको जीवः"—इत्यश्रुतेश्च। "एको देवः सर्वभूतान्त-रात्मा", "एक एव तु भूतात्मा"—इति च श्रुतिस्मृती कर्तृत्वादिविशिष्टनानाभेदप्रति-पादनक्षमे। तेषां चानुमानेन भेदः साध्यते। अतो भिन्नविषयत्वान्न बाध्य-बाधकभावः। ऐकात्म्ये व्यवस्थासम्भवादेरनुमानानुकूलत्वाच्च कल्पिताश्रयणेन तत्सम्पादने च आत्मादिकमपि कल्पितमेव व्यवहाराङ्गमिति शून्यवादस्यापि दत्ताव-सरता स्यात्। तेन निर्दोषोऽयं प्रयोगः।

[आत्मभेदनिराकरणम्—]

आत्मा यथोक्तसाध्यवान्, शरीरात्मसम्बन्धाधारत्वात्, शरीरवत्—इति प्रयोगाच्च। न चात्र कार्यत्वमुपाधिः; परमाणुषु द्रव्यत्वव्यतिरिक्तापरजात्या-धारत्वेऽपि कार्यत्वाभावेन साध्याव्यापकत्वात्।

भावदीपिका

ईश्वरस्येति। विवक्षामेव स्पष्टयति—पटस्येति। दूषणान्तरं वाऽभिदधाति—एक इति। व्यतिरेक्ययं प्रयोगः—इति शङ्कां वा व्युदस्यति—एक इति। न च तुल्यो बाधः—इति वाच्यम्—इत्याह—एको जीवः—इत्यादिना।

[आत्मभेदनिराकरणम्—]

अथ व्यावहारिककर्तृत्वाऽऽदिविशिष्टाऽऽत्माऽनुयोगिको भेद इष्यते तेन सिद्धसाधनम्? न; वास्तवश्रुत्यन्तरविरोधात्। तथा हि—"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा"—इति जीवानामेकेश्वरैक्या-ऽभिधानात् एकत्वमित्यपि न वाच्यम्; 'अतोऽन्यः शास्त्रविन्नाऽस्ति'—इतिवत् प्रशंसामात्रेणाऽप्यु-पपत्तेः'—इति भावः। विवादपरग्रहणस्य कृत्यविशेषमाह—शरीरेति। परोक्तमुद्धरति—

ज्ञानवती

सिद्ध कर रहे हैं। इस प्रकार, "एक रुद्र है"—इस आगम का बाध हो जायगा, "एक जीव है" —यह अश्रुति हो जायगी। "एक देव सब भूतों का अन्तरात्मा है" "एक ही भूतात्मा है"—यह श्रुति और स्मृति कर्तृत्व आदि अनेक भेद के प्रतिपादन में समर्थ है। और अनुमान से उनका भेद सिद्ध किया जाता है। इसलिये भिन्नविषय होने से बाध्यबाधकभाव नहीं है। एकात्म-वाद में व्यवस्थासम्भव आदि के तथा अनुमानानुकूलता के होने से और कल्पितआश्रयण के द्वारा उसका सम्पादन होने पर आत्मा आदि भी व्यवहार के कल्पित ही अङ्ग है—इस शून्यवाद को भी अवसर दे दिया जायगा। इसलिये यह प्रयोग (=आत्मा द्रव्यत्व से अतिरिक्त अपरजाति का आधार है......) निर्दोष है।

[आत्मभेद का निराकरण--]

(पू) आत्मा, यथोक्तसाध्यवाला है, शरीरात्मसम्बन्ध का आधार होने से, शरीर के समान—यह प्रयोग है। (पू) यहाँ कार्यत्व उपाधि है? (उ) नहीं। क्योंकि परमाणुओं में द्रव्यत्वव्यतिरिक्त अपर-ज्ञात्याधारत्व होने पर भी कार्यत्वाभाव के कारण साध्याव्यापकत्व है।

विवादपदानि जीवच्छरीराणि स्वसंख्यासंख्येयात्मवन्ति, जीवच्छरीरत्वात्, सम्प्रतिपन्नवत्। शरीरमात्रपक्षीकारे मृतातीतमुक्तशरीरेषु हेत्वभावात् भागासिद्धिप्रसङ्गात्। न च एकत्वसंख्याया अपि स्वकीयत्वेन सिद्धसाधनम्, स्वसमवेतसकलसंख्यासंख्येयात्मवत्त्वसाधने च साध्यविकलो दृष्टान्तः—इति साम्प्रतम्; शरीराणामिव आत्मनोऽपि प्रतिशरीरं प्रातिस्विकैकत्वस्य साध्यत्वात्। न च विमतान्युभयसिद्धात्मभोगसाधनानि, जीवच्छरीरत्वात्, प्रतिवादिशरीरवत्—इति सप्रतिसाधनता; तत्कर्मोपार्जितत्वोपाधेः। न च साधनव्यापकता; यादृशस्य कर्तृत्वं, तादृशस्यैकत्वाभावेनैककर्मोपार्जितत्वस्य सर्वशरीरेषु वक्तुमशक्यत्वात्[1] असाधनव्यापकत्वात्। शरीरादिविशिष्टस्य भोक्तुः कर्तृत्वात् कर्मोपार्जितत्वस्य दृष्टान्तशरीरे सद्भावान्न साध्याव्याप्तिशङ्काऽपि। एकत्वावगमस्योपचारेणाऽप्युपपत्तेः प्रसिद्धत्वाच्चेच्छादेरात्मव्यावर्त्तकत्वस्य सिद्ध आत्मभेद इति।

अत्र समाधिः—न तावदिच्छादयो व्यावच्छेदका आत्मनः; तेषां गन्धादिवत् स्वाधारस्येतरेभ्यो भेदकत्वेऽपि न सजातिभ्यो भेदकत्वम्। न खलु गन्धाधारत्वेनैव

भावदीपिका

न चैकत्वेति। प्रतिप्रयोगोऽपि नाऽऽशङ्कनीयः—इत्याह—न चेति। परोक्तं साधनव्यापकत्वमपि पराचष्टे—न चेति। साध्याऽव्याप्तिरपि नाऽऽशङ्कनीया—इत्याह शरीरादि इति। एकत्वाऽगमस्य मुख्याऽर्थत्वाऽभावे युक्त्यन्तरमाह प्रसिद्धत्वाच्चेति।

आगमस्य मुख्यार्थत्वेऽनुग्राहकयुक्तिरूपमनुमानं त्वद्दृष्ट्या दुष्टं तावत् भवतु, प्रतिकूलयुक्तिस्तु परीक्षणीया—इत्याह—न तावदिति। किमिच्छादिभाव एवाऽऽत्मभेदको भावा-

ज्ञानवती

विवादास्पद जीवशरीर, स्वसंख्यासंख्येय आत्मा वाले हैं, जीवशरीर होने से, संप्रतिपन्न के समान। शरीरमात्र को पक्ष करने पर मृत, अतीत, मुक्त शरीरों में हेतु न होने से भागासिद्धि होने लगेगी। (पू) एकत्व संख्या के भी स्वकीय होने से सिद्धसाधन होगा ? एवं स्वसमवेतसकलसंख्यासंख्येय आत्मत्व के सिद्ध करने में दृष्टान्त साध्यरहित है ? (उ) यह उचित नहीं है। क्योंकि शरीरों के समान, आत्मा का भी प्रतिशरीर प्रातिस्विक एकैकत्व साध्य है। (पू) विमत, उभयसिद्ध आत्मभोग के साधन हैं, जीवशरीर होने से प्रतिवादिशरीर होने से, —यह सप्रतिपक्षता हो जायगी ? (उ) नहीं। क्योंकि तत्कर्मोपार्जितत्व उपाधि है। (उ) नहीं है। जिस प्रकार (के आत्मा) का कर्त्तृत्व है, उस प्रकार (के आत्मा) का एकत्वाभाव के द्वारा एक कर्मोपार्जितत्व का सब शरीरों में कथन अशक्य होने से साधनव्यापकता नहीं है। शरीरादिविशिष्ट भोक्ता के कर्त्ता होने के कारण कर्मोपार्जितत्व का दृष्टान्तशरीर में सद्भाव होने से साध्याव्याप्ति की शंका भी नहीं है। एकत्वावगम की उपचार के द्वारा भी उपपत्ति होने से और इच्छा आदि का आत्मव्यावर्त्तकत्व प्रसिद्ध होने से आत्मभेद सिद्ध है ? (उ) इस विषय में समाधान है—इच्छा आदि आत्मा के व्यवच्छेदक नहीं हैं। गन्ध आदि के समान उनका अपने आधार का इतर से भेदकत्व होने पर भी सजातियों से भेदकत्व नहीं है। गन्ध

---

[1] (ग) मशक्यत्वात् कारकनिरपेक्षस्वरूपमात्रस्य कर्त्तृत्वाभावेन तदकर्मोपार्जितत्व।

पृथिवी पृथिवीप्रतियोगिकभेदवती, न वा व्यक्तगन्धवती सैवाव्यक्तगन्धवती च पर्यायेण भिद्यते। न चापर्यायधर्मपि तेषां भावाभावौ व्यापकस्यात्मनः शब्दस्येव नभसो भेदकौ। अपरथा शरीरप्रदेशे तदन्यत्र चैक आत्मा, नभश्चाशब्दवदशब्दप्रदेशयोः वास्तवेनैव वृत्तेन भिद्येत[1]। तथा च पुनर्जैनमतमुज्जीवितं स्यात्।

एतेन विरुद्धेनाप्यभेदकत्वं व्याख्यातम्। नभोवत् कल्पितात्मभेदे व्यावहारिकव्यवस्थोपपादनमात्रेण न माध्यमिकमतप्रवेशाऽऽशङ्काऽपि। अपरथा भेदोऽपि स्यात्; आकाशादौ तथाऽङ्गीकारात्। अविद्याया अपि न चिन्मात्रतन्त्रत्वम्। तन्त्रशब्देनाऽऽश्रयत्वे, मात्रशब्देन समग्रत्वे च 'निरवद्यं बिम्बम्'—इति कथोच्छेदात्।

भावदीपिका

ऽभावौ वा तेषाम्? तावपि क्रमवर्त्तिनौ वा? एककालौ वा? तथा क्रमेण प्रत्याह—तेषामित्यादिना। अथ विरुद्धेच्छाऽऽदीनां भेदकत्वम्? तत्राऽऽह—एतेनेति। परोक्तप्रसङ्गं परिहरति—नभोवदिति। इच्छादीनामविद्योपादानकत्वात् अविद्यानामपि कल्पिताऽऽत्मप्रदेशवर्त्तित्वात् किमु वक्तव्यमिच्छादीनाम्—अत आह—अविद्याया अपीति। चिन्मात्रतन्त्रत्वं कैश्चिदुक्तम्। तन्त्रत्वमुत्पत्तावनादित्वान्न सम्भवतीत्याश्रयत्वमेव वाच्यम्, प्रकाश्यत्वाऽऽदेः प्रधानस्य चिदधीनत्वस्वीकारेऽपि परेषां स्वातन्त्र्येणैव प्रसिद्धत्वात्। मात्रशब्दः समग्रवाची? केवलवाची वा? नाद्यः—इत्याह—मात्रशब्देन समग्रत्वे चेति। समग्रशब्देन बिम्बप्रतिबिम्बयोः साधारणचैतन्यस्य च ग्रहणात् सर्वस्याऽविद्याऽऽश्रयत्वे तस्याः जीवाऽऽश्रयत्वनिषेधो मुक्तप्राप्यनिरवद्यबिम्बव्यवस्थापनं च न स्यात्।

अथ बिम्बप्रतिबिम्बविभागोदासीनं केवलं चैतन्यमविद्याऽऽश्रयः। यदाहुः—"आश्रयत्वविषयत्वशालिनी निर्विभागचितिरेव केवला। पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाऽऽश्रयो भवति नाऽपि गोचरः॥"—इति? तदाऽपि समग्राऽऽश्रयाऽविद्या? प्रदेशाऽऽश्रया वा? आद्ये आश्रयस्यैव बिम्बत्वं स्यात्, अन्यस्याऽनिरूपणात्। न च केवलो निर्गुण इति तन्निरूपणम्? परमाऽर्थाऽभिप्रायेणाऽपि तत्सम्भवात्। ततो दुर्वार उक्तो दोषः, वास्तवप्रदेशाऽभावात्। कल्पनानां चाऽविद्याऽधीनत्वात् अविद्याकार्यत्वे च तदाश्रयत्वाऽनुपपत्तेः अविद्यासम्बन्धवत् अविद्यातन्त्रत्वं

ज्ञानवती

का आधार होने से ही पृथिवी पृथिवीप्रतियोगिकभेदवती नहीं है। और न तो व्यक्तगन्धवती वही अव्यक्तगन्धवती होकर पर्यायेण भिन्न होती है। (पू) आकाश का शब्द के समान, अपर्याय भी उन (=इच्छा आदि) के भावाभाव व्यापक आत्मा के भेदक हैं? (उ) ऐसा नहीं है। अन्यथा शरीरप्रदेश में और उससे अन्यत्र रहने से एक आत्मा, और शब्दवाले तथा शब्दरहित प्रदेश में वास्तव रूप में रहने से आकाश, भिन्न हो जाते। इस प्रकार जैनमत पुनरुज्जीवित हो जायगा।

इससे विरुद्ध होने पर भी अभेदकत्व का व्याख्यान हो गया। आकाश के समान कल्पित आत्मभेद के द्वारा व्यावहारिक व्यवस्था के उपपादन मात्र से माध्यमिक मत के प्रवेश की शंका भी नहीं है। अन्यथा भेद भी हो जाता क्योंकि आकाश आदि में वैसा माना गया है। अविद्या

[1] (ग) वृत्तेनाभिपद्येत

मात्रशब्देन केवलत्वेऽपि समग्रस्याऽऽश्रयत्वे[1] स एव दोषः। कल्पितप्रदेशस्याश्रयत्वेन विवक्षितत्वे[2] अनाद्यविद्यातन्त्रानाद्यनेकप्रदेशकल्पनया विद्याऽविद्या(-तत्[3]-)कार्याणामसाङ्कर्यम् व्योमादौ शब्दसंयोगादीनामिव न विरुध्यते—इति नास्मदिष्टम्। पक्षान्तरे चाव्यवस्थानात्। कालाकाशवदेव द्रव्ययोः समानपरिमाणयोः मायाब्रह्मणोर्नाऽऽधेयाऽऽधारभावः—इति असमत्वेन न समग्रवृत्तिता—इति प्रादेशिकत्वलाभ इति। अतो नेच्छादिलाभात् प्रतिदेहमात्मनो भेदलाभः। न चामी आत्मगुणा इत्यवादिष्म।

अत एव 'अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात्'—इत्यसिद्धो हेतुः। द्रव्यत्वे सति

भावदीपिका

प्रदेशाऽविभागानां वक्तव्यम्, पक्षान्तरे प्रदेशोदासीनाऽऽश्रयत्वे साङ्कर्यलक्षणाऽव्यवस्थाप्रसङ्गात्। एवं च प्रदेशकल्पनाऽधिष्ठानस्य प्रदेशविभागोच्छित्तौ मुक्तप्राप्यत्वमपि सङ्गच्छेत। तदेव च कल्पितप्रदेशगताऽविद्यासु प्रतिबिम्बप्रदत्वाद् बिम्बमिति परिभाष्येत। तदेतदाह—कल्पितप्रदेशस्येति। किञ्च मायाब्रह्मणोर्द्रव्यत्वेन परिभाष्यमाणयोः समानपरिमाणत्वम्? असमानपरिमाणत्वं वा? नाद्यः—इत्याह—कालेति। द्वितीये—समग्रवृत्तित्वस्य दृष्टविरुद्धत्वात् प्रदेशवृत्तित्वमेव परिशिष्यते—इत्याह—असत्त्व इति। एवं कल्पितप्रदेशैर्व्यवस्थासिद्धेर्नेच्छादीनां भेदकत्वम्—इत्याह—अत इति। अङ्गीकृत्यैतदुक्तम्—इत्याह—न चेति।

न केवलं स्वरूपाऽसिद्धो, व्याप्यत्वाऽसिद्धश्च—इत्याह—द्रव्यत्वे सतीति। यदि च द्रव्यत्वव्यतिरिक्ताऽपरजात्याधारत्वशब्देन विवक्षितं द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वं साध्यते, तदा न

ज्ञानवती

भी चिन्मात्र के अधीन नहीं है। तन्त्र शब्द से आश्रयत्व (लेने) पर मात्र शब्द से समग्रत्व (लेने) पर 'बिम्ब निरवद्य है'—इस कथा का उच्छेद हो जायगा। मात्र शब्द से केवलत्व लेने पर सामग्री के आश्रयत्व में वही दोष होगा। कल्पित प्रदेश की आश्रयत्वेन विवक्षा करने पर अनादिअविद्यातन्त्र अनादि अनेकप्रदेश की कल्पना से विद्या अविद्या तथा उसके कार्यों का असाङ्कर्य व्योम आदि से शब्दसंयोग आदि के समान विरुद्ध नहीं होता। इसलिये हमारा अनिष्ट नहीं है, और पक्षान्तर में अव्यवस्था हो जाती है। काल आकाश के समान दो समान परिणाम वाले द्रव्य माया और ब्रह्म का आधाराधेयभाव नहीं है इसलिये समान न होने से समग्रवृत्तियाँ नहीं हैं—इस प्रकार प्रादेशिकत्वलाभ हो जाता है। इसलिये इच्छा आदि के लाभ से प्रतिदेह आत्मा का भेदलाभ नहीं है। और 'ये आत्मा के गुण नहीं हैं'—ऐसा हम नहीं कहे हैं।

इसीलिये 'अश्रावणविशेषगुणाधिकरणत्वात्'—यह हेतु असिद्ध है। क्योंकि द्रव्यत्व के होते हुए द्रव्यत्व से अतिरिक्त अपरजातिमत्त्वरूप साध्य में मूर्त्तत्व उपाधि है। गुण एवं कर्म के द्रव्यत्व से अतिरिक्त अपरजातिमत्त्व होनपर भी मूर्त्तत्वाभाव के कारण साध्याव्यापकत्व न हो इसलिये 'द्रव्यत्वे सति'—यह साध्य का विशेषण दिया गया। जैसे—वह साँवला है, मित्रा का

---

१ (घ) समग्रत्वे च। २ (ग) विवक्षिते। ३ (क) वत्, (ग) तत्।

द्रव्यत्वव्यतिरिक्तापरजातिमत्त्वे साध्ये मूर्त्तत्वोपाधेश्च। गुणकर्मणोर्द्रव्यत्वव्यतिरिक्तापरजातिमत्त्वेऽपि मूर्त्तत्वाभावेन साध्याव्यापकत्वं मा भूत्–इति 'द्रव्यत्वे सति'–इति साध्यविशेषणम्। यथा 'स श्यामो, मैत्रातनयत्वात्'–इत्यत्र शाककाद्याहारपरिणतिपूर्वकत्वोपाधेरिन्द्रनीलादौ साध्याव्यापकत्वापोहार्थं चेतनत्वे सति–इत्यादि साध्यविशेषणम्। द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्त्वे च साध्ये स्याद् अविशेषितसाध्योऽप्युपाधिः। क्षणिकविशेषगुणवत्त्वेन नभोवत् भवन्मतेनैवात्मैक्यानुमानाच्च। न च बाह्येन्द्रियग्राह्यक्षणिकविशेषगुणत्वमुपाधिर्दिक्कालयोः; साध्याव्याप्तेः। आत्मा शरीरपरिमाणः, शरीरात्मसम्बन्धाऽऽधारत्वात्, शरीरवत्—इत्याभाससमानयोगक्षेमत्वाच्च। द्वितीयस्यापि हेतोः यथैव मध्यमपरिमाणवत्त्वेनानित्यत्वादिप्रसक्तिस्तथैव भिन्नत्वेनापि शरीरादिवत्। "यावद्विकारं तु विभागो लोकवत्"—इति व्याससूत्रात्।

विगीता, विकाराः, विभक्तत्वात्, सम्मतवत्। विकारत्वञ्च पराधीनसत्ताकत्वम्।

भावदीपिका

विशेषणग्रहणमपि–इत्याह–द्रव्यत्वव्याप्येति। प्रत्यनुमानबाधमप्याह– क्षणिकेति। पराऽभिमतमुपाधिमाभासीकरोति - न चेति। मध्यमपरिमाणत्वे सावयवत्वनित्यत्वादिप्रसङ्गलक्षणप्रतिकूलतर्कं निराचष्टे—यथैवेति। सूत्रं व्याचष्टे—विगीता इति। प्रकाराऽन्तरेणा-

ज्ञानवती

पुत्र होने से यहाँ पर शाकाद्याहारपरिणतिपूर्वकत्व उपाधि के इन्द्रनील आदि में साध्याव्यापकत्व के अपोह के लिये 'चेतनत्वे सति'—इत्यादि साध्य का विशेषण दिया गया है। और 'द्रव्यत्वव्याप्यजातिमत्' साध्य में अविशेषितसाध्यवाली भी उपाधि हो सकती है। और क्षणिकविशेषणगुणवत् होनेसे आकाश के समान आपके मतानुसार ही आत्मा के ऐक्य का अनुमान होता है। (पू) वाह्य इन्द्रियग्राह्य क्षणिकविशेषगुणत्व उपाधि है? (उ) नहीं है। क्योंकि दिशा एवं काल में साध्य की अव्याप्ति हो जाती है। और आत्मा, शरीरपरिमाणवाला है, शरीरात्मसम्बन्ध का आधार होने से, शरीर के समान—यह आभाससमानयोगक्षेम हो जायगा। द्वितीय हेतु की भी, जैसे मध्यम परिमाण होने से अनित्यत्व आदि की प्रसक्ति है उसी प्रकार भिन्न होने पर भी शरीरादि के समान, प्रसक्ति है। क्योंकि "लोक के समान (लौकिक-) विकार पर्यन्त ही (आत्मा का) विभाग है।"– यह व्याससूत्र है।

विवादग्रस्त विषय, विकार है, विभक्त होने से, सम्मत के समान। विकार (का मतलव है) पराधीनसत्तावाला होना। इस प्रकार विभक्तहेतु का अविद्या और उसके सम्बन्ध आदि में व्यभिचार नहीं है। क्योंकि वह भी अध्यस्त होने से पराधीनसत्तावाला है। विभक्तत्व (का मतलब है) धर्मी का समानसत्तावाला विभागवत्त्व। और ब्रह्म में उसका अभाव होने से उससे व्यभिचार नहीं है। इस प्रकार आभास का समान योगक्षेमत्व स्थित हो गया। और आकाश, द्रव्यत्व से अतिरिक्त अपरजाति का आधार है, घटाकाशसम्बन्ध का आधार होने से, घट के समान—इत्यादि प्रयोग भी होने लगेगा। भेद में दोषप्रदर्शन के कारण ही तीसरा भी साधनाभास ही है। इसी प्रकार दूसरे प्रयोगों का भी व्युदास होना चाहिये। इसलिये आत्मा, अगुण, निर्विकार और एक है—यह निश्चित हो गया।

तथा च विभक्तत्वहेतोरविद्यातत्सम्बन्धादौ न व्यभिचारः। तस्याप्यध्यस्तत्वेन पराधीनसत्ताकत्वात्। विभक्तत्वं च धर्मिसमानसत्ताकविभागवत्त्वम्। ब्रह्मणश्च तदभावान्न तेन व्यभिचारः। तत् स्थितमाभाससमानयोगक्षेमत्वम्। 'आकाशो द्रव्यत्वव्यतिरिक्तापरजात्याधारः, घटाकाशसम्बन्धाधारत्वात्, घटवत्'—इत्यादिप्रयोगप्रसराच्च। भेदे दोषप्रदर्शनादेव तृतीयमपि साधनं साधनाभास एव। एवं प्रयोगान्तराण्यपि व्युदस्यानि। तस्मात् आत्माऽगुणोनिर्विकार एकं चेति स्थितम्।

गुणादेर्बुद्ध्याश्रयत्वेन व्यवस्थापनात्। "कस्मिन्नु रूपाणि प्रतिष्ठितानि हृदये"[१]—इत्यादिश्रुतेः।

"रूपसंस्थानतुल्याधारौ रागद्वेषौ भयं च यद् गृह्यते धीश्रयम्। तस्मात् ज्ञाता शुद्धोऽगुणोऽद्वयः"—इत्यभियुक्तेश्च।

"यस्यानुवित्तः[२] प्रतिबुद्ध आत्माऽस्मिन् सन्देह्ये गहने प्रविष्टः।
स विश्वकृत् स हि सर्वस्य कर्ता तस्य लोकः स उ लोक एव॥"[३]

सन्देह्ये=सन्देहे; यकारश्छान्दसः। गहने=सहसा दुर्विवेके; प्रतिबुद्धः=पारोक्ष्येण अनुवित्तः साक्षात् (ज्ञातः; आत्मा[४] यस्य) स=ब्रह्मविदेव[५] अज्ञानावस्थोऽपि विश्वकर्त्ता—इति जीवेश्वरैक्यश्रुतेश्च।

भावदीपिका

ऽऽभाससमानतामाह—आकाश इति। प्रयोगान्तरम्—आकाशो नित्यविशेषगुणवद्व्यापकद्रव्याऽन्यो द्रव्यत्वात् - इत्यादि। अनित्यविशेषगुणत्वात्—इत्यादिना च भेदः साध्यः। स च विकारत्वाऽऽदिप्रसङ्गपराहतः। रूपसंस्कारेण=रूपाऽनुभवजन्येन; तुल्य आधारः=आश्रयो ययोः इति विग्रहः। एकपरमात्मैक्यादपि न जीवानां वास्तवो भेदः इत्याह—यस्येति।

ज्ञानवती

गुण आदि के बुद्धि का आश्रय होने से व्यवस्था हो जाती है। क्योंकि "किस हृदय में रूप प्रतिष्ठित है"—इत्यादि श्रुति है।

"रूपसंस्थानतुल्य आधारवाले राग और द्वेष, और भय जिनका ग्रहण होता है, बुद्धि में रहने वाले हैं। इस कारण ज्ञाता शुद्ध, अगुण, अद्वय है।"
—यह अभियुक्तोक्ति है।

"जिसको इस गहन सन्देहयुक्त शरीर में प्रविष्ट आत्मा प्राप्त और ज्ञात हो गया। वह विश्वकृत् है, सबका कर्त्ता है। लोक उसका है और वह लोक ही है।"

सन्देह्ये (का मतलब है)—सन्देह में। यकार छान्दस् है। गहन का अर्थ है—सहसा दुर्ज्ञेय; प्रतिबुद्ध (अर्थात्) परोक्षरूप से ज्ञात; अनुवित्त अर्थात् साक्षात् आत्मा जिसे ज्ञात है वह ब्रह्मविद ही अज्ञानावस्थ भी विश्व का कर्त्ता है—ऐसी जीव और ईश्वर के ऐक्य की श्रुति है।

---

१ बृ० ३।९।२०। २ (ख) विद्धः। ३ बृ० उ० ४।४।१३।
४ (क) कारतः, (ख) ब्रह्म, (ग) ज्ञातआत्मायस्य स ब्रह्म।
५ (क) पि देवौ, (ग) विदेवा।

मीमांसकमतेनाऽऽत्मनानात्वम् : पूर्वपक्षः–]

अत्र मीमांसकाः प्रत्यवतिष्ठन्ते—प्रतिदेहं भिद्यत एवात्मा इति; शरीरभूयस्त्वात्। प्रतिशरीरं च सुखदुःखोपलब्धिव्यवस्थादर्शनात्। अपरथा द्व्येकशरीरेणैव चरितार्थत्वात् अनेक शरीरवैयर्थ्यं स्यात्। जन्मान्तरशरीवददोष इति चेत्? न; तत्र कर्मान्तरवशेनोपभोगार्थं पुनः पुनरारम्भात्। सर्वशरीरगतसुखाद्युपलब्धिश्च प्रतिशरीरं स्यात्। अन्यदीयैश्चेन्द्रियैः शरीरान्तरगतस्यात्मीयत्वादुपलब्धेः अन्धबधिरादीनामभावः स्यात्। वर्णविशेषव्यवस्थया च कर्मचोदनाभेदो न स्यात्। एकस्यैवात्मनः तेन तेन शरीरेण सम्बध्यमानस्य सर्ववर्णत्वोपपत्तेः। आत्मनानात्वे त्वदोषः, सर्वेषां सर्वगतत्वेऽपि मूर्त्तिरहि(—तत्वात्[१]) समानदेशवृत्त्यविरोधः। तदपेक्षयैव चैतन्याद्यात्मकत्वाविभागाच्चोपनिषत्स्वैकात्म्यव्यवहारः।

भावदीपिका

[मीमांसकमतेनाऽऽत्मनानात्वम् : पूर्वपक्षः -]

आगमप्रतिकूलं मताऽन्तरमुपन्यस्यति निरासाय—अत्र मीमांसका इति। शरीरभूयस्त्वस्य भेदकत्वं सम्पादयति—अपरथेति। दृष्टान्तेन सार्थक्यमाशङ्क्य वैषम्यमाह न तत्रेति। एककर्तृकर्मणां युगपदनेकशरीराऽऽरम्भकत्वाऽसम्प्रतिपत्तेः। पर्यायेण तु योगव्याप्त्यादिसम्प्रतिपत्तेः द्वितीयां युक्ति समर्थयते सर्वशरीरेति। प्रतिशरीरं चेति चकारसूचितमाह अन्यदीयैश्चेति। "ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन"—इत्यादि-चोदनाभेदः। स्वपक्षेऽनुपपत्तिं परिहरति—आत्मनानात्वेति। मूर्तानामेव समानदेशत्वाऽनुपपत्तिर्नाऽऽत्मनाममूर्त्तत्वात्तथाऽपि एकवाच्यानामनुपपत्तिः—इत्यत आह—तदपेक्षयैवेति। प्रत्येकं सर्वगतत्वाऽनङ्गीकारे प्रकृति-

ज्ञानवती

[मीमासक के मत से आत्मनानात्व : पूर्वपक्ष—]

(पू) इस विषय में मीमांसक कहते हैं—आत्मा प्रतिदेह में भिन्न है। क्योंकि शरीर अनेक हैं। और प्रतिशरीर सुख दुःख की उपलब्धि की व्यवस्था देखी जाती है। अन्यथा दो एक शरीर से ही (समस्त कार्य के) चरितार्थ होने से अनेक शरीर व्यर्थ हो जायेंगे। (पू) जन्मान्तरशरीर के समान दोष नहीं है? (उ) ऐसा नहीं है; क्योंकि वहाँ कर्मान्तरवश उपभोग के लिये पुनः-पुनः आरम्भ होता है। और सब शरीर की सुख आदि की उपलब्धि प्रत्येक शरीर में होने लगेगी। और दूसरे की इन्द्रियों से दूसरे शरीर में वर्तमान आत्मीयत्व आदि की उपलब्धि होने से अन्धे एवं बधिर आदि का अभाव हो जायगा। और वर्णविशेष की व्यवस्था (="ब्रह्मवर्चस्कामो बृहस्पतिसवेन यजेत", "राजा राजसूयेन यजेत" इत्यादि रूप से) कर्मचोदना का भेद नहीं होगा। एक ही आत्मा के भिन्न-भिन्न शरीर से सम्बद्ध होने पर सर्ववर्णत्व की उपपत्ति हो जायगी। और आत्मा के अनेक होने पर दोष होने से समानदेशवृत्ति का विरोध नहीं है। और उसी की अपेक्षा से चैतन्याद्यात्मकत्व का विभाग न होने से उपनिषदों में ऐकात्म्य का व्यवहार है।

---

१ (क) त्वात्मन, (ग) तत्वात्।

कथं पुनः नानात्वेऽपि सर्वेषां शरीरैः सम्बन्धादन्यदीयसुखाद्यनुपलब्धिः ? एकत्वेऽपि चातीतदेहगतानुपलब्धिवद् वर्त्तमानदेहान्तरगतानुपलब्धिः कथं वा न स्यात् ? आत्मकैकत्वमेव चेत् अनुसन्धानप्रयोजकम्, तदा स्यादेवातीतदेहगत-सुखदुःखाद्यनुसन्धानम्। यदि च वर्त्तमानोपाध्यवच्छिन्नत्वम् 'पादे मे वेदना, शिरसि सुखम्'—इतिवत् अनुसन्धानप्रयोजकं[1] तत्तद्दृष्टान्ते किमुपाधौ वर्त्तमानत्वा-दनुसन्धानम् किं वा एकदेहावयवत्वात्—इति सन्देहे नैकतरानिर्णयात्।

[ऐकात्म्यसमर्थनम् : सिद्धान्तः—]

अत्रोत्तरम्—सुखादेर्यावत्सत्त्वं प्रकाशमानत्वस्वीकारात् अतीतदेहगर्भा-वस्थाऽऽदिगतसुखाद्यभावादप्रकाशो युक्तः। अतस्तत्सत्तायां सत्यामनुसन्धानाभावे

भावदीपिका

लीनानां तावदभिमानाऽनुत्पत्तेरन्यादृशस्य सायुज्यस्याऽनिरूपणात्। सिद्धे च तस्मिन्नौपचारिक-मैक्यमिति भावः।

प्रकारान्तरेणाऽनुपपत्तिमाशङ्कते—कथं पुनरिति। स्वपक्षमुज्जीवयति—एकत्वेऽपि चेति। किञ्च किमात्मैकत्वमेवाऽनुसन्धानाऽऽपादकम्? वर्त्तमानोपाधित्वं वा ? नाद्यः—इत्याह—आत्मैकत्वमेवेति। द्वितीयमनूद्याऽपाकरोति—यदि चेति। आत्मभेदवादिनाऽपि एकदेहाऽवय-वत्वेनाऽनुसन्धानमभ्युपगतम्। ततो देहाऽन्तरेषु तदभावादेवाऽननुसन्धानं निर्णीयते—इत्याशयः। एकस्याऽऽत्मनो वर्त्तमानसुखाद्यनुसन्धानाऽभावे सर्वदेहेषु सुखादिभोक्तैक इत्येव न सिध्येदिति।

[ऐकात्म्यसमर्थनम् : सिद्धान्तः—]

समाधत्ते—अत्रोत्तरमिति। यद्यपि "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति", "साक्षी चेता"-इति कश्चिदुदासीनो द्रष्टा भाति तथाऽपि सर्वदेहेन्द्रियाणामेकभोगाऽधिष्ठानत्वादिसाधनं न सङ्गच्छेत। द्रष्टृमात्राऽनुमाने च तार्किकाणामीश्वरेण सिद्धसाधनत्वम्। उदासीनद्रष्टुर्देहिनोऽसम्प्रतिपत्तेः

ज्ञानवती

(पू) तो फिर नाना होने पर भी सबका शरीरों से सम्बन्ध होने से अन्यदीय सुख आदि की उपलब्धि कैसे नहीं होती है ? एक होने पर भी अतीतदेहगत अनुपलब्धि के समान वर्त्तमान देहान्तरगत अनुपलब्धि क्यों नहीं होती। यदि आत्मैकत्व ही अनुसन्धान का प्रयोजक है, तो अतीतदेहगत सुखदुःख आदि का अनुसन्धान होगा ही। और यदि वर्त्तमान उपाध्यवच्छिन्नत्व ही, 'मेरे पैर में वेदना', 'मेरे शिर में सुख,—इस के समान, अनुसन्धान का प्रयोजक है तो तत्तद् दृष्टान्त में क्या उपाधि में वर्त्तमान होने से अनुसन्धान है, अथवा एक देह का अवयव होने से—ऐसा सन्देह होने पर एकतर का निर्णय नहीं होता ?

[ऐकात्म्यसमर्थन : सिद्धान्त—]

(उ) इस विषय में उत्तर है—सुख आदि का यावत्सत्त्व, प्रकाशमानत्व स्वीकार करने से अतीतदेहगर्भावस्थादिगत सुख आदि का अभाव होने से (उसका) अप्रकाश ठीक है।

---

[1] (ग) नदद्दु।

कर्मफलत्वहानाद्व्यक्तमेव सर्वदेहेऽप्येकस्यानुसन्धानम् । न च द्रष्टृत्वमात्रं भोक्तृत्वम्; परमते योगीश्वरयोरशेष(—सुखादि[1]—) भोक्तृत्वप्रसङ्गात् । न च अन्यासमवेतत्वविशेषणमद्वैतवादे सार्थकम् । ततोऽस्त्वद्वैतिनो व्यवस्थाभावो दोषः, नानात्वे तु परिहार उच्यते—

"देशं प्राप्य यदीष्येत सुखादेरुपभोग्यता ।
तदा दोषः प्रसज्येत योग्य (—भोग्ये त्वदुष्टता[2]) ॥"

यदि ह्यात्मनः सुखादीनां च समानदेशलक्षण एव सम्बन्ध[3] उपभोगकरणमिष्येत, ततोऽयं दोषः स्यात् । इह तु चक्षुरादीनां[4] रूपादीनामिव च योग्यतालक्षणः सम्बन्धः; तत्र यथा त्वगिन्द्रियेण स्पर्शसमानदेशानामपि रूपादीनामग्रहणम्, एवमन्येनात्मनाऽन्यदीयधर्माधर्मोपात्तसुखदुःखाद्यग्रहणम्—इति नाऽव्यवस्था परस्येव । तस्य सर्वत्रानुसन्धानाभावे चैकात्म्यं मनोरथमात्रम् । न च वाच्यम्[5] श्रुतिवलात् सर्वदेहेष्वात्मैक्येऽवगते किमनुसन्धानाभावः करिष्यति—इति ?; यादृशस्यैकदेहे भोक्तु-

भावदीपिका

दृष्टान्तः साध्यविकलस्तावत् । मीमांसकाश्च प्रतियोगिनामनेकदेहधारकत्वेऽपि अभोक्तृत्वादनुदाहरणत्वम् । तदाह—न च द्रष्टृत्वमात्रमिति । अथाऽन्याऽसमवेतसुखाऽदिसाक्षात्कारो भोगः; ततो न दोषः ? नैवम्; एकभोक्तृवादे व्यवच्छेद्याऽभावात्—इत्याह— न चेति । स्वमते परोक्तं दोषमुद्धरति—नानात्वे त्विति । परस्याऽनुपपत्तिं दृढीकरोति—तस्येति । श्रुत्येकप्रमाणकेऽर्थे युक्त्यभावोऽकिञ्चित्करः—इत्यपि न वाच्यम्; युक्त्यात्मकमीमांसायास्तदितिकर्त्तव्यत्वस्वीकाराऽविरोधात्—इत्याह—यादृशस्येति । भोक्तृत्वे विशिष्टस्योपलक्षितस्य वा

ज्ञानवती

अतः उसकी सत्ता में अनुसन्धान का अभाव होने पर कर्मफलत्व का त्याग होने से सब देहों में एक (आत्मा) का अनुसन्धान कहना ही पड़ेगा । (पू) द्रष्टृत्वमात्र भोक्तृत्व है ? (उ) नहीं है । क्योंकि दूसरे के मत में योगी और ईश्वर का अशेषसुखादिभोक्तृत्व प्राप्त हो जायगा । अन्यासमवेतत्वविशेषण अद्वैतवाद में सार्थक नहीं है । इसलिये अद्वैती के मत में व्यवस्थाभाव दोष हो जायगा । नानात्व (पक्ष) में तो परिहार कहा जाता है—

"देश को प्राप्त करके यदि सुख आदि की उपभोग्यता मानी जायगी, तव दोष प्रसक्त होगा और योग्यभोग्य (के विषय) में (यह योग्य है यह अयोग्य है ऐसी व्यवस्था होती है) अतः दोष नहीं है ।"

यदि आत्मा और सुख आदि का समानदेशलक्षण वाला ही सम्बन्ध उपभोग का कारण माना जायगा तो यह दोष होगा । यहाँ तो चक्षु आदि का रूप आदि के समान योग्यतालक्षण सम्बन्ध है । जैसे त्वगिन्द्रिय के द्वारा स्पर्शसमानदेशवाले भी रूप आदि का ग्रहण नहीं होता ।

---

[1] (क) दुःखा, (ग) सुखा ।
[2] (क) योग्यायोग्ये च क्लृप्तता । (ग) योग्यभोग्येत्वदुष्टता ।
[3] (ग) एव सम्बम्घ तत्र यथा त्वगिन्द्रियेण स्पर्शसमानदेश इह तु ।
[4] (ग) नामरू ।
[5] (ग) न वाच्यम् ।

रनुसन्धानं, तादृशस्य सर्वदेहेष्वेकस्यानुसन्धानाभावे घटादेरिव चेतनान्तरादभेदासम्भवादघटमाना श्रुतिरुपचरितार्था केन वार्येत ? ततो दुर्घटोऽयं पक्ष इति।

अत्र वदामः सत्यम्; यदि यथा शिरःपाण्याद्यवयवाः तथा ब्रह्मादिस्थावरान्ता देहभेदा एकस्यैव भोक्तुर्भोगाधिष्ठानं सर्वकरणानि भोगसाधनानि तथा, तदा हस्तपादादिभेदेनानुसन्धानवद्देहान्तरवेदनानुसन्धानादि पूर्वोक्तदोषजातं वेदनापरिहारार्थं युगपत् सर्वशरीरप्रवृत्तिश्च प्रसज्येत। न च तथाऽऽस्थीयते, किन्तु प्रतिशरीरं भोक्ता,

भावदीपिका

सर्वत्रैक्यं वक्तव्यम्। तच्चोभयं भोगाऽनुसन्धानाऽपेक्षम्। "यतो वा इमानि", "श्रोतारमन्तरेण"—इत्यादिश्रुतयो विशिष्टोपलक्षितपुरस्कारेणैव प्रवृत्ता न सहसा कस्यचिदैक्यं प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। अत एव यथा योगिनोऽक्ष्यवच्छिन्नस्य न शब्दाद्यनुसन्धातृत्वं, तथा शरीरभेदादेवाऽननुसन्धानम्—इत्यपि न वाच्यम्। अयोगिनोऽक्ष्यादिभेदेषु एकशरीरभागवत् योगिनोऽनेकशरीरभोगवच्च सकलशरीरवर्त्तिभोक्त्रैकत्वेऽनुसन्धानप्रवृत्तिसाङ्कर्यादेः दुर्वारत्वात्। यद्यपि योगिनः क्वचित् केनचिद्देहेनोग्रतपश्चर्याऽऽदिदुःखाऽन्वितस्य केनचिच्च कामभोगाऽऽदिसुखाऽन्वितस्य समव्ययफलत्वप्रसङ्गात् न तदैव तदनुसन्धानमिष्यते, तथाऽपि तस्य क्षणाऽन्तरेऽपि तदनुसन्धानं सर्वज्ञत्वादिष्यत एव—[इत्याह]—एकदेह इति।

एतेनैतदपास्तम् यदाहुः—मीमांसकस्य योग्यनुपगमात् यद्यनेकदेहेषु एको भोक्ता स्यात् तदा स्यादनुसन्धातेत्यापादनमशक्यम्—इति। भोक्ताऽनुसन्धातैवेत्येकदेहदृष्टान्तेन व्याप्तिसिद्धौ घटादौ वाऽनुसन्धानाऽभावे भोक्तृत्वाऽभावस्याऽवगतौ सर्वदेहेष्विति विशेषणस्याऽपादकाऽनन्तर्गतस्याऽप्रसिद्धावपि घटादिष्विवाऽनुसन्धानाऽभावप्रयुक्तभोक्त्रभावाऽऽपादस्य सुशकत्वात् स्यादेकजीववादे दोषः। ब्रह्मण एव भोक्तृत्वात् "अनश्नन्नन्यः"—इति श्रुतेरप्यनवकाशात् अनेकजीववादे भोक्तृभेदादननुसन्धानोपपत्तिः - इत्याह सत्यमिति। न चैवं भेद एव भाविक इति वाच्यम्—

ज्ञानवती

इसी प्रकार अन्य आत्मा के द्वारा दूसरे के धर्माधर्म से प्राप्त सुखदुःख आदि का ग्रहण नहीं होता इस प्रकार पर के समान अव्यवस्था नहीं है। और उसका सर्वत्र अनुसन्धान न होने से ऐकात्म्य मनोरथमात्र है। (पू) श्रुति के बल से सब देहों में आत्मैक्य के ज्ञात होने पर अनुसन्धानाभाव क्या करेगा ? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार के भोक्ता का एक देह में अनुसन्धान है उस प्रकार के एक का सब देहों में अनुसन्धान न होने पर घट आदि के समान चेतनान्तर से अभेद असंभव होने से अघटमान श्रुति उपचरितार्थ होती हुई किसके द्वारा वारित होगी ? इसलिये यह पक्ष दुर्घट है।

इस विषय में कहते हैं—सत्य है, यदि जैसे शिर, हाथ आदि अवयव उसी प्रकार ब्रह्म से लेकर स्थावर पर्यन्त देहभेद एक ही भोक्ता के भोग के अधिष्ठान हैं और सब करण भोग के साधन हैं, तो हाथ पैर आदि भेद से अनुसन्धान के समान देहान्तरवेदनानुसन्धान आदि पूर्वोक्त दोषसमूह और वेदना के परिहार के लिये एक साथ सब शरीर की प्रवृत्ति होने लगेगी। किन्तु वैसा नहीं माना जाता,—

"आत्मेन्द्रिमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः : ।"[1]

—इति श्रुत्युक्तलक्षणो भिद्यते । "अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति"—इति श्रुतौ द्रष्टैव केवलो न भोक्ता । कर्मश्रुत्या सर्वदेहेष्वेको देवदत्त इव स्वप्रतिबिम्बश्यामत्वादिदर्शी भिद्यते—इति न दोषावकाशः । "सम्भोगप्राप्तिरिति चेन्न, वैशेष्यात्"[1]—इति सूत्रेणापि जीवब्रह्मणोः पुण्यापुण्यतदभावविशेषेण ब्रह्मण्युक्तप्रसङ्गापाकरणाच्च ।

"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्वाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन वाह्यः ॥"[2]

—इति कठश्रुतेश्च । यदि खलु विराडात्माऽव्याकृतो वा जीव एव ; तदा न केवलं पूर्वोक्तदोषः, किन्तु तत्पदप्राप्तिसाधनविधायकशास्त्रप्रामाण्योच्छेदश्च ।

यदि च साधनमनुष्ठाय तत्पदं लभते तदा ब्रह्माण्डादौ सत्येव तदनुष्ठान—

भावदीपिका

इत्याह—अनश्नन्निति । अहंकारादिसंपीडितरूपेण भोक्तृत्वं, स्वरूपेण च मायाप्रतिबिम्बितेन साक्षित्वं जडाऽहंकाराद्यंशत्यागेन चिन्मात्रावगाह्यभेदश्रुत्या ब्रह्मत्वेन निवेद्येत इति न दोषगन्धः । मतान्तरं च श्रुत्याऽपि निर्वोढुमशक्यम् —इत्याह—यदि खल्विति । जीवस्य साधारणभोगतदर्थ-पुण्याद्यर्जनव्यापाराऽवेशस्याऽवश्यंभावात् केवलस्य सुषुप्तप्रायस्य सर्वदा तदयोगादौपाधिकाऽव-ष्टम्भेनाऽऽह — विराडात्मेति ।

अथ शास्त्राऽऽद्यर्थाऽनुष्ठानान्न तदप्रामाण्यम् ? तत्राऽऽह—यदि चेति । स्वर्गाऽपवर्ग-साधनानां वेदोदितानामनुष्ठातारो ब्राह्मणाऽऽदयः परिगणिताः दृश्यन्ते । दृष्टकारीषाऽऽदिफलवत् अदृष्टस्वर्गनरकाऽऽदिफलवच्च मोक्षफलस्याऽपि दुर्वारत्वात् असङ्करेण बद्धमुक्ताऽऽदिव्यवस्था-निर्वाहायाऽनेकजीवपक्ष एव कक्षीकरणीयः । "यस्याऽज्ञानं भ्रमस्तस्य भ्रान्तः सम्यक् च वेत्ति

ज्ञानवती

"मनीषी लोग आत्मा इन्द्रिय मनसे युक्त को भोक्ता कहते हैं"—

—इस श्रुति से उक्त लक्षण वाला भोक्ता प्रतिशरीर भिन्न है। "दूसरा न खाता हुआ देखता है"—इस श्रुति में केवल द्रष्टा ही है न कि भोक्ता। कर्मश्रुति के द्वारा देहों में स्वप्रतिबिम्ब-श्यामत्व आदि दर्शी एक देवदत्त के समान (आत्मा) सब देहों में भिन्न हो जाता है, इस प्रकार दोष का अवकाश नहीं है । "(ब्रह्म) के लिए संसार के भोग की प्राप्ति होती है ? ऐसा नहीं है क्योंकि (जीव और परमेश्वर में) भेद है"—इस सूत्र से भी जीव और ब्रह्म के पुण्यापुण्य और तदभावविशेष के द्वारा ब्रह्म में उक्त प्रसङ्ग का निराकरण हो जाता है । और—

"जैसे सब लोक का चक्षु सूर्य चाक्षुष वाह्य दोषों से लिप्त नहीं होता उसी प्रकार एक एक वाह्य, सर्वभूतान्तरात्मा लोकदुःख से लिप्त नहीं होता ।"

—यह कठ श्रुति भी है । यदि विराट् आत्मा अथवा अव्याकृत, जीव ही है तो न केवल पूर्वोक्त दोष है, किन्तु तत्पदप्राप्तिसाधनविधायक के प्रामाण्य का उच्छेद भी होता है ।

और यदि साधन का अनुष्ठान करके उस पद को प्राप्त किया जाता है तो ब्रह्माण्ड आदि

---

[1] ब्र० सू० १।२।८ । [2] कठोप० २।२।११ ।

सम्भवात् अनुष्ठातुर्न तदवयवत्वे तदभेदः, किन्तु गर्भगतवामदेववत्[१] स्मरणम्। तत्र कार्यकरणसङ्घातवत्त्वेन भेद एव। (तस्य[२]) च वर्णाश्रमाऽऽदिविभागनिर्वाहकस्यानन्त्य एव पर्यवसानम्, अन्यथा नाविद्यावलम्बनेन कर्मकाण्डादिव्यवहारो निर्व्यूढः स्यात्, निर्वाह्यते च। तथा चेष्टसिद्धिः—

"प्रत्यक्षादिप्रमाणानां कर्मविज्ञानकाण्डयोः।
प्रामाण्यमविरोधश्च, नर्तेऽविद्यां प्रसिद्ध्यति ॥
धर्मार्थकाममोक्षाख्याश्चत्वार इतरेऽपि च।
इष्टानिष्टाः प्रसिद्ध्यन्ति सर्वतीर्थदृशां तथा ॥
दर्शनानि विरुद्धानि जगत्त्रैविध्यमेव च।
तस्मात् सर्वस्य सिद्ध्यर्थं विचार्य निरधारि सा ॥"[३]

भावदीपिका

सः। जडं न विद्याद् वेद्यत्वात् नाऽतोऽविद्या जडाश्रये" ॥—इति वदद्भिः केवलस्य प्रमातृत्वाऽभावात् अविद्याऽऽश्रयत्वेऽपि विद्याऽऽश्रयत्वाय द्वारं वाच्यम्। तच्च द्वारं देवादिः प्रसिद्धः ? प्रमाता वा श्रुत्यनुसारी ? तद्विलक्षणो वा श्रुत्याद्यप्रसिद्धः ? आद्ये "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत" —इत्यादिश्रुतेरितः पूर्वमपि विद्योदयाऽवगमात् इदानीं संसारो न स्यात्। न चाऽन्यादृशो मोक्षसाधनाऽनुष्ठाता शास्त्रेण वर्ण्यते येन पूर्वं तादृशो नासीदतः परं भविष्यति, शास्त्रप्रामाण्यान्मुक्तिश्च तस्यैवेत्याग्रहो निर्वहेत्। "ब्राह्मणो व्युत्थाय", "ब्राह्मणो निर्वेदमायात्"—इत्यादिश्रुतेश्च "रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव"—इति वीप्सया तत्प्रतिबिम्बैर्बहुरूपत्वमुक्त्वा "अस्य रूपं प्रतिचक्षणाय"–इति मायालिङ्गपिण्डितस्य शास्त्रश्रवणादिसम्भवात् अन्यथाऽसम्भवाच्चाऽनेकजीवप्रयोजनं शास्त्राचार्याऽऽदिद्वारेण स्वप्रेक्षणमुक्तम्–तस्य चेति। निरधारि=निर्णीता; सा=

ज्ञानवती

के होने पर ही उसका अनुष्ठान सम्भव होने से अनुष्ठाता का तदवयवत्वेन (=विराट का अवयव होने से) (विराट से) भेद नहीं है, किन्तु गर्भगत वामदेव के समान (विराट पुरुष का) स्मरण होता है। वहाँ कार्यकरणसंघात के रूप में भेद ही है। और उसके वर्ण आश्रम आदि विभागनिर्वाहक का आनन्त्य में ही पर्यवसान होगा, अन्यथा अविद्या के अवलम्बन से कर्मकाण्ड आदि व्यवहार निर्व्यूढ नहीं होगा; किन्तु निर्वाह होता है। इष्टसिद्धि का वचन है—

"कर्मकाण्ड एवं विज्ञानकाण्ड के प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रामाण्य और अविरोध अविद्या के विना प्रसिद्ध नहीं होता।

उसी प्रकार सब शास्त्र के द्रष्टाओं को धर्म अर्थ काम मोक्ष नामक चार तथा दूसरे भी इष्ट अनिष्ट प्रसिद्ध हैं।

"दर्शन विरुद्ध हैं तथा संसार का त्रैविध्य ही है। इसलिये सब की सिद्धि के लिये विचार कर उस (=अविद्या) का निर्धारण किया गया है।"

---

[१] (ग) गर्भवत् स्वतन्त्रकार्य। [२] (क) ततस्तस्य, (ग) तस्य।
[३] इ० सि० पृ० ३२८।

"अविद्याफलकाऽऽरूढं तदेवं रूपकं परम् ।
ब्रह्मविद्याधिकारित्वं द्वैविध्यात् प्रतिपद्यते ॥
स्वतो मुक्तं यतस्तस्मात् ब्रह्मविद्यां तदर्हति ।
संसारित्वमविद्यातो मुमुक्षुत्वं ततो भवेत् ॥"[१]

इति सुरेश्वराचार्यैरप्याविद्यकभेदेन[२] व्यवहारनिर्वाहात् ।

"महिमानो यदाऽमी स्युरविद्याया न वस्तुतः ।
(काल[३]—) देवादयस्तस्यां ध्वस्तायां तद्विनाशतः ॥
कालदेवादयः के स्युर्विघ्नं वा कस्य कुर्वते ॥"[४]

—इति । "तस्य ह ब्रह्मविदो न देवाश्च[५] नासक्ता अपि अभूत्यै=ब्रह्मभावविघ्नाय[६] ईशते"—इति श्रुतिव्याख्यानं[७] च । प्रतिजीवं धिया तदभावोक्तेश्च । अतो माया-तत्कार्योपाधिभोक्तृभेदादेवानाव्यवस्था प्रत्यवस्थानावकाशः ।

भावदीपिका

अविद्या; ब्रह्माऽविद्याफलकाऽऽरूढं तत एव वैविध्यमापन्नविद्याऽधिकारित्वं स्वतो मुक्तमपि प्रतिबध्यते । संसारित्वस्य चाऽविद्यामयत्वात् निजस्वरूपभूतब्रह्मविद्यामज्ञत्वादर्हति । तेन मुमुक्षुत्वं विद्याकामत्वं युक्तं विशेषतोऽनेकजीववादस्य । "आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाऽऽकाशैरि-वोदितः । घटादिवच्च संघातो जातावेतन्निदर्शनम् ॥ यथैकस्मिन् घटाकाशे रजोधूमादि-भिर्युते । न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥"—इति गौडपादाचार्यैर्व्यवस्था-पितत्वात्; वार्त्तिककारैश्च पदे पदे तद्व्यवस्थापनात्; सूत्रभाष्यकाराभ्यां देवताद्यधि-कारसमर्थनपराभ्यां विस्पष्टतरं तदुपपादनाच्च ; टीकाकारैरपि "अनादिसिद्धाऽविद्याऽ-वच्छिन्नाऽनन्तजीवनिर्भासास्पदमेकरसं ब्रह्मेति श्रुतिस्मृतिन्यायकोविदैरभ्युपगन्तव्यम्"—इत्युपपाद-नाच्चाऽनेकजीववाद एव पुरस्करणीयः । तदाह—महिमान इति ।

ज्ञानवती

"तो इस प्रकार अविद्या रूपी फलक (=काष्ठासन) पर आरूढ़ परम प्रतिबिम्ब द्वैविध्य के कारण ब्रह्मविद्याधिकारित्व को प्राप्त होता है ।

चूंकि वह ब्रह्म स्वतः मुक्त है इसलिये वह ब्रह्मविद्या की प्राप्ति के योग्य है । अविद्या से संसारित्व और उसी (=अविद्या) से ही मुमुक्षुत्व होता है ।"

इस प्रकार सुरेश्वराचार्य ने भी आविद्यकभेद से व्यवहार का निर्वाह किया है ।

"जब ये काल दैव आदि महिमायें अविद्या की है न कि वास्तविक तो उसके ध्वस्त होने पर काल दैव आदि कौन होंगे और किसका विघ्न करेंगे" ।

और श्रुति का व्याख्यान भी है—"और देवता लोग उस ब्रह्मवेत्ता की अभूति के लिए एवं ब्रह्मभाव के विघ्न के लिये समर्थ होते हुए भी समर्थ नहीं है ।" प्रतिजीव (उपाधि भूत) बुद्धि के द्वारा उसके (नानात्व के) अभाव की उक्ति भी है । इसलिये माया और उसके कार्य की उपाधि भोक्ता के भेद से ही अनाव्यवस्था प्रत्यवस्था का अवकाश नहीं है ।

---

१ वृ० वा० १।४।१३३६ । २ (ग) का भेदे । ३ (क) काला, (ग) काल ।
४ वृ० वा० १।४।१५०४ । ५ ग वेदाश्च न शक्ता ।
६ (क) भाववि, (ग) भावफलवि । ७ ख्याने ।

[अनेकाज्ञानोपगमेन अनन्ता जीवाः—]

सर्वगता स्वाभाविकभेदभाजो जीवा इतिपक्षे तु मनो वा, तत्संयोगजाः सुखादयो वा, पुण्यादिक्रिया वा, तद्धेतुसंकल्पादिक्रिया वा, तनुर्वा सर्वसाधारणैव कस्मान्न स्यात्। न चानादित्वमात्रावलम्बनेन स्वस्वामिभावादिव्यवस्था प्रमाणिकी स्यात्। अतो "अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः"—इत्याद्याम्नायात् अविद्यातत्कार्योपाध्यनन्तजीवाश्रयणेन सर्वं निर्वाह्यम्। अनन्ताश्च जीवाः अज्ञातसंख्यात्त्वात्।

ननु असिद्धो हेतुः, ईश्वरेण ज्ञातसंख्यात्वात्। अन्यथा सर्वज्ञत्वहानात्। तथा च इष्टसिद्धिः—

"यद्यपि ज्ञायते संख्या नास्माभिर्गणितज्ञवत्।
ईश्वरो वेत्ति तत्संख्या न चेत् सर्वज्ञताहतिः ॥"

—इति; तत् कथम् साधु? न खल्वविद्यमानसंख्यायाः कलाभावेन वन्ध्यापुत्रविवाहस्येवासार्वज्ञापत्तिः प्रत्युत कलन एव भ्रान्तियोगात्।

भावदीपिका

[अनेकाज्ञानोपगमेनाऽनन्ता जीवाः—]

परमतेन तु न व्यवस्थागन्धोऽपि—इत्याह—सर्वगता इति। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः"—इति मनोऽधीना व्यवस्था यद्यपि प्रतीयते, तथाऽपि मनसः श्रुतिषु बहुधा सर्गाऽदिश्रवणात्, नाऽनादिबन्धनिर्वाहकत्वे अनाद्यविद्यामन्तरेण षोडशकलोच्छेदे तत्त्वज्ञानेनोच्छेदश्रवणाच्च, प्रवाहाऽनादिताया अप्यनुस्यूतोपादानमन्तरेण दुर्घटत्वात्—इत्याह—न चाऽनादित्वेति। श्रुत्यनुकूलां युक्तिमाह—अनन्ताश्चेति। संख्या अविद्यमाना, विद्यमाना वा? नाद्यः—इत्याह—न खल्विति।

ज्ञानवती

[अनेक अज्ञान के मानने से जीव अनन्त हैं—]

जीव सर्वगतस्वाभाविक भेद के भागी हैं—इस पक्ष में तो मन या उसके संयोग से उत्पन्न सुख आदि या पुण्य आदि क्रियायें या उसके कारणभूत संकल्प आदि क्रियायें, अथवा शरीर सर्वसाधारण ही क्यों न हो जायेंगे। और अनादित्वमात्र के अवलम्बन से स्वस्वामिभाव आदि की व्यवस्था प्रामाणिकी नहीं होगी। इसलिये "अविद्या के बीच फँसे हुए"—इत्यादि आम्नाय से अविद्या या उसके कार्य की उपाधि अनन्त जीव के आश्रयण से सब कुछ निर्वाह्य है। और जीव अनन्त हैं क्योंकि संख्या अज्ञात हैं।

(पू) हेतु असिद्ध है, क्योंकि संख्या ईश्वर के द्वारा ज्ञात है। अन्यथा (उसके) सर्वज्ञत्व की हानि हो जायगी। इष्टसिद्धि (का वचन) है—

"यद्यपि हम लोगों के द्वारा गणितज्ञ के समान संख्या नहीं जानी जाती किन्तु ईश्वर उसकी संख्या जानता है, नहीं तो (उसकी) सर्वज्ञता की हानि हो जायगी।"

(उ) यह कैसे ठीक है? वन्ध्यापुत्र के विवाह के समान अविद्यमान संख्या के कलनाभाव के द्वारा असार्वज्ञ की आपत्ति नहीं होगी बल्कि गिनने में ही भ्रान्ति होगी।

अथ भिन्नत्वलिङ्गेन संख्यावत्त्वं साध्यते ? (तदपि[१]) संप्रतिपन्नाविद्यक-ब्रह्माण्डकल्पादिभिरनेकान्तः[२]। तस्यापि संख्यावत्त्वे संसारस्यादिमत्ता स्यात्। अत एव न द्रव्यत्वमपि जीवसंख्यागमकम्। "विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि"—इति मायोपाधिष्वाहितजीवाख्यवीर्याणामानन्त्यश्रुतिविरुद्धं च। "रूपाणि देवः कुरुते बहूनि", "नीहारेण प्रावृताः जल्प्याः चासुतृप[३] उक्थशासः"—उक्थं शंसति इत्युक्थशासः। उक्थशास इति दैर्घ्यं छान्दसम् इत्यादि निरुपपदबहुत्वाश्रयणाच्च आनन्त्यं प्रतीयते। न च "वसन्ताय कपिञ्जलानालभेत"—इत्यत्र यथा अनन्तकतिञ्जलालम्भनप्रतीतावपि त्रय एव बहुवचनसिद्ध्यर्थम् अवान्तर-संख्या वा अनुपादानात् गृह्यन्ते, अनन्तालम्भस्याशक्यत्वात्, तथाऽत्रापि विश्वादयस्त्रयः एव ग्राह्याः—इति साम्प्रतम्; युगपदनेकेषां जागरादिदर्शनात् प्रत्येकं त्रितयवतां जीवानां व्यवहारभाजां आनन्त्याप्रतिषेधात्[४]। तदुक्तम्—

"अत एव च चिद्वस्तु मुच्यमानेषु सन्ततम्।
ब्रह्माण्डलोकजीवानामनन्तत्वान्न[५] मुच्यते॥'

भावदीपिका

द्वितीयमुद्भाव्य दूषयति—अथेति। कालात्ययापदिष्टोद्धारमाशङ्क्याऽऽह—न च वसन्तायेति। कपिञ्जलाः=पक्षिविशेषाः। भद्रं वद कपिञ्जल! इति शकुनदायिनो विनायकाः—इति प्रसिद्धाः। "गावो वै सत्रमासत"—इत्यादितुल्यतां निराचष्टे—न चेति।

ज्ञानवती

यदि भिन्नत्व लिङ्ग के द्वारा संख्यात्व की सिद्धि करेंगे तो वह भी संप्रतिपन्न आविद्यक ब्रह्माण्डकल्प आदि के द्वारा अनेकान्त हो जायगा। उसके (=ब्रह्माण्ड आदि के) भी संख्यावान् होने पर संसार की आदिमत्ता हो जायगी। इसीलिये द्रव्यत्व भी जीवसंख्या का गमक नहीं है। "विष्णु के वीर्य को हम कहते हैं जिसने पार्थिव लोकों की माप की"—इस प्रकार मायोपाधियों में आहित जीव नामक वीर्यों का आनन्त्य श्रुतिविरुद्ध है। "देव बहुत रूप बनाता है"। "अज्ञान के द्वारा भिन शब्दों से प्रयुज्यमान प्राणाभिमानी एवं कर्म करने वाले"। उक्थ का कथन करने वाला उक्थशास है। उक्थशास इसमें दैर्घ्य छान्दस है—इत्यादि निरुपपद बहुत्वश्रवण से आनन्त्य की प्रतीति होती है। (पू) "वसन्त के लिये कपिञ्जलों का आलम्भन करना चाहिये"—यहाँ जैसे अनन्त कपिञ्जल के आलम्भन की प्रतीति होने पर भी तीन ही बहुवचन की सिद्धि के लिये हैं, क्योंकि अवान्तर संख्या के अनुपादान से अथवा अनन्त आलम्भन के असम्भव होने से (तीन ही) लिये जाते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी विश्व आदि तीन का ही ग्रहण होना चाहिये। (उ) यह ठीक नहीं है। एक साथ अनेक का जागरण आदि देखे जाने से प्रत्येक त्रितय वाले व्यवहार-भागी जीवों के आनन्त्य का प्रतिषेध नहीं होता। कहा गया है—

"इसीलिये निरन्तर मुच्यमान होने पर भी ब्रह्माण्ड लोक और जीवों के अनन्त होने से चिद्वस्तु मुक्त नहीं होती।"

---

१ (क) तदाऽपि, (ग) तदपि। २ (ग) कैवल्यादि। ३ (ग) जल्प्याः चोक्थम्। ४ (ग) त्यप्रति। ५ (ग) त्वादशून्यता,

—इति। "तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्।" "अजो ह्येको' जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः।"—इत्यादिवेदाच्च बन्धमुक्तव्यवस्था गम्यते। न च अजपयोहोमस्य "जर्तिलयवाग्वा वा जुहुयात्"—इत्यादिवत् ज्ञानस्यैव प्रशंसावादः; देवताऽधिकारसमर्थनविरोधात्; "तदिदमप्येतर्हि य एवं वेद अहं ब्रह्मास्मि इति स इदं सर्वं भवति"—इति। रज्ज्वादिप्रमाया इव ब्रह्मप्रमाया दृष्टफल(-श्रुति[२]-) व्याकोपात्। प्रत्यक्षादिप्रमाया व्यावहारिकानेकजीवाश्रिताया रज्ज्वाद्यज्ञाननिवर्त्तकत्वे[३] तादृशब्रह्मैक्यप्रमाया अपि तदज्ञाननिवर्त्तकस्यानपलापाच्च। न च वाच्यम् ब्रह्माण्डादेः कारणानुवृत्त्या युक्तमनन्तस्यातीतत्वेऽपि साम्प्रतं दर्शनम्, जीवानान्तु प्रतिकल्पमेकैकस्यापि मुक्तावनन्तकल्पेषु सर्वमुक्तेः सांप्रतं दर्शनमयुक्तम्—इति; मुक्तानां बद्धानाञ्च सर्वदाऽऽनन्त्याभ्युपगमात्। अनादिकालं प्रमाणज्ञानैः प्रत्येकमज्ञाननिवृत्तावपि सांप्रतमज्ञानानां तत्प्रागभावानां[४] चानुवृत्तिवदनन्तानां मुक्तावपि बद्धानामनुवृत्तेः सम्भवाच्च। तदुक्तम्—

भावदीपिका

युक्तिमाह—प्रत्यक्षाऽऽदीति। अस्तु तर्हि निवर्त्तकत्वम्? तत्राऽऽह—निवर्त्तकत्वे चेति। प्रतियुक्तिविरोधं निराचष्टे—न च वाच्यमिति। अनन्तमुक्तावपि "बहवो ज्ञानतपसा

ज्ञानवती

"तो जो जो देवताओं में प्रतिबुद्ध हुआ वही वह हो गया।" "एक अज (उसका) सेवन करता हुआ अनुशयन करता है और दूसरा अज भुक्तभोग वाली इस (अजा) को छोड़ देता है।"—इत्यादि वेद से वन्ध-मुक्त की व्यवस्था ज्ञात होती है। (पू) अजपयोहोम का "अथवा जर्तिल की यवागू से होम करना चाहिये"—इत्यादि के समान "तो यह भी इसलिये जो इस प्रकार जानता है कि "मैं ब्रह्म हूँ वह यह सब हो जाता है"—(यह भी) ज्ञान का ही प्रशंसावाद है, क्योंकि देवताधिकार समर्थन का विरोध है। (उ) नहीं है। क्योंकि रज्जु आदि की प्रमा के समान ब्रह्मप्रमा की दृष्टफलश्रुति का व्याकोप हो जायगा। और व्यवहारिक अनेक जीवाश्रित प्रत्यक्ष आदि प्रमा के रज्जु आदि अज्ञान के निवर्त्तक होने पर वैसी ब्रह्मैक्य प्रमा के भी उसके (=रज्जु आदि के) अज्ञान के निवर्त्तक का अपलाप नहीं होगा। (पू) अतीत होने पर भी ब्रह्माण्ड आदि के कारणानुवृत्ति के द्वारा अनन्त का वर्त्तमानदर्शन युक्त है? (उ) ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि मुक्त और बद्ध का सर्वदा आनन्त्य माना जाता है। अनादि काल से प्रमाणज्ञानों के द्वारा प्रत्येक अज्ञान की निवृत्ति होने पर भी इस समय अज्ञानों की और उसके प्रागभावों की अनुवृत्ति के समान अनन्तों की मुक्ति होने पर भी बद्धों की अनुवृत्ति सम्भव है। कहा गया है—

---

[१] (क) ज्ञान, (ग) बद्ध। [२] (क) फलव्या, (ग) फलश्रुतिव्या।

[३] (ख) निवर्त्तकत्वे भ्रान्तिबाधव्यवहारोच्छेदेन प्रपञ्चानिर्वाच्यतायाः साधनानुदयप्रसङ्गात् निवर्त्तकत्वे ब्रह्मैक्य। (ग) अनिवर्त्तकत्वे भ्रान्तिबाधव्यवहारोच्छेदेन ....वा तादृशब्रह्मैक्य। [४] (ग) वानु।

"अन्तन्यूनातिरिक्तत्वैर्युज्यते परिमाणवत्।
वस्तून्यपरिमेये तु नूनं तेषामसंभवः॥" इति।

[अनेकाज्ञानोपपत्तिः—]

यदत्रोदयनः परिजहार—कालनियमे प्रमाणाभावात् प्रतिकल्पमेव मुक्तेरप्यनावश्यकत्वात् न सांप्रतं संसारदर्शनम् (निरु-)[१] ध्यत इति; तदपठितवेदवत् प्रतिभाति—

"ते ब्रह्मलोके तु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे।"

—इत्यादिवेदेन कालविशेषव्यवस्थापनात्। "अनन्ता विश्वेदेवा"—इत्येकजातीनामप्यानन्त्यश्रवणाच्च।

"(सर्वे-)[२]ऽप्येते यथादृष्टि ह्येकैकस्य (तम-)[३] स्विनः।
सूत्रादयोऽनुभूयन्ते यथाकर्म यथाश्रुतम्॥"

भावदीपिका

पूता मद्भावमागताः"—इत्याद्यनुसारात्। साम्प्रताऽनुवृत्तौ सम्प्रतिपन्नोदाहरणमाह—अनादिकालमिति।

[अनेकाऽऽज्ञानोपपत्तिः—]

परिहाराऽऽभासं प्रत्याचष्टे—यदत्रेति। श्रुत्याऽऽप्तवाक्याभ्यामानन्त्यं द्रढयति—अनन्ता इति। एतेन—"जीवाः कदाचित् सर्वथोच्छिद्यन्ते [परिमितत्वात्] परिगणितमाषाऽऽदिवत्" —इत्यपास्तम्; विपक्षे बाधकाऽभावाच्च; अनादित्वेनाऽऽनन्त्यस्य युक्तत्वेन व्यत्ययस्य च शास्त्रैकगम्यत्वात् शास्त्रीयनिषेधविरोधाच्च; शास्त्रीयक्रियासु लौकिकक्रियावत् स्वर्गादिफल-

ज्ञानवती

"परिमाणवाला पदार्थ अन्त न्यून और अतिरिक्तत्व के द्वारा युक्त होता है। किन्तु अपरिमेय तो उनका (=अन्त आदि का) असंभव निश्चित है।"

[अनेक अज्ञान की उपपत्ति—]

जो यहाँ उदयन ने परिहार किया—काल नियम के विषय में प्रमाण न होने से प्रतिकल्प ही मुक्ति के भी अनावश्यक होने से इस समय संसार का दर्शन निरुद्ध नहीं होता। (उ) वह अपठित वेद के समान प्रतीत होता है। क्योंकि—

"परान्तकाल में ब्रह्मलोक में वे सब पर अमृत से परिमुक्त हो जाते हैं।"

—इत्यादि वेद के द्वारा कालविशेष की यवस्था है। और "विश्वेदेव अनन्त हैं"—इस प्रकार एक जाति वाले का भी आनन्त्य सुना जाता है।

"ये सभी एक-एक तमोगुणवाले के इन सूत्र आदि का यथादृष्टि यथाकर्म यथाश्रुत अनुभव होता है।"

---

१ (क) विरु, (ग) निरु। २ (क) सत्त्वे, (ग) सर्वे।
३ (क) मन, (ग) तम।

—इति वार्त्तिकाद्यनेकाज्ञानसिद्धेः। न च स्वप्नवदेकस्यैव जाग्रत्प्रपञ्चस्य बुद्धाबुद्ध-मुक्तामुक्तादिरूपसम्भिन्नस्य प्रतिभानम्।

"अब्राह्मणादध्ययनमापत्काले विधीयते।
अनुव्रज्या च शुश्रूषा यावदध्ययनं गुरोः॥"
"नाब्राह्मणे गुरौ शिष्यो वासमात्यन्तिकं वसेत्।
ब्राह्मणे चाननूचाने काङ्क्षन् गतिमनुत्तमाम्॥"

—इत्यादिनियमानुपपत्तेः। किञ्च स्वप्नादविशेषप्रसङ्गेन पुण्यापुण्यमूलविध्यादिशास्त्र-प्रामाण्यलोपापत्तेः। स्वप्नादिनाशे[1] च व्यावहारिकानेकप्राणभृदप(-लाप-) योगात्[2]। अ (-प्राणभृत्)[3] जीवस्यासंप्रतिपत्तेश्च। ब्रह्मण एव संसारित्वे तत्पदार्थाभावः।

[अविद्या जीवाश्रयाऽस्ति—]

अथ प्राज्ञस्तत्पदार्थः विश्वतैजसौ च त्वम्पदार्थस्तर्ह्यध्यात्मं सुप्तौ अधिदैवं प्रलयः स्यात्।

भावदीपिका

त्वाऽभावाद्यनुगतिप्रसङ्गाच्च। परस्य रहस्यं निराचष्टे—न चेति। अथ नियमोऽपि स्वाप्न-नियमेन तुल्यः? तत्राऽऽह—किञ्चेति। अथ शास्त्रप्रामाण्यविशेष इष्यते? तत्राऽऽह—स्वप्नाऽदीति। अथ प्राणभृदेको जीवः? तत्राऽऽह—अप्राणभृदिति। अथ ब्रह्मैवाऽप्राणवान् जीवः?—इत्यत आह—ब्रह्मण एवेति।

[अविद्या जीवाऽऽश्रयाऽस्ति—]

पराऽभिमतं विभागमाशङ्क्य प्रत्याह—अथेति। ब्रह्मण एव जीवत्वे आत्मविदँव

ज्ञानवती

—इस वार्त्तिक से अनेक अज्ञान की सिद्धि होती है। और ऐसा नहीं है कि स्वप्न के समान बुद्धाबुद्ध मुक्तामुक्त आदि रूप से संभिन्न एक ही जाग्रत् प्रपञ्च का प्रतिभान होता है।

"अब्राह्मण से अध्ययन का आपत्ति काल में विधान है। और अध्ययनपर्यन्त गुरु की अनुव्रज्या और सुश्रूषा का (भी विधान है)।

अनुत्तम गति चाहने वाले शिष्य को अब्राह्मण गुरु के और अननूचान ब्राह्मण के समीप आत्यन्तिक वास नहीं करना चाहिये।"

इत्यादि—नियम की अनुपपत्ति हो जायगी। साथ ही स्वप्न से अविशेष प्रसङ्ग के द्वारा पुण्यापुण्यमूलविधि आदि शास्त्र के प्रामाण्य का लोप हो जायगा, और स्वप्न आदि का नाश होने पर व्यावहारिक अनेक प्राणभृत का अपलाप होने लगेगा। अप्राणभृत जीव की संप्रतिपत्ति नहीं होगी। ब्रह्म के ही संसारी होने पर तत्पदार्थ का अभाव हो जायगा।

[अविद्या जीवाश्रया है—]

(पू) यदि प्राज्ञ तत्पदार्थ है और विश्व एवं तैजस् त्वं पदार्थ हैं तो सुप्ति में अध्यात्म

---

१ (ग) नाद्विशेषे च। २ (क) लापा, (ग) लाप। ३ (क) प्राण, (ग) प्राणभृत्।

यदि च प्रलय एव सुप्तिस्तदा "यत्र सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति"—इत्यादि तत्प्रतिपादकश्रुतिविरोधः। अप्रामाण्ये चास्याः प्रलयश्रुतीनामपि तथात्वमविशेषात्। किं च ब्राह्मणत्वादिविशिष्टस्यैव कर्मज्ञानाधिकारित्वात् तस्य चानन्तत्वात् तस्य चानादिकालं अमुक्तस्य शास्त्रे प्रामाण्यान्मुक्तिः भवति इति प्रतारणामात्रम्। तस्मादनेकजीवपक्ष एव अविद्या(-पक्षेऽपि)[1] श्रेयान्। अविद्या च यथाऽनुभवं जीवे तावत् पदं बध्नाति। न चाविद्यकत्वात् जीवविभागस्य तदाश्रयः स इति परस्परापेक्षणम्; जीव (-विभागस्याविद्या-)सम्बन्धवत्[2] अविद्यातन्त्रस्यानादित्वेनोत्पत्तौ तदनपेक्षणात्। जीवस्य ब्रह्मवदनादित्वेन प्रतिबिम्बभाव इति चेत्? न; उपाधेरनादित्वादेव बिम्बप्रतिबिम्बयोः पूर्वोत्तरकालकोट्यनपेक्षणात्।

भावदीपिका

विभागाऽभावात्। महाप्रलय एव सुप्तिश्चेत्? तत्राऽऽह—तदा यत्रेति। अस्याः प्रतिदिनं सुषुप्तिप्रतिपादकश्रुतेः। इतश्च नायं पक्षः—इत्याह—किञ्चेति। अविद्यायाः प्रदेशाः प्रश्रयत्वम्। "सेयं भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी। सह तेन विचारः स्यात् तमो यद्वद्दिवाकरम्॥"—इत्याचार्योदीरणाऽनुसारेण निरालम्बनतत्त्वभूतकेवलब्रह्माश्रयेत्याशयेनोक्तम्। तदानीमविद्याश्रयम्=अविद्यातन्त्रं जीवविभागं प्रदेशाऽऽख्यं व्यवस्थापयति—अविद्या चेति। परोक्तं दोषमुद्धरति—न चेति। ब्रह्मणोऽप्यविद्याप्रयुक्तसंसारित्वस्य ब्रह्मैव स्वाऽविद्यया संसरतीत्यङ्गीकारात् अनादिसंसारित्ववदनादिप्रतिबिम्बो न विरुध्यते—इत्याह—न उपाधेरिति।

ज्ञानवती

एवं अधिदैव प्रलय होने लगेंगे। और यदि प्रलय ही सुप्ति है तो "जहाँ सोया हुआ कोई स्वप्न नहीं देखता"—इत्यादि उस (=सुप्ति) के प्रतिपादक श्रुति का विरोध हो जायगा और इसके अप्रमाण होने पर प्रलय श्रुतियाँ भी वैसी हो जायेंगी क्योंकि (दोनों) समान हैं और भी 'ब्राह्मणत्वादिविशिष्ट का ही कर्मज्ञान में अधिकार होने से और उसके अनन्त होने से तथा अनादि काल से अमुक्त उसका शास्त्र में प्रामाण्य होने से मुक्ति होती है'—यह कथन प्रतारणामात्र हो जायगा। इसलिये अविद्यापक्ष में अनेक जीवपक्ष ही श्रेयान् है। और अविद्या अनुभव के अनुसार जीव में अपना स्थान बनाती है। (पू) जीवविभाग के आविद्यक होने से और वह (=अविद्या) उसके (=जीव के) आश्रय है—इस प्रकार परस्परापेक्षण हो जायगा। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि जीवविभाग में रहने वाली अविद्या सम्बन्ध के समान अविद्यातन्त्र के अनादि रूप में उत्पन्न होने पर उसकी अपेक्षा नहीं है। (पू) ब्रह्म के समान जीव के अनादि होने से प्रतिबिम्बभाव है? (उ) नहीं है। क्योंकि उपाधि के अनादि होने से ही बिम्ब एवं प्रतिबिम्ब की पूर्वोत्तरकाल के कोटि की अपेक्षा नहीं है।

---

[1] (क) पक्षे च, (ग) पक्षेऽपि। [2] (क) गताविद्या, (ग) विभागस्याविद्या।

अत्र केचिदाहुः—यदि जीवाश्रयं ब्रह्मविषयमज्ञानं, तत्राज्ञातत्वं ब्रह्मणः किं प्रमाणात्? उत भ्रान्तेः? अनुभवाद् वा? आद्ये प्रमाणफलव्याप्यत्वात् कुम्भादिवत् जाड्यं ब्रह्मणः प्रज्ञानस्य सत्यत्वं च, अज्ञानस्यैव[1] प्रमेयत्वम् इत्यज्ञानेऽप्यज्ञानान्तर-प्रसक्तिश्च। द्वितीये ब्रह्मणोऽप्यज्ञानतत्कार्यवत् कल्पितत्वम्। न चरमः; जीवाज्ञत्ववत् ब्रह्मण्यज्ञत्वानुभवाभावात्। 'अहमज्ञः'—इत्यनुभवस्य जीवाश्रया-ज्ञानसाधकत्वमपि नास्ति, अन्तःकरणोपाधिलब्धजीवावस्थस्य ब्रह्मण एवा-ज्ञत्वानुभवः स्फुटो भवति यस्मात्। केवलं जडशक्तिमात्रवपुषा स्थितस्याज्ञानस्य तावन्मात्रेण स्फुरतोऽपि 'जाने'—इति ज्ञानापनोद्यत्वेन जीवावस्थायां प्राकट्याङ्गी-कारात्। तच्च (अज्ञानं[2]) कोमलकण्टकवत् चितिशक्तिसमुच्छेद्यतया वशवर्ति कर्म-कृताहङ्कारानारम्भकं मायाऽभिधानीयकं लभमानं सर्वज्ञेश्वरोपाधिः। तदेव कर्मकृता-हङ्कारपरिणामात् लब्धदृढत्वं चितिशक्तिबाधकतयाऽप्यवतिष्ठमानं जीवोपाधिः। अविद्या नाम कर्मैव। ततो न जीवे स्थितमज्ञानं ब्रह्मविषयम्, किन्तु केवल-चिदात्मनि ब्रह्मण्येव इति।

भावदीपिका

संक्षेपशारीरोक्तमुत्थापयति—अत्र केचिदिति। अथ 'अहमज्ञः'—इति सामान्येन ब्रह्मविषयं जीवाऽऽश्रयञ्चाऽज्ञानं सेत्स्यति?—अहमज्ञ इति। कथं जीवेश्वरविभागस्तर्हि? तत्राऽऽह—तच्चेति। "उपाधिरज्ञानमनादिसिद्धं तस्मिंश्चिदाभासनमीश्वरत्वम्। तदन्विता चित् प्रतिबिम्बकं स्यात् उदीर्यते शुद्धचिदेव बिम्बम्॥ उपाधिमन्तःकरणं त्वसर्थे जीवत्वमा-भासनमत्र तद्वत्। तदन्विता चित् प्रतिबिम्बमेवमनन्वितां तामिह बिम्बमाहुः॥"—इत्युक्तेश्च।

ज्ञानवती

इस विषय में कुछ लोग कहते हैं—यदि अज्ञान जीवाश्रयक एवं ब्रह्मविषयक है तो उसमें ब्रह्म का अज्ञातत्व क्या प्रमाण से है? या भ्रान्ति से या? अनुभव से? प्रथम (कल्प) में प्रमाणफलव्याप्य होने से कुम्भ आदि के समान ब्रह्म जड हो जायगा, और प्रज्ञान सत्य हो जायगा, और अज्ञान ही प्रमेय है इस कारण अज्ञान में भी अज्ञानान्तर की प्राप्ति हो जायगी। दूसरे (पक्ष) में अज्ञान और उसके कार्य के समान ब्रह्म भी कल्पित हो जायगा। अन्तिम भी नहीं—क्योंकि जीव के अज्ञत्व के समान ब्रह्म में अज्ञत्व का अनुभव नहीं है। 'मैं अज्ञ हूँ'—यह अनुभव भी जीवाश्रय अज्ञान का साधक नहीं है जिस कारण अन्तःकरणोपाधिलब्ध जीवावस्थ ब्रह्म का ही अज्ञत्वानुभव स्फुट होता है। केवल जडशक्तिमात्र शरीर से स्थित अज्ञान का तावन्मात्रेण स्फुरण करने वाले का भी 'ज़ानता हूँ'—इस प्रकार ज्ञानापनोद्य होने से जीवावस्था में ही प्राकट्य मान लिया जाता है। और वह अज्ञान कोमलकण्टक के समान चितिशक्ति से समुच्छेद्य होने के कारण वशवर्त्ती, कर्मकृत, अहंकार का अनारम्भक, मायाभिधानीयक, लभमान, सर्वज्ञेश्वर की उपाधि है। वही (अज्ञान) कर्मकृत अहंकारपरिणाम के कारण दृढ़ता को प्राप्त होता हुआ चितिशक्ति के बाधक के रूप में भी अवतिष्ठमान जीव की उपाधि है। अविद्या कर्म ही है। इसलिये जीव में ब्रह्मविषयक अज्ञान की स्थिति नहीं है किन्तु केवल चिदात्मा ब्रह्म में ही है।

---

[1] (क) तस्यैव। [2] (क) ज्ञानं, (ग) अज्ञानं।

तत्र वदामः—"यदेव साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म", "य आत्मा सर्वान्तरः तं मे व्याचक्ष्व", "अधीहि भगवो ब्रह्म"—इत्यादिप्रश्नान्यथाऽनुपपत्त्या ब्रह्मण्यज्ञातत्वं तावत् श्रुतेरवधार्यते। अज्ञातस्यैव ब्रह्मणः शब्दप्रमेयत्वम् 'शास्त्रयोनित्वात्" —इति व्यवस्थाप्यतेऽनुवादत्वनिरासार्थम्। ब्रह्मण्यज्ञानमिति वादेऽपि तस्याज्ञातस्य शास्त्रविषयत्वं व्यवस्थापनीयम्। ततः प्रमथपक्षदोषस्तत्रापि समानः। अथाज्ञातत्वं शास्त्रप्रवृत्तिप्रयोजकम्, तद्विषयस्तु केवलमेव ब्रह्म? तथाऽपि कुम्भादिवद् विषयत्वात् जाड्यं स्यात्। वृत्तिव्याप्यत्वेन परिहारस्तुल्यः। सम्प्रसादे चान्तः करणोपाध्यभावेन जीवसंज्ञानिमित्तप्राणसद्भावेऽपि जीवसंज्ञालोपप्रसङ्गात्। अन्तःकरणस्यैव क्रियाज्ञानशक्त्यवच्छिन्नस्य प्राण एकदेश इति न दोष इति वदतः।

भावदीपिका

प्रमाणादज्ञातत्वमवलम्ब्याऽऽह—यदेव साक्षादिति। अज्ञातसन्दिग्धविपर्यस्तसप्रयोजन-स्यैव प्रतिपादनार्थम् "अस्याऽनर्थहेतोः प्रहाणाऽऽत्मैकत्वविद्याप्रतिपत्तये सर्वे वेदान्ता आरभ्यन्ते" —इति शास्त्रमारब्धम्। प्रमाणफलप्राकट्यव्याप्यत्वाऽभावेऽपि "न तं विदाथ"—इत्यादिशाब्द-वृत्तिव्याप्यत्वाऽनङ्गीकारे शास्त्राऽनारम्भप्रसङ्गात् वक्तव्यमेव तद्व्याप्यत्वम्। तथा च तुल्यो दोषः—अज्ञातस्यैवेति। परिहाराऽभासं निराचष्टे—अथाऽज्ञातत्वमिति। प्रमितस्य संश-यादेः ज्ञानेन निर्णयादिलक्षणेन निवृत्त्यङ्गीकारात् न पारमार्थिकत्वाऽऽपत्तिः। अज्ञानस्य स्वपरा-ऽज्ञातत्वनिर्वाहकत्वात् नाऽज्ञानान्तरापत्तिरपि—इति पूर्वोक्तं द्रष्टव्यम्। उत्तरपक्षद्वयाऽनङ्गी-कारान्न तत्रोक्तदोषाऽवकाशः।

यदुक्तमन्तःकरणोपाधिलब्धजीवाऽवस्थस्येति—तत्प्रत्याह - सम्प्रसादे चेति। यद्यन्तः-करणमेव जीवोपाधिः तदा उक्तो दोषः; यदि प्राणोऽपि, तदाऽन्तःकरणोपाधिलब्ध-जीवाऽवस्थस्येत्युक्तम्। यदि चान्तःकरणस्यैवैकदेशः शक्तिस्वरूपप्राणः तदा तदतिरिक्ताऽज्ञानो-पाधित्वं सुषुप्तेन सिद्धचति। न च सुषुप्तिरपि—इत्याह - अन्तःकरणस्यैवेति। यदा

ज्ञानवती

(उ) इस विषय में कहते हैं—"जो ही साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है जो सर्वान्तर आत्मा है उसे मुझे बताइये", "हे भगवन्! ब्रह्म का उपदेश कीजिये"—इत्यादि प्रश्नों की अन्यथा अनुपपत्ति के द्वारा श्रुति से ब्रह्म में अज्ञातत्व का निश्चय होता है। अज्ञात ही ब्रह्म का शब्द-प्रमेयत्व (उसके) अनुवादत्व के निरास के लिये 'शास्त्रयोनित्वात्'—इससे व्यवस्थापित किया जाता है। 'ब्रह्म में अज्ञान है'—इस सिद्धान्त में भी उस अज्ञान के शास्त्रविषयत्व की व्यवस्था करनी चाहिये। तो प्रथमपक्ष का दोष वहाँ भी समान है।

(पू) अज्ञातत्त्व शास्त्रप्रवृत्ति का प्रयोजक है, और उसका विषय केवल ब्रह्म है? (उ) तो भी कुम्भ आदि के समान विषय होने से जाड्य हो जायगा। वृत्तिव्याप्यत्व के कारण परिहार समान है। और संप्रसाद में अन्तःकरणोपाधि के अभाव से जीवसंज्ञान्निमित्त प्राण के सद्भाव में भी जीवसंज्ञा का लोप होने लगेगा। प्राण, क्रिया ज्ञान एवं शक्ति से अवच्छिन्न अन्तःकरण का ही एकदेश है इसलिये दोष नहीं है - ऐसा कहने वाले के (मत में)

शक्तिमदन्तःकरणस्यावस्थानापत्त्या सम्प्रसादोच्छेदापत्तेः। ततः सम्प्रसादावस्थस्यापि जीवत्वं वक्तव्यम्; ब्रह्मण एव जीवत्वे च कर्मकृताहङ्कारपरिणामलब्धद्रढिम अज्ञानं जीवोपाधिरिति स्वोक्तिविरोधः; सम्प्रसादे तदभावात्। तस्मादनाद्यविद्यावान् जीवः; तस्यैव 'अहं-अहं'—इति स्फुटोऽनुभवः, "मायिनम्"—इति तु तद्विषयत्वेनापि व्यपदेशो घटते। स्वयमेव तरुणी वृद्धा च इतिवत् "माया चाविद्या च स्वयमेव भवति"—इति श्रुतेः मायाऽविद्ययोः मूलमूलिभावानुपपत्तेश्च न मायी जीवादनादिभिन्नः। "कस्य पुनरयमप्रबोधः?—इति चेत्? यस्त्वं पृच्छसि तस्य ते[१] इति वदामः"[२]—इति भाष्याच्च। अज्ञत्वस्य जीवे विषयत्वकृतत्वाभावात् आश्रयत्वसाधकत्वात् स्वाश्रयाज्ञानास्फुरणे तत्परिहाराय शास्त्रश्रवणाद्यनुपपत्तेश्च। अत एव अर्थजीव-

भावदीपिका

चाऽन्तःकरणमात्मोपाधिः, तदोक्तनीत्या सुषुप्ते तदभावान्न जीवत्वं प्राणधारणमात्रेणाऽप्येवम्। तदाह—तत इति। एवं च ब्रह्मण एवाऽवस्थाविशेषोऽज्ञत्वाऽनुभवः स्फुट इत्ययुक्तम्। अन्यच्चेत्याह ब्रह्मण एवेति। "मायी"—इति व्यपदेशात् अज्ञानमेव कोमलकण्टकतुल्यं माया, तस्माद् विलक्षणा वा ब्रह्मणीत्यप्ययुक्तम्—इत्याह—मायिनमिति। अत्र प्रक्रियान्तरमप्ययुक्तम्—इत्याह—स्वयमेवेति। कर्मोपासनादिभावाऽभावाऽपेक्षया माया चाऽविद्या च सैवोच्यते न तु व्यक्तिभेदे। यथैकस्या नार्यास्तारुण्यवार्धकयोरित्यर्थः। एतेन [प्रकृतविलयफलभाजो] ऽविद्या मायाशब्दाऽभिधेया साधारणप्रपञ्चयोनिः। इतरेषां चाऽसाधारणप्रपञ्चबीजमविद्येति व्यवस्थोपपत्तौ स्वतन्त्रमायोपाधीश्वरवादोऽप्याभासीकृतः।

अज्ञत्वाऽनुकूलां युक्तिमाह अज्ञत्वस्येति। अथाऽज्ञानोपाधित्वादज्ञत्व इति व्यपदेशः? तत्राऽऽह—स्वाश्रयेति। ज्ञानाऽज्ञानयोस्तत्कार्यभ्रान्त्योश्चैकाऽऽश्रयत्वं लोकवादिप्रसिद्धमङ्गीकार्यम्; अपरथोक्तो दोष इत्यर्थः। टीका = पञ्चपादी। "मायी"—इतिव्यपदेशस्याऽन्यथाऽनयनाऽनुकूलां

ज्ञानवती

शक्तिमत् अन्तःकरण के अवस्थानापत्ति के कारण संप्रसाद का उच्छेद हो जायगा। तब संप्रसादावस्थ को भी जीव कहना पड़ेगा, और ब्रह्म के ही जीव होने पर 'कर्म के द्वारा दृढ़भूत अहंकार के परिणाम से लब्धद्रढिमा वाला अज्ञान जीव की उपाधि है',—इस अपनी उक्ति से विरोध हो जायगा, क्योंकि संप्रसाद में उसका अभाव रहता है। इस कारण जीव अनादि अविद्यावान् है और उसी का अहं-अहं—यह स्पष्ट अनुभव है। 'मायिनम्'—यह व्यवहार तो तद्विषयक होने से भी घटित होता है। स्वयमेव तरुणी और वृद्धा इसके समान, "माया और अविद्या स्वयमेव होती हैं"—इस श्रुति से और माया तथा अविद्या के मूलमूलीभाव की अनुपपत्ति के कारण मायी, जीव से अनादि भिन्न नहीं है। एवं "किसका यह अज्ञान है?—यदि ऐसा (पूछते हैं तो) जो तुम पूछ रहे हो उसी तुम्हारा है—ऐसा हम कहते हैं"—यह भाष्य है। जीव में अज्ञत्व का विषयत्वकृतत्व न होने से आश्रयत्वसाधक होने के कारण स्वाश्रयाज्ञान का अस्फुरण होने पर उसके परिहार के लिये शास्त्रश्रावण आदि की अनुपपत्ति हो जाती है। इसीलिये "जीव

---

[१] (ग) स। [२] गी० भा० १३।२।

ब्रह्मस्वरूपाच्छा[1][-दिका] अविद्या इति टीका। चैतन्यमात्रेऽविद्या चेत् स्थिता, जीवेश्वरादिविभागसवित्री, तदा विभागः सादिः स्यात्। (अतो मायोपाधिः) ईश्वरो[2] जीवो वा संसारो वा अनादिः इति चैतन्यमात्रे नाविद्यासिद्धिः। मात्रशब्देन जीवाद्यनुगतचैतन्यविवक्षायां तस्यैवाकाशवत् स्वतन्त्रोपाधिभेदो (बद्ध)[3]मुक्तव्यवस्था च इति न विवादः। चैतन्यमात्राऽऽश्रयत्वे चैकविद्यया समस्ताविद्यानिवृत्तिप्रसङ्गात्[4]।

अनेक जीवपक्षेऽपि जीवाश्रयैव सा, (खाण्वादौ[5]) शब्दसंयोगादिवत् कल्पितभेदेन व्यवस्थानात्[6] विभोर्मायायाः।

भावदीपिका

युक्तिमाह—चैतन्यमात्र इति। अस्मिन् पक्षे जीवादिविभाग उत्पाद्यो वा ? प्रयोज्य एव वाऽविद्यासम्बन्धवत् ? नाद्यः—इत्युक्त्वा द्वितीयं प्रत्याह—अत इति। विभागविशिष्टे मात्रशब्दार्थो न लभ्यते नित्यद्रव्येषु गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरनादित्वेऽपि प्रयोज्यप्रयोजकभावे द्रव्यत्वरहिते वस्तुमात्रे गुणवत्त्वमित्यत्र यथा; अन्यथैकतरस्याऽऽगन्तुकत्वं स्यात्। यथा च सत्तादिविशिष्टं द्रव्यं प्रतिभासते, तथाऽविद्याविशिष्टेऽविद्या प्रतीयते। वस्तुविचारे च न कार्यविरोधाद्यपि निर्वहति। सुप्तिप्रलयादौ जीवब्रह्मणोर्भेदोऽविद्यातन्त्रोऽनादिर्न तत्कार्यः, तत्र कार्यलयात्। स चाऽविद्याविशिष्टगत एव, न स्वरूपगतः; तस्यैकगतत्वात्। "अविद्या च तत्तन्त्रविभागवति जीवे ब्रह्मण्यविद्याऽऽदिसाङ्कर्यपरिहारायैव तत्तन्त्राऽनादिविभागाऽङ्गीकारात्"[7]—इत्यादिविवरणाच्च। अथ गुणवत्त्वद्रव्यत्वयोरेकव्यक्त्याश्रितत्ववज्जीवत्वाऽविद्यावत्त्वयोरेकचैतन्यव्यक्त्याश्रयत्वं कल्प्येत ? तदा केवलगतज्ञानेनैव जीवत्वाऽविद्ययोर्निवृत्तौ जीव इवैकस्मिन्नविशेषेण तयोरुच्छेदादेकमुक्त्या सर्वमुक्तिः स्यात्। अविशेषेऽपि जीवत्वाऽविद्यावत्त्वोपसृष्टचैतन्यप्राप्तिर्मुक्तिरापद्येत, अन्यस्य केवलस्याऽभावात्। तदाह—मात्रशब्देनेति। अत्र च विभागभेदेन व्यवस्थोक्ता—इत्याह—अनेकेति। खम्=आकाशम्; अणुः=परमाणुः; तत्र कल्पितविभागगतैकशब्दादिनिवृत्तौ सर्वनिवृत्त्यभाववदत्राऽपि व्यवस्थेत्यर्थः।

ज्ञानवती

में अर्थात् ब्रह्मस्वरूप-प्रकाश के कारण अविद्या एक और अनादि है"—ऐसी टीका है। यदि अविद्या चैतन्यमात्र में स्थित है तथा जीव-ईश्वर आदि विभाग को पैदा करने वाली है तो विभाग सादि हो जायगा। अतः माया का उपाधि ईश्वर अथवा जीव अथवा संसार अनादि है। इसलिये चैतन्यमात्र में अविद्या की सिद्धि नहीं होती। मात्र शब्द से जीव आदि में अनुगत चैतन्य की विवक्षा होने पर आकाश के समान उसी का स्वतन्त्र उपाधिभेद और बद्धमुक्त व्यवस्था हो जाती है; इसलिये विवाद नहीं है। और चैतन्यामात्राश्रयत्व होने पर एक विद्यां से समस्त अविद्या की निवृत्ति होने लगेगी।

---

१ (क) अर्थात् जीवे ब्रह्मस्वरूपप्रकाशा, (ग) अर्थजीवब्रह्मस्वरूपाच्छादिका।
२ (क) स्यात् ईश्वरो, (ग) स्यात् अतो मायोपाधिरीश्वरो।
३ (क) वन्ध, (ग) वद्ध। ४ (न) गादावेक। ५ (ग) खाण्वादौ।
६ (ग) नाच्चा। ७ विवरण मद्रास सं० पृ० २९२।

किञ्च ईश्वरोपाधौ यथाऽवस्थितब्रह्मसाक्षात्काराभावे सर्वज्ञत्वहानिः; सद्भावे च न मायासद्भावः स्यात्[1]। बाधिताऽप्यनुवर्त्तत इति चेत्? तर्हि (तस्याः[2]) एकत्वात् जीवोपाधेरपि नित्यबाधान्नित्यं जीवन्मुक्तिः स्यात्; प्रारब्धकर्मविशेषस्यानुवृत्तिबीजस्येश्वरेऽसम्भवाच्च। ततो जीवाश्रयमज्ञानं ब्रह्मविषयम्।

भावदीपिका

अधुनाऽविद्याविलक्षणमायोपाधेर्दुर्निरूपत्वादविद्या च जीवाश्रयैव स्थिता। ततो न केवले चैतन्ये मायाऽपि—इत्याह—किञ्चेति। "वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्"–इति स्वयमुक्तत्वात् प्रामाणिकः साक्षात्कारो मायोच्छेदी वक्तव्यः। सति तस्मिन् न मायायाः सद्भावो युज्यते। लौकिकस्य तु मायाविनो मन्त्राऽऽदिबलात् तत्प्रतीकारमजानतामविद्यैव तत्तदाकारेण परिणममाना दृष्टिपथमवतरति। तदुच्छेदकः साक्षात्कारोऽपि तेषामेव—इत्यनुदाहरणता। तस्य साक्षात्कारे सत्यपि मायाऽस्तीत्यसम्प्रतिपत्तेः। परोक्तं परिहारमुत्थाप्याऽपवदति—बाधिताऽपीति। बाधोऽपि प्रारब्धकार्यस्याऽज्ञानस्य साक्षात्कारेणोच्छेद एव कात्स्न्र्येन? लेशाऽवशेषेण वा? अज्ञानकृत्यं च तत्त्वावरणं विभ्रमो मायाऽप्येवं जगद्विभ्रमप्रकृतित्वाऽऽश्रयणात्। ईश्वरस्य नाऽज्ञत्वम्, भ्रान्तत्वाऽनङ्गीकारात्। मायोच्छेदात् पूर्वं तदापत्तिर्दोषः स्फुट एव। नित्यबाधपक्षे "माया चाऽविद्या च स्वयमेव"—इति श्रुत्यनुसारेण दोषमाह—तर्हि इति। नित्याऽनित्यबाधयोः शेषाऽनुवृत्त्यनुपपत्तिस्तुल्या—इत्याह—प्रारब्धेति। जीवाऽश्रयत्वेऽपि दोष-

ज्ञानवती

अनेक जीवपक्ष में भी वह जीवाश्रया ही है, क्योंकि आकाश एवं परमाणु आदि में शब्द-संयोग आदि के समान विभु माया की कल्पित भेद से व्यवस्था है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर की उपाधि में यथावस्थित ब्रह्म का साक्षात्कार न होने से सर्वज्ञत्व की हानि हो जायगी। और सद्भाव होने पर माया का सद्भाव नहीं होगा। (पू) बाधित होकर भी वह अनुवृत्त होती है? (उ) तो उसके (= माया के) एक होने से जीवोपाधि का भी नित्य बाध होने से जीवन्मुक्ति नित्य हो जायगी। और अनुवृत्ति के बीच प्रारब्ध कर्म-विशेष की (स्थिति) ईश्वर में असंभव है। इसलिये अज्ञान जीवाश्रय है और ब्रह्मविषयक है। जीव और अविद्या के अमूर्त्त होने से कुण्डबदरन्याय भी नहीं हो सकता जिससे 'अविद्या के आधेय जीव में अविद्या है'—ऐसा आत्माश्रय हो जाय। किन्तु जीव की व्यावृत्ति होने से 'मैं अज्ञ हूँ'—ऐसी प्रतीति ही है। और प्रमाण, प्रमेय आदि में ऐसे इतरेतरापेक्षत्व का उदाहरण सुलभ है। तथा ब्रह्म तो माया का विषय ही है जैसे कि जगद्विभ्रम के अधिष्ठान के रूप में कारणत्वानिर्वाहक मायाश्रयत्व।

"यह उस देव की माया है जिससे वह स्वयं मोहित है।"—इस प्रकार मोहवान् ही माया का आश्रय कहा गया है। इसलिये शुद्ध ही ब्रह्म अनन्त जीवाविद्या का विषय होकर जिसको-जिसको साक्षात् आत्मा के रूप में स्फुरित होता है उस-उस को अविद्याव्यवधान की

---

[1] (ग) स्यात्तर्हि। [2] (क) नस्य, (ख,ग) तस्याः।

जीवाविद्ययोर्मूर्त्तत्वात् न कुण्डबदरन्यायो येनाविद्याधेये जीवेऽविद्या इत्यात्माश्रयः स्यात्। किन्तु 'अहमज्ञः'—इति जीवव्यावृत्ततया प्रतीयमानत्वमेव। एतादृगितरेतरापेक्षत्वं च प्रमाणप्रमेयादौ सुलभोदाहरणम्। ब्रह्मणश्च मायाविषयत्वमेव, जगद्विभ्रमाधिष्ठानत्वेन कारणत्वनिर्वाहकमन्याश्रयत्ववत्।

"मायैषा तस्य देवस्य ययाऽयं मोहितः स्वयम्।"

—इति मोहवत एव मायाऽऽश्रयत्ववचनाच्च। अतः शुद्धमेव ब्रह्म अनन्तजीवाविद्याविषयीकृतं यस्य यस्य साक्षादात्मतया स्फुरति, तस्य तस्य अविद्याव्यवधाननिवृत्तौ तदात्मनाऽवस्थानम् मोक्षः, इतरेषां बन्धः— इति व्यवस्थावादः श्रेयान्।

[ईश्वरो मायाया बिम्बं जीवश्च प्रतिबिम्बम्—]

न चैवं ब्रह्मणः सर्वात्मना मुक्त्यभावोऽनन्तोपाधीनां (कार्त्स्न्येना[1]—)नुच्छेदाद्दोषः; तस्यैव (बद्ध[2]-)मुक्तव्यवस्थावादस्य आकाशन्यायेनाभ्युपगमात्। अभ्युपगमस्य च दोषत्वेनाचोद्यत्वात्। अतः प्रतिबिम्बो जीवः—इति साधीयः। प्रतिबिम्बस्य चोपाध्याधारत्वमप्रसिद्धमपि पञ्चमप्रकाराविद्यानिवृत्तिवदास्थेयम्; "प्रतिरूपम्"—इति श्रुतेः। "आभास एव च"—इत्याह स्म सूत्रकारः। "आभास

भावदीपिका

स्तुल्यः—इत्यत आह—जीवाऽविद्ययोरिति। न च ब्रह्मणो मायाऽनाश्रयत्वे श्रुत्युक्तकारणत्वाऽऽदिभङ्गः—इत्याह—ब्रह्मणश्चेति।

[ईश्वरो मायायां बिम्बं जीवश्च प्रतिबिम्बम्—]

इष्टसिद्ध्युक्तं दोषं परिहरति—न चैवमिति। अतः प्रतिबिम्बभूता अविद्याऽऽधारा अनन्ता जीवा इति भद्रोऽयं पक्षः—इत्याह—अत इति। आधारत्वं पूर्वं निरुक्तं यथाप्रसिद्ध-

ज्ञानवती

निवृत्ति होने पर तदात्मना अवस्थान अर्थात् मोक्ष होता है, अन्य लोगों का बन्ध होता है—यह व्यवस्थावाद श्रेयान् है।

[ईश्वर माया का बिम्ब एवं जीव प्रतिबिम्ब है—]

(पू) इस प्रकार कल्पपर्यन्त वर्त्तमान रहने पर भी सम्पूर्ण रूप से अनन्त उपाधियों के अनुच्छेद से ब्रह्म का सर्वात्मना मुक्त्यभाव दोष (=मुक्ति का अभाव) हो जायगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि आकाशन्याय[3]के द्वारा उसी का बद्ध-मुक्त व्यवस्थावाद माना गया है। और दोष के होने के कारण अभ्युपगम प्रष्टव्य नहीं है। इसलिये जीव प्रतिबिम्ब है—यही ठीक है। और प्रतिबिम्ब का अप्रसिद्ध भी उपाध्याधारत्व पञ्चमप्रकार (अर्थात् सत्, असत्, सदसत् और सदसद्भिन्न से अतिरिक्त, अविद्यानिवृत्ति के समान मानना चाहिये क्योंकि 'प्रतिरूप'—

[1] (क) कल्पेना, (ग) कार्त्स्न्येना। [2] (क) बन्ध, (ग) बद्ध।

[3] (जैसे घट के परिच्छिन्न होने से आकाश परिच्छिन्न होता है और घट परिच्छेद का नाश होने पर आकाश के परिच्छेद का नाश होता है उसी प्रकार उपाधि के रहने पर जीव का बन्ध और उपाधि के न रहने पर मोक्ष होता है।)

एव चैष जीवः परस्यात्मनो जलसूर्यकादिवत् प्रतिपत्तव्यो न स एव साक्षात्, नापि वस्त्वन्तरम्''—इति भाष्यकारैरप्यभ्यधायि। यस्य चांशः प्रतिबिम्बो जीवः, स एवांशांशिसम्बन्धेन नियन्ता। ईश्वरमायोपाधेरुक्तसम्बन्धासम्भवेन नियन्तृत्वानुपपत्तेः। अतः शरीरेन्द्रियसङ्घातसमारोपभूमिप्रकाशविज्ञानानन्दैकरसोऽपि मायाकृतेन तन्त्रेणावच्छेदेन परात्माऽपि[1] जीवसंज्ञामनादिकालमवलम्बमानः संसारचक्रपरिभ्रमेण श्रान्त इव।

[मायाऽविद्ययोरौपाधिकभेदवर्णनम्—]

याऽपि प्रक्रिया वस्तुभेदाभावेऽपि विक्षेपप्रधानतया 'माया'—इत्यावरणप्रधानतया च 'अविद्या'—इति गीयते तत्र विक्षेपप्रधानमायाप्रतिबिम्बित ईश्वरो जगत्कर्त्ता जीवानां प्रशास्ता; आवरणप्रधानमायाप्रतिबिम्बिताश्च जीवाः। अन्यथा[2] स्वोपबृंहितेश्वरस्वरूपानावरकत्वात् स उपाधिरविद्या न स्यात्। आवरकस्यैव प्रमाणनिरस्यस्याविद्यात्वप्रसिद्धेः। अनावरणं चेत् स्वस्य[3] [तदा] वेदान्तवाक्यानां (स्वरूपावधारण-

भावदीपिका

मपि परैर्धर्षणीयम् —इत्याह—प्रतिबिम्बस्य चेति। न चैवं प्रतिबिम्बेश्वरोऽपि किं नेष्यति इति शङ्कनीयम्, उक्तदोषाऽन्तराच्च—इत्याह —यस्य चेति।

[मायाऽविद्ययोरौपाधिकभेदवर्णनम्—]

तत्त्वविवेकप्रक्रियामाह—याऽपीऽति। अनावरणमुपपादयति—अनावरणं चेति। अनावरणे कथं जगद्विभ्रमः? तत्राऽऽह—अनावृतस्वभावेऽपीति। एवमनावृतपरमार्थस्वभावः स्वपरदर्शनयोग्यजगत्कर्त्तृत्वादिधर्मेश्वरो मायाप्रतिबिम्ब इत्युक्त्वा अविद्याप्रतिबिम्बेषु

ज्ञानवती

यह श्रुति है। और सूत्रकार ने कहा है—"यह जीव परमात्मा का आभास ही है"। जलसूर्यक आदि के समान ऐसा मानना चाहिये, वही साक्षात् नहीं है और न वस्त्वन्तर है"—ऐसा भाष्यकार ने कहा है। और प्रतिबिम्ब जीव जिसका अंश है वही अंशाशिसम्बन्धेन नियन्ता है। क्योंकि मायोपाधि ईश्वर का उक्त सम्बन्ध असम्भव होने से नियन्तृत्व की अनुपपत्ति हो जाती है, अतः शरीरेन्द्रिसंघातसमारोप की भूमि, स्वप्रकाश, विज्ञानानन्दैकरस भी परात्मा ही मायाकृत तन्त्र-अवच्छेद से अनादि काल से जीवसंज्ञा को प्राप्त होकर संसारचक्र परिभ्रम के द्वारा श्रान्त के समान (रहता है)।

[माया और अविद्या का औपाधिक भेदवर्णन—]

(पू) और जो प्रक्रिया—वस्तुभेदाभाव होने पर भी (एक ही शक्ति) विक्षेपप्रधान होने पर माया, और आवरणप्रधान होने पर अविद्या कही जाती है, उसमें विक्षेपप्रधान माया में प्रतिविम्वित ईश्वर जगत् का कर्त्ता और जीवों का प्रशास्ता है; और आवरणप्रधान माया में में प्रतिविम्वत जीव हैं। अन्यथा अपने द्वारा उपबृंहित ईश्वरस्वरूप का आवरक न होने से वह उपाधि अविद्या नहीं होगी। क्योंकि प्रमाणनिरस्य आवरक ही अविद्यारूप में प्रसिद्ध

---

[1] एव। [2] (ग) अथवा। [3] (ग, घ) च स्वस्य।

मुपाधेः[1] सकाशात् सम्भवति)। अनावृतस्वभावेऽपि विक्षेपो तद्रूपस्य कर्त्तृत्वा-देरवभासस्य तद्धेतुत्वात्। अनिर्वाच्यमेव हि किञ्चिद्वस्तु स्वोपहितमनाच्छादयत् तत्र विक्षेपं च कुर्वत् 'माया'—इति प्रसिद्धम्। 'मायान्तु", "मयाऽध्यक्षेण"—इति श्रुतिस्मृतिभ्यामेव सिद्धेः।

ये तु मायामुख्योपाधिप्रदेशप्रतिबिम्बिता जीवा बन्धमोक्षभाजः ते माया-प्रदेशेषु अज्ञानत्वेन आवरणविक्षेपशक्तिमत्सु प्रतिबिम्बिता (तादृशसंवित्—स्वरूपाः[2])। न क्वचित् प्रतिबिम्बितस्यैव महेश्वरत्वम्। "एको देवः"—इत्यादिश्रुतौ समष्ट्युपाध्यनुप्रविष्टस्य सर्वज्ञत्वं सर्वभूताधिष्ठानत्वं चोक्त्वा (तद्धीनस्य[3]) केवलस्या-त्मनः सर्वज्ञत्वादिगुणराहित्यमुच्यते। ततोऽस्ति (सेश्वरादन्यत्[4]) बिम्बकल्पसर्वो-पाधिधर्मा(-संसृष्टं) ब्रह्म। ननु ब्रह्मणि (अविद्यमानं[5]) जगद्धेतुत्वं कथम्? प्रति-

भावदीपिका

व्यवस्थामाह—ये त्विति। मोक्षमाह—मायेति। तर्हि मायायाः क्रमेणोच्छेदः प्राप्तः? तत्राऽऽह—बुद्बुदेति। प्रतिबिम्बमीश्वरत्वाय मुक्तप्राप्त्यर्थं बिम्बं च सम्पादयति - मायेत्या-दिना। बिम्बभूतमुखाऽऽदिधर्मो हि नेत्रादिमत्त्वं प्रतिबिम्बे दृष्टम्—इत्याशङ्क्य समाधत्ते—उपा-

ज्ञानवती

है। यदि स्व (=ब्रह्म) का अनावरण है तो स्वोपाधि (=अन्तःकरण) से उपदर्शित अद्वयात्म तात्पर्यसहित वेदान्तवाक्यों का प्रतिपाद्य सदा अपरोक्ष होगा। (पू) इस प्रकार उपाधि के द्वारा जीव के स्वरूप का आवरण सम्भव नहीं होगा? (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि अनावृतस्वभाव होने पर भी विक्षेप (=विवर्त्त) होता है। और अतद्रूप (वही विक्षेप) कर्त्तृत्व आदि का अवभास उस (=आवरण) का हेतु है। कोई अनिर्वाच्य ही वस्तु स्वोपहित का अनाच्छादान करती हुई और उसमें विक्षेप करती हुई माया (के नाम से) प्रसिद्ध है। "माया को तो"—इस और "मुझ अध्यक्ष के द्वारा"—इस श्रुति और स्मृति से (माया की) सिद्धि हो जाती है।

माया के मुख्य उपाधिदेश में प्रतिबिम्बित जो जीव बन्धमोक्ष के भागी है, वे अज्ञान के कारण आवरणविक्षेपशक्तिवाले मायाप्रदेशों में प्रतिबिम्बित तादृश संविद (=चैतन्य जीव) रूप हैं। कहीं भी प्रतिबिम्बित का ही महेश्वरत्व नहीं है। "एक देव"—इत्यादि श्रुति में समष्ट्युपाध्यनुप्रविष्ट का सर्वज्ञत्व और सर्वभूताधिष्ठानत्व कहकर उससे हीन केवल आत्मभूत का सर्वज्ञत्वादिगुणराहित्य कहा जाता है। इस कारण सर्वज्ञ ईश्वर से अन्य बिम्बकल्प सर्वोपाधिधर्म से असंस्पृष्ट ब्रह्म (की सत्ता) है। (पू) ब्रह्म में अविद्यमान, जगद्धेतुत्व कैसे

---

१ (क) आवरणमुपाधेः—शान्न भवति, (ग) स्वरूपावधारण…।

२ (ग) संविद क्वचित् बिम्बकल्प संवित् एकत्वविज्ञानात्‌अनवच्छेदपक्षे ये बिम्बभूयंगता।मुख्यतो बुदबुदादि तुल्यावयवनिवृत्तावपि न स श्रुतिस्थानीयामानिवृत्तिः मायापरमात्मनोः संम्बन्धान्तरासंभ- वात्। मायाप्रतिबिम्बितस्यैव।

३ (क) तत्तज्जीव, (ग) दद्धीन।

४ (क) सर्वज्ञैश्च, (ग) सेश्व।

५ मान, (ख,ग) मानं।

बिम्बस्योपाधिभूतमायामहिम्ना[1]—इति ब्रूमः ; सर्वज्ञत्वादिगुणान्विते जगद्धातरि परमेश्वरेऽसंसारिणि श्रुतिशिरःशतानां समन्वयस्यापि दर्शनात्। न (च[2]) जीवभ्रान्तिसिद्धं श्रुत्या तात्पर्येण प्रतिपाद्यते[3] ; अनाश्वासप्रङ्गात्। ईश्वरोपासनादिविधानं पुण्यपापयोः फलपर्यन्तत्वादि बहु विप्लवेत ; प्रत्यभिज्ञासिद्धश्च पृथिव्यादिर्निर्हेतुकः प्रसज्येत। तस्माद्यदधिकरणोऽस्मदादीनां संवादप्रत्ययः, यदधिकरणश्च साधारणाभोगः, तदखिलकार्योपादानम् महेशोपाधिरविद्यातो नान्या भगवती माया अभ्युपगन्तव्या।

ये तु मायोपाधिमहेश्वरं नाङ्गीकुर्वते "फलमत उपपत्तेः", "लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्"—इत्यादिसूत्रवाक्यैः "निरतिशयोपाधिसम्प(न्नश्चेश्वरः[4]) सातिशयोपाधिसम्पन्नान् जीवान् प्रशास्ति इति किमनुपपन्नम्"—इत्यादिभाष्यवाक्यैस्तन्मूलश्रुतिस्मृतिवाक्यैश्चाङ्गीकारयितव्याः, तद्विरुद्धाभिधायितया वा उपेक्षणीया इति।

साऽपि परीक्षणीया। "इन्द्रो मायाभिः"—इति चानेकत्वश्रुतेरेकैव इति ताव-

भावदीपिका

धीति। शास्त्रीयसमन्वयोऽप्येतत्परः—इत्याह—सर्वज्ञत्वादिति। परपक्षं निराकुर्वन् स्वपक्षं द्रढयति—न च जीवेत्यादिना।

अज्ञातसत्त्वाऽभावात् प्रत्यभिज्ञाऽनुपपत्तिः। यदुक्तम्—वस्तुभेदाभावेऽपीति तत्राऽऽह—

ज्ञानवती

है ? (उ) हम कहते हैं—प्रतिविम्ब की उपाधिभूत माया की महिमा से; क्योंकि सर्वज्ञत्व आदि गुण से युक्त जगद्धाता असंसारी परमेश्वर में श्रुतिशिरश्शत का समन्वय भी देखा जाता है। (पू) श्रुति के तात्पर्य के कारण जीवभ्रान्ति से सिद्ध का प्रतिपादन होता है ? (उ) ऐसा नहीं है, क्योंकि तव तो अविश्वास हो जायगा एवं ईश्वर की उपासना आदि का विधान, पुण्यपाप का फलपर्यन्तत्व आदि विलुप्त हो जायगा। और प्रत्यभिज्ञा से सिद्ध पृथिवी आदि निर्हेतुक हो जायेंगे। इसलिये जिस अधिकरण वाला हम लोगों का संवादप्रत्यय है, और जिस अधिकरण वाला साधारणभोग है, वह अखिल कार्य का उपादान महेश की उपाधि भगवती माया अविद्या से अन्य नहीं माननी चाहिये।

और जो लोग मायोपाधि महेश्वर को नहीं मानते वे "इस (=ईश्वर) से (कर्म) फल (होता है क्योंकि) उपपत्ति है"—"लोक के समान "(ईश्वर की भी) केवल लीला (रूप प्रवृत्ति है)"—इत्यादि सूत्रवाक्यों के द्वारा "निरतिशयोपाधि से सम्पन्न ईश्वर सातिशयोपाधि से सम्पन्न जीवों का प्रशासन करता है, इसलिये क्या अनुपपन्न है"—इत्यादि भाष्यवाक्यों के द्वारा और तन्मूलक श्रुतिस्मृतिवाक्यों के द्वारा स्वीकर्त्तव्य है अथवा तद्विरुद्ध वक्ता होने के कारण उपेक्षणीय है।

(उ) वह भी परीक्षणीय है। "इन्द्र मायाओं के द्वारा"—इस अनेकत्वश्रुति से (माया)

---

१ ग प्रतिबिम्बः स्यादुपा। २ (क) तु, (य,घ) च। ३ (ग) पाद्येत।
४ (ग) महै। ५ (क) नृसिंहो० ९।३।

दूदुर्घटम्। नामरूपभूतकृता मिथ्याऽभिमाना 'मनुष्योऽहम्'—इत्यादयो यतो भवन्ति, चित्तस्थानेऽभ्यस्ताः तानि मायांशत्वात् "मायाभिः"—इत्युच्यन्ते—इति व्याख्यानात्। अवयवकल्पनाया बहुत्वेन प्राच्या उत्तरा प्रक्रियाऽतिरिच्येत। उत्तरस्यामपि "माया चाविद्या च स्वयमेव भवति"—इति[1] श्रुतिव्याकोपः।

"अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥"

—इत्याचार्योक्तिविरोधश्च; शुक्त्यादि तत्त्वावरकस्य मानापनोद्यस्य च रजतादेरविद्यात्वानङ्गीकाराच्च।

अथ साक्षान्न मानापनोद्यत्वं विवक्षितम्; तत् किं शुक्तिप्रमयाऽपि जीवोपाधिरविद्यैव चर्व्यते[1]? तथा चैतावतैव मुक्तिः स्यात्। अथ (तूला[2]-)ऽविद्याया

भावदीपिका

इन्द्र इति। परोक्तनिर्वचनेनैकवस्तुत्वमाशङ्क्याऽऽह नामरूपेति। तर्हि किमेषैवांशवती तल्लक्षणा माया सैव चेन्नारब्धं द्रव्यान्तरमिति विक्षेपाऽऽवरणप्रधानतामात्रेण भेदव्यपदेश इति प्राच्याः; प्रक्रियायाः सकाशान्नोत्तराऽविद्यातो माया द्रव्यान्तरमेवेति प्रक्रियाऽतिरिच्यते इत्यर्थः। द्रव्यान्तरत्वं श्रुतिविरुद्धं च—इत्याह—उत्तरस्यामपीति। यच्चोक्तम्—आवरकस्यैव प्रमाणनिरस्यस्य, अत एव प्रागभावविलक्षणस्य धर्मस्य स्वप्रागभावाऽतिरिक्तपापनिवर्त्तकत्वमिव "धर्मेण पापमपनुदति"—इति श्रुतेः, ज्ञानमज्ञानं निवर्त्तयति इति प्रसिद्धेः प्रागभावाऽतिरिक्ताज्ञानध्वंसकत्वं ज्ञानस्य, प्रागभावध्वंसकत्वस्य साधारण्येन व्यपदेशाऽयोगात् तन्निवर्त्यभावस्य अविद्यात्वप्रसिद्धेरिति। तद् व्यभिचारयति—शुक्त्यादीति।

किं जीवोपाधिरविद्या सकला शुक्त्यादिप्रमया निवर्त्तते? तदवयवो वा? स्वतन्त्रऽविद्यान्तरं वा? आद्यं निरस्य द्वितीयं निरस्यति—अथेति। तदा मायायाः प्रमाणनिरस्यत्वेनाऽविद्यात्वं स्यात्; अनाद्यविद्यांशस्य बुद्बुदादितुल्यत्वाऽनुपपत्तेश्च; मायायाः प्रतिप्रमाणज्ञानं

ज्ञानवती

'एक ही है'—यह (कथन) दुर्घट है। नामरूप भूतकृत मिथ्याभिमान वाले चित्त-स्थान में अभ्यस्त 'मैं मनुष्य हूँ'—इत्यादि, जहाँ से होते हैं वे माया का अंश होने से "मायाओं के द्वारा" कहे जाते हैं—ऐसा व्याख्यान होता है। अवयव की कल्पना करने से बहुत रूप में होने के कारण प्रथम कल्पना (अर्थात् मायांशत्वेन माया)—इस कल्पना की अपेक्षा उत्तर प्रक्रिया (अर्थात् मिथ्याभिमाना माया है) अधिक अच्छी है। उत्तरवाली में भी "माया और अविद्या स्वयं होती है"—इस श्रुति का व्याकोप हो जायगा।

"अनादि माया से सुप्त जीव जब जागता है तब अज अनिद्र अस्वप्न अद्वैत को जानता है"। — इस आचार्योक्ति से विरोध भी होता है। इसके अतिरिक्त शुक्ति आदि तत्त्व के आवरक तथा प्रमाण से अपनोद्य रजत आदि को अविद्या नहीं माना जाता।

(पू) साक्षात् मानापनोद्यत्व विवक्षित नहीं है? (उ) तो क्या शुक्तिप्रमा से भी जीवोपाधि अविद्या की ही चर्वणा होती है? इस प्रकार तो इतने से ही मुक्ति हो जायगी।

---

[1] (ग) च निवर्त्तते। [2] (श) तूक्ता, (ग) तूला।

अवयवो निरस्यते ? तदाऽप्यविद्याया विद्यापनोद्यत्वेनैवावयवनिवृत्तिवन्मायाऽवयवस्याविद्याया अपि मायाया विद्याऽपनोद्यत्वेन निवृत्तिः, पटस्येव दाह्यस्योपाञ्चलदाह इति नाविद्यावैलक्षण्यमपि मायायाः स्यात् ।

अथ पृथिव्या इव द्वीपादयः, स्वाङ्गावयवा एव मायाया अज्ञानानि ? तर्हि तेषु सकृत् प्रतिबिम्बिते चैतन्ये कथङ्कारं जीवेश्वरविभागः स्यात् । नहि स्वर्वाहिन्याः प्रवाहसहस्रे[1] प्रत्येकप्रतिबिम्बातिरिक्तं व्योम्नः प्रतिबिम्बमनुभूयते ; तत्र प्रवाहानुस्यूतव्योम्नि सत्यपि द्विगुणीकृत्य वर्त्तमानप्रतिबिम्बद्वयादर्शनात् । तथात्वे च मृत्प्रदेशारब्धप्रासादादिवत् मायाऽवयवारब्धकार्यस्यानेकजीवसाधारण्यमङ्गीकृतं स्यात् । अथ महा(-सरःस्थानीया[2]) माया, तस्याः कुल्यास्थानानि अज्ञानानि, तर्हि व्यवहितत्वाज्जीवानां महासरः कमलैरिव कुल्याऽऽ(-शयानां[3]) (माया[4]-) कार्यैस्तादात्म्यं न स्यात् ।

किञ्च शिरःपाण्यादिसमुदाये देहव्यवहार इवाज्ञानसमुदाये मायाव्यवहार इति देहोपाधिर्जीवः, तदवयवोपाधयस्तु नामान्तरभाजश्चेतनाः—इति व्यवस्था यथा

भावदीपिका

ह्रासाऽऽपत्तौ सुतरामवैलक्षण्यम्, अवयवमात्रायास्तेषामावरकत्वात् । आवरकत्वमपि दुर्वारम्; मायाया अवयवानां तत्त्वज्ञानोच्छेद्यत्वात्, तदात्मकमायायाः नित्यत्वोक्तिकोपश्च । स्वतन्त्राऽज्ञानाऽनङ्गीकाराच्चाऽवयवावयविभावोऽपि दुर्निरूपः—इत्याह—अथेत्यादिना । इतश्च न विभागसिद्धिः –इत्याशङ्क्याऽऽह - किञ्चेति । अथ पृथिव्यादिविलक्षणो मायाऽवयवी ततः

ज्ञानवती

(पू) तूलाविद्या का अवयव निरस्त होता है ? (उ) तो भी अविद्या का विद्यापनोद्यत्व के द्वारा ही अवयव निवृत्ति के समान माया के विद्यापनोद्यत्व के द्वारा दाह्यपट के उपाञ्चलदाह के समान, माया के अवयव अविद्या की भी निवृत्ति हो जायगी, इसलिये माया से अविद्या का वैलक्षण्य भी नहीं होगा । (पू) पृथिवी आदि के दीप आदि के समान माया के अपने अङ्गावयव ही अज्ञान हैं ? (उ) तो उनमें एक वार प्रतिबिम्बित चैतन्य में जीवेश्वर विभाग कैसे होगा ? स्वर्वाहिनी के प्रवाहसहस्र में प्रत्येक प्रतिबिम्ब से अतिरिक्त आकाश के प्रतिबिम्ब का अनुभव नहीं होता क्योंकि वहाँ प्रवाह में अनुस्यूत आकाश के रहने पर भी दो गुना करके वर्त्तमान प्रतिबिम्बद्वय का दर्शन नहीं होता । और वैसा होने पर मिट्टी से आरब्ध प्रासाद आदि के समान मायावयव से आरब्ध कार्य का अनेकजीवसाधारण्य मान लिया जाता । (पू) जो महासरःस्थानीया माया है अज्ञान उसके कुल्यास्थान है ? (उ) तो जैसे कुल्याशयों का कमलों से (उसी प्रकार) माया के महाभूत कार्यों से व्यवहित होने से जीवों का तादात्म्य नहीं होगा ।

इसके अतिरिक्त जैसे 'शिरपाणि' आदि समुदाय में देहव्यवहार के समान अज्ञानसमुदाय में माया का व्यवहार होता है इसलिय जीव देहउपाधि वाला है । और उसकी अयवयवो-

---

[1] (ग) सहस्रेत्येक । [2] (क) सरस्थानीयमानाया, (ख) सरःस्थानीयामाया, (ग) संरस्थानीयामाया ।
[3] (क) दायानां, (ग) शयानां । [4] (क) महाभूत, (ग) मायाकार्य ।

नाऽऽद्रियते, तथा मायातदवयवोपाधयोः भिन्नाः—इत्येषोऽपि नाऽऽदर्त्तव्या। न चानिर्वाच्यत्वेऽपि मायाऽवयवी प्रसिद्धविलक्षणो युक्तिमान्; स्वयं जलराश्युदाहरणात्। अतः स्वतन्त्रोपाधय एव चैतन्यस्य वक्तव्याः सर्वज्ञत्वमङ्गीकृत्यापि।

[वेदान्तवाक्यानामद्वैततात्पर्यवतामपरोक्षत्वावधारणोपायः—[1]]

सत्यपि चाद्वैतसाक्षात्कारे स्वात्मनि कर्त्तृत्वादिद्वैतसाक्षात्कार इति चाकौशलमिव; जीवन्मुक्तानामपि व्युत्थानदशायामेव द्वैताभास(—प्रति[2]—)भासाङ्गीकारात्। प्रमारूपाद्वैतसाक्षात्काराभावे च स्वरूपावधारणोक्तिव्याघातः। किञ्चानवधारणे स्वरूपस्य एकाज्ञानोपाधेरपि अज्ञत्वभ्रान्तत्वे[3] यदा, तदा तत्समुदायोपाधेः तत्कार्यकर्त्तृत्वादिसमारोपभाजश्च किमु वक्तव्यं ते[4] (इति)। मायावृत्त्या चाप्रमारूपया-

भावदीपिका

प्रतिबिम्बद्वयं संभाव्यते? तत्राऽऽह न चेति। स्वयमेव प्रसिद्धजलाऽवयविनोपमानात् प्रमाणहीनं वैलक्षण्यमित्यर्थः। यस्मादेकस्मिन् मायोपाधौ समष्टिव्यष्टिप्रतिबिम्बद्वयं न दृष्ट्यनुसारिणाऽपि श्रुतम्—तस्मादित्याह—अत इति। स्वतन्त्रोपाधिश्च निरस्तः। ईश्वरस्य अन्यदप्ययुक्तम्—इत्याह—सर्वज्ञत्वमिति।

[वेदान्तवाक्यानामद्वैततात्पर्यवतामपरोक्षत्वाऽवधारणोपायः—]

अथाऽद्वैतसाक्षात्कारो न प्रमारूपः तथाऽपि विरोधो दुष्परिहरः स्वोक्तिविरोधश्च—इत्याह—प्रमारूपेति। अथ विरोधपरिहारार्थमनवधारणं स्वीक्रियते? तत्राऽऽह—किञ्चेति। प्रमारूपसाक्षात्कारे मायाया असम्भव उक्तः; अप्रमारूपोक्तौ दोषमाह—मायेति। यच्चोक्तं

ज्ञानवती

पाधियां नामान्तरभावी चेतन हैं',—इस व्यवस्था का आदर नहीं होता; उसी प्रकार माया और उसकी उपाधियां भिन्न हैं—इसका भी आदर नहीं होना चाहिये। (पू) अनिर्वाच्य होने पर भी माया अवयवी प्रसिद्ध से विलक्षण और युक्तिपूर्ण है? (उ) यह युक्तिमान् नहीं है। क्योंकि स्वयं जलराशि का उदाहरण है। इसलिये सर्वज्ञत्व को मानकर भी चैतन्य की स्वतन्त्र उपाधि ही कहनी चाहिये।

[अद्वैततात्पर्यवाले वेदान्तवाक्यों का अपरोक्षत्वावधारणोपाय—]

अद्वैत का साक्षात्कार होने पर अपनी आत्मा में कर्तृत्व आदि द्वैत का साक्षात्कार अकौशल के समान है क्योंकि जीवन्मुक्तों की भी व्युत्थानदशा में ही द्वैताभास का प्रतिभास माना जाता है। प्रमारूप अद्वैत का साक्षात्कार न होने पर स्वरूपावधारणोक्ति का व्याघात हो जाता है। इसके अतिरिक्त स्वरूप का अनवधारण होने पर यदि एक अज्ञानोपाधि के भी अज्ञत्व और भ्रान्तत्व होते हैं तो उसके समुदायोपाधि तथा उसके कार्यकर्तृत्व आदि के समारोप के भागी के बारे में उन दोनों का क्या कहना। इस प्रकार अप्रमारूप मायावृत्ति के द्वारा अवधारण होने पर वेदान्तों के अपरोक्ष होने से अवधारण का व्याघात हो जायगा।

---

[1] (ख,ग) त्वादनावरणोपादानम्।
[2] (क) परि, (ख,ग) प्रति।
[3] (ग) त्वं।
[4] (क) ते, (ग) त इति।

ऽवधारणे वेदान्तानामपरोक्षत्वा(-द[१]-)वधारणोक्तिर्व्याहतिः। कुत्र चैषा साधारणी माया[२] केवलविक्षेपकारिणी प्रसिद्धा? लौकिकमायिनः माया स्वोपाध्यविद्याव्यतिरेकेण हस्त्यश्वादिकारणमिति[३] चेत्? तस्यास्तथैव दृष्टान्ततयोपपादनं प्रसज्येत। श्रुतिस्मृत्योस्तु यद्यपि माया प्रसिद्धा, तथाऽपि भवदभिमताज्ञानावयववती प्रसिद्धा।

[प्रतिबिम्बेश्वरपक्षनिराकरणम्—]

न च मायया प्रतिबिम्बतामन्तरेण सम्बन्धाभावो भगवतः; भगवच्छब्देन लक्ष्यचैतन्यमात्रविवक्षायामाश्रयत्वेन तस्य सम्बन्धाङ्गीकारः[४] कुप्येत। बिम्बस्य च मायासम्बन्धकृतमहेश्वरत्वस्य स्वयम(-न[५]-)ङ्गीकारात्, प्रतिबिम्बभेदभ्रमस्य बिम्बाधिष्ठानत्वस्य स्वयमङ्गीकाराच्च, बिम्बस्य सर्वोपाधिधर्मासंसृष्टत्वोक्तिर्व्याहता। किञ्च

भावदीपिका

साधारणप्रपञ्चकारणं मायेति तत्राऽऽह—कुत्र चेति। अविद्यैव चेत् कारणम् तत्राऽऽह—तत्कार्यं चेदिति। कार्यसाधारण्यार्थशङ्किते प्रत्याह—तस्या इति। श्रुत्यादेरानुकूल्याभावमाह—श्रुतीति।

[प्रतिबिम्बेश्वरपक्षस्य निराकरणम्—]

भगवच्छब्देन चैतन्यमात्रं वा? बिम्बं वा? प्रतिबिम्बमेव वा? नाद्य इत्याह—भगवदिति। चिन्मात्रमेव समष्टिप्रतिबिम्बितं महेश्वर इत्यङ्गीकारात्। शुद्धस्य तस्य बिम्बत्वमिति वदद्भिः अङ्गीकारान्तरमप्ययुक्तमिति प्रसङ्गात् आह प्रतिबिम्बेति। वास्तवस्पर्शाऽभावः प्रतिबिम्बेऽप्यस्ति इति न बिम्बस्यैव विशेषतो वक्तव्यम्—इत्याह—वास्तवेति।

ज्ञानवती

कहाँ यह साधारणीमाया केवलविक्षेपकारिणी के रूप में प्रसिद्ध है (अर्थात् आवरणकारिणी भी है)। यदि लौकिक मायी की माया अपनी उपाधि अविद्या के विना हस्ती अश्व आदि का कारण है तो उसका उसी प्रकार दृष्टान्त के रूप में उपपादन प्राप्त हो जायगा। श्रुति और स्मृति में यद्यपि माया प्रसिद्ध है तो भी आपकी अभिमत अज्ञानावयववती प्रसिद्ध नहीं है।

[प्रतिबिम्बईश्वरपक्ष का निराकरण—]

(पू) माया के द्वारा प्रतिबिम्वता के विना भगवान का सम्वन्ध नहीं है। (उ) ऐसा नहीं है। क्योंकि भगवत् शब्द से लक्ष्य (=शुद्ध) चैतन्यमात्र की विवक्षा होने पर आश्रय के रूप में उसका सम्वन्धाङ्गीकार कुपित हो जायगा। मायासम्वन्धकृत महेश्वरत्वरूप विम्व को स्वयं न मान लेने से और प्रतिविम्वभेदभ्रम के विम्वाधिष्ठानत्व के स्वयं मान लेने से विम्व की सर्वोपाधिधर्मासंसृष्टत्वोक्ति व्याहत हो जाती है। इसके अतिरिक्त (सर्वोपाधि धर्म के)

---

१ (क) तत्त्वाव, (ख) त्वाव, (ग) त्वादन। २ (ग) मायिनः।

३ (ग) हस्त्यश्वादिकार्योपादानां न प्रसिद्धम्। तत्कारणं चेत् साधारणं हन्त तर्हि जीवान्तराविद्याकार्यं कुतो न येन तद्भिन्ने मायाकल्पना। लौकिकस्य मन्त्रादिप्रयोगात् ईश्वरमाया परिणमते चेत्।

४ (ग) सम्बन्धकृतमहेश्वरत्वस्य। ५ (प) मनङ्गो।

स्पर्शाभावो[1] न विशेषणम्; तथा सति[2] मुखश्यामत्ववत् चिन्मात्रगताऽविद्या बिम्बे स्यात्। प्रतिबिम्बश्यामत्ववच्च जीवगता न तत्र स्यात्। मायाप्रतिबिम्बितस्य मायाप्रतिबिम्बितत्वं संसर्गान्तराभावान्महेश्वरत्वम्—इति सूक्तम्। "तत्तु समन्वयात्" —इति निर्विशेषे ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वय उत्सर्गतः।

तत्र मन्दानां निर्विशेषवस्तुनो बुद्ध्यारोहणाय सविशेषनिरूपणं क्वचिद-पवादः। अतः 'प्रतिबिम्बिते सर्वज्ञत्वादिगुणे वेदान्तानां कार्त्स्न्येन समन्वयः' —इत्यनुपपन्नम्।

अथ सविशेषवाक्यानां तत्रैव समन्वयः क्वचिद्विशेषविवक्षयोपासनाविधा-वपि समन्वयाङ्गीकारात्? नैवम्; "यथाभूतो ह्येकस्मिन् वेदान्ते सर्वज्ञः सर्वेश्वरः सर्वात्मैकोऽद्वितीयः कारणत्वेन व्यपदिष्टः तथाभूत एव वेदान्तान्तरेष्वपि व्यपदि-श्यते"—इति भाष्यान्न प्रतिबिम्बेशः कारणम्; भाष्यस्य[3] विशेषणायोगात्।

भावदीपिका

अन्यदपि प्रासङ्गिकमाह—मुखेति। साधारणगतस्य विभागोऽप्यनुवर्त्तनस्य मुखश्यामत्ववद् दुर्वारत्वादित्यर्थः। तृतीयं प्रत्याह—मायेति। तस्य मायाप्रतिबिम्बितस्यैवाऽसम्प्रतिपन्नत्वा-दित्यर्थः। समन्वयप्रमाणकत्वमपि विभागेन प्रतिबिम्बस्य निराचष्टे—तत्तु समन्वयादित्या-दिना। भाष्यमप्यत्र नाऽञ्जसम्—इत्याह—यथाभूत इति। स्वमते समन्वयाऽऽञ्जस्यमाह—

ज्ञानवती

स्पर्श का अभाव विशेषण नहीं है; क्योंकि वैसा होने पर मुख की श्यामता के समान चिन्मात्रगत अविद्या बिम्ब में (=ईश्वर में) हो जायगी। प्रतिबिम्बश्यामत्व के समान वहाँ जीवगत नहीं रहेगी। मायाप्रतिबिम्बित का मायाप्रतिबिम्बितत्व (ही) संसर्गान्तर का अभाव होने से महेश्वरत्व (है)—यह ठीक कहा गया है। "वह (=ब्रह्म; वेदान्तशास्त्र से ही जाना जाता है) क्योंकि (वेदान्त वाक्यों का उसी में) समन्वय है।"—इसके द्वारा निर्विशेष ब्रह्म में वेदान्तों का समन्वय स्वभावतः है।

उसमें मन्दों की बुद्धि में आरोहण के लिये निर्विशेष वस्तु का सविशेष निरूपण कहीं अपवाद है। इसलिये प्रतिबिम्बितसर्वज्ञत्व आदि गुण वाले (=ब्रह्म) में वेदान्तों का कार्त्स्न्येन समन्वय है—यह अनुपपन्न है।

(पू) सविशेषवाक्यों का उसी में समन्वय है क्योंकि कहीं विशेषविवक्षा के कारण उपासनाविधि में भी समन्वय मान लिया जाता है। (उ) ऐसा नहीं है। "एक वेदान्त में जिस प्रकार का सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वात्मा, एक, अद्वितीय (ईश्वर) (जगत्-जन्म आदि के) कारण के रूप में व्यपदिष्ट है वैसा ही दूसरे वेदान्तों में भी व्यपदिष्ट है।"—इस भाष्य से प्रति-बिम्ब ईश कारण नहीं है। क्योंकि भाष्य में वर्त्तमान विशेषण से योग नहीं है। उसका सर्वप्रत्यगात्मैक्य नहीं है क्योंकि उपाधिभेद है। सर्वकार्यैक्य भी नहीं है। इसी कारण अद्वयत्व भी नहीं, है, प्रलय में जीवों का तदात्मा बिम्ब से ही तादात्म्य होने से जीवाविद्या-विषयत्व उपाधि नहीं होती। क्योंकि जगद्विवर्ताधिष्ठान में विशेषवाक्यों का समन्वय

[1] (ग) वास्तवस्पर्शा। [2] विशेषणम् मुख। [3] (ग) स्यः।

न खलु तस्य सर्वप्रत्यगात्मैक्यम्[१]; उपाधिभेदात्। नापि सर्वकार्यैक्यम्; तत एव नाप्यद्वयत्वम्, न च प्रलये जीवानां तदात्मना बिम्बेनैव तादात्म्याद् जीवाविद्याविषयोपाधेर्भवति[२]। जगद्विवर्ताधिष्ठाने विशेषवाक्यानां समन्वयसम्भवाच्च। जीवाविद्यासृष्टेरपि[३] सुप्तदेहारम्भकभूतस्वप्नसृष्टिवत्तात्पर्येण श्रुत्या प्रतिपादनासम्भवाच्च[४]।

अनाश्वासश्च प्रतिबिम्बेश्वरपक्ष एव; यतस्तस्य चैतन्यप्रमया[५] सहानादिकालमनुवृत्ता मायऽनन्तश्चोत्तरकालमनुवर्त्तिष्यते। तस्याश्च हस्तपादादिस्थानीया अज्ञानभेदा आगन्तुकप्रमया निवर्त्तन्ते[६] [तादृश्या]। तेषां चोच्छेदात्मक(-बो[७]-)धात् ख्यातेश्चानिर्वाच्यत्वम्।

तस्याश्च चेतनवदनुच्छिद्यमानाया अप्यनिर्वाच्यत्वम्। "भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः"—इत्याद्यागमश्च नेश्वरपक्षे जागर्त्ति, किन्तु जीवाविद्यालयपर[८]:—इत्यादि प्रक्रिया नाऽऽश्वासाय।

"प्रसरं न लभन्ते हि यावत् क्वचन मर्कटाः।
नाभिद्रवन्ति ते तावत् पिशाचा वा स्वगोचरे[९]॥"

—इति न्यायात् ईशप्रमावैफल्ये सर्वत्र तत्प्रसारात्[१०] जीवाविद्यया समारोपितसर्व-

भावदीपिका

जीवेति। अन्यदप्यपाकरोति—जीवाऽविद्येति। विप्लवदोषं निराचष्टे—जीवाविद्ययेति।

ज्ञानवती

सम्भव है। और जीवाविद्यासृष्टि का भी, सुप्तदेहारम्भकभूतस्वप्नसृष्टि के समान किसी तात्पर्य से, श्रुति के द्वारा प्रतिपादन असम्भव है (अर्थात् जैसे स्वप्नसृष्टि श्रुति के द्वारा किसी तात्पर्य से प्रतिपादित नहीं है वैसे जीवाविद्यासृष्टि भी)।

अविश्वास भी प्रतिबिम्बईश्वरपक्ष में ही है, क्योंकि उसकी चैतन्यप्रमा के साथ अनादिकाल से अनुवृत्त माया अनन्त उत्तरकाल तक जायगी। और उसके हस्तपाद आदि स्थानीय अज्ञानभेद वैसी आगन्तुक प्रमा के द्वारा निवृत्त कर दिये जाते हैं। और उनका उच्छेदात्मक बोध होने से ख्याति अनिर्वाच्य है। चेतनवद् अनुच्छिद्यमान उस (=माया) का भी अनिर्वाच्यत्व है। "अन्त में फिर समस्त माया की निवृत्ति हो जाती है"—इत्यादि आगम भी ईश्वर पक्ष में नहीं है, किन्तु जीवाविद्या के लय को बताता है,—इत्यादि प्रक्रिया विश्वास के लिये नहीं है।

"जब तक मर्कट या पिशाच कहीं प्रसार नहीं पाते तब तक वे आक्रमण नहीं करते।" —इस न्याय से ईशप्रमा के विफल होने पर उसका सर्वत्र प्रसार होने से जीवाविद्या के द्वारा समारोपित एवं सर्वजगद्ऐश्वर्य वाले तथा प्रमाता के रहने पर बाधा से रहित के, देहात्मभाव

---

[१] (ग) त्मत्वम्। [२] (ग) जी षि सं र्वे कां श्री वो विद्याविद्यत्वोपाधौ भगवति। [३] (ग) प्रतिजी। [४] (ग) या, ग-न। [५] (ग) अद्वैत। [६] (ग) निर्वाच्यत्वं। [७] (क) वा, (ख) औ। [८] (ग) लेश। [९] श्लो० वा० १।३।४। [१०] (ग) सरा

जगदैश्वर्यस्य सति प्रमातरि बाधविधुरस्य देहात्मभाववदीश्वरोपासनपुण्यपापफल-पर्यन्तत्वादिनिर्वाहकत्व.न्निरवद्यत्वश्रुतेश्च[1] न ब्रह्मण्यविद्याबिम्बेऽविद्या[2]।

स्वरूपमाश्रयश्चेत् ? न; बिम्बस्य स्वरूपातिरेके कल्पितत्वात्, अनतिरेके स्वरूपस्यैवानवद्यत्वात्। न च जीवाविद्याजत्वेऽज्ञातसत्त्वं न स्यात्; इन्द्रियादि-वत् व्यावहारिकसत्त्वात्। न खल्वयं समारोपो रज्जुभुजङ्गादिवदागन्तुः जीवानां, किन्तु अविद्यावत्त्वोपाधिना परिच्छिन्नत्ववत् तद्विषयत्वोपाधिवशात् प्रसुप्तानामपि जीवानां भगवत्यनुवर्त्तमानो व्याकृताव्याकृतविभागवत्। न चान्यसमारोपित-ज्ञानेच्छाप्रयत्न(-वान्[3]) न क्वापि (दृष्टः[4])सृष्ट्यादौ प्रवर्त्तमाने इत्याशङ्कनीयम्; प्रमाणज्ञानस्याज्ञाननिवर्त्तकत्वेन विदुषो भगवति ज्ञानादिगुणरहितचिन्मात्रप्रमया मुक्तस्योत्तरसंसाराय भगवतः सृष्ट्यादौ प्रवृत्त्यभावात्। "अथ येऽन्यथाऽतो विदुः"= स्वाविद्यया ह्यर्वज्ञत्वादिगुणं स्वतो भिन्नं विपर्यस्ताः पश्यन्ति, "तेऽन्यराजानः क्षय्यलोकाः भवन्ति" इति श्रुतेश्च जीवसमारोपितज्ञानादिगुणस्य विनाऽपि दृष्टान्तं

भावदीपिका

स्वरूपमाश्रयो बिम्बं चाऽनवद्यमित्यप्युक्तम्—इत्याह—प्रतिबिम्बमिति। दोषाऽन्तरमपि स्वपक्षे परिहरति—न चान्येति। ननु जीवगता माया कथं ब्रह्माऽधिष्ठानं प्रपञ्चमारभते ?

ज्ञानवती

के समान ईश्वर, उपासना, पुण्यपाप, फलपर्यन्तत्व आदि निर्वाहक होने से, और निरवद्य श्रुति (="निरवद्यं निरञ्जनम्") से अविद्या के बिम्ब ब्रह्म में अविद्या नहीं है।

(पू) स्वरूप आश्रय है ? (उ) नहीं है। क्योंकि बिम्ब (=ब्रह्म) स्वरूप से अतिरिक्त है तो कल्पित है, अनतिरिक्त है तो स्वरूप ही निर्दोष है। (पू) जीवा-विद्या से उत्पन्न होने पर अज्ञात सत्त्व नहीं होगा ? (उ) ऐसा नहीं है क्योंकि इन्द्रिय आदि के समान व्यावहारिक सत्त्व है। जीवों का यह समारोप रज्जुभुजंग आदि के समान आगन्तुक नहीं है, किन्तु अविद्यारूप उपाधि के द्वारा परिच्छिन्नत्व के समान तद्विषयत्वोपाधि-वशात् प्रसुप्त भी जीवों का व्याकृत, अव्याकृत विभाग के समान भगवान् में समारोप अनु-वर्त्तमान है। (पू) सृष्टि आदि के प्रवर्त्तमान होने पर अन्यसमारोपितज्ञानइच्छाप्रयत्नपरक वाक्य कहीं नहीं देखा गया ?

(उ) ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये। क्योंकि प्रमाणज्ञान के अज्ञाननिवर्त्तक होने के कारण भगवान् में वर्त्तमान ज्ञान आदि गुण से रहित चिन्मात्रप्रमा के द्वारा मुक्त हुए विद्वान् के उत्तर संसार के लिये भगवान् की प्रवृत्ति सृष्टि आदि के विषय में नहीं होगी। "और जो इससे अन्य रूप में जानते हैं" (अर्थात्) अपनी अविद्या के कारण विपर्यस्त होकर सर्वज्ञत्व आदि गुण वाले को अपने से भिन्न देखते हैं, "वे अन्यराजावाले क्षय्यलोकवाले होते हैं"— इस श्रुति से जीव में समारोपित ज्ञान आदि गुण के दृष्टान्त के बिना भी सृष्टि आदि की प्रवृत्ति का निश्चय

---

१ (ग) त्वात् निरवद्य।
(ग) त्वनवद्यम्।
२ (क) म्वे विद्या, (ख) म्वमनवंस्थं,
३ (क) परं, (ग) वान।
४ (क) ष्टं, (ग) ष्टः।

सृष्ट्यादिप्रवृत्त्यध्यवसायात्। न च माया स्वाश्रय एव कार्यकारी इति नियमः, अनाश्रयेऽपि प्रतिबिम्बेशे तदङ्गीकारव्याकोपात्। नाप्युपहि(-ते[1] तन्नियमः), उपहितं प्रतिबिम्बं चेत्? न बिम्बे तद्भेदभ्रमकारित्वम्। उपाधिसम्बन्धमात्रं चेत्? जीवाविद्ययाऽपि विषयत्वेन सम्बन्धाददोषः। (ईक्षणा -)दयश्च मायायाः परिणामाः। (ते च[3]) तत्तदाकारेणावच्छिन्नदर्पणाद्यवरुद्धसवितृकिरणवत् तत्तत्-कार्याय प्रवर्त्तन्ते इति किमनुपपन्नम्? तदुक्तम्—

"ईक्षणं जीवा(—ज्ञानस्य[4]) विवर्त्त आकाशादिवत्। तेन न[5] प्रमातृत्वेना-विद्यावत्त्वप्रसङ्गः"—इति। साधारणचैतन्याधिष्ठानप्रपञ्चस्य संवादप्रत्ययास्पदत्वम् साधारणभोगसाधनत्वं (वोपपद्यते[6])। "सर्वं सर्वमयं सर्वे जीवाः सर्वमयाः सर्वा-वस्थासु[7]"—इति श्रुतेः साधारणप्रपञ्चस्य सर्वादृष्टकारणकत्ववत् सर्वाविद्याकारण-कत्वोपपत्तेः। अत एव "भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्तिः"—इति श्रवणादिजन्यप्राथमिक-प्रमया वास्तवाकारेण निवृत्तायाः विश्वकारणमायायाः चरमप्रमया[8] दग्धपटन्यायेन

भावदीपिका

तत्राऽऽह—न च मायेति। नियमाऽन्तरं निराचष्टे – नाऽपीति। इतश्चाऽस्मन्मतं युक्तम्—इत्याह—ईक्षणादयश्चेति। जीवेश्वरमहाभूततत्कार्याणां परस्परमिश्रीभावस्य भवद्भिर-प्यङ्गीकारात्। श्रुत्यनुसाराच्चैतद् ग्राह्यम्—इत्याह—साधारणेति। युक्त्याऽप्येतत्

ज्ञानवती

होता है। (पू) माया स्वाश्रय में ही कार्यकारी है? (उ) यह नियम नहीं है क्योंकि तब तो अनाश्रय भी प्रतिबिम्बेश में उसके अङ्गीकार का व्याकोप हो जायगा। उपहित होने पर वह नियम नहीं है, यदि प्रतिबिम्ब उपहित है तो बिम्ब में तद्भेदभ्रमकारिता नहीं है। यदि उपाधि सम्बन्धमात्र है तो जीवाविद्या के द्वारा भी विषयरूप में सम्बन्ध होने से दोष नहीं है। ईक्षण आदि तो माया के परिणाम हैं। और वे तत्तदाकारेण अवच्छिन्न दर्पण आदि में अवरुद्ध सूर्य की किरण के समान तत्तत् कार्य के लिये प्रवृत्त होते हैं; फिर क्या अनुपपन्न है? कहा है—

"ईक्षण आकाश के समान, जीवाज्ञान का विवर्त्त है। इसलिये प्रमाता के रूप में अविद्यात्व का प्रसङ्ग नहीं है।" साधारण चैतन्य के अधिष्ठान के प्रपञ्च का संवादप्रत्यय-स्थानत्व या साधारण भोगसाधनत्व उपपन्न हो जाता है। "सब अवस्थाओं में सब सर्वमय है जीव सर्वमय है।"—इस श्रुति से साधारण प्रपञ्च का, सर्वादृष्टकारकत्व के समान, सर्वा-विद्याकारणकत्व उपपन्न हो जाता है। इसीलिये "फिर अन्त में विश्व रूप माया की निवृत्ति हो जाती है"—इस श्रवण आदि से प्राथमिक प्रमा के द्वारा वास्तव रूप में निवृत्त होने वाली

---

[1] (क) तेन नियमः, (ग) ते तन्नियमः। [2] (क) रक्ष, (ग) ईक्ष।
[3] (क) ताश्च, (ग) ते च। [4] (क) तस्य, (ग) नस्य।
[5] (ख) तेन प्रया। [6] (क) द्यैत, (ग) द्यते। [7] नृसिं० ३।९।४।
[8] (ग) चरमे प्रमायानिवृत्तिरिति दग्ध।

प्रातिभासिकविश्वमायाया उच्छेदं वदति श्रुतिः। साधारणमायापक्षेऽपि न तदुपादानक[1] एव तत्कार्यदेहैक्यसमारोपो जीवानाम्, तदुपादानकस्याद्वैतप्रमयाऽप्युच्छेदानङ्गीकारात् विदेहकैवल्यानुपपत्तेः[2]।

[विम्बेश्वरवादे सर्वसामञ्जस्यम् मुक्तिश्च--]

अथ अविद्याऽप्युपादानम् ? तदा स्थूलस्य मायोपादानत्वं अविद्योपादानत्वम्। अपरथा राद्धान्तविरोधः। कथमपरथाऽन्येषां वास्तवाऽऽकारेण व्यवहारः स्यात्? एतस्मिन्नेव प्रपञ्चे विदुषो दग्धपटाभप्रतिभासः कथं वा ज्ञानादात्यन्तिकः? प्रपञ्चस्य प्रलयोऽन्यथा पुराणाद्युक्तः सिद्ध्येत्? न च वस्तूनां सुखादिहेतुत्वं नियतम्। तेन विचित्रनिमित्तोपादानत्वं अविरुद्धम्। एवं प्रतिबिम्बेश्वरानुपपत्तौ "जीवेशावाभासेन करोति"—इति श्रुतौ 'आभासेन=प्रतिबिम्बेन विशिष्टबिम्बप्रतिबिम्बात्मना जीवेश्वरविभागकव्यवहारं प्रवर्त्तयति माया'—इति व्याख्येयम्। उक्तं च ईश्वरमाश्रित्य "फलमत उपपत्तेः"—इत्यादेर्योजयितुं शक्यत्वात्; तस्मान्नैषाऽपि प्रक्रिया।

भावदीपिका

ग्राह्यम्—इत्याह—साधारणमायेति।

[विम्बेश्वरवादे सर्वसामञ्जस्यं मुक्तिश्च—]

अविद्याया अर्थाऽध्यासं प्रत्यनुपादानत्वे विभ्रमोपादानमविद्येति सिद्धान्तो भज्यते। स्वपक्षं पुनर्निःशल्यीकरोति—कथमपरथेत्यादिना। प्रतिबिम्बश्रुतिञ्च स्वपक्षे योजयति—एवमिति। एकस्यैव प्रपञ्चस्य निवृत्ताऽनिवृत्तत्वस्य युगपदनुपपत्तेः षोडशकलासृष्टिप्रलयश्रुतेश्च। तत्र मन्त्रलोकशरीराणां सावरणव्यवहारयोग्यानामाम्नानादविद्यामहिम्ना अनन्ततत्प्रपञ्चसङ्करो वा मुख्यप्रकृत्युपासकोपाधिकार्यसाधारण्याद् वा व्यवस्थेति भावः।

ज्ञानवती

विश्वकारण माया का चरमप्रमा के द्वारा दग्धपटन्यायेन[3] प्रातिभासिक विश्वमाया का उच्छेद श्रुति बतलाती है। साधारण मायापक्ष में भी जीवों का तत्कार्य (=मायाकार्य) देहैक्यसमारोप तदुपादानक (मायाकार्यप्रपञ्चोपादानक) ही नहीं है, क्योंकि तदुपादानक का अद्वैतप्रमा के द्वारा भी उच्छेद स्वीकार न करने से विदेह कैवल्य की अनुपपत्ति हो जायगी।

[बिम्बेश्वरवाद में सबका सामञ्जस्य और मुक्ति—]

(पू) अविद्या भी उपादान है? (उ) तब तो स्थूल का उपादान माया तथा अविद्या दोनों हो जायेंगी। अन्यथा सिद्धान्त-विरोध हो जायगा। अन्यथा दूसरों (=बद्ध पुरुषों) का वास्तव रूप में व्यवहार कैसे होगा? अथवा इसी प्रपञ्च में विद्वान् का पुराण आदि में अन्यथा उक्त प्रपञ्च का ज्ञान के कारण दग्धपटाभ प्रतिभास वाला आत्यन्तिक प्रलय कैसे सिद्ध होगा? वस्तुओं की सुखादिहेतुता निश्चित नहीं है। इसलिये विचित्र-निमित्तोपादानत्व अविरुद्ध

[1] (ग) दान एक एव। [2] (ग) उपपन्नैरविद्यया निमित्तभूतया जीवसंपक्त एव कार्यमारभ्यते चेत् भ्रमोपादानमज्ञानमिति लक्षणभङ्गप्रसङ्गः अविद्यया तत्कार्यैर्ण च लिङ्गेन संपृक्तो जीवः स्थूलमात्मनिमित्तै च अथ।

[3] पट जलने के बाद भी अपने पूर्व रूप में रहता है। पर छूने से नष्ट हो जाता है।

"व्यञ्जन्ति वेदाः सहजावदातज्योतिर्विदानन्दघनं घनं यत्।
ब्रह्माभिवन्दे ह तमोहजिह्मं सदैकतानं स्ववपुःप्रतीचम् ॥"

तदेवं चार्वाकादिमतप्रतिषेधेन देहाद्यात्मभ्यो व्यावृत्ततया श्रुत्याचार्यगणेन[1] परिशुद्ध-त्वंपदार्थः चिद्धातुर्यथोक्तक्रमेण वाक्यार्थभावं साक्षादनुभूय सद्य एव प्रध्वस्ताविद्या-तत्कार्यप्रपञ्चो विमुच्यते ; यतः समारोपमात्रसिद्ध एव बन्धः। तदाहुर्भगवत्पादा-चार्याः—

"माया हस्तिनमारुह्य मायाव्येको यथा व्रजेत्।
(अगच्छं[2]-)स्तद्वदेवाऽऽत्मा प्राणस्वप्नाऽऽदिगोचरः॥
न हस्ती न तदारूढो मायाव्यन्यो यथा स्थितः।
प्राणानामुपद्रष्टा[3] तथाऽन्योहं[4] सदा दृशि ॥"

—इति। तद् द्रष्ट्रद्रष्टाकारपरिणता बुद्धिः; हस्त्यारूढः [मायाव्यपि] तुल्यस्वरूपेण[5] मिथ्या। जीवस्तु मायाऽऽदिप्रतिबिम्बतः सत्य एव; ब्रह्माभिन्नत्वात्। अत एवंविदो विद्याबलात् सद्योऽप्यविद्यातत्कार्योच्छेदो न्याय्यः। "उपमर्दं च"—इति व्याससूत्रात्।

भावदीपिका

निरवद्यं स्वाभिमतमीश्वरं प्रणामव्याजेनोपसंगृह्णाति—व्यञ्जन्तीतिश्लोकेन। घनम्=निविडम्; पुनः पुनः जिह्मम्=कपटम्=मायादि। एवं प्रक्रियां व्यवस्थाप्य प्रक्रिय-माणमालम्बते—तदेवमिति। "प्राणः सुषुप्तमव्याकृतञ्च स्वरूपोपमर्दम्"—इति भाष्यगतस्व-

ज्ञानवती

है। इस प्रकार प्रतिविम्बेश्वर की अनुपपत्ति होने पर "जीव और ईश को आभास के द्वारा करता है।"—इस श्रुति में माया आभास-प्रतिविम्ब के द्वारा विशिष्ट विम्बप्रतिविम्ब रूप में जीवेश्वर विभाग वाले व्यवहार को प्रवृत्त करती है—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये। और उक्त ईश्वर को आश्रित करके "फलमत उपपत्तेः"—इत्यादि की योजना संभव है। इसलिये यह प्रक्रिया भी नहीं है।

"वेद जिस सहज स्वच्छ ज्योतिवाले चिदानन्दघन घन की व्यञ्जना करते हैं, (उस) अन्धकार का नाश करने वालों में जिह्म (कुटिल अर्थात् प्रखर) सदैकतान स्ववपुःप्रतीच (=अपने ही प्रत्यगात्म स्वरूप) ब्रह्म की (मैं) अभिवन्दना करता हूँ।

तो इस प्रकार चार्वाक आदि के मत का प्रतिषेध करके देह आदि आतमा से व्यावृत्त होकर श्रुति एवं आचार्यगण के द्वारा परिशुद्ध त्वं पदार्थ चिद् धाता का यथोक्तक्रम से वाक्यार्थभाव का साक्षात् अनुभव करके सद्यः ही अविद्या और उसके कार्यप्रपंच का प्रध्वंस होने के साथ (मनुष्य) मुक्त हो जाता है। क्योंकि बन्ध समारोपमात्र ही सिद्ध है। भगवत्पादाचार्य ने कहा है—

"जैसे एक मायावी माया वाले हाथी पर चढ़ कर बिना चलते हुए भी चलता है उसी प्रकार आत्मा असुप्त होकर प्राण स्वप्न आदि का विषय वनता है।

---

[1] (ग) चार्याश्रयेण। [2] (क) असुप्तः, (ग) अगच्छन्।
[3] (ख) प्राणादिन, (ग) न प्राणरुदिन तदृष्टा। [4] (ग) अन्योऽन्य।
[5] (क) तुल्य, (ग) तुल्या।

"क्रियाकारकफलात्मकप्रपञ्चस्य समस्ताविद्याकृतस्य विद्यासामर्थ्यात् स्वरूपोपमर्दम्, 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्'-इति श्रुतिर्वदति"-इति भाष्याच्च। 'स्वरूपविशेषणेनान्तः—करणादिनिवृत्तौ प्रपञ्चस्यानुपमर्देऽप्यदर्शनमात्रमुपमर्दम्"-इति मतं वारयति "आत्मैवाभूत्"—इति सावधारणश्रुतिं प्रमाणीकुर्वम्। "तस्य तावदेव चिरम्"—इत्यवधिश्रुतेः (किञ्चित्[1]) कालं जीवन्मुक्तिः-इत्यप्याचार्याः। श्रुतार्थापत्तेः "तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी[2]"—इत्याद्यागमसहकृतायाः "क्षीयन्ते चास्य"—इतिविशेषश्रुतिसंकोचकत्वाच्च[3]। तत्रापि "भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा"—इति न्यायात् प्रारब्धफलकर्मवशात् तत्संस्कारवशेन वा भोगाभासानुवृत्तिरविद्यासंस्कारेण च द्वैताभासानुवृत्तिरित्यभियुक्ताः—

भावदीपिका

रूपपदकृत्यमाह—स्वरूपेति। तर्हि पूर्ववर्णितजीवन्मुक्तिभङ्गः—इत्यत आह—तस्येति। ननु "क्षीयन्ते चास्य कर्माणि"—इति श्रुतेरवधिश्रुत्यनुपपत्त्या कतिपयकर्माऽनुच्छेद इति कथं सङ्कोच्यते? तत्राऽऽह—श्रुतार्थाऽपत्तेरिति। "तद्यथाऽहिनिर्ल्वयनी बल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीत एवमेवेदं शरीरं शेते। अथाऽयमशरीरोऽमृतः"—इति श्रुतिः शरीराऽनुवृत्ति[न]दर्शयन्ती [न]कर्माऽवशेषं सूचयति। किं तर्हि कर्माऽवशिष्यते? तदाह—तत्राऽपीति। प्रारब्धाऽनुवृत्तौ युक्ति-

ज्ञानवती

जैसे न हाथी और न उस पर आरूढ़ अन्य मायावी स्थित है उसी प्रकार प्राणों का उपद्रष्टा माया की अपेक्षा अन्य अहं स्वरूप जीवात्मा सदा दृशि (=ज्ञान स्वरूप) है।"

वह द्रष्टा और अद्रष्टा के आकार में परिणतबुद्धि और हस्ती पर आरूढ़ मायावी भी तुल्य है तथा स्वरूप से मिथ्या है। किन्तु माया में प्रतिविम्बित जीव सत्य ही है, क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न है। इसलिये ऐसा जानने वाले का तत्काल ही विद्या के वल से अविद्या और उसके कार्य का उच्छेद न्याय्य है। क्योंकि "(श्रुति अविद्याकृत समस्त प्रपञ्च का) विनाश (कहती है)"—यह व्याससूत्र है। "अविद्याकृत समस्तक्रियाकारकप्रपञ्च का विद्या के सामर्थ्य से स्वरूपोपमर्दन "जिस (अवस्था) में इसके लिये सब आत्मा ही हो गया",—यह श्रुति कहती है"—यह भाष्य भी है। स्वरूपविशेषण के द्वारा अन्तःकरण आदि की निवृत्ति होने पर प्रपञ्च का उपमर्दन होने पर भी अदर्शनमात्र उपमर्द है—इस मत का, "आत्मैवाभूत्"—यह साधारण श्रुति प्रमाणित करती हुई, वारण करती है। "उसके लिये उतनी ही देर है"—इस अवधि-श्रुति से कुछ काल तक जीवन्मुक्ति रहती है—ऐसा भी आचार्य लोग कहते हैं।" "जैसे सांप की केंचुल"—इत्यादि आगम से सहकृत श्रुतार्थापत्ति "इसके (कर्म) क्षीण हो जाते हैं"—इस विशेष श्रुति का संकोचक है। उसमें भी "दूसरे लोग भोग से नष्ट कर"—इस न्याय से प्रारब्ध कर्मफलवशात् अथवा ततसंस्कारवशात् भोगाभास की अनुवृत्ति और अविद्या संस्कार, से, द्वैताभास की अनुवृत्ति होती है—ऐसा अभियुक्त लोग कहते हैं—

"क्योंकि भोगारम्भणक्लृप्त कर्मों के कारण होने से ज्ञान के अर्थ (=कर्म) उस (=कर्म) से आरब्ध देह में फल देते हैं।

---

[1] (क) कञ्चित्, (ग) किञ्चिते। [2] (य) निर्लयनि। [3] (ग) इत्यवि।

"भोगारम्भणक्लृप्तानां कर्मणामुपजीवनात्।
ज्ञानार्थानि (तदा[1]-)रब्धे देहे दद्युः फलं यतः ॥
अतो न बाधते ज्ञानं संप्रारब्ध(-फलाः[2]) क्रियाः ।
जीवन्मुक्तिस्ततः सिद्धा श्रुतिस्मृतिनिवेदिता ॥"

"प्रवृत्तफलकर्मसंस्कारशेषानुवृत्त्या देह एव विशेषविज्ञानोत्पत्तिः"—इति गीताविवरणे भगवत्पादाचार्यवचनाच्च (ज्ञानस्य[3]) नियतदेहफलत्वात् न तदारम्भककर्मणः स्वतन्त्रदेहाक्षेपकत्वम्; प्रारब्धफलस्यापि ज्वरादिहेतोः कर्मणः शान्तिकादिना निवृत्तिप्रसिद्धेः विद्ययाऽपि तत्सम्भवात् यद्देहारम्भकर्मसंस्कारः स तत्रैव देहे भोगमारभत इति न देहान्तरे तत्प्रसक्तिः। तत्संस्कारपक्ष एव युक्तः—इति केचित्। संस्कारोऽपि रजतादिविभ्रमनिवृत्तौ रजतादिरविद्यान्तरजन्यः—इति स्वीकारात्। 'सर्वथाऽप्य-

भावदीपिका

माह श्लोकाभ्यां—भोगेति। संस्कारपक्षो भाष्यकारीयोऽपि—इत्याह—प्रवृत्तेति। ज्ञानार्थकर्मणैव देहोऽप्यारभ्यतां किं कर्मान्तरोपजीवनेन ? तत्राऽऽह—ज्ञानस्येति। भोगार्थकर्मणो नियतदेहाऽऽरम्भेण फलदातृत्वस्य श्वशूकरखरोष्ट्राऽऽदिजन्मस्मरणाऽनुसारात्; "यज्ञेन विविदिषन्ति"—इति ज्ञानाऽर्थकर्मणो देहाऽऽरम्भकत्वे प्रमाणाऽभावात्; ज्ञानभोगयोरेकदेहे सद्भावात् ज्ञानाऽर्थं भोगार्थत्वप्रसङ्गाच्च। ब्राह्मणजन्मन्येव नियतं ज्ञानमिति वाक्याऽऽभासप्रमाणीकरणे च देवाऽदीनां पिङ्गलाऽऽदीनां च ज्ञानस्मरणानि कुप्येरन्। संस्कारपक्षे युक्तिमाह—प्रारब्धेति। कर्मोच्छेदे संस्कारः कुतस्त्यः ? तस्य कर्माऽनतिरेकात् संस्काराऽऽत्मकतयैव कर्मणोऽपि वर्त्तनादिति न वाच्यम्; "इदं मे वै नाम संस्क्रियते"—इति पुण्यकर्मणः संस्कारजनकत्वश्रुतेः, गुणाऽऽधानदोषाणाभसंस्कारस्य पृथक्प्रसिद्धेश्च। तर्हि तस्य देहस्य नियमाऽभावान्न भोगनियमः स्यात् ? तत्राऽऽह—यद्देहेति। मतान्तरमाह—संस्कारोऽपीति। जीवन्मुक्तावनिष्टमा-

ज्ञानवती

इसलिये ज्ञान संप्रारब्धफलवाली क्रियाओं का बाध नहीं करता। इससे श्रुतिस्मृतिनिवेदित जीवन्मुक्ति सिद्ध हो जाती है।"

"प्रवृत्तफल वाले कर्मों के संस्कारशेष की अनुवृत्ति के द्वारा देह में ही विशेष विज्ञान की उत्पत्ति होती है।"—गीता विवरण में आये भगवत्पादाचार्य के इस वचन से ज्ञान के नियतदेहफल वाला होने के कारण तदारम्भक कर्म स्वतन्त्र देह का आक्षेपक नहीं है। प्रारब्धफल वाले ज्वर आदि के हेतु कर्म की भी शान्तिक आदि के द्वारा निवृत्ति प्रसिद्ध होने से विद्या के द्वारा भी उसके सम्भव होने से जिस देह का आरम्भ करने वाला कर्मसंस्कार होता है, वह उसी देह में में भोग का आरम्भ करता है; इसलिये देहान्तर में उसकी प्रसक्ति नहीं है। इसलिये संस्कारपक्ष ही ठीक है—ऐसा कुछ लोग कहते हैं। क्योंकि संस्कार भी रजत आदि के विभ्रम की निवृत्ति होने पर, रजत आदि अविद्यान्तरजन्य है—ऐसा माना जाता है। सर्वथा ही अविद्या का उच्छेद

---

1 (क) तथा, (ग) तदा। 2 (क) फल, (ग) फला।
3 (क) ज्ञानस्या, (ग) ज्ञानस्य।

विद्योच्छित्तौ तदवस्थानमयुक्तम्—इत्यविद्याऽऽकारविशेषादेव जीवन्मुक्तिः'—इत्यन्ये। मुक्तस्य च जीवनं तथा न यावज्जीवनादिचोदनोपयुक्तम्; देहैक्याध्यासमूलसम्यग् जीवनस्य कर्माधिकारहेतोर्दाहात् प्राणधारणमात्रजीवनस्य सुषुप्तवत् कर्माप्रयोजकत्वात्। अतो मुक्तदेहे जीवच्छरीरत्वमप्याभासरूपमेव—इति, तेन कृतस्यापि न फलपर्यवसानम्। तस्मादस्ति सर्वथा जीवन्मुक्तिरपीति सकलमनाविलम्।

विष्णुं रोचिष्णुमुच्चैः श्रुतिशतविशदानन्दसन्दोहदेहं
स्वान्तागारान्धकारच्छिदुरमभिमतश्रेयसां[1] दानशौण्डम्।
दुग्धाब्धेः शीकराणां प्रसरधवलितं शुद्धसत्त्वप्रतान-
प्राकट्यौत्कट्यभाजं स्फुटमिव मुनिभिः सेवनीयं प्रणौमि॥

प्रह्वीभवामि गुरुपादसरोरुहाभ्यां
याभ्यामहं परमनिर्वृतिमापितोऽस्मि।

भावदीपिका

शङ्कयाऽऽह—मुक्तस्य चेति।

ग्रन्थस्याऽऽदाविवान्तेऽपि स्वाभिमतसिद्धये देवतागुरुकुलं तु प्रणमति–रोचिष्णुः=रोचनशीलः=स्वयंप्रदीपः। स्वान्तम्=मनः; एवाऽऽगारम्=गृहम्; तत्र प्रकटमज्ञानान्धकारम्। "तत्तेऽन्तष्करणं तद्वद्धं तस्य व्यक्तिराञ्जसी"—इति सुरेश्वराचार्याः। छिदुरम्=छेदनचतुरम्। दानशौण्डः=दानशीलः। सगुणरूपसुत्प्रेक्षेक्षया वर्ण्यते—सीकराः=दुग्धकणाः; तेषां प्रसरः=समूहः; तेनाऽयं धवलो न भवति किन्तु प्रकटतरशुभ्रसत्त्वगुणेन इत्युत्प्रेक्षा। प्रणौमि=स्तौमि।

प्रह्वीभवामि=प्रणतो भवामि। यद्यपि "देवतागुणमन्त्राणां भावयेदैक्यमात्मनः" —इति मन्त्रशास्त्रात् मानसी गुरुभक्तिरैक्यभावनैव तथाऽपि—"माधवे यस्य या भक्तिर्महादेवे च या परा। मातापित्रोश्च या भक्तिस्तथा कार्या निजे गुरौ॥"—इति तत्रैवोक्तत्वात् कायिक्यादिभक्तिः पृथगपि न विरुध्यते। निर्वृत्तिः=निर्वाणम्=तापशान्तिः। कस्तर्हि

ज्ञानवती

होने पर उसका रहना ठीक नहीं है। इसलिये अविद्या के आकारविशेष से ही जीवन्मुक्ति होती है—ऐसा दूसरे लोग कहते हैं। और मुक्त का जीवन उस प्रकार यावज्जीवनादि चोदना के उपयुक्त नहीं है। क्योंकि देहैक्याध्यासमूलक सम्यग् जीवन का कर्माधिकारहेतु से दाह होने से प्राणाधारमात्र जीवन सुसुप्त के समान कर्म का प्रयोजक नहीं है। इसलिये मुक्त देह में जीवच्छरीरत्व भी आभास रूप ही है। अतः किये गये (कर्मों) का भी फलपर्यवसान नहीं है। इसलिये सर्वथा जीवन्मुक्ति भी है। इस प्रकार सब निर्दुष्ट है।

मैं अत्यन्त रुचिर, सैकड़ों वेद के विशदआनन्दसन्दोहदेह वाले, अन्तःकरणागार में वर्त्तमान अन्धकार को नष्ट करने वाले अभिमतश्रेयस् के दान में चतुर, क्षीरसागर के शीकरों के प्रसार से धवलित, शुद्ध सत्त्वप्रतान के प्राकटय की उत्कटता के भागी, स्पष्ट ही, मुनियों से सेवनीय विष्णु को प्रणाम करता हूँ।

जिनके द्वारा सदेकतान स्वानन्दबोधमधुरत्व के विघात के हेतु भयंकर संसार को तिरस्कृत

[1] (ग) रामभक्तः।

संसाररौद्रमवधूय सदेकतान-
स्वानन्दबोधमधुरत्वविघातहेतुम् ॥

रत्नैरेवोत्तमाङ्गस्थितिभिरभिनवोद्योतजालैर्विशालैः
साटोपानां स्फटानां भसितभरसिताभ्यो जटाभ्यो विभक्तः[१]।
स्वर्वाहिन्याः प्रवाहादपि विशदतमाद्यस्य भोगस्य भङ्ग-
प्राग्भारानुद्गमेन श्रियमयमहिराड् धूर्जटेः साधयेद् वः ॥

वेदान्तमुक्तामणिसूत्रकर्त्ता
(सारस्वती[२]-) कान्तकलाऽवतारः ।
युष्मानजस्रं द्विजसार्वभौमो
द्वैपायनः पात्वघसन्निपातात् ॥

भावदीपिका

तापः ? संसार एव रौद्र आतपः=सन्तापः; आतपोऽपि मुखमाधुर्यविघातकः ।

जटाजूटबन्धे रज्जुभूतोऽहिराट्=नागराजः शेषः वासुकिर्वा; तस्य धवलत्वात् फटाः=फणाः । भगवतो जटाश्च विभूतिधवलाः । भसितम्=विभूतिः । तासां तादृशीनां मिथोरत्नवत्त्वतदभावाभ्याम्; इमाः फटाः, इमा जटाः—इति विवेकः । भोगः=शरीरम्; जूटस्थामन्दाकिनीप्रवाहसदृशं तस्माद् विभक्तभङ्गानाम्=कल्लोलानाम्; प्राग्भारस्य पुलिनादेरनुद्गमेन यस्य ज्ञायते सोऽहिराट् वः=युष्माकम्; अभि=अभिमतां श्रियं साधयेत् ।

सारस्वती=सरस्वतः=समुद्रस्य; पुत्री=लक्ष्मीः । द्वैपायनः=व्यासः । सत्यवत्यां कलयांऽशेन हरेर्जात इति पुराणात् । अपान्तरतमा पूर्वजन्मनि द्वैपायन इत्यपि

ज्ञानवती

कर परमनिवृति को प्राप्त किया हूँ, उन गुरुचरणकमलों में मैं नतमस्तक हूँ ।

(भगवान् शङ्कर के जटाजूट के रज्जुरभूत शेषनाग या वासुकि) के शिर में वर्त्तमान नवीन चमकते हुइ विशाल रत्नों के द्वारा जिस (नागराज) के फण भगवान् शङ्कर की भस्म भार से धवलित जटाओं से पृथक् जाने जाते हैं; तथा गङ्गा के प्रवाह से भी विशाल जिसके शरीर का विवेक (नागराज के शरीर में) किनारों के न रहने से पृथक् जाना जाता है (अर्थात् वासुकि के फण एवं शरीर दोनों श्वेत हैं तथा भगवान् शङ्कर की जटा एवं गङ्गा का प्रवाह दोनों श्वेत हैं अतः यह फण है, यह जटा; यह शरीर है, यह गङ्गा-प्रवाह—यह विवेक नहीं हो पाता है किन्तु फण में स्थित रत्नों के द्वारा फणों का जटाओं से भेद ज्ञात होता है क्योंकि जटाओं में रत्न नहीं है । तथा नागराज के शरीर में किनारे नहीं है इसलिये वह स्वर्गवाहिनी से पृथक् ज्ञात होता है); ऐसे शेषनाग या वासुकि आपकी अभिमत लक्ष्मी की सिद्धि करे ।

वेदान्तमुक्तामणिसूत्र के कर्त्ता, सरस्वती की रमणीय कला के अवतार, द्विजसार्वभौम द्वैपायन, आप लोगों की पापसमूह से रक्षा करें ।

---

१ (ख,ग) विभक्तिः । २ (क) सरस्वती, (ग घ) सारस्वती ।

यश्शङ्करोऽपि विषमां श्रयते न दृष्टिं
ख्यातः कलानिधिरपि स्वयमेव यश्च।
(सत्त्वोल्लसत्[१]-) कमलकन्ददलैः प्रपुष्टं
वन्दामहे परमहंसधुरन्धरं तम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयाश्रमपूज्यपादशिष्यस्य
भगवतो रामाद्वयस्य कृतौ वेदान्तकौमुद्यां
चतुर्थोऽध्यायः ॥

भावदीपिका

कलावतारपदम्। "यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वम्", "मुनीनामप्यहं व्यासः"—इति सत्त्वोद्रेकाऽभिप्रायेण वा पुराणम्।

प्रसिद्धः शङ्करो विषमाम्=त्रिसंख्यकाम्; दृष्टिम् भजत इति शाब्दो विरोधः। समब्रह्मदृष्टिः आचार्यः; कलानिधिः=चन्द्रः। प्रसिद्धशङ्करस्य भूषणम्; आचार्यस्तु स्वयमेव कलानाम्=विद्यानाम्; निधिरित्ययमपि शाब्दो विरोधः। एवं वैधर्म्याऽलङ्कारेणोपवर्ण्य साधर्म्याऽलङ्कारेणोपवर्णयति--परमहंसानां धुरन्धरम्=श्रेष्ठम्; हंससाधर्म्यं सत्त्वगुण एव। स्फुरत्कमलकन्दानाम्=मृणालशब्दितानाम्; दलानि अवयवाः; तैः प्रपुष्टम्=रजस्तमोभ्यां अनाघ्रातम्; स्वाभाविकसत्त्वगुणाऽऽलयम्—इत्यर्थः।

कौशल्यानन्दनं वन्दे महादेवं गुरूनपि।
येषां अनुग्रहं लब्ध्वा मादृशोऽपि प्रगल्भते ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयाश्रमपूज्यपादशिष्यस्य
भगवतो रामाद्वयस्य कृतौ स्वकृतवेदान्तकौमुदीभावदीपिकायां
चतुर्थोऽध्यायः ॥

संवत् १५७१ वर्ष शाके १४३५ प्रवर्त्तमाने भाद्रपदमासेशुक्लेपक्षे
त्रयोदश्यां तिथौ भृगुदिने लिखितम्।

ज्ञानवती

जो शंकर होकर भी विषम दृष्टि का आश्रयण नहीं करते, और जो स्वयं कलानिधि करके भी प्रसिद्ध हैं, उन सत्त्व से उल्लसतकमलकन्ददलों से प्रपुष्ट परमहंस धुरन्धर की मैं वन्दना करता हूँ।

श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदद्वयाश्रमपूज्यपाद के शिष्य
भगवान रामाद्वय की कृति वेदान्तकौमुदी में
चतुर्थ अध्याय समाप्त।

———

[१] (क) सत्त्वस्फुरत्, (ग) सत्त्वोल्लसत्।

पारिभाषिकशब्दकोष

करण—साधन ९६

कल्प—सृष्टिप्रलयमध्यवर्त्ती कालविशेष ४०५

काकतालीय—काक उपविष्ट है, दैवात् ताड़ का फल गिरा और काक उसे खाकर गया—यह न्याय ७३६

कामाधिकार—काम्यकर्म के प्रकरण में पठन ५७२

कारीरी—वृष्टचर्थ यागविशेष २

कारीष—शुष्क गोमय ६७३

कांस्यभोजिन्याय—शिष्य का कांस्यपात्र-भोजन एवं गुरूच्छिष्ट भोजन—दो नियम हैं। गुरु का यद्यपि कांस्यपात्र-भोजननियम नहीं है तथापि शिष्य के अनुग्रह के लिए गुरु के द्वारा कांस्य-पात्र में भोजन—यह न्याय १७

किंपुनर्न्याय—कैमुतिकन्याय (यदि मूषक दण्डभक्षण करता है तो अपूपभक्षण हो ही गया, उसका क्या कहना) १२५

कुण्डबदरन्याय—कुण्डपात्र में वदरों (बेर फलों) का स्थापन—यह न्याय ८२७

कूटस्थ—अपरिवर्त्तनशील (ब्रह्म) १७८

कृच्छ्र—द्वादशदिन साध्य व्रत—३ दिन मध्याह्नभोजन, ३ दिन रात्रि-भोजन, ३ दिन अयाचितभोजन, ३ दिन उपवास) २८२

कृष्णल—सुवर्णमय यव ५१४

केवलव्यतिरेकी—अन्वयव्याप्तिरहित व्यतिरेकव्याप्तिमात्रयुक्त हेतु ३५

कैवल्य—मोक्ष २२३

क्रतु—यूपस्तम्भयुक्त बृहद् याग ७४

क्षणभङ्ग—'सर्वं क्षणिकम्'—यह बौद्ध-सिद्धान्त ४८०

क्षर—विनाश्यवस्तु ४९४

क्षेत्र—शरीर ७८१

क्षेत्री—जीवात्मा ७८१

खादिर—खदिरनिर्मित पशुबन्धस्तम्भ १०५, १०७

ख्याति—ज्ञान १७७

गवीधुक्—जङ्गली गेहूँ २८४

गार्हपत्य—गृहस्थ एवं वानप्रस्थ के गृह में स्थापित अग्निविशेष १३२

गुडूची—औषधिविशेष १९५

गुणवाद—"आदित्यो यूपः"—इत्यादि अर्थवाद २४

ग्रह—सोमाधार यज्ञपात्र ७१६

ग्रहण—ज्ञान २९६

चक्रक—तीन पदार्थों का परस्पराश्रयत्व ३५९

चतुष्कपाल—चार कपालों (लघुपात्रों) में अग्नि में पक्व पुरोडाश २६२

चान्द्रायण—चन्द्रगति के अनुसार भोजन-व्रत (भोजन में ग्रासों का घटाना—बढ़ाना) २८२

चित्तवृत्ति—बुद्धि की विषयाकारा अवस्था २११

चित्रा—दधिमधुपय आदि सप्त द्रव्य वाला याग ९२

चेता—चैतन्य ८१०

चोदना—विधिवाक्य ३८४

जर्तिल—जङ्गली तिल २८४

जल्प—विजयार्थ विचार १०

जाति—जन्म ३८३

जाति—अन्याय्य उत्तर ७६५

जीव—प्रतिशरीरवर्त्तमान चैतन्य १३४

जुहू—होमसाधन खण्डितघृताधार पात्र १३४

ज्योतिः—स्वप्रकाश ब्रह्म १३३

ज्योतिष्—त्रिवृद् आदि स्तुतियुक्त सोम-द्रव्य वाला याग १०४

ज्योतिष्टोम—ज्योतिष् याग ११५

तटस्थलक्षण—लक्ष्य में न रहते हुए लक्ष्य का निर्देशक ५०६

तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि—जहाँ समास-घटक पदार्थ का पदार्थान्तर के साथ अन्वय होता हो (—जैसे लम्बकर्ण-मानय) ५२१

उद्धरणसूची

———

शुद्धिपत्र

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
विभ्राणो	बिभ्राणो	१	७
गौड़	गौड	१	१६
प्रयोजनवत्वाच्च	प्रयोजनवत्त्वाच्च	२	१६
बारं-बारं	वारं-वारं	२	१९
महाधिकारिणा	सहाधिकारिणा	२	२२
सूत्रकारेण ।	सूत्रकारेण	४	४
ब्रह्मज्योतिश्- शब्दः	ब्रह्म ज्योतिश्- शब्दम्	४	६
जन्मादेः	ज्ञाने जन्मादेः	४	१४
निर्मलतापहत	निर्मलताऽपहत	४	१६
यद्येष	यदेष	४	१८
ब्राह्मणोक्तिर्ब्रह्म	ब्राह्मणोक्तब्रह्म	४	२०
ब्रह्मप्रकरणे	ब्रह्म प्रकरणे	४	२५
मयस्या	मयस्योप	४	२६
त्वादिलक्षणो	त्वादलक्षणो	५	८
इत्युपादान	इत्यपादान	५	१३
इत्युपादान	इत्यपादान	५	१४
परायथा	परा यया	५	१६
दृश्यत्वादिगुणक	अदृश्यत्वादि- गुणको	५	१७
किञ्च सर्वं	किञ्च जगत् सर्वं	५	१८
मृत्स्वो	स्थित्योः	५	१९
अत्र	अत्ता	५	२१
सूचको	सूचितो	५	२२
निमित्तत्वेऽनि	निमित्तत्वे अनि	५	२४
बाधानामप्य- ग्राहको	बाधानामपि ग्राहको	५	२९
न्नन्योऽभि	न्नन्यो अभि	६	६
परः । यथा	परः यथा	६	७
एके विप्रतिप- [illegible]	एकेति प्रति- [illegible]	६	१४

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
प्रमादोच्छेद- दर्शने	प्रमादाच्छेदन- दर्शने	६	१८-१९
ध्यानस्येवार्थ	ध्यानस्यैवार्थ	६	२२
धात्वथत्व	धात्वर्थत्व	६	२३
सम्पादनं	साधनं	६	२६
पवादभावाच्च	पवादाभावाच्च	६	२८
मविद्या प्रहाणं	मविद्याप्रहाणं	६	३०
फलनियमः,	फलानियमः	६	३२
तदवस्थाधृते	तदवस्थाऽवधृते	६	३२
रितिदेश	रिति । देश	६	३२
रागन्वयात्	रागान्वयात्	७	२
भेदो	भेदौ	७	८
सक्ल	सकल	७	११
आश्रमनाम	आश्रमनामा	८	१७
चरति साम्प्रतम्,	चरितम् । साम्प्रतम्	८	२०
विघ्नानि	विनिघ्नानि	९	४
र्वपक्षयति	पूर्वपक्षयति	११	१०
वाद	अथ वाद	११	५
निणय	निर्णय	११	११
जल्यपो	जल्पयो	१२	१०
यजान	जजान	१३	१७
विन्देत	विन्देत्	१३	१९
मेवेति । तत्रा	मेवेति तत्रा	१३	२१
इत्यर्थः । [तेन]	इत्यज्ञाने	१३	२२
वाह्यं	बाह्यं	१३	२३
एव न,	एव, न	१४	७
सम्भवात्,	सम्भवात्	१४	८
नुदयाच्च ।	नुदयाच्च	१४	११
प्रपञ्चवत् तया	प्रपञ्चवत्तया	१४	१४
द्वहन्	द्बहून्	१४	१५
[illegible]	[illegible]	१४	१५

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
सामर्थ्ये	सांमर्थ्ये	१४	१९	चिरोत्पन्ने च	चिरोत्पन्नश्च	२५	१६
श्रमो युक्तः	श्रमोऽयुक्तः	१४	२१	वनिधास्य	वतिव्याप्त्य	२५	१८
ऽमानिने	मानिने	१४	२२	न वर्त्तमान	वर्त्तमान	२६	१८
अष्टवष	अष्टवर्ष	१५	१	घटत	घटते	२७	१२
ध्यापन तत्सा	ध्यापनतत्सा	१५	१६	भिन्नव	भिन्नैव	२७	१३
निवृत्ते	निर्वृत्ते	१६	१२	टत्यर्थः	टेत्यर्थः	२७	१३
स्यापत्तेः ।	स्यापत्ते अयुक्तो			दुादनादा	दुर्दिनादौ	२७	१६
अयुक्तो		१६	१९	येनापूव	येनापूर्वं	१७	१८
समा [-ध्यभि-	समाधिः			पूर्वाथ	पूर्वार्थे	२७	१९
हितः वि] धिः		१६	१९	समुग्घ	सम्मुग्घ	३०	४-७
तत एव	;तत एव ।	१६	२४	धारिता	धारित	३३	१८
न्याय	न्यायः	१७	१७	पद्यते	पाद्यते	३४	१४
सुश्रू	शुश्रू	१७	१८	म्थुपगमः	म्युपगमः	३५	१४
व्रीह्या	व्रीह्या	१८	२	द्यर्थस्या	दर्थस्या	३६	२०
तथापि विप्रति	तथापि [श्रवणा-			प्यस्तीति	प्यस्ति		
	दिना] विप्रति	१८	३		सम्भवः" इति	३६	२०
शुङ्कयेत	शङ्कयेत	१८	१३	तद्रपेण	तद्रूपेण	३७	११
विधेर्धौं वा	विधेर्ध्रौव्वा	१९	६	सव	सर्वं	३७	१७
ध्रौवा	ध्रौव्वा	१९	१९	व्युत्थाय	व्युत्थाप्य	३७	२१
सिद्धान्त	सिद्धान्तः	१९	२२	इति	ति	३८	१२
चोदनाऽविधि	चोदनाविधि	१९	२३	जडस्य	जडस्य;	४०	१४
कत्तव्यता	कर्त्तव्यता	२०	३	न्न, नात्म	न्नात्म	४०	१९
रूपोः	रूपः	२०	१०	न्तैरनु	वेदान्तैरनु	४०	२०
प्रकरणताभङ्गा	प्रकरणभङ्गा	२०	१४	दृष्टा	द्रष्टा	४१	१५
स्याच्छादि	स्वाच्छन्दि	२१	२	माया	मायामयी	४२	१३
यात् । व्युत्था	यात् व्युत्था	२१	२६	सुप्ति	महासुषुप्तिः	४२	१४
स्वगादि	स्वर्गादि	२२	११	इति ।	इति	४२	१७
कम	कर्म	२२	१२	वर्णा इति	वर्णात इति ।	४२	१७
अवगाह्यं	अनवगाह्यं	२२	१६	यदा छादक	यदाच्छादक	४२	२५
स्याच्छुतेः	स्याच्छ्रुतेः	२३	४	किं निव	किंनिव	४३	१३
ग्रामाण्य	प्रामाण्य	२३	२५	मात्यीह	मित्याह	४४	१३
नाकस्य पृष्ट	नाकस्व पृष्ठ	२३	२०	प्राक्टच	प्राकटच	४६	१५
विनाभतस्य	विनाभूतस्य	२३	२३	प्रतिवन्धा	प्रतिबन्धा	४९	१९
खण्डयते द्वैता	खण्डचतेऽद्वैता	२४	१७	इत्यादिना	त्यादिना	५१	१२
सङ्गच्छेत्	सङ्गच्छेत	२५	१	वत्वा	वत्त्वा	५२	१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
शङ्क्येत	शङ्क्यंत	५४	३	करणस्वे	करणत्वे	९४	१५
विषयत्वे	विशेषत्वे	५७	१७	ऐच्छिकम्	ऐहिकम्	१०६	२०
तेन प्रमा	तेनाप्रमा	५७	१९	ति	इति	१०६	२१
साम्यं	साध्यं	५७	२१	सन्यासा	संन्यासा	१०७	२
प्रमायां	ऽप्रमायां	५८	१९	कर्मं	कर्म	११४	१३
बाध्यते	वध्यते	५८	१३	त्यान्तिक	त्यन्तिक	११६	४
बाधकेनोपा	बाधके नोपा	५९	१८	सर्वंस्मै	सर्वस्मै	११८	१५
प्रायेण	प्रायेण।	५९	२१	"यथा	यथा	१२०	२
स्थलं	स्थल—	५९	२१	परक्रतु	"परक्रतु	१२०	२
;दोषस्य	दोषस्य	६०	६	मुपास्व	मुपास्स्व	१२०	११
सर्वथा	सर्वथा;	६०	६	श्रुत्यैवोक्त	श्रुत्यैवोक्ता	१२३	७
तदभावे	तद्भावे	६०	६	वेदात्त	वेदात्तु	१२८	४
एवम्	एवम	६०	७	पूर्णं	पूर्ण	१३२	२२
प्रामण्य	प्रामाण्य	६२	१७	गृहपति	गृहपतिं	१४०	१
न्तरगुण	न्तरं गुण	६२	२०	तत्त	तत्तु	१४०	२०
मिति ?	मिति	६३	१	द्वया	द्वचा	१४५	२३
भ्यासज्झ	भ्यासाज्झ	६६	८	वाधित्वा	वाधित्वा	१४७	६
वुद्धया	बुद्धचा	६७	२	विम्बिते	बिम्बिते	१४७	२०
प्रामाण	प्रामाण्य	६७	८	प्रावृताानम्	प्रावृतानाम्	१४८	१२
वादरायणः	बादरायणः	६९	११	स्थित तत्त्व	स्थिततत्त्व	१४८	२२
शासम्	शासनम्	७०	६	तत्रैष	अत्रैष	१५०	१५
तादर्थ्यै	तादर्थ्ये	७१	१३	वेदान्तै	र्वेदान्तै	१५१	१५
द्रपेण	द्रूपेण	७२	२	भिद्यते	भिद्येते	१५४	११
तया	तया	७३	१	"कला	कला	१५४	१२
स्वयंभू	स्वयंभूः	७३	१८	मात्रता"	मात्रता	१५४	१२
काय	कार्यं	८३	११	श्रतिः	श्रुतिः	१५५	३
शव्दा	शाव्द	८४	१०	प्योदृगेव	पीदृगेव	१५७	९
गंम्यत	गम्यते	८५	३	जड	जाधं	१५८	६
अस्मृत	अमृत	८७	१४	अभ्यास	अध्यास	१५९	१७
किमर्थ	किमर्थं	८८	५	पञ्ज	पञ्च	१५९	१८
मुपासीत्	मुपासीत	८८	१५	स्मृतो	स्मृतौ	१६०	७
पौर्ण	पूर्ण	९०	१८	योगिकं	यौगिकं	१६०	११
निष्फलं	निष्कलं	९२	१९	तत्रैब	तत्रैव	१६४	१७
जाति	जादि	९२	२०	संसर्ग	संसर्ग—	१६७	२२
शङ्क्य	शङ्कय	९३	१५	मिमान	भिमान	१६८	१३

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
भ्रभो	भ्रमो	१६९	५	श्रुत्य	स्मृत्य	२४८	१
यथार्थं	यथार्थ	१७१	२०	यथा च "तक्षो	"यथा च तक्षो	२४९	१३
पुमर्थं	पुमर्थ	१७३	२२	"तद्वत् परा	तद्वत् "परा	२४९	१६
विद्यानु	विद्या	१७५	१५	संज्ञाया	संज्ञायाः	२५१	३
निवत्ता	निवृत्ता	१७६	१६	"उपदिश्य	उपदिश्य	२५१	२५
अपोद्य	अपोह्य	१७७	२०	कार्यस्य ।"	कार्यस्य ।	२५१	२५
अहमतः	अहमज्ञः	८८१	३	तीन	ती	२५५	१२
स्वाभाव	स्वभाव	१८५	१३	ज्ञातो	जातो	२५५	२५
मिथ्याख्यै	मिथ्यात्वै	१८७	१	रणैव	रेणैव	२५७	१२
अस्तिताव	अस्ति ताव	१९२	३	सेन च	सेन तु	२५७	१९
मोहृ	मोहा	१९८	६	णेषां	णैषां	२५८	१४
हिरण	हिरण्य	२०४	७	मेम्	म्	२६१	१५
छम्दो	छन्दो	२०६	१८	"यदा	यथा	२६२	१४
व्यापीति	व्यापीनि	२०७	१७	प्रजापतिः	"प्रजापतिः	२६२	१४
विधाता	विघाता	२०९	१४	बृह्न	बृहन्	२६२	८
सुषुप्ता	प्रसुप्ता	२१०	१२	तीर्या	तीर्था	२६४	४
शान	ज्ञान	२१४	१७	सुश्रू	शुश्रू	२६५	८
नैक	नेक	२१५	१७	प्रकरणे	अकरणे	२६५	२४
च	तु	२१६	१२	तोर्वा	तोघा	२६६	१९
ज्ञन	ज्ञान	२२१	२	प्राप्तिः	प्राप्तिः;	२६८	५
स्वभा	स्वाभा	२२२	११	नोऽपि;	नोऽपि	२६८	५
पूर्वं	पूर्वं	२२२	१९	त्रम्" "जरया	त्रम् जरया	२६८	१६
चभूतानां	च भूतानां	२२७	१८	वै	वा	२६८	१६
वर्णाग्रद्धि	वर्णाग्रे द्वि	२३१	१९	सण	शण	२६८	२१
सर्वणा	सवर्णा	२३२	१३	ऽमृत	अमृत	२७२	१८
वर्ष	वर्षं	२३२	१९	गेऽय	गे य	२७३	९
दिशति । "स	दिशति स	२३५	७	अतः	अथ	२७३	१६
श्वरः"	श्वरः ।	२३५	७	निर्मिते	निमिते	२७५	६
नृंणां	नृ णां	२३६	१३	मैन्जी	। "मौञ्जी	२७९	२०
आविविक्तं	अविविक्तं	२३७	१९	श्लक्ष्णा ।	श्लक्ष्णा	२७९	२०
रमेत	रभेत	२३९	६	मेखला	मेखला ।	२७९	२०
तस्यैकं	तस्यैवं	२४०	५	मात्त	मात	२८१	१२
सामान्या	सभाव्या	२४३	९	करेयुः	चरेयुः	२८३	१६
नपि यन्ति	नपियन्ति	२४५	११	सत्वे	सत्त्वे	२८९	९
देव	देवता	२४७	२०	कुवता	कुर्वतो	२९२	१२

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङक्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङक्ति
लम्बन	लम्भन	२९६	२१	एवं	एव	३८४	७
भावमा	भावा	२९९	२	व्यक्त	द्युक्त	३८८	५
द्यैव	द्येव	३११	१३	तत्त्वा	तत्वा	३८९	६
व्यच्छेद	व्यवच्छेद	३१६	१	स्थार्थ	स्यार्थ	३९१	४
समा	सामा	३२१	१३	श्यर्य	श्वर्य	३९१	१८
रूणी	रूपणी	३२१	२३	प्रयोग	प्रयोगः	३९५	३
शेघा	शेषा	३२६	१७	प्रमाण्य	प्रामाण्य	३९९	५
द्रव्यात्व	द्रव्यत्व	३२९	११	चैतदो	चैतदौ	४००	१६
ज्ञाय मान	ज्ञायमान	३३०	१७	द्दहे	द्देहे	४०१	२०
एक सिद्धय	एकसिद्धय	३३७	८	देशः	देवः	४०२	१९
शेषषि	शेषि	३३८	१७	ब्रह्या	ब्रह्मा	४०५	१४
भेव	मेव	३४०	४	मण्डाल	मण्डल	४०५	२१
वित्र्यः	पित्र्यः	३४२	८	जाव	जीव	४०८	८
मावे	भावे	३४२	११	सृष्ट	स्रष्टृ	४१५	१८
दुसं	दुपसं	३४२	१३	कानसृजत	कान्नु सृजा	४१६	२
रेतत् प्रति	रेतत्प्रति	३४८	५	मध्यमः	मध्यं	४१६	१३
मथ	मर्थं	३५०	२०	शक्ति	शुक्ति	४२१	१२
वदा	वन्दा	३५१	७	आघात्	स्यात्	४२२	२१
तस्माद	तस्माद्	३५४	२८	मिथ्याव	मिथ्यात्व	४२३	८
तर्कं	तर्क	३५५	२६	"सद्	सद्	४२७	१५
वैप्य	वैय्य	३५९	१८	प्रकाशलि	आकाशं लि	४२७	१५
पूतिका	पूतीका	३६०	१९	लिङ्गात्"	लिङ्गात्	४२७	१५
सिद्धौ	सिद्धौ	३६५	६	नास्त	न स्त	४३०	१६
असत्वम्	असत्त्वम्	३६९	१७	क्रमो	तु क्रमो	४३१	८
पथि	पृथि	३७०	४	योगा	योग	४३७	१४
दोष	दोषः	३७०	१२	सावव	साव	४३९	१३
नित्या	नित्य	३७१	१	वाच्व	वाच्य	४४२	१४
अनित्व	अनित्य	३७४	१२	न प्र	न च प्रा	४४४	१६
त्वात्यात्य	त्वात्य	३७४	१५	षण वं	षणत्वं	४४५	५
कार्यं	कार्ये	३७७	१३	प्रस	प्रसि	४४९	५
निरे	निर	३७७	१६	आद्य	आद्ये	४५३	७
कल	कूल	३७९	११	प्रमाणन्त	प्रमाणयन्त	४५३	१६
सर्वं	सर्व	३८२	२२	वृत्ते	वृते	४५९	२
पि [घन-]	पि प्रयत्नं			तिभिरावाहयति	तय आवाहयन्ति	४६०	१५
	[घना-]	३८४	६	श्रता	श्रुता	४६१	४

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
प्रत्य	प्रेत्य	४६२	५	प्रहण	ग्रहण	५७१	२२
यः कालकारो	ज्ञः कालकालो	४६७	१४	यत्य	अत्य	५७७	१
पेक्ष	प्रोक्ष	४७०	२	धेव्य	धेर्व्यं	५७७	४
रजस	रजस्	४७२	९	तवा	तत्वा	५८१	६
थोग	योग	४७२	१३	मथ	मर्थ	५८८	११
मत्वा	मत्त्वा	४७३	१	सम्भावा	सम्भवा	५९८	१६
स्वता	स्वतो	४७४	३	णो सत्त्व	णोऽसत्त्व	६०१	४
संख्यो	न संख्यो	४७६	१८	रूपणा चे	रूपणाच्चे	६०४	२३
ग्राह्म	ग्राह्य	४७७	१४	अन्यन्त	अत्यान्त	६०५	६
क्षक्षिक	क्षणिक	४८१	९	त्वप्त	त्वग्र	६०६	४
वृत्तिः	वृतिः	४८५	१२	श्चते	श्च ते	६१६	८
वृत्त	वृत	४८६	१	निङ्गच	निव्यङ्गच	६२२	३
वृत्त	वृत	४८६	३	वण	वर्णं	६२६	११
चानै	चाने	४९६	१७	यर्थ्थम्	यर्थ्यम्	६२८	१८
आश्रवः	आस्रवः	४९७	४६	दिनाः	दिनः	६३४	७
स्याध्याय	स्वाध्याय	५१३	१७	क्यार्यं	क्यार्थ	६३४	१०
प्रमाण्य	प्रामाण्य	५१५	१३	भिधा व्या	भिधाव्या	६३६	१९
काश	काशः	५१७	१८	सङ्गि	सन्नि	६३९	१
ज्ञानी	ज्ञादी	५१७	२२	छब्दो	छन्दो	६४१	१९
प्रामा	प्रमा	५१७	२२	चर्ये	चार्ये	६४२	२१
क्रियैव	क्रियेव	५१८	१८	त्वति	त्विति	६४३	१७
निगुर्ण	निर्गुण	५१९	२	तर	तैर	६४४	२०
गन्तव्य	गन्तव्यं	५१९	२	द्यच्य	द्युच्य	६४७	५
बहिस्थित	वहिःस्थित	५१९	२०	लिङ्ग	लिङ्गा	६५०	१०
श्रुय	श्रुत्य	५२०	५	अर्थन	अनर्थ	६५२	९
शब्द	शाब्द	५३४	५	न्नाकाशो	न्नावकाशो	६५४	३
पत्या	पत्त्या	५३६	५	दि घा	दिघा	६६०	१७
शकार	शक्य	५३६	१७	लिङ्गा	लिङ्ग	६६५	४
तया	तयो	५४७	५	कम	कर्म	६६९	९
प्रकृश्चि	प्रकृतिश्च	५४८	१	प्रतीत्ते	प्रतीते	६७१	१
प्रत्यक्षार्दशि	प्रत्यक्षदर्शी	५५२	६	लिङ्गा	लिङ्ग	६७५	३,६
पत्तृ	पत्तृ	५६०	९	तटस्था	तटस्थाः	६८०	८
सत्व	सत्त्व	५६३	४	याभे	या भे	६८१	४
त्वयस्य	त्वस्य	५६५	२१	लिङ्गा	लिङ्ग	६८३	१
भिके	भिके	५६८	२	लिङ्ग	लिङ्ग	६८३	१६

अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध	पृष्ठ	पङ्क्ति
प्रेष्यात्	प्रैष्यात्	८६७	१६	ता प्र	ताऽप्र	७६५	९
ज्ञामन	ज्ञानम	६९३	१३	वैय्यर्था	वैय्यर्थ्या	७६८	१८
य नि	यनि	६९४	१	विनय	विन	७६९	१०
लिङः	लिङ	६९७	८	सस्ता	सन्ता	७७८	२
योक्त	योक्तु	६९८	१	श्रुतेवै	श्रुतेर्वै	७८०	१८
विघी	विधी	७००	८	त्यवाद्	त्यवद्	७८१	१५
त्तेन	त्ते न	७०५	१५	रूपक	रूप	७८३	१
श्रत्या	श्रुत्या	७०७	३	श्रुते	श्रुतेः	७८३	९
काथ	कार्थं	७१३	१९	शरीरे	शरीर	७९०	८
विघी	विधी	७१७	५	व ग्रहे	वग्रहे	७९०	१४
नास्या	नास्याः	७२०	६	मूर्त्तत्धे	मूर्त्तत्वे	७९१	२
दृष्ठ	दृष्ट	७२०	११	त्वान्नश	त्वान्न श	७९२	३
तत्त्व	तत्व	७३२	४	कल्ति	कल्पित	७९४	१५
त्तवृ	वृत्ते	७३३	५	रम्य	रभ्य	७९९	६
स्यति	स्यन्ति	७३३	१२	णोपात	णोपनिपात	४२३	२
ष्यति	ष्यन्ति	७३३	१३	युक्ते	युक्तोक्ते	८०८	१०
सक्ते	सक्तेः	७३४	८	कम	कर्म	८११	१
असम्भव	असम्भ	७३४	१९	देवाना	देव ना	८१५	१५
घर्मे	धर्मै	७३७	९	कला	कलना	८१६	११
पलनी	पलपनी	७३८	१९	कति	कपि	८१७	८
मर्श ज्ञा	मर्शज्ञा	७४२	१२	सर्व	सर्वं	८१८	५
तो मु	तोमु	७४२	१९	जावा	जीवा	८१८	८
नीर	अचिर	७४३	१	वस्तू	वस्तु	८१९	२
परि	पर	७४७	१७	प्रमथ	प्रथम	८२३	५
भवति	न भवति	७४८	१७	चान्तः	चान्तः—	८२३	७
र्थन्नि	र्थसन्नि	७५०	१	च्छेदी	च्छेदो	८२६	८
विषक्ष	विपक्ष	७५७	४	स्वतन्त्र	स्वतन्त्रा	८३१	२०
सुमा	सुभा	७५८	१५	ववचन	क्वचन	८३६	१३
सिद्धान्त	सिद्धान्ता	७५९	१७	ह्यर्व	ह्यसर्वं	८३७	११
निमम	नियम	७६१	६	कारी	करी	८३८	१
याथ	यार्थ	७६३	१	सर्व	सर्वं	८३८	९
प्रवृत्ते	प्रवृत्तेः	७६४	७	मादि	मायादि	८४०	१६
				कुर्वम्	कुर्वन्	८४१	४

BANARAS HINDU UNIVERSITY SANSKRIT SERIES
LIST OF PUBLICATIONS

Vol. No. 1. Campū-Rāmāyaṇa Kā Sāhityika Pariśīlan (in Hindi) 1968
Dr Karuṇā Srīvāstava 13.00

Vol. No. 2. Pāṇinian Interpretation of the Sanskrit Language (in English) 1969
Dr N. C. Nath 30.00

Vol. No. 3. A Critical Study of the Kātyāyana-śrauta-sūtra (in English) 1969
Dr K. P. Singh 21.00

Vol.No. 4. A Critical Study of the Srīmad-Bhāgavata (in English) 1969
Dr K. S. Tripathi 40.00

Vol No. 5. The Ṛg-veda-prātiśākhya with the Bhāṣya of Uvaṭa (in Hindi) 1970
(A Critical Edition with translation and notes)
Dr V. K. Varma 72.00

Vol. No. 6. Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts (in Gaekwada Library, Bhārata-kalā-bhavana Litrary and Sanskrit Mahāvidyālaya Library. B.H.U.) 1971.
Dr Ramā Śaṅkar Tripāthī 100.00

Vol. No. 7. The Ṛg-veda Prātiśākhya—Eka Pariśīlana (in Hindi) 1972
Dr V. K. Varma 45.00

Vol. No. 8. Mūla-Yajurveda-Saṁhitā 1973
Maharṣi Daivarāta 55.00

Vol. No. 9. Vedānta-kaumudī (A Critical Edition with the Sanskrit Commentary of Śrī Rāmādvayācārya and Hindi translation of the Text) 1973
Dr Rādhe Shyām Chaturvedī 80.00